स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहु शान्तिप्रसादजी-द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत संस्कृत अपभ्रंश हिन्दी कन्नड तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें
उपलब्ध आगमिक दार्शनिक पौराणिक साहित्यिक ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक
जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव
अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन भण्डारोंकी
सूचियाँ शिलालेख-संग्रह विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन
ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी
इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

•

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ० हीरालाल जैन, एम० ए०, डी० लिट्०
डॉ० आ० ने० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्०

•

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय ९ अलीपुर पार्क प्लेस कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड रोड वाराणसी-५
विक्रय केन्द्र ३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग दिल्ली-६
मुद्रक सन्मति मुद्रणालय दुर्गाकुण्ड रोड वाराणसी-५

•

स्थापना फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७० • विक्रम सं० २००० • १८ फ़रवरी सन् १९४४

सर्वाधिकार सुरक्षित

भारतीय ज्ञानपीठ



स्व० मूर्तिदेवी, मातेश्वरी सेठ शान्तिप्रसाद जैन

JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ JAIN GRANTHMĀLĀ SANSKRIT Grantha No. 28

UPĀSAKĀDHYAYANA

(A Portion of the Yaśastilaka campū)

of

SOMADEVA SŪRI

with

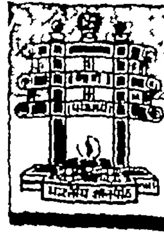
Hindi Translation, Sanskrit Tīkā, Introduction & Indices etc.

EDITED BY

Pt KAILASH CHANDRA SHASTRI

Siddhāntāchārya

Principal Srī Syādvāda Mahāvidyālaya, Varanasi



BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA PUBLICATION

VIRA SAMVAT 2490
V. S. 2021, 1964 A. D.

First Edition
Rs 12/

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ

JAINA GRANTHAMĀLĀ

FOUNDED BY

SĀHU SHĀNTIPRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTIDEVĪ

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAINA AGAMIC, PHILOSOPHICAL PURĀNIC LITERARY HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRĀKRIT SANSKRIT APABHRAMSA HINDI, KANNADA TAMIL ETC., ARE BEING PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAINA BHANDARAS, INSCRIPTIONS STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAINA LITERATURE ARE ALSO BEING PUBLISHED.



General Editors

Dr Hiralal Jain M A D Litt.

Dr A N Upadhye, M A D. Litt.



Bharatiya Jnanapitha

Head Office 9 Alipore Park Place Calcutta-27

Publication office Durgakund Road, Varanasi-5

Sales office : 3620/21 Netaji Subhash Marg, Delhi-6.



Founded on Phalguna Krishna 9 Vira Sam. 2470 Vikrama Sam 2000 18th Febr 1944

All Rights Reserved

प्रधान सम्पादकीय

सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पूका जैन-साहित्यमें ही नही, किन्तु भारतीय वाङ्मयमें एक विशिष्ट स्थान है। डॉ० कीथके मतानुसार सोमदेव 'निश्चित ही सुरुचि और बडी सूझबूझके कवि हैं।' (हिस्ट्री ऑव सस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३३५) तथा डॉ० हन्दिकीका कथन है कि गद्यकथाविषयक अपने विशेष लक्षणोंके अतिरिक्त यशस्तिलकमें ऐसी विधाएँ हैं जिनके कारण उसका सम्बन्ध सस्कृत साहित्यकी नाना शाखाओंसे स्थापित होता है। वह केवल गद्य-पद्यात्मक जैन कथा मात्र नही है, किन्तु वह जैन व अजैन धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तोका पाण्डित्यपूर्ण सग्रह है, राजनीतिकी एक सहिता है, काव्यगुणो, प्राचीन आख्यानो, अवतरणों और उल्लेखो, तथा वहुसख्यक दुर्लभ शब्द-प्रयोगोका विशाल भाण्डार है। सोमदेवकी यशस्तिलक एक उच्च कोटिकी विद्वत्तापूर्ण कृति है जो साहित्यिक प्रतिभा और काव्यात्मक भावनाके आलोकसे सजीव हो उठी है।" (यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कलचर, पृष्ठ ५३)।

इतने गुणोका एक साथ समावेश करनेके लिए महाकविने न गद्य और न पद्य मात्रको अपना माध्यम वनाना पर्याप्त समझा। रुचि और अवसरके अनुसार उन्होने इन दोनो प्रकारकी रचनाओंका प्राय समान मात्रामें उपयोग किया है। उनका गद्य सुवन्धु और वाणकी रचनाओंका स्मरण दिलाता है, और पद्य कालिदास, माघ और श्रीहर्षका। इस रचना-शैलीको साहित्यकारोने 'चम्पू'की सज्ञा दी है – 'गद्य-पद्यमयी काचित् चम्पूरित्यमिधीयते' (दण्डि-काव्यादर्श)। तथापि विद्वान् अभी तक खोज नही लगा पाये कि चम्पू शब्दकी ठीक-ठीक व्युत्पत्ति क्या है। यो तो गद्यके साथ यत्र-तत्र कुछ पद्योका प्रयोग ब्राह्मणोमें, बौद्ध पालि व सस्कृत रचनाओंमें, तथा हितोपदेश-पचतत्रादि कथाओंमें वहुत प्राचीन कालसे पाया जाता है, तथापि जहाँ तक हमारी वर्तमान जानकारी है, इस काव्य-शैलीका आविर्भाव दशमी शतीसे पूर्व नही पाया जाता। सोमदेवने अपनी कृतिके पूर्ण होनेका काल सिद्धार्थ सवत्सर ८८१ (सन् ९५९) स्पष्टतासे निर्दिष्ट किया है। इससे पूर्व यदि कोई चम्पू काव्य रचा गया हो तो वह केवल त्रिविक्रम भट्ट कृत 'नलचम्पू' ही हो सकता है। इस चम्पूमें उसके रचनाकालका कोई निर्देश नहीं है, तथापि विद्वानोका अभिमत है कि वे वही त्रिविक्रम हैं जिन्होंने सन् ९१५ ई० में राष्ट्रकूटनरेश इन्द्र तृतीयके नवसारीसे प्राप्त लेखकी रचना की थी।

आठ 'आश्वासो'में पूरा हुआ सम्पूर्ण यशस्तिलक अभीतक केवल एक वार निर्णयसागर प्रेस वम्बईसे सन् १९०३ में श्रुतसागरी टीका सहित प्रकाशित हुआ था। प्रथम तीन आश्वासोका पूर्व खण्ड सन् १९१६ में पुन मुद्रित किया गया था। यह ग्रथ इधर दीर्घकालसे अप्राप्य है। इस ग्रथका नाना दृष्टियोसे गम्भीर और विशाल अध्ययन डॉ० हन्दिकी-जैसे विद्वान्ने किया और उनकी कृति 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर' जैन सस्कृति सरक्षक सघ-द्वारा, जीवराज जैन ग्रथमालाके द्वितीय पुष्पके रूपमें, शोलापुरसे सन् १९४९ मे प्रकाशित हुई, यह सन्तोषकी वात है। इस कृतिका भी सम्पूर्ण अनुवाद किये जानेकी आवश्यकता है।

यशस्तिलकके अन्तिम तीन आश्वासोंका प्रस्तुत सस्करण अपने एक सीमित उद्देश्यसे तैयार होकर प्रकाशित किया जा रहा है। ग्रन्थका यह भाग श्रावकाचारविषयक है। नैतिक व धार्मिक दृष्टिसे गृहस्थ नर-नारियोके क्या कर्त्तव्य है, यह विषय वडा महत्त्वपूर्ण है, विशेषत इस युगमें जवकि नैतिक आचरणमे सर्वत्र चिन्तनीय शिथिलता दृष्टिगोचर हो रही है। आचार्य सोमदेवने इस विषयपर वडी दृढता, प्रामाणिकता और रोचकतासे अपनी लेखनी चलायी है। इस ग्रन्थाशका सम्पादन और हिन्दी अनुवाद प० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्रीने उपलभ्य मुद्रित व हस्तलिखित प्राचीन प्रतियोंके आधारपर परिश्रमसे तैयार किया है। इसके अतिरिक्त प० कैलाशचन्द्रजीने ९६ पृष्ठोंमें प्रस्तावना भी लिखी है। यहाँ उन्होने डॉ० हन्दिकीकी

उपलब्धियोंका भी उपयोग किया है और अपने स्वतन्त्र अध्ययनका भी। यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि डॉ. हन्डिकीने भारतीय साहित्य और संस्कृतिको अपनी दृष्टिमें रखकर विवेचन किया है किन्तु पण्डितजी-की दृष्टि विशेष रूपसे जैन तत्त्वज्ञानसे सीमित रही है। इस प्रकार ये दोनों विवेचन परस्पर परिपूरक हैं। पण्डितजीने प्रस्तावनाके उत्तर भागमें जो श्रावकाचारोंका तुलनात्मक पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया है वह महत्त्व-पूर्ण है। श्रावकाचारका वर्णन सोमदेवसे पूर्व भी अनेक आचार्योंने किया है और उनके पश्चात् भी। यद्यपि आचारसम्बन्धी नियमोंका मौलिक स्वरूप अपरिवर्तित रहा है, किन्तु व्रतोंके वर्गीकरण परिभाषाओं और परिपालनमें देश-कालानुसार विकास-शीलता भी पायी जाती है। इस विषयका कुछ विवेचन पं. जुगलकिशोर मुख्तारके अनेक लेखोंमें तथा पं. हीरालाल शास्त्री कृत वसुनन्दि-श्रावकाचारकी भूमिकामें आ चुका है। किन्तु समस्त उपलब्ध श्रावकाचारसम्बन्धी साहित्यका सर्वांगपूर्ण तुलनात्मक अध्ययन अभी भी शेष है। पं. कैलाशचन्द्रजीने इस अध्ययनको अपनी प्रस्तावनामें आगे बढ़ाया है। तथापि उसमें एक कमी विशेष रूपसे खटकती है। और वह यह कि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मान्य अर्धमागधी आगमके उपासकाध्ययन आदि सूत्रों व सावयपण्णत्ति-जैसे प्राकृत ग्रन्थोंमें हरिभद्रकी अनेक रचनाओंमें व अन्यत्र जो इसी विषयका विवरण पाया जाता है वह यहाँ सर्वथा छूट गया है। कथा-साहित्यमें भी गृहस्थ धर्मके उपदेशके अतिरिक्त उसके व्यावहारिक स्वरूपका चित्रण भी मिलता है, जिससे आचारसम्बन्धी व्यवस्थाओंपर अच्छा प्रकाश पड़ता है व तात्कालिक सामाजिक प्रतिबिम्ब भी दिखाई देता है। देशके इतिहास समाज व राजनीतिकी पृष्ठभूमिमें रखकर सोमदेवके तथा उत्तर व दक्षिण भारतके अन्य लेखकों-द्वारा विहित श्रावकाचारकी विशेषताओंको देखनेपर हमें समझमें आने लगता है कि किस प्रकार क्षेत्रीय लौकिक आचार-विचारका धर्मकी व्यवस्थाओंपर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। यह भी भूलना नहीं चाहिए कि कभी-कभी कट्टरता व परम्परानुबन्धके कारण सच्ची विकासशीलतापर हमारी दृष्टि नहीं पहुँच पाती एवं तुलनात्मक समीक्षा तलस्पर्शी नहीं बन पाती।

इस सम्बन्धमें हमें ध्यान आता है श्री आर. विलियम्स कृत 'जैन योग' नामक पुस्तकका जो लन्दन ओरियण्टल सीरीज नं. १४ के रूपमें आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लन्दनसे सन् १९६३ में प्रकाशित हुई है। इस पुस्तकमें बतलाया गया है कि अपने उत्कृष्टतम राजनैतिक प्रभावके काल अर्थात् ५वीं से ११वीं और विशेषतः ११वीं १२वीं शतियोंमें जैनियोंने कैसा गृहस्थोचित सदाचार स्वीकार किया। यहाँ मुख्यतः गृहस्थ जीवनके नियमोंका विधान करनेवाले श्रावकाचार ग्रन्थोंका आचार्यों-द्वारा प्रणीत विवरण उपस्थित किया गया है। कथा साहित्य और शिलालेखों आदिमें उपलब्ध सामग्रीकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। आदिम उन आचार्यों और उनकी रचनाओंका ऐतिहासिक परिचय भी कराया गया है। जो मूल रचनाएँ सुलभ नहीं हैं उनके कुछ अवतरण परिशिष्टमें देकर यह दिखाया गया है कि वे किस प्रकार एक दूसरेपर आधारित हैं। सामग्री तथा ऐतिहासिक तुलनात्मक व समीक्षात्मक दृष्टिसे जो बातें श्री विलियम्सके ग्रन्थमें छूट गयी हैं उनका विशेष रूपसे अनुसन्धान किये जानेकी आवश्यकता है। इधर यह चम्पू ग्रंथ कुछ-कुछ अंशतः भी प्रकाशित हुआ है (प्रथम आश्वास अंग्रेजी टिप्पणी आदि सहित सं. के. एन. क्षीरसागर बम्बई, १९४९, तीन आश्वास हिन्दी अनुवाद सहित सं. प. सुन्दरलाल शास्त्री वाराणसी १९६) परन्तु इनसे उक्त उद्देश्यकी पूर्ति नहीं हुई।

उपर्युक्त समस्त अपेक्षित कार्यके लिए जिन बातोंकी आवश्यकता है उनमें एक यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि सोमदेव सूरिकृत यशस्तिलक चम्पूका समस्त उपलब्ध प्राचीन प्रतियों व टीका-टिप्पणों आदिका उपयोग करते हुए सुसम्पादित सानुवाद प्रकाशन किया जावे।

वर्तमानमें तो हम यही बड़ी प्रसन्नता है कि इस महान् ग्रन्थके उपासकाध्ययन नामक खण्डको पं. कैलाशचन्द्रजीने विद्वत्ता और परिश्रमसे सम्पादन अनुवाद व प्रस्तावना-लेखन-द्वारा प्रस्तुत प्रकाशन योग्य बना दिया जिसके लिए हम उनके आभारी हैं।

प्रधान सम्पादकीय

इस भागपर श्रुतसागरी टीका नही पायी जाती। जैन संस्कृति संरक्षक संघके संस्थापक स्वर्गीय ब्रह्मचारी जीवराजजीकी प्रबल इच्छा हुई थी कि ग्रन्थकी टीका पूरी करायी जावे। उनकी इसी प्रेरणाके फल-स्वरूप पं० जिनदास शास्त्रीने उस शेष भागपर संस्कृत टीका लिखी। उक्त संघकी अनुमतिसे वह टीका भी प्रस्तुत ग्रन्थके साथ प्रकाशित की जा रही है। इस टीकाके अवलोकनसे देखा जा सकता है कि प्राचीन विद्वान् टीकाकारोंकी परम्परा अभी भी सर्वथा विच्छिन्न नही हुई। जिनदासजी शास्त्री-जैसे कुछ विद्वान् अभी भी ऐसे प्रतिभाशाली हैं जो प्राचीन शैलीसे ही कठिन ग्रन्थोंकी सुविशद संस्कृत व्याख्या लिख सकते हैं। इस साहित्यिक कृतिके लिए हम पं० जिनदास शास्त्रीके कृतज्ञ हैं व उसे इस संस्करणमें समाविष्ट करनेकी अनुमति प्रदान करनेके लिए जैन संस्कृति संघ, शोलापुरके भी अनुगृहीत हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थमालाके प्रकाशनोंसे भारतीय एवं जैन साहित्य और संस्कृतिके अध्ययन-अनुसन्धानके कार्यमें जो सहायता मिल रही है वह सभी विद्वान् अनुभव करते हैं। इसके लिए ज्ञानपीठकी अध्यक्षा श्रीमती रमारानी तथा संरक्षक श्री शान्तिप्रसादजीका जितना उपकार माना जावे थोडा है। उनकी शुभ भावनाओंको मूर्तिमान स्वरूप देनेमें ज्ञानपीठके मंत्री श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जिस उत्साह और परिश्रमसे संलग्न हैं, वह स्तुत्य है। इसी शुभ भावना, उदारता, उत्साह और प्रयासके आधारपर आशा की जा सकती है कि ऐसे उपयोगी प्रकाशनोंका क्रम न केवल भविष्यमें चालू रहेगा, किन्तु उसमें और भी उन्नति और प्रगति हो सकेगी।

ही० ला० जैन,
आ० ने० उपाध्ये,
प्रधान सम्पादक

सम्पादकीय

एक वार स्व० श्रीनाथूरामजी प्रेमीने लिखा था कि सोमदेव सूरिने अपने यशस्तिलक महाकाव्यके अन्तिम तीन आश्वासोंमें श्रावकाचारका महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन किया है, उसका हिन्दी अनुवाद होना आवश्यक है। उसीसे मुझे सोमदेवकृत इस उपासकाध्ययनका हिन्दी अनुवाद करनेकी प्रेरणा मिली। यशस्तिलक श्रुतसागर सूरिकी (अपूर्ण) संस्कृत टीकाके साथ दो भागोंमें निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे प्रकाशित हो चुका था। उस मुद्रित प्रतिके आधारपर जब मैं अनुवाद कार्यमें प्रवृत्त हुआ तो मुझे लगा कि इसमें अशुद्धियाँ हैं। अतः मैंने खोजबीन करके टीकमचन्द जैन हाईस्कूल अजमेरके अध्यापक तथा अपने अन्यतम शिष्य पं० हेमचन्द्रजीके द्वारा अजमेर तेरापन्थी मन्दिरके भण्डारसे यशस्तिलकके अन्तर्गत उपासकाध्ययनकी हस्तलिखित प्रति प्राप्त की। वह प्रति बहुत शुद्ध और सटिप्पण थी। उससे मुझे अनुवादमें भी बहुत सहायता मिली, क्योंकि उपासकाध्ययनपर कोई टीका नहीं है और सोमदेव-जैसे महाकविके द्वारा रचित होनेके कारण उसमें अप्रसिद्ध शब्दोंके प्रयोगके साथ ही साथ शाब्दिक अनुप्रासका भी होना स्वाभाविक है। फलतः वर्णित विषयके कठिन न होनेपर भी सोमदेवके शब्दोंके अभिप्रायको समझनेमें पद-पदपर कठिनाई होती है। अतः सटिप्पण प्रतिके मिल जानेसे मुझे बहुत लाभ हुआ। मेरी कठिनाईमें कुछ कमी हुई, और अनुवाद कार्य पूरा होनेपर वह प्रति वापस कर दी गयी।

अनुवादका यह कार्य मैंने भारतवर्षीय दि० जैन संघके द्वारा काशीमें स्थापित जयधवला कार्यालयमें उसीके निमित्तसे किया था। दूसरे महायुद्धके कारण कागज मिलना दुर्लभ हो गया। अतः यह अनुवाद प्रकाशित नहीं हो सका। जब कागज कुछ सुलभ हुआ तो संघके प्रकाशन विभागने अपनी पूरी शक्ति जयधवलाके प्रकाशनमें ही लगाना उचित समझा। इससे उपासकाध्ययनके प्रकाशनकी व्यवस्थाके लिए भारतीय ज्ञानपीठ काशीके तत्कालीन व्यवस्थापक श्री बाबूलालजी फागुल्लके माध्यमसे ज्ञानपीठके मन्त्री बा० लक्ष्मीचन्द्रजीसे बातचीत हुई। उन्होंने मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके सम्पादक डॉ० प्रो० हीरालालजी तथा डॉ० प्रो० ए० एन० उपाध्येके परामर्शानुसार इसे मूर्तिदेवी ग्रन्थमालासे प्रकाशित करनेकी स्वीकृति दे दी। तब मैंने पुनः उस पुराने अनुवादकी ओर ध्यान दिया।

अनुवाद करते समय मैंने अजमेरकी जिस प्रतिका उपयोग किया था उसके आधारपर मुद्रित प्रतिका संशोधन कर लेनेपर भी मैंने बाकायदा उसके पाठान्तर नहीं लिये थे। अतः अब पुनः उसकी आवश्यकता प्रतीत हुई और मैंने पं० हेमचन्द्रजीको लिखा, तो उन्होंने मुझे सूचित किया कि भण्डारके प्रबन्धक अब किसी भी तरह बाहर भेजनेके लिए प्रति देनेको तैयार नहीं हैं। मुझे बड़ी निराशा हुई। तब श्रीबाबूलालजीने जयपुरसे पं० चैनसुखदासजीके माध्यमसे श्रीमहावीरजी अतिशय क्षेत्रके अनुसन्धान विभागके डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवालके द्वारा एक प्रति प्राप्त की। यह प्रति शुद्ध है, किन्तु इसमें कोई टिप्पण नहीं है। मुझे सटिप्पण प्रतिकी आवश्यकता थी। तब मुझे भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूनाकी उस प्रतिका स्मरण आया जिसका निर्देश प्रो० हान्दिकीने अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर'में किया है। मैंने बाबूलालजीसे कहा और उन्होंने पूनाको लिखा। थोड़ी-सी लिखा-पढ़ीके पश्चात् वहाँसे प्रति आ गयी, जो शुद्ध होनेके साथ सटिप्पण भी है। इन उदार विद्यारसिकोंका अनुकरण हमारे शास्त्रभण्डारोंके संरक्षकोंको भी करना चाहिए, और प्राचीन प्रतियोंको भण्डारोंमें आजन्म कैद न रखकर उन्हें अनुसन्धाताओं तथा सम्पादकोंके लिए सुलभ बनाना चाहिए।

इन्हीं दो प्रतियोंके आधारपर जिन्हें एक ही कहना उचित होगा क्योंकि दोनोंमें कदाचित् ही किञ्चित् पाठ-भेद पाया जाता है मैंने उपासकाध्ययनके मूल पाठको व्यवस्थित किया। इन प्रतियोंका परिचय नीचे दिया जाता—

सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका परिचय

[आ] भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीटयूट पूनासे प्राप्त प्रतिका नम्बर [illegible] है और नया नम्बर २१ है। इसकी पृष्ठ संख्या ४१४ है। प्रत्येक पत्रमें ९ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें ३४ अक्षर हैं। प्रत्येक पृष्ठके चारों ओरके हाशियोंपर टिप्पण दिये हुए हैं। ये टिप्पण श्रीदेवसेनकृत टिप्पणसे भी विशेष उपयोगी हैं। श्रीदेवकृत टिप्पण बहुत परिमित शब्दोंपर है। उनसे इस प्रतिके टिप्पण विस्तृत हैं। प्रतिके अन्तमें मूलग्रन्थ आठ हजार श्लोक परिमाण और टिप्पण दो हजार श्लोक परिमाण लिखे हैं। श्रीदेवकृत टिप्पण १२७५ श्लोक परिमाण ही है। मैंने प्रायः सभी टिप्पण इसी प्रतिके आधारसे दिये हैं। प्रतिका लेखनकाल संवत् १७४२ है। प्रतिके अन्तमें विस्तृत लेखक प्रशस्ति इस प्रकार दी हुई है—

संवत् १७४२ वर्षे भाद्रपदमासे शुक्लपक्षे चतुर्दशी तिथौ मंगलवासरे पूर्वाभाद्रपदनक्षत्रे धृतिनामयोगे साहि आलममोअमरराज्ये टोंकनगर राज्य प्रवर्तमाने श्रीशान्तिनाथ चैत्यालये श्रीमूलसंघे नन्द्याम्नाये बला-त्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्रीमन्नरेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीसुरेन्द्रकीर्ति-देवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री ५ जगत्कीर्तिजी तदाम्नाये खण्डेलवालान्वये सोनीगोत्रे साहहीरा तद्भार्या हीरादे तत्पुत्रौ द्वौ प्र० सा० चतुर्भुज तद्भार्या चतरंगदे द्वितीयपुत्र सा० मोहनदास तस्य तृतीयभार्या मुक्तादे तौ द्वौ पुत्रौ मध्ये प्र० पुत्र सा० चतुर्भुज तत्पुत्रौ द्वौ प्रथम पुत्र सा० जगन्नाथ भार्या जादमदे द्वितीयपुत्र सा० श्यामदास भार्या सुहागदे तत्पुत्र चिरंजीव लोकमणि भार्या लोकमदे एतयोर्द्वयो पुत्रयोर्मध्ये दशभरत जिनचन्द्रनामानंतर गुरुभक्तिपरायण दयादान तत्परपरमरति दु० सं० श्यामदासेनेदं यशस्तिलकं पुस्तकं आचार्यजी श्री ५ ज्ञानकीर्तये दशलाक्षणव्रत उद्यापनार्थं प्रदत्तमाज्ञा। ज्ञानदानात् भवेत् ज्ञानी सुखी चाध्यमदानतः। निर्भयो जीवदानेन नीरोगो भेषजाद् भवेत् ॥१॥ शुभमस्तु॥ पुस्तकमिदं यावत् चन्द्रदिवाकरधराधरधरा वर्तन्ते तावत् तिष्ठतु ॥ श्री जिन सदा जयतु।

इस प्रशस्तिका आशय यह है कि संवत् १७४२ में भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशीके दिन खण्डेलवाल जातीय श्यामदास सोनीने यह यशस्तिलक-नामकी पुस्तक आचार्य ज्ञानकीर्तिके लिए दशलाक्षणव्रतके उद्यापन-के लिए प्रदान की। पूनाकी इस प्रतिको आदर्शप्रति मानकर हमने 'आ' संज्ञा प्रदान की है।

[ज] – जयपुरवाली प्रतिको ज संज्ञा दी गयी है। यह प्रति जयपुरके दि० जैनमन्दिर बड़ा तेरह पन्थियोंके शास्त्रभण्डारकी है। प्रति शुद्ध है अक्षर भी सुन्दर और स्पष्ट हैं। इसकी पत्रसंख्या १४४ है। प्रत्येक पृष्ठमें ११ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें १५ से १८ तक अक्षर हैं। कागज जीर्ण हो चला है। संवत् १७२१ की लिखी हुई है। अर्थात् पूनाकी प्रतिसे २१ वर्ष प्राचीन है। अन्तमें लेखक प्रशस्ति भी है किन्तु अक्षर अस्पष्ट हो गये हैं। प्रशस्ति इस प्रकार है।

'सम्वत् १७२१ मिति फागुन सिताद् अष्टमी शुक्लपक्ष वार बृहस्पतिवार अंबावती नगरमध्ये महाराजाधिराज पुस्तक लिखायितं। विमलनाथ चैत्यालय मूलसंघे। लिखितं गोमिटोदास जाति बूंदीवाल।

[मु] – निर्णयसागर प्रेससे प्रथम बार मुद्रित प्रतिको मु संज्ञा दी गयी है।

उक्त प्रतियोंके सिवाय इस ग्रन्थके संशोधनमें दो अन्य प्रतियोंका उपयोग परोक्ष रूपसे किया गया है।

[अ०] – केकड़ी (राजस्थान) के पं० दीपचन्दजी पाण्ड्याने वीरसेवा मन्दिर सरसावासे प्रकाशित मासिकपत्र अनेकान्तके ५वें वर्षकी १२ किरणमें यशस्तिलकका संशोधन प्रकाशित किया था। पाण्ड्याजीके लेखानुसार यह संशोधन दि० जैन बड़ा मन्दिर मुहल्ला सरावगी अजमेरके अध्यक्ष भट्टारक

सम्पादकीय

श्री हर्षकीर्ति महाराजकी कृपासे प्राप्त प्रतिके आधारसे किया गया है। इस प्रतिकी पत्रसंख्या ४०० है और वि० स० १८५८ में लिखी गयी है। मैंने उन संशोधनोंका भी उपयोग प्रकृत ग्रन्थके सम्पादनमें किया है और उन्हें 'अ' संज्ञा दी है।

[ब] – संस्कृत विश्वविद्यालयमें जैनदर्शनके प्राध्यापक प० अमृतलालजी साहित्यके भी रसिक विद्वान् हैं। उन्होंने ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बईकी प्रतिसे अपनी यशस्तिलक पुस्तकमें पाठान्तर लिये थे। उनका भी उपयोग मैंने इस ग्रन्थके सम्पादनमें किया है और उन्हें 'ब' संज्ञा दी है।

अनुवादके सम्बन्धमें

प्रकृत उपासकाध्ययनका अनुवाद कार्य कितना कठिन है इसका अनुभव मुझे पद-पदपर हुआ है। सोमदेव सूरिका पाण्डित्य अपूर्व था। वे तार्किक, महाकवि आदि सभी कुछ थे जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। नवीन शब्दोंका उनके पास भण्डार था। फिर वे साहित्यिक शैलीकी संयोजनामें भी चतुर थे। उनकी इन सब विशेषताओंके कारण उपासकाध्ययनकी पदरचना प्रसन्न होनेके साथ दुरूह भी हो गयी है। इसके सिवाय उन्होंने अपने उपासकाध्ययनमें कुछ ऐसे भी विषयोंका समावेश किया है जिनकी चर्चा जैन शास्त्रोंमें नहीं पायी जाती। शैवदर्शनकी प्रक्रिया ऐसे ही विषयोंमें है। शैव तन्त्रसाधनाके ज्ञाता विद्वान् आज काशीमें भी नहींके तुल्य हैं। फलतः उससे सम्बद्ध श्लोकोंका भाव स्पष्ट नहीं हो सका। और ऐसे दो श्लोकोंका अर्थ जो ध्यानविधिमें आये हैं छोड़ देना पड़ा है। जहाँतक शक्य हुआ मैंने ग्रन्थके भावको स्पष्ट करनेमें अन्य विद्वानोंका भी निःसकोच साहाय्य लिया, फिर भी यह लिखनेमें असमर्थ हूँ कि मुझे अपने अनुवादसे पूर्ण सन्तोष है या मेरा अनुवाद निर्दोष है।

उपासकाध्ययनमें आगत कथाओंका मैंने शब्दशः अनुवाद नहीं किया है, भावानुवाद ही उसे समझना उपयुक्त होगा।

आभार प्रदर्शन

अन्तमें मैं इस ग्रन्थके सम्पादन आदिमें साहाय्य देनेवाले अपने सब सहयोगियोंका आभार स्वीकार करना अपना परम कर्तव्य मानता हूँ। सबसे प्रथम आभार तो मैं उन विद्वानोंका मानता हूँ जिन्होंने मुझे इस ग्रन्थके सम्पादनमें साहाय्य दिया। प० अमृतलालजीसे मुझे बहुत साहाय्य मिला और उनके साहित्यिक ज्ञानसे मैं लाभान्वित हुआ। केकड़ीके प० रतनलालजी कटारिया अभी नवयुवक हैं, मेरा उनसे साक्षात् परिचय तो गत मई मासमें भीलवाड़ामें हुआ। उन्हें देखकर कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि इस दुबले पतले नवयुवकमें इतना अनुभवपूर्ण ज्ञान वर्तमान है। उन्होंने मुझे लम्बे लम्बे पत्रोंके द्वारा अनेक श्लोकोंको स्पष्ट करनेमें निःसकोच मदद दी। उन्हींसे मुझे प्रबोधसार और धर्मरत्नाकर ग्रन्थोंकी सूचना प्राप्त हुई कि इन ग्रन्थोंमें उपासकाध्ययनका अनुकरण किया गया है या उसके श्लोक उद्धृत हैं।

इसी तरह केकड़ीके ही दूसरे विद्वान्, प० दीपचन्दजी पाड्यासे भी मुझे साहाय्य मिला है। अजमेरके प० हेमचन्द्रजीके द्वारा मुझे अजमेरकी प्रति प्राप्त हुई थी। देहलीके लाला पन्नालालजी अग्रवालके द्वारा पंचायती मन्दिर देहलीकी धर्मरत्नाकर तथा श्रीदेवकृत टिप्पणकी प्रति प्राप्त हुई। प्रतियोंकी प्राप्तिमें प० परमानन्दजी देहलीसे भी सहयोग मिला। अतः उन सभी विद्वानोंका मैं हृदयसे आभार स्वीकार करता हूँ।

भारतीय ज्ञानपीठके मन्त्री बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी, तथा मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके सम्पादक डॉ० हीरालालजी तथा डॉ० ए० एन० उपाध्ये कोल्हापुरका भी आभारी हूँ। उन्हींके प्रयत्नसे यह ग्रन्थ इस रूपमें मूर्तिदेवी ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो सका है। डॉ० उपाध्येने तो इसकी रूपरेखा निर्धारित करनेके सिवाय प्रारम्भके

समय आगे फार्मोंके अन्तिम प्रूफोंको देखनेका भी कष्ट उठाया है। पं. बाबूलालजी फागुल्लके सहयोगके लिए उन्हें भी धन्यवाद देता हूँ।

सबसे अन्तमें मैं 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर' के विद्वान् लेखक डॉ. कृष्णकान्त हान्दिकीको और उसकी प्रकाशिका श्री जीवराज जैन ग्रन्थमालाके संचालकोंको हृदयसे धन्यवाद देता हूँ। उनकी उक्त पुस्तकको पढ़कर मुझे बड़ी प्रेरणा मिली। मेरी यह भावना रही कि इस पुस्तकका हिन्दीमें अनुवाद प्रकाशित हो। मैंने इसके लिए एकाध बार जीवराज जैन ग्रन्थमालाके संचालकोंको प्रेरणा भी की। किन्तु ऐसे विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थका प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर सकना कठिन था। मैंने उसके आवश्यक अंशोंका भाव अपनी इस प्रस्तावनामें दे दिया है किन्तु उसमें मेरे अपने भाव भी सम्मिलित हैं इसीसे मैंने डॉ. हान्दिकीका उल्लेख नहीं किया है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मेरी प्रस्तावनाका पूर्व भाग डॉ. हान्दिकीका ऋणी है। और उनके इस ग्रन्थसे मुझे प्रस्तुत ग्रन्थके सम्पादनमें भी साहाय्य मिला है।

एक बार पुनः मैं अपने स्मृत और विस्मृत सहयोगियोंको धन्यवाद देते हुए विज्ञ पाठकोंसे अपनी त्रुटियोंके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ क्योंकि — को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।

दशलाक्षण पर्व २४९

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय

वाराणसी

जिनवाणीसेवक

कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावना तथा सम्पादनमें उपयुक्त ग्रन्थसूची

अनगार धर्मामृत	माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई (काशी)
अनेकान्त (मासिक पत्र)	वीरसेवामन्दिर, देहली
अमितगति श्रावकाचार	दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत
अभिधानराजेन्द्र (कोष)	
अष्टसहस्री	गान्धी नाथारंग ग्रन्थमाला, शोलापुर
आचारसार	माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, काशी
आत्मानुशासन	ब्र० जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर
आप्तपरीक्षा	वीरसेवामन्दिर, देहली
आप्तमीमांसा	सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी
आप्तस्वरूप	सिद्धान्तसारादि संग्रहमें – मा० ग्र०, काशी
आराधनासार	,,
कर्पूरमंजरी	चौखम्बा संस्कृत सिरीज, काशी
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	श्री रायचन्द शास्त्रमाला, अगास
चरित्तपाहुड	षट्प्राभृतसंग्रहके अन्तर्गत – मा० ग्र०, काशी
चारित्रसार	,,
जैनसाहित्य और इतिहास	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई
जैनिज्म इन साउथ इण्डिया	ब्र० जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर
ज्ञानार्णव	रायचन्द शास्त्रमाला, बम्बई
तत्त्वसंग्रह	गायकवाड संस्कृत सिरीज, बड़ौदा
तत्त्वानुशासन	तत्त्वानुशासनादिसंग्रहके अन्तर्गत मा० ग्र०, काशी
तत्त्वार्थवार्तिक	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	गान्धी नाथारंग ग्रन्थमाला, शोलापुर
तत्त्वार्थसूत्र	
तत्त्वोपप्लव सिंह	गायकवाड संस्कृत सिरीज, बड़ौदा
दानशासन	पं० वर्धमान शास्त्री, शोलापुर
द्रव्यसंग्रह टीका	श्री गणेशवर्णी ग्रन्थमाला, खरखरी, (बिहार)
धर्मरत्नाकर	दि० जैन मन्दिर पंचायती, देहली
धर्मसंग्रहश्रावकाचार	बा० सूरजभानु वकील, देवबन्द
नीतिवाक्यामृत	मा० जै० ग्र०, बम्बई, (काशी)
नीतिसार	तत्त्वानुशासनादिसंग्रहके अन्तर्गत – मा० ग्र०, काशी
न्यायविनिश्चयविवरण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
पउमचरिउ	जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर
पञ्चसंग्रह प्राकृत	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
पञ्चसंग्रह संस्कृत	माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई (काशी)
पञ्चास्तिकाय	रायचन्द शास्त्रमाला, बम्बई
पद्मचन्द्रकोष	मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर

लगभग आधे फार्मोंके अन्तिम प्रूफोंको देखनेका भी कष्ट उठाया है। पं. बाबूलालजी फागुल्लके सहयोगके लिए उन्हें भी धन्यवाद देता हूँ।

सबसे अन्तमें मैं 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर' के विद्वान् लेखक डॉ. कृष्णकान्त हान्दिकीको और उसकी प्रकाशिका श्री जीवराज जैन ग्रन्थमालाके संचालकोंको हृदयसे धन्यवाद देता हूँ। उनकी उक्त पुस्तकको पढ़कर मुझे बड़ी प्रेरणा मिली। मेरी यह भावना थी कि इस पुस्तकका हिन्दीमें अनुवाद प्रकाशित हो। मैंने इसके लिए एकाध बार जीवराज जैन ग्रन्थमालाके संचालकोंको प्रेरणा भी की। किन्तु ऐसे विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थका प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर सकना कठिन था। मैंने उसके आवश्यक अंशोंका सार अपनी इस प्रस्तावनामें दे दिया है किन्तु उसमें मेरे अपने भाव भी सम्मिलित हैं इसीसे मैंने डॉ. हान्दिकीका उल्लेख नहीं किया है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मेरी प्रस्तावनाका पूर्व भाग डॉ. हान्दिकीका ऋणी है। और उनके इस ग्रन्थसे मुझे अपने ग्रन्थके सम्पादनमें भी साहाय्य मिला है।

एक बार पुनः मैं अपने स्मृत और विस्मृत सहयोगियोंको धन्यवाद देते हुए विज्ञ पाठकोंसे अपनी त्रुटियोंके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ क्योंकि – 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे'।

दशलाक्षण पर्व २४९ — जिनवाणीसेवक

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय — कैलाशचन्द्र शास्त्री

वाराणसी

प्रस्तावना तथा सम्पादनमें उपयुक्त ग्रन्थसूची

अनगार धर्मामृत	माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई (काशी)
अनेकान्त (मासिक पत्र)	वीरसेवामन्दिर, देहली
अमितगति श्रावकाचार	दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत
अभिधानराजेन्द्र (कोष)	
अष्टसहस्री	गान्धी नाथारंग ग्रन्थमाला, शोलापुर
आचारसार	माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, काशी
आत्मानुशासन	ब्र० जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर
आप्तपरीक्षा	वीरसेवामन्दिर, देहली
आप्तमीमांसा	सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी
आप्तस्वरूप	सिद्धान्तसारादि संग्रहमें – मा० ग्र०, काशी
आराधनासार	,,
कर्पूरमंजरी	चौखम्बा संस्कृत सिरीज, काशी
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	श्री रायचन्द शास्त्रमाला, अगास
चरित्तपाहुड	षट्प्राभृतसंग्रहके अन्तर्गत – मा० ग्र०, काशी
चारित्रसार	,,
जैनसाहित्य और इतिहास	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई
जैनिज्म इन साउथ इण्डिया	ब्र० जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर
ज्ञानार्णव	रायचन्द शास्त्रमाला, बम्बई
तत्त्वसंग्रह	गायकवाड संस्कृत सिरीज, बडौदा
तत्त्वानुशासन	तत्त्वानुशासनादिसंग्रहके अन्तर्गत मा० ग्र०, काशी
तत्त्वार्थवार्तिक	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	गान्धी नाथारंग ग्रन्थमाला, शोलापुर
तत्त्वार्थसूत्र	
तत्त्वोपप्लव सिंह	गायकवाड संस्कृत सिरीज, बडौदा
दानशासन	पं० वर्धमान शास्त्री, शोलापुर
द्रव्यसंग्रह टीका	श्री गणेशवर्णी ग्रन्थमाला, खरखरी, (बिहार)
धर्मरत्नाकर	दि० जैन मन्दिर पंचायती, देहली
धर्मसंग्रहश्रावकाचार	बा० सूरजभानु वकील, देवबन्द
नीतिवाक्यामृत	मा० जै० ग्र०, बम्बई, (काशी)
नीतिसार	तत्त्वानुशासनादिसंग्रहके अन्तर्गत – मा० ग्र०, काशी
न्यायविनिश्चयविवरण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
पउमचरिउ	जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर
पञ्चसंग्रह प्राकृत	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
पञ्चसंग्रह संस्कृत	माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई (काशी)
पञ्चास्तिकाय	रायचन्द शास्त्रमाला, बम्बई
पद्मचन्द्रकोष	मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका	ब्र जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुर
पद्मपुराण	भारतीय ज्ञानपीठ काशी
परमात्मप्रकाश	रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई
पात्रकेसरी स्तोत्र	तत्त्वानुशासनादिसंग्रहके अन्तर्गत – मा ग्र काशी
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई
प्रबोधसार	सेठ रावजी सखाराम दोशी शोलापुर
प्रमाणवार्तिक	काशीप्रसाद जायसवाल इन्स्टीट्यूट पटना
प्रमेयरत्नमाला	पं फूलचन्द्रजी शास्त्री द्वारा सम्पादित-प्रकाशित
भगवती आराधना	*सेठ रावजी सखाराम दोशी शोलापुर*
भावसंग्रह	माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला काशी
मनुस्मृति	चौखम्बा संस्कृत सिरीज काशी
महापुराण	भारतीय ज्ञानपीठ काशी
माठरवृत्ति	चौखम्बा संस्कृत सिरीज काशी
माध्यमिककारिका	बिब्लोथिका बुद्धिका रशिया
यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर	ब्र जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुर
याज्ञवल्क्यस्मृति	निर्णयसागर प्रेस बम्बई
योगशास्त्र	हेमचन्द्राचार्य रचित
योगसूत्र	चौखम्बा संस्कृत सिरीज काशी
रत्नकरण्डश्रावकाचार	मा ग्र काशी
रत्नमाला	सिद्धान्तसारादिसंग्रहके अन्तर्गत – मा ग्र काशी
लाटीसंहिता	मा ग्र काशी
वरांगचरित	मा ग्र काशी
वसुनन्दिश्रावकाचार	भारतीय ज्ञानपीठ काशी
विषापहार स्तोत्र	धनंजयकवि रचित
वेदान्तसूत्र	चौखम्बा संस्कृत सिरीज काशी
वैशेषिकदर्शन	
वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म	डॉ भण्डारकर, पूना
बृहत्संहिता	सुब्रह्मण्य शास्त्री बेंगलोर
शिवपुराण	सनातनधर्म प्रेस मुरादाबाद
श्रुतसागरीवृत्ति	भारतीय ज्ञानपीठ काशी
षट्खण्डागम	सेठ शिताबराय लखमीचन्द भेलसा
सर्वार्थसिद्धि	भारतीय ज्ञानपीठ काशी
सागारधर्मामृत	दि जैन पुस्तकालय सूरत
सावयधम्मदोहा	जैन सोसायटी कारंजा
सुभाषितरत्नसन्दोह	निर्णयसागर प्रेस बम्बई
सौन्दरनन्दकाव्य	पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर
हरिवंशपुराण	भारतीय ज्ञानपीठ काशी
हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र	पी वी काणे पूना

प्रस्तावनाकी विषयसूची

प्रस्तावना

प्रस्तुत उपासकाध्ययन सोमदेव सूरिकृत यशस्तिलकके अन्तिम तीन आश्वास हैं। स्वयं सोमदेवने इन्हें उपासकाध्ययन नाम दिया है।[1] यशस्तिलकमें सोमदेव केवल यशोधर महाराजकी कथा न कहकर कुछ 'और' भी कहना चाहते थे। इस 'और' को समझनेके लिए यशस्तिलककी समग्र कथावस्तु तथा उसमें आये आनुषगिक प्रसगोका परिचय आवश्यक है। इसी दृष्टिसे प्रस्तावनाको दो भागोमें विभक्त किया है। पूर्वभागमें यशस्तिलककी कथावस्तु, उपासकाध्ययन तथा आनुषगिक प्रसगोका विवेचन है और उत्तरभागमें उपासकाध्ययनका तुलनात्मक अध्ययन।

पूर्वभाग

[१] यशस्तिलककी कथावस्तु

यौधेय देशमें राजपुर नामका एक सुन्दर नगर था। उसमें चण्डमहासेनका पुत्र राजा मारदत्त राज्य करता था। वह नृग, नल, नहुष, भरत, भागीरथ और भगदत्त नामके प्राचीन राजाओंसे भी पराक्रमशाली था। उसके अन्त पुरमें आन्ध्र, चोल, केरल, सिंहल, कर्नाट, सौराष्ट्र, कम्बोज, पल्लव और कलिंग देशकी सुन्दरियोका निवास था।

एक दिन वीरभैरव नामके कुलाचार्यने उससे कहा, "राजन्, तुम्हारी राजधानीमें जो चण्डमारीदेवीका मन्दिर है, उसमें यदि देवीके सामने सब प्रकारके प्राणियोकी बलि दी जाये और समस्त लक्षणोंसे युक्त मनुष्य-युगलका वध तुम स्वय अपने हाथसे करो तो तुम्हें विद्याधरोंके लोकको विजय करनेवाली तलवारकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है।" यह सुनकर मारदत्त राजाने असमयमें ही महानवमीकी पूजाके बहानेसे समस्त जनताको मन्दिरमें बुलवाया और देवीके पादपीठके निकट बैठकर अपने रक्षक अनुचरोंको सब लक्षणोंसे युक्त मनुष्य-युगल खोजकर लानेका आदेश दिया।

चण्डमारीका मन्दिर बडा भयानक था, उसे देखकर स्वय मृत्यु भी भयभीत होती थी। उसका परिसर प्रलयकालकी रात्रिकी तरह भयानक महायोगिनियोंसे भरा हुआ था और अन्धभक्तोंका झुण्ड विविध प्रकारकी आत्मयन्त्रणाओंमें सलग्न था। कहीं साधक अपने सिरोंपर गुग्गुल जला रहे थे, कही अपनी शिराओंको दीपककी तरह जलाते थे, कहीं रुद्रको प्रसन्न करनेके लिए अपना रुधिरपान करते थे, कही कापालिक अपने शरीरसे मास काटकर बेचते थे, कहीं अपनी आँतें निकालकर मातृकाओंको प्रसन्न करते थे और कहीं अग्निमें अपने मासकी आहुति देते थे।

इसी समय सुदत्त नामके जैनाचार्य मुनिसघके साथ राजपुर पधारे। नगरके बाहर एक सुन्दर उद्यान था, वहाँ सुन्दरियोंके साथ युवा पुरुष क्रीडामें मग्न थे। ऐसे स्थानको मुनियोंके आवासके अयोग्य जानकर सुदत्ताचार्य आगे बढ़ गये। आगे श्मशान भूमि थी। उससे आगे एक पर्वत था। उसीपर वह ठहर गये और मध्यकालीन कृतिकर्मसे निवृत्त होकर उन्होंने साधुओंको निकटवर्ती ग्रामोमें गोचरी करनेका आदेश दिया।

उन साधुओंमें दो मुनिकुमार भी थे। एकका नाम अभयरुचि था और दूसरेका नाम अभयमती। दोनों सहोदर भाई-बहन थे और यशोधर महाराजके पुत्र यशोमतीकी रानी कुसुमावलीके गर्भसे दोनों यमज उत्पन्न हुए थे। कुसुमावली राजा मारदत्तकी बहन थी। दोनोंने कुमार अवस्थामें ही क्षुल्लकके व्रत ग्रहण

---

१ इयता ग्रन्थेन मया प्रोक्तं चरितं यशोधरनृपस्य।
इत उत्तर तु वक्ष्ये श्रुतपठितमुपासकाध्ययनम्॥ यश०, आश्वास पाँच।

लिये थे और सुदत्ताचार्यके साथ रहते थे। आचार्यने उन दोनोंको नगरमें भोजनके लिए जानेका आदेश दिया। मार्गमें बलिके निमित्त एक मनुष्य-युगलको लानेके लिए भेजे गये राजसेवकोंसे उनकी मुठभेड़ हो गयी। सेवकोंने उनसे बहाना किया कि आपके शुभागमनको जानकर एक महान् गुरु भवानीके मन्दिरमें आपके दर्शनोंके लिए उत्सुक हैं अतः इस ओर पधारनेकी कृपा करें। सेवकोंकी भीषण आकृतिसे उन्हें किसी भावी अनिष्टकी आशंका तो हुई किन्तु सब कुछ दैवपर छोड़कर वे दोनों मन्दिरकी ओर चल दिये।

चण्डमारीके उस महाभैरव नामके मन्दिरका दृश्य बड़ा विचित्र था। बलिके लिए लाये गये सब प्रकारके प्राणियोंसे मन्दिरका आँगन भरा हुआ था। उन्मत्त रक्षक उनकी रखवालीके लिए नियुक्त थे। उनके शस्त्रोंको देखकर भेड़ भैंसे ऊँट हाथी और घोड़े डरसे काँप रहे थे। अपने रुधिरके प्यासे राक्षसोंको देखकर मगर, मच्छ मेढक कच्छप आदि जलचर जन्तु त्रस्त थे। क्रौंच चकवे मुर्गे जलकाक राजहंस आदि विविध प्रकारके पक्षियोंकी भी यही दशा थी। सिंह और भालू-जैसे हिंसक जन्तुओंमें भी भय छाया हुआ था। राजाके द्वारा मनुष्य-युगलका बलिदान होनेके पश्चात् इन सबका संहार होनेवाला था।

दोनों मुनिकुमारोंने मन्दिरके आँगनके मध्यमें तलवार खींचकर खड़े हुए राजा मारदत्तको देखा। उस समय वह ऐसा प्रतीत होता था मानो नदीके मध्यमें कोई पहाड़ खड़ा है और उसपर फणा उठाये हुए एक सर्प बैठा है। वहाँके भयानक वातावरणको देखकर अभयरुचिने धीरतापूर्ण दृष्टिसे अपनी बहनकी ओर देखा। उसके आशयको समझकर अभयमतिने भी निःशंकचित्तसे अपने भाईके मुखकी ओर देखा। भाई बहनकी ओरसे आश्वस्त हुआ।

उधर मारदत्त दोनों मुनिकुमारोंको देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ उसके लोचनोंसे क्रूरता चली गयी सब इन्द्रियाँ करुणरसमें निमग्न हो गयीं। उसने मुनिकुमारोंको आसनपर बैठाया और विचारने लगा इन मुनिकुमारोंको देखकर मेरा हृदय क्यों शान्त हो गया? क्यों मेरा आत्मा आनन्दसे गद्गद हो रहा है कहीं ये दोनों मेरे भानजा भानजी तो नहीं हैं? उस दिन मैंने दैवज्ञसे सुना था कि वे दोनों कुमार बचपनमें ही गृहत्यागी बन गये हैं।

राजाकी परिवर्तित प्रसन्नमुद्राको देखकर दोनों मुनिकुमारोंने राजाको आशीर्वाद दिया। राजाने दोनों-की आशीर्वादात्मक मधुरवाणीसे अति प्रसन्न होकर पूछा आपका कौन-सा देश है किस कुलको आपने अपने जन्मसे शोभित किया है और बाल्यावस्थामें ही आपने यह प्रव्रज्याका मार्ग क्यों स्वीकार किया? कृपया बतानेका कष्ट करें।

मुनिकुमार बोला 'राजन्! यद्यपि मुनिजनोंके लिए अपना देश कुल और दीक्षाका कारण बतलाना उचित नहीं है तथापि कुतूहल हो तो सुनिए—[प्रथम आश्वास]

अवन्ती जनपदमें उज्जैनी नामकी नगरी है। उसमें यशोर्घ नामका राजा राज्य करता था। उसकी पत्नीका नाम चन्द्रमती था। राजा यशोर्घ और रानी चन्द्रमतीके यशोधर नामका पुत्र था।

एक दिन राजा यशोर्घने अपने सिरमें एक सफेद बाल देखा और अपने पुत्र यशोधरके विवाह तथा राज्यारोहणका आदेश देकर साधु हो गये। बादको समारोहपूर्वक अमृतमतीके साथ यशोधरका विवाह हुआ और विवाहके पश्चात् राज्याभिषेक हुआ। [द्वितीय आश्वास]

तीसरे आश्वासमें राजा यशोधरकी दिनचर्या राजव्यवस्था आदिका विस्तृत वर्णन है।

एक दिन राजा यशोधर अपनी रानी अमृतमतीके महलमें सोनेके लिए गया। मध्यरात्रिके समय उसने देखा कि उसकी रानी शय्या छोड़कर उठी। आँख मूँदकर लेटे हुए राजाकी ओर बड़े ध्यानसे देखा और उसे सोया हुआ जानकर अपने वस्त्राभूषण उतार दासीके वस्त्र पहनकर जल्दीसे महलसे निकल गयी। राजाको सन्देह हुआ। वह तुरत उठकर पंजोंके बल उसके पीछे-पीछे चल दिया।

रानीने एक पीलवानके झोंपड़ेमें प्रवेश किया। उसका नाम अष्टवंक था। वह बड़ा ही बदसूरत और कुबड़ा था। रानीके देरतक सिर रखकर पयालपर पड़ा सोया था। रानी उसके पैरोंके पास बैठ गयी और

हाथ पकड़कर उसे जगाने लगी। रानीके देरसे आनेके कारण कुबड़ा क्रुद्ध होकर उसे मारने लगा। एक हाथसे उसने रानीके बालोंको खींचा और दूसरे हाथसे घूसे लगाये। रानी उसकी अनुनय-विनय करते हुए बोली कि जब मैं यशोधरके साथ थी तब भी मेरे हृदयमें तुम ही विराजमान थे, यदि मेरा कथन असत्य हो तो भगवती कात्यायनी मुझे खा जाये।

राजा यशोधर यह सब कृत्य देख रहा था। एक बार तो उन दोनोंका वध करनेके लिए अपनी तलवार खींचना चाही, किन्तु अपने पुत्र बालक यशोमतिकुमारके मातृवियोगके दु खकी सम्भावनासे तथा निन्दाके भयसे अपनेको शान्त करनेका प्रयत्न किया। राजा यशोधर महलमें लौटकर सोनेका बहाना करके लेट गया और रानी अमृतमती भी चुपचाप आकर उसके पास ऐसे सो गयी, मानो कुछ हुआ ही नही।

किन्तु यशोधर फिर सो न सका, उसका अन्त करण घोर वेदनासे हाहाकार करने लगा और स्त्री मात्रके प्रति उसे तीव्र घृणा हो गयी। उसने अपने पुत्र यशोमतिकुमारको राज्य देकर ससारको छोड देनेका विचार किया।

प्रात काल होनेपर राजा यशोधर सभामण्डपमे पहुँचा। उसकी माता चन्द्रमती भी आयीं। स्तुति-पाठकने कुछ श्लोक पढे, जो राजाके मानसिक विचारोके अनुकूल थे। राजाने प्रसन्न होकर उसे पारितोषिक प्रदान करनेका आदेश दिया।

यह देखकर माता चन्द्रमतीके मनमें सन्देह हुआ। वह सोचने लगी, आज मेरे पुत्रका मन समारसे विरक्तिकी ओर क्यों है ? कही महादेवीके महलमें तो कोई वैराग्यका कारण उपस्थित नही हुआ ? मेरी अनिच्छाके होते हुए भी मेरे पुत्रने अपनी रानीको बडी स्वतन्त्रता दे रखी है। मेरी दासपुत्रीने एक दिन कहा भी था कि आपकी पुत्रवधूका उस कुबडेसे प्रेम ज्ञात होता है।

यह सोचकर माताने यशोधरसे उसकी उदासीका कारण पूछा। यशोधरने पूर्वनिर्धारित योजनाके अनुसार अपनी मातासे कहा कि मैने एक स्वप्न देखा है कि मैं अपने पुत्रको राज्य देकर ससारसे विरक्त हो गया हूँ। माताने स्वप्नोपर ध्यान न देनेका आग्रह करते हुए अन्तमें कहा कि यदि तुझे दुःस्वप्नका भय है तो शान्तिके लिए कुलदेवताके सामने समस्त प्रकारके प्राणियोकी बलि देनी चाहिए।

पशुओके बलिदानकी बात सुनकर यशोधरके चित्तको बडा कष्ट हुआ। पशुबलिको लेकर माता और पुत्रमें शास्त्राधारपूर्वक वार्तालाप हुआ, किन्तु राजा माताके मतसे सहमत नही हो सका। माताने सोचा मेरे पुत्रको जैनधर्मकी हवा लगी प्रतीत होती है। उस दिन पुरोहितके पुत्रने कहा भी था कि आज राजा एक वृक्षमूल-निवासी दिगम्बरसे मिला था। उसी दिनसे न तो यह मधु-मासका सेवन करता है, न शिकार खेलता है, न पशुबलि करता है और श्रुति-स्मृतिके प्रमाण उपस्थित करनेपर उनके विरुद्ध उत्तर देता है।

यह सोचते ही दिगम्बरोंके विरुद्ध माताका क्रोध भडक उठा और वह उनकी निन्दा करने लगी। किन्तु पुत्र उनका समर्थन ही करता गया। जब माताने शिव, विष्णु और सूर्यकी पूजा करनेपर जोर दिया तो पुत्रने ब्राह्मणधर्मकी कमजोरियाँ बतलाते हुए अनेक शास्त्रोंके आधारपर जैनधर्मकी प्राचीनता और महत्ताका ही समर्थन किया।

अन्तमें माता चन्द्रमतीने निराश होकर अपने पुत्रको इस बातके लिए सहमत किया कि आटेका एक मुर्गा बनाकर देवीके सामने उसकी बलि दी जाये।

रानी अमृतमतीको राजसभाका सब समाचार मिला। वह तुरन्त समझ गयी कि स्वप्नकी बात असत्य है और राजाको मेरा रहस्य ज्ञात हो गया है। उसने तुरन्त आगेका अपना कार्यक्रम निश्चित करके एक मन्त्रीके द्वारा यशोधरको कहलाया कि राजाको दु स्वप्नके फलसे बचानेके लिए मैं स्वय देवीके सामने अपनी बलि देनेको तैयार हूँ। तथा यदि राजाने ससारको त्यागनेका ही निश्चय किया है तो सीता, द्रौपदी और अरुन्धती आदिकी तरह मुझे भी वनमें साथ चलनेकी आज्ञा दी जाये। उसने देवीकी पूजाके पश्चात् राजा और उसकी माताको अपने महलमें भोजनके लिए भी आमन्त्रित किया और यशोधरने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

चण्डमारी देवीके सामने आटेके बने मुर्गेको राजा यशोधरने उसी विधिसे काटा जिस विधिसे जीवित मुर्गा काटा जाता है और उसे मांसके रूपमें पकाकर खाया भी।

दूसरे दिन अमृतमतीके महलमें राजा यशोधर, माता चन्द्रमती, पुत्र यशोमतिकुमार तथा पुत्रवधूका भोजन हुआ। अमृतमतीने अपने पति तथा सासके भोजनमें विष मिला दिया। भोजन करनेके बाद दोनोंका प्राणान्त हो गया। [चतुर्थ आश्वास]

मुनिकुमार कहता गया, हिमालयसे दक्षिणमें सुवेला नामका पर्वत है। उस पर्वतकी उपत्यकामें एक वृक्ष है। यशोधर मरकर उस वृक्षपर मयूरकुलमें उत्पन्न हुआ। उसे एक शिकारीने पकड़कर राजा यशोमतिकुमारको भेंट कर दिया। राजमहलको देखते ही मयूरको अपने पूर्व-जन्मका स्मरण हो आया।

उधर राजमाता चन्द्रमती मरकर विन्ध्याचलके दक्षिणमें स्थित करहाट देशमें कुत्ता हुई। संयोगवश उसके स्वामीने वह कुत्ता भी यशोमतिकुमारको भेंट कर दिया।

एक दिन मयूर राजमहलके सातवें खण्डपर जा पहुँचा और उसने अपने पूर्वभवकी पत्नी रानी अमृतमतीको कुबड़ेके साथ रतिसुखमें निमग्न देखा। देखते ही मयूर क्रोधसे उन्मत्त हो गया और अपनी चोंच पंख और नखोंसे उसने दोनोंपर प्रहार किया। दासियोंने यह देखकर घोर मचाया और जो कुछ भी उनके हाथमें आया उसीसे मयूरको मारने लगीं। शोर सुनकर वह कुत्ता भी दौड़ा और उसने मयूरको मार डाला। यशोमतिकुमारने जो निकट ही थे कुत्तेको मयूरपर प्रहार करते हुए देखा और एक लकड़ीका टुकड़ा फेंककर मारा उससे वह कुत्ता भी मर गया।

मयूर मरकर सेही हुआ और कुत्ता मरकर सर्प हुआ। एक दिन भूखा सेही सर्पको खा गया उस समय उसके मुखकी आवाजसे पासमें ही सोया हुआ तुम्बर नाम गया और उसने सेहीको मार डाला।

उसके पश्चात् यशोधरका जीव सिप्रा नदीमें मच्छ हुआ और चन्द्रमतीका जीव उसी नदीमें मगर हुआ। एक दिन ज्येष्ठ मासमें सिप्रामें उज्जैनीकी नारियाँ क्रीड़ा कर रही थीं। मगरने उनमें-से एक स्त्रीको पकड़ लिया जो राजा यशोमतिकुमारकी रानी कुसुमावलीकी दासी थी। यह सुनते ही क्रुद्ध राजाने धीवरोंको समस्त दुष्ट जल-जन्तुओंको मार डालनेका आदेश दिया। धीवरोंने उस मगरके साथ मच्छको भी पकड़ लिया और राजाके सम्मुख उपस्थित किया। राजाने अपने पितरोंके सन्तर्पणके लिए दोनोंको भोजनशालामें भिजवा दिया। इस तरह उन दोनोंका अन्त हुआ।

पुनः वे दोनों उज्जैनीके निकट कंकाहि नामक ग्राममें मेंढ़ोंके झुण्डमें बकरा-बकरी हुए। एक दिन यशोधरका जीव बकरा अपनी माता चन्द्रमतीके जीव बकरीके साथ रमण कर रहा था। उसी समय मेढ़ोंके झुण्डके स्वामीने अपने ही तीक्ष्ण सींगोंसे बकरेके मर्मस्थानमें आघात किया। उस आघातसे वह मर गया और उसी बकरीके गर्भमें आया।

एक दिन यशोमतिकुमार शिकार खेलनेके लिए वनमें गया। किन्तु कोई शिकार उसके हाथ नहीं लगा। निराश और क्रुद्ध होकर वह वनसे लौटा। मार्गमें मेंढ़ोंके झुण्डमें-से जाते हुए उसने उस बकरीपर बाणसे प्रहार किया और उसका पेट फाड़ डाला। उसमें-से एक बच्चा निकला। उसे उसने अपने रसोइयेको सौंप दिया।

उधर वह बकरी मरकर कलिंग देशमें एक भैंसेके रूपमें उत्पन्न हुई। उस भैंसेको एक व्यापारीने खरीद लिया। एक बार वह उज्जैनी आ गया। एक दिन वह बनजारेका भैंसा सिप्रा नदीमें तैर रहा था। वहाँ उसकी मुठभेड़ यशोमतिकुमारके एक अश्वसे हो गयी। भैंसेने कोधसे(?) प्राणान्तिक प्रहार किया। फलस्वरूप राजाके आदेशसे सेवकोंके द्वारा वह भैंसा खोर यन्त्रणा देकर मार डाला गया। मांसकी प्रेमी अमृतमतीने उस बकरेको भी पकवाकर खा डाला। इस तरह भैंसा और बकरेका प्राणान्त हुआ। अगले जन्ममें दोनों मुर्गा-मुर्गी हुए।

अभयनस्थान नामक एक मुनिराज विजयार्ध पर्वतपर ध्यानमग्न लीन थे। नर्मदविलास नामका एक विद्याधर आकाशमार्गसे उधरसे निकला। मुनिराजके तपके माहात्म्यसे उसका विमान रुक गया। उसने क्रुद्ध

होकर मुनिके ऊपर घोर उपसर्ग किया। विद्याधरोंका राजा रत्नशिखण्डी मुनिराजके दर्शनके लिए उसी समय वहाँ आया। वह कन्दलविलासके दुष्कर्मको देखकर बहुत क्रुद्ध हुआ और उसे शाप दिया कि इस दुष्कर्मके विपाकसे तू उज्जैनीमें चण्डकर्मा नामका जल्लाद होगा।

विद्याधरके प्रार्थना करनेपर रत्नशिखण्डीने कहा कि जब तुझे आचार्य सुदत्तके दर्शनोंका लाभ होगा और तू उनसे धर्मग्रहण करेगा तो तेरी इस शापसे मुक्ति हो जायेगी।

आचार्य सुदत्तका परिचय देते हुए विद्याधरोंके राजाने कहा कि एक समय आचार्य सुदत्त कलिंगके शक्तिशाली राजा थे। एक दिन एक चोर उनके सामने उपस्थित किया गया, वह सोते हुए एक नाईको मार डालने तथा उसका सर्वस्व हरण करनेका अपराधी था। राजाने धर्माधिकारियोंसे उसको दण्ड देनेके विषयमें परामर्श किया। उन्होंने कहा कि इस चोरने सोते हुए मनुष्यका घात किया है अतः इसे नाना प्रकारकी यन्त्रणाएँ देकर इस तरह सताया जाये कि दस-बारह दिनमें इसकी मृत्यु हो जाये। यह सुनकर राजाको क्षत्रिय-जीवनसे बड़ी अरुचि हुई और उन्होंने राज्य त्याग कर जिनदीक्षा धारण कर ली।

इसी बीचमें वह विद्याधर उज्जैनीमें जल्लादका कर्म करने लगा। यशोधर तथा चन्द्रमती उसी नगरके समीप एक चाण्डाल बस्तीमें मुर्गा-मुर्गी हुए थे। एक दिन उस जल्लादने, जो चण्डकर्माके नामसे प्रसिद्ध था, एक चण्डालपुत्रके हाथमें उन मुर्गा-मुर्गीको देखा। और उससे लेकर उन्हें यशोमतिकुमारको दिखवाया। राजा उस समय कामदेवकी पूजाके लिए जा रहा था। उसने चण्डकर्मासे कहा कि अभी तुम इन्हें अपने ही पास रखो। वहीं उद्यानमें इनका युद्ध देखा जायेगा।

चण्डकर्मा पिंजरेके साथ उद्यानमें पहुँचा। उसके साथमें शकुन-शास्त्रमें निष्णात आसुरि, भागवत ज्योतिषी, धूमध्वज नामक ब्राह्मण, भूगर्भवेत्ता हरप्रबोध और सुगतकीर्ति नामक बौद्ध भी थे। उद्यानमें एक वृक्षके नीचे आचार्य सुदत्त विराजमान थे। उन सबने आचार्य सुदत्तके सामने अपने-अपने मतोंका निरूपण किया, किन्तु आचार्यने उन सभीके सिद्धान्तोंका खण्डन करते हुए अहिंसाको ही धर्मका मूल बतलाया। अपने पक्षके समर्थनमें उन्होंने उस मुर्गा-मुर्गीके पूर्वभवोंका वर्णन करते हुए राजा यशोधर और चन्द्रमतीके उस कृत्यकी चर्चा की, जिसके कारण उन्हें वे कष्ट भोगने पड़े। आचार्य सुदत्तके मुखसे अपने पूर्वभवोंकी बात सुनकर मुर्गा-मुर्गीको भी अपने पूर्वकृत्योंपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और दोनोंने अपने मनमें व्रत धारण किये। दोनों एक पटमण्डपमें आनन्दसे कूज रहे थे। इतनेमें यशोमतिकुमारने अपनी रानीको शब्दवेधमें अपनी कुशलता दिखलानेके लिए बाण छोड़ा। उस बाणसे आहत होकर मुर्गा-मुर्गी दोनों मर गये। व्रतके प्रभावसे अगले जन्ममें दोनों मनुष्ययोनिको प्राप्त हुए और यशोमतिकुमारकी रानी कुसुमावलीके गर्भमें यमज भाई-बहनके रूपमें उत्पन्न हुए। उनका नाम यशस्तिलक और मदनमती रखा गया था, किन्तु वे अभयरुचि और अभयमतीके नामसे प्रसिद्ध हुए, क्योंकि उनके गर्भमें आनेके दिनसे ही उनकी माताका भाव सब प्राणियोंको अभयदान देनेका हो गया था।

एक दिन राजा यशोमति शिकार खेलनेके लिए गया। और उसने सहस्रकूट जिनालयके उद्यानमें सुदत्ताचार्यको देखा। राजाके एक साथीने कहा कि राजन्, इस मुनिके दर्शनसे आज शिकारमें सफलता मिलना दुष्कर है। यह सुनकर राजाको क्षोभ हुआ। तब मुनिके दर्शनार्थ आया हुआ कल्याणमित्र बोला, राजन्! असमयमें यह मुखपर क्रोधके चिह्न क्यों? राजाका साथी बोला, इस अमंगलस्वरूप नंगे साधुको जो देख लिया। कल्याणमित्रने कहा, राजन्! ऐसा मत सोचो! यह महात्मा एक समय कलिंगदेशके राजा थे। तुम्हारे पितासे इनका वंशानुगत सम्बन्ध था। इन्होंने स्वयं प्राप्त लक्ष्मीको चंचल जानकर छोड़ दिया। अतः इनकी अवज्ञा करना उचित नहीं है। तब यशोमतिकुमारने कल्याणमित्रके साथ मुनिराजको नमस्कार किया और मुनिराजने उन्हें शुभाशीर्वाद दिया।

इससे यशोमतिकुमारको अपनी दुर्भावनापर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसके मनमें यह विचार आया कि मुझे अपने दुष्कृत्यके प्रायश्चित्त रूपमें अपना सिर काटकर इनके चरणोंमें चढ़ाना चाहिए। मुनि महाराजने

राजाके मनकी बातको जानकर उसे ऐसा करनेसे रोका। इससे यशोमतिकुमार और भी अधिक प्रभावित हुआ और उसने मुनिराजको अतीन्द्रियदर्शी जानकर अपने बाबा यशोर्घ महाराज और पितामही चन्द्रमती तथा माता-पिताके विषयमें पूछा कि अब वे किस लोकमें हैं। मुनिराज बोले राजन् ! तुम्हारे बाबा महाराज यशोर्घ तो ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें देव हैं। तुम्हारी माता पाँचवें नरकमें है। और तुम्हारी पितामही तथा पिता आटेके बने मुर्गेकी बलि देनेके पापसे अनेक जन्मोंमें कष्ट उठाकर अब तुम्हारे घरमें पुत्र और पुत्रीके रूपमें वर्तमान हैं।

यह सुनकर यशोमतिकुमारको अपने दुष्कर्मोंपर बड़ा खेद हुआ और उसने आचार्यसे दीक्षा देनेकी प्रार्थना की। और सब परिवारको बुलाकर उसे मुनिराजके द्वारा कहा हुआ वृत्तान्त सुनाया।

इतनी सब कथा कहनेके पश्चात् मुनिकुमार राजा मारदत्तसे बोला 'राजन् हम वही अभयरुचि और अभयमति हैं। अपने पूर्वभवोंका वृत्तान्त सुनकर हमें अपने पूर्व जन्मका स्मरण हो आया और हमने संसारको छोड़ देनेका निश्चय किया। उस समय हम दोनोंकी अवस्था केवल आठ वर्षकी थी इसलिए मुनि दीक्षा तो नहीं क्षुल्लकके व्रत दिये गये। आचार्य सुदत्तके साथ विहार करते हुए तुम्हारी नगरीमें आये तो तुम्हारे सेवक हमें पकड़कर तुम्हारे पास ले आये।

मुनिकुमारकी कथा सुनकर मारदत्त राजाको अपने ऊपर बड़ी ग्लानि हुई और उसने मुनिकुमारसे अपने समान बना लेनेकी प्रार्थना की। मुनिकुमारने उन्हें अपने गुरु सुदत्ताचार्यके पास चलनेके लिए कहा।
[पञ्चम आश्वास]

आचार्य सुदत्त अवधिज्ञानसे सब जानकर स्वयं ही वहाँ आ उपस्थित हुए। सबने खड़े होकर उनका सम्मान किया और राजा मारदत्तने उनसे धर्मका स्वरूप पूछा उसीके उत्तरमें उन्होंने श्रावक धर्मका उपदेश दिया। वही उपदेश आश्वास छह, सात और आठमें गुम्फित है जिसे सोमदेवने उपासकाध्ययन संज्ञा दी है।

[२] यशस्तिलकमें समागत धार्मिक प्रसंग

यशस्तिलककी कथावस्तुके परिचयसे यह स्पष्ट है कि बाणकी कादम्बरी और सुबन्धुकी वासवदत्ता की तरह यह केवल एक आख्यानमात्र नहीं है, किन्तु जैन और जैनेतर दार्शनिक तथा धार्मिक सिद्धान्तोंका एक सारभूत ग्रन्थ भी है। इसके साथ ही इसमें तत्कालीन सामाजिक जीवनके विविध रूप भी चित्रित हैं और इस तरह यह एक महान् धार्मिक आख्यान भी है।

इसके अन्तिम तीन आश्वास जैनधर्मके श्रावकाचार विषयक व्रतादि नियमोंसे ही सम्बद्ध हैं। कथा-भागमें भी सोमदेवने जैन-तत्त्वोंका समावेश किया है। जैनधर्मपर किये जानेवाले आक्षेपोंका परिहार और तत्कालीन जैनेतर धर्मों और दर्शनोंकी समीक्षा जो इसमें विस्तारसे की गयी है। इस दृष्टिसे यशस्तिलकका चतुर्थ आश्वास बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें कविने यशोधर और उसकी माताके बीचमें पशुबलिको लेकर वार्तालाप कराया है। यशोधर जैन सिद्धान्तोंमें आस्था रखता है और उसकी माता ब्राह्मणधर्ममें। यशोधर अपने पक्षके समर्थनके लिए एक ओर तो वैदिक धर्मके कतिपय सिद्धान्तोंका विरोध करता है दूसरी ओर अनेक जैनेतर शास्त्रोंके उद्धरण देकर जैन-धर्मकी प्राचीनता और महत्ताको प्रस्थापित करता है।

यशोधरकी माता अपने पुत्रके द्वारा कथित दुःस्वप्नकी शान्तिके लिए देवीके सम्मुख सब प्रकारके प्राणियोंकी बलि देनेका सुझाव रखती है और इसीपरसे माता-पुत्रमें विवादका सूत्रपात होता है। माता अपनी बातके समर्थनमें मनुका मत रखती है

"यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञो हि भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥३९॥
मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥४१॥
एष्वर्थेषु पशून् हिंसन् वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः।
आत्मानं च पशूंश्चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥४२॥ —मनुस्मृति अ० ५

"स्वय ब्रह्माने यज्ञके लिए पशुओकी सृष्टि की है। और यज्ञ सबकी समृद्धिके लिए हैं। अत. यज्ञमें पशुका वध अवध हैं। मधुपर्क, यज्ञ, पितृकर्म और देवकर्ममे ही पशु-हिंसा करनी चाहिए, अन्यत्र नही, यह मनुने कहा है। वेद और वेदार्थको जाननेवाला द्विज इन पूर्वोक्त कर्मोंमें पशुकी हिंसा करता हुआ अपनेको और उस पशुको उत्तम गति प्राप्त कराता है।"

यह सुनकर यशोधर अपने कान बन्द करके दीर्घ नि श्वास लेता है और अपनी मातासे कुछ कहनेकी आज्ञा मांगता है। मातासे स्वीकृति पाकर यशोधर पशुवलिका सख्त विरोध करता है। वह कहता है कि प्राणियोंकी रक्षा करना क्षत्रियोका महान् धर्म हैं। निरपराध प्राणियोका वध करनेपर वह महान् धर्म नष्ट हो जायेगा।

"य. शस्त्रवृत्तिः समरे रिपु. स्याद् य कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपा क्षिपन्ति न दीन-कानीन-शुभाशयेषु॥"

राजागण उसीपर अस्त्र-प्रहार करते है जो शत्रु-सग्राममे सशस्त्र उपस्थित होता है, अथवा जो निज देशका कण्टक होता है। दुर्वलोपर, नीचोपर और सज्जनोपर नही। तो माता! इस लोक और परलोक-सम्बन्धी आचारमें तत्पर रहते हुए मै उन पशुओपर कैसे अस्त्र चलाऊं! क्या आप भूल गयी कि कल ही हिरण्यगर्भ मन्त्रीके पुत्र नीति वृहस्पतिने आपकी प्रेरणापर मुझे ये तीन श्लोक पढाये थे,

"न कुर्वीत स्वय हिंसा प्रवृत्ता च निवारयेत्।
जीवित बलमारोग्य शश्वद् वाञ्छन्महीपति.॥
यो दद्यात काञ्चन मेरु कृत्स्नां चापि वसुन्धराम्।
एकस्य जीवित दद्यात् फलेन च न सम भवेत॥
यथात्मनि शरीरस्य दु ख नेच्छन्ति जन्तवः।
तथा यदि परस्यापि न दु ख तेपु जायते॥"

"दीर्घ आयु, शारीरिक सामर्थ्य और आरोग्यको चाहनेवाले राजाको स्वय हिंसा नही करनी चाहिए, और यदि कोई अन्य करता हो तो उसको रोकना चाहिए। जो पुरुष मेरुके वरावर स्वर्ण तथा समस्त पृथ्वीका दान करता है और एक जीवको जीवन दान करता है इन दोनोंके फल समान नहीं हैं। जैसे जीव अपने शरीरमें दु ख नही चाहते वैसे ही यदि दूसरे जीवके दु खकी भी कामना न करें तो उन्हें कभी दु ख उठाना न पडे।"

"ब्राह्मण और देवताओंके सन्तर्पण और शरीरकी पुष्टिके लिए लोकमें अन्य भी वहुत-से उत्तम उपाय हैं। तव सत्पुरुष पाप क्यो करेगा? फिर मास तो रज और वीर्यके सयोगसे उत्पन्न होता है, अत वह अपवित्रताका घर है। ऐसा मास भी यदि देवताओको पसन्द है तो हमें मासभक्षी व्याघ्रोकी उपासना करनी चाहिए। अत देवता पशुओंके उपहारसे प्रसन्न होते हैं, यह प्रवाद मिथ्या है। वनमें भी तलवारके द्वारा और गला दवानेसे पशु मारे जाते हैं। और इनको देवियाँ यदि स्वय खा जाती हैं, तव तो उनसे व्याघ्र ही विशेष स्तुतिके योग्य हैं क्योकि वे स्वयं मारकर खा जाते हैं, देवताओंकी तरह दूसरोंसे मरवाकर नहीं खाते। यथार्थमें लोग देवताओंके वहानेसे स्वयं मद्य और मासका सेवन करते हैं। ऐसा करनेसे यदि दुर्गति न हो तो फिर दुर्गतिका दूसरा मार्ग कौन-सा है?

"यदि परमार्थसे हिंसा ही धर्म है तो शिकारको 'पापर्द्धि' क्यो कहते हैं, मासको ढाँककर क्यो लाते हैं? मास वनानेवाला घरसे वाहर क्यो रहता है, मासका दूसरा नाम रावणशाक क्यों है? तथा पर्वके दिनोंमें मासका त्याग क्यो वतलाया है?

तथा पुराणोंमें (महाभारतमें) ऐसा क्यो कहा है,

"यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेपु भारत।
तावद् वर्षसहस्राणि पच्यन्ते पशुघातका॥"

"हे युधिष्ठिर, पशुके शरीरमें जितने रोम होते हैं, पशुके घातक उतने हजार वर्ष तक नरकमें दु ख भोगते हैं।"

वररुचिने ऐसा क्यों कहा है,

'प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनतिः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष मार्गः ॥'

प्राणोंका घात करनेका त्याग, पर-धनके हरणका त्याग, सत्य वचन बोलना, समयपर शक्तिके अनुसार दान देना, पराई युवतियोंकी चर्चा-वार्तामें चुप रहना, तृष्णाके स्रोतको रोकना अर्थात् परिग्रहका परिमाण करना, गुरुओंको नमस्कार करना, सब प्राणियोंपर दया करना, सब शास्त्रोंमें यह कल्याणका सामान्य मार्ग है, किसीने भी इसका निषेध नहीं किया है। तथा व्यासने कहा है

'होम-स्नान-तपो-जाप्य-ब्रह्मचर्यादयो गुणाः ।
पुंसि हिंसारते सार्व चाण्डाल-सरसीसमाः ॥'

'हे अर्जुन, हिंसक पुरुषके हवन, स्नान, तप, जप, ब्रह्मचर्य आदि गुण चाण्डालके तालाबके पानीकी तरह अग्राह्य हैं।'

इस तरह यशोधरने अनेक प्रमाणभूत जैनेतर शास्त्रोंके उद्धरण-द्वारा पशुवध और मांस भक्षणका विरोध किया।

अपने पुत्रके मुखसे इस प्रकारका तर्क सुनकर चन्द्रमतीको लगा कि मेरे पुत्रपर किसी दिगम्बर साधुकी छाया पड़ गयी है। अतः वह उनकी निन्दा करती हुई कहती है 'हे पुत्र, इन दिगम्बरोंके धर्ममें देव पितर और द्विजोंका तर्पण नहीं होता, स्नान और होमकी बात ही नहीं है। न ये वेदको मानते हैं और न स्मृतिको। ऐसे दिगम्बरोंके धर्ममें तेरी रुचि कैसे हुई? ये दिगम्बर खड़े होकर पशुकी तरह भोजन करते हैं। निर्लज्ज हैं, शौच नहीं करते हैं, देव और ब्राह्मणोंके इन निन्दकोंसे तो कोई बात भी नहीं करता। कृतयुग त्रेता और द्वापरमें तो इनका नाम भी नहीं है। ये तो कलियुगमें ही उत्पन्न हुए हैं। इनके मतमें मनुष्य ही देवता है और उनकी संख्या अनन्त है। हे पुत्र, धर्ममें केवल श्रुति ही प्रमाण है, वेदके सिवाय अन्य कोई देवता नहीं है। यदि तेरा अनुराग देवताओंमें है तो हर, हरि अथवा सूर्यकी भक्ति कर।

माताके वचनोंको सुनकर यशोधर उसका प्रतिवाद करते हुए कहता है 'माता, ये जैन लोग जिस प्रकारसे देवका अभिषेक, पूजन, स्तवन करते हैं तथा मन्त्रजप और श्रुतपूजन करते हैं, उसे आप ही जाकर उनसे पूछकर देखें। जो हमारे पितर पुण्य-कर्म करके स्वर्गादिकमें चले गये उनके उद्देश्यसे प्रति वर्ष ब्राह्मणों और कौओंको भोजन करानेसे क्या प्रयोजन है?'

इन दिगम्बर साधुओंका एक जन्म तो माताके उदरसे होता ही है, दूसरा जन्म इन आरम्भसे होता है अतः ये भी द्विज हैं। और इन द्विजोंका सन्तर्पण चतुर्विध दानके द्वारा जैन लोग करते ही हैं। इनमें जो गृहस्थ होते हैं, वे स्नान करके देव और शास्त्रका पूजन करते हैं, स्वाध्याय और ध्यान करते हैं। यदि नदी या समुद्र वगैरहमें स्नानसे ही पुण्य होता है तो सबसे प्रथम तो जलचर जीव उस पुण्यके भागी होने चाहिए। कहा भी है

"रागद्वेषमदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः ।
न ते कालेन शुध्यन्ति स्नानात्तीर्थशतैरपि ॥ —उ. आ. पृ. १ ९।

'जो पुरुष राग, द्वेष और मदसे उन्मत्त हैं और स्त्रियोंके आधीन हैं वे सैकड़ों तीर्थोंमें स्नान करनेपर भी कभी शुद्ध नहीं हो सकते।'' तथा स्तम्भन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेषण और मारणके लिए मन्त्रोंको प्रभाव करनेके लिए तथा ग्रहशुद्धिके लिए हवन और भूतबलि भी जाती है। देवगण तो अमृतपान करते हैं उन्हें अग्निमें अर्पित अन्नसे क्या प्रयोजन। मोक्षके लिए उद्यत साधुओंको स्नान और होमसे क्या प्रयोजन?

गृहस्थोका धर्म साधुका धर्म नही हो सकता और साधुका धर्म गृहस्थका धर्म नही हो सकता। कहा भी है,

"दिगम्बरः कुचैलाङ्गः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः।
समः सर्वेषु भूतेषु स यतिः परिकीर्तितः॥
आपस्नानं व्रतस्नानं मन्त्रस्नानं तथैव च।
आपस्नानं गृहस्थस्य व्रतमन्त्रैस्तपस्विनः॥
न स्त्रीभिः सङ्गमो यस्य यः परे ब्रह्मणि स्थितः।
तं शुचिं सर्वदा प्राहुर्मारुतं च हुताशनम्॥"

"जो दूसरोसे द्वेष नही रखता, कुत्सित वस्त्रकी तरह जिसका शरीर मलिन है, जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे अछूता है, तथा सब प्राणियोमे समभाव रखता है उसे यति कहा है। स्नानके तीन प्रकार है, जलस्नान, मन्त्रस्नान और व्रतस्नान। गृहस्थ जलस्नान करता है और तपस्वी व्रत और मन्त्रोंके द्वारा स्नान करते है। जिसका स्त्रियोंके साथ सगम नही है तथा जो परब्रह्ममे लीन है उस पुरुषको और वायु तथा अग्निको सर्वदा शुचि कहा है।"

तथा ज्योतिषागमे कहा है,

"सप्तमः शनिना दृष्टः क्षपणः कुपितः पुनः।
तद्भक्तस्तस्य पीडायां तावेव परिपूजयेत्॥"

"किसीका शनि सप्तम स्थानमे हो और क्षपण–दिगम्बर साधु यदि कुपित हो जाये तो शनिके भक्तको शनिकी पीडामे शनिकी ही पूजा करनी चाहिए और क्षपणके भक्तको क्षपणकी पूजा करनी चाहिए।"

प्रजापतिके द्वारा प्रतिपादित चित्रकर्म शास्त्रमें कहा है,

"श्रमणं तैलदिग्धाङ्गं नवभिर्भित्तिभिर्युतम्।
यो लिखेत स लिखेत सर्वां पृथ्वीमपि ससागराम्॥"

"जो चित्रकार तेलसे लिप्त अगवाले श्रमणका नवो भित्तियोंसे युक्त चित्र बनाता है वह सागरसहित समस्त पृथ्वीका चित्र बनाता है।"

तथा आदित्यमतमें अर्थात् सूर्यसिद्धान्तमें लिखा है,

"भवबीजाङ्कुरमथना अष्टमहाप्रातिहार्यविभवसमेताः।
ते देवा दशताला शेषा देवा भवन्ति नवतालाः॥"

"ससारके बीजभूत मोहनीय कर्मके अकुररूप राग-द्वेषका क्षय करनेवाले और आठ महाप्रातिहार्यरूप ऐश्वर्यसे सहित अर्हन्त देवकी प्रतिमा दशताल प्रमाण होती है और शेष देवताओकी मूर्तियाँ नौताल प्रमाण होती है।"

आचार्य वराहमिहिरकृत प्रतिष्ठाकाण्डमें लिखा है,

"विष्णोर्भागवता मयाश्च सवितुर्विप्रा विदुर्ब्रह्मणो
मातॄणामिति मातृमण्डलविदः शम्भोः सभस्मा द्विजाः।
शाक्याः सर्वहिताय शान्तमनसो नग्ना जिनानां विदु
र्ये यं देवमुपाश्रिताः स्वविधिना ते तस्य कुर्युः क्रियाम्॥"

"भागवत विष्णुकी प्रतिष्ठा करते हैं, सूर्यभक्त शाकद्वीपीय ब्राह्मण सूर्यकी प्रतिष्ठा करते हैं, ब्राह्मण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा करते है, मातृ-मण्डलके भक्त मात माताओकी प्रतिष्ठा करते हैं, भस्म रमानेवाले द्विज शिवकी प्रतिष्ठा करते है, बौद्ध बुद्धकी प्रतिष्ठा करते है, शान्तचित्त दिगम्बर जिनदेवकी प्रतिष्ठा करते है। इस तरह जो जिस देवका उपासक है उसे अपनी विधिसे उस देवकी प्रतिष्ठा करनी चाहिए।"

निमित्ताध्यायमें लिखा है

'पद्मिनी राजहंसाश्च निर्ग्रन्थाश्च तपोधनाः ।
यं देशमुपसर्पन्ति सुभिक्षं तत्र निर्दिशेत् ॥

कमलिनी राजहंस और निर्ग्रन्थ तपस्वी जिस देशमें पाये जाते हैं वहाँ सुभिक्ष होता है ।'

इस तरह सोमदेवने राजा यशोधरके द्वारा जैनधर्म और उसके अनुयायी दिगम्बर साधुओं तथा देवोंकी प्राचीनता तथा मान्यताके सम्बन्धमें जैनेतर ग्रन्थोंसे प्रमाण उपस्थित कराये हैं ।

आगे और भी लिखा है कि शर्व भारवि भवभूति भर्तृहरि भर्तृमेण्ठ कण्ठ गुणाढ्य व्यास भास वोस कालिदास बाण मयूर नारायण कुमार माघ, राजशेखर आदि महाकवियोंके काव्योंमें और भरतप्रणीत काव्याध्याय तथा सर्वजनप्रसिद्ध उन-उन उपाख्यानोंमें दिगम्बरसम्बन्धी इतनी महती प्रसिद्धि क्यों पायी जाती (यदि दिगम्बर कलिमें उत्पन्न हुए होते तो)।

उक्त प्रमाण विशेष प्राचीन तो नहीं हैं। वराहमिहिरका समय पाँचवीं-छठी शताब्दी है। और सम्भवतया उक्त उद्धरणोंमें वही सबसे प्राचीन है। किन्तु उस समय प्राचीन इतिहासकी खोज और अध्ययनका चलन आजकी तरह सार्वजनिक रूपसे नहीं था अतः उक्त प्रमाणोंसे जैन धर्म और जैन साधुओंकी सार्वजनिक मान्यता और निष्पक्षपर ही प्रकाश पड़ता है। हाँ उक्त कवियोंने अपने किन-किन ग्रन्थोंमें जैनोंका उल्लेख किया है यह अवश्य अन्वेषणीय है ।

इस प्रकार माताके द्वारा जैन धर्मपर किये गये आक्षेपोंका परिहार करते हुए यशोधर जैन साधुओंपर किये गये आक्षेपोंके उत्तरमें कहता है

माता ! तुमने कहा था कि जैन साधु खड़े होकर भोजन करते हैं तो इसका कारण यह है कि जब तक खड़े होनेकी शक्ति है और जबतक दोनों हाथ आपसमें मिलते हैं तबतक ही मुनि भोजन करते हैं। जिस धर्ममें बालकी नोक बराबर भी परिग्रहके होनेपर उत्कृष्ट निष्परिग्रहत्वका निषेध किया है उस धर्मके अनुयायी मुमुक्षुओंकी मति वस्त्र चर्म या वल्कलमें कैसे हो सकती है ? रही शौचकी बात सो मुनिगण कमण्डलुकी सहायतासे बराबर शौच करते हैं। किन्तु अंगुलिमें सर्पके काट लेनेपर कोई अपनी नाक नहीं काट डालता अर्थात् जो अंग अपवित्र होता है उसीकी शुद्धि की जाती है। जैन लोग उसीको आप्त मानते हैं जिनमें रागादि दोष नहीं होते। जिस धर्ममें मद्यादिका नाम लेना भी बुरा है विद्वज्जन उस धर्मकी निन्दा कैसे कर सकते हैं ?'

इसके पश्चात् यशोधर मद्य मांस सेवनका विरोध तथा मद्य मांस और मधुके प्रयोगकी बुराई बतलाते हुए शास्त्रप्रमाण उपस्थित करता है

तिलसर्षपमात्रं यो मांसमश्नाति मानवः ।
स श्वभ्रान्न निवर्तेत यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥

जो मनुष्य तिल या सरसोंके बराबर भी मांस खाता है वह जबतक आकाशमें चाँद और सूरज है तबतक नरकसे नहीं निकल सकता। स्मृतिमें कहा है

सप्तग्रामेषु यत्पापमग्निना भस्मसात्कृते ।
तदेव जैनरुद्वेत् पापं मधुबिन्दुनिषेवणात् ॥"

अग्निके द्वारा सात गाँवोंको जलानेपर जितना पाप होता है उतना ही पाप मधुकी एक बूँदके खानेसे होता है ।

इसके पश्चात् यशोधर वेदके प्रामाण्यपर आक्षेप करता है। पुत्रकी बातोंको सुनकर यशोधरकी माता पुनः पुत्रकी अपनी बात मनवानेकी चेष्टा करते हुए कहती है 'राजा लोग अपनी लक्ष्मी और जीवन की रक्षाके लिए गुरु मित्र पिता और बन्धु-बान्धव सबको मार डालते हैं। समाधील राजाओंका राज्य

ठहर नही सकता। अत पुत्र, दुर्वासनाको छोडकर दु स्वप्नकी शान्ति तथा अपने जीवनकी रक्षाके लिए कुलदेवताके सामने जीवोकी वलि दो। क्या महामुनि गौतमने अपने प्राण बचानेके लिए अपने उपकारी बन्दरको नही मारा था ? क्या विश्वामित्रने कुत्तेको नही मारा था। इसी तरह अन्य राजाओंने भी शिवि, दधीचि, वलि, वाणासुर वगैरह राजाओंको तथा गाय वगैरहको मारकर अपना शान्तिकर्म किया था। जैसे विषकी औषध विष है वैसे ही हिंसा भी पुण्यके लिए होती है। गौ, ब्राह्मण, स्त्री, मुनि और देवताओंके चरितका विचार विद्वान् लोग नही किया करते। यदि तुझे अपने जीवनसे कुछ प्रयोजन न हो तो श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणोकी वातको मत मान। जैसा जगत्का प्रवाह हो वैसा ही वरतना चाहिए।"

आगे चन्द्रमती मधु और मासकी प्रशसा करते हुए कहती है कि यदि मधु और मासका सेवन करनेमें महादोष है तो महर्षियोंने ऐसा क्यो कहा है,

"न मासभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेव भूताना निवृत्तेश्च महत्फलम् ॥"[1]

किन्तु माताके द्वारा दिये गये प्रमाणोंसे भी यशोधरका विचार परिवर्तित नही होता और वह पुन कहता है, "माता, दूसरोंके विषयमें मनसे भी बुरा नही विचारना चाहिए, तब मैं उसी कामको स्वय साक्षात् कैसे कर सकता हूँ ? क्या तुमने लोकमें प्रसिद्ध राजा वसुकी और तन्दुल मत्स्यकी कथा नहीं सुनी ? कोई अभागा मनुष्य यदि अमृत समझकर विषका पान करता है तो क्या उसकी मृत्यु नही होती ? जो मनुष्य पाप और अज्ञानसे ग्रस्त हैं, उनका दुराचरण सज्जनोंके लिए उदाहरणरूप नही होता है। जैसे उठती हुई धूल सबके ऊपर समान रूपसे पडती है वैसे ही पाप भी जाति और कुलका विचार नही करता है। जन्म, जरा और मृत्यु, राजा हो या रक, सबको समान भावसे अपनाते है। राजा और अन्य मनुष्योंमें पुण्यकृत ही भेद होता है, मनुष्यरूपसे सभी मनुष्य समान हैं। हे माता, जैसे मेरे प्राणोंका घात होनेपर आपको महान् दु ख होता है वैसे ही दूसरे जीवोंका भी घात होनेपर उनकी माताओंको महान् दु ख होता है। यदि दूसरोंके जीवनसे अपनी रक्षा हो सकती तो पुराने राजा लोग क्यो मरते ? यदि सर्वत्र शास्त्र प्रमाण है तो कुत्ते और कौएका मास भी खाना चाहिए। परस्त्री गमनको लोकमें निन्द्य माना गया तब माताके साथ ऐसा कुकर्म कौन करेगा। यदि कोई मनुष्य मास खाना चाहता है तो उसके लिए शास्त्रका उदाहरण देनेकी क्या आवश्यकता है ? लोगोंके मनके अनुकूल इन्द्रियलम्पटोंने अपनी जीविकाके लिए शास्त्र रचे है। यदि पशुके घातकोको स्वर्ग मिल सकता है तो कसाइयोंको तो अवश्य ही स्वर्ग मिलना चाहिए। चाहे मन्त्रोके द्वारा किसीका वध किया जाये, चाहे शस्त्राघातके द्वारा, चाहे यज्ञकी वेदिकापर क्रिया जाये, चाहे बाहर, वध तो समान ही है, उससे उसमें कोई अन्तर नहीं पडता। यदि यज्ञमें मारे गये पशुओंको स्वर्ग मिलता है तो अपने कुटुम्बियोसे यज्ञ क्यों नही करना चाहिए ?"

इस प्रकार यशोधरके विरोध करनेपर माता उसका अनुनय-विनय करने लगी और उसने यशोधरसे आग्रहपूर्वक कहा कि यदि तुम पशुवध नही करना चाहते तो आटेसे बने हुए मुर्गेकी ही वलि दे देना और उसको मास मानकर मेरे साथ अवश्य खाना।

हिंसाका अभिप्राय ही हिंसा है

माताके आग्रहवश यशोधर मारनेके अभिप्रायसे एक आटेके बने हुए मुर्गेकी हत्या करता है और इसके फलस्वरूप उसे अनेक जन्मोंमें कष्ट उठाना पडता है। कथाके इस रूप-द्वारा ग्रन्थकारने कुछ नैतिक और धार्मिक विचारोको व्यक्त किया है जो अहिंसाविषयक जैन दृष्टिकोणपर आकर्षक प्रकाश डालते है।

जो लोग पशुवलिके विरोधी रहे हैं उनके द्वारा किसी पशुकी प्रतिकृतिकी वलि देनेकी परम्परा

---

१ पाठान्तर–प्रवृत्तिरेषा भूताना निवृत्तिस्तु महाफला ॥ –मनुस्मृति ५-५६।

रही है ऐसा ज्ञात होता है। उदाहरणके लिए, राजतरंगिणीमें[1] लिखा है कि काश्मीरके एक प्राचीन राजा मेघवाहनने अपने राज्यमें पशुवधपर रोक लगा दी थी। अतः उसके समयमें वैदिक यज्ञमें घृतमय पशुकी तथा भूतबलिमें आटेसे बनाये गये पशुकी बलि दी जाती थी। कहा जाता है कि उत्तर कालमें जैनाचार्योंने वैदिक यज्ञोंमें जीवित पशुके बदलेमें उसके स्थानपर आटेसे बनाये गये प्रतिरूपकी बलि देनेका सुधार चालू किया था। यशोधरकी कथासे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म पशुओंकी जीवनहीन प्रतिकृतियोंकी भी बलिके विरुद्ध रहा है और इस तरह वह पशुबलिके प्रत्येक रूपका विरोधी है।

दूसरी बात यह है कि अहिंसा और हिंसाका मुख्य सम्बन्ध कर्ताके अभिनिवेशसे है। चतुर्थ आश्वासमें जब यशोधर चण्डिकाके सामने आटेसे बने मुर्गेका बलिदान करनेके लिए सहमत हो जाता है तो वह बलिदान करते समय देवीसे प्रार्थना करता है कि 'सब जीवोंके मारनेपर जो फल मुझे मिलना चाहिए वही फल मुझे इस आटेके मुर्गेका वध करनेपर मिले।'[2] यही अभिनिवेश है। सोमदेवने कहा है [illegible] पुण्य और पापके कामोंमें अभिनिवेश ही मुख्य स्थान रखते हैं। चूँकि दैवकी तरह बाह्य सामग्री तो शुभ और अशुभ वस्तुओंमें समान रूपसे फिरती है किन्तु इतने मात्रसे ही उस व्यक्तिको पुण्य और पापका बन्ध नहीं होता।[3] अर्थात् किसी कार्यके नैतिक मूल्यका निर्धारण कर्ताके अभिप्रायसे किया जाता है। बाह्य प्रवृत्तिसे नहीं।

आगे सोमदेवने कहा है जिस मनुष्यका मन वचन और काय तथा अन्तरात्मा दयालु है वह हिंसक होनेपर भी हिंसक नहीं है।[4]

सोमदेवने 'अभिनिवेश'के स्थानमें 'अभिध्यान' शब्दका प्रयोग करते हुए उक्त कथनको एक दृष्टान्त-द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा है एक मछलीमार मछली मारनेके अभिप्रायसे नदीमें जाल डालकर बैठा है यद्यपि उस समय वह मछली नहीं मारता फिर भी वह पापी है क्योंकि उसका ध्यान मछली मारनेमें है। इसके विपरीत एक किसान खेत जोतता है और उसमें अनेक प्राणियोंका घात भी होता है किन्तु वह पापी नहीं है क्योंकि उसका ध्यान अन्नोत्पादनमें है। अतः ऐसी कोई क्रिया नहीं जिसमें हिंसा नहीं होती किन्तु भावकी मुख्यता और गौणतासे क्रियाके फलमें अन्तर हो जाता है।[5]

सोमदेवने अभिनिवेश और अभिध्यानके स्थानमें अभिसन्धि और संकल्प शब्दका भी प्रयोग किया है। वह लिखते हैं [6]'पाषाणका देवता बनाकर और उसमें देवत्वके संकल्पकी प्रतिष्ठा करनेपर यदि कोई उसकी अवज्ञा करता है तो क्या वह पापी नहीं है? [7]संकल्पसे ही गृहस्थ मुनि बन जाते हैं और मुनि गृहस्थ बन जाते हैं। उत्तर मथुरामें अर्हद्दास षष्ठी रात्रिके समय प्रतिमायोगमें स्थित था। देवोंने उसकी परीक्षाके

१ तस्य राज्ये जिनस्येव मारविद्वेषिणः प्रभोः। कृतो घृतपशुर्यज्ञे पिष्टपशुर्भूतबलावभूत् ॥
—राजतरंगिणी श्लो० ३, ७।

२ सर्वेषु सत्त्वेषु हतेषु यन्मे भवेत्फलं देवि तदत्र भूयात्। — आश्वास ४ पृ० १४१।

३ 'अभिनिवेशो हि पुनः पापपुण्यक्रियासु प्रधानं निदानमामनन्ति मनीषिणः। बाह्यानीन्द्रियाणि दैववत् शुभेष्वशुभेषु च वस्तुषु समं विनियतन्ते। न चैतावता भवति तद्विषयकुशलेन वा दोषेण सम्बन्धः। — आश्वास ७ पृ० ३३५।

४, ५ सो० उपा० श्लो० ३४१, ३४२–३४३।

६ संकल्पितेऽपि जलदेवताप्रतिष्ठानि च ... किमत्यासादयन् पुरुषो न भवति महापातकी। —आ० ७ पृ० ३३५।

७ 'संकल्पेन च भवन्ति गृहस्था अपि मुनयः। मुनयश्च गृहस्थाः।'

८ उत्तरमथुरायां ... कुसुमपुर ... अपि प्रत्यूहयति। आ० ७ पृ० ३३५।

लिए उसके स्त्री-पुत्रादिकपर घोर उपद्रवका प्रदर्शन किया, किन्तु वह अविचल रहा। दूसरी ओर कुसुमपुरमें पुरुहूत देवर्षि आतापन योगमें स्थित होते हुए भी चरके द्वारा अपने पुत्रपर शत्रुका आक्रमण सुनकर विचलित हो गये।"

सोमदेवने सकल्पका महत्त्व बतलाते हुए और भी लिखा है कि चिरकालसे सचित किया हुआ पुण्यकर्मका सचय प्रमादवश एक बारके भी दुष्ट सकल्पसे क्षण-भरमें उसी तरह नष्ट हो जाता है जैसे आगसे महल। जगत्में यह उदाहरण अति प्रसिद्ध है कि एक वेश्याके शवको देखकर एक मुनि, एक कामी और एक शवभक्षी, मनुष्यने अपने-अपने सकल्पके अनुसार विचित्र कर्मबन्ध किया। अत जैसे सकल्पसे मनुष्योंमें कामविकार उत्पन्न होता है और गौके स्तनमें दूध आता है, वैसे ही मनुष्य मानसिक भावोंके अनुसार पुण्य या पापकर्मका बन्ध करता है।

इस प्रकार यशस्तिलकके कथाभागमें भी सोमदेवने जैनधर्मके सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें विस्तारसे लिखा है।

[३] सोमदेव और उनका युग

सोमदेवके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—यशस्तिलक, नीतिवाक्यामृत और अध्यात्मतरगिणी। तीनों ही मुद्रित होकर[1] प्रकाशित हो चुके हैं। पहलेमें आठ आश्वासोंमें गद्य और पद्यमें राजा यशोधरकी कथा वर्णित है, इसीसे उसे 'यशोधर महाराज चरित' भी कहते हैं। दूसरे ग्रन्थमें सूत्र शैलीमें राजनीतिका कथन है। इसमें ३२ अध्याय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नीतिवाक्यामृतकी रचना यशस्तिलकके पश्चात् हुई है। तीसरा ग्रन्थ ४० पद्योंका एक प्रकरण है।

सोमदेवने यशस्तिलकके अन्तमें अपने विषयमें पर्याप्त सूचना[2] दी है। वह देवसघके आचार्य यशोदेवके प्रशिष्य और नेमिदेवके शिष्य थे। नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि सोमदेव महेन्द्रदेवके लघुभ्राता थे, और स्याद्वादाचलसिंह', 'तार्किकचक्रवर्ती', 'वादीभपञ्चानन', 'वाक्कल्लोलपयोनिधि' तथा 'कविकुल-राज' उनकी उपाधियाँ थी। उसमें यह भी लिखा है कि सोमदेव यशोधर महाराजचरित, षण्णवतिप्रकरण, महेन्द्र-मातलि सजल्प और युक्तिचिन्तामणिस्तवके रचयिता थे।

समय और स्थान

सोमदेवने लिखा है कि शक सवत् ८८१ (९५९ ई०) में सिद्धार्थ सवत्सरमें चैत्रमासकी मदनत्रयो-दशीके दिन, जब कृष्णराजदेव पाण्ड्य, सिंहल, चोल और चेरम आदि राजाओंको जीतकर मेलपाटीमें शासन करते थे, यशस्तिलक समाप्त हुआ। सोमदेवका यह कथन ऐतिहासिक सत्यताकी दृष्टिसे भी उल्लेखनीय है, क्योंकि सोमदेवके यशस्तिलककी समाप्तिसे कुछ ही सप्ताह पूर्व मेलपाटीमें ९ मार्च सन् ९५९ ई० के दिन अकित किये गये महान् राष्ट्रकूट चक्रवर्ती कृष्ण तृतीयके करहाट ताम्रपत्रमें उसका समर्थन होता है। इस ताम्रपत्रमें चोलोंके साथ चेरम, पाण्ड्य, सिंहल आदि देशोंके राजाओंके ऊपर कृष्णराज तृतीयकी विजयका निर्देश है। तथा उसमें यह भी लिखा है कि कृष्णराजने अपना विजय-कटक मेलपाटीमें स्थापित किया था,

"मेलपाटीसमवसितश्रीमद्विजयकटकेन मया"

एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि पुष्पदन्तने अपने अपभ्रशभाषामें निबद्ध महापुराणमे भी कृष्ण-राज तृतीयके मेलपाटीमें ससैन्य निवासका उल्लेख किया है। जिस ९५९ ई० मे सोमदेवने अपना यशस्तिलक

---

१ प्रथम ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे १९०१ में तथा दूसरा और तीसरा माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हुए है।

२ "श्रीमानस्ति स देवसघतिलको देवो यश पूर्वक शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधि श्रीनेमिदेवाह्वयः। तस्याश्चर्यतप स्थितेस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिना शिष्योऽभूदिह सोमदेव इति यस्तस्यैप काव्यक्रम ॥"

सम्पूर्ण किया था उसी सन्‌में पुष्पदन्तने अपने महापुराणकी रचनाका प्रारम्भ किया था। महापुराणकी उत्थानिकामें पुष्पदन्तने लिखा है,

'जं कहमि पुराणु पसिद्धणामु सिद्धत्थवरिसि भुवणाहिरामु।
उव्वद्धजूडु भूभंगभीसु तोडेप्पिणु चोडहो तणउ सीसु।
भुवणेक्करामु रायाहिराउ जहिं अच्छइ तुडिगु महाणुभाउ।
तं दीणदिण्णधणकणयपयरु महि परिभमंतु मेपाडिणयरु।

अर्थात् सिद्धार्थ संवत्सरमें (सोमदेवने भी इसी संवत्सरका उल्लेख किया है) जब चोलराजका सिर, जिसपर केशोंका जूड़ा ऊपरकी ओर बँधा था काटकर राजाधिराज तुडिग (कृष्णराज) मेपाडि (मेलपाटी) नगरमें वर्तमान है मैं प्रसिद्ध नामवाले पुराणको कहता हूँ।

यद्यपि [1]सोमदेव कृष्णराज तृतीयके समकालीन थे तथापि उन्होंने अपना ग्रन्थ राष्ट्रकूटोंकी राजधानी मान्यखेटमें नहीं रचा किन्तु एक अप्रसिद्ध स्थान गंगधारामें रचा जो सम्भवतया कृष्णराजके सामन्त चालुक्य वंशी अरिकेसरीके ज्येष्ठ पुत्र वागराजकी राजधानी थी। गंगधाराके विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं है किन्तु वह धारवाड़ जिलेमें या उसके आस-पास कहीं होना चाहिए। शायद धारवाड़के बिलकुल निकट जो गंगघाटी नामक स्थान है वही गंगधारा हो। धारवाड़के दक्षिण-पश्चिममें उत्तर कनारा जिलेमें गंगवाली नामकी एक नदी भी है।

जिस राजाके राज्यमें सोमदेवने अपना काव्य समाप्त किया था उसका नाम यद्यपि मुद्रित प्रतिमें तथा हस्तलिखित प्रतिमें वागराज पाया जाता है, किन्तु कुछ[2] हस्तलिखित प्रतियोंमें वाद्यराज और वाद्यगराज भी मिलता है। किन्तु यह नाम बद्दिग प्रतीत होता है जिसका संस्कृत रूप वाद्यराज या वाद्यगराज कर लिया गया है।

सोमदेव-सम्बन्धी एक शिलालेख

ब्रिटिशकालीन हैदराबाद राज्यके परभनी नामक स्थानसे एक ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है। जिसपर अंकित संस्कृत लेखमें यशस्तिलककी रचनासे आठ वर्ष पश्चात् सोमदेवको दिये गये दानका ही केवल उल्लेख नहीं है किन्तु उन चालुक्य सामन्तोंकी वंशावली भी दी है जिनके प्रदेशमें सोमदेवने ग्रन्थरचना की थी। वंशावली इस प्रकार है,

युद्धमल्ल १ अरिकेसरी १ नरसिंह १ (+ भद्रदेव) युद्धमल्ल २ बद्दिग १ युद्धमल्ल ३ नरसिंह २ अरिकेसरी २ भद्रदेव अरिकेसरी ३ बद्दिग २ (वाद्यग) और अरिकेसरी ४। इनमें-से अरिकेसरी द्वितीय उस पम्प कविका आश्रयदाता था जिसने सन् ९४१ में कनड़ीमें भारत रचा और बद्दिग द्वितीय या वाद्यगके राज्यकालमें ९५९ ई० में सोमदेवने अपना काव्य रचा।

---

१ शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अंकतः (८८१) सिद्धार्थसंवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्य-सिंहल-चोल-चेरमप्रभृतीन् महीपतीन् प्रसाध्य मेलपाटी प्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्री कृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगतपंचमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः सामन्तचूडामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वद्यगराजस्य लक्ष्मी-प्रवर्धमानवसुधारायां गंगधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति।

२ "यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर"—पृ० ३।

उक्त ताम्रपत्रमें वाद्यगके पुत्र अरिकेसरी चतुर्थके द्वारा शक संवत् ८८८ (९६६ ई०) में शुभधाम नामके जिनालयके जीर्णोद्धारके लिए सोमदेवको एक गाँव देनेका उल्लेख है। यह जिनालय लेंबुल पाटक नामकी राजधानीमें वाद्यगने बनवाया था।

इससे यह स्पष्ट है कि ९६६ ई० में सोमदेव शुभधाम जिनालयके व्यवस्थापक थे और अपनी साहित्यिक प्रवृत्तिमें भी संलग्न थे, क्योंकि इस लेखमें सोमदेवको यशोधरचरितके साथ-साथ 'स्याद्वादोपनिषद्' नामके एक अन्य ग्रन्थका भी रचयिता कहा है। उस समय सोमदेव प्रतिष्ठाके उच्च शिखरपर आसीन प्रतीत होते हैं क्योंकि लेखके अनुसार समस्त सामन्त और राजा उनके चरणोंमें नमस्कार करते थे और उनका यशरूपी कमल समस्त विद्वज्जनोंके कानोंका आभूषण बना हुआ था।

किन्तु इस ताम्रलेखकी दो बातें विशेष विचारणीय हैं। प्रथम इसमें सोमदेवके दादा गुरु यशोदेवको गौडसंघका लिखा है जब कि सोमदेवने उन्हें देवसंघका बतलाया है। दूसरे अरिकेसरी चतुर्थकी राजधानीका नाम लेंबुल पाटक लिखा है। जब कि सोमदेवने उसके पिता वद्दिगकी राजधानीका नाम गंगधारा लिखा है। इसके साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार सोमदेवने वाद्यगके पिता अरिकेसरीको कृष्णराज तृतीयका सामन्त बतलाया है ठीक उसी प्रकार उक्त लेखमें भी वाद्यगके पुत्र अरिकेसरीको उन्हीका सामन्त बतलाया है।

समकालीन विद्वान्

दसवीं शताब्दीका समय संस्कृत प्राकृत और कन्नड जैन साहित्यका समृद्धिकाल था, कृष्णराज तृतीयके राज्यकाल (९३९ से ९६८ ई०) के समयको ही यदि लें तो उसीमें हमें अनेक विशिष्ट विद्वानों और ग्रन्थकारोंके परिचयका सौभाग्य प्राप्त होता है। ९४१ ई० में प्रसिद्ध कन्नड कवि पम्पने अपने आदिपुराण और विक्रमार्जुनविजय नामक काव्योंकी रचना की थी। सन् ९५० के लगभग उस शताब्दीके दूसरे महान् कन्नड़ कवि पोन्नने कृष्णराज तृतीयके संरक्षकत्वमें शान्तिपुराणकी रचना की थी। कन्नड और संस्कृत भाषामें प्रवीणताके लिए कृष्णराजने कवि पोन्नको 'उभयकविचक्रवर्ती' की उपाधिसे विभूषित किया था। कृष्णराज तृतीयके राज्यकालके आरम्भमें इन्द्रनन्दिने संस्कृतमें 'ज्वालामालिनीकल्प' नामक मन्त्रशास्त्रकी रचना की थी। यह ग्रन्थ ९३९ ई० में मान्यखेटमें रचा गया था और उसमें कृष्णराजका उल्लेख है।

सोमदेवके बिलकुल समकालीन विद्वानोंमें हमें दो महान् विद्वानोंसे परिचित होनेका सौभाग्य प्राप्त है। उनमें-से एक पुष्पदन्त हैं और दूसरे हैं, वादिघंगल भट्ट। पुष्पदन्तके सम्बन्धमें हम ऊपर लिख आये हैं। उन्होंने ९५९ ई० में कृष्णराज तृतीयके मन्त्री भरतकी संरक्षकतामें अपना महापुराण प्रारम्भ किया था। तथा भरतके पुत्र और उत्तराधिकारी नन्नकी संरक्षकतामें जसहरचरिउ और णायकुमारचरिउकी रचना की थी। पुष्पदन्तने अपनी रचनाएँ अपभ्रंश भाषाके पद्योंमें की हैं। और अब तक प्रकाशमें आये अपभ्रंश भाषाके सर्वाधिक प्रमुख जैन कवियोंमें उनकी गणना की जाती है। उनकी अद्भुत साहित्यिक प्रवृत्ति इस बातकी साक्षी है कि दसवीं शताब्दीमें अपभ्रंश साहित्यकी स्थिति कितनी समुन्नत थी।

---

१ "(लें) बुलपाटकनामधेयनिजराजधान्या निजपितुः श्रीमद्वद्यगस्य शुभधामजिनालयाख्यवस (ते) खण्डस्फुटितनवसुधाकर्म बलिनिवेद्यार्थं शकाब्देष्वष्टाशीत्यधिकेष्वष्टशतेषु गतेषु तेन श्रीमदरिकेसरिणा 'श्रीमत्सोमदेवसूरये वनिकट्टपुलुनामा ग्राम दत्तः।"—यशस्ति० इण्डि० क०, पृ० ५।

२ "विरचयिता यशोधरचरितस्य कर्ता स्याद्वादोपनिषद कवि (वयि) ता ।"

३ "अखिलमहासाम (न्तसी) मन्तप्रान्तपर्यस्तोत्तंसस्रक्सुरभिचरण सकलविद्वज्जनकर्णावतंसीभवद्यश पुण्डरीक सूर्य इव सकलावनिभृतां शिर श्रेणिषु शिखण्डमण्डनायमानपादपद्मोऽभूत् ।"

हरिषेणने ९८८ ई. में अपभ्रंशमें अपनी धर्मपरीक्षा रची थी। उन्होंने अपभ्रंश भाषाके पुष्पदन्त स्वयंभु और चतुर्मुख इन तीन महाकवियोंका निर्देश किया है तथा स्वयं पुष्पदन्तने अपने महापुराणमें (१९) स्वयंभु और चतुर्मुखका निर्देश किया है। स्वयंभुके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभु भी कवि थे उन्होंने अपने पिताके द्वारा रचित पउमचरित और रिट्ठणेमिचरिउकी पूर्ति में योगदान किया था।

स्वयंभुको आठवीं या नौवीं शताब्दीमें रखा जा सकता है क्योंकि उन्होंने अपने पउमचरिउमें पद्मचरितके रचयिता रविषेण (७वीं शताब्दी) का निर्देश किया है और स्वयं उनका निर्देश पुष्पदन्तने किया है। चतुर्मुख स्वयंभुसे प्राचीन है क्योंकि स्वयंभुने अपने रिट्ठणेमिचरिउमें उनका निर्देश किया है। स्वयंभूने अपने 'स्वयंभु छन्द' नामक ग्रन्थमें अपभ्रंश भाषाके अनेक कवियोंका उल्लेख किया है।

इस तरह सोमदेवके समयमें तथा उनसे पूर्व अपभ्रंश भाषाकी साहित्यिक परम्परा प्रवर्तित थी और वे उससे निस्सन्देह रूपमें प्रभावित थे, क्योंकि उन्होंने उपासकाध्ययनमें अपभ्रंश छन्दोंका प्रयोग बड़ी चतुरता से किया है।

पूर्वज तथा उत्तरकालीन विद्वान्

नौवीं शताब्दीके प्रारम्भसे लेकर दसवीं शताब्दीके पूर्व भाग तक हुए सोमदेवके पूर्वज ग्रन्थकारोंमें धवला जयधवलाके रचयिता वीरसेन आदिपुराणके रचयिता जिनसेन हरिवंशपुराणके रचयिता जिनसेन उत्तरपुराण और आत्मानुशासनके रचयिता गुणभद्र शाकटायन व्याकरणके रचयिता पाल्यकीर्ति अष्टसहस्री और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदिके रचयिता विद्यानन्दि उपमितिभवप्रपञ्चकथाके रचयिता सिद्धर्षि बृहत्कथाकोशके रचयिता हरिषेण नयचक्रादिके रचयिता देवसेन तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदिके रचयिता अमृतचन्द्रके नाम उल्लेखनीय हैं। दसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणसे लेकर ग्यारहवीं शताब्दीके प्रथम चरण तकके कालमें हुए सोमदेवके अव्यवहित उत्तरकालीन ग्रन्थकारोंमें चामुण्डराय कन्नड अजितपुराण और गदायुद्धके रचयिता रन्न बाणकी कादम्बरीके कन्नड अनुवादकर्ता नागवर्मा गोम्मटसारादिके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके रचयिता प्रभाचन्द्र पार्श्वनाथचरित यशोधरचरित और न्यायविनिश्चयविवरणके रचयिता वादिराज गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणिके रचयिता वादीभसिंह तिलकमञ्जरीके रचयिता धनपाल सुभाषितरत्नसन्दोह, धर्मपरीक्षा पञ्चसंग्रह श्रावकाचार आदिके रचयिता अमितगति वर्धमानचरितके रचयिता असग प्रद्युम्नचरितके रचयिता महासेन और चन्द्रप्रभचरितके रचयिता वीरनन्दी आदिके नाम उल्लेखनीय हैं।

वैदुष्य-परिचय

सोमदेवकी ख्याति उनके गद्य-पद्यात्मक काव्य यशस्तिलक और राजनीतिकी पुस्तक नीतिवाक्यामृतको लेकर है। यदि इनमें-से नीतिवाक्यामृतको छोड़ भी दिया जाये तो अकेला यशस्तिलक ही उनके वैदुष्यके परिचयके लिए पर्याप्त है। उसमें उनके अपूर्व वैदुष्यके विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं। संस्कृत गद्य और पद्य रचनापर उनका पूर्ण प्रभुत्व है जैन सिद्धान्तोंके अधिकारी विद्वान् होनेके साथ ही वे प्रतिपक्षी दर्शनोंके दक्ष आलोचक भी हैं। राजनीतिका उनका अध्ययन बहुत गम्भीर है और इस दृष्टिसे उनकी दोनों सुप्रसिद्ध रचनाएँ परस्परमें एक दूसरेकी पूरक हैं।

नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें एक श्लोक इस प्रकार है

'सकलसमयतर्के नाकलङ्कोऽसि वादी न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः।
न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्वं वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥"

---

१ पुष्पदन्त तथा स्वयंभु और त्रिभुवन स्वयंभुके विषयमें विशेष जानकारीके लिए प्रेमीजीका 'जैन साहित्य और इतिहास' देखें।

इसमें एक वादीसे कहा गया है कि तुम समस्त दर्शनोंके तर्कमें अकलंकदेव नहीं हो, न आगमिक उक्तियोंमें हंससिद्धान्तदेव हो और न वचन-विलासमें पूज्यपाद हो, तब तुम इस समय सोमदेवके साथ कैसे वाद कर सकते हो?

उसी प्रशस्तिके अन्तिम पद्यमें कहा गया है कि सोमदेवकी वाणी वादिरूपी मदोन्मत्त गजोंके लिए सिंहनादके तुल्य है। वादकालमें बृहस्पति भी उनके सम्मुख नहीं ठहर सकता।

सोमदेवने यशस्तिलककी उत्थानिकामें कहा[1] है कि जैसे गाय घास खाकर दूध देती है वैसे ही जन्मसे शुष्क तर्कका अभ्यास करनेवाली मेरी बुद्धिसे काव्यधारा निःसृत हुई है। इससे प्रकट होता है कि सोमदेवने अपना विद्याभ्यास तर्कसे आरम्भ किया और तर्क ही उनका वास्तविक व्यवसाय था। तार्किकचक्रवर्ती और वादीभपंचानन आदि उपाधियाँ भी इसी तथ्यका समर्थन करती है। अपने समयके अन्य अनेक विद्वानोंकी तरह उन्होंने भी अपनी शक्ति प्रतिपक्षी विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ करनेमें व्यय की थी। वास्तवमें यह उस समयकी एक साधारण प्रवृत्ति थी और जैन परम्परामें उस कालमें हुए विद्वानोंके वादिराज, वादीभसिंह, वादिघरट्ट, वादिधंघल, परवादिमल्ल, वादिकोलाहल-जैसे विचित्र नामोंसे उसका समर्थन होता है।

सोमदेव तार्किक होनेके साथ जैन सिद्धान्तके भी दिग्गज विद्वान् थे। उनके यशस्तिलकका लगभग आधा भाग जैनधर्मके आचार और विचारोंके प्रतिपादन और समर्थनसे ओत-प्रोत है। उसके अन्तिम तीन आश्वासोंमें जैन गृहस्थके आचारका वर्णन है, इसीसे उन्हें ग्रन्थकारने उपासकाध्ययन नाम दिया है और वे ही तीनों आश्वास प्रस्तुत संस्करणमें सोमदेव उपासकाध्ययनके नामसे मुद्रित हैं।

इस तरह तत्त्वज्ञानी और तार्किक सोमदेवने कविताको बादमें अपनाया, किन्तु जब अपनाया तो तन-मनसे अपनाया। तभी तो उन्हें लिखना पड़ा,

"निद्रां विदूरयसि शास्त्ररसं रुणत्सि सर्वेन्द्रियार्थमसमर्थविधिं विधत्से।
चेतश्च विभ्रमयसे कविते पिशाचि लोकस्तथापि सुकृती त्वदनुग्रहेण॥" (१-४१)

"हे पिशाचिनी कविते! जो तेरे प्रेमपाशमें फँस जाता है, उसकी निद्रा भंग हो जाती है, शास्त्ररस जाता रहता है, सब इन्द्रियाँ बेकाम हो जाती हैं, चित्त विभ्रमित हो जाता है, फिर भी जिसपर तेरी कृपादृष्टि हो जाती है वह पुण्यशाली है।"

सोमदेव उन्हीं पुण्यशालियोंमें हैं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनका यशस्तिलक है। शब्द और अर्थ दोनों ही दृष्टियोंसे यशस्तिलककी व्युत्पत्तिकारकता अनुपम है[2]।

सोमदेवने अपनी इस कृतिमें अनेक अप्रसिद्ध शब्दोंका प्रयोग किया है। उनमें-से बहुतसे शब्द संस्कृत साहित्यमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। इस दृष्टिसे यशस्तिलक संस्कृत शब्दोंके कोशका संवर्धन करनेमें परम सहायक हो सकता है।

सोमदेवने पाँचवें आश्वासके अन्तमें लिखा है,

"अरालकालव्यालेन ये लीढाः सांप्रतं तु ते।
शब्दाः श्रीसोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम्॥"

अर्थात् भयानक कालरूपी सर्पके द्वारा निगल लिये गये शब्दोंका सोमदेवने उद्धार किया। और भी लिखा है,

"उद्धृत्य शास्त्रजलधेर्नितले निमग्नैः पर्यागतैरिव चिरादभिधानरत्नैः।
या सोमदेवविदुषा विहिता विभूषा वाग्देवता वहतु संप्रति तामनर्घाम्॥"

---

१ आजन्मसमभ्यस्ताच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्याः।
मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तिपयः सुकृतिनां पुण्यैः॥

२ किंचित् काव्य श्रवणसुभगं वर्णनोदीर्णवर्णं, किंचित् वाच्योचितपरिचयं हृच्चमत्कारकारि।
अत्रासूयेत् क इह सुकृती किन्तु युक्तं तदुक्तं, यद्वाग्गुल्पस्यै सकलविषये स्वस्य चान्यस्य च स्यात्॥१-१६

चिरकालसे शास्त्ररूपी समुद्रके तलमें डूबे हुए शब्दरूपी रत्नोंका उद्धार करके सोमदेव पण्डितने जो रत्नभूषण तैयार किया है अब सरस्वती उस अमूल्य आभूषणको धारण करे।

सचमुचमें यशस्तिलक ऐसा ही रत्नभूषण है और समस्त संस्कृत साहित्यको सामने रखकर ही उसका वास्तविक मूल्य आँका जा सकता है। यशस्तिलककी प्रशंसामें स्वयं ग्रन्थकारने यत्र तत्र जो सुन्दर पद्य कहे हैं वे केवल गर्वोक्ति नहीं हैं।

'असहायमनादर्शं रत्नं रत्नाकरादिव ।
मत्तः काव्यमिदं जातं सतां हृदयमण्डनम् ॥ १७ ॥ आश्वास १ ।
कर्णाञ्जलिपुटैः पातुं चेतः सूक्तामृतं यदि ।
श्रूयतां सोमदेवस्य नव्याः काव्योक्तियुक्तयः ॥ २१९ ॥ आश्वास २ ।
लोकवित्त्वे कवित्वे वा यदि चातुर्यचञ्चवः ।
सोमदेवकवेः सूक्तिं समभ्यस्यन्तु साधवः ॥ ५१३ ॥ आश्वास ३ ।
मया वागर्थसंभारे भुक्ते सारस्वते रसे ।
कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजनाः ॥ आश्वास ४ ।"

यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृतके अनुशीलनसे पता चलता है कि सोमदेव सूरिका अध्ययन बहुत ही विस्तृत और गम्भीर था। उनके समयमें जितना जैन और जैनेतर साहित्य उपलब्ध था उस सबसे उनका परिचय था। यशस्तिलकके चतुर्थ [1]आश्वासमें उन्होंने उर्व भारवि भवभूति भर्तृहरि, भर्तृमेण्ठ कण्ठ गुणाढ्य व्यास भास बोस कालिदास बाण मयूर नारायण कुमार माघ और राजशेखर कवियोंका उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि वे उक्त कवियोंके काव्योंसे परिचित थे।

प्रथम [2]आश्वासमें उन्होंने इन्द्र चन्द्र जैनेन्द्र आपिशल और पाणिनिके व्याकरणोंकी चर्चा की है। गुरु शुक्र विशालाक्ष परीक्षित पराशर भीम भीष्म और भारद्वाज आदि नीतिशास्त्र-प्रणेताओंका भी उन्होंने स्मरण किया है। कौटिलीय अर्थशास्त्रसे तो वे अच्छी तरह परिचित थे। [3]अश्वविद्या गजविद्या रत्नपरीक्षा कामशास्त्र वैद्यक आदि विद्याओंके आचार्योंका भी उन्होंने कई प्रसंगोंमें जिक्र किया है। प्रजापति प्रोक्त चित्रकर्म वराहमिहिरकृत प्रतिष्ठा[4] काण्ड आदित्यमत[5] (सूर्यसिद्धान्त) निमित्ताध्याय[6] रत्नपरीक्षा[7] पतञ्जलिका योगशास्त्र[8] और वररुचि[9] [10]व्यास हर[11] [12]प्रबोध तथा [13]कुमारिलके उद्धरण दिये हैं। सैद्धान्त[14] वैशेषिक तार्किक वैशेषिक पाशुपत कुलाचार्य सांख्य दशबल जैमिनीय बार्हस्पत्य वेदान्तवादि कणाद कपिल ब्रह्माद्वैत अवधूत आदि दर्शनोंके सिद्धान्तोंपर विचार किया है। तथा मतंग[15] भृगु भर्ग भरत गौतम गर्ग पिंगल पुलह पुलोम पुलस्ति पराशर मरीचि विरोचन धूमध्वज नीलपट[16] अहिल आदि अनेक

---

१ "तथा उर्व-भारवि-भवभूति भर्तृहरि-भर्तृमेण्ठ-कण्ठ-गुणाढ्य-व्यास-भास-बोस-कालिदास-बाण-मयूर-नारायणकुमार-माघ-राजशेखरादिमहाकविकाव्येषु तत्र तत्रावसरे भरतप्रणीते काव्याध्याये....।" पृ ११३।

२ "ऐन्द्रजैनेन्द्रचान्द्रापिशलपाणिनीयादिव्याकरणोपदिश्यमान .....।"—पृ ९।

३. प्रजापतिरिव सर्ववर्णागमेषु पारिरक्षक इव प्रसंख्यानोपदेशेषु, पूज्यपाद इव शब्दैतिह्येषु, स्याद्वादेश्वर इव धर्माख्यानेषु, अकलंकदेव इव प्रमाणशास्त्रेषु पाणिपुत्र इव पदप्रयोगेषु कविरिव राजराद्धान्तेषु, रोमपाद इव गजविद्यासु रैवत इव हयनयेषु, अरुण इव रथचर्यासु परशुराम इव शस्त्रविद्यमेषु शुक्रनास इव रत्नपरीक्षासु....।"—२ आश्वास पृ २३६।

४-५-६-७ आ ४ पृ ११२ ११३। ८ आश्वा ५, पृ २५९। ९. सो उपासका पृ ९। १० ११ आश्वा ४ पृ ९९। १२ १३ आश्वा ५ पृ २५१–२५७। १४ सो उपा पृ २३७ में सब दर्शनोंका विचार किया है। १५. सो उपा पृ ९९। १६ आश्वा ५ पृ २५२ ५५।

प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध जैनेतर आचार्योंका नामोल्लेख किया है। अनेक ऐतिहासिक दृष्टान्तों और पौराणिक आख्यानोका उल्लेख किया है। इस सबसे सोमदेवके वैदुष्यका परिचय मिलता है।

[४] उपासकाध्ययन

नाम—सोमदेवने यशस्तिलकके अन्तिम तीन आश्वासोको उपासकाध्ययन नाम दिया है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरके उपदेशोको उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरने जिन बारह अगोमे निबद्ध किया उनमें-से सातवें अगका नाम उपासकाध्ययन था और उसमें श्रावकके धर्मका कथन था। सोमदेवने भी सम्भवतया इसीसे उपासकाध्ययन नाम दिया। यह भाग यशस्तिलकका अग होते हुए भी एक स्वतन्त्र ग्रन्थके समान है।

जैन साहित्यमें इस विषयपर अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किन्तु उनमें-से किसी अन्यका नाम उपासकाध्ययन नही है, श्रावकाचार नाम ही अधिक व्यवहृत है। यथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार, वसुनन्दि श्रावकाचार, मेधावी श्रावकाचार आदि। चामुण्डरायने अपने चारित्रसारमें "उक्त च [1]उपासकाध्ययने" लिखकर एक श्लोक उद्धृत किया है, किन्तु वह श्लोक किसी उपलब्ध ग्रन्थमें नही मिलता। हाँ, उसीसे मिलता-जुलता श्लोक जिनसेनाचार्यके [2]महापुराणके ३८वें पर्वमें अवश्य मिलता है। अत चामुण्डरायके सामने कोई इस नामका ग्रन्थ अवश्य वर्तमान होना चाहिए जो अभी अनुपलब्ध है। और चूँकि चामुण्डराय सोमदेवके लघुसमकालीन थे अत उनके द्वारा निर्दिष्ट उपासकाध्ययन अवश्य ही सोमदेवकृत उपासकाध्ययनके बादका नहीं हो सकता। किन्तु चूँकि वह अनुपलब्ध है अत कहना होगा कि उपासकाध्ययन नामका यह एक ही श्रावकाचार उपलब्ध है।

विषयपरिचय—उपासकाध्ययन ४६ कल्पोमें विभाजित है। १ प्रथम कल्पका नाम है "समस्तसमय-सिद्धान्तावबोधन"। क्योंकि इसमें वैशेषिक, पाशुपत, कुलाचार्य, साख्य, बौद्ध, जैमिनीय, चार्वाक, वेदान्ती आदि समस्त दर्शनोकी समीक्षा की गयी है। और केवल ४७ श्लोकोंमें ही इतनी मौलिक बातें कह दी गयी हैं जिन्हें ४७ पृष्ठोंमें भी कह सकना शक्य नहीं था। इससे प्रकट होता है कि सोमदेवने सभी दर्शनों और मतवादोका तलस्पर्शी अध्ययन किया था।

२ दूसरे कल्पका नाम है, आप्तस्वरूप-मीमासन। इसमें आप्तके स्वरूपकी मीमासा करते हुए ब्रह्मा, विष्णु, शिव, बुद्ध और सूर्य आदिके देवत्वका युक्तिपूर्वक निरसन किया है, सम्भवत सोमदेवके समयमें शैव-मतका बहुत अधिक प्रचार था, इसीसे उन्होने शिव और शैव सिद्धान्तोका निराकरण विशेष रूपसे किया है।

३ तीसरे कल्पका नाम है, आगमपदार्थ-परीक्षण। इसको प्रारम्भ करते हुए सोमदेवने कहा है कि पहले देवकी परीक्षा करनी चाहिए, पीछे उसके वचनोकी परीक्षा करनी चाहिए। तत्पश्चात् ही उसका पालन करना चाहिए। जो लोग देवका विचार किये बिना उसके वचनोको मान लेते हैं वे अन्धे हैं। आगे जैन मान्यताओंका विवेचन करते हुए लिखा है कि दूसरे मतवादी जैनोके देव, शास्त्र और पदार्थव्यवस्थामे कोई दोष न पाकर जैन मुनियोमें चार दोष लगाते हैं—१ वे स्नान नही करते, २ आचमन नहीं करते, ३ नगे रहते हैं और ४ खडे होकर भोजन करते हैं। सोमदेवने इन चारो ही बातोका युक्तिपूर्वक समर्थन किया है।

४ चौथे कल्पका नाम है, मूढतोन्मथन। इसमे लोकमें प्रचलित मूढताओका परदाफाश किया गया है। वे मूढताएँ इस प्रकार है, सूर्यको अर्घ्य देना, ग्रहणमें स्नान करना, सक्रान्तिमें दान देना, सन्ध्यावन्दन करना, अग्निको पूजना, धर्मभावनासे नदी-समुद्रमें स्नान करना, वृक्ष स्तूप प्रथम ग्रासकी वन्दना करना, गौके पृष्ठ भागको नमस्कार करना, गोमूत्रका सेवन, रत्न भूमि यक्ष शस्त्र पर्वत वगैरहको पूजना।

साधारणतया आप्त, आगम और तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा गया है किन्तु सोमदेवने उनके प्रसगसे कितनी ही आवश्यक बातें इन चार कल्पोमें कही हैं। अन्य किसी भी श्रावकाचारमें इतना तत्त्वज्ञान

---

१. "ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुक। इत्याश्रमास्तु जैनाना सप्तमाङ्गाद् विनि सृता।"-पृ० १०

२. केवल उत्तरार्द्धमें अन्तर है—"इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरवृद्धित।"

प्रतिपादित नहीं किया है। और वह भी केवल १४५ श्लोकोंमें। आगरमें सागर इसीको कहते हैं।

इन चार कल्पोंके पश्चात् १६ कल्पोंमें सम्यग्दर्शनके आठों अंगोंमें प्रसिद्ध अंजनचोर अनन्तमती उद्दायन रेवती रानी जिनेन्द्र भक्तसेठ वारिषेण विष्णुकुमार मुनि और वज्रकुमार मुनिकी रोचक कथाएँ बड़ी प्राञ्जल भाषामें कही गयी हैं। रत्नकरण्ड (श्लोक १९-२०) में तो दो श्लोकोंके द्वारा केवल इन व्यक्तियों-के नाम मात्र गिनाये हैं। अन्य किसी भी श्रावकाचारमें ये कथाएँ नहीं पायी जातीं। इन कथाओंसे पहले जो प्रत्येक अंगका कथन किया गया है उसमें भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी हैं। उनका विवेचन आगे किया जायेगा। २१वें कल्पमें सम्यग्दर्शनके भेदोंका कथन करते हुए प्रारम्भमें गद्य-द्वारा सम्यक्त्वके बाह्य उत्पत्ति निमित्तोंको बतलाते हुए निसर्गज और अधिगमज भेदोंको स्पष्ट किया है। पश्चात् सर्वार्थसिद्धिमें प्रति-पादित सराग वीतराग भेदों तथा उनके अभिव्यंजक प्रशमादिके स्वरूपको बतलाकर गुणभद्राचार्यके द्वारा आत्मानुशासनमें प्रतिपादित दस भेदोंका स्वरूप बतलाया है। आगे रत्नकरण्डकी शैलीमें सम्यक्त्वकी महिमा बतलाते हुए निश्चय रत्नत्रयका स्वरूप बतलाया है तथा अन्य भी अनेक उपयोगी बातें कही हैं। २२—२५ कल्पोंमें मद्य मांस मधु आदिके दोष बतलाते हुए चार कथाएँ वर्णित हैं जिनमें मद्यपान और मांस-भक्षणके संकल्पकी बुराई और उनके त्यागकी भलाई बतलायी है।

२६—३२ कल्पोंमें पाँच अणुव्रतोंका वर्णन है और हिंसा असत्य चोरी कुशील और परिग्रहकी बुराइयाँ बतलाते हुए पाँच कथाएँ प्राञ्जल गद्यशैलीमें वर्णित हैं कथाएँ बहुत ही रोचक और शिक्षाप्रद हैं। ३३वें कल्पमें तीन गुणव्रतोंका कथन है।

३४वें कल्पसे सामायिक शिक्षाव्रतका कथन प्रारम्भ होता है। सोमदेवने सामायिकका अर्थ जिनपूजा सम्बन्धी क्रियाएँ किया है। अतः ३४वें कल्पमें स्नानविधि ३५ में समय समाचार विधि ३६ में अभिषेक और पूजनविधि ३७ में स्तवनविधि ३८ में जपविधि ३९ में ध्यानविधि और ४० वें कल्पमें श्रुतारा[illegible]-विधि वर्णित है। इस तरहका वर्णन अन्य श्रावकाचारोंमें नहीं पाया जाता और इसलिए यह सारा ही वर्णन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसमें भी ध्यानविधि विशेष महत्त्वपूर्ण है। सोमदेवके पूर्वके उपलब्ध साहित्यमें भी यह वर्णन नहीं मिलता।

४१वें कल्पमें प्रोषधोपवासका और ४२वें कल्पमें भोगोपभोग परिमाण व्रतका कथन है। ४३वें कल्पमें दानकी विधिका वर्णन विशेष महत्त्वपूर्ण है।

४४वें कल्पके प्रारम्भमें श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंको संक्षेपमें बतलाकर यतियोंके लिए जैनेतर सम्प्रदायमें प्रचलित नामोंकी निरुक्तियाँ दी गयी हैं जो एक नयी वस्तु है।

४५वें कल्पमें सल्लेखनाका और ४६वें कल्पमें कुछ फुटकर बातोंका कथन है। इस तरह सोमदेवका उपासकाध्ययन कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। इन कल्पोंमें वर्णित विशेष बातोंपर हम आगे प्रकाश डालेंगे।

महत्त्व—यों तो सोमदेवसे पहले भी कुन्दकुन्दके चारित्र प्राभृत तत्त्वार्थसूत्र तथा उसके टीका ग्रन्थोंमें और पद्मपुराण वरांगचरित महापुराण आदि ग्रन्थोंमें श्रावकाचार वर्णित था किन्तु श्रावकाचारके सम्बन्धमें एक रत्नकरण्ड श्रावकाचारको छोड़कर कोई अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं था। यह बात हम उपलब्ध साहित्यके पर्यालोचनके आधारपर कहते हैं।

सोमदेव और अमृतचन्द्र—अमृतचन्द्र सूरिका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भी श्रावकाचारसे ही सम्बद्ध है किन्तु वह सोमदेवके उपासकाध्ययनका केवल अग्रज हो सकता है क्योंकि वि. सं. १०५५ में रचे गये आचार्य अमितगतिके धर्मरत्नाकर नामक ग्रन्थमें पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और सोमदेवके उपासकाध्ययन दोनोंके ही पद्य भरपूर पाये जाते हैं। सोमदेवने अपना उपासकाध्ययन उससे ३९ वर्ष पहले वि. सं. १०१६ में रचकर समाप्त किया था। अमृतचन्द्र सूरिने अपना कोई समय निर्दिष्ट नहीं किया है। उनकी उत्तरावधि १०५५ ही मानी जाती है। उससे कितने समय पूर्व वह हुए हैं यह अभी निश्चित नहीं हो सका है। किन्तु इतना निश्चित है कि न तो सोमदेवके उपासकाध्ययनपर पुरुषार्थसिद्ध्युपायका किंचित् भी प्रभाव परिलक्षित होता है और

न पुरुषार्थसिद्धयुपायपर सोमदेवके उपासकाध्ययनकी कोई छाया है। अत यही प्रतीत होता है कि इन दोनोंमें-से किसी एकने दूसरेकी कृतिको नही देखा था। फिर भी यदि पुरुषार्थसिद्धयुपायसे सोमदेवके उपासकाध्ययनकी तुलना की जाये तो दोनोका अपना-अपना वैशिष्ट्य स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय अपने नामके अनुसार मोक्ष पुरुषार्थकी प्राप्तिका उपाय बतलानेकी दृष्टिसे रचा गया है। किन्तु सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें जो कुछ लिखा है वह उपासकका अध्ययन करके लिखा है। आधुनिक शैलीमें उसे 'उपासक–एक अध्ययन' नाम दिया जा सकता है, या इस रूपमें उसके उपासकाध्ययन नामकी व्याख्या की जा सकती है। अमृतचन्द्रका उपासक मुमुक्षु है—अन्तरगसे भी और बहिरगसे भी, किन्तु सोमदेवका उपासक अन्तरगसे मुमुक्षु होते हुए भी बहिरगसे ससारी है। उसकी कमजोरियोके प्रति सोमदेवमे करुणाबुद्धि है। साथ ही अमृतचन्द्रकी दृष्टि जब केवल अपने मुमुक्षु जनोपर केन्द्रित है तब सोमदेव ससारी गृहस्थोकी समाजपर दृष्टि रखे हुए हैं—जिस समाजमे सभी तरहके जन सम्मिलित हैं। तभी तो वह अन्तमे कहते हैं, "जिन भगवान्का यह धर्म अनेक प्रकारके मनुष्योसे भरा है। जैसे मकान एक स्तम्भपर नहीं ठहर सकता वैसे ही यह धर्म भी एक पुरुषके आश्रयसे नहीं ठहर सकता।"

अमृतचन्द्र आध्यात्मिक थे किन्तु सोमदेव आध्यात्मिकसे अधिक व्यवहारी थे। इसीसे उनके उपासकाध्ययनमें व्यवहार धर्मका सागोपाग निरूपण मिलता है।

सोमदेवके उपासकाध्ययनके पश्चात् जो श्रावकाचार रचे गये उनपर उपासकाध्ययनका ही विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

सोमदेव और जयसेन—आचार्य जयसेनने उपासकाध्ययनकी रचनाके ३९ वर्ष पश्चात् ही वि० सं० १०५५ में अपना धर्मरत्नाकर नामक ग्रन्थ रचकर पूर्ण किया था। उसमें उपासकाध्ययनके श्लोकोके उद्धरण बहुतायतसे पाये जाते हैं। उपासकाध्ययनके टिप्पणमें ऐसे उद्धरणोका यथास्थान निर्देश किया गया है।

सोमदेव और अमितगति—आचार्य अमितगतिने विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीके उत्तरार्द्धमें अपना उपासकाचार[1] रचा था। उसपर सोमदेवका स्पष्ट प्रभाव है। प्रमाणके लिए दोनोंसे एक-एक श्लोक नीचे दिया जाता है,

"देवतातिथिपित्रर्थं मन्त्रौषधिभयाय वा।
न हिंस्यात् प्राणिन सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम्" ॥३२०॥ सो उ ।

"देवतातिथिमन्त्रौषधपित्रादि निमित्ततोऽपि सम्पन्ना।
हिंसा धत्ते नरक किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥२९॥" ६ श्रा, अमि० उ ।

उपासकाध्ययनके प्रारम्भमें सोमदेवने दर्शनान्तरोकी समीक्षा की है। अमितगतिने भी अपने उपासकाचारके चतुर्थ परिच्छेदमें दर्शनान्तरोकी समीक्षा की है। सोमदेवने पूजाविधि और ध्यानका बहुत विस्तारसे कथन किया है। अमितगतिने भी १२वें परिच्छेदमें पूजाविधिका और १५वें में ध्यानका कथन किया है। उपासकाचार नाम भी उपासकाध्ययनकी ही अनुकृति प्रतीत होता है।

सोमदेव और पद्मनन्दि—(वि० की १२वी शताब्दीके लगभग)—प्राचीन समयमें श्रावको और मुनियोके षट् आवश्यक सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग थे। आचार्य जिनसेनने (महापुराण ३८।२४ मे) इज्या, वार्ता, दान, तप, सयम, स्वाध्यायको श्रावकके षट्कर्म बतलाया था। उसमे किंचित् सशोधन करके सोमदेवने श्लोक स० ९११ के द्वारा देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, सयम, तप और

---

१ यह उपासकाचार अनन्तकीर्तिग्रन्थमाला बम्बईसे और फिर सूरतसे प्रकाशित हुआ है। पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकाका नया सस्करण जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुरसे प्रकाशित हुआ है।

दान इन षट्कर्मोंका विधान किया। पद्मनन्दिने अपनी पञ्चविंशतिकाके अन्तर्गत उपासक संस्कारमें सोमदेवके उस श्लोकको ही सम्मिलित कर लिया। और तबसे श्रावकके ये ही षट्कर्म प्रचलित हो गये और पुराने षट् आवश्यकोंको श्रावक भूल ही गये। इसी तरह सोमदेवके द्वारा निर्दिष्ट अष्ट मूलगुणोंको भी पद्मनन्दिने अपनाया। अन्य भी अनेक समानताएँ पायी जाती हैं। यथा

"अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे ॥१३७॥"—सो. उ. ।

'अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति गृहिव्रते ॥२४॥ —प. प. ६ १।१

सोमदेव और वीरनन्दि—वीरनन्दिके आचारसार नामक ग्रन्थपर भी सोमदेवके उपासकाध्ययन-का प्रभाव है। उसके अनेक श्लोक सोमदेवसे प्रभावित हैं। यथा

'माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे ॥"—सो. उ. ।
'मातानुजा तनूजेति मत्वा ब्रह्मव्रतं मतम् ॥ —आचा. १।१९।

'संगे कापालिकात्रेयीचाण्डालशबरादिभिः ।
आप्लुत्य दण्डवत् सम्यग् जपेन्मन्त्रमुपोषितः ॥ —सो. उ. ।

'स्पृष्टे कपालिचाण्डालपुष्पवत्यादिके सति ।
जपेदुपोषितो मन्त्रं प्रागुत्प्लुत्याप्सु दण्डवत् ॥ —आचा. २।० ।

"सवित्रीव तनूजानामपराधं सधर्मसु ।
दैवप्रमादसंपन्नं निगूहेद् गुणसंपदा ॥ —सो. उ. ।

'बालाशक्तकृतं दोषं यथाम्माता निगूहति ।
तद्वत् सधर्मदोषोपगूहनं स्यादुपगूहनम् ॥ —आचा. ३।६१।

सोमदेव और आशाधर—विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके प्रमुख विद्वान् पं. आशाधरने अपने सागार-धर्मामृत और अनगार-धर्मामृतकी टीकाओंमें सोमदेवके उपासकाध्ययनसे अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं। सागार-धर्मामृतपर सोमदेवके उपासकाध्ययनका बहुत प्रभाव है। उसके दूसरे अध्यायके प्रारम्भमें आशाधरने सोमदेवके मतानुसार आठ मूलगुणोंको बतलाते हुए टीकामें 'उपासकाध्ययनादिशास्त्रानुसारिभिः पूर्वमनुष्ठेयतया उपदिष्टान्' लिखा है। इसका आशय यह है कि उपासकाध्ययन आदि शास्त्रोंका अनुसरण करनेवालोंने इन आठ मूल गुणोंको विधेय माना है। कहना न होगा कि यह उपासकाध्ययन सोमदेवकृत उपासकाध्ययन ही है और उसका अनुसरण करनेवालोंमें एक पद्मनन्दि अवश्य हैं। सागार-धर्मामृत और अनगार-धर्मामृतकी टीकाओंमें आशाधरने सोमदेवके उपासकाध्ययनसे अनेक पद्य भी उद्धृत किये हैं। तथा अन्य प्रकारसे भी उसका अनुसरण किया है।

सोमदेव और यशःकीर्ति—महापण्डित यशःकीर्तिरचित प्रबोधसार ग्रन्थ भी सोमदेवके उपासका-ध्ययनका ऋणी है। उसके अनेक श्लोक थोड़े-से हेर-फेरके साथ प्रबोधसारके कलेवरको अलंकृत किये हुए हैं। उपासकाध्ययनके टिप्पणोंमें पाठक उन्हें पा सकते हैं।

---

१. श्लो. ७।१ और ९ । ३. श्लो. २२।
४. आचारसार माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हुआ है।
५. सागार-धर्मामृत और अनगार-धर्मामृत भी मा. ग्र. बम्बईसे प्रकाशित हुए हैं। किन्तु हमने सूरतसे प्रकाशित सागार-धर्मामृतका उपयोग किया है।
६. पृ. ४, ६, १८, ४... ४६, ७१। ७. पृ. २०१ और १८७।

विक्रमकी १५वी शतीमें रचित दानशासन ग्रन्थमे भी सोमदेवके उपासकाध्ययनके अनेक श्लोकोका अनुकरण किया गया है।[1] इस तरह उत्तरकालीन श्रावकाचार-सम्बन्धी साहित्य सोमदेवके उपासकाध्ययनसे प्रभावित है। और उसके उद्धरण तो ज्ञानार्णवमे,[2] परमात्मप्रकाश[3] और वृहद्द्रव्यसंग्रहकी[4] टीकाओंमें, अनन्तवीर्यकी प्रमेयरत्नमाला[5], रत्नकरण्डकी[6] प्रभाचन्द्र कृत टीकामें तथा श्रुतसागरकी षट्प्राभृत[7] टीकामें पाये जाते हैं।

इन्द्रनन्दिने अपने नीतिसार[8] मे उन जैनाचार्योका नामोल्लेख किया है जिनके ग्रन्थोको उन्होंने प्रमाण माननेकी सम्मति दी है। उनमें अन्य महान् जैनाचार्योंके साथ सोमदेवका भी नाम है। अत सोमदेव और उनके उपासकाध्ययनका महत्त्व उक्त विवरणमे स्पष्ट है।

सोमदेवके उपासकाध्ययनको उनके पश्चात् हुए ग्रन्थकारोंके द्वारा इतना अपनाया जानेके कई कारण हो सकते हैं, सबसे प्रथम कारण तो हमे यह प्रतीत होता है कि उस समयतक श्रावकाचारोंकी रचनाका विशेष प्रचलन नही था और कई दृष्टियोंसे उस दिशामें यह एक अभिनव प्रयोग था। यद्यपि उनसे पहले समन्तभद्रका रत्नकरण्ड श्रावकाचार रचा जा चुका था और वह उनके सामने न केवल वर्तमान था, किन्तु सम्भव है उसीसे उन्हें उपासकाध्ययनके रचनेकी प्रेरणा तथा रूपरेखा प्राप्त हुई हो। इसके सिवा आचार्य जिनसेनने अपने महापुराणके पर्व ३८-३९ में श्रावकोंकी जिन क्रियाओका वर्णन किया था उससे भी वह प्रभावित थे। तीसरे तत्कालीन स्थिति। इन सबकी सम्मिलित प्रेरणावश ही उपासकाध्ययन रचा गया और उसमें सम्यग्दर्शन, अष्टमूलगुण और बारह व्रतोंके अतिरिक्त ऐसे अनेक विषय सम्मिलित किये गये और अनेक ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें कही गयीं जो मध्यकालके श्रावकोंके लिए अति उपयोगी थी और आज भी हैं।

साधारणतया सम्यग्दर्शन, अष्टमूलगुण, बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमा और सल्लेखना ये ही श्रावकधर्म हैं। रत्नकरण्डमें इन्हीं सबका वर्णन १५० श्लोकोंमें है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें भी प्रतिमाओंके सिवाय शेषका वर्णन है। उपासकाध्ययनमें भी प्राय इन्ही सबका वर्णन हैं, किन्तु इसमें जो अनेक मौलिक विशेषताएँ हैं, उन्हींके कारण सोमदेव और उनके उपासकाध्ययनको इतना समादर प्राप्त हुआ।

[५] उपासकाध्ययनपर प्रभाव

समन्तभद्र और सोमदेव—सोमदेवके उपासकाध्ययनपर सबसे अधिक प्रभाव आचार्य समन्तभद्रके रत्नकरण्ड श्रावकाचारका है। उसीके अनुसार उसमें आप्त, आगम आदिके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाकर क्रमसे आप्त आगम आदिका विस्तारसे कथन किया है। साधारणतया सम्यग्दर्शन, अष्टमूल गुण, बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमाएँ और समाधिमरण, ये श्रावक धर्म हैं। रत्नकरण्डके १५० पद्योंमें इन्हीं सबका

---

१ प्रबोधसार और दानशासन सखाराम नेमचन्द ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हुए हैं।

२ रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बईसे प्रकाशित, पृ० ७५ तथा पृ० ९३ पर।

३ रा० शा० बम्बईसे प्रकाशित दूसरा सस्करण। पृ० १४३ पर।

४ दिल्लीसे प्रकाशित सस्करण, पृ० १५९ पर।

५ बनारससे प्रकाशित सस्करण, पृ० १८।

६ मा० ग्र० सस्करण, पृ० ८० में।

७. मा० ग्र० संस्करण, पृ० ८५, ९०, १०२, २९४, ३०२, ३४५ प्रति।

८ श्री भद्रबाहु श्रीचन्द्रो जिनचन्द्रो महामतिः। गृद्धपिच्छगुरु श्रीमान् कोण्डाचार्यो जितेन्द्रिय ॥
एलाचार्य पूज्यपाद सिंहनन्दी महाकवि। वीरसेनो जिनसेनो गुणनन्दी महातपा ॥
समन्तभद्र श्रीकुम्भ शिवकोटि शिवकर। शिवायनो विष्णुसेनो गुणभद्रो गुणाधिक ॥
अकलंको महाप्राज्ञ सोमदेवो विदांवर। प्रभाचन्द्रो नेमिचन्द्र इत्यादि मुनिसत्तमै ॥
यच्छास्त्र रचित नून तदेवादेयमन्यकै। विसन्धै रचित नैव प्रमाण साध्वपि स्फुटम् ॥

कथन है। उपासकाध्ययनमें भी इन्हींका कथन विस्तारसे किया गया है। किन्तु ग्यारह प्रतिमाओंके तो नाम मात्र गिनाकर उनमें-से आदिकी छह प्रतिमाओंके धारकोंको गृहस्थ तीनके धारकोंको ब्रह्मचारी और अन्तकी दो प्रतिमाओंके धारकोंको भिक्षुक कहा है। रत्नकरण्डमें ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप अलग-अलग बतलाया है। तथा उसमें सम्यग्दर्शनमें प्रसिद्ध आठ व्यक्तियोंके नाममात्र गिनाये हैं। किन्तु उपासकाध्ययनमें उन आठोंकी कथाएँ सुन्दर संस्कृत गद्यमें बड़ी रोचक शैलीसे कही हैं।

जटासिंहनन्दी और सोमदेव—जटासिंह नन्दी (७वीं शती) का [1]वरांगचरित एक पौराणिक महाकाव्य है। उसमें ३१ सर्ग हैं। उनमें-से लगभग १२ सर्गोंमें जैन सिद्धान्तका कथन है। सोमदेवके उपासकाध्ययनमें उसका एक श्लोक तो उद्धृत है ही उसके सिवा भी प्रभाव है। वरांगचरितके सर्ग २२-२३ में जिन पूजाका विस्तारसे वर्णन है तथा २५वें सर्गमें ब्राह्मणी क्रियाकाण्डकी समीक्षा है और अन्य देवताओंमें दोष बतलाकर जिनेन्द्रदेवको ही आप्त सिद्ध किया है। सोमदेवके उपासकाध्ययनमें भी उक्त सब विषयोंकी चर्चा है। गौकी पवित्रता भूमिका मान्य ब्रह्मलोक हरि हर ब्रह्मा वगैरहका देवत्व बुद्धकी आप्तता आदि विषय दोनोंमें चर्चित है।

जिनसेन और सोमदेव—आचार्य जिनसेनके [2]महापुराणके ३८-३९वें पर्वोंमें श्रावकोंकी क्रियाओंका वर्णन है। जिनसेनके द्वारा प्रतिपादित षट्कर्मोंमें थोड़ा-सा संशोधन करके ही सोमदेवने श्रावकके षट्कर्म स्थापित किये यह बात पहले लिख आये हैं।

गुणभद्र और सोमदेव—आचार्य जिनसेनके शिष्य गुणभद्रका आत्मानुशासन प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थका एक पद्य (२१) उपासकाध्ययन पृ. १५१ में उद्धृत करके उद्धृत है। तथा सम्यक्त्वके दस भेदोंको बतलानेके लिए ११वाँ श्लोक यथाविधि उसाह करके मूलमें अपना लिया है। इस तरह उपासकाध्ययन आत्मानुशासनका भी ऋणी है।

देवसेन और सोमदेव—विमलसेन गणिके शिष्य देवसेनके द्वारा रचित एक [3]भावसंग्रह नामक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थके साथ सोमदेवके उपासकाध्ययनका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि एकका दूसरेपर प्रभाव है। भावसंग्रहमें ७०१ गाथाओंके द्वारा चौदह गुणस्थानोंका वर्णन है। प्रथम गुणस्थान-का वर्णन करते हुए मिथ्यात्वके पाँच भेद बतलाये हैं। ब्रह्मवादियोंको विपरीत मिथ्यादृष्टि बतलाकर लिखा है कि ब्राह्मण जलसे शुद्धि मानते हैं मांससे पितरोंकी तृप्ति मानते हैं पशुघातसे स्वर्ग मानते हैं और गौसे स्पर्शसे धर्म मानते हैं (१७) इन्हींका निरूपण करते हुए स्नानदूषण मांसदूषण आदिका कथन किया है। उपासकाध्ययनके भी तीसरे कल्पमें मिथ्यात्वके पाँच भेद बतलाकर उक्त विषयोंकी आलोचना की है। किन्तु यह आलोचना भावसंग्रहसे बहुत अधिक परिष्कृत और संक्षिप्त है। उपासकाध्ययनमें लिखा है,

"ब्रह्मचर्योपपन्नानामध्यात्माचारचेतसाम् ।
मुनीनां स्नानमप्राप्तं दोषे त्वस्य विधिर्मतः ॥

भावसंग्रहमें लिखा है

'बंभव्वयमसीलजुत्ता णिद्धक्कसाया दयावरा अइणो ।
ण्हाणरहिया वि पुरिसा बंभयारी सया सुद्धा ॥२५॥

भावसंग्रहमें पाँचों मिथ्यात्वोंको माननेवाले ब्राह्मण बौद्ध तापस श्वेताम्बर और मस्करिके मतोंका निराकरण करके चार्वाक सांख्य और कौल धर्मकी आलोचना की है। उपासकाध्ययनके प्रथम कल्पमें तो सब

१ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई (वर्तमानमें वाराणसीसे प्रकाशित)।
२ भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसीसे प्रकाशित।
३ वीरराज ग्रन्थमाला शोलापुरसे प्रकाशित।
४ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई (वर्तमानमें भा. ज्ञा. वाराणसी) से प्रकाशित।

दर्शनोंकी समीक्षा की है उनमे उक्त सभी मत आ जाते है। ऐसा प्रतीत होता है कि भावसग्रहके कर्ता दार्शनिकसे अधिक पौराणिक थे। उन्होंने प्रत्येक मतके सम्बन्धमें प्रचलित बातोंको लेकर ही उनकी हँसी उड़ायी है। उसमें दार्शनिकता विशेष नही है। तीसरे गुणस्थानका वर्णन करते हुए भी हरि, हर, ब्रह्मा आदि देवोंकी समीक्षा पौराणिक आख्यानोको लेकर ही की है।

पाँचवे गुणस्थानका वर्णन करते हुए यद्यपि गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके भेद कुन्दकुन्दके अनुसार बतलाये हैं। किन्तु सामायिकके स्थानमें 'त्रिकाल[1] देवसेवा' को स्थान दिया है। उपासकाध्ययनमें सामायिकका स्वरूप आप्तसेवा ही बतलाया है। तथा अष्टमूलगुण[2] भी उपासकाध्ययनके अनुसार ही बतलाये हैं। आगे देवपूजाका कथन करते हुए स्नानके पश्चात् मन्त्रसे आचमन[3]का फिर सकलीकरणका विधान किया है। सोमदेवने आचमनको मान्य करके भी पूजनके समय आचमन नही बतलाया है और न सकलीकरण बतलाया है। हाँ, जपसे पहले उन्होंने सकलीकरणका विधान किया है। [4]भावसंग्रहमें अभिषेकसे पूर्व कंकणमुद्रा और यज्ञोपवीत धारण करनेका विधान किया है, सोमदेवने नही किया। सोमदेवने केवल इन्द्रादि देवोंका ही आह्वानन किया है। [5]भावसग्रहमें उनका आह्वानन शस्त्र और वाहनके साथ करना बतलाया है। उपासकाध्ययनमें अष्टद्रव्योंसे पूजा करनेका फल नही बतलाया है, भावसग्रहमें एक-एक गाथाके द्वारा प्रत्येकका फल बतलाया है। उपासकाध्ययनमें पूजनके बाद स्तवन, फिर जप और फिर ध्यानका विधान है। भावसग्रहमे पूजनके बाद ध्यान करके आहूत देवोंका विसर्जन करना बतलाया है। उपासकाध्ययनमें विसर्जनका कोई निर्देश नही है।

भावसंग्रहमें इसी प्रकरणमें आगे दानका वर्णन है जो उपासकाध्ययनके ४३वें कल्पके वर्णनसे मिलता है। दोनोंमें दानके चार भेद बतलाये हैं, अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान। उपासकाध्ययनमें केवल एक श्लोक-द्वारा चारों दानोंका जो फल बतलाया है, भावसग्रहमें प्राय वही फल चार गाथाओंके द्वारा बतलाया है। दाताके सात गुण दोनोंमें समान हैं। यथा,

"श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः।
यत्रैते सप्त गुणास्त दातार प्रशमन्ति॥"—उपासकाध्ययन।
"भत्ती तुट्ठी य खमा सद्धा सत्त च लोहपरिचाओ।
विण्णाण तक्काले सत्त गुणा होंति दायारे॥" ४९६॥ —भावसग्रह।

उपासकाध्ययन श्लो० १४४ में कहा है कि जो मूढताको सर्वथा छोड़नेमें असमर्थ है उसे सम्यक् मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए। भावसग्रह गा० २५७ में यही बात कही है। इस तरह भावसग्रह और उपासकाध्ययनके कुछ वर्णनोंमें समानता पायी जाती है और उन दोनोंमें कुछ ऐसी विशेष बातें भी हैं जो उससे पूर्वके उपलब्ध साहित्यमें नही हैं।

उपासकाध्ययनका तो रचनाकाल (वि० स० १०१६) निश्चित है किन्तु भावसग्रहके रचनाकालमें मतभेद है और उस मतभेदका कारण स्वय भावसग्रह ही है।

भावसग्रह देवसेनकी रचना है। देवसेनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं, उनके नाम हैं—दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार, नयचक्र और आलापपद्धति। इनमें-से [6]दर्शनसारके अन्तमें उसका रचनाकाल ९९० दिया है। चूँकि उसकी रचना धारा नगरीमें हुई है और वहाँ विक्रम सवत्का चलन था इसलिए,

---

१ गा० ३५५। २ गा० ३५६। ३ गा० ४२७। ४. गा० ४३६। ५ गा० ४३९।

६ "पुव्वाइरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ। सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसतेण॥४९॥
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए नवई। सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए॥
—जै० सा० इ० पृ० १७०।

उसे वि० सं० ९९० माना जाता है। भावसंग्रहको भी उन्हीं देवसेनकी रचना मानकर उसका रचनाकाल भी श्रीयुत् प्रेमीजीने विक्रमकी दसवीं शताब्दीका अन्तिम चरण माना था। तदनुसार भावसंग्रह उपासकाध्ययनका पूर्वज ठहरता है। किन्तु पं० परमानन्दजीने भावसंग्रहमें चर्चित कुछ उक्त विषयोंके आधारपर उसके रचनाकालमें आपत्ति करते हुए उसे सुलोचनाचरित (अपभ्रंश) के रचयिता देवसेनकी रचना बतलाया और श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तारने उसका निरसन करते हुए भावसंग्रहको दर्शनसारके रचयिता देवसेनकी ही कृति सिद्ध किया था। किन्तु श्रीप्रेमीजीने अपने जैन साहित्य और इतिहासके दूसरे संस्करणमें पं० परमानन्दजीके मतको स्थान दिया। केकड़ीके श्री पं० रतनलालजी कटारियाने भी भावसंग्रहके दर्शनसारके रचयिता देवसेनकी कृति होनेके पक्षमें अनेक आपत्तियाँ हमारे पास लिखकर भेजी थीं। अतः भावसंग्रहके उपासकाध्ययनके पूर्वज होनेमें सन्देह है। इसलिए सन्देहका निराकरण हुए बिना कोई मत निर्धारित नहीं किया जा सकता। जहाँ कुछ बातें पक्षमें हैं वहाँ अनेक बातें विपक्षमें भी हैं। दर्शनसार आराधनासार और भावसंग्रहकी प्रथम गाथामें सुरसेण नाम विशेषण रूपमें पाया जाता है किन्तु अन्तिम गाथामें दर्शनसारमें देवसेनगणि नाम है। भावसंग्रहमें विमलसेन गणधरका शिष्य लिखा है तथा आराधनासारमें केवल देवसेन नाम है। इसके साथ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीरचित गोम्मटसार जीवकाण्डकी अनेक गाथाओंके अंश ज्योंके-त्यों भावसंग्रहमें वर्तमान हैं। किन्तु एक गाथा ११ ऐसी भी है जो प्रमेयकमलमार्तण्डमें उद्धृत है। ये सभी बातें विचारणीय हैं।

[६] उपासकाध्ययनमें चर्चित दर्शन और मत

उपासकाध्ययनका प्रारम्भ करते हुए सोमदेव सूरिने प्रथम कल्पमें विभिन्न दर्शनोंमें मान्य मुक्तिके स्वरूपका उल्लेख करके उनकी आलोचना की है। इसीसे इस कल्पको सोमदेवने समस्तसमयसिद्धान्तावबोधन नाम दिया है। दसवीं शती और उससे पूर्व प्रचलित दार्शनिक मतोंके संकलनकी दृष्टिसे यह कल्प महत्त्वपूर्ण है। इसमें सैद्धान्त वैशेषिक तार्किक वैशेषिक काणाद पाशुपत कौल सांख्य कापिल बौद्ध जैमिनीय बार्हस्पत्य और वेदान्त दर्शनोंका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त सोमदेवने शैव और याज्ञिकोंका भी उल्लेख किया है। इनकी संक्षिप्त जानकारी निम्न प्रकार है।

वैशेषिक

सोमदेवने वैशेषिकके दो भेदोंका निर्देश किया है—एक सैद्धान्त वैशेषिक और दूसरे तार्किक वैशेषिक। इन दोनोंमें मुख्य अन्तर यह है कि सैद्धान्त वैशेषिक शिवके भक्त हैं और वे श्रद्धापर विशेष जोर देते हैं जब कि तार्किक वैशेषिक दर्शनके पूर्ण अनुयायी हैं और छह पदार्थोंके ज्ञानपर विशेष जोर देते हैं। सैद्धान्तियोंका मत[1] है कि शिवने अपने सशरीर और अशरीर रूपोंमें जिस धर्मका उपदेश दिया उसकी श्रद्धा करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। हरिभद्र सूरिने अपने षड्दर्शनसमुच्चयमें नैयायिकों और वैशेषिकोंको शैव-शिवका भक्त बतलाया है। उसके टीकाकार गुणरत्नने शिवके अनुयायियोंके शैव पाशुपत आदि चार सम्प्रदाय बतलाये हैं और लिखा है कि नैयायिक शैव कहलाते हैं तथा वैशेषिक पाशुपत[3]। किन्तु पाशुपतोंके अपने पृथक् सिद्धान्त हैं और उनका वैशेषिकोंसे कोई साक्षात् सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। सोमदेवने स्वयं उनके मोक्ष सम्बन्धी मतका पृथक् निर्देश किया है।

तार्किक वैशेषिक द्रव्य गुण कर्म सामान्य समवाय विशेष और अभाव इन सात पदार्थोंके साधर्म्य और वैधर्म्यमूलक ज्ञानमात्रसे मोक्ष मानते हैं। यहाँ उल्लेखनीय यह है कि सप्तपदार्थीके कर्ता शिवादित्यकी तरह सोमदेवने भी अभावको पदार्थोंमें सम्मिलित किया है। यह सर्वविदित है कि कणादने छह ही पदार्थ

---

1 [illegible] ११ ११।
2 [illegible] पृ० २।
3 'नैयायिकाः सदाशिवभक्तत्वाच्छैवाः। वैशेषिकाः पाशुपताः।'—षड्दर्शनसमुच्चय टीका पृ० १ ।
4 [illegible] पृ० १

कहे है, किन्तु लगभग दसवी शताब्दीसे वैशेषिक दर्शनपर लिखनेवाले श्रीधर और उदयन-जैसे ग्रन्थकारोंने अभावकी महत्तापर जोर दिया है और दूसरे ग्रन्थकारोंने अभावको पदार्थोंमें सम्मिलित कर लिया है।

सोमदेवने वैशेपिकोके द्वारा मान्य मुक्तिका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि कणादके अनुयायी आत्माके ज्ञान, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और सस्कार इन नौ विशेष गुणोंके नष्ट हो जानेको मुक्ति कहते है।[1] सोमदेवने अपने कथनके समर्थनमें एक श्लोक भी उद्धृत किया है, जिसमे बतलाया है कि शरीरसे बाहर आत्माके जिस रूपकी प्रतीति होती है, कणाद मुनिने वही मुक्तिका स्वरूप कहा है।[2]

श्रीधराचार्यने लिखा है "आत्मामें नित्य सुख नहीं है अत मोक्षावस्थामें सुखानुभव न होनेसे सुखानुभवका नाम मोक्षावस्था नही है किन्तु आत्माके समस्त विशेप गुणोका विनाश हो जानेसे उसकी स्वरूपमें स्थितिका नाम मोक्ष है।" मण्डन मिश्रने मुक्तिके इस रूपपर यह आपत्ति की थी कि विशेपगुणोकी निवृत्तिरूप मुक्ति तो उच्छेद पक्षसे भिन्न नही है। इसका उत्तर देते हुए श्रीधरने कहा है कि विशेपगुणोका उच्छेद होने-पर आत्मा अपने स्वरूपसे अवस्थित रहता है, उसका उच्छेद नही होता क्योंकि वह नित्य है।[3]

सोमदेवने भी मुक्तिके उक्त स्वरूपकी समीक्षा करते हुए कहा है कि यदि मुक्तिमे सासारिक ज्ञान और सासारिक सुख नहीं है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नही है, हमें यह इष्ट ही है, किन्तु यदि मुक्तावस्थामें आत्माके स्वाभाविक ज्ञान और सुख-गुण भी नष्ट हो जाते है तो फिर मुक्तात्माका लक्षण क्या रहेगा। अग्निमें-से यदि उष्णता नष्ट हो जाये तो अग्निका अस्तित्व कैसे रह सकता है।[4]

मुक्तिके कारणकी आलोचना करते हुए सोमदेवने कहा है कि ज्ञानसे हमें वस्तुका बोध होता है, प्राप्ति नही होती। पानीको जान लेनेसे प्यास नहीं बुझती। अत ज्ञानमात्रसे मुक्ति नहीं हो सकती।[5] इसी तरह सैद्धान्त वैशेपिकोकी आलोचना करते हुए सोमदेवने कहा है कि केवल श्रद्धामात्रसे मुक्तिलाभ नही हो सकता। क्या भूख लगनेसे ही उदुम्बर फल पक सकता है।[6]

कणाद मुनि वैशेपिक दर्शनके आद्य प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके दर्शनको औलूक्य दर्शन भी कहते हैं। उसके ऊपरसे ऐसी कल्पना की गयी है कि शिवजीने उल्लूका रूप धारण करके उन्हें परमाणुवादका उपदेश दिया था इससे उनके दर्शनको औलूक्य दर्शन कहते हैं। कणादमुनि शैव अथवा पाशुपत थे।

पाशुपत-दर्शन

सोमदेवके कथनानुसार पाशुपत दर्शनमें केवल क्रियाकाण्डसे मुक्ति मानी गयी है। वे क्रियाएँ इस प्रकार हैं—प्रात दोपहर और सन्ध्याके समय शरीरमें भस्म लगाना, शिवलिंगकी पूजा करना, जलपात्रका अर्पण, प्रदक्षिणा और आत्मविडम्बना। सोमदेवने इनमें-से किसी भी क्रियाका खुलासा नहीं किया। किन्तु भासर्वज्ञकी गणकारिकाकी टीकासे उन्हें बहुत कुछ समझा जा सकता है। भासर्वज्ञ सम्भवतया सोमदेवका समकालीन था। गणकारिकाकी रत्नटीकामें केवल दिनमें तीन बार शरीरमें भस्म[7] रमानेका ही निर्देश नही है किन्तु

---

१. सो० उपा०, पृ० ३।

२. सो० उपा०, पृ० ३ श्लो० ९।

३ "नास्यात्मनो नित्य सुख तदभावान्न तदनुभवो मोक्षावस्था किन्तु समस्तात्मविशेषगुणोच्छेदोपलक्षिता स्वरूपस्थितिरेव। यदुक्त मण्डनेन विशेषगुणनिवृत्तिलक्षणा मुक्तिरुच्छेदपक्षान्न भिद्यते इति विशेषगुणोच्छेदे हि सति आत्मन स्वरूपेणावस्थानं नोच्छेदो नित्यत्वात्।"

४ सो० उपा०, श्लो० ३२-३३।

५ सो० उ० ५-६।

६ सो० उपा० पृ० ५, श्लो० १७।

७ "भगवन्त प्रणम्य त्वदाज्ञा करोमीत्यभिसधाय जपन्नेवापादतलमस्तक यावत् प्रभूतेन भस्मनाऽङ्ग प्रत्यङ्ग च प्रयत्नातिशयेन निघृष्य निघृष्य स्नानमाचरेदित्येव मध्याह्नापराह्नसन्ध्ययोरपीति निष्क्रम्येश प्रणम्य प्रणामान्तं प्रदक्षिणत्रय···कुर्यात्।"

देवालयमें भस्मपर आसन सोनेका भी निर्देश है। तथा वाम प्रदक्षिणा करनेका भी उल्लेख है। इसमें से शिवलिंगकी पूजा की गयी है। आत्मविडम्बनाम कुछ विचित्र क्रियाएँ बतायी गयी हैं जिनका उद्देश्य भक्तको अपमानित अनुभव कराना है।

टीकामें लिखा[2] है कि ये क्रियाएँ भक्तको अपमानका अनुभव करानेके लिए बतलायी हैं जिससे वह अपमान को सहन कर सके। अपमानको पंचाग्नि आगके तुल्य बतलाया है और उसे उत्तम कहा है। तथा लिखा[3] है कि जैसे रंगमंचपर नट अपनी कलाएँ दिखाकर जनताको प्रसन्न करता है उसी तरह शिवभक्तको जनसमुदायमें विचित्र क्रियाएँ दिखाकर प्रसन्न करना चाहिए।

सोमदेवने पाशुपतोंके द्वारा मुक्तिके उपाय रूपसे बताये गये क्रियाकाण्डका तो उल्लेख करके उसकी आलोचना की है किन्तु पाशुपतोंने मुक्तिका स्वरूप कैसा माना है इस विषयमें कुछ भी नहीं कहा। कुछ ग्रन्थकारोंके अनुसार पाशुपतोंकी मुक्तिका स्वरूप न्याय-वैशेषिक दर्शनसे भिन्न नहीं है।

भास्करने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें लिखा है कि पाशुपत और कापालिक मुक्तिका स्वरूप वही मानते हैं जो नैयायिकों और वैशेषिकोंने माना है। और शैवोंके मुक्तिका स्वरूप सांख्यके समान है। उसने लिखा[4] है कि पाशुपत वैशेषिक नैयायिक और कापालिकोंके मतानुसार मुक्ति अवस्थामें आत्माएँ पत्थरके तुल्य हो जाती हैं। किन्तु सांख्य और शैवमतमें चैतन्यविशिष्ट रहती हैं।

यमुनाचार्यने अपने आगमप्रामाण्यमें शैव सम्प्रदायका विवरण दिया है। उसने भी पाशुपतोंके मुक्तिके स्वरूपके विषयमें वही लिखा है जो भास्करने लिखा है। पाशुपतदर्शनका एक मूल सिद्धान्त दुःखान्त है। इसका खुलासा करते हुए यमुनाचार्यने लिखा[5] है कि दुःखान्तका अर्थ है, दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्ति इसीको समस्त विशिष्ट आत्मगुणोंका विनाशरूप मुक्ति मानते हैं।

गणकारिकाकी रत्नटीकामें दुःखान्तकी निषेधपरक व्याख्या तो उक्त प्रकार ही है। विधिपरक व्याख्यामें दुःखान्तका अर्थ सिद्धि अर्थात् शिवकी तरह सर्वोच्च शक्तिकी प्राप्ति किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पाशुपतमत दार्शनिक होनेकी अपेक्षा एक धार्मिक आचाररूप रहा है। पाशुपत सूत्रोंकी कौण्डिन्यरचित टीकामें पाशुपतोंके आचारकी पूरी रूप-रेखा दी है। उसके मूल अहिंसा ब्रह्मचर्य सत्य असम्व्यवहार, शौच आहारलाघव और अप्रमाद आदि पाँच यम हैं। अहिंसा जैनोंकी तरह ही व्यवहारात्मक है। जीवोंकी सुरक्षाके विचारसे मार्ग चलानेतकका निषेध किया है। वस्त्रसे छानकर पानीका उपयोग करना बतलाया है। तथा वनस्पतिकी जड़ कन्दमूल और पके बीजोंको खानेका निषेध किया है। किन्तु जो मारा गया न हो ऐसे पशुके मांस खानेकी आज्ञा है।

ब्रह्मचर्य तो स्पष्ट ही है। सत्यके विषयमें कौण्डिन्यने एक श्लोक[6] उद्धृत किया है जिसमें बतलाया है कि सब प्राणियोंपर दया करनेके लिए *बोले गये झूठसे स्वर्ग मिल सकता है। किन्तु सज्जनोंके विनाशके* लिए बोले गये सत्यसे भी स्वर्ग नहीं मिल सकता।

---

१ मूर्तिलाभेन पशुपतिहारसूत्रे महादेवेनास्यायामूर्ध्वलिङ्गादि कथनं व्याख्यातम्।

२ 'अत परिभवं गच्छेदित्युक्तसारत्वाग्निमुक्त्यत्वेनापमानादेरित्यमसत्वादिति।

३ "तद्यथा रङ्गस्थितेषु नटेषु मध्य नटवद्रङ्गस्थितो विचेष्ट विचेष्ट जनमाह्लादीनि कुर्यान्।

४ 'पाशुपतवैशेषिकनैयायिककापालिकानामविशिष्टा मुक्त्यवस्थायां पाषाणकल्पा आत्मानो भवन्तीति। सांख्यशैवयोश्च विशिष्य चात्मानश्चैतन्यस्वभावास्तिष्ठन्तीति।"

५ 'आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर्दुःखान्तस्तत्रैकोऽपि तमेव निःशेषवैशेषिकगुणोच्छेदलक्षणां मुक्तिं मन्यन्ते।"

६ स्वर्गमनृतेन गच्छति दयार्थमुक्तेन सर्वभूतानाम्। सत्येनापि न गच्छति सतो विनाशार्थमुक्तेन॥

असमञ्यवहारका मतलब है—व्याजादि देन-लेनके व्यवहारसे तथा कोर्टसे दूर रहना। अस्तेयमें अनधिकार प्रतिग्रह और अनुपालम्भको भी लिया है। शौचका मतलब है शारीरिक, मानसिक और आत्मिक पवित्रता। शारीरिक अपवित्रता भस्म लगानेसे दूर हो जाती है। भावशौच विशेष आवश्यक है। अपमान, तिरस्कार वगैरहसे आत्मशौच होता है। आहार लाघवसे मतलब है, भिक्षावृत्तिसे भोजन करना।

प्राचीन पाशुपत कठोर-जीवन विताते थे ऐसा प्रकट होता है। पाशुपत सूत्रोंके अनुसार पाशुपत भिक्षुक किसी उजडे हुए घरमें अथवा गुफामे या श्मशानमे रहता है, एक वस्त्रखण्ड रखता है और यदि सम्भव हो तो सर्वस्वत्यागके चिह्नस्वरूप वस्त्रोंसे सर्वथा दूर रहता है। भिक्षावृत्तिसे भोजन करता है, यहाँ तक कि भस्म भी भिक्षासे प्राप्त करता है और वैदिक यज्ञोंसे घृणा करता है।

वेदान्तसूत्र (२-२-३७) के भाष्यमें शंकराचार्यने पाशुपतोका खण्डन किया है किन्तु माहेश्वर—शिवके अनुयायी नामसे उनका उल्लेख किया है। इससे प्रकट होता है कि पाशुपत भी एक शैव सम्प्रदाय था। नौवीं शताब्दीके ग्रन्थकार वाचस्पतिने भामतीमें और भास्करने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें चार शैव सम्प्रदायोका निर्देश किया है—पाशुपत, कापालिक, शैव और कारुणिक सिद्धान्ती। यमुनाचार्यने अपने आगमप्रामाण्यमे उनके नाम शैव, पाशुपत, कापालिक और कालमुख दिये हैं। रामानुजके श्रीभाष्यमें भी ये ही नाम हैं।

पाशुपत मतमें पाँच पदार्थ हैं—दु:खान्त, कार्य, कारण, विधि और योग। इनका प्रवर्तक नकुलीश पाशुपत था। इन पाँच पदार्थोको जानना जरूरी है। न्यायवैशेषिक दर्शनमें दुःखकी निवृत्तिका नाम दु:खान्त है, किन्तु पाशुपत दर्शनमें पारमैश्वर्यकी प्राप्ति भी सम्मिलित है। न्यायवैशेषिक दर्शन असत्कार्यवादी है, किन्तु इस दर्शनमें पशु आदि कार्य नित्य है। अन्य दर्शनोमें सृष्टिके कारण प्रधान परमाणु वगैरह है जो परतन्त्र हैं, किन्तु इस दर्शनमें स्वतन्त्र शिव ही सृष्टिका मूल कारण है। अन्य दर्शनोमे योग कैवल्य और अभ्युदयको देनेवाला है, किन्तु इस दर्शनमें परमदु:खकी अवधिका भानरूप योग है। अन्य दर्शनोमे स्वर्गादि फलको देनेवाली विधि है, जहाँसे पुनरावर्तन होता है, किन्तु पाशुपत दर्शनमें पुनरावृत्ति नही करानेवाली किन्तु रुद्रसायुज्य करानेवाली विधि है।

तत्त्वज्ञानके पाँच लाभ है। इन लाभपचक, मलपचक, उपायपचक, देशपचक, विशुद्धिपचक, अवस्थापचक, दीक्षापचक और बलपचक, ये आठ पचक जान लेनेसे पाशुपतोके आचारप्रधान मार्गका बोध हो जाता है। मिथ्याज्ञान, पाप, विषयासक्तिरूप दोष, परमेश्वरपदकी विस्मृति, पशुत्व अर्थात् बद्ध जीवका स्वरूप ये मलपचक हैं। इनकी पाँच शुद्धियाँ हैं जो इन पाँच मलोंकी निवृत्तिरूप हैं। पशुभावकी निवृत्तिवाली पाँच अवस्थाएँ है। उन अवस्थाओंमें ले जानेवाली पाँच दीक्षाएँ है। ये दीक्षा पाशुपत गुरु देते हैं। उक्त आठ पचकोंसे युक्त शिवभक्त कैसे जीवननिर्वाह करता है यह ऊपर लिख आये हैं।

शैव धर्ममें तीन मूल चीज हैं—पति, पशु और पाश। पति स्वय शिव है, और पशु जगत्के प्राणी हैं जो पाशसे बँधे हुए हैं। शिवमें बाँधने और मुक्त करनेकी शक्ति है। किन्तु अपने कर्मोके फलको भोगे विना पाशसे छुटकारा नही मिल सकता। जो अपने कर्मोंको नष्ट कर देते है उनकी मुक्तिके लिए शिव दयालु होकर आचार्यका पद ग्रहण करते हैं और उन्हें प्राथमिक दीक्षा देते है।

शैवधर्म

सोमदेवने शैवधर्मके दो मुख्य भेद बतलाये हैं—दक्षिणमार्ग और वाममार्ग। इनमे-से वाममार्ग शैवधर्मका विकृत रूप है, किन्तु दक्षिणमार्गको शैवधर्मका ठीक रूप कहा जा सकता है। इसके सिद्धान्तोंको बतलानेके लिए सोमदेवने तीन श्लोक उद्धृत किये है जो इस प्रकार है,

"प्रपञ्चरहित शास्त्र प्रपञ्चरहितो गुरु।
प्रपञ्चरहित ज्ञान प्रपञ्चरहित शिव ॥

शिवं शक्तिविनाशेन ये वाञ्छन्ति नराधमाः ।
ते भूमिरहिताद् बीजात् सन्तु नूनं फलोद्गमाः ॥

—यशस्ति भाग १ पृ १५१

अद्वैतान्न परं तत्त्वं न देवः शंकरात् परः ।
शैवशासनात् परं नास्ति भुक्तिमुक्तिप्रदं मतम् ॥ २११ ॥

—भा उपासका ।

पहले श्लोकमें बतलाया है कि आत्मा एक ज्ञान और शिव ये सब प्रपंच अर्थात् सांसारिक पदार्थोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते। दूसरे श्लोकमें शिव और शक्तिके सम्बन्धपर जोर दिया गया है और बतलाया है कि शक्तिको स्वीकार किये बिना शिवको स्वीकार करना वैसा ही है जैसे बिना भूमिके बीजसे फलोत्पादन करना। तीसरे श्लोकमें बतलाया है कि अद्वैतसे श्रेष्ठ अन्य तत्त्व नहीं शिवसे श्रेष्ठ दूसरा देव नहीं और शैव शासनसे श्रेष्ठ भुक्ति और मुक्तिको देनेवाला अन्य शासन नहीं है।

ये तीनों श्लोक शैव धर्मके अद्वैत मतके सिद्धान्तोंको बतलाते हैं। शिवपुराण (कैलास संहिता १-१६६)में शैवमतके लिए 'अद्वैत शैववेद' शब्दका प्रयोग किया गया है और लिखा है कि वह द्वैतको सहन नहीं करता। एक अन्य शैव धर्ममें केवल अद्वैतको ही स्वीकार किया है और प्रपंच तथा संसारकी वास्तविकताको अस्वीकार किया है। स्वयं प्रकाशमान अद्वैत चेतन और अचेतनके भेदको लिए हुए यह समस्त जगत् शिवमात्र ही है शिवकी शक्तिसे ही उसकी रचना हुई है। शिवसे भिन्न कुछ भी नहीं है।

शिवकी शक्ति उसीकी इच्छाके अनुसार सृष्टिकी रचना करती है। उसी अनादि अनन्त शक्तिको माया कहते हैं यही इस भौतिक विश्वका कारण है। जैसे प्रकाश और अन्धकारका कोई सम्बन्ध नहीं वैसे ही प्रपंच और शिवका भी कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु जैसे फेन और लहरें समुद्रसे उत्पन्न होकर समुद्रमें ही लय हो जाती हैं वैसे ही यह जगत् भी शिवमें ही लीन हो जाता है।

प्रपंचरहित ज्ञान उस समाधिको बतलाता है जिसमें भक्त अधिक समय तक संसारका भान नहीं रहता और शिवमें लीन हो जाता है प्रपञ्चरहित एक तो शिव स्वयं है। शिव और शक्तिका अभेद सम्बन्ध भी शैव ग्रन्थोंमें बतलाया है और यह शैव धर्मका एक मौलिक सिद्धान्त है।

सोमदेवने 'वक्ता नैव सदाशिव' (सो उ पृ २१) आदि श्लोकके द्वारा इस बातका खण्डन किया है कि आगमिक ज्ञान शिवसे प्रकट हुआ है।

---

१ 'एकः स भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः। तस्मादद्वैतमेवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः।
—सूतसंहिता (ज्ञानयोगखण्ड २-३)।

२ 'प्रत्यक्ष संक्षेपमिमं मनुष्यं जगत्समस्तं चिदचित्प्रभिन्नम्।
स्वशक्तिकल्पं शिवमात्रमेव न देवदेवात् पृथगस्ति किञ्चित्॥

३ 'यथा प्रकाशतमसो सम्बन्धो नोपपद्यते। तद्वदेव न सम्बन्धः प्रपञ्चपरमात्मनोः॥
छायातपौ यथा लोके परस्परविलक्षणौ। तद्वत् प्रपञ्चपुरुषौ विभिन्नौ परमार्थतः॥
—ईश्वरगीता २ १ ११।

४ 'यथा फेनतरङ्गादि समुद्रादुत्थितं पुनः। समुद्रे लीयते तद्वज्जगन्मय्येव लीयते॥
—सूतसंहिता (ज्ञानयोग खण्ड २ २)

५ "यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति। एकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः॥"

६ 'गुणातीतः परशिवो गुणरूपं समाश्रितः'। —शिवपुराण (विद्येश्वरसंहिता ११ ४७)

७ 'न शिवेन विना शक्तिः न शक्तिरहितः शिवः। उभयोरन्तरं सर्वं यः पश्यति स पश्यति।"
—सूतसंहिता (यज्ञवैभव खण्ड ११ १)

सोमदेवने उपासकाध्ययनके अन्तिम आश्वासमें शैव और तान्त्रिक मतोंके कुछ मूलभूत विचारोंका खण्डन किया है। वे हैं—ज्योति[1], बिन्दु, कला, नाद, कुण्डली और निर्वीजीकरण। 'ज्योति' शिवके गूढ नामोंमें-से है। संस्कृतमें 'ज्योति' शब्द नपुंसक लिंग है। एक ही शिव तत्त्वको[2] भी पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग शब्दोंके द्वारा कहा जाता है। यद्यपि शिवतत्त्व लिंगरहित है तथापि उसका कथन लिंगभेदसे किया जाता है। प्रणव अथवा 'ओं' को भी, जो शिवका वाचक है, ज्योति शब्दसे कहा जाता है।

कला शैव सिद्धान्तोंके छत्तीस मुख्य सिद्धान्तोंमें-से है। यह मनुष्यकी कर्तृत्व शक्तिको प्रकट करती है इसलिए इसे कला[3] कहते हैं दूसरे शब्दोंमें पशु अर्थात् पाशबद्ध प्राणीमें जो मर्यादित कर्तृत्व शक्ति है उसका मूल कारण कला है।

नाद और बिन्दु ये दो धारणाएँ हैं। इनका सदा एक साथ निर्देश किया जाता है। शिवपुराणमें लिखा है कि सृष्टिके आरम्भमें शिवकी इच्छासे शक्ति प्रकट होती है। और जब वह शक्ति शिवकी उत्पादक शक्तिके द्वारा उत्तेजित की जाती है तो नाद उत्पन्न होता है, उससे बिन्दु होता है, बिन्दुसे सदाशिव, सदाशिवसे महेश्वर और महेश्वरसे विद्या उत्पन्न होती है। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और महेश्वर ये पाँच शुद्ध तत्त्व हैं। इन्हींमें नाद और बिन्दु भी गर्भित हैं।

कुण्डलिनी सचित शक्ति है जो प्रत्येक व्यक्तिमें स्वाभाविक रूपसे पायी जाती है, प्राथमिक अस्पष्ट ध्वनिसे लेकर साहित्यिक वाणी तक सब ध्वनियाँ उसीसे उत्पन्न होती हैं।

कुण्डलिनीके स्थानको मूलाधार कहते हैं। यह सुषुम्ना नाडीसे आवेष्टित है। कुण्डलिनीकी कल्पना कुण्डलीभूत सर्पकी तरह की जाती है, किन्तु राघवभट्टने शारदातिलक (१-५१) की टीकामें लिखा है कि मूलाधारमें कुण्डलीभूत सर्पकी तरह एक नाडी है और यह नाडी वायुके द्वारा प्रेरित होकर शरीरके सब भागोंमें भ्रमण करती है। वायुके द्वारा कुण्डलिनीके इस सचारको गुणन कहते हैं। 'कुण्डली वायुसचर' वाक्यका यही अभिप्राय है।

निर्वीजीकरण एक यौगिक प्रक्रिया है और उसका उद्देश्य है शरीरपर पूर्णाधिकार करना। सोमदेवने इन सबको व्यर्थ बतलाया है।

कुलाचार्य और त्रिकमत

सोमदेवने लिखा[4] है कि कुलाचार्यके मतानुसार समस्त पेय अपेय और भक्ष्य अभक्ष्य वगैरहका निःशक चित्तसे सेवन करनेसे मुक्ति मिलती है। सोमदेवसे दो शताब्दी पश्चात् यशःपाल नामके जैन ग्रन्थकारने 'मोहराज पराजय[5]' नामका नाटक रचा था। उन्होंने भी कौलों अथवा कुलाचार्योंका यही मत दिया है। इस नाटकमें कौल कहता है कि "प्रतिदिन मास खाना चाहिए और दिल खोलकर मद्य पीना चाहिए। मनकी गति अनिवार्य है। यह धर्म मैंने कहा है।" कर्पूरमंजरी नाटिका[6]में भी भैरवानन्दने कौलधर्मका यही स्वरूप बतलाया है

१ "ज्योतिर्बिन्दु कला नाद कुण्डली वायुसचर।"

२ "एकमेव शिवतत्त्व पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग-नपुंसकलिङ्गशब्दैर्व्यवह्रियते। तदुक्त बृहण्याम्—
शिवो देव शिवा देवी शिव ज्योतिरिति त्रिधा। अलिङ्गमपि यत्तत्त्व लिंगभेदेन कथ्यते।"
—तत्त्वप्रकाश टीका १-३।

३ "व्यञ्जयति कर्तृशक्ति कलेति तेनेह कथिता सा।"—तत्त्वप्रकाश ३-६।

४ "सर्वेषु पेयापेयभक्ष्याभक्ष्यादिषु निःशङ्कचित्ताद्वृत्तात् इति कुलाचार्यकाः।"—सो० उपा०, पृ० २।

५ "रज्जइ मम्म अणुदिणु पिज्जइ मज्ज च मुक्क सकप्प। अणिवारिय मणपसरो एसो धम्मो मए दिट्ठो॥" ४-२२।

६ "रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्ज मस पिज्जए खज्जए वा।
भिक्खा भोज्ज चम्मखड च सेज्जा कोलो धम्मो कस्स णो भादि रम्मो॥"—कर्पूर० पृ० २६।

और देवसेनके भावसंग्रहमें भी यही कहा है। सोमदेवने त्रिकमतको भी कुलाचार्यके समान ही बतलाया है। त्रिकमतके अनुसार गुरुको मदिरासे सुवासित करके और मांससे हृदयको प्रसन्न करके तथा बायीं ओर एक स्त्रीको बैठाकर मदिरासे शिवकी पूजा करे और स्वयं शिव-पार्वती बनकर योनिमुद्राका प्रदर्शन करे। यह तान्त्रिक पद्धतिका यथार्थ चित्रण है। कुलार्णवतन्त्र और कुलचूडामणितन्त्रमें ऐसा ही लिखा है। शराब और मांसका सेवन इस मतका उत्कृष्ट रूप है। अन्य स्त्रीके सम्बन्धमें कुलचूडामणितन्त्रमें लिखा है कि पूजक रात्रिके समय जब पूजाके लिए किसी स्त्रीके साथ बैठे तो वह स्त्री लाल वस्त्र धारण किये हो और बहुमूल्य स्वर्णालंकारोंसे सज्जित हो। वह स्त्री पूजकके बायीं ओर एक पट्टेपर बैठे और पूजक दोनों हाथोंसे वेष्टित करके उसका आलिंगन करे। यह बात स्मरणीय है कि बिना किसी भेदभावके किसी भी जातिकी स्त्रीकी पूजा तान्त्रिक पद्धतिका एक मुख्य लक्षण है। किन्तु धार्मिक विधिमें मद्य और मांसका सेवन तथा स्त्री सहवासकी स्वच्छन्दता अवश्य ही दुराचारकी ओर ले जाती है। अतः सोमदेवने कौलमतके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है उसका आधार वही है जो उन्होंने अपने समयमें देखा और सुना होगा। कुलार्णवतन्त्र (अध्याय ९) में सोमदेवकी तरह लिखा है कि कौलिकोंके[1] मतमें अपेय भी पेय, अभक्ष्य भी भक्ष्य और असेव्य भी सेव्य हो जाता है। तथा कौलिकोंके मतमें न कोई विधि है और न कोई निषेध है, न पुण्य है और न पाप है, न स्वर्ग है और न नरक है। इसीसे सोमदेवने कौलिक मतकी आलोचना करते हुए लिखा[2] है कि यदि इस प्रकारकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिसे मोक्ष प्राप्त हो सकता है तो कौलिकोंसे भी पहले ठगों और पापियोंको मोक्ष मिलना चाहिए।

यशस्तिलकके प्रथम आश्वासमें भी त्रिकमतका निर्देश है। टीकाकार श्रुतसागरने त्रिकमतका अर्थ शैव मत किया है। स्कन्दपुराण प्रभासखण्ड (अध्याय ११९) में कहा है कि जब प्रभास क्षेत्रकी महादेवीने बल और अतिबल नामक असुरोंकी सेनाका संहार किया तो बचे हुए असुरोंमें-से कुछ कौल हो गये और मांस मदिरा तथा स्त्रीसेवनमें रत हो गये।

कापालिक

सोमदेवने अपने उपासकाचारके आरम्भमें लिखा है कि यदि कोई जैन मुनि किसी कापालिकसे छू जाये तो उसे स्नान करना चाहिए। यमुनाचार्यके आगमप्रामाण्य (ई० १० १ के लगभग) में कापालिकोंकी छह मुद्राएँ (चिह्न) बतलायी हैं—कर्णिका, कुण्डल, माला, शिखामणि, यज्ञोपवीत और शरीरमें भस्म। तथा दो उपमुद्राएँ बतलायी हैं—कपाल और खट्वांग। तथा लिखा है कि जो इन छह मुद्राओंके तत्त्वको जानता है और परमुद्रामें विशारद होता है वह भगासनसे स्थित आत्माका ध्यान करके निर्वाणको प्राप्त करता है।[3]

कृष्णमिश्रके प्रबोधचन्द्रोदय नाटकके तीसरे अंकसे भी कापालिकोंके सम्बन्धमें कुछ जानकारी प्राप्त होती है। उसमें जो कापालिक उपस्थित किया गया है, वह मनुष्यकी अस्थियोंकी माला पहने हुए है, श्मशान भूमिमें रहता है, खप्परका पात्र रखता है। अपने धर्मका वर्णन करते हुए वह कहता है कि नरमेध यज्ञके साथ शिवके महाभैरव रूपको पूजना चाहिए तथा खप्परसे मदिरापान करना चाहिए। और रुधिरसे महाभैरवीकी पूजा भी करनी चाहिए। जगत्के विषयमें वह कहता है कि आपसमें भिन्न होते हुए भी यह जगत् शिवसे भिन्न नहीं है। मुक्तिके विषयमें उसका कहना है कि केवल जीवकी निर्विकल्प मुक्ति तो पाषाणके तुल्य है। उसे कौन चाहेगा। बिना विषयके सुख नहीं देखा जाता। अतः मुक्त जीव शिवकी तरह

---

१ अपेयमपि पेयं स्यादभक्ष्यं भक्ष्यमेव च। अगम्यमपि गम्यं स्यात् कौलिकानां कुलेश्वरि।
'न विधिर्न निषेधः स्यान्न पुण्यं न च पातकम्। न स्वर्गो नैव नरकः कौलिकानां कुलेश्वरि॥

२ श्लो० ३० श्लोक १२।

३ 'तथाहुः—मुद्रिकाषट्कतत्त्वज्ञः परमुद्राविशारदः। भगासनस्थमात्मानं ध्यात्वा निर्वाणमृच्छति॥
तथा—"कर्णिकारुचकं चैव कुण्डलं च शिखामणिम्। भस्मयज्ञोपवीतं च मुद्राषट्कं प्रचक्षते॥
कपालमथ खट्वाङ्गमुपमुद्रे प्रकीर्तिते। आभिर्मुद्रितदेहस्तु न भूय इह जायते।"

पार्वतीकी प्रतिरूप स्त्रीके साथ आनन्द करता है। कापालिकोंके इस सिद्धान्तको प्रबोधचन्द्रोदयमें महाभैरवानुशासन, परमेश्वरसिद्धान्त आदि नामोसे कहा है।

एक स्थानपर नाटकमें कापालिकको कुलाचार्य भी कहा है। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि कापालिको और कौलोका मत जुदा-जुदा था तथापि उनके आचारमे समानता होनेसे कभी-कभी दोनोको एक समझ लिया जाता था। दोनो ही आपत्तियोग्य आचारको पालते थे किन्तु कापालिक नरमेध भी करते थे।

आर० जी० भण्डारकरने लिखा[1] है कि पुलकेशी द्वितीयके भतीजे नागवर्धनका एक ताम्रपत्र मिला है जिसमें कपालेश्वरकी पूजाके लिए और मन्दिरमें रहनेवाले महाव्रतियोके लिए नासिक जिलेके अन्तर्गत इगतपुरीके पासका एक गाँव दान देनेका उल्लेख है। इससे प्रकट है कि सातवी शताब्दीके मध्यके लगभग महाराष्ट्रमें कापालिक सम्प्रदाय वर्तमान था। कवि भवभूतिके मालतीमाधव नाटकके प्रथम अकसे प्रकट होता है कि उसके समयमें (आठवीं शताब्दी) कर्नूल जिलेका श्रीपर्वत कापालिकोका केन्द्र था। वीर पाण्ड्यके समकालीन विक्रमकेशरीके एक दानपत्रमें मदुराके मल्लिकार्जुनको, जो कालमुख सम्प्रदायका साधु था, एक बडा मठ देनेका उल्लेख है। कालमुख भी कापालिकोके ही भाईवन्द थे। त्रिविक्रम भट्टके नल[2] चम्पूमें, जो दसवीं शताब्दीके प्रारम्भकी रचना है, कालमुखोको महाव्रतिकों अथवा कापालिकोके अन्तर्गत बतलाया है।

सांख्य दर्शन

सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनके प्रारम्भमें मोक्षके सम्बन्धमें अन्य दार्शनिकोके मत उद्धृत करते हुए साख्य दर्शनका भी मत दिया है। प्रथम तो यह बतलाया है कि प्रकृति और पुरुषके भेदज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति साख्य दर्शनमें बतलायी है। आगे लिखा है कि बुद्धि, मन, अहकारका अभाव होनेसे समस्त इन्द्रियोंके शान्त हो जानेसे द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थित होना मोक्ष है।

साख्यकी मोक्षविषयक उक्त मान्यताओका सोमदेवने खण्डन किया है। साख्य दर्शनमें मूल तत्त्व दो हैं, प्रकृति और पुरुष। प्रकृतिसे महान्, महान्से अहकार, अहकारसे पाँच तन्मात्राएँ—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन, तथा पाँच तन्मात्राओसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच भूत उत्पन्न होते हैं। इस तरह प्रकृतिके साथ उसके परिवारकी सख्या चौबीस हो जाती है और एक पुरुष मिलकर कुल सख्या पचीस हो जाती है। साख्य दर्शनमें पुरुषको अकर्ता, निर्गुण, शुद्ध, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, अमूर्त, भोक्ता और चेतन माना है। अत सोमदेवने साख्यकी आलोचना करते हुए लिखा है कि जब प्रकृति और पुरुष दोनो ही नित्य और व्यापी हैं तब उनमें भेद कैसे किया जा सकता है।

साख्य मुक्तावस्थामें ज्ञान नही मानता, केवल चैतन्य मानता है। अत सोमदेव कहते हैं कि आत्मा तो स्वाभाविक अनन्त ज्ञानका भण्डार है। कर्ममलके नष्ट हो जानेपर वह केवल ज्ञानके द्वारा बाह्य पदार्थोंको जानता हुआ ही अपने स्वरूपमें स्थित रहता है। आदि।

सोमदेवने यशस्तिलकके पाँचवें आश्वासमें भी (पृ० २५०) सांख्य मतका चित्रण किया है। उसमें एक श्लोक भी दिया है जिसका भाव यह है कि यत मोक्ष तो प्रकृति और पुरुषके भेदज्ञानसे होता है अत धार्मिक क्रियाएँ करना व्यर्थ है। इसलिए व्यक्तिको खाना पीना और मौज करना चाहिए।

एक विद्वान् पाठकको साख्यदर्शनके सम्बन्धमें ऐसा कथन उपहासास्पद प्रतीत हो सकता है किन्तु साख्यकारिकाकी टीका माठरवृत्तिमें एक श्लोक बिलकुल इसी आशयका पाया जाता है। श्लोक इस प्रकार है,

"हस पिब लल मोद नित्य विषयानुपभुञ्ज कुरु च मा शङ्काम्।
यदि विदित ते कपिलमत तत्प्राप्स्यसे मोक्षसौख्य च॥"

---

१. वैष्णविज्म, शैविज्म (पृ० १६८)।

२ "कलियुगशिवशासनस्थितिमिव महामतिकान्त पार्तिमि कालमुखैर्वानरै" —नलचम्पू श्र० ६।

यह श्लोक सांख्य दर्शनके महान् आचार्य आसुरिके मुखसे कहलाया गया है, इसमें कहा है—हंस आ-पी खेल कूद और निःशंक होकर विषयोंको भोग। यदि तुम कपिल मतको मान लिया तो तुझे मोक्षका सुख भी मिल जायेगा।

देवसेनने अपने भावसंग्रहमें भी (गाथा १७९–१८) सांख्यमतके विषयमें इसी तरहकी बातें कही हैं और उसे दयाधर्मसे रहित बतलाया है किन्तु माठर वृत्तिमें इस बातको सिद्ध किया है कि वैदिक हिंसा पापका कारण है। हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयकी टीकामें गुणरत्न सूरिने भी लिखा है कि सांख्य वैदिक क्रियाकाण्डको नहीं मानता क्योंकि उसमें हिंसा होती है। किन्तु सोमदेवने बौद्धोंकी तरह सांख्योंको भी मांस भक्षी कहा है। शायद इसीसे देवसेनने उन्हें जीवदयासे रहित कहा है।

बौद्ध दर्शन

सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें मोक्षके सम्बन्धमें बौद्ध दर्शनके तीन मन्तव्योंको उपस्थित किया है। पहला मन्तव्य[1] यह है कि नैरात्म्य भावनाके अभ्याससे निर्वाण लाभ होता है। नैरात्म्यका अर्थ है आत्माका अभाव। बौद्धमतके अनुसार मनुष्य स्कन्धोंका एक सम्मिश्रण मात्र है। जैसे 'गाडी' शब्द धुर, पहिये तथा अन्य अवयवोंके संयोजनसे बनी एक वस्तुका वाचक मात्र है यदि हम उसके प्रत्येक अवयवकी परीक्षा करें तो हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि गाडी स्वयं अपनेमें कोई एक वस्तु नहीं है। इसी तरहसे आत्मा भी स्कन्धोंका एक समुदाय मात्र है।

सोमदेवने यशस्तिलकके पाँचवें आश्वास (पृ २५२) में भी बौद्ध सुगतकीर्तिके द्वारा नैरात्म्यवादका कथन कराया है। सुगतकीर्ति कहता है कि आत्माका आग्रह ही प्राणियोंके महामोहरूपी अन्धकारका कारण है। उसके द्वारा उद्धृत दो कारिकाएँ इस प्रकार हैं,

य: पश्यत्यात्मानं तस्यात्मनि भवति शाश्वत: स्नेह:।
स्नेहात्सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयो: संप्रतिबद्धा: सर्वे दोषा: प्रजायन्ते॥

जो मनुष्य आत्माको मानता है उसका आत्मामें शाश्वत स्नेह होता है। आत्मस्नेहसे सुखकी तृष्णा होती है तृष्णा दोषोंकी उपेक्षा करती है। दूसरी बात यह है कि आत्माको माननेपर पर यह संज्ञा होना अनिवार्य है और 'स्व' तथा 'पर'का भेद होनेसे राग और द्वेष होते हैं। ये दोनों ही सब दोषोंके मूल हैं।

मोक्षके सम्बन्धमें भी सुगतकीर्ति एक श्लोक उपस्थित करता है

"यथा स्नेहक्षयाद्दीप: प्रशाम्यति निरन्वय:।
तथा क्लेशक्षयाज्जन्तु: प्रशाम्यति निरन्वय:॥"

जैसे तेलके समाप्त हो जानेपर दीपक शान्त हो जाता है और अपने पीछे कुछ भी नहीं छोड़ जाता वैसे ही क्लेशोंका क्षय होनेपर यह मनुष्य भी निरन्वय शान्त हो जाता है।

सोमदेवने उपासकाध्ययनमें भी इसी आशयके अश्वघोषके सौन्दरनन्दकाव्यसे दो प्रसिद्ध श्लोक 'दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित्' आदि उद्धृत किये हैं।

प्राचीन बौद्ध ग्रन्थोंमें क्लेशक्षयको निर्वाण कहा है। मोह राग और द्वेष क्लेश हैं। इन्हींके अन्तका नाम निर्वाण है। बौद्ध दृष्टिसे मुक्त होनेके बाद मुक्त हुए प्राणीका क्या होता है यह प्रश्न अभावात्मक है। इस प्रकारके प्रश्नके उत्तरमें बुद्धने प्रश्न करनेवालेसे पूछा क्या तुम बता सकते हो बुझ जानेपर दीपककी

1 "नैरात्म्यादिनिवेदितसर्वभावनाभावनातो इति दशबलशिष्या:। —सो उपा पृ २

लौ किस दिशामे चली जाती है ?" जैसे तेलके समाप्त हो जानेपर दीपक बुझ जाता है उसी तरह मुक्त प्राणी जिनके द्वारा कहा जाता वे सब भी उसके साथ ही समाप्त हो जाते हैं। पुनर्जन्म समाप्त हो जाता है और उसके साथ ही साथ सब कुछ समाप्त हो जाता है।

सोमदेवने बौद्धोके इस निर्वाणके खण्डनमें कहा है कि जब आत्मा अनेक जन्म धारण करनेपर भी नष्ट नही होता तो वह मुक्ति अवस्थामे कैसे नष्ट हो जाता है ?

सोमदेवने बौद्धदर्शनकी एक अन्य मान्यता शून्यवादका भी निर्देश किया है। और उसके माननेवालो-को 'शाक्यविशेषा' 'पश्यतोहरा' 'प्रकाशितशून्यतैकान्ततिमिरा', अर्थात् देखते हुए भी इस दृश्य जगत्की वस्तुओको चुरा लेनेवाले और शून्यतैकान्तरूपी अन्धकारको प्रकाशित करनेवाले बौद्धविशेष कहा है। बौद्धदर्शन-का एक भेद माध्यमिक शून्यतावाद है। नागार्जुनकी माध्यमिक कारिका शून्यतावादी दर्शनका प्रमुख ग्रन्थ है। उसमें कहा है,

"य प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा॥"

टीकाकार चन्द्रकीर्ति अपनी टीकामें लिखता है,

"योऽय प्रतीत्यसमुत्पादो हेतुप्रत्ययानपेक्ष्याङ्कुरविज्ञानादीना प्रादुर्भाव स स्वभावेनानुत्पाद.। यश्च स्वभावेनानुत्पादो भावाना सा शून्यता। एव प्रतीत्यसमुत्पादशब्दस्य योऽर्थ स एव शून्यता-शब्दस्यार्थ न पुनरभाव शब्दस्य योऽर्थः शून्यताशब्दस्यार्थ।"

अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पादको ही शून्यता कहते हैं। हेतु और प्रत्ययकी अपेक्षासे जो अकुरादि और विज्ञानादिकी उत्पत्ति होती है वह वास्तवमें अनुत्पत्ति है और पदार्थोंका स्वभावमे अनुत्पन्न होना ही शून्यता है। माया अथवा स्वप्न या गन्धर्वनगरकी तरह सभी लौकिक पदार्थोंका अस्तित्व केवल आपेक्षिक है, वास्तविक नहीं है। समस्त मनुष्योंकी बुद्धिरूपी आँखें अविद्यारूपी अन्धकारसे खराब हो गयी हैं अत उन्हें लौकिक पदार्थोंका अस्तित्व प्रतीत होता है। वास्तवमें वे न अस्तिरूप है और न नास्तिरूप हैं। इसीसे इस दर्शनका नाम माध्यमिक दर्शन है इसमें अस्तित्व और नास्तित्वरूप दोनो दर्शनोका प्रसग नही है। कहा भी है,

"अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः॥"—माध्यमिक का० १५, १०।

शून्यतावादका खण्डन करते हुए सोमदेवने लिखा है कि शून्यतावादकी सिद्धि आप बिना प्रमाणके तो कर नहीं सकते। और जब आप यह प्रतिज्ञा करेंगे कि मैं प्रमाणसे शून्य तत्त्वको सिद्ध करता हूँ तब प्रमाणका अस्तित्व सिद्ध हो जानेसे सर्वशून्यवाद समाप्त हो जायेगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि नैरात्म्यवाद और शून्यवाद-जैसे वादोंने बौद्ध साधुओंको खान-पानकी ओरसे बिलकुल स्वच्छन्द बना दिया था। सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें कहा[1] है कि श्रुति, बौद्ध और शैव आगम मद्य, मास और मधुके सेवनके पक्षमें हैं। बौद्धोके सम्बन्धमें खास तौरसे लिखा है कि वे खान-पानमें किसी तरहका कोई परहेज नहीं करते। उन्हें 'तरमासवशक्तवो' कहा है।

जैनग्रन्थ भावसग्रह (गा० ६८-६९) में भी बौद्धोको मद्य-मासका सेवी कहा है। योगशास्त्र (४-१०२) की टीकामें हेमचन्द्रने भी बौद्धोके कदाचारकी आलोचना की है। जैन ग्रन्थकारोंने ही नही, किन्तु सोमदेवके समकालीन न्यायकुसुमाञ्जलिकार[2] उदयनने भी यही बात लिखी है।

---

१ श्लोक १७४

२ "समवन्ति चैते हेतवो बौद्धाद्यागमपरिग्रहे। तथाहि—भूयस्तत्र कर्मलाघवमित्यलसा। भक्ष्याद्यनियम इति रागिण। सप्तवटिका भोजनादिसिद्धे जीविकेत्ययोग्या."—। स्तबक २।

बौद्ध मान्यताओंसे परिचित जनोंसे यह बात अज्ञात नहीं है कि बुद्धके समयमें भी बौद्ध साधु मांस ग्रहण करते थे और उनके निमित्तसे गृहस्थ पशुको मारकर मांस तैयार करते थे। किन्तु अन्य तीर्थ्योंके द्वारा इस बातकी आलोचना किये जानेपर बुद्धने त्रिकोटिपरिशुद्ध मांसको ही भिक्षुओंके लिए ग्राह्य करार दिया था। त्रिकोटिपरिशुद्धका मतलब है, अनदेखा अनसुना और निःसन्देह। जिस पशुको अपने निमित्तसे मारा जाता देखा हो या जिस पशुके बारेमें यह कहा गया हो कि यह तुम्हारे लिए मारा गया है अथवा जिसके बारेमें यह सन्देह हो कि यह हमारे लिए मारा गया है उस पशुका मांस खाना वर्जित है। आपको स्वयं मरे हुए पशुका और किसी शिकारी पशु-पक्षीके द्वारा मारे गये पशुका मांस भी ग्राह्य करार दिया गया। किन्तु हीनयान सम्प्रदायमें ही मांस ग्राह्य माना गया है। महायानमें मांसभक्षणका निषेध है।

जैमिनीय दर्शन

सोमदेवने लिखा[1] है कि जैमिनीयोंका कहना है कि कोयले और अंजन वगैरहकी तरह स्वभावसे ही कलुषित चित्त कभी विशुद्ध नहीं होता।

जैमिनिके अनुयायी जैमिनीय कहे जाते हैं। जैमिनिने बारह अध्यायोंमें कर्ममीमांसाकी रचना की थी। और बादरायणने चार अध्यायोंमें ब्रह्ममीमांसाकी रचना की थी। जैमिनिके अनुयायी मीमांसक कहे जाते हैं और उनकी कर्ममीमांसाको पूर्वमीमांसा कहते हैं। यज्ञ किस प्रकार करना चाहिए और वेदके अर्थका निर्णय करनेकी रीति क्या है? इन प्रश्नोंका विचार करनेके लिए मीमांसादर्शन उत्पन्न हुआ था। जैमिनिके सूत्रोंपर शबरस्वामीने शाबरभाष्य ई० सन् ४०० के लगभग रचा था। यह शाबरभाष्य मीमांसाशास्त्रका वर्तमान काल मूलप्रस्थान ग्रन्थ माना जाता है। शाबरभाष्यके द्वारा प्रस्थापित मीमांसादर्शनके दो मुख्य विचारक हुए हैं एक प्रभाकर और दूसरे कुमारिल भट्ट। कुमारिलने शाबरभाष्यके प्रथम अध्यायके प्रथम पादके ऊपर श्लोकवार्तिककी रचना की थी। इसमें कुमारिलने समन्तभद्रके द्वारा आप्तमीमांसामें प्रस्थापित आप्तकी सर्वज्ञताका खण्डन किया है। उसका उत्तर अकलंक देवने तथा विद्यानन्दि और प्रभाचन्द्र आदिने दिया है।

मीमांसा दर्शनमें वेदप्रतिपादित यज्ञोंके करनेसे स्वर्गादि फलकी प्राप्ति मानी गयी है। मीमांसक ईश्वर वादी नहीं है। अतः वह जगत्‌के प्रवाहको अनादि मानता है और जीवात्माका सद्भाव भी मानता है। आत्मा चेतन व्यापक नित्य स्वतन्त्र रूप धर्मवाला है और कर्मके फलका भोक्ता है। धर्म अधर्मकी प्रवृत्तिका रुक जाना और शरीरसे भिन्न आत्माका अस्तित्व रहना ही मोक्ष है। मोक्षमें ज्ञान सुख आदि नहीं रहते। अतः मीमांसा दर्शन जैनोंकी तरह मुक्तिमें पूर्ण विशुद्धि नहीं मानता। इसीसे सोमदेवने उसकी समीक्षा करते हुए कहा है कि जहाँ स्वभावसे स्वभावान्तरकी उत्पत्ति हो सकती है वहाँ अपने योग्य कारणोंसे मलका क्षय भी किया जा सकता है जैसा कि मणि और मोतीमें देखा जाता है।

जैमिनिकी ओरसे जो यह कहा गया है कि जैसे कोयला घिसनेपर भी सफेद नहीं होता वैसे ही स्वभाव से मलिन आत्मा कभी निर्मल नहीं होता इसका खण्डन करते हुए सोमदेवने यशस्तिलकके चौथे आश्वासमें लिखा है

---

१ सो० उपा० पृ० ६।

२ 'पूर्वं पे० केवलं ज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः। सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥१११॥' —श्लो० वा० 'नर्ते तदागमात् सिद्ध्येन्न च तेनागमो विना। दृष्टान्तोऽपि न तस्यान्यो नृषु कश्चित् प्रवर्तते' ॥ ११२ ॥—सो० उपा० श्लो० २८

३. 'एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम्। नर्ते तदागमात् सिध्येन्न च तेन विनागमः' ॥११२॥ सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः। प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते' ॥११३॥ —न्यायविनि० ३ परि०।

"घृष्यमाणाङ्गारवदन्तरङ्गस्य विशुद्धयभावे कथमिदमुदहारि कुमारिलेन—

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नम सोमार्धधारिणे॥"

अर्थात् घिसे गये कोयलेकी तरह यदि अन्तरगकी विशुद्धि नहीं होती तो कुमारिलने ऐसा क्यो कहा है कि मै विशुद्धज्ञानरूपी शरीरधारी और तीन वेदरूपी दिव्य चक्षुओंसे सम्पन्न तथा श्रेयकी प्राप्तिमें निमित्त अर्धचन्द्रधारी शिवको नमस्कार करता हूं।

यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि कर्ममीमासामें भी उत्तर कालमें सेश्वरवादकी छाया आ गयी थी। और नैयायिक वैशेषिकोंकी तरह मीमासक भी शिवके भक्त बन गये थे।

वार्हस्पत्य अथवा चार्वाक

सोमदेवने मोक्षके विरोधमे बार्हस्पत्योका मत[1] दिया है कि जब परलोकी आत्माका अभाव होनेसे परलोकका ही अभाव है तब मोक्षकी चर्चा ही वेकार है। यशस्तिलकके चतुर्थ आश्वासमें सोमदेवने बार्हस्पत्योका पक्ष लेकर बोलनेवाले चण्डकर्माको 'प्रयुक्तलोकायतमतधर्मा' कहा है। सिद्धर्षिने अपनी उपमितिभवप्रपंचकथामें कहा[2] है कि बार्हस्पत्य लोग लोकायतपुरके निवासी थे। सिद्धर्षिने उनके मतको प्रमुख जैनेतर दर्शनोंमें लिया है। ई० ९६३के गगनरेश मारसिंहके कुडुलूर ताम्रपत्रमें एक जैनाचार्यको 'लोकायत लोकसम्मतमति' लिखा है। अत. यह निश्चित है कि दसवीं शताब्दीमें और उसके लगभग लोकायत एक प्रमुख मत था। इस मतके अनुयायी भारतीय दर्शन-साहित्यमें चार्वाकके नामसे प्रसिद्ध हैं। किन्तु इस दर्शनका कोई ग्रन्थ अभी तक प्रकाशमें नही आया है। एक वार्हस्पत्य सूत्र नामका ग्रन्थ कहा जाता है जो सम्भवतया अतिसक्षिप्त है।

तत्त्वोपप्लवसिंह चार्वाक दर्शनका एक अपूर्व ग्रन्थ है जो बडौदासे प्रकाशित हुआ है। इसका अनुमानित समय ईसाकी आठवी शताब्दी है। इसमें 'पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसज्ञा' यह वाक्य आया है। शान्तरक्षितके तत्त्वसग्रहकी कमलशीलरचित पजिका (पृ०५२०) में 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति चत्वारि तत्त्वानि, तेभ्यश्चैतन्यमिति' इतना वाक्य उद्धृत है और आगे लिखा है कि कुछ वृत्तिकार 'उत्पद्यते तेभ्यश्चैतन्यम्' ऐसा कहते हैं और कुछ 'अभिव्यज्यते' ऐसा कहते हैं। विद्यानन्दिने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें (पृ० २८) 'पृथिव्य(व्या)पस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसज्ञा तेभ्यश्चैतन्यम्' इस रूपमें उद्धृत किया है। प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ११६) में तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३४१–४२) में भी विद्यानन्दिकी तरह ही उद्धृत किया है। तथा आगे 'मदशक्तिवद् विज्ञानम्' इतना अश और उद्धृत किया है। वादिराजने भी अपने न्यायविनिश्चयविवरण (भा० २ पृ० ९३) में, उक्त वाक्योको खण्डश अलग-अलग उद्धृत किया है, किन्तु इनमें-से किसीने भी इनको 'बृहस्पतिसूत्र' नही बतलाया। भास्करने ब्रह्मसूत्रभाष्य (३-३-५३)में उक्त सूत्रोंको बृहस्पतिके सूत्र बतलाते हुए इस प्रकार उद्धृत किया है,

"तथा बार्हस्पत्यानि सूत्राणि—पृथिव्यप्तेजो वायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसज्ञा तेभ्यश्चैतन्य, किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानमिति।"

अकलकके सिद्धिविनिश्चयके टीकाकार अनन्तवीर्यने अपनी टीकामें (पृ० २७७) 'अथ तत्त्वोपप्लवकृद् आह—चार्वाकैश्चारुचर्चित' आदि लिखकर अन्तमें लिखा है, 'परपर्यनुयोगपराणि बृहस्पते. सूत्राणि' इति सूक्त स्यात्।' अत बृहस्पतिके सूत्र और उसकी व्याख्याओंके पाये जानेका उल्लेख उक्त उद्धरणोसे मिलता है।

---

१ सो० उपा० पृ० ३।

२ "लोकायतमिति प्रोक्त पुरमत्र तथा परम्। बार्हस्पत्याश्च ते लोका वास्तव्या पुरेऽत्र भो।"

सोमदेवने भी 'परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः' लिखा है, यह भी बृहस्पतिका एक सूत्र प्रतीत होता है। कमलशीलने अपनी पंजिकामें 'उक्तं तथाहि' से पूर्व लिखा है 'तथाहि तस्यैतत् सूत्र-परलोकिनोऽभावात् परलोकाभाव' इति' तत्त्वोपप्लव (पृ. ५८) न्यायकुमुदचन्द्र (पृ. ३४१) और प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ. ११९) में भी यह उद्धृत है।

उक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि बार्हस्पत्य अर्थात् बृहस्पतिके अनुयायी परलोकी आत्माको नहीं मानते थे अतः परलोकको भी नहीं मानते थे। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु केवल चार तत्त्व मानते थे। उन्हींसे कोई चैतन्यकी उत्पत्ति मानते थे और कोई अभिव्यक्ति मानते थे। इस तरह व्याख्याकारोंमें मतभेद था।

अद्वैत ब्रह्मसिद्धिमें लिखा है कि लोकायत या चार्वाक केवल एक काम पुरुषार्थको ही मानते हैं और मृत्यु ही मोक्ष मानते हैं। सोमदेवने यशस्तिलकचम्पूके पाँचवें आश्वास (पृ. २५१)में नीचे लिखा एक प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया है,

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः ॥"

जबतक जियो सुखपूर्वक जियो। मृत्यु अवश्य होगी। अतः शरीरके भस्मीभूत हो जानेपर पुनरागमन कैसे हो सकता है।

उक्त आश्वासके ही पृ. २५७ पर सोमदेवने कई श्लोकोंके द्वारा चार्वाक मतका खण्डन किया है। उसमें-से एक श्लोक उपासकाचारमें भी दिया है

'तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः।
भूतानन्वयनात्सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥१९॥'

उसी दिनके जन्मे हुए शिशुकी माँका स्तन पीनेकी अभिलाषा देखी जाती है, राक्षस वगैरह देखे जाते हैं, पूर्वभवका स्मरण भी पाया जाता है, तथा पृथिवी, जल, अग्नि और वायुका अन्वय जीवमें नहीं पाया जाता अर्थात् जीवमें ज्ञान, सुख आदि गुण पाये जाते हैं जो पृथिवी वगैरहमें नहीं पाये जाते तथा पृथिवीमें धारण गुण, वायुमें प्रवाहित होनापना, अग्निमें दाहकपना और जलमें द्रवत्व गुण पाये जाते हैं जो जीवमें नहीं पाये जाते, अतः इस प्रकृतिका ज्ञाता जीव सनातन है।

आगे और भी लिखा है कि जैसे पृथिवी आदि अनादि-अनिधन हैं वैसे ही आत्मा भी अनादि-अनिधन है। चूँकि पृथिवी आदि भूतोंसे बने शरीरमें चेतन आत्मा व्यक्त होता है इसलिए यदि उसे उन भूतोंका कार्य मानते हो तो जलसे मोती, काष्ठसे अग्नि, चन्द्रकान्तमणिसे जल और पंखेसे वायु उत्पन्न होती है उनको भी जलादिका कार्य मानना चाहिए और ऐसा माननेपर तत्त्वोंकी संख्या चार नहीं बन सकती। इस तरह सोमदेवने पाँचवें आश्वासमें चार्वाकमतकी सयुक्तिक समीक्षा की है।

वेदान्त अथवा ब्रह्माद्वैत

सोमदेवने उपासकाध्ययनके प्रथम आश्वासमें वेदान्तवादियों और ब्रह्माद्वैतवादियोंका नामोल्लेख पूर्वक मत दिया है। साथ ही 'पावक' शंकरानुयायियोंका लिखा है जिसका मतलब है कि शंकरने बौद्ध आगमका अनुसरण किया। इससे प्रतीत होता है सोमदेवके समयमें शंकराचार्यका अद्वैतवाद प्रवर्तित था। और उस समय भी यह प्रवाद फैला हुआ था कि शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध था। यह भी प्रकट होता है कि सोमदेव शंकरमतके उत्थानसे सुपरिचित थे। उन्होंने लिखा है

'यथा घट विघटने घटाकाशमाकाशी भवति तथा देहोच्छेदात्सर्वः प्राणी पर ब्रह्मणि लीयते इति ब्रह्माद्वैतवादिनः। पृ. ५

शंकराचार्यके सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहमे इसी आशयका एक श्लोक है,

"घटाभावे घटाकाशो महाकाशो यथा तथा।
उपाध्यभावे स्वात्मैव स्वयं ब्रह्मैव केवलम्॥" ६९७॥

वेदान्ती लोग परम ब्रह्मके दर्शनसे समस्त भेदबुद्धिको उत्पन्न करनेवाली अविद्याके विनाशको मोक्षका कारण बतलाते है ऐसा सोमदेवने लिखा है। सो ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्यके चतुर्थ अध्यायमे निर्गुण परम ब्रह्मके साक्षात्कारमे मोक्षकी प्राप्ति बतलायी है। शकराचार्यका मत है,

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर"

ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्मरूप है उससे भिन्न नही है। जगत्को मिथ्या प्रमाणित करनेके लिए शकराचार्यने जो मायावादका सिद्धान्त स्वीकार किया उसे बौद्धोके शून्यवाद और विज्ञानवादकी देन कहा जाता है। शकराचार्यने ब्राह्मण धर्मकी प्रस्थानत्रयीसे जो तात्पर्य निकाला उसको प्रमाणित करनेके लिए उक्त सिद्धान्तका आश्रय लिया। इस तरह बौद्धोके शास्त्रके द्वारा उन्होने श्रुतिप्रतिपादित धर्मका सरक्षण किया इसीसे उनके ऊपर प्रच्छन्न बौद्ध होनेका आरोप किया जाता है।

उक्त सिद्धान्तकी आलोचना करते हुए सोमदेवने लिखा है कि यदि दृश्यमान जगत्का यह भेद अविद्याजन्य है तो जन्म, मरण सुख आदि विवर्तोके द्वारा जो जगत्में वैचित्र्य दिखायी देता है वह कैसे है।

तथा यदि केवल ब्रह्म ही है और कुछ भी नही है तो वह निस्तरग क्यो नही है सासारिक भेद-प्रभेद क्यो दृष्टि गोचर होते हैं। जैसे घटावरुद्ध आकाश आकाशमें मिल जाता है वैसे ही यह जगत् ब्रह्ममें क्यो नहीं मिल जाता। वेदान्तियोका मत है कि ब्रह्म एक है यद्यपि वह प्रत्येक व्यक्तिमें अलग-अलग दृष्टिगोचर होता है जैसे चन्द्रमा एक होनेपर भी पानीमें अनेक दृष्टिगोचर होता है। सोमदेवका कहना है कि चन्द्रमा आकाशमें एक दिखायी देता है और जलमें अनेक दिखायी देता है, उस तरह ब्रह्म व्यक्तियोंसे भिन्न कही भी दृष्टिगोचर नही होता।

[७] कतिपय आनुषगिक प्रसग

सांस्कृतिक आदान-प्रदान

सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें दर्शन और धर्मकी चर्चा करनेके साथ प्रसगवश कुछ ऐसी बातोका भी कथन किया है जिनका समाज-व्यवस्थासे गहरा सम्बन्ध है और जिससे सास्कृतिक और सामाजिक मूल्योके परस्पर आदान-प्रदानका पता चलता है। वास्तविकता यह है कि श्रावक गृहस्थ होनेके कारण समाजके मध्यमें रहता है। अत उसे वैयक्तिक धर्मके साथ सामाजिकताको भी निभाना होता है। समाजमें सभी प्रकारके आदमी होते है। उन सबका भी निर्वाह करना होता है। इसके सिवा जैनधर्मके अनुयायियोकी समाजको बहुसख्यक अन्यधर्मावलम्बी समाजके भी सम्पर्कमें रहना होता है, अत उसके साथ भी निर्वाह करना आवश्यक होता है। और विभिन्न समाजोंके परस्पर सम्पर्कमें आनेपर एकका दूसरेपर प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक है अत समाज और धर्मके चिन्तकोंको इन सब बातोपर दृष्टि रखकर कभी-कभी धर्म और समाज-व्यवस्थाके व्यावहारिक सिद्धान्तोंमें भी परिवर्तन और परिवर्धन करना पड जाता है, क्योकि ऐसा किये बिना धर्म और समाजकी सुरक्षा सम्भव नही होती।

समन्तभद्र स्वामीने लिखा है कि धार्मिकोंके बिना धर्मकी कोई स्थिति नही है।[1] धार्मिकोकी परम्पराके सुरक्षित रहनेसे ही धर्मकी परम्परा सुरक्षित रह सकती है। अत एव धर्मकी परम्पराको सुरक्षित रखनेके लिए धार्मिकोंकी परम्पराको सुरक्षित रखना आवश्यक है, और धार्मिकोकी परम्पराको सुरक्षित रखनेके लिए

१ 'न धर्मो धार्मिकैर्विना'—रत्न० श्रा०।

तत्कालीन स्थितिको देखकर एक ओर धार्मिकोंको अन्य समाजोंके प्रभावसे बचाना आवश्यक है दूसरी ओर कुछ ऐसे लौकिक तत्त्वोंको भी अपनेमें समाविष्ट कर लेना आवश्यक होता है जो धर्म-सम्मत नहीं होते किन्तु जिनका लौकिक स्थितिपर विशेष प्रभाव पड़ता देखा जाता है और जिनके बिना बहुसंख्यक समाजके मध्यमें रहना कठिन होता है। यदि समर्थ जैनाचार्योंने जिनमें जिनसेनका नाम प्रमुख है, ऐसा न किया होता तो भारतमें गुप्त साम्राज्य कालमें बढ़ते हुए ब्राह्मण धर्मके प्रवाहवश बौद्धधर्मकी तरह सम्भवतया जैनधर्मके भी पैर भारतसे उखड़ जाते। ऐसे कठिन समयमें प्रवाहके वेगसे सुपरिचित धर्महितचिन्तकोंने अपने मूलतत्त्वोंको पकड़े रहकर ब्राह्मण धर्मकी उन सामाजिक आचारविषयक प्रवृत्तियोंको अपनाना उचित समझा जिनको अपनानेसे अपने धर्मको भी क्षति नहीं पहुँचती थी और आया हुआ संकट भी टल जाता था। सोमदेवके उपासकाध्ययनमें ऐसे अनेक प्रसंग हैं और उनसे समाधान भी।

चौतीसवें कल्पमें सामायिक शिक्षाव्रतका वर्णन करते हुए सोमदेवने देवपूजाके प्रसंगसे गृहस्थोंके लिए जो विधियाँ बतलायी हैं उनमें कुछ ऐसी विधियाँ भी हैं जो ब्राह्मणधर्मसे सम्बद्ध हैं। जैसे बाहरसे आकर आचमन किये बिना घरमें प्रवेश करनेका निषेध[1] और भोजनकी विशुद्धिके लिए होम और भूतबलिका विधान[2] इत्यादि। इतना होने पर भी इसीके साथ सोमदेवने यह भी लिख दिया है कि इनके करनेसे धर्म नहीं होता और न करनेसे अधर्म भी नहीं।[3]

स्मृति ग्रन्थोंमें भोजनसे पहले होम और बलिका विधान है। भोज्य अन्नको अग्निमें क्षेपण करनेका नाम होम है और भोजनसे पहले ग्रास निकालकर उसे देवता वर्गके उद्देशसे देना बलि है। इसको वैश्वदेव कहते हैं। वैश्वदेवके बिना भोजन करनेसे हिन्दू स्मृतिकारोंके अनुसार नरकमें जाना पड़ता है।[4] इसी तरह आचमनका विधान भी स्मृतियोंमें वर्णित है (मनु २-६)।

सोमदेवने स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है कि गृहस्थके दो धर्म होते हैं एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकानुसार चलता है और पारलौकिक धर्म आगमानुसार[5]।

किस लौकिक विधिको अपनाया जाये और किसको न अपनाया जाये इसके निर्णयके लिए सोमदेवजीने यह कसौटी बतायी है कि 'जिससे[6] सम्यक्त्वकी हानि न होवे और व्रतोंमें दूषण न लगे वह लौकिक विधि सभी जैनोंके लिए मान्य है।

सोमदेवकी बतायी इस कसौटीपर प्रत्येक लौकिक विधिको कसनेकी क्षमता श्रावकमें होनी चाहिए। ऐसे प्रसंगोंसे अनर्थकी पूरी सम्भावना रहती है। रूढ़िग्रस्त लोग लौकिक विधिको भी धर्मका ही अंग समझ बैठते हैं। और इस प्रकारके शास्त्रवचन प्रमाण रूपमें उपस्थित किये जाने लगते हैं।

वर्ण व्यवस्था

जैन साहित्यमें वर्णव्यवस्थाका वर्णन आता है किन्तु वह स्मृति-ग्रन्थोंमें प्रतिपादित वर्णनसे भिन्न है। मनुस्मृति आदिमें जो ब्राह्मण वर्णकी सर्वोत्कृष्टता स्थापित की गयी है सभी जैनाचार्योंने उसका एक स्वरसे विरोध किया है तथा वर्णव्यवस्थामें कर्मको प्रधानता दी है। वरांगचरितमें (७वीं शती अनुमानित) जटासिंह नन्दिने लिखा है

दया रक्षा कृषि और शिल्पके कर्मके भेदसे शिष्टपुरुष चार वर्ण कहते हैं अन्य प्रकारसे चार वर्ण नहीं हो सकते*।

---

१ श्लो० ४१। २ श्लो० ४०७। ३ "एतद्विधिर्न धर्माय नाधर्माय तदक्रियाः।" ४ 'अकृत्वा वैश्वदेवं तु यो भुंक्ते मोहितो द्विजः। स मूढो नरकं याति।' स्मृतिचन्द्रिका पृ० २११ में उद्धृत। ५. सो० उपा० श्लो० ४८। ६ वही श्लो० ४८।

* क्रिया विशेषाद् व्यवहारमात्राद्दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णांश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात् ॥११॥ —२५वाँ सर्ग

न यहाँ कोई ब्राह्मण जाति है, न कोई क्षत्रिय जाति है और न वैश्य और शूद्र जातियाँ है। अभागा जीव कर्मोंके वशीभूत होकर ससार-चक्रमें भ्रमण करता है[1]।

विद्या आचार आदि सुन्दर गुणोंसे जो रहित है वह ब्राह्मण कुलमें जन्म लेने मात्रसे ब्राह्मण नही हो सकता। जो ज्ञानशील और गुणसे युक्त है उसे ही ज्ञानी पुरुष ब्राह्मण कहते है।[2]

आचार्य जिनसेन (नवमी शती)के महापुराणके सोलहवें पर्वमें लिखा है, प्रजा भगवान् ऋषभदेवके पास आजीविकाका उपाय पूछनेके लिए गयी थी, प्रजाकी प्रार्थना सुनकर भगवान्ने विचार किया कि विदेहोमे जिस प्रकारका षट्कर्म है और जैसी वर्णोंकी स्थिति है वैसी ही व्यवस्था यहाँ भी होनी चाहिए, तभी प्रजा जीवित रह सकती है। इसलिए उन्होने पीडितोकी रक्षा करना आदि गुणोंके आधारपर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तीन वर्णोंकी स्थापना की। बादको उनके पुत्र सम्राट् भरतने इन्ही तीन वर्णोंके मनुष्योमे से ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की और उसको गर्भान्वय क्रिया आदिका उपदेश दिया।[3]

कुछ विद्वान् इसे मनुस्मृतिका प्रभाव बतलाते है क्योंकि जैन परम्परामे महापुराणसे पूर्व किसी ग्रन्थमें ये क्रियाएँ वर्णित नही है और न सोलह सस्कारोकी ही चर्चा है। मेरी दृष्टिसे यह मनुस्मृतिका प्रभाव नही है, किन्तु प्रतिक्रिया है। मनुस्मृतिने जो ब्राह्मण वर्णको सर्वोच्च पद प्रदान करके शेष वर्णोंको तिरस्कृत किया, भगवज्जिनसेनने उसका समुचित उत्तर दिया है। इस उत्तरमे दो बातें है एक ओर तो उन्होने ब्राह्मणत्व जातिके अहकारपर करारी चोटें दी है, दूसरी ओर उन बातोको अपनाया भी है जिनके कारण ब्राह्मणत्वकी प्रतिष्ठा थी। ऐसा किये बिना वे ब्राह्मणोके बढते हुए प्रभावके सामने अपने धर्मकी सुरक्षा नही कर सकते थे। एक बार मनुस्मृतिको पढनेके बाद महापुराणके ३८-३९ पर्वोंको पढनेसे यह बात स्पष्ट समझमें आ जाती है।

वर्णकी तरह जैनाचार्योंने जातिको भी महत्त्व नही दिया प्रत्युत गुणोको ही महत्त्व दिया है। समन्तभद्राचार्यने कहा है, जिसका आन्तरिक ओज भस्मसे ढका हुआ है उस अगारकी तरह सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न चाण्डालको भी जिनदेव देव मानते है।[4]

पद्मपुराणमें रविषेणाचार्यने लिखा है, कोई जाति निन्द्य नही है, गुण ही कल्याण करनेवाले हैं। गणधरदेव व्रती चाण्डालको भी ब्राह्मण कहते है।[5]

सोमदेवने ब्राह्मणधर्मकी क्रियाओका तो खूब विरोध किया है, किन्तु ब्राह्मणजातिपर कोई आक्रमण नही किया। उन्होने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णोंको रत्नकी तरह जन्मसे ही विशुद्ध माना है और इन तीनोको ही जिनदीक्षाका अधिकारी बतलाया है। शूद्रको भी उन्होने एकदम भुला नही दिया है, उसे भी यथायोग्य धर्मसेवनका अधिकारी माना है। लिखा है, दीक्षाके योग्य तीन ही वर्ण हैं, किन्तु

---

१ "न ब्रह्मजातिस्त्विह काचिदस्ति न क्षत्रियो नापि च वैश्यशूद्रे।
ततस्तु कर्मानुवशा हितात्मा ससारचक्रे परिबभ्रमीति ॥४१॥"

२ "विद्याक्रियाचारुगुणै प्रहीणो न जातिमात्रेण भवेत् स विप्र।
ज्ञानेन शीलेन गुणेन युक्त त ब्राह्मण ब्रह्मविदो वदन्ति ॥४३॥"

३ "उत्पादितास्त्रयो वर्णा तदा तेनादिवेधसा।
क्षत्रिया वणिज शूद्रा क्षतत्राणादिभिर्गुणै ॥१८२॥"

४ "सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातगदेहजम्।
देवा देव विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥२८॥"—रत्नकरण्डश्रा०।

५ "न जातिर्गर्हिता काचित् गुणा कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डाल त देवा ब्राह्मण विदु ॥२०३॥"—पर्व ११॥

६

आहारदानके योग्य चारों वर्ण हैं। सभी प्राणी मानसिक वाचिक और कायिक धर्मके लिए सम्मत हैं।[1]

इसमें शूद्रको आहारदान देनेके योग्य बतलाया है। शूद्रसे यहाँ सत् शूद्र ही लेना चाहिए। सोमदेवने नीतिवाक्यामृतमें इसको स्पष्ट किया है। सत् शूद्रका लक्षण करते हुए लिखा है, जिनमें एक बार ही विवाह होता है उन्हें सच्छूद्र कहते हैं। आचारविशुद्धि घर पात्र आदिकी निर्मलता और शारीरिक विशुद्धिसे शूद्र भी देव द्विज और तपस्वी जनोंकी सेवा करनेयोग्य होता है।[2]

सोमदेवके आधारपर ही आशाधरने अपने अनगारधर्मामृतकी टीकामें चौथे अध्यायमें एषणासमितिका व्याख्यान करते हुए[3] सच्छूद्रको मुनिदानका पात्र बतलाया है।

स्पष्ट है कि सत् शूद्र मुनिदीक्षाका अधिकारी न होते हुए भी मुनिको दान देनेका तो पात्र है ही। और जो मुनिको दान दे सकता है वह जिनपूजा भी कर ही सकता है। सागारधर्मामृतमें भी शूद्रको धर्म धारण करनेका अधिकारी बतलाया है।[4]

साधर्मी व्यवहार

सोमदेव सूरिने साधर्मी व्यवहारपर भी यत्र तत्र अनेक बहुमूल्य बातें कही हैं। मूढतोन्मथन नामक चतुर्थ कल्पमें ब्राह्मणधर्ममें प्रचलित मूढताओंको बतलाते हुए अन्तमें उन्होंने कहा है कि यदि इन मूढताओंको कोई पूरी तरहसे न छोड़ सकता हो तो उसे एकदम जैन धर्मबाह्य मिथ्यादृष्टि नहीं मान लेना चाहिए, किन्तु सम्यग्-मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए, क्योंकि सर्वनाश सुन्दर नहीं है।[5] सूर्यको अर्घ देना ग्रहणमें स्नान करना संक्रान्तिमें दान देना अग्नि पूजना श्राद्ध तर्पण आदि करना धर्म मानकर नदी स्नान करना वृक्ष वगैरहको पूजना रत्न सवारी यक्ष शस्त्र आदिको पूजना आदि जैन दृष्टिसे मूढताएँ हैं। सामाजिक प्रभाववश इनमें-से कोई-कोई मूढता जैन मनुष्य भी कहीं-कहीं अज्ञानवश पालते आते हैं। ऐसे लोगोंको केवल इतने मात्रसे अजैन नहीं मान लेना चाहिए किन्तु उनकी उस मूढताको छुड़ानेका ही प्रयत्न करना चाहिए।

सम्यग्दर्शनके उपगूहन अंगका वर्णन करते हुए सोमदेवने कहा है कि जैसे माता अपनी सन्तानके अपराधको छिपा लेती है वैसे ही दैववश या प्रमादवश जब कभी साधर्मीके अपराधको भी ढकना चाहिए। असमर्थ-की गलतीसे धर्म मलिन नहीं होता किन्तु यदि कोई एक बार गलती करके क्षमा कर दिये जानेपर पुनः वही-वही गलती करे तो ऐसे जान-बूझकर गलती करनेवालेको क्षमादान देना युक्त नहीं। ऐसा करनेसे मार्ग बिगड़ता है।

धर्म और समाजकी रक्षाके लिए एक आवश्यक कार्य है साधर्मी भाइयोंकी मदद करना उनके कष्टोंको दूर करना और दूसरा आवश्यक कार्य है नये लोगोंको धर्ममें दीक्षित करना। सोमदेवने इन दोनोंकी ओर श्रावकोंका ध्यान आकृष्ट किया है। उनका कहना है कि जो लोग सदाचार नहीं हैं उन्हें जैन धर्मकी ओर लानेकी प्रेरणा नहीं करनी चाहिए, किन्तु जो स्वतः उस ओर आना चाहे तो उसके योग्य उसे साहाय्य कर देना चाहिए।[6]

---

१ सो. उपा. श्लो. ७९१।

२ "सकृत् परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः ॥११॥ आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च विशुद्धिः करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम् ॥"१२॥—नीतिवाक्यामृत (त्रयीसमुद्देश)।

३ "दत्तं [illegible] अन्यैः—ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यसच्छूद्रैः।

४ "शूद्रोऽप्युपस्काराचारवपुःशुद्ध्याऽस्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥२२॥—सागारधर्मामृत अ. २।

५ सो. उपा. श्लो. १४४।

६ वही श्लो. १४५।

जिनके निर्वाहमें सन्देह है ऐसे नये मनुष्योसे भी सघको बढाना चाहिए। धर्मका काम अनेक मनुष्योंसे चलता है अत समझा-बुझाकर जो जिस कामके योग्य हो उसे उसमे लगा देना चाहिए। उपेक्षा करनेसे मनुष्य धर्मसे दूर हो जाता है। ऐसा होनेसे एक ओर तो धर्मकी हानि होती है, दूसरी ओर उस मनुष्यका ससार दीर्घ हो जाता है।[1]

सोमदेवने आगे लिखा है कि यह जिनेन्द्रदेवका धर्म अनेक प्रकारके मनुष्योसे व्याप्त है। जैसे मकान एक स्तम्भपर नही ठहर सकता वैसे ही यह धर्म भी एक व्यक्तिपर स्थिर नही रह सकता।

उन अनेक प्रकारके मनुष्योंमें सर्वप्रथम तो धर्मका पालन करनेवाले श्रावक और साधु होते हैं। दूसरे, ऐसे विद्वानोकी भी परम्परा बनाये रखनेकी आवश्यकता है जो ज्योतिष, मन्त्र और पूजा प्रतिष्ठा करानेमें दक्ष हो, क्योंकि उनके अभावमे धार्मिक दीक्षा यात्रा प्रतिष्ठा आदि क्रियाएँ नही हो सकतीं। यदि उनके लिए दूसरे धर्मके अनुयायीकी मदद ली जायेगी तो धर्मकी उन्नति नही हो सकती, धर्मके विषयमें पराश्रित रहनेसे तो धर्मको हँसी ही होती है। अत इन सबका सरक्षण करना आवश्यक है।[2]

व्रती और साधुओंकी स्थिति

चौवालीसवें कल्पमें सोमदेव सूरिने प्रव्रजित व्यक्तियोके लिए व्यवहृत होनेवाले अनेक शब्द तथा उनकी निरुक्तियाँ की हैं। वे शब्द हैं—जितेन्द्रिय, क्षपण, श्रमण, आशाम्बर, नग्न, ऋषि, मुनि, यति, अनगार, शुचि, निर्मम, मुमुक्षु, शसितव्रत, वाचयम, अनूचान, अनाश्वान्, योगी, पचाग्निसाधक, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, शिखाच्छेदि, परमहस, तपस्वी, अतिथि, दीक्षितात्मा, श्रोत्रिय, होता, यष्टा, अध्वर्यु, वेद, त्रयी, ब्राह्मण, शैव, बौद्ध, साख्य और द्विज। इनमे-से शसितव्रत आदि शब्द वैदिक परम्परामे व्यवहृत होते हैं। सोमदेवने उनकी वैदिक व्याख्याओका निरसन करके जैनधर्मानुकूल निरुक्तियाँ की हैं।

यहाँ यह लिखना अप्रासगिक न होगा कि सोमदेव सूरिका नीतिवाक्यामृत प्राय वैदिक श्रुति स्मृतियोसे प्रभावित है। जब उसका माणिकचन्द ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रथम बार प्रकाशन हुआ तो उसके सम्पादक प० पन्नालालजी सोनीने कई सूत्रोके सम्बन्धमे पाद-टिप्पणमें यह आशय व्यक्त किया कि टीकाकारने स्वय ही सूत्र गढकर मूलमें शामिल कर दिये हैं। श्री नाथूरामजी प्रेमीने अपनी भूमिकामें सोनीजीके उक्त पाद-टिप्पणोपर आपत्ति की, किन्तु 'एक विचारणीय प्रश्न'के अन्तगत यह भी लिखा कि "इस ग्रन्थका वर्णाचार और आश्रमाचारकी व्यवस्थाके लिए वैदिक साहित्यकी ओर बहुत अधिक झुकाव है। इस ग्रन्थके विद्यावृद्ध, आन्वीक्षिकी और त्रयी समुद्देशोको पढनेसे पाठक हमारे अभिप्रायको अच्छी तरह समझ जायेंगे।" साथ ही प्रेमीजीने जैनधर्मके मर्मज्ञ विद्वानोसे इस प्रश्नका विचारपूर्वक समाधान भी चाहा कि एक जैनाचार्यकी कृतिमें आन्वीक्षिकी और त्रयीको इतनी अधिक प्रधानता क्यो दी गयी। और उपासकाध्ययनके कुछ श्लोकोंके प्रकाशमें यह भी सम्भावना व्यक्त की कि "कही सोमदेव सूरि वर्णाश्रम-व्यवस्था और तत्सम्बन्धी वैदिक साहित्यको लौकिक धर्म तो नही मानते थे।"

नीतिवाक्यामृतके त्रयी समुद्देशमें चार वेद, छह वेदाग, इतिहास, पुराण, मीमासा, न्याय और धर्मशास्त्रको त्रयी कहा है और त्रयीसे वर्णाश्रमोकी धर्माधर्म व्यवस्था बतलायी है। यह पूरा कथन वैदिक परम्पराके अनुसार है, किन्तु उपासकाध्ययनमें त्रयीकी निरुक्ति करते हुए लिखा है कि जन्म, जरा और मरण यह त्रयी ससारका कारण है। इस त्रयीका जिस त्रयी (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) से विनाश होता है वही त्रयी है। इसी तरह वेदकी निरुक्तिमें कहा है—"जो देह और जीवके भेदको जानता है वही वेद है। जो सब जीवोंके विनाशका कारण है वह वेद नहीं है।"

नीतिवाक्यामृत (विद्यावृद्ध समु० २२ सू०)में स्त्रीके साथ या स्त्रीके बिना वनमें रहनेवाले त्यागीको

---

१ सो० उपा० श्लो० १९२-१२४। २ वही, श्लो० ८१०-८११।

वानप्रस्थ कहा है। उपासकाध्ययनमें कुटुम्बके साथ वनमें रहनेवालेको वानप्रस्थ माननेका निषेध करते हुए सच्चे ब्रह्मचारीको ही वानप्रस्थ कहा गया है। नीति (विद्या. १८ सू.) में नित्य और नैमित्तिक अनुष्ठानमें लगे रहनेवालेको गृहस्थ कहा है। उपासकाध्ययनमें सामायिकी स्त्रीमें आसक्त ज्ञानीको गृहस्थ कहा है।

इससे यह स्पष्ट है कि नीतिवाक्यामृतकी विषय-वस्तु चूँकि लोक-व्यवहारसे सम्बन्धित है इसलिए उसकी रचना लोकमें प्रचलित पद्धतिके अनुसार की गयी है और पारलौकिक धर्मका कथन करनेवाले उपासकाध्ययनकी रचना आगमानुसार की गयी है। इसी बातको सोमदेवने उपासकाध्ययनमें प्रकारान्तरसे स्पष्ट किया है कि गृहस्थके दो धर्म होते हैं लौकिक और पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकानुसार होता है और पारलौकिक धर्म आगमानुसार होता है। (उपा. श्लो. ४७६)।

सोमदेव लोकप्रचलित वर्णाश्रम धर्मको और तत्सम्बन्धी वैदिक मान्यताओंको लौकिक धर्म ही मानते हैं किन्तु वर्ण और आश्रमकी व्यवस्थाको लौकिक नहीं मानते। प्रथम तो यह मान्यता उचित भी लगती है क्योंकि उनसे लगभग एक शताब्दी पूर्व जिनसेनाचार्य महापुराणमें इन मान्यताओंको स्वीकार कर चुके थे।[1]

चामुण्डरायने अपने चारित्रसारमें भी जैनागममें चार आश्रम बतलाये हैं और उनमें-से उपासकाध्ययन लिखकर महापुराणका 'ब्रह्मचारी' आदि श्लोक उद्धृत किया है। केवल उसका अन्तिम चरण भिन्न है— 'सप्तमाङ्गाद् विनिःसृता।'

तपस्वियोंकी चर्याके विषयमें सोमदेवने लिखा है कि उन्हें आहार देते समय विशेष ऊहापोह करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे अच्छे हों या बुरे गृहस्थको तो आहार देनेका फल मिल ही जाता है।[2]

सोमदेवका यह कथन साधु-मुनियोंके आचारके विषयमें शिथिलताकी सूचना अवश्य ही दे देता है। देखना यह है कि सोमदेव-जैसा व्यक्ति इस शिथिलताके प्रति अपनी सहमति-सी क्यों व्यक्त करता है? ऐतिहासिक पृष्ठभूमिपर इस बातका विचार करनेसे ज्ञात होता है कि जैन मुनि विशेषकर दिगम्बर जैन मुनिका आचार इतना कठिन है कि उसका पूर्णरूपसे पालन विरले व्यक्ति ही कर पाते हैं। जो व्यक्ति अन्तरंगसे संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त हो चुका है वही उसका ठीक रूपमें पालन कर सकता है। आचार्य कुन्दकुन्दने केवल वेष धारण करनेवाले अज्ञानी अवास्तविक मुनियोंकी भावपाहुडमें आलोचना और भर्त्सना की है।

मुनियोंका निवास ग्राम, नगर आदिसे वर्जित है, किन्तु कालदोषके कारण संहनन इत्यादिकी दुर्बलताके कारण धीरे-धीरे मुनिगण भी ग्राम आदिमें रहने लगे थे। आचारसम्बन्धी शिथिलताएँ इसी प्रकार आयी लगती हैं। गुणभद्राचार्य (नवीं शती) ने लिखा है कि जिस प्रकार सिंह आदिसे डरकर रात्रिमें हरिण वनसे निकलकर पासके गाँवोंमें घुस आते हैं उसी प्रकार कलिकालमें कष्ट सहनेकी क्षमता न होनेसे तपस्वी जन भी ग्रामोंमें रहने लगे हैं।[3]

आचार सम्बन्धी शिथिलताके बहुत-से प्रमाण साहित्यमें प्राप्त होते हैं। सोमदेवने भी इसी परम्परामें

---

१ 'चतुर्णामाश्रमाणां च शुद्धिः स्यादार्हते मते।
चातुराश्रम्यमन्येषामविचारितसुन्दरम् ॥१५१॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः ॥१५२॥"
—पर्व ३९।

२ भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्ध्यति ॥ —सो. उपा. श्लो. ८१८।

३ इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥ —आत्मानुशासन श्लो. १९ ।

यह कह दिया कि आहार-दान देनेमें यह विशेष ऊहापोह आवश्यक नहीं। वास्तवमें सोमदेवका उक्त कथन जैन सिद्धान्तानुसार मुनिचर्याका प्रतिपादक नहीं है। करुणादान या पात्रदानमें अन्तर है। करुणादान दया बुद्धिसे दिया जाता है, किन्तु पात्रदान देते समय पात्रका विवेक आवश्यक है।

दान और दानविधि

बयालीसवें कल्पमें दानका वर्णन करते हुए सोमदेवने सर्वप्रथम गृहस्थोंको यथाविधि, यथादेश, यथाद्रव्य, यथागम, यथाकाल और यथापात्र दान देनेका विधान किया है। पुन अपने कल्याणके लिए और दूसरोंके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी समृद्धिके लिए जो दिया जाता है उसे दान कहा है। अत सम्यग्दर्शनादिसे जो सम्पन्न है वही सुपात्र होनेसे सर्वप्रथम दानार्ह माना गया है।

इस दृष्टिसे श्रावक और साधु दोनोंके ही लिए दानका बहुत महत्त्व है। यह पारलौकिक दृष्टिसे ही नहीं, लौकिक दृष्टिसे भी आवश्यक है। धर्मकी स्थितिके लिए गृहस्थ मार्ग और साधु मार्ग दोनों आवश्यक हैं, दोनोंमें से एकके भी अभावमें धर्म कायम नहीं रह सकता। जैन साधु दिनमें गृहस्थके द्वारा आदरपूर्वक पड़गाहे जानेपर केवल एक बार आहार लेते हैं। उन्हें केवल आहारके लिए ही परापेक्षा रहती है। गृहस्थके बारह व्रतोंमें अतिथिको दान देना भी एक व्रत है। अत गृहस्थको स्वपरोपकारकी भावनासे प्रतिदिन दान देना चाहिए तथा साधुको अपना शरीर कायम रखनेके लिए भोजन ग्रहण करना चाहिए। जैन साधुके भोजनकी विधि ऐसी है कि जन प्रक्रियाका ज्ञाता श्रावक ही उस विधिसे आहार दे सकता है। अत. जैन साधु जैन श्रावकके ही घरपर आहार करते हैं। इस तरह परस्परमें श्रावक और साधु दोनों एक दूसरेसे बँधे रहते हैं। यद्यपि श्रावक जैन साधुके सिवाय अन्यको भी दान दे सकता है, किन्तु सर्वोत्तम दानपात्र साधु है अत श्रावकके लिए सबसे प्रथम वही दानार्ह होता है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि दूसरोंको दान देनेका निषेध है। धर्मबुद्धिसे ये ही दानपात्र हैं, दया बुद्धिसे तो उन सभीको दान दिया जा सकता है जो दयाके पात्र होते हैं। इसीसे सोमदेवने बौद्ध, नास्तिक, आजीवक आदि सम्प्रदायके साधुओंको दान देनेका निषेध करते हुए भी लिखा है कि जिनके चित्त दुराग्रहसे मलिन हैं और जो तत्त्वसे अपरिचित हैं उनके साथ गोष्ठी करनेसे कलह ही होती है पर उन्हें भी कारुण्य बुद्धिसे कुछ दिया जा सकता है।

दानके प्रकार हैं—अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान। इनमें-से सोमदेव सूरिने अभयदानको सर्वोपरि स्थान दिया है। उन्होंने लिखा है कि सर्वप्रथम गृहस्थको सब प्राणियोंको अभयदान देना चाहिए। किसी भी रूपमें उनके प्राणोंका घात नहीं करना चाहिए, उनको अपने जीवनकी ओरसे निर्भय कर देना चाहिए, उसके बिना सारा धर्म-कार्य व्यर्थ है। अन्य कोई दान मनुष्य करे या न करे, किन्तु अभयदान अवश्य करे, क्योंकि वह सब दानोंमें श्रेष्ठ है। जिसने अभयदान दिया, उसने सब दान दिये।

दानके उपर्युक्त भेद देयवस्तुकी अपेक्षासे हैं। दान देनेकी प्रक्रिया तथा भावनाकी अपेक्षासे सोमदेवने दानके तीन भेद किये हैं—राजस, तामस और सात्त्विक। जो दान अपनी प्रशंसासे परिपूर्ण होता है और दूसरेके विश्वासके आधारपर दिया जाता है वह राजस दान है। पात्र और अपात्रका विना विचार किये और विना किसी आदर सम्मानके जो नौकरोंसे दान दिलवाया जाता है वह तामस है। और पात्रको देखकर स्वयं दाता जो श्रद्धापूर्वक दान देता है वह सात्त्विक दान है। इनमें-से सात्त्विक दान उत्तम है, राजस दान मध्यम है और तामस दान जघन्य है। दानके ये तीन भेद जैन परम्परामें सोमदेवसे पहले किसी ग्रन्थमें नहीं देखे गये। महाभारतमें इस प्रकारके भेद मिलते हैं।

ध्यान और जप

ध्यानविधि नामक उनतालीसवें कल्पमें ध्यानका वर्णन है। ज्ञानार्णवमें ध्यानका विशेष तथा महत्त्वपूर्ण वर्णन है किन्तु वह उपासकाध्ययनके बाद रचा गया है। उसमें उपासकाध्ययनके श्लोक उद्धृत हैं। ध्यान-

विषयक एक अन्य लघु ग्रन्थ तत्त्वानुशासन भी महत्त्वपूर्ण है किन्तु वह भी उपासकाध्ययनसे पूर्वका प्रतीत नहीं होता। महापुराणके इक्कीसवें पर्वमें ध्यानका सुन्दर वर्णन है और वह प्रायः अकलंक देवके तत्त्वार्थवार्तिकका ऋणी है। सोमदेवने यद्यपि केवल सवा-सौ श्लोकोंमें ध्यानका वर्णन किया है किन्तु वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थसे कम नहीं। ध्यानके पहले सोमदेवने अड़तीसवें कल्पमें जपविधिका कथन किया है। ध्यानसे पूर्वकी अवस्था जप ही है। विधिपूर्वक जपमें अभ्यस्त हो जानेपर ही ध्यानका नम्बर आता है। इस दृष्टिसे इसका विशेष महत्त्व है।

सोमदेव पंचनमस्कार मन्त्रके जपनेपर विशेष जोर देते हैं, उनका कहना है कि पंचनमस्कार मन्त्र अकेला भी सब मन्त्रोंका काम करनेमें समर्थ है। अन्य सब मन्त्र मिलकर भी इसका एक देशकाम भी नहीं कर सकते। मन्त्रका उच्चारण शुद्ध और स्पष्ट होना चाहिए। जप पुष्पोंके द्वारा अंगुलिपर्वोंके द्वारा कमलगट्टोंके द्वारा या स्वर्ण रत्न वगैरहकी मालाके द्वारा किया जा सकता है। वाचनिक जपसे मानसिक जपका विशेष महत्त्व है। जप करनेवाले व्यक्तिको इन्द्रियोंको नियमित रखकर और पर्यंकासनसे बैठकर ही जप करना चाहिए तथा श्वास और उच्छ्वासके प्रति भी सावधान रहना चाहिए। णमो अरिहंताणं और णमो सिद्धाणंके अन्तमें एक णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणंके अन्तमें एक और णमो लोए सव्वसाहूणंके अन्तमें एक इस तरह तीन श्वासोच्छ्वासोंमें एक बार नमस्कार मन्त्र जपना चाहिए। उसमें अभ्यस्त हो जानेपर ध्यानका अभ्यास करना चाहिए। एक ही विषयमें चित्तको स्थिर करनेका नाम ध्यान है। ध्यान करते समय अन्तरंग और बहिरंग पत्थरकी मूर्तिकी तरह निश्चल होना चाहिए और विपत्ति आनेपर भी घबराना नहीं चाहिए। वैराग्य ज्ञान निष्परिग्रहिता चित्तकी स्थिरता और कष्ट सहनेकी क्षमता ये ध्यानके साधन हैं। रोग शोक प्रमाद वगैरह उसके बाधक हैं। सोमदेव सूरिने अन्य आम्नायमें कही गयी हठयोगकी प्रक्रियाका निषेध किया है। जो योगी होकर भी इन्द्रियोंके वशीभूत है वह योगी नहीं है।

सभी जैन ग्रन्थोंमें ध्यानके चार भेद बतलाये हैं—आर्त रौद्र धर्म और शुक्ल ध्यान। इनमें-से आदिके दो ध्यान त्याज्य हैं क्योंकि वे संसारको बढ़ानेवाले हैं। शेष दो ध्यान ही करने योग्य हैं और वे ही मोक्षके कारण हैं। उनमें-से प्रत्येक ध्यानके चार-चार भेद हैं। सोमदेवने ध्यानके दो भेद और भी कहे हैं—एक सबीज ध्यान और एक अबीज ध्यान।[1] सबीज ध्यानमें मन वायुशून्य प्रदेशमें स्थित दीपशिखाकी तरह निश्चल रहता है और तत्त्वके दर्शनसे उल्लासयुक्त होता है। अबीज ध्यानमें चित्त निर्विचार हो जाता है तथा आत्मा आत्मामें ही लीन हो जाता है। अर्थात् सबीज ध्यानमें मन सविकल्प रहता है किन्तु अबीज ध्यानमें निर्विकल्प हो जाता है। यह ध्यानकी उत्कृष्ट दशा है। सोमदेवने लिखा है कि जब पाँचों इन्द्रियाँ और मन स्वात्मामें लीन हो जाते हैं तब अन्तस्तत्त्वमें ज्योतिका विकास होता है। चित्तकी एकाग्रताका नाम ध्यान है। आत्मा ध्याता है और आत्मा ही ध्येय है तथा वही उसके फलका स्वामी है। ध्यानका उपाय है इन्द्रियोंका दमन। असमर्थतासे विघ्न दूर नहीं हो सकते और न कातरतासे मृत्युके पंजेसे छुटकारा मिल सकता है। अतः बिना किसी प्रकारके खेदके परब्रह्मका ही चिन्तन करना चाहिए[2]।

मनका नियन्त्रण किये बिना ध्यान सम्भव नहीं है। देवसेनने आराधनासारमें कहा है कि मनका निग्रह करनेपर आत्मा परमात्मा हो जाता है[3]। योगीन्दुने परमात्मप्रकाश (२।१७२) में लिखा है कि सब प्रकारके रागोंसे और पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे चित्तको हटाकर आत्माका ध्यान करो। पूज्यपादने समाधि पाठक (श्लो. १) में लिखा है कि सब इन्द्रियोंको संयमित करके स्थिर अन्तरात्माके द्वारा एक क्षणके

---

१. उपा. श्लो. ६२१-६२२।

२. उपा. श्लो. ६१५-६१६।

३. णिग्गहिए मणपसरे अप्पा परमप्पओ हवइ।"

४. सव्वहिं रायहिं छहिं रसहिं पंचहिं रूवहिं जंतु। चित्तु णिवारिवि झाहि तुहुँ अप्पा देउ अणंतु।

ए जो कुछ गोचर होता है वही परमात्मतत्त्व है[1]। इसी बातको सोमदेवने रहस्यवादके रूपमे चित्रित करते लिखा है कि जब मनरूपी हस मानसिक कार्यसे वियुक्त हो जाता है, और आत्मारूपी हस सब तरहसे र हो जाता है तो ज्ञानरूपी हस मबके द्वारा दृश्य सरोवरका हस बन जाता है[2]।

ध्यान बहुत कठिन है इसीमे उसका काल एक अन्तर्मुहूर्त बतलाया है, क्योकि इससे अधिक ममय तक तको एक ही विषयमें एकाग्र रखना सम्भव नही है। किन्तु उतना अल्पकालीन निश्चय ध्यान भी रूपी पर्वतको वज्रकी तरह चूर्ण कर डालता है।

सोमदेवने ध्यानका वर्णन करते हुए कुछ श्लोकोंके द्वारा ध्याताकी भावनाका चित्र खीचा है। ाता विचारता है, "मैं परम ब्रह्म हूँ, सुखरूपी अमृतके लिए चन्द्रमा और सुखरूपी सूर्यके लिए याचल हूँ, किन्तु अज्ञानान्धकारके फन्देमें फँसकर इस शरीरमें निवास करता हूँ। जब मेरा चित्त मात्माके ध्यानसे आलोकित होगा, तब मै प्रकाशमान सूर्यकी तरह ससारका द्रष्टा बन जाऊँगा। न्द्रियजन्य समस्त सुख प्रारम्भमें मधुर प्रतीत होता है, किन्तु अन्तमें कटु। यदि जन्मका अन्त त्यु, यौवनका अन्त बुढापा, सयोगका अन्त वियोग और सुखका अन्त दु ख न होता तो कौन मनुष्य ससारको ोडना चाहता। मै आज बडा भाग्यशाली हूँ कि सम्यग्दर्शनके तेजसे मेरा अन्तरात्मा विशुद्ध होकर अन्धकारके ार पहुँच गया है। मैंने इस ससारमें कौन-सा सुख और दु ख नही भोगा, किन्तु जिनवाणीरूपी अमृतका पान भी नहीं किया। इस अमृतसागरकी एक बूँदको भी चाट लेनेसे जीवको फिर जन्मरूपी आगमें कभी ी जलना नहीं पडता।[3]

ज्ञानार्णवमें मस्थानविचय नामक धर्मध्यानके अन्तर्गत पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान-का वर्णन है। तत्त्वानुशासनमें भी धर्मध्यानके अन्तर्गत इन चारो ध्यानोका वर्णन है, किन्तु उनके पिण्डस्थ आदि नाम नहीं हैं। सोमदेवने आर्त आदि चारो ध्यानोंका वर्णन करनेके पश्चात् रूपस्थ और पदस्थ ध्यानो-का वर्णन किया है, पर दोनो नाम नही दिये हैं और उसके पश्चात् लिखा है कि लोकोत्तर ध्यानका कथन किया अब कुछ लौकिक ध्यानका कथन करते हैं।

इसमें उन्होंने सर्वप्रथम 'ओं' का ध्यान करना बतलाया है और उसके लिए प्राणायामकी साधनाकी आवश्यकता बतलायी है। इसका वर्णन ज्ञानार्णवके उनतीसवें अधिकारमें विशेष रूपसे आया है।

ध्यानके प्रकरणके अन्तमें सोमदेवने पद्मासन, वीरासन और सुखासनका लक्षण भी बतलाया है।

मूर्तिपूजन

सोमदेवके मूर्तिपूजनके सम्बन्धमें जो जानकारी और सामग्री उपासकाध्ययनमें प्रस्तुत की है उसे ऐति-हासिक पृष्ठभूमिपर जाँचने-देखनेसे अनेक नये तथ्य सामने आते हैं। सोमदेवसे पूर्व किसी ग्रन्थमें पूजा तथा पूजा-विधिका इतना विस्तृत और स्पष्ट विवरण दिखायी नही पडता।

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने पचास्तिकायमें (गा० १६६) अरिहन्त, सिद्ध, चैत्य और प्रवचन भक्तिका निर्देश किया है, तथा प्रवचनसार (गा० १-६९)में देवता, यति और गुरुकी पूजाका निर्देश किया है। दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्वके खारवेलके शिलालेखमें अग्रजिनकी मूर्तिका उल्लेख है, जिसे राजा नन्द कलिंग जीतनेपर पाटलिपुत्र ले गया था और जिसे खारवेलने मगधपर चढाई करके पुन प्राप्त किया था। एक मौर्यकालीन जैन मूर्ति पटनाके म्यूजियममें स्थित है। इसी प्रकारकी मूर्तिका कबन्ध हडप्पासे प्राप्त हुआ है, जिसका समय ईस्वी सन्से २४००–२००० वर्ष पूर्व अनुमान किया गया है और जिसे भारतीय पुरातत्त्व विभागके तत्कालीन सयुक्त

---

१ "सर्वेन्द्रियाणि सयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना। यत् क्षण पश्यतो भाति तत्तत्त्व परमात्मन ॥"

२ उपा० श्लो० ६२५।

३ उपा० श्लो० ६६६–६७४।

विषयक एक अन्य लघु ग्रन्थ तत्त्वानुशासन भी महत्त्वपूर्ण है किन्तु वह भी उपासकाध्ययनसे पूर्वका प्रतीत नहीं होता। महापुराणके इक्कीसवें पर्वमें ध्यानका सुन्दर वर्णन है और वह प्रायः अकलंक देवके तत्त्वार्थवार्तिकका ऋणी है। सोमदेवने यद्यपि केवल सवा-सौ श्लोकोंमें ध्यानका वर्णन किया है किन्तु वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थसे कम नहीं। ध्यानके पहले सोमदेवने अड़तीसवें कल्पमें जपविधिका कथन किया है। ध्यानसे पूर्वकी अवस्था जप ही है। विधिपूर्वक जपमें अभ्यस्त हो जानेपर ही ध्यानका नम्बर आता है। इस दृष्टिसे इसका विशेष महत्त्व है।

सोमदेव पंचनमस्कार मन्त्रके जपनेपर विशेष जोर देते हैं उनका कहना है कि पंचनमस्कार मन्त्र अकेला भी सब मन्त्रोंका काम करनेमें समर्थ है। अन्य सब मन्त्र मिलकर भी इसका एक देशकाम भी नहीं कर सकते। मन्त्रका उच्चारण शुद्ध और स्पष्ट होना चाहिए। जप पुष्पोंके द्वारा अंगुलियोंके द्वारा कमलगट्टोंके द्वारा या स्वर्ण रत्न वगैरहकी मालाके द्वारा किया जा सकता है। वाचनिक जपसे मानसिक जपका विशेष महत्त्व है। जप करनेवाले व्यक्तिको इन्द्रियोंको निश्चल रखकर और पर्यंकासनसे बैठकर ही जप करना चाहिए, तथा श्वास और उच्छ्वासके प्रति भी सावधान रहना चाहिए। णमो अरिहंताणं और णमो सिद्धाणंके अन्तमें एक णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणंके अन्तमें एक और णमो लोए सव्वसाहूणंके अन्तमें एक इस तरह तीन श्वासोच्छ्वासमें एक बार नमस्कार मन्त्र जपना चाहिए। उसमें अभ्यस्त हो जानेपर ध्यानका अभ्यास करना चाहिए। एक ही विषयमें चित्तको स्थिर करनेका नाम ध्यान है। ध्यान करते समय अन्तरंग और बहिरंग पत्थरकी मूर्तिकी तरह निश्चल होने चाहिए और विपत्ति आनेपर भी घबराना नहीं चाहिए। वैराग्य ज्ञान निष्परिग्रहिता चित्तकी स्थिरता और कष्ट सहनकी क्षमता ये ध्यानके साधन हैं। रोग शोक प्रमाद वगैरह उसके बाधक हैं। सोमदेव सूरिने अन्य आम्नायमें कही गयी हठयोगकी प्रक्रियाका निषेध किया है। जो योगी होकर भी इन्द्रियोंके वशीभूत है वह योगी नहीं है।

सभी जैन ग्रन्थोंमें ध्यानके चार भेद बतलाये हैं—आर्त रौद्र धर्म और शुक्ल ध्यान। इनमें-से आदिके दो ध्यान त्याज्य हैं क्योंकि वे संसारको बढ़ानेवाले हैं। अन्तके दो ध्यान ही करने योग्य हैं और वे ही मोक्षके कारण हैं। उनमें-से प्रत्येक ध्यानके चार-चार भेद हैं। सोमदेवने ध्यानके दो भेद और भी कहे हैं—एक सबीज ध्यान और एक अबीज ध्यान। सबीज ध्यानमें मन वायुशून्य प्रदेशमें स्थित दीपशिखाकी तरह निश्चल रहता है और तत्त्वके दर्शनसे उल्लासयुक्त होता है। अबीज ध्यानमें चित्त निर्विचार हो जाता है तथा आत्मा आत्मामें ही लीन हो जाता है। अर्थात् सबीज ध्यानमें मन सविकल्प रहता है किन्तु अबीज ध्यानमें निर्विकल्प हो जाता है। यह ध्यानकी उत्कृष्ट दशा है। सोमदेवने लिखा है कि जब पाँचों इन्द्रियाँ और मन स्वात्मामें लीन हो जाते हैं तब अन्तस्तलमें ज्योतिका विकास होता है। चित्तकी एकाग्रताका नाम ध्यान है। आत्मा ध्याता है और आत्मा ही ध्येय है तथा वही उसके फलका स्वामी है। ध्यानका उपाय है इन्द्रियोंका दमन। असमर्थतासे विघ्न दूर नहीं हो सकते और न कातरतासे मृत्युके पंजेसे छुटकारा मिल सकता है। अतः बिना किसी प्रकारके खेदके परब्रह्मका ही चिन्तन करना चाहिए[2]।

मनका नियन्त्रण किये बिना ध्यान सम्भव नहीं है। देवसेनने आराधनासारमें कहा है कि मनका निग्रह करनेपर आत्मा परमात्मा हो जाता है[3]। योगीन्दुने परमात्मप्रकाश (२।१७२) में लिखा है कि सब प्रकारके रागोंसे और पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे चित्तको हटाकर आत्माका ध्यान करो। पूज्यपादने समाधिशतक (श्लो ३) में लिखा है कि सब इन्द्रियोंको संयमित करके स्थिर अन्तरात्माके द्वारा एक क्षणके

१ उपा. श्लो. ६२२, ६२३
२ उपा. श्लो. ६१५, ६१६
३ णिग्गहिए मणपसरे अप्पा परमप्पओ हवइ।
४ 'सव्वहिं रायहिं छहिं रसहिं पंचहिं रूवहिं जंतु। चित्त णिवारिवि झाहि तुहुं अप्पा देउ अणंतु।'

लिए जो कुछ गोचर होता है वही परमात्मतत्त्व है[1]। इसी बातको सोमदेवने रहस्यवादके रूपमें चित्रित करते हुए लिखा है कि जब मनरूपी हंस मानसिक कार्यसे वियुक्त हो जाता है, और आत्मारूपी हंस सब तरहसे स्थिर हो जाता है तो ज्ञानरूपी हंस सबके द्वारा दृश्य सरोवरका हंस बन जाता है[2]।

ध्यान बहुत कठिन है इसीसे उसका काल एक अन्तर्मुहूर्त बतलाया है, क्योंकि इससे अधिक समय तक चित्तको एक ही विषयमें एकाग्र रखना सम्भव नहीं है। किन्तु उतना अल्पकालीन निश्चय ध्यान भी कर्मरूपी पर्वतको वज्रकी तरह चूर्ण कर डालता है।

सोमदेवने ध्यानका वर्णन करते हुए कुछ श्लोकोंके द्वारा ध्याताकी भावनाका चित्र खींचा है। ध्याता विचारता है, "मैं परम ब्रह्म हूँ, सुखरूपी अमृतके लिए चन्द्रमा और सुखरूपी सूर्यके लिए उदयाचल हूँ, किन्तु अज्ञानान्धकारके फन्देमें फँसकर इस शरीरमें निवास करता हूँ। जब मेरा चित्त परमात्माके ध्यानसे आलोकित होगा, तब मैं प्रकाशमान सूर्यकी तरह संसारका द्रष्टा बन जाऊँगा। इन्द्रियजन्य समस्त सुख प्रारम्भमें मधुर प्रतीत होता है, किन्तु अन्तमें कटु। यदि जन्मका अन्त मृत्यु, यौवनका अन्त बुढ़ापा, संयोगका अन्त वियोग और सुखका अन्त दुःख न होता तो कौन मनुष्य संसारको छोड़ना चाहता। मैं आज बड़ा भाग्यशाली हूँ कि सम्यग्दर्शनके तेजसे मेरा अन्तरात्मा विशुद्ध होकर अन्धकारके पार पहुँच गया है। मैंने इस संसारमें कौन-सा सुख और दुःख नहीं भोगा, किन्तु जिनवाणीरूपी अमृतका पान कभी नहीं किया। इस अमृतसागरकी एक बूँदको भी चाट लेनेसे जीवको फिर जन्मरूपी आगमें कभी भी जलना नहीं पड़ता।[3]

ज्ञानार्णवमें संस्थानविचय नामक धर्मध्यानके अन्तर्गत पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानका वर्णन है। तत्त्वानुशासनमें भी धर्मध्यानके अन्तर्गत इन चारों ध्यानोंका वर्णन है, किन्तु उनके पिण्डस्थ आदि नाम नहीं हैं। सोमदेवने आर्त आदि चारों ध्यानोंका वर्णन करनेके पश्चात् रूपस्थ और पदस्थ ध्यानोंका वर्णन किया है, पर दोनों नाम नहीं दिये हैं और उसके पश्चात् लिखा है कि लोकोत्तर ध्यानका कथन किया अब कुछ लौकिक ध्यानका कथन करते हैं।

इसमें उन्होंने सर्वप्रथम 'ओं' का ध्यान करना बतलाया है और उसके लिए प्राणायामकी साधनाकी आवश्यकता बतलायी है। इसका वर्णन ज्ञानार्णवके उनतीसवें अधिकारमें विशेष रूपसे आया है।

ध्यानके प्रकरणके अन्तमें सोमदेवने पद्मासन, वीरासन और सुखासनका लक्षण भी बतलाया है।

मूर्तिपूजन

सोमदेवके मूर्तिपूजनके सम्बन्धमें जो जानकारी और सामग्री उपासकाध्ययनमें प्रस्तुत की है उसे ऐतिहासिक पृष्ठभूमिपर जाँचने-देखनेसे अनेक नये तथ्य सामने आते हैं। सोमदेवसे पूर्व किसी ग्रन्थमें पूजा तथा पूजा-विधिका इतना विस्तृत और स्पष्ट विवरण दिखायी नहीं पड़ता।

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने पंचास्तिकायमें (गा० १६६) अरिहन्त, सिद्ध, चैत्य और प्रवचन भक्तिका निर्देश किया है, तथा प्रवचनसार (गा० १-६९)में देवता, यति और गुरुकी पूजाका निर्देश किया है। दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्वके खारवेलके शिलालेखमें अग्रजिनकी मूर्तिका उल्लेख है, जिसे राजा नन्द कलिंग जीतनेपर पाटलिपुत्र ले गया था और जिसे खारवेलने मगधपर चढ़ाई करके पुनः प्राप्त किया था। एक मौर्यकालीन जैन मूर्ति पटनाके म्यूजियममें स्थित है। इसी प्रकारकी मूर्तिका कबन्ध हड़प्पासे प्राप्त हुआ है, जिसका समय ईस्वी सन्से २४००–२००० वर्ष पूर्व अनुमान किया गया है और जिसे भारतीय पुरातत्त्व विभागके तत्कालीन संयुक्त

---

१ "सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना। यत् क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः॥"

२ उपा० श्लो० ६२५।

३ उपा० श्लो० ६६६–६७४।

निर्देशक श्री टी० एन० रामचन्द्रन जैन तीर्थंकरकी मूर्ति बतलाते हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि जैनधर्मके साथ उसकी मूर्तिपूजा भी बहुत प्राचीन है।

वैदिक कालमें वैदिकोंके द्वारा अग्नि, सूर्य, वरुण आदि देवताओंकी पूजा अग्निमें घी, अन्न वगैरहकी आहुति देकर भावात्मक रूपमें की जाती थी। इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि मूर्तिपूजक नहीं थे। सम्भवतया जब अहिंसा सिद्धान्त तथा उपनिषदोंके परब्रह्मके विचारोंके कारण वैदिक यज्ञोंका लोप हो चला तो वैदिक ऋषियोंने भी इस देशके प्राचीन निवासियोंमें प्रचलित मूर्तिपूजाको अपना लिया और मध्यकालमें उसका व्यापक प्रचार हो गया। वराहमिहिर (पाँचवीं शताब्दी) ने अपनी बृहत्संहिता (६०-१९)में विभिन्न देवताओंको पूजनेवाले विभिन्न सम्प्रदायोंका उल्लेख किया है।[2] तथा अठावनवें अध्यायमें राम, विष्णु, बलदेव, एकानंशा (?) ब्रह्मा, स्कन्द, शिव, गिरिजा, बुद्ध, जिन, सूर्य, माता, यम, वरुण और कुबेरकी मूर्तियोंका वर्णन किया है। इससे स्पष्ट है कि उस कालमें इन देवी-देवताओंकी पूजा की जाती थी।

सातवीं शताब्दीके जैनाचार्य रविषेणने पद्मचरित्रमें लिखा है

'जो जिन भगवान्की आकृतिके अनुरूप जिनबिम्ब बनवाता है तथा जिन भगवान्की पूजा और स्तुति करता है उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।'[3]

इसी तरह उक्त शताब्दीमें रचे गये अध्यात्म ग्रन्थ परमात्मप्रकाशमें लिखा है,

'तूने न तो मुनिवरोंको दान ही दिया, न जिन भगवान्की पूजा ही की और न पंचपरमेष्ठीको नमस्कार किया तब तुझे मोक्षका लाभ कैसे होगा।'[4]

सातवीं शताब्दीमें रचित वरांगचरित (सर्ग २२)में जटासिंहनन्दीने जिनपूजाके माहात्म्यके साथ साथ जिनबिम्ब और जिनालयनिर्माणका बहुत महत्त्व बतलाया है तथा जैनपूजा-महोत्सवका सुन्दर चित्रण किया है। उनके लेखसे पता चलता है कि उस समय मन्दिरोंकी दीवारोंपर पौराणिक उपाख्यान चित्रित किये जाते थे और राज्यकी ओरसे पूजाके निमित्त ग्राम वगैरह मन्दिरोंको दानमें दिये जाते थे।[5]

जब भारतपर मुसलमानोंके आक्रमण होने लगे और मन्दिर तथा मूर्तियाँ तोड़ी जाने लगीं तो उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें भारतमें मन्दिरों और मूर्तियोंके निर्माणपर पहलेसे भी अधिक जोर दिया जाने लगा।

आचार्य अमितगतिने अपने सुभाषितरत्नसन्दोहमें लिखा है कि जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान्की अंगुष्ठ-प्रमाण प्रतिमा बनवाता है वह भी अविनाशी लक्ष्मीको प्राप्त करता है।[6] आचार्य पद्मनन्दि उनसे भी आगे बढ़

---

१. अनेकान्त वर्ष १४ कि० ६ में 'हड़प्पा और जैनधर्म' शीर्षक लेख।

२. विष्णोर्भागवतान्मगांश्च सवितुः शम्भोः सभस्मद्विजान्, मातॄणामपि मातृमण्डलविदो विप्रान् विदुर्ब्रह्मणः। शाक्यान् सर्वहितस्य शान्तमनसो नग्नान् जिनानां विदुः ये यं देवमुपाश्रिता स्वविधिना तैस्तस्य कार्या क्रिया॥ —बृहत्संहिता ६०।१९।

३. "जिनबिम्बं जिनाकारं जिनपूजां जिनस्तुतिम्।
यः करोति जनस्तस्य न किंचिद् दुर्लभं भवेत्॥" २१३॥ पर्व १४॥

४. 'दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहँ ण वि पुज्जिउ जिणणाहु।
पंच ण वंदिय परमगुरु किमु होसइ सिवलाहु॥'१६८॥

५. "[illegible] वरिष्ठं ...
संगीतकं माल्यनिवेद्यं प्रसादं ममपद्यामास जिनालयाय॥"—वराङ्गचरित २२।७१॥

६. अङ्गुष्ठप्रमाणार्चां जैनेन्द्रीं बिम्बनिर्मिताम्।
नश्वात्मसमृद्धी कर्मीन पुर आशु जायते॥ —सु० र० सं० ८ १।

कर कहते हैं कि जो विम्वपत्रके प्रमाण जिनमन्दिर बनाकर उसमें जौ बराबर जिनप्रतिमाकी भक्तिपूर्वक स्थापना करते हैं उनके पुण्यका वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकती, फिर जो बडा मन्दिर और बडी प्रतिमा बनवायें उनका तो कहना ही क्या है।[1] आचार्य वसुनन्दिने (बारहवी शती) पद्मनन्दिसे भी आगे कहा, जो कुन्थुम्भरिके पत्र बराबर जिनमन्दिर बनवाकर उसमें सरसोंके बराबर भी जिनप्रतिमाकी स्थापना करता है, वह मनुष्य तीर्थंकरपदके योग्य पुण्यबन्ध करता है।[2]

आचार्य पद्मनन्दि और वसुनन्दिने जिनपूजा वगैरहका भी वर्णन किया है, उनका महत्त्व भी बतलाया है और उसपर जोर भी दिया है। सागारधर्मामृतमें प० आशाधरजीने भी संक्षेपमें जिनमन्दिरोकी आवश्यकता और जिनपूजाकी विधि बतलायी है तथा जिनबिम्ब, जिनालयवसतिका और स्वाध्यायशाला बनवाना पाक्षिक श्रावकोका कर्तव्य बतलाया है। सावयधम्मदोहामें तो जिनबिम्ब और जिनमन्दिरके निर्माणके साथ ही साथ जिनमन्दिरमें सफेदी करानेका, जिनेन्द्रदेवपर चन्दोआ चढानेका, उनकी आरती करनेका और उन्हें तिलक चढानेका भी माहात्म्य बतलाया है[3]। लाटीसंहितामें भी, जिनमन्दिर, अर्हन्त और सिद्धोकी प्रतिमाएँ तथा यन्त्र वगैरह बनवानेका विधान किया है और लिखा है 'जिनबिम्ब महोत्सव आदि करानेमें कभी शिथिलता नहीं करना चाहिए। तत्त्वज्ञोको तो विशेष रूपसे नित्य नैमित्तिक महोत्सव करने कराने चाहिए।

उपर्युक्त साक्ष्योंके आधारपर यह सहज रूपमें कहा जा सकता है कि मूर्तिपूजनकी परम्परा जैनधर्ममें बहुत पुराने समयसे चली आ रही थी, और उत्तरकालमें तो जिनप्रतिमा और जिनमन्दिरोंका निर्माण बहुतायतसे होने लगा। ग्यारहवी शताब्दीके बादका युग, जिसे 'श्रावकाचार युग' कहना अधिक उपयुक्त होगा, तो जैसे इन प्रवृत्तियोके चरमोत्कर्षका समय रहा। इसी युगमें प्रतिष्ठापाठो आदिकी रचनाएँ हुईं। पूजनसाहित्य भी इस युगमें विशेष रूपसे लिखा गया। किन्तु इस सबका तात्पर्य यह नहीं कि पूजा-प्रतिष्ठाकी ये प्रवृत्तियाँ पहले न थी। जैन आचारसंहिताका ये सदासे अविभाज्य अंग रही हैं। अन्तर केवल इतना है कि प्राचीन समयमें मुनियो और आचार्योंका बाहुल्य होनेसे श्रावक उनके सान्निध्यका लाभ उठा लेते थे और वही धर्मकी स्थिरताका एक बडा आधार था। बादके युगमें मुनिसंघोकी विरलता होती गयी और श्रावकोको धर्ममें स्थिर करनेके लिए मन्दिर आदिके निर्माणपर अधिक जोर दिया गया।

पूजन : एक प्रश्न और उसका समाधान

स्वामी विद्यानन्दिने अपने पात्रकेसरिस्तोत्रमें लिखा है कि भगवन्! जिनबिम्बका निर्माण, दान और पूजन आदि क्रियाएँ, जो कि अनेक प्राणियोंके मरण और पीडाकी कारण हैं, आपने उनका उपदेश नहीं किया। किन्तु भक्तिवश श्रावकोंने ही स्वयं उन्हें किया है[4]।

इसका अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि पूजनका उपदेश भगवान्ने तो दिया नहीं, वह तो

---

१. "बिम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं वा।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता स्तोतुं परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य॥"—पद्म० पंच०, श्लो० २२।

२ "कुंथुंभरिदलमेत्ते जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं।
सरिसवमेत्तं पि लहइ सो णरो तित्थयरं पुण्णं॥" —वसु० श्राव० श्लो० ४८१।

३. "जिणभवणइं कारावियइं लब्भइ सग्गि विमाणु। 'अह टिक्कइ आराहणइ होइ समाहिहि ठाणु॥
जो धवलावइ जिण भवणु तसु जसु कहिं पि ण माइ।
ससिकरणियरु सरयमिलिउ जगु धवलणह वसाइ॥"—साव० दो० १९३-१९४।

४ "विमोक्षसुखचैत्यदानपरिपूजनाद्यात्मिका, क्रिया बहुविधासुभृन्मरणपीडनाहेतवः।
त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिता किन्तु तास्त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिता श्रावकैः॥३७॥"

निर्देशक श्री टी. एन. रामचन्द्रन जैन तीर्थंकरकी मूर्ति बतलाते हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि जैनधर्मके साथ उसकी मूर्तिपूजा भी बहुत प्राचीन है।

वैदिक कालमें वैदिकोंके द्वारा अग्नि, सूर्य, वरुण आदि देवताओंकी पूजा अग्निमें घी, अन्न वगैरहकी आहुति देकर भावात्मक रूपमें की जाती थी। इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि मूर्तिपूजक नहीं थे। सम्भवतया जब अहिंसा सिद्धान्त तथा उपनिषदोंके परब्रह्मक विचारोंके कारण वैदिक यज्ञोंका लोप हो चला तो वैदिक ऋषियोंने भी इस देशके प्राचीन निवासियोंमें प्रचलित मूर्तिपूजाको अपना लिया और मध्यकालमें उसका व्यापक प्रचार हो गया। वराहमिहिर (पाँचवीं शताब्दी) ने अपनी बृहत्संहिता (६०-१९)में विभिन्न देवताओंको पूजनेवाले विभिन्न समुदायोंका उल्लेख किया है।[2] तथा अगले ही अध्यायमें राम, विष्णु, बलदेव, एकानंशा (?) ब्रह्मा, स्कन्द, शिव, गिरिजा, बुद्ध, जिन, सूर्य, माता, यम, वरुण और कुबेरकी मूर्तियोंका वर्णन किया है। इससे स्पष्ट है कि उस कालमें इन देवी-देवताओंकी पूजा की जाती थी।

सातवीं शताब्दीके जैनाचार्य रविषेणने पद्मचरितमें लिखा है :

जो जिन भगवान्‌की आकृतिके अनुरूप जिनबिम्ब बनवाता है तथा जिन भगवान्‌की पूजा और स्तुति करता है उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।[3]

इसी तरह छठी शताब्दीमें रचे गये अध्यात्म ग्रन्थ परमात्मप्रकाशमें लिखा है,

'तूने न तो मुनिवरोंको दान ही दिया, न जिन भगवान्‌की पूजा ही की, और न पंचपरमेष्ठीको नमस्कार किया, तब तुझे मोक्षका लाभ कैसे होगा।'[4]

सातवीं शताब्दीमें रचित वरांगचरित (सर्ग २२)में जटासिंहनन्दीने जिनपूजाके माहात्म्यके साथ साथ जिनबिम्ब और जिनालयनिर्माणका बहुत महत्त्व बतलाया है तथा जैनपूजा-महोत्सवका सुन्दर चित्रण किया है। उनके लेखसे पता चलता है कि उस समय मन्दिरोंकी दीवारोंपर पौराणिक उपाख्यान चित्रित किये जाते थे और राज्योंकी ओरसे पूजाके निमित्त ग्राम वगैरह मन्दिरोंको दानमें दिये जाते थे।[5]

जब भारतपर मुसलमानोंके आक्रमण होने लगे और मन्दिर तथा मूर्तियाँ तोड़ी जाने लगीं तो उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें भारतमें मन्दिरों और मूर्तियोंके निर्माणपर पहलेसे भी अधिक जोर दिया जाने लगा।

आचार्य अमितगतिने अपने सुभाषितरत्नसन्दोहमें लिखा है कि जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान्‌की अँगुष्ठ-प्रमाण प्रतिमा बनवाता है वह भी अविनाशी लक्ष्मीको प्राप्त करता है।[6] आचार्य पद्मनन्दि उनसे भी आगे बढ़

---

१. अनेकान्त वर्ष १४ कि. १ में 'हड़प्पा और जैनधर्म' शीर्षक लेख।

२. "विष्णोर्भागवतान्मगांश्च सवितुः शम्भोः सभस्मद्विजान्, मातॄणामपि मातृमण्डलविदो विप्रान् विदुर्ब्रह्मणः। शाक्यान् सर्वहितस्य शान्तमनसो नग्नान् जिनानां विदुः, ये यं देवमुपाश्रिता स्वविधिना तैस्तस्य कार्या क्रिया॥ —बृहत्संहिता ६०-१९।

३. "जिनबिम्बं जिनाकारं जिनपूजां जिनस्तुतिम्।
यः करोति जनस्तस्य न किंचिद् दुर्लभं भवेत्॥" २१३॥ पर्व १४॥

४. 'दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहँ ण वि पुज्जिउ जिणणाहु।
पंच ण वंदिय परमगुरु किमु होसइ सिवलाहु॥" ११८॥

५. 'महातटाकमासर्न वरिष्ठ ग्रामांश्च ग्रामीकृतकान् गवादीन्।
क्षेत्राणि सान्तर्धिकं प्रमोदं समर्पयामास जिनालयाय॥ —वरांगचरित २३।९१॥

६. 'यवाङ्गुष्ठ प्रमाणार्चा जैनेन्द्री क्रियतेऽङ्गिना।
तस्याप्यनश्वरी लक्ष्मीर्न दूरे जातु जायते॥ —सु. सं. श्लो. ८०६।

सोमदेव सूरिने पूजकोंके दो भेद किये हैं—एक पुष्पादिमें पूज्यकी स्थापना करके पूजन करनेवाले और दूसरे, प्रतिमाका अवलम्बन लेकर पूजन करनेवाले[1]। उन्होंने पूजकको फल, पत्र और पाषाण आदिकी तरह अन्य धर्मकी मूर्तिमें स्थापना करनेका निषेध किया है तथा दोनों प्रकारके पूजकोंके लिए अलग-अलग विधि बतलायी है। वसुनन्दिने सोमदेवके द्वारा विहित उक्त दोनों प्रकारोंको सद्भावस्थापना तथा असद्भाव-स्थापना नाम दिया है। साकार वस्तु (प्रतिमा) में अरहन्त आदिके गुणोंका आरोपण करना सद्भावस्थापना है और अक्षत वराटक (कमलगट्टा) वगैरहमें अपनी बुद्धिसे 'यह अमुक देव है' ऐसा संकल्प करना असद्भाव-स्थापना है[2]। वसुनन्दिने इस कालमें असद्भाव स्थापनाका निषेध किया है[3]। आशाधरने निषेध नहीं किया। सम्भवतया प्रतिमाके सामने न होते हुए पुष्पादिमें अर्हन्तकी स्थापना करके पूजन करनेका ही निषेध वसुनन्दिने किया है। इससे भ्रम होनेकी सम्भावना है। आजकल जिनप्रतिमाके अभिमुख ही पुष्पक्षेपण करके स्थापना की जाती है। वसुनन्दिने इसे नामपूजा कहा है। उन्होंने पूजाके छह भेद किये हैं—नामपूजा, स्थापनापूजा, द्रव्यपूजा, भावपूजा, क्षेत्रपूजा और कालपूजा[4]। अरहन्त आदिका नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेशमें पुष्पक्षेपण करना नामपूजा है[5]। आगे अन्य पूजाओंके लक्षण इस प्रकार दिये हैं, जिनप्रतिमा-की स्थापना करके पूजन करना स्थापनापूजा है। जल गन्ध आदि द्रव्यसे प्रतिमादि द्रव्यकी पूजा करना द्रव्य-पूजा है। जिन भगवान्के पंचकल्याणकोंकी भूमिमें पूजा करना क्षेत्रपूजा है और भक्तिपूर्वक जिन भगवान्के गुणोंका कीर्तन करके जो त्रिकाल वन्दना की जाती है वह भावपूजा है, नमस्कार मन्त्रका जाप और ध्यान भी भावपूजा है।

अमितगतिने अपने श्रावकाचारमें पूर्वाचार्योंके अनुसार वचन और शरीरकी क्रियाको रोकनेका नाम द्रव्यपूजा और मनको रोककर जिनभक्तिमें लगानेका नाम भावपूजा कहा है[6]। उनके अपने मतसे गन्ध पुष्प नैवेद्य दीप धूप और अक्षतसे पूजा करनेका नाम द्रव्यपूजा और जिनेन्द्रके गुणोंका चिन्तन करनेका नाम भाव-पूजा कहा है[7]।

सोमदेवने पूजाके ये भेद नहीं बतलाये। ऊपर जिन दो प्रकारके पूजकोंका उल्लेख किया है उनके लिए सोमदेवने पूजनकी दो विभिन्न विधियोंका वर्णन किया है। जो प्रतिमामें स्थापना नहीं करते उनके लिए अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी स्थापना करके प्रत्येकको अष्ट द्रव्यसे पूजा करना बतलाया है। उसके बाद क्रमसे दर्शनभक्ति, ज्ञानभक्ति, चारित्रभक्ति, अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति, शान्तिभक्ति और आचार्यभक्ति करना बतलाया है। पूजाका यह प्रकार वर्तमानमें प्रचलित नहीं है।

---

१ उपा० पृ० २१७।

२ "सब्भावासब्भावा दुविहा ठवणा जिणेहि पण्णत्ता। सायारवंतवत्थुम्मि जं गुणारोपणं पढमा ॥३८३॥ अक्खय वराडओ वा अमुगो एसोत्ति णियबुद्धीए। संकप्पिऊण वयणं एसा विइया असब्भावा ॥३८४॥" —वसुनन्दिश्रा०।

३ "हुण्डावसप्पिणीए विइया ठवणा ण होदि कायव्वा। लोए कुलिंगमइमोहिए जदो होइ संदेहो॥३८५॥" —वसुनन्दिश्रा०

४ "णामट्ठवणा दव्वे खित्ते काले वियाण भावे य। छव्विहपूजा भणिया समासओ जिणवरिंदेहि॥३८१॥"

५ "उच्चारिऊण णामं अरुहाईणं विसुद्धदेसम्मि। पुप्फाणि जं खिविज्जंति वण्णिया णामपूया सा॥३८२॥"

६ "वचो विग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते। तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥१२॥"

७. "गन्धप्रसूनसान्नाद्यदीपधूपाक्षतादिभिः। क्रियमाणाथवा ज्ञेया द्रव्यपूजा विधानतः ॥१३॥ व्यापकानां विशुद्धानां जिनानामनुरागतः। गुणानां यदनुध्यानं भावपूजेयमुच्यते॥१४॥"-१२ परि०।

लोगोंने ही चला दिया है। प्रथम तो इससे आगेके ही पद्यमें कहा है—अथवा भगवन् आपने या आपके उपदेशका प्रचार करनेवाले गणधर आदिने पर्यायरूपसे चैत्यनिर्माण और दानका उपदेश दिया है। तीर्थंकर नाम कर्मके कारण ऐसा उपदेश देना सम्भव है[1]। दूसरे अर्हत्पूजाको सोलह कारण भावनाओंमें गिनाया गया है। तीसरे स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचारमें अर्हन्त देवके चरणोंकी प्रतिदिन आदरपूर्वक पूजा करनेका विधान किया है। लिखा है, इच्छित वस्तुको देनेवाले और कामविकारको जलानेवाले अर्हन्तदेवके चरणोंकी पूजा आदरपूर्वक प्रतिदिन करनी चाहिए। उससे समस्त दुःखोंका नाश होता है। अर्हन्त भगवान्के चरणोंकी पूजाका महत्त्व तो आनन्दसे उन्मत्त मेंढकने एक फूल लेकर राजगृही नगरीमें बतलाया था[2]।

यह सत्य है कि इस युगमें भगवान् ऋषभदेवको आहार दान देकर राजा श्रेयांसने और चैत्य-चैत्यालयोंका निर्माण कराकर सम्राट् भरतने दान और चैत्य आदिके निर्माणकी प्रवृत्तिको जन्म दिया था और ये दोनों ही गृहस्थ थे किन्तु यह भी सत्य है कि धर्मप्रवर्तक तीर्थंकरोंने गणधरोंने और आचार्योंने श्रावकोंके लिए बराबर उसका विधान किया और उसे प्रोत्साहन दिया। समन्तभद्र स्वामीके उक्त पद्य इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

पूजनके भेद

आचार्य जिनसेनने महापुराणके अड़तीसवें पर्वके प्रारम्भमें श्रावकके षट् कर्म इज्या[3] वार्ता दान स्वाध्याय संयम और तपका वर्णन करते हुए पूजाके चार भेद बतलाये हैं नित्यपूजा चतुर्मुखपूजा कल्पद्रुमपूजा और अष्टाह्निकपूजा। प्रतिदिन अपने घरसे गन्ध पुष्प अक्षत आदि ले जाकर जिनालयमें अर्हन्तदेवका पूजन करना नित्यपूजा अथवा भक्तिपूर्वक अर्हन्तदेवकी प्रतिमा और मन्दिरका निर्माण कराना तथा दानपत्र लिखकर ग्राम खेत आदिका दान देना नित्यपूजा है। प्रतिदिन शक्तिके अनुसार नित्य दान देते हुए मुनियोंकी पूजा करना भी नित्यपूजा है। महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो महापूजा की जाती है उसे चतुर्मुख या सर्वतोभद्र कहते हैं। चक्रवर्तियोंके द्वारा किमिच्छिक (मुँहमाँगा) दानपूर्वक जगत्के सब जीवोंके मनोरथोंको पूरा करके जो पूजा की जाती है उसे कल्पद्रुमपूजा कहते हैं। चौथी अष्टाह्निकपूजा है जो सबमें प्रसिद्ध है। इनके सिवाय एक इन्द्रध्वज पूजा है।[4] इससे पूर्वके उपलब्ध साहित्यमें पूजाके भेद नहीं मिलते।

पूजन विधि

उपलब्ध साहित्यमें सोमदेव उपासकाध्ययनसे पूर्व अन्य किसी ग्रन्थमें भी इस तरह विस्तारसे पूजनकी विधि मेरे देखनेमें नहीं आयी है। उत्तरकालके ग्रन्थकारोंमें वसुनन्दिने अपने श्रावकाचारमें प्रतिष्ठाकी विधि भी बतलायी है किन्तु पूजनकी विधि इतने विस्तारसे नहीं बतलायी। पं. आशाधरने भी दो एक पद्योंके द्वारा संक्षेपमें पूजाका क्रम बतलाया है। मेधावीने भी वसुनन्दिके अनुसार लिखा है।

---

१ "त्वया त्वदुपदेशकारि पुरुषेण वा केनचित्
कथंचिदुपदिश्यते स्म जिन ! चैत्यदानक्रिया ।"

२ 'देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥११९॥
अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ १२ ॥

३ 'इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः' । महापुराण पर्व ३८ श्लो० २४ ।

४ 'प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम् । चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमश्चाष्टाह्निकोऽपि च ॥२६॥"

सोमदेव सूरिने पूजकोंके दो भेद किये हैं—एक पुष्पादिमें पूज्यकी स्थापना करके पूजन करनेवाले और दूसरे, प्रतिमाका अवलम्बन लेकर पूजन करनेवाले[1]। उन्होंने पूजकको फल, पत्र और पाषाण आदिकी तरह अन्य धर्मकी मूर्तिमें स्थापना करनेका निषेध किया है तथा दोनों प्रकारके पूजकोंके लिए अलग-अलग विधि बतलायी है। वसुनन्दिने सोमदेवके द्वारा विहित उक्त दोनों प्रकारोंको सद्भावस्थापना तथा असद्भाव-स्थापना नाम दिया है। साकार वस्तु (प्रतिमा) में अरहन्त आदिके गुणोंका आरोपण करना सद्भावस्थापना है और अक्षत वराटक (कमलगट्टा) वगैरहमें अपनी बुद्धिसे 'यह अमुक देव है' ऐसा संकल्प करना असद्भाव-स्थापना है[2]। वसुनन्दिने इस कालमें असद्भाव स्थापनाका निषेध किया है[3]। आशाधरने निषेध नहीं किया। सम्भवतया प्रतिमाके सामने न होते हुए पुष्पादिमें अर्हन्तकी स्थापना करके पूजन करनेका ही निषेध वसुनन्दिने किया है। इससे भ्रम होनेकी सम्भावना है। आजकल जिनप्रतिमाके अभिमुख ही पुष्पक्षेपण करके स्थापना की जाती है। वसुनन्दिने इसे नामपूजा कहा है। उन्होंने पूजाके छह भेद किये हैं—नामपूजा, स्थापनापूजा, द्रव्यपूजा, भावपूजा, क्षेत्रपूजा और कालपूजा[4]। अरहन्त आदिका नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेशमें पुष्पक्षेपण करना नामपूजा है[5]। आगे अन्य पूजाओंके लक्षण इस प्रकार दिये हैं, जिनप्रतिमाकी स्थापना करके पूजन करना स्थापनापूजा है। जल गन्ध आदि द्रव्यसे प्रतिमादि द्रव्यकी पूजा करना द्रव्य-पूजा है। जिन भगवान्के पंचकल्याणकोंकी भूमिमें पूजा करना क्षेत्रपूजा है और भक्तिपूर्वक जिन भगवान्के गुणोंका कीर्तन करके जो त्रिकाल वन्दना की जाती है वह भावपूजा है, नमस्कार मन्त्रका जाप और ध्यान भी भावपूजा है।

अमितगतिने अपने श्रावकाचारमें पूर्वाचार्योंके अनुसार वचन और शरीरकी क्रियाको रोकनेका नाम द्रव्यपूजा और मनको रोककर जिनभक्तिमें लगानेका नाम भावपूजा कहा है[6]। उनके अपने मतसे गन्ध पुष्प नैवेद्य दीप धूप और अक्षतसे पूजा करनेका नाम द्रव्यपूजा और जिनेन्द्रके गुणोंका चिन्तन करनेका नाम भाव-पूजा कहा है[7]।

सोमदेवने पूजाके ये भेद नहीं बतलाये। ऊपर जिन दो प्रकारके पूजकोंका उल्लेख किया है उनके लिए सोमदेवने पूजनकी दो विभिन्न विधियोंका वर्णन किया है। जो प्रतिमामें स्थापना नहीं करते उनके लिए अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्रकी स्थापना करके प्रत्येकको अष्ट द्रव्यसे पूजा करना बतलाया है। उसके बाद क्रमसे दर्शनभक्ति, ज्ञानभक्ति, चारित्रभक्ति, अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति, शान्तिभक्ति और आचार्यभक्ति करना बतलाया है। पूजाका यह प्रकार वर्तमानमें प्रचलित नहीं है।

---

१ उपा० पृ०२१७।

२ "सब्भावासब्भावा दुविहा ठवणा जिणेहि पण्णत्ता। सायारवंतवत्थुम्मि जं गुणारोवणं पढमा ॥३८३॥ अक्खय वराडओ वा अमुगो एसोत्ति णिययबुद्धीए। संकप्पिऊण वयणं एसा विइया असब्भावा ॥३८४॥" —वसुनन्दिश्रा०।

३ "हुण्डावसप्पिणीए विइया ठवणाण होदि कायव्वा। लोए कुलिंगमइमोहिए जदो होइ संदेहो॥३८५॥" —वसुनन्दिश्रा०

४ "णामट्ठवणा दव्वे खित्ते काले वियाण भावे य। छव्विहपूजा भणिया समासओ जिणवरिंदेहि॥३८१॥"

५ "उच्चारिऊण णामं अरुहाईणं विसुद्धदेसम्मि। पुप्फाणि जं खिविज्जंति वण्णिया णामपूया सा॥३८२॥"

६ "वचो विग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते। तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥१२॥"

७ "गन्धप्रसूनसान्नाद्यदीपधूपाक्षतादिभिः। क्रियमाणाथवा ज्ञेया द्रव्यपूजा विधानतः ॥१३॥
व्यापकानां विशुद्धानां जिनानामनुरागतः। गुणानां यदनुध्यानं भावपूजेयमुच्यते॥१४॥"-१२ परि०।

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि सोमदेवने पूजनसे पूर्व जो स्थापन और सन्निधापन क्रिया बतलायी है वे आजके प्रचलित आह्वानन स्थापन और सन्निधिकरणसे भिन्न हैं। आज तो प्रत्येक पूजनके प्रारम्भमें प्रत्येक पूज्यका आह्वानन आदि किया जाता है—आइए आइए, यहाँ विराजमान हूजिए, मेरे निकट हूजिए। किन्तु सोमदेव-द्वारा प्रवर्तित विधिमें आह्वानन तो है ही नहीं और अभिषेकके लिए जो जिनबिम्बको सिंहासनपर विराजमान किया जाता है वही स्थापना है। अभिषेकके पश्चात् ही जलादि पूजन प्रारम्भ हो जाता है उसके प्रारम्भमें पुनः *कोई आह्वानन आदि नहीं किया जाता।* इसीसे *सोमदेवकी विधिमें पूजनके* अन्तमें विसर्जन भी नहीं है क्योंकि विसर्जनका सम्बन्ध तो आह्वानन आदिके साथ है। जब किसीको बुलाया जाता है तो उसे विदा भी किया जाता है। जब बुलाया ही नहीं जाता तो विदा करनेका प्रश्न ही नहीं रहता।

आगे चलकर पूजाकी प्रक्रियामें परिवर्तन आया। धर्मसंग्रह श्रावकाचार[1] (वि॰ सं॰ १५४१के लगभग) और लाटी[2] संहिता (वि॰ सं॰ १६४१) में आह्वानन स्थापन सन्निधिकरण पूजन और विसर्जन ये पाँच प्रकार *पूजाके बतलाये हैं। सम्भवतया आशाधर (वि॰ की तेरहवीं शताब्दीका अन्त) के पश्चात् ही उक्त प्रक्रियाने* पूजामें स्थान ग्रहण किया है क्योंकि आशाधरके काल तकके साहित्यमें ये पाँच प्रकार देखनेमें नहीं आते।

प्रश्न यह है कि यह आह्वानन आदिकी विधि जैनपरम्परामें कैसे प्रविष्ट हुई? सोमदेव[3] सूरिने स्थापन और सन्निधापनके पश्चात् तथा अभिषेकसे पहले विघ्नोंकी शान्तिके लिए इन्द्र अग्नि यम आदि देवताओंसे बलिग्रहण करके अपनी अपनी दिशामें स्थित होनेकी प्रार्थना की है, किन्तु उन्हें बुलाकर भी उनका विसर्जन नहीं किया है। देवसेनकृत भाव[4]संग्रहमें इन्द्रादि देवताओंका आह्वानन तथा उन्हें यज्ञका भाग अर्पित करके पूजनके अन्तमें उन आहूत देवोंका विसर्जन भी किया है। इस तरह जो आह्वानन और विसर्जन इन्द्रादि देवताओंके निमित्तसे किया जाता था आगे उसे पूजाका आवश्यक अंग मानकर जिनेन्द्रदेवके लिए ही किया जाने लगा। आजकल पूजनके अन्तमें विसर्जन करते हुए नीचे यह श्लोक भी पढ़ा जाता है

> आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमम्।
> ते मयाऽभ्यर्चिता भक्त्या सर्वे यान्तु यथास्थितिम्॥'

इसीको हिन्दीमें इस प्रकार पढ़ा जाता है

> आये जो जो देवगण पूजे भक्ति समान।
> ते सब जावहु कृपा कर अपने अपने थान॥

मुग्धारम्भकोंके लिए यह कितना बेतुका और हास्यास्पद है। वास्तवमें यह विसर्जन पूजनके प्रारम्भमें आहूत इन्द्रादि देवताओंके लिए है जिनेन्द्रदेवके लिए नहीं है। संस्कृतके श्लोकमें जो 'पुरा' 'यथाक्रमं लब्धभागा' पद हैं वे इस कथनके समर्थक हैं। 'पुरा'का अर्थ है पहले अर्थात् पूजन आरम्भ करनेसे पूर्व। ऊपर लिखा जा चुका है कि सोमदेव उपासकाध्ययनमें तथा भावसंग्रहमें अभिषेकसे पहले इन्द्रादि देवताओंको

---

१ 'जिनानाहूय संस्थाप्य सन्निधीकृत्य पूजयेत्। पुनर्विसर्जयेन्मन्त्रैः संहितोक्तैर्गुरुक्रमात्॥५६॥'
—धर्मसंग्रह श्रा॰ पृ॰ ११९।

२ 'अस्त्यत्र पञ्चधा पूजा मुख्याह्वाननमादिमम्। प्रतिष्ठापनमन्यच्च सन्निधीकरणं तथा॥१०४॥ तत्पूजनमथास्ति तत्रा नाम विसर्जनम्। पञ्चधेयं समाख्याता पञ्चकल्याणदायिनी॥१०५॥'—पृ॰ ११५

३ उपा॰ श्लो॰ ५२८।

४ 'आवाहिऊण देवे सुरवइ सिहिकालणेरिए वरुणे। पवणे जक्खे ससूली सपिय सवाहणे ससत्थे य॥ दाऊण पुज्जदव्वं बलिचरुयं तह य जण्णभायं च। सव्वेसिं मंतेहि य बीयक्खरणामजुत्तेहिं॥४३९-४४॥ 'आये इत्यादि पुष्फ मज्झाणियजप्पणेण कायव्वा। उवसंहरिय विसज्जउ य पुज्जाणाहिया देवा॥४८१॥' —भावसं॰।

बुलाकर उन्हें बलि या यज्ञभाग देनेका विधान है। यही बात उक्त श्लोकके पूर्वार्द्ध द्वारा कही गयी है, "जिन देवोको पूजनके प्रारम्भसे पहले आहूत किया था और जिन्होंने क्रमानुसार अपना-अपना भाग पा लिया है। वे मेरे द्वारा पूजित होकर अपने-अपने स्थानको जायें।"

जिनेन्द्रदेव तो न कही जाते हैं और न पूजाका द्रव्य ग्रहण करते हैं। किन्तु वैदिक विधिके अनुसार इन्द्रादि देवताओका आह्वान यज्ञमे किया जाता है और अग्नि देवताओका मुख है। अत उस-उस देवताके उद्देशसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्निमें जो आहुति दी जाती है वह उस-उस देवताको पहुँच जाती है, ऐसी वैदिक मान्यता है। उसी मान्यताका प्रभाव उत्तरकालमे जैनपूजाविधिमें भी प्रविष्ट हो गया प्रतीत होता है। इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवता हैं। उन्हीको प्रसन्न करके उनकी कृपाकामनाके लिए वैदिक यज्ञ किये जाते थे। यज्ञ तो जैनो और बौद्धोके विरोधके कारण एक तरहसे बन्द हो गये। उसके साथ ही वैदिक देवताओका भी पुराना स्थान जाता रहा, फिर भी लौकिक मान्यता बनी रही। सम्भवत उसी मान्यताने जैनोकी पूजाविधिको भी प्रभावित कर दिया। सोमदेवने तो केवल दिक्पालो और नवग्रहोका आह्वान मात्र करके उनसे बलिग्रहण करनेकी प्रार्थना की है। किन्तु आशाधरने अपने प्रतिष्ठापाठमे नवग्रहोंका वर्णन करके उन सबको पृथक्-पृथक् बलि प्रदान करनेका विधान किया है।

सोमदेवने रस, घी, धारोष्ण दूध, दही और अन्तमें जलसे अभिषेक करनेके पश्चात् जल, चन्दन, तन्दुल, पुष्प, हवि (नैवेद्य), दीप, धूप, फलसे जिन भगवान्की पूजाका विधान किया है। लिखा है, "अभिषेक महोत्सवके पश्चात् जिनेन्द्रदेवकी जल, चन्दन, तन्दुल, पुष्प, हवि, दीप, धूप और फलोंसे पूजा करके मैं उनका स्तवन करता हूँ, उनका नाम जपता हूँ, उन्हें चित्तमें धारण करता हूँ, शास्त्रकी आराधना करता हूँ तथा त्रिलोकके ज्ञाता उनके ज्ञानरूपी तेजकी श्रद्धा करता हूँ।"[1] अर्थात् पूजनके पश्चात् पूजकको जिनेन्द्रका स्तवन, जप, ध्यान आदि करना चाहिए। इस क्रियाके समाप्त होनेके साथ पूजनका पाँचवाँ प्रकार समाप्त हो जाता है। इसके आगे छठे प्रकारमें पूजनके फलका कथन है। लिखा है, "हे भगवन्! जबतक इस चित्तमें आपका निवास है तबतक सदा जिनचरणोमें मेरी भक्ति रहे, सब प्राणियोमें मेरा भक्तिभाव रहे, मेरी ऐश्वर्यरत बुद्धि सबका आतिथ्य करनेमें सलग्न हो, मेरी बुद्धि अध्यात्मतत्त्वमें लीन रहे, ज्ञानी जनोंसे मेरा स्नेहभाव रहे और मेरी चित्तवृत्ति सदा परोपकारमें लगी रहे। हे देव! प्रात कालीन विधि आपके चरणकमलोकी पूजासे सम्पन्न हो, मध्याह्नकाल मुनियोंके समागममें बीते तथा सायकालका समय भी आपके चारित्रका कीर्तन करनेमे व्यतीत हो। धर्मके प्रभावसे राज्यपदको प्राप्त हुआ राजा धर्मके विषयमें, धार्मिकोंके विषयमें और धर्मके हेतु चैत्यालय आदिके विषयमें सदा अनुकूल रहे। तथा प्रतिदिन जिनेन्द्रदेवके चरणोकी पूजासे प्राप्त हुए पुण्यसे धन्य हुई जनता यथेच्छ उत्कृष्ट लक्ष्मीको प्राप्त करे।"[2] यही पूजाका फल है। सोमदेवने जलादि पूजाका इसके अतिरिक्त अन्य कोई फल नही बतलाया कि अमुक वस्तुसे पूजा करनेसे अमुक लाभ होता है या अमुक उद्देशसे जल चढाता हूँ। भावसग्रह (गा० ४७१–४७७)में तथा आशाधरके सागारधर्मामृत[3] (२।३०)में इस प्रकारके फलका वर्णन पाया जाता है। दोनो प्राय समान हैं। आशाधरने लिखा है, "अर्हन्तदेवके चरणोमे जलकी धारा अर्पित करनेमे पापोकी शान्ति होती है, चन्दनसे शरीर सुगन्धित होता है, अक्षतसे अविनाशी ऐश्वर्य प्राप्त होता है, पुष्पमालासे स्वर्गीय पुष्पोकी माला प्राप्त होती है, नैवेद्यसे लक्ष्मीका स्वामी बनता है, दीपसे कान्ति प्राप्त होती है, धूपसे परम सौभाग्य प्राप्त होता है, फलसे इष्टकी प्राप्ति होती है और अर्घसे मूल्यवान् पद प्राप्त होता है।"

---

१ २ सो० उपा० श्लो० ५५९, ५६०—५६२

३ "वार्धारा रजस शमाय पदयो सम्यक् प्रयुक्ताऽर्हत
सद्गन्ध तनुसौरभाय विभवाच्छेदाय सन्त्यक्षता ।
यष्टु स्रग्दिविजस्रजे चरुरुमास्वाम्याय दीपस्त्विषे
धूपो विश्वदृगुत्सवाय फलमिष्टार्थाय चार्घाय स ॥"

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि सोमदेवने पूजनसे पूर्व जो स्थापन और सन्निधापन क्रिया बतलायी है वे आजके प्रचलित आह्वानन स्थापन और सन्निधिकरणसे भिन्न हैं। आज तो प्रत्येक पूजनके प्रारम्भमें प्रत्येक पूज्यका आह्वानन आदि किया जाता है—आइए आइए, यहाँ विराजमान हूजिए, मेरे निकट हूजिए। किन्तु सोमदेव-द्वारा प्रदर्शित विधिमें आह्वानन तो है ही नहीं और अभिषेकके लिए जो जिनबिम्बको सिंहासनपर विराजमान किया जाता है वही स्थापना है। अभिषेकके पश्चात् ही जलादि पूजन प्रारम्भ हो जाता है उसके प्रारम्भमें पुनः कोई आह्वानन आदि नहीं किया जाता। इसीसे सोमदेवकी विधिमें पूजनके अन्तमें विसर्जन भी नहीं है क्योंकि विसर्जनका सम्बन्ध तो आह्वानन आदिके साथ है। जब किसीको बुलाया जाता है तो उसे विदा भी किया जाता है। जब बुलाया ही नहीं जाता तो विदा करनेका प्रश्न ही नहीं रहता।

आगे चलकर पूजाकी प्रक्रियामें परिवर्तन आया। धर्मसंग्रह श्रावकाचार[1] (वि. सं. १५१९के लगभग) और लाटी संहिता[2] (वि. सं. १६४१) में आह्वानन स्थापन सन्निधिकरण पूजन और विसर्जन ये पाँच प्रकार पूजाके बतलाये हैं। सम्भवतया आशाधर (वि. की तेरहवीं शताब्दीका अन्त) के पश्चात् ही उक्त प्रक्रियाने पूजामें स्थान ग्रहण किया है क्योंकि आशाधरके काल तकके साहित्यमें ये पाँच प्रकार देखनेमें नहीं आते।

प्रश्न यह है कि यह आह्वानन आदिकी विधि जैनपरम्परामें कैसे प्रविष्ट हुई? सोमदेव[3] सूरिने स्थापन और सन्निधापनके पश्चात् तथा अभिषेकसे पहले विघ्नोंकी शान्तिके लिए इन्द्र अग्नि यम आदि देवताओंसे बलिग्रहण करके अपनी अपनी दिशामें स्थित होनेकी प्रार्थना की है, किन्तु उन्हें बुलाकर भी उनका विसर्जन नहीं किया है। देवसेनकृत भाव संग्रह[4] में इन्द्रादि देवताओंका आह्वानन तथा उन्हें यज्ञका भाग अर्पित करके पूजनके अन्तमें उन आहूत देवोंका विसर्जन भी किया है। इस तरह जो आह्वानन और विसर्जन इन्द्रादि देवताओंके निमित्तसे किया जाता था आगे उसे पूजाका आवश्यक अंग मानकर जिनदेवके लिए ही किया जाने लगा। आजकल पूजनके अन्तमें विसर्जन करते हुए नीचे यह श्लोक भी पढ़ा जाता है,

आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमम्।
ते मयाऽभ्यर्चिता भक्त्या सर्वे यान्तु यथास्थितिम्॥

इसीको हिन्दीमें इस प्रकार पढ़ा जाता है

आये जो जो देवगण पूजे भक्ति समान।
ते सब जावहु कृपा कर अपने अपने थान॥

मुमुक्षुजनोंके लिए यह कितना बेतुका और हास्यास्पद है। वास्तवमें यह विसर्जन पूजनके प्रारम्भमें आहूत इन्द्रादि देवताओंके लिए है जिनदेवके लिए नहीं है। संस्कृतके श्लोकमें जो 'पुरा' और 'लब्धभागा' पद हैं वे इस कथनके समर्थक हैं। 'पुरा' का अर्थ है पहले अर्थात् पूजन आरम्भ करनेसे पूर्व। ऊपर लिखा जा चुका है कि सोमदेव उपासकाध्ययनमें तथा भावसंग्रहमें अभिषेकसे पहले इन्द्रादि देवताओंको

---

1. 'जिनानाहूय संस्थाप्य सन्निधीकृत्य पूजयेत्। पुनर्विसर्जयेन्मन्त्रैः संहितोक्तैर्गुरुक्रमात्॥५४॥'
—धर्मसंग्रह श्रा. पृ. ११९।

2. 'अथवा पञ्चधा पूजा मुख्याह्वानमादिका। प्रतिष्ठापनसंज्ञाश्च सन्निधिकरणं तथा ॥१७४॥ ततः पूजनमत्रास्ति तथा नाम विसर्जनम्। पञ्चधेयं समाम्नाता [illegible] ॥१७५॥'—पृ. ११५

3. उपा. श्लो. ५३८।

4. 'आवाहिऊण देवे सुरवइ सिहिकालणेरिए वरुणे। पवणे जक्खे ससूली सपिय सवाहणे सयुहे य॥ दाऊण पुज्जदव्वं बलिचरुयं तह य जण्णभायं च। सव्वेसिं मंतेहिं य बीयक्खरणामजुत्तेहिं ॥४२९-४३०॥ [illegible] ॥४४१॥ —भावसं. ।

से ढके गये। उनपर सुवर्णकारोंने चित्रकारी की थी। एक हजार आठ विशाल घट शीतल जलसे पूर्ण किये गये। उनके मुख कमलोंसे ढके हुए थे। ये केवल जिनबिम्बके अभिषेकके लिए थे।[1] अनेक प्रकारके फल, कुङ्कुम, हिंगुल, चन्दन तथा धूप वगैरह सकलित की गयी। ये सब चीजें राजमहलसे लेकर जुलूस चला और खूब ठाट-बाटके साथ जिनमन्दिरमें पहुँचा। राजाकी पत्नियों और राजाने प्रवेश करके प्रदक्षिणा दी और उपहार-सामग्रीको स्थापित कराकर अभिषेक-मण्डपमें चले गये। अभिषेककर्ताने सुगन्धित जलमे उनके हाथ धोये। उसके हाथमें दर्भ थे और वह इधर-उधर पुष्प फेंकता जाता था। मृदग आदिकी ध्वनि हो रही थी, चामर ढोरे जा रहे थे। मौनव्रत पूर्वक उसने जिनेन्द्र-बिम्बको लाकर रत्नखचित पीठिकापर विराजमान कर दिया। इसके बाद पहले उसने जिनबिम्बको प्रणाम किया। फिर दोनों हाथोंसे झारी उठाकर चरणोंका अभिषेक किया और दुपट्टेसे सामग्री खोलकर चढ़ा दी। फिर दोनों हाथोंसे प्रतिमाको साफ करके बायें हाथमें जल लेकर 'जिनादिभ्य स्वाहा' ऐसा मन्त्र पढ़कर स्तोत्र पाठ करते हुए दायें हाथके अगूठेसे भगवान्के मस्तकपर जलकी धारा डाली। फिर भगवान्के चरणोंमें पुष्प और अक्षत क्षेपण करके साथ-ही-साथ केशरकी भी धारा दी। इसके बाद स्वच्छ जलसे पूर्ण तथा सत्पुष्पोंसे व्याप्त सोने और मिट्टीके अनेक घटोंमे भगवान्का अभिषेक करके पुरोहितने सुगन्धित द्रव्योंका भगवान्पर लेप कर दिया[2]। वरागचरितके रचयिता दक्षिणके थे। किन्तु दाक्षिणात्य शैलीकी अभिषेकविधिका निरूपण करके भी उन्होंने अभिषेक केवल जल या सुगन्धित जलसे ही कराया है। घृत आदिकी धाराका कोई निर्देश नहीं किया है और न अभिषेकके प्रारम्भमें दिक्पालों और नव देवताओंको बलि ही दी है। यद्यपि आचार्य रविषेणने, जो उनके समकालीन प्रतीत होते हैं, घृत, दूध वगैरहसे अभिषेक-का उल्लेख किया है, किन्तु विद्वान् लोग जानते हैं कि आचार्य रविषेणने अपना पद्मचरित विमलसूरिके 'पउमचरिअ' के पद्योंको प्राय परिवर्तित करके बनाया है। पउमचरिअके छासठवें पर्वमें भी एक पद्य इसी आशयका है जिसका रूपान्तर पद्मचरितमें है। दोनोंके पद्य निम्न प्रकारके हैं —

"दारेसु पुण्णकलसा ठविया दहि खीर सप्पिसपुण्णा।
वरपउमपिहियवदणा जिणवर पूयाभिसेयत्थे ॥"२३॥—पउम०

"घृतक्षीरादिभिः पूर्णा कलशा कमलाननाः।
मुक्तादामादिसत्कण्ठा रत्नराशिविराजिताः ॥२४॥
जिनबिम्बाभिषेकार्थमाहूता भक्तिभासुरा।",

इससे स्पष्ट है कि पद्मचरितमें घृत, दूध आदिका उल्लेख पउमचरिअसे आया है। 'पउमचरिअ'के रचयिता किस सम्प्रदायके थे यह अभी निर्णीत नहीं हो सका है, क्योंकि उसकी सभी बातें न दिगम्बर सम्प्रदायके अनुकूल है और न श्वेताम्बर सम्प्रदायके। ऐसी स्थितिमें पद्मचरितके उल्लेखको दिगम्बर मान्यताका रूप तो नहीं दिया जा सकता। पचामृतसे सम्बन्ध रखनेवाले दूध, इक्षुरस, घृत, दधि और उदकका सबसे प्रथम स्पष्ट उल्लेख हरिवशपुराणमें (स० २२ श्लो० २१) में मिलता है, किन्तु स्वामी जिनसेनने जिनका स्मरण हरिवशपुराणमें किया गया है, अपने महापुराणमें और उनके शिष्य गुणभद्राचार्यने उत्तर-पुराणमें इन चीजोंसे अभिषेकका उल्लेख कहीं भी नहीं किया। प्रत्युत जलसे ही अभिषेक कराया है।

पचामृतके सम्बन्धमें एक बात और भी लेखनीय है। प्रारम्भमें केवल इक्षुरस ही लिया जाता था। वैष्णव-मतमें भी पचामृतमें घी, दूध, दही, शर्करा और मधु लिया जाता है। मधु और शर्कराके स्थानमें इक्षुरस ठीक भी

---

१ "अष्टोत्तरा शीतजलैः प्रपूर्णाः सहस्रमात्रा कलशा विशालाः।
पद्मोत्पलोत्फुल्लपिधानवक्त्रा जिनेन्द्रबिम्बस्नपनैककार्याः" ॥२६॥

२ "स्वच्छाम्बुपूर्णैर्वरहेमकुम्भैस्तैर्मृन्मयैः सत्कुसुमावकीर्णैः।
घटैरनेकैरभिषिच्य नाथं त गन्धपपङ्केन विलिम्पति स्म ॥"

आठों द्रव्योंको अलग-अलग चढ़ानेके पश्चात् उन्हें मिलाकर अर्घ चढ़ानेका उल्लेख न तो सोमदेवके उपासकाध्ययनमें है और न भावसंग्रहमें है।

पूजनका वास्तविक फल वही है जो सोमदेवने बतलाया है। जिनेन्द्रकी पूजासे लौकिक सुख-कामना करना उपयुक्त नहीं। आज-कल भी पूजनके अन्तमें शान्तिविधानके पश्चात् उसमें सर्वप्रथम 'शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः' आदि श्लोकोंके द्वारा वही प्रार्थना की जाती है जो सोमदेवने बतलायी है।

पूजाफलके बाद एक श्लोकमें सोमदेवने लिखा है 'हे भगवन्! शरीरके आलस्यसे या इन्द्रियोंके इधर उधर लग जानेसे अथवा आत्माकी अन्यमनस्कतासे अथवा मनकी चपलतासे या बुद्धिकी जड़तासे अथवा वाणीमें सौष्ठवकी कमीके कारण आपके स्तवनमें मुझसे जो कुछ प्रमाद हुआ है वह मिथ्या हो ॥५६५॥ इसी भावके सूचक 'ज्ञानतोऽज्ञानतो वाऽपि' या 'बिन जाने वा जानके' आदि पद्य आज भी पूजनके अन्तमें पढ़े जाते हैं। इसके आगे सोमदेवके उपासकाध्ययनमें यह विसर्जन नहीं है कि भगवन् अपना अपना भाग लेकर अपने अपने स्थानको जाओ। वस्तुतः यह होना भी नहीं चाहिए।

पञ्चामृताभिषेक

प्रसंगवश पंचामृताभिषेकके विषयमें भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा। जिनबिम्बका अभिषेक तीर्थंकरोंके जन्मकल्याणकके समय सुमेरु पर्वतपर इन्द्रके द्वारा किये गये अभिषेकका ही प्रतिरूप है। सोमदेवने अभिषेकके अवसरपर अभिषेचन क्रियाका वर्णन करते हुए लिखा है 'यही वे जिनदेव हैं, यह सिंहासन ही सुमेरुपर्वत है और कलशोंमें स्थित जलादि ही साक्षात् क्षीरसमुद्रका जल है।" आज-कल भी अभिषेकके प्रारम्भमें इस प्रकारका अभिषेचन किया जाता है।

इन्द्रने केवल क्षीरसमुद्रके जलसे ही भगवान्का अभिषेक किया था। यद्यपि जैन मान्यताके अनुसार क्षीरसमुद्रके पश्चात् ही घृतवर और इक्षुवर नामके समुद्र भी हैं किन्तु उनके जलसे भगवान्का अभिषेक नहीं किया गया। फिर भी जैनपरम्परामें भी दूध दही आदिसे अभिषेककी परम्परा कैसे चल पड़ी यह प्रश्न विचारणीय है।

सोमदेवसे पूर्वका कोई श्रावकाचार या पूजा-प्रतिष्ठा-पाठ ऐसा उपलब्ध नहीं है जिसमें अभिषेक पूजा आदिका विधान हो। भावसंग्रहमें इस तरहका वर्णन है, किन्तु उसे सोमदेवके पहलेकी रचना माननेमें सन्देह है। कतिपय पुराण सोमदेवसे पहलेके हैं और उनमें-से कुछमें दूध, दही आदिसे अभिषेकका उल्लेख है।

पद्मपुराण (पर्व ९८ श्लोक १४) में जिनबिम्बके अभिषेकके लिए भी दूध आदिसे पूर्ण कलशोंका उल्लेख है। हरिवंशपुराण (सर्ग २२ श्लोक २१) में भी क्षीर इक्षुरस घी दही और जलसे भगवान्का अभिषेक करनेका उल्लेख है किन्तु वरांगचरित (सर्ग २३) में जो हरिवंशपुराणसे प्राचीन है अभिषेकका विस्तृत वर्णन होते हुए भी और दूध दही आदिसे भरे कलशोंका उल्लेख होते हुए भी उनसे अभिषेक किये जानेका उल्लेख नहीं है जलसे अभिषेकका अवश्य उल्लेख है। उसमें अभिषेककी पूरी विधिका चित्रण किया गया है। आवश्यक अंशका भाव इस प्रकार है राजाकी आज्ञासे बुद्धिमान् पुरोहितने जिन भगवान्के अभिषेकके लिए जल दूध पुष्प फल गन्ध घी घी सरसों तन्दुल लाजा अक्षत चाके छिन दर्भ और दही आदि सामग्री संकलित की। जल शान्तिके लिए है दूधसे तृप्ति होती है अभीष्ट कार्यकी सिद्धि होती है तन्दुलोंसे दीर्घायु प्राप्त होती है सरसों विघ्नोंको दूर करती है तिलोंसे मनुष्योंकी वृद्धि होती है अक्षतसे नीरोगता प्राप्त होती है जैसे अच्छा रूप मिलता है जैसे अच्छा शरीर मिलता है, फलोंसे इस लोक और पर लोककी सिद्धि होती है गन्ध सौभाग्यदायक है पुष्पों और लाजासे सौमनस्य प्राप्त होता है। इन आदि विधायोग्य दान करनेके लिए क्रमसे सोना चाँदी ताँबा और काँसेके पात्र बनवाये। नदी कूप वापी तालाब आदि पवित्र स्थानोंसे पानी एकत्र किया गया। दूध दही घी और जल भरे हुए घट पूजाके पुष्पो

से ढांके गये। उनपर सुवर्णकारोंने चित्रकारी की थी। एक हजार आठ विशाल घट शीतल जलसे पूर्ण किये गये। उनके मुख कमलोंसे ढके हुए थे। ये केवल जिनबिम्बके अभिषेकके लिए थे।[1] अनेक प्रकारके फल, कुकुम, हिंगुल, चन्दन तथा धूप वगैरह सकलित की गयी। ये सब चीजें राजमहलसे लेकर जुलूस चला और खूब ठाटबाटके साथ जिनमन्दिरमें पहुँचा। राजाकी पत्नियों और राजाने प्रवेश करके प्रदक्षिणा दी और उपहार-सामग्रीको स्थापित कराकर अभिषेक-मण्डपमें चले गये। अभिषेककर्ताने सुगन्धित जलसे उनके हाथ धोये। उसके हाथमें दर्भ थे और वह इधर-उधर पुष्प फेंकता जाता था। मृदग आदिकी ध्वनि हो रही थी, चामर ढोरे जा रहे थे। मौनव्रत पूर्वक उसने जिनेन्द्र-बिम्बको लाकर रत्नखचित पीठिकापर विराजमान कर दिया। इसके बाद पहले उसने जिनबिम्बको प्रणाम किया। फिर दोनों हाथोंसे झारी उठाकर चरणोंका अभिषेक किया और दुपट्टेसे सामग्री खोलकर चढा दी। फिर दोनों हाथोंसे प्रतिमाको साफ करके बायें हाथमें जल लेकर 'जिनादिभ्य स्वाहा' ऐसा मन्त्र पढ़कर स्तोत्र पाठ करते हुए दायें हाथके अगूठेसे भगवान्के मस्तकपर जलकी धारा डाली। फिर भगवान्के चरणोंमें पुष्प और अक्षत क्षेपण करके साथ-ही-साथ केशरकी भी धारा दी। इसके बाद स्वच्छ जलसे पूर्ण तथा सत्पुष्पोंसे व्याप्त सोने और मिट्टीके अनेक घटोंसे भगवान्का अभिषेक करके पुरोहितने सुगन्धित द्रव्योंका भगवान्पर लेप कर दिया[2]। वरागचरितके रचयिता दक्षिणके थे। किन्तु दाक्षिणात्य शैलीकी अभिषेकविधिका निरूपण करके भी उन्होंने अभिषेक केवल जल या सुगन्धित जलसे ही कराया है। घृत आदिकी धाराका कोई निर्देश नहीं किया है और न अभिषेकके प्रारम्भमें दिक्पालों और नव देवताओंको बलि ही दी है। यद्यपि आचार्य रविषेणने, जो उनके समकालीन प्रतीत होते हैं, घृत, दूध वगैरहसे अभिषेकका उल्लेख किया है, किन्तु विद्वान् लोग जानते हैं कि आचार्य रविषेणने अपना पद्मचरित विमलसूरिके 'पउमचरिअ' के पद्योंको प्राय परिवर्तित करके बनाया है। पउमचरिअके छासठवें पर्वमें भी एक पद्य इसी आशयका है जिसका रूपान्तर पद्मचरितमें है। दोनोंके पद्य निम्न प्रकारके हैं —

"दारेसु पुण्णकलसा ठविया दहि खीर सप्पिसपुण्णा।
वरपउमपिहियवदणा जिणवर पूयाभिसेयत्थे ॥"२३॥—पउम०

"घृतक्षीरादिभिः पूर्णा कलशा कमलानना।
मुक्तादामादिसत्कण्ठा रत्नराशिविराजिताः ॥२४॥
जिनबिम्बाभिषेकार्थमाहृता भक्तिमासुरा।",

इससे स्पष्ट है कि पद्मचरितमें घृत, दूध आदिका उल्लेख पउमचरिअसे आया है। 'पउमचरिअ'के रचयिता किस सम्प्रदायके थे यह अभी निर्णीत नही हो सका है, क्योंकि उसकी सभी बातें न दिगम्बर सम्प्रदायके अनुकूल हैं और न श्वेताम्बर सम्प्रदायके। ऐसी स्थितिमें पद्मचरितके उल्लेखको दिगम्बर मान्यताका रूप तो नहीं दिया जा सकता। पचामृतसे सम्बन्ध रखनेवाले दूध, इक्षुरस, घृत, दधि और उदकका सबसे प्रथम स्पष्ट उल्लेख हरिवंशपुराणमें (स० २२ श्लो० २१) में मिलता है, किन्तु स्वामी जिनसेनने जिनका स्मरण हरिवंशपुराणमें किया गया है, अपने महापुराणमें और उनके शिष्य गुणभद्राचार्यने उत्तरपुराणमें इन चीजोंसे अभिषेकका उल्लेख कही भी नही किया। प्रत्युत जलसे ही अभिषेक कराया है।

पचामृतके सम्बन्धमें एक बात और भी लेखनीय है। प्रारम्भमें केवल इक्षुरस ही लिया जाता था। वैष्णवमतमें भी पचामृतमें घी, दूध, दही, शर्करा और मधु लिया जाता है। मधु और शर्कराके स्थानमें इक्षुरस ठीक भी

---

१ "अष्टोत्तरा शीतजले प्रपूर्णा सहस्रमात्रा कलशा विशाला।
पद्मोत्पलोत्फुल्लपिधानवक्त्रा जिनेन्द्रबिम्बस्नपनैककार्या" ॥२६॥

२ "स्वच्छाम्बुपूर्णैर्वरहेमकुम्भैस्तैर्मृन्मयैः सत्कुसुमावकीर्णैः।
घटैरनेकैरभिषिच्य नाथ त गन्धपङ्केन विलिम्पति स्म ॥"

बैठता है। किन्तु उत्तरकालमें तो सभी फलोंका रस लिया जाने लगा। सोमदेवने दाख खजूर केला इक्षु, आँवला आम और सुपारी आदिके रससे भी भगवान्‌का अभिषेक कराया है।

वैदिकपूजा-पद्धति

यह हम पहले लिख आये हैं कि सोमदेव सूरि जैनसिद्धान्तकी तरह वैदिक धर्म और साहित्यसे भी पूर्ण परिचित थे और उनपर उसका प्रभाव भी था। अतः उन्होंने अपने उपासकाध्ययनमें जिस पूजा-पद्धतिका वर्णन किया है वह उस प्रभावसे अछूती नहीं रहती। इसलिए यहाँ वैदिक-पूजा-पद्धतिका भी संक्षिप्त परिचय देना अप्रासंगिक न होगा।

प्रारम्भमें यह स्पष्ट कर दिया है कि वैदिक परम्परामें यज्ञोंकी ही प्रधानता थी। यज्ञोंमें इन्द्र आदि देवताओंके उद्देशसे अग्निमें द्रव्यका हवन किया जाता था। अतः शाबरभाष्यकारने याग होम और दानका विश्लेषण करते हुए लिखा है कि तीनोंमें स्वद्रव्यका त्याग समान है। अतः चूँकि देवताके उद्देशसे द्रव्यका त्याग करना पूजा है इसलिए पूजा भी याग ही है।[1]

वैदिक धर्ममें पूजाके सोलह उपचार बतलाये हैं[2]—आवाहन आसन पाद्य अर्घ्य आचमनीय स्नान वस्त्र यज्ञोपवीत अनुलेपन या गन्ध पुष्प धूप दीप नैवेद्य नमस्कार, प्रदक्षिणा और विसर्जन या उद्वासन। विभिन्न ग्रन्थोंमें विभेद भी पाया जाता है कुछमें यज्ञोपवीतके पश्चात् भूषण और प्रदक्षिणा या नैवेद्यके बाद ताम्बूल पाया जाता है। इसलिए किन्हीं ग्रन्थोंमें उपचारोंकी संख्या अठारह है। कुछमें आवाहन नहीं है और आसनके बाद स्वागत और आचमनीयके बाद मधुपर्क है। कुछमें स्तोत्र और प्रणाम भी है। जो वस्त्र और अलंकार नहीं दे सकता वह सोलहमें-से केवल दशोपचारी पूजा करता है। और जो इतना भी नहीं कर सकता वह पंचोपचारी पूजा करता है। और जो पंचोपचार भी करनेमें असमर्थ है वह केवल पुष्पोपचार कर सकता है।

प्रतिष्ठित प्रतिमाकी पूजामें आवाहन और विसर्जन नहीं होता केवल चौदह ही उपचार होते हैं। अथवा आवाहन और विसर्जनके स्थानमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक पुष्पांजलि दी जाती है। नूतन प्रतिमामें षोडशोपचारी ही पूजा होती है।[3]

प्रतिमाका स्नान पंचामृतसे होता है। दूध दही घी शहद और चीनी ये पंचामृत हैं। पहले दूधसे फिर दहीसे फिर घीसे फिर मधुसे और अन्तमें चीनीसे अभिषेक किया जाता है। इसके पश्चात् केवल जलाभिषेक होता है। यदि प्रतिमा मिट्टीकी हो या चित्रकाममें हो तो उसका अभिषेक नहीं किया जाता। जो पंचामृतसे अभिषेक नहीं कर सकते वे जलमें तुलसीके पत्ते डालकर उसीसे अभिषेक करते हैं। अभिषेकके बाद चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यासे प्रतिमाका लेपन होता है।

यदि पुष्प न हों तो फलसे फल न हो तो पत्तोंसे पत्ते न हों तो जलसे प्रतिमापूजन किया जा सकता है। पुष्पादिके अभावमें सफेद चावलोंसे पूजन करनेका विधान है।[4] पूजनके बाद आरात्रिक (आरती)

---

१ 'तत्र पूजा नाम देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकस्वत्यागरूप एव। —पूजाप्रकाश पृ. १।

२ हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र पृ. ७२९।

३ 'प्रतिष्ठितप्रतिमायामावाहनविसर्जनयोरभावेन चतुर्दशोपचारैव पूजा। अथवावाहनविसर्जनयोः स्थाने मन्त्रपुष्पाञ्जलिदानम्। नूतनप्रतिमायां तु षोडशोपचारैव पूजा।
—संस्कार रत्नमाला पृ. २।

४ 'आरोग्य एवं कुर्वीत दध्ना यमाद् घृतेन च। मधुना चाय लवणं क्रमाज्जेयो विचक्षणैः॥"
—पूजाप्रकाश पृ. १७ में उद्धृत।

५. "पुष्पाभावे फलं दद्यात् फलाभावे तु पत्रकम्। पत्रकस्याप्यभावे तु सलिलं प्राह्यमिष्यते। पुष्पाद्यसंभवे देवं पूजयेदक्षततण्डुलैः। —पूजाप्रकाश पृ. १५ में उद्धृत।

की जाती है। नैवेद्यके सम्बन्धमें रामायणमे लिखा है कि जो वस्तु पूजक स्वय खाता है वही अपने देवताको भी अर्पित करता है।[1]

सक्षेपमें यह वैदिकपूजा-पद्धति है। इसका प्रभाव उत्तरकालमे जैनपूजा-पद्धतिपर भी पडा प्रतीत होता है। इस विषयमें स्वतन्त्र रूपसे विशेष शोध-खोजकी आवश्यकता है।

दिक्पालादिककी पूजा

अभिषेकादिके प्रारम्भमे दिक्पालादिके आवाहनकी प्रथा बहुत प्राचीन प्रतीत नहीं होती, क्योंकि वरागचरित जैसे ग्रन्थमे, जिसमें अभिषेकविधिका सागोपाग वर्णन है, दिक्पालादिके आवाहनका नाम भी नही है। उत्तरकालमें वैदिक क्रिया-काण्डका विशेष जोर रहा और उसीके प्रभावसे प्रभावित होकर जैनाचारमें भी इस तरहकी बातें प्रविष्ट हो गयी प्रतीत होती है। नौवीं-दसवी शताब्दीके साथ ही श्रावकाचार सम्बन्धी साहित्यका विपुल सर्जन मिलता है, उसीके साथ पूजापाठ और प्रतिष्ठाविधानविषयक ग्रन्थोकी रचना भी उपलब्ध होती है। उसी कालके साहित्यमें शासन देवताओंके चमत्कारका भी दर्शन होता है।

लगभग इन्ही शताब्दियोमें ही भारतमें तान्त्रिक धर्मका प्रावल्य बढा और उसके प्रभावसे कोई धर्म अछूता नही रहा। तान्त्रिक धर्ममें देवी-देवताओंकी आराधनाका ही प्रावल्य था।

श्री पी० बी० देसाईने अपनी 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया'[2] नामक पुस्तकमें यक्षी सस्कृतिपर भी प्रकाश डाला है। तमिलनाडमें यक्षी सस्कृतिका उद्गम बतलाते हुए श्री देसाईने लिखा है कि तमिलनाडमें जैनधर्मको शैव और वैष्णवधर्मोसे टक्कर लेनी पडी। शैव और वैष्णवधर्ममें पार्वती और लक्ष्मीपूजाका प्राधान्य था क्योंकि ये दोनों शिव और विष्णुकी अर्धांगिनी थीं। उधर जैनधर्ममें तीर्थंकर जिनकी कोई स्त्री नही थी, अत भक्त जनताके मनको आकृष्ट करनेके लिए जैनाचार्योंने अपने धर्ममें यक्षीपूजाका आविष्कार किया और उसे खूब बढावा दिया।

प्राप्त यक्षी मूर्तियोंसे पता चलता है कि तमिलनाडमें यक्षी अम्बिकाकी सबसे अधिक मान्यता थी। उसके बाद सिद्धायिकाका स्थान था, किन्तु पद्मावतीकी उतनी मान्यता नही थी।

जैनाचार्योंमें मन्त्रविद्याका भी उत्तरकालमें विशेष प्रचार था, यह बात श्रवणबेलगोलाके लेखोंसे प्रमाणित होती है। उसके लेख न० ६६-६७ में श्रीधरदेव और पद्मनन्दिको मन्त्रवादीश्वर कहा है। मल्लिषेण भी मन्त्र-तन्त्रवादी थे। उन्होंने ज्वालिनीकल्प नामक ग्रन्थकी रचना की है। ज्वालिनी तान्त्रिक यक्षिणी है। दक्षिणमें उसकी भी विशेष मान्यता थी। मल्लिषेणका समय ग्यारहवीं शताब्दी है। उसने भैरवपद्मावतीकल्प नामका भी ग्रन्थ रचा है। उसमें पद्मावतीकी सहायतासे शक्ति प्राप्त करनेके मन्त्र-तन्त्रोका वर्णन है। कर्नाटकमें दसवीं शताब्दीमें पद्मावतीकी बहुत मान्यता थी। 'पद्मावती देवी लब्धवरप्रसाद' यह उस समयका सम्मान्य विरुद था, जिसे छोटे-मोटे शासक बडे गौरवसे धारण करते थे। उस समयके टीकाकार अनन्तवीर्यने और वादिराजने अकलकक्रत न्यायविनिश्चयकी टीकामें 'अन्यथानुपपन्नत्व'[3] रूप हेतुलक्षणको पद्मावतीके द्वारा सीमन्धर स्वामीके समवसरणसे लाकर पात्रकेसरी स्वामीको देनेका उल्लेख किया है। श्रवणबेलगोलकी मल्लिषेणप्रशस्तिमें भी एक श्लोक इसी आशयका दिया है,

> "महिमा स पात्रकेसरिगुरो पर भवति यस्य भक्त्यासीत्।
> पद्मावतीसहाया त्रिलक्षणकदर्थन कर्तुम्॥"

---

१ "यदन्न पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवता।"—अयोध्याकाण्ड १०३, ३०।

२ यह पुस्तक जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुरसे प्रकाशित हुई है।

३ इसके लिए न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावनाका पृष्ठ ७४ देखें।

बैठता है। किन्तु उत्तरकालमें तो सभी फलोंका रस लिया जाने लगा। सोमदेवने दाख खजूर केला ।
आँवला आम और सुपारी आदिके रससे भी भगवान्‌का अभिषेक कराया है।

वैदिकपूजा-पद्धति

यह हम पहले लिख आये हैं कि सोमदेव सूरि जैनसिद्धान्तकी तरह वैदिक धम ।
साहित्यसे भी पूर्ण परिचित थे और उनपर उसका प्रभाव भी था। अतः उन्होंने अपने उपास
ध्ययनमें जिस पूजा-पद्धतिका वर्णन किया है वह उस प्रभावसे अछूती नहीं लगती। इसलिए यहाँ वैदि
पूजा-पद्धतिका भी संक्षिप्त परिचय देना अप्रासंगिक न होगा।

प्रारम्भमें यह स्पष्ट कर दिया है कि वैदिक परम्परामें यज्ञोंकी ही प्रधानता थी। यज्ञमें इन्द्र आ
देवताओंके उद्देशसे अग्निमें द्रव्यका हवन किया जाता था। अतः शाबरभाष्यकारने याग होम और दान
विश्लेषण करते हुए लिखा है कि तीनोंमें स्वद्रव्यका त्याग समान है। अतः चूँकि देवताके उद्देशसे द्रव्य
त्याग करना पूजा है इसलिए पूजा भी याग ही है।[1]

वैदिक धर्ममें पूजाके सोलह उपचार बतलाये हैं[2]—आवाहन आसन पाद्य अर्घ्य आचमनीय स्ना
वस्त्र यज्ञोपवीत अनुलेपन या गन्ध पुष्प धूप दीप नैवेद्य नमस्कार प्रदक्षिणा और विसर्जन या उद्वास
विभिन्न ग्रन्थोंमें विभेद भी पाया जाता है कुछमें यज्ञोपवीतके पश्चात् भूषण और प्रदक्षिणा या नैवेद्यके ब
ताम्बूल पाया जाता है। इसलिए किन्हीं ग्रन्थोंमें उपचारोंकी संख्या अठारह है। कुछमें आवाहन नहीं है ।
आसनके बाद स्वागत और आचमनीयके बाद मधुपर्क है। कुछमें स्तोत्र और प्रणाम भी है। जो वस्त्र अ
अलंकार नहीं दे सकता वह सोलहमें-से केवल दशोपचारी पूजा करता है। और जो इतना भी नहीं ।
सकता वह पंचोपचारी पूजा करता है। और जो पंचोपचार भी करनेमें असमर्थ है वह केवल पुष्पोपच
कर सकता है।

प्रतिष्ठित प्रतिमाकी पूजामें आवाहन और विसर्जन नहीं होता केवल चौदह ही उपचार होते हैं
अथवा आवाहन और विसर्जनके स्थानमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक पुष्पांजलि दी जाती है। नूतन प्रतिमा
षोडशोपचारी ही पूजा होती है।[3]

प्रतिमाका स्नान पंचामृतसे होता है। दूध दही घी शहद और चीनी ये पंचामृत हैं। पहले दू
से फिर दहीसे फिर घीसे फिर मधुसे और अन्तमें चीनीसे अभिषेक किया जाता है। इसके पश्चात् वैम
जलाभिषेक होता है। यदि प्रतिमा मिट्टीकी हो या चित्रपटमें हो तो उसका अभिषेक नहीं किया जाता। ।
पंचामृतसे अभिषेक नहीं कर सकने से अममें तुलसीके पत्र डालकर उसीसे अभिषेक करते हैं। अभिषेक
बाद चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्योंसे प्रतिमाका लेपन होता है।

यदि पुष्प न हों तो पत्रसे पत्र न हो तो फलसे फल न हो तो जलसे प्रतिमापूजन किया ।
सकता है। पुष्पादिके अभावमें अक्षत चावलोंसे पूजन करनेका विधान है।[4] पूजनके बाद आरातिका (आरत

1. 'अत्र पूजा नाम देवतार्थं स्वद्रव्यत्यागात्मक व्यापार एव।' —पूजाप्रकाश पृ० १।
2. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र पृ० ७२९।
3. "प्रतिष्ठितप्रतिमायामावाहनविसर्जनयोरभावेन चतुर्दशोपचारैव पूजा। अथवावाहनविसर्जन
स्थाने मन्त्रपुष्पाञ्जलिदानम्। नूतनप्रतिमायां तु षोडशोपचारैव पूजा।
—संस्कार रत्नमाला पृ० १०
4. "आरोग्य एव कुर्वीत दध्ना चैवाद् घृतेन च। मधुना चाप खण्डेन क्रमा स्नेहो विचक्षणैः॥"
—पूजाप्रकाश पृ० ३९ में उद्धृत
5. "पुष्पाभावे पत्रं दद्यात् पत्राभावे तु तत्फलम्। तत्फलस्याभावे तु सलिलं प्रक्षिपेत्। पुष्पाभ
अक्षतैर्देवं पूजयेत्ततपुष्पवत्। —पूजाप्रकाश पृ० १५ में उद्धृत।

जैन श्रावकके लिए उपासक शब्द भी व्यवहृत होता था। प्राचीन आगमोंमें-से जिस आगममें श्रावक धर्मका वर्णन था उसका नाम ही उपासकाध्ययन था। इसीसे सोमदेव सूरिने अपने यशस्तिलक नामक ग्रन्थके जिन दो अन्तिम अध्यायोंमें श्रावकाचारका वर्णन किया है उनका नाम उपासकाध्ययन रखा है।

गृहस्थको संस्कृतमें 'सागार' भी कहते हैं। 'अगार' कहते हैं गृहको। उसमें जो रहे सो सागार है। अतः गृहस्थ धर्मको सागार धर्म भी कहते हैं। उक्त कारणोंसे जैन गृहस्थके आचारको बतलानेवाले ग्रन्थोंका नाम श्रावकाचार उपासकाध्ययन या सागारधर्मामृत आदि रखा गया है। जैनसाहित्यमें आज एतद्विषयक अनेक ग्रन्थ वर्तमान हैं, जो प्रकाशमें आ चुके हैं। इसी प्राप्त साहित्यके आधारपर ऐतिहासिक क्रमसे श्रावकाचारोंका तुलनात्मक पर्यवेक्षण अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण होगा। इसीसे प्रस्तावनाके इस भागमें इसका एक प्रयत्न किया गया है।

श्रावकके बारह व्रत होते हैं—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। इस विषयमें सभी ग्रन्थकार एकमत हैं और अणुव्रतके पाँच भेदोंके सम्बन्धमें भी कोई मतभेद नहीं है, यदि कुछ भेद हैं तो मूलगुण, गुणव्रत और शिक्षाव्रतके भेदोंको लेकर ही हैं। किन्तु उस भेदको मतभेद न कहकर दृष्टिभेद कहना अधिक उपयुक्त होगा। आगेके विश्लेषणसे इसपर स्पष्ट प्रकाश पड सकेगा। सबसे पहले हम मूलगुणोंको ही लेते हैं।

मूल-गुण

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने 'चारित्रप्राभृत'में श्रावकधर्मका भी वर्णन किया है, किन्तु उसमें उन्होंने ग्यारह प्रतिमाओंके नाम गिनाकर श्रावकके उक्त बारह व्रतोंको ही चार गाथाओंसे बतला दिया है और उन्हें ही श्रावकका आचार बतलाया है।[1] श्रावकके मूल गुणोंका कोई उल्लेख उन्होंने नहीं किया।

आचार्य उमास्वामीने अपने तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें पुण्यास्रवके कारणोंका वर्णन करते हुए श्रावकधर्मका वर्णन किया है, किन्तु उन्होंने भी श्रावकके उक्त बारह व्रतोंको ही बतलाया है। इतनी विशेषता है कि उन्होंने पाँचों व्रतोंका स्वरूप और श्रावकके बारह व्रतोंके अतीचार भी बतलाये हैं, परन्तु मूलगुण-जैसी कोई चीज उन्होंने नहीं बतलायी। तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार स्वामी पूज्यपाद, भट्टाकलंक और विद्यानन्दिने भी अपनी टीकाओंमें मूल गुणोंका कोई उल्लेख नहीं किया।

आचार्य रविषेणने वि० सं० ७३४ के लगभग अपना पद्मचरित, जिसे पद्मपुराण कहते हैं, रचा था। उसके चौदहवें पर्वमें उन्होंने श्रावकधर्मका निरूपण एक केवलीके मुखसे कराया है। उसमें भी उन्होंने श्रावकके बारह व्रतोंका ही निरूपण किया है। किन्तु अन्तमें लिखा है कि मधु, मद्य, मांस, जुआ, रात्रिभोजन और वेश्यासंगमके त्यागको नियम कहते हैं[2]।

आगे इसका विवेचन करते हुए ग्रन्थकारने रात्रिभोजन वर्जनपर बहुत जोर दिया है और फिर लिखा है कि जो मनुष्य मांस, मद्य, रात्रिभोजन, चोरी और परस्त्रीका सेवन करता है वह अपने इस

---

१ "पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि संजमचरणं च सायारं ॥२२॥"

२ "मधुनो मद्यतो मांसाद् द्यूततो रात्रिभोजनात्।
वेश्यासंगमनाच्चास्य विरतिर्नियमः स्मृतः ॥२०२॥"

अर्थात् उस गुरु पात्रकेसरीकी उत्कृष्ट महिमा है जिसकी भक्तिसे प्रेरित होकर पद्मावती बौद्धोंके त्रिलक्षणवादका खण्डन करनेके लिए सहायक हुई।

उक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि सोमदेवके समयमें उपर्युक्त शासन देवताओंकी बड़ी प्रतिष्ठा दक्षिण देशमें थी और उन्हें जिनेन्द्रदेवके समकक्ष मानकर पूजा जाता था।

इसीसे उन्होंने अपने उपासकाध्ययनमें ध्यानके प्रकरणमें लिखा है तीनों लोकोंके द्रष्टा जिनेन्द्रदेव और व्यन्तरादिक देवताओंको जो पूजा-विधानोंमें समान रूपसे देखता है वह नरकमें जाता है। परमागममें शासनकी रक्षाके लिए उनकी कल्पना की गयी है। अतः सम्यग्दृष्टियोंको पूजाका अंश देकर उनका सम्मान करना चाहिए। एकमात्र जिन-शासनकी भक्ति करनेवाले उन्हीं सम्यग्दृष्टियोंपर तो वे इन्द्रसहित स्वयं ही प्रसन्न होते हैं।[1]

उक्त कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रथम तो इसके द्वारा व्यन्तरादिक देवताओंको जिन-शासनकी रक्षाके लिए कल्पित बतलाया है। कल्पित वस्तु वास्तविक नहीं होती। इनकी कल्पनाका कारण पूर्वमें बतलाया है। दूसरे, सम्यग्दृष्टियोंसे कहा गया है कि वे उनको यज्ञांश देकर सम्मान करें नमस्कार या स्तुति आदिके द्वारा नहीं, इसके अधिकारी तो जिनेन्द्रदेव ही हैं। किन्तु यतः उन्हीं सम्यग्दृष्टियोंपर वे स्वयं ही प्रसन्न होते हैं। अतः उनके लिए यज्ञांशदानका भी विधान नहीं किया है। इसीसे पं. आशाधरने सागार धर्मामृतके तीसरे अध्यायके सातवें श्लोककी टीकामें दार्शनिक श्रावकका कथन करते हुए लिखा है कि आपत्तिसे व्याकुल होते हुए भी प्रथम प्रतिमाधारी श्रावक उसको दूर करनेके लिए कभी भी शासन-देवता वगैरहको नहीं भजता[2]।

सोमदेवने शासन-देवताओंकी चर्चा ध्यानके प्रकरणमें की है। इसका कारण सम्भवतया यह है कि तन्त्र-मन्त्रके आराधकोंके द्वारा शासन-देवताओंकी जो आराधना की जाती थी उसीका निषेध करनेके लिए ऐसा किया गया है।

सोमदेवकृत यशस्तिलक तथा उसके अन्तमें स्थित उपासकाध्ययनकी बहुविध सामग्रीका परिचय करानेके बाद यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि यशस्तिलककी न केवल कथात्मक उपयोगिता है प्रत्युत बहुविध सामग्रीकी दृष्टिसे यह एक अमूल्य ग्रन्थ है।

उत्तर भाग

श्रावकाचारोंका तुलनात्मक पर्यवेक्षण

'चारित्तं खलु धम्मो' — चारित्र ही धर्म है और वह चारित्र या आचार मुनि और श्रावकके भेदसे दो प्रकारका है। जो यह जानते हुए भी कि सांसारिक विषय-भोग हेय हैं मोहवश उन्हें छोड़नेमें असमर्थ होता है वह गृहमें रहकर श्रावकाचारका पालन करता है। श्रावकाचारका मतलब होता है—जैन गृहस्थका धर्म। जैन गृहस्थको श्रावक कहते हैं। इसका प्राकृत रूप 'सावग' होता है। संस्कृत श्रावक और प्राकृत 'सावग' शब्दके भ्रष्ट मिश्रणसे बना 'सरावगी' शब्द किसी समय जैन गृहस्थोंके लिए बहुत अधिक व्यवहृत होता था। अब तो सब अपनेको जैन ही लिखते हैं और जैन ही कहे जाते हैं।

---

१ सो. उपा. श्लो. ६९७-६९९।

२ "आपदाकुलितोऽपि दर्शनिकस्तन्निवृत्त्यर्थं शासनदेवतादीन् कदाचिदपि न भजते।"

चामुण्डरायने स्वरचित चारित्रसारमें, जो विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीके पूर्वार्धमें रचा गया है, 'तथा चोक्त महापुराणे' लिखकर यह श्लोक उद्धृत किया है,

"हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात् ।
द्यूतान्मासान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणा ॥"

अर्थात् स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म और स्थूल परिग्रह तथा जुआ, मास और मद्यसे विरति, ये गृहस्थोंके आठ मूलगुण है ।

विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके विद्वान् प० आशाधरने अपने सागारधर्मामृत तथा उसकी टीकामें भी महापुराणके उक्त मतका निर्देश किया है और टिप्पणोमे उक्त श्लोक उद्धृत किया है । किन्तु जिनसेनाचार्य-कृत महापुराणमें उक्त श्लोक नहीं मिलता और न उक्त श्लोकके द्वारा कहे गये आठ मूलगुण ही मिलते है । अडतीसवें पर्वमें व्रतावतरण क्रियाका वर्णन करते हुए लिखा है, मधु और मासका त्याग, पाँच उदुम्बरफलोका त्याग और हिंसादिका त्याग ये उसके सार्वकालिक—सदा रहनेवाले व्रत है ।[1]

इसमें अष्टमूलगुण शब्दका व्यवहार नहीं किया गया है, और मधुके त्यागका विधान किया है, जब कि मद्यको नहीं गिनाया है । अत चारित्रसारमें उद्धृत उक्त श्लोकके साथ उसकी सगति नहीं बैठती ।

अमृतचन्द्रसूरिने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे लिखा है कि हिंसासे बचनेकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोको सबसे पहले मद्य मास मधु और पाँच उदुम्बर फलोंको छोड देना चाहिए । ये आठो घोर पापके घर हैं । इन्हें छोडनेसे ही मनुष्यकी बुद्धि निर्मल होती है और तभी वह जिनधर्मके उपदेशका पात्र होता है[2] ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि इन्हें ग्रन्थकारने मूलगुण नहीं कहा, किन्तु उन्हें अभीष्ट यही प्रतीत होता है कि ये श्रावकके मूलगुण है ।

वि० स० १०१६ में रचे गये सोमदेव उपासकाध्ययनमें भी अष्टमूलगुणोको इसी रूपमे गिनाया है ।

"मद्यमासमधुत्यागा सहोदुम्बरपञ्चकै ।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणा श्रुते ॥"

देवसेन आचार्यने अपने भावसग्रहमें भी ये ही अष्टमूलगुण बतलाये हैं,

"महुमज्जमस विरई चाओ पुण उवराण पचण्ह ।
अट्ठेदे मूलगुणा हवति फुड देसविरयम्मि ॥३५६॥"

पद्मनन्दि पचविंशतिकामें भी ये ही मूलगुण बतलाये है,

"त्याज्य मास च मद्य च मधूदुम्बरपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणा प्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वका ॥२३॥"

आचार्य अमितगतिने अपने सुभाषितरत्नसन्दोहमें, जो वि० स० १०५० में रचकर पूर्ण हुआ था,

---

१. "मधुमासपरित्याग पञ्चोदुम्बरवर्जनम् ।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रत स्यात् सार्वकालिकम् ॥ १२२ ॥"

२ "मद्य मास क्षौद्र पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥
अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधिय ॥७४॥"

जन्म और पर जन्मको नष्ट करता है।[1]

आचार्य जिनसेनने वि॰ सं॰ ८४ में अपना हरिवंशपुराण रचा था। इसके अठारहवें सर्गमें श्रावक धर्मका वर्णन करते हुए ग्रन्थकारने पद्मचरितके ढंगसे ही श्रावकके बारह व्रत गिनाकर अन्तमें लिखा है मांस मद्य मधु, द्यूत और उदुम्बरफलका छोड़ना तथा वेश्या और परस्त्रीके साथ भोगका त्याग करना आदिको नियम कहते हैं।[2]

इससे पहले दसवें सर्गमें भी गृहस्थके पाँच अणुव्रतोंको बतलाकर दान पूजा तप और शीलको गृहस्थोंका धर्म बतलाया है। यद्यपि ऊपर कहे गये नियममें मूलगुणोंकी परिगणना हो जाती है किन्तु मूलगुण रूपसे उल्लेख हरिवंशपुराणमें भी नहीं है।

हरिवंशपुराणसे पहले रचे गये वरांगचरितके बाईसवें अध्यायमें भी श्रावकके बारह व्रत गिनाये हैं किन्तु मूलगुणोंका कोई उल्लेख नहीं है और न मूलगुणोंके अन्तर्गत वस्तुओंका ही प्रकारान्तरसे कोई उल्लेख है। हाँ दान पूजा तप और शीलको श्रावकोंका धर्म अवश्य बतलाया है।

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षामें धर्मानुप्रेक्षाका कथन करते हुए ग्यारह प्रतिमाओंका निरूपण किया है। उसमें पहली प्रतिमाका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि जो बहुत त्रस जीवोंसे युक्त मद्य मांस आदि निन्दित वस्तुका सेवन नहीं करता वह दर्शनप्रतिमाका धारी श्रावक है।[3]

इस तरह पहली प्रतिमावालेके लिए त्याज्यरूपसे मद्य मांसादिकका उल्लेख किया गया है किन्तु मूलगुण रूपसे नहीं।

वसुनन्दिश्रावकाचारमें भी पहली प्रतिमाका स्वरूप बतलाते हुए पाँच उदुम्बर और सात व्यसनके त्यागीको दर्शनप्रतिमाका धारी श्रावक बतलाया है तथा आगे सात व्यसनोंका विवेचन करते हुए मद्य मांस की बुराइयाँ तो बतायी ही हैं क्योंकि सात व्यसनोंमें दोनों गर्भित हैं किन्तु साथ-ही-साथ मधुकी भी बुराइयाँ बतलायी हैं। अतः यद्यपि उन्होंने अष्टमूलगुणका निर्देश नहीं किया तथापि ग्रन्थकारको पहली प्रतिमाधारीके द्वारा पाँच उदुम्बर और तीन मकारोंका त्याग इष्ट है यह स्पष्ट है।

ऊपर जिन ग्रन्थोंका कालक्रमके अनुसार उल्लेख किया उनमें श्रावकाचारका कथन होते हुए भी मूलगुणोंका या मूलगुण रूपसे कोई निर्देश नहीं मिलता। आगे ऐसे ग्रन्थोंका उल्लेख किया जाता है जिनमें इस प्रकारका निर्देश मिलता है।

गृहस्थोंके आठ मूलगुणोंका सबसे प्रथम स्पष्ट निर्देश स्वामी समन्तभद्ररचित रत्नकरण्डश्रावकाचारमें मिलता है। उसमें लिखा है कि जिनदेव मद्य मांस और मधुके त्यागके साथ पाँच अणुव्रतोंको गृहस्थोंके अष्टमूलगुण कहते हैं।[4]

---

१ 'मांसं मद्यं निशाभुक्तिं स्तेयमन्यस्य योषितम्।
सेवते यो जनस्तस्य भवे जन्मद्वयं हतम् ॥२ ७॥"

२ मांसमद्यमधुद्यूतक्षीरिवृक्षफलोज्झनम्।
वेश्यापरस्त्रीत्याग इत्यादि नियमो मतः ॥५८॥

३ "बहुतससमण्णिदं जं मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं।
जो ण य सेवदि णियमा सो दंसणसावओ होदि ॥३२८॥"

४ 'मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥

चामुण्डरायने स्वरचित चारित्रसारमे, जो विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीके पूर्वार्धमें रचा गया है, 'तथा चोक्त महापुराणे' लिखकर यह श्लोक उद्धृत किया है,

"हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात् ।
द्यूतान्मासान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणा ॥"

अर्थात् स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म और स्थूल परिग्रह तथा जुआ, मास और मद्यसे विरति, ये गृहस्थोंके आठ मूलगुण है ।

विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके विद्वान् प० आशाधरने अपने सागारधर्मामृत तथा उसकी टीकामें भी महापुराणके उक्त मतका निर्देश किया है और टिप्पणोंमें उक्त श्लोक उद्धृत किया है । किन्तु जिनसेनाचार्य-कृत महापुराणमें उक्त श्लोक नहीं मिलता और न उक्त श्लोकके द्वारा कहे गये आठ मूलगुण ही मिलते है । अडतीसवें पर्वमें व्रतावतरण क्रियाका वर्णन करते हुए लिखा है, मधु और मासका त्याग, पाँच उदुम्बरफलोका त्याग और हिंसादिका त्याग ये उसके सार्वकालिक–सदा रहनेवाले व्रत है ।[1]

इसमें अष्टमूलगुण शब्दका व्यवहार नहीं किया गया है, और मधुके त्यागका विधान किया है, जब कि मद्यको नहीं गिनाया है । अत चारित्रसारमें उद्धृत उक्त श्लोकके साथ उसकी सगति नही बैठती ।

अमृतचन्द्रसूरिने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे लिखा है कि हिंसासे बचनेकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंको सबसे पहले मद्य मास मधु और पाँच उदुम्बर फलोंको छोड देना चाहिए। ये आठो घोर पापके घर हैं। इन्हें छोडनेसे ही मनुष्यकी बुद्धि निर्मल होती है और तभी वह जिनधर्मके उपदेशका पात्र होता है[2] ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि इन्हे ग्रन्थकारने मूलगुण नहीं कहा, किन्तु उन्हें अभीष्ट यही प्रतीत होता है कि ये श्रावकके मूलगुण है ।

वि० स० १०१६ में रचे गये सोमदेव उपासकाध्ययनमे भी अष्टमूलगुणोको इसी रूपमे गिनाया है ।

"मद्यमासमधुत्यागा सहोदुम्बरपञ्चकै ।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणा श्रुते ॥"

देवसेन आचार्यने अपने भावसग्रहमें भी ये ही अष्टमूलगुण बतलाये है,

"महुमज्जमस विरई चाओ पुण उंवराण पचण्ह ।
अट्ठेदे मूलगुणा हवति फुड देसविरयम्मि ॥३५६॥"

पद्मनन्दि पचविंशतिकामें भी ये ही मूलगुण बतलाये हैं,

"त्याज्यं मास च मद्य च मधूदुम्बरपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणा प्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वका ॥२३॥"

आचार्य अमितगतिने अपने सुभाषितरत्नसन्दोहमें, जो वि० स० १०५० में रचकर पूर्ण हुआ था,

---

१. "मधुमासपरित्याग पञ्चोदुम्बरवर्जनम् ।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रत स्यात् सार्वकालिकम् ॥ १२२ ॥"

२ "मद्य मास क्षौद्र पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥
अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधिय ॥७४॥"

अहिंसाणुव्रतका वर्णन करते हुए यशस्तिलकमें सोमदेवसूरि श्रावकोंको सदा मद्य मांस मधु और पाँच उदुम्बर फलोंके खानेका त्याग करना आवश्यक बतलाया है।

मद्यमांसमधुक्षीरिक्षीरिवृक्षफलाशनम्।
वर्जनीयं सदा सद्भिर्दयारक्षणतत्परैः ॥०६५॥

अपने उपासकाचारमें भी व्रतोंका कथन प्रारम्भ करते हुए आचार्य अमितगतिने रात्रिभोजनके साथ-साथ पाँच उदुम्बर और तीन मकारका त्याग आवश्यक बतलाया है क्योंकि उनके त्यागनेसे व्रत पुष्ट होते हैं

मद्यमांसमधुरात्रिभोजनं क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम् ॥१॥

किन्तु इन्हें मूलगुण रूपसे नहीं बतलाया।

सावयधम्मदोहामें भी मद्य मांस मधु और पाँच उदुम्बरोंके त्यागको अष्टमूलगुण बतलाया है,

'मज्जु मंसु महु परिहरहि करि पंचुंबर दूरि।
णावइं अंतरि अट्ठइं मि तस उप्पज्जइं भूरि ॥२२॥"

आगे लिखा है

'अट्ठइं पालइ मूलगुण पियइ जि गालिउ णीरु।
सइ चित्तें सुविसुद्धएण सुक्खइ सम्मु सरीरु ॥२६॥"

अर्थात् आठ मूलगुणोंको पालो और पानी छानकर पियो।

विक्रमकी तेरहवीं शतीमें पं. आशाधरजी नामके बहुश्रुत विद्वान् हो गये हैं। उन्होंने अपनेसे पूर्वके अनेक ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंका आलोडन करके जो सागारधर्मामृत नामका श्रावकाचार रचा है उसमें भी उन्होंने इन्हीं आठ मूलगुणोंको गिनाया है और साथ ही साथ मूलगुणोंके सम्बन्धमें आचार्य समन्तभद्र और महापुराणकी जो मान्यता थी उसका भी उल्लेख कर दिया है

'तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम्।
मद्यमांसमधून्युज्झेत्पञ्च क्षीरिफलानि च ॥२॥
अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादि वा।
फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थान इहैव वा ॥३॥"

अर्थात् गृहस्थधर्ममें सबसे प्रथम जिनागमपर श्रद्धान रखते हुए हिंसाको छोड़नेके लिए मद्य मांस मधु और पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग करना चाहिए। ये गृहस्थोंके आठ मूलगुण हैं। स्वामी समन्तभद्राचार्यके मतानुसार पाँच उदुम्बर फलोंके स्थानमें स्थूल हिंसा आदि पाँच पाप लेना चाहिए। अर्थात् पाँच अणुव्रत और मद्य मांस तथा मधुका त्याग और महापुराणके मतसे स्वामी समन्तभद्रसम्मत अष्टमूलगुणोंमें मधुके स्थानमें जुआ लेना चाहिए।

अष्टमूलगुणोंका निर्देश न करनेवाले और करनेवाले ग्रन्थकारोंके मतोंका उल्लेख करनेके बाद उसपर विचार किया जाता है

१ जिन ग्रन्थकारोंने अष्टमूलगुणोंका निर्देश नहीं किया उनमें-से आचार्य कुन्दकुन्दका चारित्रप्राभृत तो बहुत ही संक्षिप्त है। उस प्राभृतमें उन्होंने श्रावक और मुनिधर्मका आभास मात्र करा दिया है तथा उनकी प्रवृत्ति मुनिधर्मका ही कथन करनेकी ओर रही है जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रवचनसार का चारित्राधिकार है। अतः यदि उन्होंने श्रावकके अष्टमूलगुणोंका निर्देश नहीं किया तो उससे वस्तुस्थितिपर अधिक प्रकाश नहीं पड़ सकता।

२. तत्त्वार्थसूत्र एक सूत्रग्रन्थ है और उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय सात तत्त्व है। अत. उसमे या उसकी टीकाओंमे श्रावकके अष्टमूलगुणोका निर्देश न होना भी वस्तुस्थितिपर अधिक प्रकाश नही डालता।

३ पद्मचरित, वरागचरित और हरिवंशपुराण ये तीनो पौराणिक काव्य-ग्रन्थ हैं। वरागचरितमें वरदत्त मुनिके द्वारा जो उपदेश दिया गया है, एकसे दस तक सात सर्गोंमें वह निबद्ध है किन्तु उसमें द्रव्यानुयोग और करणानुयोगका ही वर्णन है। ग्यारहवें सर्गमें वराग वरदत्तसे पचाणुव्रत ग्रहण करता है। बाईसवें सर्गमें अपनी रानीके पूछनेपर वराग उसे धर्म श्रवण कराता है। उसमें भी वह श्रावकके बारह व्रतोंको गिनाकर दान तप शील और पूजाका उपदेश देता है और उनमें-से भी पूजापर अधिक जोर देते हुए जिनविम्ब और जिनालयोंके निर्माणको उत्तम बतलाता है। श्रावकाचार या मुनि-आचारके वर्णनकी ओर ग्रन्थकारकी प्रवृत्ति ही नही प्रतीत होती। अत वरागचरितमें अष्टमूलगुण या उसके अन्तर्गत वस्तुओंका निर्देश न होना भी वस्तुस्थितिपर अधिक प्रकाश नहीं डालता।

रहे पद्मचरित और हरिवंशपुराण। दोनोंमें श्रावकके बारह व्रतोका वर्णन करके अन्तमें नियम रूपसे मद्य मासादिककी विरतिका विधान किया गया है। पद्मचरितमें तो मधु, मद्य, मास, जुआ, रात्रि-भोजन और वेश्यासगमके त्यागको नियम बतलाया है, किन्तु हरिवंशपुराणमें तो इनमें उदुम्बर फलोंको भी सम्मिलित कर लिया गया है। फिर भी मूलगुण रूपसे निर्देश न करके, नियम रूपसे उनका उल्लेख किया जाना अवश्य ही अन्वेषकोका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है। यदि स्वामी समन्तभद्राचार्यके द्वारा रचे गये रत्नकरण्डश्रावकाचारमें अष्टमूलगुणोका निर्देश करनेवाला पद्य न होता तो हम तो यही सम्भावना करते कि श्रावकके मूलगुण समयकी आवश्यकताको देखकर नौवी शतीके आचार्योंके द्वारा ही निबद्ध किये गये हैं, प्राचीन परम्परा तो श्रावकके बारह व्रतोका ही विधान करती है। किन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचारमें उक्त पद्य जिस रूपमें स्थित है उससे उसे प्रक्षिप्त भी नही कहा जा सकता और न समर्थ प्रमाणोके अभावमें रत्नकरण्डको ही किसी अर्वाचीन आचार्यकी कृति माना जा सकता है। उसमे जो गुरुके लिए पाखण्डी शब्दका प्रयोग किया गया है वह उसकी प्राचीनताको सूचित करता है। प्राचीन समयमें पाखण्डी शब्द साधुके लिए व्यवहृत होता था। उत्तर कालमें उसका अर्थ ढोंगी हो गया। अन्य भी कई विशेषताएँ उसमें हैं, जो उसकी प्राचीनताको सूचित करती हैं। परन्तु रत्नकरण्डमें पहली प्रतिमाका जो स्वरूप बतलाया गया है वह और भी सन्देह उत्पन्न कर देता है। उसमें पहली प्रतिमावाले श्रावकके लिए मूलगुण पालनका भी विधान नही है, जब कि स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा और वसुनन्दिश्रावकाचार आदि ग्रन्थोमे पहली प्रतिमावाले श्रावकके लिए मद्य-मासादिकके त्यागका स्पष्ट निर्देश किया है। जैसे दूसरी प्रतिमावाले श्रावकके लिए निरतिचार पाँच अणुव्रतों और सात शीलव्रतोका पालन करना आवश्यक बतलाया है वैसे ही पहली प्रतिमावाले श्रावकके लिए अष्टमूलगुणोका विधान होना चाहिए था। अन्यथा जब श्रावकके[1] ग्यारह ही पद बतलाये गये हैं तब अष्टमूलगुणोका पालन किस पदमें किया जायेगा। टीकाकार प्रभाचन्द्रको भी यह चीज खटकी जान पड़ती है। इसीसे उन्होंने 'तत्त्वपथगृह्य' का व्याख्यान करते हुए 'तत्त्व यानी व्रतका पथ यानी मार्ग अर्थात् मद्यादि निवृत्तिरूप अष्टमूलगुण' ऐसा किया है। किन्तु यह उनकी अपनी सूझ है। उससे यह प्रमाणित नही होता कि ग्रन्थकारने मूलगुणोके लिए 'तत्त्वपथगृह्य' पद दिया है।

इसके साथ ही साथ भोगोपभोगपरिमाण नामक व्रतमें जो मद्य मास मधु और कन्दमूल आदिका त्याग बतलाया है वह भी विचारणीय हो जाता है। जब इन चीजोंका त्याग अष्टमूलगुण रूपसे श्रावक पहले ही कर चुकता है तब भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें पुन. उसका विधान करनेकी कोई आवश्यकता नही रहती। जिन श्रावकाचारोंमें अष्टमूलगुणका विधान है उनमें भोगोपभोगपरिमाणव्रतका वर्णन

---

१. "श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।" र० श्रा०।

करते हुए मद्य-मांसादिकके त्याग करनेका विधान नहीं किया। उदाहरणके लिए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय सोमदेव उपासकाचार अमितगति उपासकाचार वसुनन्दि श्रावकाचार और सागारधर्मामृतको देखा जा सकता है।

हम पहले लिख आये हैं कि पं. आशाधर बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने इस बातको अवश्य भाँपा कि जब अष्टमूलगुणोंमें मद्य-मांसादिकका त्याग कर दिया जाता है तो भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें उसकी आवश्यकता नहीं रहती। इसीसे उन्होंने अपने सागारधर्मामृतमें भोगोपभोगपरिमाणव्रतका वर्णन करते हुए लिखा है कि जिन पदार्थोंका सेवन करनेसे त्रस जीवोंका घात होता है या बहुत जीवोंका घात होता है या प्रमाद उत्पन्न होता है मांस मधु और मद्यकी तरह ही उनका भी त्याग कर देना चाहिए। अर्थात् मद्य मांस और मधुका त्याग तो वह अष्टमूलगुण धारण करते समय ही कर देता है किन्तु व्रतोंमें उन वस्तुओंके सेवनका भी त्याग कर देता है जिनमें उक्त बुराइयाँ होती हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि जिन्होंने अष्टमूलगुणका निर्देश नहीं किया और भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें मद्यादिकके त्यागका विधान किया उनके मतसे क्या अणुव्रती श्रावक मद्यादिकका सेवन कर सकता था? हमारा उत्तर है— नहीं। तब क्यों उन्होंने ऐसा विधान किया? विधान इसलिए किया कि लोकमें मद्य-मांसादिकको भी भोग्य माना जाता है और पहले अहिंसाणुव्रतका निर्देश करके भी इन वस्तुओंका नामोल्लेखपूर्वक त्याग कराया नहीं गया। अतः जैसे आजकल कन्दमूलके त्यागी कुछ महानुभाव सूखे शाक खाने लगे हैं वैसे ही अहिंसाणुव्रती यदि मृत पशुका मांस खाने लगे तो उसे कौन रोके। बुद्धदेव अहिंसाके पुजारी थे किन्तु 'त्रिकोटिपरिशुद्ध मांस' को भिक्षुओंके लिए ग्राह्य बतलाते थे। अतः भोगोपभोगपरिमाणव्रतकी व्याख्यामें यह खुलासा कर देना आवश्यक हुआ कि व्रतीको मद्य मांस और मधुका त्याग तो सदाके लिए कर देना चाहिए।

४ समन्तभद्र स्वामीके बाद अष्टमूलगुणोंका स्पष्ट विधान चारित्रसारके उल्लेखके अनुसार महापुराणमें है। उसमें स्वामीजीके मूल-गुणोंमें थोड़ा-सा परिवर्तन करके मधुके स्थानमें जुआको त्याज्य बतलाया है। ऐसा करनेकी आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई इस सम्बन्धमें हम कुछ भी कहनेमें असमर्थ हैं किन्तु जिन सेनके महापुराणमें वह श्लोक ही नहीं है और न अष्टमूलगुण रूपसे ही किन्हीं व्रतोंका निर्देश है।

५. आगे चलकर उक्त अष्टमूलगुणोंमें क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ पाँच अणुव्रतोंकी परम्परा सम्भवतः आगे नहीं चल सकी। सामान्य श्रावक लोग उसके पालनमें अशक्त प्रतीत हुए। अतः उनके स्थानमें पाँच उदुम्बर फलोंको स्थान दिया गया। यह कार्य किसने किया यह तो हम निश्चित रीतिसे कहनेमें असमर्थ हैं किन्तु इस परिवर्तनको उत्तर कालके सभी श्रावकाचारोंने अप नाया। जैसा कि हम पहले बतला आये हैं पुरुषार्थसिद्ध्युपाय सोमदेव उपासकाध्ययन अमितगति उपासकाचार पद्मनन्दि पंचविंशतिका सावयधम्मदोहा सागारधर्मामृत और लाटीसंहितामें पाँच उदुम्बर फलों और तीन मकारोंके त्यागको अष्टमूलगुण बतलाया है।

यह हम पहले लिख आये हैं कि हरिवंशपुराणमें जो नियम बतलाया है उसमें क्षीरी वृक्षके फलों-को भी त्याज्य ठहराया है तथा आदिपुराणमें उपासकाध्ययन क्रियाका कथन करते हुए गृहस्थके लिए मधु मांसके साथ पंच उदुम्बरोंको भी त्याज्य बतलाया है और आदिपुराण तथा हरिवंशपुराण पाँच उदुम्बर फलों और तीनों मकारोंके त्यागको अष्टमूलगुण बतलानेवाले उक्त सभी श्रावकाचारोंसे पूर्वके हैं। अतः यद्यपि क्षीरी वृक्षके फलोंके साथ-साथ मद्य-मांस और मधुका प्रारम्भिक रूपमें त्यागनेका

१ पक्षमधुमद्यपरिहरणमपकृत्यानमप्रमादविषयोऽर्थः।
त्याज्यावश्यमात्यमिदावधुसमेव्यत्व सनादि फलमिदम् ॥१५॥ अ. ५।
२ बुद्धचर्या, पृ. ४११।

विधान हमें हरिवंशपुराण और आदिपुराणमें सर्वप्रथम देखनेको मिलता है तथापि अष्टमूलगुण रूपसे उनका उल्लेख उक्त श्रावकाचारोंमें ही पाया जाता है। यहाँ हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यह हम वर्तमानमें उपलब्ध साहित्यके आधारपर लिख रहे हैं। नवीन ग्रन्थ प्रकाशमें आनेपर नयी बातें भी प्रकाशमें आ सकती हैं।

उक्त श्रावकाचारोंके पौर्वापर्यको दृष्टिमें रखते हुए हमारा विचार है कि उक्त अष्टमूलगुणोंका सबसे प्रथम निर्देश पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें किया गया है। यह हम पहले लिख आये हैं कि पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें यद्यपि इन्हें मूलगुण नहीं लिखा तथापि उससे व्यक्त यही होता है कि ये श्रावकके अष्टमूलगुण हैं। अन्य श्रावकाचारोंमें तो इन्हें अष्टमूलगुण ही बतलाया है। इससे भी ऐसा लगता है जब वे अष्टमूलगुण रूपसे व्यवहृत नही हुए थे उस समय पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें श्रावकके लिए प्रथम उनका त्याग आवश्यक बतलाया गया और बादको वे ही अष्टमूलगुण रूपसे प्रसिद्ध हो गये।

श्रावकाचारोंका पौर्वापर्य

प्रकरणवश यहाँ उक्त श्रावकाचारोंके पौर्वापर्यके सम्बन्धमें लिखना आवश्यक है।

पं० आशाधरने अपने सागारधर्मामृतकी प्रशस्तिमें लिखा है कि उन्होने उसकी टीका वि० सं० १२९६ में पूर्ण की और अनगारधर्मामृतकी टीका वि० स० १३०० में पूर्ण की। इन टीकाओंमें पं० आशाधरने अमृतचन्द्र सूरि, सोमदेव, अमितगति, वसुनन्दि और पद्मनन्दिका न केवल जगह-जगह नामोल्लेख किया है किन्तु इनके श्रावकाचारोंसे बहुत-से पद्य भी जगह-जगह उद्धृत किये हैं। अत यह तो निश्चित ही है कि ये सब आचार्य पं० आशाधरसे पहलेके हैं।

वसुनन्दिने मूलाचारकी वृत्तिमें अमितगतिके श्रावकाचारसे पाँच श्लोक उद्धृत किये हैं, इससे यह भी स्पष्ट है कि अमितगति वसुनन्दिसे भी पूर्व हुए हैं। अमितगतिने अपना सुभाषितरत्नसन्दोह वि० स० १०५० में रचा है और सोमदेवने अपना उपासकाचार वि० स० १०१६ में रचकर पूर्ण किया है। अत अमितगतिके उपासकाचारसे सोमदेवका उपासकाध्ययन अवश्य ही पहले रचा गया है। अमितगतिका रचनाकाल वि०स० १०५० से १०७३ तक पाया जाता है। अमितगतिके श्रावकाचार पर पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी स्पष्ट छाप है।[1] अत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय निश्चय ही अमितगति-श्रावकाचारसे पूर्वका है। किन्तु सोमदेवके उपासकाचारपर पुरुषार्थसिद्ध्युपायका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता।

---

१ "रसजाना च बहूना जीवाना योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्य भजता तेषा हिंसा सजायतेऽवश्यम् ॥६३॥"—पुरु० सि०।
"ये भवन्ति विविधा शरीरिणस्तत्र सूक्ष्मवपुषो रसाङ्गिका।
तेऽखिला झटिति यान्ति पञ्चता निन्दितस्य सरकस्य पानत ॥६॥"—अमित० श्रा०।
"अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चरा पुसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥१०३॥"—पुरु० सि०।
"यो यस्य हरति वित्त स तस्य जीवस्य जीवन हरति।
आश्वासकर बाह्य जीवाना जीवित वित्तम् ॥६१॥"—अमित० श्रा०।
"प्रतिरूपकव्यवहार स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥१८५॥"—पु० सि०।
"व्यवहार कृत्रिमक स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
ते मानवैपरीत्य विरुद्धराज्यव्यतिक्रमणम् ॥५॥"—अमि० श्रा०।

शेष रह जाते हैं सावय धम्मदोहा और लाटीसंहिता। लाटीसंहिता तो स्पष्ट ही पं. आशाधरके बादकी है क्योंकि उसकी प्रशस्तिमें उसका रचनाकाल वि. सं. १६४१ दिया है। सावयधम्मदोहा उनसे पूर्वका है। आगेके तुलनात्मक विवेचनोंसे इसपर और भी प्रकाश पड़ सकेगा।

इस प्रकार अष्टमूलगुणोंके अन्दर पाँच अणुव्रतोंके स्थानमें पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागको स्थान दिया गया और वह प्रचलित भी हो गया। किन्तु हिंसादिक पापोंमें और उदुम्बर फलोंमें तो बड़ा अन्तर है। कहाँ अहिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रहका एकदेश त्याग करना और कहाँ पाँच उदुम्बर फलोंको त्यागना। ऐसा क्यों किया गया किसीने इसपर प्रकाश नहीं डाला। केवल रत्नमाला और सावयधम्मदोहासे इस सम्बन्धमें थोड़ा-सा प्रकाश पड़ता है। रत्नमालामें[1] लिखा है।

मद्यमांसमधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नुः।
अष्टौ मूलगुणाः पञ्चोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि ॥ १९ ॥

मद्य मांस मधुका त्याग और पाँच अणुव्रत ये आठ मूल गुण पुरुषोंके हैं। और पाँच उदुम्बर और तीन मकारका त्याग ये आठ मूल गुण बच्चोंके हैं।

सचमुच पुरुषोंके अष्टमूलगुण तो पुराने ही थे। बादके अष्टमूलगुण तो बच्चोंके ही उपयुक्त हैं। किन्तु जब धर्मसेवनमें बड़े भी बच्चे बन गये तब तो बच्चोंवाले मूल गुण ही सबके लिए हो गये और पुरुषोंवाले मूलगुण एकमतके रूपमें स्मृत किये जाने लगे। और यह परिस्थिति उत्पन्न हो गयी जिसका उल्लेख सावयधम्मदोहामें मिलता है। उसमें लिखा है

'मज्जु मंसु महु परिहरइ संपइ सावउ सोइ।
णीरुक्खइ एरंड वणि किं ण भवाई होइ ॥ ७७ ॥

अर्थात् जो मद्य मांस और मधुका त्याग करे आजकल वही श्रावक है। क्या बड़े वृक्षोंसे रहित एरण्डके वनमें छाँह नहीं होती?

श्रावकके षट्कर्म

आचार्य कुन्दकुन्दके प्राभृतमें तथा वरांगचरित और हरिवंशपुराणमें दान पूजा तप और शीलको श्रावकोंका कर्तव्य बतलाया है। किन्तु आदिपुराणमें भगवज्जिनसेनाचार्यने लिखा है कि महाराज भरतने पूजा [2]वार्ता दान स्वाध्याय संयम और तपको व्रती लोगोंका कुलधर्म बतलाया

'इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥२४॥
कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत्पूजादिवर्णनम्।
तदा भरतराजर्षिरन्ववोचदनुक्रमात् ॥२५॥"

इस तरह उत्तरकालमें शीलका विश्लेषण वार्ता स्वाध्याय और संयमके रूपमें हुआ या यह कहिए कि शीलका स्थान इन तीन चीजोंने लिया। इसके बाद वार्ताके स्थानमें गुरुसेवा आयी और देवपूजा गुरुकी उपासना स्वाध्याय संयम तप और दान ये प्रत्येक श्रावकके दैनिक षट्कर्म कहलाये जैसा कि सोमदेव उपासकाचार और पद्मनन्दि पंचविंशतिकामें लिखा है

---

1 रत्नमालाका यह उल्लेख दोनों प्रकारके मूलगुणोंके समीकरणका एक प्रयास प्रतीत होता है। और ऐसा भास पड़ता है कि उसकी रचना मध्यकालमें उस समय हुई जब पाँच उदुम्बरवाले मूलगुण प्रचलित हो गये थे।

२ "वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः।"
विशुद्ध व्यवहारपूर्वक खेती आदि आजीविकाके उपायोंके करनेको वार्ता कहते हैं।

"देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय संयमस्तप ।
दान चेति गृहस्थाणां पट् कर्माणि दिने दिने ॥"

तबसे श्रावकके ये ही षट्कर्म प्रचलित हैं ।

श्रावकके बारह व्रत

हम प्रारम्भमें ही लिख आये हैं कि पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये श्रावकके बारह व्रत हैं। इनकी संख्यामें कोई विवाद नहीं है और आचार्य कुन्दकुन्द तकने इनका वर्णन किया है, इसलिए बारह व्रतोंकी परम्परा अति प्राचीन है और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी मान्य है ।

पाँच अणुव्रत

बारह व्रतोंमे सर्वप्रथम अणुव्रत आते हैं । अणुव्रतके भेदोंमें तो कोई अन्तर नहीं है पर नाम-भेद मिलता है । उल्लेखनीय नाम-भेद इस प्रकार है -

१ आचार्य कुन्दकुन्दने अपने चारित्रप्राभृतमें पांचवें अणुव्रतका नाम 'परिग्गहारंभ परिमाण' रखा है जिसका तात्पर्य है कि परिग्रह और आरम्भ दोनोंका परिमाण करना चाहिए । तथा चतुर्थ अणुव्रतका नाम रखा है – 'परपिम्म परिहार' इसका अर्थ टीकाकार श्रुतसागर सूरिने 'परस्त्री त्याग' किया है । तथा प्रथम अणुव्रतका नाम 'स्थूल त्रसकायवधपरिहार' रखा है,

"थूले तसकायवहे थूले मोसे तितिक्ख थूले य ।
परिहारो परपिम्मे परिग्गहारंभ परिमाण ॥२३॥"

२ स्वामी समन्तभद्रने[1] चतुर्थ अणुव्रतका नाम परदारनिवृत्ति और स्वदारसन्तोष रखा है । तथा पांचवें अणुव्रतका नाम परिग्रहपरिमाणके साथ-साथ इच्छापरिमाण भी रखा है ।

३ आचार्य रविषेणने[2] भी चतुर्थव्रतका नाम परदारसमागमविरति और पांचवेंका अनन्तगर्द्धाविरति दिया है ।

४ हरिवंशपुराणमें पहले व्रतका नाम 'दया' रखा है ।

५ आदिपुराणमें[3] पांचवें व्रतका नाम तृष्णाप्रकर्षनिवृत्ति और चौथेका परस्त्रीसेवननिवृत्ति रखा है ।

६ पं० आशाधरजीने चतुर्थ व्रतका नाम स्वदारसन्तोष रखा है ।

अहिंसाणुव्रत

रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें अहिंसाणुव्रतका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है,

"संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान् ।
न हिनस्ति यत्तदाहु स्थूलवधाद्विरमण निपुणा ॥७॥"

अर्थात् जो मन, वचन और कायके कृत, कारित और अनुमोदनारूप संकल्पके द्वारा त्रसजीवोंका घात नहीं करता है उसे स्थूलवधका त्यागी यानी अहिंसाणुव्रती कहते हैं ।

यह अहिंसाणुव्रतका परिपूर्ण लक्षण है और उत्तर कालमें भी इसमें कुछ घटाने या बढानेकी आव-

---

१ रत्नकरण्ड० श्लो० ५२ और ६१ ।
२ पद्मचरित प० १४, श्लोक १८४, १८५ ।
३ आ० पु० पर्व १०, श्लो० ६३ ।

शेष रह जाते हैं सावय धम्मदोहा और लाटीसंहिता। लाटीसंहिता तो स्पष्ट ही पं० आशाधरके बादकी है क्योंकि उसकी प्रशस्तिमें उसका रचनाकाल वि० सं० १६४१ दिया है। सावयधम्मदोहा उनसे पूर्वका है। आगेके तुलनात्मक विवेचनोंसे इसपर और भी प्रकाश पड़ सकेगा।

इस प्रकार अष्टमूलगुणोंमें अन्दर पाँच अणुव्रतोंके स्थानमें पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागको स्थान दिया गया और वह प्रचलित भी हो गया। किन्तु हिंसादिक पापोंमें और उदुम्बर फलोंमें तो बड़ा अन्तर है। कहाँ अहिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रहका एकदेश त्याग करना और कहाँ पाँच उदुम्बर फलोंको त्यागना। ऐसा क्यों किया गया किसीने इसपर प्रकाश नहीं डाला। केवल रत्नमाला और सावयधम्मदोहासे इस सम्बन्धमें थोड़ा-सा प्रकाश पड़ता है। रत्नमालामें[1] लिखा है।

मद्यमांसमधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नुः।
अष्टौ मूलगुणाः पञ्चोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि ॥ १९ ॥"

मद्य मांस मधुका त्याग और पाँच अणुव्रत ये आठ मूल गुण पुरुषके हैं। और पाँच उदुम्बर और तीन मकारका त्याग ये आठ मूल गुण बच्चोंके हैं।

सचमुच पुरुषोंके अष्टमूलगुण तो पुराने ही थे। बादके अष्टमूलगुण तो बच्चोंके ही उपयुक्त हैं। किन्तु जब धर्मक्षेत्रमें बड़े भी बच्चे बन गये तब तो बच्चोंवाले मूल गुण ही सबके लिए हो गये और पुरुषोंवाले मूलगुण एकमतके रूपमें स्मृत किये जाने लगे। और यह परिस्थिति उत्पन्न हो गयी जिसका उल्लेख सावयधम्मदोहामें मिलता है। उसमें लिखा है

"मज्जु मंसु महु परिहरइ संवइ सावउ सोइ
णीरुक्खइ एरंड वणि किं ण भवाइं होइ ॥ ७७ ॥

अर्थात् जो मद्य मांस और मधुका त्याग करे आजकल वही श्रावक है। क्या बड़े वृक्षोंसे रहित एरण्डके वनमें छाँह नहीं होती?

श्रावकके षट्कर्म

आचार्य कुन्दकुन्दके प्राभृतमें तथा वरांगचरित और हरिवंशपुराणमें दान पूजा तप और शीलको श्रावकोंका कर्तव्य बतलाया है। किन्तु आदिपुराणमें भगवज्जिनसेनाचार्यने लिखा है कि महाराज भरतने पूजा वार्ता[2] दान स्वाध्याय संयम और तपको व्रती लोगोंका कुलधर्म बतलाया

'इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥२४॥
कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत्पूजादिवर्णनम्।
तदा भरतराजर्षिरन्ववोचदनुक्रमात् ॥२५॥"

इस तरह उत्तरकालमें शीलका विश्लेषण वार्ता स्वाध्याय और संयमके रूपमें हुआ था यह कहिए कि शीलका स्थान इन तीन चीजोंने लिया। इसके बाद वार्ताके स्थानमें गुरुसेवा आयी और देवपूजा गुरुकी उपासना स्वाध्याय संयम तप और दान ये प्रत्येक श्रावकके दैनिक षट्कर्म कहलाये जैसा कि सोमदेव तथा उपासकाचार और पद्मनन्दि पंचविंशतिकामें लिखा है

---

१ रत्नमालाका यह उल्लेख दोनों प्रकारके मूलगुणोंके समीकरणका एक प्रयास प्रतीत होता है। और ऐसा जान पड़ता है कि उसकी रचना मध्यकालमें उस समय हुई जब पाँच उदुम्बरवाले मूलगुण प्रचलित हो गये थे।

२ "वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्याद्यानामनुष्ठितिः।"
विशुद्ध व्यवहारपूर्वक खेती आदि आजीविकाके उपायोंके करनेको वार्ता कहते हैं।

यह सब बतलाकर उन्होंने लिखा[1] है कि हिंसाका पूर्ण त्याग तो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे ही होता है। आंशिक त्यागके तो अनेक रूप हैं। उन्होंने जल सब्जी वायु आदिके द्वारा भोगोपभोगमें आनेवाले एकेन्द्रिय जीवोंके सिवा शेष एकेन्द्रिय जीवोंकी भी रक्षा करना गृहस्थोंका कर्तव्य बतलाया है। आगे लिखा है कि अमृतत्वके कारण अहिंसारूपी रसायनको पाकर मूर्ख लोगोंकी उक्तियोंके चक्करमें नहीं आना चाहिए। मूर्ख लोगोंकी उक्तियाँ जो सम्भवत उस समय प्रचलित थीं—निम्न प्रकार उन्होंने बतलायी हैं।

१ धर्मके लिए हिंसा नहीं करनी चाहिए – जैसे यज्ञोंमें पशुवध किया जाता है।

२ देवताके लिए हिंसा नहीं करनी चाहिए – जैसे मन्दिरोंमें कालीके सामने बलिदान किया जाता है।

३ पूज्य[2] अतिथियोंके लिए पशुवध नहीं करना चाहिए।

४ बहुत-से क्षुद्र प्राणियोंको मारनेकी अपेक्षा एक बडे शरीरधारीको मारना अच्छा है ऐसा सोचकर किसी बडे प्राणीको भी नहीं मारना चाहिए।

५ एकके मारनेसे बहुत-से प्राणियोंकी रक्षा होती है ऐसा सोचकर हिंसक जन्तुओंको भी नहीं मारना चाहिए।

६ सिंहादिक बहुत-से प्राणियोंका घात करते हैं। ये अगर जीवित रहेंगे तो बहुत पाप उपार्जित करेंगे। अत उनपर दयाबुद्धि करके भी उन्हें नहीं मारना चाहिए।

७ जो बहुत दु खी हैं उन्हें यदि मार दिया जाये तो शीघ्र ही उनका दु खोंसे छुटकारा हो जायेगा। इस प्रकारके तर्करूपी तलवारको लेकर दु खी जीवोंको भी नहीं मारना चाहिए।

८ सुखकी प्राप्ति बडे कष्टमें होती है। और यदि सुखी प्राणियोंको मार दिया जाये तो वे मरकर भी सुखी ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकारके कुतर्करूपी तलवारसे सुखी जीवोंकी भी हत्या नहीं करना चाहिए।

९ गुरु महाराज जब समाधिमें लीन हों तब यदि उनका घात कर दिया जाये तो उन्हे उच्चपद प्राप्त हो जायेगा। ऐसा सोचकर शिष्यको अपने गुरुका सिर नहीं काट डालना चाहिए।

१० जैसे घडेमें बन्द चिडिया घडेके फूट जानेसे मुक्त हो जाती है वैसे ही शरीरके छूट जानेसे जीव मुक्त हो जाता है ऐसा विश्वास दिलानेवाले धनके लोभी खारपटिकोंका विश्वास नहीं करना चाहिए।

११ सामनेसे आते हुए किसी भूखे अतिथिको देखकर उसके भोजनके लिए अपना मास देनेके लिए अपना घात भी नहीं करना चाहिए।

इन ग्यारह बातोंसे पता चलता है कि उस समय धर्मकी ओटमें हिंसाका व्यापार कितने रूप धारण किये हुए था। अहिंसा और हिंसाका जैसा वर्णन पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें है वैसा पूर्वके या उत्तरके ग्रन्थोंमें नहीं मिलता।

सोमदेव सूरिने अपने उपासकाचारमें अहिंसाका नीचेवाला लक्षण लिखा है, यह लक्षण सम्भवत आदिपुराणके 'चर्या तु देवतार्थं वा' आदि श्लोकको दृष्टिमें रखकर लिखा गया है। इसमें आहारके स्थानमें अतिथि और पितर रखे गये हैं और भय बढा दिया गया है,

"देवतातिथिपित्रर्थं मन्त्रौषधभयाय वा।
न हिंस्यात प्राणिन सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥३२०॥"

देवताके लिए, अतिथिके लिए, पितरोंके लिए, मन्त्रसिद्धिके लिए, औषधके लिए और भयसे सब प्राणियोंकी हिंसा न करनेको अहिंसा व्रत कहते हैं।

हम पहले लिख आये हैं कि राजवार्तिकमें इस शकाका समाधान किया गया है कि जब सर्वत्र जीव हैं तो कोई हिंसासे कैसे बच सकता है। सोमदेवसूरिने भी अपने ढगसे इस शकाका समाधान करते हुए लिखा है—ऐसा कोई काम नहीं है जिसमें हिंसा न हो। किन्तु उसमें मुख्य और आनुषगिक भावोंका अन्तर है। जैसे सकल्पमें भेद

---

१ का० ७६। २ वैदिक कालमें ऐसी पद्धति थी।

व्यकता प्रतीत नहीं हुई। किन्तु सर्वार्थसिद्धिमें[1] त्रस जीवोंके प्राणोंका घात न करनेवालेको अहिंसाणुव्रती कहा है। उसमें न मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाका उल्लेख है और न संकल्पका ही उल्लेख है। परन्तु [2]राजवार्तिकमें त्रिधा पद जोड़कर मन वचन काय या कृत कारित अनुमोदनाका निर्देश कर दिया गया है किन्तु संकल्पका उल्लेख उसमें भी नहीं है।

हिंसाकी निवृत्तिको अहिंसा कहते हैं। हिंसाका लक्षण तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सातमें 'प्रमत्तयोगात् प्राण-व्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥' ऐसा किया है। इसीका खुलासा अमृतचन्द्रसूरिने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें किया है। यथा

'यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥"

अर्थात् कषायके वशीभूत होकर द्रव्यरूप या भावरूप प्राणोंका घात करना हिंसा है। हिंसाका यह लक्षण भी वैसा ही परिपूर्ण है जैसा रत्नकरण्डका अहिंसाणुव्रतका लक्षण है। हिंसाके इस लक्षणका विश्लेषण सर्वार्थसिद्धिकारने बड़ी उत्तमतासे कर दिया है। उन्होंने लक्षणके प्रत्येक पदकी सार्थकता बतलाते हुए अनेक प्राचीन उद्धरण देकर यह प्रमाणित किया है कि केवल प्राणोंका घात हो जानेसे ही हिंसा नहीं होती जबतक कि जिसके द्वारा घात हुआ है वह कषायाविष्ट न हो। और यदि वह कषायाविष्ट है असावधान और अयत्ना-चारी है तो दूसरेके प्राणोंका घात न होनेपर भी वह हिंसाका भागी है क्योंकि जो प्रमादी है दूसरोंको कष्ट पहुँचानेके लिए उद्यत है या दूसरोंके प्रति असावधान है वह सबसे पहले तो अपना ही अनिष्ट करके अपना घात करता है, दूसरोंका घात तो पीछेकी वस्तु है वह हो या न हो किन्तु वह हिंसाका भागी होता है।

तत्त्वार्थराजवार्तिकमें तत्त्वार्थसूत्रके उक्त सूत्रका व्याख्यान करते हुए सर्वार्थसिद्धिटीकाके उक्त मन्तव्यको तो दिया ही है। उसके साथ ही साथ महाभारतका एक श्लोक देकर यह चर्चा उठायी है कि लोकमें सब जीव भरे हुए हैं उसमें रहते हुए कोई साधु अहिंसक कैसे हो सकता है। इसका समाधान करते हुए भट्टाकलंकदेवने कहा है कि प्राणी दो तरहके होते हैं सूक्ष्म और स्थूल। जो सूक्ष्म हैं उन्हें तो कोई बाधा पहुँच ही नहीं सकती। शेष रहे स्थूल जहाँतक शक्य होता है उनकी रक्षा की जाती है अतः संयमी पुरुष हिंसाका भागी नहीं होता।

भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने आदिपुराणमें गृहस्थोंके लिए चर्याका विधान करते हुए लिखा है,

"चर्या तु देवतार्थं वा मन्त्रसिद्ध्यर्थमेव वा।
औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामिति चेष्टितम् ॥१४७॥ –पर्व ३९।

अर्थात् देवताके लिए, मन्त्रकी सिद्धिके लिए, औषध और भोजनके लिए मैं कभी किसी जीवको नहीं मारूँगा ऐसी प्रतिज्ञाको चर्या कहते हैं।

हिंसाके उक्त विवेचनका विस्तृत खुलासा पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें अमृतचन्द्राचार्यने किया है। कारिका ४१ से ४९ तक उक्त लक्षणका व्याख्यान करके उन्होंने कारिका ५१ से ५७ तक हिंसाके विविध भंगोंका अभूतपूर्व विवेचन किया है जो द्रष्टव्य है। उसके बाद उन्होंने हिंसासे बचनेके इच्छुक जनोंको सबसे प्रथम मद्य मांस मधु और पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागका आदेश दिया है जिनका निर्देश पहले अष्टमूलगुणोंमें किया गया है। [3]मांसका निषेध करते हुए उन्होंने स्वयं मरे हुए पशुके मांसमें भी हिंसा बतलायी है। यह सम्भवतः उन बौद्ध मतानुयायियोंको उत्तर दिया गया है जो स्वयं मरे हुए पशुका मांस खानेमें कोई दोष नहीं मानते। मधुका निषेध करते हुए उन्होंने छत्तेसे स्वयं टपके हुए मधुको भी अखाद्य बतलाया[4] है। मद्यादिककी तरह मक्खन[5] भी त्याज्य है। उदुम्बर फलोंके भक्षणका निषेध करते हुए उन्होंने उन उदुम्बर[6] फलोंको भी त्याज्य बतलाया है जिनमें काल पाकर त्रस जीव मर गये हैं।

---

१ सूत्र –२ की व्याख्यामें। २ सूत्र ७-१ की व्याख्यामें।
३ श्लो० ६६-६८। ४ श्लो० ७ । ५ श्लो० ७१। ६ श्लो० ३।

यह सब बतलाकर उन्होंने लिखा[1] है कि हिंसाका पूर्ण त्याग तो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे ही होता है। आंशिक त्यागके तो अनेक रूप हैं। उन्होंने जल सब्जी वायु आदिके द्वारा भोगोपभोगमें आनेवाले एकेन्द्रिय जीवोंके सिवा शेष एकेन्द्रिय जीवोंकी भी रक्षा करना गृहस्थोंका कर्तव्य बतलाया है। आगे लिखा है कि अमृतत्वके कारण अहिंसारूपी रसायनको पाकर मूर्ख लोगोंकी उक्तियोंके चक्करमें नहीं आना चाहिए। मूर्ख लोगोंकी उक्तियाँ जो सम्भवत उस समय प्रचलित थीं—निम्न प्रकार उन्होंने बतलायी हैं।

१ धर्मके लिए हिंसा नहीं करनी चाहिए – जैसे यज्ञोंमें पशुवध किया जाता है।

२ देवताके लिए हिंसा नहीं करनी चाहिए – जैसे मन्दिरोंमें कालीके सामने बलिदान किया जाता है।

३ पूज्य[2] अतिथियोंके लिए पशुवध नहीं करना चाहिए।

४ बहुत-से क्षुद्र प्राणियोंको मारनेकी अपेक्षा एक बड़े शरीरधारीको मारना अच्छा है ऐसा सोचकर किसी बड़े प्राणीको भी नहीं मारना चाहिए।

५ एकके मारनेसे बहुत-से प्राणियोंकी रक्षा होती है ऐसा सोचकर हिंसक जन्तुओंको भी नहीं मारना चाहिए।

६ सिंहादिक बहुत-से प्राणियोंका घात करते हैं। ये अगर जीवित रहेंगे तो बहुत पाप उपार्जित करेंगे। अत उनपर दयाबुद्धि करके भी उन्हें नहीं मारना चाहिए।

७ जो बहुत दु खी है उन्हें यदि मार दिया जाये तो शीघ्र ही उनका दु खोंसे छुटकारा हो जायेगा। इस प्रकारके तर्करूपी तलवारको लेकर दु खी जीवोंको भी नहीं मारना चाहिए।

८ सुखकी प्राप्ति बड़े कष्टसे होती है। और यदि सुखी प्राणियोंको मार दिया जाये तो वे मरकर भी सुखी ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकारके कुतर्करूपी तलवारसे सुखी जीवोंकी भी हत्या नहीं करना चाहिए।

९ गुरु महाराज जब समाधिमें लीन हो तब यदि उनका घात कर दिया जाये तो उन्हें उच्चपद प्राप्त हो जायेगा। ऐसा सोचकर शिष्यको अपने गुरुका सिर नहीं काट डालना चाहिए।

१० जैसे घड़ेमें बन्द चिड़िया घड़ेके फूट जानेसे मुक्त हो जाती है वैसे ही शरीरके छूट जानेसे जीव मुक्त हो जाता है ऐसा विश्वास दिलानेवाले धनके लोभी खारपटिकोंका विश्वास नहीं करना चाहिए।

११ सामनेसे आते हुए किसी भूखे अतिथिको देखकर उसके भोजनके लिए अपना मांस देनेके लिए अपना घात भी नहीं करना चाहिए।

इन ग्यारह बातोंसे पता चलता है कि उस समय धर्मकी ओटमें हिंसाका व्यापार कितने रूप धारण किये हुए था। अहिंसा और हिंसाका जैसा वर्णन पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें है वैसा पूर्वके या उत्तरके ग्रन्थोंमें नहीं मिलता।

सोमदेव सूरिने अपने उपासकाचारमें अहिंसाका नीचेवाला लक्षण लिखा है, यह लक्षण सम्भवत आदिपुराणके 'चर्या तु देवतार्थं वा' आदि श्लोकको दृष्टिमें रखकर लिखा गया है। इसमें आहारके स्थानमें अतिथि और पितर रखे गये हैं और भय बढ़ा दिया गया है,

"देवतातिथिपित्रर्थं मन्त्रौषधभयाय वा।
न हिंस्यात प्राणिन सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥३२०॥"

देवताके लिए, अतिथिके लिए, पितरोंके लिए, मन्त्रसिद्धिके लिए, औषधके लिए और भयसे सब प्राणियोंकी हिंसा न करनेको अहिंसा व्रत कहते हैं।

हम पहले लिख आये हैं कि राजवार्तिकमें इस शंकाका समाधान किया गया है कि जब सर्वत्र जीव है तो कोई हिंसासे कैसे बच सकता है। सोमदेवसूरिने भी अपने ढंगसे इस शंकाका समाधान करते हुए लिखा है—ऐसा कोई काम नहीं है जिसमें हिंसा न हो। किन्तु उसमें मुख्य और आनुषंगिक भावोंका अन्तर है। जैसे संकल्पमें भेद

---

१ का० ७६। २ वैदिक कालमें ऐसी पद्धति थी।

स्पष्टता प्रतीत नहीं हुई। किन्तु सर्वार्थसिद्धिमें[1] त्रस जीवोंके प्राणोंका घात न करनेवालेको अहिंसाणुव्रती कहा है। उसमें न मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाका उल्लेख है और न संकल्पका ही उल्लेख है। परन्तु [2]राजवार्तिकमें 'त्रिधा' पद जोड़कर मन वचन काय या कृत कारित अनुमोदनाका निर्देश कर दिया गया है किन्तु संकल्पका उल्लेख उसमें भी नहीं है।

हिंसाकी निवृत्तिको अहिंसा कहते हैं। हिंसाका लक्षण तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सातमें 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा॥१३॥' ऐसा किया है। इसीका खुलासा अमृतचन्द्रसूरिने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें किया है। यथा

'यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥४३॥

अर्थात् कषायके वशीभूत होकर द्रव्यरूप या भावरूप प्राणोंका घात करना हिंसा है। हिंसाका यह लक्षण भी वैसा ही परिपूर्ण है जैसा रत्नकरण्डका अहिंसाणुव्रतका लक्षण है। हिंसाके इस लक्षणका विश्लेषण सर्वार्थसिद्धिकारने बड़ी उत्तमतासे कर दिया है। उन्होंने लक्षणके प्रत्येक पदकी सार्थकता बतलाते हुए अनेक प्राचीन उद्धरण देकर यह प्रमाणित किया है कि केवल प्राणोंका घात हो जानेसे ही हिंसा नहीं होती जबतक कि जिसके द्वारा घात हुआ है वह कषायाविष्ट न हो। और यदि वह कषायाविष्ट है असावधान और अयत्नाचारी है तो दूसरेके प्राणोंका घात न होनेपर भी वह हिंसाका भागी है क्योंकि जो प्रमादी है दूसरोंको कष्ट पहुँचानेके लिए उद्यत है या दूसरोंके प्रति असावधान है वह सबसे पहले तो अपना ही अनिष्ट करके अपना घात करता है, दूसरोंका घात तो पीछेकी वस्तु है वह हो या न हो किन्तु वह हिंसाका भागी होता है।

तत्त्वार्थराजवार्तिकमें तत्त्वार्थसूत्रके उक्त सूत्रका व्याख्यान करते हुए सर्वार्थसिद्धिटीकाके उक्त मन्तव्यको तो दिया ही है। उसके साथ ही साथ महाभारतका एक श्लोक देकर यह चर्चा उठायी है कि लोकमें सर्वत्र जीव भरे हुए हैं उसमें रहते हुए कोई साधु अहिंसक कैसे हो सकता है। इसका समाधान करते हुए भट्टाकलंकदेवने कहा है कि प्राणी दो तरहके होते हैं सूक्ष्म और स्थूल। जो सूक्ष्म हैं उन्हें तो कोई बाधा पहुँच ही नहीं सकती। शेष रहे स्थूल जहाँतक शक्य होता है उनकी रक्षा की जाती है अतः संयमी पुरुष हिंसाका भागी नहीं होता।

भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने आदिपुराणमें गृहस्थोंके लिए चर्याका विधान करते हुए लिखा है

"चर्या तु देवतार्थं वा मन्त्रसिद्ध्यर्थमेव वा।
औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामिति चेष्टितम्॥१४७॥ –पर्व ३९।

अर्थात् देवताके लिए मन्त्रकी सिद्धिके लिए औषध और भोजनके लिए मैं कभी किसी जीवको नहीं मारूँगा ऐसी प्रतिज्ञाको चर्या कहते हैं।

हिंसाके उक्त विवेचनका विस्तृत खुलासा पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें अमृतचन्द्राचार्यने किया है। कारिका ४३ से ४९ तक उक्त तथ्योंका व्याख्यान करके उन्होंने कारिका ५१ से ५७ तक हिंसाके विविध भंगोंका अभूतपूर्व विवेचन किया है जो द्रष्टव्य है। उसके बाद उन्होंने हिंसासे बचनेके इच्छुक जनोंको सबसे प्रथम मद्य मांस मधु और पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागका आदेश दिया है जिनका निर्देश पहले अष्टमूलगुणोंमें किया गया है। [3]मांसका निषेध करते हुए उन्होंने स्वयं मरे हुए पशुके मांसमें भी हिंसा बतलायी है। यह सम्भवतः उन बौद्ध मतानुयायियोंको उत्तर दिया गया है, जो स्वयं मरे हुए पशुका मांस खानेमें कोई दोष नहीं मानते। मधुका निषेध करते हुए उन्होंने छत्तेसे स्वयं टपके हुए मधुको भी अखाद्य बतलाया[4] है। मद्यादिककी तरह मक्खन[5] भी त्याज्य है। उदुम्बर फलोंके भक्षणका निषेध करते हुए उन्होंने उन उदुम्बर[6] फलोंको भी त्याज्य बतलाया है जिनमें काल पाकर त्रस जीव मर गये हैं।

---

१ सूत्र –१ की व्याख्यामें। २ सूत्र ७–१ की व्याख्यामें।
३ का० ६६–६८। ४ का० ७ । ५ का० १। ६ का० ७३।

तो करना ही चाहिए। किन्तु यदि कोई मासका व्यापार करने लगे तो क्या हानि है ? इस प्रकारकी आशका-का निराकरण करते हुए वे लिखते हैं,

"आरम्भेऽपि सदा हिंसा सुधी सांकल्पिकीं त्यजेत् ।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चै पापोऽघ्नन्नपि धीवर ॥८२॥ अ० २ ।"

सद्बुद्धिवाले श्रावकको आरम्भमे भी साकल्पी हिंसा नही करनो चाहिए। देखो, मारते हुए किसानसे नही मारता हुआ भी मछलीमार अधिक पापी होता है।

'मैं इसे मारूँगा या सताऊँगा या इसका घरवार लुटवा लूँगा' यह सब साकल्पी हिंसा है। चूँकि पशुओको मारे विना मास उत्पन्न नही होता अत कसाईका काम तो किया ही नही जा सकता। उसके सिवा भी जो उद्योग-धन्धा किया जाये उसमें अपनी आजीविकाकी भावना होनी चाहिए दूसरोको सतानेकी नही। किन्तु जो नाना उपायोंके द्वारा धन कमानेको ही अपना लक्ष्य वना लेते हैं वे अहिंसक नही हो सकते। इस लिए आशाधरजीने लिखा है,

"सन्तोषपोषतो य स्यादल्पारम्भपरिग्रह
भावशुद्ध्येकसर्गोऽसावहिंसाणुव्रत भजेत् ॥१४॥"

अर्थात् जो अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहसे सन्तुष्ट रहता है वही अहिंसाणुव्रतको पाल सकता है।

लोग समझते हैं कि जैनी शासन नही कर सकता, क्योकि उसमें अपराधीको दण्ड देना पडता है और उसके देनेसे अहिंसा व्रतमें क्षति पहुँचती है। किन्तु यह भ्रम है। आशाधरजीने इसका निराकरण करते हुए लिखा है,[1] कहा है कि राजाके द्वारा दोषके अनुसार शत्रु और पुत्रको समान रूपसे दिया गया दण्ड इस लोककी भी रक्षा करता है और परलोककी भी रक्षा करता है, अत पुराण वगैरहमें जो प्राय सुना जाता है कि अपराधियोंको नियमानुसार दण्ड देनेवाले चक्रवर्ती वगैरह भी अणुव्रत आदि धारण करते थे सो उसमें कोई विरोध नही आता है, क्योकि वे अपनी पदवी और शक्तिके अनुसार स्थूल हिंसा आदिके त्यागकी प्रतिज्ञा लेते थे।

अत अपनी पदवी और शक्तिके अनुसार प्रत्येक मनुष्य अणुव्रतोको धारण कर सकता है उसमें केवल साकल्पी हिंसाके लिए ही कोई स्थान नहीं है।

इस प्रकार विक्रमकी तेरहवी शती तकके ग्रन्थोके अनुशीलनसे अहिंसाणुव्रतके सम्बन्धमे हम नीचे लिखे निष्कर्षोंपर पहुँचते हैं,

१ प्रमादके योगसे प्राणोंके घात करनेको हिंसा कहते हैं।

२ जहाँ प्रमादका योग है वहाँ हिंसा है और दूसरेके प्राणोंका घात हो जानेपर भी जहाँ प्रमादका योग नही है वहाँ हिंसा नहीं है। अत हिंसा कर्ताके भावोपर अवलम्बित है।

३ त्रस जीवोंकी हिंसाके त्यागको अहिंसाणुव्रत कहते हैं। अहिंसाणुव्रतका यह एक स्थूल लक्षण है जिसे सबने माना है, किन्तु उसका परिपूर्ण लक्षण है मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाके सकल्पसे त्रस जीवोका घात न करना। यह लक्षण रत्नकरण्डश्रावकाचारका है।

---

१ "दण्डो हि केवलो लोकमिमं चामु च रक्षति। राज्ञा शत्रौ च मित्रे च यथादोष सम धृत ॥ इति वचनादपराधकारिषु यथाविधदण्डप्रणेतॄणामपि चक्रवर्त्यादीनामणुव्रतादिधारण पुराणादिषु च बहुश श्रूयमाण न विरुध्यते। आत्मीयपदवीशक्त्यनुसारेण तै स्थूलहिंसादिविरते प्रतिज्ञानात् ॥" —सागा० ध० अ० ४, श्लो० ५ की टीका।

होनेसे धीवर तो नहीं मारते हुए भी पापी है और किसान मारते हुए भी पापी नहीं है। अर्थात् हिंसा करना और हिंसा हो जाना इन दोनोंमें अन्तर है। धीवर मछली मारनेके इरादेसे जाल डाले हुए बैठा है उसका ध्यान मछली मारनेकी ओर है अतः जालमें एक मछलीके न आनेपर भी वह पापी है और किसान अन्न उत्पन्न करनेके भावसे हल जोतता है, जोतते समय अनेक जीव मर जाते हैं मगर वह आनुषंगिक हिंसा है, कृषि आदि आरम्भ करते हुए हो जाती है अतः किसान पापी नहीं है ॥१४०-१४१॥

आचार्य अमितगतिने अपने उपासकाचारके छठे परिच्छेदमें हिंसा और अहिंसाका अच्छा विवेचन किया है और पूर्वोक्त सभी बातोंका एक जगह संकलन कर दिया है। विशेषता इतनी है कि उन्होंने हिंसाके दो भेद किये हैं, एक आरम्भी हिंसा और दूसरी अनारम्भी हिंसा। और लिखा है कि जो गृहत्यागी मुनि हैं वे तो दोनों प्रकारकी हिंसा नहीं करते। किन्तु जो गृही है वह अनारम्भी हिंसा तो छोड़ देता है, किन्तु आरम्भी हिंसा नहीं छोड़ सकता

'हिंसा द्वेधा प्रोक्ताऽऽरम्भानारम्भभेदतो दक्षैः।
गृहवासतो निवृत्तो द्वेधाऽपि त्रायते तां च ॥६॥
गृहवाससेवनरतो मन्दकषायः प्रवर्तितारम्भः।
आरम्भजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतम् ॥७॥

प्रारम्भमें रत्नकरण्डश्रावकाचारसे जो अहिंसाणुव्रतका लक्षण दिया है उसमें मन वचन और कायके कृत कारित और अनुमत विकल्पोंके द्वारा नौ प्रकारसे त्रस जीवोंकी हिंसा न करनेको अहिंसाणुव्रत बतलाया है। जो श्रावक घर छोड़ चुके हैं वे ही नौ प्रकारसे अहिंसाका पालन कर सकते हैं किन्तु जो घरमें रहते हैं वे अनुमत हिंसासे नहीं बच सकते अतः गृहवासी श्रावक छह प्रकारसे हिंसाका त्याग करता है। किन्तु गृहत्यागी श्रावक नौ प्रकारसे हिंसाका त्याग करता है। आचार्य अमितगतिने उपासकाचारमें ऐसा लिखा है

"त्रिविधा द्विविधेन मता विरतिर्हिंसादितो गृहस्थानाम्।
त्रिविधा त्रिविधेन मता गृहचारकतो निवृत्तानाम् ॥१९॥

पं. आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतमें उक्त बातका अच्छा खुलासा किया है और अमितगतिके उक्त विश्लेषणको अपनाकर अणुव्रतके लक्षणमें ही उसे सम्मिलित कर दिया है

विरतिः स्थूलवधादेर्मनोवचोऽङ्गकृतकारितानुमतैः।
क्वचिदपरेऽप्यननुमतैः पञ्चाहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः ॥५॥ अ. ४।"

अर्थात् मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे स्थूल हिंसा आदि पाँचों पापोंके त्यागनेको अणुव्रत कहते हैं। किन्तु जो गृहत्यागी श्रावक है उसके मन वचन काय और कृत कारितसे स्थूल हिंसा आदिको त्यागना अणुव्रत है।

पं. आशाधरजीने अहिंसाणुव्रतका वर्णन करते हुए कोई ऐसी नयी बात तो नहीं कही जो उनसे पूर्वके ग्रन्थोंमें वर्तमान न हो। किन्तु उन्होंने अपनी शैलीमें उन बातोंका अच्छा खुलासा किया है।

गृही श्रावक आरम्भी हिंसाका त्याग नहीं कर सकता इसका उपपादन करते हुए वे लिखते हैं

गृहवासो विनारम्भान्न चारम्भो विना वधात्।
त्याज्यः स यत्नात्तन्मुख्यो दुस्त्यजस्त्वानुषङ्गिकः ॥१२॥"

अर्थात् बिना आरम्भ के घरमें नहीं रहा जा सकता और आरम्भ कोई ऐसा है नहीं जिसमें हिंसा न होती हो। अतः सङ्कल्पपूर्वक प्रयत्न करके मुख्य सङ्कल्पी हिंसाको छोड़ देना चाहिए। किन्तु जो कृषि आदि करते हुए हिंसा हो जाती है उसका त्याग करना तो गृहस्थके लिए शक्य नहीं है।

यह ठीक है कि यदि गृहस्थ बिना आरम्भ किये अपना निर्वाह नहीं कर सकता इसलिए उसे आरम्भ

४ पं० आशाधरजीने सागारधर्मामृतमें श्रावकके तीन भेद किये हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। यह भेद इससे पूर्व किसी ग्रन्थमें मेरे देखनेमें नहीं आये। हाँ, महापुराणके उन्तालीसवें पर्वमें कर्त्रन्वय क्रियाओंका वर्णन करते हुए पक्ष, चर्या और साधनका कथन किया है। यह कथन सद्गृहित्वसे सम्बन्ध रखता है। सम्भवतया इन्हीं तीनोंके आधारपर आशाधरजीने श्रावकके उक्त भेद किये हैं। आशाधरजीके अनुसार पाक्षिक अष्टमूलगुण पालता है। उसके लिए मक्खन भी त्याज्य है क्योंकि उसमें दो मुहूर्तके बाद बहुत-से जीव उत्पन्न हो जाते हैं। उसे रात्रिमें केवल पानी, औषध और पान-सुपारी आदि ही लेना चाहिए। पानी छानकर काममें लाना चाहिए। वह आरम्भमें भी संकल्पी हिंसा नहीं करता। ग्यारह प्रतिमाओंको नैष्ठिक श्रावकका भेद बतलाया है। उनमें-से प्रथम प्रतिमा दर्शनिक श्रावकका वर्णन करते हुए लिखा है कि वह अष्टमूलगुणोंमें कोई दोष नहीं लगने देता और इसलिए वह—

(१) मद्य, मांस, मधु, मक्खन वगैरहका व्यापारादि न स्वयं करता है, न दूसरोंसे कराता है और न किसीको वैसी सलाह ही देता है।

(२) जो स्त्री या पुरुष इन वस्तुओंका सेवन करते हैं उनके साथ वह खान-पान वगैरह नहीं करता।

(३) सब प्रकारके अचार, मुरब्बे, दो दिन रातका रखा हुआ दही, छाछ और फफूँदी हुई भोज्यसामग्री वह नहीं खाता।

(४) चमड़ेके कुप्पोंमें रखा पानी, घी, तेल वगैरह वह नहीं खाता।

(५) वस्तिकर्म और नेत्राञ्जनके रूपमें भी मधुका सेवन नहीं करता।

(६) अनजान फल नहीं खाता। फलियोंको बिना चीरे नहीं खाता।

(७) दिनके प्रथम और अन्तिम मुहूर्तमें भोजन नहीं करता। और रात्रिमें औषधके रूपमें भी घी दूध फल आदिका सेवन नहीं करता।

(८) पानीको छाने हुए यदि दो मुहूर्त हो गये हों तो उसे पुनः छानकर ही काममें लेता है। दुर्गन्धित वस्त्रसे पानी नहीं छानता और बिन छानीको उसी जलाशयमें पहुँचा देता है जिससे जल लाया था।

(९) जुआ, मांस, मद्य, चोरी, वेश्या, शिकार, परस्त्री, इन सात व्यसनोंका सेवन नहीं करता।

(१०) जिस वस्तुको बुरी समझकर स्वयं छोड़ देता है उसका प्रयोग दूसरोंके प्रति भी नहीं करता।

मुगल बादशाह अकबरके समयका रचा हुआ लाटीसंहिता नामका भी एक श्रावकाचार है। उसके उक्त नियमोंमें हम और भी कड़ाई पाते हैं। श्रावककी तिरपन क्रियाओंकी दिग्दर्शक एक गाथा इसमें उद्धृत है, जो अन्य श्रावकाचारोंमें हमने नहीं देखी। सम्भवतः यह प्राकृत क्रियाकाण्डकी जान पड़ती है। इसमें शुद्ध आहारपर अधिक जोर दिया गया है। लिखा है,

१ अपने हाथोंसे अन्न वगैरहको शोधना चाहिए। २ अनजान साधर्मीके द्वारा और जानकार विधर्मीके द्वारा शोधा गया या पकाया गया भी भोजन नहीं करना चाहिए। ३ आगपर अकेला पकाया गया या घीके साथ पकाया गया बासी भोजन नहीं करना चाहिए। ४ सब प्रकारका पत्तेका शाक नहीं खाना चाहिए। ५ जब बासी भोजन ही अभक्ष्य है तब आसव, अरिष्ट, अथाना वगैरहका तो कहना ही क्या? ६ भंग, अफीम धतूरा वगैरह जो मद्यकी तरह मादक वस्तुएँ हैं वे सब त्याज्य हैं। ७ इन्होंने अणुव्रती श्रावकके लिए खेती वगैरह करनेका भी निषेध[1] किया है; लिखा है—कृषि आदिमें महान् आरम्भ करना पड़ता है, उससे क्रूर कर्मोंका

१ "कृष्याद्यो महारम्भा क्रूरकर्मार्जनक्षमा।
तत्क्रियानिरतो जीव कुतो हिंसावकाशवान्॥१४८॥"

४ उत्तरकालमें इस प्रश्नका खुलासा इस रूपमें हुआ — जो गृही श्रावक है वह मन वचन और कायसे कृत और कारित रूप संकल्पसे त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करता है। किन्तु जो घर-बार छोड़ चुका है वह श्रावक भी संकल्पसे त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करता है। यह खुलासा सर्वप्रथम अमितगतिके ग्रन्थमें पाया जाता है।

५ अणुव्रती श्रावक कृषि आदि कर सकता है और यदि वह शासक है तो अपराधियोंको दण्ड भी दे सकता है किन्तु जान-बूझकर या बलात्कारपूर्वक किसी प्राणीका घात नहीं कर सकता है। अतः धर्मके नामपर, देवताके नामपर, मन्त्रके लिए, भोजनके लिए या औषधके लिए किसीकी जान लेना अत्यन्त अनुचित है।

६ हिंसाके दो भेद हैं आरम्भी हिंसा और अनारम्भी या संकल्पी हिंसा। मुनिके लिए दोनों हिंसा त्याज्य हैं किन्तु गृहस्थ केवल अनारम्भी हिंसाका ही त्याग कर सकता है, आरम्भीका नहीं। यह दोनों भेद भी हमें आचार्य अमितगतिके उपासकाचारमें ही देखनेको मिले। उन्हींसे सागारधर्मामृत वगैरहमें लिये गये हैं।

हिंसाके आजकल चार भेद किये जाते हैं — संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। आरम्भी हिंसाके ही आरम्भी आदि तीन भेद किये गये प्रतीत होते हैं। किन्तु किसी ग्रन्थमें ये भेद हमने नहीं देखे।

अब हम अहिंसाणुव्रतका पालन करनेके लिए शास्त्रकारोंने जो नियमोपनियम बनाये उनपर विचार करेंगे।

१ पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें तो हिंसाको छोड़नेके इच्छुक जनोंके लिए सबसे प्रथम मद्य मांस मधु और पाँच उदुम्बरोंका त्याग कर देना आवश्यक बतलाया है तथा मक्खनको भी त्याज्य ठहराया है। रातमें भोजन करनेका भी निषेध किया है।

२ सोमदेव सूरिने निम्न बातें बतलायी हैं

(१) घरके सब काम देख भालकर करना चाहिए और सब पेय पदार्थोंको वस्त्रसे छानकर काममें लाना चाहिए।

(२) आसन शय्या मार्ग अन्न तथा और भी जो वस्तुएँ हैं उन्हें बिना देखे काममें नहीं लाना चाहिए।

(३) मांस वगैरहको देखकर, छूकर, भोजनमें यह मांसके समान है ऐसा ख्याल हो जानेपर तथा अत्यन्त करुण चीत्कार सुनकरके यदि भोजन करते हुए हों तो भोजन छोड़ देना चाहिए।

(४) रात्रिमें भोजन नहीं करना चाहिए।

(५) पहले अपने आश्रितोंको खिलाकर तब स्वयं खाना चाहिए।

(६) जिनमें जन्तु हों ऐसे अचार, पेय, अन्न, फल, फूल वगैरह नहीं एकत्र करने चाहिए।

(७) जिस सब्जीके अन्दर छेद हो गये हैं उसे फेंक देना चाहिए। अनन्तकाय वनस्पतिका सेवन नहीं करना चाहिए।

(८) चना उड़द वगैरह यदि पुराना हो गया हो तो उसे दलकर ही काममें लाना चाहिए। सब प्रकारकी फलियोंको चीरकर ही काममें लाना चाहिए।

( ) जो बहुत आरम्भी और बहुत परिग्रही है वह अहिंसक नहीं हो सकता।

(१) दम्भ और दुराचारी मनुष्यमें दया नहीं रहती।

(११) पृथ्वी जल वायु अग्नि और वृक्ष वगैरहका उपयोग भी उतना ही करना चाहिए जितनेसे प्रयोजन हो।

(१२) अपने अथवा प्रमादसे द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवोंका यदि घात हो जाये तो आगमानुसार उसका प्रायश्चित्त लेना चाहिए।

३ आचार्य अमितगतिने मद्य मांस मधु पाँच उदुम्बर रात्रिभोजन और अनछने जलको सबसे प्रथम त्याज्य बतलाया है।

प० आशाधरजीने सागारधर्मामृतमें श्रावकके तीन भेद किये हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। यह भेद इससे पूर्व किसी ग्रन्थमें मेरे देखनेमें नही आये। हाँ, महापुराणके उन्तालीसवें पर्वमें कर्त्रन्वय क्रियाओका वर्णन करते हुए पक्ष, चर्या और साधनका कथन किया है। यह कथन सद्गृहित्वसे सम्बन्ध रखता है। सम्भवतया इन्ही तीनोके आधारपर आशाधरजीने श्रावकके उक्त भेद किये हैं। आशाधरजीके अनुसार पाक्षिक अष्टमूलगुण पालता है। उसके लिए मक्खन भी त्याज्य है क्योकि उसमें दो मुहूर्तके बाद बहुत-से जीव उत्पन्न हो जाते है। उसे रात्रिमे केवल पानी, औषध और पान-सुपारी आदि ही लेना चाहिए। पानी छानकर काममे लाना चाहिए। वह आरम्भमे भी सकल्पी हिंसा नही करता। ग्यारह प्रतिमाओको नैष्ठिक श्रावकका भेद बतलाया है। उनमें-से प्रथम प्रतिमा दर्शनिक श्रावकका वर्णन करते हुए लिखा है कि वह अष्टमूलगुणोमें कोई दोष नही लगने देता और इसलिए वह—

(१) मद्य, मास, मधु, मक्खन वगैरहका व्यापारादि न स्वय करता है, न दूसरोंसे कराता है और न किसीको वैसी सलाह ही देता है।

(२) जो स्त्री या पुरुष इन वस्तुओका सेवन करते हैं उनके साथ वह खान-पान वगैरह नहीं करता।

(३) सब प्रकारके अचार, मुरब्बे, दो दिन रातका रखा हुआ दही, छाछ और फपूँदी हुई भोज्यसामग्री वह नही खाता।

(४) चमडेके कुप्पोमें रखा पानी, घी, तेल वगैरह वह नही खाता।

(५) वस्तिकर्म और नेत्राजनके रूपमें भी मधुका सेवन नही करता।

(६) अनजान फल नहीं खाता। फलियोको बिना चीरे नही खाता।

(७) दिनके प्रथम और अन्तिम मुहूर्तमें भोजन नही करता। और रात्रिमें औषधके रूपमें भी घी दूध फल आदिका सेवन नहीं करता।

(८) पानीको छाने हुए यदि दो मुहूर्त हो गये हो तो उसे पुन छानकर ही काममें लेता है। दुर्गन्धित वस्त्रसे पानी नही छानता और बिन छानीको उसी जलाशयमें पहुँचा देता है जिससे जल लाया था।

(९) जुआ, मास, मद्य, चोरी, वेश्या, शिकार, परस्त्री, इन सात व्यसनोका सेवन नहीं करता।

(१०) जिस वस्तुको बुरी समझकर स्वय छोड देता है उसका प्रयोग दूसरोंके प्रति भी नहीं करता।

मुगल बादशाह अकबरके समयका रचा हुआ लाटीसहिता नामका भी एक श्रावकाचार है। उसके उक्त नियमोमें हम और भी कडाई पाते हैं। श्रावककी तिरपन क्रियाओको दिग्दर्शक एक गाथा इसमें उद्धृत है, जो अन्य श्रावकाचारोमें हमने नही देखी। सम्भवत यह प्राकृत क्रियाकाण्डकी जान पडती है। इसमें शुद्ध आहारपर अधिक जोर दिया गया है। लिखा है,

१ अपने हाथोसे अन्न वगैरहको शोधना चाहिए। २ अनजान साधर्मीके द्वारा और जानकार विधर्मीके द्वारा शोधा गया या पकाया गया भी भोजन नही करना चाहिए। ३ आगपर अकेला पकाया गया या घीके साथ पकाया गया बासी भोजन नही करना चाहिए। ४ सब प्रकारका पत्तेका शाक नही खाना चाहिए। ५ जब बासी भोजन ही अभक्ष्य है तब आसव, अरिष्ट, अथाना वगैरहका तो कहना ही क्या? ६ भंग, अफीम धतूरा वगैरह जो मद्यकी तरह मादक वस्तुएँ हैं वे सब त्याज्य हैं। ७ इन्होने अणुव्रती श्रावकके लिए खेती वगैरह करनेका भी निषेध[1] किया है, लिखा है—कृषि आदिमें महान् आरम्भ करना पडता है, उससे क्रूर कर्मोंका

---

१ "कृष्याद्यो महारम्भा क्रूरकर्मार्जनक्षमा।
तत्क्रियानिरतो जीव कुतो हिंसावकाशवान्॥१४८॥"

बन्ध होता है अतः जो कृषि आदि क्रिया करता है उसे हिंसासे अवकाश कैसे मिल सकता है। आगे लिखा है कि यदि कोई किसान खेतीको घटा दे तो अच्छा है किन्तु उसके कोई भी प्रतिमा नहीं हो सकती।[1] आगे खेती करानेका भी निषेध किया है और लिखा है कि व्यापारके लिए विदेशोंको गाड़ी वगैरह भी नहीं भेजना चाहिए।[2] ८. श्रावकको त्रस जीवोंसे रहित वस्तुका ही क्रय-विक्रय करना चाहिए। ९. अकालके समय व्यापारके लिए धान्यसंग्रह नहीं करना चाहिए तथा घी तेल और गुड़का संग्रह कभी नहीं करना चाहिए। १०. लाख ईंट चार घास और चमड़े वगैरहका तथा पशुओंका व्यापार नहीं करना चाहिए। ११. तोता कुत्ता बिलाव बन्दर सिंह और मृग वगैरहको नहीं पालना चाहिए। १२. अन्य भी जो ऐसे काम हैं जिनमें त्रस जीवोंका वध होता हो वे सब नहीं करना चाहिए। १३. व्रती नैष्ठिकको संग्रामकी शिक्षा नहीं करना चाहिए। हाँ अव्रती पाक्षिक कर भी सकता है।

अन्य भी बहुत-से प्रतिबन्ध अणुव्रती श्रावकके लिए इस ग्रन्थमें बतलाये गये हैं।

इस विवरणसे प्रतीत होता है कि अहिंसाका स्रोत खान-पानकी शुद्धिकी ओर अधिक प्रवाहित हुआ है और उत्तरकालमें भारतमें मुसलमानोंका आवागमन बढ़ जानेके कारण उसमें और भी अधिक कड़ाई बरती गयी है। यद्यपि राग और द्वेष तथा उससे उत्पन्न होनेवाले काम क्रोध आदि सभी भाव हिंसाके ही रूपान्तर हैं तथापि उनकी ओर उतना लक्ष्य नहीं दिया गया जितना खान-पानकी शुद्धिकी ओर दिया गया है। उसीके फलस्वरूप शुद्ध खान-पान करनेवाले भी मनुष्योंमें मानसिक अशुद्धिकी न्यूनता नहीं पायी जाती और व्यवहारमें अहिंसाके दर्शन कम ही होते हैं।

रात्रिभोजन

श्रावकाचारका वर्णन करते हुए प्रायः सभी शास्त्रकारोंने रात्रिभोजनका निषेध किया है। थोड़ा अन्तर देखा जाता है वह यह कि श्रावकके जो ग्यारह भेद बतलाये हैं उनमें छठे भेदके स्वरूपको लेकर शास्त्रकारोंमें मतभेद है। आचार्य कुन्दकुन्दने तो ग्यारह भेदोंके केवल नाम गिनाये हैं जिसमें छठे भेदका नाम 'रायभत्त' रखा है। टीकाकार श्रुतसागर सूरिने दोनों मान्यताओंको लेकर उसका अर्थ रात्रिभोजनविरत और दिवा ब्रह्मचर्य किया है। रत्नकरण्डश्रावकाचारमें स्वामी समन्तभद्रने छठी प्रतिमाका नाम 'रात्रिभुक्तिविरत' रखा है और लिखा है कि जो प्राणियोंपर दया करके रात्रिमें चारों प्रकारके भोजनका त्याग करता है उसे रात्रिभुक्तिविरत कहते हैं। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षामें भी छठी प्रतिमाका यही स्वरूप दिया है। किन्तु चारित्रसार, सोमदेवकृत उपासकाचार, वसुनन्दि श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार, सं. भावसंग्रह और सागारधर्मामृतमें दूसरा स्वरूप दिया है अर्थात् जो केवल रात्रिमें ही स्त्रीसे भोग करता है और दिनमें ब्रह्मचर्य पालता है उसे रात्रिभक्तव्रत या दिवामैथुनविरत कहते हैं। लाटीसंहितामें दोनोंको ही सम्मिलित कर लिया है अर्थात् रात्रिभोजन और दिवामैथुनका जो त्याग करता है वह षष्ठम श्रावक कहा जाता है।

छठी प्रतिमामें रात्रिभोजनका त्याग करानेवाले रत्नकरण्डश्रावकाचार और स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षामें छठी प्रतिमासे पहले रात्रिभोजन न करनेकी कोई चर्चा नहीं की गयी है जब कि अन्य श्रावकाचारोंमें पाक्षिककी तरह रात्रिभोजनका त्याग भी आवश्यक बतलाया है।

---

१ "आह कृषीवलः कश्चिद् ह्रासर्तं न च करोम्यहम्।
सत्समार्तं करिष्यामि प्रतिमाऽस्य न कापि सा ॥१११॥
२ "भूरं कृष्यादिकं कर्म सर्वतोऽपि न कारयेत्।
वाणिज्यार्थं विदेशेषु शकटादिं न प्रेषयेत् ॥१ ॥
३ चारित्र प्रा. गा. २१। ७ श्लो. १४२। ८ गा. ३८३। ९ पृ. १९। श्लो. ८५३। ८ गा. २९६। ९ अ. ७ श्लो. ७२। १ श्लो. ५६८। ११ अ. ७ श्लो. १२। १२ पृ. १११।

सर्वार्थसिद्धिमे व्रतका वर्णन करते हुए सातवें अध्यायके प्रथम सूत्रके व्याख्यानमें एक शका की गयी है कि रात्रिभोजनविरमण नामका एक षष्ठ अणुव्रत भी है उसे भी यहां गिनाना चाहिए। इसका यह समाधान किया गया कि रात्रिभोजनविरमण कोई अलग अणुव्रत नही है, किन्तु उसका अन्तर्भाव अहिंसाव्रतकी 'आलोकित पानभोजन' भावनामे हो जाता है। अकलकदेवने राजवार्तिकमें भी यही शका उठायी है और समाधान भी यही किया है। इसका यह मतलब नही है कि दिगम्बर परम्परामें रात्रिभोजनविरत्ति नामका भी षष्ठ अणुव्रत था। यह शका तो श्वेताम्बर मान्यताको लेकर की गयी प्रतीत होती है, क्योंकि श्वेताम्बरोंमे[1] छह मूलगुण माने गये है—पांच अहिंसा आदि और छठा रात्रिभोजनत्याग। उसीको दृष्टिमें रखकर यह शका की गयी प्रतीत होती है। किन्तु चारित्रसारमें जो मुख्य रीतिसे सर्वार्थसिद्धिको सामने रखकर लिखा गया है, रात्रिभोजनविरतिको छठा अणुव्रत स्वीकार किया है। और रत्नकरण्डमे छठी प्रतिमाका जो स्वरूप बतलाया है वही उसका स्वरूप बतलाया है। चारित्रसारकी इस मान्यताका समर्थन पूर्वकालीन या उत्तरकालीन किसी भी ग्रन्थसे नहीं होता। रात्रिभोजनविरतिको छठी प्रतिमा मानना अवश्य ही ध्यान देने योग्य है। किन्तु इसका यह मतलब नही है कि छठी प्रतिमासे पहलेके श्रावकोंके लिए रात्रिभोजन विधेय था, क्योंकि प्राय सभी पूर्वकालीन और उत्तरकालीन ग्रन्थोंमें रात्रिभोजनका निषेध जोरसे किया गया है। प्रमाण रूपमे सबसे पहले वि० स० ७३४ के रचे हुए पद्मचरितको ही लें, उसके चौदहवें पर्वमें लगभग ६० श्लोकोंके द्वारा रात्रिभोजनकी बुराइयां और उसके त्यागकी भलाइयां बतलायी गयी हैं। उसमें लिखा है, "जिन्होंने रात्रिभोजन रूपी अधर्मको धर्म माना है वे कठोर पापी हैं। सूर्यके छिप जानेपर पापी जीव परम लालसासे भोजन करता है, किन्तु दुर्गतिको नही देखता। रात्रिको खानेवाला पापी अन्धकारमे मक्खी कीडे वगैरह खा जाता है। जो रात्रिको भोजन करता है वह डाकिनी भूत पिशाच आदि कुत्सित प्राणियोंके साथ तथा कुत्ता, बिल्ली वगैरह मासाहारी प्राणियोंके साथ भोजन करता है। अधिक क्या, जिसने रात्रिमे खाया उसने सब अपवित्र वस्तुओंको खाया। अत रात्रिमे खानेवाले मनुष्य नही, पशु हैं।" इत्यादि।

अकलकदेवने राजवार्तिकमे रात्रिभोजनका जो निषेध किया है वह अधिक जोरदार प्रतीत नही होता, दूसरे वह मुनियोंकी दृष्टिसे किया गया जान पडता है। उत्तरकालीन श्रावकाचारोंमे पद्मचरितके स्वरमें ही रात्रिभोजनका निषेध मिलता है। उदाहरणके लिए अमितगति श्रावकाचारका विवरण देखने योग्य है जो लगभग ३० श्लोकोंके द्वारा किया गया है। उसमें लिखा है, "जिसमें राक्षस पिशाच आदि घूमते हैं, जीवसमूह दिखायी नही देता, छोडी गयी वस्तु भी खानेमें आ जाती है, घना अन्धकार रहता है, मुनिदानका अवसर नहीं मिलता, न देवपूजन ही होता है, खानेके साथ जीवोंको भी भक्षण करना पडता है, कोई भी शुभ काम जिस समय नही किया जा सकता उस दोषपूर्ण रातके समयमे धर्मात्मा और कर्मठ पुरुष भोजन नही करते।" आदि।

सोमदेव सूरिने तो केवल एक श्लोकके द्वारा अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए और मूलव्रतकी विशुद्धिके लिए रात्रिभोजनका निषेध किया है। सागारधर्मामृतमें भी प्राय उक्त युक्तियोंको देकर रात्रिभोजनका निषेध किया गया है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि साधारण श्रावकके लिए कभी भी रात्रिभोजन विधेय नही रहा। पाक्षिक श्रावकके लिए मुखवास तथा औषध आदिकी छूट देखी जाती है। सागारधर्मामृतमें लिखा है कि पाक्षिक श्रावक रात्रिमें पान, इलायची, पानी, औषध वगैरह ले सकता है।

ऊपर लिखा है कि लाटीसंहितामें छठी प्रतिमाका स्वरूप बतलाते हुए रात्रिभोजनत्यागको भी उसका स्वरूप बतलाया है। फिर भी पहली प्रतिमाका स्वरूप बतलाते[2] हुए उसमें रात्रिभोजनका निषेध किया

१ "मूलगुण—पचमहव्वयाणि राईभोयणा छट्ठाई।" महा० ३ अ०।

२ लाटीसहिता, पृ० १९।

है और लिखा है कि रात्रिभोजन करनेसे मांसभक्षणका दोष लगता है। इसपर यह शंका की गयी है कि श्रावकको यहाँ रात्रिभोजनका निषेध नहीं करना चाहिए यह तो आपने छठी प्रतिमामें बतलाया है। इसका यह समाधान किया गया कि पूरी तरहसे रात्रिभोजनका निषेध छठी प्रतिमामें होता है। यहाँ तो उसका आंशिक त्याग किया जाता है। अर्थात् यहाँ रात्रिभोजननिषेध सातिचार है और छठी प्रतिमामें निरतिचार है। यहाँ तो अन्न वगैरह स्थूल खाद्यका निषेध है जलपान वगैरहका निषेध नहीं है, किन्तु छठी प्रतिमामें तो प्राणान्त हो जानेपर भी जलपानकी तो बात ही क्या औषध भी नहीं ली जा सकती। शायद कोई कहे कि पहली प्रतिमावाला श्रावक तो केवल जैनधर्मका पक्ष करता है वैसे तो वह अव्रती है अतः उसे रात्रिमें अन्न खाना चाहिए। इसका समाधान यह किया गया कि रात्रिभोजन न करना जैनोंका कुलाचार है उसके बिना कोई नामसे भी श्रावक नहीं हो सकता। रात्रिभोजन न करना तो सबसे जघन्य व्रत है, उसके नीचे तो फिर कोई क्रिया ही नहीं है।

शायद कहा जाये कि पाक्षिक श्रावक तो अव्रती होता है उसके तो केवल जैनधर्मका पक्ष मात्र रहता है व्रत तो वह पालता ही नहीं है किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी अवस्थामें उसे पाक्षिक भी नहीं कह सकते क्योंकि वह सर्वज्ञ भगवान्‌की आज्ञाका लोपक है। भगवान्‌की आज्ञा है कि जो क्रियावान् हो वही श्रावक है। अतः निकृष्टसे निकृष्ट श्रावक भी कुलाचारको नहीं छोड़ता।

इस प्रकार लाटीसंहिताके कर्ता निकृष्टसे निकृष्ट श्रावकको भी व्रतके रूपमें न सही तो कुलाचारके रूपमें ही रात्रिभोजन न करना आवश्यक बतलाकर रात्रिभोजनकी बुराइयाँ बतलाते हैं।

वे लिखते हैं – यह सब जानते हैं कि रात्रिमें दीपकके निकट पतंगे आते ही हैं और वे हवाके वेगसे मर जाते हैं। अतः उनके कलेवर जिस भोजनमें पड़ जाते हैं वह भोजन निरामिष कैसे रहा? तथा रात्रिमें भोजन करनेमें युक्त-अयुक्तका भी विचार नहीं रहता। अरे जहाँ मक्खी दिखायी नहीं देती वहाँ मच्छरोंका तो कहना ही क्या? अतः संयमकी वृद्धिके लिए रात्रिमें चारों प्रकारके आहारका त्याग करना चाहिए। यदि उतनी सामर्थ्य न हो तो अन्न वगैरहका त्याग करना चाहिए।

सातवीं शतीसे लेकर सत्रहवीं शती तक एक हजार वर्षके समयमें रात्रिभोजनके विषयमें जो विचार धारा बहती आयी है ऊपर उसका विवरण दिया गया है और उस सबका सार सोमदेव सूरिके शब्दोंमें यह निकलता है

'अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
निशायां वर्जयेद् भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥३२५॥

अर्थात् अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए और मूलगुणोंको विशुद्ध रखनेके लिए इस लोक और परलोकमें दुःखदायी रात्रिभोजनको छोड़ देना चाहिए ॥३२५॥

उत्सर्ग मार्ग यही है। इसमें अपवाद तो केवल पानी औषध और मुखको सुवासित करनेवाले पान इलायची आदिके बाबत कर सकता था। किन्तु उत्तरकालमें हिन्दू और मुसलमानोंके संसर्गसे रात्रिभोजनका प्रचार जैनोंमें बढ़ा तो फिर अन्नाहारके त्यागपर ही जोर दिया जाने लगा। रात्रिमें फलाहार करना और फलाहारके नामपर सिंघाड़ेकी गिरी तिल रतालू आदिके व्यंजन बनाकर सेवन करनेकी रीति एकदम हिन्दुओंके प्रभावको व्यक्त करती है क्योंकि उनमें व्रतके दिन अन्नाहार न करके ऐसी ही वस्तुओंका आहार किया जाता है। धीरे-धीरे जब जैनधर्म केवल वैश्य धर्म ही रह गया और वातावरण मन्द हो चला तो रात्रिभोजनत्यागको कुलाचार मानकर उसपर जोर दिया जाने लगा जैसा लाटीसंहितासे प्रकट है। किन्तु वास्तविक बात तो सावयधम्मदोहा के अनुसार यही है

'उग्गालासइ वज्जु मुहपि ज अत्थमियइ सूरि।
भोगासत्तुं पलु अहिकलसिउ तं किज्ज दंसणु दूरि ॥१०॥

अर्थात् ताम्बूल, औषध और जलको छोड़कर सूर्यास्तके बाद जिसने भोजन या फलाहारकी अभिलाषा की उसने दर्शन (श्रद्धान) को दूर कर दिया।

अहिंसाणुव्रतके अतिचार

अहिंसाणुव्रतके पाँच अतीचार सभी श्रावकाचारोंमें बतलाये हैं जो समान हैं। अतीचार कहते हैं, व्रतका ध्यान रखते हुए भी उसमें दूषण लगा लेना। जिन दूषणोंसे व्रत पूरी तरह खण्डित नहीं होता किन्तु आंशिक खण्डित हो जाता है वे दूषण अतीचार कहे जाते हैं। वे अतीचार हैं, मनुष्य या पशुको बाँधना, डण्डे वगैरहसे पीटना, नाक वगैरहका छेदना, शक्तिसे अधिक भार लादना और समयपर खाना-पीना नहीं देना। ये अतिचार बहुत प्राचीन हैं, तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचारमें भी ये ही अतिचार गिनाये गये हैं। इनसे यह स्पष्ट है कि अहिंसा अणुव्रतका सम्बन्ध केवल खान-पानकी शुद्धिसे ही नहीं था किन्तु व्यवहारकी शुद्धिसे भी था। ऊपरके पाँचों अतिचार मनुष्य और पशुओंके साथ किये जानेवाले व्यवहारसे ही सम्बन्ध रखते हैं।

सत्याणुव्रत

शेष चार अणुव्रतोंका वर्णन करनेसे पहले यह बता देना आवश्यक है कि वे अहिंसा व्रतके रक्षक मात्र हैं—स्वतन्त्र नहीं हैं। जैसे किसान खेतकी रक्षाके लिए चारों ओर बाड़ा लगा देता है वैसे ही अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए वे चारों बाढ़रूप हैं, उनके पालन करनेसे अहिंसाव्रतकी रक्षा होती है। किन्तु जहाँ इन चारों व्रतोंमें-से कोई भी व्रत अहिंसाका रक्षक न होकर भक्षक होता हो वहाँ अहिंसाकी रक्षाका ही ध्यान रखा जाता है, शेष व्रतोंका नहीं। इसीलिए रत्नकरण्डश्रावकाचारमें सत्याणुव्रतका स्वरूप बतलाते हुए स्वामी समन्तभद्रने लिखा है,

"स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥५५॥"

जो स्थूल झूठ न स्वयं बोलता है और न दूसरोंसे बुलवाता है तथा जब सत्य बोलनेसे दूसरेका अपकार होता हो तो ऐसे समय सत्य भी न स्वयं बोलता है और न दूसरोंसे बुलवाता है उसे स्थूल झूठका त्यागी या सत्याणुव्रती कहते हैं।

आचार्य उमास्वामीने अपने तत्त्वार्थसूत्रमें असत्यका लक्षण बतलाया है,

"असदभिधानमनृतम्।" अ० ७, सू० १४ ॥

इसका व्याख्यान करते हुए सर्वार्थसिद्धिके कर्ताने लिखा है, "असत्का अर्थ है—अप्रशस्त। और जिससे प्राणीको पीड़ा पहुँचती हो वह वचन, चाहे वह सच्चा हो या झूठा, अप्रशस्त है अत उसका बोलना असत्य है।" जैसे काने मनुष्यको काना कहना यद्यपि सत्य है किन्तु है मर्मभेदी, अत वह झूठमें ही सम्मिलित है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें असत्यके चार भेद किये हैं—विद्यमान वस्तुका निषेध करना पहला असत्य है, जैसे देवदत्तके घरमें होते हुए भी यह कहना कि देवदत्त यहाँ नहीं है। अविद्यमान वस्तुको विद्यमान बतलाना दूसरा असत्य है, जैसे घटके नहीं होते हुए भी यह कहना कि घट है। कुछका कुछ कह देना तीसरा असत्य है, जैसे बैलको घोड़ा बतलाना। चौथे असत्यके भी तीन भेद हैं—गर्हित, सावद्य और अप्रिय। किसीकी चुगली करना, हँसी करना, किसीको कठोर बातें कहना, बक-झक करना आदि गर्हित कहलाता है। मारो, काटो, इसके घरमें आग लगा दो, इसे लूट लो इत्यादि वचनोंको सावद्य कहते हैं। जो वचन वैर, शोक, कलह, खेद और सन्ताप करनेवाला हो वह अप्रिय है। इस प्रकारके वचन चूँकि प्रमादके कारण ही बोले जाते हैं इसलिए ये सब हिंसामें ही सम्मिलित हैं। किन्तु जहाँ कोई हितकी दृष्टिसे दूसरेको कठोर शब्द कहता है वहाँ उसका उद्देश्य सत् होनेसे वे कठोर वचन उक्त वचनोंमें गर्भित नहीं समझे जाते।

है और लिखा है कि रात्रिभोजन करनेसे मांसभक्षणका दोष लगता है। इसपर यह शंका की गयी है कि आपको यहाँ रात्रिभोजनका निषेध नहीं करना चाहिए यह तो आपने छठी प्रतिमामें बतलाया है। इसका यह समाधान किया गया कि पूरी तरहसे रात्रिभोजनका निषेध छठी प्रतिमामें होता है। यहाँ तो उसका आंशिक त्याग किया जाता है। अर्थात् यहाँ रात्रिभोजननिषेध सातिचार है और छठी प्रतिमामें निरतिचार है। यहाँ तो अन्न वगैरह स्थूल खाद्यका निषेध है जलपान वगैरहका निषेध नहीं है, किन्तु छठी प्रतिमामें तो प्राणान्त हो जानेपर भी जलपानकी तो बात ही क्या औषध भी नहीं ली जा सकती। शायद कोई कहे कि पहली प्रतिमावाला श्रावक तो केवल जैनधर्मका पक्ष करता है वैसे तो वह अव्रती है अतः उसे रात्रिमें अन्न खाना चाहिए। इसका समाधान यह किया गया कि रात्रिभोजन न करना जैनोंका कुलाचार है उसके बिना कोई नामसे भी श्रावक नहीं हो सकता। रात्रिभोजन न करना तो सबसे जघन्य व्रत है उसके नीचे तो फिर कोई क्रिया ही नहीं है।

शायद कहा जाये कि पाक्षिक श्रावक तो अव्रती होता है, उसके तो केवल जैनधर्मका पक्ष मात्र रहता है, व्रत तो वह पालता ही नहीं है किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी अवस्थामें उसे पाक्षिक भी नहीं कह सकते क्योंकि वह सर्वज्ञ भगवान्की आज्ञाका लोपक है। भगवान्की आज्ञा है कि जो क्रियावान् है वही श्रावक है। अतः निकृष्टसे निकृष्ट श्रावक भी कुलाचारको नहीं लाँघता।

इस प्रकार लाटीसंहिताके कर्ता निकृष्टसे निकृष्ट श्रावकको भी व्रतके रूपमें न सही तो कुलाचारके रूपमें ही रात्रिभोजन न करना आवश्यक बतलाकर रात्रिभोजनकी बुराइयाँ बतलाते हैं।

वे लिखते हैं यह सब जानते हैं कि रात्रिमें दीपकके निकट पतिंगे आते ही हैं और वे हवाके वेगसे मर जाते हैं। अतः उनके कलेवर जिस भोजनमें पड़ जाते हैं वह भोजन निरामिष कैसे रहा? तथा रात्रिमें भोजन करनेमें युक्त-अयुक्तका भी विचार नहीं रहता। अरे जहाँ मक्खी दिखायी नहीं देती वहाँ मच्छरोंका तो कहना ही क्या? अतः संयमकी वृद्धिके लिए रात्रिमें चारों प्रकारके आहारका त्याग करना चाहिए। यदि उतनी सामर्थ्य न हो तो अन्न वगैरहका त्याग करना चाहिए।

सातवीं शतीसे लेकर सत्रहवीं शती तक एक हजार वर्षके समयमें रात्रिभोजनके विषयमें जो विचार धारा बहती आयी है ऊपर उसका विवरण दिया गया है और उस सबका सार सोमदेव सूरिके शब्दोंमें यह निकलता है,

'अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये ।
निशायां वर्जयेद् भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥३२५॥

अर्थात् अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए और मूलव्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिए इस लोक और परलोकमें दुःखदायी रात्रिभोजनको छोड़ देना चाहिए ॥३२५॥

वस्तुमें बात यही है। इसका प्रचार तो केवल जैनों बौद्ध और बुद्धका अनुयायी करनेवाले पान इत्यादी जातिके लोगों तक था। किन्तु उत्तरकालमें हिन्दू और मुसलमानोंके संसर्गसे रात्रिभोजनका प्रचार जैनोंमें बढ़ा तो फिर अल्पाहारके रूपमें ही ओर दिया जाने लगा। रात्रिमें फलाहार करना और फलाहारके नामपर सिंघाड़ेकी मिठी तिल रसविरा आदिक व्यंजन बनाकर सेवन करनेकी रीति एकदम हिन्दूधर्मके प्रभावको व्यक्त करती है क्योंकि उनमें व्रतके दिन अन्नाहार न करके ऐसी ही वस्तुओंका आहार किया जाता है। धीरे-धीरे जब जैनधर्म केवल वैश्य धर्म ही रह गया और प्रभावना मन्द हो चला तो रात्रिभोजनत्यागको कुलाचार मानकर उसपर जोर दिया जाने लगा जैसा लाटीसंहितासे प्रकट है। किन्तु वास्तविक बात तो सावयधम्मदोहाके गाथामें कही है

'तम्बालोसहु जलु मुइवि ज अत्थमियइ सूरि ।
भागासणु वसु अहिम्मिय तें किय दंसणु भूरि ॥३७॥

सत्याणुव्रतके अतीचार भी पाँच बतलाये हैं—झूठी सलाह देना, स्त्री पुरुषकी एकान्तमें की गयी किसी चेष्टाको देखकर दूसरोंसे कह देना, जाली हस्ताक्षर बनाना, कोई अपनी रखी हुई घरोहरको भूलकर कम माँगे तो उससे यह न कहना कि तुम्हारी घरोहर अधिक थी और उठाकर वह जितनी कहे उतनी दे देना। मुखकी आकृति वगैरहसे दूसरेके मनकी बात जानकर उसे प्रकट कर देना। रत्नकरण्ड (श्लो० ५६) में मिथ्योपदेश और साकार मन्त्रभेदके स्थानमें परिवाद और पैशून्यको रखा है और सोमदेवके उपासकाध्ययन (श्लो० ३८१) में मिथ्योपदेश, रहोऽभ्याख्यान और न्यासापहारके स्थानमें परीवाद पैशुन्य और झूठी गवाहीको रखा है।

अचौर्याणुव्रत

कही रखे हुए या गिरे हुए या भूले हुए परद्रव्यको न स्वय लेना और न उठाकर दूसरेको देना अचौर्याणुव्रत है (रत्न० श्रा० श्लो० ५७)। तत्त्वार्थसूत्र (७।१५) में बिना दी हुई वस्तुके लेनेको चोरी कहा है। इसकी व्याख्यामें सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपादने (विक्रमकी छठी शताब्दी) कुछ शकाएँ उठाकर उनका समाधान किया है।

शका—तब तो जीवके द्वारा कर्म नोकर्मका ग्रहण भी चोरी ठहरता है? क्योकि वह भी बिना दिया हुआ है?

समाधान—जिस वस्तुमें देन-लेनका व्यवहार सम्भव है उसीको बिना दिये लेनेसे चोरीका व्यवहार होता है।

शका—फिर भी साधु ग्राम नगर आदिमें भ्रमण करते समय मार्गमे बने हुए द्वारोंमें प्रवेश करता है अत यह भी तो बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण है।

समाधान—नही, मार्ग तो सार्वजनिक है। किन्तु बन्द द्वारोंको खोलकर साधु प्रवेश नही करता है, क्योंकि वह सार्वजनिक नही है। अथवा प्रमादके योगसे जो बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण किया जाता है उसे चोरी कहते हैं। मार्गके द्वारमें प्रवेश करते समय साधुके प्रमादका योग नही होता। साराश यह है कि जहाँ सक्लेश परिणामसे प्रवृत्ति हो वह चोरी है, चाहे बाह्य वस्तु हाथ लगे या न लगे।

अमृतचन्द्र सूरिने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें चोरीका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि धन मनुष्योंका बाह्य प्राण है। जो जिसका धन हरता है वह उसका प्राण हरता है। जो जलाशयोंसे पानी आदि भी लेनेका त्याग करनेमें असमर्थ हैं उन्हें भी अन्य सब बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणका त्याग करना चाहिए (श्लो० १०३-१०६)। सोमदेवने उक्त परिभाषाओंको दृष्टिमें रखकर लिखा है कि सार्वजनिक जल, तृण आदिके सिवाय अन्य सब बिना दी हुई परायी वस्तुओंका ग्रहण करना चोरी है। तथा यदि कोई अपना कुटुम्बी मर जाये तो उसका धन बिना दिये हुए भी लिया जा सकता है। किन्तु जीवित होनेपर उसके आदेशसे ही लिया जा सकता है अन्यथा व्रतकी हानि होती है। जो धन पृथिवी वगैरहमें गडा हुआ मिला हो, उसे भी नहीं लेना चाहिए, क्योंकि जिस धनका कोई स्वामी नहीं होता उसका स्वामी राजा होता है। अत मकानमे, जलमें, जगलमें या पर्वतमें गडे हुए पराये धनको नही लेना चाहिए। यदि कभी अपनी वस्तुमें भी यह सशय हो जाये कि यह हमारी है या नही? तो जबतक सन्देह दूर न हो उसे नही लेना चाहिए। (श्लो० ३६४–३७२) अमितगति श्रावकाचार तथा सागारधर्मामृत (अ० ४) में भी यही सब बातें बतलायी हैं। लाटीसहितामें भी कोई नयी बात नहीं है।

अतीचार भी सब श्रावकाचारोंमें प्राय समान ही हैं। दूसरोंको चोरीकी ओर प्रेरित करना, चोरी-का माल खरीदना, खरीदनेके बाट तराजू अधिक और बेचनेके कम रखना, बहुमूल्य वस्तुमें कम मूल्यकी उसके समान वस्तु मिलाकर बेचना ये चार अतीचार हैं। सोमदेवकृत उपासकाध्ययनमें इनमें-से अन्तिम अतीचारको न गिनाकर बाट तराजू अधिक और कमती रखनेको अलग-अलग गिनाया है। पाँचवें अतीचारको अन्य

जो लोग अपने सांसारिक जीवन-यापनमें सहायक असत्य वचनको छोड़नेमें असमर्थ हैं उन्हें भी अन्य असत्य वचनोंको सदाके लिए छोड़ देना चाहिए।

सोमदेव सूरिने अपने उपासकाध्ययनमें अनेकरूपसे वर्णन करते हुए वचनके चार भेद दूसरे प्रकारसे किये हैं। वे भेद हैं—असत्य सत्य, सत्य असत्य, सत्य सत्य और असत्य असत्य। इसका अभिप्राय यह है कि कोई वचन असत्य होते हुए भी सत्य होता है जैसे भात पकाता है कपड़ा बुनता है। कोई वचन सत्य होते हुए भी असत्य है। जैसे किसीने कहा कि तुम्हें मैं पन्द्रह दिन बाद तुम्हारी चीज लौटा दूँगा किन्तु प्रतिज्ञात समयपर न लौटाकर एक माह बाद या एक वर्ष बाद बाद लौटाता है। जो वस्तु जहाँपर जिस रूपमें देखी या सुनी थी उसको वैसा ही कहना सत्य सत्य है। और सर्वथा झूठ वचन असत्य असत्य है। इसमें-से पहलेके तीन वचन ही लोकयात्रामें सहायक हैं। अतः चौथे प्रकारके झूठको कभी नहीं बोलना चाहिए।

आगे और भी लिखा है कि न अपनी प्रशंसा करनी चाहिए और न दूसरोंकी निन्दा करनी चाहिए। न दूसरेके गुणोंको छिपाना चाहिए और न अपनेमें जो गुण नहीं हों उनको प्रकट करना चाहिए। जो दूसरोंका *प्रिय कार्य करता है वह अपना ही प्रिय करता है। फिर भी न जाने यह संसार दूसरोंका अप्रिय करनेमें* ही क्यों तत्पर रहता है। जो सत्य वचन बोलता है उसे सत्यके माहात्म्यसे वचनसिद्धि हो जाती है और जहाँ जहाँ वह जाता है उसके वचनका आदर होता है। तथा जो झूठ बोलता है उसकी जीभ काट डाली जाती है और वह परलोकमें भी कष्ट उठाता है। (श्लोक १७९–१९१)आदि।

अमितगति उपासकाचारमें[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपायके अनुसार ही असत्यके चार भेद किये हैं। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ उन भेदोंका नामकरण कर दिया है—असदुद्भावन, सदपलाप, विपरीत और निन्द्य। फिर निन्द्यके तीन भेद कर दिये हैं—सावद्य, अप्रिय और गर्ह्य। तथा लिखा है कि कामके वशमें होकर या क्रोधके वशमें होकर या ईर्ष्यासे या प्रमादसे अथवा घमण्डमें आकर या लोभसे या मायासे या द्वेषवश असत्य वचन नहीं बोलना चाहिए।

सागारधर्मामृतमें सत्याणुव्रतका वर्णन करते हुए वचनके जो भेद बतलाये हैं वे सोमदेव सूरिके उपासकाध्ययनके अनुसार हैं। किन्तु उसमें जो सत्याणुव्रतका स्वरूप बतलाते हुए कन्या अलीक गो अलीक आदिका निषेध किया है वह किसी भी दिगम्बर जैन ग्रन्थमें नहीं मिलता और इसलिए वह हेमचन्द्राचार्यके योगशास्त्रसे लिया गया प्रतीत होता है। सागारधर्मामृतमें लिखा है

> कन्यागोक्ष्मालीककूटसाक्ष्यन्यासापलापवत्।
> स्यात् सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन् ॥३९॥—अ० ४।"

और योगशास्त्रमें लिखा है

> कन्यागोभूम्यलीकानि न्यासापहरणं तथा।
> कूटसाक्ष्यं च पञ्चेति स्थूलासत्यान्यकीर्तयन् ॥५४॥

कन्या आदि द्विपदोंके सम्बन्धमें झूठ बोलना कन्यालीक है। गौ आदि चौपायोंके सम्बन्धमें झूठ बोलना गो-अलीक है। जैसे थोड़ा दूध देने वाली गायको बहुत दूधवाली या बहुत दूध देनेवाली गायको थोड़ा दूध देनेवाली बतलाना। पृथ्वी आदि अचेतन वस्तुओंके विषयमें झूठ बोलना क्ष्मा-अलीक है जैसे परायी जमीनको अपनी या अपनी जमीनको परायी बतलाना। इस तरहके झूठ नहीं बोलना चाहिए। इस तरह विविध श्रावकाचारोंमें सत्याणुव्रतका स्वरूप बतलाया है।

---

१ पृ० ३५।१०९। २ पृ० १५५-१५८।

देव, शास्त्र और गुरुको नमस्कार करके कुटुम्बियोंकी साक्षीपूर्वक जिसका पाणिग्रहण किया जाता है वह तो पत्नी है और जिसका इस प्रकार पाणिग्रहण नहीं किया जाता वह चेटिका है। पाणिगृहीता पत्नी दो प्रकारकी होती है, एक स्वजातिकी, दूसरी अन्य जातिकी। स्वजातिकी पाणिगृहीता पत्नी ही धर्मपत्नी है और दूसरी भोगपत्नी है। इन दोनोंसे अतिरिक्त जो सामान्य स्त्री होती है वह चेटिका कही जाती है। चेटिका और भोगपत्नी दोनों केवल भोगके लिए होती है अतः इन दोनोंमें वास्तवमें कोई भेद नहीं है। धर्मके ज्ञाताओं-को भोगपत्नी नहीं रखनी चाहिए। जब भोगपत्नी ही निषिद्ध है तब परस्त्रीका तो कहना ही क्या है। फिर भी परस्त्रीका स्वरूप बतलाते हैं। परस्त्री तीन प्रकारकी होती है—गृहीता, अगृहीता और वेश्या। गृहीता भी दो प्रकारकी होती है—एक वह जिसका पति जीवित है और दूसरी वह जिसका पति तो मर चुका है किन्तु पिता वगैरह जीवित है। जो चेटिका बतलायी है उसका पति वही है जिसके पास वह रहती है अतः वह भी गृहीता ही है। विधवा स्त्रीके जब कुटुम्बी भी मर जाते हैं तो स्वच्छन्दचारिणी होनेपर वही अगृहीता कहलाती है। इसके साथ सम्भोग करनेपर यदि वैरी लोग राजाको खबर कर दें तो निश्चय दण्ड मिलता है।

आगे लाटीसंहिताकार लिखते हैं, कुछ जैन ऐसा कहते हैं कि उक्त स्त्री गृहीता ही समझी जाती है, क्योंकि ऐसा नियम है कि जिसका स्वामी नहीं है उसका स्वामी राजा होता है। अतः उनके मतसे वह स्त्री अगृहीता है, पिता वगैरहके होते हुए भी जिसके साथ सम्भोग करनेसे राजा आदिका भय नहीं रहता। उनके मतसे स्वच्छन्द नारीके दो ही भेद है—एक गृहीता और दूसरी अगृहीता। वेश्याका अन्तर्भाव भी इन्हीमें हो जाता है। ये सब जानकर परस्त्रीकी ओर मन नहीं लगाना चाहिए।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि सोमदेवके सिवा सभी श्रावकाचारोंमें ब्रह्मचर्याणुव्रतीके लिए स्वस्त्रीके सिवा शेष सभी परस्त्रियोंका त्याग आवश्यक बतलाया है। किन्तु सोमदेवने 'वित्तस्त्री'को भी उक्त व्रतकी मर्यादाके अन्दर ले लिया है। ऐसा उन्होंने क्यों किया इसके सम्बन्धमें स्वयं उन्होंने तो कुछ लिखा नहीं, हाँ उनके उत्तरकालीन पं० आशाधरने अवश्य कुछ प्रकाश डाला है। सागारधर्मामृतके चतुर्थ अध्यायमें स्वदारसन्तोषका व्याख्यान करते हुए वे लिखते हैं—जो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे पापके भयसे परनारी और वेश्याको न स्वयं भोगता है और न दूसरोंको ऐसा कराता है वह स्वदारसन्तोषी है। यह ब्रह्माणुव्रत निरतिचार अष्टमूलगुणोंके धारक विशुद्ध सम्यग्दृष्टि श्रावकके लिए बतलाया गया है। जो गृहस्थ अपनी पत्नीकी तरह साधारण स्त्रियोंका भी त्याग करनेमें अशक्त है और केवल परस्त्रियों-का ही त्याग करता है, वह भी ब्रह्माणुव्रती माना जाता है। क्योंकि ब्रह्माणुव्रतके दो भेद हैं—स्वदारसन्तोष और परदारनिवृत्ति। यह बात स्वदारसन्तोषव्रतके उक्त लक्षणमें परनारी और वेश्याका निषेध करनेसे निकलती है। इनमें-से स्वदारसन्तोषव्रत तो देशसंयममें अभ्यस्त नैष्ठिक श्रावक पालता है और दूसरा व्रत देशसंयमके अभ्यासके लिए तत्पर पाक्षिक श्रावक पालता है, जैसा कि सोमदेव पण्डितने लिखा है।[1]

पं० आशाधर आगे और लिखते हैं, वसुनन्दि श्रावकाचारमें—दर्शन प्रतिमाका लक्षण यह बतलाया है—पाँच उदुम्बरोंके साथ साथ सातों व्यसनोंको जो छोड़ देता है उस सम्यग्दृष्टिको दर्शन श्रावक कहते हैं। अतः वसुनन्दि आचार्यके मतसे व्रत प्रतिमाधारीके ब्रह्माणुव्रतका स्वरूप यह है, जो पर्वोंमें स्त्रीसेवन और अनंगक्रीडाको सदाके लिए छोड़ देता है उसे स्थूल ब्रह्माणुव्रती कहते हैं। स्वामी समन्तभद्रके मतसे जो दर्शनिक श्रावक है उसके लिए ऊपर कहा हुआ ही ब्रह्माणुव्रत है जो अतिचार छुड़ानेके लिए यहाँ कहा गया है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि पं० सोमदेवने जो ब्रह्माणुव्रतका लक्षण बतलाया है वह देशचारित्रके अभ्यासी श्रावकके लिए है और पं० आशाधर वगैरहने जो ब्रह्माणुव्रतका लक्षण बतलाया है वह देशचारित्र-में जो अभ्यस्त हो चुका है उस श्रावकके लिए है। इसी तरह वसुनन्दि श्रावकाचारमें जो ब्रह्माणुव्रतका स्वरूप बतलाया है, है तो वह भी अभ्यस्त देश-संयमी नैष्ठिक श्रावकके लिए ही किन्तु उसमें अन्तर इसलिए पड़ा

1. सागार० अ० ४ श्लो० ५२ की टीकामें।

श्रावकाचारोंमें तत्त्वार्थसूत्रके ही अनुसार 'विरुद्धराज्यातिक्रम' नाम दिया है किन्तु रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें 'विलोप'[1] और सोमदेव उपासकाचारमें 'विग्रहे संग्रहोऽर्थस्य' नाम दिया है। इसका अर्थ होता है देशमें युद्ध छिड़नेपर धन संचय करना जैसा कि गत युद्धके समय किया गया है। विलोपका मतलब होता है राजकीय नियमोंकी अवहेलना करके धन संचय करना और विरुद्धराज्यातिक्रमका मतलब होता है जब राज्यमें विप्लव हो जाये तो उचित उपायोंको छोड़कर दूसरे ही तरीकोंसे धन संचय करना।

विरुद्धराज्यातिक्रमका व्याख्यान करते हुए पं० आशाधरजीने कुछ अन्य भी अर्थ किये हैं जो इस प्रकार हैं

(१) राज्यविप्लव हो जानेपर वस्तुओंके मूल्य बढ़ानेका प्रयत्न करना अर्थात् कम कीमती वस्तुओं-को भी बहुमूल्य करनेका प्रयत्न करना।

(२) एक राज्यके निवासीका दूसरे राजाके राज्यमें प्रवेश करना। लिखा है कि अपने राजाकी आज्ञाके बिना दूसरेके राज्यमें जाना यद्यपि चोरी है फिर भी ऐसा करनेवाला यह समझकर ऐसा करता है कि मैंने तो व्यापार किया है चोरी नहीं की। इसलिए उसका व्रत भंग तो नहीं होता किन्तु उसमें दूषण अवश्य लगता है। यद्यपि ऐसा लगता है कि ये अतीचार व्यापारीजनको लक्ष्यमें रखकर बतलाये हैं किन्तु राजा या उसके कर्मचारियोंको भी ये सब सम्भव हैं। पहला और दूसरा तो स्पष्ट ही है। जब राजा अपने भण्डारमें वस्तुओंका आदान-प्रदान कराते समय अधिक और कम बाटोंसे खरीदवाता और बिकवाता है तो उसको भी तीसरा और चौथा अतिचार लगता है। जब कोई सामन्त अपने राज्यके विरुद्ध मदद करता है तो वह विरुद्धराज्यातिक्रम दोषका भागी होता है।

लाटीसंहितामें विरुद्धराज्यातिक्रमका व्याख्यान दूसरे ही रूपमें किया है। उसमें लिखा है कि राजाकी आज्ञा युक्त हो या अयुक्त उसका न पालना विरुद्धराज्यातिक्रम है। सम्भवतः विरुद्धराज्यातिक्रमका यह व्याख्यान अकबरके राज्यकालके प्रभावसे प्रेरित है। ग्रन्थकारने ग्रन्थके प्रारम्भमें अकबरकी खूब प्रशंसा की है। अस्तु!

ब्रह्मचर्याणुव्रत

रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें लिखा है कि जो पाप समझकर न तो परस्त्रियोंके पास स्वयं जाता है और न दूसरोंको भेजता है उसे परदारनिवृत्ति या स्वदारसन्तोषव्रत कहते हैं। [2]सर्वार्थसिद्धिमें लिखा है कि गृहीत या अगृहीत परस्त्रीके साथ रति न करना गृहस्थका चौथा अणुव्रत है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें लिखा है कि जो मोहवश अपनी स्त्रीको छोड़नेमें असमर्थ है उन्हें भी शेष सब स्त्रियोंका सेवन नहीं करना चाहिए। सोमदेव [3]उपासकाचारमें लिखा है पत्नी और वेश्याको छोड़कर अन्य सब स्त्रियोंको माता बहन और पुत्री समझना गृहस्थका ब्रह्मचर्य है। स्वामी [4]कार्तिकेयानुप्रेक्षामें लिखा है जो मन वचन और कायसे परस्त्रीको माता बहन और पुत्रीके समान मानता है वह स्थूल ब्रह्मचर्यानुव्रती है। अमितगतिने भी यही स्वरूप बतलाया है। वसुनन्दि श्रावकाचारमें लिखा है, पर्वके दिन स्त्रीभोग और अनंगक्रीड़ाको जो सदाके लिए छोड़ देता है वह स्थूल ब्रह्मचारी है। [5]सागारधर्मामृतमें लिखा है जो पापके भयसे मन वचन और कायसे परस्त्री और वेश्याके पास न स्वयं जाता है और न दूसरोंको भेजता है वह स्वदारसन्तोषी है।

लाटीसंहिता[6]में लिखा है कि ब्रह्मचर्याणुव्रतीको धर्मपत्नीका ही सेवन करना चाहिए अन्यका नहीं। उसके रचयिताने परस्त्रीव्यसनके त्यागका उपदेश देते हुए लिखा है यद्यपि परस्त्रीत्यागका अन्तर्भाव चौथे अणुव्रतमें होता है फिर भी उसका कुछ दिग्दर्शन प्रसंगवश यहाँ भी कराते हैं—

१ श्लो० ५२। २ अ० ७ सू० २०। ३ श्लो० ११८। ४ श्लो० ३३५। ५ गा० ३३८। ६ अ० ४ श्लो० ५२। ७ प० १५। ८ पृ० ११-१२।

देव, शास्त्र और गुरुको नमस्कार करके कुटुम्बियोंकी साक्षीपूर्वक जिसका पाणिग्रहण किया जाता है वह तो पत्नी है और जिसका इस प्रकार पाणिग्रहण नही किया जाता वह चेटिका है। पाणिगृहीता पत्नी दो प्रकारकी होती है, एक स्वजातिकी, दूसरी अन्य जातिकी। स्वजातिकी पाणिगृहीता पत्नी ही धर्मपत्नी है और दूसरी भोगपत्नी है। इन दोनोंसे अतिरिक्त जो सामान्य स्त्री होती है वह चेटिका कही जाती है। चेटिका और भोगपत्नी दोनो केवल भोगके लिए होती है अत इन दोनोमें वास्तवमें कोई भेद नही है। धर्मके ज्ञाताओं-को भोगपत्नी नही रखनी चाहिए। जब भोगपत्नी ही निषिद्ध है तब परस्त्रीका तो कहना ही क्या है। फिर भी परस्त्रीका स्वरूप बतलाते हैं। परस्त्री तीन प्रकारकी होती है—गृहीता, अगृहीता और वेश्या। गृहीता भी दो प्रकारकी होती है—एक वह जिसका पति जीवित है और दूसरी वह जिसका पति तो मर चुका है किन्तु पिता वगैरह जीवित हैं। जो चेटिका बतलायी है उसका पति वही है जिसके पास वह रहती है अत वह भी गृहीता ही है। विधवा स्त्रीके जब कुटुम्बी भी मर जाते हैं तो स्वच्छन्दचारिणी होनेपर वही अगृहीता कहलाती है। इसके साथ सम्भोग करनेपर यदि वैरी लोग राजाको खबर कर दें तो निश्चय दण्ड मिलता है।

आगे लाटीसंहिताकार लिखते हैं, कुछ जैन ऐसा कहते है कि उक्त स्त्री गृहीता ही समझी जाती है, क्योंकि ऐसा नियम है कि जिसका स्वामी नही है उसका स्वामी राजा होता है। अत उनके मतसे वह स्त्री अगृहीता है, पिता वगैरहके होते हुए भी जिसके साथ सम्भोग करनेसे राजा आदिका भय नही रहता। उनके मतसे स्वच्छन्द नारीके दो ही भेद हैं — एक गृहीता और दूसरी अगृहीता। वेश्याका अन्तर्भाव भी इन्हींमें हो जाता है। ये सब जानकर परस्त्रीकी ओर मन नही लगाना चाहिए।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि सोमदेवके सिवा सभी श्रावकाचारोंमें ब्रह्मचर्याणुव्रतीके लिए स्वस्त्रीके सिवा शेष सभी परस्त्रियोका त्याग आवश्यक बतलाया है। किन्तु सोमदेवने 'वित्तस्त्री'को भी उक्त व्रतकी मर्यादाके अन्दर ले लिया है। ऐसा उन्होने क्यो किया इसके सम्बन्धमें स्वय उन्होने तो कुछ लिखा नहीं, हां उनके उत्तरकालीन प० आशाधरने अवश्य कुछ प्रकाश डाला है। सागारधर्मामृतके चतुर्थ अध्यायमें स्वदारसन्तोषका व्याख्यान करते हुए वे लिखते हैं—जो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे, पापके भयसे परनारी और वेश्याको न स्वय भोगता है और न दूसरोंको ऐसा कराता है वह स्वदारसन्तोषी है। यह ब्रह्माणुव्रत निरतिचार अष्टमूलगुणोंके धारक विशुद्ध सम्यग्दृष्टि श्रावकके लिए बतलाया गया है। जो गृहस्थ अपनी पत्नीकी तरह साधारण स्त्रियोका भी त्याग करनेमे अशक्त है और केवल परस्त्रियो-का ही त्याग करता है, वह भी ब्रह्माणुव्रती माना जाता है। क्योकि ब्रह्माणुव्रतके दो भेद हैं—स्वदारसन्तोष और परदारनिवृत्ति। यह बात स्वदारसन्तोषव्रतके उक्त लक्षणमें परनारी और वेश्याका निषेध करनेसे निकलती है। इनमें-से स्वदारसन्तोषव्रत तो देशसयममे अभ्यस्त नैष्ठिक श्रावक पालता है और दूसरा व्रत देशसयमके अभ्यासके लिए तत्पर पाक्षिक श्रावक पालता है, जैसा कि सोमदेव पण्डितने लिखा है।[1]

प० आशाधर आगे और लिखते है, वसुनन्दि श्रावकाचारमें — दर्शन प्रतिमाका लक्षण यह बतलाया है — पांच उदुम्बरोके साथ साथ सातो व्यसनोको जो छोड देता है उस सम्यग्दृष्टिको दर्शन श्रावक कहते है। अत वसुनन्दि आचार्यके मतसे व्रत प्रतिमाधारीके ब्रह्माणुव्रतका स्वरूप यह है, जो पर्वोंमें स्त्रीसेवन और अनगक्रीडाको सदाके लिए छोड देता है उसे स्थूल ब्रह्माणुव्रती कहते हैं। स्वामी समन्तभद्रके मतसे जो दर्शनिक श्रावक है उसके लिए ऊपर कहा हुआ ही ब्रह्माणुव्रत है जो अतिचार छुडानेके लिए यहाँ कहा गया है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि प० सोमदेवने जो ब्रह्माणुव्रतका लक्षण बतलाया है वह देशचारित्रके अभ्यासी श्रावकके लिए है और प० आशाधर वगैरहने जो ब्रह्माणुव्रतका लक्षण बतलाया है वह देशचारित्र-में जो अभ्यस्त हो चुका है उस श्रावकके लिए है। इसी तरह वसुनन्दि श्रावकाचारमें जो ब्रह्माणुव्रतका स्वरूप बतलाया है, है तो वह भी अभ्यस्त देश-सयमी नैष्ठिक श्रावकके लिए ही किन्तु उसमें अन्तर इसलिए पडा

---

१. सागार० अ० ४ श्लो० ५२ की टीकामें।

श्रावकाचारोंमें तत्त्वार्थसूत्रके ही अनुसार विरुद्धराज्यातिक्रम नाम दिया है किन्तु रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें विलोप[1] और सोमदेव उपासकाचारमें विग्रहे संग्रहोऽर्घस्य नाम दिया है। इसका अर्थ होता है वैमनस्य युद्ध छिड़नेपर धन संचय करना जैसा कि गत युद्धके समय किया गया है। विलोपका मतलब होता है राजकीय नियमोंकी अवहेलना करके धन संचय करना और विरुद्धराज्यातिक्रमका मतलब होता है जब राज्यमें विप्लव हो जाये तो उचित उपायोंको छोड़कर दूसरे ही तरीकोंसे धन संचय करना।

विरुद्धराज्यातिक्रमका व्याख्यान करते हुए पं० आशाधरजीने कुछ अन्य भी अर्थ किये हैं जो इस प्रकार हैं

(१) राज्यविप्लव हो जानेपर वस्तुओंके मूल्य बढ़ानेका प्रयत्न करना अर्थात् कम कीमती वस्तुओं-को भी बहुमूल्य करनेका प्रयत्न करना।

(२) एक राज्यके निवासीका दूसरे राजाके राज्यमें प्रवेश करना। लिखा है कि अपने राजाकी आज्ञाके बिना दूसरेके राज्यमें जाना यद्यपि चोरी है फिर भी ऐसा करनेवाला यह समझकर ऐसा करता है कि मैंने तो व्यापार किया है चोरी नहीं की। इसलिए उसका व्रत भंग तो नहीं होता किन्तु उसमें दूषण अवश्य लगता है। यद्यपि ऐसा लगता है कि ये अतीचार व्यापारीवर्गको लक्ष्यमें रखकर बतलाये हैं किन्तु राजा या उसके कर्मचारियोंको भी ये सब सम्भव हैं। पहला और दूसरा तो स्पष्ट ही है। जब राजा अपने भण्डारमें वस्तुओंका आदान-प्रदान कराते समय अधिक और कम बाटोंसे खरीदवाता और बिकवाता है तो उसको भी तीसरा और चौथा अतिचार लगता है। जब कोई सामन्त अपने राज्यके विरुद्ध गदर करता है तो वह विरुद्धराज्यातिक्रम दोषका भागी होता है।

लाटीसंहितामें विरुद्धराज्यातिक्रमका व्याख्यान दूसरे ही रूपमें किया है। उसमें लिखा है कि राजाकी आज्ञा युक्त हो या अयुक्त उसका न पालना विरुद्धराज्यातिक्रम है। सम्भवतः विरुद्धराज्यातिक्रमका यह व्याख्यान अकबरके राज्यकालके प्रभावसे प्रेरित है। ग्रन्थकारने ग्रन्थके प्रारम्भमें अकबरकी खूब प्रशंसा की है। अस्तु।

ब्रह्मचर्याणुव्रत

रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें लिखा है कि जो पाप समझकर न तो परस्त्रियोंके पास स्वयं जाता है और न दूसरोंको भेजता है उसे परदारनिवृत्ति या स्वदारसन्तोषव्रत कहते हैं। [2]सर्वार्थसिद्धिमें लिखा है कि गृहीत या अगृहीत परस्त्रीके साथ रति न करना गृहस्थका चौथा अणुव्रत है। पुरुषार्थ[3] सिद्ध्युपायमें लिखा है कि जो मोहवश अपनी स्त्रीको छोड़नेमें असमर्थ है उन्हें भी शेष सब स्त्रियोंका सेवन नहीं करना चाहिए। सोमदेव[4] उपासकाचारमें लिखा है पत्नी और वेश्याको छोड़कर अन्य सब स्त्रियोंको माता बहन और पुत्री समझना गृहस्थका ब्रह्मचर्य है। स्वामी [5]कार्तिकेयानुप्रेक्षामें लिखा है जो मन वचन और कायसे परस्त्रीको माता बहन और पुत्रीके समान मानता है वह स्थूल ब्रह्मचर्यव्रती है। अमितगतिने भी यही स्वरूप बतलाया है। वसुनन्दि श्रावकाचारमें लिखा है, पर्वके दिन स्त्रीभोग और अनंगक्रीडाको जो सदाके लिए छोड़ देता है वह स्थूल ब्रह्मचारी है। [6]सागारधर्मामृतमें लिखा है जो पापके भयसे मन वचन और कायसे परस्त्री और वेश्याके पास न स्वयं जाता है और न दूसरोंको भेजता है वह स्वदारसन्तोषी है।

लाटी संहिता[7]में लिखा है कि ब्रह्मचर्याणुव्रतीको धर्मपत्नीका ही सेवन करना चाहिए अन्यका नहीं। उसके एकविंशति परस्त्रीव्यसनके त्यागका उपदेश देते हुए लिखा है यद्यपि परस्त्रीत्यागका अन्तर्भाव चौथे अणुव्रतमें होता है फिर भी उसका कुछ विवर्तन प्रसंगवश यहाँ भी करते हैं—

---

१ श्लो ५९। २ अ ७ सू २९। ३ श्लो ११८। ४ श्लो ४५। ५ गा ३३८। ६ अ ४ श्लो ५२। ७ पृ १५। ८ पृ ३१-३२।

होता। किन्हीके मतसे अविवाहित कुलागनाका सेवन कर लेना भी परदारनिवृत्तिव्रतका अतिचार है, क्योंकि स्वामीके न होनेसे वह परदार नही है, किन्तु लोकमे वह परस्त्री ही मानी जाती है।'

इत्वरिकागमनके इस व्याख्यानके अनुसार स्वदारसन्तोषव्रतीके लिए वेश्यासेवन करना अतिचार है और परदारनिवृत्ति व्रतीके लिए किसीकी रखेली वेश्याके साथ गमन करना अतिचार है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प० सोमदेवने जो ब्रह्माणुव्रतका स्वरूप बतलाया है वह परदारनिवृत्तिव्रतका ही स्वरूप है। इसीसे उन्होने उसके अतिचारोंमें 'इत्वरिकागमन'के स्थानमें स्पष्ट 'परस्त्रीसगम' को रखा है।

यहाँ 'गमन' के स्थानमें 'सगम' शब्द रखा है, जिसका स्पष्ट अर्थ भोग होता है। 'गमन' शब्दका अर्थ इससे पहलेके किसी ग्रन्थमें हमने नही देखा। तत्त्वार्थसूत्रकी सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक टीकामे 'गमन' शब्दका अर्थ नही किया। हाँ, श्रुतसागरी[2] वृत्तिमे तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी शुभचन्द्राचार्यप्रणीत स०टीकामे किया है। जघन आदिको ताकना, बातचीत करना, हाथ-भौ आदि चलाना इत्यादि रागपूर्ण चेष्टाओको गमन कहते हैं। प०आशाधरने भी गमनका अर्थ सेवन किया है। लाटीसहितामे गमनका अर्थ रागपूर्ण बातचीत, शरीरस्पर्श अथवा रति लिया है।

इस तरह ब्रह्माणुव्रती इत्वरिकाके साथ यदि गमन करता है तो वह अपने व्रतमे अतीचार लगाता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस तरह विषयोंमें प्रवृत्ति करना तभीतक अतिचार है जबतक कभी-कभी ही इस तरह प्रवृत्ति की जाती हो। यदि उसमे अति प्रवृत्ति की गयी तो फिर वह अनाचार ही कहा जायेगा, अतिचार नही।

परिग्रहपरिमाणव्रत

तत्त्वार्थसूत्र ७।१७ में मूर्छाको परिग्रह कहा है। और सर्वार्थसिद्धिमें उसको व्याख्या करते हुए बाह्य गौ, भैंस, मणि, मुक्ता वगैरह चेतन-अचेतन और रागादि भावोंके सरक्षण, अर्जन आदिरूप व्यापारको मूर्छा कहा है। उसपर यह शका-समाधान किया गया है,

शका—तब तो बाह्य परिग्रह नहीं बनती, क्योकि आध्यात्मिकका ही ग्रहण किया है।

समाधान—आपका कथन ठीक ही है। प्रधान होनेसे अभ्यन्तरका ही ग्रहण किया है क्योकि बाह्यमें परिग्रहके अभावमें भी 'यह मेरा है' ऐसा सकल्प करनेवाला परिग्रही होता है।

शका—तो क्या बाह्य परिग्रह होता ही नही ?

समाधान—मूर्छाका कारण होनेसे बाह्य भी परिग्रह होता है।

शका—यदि 'यह मेरा है' इस प्रकारका सकल्प परिग्रह है तो सम्यग्ज्ञानादिको भी परिग्रह कहा जायेगा, क्योकि जैसे रागादि भावोमें 'यह मेरे है' इस प्रकारका सकल्प करना परिग्रह है वैसे ही सम्यग्ज्ञानादिमे भी 'यह मेरे है' ऐसा सकल्प किया जाता है।

---

१ "तत्र इत्वरिकागमनम्—अस्वामिका असती गणिकात्वेन पुश्चलित्वेन वा पुरुषानेति गच्छतीत्येवशीला इत्वरी। तथा प्रतिपुरुषमेतीत्येवशीलेति व्युत्पत्त्या वेश्यापीत्वरी। तत कुत्सायां के इत्वरिका। तस्या गमनमासेवनम्। इय चात्र भावना—भाटिप्रदानान्नियतकालस्वीकारेण स्वकलत्रीकृत्य वेश्यां वेत्वरिकां सेवमानस्य स्वबुद्धिकल्पनया स्वदारत्वेन व्रतसापेक्षचित्तत्वादल्पकालपरिग्रहाच्च न भङ्गो वस्तुतोऽस्वदारत्वाच्च भङ्ग इति भङ्गाभङ्गरूपत्वादित्वरिकाया वेश्यात्वेनास्यास्त्वनाथतयैव परदारत्वात्। किं चास्य भाट्यादिना परेण किंचित्काल परिगृहीता वेश्या गच्छतो भङ्ग कथचित्परदारत्वात्तस्या। लोके तु परदारत्वारूढेर्न भङ्ग इति भङ्गाभङ्गरूपोऽतिचार। अन्ये त्वपरिगृहीतकुलाङ्गनामप्यन्यदारवर्जिनोऽतिचारमाहु। तत्कल्पनया परस्य भर्तुरभावेनापरदारत्वादभङ्गो लोके च परदारतया रूढेर्भङ्ग इति भङ्गाभङ्गरूपत्वात्तस्य।" —सागा० टी०, अ० ४, श्लोक ५२।

२ "जघनवदनस्तनादिनिरीक्षण सभाषण पाणिभ्रूचक्षुरन्तादिसज्ञाविधानमित्येवमादिक निखिल रागित्वेन दुश्चेष्टित गमनमित्युच्यते।"

कि वसुनन्दिके मतसे दार्शनिक श्रावक सात व्यसन छोड़ चुकता है। और सात व्यसनोंमें परनारी और वेश्या दोनों आ जाती हैं। अतः जब वह आगे बढ़कर दूसरी प्रतिमा धारण करता है तो वहाँ ब्रह्माणुव्रतमें वह स्वपत्नीके साथ भी पर्वके दिन काम भोग आदिका त्याग करता है। मगर स्वामी समन्तभद्रके मतसे दर्शन-प्रतिमामें सप्त व्यसनोंके त्यागका विधान नहीं है अतः उनके मतसे दर्शनप्रतिमाका धारी जब व्रतप्रतिमा धारण करता है तो उसका ब्रह्माणुव्रत वही है जो अन्य श्रावकाचारोंमें बतलाया है। यह पं. आशाधरजीका समन्वय है।

किन्तु ब्रह्माणुव्रतको स्वदारसन्तोष और परदारनिवृत्ति नामके दो भेदोंमें विभाजित अन्य किसी भी आचार्यने नहीं किया। स्वामी समन्तभद्रने तो दोनोंको एक ही व्रतका नामान्तर बतलाया है। हाँ श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रने अपने योगशास्त्रमें[1] अवश्य ये भेद किये हैं और पं. आशाधरने भी उन्हें वहींसे लिया प्रतीत होता है। यह सागारधर्मामृत और योगशास्त्रकी टीकाओंका मिलान करनेसे बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। अतः यद्यपि यह ठीक है कि पं. सोमदेवका उक्त कथन प्रारम्भिक श्रावकके लिए है तथापि यह स्पष्ट है कि ब्रह्माणुव्रतका इस तरहका कथन अन्य किसी भी श्रावकाचारमें हमने नहीं देखा और इसलिए यह सामयिक परिस्थितिसे प्रभावित है। इतना लिखकर अब हम ब्रह्माणुव्रतके अतिचारोंपर आते हैं।

ब्रह्माणुव्रतके अतिचार

ब्रह्माणुव्रतके अतिचार तत्त्वार्थसूत्रमें इस प्रकार बताये हैं – परविवाहकरण इत्वरिका परिगृहीतागमन इत्वरिका अपरिगृहीतागमन अनंगक्रीडा कामतीव्राभिनिवेश। चारित्रसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय अमितगति श्रावकाचार और लाटीसंहितामें ये ही अतीचार बतलाये हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें 'इत्वरिका गमन' नामका एक ही अतिचार है दूसरेकी पूर्ति विटत्व नामके अतिचारसे की गयी है। शेष तीन अतिचार उक्त अतिचारोंके समान हैं। पं. आशाधरने रत्नकरण्डके अनुसार ही पाँच अतिचार गिनाये हैं। पं. सोमदेवने इत्वरिकागमनके स्थानमें 'परस्त्रीसंगम' नामका अतिचार गिनाया है और विटत्वके स्थानमें 'रतिकैतव्य'।

तत्त्वार्थसूत्रकी सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाओंमें उक्त अतीचारोंका जो स्वरूप बतलाया है उसके अनुसार दूसरेका विवाह करना पहला अतिचार है। जो अन्य पुरुषोंके पास जाती है उस स्त्रीको इत्वरी कहते हैं। जिसका एक पति होता है वह परिगृहीता है और जिसका कोई स्वामी नहीं ऐसी वेश्या वगैरह अपरिगृहीता है उनमें जाना ये दूसरा और तीसरा अतिचार है। कामसेवनके अंगसे अन्यत्र कामक्रीडा करना अनंगक्रीडा है और कामभावकी अधिकता पाँचवाँ अतीचार है।

पं. आशाधरने सागारधर्मामृतकी टीकामें इन अतिचारोंका अच्छा खुलासा किया है जो हेमचन्द्राचार्यके योगशास्त्रका ऋणी है। उसमें उन्होंने ब्रह्माणुव्रतके जो दो भेद किये हैं उनके अनुसार ही इत्वरिका-गमन'का व्याख्यान भी किया है जो अन्य दिगम्बर साहित्यसे मेल नहीं खाता।

इत्वरिकागमनकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं इत्वरिका अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्रियाँ दो प्रकारकी होती हैं, एक जो खुला व्यभिचार करती है उन्हें वेश्या कहते हैं और दूसरी वे जो यद्यपि अस्वामिका होती हैं किन्तु खुला व्यभिचार नहीं करतीं। 'दोनों प्रकारकी स्त्रियोंका सेवन करना स्वदारसन्तोषव्रतका अतिचार है। क्योंकि उनका शुल्क चुका देनेसे कुछ कालके लिए वे 'स्वदार' हो जाती हैं। इसलिए व्रतकी कथंचित् रक्षा हो जाती है। और वास्तवमें वह स्वदार नहीं है अतः कथंचित् व्रतभंग भी होता है।

इस प्रकार 'इत्वरिकागमन'को स्वदारसन्तोषव्रतका अतिचार बतलाकर पं. आशाधरजी उसे परदारनिवृत्ति नामक दूसरे व्रतका अतिचार इस प्रकार बतलाते हैं

'किसी मनुष्यकी रखैली वेश्याके साथ सहवास करनेसे परदारनिवृत्तिव्रत भंग होता है क्योंकि वह वेश्या उस समय एक तरहसे परदार है। किन्तु लोकमें वह 'परदारा' नहीं मानी जाती अतः व्रतभंग नहीं

---

१ योगशास्त्र पृ. १२८।

होता। किन्हींके मतसे अविवाहित कुलांगनाका सेवन कर लेना भी परदारनिवृत्तिव्रतका अतिचार है, क्योंकि स्वामीके न होनेसे वह परदार नहीं है, किन्तु लोकमें वह परस्त्री ही मानी जाती है।'

इत्वरिकागमनके इस व्याख्यानके अनुसार स्वदारसन्तोषव्रतीके लिए वेश्यासेवन करना अतिचार है और परदारनिवृत्ति व्रतीके लिए किसीकी रखेली वेश्याके साथ गमन करना अतिचार है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प० सोमदेवने जो ब्रह्माणुव्रतका स्वरूप बतलाया है वह परदारनिवृत्तिव्रतका ही स्वरूप है। इसीसे उन्होंने उसके अतिचारोंमें 'इत्वरिकागमन'के स्थानमें स्पष्ट 'परस्त्रीसंगम' को रखा है।

यहाँ 'गमन' के स्थानमें 'संगम' शब्द रखा है, जिसका स्पष्ट अर्थ भोग होता है। 'गमन' शब्दका अर्थ इससे पहलेके किसी ग्रन्थमें हमने नहीं देखा। तत्त्वार्थसूत्रकी सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक टीकामें 'गमन' शब्दका अर्थ नहीं किया। हाँ, श्रुतसागरी[2] वृत्तिमें तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी शुभचन्द्राचार्यप्रणीत सं०टीकामें किया है। जघन आदिको ताकना, बातचीत करना, हाथ-भौं आदि चलाना इत्यादि रागपूर्ण चेष्टाओंको गमन कहते हैं। प०आशाधरने भी गमनका अर्थ सेवन किया है। लाटीसंहितामें गमनका अर्थ रागपूर्ण बातचीत, शरीरस्पर्श अथवा रति लिया है।

इस तरह ब्रह्माणुव्रती इत्वरिकाके साथ यदि गमन करता है तो वह अपने व्रतमें अतीचार लगाता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस तरह विषयोंमें प्रवृत्ति करना तभीतक अतिचार है जबतक कभी-कभी ही इस तरह प्रवृत्ति की जाती हो। यदि उसमें अति प्रवृत्ति की गयी तो फिर वह अनाचार ही कहा जायेगा, अतिचार नहीं।

परिग्रहपरिमाणव्रत

तत्त्वार्थसूत्र ७।१७ में मूर्छाको परिग्रह कहा है। और सर्वार्थसिद्धिमें उसकी व्याख्या करते हुए बाह्य गौ, भैंस, मणि, मुक्ता वगैरह चेतन-अचेतन और रागादि भावोंके संरक्षण, अर्जन आदिरूप व्यापारको मूर्छा कहा है। उसपर यह शंका-समाधान किया गया है,

शंका–तब तो बाह्य परिग्रह नहीं बनती, क्योंकि आध्यात्मिकका ही ग्रहण किया है।

समाधान–आपका कथन ठीक ही है। प्रधान होनेसे अभ्यन्तरका ही ग्रहण किया है क्योंकि बाह्यमें परिग्रहके अभावमें भी 'यह मेरा है' ऐसा संकल्प करनेवाला परिग्रही होता है।

शंका–तो क्या बाह्य परिग्रह होता ही नहीं?

समाधान–मूर्छाका कारण होनेसे बाह्य भी परिग्रह होता है।

शंका–यदि 'यह मेरा है' इस प्रकारका संकल्प परिग्रह है तो सम्यग्ज्ञानादिको भी परिग्रह कहा जायेगा, क्योंकि जैसे रागादि भावोंमें 'यह मेरे हैं' इस प्रकारका संकल्प करना परिग्रह है वैसे ही सम्यग्ज्ञानादिमें भी 'यह मेरे हैं' ऐसा संकल्प किया जाता है।

---

१. "तत्र इत्वरिकागमनम्–अस्वामिका असती गणिकात्वेन पुंश्चलित्वेन वा पुरुषानेति गच्छतीत्येवंशीला इत्वरी। तथा प्रतिपुरुषमेतीत्येवंशीलेति व्युत्पत्त्या वेश्यापीत्वरी। ततः कुत्सायां के इत्वरिका। तस्या गमनमासेवनम्। इयं चात्र भावना–भाटिप्रदानान्नियतकालस्वीकारेण स्वकलत्रीकृत्य वेश्यां वेत्वरिकां सेवमानस्य स्वबुद्धिकल्पनया स्वदारत्वेन व्रतसापेक्षचित्तत्वादल्पकालपरिग्रहाच्च न भङ्गो वस्तुतोऽस्वदारत्वाच्च भङ्ग इति भङ्गाभङ्गरूपत्वादित्वरिकाया वेश्यात्वेनास्यास्त्वनाथतयैव परदारत्वात्। किं चास्य भाट्यादिना परेण किंचित्कालं परिगृहीतां वेश्यां गच्छतो भङ्गः कथंचित्परदारत्वात्तस्याः। लोके तु परदारत्वारूढेर्न भङ्ग इति भङ्गाभङ्गरूपोऽतिचारः। अन्ये त्वपरिगृहीतकुलाङ्गनामप्यन्यदारवर्जिनोऽतिचारमाहुः। तत्कल्पनया परस्य भर्तुरभावेनापरदारत्वादभङ्गो लोके च परदारतया रूढेर्भङ्ग इति भङ्गाभङ्गरूपत्वात्तस्य।"

—सागा० टी०, अ० ४, श्लोक ५२।

२ "जघनवदनस्तनादिनिरीक्षणं संभाषणं पाणिभ्रूचक्षुरन्तादिसंज्ञाविधानमित्येवमादिकं निखिलं रागित्वेन दुश्चेष्टितं गमनमित्युच्यते।"

समाधान—उक्त दोष ठीक नहीं है। क्योंकि प्रमादका योग भी होना चाहिए। अतः सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे युक्त अप्रमादी पुरुषके मोहका अभाव होनेसे मूर्छा नहीं है अतः वह अपरिग्रही है। किन्तु रागादि तो कर्मके उदयसे होते हैं इसलिए व आत्मस्वभावरूप न होनेसे हेय हैं। अतः उनमें 'यह मेरे हैं' इस प्रकारका संकल्प परिग्रह है। यही सब दोषोंका मूल है। क्योंकि यह मेरा है इस प्रकारका संकल्प होनेपर संरक्षण वगैरह किया जाता है। उसमें हिंसा अवश्य होती है। उसके लिए मनुष्य झूठ बोलता है। चोरी करता है। मैथुन कर्ममें प्रवृत्त होता है।

इस तरह परिग्रहकी भावनाका मूल ममत्वभाव है इसलिए उसे ही परिग्रह कहा है। किन्तु धन धान्य आदि बाह्य वस्तु उस ममत्वभावमें कारण होती हैं इसलिए उन्हें भी परिग्रह कहा है। इसीसे रत्नकरण्डश्रावकाचारमें दोनोंका समन्वय करके धन धान्य आदि परिग्रहका परिमाण करके उससे अधिकमें निःस्पृह होनेको परिग्रह परिमाणव्रत कहा है और उसका दूसरा नाम इच्छापरिमाण बतलाया है।

पहले लिख आये हैं कि स्वामी कुन्दकुन्दने इस व्रतका नाम 'परिग्रहारम्भविरमण' दिया है अर्थात् परिग्रहपरिमाणव्रतीको परिग्रहके साथ आरम्भका भी नियम करना चाहिए, किन्तु इस प्रकारका निर्देश अन्यत्र नहीं मिलता। शायद इसका कारण यह हो कि जो परिग्रहका परिमाण कर लेता है उसके आरम्भका परिमाण तो स्वतः हो जाता है, क्योंकि परिग्रहके संचयके लिए ही आरम्भ किया जाता है। आचार्य अमितगतिने अपने उपासकाचारमें लिखा भी है

> सर्वारम्भा लोके संपद्यन्ते परिग्रहनिमित्ताः।
> स्वल्पयति यः सङ्गं स्वल्पयति सः सर्वमारम्भम् ॥७५॥

अर्थात् लोकमें सब आरम्भ परिग्रहके लिए किये जाते हैं। जो परिग्रहको कम करता है वह समस्त आरम्भोंको कम करता है।

तत्त्वार्थसूत्र और उसकी प्राचीन टीकाओंके उक्त कथनको लक्ष्यमें रखकर सोमदेव सूरिने भी बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओंमें यह मेरा है इस प्रकारके संकल्पको परिग्रह बतलाकर उसके विषयमें चित्तको संकुचित करनेका अर्थात् ममत्वभावको घटानेका विधान किया है।

परिग्रहके सचित्त अचित्त तथा अन्तरंग बहिरंग भेदोंका निर्देश तो सर्वार्थसिद्धिकारने ही कर दिया था। किन्तु उनकी संख्याका निर्देश पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और उपासकाध्ययनमें मिलता है। किन्तु पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लो० ११६–११७) में अन्तरंग परिग्रहके तो चौदह भेद बतलाये हैं और बहिरंग परिग्रहके केवल सचित्त-अचित्त दो ही भेद बतलाये हैं। परन्तु उपासकाध्ययनमें बहिरंग परिग्रहके दस भेद बतलाये हैं। उनमें कुछ सचेतन हैं और कुछ अचेतन हैं। तथा अनेक श्लोकोंके द्वारा परिग्रहकी बुराइयाँ बतलायी हैं।

एक गृहस्थको कितनी परिग्रहका परिमाण करना चाहिए इसका उल्लेख पूर्वोक्त ग्रन्थोंमें नहीं मिलता। लोग समझते हैं कि एक हजारपति एक करोड़की सम्पत्तिका परिमाण कर ले तो वह भी परिग्रहपरिमाणव्रती है। इसमें सन्देह नहीं कि परिमाण न करनेसे तो ऐसा परिमाण कर लेना भी बेहतर है क्योंकि उससे तृष्णाकी एक मर्यादा तो बँध जाती है। किन्तु परिग्रह परिमाणव्रतका यह आशय कदापि नहीं है कि श्रावक अधिकसे अधिक बढ़ाकर परिग्रहका परिमाण करे। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाने इसका अच्छा स्पष्टीकरण किया है। उसमें लिखा है

> "जो लोहं णिहणित्ता संतोसरसायणेण संतुट्ठो।
> णिहणदि तिण्हा दुट्ठा मण्णंतो विणस्सरं सव्वं ॥३३९॥
> जो परिमाणं कुव्वदि धणधण्णसुवण्णखित्तमाईणं।
> उवओगं जाणित्ता अणुव्वदं पंचमं तस्स ॥३४०॥"

---

१ श्लो० ४३। २ श्लो० ४३३।

जो लोभको मारकर, सन्तोषरूपी रसायनसे सन्तुष्ट होता हुआ दुष्ट तृष्णाका वध कर देता है और सब पदार्थोको विनश्वर जानकर धन, धान्य, सुवर्ण, जमीन वगैरहकी आवश्यकताको समझकर परिमाण करता है उसके पाँचवाँ अणुव्रत होता है।

इससे स्पष्ट है कि अपनी आवश्यकताको समझकर ही परिमाण करना चाहिए, अनावश्यक द्रव्यका परिमाण करनेवाला तृष्णा और लोभके वशीभूत होनेके कारण परिग्रहपरिमाणव्रती नहीं कहा जा सकता। लाटीसंहितामें तो इसे और भी सुन्दर रीतिसे स्पष्ट किया है। उसमें लिखा है,

"परिमाणे कृते तस्मादर्वाङ्मूर्च्छा प्रवर्तते।
अभावान्मूर्च्छायास्तूदूर्ध्वं मुनित्वमिव गीयते ॥८५॥
तस्मादात्मोचिताद् द्रव्याद् ह्रासनं तद्वरं स्मृतम्।
अनात्मोचितसंकल्पाद् ह्रासनं तन्निरर्थकम् ॥८६॥
अनात्मोचितसंकल्पाद् ह्रासनं यन्मनीषया।
कुर्युर्यद्वा न कुर्युर्वा तत्सर्वं व्योमचित्रवत् ॥८७॥"

जितने द्रव्यका परिमाण कर लिया जाता है, ममत्व उसके अन्दर ही रहता है। उससे अधिकमें ममत्वका अभाव होनेसे वह मनुष्य मुनिकी तरह माना जाता है। अत अपने योग्य द्रव्यको घटाना ही श्रेष्ठ है। अपने लिए अनावश्यक द्रव्यका संकल्प करके उसीमें कमी करना तो व्यर्थ है। अपने संकल्पित अनावश्यक द्रव्यको कम करो या मत करो, वह सब आकाशमें चित्र बनानेकी तरह व्यर्थ है।

इससे तो यही प्रमाणित होता है कि अपने पास जो कुछ है उसमें-से भी कम करना चाहिए। जो नहीं है उसमें कम करना बेकार है। जैसे जिस मनुष्यके पास एक हजार रुपया है वह यदि परिग्रहपरिमाण धारण करते समय यह सोचकर कि इससे ज्यादा रुपया तो मेरे पास होगा नहीं, एक करोड़का परिमाण कर ले तो उसने कम क्या किया। इसी तरह यदि वह एक करोड़को घटाकर पचास लाखका परिमाण कर ले तब भी उसने क्या त्यागा। त्याग तो वर्तमानमें जो मौजूद है उसका किया जाना चाहिए न कि उसका जिसकी अभी सम्भावना भी नहीं है।

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि हजारपति यदि करोड़का परिमाण कर लेता है तो उसे उसका फल अगले जन्ममें मिलेगा। लाटी संहिताकार[1] कहते हैं कि इसमें कुछ भी सार नहीं है। और वस्तुत उनका कहना ठीक है, आखिर उसने क्या त्यागा जिसका उसे परलोकमें फल मिले। इसलिए लाटीसंहिताकारके अनुसार व्रती पुरुषोंको मनुष्य पर्यायकी स्थिति मात्रके लिए आवश्यक धन रखना चाहिए और बाकी सब छोड़ देना चाहिए। यह उत्सर्ग मार्ग है। तथा गृहीत व्रतोंकी रक्षा हो, उनमें कोई हानि न हो इस बातका ध्यान रखकर परिग्रहका परिमाण करना चाहिए, यह अपवाद मार्ग है।

अतिचार

परिग्रहपरिमाणव्रतका अतिचार उपासकाध्ययन सहित सभी श्रावकाचारोंमें तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार 'लोभमें आकर लिये हुए परिमाणमें अतिक्रम कर लेना ही' बतलाया है। किन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचार और

---

१ "प्रत्यग्रजन्मनीहेत्थमस्त्यन्ताभावलक्षणम्।
तत्त्यागोऽपि वरं कैश्चिदुच्यते सारवर्जितम् ॥८८॥
तत्रोत्सर्गो नृपर्यायस्थितिमात्रकृते धनम्।
रक्षणीयं व्रतस्थैस्तैस्त्याज्यं शेषमशेषत ॥८९॥
अपवादस्तूपात्तानां व्रतानां रक्षणं यथा।
स्याद्वा न स्यात्तु तद्धानि सङ्ख्यातव्यस्तथोपधि ॥९०॥"
—पृ० १०७–१०८।

सागारधर्मामृतमें विभिन्न प्रकारसे उसके अतिचार बतलाये हैं। रत्नकरण्डमें नीचे लिखे अतिचार गिनाये हैं—

१ अतिवाहन— बैल मनुष्य वगैरह जितनी दूर तक सुखपूर्वक चल सकते हैं लोभमें आकर उससे अधिक दूर तक उन्हें चलाना।

२ अतिसंग्रह— धान्य वगैरह आगे जाकर खूब लाभ देगा इस भावसे लोभमें आकर धान्यादिक वस्तुओंका संग्रह करना।

३ अतिविस्मय— खूब लाभसे उनके बेच देनेपर भी खरीदनेवालेको अधिक लाभ होता देख कर खेद करना।

४ अतिलोभ— खूब लाभ होनेपर भी अधिक लाभकी इच्छा करना।

५ अतिभारवहन— लोभके कारण मनुष्य या पशुओंपर उनकी शक्तिसे अधिक भार लादना।

सागारधर्मामृतमें पाँच अतिचार इस प्रकार बतलाये हैं— १ मकान और खेतमें पासका दूसरा मकान और खेत मिला लेना। २ अपने घरका धान्य और पशुधन बेच लेनेके बाद यह धान्य और धन ले लूँगा ऐसा विचार कर परिमाणसे अधिक धन और धान्यको बेचनेवालेके घरपर ही रखना। ३ व्रतकी अवधि पूरी होनेपर ये सोना चाँदी ले लूँगा इस भावसे परिमाणसे अधिक सोना चाँदी दूसरोंको दे रखना। ४ काँसी पीतल वगैरहके बरतनोंकी संख्या परिमाणसे अधिक हो जानेपर व्रतभंगके भयसे दो दो बरतनोंको मिलाकर एक करना। ५ परिग्रहपरिमाणव्रत जितने दिनोंके लिए है उसके अन्दर ही यदि ये गाय वगैरह बच्चा देंगी तो अधिक संख्या हो जानेसे व्रतभंग हो जायेगा इस भयसे अवधिका जब कितना हो काल बीत जाये तब गाय वगैरहको ग्याभन होने देना पाँचवाँ अतीचार है।

यद्यपि ये अतीचार भी हेमचन्द्राचार्यके योगशास्त्रके आधारपर बतलाये गये हैं फिर भी तत्त्वार्थसूत्रमें जो अतिचार बतलाये हैं यह उनका ही विस्तार है। अतः स्वामी समन्तभद्रके सिवा अन्य सब शास्त्रकारोंके द्वारा बतलाये गये अतिचार समान ही हैं।

अष्टमूलगुण और पाँच अणुव्रतोंके उक्त तुलनात्मक अनुशीलनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि जैन आचारका मूल अहिंसा है। उस अहिंसाको व्यवहारमें लानेके लिए ही अष्टमूलगुण और शेष चार अणुव्रत बतलाये गये हैं। चूँकि मद्य-मधु मांस रात्रि भोजन तथा अन्य संयोग विरुद्ध पदार्थोंका भक्षण करनेसे मांस और मद्यके सेवनका दोष लगता है अतः ऐसे खान-पानको निषिद्ध बतलाया गया। और इसपर बहुत अधिक जोर दिया गया। मेरा ऐसा विचार है कि पंच अणुव्रतोंके प्राचीन मूलगुणोंमें पाँच पापोंके त्यागमें जो पंच उदुम्बरको स्थान दिया गया इसने जैनाचारकी दिशाको ही बदल दिया क्योंकि पाँच उदुम्बर और तीन मकारके त्यागरूप अष्टमूलगुण केवल खान-पानसे सम्बन्ध रखते हैं जब कि पाँच अणुव्रत समस्त सांसारिक व्यवहारसे सम्बद्ध हैं अतः जैन गृहस्थ लोग खान-पानसम्बन्धी आचारकी ओर तो विशेष ध्यान देने लगे और सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिमाणके प्रति उदासीन होते चले गये। उन्होंने केवल शुद्ध खान-पानको ही अहिंसाका अंग समझा और उत्तर कालमें यही लोगोंको समझाया भी गया। हमारे त्यागीवर्गका भी दृष्टिकोण उसी ओर रहा और वर्तमानमें भी है। वे भी जब किसी श्रावक या श्राविकासे त्याग कराते हैं तो खाने-पीनेकी वस्तुओंका ही त्याग कराते हैं। इनमें किसीको भी सत्यव्यवहार करनेकी लेन-देनमें बेईमानी न करनेकी उसकर सूद न लेनेकी न्यायसे धन उपार्जित करनेकी स्वदारसन्तोष व्रत धारण करनेकी या जरूरतसे अधिक संचय न करनेकी प्रतिज्ञा लेते या दिलाते नहीं देखा।

अणुव्रतोंके अतिचार मनुष्यकी कमजोरियोंके या यह कहना होगा कि उसकी चालाक बुद्धिके जीवित उदाहरण हमारे सामने रखते हैं। और उनका तुलनात्मक अनुशीलन सामयिक परिस्थितिपर तथा हमारे आचार्योंकी समयदर्शितापर अच्छा प्रकाश डालता है।

गुणव्रत और शिक्षाव्रत

अब हम गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंपर आते हैं–

१. आचार्य कुन्दकुन्दने[1] दिशा-विदिशा प्रमाण, अनर्थदण्डत्याग और भोगोपभोगपरिमाण ये तीन गुणव्रत बतलाये हैं और सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं।

२. तत्त्वार्थसूत्रमें[2] गुणव्रत और शिक्षाव्रत भेद न करके सात शील बतलाये हैं–दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग। सल्लेखनाको उसमें अलगसे बतलाया है। सर्वार्थसिद्धि टीकामें शुरूके तीन व्रतोंको गुणव्रत बतलाया है किन्तु शेष चारको कोई नाम नहीं दिया।

३ रत्नकरण्डश्रा[3]वकाचारमें दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत ये तीन गुणव्रत बतलाये हैं और देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्त्य ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं, सल्लेखनाको पृथक् बतलाया है।

४ पद्मच[4]रितमें अनर्थदण्डव्रत, दिग्विदिक्‌त्याग, भोगोपभोगसंख्यान ये तीन गुणव्रत बतलाये हैं और सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं। भावसंग्रहमें भी यही क्रम अपनाया है।

५. हरिवंशपुराण[5]में गुणव्रत तो तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार गिनाये हैं किन्तु शिक्षाव्रतोंमें भोगोपभोगपरिमाणको न गिनाकर सल्लेखनाको गिनाया है।

६ आदि[6]पुराणमें दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रतको गुणव्रत बतलाकर लिखा है। कोई भोगोपभोगपरिमाणव्रतको भी गुणव्रत कहते हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं।

७ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, सोमदेव उपासकाध्ययन, चारित्रसार, अमितगति उपासकाचार, पद्मनन्दि पंचविंशतिका और लाटीसंहितामें तत्त्वार्थसूत्रका ही क्रम अपनाया गया है।

८ स्वामी[7] कार्तिकेयानुप्रेक्षा और सागारधर्मामृतमें रत्नकरण्डश्रावकाचारके अनुसार बतलाये हैं।

९ वसुनन्दि[8] श्रावकाचारमें गुणव्रत तो तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार हैं और शिक्षाव्रत इस प्रकार हैं–भोगविरति, परिभोगविरति, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना।

इन सबका वर्गीकरण इस प्रकार होता है–

१ आचार्य कुन्दकुन्द और रविषेणका एक मत है या यह कह सकते हैं कि पद्मचरितमें चारित्रप्राभृतके अनुसार ही गुणव्रत और शिक्षाव्रत बतलाये हैं। सम्भवतः यही प्राचीन परम्परा हो। प्राकृत भावसंग्रह और सावयधम्मदोहामें भी यही क्रम है।

२. रत्नकरण्डश्राव[9]काचारमें उक्त परम्परासे केवल इतना अन्तर है कि उसमें शिक्षाव्रतोंमें सल्लेखनाके

---

१ चारित्रप्रा० गा० २४, २५। २ अ० ७, सू० २१। ३ श्लो० ६७ और ९१। ४ पर्व १४, श्लो० १९८, १९९। ५ स० १८, श्लो० ४६, ४७। ६. पर्व १०, श्लो० ६५, ६६। ७ गा० ३४१—३६८। ८ गा० २१२ आदि।

९ यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि श्वेताम्बर परम्परामें भी गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंका वही क्रम है जो रत्नकरण्डमें बतलाया है। तत्त्वार्थसूत्रके श्वेताम्बरसम्मत पाठमें भी सात शीलव्रतोंका वही क्रम है जो दिगम्बरसम्मत पाठमें। फिर भी उसके टीकाकार सिद्धसेन गणिने गुणव्रत और शिक्षाव्रतके भेद अपनी परम्पराके अनुसार ही गिनाये हैं अर्थात् इन सात शीलोंमें-से दिग्व्रत, भोगपरिभोगपरिमाणव्रत और अनर्थदण्डव्रत ये तीन गुणव्रत हैं और शेष चार शिक्षाव्रत हैं।

स्थानमें देशावकाशिकको स्थान दिया है।

३ आदिपुराण भी कुन्दकुन्दकी ही परम्पराको अपनाता है। अन्तर इतना है कि उसमें गुणव्रत तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार गिनाकर भी भोगोपभोगपरिमाणको गुणव्रत माननेका भी उल्लेख किया है। हरिवंशपुराणमें भी गुणव्रत तो तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार बतलाये हैं किन्तु शिक्षाव्रत चारित्रप्राभृतके अनुसार बतलाये हैं।

४ चारित्रप्राभृतके सामने तत्त्वार्थसूत्रने दूसरी ही परम्परा स्थापित की, जिसका अनुसरण उत्तरकालमें अधिक किया गया है।

दूसरे प्रकारसे इस वर्गीकरणका विश्लेषण इस प्रकार भी किया जा सकता है—

१ दिग्व्रत और अनर्थदण्डव्रतको गुणव्रत सबने माना है तथा सामायिक प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभाग-को शिक्षाव्रत वसुनन्दिके सिवा सबने माना है। वसुनन्दि सामायिक और प्रोषधोपवासके स्थानमें भोग-विरति और परिभोगविरति रखते हैं। एक भोगोपभोगपरिमाणव्रतके दो भेद इस तरह अन्य किसी भी ग्रन्थमें हमारे देखनेमें नहीं आए।

२ शेष रह जाते हैं— देशव्रत भोगोपभोगपरिमाण और सल्लेखना। कुन्दकुन्द देशव्रत मानते ही नहीं। समन्तभद्र मानते हैं किन्तु शिक्षाव्रतोंमें उसे गिनते हैं गुणव्रतोंमें नहीं जब कि तत्त्वार्थसूत्रमें देशव्रतको गुणव्रतोंके साथ गिना है यद्यपि उसमें गुणव्रत और शिक्षाव्रत भेद नहीं किये गये।

३ भोगोपभोगपरिमाणव्रतको हरिवंशपुराणके सिवा सबने माना है किन्तु एक परम्परा उसे गुणव्रतोंमें गिनती है और दूसरी शिक्षाव्रतोंमें।

४ सल्लेखनाको मानते सभी हैं किन्तु कुन्दकुन्दकी परम्परा उसे शिक्षाव्रतोंमें गिनती है जब कि तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्ड दोनों ही उसे अलग रखते हैं।

यह हम ऊपर लिख आये हैं कि तत्त्वार्थसूत्रमें उक्त गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंकी शील संज्ञा है और सर्वार्थसिद्धिमें उनका काम व्रतोंकी रक्षा करना बतलाया है। इसीका अनुसरण करते हुए अमृतचन्द्राचार्यने (पुरुषार्थ. श्लोक १३६) लिखा है कि जैसे प्राकारसे नगरकी रक्षा होती है वैसे ही शीलोंसे व्रतोंकी रक्षा होती है इसलिए व्रतोंका पालन करनेके लिए शीलोंको भी पालना चाहिए।

यह भी हम पहले लिख आये हैं कि सर्वार्थसिद्धिमें आदिके तीन शीलोंकी गुणव्रत संज्ञा तो है किन्तु शेषकी शिक्षाव्रत संज्ञा नहीं है। यही बात हम पद्मपुराणमें तथा पाक्षिकसूत्रमें भी पाते हैं। शेष चार शीलोंकी शिक्षाव्रत संज्ञा रत्नकरण्डश्रावकाचारमें, वरांगचरित (१५।१११)में और उपासकाध्ययनमें तथा उनके सम-कालीन चारित्रसारमें तथा उत्तरकालीन वसुनन्दि श्रावकाचार सागारधर्मामृत वगैरहमें पाते हैं। रत्नकरण्डमें गुणव्रतका लक्षण तो दिया है किन्तु शिक्षाव्रतका लक्षण हमें सागारधर्मामृतमें ही देखनेको मिलता है। रत्नकरण्ड (श्लो. ६७) के अनुसार मूलोंमें वृद्धि करनेके कारण दिग्व्रत अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग-परिमाण गुणव्रत हैं। और सागारधर्मामृतके अनुसार जो अणुव्रतोंका उपकार करते हैं उन्हें गुणव्रत कहते हैं और जो अभ्यासके लिए हों उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। श्वेताम्बरीय[1] ग्रन्थोंमें यही लक्षण पाया जाता है। गुणव्रत और शिक्षाव्रतमें अन्तर बतलाते हुए लिखा है कि सामायिक देशावकाशिक प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभाग ये स्वल्पकालिक होते हैं अतः गुणव्रतोंसे इनका भेद है। गुणव्रत तो प्रायः जीवन पर्यन्त होते हैं। इनमें से भी सामायिक और देशावकाशिक तो प्रतिदिन किये जाते हैं और प्रोषधोपवास तथा अतिथिसंविभाग प्रति-नियत दिन ही किये जाते हैं प्रतिदिन नहीं किये जाते। पं. आशाधरने भी देशव्रतको शिक्षाव्रत बतलाते हुए यही आपत्ति दी है। उन्होंने लिखा[2] है कि दिशा प्रमाण होनेके तथा स्वल्पकालके लिए होनेसे देशव्रत

१ ५।३ तथा ५।२४। २ [illegible]। ३ सागार. अ. ५।२६ की टीका।

शिक्षाव्रत है यह दिग्व्रतकी तरह जीवनपर्यन्तके लिए नहीं होता। तत्त्वार्थसूत्र वगैरहमें जो इसे गुणव्रत बतलाया है, वह केवल दिग्व्रतको सकुचित करनेकी दृष्टिसे बतलाया है।

दिग्विरतिव्रत, देशविरतिव्रत और अनर्थदण्डविरतिव्रत, इन तीनो गुणव्रतोके स्वरूप और अतिचारोंमें कोई अन्तर नहीं है। सभी ग्रन्थकारोंने प्राय एक-सा ही कथन किया है। सोमदेव सूरिने गुणव्रतोंका कथन बहुत सक्षेपसे किया है किन्तु शिक्षाव्रतोंका कथन बहुत ही विस्तारसे किया है। पहला शिक्षाव्रत है सामायिक। सामायिकका कथन रत्नकरण्डमें आठ श्लोकोंके द्वारा विस्तारसे किया है और उनमें सामायिकका समय, स्थान, विधि आदि आवश्यक बातें बतला दी है। तदनुसार एकान्त स्थानमें, वनमे, मकानमें या चैत्यालयमें बाह्य व्यापारसे मनको हटाकर तथा पर्यंकासनसे बैठकर अन्तरात्मामें लीन होना सामायिक है। उपवास और एक-भुक्तिके दिन सामायिक करना चाहिए तथा प्रतिदिवस भी करना चाहिए। उससे पाचो व्रतोकी पूर्ति होती है। सामायिकमे न कोई आरम्भ होता है और न परिग्रह, अत उस समय गृहस्थ भी वस्त्रसे युक्त मुनिकी तरह प्रतीत होता है।

तत्त्वार्थसूत्र (७।२१) के टीकाकार पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमे और अकलकदेवने तत्त्वार्थवार्तिकमे 'समय'का अर्थ 'एकत्व रूपसे गमन' किया है और उसे ही सामायिक बतलाया है। अर्थात् मन वचन काय-की क्रियाओंसे निवृत्त होकर एक आत्मद्रव्यमें लीन होना सामायिक है। किन्तु सोमदेव सूरिने 'समय'का अर्थ 'आप्तसेवाका उपदेश' किया है और उसमें जो क्रिया की जाती है उसे सामायिक कहा है। तदनुसार स्नान, अभिषेक, पूजन, स्तवन, जप, ध्यान आदि सब सामायिकके अग है। भावसग्रह (गा० ३५५) में भी त्रिकाल देव-स्तवनको सामायिक कहा है। आशाधरने (सागार० ५।२८-३१) प्राचीन परम्पराके साथ सोमदेव सूरिके कथनको भी स्थान दे दिया है। असलमें मन, वचन कायको एकाग्र करके साम्यभावकी वृद्धिके लिए सामायिक की जाती है। पूजनादिका भी वास्तविक उद्देश यही है। इसीसे सोमदेव सूरिने द्रव्यकालको देखकर सामायिकमें ध्यानके साथ पूजनादिको भी गर्भित कर लिया है।

प्रोषधोपवासव्रतका कथन करते हुए रत्नकरण्ड (श्लो० १०६-१०९) में प्रोषधका अर्थ 'एक बार भोजन' किया है और चारो प्रकारके आहारके त्यागको उपवास कहा है। जो उपवास करके एक बार भोजन करता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। यह अष्टमी और चतुर्दशीके दिन किया जाता है। उपवासके दिन पाँचो पापोका, अलकार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प, स्नान, अजन और नस्यका त्याग किया जाता है तथा धर्मामृतका पान करते हुए ज्ञान और ध्यानमें तत्पर रहा जाता है।

किन्तु सर्वार्थसिद्धि (७।२१) में प्रोषधका अर्थ पर्व किया है और जिसमें पाँचो इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंसे विमुख होकर रहती हैं उसे उपवास कहा है और उसका अर्थ किया है पर्वके दिन चारो प्रकारके आहारका त्याग करना। लिखा है, "अपने शरीरके सस्कारके कारण स्नान, गन्ध, माला, आभरण आदिको त्याग कर शुभ स्थानमें साधुओंके निवासस्थानमें या चैत्यालयमें अथवा अपने उपवासगृहमें धर्मकथाके चिन्तनमें मन लगाकर श्रावकको उपवास करना चाहिए और किसी प्रकारका आरम्भ नही करना चाहिए। सोमदेव सूरिने सर्वार्थसिद्धिके अनुसार ही कथन करते हुए प्रोषधका अर्थ पर्व ही किया है।

वसुनन्दिने अपने श्रावकाचारमे प्रोषधोपवासको शिक्षाव्रतोंमें स्थान नही दिया। प्रोषधप्रतिमाका वर्णन करते हुए प्रोषधोपवासकी विधि इस प्रकार बतलायी है, "सप्तमी और तेरसके दिन अतिथिभोजनके अन्तमें स्वय भोजन करके और वहीं मुखशुद्धि करके, मुखको और हाथ-पैरोको धोकर वहाँ ही उपवासका नियम लेकर जिनमन्दिर जावे और जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके और गुरुके सामने वन्दनापूर्वक कृतिकर्मको करके गुरुकी साक्षीपूर्वक उपवासको ग्रहण करके शास्त्रवाचन, धर्मकथा सुनना-सुनाना, बारह भावनाओंका चिन्तन, आदिके द्वारा शेष दिन बितावे। फिर सायकालीन वन्दना करके रात्रिके समय अपनी शक्तिके अनुसार कायोत्सर्गसे स्थित होकर भूमिका शोधन करके, अपने शरीरके प्रमाण सन्थारा लगाकर अपने घरमें या जिनमन्दिरमें सोवे। अथवा पूरी रात कायोत्सर्गपूर्वक बिताकर प्रात काल उठकर वन्दनाविधिसे जिनदेवको नमस्कार करके

तथा देव शास्त्र गुरुका द्रव्य अथवा भावपूजन करके अपने घर आवे और अतिथिदान देकर भोजन करे। इस प्रकार जो करता है उसकी प्रोषधविधि उत्तम है। केवल जल ग्रहण करना मध्यम प्रोषध है। मध्यम प्रोषध वाला आवश्यक होनेपर सावद्यरहित गृहकार्य कर सकता है, शेष विधि पूर्ववत् है। उस दिन एक बार भोजन करना या कुछ हलका भोजन ले लेना जघन्य प्रोषध है। (गा. २८१–२९२)। आशाधरने वसुनन्दिके अनुसार ही प्रोषधोपवासव्रतका कथन किया है।

तत्त्वार्थसूत्र (७।२१)में उपभोगपरिभोगपरिमाण नामका व्रत है किन्तु रत्नकरण्ड (श्लो. ८२)में भोगोपभोगपरिमाण नाम है। सर्वार्थसिद्धिमें उपभोगका जो अर्थ है वही अर्थ रत्नकरण्डमें भोगका है। और परिभोगका जो अर्थ सर्वार्थसिद्धिमें है वही अर्थ रत्नकरण्डमें उपभोगका है। सोमदेव सूरिने न तो तत्त्वार्थसूत्रकी तरह उपभोगपरिभोगपरिमाण नाम अपनाया है और न रत्नकरण्डकी तरह भोगोपभोगपरिमाण नाम अपनाया है। किन्तु भोगपरिभोगपरिमाण नाम दिया है। इनमें-से भोग शब्द रत्नकरण्डसे लिया है और परिभोग शब्द तत्त्वार्थसूत्रसे। रत्नकरण्डमें भोगोपभोगके नियम और यम रूप त्यागका विधान किया है। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकमें नियम और यम रूप त्यागका विधान नहीं है, सोमदेवने उसे रत्नकरण्डसे अपनाया है।

अष्टमूलगुणोंपर प्रकाश डालते हुए हम यह लिख आये हैं कि रत्नकरण्डश्रावकाचारमें भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें भी मद्य मांस आदिके त्यागका विधान किया है। किन्तु अष्टमूलगुणोंका निर्देश करनेवाले पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदिमें भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें मद्य मांस आदिका त्याग नहीं कराया है क्योंकि अष्टमूलगुणोंमें उनका त्याग हो जाता है।

रत्नकरण्ड (श्लो. ८४ ८५) में लिखा है कि जिन भगवान्‌के चरणोंमें आये हुए प्राणियोंको त्रसघातसे बचनेके लिए मधु और मांस तथा प्रमादसे बचनेके लिए मद्यको छोड़ना चाहिए। तथा लाभ कम और घात अधिक होनेसे मूली अदरक शृंगबेर मक्खन नीमके फूल और केतकीके फूल नहीं खाना चाहिए। सर्वार्थसिद्धि (७।२१) में भी लगभग रत्नकरण्डके शब्दोंमें ही मक्खनके सिवाय उक्त अन्य वस्तुओंको त्याज्य बतलाया है।

अकलंकदेवने राजवार्तिकमें भोगसंख्यानके त्रसघात प्रमाद बहुवध अनिष्ट और अनुपसेव्य भेद करके [1]रत्नकरण्डश्रावकाचारके समान ही उनके त्यागका विधान किया है किन्तु मक्खनको उन्होंने भी नहीं गिनाया।

चारित्रसारका तो आधार ही सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और सोमदेव उपासकाध्ययनमें भोगोपभोगपरिमाणव्रतका कथन करते हुए केवल अनन्तकाय वनस्पतिके त्याग करनेका विधान किया है। अमितगतिने उसका स्वरूपमात्र बतला दिया है।

सागारधर्मामृतमें मद्य मांस और मधुके तुल्य वस्तुओंका त्याग बतलानेके साथ-ही-साथ रत्नकरण्ड प्रतिपादित वनस्पतियोंका त्याग तो बतलाया ही है कुछ और भी बतलाया है जो उनसे पूर्वके उक्त श्रावकाचारोंमें नहीं बतलाया। वे लिखते हैं बिना उबाले हुए दूध और उसके दही मट्ठेमें मिलाया हुआ द्विदल मूँग उड़द वगैरह अन्न नहीं खाना चाहिए। वर्षाऋतुमें प्रायः करके पुराना और बिना दला हुआ द्विदल नहीं खाना चाहिए और न पत्तेका शाक खाना चाहिए। यथा

'आमगोरससंपृक्तं द्विदलं प्रायशोऽनवम्।
वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकं च नाहरेत् ॥१०॥"

१. सर्वार्थसिद्धिकारने भी यद्यपि रत्नकरण्डश्रावकाचारके शब्दोंमें ही भोगोपभोगके त्यागका कथन किया है फिर भी उसमें थोड़ा-सा अन्तर कर दिया है किन्तु अकलंकदेवने तो उसके श्लोकोंको ही एक तरहसे गद्यमें रच दिया है। अतः यह निश्चित प्रतीत होता है कि अकलंकदेवके सामने रत्नकरण्ड अवश्य रहा है।

आचार्य हेमचन्द्रने भी अपने योगशास्त्रमें भागोपभोगव्रतका वर्णन करते हुए लिखा है,

"मद्य मांस नवनीत मधूदुम्बरपञ्चकम् ।
अनन्तकायमज्ञातफल रात्रौ च भोजनम् ॥ ६ ॥
आमगोरससम्पृक्त द्विदल पुष्पितौदनम् ।
दध्यहर्द्वितयातीत कुथितान्न च वर्जयेत् ॥ ७ ॥"

अर्थात् मद्य, मास, मक्खन, मधु, पाँच उदुम्बर, अनन्तकाय वनस्पति, अनजान फल, रात्रिभोजन, बिना पके गोरसमे मिला हुआ द्विदल, फफूँदा हुआ भोजन, दो दिनका बासा दही और सडा हुआ अन्न छोड देना चाहिए ।

इस तरह जिसे प्राथमिक श्रावकका कर्तव्य बतलाया जाता है उसका त्याग भोगोपभोगव्रतमे कराया गया है । श्वेताम्बर परम्परामें इस व्रतमें क्रूर कामोके करनेका भी निषेध है । योगशास्त्रमें उन्हें गिनाया है और प० आशाधरने अपने सागारधर्मामृतमें उसका उल्लेख करके क्रूर कर्मोंके गिनानेका निषेध किया है ।

भोगोपभोगव्रतके अतिचार रत्नकरण्डके सिवा अन्य सभीमे 'सचित्तका आहार, सचित्तसे सम्बन्धित वस्तुका आहार, सचित्तसे सम्मिश्रित वस्तुका आहार, जले हुए या अधपके भोजनका आहार और गरिष्ठ भोजनका आहार' ये पाँच बतलाये है । राजवार्तिकमे लिखा है कि इनके खानेसे सचित्तका भक्षण करना पडता है, इन्द्रियोमे उन्माद पैदा होता है और वायु आदिका प्रकोप होता है उसका इलाज करनेमे पापका सचय होता है तथा मुनिगण भी ऐसे भोजनको ग्रहण नही करते । अत ऐसा आहार त्याज्य है ।

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें इस व्रतके अतिचार बिलकुल ही भिन्न हैं, किन्तु हैं उपयुक्त । यथा,

"विषयविषतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ ।
भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमा पञ्च कथ्यन्ते ॥९०॥"

विषयरूपी विषका आदर करना, भुक्त भोगोका स्मरण करना, वर्तमान भोगोमें अति लिप्सा रखना, भावी भोगोको प्राप्त करनेकी चाह करना और भोग न भोगते हुए भी यह अनुभव करना कि मैं भोग भोग रहा हूँ, ये पाँच भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचार हैं ।

आचार्य समन्तभद्रने अतिथिसविभागव्रतका नाम वैयावृत्य दिया है और उसीमें जिनपूजाको भी सम्मिलित किया है । किन्तु सोमदेवके उपासकाध्ययनमें जिनपूजाको सामायिक व्रतमें सम्मिलित किया है । और इस व्रतका नाम दान रखा है ।

रत्नकरण्ड (श्लो० १११ आदि) में तपोनिधि अनगारोको दान देनेका नाम वैयावृत्य है । तत्त्वार्थसूत्रमें इसका नाम अतिथिसविभागव्रत है । दोनोमें केवल नामका अन्तर है अभिप्रायमें अन्तर नही है । इसीसे सोमदेव सूरिने स्पष्टार्थक नाम दान देना ही उचित समझा । रत्नकरण्डमे भी आगे (श्लो० ११३) दान नाम दिया है और उसका लक्षण इस प्रकार लिखा है, "सात गुणसहित शुद्ध श्रावकके द्वारा आरम्भ और चूल्हा चक्की आदि सूनाओके त्यागी मुनियोका नौ पुण्योके द्वारा आदर-सत्कार करनेको दान कहते हैं ।' रत्नकरण्डमें न तो नौ पुण्योको बतलाया है और न दाताके सात गुणोका कोई निर्देश किया है । तत्त्वार्थवार्तिक (७।३९) में प्रतिग्रह, उच्चदेशस्थापन, पादप्रक्षालन, अर्चन और प्रणाम आदिको विधि रूपमें बतलाया है । दाताके भी अनसूया, अविषाद, प्रीतियोग, कुशलाभिसन्धिता, दृष्टफलानपेक्षिता, निरुपरोधत्व और अनिदानत्व ये सात गुण बतलाये है । पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लो० १६९) में भी ये ही सात गुण गिनाये

---

१ श्लो० ५ । २१-२३ । २ "सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुष्पक्वाहारा ॥"—तत्त्वा० सू० अ० ७, सू० ३५ ॥

है। किन्तु सोमदेवके उपासकाचारमें श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति ये सात गुण दाताके बतलाये हैं। चारित्रसारमें भी 'उक्तं च' करके उद्धृत किये गये एक श्लोकके द्वारा सोमदेवके द्वारा उक्त सात गुण गिनाये हैं और अलब्धता भक्ति भी गिनायी है, किन्तु दोनों ही उद्धृत श्लोक सोमदेव उपासकाध्ययनसे भिन्न किसी अन्य ग्रन्थके हैं।[1]

जिनसेनाचार्यके महापुराण (२०।८२) में भी उक्त सात गुणोंको गिनाया है और प्रत्येकका लक्षण भी दिया है, केवल तुष्टिके स्थानमें त्याग दिया है और चारित्रसारमें उद्धृत श्लोकमें क्षमा दिया है। वसुनन्दि श्रावकाचारकी गाथा २२४ सोमदेव उपासकाध्ययनके आर्यावृत्तका ही प्राकृत रूपान्तर है।

विज्ञान गुणका लक्षण महापुराणमें क्रमज्ञत्व कहा है अर्थात् दाताको दान देनेका क्रम ज्ञात होना चाहिए। किन्तु सोमदेवने विज्ञानका लक्षण बतलाते हुए मुनिको किस प्रकारका भोजन देना चाहिए, इसके ज्ञानको विज्ञान कहा है। इसी प्रकरणमें सोमदेवने तीन वर्णोंको दीक्षाके योग्य और चारों वर्णोंको आहारदानके योग्य बतलाया है तथा पात्रके पाँच भेद किये हैं—समयी, श्रावक, साधु, आचार्य और जैनधर्मका प्रभावक। इस तरह जैनधर्मके पालक, पोषक और प्रभावक श्रावकोंको भी पात्र बतलाकर उनका भी यथायोग्य सम्मान आदि करनेका विधान किया है। पात्रके उत्तम, मध्यम और जघन्य भेद तो प्रसिद्ध ही हैं। उनके पश्चात् उक्त पाँच भेद किये हैं।

श्रावकोंके भेद

श्रावकोंके ग्यारह भेद जो ग्यारह प्रतिमाके नामसे प्रसिद्ध हैं, प्राचीन हैं। आचार्य कुन्दकुन्दसे लेकर उत्तरकालीन सभी श्रावकाचारोंमें तथा अन्य ग्रन्थोंमें भी इन्हीं भेदोंको गिनाया है। हाँ, सागारधर्मामृतमें श्रावकके पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक ये तीन भेद करके ग्यारह भेदोंको नैष्ठिक श्रावकके भेद बतलाया है। जिसको जैनधर्मका पक्ष होता है वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। पाक्षिकको श्रावकधर्मका प्रारम्भक कहना चाहिए। जो उसमें अभ्यस्त हो जाता है वह नैष्ठिक है, यह मध्यम अवस्था है। और जो आत्मध्यानमें तत्पर होकर समाधिमरणका साधन करता है वह साधक है। यह परिपूर्ण अवस्था है।

१. पाक्षिक श्रावक

पाक्षिक श्रावक जिनेन्द्र भगवान्‌की आज्ञाको शिरोधार्य करके हिंसाको छोड़नेके लिए मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलोंके सेवन करनेका त्याग करता है। रात्रिभोजन नहीं करता। पानीको छानकर काममें लाता है। पाँचों पापोंको और सात व्यसनोंको छोड़नेका यथाशक्ति अभ्यास करता है। यथाशक्ति जिन भगवान्‌की पूजा करता है। जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, मुनियोंके लिए वसतिका, स्वाध्यायशाला, भोजनशाला, औषधालय वगैरहका निर्माण करता है। गुरुओंकी सेवा करता है। अपने सुयोग्य साधर्मी श्रावकको ही अपनी कन्या देता है। मुनियोंको दान देता है। इस बातका प्रयत्न करता है कि मुनियोंकी परम्परा बराबर चलती रहे और वे गुणवान् हों। पहले अपने आश्रितोंको भोजन कराकर फिर अपने आप भोजन करता है। रात्रिमें केवल पानी, औषध और पान, इलायची वगैरह मुखशुद्धिकारक पदार्थ ही लेता है। ऐसा कोई आरम्भ नहीं करता जिसमें सकल्पी हिंसा हो। तीर्थयात्रा वगैरह करता है। सागारधर्मामृतके दूसरे अध्यायमें पाक्षिकका कथन है।

२. नैष्ठिक श्रावक

१. दर्शनिक—स्वामी[3] समन्तभद्रके अनुसार दर्शनिक श्रावक संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त होता है, सम्यग्दृष्टि होता है, पंचपरमेष्ठीका भक्त होता है और जैनधर्मका पक्के पथ होता है। स्वामी[4]

---

१ सात गुणोंके बतलानेवाले उक्त सब ग्रन्थोंके श्लोकोंके लिए सोमदेव उपासकाध्ययन पृ. २११ का टिप्पण देखना चाहिए। २ २०।८२। ३ रत्नक. श्रा. श्लो. १३७। ४ स्वा. कार्ति. गा. ३२८।

कार्तिकेयके अनुसार जो त्रसजीवोंसे युक्त मद्य, मांस आदि निन्दनीय वस्तुओंका कभी भी सेवन नहीं करता वह दर्शनिक है। वसुनन्दि श्रावकाचारके अनुसार जो सम्यग्दृष्टि पाँच उदुम्बर और सात व्यसनोंका त्याग कर देता है वह दर्शन श्रावक है। सागारधर्मामृतमें इतना विशेष लिखा है कि अष्टमूलगुणोंमें कोई अतिचार नहीं लगने देता और निर्वाहके लिए न्यायपूर्वक आजीविका करता है वह दर्शनिक है।

अन्य ग्रन्थोंमें श्रावकका पाक्षिक भेद नहीं बतलाया किन्तु सागारधर्मामृतमें बतलाया है। इसीलिए उसमें निरतिचार अष्टमूलगुणोंके पालनका उल्लेख किया है, क्योंकि सातिचार अष्टमूलगुणोंका पालन पाक्षिक श्रावक करता है। अत. दर्शनिक श्रावक मद्य वगैरहका व्यापार भी नहीं करता। जो लोग मद्यादिकका सेवन करते हैं उनके साथ खान-पान नहीं करता। अचार मुरब्बे नहीं खाता। एक दिन रातके बादका दही मट्ठा नहीं खाता। फफूँदी वस्तुएँ नहीं खाता, चमड़ेके बरतनमें रखा घी, तेल, हींग या पानी काममें नहीं लाता। बाह्य दवा-के रूपमें भी मधुका प्रयोग नहीं करता। अनजान फल और बिना खुली फलियाँ नहीं खाता। रात्रिमें रोग दूर करनेके लिए भी दुग्ध, फलादिकका सेवन नहीं करता। पानीको साफ-सुथरे वस्त्रसे छानकर ही काममें लेता है और छने पानीको भी प्रत्येक दो मुहूर्तके बाद छानकर ही काममें लाता है। बिनछानीको उसी जलाशयमें पहुँचा देता है जिसका पानी होता है। मनोविनोदके लिए भी कभी जुआ नहीं खेलता। गायन, नर्तन और वादन-में अत्यासक्ति नहीं रखता। वेश्याके घर आता-जाता भी नहीं। किसी कुटुम्बीका भी धन अनुचित रीतिसे नहीं लेता। लकड़ी वगैरहपर अंकित प्राणियोंके चित्रोंको भी नहीं काटता। परनारीगमन तो दूर रहा, किसी लड़कीसे गान्धर्व-विवाह भी नहीं करता। वही लोकाचार पालता है जो उसके आचारके प्रतिकूल नहीं होता। धर्मपत्नीमें ही सन्तानोत्पादनका प्रयत्न करता है। सन्तानको शिक्षित और आचारवान् बनानेका प्रयत्न करता है। इस तरह सागारधर्मामृत तथा लाटीसंहितामें विस्तारसे दर्शनिक श्रावकका आचार बतलाया है।

२ व्रतप्रतिमा— जो पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका निरतिचार पालन करता है वह व्रतिक श्रावक है। इन व्रतोंका वर्णन पहले कर आये हैं।

३ सामायिक— जो तीनों सन्ध्याओंको मन वचन और कायको शुद्ध करके सामायिक करता है वह सामायिक प्रतिमाका धारी है। वसुनन्दि श्रावकाचारमें[1] लिखा है, जो शुद्ध होकर जिनमन्दिरमें या अपने घरमें जिनबिम्बके सम्मुख या अन्य पवित्र स्थानमें पूर्व दिशा या उत्तर दिशाकी ओर मुख करके प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओंको जिनधर्म, जिनवाणी, जिनबिम्ब, जिनालय और परमेष्ठीकी वन्दना करता है वह सामायिक प्रतिमाका धारी है। तथा जो कायोत्सर्गपूर्वक खडे होकर लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, संयोग-वियोग, तृण-कंचन, चन्दन-विसोलीमें समबुद्धि रखता है तथा मनमें पंचनमस्कार मन्त्रको धारण करके अष्ट प्रातिहार्यविशिष्ट जिन भगवान्का, सिद्धपरमेष्ठीका अथवा अपनी आत्माका ध्यान करता है उसकी सामायिक उत्तम है। इसमें पहली प्रकारकी सामायिकको जप और दूसरीको ध्यान समझना चाहिए।

४ प्रोषधोपवासप्रतिमा— प्रत्येक मासके चारों पर्वोमें अपनी शक्तिको न छिपाकर जो प्रोषधोपवासका नियम लेता है वह श्रावक चतुर्थ प्रतिमाका धारी है। स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षामें लिखा है, सप्तमी और त्रयोदशीके दिन अपराह्णमें जिनमन्दिरमें जाकर सामायिक करके चारों प्रकारके आहारका त्याग करके उपवासका नियम कर ले और घरका सब काम-धाम छोडकर रात्रिको धर्मचिन्तनपूर्वक बितावे। सुबह-को उठकर क्रिया कर्म करके शास्त्र-स्वाध्याय करते हुए अष्टमी या चतुर्दशीका दिन बितावे। फिर सामायिक करके उसी तरहसे रात्रिको बितावे। प्रात उठकर सामायिक करे, फिर पूजन करे, फिर पात्रदान देकर भोजन करे। इसका नाम प्रोषधोपवास है। वसुनन्दि श्रावकाचारमें इसे उत्कृष्ट प्रोषधोपवास बतलाया है, 'मध्यम प्रोषधोपवासमें केवल पानी लिया जाता है। और कोई हलका भोजन एक बार करना जघन्य उपवास बतलाया है। उपवासके दिन स्नान वगैरहका निषेध किया है। इसीलिए

१ गा० २७४–२७८। २. गा० २७३–२७६।

उस दिन भावपूजाका विधान है। हाँ, यदि द्रव्यपूजा करना चाहते हैं तब स्नान करना चाहिए।

सामायिक और प्रोषधोपवास व्रतप्रतिमामें भी आते हैं और स्वतन्त्र प्रतिमारूप भी हैं।

५. सचित्तत्यागप्रतिमा— जो सचित्त वनस्पतिको नहीं खाता वह सचित्तत्यागप्रतिमाका धारी है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षामें[1] लिखा है कि जो वस्तु स्वयं नहीं खाता उसे वह वस्तु दूसरोंको भी नहीं खिलाना चाहिए, क्योंकि खाने और खिलानेमें कोई अन्तर नहीं है, अतः सचित्तत्यागी दूसरोंको भी सचित्त वस्तु नहीं खिला सकता। वसुनन्दि[2] श्रावकाचारमें अप्रासुक जलका भी त्याग सचित्तत्यागप्रतिमामें कराया गया है। और सागारधर्मामृतमें[3] अप्रासुक नमक वगैरहको भी त्याज्य बतलाया है। लाटीसंहितामें[4] लिखा है कि पाँचवीं प्रतिमामें सचित्तभक्षणका त्याग है। सचित्तको स्पर्श करनेका त्याग नहीं है। अतः अपने हाथसे अप्रासुकको प्रासुक करके खाना चाहिए।

६. रात्रिभक्तव्रत— पहले बतला आये हैं कि छठी प्रतिमाको लेकर आचार्योंमें मतभेद है। स्वामी समन्तभद्र और स्वामी कार्तिकेयके मतसे जो रात्रिमें चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देता है वह रात्रिभक्तव्रती है और दूसरे आचार्योंके मतसे जो रात्रिमें ही स्त्री-सेवनका व्रत लेता है अर्थात् दिनमें मैथुन नहीं करता वह रात्रिभक्तव्रती है। लाटीसंहितामें[5] लिखा है, छठी प्रतिमासे पहले श्रावक रात्रिमें कदाचित् पानी वगैरह पी लेता है किन्तु छठी प्रतिमासे वह पानी भी नहीं लेता है। न वह रात्रिमें गन्ध लेप तथा माला वगैरहका ही उपयोग करता है तथा रोगकी शान्तिके लिए तैल आदिकी मालिश भी नहीं कराता तथा जैसे छठी प्रतिमामें रात्रिभोजनका सर्वथा त्याग होता है वैसे ही दिनमें मैथुनका भी सर्वथा त्याग आवश्यक है। इस तरह लाटीसंहितामें दोनों मतोंका समन्वय कर दिया गया है।

७. ब्रह्मचर्यप्रतिमा— मन वचन और कायसे स्त्री मात्रकी अभिलाषा न करनेको ब्रह्मचर्यप्रतिमा कहते हैं।

८. आरम्भत्याग— रत्नकरण्डश्रावकाचारके अनुसार नौकरी खेती व्यापार वगैरहके त्यागको आरम्भत्याग प्रतिमा कहते हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षामें[6] लिखा है जो न स्वयं आरम्भ करता है न दूसरेसे कराता और न उसकी अनुमोदना ही करता है वह आरम्भत्यागी है। वसुनन्दि श्रावकाचारमें[7] लिखा है, जो कुछ भी थोड़ा बहुत गृहसम्बन्धी आरम्भ है उसका जो त्याग कर देता है वह आरम्भत्यागी है। सागारधर्मामृतमें[8] लिखा है जो मन वचन और कायसे कृषि सेवा व्यापार आदि आरम्भोंको न स्वयं करता है और न दूसरेसे कराता है वह आरम्भत्यागी है। लाटीसंहितामें[9] लिखा है आठवीं प्रतिमासे पहले अपने हाथसे सचित्तका स्पर्श करता था किन्तु आठवीं प्रतिमामें जो सचित्त द्रव्य है उसे अपने हाथसे नहीं छूता। तथा आठवीं श्रावक यद्यपि अपने कुटुम्बमें ही रहता है किन्तु मुनिकी तरह जो तैयार भोजन मिल जाता है उसे ही खा लेता है। प्रासुक जलसे अपने वस्त्र स्वयं धो लेता है या किसी साधर्मीके हाथसे धुलवा लेता है।

इस तरह आरम्भत्यागप्रतिमाके स्वरूपमें भी उक्त ग्रन्थकारोंमें अन्तर है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें कृषि सेवा और व्यापारके स्वयं करनेका त्याग है। सागारधर्मामृतमें स्वयं करने और दूसरेसे करानेका त्याग है तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षामें अनुमतिका भी त्याग है। सागारधर्मामृतकी टीकामें तो स्पष्ट लिखा है कि गृहस्थके लिए कदाचित् पुत्र वगैरहको अनुमति देना आवश्यक हो सकता है इसलिए मन वचन काय और कृत कारितसे ही आरम्भका त्याग किया जाता है। तथा कृषि सेवा वाणिज्यका त्याग करानेसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि अष्टम प्रतिमाका धारी श्रावक धन कमानेका कोई काम नहीं करता। किन्तु वसुनन्दि श्रावकाचार और लाटीसंहितामें तो गृहसम्बन्धी प्रत्येक आरम्भका त्याग आवश्यक बतलाया

१ गा० ३८। २ गा० २९९। ३ श्लो० ८ अ० ७। ४ पृ० १११ श्लो० २०। ५ श्लो० १४७। ६ गा० ३८५। ७ गा० २९८। ८ १ अ० ... श्लो० २१। ९ पृ० ११२ श्लो० ३२।

है। अत उनके मतसे वह अपने लिए भोजन भी नही बना सकता।

९ परिग्रहत्याग— परिग्रहके त्यागको परिग्रहत्यागप्रतिमा कहते है। वसुनन्दि[1] श्रावकाचारमे लिखा है, जो वस्त्रके सिवा शेष परिग्रहको छोड देता है और उस वस्त्रसे भी मोह नही रखता वह नवम श्रावक है। सागारधर्मामृतमे परिग्रहके त्यागनेकी विधि बतलायी है। लाटीसहितामे लिखा है, नौवी प्रतिमासे पहले श्रावक सुवण आदिका परिमाण घटाता जाता है, किन्तु नौवीमे तो उसे बिलकुल ही त्याग देता है। अपने शरीरके लिए वस्त्र, मकान वगैरह तथा धर्मके साधन मात्र रखकर शेष सबका त्याग कर देता है। इससे पहले वह अपनी जमीन-जायदादका स्वामी बना रहता है, किन्तु नौवीसे जीवनपर्यन्तके लिए उस सबको त्याग कर नि शल्य हो जाता है।

१० अनुमतित्याग— कृषि आदि आरम्भमें, परिग्रहमे तथा विवाह आदि लौकिक कार्योमे अनुमति देनेके त्यागको अनुमतित्यागप्रतिमा कहते हैं। सागारधर्मामृतमें[3] दशम श्रावककी विशेष क्रिया बतलायी है। लिखा है, दशम श्रावक चैत्यालयमें बैठकर स्वाध्याय करता है और मध्याह्न कालको सामायिक करनेके पश्चात् बुलानेपर अपने या अन्य श्रावकोंके घर भोजन कर लेता है। लाटीसहितामें[4] इतना विशेष लिखा है, दसवी प्रतिमा तक श्रावकका कोई खास वेष नही होता। चोटी जनेऊ चाहे तो रख सकता है, न चाहे नही भी रखे। यथा,

"अद्य यावद्यथालिङ्गो नापि वेषधरो मनाक्।
शिखासूत्रादि दध्याद्वा न दध्याद्वा यथेच्छया ॥४९॥"

११ उद्दिष्टत्याग— रत्नकरण्डश्रावकाचारमे लिखा है, घरको त्याग कर मुनियोके पास वनमें चला जाये और वहाँ गुरुके सामने व्रत धारण करके भिक्षा भोजन करे, तपस्या करे और खण्डवस्त्र अपने पास रखे वह उद्दिष्टत्यागी श्रावक है। वसुनन्दि[6] श्रावकाचारमें लिखा है, उद्दिष्ट श्रावकके दो प्रकार हैं— एक, एक वस्त्र रखता है और दूसरा केवल लगोटी रखता है। पहला अपने बाल छुरे या कैचीसे बनवाता है और उठते-बैठते समय उपकरणसे स्थान वगैरहको साफ कर लेता है। हाथमें या पात्रमें भोजन करता है और चारो पर्वामें नियमसे उपवास करता है।

दूसरा श्रावक भी ये ही क्रियाएँ पालता है, अन्तर इतना है कि वह नियमसे केशलोंच करता है, पीछी रखता है और हाथमें भोजन करता है। श्रावकोको दिनमे प्रतिमायोग धारण करनेका, वीरचर्याका अर्थात् मुनिकी तरह स्वय भ्रामरी वृत्तिसे भोजन करनेका, त्रिकालयोगका – गरमीमे पर्वतके शिखरपर, बरसातमें वृक्षके तले और सर्दीमें नदीके किनारे ध्यान करनेका तथा सिद्धान्त अर्थात् सूत्ररूप परमागमका और रहस्य अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रके अध्ययनका अधिकार नही है।

सागारधर्मामृतमें भी ये ही सब बातें बतलायी है जो वसुनन्दि श्रावकाचारसे ही ली गयी है। लाटीसहितामे वसुनन्दि श्रावकाचारकी गाथा उद्धृत करके उद्दिष्टत्यागी श्रावकके दो भेद बतलाये हैं, एकको क्षुल्लक सज्ञा दी है और दूसरेको ऐलक। क्षुल्लकके विषयमें लिखा है, ऐलककी अपेक्षा उसका आचार कोमल होता है। वह शिखा-सूत्र रखता है, एक वस्त्र, एक लगोटी, वस्त्रकी पीछी और कमण्डलु रखता है। कांसी अथवा लोहेका भिक्षापात्र रखता है। एषणा दोषको टालकर एक बार भिक्षा भोजन करता है। निर्दिष्ट समयपर वह भोजनके लिए घूमता है और पात्रमे भिक्षा लेकर किसी घरमे प्रासुक जल पाकर पात्रकी प्रतीक्षा करता है। यदि कोई पात्र मिल जाता है तो गृहस्थकी तरह अपने भोजनमें-से उसे आहारदान देता है और जो कुछ बच जाता है उसे स्वय खा लेता है। यदि कुछ भी नही बचता तो उपवास धारण कर लेता है। यदि उसे गन्ध आदि अष्ट द्रव्य मिल जाते हैं तो बडी प्रसन्नतासे जिनविम्ब वगैरहकी पूजा करता है, आदि।

---

१ गा० २९९ २ पृ० १२४, श्लो० ४० से। ३ अ० ७ श्लो० ३१। ४ पृ० १२५। ५ श्लो० १४७। ६ गा० ३०१ आदि।

ऐलककी विधि वही है जो ऊपर दूसरे श्रावककी विधि बतलायी है।

उक्त ग्यारह भेदोंमें-से प्रारम्भके छह भेदवाले जघन्य श्रावक कहे जाते हैं और उनकी गृहस्थ संज्ञा होती है। सात आठ और नौ भेदवाले मध्यम श्रावक होते हैं और उन्हें वर्णी कहते हैं। शेष दो प्रतिमावाले श्रावक उत्कृष्ट श्रावक होते हैं और उन्हें भिक्षु कहते हैं।

साधक

उपसर्ग आनेपर, दुर्भिक्ष पड़नेपर बुढ़ापा आनेपर या असाध्य रोग हो जानेपर जब जीवनकी कोई आशा न रहे तो धर्मकी रक्षाके लिए शरीरको छोड़ देना सल्लेखना है और जो उसका साधन करता है वह साधक कहलाता है। रत्नकरण्डश्रावकाचारके अनुसार ही सोमदेव उपासकाध्ययनमें भी सल्लेखनाका वर्णन है। सागारधर्मामृतके आठवें अध्यायमें सल्लेखनाका विस्तृत कथन है।

इस तरह श्रावकाचारके मुख्य-मुख्य गुणोंका कालक्रमसे यह विश्लेषण किया गया है, जो स्वाध्यायप्रेमियों तत्त्वचिन्तकों अन्वेषकों और आचारप्रेमियोंके लिए विचारकी और खोजकी सामग्री प्रस्तुत करता है।

उपसंहार

सोमदेवका उपासकाध्ययन हिन्दी अनुवाद आदिके साथ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है और श्रावकाचारविषयक जैन साहित्यमें उसका अपना एक विशिष्ट स्थान है इसीसे इस प्रस्तावनामें उसके अन्तर्गत विषयोंपर प्रकाश डालनेके साथ श्रावकाचारपर भी विस्तारसे प्रकाश डाला गया है। किसी भी विषयके परिपूर्ण परिचयके लिए उस विषयके साहित्यका तुलनात्मक अनुशीलन आवश्यक होता है। उससे मूल विचारके प्रारम्भिक रूपका और उसमें कालक्रमसे होनेवाले विकासका पूर्ण परिचय मिल जाता है। यही विश्लेषण की आधुनिक पद्धति है।

श्रेष्ठ साहित्य जिस विषय और परम्परासे सम्बद्ध होता है उस विषय और परम्पराका तो प्रतिनिधित्व करता ही है जिस कालमें वह रचा जाता है उस कालका भी वह प्रतिनिधित्व करता है। अतः यहाँ उससे विषय और परम्पराका सम्यग्बोध होता है वहाँ तत्कालीन सामाजिक स्थितिका भी बोध होता है। उसके बिना विषयगत बोध अधूरा ही रहता है। यही वे दृष्टियाँ हैं जिनको लक्ष्यमें रखकर प्रस्तावनामें विविध चर्चाएँ की गयी हैं। दृष्टि दोषसे उनमें स्खलन भी हो सकता है उसके लिए ज्ञानियोंसे क्षमा प्रार्थना है।

वीरनिर्वाण दिवस
वी. नि. सं. २४८९

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

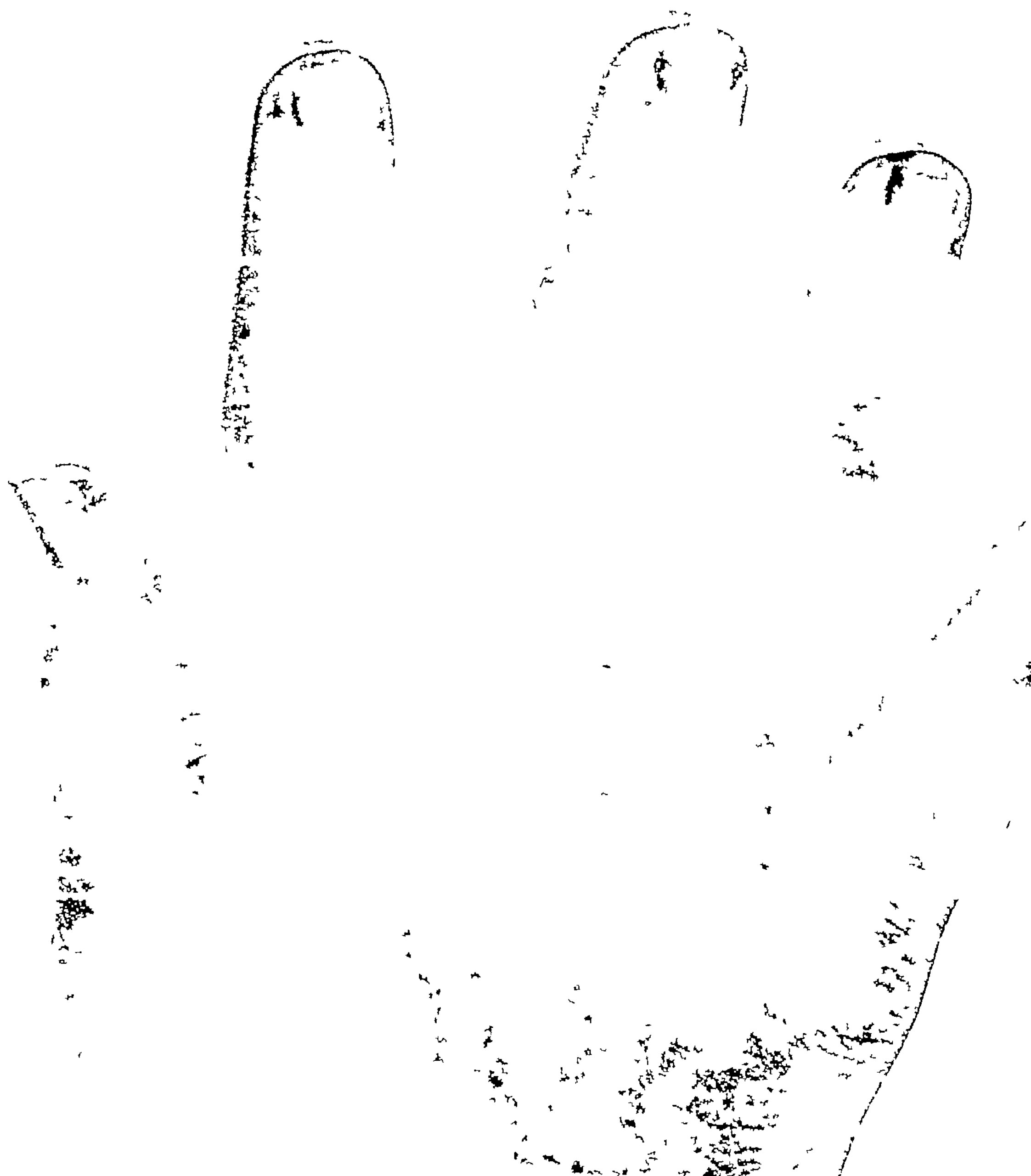
विषयसूची

मूल और अनुवाद



उपासकाध्ययन

[हिन्दी अनुवाद सहित]



परिशिष्ट

ॐ

श्री सोमदेव विरचित

उपासकाध्ययन

धर्मात्किलैष जन्तुर्भवति सुखी जगति स च पुनर्धर्मः ।
किंरूपः किंभेदः किमुपायः किंफलश्च जायेत ॥१॥
यस्मादभ्युदयः[1] पुंसां निःश्रेयसफलाश्रयः ।
वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरयः ॥२॥
स प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा गृहस्थेतरगोचरः ।
प्रवृत्तिर्मुक्तिहेतौ स्यान्निवृत्तिर्भवकारणात् ॥३॥
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रत्रयं[3] मोक्षस्य कारणम् ।
संसारस्य च मीमांस्यं मिथ्यात्वादिचतुष्टयम् ॥४॥
सम्यक्त्वं[4] भावनामाहुर्युक्तियुक्तेषु वस्तुषु ।
मोहसंदेहविभ्रान्तिवर्जितं ज्ञानमुच्यते ॥५॥
कर्मादाननिमित्तायाः[6] क्रियायाः परमं शमम् ।
चारित्रोचितचातुर्याश्चारुचारित्रमूचिरे ॥६॥

धर्मविषयक जिज्ञासा

धर्मसे यह प्राणी जगत्में सुखी होता है। उस धर्मका क्या स्वरूप है? कितने भेद हैं? तथा उसका क्या उपाय और क्या फल है ॥१॥

धर्मका स्वरूप और भेद

जिससे मनुष्योंको ऐसे अभ्युदयकी प्राप्ति होती है, जिसका फल मोक्ष है उसे आम्नायके ज्ञाता धर्माचार्य धर्म कहते है ॥२॥ वह धर्म प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप है। मोक्षके कारणोंमें लगनेको प्रवृत्ति और ससारके कारणोंसे बचनेको निवृत्ति कहते है। वह धर्म गृहस्थ धर्म और मुनि धर्मके भेदसे दो प्रकारका है ॥३॥

संसार और मोक्षके कारणोंका स्वरूप

अब प्रश्न यह है कि मुक्तिका कारण क्या है और ससारका कारण क्या है? तथा गृहस्थोंका धर्म क्या है और मुनियोंका धर्म क्या है?

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र मोक्षके कारण है। तथा मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग ससारके कारण हैं ॥४॥ युक्तियुक्त वस्तुओंमें दृढ आस्थाका होना सम्यग्दर्शन है। और मोह, सन्देह तथा भ्रमसे रहित ज्ञानका होना सम्यग्ज्ञान है ॥५॥ जिन कामोंके करनेसे

---

१ 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'—वैशे० द० १–२। यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसिद्धिः सुनिश्चिता। स धर्मः।—महापुराण ५–२०। २ सप्र—ज०, द०। ३ 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' ॥१॥—तत्त्वा० सू० अ० १। ४ दर्शनं भावना प्राहुः प्रमापूतेषु वस्तुषु। भ्रान्ति-सन्देह-समोह-दूरितं वेदनं हि तत् ॥२१॥—प्रबोधसार। ५ अज्ञानं मोहः। इदं तत्त्वमिदं वा तत्त्वमिति चलन्ती प्रतीतिः संदेहः। अतत्त्वे तत्त्वव्यवसायो भ्रान्तिः। ६ 'कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्'—सर्वा० सि०, १–१।

ॐ

श्री सोमदेव विरचित

उपासकाध्ययन

धर्मात्किलैप जन्तुर्भवति सुखी जगति स च पुनर्धर्म ।
किंरूप. किंभेदः किमुपाय. किंफलश्च जायेत ॥१॥
यस्मादभ्युदय[1] पुसा नि श्रेयसफलाश्रय ।
वदन्ति विदिताम्नायास्त धर्म धर्मसूरयः ॥२॥
स [2]प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा गृहस्थेतरगोचर ।
प्रवृत्तिर्मुक्तिहेतौ स्यान्निवृत्तिर्भवकारणात् ॥३॥
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रत्रय[3] मोक्षस्य कारणम् ।
संसारस्य च मीमास्य मिथ्यात्वादिचतुष्टयम् ॥४॥
सम्यक्त्वं[4] भावनामाहुर्युक्तियुक्तेपु वस्तुपु ।
मोहसंदेहविभ्रान्तिवर्जित ज्ञानमुच्यते ॥५॥
कर्मादाननिमित्ताया[6] क्रियाया परमं शमम् ।
चारित्रोचितचातुर्याश्चारुचारित्रमूचिरे ॥६॥

धर्मविषयक जिज्ञासा

धर्मसे यह प्राणी जगत्में सुखी होता है । उस धर्मका क्या स्वरूप है ? कितने भेद हैं ? तथा उसका क्या उपाय और क्या फल है ॥१॥

धर्मका स्वरूप और भेद

जिससे मनुष्योको ऐसे अभ्युदयकी प्राप्ति होती है, जिसका फल मोक्ष है उसे आम्नायके ज्ञाता धर्माचार्य धर्म कहते हैं ॥२॥ वह धर्म प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप है । मोक्षके कारणोंमें लगनेको प्रवृत्ति और ससारके कारणोंसे बचनेको निवृत्ति कहते है । वह धर्म गृहस्थ धर्म और मुनि धर्मके भेदसे दो प्रकारका है ॥३॥

संसार और मोक्षके कारणोंका स्वरूप

अब प्रश्न यह है कि मुक्तिका कारण क्या है और ससारका कारण क्या है ? तथा गृहस्थोंका धर्म क्या है और मुनियोका धर्म क्या है ?

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र मोक्षके कारण है । तथा मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग ससारके कारण है ॥४॥ युक्तियुक्त वस्तुओमें दृढ़ आस्थाका होना सम्यग्दर्शन है । और मोह, सन्देह तथा भ्रमसे रहित ज्ञानका होना सम्यग्ज्ञान है ॥५॥ जिन कामोके करनेसे

---

१ 'यतोऽभ्युदयनि श्रेयमसिद्धि स धर्म ।'—वैशे० द० १–२ । यतोऽभ्युदयनि श्रेयसार्थसिद्धि सुनिश्चिता । स धर्म ।—महापुराण ५–२० । २ सप्र—ज०, द० । ३ 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग '॥१॥—तत्त्वा० सू० अ० १ । ४ दर्शन भावना प्राहु प्रमापूतेपु वस्तुपु । भ्रान्ति सन्देह-समोह-दूरित वेदन हि तत् ॥२१॥—प्रबोधसार । ५ अज्ञान मोह । इद तत्त्वमिद वा तत्त्वमिति चलन्ती प्रतीति सदेह । अतत्त्वे तत्त्वव्यवसायो भ्रान्ति । ६ 'कर्मादाननिमित्तक्रियोपरम सम्यक्चारित्रम्'—सर्वा० सि०, १–१ ।

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रविपर्ययपरं मनः ।
मिथ्यात्वं त्रयं[1] माषन्ते सूरयः सर्ववेदिनः ॥७॥

अथ दुरागमवासनाविलासिनीवासितचेतसां प्रवर्तितप्राकृतलोकालोकदोन्मूलनसमय स्रोतसां सदाचाराचरणचातुरीविदूरवर्तिनां परवादिनां मुक्तेरुपाये[2] काये च वस्तुतत्त्वं खलु प्रवृत्तय । तथा हि—'सकलनिष्कलाप्तप्रणीतमन्त्रतन्त्रापेक्षादीक्षालक्षणाच्छ्रद्धामात्रानुसरणान्मोक्ष' इति सैद्धान्तवैशेषिकाः, '[3]द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायाभावविशेषाभावाभिधानानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यावबोधतन्त्रात् ज्ञानमात्रात्' इति तार्किकवैशेषिकाः, 'त्रिकालभस्मोद्धूलनेज्या गुरुकमदानप्रदक्षिणीकरणात्मविडम्बनादिक्रियाकाण्डमात्राधिष्ठानादनुष्ठानात्' इति पाशुपताः, 'सर्वेषु पेयापेयभक्ष्याभक्ष्यादिषु निःशङ्कचित्तात् वृत्तात्' इति कुलाचार्यकाः[4] । तथा च त्रिकमतोक्तिः—'मदिरामोदमेदुरवदनस्तरसरसप्रसन्नहृदयः सव्यपार्श्वविनिवेशितशक्तिः[5] शक्ति-मुद्रासनधरः[6] स्वयमुमामहेश्वरायमाणः कृष्णया[7] शर्वाणीश्वरमाराधयेदिति । प्रकृतिपुरुषयो-र्विवेकमते[8] ख्याते' इति सांख्याः, 'नैरात्म्यादिनिवेदितसमायनातो[9] भावनातः' इति दशबल-

---

कर्मोंका बन्ध होता है उन कर्मोंके न करनेको चारित्रमें चतुर आचार्य सम्यक्चारित्र कहते हैं ॥६॥ तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके विषयमें विपरीत मानसिक प्रवृत्तिको सर्वविद् आचार्योंने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहा है ॥७॥

मुक्तिके विषयमें मतान्तर

अन्य मतवाले मुक्तिका स्वरूप तथा उपाय अलग-अलग बतलाते हैं। १ सैद्धान्तिक वैशेषिकोंका कहना है कि सशरीर या अशरीर परम शिवके द्वारा प्राप्त हुए मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा धारण करना और उसपर श्रद्धा मात्र रखना मोक्षका कारण है।

२ तार्किक वैशेषिकोंका कहना है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, विशेष और अभाव इन सात पदार्थोंके साधर्म्य और वैधर्म्य मूलक ज्ञान मात्रसे मोक्ष होता है।

३ पाशुपतोंका कहना है कि तीनों समय प्रात दोपहर और शामको भस्म लगाने, शिव लिंगकी पूजा करने, उसके सामने जलपात्र स्थापित करने, प्रदक्षिणा करने और आत्मदमन आदि क्रियाकाण्डमात्रके अनुष्ठानसे मोक्ष होता है।

४ कुलाचार्योंका कहना है कि निःशङ्क चित्तसे समस्त पीने योग्य न पीने योग्य, खाने योग्य न खाने योग्य पदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेसे मोक्ष होता है। त्रिकमतमें लिखा है कि शराबकी सुगन्धसे मुखको सुवासित करके, मांसके स्वादसे हृदयको प्रसन्न करके और दक्षिण पार्श्वमें स्त्री शक्तिको स्थापित करके योनि-मुद्रा आसनका धारक स्वयं ही शिव और पार्वती बनकर मदिराके द्वारा उमा और महेश्वरकी आराधना करे।

५ सांख्योंका कहना है कि प्रकृति और पुरुषके भेदज्ञानसे मोक्ष होता है।

---

१ अत्र 'त्रिषु' इति पाठः प्रतिभाति । यथा—'देवते शयने गुरौ विपर्ययपरं मनः । मिथ्यात्वं त्रिषु मार्गेषु सूरयः सर्ववेदिनः' ॥२१॥—प्रबोध । २ स्वरूपे । ३ 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्' ॥—वैशे० द० १-४ । ४ —कमाद्योपपञ्चकवाना—अ । ५ स्त्री । ६ योनिमुद्रा । ७ मदिरया । ८ समाव—अ । समावमातो इति अ । ९. बौद्धाः ।

शिष्या, 'अङ्गाराञ्जनादिवत्स्वभावादेव कालुष्योत्कर्षप्रवृत्तस्य[1] चित्तस्य न कुतश्चिद्विशुद्ध-चित्तवृत्तिः' इति जैमिनीया, 'सति धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते ततः परलोकिनोऽभावात्पर-लोकाभावे कस्यासौ मोक्ष.' इति समवाप्तसमस्तनास्तिकाधिपत्या बार्हस्पत्याः,[2] 'परमब्रह्म-दर्शनवशादशेषभेदसंवेदनाविद्याविनाशात्' इति वेदान्तवादिन',

"नैवान्तस्तत्त्वमस्तीह न बहिस्तत्त्वमञ्जसा ।
विचारगोचरातीतैः शून्यता श्रेयसी तत. ॥८॥

इति पश्यतोहरा प्रकाशितशून्यतैकान्ततिमिराः [3]शाक्यविशेषा, तथा 'ज्ञानसुख-दु खेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां नवसंख्यावसराणामात्मगुणानामत्यन्तोन्मुक्तिर्मुक्ति.' इति काणादा । तदुक्तम्—

"बहि' शरीराद्यद्रूपमात्मन सप्रतीयते ।
उक्त तदेव मुक्तस्य मुनिना कणभोजिना" ॥९॥

६ बुद्धके शिष्योंका कहना है कि नैरात्म्य भावनाके अभ्याससे मोक्ष होता है ।

७. जैमिनीयोंका मत है कि कोयले और अजनकी तरह स्वभावसे ही कलुषित चित्तकी चित्त-वृत्ति विशुद्ध नहीं हो सकती । अर्थात् जैसे कोयलेको घिसनेपर भी वह सफेद नहीं हो सकता, उसी तरह स्वभावसे ही मलिन चित्त विशुद्ध नहीं हो सकता ।

८ नास्तिक शिरोमणि बृहस्पतिके अनुयायी चार्वाकोंका कहना है कि धर्मीके होनेपर ही धर्मों-का विचार किया जाता है । अत परलोकमें जानेवाली किसी आत्माके न होनेसे जब परलोक ही नहीं है तो मोक्ष होता किसको है ? अर्थात् जब आत्मा ही नहीं है तो मोक्षकी बात ही बेकार है ।

९ वेदान्तियोंका मत है कि परम ब्रह्मका दर्शन होनेसे समस्त भेदज्ञानको करानेवाली अविद्याका नाश हो जाता है और उससे मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

१० दिखाई देनेवाले विश्वका भी निषेध करनेवाले शून्यतैकान्तवादी बौद्धविशेषोंका मत है कि न कोई अन्तस्तत्त्व आत्मा वगैरह है और न कोई वास्तविक बाहरी तत्त्व घटादिक ही है, दोनो ही विचारगोचर नहीं है, अत. शून्यता ही श्रेष्ठ है ॥८॥

११ कणादके अनुयायियोंका मत है कि ज्ञान, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म, आत्माके इन नौ गुणोंका अत्यन्त अभाव हो जानेको ही मुक्ति कहते है । कहा भी है—"शरीरसे बाहर आत्माका जो स्वरूप प्रतीत होता है, कणाद मुनिने उसीको मुक्तात्माका स्वरूप कहा है ॥९॥

१ -स्य न-अ० । 'घृष्यमाणो यथाङ्गार शुक्लता नैति जातुचित् । विशुद्धयति कुतश्चित्त 'निसर्गमलिन तथा ॥—यशस्ति०, भाग २, पृ० २५० । घृष्यमाणाङ्गारवदन्तरङ्गस्य विशुद्ध्यभावे कथमिदमुदा-हारि कुमारिलेन—विशुद्धज्ञानदेहाय पृ० २५४ । २ चार्वाका । 'परलोकिनोऽभावात् परलोकाभाव '—तत्त्वसंग्रह पृ० ५२३, तत्त्वोपप्लव पृ० ५८, प्रमेयकमल० पृ०, ११६, न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३४३, सन्मति० टीका पृ० ७१ पर उद्धृत । ३ 'कर्मक्लेशक्षयान्मोक्ष कर्मक्लेशा विकल्पत । ते प्रपञ्चात् प्रपञ्चस्तु शून्यताया निरुध्यते ॥—माध्य० का० १८-५ ।

'निराश्रयचित्तोत्पत्तिलक्षणो मोक्षक्षण'[1] इति ताथागताः। तदुक्तम्—

'दिशं[2] न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥१०॥
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतः क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥११॥

—सौन्दरनन्द १६ २८–२९

'बुद्धिमनोऽहंकारविरहादखिलेन्द्रियोपशमाद्वहान्तरा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं मुक्तिः' इति कापिलाः। यथा घटविघटने घटाकाशमाकाशीभवति तथा देहोच्छेदात् सर्वः प्राणी परब्रह्मणि लीयते' इति ब्रह्माद्वैतवादिनः।

अज्ञातपरमार्थानामेवमन्येऽपि दुर्नयाः।
मिथ्यादृशां न गण्यन्ते जात्यन्धानामिव द्विपे ॥१२॥
प्रायः सम्प्रति कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनम्।
निर्लूननासिकस्येव विशुद्धादर्शदर्शनम् ॥१३॥

१२. बौद्धोंका कहना है कि निराश्रय चित्तकी उत्पत्ति हो जाना ही मोक्ष है। कहा भी है—"जैसे दीपक बुझ जानेपर न किसी दिशाको चला जाता है, न किसी विदिशाको चला जाता है। न नीचे पृथिवीमें समा जाता है और न ऊपर आकाशमें समा जाता है, किन्तु तेलके चुक जानेसे शान्त हो जाता है। उसी तरह निर्वाणको प्राप्त हुआ जीव न किसी दिशाको जाता है, न किसी विदिशाको जाता है, न पृथिवीमें समा जाता है और न ऊपर आकाशमें समा जाता है किन्तु क्लेशोंके क्षय हो जानेसे शान्त हो जाता है" ॥१०–११॥

१२ बुद्धि, मन और अहंकारका अभाव हो जानेके कारण समस्त इन्द्रियोंके शान्त हो जानेसे पुरुषका अपने चैतन्य स्वरूपमें स्थित होना मोक्ष है, ऐसा कपिल ऋषिके अनुयायी मानते हैं।

ब्रह्माद्वैतवादियोंका कहना है कि जैसे घड़के फूट जानेपर घटसे रोका हुआ आकाश आकाशमें मिल जाता है उसी तरह शरीरका विनाश हो जानेपर सब प्राणी परम ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं।

जिस तरह जन्मान्ध मनुष्य हाथीके विषयमें विचित्र कल्पनाएँ कर बैठते हैं, उसी तरह परमार्थको न जाननेवाले मिथ्यामतवादियोंने अन्य भी अनेक मत कल्पित कर रखे हैं, उनकी गणना करना भी कठिन है ॥१२॥

[इस प्रकार मोक्षके विषयमें अन्य मतोंको बतला कर आचार्य विचारते हैं—]

जैसे नकटे मनुष्यको स्वच्छ दर्पण दिखानेसे उसे क्रोध आता है, वैसे ही आजकल सन्मार्गका उपदेश भी प्रायः लोगोंके क्रोधका कारण होता है ॥१३॥

१ 'मोक्ष इति मोक्षापरपर्यायापत्ता –मु । मोक्षक्षण – मोक्षावसर । २ अश्वघोषकृत सौन्दरनन्द काव्य सर्ग १६ श्लो २८–२९ इस प्रकार है—'दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेत –' इत्यादि। ३ घटाभावे घटाकाशो महाकाशो यथा तथा। उपाध्यभावे त्वात्मैव स्वयं ब्रह्मैव केवलम् ॥६९५ ।–सर्वदेदान्त सिद्धान्तसंग्रह। देहे मोक्षाश्रये भग्ने मुक्तः स परमात्मनि। कुम्भाकाश इवाकाशे लभते चैकरूपताम्। –माठर वृत्ति (सा का १९) में उद्धृत। ४ 'प्रायः प्रस्तुत वाय यथार्थस्योपदर्शनम्। यथा निर्लूननासस्य विशुद्धादर्शदर्शनम् ॥२१॥ –प्रबो सार।

दृष्टान्ता सन्त्यसंख्येया मतिस्तद्वशवर्तिनी ।
किं न कुर्युर्मही धूर्ता विवेकरहितामिमाम् ॥१४॥
दुराग्रहग्रहग्रस्ते विद्वान्पुंसि करोतु किम् ।
कृष्णपाषाणखण्डेषु मार्दवाय न तोयदः ॥१५॥
ईर्ते युक्तिं यदेवात्र तदेव परमार्थसत् ।
यद्भानुदीप्तिवत्तस्याः पक्षपातोऽस्ति न क्वचित् ॥१६॥
श्रद्धा श्रेयोऽर्थिनां श्रेय संश्रयाय न केवला ।
बुभुक्षितवशात्पाको जायेत किमुदुम्बरे ॥१७॥
पात्रावेशादिवन्मन्त्रादात्मदोषपरिक्षयः ।
दृश्येत यदि को नाम कृती क्लिश्येत संयमै ॥१८॥
दीक्षाक्षणान्तरात्पूर्वं ये दोषा भवसंभवा ।
ते पश्चादपि दृश्यन्ते तन्न सा[१] मुक्तिकारणम् ॥१९॥

संसारमें दृष्टान्तोंकी कमी नहीं है, दृष्टान्तोंको सुनकर लोगोंकी बुद्धि उनके आधीन हो जाती है। ठीक ही है—धूर्त लोग इस विवेक शून्य पृथिवीपर क्या नहीं कर सकते ॥१४॥ जो पुरुष दुराग्रह रूपी राहुसे ग्रस लिया गया है अर्थात् जो अपनी बुरी हठको पकड़े हुए है उस पुरुषको विद्वान् कैसे समझावें। मेघके बरसनेसे काले पत्थरके टुकड़ोंमें कोमलता नहीं आती ॥१५॥ फिर भी इस लोकमें जो वस्तु युक्तिसिद्ध हो वही सत्य है, क्योंकि सूर्यकी किरणोंकी तरह युक्ति भी किसीका पक्षपात नहीं करती ॥१६॥

[इस प्रकार मनमें विचार कर आचार्य यहाँसे उक्त मतान्तरोंका क्रमशः निराकरण करते हैं—]

१ कल्याण चाहनेवालोंका कल्याण केवल श्रद्धा मात्रसे नहीं हो सकता। क्या भूख लगनेसे ही गूलर पक जाते हैं ? ॥१७॥ उचित व्यक्तिमें आगत भूतावेशकी तरह यदि मन्त्र पाठसे ही आत्माके दोषोंका नाश होता देखा जाता, तो कौन मनुष्य संयम धारण करनेका क्लेश उठाता ॥१८॥ दीक्षा धारण करनेसे पहले जो सांसारिक दोष देखे जाते हैं, दीक्षा धारण करनेके बाद भी वे दोष देखे जाते हैं। अतः केवल दीक्षा भी मुक्तिका कारण नहीं है ॥१९॥

भावार्थ—पहले सैद्धान्त वैशेषिकोंका मत बतलाते हुए कहा है कि वे मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा धारण करने और उनपर श्रद्धा मात्र रखनेसे मोक्ष मानते हैं। उसीकी आलोचना करते हुए आचार्य कहते हैं कि न केवल श्रद्धासे ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है और न मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा धारण करनेसे ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। श्रद्धा तो मात्र रुचिको बतलाती है, किन्तु किसी चीजपर श्रद्धा हो जाने मात्रसे ही तो वह प्राप्त नहीं हो जाती। इसी तरह दीक्षा धारण कर लेने मात्रसे भी काम नहीं चलता, क्योंकि दीक्षा लेनेपर भी यदि सांसारिक दोषोंके विनाशका प्रयत्न न किया जाये तो वे दोष जैसे दीक्षा लेनेसे पहले देखे जाते हैं वैसे ही दीक्षा धारण करनेके बादमें भी देखे जाते हैं। यदि केवल श्रद्धा या दीक्षासे ही काम चल सकता होता तो संयम धारण करनेके कष्टोंको उठानेकी जरूरत ही नहीं रहती। अतः ये मोक्षके कारण नहीं माने जा सकते।

---

१ दीक्षा।

ज्ञानेनावगमोऽर्थानां न तत्कार्यसमागमः ।
तर्षापकर्षयोगि स्याद्दृष्टमेवान्यथा पयः ॥२०॥
ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम् ।
तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ॥२१॥
ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम् ।
ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणम् ॥२२॥

उक्तं च—

*"हतं[1] ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया ।
धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः" ॥२३॥*

निःशङ्कारम्भसंपृक्ते स्यात्तेऽपि मोक्षसमीक्षणम् ।
ठकलुण्टाकयोः पूर्वं पश्चात्कौलेऽप्यसौ भवेत् ॥२४॥
अव्यक्तनरयोर्नित्यं नित्यव्यापित्वमाययोः ।
विवेकेन[2] कथं ख्याति सांख्यमुख्याः प्रचक्षते ॥२५॥

[अब आचार्य बिना ज्ञानकी क्रियाको और बिना क्रियाके ज्ञानको व्यर्थ बतलाते हैं—]

२ १ ज्ञानसे पदार्थोंका बोध होता है, किन्तु उन्हें जानने मात्रसे उन पदार्थोंका कार्य होता नहीं देखा जाता। यदि ऐसा होता तो पानीके देखते ही प्यास बुझ जानी चाहिए ॥२०॥ तथा ज्ञानहीन पुरुषकी क्रिया फलदायी नहीं होती। क्या अन्धे मनुष्य वृक्षकी छायाकी तरह उसके फलोंकी शोभाका आनन्द ले सकते हैं ? ॥२१॥ श्रद्धाहीन पंगुका ज्ञान और श्रद्धाहीन अन्धेकी क्रिया दोनों ही कार्यकारी नहीं हैं। अतः ज्ञान, चारित्र और श्रद्धा तीनों ही मिलकर मोक्षका कारण हैं ॥२२॥

कहा भी है—

क्रिया-आचरणसे शून्य ज्ञान भी व्यर्थ है और अज्ञानीकी क्रिया भी व्यर्थ है। देखा, एक जंगलमें आग लगनेपर अन्धा मनुष्य दौड़ भाग करके भी नहीं बच सका, क्योंकि वह देख नहीं सकता था और लँगड़ा मनुष्य आगको देखते हुए भी न भाग सकनेके कारण उसीमें जल मरा ॥२३॥

[कौल मतवादियोंको आचार्य उत्तर देते हैं—]

४ यदि मद्य-मांस वगैरहमें निःशङ्क होकर प्रवृत्ति करनेसे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती हो तो सबसे पहले तो ठगों और मांस बेचनेवाले कसाइयोंकी मुक्ति होनी चाहिए। उनके पीछे कौल मतवालोंकी मुक्ति होना चाहिए ॥२४॥

[इस प्रकार केवल ज्ञान या केवल चारित्रसे मुक्तिकी प्राप्तिको असम्भव बतलाकर आगे आचार्य सांख्य मतकी आलोचना करते हैं—]

५ सांख्य मतमें प्रकृति और पुरुष दोनों व्यापक और नित्य माने गये हैं। ऐसी अवस्थामें उनमें भेद ग्रहण कैसे सम्भव है ? अर्थात् व्यापक और नित्य होनेसे प्रकृति और पुरुष दोनों सदासे मिले हुए ही रहते हैं। तब उनमें भेद ज्ञानका कथन सांख्याचार्य कैसे करते हैं ॥२५॥

१ भेद् ज्ञानमात्रेण चतुर्वर्गस्यापवर्गो भवति यदि एवं ज्ञानमात्र मन चार्थ विनापि तृषाछेदो भवति न च तथा दृश्यते। २ 'उक्तं च—हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया। धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुकः ॥'—तत्त्वा० वा० पृ० १४। १ भेदेन।

सर्वं चेतसि भासेत वस्तु भावनया स्फुटम् ।
तावन्मात्रेण मुक्तत्वे मुक्तिः स्याद्विप्रलम्भिनाम्[1] ॥२६॥

तदुक्तम्—

"पिहिते कारागारे[2] तमसि च सूचीमुखाग्रनिर्भेद्ये ।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्तानन व्यक्तम्" ॥२७॥

स्वभावान्तरसंभूतिर्यत्र तत्र मलक्षयः ।
कर्तुं शक्यः स्वहेतुभ्यो मणिमुक्ताफलेष्विव ॥२८॥

"तदहर्जस्तनेहातो[3] रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः ।
भूतानन्वयनाज्जीवः प्रकृतिज्ञः सनातनः" ॥२९॥

[पहले नैरात्म्य भावनासे मुक्ति माननेवाले एक मतका उल्लेख कर आये हैं, उसकी आलोचना करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—]

६. भावनासे सभी वस्तु चित्तमें स्पष्ट रूपसे झलकने लगती है। यदि केवल उतनेसे ही मुक्ति प्राप्त होती है तो ठगोंकी भी मुक्ति हो जायेगी ॥२६॥

कहा भी है—

"सब ओरसे बन्द जेलखानेमें अत्यन्त घोर अन्धकारके होते हुए और मेरे आँख बन्द कर लेनेपर भी मुझे अपनी प्रियाका मुख दिखाई दिया" ॥२७॥

भावार्थ—आशय यह है कि भावना जैसी भाई जाती है वैसी ही वस्तु दिखाई देने लगती है। अतः केवल भावनाके बलपर यथार्थ वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

[इस प्रकार नैरात्म्य भावनावादीको उत्तर देकर आचार्य जैमिनिके मतकी आलोचना करते हैं। जैमिनिका कहना है कि स्वभावसे ही कलुषित चित्तकी विशुद्धि नहीं हो सकती। इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—]

७. जिस वस्तुमें स्वभावान्तर हो सकता है, उसमें अपने कारणोंसे मलका क्षय किया जा सकता है, जैसा कि मणि और मोतियोंमें देखा जाता है। अर्थात् मणि मोती वगैरह जन्मसे ही सुमैल पैदा होते हैं किन्तु बादको उनका मैल दूर करके उन्हें चमकदार बना लिया जाता है। इसी तरह अनादिसे मलिन आत्मासे भी कर्म जन्य मलिनताको हटाकर उसे विशुद्ध किया जा सकता है ॥२८॥

[अब आत्मा और परलोकको न माननेवाले चार्वाकोंको उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—]

८ उसी दिनका पैदा हुआ बच्चा माताके स्तनोंको पीनेकी चेष्टा करता है, राक्षस वगैरह देखे जाते हैं, किसी-किसीको पूर्व जन्मका स्मरण भी हो जाता है, तथा आत्मामें पञ्च भूतोंका कोई भी धर्म नहीं पाया जाता। इन बातोंसे प्रकृतिका ज्ञाता जीव सनातन सिद्ध होता है ॥२९॥

भावार्थ—आशय यह है कि चार्वाक आत्माको एक स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता। उसका कहना है कि जैसे कई चीजोंके मिलानेसे शराब बन जाती है और उसमें मादकता उत्पन्न हो जाती है, उसी तरह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच भूतोंके मिलनेसे एक शक्ति उत्पन्न हो जाती है या प्रकट हो जाती है, उसे ही आत्मा कह देते हैं। जब वे पाँचों भूत बिछुड जाते हैं तो वह शक्ति भी नष्ट हो जाती है। अतः पञ्चभूतोंके सिवा आत्मा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है।

---

१ वञ्चकानाम्। २ प्रमेयरत्नमाला (पृ० ६१)में उद्धृत। ३ प्रमेयरत्नमाला (पृ०१८१)में उद्धृत।

भेदोऽयं यद्यविद्या स्याद्वैचित्र्यं जगतः कुतः ।
जन्ममृत्युसुखप्रायैर्विवर्तैर्मानवर्तिभिः ॥२०॥
शून्यं तत्त्वमहं वादी साधयामि प्रमाणतः ।
इत्यास्थायां विरुध्येत सर्वशून्यत्ववादिता ॥२१॥
बोधो वा यदि वानन्दो नास्ति मुक्तौ भवोद्भवः ।
सिद्धसाध्यतयास्माकं न काचित्क्षतिरीक्ष्यते ॥२२॥

इसका निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि एक तो उसी दिनका जन्मा हुआ बच्चा माताके स्तनोंको पीनेकी चेष्टा करता हुआ देखा जाता है, और यदि उसके मुँहमें स्तन लगा दिया जाता है तो झट पीने लगता है। यदि बच्चेको पूर्व जन्मका संस्कार न होता तो पैदा होते ही उसमें ऐसी चेष्टा नहीं होनी चाहिए थी। यह सब पूर्व जन्मका संस्कार ही है। तथा राक्षस व्यन्तरादिक देव देखे जाते हैं जो अनेक बातें बतलाते हैं। पूर्व जन्मके स्मरणकी कई घटनाएँ सच्ची पाई गई हैं, तथा सबसे बड़ी बात तो यह है कि यदि चैतन्य भूतोंके मेलसे पैदा होता है तो उसमें भूतों का धर्म पाया जाना चाहिए था, क्योंकि जो वस्तु जिन कारणोंसे पैदा होती है उस वस्तुमें उन कारणोंका धर्म पाया जाता है, जैसे मिट्टीसे पैदा होनेवाले घड़ेमें मिट्टीपना रहता है, धागोंसे बनाये जाने वाले वस्त्रमें धागे पाये जाते है, किन्तु चैतन्यमें पंचभूतोंका कोई धर्म नहीं पाया जाता। पंच भूत तो जड़ होते हैं उनमें जानने-देखनेकी शक्ति नहीं होती, किन्तु चैतन्यमें जानने देखनेकी शक्ति पाई जाती है। तथा यदि चैतन्य पंचभूतोंका धर्म है तो मोटे शरीरमें अधिक चैतन्य पाया जाना चाहिए था और दुबले शरीरमें कम। किन्तु इसके विपरीत कोई-कोई दुबले-पतले बड़े मेधावी और ज्ञानी देखे जाते हैं और स्थूल मनुष्य निर्बुद्धि होते है। तथा यदि चैतन्य पंचभूतोंका धर्म है तो शरीरका हाथ-पैर आदि कट जानेपर उसमें चैतन्यकी कमी हो जानी चाहिए क्योंकि पंचभूत कम हो गये हैं किन्तु हाथ-पैर वगैरहके कट जानेपर भी मनुष्यके ज्ञानमें कोई कमी नहीं देखी जाती। इससे सिद्ध है कि चैतन्य पंचभूतोंका धर्म नहीं है बल्कि एक नित्य द्रव्य आत्माका ही धर्म है। अतः आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

[अब आचार्य वेदान्तियोंके मतकी आलोचना करते हुए उनसे पूछते हैं—]

९. यदि यह भेद अविद्याजन्य है—अज्ञान मूलक है तो संसारमें वैचित्र्य क्यों पाया जाता है, क्यों कोई मरता है और कोई जन्म लेता है ? कोई सुखी और कोई दुखी क्यों देखा जाता है ? ॥२०॥

[अब आचार्य शून्यवादी बौद्धके मतकी आलोचना करते हैं—]

१०. 'मैं शून्य तत्त्वको प्रमाणसे सिद्ध करता हूँ', ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर सर्वशून्यवादका *स्वयं विरोध हो जाता है* ॥२१॥

भावार्थ—आशय यह है कि शून्यतावादी अपने मतकी सिद्धि यदि किसी प्रमाणसे करता है तो प्रमाणके वस्तु सिद्ध हो जानेसे शून्यतावाद सिद्ध नहीं हो सकता। और यदि बिना किसी प्रमाणके ही शून्यतावादको सिद्ध मानता है *तब तो दुनियामें ऐसी कोई वस्तु ही न रहेगी जिसे* सिद्ध न किया जा सके। और ऐसी अवस्थामें बिना प्रमाणके ही शून्यतावादके विरुद्ध अशून्यता वाद भी सिद्ध हो जायेगा। अतः सर्वशून्यतावाद भी ठीक नहीं है।

न्यक्षवीक्षाविनिर्मोक्षे[1] मोक्षे किं मोक्षिलक्षणम्[2] ।
न ह्यग्नावन्यदुष्णत्वाल्लक्ष्म[3] लक्ष्यं[4] विचक्षणैः ॥३३॥

किं च सदाशिवेश्वरादय. संसारिणो मुक्ता वा ? संसारित्वे कथमाप्तता ? मुक्तत्वे 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट. पुरुषविशेष ईश्वरस्तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम्'[5] इति पतञ्जलिजल्पितम्

"ऐश्वर्यमप्रतिहत[6] सहजो विराग-
स्तृप्तिर्निसर्गजनिता वशितेन्द्रियेषु ।
आत्यन्तिक सुखमनावरणा च शक्ति-
र्ज्ञान च सर्वविषय भगवस्तवैव" ॥३४॥

इत्यवधूताभिधानं च न घटेत ।

अनेकजन्मसंततेर्यावद्यात्क्षय.[7] पुमान् ।
यद्यसौ मुक्त्यवस्थायां कुत. क्षीयेत हेतुतः ॥३५॥

[अब आचार्य मुक्तिमें आत्माके विशेष गुणोंका विनाश माननेवाले कणाद मतानुयायियोंकी आलोचना करते हैं—]

११. यदि आप यह मानते है कि मुक्तिमें सासारिक सुख-दुःख नहीं है तो इसमें कोई हानि नहीं है,यह बात तो हमको भी इष्ट ही है। किन्तु यदि आत्माके समस्त पदार्थविषयक ज्ञानके विनाशको मोक्ष मानते हैं तो फिर मुक्तात्माका लक्षण क्या है ? क्योंकि विद्वान् लोग वस्तुके विशेष गुणोंको ही वस्तुका लक्षण मानते है, जैसे आगका लक्षण उष्णता है, यदि आगकी उष्णता नष्ट हो जाये तो फिर उसका लक्षण क्या होगा ? फिर तो आगका ही अभाव हो जायेगा, क्योंकि विशेष गुणोंके अभावमें गुणीका भी अभाव हो जाता है। अत यदि मुक्तिमें आत्माके ज्ञानादि विशेष गुणोंका अभाव माना जायेगा तो आत्माका भी अभाव हो जायेगा ॥३२-३३॥

तथा आपके सदाशिव ईश्वर वगैरह ससारी हैं या मुक्त ? यदि ससारी हैं तो वे आप्त नहीं हो सकते। यदि मुक्त है तो 'क्लेश, कर्म, कर्मफलका उपभोग और उसके अनुरूप संस्कारोंसे रहित पुरुष विशेष ईश्वर है। उस ईश्वरमें सर्वज्ञताका जो बीज है वह अपनी चरम सीमाको प्राप्त है अर्थात् वह पूर्णज्ञानी है'। पतञ्जलिका यह कथन, और 'हे भगवन् ! आपमें अविनाशी ऐश्वर्य है, स्वाभाविक विरागता है, स्वाभाविक सन्तोष है, स्वभावसे ही आप इन्द्रियजयी है। आपमें ही अविनाशी सुख, निरावरण शक्ति और सब विषयोंका ज्ञान है ॥३४॥ अवधूताचार्यका यह कथन घटित नहीं हो सकता है।

[इस प्रकार कणाद मतके अनुयायियोंकी आलोचना करके आचार्य बौद्धोंकी आलोचना करते हैं —]

१२ यदि पुरुष अनेक जन्म धारण करनेपर भी आज तक अक्षय है, उसका विनाश नहीं हुआ, तो मुक्ति प्राप्त होनेपर उसका विनाश किस कारणसे हो जाता है ? ॥३५॥

---

१ समग्रपदार्थावलोकनविनाशलक्षणे। २ आत्मन लक्षणम्। ३ ष्मत्वा-ज०। ४ लक्ष्यवि-ज०। ५ योगसूत्र १, २४-२६। ६ यशस्तिलकके आश्वास ४ और ५ में भी यह श्लोक उद्धृत है। वहाँ भी इसे अवधूतका बतलाया है। प्रमेयरत्नमाला (पृ० ६३) में भी अवधूतके नामसे उद्धृत है। ७ चेत्पूर्वं बहूनि जन्मानि जीवेन गृहीतानि अद्यापि विनाशो न सजात। तर्हि मोक्षगमने सति कस्मात्कारणात क्षीयेत—क्षय याति।

[1]वाते माते मलापायात्सत्यस्वप्न इवात्मनः ।
तथा प्रबुद्धः स्वरूपेऽस्मिन्नवस्थानमभावकम् ॥१६॥

न चायं सत्यस्वप्नोऽप्रसिद्धः स्वप्नाध्यायेऽतीव सुप्रसिद्धत्वात् । तथा हि—

"यस्तु[2] पश्यति रात्र्यन्ते राजानं कुञ्जरं हयम् ।
सुवर्णं वृषभं गां च कुटुम्बं तस्य वर्धते" ॥२७॥
यत्र नेत्रादिकं नास्ति न तत्र मतिरात्मनि ।
तन्न युक्तमिदं यस्मात्स्वप्नमन्धोऽपि वीक्षते ॥१८॥
जैमिन्यादेर्नरस्येऽपि [3]मह्येत मतिर्यदि ।
[4]पराकाष्ठाप्यतस्तस्याः[5] कश्चिन्के परिमाणवत् ॥१९॥

[अब आचार्य सांख्यमतकी आलोचना करते हैं—]

१२ जैसे वात, पित्त आदिका प्रकोप न रहनेपर आत्माको सच्चा स्वप्न दिखाई देता है वैसे ही ज्ञानावरण कर्म रूपी मलके नष्ट हो जानेपर आत्मा बाह्य पदार्थोंको जानता है। अतः मुक्त हो जानेपर आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है और बाह्य पदार्थोंको नहीं जानता यह कहना अप्रमाण है। यह भी अर्थ हो सकता है कि मलके नष्ट हो जाने पर आत्मा बाह्य पदार्थों को जानता है। और तब अपने इस स्वरूपमें अनन्त काल तक अवस्थित रहता है ॥ १६ ॥

शायद कहा जाये कि सच्चे स्वप्न होते ही नहीं हैं, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'स्वप्नाध्याय'में सच्चे स्वप्न बतलाये हैं। जैसा कि उसमें लिखा है—'जो रात्रिके पिछले पहरमें राजा, हाथी, घोड़ा, सोना, बैल और गायको देखता है उसका कुटुम्ब बढ़ता है ॥ २७ ॥

जहाँ आँख वगैरह इन्द्रियां नहीं होतीं वहां आत्मामें ज्ञान भी नहीं होता ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि अन्धे मनुष्यको भी स्वप्न दिखाई देता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—सांख्य मुक्तात्मामें ज्ञान नहीं मानता, क्योंकि वहाँ इन्द्रियाँ नहीं होतीं। उसकी इस मान्यताका खण्डन करते हुए ग्रन्थकारका कहना है कि इन्द्रियोंके होनेपर ही ज्ञान हो और उनके नहीं होनेपर न हो ऐसा कोई नियम नहीं है। इन्द्रियोंके अभावमें भी ज्ञान होता देखा जाता है। स्वप्न दशामें इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं फिर भी ज्ञान होता है और वह सच्चा निकलता है। अतः इन्द्रियोंके अभावमें भी मुक्तात्माको स्वाभाविक ज्ञान रहता ही है।

[*जैमिनिके मतके अनुयायी मीमांसक कहे जाते हैं। मीमांसक लोग सर्वज्ञको नहीं मानते। वे वेदको ही प्रमाण मानते हैं। उनके मतसे वेद ही भूत और भविष्यत्का भी ज्ञान करा सकता है। उनका कहना है कि मनुष्यकी बुद्धि कितना भी विकास करे किन्तु उसमें अतीन्द्रिय पदार्थोंको जाननेकी शक्ति कभी नहीं आसकती। मनुष्य यदि अतीन्द्रिय पदार्थोंको जान सकता है तो केवल वेदके द्वारा ही जान सकता है। इसकी आलोचना करते हुए आचार्य कहते हैं—*]

आपके आप्त जैमिनि मनुष्य थे। फिर भी उनकी बुद्धि इतनी विकसित हो गई थी कि वे वेदको पूरी तरहसे जान सके। इसी तरह किसी पुरुषकी बुद्धिका विकास अपनी चरम सीमा को भी पहुँच सकता है। क्योंकि जिनकी हानि-वृद्धि देखी जाती है उनका कहीं परम प्रकर्ष

---

१ वमनावात् [illegible] बाह्ये पदार्थे ज्ञानेऽसत्यपि [illegible] स्वरूपे [illegible] निर्विशेषं ज्ञानरहितम्। २ प्रमाणवार्तिकालंकारे पृ ५८ उद्धृत। ३ प्राप्नुयात् [illegible]। ४ परमकाष्ठा [illegible] ५ [illegible]।

तुच्छाभावो न कस्यापि हानिर्दीपस्तमोऽन्वयी ।
धेरादिषु धियो हानौ विश्लेषे सिद्धसाध्यता ॥४०॥
तदावृतिहतौ तस्य तपनस्येव दीधितिः ।
कथं न शेमुषी सर्वं प्रकाशयति वस्तु यत् ॥४१॥
ब्रह्मैकं[2] यदि सिद्धं स्यान्निस्तरङ्गं कुतश्च न ।
घटाकाशमिवाकाशे तत्रेदं लीयतां जगत् ॥४२॥

अथ मतम्—

एक[3] एव हि भूतात्मा देहे देहे व्यवस्थितः ।
एकधानेकधा चापि दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥४३॥

[ब्रह्म वि०, १-१]

और परम अपकर्ष अर्थात् अति हानि और अति वृद्धि भी देखी जाती है । जैसे परिमाणका परम प्रकर्ष आकाशमें पाया जाता है ॥ ३९ ॥

शायद कहा जाये कि इस नियमके अनुसार तो किसीमें बुद्धिका बिल्कुल अभाव भी हो सकता है तो इसका उत्तर यह है कि किसी भी वस्तुका तुच्छाभाव नहीं होता, अर्थात् वह चीज एक दम नष्ट हो जाये और कुछ भी शेष न रहे ऐसा नहीं होता । दीपक जब बुझ जाता है तो प्रकाश अन्धकार रूपमें परिवर्तित हो जाता है । तथा पृथिवी वगैरहमें बुद्धिकी अत्यन्त हानि देखी जाती है । क्योंकि पृथिवीकायिक आदि जीव पृथिवी आदि रूप पुद्गलोंको अपने शरीर रूप से ग्रहण करता है और मरण होनेपर उन्हें छोड देता है । अतः जीवके वियुक्त हो जाने पर उन पृथिवी आदि रूप पुद्गलोंमें बुद्धिका सर्वथा अभाव हो जाता है। इसमें तो सिद्ध साध्यता है ॥४०॥

अतः जैसे सूर्यके ऊपरसे आवरणके हट जानेपर उसकी किरणें समस्त जगत्को प्रकाशित करती हैं । वैसे ही बुद्धिके ऊपरसे कर्मोंका आवरण हट जाने पर वह समस्त जगत्को क्यों नहीं जान सकती, अवश्य जान सकती है ॥४१॥

[*अब आचार्य ब्रह्माद्वैतकी आलोचना करते हैं—*]

१४ यदि केवल एक ब्रह्म ही है तो वह निस्तरंग—सांसारिक भेदोंसे रहित क्यों नहीं है अर्थात् यह लोक भिन्न क्यों दिखाई देता है । तथा जैसे घटके फूट जानेपर घटके द्वारा छेका गया आकाश आकाश में मिल जाता है,वैसेही इस जगत्को भी उसी ब्रह्ममें मिल जाना चाहिए ॥४२॥

शायद कहा जाये कि जैसे चंद्रमा एक होते हुए भी जलमें प्रतिबिम्ब पड़नेपर अनेक रूप दिखाई देता है उसी तरह एक ही ब्रह्म भिन्न भिन्न शरीरोंमें पाया जानेसे अनेक रूप दिखाई देता है ॥४३॥

---

१ 'नन्वेवं दोषावरणयोर्हानेरतिशायनात् निश्शेषताया माध्याया बुद्धेरपि किन्न परिक्षय स्याद्विशेषाभावादतोऽनैकान्तिको हेतुरित्यशिक्षितलक्षित चेतनादि-गुणव्यावृत्ते सर्वात्मना पृथिव्यादेरभिमतत्वात्' । —अष्टसहस्री, पृ० ५२ । २ यदि एक ब्रह्मैवास्ति तर्हि अय लोक पृथक् किं दृश्यते ? तत्रैव ब्रह्मणि कथं न लीयते । ३. 'एकदण्डिदर्शनमिद—एकमेक हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित । एक वानेक वा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥'—सिद्धि वि०, पृ० ६७५ ।

[1]वाह्ये माह्ये मलापायात्सत्यस्वप्न इवात्मनः ।
तदा प्रबुद्धः स्वरूपेऽस्मिन्नवस्थानमनात्मकम् ॥२६॥

न चायं सत्यस्वप्नोऽप्रसिद्धः स्वप्नाध्यायेऽतीव सुप्रसिद्धत्वात् । तथा हि—

"[2]यस्तु पश्यति रात्र्यन्ते राजानं कुञ्जरं हयम् ।
सुवर्णं वृषभं गां च कुटुम्बं तस्य वर्धते ॥२७॥
यत्र नेत्रादिकं नास्ति न तत्र मतिरात्मनि ।
तन्न युक्तमिदं यस्मात्स्वप्नमन्धोऽपि वीक्षते ॥२८॥
जैमिन्यादेर्नरत्वेऽपि [3]प्रकृष्येत मतिर्यदि ।
पराकाष्ठाप्यतस्तस्याः [4] कश्चित्स्यात् परिमाणवत् ॥२९॥

[अब आचार्य सांख्यमतकी आलोचना करते हैं—]

२६ जैसे वात, पित्त आदिका प्रकोप न रहनेपर आत्माको सच्चा स्वप्न दिखाई देता है वैसे ही ज्ञानावरण कर्म रूपी मलके नष्ट हो जानेपर आत्मा बाह्य पदार्थोंको जानता है। अतः मुक्त हो जानेपर आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है और बाह्य पदार्थोंको नहीं जानता यह कहना अप्रमाण है। यह भी अर्थ हो सकता है कि मलके नष्ट हो जाने पर आत्मा बाह्य पदार्थों को जानता है। और तब अपने इस स्वरूपमें अनन्त काल तक अवस्थित रहता है ॥ २६ ॥

शायद कहा जाये कि सच्चे स्वप्न होते ही नहीं हैं, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'स्वप्नाध्याय'में सच्चे स्वप्न बतलाये हैं। जैसा कि उसमें लिखा है—'जो रात्रिके पिछले पहरमें राजा, हाथी, घोड़ा, सोना, बैल और गायको देखता है उसका कुटुम्ब बढ़ता है ॥ २७ ॥

जहाँ आँख वगैरह इन्द्रियाँ नहीं होतीं वहाँ आत्मामें ज्ञान भी नहीं होता ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि अन्धे मनुष्यको भी स्वप्न दिखाई देता है ॥ २८ ॥

भावार्थ—सांख्य मुक्तात्मामें ज्ञान नहीं मानता, क्योंकि वहाँ इन्द्रियाँ नहीं होतीं। उसकी इस मान्यताका खण्डन करते हुए ग्रन्थकारका कहना है कि इन्द्रियोंके होनेपर ही ज्ञान हो और उनके नहीं होनेपर न हो ऐसा कोई नियम नहीं है। इन्द्रियोंके अभावमें भी ज्ञान होता देखा जाता है। स्वप्न दशामें इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं फिर भी ज्ञान होता है और वह सच्चा निकलता है। अतः इन्द्रियोंके अभावमें भी मुक्तात्माको स्वाभाविक ज्ञान रहता ही है।

[जैमिनिके मतके अनुयायी मीमांसक कहे जाते हैं। मीमांसक लोग सर्वज्ञ नहीं मानते। वे वेदका ही प्रमाण मानते हैं। उनके मतसे वेद ही भूत और भविष्यत्का भी ज्ञान करा सकता है। उनका कहना है कि मनुष्यकी बुद्धि कितना भी विकास करे किन्तु उसमें अतीन्द्रिय पदार्थोंको जाननेकी शक्ति कभी नहीं आ सकती। मनुष्य यदि अतीन्द्रिय पदार्थोंको जान सकता है तो केवल वेदके द्वारा ही जान सकता है। इसकी आलोचना करते हुए आचार्य कहते हैं—]

आपके आप्त जैमिनि मनुष्य थे। फिर भी उनकी बुद्धि इतनी विकसित हो गई थी कि वे वेदको पूरी तरहसे जान सके। इसी तरह किसी पुरुषकी बुद्धिका विकास अपनी परम सीमा को भी पहुँच सकता है। क्योंकि जिनकी हानि-वृद्धि देखी जाती है उनका कहीं परम प्रकर्ष

१ [illegible] । २ [illegible] ५८ [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible] ९ [illegible] ।

संपादयति कचित्कालमुपलभ्यात्मनश्चार्वाचारित्रे, साधुसंपादनसार संस्कार इव [1]वीजेपु जन्मान्तरेऽपि न जहात्यात्मनोऽनुवृत्तिम्, सिद्धश्चिन्तामणिरिव च फलत्यसीमं कामितानि। व्रतानि पुनरोपधय इव फलपाकावसानानि पाथेयवन्नियतवृत्तीनि च। न च सिद्धरस-वेधसंवन्धाद्दुपे[2]र्बुधसंनिधानमात्रजन्मनि जाम्बु[3]नद इवात्र पदार्थयाथात्म्यसमवगमान्मनो-मननमात्रतन्त्रे निःशेपश्रुतश्रवणपरिश्रमः समाश्रयणीयः, न शरीरमायासयितव्यम्, न देशा-न्तरमनुसरणीयम्, नापि कालक्षेपकुक्षिरपेक्षितव्यः। तस्मादधिष्ठानमिव प्रासादस्य, सौभाग्यमिव रूपसंसदः, [4]प्राणितमिव भोगायत[5]नोपचारस्य, मूलवलमिव विजयप्राप्तेः, विनीतत्वमिवाभिजात्यस्य, नयानुष्ठानमिव राज्यस्थितेरखिलस्यापि परलोकोदाहरस्य[6] सम्य-क्त्वमेव ननु प्रथमं कारणं गृणन्ति गरीयासः। तस्य चेदं लक्षणम्—

आप्तागमँपदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात्।
मूढाद्यपोढमष्टाङ्गं सम्यक्त्वं प्रशमादिभाक् ॥४८॥

न्द्रियोंमें, पृथिवीकाय, जलकाय, तैजसकाय, वायुकाय और वनस्पतिकायमें जन्म नहीं होने देता। संसारको सान्त कर देता है। कुछ समयके पश्चात् उस आत्माके सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अवश्य प्रकट हो जाते है। जैसे, बीजोंमें अच्छी तरहसे किया गया संस्कार बीजोंकी वृक्षरूप पर्यायान्तर होनेपर भी वर्तमान रहता है, उसी तरह सम्यक्त्व जन्मान्तरमें भी आत्माका अनुसरण करता है, उसे छोड़ता नहीं है। सिद्ध चिन्तामणिके समान असीम मनोरथोंको पूर्ण करता है। व्रत तो ओषधि वृक्षोंकी तरह (जो वृक्ष फलोंके पकनेके बाद नष्ट हो जाते है उन्हें ओषधि वृक्ष कहते हैं) मोक्षरूपी फलके पकने तक ही ठहरते है तथा कलेवाकी तरह नियत कालतक ही रहते हैं। (किन्तु सम्यक्त्व ऐसा नहीं है) पारे और अग्निके सयोगमात्रसे उत्पन्न होनेवाले स्वर्णकी तरह, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानकर उनमें मनको लगाने मात्रसे प्रकट होनेवाले सम्यक्त्वके लिए न तो समस्त श्रुतको सुननेका परिश्रम ही करना आवश्यक है, न शरीरको ही कष्ट देना चाहिए, न देशान्तरमें भटकना चाहिए और न कालकी ही अपेक्षा करनी चाहिए। अर्थात् सम्यक्त्वके लिए किसी कालविशेष या देश-विशेषकी आवश्यकता नहीं है। सब देशों और सब कालोंमें वह हो सकता है। इसलिए जैसे नींवको महलका, सौभाग्यको रूप सम्पदाका, जीवनको शारीरिक सुखका, मूल बलको विजयका, विनम्रताको कुलीनताका, और नीति पालनको राज्यकी स्थिरताका मूल कारण माना जाता है वैसे ही महात्मागण सम्यक्त्वको ही समस्त पारलौकिक अभ्युन्नतिका अथवा मोक्षका प्रथम कारण कहते हैं। उस सम्यक्त्वका लक्षण इस प्रकार है—

सम्यग्दर्शनका लक्षण

अन्तरग और बहिरग कारणोंके मिलनेपर आप्त (देव), शास्त्र और पदार्थोंका तीन मूढता रहित, आठ अङ्ग सहित जो श्रद्धान होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते है, यह सम्यग्दर्शन प्रशम सवेग आदि गुणवाला होता है ॥४८॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व अन्तरग और बहिरग कारणोंके मिलनेपर प्रकट होता है।

---

१ जीवेपु मु०। २ अग्नि। ३ सुवर्णं। ४ जीवित। ५ शरीर। ६ –हरणस्य मु०। ७ तुलना—'श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥३॥–रत्नकरण्डश्रा०।

तदप्युक्तम् ।

एकः सोऽनेकधाप्यत्र यथेन्दुर्वीक्ष्यते जनैः ।
न तथा वीक्ष्यते ब्रह्म भेदेभ्योऽन्यदभेदभाक् ॥४४॥

अलमतिविस्तरेण ।

आनन्दो ज्ञानमैश्वर्यं वीर्यं परमसूक्ष्मता ।
एतदात्यन्तिकं यत्र स मोक्षः परिकीर्तितः ॥४५॥
ज्वालोरुबूकबीजादेः स्वभावादूर्ध्वगामिता ।
नियता च यथा दृष्टा मुक्तस्यापि तथात्मनः ॥४६॥
तथाप्यत्र तदावासे पुण्यपापात्मनामपि ।
स्वर्गश्वभ्रागमो न स्यात्तल्लोकान्तरेण ते ॥४७॥

इत्युपासकाध्ययने समस्तसमयसिद्धान्तावबोधनो नाम प्रथमः कल्पः ।

अहो धर्मारामैकमते वसुमतीपते सम्यक्त्वं हि नाम नराणां महती खलु पुरुषदेवता । यस्सकृदेकमेव यथोक्तगुणसगुणतया सञ्जातमशेषकल्मषकलुषधिषणतया नरकादिषु गतिषु पुण्यवायुषामपि मनुष्याणां षट्सु तलपातालेषु, अष्टविधेषु व्यन्तरेषु, दशविधेषु भवनवासिषु, पञ्चविधेषु ज्योतिष्केषु, त्रिविधासु स्त्रीषु, विकलकरणेषु पृथ्वीपयःपावकपवनकायिकेषु वनस्पतिषु च न भवति संभूतिहेतुः । सावधि चिरन्तनात्संसारसीमायां नियमेन

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे चन्द्रमा आकाशमें एक और जलमें अनेक दिखाई देता है, वैसे भेदोंसे जुदा एक ब्रह्म ज्ञानगोचर नहीं होता ॥ ४४ ॥

अस्तु, अब इस प्रसंगको यहीं समाप्त करते हैं ।

मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन

जहाँपर अविनाशी सुख ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य और परम सूक्ष्मत्व आदि गुण पाये जाते हैं उसीको मोक्ष कहते हैं ॥ जैसे आगकी ज्वाला और एरण्डके बीज स्वभावसे ही ऊपरको जाते हैं, उसी प्रकार मुक्तात्मा भी स्वभावसे ही ऊपरको जाता है ॥ यदि यही माना जाये कि मुक्त होनेपर आत्मा यहीं रह जाता है कहीं जाता नहीं है, तो पुण्यात्माओंका स्वर्गगमन और पापात्माओं-का नरक गमन भी नहीं होगा । फिर तो परलोक की कथा ही व्यर्थ हो जाती है । अतः मुक्तात्मा-को ऊर्ध्वगामी मानना चाहिए ॥४५-४७॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें समस्त मतोंके सिद्धान्तोंका ज्ञान करानेवाला पहला कल्प समाप्त हुआ ।

[अब ग्रन्थकार सम्यक्त्वका माहात्म्य और स्वरूप बतलाते हैं—]

सम्यक्त्वका माहात्म्य

धर्मप्रेमी राजन् ! सम्यक्त्व मनुष्योंका एक महती पुरुष देवता है अर्थात् देवताकी तरह उनका रक्षक है । क्योंकि यदि अपने यथोक्त गुणोंसे समन्वित सम्यग्दर्शन एक बार भी प्राप्त हो जाता है तो समस्त पापोंसे कलुषित मति होनेके कारण जिन पुरुषोंने नरकादिक गतियोंमेंसे किसी एककी आयुका बन्ध कर लिया है उन मनुष्योंका नीचेके छै नरकोंमें आठ प्रकारके व्यन्तरोंमें, दस प्रकारके भवनवासियोंमें, पाँच प्रकारके ज्योतिषी देवोंमें, तीन प्रकारकी स्त्रियोंमें, विकल-

१ एरण्डबीज । २ धर्मारामकतारिषु । ३ [illegible] । ४ मनुष्याणामपि । ५ छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइस-वण भवण-सव्वइत्थीसु । बारसमिच्छावादे सम्मादिट्ठिस्स णत्थि उववादो ॥१९१॥ —पञ्चसंग्रह पृ ४१ ।

सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम् ।
सर्वसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः ॥४९॥
[1]ज्ञानवान्मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये ।
अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥५०॥
यस्तत्त्वदेशनाद्दुःखवार्धेरुद्धरते जगत् ।
कथं न सर्वलोकेशः प्रह्वीभूतजगत्त्रयः ॥५१॥
क्षुत्पिपासाभय[2]द्वेषश्चिन्तनं मूढतागमः ।
रागो जरा रुजा मृत्युः क्रोधः खेदो मदो रतिः ॥५२॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः ।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥५३॥
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ।
स एव हेतुः सूक्तीनां केवलज्ञानलोचनः ॥५४॥
[3]रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् ।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति ॥५५॥

आप्तका स्वरूप

जो सर्वज्ञ है, समस्त लोकोंका स्वामी है, सब दोषोंसे रहित है और सब जीवोंका हितू है, उसे आप्त कहते हैं। चूंकि यदि अज्ञ मनुष्य उपदेश दे तो उससे ठगाये जानेकी शंका रहती है, इसलिए मनुष्य उपदेशके लिए ज्ञानी पुरुषकी ही खोज करते है, क्योंकि उसके द्वारा कही गई बातोंपर विश्वास करनेके लिए किसी ज्ञानीको ही खोजा जाता है ॥४९-५०॥

[ऊपर आप्तको समस्त लोकोंका स्वामी बतलाया है। किन्तु जैनधर्ममें आप्तको न तो ईश्वर की तरह जगत्का कर्ता हर्ता माना गया है और न उसे सुख-दुःखका देनेवाला ही माना गया है। ऐसी स्थितिमें यह शङ्का होना स्वाभाविक है कि आप्तको सब लोगोंका स्वामी क्यों बतलाया ? इसी बातको मनमें रखकर ग्रन्थकार कहते हैं—]

जो तत्त्वों का उपदेश देकर दुःखोंके समुद्रसे जगत्का उद्धार करता है, अत एव कृतज्ञतावश तीनों लोक जिसके चरणोंमें नत हो जाते हैं, वह सर्वलोकोंका स्वामी क्यों नहीं है ? ॥५१॥

भूख, प्यास, भय, द्वेष, चिन्ता, मोह, राग, बुढापा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और खेद ये अठारह दोष संसारके सभी प्राणियोंमें पाये जाते हैं। जो इन दोषोंसे रहित है वही आप्त है। उसकी आँखे केवल ज्ञान है उसीके द्वारा वह चराचर विश्वको जानता है तथा वही सदुपदेशका दाता है। वह जो कुछ कहता है सत्य कहता है, क्योंकि रागसे, द्वेषसे या मोहसे झूठ बोला जाता है। किन्तु जिसमें ये तीनों दोष नहीं हैं, उसके झूठ बोलनेका कोई कारण नहीं है ॥५२-५५॥

---

१ यह श्लोक धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक (१-३२) का है। २ "क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्। जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदो रतिः ॥१५॥ विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः। त्रिजगत् सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥१६॥ एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः। विद्यन्ते येषु ते नित्यं तेऽत्र संसारिणः स्मृताः ॥१७॥"—आप्तस्व०। ३ आप्तस्वरूप—श्लो० ४।

इसका अन्तरंग कारण तो दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम क्षय अथवा क्षयोपशम है। मोहनीय कर्मके भेदोंमेंसे दर्शन मोहनीय कर्म सम्यक्त्व गुणका घातक है। जबतक इस कर्मका उदय रहता है तबतक सम्यक्त्वगुण प्रकट नहीं होता। जब उस कर्मका उपशम कर दिया जाता है अर्थात् कुछ समयके लिए उसे इस योग्य कर दिया जाता है कि वह अपना फल नहीं दे सकता तब जीवके प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट होता है। इसके प्रकट होते ही जीवकी अन्तर्दृष्टिमें ऐसी निर्मलता आजाती है कि वह अपने सच्चे हित और सच्चे हितकारीको पहचाननेमें भूल नहीं करता। सच्चा देव कौन है, सच्चे शास्त्र कौन हैं और सच्चे तत्त्व कौन हैं, इसकी उसे परख हो जाती है और उनपर वह ऐसी दृढ़ आस्था रखता है कि कोई उसे उसकी आस्थासे विचलित नहीं कर सकता। साथ-साथ सम्यक्त्वके प्रभावसे उसके अन्दर प्रशम आदि अनेक गुण प्रकट होते हैं। काम क्रोधादि विकारोंसे उसकी रुचि हट जाती है। जो उसको हानि पहुँचाते हैं उन जीवोंको भी सतानेके उसके भाव नहीं होते। यह प्रशम गुण कहलाता है। धर्माचरण करनेमें उसे खूब उत्साह रहता है और जो अन्य धर्मात्मा होते हैं उनसे वह खूब प्रेम करता है। यह संवेग गुण कहलाता है। सब जीवोंसे वह मित्रकी तरह व्यवहार करता है। इसे अनुकम्पा कहते हैं। जीव एक स्वत सिद्ध पदार्थ है। वह अनादिकालसे कर्मोंसे बद्ध है। वह उनका कर्ता भी है और भोक्ता भी है। और जब वह उन कर्मोंको नष्ट कर देता है तो मुक्त हो जाता है इस तरहका उसे विश्वास रहता है। इसे आस्तिक्य कहते हैं। असलमें सम्यक्त्व आत्माका गुण है, और वह गुण दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे अनादिकालसे मिथ्यारूप हो रहा है। उसके मिथ्यारूप होनेसे जीवकी रुचि विषय भोग वगैरह बुरे कामोंमें तो लगती है, किन्तु जिनसे उसका सच्चा और स्थायी कल्याण होता है उन कामोंमें या कामोंका उपदेश देनेवालोंमें नहीं होती। जब काललब्धि वगैरहका योग मिल जाता है और संसार समुद्रका किनारा करीब आनेको होता है तब बिना प्रयत्न किये ही अन्तर्मुहूर्तके लिए दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम हो जानेसे उपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। इसमें बाह्य निमित्त अनेक होते हैं। किन्हींको जिन बिम्बके दर्शनसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। किन्हींको जिन भगवान्की महिमाके देखनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। किन्हींको जैन धर्मका उपदेश सुननेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। किन्हीं देवताओंको अन्य देवताओंका ऐश्वर्य देखकर और उसे धर्मका फल समझनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। किन्हींको पूर्वजन्मका स्मरण हो जानेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और किन्हीं नारकी वगैरहको कष्ट भोगनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। अन्य भी अनेक बाह्य कारण शास्त्रोंमें बतलाये हैं। इन अन्तरग और बाह्य कारणोंके मिलनेपर सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है। जैसे शराब या धतूरेके नशेसे बेहोश मनुष्यका जब नशा उतर जाता है तो उसे जैसा होश होता है, वैसे ही दर्शन मोहनीयके उदयसे जीवमें एक विचित्र प्रकारका नशा-सा भ्रमा रहता है, जिससे उसे बराबर बुद्धिभ्रम बना रहता है। अनेक शास्त्रोंका पण्डित हो जानेपर भी उसकी बुद्धिका भ्रम दूर नहीं होता। किन्तु जैसे ही दर्शन मोहका उदय शान्त हो जाता है वैसे ही उसका वह बुद्धि भ्रम हट जाता है और उसकी दृष्टि ठीक दिशामें लग जाती है। इसीसे उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। सम्यग्दर्शनके विषयभूत देव शास्त्र वगैरहका तथा आठ अंगोंका स्वरूप आगे ग्रन्थकार स्वयं बतलावेंगे।

त्रैलोक्यं जठरे यस्य यश्च सर्वत्र विद्यते ।
किमुत्पत्तिविपत्ती स्तां क्वचित्तस्येति चिन्त्यताम् ॥६४॥
कपर्दी दोषवानेष निःशरीरः सदाशिव[1] ।
अप्रामाण्यादशक्तेश्च कथं तत्रागमागमः ॥६५॥
परस्परविरुद्धार्थमीश्वरः पञ्चभिर्मुखैः ।
शास्त्रं शास्ति भवेत्तत्र कतमार्थविनिश्चयः ॥६६॥
सदाशिवकला रुद्रे यद्यायाति युगे युगे ।
कथं स्वरूपभेद स्यात्काञ्चनस्य कलास्विव ॥६७॥

ही हैं। आश्चर्य है, फिर भी इन्हें आप्त माना जाता है। विष्णुके पिता वसुदेव थे, माता देवकी थी, और वे स्वय राजधर्मका पालन करते थे। आश्चर्य है, फिर भी वे देव माने जाते है। सोचनेकी बात है कि जिस विष्णुके उदरमें तीनों लोक बसते है और जो सर्वव्यापी है, उसका जन्म और मृत्यु कैसे हो सकते है ? ॥६०-६४॥

महेशको अशरीरी और सदाशिव मानते है, और वह दोषोंसे भी युक्त है। ऐसी अवस्थामें न तो वह प्रमाण माना जा सकता है और न वह कुछ उपदेश ही दे सकता है; क्योंकि वह दोषयुक्त है और शरीरसे रहित है । तब उससे आगमकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?, जब शिव पाँच मुखोंसे परस्परमें विरुद्ध शास्त्रोंका उपदेश देता है तो उनमेंसे किसी एक अर्थ का निश्चय करना कैसे समव है ॥६५-६६॥

कहा जाता है कि प्रत्येक युगमें रुद्रमें सदाशिवकी कला अवतरित होती है। किन्तु जैसे सुवर्ण और उसके टुकडोंमें कोई भेद नहीं किया जा सकता, वैसे ही अशरीरी सदाशिव और सशरीर रुद्रमें कैसे स्वरूपभेद हो सकता है ॥६७॥

भावार्थ—शिव या रुद्रकी उपासना वैदिक कालसे भी पूर्वसे प्रचलित बतलाई जाती है। शैवोंके चार विभिन्न सम्प्रदाय हैं—शैव, पाशुपत, कालमुख और कापालिक। इन्हींके मूल ग्रन्थोंको शैवागमके नामसे पुकारते हैं। इन शैव मतोंका प्रचार भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें था। शैव सिद्धान्तका प्रचार तमिल देशमें और वीर शैव मतका प्रचार कर्नाटक प्रान्तमें था। पाशुपत मतका केन्द्र गुजरात और राजपूताना था। कहा जाता है कि शिवने अपने भक्तोंके उद्धारके लिए अपने पाँच मुखोंसे २८ तंत्रोंका आविर्भाव किया। इनमें १० तत्र द्वैतमूलक हैं और १८ द्वैताद्वैत प्रधान हैं। देवताके स्वरूप, गुण, कर्म आदिका जिसमें चिन्तन हो तद्विषयक मन्त्रोंका उद्धार किया गया हो, उन मन्त्रोंको यन्त्रमें रखकर देवताका ध्यान तथा उपासनाके पाँचों अग व्यवस्थित रूपसे दिखलाये गये हो, उन ग्रन्थोंको तत्र कहते है। तन्त्रोंकी विशेषता क्रिया है। तान्त्रिक आचार एक रहस्यपूर्ण व्यापार है। गुरुके द्वारा दीक्षा ग्रहण करनेके समय ही शिष्यको इसका रहस्य समझाया जाता है। शैव सिद्धान्तमें चार पाद हैं—विद्यापाद, क्रियापाद, योगपाद और चर्यापाद । इनमेंसे अन्तके तीन पाद क्रियापरक हैं और विद्यापाद

१. यो रागादि दोषवान् ससारी शिव स तावदप्रमाणं, तत्कृत आगमोऽपि प्रमाण न भवति। यस्तु सदाशिव स आगम कर्तुमशक्त जिह्वाकण्ठाद्युपकरणाभावात्। पद्मचन्द्र कोषमें आगमका अर्थ करते हुए एक श्लोक दिया है—आगत शिववक्त्रेभ्यो गत च गिरजाश्रुतौ। मत च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते॥ अर्थात्—शिवजीके मुखसे आया, पार्वतीके कानमें गया, विष्णुजीने मान लिया, इसीलिए आगम हुआ।

उच्चावचप्रसूतीनां सत्त्वानां सदृशाकृतिः ।
य आदर्श इवाभाति स एव जगतां पतिः ॥५६॥
यस्यात्मनि श्रुते तत्त्वे चारित्रे मुक्तिकारणे ।
एकवाक्यतया वृत्तिराप्तः सोऽनुमतः सताम् ॥५७॥
अत्यक्षेप्यागमात्पुंसि विशिष्टत्वं प्रतीयते ।
उद्यानमध्यसूतीनां ध्वनेरिव वनौकसाम् ॥५८॥
स्वगुणैः श्लाघ्यतां याति स्वदोषैर्दूष्यतां जनः ।
रोषतोषौ वृथा तत्र कलधौतायसोरिव ॥५९॥
द्रुहिणाधोक्षजेशानशाक्यसूरपुरस्सराः ।
यदि रागाद्यधिष्ठानं कथं तत्राप्तता भवेत् ॥६०॥
रागादिदोषसंभूतिर्ज्ञेयामीषु तदागमात् ।
असतः परदोषस्य गृहीतौ पातकं महत् ॥६१॥
अजस्तिलोत्तमाचित्तः श्रीरतः श्रीपतिः स्मृतः ।
अर्धनारीश्वरः शंभुस्तथाप्येषां किलाप्तता ॥६२॥
वसुदेवः पिता यस्य सवित्री देवकी हरेः ।
स्वयं च राजधर्मस्थश्चित्रं देवस्तथापि सः ॥६३॥

विविध प्रकारके प्राणियोंकी शकल-सूरत समान होती है। किन्तु उनमेंसे जिसका आत्मा दर्पणके समान स्वच्छ हो वही जगत्‌का स्वामी है ॥५६॥

जिसकी आत्मामें, श्रुतिमें, तत्त्वमें और मुक्तिके कारणभूत चारित्रमें एकवाक्यता पाई जाती है अर्थात् जो जैसा कहता है वैसा ही स्वयं आचरण करता है और वैसी ही तत्त्वव्यवस्था भी उपलब्ध होती है, उसे सज्जन पुरुष आप्त मानते हैं ॥५७॥

[*इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिन पुरुषोंको आप्त माना जाता है वे तो गुजर चुके। हम कैसे जानें कि वे आप्त थे। इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—*]

अतीन्द्रिय पुरुषकी विशिष्टता उसके द्वारा उपदिष्ट आगमसे जानी जाती है। जैसे, बगीचेमें रहने वाले पक्षियोंकी आवाज से उनकी विशिष्टताका भान होता है। अर्थात् पक्षियोंको बिना देखे भी जैसे उनकी आवाजसे उनकी पहचान हो जाती है, वैसे ही आप्त पुरुषोंका बिना देखे भी उनके शास्त्रोंसे उनकी आप्तताका पता चल जाता है ॥५८॥

चाँदी और लोहकी तरह मनुष्य अपने ही गुणोंसे प्रशंसा पाता है और अपने ही दोषोंसे बदनामी उठाता है। इसमें रोष और तोष करना अर्थात् अपने आपकी प्रशंसा सुनकर हर्षित होना और निन्दा सुनकर क्रुद्ध होना व्यर्थ है ॥५९॥

ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध और सूर्य वगैरह देवता यदि रागादिक दोषोंसे युक्त हैं तो वे आप्त कैसे हो सकते हैं? और वे रागादि दोषोंसे युक्त हैं यह बात उनके शास्त्रोंसे ही जाननी चाहिए, क्योंकि जिसमें जो दोष नहीं है उसमें उस दोषको माननेमें बड़ा पाप है ॥६०–६१॥ देखो, ब्रह्मा तिलोत्तमामें आसक्त हैं, विष्णु लक्ष्मीमें लीन हैं और महेश तो अर्धनारीश्वर प्रसिद्ध

---

१ 'उच्चावचं नैकभेदम्' इत्यमरः। २. परोक्षेऽपि नरे। ३ यथा शकुनानां परोक्षेऽपि शब्दात् विशिष्टत्वं ज्ञायते। ४ सुवर्णलोहयोरिव। ५ ब्रह्म-हरि-हर-बुद्ध-सूर्यादयः। ६ तस्य तस्य शास्त्रात्।

सिद्धान्तेऽन्यत्प्रमाणेऽन्यदन्यत्काव्येऽन्यदीहिते ।
तत्त्वमाप्तस्वरूपं च विचित्रं शैवदर्शनम् ॥६९॥
एकान्त' शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे ।
सन्तस्तत्त्वं न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः ॥७०॥
दाहच्छेदकषाऽशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया ।
दाहच्छेदकषाशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया ॥७१॥
यद्दृष्टमनुमानं च प्रतीतिं लौकिकीं भजेत् ।
तदाहु सुविदस्तत्त्वं रहः कुहकवर्जितम् ॥७२॥

चित्रण मत्स्य पुराणमें है। ब्रह्महत्याकी कथा इस प्रकार है—ब्रह्माके गर्दभकी तरह पॉचवॉ मुख था। जब दैत्य लोग देवोंसे डरकर भागने लगे तो ब्रह्माने कहा—'क्यों डरकर भागते हो ? मैं सब सुरोंको खा डालूँगा।' इससे डरकर देवतागण विष्णुकी शरणमें पहुँचे और उनसे प्रार्थना की कि आप ब्रह्माका मुख काट डालें। विष्णु बोले—'यदि मैं ब्रह्माका मुख काट डालूँगा तो उसी समय वह कटा सिर सचराचर जगतका सहार कर डालेगा। तुम शिवजीके पास जाओ। देवता शिवजीके पास गये और शिवजीने अपने नखोसे ब्रह्माके उस पॉचवें मुखको काट डाला। इसपर ब्रह्माने कहा—तुमने बिना किसी अपराधके मेरा सिर काटा है, मै तुम्हें शाप देता हूँ तुम ब्रह्महत्यासे पीड़ित होकर भूतलपर हाथमें खप्पर लेकर भटकते फिरोगे। इस शापसे शिवजी हाथमें खप्पर लेकर घूमने लगे। एक दिन वे नारायणके पास भिक्षाके लिए गये। विष्णुने अपने नखोंसे अपने पार्श्वको चीर डाला और रक्तकी बड़ी भारी धारा बह निकली किन्तु खप्पर नहीं भरा। जब विष्णुने इसका कारण पूछा तब शिवजीने ब्रह्महत्या करनेका सब हाल उनसे कहा और बोले कि मैं जहॉ-जहॉ जाता हूँ वहॉ यह कपाल मेरे साथ जाता है। तब विष्णु बोले—तुम स्थान-स्थानपर जाकर ब्रह्माकी इच्छा पूर्ण करो। उसके तेजसे यह कपाल ठहर जायेगा। तब शिवजीने वैसा ही किया और विष्णुके प्रसादसे वह कपाल सहस्र खण्ड होकर फूट गया। और शिवजी ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त होगये।' इस तरहकी बातें किसी ईश्वरमें कैसे पाई जा सकती है।

शैवदर्शनमें तत्त्व और आप्तका स्वरूप सिद्धान्त रूपमें कुछ अन्य है, प्रमाणित कुछ अन्य किया जाता है, काव्यमें कुछ अन्य है और व्यवहारमें कुछ अन्य है।' शैवदर्शन भी बड़ा विचित्र है ॥६९॥

तत्त्वको स्वीकार करनेमें एकान्त और कसम खाना दोनों ही व्यर्थ हैं। विवेकशील पुरुष दूसरोंपर विश्वास करके तत्त्वको स्वीकार नहीं करते ॥ तपाने, काटने और कसौटीपर घिसनेसे जो सोना अशुद्ध ठहरता है, उसके लिए कसम खाना बेकार है। तथा तपाने, काटने और कसौटीपर घिसनेसे जो सोना खरा निकलता है उसके लिए कसम खानेसे क्या लाभ ? जो प्रत्यक्ष, अनुमान और लौकिक अनुभवसे ठीक प्रमाणित होता है, और गोप्यता तथा माया छलसे रहित होता है विद्वान लोग उसीको यथार्थ तत्त्व मानते है ॥७०-७२॥

[इस प्रकार शैव मतकी आलोचना करके ग्रन्थकार शाक्त मतकी आलोचना करते हैं। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि शैवदर्शन और शाक्तदर्शनका पारस्परिक सम्बन्ध आत्मा और शरीर जैसा है। दोनोंके सिद्धान्त लगभग मिलते हुए हैं। शैवदर्शनमें पूर्ण शिवभावको प्रकट करनेके तीन उपाय बतलाये हैं—१ शाम्भव उपाय—इसमें पूर्ण अनुभवी गुरुसे दीक्षा ली जाती है और उसीसे

भैक्षं नर्तनमत्त्व पुरत्रयविलोपनम् ।
ब्रह्महत्याकपालित्वमेता क्रीडाः शिवेश्वरे ॥९८॥

तत्त्वज्ञानसे सम्बन्ध रखता है। विद्या अर्थात् ज्ञानके तीन विषय हैं—(१) पति अर्थात् स्वतंत्र शिव अथवा परमेश्वर तत्त्व, (२) पशु अर्थात् परतंत्र जीव और (३) पाश अर्थात् बन्धके कारण। मुक्त जीव भी परमेश्वरके परतंत्र रहते हैं। यद्यपि पशुओंकी अपेक्षा उनमें स्वतंत्रता रहती है फिर भी वे परमेश्वरके प्रसादसे ही मुक्ति लाभ करनेमें समर्थ होते हैं, इसलिए वे शिवके परतंत्र हैं। शिव नित्य मुक्त है। उसका शरीर पञ्चमंत्रात्मक है। वह पाँच मुखोंके द्वारा पाँच आम्नायोंका प्रवर्तन कर्ता है। इसी बातको लेकर ग्रन्थकारने ऊपर शैवमतकी आलोचना की है। जब शिवको उपास्य और उपासक रूपसे क्रीड़ा करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है तब परम शिवमें कम्पन उत्पन्न होता है और उससे वह दो रूप हो जाता है—चैतन्यात्मक रूपका नाम शिव और दूसरे अंशका नाम जीव होता है। शैव सिद्धान्तके अनुसार शिव, शक्ति और बिन्दु ये तीन रत्न माने जाते हैं। ये ही समस्त तत्त्वोंके अधिष्ठाता हैं। शुद्ध जगत्का कर्ता शिव, करण शक्ति और उपादान बिन्दु है। शक्ति परम शिवसे अभिन्न होकर रहनेवाला विशेषण है। न तो शिव शक्तिसे भिन्न है न शक्ति शिवसे भिन्न है। शक्तिके क्षोभ मात्रसे परम शिवके दो रूप हो जाते हैं एक उपास्य रूप, जिसका नाम है लिंग (शिव) और दूसरा उपासक रूप, जिसका नाम है 'अंग' (जीव)। परम शिवकी द्विरूपताके समान शक्तिमें भी दो रूप उत्पन्न होते हैं लिंगकी शक्तिका नाम 'कला' है जो प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। कला शक्तिसे जगत् परमशिवसे प्रकट होता है। सदाशिवकी यह कला रुद्रोंमें अवतरित होती है जो भिन्न भिन्न रूपवाले होते हैं।

भिक्षा माँगना, नाचना, नग्न होना त्रिपुरको भस्म करना, ब्रह्म हत्या करना और हाथमें खप्पर रखना ये सदाशिव ईश्वरकी क्रीड़ायें हैं ॥९८॥

भावार्थ—शिवका हाथमें खप्पर लेकर भिक्षा माँगना, नंगे घूमना और ताण्डव नृत्य करना तो प्रसिद्ध ही है। शिवकी उपासना भी इसी प्रकारसे की जाती है। साधकको महेश्वरकी पूजाके समय हसना, गाना, नाचना, जीभ और तालुके संयोगसे बैलकी आवाजके समान हुडुडुक शब्द करना होता है। इसीके साथ भस्मस्नान, भस्मशयन, जप और प्रदक्षिणाको पंचविध व्रत कहते हैं। ये सब कार्य शिवको बहुत प्रिय बतलाये जाते हैं। त्रिपुरको भस्म करनेकी कथा निम्न प्रकार है—एक बार इन्द्रके साथ सब देवता महेश्वरके पास आये और कहने लगे कि बाण नामका एक दानव है उसका त्रिपुर नामका नगर है। उससे डरकर हम आपकी शरणमें आये हैं, आप हमारी रक्षा करें। शिवजीने उन्हें रक्षाका आश्वासन दिया और यह विचारने लगे कि त्रिपुरको कैसे नष्ट करना चाहिये। शिवजीने नारदजीको बुलाया और उनसे कहा कि हे नारद! तुम दानवेन्द्र बाणके त्रिपुर नगरको जाओ। वहाँकी स्त्रियोंके तेजसे वह नगर आकाशमें डोलता है। तुम वहाँ जाकर उनकी बुद्धि विपरीत करदो। नारदने वहाँ जाकर अपने मिथ्या उपदेशसे वहाँकी स्त्रियोंका मन पतिव्रत धर्मसे विचलित कर दिया। इससे उनका तेज जाता रहा और पुरमें छिद्र होगया। तब शिवजीने त्रिपुरको अपने बाणसे भस्म कर दिया। इसके अनेक वर्णनाक

---

१ भिक्षा।

सिद्धान्तेऽन्यत्प्रमाणेऽन्यदन्यत्काव्येऽन्यदीहिते ।
तत्त्वमाप्तस्वरूपं च विचित्रं शैवदर्शनम् ॥६९॥
एकान्त शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे ।
सन्तस्तत्त्व न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः ॥७०॥
दाहच्छेदकषाऽशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया ।
दाहच्छेदकषाशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया ॥७१॥
यद्दृष्टमनुमानं च प्रतीतिं लौकिकीं भजेत् ।
तदाहु सुविदस्तत्त्वं रहः कुहकवर्जितम् ॥७२॥

चित्रण मत्स्य पुराणमें है । ब्रह्महत्याकी कथा इस प्रकार है—ब्रह्माके गर्दभकी तरह पॉचवॉ मुख था । जब दैत्य लोग देवोसे डरकर भागने लगे तो ब्रह्माने कहा—'क्यों डरकर भागते हो ? मै सब सुरोंको खा डालूँगा ।' इससे डरकर देवतागण विष्णुकी शरणमें पहुँचे और उनसे प्रार्थना की कि आप ब्रह्माका मुख काट डालें । विष्णु बोले—'यदि मै ब्रह्माका मुख काट डालूँगा तो उसी समय वह कटा सिर सचराचर जगतका सहार कर डालेगा । तुम शिवजीके पास जाओ । देवता शिवजीके पास गये और शिवजीने अपने नखोंसे ब्रह्माके उस पॉचवें मुखको काट डाला । इसपर ब्रह्माने कहा—तुमने विना किसी अपराधके मेरा सिर काटा है, मै तुम्हें शाप देता हूँ तुम ब्रह्महत्यासे पीडित होकर भूतलपर हाथमें खप्पर लेकर भटकते फिरोगे । इस शापसे शिवजी हाथमें खप्पर लेकर घूमने लगे । एक दिन वे नारायणके पास भिक्षाके लिए गये । विष्णुने अपने नखोंसे अपने पार्श्वको चीर डाला और रक्तकी बड़ी भारी धारा वह निकली किन्तु खप्पर नहीं भरा । जब विष्णुने इसका कारण पूछा तब शिवजीने ब्रह्महत्या करनेका सब हाल उनसे कहा और बोले कि मैं जहॉ-जहॉ जाता हूँ वहॉ यह कपाल मेरे साथ जाता है । तब विष्णु बोले—तुम स्थान-स्थानपर जाकर ब्रह्माकी इच्छा पूर्ण करो । उसके तेजसे यह कपाल ठहर जायेगा । तब शिवजीने वैसा ही किया और विष्णुके प्रसादसे वह कपाल सहस्र खण्ड होकर फूट गया । और शिवजी ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त होगये ।' इस तरहकी बातें किसी ईश्वरमें कैसे पाई जा सकती है ।

शैवदर्शनमें तत्त्व और आप्तका स्वरूप सिद्धान्त रूपमे कुछ अन्य है, प्रमाणित कुछ अन्य किया जाता है, काव्यमें कुछ अन्य है और व्यवहारमें कुछ अन्य है ।' शैवदर्शन भी बड़ा विचित्र है ॥६९॥

तत्त्वको स्वीकार करनेमें एकान्त और कसम खाना दोनों ही व्यर्थ है । विवेकशील पुरुष दूसरोंपर विश्वास करके तत्त्वको स्वीकार नहीं करते ॥ तपाने, काटने और कसौटीपर घिसनेसे जो सोना अशुद्ध ठहरता है, उसके लिए कसम खाना बेकार है । तथा तपाने, काटने और कसौटीपर घिसनेसे जो सोना खरा निकलता है उसके लिए कसम खानेसे क्या लाभ ? जो प्रत्यक्ष, अनुमान और लौकिक अनुभवसे ठीक प्रमाणित होता है, और गोप्यता तथा माया छलसे रहित होता है विद्वान लोग उसीको यथार्थ तत्त्व मानते है ॥७०-७२॥

[इस प्रकार शैव मतकी आलोचना करके ग्रन्थकार शाक्त मतकी आलोचना करते हैं । यहॉ यह बतला देना आवश्यक है कि शैवदर्शन और शाक्तदर्शनका पारस्परिक सम्बन्ध आत्मा और शरीर जैसा है । दोनोंके सिद्धान्त लगभग मिलते हुए हैं । शैवदर्शनमें पूर्ण शिवभावको प्रकट करनेके तीन उपाय बतलाये हैं—१ शाम्भव उपाय—इसमें पूर्ण अनुभवी गुरुसे दीक्षा ली जाती है और उसीसे

निर्वीजतेव तन्त्रेण यदि स्यान्मुक्तताङ्गिनि ।
बीजवत्पावकस्पर्शो प्रणयो मोक्षकांक्षिणि ॥७३॥
विषसामर्थ्यवन्मन्त्रात्क्षयश्चेदिह कर्मणः ।
तर्हि तन्मन्त्रमान्यस्य न स्युर्दोषा भवोद्भवाः ॥७४॥
प्रहगोत्रगतोऽप्येष पूषा पूज्यो न चन्द्रमाः ।
अविचारितरम्यस्य जन्तोर्वृत्तिर्निरङ्कुशा ॥७५॥
द्वैताद्वैताश्रयः शाक्याः शाकराननुकृतागमः ।
कथं मनीषिभिर्मान्यस्सुरसास्वशम्भी ॥७६॥

अयैवं मत्त्र्यैवतिष्ठासवो—भवतां समये किल मनुष्यः सत्यतो भवति तस्य चाशतालीय दुर्घटा सम्पति सञ्जातश्चेद्भवतु वा, तथापि मनुष्यस्याभिलषितस्यावबोधो न स्यत्तस्तथा

स्वरूपका भान प्रकट होता है । २ शाक्त उपाय—इसमें दीक्षाके क्रमसे प्राप्त हुए मंत्रकी भावनाके द्वारा सिद्धि करके स्वरूपका भान करनेका क्रम बतलाया है । ३ आणव उपाय—इसमें बद्ध जीवका दीक्षा क्रमके द्वारा शोधन करके जप, होम, पूजन ध्यान वगैरह क्रियाकलापके द्वारा स्वरूपका भान करनेकी पद्धति होती है । इन तीन उपायोंमेंसे दूसरे और तीसरे उपायका वर्णन करनेमें शैवदर्शन शाक्तदर्शन रूप ही पड़ता है । शाक्तदर्शनका मुख्य प्रयोजन शब्द ब्रह्मको ज्ञानकी मर्यादामें लाना है । इसमें यन्त्र तन्त्र और मंत्रकी बहुतायत होती है । इष्टदेवताके स्वरूपको मर्यादामें अंकित करनेवाली पात्र आकृतिको मंत्र कहते हैं । उस देवताके नाम रूप, गुण और कर्मको लेकर पूजन वगैरहकी पद्धतिका वर्णन करनेवाले शास्त्रको तन्त्र कहते हैं और उसके रहस्यके बोधक शब्दोंको मंत्र कहते हैं । यहाँ ग्रन्थकार तन्त्र मंत्रसे मुक्ति होनेके विचारकी आलोचना करते हैं—यहाँ इतना और बतला देना आवश्यक है कि तंत्र साधनामें स्त्री एक आवश्यक साधन माना जाता है । और मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इन पाँच मकारोंका सेवन भी किया जाता है ।]

जैसे अग्निके स्पर्शसे बीज निर्बीज हो जाता है उसमें उत्पादन शक्ति नहीं रहती, वैसे ही यदि तंत्रके प्रयोगसे ही प्राणीकी मुक्ति हो जाती है तो मुक्ति चाहनेवाले मनुष्यको भी आगका स्पर्श करा देना चाहिए जिससे बीजकी तरह वह भी जन्म मरणके चक्रसे छूट जाये ॥७३॥

जैसे, मंत्रके द्वारा विषकी मारणशक्तिको नष्ट कर दिया जाता है, वैसे ही मंत्रके द्वारा यदि कर्मोंका भी क्षय हो जाता है तो उन मंत्रोंके जो मान्य हैं उनमें सांसारिक दोष नहीं पाये जाने चाहिये ॥७४॥

[इस प्रकार शाक्त मतकी आलोचना करके ग्रन्थकार सूर्य पूजाकी आलोचना करते हैं]

ग्रहोंके कुलका होनेपर भी यह सूर्य तो पूज्य है और चन्द्रमा पूज्य नहीं है ? ठीक ही है जिस जीवने तत्त्वका विचार नहीं किया, उसकी वृत्ति निरंकुश होती है ॥७५॥

[अब बौद्ध मतकी आलोचना करते हैं]

बौद्धमत एक ओर द्वैतवादी है अर्थात् संयम और भक्ष्याभक्ष्य आदिका विचार करता है और दूसरी ओर अद्वैतवादी है, अर्थात् सब कुछ सेवन करनेकी छूट देता है । उसीके आगमका अनुकरण शंकराचार्यने किया है । ऐसा मद्य और मांसका प्रेमी मत बुद्धिमानोंके द्वारा मान्य कैसे हो सकता है ? ॥७६॥

---

१ भक्ष्याभक्ष्यादौ प्रवर्तितविचारबुद्धि द्वैतम् । सर्वत्र प्रवृत्तिनिरङ्कुशत्वमद्वैतम् ।
२ पूर्वपक्षविवेचन ।

दर्शनाभावात्। परश्चेत्कोऽसौ परः? तीर्थकरोऽन्यो वा? तीर्थकरश्चेत्तत्राप्येवं पर्यनुयोगे प्रकृतमनुबन्धे। तस्मादनवस्था। तदभावमाप्तसद्भावं च वाञ्छद्भिः सदाशिवः शिवापतिर्वा तस्य तत्त्वोपदेशकः प्रतिश्रोतव्यः। तदाह पतञ्जलिः—"स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।" तथा हि।

अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात्।
नादरूपं समुत्पन्नं शास्त्रं परमदुर्लभम्" ॥७७॥

तथाप्तेनैकेन भवितव्यम्। न ह्याप्तानामितरप्राणिवद् गणः समस्ति, संभवे वा चतुर्विंशतिरिति नियमः कौतस्कुत इति वन्ध्यास्तनंधयधैर्यव्यावर्णनमुदीर्णमोहार्णवविलयनं च परेषाम्। यतः—

वक्ता नैव सदाशिवो विकरणस्तस्मात्परो रागवान्-
द्वैविध्यादपरं तृतीयमिति चेत्तत्कस्य हेतोरभूत्।
शक्त्या चेत्परकीयया कथमसौ तद्वानसंबन्धतः
संबन्धोऽपि न जाघटीति भवता शास्त्रं निरालम्बनम् ॥७८॥

[इस प्रकार अन्य मतोंकी समीक्षा करनेपर उन मतोंके अनुयायी कहते हैं—]

आप जैनोंके आगममें मनुष्यको आप्त माना है। किन्तु उसका आप्तपना किसी भी तरह नहीं बनता। आज भी लाखों करोडों मनुष्य वर्तमान हैं, किन्तु उनमें कोई भी आप्त नहीं देखा जाता। यदि किसी तरह मनुष्यको आप्त मान भी लिया जाये तो उसे इष्ट तत्त्वका ज्ञान स्वयं तो नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा नहीं देखा जाता। यदि दूसरेसे ऐसा ज्ञान होता है तो वह दूसरा कौन है? तीर्थङ्कर है या अन्य कोई है? यदि तीर्थङ्कर है तो उसमें भी यही प्रश्न पैदा होता है। यदि तीर्थङ्करको इष्ट तत्त्वका ज्ञान किसी तीसरेके द्वारा होता है तो उस तीसरेको इष्ट तत्त्वका ज्ञान चौथेके द्वारा होगा और चौथेको इष्ट तत्त्वका ज्ञान पाँचवेंके द्वारा होगा। इस तरह अनवस्था दोष आजाता है। अतः यदि अनवस्था दोषसे बचना चाहते हैं और साथ ही साथ आप्तका सद्भाव भी चाहते हैं तो तत्त्वके उपदेष्टा सदाशिव पार्वतीपतिको ही मानना चाहिये। पतञ्जलि ऋषिने भी कहा है—'वह पहलोंके भी गुरु है, क्योंकि कालके द्वारा उनका नाश नहीं होता। और भी कहा है—"अशरीरी, शान्त और परम कारण शिवसे परमदुर्लभ नादरूप शास्त्रकी उत्पत्ति हुई॥७७॥

तथा आप्त एक ही होना चाहिये। अन्य प्राणियोंके समूहकी तरह आप्तोंका समूह तो होता नहीं है। और यदि हो भी तो चौबीस संख्याका नियम कहाँसे आया?'

इस प्रकार दूसरे मतवालोंका उक्त कथन वन्ध्याके पुत्रके धैर्यकी प्रशंसा करनेके तुल्य व्यर्थ है, वे महान् मोहके समुद्रमें डूबे हुए हैं, क्योंकि—

सदाशिव अशरीरी है अतः वह वक्ता नहीं हो सकता। और शिव यद्यपि सशरीर हैं मगर वह रागी है—पार्वतीके साथ रहते हैं, अतः उनका उपदेश प्रमाण नहीं माना जा सकता। यदि इन दोनोंके सिवा किसी तीसरेको वक्ता मानते हो तो वह तीसरा किससे हुआ। यदि कहोगे कि शक्तिसे हुआ, तो शक्ति तो भिन्न है, भिन्न शक्तिसे वह शक्तिवान कैसे हो सकता है, क्योंकि उन दोनोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि सम्बन्ध मानोगे तो विचार करनेपर उनका कोई सम्बन्ध भी नहीं बनता है, अतः आपका शास्त्र निराधार ठहरता है क्योंकि उसका कोई वक्ता सिद्ध नहीं होता॥७८॥

---

१ यह श्लोक यशस्तिलकके पाँचवें आश्वासमें पृ० २५४ पर 'तदुक्त' करके दिया गया है।

'सवन्धो हि सदाशिवस्य शक्त्या न ह न मिश्रस्य संयोगः शक्तेरद्रव्यत्वात्, 'द्रव्ययोरेव संयोगः इति यौगसिद्धान्तः। 'समवायलक्षणोऽपि न संबन्धः शक्तेः पृथक्सिद्धत्वात्, 'अयुत सिद्धानां गुणगुण्यादीनां समवायसवन्धः इति वैशेषिकमैतिह्यम्।

तत्त्वभावनयोद्भूतं जन्मान्तरसमुत्थया।
हिताहितविवेकाय यस्य ज्ञानत्रयं परम् ॥७९॥
दृष्टादृष्टमवैत्यर्थं रूपस्तमथावधेः।
श्रुतेः श्रुतिसमाम्नेयं कासी परमपेक्षताम् ॥८०॥

सदाशिवका शक्तिके साथ संयोग सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, क्योंकि शक्ति द्रव्य नहीं है और 'संयोग सम्बन्ध द्रव्योंका ही होता है' ऐसा यौगोंका सिद्धान्त है। तथा समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि शक्ति तो शिवसे पृथक् सिद्ध है—जुदी है और 'जो पृथक् सिद्ध नहीं हैं ऐसे गुण गुणी वगैरहका ही समवाय सम्बन्ध होता है' ऐसा वैशेषिकोंका मत है।

भावार्थ—ऊपर शैवमतवादियोंने मनुष्यको आप्त माननेमें आपत्ति दिखलाते हुए सदाशिवको ही आप्त और शास्त्रका उपदेष्टा माननेपर जोर दिया था। उसीका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि सदाशिव तो अशरीरी है इसलिए वे वक्ता हो नहीं सकते, क्योंकि बोलनेके लिए शरीरका होना जरूरी है उसके बिना शब्दकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि सशरीरी शिवको वक्ता माना जायेगा तो वह रागी हैं, पार्वतीके साथ रहते हैं, अर्धनारीश्वर हैं, अतः उनका वचन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यदि किसी तीसरेको वक्ता माना जायेगा तो प्रश्न होता है कि वह तीसरा कहाँसे उत्पन्न हुआ। यदि कहा जायेगा कि शक्तिसे उत्पन्न हुआ तो शक्तिके साथ उसका सम्बन्ध बतलाना चाहिये। दो ही सम्बन्ध यौग दर्शनमें माने गये हैं संयोग और समवाय। ये दोनों ही सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमानके बीच नहीं बनते क्योंकि संयोग दो द्रव्योंमें ही होता है किन्तु शक्ति द्रव्य नहीं है। तथा समवाय सम्बन्ध अभिन्नोंमें ही होता है किन्तु शक्ति शक्तिमान्‌से भिन्न है।

[इस प्रकार सदाशिववादियोंके शास्त्रको निराधार बतलाकर ग्रन्थकार, मनुष्यको आप्त माननेमें जो आपत्ति की गई है उसका निराकरण करते हैं—]

पूर्वजन्ममें उत्पन्न हुई तत्त्व भावनासे, हित और अहितकी पहचान करनेके लिए उत्पन्न हुए जिसके तीन ज्ञान-मति, श्रुत और अवधि-दृष्ट और अदृष्ट अर्थको जानते हैं, उनमें भी अवधि ज्ञान केवल रूपी पदार्थोंको ही जानता है और श्रुतज्ञान शास्त्रमें वर्णित विषयोंको जानता है। ऐसी अवस्थामें इष्ट तत्त्वको जाननेके लिए उसे दूसरेकी अपेक्षा ही क्या रहती है ? ॥७९-८०॥

भावार्थ—पहले शैवमतवादीने मनुष्यको आप्त माननेमें आपत्ति करते हुए कहा था कि मनुष्यका इष्ट तत्त्वका बोध यदि तीर्थङ्करके द्वारा होता है तो तीर्थङ्करको इष्ट तत्त्वका ज्ञान किसके द्वारा होता है ? इसका परिहार करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि तीर्थङ्करके जन्मसे ही तीन ज्ञान होते हैं। और ये तीनों ज्ञान पूर्व जन्मकी भावनासे उत्पन्न होते हैं, उनसे वह इष्ट तत्त्वको जान लेते हैं। बादमें मुनि होकर तपस्याके द्वारा कर्मोंको नष्ट करके वे सर्वज्ञ हो

---

१ अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदम् प्रत्ययहेतुर्यः स संबन्ध स समवाय। प्रशस्तपाद भाष्य पृ १४।—आप्तपरीक्षा पृ १६।

न चैतदसार्वत्रिकम् । कथमन्यथा स्वत एव संजातषट्पदार्थावसायप्रसरे[1] कणचरे[2] वाराणस्या महेश्वरस्योलूकसायुज्यसरस्येदं वचः[3] संगच्छेत—'ब्रह्मतुला[4] नामेदं दिवौकसां[5] दिव्यमद्भुत ज्ञान प्रादुर्भूतमिह त्वयि तद्वत्संविधत्स्व विप्रेभ्य' ।

उपाये सत्युपेयस्य प्राप्तेः का प्रतिबन्धिता ।
पातालस्थ जलं यन्त्रात्करस्थं क्रियते यत ॥८१॥
अश्मा[6] हेम जलं मुक्ता द्रुमो वह्निः क्षितिर्मणिः ।
तत्तद्धेतुतया भावा भवन्त्यद्भुतसंपद ॥८२॥
सर्गावस्थितिसंहारग्रीष्मवर्षातुषारवत् ।
अनाद्यनन्तभावोऽयमाप्तश्रुतसमाश्रय ॥८३॥
नियतं न बहुत्वं चेत्कथमेते तथाविधा ।
तिथिताराग्रहाम्भोधिभूभृत्प्रभृतयो मताः ॥८४॥

जाते है । तब उन्हें इष्ट तत्त्वको जाननेके लिए दूसरेसे सहायता लेनेकी जरूरत ही क्या है ? वे स्वय ही जानकर ससारके प्राणियोंको तत्त्वोंका उपदेश देते है । उनके उपदेशसे अन्य मनुष्योंको इष्ट तत्त्वका ज्ञान हो जाता है ।

[आगे कहते हैं—]

और यह बात कि तीर्थङ्कर स्वयं ही इष्ट तत्त्वको जान लेते है, ऐसी नहीं है जिसे सब न मानते हों । यदि ऐसा नहीं है तो स्वत ही छ पदार्थोंका ज्ञान होनेपर कणाद-ऋषिके प्रति वाराणसी नगरीमें उलूकका अवतार लेनेवाले महेश्वरका यह कथन कैसे सगत हो सकता है—'हे कणाद ! तुझे देवोंके ब्रह्मतुला नामके दिव्य ज्ञानकी प्राप्ति हुई है इसे विप्रोंको प्रदान कर ।'

भावार्थ—वैदिक पुराणोके अनुसार महेश्वरने उल्लूका अवतार धारण करके कणाद ऋषिसे उक्त बात कही थी । ऊपर शैवमतवादियोंने जैनोंपर यह आपत्ति की थी कि दूसरेकी सहायताके विना तुम्हारे तीर्थङ्करोको ज्ञान कैसे होता है, उसीका निराकरण करते हुए ग्रन्थकारने बतलाया है कि तुम्हारे मतमें भी कणाद ऋषिको स्वय छ. पदार्थोंका ज्ञान होनेका उल्लेख है । अत. यह आपत्ति कि विना अन्यकी सहायताके ज्ञान नहीं हो सकता, निराधार है ।

साधन सामग्रीके मिलनेपर पाने योग्य वस्तुकी प्राप्तिमें रुकावट ही क्या हो सकती है ? क्योंकि यत्रके द्वारा पातालमें भी स्थित जल प्राप्त कर लिया जाता है ॥८१॥

पत्थरसे सोना पैदा होता है । जलसे मोती बनता है । वृक्षसे आग पैदा होती है और पृथ्वीसे मणि पैदा होती है । इस तरह अपने-अपने कारणोंसे अद्भुत सम्पदा उत्पन्न होती है । जैसे उत्पत्ति, स्थिति और विनाशकी परम्परा अनादि–अनन्त है, या ग्रीष्म ऋतु, वर्षा ऋतु और शीत ऋतुकी परम्परा अनादि अनन्त है, वैसे ही आप्त और श्रुतकी परम्परा भी प्रवाह रूपसे चली आती है, न उसका आदि है और न अन्त । आप्तसे श्रुत उत्पन्न होता है और श्रुतसे आप्त बनता है ॥८२–८३॥

[शैव मतवादीने यह आपत्ति की थी कि आप्त बहुतसे नहीं हो सकते और यदि हों भी तो चौबीसका नियम कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुए कहते है—]

यदि वस्तुओंका बहुत्व नियत न हो तो तिथि, तारा, ग्रह, समुद्र, पहाड़ वगैरह नियत

१ ज्ञान । २ कणादऋषौ अक्षपादे । ३ स्तुतिवचन कथ सगच्छेत् । ४ जगत्तोलने परिज्ञाने तुलाप्राय तव कणचरस्य ज्ञानम् । ५. देवानामपि दिव्यम् । ६ पाषाणो हेम भवति,जल मुक्ता स्यादित्यादि । ७ पदार्था । ८ उत्पादव्ययध्रौव्य । ९ आप्तात् श्रुत श्रुतादाप्त ।

अनयैव दिशा चिन्त्यं सांख्यशाक्यादिशासनम् ।
तत्त्वागमाप्तरूपाणां नानात्वस्याविशेषतः ॥८५॥
जैनमेकं मतं मुक्त्वा द्वैताद्वैतसमाश्रयौ ।
मार्गौ समाश्रिताः सर्वे सर्वाभ्युपगमागमाः ॥८६॥
वामदक्षिणमार्गस्थो मन्त्रेतरसमाश्रयः ।
कर्मकाण्डगतो ज्ञेयः शंभुशाक्यद्विजागमः ॥८७॥

यच्चैतत्—

*'श्रुति वेदमिह प्राहुर्धर्मशास्त्रं स्मृतिर्मता ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥८८॥
ते तु यस्त्ववमन्येत हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिः कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः' ॥८९॥*

—मनुस्मृति २ १ –११ ।

क्यों माने गये हैं ? अर्थात् जैसे ये बहुत हैं फिर भी इनकी संख्या नियत है उसी तरह जैन तीर्थंकरोंकी भी चौबीस संख्या नियत है ॥८४॥

इसी प्रकारसे सांख्य और बौद्ध वगैरहके मतोंका भी विचार कर लेना चाहिये। क्योंकि उनमें भी तत्त्व, आगम और आप्तके स्वरूपोंमें भेद पाया जाता है ॥८५॥

एक जैनमतको छोड़कर शेष सभी मतवालोंने या तो द्वैतमतको अपनाया है या अद्वैत मतको अपनाया है। और उनके आगमोंमें ऐसी बातें हैं जो सभी लोगोंके द्वारा मान्य हैं ॥८६॥

शैवमत बौद्धमत और ब्राह्मणमत वाममार्गी और दक्षिणमार्गी हैं, मंत्र तंत्र प्रधान भी हैं, तथा उसको न मानने वाले भी हैं और कर्मकाण्डी तथा ज्ञानकाण्डी हैं ॥८७॥

भावार्थ—शैवमत ब्राह्मणमत और बौद्धमतमें उत्तर कालमें वाममार्ग भी उत्पन्न हो गया था, और यह वाममार्ग मंत्र तंत्र प्रधान था तथा उसमें क्रियाकाण्डका ही प्राधान्य था। दक्षिण मार्ग *न तो मंत्र तंत्र प्रधान था और न क्रियाकाण्डको ही विशेष महत्त्व देता था।* शैवमतका तो वाममार्ग प्रसिद्ध है। बौद्धमतके महायान सम्प्रदायमेंसे तांत्रिक वाममार्गका उदय हुआ था। वैसे बुद्धके पश्चात् बौद्धमत हीनयान और महायान सम्प्रदायोंमें विभाजित हो गया था। इसीप्रकार वैदिक ब्राह्मणमत भी पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसाके भेदसे दो रूप हो गया था। पूर्व मीमांसा यज्ञ यागादि कर्मकाण्ड प्रधान है, और उत्तर मीमांसा, जिसे वेदान्त भी कहते हैं, ज्ञान प्रधान है।

[अब ग्रन्थकार मनुस्मृतिके दो पद्योंको देकर उसकी आलोचना करते हैं—]

तथा (मनुस्मृति अ० २ श्लोक १०–११ में) जो यह कहा है—"श्रुतिको वेद कहते हैं और धर्मशास्त्रको स्मृति कहते हैं। उन श्रुति और स्मृतिका विचार प्रतिकूल तर्कोंसे नहीं करना चाहिये क्योंकि उन्हींसे धर्म प्रकट हुआ है। जो द्विज युक्ति शास्त्रका आश्रय लेकर श्रुति और स्मृतिका निरादर करता है, साधु पुरुषोंको उसका बहिष्कार करना चाहिये क्योंकि वेदका निन्दक होनेसे वह नास्तिक है ॥८८–८९॥

१ अन्येष मार्गान् पर्यालोचनीय टीका ।

तदपि न साधु । यत. ।

समस्तयुक्तिनिर्मुक्त' केवलागममलोचनः ।
तत्त्वमिच्छन्न कस्येह भवेद्वादी जयावह ॥९०॥
सन्तो गुणेपु तुष्यन्ति नाविचारेपु वस्तुपु ।
पादेन क्षिप्यते ग्रावा[2] रत्नं मौलौ निधीयते ॥९१॥
श्रेष्ठो गुणैर्गृहस्थः स्यात्तत. श्रेष्ठतरो यति' ।
यते श्रेष्ठतरो देवो न देवादधिकं परम् ॥९२॥
गेहिना[3] समवृत्तस्य यतेरप्यधरस्थितेः ।
यदि देवस्य देवत्वं न देवो दुर्लभो भवेत् ॥९३॥
इत्युपासकाध्ययने आप्तस्वरूपमीमासनो नाम द्वितीयः कल्पः ।

देवमादौ परीक्षेत पश्चात्तद्वचनक्रमम् ।
ततश्च तदनुष्ठानं कुर्यात्तत्र मतिं तत ॥९४॥
येऽविचार्य पुनर्देवं रुचिं तद्वाचि कुर्वते ।
तेऽन्धास्तत्स्कन्धविन्यस्तहस्ता[4] वाञ्छन्ति सद्गतिम् ॥९५॥

यह भी ठीक नहीं है क्योंकि—

जो मतावलम्बी समस्त युक्तियोंको छोड़कर केवल आगमके बलपर तत्त्वकी सिद्धि करना चाहता है वह किसीको नहीं जीत सकता ॥९०॥

भावार्थ—मनुस्मृतिकारने श्रुति और स्मृतिमे युक्ति लगानेका निपेध किया है किन्तु जैनाचार्य कहते है कि युक्तिके विना केवल आगमसे तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि केवल आगमसे ही तत्त्वकी सिद्धि मानी जायेगी तव तो ऐसा व्यक्ति सबको जीत लेगा। अथवा सभी धर्मवाले अपने-अपने आगमोंसे अपने-अपने तत्त्व सिद्ध कर लेंगे। अतः युक्तिसे नहीं घबराना चाहिए, जो बात विचार पूर्ण होती है उसे सब ही माननेको तैयार रहते हैं।

सज्जन पुरुष गुणोंसे प्रसन्न होते है, अविचारित वस्तुओंसे नहीं। देखो, पत्थरको पैरसे ठुकराया जाता है और रत्नको मुकुटमें स्थापित किया जाता है। अत जो गुणोंसे श्रेष्ठ है वह गृहस्थ है, गृहस्थसे भी श्रेष्ठ यति है और यतिसे श्रेष्ठ देव है। किन्तु देवसे श्रेष्ठ कोई नहीं है। जिसका आचरण गृहस्थके समान है और जो यतिसे भी नीचे स्थित है, ऐसे देवको भी यदि देव माना जाता है तो फिर देवत्व दुर्लभ नहीं रहता ॥९१-९३॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें आप्त स्वरूपकी मीमासा नामका दूसरा कल्प समाप्त हुआ।

[अब ग्रन्थकार आगम और तत्त्वकी मीमासा करते हैं—]

सबसे प्रथम देवकी परीक्षा करनी चाहिए, पीछे उसके वचनोंकी परीक्षा करनी चाहिए। उसके बाद उसमें मनको लगाना चाहिए। जो लोग देवकी परीक्षा किये बिना उसके वचनोंका आदर करते है वे अन्धे है और उस देवके कन्धेपर हाथ रखकर सद्गति प्राप्त करना चाहते है। जैसे माता-पिताके शुद्ध होनेपर सन्तानमें शुद्धि देखी जाती है वैसे ही आप्तके विशुद्ध होनेपर ही

---

१ एक आगम एव लोचन यस्य स पुमान् तत्त्व वाञ्छति सर्वेपा जयकारी स्यात्। २ पाषाण। ३. गृहिमदृशस्य देवस्य यतेरपि हीनस्य देवत्व घटते चेत्। ४ तस्य अन्धस्य।

पितोः शुद्धौ यथाऽपत्ये विशुद्धिरिह दृश्यते ।
तथाप्तस्य विशुद्धत्वे भवेदागमशुद्धता ॥९६॥
वाग्विशुद्धापि दुष्टा स्याद् वृष्टिवत्पात्रदोषतः ।
वन्द्यत्व चस्त्वदेवोच्चैस्तोयवत्तीर्थसंश्रयम् ॥९७॥
दृष्टेऽर्थे वचसोऽध्यक्षादनुमेयेऽनुमानतः ।
पूर्वापराविरोधेन परोक्षे च प्रमाणता ॥९८॥
पूर्वापरविरोधेन यत्तु युक्त्या च बाध्यते ।
मत्तोन्मत्तवचःप्रख्यः स प्रमाणं किमागमः ॥९९॥
हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्गसमाश्रयात् ।
कालत्रयगतानर्थान्गमयन्नागमः स्मृतः ॥१००॥
आत्मात्मस्थितिर्लोको बन्धमोक्षौ सहेतुकौ ।
आगमस्य निगद्यन्ते पदार्थास्तत्त्ववेदिभिः ॥१०१॥

आगममें शुद्धता हो सकती है। अर्थात् यदि आप्त निर्दोष होता है तो उसके द्वारा कहे गये आगममें भी कोई दोष नहीं पाया जाता। अतः पहले आप्त या देवकी परीक्षा करनी चाहिए उसके बाद उसके वचनोंको प्रमाण मानना चाहिए ॥९४–९६॥

जैसे वर्षाका पानी समुद्रमें जाकर खारा हो जाता है या सांपके मुखमें जाकर विषरूप हो जाता है, वैसे ही पात्रके दोषसे विशुद्ध वचन भी दुष्ट हो जाता है। तथा जैसे तीर्थका आश्रय लेनेवाला जल पूज्य होता है वैसे ही जो वचन तीर्थंकरोंका आश्रय ले लेता है अर्थात् उनके द्वारा कहा जाता है वही पूज्य होता है ॥९७॥

जो वचन ऐसे अर्थको कहता है जिसे प्रत्यक्षसे देखा जा सकता है, उस वचनकी प्रमाणता प्रत्यक्षसे साबित हो जाती है। जो वचन ऐसे अर्थको कहता है जिसे अनुमानसे ही जाना जा सकता है उस वचनकी प्रमाणता अनुमानसे साबित होती है। और जो वचन बिलकुल परोक्ष वस्तुको कहता है, जिसे न प्रत्यक्षसे ही जाना जा सकता है और न अनुमानसे, पूर्वापरमें कोई विरोध न होनेसे उस वचनकी प्रमाणता सिद्ध होती है। अर्थात् यदि उस वचनके द्वारा कही गई बातें आपसमें कटती नहीं हैं, तो उस वचनको प्रमाण माना जाता है ॥९८॥

भावार्थ—शास्त्रोंमें बहुत सी ऐसी बातोंका भी कथन पाया जाता है जिनके विषयमें न युक्तिसे काम लिया जा सकता है और न प्रत्यक्षसे ऐसे कथनको सहसा अप्रमाण भी नहीं कहा जा सकता। अतः उन शास्त्रोंकी अन्य बातें, जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे जानी जा सकती हैं वे यदि ठीक ठहरती हैं और यदि उनमें परस्परमें विरोधी बातें नहीं कही गई हैं तो उन शास्त्रोंके ऐसे कथनको भी प्रमाण ही मानना चाहिए।

जिस आगममें परस्परमें विरोधी बातोंका कथन है और युक्तिसे भी बाधा आती है, पागलकी बकवादके समान उस आगमको कैसे प्रमाण माना जा सकता है ॥९९॥

आगमका स्वरूप और विषय

जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंका अवलम्बन लेकर हेय और उपादेय रूपसे त्रिकालवर्ती पदार्थोंका ज्ञान कराता है उसे आगम कहते हैं ॥१००॥ तत्त्वके ज्ञाताओंका

१ जलवत् । २ वचनस्य । ३ प्रत्यक्षात् । ४ आत्मन् । ५ पुद्गल ।

उत्पत्तिस्थितिसंहारसाराः [1]सर्वे स्वभावतः।
नयद्वयाश्रयादेते तरङ्गा इव तोयधेः ॥१०२॥

कहना है कि आगममें जीव, अजीव, उनके रहनेके स्थान, लोक तथा अपने-अपने कारणोंके साथ बन्ध और मोक्षका कथन होता है ॥१०१॥

भावार्थ—जिसमें चारों पुरुषार्थोंका वर्णन करते हुए यह बतलाया गया हो कि क्या छोड़ने योग्य है और कौन ग्रहण करने योग्य है वही सच्चा आगम है। उस आगममें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका वर्णन रहता है।

प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक है

जैसे समुद्रमें लहरें होती है वैसे ही सभी पदार्थ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे स्वभावसे ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होते है ॥१०२॥

भावार्थ—जैनधर्ममें प्रत्येक वस्तुको प्रति समय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त माना है अर्थात् प्रत्येक वस्तु प्रति समय उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और स्थिर भी रहती है। इसपर यह प्रश्न होता है कि ये तीनों बातें तो परस्परमें विरुद्ध है, अतः एक वस्तुमें एक साथ वे तीनों बातें कैसे हो सकती हैं, क्योंकि जिस समय वस्तु उत्पन्न होती है उस समय वह नष्ट कैसे हो सकती है और जिस समय नष्ट होती है उसी समय वह उत्पन्न कैसे हो सकती है। तथा जिस समय नष्ट और उत्पन्न होती है उस समय वह स्थिर कैसे रह सकती है? इसका समाधान यह है कि प्रत्येक वस्तु प्रति समय परिवर्तनशील है। संसारमें कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। उदाहरणके लिए बच्चा जब जन्म लेता है तो छोटा सा होता है, कुछ दिनोंके बाद वह बड़ा हो जाता है। उसमें जो बढ़ोतरी दिखाई देती है वह किसी खास समयमें नहीं हुई है, किन्तु बच्चेके जन्म लेनेके क्षणसे ही उसमें बढ़ोतरी प्रारम्भ हो जाती है और जब वह कुछ बड़ा हो जाता है तो वह बढ़ोतरी स्पष्ट रूपसे दिखाई देने लगती है। इसी तरह एक मकान सौ वर्षके बाद जीर्ण होकर गिर पड़ता है। उसमें यह जीर्णता किसी खास समयमें नहीं आई, किन्तु जिस क्षणसे वह बनना प्रारम्भ हुआ था उसी क्षणसे उसमें परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गया था उसीका यह फल है जो कुछ समयके बाद दिखाई देता है। अन्य भी अनेक दृष्टान्त हैं जिनसे वस्तु प्रति समय परिवर्तनशील प्रमाणित होती है। इस तरह वस्तुके परिवर्तनशील होनेसे उसमें एक साथ तीन बातें होती हैं, पहली हालत नष्ट होती है और जिस क्षणमें पहली हालत नष्ट होती है उसी क्षणमें दूसरी हालत उत्पन्न होती है। ऐसा नहीं है कि पहली हालत नष्ट हो जाये उसके बाद दूसरी हालत उत्पन्न हो। पहली हालतका नष्ट होना ही तो दूसरी हालतकी उत्पत्ति है। जैसे, कुम्हार मिट्टीको चाकपर रखकर जब उसे घुमाता है तो उस मिट्टीकी पहली हालत बदलती जाती है और नई-नई अवस्थाएँ उसमें उत्पन्न होती जाती हैं। पहली हालतका बदलना और दूसरीका बनना दोनों एक साथ होते है। यदि ऐसा माना जायेगा कि पहली हालत नष्ट हो चुकनेके बाद दूसरी हालत उत्पन्न होती है तो पहली हालतके नष्ट हो चुकने और दूसरी हालतके उत्पन्न होनेके बीचमें वस्तुमें कौन-सी हालत—दशा मानी जायेगी। घड़ा जिस क्षणमें फूटता है उसी क्षणमें ठीकरे पैदा हो जाते हैं। ऐसा नहीं

---

१ समस्ता पदार्था ।

नित्याद्यैकरूपत्वे बन्धमोक्षव्यपागमः[1] ।
तात्त्विकैकत्वसद्भावे स्वभावान्तरहानितः ॥१०३॥
ज्ञाता द्रष्टा महान् सूक्ष्मः कृतिभुक्त्योः स्वयं प्रभुः ।
भोगायतनमात्रो[2]ऽयं स्वभावादूर्ध्वगः पुमान् ॥१०४॥
ज्ञानदर्शनशून्यस्य न भेदः स्यादचेतनात् ।
ज्ञानमात्रस्य जीवत्वे नैकधीश्चित्रमित्रवत् ॥१०५॥

है कि घड़ा पहले फूट जाता है पीछेसे उसके ठीकरे बन जाते हैं। घड़ेका फूटना ही ठीकरेका उत्पन्न होना है और ठीकरेका उत्पन्न होना ही घड़ेका फूटना है। अतः उत्पाद और विनाश दोनों एक साथ होते हैं—एक ही क्षणमें एक पर्याय नष्ट होती है और दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है, और इनके उत्पन्न और नष्ट होनेपर भी द्रव्य-मूलवस्तु कायम रहता है—न वह उत्पन्न होता है और न नष्ट। जैसे घड़के फूट जाने और ठीकरेके उत्पन्न हो जानेपर भी मिट्टी दोनों हालतोंमें बराबर कायम रहती है। अतः वस्तु प्रति समय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त कहलाती है।

वस्तुको देखनेकी दो दृष्टियाँ हैं—एक दृष्टिका नाम है द्रव्यार्थिक और दूसरीका नाम है पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे वस्तु ध्रुव है, और पर्यायार्थिक नय दृष्टिसे उत्पाद व्ययशील है।

यदि वस्तुको केवल प्रतिक्षण विनाशशील या केवल नित्य माना जायेगा तो बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। क्योंकि सर्वथा एक रूप माननेपर उसमें स्वभावान्तर नहीं हो सकेगा ॥१०३॥

भावार्थ—वस्तुको उत्पाद विनाशशील न मानकर यदि सर्वथा क्षणिक ही माना जायेगा तो प्रत्येक वस्तु दूसरे क्षणमें नष्ट हो जायेगी। ऐसी अवस्थामें जो आत्मा बँधा है वह तो नष्ट हो जायेगा तब मुक्ति किसकी होगी? इसी तरह यदि वस्तुको सर्वथा नित्य माना जायेगा तो वस्तुमें कभी भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकेगा। और परिवर्तन न होनेसे जो जिस रूपमें है वह उसी रूपमें बनी रहेगी। अतः बद्ध आत्मा सदा बद्ध ही बना रहेगा, अथवा कोई आत्मा बँधेगा ही नहीं; क्योंकि जब वस्तु सर्वथा नित्य है तो आत्मा सदा एक रूप ही रहेगा, न वह बद्ध हो सकेगा और न मोक्ष। यदि उसे बद्ध मोक्ष माना जायेगा तो वह सर्वथा नित्य नहीं रहेगा। अतः प्रत्येक वस्तुको द्रव्यकी अपेक्षा नित्य और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य मानना चाहिए।

आत्माका स्वरूप

आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है महान् और सूक्ष्म है, स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही भोक्ता है। अपने शरीरके बराबर है। तथा स्वभावसे ही ऊपरको गमन करनेवाला है॥ यदि आत्माको ज्ञान और दर्शनसे रहित माना जायेगा तो अचेतनसे उसमें कोई भेद नहीं रहेगा। अर्थात् जड़ और चेतन दोनों एक हो जायेंगे। और यदि ज्ञानमात्रको जीव माना जायेगा तो चित्र मित्रकी तरह एक बुद्धि नहीं बनेगी ॥१०४-१०५॥

१ यदि सर्व एव अनित्यं क्षणिकं सर्वं मन्यते अथवा नापायम् अविनश्वरं मन्यते तर्हि स्यात् अभूत् कात्त्वी बन्धमोक्षयोः समागम—न बन्धः घटते न मोक्षं घटते कुतः स्वभावान्तरहानितः यत् सति तात्त्विकैकत्व सद्भावे नित्यत्व इत्यर्थः। २ शरीरप्रमाणः। "जीवोत्ति हवदि चेदा उपओगविसेसिदो पहू कत्ता। भोत्ता य देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥२७॥—पञ्चास्तिकाय।

प्रेर्यते[1] कर्म जीवेन जीव. प्रेर्येत कर्मणा ।
एतयोः प्रेरको नान्यो नौनाविकसमानयोः ॥१०६॥
[2]मन्त्रवन्नियतोऽप्येपोऽचिन्त्यशक्ति' स्वभावतः ।
अतः शरीरतोऽन्यत्र न [3]भावोऽस्य [4]प्रमान्वित.॥१०७॥
त्रसस्थावरभेदेन चतुर्गतिसमाश्रया ।
जीवाः केचित्तथान्ये च पञ्चमीं गतिमाश्रिताः ॥१०८॥
धर्माधर्मौ नभः कालो पुद्गलश्चेति पञ्चम ।
अजीवशब्दवाच्या. स्युरेते विविधपर्यया ॥१०९॥
गतिस्थित्यप्रतीघातपरिणामनिबन्धनम्[5] ।
चत्वारः सर्ववस्तूनां रूपाद्यात्मा च पुद्गलः ॥११०॥
अन्योन्यानुप्रवेशेन बन्ध[6]. कर्मात्मनो मत. ।
अनादि. सावसानश्च कालिकास्वर्णयोरिव ॥१११॥

जीव कर्मको प्रेरित करता है और कर्म जीवको प्रेरित करता है। इन दोनोका सम्बन्ध नौका और नाविकके समान है। कोई तीसरा इन दोनोका प्रेरक नहीं है ॥१०६॥

जैसे मंत्रमे कुछ नियत अक्षर होते है, फिर भी उसकी शक्ति अचिन्त्य होती है उसी तरह यद्यपि आत्मा शरीर परिमाणवाला है, फिर भी वह स्वभावसे ही अचिन्त्य शक्तिवाला है, अतः शरीरसे अन्यत्र उसका अस्तित्व प्रमाणित नहीं है ॥१०७॥

जीवके भेद

त्रस और स्थावरके भेदसे जीव दो प्रकारके है; जो नरकगति, तिर्यञ्चगति मनुष्यगति, और देवगतिमें पाये जाते हैं। ये सब संसारी जीवोंके भेद है। और पञ्चम गतिको प्राप्त मुक्त जीव होते हैं ॥१०८॥

अजीव द्रव्य

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पॉच अजीव द्रव्य कहलाते है। इनकी अनेक पर्यायें होती हैं ॥१०९॥

धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोंकी गतिमें निमित्त कारण है। अधर्म द्रव्य उनकी स्थितिमें निमित्त कारण है। आकाश सब वस्तुओंको स्थान देनेमे निमित्त है और काल सबके परिणमनमें निमित्त है। तथा जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारो गुण पाये जाते है, उसे पुद्गल कहते हैं ॥११०॥

बन्धका स्वरूप और भेद

आत्मा और कर्मका अन्योन्यानुप्रवेशरूप बन्ध होता है अर्थात् आत्मा और कर्मके प्रदेश परस्परमें मिल जाते हैं। स्वर्ण और कालिमाके बन्धकी तरह यह बन्ध अनादि और सान्त होता है अर्थात् जैसे सोनेमें खानसे ही मैल मिला होता है और बादमें मैलको दूर करके सोने-

---

१ कर्मस्थिति जन्तुरनेकभूमि नयत्यमु सा च परस्परस्य । त्व नेतृभाव हि तयोर्भवाब्धौ जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्य ॥—विषापहार । २ मन्त्रोऽप्यक्षरै कृत्वा ममर्याद एपोऽप्यात्मा कायमात्र । ३ न सद्भाव । ४. कायमात्र । ५ सर्ववस्तूना गतिनिबन्धन धर्म , स्थितिनिबन्धनमधर्म ,अप्रतिघातनिबन्धन नभ , परिणामनिबन्धन काल । ६. तदुक्त—परस्पर प्रदेशाना प्रवेशो जीवकर्मणो । एकत्वकारको बन्धो रुक्मकाञ्चनयोरिव ॥'—स० पञ्चसग्रह, पृ० ५४ ।

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशप्रविभागतः ।
चतुर्धा भिद्यते बन्धः सर्वेषामेव देहिनाम् ॥११२॥
आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात् ।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥११३॥
बन्धस्य कारणं प्रोक्तं मिथ्यात्वासंयमादिकम् ।
रत्नत्रयं तु मोक्षस्य कारणं सम्प्रकीर्तितम् ॥११४॥
आप्तागमपदार्थानामश्रद्धानं विपर्ययः ।
संशयश्च त्रिधा प्रोक्तं मिथ्यात्वं मलिनात्मनाम् ॥११५॥

को शुद्ध कर लिया जाता है वैसे ही जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि होने पर भी सान्त है,—उसका अन्त हो जाता है। यह बन्ध चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेशबन्ध। यह चारों प्रकारका बन्ध सभी शरीरधारी जीवोंके होता है ॥१११ ११२॥

भावार्थ—प्रकृति शब्दका अर्थ स्वभाव है। कर्मोंमें ज्ञानादिको घातनेका जो स्वभाव उत्पन्न होता है,उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। कर्मोंमें अपने अपने स्वभावको न त्यागकर जीवके साथ बँधे रहनेके कालकी मर्यादाके पड़नेको स्थितिबन्ध कहते हैं। उनमें फल देनेकी न्यूनाधिक शक्ति के होनेको अनुभाग बन्ध कहते हैं और न्यूनाधिक परमाणुवाले कर्मस्कन्धोंका जीवके साथ सम्बन्ध होनेको प्रदेशबन्ध कहते हैं। सारांश यह है कि जीवके योग और कषायरूप भावोंका निमित्त पाकर जब कार्मण वर्गणाएँ कर्मरूप परिणत होती हैं तो उनमें चार बातें होती हैं, एक उनका स्वभाव, दूसरे स्थिति, तीसरे फल देनेकी शक्ति और चौथे अमुक परिमाणमें उसका जीवके साथ सम्बद्ध होना। इन चार बातोंको ही चार बन्ध कहते हैं। सभी जीवोंके दसवें गुणस्थान तक ये चारों प्रकारके बन्ध होते हैं। आगे कषायका उदय न होनेसे स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध नहीं होता। तथा चौदहवें गुणस्थानमें योगके भी न रहनेसे कोई बन्ध नहीं होता। इस तरह अनादि होने पर भी यह बन्ध भव्य जीवके सान्त होता है।

मोक्षका स्वरूप

रागद्वेषादिरूप आभ्यन्तर मलके क्षय हो जानेसे जीवके स्व स्वरूपकी प्राप्तिको मोक्ष कहते हैं। मोक्षमें न तो आत्माका अभाव ही होता है, न आत्मा अचेतन ही होता है और चेतन होने पर भी न आत्मामें ज्ञानादिका अभाव ही होता है ॥११३॥

भावार्थ—पहले बतला आये हैं कि बौद्ध आत्माके अभाव को ही मोक्ष मानते हैं, वैशेषिक आत्माके विशेष गुणोंके अभावको मोक्ष कहता है और सांख्य ज्ञानादिसे रहित केवल चैतन्यको ही मुक्त आत्माका स्वरूप मानता है। इन सभीको दृष्टिमें रखकर ग्रन्थकारने मोक्षका स्वरूप बतलाया है।

बन्ध और मोक्षके कारण

मिथ्यात्व असंयम वगैरहको बन्धका कारण कहा है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयको मोक्षका कारण कहा है ॥११४॥

मिथ्यात्वके भेद

मलिन आत्माओंमें पाये जानेवाले मिथ्यात्वके तीन भेद हैं—१ देव, शास्त्र और उनके

१ प्रकृतिः स्यात् स्वभावोऽस्य स्वभावादच्युतिः स्थितिः । तद्रसोऽनुभागः स्यात्प्रदेशः स्यादियत्तया ॥

अथवा।

एकान्तसंशयाज्ञानं व्यत्यासविनयाश्रयम्।
भवपक्षाविपक्षत्वान्मिथ्यात्व पञ्चधा स्मृतम् ॥११६॥
अव्रतित्वं प्रमादित्वं निर्दयत्वमतृप्तता।
इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वं सन्तः प्राहुरसंयमम् ॥११७॥
कषाया क्रोधमानाद्यास्ते चत्वारश्चतुर्विधा।
संसारसिन्धुसंपातहेतवः प्राणिनां मताः ॥११८॥

द्वारा कहे गये पदार्थोंका श्रद्धान न करना, २ विपर्यय और ३ सशय। अथवा मिथ्यात्वके पाँच भेद भी हैं—एकान्त मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, अज्ञान मिथ्यात्व, विपर्यय मिथ्यात्व और विनय मिथ्यात्व। ये पाँचों प्रकारका मिथ्यात्व संसारका कारण है ॥११५-११६॥

भावार्थ—मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शनका विरोधी है, उसके रहते हुए आत्मामें सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं हो सकता। उसके पाँच भेद है। अनेकान्तात्मक वस्तुको एकान्त रूप मानना एकान्त मिथ्यात्व है,जैसे आत्मा नित्य ही है या अनित्य ही है। सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके कारण है या नहीं, इस प्रकारके सन्देहको सशय मिथ्यात्व कहते हैं। देवादिकके स्वरूपको न जानना अज्ञान मिथ्यात्व है, इसके रहते हुए जीव हित और अहितका भेद नहीं कर पाता। झूठे देव, झूठे शास्त्र और झूठे पदार्थोंको सच्चा मानकर उनपर विश्वास करना विपर्यय मिथ्यात्व है और सभी धर्मों, और उनके प्रवर्तकोंको तथा उनके द्वारा कहे गये आचार विचारको समान मानना विनय मिथ्यात्व है।

असंयमका स्वरूप

व्रतोंका पालन न करना,अच्छे कामोमें आलस्य करना, निर्दय होना, सदा असन्तुष्ट रहना और इन्द्रियोंकी रुचिके अनुसार प्रवृत्ति करना इन सबको सज्जन पुरुष असयम कहते है ॥११७॥

कषायके भेद

क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे कषाय चार प्रकारकी कही है। इनमेंसे प्रत्येकके चार चार भेद हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ तथा सज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ। ये कषायें प्राणियोंको ससाररूपी समुद्रमें गिरानेमें कारण हैं ॥११८॥

भावार्थ—कष् धातुका अर्थ घातना है। ये क्रोध, मान, माया और लोभ आत्माके गुणोंको घातते है इसलिए इन्हें कषाय कहते है। उनके चार दर्जे हैं। जो कषाय मिथ्यात्वके साथ रहकर जीवके ससारका अन्त नहीं होने देती उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। इस कषायका उदय होते रहते सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं होता। जो कषाय अप्रत्याख्यान अर्थात् देशचारित्रको नहीं होने देती उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। जिस कषायका उदय रहते प्रत्याख्यान अर्थात् सम्पूर्ण चारित्र प्रकट नहीं होता उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। और जिस कषायका उदय रहते यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं होता उसे संज्वलन कहते हैं। इस प्रकार ये कषायें आत्माके सम्यक्त्व और चारित्र गुणकी घातक

१ विपर्यय। २ अनन्तानुबध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान-सज्वलनभेदेन।

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशेभ्यो विभागतः ।
चतुर्धा भिद्यते बन्धः सर्वेषामेव देहिनाम् ॥११२॥
आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात् ।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥११३॥
बन्धस्य कारणं प्रोक्तं मिथ्यात्वासंयमादिकम् ।
रत्नत्रयं तु मोक्षस्य कारणं संप्रकीर्तितम् ॥११४॥
आप्तागमपदार्थानामश्रद्धानं विपर्ययः ।
संशयश्च त्रिधा प्रोक्तं मिथ्यात्वं मलिनात्मनाम् ॥११५॥

का शुद्ध कर लिया जाता है वैसे ही जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि होने पर भी सान्त है,—उसका अन्त हो जाता है। यह बन्ध चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेशबन्ध। यह चारों प्रकारका बन्ध सभी शरीरधारी जीवोंके होता है ॥१११-११२॥

भावार्थ—प्रकृति[1] शब्दका अर्थ स्वभाव है। कर्मोंमें ज्ञानादिको घातनेका जो स्वभाव उत्पन्न होता है, उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। कर्मोंमें अपने अपने स्वभावको न त्यागकर जीवके साथ बँधे रहनेके कालकी मर्यादाके पड़नेको स्थितिबन्ध कहते हैं। उनमें फल देनेकी न्यूनाधिक शक्तिके होनेको अनुभाग बन्ध कहते हैं और न्यूनाधिक परमाणुवाले कर्मस्कन्धोंका जीवके साथ सम्बन्ध होनेको प्रदेशबन्ध कहते हैं। सारांश यह है कि जीवके योग और कषायरूप भावोंका निमित्त पाकर जब कार्मण वर्गणाएँ कर्मरूप परिणत होती हैं तो उनमें चार बातें होती हैं, एक उनका स्वभाव, दूसरे स्थिति, तीसरे फल देनेकी शक्ति और चौथे अमुक परिमाणमें उसका जीवके साथ सम्बद्ध होना। इन चार बातोंको ही चार बन्ध कहते हैं। सभी जीवोंके दसवें गुणस्थान तक ये चारों प्रकारके बन्ध होते हैं। आगे कषायका उदय न होनेसे स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध नहीं होता। तथा चौदहवें गुणस्थानमें योगके भी न रहनेसे कोई बन्ध नहीं होता। इस तरह अनादि होने पर भी यह बन्ध भव्य जीवके सान्त होता है।

मोक्षका स्वरूप

रागद्वेषादिरूप आभ्यन्तर मलके क्षय हो जानेसे जीवके स्व स्वरूपकी प्राप्तिको मोक्ष कहते हैं। मोक्षमें न तो आत्माका अभाव ही होता है, न आत्मा अचेतन ही होता है और चेतन होने पर भी न आत्मामें ज्ञानादिका अभाव ही होता है ॥११३॥

भावार्थ—पहले बतला आये हैं कि बौद्ध आत्माके अभाव को ही मोक्ष मानते हैं, वैशेषिक आत्माके विशेष गुणोंके अभावको मोक्ष कहता है और सांख्य ज्ञानादिसे रहित केवल चैतन्यको ही मुक्त आत्माका स्वरूप मानता है। इन सभीको दृष्टिमें रखकर ग्रन्थकारने मोक्षका स्वरूप बतलाया है।

बन्ध और मोक्षके कारण

मिथ्यात्व असंयम वगैरहको बन्धका कारण कहा है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयको मोक्षका कारण कहा है ॥११४॥

मिथ्यात्वके भेद

मलिन आत्माओंमें पाये जानेवाले मिथ्यात्वके तीन भेद हैं—१ देव, शास्त्र और तत्त्वके

---

१ प्रकृतिः स्यात् स्वभावोऽत्र स्वभावादच्युतिः स्थितिः । तद्रसोऽनुभागः स्यात्प्रदेशः स्यादियत्तया ॥

अथवा ।

एकान्तसंशयाज्ञानं व्यत्यासविनयाश्रयम् ।
भवपक्षाविपक्षत्वान्मिथ्यात्वं पञ्चधा स्मृतम् ॥११६॥
अव्रतित्वं प्रमादित्वं निर्दयत्वमतृप्तता ।
इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वं सन्तः प्राहुरसंयमम् ॥११७॥
कषायाः क्रोधमानाद्यास्ते चत्वारश्चतुर्विधाः ।
संसारसिन्धुसंपातहेतवः प्राणिनां मताः ॥११८॥

द्वारा कहे गये पदार्थोंका श्रद्धान न करना, २ विपर्यय और ३ संशय । अथवा मिथ्यात्वके पाँच भेद भी हैं—एकान्त मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, अज्ञान मिथ्यात्व, विपर्यय मिथ्यात्व और विनय मिथ्यात्व । ये पाँचों प्रकारका मिथ्यात्व ससारका कारण है ॥११५-११६॥

भावार्थ—मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शनका विरोधी है, उसके रहते हुए आत्मामें सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं हो सकता । उसके पाँच भेद है । अनेकान्तात्मक वस्तुको एकान्त रूप मानना एकान्त मिथ्यात्व है,जैसे आत्मा नित्य ही है या अनित्य ही है । सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके कारण है या नहीं, इस प्रकारके सन्देहको संशय मिथ्यात्व कहते है । देवादिकके स्वरूपको न जानना अज्ञान मिथ्यात्व है, इसके रहते हुए जीव हित और अहितका भेद नहीं कर पाता । झूठे देव, झूठे शास्त्र और झूठे पदार्थोंको सच्चा मानकर उनपर विश्वास करना विपर्यय मिथ्यात्व है और सभी धर्मों, और उनके प्रवर्तकोंको तथा उनके द्वारा कहे गये आचार विचारको समान मानना विनय मिथ्यात्व है ।

असंयमका स्वरूप

व्रतोंका पालन न करना,अच्छे कामोंमें आलस्य करना, निर्दय होना, सदा असन्तुष्ट रहना और इन्द्रियोंकी रुचिके अनुसार प्रवृत्ति करना इन सबको सज्जन पुरुष असयम कहते है ॥११७॥

कषायके भेद

क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे कषाय चार प्रकारकी कही है । इनमेंसे प्रत्येकके चार चार भेद हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ । ये कषायें प्राणियोंको ससाररूपी समुद्रमें गिरानेमें कारण हैं ॥११८॥

भावार्थ—कष् धातुका अर्थ घातना है । ये क्रोध, मान, माया और लोभ आत्माके गुणोंको घातते है इसलिए इन्हें कषाय कहते हैं । उनके चार दर्जे है । जो कषाय मिथ्यात्वके साथ रहकर जीवके ससारका अन्त नहीं होने देती उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं । इस कषायका उदय होते रहते सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं होता । जो कषाय अप्रत्याख्यान अर्थात् देशचारित्रको नहीं होने देती उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं । जिस कषायका उदय रहते प्रत्याख्यान अर्थात् सम्पूर्ण चारित्र प्रकट नहीं होता उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं । और जिस कषायका उदय रहते यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं होता उसे संज्वलन कहते हैं । इस प्रकार ये कषायें आत्माके सम्यक्त्व और चारित्र गुणकी घातक

१ विपर्यय । २ अनन्तानुबध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान-संज्वलनभेदेन ।

मनोवाक्कायकर्माणि शुभाशुभविभेदतः।
भवन्ति पुण्यपापाख्य बन्धकारणमात्मनि ॥११९॥
निराधारो निरालम्बः पवमानसमाश्रयः।
नभोमध्यस्थितो लोकः सृष्टिसंहारवर्जितः ॥१२०॥

होनेसे जीवके उद्धारमें सबसे प्रबल बाधक हैं। इनको दूर किये बिना कोई प्राणी संसार समुद्र बाहर नहीं निकल सकता ॥

योग

मन वचन और कायकी क्रिया शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारकी होती हैं। इनमें शुभ क्रियाओंसे आत्माके पुण्यबन्ध होता है और अशुभ क्रियाओंसे पापबन्ध होता है ॥११९

भावार्थ—हिंसा करना, चोरी करना, मैथुन करना आदि अशुभ कायिक क्रिया है कठोर वचन बोलना, असत्य वचन बोलना, किसीकी निन्दा करना आदि अशुभ वाचनिक क्रिया है। किसीका बुरा विचारना आदि अशुभ मानसिक क्रिया है। इन क्रियाओंसे पाप बन्ध होता है। और इनसे बचकर अच्छे काम करना, हित मित वचन बोलना और दूसरोंका भला विचारना आदि शुभ क्रियाओंसे पुण्यबन्ध होता है। असलमें शास्त्रकारोंने योगको बन्धका कारण बतलाया है और चूंकि उक्त क्रियाएँ योगमें कारण होती हैं इस लिए क्रियाओंको योग कहा है। ऊपर भी क्रियाओंसे आशय योगका ही है क्यों कि ग्रन्थकार बन्धके कारण बतला रहे हैं और वे पाँच होते हैं—मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कषाय और योग। कोई कोई आचार्य प्रमादको असंयममें ही गर्भित कर लेते हैं,जैसा कि सोमदेव सूरिने किया है। अतः उनके मतसे चार ही बन्धके कारण माने जाते हैं।

[इस प्रकार बन्धके कारण बतलाकर ग्रन्थकार लोकका स्वरूप कहते हैं—]

लोकका स्वरूप

यह लोक निराधार है, निरालम्ब है-कोई इसे धारण किये हुए नहीं हैं, केवल तीन प्रकारकी वायुके सहारेसे आकाशके बीचोबीचमें यह ठहरा हुआ है। न इसकी कभी उत्पत्ति हुई है और न कभी विनाश ही होता है।

भावार्थ—जैन धर्मके अनुसार आकाश द्रव्य सर्वत्र व्याप्त है। आकाशका काम सब द्रव्योंको स्थान देना है। उस आकाशके बीचमें चौदह राजू ऊँचा, उत्तर दक्षिण सात राजू मोटा और पूर्व पश्चिम नीचे सात राजू, मध्यमें एक राजू पुन पाँच राजू और अन्तमें एक राजू विस्तार वाला लोक है। लोकका आकार दोनों पैर फैलाकर तथा कूल्होंपर दोनों हाथ रखकर खड़े हुए पुरुषके समान है। पूर्व पश्चिममें पैरके नीचे लम्बाई ७ राजू है, कटिभागमें एक राजू है, दोनों कोनिमोंके स्थानपर पाँच राजू है और ऊपर सिरपर एक राजू है। वैसे तो यह लोक आकाशका ही एक भाग है। किन्तु जितने आकाशमें सभी द्रव्य पाये जाते हैं उतनेको लोकाकाश कहते हैं और लोकसे बाहरके शुद्ध आकाशको अलोकाकाश कहते हैं। इस तरह आकाशके दो भाग हो गये हैं। यह आकाश स्वयं ही अपना आधार है उसके लिए किसी आधारकी आवश्यकता नहीं है। अब रह जाते हैं शेष द्रव्य, उनमें भी जो चार द्रव्य अमूर्तिक हैं उन्हें भी किसी अन्य आधारकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि एक तो वे आकाशकी ही तरह अमूर्तिक और स्वाधार हैं। दूसरे

अथ मतम्—

नैव लग्नं जगत्क्वापि भूभृ[1]द्राम्भोधिनिर्भरम्।
धातारश्च न युज्यन्ते मत्स्यकूर्माहिपोत्रिणः[2] ॥१२१॥
एवमालोच्य लोकस्य निरालम्बस्य धारणे।
कल्प्यते पवनो जैनैरित्येतत्साहसं महत् ॥१२२॥
यो हि वायुर्न शक्तोऽत्र लोष्टकाष्ठादिधारणे।
त्रैलोक्यस्य कथं स स्याद्धारणावसरक्षमः ॥१२३॥

तदसत्।

ये प्लावयन्ति पानीयैर्विष्टपं[3] सचराचरम्।
मेघास्ते वातसामर्थ्यात्किं न व्योम्नि समासते ॥१२४॥

आप्तागमपदार्थेष्वपरं दोषमपश्यतः

अमज्जनमनाचामो नग्नत्वं स्थितिभोजिता।
मिथ्यादृशो वदन्त्येतन्मुनेर्दोषचतुष्टयम् ॥१२५॥

उनका साधारण आधार आकाश द्रव्य है ही, अतः उन्हें भी किसी अन्य आधारकी आवश्यकता नहीं है। अब रह गये मूर्तिक पदार्थ सो उनका भी साधारण आधार तो आकाश ही है तथा दूसरा आधार वायु है। वायु तीन प्रकारकी है घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय। वलय चूडी या कड़ेको कहते हैं जो गोल होते है। जैसे कड़ा हाथमें पहिरनेपर वह हाथको चारों ओरसे घेर लेता है वैसे ही लोकको चारों ओरसे तीनों वायु घेरे हुए है इस लिए उन्हें वातवलय कहा है। ये वातवलय ही पृथ्वी वगैरहको धारण करनेमें सहायक है।

जैनोंकी इस मान्यतापर दूसरे आक्षेप करते हुए कहते है—पृथ्वी, पहाड़, समुद्र वगैरहके भारसे लदा हुआ यह जगत् किसीके भी आधार नहीं है, तथा मच्छ, कच्छप, वासुकीनाग और शूकर इसके धारणकर्ता हो नहीं सकते। ऐसा विचार करके जैन लोग इस निरालम्ब जगत्का धारणकर्ता वायुको मानते हैं। किन्तु यह उनका बडा साहस है, क्योंकि जो वायु हमारे देखनेमें ईंट पत्थर लकड़ी वगैरहका भी बोझ सम्हालनेमें असमर्थ है, वह तीनों लोकोंको धारण करनेमें कैसे समर्थ हो सकता है? ॥१२१-१२३॥

किन्तु उनका यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि जो मेघ पानीके द्वारा चराचर जगत्को जलमय बना देते है, वे वायुके द्वारा ही क्या आकाशमें नहीं ठहरे रहते? ॥१२४॥

भावार्थ—आज कल तो हजारों टन बोझा लेजाने वाले वायुयान वायुके सहारे ही आकाशमें उड़ते हुए पाये जाते है। अतः वायुमें बड़ी शक्ति है और वही लोकको धारण करनेमें समर्थ है। मच्छ कछुवे आदिको जो पुराणोंमें पृथ्वीका आधार माना गया है वह विज्ञान सम्मत नहीं है।

जैन मुनियोंपर दोषारोपण

जैन आप्त, जैन आगम और उनके द्वारा कहे हुए पदार्थोंमें अन्य दोष न पाकर कुछ लोग जैन मुनियोंमें दोष लगाते है। वे कहते है कि जैनोंके साधु स्नान नहीं करते, आचमन नहीं करते, नगे रहते है और खड़े होकर भोजन करते हैं। इन दोषोंका समाधान इस प्रकार है॥१२५॥

१ पर्वत। २ सूकर। ३ भुवनम्।

सूर्यार्घो ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ द्रविणव्ययः ।
संध्यासेवाग्निसत्कारो गेहदेहार्चनो विधिः ॥१३६॥
नदीनदसमुद्रेषु मज्जनं धर्मचेतसा ।
तरुस्तूपाग्रभक्तानां वन्दनं भृगुसंश्रयः ॥१३७॥
गोपृष्ठान्तनमस्कारस्तन्मूत्रस्य निषेवणम् ।
रत्नवाहनभूयक्षशस्त्रशैलादिसेवनम् ॥१३८॥
समयान्तरपाखण्डवेदलोकसमाश्रयम् ।
एवमादिविमूढानां ज्ञेयं मूढमनेकधा ॥१३९॥
वरार्थं लोकवार्तार्थमुपरोधार्थमेव वा ।
उपासनममीषां स्यात्सम्यग्दर्शनहानये ॥१४०॥
क्लेशायैव क्रियामीषु न फलायालिकारणम् ।
यद्भवेन्मुग्धबोधानामूषरे कृषिकर्मवत् ॥१४१॥
वस्तुन्येव भवेद्भक्तिः शुभारम्भाय भाक्तिके ।
न रत्नेषु रत्नाय भावो भवति भूतये ॥१४२॥

भावार्थ—मुनियोंके पास एक दमड़ी भी नहीं रहती, जिससे क्षौरकर्म करा सकें, यदि दूसरेसे माँगते हैं तो दीनता प्रकट होती है, पासमें छुरा वगैरह भी नहीं रख सकते। और यदि केश बढ़ाकर जटा रखते हैं तो उसमें जूँ वगैरह पड़ जाती हैं इसलिए यह हिंसाका कारण है। इसके विपरीत केशलोंच करनेमें न किसीसे कुछ माँगना पड़ता है, न कोई हिंसा होती है, प्रत्युत उससे वैराग्यभाव दृढ़ होता है और कष्टोंको सहनेकी क्षमता बढ़ती है, इसलिए मुनिगण केशलोंच करते हैं।

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें आगम और उसमें कहे गये पदार्थोंकी परीक्षा नामका तीसरा कल्प समाप्त हुआ।

लोकमें प्रचलित मूढ़ताओंका निषेध

सूर्यको अर्घ देना, ग्रहणके समय स्नान करना, संक्रान्ति होनेपर दान देना सन्ध्या वन्दन करना, अग्निको पूजना, मकान और शरीरकी पूजा करना, धर्म मान कर नदियों और समुद्रमें स्नान करना, वृक्ष स्तूप और प्रथम ग्रासको नमस्कार करना, पहाड़की चोटीसे गिरकर मरना, गौके पृष्ठ भागको नमस्कार करना, उसका मूत्र पान करना, रत्न सवारी पृथ्वी यक्ष शस्त्र और पहाड़ वगैरहकी पूजा करना, तथा धर्मान्तरके पाखण्ड, वेद और लोकसे सम्बन्ध रखनेवाली इस प्रकारकी अनेक मूढ़ताएँ जाननी चाहिएँ ॥ वरकी आशासे या लोक रिवाजके विचारसे या दूसरोंके आग्रहसे इन मूढ़ताओंका सेवन करनेसे सम्यग्दर्शनकी हानि होती है ॥ जिस प्रकार ऊसर भूमिमें खेती करनेसे केवल क्लेश ही उठाना पड़ता है, फल कुछ भी नहीं निकलता, उसी तरह इन मूढ़ताओंके करनेसे केवल क्लेश ही उठाना पड़ता है, फल कुछ भी नहीं निकलता ॥ १३६–१४१ ॥

वस्तुमें की गई भक्ति ही शुभ कर्मका बन्ध कराती है। जो रत्न नहीं है उसे

१ विरिसाव। २ पूजनम्। ३ यथायातोत्स्नोभाज्य गुरुदेवागमविक्रियाणाम्। प्रभावं विमयं चैव न गुरु पुरुद्दय ॥१॥— रत्नकरण्डश्रा।

'अदेवे देवताबुद्धिमव्रते व्रतभावनाम् ।
अतत्त्वे तत्त्वविज्ञानमतो मिथ्यात्वमुत्सृजेत् ॥१४३॥
तथापि यदि मूढत्वं न त्यजेत्कोऽपि सर्वथा ।
मिश्रत्वेनानुमान्योऽसौ सर्वनाशो न सुन्दरः ॥१४४॥
न [1]स्वतो जन्तवः प्रेर्या दुरीहा. स्युर्जिनागमे ।
स्वत एव प्रवृत्तानां तद्योग्यानुग्रहो मत' ॥१४५॥

इत्युपासकाध्ययने मूढतोन्मथनो नाम चतुर्थः कल्पः ।

[2]शङ्काकाङ्क्षाविनिन्दान्यश्लाघा च मनसा गिरा ।
एते दोषा प्रजायन्ते सम्यक्त्वक्षतिकारणम् ॥१४६॥

रत्न माननेसे कल्याण नहीं हो सकता ॥ कुदेवको देव मानना, अव्रतको व्रत मानना और अतत्त्वको तत्त्व मानना मिथ्यात्व है अत' इसे छोड़ देना चाहिए ॥ फिर भी यदि कोई इन मूढ़ताओंका सर्वथा त्याग नहीं करता (और सम्यक्त्वके साथ-साथ किसी मूढ़ताका भी पालन करता है) तो उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व सेवनके कारण उसके धर्माचरणका भी लोप कर देना अर्थात् उसे मिथ्यादृष्टि ही मानना ठीक नहीं है ॥ १४२–१४४ ॥

भावार्थ—ऊपर जिन मूढ़ताओका उल्लेख किया है, उनमेसे बहुत-सी मूढ़ताएँ आज भी प्रचलित हैं, और लोग धर्म मानकर उन्हें करते है, किन्तु उनमें कुछ भी धर्म नहीं है । वे केवल धर्मके नामपर कमाने-खानेका आडम्बर मात्र है । ऐसी मूढ़ताओंसे सबको बचना चाहिए । किन्तु यदि कोई किसी कारणसे उन मूढ़ताओंको पूरी तरहसे नहीं त्याग देता और अपने धर्माचरणके साथ उन्हें भी किये जाता है तो उसे एक दम मिथ्यादृष्टि न मानकर सम्यङ्मिथ्यादृष्टि माननेकी सलाह ग्रन्थकार देते है । वे उसके उस धर्माचरणका लोप नहीं करना चाहते,जो वह मूढ़ता पालते हुए भी करता है । ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारके समयमें लोक-रिवाज या कामना वश कुछ जैनोंमें भी मिथ्यात्वका प्रचार था और बहुतसे जैन उसे छोड़नेमें असमर्थ थे । शायद उन्हें एक दम मिथ्यादृष्टि कह देना भी उन्हें उचित नहीं जँचा, इसलिए सम्यङ्मिथ्यादृष्टि कह दिया है, वैसे तो मिथ्यात्वसेवी जैन भी मिथ्यात्वी ही माने गये हैं ।

जिन मनुष्योंकी चेष्टाएँ या इच्छाएँ अच्छी नहीं है उन्हें जिनागममें स्वय प्रेरित नहीं करना चाहिए । अर्थात् ऐसे मनुष्योंको जैनधर्ममें लानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए, किन्तु यदि वे स्वय इधर आवें तो उनके योग्य अनुग्रह–साहाय्य कर देना चाहिए ॥ १४५ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें मूढ़ताका निषेध करनेवाला चौथा कल्प समाप्त हुआ ।

सम्यग्दर्शनके दोष

[अब ग्रन्थकार सम्यग्दर्शनके दोष बतलाते है—]

शङ्का, काक्षा, विनिन्दा और मन तथा वचनसे मिथ्यादृष्टिकी प्रशसा करना, ये दोष सम्यग्दर्शनकी हानिके कारण हैं ॥१४६॥

---

१ ये नरा दुरीहा दुश्चेष्टास्ते न प्रेरणीया जिनागमे । ये च स्वय प्रवृत्तास्तेषा योग्यानुग्रह कार्य ।
२ 'शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशसा-सस्तवा सम्यग्दृष्टेरतीचारा ।—तत्त्वार्थसूत्र ७–२३ ।

तत्र—

अहमेको न मे कश्चिदस्ति त्राता जगत्त्रये ।
इति व्याधिव्रजोत्क्रान्तिभीतिः शङ्का प्रचक्ष्यते ॥१४७॥
एतत्तत्त्वमिदं तत्त्वमेतद्व्रतमिदं व्रतम् ।
एष देवश्च देवोऽयमिति शङ्कां विदुः पराम् ॥१४८॥
इत्थं शङ्कितचित्तस्य न स्याद्दर्शनशुद्धता ।
न चास्मिन्नीप्सितावाप्तिषण्ढयोषामयप्रिये ॥१४९॥
एष एव भवेद्देवस्तत्त्वमप्येतदेव हि ।
एतदेव व्रतं मुक्त्यै तदेवं स्याद्दृढधीः ॥१५०॥
तत्त्वे ज्ञाते रिपौ दृष्टे पात्रे वा समुपस्थिते ।
यस्य दोलायते चित्तं रिक्तः सोऽमुत्र चेह च ॥१५१॥

इनमेंसे पहले शंका दोषका वर्णन करते हैं—

'मैं अकेला हूँ, तीनों लोकोंमें मेरा कोई रक्षक नहीं है।' इस प्रकार रोगोंके आक्रमणके भयको शंका कहते हैं॥ 'अथवा यह तत्त्व है या यह तत्त्व है ?' 'यह व्रत है या यह व्रत है ?' 'यह देव है कि यह देव है ?' इस प्रकारके संशयको शंका कहते हैं॥ जिसका चित्त इस प्रकार से शङ्कित—शङ्काकुल या भयभीत है उसका सम्यग्दर्शन शुद्ध नहीं है। तथा जैसे नपुंसक अपने मनोरथको पूरा नहीं कर सकता, वैसे ही उसे भी अभीष्टकी प्राप्ति नहीं हो सकती॥ 'यही देव है यही तत्त्व है और इन्हीं व्रतोंसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है। ऐसा जिसको दृढ़ विश्वास है वही मनुष्य निःशङ्क बुद्धिवाला है॥ किन्तु तत्त्वके जाननेपर, शत्रुके दृष्टि-गोचर होनेपर और पात्रके उपस्थित होनेपर जिसका चित्त डोलता है,—जो कुछ भी स्थिर नहीं कर सकता, वह इस लोकमें भी खाली हाथ रहता है और परलोकमें भी खाली हाथ रहता है॥ १४७—१५१॥

भावार्थ—'शंका' शब्दके दो अर्थ हैं—भय और सन्देह। जो मिथ्यादृष्टि होता है उसे सदा भय सताता रहता है क्योंकि भय उसे ही होता है जो परवस्तुमें 'यह मेरी है' ऐसी भावना रखता है। जो यह समझता है कि यह शरीर, स्त्री, पुत्र, धन-सम्पत्ति वगैरह मुझे शुभ कर्मके उदय से प्राप्त हुई है। जबतक शुभ कर्मका उदय है तब तक रहेगी उसके बाद नष्ट हो जायेगी, उसे कभी भी भय नहीं सताता। अतः जिसे मृत्युका, अरक्षाका या धन-धान्यके विनाशका सदा भय लगा रहता है वह मिथ्यादृष्टि है। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि होता है वह सदा निर्भय रहता है। अतः भय करना सम्यक्त्वका घातक है। इसी तरह सदा सन्देह करते रहना भी सम्यक्त्वका घातक है। वस्तु तत्त्वमें यथार्थ प्रतीति सम्यग्दृष्टिको ही होती है। वह एक बार वस्तु स्वरूपको समझकर जब उसपर दृढ़ आस्था कर लेता है तो फिर उसे उसके विश्वाससे कोई भी नहीं डिगा

---

१ 'तत्त्वमेतदिदं तत्त्वमेतद्व्रतमिदं व्रतम्। देवोऽयमेष देवः स्यादितिरूपं संशयो मतः ॥२४॥—प्रबोधसार। २ 'तथा शङ्कितभावेषु न स्याद्दर्शनशुद्धता। नैवास्मिन्नीप्सितावाप्तिर्षण्ढयोषाभवेत्तदा ॥२५॥—प्रबो० सा०। ३ नपुंसकवेदने कामभयात् यथा वाञ्छितावाप्तिर्न भवति। ४ अर्हन्नेव भवेद्देवस्तत्त्वं जैनोक्तमेव च। व्रतं दयात्मकं स्यान्मुक्त्यै योऽस्यो ह्यशङ्कितः ॥२८॥—धर्मरत्नाकर-पत्र १९। ५ 'तत्त्वे ज्ञाते भवे नष्टे पात्रे वा समुपस्थिते। यस्य दोलायते स्वान्तः सोऽधर्मं स्यात् भवाम्भसे ॥२६॥—प्रबो० सा०। विज्ञाय तत्त्वं प्रतिकूलस्य बन्धून् दृष्ट्वा स्वयं पात्रमुपस्थितं च। दोलायमानो हृदि यस्य चित्तो ? ह्यशाश्वत परत्र च स्यात् ॥४॥ धर्मरत्ना० पत्र १९।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—इहैवानेकाश्चर्यसमीपे जम्बूद्वीपे जनपदाभिधानास्पदे जनपदे भूमितिलकपुरपरमेश्वरस्य गुणमालामहादेवीरतिकुसुमशरस्य नरपालनाम्नो नरेन्द्रस्य श्रेष्ठी सुनन्दो नाम। धर्मपत्नी चास्य जनितनिखिलपरिजनहृदयानन्दा सुनन्दा नाम। अनयो सूनुः धनद-धनबन्धु-धनप्रिय-धनपाल-धनदत्त-धनेश्वराणामनुज. सकलकूटकपटचेष्टितहरिर्धन्वन्तरिर्नाम। तथा तन्नृपतिपुरोहितस्याग्निलादयितस्योदितोदितधर्मकर्मणः सोमशर्मण. सुतो विश्वरूप-विश्वेश्वर-विश्वमूर्ति-विश्वामित्र-विश्वावसु-विश्वावलोकानामनवरजः समस्तसद्वृत्तप्रतिलोमो[1] विश्वानुलोमो नाम।

तौ द्वावपि सहपांशुक्रीडितत्वात्समानशीलव्यसनत्वाच्च क्षीरनीरवत्समाचरितसख्यौ द्यूतमदिरापरदारचौर्याद्यनार्यकार्यपर्यायप्रवर्त्तनमुख्यौ सन्तौ तेनावनीपतिनात्मीयनगरात्सनिकारं[2] निर्वासितौ कुरुजाङ्गलदेशेषु वीरमतिमहादेवीवरेण वीरनरेश्वरेणाधिष्ठित यमदण्डतरपालेनाश्रितमशेषसंसारसारसीमन्तिनीमनोहर हस्तिनागपुरमवाप्य सपादितावस्थितौ

सकता। ऐसा अडिगपना ही सिद्धिका कारण होता है। किन्तु जो लोग जरासे सन्देहमें पडकर मूल तत्त्वोंमें ही सन्देह करने लगते है। कभी किसीको अच्छा समझ बैठते है तो कभी किसीको अच्छा समझ बैठते है। वे बे-पेन्दीकी लोटेकी तरह सदा इधरसे उधर लुढ़का करते है और कोई भी उनकी प्रतीति नहीं करता। अत· सम्यग्दृष्टिको निःसन्देह होना चाहिए। उसे तत्त्वको समझनेका प्रयत्न तो करना चाहिए किन्तु यदि वह समझमें न आये या कोई समझा न सके तो उस तत्त्वकी सत्यतामें ही सन्देह नहीं कर बैठना चाहिए। यही निःशकितपना है जो सम्यग्दर्शन का प्रथम अंग है।

१. निःशङ्कित अंगमें प्रसिद्ध अंजनचोरकी कथा[3]

अब नि शङ्कित अङ्गके सम्बन्धमें कथा सुनिए—

इसी जम्बूद्वीपके जनपद नामक देशमें भूमितिलकपुर नामका नगर है। उसका स्वामी नरपाल नामका राजा था। उसकी पट्टरानीका नाम गुणमाला था। उसके राजश्रेष्ठीका नाम सुनन्द था। सुनन्दके समस्त परिवारके हृदयको आनन्दित करनेवाली सुनन्दा नामकी धर्मपत्नी थी। इन दोनोंके धनद, धनबन्धु, धनप्रिय, धनपाल, धनदत्त, धनेश्वर और धन्वन्तरि नामके पुत्र थे। छोटा पुत्र धन्वन्तरि सब जाल-फरेबकी मायामें निपुण था।

राजाका पुरोहित धर्म-कर्ममें निपुण सोमशर्मा था। उसकी पत्नीका नाम अग्निला था। उनके विश्वरूप, विश्वेश्वर, विश्वमूर्ति, विश्वामित्र, विश्वावसु, विश्वावलोक और विश्वानुलोम नामके पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र विश्वानुलोम समस्त सदाचारका विद्वेषी था।

धन्वन्तरि और विश्वानुलोम दोनों साथ-साथ खेले थे तथा दोनोंका स्वभाव और आदतें भी समान थीं, इसलिए दोनोंमें दूध और पानीकी तरह घनिष्ठ मित्रता थी। जुआ, शराब, परस्त्री-गमन और चोरी वगैरह दुराचारोंमें रत रहनेके कारण दोनोंका तिरस्कार करके राजाने उन्हें अपने देशसे निकाल दिया। वहाँसे निकाले जाकर वे दोनों कुरुजागल देशके हस्तिना-

---

१. सदाचारशत्रु। २. सपरिभवम्। ३ यह शब्दश अनुवाद नहीं है।

तत्र—

अहमेको न मे कश्चिदस्ति त्राता जगत्त्रये ।
इति व्याधिव्रजोत्क्रान्तिभीतिं शङ्कां प्रचक्षते ॥१४७॥
एतत्तत्त्वमिदं तत्त्वमेतद्व्रतमिदं व्रतम् ।
एष देवश्च देवोऽयमिति शङ्कां विदुः पराम् ॥१४८॥
इत्थं शङ्कितचित्तस्य न स्याद्दर्शनशुद्धता ।
न चास्मिन्नभीप्सितावाप्तिर्वैधेयो नपुंसके ॥१४९॥
एवं पथ मयैवैष तत्त्वमप्येतदेव हि ।
एतदेव मतं मुक्त्यै तदयं स्यान्निःशङ्कधीः ॥१५०॥
तत्त्वे ज्ञाते रिपौ दृष्टे पात्रे वा समुपस्थिते ।
यस्य दोलायते चित्तं रिक्तः सोऽमुत्र चेह च ॥१५१॥

इनमेंसे पहले शंका दोषका वर्णन करते हैं—

'मैं अकेला हूँ, तीनों लोकोंमें मेरा कोई रक्षक नहीं है।' इस प्रकार रोगोंके आक्रमणके भयको शंका कहते हैं॥ 'अथवा यह तत्त्व है या यह तत्त्व है ?' 'यह व्रत है या यह व्रत है ?' 'यह देव है कि यह देव है ?' इस प्रकारके संशयको शंका कहते हैं॥ जिसका चित्त इस प्रकारसे शङ्कित—शङ्काकुल या भयभीत है उसका सम्यग्दर्शन शुद्ध नहीं है। तथा जैसे नपुंसक अपने मनोरथको पूरा नहीं कर सकता, वैसे ही उसे भी अभीष्टकी प्राप्ति नहीं हो सकती॥ 'यही देव है, यही तत्त्व है और इन्हीं व्रतोंसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है। ऐसा जिसको दृढ़ विश्वास है वही मनुष्य निःशङ्क बुद्धिवाला है॥ किन्तु तत्त्वके जाननेपर, शत्रुके दृष्टि-गोचर होनेपर और पात्रके उपस्थित होनेपर जिसका चित्त डोलता है,—जो कुछ भी स्थिर नहीं कर सकता, वह इस लोकमें भी खाली हाथ रहता है और परलोकमें भी खाली हाथ रहता है॥ १४७–१५१॥

भावार्थ—'शंका' शब्दके दो अर्थ हैं—भय और सन्देह। जो मिथ्यादृष्टि होता है उसे सदा भय सताता रहता है क्योंकि भय उसे ही होता है जो परवस्तुमें 'यह मेरी है' ऐसी भावना रखता है। जो यह समझता है कि यह शरीर, स्त्री, पुत्र, धन-सम्पत्ति वगैरह मुझे शुभ कर्मके उदयसे प्राप्त हुई है। जबतक शुभ कर्मका उदय है तब तक रहेगी उसके बाद नष्ट हो जायेगी, उसे कभी भी भय नहीं सताता। अतः जिसे मृत्युका, अरक्षाका या अत्राणके निवाधका सदा भय लगा रहता है वह मिथ्यादृष्टि है। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि होता है वह सदा निर्भय रहता है। अतः भय करना सम्यक्त्वका घातक है। इसी तरह सदा सन्देह करते रहना भी सम्यक्त्वका घातक है। वस्तु तत्त्वमें यथार्थ प्रतीति सम्यग्दृष्टिको ही होती है। वह एक बार वस्तु स्वरूपको समझकर जब उसपर दृढ़ आस्था कर लेता है तो फिर उसे उसके विश्वाससे कोई भी नहीं डिगा

---

१ तत्त्वमेतदिदं तत्त्वमेतद्व्रतमिदं व्रतम्। देवोऽयमेष देव स्यादित्यर्थं संशयो मतः॥२४॥—प्रबोधसार।
२ 'तथा संदेहभावेषु न स्याद्दर्शनशुद्धता। नैवास्मिन्नभीप्सितावाप्तिर्वैधेयो नपुंसके ॥२५॥—प्रबो० सा०।
३ नपुंसकेऽस्मिन् काम्यथा यथा वाञ्छितावाप्तिर्न भवति। ४ अर्हन्नेव मतो देवस्तत्त्वं तेनोक्तमेव च। व्रतं तथागमेव स्यान्निःशङ्को भोऽस्यो प्रपद्यतन॥१८॥—धर्मरत्नाकर-अव० ५। ५ 'तत्त्वे बुद्धे मन स्नाप पात्र वा समुपस्थिते। यस्य दोलायते स्वान्तं सोऽर्थं स्याद् वञ्चते॥२६॥—प्रबो० सा०। विज्ञाय तत्त्वं प्रतिकोऽस्य शत्रून् दृष्ट्वा स्वयं वात्रमुपस्थितं च। दोलायमानो हृदि जायते यो रिक्तो ? द्वावप भवत च स्यात्॥४॥ धर्मरत्ना० अव० ५९।

गोद्गीर्णगरलजनितमृत्युसंगतिरज्ञातनामानोकहपरिहारेण[1] व्यतिक्रान्तकिंपाकफलापादितापत्तिः पुनरविचार्य किमपि कार्यं नाचर्यमिति गृहीतव्रतजातिरेकदा निशि नगरनायकनिलये नटनृत्यनिरीक्षणात्कृतकालक्षेपक्षणः स्वावासमनुसृत्य शनैर्विघटितकपाटपुटसंधिबन्धः स्वकीयया सवित्र्या[2] विहितगाढावरुण्डनमात्मकलत्रं[3] जातनिद्रातन्त्रमवलोक्यो[4]पपत्तिशङ्कया मुहुरुत्खाततखड्गो भगवतोपपादितं व्रतमनुसस्मार। शुश्राव[5] च दैवात्तदैव 'मनागत' परत. सर, खरं,

कहा। एक छोटे-से व्रतके कारण धनकी प्राप्तिको देखकर धन्वन्तरिका हृदय गुरु महाराजके प्रति भक्तिसे गद्गद हो गया। और वह नया व्रत ग्रहण करनेके लिए पुन. उनकी शरणमें पहुँचा।

इस बार मुनिराजने उससे कहा—बलिदानके लिए आटेका पशु वगैरह बनाकर लोग चौराहों आदिपर रख देते है उसे तुम नहीं खाना।

एक दिन धन्वन्तरि अपने मित्र विश्वानुलोम तथा अन्य साथियोंके साथ चोरी करके लौट रहा था। सब लोग भूखे थे। उन्होंने मार्गमें आटेके बने बैल रखे हुए देखे। विश्वानुलोम ने उसकी रोटी बनाकर खानेका प्रस्ताव किया। किन्तु धन्वन्तरिने अपने व्रतके कारण उसे स्वीकार नहीं किया। तब विश्वानुलोम उसपर बहुत नाराज हुआ। किन्तु धन्वन्तरि अपने नियमसे विचलित नहीं हुआ। उसके साथियोंने उस आटेकी रोटियाँ बनाई किन्तु धन्वन्तरिके स्नेहवश विश्वानुलोमने नहीं खाई। वे दोनों बच गये और उन रोटियोंको खानेवाले उनके साथी मृत्युके मुखमें चले गये, क्योंकि कोई साँप उस आटेके पुतलेको जहरीला कर गया था। व्रतके ही कारण जीवन रक्षा होनेसे धन्वन्तरि और भी अधिक प्रभावित हुआ और गुरु महाराजके पास पुनः व्रत ग्रहण करनेके लिए गया।

गुरु महाराजने कहा—जिस वृक्षका नाम अज्ञात हो, उसके फल नहीं खाना।

एक दिन धन्वन्तरि और विश्वानुलोम चोरी करके एक जगलमें पहुँचे। सब लोग भूखे थे किन्तु खानेके लिए वहाँ कुछ भी नहीं था। खोजबीन करनेपर एक वृक्षपर फल लगे हुए मिले। उन्हें ही तोड़कर सब खानेके लिए बैठे। धन्वन्तरिने जैसे ही एक फल अपने मुखमें रखनेके लिए उठाया। उसे अपने व्रतका स्मरण हो आया। उसने तत्काल पूछा कि ये फल जिस वृक्षके हैं उसका नाम क्या है ? किन्तु कोई भी उसका नाम नहीं बता सका। अत' धन्वन्तरिने उनको खाना स्वीकार नहीं किया। धन्वन्तरिके साथ विश्वानुलोमने भी उन फलोंको नहीं खाया। वे विषफल थे, अत खाते ही उनके साथी चल बसे और वे दोनों मित्र पुन' बच गये।

व्रतके कारण दुवारा प्राणरक्षा होनेसे धन्वन्तरि गुरु महाराजका और भी दृढ़ भक्त बन गया और पुनः उनकी सेवामें उपस्थित होकर व्रतोंकी याचना करने लगा। इस बार आचार्यने उसे बिना विचारे कोई काम न करनेका व्रत दिया।

एक दिन रातमें नगरके मुखियाके मकानपर नटोंका नृत्य होता था। उसे देखकर धन्वन्तरि देरसे घर लौटा। धीरेसे द्वार खोलकर जैसे ही उसने अन्दर देखा, अपनी माता और पत्नीको गाढ़ आलिंगन पूर्वक सोते हुए पाया। परपुरुषकी आशङ्कासे उसे मारनेके लिए जैसे ही धन्वन्तरिने तलवार ऊपर उठाई वैसे ही उसे आचार्यके द्वारा दिये हुए व्रतका स्मरण हो आया।

---

१ परित्यागेन मु०। २ मात्रया धृतपुरुषरूपया। ३. कृतालिङ्गनम्। ४. निद्राधीनम्।
५. श्रुतवान् गृहिणीवाणीं—हे मात परत सर यतो मे खर कठिन शरीरसम्बाधा इति।

कदाचिदस्तसमस्तकोकसंतापमातपनिचये सन्ध्यासमये मदसंबीमलिनकपोलपालीनिलीनालि-कुलालिङ्ग्यमानमुखपटाभोगमतिप्रसरान्नीलगिरिकुञ्जरात्स्वच्छन्दतोऽभिमुखमागच्छतो निभृत्य श्रीधर्माचार्योपाध्यायमानधर्मश्रवणोचितं नित्यमण्डित नाम चैत्यालयमासादयामासतुः ।

तत्र च 'धन्वन्तरे यदि सीधुपिशितोपदंशप्रमुखानि संसारसुखानि स्वेच्छयानुभवि-तुमिच्छसि, तदाऽयममीषामम्बराम्बरावृत्तवपुषां धर्मो न श्रोतव्यः' इत्यभिधाय पिधाय च श्रवणयुगलमतिनिभृतं प्रमीलायमानविलोचनमायामो विश्वानुलोमः सुष्वाप । धन्वन्तरिस्तु 'प्राणिना हि नियमेन किमप्यवसितात्मतया व्रतमुपात्तं भवति उदर्केऽवश्यं स्वःश्रेयसनि-मित्तम्' इति प्रस्तावायातमाचार्योक्तमुपश्रुत्य, प्रणिपत्य च 'यद्येवं तर्हि भगवन्, अय-मपि जनोऽनुगृह्यतां कस्यापि व्रतस्य प्रदानेन' इत्यवोचत् । तदनु 'तव सूरेः खलतिविलो-कनात्स्यपातव्यम्' इति व्रतं कुलालाद्यभ्यनिधाना पथ पूर्वविप्रविप्रलब्धपरित्यागाविगतोर

पुर नामक नगरमें आये । वहाँके राजाका नाम वीरनरेश्वर था और उसकी पट्टरानी वीरमणी थी । तथा यमदण्ड वहाँका कोतवाल था ।

एक दिन सन्ध्याके समय सूरजके डूब जानेपर ये दोनों घूमने निकले । सामनेसे नील-गिरिके समान एक मदोन्मत्त हाथीको स्वच्छन्दताके साथ सन्मुख आता हुआ देखकर दोनों एक नित्यमण्डित नामक चैत्यालयमें घुस गये । वहाँ धर्माचार्य धर्मका उपदेश कर रहे थे ।

विश्वानुलोमने धन्वन्तरिसे कहा—'धन्वन्तरि ! यदि संसारके मदिरा, माँस, व्यञ्जन आदि सुखोंको यथेच्छ भोगना चाहते हो तो इन दिगम्बर साधुओंका धर्म मत सुनो ।' ऐसा कहकर दोनों कानोंको बन्द करके और आँखोंको मींचकर विश्वानुलोम सो गया । उधर आचार्य कह रहे थे कि यदि प्राणी दृढ़ताके साथ नियम पूर्वक किसी भी व्रतका पालन करे तो उत्तरकालमें वह व्रत अवश्य ही उसका कल्याण करता है । यह सुनकर आचार्यको नमस्कार करके धन्वन्तरि बोला—'भगवान् ! यदि ऐसा है तो इस दासको भी कोई व्रत देनेकी कृपा करें ।'

आचार्यने उसकी स्थितिको समझकर कहा—'तुम प्रतिदिन घुटे सिर व्यक्तिका दर्शन करके भोजन किया करो ।' धन्वन्तरिने इस व्रतको सहर्ष स्वीकार कर लिया ।

एक दिन वैसे ही वह भोजन करनेके लिए बैठा, उसे अपने नियमकी याद आई, उस दिन वह घुटे सिर व्यक्तिका दर्शन करना भूल गया था । बस उसने भोजन नहीं किया और घुटे सिर व्यक्तिकी खोजमें चल दिया । उसके पड़ोसी एक कुम्हारने उसी दिन सिर घुटवाया था, किन्तु वह मिट्टी लेनेके लिए बाहर चला गया था धन्वन्तरि उसकी खोजमें चल दिया । जब वह कुम्हारके पास पहुँचा तो कुम्हार उसे देखकर घबरा गया । कुम्हारको उस दिन मिट्टी खोदते हुए एक घड़ा मिला था उसमें धन था । जब धन्वन्तरि कुम्हारको देखकर तुरन्त ही लौट गया तो कुम्हारको सन्देह हुआ कि उसने मुझे जमीनसे घड़ा निकालते हुए देख लिया है और अब वह कहीं राजासे मेरी शिकायत न कर दे । अत उसे धनका आधा भाग देकर राजी कर लेना चाहिए । राजा तो सब धन ले लेगा । यह सोचकर कुम्हार धनका घड़ा सिरपर रखकर धन्वन्तरिके पीछे-पीछे हो लिया । और उसके घर पहुँचकर उसने वह घड़ा उसके सामने रखकर सब हाल

१ मदमषी—आ । मदपङ्की—मु । २ निर्दम्भ—आ । ३ निद्रा । ४ —र्भूरेत—आ । ५. भोक्तव्यम् ।

धन्वन्तरिरप्यातापनयोगान्ते तस्य सबोधनाय समन्ते[1] समुपसद्य 'मत्प्रणयपान्थविश्रामाराम विश्वानुलोम जिनधर्मस्थितिमनवबुध्यमानः किमित्यकाण्डे चण्डभावमादाय दुराचारप्रधान. समभूः। तदेहि विहायेम दुःपथकथासनाथ शमथावसथमनोरथं[2] सहैव तपस्याव:' इति बहुश कृतप्रयत्नप्रकाशोऽपि दु.शिक्षावशात्तमोतपोतरुतभीतपतङ्गपाकमिव[3] मुधामौनमूकतोच्चरङ्कितचित्तोत्सेकं तितउपात्र[4] इव तन्मनोमत्रेऽप्राप्तसदुपदेशपयोवस्थान. प्रतिबोधयितुमशक्नुवन्गुरुपादमूलमनुशील्य कालेन प्रवचनोचितं चरमाचरणाधिकृतं विधिं विधाय विबुधाङ्गनाजनोच्चार्यमाणमङ्गलपरम्परानल्पेऽच्युतकल्पे समस्तसुरसमाजस्तूयमानमहातपःपरायणप्रतिभोऽमितप्रभो नाम देवोऽभवत्।

विश्वानुलोमोऽपि पुरोपार्जितजीविताबसाने विपद्योत्पद्य च व्यन्तरेषु गजानीकमध्ये विजयनामधेयस्य विद्युत्प्रभाख्यया वाहनो बभूव। पुनरेकदा पुरंदरपुरःसरेण दिविजवृन्देन सह नन्दीश्वरद्वीपात्तत्रत्यचैत्यालयाश्रयामष्टाह्नीपर्वक्रियां निर्वर्त्यागच्छन्नसावमितप्रभो देवस्तं विद्युत्प्रभमिभमवेक्ष्याह्लादमानमानस. प्रयुज्यावधिमवबुद्धपूर्ववृत्तान्तः 'विद्युत्प्रभ, किं स्मरसि जन्मान्तरोदन्तम्' इत्यभाषत।

विद्युत्प्रभ'—'अमितप्रभ, बाढं स्मरामि। किंतु सकलत्रचारित्राधिष्ठानादनुष्ठानान्ममैवंविधः कर्मविपाकानुरोधः। तव तु ब्रह्मचर्यवशात्कायक्लेशादीदृश। ये च मदीये समये जमदग्नि-मतङ्ग-पिङ्गल-कपिञ्जलादयो महर्षयस्ते तपोविशेषादिहागत्य भवतोऽप्यभ्यधिका भविष्यन्ति। ततो न विस्मेतव्यम्'।

जटाधारी साधु बन गया। आतापन योगके समाप्त होनेपर धन्वन्तरि मुनि उसे समझाने गये। बोले—'मेरे प्रेमरूपी पथिकके विश्राम करनेके लिए उद्यानके तुल्य विश्वानुलोम ! जैन धर्मकी मर्यादाको न जानकर, बिना कारण क्रोध करके तुम क्यों कुमार्गगामी हो गये हो ? चलो इस कुमार्गको छोड़ो, दोनों साथ ही तपस्या करेंगे।' इस प्रकार बार-बार कहनेपर भी बिलावके बच्चेके शब्दसे डरे हुए पक्षी शावककी तरह मूक रहकर वह मौनका ढोंग बनाये रहा और चलनीमें दूधकी तरह उसके मनमें धन्वन्तरिका सदुपदेश नहीं ठहर सका। तब धन्वन्तरि उसे समझानेमे अपनेको असमर्थ जानकर गुरुके पादमूलमें लौट आये और आगमानुसार उत्कृष्ट चारित्रका पालन करते हुए शरीर त्यागकर देवागनाओंके मगलगानसे मुखरित सोलहवें स्वर्गमें अमितप्रभ नामक देव हुए। वहाँ देव समाजने उनके महातपकी बड़ी प्रशसा की।

विश्वानुलोम भी मरकर विजय नामक व्यन्तरकी गजसेनामें विद्युत्प्रभ नामसे वाहन जातिका देव हुआ। एक बार अष्टाह्निका पर्वमें अमितप्रभ देव इन्द्रादिक देवताओंके साथ नन्दीश्वरद्वीपके चैत्यालयोंकी पूजा करके लौट रहा था। मार्गमें विद्युत्प्रभ नामके हाथीको देखकर उसका मन बड़ा हर्षित हुआ और अवधिज्ञानसे पूर्व जन्मका सब वृत्तान्त जानकर वह बोला—'विद्युत्प्रभ ! क्या पूर्व जन्मका वृत्तान्त याद है ?'

विद्युत्प्रभ बोला—'अमितप्रभ, हाँ, खूब याद है। किन्तु सपत्नीक चारित्रका पालन करनेसे मेरा कर्मोदय ऐसा हुआ और ब्रह्मचर्यके कारण कायक्लेश उठानेसे तेरा कर्मोदय ऐसा हुआ। किन्तु मेरे समयके जो जमदग्नि, मतङ्ग, पिंगल, कपिञ्जल आदि महर्षि है वे तपस्याके

---

१ समीपे। २ तापसाश्रम। ३ मार्जारबालशब्दभीतपक्षिबालमिव।—ङ्गशावक—ब०। ४ चालनिका।

मे शरीरसंतापः इति गृहिणीगिरम्। ततश्च 'यदीदं व्रतमहमद्य नाग्रहीष्यम्, तदेमां मातरमिदं च प्रियकलत्रमसंशयं विशस्येह दुरपवादरजसाममुत्र च दुरन्तैनसां भागी भवेयम्' इति जातनिर्वेदः सर्वमपि ज्ञातिलोकं यथायथं मनोरथोत्सेकमवस्थाप्य 'यत्रैव देशे दुरपवादोपहतं चेतस्तत्रैव देशे समाधीयमानमाचरणं न भवति निरपवादम्' इति प्रकाशितोपदेशस्य तस्य भगवतो निदेशाद्धरणिभूषणभूधरोपकण्ठे तपस्यतः कान्तारदेवताविहितसपर्यापरधर्माचार्यात्सुरसुन्दरीकण्ठाभरणविपञ्चीं दीक्षामादाय विदितवेदितव्यसंप्रदायः समस्तरे स्तम्भावष्टम्भशिलोपात्तपक्षाशिमाशायामेतद्वक्षमेखलायामातापनयोगस्थितोऽनवरतप्रवर्तमानाध्यात्मध्यानावधानध्यानरतः 'किमयं कर्करोत्कीर्णः, किं वास्मादेव पर्वतादभिरूढः' इति वितर्कास्पदो बभूव।

तदाकर्णितसुहृत्समालोकनकामो विश्वानुलोमोऽपि तत्परिजनात्परिज्ञाततत्प्रव्रज्याव्यतिकरः 'मित्रधेयस्य धन्वन्तरेर्या गतिः सा ममापि' इति प्रतिज्ञाप्रवरस्तत्रागत्य प्रेमभरसमयस्थितिमनवबुध्यमानः 'हंहो मनोरहस्य वयस्य, चिरान्मिलितोऽसि। किमिति न मे गाढाश्लेषपाली ददासि, किमिति न कथमालापयसि, किमिति न सादरं वार्तामापृच्छसि' इत्यादि बहु सम्भ्रममाभाष्य निजनियमानुष्ठानैकतानमनसि गिरागसि धन्वन्तरिव्रतीश्वरे मदध्य सविषादशिक्षितातिः प्रादुर्भवत्प्रीतिभूः तत्मणीयधरणिधरसमीपसमुत्पादितोटजमेत्य सहजमस्य जटिना निकटे शतमटोऽभिद्य।

मान्यबस उसी समय उसने पत्नीकी आवाज सुनी, जो कह रही थी—माता! 'अरा दूर हटो, मुझे कष्ट हो रहा है।' तब धन्वन्तरि सोचने लगा—'यदि मैंने यह व्रत न लिया होता तो आज अवश्य ही माता और पत्नीको मारकर इस लोकमें निन्दाका और परलोकमें भारी पापका भागी होता।' यह सोचते ही उसे वैराग्य हो गया। तब सब परिवारके लोगोंके मनको जैसे-तैसे सान्त्वना देकर उसने जिन दीक्षा लेनेका विचार किया। आचार्यने कहा कि जिस देशमें अपनी बदनामी हो उस देशमें धारण किया हुआ आचरण निरपवाद नहीं रहता। अतः आचार्यकी आज्ञासे धरणिभूषण नामके पर्वतके समीपमें तपस्या करनेवाले श्रीधर्माचार्यके पास जाकर उसने जिनदीक्षा धारण कर ली। आम्नायकी जानने योग्य सब बातोंको जानकर धन्वन्तरि मुनि उसी पहाड़की उपत्यकामें आतापन योगसे स्थित होकर आत्मध्यानमें लीन हो गये। उन्हें देखकर यह सन्देह होता था क्या यह इसी पर्वतसे निकला है या पत्थरमें उकेरी गई कोई आकृति है?

एक दिन विश्वानुलोम अपने मित्र धन्वन्तरिसे मिलनेकी उत्कण्ठाके साथ उसके घर गया। और वहाँ उसे धन्वन्तरिके कुटुम्बिजनोंसे उसके दीक्षा लेनेका सब समाचार ज्ञात हुआ। 'मेरे मित्र धन्वन्तरिकी जो दशा हुई वही मेरी भी हो' ऐसी प्रतिज्ञा करके वह धन्वन्तरिके पास आया और जैन मुनिके आचारको न जानता हुआ कहने लगा—'अरे प्रिय मित्र! बहुत दिनोंके बाद मिले हो। क्यों नहीं मुझसे गले मिलते? क्यों मुझसे बात नहीं करते? क्यों आदरके साथ मेरे कुशल-समाचार नहीं पूछते?' इस प्रकार बड़े प्रेमसे बोलनेपर भी धन्वन्तरि मुनि आत्मध्यानमें लीन रहे। इससे रुष्ट होकर विश्वानुलोम उसी पहाड़के समीप एक कुटीमें रहनेवाले जटाधारी साधुके निकट

१ मारयित्वा। २ आलिङ्गनम्। ३ कुशलम्। ४ एकाग्र। ५ तृणगृहम्।

मलितवान्। अमरचरौ [1]विकिरावप्युड्डीय तदग्रविटपिनि संनिविश्य पुनरपि तं तापसमवलोह्लालापौ[2] निकाममुपजहसतुः। तापसः साध्वसविस्मयोपस्तृतमानस 'नैतौ खलु पत्त्रिणौ भवतः। किं तु रूपान्तरावुमामहेश्वराविव कौचिद्देवविशेषौ। तदुपगम्य प्रणम्य च पृच्छामि तावदात्मन' पापकर्मत्वकारणम्।

अहो मत्पूर्वपुण्यसंपादितावलोकनदिव्यद्विजोत्तमान्वयसंभवसदनपतङ्गमिथुन, कथयतां भवन्तौ कथमहं पापकर्मा' इति।

पतत्रिणौ—'तपस्विन्, आकर्णय।

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च।
तस्मात्पुत्रमुख दृष्ट्वा पश्चाद्भवति भिक्षुकः ॥१५२॥

तथा—

[3]अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य युक्तितः।
इष्ट्वा यज्ञैर्यथाकाल ततः प्रव्रजितो भवेत् ॥१५३॥

इति स्मृतिकारकीर्तितमप्रमाणीकृत्य तपस्यसि' इति।

'कथं तर्हि मे शुभाः परलोकाः'!

'परिणयनकरणादौरसपुत्रोत्पादनेन'।

'किमत्र दुष्करम्' इत्यभिधाय मातुलस्य विजयामहादेवीपतेरिन्द्रपुरैश्वर्यभाजः काशिराजस्य भूभुजो भवनभाग्भूत्वा तदुदुहितरं रेणुकां परिणीयाविरलकलापोलपालंकृतपुलिनासराले मन्दाकिनीकूले महदाश्रमपदं संपाद्य परशुरामपिताऽभूत्।

लिए दोनों हाथोंसे अपने सिरको मसला। दोनो पक्षी भी तत्काल उड़कर उसके सामने वाले वृक्षपर जा बैठे, और मीठे शब्दोंमें उस तापसकी खूब हँसी करने लगे। यह देखकर तापसका मन भय और आश्चर्यसे भर गया। वह सोचने लगा—'ये दोनों पक्षी नहीं है किन्तु रूप बदले हुए शिव और पार्वतीके समान कोई देवता हैं अत इनके पास जाकर और प्रणाम करके अपने पापी होनेका कारण पूछूँ।'

यह सोच उनके पास जाकर वह बोला—'दिव्य द्विजश्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न पक्षियुगल! मेरे पूर्व सचित पुण्यसे ही आपका दर्शन हुआ है। बतलाइए। मैं कैसे पापी हूँ।'

पक्षी बोले—'सुनो तपस्वी—स्मृतिकारोंका कथन है कि—विना पुत्रके मनुष्यकी गति नहीं होती और स्वर्ग तो मिलता ही नहीं है। इसलिए पुत्रका मुख देखकर पीछे भिक्षुक होना चाहिए। तथा—विधिपूर्वक वेदोंका अध्ययन करके, धर्मपूर्वक पुत्रोंको उत्पन्न करके और शक्तिके अनुसार यज्ञ करके फिर साधु होना चाहिए। ॥१५२-१५३॥

किन्तु तुम स्मृतिकारके इस कथनको प्रमाण न मानकर तपस्या करते हो।'

'तो मेरा परलोक कैसे शुभ हो सकता है?'

'विवाह करके औरस पुत्र उत्पन्न करनेसे।'

'यह क्या कठिन है'—ऐसा कहकर जमदग्नि ऋषिने विजया महादेवीके पति, इन्द्रपुरके समान ऐश्वर्यके भोगी अपने मामा काशीराजके महलमें जाकर उनकी लड़की रेणुकासे विवाह कर

१ पक्षिणौ। २ व्यक्तस्वरौ। ३ 'अधीत्य । इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥' —मनुस्मृति ६-३६।

अमितप्रभः—'विद्युत्प्रभ, सम्प्रत्यपि न मुञ्चसि दुराग्रहम्। तदेहि। तव मम च लोकस्य परीक्षापदे चित्तम्' इति विहितविचारौ तौ द्वावपि देवौ करहाटदेशस्य पश्चिमदिग्भागमाश्रित्य कौतुकपरीक्षणमवतेरतुः।

तत्र च वनेचरसैन्यसीमन्तारण्ये तन्निकटदण्डकारण्यवने समित्कुशकुशेशयप्रकामे बदरिकाश्रमे बहुलकालकृतकष्टतपसं चन्द्रचण्डमरीचिमरीचिपानपरायणमनसमूर्ध्वबाहुमेक-पादावस्थानमहराञ्जुमनस्योपसत्पन्नमाविरलवल्लीगुल्मवल्मीकावरुद्धवपुषमतिप्रवृद्धवयस्कतया धावल्यसितशिरःश्मश्रुजटाजालसुधापमूर्ते कश्यपस्य शिष्यं जमदग्निमवलोक्य पतत्रिमिथुनरूपो-चितास्लेयं चेयं विरचय्य तत्कूर्चकलापकुटीरकोटरे निषिषी 'कान्ते, काञ्चनाचलमूलमेखलाया-मशेषशकुन्तचक्रवर्तिनो वैनतेयस्य वासराजसुतया मदनकन्दलीनामया सह महान्विवाहोत्सवो वर्तते। तत्र मयावश्यं गन्तव्यम्। त्वं तु सखि, समासन्नप्रसवसमया सती सह न शक्यसे नेतुम्। अहं पुनस्तद्विवाहोत्सवानन्तरमकालक्षेपमागमिष्यामि। यथा चाहं तत्र चिरं नावस्थास्ये तथा मातुः पितुश्चोपरि महान्त शपथाः। किं च बहुनोक्तेन। यद्यहमन्यथा वदामि तदास्य पापकर्मणस्तपस्विनो दुरितभागी स्याम्' इत्यालापं चक्रतुः।

तं च जमदग्निः कर्णकटुमालापमाकर्ण्य प्रवृद्धकोपः कराभ्यां तत्कूर्चगर्भे कूर्च

प्रभावसे यहाँ आकर तुमसे भी बड़ देव होंगे। इसलिए मुझे देखकर तुम्हें आश्चर्य नहीं करना चाहिए।'

अमितप्रभ बोला—'विद्युत्प्रभ! अब भी अपने दुराग्रहको नहीं छोड़ते हो तो आओ हम दोनों अपने-अपने धर्मात्माओंके चित्तकी परीक्षा करें।'

इस प्रकार परस्परमें झगड़ते हुए वे दोनों देव करहाट देशकी पश्चिम दिशामें पृथ्वीपर उतरे। वहाँ दण्डकारण्य वनमें समिधा, कुश और कमलोंसे भरे हुए बदरिकाश्रममें उन्होंने बहुत कालसे कठोर तपस्या करते हुए कश्यप ऋषिके शिष्य जमदग्निको देखा। वे जमदग्नि ऋषि चन्द्र और सूर्य दोनोंकी किरणोंका पान करनेमें तत्पर थे। उनके दोनों हाथ ऊपर उठे हुए थे, वे एक पैरसे खड़े थे। उनके चारों ओर उगी हुई घनी लता झाड़ी और बामियोंने उनके शरीरको ढक लिया था, और बहुत वृद्ध हो जानेके कारण उनके सिर और दाढ़ी मूछोंके बाल चूनेकी तरह सफेद हो गये थे। उन्हें देखकर उन दोनों देवताओंने पक्षियोंके जोड़ेका रूप बनाया और उनकी जटाओंमें घोंसला बनाकर रहने लगे।

एक दिन पक्षी बोला—'प्रिये! सुवर्णगिरिकी उपत्यकामें समस्त पक्षीकुलके सम्राट् गरुड़राजका वासराजकी सुता मदनकन्दलीके साथ महान् विवाहोत्सव हो रहा है। उसमें मुझे अवश्य जाना है। तुम्हारा प्रसवकाल समीप है इसलिए तुम्हें मैं अपने साथ नहीं ले जा सकता। विवाहोत्सवके बाद तुरन्त ही मैं लौट आऊँगा। मैं अपने माता-पिताकी शपथ करता हूँ कि मैं वहाँ बहुत समय तक नहीं ठहरूँगा। अधिक क्या कहूँ, यदि झूठ बोलूँ तो इस पापी तपस्वीके पापका भागी मैं होऊँ।'

इस अप्रिय वाक्यके सुनते ही जमदग्निका कोप भड़क उठा और उसने पक्षियोंको मारनेके

---

१ भूमि। २ ईंधन। ३ वन। ४ चन्द्र। ५ सूर्य। ६ –विप्रकृष्टहस्ता—आ। ७ पक्षियुगल। ८ –चक्रवर्ति—आ। ९ नामधेयया आ।

विहितविघ्नावपि तमेकाग्रभावाभ्यासात्मसात्कृतान्तःकरणवहि करणेहितं शर्महर्म्यनिर्माणकार्मणपरमाणुप्रबन्धनाद्धर्मध्यानाच्चालयितु न शेकतु[1]।

संजाते च खरकिरणविरोकनिकरनिराकृतान्धकारोदये प्रभातसमये समुपहृतोपसर्गवर्गौ प्रकामप्रसन्नसर्गौ[2] तैस्तैर्महाभोगाचितैः प्रणयोदितैराश्लाघ्य तस्मै जिनदत्ताय विहायोविहाराय पञ्चत्रिंशद्वर्णानवद्यां विद्यां वितेरतु[3]। इयं हि विद्या तवास्मदनुग्रहादम्बरविहारायासंसाधितापि भविष्यति परेषां त्वस्माद्विधेरिति।

जिनदत्तोऽपि कुलशैलशिखण्डमण्डनजिनायतनालोकनकुतूहलिताशयः स्माचरितामरानुवर्तनसमयस्तां विद्यां प्रतिपद्य हृदयदर्शनोत्सवसमानीतनिखिलनिलिम्पाचल[4]चैत्यालयस्तदवलोकनकृतकौतुकाय धरसेनाय परमाप्तोपासनपटवे पुष्पवटवे प्रादात्।

पुनरप्यमितप्रभ 'विद्युत्प्रभ, जिनदत्तोऽयमतीवार्हदभिमतवस्तुपरिणतचित्तः स्वभावादेव च स्थिरमतिरशेषोपसर्गसहनप्रकृतिश्च। तदत्र महदप्यपकृतं कुलिशे[5] घुणकीटचेष्टितमिव न भवति समर्थम्। अतोऽन्यमेव कञ्चनाभिनवजिनोपासनायतनचैतन्यं निकषाव[6]' इति विमृश्योच्चलिताभ्यामेताभ्यां मगधमण्डलमण्डनसनाथो मिथिलापुरीनाथ पद्मरथो नाम नरपतिर्निजनगरनिकटतटीधरवृत्तदेहायां कालगुहायां निवासरसमनसो दीप्ततपसो निःशेषानिमिषपरिषन्निषेव्यमाणाचरणाच्चातुर्यात्सुधर्माचार्यात्तदङ्गाद्भुतप्रभाप्रभावदर्शनो-

लिए रातभर दोनोंने विघ्न किये, किन्तु एकाग्रताके अभ्याससे अपने मनको वशमें कर लेनेवाले उस जिनदत्त श्रावकको वे सुखका महल बनानेवाले कर्म परमाणुओंके बन्धमें कारणभूत धर्मध्यानसे विचलित नहीं कर सके।

इतनेमें प्रभात हो गया, सूरजकी किरणोंके प्रकाशसे अन्धकार दूर हो गया। तब उन्होंने अपने उपसर्गोंको समेट लिया और अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए भाग्यशालियोंके योग्य प्रेमभरे वचनोंसे जिनदत्तकी प्रशसा करके उसे आकाशमें बिहार करनेके लिए पैंतीस अक्षरोंकी एक निर्दोष विद्या प्रदान की। और कहा—'यह विद्या बिना साधे ही हमारे प्रभावसे तुम्हें आकाशमें विहार करा सकेगी और दूसरोंको अमुक विधिसे सिद्ध करनेपर विहार करा सकेगी।'

जिनदत्तका मन भी कुलाचलोंपर स्थित जिनालयोंके दर्शनके लिए आकुल था। अतः उसने देवताओंके कहे अनुसार उस विद्याको ग्रहण करके सब कुलाचलोंपर स्थित चैत्यालयोंका दर्शन किया और फिर वह विद्या उन चैत्यालयोंके दर्शनके लिए उत्सुक, जिनेन्द्र देवके परम भक्त धरसेनको दे दी।

फिर अमितप्रभ विद्युत्प्रभसे बोला—'विद्युत्प्रभ! इस जिनदत्तका चित्त अर्हन्त भगवान्के द्वारा कहे गये वस्तु तत्त्वके विषयमें बहुत दृढ़ है तथा यह स्वभावसे ही स्थिर बुद्धि और समस्त उपसर्गोंको सहन करनेवाला है। इसलिए जैसे घुनके कीडे वज्रमें कुछ भी नहीं कर सकते वैसे ही कितना भी अपकार इसका कुछ भी बिगाड़नेमें समर्थ नहीं है। अत आओ जैन धर्मके किसी नये उपासककी परीक्षा करें।' ऐसा विचार कर दोनों वहाँसे चल दिये और मगध देशके मण्डन स्वरूप मिथिलापुरीमें पहुँचे। मिथिलापुरीका राजा पद्मरथ था। एक दिन वह राजा अपने नगरके निकटवर्ती पहाड़की भयानक गुफ़ामें रहनेवाले, महातपस्वी, समस्त देवोंसे सेवनीय और आच-

१ रश्मि। २ अभिप्रायौ। ३ दत्तवन्तौ। ४ पञ्चापि मेरु। ५. वज्रे। ६ परीक्षावहे। ७. पद्मरथराजा दृष्ट।

भवति चात्र श्लोकः—

आत्मतत्त्वविहीनस्य वृथा व्रतसमुद्यमः ।
पुंसः स्वभावभीरोः स्यान्न शौर्यमायुधग्रहः ॥१५४॥

इत्युपासकाध्ययने समदमितपःप्रत्ययसादनो नाम पञ्चमः कल्पः ।

पुनस्तौ त्रिदशौ मगधदेशेषु कुशाग्रनगरोपान्तपातिनि पितृवने कृष्णचतुर्दशी निशि निशामतिमाश्रयपयसमेकाकिनं जिनदत्तनामानमुपासकमवलोक्य साटोपम् 'अरे दुराचाराचरणमते निराकृते अविदितपरमपद मनुष्यापसद, शीघ्रमिमामूर्ध्वयोगं शुष्कस्थाणुसमां प्रतिमां परित्यज्य पलायस्व । न श्रेयस्करं खलु तवात्रावसरं पश्याव । यस्मादावां खेतस्याः परेतपुरभूमस्या भूमेः पिशाचपरमेश्वरौ । तदत्रमत्र कालव्यालावलोकनकरग्रस्यागतेन । मा हि कार्षीरन्तरायोत्कर्षमावयोरनुष्कस्वच्छन्द केलिषु कुतूहलवद्वसान्तःकरणप्रसवयोरावयोः' इत्युक्तमपि प्रकामप्रणिधानोद्युक्तमवेक्ष्य स्वयतः कीनाशकासारनिकायकायाकारघोरघनघस्मराडम्बरप्रथमप्रारम्भावहे प्रचण्डतडिद्दण्डघंम-र्हेच्छूरच्छम्पसंघोद्धुरे निस्सीमसमीरासारात्कारसाध्वसप्रसरप्रवर्हे करालवेतालकुल-कालकोलाहलानुकूलैरन्यसामान्यैरन्यैश्च परिगृहीतगृहदाहबन्धुवधधनविध्वंसानुबन्धे प्रत्यूहप्रबन्धे सबहुमानैस्तस्तदवरप्रदानैश्च त्रिश्लेषावन्धुं समन्यात्मसमाधिनिरोधनिम्नौ

क्रिया और तृण लता वगैरहसे सुशोभित गंगाके तटपर एक बड़ा आश्रम स्थापित करके परशुरामके पिता बन गये ।

ऐसे ही लोगोंके लिए किसीने कहा है—

'आत्मज्ञानसे शून्य मनुष्यका व्रताचरणका प्रयास व्यर्थ है । ठीक ही है जो मनुष्य स्वभावसे ही डरपोक है, शस्त्र ग्रहण करनेसे उसमें शौर्य नहीं आ जाता ॥१५४॥

फिर वे दोनों देव मगध देशके कुशाग्र नगरके निकटवर्ती स्मशानमें पहुँचे । कृष्णपक्षकी चतुर्दशीकी रात्रिका समय था । जिनदत्त नामका एक जैन श्रावक अकेला रात्रिमें प्रतिमा योगसे स्थित था । उसे देखकर ये दोनों देव तिरस्कारपूर्वक बोले—'अरे दुराचारी, विरूप, परम पदसे अनजान नीच मनुष्य ! शीघ्र ही इस सूखे ठूँठके समान प्रतिमायोगको छोड़कर भाग जा । तेरा यहाँ ठहरना ठीक नहीं है क्योंकि हम दोनों इस स्मशान भूमिके पिशाचोंके स्वामी हैं । हम दोनोंका अन्तःकरण अति स्वच्छन्द होकर क्रीड़ा करनेके लिए आतुर है । इसमें बाधा मत डालो ।'

इस प्रकार कहनेपर भी उसे आत्मध्यानमें तल्लीन देखकर उन दोनोंने विघ्न करना प्रारम्भ किया । यमराजके समान भयंकर काले-काले मेघ उमड़ आये बिजलीका भयंकर गर्जन-तर्जन होने लगा, जोरकी हवा सर-सर करती हुई बहने लगी, भयानक वेतालोंकी आवाजके जैसी आवाजें होने लगीं जब इससे भी वह विचलित नहीं हुआ तो उसका गृह-दाह बन्धु-बान्धवों और धनादिकका विनाश होता हुआ उसे दिखाया गया । जब इससे भी विचलित नहीं हुआ तो बड़े आदरके साथ उसे अनेक वरदान दिये गये । इस प्रकार उसकी समाधिको *भंग* करनेके

---

१ राजगृह । २ निकृष्ट आकृतिमस्य । ३ कामेस्सर्पम् । ४ महत्त्वा । ५ स्थितिकरणेन । ६ —कर्षमाव—अ ब मु श । ७ ध्यानस्थम् । ८ शाम्यरवत । ९ मम । १० मद्रिप । ११ विघ्नसर्गे । १२ रात्रि । १३ तत्परौ ।

विहितविघ्नावपि तमेकाग्रभावाभ्यासात्मसात्कृतान्तःकरणबहिःकरणेहितं शर्महर्म्यनिर्माणकार्मणपरमाणुप्रबन्धनाद्धर्मध्यानाच्चालयितुं न शेकतुः।

संजाते च खरकिरणविरोकनिकरनिराकृतान्धकारोदये प्रभातसमये समुपहृतोपसर्गवर्गौ प्रकामप्रसन्नसर्गौ तैस्तैर्महाभोगाचितैः प्रणयोदितैराश्लाघ्य तस्मै जिनदत्ताय विहायोविहाराय पञ्चत्रिंशद्वर्णानवद्यां विद्यां वितेरतुः। इयं हि विद्या तवास्मदनुग्रहादस्वरविहारायासंसाधितापि भविष्यति परेषां त्वस्माद्विधेरिति।

जिनदत्तोऽपि कुलशैलशिखण्डमण्डनजिनायतनालोकनकुतूहलिताशयः स्माचरितामरानुवर्तनसमयस्तां विद्यां प्रतिपद्य हृदयदर्शनोत्सवसमानीतनिखिलनिलिम्पाचलचैत्यालयस्तदवलोकनकृतकौतुकाय धरसेनाय परमाप्तोपासनपटवे पुष्पवटवे प्रादात्।

पुनरप्यमितप्रभः 'विद्युत्प्रभ, जिनदत्तोऽयमतीवार्हदभिमतवस्तुपरिणतचित्तः स्वभावादेव च स्थिरमतिरशेषोपसर्गसहनप्रकृतिश्च। तदत्र महदप्यपकृतं कुलिशे घुणकीटचेष्टितमिव न भवति समर्थम्। अतोऽन्यमेव कञ्चनाभिनवजिनोपासनायतनचैतन्यं निकषाव' इति विमृश्योच्चलिताभ्यामेताभ्यां मगधमण्डलमण्डनसनाथो मिथिलापुरीनाथः पद्मरथो नाम नरपतिर्निजनगरनिकटतटीधरवृत्तादेहायां कालगुहायां निवासरसमनसो दीप्ततपसो निःशेषानिमिषपरिषन्निषेव्यमाणाचरणचातुर्यात्सुधर्माचार्यात्तदङ्गाद्भुतप्रभाप्रभावदर्शनो-

लिए रातभर दोनोंने विघ्न किये, किन्तु एकाग्रताके अभ्याससे अपने मनको वशमें कर लेनेवाले उस जिनदत्त श्रावकको वे सुखका महल बनानेवाले कर्म परमाणुओंके बन्धमें कारणभूत धर्मध्यानसे विचलित नहीं कर सके।

इतनेमें प्रभात हो गया, सूरजकी किरणोंके प्रकाशसे अन्धकार दूर हो गया। तब उन्होंने अपने उपसर्गोंको समेट लिया और अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए भाग्यशालियोंके योग्य प्रेमभरे वचनोंसे जिनदत्तकी प्रशंसा करके उसे आकाशमें विहार करनेके लिए पैंतीस अक्षरोंकी एक निर्दोष विद्या प्रदान की। और कहा—'यह विद्या बिना साधे ही हमारे प्रभावसे तुम्हें आकाशमें विहार करा सकेगी और दूसरोंको अमुक विधिसे सिद्ध करनेपर विहार करा सकेगी।'

जिनदत्तका मन भी कुलाचलोंपर स्थित जिनालयोंके दर्शनके लिए आकुल था। अतः उसने देवताओंके कहे अनुसार उस विद्याको ग्रहण करके सब कुलाचलोंपर स्थित चैत्यालयोंका दर्शन किया और फिर वह विद्या उन चैत्यालयोंके दर्शनके लिए उत्सुक, जिनेन्द्र देवके परम भक्त धरसेनको दे दी।

फिर अमितप्रभ विद्युत्प्रभसे बोला—'विद्युत्प्रभ! इस जिनदत्तका चित्त अर्हन्त भगवान्के द्वारा कहे गये वस्तु तत्त्वके विषयमें बहुत दृढ़ है तथा यह स्वभावसे ही स्थिर बुद्धि और समस्त उपसर्गोंको सहन करनेवाला है। इसलिए जैसे घुनके कीडे वज्रमें कुछ भी नहीं कर सकते वैसे ही कितना भी अपकार इसका कुछ भी बिगाड़नेमें समर्थ नहीं है। अतः आओ जैन धर्मके किसी नये उपासककी परीक्षा करें।' ऐसा विचार कर दोनों वहाँसे चल दिये और मगध देशके मण्डन स्वरूप मिथिलापुरीमें पहुँचे। मिथिलापुरीका राजा पद्मरथ था। एक दिन वह राजा अपने नगरके निकटवर्ती पहाड़की भयानक गुफ़ामें रहनेवाले, महातपस्वी, समस्त देवोंसे सेवनीय और आच-

१ रश्मि। २. अभिप्रायौ। ३ दत्तवन्तौ। ४. पचापि.मेरु। ५ वज्रे। ६ परीक्षावहे। ७ पद्मरथराजा दृष्ट।

भवति चात्र श्लोकः—

अन्तस्तत्त्वविहीनस्य वृथा व्रतसमुद्यमः ।
पुंसः स्वभावभीरोः स्यात्र शौर्यायायुधग्रहः ॥१५४॥

इत्युपासकाध्ययने अमदमितप्रत्ययप्रसादनो नाम पञ्चमः कल्पः ।

पुनस्तौ त्रिदशौ मगधदेशेषु कुशाग्रनगरोपान्तपातिनि पितृवने कृष्णचतुर्दशी निशि निशाप्रतिमायोगमेकाकिनं जिनदत्तनामानमुपासकमवलोक्य सोपालम्भम् 'अरे दुराचाराचरणमते निराकृते अविदितपरमपद मनुष्यापसद, शीघ्रमिमामूर्ध्वशोषं शुष्कस्थाणुसमां प्रतिमां परित्यज्य पलायस्व । न श्रेयस्करं खलु तवात्रावसरं पश्याव । यस्मादावां ह्येतस्याः परेतपुरभूयस्याः भूमेः पिशाचपरमेश्वरौ । तदलमत्र कालव्याक्षेपावलोकनकरप्रस्थानेन । मा हि कार्षीरन्तरायोत्कर्षं भावमतुच्छस्वच्छन्दकेलिकुतूहलवहलान्तःकरणप्रसरयोरावयोः' इत्युक्तमपि प्रकामप्रणिधानोपयुक्तमवेत्य स्वपतः कृष्णेनोत्पाकोत्करनिकायकायाकारघोरघनघस्मरारम्भप्रथमप्रारम्भायैः प्रचण्डतडिद्दण्डसंघट्टोच्छलत्स्वनोद्घुषैः निःसीमसमीरासारासारस्फारसारप्रसरप्रकरैः करालवेतालकुल-कोलाहलकोलाहलानुकूलैरन्यसामान्यैरन्यैश्च परिगृहीतगृहदाहबान्धवधनविध्वंसानुबन्धैः प्रत्यूहप्रपञ्चैः सप्रश्रुमायैरसंख्यवरप्रदानैश्च विशेषाभ्युपायैरस्यासमसमाधिनिरोधविधौ

क्रिया और तृण लता वगैरहसे सुशोभित गंगाके तटपर एक बड़ा आश्रम स्थापित करके परशुरामके पिता बन गये ।

ऐसे ही लोगोंके लिए किसीने कहा है—

'आत्मज्ञानसे शून्य मनुष्यका व्रताचरणका प्रयास व्यर्थ है । ठीक ही है जो मनुष्य स्वभावसे ही डरपोक है, शस्त्र ग्रहण करनेसे उसमें शौर्य नहीं आ जाता ॥१५४॥

फिर वे दोनों देव मगध देशके कुशाग्र नगरके निकटवर्ती श्मशानमें पहुँचे । कृष्णपक्षकी चतुर्दशीकी रात्रिका समय था । जिनदत्त नामका एक जैन श्रावक अकेला रात्रिमें प्रतिमा योगसे स्थित था । उसे देखकर वे दोनों देव तिरस्कारपूर्वक बोले—'अरे दुराचारी, विरूप, परमपदसे अनजान नीच मनुष्य ! शीघ्र ही इस सूखे ठूँठके समान प्रतिमायोगको छोड़कर भाग जा । तेरा यहाँ ठहरना ठीक नहीं है क्योंकि हम दोनों इस श्मशान भूमिके पिशाचोंके स्वामी हैं । हम दोनोंका अन्तःकरण अति स्वच्छन्द होकर क्रीड़ा करनेके लिए आतुर है । इसमें बाधा मत डालो ।'

इस प्रकार कहनेपर भी उसे आत्मध्यानमें तल्लीन देखकर उन दोनोंने विघ्न करना प्रारम्भ किया । यमराजके समान भयंकर काले-काले मेघ उमड़ आये बिजलीका भयंकर गर्जन-तर्जन होने लगा, जोरकी हवा सर-सर करती हुई बहने लगी, भयानक वेतालोंकी आवाजके जैसी आवाजें होने लगीं जब इससे भी वह विचलित नहीं हुआ तो उसका गृह-दाह, बन्धु-बान्धवों और धनादिकका विनाश होता हुआ उसे दिखाया गया । जब इससे भी विचलित नहीं हुआ तो बड़े आदरके साथ उसे अनेक वरदान दिये गये । इस प्रकार उसकी समाधिको भंग करनेके

---

१ राजगृह । २ निकृष्ट आकृतिमस्य । ३ कायोत्सर्गम् । ४ महत्या । ५ स्थितिकरणेन । ६ —कर्पीभाव— अ ज मु का । ७ ध्यानस्थम् । ८ सामस्त्यत । ९ वन । १० मध्ये । ११ विद्युत्सर्गे । १२ गर्जि । १३ वातपटी ।

इति निगीर्य, वितीर्य च जिनसमयाराधनवशे भवद्वशे सर्वरुजापहारोऽयं हार[1], सकलसपत्नसंतानोच्छेद्यमिदमातोद्यं[2] च प्रेपेण[3] करिष्यतीति कृतसकेताभ्यां तद्द्वयमभिमतावस्थानं स्थानं प्रास्थायि । त्रिदशेश्वरवदनजृम्भमाणगुणसंकथ पद्मरथोऽपि तत्तीर्थकृतो गणधरपदाधिकृतो भूत्वा कृत्वा चात्मानमनूनरत्नत्रयतन्त्रं मोक्षामृतपात्रमजायत ।

भवति चात्र श्लोक'—

उररीकृतनिर्वाहसाहसोचितचेतसाम् ।
उभौ कामदुघौ लोकौ[5] कीर्तेश्चाल्यं जगत्त्रयम् ॥१५६॥

इत्युपासकाध्ययने जिनदत्तस्य पद्मरथपृथ्वीनाथस्य च प्रतिज्ञानिर्वाहसाहसो नाम षष्ठः कल्प' ।

इतश्च संगमितसकलोपकरणसेनो धरसेनोऽप्यतुच्छमूर्च्छायावन्ध्ये पर्वदिवसर्वासतेयीमध्ये सर्वतो[9] यातुधानधावनप्रवर्धिनीषु स्मशानमेदिनीषु प्रवर्तिततद्वाराधनानुकूलमण्डलो न्यस्तासु[10] दिनु निक्षिप्तरक्षावलोऽवगण[11] कृतसकलीकरणो[12] भागधेयीविधानसमये वटविटपाग्रे[13] पतिंवराकरकर्तितसूत्रसरसहस्रसंपादितमात्मासनसमानान्तरालोचितमन्तजेल्पसंकल्पितमन्त्रवाक्य. सिक्यं निवध्य प्रवन्धना[14] धस्तादूर्ध्वमुखविन्यस्तनिशिताशेपशस्त्रो यथाशास्त्रं चहिर्निवेशिताष्टविधेष्टसिद्धिस्तद्विद्याराधनसमृद्धबुद्धिर्वभूव ।

यह कहकर उसे एक हार और वाद्य दिया तथा कहा कि यह हार जैन धर्मका पालन करनेवाले तुम्हारे वशके सव रोगोंको हरेगा और यह वाद्य समस्त वैरियोंकी सन्तानका नाश करेगा। ऐसा कहकर वे दोनों देव अपने अभिमत स्थानको चले गये। देवोंके द्वारा प्रशसित पद्मरथ भी वासुपूज्य स्वामीके समवशरणमे जाकर जिनदीक्षा धारण करके भगवान्‌का गणधर वन गया और अपनेको सम्पूर्ण रत्नत्रयसे अलकृत करके मोक्षरूपी अमृतका पात्र हो गया।

किसीने ठीक ही कहा है कि—

'जो अपनी प्रतिज्ञाका निर्वाह करनेमें उचित साहस दिखलाते हैं, इस लोक और परलोकमें वे इच्छित वस्तुको पाते हैं, तथा उनके यशसे तीनों लोक चलायमान हो जाते है ॥१५६॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें जिनदत्त और राजा पद्मरथके प्रतिज्ञा निर्वाहके साहसको वतलानेवाला छठा कल्प समाप्त हुआ।

अव जिस धरसेनको जिनदत्तने देवोंके द्वारा दी गई आकाशगामिनी विद्या साधनेके लिए दी थी, उसकी कथा सुनिए।

समस्त साधन सामग्रीको एकत्र करके धरसेन भी घने अन्धकारसे पूर्ण अमावस्याकी रात्रिके समयमें राक्षसोंके सचारसे व्याप्त स्मशान भूमिमें विद्या साधनेके लिए गया। वहाँ उसने विद्याराधनके अनुकूल मण्डलकी रचना की, सव दिशाओंमें रक्षावलय स्थापित किये, फिर सकलीकरण क्रिया की, फिर वटके पेडके नीचे, अपने आसनसे समान अन्तरालपर, कन्याके हाथसे काते गये हजार धागोंसे वने हुए छीकेको, मन-ही-मन मत्रोच्चारण करते हुए बाँधा। फिर छीकेके नीचे सव तीक्ष्ण शस्त्रोंको स्थापित किया, जिनका मुँह ऊपरकी ओर था। फिर शास्त्रानुसार आठ प्रकारकी इष्टसिद्धिको स्थापित करके उस विद्याकी आराधनाके लिए तैयार हुआ।

१ शत्रुकुल। २ वाद्यम्। ३ प्रेक्षण व०। ४ हारातोद्यद्वयम्। ५ कीर्तिश्चाल्प अ० ज० मु०। ६ एकीकृत। ७ तिमिर। ८ रात्रि। ९ राक्षस। १० सर्वासु। ११ एकाकी। १२ वलि। १३ कन्या। १४ प्रवन्धेना—आ०।

प्रशान्ताशयः सम्यग्दर्शनमणुव्रतान्यमयमादाय तद्दिवस एव तदुपदेशाधिगताहत्परमेश्वरशरीरनिरतिशयमहिमा कृतनियमः सकलभुवनपतिस्तूयमानगुणगणोदन्तं श्रीवासुपूज्यभगवन्तमुपासितुं प्रतिष्ठमानः प्रभवन्मन्द्रदुन्दुभिरवाकारितैरशेषपरिजनः समासन्नैस्समस्तविषयविशिष्टपरिवारेण ।

स च दृष्टः कदाचिदपि क्षुद्रोपद्रवाविप्लवाभ्यां प्रारब्धश्च 'पुरप्लोषान्तःपुरविध्वंसवरूथिनीमथनप्रसभप्रभञ्जनोर्जितपर्जन्यपरुषवर्षोपलासारादिपशतिभिर्भुदंभशार्दूलोद्धरकृतिभिर्विकृतिभिरुपद्रोतुम् । तथाप्यविचलितचेतसमवसार्य समस्वरं कुञ्जरं मायामयप्रतिमे स्ताघे व्यासादिव्रविगाहमसगमे कर्दमे निमज्जयत्सु च वा ताभ्यां 'नमः सुरासुरोपसर्गसंगदलनैकाभिधानमात्रमेव माहात्म्यसाम्राज्याय श्रीवासुपूज्याय' इति तत्र निमज्जतो भूपतो वचनमाकर्ण्य तयोर्यौरुकर्षोन्मिषत्तोषमनीषाप्रसराभ्यां लघुपरिमुषिताशेषविघ्नव्यतिकराभ्यामाचरितसत्काराभ्याम् 'अहो नूतनस्य सम्यक्त्वरत्नस्याश्रयभूत पद्मरथ नैतादृशमत्र यत्संभावयन्तो सत्त्वाभ्यामविशेषैरपि लोकैरसाध्येषु भवादृशेषु न प्रभवन्ति प्रसभप्रसवाः क्षुद्रोपद्रवाः । यतः ।

एकापि [14]समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम् ।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥१५५॥

रणमें प्रवीण श्रीसुधर्माचार्यके दर्शनोंके लिए गया। उनके शरीरकी अद्भुत प्रभा और प्रभाव देखकर उसका राग शान्त हो गया और उसने उनसे सम्यग्दर्शन पूर्वक अणुव्रत धारण कर लिये। उसी दिन उसने आचार्यके उपदेशसे अर्हन्त भगवान्के अतिशय युक्त शरीरकी महिमाको समझ लिया और नियम लेकर समस्त भुवनके स्वामी जिनके गुणोंका बखान करते हैं उन श्रीवासुपूज्य भगवान्के दर्शनोंके लिए चल दिया। दुन्दुभिके मधुर शब्दको सुनकर समस्त परिजन भी साथ हो गये।

दोनों देवताओंने उस राजाको आता हुआ देखा जो कभी भी क्षुद्र उपद्रवोंसे भी सताया नहीं गया था, और परीक्षा लेनेके लिए विघ्न करना आरम्भ कर दिया। नगर दाह, रनवासका विनाश, सेनाका नाश, जोरकी हवा चलाकर मेघोंके द्वारा घनघोर वर्षा, उल्कापात आदिके द्वारा तथा भयंकर सिंहोंकी आकृतियोंके द्वारा उपद्रव करनेपर भी जब पद्मरथ राजाका मन विचलित नहीं किया जा सका तो उन दोनोंने चारों ओर मायामयी कीचड़ बनाकर राजा सहित हाथीको उसमें डुबा दिया। डूबते हुए राजाके मुखसे निकला—'जिनके नाममात्रसे सुर और असुरोंके द्वारा किये गये उपसर्ग दूर हो जाते हैं उन वासुपूज्य भगवान्को नमस्कार है।'

यह शब्द सुनते ही उन दोनों देवोंको परम हर्ष हुआ, उन्होंने तुरन्त ही सब विघ्नोंको दूर कर दिया और राजाका सत्कार करते हुए बोले—'नये सम्यक्त्व रूपी रत्नके आश्रय रूप निष्कम्प पद्मरथ! प्रतिज्ञा और साहसमें आपके समान कोई नहीं है, आप जैसे लोगोंपर अमरत् किये गये क्षुद्र उपद्रवोंका कोई प्रभाव नहीं हो सकता। क्योंकि 'अकेली एक जिन-भक्ति ही ज्ञानीके दुर्गतिका निवारण करनेमें, पुण्यका संचय करनेमें और मुक्ति रूपी लक्ष्मीको देनेमें समर्थ है ॥१५५॥

---

१ धृताणुव्रतम् । २ आनन्दभेरी । ३ सकलविघ्नविनिवृत्त—आ० । ४ असुरभूत । ५ नगरदाह । ६ सेना । ७ वायु । ८ ज्वाला । ९ अपाये । १० विनाशन । ११ माहात्म्य—आ० । १२ प्रतिज्ञा । १३ हठाद्युत्पन्ना । —प्रभवनाः आ० । १४ एकापि पर्याप्ता जिनदेवभक्तिरस्याः दुर्गतिवारयितुं हि जीवान् । आसीद्धिनप्रतिभयमपरं पर्याप्त पुण्यं भवं पूरयितुं समर्था ॥१८॥—वरांगचरित २२ सर्ग ।

इति निगीर्य, वितीर्य च जिनसमयाराधनवशे भवद्वशे सर्वरुजापहारोऽयं हार[1], सकलसपत्नसंतानोच्छेद्यमिदमातोद्यं[2] च प्रेषण[3] करिष्यतीति कृतसंकेताभ्यां तदद्वयमभिमतावस्थानं[4] स्थानं प्रास्थायि। त्रिदशेश्वरवदनजृम्भमाणगुणसंकथ. पद्मरथोऽपि तत्तीर्थकृतो गणधरपदाधिकृतो भूत्वा कृत्वा चात्मानमनूनरत्नत्रयतन्त्रं मोक्षामृतपात्रमजायत।

भवति चात्र श्लोक —

उररीकृतनिर्वाहसाहसोचितचेतसाम्।
उभौ कामदुघौ लोकौ कीर्तेश्चाल्य[5] जगत्त्रयम् ॥१५६॥

इत्युपासकाध्ययने जिनदत्तस्य पद्मरथपृथ्वीनाथस्य च प्रतिज्ञानिर्वाहसाहसो नाम षष्ठ. कल्पः।

इतश्च संगमितसकलोपकरणसेनो[6] धरसेनोऽप्यतुच्छभूच्छायाचन्ध्ये[7] पर्वदिवसवासतेयीमध्ये[8] सर्वतो यातुधानधावनप्रचर्धिनीषु[9] स्मशानमेदिनीषु प्रवर्तिततदाराधनानुकूलमण्डलो न्यक्षासु[10] दिक्षु निक्षिप्तरक्षावलोऽवगण.[11] कृतसकलीकरणो[12] भागधेयीविधानसमये वटविटपाग्रे[13] पतिवराकरकर्तितसूत्रसरसहस्रसंपादितमात्मासनसमानान्तरालोचितमन्तजल्पसंकल्पितमन्त्रवाक्य सिक्यं निबध्य प्रबन्धना[14] धस्तादूर्ध्वमुखविन्यस्तनिशिताशेषशस्त्रो यथाशास्त्र वहिर्निवेशिताष्टविधेष्टिसिद्धिस्तद्विद्याराधनसमृद्धबुद्धिर्बभूव।

यह कहकर उसे एक हार और वाद्य दिया तथा कहा कि यह हार जैन धर्मका पालन करनेवाले तुम्हारे वशके सब रोगोंको हरेगा और यह वाद्य समस्त वैरियोंकी सन्तानका नाश करेगा। ऐसा कहकर वे दोनों देव अपने अभिमत स्थानको चले गये। देवोंके द्वारा प्रशसित पद्मरथ भी वासुपूज्य स्वामीके समवशरणमें जाकर जिनदीक्षा धारण करके भगवान्‌का गणधर बन गया और अपनेको सम्पूर्ण रत्नत्रयसे अलकृत करके मोक्षरूपी अमृतका पात्र हो गया।

किसीने ठीक ही कहा है कि—

'जो अपनी प्रतिज्ञाका निर्वाह करनेमें उचित साहस दिखलाते है, इस लोक और परलोकमें वे इच्छित वस्तुको पाते हैं, तथा उनके यशसे तीनों लोक चलायमान हो जाते है ॥१५६॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें जिनदत्त और राजा पद्मरथके प्रतिज्ञा निर्वाहके साहसको बतलानेवाला छठा कल्प समाप्त हुआ।

अब जिस धरसेनको जिनदत्तने देवोंके द्वारा दी गई आकाशगामिनी विद्या साधनेके लिए दी थी, उसकी कथा सुनिए।

समस्त साधन सामग्रीको एकत्र करके धरसेन भी घने अन्धकारसे पूर्ण अमावस्याकी रात्रिके समयमें राक्षसोंके सचारसे व्याप्त स्मशान भूमिमें विद्या साधनेके लिए गया। वहाँ उसने विद्याराधनके अनुकूल मण्डलकी रचना की, सब दिशाओंमें रक्षावलय स्थापित किये, फिर सकलीकरण क्रिया की, फिर वटके पेडके नीचे, अपने आसनसे समान अन्तरालपर, कन्याके हाथसे काते गये हजार धागोंसे बने हुए छीकेको, मन-ही-मन मन्त्रोच्चारण करते हुए बाँधा। फिर छीकेके नीचे सब तीक्ष्ण शस्त्रोंको स्थापित किया, जिनका मुँह ऊपरकी ओर था। फिर शास्त्रानुसार आठ प्रकारकी इष्टसिद्धिको स्थापित करके उस विद्याकी आराधनाके लिए तैयार हुआ।

---

१ शत्रुकुल। २ वाद्यम्। ३ प्रेक्षण ब०। ४ हारातोद्यद्वयम्। ५ कीर्तिश्चाल्प अ० ज० मु०। ६ एकीकृत। ७ तिमिर। ८ रात्रि। ९ राक्षस। १० सर्वासु। ११ एकाकी। १२ वलि। १३ कन्या। १४ प्रबन्धेना—आ०।

प्रशान्ताशयः सम्यग्दर्शनमणुव्रताभयमादाय तद्दिवस एव तदुपदेशाधिगतार्हत्परमेश्वर शरीरनिरतिशयप्रकाशमहिमा कृतनियमः सकलभुवनपतिस्तूयमानगुणगणोदर्कं श्रीवासुपूज्यभगवन्तमुपासितुं प्रतिष्ठमानः प्रमदमन्दरदुन्दुभिरवाकारितनिरवशेषपरिजनः समासन्नैस्समस्तविघ्नविशिष्टापायपेशलैः।

स च द्वाः कदाचिदपि क्षुद्रोपद्रवाविभलम्भ्य प्रारब्धप्रज्ञः पुरःक्षोपाप्तपुरविभ्रमसंघर्षणीभयभ्रमसभमभैरवनोर्मितपर्जन्यपरुषपयःपयोपलासारादिवसतिभिर्दुर्धर्षशार्दूलोत्तराकृतिभिर्विकृतिभिरुपद्रोतुम्। तथाप्यविचलितचेतसमवसाय समरवरं कुञ्जरं मायामयप्रतिषेस्वाभे व्यातालिकविगारामसंगमे कर्दमे निमज्जयन्तौ ताभ्यां 'नमः सुरासुरोपसर्गसंगसर्वनामाभिधानमात्रमन्त्रमाहात्म्यसाम्राज्याय श्रीवासुपूज्याय' इति तत्र निमज्जतो भूभुजो वचनमाकर्ण्य तदीर्योत्कर्षोभिपत्तोपमनीयाप्रसराभ्यां सपुपरिभुपितारोपविघ्नव्यतिकराभ्यामाचरितसत्काराभ्याम् 'अहो नूतनस्य सम्यक्त्वरत्नस्याश्रयसम्पद पद्मरथ नैतद्विचमत्र यत्संघो त्वस्याभ्यामभिसैरपि लोकैरसत्प्रयोगेषु भवादृशेषु न प्रभवन्ति प्रसंभप्रसवाः क्षुद्रोपद्रवाः। यतः।

एकापि [14]समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥१५५॥

रणमें प्रवीण श्रीसुधर्माचार्यके दर्शनोंके लिए गया। उनके शरीरकी अद्भुत प्रभा और प्रभाव देखकर उसका राग शान्त हो गया और उसने उनसे सम्यग्दर्शन पूर्वक अणुव्रत धारण कर लिये। उसी दिन उसने आचार्यके उपदेशसे अर्हन्त भगवान्के अतिशय युक्त शरीरकी महिमाको समझ लिया और नियम लेकर समस्त भुवनके स्वामी जिनके गुणोंका बखान करते हैं उन श्रीवासुपूज्य भगवान्के दर्शनोंके लिए चल दिया। दुन्दुभिके मधुर शब्दको सुनकर समस्त परिजन भी साथ हो गये।

दोनों देवताओंने उस राजाको आता हुआ देखा जो कभी भी क्षुद्र उपद्रवोंसे भी सताया नहीं गया था, और परीक्षा लेनेके लिए विघ्न करना प्रारम्भ कर दिया। नगर दाह, रत्नाकरका विनाश, सेनाका नाश, जोरकी हवा चलाकर मेघोंके द्वारा घनघोर वर्षा, उल्कापात आदिके द्वारा तथा भयंकर सिंहोंकी आकृतियोंके द्वारा उपद्रव करनेपर भी जब पद्मरथ राजाका मन विचलित नहीं किया जा सका तो उन दोनोंने चारों ओर मायामयी कीचड़ बनाकर राजा सहित हाथीको उसमें डुबा दिया। डूबते हुए राजाके मुखसे निकला—'जिनके नाममात्रसे सुर और असुरोंके द्वारा किये गये उपसर्ग दूर हो जाते हैं उन वासुपूज्य भगवान्को नमस्कार है।'

यह शब्द सुनते ही उन दोनों देवोंको परम हर्ष हुआ, उन्होंने तुरन्त ही सब विघ्नोंको दूर कर दिया और राजाका सत्कार करते हुए बोले—'नये सम्यक्त्व रूपी रत्नके आश्रय रूप निष्कपट पद्मरथ! प्रतिज्ञा और साहसमें आपके समान कोई नहीं है, आप जैसे लोगोंपर अकारण किये गये क्षुद्र उपद्रवोंका कोई प्रभाव नहीं हो सकता। क्योंकि 'अकेली एक जिन-भक्ति ही ज्ञानीके दुर्गतिका निवारण करनेमें, पुण्यका संचय करनेमें और मुक्ति रूपी लक्ष्मीको देनेमें समर्थ है ॥१५५॥

१ पृथाग्वम्। २ आनन्दभेरी। ३ सकलविघ्नविनिहि—आ। ४ अपराभूत। ५ नगरदाह। ६ सेना। ७ वायु। ८ व्रात्या। ९ अभावे। १० विनाशन। ११ नाममाहा—आ। १२ प्रतिज्ञा। १३ हठात्समा। —अभ्यमभाः आ। १४ एकापि समर्था जिनदेवभक्तिर्या दुर्गतीरपितुं हि चीयान्। माणीश्रितसौख्यपरं पदार्थं पुण्यं नवं पूरयितुं समर्था ॥१८॥—वराङ्गचरित २२ सर्ग।

धरसेन.—'कल्याणवन्धो, महाभागवृत्तस्य जिनदत्तस्य विदितपुष्पवटुनियोगसंबन्धोऽहमेतदुपदेशादाकाशविहारव्यवहारनिपद्या विद्यां सिसाधयिपुरत्रायाशिषम्[1] ।'

अञ्जनचोर.—'कथमियं साध्यते ।'

धरसेन.—कथयामि । पूजोपचारनिपेक्ये[2] ऽस्मिन्नि शक्कमुपविश्य विद्यामिमामकुण्ठकण्ठं [3]पठन्नेकैक शरप्रवेकं स्वच्छधीश्छिन्द्यादवसाने गगनगमनेन युज्यते ।

'ययेवमपसरापसर । 'त्वं हि [4]तलोन्मुखनिखातनिशितशस्त्रसंजातभीतमतिर्न खलु भवस्यैतत्साधने यज्ञोपवीतदर्शनेनार्थावर्जनकृतार्थः समर्थ' । तत्कथय मे यथार्थवादहृद्यां विद्याम् । एना साधयामि' ।

ततस्तेनात्महितकटुना पुष्पवटुना साधुसमर्पितविद्यः सम्यग्विदितवेद्यः संप्रीत्याऽऽसन्नशिवागारोऽञ्जनचोरः स्वप्नेऽप्यपरवञ्चनाचारनिवृत्तचित्तो जिनदत्तः । स खलु महतामपि महान्प्रति पन्नदेशयतिव्रततन्त्रो जन्तुमात्रस्याप्यन्यथा न चिन्तयति, किं पुनश्चिराय समाचरितोपचारस्य [5]तनूद्भवनिर्विशेषं पोषितस्यास्य धरसेनस्यान्यथा चिन्तयेत्' इति निश्चित्य निविश्य च सौत्सुक्य सिक्ये नि'शङ्कशेमुषीक. स्वकीयसाहसव्यवसायसंतोपितसुरासुरानीकः [6]सकृदेव तच्छरप्रसर चिच्छेद, [7]आससाद च खेचरपदम् । पुनर्यत्र जिनदत्तस्तत्र मे गमन भूयादिति विहिता[8]शंसन. काञ्चनाचलमेखलानिलयिनि[9] सौमनसवनोदयिनि

धरसेन—मेरे हितैषी मित्र ! महाभाग जिनदत्तके उपदेशसे आकाशविहारिणी विद्याको सिद्ध करनेकी इच्छासे मैं यहाँ आया हूँ ।

अञ्जनचोर—यह कैसे साधी जाती है ?

धरसेन—पूजाके द्वारा सिञ्चित इस छीकेपर नि शङ्क बैठकर इस विद्याको मन्दस्वरसे पढ़ते हुए निर्मल मनसे छीकेकी एक-एक डोरको काटना चाहिए । ऐसा करनेसे अन्तमें आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो जायगी ।

अञ्जनचोर—हटो हटो, छीकेके नीचे खडे किये गये तीक्ष्ण शस्त्रोंसे तुम भयभीत हो गये हो, इसलिए जनेऊ दिखाकर ही अपना काम निकालनेवाले तुम इस विद्याको सिद्ध नहीं कर सकते । अत इस सच्ची विद्याको मुझे बतलाओ । मै इसको साधता हूँ ।

यह सुनकर आत्महितके वैरी उस धरसेनने अञ्जनचोरको भले प्रकारसे विद्या अर्पित कर दी । सब बातोंको जानकर उसी भवसे मोक्ष जानेवाला अञ्जनचोर विचारने लगा—'जिनदत्त सेठ स्वप्नमें भी दूसरोंको ठगनेका विचार नहीं कर सकता । फिर चिरकालसे अपने पुत्रकी तरह जिसका लालन-पालन किया है उस धरसेनके विषयमें तो वह ऐसा सोच ही कैसे सकता है ?' ऐसा निश्चित करके वह बडी उत्कण्ठाके साथ उस छीकेपर बैठ गया और नि.शक होकर अपने साहससे सुर और असुरोंके समूहको सन्तुष्ट करनेवाले उस अञ्जनचोरने एक साथ ही सब धागोंको काट दिया और विद्याधर बन गया । फिर उसने यह इच्छा की कि जहाँ जिनदत्त है

१ आगत । २ —क्ये शिक्येऽस्मि—आ० । ३ प्रपठ—आ० । ४ ऊर्ध्वमुख । ५ —द्भवतिनि—अ०, ज०, मु० । ६ एकवारम् । ७ प्राप्तवान् । ८ —ताशासन आ० । ९ —लयितसौमनसदयिनि—आ० ।

अत्रान्तरे निष्कारणकलिकायामसुन्दर्यां निशीथपथपरिधीयमाने तपात्यये मध्यदेशे प्रसिद्धविजयपुरस्वामिन सुन्दरीमहादेवीविलासिन स्वकीयप्रतापवहुलं दाहनाहुतीकृतारातिसमितेररिमन्यमहीपतेर्ललितो नाम सुत समस्तव्यसनाभिभूतस्वाहायाँ बन्धुभिः संपादितसाम्राज्यपदापाय परमुपायमपश्यन्नस्याञ्जनादनोर्मितमञ्जन प्रतीताञ्जनचोरापरसंज्ञ किल्बिषमुक्तः—'कुशाग्रपुरपरमेश्वरस्याग्रमहिष्यास्तापिंच्याः सौभाग्यरत्नाकरं नाम कण्ठसंस्कारमिदानीमेव यथानीय प्रयच्छसि, तदा त्वं मे कान्तः, अन्यथा प्रणयान्तः इति।

सोऽपि 'किमदुर्गहमेतत्' इत्युदारमुदाहृत्य प्रियतमामनोरथमस्यैवैक चिकीर्षुर्मित्रप्रतापास्पदातार्थीलक्ष्यजलदरसलोचनयुगलं विधाय प्रयार्य च तन्महीश्वरगृहं गृहीतनवसत्कारस्तत्प्रभाप्रसरसमुल्लास्यमानचरणसंचारः शम्बरश्मोत्तासानमकरैस्तलवराखुचरैरभियुक्तो निस्तरीतुमशक्तः परित्यज्य तदाभरणमितस्ततो नगरबाहिरिकायां विहरमाणस्तं धरसेनं प्रदीपदीप्तिवशाद्यस्तादञ्जनिवेशमयावेशात्मुहुर्मुहुरारोहावरोहावधवेशलोममयं लोक्योपलोक्य च तं देशमेव निर्दिदेश—'अहो प्रलयकालान्धकाराधिशायामस्यां वेलायां महासाहसिक पुरुषं दुष्करकर्मकारिन् को नाम भवान् ?

इसी बीचमें एक घटना घटी। मध्य देशके विजयपुर नगरका स्वामी राजा अरिमन्थ बड़ा प्रतापी था। उसकी पट्टरानीका नाम सुन्दरी था। उनके ललित नामका एक पुत्र था। वह बड़ा व्यसनी था। इसीलिए उसे अन्य बान्धवोंने उसके राज्यपद प्राप्तिमें बाधाएँ डालीं। तब उसने दूसरा उपाय न देखकर एक ऐसा अञ्जन सिद्ध किया जिसके लगा लेनेसे वह अदृश्य हो जाता था। इससे उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई और उसका नाम अञ्जनचोर प्रसिद्ध हो गया। जिस रात्रिमें धरसेन विद्या साधनेका उपाय करता था उसी रात्रिमें जब अञ्जनचोर अपनी प्रियतमाके पास गया तो उसने कहा—'कुशाग्रपुरके राजाकी पट्टरानीके गलेका 'सौभाग्यरत्नाकर' नामका आभूषण यदि इसी समय लाकर मुझे दोगे तो तुम मेरे पति हो, नहीं तो हमारे तुम्हारे प्रेमका अन्त है।' यह सुनकर अञ्जनचोर बोला—'यह क्या कठिन है।' इतना कहकर अपनी प्रियतमाके मनोरथको पूरा करनेके लिए वह अपनी आँखोंमें अञ्जन लगाकर अदृश्य हो गया और उस राजाके महलमें पहुँचा।

जैसे ही वह उस आभूषणको चुराकर चला वैसे ही उसकी चमकसे कोतवालके सजग सिपाहियोंने उसके पद-संचारको लक्ष्य करके हल्ला करते हुए उसका पीछा किया। निकल भागनेमें अपनेको असमर्थ देखकर अञ्जनचोरने उस आभूषणको वहीं छोड़ दिया और नगरके बाहर इधर-उधर भागता हुआ जलते हुए दीपको देखकर उस स्थानपर आया जहाँ धरसेन छीकेमें लगे हुए शस्त्रोंके भयसे कभी छीकेसे उतरता था और कभी चढ़ता था।

'प्रलयकालके अन्धकारसे व्याप्त इस कालमें दुष्कर कर्म करनेवाले महा साहसी पुरुष! तुम कौन हो?' अञ्जनचोरने पूछा।

---

१ मध्यरात्रि। २ अग्नि। ३ धनुःसमूहस्य। ४ पौत्रिक एव दायादाः। ५ राजगृह। ६ तापिंची नामिकायाः। ७ धार्मिकम् ।—अन्वर्थं मा। ८. प्रस्था। ९. शस्त्रेण कृतार्तं मुखं धरसेन शताञ्ज कृते वैभाम। १ प्रदीपप्रदीप-मा। ११ —स्य धनुषलोम्य-मा। १२ प्रचाम।

धरसेनः—'कल्याणबन्धो, महाभागवृत्तस्य जिनदत्तस्य विदितपुष्पवटुनियोगसंबन्धोऽहमेतदुपदेशादाकाशविहारव्यवहारनिपद्यां विद्यां सिसाधयिपुरत्रायाशिपम्।'[1]

अञ्जनचोरः—'कथमिय साध्यते।'

धरसेन–कथयामि। पूजोपचारनिपेक्ये[2] ऽस्मिन्नि शङ्कमुपविश्य विद्यामिमामकुण्ठकण्ठं [3]पठन्नेकैक शरप्रवेकं स्वच्छधीश्छिन्द्यादवसाने गगनगमनेन युज्यते।

'यद्येवमपसरापसर। 'त्वं हि [4]तलोन्मुखनिखातनिशितशस्त्रसंजातभीतमतिर्न खलु भवस्यैततसाधने यज्ञोपवीतदर्शनेनार्थार्जनकृतार्थः समर्थ'। तत्कथय मे यथार्थवादहृद्या विद्याम्। एनां साधयामि'।

ततस्तेनात्महितकटुना पुष्पवटुना साधुसमर्पितविद्यः सम्यग्विदितवेद्यः संप्रीत्याऽऽसन्नशिवागारोऽञ्जनचोरः स्वप्नेऽप्यपरवञ्चनाचारनिवृत्तचित्तो जिनदत्तः। स खलु महतामपि महान्प्रति पन्नदेशयतिव्रततन्त्रो जन्तुमात्रस्याप्यन्यथा न चिन्तयति, किं पुनश्चिराय समाचरितोपचारस्य [5]'तनूद्भवनिर्विशेषं पोपितस्यास्य धरसेनस्यान्यथा चिन्तयेत्' इति निश्चित्य निविश्य च सौत्सुक्यं सिक्ये नि शङ्कशेमुपीकः स्वकीयसाहसव्यवसायसंतोपितसुरासुरानीकः [6]सकृदेव तच्छरप्रसर चिच्छेद, [7]आससाद च खेचरपदम्। पुनर्यत्र जिनदत्तस्तत्र मे गमन भूयादिति विहिताशंसन[8] काञ्चनाचलमेखलानिलयिनि[9] सौमनसवनोद्यिनि

धरसेन—मेरे हितैषी मित्र! महाभाग जिनदत्तके उपदेशसे आकाशविहारिणी विद्याको सिद्ध करनेकी इच्छासे मैं यहाँ आया हूँ।

अञ्जनचोर—यह कैसे साधी जाती है?

धरसेन—पूजाके द्वारा सिञ्चित इस छीकेपर नि.शङ्क बैठकर इस विद्याको मन्दस्वरसे पढ़ते हुए निर्मल मनसे छीकेकी एक-एक डोरको काटना चाहिए। ऐसा करनेसे अन्तमें आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो जायगी।

अञ्जनचोर—हटो हटो, छीकेके नीचे खडे किये गये तीक्ष्ण शस्त्रोंसे तुम भयभीत हो गये हो, इसलिए जनेऊ दिखाकर ही अपना काम निकालनेवाले तुम इस विद्याको सिद्ध नहीं कर सकते। अत इस सच्ची विद्याको मुझे बतलाओ। मै इसको साधता हूँ।

यह सुनकर आत्महितके वैरी उस धरसेनने अञ्जनचोरको भले प्रकारसे विद्या अर्पित कर दी। सब बातोंको जानकर उसी भवसे मोक्ष जानेवाला अञ्जनचोर विचारने लगा—'जिनदत्त सेठ स्वप्नमें भी दूसरोंको ठगनेका विचार नहीं कर सकता। फिर चिरकालसे अपने पुत्रकी तरह जिसका लालन-पालन किया है उस धरसेनके विषयमें तो वह ऐसा सोच ही कैसे सकता है?' ऐसा निश्चित करके वह बडी उत्कण्ठाके साथ उस छीकेपर बैठ गया और निःशक होकर अपने साहससे सुर और असुरोंके समूहको सन्तुष्ट करनेवाले उस अञ्जनचोरने एक साथ ही सब धागोंको काट दिया और विद्याधर बन गया। फिर उसने यह इच्छा की कि जहाँ जिनदत्त है

१ आगत। २ –क्ये शिक्येऽस्मि–आ०। ३ प्रपठ–आ०। ४ ऊर्ध्वमुख। ५ –द्भवतिनि–अ०, ज०, मु०। ६ एकवारम्। ७. प्राप्तवान्। ८ –ताशासन· आ०। ९ –लयितसौमनसद-यिनि–आ०।

जिनसद्मनि जिनदत्तस्य धर्मश्रवणकृतो गुरुदेवभगवतः समीपे तपो गृहीत्वागमाधिगतसमस्ततत्त्वो हिमवच्छैलचूलिकोन्मीलितकेवलज्ञानः कैलासशैलकान्तारगतो मुक्तिश्रीसमागमसक्तिभोगायतनो बभूव।

भवति चात्र श्लोकः—

धनपुत्रोऽप्यविषयितः शिक्षितादृश्यकज्जलः ।
अन्तरिक्षगतिं प्राप निःशङ्कोऽञ्जनतस्करः ॥१५७॥

इत्युपासकाध्ययने निःशङ्कितत्वप्रकाशनो नाम सप्तमः कल्पः ।

स्यां देवः स्यामहं यक्षः स्यां वा वसुमतीपतिः ।
यदि सम्यक्त्वमाहात्म्यमस्तीतीच्छां परित्यजेत् ॥१५८॥
उदश्वितेव माणिक्यं सम्यक्त्वं भवजैः सुखैः ।
विक्रीणानः पुमान्स्वस्य वञ्चकः केवलं भवेत् ॥१५९॥
चित्ते चिन्तामणिर्यस्य यस्य हस्ते सुरद्रुमः ।
कामधेनुर्धने यस्य तस्य कः प्रार्थनाक्रमः ॥१६०॥
उचिते स्थानके यस्य चित्तवृत्तिरनाकुला ।
तं श्रियः स्वयमायान्ति स्रोतस्विन्य इवाम्बुधिम् ॥१६१॥

वहीं मैं पहुँचूँ। यह इच्छा करते ही वह सुमेरु पर्वतपर स्थित सौमनस वनके जिनालयमें, आचार्य गुरुदेवसे धर्मश्रवण करते हुए जिनदत्तके पास पहुँच गया और जिनदीक्षा ग्रहण करके परम्परासे चले आये हुए समस्त तत्त्वोंको जानकर हिमवान् पर्वतकी चोटीपर केवलज्ञानी बन गया फिर कैलास पर्वतसे मुक्ति-श्री को वरण करके मुक्त हो गया।

इस विषयमें एक श्लोक निम्न प्रकार है—

'अञ्जनचोर राजपुत्र था, किन्तु इन्द्रियोंकी विषयलालसाने उसे पागल कर दिया था। तब उसने अदृश्य होनेका अञ्जन बनाना सीख लिया। फिर वह निःशङ्क होकर विद्याधर बन गया। और मुक्त हो गया' ॥१५७॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें *निःशंकित* तत्त्वको प्रकट करनेवाला सातवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब निष्कांक्षित अंगको बतलाते हैं—]

यदि सम्यग्दर्शनमें माहात्म्य है तो 'मैं देव होऊँ', यक्ष होऊँ, अथवा राजा होऊँ' इस प्रकारकी इच्छाको छोड़ देना चाहिए। जो सांसारिक सुखोंके बदलेमें सम्यक्त्वको बेच देता है वह छाछके बदलेमें माणिक्यको बेच देनेवाले मनुष्यके समान केवल अपनेको ठगता है ॥१५८–१५९॥

जिस सम्यग्दृष्टिके चित्तमें चिन्तामणि है, हाथमें कल्पवृक्ष है, धनमें कामधेनु है, उसको याचनासे क्या मतलब? जिसकी चित्तवृत्ति उचित स्थानको पाकर निराकुल हो जाती है, समुद्रमें नदियोंकी तरह लक्ष्मी उसे स्वयं प्राप्त होती है ॥१६०–१६१॥

---

१ प्रदक्षिण। २ वसुस्तुत। ३ आत्मा। ४ यूप। ५. अहं भवामि। 'देवः स्यां दानवः स्यां वा स्यामहं वसुधाधिपः। यदि दर्शनमाहात्म्यमितीच्छा तस्य दूषिता ॥३७॥' —प्रबोधसार। ६ तक्रेण। 'उदश्विता च माणिक्यं विक्रीणाति स्फुटं स्वकम्। विक्रीणीते न सम्यक्त्वात् इच्छेद् भवजं सुखम् ॥७७॥' —धर्मरत्ना० प० ६९ उ०। ७ सुर—ब०। हस्ते चिन्तामणिर्यस्य प्रांगणे कल्पपादपः। कामधेनुर्धने यस्य तस्य कः प्रार्थनाक्रमः ॥४१॥ —धर्मर० प० ६९। देवधेनुर्वने यस्य यस्य हस्ते सुरद्रुमः। चिन्तामणिर्मनिप्रायं दर्शनं सर्वसौख्यदम्॥ प्रबोधसार पृ० १५। ८ धर्मलाभे।

तत्कुदृष्ट्यन्तरोद्भूतामिहामुत्र च संभवाम्।
सम्यग्दर्शनशुद्ध्यर्थमाकांक्षां त्रिविधां त्यजेत ॥१६२॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अङ्गमण्डलेषु समस्तसपत्नसमरसमारम्भनिष्प्रकम्पायां चम्पायां पुरि लक्ष्मीमतिमहादेवीदयितस्य वसुवर्धनाभिधानोचितस्य वसुधापतेर्निरवशेषवैदेहकवरिष्ठः किल प्रियदत्तश्रेष्ठी धर्मपत्न्या गृहलक्ष्मीसपत्न्या सकलस्त्रैणगुणधाम्नाङ्गवतीनाम्ना सहाह्नाय प्राह्णेऽष्टाह्नीक्रियाकाण्डकरणायाभ्रंकषकूटकोटिघटितपताकापटप्रतानाञ्चलजालस्खलितनिलिम्पविमानवलयं सहस्रकूटचैत्यालयं यियासुः स्वकीयसुताचयस्यां-

अत. सम्यग्दर्शनकी शुद्धिके लिए अन्य मिथ्या मतोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होने वाली, तथा इस लोक और परलोक सम्बन्धी तीन प्रकारकी इच्छाओंको छोड देना चाहिए ॥१६२॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनका दूसरा अंग है निःकांक्षित। जिसका अर्थ है—'कांक्षा मत करो।' और कांक्षा कहते हैं भोगोंकी चाहको। जो विषय इन्द्रियोंको नहीं रुचते, उनसे द्वेष करना ही भोगोंकी चाहकी पहचान है, क्योंकि इन्द्रियोंको रुचनेवाले विषयोंकी चाहके कारण ही न रुचनेवाले विषयोंसे द्वेष होता है। देखा जाता है कि विपक्षसे द्वेष हुए बिना पक्षमें राग नहीं होता और पक्षमें राग हुए बिना उसके विपक्षसे द्वेष नहीं होता। अत. इष्ट भोगोंकी चाहके कारण ही अनिष्ट भोगोंसे द्वेष होता है और अनिष्ट भोगोंसे द्वेष होनेसे ही इष्ट भोगोंकी चाह होती है। जिसके इस प्रकारकी चाह है वह नियमसे मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि एक तो चाह करनेसे ही भोगोंकी प्राप्ति नहीं हो जाती। दूसरे, कर्मोंके उदयसे प्राप्त होनेवाली प्रत्येक वस्तु अनिष्ट ही मानी जाती है। इसलिए ज्ञानी पुरुष कर्म और उसके फलकी चाह बिल्कुल नहीं करता। तीसरे, पदार्थोंमें जो इष्ट और अनिष्ट बुद्धि की जाती है वह सब दृष्टिका ही दोष है, क्योंकि पदार्थ न तो स्वयं इष्ट ही होते हैं और न स्वयं अनिष्ट ही होते हैं। यदि पदार्थ स्वयं इष्ट या अनिष्ट होते तो प्रत्येक पदार्थ सभीको इष्ट या अनिष्ट होना चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। एक ही पदार्थ किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट प्रतीत होता है। अत· पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि भी मिथ्यात्वके उदयसे ही होती है। जिसके मिथ्यात्वका उदय नहीं होता उसकी दृष्टि वस्तुके यथार्थस्वरूपको देखती है और यथार्थमें कर्मोंके द्वारा प्राप्त होनेवाला फल अनिष्ट ही होता है क्योंकि वह दु खका कारण है। अत सम्यग्दृष्टि कर्मोंके द्वारा प्राप्त होने वाले भोगोंकी चाह नहीं करता।

२. निष्कांक्षित अंगमें प्रसिद्ध अनन्तमतिकी कथा

अब इस विषयमें एक कथा कहते हैं, उसे सुनिए—

अंगदेशकी चम्पा नगरीमें वसुवर्धन नामका राजा राज्य करता था। उसकी पट्टरानीका नाम लक्ष्मीमति था। राज्य श्रेष्ठी प्रियदत्त था और उसकी पत्नी अंगवती थी। एक बार एकदम प्रात अष्टाह्निका पर्वका क्रियाकर्म करनेके लिए प्रियदत्त सेठ स्त्रियोचित सकल गुणोंसे युक्त अपनी

१ मिथ्यादर्शनोद्भूताम्। २ देव-यक्ष-राजोद्भवाम्। ३ समग्रवणिजां मध्ये श्रेष्ठ। ४. शीघ्रम्। ५ सयोजित। ६ सखीम्।

अनङ्गमतिमेवमपृच्छत्—'वत्से, अभिनवविवाहभूषणसुभगहस्ते क्वास्ते समुन्मिषितलावण्या चन्द्रसुन्दरमुखी प्रियसखी तवातीवकेलिशीलप्रकृतिरनन्तमतिः।

अनङ्गमतिः—'तात, मणिमञ्जीरकसारिकोद्गीयमानमङ्गला कृत्रिमपुत्रकपरिणयावेगारम्भपरिणयनाचरणपरिणामपेशला पञ्जरारोपितशुकसारिकासमवायसुन्दरे वासावास-परिसरे समास्ते।

समाहूयतामिति।

'यथादिशति तातः।

प्रियदत्तश्रेष्ठी वृद्धभावात्परिहासालापनपरमेष्ठी समागतां सुतामवलोक्य 'पुत्रि, निसर्गविलासरसोत्तरङ्गापाङ्गापहसितामृतसरणिविषये सदैव पाञ्चालिकाकेलिकिर्मीरितहृदये संभाव्येव तव मन्मथपथाः परिणयनमनोरथाः। तद् गृह्यतां तावत्समस्तव्रतैश्वर्यवर्यं ब्रह्मचर्यम्। अत्रैव ते साक्षी भगवानशेषश्रुतप्रकाशनाशयमूर्तिर्धर्मकीर्तिसूरिः।

अनन्तमतिः—तात, नितान्तं गृहीतवत्यस्मि। न केवलमत्र मे भगवानेव साक्षी किंतु भवानम्बा च। अन्यदा तु।

उद्भिन्ने स्तनकुड्मले स्फुटरसे हासे विलासालसे
किंचित्कम्पितकैतवाधरमरुद्भावे वयःक्रमे।

पत्नीके साथ सहकूट चैत्यालय जानेको था। उसने अपनी लड़कीकी सखी अनंगमतीसे पूछा—विवाहके नये भूषणोंसे अलंकृत पुत्री अतीव परिहासप्रिय तेरी सखी चन्द्रमुखी अनन्तमती कहाँ है?

अनंगमती बोली—'पिता जी! स्वच्छन्द विचरण करनेवाले तोता मैनाके मधुर कलरवसे गुंजित घरके निकट भागमें, वह गुड्डेके विवाहके बहानेसे अपने विवाहका स्वप्न देख रही है और श्रेष्ठीजनोंकी लड़कियाँ मंगल गान कर रही हैं।'

'उसे बुलाओ।'

'जो आज्ञा'

श्रेष्ठी प्रियदत्त वृद्ध हो जानेसे परिहास करनेमें बड़ा पटु था। कन्याको आई हुई देखकर बोला—'पुत्रि! सदैव गुड़ियोंसे खेलनेके लिए विकल तुम्हारे हृदयमें अभीसे विवाहका मनोरथ हो चला है अतः समस्त व्रतोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य व्रतको स्वीकार करो। समस्त श्रुतके ज्ञाता भगवान् धर्मकीर्ति सूरि तुम्हारे साक्षी हैं।'

अनन्तमती बोली—पिताजी! मैंने ब्रह्मचर्यव्रत ले लिया। और इसमें केवल भगवान् ही साक्षी नहीं हैं किन्तु आप और माताजी भी साक्षी हैं।

उक्त घटनाको घटे वर्षों बीत गये और अनन्तमतीमें यौवनका संचार हो चला। उसके अंग-प्रत्यंग विकसित हो उठे। जब वह हँसती थी तो उसकी हँसी अलसाई हुई होती थी। जब

---

१ निर्लाञ्छितलावण्या। २ कल्यायत। ३ विवाहमहाङ्गणे। ४ मैत्रान्त। ५ सुता। ६ पुत्तलिका। ७ कर्बुरस्य। –चित्रकबु–आ। ८ आत्मन एव सुवर्णं विद्यते यस्य सः। ९ धर्मनामधेयेन।

कन्दर्पाभिनवास्त्रवृत्तिचतुरे नेत्राश्रिते विभ्रमे
प्रादायेव च मध्यगौरवगुणं वृद्धे नितम्बे सति ॥१६३॥

समायाते मुहुरुत्पथप्रथमानमन्मथोन्माथमन्थरसमस्तसत्त्वस्वान्ते सद्यःप्रसूतसहकाराङ्कुरकवलकषायकण्ठकोकिलकामिनीकुहारावासरालितमनोजविजये मलयाचलमेखलानिलीनकिन्नरमिथुनमोहनामोदमेदुरपरिसरत्समीरसमुदये विकसत्कोशकुरवकप्रसवपरिमलपानलुब्धमधुकरीनिकरझङ्कारसारप्रसरे वसन्तसमयावसरे सा प्रसरत्स्मरविकारा स्मरस्खलन्मतिगतिरनङ्गमतिः सह सहचरीसमूहेन मदनोत्सवदिवसे दोलान्दोलनलालसमानसा स्वकीयरूपातिशयसंपत्ति[ति]रस्कृतसकलभवनाङ्गनाङ्गविलासा सुकेशीप्रियतमानुगतेन कृतकामचारप्रचारचेतसा पूर्वापराकूपारपालिन्द्री सुन्दरीसनाथोत्सङ्गधरस्य विजयार्धावनीधरस्य विद्याधरीविनोदपादपोत्पादद्रोण्या दक्षिणश्रेण्या किन्नरगीतनामनगरनरेन्द्रेण कुण्डलमण्डितनाम्नाम्बरचरेण निचायिता ।

शृङ्गाररसारममृतद्युतिमिन्दुकान्ति-
मिन्दीवरद्युतिमनङ्गशरांश्च सर्वान् ।
आदाय नूनमियमात्मभुवा प्रयत्ना-
त्सृष्टा जगत्त्रयवशीकरणाय बाला ॥१६४॥

इति विचिन्त्याभिलषिता च । ततस्तामपजिहीर्षुधिषणेन मुहुर्निवृत्य निर्वर्तितनिजनिलयसुकेशीनिवेशेन प्रत्यागत्यापहृत्य च पुनर्नभश्चरपुरं प्रत्यनुसरता गगनमार्गार्द्धे

बोलती थी तो उसके ओष्ठ कुछ बनावटी कम्पनको लिये हुए होते थे। और आँखोमें, कामदेवके नवीन अस्त्रोंके सचालनमें चतुर कटाक्षने अपना डेरा डाल दिया था। और मध्यभागकी गुरुताको मानो लेकर नितम्ब भाग विकसित हो गया था ॥१६३॥

यौवनके साथ ही वसन्त ऋतु भी आ टपकी। समस्त प्राणियोंके मनको कामदेवने सताना प्रारम्भ कर दिया। आमके वृक्षोंपर मौर आ गये और उसे खाकर कोयलने 'कुहू' 'कुहू' करके कामदेवकी विजय यात्राकी सूचना कर दी। मलय वायु बहने लगी। कमलोंपर भौंरें गुजार करने लगे।

एक बार मदनोत्सवके दिन रूपवती युवती अनन्तमती अपनी सखियोंके साथ झूला झूलनेके लिए उद्यानमें गई। विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणिमें स्थित किन्नरगीत नामक नगरका स्वामी कुण्डलमण्डित विद्याधर अपनी पत्नी सुकेशीके साथ आकाशमें विहार करता था। उसने उसे देखा। और उसके लावण्यसे मोहित होकर सोचने लगा—'शृङ्गारसे सार, अमृतसे तरलता, चन्द्रमासे कान्ति, कमलसे शोभा और कामदेवसे बाणोंको लेकर ही स्वयंभू ब्रह्माने तीनों लोकोंको वशमें करनेके लिए इस बालाकी रचना बड़े श्रमसे की है ॥१६४॥

यह सोच उसको हरनेकी इच्छासे अपने घरकी ओर लौटा। वहाँ अपनी पत्नी सुकेशीको छोड़कर फिर उसी उद्यानमें आया और अनन्तमतीको हरकर आकाशमार्गसे अपने नगरकी

---

१ गौरवगुण नितम्बेन गृहीत तेन मध्य क्षाम जातम्। २ पीडन। ३ उत्पन्न। ४ सुरत। ५. मोगरसदृशरक्तसुगन्धपुष्पविशेष। ६ सारस्खल —आ०। ७ वेला एव स्त्रीसहित तटी। ८. दृष्टा। ९ —तद्गति—अ० ज०। १०. ब्रह्मणा। ११. अपहर्तुमिच्छुमतिना। १२ —मार्गार्द्धनिवृत्ति—आ०।

प्रतिनिवृत्तकुपितस्वकेलीदयितामार्गाशङ्किताशयेन तत्कायरक्षणार्पितावलोकिनीपर्णलघुविद्याद्वयेन शङ्खपुराभ्यर्णभागिनि भीमवननामनि कानने मुक्ता।

तत्र च मृगयाप्रसङ्गसमागतेन भीमनाम्ना किरातराजेनासौ समालोकिता, नीता चोपान्तप्रकीर्णेङ्गुदिफलच्छुरिताङ्गणं पल्लिम्। तद्रूपदर्शनोद्दीपितमदनावेगमनसा च तेन स्वतः परतश्च तैस्तैरुपायैरात्मसमागमसहायैः प्रार्थिताप्यसंजातकामिता हठात्कृतकठोरकामोपक्रमेण तदुपरि गृहीतव्रतस्थैर्यानुवर्तितकान्तारदेवतामाहात्म्यात्पर्यस्तपवनज्वालोत्करेण मृत्युहेतुकालकूपायकष्टप्राणशरीरेण च 'मातः, क्षमस्वैकमिममपराधम्' इत्यभिधाय धर्मोपचारोपचीयमानस्य चरीचित्तोत्कण्ठे शङ्खपुरपथप्रस्थपथोपकण्ठे परिहृता तत्समीपसमायातसार्थाधीशेन पुष्पकनामकेन वणिक्पतिपाकेनावलोकिता सती स्वीकृता च तेन तेन चाटुना स्वस्य वशमानेतुमसमर्थेन कोशलदेशमध्यायामयोध्यायां पुरि व्यालिकाभिधानकामपताकायैकन्यस्याः संकथायाः समर्पिता। तयापि मदनमदसंपादनायत्ताभिः कथाभिः क्षोभयितुमशक्या तद्राजधानीनिवेशस्य सिंहमहीशस्योपायनीकृता।

तेनाप्यसम्पतन्मनःप्रयेरेण विसर्जितासिंहपुरसंधिना तत्कन्यापुण्यप्रभावप्रेरितपुर

और चल दिया। आगे मार्गमें लौटती हुई अपनी कुपित पत्नीको देखकर उसके भयसे उसने उसे पर्णलघु नामकी दो विद्याओंको सौंप दिया और उन्होंने अनन्तमतीको शंखपुरके निकटवर्ती भीमवन नामके जंगलमें छोड़ दिया।

वहाँ शिकार खेलनेके लिए आये भिल्लराज भीमने उसे देखा और वह उसे अपनी कुटियापर ले आया, जहाँ आस-पासमें इंगुदी वृक्षके फलोंकी लताएँ फैली हुई थीं। भिल्लराज इसके रूपको देखकर कामान्ध हो गया। उसने स्वयं तथा दूसरेके द्वारा अनन्तमतीसे भोगकी बारम्बार प्रार्थना की, किन्तु वह तैयार नहीं हुई। तब उसने बलात्कार करनेका प्रयत्न किया। किन्तु उसके व्रतके माहात्म्यसे वन देवताने उसकी रक्षा की और समराङ्गणमें आग लगा दी। जब भिल्लराजका शरीर जलने लगा और उसने मृत्यु निकट देखी तो बोला—'माता! मेरे इस एक अपराधको क्षमा करो।'

इस प्रकार क्षमा माँगकर उसने अनन्तमतीको शंखपुरके निकटवर्ती पथके समीपमें छुड़वा दिया। वहाँ पासमें व्यापारियोंका एक समूह आकर ठहरा हुआ था। वणिक् पतिके पुत्र पुष्पकने अनन्तमतीको देखा और जिस-तिस उपायोंसे उसे वशमें करनेका प्रयत्न किया। जब वह अपने प्रयत्नमें सफल नहीं हो सका तो उसने उसे कौशल देशके मध्यमें बसी हुई अयोध्या नगरीमें व्यालिका नामकी वेश्याको सौंप दिया। वेश्याने कामोन्मत्त करनेवाली कथाएँ सुना-सुनाकर उसे क्षुब्ध करना चाहा किन्तु वह भी अपने प्रयत्नमें असफल रही। तब उसने उसे अयोध्याके राजा सिंह महीपतिको भेंट कर दिया। राजा सिंह भी जब उसके हृदयमें स्थान नहीं पा सका तो उसने उसके साथ बलात्कार करना चाहा। तब उस कन्याके पुण्यके प्रतापसे नगर देवताने आकर उसकी रक्षा की।

१ क्रीडा प्रति। २ –मवमवलेन अ च मु। ३ परिपूर्णमृगयाहेल। ४ कुट्टिन्या।
५. तद्राजधान्या विनिवेशः स्थानं यस्य स तस्य। ६ प्राभृतीकृता। ७ गृहीतकुत्साभिप्रायेण।

देवतापादितान्तःपुरपुरीपरिजनापकारविधिना साधु संवोध्य नियमसमाहितहृदयचेष्टा विसृष्टा पितृस्वसुः सुदेवीनामधेयायाः पत्युः पितुश्चार्हद्दत्तस्य सुगृहीतनामवृत्तस्य[1] जिनेन्द्रदत्तस्योदवसितसमीपवर्तिनं विरतिचैत्यालयमवाप्य तत्र निवसन्ती यमनियमोपवासपूर्वकैर्विधिभिः क्षपितेन्द्रियमनोवृत्तिर्भवन्ती।

तस्मादङ्गदेशनगराज्जिनेन्द्रदत्तं चिरविरहोत्तालं [2]श्यालं विलोकितुमागतेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना वीक्ष्य विषयाभिलाषमोषपरूपकचा सा विहितवहुशुचा पुन: प्रत्याय्य तस्मै जिनेन्द्रदत्तसुतायार्हद्दत्ताय दातुमुपक्रान्ता—'तात, त भदन्तं भगवन्तं पितरं मातरं च तां प्रमाणीकृत्य कृतनिरवधिचतुर्थव्रतपरिग्रहा। ततः कथमहमिदानीं विवाहविधये परिकल्पनीया' इति निगीर्य कमलश्रीसकाशे विरतिविशेषवशं रत्नत्रयकोशमभजत्।

भवति चात्र श्लोकः—

हासात्पितुश्चतुर्थेऽस्मिन्व्रतेऽनन्तमतिः स्थिता।
कृत्वा तपश्च निष्काङ्क्षा कल्पं द्वादशमाविशत् ॥१६५॥

इत्युपासकाध्ययने निष्काङ्क्षितत्तत्त्वावेक्षणो नामाष्टमः कल्पः।

तपस्तीव्रं जिनेन्द्राणां नेदं संवा[3]दमन्दिरम्।
अदोऽपर्वा[4]दि चेत्येवं चेत स्याद्विचिकित्सना ॥१६६॥

वहाँसे निकलकर वह अपने पिताकी भगिनी सुदेवीके पति तथा अर्हद्दत्तके पिता जिनेन्द्रदत्तके निकटवर्ती चैत्यालयमें जाकर रहने लगी और यम नियम तथा उपवासके द्वारा इन्द्रियों और मनकी चचलताको दूर करने लगी। एक दिन अनन्तमतीका पिता श्रेष्ठी प्रियदत्त अगदेशसे अपने वहनोई जिनेन्द्रदत्तको देखनेके लिए आया। वहाँ उसने अपनी पुत्री अनन्तमतीको देख वहुत विलाप किया और वादको उसे जिनेन्द्रदत्तके पुत्र अर्हद्दत्तसे विवाहनेका प्रस्ताव किया। तव पुत्री वोली—'पिताजी! भगवान् आचार्य, आप और अपनी जननीको साक्षी करके मैंने आजन्मके लिए व्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया था। अत: अव कैसे मैं विवाहकी विधिके लिए तैयार हो सकती हूँ।'

ऐसा कहकर उसने कमलश्री आर्यिकाके समीपमें व्रत धारण कर लिये।

इसके विषयमें एक श्लोक भी है—

'अनन्तमतीने पिताके परिहाससे व्रह्मचर्य व्रत धारण किया और उसमें स्थिर रही। फिर विना किसी प्रकारकी इच्छाके तप करके वारहवें स्वर्गमें उत्पन्न हुई ॥१६५॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें निःकाक्षित तत्त्वको वतलानेवाला 'आठवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अव निर्विचिकित्सा अगको वतलाते हैं—]

'जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहा गया यह उग्र तप प्रशसनीय नहीं है, उसमें अनेक दोष

१ यथार्थनाम्न। २ भगिनीपतिम्। ३, तीव्र तपो जिनवरैर्विहित मुनीना सवादमन्दिरमिद न भवेत्तयाहि। आचाममज्जनविवर्जननाग्न्ययोगादूर्ध्वस्थभुक्तित इति प्रवदन्त्यविज्ञा ॥५०॥—धर्मरत्ना० प० ७० पू०। इद किंचित् श्लाघ्यं न। ४. सदोष अद: एतद् वस्तु। अदोषवा–, आ०। सच्छ्र,तात् सुश्रुतु शीलमसहा श्रयितु नरा। निवोधितु तदर्थं च स्वदोषाद् दूषयन्त्यत ॥५७॥—धर्मरत्ना० ७० प०। तीव्र तपो यतीन्द्रेषु नेद सवादि सर्वथा। स्नानाभावादिदोषै स्यादपवादशतैर्युतम् ॥३१॥ मन्दवुद्धिर्महामोहादित्य विप्रतिपद्यते। विनिन्दा नाम तस्याय दोष स्याद्दर्शनाश्रय ॥३२॥ –प्रवोधसार

स्वस्यैव हि स दोषोऽयं यन्न शक्तः श्रुताश्रयम् ।
शीलमाश्रयितुं जन्तुस्तदर्थं वा निरूपितुम् ॥१६७॥
स्वतःशुद्धमपि व्योम दीक्ष्यते यन्मलीमसम् ।
नासौ दोषोऽस्य किं तु स्यात्स दोषश्चक्षुराश्रयः ॥१६८॥
दर्शनाद्देहदोषस्य यस्तत्त्वाय जुगुप्सते ।
स लोष्टे कालिकालोकाद्ध्रुवं मुञ्चति काञ्चनम् ॥१६९॥
स्वस्यान्यस्य च कायोऽयं बहिश्छायामनोहरः ।
अन्तर्विचार्यमाणः स्यादौदुम्बरफलोपमः ॥१७०॥
तद्वैविध्ये च देहे च याथात्म्यं पश्यतां सताम् ।
उद्वेगाय कथं नाम चित्तवृत्तिः प्रवर्तताम् ॥१७१॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मतिश्रुतावधिबोधमार्गत्रयप्रवृत्तमतिमन्दाकिनीसान्द्रः सौधर्मेन्द्रः किल सकलसुरसेवासभावसरसमये सम्यक्त्वरत्नगुणाभ्युदयानुमहायोगाहरविदानी

है।' इस प्रकार चित्तमें लाना विचिकित्सा कहाता है। शास्त्रमें कहे गये शीलको पालने अथवा उसका आशय समझनेमें जो जीव असमर्थ है सो यह उसीका दोष है। स्वतः शुद्ध आकाश भी जो मलिन दिखाई देता है सो यह आकाशका दोष नहीं है किन्तु देखनेवालेकी आँखोंका दोष है॥ जो मनुष्य शरीरमें दोष देखकर उसके अन्दर बसनेवाली आत्मासे ग्लानि करता है, वह लोहेकी कालिमाको देखकर निश्चय ही सोनेको छोड़ता है। अर्थात् जैसे लोहेकी कालिमाका सोनेसे कोई सम्बन्ध नहीं है वैसे ही शरीरकी गन्दगीका आत्माके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः शरीरके गन्देपनको देखकर तपस्वी साधुकी आत्मासे घृणा नहीं करनी चाहिए॥ अपना शरीर हो या दूसरेका, वह बाहरसे ही मनोहर लगता है। उसके अन्दरकी हालतका विचार करनेपर तो वह उदुम्बरके फलके समान ही है॥ अतः इस परम्परागत उपदेश तथा इस शरीरके वास्तविक स्वरूपको जाननेवाले सज्जनोंकी चित्तवृत्ति (शरीरकी गन्दगीको देखकर) कैसे व्याकुल हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती॥१६७–१७१॥

भावार्थ—रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें निर्विचिकित्साका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि यह शरीर स्वभावसे ही गन्दा है किन्तु यदि उसमें रत्नत्रयसे पवित्र आत्माका वास है तो शरीरसे ग्लानि न करके उस आत्माके गुणोंसे प्रीति करनेको निर्विचिकित्सा अंग कहते हैं। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि दुर्भाग्यसे पीड़ित मनुष्योंको देखकर सुखी मनुष्योंके चित्तमें यह भावना आ जाती है कि हम श्रीमान् हैं और यह बेचारा विपत्तिका मारा हुआ दीन-हीन पापी है, यह भला हमारे बराबर कैसे हो सकता है। इस प्रकारका अहंकार केवल अज्ञान मूलक है वास्तवमें कर्मोंके बन्धनमें पड़े हुए सभी प्राणी समान हैं। अतः जो कर्मोंके शुभोदयसे फूलकर कर्मोंके अशुभोदयसे पीड़ित प्राणियोंसे घृणा करते हैं और शास्त्रमें प्रतिपादित जप-तप-नियमादिकको कष्टदायक जानकर उसे वृथा समझते हैं तथा तपस्वियोंके मैले शरीरको देखकर उनकी निन्दा करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं—उनकी दृष्टि ठीक नहीं है। और जो ऐसा नहीं करते, वे ही सम्यग्दृष्टि हैं।

३ निर्विचिकित्सा अंगमें प्रसिद्ध उद्दायन राजा की कथा

इस सम्बन्धमें एक कथा है उसे सुनिए—

---

१ शीलार्थं आचरणमवगमनं ज्ञातुमसमर्थो वा । २ नभसः । ३ नेत्रस्य संबन्धी ।

मिन्द्रकच्छदेशेषु मायापुरीत्यपरनामावसरस्य रौरुकपुरस्य प्रभोः प्रभावतीमहादेवीविनोदायतनादोद्दायनान्मेदिनीपतेः सद्दर्शनशरीरगदचिकित्सायामचिकित्सायामपरः कोऽपि क्षान्तमतिप्रसरो मोक्षलक्ष्मीकटाक्षावेक्षणाक्षुण्ण[1]पात्रे मर्त्यक्षेत्रे नास्तीत्येतच्च वासवसंज्ञेशस्त्रिदशः पुरन्दरोदितासहमानप्रश्नस्तत्र महामुनिसमूहप्रचारप्रचरे नगरेऽवतीर्य सर्वाङ्गाधिना[2]ऽप्रतिष्ठ[3]कुष्ठकोष्ठकं निष्ठ्यूतद्रवोद्रेकोपद्रुतदेहमखिलदेहिसदोहोद्वेजनश्रवणे[4]क्षणघ्राणगरणविनिर्गलदनर्गलदुर्गन्धपूयप्रवाहमूर्धस्फुटितस्फोटस्फुटचेष्टितानिष्टमक्षिकाक्षिप्ताशेषशरीरमभ्यन्तरोच्छ्रयथुं[5]कोथोत्तरङ्गत्वगन्तरालप्रलीनाखिलनखनासीरमविच्छिन्नोन्मूर्छ[6]द[8]तुच्छकच्छूच्छन्नसृक्कसारिणीसरं[7]स्सततलालास्रावमनवरतस्रोत[9]सृतातीसारसंभूतवीभत्सभावमनेकशो विशिखाशिखोत्पतनिपताश्रिताशुचिरं[10]ाशिदुर्दर्शवपुषमृषिवेषमादायादं[11]नायावनीपतिभवनमभजत् ।

भूपतिरपि सप्ततलारब्धसौधमध्यमध्यासीनस्तमसाध्यव्याधिविधुरधिषणाधीनविष्वाणा[12]ध्येषणाय निजनिलयमालीय[13]मानमवलोक्य सौत्सुक्यमागत्य स्वीकृत्य च कृत्रिमातङ्क[14]पावकपरवशास्वनितं मुहुर्मुहुर्महीतले निपतन्तमनुद्विग्नमनश्चरित्र प्रकामदुर्जयखर्जनाजर्जनजर्जरितगात्रं काश्मीरपङ्कपिञ्जरेण भुजपञ्जरेणोद्[15]नीयानीय चाशन[16]वेश्मोदरं स्वयमेव समाचारितोपकारैं[17]स्तदभिलापोन्मेषसारैराहारैरुपशान्ताशना[18]योत्कण्ठमाकण्ठ भोजयामास ।

एक वार, मति, श्रुत और अवधि ज्ञानसे युक्त सौधर्मेन्द्र देवोंकी सभामे उनके उपकारके लिए सम्यग्दर्शन रूपी रत्नके गुणोंका उदाहरण देते हुए बोला—'इस समय, मोक्ष रूपी लक्ष्मीके कटाक्षको देखनेके लिए निर्दोष पात्र स्वरूप इस मनुष्य लोकमें, इन्द्रकच्छ देशकी मायापुरी नगरीके स्वामी राजा उद्दायनके समान निर्विचिकित्सा अगका पालन करने वाला दूसरा नहीं है।'

यह बात वासव नामके देवको सह्य नहीं हुई। वह अनेक महामुनियोंके विहारसे पवित्र उस नगरीमें आया और उसने एक कोढ़ी मुनिका रूप धारण किया। उसके समस्त अग कोढ़से गल रहे थे, सारा शरीर बहते हुए पीब वगैरहसे सना था, आँख, नाक, कान वगैरहके छिद्रोंसे अत्यन्त दुर्गन्धवाला मल बहता था, जिसे देखकर सबको ग्लानि होती थी, शरीरके ऊपरी भागमें अनेक फ़ोड़े उठे हुए थे जिनपर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। समस्त शरीरमें निरन्तर खाज उठ रही थी, ओठोंके दोनों ओरसे निरन्तर राल टपकती थी और अतीसार रोगके कारण निरन्तर मल बहता था। गन्दी नालियोंमें गिरने उठनेसे उसका शरीर गन्दगीसे भरा हुआ था।

ऐसे दुर्दर्शनीय साधुका वेष बनाकर भोजन करनेके लिए वह देव राजभवन गया। अपने सतमजिले महलमें बैठे हुए राजाने असाध्य रोगसे व्याकुल बुद्धिवाले उस साधुको जैसे ही भोजनके लिए अपने महलकी ओर आता हुआ देखा, वह बड़ी उत्सुकताके साथ उठकर आया और उसे पड़गाहा। बनावटी रोगसे उसकी आवाज भारी हो रही थी, बार-बार वह पृथ्वीपर गिर पड़ता था तथा अत्यन्त भयानक खाजसे उसका शरीर जर्जर हो चुका था। ऐसे उस साधुको वह राजा किसी उद्वेगके बिना केशरके लेपसे पीली हुई अपनी भुजाओंमें उठाकर भोजनशालामें लाया। और स्वय ही सब उचित उपचार करके उसे भरपेट रुचिकर आहार कराया।

---

१ –क्षूण– अ० ज० मु०। परिपूर्ण। २. व्याधिना–रोगेण। ३ अशोभित। ४ कर्ण-चक्षुर्घ्राण-गल-एतेभ्यो-विनिर्गलदनवरतपूयप्रवाहम्। ५ कोथस्तु मथने नेत्रत्वग्भेदे शाटितेऽपि च। ६ उत्पद्यमान। ७ श्रवत्। ८ मलद्वारश्रवत्। ९ –भाव नं–व०। १० गूथश्रेणि। ११ आहारार्थम्। १२ आहारग्रहणाय। १३ आगच्छन्तम्। १४ रोग। १५ उद्धृत्य। १६. रसवतीगृहमध्यम्। १७ –पचार–मु०। १८ उपशान्ता अशनाय उत्कण्ठा यस्य।

मायामुनि[1] पुनरपि तन्मनोजिज्ञासमानमानसः प्रसभमतिगम्भीरगलगुहाकुहरोदरोदरा नमोदरघोषाभिघातघूर्णितापघनमप्रतिघ चोयमीत्। भूमीपतिरपि 'हा, कष्टमनिष्ट, यन्मे मन्दभाग्यस्य[2] गृहे गृहीताहारोपयोगस्यास्य मुनेर्मनः खेदपादपचितविपर्दिः समभूत्' इत्युपेक्षुणामिव चेष्टितवर्त्मानमात्मानं विनिन्दन्मायामयमक्षिकामण्डलितकपोलरेखावेदितमुखा-दसरालस्तालाल्किममिन्दिरामन्दिरारविन्दोदरसौन्दर्यनिकटेनाञ्जलिपुटेनादायादाय मेदिन्यामुं[3] दपक्षत्। पुनश्चोद्गीर्णोद्वीर्णदुर्वर्णकूरनिकरे भर्मिभ्रमिभिर्भरारम्भपतितशरीरं सम्पलकर स्यामलीम[4] समुत्थाप्य चतुरञ्जनितवाञ्छनमसगमुत्तरीयदुकूलाञ्चलविलुप्तसलिलसंपमनसं पादनेनानुकम्पनविधानोचितवचनरचनेन च साधु समाश्वासयत्।

तदनु[5] मनोदामृतामन्दद्रवयात्तवालवलयोल्लसत्प्रीतिलतावनि[6] सुरचरो मुनिवर्यधार्यं सद्दर्शनश्रवणोत्कण्ठितान्ति[7] 'त्रिदिवोत्पादिपरिषदि परगुणग्रहणाग्रहनिधानेन विबुधप्रधानेन प्रास्यराज्यसमभ्यार्थनसर्वितजगत्त्रयीनिजनामधेयप्रसिद्धिर्यथोक्तसम्यक्त्वाधिगमाधेयबुद्धि-रेपवर्णितस्तथैवाय मया महाभागो निर्वर्णित[8]' इति विचिन्त्य प्रकटितात्मरूपप्रसरस्तमव-नीश्वरममरतरुप्रसूनवर्षानन्ददुन्दुभिनादोपघातवृष्टिभि साधुकारपरम्पराहाराचसरवृत्ति-भिश्चारैरुपचारैरनिमिर्यविषयसमृद्धिभिर्मनोभिवाञ्छितसंपादनविष्णुभिस्तैस्तैः पठितमात्रविधे-यविद्योपदेशगर्भैर्वस्त्रसद्मभिश्च सम्भाव्य सुरलोकं प्रत्याविवेश।

तब उस मायावी मुनिने राजाके मनका भाव जाननेकी इच्छासे, मेघके गर्जनको भी मात कर देने वाली गलेकी आवाजके साथ जो कुछ खाया पिया था वह सब वमन कर दिया। 'यह बड़ा बुरा हुआ जो मुझ अभागेके घर भोजन करनेसे मुनिराजको वमन हो गया।' इस प्रकार अपनेको अनिष्ट चेष्टाओंसे युक्त मानकर वह राजा अपनी निन्दा करते हुए मायामयी मक्खियोंके झुण्डसे आक्रान्त उस साधुके मुखसे निरन्तर बहने वाली झरसे सने हुए अन्नको, लक्ष्मीके निवासस्थान कमलके समान सौन्दर्यशाली अपनी अञ्जलिसे उठा-उठाकर भूमिमें फेंकने लगा। फिर वमन किये हुए दुर्गन्धित अन्नपर मूर्छा आजानेके कारण एक दम गिर पड़े साधुके शरीरको बड़े श्रमके साथ अपने हाथोंमें उठाकर अपने दुपट्टेके कोनेको जलमें भिगोकर उससे उसे धोने लगा। तथा यथायोग्य वगैरह व दयापूर्ण शब्दोंके द्वारा वह साधुको ढाढस बधाने लगा।

राजाके इस सेवाभावको देखकर मुनि वेषधारी उस देवके मनोदरूपी जलसे परिपूर्ण हृदय रूपी क्यारीमें प्रीतिरूपी लता लहलहाने लगी। वह सोचने लगा—'सम्यग्दर्शनका वर्णन सुननेके लिए उत्कण्ठित देवताओंकी सभामें, दूसरोंके गुणोंको ग्रहण करनेका आग्रह रखने वाले इन्द्रने तीनों लोकोंमें अपने नामका ख्याति करनेवाले यथोक्त सम्यक्त्वके आराधक इस राजाके सम्बन्धमें जैसा कहा था वैसा ही इस महाभागको मैंने पाया। ऐसा सोचकर उसने अपना असली रूप प्रकट कर दिया। और अमर तरुके पुष्पोंकी वर्षा, दुन्दुभिके आनन्दपूर्ण नाद तथा दूसरोंके आदर-सत्कारके अवसरपर किये जाने वाले अन्य महान् उपचारोंके द्वारा राजाका बड़ा सम्मान किया और उसे पाठमात्रसे सिद्ध होनेवाली अनेक विद्याएँ तथा वस्त्र वगैरह देकर स्वर्ग-लोकको चला गया।

१ विचार। २ निर्विघ्नं वास्त। ३ मन्दभाग्यस्य– ब च। ४ इत्यपकृष्ट–ब। निन्दनीय चेष्टा। ५. लक्ष्मी निवास। ६. स्पन्दमानाम्। ७ कौतमसमूहैः। ८. माया भ्रमक। –भमिभ्रम–आ। ९. बल। १ तत्पश्चात्। ११ देव। १२ स्थापित। १३ दृष्ट। १४ देव। १५ मंत्रपाठमात्रेण स्वाधीनविद्योपदेशसहितैर्वस्त्रैः।

भवति चात्र श्लोकः—

वालवृद्धगदग्लानान्मुनीनौद्दायनः स्वयम् ।
भजन्[1]निर्विचिकित्सात्मा स्तुतिं प्रापत्पुरन्दरात् ॥१७२॥

इत्युपासकाध्ययने निर्विचिकित्सासमुत्साहनो नाम नवमः कल्पः ।

अन्त[2]र्दुरन्तसंचारं वहिराकारसुन्दरम् ।
न श्रद्दध्यात्कुदृष्टीनां मतं किम्पाकसंनिभम् ॥१७३॥
[3]श्रुतिशाक्यशिवाम्नायः क्षौद्रमांसासवाश्रयः ।
यदन्ते[4] मखमोक्षाय विधिरत्रैतदन्वयः ॥१७४॥
भर्मिभस्मजटावोट[5]योगपट्टकटासनम् ।
मेखलाप्रोक्षणं मुद्रा [6]वृषीदण्ड· करण्डकः ॥१७५॥
शौचं मज्जनमाचामः पितृपूजानलार्चनम् ।
अन्तस्तत्त्वविहीनानां प्रक्रियेयं विराजते ॥१७६॥
को देवः किमिदं ज्ञानं किं तत्त्वं कस्तपःक्रमः ।
को वन्धः कश्च मोक्षो वा यत्त्रेदं न विद्यते ॥१७७॥
आप्तागमाविशुद्धत्वे क्रिया शुद्धापि देहिषु ।
नाभिजातफलप्राप्त्यै विजातिष्विव जायते ॥१७८॥

इसके विषयमें भी एक श्लोक है, जिसका आशय इस प्रकार है—"बाल, वृद्ध और रोगसे पीड़ित मुनियोकी स्वय सेवा करनेवाला, निर्विचिकित्सा अगका पालक, राजा उद्दायन इन्द्रके द्वारा प्रशसित हुआ ।"

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें निर्विचिकित्सा अङ्गका वर्णन करनेवाला नौवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब अमूढदृष्टि अङ्गको बतलाते हैं—]

जिसके अन्दर बुराइयाँ भरी है किन्तु जो बाहरसे सुन्दर है, किम्पाकफलके समान ऐसे मिथ्यादृष्टियोंके मतपर श्रद्धा मत करो ॥१७३॥

वैदिक मतमें मधुके प्रयोगका विधान है, बौद्धमतमें मास-भक्षणका विधान है, और शैवमतमें मद्यपानका विधान है। इन आम्नायोंमें जो यज्ञ और मोक्षकी विधियाँ है, उनमें भी उक्त वस्तुओंके सेवनका विधान आता है ॥१७४॥

नशा करना, भस्म रमाना, जटाजूट रखना, योगपट्ट, कटिसूत्र-धारण, यज्ञके लिए पशुवध करना, मुद्रा, कुशासन, दण्ड, पुष्प रखनेका पात्र, शौच, स्नान, आचमन, पितृतर्पण और अग्निपूजा, ये सब आत्मतत्त्वसे विमुख साधकोंकी प्रक्रिया है ॥ कौन देव है ? तत्त्व क्या है, तपस्याका क्रम क्या है ? बन्ध किसे कहते हैं ? मोक्षका क्या स्वरूप है ? ये सब बातें वहाँ नहीं है ॥१७५-१७७॥

यदि देव और शास्त्र निर्दोष न हो तो प्राणियोंकी शुद्ध क्रिया भी श्रेष्ठ फलको नहीं दे

---

१ भजन्निर्विचिकित्स्यात्सास्तुतिं प्राप पुरन्दरात् ॥७०॥—धर्मर पृ० ७१उ० । २ विपवृक्षफलप्रायं वहि शोभामनोहरम् । महामोहलतामूल मत मिथ्यादृशा मतम् ॥४०॥ प्रवोवसार । ३ श्रौतवुद्धशिवाम्नाया मधुमासासवाश्रया । सुधिया न प्रशस्यन्ते ग्रह्मतरवेऽपि सस्थिता ॥४१॥—प्रवोधसार । वेदे क्षौद्रस्वीकार । वौद्धमते मासाम्नाय । शैवमते मद्यम् । ४ यज्ञेन कृत्वा मोक्षनिमित्त विधि क्रियते (?) ५ –जूट–व० । ६ वृषी– व्रतिना कुशासनम् ।

तत्संस्तवं प्रशंसां वा न कुर्वीत कुदृष्टिषु ।
ज्ञानविज्ञानयोस्तेषां विपश्चिच्च न विभ्रमेत् ॥१७९॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मुक्ताफलमञ्जरीविराजितविलासिनीकर्णकुण्डलेषु पाण्ड्यमण्डलेषु पौरपुण्याचारविधुरितविधुरायां दक्षिणमथुरायामशेषश्रुतपारावारपारगमवधिबोधाम्बुधिमध्यआधितसकलभुवनमानसम्, अष्टाङ्गमहानिमित्तसपदितसमधिकधिषणाधिकरणम् अखिलश्रमणसंघसिद्धोपास्यमानचरणम् अत्याश्चर्यतपश्चरणगोचराचारचातुरीचमत्कृतचित्तखचरेश्वरविरचितचरणार्चनोपचारं श्रीमुनिगुप्तनामभ्याहार भवन्त भगवन्तं गगनगमनाङ्गनापाङ्गसुधासारणीसंबन्धबोधस्य विजयार्धमेदिनीधरस्य रतिकेलिविलासविगलितगिरिकिसलयेन्तामेखलामयी दक्षिणश्रेणी मेघकूटपत्तनाधिपस्योपान्त्य सुमतिसीमन्तिनीकान्त संसारसुखपराङ्मुखमतिमम्बुजशेखराय सुताय निजैश्वर्यं वितीर्य पर्यवसितदेशयतिरूप सकलाम्बरचरविद्यापरिग्रहसमीप समभ्ययममिवन्द्यासमवधविद्यामवदत् भगवन् पौराङ्गनाश्वारोत्तरङ्गापाङ्गपुनरुक्तस्मरशरायामुत्तरमथुरायां जिनेन्द्रमन्दिरवन्दारुहृदयदोहदवर्ती वर्तेऽहम् । अतस्तन्नगरीगमनाय तत्र भगवता भगवतानुज्ञातव्योऽस्मि । किं च कस्य तस्यां पुरि कथयितव्यमित्यपृच्छत् ।

सकती। जैसे विजातियोंमें कुलीन सन्तानकी प्राप्ति नहीं होती ॥ इसलिए मिथ्यादृष्टियोंकी मनसे प्रशंसा नहीं करनी चाहिए और न वचनसे स्तुति करनी चाहिए। तथा समझदार मनुष्योंको उनके ज्ञानादिकको देखकर भ्रममें नहीं पड़ना चाहिए ॥१७८-१७९॥

भावार्थ—अतत्त्वको तत्त्व मानना, खोटे गुरुको गुरु मानना, कुदेवको देव मानना और अधर्मको धर्म मानना मूढ़ता है। और जो इस प्रकारकी मूढ़ता नहीं करता वह अमूढदृष्टि कहलाता कहा जाता है। कुछ लोगोंका यह भाव रहता है कि लौकिक कल्याणके लिए कुदेवोंकी आराधना करनी चाहिए। किन्तु यह सब लोकमूढ़ता है। इस प्रकारकी मूढ़ता सम्यग्दृष्टिको शोभा नहीं देती।

४ अमूढदृष्टि अंगमें प्रसिद्ध रेवती रानी की कथा

इस विषयमें एक कथा है, उसे सुनें—

पाण्ड्य देशकी दक्षिण मथुरा नगरीमें श्री मुनिगुप्ताचार्य विराजमान थे। वे समस्त श्रुत समुद्रके पारगामी थे, उनके अवधिज्ञान रूपी समुद्रके मध्यमें समस्त भुवनके भाग वर्तमान थे, वे अष्टांगमहानिमित्तके ज्ञाता थे समस्त मुनिसंघ उनके चरणोंकी उपासना करता था। उनके आश्चर्यकारी तपश्चरणको देखकर विद्याधरोंके स्वामियोंके चित्त भी आश्चर्यचकित हो गये थे और वे उनके चरणोंकी पूजा करते थे।

विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणिके मेघकूट नामक नगरका राजा संसारके सुखसे विमुख होकर, अपने पुत्र चन्द्रशेखरको अपना राज्य देकर विरक्त हो गया। और मुनिगुप्ताचार्यके समीपमें उसने क्षुल्लकचारित्र धारण कर लिया। साथ ही परोपकार और वन्दना वगैरहके लिए उसने कुछ विद्याएँ भी अपने पास रक्खीं।

एक दिन मुनिगुप्ताचार्यके पास आकर यह बोला— 'भगवन् मैं उत्तर मथुराके जिनालयोंकी

---

१ पाण्ड्य। २ मथुर। ३ अष्टाङ्गमहानिमित्तानि अन्तरिक्षभौमस्वरव्यञ्जनलक्षणाच्छिन्नस्वप्नाः। ४ विद्याधर। ५ वेताङ्गना।

मुनिसत्तमः—'प्रियतम, यथा ते मनोरथस्तथाभिमतपथः समस्तु । संदेष्टव्यं पुनस्तत्रैतावदेव यदुत तत्पुरीपुरंदरस्य वरुणधरणीश्वरस्य शचीसदृशः सुदृशः पतिजिनपतिचित्तचरणोपचारपदव्या महादेव्या रेवतीतिगृहीतनामया मदीयाशीर्वाच्या, तथावश्यकविशेषवश्यचित्त सुव्रतभगवतो वन्दना च ।

देशे यतिवर —किमपरः तत्र भगवन्, जैनो जनो नास्ति ।

भगवान्—'देशव्रतिन्, अलं विकल्पेन । तत्र गतस्य भविष्यति समस्ताप्यार्हतेतरशरीरिसपंद्मा समक्षा स्थितिः ।' ।

खचरविद्यावीजप्ररोहमल्लकः क्षुल्लको 'यथादिशति दिव्यज्ञानसंगवान्भगवान्' इति निगीर्य गगनचर्ययावतीर्य चोत्तरमथुरायां परीक्षेय तावदेकादशाङ्गनिधानं भव्यसेनम् । तदनु परीक्षिष्ये सम्यक्त्वरत्नवर्ती रेवतीमिति कृतकौतुकः कलमकणिशकिशारुप्रकाशकेशपेशलासरालचूलमुत्तप्तकाञ्चनरुचिरुचिरशरीरगौरतानुकूलमरविन्दमकरन्दपरागपिङ्गलनयनमतिस्पष्टविकटवर्णवर्णनोदीर्णवदनमेकादशवर्षदेशीयमतिविस्मयनीयं कपटवटुवेषमाश्लिष्य तन्मुनिमतमुदवसितमयासीत् ।

वेषमुनिस्तमीक्षणकमनीयं द्विजात्मजसजातीयं विलोक्य किलैवं स्नेहाधिक्यमालीलपत्—'हंहो, निखिलद्विजवंशव्यतिरिक्तसुकृतकृतकल्याणप्रकृतितया समस्तलोकलोचनानन्दोत्पादनपटो वटो कुतः खलु समागतोऽसि' ।

वन्दना करना चाहता हूँ अतः उस नगरीको जानेकी आज्ञा प्रदान करें । तथा उस नगरीमें यदि किसीसे कुछ कहना हो तो वह भी बतला दें कि किससे क्या कहूँ । आचार्य बोले—'प्रियवर ! अपने मनोरथके अनुसार मथुरा नगरीको जाओ । और वहाँके लिए मेरा इतना ही सन्देश है कि उस नगरीके स्वामी वरुण राजाकी रानी जिन भगवान्के चरणोंकी अनन्य उपासिका पतिव्रता महादेवी रेवतीको मेरा आशीर्वाद कहना और अपने आवश्यकोंमें लीन भगवान् सुव्रतमुनिसे वन्दना कहना ।'

'भगवन् ! क्या वहाँ अन्य जैन यति नहीं हैं ?'—देशव्रतीने पूछा ।

आचार्य—'देशव्रती ! यह पूछनेकी आवश्यकता नहीं है । वहाँ जानेपर तुम्हें जैन और जैनेतर मनुष्योंकी स्थिति प्रत्यक्ष हो जायेगी ।'

आकाशगामिनी विद्यामें पटु वह क्षुल्लक 'दिव्यज्ञानी भगवान्की जो आज्ञा' इतना कहकर आकाश मार्गसे उत्तर मथुरामें जा पहुँचा । वहाँ उसे कौतूहल हुआ कि पहले ग्यारह अङ्गके धारी भव्यसेनकी परीक्षा करनी चाहिए, फिर सम्यक्त्व रूपी रत्नसे भूषित रेवतीकी परीक्षा करूँगा । यह सोच उसने ग्यारह वर्षके बालकका अत्यन्त आश्चर्यकारक रूप बनाया । उसके धान्यकी मञ्जरीके अग्रभागकी तरह पीले केश थे, तपाये हुए सोनेके समान शरीरका रूप था, शरीरके अनुरूप ही कमलके रस और रजके समान पीले नेत्र थे और मुखसे अति स्पष्ट सुन्दर स्तुति पाठ करता था । ऐसा रूप बनाकर वह विद्याधारी क्षुल्लक भव्यसेन मुनिके वासस्थानपर गया ।

उस सुन्दर ब्राह्मण बालकको देखकर वह मुनिवेषी बड़े स्नेहसे इस प्रकार बोला—

---

१ पतिश्च राजा जिनपतिर्वीतरागस्वामी तयोश्चित्तंचरणौ पत्युश्चित्तं जिनपतेश्चरणौ । २ स्थानं मार्गो वा । ३ सदृशा । ४ प्रत्यक्षा । ५ भाजन । ६ अक्षरोच्चार । ७ गृहीत्वा । ८ स्थान । ९ अधिक ।

अभिनवजनमनोह्लादनवचनप्रयोगचतुरकभट्टारक, सकलकलाविलासावासविद्वज्जनपवित्रात्पाटलिपुत्रात्'[1]। 'किमर्थम्'। 'अध्ययनार्थम्'[2]। 'काधिजिगांसाधिकरणमन्तःकरणम्'। 'वाङ्मलक्षालनकरप्रकरणे व्याकरणे'। 'तर्हि मदन्तिके स्वाध्यायध्यानसर्वस्व समास्व'[3]। परवादिमदविदारणवाक्प्रक्रमा[4] आसे भगवन्, साधु समासे'[5]।

तदनु अतीतवतीषु कियतीषु चित्कालकलासु 'वटो, ललाटंतपो वर्तते मार्तण्डः। तदुद्धारणेन कमण्डलुम्। पर्यटयागच्छाव'[6]।

बटुः—'यथाज्ञापयति भगवान्'।

पुनर्नगरबाहिरिकायां[7] निर्गते संकल्पसयते स कपटवटुर्मायामयशष्पाङ्कुरनिकरनिकीर्णां विहारावनीमवनिमकार्षीत्। तद्दर्शनादाकुलितयतिरपि मनागभ्यसन्निधाय।

बटुः—'भगवन्, किमित्यकाण्डे विलम्ब्यते।

'वटो, प्रवचने किलैते शष्पाङ्कुराः स्थावराः प्राणिनः पठ्यन्ते'।

'भगवन्, व्यासादिषु मते 'कियतिष्वगुण'[9] अस्थमीषां प्राणा'। केवलं रत्नाङ्कुरा इव धरापरिकारा ह्येते[10] शष्पाङ्कुराः।

'समस्त ब्राह्मण वंशसे अधिक उपार्जित पुण्यसे मनोरम प्रकृति होनेके कारण समस्त लोगोंकी आँखोंको आनन्द देनेवाले बालक, कहाँसे आते हो?' 'नये मनुष्योंके मनको प्रसन्न करनेवाले वचनोंके प्रयोगमें कुशल भगवन्, मैं समस्त कलाओंमें प्रवीण, विद्वानोंसे पवित्र पाटलीपुत्र नगरसे आता हूँ।'

'क्यों आये हो?'

'पढ़नेके लिए।'

'क्या पढ़ना चाहते हो?'

'वचनदोषको दूर करनेमें समर्थ व्याकरण पढ़ना चाहता हूँ।'

'तो स्वाध्याय और ध्यानमें लीन, तुम मेरे पास ही रहो।,

हे परवादियोंके मदको विदारण करनेवाले वचनोंमें प्रवीण भगवान्! जैसी आज्ञा।' आपके पास ही ठहरता हूँ।

उसके पश्चात् कुछ काल बीतनेपर मुनि बोले—

'बालक! सूर्य मध्याह्नमें आगया है। अत कमण्डलु लो, चलो घूम आयें।'

बालक— भगवन्! जो आज्ञा।'

नगरसे बाहर जानेपर उस कपटवेषी बालकने उस विहारभूमिको मायामयी घासके अंकुरोंसे ढक दिया। उसे देख कर वह मुनिवपी भी थोड़ा सकपका गया।

बालक—'भगवन्! व्यर्थमें क्यों देर करते हैं?'

'बालक! शास्त्रमें घासके इन अंकुरोंको स्थावर जीव बतलाया है।'

---

१ वचनमेव जीवनं तस्य (प्रयोगे) चतुर—टीप। २ अध्ययनवर्तुमिच्छा। ३ तिष्ठ। ४ वाङ्मलम् एव अग्नि ताड्ना यस्य। ५ निष्क्रामि। ६ पर्यटनं कृत्वा। ७ बैयाकरिणि। ८ बालतृण। तस्या-मु। ९. कियति पु-ब। १० गम्या—मु।

वेशमुनि 'साध्वयमभिद्धाति' इति विचिन्त्य विहृत्य च नि शङ्कं निष्पादितनीहारो विरहितव्याहार[1] करेण[2] किमप्यभिनयन्नेवमनेनोक्तः—'भगवन्, किमिदं मौनेनाभिनीयते। जिनरूपाजीव '

अभिमानस्य रक्षार्थं प्रतीक्षार्थं श्रुतस्य च
ध्वनन्ति मुनयो मौनमदनादिपु कर्मसु ॥१८०॥

इति मौनफलमविकल्प्य जातजल्प 'द्विजात्मज, समन्विष्य समानीयतामावायत्कायो गोमयो भसितपटलमिष्टकाशकल वा'।

'भगवन्, अखिललोकशौचोचितप्रवृत्तिकायां मृत्तिकायां को दोष '।

'वटो, प्रवचनलोचननिचा[3]यिकास्तत्कायिका.[4] किल तत्र सन्ति जीवा.'।

'भगवन्, ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीवगणः। न च तेपु तद्द्व[5]यमुपलभ्यते'।

'यद्येवमानीयतां मृत्स्ना कृत्स्नाऽसुमत्सेव्या'। वटुस्तथाचर्य कुण्डिकामर्पयति। मुधामुनिर्जलविकलां कमण्डलुं करेणाकलय्य 'वटो, रिक्तोऽयं कमण्डलुः।

'भगवन्, इदमुदकमचिरवल्ले तल्ले समास्ते'।

'वटो, पटापूतपानीयादाने महदादीन[6]व किमिति यतो जन्तवः सन्ति।

तदसत्यमिह स्वच्छतया विहायसीव पयसि तदनवलोकनादिति वचनात्तत्र वहिस्त-

---

भगवन्! इनके श्वासादिकर्मेसे कितने प्राण होते है? घासके ये अकुर तो रत्नोंके समान पार्थिव है।'

'यह वालक ठीक कहता है' यह सोचकर उस मुनिवेषीने नि.शङ्क हो कर उस तृणोंसे व्याप्त पृथ्वीपर विहार किया और शौचसे निवृत्त होनेपर मौनपूर्वक हाथसे सकेत किया। तब वालक बोला—'भगवन्, मौनसे आप सकेत क्यों करते है?' यह सुनकर वह मुनिवेषी 'अभिमानकी रक्षाके लिए तथा शास्त्रकी विनयके लिए भोजन आदि करते समय मुनिगण मौन धारण करनेको कहते है' मौनके इस फलका विचार किये विना वोला—'ब्राह्मणपुत्र! कहींसे भी खोजकर सूखा गोबर राख या ईंटका टुकड़ा लाओ।'

'भगवन्! सब लोग मिट्टीसे शुद्धि करते हैं, मिट्टीमें क्या दोष है?'

'वालक! शास्त्रमें कहा है कि मिट्टीमें पृथिवीकायिक जीव रहते है।'

'भगवान्! जीवका लक्षण तो ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग है, किन्तु मिट्टीमें ये दोनों नहीं पाये जाते।'

'तो सब जीवधारियोंसे सेवनीय मिट्टी लाओ।'

वालकने मिट्टी ला दी और कमण्डलु रख दिया। हाथसे कमण्डलुको खाली जानकर मुनिवेषी बोला—'बालक! यह कमण्डलु, खाली है'

'भगवन्! सामने तालमें तो पानी है।'

'वालक! विना छने पानीको काममें लानेमें वड़ा पाप है; क्योंकि उसमें जीव रहते है?'

'यह विल्कुल झूठ है क्योंकि आकाशकी तरह स्वच्छ इस पानीमें जीव नहीं दिखाई देते।' यह सुनकर उस द्रव्य लिङ्गीने तालपर जाकर शौच क्रिया की।

यह सब देखकर वह विद्याधर सोचने लगा कि इसी लिए अतीन्द्रिय पदार्थोंको

---

१ मौनी। २ सज्ञा कुर्वन्। ३ दृष्टा। ४ पृथ्वीकायिका। ५ ज्ञानदर्शनोपयोगद्वय। ६ कर्मास्रवदोष।

न्यसंयमिनि तस्याभिनिवेशयशस्विकाश्यपवेश्मनि तद्देशमुद्दिश्याभिसर्पति चक्रवरेण चिन्तितम्
अत एव भगवानतीन्द्रियपदार्थप्रकाशनशेमुषीप्रासाद श्रीमुनिगुप्तयो[-प्तो]ऽस्य किमपि न वाचिकं
प्राहिणोत्। यस्मादस्मिन्प्रदीपवर्तिप्रबन्धमिवान्तस्तत्त्वसर्गे निसर्गमलीमसं मानसं बहिः
प्रकाशनसरसं च।

भवति चात्र श्लोकः—

जले तैलमिवैतिह्यं[3] वृथा तत्र बहिष्कृति।
रसवत्स्यान्न यत्रान्तर्बोधो वेधाय धातुषु ॥१८१॥

इत्युपासकाध्ययने भव्यसेनदुर्विलसनो नाम दशमः कल्पः।

परीक्षितस्तावदसमसमयधर्मविध्वंसनो भव्यसेनस्तद्विदामी भगवदाशीर्वादपात्रपोता
प्रभस्तुमती रेवती परीक्ष्ये इत्याकलितान्तःकरणः पुरस्य पुरंदरदिशि[8] हंसांसोत्तंससारासस्येवि
कान्तरासकमलकर्णिकास्तीर्णमृगाजिनासीनपर्यङ्कपर्यायम् अमरसरे[10] संजातसरोजसूत्रवर्तितो-
पवीतपूतकायम् [11]अमृतकरकुरङ्गकृष्णसारकृत्तिकृतोत्तरासङ्गसन्निवेशम्, अनवरतहोमार
म्भसंभूतभसितपाण्डुपुण्ड्र[12] कोटकटनिटल[13]देशम् अम्बरचरतरङ्गिणीजलक्षालितकल्पकुज
वल्कलवसितोत्तरीयप्रतानपरिवेष्टितजटावलयम्, अमरतोयसिन्धुरोधःसंजातकुशपाङ्कुराक्षमा
लाकमण्डलुयोगमुद्राङ्कितकरचतुष्टयम् उपासनसमायात-मतङ्ग-भृगु मर्ग-भरत-गौतम-गार्ग्य-
पिङ्गल-पुलह-पुलोम-पुलस्ति-पराशर-मरीचि-विरोचन-[16]अम्बरीकाभीकाम्यायमानवदनारविं

जाननेकी बुद्धि रखनेवाले श्री मुनिगुप्ताचार्यने इससे कुछ भी नहीं कहलाया। क्योंकि दीपककी बत्तीके मुखकी तरह इसका मन तो स्वभावसे ही कलुषित है किन्तु बाहरमें प्रकाश दिखाई देता है।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

जहाँ धातुमें पारदकी तरह अन्तर्बोध चित्तके अन्दर नहीं भिदता, वहाँ जलमें तेलकी तरह बाहरमें ही प्रकाशमान शास्त्रज्ञान व्यर्थ ही होता है ॥१८१॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें भव्यसेन मुनिकी दुश्चेष्टा बतलानेवाला दसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

भव्यसेनकी परीक्षा हो चुकी। अब भगवान् मुनि गुप्ताचार्यके द्वारा आशीर्वाद पानेवाली रेवती रानीकी परीक्षा करनी चाहिए। ऐसा सोचकर उस विद्याधरने नगरकी पूर्वदिशामें ब्रह्माका रूप बनाया।

वेदिकाके मध्यमें कमलकी कर्णिकापर बिछे हुए मृगचर्मपर वह पर्यङ्कासनसे बैठा हुआ था। मान-सरोवरमें उत्पन्न हुए कमलके धागोंसे बना हुआ यज्ञोपवीत उसके शरीरपर पड़ा हुआ था। चन्द्रमाके हिरणके वंशके कृष्णसार मृगके चर्मका बना हुआ उसका दुपट्टा था। निरन्तर होनेवाले होमकी भस्मका त्रिपुण्ड्र उसके मस्तकपर सुशोभित था।

गंगाके जलसे धोये गये कल्पवृक्षके वल्कलसे उसकी जटाएँ बँधी हुई थीं। गंगाके किनारोंपर उगे हुए कुशाङ्कुर, रुद्राक्ष माला कमण्डलु और योगमुद्रासे उसके चारों हाथ युक्त

१ धूम्र। २ सम्बेत। ३ शास्त्र। ४ ब्रह्माकार। ५. पारदवत्। ६ भेदाय। ७ हंसाद् प्रकटीभविष्यन्ती संसारमेना यस्य। ८. नगरस्य पूर्वदिशि। ९. अंसद्वयेन अन पृष्ठे। तस्य कृष्णस्य चर्मणा मुञ्जमाय बन्धनी बाधाम। १० मानसरोवर। ११ चन्द्रस्य लाञ्छने यो मृगो वर्तते तस्य वंशोत्पन्नस्य मृगस्य चर्मणा। १२ त्रिपुण्ड्र। १३ ललाट। १४ १५. देवगङ्गा। १६ धर्म। १७ एते ब्रह्मणः एव मन्त्राः।

न्दकन्दरविनिर्गलन्निखिलवेदमकरन्दसंदोहम्, उभयपार्श्वावस्थितमूर्तिमन्निखिलकलाविलासिनीसमाजसंचार्यमाणचामरप्रवाहम्, उदारनादनारदमुनिना मन्यमानप्रतीहारव्यवहारम्, अम्भोभवोद्भवाकारमासाद्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास।

सापि जिनेश्वरचरणप्रणयमण्डपमण्डनमाधवी वरुणधरणीश्वरमहादेवी नृपतिपुरोहितात्तमुदन्तमाकर्ण्य त्रिषष्टिशलाकोन्मेषेषु पुरुषेषु मध्ये ब्रह्मा नाम न कोऽपि श्रूयते। तथा—

आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य।
ब्रह्मेति गीः प्रगीता[3] न चापरो विद्यते ब्रह्मा ॥१८२॥

इति चानुस्मृत्याविस्मयमतिरतिष्ठत्।

पुनः कीनाशदिशि पवनाशनेश्वरशरीरशयनाश्रितापघनमितस्ततः प्रकामप्रसरत्तदङ्गोत्तरङ्गकान्तिप्रकाशपरिकल्पितामृताम्बुधिसंनिधानम्, उल्लेखोल्लसत्फणामणिमरीचिनिचयसिचयाचरितनिरालम्बाम्बरवितानभावम्, अमर्त्योद्यानप्रसूनमञ्जरीजालजटिलप्रतानवनमालामकरन्दमण्डितकौस्तुभप्रभाभावम्, असितसितरत्नकुण्डलोद्द्योतसंपादितोभयपक्षपक्षद्वयाक्षेपम्, अनेकमाणिक्याधिकाघटितकिरीटकोटिविन्यस्तास्तोकस्तवकपारिजातप्रसवपरिमलपानपरिचयचटुलचञ्चरीकचयरच्यमानापरेन्दीवरशेखरकलापमति गम्भीरनाभीनदनिर्गतोन्नालनलिनलयनिलीनहिरण्यगर्भसंभाव्यमाणनामसहस्रकलमाखण्डले जलधिसुतासंवाह्यमानक्रमकम-

थे। उसकी उपासनाके लिए मतङ्ग, भृगु, भर्ग, भरत, गौतम, गर्ग, पिङ्गल, पुलह, पुलोम, पुलस्ति, पाराशर, मरीचि और विरोचन ऋषिरूपी भ्रमरोंकी सेना आई हुई थी, जो उसके मुखकमलरूपी गुफासे झरनेवाले समस्त वेदरूपी पुष्पमधुके समूहका स्वाद ले रही थी। दोनों ओर खड़े होकर समस्त मूर्तिमान् कलाओंकी तरह देवागनाएँ चामर ढारती थीं और नारद मुनि द्वारपालका काम करते थे। इस प्रकार ब्रह्माका रूप धारण करके उस विद्याधरने समस्त नगरमें हलचल मचा दी।

जिनेन्द्र भगवान्के चरणोंमें स्नेहरूपी मण्डपको सुशोभित करनेके लिए माधवीलताके समान उस वरुण राजाकी पटरानी रेवतीने जब राजपुरोहितके मुखसे उक्त वृत्तान्त सुना तो वह विचारने लगी कि तेरसठ शलाकापुरुषोंमें तो किसीका भी नाम ब्रह्मा नहीं है। तथा—

"आत्माको, मोक्षको, ज्ञानको, चारित्रको और भरतके पिता ऋषभदेवको ब्रह्मा कहते हैं। इनके सिवा और कोई ब्रह्मा नहीं है" ॥१८२॥

ऐसा विचारकर कुछ आश्चर्य करके चकित हो वह बैठी रही।

इसके पश्चात् उस विद्याधरने नगरकी दक्षिणदिशामें विष्णुका रूप धारण किया। विष्णु भगवान् शेषनाग शैय्यापर लेटे हुए थे। इधर-उधर फैली हुई उनके शरीरकी कान्तिके प्रकाशसे अमृतका समुद्र-सा बन गया था। उनके शेषनागके फणके मणिकी किरणोंके समूहरूपी वस्त्रसे निरालम्ब आकाशमें चन्दोआ-सा तना था। अनेक प्रकारके मणि-मुक्ताओंसे बने हुए उसके मुकुटकी चोटीपर पारिजात वृक्षके फूलोंके बड़े-बड़े गुच्छे रखे थे। उनकी सुगन्धका पान करनेके लिए उनपर बहुतसे भौंरे एकत्र हो गये थे। वे ऐसे मालूम होते थे मानो नीले कमलोंका बना यह

१ मूर्तिमत्य कला इव देवस्त्रीसमूहः। २ कमलोत्पन्नस्य ब्रह्मणो रूप प्राप्य। ३ प्रणीता आ०। कथिता। ४. यमस्य दक्षिणदिशि। ५ शेषनागशय्या। ६ शरीर। ७ नागशरीर। ८ वस्त्र। ९ देव। १० कृष्णशुक्लपक्षौ। ११.-विकाधिकघ-ब०। १२ चपलभ्रमर। १३ नीलोत्पल। १४ हृद। १५ कमल। १६ क्षीरसागर। १७ लक्ष्मी।

समन्ततश्चरणप्रसारेकमन्दकसंकीर्णकरम्, [4]असुरवृन्दवन्दीकृतसुन्दरीसंपाद्यमानचामरोपचारव्यतिकरम्, भवदेवानुजयिनीयमानसेवागतसुरसमाजम्, [5]भधोक्षजवेषं विरचय्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास। सापि जिनसमयरहस्यार्थसारसरस्वती रेवती कर्णपरम्परया किंवदन्तीमेतामुपश्रुत्य 'सन्ति खल्वधचक्रवर्तिनो नव कौमोदकीभृतः'। ते तु सम्प्रति न विद्यन्ते। अथ पुनरपरं एव कश्चिदिन्द्रजालिको लोकविप्रलम्भनायावतीर्णः इति निर्णीय विचक्षिततया समासीत्।

पुनः [6]पाश्चात्यदिशि शिशिरगिरिशिखराकारकायशाक्कराभितशर्वरीरामोगम[7]न्यङ्कुकन्याकम्बनाभिनिर्दि[8]रीयस्तम्बस्थितमस्तिमितपूरमाणम्, अविरलमिथुनभिस्सर्पिकपूरोद्भि[9]रवल्गनसंभवपरागपाण्डुरितपिच्छपरिकरम्, अविरलगोरोचनाम[10]रागपिङ्गलाम्बकपरिकल्पितभासुरसरस्वणसरोजाकरम्, भवालकपालकलकलापालवालवलयविलसम्भीसितमृलम्बितकरम् [11]अतिविकटजटाजूटकोटरपर्यटत्स्वर्गगना[12]टतटमीतरङ्गकरकेलिकुतूहलितबालमालेय[13]करम्, [14]आमरणे भक्तिसदृमिताने भक्तभुजङ्गभोगे[15]संगतामेकमाणिक्यविरोक[16]निकरातिशयप्ता[17]रक्षार्द्रचर्मनिर्गतवरा[18]जमानम्, [19]उग्रमरुमरुककाण्डे[20]कायकपालपरशुभिन्नगलद्पारावलिसक्तस्फोटे[21]कोटिविस्तारम्, स्तम्बेरे[22]मासुरचर्मप्रयत्नभिरघुर्दिनीकृतनर्तनभीमतानम्, अनसोद्भय-निकुम्भ[23]कुम्भोदर

दूसरा शिरोभूषण है। विष्णुकी गहरी नाभिसे एक ऊँची नाल निकली हुई थी उसपर ब्रह्मा विराजमान थे और वे सहस्रनामका पाठ करते थे। लक्ष्मी उनके चरण-कमलोंकी सेवा कर रही थी। उनके हाथोंमें शंख चक्र, कमल और खड्ग थे। बन्दिनी बनाई गई दैत्योंकी सुन्दरी स्त्रियाँ चमर ढारती थीं और सेवाके लिए आये हुए देवताओंको अन्दर के जानेके लिए गरुड़ राजद्वारपर खड़े हुए थे।

इस प्रकार विष्णुका रूप धारण करके उस विद्याधरने समस्त नगरमें हलचल मचा दी। जिन-शासनके रहस्यको जाननेमें सरस्वतीके तुल्य रेवती रानीने भी परम्परासे इस बातको सुना। सुनकर वह विचारने लगी कि विष्णु नौ होते हैं किन्तु वे आजकल नहीं हैं। लोगोंको ठगनेके लिए यह कोई इन्द्रजालिया आया हुआ है। ऐसा निर्णय करके वह नहीं गई।

इसके पश्चात् उसने पश्चिम दिशामें रुद्रका रूप धारण किया। वह हिमालय पर्वतके शिखरके आकार शरीरवाले वृषभपर बैठे हुए थे। उनके वाम भागमें पार्वती बैठी थी। गोरोचना और भौंरोंके रागसे पीले हुए नयन ऐसे मालूम होते थे मानो मस्तक रूपी सरोवरमें स्वर्ण-कमल खिले हुए हैं। गलेमें नरमुण्डोंकी माला पड़ी हुई थी। जटाओंके अन्दर विहार करती हुई गंगा नदीकी लहरोंमें बाल-चन्द्रमा खेलता था। भूषणकी तरह धारण किये गये वृहत्काय सर्पोंके फणके रत्नोंकी किरणोंसे चितकबरा हुआ सिंहचर्म धारण किये हुए थे। डमरू त्रिशूल खट्वांग आदि लिये हुए थे। गजासुरके चर्मसे टपकनेवाले रक्तने नृत्यभूमिमें वर्षाऋतुका

---

१ चक्र। २ भृगु। ३ खड्ग। ४ दैत्यानां स्त्रियः चामराणि धृता। तासि चामरा क्रियन्ते ५ गरुड़ो द्वारपालो जात। ६ विष्णो रूपं प्राप्य। ७ परिज्ञाय। ८. भवास्वामिन। ९ पश्चिमायां दिशि। १० वृषभ। ११ पश्चाद्भूतगौरी। १२ निविड़। १३ तरल। १४ शरीर। १५ लोचन। १६ वैकती। १७ चक्र। १८ रचना। १९ मिश्रित। २० भूषण। २१ शरीर। २२ किरण। २३ मधुर चर्मणं। २४ भृगु। २५ –टक्कोट–च। घकौटा इत्यु। २६ गजासुर। २७ निकुम्भोदर–च।

हेरम्ब-भिङ्गिरिटि-प्रभृति-पारिषद्परिपत्परिकल्प्यमानबलिविधानम्, अहिर्बुध्नावतरनिधान-माकारमनुकृत्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास।

सापि स्याद्वादसरस्वतीसुरभिसंभावनवत्सलवी वरुणमहीशमहादेवी इमां जनश्रुतिं कुतश्चित्पश्चिमप्रतोलिसृताद्विपश्चितो निश्चित्य, निशम्यन्ते खलु प्रवचने तपःप्रत्यवायवार्ताऽभद्रा रुद्रास्ते पुन संप्रति स्वकीयकर्मणां विपाकात्कालिन्दीसोदरोदरगर्तवर्तिनः संजाता। तदयमपर एव कश्चिन्नरेन्द्रविद्यादिनोदाविदग्धहृदयमर्दी कपर्दीति च प्रपद्य नि संदिग्धबोधा समासिष्ट।

पुन. स्वापतेयेशदिशि विश्वंभरातलादूर्ध्वम्, अयोमुखासनदशसहस्रार्धावकृष्टम्, एकेन्द्रनीलशिलावर्तुलाधिष्ठानोत्कृष्टम्, अखिलगतिगर्तोत्तरणमार्गैरिव सोपानसर्गैश्चतुर्दिशमुपाहितावतारम्, अनर्घद्रुघणमणिश्लाघ्योन्नतनवप्राकारान्तराचरितस्पष्टाष्टविधवसुंधरम्, अनवधिनिर्माणमाणिक्यसूत्रितत्रिमेखलालंकारकण्ठीरवपीठप्रतिष्ठपरमेष्ठिप्रतिममशेषतः समासीनद्वादशसभान्तरालविलसन्निलिम्पानकाशोकानोकहप्रमुखप्रातिहार्योपशोभितम्, ईषदुन्मिषदनिमिषोद्यानप्रसूनोपहारहरिचन्दनामोदसनाथगन्धकुटीसमेतम्, अनेकमानस्तम्भतडागतोरणस्तूपध्वजधूपनिपनिधानर्निभरसुरगनरानिमिपनायकानीकानीतमहामहोत्सवप्रसरम्, अभितो भवसेनप्रभृत्यार्हताभासप्रभावितयात्राधिकरणं समवशरणं विस्तार्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास।

समय उपस्थित कर दिया था। कार्तिकेय, कुम्भ, निकुम्भ, गणेश आदि उनकी पूजा करते थे। इस प्रकार रुद्रका रूप धारण करके उस विद्याधरने समस्त नगरको क्षोभित कर दिया। स्याद्वादवाणी रूपी कामधेनुको दुहनेवाली रेवती महारानीने भी पश्चिम दिशाके मार्गसे आनेवाले किसी ब्राह्मणसे उक्त समाचार सुना। वह सोचने लगी कि शास्त्रमें तपोभ्रष्ट ऋषियोंसे रुद्रोंकी उत्पत्ति सुनी जाती है। किन्तु इस समय तो वे सब अपने-अपने कर्मोंके उदयसे यमराजके उदरमें चले गये। इस लिए यह कोई इन्द्रजाल विद्याके द्वारा मूर्ख मनुष्योंके हृदयोंको फुसलानेवाला दूसरा ही रुद्र है ऐसा निर्णय करके वह रह गई।

इसके बाद उस विद्याधरने उत्तर दिशामें जिनेन्द्रदेवके समवशरणकी रचना की। धरातलसे पाँच हजार धनुषकी ऊँचाई पर एक इन्द्रनीलमणिकी गोलाकार उसकी भूमि थी। उस तक पहुँचनेके लिए चारों दिशाओंमें सीढ़ियाँ बनी हुई थीं जो ऐसी प्रतीत होती थीं कि मानो चारों गतिरूपी गड्ढोंसे निकलनेके ये मार्ग हैं। बहुमूल्य मणिसे निर्मित नौ ऊँचे प्राकार बने थे जिनके मध्यमें आठ भूमियाँ थीं। माणिक्यसे बनी हुई तीन कटनियोंसे सुशोभित सिंहासन पर वह परमेष्ठी की तरह विराजमान था। चौरों ओर बारह सभाएँ लगी थीं और उनके बीचमें अशोक वृक्ष आदि प्रातिहार्य थे। अनेक गन्धकुटी थीं, जो देवोद्यानके अधखिले हुए पुष्पोंसे और हरिचन्दनकी सुगन्धसे युक्त थीं। अनेक मानस्तम्भ, तालाब, तोरण, स्तूप, ध्वजा, धूपघट और निधियाँ वहाँ विराजमान थीं। तिर्यञ्च मनुष्य और देवोंके स्वामियोंकी सेनाके द्वारा वहाँ महामहोत्सव हो रहा था। उससे प्रभावित होकर भवसेन आदि जैनाभास वहाँ यात्राके लिए आ रहे थे। ऐसे समवशरणकी रचना करके उस विद्याधरने समस्त नगरमें हलचल मचा दी। जिनागमके उपदेशरूपी

---

१ रुद्रावतार। २ कामधेनु। ३ गोपी। ४. -श्रिता-ब०। ५ यमराज। ६ इन्द्रजाल। ७ उत्तरदिशि। ८ धनु। ९ चतुर्गति। १० व पसोपान-अ०, ज०। ११ सिंहासन। १२ देवदुन्दुभि। १३ धूपघट।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—सुराष्ट्रदेशेषु मृगेक्षणापघ्नसमूलावलोकितापहसितामलकमले पाटलिपुत्रे सुसीमाकामिनीमकरध्वजस्य यशोध्वजस्य भूभुजः पराक्रमाक्रमाक्रान्तसकलवीरः सुवीरो नाम सुतस्तनाशावितविद्यावृद्धसंयोगसमयस्याद्विटविटपकदूषितहृदयत्वाच्च प्रायेण परद्रविणदारापहारोदारक्रियः क्रीडार्थमेकदा क्रीडावनं गतः कितवकिरातपश्यतोहरवीरपरिषदमित्थमवादीत्—'अहो विक्रमैकरसिकेषु महासाहसिकेषु भवत्सु मध्ये किं कोऽपि मे प्रार्थनातिथिमनोरथसारथिरस्ति, यः खलु पूर्वदेशनिवेशायास्तकीर्तेन ताम्रलिप्तिपत्तने पुण्यपुरुषकाराभ्यामारब्धसात्कृतरत्नाकरसारस्य जिनेन्द्रभक्तनामाधारस्य वणिक्पतेः सप्ततलागारभिमभूमिभागिनि जिनसद्मनि छत्रत्रयशिखण्डमण्डनीभूतमद्भुतद्योतसंभोगं वैडूर्यमणिमानयति, तदानेतुः पुनरभिलापविषयमित्येकमेव पारितोषिकम्।

तत्र च सदसि सूर्यो नाम समस्तमलिम्लुचाग्रेसरो वीरः किलैवमलापीत्—'देव कियद्गहनमेतत्ततो योऽहं देवप्रसादादियदवसानविरचितामरावतीपुरस्य पुरंदरस्यापि चूडालंकारनूतनं रत्नं पातालमूलनिलीनभोगवतीनगरस्योरगेश्वरस्यापि फणगुम्फनाभिनवं माणिक्यमपहरामि तस्य मे मनुष्यमात्रपरित्राणपरमपि मणिं लोचनगोचरागारविहारमपहरतः कियन्मात्रं महासाहसम्' इति शौर्यं गर्जित्वा निर्गत्यागत्य च गौडमण्डलमपरमुपायमप-

---

दोषके कारण किसी धर्मात्माकी अवज्ञा और निन्दा न करके उस दोषको छिपाना तो उचित ही है। किन्तु यदि धर्मका वेष धारण करके कोई ढोंगी जानबूझकर अनाचार करता हो और समझानेपर भी न मानता हो तो ऐसे ढोंगियोंके दोषोंको छिपाना उपगूहन अंग नहीं है।

५ उपगूहन अंगमें प्रसिद्ध जिनेन्द्र भक्तकी कथा

इस अंगके विषयमें एक कथा है उसे सुनें—

सुराष्ट्र देशके पाटलीपुत्र नगरका राजा यशोध्वज था। उसके बड़ा पराक्रमी सुवीर नामका पुत्र था। विद्यावृद्ध सज्जनोंका समागम न मिलने तथा विलासी और व्यसनियोंकी संगतिमें पड़ जानेसे वह परधन और परस्त्रीका लम्पट हो गया था।

एक बार क्रीड़ा करनेके लिए वह क्रीडावनमें गया। वहाँ एकत्र हुए ठग, चोर और भीलोंकी परिषदसे वह बोला—आप लोग बड़े पराक्रमी और बड़े साहसी हैं। आपमें से जो कोई ताम्रलिप्ति नगरमें अपने पुण्य और पौरुषसे समुद्रकी सारभूत सम्पत्तिको उपार्जित करनेवाले जिनेन्द्र भक्त सेठके सतमंजिले महलके ऊपर बने हुए जिनालयमेंसे तीन छत्रोंकी चोटीमें जड़ी हुई अद्भुत कान्तिवाली वैडूर्यमणिको चुरा लायगा उसे उसकी इच्छानुसार पारितोषिक दिया जायेगा।

यह सुनकर समस्त चोरोंका मुखिया सूर्य बड़े गर्वसे बोला—'स्वामी यह क्या कठिन है? जो मैं आपकी कृपासे आकाशके अन्तमें बनी हुई अमरावती नगरीके स्वामी इन्द्रके मुकुटमें लगे हुए रत्नको और पातालके अन्दर छिपी हुई भोगवती नगरीके स्वामी शेषनागके फणमें लगे हुए माणिक्यको हर सकता हूँ उसके लिए आँखोंसे दिखाई देनेवाले महलके ऊपर स्थित और मनुष्य मात्रके लिए शरणभूत मन्दिरसे मणि चुराना कौन साहसका काम है?' इस प्रकार अपने शौर्यकी

---

१ चौर। २ मसीपम्। ३ चौर-।

२

श्यन्मणिमोषायाक्षितं[1]क्षुल्लकवेषश्चान्द्रायणाचरणैः पक्षपारणाकरणैर्मासोपवासप्रारम्भैरपरैरपि तपःसरम्भैः क्षोभितनगनगरग्रामग्रामणीगणः क्रमेण जिनेन्द्रभक्तभावाधिकरणतामभजत्।

एकान्तभक्तिशक्तः स जिनेन्द्रभक्तस्तं मायातमसात्कृतप्रियतमाकारमपरमार्थाचारमजानन्नार्यवर्याविश्यमनेकानर्घ्यरत्नरचितजिनदेहसदोहेऽस्मद्देवगृहे त्वया तावदासितव्यं यावदह वहित्रयात्रा विधाय समायामि' इत्ययाचत।

अप्रकटकूटकपटक्रमः प्रियतम 'श्रेष्ठिन्, मैवं भाषिष्ठाः', यदङ्गनाजनसंकीर्णेषु द्रविणोदीर्णेषु देशेषु विहितौकसां प्रायेणामलिनमनसामपि सुलभोदाहारा. खलु खलजनतिरस्काराः'।

श्रेष्ठी—'देशयतीश, न सत्यमेतत्। अपरिज्ञातपरलोकव्यवहारस्यावशेन्द्रियव्यापारस्य हि पुरुषस्य वहि सङ्गे स्वान्तं विकुरुतां नाम, न पुनर्यथार्थदृशामनन्यसामान्यसंयमस्पृशां यमस्पृशां भवादृशां यतीशाम्[3]' इति वद्धाग्रहं देवगृहपरिग्रहाय तमयथार्थमुनिमभ्यर्थ्य कलत्रपुत्रमित्रवान्धवेष्वकृतविश्वासो मन परिजनदिनशकुनपवनानुकूलतया नगरवाहिरिकायां प्रस्थानमकार्षीत्।

मायामुनिस्तस्मिन्नेवावसरे तदगारमाकुलपरिवारमवबुध्यार्धावशेषायां निशि कृतरत्नापहारस्तन्मरीचिप्रचारादारक्षिकैरनुद्रुतशरीरः पलायितुमशक्तस्तस्यैव धर्महर्म्यनिर्माणपरमेष्ठिनः श्रेष्ठिनः प्रस्थानावासनिवेशमाविवेश। श्रेष्ठ्यपि दुरालापवहलात्तत्कोलाहला-

---

गर्जना करके सूर्य नामका चोर वहाँसे निकलकर गौड देशमें आया। दूसरा उपाय न देख उसने मणि चुरानेके लिए क्षुल्लकका वेष बना लिया। कभी वह चान्द्रायण व्रत करता था, कभी एक पक्षमें पारणा करता था और कभी एक मासका उपवास करता था। इस प्रकारकी तपस्यासे नगर, गाँव वगैरहमें सर्वत्र हलचल मच गई। फैलते-फैलते यह चर्चा जिनेन्द्रभक्तके कानों तक भी पहुँची। वह परमभक्त उस मायावीके कपटवेषको न जानकर उससे प्रार्थना करनेके लिए गया कि—'आर्य श्रेष्ठ! जब तक मैं देशकी यात्रा करके न लौटूँ तब तक आप अनेक अमूल्य रत्नोंसे रचित मेरे जिनालयमें ही ठहरें।'

अपने कपट जालको छिपानेके लिए वह बोला—'सेठ जी! ऐसा मत कहिए; क्योंकि स्त्रियोंसे व्याप्त और धनसे परिपूर्ण स्थानपर ठहरनेवाले निर्मल चित्त व्यक्तियोंका भी दुष्टजनोंके द्वारा तिरस्कार किये जानेके उदाहरण पाये जाते है।'

सेठ—'क्षुल्लक महाराज! यह बात सत्य नहीं है। जिसने परलोकको नहीं जाना और जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं है, वाह्य निमित्तके मिलनेपर उसका मन भले ही खराब हो जाये, किन्तु यथार्थदर्शी और असाधारण सयमके पालक आप जैसे यतिपतियोंके विषयमें यह बात लागू नहीं हो सकती।' इस प्रकार स्त्री, पुत्र, मित्र तथा वन्धु-बान्धवोंका विश्वास न करके वह सेठ आग्रह पूर्वक उस कपटवेषीको लिवा लाया। तथा मन, कुटुम्बीजन, दिन, शकुन और वायुको अनुकूल पाकर परदेश यात्राके लिए नगरके बाहर जाकर ठहर गया।

उसी दिन वह कपटी मुनि उस मकानको आदमियोंसे भरपूर जानकर आधी रातके बीतनेपर रत्नको चुराकर जैसे ही चला वैसे ही उस रत्नकी चमकसे द्वारपालोंने उसे जाते देख

---

१ चोरणार्थं। २ रचित। ३ यतीशानाम् मु०।

सापि जिनसमयोपदेशरसैरायतैः रेवतीमं मतान्तोपक्रम कुतोऽपि जैनाभासप्रति भातोऽप्युष्य सिद्धान्ते खलु चतुर्विंशतिरेव तीर्थंकराः, ते चाधुना सिद्धिवधूसौधमध्यविहाराः, तदेषोऽपर एव कोऽपि मायावारी तद्रूपधारी इति चायचार्यांयविपर्यस्तमति पेर्वात्मधामन्येव प्रवर्तितधर्मकर्मचक्रे सुखेनासांचक्रे ।

पुनर्वत्क्षुल्लकपटमतिरनेकरूपतिरस्ताभिर्विविधप्रकृतिभिराकृतिभिस्तदास्यनितमक्षुभितमथ गत्योपात्तमासोपवासिवेष क्रियामात्रानुमेयनिखिलकरणो भैपो गोचराय तदास्यं प्रविष्टस्तया स्वयमेव यथाविधिमतिपन्नचेष्टस्तथापि विधावसादनलनाशयमनाविविकार प्रवसारकृतामेकमासमसोऽनेकवपैपात्यो रेवत्या कथंचिदपि मनोमूढतामपश्यन् 'अम्ब, सर्वांम्बरचरविचाऽलंकारसम्यक्त्वरत्नाकरवोऽमि दक्षिणमथुरायां प्रसिद्धावसथ सकलगुणमणिनिर्माणविदूरायनिः श्रीमुनिगुप्तमुनिर्मेदर्पितरचनैर्वचनै परिमुषिताशेषकल्मषसेवनैरपि लकल्याणपरम्परायिरो घनैर्भवती रेवतीमभिनन्दयति । रेवती भक्तिरसप्रयोगसनपनरागाभिरामं ससभ्रम च सत्प्रचारोपसदि पदैस्तां दिशमाश्रित्य श्रुतविधानेन विहितप्रणामा प्रमोदमानमनःपरिणामा तदर्पितान्यमप्रेयं चमान्मादिता ।

भवति चात्र श्लोकः—

कादम्बतोऽर्येगोरिसिंहपीठाधिपतिषु स्वयम् ।
आगतेष्वप्यमूढैषा रेवती मूढतामगात् ॥१८३॥

इत्युपासकाध्ययनेऽमूढतामोहविपरिवृत्तो नामैकादशः कल्पः ।

उसकी नगरीके तुल्य रेवती रानी किसी जैनाभाससे इस समाचारको जानकर विचारने लगी कि आगममें चौबीस ही तीर्थंकर बतलाये हैं और वे सब इस समय मुक्तिरूपी वधूके महलमें विहार करते हैं। इसलिए यह कोई मायाचारी है जो उनका रूप धारण किये हुए है। ऐसा निर्णय करके वह अपने घरमें ही धर्मकर्म करती हुई सुखपूर्वक बैठी रही।

इसके बाद अनेक रूप धरनेमें चतुर वह क्षुल्लक अनेक रूपोंके द्वारा भी रेवती रानीको चपल हुआ न देखकर, एक मासका उपवास करनेवाले साधुका वेष बनाकर अत्यन्त शिथिल इन्द्रियोंके साथ आहारके लिए रेवती रानीके घरपर आया। रेवतीने स्वय ही विधिके अनुसार सब काम किया, किन्तु उस क्षुल्लकने विपाके बहसे कभी अग्निको बुझाकर और कभी वमन आदि करके उसके मनको उद्विग्न करनेका बहुत प्रयास किया, फिर भी वह उद्विग्न नहीं हुई। यह देखकर वह बोला—'माता! दक्षिण मथुरामें विराजमान सकल गुणोंसे भूषित श्री मुनिगुप्त मुनि मेरे द्वारा समस्त पापसे रहित कल्याणकारक वचनोंसे आपका अभिनन्दन करते हैं।'

यह सुनते ही रेवती रानीका मुख भक्तिरसके रागसे रंजित हो उठा। उसने तत्काल ही दक्षिण दिशामें सात पग चलकर शास्त्रानुसार प्रणाम किया और हर्षसे गद्गद होकर मुनिके द्वारा दिये गये आशीर्वादको स्वीकार किया।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'ब्रह्मा, विष्णु शिव और जिनके स्वयं पधारने पर भी रेवती रानी मूढ नहीं बनी ॥१८३॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें अमूढता अंगका वर्णन करनेवाला कल्प समाप्त हुआ।

------

१ नदी। २ परिसामस्त्येन आरमधामनि। ३ आहारार्थं। ४ धूर्तत्व। ५ सम्वार्ग। ६ पौममानि। ७ गृहीतवती।—न्यापादिता आ। ८. हस। ९. पद। 'कादम्ब'। आगतेष्वपि नैवा मूढ रेवती धर्मरता —४२ प।

उपगूहस्थितीकारौ यथाशक्तिप्रभावनम् ।
वात्सल्यं च भवन्त्येते गुणाः सम्यक्त्वसंपदे ॥१८४॥
तत्र—क्षान्त्या सत्येन शौचेन मार्दवेनार्जवेन च ।
तपोभिः संयमैर्दानैः कुर्यात्समयबृंहणम् ॥१८५॥
सवित्रीव तनूजानामपराधं सधर्मसु ।
दैवप्रमादसंपन्नं निगूहेद् गुणसंपदा ॥१८६॥
अशक्तस्यापराधेन किं धर्मो मलिनो भवेत् ।
न हि भेके मृते याति पयोधिः पूतिगन्धिताम् ॥१८७॥
दोषं गूहति नो जातं यस्तु धर्मं न बृंहयेत् ।
दुष्करं तत्र सम्यक्त्वं जिनागमबहिस्थिते ॥१८८॥

[अब उपगूहन अंगको बतलाते हैं—]

उपगूहन, स्थितिकरण, शक्तिके अनुसार प्रभावना और वात्सल्य ये गुण सम्यक्त्व रूपी सम्पदाके लिए होते हैं ॥१८४॥

क्षमा, सत्य, शौच, मार्दव, आर्जव, तप, संयम और दानके द्वारा धर्मकी वृद्धि करनी चाहिए ॥ तथा जैसे माता अपने पुत्रोंके अपराधको छिपाती है वैसे ही यदि साधर्मियोंमेंसे किसीसे दैववश या प्रमाद वश कोई अपराध बन गया हो तो उसे गुण सम्पदासे छिपाना चाहिए। क्या असमर्थ मनुष्यके द्वारा की गई गल्तीसे धर्म मलिन हो सकता है ? मेंढकके मर जानेसे समुद्र दुर्गन्धित नहीं हो जाता ॥ जो न तो दोषको ढाँकता है और न धर्मकी वृद्धि करता है, वह जिनागमका पालक नहीं है और उसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना भी दुष्कर है ॥१८५-१८८॥

भावार्थ—इस गुणके दो नाम हैं एक उपबृंहण और दूसरा उपगूहन। अपनी आत्माकी शक्तिको बढ़ाना या उसे दुर्बल न होने देना उपबृंहण कहलाता है। जनतामें धर्मका उत्कर्ष करना भी उपबृंहण गुण कहलाता है। तथा यदि किसी साधर्मी बन्धुसे कभी कोई गल्ती बन गई हो तो उसे प्रकट न होने देना उपगूहन है। ये दोनों एक ही गुणके दो नाम दो कार्योंकी अपेक्षासे रख दिये गये है, वास्तवमें ये दोनों एक ही है, क्योंकि उपगूहनके बिना उपबृंहण नहीं होता। यदि छोटी मोटी भूलोंके लिए भी साधर्मी भाइयोंके साथ कड़ाई बरती जायेगी और उन्हें जाति और धर्मसे वंचित कर दिया जायेगा तो उससे धर्मकी हानि ही होगी, क्योंकि धार्मिक पुरुषोंके बिना धर्म कैसे ठहर सकता है। अत सम्यग्दृष्टिको समझदार माताके समान साधर्मी भाइयोंसे व्यवहार करना चाहिए। जैसे समझदार माता एक ओर इस बातका भी ध्यान रखती है कि उसकी सन्तान कुमार्गगामी न हो जाये और दूसरी ओर उसकी गल्तियोंको ढाँककर उसकी बदनामी भी नहीं होने देती तथा एकान्तमें उसे समझा बुझाकर उसे क्षमा कर देती है, वैसा ही सब अपराधी भाइयोंके प्रति भी होना चाहिए। जो पुरुष इस तरहका व्यवहार करते हैं उनमें ही सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है। किन्तु दोषोंका उपगूहन करनेका यह आशय नहीं है कि दोषी दोष करता रहे और धर्म प्रेमवश दूसरे उस दोषको ढाँकते ही रहें। दैव या प्रमादवश हो गये किसी

१ मातृवत्। 'सवित्रीव स्वपुत्रेषु योऽपराध न वावते। दैवात्प्रमादात् सभूत मावूना सोऽधम पुमान् ॥४३॥ बालिशस्यापराधेन मलिन स्यान्न शासनम्। न हि मीने मृते याति पयोधि. पूतिपूरिताम् ॥४४॥–प्रबोधसार।

भूयसामप्युपाख्यानम्—सुराष्ट्रदेशेषु भुगोदगजाण्डमसमूलायलोकितापदसितानन्तराकतन्ने पाटलिपुत्रे सुसीमाकामिनीमकरध्वजस्य यशोध्वजस्य भूभुजः पराक्रमाक्रमाक्रान्तसकलधरित्रीः सुवीरो नाम स गुरुलासादितविद्यावृद्धसंयोगसमयस्याप्रिरविकृपकृपितहृदयस्याव प्रायेण परद्रविणदारादानोदारक्रियः क्रीडार्थमेकदा क्रीडावने गतः किरातकिरातपेश्यतोहरपरिपदमिदमवादीत्—'अहो, विक्रमैकरसिकेषु महासाहसिकेषु भवत्सु मध्ये किं कोऽपि मे मार्गनातिथिमनोरथसारथिरस्ति, यः खलु पूर्वदेशनिवेशायातकीर्तने तामलिप्तिपत्तने पुण्यपुरुषकाराभ्यामारमसात्कृतरत्नाकरसारस्य जिनेन्द्रभक्तनामावतारस्य वणिक्पतेः सप्ततलागारप्रिमभूमिमागिनि जिनसदनि छत्त्रत्रयशिखण्डमण्डनीभूतमद्भुतद्योतसंगोतं वैडूर्यमणिमानयति, तदानेतुः पुनरभिलापविषयनिर्व्यपेक्षमेव पारितोषिकम्।

तत्र च सदय सूर्यो नाम समस्तमलिम्लुचाधिपो धीरः किमिदमलापीत्—'देव कियन्मात्रमेतद्यतो योऽहं देवप्रसादाद्वियद्वसनविरचितामरावतीपुरस्य पुरन्दरस्यापि चूडालंकारनूतनं रत्नं पातालमूलनिलीनभोगवतीनगरस्योरगेश्वरस्यापि फणगुम्फामिचर्म माणिक्यमपहरामि तस्य मे मनुष्यमात्रपरित्राणधरणिमणि लोचनगोचरागारविहारमपहरतः कियन्मात्रं महासाहसम्' इति शौर्ये गर्जित्वा निर्गत्यागत्य च गौडमध्यक्षमपरमुपायमप-

---

दोषके कारण किसी धर्मात्माकी अवज्ञा और निन्दा न करके उस दोषको छिपाना तो उचित ही है। किन्तु यदि धर्मका वेष धारण करके कोई ढोंगी जानबूझकर अनाचार करता हो और समझानेपर भी न मानता हो तो ऐसे ढोंगियोंके दोषोंको छिपाना उपगूहन अंग नहीं है।

५ उपगूहन अंगमें प्रसिद्ध जिनेन्द्र भक्तकी कथा

इस अंगके विषयमें एक कथा है उसे सुनें—

सुराष्ट्र देशके पाटलीपुत्र नगरका राजा यशोध्वज था। उसके बड़ा पराक्रमी सुवीर नामका पुत्र था। विद्यावृद्ध सज्जनोंका समागम न मिलने तथा विलासी और मद्यमार्गोंकी संगतिमें पड़ जानेसे वह परधन और परस्त्रीका लम्पट हो गया था।

एक बार क्रीड़ा करनेके लिए वह क्रीड़ावनमें गया। वहाँ एकत्र हुए ठग, चोर और भीलोंकी परिषदसे वह बोला—'आप लोग बड़े पराक्रमी और बड़े साहसी हैं। आपमें से जो कोई तामलिप्ति नगरमें अपने पुण्य और पौरुषसे समुद्रकी सारभूत सम्पत्तिको उपार्जित करनेवाले जिनेन्द्र भक्त सेठके सप्तमंजिले महलके ऊपर बने हुए जिनालयमेंसे तीन छत्रोंकी चोटीमें जड़ी हुई अद्भुत कान्तिवाली वैडूर्यमणिको चुरा लायेगा उसे उसकी इच्छानुसार पारितोषिक दिया जायेगा।

यह सुनकर समस्त चोरोंका मुखिया सूर्य बड़े गर्वसे बोला—'स्वामी यह क्या कठिन है? जो मैं आपकी कृपासे आकाशके वसनमें बनी हुई अमरावती नगरीके स्वामी इन्द्रके मुकुटमें लगे हुए रत्नको और पातालके अन्दर छिपी हुई भोगवती नगरीके स्वामी धरणेन्द्रके फणमें लगे हुए माणिक्यको हर सकता हूँ उसके लिए आँखोंसे दिखाई देनेवाले महलके ऊपर स्थित और मनुष्य मात्रके लिए शरणभूत मन्दिरसे मणि चुराना कौन साहसका काम है?' इस प्रकार अपने शौर्यकी

---

१ चौर। २ समीपम्। ३ चौरः।

श्यन्मणिमोषायान्तिर्जुल्लकवेषश्चान्द्रायणाचरणैः पक्षपारणाकरणैर्मासोपवासप्रारम्भैरपरैरपि तपःसंरम्भैः क्षोभितनगनगरग्रामग्रामणीगण क्रमेण जिनेन्द्रभक्तभावाधिकरणताममजत्[1]।

एकान्तभक्तिशक्त स जिनेन्द्रभक्तस्तं मायात्मसात्कृतप्रियतमाकारमपरमार्थाचारमजानन्नार्यवर्यावश्यमनेकानर्घ्यरत्नराचित[2]जिनदेहसदोहेऽस्मद्देवगृहे त्वया तावदासितव्यं यावदह वहित्रयात्रां विधाय समायामि' इत्ययाचत।

अप्रकटकूटकपटक्रम प्रियतम 'श्रेष्ठिन्, मैवं भाषिष्ठाः', यदङ्गनाजनसंकीर्णेषु द्रविणोदीर्णेषु देशेषु विहितौकसां प्रायेणामलिनमनसामपि सुलभोदाहारा खलु खलजनतिरस्काराः'।

श्रेष्ठी—'देशयतीश, न सत्यमेतत्। अपरिज्ञातपरलोकव्यवहारस्यावशेन्द्रियव्यापारस्य हि पुरुषस्य वहि सङ्गे स्वान्तं विकुरुतां नाम, न पुनर्यथार्थदृशामनन्यसामान्यसंयमस्पृशां यमस्पृशां भवादृशां यतीशांम्[3]' इति वह्वाग्रहं देवगृहपरिग्रहाय तमयथार्थमुनिमभ्यर्थ्य कलत्रपुत्रमित्रवान्धवेष्वकृतविश्वासो मन परिजनदिनशकुनपवनानुकूलतया नगरवाहिरिकायां प्रस्थानमकार्षीत।

मायामुनिस्तस्मिन्नेवावसरे तदगारमाकुलपरिवारमवबुध्यार्धावशेषायां निशि कृतरत्नापहारस्तन्मरीचिप्रचारादारक्षिकैरनुद्रुतशरीर' पलायितुमशक्तस्तस्यैव धर्महर्म्यनिर्माणपरमेष्ठिनः श्रेष्ठिनः प्रस्थानावासनिवेशमाविवेश। श्रेष्ठ्यपि दुरालापवहलात्तत्कोलाहला-

---

गर्जना करके सूर्य नामका चोर वहाँसे निकलकर गौड देशमें आया। दूसरा उपाय न देख उसने मणि चुरानेके लिए क्षुल्लकका वेष बना लिया। कभी वह चान्द्रायण व्रत करता था, कभी एक पक्षमें पारणा करता था और कभी एक मासका उपवास करता था। इस प्रकारकी तपस्यासे नगर, गाँव वगैरहमें सर्वत्र हलचल मच गई। फैलते-फैलते यह चर्चा जिनेन्द्रभक्तके कानों तक भी पहुँची। वह परमभक्त उस मायावीके कपटवेषको न जानकर उससे प्रार्थना करनेके लिए गया कि—'आर्य श्रेष्ठ! जब तक मैं देशकी यात्रा करके न लौटूँ तब तक आप अनेक अमूल्य रत्नोंसे रचित मेरे जिनालयमें ही ठहरें।'

अपने कपट जालको छिपानेके लिए वह बोला—'सेठ जी! ऐसा मत कहिए; क्योंकि स्त्रियोंसे व्याप्त और धनसे परिपूर्ण स्थानपर ठहरनेवाले निर्मल चित्त व्यक्तियोंका भी दुष्टजनोंके द्वारा तिरस्कार किये जानेके उदाहरण पाये जाते है।'

सेठ—'क्षुल्लक महाराज! यह बात सत्य नहीं है। जिसने परलोकको नहीं जाना और जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, बाह्य निमित्तके मिलनेपर उसका मन भले ही खराब हो जाये, किन्तु यथार्थदर्शी और असाधारण सयमके पालक आप जैसे यतिपतियोंके विषयमें यह बात लागू नहीं हो सकती।' इस प्रकार स्त्री, पुत्र, मित्र तथा वन्धु-बान्धवोंका विश्वास न करके वह सेठ आग्रह पूर्वक उस कपटवेषीको लिवा लाया। तथा मन, कुटुम्बीजन, दिन, शकुन और वायुको अनुकूल पाकर परदेश यात्राके लिए नगरके वाहर जाकर ठहर गया।

उसी दिन वह कपटी मुनि उस मकानको आदमियोंसे भरपूर जानकर आधी रातके बीतनेपर रत्नको चुराकर जैसे ही चला वैसे ही उस रत्नकी चमकसे द्वारपालोंने उसे जाते देख

---

१ चोरणार्थं। २ रचित। ३ यतीशानाम् मु०।

[1]बृहद्भिर्घ्राणनिग्रहस्तदैव मृषामुनिमुपप्रमवसाय स्वभावतः शुद्धागमपदार्थसमाचारस्य निःशेषाप्यदर्शनस्यातिरिक्तास्त्वयस्य समयस्याविदितपरमार्थजनापेक्षया दुरपवादो माभूदिति च चिचिन्त्य समस्तमप्यारक्षिकलोकमेवमभाणीत्—'अहो दुर्वाणीकाः, किमित्येवं संयमिजन-मेनमेतेन समाययन्ति भवन्तः, यदयं खलु महातपस्विनामपि महातपस्वी परमनिःस्पृहाणामपि परमनिःस्पृहः प्रकृत्यैव महापुरुषो मोहामोहपरहितचित्तवृत्तिरस्मद्वचनमिमतेन मणिमेनमाग-यरकर्थं नाम स्तेनभावेन भवद्भिः संभावनीयः। तत्तूर्णमभ्यर्णीभूय प्रसन्नवपुषः सदाचार-कैरवार्जुनज्योतिषमेनं क्षमयत स्तुत नमस्यत वरिवस्यत च।

भवति चात्र श्लोकः—

मायासंयमगोत्सूर्पे[10] सूर्पे रत्नापहारिणि।
दोषं निगूहयामास जिनेन्द्रो[11] भक्तपरः ॥१८८॥

इत्युपासकाध्ययने धर्मावृ ह्याईणो नाम द्वादशः कल्पः।

परीषहैर्मनोऽविघ्नमज्ञातागमसङ्क्रमम्।
स्थापयेद्दृस्यदाराम समयी समयस्थितम् ॥१९०॥

लिया और वे उसके पीछे दौड़े। अपनेको भागनेमें असमर्थ देख वह चोर उसी मकानमें घुस गया जिसमें प्रस्थानके लिए सेठ ठहरा हुआ था। कोलाहल सुनकर सेठकी नींद खुल गई और उसने उस कपटी मुनिको पहचानकर सब मामला समझ लिया। किन्तु अज्ञान आदमीके कारण सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सत्य पदार्थोंके अनुगामी जिन-शासनकी बदनामी न हो इस विचारसे वह सब रक्षकोंसे बोला—'अरे बकवादियो! इस साधुका क्यों तिरस्कार करते हो? यह महातपस्वियोंमें भी महातपस्वी और अत्यन्त निस्पृहोंमें भी अत्यन्त निस्पृह है। इसका चित्त माया और मोहसे रहित है। तथा यह प्रकृतिसे ही महापुरुष है। यह मेरे कहनेसे ही मणि लाया है। तुम्हें इसके साथ चोरका-सा बर्ताव नहीं करना चाहिए। अतः शीघ्र पास जाकर प्रसन्न मनसे सदाचाररूपी कुमुदके लिए चन्द्रमाके तुल्य उस साधुसे क्षमा माँगो, उसकी स्तुति करो, और उसे नमस्कार करो।'

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'मायाके निर्माणमें प्रवीण रत्नको चुरानेवाले सूपक दोषको जिनेन्द्र भक्त सेठने छिपाया' ॥१८८॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें उपबृंहण गुणका वर्णन करनेवाला बारहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब स्थितिकरण अंगको कहते हैं—]

परीषह और मनसे घबराया हुआ तथा आगमके ज्ञानसे शून्य कोई साधर्मी भाई यदि

---

१ चौर्य। २ आत्मा। ३ अवधान्–ब। ४ असमीचीनेन परिणामेन। ५. मायामोह–मु। ६ चौरभावेन। ७ निर्मलाय सम्यक्प्रदृश्या मन्य। ८ मैत्रीवर्ग–रक्षक तस्य दिवाकरे चर्य। ९. पूजक सूर्य। १ चौयकर्माणि (?)। ११ जिनेन्द्रभक्त श्रेष्ठ। १२ 'परिदहत् बलात् भीतमवधानयुक्तानाम्। धर्माद् भ्रष्टानि साधु पुनर्न तत् रोपयेत् ॥८३॥ प्रयत्नं तस्मा देवान् वा न चारित्र संयमम्। तदुपनर्दितुं यावज्जीवनं निरीक्षणम् ॥८६॥ दिव्यं भवेत्तत्रिर्वाहेति संवृत्तेरुवरम्। बहुधा तत्रैव तत्स्थापयेत् ॥८७॥ बहु लाभगत्योर्भ्यो धर्माधिस्तमनाचार। तत् सोऽस्य वा तत् मानस्य तत् स्थापयेत् ॥८८॥ वाचा विप्रो अथवा पूर्व तथा पुनरोपयेत्। तत्स्य धर्मोक्षम अवशानि निरीक्ष्य ॥८९॥—प्रबोधसार।

तपसः प्रत्यवेस्यन्तं यो न रक्षति संयतम् ।
नूनं स दर्शनाद्वाह्यः समयस्थितिलङ्घनात् ॥१९१॥
नवैः[१] संदिग्धनिर्वाहैर्विदध्याद्गणवर्धनम् ।
एकदोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्त्वः कथं नरः ॥१९२॥
यतः समयकार्यार्थो नानापञ्चजनाश्रयः[२] ।
अतः संबोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत् ॥१९३॥
उपेक्षायां तु जायेत तत्त्वाद् दूरतरो नरः[३] ।
ततस्तस्य भवो दीर्घः समयोऽपि च हीयते ॥१९४॥

धर्मसे भ्रष्ट होता हो तो सम्यग्दृष्टीको उसका स्थितिकरण करना चाहिए । जो तपसे भ्रष्ट होते हुए मुनिकी रक्षा नहीं करता है, आगमकी मर्यादाका उल्लंघन करनेके कारण वह मनुष्य नियमसे सम्यग्दर्शनसे रहित है ॥१९०–१९१॥ जिनके निर्वाहमें सन्देह है ऐसे नये मनुष्योंसे भी संघको बढ़ाना चाहिए । केवल एक दोषके कारण तत्त्वज्ञ मनुष्यको छोड़ा नहीं जा सकता । क्योंकि धर्मका काम अनेक मनुष्योंके आश्रयसे चलता है । इसलिए समझा-बुझाकर जो जिसके योग्य हो उसे उसमें लगा देना चाहिए । उपेक्षा करनेसे मनुष्य धर्मसे दूर होता जाता है और ऐसा होनेसे उस मनुष्यका संसार सुदीर्घ होता है और धर्मकी भी हानि होती है ॥१९२–१९४॥

भावार्थ—ऊपर स्थितिकरण अंगका वर्णन करते हुए पं० सोमदेव सूरिने बहुत ही उपयोगी बातें कही हैं । धर्मसे डिगते हुए मनुष्योंको धर्मके प्रेमवश धर्ममें स्थिर करना स्थितिकरण अंग कहलाता है । धर्मके दो रूप व्यावहारिक कहे जाते हैं, एक श्रद्धान और दूसरा आचरण । यदि किन्हीं कारणोंसे किसी साधर्मीका श्रद्धान शिथिल हो रहा हो या वह अपने आचरणसे भ्रष्ट होता हो तो धर्मप्रेमीका यह कर्तव्य है कि वह उन कारणोंको यथाशक्ति दूर करके उस भाईको अपने धर्ममें स्थिर रखनेकी भरसक चेष्टा करे । डिगते हुए को स्थिर करनेके बदले भला-बुरा कहकर या उसकी उपेक्षा करके उसे यदि धर्मसे च्युत होने दिया जाये तो इससे लाभ तो कुछ नहीं होता उल्टे हानि ही होती है । क्योंकि एक तो धर्मसे भ्रष्ट होकर वह मनुष्य पाप-पंकमें और लिप्त होता जाता है और इस तरह उसका भयंकर पतन हो जाता है और दूसरी ओर संघमें-से एक व्यक्तिके निकल जानेसे धर्मकी भी हानि होती है । क्योंकि कहा है कि धर्मका पालन करने वालोंके बिना धर्म नहीं रह सकता । यदि हमें अपने धर्मको जीवित रखना है और उसकी उन्नति करना है तो हमें अपने साधर्मी भाइयोंके सुख-दुःखका तथा मानापमानका ध्यान रखकर ही उनके साथ सदा सद्व्यवहार करते रहना चाहिए तथा अपनी ओरसे कोई भी ऐसा दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए जिससे उनके हृदयको चोट पहुँचे । क्योंकि प्रायः ऐसा देखा जाता है कि झगड़ा तो परस्परमें होता है और उसका गुस्सा निकाला जाता है मन्दिरपर । लड़-झगड़कर लोग मन्दिरमें आना छोड़ देते हैं । पूजन करते समय कहा-सुनी हो जाये तो पूजन करना छोड़ देते हैं । इस तरहकी बातोंसे कषाय बढ़ जानेके कारण मनुष्य हिताहितको भूल जाता है और उससे अपना

१ चलन्तम् । २ 'किं च संदिग्धनिर्वाहैर्नवैः संघं विवर्धयन् । प्राप्ततत्त्वं त्यजन्नेकदोषतः समयी कथम् ॥८४॥ संघकार्यं यतोऽनेक ॥८६॥ अथोपेक्षेत जायेत दवीयास्तत्त्वतो जनः । वहीयाश्च भवोऽस्येत्यमनवस्था प्रथीयसी ॥८७॥—धर्मरत्ना०, पृ० ७३ उ० । ३ मनुष्य ।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मगधदेशेषु राजगृहापरनामधेयमरे पञ्चशैलपुरे चेलिनीमहादेवीप्रणयप्रेणिकस्य श्रेणिकस्य गोत्रकलत्रस्य पुत्रः सकलवैरिपुराभिषेणो वारिषेणो नाम। स किल कुमारकाल एव संसारसुखसमागमविमुखमानसः परमवैराग्योद्गुणः[१] पूर्णनिर्भरतः श्रावकधर्माराधनधन्यधिषणतया गुरूपासनसधीणतया च सम्यगवसितोपासकाध्ययनविधिरास्यर्पेद्यीर्यनिभिरेकदा प्रेतभूमिषु भूतचतुर्दशीयामार्धे रात्रिप्रतिमास्थितो बभूव।

अत्रावसरे तपायाः परिणताभोगे खलु मध्यमाने मगधसुन्दरीनामया पण्याङ्गनया-रमपतीपासक्तचित्तवृत्तिप्रसरो मृगवेगनामा चौरः शयनतलमापन्नः सखेदमुक्तः—'राजश्रेष्ठिनो धनदत्तनामधेयस्य कीर्तिमतीनामायाः प्रियतमायाः स्तनमण्डलोपारसत्सारसारं हारमिदानीमेवानीय यदि विश्राणयसि तदा त्वं मे रतिरामः, अन्यथा प्रणयविरामः' इति। सोऽप्यवशागतवेगो मृगवेगस्तद्वचनादेव तदायतनमभिसृत्याभिसृत्य च निजकलापला-

---

और दूसरोंका अनिष्ट कर बैठता है, अतः ऐसे प्रसंगोंपर शान्तिसे काम लेना चाहिए। इसी तरह जो पंच होते हैं उनका उत्तरदायित्व बहुत बड़ा होता है, ज़रा ज़रा-सी बातोंपर किसीको जाति-च्युत कर देना, किसीका मन्दिर बन्द कर देना धर्मकी हानिका ही कारण होता है। ऐसे समयमें जब लोग धर्मसे विमुख होनेके लिए तैयार बैठे हों तब तो इस प्रकारके दण्डोंका उल्टा ही परिणाम होता है। दण्डका प्रयोग औषधकी तरह करना चाहिए। जैसे वैद्य रोगीके रोगके अनुकूल दवा देकर उसे रोगमुक्त करनेकी ही चेष्टा करता है वैसे ही पंचोंको भी अपराधीके अपराध और उसके निदानको देख भाल करके ही उसे ऐसा दण्ड देना चाहिए जिससे उसका सुधार हो और आगे वह वैसा अपराध न कर सके। जाति और धर्मसे बहिष्कार तो अत्यन्त गुरुतर अपराधोंके लिए ही किया जाना चाहिए। इस तरह एक ओर तो मौजूदा साधर्मी भाइयों को बनाये रखनेकी चेष्टा करनी चाहिए और दूसरी ओर ऐसे नये मनुष्योंको भी धर्ममें दीक्षित करके धर्मकी वृद्धि करनी चाहिए जिनसे हमें थोड़ी-सी भी आशा हो कि ये इसमें खप सकेंगे। इस प्रकार पुराने और नये साधर्मी भाइयोंका स्थितिकरण करते रहनेसे धर्मके नष्ट हो जानेका भय नहीं रहता। इस सम्बन्धमें एक कथा है, उसे सुनें—

६ स्थितिकरण अंगमें प्रसिद्ध वारिषेणकी कथा

मगध देशमें पञ्चशैलपुर नामका नगर है, जिसे राजगृही भी कहते हैं। उसमें राजा श्रेणिक राज्य करते थे, उनकी पटरानी चेलिनी थी। राजा श्रेणिकके समस्त वैरियोंके नगरोंको जीतनेवाला वारिषेण नामका पुत्र था। कुमार अवस्थासे ही वह सांसारिक सुखोंसे विमुख होकर श्रावक धर्मका पालन करता था और ऐसा करनेसे तथा गुरुओंकी उपासनामें संलग्न होनेसे उसे श्रावकाचारका अच्छा परिज्ञान हो गया था। रात्रिके समय एक दिन वह भूत-चौर श्मशान भूमिमें ध्यानमग्न था। उसी रातके मध्यमें मृगवेग नामका एक चौर जब मगधसुन्दरी नामकी वेश्याके शयन-कक्षमें पहुँचा तो वेश्याने कहा—'राजश्रेष्ठी धनदत्तकी पत्नी कीर्तिमतीके गलेका हार इसी समय लाकर यदि मुझे दोगे तो तुम मेरे प्रेमके स्वामी हो अन्यथा हमारे तुम्हारे प्रेमका अन्त है।'

---

१ प्रावृतस्य। २ उदात्त.। ३ प्रवीणतया। ४ मगतो – च। ५. श्वाचि। ६ नामधेय।

तस्य धनदत्तस्यागारमाचरितहारापहारस्तत्किरणनिकरनिश्चितचरणचारस्तलारानुचरै-रनुसृतो मृगायितुमसमर्थस्तस्य व्युत्सर्गवेषमुपेयुषो वारिषेणस्य पुरतो हारमपहाय तिरोदधे।

तदनुचरास्तत्प्रकाशविशेषवशात् 'वारिषेणोऽयं ननु राजकुमारः पलायितुमशक्तः पित्रो श्रावकत्वादिमामर्हत्प्रतिमासमानाकृतिं प्रतिपद्य पुरो निहितहारः, समास्ते' इत्यवमृश्य प्रविश्य च विश्वम्भराधीशवेश्मनिवेशमेतत्पितु प्रतिपादितवृत्तान्ताः।

दण्डो हि केवलो लोक पर चेमं च रक्षति।
राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथादोष सम धृतः ॥१९५॥

इति वचनात् 'नहि महीभुजां गुणदोषाभ्यामन्यत्र मित्रामित्रव्यवस्थितिः, तदस्य रत्नापहारोपहतचरित्रस्य पुत्रशत्रोर्न प्राणप्रयाणादपरश्चण्डो दण्डः समस्ति' इति न्यायनिष्ठु-रतावेशात्तज्जनकादेशादागत्य तं सदाचारमहान्तं प्रहरन्तः शरविशरान्प्रसूनशेखरतां भ्रमिल-मण्डलानि कर्णकुण्डलतां कृपाणनिकरान्मुक्ताहारतामेवमपराण्यप्यस्त्राणि भूषणतामनुस-रन्ति, निबुध्य तद्ध्यानधैर्यप्रवृद्धप्रमोदतया स्वयमेव पुरदेवताकरविकीर्यमाणामरतरुप्रसवो-पहारमम्बरचरकुमारास्फाल्यमानानकनिकरमनिमिषनिकायकीर्त्यमानानेकस्तुतिव्यतिकरमि-तस्ततो महामहोत्सवावतारं च निचाय्य सत्वरमतिभीतविस्मितान्त करणाः श्रेणिकधरणी-श्वरायेदं निवेदयामासुः।

यह सुनते ही कामुक मृगवेग वेश्याके घरसे निकलकर धनदत्तके घर पहुँचा और अपनी चतुराईसे उसके घरमें घुस हारको चुरा जैसे ही चला वैसे ही उस हारकी किरणोंके प्रकाशसे नगरके सिपाहियोंने उसे देख लिया और वे उसके पीछे दौडे। अपनेको दौड़नेमें असमर्थ जानकर मृगवेगने वह हार कायोत्सर्गसे स्थित वारिषेणके आगे डाल दिया और स्वय छिप गया।

जब सिपाही वहाँ पहुँचे तो उन्होने हारके प्रकाशमें वारिषेणको पहचाना। उन्होने सोचा कि राजकुमारके माता-पिता श्रावक है अत भागनेमें असमर्थता देख राजकुमारने अपने आगे हार रखकर जिनेन्द्रकी प्रतिमाके समान अपना रूप बना लिया है। यह सोच वे सब राजमहलमें आये और राजा श्रेणिकसे सब समाचार निवेदन कर दिया।

नीतिमें कहा है कि—'राजाके द्वारा शत्रु और पुत्रको अपराधके अनुसार समान रूपसे दिया गया दण्ड इस लोककी और परलोककी भी रक्षा करता है ॥१९५॥

अत राजाओंके लिए जो गुणी है वह मित्र है और जो दोषी है वह शत्रु है। इसलिए रत्नहारको चुरानेवाला मेरा पुत्र भी मेरा शत्रु है और मृत्युके सिवा दूसरा कोई भयानक दण्ड है नहीं। यह विचारकर राजा श्रेणिकने कठोर बनकर अपने पुत्रकी मृत्युकी आज्ञा दे दी।

राजाकी आज्ञा पाकर वे सिपाही स्मशान भूमिमें आये और उस महान् सदाचारी वारिषेणके ऊपर शस्त्र-प्रहार करने लगे। शस्त्र प्रहार करते ही बाण तो फूलोंका मुकुट बन गये। चक्र कानोंके कुण्डल बन गये, तलवारें मोतियोका हार बन गई। इस तरह अन्य भी अस्त्र भूषणरूप हो गये। यह समाचार जानकर और वारिषेणके ध्यान और धैर्यसे प्रसन्न होकर नगर देवताने स्वय ही पुष्पोंकी वर्षा की, विद्याधर कुमारोंने दुन्दुभि बाजे बजाये और देवताओंने वारिषेणकी बहुत स्तुति की। जब सिपाहियोंने यह सब महामहोत्सव देखा तो वे बड़े डरे और राजा श्रेणिकसे जाकर उन्होंने सब समाचार कहा।

---

१ पलायितुम्। २ त्यक्त्वा। ३ समास–अ०। ४ चक्र। ५ अवलोक्य।

भूपतामनोपाख्यानम्—मगधदेशेषु राजगृहापरनामाधेयमरे पञ्चशैलपुरे चेलिनीमहादेवीप्रणयकोपिकस्य श्रेणिकस्य गोभाकलत्रस्य पुत्रः सकलवैरिपुरातिषेणो वारिषेणो नाम। स किल कुमारकाल एव संसारसुखसमागमविमुखमानसः परमवैराग्योद्गमेन पूर्णनिर्वेदरसः श्रावकधर्माराधनप्रसक्तिषणतया गुरूपासनतत्परतया च सम्यग्विदितोपासकाध्ययनविधिरात्मपर्वधैर्यमिथिरकस्या प्रेतभूमिषु भूतवासरविभावर्यां रात्रिप्रतिमास्थितो बभूव।

अत्रावसरे क्षपायाः परिणताभोगे खलु मध्यभागे मगधसुन्दरीनामया पण्याङ्गनया रमण्यतीवासक्तचित्तवृत्तिप्रसरो मृगवेगनामा चौरः प्रणयनतलमापन्नः सकेवमुक्तः—'राजश्रेष्ठिनो धनदत्तनामधेयस्य कीर्तिमतीनामायाः प्रियतमायाः स्तनमध्यलोलारमलङ्कारसारं हारमिमं नीमेवानीय यदि विश्राणयसि, तदा त्वं मे रतिराम अन्यथा प्रणयविराम' इति। सोऽप्यनवधानबुद्धेयो मृगवेगस्तद्वचनादेव तदायतनाभिमुख्यात्मिसृत्य च निजकलापसा-

---

और दूसरोंका अनिष्ट कर बैठता है, अतः ऐसे प्रसंगोंपर शान्तिसे काम लेना चाहिए। इसी तरह जो पंच होते हैं उनका उत्तरदायित्व बहुत बड़ा होता है, जरा जरा-सी बातोंपर किसीको जाति-च्युत कर देना, किसीका मन्दिर बन्द कर देना धर्मकी हानिका ही कारण होता है। ऐसे समयमें जब लोग धर्मसे विमुख होनेके लिए तैयार बैठे हों तब तो इस प्रकारके दण्डोंका उल्टा ही परिणाम होता है। दण्डका प्रयोग औषधकी तरह करना चाहिए। जैसे वैद्य रोगीको रोगके अनुकूल दवा देकर उसे रोगमुक्त करनेकी ही चेष्टा करता है वैसे ही पंचोंको भी अपराधीके अपराध और उसके निदानको देख-भाल करके ही उसे ऐसा दण्ड देना चाहिए जिससे उसका सुधार हो और आगे वह वैसा अपराध न कर सके। जाति और धर्मसे बहिष्कार तो अत्यन्त गुरुतर अपराधोंके लिए ही किया जाना चाहिए। इस तरह एक ओर तो मौजूदा साधर्मी भाइयों-को बनाये रखनेकी चेष्टा करनी चाहिए और दूसरी ओर ऐसे नये मनुष्योंको भी धर्ममें दीक्षित करके धर्मकी वृद्धि करनी चाहिए जिनसे हमें थोड़ी-सी भी आशा हो कि ये इसमें लग सकेंगे। इस प्रकार पुराने और नये साधर्मी भाइयोंका स्थितिकरण करते रहनेसे धर्मके नष्ट हो जानेका भय नहीं रहता। इस सम्बन्धमें एक कथा है उसे सुनें—

६ स्थितिकरण अंगमें प्रसिद्ध वारिषेणकी कथा

मगध देशमें पंचशैलपुर नामका नगर है, जिसे राजगृही भी कहते हैं। उसमें राजा श्रेणिक राज्य करते थे, उनकी पट्टरानी चेलिनी थी। राजा श्रेणिकके समस्त वैरियोंके नगरोंको जीतनेवाला वारिषेण नामका पुत्र था। कुमार जन्मसे ही वह सांसारिक सुखोंसे विमुख होकर श्रावक धर्मका पालन करता था और ऐसा करनेसे तथा गुरुओंकी उपासनामें संलग्न होनेसे उसे श्रावकाचारका अच्छा परिज्ञान हो गया था। रात्रिके समय एक दिन वह शूर-वीर स्मशान भूमिमें ध्यानमग्न था। उसी रातके मध्यमें मृगवेग नामका एक चोर जब मगधसुन्दरी नामकी वेश्याके शयन-कक्षमें पहुँचा तो वेश्याने कहा—'राजश्रेष्ठी धनदत्तकी पत्नी कीर्तिमतीके गलेका हार इसी समय लाकर यदि मुझे दोगे तो तुम मेरे मनके स्वामी हो अन्यथा हमारे तुम्हारे प्रेमका आज अन्त है।'

---

१ शातरस्य। २ प्रवरः। ३ प्रदीप्तवपा। ४ प्रणतो – म। ५ ददासि। ६ कामवेग।

त्तस्य धनदत्तस्यागारमाचरितहारापहारस्तत्किरणनिकरनिश्चितचरणचारस्तलारानुचरै-रनुसृतो मृगायितुमसमर्थस्तस्य व्युत्सर्गवेषमुपेयुषो वारिषेणस्य पुरतो हारमपहाय तिरोदधे।

तदनुचरास्तत्प्रकाशविशेषवशात् 'वारिषेणोऽयं ननु राजकुमारः पलायितुमशक्तः पित्रो श्रावकत्वादिमामर्हत्प्रतिमासमानाकृतिं प्रतिपद्य पुरो निहितहारः समास्ते' इत्यवमृश्य प्रविश्य च विश्वम्भराधीशवेश्मनिवेशमेतत्पितु प्रतिपादितवृत्तान्ताः।

दण्डो हि केवलो लोक परं चेमं च रक्षति।
राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथादोषं समं धृतः ॥१९५॥

इति वचनात् 'नहि महीभुजां गुणदोषाभ्यामन्यत्र मित्रामित्रव्यवस्थितिः, तदस्य रत्नापहारोपहतचरित्रस्य पुत्रशत्रोर्न प्राणप्रयाणादपरश्चण्डो दण्डः समस्ति' इति न्यायनिष्ठुरतावेशात्तज्जनकादेशादागत्य तं सदाचारमहान्तं प्रहरन्तः शरविशरान्प्रसूनशेखरतां भ्रमिलमण्डलानि कर्णकुण्डलतां कृपाणनिकरान्मुक्ताहारतामेवमपराण्यप्यस्त्राणि भूषणतामनुसरन्ति, निबुध्य तद्ध्यानधैर्यप्रवृद्धप्रमोदतया स्वयमेव पुरदेवताकरविकीर्यमाणामरतरुप्रसवोपहारमम्बरचरकुमारास्फाल्यमानानकनिकरमनिमिषनिकायकीर्त्यमानानेकस्तुतिव्यतिकरमितस्ततो महामहोत्सवावतारं च निचाय्य सत्वरमतिभीतविस्मितान्तःकरणाः श्रेणिकधरणीश्वरायेदं निवेदयामासुः।

यह सुनते ही कामुक मृगवेग वेश्याके घरसे निकलकर धनदत्तके घर पहुँचा और अपनी चतुराईसे उसके घरमें घुस हारको चुरा जैसे ही चला वैसे ही उस हारकी किरणोंके प्रकाशसे नगरके सिपाहियोंने उसे देख लिया और वे उसके पीछे दौडे। अपनेको दौडनेमें असमर्थ जानकर मृगवेगने वह हार कायोत्सर्गसे स्थित वारिषेणके आगे डाल दिया और स्वय छिप गया।

जब सिपाही वहाँ पहुँचे तो उन्होंने हारके प्रकाशमें वारिषेणको पहचाना। उन्होने सोचा कि राजकुमारके माता-पिता श्रावक है अत भागनेमें असमर्थता देख राजकुमारने अपने आगे हार रखकर जिनेन्द्रकी प्रतिमाके समान अपना रूप बना लिया है। यह सोच वे सब राजमहलमें आये और राजा श्रेणिकसे सब समाचार निवेदन कर दिया।

नीतिमें कहा है कि—'राजाके द्वारा शत्रु और पुत्रको अपराधके अनुसार समान रूपसे दिया गया दण्ड इस लोककी और परलोककी भी रक्षा करता है ॥१९५॥

अत राजाओंके लिए जो गुणी है वह मित्र है और जो दोषी है वह शत्रु है। इसलिए रत्नहारको चुरानेवाला मेरा पुत्र भी मेरा शत्रु है और मृत्युके सिवा दूसरा कोई भयानक दण्ड है नहीं। यह विचारकर राजा श्रेणिकने कठोर बनकर अपने पुत्रकी मृत्युकी आज्ञा दे दी।

राजाकी आज्ञा पाकर वे सिपाही स्मशान भूमिमें आये और उस महान् सदाचारी वारिषेणके ऊपर शस्त्र-प्रहार करने लगे। शस्त्र प्रहार करते ही बाण तो फूलोका मुकुट बन गये। चक्र कानोंके कुण्डल बन गये, तलवारें मोतियोका हार बन गईं। इस तरह अन्य भी अस्त्र भूषणरूप हो गये। यह समाचार जानकर और वारिषेणके ध्यान और धैर्यसे प्रसन्न होकर नगर देवताने स्वय ही पुष्पोंकी वर्षा की, विद्याधर कुमारोंने दुन्दुभि बाजे बजाये और देवताओंने वारिषेणकी बहुत स्तुति की। जब सिपाहियोंने यह सब महामहोत्सव देखा तो वे बडे डरे और राजा श्रेणिकसे जाकर उन्होंने सब समाचार कहा।

---

१ पलायितुम्। २ त्यक्त्वा। ३ समास—अ०। ४ चक्र। ५ अवलोक्य।

नरवरः सपरिवारः सोत्साहं समागत्य कुमाराचारानुरागरसोत्सारितमुतिर्म गाम्भृगवेगावयगतामूलवृत्तान्तः साधु तं कुमारं समयामास। नृपनन्दनोऽपि प्रा समवायसामे 'प्राणिनां सुलभसंपाताः खलु संसारे व्यसनविनिपाताः तदलमत्र कालक बलम्बेन विलम्बेन। यतोऽहमिदानीमवातयथार्थमनीषोन्मेषस्तावदात्महितस्योपस इति निश्चयमुपनिश्चित्याभाष्य पितरमापिपृच्छ्य च बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाग्रहमायायस्य सुरं न्तिके तपो जग्राह।

भवति चात्र श्लोकः—

विशुद्धमनसां पुंसां परिच्छेदपरैपरैः समाम्।
किं कुर्वन्ति कृता विघ्नाः सदाचारविदां जनाः ॥१९६॥

इत्युपासकाध्ययने वारिषेणकुमारप्रव्रज्याग्रहणो नाम त्रयोदशः कल्पः।

पुनः 'इह धर्मे नियोजयेत्, तथा मातुरस्यागर्दकारोपयोग इवानिच्छतोऽपि धर्मयोगः पुंसाके क्रियमाणो भवत्यायत्यामवश्यं निःश्रेयसाय' इति मतमतिस्तत्परि सहपांसुक्रीडितत्वाच्चिरपरिचयरूढप्रणयस्याचारमन प्रियसुहृदः पुष्पवतीभट्टिनीभ स्यस्य शाण्डिल्यायनस्य नन्दनमभिनवविवाहविहितकङ्कणबन्धनं पुष्पदन्ताभिधानम

राजा मन्त्रीसे परिवारके साथ वहाँ आया। वारिषेणके चारित्रका चमत्कार मृगवेग चोरका भी उससे बड़ा स्नेह उत्पन्न हुआ और वह मृत्युका भय छोड़कर वहाँ तथा उसने हारकी चोरीका सब हाल राजा श्रेणिकसे कहा। राजा श्रेणिकने कुमारके कर दिया।

वारिषेणने यह सोचकर 'संसारमें प्राणियोंपर संकट आना सुलभ है अतः मृत्युकी करनेसे क्या लाभ।' यह निश्चय कर लिया था कि चूँकि मुझे अब सच्चे ज्ञानकी प्राप्ति इसलिए अब मैं आत्माका कल्याण करूँगा। अतः उसने अपने पितापर अपना निश्चय प्रक दिया और बाह्य तथा आभ्यन्तर परिग्रहको छोड़कर आचार्य सुरदेवके समीपमें जिन-दीक्षा ले

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'सदाचारको बिगाड़नेवाले दुष्ट मनुष्योंके द्वारा किये गये विघ्न, विचारमें तत्पर मनवाले मनुष्योंका क्या कर सकते हैं? अर्थात् कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते ॥१९६॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें वारिषेणकुमारका प्रव्रज्याग्रहण नामक तेरहवाँ कल्प समाप्त हुआ

राजा श्रेणिकका मन्त्री शाण्डिल्यायन था और उसकी पत्नी पुष्पवती थी। उनके पु नामका पुत्र था। उसका नया विवाह हुआ था। वह वारिषेणका अत्यन्त प्रिय मित्र बचपनमें दोनों साथ खेले थे और चिरपरिचित होनेसे दोनोंमें गाढ़ स्नेह था। जब वारिषेण हो गये तो उनका विचार अपने मित्र पुष्पदन्तको भी मुनि बनानेका हुआ। वे सोचने ल शास्त्रकारोंका कहना है कि 'अपने प्रियजनको धर्ममें लगाना चाहिए तथा जैसे रोगीको इलाज कराना आगे आनन्ददायक होता है वैसे ही न चाहनेवाले जीवको भी समझदार मनुष्य धर्ममें लगा दे तो उत्तरकालमें वह अवश्य ही मोक्षकी प्राप्तिका कारण होता है।' यह सो वारिषेण मुनि अपने मित्रके घर गये और स्वामीके पुत्र होनेके कारण तथा महामुनिका रूप

---

१ त्वरितं। २ चूर्णीकृत्य। ३ शानारमनाम्। ४ अनुपदम्।

तनानुगमनेन स्वामिपुत्रत्वात्प्रतिपन्नमहामुनिरूपत्वाच्चाचरिताभ्युत्थानं हस्तेनावलम्ब्य पुनः 'अतोऽतश्च प्रदेशान्मां व्यावर्तयिष्यत्ययं भगवान्' इति सहानुसरन्तमवाप्तवन्तं च गुरूपान्तम्, 'भदन्त, एप खलु महानुभावतालतालम्बनतरु स्वभावेनैव भवभीरुर्भोगानुभवने विरक्तचित्त. सर्वसंयतवृत्तार्थी भगवत्पादमूलमायात' इति सूचयित्वा भगवतोऽभ्यर्णे कामकरिकदलिकोवहीभारमिव मूर्धजनिकरमपनाय्य दीक्षा ग्राहयामास। सोऽपि तदुपरोधाद्वेपादीक्षामादाय हृदयस्याविदितवेदितव्यत्वादनङ्गग्रहग्रसितत्वाच्च पंजरपात्र. पतत्रीव मन्त्रशक्तिकीलितप्रताप. पृदाकुरिव गाढबन्धनालानितो व्यालशुण्डाल इव चाहर्निशं वारिषेणऋषिणा रक्ष्यमाणोऽपि।

अलकवलयरम्यं भ्रूलतानर्तकान्त
नवनयनविलासं चारुगण्डस्थलं च।
मधुरवचनगर्भं स्मेरबिम्बाधराया
पुरत इव समास्ते तन्मुखं मे प्रियाया' ॥१९७॥
कर्णावतंसमुखमण्डनकण्ठभूषा-
वक्षोजपत्रजघनाभरणानि रागात्।
पादेष्वलक्तकरसेन च चर्चनानि
कुर्वन्ति ये प्रणयिनीषु त एव धन्या ॥१९८॥

कारण पुष्पदन्त उन्हें देखकर खड़ा हो गया और उनके साथ यह सोचता हुआ चला कि वह मुझे अमुक स्थानसे लौटा देंगे।

उसे साथ लेकर वारिषेण मुनि अपने गुरुके पास आये और बोले—'भगवन्! यह महानुभाव स्वभावसे ही संसारभीरु है तथा भोगोंके भोगसे इसका चित्त विरक्त हो गया है। महाव्रत धारण करनेकी इच्छासे यह आपके चरणोंमें आया है।'

वारिषेणने इतना निवेदन करनेके बाद पुष्पदन्तको गुरुके सम्मुख केशलोंच कराके जिनदीक्षा धारण करा दी। किन्तु उसका हृदय तो कामसे पीड़ित था अत पींजरेमें बन्द पक्षीकी तरह, मंत्रकी शक्तिसे जिसका प्रताप कीलित कर दिया गया है उस सर्पकी तरह तथा मजबूत बन्धनसे बँधे हुए दुष्ट हाथीकी तरह वारिषेण मुनिके द्वारा रात-दिन देखरेख रखनेपर भी कभी वह अपनी स्त्रीके मुखका विचार करता था। 'वह केशोंसे कैसा सुन्दर लगता है और उसकी भ्रुकुटियाँ तो क्या गजब की हैं, आँखें कैसी मनोहारिणी है, कपोल कितने सुन्दर हैं, कैसी मीठी-मीठी बात करती है। मेरी प्यारीका मुख तो मुझे ऐसा दीखता है मानो वह मेरे सामने ही मौजूद है' ॥१९७॥

कभी वह सोचता—

'जो अपनी प्रियतमाओंके कानोंको कर्णफूलसे सजाते है, मुखको अलकारोंसे भूषित करते हैं, कण्ठमें कण्ठमाल पहिनाते हैं, उरोजोंपर पत्र बाँधते है, जघन भागमें करधौनी धारण कराते हैं तथा पैरोंमें महावर लगाते है, वे ही धन्य हैं ॥१९८॥

१ कन्दर्पगजध्वजमिव। कावली–ब०। २ पञ्जरस्थ। ३ पक्षिवत्। ४ सर्पवत्। ५ दुष्टगज।

लीलाविलासविलसन्नयनोत्पलायाः
स्फारस्मरोत्तरलिताधरपल्लवायाः ।
उत्तुङ्गपीवरपयोधरमण्डलाया-
स्तस्या मया सह कदा नु समागमः स्यात् ॥१९९॥

किं च ।

चित्रालेखनकर्मभिर्मनसिजव्यापारसारामृतै
र्गाढाभ्यासपुरःस्थितप्रियतमापादप्रणामक्रमैः ।
स्वप्ने [1]संगमविप्रयोगविषयप्रीत्यप्रमोदागमै-
रित्थं वेषमुनिर्दिनानि गमयत्युत्कण्ठितः कानने ॥२००॥

इति निर्बन्धेन ध्यायन् द्वादश समाः[2] समानैषीत् ।

सूरदेवभट्टारकोऽप्याभ्यां सह तेषु-तेषु विषयेषु तीर्थकृतां पञ्चकल्याणमङ्गलानि स्थानानि वन्दित्वा पुनर्विहारवशात्तत्रैव जिनायतनोपशोभितोपान्तशैलमूले पञ्चशैलपुरे[3] समागत्यारमतो वारिषेण-मुनेश्च तद्दिवसे[4] पर्युपासितोपवासत्वात् पुष्पदन्तमेकाकिनमेव प्रत्यवसानायादिदेश[5] । तदर्थमादिष्टेन[6] च तेन चिन्तितं चिरात्कालात्खल्वेकस्मादहमुत्पातोऽपि विमुक्तोऽस्मि । संप्रति हि मे नूनमनूनानि पुण्यान्यपेक्ष्य दीक्षां मुमुक्षुणा[7] मया पाशपरिक्षेपक-रितेनेव पक्षिणा पलायितुमारब्धम् । वारिषेणस्तस्य तथा प्रस्थानात्कृतोऽर्के[8] चित्तकर्पे भय स्वमयं जिनरूपं जिहासुरिव सौत्सुक्यं विभ्रमते तदेव कृपायमुष्यमाणभिषण्ण समयप्रति-पालनाधिकरणैर्भवद्भिरुपेक्षणीयाः' इत्यनुध्यायाभ्यां तमनुरुध्यैतस्यापनाय जननिकेतन

कभी वह सोचता—

'जिसके नेत्रकमल लीलाके विलाससे शोभित हैं, अधरपल्लव कामके वेगसे काँपते हैं, उरोज उन्नत और स्थूल हैं, उसका मेरे साथ समागम कब होगा' ॥१९९॥

कभी वह चित्र बनाता, कभी अत्यन्त अभ्यासके कारण वह अनुभव करता कि उसकी प्रियतमा सामने खड़ी है और वह उसके चरणोंमें प्रणाम कर रहा है। कभी स्वप्नमें संगमका सुख भोगता तो कभी वियोगका कष्ट उठाता। इस प्रकार वह मुनिवेषी बड़ी उत्कण्ठाके साथ जंगलमें दिन बिताता था ॥२००॥ ऐसा करते-करते बारह वर्ष बीत गये।

एक बार सूरदेव गुरु अपने शिष्य वारिषेण और पुष्पदन्तके साथ तीर्थंकरोंके पञ्चकल्याणकोंके स्थानोंकी वन्दना करके घूमते-घूमते जिनमन्दिरोंसे सुशोभित उसी पञ्चशैलपुरमें आकर ठहरे। उस दिन वारिषेणमुनिका प्रोषधोपवास था अतः उन्होंने पुष्पदन्तको अकेले ही आकर भोजन कर आनेकी आज्ञा दी। आज्ञा पाकर पुष्पदन्तने सोचा कि बहुत कालके पश्चात् इस अपमृत्युसे जीवनका उद्धार हुआ है। आज मेरे बहुत पुण्यका उदय है।' यह सोच दीक्षाको छोड़नेकी इच्छासे बन्धनमुक्त हुए पक्षीकी तरह वह वहाँसे भागा। वारिषेणने उसे इस तरहसे भागते हुए देखकर विचार किया कि 'यह अवश्य ही जिनदीक्षा छोड़ देनेके लिए उत्सुक जान पड़ता है। इसकी बुद्धि मोहसे भ्रष्ट हो गई है अतः जिनागमके पालकोंको इसकी उपेक्षा नहीं

१ यदा स्वप्ने संगमो भवति तद्विषये प्रीत्यागमो भवति । यदा तु स्वप्नविप्रयोगो भवति तद्विषये-अप्रमोदागमो भवति । २ वर्षाणि । ३ राजगृहनगरे । ४ तद्दिने । ५ आहारार्थं । ६ पुष्पदन्तेन । ७ दीक्षा मोक्तुमिच्छता । ८ धीम मार्गं स्पृष्ट्वा ।

जगाम। चेलिनीमहादेवी पुत्रं मित्रेण सत्रमुपढौकमानमवेक्ष्य[1] तदभिप्रायपरीक्षार्थं सरागं वीतरागं चासनमयच्छत। वारिषेणस्तेन समं चरमोपचारं[2] विष्टरमलंकृत्य 'अम्ब, समाहूयतां समस्ता अप्यात्मीयाः स्नुषाः'।

तदनु वनदेवता इव प्रसूनोत्तंसोत्तरङ्गितकुन्तलारामाः, कल्पलता इव मणिभूषणरमणीयाङ्गनिर्गमाः, प्रावृष इव समुन्नद्धपयोधराविद्धमध्यभागाः, सकलजगल्लावण्यलवलिपिलिखिता इव सुभगभोगायतनाभोगाः, कङ्केल्लिकाननक्षितय[3] इव पादपल्लवोल्लासितविहारविषयाः, कमलिन्य इव मणिमञ्जीरमणितोन्मदमरालमण्डलस्खलितचलनजलेशयाः[5], स्वकीयरूपसंपत्तिरस्कृतत्रिभुवनरामारामणीयकाः सलीलमहमहमिकोत्सुका समागत्य समन्तात्परिवव्रुः पुण्यदेवता इव ता स्ववासिन्यः। 'अम्ब, मद्भ्रातृजाया सुदत्यप्याकार्यताम्'। ततः सन्ध्येव धातुरक्ताम्बरचराटोपा[6], तपःश्रीरिव विलुप्तकुन्तलकलापा, भव्यजनमतिरिव विभ्रमभ्राशिदर्शना, हिमोन्मथिता कमलिनीव क्षामच्छायापघना, शरदिव दीनपयोधरभरा, खट्वाङ्गकरङ्कार्क्कतिरिव[7] प्रकटकीकसनिकरा सकलसंसारसुखव्यावृत्तिनीतिर्मूर्तिमती वैराग्यस्थितिरिव विवेश।

पुष्पदन्तहृदयकन्दलोल्लासवसुमती सुदती वारिषेणोऽवधार्य 'मित्र, सेयं तव प्रणयिनी

करनी चाहिए।' ऐसा सोचकर भागते हुए मित्रको रोककर उसको स्थिर करनेके लिए वे अपने पिताके घर गये।

चेलनी रानीने मित्रके साथ अपने पुत्रको आता हुआ देखकर उसके मनकी परीक्षा करनेके लिए दो आसन बिछा दिये। उनमें एक आसन रागियोंके योग्य था और दूसरा विरागियोंके योग्य। वारिषेण अपने मित्रके साथ विरागियोंके योग्य आसनपर बैठ गया और बोला—'माता! अपनी सब बहुओंको बुलाओ।'

अपनी रूप-सम्पदासे तीनों लोकोंकी सुन्दर स्त्रियोंको तिरस्कृत करनेवाली सभी बहुएँ बड़ी उत्सुकताके साथ आकर चारों ओर बैठ गई। केशपाशमें गूँथे गये फूलोंसे वे वनदेवताके समान प्रतीत होती थीं, उनके अंग मणियोंके भूषणोंसे शोभित थे अतः वे कल्पलताके तुल्य प्रतीत होती थीं, उन्नत पयोधरों (स्तनों) से उनका मध्यभाग पराजित हो गया था अर्थात् मध्यभाग कृश था, अतः वे वर्षाऋतुके तुल्य प्रतीत होती थीं क्योंकि वर्षाऋतुमें भी आकाशमें पयोधर (मेघ) उमडे रहते हैं। उसके बाद वारिषेण बोले—'माता! मेरी भ्रातृवधू सुदतीको भी बुलाओ।'

आज्ञा पाते ही सुदती भी आ गई। उसके केशकलाप अस्त-व्यस्त थे, हिमपातसे कुम्हलाई हुई कमलिनीकी तरह उसकी मुखश्री म्लान हो गई थी। शरीरमें हड्डियाँ ही दिखाई देती थीं। वह ऐसी मालूम देती थी मानो संसारके समस्त सुखोंसे उदासीन मूर्तिमती वैराग्य-विभूति ही है।

पुष्पदन्तके हृदयरूपी नवांकुरके उल्लासके लिए पृथ्वीके तुल्य सुदतीको जानकर वारिषेण

---

१ आगच्छन्तम्। २ वीतरागासनम्। ३ अशोकवृक्षवनभूमयः। ४ शब्दित। ५ चलना चरणा एव जलेशयानि यासां ताः। ६ गेरुरक्तवस्त्रेण चरः चपरः आटोपो यस्याः सा। ७ खट्वाङ्गमेव करङ्कः। ८ अस्थि।

यन्निमित्तमद्यापि न संपद्यसे मनोमुनिरिति। एताश्चैवंविधकायास्तव भ्रातृजायाः, तथैते च वयं तव समक्षोदर्यं समाचरितामिजातमनोचितचरिताः। पुष्पदन्तः—

स्नानानुलेपवसनाभरणप्रसून
ताम्बूलवासविधिना क्षणमात्रमेतत्।
आधेयमात्रसुभगं वपुरङ्गनानां
नैसर्गिकी तु किमिव स्थितिरस्य वाच्या ॥२०१॥

इत्यर्धशरणमाहात्म्यं स्त्रीषु सुखकरणेषु विचिकित्सासखां सत्यामभिनीय 'हंहो निष्कामनिस्त्वमकरध्वजोदेवविधुरबान्धव संसारसुखसरोजोत्सेरोनीहारायमाणचरण वारिषेण पर्याप्तमत्रावस्थानेन। मकामं शोकशितकुसुमाकरसरहस्य वयस्य, इदानीं यथार्थनिर्वेदाव निर्मनोमुनिरस्मीति व्यवधाय विशुद्धहृदयौ द्वावपि तौ चेलिनीमहादेवीमभिनन्द्योपसर्थे च गुरुपादोपसत्यं निःशल्याशयौ साधु तपश्चक्रतुः।

भवति चात्र श्लोकः—

सुदतीसंगमासक्तं पुष्पदन्तं तपस्विनम्।
वारिषेणः कृतत्राणः स्थापयामास संयमे ॥२०२॥

इत्युपासकाध्ययने स्थितिकरकीर्तनो नाम चतुर्दशः कल्पः।

चैत्यैश्चैत्यालयैर्ज्ञानैस्तपोभिर्विविधात्मकैः।
पूजामहाध्वजाद्यैश्च कुर्यान्मार्गप्रभावनम् ॥२०३॥

वाले—'मित्र! यही तुम्हारी वह प्रियतमा है जिसके कारण अबतक भी तुम मनसे साधु नहीं बन सके हो। और ये सब तुम्हारी भातृवधू हैं। हम सब तुम्हारी सेवाके लिए तैयार हैं।

पुष्पदन्त सोचने लगा—'स्त्रियोंका शरीर स्नान, लेप, वस्त्र, आभूषण, फूल, पान, सुगन्ध आदिके द्वारा क्षणमात्र के लिए सुन्दर हो जाता है। यदि वह अपनी स्वाभाविक स्थितिमें रहे तब तो उसकी दशाका कहना ही क्या है ॥२०१॥

ऐसा निःसन्देह विचारकर तथा स्त्रियोंके विषयमें ग्लानिपूर्ण लज्जाका अभिनय करता हुआ वह बोला—'हे कामजेता और संसारके सुखरूपी कमलोंके लिए बर्फके समान वारिषेण! यहाँ ठहरना वृथा है। कामरसके रहस्यको खण्ड-खण्ड कर डालनेवाले मेरे मित्र! इस समय मुझे सच्चा वैराग्य हुआ है और मैं मनसे मुनि हूँ।'

दोनों विशुद्ध हृदय मित्रोंने रानी चेलनीका अभिनन्दन किया और गुरुके चरणोंमें जाकर निःशल्य होकर तपस्यामें लीन हो गये।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'वारिषेणने सुदतीमें आसक्त तपस्वी पुष्पदन्तकी रक्षा की और उसे संयममें लगाया ॥२०२॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें स्थितिकरणका वर्णन करनेवाला चौदहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब प्रभावना अंगको बतलाते हैं—]

जिनबिम्ब और जिनालयोंकी स्थापनाके द्वारा, ज्ञानके द्वारा, तपके द्वारा तथा अनेक प्रकारकी महाध्वज आदि पूजाओंके द्वारा जैनधर्मकी प्रभावना करना चाहिये ॥२०३॥

---

१ विचिकित्सा। २ अभिनयेन। ३ दर्प। ४ हिमायते हिममिव आचरितं यस्य। ५ अभिनन्द्य। ६ प्रकटा। ७ प्राप्य। ८ समीपम्। ९ रक्षण।

ज्ञाने तपसि पूजायां यतीनां यस्त्वसूयते ।
स्वर्गापवर्गभूर्लक्ष्मीर्नूनं तस्याप्यसूयते ॥२०४॥
समर्थश्चित्तवित्ताभ्यामिहाशासनभासकः ।
समर्थश्चित्तवित्ताभ्यां स्वस्यामुत्र न भासकः ॥२०५॥
तद्दानज्ञानविज्ञानमहामहमहोत्सवैः ।
दर्शनद्योतनं कुर्यादैहिकापेक्षयोज्झितः ॥२०६॥

जो मुनियोंके ज्ञान, तप और पूजाकी निन्दा करता है, उनमें झूठा दोष लगाता है, स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी भी नियमसे उससे द्वेष करती है। अर्थात् उसे न स्वर्गके सुखोंकी प्राप्ति होती है, और न मोक्ष ही मिलता है ॥२०४॥

इस लोकसे बुद्धि और धनमें समर्थ होनेपर भी जो जिनशासनकी प्रभावना नहीं करता, वह बुद्धि और धनसे समर्थ होनेपर भी परलोकमें अपना कल्याण नहीं करता। अतः ऐहिक सुखकी इच्छा न करके दान, ज्ञान, विज्ञान और महापूजा आदि महोत्सवोंके द्वारा सम्यग्दर्शनका प्रकाश करना चाहिए ॥२०५-२०६॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनका एक अग प्रभावना है। जैनधर्मके महत्त्वको प्रकट करना, ऐसे कार्य करना जिससे लोगोंमें जैनजर्मकी जानकारी हो, जैनधर्मके विषयमें फैला हुआ अज्ञान दूर हो और जनताकी रुचि जैनधर्मकी ओर आकृष्ट हो, प्रभावना कहलाता है। पहले जैनधर्ममें वड़े-बडे तपस्वी मुनि, ज्ञानी, आचार्य और धर्मात्मा सेठ होते थे। तपस्वी मुनि अपनी तपस्याके द्वारा जनतापर ऐसा प्रभाव डालते थे जिससे स्वय जनता उनकी ओर आकृष्ट होती थी और उनसे सयमकी शिक्षा लेकर अपने इस जन्म और परजन्मको सुखी बनाती थी। ज्ञानी, आचार्य जगह-जगह विहार करके जैनधर्मका उपदेश देते थे। यदि कहीं जैनधर्मपर आक्षेप होते थे तो उनको दूर करते थे, यदि कोई शास्त्रार्थ करना चाहता था तो राजसभाओंमें उपस्थित होकर शास्त्रार्थ करते थे और यदि कहीं किसी प्रतिद्वन्द्वीके द्वारा जैनधर्मके कार्योंमें रुकावट डाली जाती थी तो अपनी वाग्मिताका प्रभाव डालकर उन रुकावटोंको दूर करते थे। तथा बड़े-बडे ग्रन्थराज रचकर जिनवाणीके भण्डारको भरते थे। आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तभद्र, भट्टाकलक, स्वामी वीरसेन, स्वामी जिनसेन आदि महान् आचार्योंके पुण्यश्रमका ही यह फल है जो जैनधर्म आज भी जीवित है। इसी प्रकार राजा, सेठ, साहूकार तरह-तरहका महोत्सव करके जैनधर्मका प्रकाश करते थे। आज न वैसे तपस्वी मुनि है, न ज्ञानी आचार्य हैं और न वैसे धर्मात्मा सेठ हैं। फिर भी आज जैनधर्मके प्रकाशको फैलानेकी बहुत आवश्यकता है। जैन बालक, बालिकाएँ दिन-पर-दिन धर्मसे अनजान बनते जाते है, उन्हें शिक्षा देनेके लिए पाठशालाएँ खोलनी चाहिएँ। विद्वानोंको पैदा करनेका तथा उनकी परम्परा बनाये रखनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए, क्योंकि उनके बिना शिक्षा–उपदेश और शास्त्रार्थोंका आयोजन नहीं हो सकता। इसी तरह जनतामें प्रचारके लिए विविध भाषाओंमें

---

१ 'वोधे तपसि सन्माने यतीना यस्त्वसूयति। रत्नत्रयमहासम्पन्नूनं तस्याप्यसूयति ॥१२॥'–प्रवोधसार। स्वर्गापवर्गत्रिपये भवतीति भू । २ न शासनदीपको भवति। ३ स्वस्यात्मन परलोके स उद्द्योतको न भवति। ४ इहलोकसुखापेक्षारहित ।

यन्निमित्तमद्यापि न लभसे मनोमुनिरिति। एतास्त्वैवं विधकायास्तव भ्रातृजायाः, तथैते च वयं तव समक्षोऽत्र समाचरितामिज्ञातमनोषितचरिताः। पुष्पदन्तः —

स्नानानुलेपवसनाभरणप्रसून
ताम्बूलवासविधिना क्षणमात्रमेतत्।
आधेयभावसुभगं वपुरङ्गनानां
नैसर्गिकी तु किमिव स्थितिरस्य वाच्या ॥२०१॥

इत्यसंशयमाशय्यं स्त्रैणेषु सुखकरणेषु विचिकित्सासखा लज्जामभिनीय 'हंहो निष्काम-निष्क्रमकण्ठोत्कण्ठविधुरधाम्नय संसारसुखसरोजोरसोरमीहारायमाणचरण वारिषेण पर्याप्तमत्रायस्थानेन। प्रकामं शंकसितकुसुमास्त्ररसरहस्य वयस्य इदानीं यथार्थनिर्वेदात् निर्मनोमुनिरस्मीति चाभिधाय विशुद्धहृदयौ द्वावपि तौ चेलिनीमहादेवीमभिनन्द्योपसर्य च गुरुपादोपसर्त्यं निःशल्याशयौ साधु तपश्चक्रतुः।

भवति चात्र श्लोकः—

सुदतीसंगमासक्तं पुष्पदन्तं तपस्विनम्।
वारिषेणः स्थितिप्राणैः स्थापयामास संयमे ॥२०२॥

इत्युपासकाध्ययने स्थितिकरणकीर्तनो नाम चतुर्दशः कल्पः।

चैत्यैश्चैत्यालयैर्ज्ञानैस्तपोभिर्विविधात्मकैः।
पूजामहाध्वजाद्यैश्च कुर्यान्मार्गप्रभावनम् ॥२०३॥

बोले—'मित्र! यही तुम्हारी वह प्रियतमा है जिसके कारण अबतक भी तुम मनसे साधु नहीं बन सके हो। और ये सब तुम्हारी भ्रातृवधू हैं। हम सब तुम्हारी सेवाके लिए तैयार हैं।

पुष्पदन्त सोचने लगा—'स्त्रियोंका शरीर स्नान, लेप, वस्त्र, आभूषण, फूल, पान, सुगन्ध आदिके द्वारा क्षणमात्र के लिए सुन्दर हो जाता है। यदि वह अपनी स्वाभाविक स्थितिमें रहे तब तो उसकी दशाका कहना ही क्या है ॥२०१॥

ऐसा निःसन्देह विचारकर तथा स्त्रियोंके विषयमें ग्लानिपूर्ण लज्जाका अभिनय करता हुआ वह बोला— हे कामजेता और संसारके सुखरूपी कमलोंके लिए बर्फके समान वारिषेण! यहाँ ठहरना वृथा है। कामरसके रहस्यको खण्ड-खण्ड कर डालनेवाले मेरे मित्र! इस समय मुझे सच्चा वैराग्य हुआ है और मैं मनसे मुनि हूँ।'

दोनों विशुद्ध हृदय मित्रोंने रानी चेलनीका अभिनन्दन किया और गुरुके चरणोंमें जाकर निःशल्य होकर तपस्यामें लीन हो गये।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'वारिषेणने सुदतीमें आसक्त तपस्वी पुष्पदन्तकी रक्षा की और उसे संयममें लगाया ॥२०२॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें स्थितिकरणका वर्णन करनेवाला चौदहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब प्रभावना अंगको बतलाते हैं—]

जिनबिम्ब और जिनालयोंकी स्थापनाके द्वारा, ज्ञानके द्वारा, तपके द्वारा तथा अनेक प्रकारकी महाध्वज आदि पूजाओंके द्वारा जैनधर्मकी प्रभावना करना चाहिये ॥२०३॥

---

१ स्थितिभ्य। २ आस्थितेन। ३ सर्व। ४ स्थितौ निर्मथ्य आदिर्न अय। ५. संयम। ६ मुञ्चता। ७ प्राप्य। ८. गमनम्। ९. रक्षण।

ज्ञाने तपसि पूजायां यतीनां यस्त्वसूयते[1]।
स्वर्गापवर्गभूर्लक्ष्मीर्नूनं तस्याप्यसूयते ॥२०४॥
समर्थश्चित्तवित्ताभ्यामिहाशासनभासकः[2]।
समर्थश्चित्तवित्ताभ्यां स्वस्यामुत्र न भासकः[3] ॥२०५॥
तद्दानज्ञानविज्ञानमहामहमहोत्सवैः ।
दर्शनद्योतनं कुर्यादैहिकापेक्षयोज्झितः[4] ॥२०६॥

जो मुनियोंके ज्ञान, तप और पूजाकी निन्दा करता है, उनमें झूठा दोष लगाता है, स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी भी नियमसे उससे द्वेष करती है। अर्थात् उसे न स्वर्गके सुखोंकी प्राप्ति होती है, और न मोक्ष ही मिलता है ॥२०४॥

इस लोकसे बुद्धि और धनमें समर्थ होनेपर भी जो जिनशासनकी प्रभावना नहीं करता, वह बुद्धि और धनसे समर्थ होनेपर भी परलोकमें अपना कल्याण नहीं करता। अत. ऐहिक सुखकी इच्छा न करके दान, ज्ञान, विज्ञान और महापूजा आदि महोत्सवोंके द्वारा सम्यग्दर्शनका प्रकाश करना चाहिए ॥२०५-२०६॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनका एक अग प्रभावना है। जैनधर्मके महत्त्वको प्रकट करना, ऐसे कार्य करना जिससे लोगोंमें जैनजर्मकी जानकारी हो, जैनधर्मके विषयमें फैला हुआ अज्ञान दूर हो और जनताकी रुचि जैनधर्मकी ओर आकृष्ट हो, प्रभावना कहलाता है। पहले जैनधर्ममें बड़े-बडे तपस्वी मुनि, ज्ञानी, आचार्य और धर्मात्मा सेठ होते थे। तपस्वी मुनि अपनी तपस्याके द्वारा जनतापर ऐसा प्रभाव डालते थे जिससे स्वयं जनता उनकी ओर आकृष्ट होती थी और उनसे संयमकी शिक्षा लेकर अपने इस जन्म और परजन्मको सुखी बनाती थी। ज्ञानी, आचार्य जगह-जगह विहार करके जैनधर्मका उपदेश देते थे। यदि कहीं जैनधर्मपर आक्षेप होते थे तो उनको दूर करते थे, यदि कोई शास्त्रार्थ करना चाहता था तो राजसभाओंमें उपस्थित होकर शास्त्रार्थ करते थे और यदि कहीं किसी प्रतिद्वन्द्वीके द्वारा जैनधर्मके कार्योंमें रुकावट डाली जाती थी तो अपनी वाग्मिताका प्रभाव डालकर उन रुकावटोंको दूर करते थे। तथा बड़े-बड़े ग्रन्थराज रचकर जिनवाणीके भण्डारको भरते थे। आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तभद्र, भट्टाकलक, स्वामी वीरसेन, स्वामी जिनसेन आदि महान् आचार्योंके पुण्यश्रमका ही यह फल है जो जैनधर्म आज भी जीवित है। इसी प्रकार राजा, सेठ, साहूकार तरह-तरहका महोत्सव करके जैनधर्मका प्रकाश करते थे। आज न वैसे तपस्वी मुनि है, न ज्ञानी आचार्य हैं और न वैसे धर्मात्मा सेठ हैं। फिर भी आज जैनधर्मके प्रकाशको फैलानेकी बहुत आवश्यकता है। जैन बालक, बालिकाएँ दिन-पर-दिन धर्मसे अनजान बनते जाते हैं, उन्हें शिक्षा देनेके लिए पाठशालाएँ खोलनी चाहिएँ। विद्वानोंको पैदा करनेका तथा उनकी परम्परा बनाये रखनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए, क्योंकि उनके बिना शिक्षा–उपदेश और शास्त्रार्थोंका आयोजन नहीं हो सकता। इसी तरह जनतामें प्रचारके लिए विविध भाषाओंमें

---

१ 'बोधे तपसि सन्माने यतीना यस्त्वसूयति। रत्नत्रयमहासम्पन्नूनं तस्याप्यसूयति ॥१२॥'–प्रबोधसार। स्वर्गापवर्गविषये भवतीति भू । २ न शासनदीपको भवति। ३ स्वस्यात्मन परलोके स उद्द्योतको न भवति। ४ इहलोकसुखापेक्षारहित ।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—पञ्चालदेशेषु श्रीमत्पार्श्वनाथपरमेश्वरयशःप्रकाशनाम्नि अहिच्छत्रे चन्द्राननाभिधानारतिकुसुमचापस्य द्विषंतपस्य भूपतेरुदितोदितकुलशील षडङ्गे वेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां चाभिविनीतमतिरापदां दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्ता यज्ञदत्ताभर्तृणी भर्ता सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत्। एकदा तु सा किल यज्ञदत्तागर्भदोहदिनी सती माकन्दमञ्जरीकर्णपूरेषु तत्परिणतफलाहारेषु च समासादितदोहदा व्यतिक्रान्तरसालफलीफलकालतया कामितमनवाप्नुवती शिफामुं म्लायमाना म्लानामिव तनुतामयमुपेयुषी तेन पुरोहितेन आतिजनेन च प्रबन्धेन पृष्टा हृदयेप्सममाचिष्ट। भट्टस्तद्विमृश्य 'कथमेतन्मनोरथमयथार्थपथमस्मन्मनोमये मम्यर्थप्रार्थनं करिष्यामि' इत्याकुलमना परिष्कृतपादत्राणमनुपद्य सात पत्रपत्राणस्तत्रयेपपचिरणापरायण सचिवस्ततो व्रजन् उज्जयाहिनीनामनदीतटनिकटनि विपिनतनने महति कालिन्दासकानने परमतपश्चरणाचरणशुचिशरीरेण निःशेषश्रुतधरप्रसाद

ट्रैक्ट पुस्तकें वगैरह प्रकाशित करके वितरण करते रहना चाहिए। तथा साधु त्यागियोंको गुणवान और विद्वान बनानेका भी प्रयत्न करते रहना चाहिए। यदि साधु और त्यागीगण विद्वान् हों तो उनसे जैनधर्मकी प्रभावनाको बहुत साहाय्य मिल सकता है। इसके सिवा पूजा-प्रतिष्ठा कराकर भी जनतामें जैनधर्मका प्रचार कराते रहना चाहिए। आजकल कुछ भाई इसे व्यर्थ व्यय समझते हैं क्योंकि एक तो आज नये मन्दिरोंकी उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी जीर्णोद्धारकी आवश्यकता है। दूसरे इस तरहके कार्योंमें धर्म-प्रेमकी भावना कम रहती है और नामकी भावना व पदकी इच्छा ज्यादा रहती है। अतः इन बुराइयोंको दूर करके आवश्यक स्थानोंमें महोत्सवोंका आयोजन करते रहना चाहिए और उनमें उपदेश सभाओंका सुन्दर आयोजन रहना चाहिए। ऐसा करनेसे महोत्सवोंका आयोजन विशेष लाभदायक सिद्ध होगा और उनसे जैनधर्मकी भी विशेष प्रभावना हो सकेगी।

७ प्रभावना अंगमें प्रसिद्ध वज्रकुमार मुनिकी कथा

अब इस विषयमें कथा कहते हैं, उसे सुनें—

पञ्चाल देशमें श्रीमान् भगवान् पार्श्वनाथके यशसे प्रकाशित अहिच्छत्र नामका नगर है। उसमें द्विषंतप राजा राज्य करता था। उसकी पत्नीका नाम चन्द्रानना था। राजा द्विषंतपके सोमदत्त नामका पुरोहित था। वह बड़ा कुलीन और शीलवान् था। षडङ्ग वेद, ज्योतिष शास्त्र, निमित्त शास्त्र और दण्डनीतिका पण्डित था तथा दैवी और मानवी विपत्तियोंका प्रतिकार करनेमें चतुर था। एकबार उसकी पत्नी यज्ञदत्ता गर्भवती हुई। उसे आमके बौरको कानोंमें पहिरनेका तथा आमके फलोंको खानेका दोहला हुआ। किन्तु आमका मौसम बीत चुका था इस लिये दोहला पूरा न होनेसे वह बहुत दुबली हो गई। पुरोहित तथा कुटुम्बीजनोंके पूछनेपर उसने अपने मनकी बात उनसे कही। सुनकर पुरोहितका मन बड़ा व्याकुल हुआ। वह सोचने लगा कि हमारे मनको पीड़ा देने वाले इसके असामयिक मनोरथको कैसे पूर्ण करूं। उसने जूते पहने, छाता हाथमें लिया तथा शिष्योंको साथ लेकर आमकी खोजमें निकल पड़ा। इधर-उधर घूमते

---

१ पार्श्वे। २ विशारद। ३ गर्भिणी। ४-५ आम्रमञ्जरी। ६ अग्र। ७ लता। ८ यावत् प्रत्यवं प्राप्ता। ९. अस्माकं मनो मथ्नातीति अस्मन्मनोमथं दुःखदम्। १० उपानह। ११ छत्रोपानत्सहित।

मनस्कारेण समस्तसत्त्वस्वरूपनिरूपणस्वाध्यायध्वनिसिद्धोपधिसविधसाधितवनदेवतानिकरेण मूर्तिमतेव धर्मेण विनेयैर्धिकेयमित्रेण[1] नृमित्रेण मुनिनालकृतालवालवलयमेतद्ब्रह्मवर्चसमाहात्म्यादामूलमाचूलं चैकं चूतमुल्लसल्लवलीफलगुलुच्छस्फीतमवलोक्य [3]च्छेकच्छात्रहस्ते कलत्रस्य पिकप्रियप्रसवफलप्रतोलीं प्रहृत्य[4] ततो भगवतोऽवधिबोधपयोधिमध्यसंनिवीयमानसफलकलाकलापरत्नाढ्मर्थश्रवणावसरप्रयत्नात्समायातं सहस्रारकल्पे सूर्यविमानसंभूतं सूर्यचराभिधानानुगतमत्यल्पविभवपरिप्लुतमात्मगोचरं भवान्तरमाकर्ण्योदीर्णजातिस्मरभाव स्वप्नसमासादितसाम्राज्यसमानसारात्ससाराद्विरज्य मनोजविजयप्राज्यां प्रव्रज्यामासज्य[6] प्रवुद्धसिद्धान्तहृदयो मगधविषये सोपारपुरपर्यन्तधाम्नि नाभिगिरिनाम्नि महीधरे सम्यग्योगातापनयोगधरो बभूव ।

तदनु सा तद्वियोगातद्धोद्धृतचित्ता यज्ञदत्ता तदन्तेवासिभ्य सोमदत्तव्रतव्यतिकरमात्मखेदकरमनुभूय प्रसय च समये स्तनन्धय पुनस्तमादाय प्रयाय च तं भूमिभृतम् 'अहो कूटकपटपिटक मन्मनोवनदाहदावपावकनि.स्निग्ध दुर्विदग्ध, यदीम दिगम्बरप्रतिच्छन्दमवच्छिद्य स्वच्छं येच्छयागच्छसि तदाऽऽगच्छ। नो चेद् गृहाणैनमात्मनो नन्दनम्' इति व्याहृत्यास्योर्ध्वंगो[11] भगवत पुरत शिलातले बालकमुत्सृज्य विजहार निजं निवासम् । भगवानपि तेन सुतेन दृषद् ग्रीष्मोत्कर्षकलुषत्वाद्विष्टरी[12] कृतचरणवर्ग सोपसर्गस्तथैवावतस्थे ।

हुए उसने जलवाहिनी नामकी नदीके तटके निकट फैले हुए कालिदास नामके बड़े भारी जगलमें सुमित्र नामके मुनिको देखा। उत्कृष्ट तपके करनेसे उनका शरीर पवित्र हो गया था, समस्त शास्त्रोंके सुननेसे उनका मनोबल बढ़ गया था। वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो मूर्तिमान् धर्म है। उनके ब्रह्मचर्यके तेजके प्रतापसे एक आमका वृक्ष जडसे लेकर चोटी तक सुन्दर फलोंसे लदा हुआ था। पुरोहितने एक छात्रके द्वारा अपनी पत्नीके लिए आम्रफल भेज दिया और आप धर्म श्रवण करनेके लिए अवधिज्ञानी मुनिके समीप बैठ गया। मुनिने बतलाया कि वह पहले जन्ममें सहस्रार स्वर्गके सूर्य विमानमें बहुत थोडे वैभवका स्वामी सूर्यचर नामका देव था।

पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनकर उसे जातिस्मरण हो आया। स्वप्नमें प्राप्त हुए साम्राज्यके तुल्य इस ससारसे विरक्त होकर उसने कामको जीतनेमें समर्थ जिन-दीक्षा ले ली, और शास्त्रोंके रहस्य को जानकर मगधदेशके सोपारपुरके निकटवर्ती नाभिगिरि पर्वतपर आतापनयोगसे स्थित होगया।

इधर यज्ञदत्ताको जब छात्रोंसे सोमदत्तके दीक्षा ग्रहण करनेका समाचार मिला तो उसे बड़ा खेद हुआ। उसके वियोगसे उसका चित्त उखड़ गया। समयपर उसने एक पुत्रको जन्म दिया और उसे लेकर उसी पर्वतपर आई जहाँ सोमदत्त आतापनयोगसे स्थित था। उसे देखकर बोली—'अरे मेरे मन रूपी वनको जलानेके लिए वनकी आगके समान, नि स्नेही, मूर्ख कपटी! यदि इस दिगम्बर वेषको छोडकर स्वेच्छासे चलता हो तो चल, नहीं तो इस अपने पुत्रको ले।' ऐसा कहकर उस आतापनयोगसे स्थित मुनिके सामने शिलापर बालकको छोडकर अपने घर चली गई। शिला तप रही थी अत बच्चा उनके चरणोपर लिटा हुआ था और मुनि इस उपसर्गके साथ ज्योंके त्यों निश्चल खड़े थे।

---

१ कमलसूर्येण। २ माहृहीत्म्या–अ० ज० मु०। ३ चतुर। ४ सम्प्रेष्य। ५ सहितम्। ६ गृहीत्वा। ७ छात्रेभ्य। ८ रूपम्। ९ मुक्त्वा। १० स्वेच्छयागच्छसि–आ०। ११ उद्भवस्य–ऊर्ध्वजानो। १२ शिशोराधारीभूतपाद।

अत्रान्तरे सहचरानुचरसंचरत्खेचरीचरणालक्तकरक्तारम्भस्य विजयार्धपर्वतटीप्रस्थ दयितातिविधुरविद्याधरीविनोदविहारपरिमलितकान्तारवरण्यामुत्तरश्रेण्याममरावतीपुरीपरमेश्वरः सुमङ्गलावल्लभः प्रकाममिन्द्राणीरतिकान्ताशयशोकस्पृक् त्रिशङ्कुर्नाम नृपतिः समराङ्गणाभिसरत्सपत्नसमाजसाम्राज्यसारशिलीमुखश्चिराय राज्यसुखमनुभूय जिनागमावगतसंसारशरीरभोगवैराग्यस्थितिर्विबुभुक्षुः गोचरसंचाराय हेमपुरेश्वराय समस्तमहीमान्यशासनाय वज्रवाहनाय दुहितां सुदेवीं राज्यं च ज्येष्ठाय पुत्राय भास्करदेवाय प्रदाय सुप्रभसूरिसमीपे संयमी समजनि।

ततो गतेषु कतिपयेष्वपि दिवसेषु समुत्साहितात्मीयसहायसमूहेन स्वदोर्दर्पविद्यावलव्यूहेन दुर्विनीतचरितेन कनिष्ठेनानुजेन पुरंदरदेवेन विहितराज्यापहारः परिजनेन समं स भास्करदेवस्तत्र वज्रवाहनपुरे शिविरमभिनिवेश्य मणिमालया महिष्यानुगतः सोमदत्तभगवन्तमुपासितुमागतस्तत्पादमूले स्थलकमलमिव तं बालकमवलोक्य 'अहो महदाश्चर्यम्, यत कथमिदमरत्नाकरमपि रत्नम्, अजलाशयमपि कुशेशयम्, अनिन्धनमपि तेजःपुञ्जम्, अचण्डकरमप्युपस्थितम्, अभिलाषातुमपि कमनीयम्, अपि च कथमयं बालपल्लव इव पाणिस्पर्शेनापि म्लायमानलावण्यः, कठोरोपलेऽपि ग्रावणि वज्रघटित इव विरममाणमानस मातुरुत्सङ्गगत इव सुखेन समास्ते' इति व्याहरति प्रियतमे 'कामं त्वमनपत्यतमनोरथायास्तवाय भगवत्प्रसादसंपन्नः सकललक्षणोपपन्नो वज्रकुमारो नामास्मदीयवंशविशालतायिषा

इसी बीचमें एक घटना घटी। विजयार्ध पर्वतकी उत्तरश्रेणिमें अमरावती नगरीका राजा त्रिशङ्कु चिरकाल तक राज्यसुखको भोगकर संसारसे विरक्त हो गया। मुनि होनेकी इच्छासे उसने अपनी कन्या तो हेमपुरके स्वामी भूमिगोचरी वज्रवाहन राजाको दे दी और राज्य ज्येष्ठ पुत्र भास्करदेवको दे दिया। फिर सुप्रभ सूरिके निकट जिनदीक्षा धारण कर ली।

कुछ दिन बीतनेपर उसके छोटे पुत्र पुरन्दरने आत्मीय जनोंके द्वारा उत्साहित किये जानेपर अपनी भुजाओंके और सैन्यबलके घमण्डमें आकर अपने बड़े भाई भास्करदेवका राज्य छीन लिया। तब भास्करदेवने अपने परिजनोंके साथ आकर वज्रवाहनपुरमें अपना डेरा डाला और स्वयं अपनी पटरानी मणिमालाके साथ सोमदत्त मुनिकी वन्दना करनेके लिए आया। मुनिके चरणोंमें पृथ्वीके कमलके समान उस बालकको देखकर वह बोला–'अरे! बड़ा आश्चर्य है! बिना रत्नाकरके रत्न, बिना जलाशयके कमल, बिना इन्धनके तेजका पुंज, बिना सूर्यके उष्णकान्तिकारक और बिना चन्द्रमाके मनोहर यह बालक यहाँ कहाँसे आया? नवपल्लवके समान इसका लावण्य हाथके स्पर्शसे भी म्लान होने वाला है। किन्तु इस अत्यन्त गर्म पहाड़पर वज्रसे बने हुए के समान क्रीड़ा करता हुआ सुखसे ऐसा बैठा है मानो माताकी गोदमें ही है।

प्रियतमे! तुम्हें पुत्रकी वांछा थी। भगवान्‌के प्रसादसे तुम्हें यह सर्व लक्षणोंसे पूर्ण पुत्र प्राप्त हुआ है। इसका नाम वज्रकुमार रखते हैं। यह हमारे वंशको समुन्नत करेगा।' ऐसा कह

---

१ –गुणाः अ० । २ समुद्रं विना । ३ इन्धनं विनापि । ४ न इच्छामातुरम् अभिलाषातुरम्–चञ्चलम् ।

यिधामपात्रम् पुत्र इत्यभिधाय विधाय च यथावत्तस्य भगवतः पर्युपासनं पुनरत एव महतोऽधिगतैतदपत्यवृत्तान्तो भावपुरमनुससार ।

भवति चात्र श्लोक —

अन्त सारशरीरेषु हितायैवाहितेहितम् ।
किं न स्यादग्निसंयोग. स्वर्णत्वाय तदश्मनि ॥२०७॥

इत्युपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य विद्याधरसमागमो नाम पञ्चदशः कल्पः ।

पुनर्बालभावाच्छोर्णच्छायकाय' कङ्केल्लिपल्लव इव धातकीप्रसवस्तवक इवारुणमणि-कन्दुक इव च बन्धूनामानन्दनिरीक्षितामृतपीथंमन्थरितमुख सखेल करपरम्परया संचार्यमाण क्रमेणोत्तानशयदरहसितजानुचङ्क्रमणगद्गदालापस्पष्टक्रियापञ्चकस्थामवस्थामनुभूय मरुमार्ग इव छायापादपेन, छायापादप इव जलाशयेन, जलाशय इव कमलाकरेण, कमलाकर इव कलहंसनिवहेन, कलहंसनिवह इव रामासमागमेन, रामासमागम इव च स्मरलीलायितेन, तरुणीजनमनोमृगप्रमदवनेन यौवनेनालंचक्रे ।

तदनु बाढं प्ररूढप्रौढयौवनावतारसारो वज्रकुमार. पितुर्मातुश्च वंशनिवेशानवद्या-भिर्विद्याभि. प्रबलितप्रतापगुप्त प्राप्तखचरलोकाधिन्य सुवाक्यमूर्तिनामधामस्य मामस्य मदनमदपण्यतारुण्यलावण्यारण्यवनदेवतावतरवसुमतीमिन्दुमतीं दुहितरं परिणीय मणिकुण्डल-रत्नशेखर-माणिक्य-शिखण्ड-किरीट कीर्तन-कौस्तुभ-कर्णपूरपुर सरैर्नभश्चरकुमा-रैरनुसृतस्तं पूर्वापरावारपारतरङ्गदन्तुरकन्दराधर क्रीडारसवर्धनोद्धुर विजयार्धमहीधरम-

---

कर उसने मुनिकी उपासना की और उनसे बच्चेका सब वृत्तान्त जानकर नगरको लौट आया ।

किसीने ठीक कहा है—

'जिनके अन्तरगमें कुछ सार है उनका अहित चाहना भी हितके लिए होता है । देखो, स्वर्णपाषाणको आगमें तपानेसे क्या वह सोना नहीं हो जाता ॥२०७॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें वज्रकुमारका विद्याधरसे समागमका वर्णन करनेवाला पन्द्रहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

बचपनके कारण वज्रकुमारके शरीरकी कान्ति अशोक वृक्षके नये पत्तोंकी तरह या धतूरेके अथवा लालमणिकी गेंदकी तरह प्रतीत होती थी। घरके आदमी उसे बड़े प्यारसे पुष्प गुच्छकी तरह देखते थे और वह हाथों हाथ घूमता था । पहले वह ऊपरको मुख किये लेटा रहता था, कुछ बड़ा होनेपर उसनेमुसकराना शुरू किया । फिर घुटनोंके बल चलने लगा । फिर तुतुलाते हुए बोलना शुरू किया । फिर स्पष्ट बोलने लगा । इस तरह क्रमसे पाँच अवस्थाओंको बिताकर वह बडा हुआ । और जैसे मरु भूमिका मार्ग छाया देने वाले वृक्षसे शोभित होता है, छाया वृक्ष सरोवरसे शोभित होता है, सरोवर कमलोंसे शोभित होता है, कमलसमूह राजहंसोंसे शोभित होता है, राजहंसोंका समूह स्त्रीके समागमसे शोभित होता है और स्त्रीसमागम काम विलाससे शोभित होता है वैसे ही वज्रकुमारका शरीर यौवनसे सुशोभित हो गया ।

उसके बाद यौवनके भर उठनेपर पितृवश और मातृवशसे प्राप्त हुई निर्दोष विद्याओंके प्राप्त होनेसे उसका प्रताप और भी बढ़ गया और उसने अपने मामाकी लड़की इन्दुमतीसे विवाह

---

१ योगावसाने एतस्मात् सोमदत्तगुरो । २ ज्ञातबालकवृत्तान्त । ३ स्वर्णपाषाणे । ४ रक्त । ५ पीथ बालस्य देय नवनीतादि । ६ यथा मरुस्थल छायावृक्षेण शोभते तथाऽय यौवनेनालचक्रे ।

अत्रान्तरे सहचरानुचरसंचरत्खेचरीचरणालक्तकरक्तरम्यस्य विजयार्धतटीभस्य दयितावियूरविद्याधरीविनोदविहारपरिमलितकान्तारश्रेण्यामुत्तरश्रेण्याममरावतीपुरीपरमेश्वरः सुमङ्गलावलायरः प्रकाममभिख्यातारातिकान्ताशयशोकशङ्कुस्त्रिशङ्कुर्नाम नृपतिः समराग्रामिसरत्सपत्नसत्त्वासावसानसारशिलीमुखश्रिताय राज्यसुखमनुभूय जिनागमादवगतसंसारशरीरभोगवैराग्यस्थितिर्यतिमुमुक्षुर्गोचरसंचाराय हेमपुरेश्वराय समस्तमहीशमान्यशासनाय वलवाहनाय सुतां सुदेवीं राज्यं च ज्येष्ठाय पुत्राय भास्करदेवाय प्रदाय सुप्रभसूरिसमीपे संयमी समजनि ।

ततो गतेषु कतिपयेषु दिवसेषु समुत्साहितात्मीयसहायसमूहेन स्वदोर्दर्पविद्यावलम्बूहेन दुर्विनीतवरिष्ठेन कनिष्ठेनानुजेन पुरंदरदेवेन विहितराज्यापहारः परिजनेन समं स भास्करदेवस्तत्र वलवाहनपुरे शिविरमभिनिवेश्य मणिमालया महिष्यानुगतः सोमदत्तमगवन्तमुपासितुमागतस्तत्पादमूले स्थलकमलमिव तं बालकमवलोक्य 'अहो महदाश्चर्यम्, बत कथमिदमरत्नाकरमपि रत्नम्, अजलाशयमपि कुशेशयम्, अकिन्धनमपि तेजःपुञ्जम्, अचण्डकरमम्बुजप्रस्थितम्, अभिख्या मातुलमपि कमनीयम्, अपि च कथमयं बालपल्लव इव पाणिस्पर्शेनापि म्लायमानावयवः, कठोरोपलमपि ग्रावाण्यि वज्रघटित इव रिरंसमानमानस मातुरुत्सङ्गगत इव सुखेन समास्ते' इति कृतमतिः प्रियतमे 'कामं स्तनधयवृत्तमनोरथायास्तवायं भगवत्प्रसादसंपन्नः सकललक्षणोपपन्नो वज्रकुमारो नामास्मदीयवंशविश्वासतावि‍भा

इसी बाचमें एक घटना घटी । विजयार्ध पर्वतकी उत्तरश्रेणिमें अमरावती नगरीका राजा त्रिशङ्कु चिरकाल तक राज्यसुखको भोगकर संसारसे विरक्त हो गया । मुनि होनेकी इच्छासे उसने अपनी कन्या तो हेमपुरके स्वामी भूमिगोचरी वलवाहन राजाको दे दी और राज्य ज्येष्ठ पुत्र भास्कर देवको दे दिया । फिर सुप्रभ सूरिके निकट जिनदीक्षा धारण कर ली ।

कुछ दिन बीतनेपर उसके छोटे पुत्र पुरन्दरने आत्मीय जनोंके द्वारा उत्साहित किये जानेपर अपनी भुजाओंके और सैन्यबलके घमण्डमें आकर अपने बड़े भाई भास्करदेवका राज्य छीन लिया । तब भास्करदेवने अपने परिजनोंके साथ आकर वलवाहनपुरमें अपना लश्कर डाला और स्वयं अपनी पटरानी मणिमालाके साथ सोमदत्त मुनिकी वन्दना करनेके लिए आया । मुनिके चरणोंमें पृथ्वीके कमलके समान उस बालकको देखकर यह बोला—'अरे ! बड़ा आश्चर्य है । बिना रत्नाकरके रत्न, बिना जलाशयके कमल बिना ईंधनके तेजका पुंज, बिना सूर्यके कमलकान्तिकारक और बिना चन्द्रमाके मनोहर यह बालक यहाँ कहाँसे आया ? नवपल्लवके समान इसका लावण्य हाथके स्पर्शसे भी म्लान होने वाला है । किन्तु इस अत्यन्त गम पहाड़पर वज्रसे बने हुए के समान क्रीड़ा करता हुआ सुखसे ऐसा बैठा है मानो माताकी गोदमें ही है ।

प्रियतमे ! तुम्हें पुत्रकी वांछा थी । भगवान्के प्रसादसे तुम्हें यह सर्व लक्षणोंसे पूर्ण पुत्र प्राप्त हुआ है । इसका नाम वज्रकुमार रखते हैं । यह हमारे वंशको समुन्नत करेगा ।' ऐसा कह

---

१ –मुपहः बा । २ समुद्रं विना । ३ इन्धनं विनाऽपि । ४ न ह्रासमसुखम् अनिलमातुलम्–नवाम्रम् ।

अन्यदा पुनरिष्टदुष्टज्ञातिप्रज्ञावज्ञाभ्यामात्मनः परैधितत्वमवबुध्य निजान्वयनिश्चये सति शारीरेषूपचारेषु प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्तिरित्याचरितसंगरस्ताभ्यां महामुनिमाहात्म्यमन्त्रवित्रासितदुरितनिशाचरायां मथुरायां तपस्यत. सोमदत्तस्य भगवत. समीडे नीतस्तदङ्गमुद्राप्रायमात्मकायमवसाय संजातानन्दनिकायस्तावुभावप्युपनेतारौ मातापितरौ सादरमुक्तियुक्तिभ्यां प्रतिबोध्यावधीरितोभयग्रन्थो निर्ग्रन्थश्चारणर्द्धिवृद्धिः समपादि।

भवति चात्रार्या—

तृणकल्पः श्रीकल्पः कान्तालोकश्चितो चितालोक।
पुण्यर्जनश्च स्वजन. कामविदूरे नरे भवति ॥२०८॥

इत्युपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य तपोग्रहणो नाम षोडश कल्पः।

पुनर्महामहोत्सवोत्साहितातोद्यवादनादमेदुरप्रासादकन्दरायामेतस्यामेव मथुरायां किल गोचराय चारणऋद्धियुगलं नगरमार्गे संगतगतिसर्गं सत् तत्र द्वित्रिपरिवत्सर एवावस्थावसरे बालिकामेकां चिल्लचिकिन्नलोचनसनाथामनाथामापणाङ्गणचारिणीं स्खलद्गमनविहारिणीं निरीक्ष्य प्रतीक्ष्य पश्चाच्चरः सुनन्दनाभिधानगोचरो भगवानेवमवादीत्—'अहो, दुरालोकः खलु प्राणिनां कर्मविपाकः, यदस्यामेव दशायां क्लेशाय प्रभवति' इति।

पुरश्चारी भगवानभिनन्दननामधारी—'तप. कल्पद्रुमोत्पादनन्दन सुनन्दनमुने, मैवं वादीः।

एक बार इष्ट बन्धु-बान्धवोंके कहनेसे और दुष्ट जनोंके अनादरसे उसे पता चला कि मै भास्करदेवका पुत्र नहीं हूँ, बल्कि उन्होंने मेरा पालन किया है, तो उसने प्रतिज्ञा की कि अपने वशका निश्चय होजानेपर ही मै अन्न-जल ग्रहण करूँगा अन्यथा मेरे सबका त्याग है। तब उसके पालक माता-पिता उसे मथुरा नगरीमें तपस्या करते हुए सोमदत्त मुनिके पास ले गये। मुनिकी शारीरिक आकृतिके तुल्य ही अपनी आकृतिको देखकर उसे बड़ा आनन्द हुआ। और उसने उन दोनों माता-पिताको समझा-बुझाकर अन्तरग और बहिरंग परिग्रहका त्याग कर दिया और निर्ग्रन्थ साधु बनकर चारणऋद्धिका स्वामी हो गया।

किसीने ठीक कहा है कि 'जो मनुष्य काम-विकारसे दूर है उसके लिए लक्ष्मी तृणके समान है, एकत्र हुआ स्त्री-समुदाय चिताके आलोक समान है और कुटुम्बीजन राक्षसोंके समान हैं ॥२०८॥'

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें वज्रकुमारके तप ग्रहण करनेका वर्णन करनेवाला सोलहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

एक बार मथुरा नगरीमें चारणऋद्धिके धारी दो मुनि मार्गमें चले जाते थे। उसी मार्गमें दो-तीन वर्षकी एक अनाथ बालिका जिसकी आँखें मैलसे भरी थीं, इधर-उधर भटकती माँगती खाती डोलती थी। उसे देखकर पीछे चलने वाले सुनन्दन नामके मुनि बोले—'जीवोंके कर्मका विपाक कोई नहीं जानता, देखो तो बेचारी यह बालिका इतनी-सी उम्रमें ही कष्ट भोगती है।'

यह सुनकर आगे चलने वाले अभिनन्दन मुनि बोले—'सुनन्दन मुनि! ऐसा मत कहो।

---

१ ज्ञातिमध्ये ये इष्टास्ते प्रज्ञा ददति, ये दुष्टास्ते निरादर कुर्वन्ति। २ परपोषितत्व। ३ स्नानभोजनादौ। ४ प्रतिज्ञ। ५ पापान्येव राक्षसा यत्र। ६. ज्ञात्वा। ७. मृतकचितासदृश.। ८ राक्षस। ९ आहारार्थम्। १०. वर्षद्वित्रिसमये। ११ दूषित।

म्यास्य चिरमिह विद्येश्वरीपरिमलनमङ्गममृणालजलजमशोकदलशय्याद्दयितासाथविद्याधरीसु-
रतपरिमळबहलमिदमुपवनलतास्थानं कन्दुकविनोदपरिमिताम्बरचरीचरणालक्तकाङ्कितमेव
स्तमालमूलस्थलालयमेवमिव रमणीयमेतन्मनोहरमदस्य सुन्दरमदनीभवदमिति
मिध्यायन् समाचरितस्वैरविहारः पुनः प्रालेयमयशिखरिप्राग्भारे खेचरीलोचनचन्द्रस्य
पुरन्दरस्याग्रजतोऽयुवतिप्रीतिधाम्नो गरुडवेगनाम्नो विद्याधरपतेरतिशयरूपनिरूपणपात्रीं
प्रियपुत्रीं पवनवेगानामसङ्गां प्रालेयाचलमेखलाललितकलतास्यनिकुञ्जमाश्रां बहुरूपिणीं नाम
निवद्यां विद्यामाराधयन्तीमनवैधं विघ्नोपविप्लवया आशाजगररूपया विद्यया निगीर्णवदनामुप-
लभ्य परोपकारविचक्षणस्तार्क्ष्यविद्यया तमेतस्याः स्तनाधिरूढाङ्ग मायाशयालुं वित्रासयामास।

पवनवेगा तत्प्रत्यूहाभोगापगमानन्तरमेव विद्यायाः सिद्धिं प्रपद्य 'भवत्वयमिह जन्मन्य-
यमेव मे जनप्राणत्राणायेशः प्राणेशः' इति चेतस्यभिनिविश्य पुनरस्यैव मीहाग्महीधरस्य
नितम्बवतीरिणीपयस्के सूर्यप्रतिमां समाश्रितवतो भगवतस्तपःप्रभावसम्पादितसमस्तवस्तु
व्यापकस्तस्य सप्तस्य पादपीठोपकण्ठे पठतस्तवेयं सेत्स्यतीत्युपदेशावेशामिनवमाराय
वज्रकुमाराय गगनगामिनां नाकनारीचित्तभूतामभिमतार्थसाधनपर्याप्तिं प्रज्ञप्तिं विद्यां वितीर्य निज-
नगरीं पर्यटत्। वज्रकुमारस्तथैव तस्याः सरित्समर्ते फेनमालिनीकूले विद्यां प्रसाध्यासाध्यसाधन-
प्रवृद्धपराक्रमस्तमक्रमविक्रमास्पदीभूतदैव पुरन्दरदेवं पितृव्यमप्याशुमुच्छिद्य सचस्तां विजयो-
त्सवपरम्परावतीममरावतीं पुरमारमपितरमखिलखचराचरितचरणसेवं भास्करदेवं निवेश्य
यथेप्सितं स्वयंवरव्याजेन विहिताभिलषितकान्तसंगामनङ्गसंगसंगतप्राकारसुभगां
पवनवेगामपराश्चाम्बरचरपरिषदा विद्याधर महामागतसौ विद्यावस्वरविश्वविख्यातमामाया-
सेऽन्यैस्तैर्विलासैः कालमतिवाहयामास।

किया। एक बार वज्रकुमार अनेक विद्याधर कुमारोंके साथ विजयार्ध पर्वतकी शोभा देखता हुआ घूम रहा था। घूमते-घूमते वह हिमवान पर्वतपर जा पहुँचा। वहाँ विद्याधरोंके स्वामी गरुडवेग की अतिशय रूपवती कन्या पवनवेगा बहुरूपिणी विद्या साधती थी। वज्रकुमारने देखा कि विघ्न डालनेकी भावनासे वह विद्या अजगरका रूप बनाकर उस कन्याको निगलना ही चाहती है। उस परोपकारीने तुरन्त ही गरुडविद्याके द्वारा उसके मुखको चीर दिया। इस विघ्नके दूर होते ही पवनवेगाको विद्या सिद्ध हो गई। उसने संकल्प किया कि इस जन्ममें मेरे प्राणोंकी रक्षा करने वाला यही युवक मेरा स्वामी है। यह संकल्प करके उसने वज्रकुमारको इष्ट वस्तुकी सिद्धि करने वाली प्रज्ञप्ति नामकी विद्या प्रदान की और कहा कि इसी पहाड़के किनारेसे बहने वाली नदीके पास आतापनयोगसे स्थित, मुनि महाराजके चरणोंके समीपमें बैठकर पढ़ने मात्रसे तुम्हें यह विद्या सिद्ध हो जायेगी। यह कह कर वह अपने नगरको लौट गई। वज्रकुमारने उसके कहे अनुसार फेनमालिनी नदीके किनारे आचार्यके समक्ष विद्या सिद्ध की। इस विद्याके प्रभावसे उसमें असाध्य कामको भी साधनेकी शक्ति आ गई और इससे उसका पराक्रम और भी बढ़ गया। तब उसने अपने चाचा पुरन्दरदेवको मारकर अमरावती नगरीके राज्यासनपर अपने पिता भास्करदेवको बैठाया और स्वयंवरमें पवनवेगाके साथ अन्य विद्याधर कुमारियोंसे विवाह करके आनन्दपूर्वक दिन बिताने लगा।

---

१ विहायसचरी—आ । विरहिणी। २ अशोकदलशय्यायामा दयितेन भर्त्रा आसाद्य प्राप्य या विद्याधरी। ३ चिह्नितं। ४ स्थानम्। ५ -मूलालयमयं—अ ब । ६ पर्वत। ७ निम्नगिम्न—अ । ८. मायाजगर रूपम्। ९. नदी। १ विद्याधरी।

अन्यदा पुनरि
सति शरीरेऽप्येवं
माहात्म्यमन्त्रविना
समीडे नीतस्तत्र
पितरी सावरम्
सर्वा

...ारम्भं निवार्यावधार्य च, 'किमियं विहितविवाहोपचारा, ...ज्ञय तत्र 'द्वितीयपक्षे सर्वथास्मत्पक्षे कर्तव्या' इति ...रणैकजडान्तःकरण. शरणमगात् । आप्तपुरुषोऽप्यग्र-...धाय स्वामिनं तत्समागमिनमकरोत् ।

...यत्काले जन्तुना पुराचरितम् ।
... हि सुखं च दुःखं च योजयति ॥२१०॥

...द्रदास्याः पूतिकवाहनवरणो नाम सप्तदशः कल्पः ।

...ानन्दसंपादितकर्मणि नन्दीश्वरपर्वणि तया पतिप्रणयप्रेयस्या ...र्विलादेव्या. स्यन्दनविनिर्गमेण भगवतः सकलभुवनोद्धरण-...णमुत्से चुमिच्छन्त्या शुद्धोदनतनयस्येष्टार्थमष्टाहा सकलपरिवा-...तमवनिपतिर्याचितस्तथैव प्रत्यपद्यत । ऊर्विलादेव्यपि सुभगभा-...न्यसामान्यमप्रतीकारमाकलय्य सोमदत्ताचार्यमुपसद्य 'भदन्त, ...ष्टाहामहे पूर्वक्रमेण जिनपूजार्थं मथुरायां मदीयो रथो भ्रमिष्यति, ...तुषु साभिलाषं मनः, अन्यथा निरभिलाषम्' इति प्रतिजिज्ञासमाना

...न चित्तमें उठते हुए बवण्डरको जिस किसी तरह रोककर आगेका मार्ग ...विश्वस्त पुरुषको बुलाकर उससे अपने मनकी अभिलाषा बतलाकर वह ...ास जाकर यह पूछो कि यह कन्या विवाहित है या अविवाहित ? यदि ... हमारे लिए तैयार करो ।' उस विश्वस्त पुरुषने राजमहिषीका पद प्रदान ... उसका राजाके साथ विवाह करा दिया ।

... कहा है—

...जन्ममें जो पुण्य या पाप किया है, समय आनेपर वह उसे अवश्य सुख ... ॥२१०॥

उपासकाध्ययनमें बुद्धदासी द्वारा पूतिकवाहनके वरणका वर्णन करनेवाला सत्रहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

...ाद भव्यजनोंको आनन्द देनेवाला नन्दीश्वर पर्व आया । इस पर्वमें पूतिकवाहन ... ऊर्विलादेवी बड़ा भारी महोत्सव करके जिनेन्द्रदेवका रथ निकालती थी । बुद्ध-... महोत्सवको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिए बुद्धदेवकी पूजाका आयोजन किया और उसके ...नग्री राजासे माँगी । राजाने सब सामान दे दिया । जब ऊर्विलाको अपनी सौतकी ...ण दुर्जनताका पता चला तो उसे इसका कोई प्रतीकार न सूझा । तब वह सोमदत्त ...ास गई और बोली—'भगवन्, यदि इस दो-तीन दिनमें आनेवाले अष्टाह्निकापर्वमें पुराने ...ुसार जिन भगवान्‌की पूजाके निमित्तसे मेरा रथ मथुरामें निकलेगा तो मैं अन्न-जल ग्रहण ...हीं तो मेरा त्याग है ।' यह सुनकर सोमदत्तने उसके मनोरथको पूर्ण करनेकी भावनासे ...कुमारकी ओर देखा । वज्रकुमारने उसे समझाते हुए कहा—'सम्यग्दृष्टि ललनाओंमें अग्रणी

---

१. कन्या । २ चेत् कन्या भवति तर्हि ममाधीना कर्तव्येति । ३ उद्वेग । ४ गृह । ५. प्रतिज्ञया । ...छेदनकर्तुं । ७ वुद्धस्य । ८. प्राप्य । ९ प्रतिज्ञा कर्तुमिच्छन्ती ।

यद्यपीयं गर्भसंभूता सती राजश्रेष्ठिपदमहत्त्वं समुद्रदत्तं पितरं जातमात्रा तद्वियोगशुचोपसन्नां धनश्रियं मातरं प्रवर्धमाना च बन्धुजनमकाण्ड एव वर्ष्मणी यमालयमानीय इत्थमवस्थान्तरमनुभवन्ती तिष्ठति, तथाप्यनया प्रौढयौवनयास्य मथुरानाथस्योर्विलादेवीपतिमोक्षावसरस्य पूतिकवाहनस्य महीभुजः प्रमहिष्या भवितव्यम्' इत्यवोचत्। एतच्च तत्रैव प्रस्तावे पिण्डपाताय हिण्डमानो ज्याम्यभिक्षुरुपश्रुत्य 'नान्यथा मुनिभाषितम्' इति निर्विकल्पं संकल्प्य, स्वीकृत्य चैनामभि कामाहितविहारवसतिकामभिलषितान्नैर्हारैराहारैरवीवृधत्। बुद्धेन च बुद्धदासीति परिजन-परिहासतन्त्रेण गोत्रेण।

ततो गतेषु केषुचिद्वर्षेषु भ्रमरैकमन्त्रमिनयनभरते भ्रूविभ्रमारम्भोपाध्यायस्याङ्गिनि लोचनविचारचातुर्याचार्ये वचनोक्तिचातुरीप्रचारगुरुण्यपि विभ्रमरसविकारसौन्दर्यकादम्बरी योगे नितम्बोपतमप्रदेशप्रकाशनशिल्पिनि मनसिजगजमदोद्दीपनपिण्डपिण्डिते भ्रूकारगर्भगतिर-हस्योपदेशिनि समस्तभुवनमनोमोहनसिद्धौषधे प्रतिदिनप्रादुर्भावसौविध्ये सति यौवने सा रूपसम्पन्नतीयसी बुद्धदासी सौधाग्रमुच्चकूटमन्यप्रकोष्ठसंगता तं भ्रमणिकया कृतविहारो-पान्तागमनं पूतिकवाहनं राजानमदर्शत्। राजा च ताम्। राजा—

'अलककवलयाक्तभ्रान्त्वा विलोचनवीचिका
        प्रसरविधुरा मन्दोद्योगा स्तनद्वयसैकते।
त्रिवलिविलसनभ्रान्त्वा नाभी पुनश्च निमज्जना
        शिव शिव सखे रीति मायेयं मतिर्मम वर्तते ॥२०१॥

यद्यपि जब यह बालिका गर्भमें आई तो राजश्रेष्ठीके पदपर प्रतिष्ठित इसका पिता समुद्रदत्त मर गया, जब यह जन्मी तो पतिके वियोगमें इसकी माता धनश्री चल बसी, बड़ी हुई तो असमयमें ही बन्धु-बान्धव मर गये और अब यह इस हालतमें है। तथापि युवती होनेपर यह इसी मथुरा नगरीके राजा पूतिकवाहनकी पटरानी होगी।' वहींपर भोजनके लिए घूमते हुए बौद्धभिक्षुने इस बातचीतको सुना। उसने सोचा कि मुनि झूठ नहीं बोलते। बस वह उस बालिकाको अपने विहारमें ले गया और उसकी रुचिके अनुसार खान-पान देकर उसे बड़ा किया। सब लोग हँसीमें उसे बुद्धदासी कहते थे। धीरे-धीरे उसमें यौवनका प्रादुर्भाव हो चला। उसकी भ्रुकुटियोंमें विभ्रम आ चला, लोचनोंमें कुछ अजीब चंचलता दृष्टिगोचर होने लगी, उसकी बातोंमें भी चातुर्य झलकने लगा, ओष्ठोंपर अपूर्व मादकता छा गई, अंग-प्रत्यंगमें यौवनकी शिल्पकलाका चातुर्य दिखाई पड़ने लगा, चालमें मादकता आगई। कुछ वर्ष बीतनेपर एक दिन वह रूपवती बुद्धदासी विहारके एक ऊँचे शिखरपर चढ़ी हुई थी। घूमते-घूमते राजा पूतिकवाहन उस विहारके करीब आ गया। दोनोंने एक दूसरेको देखा।

देखते ही राजा काममोहित हो गया और विचारने लगा—'इस स्त्रीरूपी नदीमें प्राप्त मेरी मति इस प्रकारकी हो रही है—प्रथम तो वह उसके कुटिल केश पाशके गोलाकार जूड़ेरूपी भँवरमें पड़कर भ्रान्त हो गई, फिर नेत्ररूपी लहरोंके सूफानमें पड़कर पीड़ित हुई, उसके बाद दोनों स्तनरूपी बालुकामय किनारों पर पहुँचकर उसकी दौड़धूप शिथिल पड़ गई, पुन उदरकी तीन रेखाओंमें भ्रमण करनेसे थक गई और पुन नाभिमें डूब जानेसे क्लान्त हो गई ॥ २०१ ॥

---

१ मरणावस्थाम्। २ विहारे। ३ मुग्धा। ४ लघुपी। ५ आचारितवान्। ६ नान्या। ७ अलक। ८ भरित। ९ समीपे। १ वल्लोल। ११ स्त्रीनद्यां मम मतिरीदृशी वर्तते।

इति विचिन्त्य, चेतोभूविजृम्भप्रारम्भं निवार्यावधार्य च, 'किमियं विहितविवाहोपचारा, किं वाद्यापि पतिवरा' इति भिक्षूनापृच्छ्य तत्र 'द्वितीयपक्षे सर्वथास्मत्पक्षे कर्तव्या' इति समर्पिताभिलापमाप्तपुरुषं प्रेष्य रणरणकजडान्तःकरणः शरणमगात्। आप्तपुरुषोऽप्यग्र-महिषीपदपणबन्धेन साध्यसिद्धिं विधाय स्वामिनं तत्समागमिनमकरोत्।

भवति चात्रार्या—

पुण्यं वा पापं वा यत्काले जन्तुना पुराचरितम्।
तत्तत्समये तस्य हि सुखं च दुःखं च योजयति ॥२१०॥

इत्युपासकाध्ययने बुद्धदास्याः पूतिकवाहनवरणो नाम सप्तदशः कल्पः।

अथ समायाते भव्यजनानन्दसंपादितकर्मणि नन्दीश्वरपर्वणि तया पतिप्रणयप्रेयस्या बुद्धदास्या प्रतिचातुर्मास्यमौर्विलादेव्याः स्यन्दनविनिर्गमेण भगवतः सकलभुवनोद्धरण-स्थितेर्जिनपतेर्महामहोत्सवकरणमुत्से[6]तुमिच्छन्त्या शुद्धोदनतनयस्येज्यार्थमष्टाहा सकलपरिवा-रानुगतमेतदुचितमुपकरणजातमवनिपतिर्याचितस्तथैव प्रत्यपद्यत। ऊर्विलादेव्यपि सुभगभा-वात्सपत्नीप्रभवं दौर्जन्यमनन्यसामान्यमप्रतीकारमाकलय्य सोमदत्ताचार्यमुपसद्य 'भदन्त, यद्येतस्मिन्द्वित्रिदिनभाविन्यष्टाहामहे पूर्वक्रमेण जिनपूजार्थं मथुरायां मदीयो रथो भ्रमिष्यति, तदा मे देहस्थितिहेतुषु वस्तुषु साभिलाषं मनः, अन्यथा निरभिलाषम्' इति प्रतिजिज्ञासमाना

फिर उसने अपने चित्तमें उठते हुए बवण्डरको जिस किसी तरह रोककर आगेका मार्ग निर्धारित किया। एक विश्वस्त पुरुषको बुलाकर उससे अपने मनकी अभिलाषा बतलाकर वह बोला—'तुम भिक्षुके पास जाकर यह पूछो कि यह कन्या विवाहित है या अविवाहित? यदि अविवाहित हो तो उसे हमारे लिए तैयार करो।' उस विश्वस्त पुरुषने राजमहिषीका पद प्रदान करनेकी प्रतिज्ञा करके उसका राजाके साथ विवाह करा दिया।

किसीने ठीक कहा है—

'जीवने पूर्वजन्ममें जो पुण्य या पाप किया है, समय आनेपर वह उसे अवश्य सुख या दुःख देता है' ॥२१०॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें बुद्धदासी द्वारा पूतिकवाहनके वरणका वर्णन करनेवाला सत्रहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

इसके बाद भव्यजनोंको आनन्द देनेवाला नन्दीश्वर पर्व आया। इस पर्वमें पूतिकवाहन राजाकी रानी ऊर्विलादेवी बड़ा भारी महोत्सव करके जिनेन्द्रदेवका रथ निकालती थी। बुद्ध-दासीने उसके महोत्सवको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिए बुद्धदेवकी पूजाका आयोजन किया और उसके योग्य सब सामग्री राजासे माँगी। राजाने सब सामान दे दिया। जब ऊर्विलाको अपनी सौतकी इस असाधारण दुर्जनताका पता चला तो उसे इसका कोई प्रतीकार न सूझा। तब वह सोमदत्त आचार्यके पास गई और बोली—'भगवन्, यदि इस दो-तीन दिनमें आनेवाले अष्टाह्निकापर्वमें पुराने क्रमके अनुसार जिन भगवान्‌की पूजाके निमित्तसे मेरा रथ मथुरामें निकलेगा तो मैं अन्न-जल ग्रहण करूँगी, नहीं तो मेरा त्याग है।' यह सुनकर सोमदत्तने उसके मनोरथको पूर्ण करनेकी भावनासे मुनि वज्रकुमारकी ओर देखा। वज्रकुमारने उसे समझाते हुए कहा—'सम्यग्दृष्टि ललनाओंमें अग्रणी

१. कन्या। २ चेत् कन्या भवति तर्हि ममाधीना कर्तव्येति। ३ उद्वेग। ४ गृह। ५ प्रतिज्ञया। ६ उच्छेदनकर्तुं। ७ बुद्धस्य। ८ प्राप्य। ९ प्रतिज्ञा कर्तुमिच्छन्ती।

तेन सोमदत्तेन भगवता तन्मनोरथसमर्थनार्थमवलोकितवदनेन वज्रकुमारेण साधुना साधु सम्बोधिता 'मातः सम्यक्त्वेशामेणीदृशामवासप्रथमकथे, अलमलमावेगेन। यतो न खलु मयि तव समर्थे सधर्मव्यापारे पुत्रके सति भवितार्हतामर्हणीयाः प्रत्यवायः। तत्स्वस्थं पूर्वस्थितस्थानस्थाने स्थातव्यम्' इति हृदयमनवद्यमनुबोध्य च निगद्य भासोद्य च पूर्वोक्तविद्याधरपुरं महामुनितया वात्सल्यविषयतया च निखिलेन भास्करदेवप्रमुखेणाम्बरचरचक्रेण क्रमशः कृताभ्युत्थानादिक्रिय समभ्ययमागमनावर्तनमापृष्टः स्वयमाख्याय।

तदनन्तरमामन्द्रदुन्दुभिनादोत्ताललयोल्लसितमुखरमुरजमण्डले, सोमपिकाहकारसारसन्नितगन्धर्वाखिविमानगमनप्रचलस्कन्धकुण्डले, अनेकानपुष्पमणिकिङ्किणीजालजटिलधूपकूटकल्पितपालिध्वजराजिविराजितभुजपञ्जरे, करिमकरसिंहशार्दूलमयूरमकुटस्मीरमफरे शकुन्तेश्वरपुरःसरपञ्चकारपताकासन्तानस्तिमितकरे,[१] मानस्तम्भस्तूपतोरणमणिविचितामर्पणसितातपत्रचामरचिरोदचैर्धनव्रजमङ्गलकुम्भसंभृतराये,[२] मतुप्तकदेवदमनवादितविविधवकर्णीरथे[३] स्पन्दनद्विपतुरगनरनिकीर्णसैन्यनिचये, समयपञ्चाप्रधुपटहकरटासृपक्वणत्कालविविधवासभम्भरीभेरिमन्भाविद्यानुगतगीतसंगतालामोणे सुमगसचारे, कुब्जवामनकिरातकितवनटभरतवन्दिवाग्जीवनविनोदामन्दितविविधमनस्कारे, सं वेसवेधरसहचरीहस्तविन्यस्तस्वस्तिकप्रदीपधूपभिप्रभृतिविविधमाघोपकरणरमणीयप्रसरैः पिष्टातकपटवासप्रसूनोपहाराभिरामरमणीनिकरैः अपरैश्च तैस्तैर्विभूतपूजापर्यायपरिवारैर्विद्याधरैः सह तं वज्रकुमारभगवन्तं मन्मथपवनतरस्तमुत्प्रेक्ष्य 'भिक्षुरीतापटीयसी पुष्यभूयसी खलु बुद्धदासी यस्याः सुगतसं

माता! इतनी क्यों घबराती हो? अपनी धर्ममाताकी चिन्ता करनेवाले मुझ पुत्रके होते हुए जिन-भगवान्‌की पूजामें विघ्न नहीं हो सकता। अतः निश्चिन्त होकर अपने महलमें जाकर बैठो।'

इस प्रकार अपने हृदयकी सच्ची बातको कहकर वज्रकुमार मुनि विद्याधर भास्करदेवके नगरमें पहुँचे। एक तो महामुनि होनेसे दूसरे बन्धुभाव होनेसे भास्करदेव वगैरह सभी विद्याधरोंने उनका सत्कार किया और विनयपूर्वक उनके आनेका कारण पूछा। वज्रकुमारने सब समाचार कहा।

सुनते ही सब विद्याधर उनके साथ मथुरा चलनेको तैयार हो गये। खूब जोर-जोरसे बाजे बजने लगे। हाथी, घोड़े और विमान सामयिक अलंकारोंसे सजा दिये गये। विद्याधरोंने बड़ी-बड़ी मणियोंकी घंटियोंसे सुशोभित ध्वजाएँ अपने हाथोंमें ले ली। कुछके हाथोंमें हाथी, मगर, सिंह आदिके आकारोंसे चित्रित पताकाएँ थीं। कुछके हाथोंमें मानस्तम्भ स्तूप, तोरण, दर्पण, छत्र, चमर, भृङ्गार आदि थे। जय-जयकारके साथ भम्भा, नगारा, मृदंग, शंख, वीणा, झाँझ आदि बाजे बजने लगे और उनके स्वरके साथ स्त्रियाँ गाने लगीं। भट लोग कुबड़े, बौने आदिका रूप बनाकर नाचने लगे, भाटोंने स्तुति-गान करना प्रारम्भ कर दिया। विनोदकी लहरें उठ पड़ीं। विद्याधरोंने अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ हाथोंमें स्वस्तिक, दीप, धूपघट आदि पूजनकी सामग्री ले ली। स्त्रियोंके हाथ केसरका चूर्ण, पुष्प आदि उपहारोंसे अलंकृत थे। इस प्रकार पूजनकी विविध सामग्री लेकर सब विद्याधर बड़े उत्सवके साथ वज्रकुमार मुनिके पीछे-पीछे चल दिये।

---

१ सम्यक्त्वसहितानां स्त्रीणां मध्ये धुरि धर्मणीये। २ धीमज्जनमातृ। ३ भविष्यति कोऽपि विघ्नः पूजायाः। ४ मान्य। ५. पुत्रस्य आचारमयमनेन। ६ भाषणं। ७ हस्तमुक्तसंयोजको ध्वनिः। ८. भासोदित। ९. रचित। १० अधुप्रज। ११ पञ्चवर्णविचित्र। १२ मत्स्य। १३ मकर। १४ कुम्भ। १५ पूर्णकुम्भ। १६ हस्ते। १७ निरन्तर। १८ शिबिका। १९. शरीर। २० सरीसृ। २१ भट। २२ विद्याधरैः। २३ बोद्ध। २४ बुद्धपूजा।

पर्वसमये समायातं सकलमेतत्सुरसैन्यम्' इति धृतधिषणे पौरजनान्तःकरणे सति स भगवान्गगनगमनानीकैः साकमूर्विलानिलये निलीय[1] सावष्टम्भमष्टाह्नीमथुरायां[2] चक्रचरणं[3] परिभ्रमय्यार्हत्प्रतिबिम्बाङ्कितमेकं स्तूपं तत्रातिष्ठिपत्। अत एवाद्यापि तत्तीर्थं देवनिर्मिताख्यया प्रथते[4]। बुद्धदासी दासीवासीद्भग्नमनोरथा।

भवति चात्र श्लोकः—

ऊर्विलाया महादेव्याः पूतिकस्य महीभुजः।
स्यन्दनं भ्रमयामास मुनिर्वज्रकुमारकः ॥२११॥

इत्युपासकाध्ययने प्रभावनविभावनो नामाष्टादशः कल्पः।

अर्थित्वं भक्तिसंपत्तिः प्रयुक्तिः [प्रियोक्तिः] सत्क्रियाविधिः।
सधर्मसु च सौचित्यकृतिर्वत्सलता मता ॥२१२॥
स्वाध्याये संयमे सङ्घे गुरौ सब्रह्मचारिणि[5]।
यथौचित्य कृतात्मानो विनयं प्राहुरादरम् ॥२१३॥
आधिव्याधिनिरुद्धस्य निरवद्येन कर्मणा।
सौचित्यकरणं प्रोक्तं वैयावृत्यं विमुक्तये ॥२१४॥

मथुरा नगरीमें आकाशसे नीचे उतरते हुए इन विद्याधरोंको देखकर पुरवासी जनोंने समझा कि 'बुद्धदासी बड़ी पुण्यात्मा है उसीकी बुद्धपूजामें सम्मिलित होनेके लिए यह सब देवगण आये हैं। किन्तु वज्रकुमार मुनि विद्याधरोंकी इस सेनाके साथ ऊर्विला रानीके महलमें उतरे और उन्होंने अष्टाह्निका-पर्वमें मथुरामें रथयात्रा कराकर जिन-बिम्बसे सुशोभित एक स्तूपकी वहाँ स्थापना की। इसीसे आज भी वह तीर्थ 'देवनिर्मित' कहा जाता है। यह सब देखकर बुद्धदासीका मनोरथ भग्न हो गया।

इस विषयमें एक श्लोक है। जिसका भाव इस प्रकार है—

वज्रकुमार मुनिने राजा पूतिककी रानी महादेवी ऊर्विलाके रथका विहार कराया ॥२११॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें प्रभावना अंगका वर्णन करनेवाला अठारहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब वात्सल्य अंगको कहते हैं—]

धर्मात्मा पुरुषोंके प्रति उदार होना, उनकी भक्ति करना, मिष्ट वचन बोलना, आदर सत्कार तथा अन्य उचित क्रियाएँ करना वात्सल्य है ॥२१२॥

स्वाध्याय, संयम, संघ, गुरु और सहाध्यायीका यथायोग्य आदर-सत्कार करनेको कृती पुरुष विनय कहते हैं ॥२१३॥

जो मानसिक या शारीरिक पीड़ासे पीड़ित हैं, निर्दोष विधिसे उनकी सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्य कहा जाता है। यह वैयावृत्य मुक्तिका कारण है ॥२१४॥

---

१ अवतीर्य। २. अष्टाह्नी उपलक्षितायाम्। ३. रथम्। ४ प्रकाशते। ५ सौमनस्यम्। 'आदृतिर्व्यावृतिर्भक्तिश्चाटूक्ति सत्कृति कृति। सधर्मसु च सौचित्तीकृतिर्वात्सल्यमुच्यते–।' धर्मरत्ना० पृ० ७३ उ०। 'भक्तिसंपत्तिरर्थित्वमिष्टोक्तिः सत्क्रियाविधि। स्वधर्मस्वक्षिसौचित्तीकृतिर्वात्सल्यमूचिरे ॥३॥ –दानशासन, पृ० २७५। ६ समानशीले। 'स्वाध्याये संयमे धर्मे मुनौ वा धर्मबान्धवे। प्रतिपत्तिस्त्रिधा प्राहुर्विनयं विनयान्विता ॥५४॥ व्याध्यादिना निरुद्धस्य निरवद्यो विधिर्महान्। विधेयो धर्मताधारैरौपधाद्यैः स्ववस्तुभिः ॥५५॥–प्रबोधसार

तेन सोमदत्तेन भगवता तन्मनोरथसमर्थनार्थमवलोकितवाक्येन वज्रकुमारेण साधुना साधु संबोधिता 'मातः सम्यग्दर्शनमेणीदृशामग्रणीकल्पे, अलमलमावेगेन। यतो न खलु मयि तव समर्थे सविध्यासीनस्तके पुत्रके सति भवितार्हतामर्चायाः प्रत्यवायः। ततस्त्वं पूर्वस्मिन्नस्थाने स्थातव्यम्' इति हृदयमनघमनुबोध्य च निगद्य, गत्वा च पुरोगतिविद्याधरपुरं महामुनितया बान्धवविधेयतया च निखिलेन भास्करदेवमुखेनाम्बरचरचक्रेण क्रमशः कृताभ्युत्थानादिक्रिय सप्रश्रयमागमनायतनमापृष्टः सप्रस्तावम्।

तदनन्तरमानन्ददुन्दुभिनादोत्तालकोलाहलमुखरभुवनमण्डलैः, सौमनसिकाकारसारसञ्चितगगनधावित्रिविमानगमनप्रचलत्कर्णकुण्डलैः, अनेकानघमणिकिङ्किणीजालजटिलघण्टाकल्पितपालिध्वजराजिविराजितभुजपञ्जरैः, करिमकरसिंहप्रायाकृतिरमणीयप्रकरैरेकैः पताकासन्तानस्तिमितकरैः, मानस्तम्भस्तूपतोरणमणिचित्रदर्पणसितातपत्रचामरविशेषैर्भृङ्गारकुम्भसंभृतगर्भैः, चतुर्विधमङ्गलाभिषिक्तकर्णीरथैः स्यन्दनगजतुरगनरनिकीर्णसैन्यनिवहैः, जयजयध्वानपटहकरटाम्रुपणवझल्लरीभेरिभम्भादिवाद्यानुगतगीतसंगताङ्गनाभोगैः सुभगसभारैः, कुब्जवामनकिरातकल्पितनटनर्तकवन्दिमागधजनस्मितोत्तानमितविविधनमस्कारैः, सैरन्ध्रीवरमहत्तरीहस्तविन्यस्तस्वस्तिकप्रदीपधूपमिश्रप्रसूतिविविधार्चनोपकरणपरमणीयप्रसरैः पिष्टातकपटवासप्रसूनोपहाराभिरामरमणीनिकरैः अपरैश्च तैस्तैर्विधृतपूजापर्यायपरिवारैर्विद्याधरैः सह तं वज्रकुमारभगवन्तमम्बरावचरस्तमुरमेत्य "भिक्षुकीश्चापठीयसी पुण्यभूयसी खलु पुत्रवासी यस्याः सुगतस

माता! इतनी क्यों घबराती हो? अपनी धर्ममाताकी चिन्ता करनेवाले मुझ पुत्रके होते हुए जिन भगवान्‌की पूजामें विघ्न नहीं हो सकता। अतः निश्चिन्त होकर अपने महलोंमें जाकर बैठो।'

इस प्रकार अपने हृदयकी सच्ची माताको कहकर वज्रकुमार मुनि विद्याधर भास्करदेवके नगरमें पहुँचे। एक तो महामुनि होनेसे दूसरे बन्धुभाव होनेसे भास्करदेव वगैरह सभी विद्याधरोंने उनका सत्कार किया और विनयपूर्वक उनके आनेका कारण पूछा। वज्रकुमारने सब समाचार कहा।

सुनते ही सब विद्याधर उनके साथ मथुरा चलनेको तैयार हो गये। खूब जोर-जोरसे बाजे बजने लगे। हाथी, घोड़े और विमान सामयिक अलंकारोंसे सजा दिये गये। विद्याधरोंने बड़ी-बड़ी मणियोंकी घंटियोंसे सुशोभित ध्वजाएँ अपने हाथोंमें ले ली। कुछके हाथोंमें हाथी, मगर, सिंह आदिके आकारोंसे चित्रित पताकाएँ थीं। कुछके हाथोंमें मानस्तम्भ, स्तूप, तोरण, दर्पण, छत्र, चमर, भृङ्गार आदि थे। जय-जयकारके साथ भम्भा, नगारा, मृदंग, शंख, वीणा, झाँझ आदि बाजे बजने लगे और उनके स्वरके साथ स्त्रियाँ गाने लगीं। नट लोग कुबड़े, बौने आदिका रूप बनाकर नाचने लगे, भाटोंने स्तुति-गान करना प्रारम्भ कर दिया। विनोदकी लहरें उठ पड़ीं। विद्याधरोंने अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ हाथोंमें स्वस्तिक, दीप, धूपघट आदि पूजनकी सामग्री ले ली। स्त्रियोंके हाथ केसरका चूर्ण, पुष्प आदि उपहारोंसे अलंकृत थे। इस प्रकार पूजनकी विविध सामग्री लेकर सब विद्याधर बड़े उत्सवके साथ वज्रकुमार मुनिके पीछे-पीछे चल दिये।

१ सम्यक्त्वसहितानां स्त्रीणां मध्ये धुरि वर्तमाने। २ वीतसम्भ्रमात्। ३ भविष्यति कोऽपि विघ्न पूजायाः। ४ प्राप्य। ५. पुत्रत्वा बान्धवत्वमनेन। ६ कारणं। ७ हस्तमुखवर्तीभयो ध्वनिः। ८ मनोविषत। ९. रचित। १० लघुध्वज। ११ अम्बरविशेष। १२ मत्स्य। १३ मकर। १४ पूर्ण। १५ पूर्णकुम्भ। १६ हस्ते। १७ निरन्तर। १८ त्रिविधा। १९. शरीर। २० सखीना। २१ पट। २२ विद्याधरैः। २३ चोद। २४ बुद्धपूजा।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अवन्तिविषयेषु सुधान्धःसौधस्पर्द्धिशालायां विशालायां पुरि प्रभावतीमहादेवीश्रितशर्मसीमा जयवर्मनामा काश्यपीश्वरः शाक्यवाक्यवारिधिविक्रान्तिनक्रेण शुक्रेण चार्वाकलोकदिवस्पतिना बृहस्पतिना रुद्रमुद्रानुद्रितविवेकेन प्रह्लादकेन चानुजेनानुगतेन वेदविद्यावलिना बलिना सचिवेन चिन्त्यमानराज्यस्थितिरेकदा समस्तशास्त्राभ्यासवर्षविस्फारितसरस्वतीतरङ्गपरम्पराप्लावनपवित्रितविनेयजनमनोनलिननिकुरुम्बस्य परमतपश्चरणगर्वग्रहणाजिह्मब्रह्मस्तम्बस्य महामुनिपञ्चशतीवर्यस्य भगवतोऽकम्पनाचार्यस्य महर्द्धिजुषः सर्वजनानन्दनं नाम नगरोपवनमधितस्थुषश्चरणार्चनोपचाराय राजमार्गेषु महोत्सवोत्साहोत्सेकिपरिजनं पौरजनमभ्रंलिहगेहाग्रभागावसरे दिग्विलोकानन्दमन्दिरे स्थित. समवलोक्य 'कोऽयमकाण्डे प्रचण्ड. पौराणामुद्यावद्योगे नियोग' इति वितर्कयन्, सकलसमयसंभविप्रसूनस्तिमितहस्तपल्लवान्तरालाद्वनपालात् 'देव, भवद्दर्शनोत्सुकवनदेवतालोचने भगवत्तपःप्रभावप्रवृत्तसमस्तर्तून्मादितमेदिनीनन्दने निजलक्ष्मीविलक्ष्यीकृतगन्धमादने पुरोपवने सद्गुणश्रीसंपादितसमूहेन महता मुनिसमूहेन सर्वसत्त्वानन्दप्रदानोदाराभिधासुधाप्रवन्धावधीरितामृतमरीचिमण्डलो निखिलदिक्पालमौलिमणिनायकमुकुरन्दीभवत्पादनखमण्डल. पुण्यद्विपयूथवन्धनवारिरकम्पनसूरि समायातः। तदुपासनाय चास्योज्जयिनीजनस्य महामहोवहश्चित्तोत्साह.' इत्याकर्ण्य प्रतूर्णमेतत्पादवन्दनोद्यतहृदयस्तत्र गमनाय तं मिथ्यात्वप्रबलतालताश्रयकलिं बलिमपृच्छत्।

८ वात्सल्य अंगमें प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनिकी कथा

इसके विषयमें एक कथा है उसे सुनें—

अवन्ति देशकी विशाला नगरीमें जयवर्म नामक राजा राज्य करता था। उसके चार मन्त्री थे शुक्र, बृहस्पति, प्रह्लाद और बलि। शुक्र बौद्ध शास्त्रमें निष्णात था, बृहस्पति चार्वाक दर्शनमें बृहस्पतिके तुल्य था, प्रह्लाद शैव था और बलि वेदविद्यामें पारगत था।

एक बार समस्त शास्त्रोंमें पारगत और परम तपस्वी अकम्पनाचार्य पाँच सौ मुनियोंके सघके साथ सर्वजनानन्दन नामके उपवनमें आकर ठहरे। अपने आकाशचुम्बी महलके ऊपरसे आचार्यकी चरण पूजाके लिए बड़े उत्साहके साथ राजमार्गसे जाते हुए पुरवासियोंको देखकर राजा विचारने लगा—असमयमें ये पुरवासी उद्यानकी ओर क्यों जाते है?

इतनेमें ही सब ऋतुओंके फल-फूल हाथमें लेकर वनपाल उपस्थित हुआ और बोला—'स्वामी! नगरके उपवनमें बडे भारी मुनि-सघके साथ सब जीवोंको आनन्द देनेवाले, अपने अमृत मय वचनोंकी वर्षासे चन्द्रमाको भी तिरस्कृत करनेवाले अकम्पनाचार्य गुरु पधारे हैं। उनके तपके प्रभावसे आई हुई समस्त ऋतुओंने उपवनको पृथिवीका नन्दनवन बना दिया है। उनकी उपासनाके लिए उज्जैनीवासियोंका उत्साह उमड़ पड़ा है।'

यह सुनकर राजाका मन उनके चरणोंकी वन्दना करनेके लिए आतुर हो उठा। राजाने

१ अमृतभोजना देवा। २ उज्जयिन्याम्। ३ इन्द्रेण। ४ -णमण—ज० द०। ५ त्रिभुवनस्य। ६ स्थितवत। ७ गर्वित। ८ उत्सव। ९ षड्ऋतु। १० वृक्षे। ११ सम्पादित सम्यगूहो विचारो येन। १२ चन्द्र। १३ दर्पण। १४ महापूजाकारक। १५ विभीतकवृक्षम्।

जिने जिनागमे सूरौ तपःश्रुतपरायणे।
सद्भावशुद्धिसंपन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ॥२१५॥
चातुर्वर्ण्यस्य संघस्य यथायोग्यं प्रमोदवान्।
वात्सल्यं यस्तु नो कुर्यात्स भवेत्समयी कथम् ॥२१६॥
तद्व्रतैर्विद्यया वित्तैः शरीरैः श्रीमदाश्रयैः।
त्रिविधोत्तद्गुसमासानुपकुर्वन्तु संयताम् ॥२१७॥

जिन भगवान्में, जिन-भगवान्के द्वारा कहे हुए शास्त्रमें, आचार्यमें और तप और स्वाध्यायमें लीन मुनि आदिमें विशुद्ध भावपूर्वक जो अनुराग होता है उसे भक्ति कहते हैं ॥२१५॥

जो हर्षित होकर चार प्रकारके संघमें यथायोग्य वात्सल्य नहीं करता वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है ॥२१६॥

इसलिए व्रतोंके द्वारा, विद्याके द्वारा धनके द्वारा, शरीरके द्वारा और सम्पन्न साधनोंके द्वारा शारीरिक मानसिक और आगन्तुक रोगोंसे पीड़ित संयमीजनोंका उपकार करना चाहिए ॥२१७॥

भावार्थ—जिस प्रकार एक सच्चा हितैषी भृत्य अपने स्वामीके कार्यके लिए सदा तैयार रहता है वैसे ही धर्मके कार्योंको करनेमें सदा तैयार रहना, धर्मके अंगोंकी रक्षाके लिए अपनी जान तक लगा देना वात्सल्य है। सम्यग्दृष्टिको वात्सल्यसे परिपूर्ण होना चाहिए। किसी भी धर्मायतनपर विपत्ति आनेपर उसे तन, मन और धन लगाकर दूर करना चाहिए। हम धर्मसे तो प्रेम करें और धर्मके जो अंग हैं—जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, जिनागम, जैन साधु गृहस्थ वगैरह, उनके प्रति उदासीन बने रहें, तो हमारा वह धर्म-प्रेम आखिर है क्या वस्तु ? जब धर्मके अंग ही नहीं रहेंगे तो धर्म ही कैसे रह सकता है ? जैसे शरीरकी स्थिति उसके अंगों और उपांगोंकी स्थितिपर निर्भर है वैसे ही धर्मकी स्थिति उसके उक्त अंगोंके आश्रित है। अतः धर्म-प्रेमीका यह कर्तव्य है कि वह धर्मके अंगोंसे प्रेम करे—उनके ऊपर कोई विपत्ति आई हो तो उसे प्राण-पणसे दूर करनेकी चेष्टा करे। इसीसे वात्सल्य अंगका वर्णन करते हुए श्री पञ्चाध्यायीके कर्ताने लिखा है कि 'जिनबिम्ब जिनालय वगैरहमेंसे किसीके ऊपर भी घोर संकट आनेपर बुद्धिमान् सम्यग्दृष्टि सदा उसे दूर करनेके लिए तत्पर रहता है और जब तक उनमें आत्मबल रहता है, मन्त्र, तलवार और धनका बल रहता है तब तक उस संकटको न वह सुन ही सकता है और न देख ही सकता है।' आज इस प्रकारका वात्सल्य देखनेमें नहीं आता। साधर्मी भाई मुसीबतमें पड़े रहते हैं और हम देखकर भी अनदेखा कर देते हैं। साधु त्यागियोंके कष्टोंकी ओर हमारा कोई ध्यान नहीं है। अपने ही भाइयोंकी कन्याके विवाहके अवसरपर हम उनसे हजारोंका दहेज माँगते हैं। कोई गरीब निराश्रय हो तो उनकी सहायता करनेकी भावना हममें नहीं होती। उनका दुःख देखकर हमारा हृदय द्रवित हो भी जाये तो भी हम उनकी सहायता नहीं करते। मौखिक सहानुभूति मात्र प्रकट करके चुप हो जाते हैं। इस तरहकी बेरुखाईसे धर्मकी स्थिति कभी भी नहीं रह सकती। अतः जो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है वह सबकी यथायोग्य सेवा-शुश्रूषा करके, अपने हृदयकी भक्तिका प्रकट करता है और इस तरह वात्सल्य अंगका पालन करके अपना और दूसरोंका महान् उपकार करता है।

---

१ व्रतादिभिर् उपकारं कुर्वन्तु। २ उत्तमधनैः। ३ शारीरमानसागन्तुक।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अवन्तिविषयेषु सुधान्धःसौधस्पर्द्धिशालायां विशालायां पुरि प्रभावतीमहादेवीश्रितशर्मसीमा जयवर्मनामा काश्यपीश्वरः शाक्यवाक्यवारिधिविक्रान्तिनक्रेण शुक्रेण चार्वाकलोकदिवस्पतिना बृहस्पतिना रुद्रमुद्रानुद्रितविवेकेन प्रह्लादकेन चानुजेनानुगतेन वेदविद्यावलिना वलिना सचिवेन चिन्त्यमानराज्यस्थितिरेकदा समस्तशास्त्राभ्यासवर्पविस्फारितसरस्वतीतरङ्गपरम्परासावनपवित्रितविनेयजनमनोनलिननिकुरुम्बस्य परमतपश्चरणगर्णग्रहणाजिह्मब्रह्मस्तम्बस्य महामुनिपञ्चशतीचर्यस्य भगवतोऽकम्पनाचार्यस्य महर्द्धिजुषः सर्वजनानन्दनं नाम नगरोपवनमधितस्थुषश्चरणार्चनोपचाराय राजमार्गेषु महोत्सवोत्साहोत्सेकिपरिजनं पौरजनमभ्रंलिहगेहाग्रभागावसरे दिग्विलोकानन्दमन्दिरे स्थित समवलोक्य 'कोऽयमकाण्डे प्रचण्डः पौराणामुद्यावचोर्गे नियोग.' इति वितर्कयन्, 'सकलसमयसंभविप्रसूनस्तिमितहस्तपल्लवान्तरालाद्वनपालात् 'देव, भवद्दर्शनोत्सुकवनदेवतालोचने भगवत्तपःप्रभावप्रवृत्तसमस्तर्तून्मादितमेदिनीनन्दने[10] निजलक्ष्मीविलक्ष्यीकृतगन्धमादने पुरोपवने सद्गुणश्रीसपादितसमूहेन[11] महता मुनिसमूहेन सर्वसत्त्वानन्दप्रदानोदाराभिधासुधाप्रवन्धावधीरितामृतमरीचिमण्डलो निखिलदिक्पालमौलिमणिनायकमुकुरन्दीभवत्पादनखमण्डल पुण्यद्विपयूथवन्धनवारिरकम्पनसूरि समायात.। तदुपासनाय चास्योज्जयिनीजनस्य महामहावहश्चित्तोत्साह.' इत्याकर्ण्य प्रतूर्णमेतत्पादवन्दनोद्यतहृदयस्तत्र गमनाय तं मिथ्यात्वप्रवलतालताश्रयकलिं वलिमपृच्छत्।

८ वात्सल्य अंगमें प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनिकी कथा

इसके विषयमें एक कथा है उसे सुनें—

अवन्ति देशकी विशाला नगरीमें जयवर्म नामक राजा राज्य करता था। उसके चार मत्री थे शुक्र, वृहस्पति, प्रह्लाद और बलि। शुक्र बौद्ध शास्त्रमें निष्णात था, वृहस्पति चार्वाक दर्शनमें वृहस्पतिके तुल्य था, प्रह्लाद शैव था और बलि वेदविद्यामें पारगत था।

एक बार समस्त शास्त्रोंमें पारगत और परम तपस्वी अकम्पनाचार्य पाँच सौ मुनियोंके सघके साथ सर्वजनानन्दन नामके उपवनमें आकर ठहरे। अपने आकाशचुम्बी महलके ऊपरसे आचार्यकी चरण पूजाके लिए बड़े उत्साहके साथ राजमार्गसे जाते हुए पुरवासियोंको देखकर राजा विचारने लगा—असमयमें ये पुरवासी उद्यानकी ओर क्यों जाते है ?

इतनेमें ही सब ऋतुओंके फल-फूल हाथमें लेकर वनपाल उपस्थित हुआ और बोला—'स्वामी! नगरके उपवनमें बड़े भारी मुनि-सघके साथ सब जीवोंको आनन्द देनेवाले, अपने अमृत मय वचनोंकी वर्षासे चन्द्रमाको भी तिरस्कृत करनेवाले अकम्पनाचार्य गुरु पधारे हैं। उनके तपके प्रभावसे आई हुई समस्त ऋतुओंने उपवनको पृथिवीका नन्दनवन बना दिया है। उनकी उपासनाके लिए उज्जैनीवासियोंका उत्साह उमड़ पड़ा है।'

यह सुनकर राजाका मन उनके चरणोंकी वन्दना करनेके लिए आतुर हो उठा। राजाने

१ अमृतभोजना देवा। २ उज्जयिन्याम्। ३. इन्द्रेण। ४ -णमण—ज० द०। ५ त्रिभुवनस्य। ६ स्थितवत। ७ गर्वित। ८ उत्सव। ९ षड्ऋतु। १० वृक्षे। ११ सम्पादित सम्यगूहो विचारो येन। १२ चन्द्र। १३ दर्पण। १४ महापूजाकारक। १५ विभीतकवृक्षम्।

सद्धर्मधुरोद्धरणगोलिर्बलिः—'देव,

न वेदात्परं तत्त्वं न श्राद्धात्परो विधिः ।
न यज्ञात्परो धर्मो न द्विजात्परो यतिः ॥२१८॥

सन्मार्गसर्गोच्छेदकः प्रह्लादकः—

'अद्वैतान्न परं तत्त्वं न देवः शङ्करात्परः ।
शैवशास्त्रात्परं नास्ति भुक्तिमुक्तिप्रदं वचः' ॥२१९॥

तथा नास्तिक्याधिकमधाक्ययावस्पती शुक्रबृहस्पती अपि राज्ञे स्वमतं विज्ञापयामासतुः । अनागन्ताक्षुभितमतिः क्षितिपतिः—अहो दुर्जनतालतालम्बनकुब्जा द्विजाः, किं ममैव पुरतो भवतां भारती प्रगल्भते, किं वा बुधप्रवेकस्य लोकस्यापि ?

सधीतिवसुमतीविहारमहोर्मिर्बलिः—'इलापाल यदि तवास्मन्मनीषोत्कर्षविषये सेर्ष्यं मनः, तदास्तां तावदन्यस्तव शास्त्रप्रवीणप्रज्ञः परः प्राज्ञः । किं तु सर्वज्ञस्यापि यद्येषवि पुरस्तादपरिगृहीतविद्यानवद्या एव'। स्थिरप्रकृतिः क्षोणीपतिः—'यद्येवं शूराणां कातराणां च रणे व्यक्तिर्भविष्यति' इत्यभिधायानन्दधुन्दुभिरवोपार्जितपरिजनपूजोपकरणो विजयशेखरं नाम करिणमारुह्यारब्धपुरानुगमप्रायोऽतिपीतः नगरमार्गमुपगतारामसीमसंसर्गः, ततः करिणोऽवतीर्य गृहीतार्घ्यसेवपरिकरः कतिपयाप्तपरिवारपुरःसरस्तं भगवन्तं

मुनियोंके पास चलनेके लिए बलि मंत्रीसे पूछा । सच्चे धर्मकी धुराको उखाड़ फेंकनेमें पटु बलि बोला—'राजन्, वेदसे उत्कृष्ट कोई तत्त्व नहीं है । श्राद्धसे बढ़कर कोई दूसरी विधि नहीं है । यज्ञसे बड़ा कोई दूसरा धर्म नहीं है और ब्राह्मणसे बढ़कर दूसरा कोई यति नहीं है' ॥२१८॥

सन्मार्गका नाशक प्रह्लाद मंत्री बोला—

'अद्वैतसे उत्कृष्ट दूसरा कोई तत्त्व नहीं है, शंकरसे बड़ा दूसरा कोई देवता नहीं है । और शैव शास्त्रसे बढ़कर दूसरा कोई भुक्ति और मुक्तिको देनेवाला शास्त्र नहीं है' ॥२१९॥

नास्तिक शिरोमणि शुक्र और बृहस्पतिने भी राजासे अपना अभिप्राय कहा । थोड़ा क्षुब्ध होकर राजा बोला—'अहो दुर्जनरूपी लताके आधारभूत द्विज वृक्षो, क्या मेरे ही सामने आपकी जबान चलती है या विद्वानोंके सामने भी कुछ बोल सकते हैं ?'

बलि बोला—'राजन् ! यदि हमारी बुद्धिके वैशिष्ट्यके विषयमें आपके मनमें ईर्ष्या है तो समस्त शास्त्रोंमें प्रवीण विद्वान्की तो बात ही क्या, सर्वज्ञ भी यदि वादी हो तो उसके सामने भी हमारी विद्या निर्दोष ठहरेगी ।'

'यदि ऐसा है तो शूर-वीर और कायरकी पहचान रणमें ही होगी ।' ऐसा कहकर उस स्थिरस्वभाव राजाने आनन्द सूचक भेरी बजवायी । उसे सुनकर उसके परिवारके लोग पूजाकी सामग्री ले-लेकर आ गये । तब राजा विजयशेखर नामके हाथीपर चढ़कर चल दिया और नगरके बाहर उद्यानकी सीमामें पहुँचते ही हाथीसे उतर पड़ा । तथा अपने

---

१ दुष्टनृपः । २ महत् दम्भम् । ३ भूपाल । ४ वादिना । ५ बहिर्निर्गमार्थमतिशयेन अतिक्रम्य ।
६ संप्राप्तमुनिवनसीमसंसर्गः ।

यथावदभिवन्द्य समाचरितनीचासनपरिग्रहः सविनयाग्रहं स्वर्गापवर्गमार्गस्वरूपनिरूपणपरायणः सद्धर्मसनाथां कथां प्रथयामास।

सत्कर्मवंश[1]प्रभिदलिर्वलिः—'स्वामिन्, कोऽयं स्वर्गापवर्गास्तित्वसंग्रहे देवस्य दुराग्रहः, यतो द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुरुषः। तयोरन्योन्यमनन्यसामान्यस्नेहरसोत्सेकप्रादुर्भूतिः प्रीति प्रत्यक्षसमधि[2]सर्गः स्वर्गो न पुनरदृष्टः कोऽपीष्टः स्वर्गः समस्ति'।

गुणभूरिः सूरिः—'सक[3]ले प्रमाण[4]वले वले, किं प्रत्यक्षताधिकरणमेकमेव प्रमाणं समस्ति'। नास्तिकेन्द्रमनोरथरथमा[5]तलिर्वलिः—'अखिलश्रुतधरोद्धारादिपुरुषविद्रुष, एकमेव'। भगवान्—'कथं तर्हि भवतः पित्रोर्विवाहाद्यस्तित्वतन्त्रम्, कथं वा तवादृश्यानां वश्यानामवस्थितिः, स्वयमप्रत्यक्षप्रमेयत्वादाप्तपुरुषोपदेशाश्रितौ स्वपक्षपरिक्षतिः परमतोत्सवकृतिश्च।

वलिभट्टो भट्ट[6]इवेतस्ततमितो मदोत्कटः करटीति संकटप्रघट्टकमापतितः पर सभाजनसभाजन[7]करमुत्तरमपश्यन्नश्लीलमसभ्यसर्गं निरर्गलमार्गं किमपि तं भगवन्तं प्रत्युवाच। क्षितिपतिरतीव मन्दा[8]क्षविक्षिप्तवीक्षणो मुमुक्षुसमक्षमासन्नाशिवताशनिसंघट्टं वलिभट्टं प्रतिष्ठाभङ्गभयात्किमप्यनभिल[10]प्य 'भगवन्, संपन्नतत्त्वसंवन्धस्य निजस्खलितप्रवृत्तचित्तमहामोहान्धस्य सद्धर्मध्वंसहेतोर्जन्तोर्निसर्गस्थैर्यमेरुषु गुणगुरुषु न खलु दुरपवादकरणात्परमव-

---

परिवारके कुछ आप्त पुरुषोंके साथ आचार्यके पास जाकर और उनके चरणोंकी वन्दना करके एक नीचे आसनपर बैठ गया और विनयपूर्वक स्वर्ग और मोक्षका स्वरूप बतलानेकी प्रार्थना करके चुप हो गया। आचार्यने स्वर्ग और मोक्षका निरूपण करते हुए धर्म चर्चा की। तब बलि बोला—'स्वामी! स्वर्ग और मोक्षका अस्तित्व माननेका दुराग्रह आप क्यों करते है? बारह वर्षकी स्त्री और सोलह वर्षके पुरुषका परस्परमें जो असाधारण प्रेमरस उत्पन्न होता है उसे प्रीति कहते हैं। यह प्रीति ही साक्षात् स्वर्ग है, उससे भिन्न कोई दूसरा अदृश्य स्वर्ग नहीं है।' आचार्य—बलि! क्या एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही है?

बलि—'हाँ, समस्त श्रुतरूपी पृथिवीका उद्धार करनेवाले आदि पुरुषके तुल्य विद्वन् महात्मन्, एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।'

आचार्य—तो फिर तुम्हारे माता पिताने विवाह किया था इत्यादिमें क्या प्रमाण है? और तुम्हारे पूर्व पुरुष थे इसमें भी क्या प्रमाण है? यदि कहोगे कि जो वस्तुएँ हमारे प्रत्यक्षमें नहीं है उन्हें हम प्रामाणिक पुरुषोंके कथनसे मानते हैं तो ऐसा माननेमें तुम्हारे पक्षकी हानि होती है और हमारे मतकी पुष्टि होती है।

इस उत्तरको सुनकर बलि संकटमें पड़ गया और सदस्योंके लिए प्रीतिकर उत्तर न सूझने पर असभ्य वचन बकने लगा। यह देखकर राजाकी आँखें शरमसे गड़ गईं। किन्तु प्रतिष्ठाके भङ्ग होनेके भयसे उसने मुनिजनोंके सामने बलिसे कुछ भी नहीं कहा और बोला—'भगवन्! जिसका चित्त महामोहसे अन्धा हो रहा है और जो समीचीन धर्मको ध्वस करनेपर तत्पर है तथा वर्तमान

---

१ वेणु तत्र प्रभित् भेदने अलिर्भ्रमर। २ निश्चय। ३. सह कलिना वर्तते हे। ४ प्रमाणे वलि पूजा यस्य स हे। ५ इन्द्रसारथि। ६. वलीवर्दवत्। ७ प्रीतिकरम्। ८ लज्जा। ९ अकल्याण। १०. अनुक्त्वा।

अधर्मधुरोद्धरणगोत्रिर्बलिः—'देव,

न वेदात्परं तत्त्वं न श्राद्धात्परो विधिः ।
न यज्ञात्परो धर्मो न द्विजात्परो यतिः ॥२१८॥

सन्मार्गसर्गोच्छेदकः महादकः—

'अद्वैतान्न परं तत्त्वं न देवः शङ्करात्परः ।
शैवशास्त्रात्परं नास्ति भुक्तिमुक्तिप्रदं वचः ॥२१९॥

तथा नास्तिकत्वाधिकरणवाचस्पती शुक्रबृहस्पती अपि राज्ञे स्वमतं विज्ञापयामासतुः । मनागन्तःकुपितमतिः क्षितिपतिः—'अहो दुर्जनलतालम्बनकुजा द्विजाः, किं ममैव पुरतो भवतां भारती प्रगल्भते, किं वा बुधप्रबोधकस्य लोकस्यापि ?

अधीतिवसुमतीविदारणहलिर्बलिः—'क्ष्मापाल यदि तवास्मन्मनीषोत्कर्षविषये सेर्ष्यं मनः, तदास्तां तावदन्यस्तत्रशास्त्रप्रवीणमना परः प्राज्ञः । किं तु सर्वज्ञस्यापि वादिवदि पुरस्तात्परिगृहीतविद्यामवद्या एव' । स्थिरप्रकृतिः क्षोणीपतिः—'यद्येवं शूराणां कातराणां च रणे व्यक्तिर्भविष्यति' इत्यभिधायानन्ददुन्दुभिरवोपार्जितपरिजनपूजोपकरणो विजयशेखरं नाम करिणमारुह्यान्तःपुरानुगममानोऽतिवाह्य नगरमार्गमुपगतोपवनसीमसंसर्गे, तदा करिणोऽवतीर्य गृहीतार्घ्यदेयपरिकरः कतिपयाप्तपरिवारपुरःसरस्तं मठविधानवन्तं भगवन्त

मुनियोंके पास चलनेके लिए बलि मंत्रीसे पूछा । सच्चे धर्मकी धुराको उखाड़ फेंकनेमें पटु बलि बोला—'राजन्, वेदसे उत्कृष्ट कोई तत्त्व नहीं है । श्राद्धसे बढ़कर कोई दूसरी विधि नहीं है । यज्ञसे बड़ा कोई दूसरा धर्म नहीं है और ब्राह्मणसे बढ़कर दूसरा कोई यति नहीं है' ॥२१८॥

सन्मार्गका नाशक महाद मंत्री बोला—

'अद्वैतसे उत्कृष्ट दूसरा कोई तत्त्व नहीं है, शंकरसे बड़ा दूसरा कोई देवता नहीं है । और शैव शास्त्रसे बढ़कर दूसरा कोई भुक्ति और मुक्तिको देनेवाला शास्त्र नहीं है' ॥२१९॥

नास्तिक शिरोमणि शुक्र और बृहस्पतिने भी राजासे अपना अभिप्राय कहा । थोड़ा क्षुब्ध होकर राजा बोला—'अहो दुर्जनरूपी लताके आधारभूत द्विज वृक्षो, क्या मेरे ही सामने आपकी जबान चलती है या विद्वानोंके सामने भी कुछ बोल सकते हैं ?'

बलि बोला—'राजन् ! यदि हमारी बुद्धिके वैशिष्ट्यके विषयमें आपके मनमें ईर्ष्या है तो समस्त शास्त्रोंमें प्रवीण विद्वान्की तो बात ही क्या, सर्वज्ञ भी यदि वादी हो तो उसके सामने भी हमारी विद्या निर्दोष उतरेगी ।'

'यदि ऐसा है तो शूर-वीर और कायरकी पहचान रणमें ही होगी ।' ऐसा कहकर उस स्थिरस्वभाव राजाने आनन्द सूचक भेरी बजवायी । उसे सुनकर उसके परिवारके लोग पूजाकी सामग्री ले-लेकर आ गये । तब राजा विजयशेखर नामके हाथीपर चढ़कर चल दिया और नगरके बाहर उद्यानकी सीमामें पहुँचते ही हाथीसे उतर पड़ा । तथा अपने

---

१ दुष्टवृक्ष । २ महत् हलम् । ३ भूपाल । ४ वादिन । ५. बहिर्नगरमार्गमतिवाह्य अतिक्रम्य । ६ संप्राप्तमुनिवनसीमसम ।

तस्मै वलिसचिवाय सर्वाधिकारिकं स्थानमदात्।

वलि'—'देव, गृहीतोऽयमनन्यसामान्यसंभावनाह्लाद' प्रसाद. किंतु कर्णेजपवृत्तीनां लञ्चलुञ्चनोचितचेत'प्रवृत्तीनां च प्रायेण पुरुपाणा नियोगिपदं हृदयास्पद न शौर्योर्जितचित्तस्योदारवृत्तस्य च तदसाध्यसाधनेन नन्वयं जनो निदेशदानेनानुगृहीतव्य.'। पद्मः—'सत्यमिदम्' किं तु स्वामिसमीहितसमर्थनसंवीणेपु[1] भवद्विधेपु सचिवेपु सत्सु किं नामासाध्यं समस्ति।'

अन्यदा तु कुम्भपराधिकृतमूर्त्ति सिंहकीर्तिर्नाम नृपतिरनेकायोधन[2]लब्धयश प्रसाधन' संनद्धसारसाधनो हस्तिनागपुरावस्कन्दप्रदानायागच्छन्, एतन्नगरच्छन्नो[3]वसर्पनिवेदितागमन. पद्मनिदेशादभ्यमित्रीणप्रयाणपरायणेन कूटप्रकामकदनकोविदधिपणेन वलिनाध्व[4]मध्ये प्रबन्धेन[5] युद्ध्यमान., नार्मनिर्गमविधानै[6] प्रधानैर्युद्धसिद्धान्तोपान्तै सामन्तैश्च सार्धं प्रवध्य तस्मै हृदयशल्योन्मूलनप्रमदमतये क्षितिपतये प्राभृतीकृत । क्षितिपति'—'शस्त्रशास्त्रविद्याधिकरणव्याकरणपतञ्जले वले, निखिलेऽपि[7] वले चिरकालमनेकश' कृतकृष्ण[8]वदनच्छायस्यास्य द्विपस्य विजयाञ्चितान्तं तुष्टोऽस्मि। तद्याच्यनां मनोभिलापधरो वर.'। वलि —'अलक'[11] यदाहं याचे तदार्य प्रसादोकर्तव्यः' इत्युदारमुदार्य पुनश्चतुरङ्गवल प्रवल प्रतिकूलभूपालविनयनाय पद्ममवनीपतिमादेशं याचित्वा सत्त्वरमशेपाशावशनिवेशानीकसूत्रितसकलमहीतलो दिग्विजयया-

लिया और सब अधिकार उसे दे दिया।

वलि बोला—देव! आपने हमपर असाधारण अनुग्रह किया है। किन्तु चुगलखोरों और घूसखोरोंको यह बात सह्य नहीं हो सकती। अत' आप कोई ऐसा कार्य करनेकी हमे आज्ञा दें जो असाध्य हो।

पद्म—तुम्हारा कहना ठीक है किन्तु स्वामीके अभीष्टको पूरा करनेमें कुशल तुम्हारे जैसे मन्त्रियोंके होते हुए कुछ भी असाध्य नहीं है।

एक बार कुम्भपुरका स्वामी सिंहकीर्ति राजा, जिसने अनेक युद्धोंमें नाम कमाया था, बडे भारी लश्करके साथ हस्तिनागपुरपर आक्रमण करनेके लिए चला। गुप्तचरोंने उसके आनेका समाचार वलिसे निवेदित किया। वलि शत्रुपर आक्रमण करनेमें तथा कपट-युद्धमें बडा चतुर था। उसने पद्मकी आज्ञा लेकर शत्रुका सामना करनेके लिए कूच कर दिया और मार्गमें ही उसपर आक्रमण कर दिया। तथा विख्यात नामवाले प्रधानो और युद्ध करनेमें कुशल उसके सब सामन्तोंके साथ उसे बाँधकर राजा पद्मके सामने उपस्थित कर दिया। हृदयके इस काँटेके निकल जानेसे राजा पद्म बडा प्रसन्न हुआ और बोला—

राजा—'व्याकरणमें पतञ्जलिके समान शस्त्र विद्यामें निपुण बलि! समस्त सैन्यके होते हुए भी चिरकालसे अनेक बार मेरे मुखको काला करनेवाले इस शत्रुको जीतनेसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। जो तुम्हें माँगना हो माँगो।'

'जब मैं याचना करूँ तब महाराज मुझपर कृपा करें। ऐसा कहकर और राजा पद्मसे आज्ञा लेकर विरोधी राजाओंको वश करनेके उद्देश्यसे बलि बड़ी भारी सेनाके साथ दिग्विजयके

१ प्रवीणेपु। २ संग्राम। ३ प्रच्छन्नचरा। ४ शत्रु सन्मुख। ५ संग्राम। ६ नार्व्ज—व०। —नार्वि—मु०। ७ मार्गरोधेन। ८ स्वकीयअकणविरुदावलीसहितै। ९ समस्तसैन्ये विद्यमानेऽपि। १० अनेकवार मम कृतमानभंगस्य ईदृग्विधस्य शत्रोर्विजयात्। ११ स्वामिन्।

सामे प्रहरणमस्ति' इति वचनपुरस्सरं कथान्तरमनुबध्य साधु समाराध्य च प्रशान्तिहैमवती-प्रभवगिरिमकम्पनसूरिं विनेयजनसंभावनीयविस्मयया तदनुस्वपारमसदनमासाद्यापरेद्युरपर-दोषमिषेण सनिकारकरणमनुजैः सह कमलकन्धबन्धवार्द्धेर्लिं बलिं निजदेशाद्विवासयामास।

भवतश्चात्र श्लोकौ—

सर्वेषां च समावेव यदि चित्तं मलीमसम् ।
यात्यशान्तेर्लयं पूर्वः परस्त्वशुभचेष्टितात् ॥२२०॥
स्वमेव हन्तुमीहेत दुर्जनः सज्जनं द्विषन् ।
योऽधितिष्ठेत्तुलामेकः किमसौ न मजेत्स्वयम् ॥२२१॥

इत्युपासकाध्ययने बलिनिर्वासनो नामैकोनविंशः कल्पः ।

बलिद्विजः सानुजस्तथा सकलजनसमक्षमसह्यमर्षणपूर्वकं निर्वासितः सन्मुनि-विषयरोषोन्मेषकलुषितः कुरुजाङ्गलमण्डलेषु तद्विलासिनीजलकेलिविगलितकालेयपाटल-कल्लोलाधरसुरसरित्सीमन्तिनीचुम्बितपरिसरे हस्तिनागपुरे स्वाराज्यलक्ष्मीमिव लक्ष्मी-मतीं महादेवीमपेहाय सरस्वतीरसायनाह्लादसागरस्य श्रुतसागरस्य भगवतोऽभ्यर्णे विव-विनयविधित्सुना [11]विष्णुना सधुमन्मना सूनुना सार्धं प्रवर्तितश्रीदापर्वस्य महापद्मस्य मही-पतेर्महादेव्यं पद्मनामनिलयं तनयमभिषिच्य। पद्मोऽपि भारसधारादिदितवंशावनिद्युम्नमापाय

तत्त्वोंसे ही सम्बन्ध रखता है उस मनुष्यके पास मेरुके समान स्थिर आप सरीखे गुरुओंका अपवाद करनेके सिवा दूसरा हथियार नहीं है।'

इस प्रकार बलाका प्रसङ्ग बदलकर, और परम शान्तिरूपी गंगा नदीके उद्गमके लिये हिमवान् पर्वतके तुल्य अकम्पनाचार्यकी शिष्यमनोंके योग्य आराधना करके तथा आज्ञा लेकर राजा अपने महलोंमें लौट आया। और दूसरे दिन अन्य अपराधके बहानेसे बलिको उसके साथी मन्त्रियोंके साथ तिरस्कारपूर्वक देशसे निर्वासित कर दिया।

इस विषयमें दो श्लोक हैं जिनका भाव इस प्रकार है—'यदि चित्त मलीन है तो सज्जन और दुर्जन दोनों समान हैं। उनमेंसे सज्जन तो अशान्तिके कारण नष्ट हो जाता है और दुर्जन बुरे कार्योंके करनेसे नष्ट हो जाता है। क्योंकि सज्जनसे द्वेष करनेवाला दुर्जन स्वयं अपने ही घातकी चेष्टा करता है। ठीक ही है जो अकेला ही तराजूमें बैठ जाता है वह नीचे क्यों नहीं जायगा ॥२२०-२२१॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें बलिके देशनिर्वासनका वर्णन करनेवाला उन्नीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

समस्त लोगोंके सामने महान् तिरस्कारपूर्वक अपने साथियोंके साथ निर्वासित किये जानेपर बलि मुनियोंसे अत्यन्त रुष्ट हो गया और कुरुजांगल देशके हस्तिनागपुर नामके नगरके राजा पद्मकी शरणमें पहुँचा। राजा पद्मके पिता महापद्मने अपने बड़े पुत्र विष्णुके साथ श्रुतसागर मुनिके समीपमें जिनदीक्षा धारण कर ली थी और छोटे पुत्र पद्मको राज्यभार सौंप दिया था।

पद्मने गुप्तचरोंके द्वारा बलिको कुलीन और विद्वान् जानकर उसे अपना मन्त्री बना

१ दोषम॰ । २ [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible] । ५ [illegible] ।
६ [illegible] । ७ [illegible] । ८ [illegible] । ९ [illegible] । १० [illegible] ।
११ [illegible] । १२ [illegible] ।—[illegible]

तस्मै वलिसचिवाय सर्वाधिकारिकं स्थानमदात् ।

वलि —'देव, गृहीतोऽयमनन्यसामान्यसंभावनाह्लाद' प्रसाद. किंतु कर्णेजपवृत्तीनां लञ्चलुञ्चनोचितचेत'प्रवृत्तीनां च प्रायेण पुरुपाणा नियोगिपदं हृदयास्पदं न शौर्योर्जितचित्तस्योदारवृत्तस्य च तदसाध्यसाधनेन नन्वय जनो निदेशदानेनागृहीतव्य.'। पद्मः—'सत्यमिदम्' किं तु स्वामिसमीहितसमर्थनसंवीणेपु[1] भवद्विधेपु सचिवेपु सत्सु किं नामासाध्यं समस्ति।'

अन्यदा तु कुम्भपराधिकृतमूर्त्ति सिंहकीर्तिर्नाम नृपतिरनेकायोधनलब्धयश.प्रसाधन. संनद्धसारसाधनो हस्तिनागपुरावस्कन्दप्रदानायागच्छन्, एतन्नगरच्छन्नावसर्पनिवेदितागमन पद्मनिदेशादभ्यमित्रीणप्रयाणपरायणेन कूटप्रकामकर्दनकोविदधिपणेन वलिनाध्वमध्ये प्रबन्धेन युद्ध्यमान, नार्मनिर्गमविधानै प्रधानैर्युद्धसिद्धान्तोपान्तैः सामन्तैश्च सार्धं प्रवध्य तस्मै हृदयशल्योन्मूलनप्रमदमतये क्षितिपतये प्राभृतीकृतः। क्षितिपति'—'शस्त्रशास्त्रविद्याधिकरणव्याकरणपतञ्जले वले, निखिलेऽपि वले चिरकालमनेकशः कृतकृष्णवदनच्छायस्यास्य द्विपस्य विजयान्वितान्तं तुष्टोऽस्मि। तद्याच्यतां मनोभिलापधरो वरः'। वलि —'अलक[11] यदाहं याचे तदार्य प्रसादीकर्तव्यः' इत्युदारमुदार्य पुनश्चतुरङ्गवल प्रवलः प्रतिकूलभूपालविनयनाय पद्ममवनीपतिमादेशं याचित्वा सत्त्वरमशेपाशावशनिवेशानीकसूत्रितसकलमहीतलो दिग्विजयया-

लिया और सब अधिकार उसे दे दिया ।

वलि बोला—देव ! आपने हमपर असाधारण अनुग्रह किया है । किन्तु चुगलखोरों और घूसखोरोंको यह बात सह्य नहीं हो सकती । अत आप कोई ऐसा कार्य करनेकी हमें आज्ञा दें जो असाध्य हो ।

पद्म—तुम्हारा कहना ठीक है किन्तु स्वामीके अभीष्टको पूरा करनेमें कुशल तुम्हारे जैसे मंत्रियोंके होते हुए कुछ भी असाध्य नहीं है ।

एक बार कुम्भपुरका स्वामी सिंहकीर्ति राजा, जिसने अनेक युद्धोंमें नाम कमाया था, बडे भारी लश्करके साथ हस्तिनागपुरपर आक्रमण करनेके लिए चला । गुप्तचरोंने उसके आनेका समाचार वलिसे निवेदित किया । बलि शत्रुपर आक्रमण करनेमें तथा कपट-युद्धमे बडा चतुर था । उसने पद्मकी आज्ञा लेकर शत्रुका सामना करनेके लिए कूच कर दिया और मार्गमें ही उसपर आक्रमण कर दिया । तथा विख्यात नामवाले प्रधानो और युद्ध करनेमें कुशल उसके सब सामन्तोंके साथ उसे बाँधकर राजा पद्मके सामने उपस्थित कर दिया । हृदयके इस काँटेके निकल जानेसे राजा पद्म बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—

राजा—'व्याकरणमें पतञ्जलिके समान शस्त्र विद्यामें निपुण वलि ! समस्त सैन्यके होते हुए भी चिरकालसे अनेक बार मेरे मुखको काला करनेवाले इस शत्रुको जीतनेसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ । जो तुम्हें माँगना हो माँगो ।'

'जब मैं याचना करूँ तब महाराज मुझपर कृपा करें । ऐसा कहकर और राजा पद्मसे आज्ञा लेकर विरोधी राजाओंको वश करनेके उद्देश्यसे बलि बडी भारी सेनाके साथ दिग्विजयके

१ प्रवीणेपु । २ सग्राम । ३ प्रच्छन्नचरा । ४ शत्रु सन्मुख । ५ सग्राम । ६ नाञ्ज—व० । —नाञ्वि—मु० । ७ मार्गरोधेन । ८ स्वकीयअकणविरुदावलीसहितै । ९ समस्तसैन्ये विद्यमानेऽपि । १० अनेकवारं मम कृतमानभगस्य ईदृग्विधस्य शत्रोर्विजयात् । ११ स्वामिन् ।

भ्रावमुच्यचास।

अत्रान्तरे विहारवशाद्भगवानकम्पनाचार्यस्तेन महता मुनिनिकायेन सार्धं हास्तिनपुरमनुसृत्योत्तरदिग्विभागासन्नवर्तिनि कुसुमवती हेमगिरौ महावगाहायां गुहायां चातुर्मासीनिमित्तं स्थितिं बबन्ध। बलिरपि निखिलजलधिरोध[1]सविधवनविनोदितवीरवधूहृदयो दिग्विजयं विधायागतस्तं भगवन्तमवबुध्य चिरकालव्यवधानेऽप्यसंकोचविषनिषेक इव जातप्रकोपोद्रेकः स्वपराधविधानाय[3] धराधीश्वरं पुरावितीर्णवरप्रदानेन समाश्वास्य सप्तदिनमात्मैकशासनमात्म्यं राज्यमन्तःपुरप्रचारैस्स्वयमासेवमानः यज्ञतोऽभ्यर्च्य यज्ञमिषेण मुनिसीम्नोऽभ्युत्कर्षं चिकीर्षुर्मेध्यमंत्र्याधिकरणैरुपकरणैरग्निहोत्रमारेभे।

अत्रावसरे मिथिलानिवासपवित्रितमिथिलापुरे जिष्णुसूरेरन्तेवासी भ्राजिष्णुर्नाम वर्णी मध्यसमये बहिर्विहितविहारः समीरमार्गे नक्षत्रवीथीं लोचनालोकनसमायां विदधानश्च मृगं हस्तिवारचकितगात्रं कुरङ्गकलभमिव तरलतारकाम्बरं श्रवणमवेक्ष्यान्तरिक्षे सत्यं यथा क्लैव्यमुच्चैरघोषत—'अहो न जाने क्वचिन्महामुनीनां महानुपसर्गो वर्तते' इति। एतच्च श्रमणधौरेयगणी समाकर्ण्य प्रयुक्तावधिबोधस्तन्नगरगिरिगुहायामकम्पनाचार्यस्य बलिदुर्विलसितसमयचार्याकार्यं च गगनगामनप्रभावं पुष्पकदेवं वैयावृत्त्येनाह 'हंहो पुष्पकदेव, तव विक्रियर्द्धेर्दुर्लभ तदुपसर्गविसर्गे सामर्थ्यमस्ति। ततस्त्वयापि विक्रियर्द्धिप्रतिबोधविष्णवे विष्णवे ताम

लिए निकला।

इसी बीचमें भगवान् अकम्पनाचार्य बड़े भारी मुनिसंघके साथ विहार करते हुए हस्तिनागपुरमें पधारे और उत्तर दिशामें स्थित हेम पर्वतकी विशाल गुफामें चातुर्मास करनेके लिए ठहर गये। बलि भी समस्त समुद्रोंके तट तक दिग्विजय करके लौट आया। जैसे बहुत समय बीत जानेपर भी पागल कुत्तेके काटेका जहर चढ़ आता है वैसे ही मुनिसंघके आनेका समाचार जानकर उसे कोप चढ़ आया। पुराना बदला चुकानेके लिए उसने राजा पद्मसे पहले दिये हुए वरका स्मरण दिलाकर पन्द्रह दिनके लिए राज्य माँग लिया। राज्य देकर राजा पद्म अन्तःपुरमें रहने लगा। और बलिने यज्ञके बहानेसे मुनियोंको त्रास देनेके लिए मद्य, मांस आदिके द्वारा अग्निहोत्र करना आरम्भ किया।

इधर यह काण्ड चालू था उधर मिथिलापुरीमें जिष्णुसूरिका शिष्य भ्राजिष्णु नामक मध्यमें बाहर बैठा था और आकाशमें नक्षत्र-मण्डलकी ओर देख रहा था। जैसे व्याघ्रके संचारसे हिरणी भयभीत हो जाती है वैसे ही श्रवण नक्षत्रको काँपता हुआ देखकर आकाशमें दृष्टि जमाये हुए वह जोरसे चिल्लाया—'आह, न जाने कहाँ महामुनियोंपर उपसर्ग आया है।'

यह सुनकर आचार्यने अपने अवधिज्ञानसे जाना कि हस्तिनागपुरके निकटवर्ती पर्वतकी गुफामें अकम्पनाचार्यके संघके ऊपर बलि घोर उपसर्ग कर रहा है। उन्होंने तुरन्त ही आकाशमें गमन कर सकनेवाले पुष्पकदेव नामक क्षुल्लकको बुलाया और बोले—

'पुष्पकदेव! तुम्हारे पास विक्रिया ऋद्धि नहीं है इस लिए तुम उस उपसर्गको दूर नहीं

---

१ तटसमीप। २ उष्णकाले धूमा इव वर्षाकाले स्वरसमानकवि वर्णिपम्। ३ तेषां मुनीनां विराधना निमित्तम्। ४ गर्वेभ्यम्। ५. उपसर्गम्। ६ मद्यमांस। ७ रात्रि। ८ —ग्रहा॰ ब म। ९ पतने। १० भ्रमर-अ ब। ११ व्याघ्र। १२ भ्रमणजना सरसीभूतवासी वर्णी सूरि.।

दृष्टिविशिष्टतामिवात्मस्थितामप्यविदुषे[1] निवेद्य तदुपसर्गापवर्गाया[2]स्मत्सर्गान्नियोजयितव्य[3]'। पुष्पकदेवस्त्रिदशोचितचरणसेवस्य तस्य महर्षेर्भाषितात्तं देशमासाद्य विष्णुमुनये तथाविधर्द्धिवृत्तिं[4] गुरुनिदेशप्रवृत्तिं च प्रतिपादयामास। विष्णुमुनिः प्रदीप इव स्फाटिकभित्तिमध्यलब्धप्रसरेण किरणनिकरेण वारिधिवज्रवेदिकानिर्भेदनेन मानुषोत्तरगिरिपर्यन्तसंवेदनेन मनुष्यक्षेत्रसूत्रपातविडम्बनकरेण करेणोर्णनाभ इव तन्तुनिकाये काये स्ववशाश्रयया व्याससमासक्रियया च तामवगम्योपशम्य च हास्तिनपुरं 'न खल्वनिवेद्य निखिलवर्णिवर्णाश्रमपालाय मध्यमलोकपालायामर्षप्रवृत्ततन्त्रेण हुंकारमात्रेणाप्याकम्पितजगत्त्रया, प्रसस्यानवनविध्वसदावे तपःप्रभावे दुर्जनविनयनार्थमभिनिविशन्ते यतीशाः' इति च परामृश्य, प्रविश्य च पुरैव चिरपरिचितकञ्चुकिसूचितप्रचारोऽन्तःपुरं, पद्ममहीपते, राजधानीष्वरण्यानीषु वा तपस्यतः संयतलोकस्य न खलु नरेश्वरात्पर प्रायेणास्ति गोपायिता। तत्कथं नाम तृणमात्रेऽप्यनपराधमतीनां यतीनामात्मन्यशुभलोकनिषेकसर्गमुपसर्गं सहसे इत्युक्तम्। 'भगवन्, सत्यमेवैतत्। किंतु कतिचिद्दिनानि बलिरत्र राजा नाहम्' इति प्रत्युक्तियुक्तस्थितिं पद्मनृपतिमवमंत्य[5] 'छलेन खलु परेषु प्रायेण फलोल्लासनशीलास्तपःप्रभवर्द्धिलीला.' इति चावगत्य शाला-

कर सकते। अत विक्रिया ऋद्धिके धारक विष्णु मुनिके पास जाओ। यद्यपि उन्हें ऋद्धि प्राप्त हो चुकी है किन्तु उन्हें यह बात ज्ञात नहीं है। तुम जाकर उनसे कहो और हमारे आदेशसे उन्हें उस उपसर्गको दूर करनेके लिए नियुक्त करो।'

इन्द्रके पूजने योग्य उन महर्षिके कहनेसे पुष्पकदेव विष्णु मुनिके पास पहुँचा और उनसे विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न होनेकी बात तथा गुरुकी आज्ञा कह दी। विष्णु मुनिने अपने हाथको मानुषोत्तर पर्वत तक फैलाकर तथा फिर सकोचकर विक्रिया ऋद्धिकी परीक्षा की और हस्तिनागपुर जा पहुँचे।

'मुनियोंके तपका प्रभाव उस दावाग्निके समान है जो असंख्य जगलोंको जलाकर राख कर देती है। यदि मुनि क्रोधमें आकर हुकार मात्र कर दें तो उनके हुकार मात्रसे तीनो लोक कॉप जाते हैं। किन्तु वे समस्त वर्णाश्रम धर्मके पालक राजासे कहे विना दुर्जनको दण्ड देनेका प्रयत्न नहीं करते।' यह सोच विष्णु मुनि राजमहलमें पहुँचे। पुराने परिचित द्वारपालने जैसे ही उन्हें आते देखा तत्काल राजा पद्मसे उनके आनेका समाचार कहा।

विष्णु मुनि वोले—'राजा पद्म ! राजधानियोंमें अथवा वनोंमें तपस्या करनेवाले मुनिजनोका रक्षक राजाके सिवा अन्य कोई नहीं है। अत तृणमात्रका भी अपराध न करनेवाले मुनियोपर दुर्जनोंके द्वारा किये जानेवाले उपसर्गको तुम कैसे सहन कर रहे हो ?'

'भगवन् ! आपका कहना ठीक है। किन्तु कुछ दिनोंके लिए यहॉका राजा बलि है, मैं नहीं।' पद्मने उत्तर दिया।

इस उत्तरको सुनकर उन्होंने राजा पद्मकी स्थितिको जाना और यह सोच कि प्राय तपके प्रभावसे उत्पन्न हुई ऋद्धिका चमत्कार यदि दूसरोंपर छलसे प्रकट किया जाये तो वह फलदायक होता है, विष्णु मुनिने वामन रूप बनाया और यज्ञ भूमिमें जाकर मधुर कण्ठसे साम वेदका गान करने लगे।

---

१ अजानते। २ मोचनाय। ३. आदेशात्। ४. विक्रियर्द्धि। ५ अवगणय्य।—मवगत्य अ० ज०।

शिरःसम्पुटकोटरावकाशः प्रदीपप्रकाश इव सञ्जातवामनाकृतिः ससम्भ्रमं वसुमतीमनुसृत्य मधुर ध्वनिः तृतीयेन सवनेन साम्यपर्व व्यधात्।

बलिर्जलधरध्वानबन्धुरं वाक्प्रसरं सिन्धुर इव निभृतकर्णो निशम्य 'कोऽयं खलु वेदध्वनि विरिञ्चे इवोच्चैरचतुर' इति कुतूहलितहृदयः सभानिलयादभिगत्य वयसि च निष्पिताश्चर्यसौन्दर्यं द्विजवर्यमेनमवादीत्—'भद्र, किमिदं वस्तु चेतसि निधाय प्राधीषे'।

'बले, दायादविलुप्तालयस्यास्य वयं पादत्रयप्रमाणक्षमानपेक्षितक्षम्।' 'द्विजोत्तम निकाम दत्तम्।' 'यद्येवं बहुमानयजमान, विधीयतामुदकधारोत्तरप्रवृत्ति वृत्ति'। बलि प्रवरसाभृङ्गारमादाय 'द्विजाचार्य प्रसार्यतां हस्त' इत्युक्त्यवि शुक्रः सकर्णमिव कुलिशनिकेतनम् प्रासादमिव कलशाङ्कतम् असाम्यमिव मत्स्याश्रयम् सरित्पतिमिव शङ्खसनाथम् विरहिणीवासरगणन कुड्यप्रदेशमिवोर्ध्वरेखावकाशम्, नारायणमिव चक्रलाञ्छनम् यज्ञोपकरणमिव यवाधिकरणम् जलयानपात्रमिव निश्छिद्रतामग्नम् स्तम्बेरमकरमिव दीर्घाङ्गुलिप्रसरम्, वंशकिसलयमिवानु पूर्वीमिव पर्वसञ्चयम्, कमलकोशमिवारुणप्रकाशनिवेशम्, विद्रुमप्रकाशभोगमिव स्निग्धपाद लक्षणाय लक्ष्मोल्लासाविर्भावोदय भागमुपलक्ष्य यत न कल्पयमेवंविधपाणितलसर्वस्वो गोपं

मेघकी ध्वनिके समान सुन्दर वचन-विलासको हाथीकी तरह कान लगाकर सुननेपर बलिको कौतूहल हुआ कि ब्रह्माके समान वेदका पाठ करनेमें चतुर यह कौन है ? वह तुरन्त ही यज्ञमण्डपसे बाहर आया और विष्णु मुनिके आश्चर्यजनक वामन रूपको देखकर बोला—'ब्राह्मणश्रेष्ठ ! किस इष्ट वस्तुकी इच्छा चित्तमें रखकर यह वेदपाठ करते हो ?'

'बलिराज ! मेरा घर हिस्सेदारों ने छीन लिया है। उसके लिए केवल तीन पैर जमीन चाहता हूँ।'

'द्विजोत्तम ! मैं तुम्हें तीन पैर जमीन देता हूँ।'

'हे माननीय यजमान ! जलकी धारा पूर्वक दानका सङ्कल्प कर दें।'

एक बड़ी झारी हाथमें लेकर बलि बोला—'द्विजाचार्य ! हाथ फैलाइये।'

जैसे ही वामन रूप धारी विष्णु मुनिने हाथ फैलाया, शुक्राचार्यकी दृष्टि उसपर पड़ी। इन्द्रकी तरह वज्रसे युक्त, महलकी तरह कलशसे विशिष्ट, सरोवरकी तरह मछली युक्त, समुद्रकी तरह शंख सहित विरहिणी स्त्रीके द्वारा अपने पतिके वियोगके दिनोंको गिननेके लिए दीवारपर खींची गई ऊर्ध्व रेखाओंकी तरह ऊर्ध्व रेखासे युक्त, विष्णुकी तरह चक्रसे चिह्नित, यज्ञके उपकरण भूत यवों (जौ) की तरह अँगूठेमें यवाकार रेखासे युक्त पानी पर चलनेवाले जहाजकी तरह छिद्ररहित, हाथीकी सूँडकी तरह लम्बी अँगुलियोंवाले, बाँसके नये पत्तोंकी तरह पर्व और ग्रन्थिसे सहित कमलके कोशकी तरह लालिमायुक्त और मूँगोंकी तरह सुन्दर रंगवाले नखोंके अग्रभागसे शोभित हस्तको देखकर अर्थात् वज्र, कलश मछली, शंख, चक्र ऊर्ध्वरेखा और जौ आदि शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, छिद्र रहित और लम्बी अँगुलियाँ और लाल-लाल नखों युक्त

---

१ यज्ञभूमि। २. उदात्तस्वरेण। ३ मग्नम्। ४ ब्रह्मा। ५. व्याख्यान–सा। ६ साम्यपर्व दृष्टे। ७ भृङ्गार। ८ इन्द्र। ९ समुद्र। १० पुरुष।

परेषां याचिता किं तु याच्य[1] इति वचनवक्रं शुक्रमवगणय्य बलिः स्वकीयां दत्तिमुदकधारोत्तरामकार्षीत्।

तदनु स विष्णुमुनिर्विरोचन[2]विरोकनिकर इवाक्रमेणोर्ध्वमधश्चानवधिवृद्धिपरः, पर्वतस्यो[3]भयतः प्रवृत्तापगाप्रवाह इव तिरःप्रसरद्देहः, कार्य[4]धरमेकमकूपारवज्रवेदिकायां निधाय परं च क्रमं चक्रवालचूलिकाया[5] पुनस्तृतीयस्य मेदिनीमलभमानस्तपन[6]रथस्खलनसेतुना सुरसरित्तु[7]रीयस्रोतोहेतुना संपादितदिविजसुन्दरीचरणमार्गविभ्रमेण[8] समाचरितखेचरीचेतःसंभ्रमेण भूगोलगौरवपरिच्छेदे तुलादण्डविडम्बनेन चरणेन क्षोभितान्तरिक्षचरपुरकक्षः किन्नरामरखचरचारणादिवृन्दैर्वन्द्यमानपादारविन्दः संयतजनोपकारसारस्वकीयर्द्धिवृद्धिपरितोषितमनीषैर्व्यन्तरानिमिषैरकारणखलतालतार्थलिं बलिं सबान्धवमबन्धयत। प्रावेशयच्च सदेहं रसातलगेहम्।

भवति चात्र श्लोकः—

महापद्मसुतो विष्णुर्मुनीनां हास्तिने पुरे।
बलिद्विजकृतं विघ्नं शमयामास वत्सलः ॥२२२॥

इत्युपासकाध्ययने वात्सल्यरचनो नाम विंशतितमः कल्पः

हाथको देखकर शुक्राचार्य बोले—'बलि! इस प्रकारका हाथवाला मनुष्य मांगता नहीं है किन्तु उल्टे उससे माँगा जाता है।'

किन्तु बलिने शुक्राचार्यके कहनेपर ध्यान नहीं दिया और जलकी धारा डालकर तीन पैर जमीनका सकल्प कर दिया।

इसके बाद सूर्यकी किरणोंके समान विष्णु मुनिका शरीर एकदमसे ऊपर नीचे बढ़ने लगा। उन्होंने एक पैर तो समुद्रकी वेदिकापर रखा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वतकी चोटीपर रखा, और जगह न मिलनेसे सूर्यके रथकी गतिमें प्रतिबन्धक, गगानदीकी चौथी धाराको उत्पन्न करनेमें हेतु, देवागनाओंके चरणमार्गका भ्रम उत्पन्न करनेवाले, विद्याधरोंकी स्त्रियोंके चित्तमें सशयके जनक तथा पृथ्वीकी नापनेके लिए मापकके तुल्य तीसरे चरणमे विद्याधरोंके नगरोंमे हलचल मच गई। व्यन्तर देवताओंने और विद्याधरो आदिने आकर उनके चरणोंकी वन्दना की। मुनियोंका उपसर्ग दूर करनेमें अपनी विक्रिया ऋद्धिका प्रयोग करनेके कारण व्यन्तर देव उनसे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने बलिको उसके बन्धु-बान्धवोंके साथ बाँध लिया तथा उन्हे सशरीर रसातलको पहुँचा दिया।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'महापद्म राजाके पुत्र धर्मप्रेमी विष्णु मुनिने हस्तिनागपुरमें बलिके द्वारा मुनियोंपर किया गया उपसर्ग दूर किया ॥२२२॥'

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें वात्सल्य अगका कथन करनेवाला बीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

---

१ अन्यैर्याचनीय। २ सूर्यकिरण। ३ पर्वतस्यो–अ० ज०। ४ चरणम्। ५ मानुषोत्तर। ६. सूर्य। ७ चतुर्थ। गगा किंतु त्रिपथगा। ८. भ्रान्तिना।

निसर्गोऽधिगमो वापि तदाप्तौ कारणद्वयम्।
सम्यक्त्वभाक्पुमान्यस्मादल्पानल्पप्रयासतः ॥२२३॥

उक्तं च—

*"आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामाः।
सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च ॥२२४॥*

एतदुक्तं भवति—कस्यचिदासन्नभव्यस्य तद्योग्यद्रव्यक्षेत्रकालभावभवसंपत्सेव्यस्य विधूतैतरप्रतिबन्धकान्धकारसंबन्धस्यासितशिक्षाक्रियालापनिपुणकरणोपपन्नस्य नवस्य भाजनस्येवासंजातदुर्वासनागन्धस्य झटिति यथावस्थितवस्तुस्वरूपसंक्रान्तिहेतुतया स्फटिकमणिदर्पणसगन्धस्य पूर्वभवसंभावनेन वा वेदनानुभवनेन वा धर्मश्रवणाकर्णनेन वार्हत्प्रतिबिम्बनिध्यानेन वा महामहोत्सवनिरीक्षणेन वा महर्द्धिप्राप्ताचार्यावलोकनेन वा नृषु नाकिषु वा तन्माहात्म्यसंभूतविभवदर्शनेन वान्येन वा केनचित्कारणमात्रेण विचारकान्तारेषु मनोविहारास्पदमनवाप्य यदा जीवादिषु पदार्थेषु याथात्म्यसमवधानं श्रद्धानं भवति तदा भवोक्तं सुकरमित्यस्मात् लूयन्ते शालयः स्वयमेव, विनीयन्ते कुशलाशयाः स्वयमेव,

---

सम्यग्दर्शनका वर्णन

सम्यग्दर्शन दो प्रकारसे होता है—एक तो परोपदेशके बिना स्वयं ही हो जाता है और दूसरे, परोपदेशसे होता है। क्योंकि किसी पुरुषको तो थोड़ा-सा प्रयत्न करनेसे ही सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और किसीको बहुत प्रयत्न करनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है ॥२२३॥

कहा भी है—

'सम्यक्त्वके अन्तरंग कारण निकट भव्यता, ज्ञानावरणादिक कर्मोंकी हानि, संज्ञीपना और शुद्ध परिणाम हैं तथा बाह्य कारण उपदेश वगैरह हैं' ॥२२४॥

आशय यह है कि जो कोई निकट भव्य है सम्यग्दर्शनके योग्य द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और भवरूपी सम्पत्तिकी जिसे प्राप्ति हो गई है, उसमें किसी तरहकी रुकावट डालने वाला कोई मलिनभाव नहीं रहा है, शिक्षा, क्रिया, बातचीतको ग्रहण करनेमें निपुण पाँचों इन्द्रियों और मनसे जो युक्त है अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय है, नये बरतनकी तरह जिसमें दुर्वासनाकी गन्ध नहीं है, वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप दर्शानेके लिए जो स्फटिक मणिके दर्पणके समान स्वच्छ है, ऐसे जीवके पूर्वभवके स्मरणसे, कष्टोंके अनुभवसे धर्मके श्रवणसे जिनबिम्बके दर्शनसे, महामहोत्सवोंके अवलोकनसे, ऋद्धिधारी आचार्योंके दर्शन करनेसे, मनुष्यों तथा देवोंमें सम्यक्त्वके माहात्म्यसे उत्पन्न हुए विभवको देखनेसे या अन्य किसी कारणसे विचाररूपी वनमें मनको न भटका कर जब जीवादिक पदार्थोंमें ज्यों-का-त्यों श्रद्धान होता है तो उस सम्यग्दर्शनको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। क्योंकि जैसे धान्य स्वयं ही पक जाते हैं *अथवा सदाशयी स्वयं ही विनीत हो जाते हैं उसी तरह उसमें कर्ताको श्रम करना नहीं पड़ता।*

---

१ 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' ॥—तत्त्वार्थसूत्र १ । २ । २ भव्वो पंचिंदिओ सण्णी जीवो पज्जत्तओ तहा। काललद्धाइसंजुत्तो सम्मत्तं पडिवज्जए ॥१५८॥—पंचसंग्रह पृ० १४। ३ कारण। ४ नृहीन। ५ पञ्चेन्द्रियमन-सम्पन्नस्य। ६ समानस्य। ७ षट्खण्डागम पु० ६ पृ० ४१८-४२१। सर्वार्थसिद्धि-सूत्र १-७। तत्त्वार्थवार्तिक। ८ निष्पाद्यं निष्पाद्यं वाहनं-वचनम्। ९. देवेषु।

इत्यादिवत्तन्निसर्गात्संजातमित्युच्यते । यदा त्वव्युत्पत्तिसंशीतिविपर्यस्तिसमधिकबोधस्याधिमुक्तियुक्तिसूक्तिसंबन्धसविधस्य प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगोपयोगावगाह्येषु समस्तेष्वैतिह्येषु परीक्षोपक्षेपादतिक्लिश्य निःशेषदुराशाविनिशाविनाशनांशुमन्मरीचिभ्चिरेण तत्त्वेषु रुचिः संजायते, तदा विधातुरायासहेतुत्वान्मया निर्मापितोऽयं सूत्रानुसारो हारो, मयेदं संपादितं रत्नरचनाधिकरणमाभरणमित्यादिवत्तदधिगमादाविर्भूतमित्युच्यते । उक्तं च—

"अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥२२५॥"—आप्तमीमांसा

और जब संशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे ग्रस्त ज्ञानवाले मनुष्यके श्रद्धा, युक्ति और आगमके निकट होकर, प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोगके द्वारा अवगाहन करनेके योग्य समस्त शास्त्रोंकी परीक्षा करनेका कष्ट उठाकर चिरकालके पश्चात् समस्त दुराशारूपी रात्रिके विनाशके लिए सूर्यकी किरणोंके समान तत्त्वरुचि उत्पन्न होती है, तो उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। क्योंकि जैसे मैंने यह हार बनाया है या मैंने यह रत्नखचित आभरण बनाया है, वैसे ही कर्ताके द्वारा विहित परिश्रमसे उत्पन्न हुए अधिगम-ज्ञानसे वह प्रकट होता है।

कहा भी है—

'बुद्धिपूर्वक प्रयत्नके विना अचानक जो इष्ट या अनिष्ट होता है वह अपने दैवसे होता है और बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करनेसे जो इष्ट या अनिष्ट होता है वह अपने पौरुषसे होता है ॥२२५॥'

भावार्थ—चारों गतिके सैनी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शन हो सकता है किन्तु वे जीव विशुद्ध और साकार उपयोगवाले होने चाहिएँ। सारांश यह है कि जो जीव असैनी हैं, लब्ध्यपर्याप्तक हैं, सम्मूर्छन जन्मवाले हैं, अति संक्लेश परिणामवाले हैं उन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। सैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक और विशुद्ध परिणामवाले होनेपर भी जब वे दर्शनोपयोगी होते हैं, उस कालमें उन्हें सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दर्शनोपयोगमें तत्त्व विचार नहीं होता और सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके समय उसका होना आवश्यक है। इसीसे सोते हुए जीवको भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती। उपर्युक्त बातोंके सिवा सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिए पाँच लब्धियोंका होना आवश्यक है। वे लब्धियाँ हैं—क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि। इनमेंसे शुरूकी चार लब्धियाँ तो साधारण हैं, अर्थात् जिन्हें सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना संभव नहीं है उनके भी हो जाती हैं। किन्तु पाँचवीं करणलब्धि तभी होती है जब सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना होती है। उसके अन्तमें ही जीवको सम्यग्दर्शन हो जाता है। जब ज्ञानावरण आदि अप्रशस्त कर्मोंका अनुभाग प्रतिसमय अनन्तगुणा अनन्तगुणा घटता हुआ उदयमें आता है उस समय क्षयोपशमलब्धि होती है। क्षयोपशमलब्धिके होनेपर जीवके साता वगैरह प्रशस्त प्रकृतियोंके बन्धके कारण जो शुभ परिणाम होते हैं उसे विशुद्धिलब्धि कहते हैं। आचार्य वगैरहके द्वारा छः द्रव्यों और नौ पदार्थोंका उपदेश सुननेको मिलना देशनालब्धि है। जहाँ उपदेशका मिलना संभव नहीं है वहाँ पहले भवमें सुने हुए उपदेश

---

१ श्रद्धा। २ सूर्य।

निसर्गोऽधिगमो वापि तदाप्तौ कारणद्वयम्।
सम्यक्त्वभाक्पुमान्यस्मादल्पानल्पप्रयासतः ॥२२३॥

उक्तं च—

"आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामाः।
सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च ॥२२४॥

एतदुक्तं भवति—कस्यचिदासन्नभव्यस्य तदभियोग्यद्रव्यक्षेत्रकालभावभवसम्पत्सेव्यस्य विधूतसमस्तप्रतिबन्धकान्धकारस्य अस्याक्षितशिक्षाक्रियालापनिपुणकरणोऽनुबन्धस्य भव्यस्य भाजनस्येवासंजातदुर्वासनागन्धस्य झटिति यथावस्थितवस्तुस्वरूपसंक्रान्तिहेतुतया स्फाटिकमणिदर्पणसगन्धस्य पूर्वभवसंस्मरणेन वा वेदनानुभवनेन वा धर्मश्रवणाकर्णनेन वार्हत्प्रतिबिम्बाभिध्यानेन वा महामहोत्सवनिभालनेन वा महर्द्धिप्राप्ताचार्यावगाहनेन वा नृषु नाकिषु वा तन्माहात्म्यसंभूतविभवसंभावनेन वान्येन वा केनचित्कारणमात्रेण विचारकान्तारेषु मनोविहारास्पदं खेदमनापद्य यदा जीवादिषु पदार्थेषु याथात्म्यसमवधानं श्रद्धानं भवति तदा यथोक्तं सुकरक्रियत्वात्पच्यन्ते शालयः स्वयमेव, विनीयन्ते कुशलाशयाः स्वयमेव,

---

सम्यग्दर्शनका वर्णन

सम्यग्दर्शन दो प्रकारसे होता है—एक तो परोपदेशके बिना स्वयं ही हो जाता है और दूसरे, परोपदेशसे होता है। क्योंकि किसी पुरुषको तो थोड़ा-सा प्रयत्न करनेसे ही सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और किसीको बहुत प्रयत्न करनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है ॥२२३॥

कहा भी है—

'सम्यक्त्वके अन्तरंग कारण निकट भव्यता, ज्ञानावरणादिक कर्मोंकी हानि, संज्ञीपना और शुद्ध परिणाम हैं तथा बाह्य कारण उपदेश वगैरह हैं' ॥२२४॥

आशय यह है कि जो कोई निकट भव्य है सम्यग्दर्शनके योग्य द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और भवरूपी सम्पत्तिकी जिसे प्राप्ति हो गई है, उसमें किसी तरहकी रुकावट डालने वाला कोई प्रतिबन्धक नहीं रहा है, शिक्षा, क्रिया, बातचीतको ग्रहण करनेमें निपुण पाँचों इन्द्रियों और मनसे जो युक्त है अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय है, नये बरतनकी तरह जिसमें दुर्वासनाकी गन्ध नहीं है, वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप दर्शानेके लिए जो स्फटिक मणिके दर्पणके समान स्वच्छ है ऐसे जीवके पूर्वभवके स्मरणसे, कष्टोंके अनुभवसे, धर्मके श्रवणसे जिनबिम्बके दर्शनसे, महामहोत्सवोंके अवलोकनसे, ऋद्धिधारी आचार्योंके दर्शन करनेसे, मनुष्यों तथा देवोंमें सम्यक्त्वके माहात्म्यसे उत्पन्न हुए विभवको देखनेसे या अन्य किसी कारणसे विचाररूपी वनमें मनको न भटका कर जब जीवादिक पदार्थोंमें ज्यों-का-त्यों श्रद्धान होता है तो उस सम्यग्दर्शनको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। क्योंकि जैसे धान्य स्वयं ही पक जाते हैं अथवा सदाशयी स्वयं ही विनीत हो जाते हैं उसी तरह उसमें कष्टका श्रम करना नहीं पड़ता।

१ तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥—तत्त्वार्थसूत्र १।२। २ भव्वो पंचिंदिओ सण्णी जीवो पज्जत्तओ तहा। कालाइलद्धिजुत्तो सम्मत्तं पडिवज्जए ॥१५८॥—पंचसंग्रह पृ. ३४। ३ कारण। ४ गृहीत। ५ पञ्चेन्द्रियमनःसम्बन्धस्य। ६ भाजनस्य। ७ षट्खण्डागम पु. ६ पृ. ४१८-४१९। सर्वार्थसिद्धि-सूत्र १।७। तत्त्वार्थवार्तिक। ८. मिथ्यात्वं विहाय आत्मदर्शनम्। ९. केचित्।

अपने-अपने स्थानसे उठाकर कुछको प्रथमस्थितिमें डाल दिया जाता है और कुछको द्वितीयस्थिति में डाल दिया जाता है। इस क्रियाके पूर्ण होनेके साथ मिथ्यात्वकी प्रथमस्थिति भी पूरी हो जाती है। उसके पूरे होते ही अन्तर्मुहूर्त कालके लिए मिथ्यात्वके उदयका अभाव हो जानेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। मिथ्यात्व गुणस्थानसे छूटते हुए जो उपशम सम्यक्त्व प्रकट होता है उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते है। अनादि मिथ्यादृष्टिको पहले-पहले प्रथमोपशम सम्यक्त्व ही होता है।

प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति अन्तरग और बहिरंग कारणोंसे होती है। सम्यग्दर्शन भी अन्तरग और बाह्य कारणोंके मिलनेपर ही प्रकट होता है। इसका अन्तरग कारण तो दर्शन मोहनीयकी मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मोहनीय सौर सम्यक्मिथ्यात्व मोहनीय इन तीन प्रकृतियोंका तथा चारित्र मोहनीयकी अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभ इन चार प्रकृतियोंका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है। और इनके क्षय अथवा उपशममें पूर्वोक्त पॉच लब्धियोंमें से करणलब्धि मुख्य कारण है तथा बाह्य कारण अनेक है। नरक गतिमें पहलेके तीन नरकोंमें पूर्व जन्मकी घटनाओं का स्मरण, धर्मका श्रवण और कष्टोका अनुभव बाह्य कारण है। आगेके चार नरकोंमें धर्म-श्रवणको छोडकर बाकीके दो ही बाह्य कारण पाये जाते हैं। तिर्यञ्चो और मनुष्योंमें पूर्व जन्मका स्मरण, धर्मका श्रवण और जिनविम्बका दर्शन बाह्य कारण हैं। देवोंमें भवनवासीसे लेकर बारहवें स्वर्गतक पूर्व जन्मका स्मरण, धर्मका श्रवण, जिन भगवान्की महिमाका निरीक्षण तथा अपनेसे बड़े अन्य देवोंकी ऋद्धिका दर्शन बाह्य कारण है। बारहवें स्वर्गसे ऊपर तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें स्वर्गमें देवोंकी ऋद्धिके दर्शनके सिवा शेष तीन ही बाह्य कारण है। नव ग्रैवेयकके देवोंमें पूर्व जन्मका स्मरण और धर्मका श्रवण ये दो ही बाह्य कारण है क्योंकि सोलह स्वर्गसे ऊपरके देव कहीं बाहर नहीं जाते। और नव ग्रैवेयकसे ऊपरके सब देव नियमसे सम्यग्दृष्टि ही होते हैं क्यो कि वहाँ सम्यग्दृष्टि ही मरकर जन्म लेते हैं। इतना विशेष है कि नरकगति और देवगतिमें तो जन्म लेनेके अन्तर्मुहूर्त बाद सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है किन्तु तिर्यञ्च गतिमें जन्म लेनेके आठ नौ दिन बाद सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है और मनुष्यगतिमें आठ वर्षकी अवस्था हो जानेपर सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। ऊपर पाँच लब्धियोंमें एक देशनालब्धि बतलायी है। जिसे सम्यग्दर्शन प्रकट होना होता है उसे इसी भव या पूर्व भवमें नौ या सात तत्त्वोंका उपदेश सुनने को अवश्य ही मिलना चाहिए। जिस जीवने पूर्व भवमें उपदेश सुना और उसके सस्कारके रहनेसे इस भवमें अन्य कारणोंके मिलनेपर उसे अनायास सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो गयी तो वह सम्यग्दर्शन निसर्गज कहा जाता है, क्योकि उसे इन भवमें उसकी प्राप्तिके लिए थोड़ा-सा भी प्रयत्न नहीं करना पड़ा। किन्तु इसी भवमें उपदेशादिका निमित्त मिलनेपर जो सम्यक्त्व प्रकट होता है उसे अधिगमज सम्यक्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शनके ये दोनों भेद केवल बाह्य उपदेशकी अपेक्षाको लेकर ही किये गये हैं। जो सम्यक्त्व उसी भवमें तत्त्वोंके उपदेशका लाभ होनेपर प्रकट होता है उसे अधिगमज कहा जाता है और जो इस भवके प्रयत्नके बिना पूर्वभवके सस्कारके कारण प्रकट हो जाता है उसे निसर्गज कहा जाता है, क्योंकि इस भवमें उसके लिए कुछ भी श्रम नहीं किया गया और इस तरह वह अनायास ही प्राप्त हुआ कहलाया। दूसरे शब्दोंमें इसे दैवसे प्राप्त भी कह सकते हैं और अधिगमजको पौरुषसे प्राप्त कह सकते हैं।

के संस्कारसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाती है। उक्त तीन लब्धियोंसे युक्त जीवके प्रतिसमय विशुद्धताके बढ़नेसे आयुके सिवा शेष सात कर्मोंकी जब अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण स्थिति शेष रहे तब स्थिति और अनुभागका घात करनेकी योग्यताके आनेको प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। उसके होनेसे यह जीव अप्रशस्त कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका खण्डन करता है। इसके बाद करणलब्धि होती है। करण परिणामको कहते हैं। करणलब्धिमें अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामके परिणाम होते हैं। इन तीनोंमें से प्रत्येकका काल अन्तर्मुहूर्त है किन्तु एकसे दूसरेका काल संख्यातगुना हीन है अर्थात् अनिवृत्तिकरणका काल सबसे थोड़ा है। उससे अपूर्वकरणका काल संख्यातगुना है। उससे अधःप्रवृत्तका काल संख्यातगुना है। जहाँ नीचेके समयवर्ती किसी जीवके परिणाम ऊपरके समयवर्ती किसी जीवके परिणामसे मिल जाते हैं उसे अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं। आशय यह है कि अधःकरणको अपनाये हुए किसी जीवको थोड़ा समय हुआ और किसी जीवको बहुत समय हुआ तो उनके परिणाम संख्या और विशुद्धिमें समान भी होते हैं। इसीलिए इसे अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं। जहाँ प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व ही परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। आशय यह है कि किसी जीवको अपूर्वकरणको अपनाये थोड़ा समय हुआ और किसीको बहुत समय हुआ। उनके परिणाम बिल्कुल मेल नहीं खाते। नीचेके समयवर्ती जीवोंके परिणामोंसे ऊपरके समयवर्ती जीवोंके परिणाम अधिक विशुद्ध होते हैं। और जिनको अपूर्वकरण किये बराबर समय हुआ है उनके परिणाम समान होते भी हैं और नहीं भी होते। जिसमें प्रतिसमय एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। यहाँ जिन जीवोंको अनिवृत्तिकरण किये बराबर समय बीता है उनके परिणाम समान ही होते हैं और नीचेके समयवर्ती जीवोंसे ऊपरके समयवर्ती जीवोंके परिणाम अधिक विशुद्ध ही होते हैं। इन तीनों करणोंमें जो अनेक कार्य होते हैं उनका वर्णन श्री गोमट्टसार जीवकाण्डमें और लब्धिसारमें किया है, वहाँसे देख लेना चाहिए। यहाँ इतना बतला देना आवश्यक है कि अनिवृत्तिकरणके कालमें से जब संख्यात बहुभाग बीतकर एक संख्यातवाँ भाग प्रमाण काल बाकी रह जाता है तब जीव मिथ्यात्व का अन्तरकरण करता है। इस अन्तरकरणके द्वारा मिथ्यात्वकी स्थितिमें अन्तर डाल दिया जाता है। आशय यह है कि किसी भी कर्मका प्रतिसमय एक-एक निषेक उदयमें आता है और इस तरह जिस कर्मकी जितनी स्थिति होती है उसके उतने ही निषेकोंका ताँता-सा लगा रहता है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, वैसे-वैसे क्रमवार निषेक अपनी-अपनी स्थिति पूरी होनेसे उदयमें आते जाते हैं। अन्तरकरणके द्वारा मिथ्यात्वकी नीचे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिवाले निषेकोंको ज्यों-का-त्यों छोड़कर उससे ऊपरके उन निषेकोंको जो आगेके अन्तर्मुहूर्तमें उदय आयेंगे नीचे या ऊपरके निषेकोंमें स्थापित कर दिया जाता है और इस प्रकार उस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कालको ऐसा बना दिया जाता है कि उसमें उदय आने योग्य मिथ्यात्वका कोई निषेक शेष नहीं रहता। इस तरहसे मिथ्यात्वकी स्थितिमें अन्तर डाल दिया जाता है। इस तरह मिथ्यात्वके उदयका जो प्रवाह चला आ रहा है, अन्तरकरणके द्वारा उस प्रवाहका ताँता एक अन्तर्मुहूर्तके लिए तोड़ दिया जाता है और इस प्रकार मिथ्यात्वकी स्थितिके दो भाग कर दिये जाते हैं। नीचेका भाग प्रथमस्थिति कहलाता है और ऊपरका भाग द्वितीयस्थिति। इस प्रथमस्थिति और द्वितीय स्थितिके बीचके उन निषेकोंको, जो अन्तर्मुहूर्तकालमें उदय आनेवाले हैं, अन्तरकरणके द्वारा

है, इसीसे दसवें गुणस्थानतकके 'जीव सरागी और उससे ऊपरके जीव वीतरागी कहे जाते हैं। चौथे, यदि सरागताका कारण सम्यग्दर्शन सरागसम्यग्दर्शन' और वीतरागताका कारण सम्यग्दर्शन वीतरागसम्यग्दर्शन कहा जायेगा तो सम्यग्दर्शनके औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भेदोंमें सरागता और वीतरागताका कारण होनेकी दृष्टिसे भेद करना होगा। इन तीनमें क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो सातवें गुणस्थानतक ही होता है और उसमे सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय भी रहता है अत वह तो सरागसम्यक्त्व ही ठहरता है। किन्तु शेष दो सम्यग्दर्शन दसवें गुणस्थानतक सराग अवस्थामें भी पाये जाते है और उससे ऊपर वीतराग अवस्थामें भी पाये जाते है। अत यह प्रश्न पैदा होता है कि इन दोनों सम्यग्दर्शनोंको सरागताका कारण माना जाये या वीतरागताका अथवा दोनोंका ? दोनोंको सरागताका कारण तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि यदि क्षायिक सम्यग्दर्शनको भी सरागताका कारण माना जायेगा तो वीतरागी क्षीणकषाय गुणस्थानवालोंको, केवलियोंको और सिद्धोंको भी सराग मानना पड़ेगा; क्योंकि उनके क्षायिकसम्यक्त्व ही होता है। रह जाता है द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। इसमें दर्शन मोहनीयका उपशम रहता है इसलिए क्षायिकसम्यक्त्वकी अपेक्षा इसकी स्थिति कमजोर होनेसे इसे रागका कारण मानकर यदि सरागसम्यक्त्व माना जायेगा तो ग्यारहवें गुणस्थानको वीतरागछद्मस्थ न मानकर सरागछद्मस्थ मानना होगा। शायद कहा जाये कि ग्यारहवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका साहाय्य न मिलनेसे उपशम ,सम्यक्त्व रागका कारण नहीं है तो चारित्रमोहनीयको ही रागका कारण क्यों नहीं मानते ? अत बेचारे सम्यग्दर्शनको, जिसे शास्त्रोंमें प्रतिसमय असख्यातगुणी निर्जराका कारण बतलाया है, रागका कारण बतलाना उचित नहीं है। अत क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्वको सरागताका कारण नहीं माना जा सकता। शायद कहा जाये कि सम्यग्दर्शनके होनेपर देव, शास्त्र, गुरुमें शुभोपयोग रूप प्रवृत्ति होती है अत सम्यग्दर्शन शुभरागका कारण है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन होनेसे पहले भी उस जीवमें राग पाया जाता था। सम्यग्दर्शनके प्रकट होनेसे एक तो उसमें कुछ रागकी कमी हुई, दूसरे उसका आलम्बन बदल गया, जहाँ वह पहले स्त्री-पुत्रादिकके मोहमें ही पड़ा रहता था वहाँ वह अब आत्महितके कारणोंसे राग करने लगा। अत सम्यग्दर्शन रागका कारण नहीं हुआ बल्कि उसकी हीनताका और उसकी प्रवृत्तिको बदलनेका ही कारण हुआ। इसीसे पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने कहा है कि—'जितने अशमें जीव सम्यग्दृष्टि है उतना अंश बन्धका कारण नहीं है और जितने अशमें उसके राग है उतने अशमें उसके कर्मबन्ध होता है'। अत अबन्धका कारण सम्यग्दर्शन रागका कारण नहीं हो सकता। अब रहा दूसरा प्रश्न कि क्या सम्यग्दर्शन वीतरागताका कारण है ? किसी अशमें सम्यग्दर्शनको वीतरागताका कारण माना जा सकता है, क्योंकि दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धीका क्षय अथवा उपशम या क्षयोपशम होनेसे आत्मामें रागकी हानि ही होती है, वृद्धि नहीं। किन्तु ऐसी अवस्थामें सम्यग्दर्शनके दो भेद नहीं बन सकते। इस आपत्तिसे बचनेके लिए यदि उसे दोनोंका कारण माना जायेगा तो दोनों पक्षोंमें ऊपर उठाये गये विवाद खडे हो जायेंगे। अत सरागीके सम्यग्दर्शनको सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागीके सम्यग्दर्शनको वीतरागसम्यग्दर्शन कहना ही ठीक है। सम्यग्दर्शन आत्माका धर्म है अत. वह इन्द्रियोंसे दिखायी दे सकनेवाली वस्तु नहीं है। किन्तु

द्विविधं त्रिविधं दशविधमाहुः सम्यक्त्वमात्महितमतयः।
तत्त्वश्रद्धानविधिः सर्वत्र च तत्र समवृत्तिः ॥२२६॥
सरागवीतरागात्मविषयत्वाद्द्विधा स्मृतम्।
प्रशमादिगुणं पूर्वं परं चात्मविशुद्धिभाक् ॥२२७॥

यथा हि पुरुषस्य पुरुषशक्तिरियमतीन्द्रियाप्यङ्गनाजनसंभोगेनापत्योत्पादनेन च विपदि धैर्यावलम्बनेन वा प्रारब्धवस्तुनिर्वहणेन वा निश्चेतुं शक्यते तथात्मस्वभावतयाति सूक्ष्मत्वमपि सम्यक्त्वरत्नं प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्यैरेव वाक्यैराकलयितुं शक्यम्। तत्र—

सम्यग्दर्शनके भेद और उसकी पहचान

आत्महितैषी महापुरुषोंने सम्यग्दर्शनके दो, तीन और दस भेद बतलाये हैं। इन सभी भेदोंमें तत्त्वोंका श्रद्धान समान रूपसे पाया जाता है। अर्थात् तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शनका सामान्य लक्षण है। अतः सम्यग्दर्शनके जितने भी भेद हैं उन सभीमें तत्त्वोंका श्रद्धान होना आवश्यक है उसके बिना सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता ॥२२६॥

सम्यग्दर्शन रागी आत्माओंका भी हो सकता है और वीतरागी आत्माओंके भी होता है इसलिए उसके दो भेद कर दिये गये हैं—एक सरागसम्यग्दर्शन और दूसरा वीतराग सम्यग्दर्शन। सरागसम्यग्दर्शन प्रशम आदि गुणरूप होता है और वीतरागसम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धिरूप होता है ॥२२७॥

जैसे पुरुषकी शक्ति यद्यपि अतीन्द्रिय है, इन्द्रियोंसे उसे नहीं देखा जा सकता, फिर भी स्त्रियोंके साथ संभोग करनेसे, सन्तानोत्पादनसे विपत्तिमें धैर्य और प्रारम्भ किये गये कार्यको समाप्त करना आदि बातोंसे उसकी शक्तिका निश्चय किया जाता है। वैसे ही सम्यक्त्वरूपी रत्न भी आत्माका स्वभाव होनेके कारण यद्यपि बहुत सूक्ष्म है, फिर भी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदिके द्वारा उसका निश्चय किया जा सकता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके सराग और वीतराग भेद सम्यग्दर्शनके धारक जीवोंकी अपेक्षासे किये गये हैं। जो जीव सरागी हैं उनके सम्यक्त्वको सरागसम्यक्त्व कहते हैं और जो जीव वीतरागी हैं उनके सम्यक्त्वको वीतरागसम्यक्त्व कहते हैं। चूँकि राग दसवें गुणस्थानतक पाया जाता है इसलिए दसवें गुणस्थानतकके जीवोंका सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्व कहा जाता है और उससे आगेके जीवोंका सम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्व कहा जाता है। कोई विद्वान् सरागताका कारण सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्व और वीतरागताका कारण सम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्व है, ऐसा कहते हैं किन्तु उनका यह लक्षण ठीक नहीं है क्योंकि एक तो ग्रन्थकारने 'सरागवीतरागात्म विषयत्वात्' लिखकर यह स्पष्ट कर दिया है कि सराग आत्मा और वीतराग आत्माकी अपेक्षासे सम्यक्त्वके सराग और वीतराग भेद हैं। दूसरे, किसी भी शास्त्रकारने ऐसा लक्षण नहीं किया बल्कि अनगारधर्मामृत (पृ० १२४) में पं० आशाधरजीने स्पष्ट रूपसे सरागीके सम्यक्त्वको सराग-सम्यक्त्व और वीतरागीके सम्यक्त्वको वीतरागसम्यक्त्व कहा है। तीसरे, सम्यग्दर्शन रागका कारण नहीं है; रागका कारण तो चारित्रमोहनीयका उदय है और वह दसवें गुणस्थानतक रहता

१ 'तद् द्विविधं सरागवीतरागविषयभेदात्। प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्। आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्'—सर्वार्थसिद्धि १।२। 'ज्ञाते सरागे सरागं स्याच्छमादिव्यक्तिलक्षणम्। विरागे दर्शनं त्वात्मशुद्धिमात्रं विरागकम् ॥५१॥ अनगार० अ० २। २ देखो—अ०।

है, इसीसे दसवें गुणस्थानतकके जीव सरागी और उससे ऊपरके जीव वीतरागी कहे जाते हैं। चौथे, यदि सरागताका कारण सम्यग्दर्शन सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागताका कारण सम्यग्दर्शन वीतरागसम्यग्दर्शन कहा जायेगा तो सम्यग्दर्शनके औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भेदोंमें सरागता और वीतरागताका कारण होनेकी दृष्टिसे भेद करना होगा। इन तीनमें क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो सातवें गुणस्थानतक ही होता है और उसमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय भी रहता है अत वह तो सरागसम्यक्त्व ही ठहरता है। किन्तु शेष दो सम्यग्दर्शन दसवें गुणस्थानतक सराग अवस्थामें भी पाये जाते है और उससे ऊपर वीतराग अवस्थामें भी पाये जाते है। अत यह प्रश्न पैदा होता है कि इन दोनों सम्यग्दर्शनोंको सरागताका कारण माना जाये या वीतरागताका अथवा दोनोंका ? दोनोंको सरागताका कारण तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि यदि क्षायिक सम्यग्दर्शनको भी सरागताका कारण माना जायेगा तो वीतरागी क्षीणकषाय गुणस्थानवालोंको, केवलियोंको और सिद्धोंको भी सराग मानना पड़ेगा, क्योंकि उनके क्षायिकसम्यक्त्व ही होता है। रह जाता है द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। इसमें दर्शन मोहनीयका उपशम रहता है इसलिए क्षायिकसम्यक्त्वकी अपेक्षा इसकी स्थिति कमजोर होनेसे इसे रागका कारण मानकर यदि सरागसम्यक्त्व माना जायेगा तो ग्यारहवें गुणस्थानको वीतरागछद्मस्थ न मानकर सरागछद्मस्थ मानना होगा। शायद कहा जाये कि ग्यारहवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका साहाय्य न मिलनेसे उपशम ,सम्यक्त्व रागका कारण नहीं है तो चारित्रमोहनीयको ही रागका कारण क्यों नहीं मानते ? अत बेचारे सम्यग्दर्शनको, जिसे शास्त्रोंमें प्रतिसमय असख्यातगुणी निर्जराका कारण बतलाया है, रागका कारण बतलाना उचित नहीं है। अत क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्वको सरागताका कारण नहीं माना जा सकता। शायद कहा जाये कि सम्यग्दर्शनके होनेपर देव, शास्त्र, गुरुमें शुभोपयोग रूप प्रवृत्ति होती है अत सम्यग्दर्शन शुभरागका कारण है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शन होनेसे पहले भी उस जीवमें राग पाया जाता था। सम्यग्दर्शनके प्रकट होनेसे एक तो उसमें कुछ रागकी कमी हुई, दूसरे उसका आलम्बन बदल गया, जहाँ वह पहले स्त्री-पुत्रादिकके मोहमें ही पड़ा रहता था वहाँ वह अब आत्महितके कारणोंसे राग करने लगा। अत सम्यग्दर्शन रागका कारण नहीं हुआ बल्कि उसकी हीनताका और उसकी प्रवृत्तिको बदलनेका ही कारण हुआ। इसीसे पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने कहा है कि—'जितने अंशमें जीव सम्यग्दृष्टि है उतना अश बन्धका कारण नहीं है और जितने अशमें उसके राग है उतने अशमें उसके कर्मबन्ध होता है'। अत अबन्धका कारण सम्यग्दर्शन रागका कारण नहीं हो सकता। अब रहा दूसरा प्रश्न कि क्या सम्यग्दर्शन वीतरागताका कारण है ? किसी अशमें सम्यग्दर्शनको वीतरागताका कारण माना जा सकता है, क्योंकि दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धीका क्षय अथवा उपशम या क्षयोपशम होनेसे आत्मामें रागकी हानि ही होती है, वृद्धि नहीं। किन्तु ऐसी अवस्थामें सम्यग्दर्शनके दो भेद नहीं बन सकते। इस आपत्तिसे बचनेके लिए यदि उसे दोनोंका कारण माना जायेगा तो दोनों पक्षोंमें ऊपर उठाये गये विवाद खड़े हो जायेंगे। अत सरागीके सम्यग्दर्शनको सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागीके सम्यग्दर्शनको वीतरागसम्यग्दर्शन कहना ही ठीक है। सम्यग्दर्शन आत्माका धर्म है अत. वह इन्द्रियोंसे दिखायी दे सकनेवाली वस्तु नहीं है। किन्तु

यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिबर्हणम् ।
तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणम् ॥२२८॥
शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रभवाद्भवात् ।
स्वप्नेन्द्रजालसंकल्पाद्भीतिः संवेग उच्यते ॥२२९॥
सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः ।
धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते ॥२३०॥

असंयतसम्यग्दृष्टि वगैरह सरागी जीवोंमें प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य वगैरहको देखकर सम्यग्दर्शनका अस्तित्व जाना जा सकता है। असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर दसवें गुणस्थानतकके जीव अपनेमें सम्यक्त्वके निमित्तसे होनेवाले प्रशमादि गुणोंका निश्चय करके 'हम सम्यग्दृष्टि हैं' ऐसा जान लेते हैं। और चौथेसे छठे गुणस्थानतकके जीवोंमें उनकी चेष्टाओंसे प्रशमादिकका निर्णय करके 'वे सम्यग्दृष्टि हैं' ऐसा जानते हैं। इस प्रकार अपनेमें स्वसंवेदनसे और दूसरोंमें अनुमानसे सरागसम्यग्दर्शनके सद्भावका निश्चय किया जाता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टिमें इस प्रकारके भाव देखे जाते हैं। किन्तु जिसमें इस प्रकारके भाव हों वह नियमसे सम्यग्दृष्टि ही है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शनके अभावमें भी इस प्रकारके भाव पाये जाते हैं। अतः प्रशमादि भाव सम्यग्दर्शनके ज्ञापक हैं, नियामक नहीं हैं। इनके बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता किन्तु ये सम्यग्दर्शनके बिना भी हो सकते हैं। अब रहे उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागी जीव, उनका सम्यग्दर्शन वीतरागसम्यग्दर्शन कहलाता है, और वह सम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धिरूप ही होता है। *दर्शनमोहनीयके उपशम अथवा क्षयसे आत्मामें जो निर्मलता होती है, उसे आत्मविशुद्धि कहते हैं, और वीतरागसम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धिरूप ही होता है, क्योंकि वीतरागी जीवोंमें चारित्रमोहनीयका उदय न होनेसे प्रशमादि भाव नहीं पाये जाते। अतः वीतरागसम्यग्दर्शनको स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ही जाना जा सकता है प्रशमादिके द्वारा उसे नहीं जाना जा सकता।

[अब आस्तिक्य आदिका स्वरूप बतलाते हैं—]

रागादिक दोषोंसे चित्तवृत्तिके हटनेको पण्डित-जन प्रशम कहते हैं। यह प्रशमगुण समस्त व्रतोंका भूषण है अर्थात् व्रत वगैरहका पालन करते हुए भी यदि चित्त रागादिक दोषोंसे नहीं हटता तो वे व्रत एक तरहसे व्यर्थ ही हैं ॥२२८॥

यह संसार शारीरिक मानसिक और आगन्तुक कष्टोंसे भरा है और स्वप्न या जादूगरके तमाशेकी तरह चंचल है। इससे डरना संवेग है ॥२२९॥

सब प्राणियोंके प्रति चित्तका दयालु होना अनुकम्पा है। दयालु पुरुष इस धर्मका परम मूल बतलाते हैं ॥२३०॥

---

* 'आत्मनो विशुद्धिर्दर्शनमोहस्योपशमेन क्षयेण वा अभिव्यक्ता। नैव तस्मात् न प्रशमादि अनुमेयम्। तत्र हि चारित्रमोहस्य सहचारिणोऽभावात् प्रशमाद्यनभिव्यक्तिः स्यात्। केवलं स्वसंवेदनेनैव गम्येत।' तत्त्व० श्लो० टी० १-२१।

आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंस्तुतम्[1]।
आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं मुक्तियुक्तिधरे[2] नरे ॥२३१॥
रागरोषधरे नित्यं निर्व्रते निर्दयात्मनि।
संसारो दीर्घसार[3]ः स्यान्नरे नास्तिकनीतिके[4] ॥२३२॥

मुक्तिके लिए प्रयत्नशील पुरुषका चित्त आप्तके विषयमें, शास्त्रके विषयमें, व्रतके विषयमें और तत्त्वके विषयमें 'ये हैं' इस प्रकारकी भावनासे युक्त होता है उसे आस्तिक पुरुष आस्तिक्य कहते हैं। जो मनुष्य रागी और द्वेषी है, कभी व्रताचरण नहीं करता और न कभी उसकी आत्मामें दयाका भाव ही होता है उस नास्तिक धर्मवालेका संसारभ्रमण बढ़ता ही है ॥२३१-२३२॥

भावार्थ—राग, द्वेष, काम, क्रोध वगैरहकी ओर मनका रुझान न होना प्रशम कहलाता है। अथवा जिन्होंने अपना अपराध किया है, उन प्राणियोंको भी किसी प्रकारका कष्ट न देनेकी भावनाका होना भी प्रशम है। ऐसा प्रशम भाव अनन्तानुबन्धी कषायके उदयका अभाव होनेसे तथा शेष कषायोंका मन्द उदय होनेसे होता है। अतः वह सम्यक्त्वकी पहचान करानेमें सहायक है। किन्तु बिना सम्यक्त्वके जो प्रशम भाव देखा जाता है वह प्रशम नहीं है किन्तु प्रशमाभास है। संसार अनेक तरहकी यातनाओंका—तकलीफोंका घर है। इसमें कोई भी सुखी नजर नहीं आता। किसीको किसी बातका कष्ट है तो किसीको किसी बातका कष्ट है। आज जो सुखी दिखायी देते हैं, कल उन्हें ही रोता और कलपता हुआ पाते हैं। ऐसे संसारसे मोह न करके सदा उससे बचते रहनेमें ही कल्याण है। इस प्रकारके भावोंका नाम संवेग है। धर्म, धर्मात्मा और धर्मके प्रवर्तक पञ्च परमेष्ठीमें मन तभी लग सकता है जब अधर्म, अधर्मी और अधर्मके सर्जकोंसे अरुचि हो। तथा इनमें अरुचि तभी हो सकती है जब मनुष्यका मन संसारकी विषय-वासनाओंसे हट गया हो। अतः संसारसे अरुचि रखनेमें ही आत्माका कल्याण है और इसीका नाम संवेग है। मगर वह अरुचि स्वाभाविक होनी चाहिए, बनावटी नहीं। विरागताकी लम्बी-चौड़ी बातें करके सिरसे पैरतक रागमें डूबे रहना संवेग नहीं है। जीवमात्रपर दया करनेको अनुकम्पा कहते हैं अर्थात् सबको अपना मित्र समझना और वैर-भावको छोड़कर निर्द्वन्द्व हो जाना अनुकम्पा है। सच्ची अनुकम्पा सम्यग्दृष्टिके ही होती है क्योंकि बिना अज्ञानके वैर-भाव नहीं होता। मनुष्य समझता है कि मैं चाहूँ तो अमुकको सुखी कर सकता हूँ और चाहूँ तो अमुकको दुःखी कर सकता हूँ। या मुझे अमुक सुख पहुँचा सकता है और अमुक दुःख पहुँचा सकता है। किन्तु उसका ऐसा समझना कोरा अज्ञान है, क्योंकि जिन जीवोंके प्रबल पुण्यका उदय होता है उनका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता और जिनके प्रबल पापका उदय होता है उनके हाथमें दिये गये रुपये भी कोयला हो जाते हैं। अतः प्राणियोंमें इष्ट और अनिष्टकी कल्पना करके किसीको अपना मित्र मानना और किसीको अपना शत्रु मानना अज्ञानता है। इसलिए सभीपर समान रूपसे दयाभाव रखना चाहिए। तथा दूसरोंपर दया करना एक तरहसे अपनेपर ही दया करना है

१ '—मास्तिक्यसंयुतम्।'—सागारधर्मामृत, पृ० ६। २. 'युक्त युक्तिधरेण वा'—सागारधर्मामृत पृ० ६। मोक्षसयोगधरे—मुक्तिगामिनि। ३ भ्रमणः। ४ शास्त्रे।

यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिबर्हणम् ।
तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणम् ॥२२८॥
शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रभवाद्भवात् ।
स्वप्नेन्द्रजालसंकल्पाद्भीतिः संवेग उच्यते ॥२२९॥
सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः ।
धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते ॥२३०॥

असंयतसम्यग्दृष्टि वगैरह सरागी जीवोंमें प्रशम, संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य वगैरहको देखकर सम्यग्दर्शनका अस्तित्व जाना जा सकता है। असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर दसवें गुणस्थानतकके जीव अपनेमें सम्यक्त्वके निमित्तसे होनेवाले प्रशमादि गुणोंका निश्चय करके 'हम सम्यग्दृष्टि हैं' ऐसा जान लेते हैं। और चौथेसे छठे गुणस्थानतकके जीवोंमें उनकी चेष्टाओंसे प्रशमादिकका निर्णय करके 'ये सम्यग्दृष्टि हैं' ऐसा जानते हैं। इस प्रकार अपनेमें स्वसंवेदनसे और दूसरोंमें अनुमानसे सरागसम्यग्दर्शनके सद्भावका निश्चय किया जाता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टियोंमें इस प्रकारके भाव देखे जाते हैं। किन्तु जिसमें इस प्रकारके भाव हों वह नियमसे सम्यग्दृष्टि ही है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शनके अभावमें भी इस प्रकारके भाव पाये जाते हैं। अतः प्रशमादि भाव सम्यग्दर्शनके ज्ञापक हैं, नियामक नहीं हैं। इनके बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता किन्तु ये सम्यग्दर्शनके बिना भी हो सकते हैं। अब रहे उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागी जीव, उनका सम्यग्दर्शन वीतरागसम्यग्दर्शन कहलाता है, और वह सम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धिरूप ही होता है। *दर्शनमोहनीयके उपशम अथवा क्षयसे आत्मामें जो निर्मलता होती है, उसे आत्मविशुद्धि कहते हैं, और वीतरागसम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धिरूप ही होता है, क्योंकि वीतरागी जीवोंमें चारित्रमोहनीयका उदय न होनेसे प्रशमादि भाव नहीं पाये जाते। अतः वीतरागसम्यग्दर्शनको स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ही जाना जा सकता है प्रशमादिके द्वारा उसे नहीं जाना जा सकता।

[अब आस्तिक्य आदिका स्वरूप बतलाते हैं—]

रागादिक दोषोंसे चित्तवृत्तिके हटनेको पण्डित-जन प्रशम कहते हैं। यह प्रशमगुण समस्त व्रतोंका भूषण है अर्थात् व्रत वगैरहका पालन करते हुए भी यदि चित्त रागादिक दोषोंसे नहीं हटता हो तो वे व्रत एक तरहसे व्यर्थ ही हैं ॥२२८॥

यह संसार शारीरिक मानसिक और आगन्तुक कष्टोंसे भरा है और स्वप्न या जादूगरके तमाशेकी तरह चंचल है। इससे डरना संवेग है ॥२२९॥

सब प्राणियोंके प्रति चित्तका दयालु होना अनुकम्पा है। दयालु पुरुष इसे धर्मका परम मूल बतलाते हैं ॥२३०॥

---

* 'आत्मनो जीवस्य शुद्धिर्दृङ्मोहस्योपशमेन क्षयेण वा निर्मलता। नैव तन्मात्रं न प्रशमादि अनुमेयम्। तत्र हि चारित्रमोहस्य सहचारिणोऽभावात् प्रशमाद्यभिव्यक्तिः स्यात्। केवलं स्वसंवेदनेनैव वेद्येत।' अन० ध० टी० २-५१।

दशविधं तदाह—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसङ्क्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च ॥२३४॥

—आत्मानुशासन, श्लो० ११ ।

होनेपर अथवा उनके क्षयके अभिमुख होनेपर देशघाती सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होते हुए जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जहाँ विवक्षित प्रकृति उदय आने योग्य तो न हो किन्तु उसका स्थिति अनुभाग घटाया या बढ़ाया जा सके अथवा उसका संक्रमण किया जा सके, उसे अप्रशस्त उपशम कहते हैं। और जहाँ विवक्षित प्रकृति न तो उदय आने योग्य हो, न उसका स्थिति अनुभाग घटाया या बढ़ाया जा सके और न अन्य प्रकृतिरूप संक्रमण ही किया जा सके उसे प्रशस्त उपशम कहते हैं। वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होते हुए भी उसमें सम्यक्त्वको नष्ट कर देनेकी शक्ति तो नहीं है किन्तु वह सम्यक्त्वमें चल मलिन और अगाढ़ दोष पैदा करती है। जैसे जल एक होकर भी लहरोंके उठनेपर चञ्चल हो जाता है वैसे ही सम्यक्त्व मोहनीयका उदय होनेसे श्रद्धानमें कुछ चञ्चलपना आ जाता है और इसके आनेसे सम्यग्दृष्टि अपने और दूसरोंके बनवाये हुए जिनबिम्ब वगैरहमें यह मेरा है, यह दूसरोंका है ऐसा भेद कर बैठता है। इसके सिवा उसके श्रद्धानमें अन्य कुछ चञ्चलता नहीं होती। तथा जैसे शुद्ध सोना मलके सम्बन्धसे मलिन हो जाता है वैसे ही वेदक सम्यक्त्व शङ्का वगैरह मलके द्वारा मलिन हो जाता है। तथा जैसे वृद्ध मनुष्यके हाथकी लकड़ी हाथसे छूटती तो नहीं है किन्तु काँपती रहती है वैसे ही वेदक सम्यक्त्वीका श्रद्धान तो नहीं छूटता, किन्तु उसमें थोड़ी शिथिलता रहती है, वह जैन देवोंमें ही ऐसी भेदकल्पना कर लेता है कि शान्तिनाथ भगवान्की पूजा करनेसे शान्ति मिलती है, पार्श्वनाथ भगवान्की पूजा करनेसे धन मिलता है, आदि। क्षायिकसम्यक्त्व दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय होनेपर होता है और दर्शनमोहनीयके क्षपणका प्रारम्भ कर्मभूमिया मनुष्य ही तीर्थङ्कर, केवली अथवा श्रुतकेवलीके पादमूलमें करता है। किन्तु उसकी पूर्ति चारों गतियोंमें होती है क्योंकि बद्धायु कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि मरकर चारों गतियोंमें से किसी भी एक गतिमें उत्पन्न हो सकता है। इतना विशेष है कि यदि उसने पहले मनुष्यायुका बन्ध किया है तो वह भोगभूमिया मनुष्योंमें ही जन्म लेता है, यदि तिर्यञ्चायुका बन्ध किया है तो भोगभूमिया तिर्यञ्चोंमें ही जन्म लेता है, यदि नरकायुका बन्ध किया है तो प्रथम नरकमें ही जन्म लेता है और यदि देवायुका बन्ध किया है तो सौधर्मादि कल्पोंमें या कल्पातीत देवोंमें जन्म लेता है। क्षायिकसम्यग्दर्शन सुमेरुकी तरह निश्चल और सदा अविनाशी होता है, अन्य सम्यग्दर्शन तो होकर छूट भी जाते हैं, किन्तु क्षायिकसम्यग्दर्शन नहीं छूटता। जिसे क्षायिकसम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाती है वह उसी भवमें या तीसरे भवमें अथवा चौथे भवमें मुक्तिलाभ कर लेता है, किन्तु चौथे भवसे आगे भव धारण नहीं करता। इस प्रकार सम्यग्दर्शनके तीन भेदोंका स्वरूप जानना चाहिए।

सम्यग्दर्शनके दस भेद

[अब सम्यक्त्वके दस भेद बतलाते हैं—]

आज्ञासम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बीजसम्यक्त्व,

कर्मणां क्षयतः शान्तेः क्षयोपशमतस्तथा ।
श्रद्धानं त्रिविधं बोध्यं गतौ सर्वत्र जन्तुषु ॥२३३॥

क्योंकि सबको अपना मित्र समझकर सभीके साथ दयाका व्यवहार करनेसे एक तो अपने हृदयमें दुर्भाव उत्पन्न नहीं होंगे, दूसरे, उनके उत्पन्न न होनेसे अशुभ कर्मोंका बन्ध नहीं होगा, तीसरे, हृदयमें शान्ति रहनेके साथ ही साथ दुनियामें अपना कोई वैरी न रहेगा। अतः दूसरोंपर अनुकम्पा करना अपनेपर ही अनुकम्पा करना है। सम्यग्दृष्टिमें ही इस प्रकारकी वास्तविक अनुकम्पा पायी जाती है। धर्म है, जीव है, परलोक है, मुक्ति है, मुक्तिके कारण हैं इस प्रकारका जो भाव होता है उसे आस्तिक्य कहते हैं। यह आस्तिक्य सम्यग्दृष्टिमें ही पाया जाता है। इसके होनेपर ही यह आत्म-कल्याणके मार्गपर लगता है। यह प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यका स्वरूप है।

सम्यग्दर्शनके तीन भेद

सम्यग्दर्शनके तीन भेद भी हैं—औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। जो सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व सम्यक्त्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जो इन सात प्रकृतियोंके क्षयसे होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। और जो इनके क्षयोपशमसे होता है उसे क्षायोपशमिक कहते हैं। ये तीनों सम्यग्दर्शन सब गतियोंमें पाये जाते हैं ॥२३३॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके ये तीन भेद अन्तरङ्ग कारणकी अपेक्षासे किये गये हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके उपशमसम्यक्त्व ही होता है उसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व कहते हैं। उपशमसम्यक्त्वके दो भेद हैं—प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशमसम्यक्त्व। मिथ्यादृष्टिगुणस्थानसे जो उपशमसम्यक्त्व होता है उसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व कहते हैं और उपशम श्रेणिके अभिमुख हुए जीवके क्षायोपशमिक सम्यक्त्वपूर्वक जो उपशमसम्यक्त्व होता है उसे द्वितीयोपशमसम्यक्त्व कहते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव यदि सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है तो तीन करणोंके द्वारा दर्शनमोहनीयका सर्वोपशमन करके ही सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है। जो सादि मिथ्यादृष्टि बहुत कालतक मिथ्यात्वमें रहकर पुनः सम्यक्त्वको प्राप्त करता है वह भी दर्शन मोहनीयका सर्वोपशमन करके ही सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। किन्तु जो सम्यक्त्वसे च्युत होकर जल्दी ही सम्यक्त्वको प्राप्त कर लेता है वह सर्वोपशमन अथवा देशोपशमनके द्वारा सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। यदि वेदक योग्यकालके अन्दर ही सम्यक्त्वको ग्रहण कर लेता है तो देशोपशमके द्वारा ही ग्रहण करता है, नहीं तो सर्वोपशमके द्वारा ग्रहण करता है। दर्शनमोहनीयकी तीनों प्रकृतियोंके उदयाभावको सर्वोपशम कहते हैं और सम्यक्त्व प्रकृतिसम्बन्धी देशघाती स्पर्धकोंके उदयको और शेष दोनों प्रकृतियोंके उदयाभावको देशोपशम कहते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्तकाल पूरा होनेपर नियमसे मिथ्यात्वमें ही आता है और सादि मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्वको प्राप्त करके उससे च्युत होनेपर दर्शनमोहनीयकी तीनों प्रकृतियोंमें से किसी एकका उदय हो जानेसे मिथ्यादृष्टि सम्यक्मिथ्यादृष्टि अथवा वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। वेदकसम्यक्त्वको ही क्षायोपशमिकसम्यक्त्व भी कहते हैं। अनन्तानुबन्धी कषायका अप्रशस्त उपशम अथवा विसंयोजन होनेपर और मिथ्यात्व तथा सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृतियोंका प्रशस्त उपशम

दशविधं तदाह—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसङ्क्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढे च ॥२३४॥

—आत्मानुशासन, श्लो० ११ ।

होनेपर अथवा उनके क्षयके अभिमुख होनेपर देशघाती सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होते हुए जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जहाँ विवक्षित प्रकृति उदय आने योग्य तो न हो किन्तु उसका स्थिति अनुभाग घटाया या बढाया जा सके अथवा उसका संक्रमण किया जा सके, उसे अप्रशस्त उपशम कहते है। और जहाँ विवक्षित प्रकृति न तो उदय आने योग्य हो, न उसका स्थिति अनुभाग घटाया या बढ़ाया जा सके और न अन्य प्रकृतिरूप संक्रमण ही किया जा सके उसे प्रशस्त उपशम कहते हैं। वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होते हुए भी उसमें सम्यक्त्वको नष्ट कर देनेकी शक्ति तो नहीं है किन्तु वह सम्यक्त्वमें चल मलिन और अगाढ़ दोष पैदा करती है। जैसे जल एक होकर भी लहरोंके उठनेपर चञ्चल हो जाता है वैसे ही सम्यक्त्व मोहनीयका उदय होनेसे श्रद्धानमें कुछ चञ्चलपना आ जाता है और इसके आनेसे सम्यग्दृष्टि अपने और दूसरोंके बनवाये हुए जिनविम्ब वगैरहमें यह मेरा है, यह दूसरोंका है ऐसा भेद कर बैठता है। इसके सिवा उसके श्रद्धानमें अन्य कुछ चञ्चलता नहीं होती। तथा जैसे शुद्ध सोना मलके सम्बन्धसे मलिन हो जाता है वैसे ही वेदक सम्यक्त्व शङ्का वगैरह मलके द्वारा मलिन हो जाता है। तथा जैसे वृद्ध मनुष्यके हाथकी लकडी हाथसे छूटती तो नहीं है किन्तु काँपती रहती है वैसे ही वेदक सम्यक्त्वीका श्रद्धान तो नहीं छूटता, किन्तु उसमें थोडी शिथिलता रहती है, वह जैन देवोंमें ही ऐसी भेदकल्पना कर लेता है कि शान्तिनाथ भगवान्‌की पूजा करनेसे शान्ति मिलती है, पार्श्वनाथ भगवान्‌की पूजा करनेसे धन मिलता है, आदि। क्षायिकसम्यक्त्व दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय होनेपर होता है और दर्शन-मोहनीयके क्षपणका प्रारम्भ कर्मभूमिया मनुष्य ही तीर्थङ्कर, केवली अथवा श्रुतकेवलीके पाद-मूलमें करता है। किन्तु उसकी पूर्ति चारों गतियोंमें होती है क्योंकि बद्धायु कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि मरकर चारों गतियोंमें से किसी भी एक गतिमें उत्पन्न हो सकता है। इतना विशेष है कि यदि उसने पहले मनुष्यायुका बन्ध किया है तो वह भोगभूमिया मनुष्योंमें ही जन्म लेता है, यदि तिर्यञ्चायुका बन्ध किया है तो भोगभूमिया तिर्यञ्चोंमें ही जन्म लेता है, यदि नरकायुका बन्ध किया है तो प्रथम नरकमें ही जन्म लेता है और यदि देवायुका बन्ध किया है तो सौधर्मादि कल्पोंमें या कल्पातीत देवोंमें जन्म लेता है। क्षायिकसम्यग्दर्शन सुमेरुकी तरह निश्चल और सदा अविनाशी होता है, अन्य सम्यग्दर्शन तो होकर छूट भी जाते हैं, किन्तु क्षायिकसम्यग्दर्शन नहीं छूटता। जिसे क्षायिकसम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाती है वह उसी भवमें या तीसरे भवमें अथवा चौथे भवमें मुक्तिलाभ कर लेता है, किन्तु चौथे भवसे आगे भव धारण नहीं करता। इस प्रकार सम्यग्दर्शनके तीन भेदोंका स्वरूप जानना चाहिए।

सम्यग्दर्शनके दस भेद

[अब सम्यक्त्वके दस भेद बतलाते हैं—]

आज्ञासम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बीजसम्यक्त्व,

अस्यायमर्थः—भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीतागमानुज्ञोत्सवा आज्ञा, रत्नत्रयविचारसर्गो मार्गः, पुराणपुरुषचरितश्रवणाभिनिवेश उपदेशः, यतिजनाचरणनिरूपणपात्रं सूत्रम्, सकलसमयदलसूचनाव्याजं बीजम्, आप्तश्रुतव्रतपदार्थसमासालापोपक्षेपः संक्षेपः, द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णविस्तीर्णश्रुतार्थसमर्थनप्रस्तारो विस्तारः, प्रवचनविषये स्वप्रत्ययसमर्थोऽर्थः, त्रिविधस्यागमस्य निःशेषतोऽन्यतमदेशावगाहादवगाढम्, अवधिमनःपर्ययकेवलाधिकपुरुषप्रत्ययप्ररूढं परमावगाढम्।

संक्षेपसम्यक्त्व, विस्तारसम्यक्त्व, अर्थसम्यक्त्व, अवगाढसम्यक्त्व और परमावगाढसम्यक्त्व ये सम्यक्त्वके दस भेद हैं ॥२३४॥

इनका स्वरूप इस प्रकार है—भगवान् सर्वज्ञ अर्हन्तदेवके द्वारा उपदिष्ट आगमकी आज्ञाको ही प्रमाण मानकर जो श्रद्धान किया जाता है उसे आज्ञासम्यक्त्व कहते हैं। रत्नत्रय रूप मोक्षके मार्गका कथन सुनकर जो श्रद्धान हो उसे मार्गसम्यक्त्व कहते हैं। तीर्थङ्कर बलदेव आदि पुराणपुरुषोंके चरितको सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे उपदेशसम्यक्त्व कहते है। मुनिजनोंके आचारका कथन करनेवाले आचाराङ्गसूत्रको सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे सूत्रसम्यक्त्व कहते हैं। जिस पदमें सूचन रूपसे समस्त शास्त्रोंके अंश छिपे होते हैं उसे बीज कहते हैं। बीज पदको समझकर सूक्ष्म तत्त्वोंके ज्ञानपूर्वक जो श्रद्धान होता है, उसे बीज सम्यक्त्व कहते हैं। संक्षेपसे आप्त, श्रुत, व्रत और पदार्थोंको जानकर उनपर जो श्रद्धान होता है उसे संक्षेपसम्यक्त्व कहते हैं। बारह अंगों, चौदह पूर्वों और प्रकीर्णकोंके द्वारा विस्तारसे तत्त्वार्थको सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे विस्तारसम्यक्त्व कहते हैं। प्रवचनके वचनोंकी सहायताके बिना किसी अन्य प्रकारसे जो अर्थका बोध होकर श्रद्धान होता है उसे अर्थसम्यक्त्व कहते हैं। अङ्ग पूर्व और प्रकीर्णक आगमोंके किसी एक देशका पूरी तरहसे अवगाहन करने पर जो श्रद्धान होता है उसे अवगाढसम्यक्त्व कहते हैं। और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञानके द्वारा जीवादि पदार्थोंको जानकर जो प्रगाढ़ श्रद्धान होता है उसे परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं।

---

१ 'आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन् मोहशान्तेः।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवर-पुराणोपदेशोपजाता
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥१२॥
आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद् बीजदृष्टिः पदार्थान्,
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ॥१३॥
यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टिं
संजातार्थात् कुतश्चित् प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥१४॥ —आत्मानुशासन।

२–'तुष्टा आज्ञा'-धर्मरत्नाकरे (पृ० १८ ब) पाठः। ३–आपोपक्षेपः धर्मरत्नाकरे (पृ० १८ ब) पाठः। ४–प्रकीर्णकभेदविस्तीर्ण धर्मरत्नाकरे (पृ० १८ ब) पाठः। ५–द्वादशाङ्ग-चतुर्दशपूर्व प्रकीर्णकभेदेन।

गृहस्थो वा यतिर्वापि सम्यक्त्वस्य समाश्रयः ।
एकादशविधः पूर्वश्चरमश्च चतुर्विधः ॥२३५॥
मायानिदानमिथ्यात्वशल्यत्रितयमुद्धरेत् ।
आर्जवाकाङ्क्षणाभावतत्त्वभावनकीलकैः ॥२३६॥

भावार्थ—सम्यक्त्वके ये भेद बाह्य निमित्तोको लेकर किये गये है। इनमें से जिनमें तत्त्वार्थका श्रद्धान आचार्य वगैरहके उपदेशसे होता है वे अधिगमज कहलाते है और जिनमें स्वत ही शास्त्रादिकका अवगाहन करके तत्त्वार्थका श्रद्धान होता है वे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाते हैं। इसी तरह इनमें से जो सम्यक्त्व सरागीके होते हैं वे सरागसम्यग्दर्शन कहलाते है और जो वीतरागीके होते है वे वीतरागसम्यग्दर्शन कहलाते है। किन्तु इन सभीका अन्तरङ्ग कारण दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है, उसके बिना तो सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता। इनमें से जो सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीयके उपशमसे होते है वे औपशमिक कहे जाते है, जो दर्शनमोहनीयके क्षयसे होते है वे क्षायिक कहे जाते है और जो दर्शनमोहनीयके क्षयोपशमसे होते हैं वे क्षायोपशमिक कहे जाते है। इस प्रकार इन सब भेदोंका परस्परमें समन्वय कर लेना चाहिए।

गृहस्थ हो या मुनि हो, सम्यग्दृष्टि, अवश्य होना चाहिए अर्थात् सम्यक्त्वके विना न कोई श्रावक कहला सकता है और न कोई मुनि कहला सकता है। गृहस्थके ग्यारह भेद हैं जिन्हें ग्यारह प्रतिमाएँ कहते हैं और मुनिके चार भेद हैं॥२३५॥

सरलता रूपी कीलके द्वारा माया रूपी काँटेको निकालना चाहिए। इच्छाका अभाव रूपी कीलके द्वारा निदान रूपी काँटेको निकालना चाहिए और तत्त्वोंकी भावना रूपी कीलके द्वारा मिथ्यात्व रूपी काँटेको निकालना चाहिए॥२३६॥

भावार्थ—माया, निदान और मिथ्यात्व ये तीन शल्य है। शल्य काँटेको कहते है। जैसे काँटा शरीरमें लग जानेपर तकलीफ देता है वैसे ही ये तीनो भी जीवोको शारीरिक और मानसिक कष्ट पहुँचाते हैं इसलिए इन्हें शल्य कहते हैं। इन शल्योंको हृदयसे दूर किये विना कोई व्रती नहीं कहा जा सकता। व्रती होनेके लिए केवल व्रतोंको धारण कर लेना ही आवश्यक नहीं है किन्तु उनके साथ-साथ तीनों शल्योंको भी निकाल डालना आवश्यक है। जो मायाचारी है वह कैसे व्रती हो सकता है? व्रती होनेके लिए सरलताका होना जरूरी है। अत सरलताके द्वारा मायाचारको दूर करना चाहिए। इसी तरह जो रात-दिन भविष्यके भोगोंकी ही कामना करता रहता है, उसका व्रत-नियम कैसे निर्दोष कहा जा सकता है? जो इसलिए उपवास करता है कि उपवासके बाद नाना तरहके पक्वान्न भरपेट खानेको मिलेंगे, जो इसलिए ब्रह्मचर्य पालता है कि शक्ति सञ्चित करके फिर खूब भोग भोगूँगा, या मरकर स्वर्गमें देव होकर अनेक देवाङ्गनाओंके साथ रमण करूँगा, जो इसलिए दान देता है कि उससे मेरी खूब ख्याति

१ ऋषि मुनि-यति-अनगारभेदेन। 'देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिह मुनि. स्याद् ऋषि. प्रोद्गतर्द्धिरारूढश्रेणियुग्मोऽजनि यतिरनगारोऽपर साधुरुक्त। राजा ब्रह्मा च देव. परम इति ऋषिर्विक्रियाऽक्षीणशक्ति प्राप्तो बुद्धयौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण॥—चारित्रसार पृ० २२। २ नि:शल्यो व्रती।—तत्त्वार्थसूत्र ७–१८।

दृष्टिहीन[1] पुमानेति न यथा पदमीप्सितम् ।
दृष्टिहीन[2] पुमानेति न तथा पदमीप्सितम् ॥२३७॥
सम्यक्त्वं नाङ्गहीनं स्याद्राज्यवद्राज्यभूतये ।
ततस्तदङ्गसंगत्यामही निःसंगमीहताम् ॥२३८॥
विद्याविभूतिरूपाद्या सम्यक्त्वरहिते कुतः ।
नहि बीजव्यपायेऽस्ति सस्यसम्पत्तिरङ्गिनि ॥२३९॥
चक्रिश्री[6] संश्रयोत्कण्ठा नाकिश्रीर्दर्शनोत्सुका ।
तस्य दूरे न मुक्तिश्रीर्निर्दोष यस्य दर्शनम् ॥२४०॥

होगी, अखबारोंमें गुणगान होगा, मेरी साख बढ़ेगी और फिर मेरा व्यापार चमक उठेगा, उनका उपवास, ब्रह्मचर्य और दान स्तुत्य नहीं कहे जा सकते। अत भोगोंकी चाहका निषेध करनेके लिए ही व्रतसमये गये हैं, जिससे व्रतीकी आत्मा सफल हो। यदि कोई व्रतोंके द्वारा भी भोगोंकी तृष्णाकी ही पूर्ति करना चाहता है तो यह उसकी नासमझी है। इसी तरह यदि कोई व्रताचरण करते हुए भी मिथ्यात्वसे ग्रस्त है तो उसका व्रताचरण व्यर्थ है, क्योंकि जो सन्मार्गपर पैर रखकर भी कुमार्गको छोड़ना नहीं चाहता वह सन्मार्गपर कभी चल ही नहीं सकता। अत उक्त तीनों शल्योंके होते हुए व्रताचरणका ढोंग रचा जा सकता है, व्रताचरण नहीं किया जा सकता। इसलिए उन्हें दूर कर देना आवश्यक है।

सम्यग्दर्शनकी महिमा

जैसे दृष्टि अर्थात् आँखोंसे हीन पुरुष अपने इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच सकता। वैसे ही दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शनसे हीन पुरुष मुक्तिलाभ नहीं कर सकता ॥२३७॥

जैसे राज्यके अङ्ग मन्त्री सेनापति वगैरहके बिना राज्य समृद्धिशाली नहीं हो सकता, वैसे ही निःशङ्कित आदि अङ्गोंके बिना सम्यग्दर्शन भी उत्कृष्ट आभ्यन्तर और बाह्य विभूतिको नहीं दे सकता। इसलिए प्राणीको चाहिए कि सम्यग्दर्शनके अङ्गोंको प्राप्त करके निःसंग—निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो जानेकी कामना करे ॥२३८॥

सम्यक्त्वसे रहित प्राणीमें सम्यग्ज्ञान वगैरह कैसे हो सकते हैं? बीजके अभावमें धान्य सम्पत्ति नहीं होती। जिसका सम्यग्दर्शन निर्दोष है, चक्रवर्तीकी विभूति उसका आलिंगन करनेके लिए उत्कण्ठित रहती है और देवोंकी विभूति उसके दर्शनके लिए उत्सुक रहती है। अधिक क्या मोक्षलक्ष्मी भी उससे दूर नहीं है ॥२३९-२४०॥

१ नेत्र। २. सम्यग्दर्शन। 'दृग्विहीन पुमानेति न यथा स्थानमीप्सितम्। निर्दर्शन पुमान् याति न तथा पदमीप्सितम् ॥ १४ ॥'—धर्मोपदेशपीयूषवर्ष श्रावकाचार। ३. 'नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्'—रत्न श्रा.। ४ अथाङ्गपूर्णतायां सत्यां प्राणी निःसंगं चारित्रं वाञ्छतु। ५. 'विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः। न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥ ३२ ॥' —रत्नकरण्डश्रावकाचार। ६ 'देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम्। धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥४१॥' —रत्न श्रा.।

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ[1] तथानायतनानि षट् ।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥२४१॥
निश्चयोचितचारित्र[2]ः सुदृष्टिस्तत्त्वकोविदः ।
अव्रतस्थोऽपि मुक्तिस्थो न व्रतस्थोऽप्यदर्शनः ॥२४२॥
बहिःक्रिया[3] बहिष्कर्म[4]कारणं केवलं भवेत् ।
रत्नत्रयसमृद्धेः स्यादात्मा रत्नत्रयात्मकः ॥२४३॥
विशुद्धवस्तुधीर्दृष्टि[5]र्बोधः[6] साकारगोचरः ।
अप्रसङ्ग[7]स्तयोर्वृत्तं भूतार्थनयवादिनाम्[8] ॥२४४॥

सम्यग्दर्शनके दोष

तीन मूढ़ताएँ, आठ मद, छह अनायतन और आठ शंका वगैरह, ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष है ॥२४१॥

भावार्थ—देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और लोकमूढ़ता ये तीन मूढ़ताएँ है। इनका स्वरूप पहले बतला आये हैं। ज्ञानका मद करना, आदर सत्कारका मद करना, कुलका मद करना, जातिका मद करना, बलका मद करना, ऐश्वर्यका मद करना, तपका मद करना और शरीरका मद करना, ये आठ मद है। मद घमण्डको कहते है। कुदेव, कुदेवका मन्दिर, कुशास्त्र, कुशास्त्रके धारक, कुतप और कुतपके धारक ये छह अनायतन है। अनगारधर्मामृतमें मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और उनके धारक इस तरह छह अनायतन कहे हैं। सम्यग्दर्शनके जो आठ अङ्ग बतलाये है उनके उल्टे शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा आदि आठ दोष हैं। ये सब मिलाकर सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष हैं। जो सम्यग्दृष्टि इन दोषोंसे रहित होता है उसका सम्यग्दर्शन निर्दोष कहा जाता है।

मुक्तिके मार्गमें कौन स्थित है ?

स्वरूपाचरण चारित्रका धारक और तत्त्वोंका ज्ञाता सम्यग्दृष्टि व्रतोंका पालन नहीं करते हुए भी मुक्तिके मार्गमें स्थित है। किन्तु व्रतोंका पालन करते हुए भी जो सम्यग्दर्शनसे रहित है वह मुक्तिके मार्गमें स्थित नहीं है ॥२४२॥

रत्नत्रय आत्मस्वरूप है

बाह्य क्रिया तो केवल बाह्य कर्मकी ही कारण होती है। किन्तु रत्नत्रय रूपी समृद्धिका कारण तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय आत्मा ही है ॥२४३॥

निश्चयनयवादियोंके मतमें अर्थात् निश्चयनयकी दृष्टिमें विशुद्ध आत्मस्वरूपमें रुचि होना निश्चय सम्यक्त्व है। विशुद्ध आत्माको साकार रूपसे जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विषयोंमें भेद-बुद्धि न करके एकरूप होना, अर्थात् आत्मस्वरूपमें लीन होना निश्चयचारित्र है ॥२४४॥

---

१ 'श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥' ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः। अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ २५॥ –रत्न० श्रा०। २ अव्रतोऽपि योग्यचारित्र (?)। ३ बाह्यज्ञानचारित्रादि। ४ शरीरग्रहणलक्षणम्। ५ आत्मस्वरूपे रुचिर्निश्चयसम्यक्त्वम्। ६ आत्मपरिज्ञानम्। ७ तयोर्दृग्बोधयोर्विषयेऽप्रसङ्गः भेदः (?) एकलोलीभावः निश्चयचारित्रम्। ८ निश्चयनयज्ञानिनाम्।

दृष्टिहीनः पुमान्नेति न यथा पदमीप्सितम् ।
दृष्टिहीनः पुमान्नेति न तथा पदमीप्सितम् ॥२३७॥
सम्यक्त्वस्य नाङ्गहीनं स्याद्राज्यवद्राज्यभूतये ।
ततस्तदङ्गसंगस्यामङ्गी निःसंगमीहताम् ॥२३८॥
विद्याविभूतिरूपाद्याः सम्यक्त्वरहिते कुतः ।
नहि बीजव्यपायेऽस्ति सस्यसम्पत्तिरङ्गिनि ॥२३९॥
चक्रिश्रीः संश्रयोत्कण्ठा नाकिश्रीर्दर्शनोत्सुका ।
तस्य दूरे न मुक्तिश्रीर्निर्दोषं यस्य दर्शनम् ॥२४०॥

होगी, अखबारोंमें गुणगान होगा, मेरी साख बढ़गी और फिर मेरा व्यापार चमक उठेगा, उनका उपवास, ब्रह्मचर्य और दान सुव्रत नहीं कहे जा सकते। व्रत भोगोंकी चाहका नियन्त्रण करनेके लिए ही बतलाये गये हैं, जिससे व्रतीकी आत्मा सबल हो। यदि कोई व्रतोंके द्वारा भी भोगोंकी तृष्णाकी ही पूर्ति करना चाहता है तो यह उसकी नासमझी है। इसी तरह यदि कोई व्रताचरण करते हुए भी मिथ्यात्वसे ग्रस्त है तो उसका व्रताचरण व्यर्थ है, क्योंकि जो सन्मार्गपर पैर रखकर भी कुमार्गको छोड़ना नहीं चाहता वह सन्मार्गपर कभी चल ही नहीं सकता। अतः उक्त तीनों शल्योंके होते हुए व्रताचरणका ढोंग रचा जा सकता है, व्रताचरण नहीं किया जा सकता। इसलिए उन्हें दूर कर देना आवश्यक है।

सम्यग्दर्शनकी महिमा

जैसे दृष्टि अर्थात् आँखोंसे हीन पुरुष अपने इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच सकता। वैसे ही दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शनसे हीन पुरुष मुक्तिधाम नहीं कर सकता ॥२३७॥

जैसे राज्यके अङ्ग मन्त्री सेनापति वगैरहके बिना राज्य समृद्धिशाली नहीं हो सकता, वैसे ही निःशङ्कित आदि अङ्गोंके बिना सम्यग्दर्शन भी उत्कृष्ट आभ्यन्तर और बाह्य विभूतिको नहीं दे सकता। इसलिए प्राणीको चाहिए कि सम्यग्दर्शनके अङ्गोंको प्राप्त करके निःसंग—निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो जानेकी कामना करे ॥२३८॥

सम्यक्त्वसे रहित प्राणीमें सम्यग्ज्ञान वगैरह कैसे हो सकते हैं? बीजके अभावमें धान्य सम्पत्ति नहीं होती। जिसका सम्यग्दर्शन निर्दोष है, चक्रवर्तीकी विभूति उसका आलिंगन करनेके लिए उत्कण्ठित रहती है और देवोंकी विभूति उसके दर्शनके लिए उत्सुक रहती है। अधिक क्या, मोक्षलक्ष्मी भी उससे दूर नहीं है ॥२३९-२४०॥

---

१ नेत्र। २. सम्यग्दर्शन। 'दृष्टिहीनः पुमान्नेति न यथा स्थानमीप्सितम्। निर्दर्शनः पुमान् याति न तथा पदमीप्सितम् ॥ १४ ॥'—प्रबोधसार। ३. नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।—रत्न० श्रा०। ४. अङ्गपूर्णतायां सत्यां प्राणी निःसंगं चारित्रं वाञ्छतु। ५. 'विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः। न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥ ३२ ॥'—रत्नकरण्डश्रावकाचार। ६ 'देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम्। धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥४१॥' —रत्न० श्रा०।

और निश्चयके ज्ञाता ही जगत्‌में धर्मतीर्थका प्रवर्तन करते हैं। और जो केवल व्यवहारको ही जानता है वह उपदेशका पात्र नहीं है क्योंकि जैसे किसी बच्चेमें शूर-वीरता, निर्भयता आदि धर्मोंको देखकर किसीने कहा कि 'यह बच्चा तो शेर है'। जो आदमी शेरको नहीं जानता वह समझ बैठता है कि यही शेर है। वैसे ही निश्चयको न जाननेवाला व्यवहारको ही निश्चय समझ बैठता है। किन्तु जो व्यवहार और निश्चय दोनोंको जानकर दोनोंमें मध्यस्थ रहता है, दोनोंमें से किसी एक नयका ही पक्ष पकड़कर नहीं बैठ जाता वही शिष्य या श्रोता उपदेशका पूरा लाभ उठाता है। अतः निश्चय और व्यवहार दोनोंको समझना आवश्यक है। वस्तुके असली स्वरूपको निश्चय कहते हैं, जैसे मिट्टीके घड़ेको मिट्टीका घड़ा कहना। और परके निमित्तसे वस्तुका जो औपचारिक या उपाधिजन्य स्वरूप होता है उसे व्यवहार कहते हैं। जैसे मिट्टीके घड़ेमें घी भरा होनेके कारण उसे घीका घड़ा कहना। अतः चूँकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र आत्मस्वरूप ही हैं, अतः आत्माका विनिश्चय ही निश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्माका ज्ञान ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है और आत्मामें स्थित होना ही निश्चय सम्यक्‌चारित्र है। किन्तु आत्म-स्वरूपका विनिश्चय तबतक नहीं हो सकता जबतक आत्मा और कर्मोंके मेलसे जिन सात तत्त्वोंकी सृष्टि हुई है उनका तथा उनके उपदेष्टा देव, शास्त्र और गुरुओंका श्रद्धान न हो, क्योंकि परम्परासे ये सभी आत्म-श्रद्धानके कारण हैं। इनपर श्रद्धान हुए बिना इनकी बातोंपर श्रद्धान नहीं हो सकता और इनकी बातोंपर श्रद्धान हुए बिना आत्माकी ओर उन्मुखता, उसकी पहचान और विनिश्चिति उत्तरोत्तर नहीं हो सकती। यही बात सम्यग्ज्ञानके सम्बन्धमें जाननी चाहिए। वास्तवमें देव शास्त्र गुरु और उनके द्वारा उपदिष्ट सात तत्त्वोंका श्रद्धान और ज्ञान इसीलिए आवश्यक है क्योंकि वह आत्मश्रद्धान और आत्मज्ञानमें निमित्त है। इन सबके श्रद्धान और ज्ञानका लक्ष्य आत्मश्रद्धान और आत्मज्ञान ही है। इसी तरह आत्मामें स्थिति तबतक नहीं हो सकती जबतक उसकी प्रवृत्ति बहिर्मुखी है। अतः उसकी प्रवृत्तिको अन्तर्मुखी करनेके लिए पहले उसे बुरी प्रवृत्तियोंसे छुड़ाकर अच्छी प्रवृत्तियोंमें लगाया जाता है। जब वह उनका अभ्यस्त हो जाता है तब धीरे-धीरे उनका भी निरोध करके उसे प्रवृत्तिमार्गसे निवृत्तिमार्गकी ओर लगाया जाता है। होते-होते वह उस स्थितिमें पहुँच जाता है जहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रका विषय केवल आत्मा ही रह जाता है और समस्त परावलम्ब विलीन हो जाते हैं। यही निश्चयरूप रत्नत्रय है। किन्तु बिना व्यवहारका अवलम्बन किये इस निश्चयकी प्रतीति नहीं हो सकती। अतः अज्ञानकारोंको समझानेके लिए व्यवहारका उपदेश दिया जाता है और व्यवहारके द्वारा निश्चयकी प्रतीति करायी जाती है। जबतक जीव सरागी रहता है तबतक वह व्यवहारी रहता है, ज्यों-ज्यों उसका राग घटता जाता है त्यों-त्यों वह व्यवहारसे निश्चयकी ओर आता जाता है और ज्यों-ज्यों वह निश्चयकी ओर आता-जाता है त्यों-त्यों उसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र व्यवहारसे निश्चयका रूप लेते जाते हैं। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि चौथे आदि गुणस्थानोंमें जो सम्यक्त्व होता है उसमें आत्मविनिश्चिति, आत्मबोध और आत्मस्थिति कतई रहती ही नहीं, यदि ऐसा हो तो उसे सम्यक्त्व ही नहीं कहा जायेगा। दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय जैसी प्रकृतियोंका उपशम क्षयोपशम अथवा क्षय हो जाना मामूली बात नहीं है और उनके हो जानेसे जीवकी परिणतिमें आमूल-चूल परिवर्तन हो जाता है, उसीके कारण

अथोऽज्ञानं रुचिर्मोहाद्देहोद्भूतं च नास्ति यत्।
आत्मन्यस्मिन्निःशरीभूते तस्मादात्मैव तत्त्रयम् ॥२५५॥

इस आत्माके मुक्त हो जानेपर न तो इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है, न मोहसे अन्य रुचि होती है और न शारीरिक आचरण होता है। अतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों आत्म-स्वरूप ही हैं ॥२५५॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षके मार्ग हैं। किन्तु मोहके रहते हुए सच्चा श्रद्धान नहीं हो सकता, क्योंकि मोहके वशीभूत होकर प्राणी अपने हित-अहितको नहीं समझ पाता। जिससे उसे अपनी वासनाकी पूर्ति होती हुई दिखाई देती है उसे ही अपने सुखका साधन समझ बैठता है और जब उसीसे उसकी वासनाकी पूर्ति होती हुई नहीं दिखाई देती तब उसे ही दुःखका कारण मान बैठता है। इस तरह मोहके रहते हुए कभी वह सच्चे सुख और उसके साधनोंकी ओर दृष्टि ही नहीं देता। अतः मोहसे मिथ्याश्रद्धान ही होता है, सम्यक्श्रद्धान नहीं। सम्यक्श्रद्धान तो आत्माका गुण है और वह मोहके अभावमें ही प्रकट होता है तथा ज्ञान भी आत्माका ही गुण है, इन्द्रियोंका नहीं। इन्द्रियाँ तो संसार अवस्थामें ज्ञानकी उत्पत्तिमें सहायक मात्र हैं। उनके बिना भी अतीन्द्रिय वस्तुओंका ज्ञान होता है और उनके रहते हुए भी कभी-कभी ज्ञान नहीं होता। अतः ज्ञान भी इन्द्रियोंका धर्म नहीं है। तथा चारित्र भी शरीरका धर्म नहीं है क्योंकि शरीरसे कुछ न कुछ करते रहनेका नाम चारित्र नहीं है किन्तु कर्मबन्धके कारणभूत सब क्रियाओंका निरोध करना ही सम्यक्चारित्र है। शारीरिक क्रियाएँ तो कर्मोंके आस्रवकी कारण हैं। यदि वे क्रियाएँ शुभ होती हैं तो शुभ कर्मका आस्रव होता है और यदि वे क्रियाएँ अशुभ होती हैं तो अशुभ कर्मका आस्रव होता है। इसके सिवा यदि शरीरसे अच्छी क्रिया करते हुए भी मन उस ओर न हो और किन्हीं बुरे विचारोंमें रमता हो तो शारीरिक क्रिया शुभ होनेपर भी उसका फल शुभ नहीं होता क्योंकि केवल द्रव्यसे यदि उसमें भाव न लगा हो तो कुछ भी कार्य नहीं सध सकता। अतः चारित्र शरीरका धर्म नहीं है आत्माका धर्म है शरीर तो केवल शुभाचरण रूप चारित्रमें सहायक मात्र है। और फिर जब मुक्ति आत्मस्वरूप है तो वे तीनों आत्मस्वरूप ही होने चाहिए। क्योंकि कहा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्माके सिवा अन्य द्रव्यमें नहीं रहते। अतः *रत्नत्रयमय आत्मा ही मोक्षका कारण है।* मुक्तावस्थामें इन्द्रियोंके अभावमें भी स्वाभाविक ज्ञानादिक गुण रहते हैं। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि जैन सिद्धान्तमें वस्तुका विवेचन दो दृष्टियोंसे होता है एक व्यवहार-दृष्टिसे और दूसरे निश्चय-दृष्टिसे। व्यवहार-दृष्टिको व्यवहारनय कहते हैं और निश्चय-दृष्टिको निश्चयनय कहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थके प्रारम्भमें लिखा है कि व्यवहार

---

१ आत्मनि मोक्षं प्राप्ते सति अक्षात् इन्द्रियात् ज्ञानं न भवति। २ मुक्तजीवे मोहनीय-कर्मणः रुचिः किन्तु आत्मस्वरूपेणैव रुचिर्भवति। ३ शरीराच्चारित्रं न किन्तु आत्मन्येकत्वलीनभावश्चारित्रम्। ४ दर्शन-ज्ञान-चारित्रत्रयम्।

वहिष्कार्यासमर्थेऽपि हृदि हृद्येव संस्थिते।
परं पाप परं पुण्यं परम च पदं भवेत ॥२५४॥
प्रकुर्वाणः क्रियास्तास्ता' केवलं क्लेशभाजनः।
यो न चित्तप्रचारज्ञस्तस्य मोक्षपदं कुत ॥२५५॥

बाह्य क्रिया न करते हुए भी यदि चित्त चित्तमें ही लीन रहता है तो उत्कृष्ट पाप, उत्कृष्ट पुण्य और उत्कृष्ट पद मोक्ष प्राप्त हो सकता है॥ जो केवल बाह्य क्रियाओको करनेका ही कष्ट उठाता रहता है और चित्तकी चचलताको नहीं समझता, उसे मोक्ष पद कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥ २५४--२५५ ॥

भावार्थ—कुछ लोग समझते हैं कि दूसरोको दु ख देनेसे पाप कर्मका बन्ध होता है और सुख देनेसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है। कुछ समझते है कि स्वय दुःख उठानेसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है और सुख भोगनेसे पाप कर्मका बन्ध होता है। किन्तु ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है। क्योंकि यदि किसीको अच्छे भावोंसे दु ख भी पहुँचाया जाय तो वह पाप कर्मके बन्धका कारण नहीं होता। जैसे डाक्टर रोगीको नीरोग कर देनेकी भावनासे चीरा लगाता है। रोगीको महान् कष्ट होता है वह चिल्लाता है और छटपटाता है। फिर भी डाक्टरको चीरा लगाने से पाप कर्मका बन्ध नहीं होता। तथा यदि बुरे भावोंसे किसीको सुख दिया जाये तो वह पुण्य कर्मके बन्धका कारण नहीं होता। जैसे, कोई वेश्या किसी अनाथ सुन्दरीका पालन-पोषण करके उसे सुख पहुँचाती है जिससे उसके शरीरको वेचकर वह खूब धन जमा कर सके। वह सुखदान वेश्याके पुण्य कर्मके बन्धका कारण नहीं है। इसी तरह स्वय दुख उठानेसे पुण्य कर्मका और सुख उठानेसे पाप कर्मका ही बन्ध होता है, यह भी एकान्त नियम नहीं है। क्योंकि बुरे भावोंसे दु ख उठानेपर पाप कर्मका ही बन्ध होता है और अच्छे भावोसे सुख भोगनेपर भी पुण्य कर्मका बन्ध होता है। अत जैन धर्ममें भावकी ही मुख्यता है। भावकी विशुद्धि और अविशुद्धि पर ही पुण्य और पाप कर्मका बन्ध निर्भर है केवल बाह्य क्रियाके अच्छेपन या बुरेपनपर नहीं, क्योकि एक पूजक भगवान्‌की पूजा करते समय यदि मनमें बुरे विचारोका चिन्तवन करता है तो उसकी बाह्य क्रिया शुभ होने पर भी मनकी क्रिया शुभ नहीं है इसलिए उसे पुण्य कर्मका बन्ध नहीं होता। तथा एक पिता बच्चेकी बुरी आदतें छुड़ानेके लिए उसे मारता है। यहाँ यद्यपि पिताकी बाह्य क्रिया खराब है, देखनेवाले उसे बुरा-भला कहते हैं मगर उसके चित्तमें लड़केके कल्याणकी भावना समायी हुई है। अत' जो केवल बाह्य क्रियाओंके करनेमें ही लगे रहते है और मनको उनमें लगानेका प्रयत्न नहीं करते वे कभी भी मुक्ति लाभ नहीं कर सकते। चित्तकी वृत्तियाँ बड़ी चचल होती है और उनके नियमनपर ही सब कुछ निर्भर है। जो आदमी एकान्त स्थानमें ध्यान लगाकर बैठा हुआ है, न वह किसीको दु ख देता है और न किसीको सुख, फिर भी चूँकि उसका मन योगमें न लगाकर भोगकी कल्पनामें रम रहा है अत वह बैठे-बिठाये पाप कर्मका बन्ध करता है। इसीलिए कहा है कि मन ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण है। उसके द्वारा मनुष्य चाहे तो न कुछ करते हुए भी सातवें नरकका बन्ध कर सकता है और

१ चित्ते। अशुभध्यानेन पाप स्यात्, शुभेन पुण्यम्। परमशुक्लेन पर पदम्। २ चित्तप्रसार-आ०।

पुण्यायापि भवेद् दुःखं पापायापि भवेत्सुखम् ।
स्वस्मिन्नन्यत्र वा नीतमचिन्त्यं चित्तचेष्टितम् ॥२५२॥
सुखदुःखविधातापि भवेत्पापसमाश्रयः ।
पेटीमध्यविनिक्षिप्तं वासः स्यान्मलिनं न किम् ॥२५३॥

भावार्थ—*प्रमादके योगसे प्राणोंके घात करनेको हिंसा कहते हैं। जैन धर्मके अनुसार अपनेसे किसीके प्राणोंका घात हो जाने मात्रसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी हैं, किन्तु फिर भी उसे जैन धर्म हिंसा नहीं कहता। क्योंकि हिंसा दो प्रकारसे होती है एक कषायसे यानी जान-बूझकर और दूसरे अयत्नाचार या असावधानीसे। जब एक मनुष्य क्रोध, मान, माया या लोभके वश होकर दूसरोंपर वार करता है तो वह कषायसे हिंसा कही जाती है और जब मनुष्यकी असावधानतासे किसीका घात हो जाता है या किसीको कष्ट पहुँचता है तो वह अयत्नाचारसे हिंसा कही जाती है। किन्तु यदि कोई मनुष्य देख-भालकर काम करता है और उस समय उसके चित्तमें कोई कषाय भी नहीं है फिर भी यदि उसके द्वारा किसीका वध हो जाता है तो वह हिंसक नहीं कहा जाता। जैसा कि शास्त्रकारोंने कहा है कि जो मनुष्य देख-देखके मार्गमें चल रहा है, उसके पैर उठाने पर यदि कोई जन्तु उसके पैरके नीचे आ जाये और दबकर मर जाये तो उस मनुष्यको उस जीवके मारनेका थोड़ा-सा भी पाप नहीं लगता। किन्तु यदि कोई मनुष्य असावधानतासे कार्य कर रहा है और उसके द्वारा किसी प्राणीकी हिंसा भी नहीं हो रही है तब भी वह हिंसाका भागी है। जैसा कि शास्त्रकारोंने कहा है कि 'जीव मरे या जिये, असावधानतासे काम करनेवालेको हिंसाका पाप अवश्य लगता है। किन्तु जो यत्नाचारसे कार्य कर रहा है उसे हिंसा हो जाने पर भी हिंसाका पाप नहीं लगता'। वास्तवमें हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है। द्रव्य हिंसाको तो केवल इसलिए हिंसा कहा जाता है कि उसका भावहिंसाके साथ सम्बन्ध है। इसीलिए कहा है कि 'जो प्रमादी है वह प्रथम तो अपना ही घात करता है। बादको अन्य प्राणियोंका घात हो या न हो।' अतः जो दूसरोंको कष्ट पहुँचानेका प्रयत्न करता है वह अपने परिणामोंका ही घात करनेके कारण हिंसक है अतः वह पापका भागी है। और जो सावधान और अप्रमादी है वह दूसरेका घात हो जानेपर भी हिंसक नहीं है क्योंकि उसके परिणाम पवित्र हैं। इसीसे पण्डित आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतमें लिखा है—'यदि बन्ध और मोक्ष भावोंके ऊपर निर्भर न होता तो जीवोंसे भरे हुए इस लोकमें कौन मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता।'

अपनेको या दूसरेको दुःख देनेसे पुण्य कर्मका भी बन्ध होता है और सुख देनेसे पाप कर्मोंका भी बन्ध होता है। मनकी चेष्टाएँ अचिन्त्य हैं। जो सुख और दुःखका कर्ता है वह भी पापसे लिप्त हो जाता है। ठीक ही है क्या सन्दूकमें रखा हुआ वस्त्र मैला नहीं हो जाता।

---

१ 'पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि । अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥ ९२ ॥ पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि । वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥ ९३ ॥—आप्तमीमांसा । तथा कदाचित् तपसि विशुद्धभावरहितं कदाचित् पापाय भवति तेन एकान्तं नास्ति ।

* इस भावार्थमें जो शास्त्रकारोंके मत दिये गये हैं उनके लिए सर्वार्थसिद्धि अ० ७ सू० ११ की टीका देखें।

जीवन्तु वा म्रियन्तां वा प्राणिनोऽमी स्वकर्मतः ।
[1]स्वं विशुद्धं मनो हिंसन् हिंसकः पापभाग्भवेत् ॥२५०॥
शुद्धमार्गमतोद्योगः शुद्धचेतोवचोवपु ।
शुद्धान्तरात्मसंपन्नो हिंसकोऽपि न हिंसक ॥२५१॥

राग-द्वेषसे युक्त जीव अच्छे या बुरे कामोंमें लगता है तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणादिक रूपसे उसमें प्रवेश करता है। जैनदर्शनमें पुद्गल द्रव्यकी २३ वर्गणाएँ मानी गयी है। उनमेंसे एक कार्मण वर्गणा भी है, जो समस्त ससारमें व्याप्त है। यह कार्मण वर्गणा ही जीवोंके भावोंका निमित्त पाकर कर्मरूप परिणत हो जाती है। जीव उनका कर्ता नहीं है, क्योंकि द्रव्य कर्म पौद्गलिक है, पुद्गल द्रव्यके विकार हैं। उनका कर्ता चेतन जीव कैसे हो सकता है? चेतनका कर्म चैतन्य रूप होता है और अचेतनका कर्म अचेतन रूप। यदि चेतनका कर्म भी अचेतन रूप होने लगे तो चेतन और अचेतनका भेद मिट जानेसे महान् सकर दोष उपस्थित हो। अत प्रत्येक द्रव्य स्वभावका कर्ता है, परभावका कर्ता नहीं है। जैसे जल स्वभावसे शीतल होता है, किन्तु आगपर रखनेसे उष्ण हो जाता है। यहाँपर उष्णताका कर्ता जलको नहीं कहा जा सकता। उष्णता तो अग्निका धर्म है, वह जलमें अग्निके सम्बन्धसे आयी है, अत आगन्तुक है, अग्निका सम्बन्ध अलग होते ही चली जाती है। इसी प्रकार जीवके अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर जो पुद्गल द्रव्य कर्मरूप परिणत होते है उनका कर्ता स्वय पुद्गल ही है, जीव उनका कर्ता नहीं हो सकता। जीव तो अपने भावोंका कर्ता है। जैसे यदि कोई सुन्दर युवा पुरुष बाजारसे कार्यवश जाता हो और कोई सुन्दरी उसपर मोहित होकर उसकी अनुगामिनी बन जाये तो इसमें पुरुषका क्या कर्तृत्व है? कर्त्री तो वह स्त्री है, पुरुष उसमें केवल निमित्तमात्र है। वैसे ही जीव तो अपने रागद्वेषादि रूप भावोंका कर्ता है। किन्तु उन भावोंका निमित्त पाकर कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। तथा कर्मरूप परिणत हुए पुद्गल द्रव्य जब अपना फल देते हैं तो उनके निमित्तको पाकर जीव भी रागादि रूप परिणमन करता है। यद्यपि जीव और पौद्गलिक कर्म दोनों एक दूसरेका निमित्त पाकर परिणमन करते हैं तथापि न तो जीव पुद्गल कर्मोंके गुणोंका कर्ता है और न पुद्गल कर्म जीवके गुणोंका कर्ता है। किन्तु परस्परमें दोनों एक दूसरेका निमित्त पाकर परिणमन करते है। अत आत्मा अपने भावोंका ही कर्ता है [इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि जब जीव अपने-अपने कर्मके उदयसे जीते और मरते है तो जो मारनेमें निमित्त होता है उसे हिंसाका पाप क्यों लगता है, अत इसका समाधान करते हैं]

ये प्राणी अपने कर्मके उदयसे जीवें या मरें, किन्तु अपने विशुद्ध मनकी हिंसा करने वाला हिंसक है और इसलिए वह पापका भागी है। जो शुद्ध मार्गमें प्रयत्नशील है, जिसका मन, वचन और शरीर शुद्ध है, तथा जिसकी अन्तरात्मा भी शुद्ध है वह हिंसा करके भी हिंसक नहीं है ॥ २५०-२५१ ॥

---

१ 'मरदु व जीवदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥'
२ अशुद्ध मन कुर्वन् पुनान् हिंसको भवति। 'स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्। पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात् स्याद्वा न वा वध' ॥—सर्वार्थसिद्धि ७-१३ में उद्धृत।

आत्मा कर्म न कर्मात्मा तयोर्येन महदन्तरम्[१]।
तदात्मैव तदा सत्ता चात्मा व्योमेव केवलम् ॥२४६॥
क्लेशाय कारणं कर्म विशुद्धे स्वयमात्मनि।
नोष्णमम्बु स्वतः किन्तु[२] तदौष्ण्यं वह्निसंश्रयम् ॥२४७॥
आत्मा कर्ता स्वपर्याये कर्म कर्तृ स्वपर्यये।
मिथो न जातु कर्तृत्वमपरत्रोपचारतः ॥२४८॥
स्वतः सर्वं स्वभावेषु सक्रियं सचराचरम्।
निमित्तमात्रमन्यत्र योगतेरिव सारिणि ॥२४९॥

उसके प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती है अनेक प्रकृतियोंका बन्ध रुक जाता है और अनेकोंके स्थिति अनुभागका ह्रास या क्षय हो जाता है। तभी तो प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनके साथ साथ स्वरूपाचरण चारित्र भी बतलाया है क्योंकि शुद्धात्मानुभवका अविनाभावी है। और शुद्धात्मानुभव सम्यग्दर्शनके बिना नहीं होता। अतः भेद-दृष्टिके कारण जो सम्यग्दर्शन व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है उसमें भी आत्मविनिश्चिति, आत्मानुभव और आत्मस्थिति रहती ही है। किन्तु चारित्रमोहनीय आदिके कारण उनमें स्थिरता न आ सकनेसे ये तीनों एक आत्मरूप नहीं हो पाते।

[अब आत्मा और कर्मका सम्बन्ध कैसा है यह स्पष्ट करते हैं—]

न आत्मा कर्म है और न कर्म आत्मा है; क्योंकि दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर है। अतः मुक्तावस्थामें केवल आत्मा ही रहता है और वह शुद्ध आकाशकी तरह है ॥२४६॥

आत्मा स्वयं विशुद्ध है और कर्म उसके क्लेशका कारण है। जैसे जल स्वयं गरम नहीं होता; किन्तु आगके सम्बन्धसे उसमें गरमी आ जाती है ॥२४७॥

आत्मा अपनी पर्यायका कर्ता है और कर्म अपनी पर्यायका कर्ता है। उपचारके सिवा दोनों परस्परमें एक दूसरेके कर्ता नहीं हैं। अर्थात् उपचारसे आत्माको कर्मका और कर्मको आत्माका कर्ता कहा जाता है परन्तु वास्तवमें दोनों अपनी-अपनी पर्यायोंके ही कर्ता हैं। समस्त चराचर विश्व स्वयं अपने स्वभावका कर्ता है दूसरे तो उसमें निमित्त मात्र हैं। जैसे जलमें स्वयं बहनेकी शक्ति है, किन्तु नाली उसके बहनेमें निमित्त मात्र है ॥२४८–२४९॥

भावार्थ—आत्मा और कर्म ये दोनों दो स्वतन्त्र पदार्थ हैं। आत्मा चेतन है और कर्म जड़ है। अतः न चेतन जड़ हो सकता है और न जड़ चेतन हो सकता है। किन्तु दोनों पदार्थोंमें एक वैभाविकी नामकी शक्ति है। इस वैभाविकी शक्तिके कारण परका निमित्त मिलनेपर वस्तुका विभावरूप परिणमन होता है। इसीसे अनादि कालसे जीव कर्मोंसे बँधा हुआ है। अब

---

१ आत्मकर्मणोः। २ महान् भेदः। ३ तस्मात्कारणात्। 'तदात्मैव'–अ ज। ४ चात्मातीव अ ज। अथ इदानीं चेतनमात्मा जमेव (?) अंगीकृत्य अप्पामि एव निश्चयेन। ५. किन्त्वौष्ण्यं–आ। ६ परस्परकात्मकर्मणो: कर्तृत्वं न कथाचाद् व्यवहारात् अन्यत्र परस्परं कर्तृत्वं भवति न च निश्चयात्। 'आत्मभावान् करोत्यात्मा परभावान् सदा परः। आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥५६॥ –समयसार पृ० १४१। ७ जलप्रवाहस्य।

बहिष्कार्यासमर्थेऽपि हृदि हृद्येव संस्थिते ।
परं पाप परं पुण्य परम च पदं भवेत् ॥२५४॥
प्रकुर्वाण. क्रियास्तास्ताः केवलं क्लेशभाजनः ।
यो न चित्त[2]प्रचारज्ञस्तस्य मोक्षपदं कुत ॥२५५॥

बाह्य क्रिया न करते हुए भी यदि चित्त चित्तमें ही लीन रहता है तो उत्कृष्ट पाप, उत्कृष्ट पुण्य और उत्कृष्ट पद मोक्ष प्राप्त हो सकता है ॥ जो केवल बाह्य क्रियाओंको करनेका ही कष्ट उठाता रहता है और चित्तकी चचलताको नहीं समझता, उसे मोक्ष पद कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥ २५४--२५५ ॥

भावार्थ—कुछ लोग समझते है कि दूसरोंको दु ख देनेसे पाप कर्मका बन्ध होता है और सुख देनेसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है। कुछ समझते है कि स्वय दु ख उठानेसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है और सुख भोगनेसे पाप कर्मका बन्ध होता है। किन्तु ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है। क्योंकि यदि किसीको अच्छे भावोंसे दु ख भी पहुँचाया जाय तो वह पाप कर्मके बन्धका कारण नहीं होता। जैसे डाक्टर रोगीको नीरोग कर देनेकी भावनासे चीरा लगाता है। रोगीको महान् कष्ट होता है वह चिल्लाता है और छटपटाता है। फिर भी डाक्टरको चीरा लगाने से पाप कर्मका बन्ध नहीं होता। तथा यदि बुरे भावोंसे किसीको सुख दिया जाये तो वह पुण्य कर्मके बन्धका कारण नहीं होता। जैसे, कोई वेश्या किसी अनाथ सुन्दरीका पालन-पोषण करके उसे सुख पहुँचाती है जिससे उसके शरीरको बेचकर वह खूब धन जमा कर सके। वह सुखदान वेश्याके पुण्य कर्मके बन्धका कारण नहीं है। इसी तरह स्वय दुख उठानेसे पुण्य कर्मका और सुख उठानेसे पाप कर्मका ही बन्ध होता है, यह भी एकान्त नियम नहीं है। क्योंकि बुरे भावोंसे दु ख उठानेपर पाप कर्मका ही बन्ध होता है और अच्छे भावोसे सुख भोगनेपर भी पुण्य कर्मका बन्ध होता है। अत· जैन धर्ममें भावकी ही मुख्यता है। भावकी विशुद्धि और अविशुद्धि पर ही पुण्य और पाप कर्मका बन्ध निर्भर है केवल बाह्य क्रियाके अच्छेपन या बुरेपनपर नहीं, क्योंकि एक पूजक भगवान्की पूजा करते समय यदि मनमें बुरे विचारोंका चिन्तवन करता है तो उसकी,बाह्य क्रिया शुभ होने पर भी मनकी क्रिया शुभ नहीं है इसलिए उसे पुण्य कर्मका बन्ध नहीं होता। तथा एक पिता बच्चेकी बुरी आदतें छुड़ानेके लिए उसे मारता है। यहाँ यद्यपि पिताकी बाह्य क्रिया खराब है, देखनेवाले उसे बुरा-भला कहते हैं मगर उसके चित्तमें लड़केके कल्याणकी भावना समायी हुई है। अत· जो केवल बाह्य क्रियाओंके करनेमें ही लगे रहते है और मनको उनमें लगानेका प्रयत्न नहीं करते वे कभी भी मुक्ति लाभ नहीं कर सकते। चित्तकी वृत्तियाँ बड़ी चचल होती हैं और उनके नियमनपर ही सब कुछ निर्भर है। जो आदमी एकान्त स्थानमें ध्यान लगाकर बैठा हुआ है, न वह किसीको दु.ख देता है और न किसीको सुख, फिर भी चूँकि उसका मन योगमें न लगाकर भोगकी कल्पनामें रम रहा है अत वह बैठे-बिठाये पाप कर्मका बन्ध करता है। इसीलिए कहा है कि मन ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण है। उसके द्वारा मनुष्य चाहे तो न कुछ करते हुए भी सातवें नरकका बन्ध कर सकता है और

१ चित्ते। अशुभध्यानेन पाप स्यात्, शुभेन पुण्यम्। परमशुक्लेन पर पदम्। २ चित्तप्रसार-आ०।

पुण्यायापि भवेद् दुःखं पापायापि भवेत्सुखम् ।
स्वस्मिन्नन्यत्र वा नीतमचिन्त्यं चित्तचेष्टितम् ॥२५२॥
सुखदुःखविधातापि भवेत्पापसमाश्रयः ।
पेटीमध्यविनिक्षिप्त वासः स्यान्मलिनं न किम् ॥२५३॥

भावार्थ—*प्रमादके योगसे प्राणोंके घात करनेको हिंसा कहते हैं। जैन धर्मके अनुसार अपनेसे किसीके प्राणोंका घात हो जाने मात्रसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी हैं, किन्तु फिर भी उसे जैन धर्म हिंसा नहीं कहता। क्योंकि हिंसा दो प्रकारसे होती है एक कषायसे यानी जान-बूझकर और दूसरे अयत्नाचार या असावधानीसे। जब एक मनुष्य क्रोध, मान, माया या लोभके वश होकर दूसरोंपर वार करता है तो वह कषायसे हिंसा कही जाती है और जब मनुष्यकी असावधानतासे किसीका घात हो जाता है या किसीको कष्ट पहुँचता है तो वह अयत्नाचारसे हिंसा कही जाती है। किन्तु यदि कोई मनुष्य देख-भालकर कार्य करता है और उस समय उसके चित्तमें कोई कषाय भी नहीं है फिर भी यदि उसके द्वारा किसीका वध हो जाता है तो वह हिंसक नहीं कहा जाता। जैसा कि शास्त्रकारोंने कहा है कि जो मनुष्य देख-देखके मार्गमें चल रहा है, उसके पैर उठाने पर यदि कोई जन्तु उसके पैरके नीचे आ जावे और दबकर मर जावे तो उस मनुष्यको उस जीवके मारनेका थोड़ा-सा भी पाप नहीं लगता। किन्तु यदि कोई मनुष्य असावधानतासे कार्य कर रहा है और उसके द्वारा किसी प्राणीकी हिंसा भी नहीं हो रही है तब भी वह हिंसाका भागी है। जैसा कि शास्त्रकारोंने कहा है कि 'जीव मरे या जिये, असावधानतासे काम करनेवालेको हिंसाका पाप अवश्य लगता है। किन्तु जो यत्नाचारसे कार्य कर रहा है उसे हिंसा हो जाने पर भी हिंसाका पाप नहीं लगता'। वास्तवमें हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है। द्रव्य हिंसाको तो केवल इसलिए हिंसा कहा जाता है कि उसका भावहिंसाके साथ सम्बन्ध है। इसीलिए कहा है कि 'जो प्रमादी है वह प्रथम तो अपना ही घात करता है। बादको अन्य प्राणियोंका घात हो या न हो।' अतः जो दूसरोंको कष्ट पहुँचानेका प्रयत्न करता है वह अपने परिणामोंका ही घात करनेके कारण हिंसक है अतः वह पापका भागी है। और जो सावधान और अप्रमादी है वह दूसरेका घात हो जानेपर भी हिंसक नहीं है क्योंकि उसके परिणाम पवित्र हैं। इसीसे *पण्डित आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतमें लिखा है—'यदि बन्ध और मोक्ष भावकि ऊपर निर्भर न होता तो जीवोंसे भरे हुए इस लोकमें कौन मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता।'*

अपनेको या दूसरेको दुःख देनेसे पुण्य कर्मका भी बन्ध होता है और सुख देनेसे पाप कर्मका भी बन्ध होता है। मनकी चेष्टाएँ अचिन्त्य हैं। जो सुख और दुःखका कर्ता है वह भी पापसे लिप्त हो जाता है। ठीक ही है क्या सन्दूकमें रखा हुआ वस्त्र मैला नहीं हो जाता।

१ पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि। अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥ ९२ ॥ पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि। वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥ ९३ ॥—आप्तमीमांसा। तपः कदाचित् तदपि विरुद्धमाचरितं कदाचित् पापाय भवति तेन एकान्तं नास्ति।

* इस भावार्थमें जो शास्त्रकारोंके मत दिये गये हैं उनके लिए सर्वार्थसिद्धि अ० ७ सू० १३ की टीका देखें।

बहिष्कार्यासमर्थेऽपि हृदि हृद्येव संस्थिते।
परं पापं परं पुण्यं परम च पदं भवेत् ॥२५४॥
प्रकुर्वाणः क्रियास्तास्ताः केवलं क्लेशभाजनः।
यो न चित्तेप्रचारज्ञस्तस्य मोक्षपदं कुत ॥२५५॥

बाह्य क्रिया न करते हुए भी यदि चित्त चित्तमें ही लीन रहता है तो उत्कृष्ट पाप, उत्कृष्ट पुण्य और उत्कृष्ट पद मोक्ष प्राप्त हो सकता है॥ जो केवल बाह्य क्रियाओको करनेका ही कष्ट उठाता रहता है और चित्तकी चचलताको नहीं समझता, उसे मोक्ष पद कैसे प्राप्त हो सकता है? ॥ २५४--२५५ ॥

भावार्थ—कुछ लोग समझते है कि दूसरोको दु ख देनेसे पाप कर्मका बन्ध होता है और सुख देनेसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है। कुछ समझते है कि स्वय दु'ख उठानेसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है और सुख भोगनेसे पाप कर्मका बन्ध होता है। किन्तु ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है। क्योंकि यदि किसीको अच्छे भावोसे दु ख भी पहुँचाया जाय तो वह पाप कर्मके बन्धका कारण नहीं होता। जैसे डाक्टर रोगीको नीरोग कर देनेकी भावनासे चीरा लगाता है। रोगीको महान् कष्ट होता है वह चिल्लाता है और छटपटाता है। फिर भी डाक्टरको चीरा लगानेसे पाप कर्मका बन्ध नहीं होता। तथा यदि बुरे भावोसे किसीको सुख दिया जाये तो वह पुण्य कर्मके बन्धका कारण नहीं होता। जैसे, कोई वेश्या किसी अनाथ सुन्दरीका पालन-पोषण करके उसे सुख पहुँचाती है जिससे उसके शरीरको बेचकर वह खूब धन जमा कर सके। वह सुखदान वेश्याके पुण्य कर्मके बन्धका कारण नहीं है। इसी तरह स्वय दुख उठानेसे पुण्य कर्मका और सुख उठानेसे पाप कर्मका ही बन्ध होता है, यह भी एकान्त नियम नहीं है। क्योकि बुरे भावोंसे दु.ख उठानेपर पाप कर्मका ही बन्ध होता है और अच्छे भावोंसे सुख भोगनेपर भी पुण्य कर्मका बन्ध होता है। अत जैन धर्ममें भावकी ही मुख्यता है। भावकी विशुद्धि और अविशुद्धि पर ही पुण्य और पाप कर्मका बन्ध निर्भर है केवल बाह्य क्रियाके अच्छेपन या बुरेपनपर नहीं, क्योंकि एक पूजक भगवान्की पूजा करते समय यदि मनमें बुरे विचारोका चिन्तवन करता है तो उसकी,बाह्य क्रिया शुभ होने पर भी मनकी क्रिया शुभ नहीं है इसलिए उसे पुण्य कर्मका बन्ध नहीं होता। तथा एक पिता बच्चेकी बुरी आदतें छुड़ानेके लिए उसे मारता है। यहाँ यद्यपि पिताकी बाह्य क्रिया खराब है, देखनेवाले उसे बुरा-भला कहते है मगर उसके चित्तमें लड़केके कल्याणकी भावना समायी हुई है। अतः जो केवल बाह्य क्रियाओंके करनेमें ही लगे रहते है और मनको उनमें लगानेका प्रयत्न नहीं करते वे कभी भी मुक्ति लाभ नहीं कर सकते। चित्तकी वृत्तियाँ बड़ी चचल होती है और उनके नियमनपर ही सब कुछ निर्भर है। जो आदमी एकान्त स्थानमें ध्यान लगाकर बैठा हुआ है, न वह किसीको दु.ख देता है और न किसीको सुख, फिर भी चूँकि उसका मन योगमें न लगकर भोगकी कल्पनामें रम रहा है अत वह बैठे-बिठाये पाप कर्मका बन्ध करता है। इसीलिए कहा है कि मन ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण है। उसके द्वारा मनुष्य चाहे तो न कुछ करते हुए भी सातवें नरकका बन्ध कर सकता है और

१ चित्ते। अशुभध्यानेन पाप स्यात्, शुभेन पुण्यम्। परमशुक्लेन पर पदम्। २ चित्तप्रसार-आ०।



यज्जानाति यथावस्थं वस्तुसर्वस्वमञ्जसा ।
तृतीयं लोचनं नृणां सम्यग्ज्ञानं तदुच्यते ॥२५६॥
यष्टिवज्जनुषान्धस्य तरस्यास्खलितचेतसः ।
प्रवृत्तिविनिवृत्त्यङ्गं हिताहितविवेचनात् ॥२५७॥
मतिर्जागर्ति दृष्टेऽर्थे दृष्टेऽदृष्टे तथागमः ।
अतो न दुर्लभं तत्त्वं यदि निर्मत्सरं मनः ॥२५८॥
यथार्थे दर्शितेऽपि स्याज्जन्तोः संतमसा मतिः ।
ज्ञानमालोकवत्तस्य वृथा रविरिपोरिव ॥२५९॥
ज्ञातुरेव स दोषोऽयं यद्बाधेऽपि वस्तुनि ।
मतिर्विपर्ययं धत्ते यथेन्दौ मन्दचक्षुषः ॥२६०॥

उसीको शुभ विचारमें लगाकर उत्कृष्ट पुण्यका बन्ध कर सकता है। तथा उसीको शुभ और अशुभ दोनोंसे हटाकर शुद्धोपयोग में लगा देनेसे मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अतः चित्तके विकल्पों को समझकर उन्हींके नियन्त्रणका प्रयत्न करते रहना चाहिए तभी बाह्य क्रियाएँ भी फलदायी हो सकती हैं।

सम्यग्ज्ञानका स्वरूप

[*अब सम्यग्ज्ञानका स्वरूप बतलाते हैं—*]

जो सब वस्तुओंको ठीक रीतिसे जैसाका-तैसा जानता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान मनुष्योंका तीसरा नेत्र है॥ जैसे जन्मसे अन्धे मनुष्यको लाठी ऊँची-नीची जगहको बतलाकर उसे चलने और रुकनेमें मदद देती है वैसे ही सम्यग्ज्ञान हित और अहितका विवेचन करके धर्मात्मा पुरुषको हितकारक कार्योंमें लगाता है और अहित करनेवाले कामोंसे रोकता है ॥२५६–२५७॥

मतिज्ञान तो इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंको ही जानता है। किन्तु शास्त्र इन्द्रियोंके विषयभूत और अतीन्द्रिय दोनों प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान कराता है। अतः यदि ज्ञाताका मन ईर्षा, द्वेष आदि दुर्भावोंसे रहित है तो उसे तत्त्वका ज्ञान होना दुर्लभ नहीं है ॥२५८॥

यदि तत्त्वके जान लेनेपर भी मनुष्यकी बुद्धि अन्धकारमें रहती है तो जैसे उल्लूके लिए प्रकाश व्यर्थ होता है वैसे ही उस मनुष्यका ज्ञान भी व्यर्थ है॥ साफ स्पष्ट वस्तुमें भी बुद्धिका विपरीत होना ज्ञाताके ही दोषको बतलाता है। जैसे चन्द्रमाके विषयमें काच कामलादि रोगसे ग्रस्त नेत्रवाले मनुष्यको विपरीत ज्ञान होता है—एकके दो चन्द्रमा दिखायी देते हैं। यह ज्ञाताकी ही खराबी है चन्द्रमाकी नहीं ॥२५९–२६०॥

भावार्थ—जो वस्तु जिस रूपमें है उसको वैसा जानना सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानका फल ही यह है कि वह हित और अहितका ज्ञान कराकर ज्ञाताको हितमें लगाये और अहितसे बचाये। किन्तु यदि कोई सम्यग्ज्ञानसे वस्तुको जानकर भी उसकी उपेक्षा करता है तो वह

१ सर्ववस्तुस्वरूपम्। २ यष्टिव। ३ मार्गमपरिहितम्। ४ मलिना। ५ ज्ञानस्यैव। 'यथार्थे दर्शितेऽपि स्यान्मन्दत्वमोहतमसो मतिः। वृथा प्रभावत् तस्य वृथा रविरिपोरिव ॥ ७४ ॥'—प्रबोधसार।
६ यथा मन्ददृष्टिः पुमान् द्वौ चन्द्रौ पश्यति।

ज्ञानमेकं पुनर्द्वेधा पञ्चधा चापि तद्भवेत्।
अन्यत्र केवलज्ञानात्तत्प्रत्येकमनेकधा ॥२६१॥

ज्ञानका दोष नहीं है किन्तु जाननेवालेका दोष है। असलमें ज्ञान दो कारणोंसे मिथ्या होता है एक बहिरङ्ग कारणसे और दूसरे अन्तरङ्ग कारणसे। आँखोंमें खराबी होने या अन्धकार होनेसे जो कुछका-कुछ दिखायी दे जाता है वह बहिरङ्ग कारणोंकी खराबी या कमीसे होता है। किन्तु बहिरंग कारणोंके ठीक होते हुए भी और वस्तुको जैसाका-तैसा जाननेपर भी अन्तरङ्गमें मिथ्यात्वका उदय होनेसे भी ज्ञाताका ज्ञान मिथ्या होता है। जैसे नशीली वस्तुओंके सेवनसे मनुष्यका मस्तिष्क विकृत हो जाता है और उसकी आँखें खुली होने तथा प्रकाश वगैरहके होनेपर भी वह कुछका-कुछ जानता है। वैसे ही मिथ्यात्वका उदय होते हुए ज्ञानी मनुष्यका चित्त भी आत्मकल्याणकी ओर न झुककर राग-रंगकी ओर ही झुकता है। जो वस्तुएँ उसे रुचती है उनसे वह राग करता है और जो वस्तुएँ उसे नहीं रुचतीं उनसे द्वेष करता है। चूँकि वह ज्ञानी है इस लिए जब वह वस्तुस्वरूपका विवेचन करने खडा होता है तो यथावत् विवेचन कर जाता है। किन्तु जब स्वयं उन वस्तुओंमें प्रवृत्ति करता है तो उसकी प्रवृत्ति राग-द्वेषके रंगमें रंगी होती है। एक ही मनुष्यका यह दो तरहका व्यवहार इस बातको सूचित करता है कि यह ज्ञानकी खराबी नहीं है, वह तो अपना काम कर चुका। उसका काम तो इतना ही है कि वस्तुका जैसाका-तैसा ज्ञान करा दे सो वह करा चुका। किन्तु ज्ञातामें जो खराबी है वह खराबी ही ज्ञानके किये-कराये पर मिट्टी फेर देती है। उसीके कारण वह जानते हुए भी नहीं जानता और देखते हुए भी नहीं देखता। अतः ज्ञान वास्तवमें तभी सम्यग्ज्ञान होता है जब ज्ञातामें-से मिथ्यात्व बुद्धि दूर हो जाये। जैसे नशेके दूर होते ही मनुष्यकी इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं और वह हल्कापन तथा जागरूकताका अनुभव करता है। वैसे ही मिथ्यात्वका नशा दूर होते ही मनुष्यका वही ज्ञान कुछका-कुछ हो जाता है और तब वह वस्तुके यथावत् स्वरूपका अनुभव करता है वही अनुभव सम्यग्ज्ञान है।

ज्ञानके भेद

सामान्यसे ज्ञान एक है। प्रत्यक्ष परोक्षके भेदसे वह दो प्रकारका है। तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय और केवलज्ञानके भेदसे पाँच प्रकारका है। केवलज्ञानके सिवा अन्य चार ज्ञानोंमें-से प्रत्येकके अनेक भेद हैं ॥२६१॥

भावार्थ—जो जाने उसे ज्ञान कहते है। इस अपेक्षासे सभी ज्ञान एक है क्योंकि सभी जानते हैं। किन्तु यह जानना भी अपने-अपने कारणोंकी अपेक्षासे तथा विषयकी स्पष्टता या अस्पष्टताकी अपेक्षासे अनेक प्रकारका हो जाता है। जो ज्ञान इन्द्रिय वगैरहकी सहायताके बिना केवल आत्मासे ही होता है उसे प्रत्यक्ष कहते है। ऐसे ज्ञान तीन है—अवधि, मनःपर्यय और केवल। तथा जो ज्ञान इन्द्रिय, मन वगैरहकी सहायतासे होता है उसे परोक्ष कहते हैं। ऐसे ज्ञान दो हैं—मति और श्रुत। जो ज्ञान पाँच इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है। मति ज्ञानके भी चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अवग्रहके दो भेद है—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। प्राप्त अर्थके प्रथम ग्रहणको व्यंजनावग्रह और प्राप्त तथा अप्राप्त अर्थके प्रथम

ग्रहणको अर्थावग्रह कहते हैं। जो पदार्थ इन्द्रियोंसे सम्बद्ध होकर जाना जाता है वह प्राप्त अर्थ है और जो पदार्थ इन्द्रियोंसे सम्बद्ध न होकर जाना जाता है वह अप्राप्त अर्थ है। चक्षु और मन अप्राप्त अर्थको ही जानते हैं। शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकारके पदार्थोंको जानती हैं। प्राप्त अर्थमें व्यंजनावग्रहके बाद अर्थावग्रह होता है और अप्राप्त अर्थमें व्यंजनावग्रह न होकर अर्थावग्रह ही होता है। इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध होते ही जो अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। और व्यञ्जनावग्रहके बाद जो स्पष्ट ज्ञान होता है कि 'यह शब्द है' उसे अर्थावग्रह कहते हैं। जैसे मिट्टीके कोरे सकोरेपर जलके दो-चार छींटे देनेसे वह गीला नहीं होता किन्तु बार-बार बूँद टपकाते रहनेसे धीरे धीरे वह गीला हो जाता है। वैसे ही शब्द भी कानमें एक बार आनेसे ही स्पष्ट नहीं हो जाता किन्तु धीरे-धीरे स्पष्ट होता है। अतः अर्थावग्रह से पहले व्यञ्जनावग्रह होता है। अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थमें विशेष जाननेकी इच्छा रूप ज्ञानको ईहा कहते हैं। जैसे शब्द सुननेपर यह जाननेकी इच्छा होती है कि यह शब्द किसका है? निश्चयात्मक ज्ञानको अवाय कहते हैं। जैसे यह शब्द अमुक पक्षीका है। और कालान्तरमें न भूलनेका कारण जो संस्काररूप ज्ञान होता है उसे धारणा कहते हैं। जिसके कारण कुछ कालके बाद भी यह स्मरण होता है कि मैंने अमुक पक्षीका शब्द सुना था। इस प्रकार चूँकि व्यञ्जनावग्रह केवल चार इन्द्रियोंसे ही होता है इस लिए उसके चार भेद हैं। तथा अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा पाँचों इन्द्रियों और मनसे होते हैं। इस लिए उनके चौबीस भेद हुए। ये सब मिलाकर मतिज्ञानके अट्ठाईस भेद होते हैं। तथा ये अट्ठाईस मतिज्ञान बहु आदि बारह प्रकारके पदार्थोंके होते हैं। इसलिए मतिज्ञानके तीन-सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं। मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थका अवलम्बन लेकर जो विशेष ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। उसके दो भेद हैं—अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। श्रोत्रेन्द्रियके सिवा शेष चार इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है उसे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं और श्रोत्रेन्द्रियजन्य मति ज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। इन श्रुतज्ञानोंके क्षयोपशमकी अपेक्षा बीस भेद और हैं। तथा ग्रन्थकी अपेक्षा श्रुतज्ञानके दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। तीर्थङ्कर भगवान्‌की दिव्यध्वनिको सुनकर गणधरदेव उसका अवधारण करके जो आचाराङ्ग आदि बारह अंग रचते हैं वे अंगप्रविष्ट कहे जाते हैं। और काल दोषसे मनुष्योंकी आयु तथा बुद्धि कम होती हुई देखकर आचार्य वगैरह जो ग्रन्थ रचते हैं उन्हें अंगबाह्य कहते हैं। इस तरह ग्रन्थात्मक श्रुतके बारह और चौदह भेद हैं। द्रव्य, क्षेत्र काल और भावकी मर्यादा लेकर मूर्तिक पदार्थको प्रत्यक्ष जाननेवाले ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। यद्यपि दोनों ही प्रकारके अवधिज्ञान अवधि ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके होनेपर ही होते हैं। फिर भी जो क्षयोपशम भवके निमित्तसे होता है उससे होने वाले अवधिज्ञानको भवप्रत्यय कहते हैं और जो क्षयोपशम सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके निमित्तसे होता है उससे होनेवाले अवधिज्ञानको गुणप्रत्यय कहते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होता है। विषय आदिकी अपेक्षासे अवधिज्ञानके देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद किये जाते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि रूप ही होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तीनों रूप होता है। उत्कृष्ट

अधर्मकर्मनिर्मुक्तिर्धर्मकर्मविनिर्मितिः[1] ।
चारित्रं[2] तच्च सागारानगारयतिसंश्रयम् ॥२६२॥
देशतः प्रथमं तत्स्यात्सर्वतस्तु द्वितीयकम् ।
चारित्रं चारुचारित्रविचारोचितचेतसाम् ॥२६३॥
देशतः[3] सर्वतो वापि नरो न लभते व्रतम् ।
स्वर्गापवर्गयोर्यस्य नास्त्यन्यतरयोग्यता ॥२६४॥
तुण्डकण्डूहरं[4] शास्त्रं सम्यक्त्वविधुरे[5] नरे ।
ज्ञानहीने तु चारित्रं दुर्भगाभरणोपमम् ॥२६५॥

देशावधि परमावधि और सर्वावधि,संयमी मनुष्यके ही होते है । मति श्रुत और अवधि विपरीत भी होते है और उन्हें कुमति, कुश्रुत और कुअवधि,या विभङ्ग कहते है । अपने या दूसरोंके मनमें स्थित अर्थको जो विना किसी अन्यकी सहायताके प्रत्यक्ष जानता है उसे मन.पर्यय ज्ञान कहते है । यह ज्ञान सयमी पुरुषोंके ही होता है । उसके दो भेद है—ऋजुमति और विपुलमति । जो सरल मनके द्वारा विचारे गये, सरल वचनके द्वारा कहे गये और सरल कायके द्वारा किये गये मनोगत अर्थको जानता है उसे ऋजुमति मन·पर्यय कहते है । जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा ही चिन्तवन करना, वैसा ही कहना और वैसा ही करना, सरल मन, सरल वचन और सरल काय है । सरल मन,वचन कायके द्वारा अथवा कुटिल मन वचन कायके द्वारा विचारे गये, कहे गये या किये गये मनोगत अर्थको जो प्रत्यक्ष जानता है उसे विपुल मति मन पर्यय ज्ञान कहते है । जो बिना किसी अन्यकी सहायताके आत्मासे ही सचराचर विश्वको एक साथ प्रत्यक्ष जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं । यह केवलज्ञान अर्हन्त अवस्थाके.साथ ही प्रकट होता है । इसका कोई भेद नहीं है, क्योंकि यह ज्ञान पूर्ण है ।

सम्यक्चारित्रका स्वरूप तथा भेद

बुरे कामोंसे बचना और अच्छे कामोंमें लगना चारित्र है । वह चारित्र गृहस्थ और मुनि के भेदसे दो प्रकारका है । गृहस्थोंका चारित्र देशचारित्र कहा जाता है और मुनियोंका चारित्र सकल चारित्र कहा जाता है । जिनके चित्त सद्विचारोंसे युक्त हैं वे ही चारित्रका पालन कर सकते है । जिस मनुष्यमें स्वर्ग और मोक्षमें-से किसीको भी प्राप्त कर सकनेकी योग्यता नहीं है वह न तो देशचारित्र ही पाल सकता है और न सकलचारित्र ही पाल सकता है । जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे रहित है उसका शास्त्र वाचन मुखकी खाज मिटानेका एक साधनमात्र है । और जो मनुष्य ज्ञानसे रहित है उसका चारित्र धारण करना अभागे मनुष्यके आभूषण धारण करनेके समान है ॥२६२–२६५॥

भावार्थ—बिना सम्यग्दर्शनके शास्त्राभ्यास—ज्ञानार्जन व्यर्थ है और बिना ज्ञानके चारित्रका पालन करना व्यर्थ है ।

---

१ 'असुहादो विणिवित्ति सुहे पवत्ती य जाण चारित्त' ।—द्रव्यसग्रह । २ सकल विकल चरण तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम् । अनगाराणा विकल सागाराणा ससङ्गानाम् ॥ ५० ॥—'रत्नकरण्ड श्रा० । ३ स्वर्गमोक्षयोर्मध्ये यस्य जीवस्य एकस्यापि योग्यता न भवति, तस्य अणुव्रत महाव्रत च न भवति । 'अणुवय-महव्वयाइं न लहइ देवाउअ मोत्तु ॥ २०१ ॥—पञ्चसग्रह पृ० ४२ । ४ मुखखर्जन । ५ रहिते ।

ग्रहणको अर्थावग्रह कहते हैं। जो पदार्थ इन्द्रियोंसे सम्बद्ध होकर जाना जाता है वह प्राप्त अर्थ है और जो पदार्थ इन्द्रियोंसे सम्बद्ध न होकर जाना जाता है वह अप्राप्त अर्थ है। चक्षु और मन अप्राप्त अर्थको ही जानते हैं। शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकारके पदार्थोंको जानती हैं। प्राप्त अर्थमें व्यंजनावग्रहके बाद अर्थावग्रह होता है और अप्राप्त अर्थमें व्यंजनावग्रह न होकर अर्थावग्रह ही होता है। इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध होते ही जो अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे व्यंजनावग्रह कहते हैं। और व्यंजनावग्रहके बाद जो स्पष्ट ज्ञान होता है कि 'यह शब्द है' उसे अर्थावग्रह कहते हैं। जैसे मिट्टीके कोरे सकोरेपर जलकी दो चार छींटे देनेसे वह गीला नहीं होता किन्तु बार-बार बूँद टपकाते रहनेसे धीरे-धीरे वह गीला हो जाता है। वैसे ही शब्द भी कानमें एक बार आनेसे ही स्पष्ट नहीं हो जाता किन्तु धीरे-धीरे स्पष्ट होता है। अतः अर्थावग्रह से पहले व्यंजनावग्रह होता है। अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थमें विशेष जाननेकी इच्छा रूप ज्ञानको ईहा कहते हैं। जैसे शब्द सुननेपर यह जाननेकी इच्छा होती है कि यह शब्द किसका है? निर्णयात्मक ज्ञानको अवाय कहते हैं। जैसे यह शब्द अमुक पक्षीका है। और कालान्तरमें न भूलनेका कारण जो संस्काररूप ज्ञान होता है उसे धारणा कहते हैं। जिसके कारण कुछ कालके बाद भी यह स्मरण होता है कि मैंने अमुक पक्षीका शब्द सुना था। इस प्रकार चूँकि व्यंजनावग्रह केवल चार इन्द्रियोंसे ही होता है इस लिए उसके चार भेद हैं। तथा अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा पाँचों इन्द्रियों और मनसे होते हैं। इस लिए उनके चौबीस भेद हुए। ये सब मिलकर मतिज्ञानके अट्ठाईस भेद होते हैं। तथा ये अट्ठाईस मतिज्ञान बहु आदि बारह प्रकारके पदार्थोंके होते हैं। इसलिए मतिज्ञानके तीन-सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं। मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थका अवलम्बन लेकर जो विशेष ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। उसके दो भेद हैं—अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। श्रोत्रेन्द्रियके सिवा शेष चार इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है उसे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं और श्रोत्रेन्द्रियजन्य मति ज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। इस श्रुतज्ञानके क्षयो-पशमकी अपेक्षा बीस भेद और हैं। तथा ग्रन्थकी अपेक्षा श्रुतज्ञानके दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। तीर्थंकर भगवान्‌की दिव्यध्वनिको सुनकर गणधरदेव उसका अवधारण करके जो आचाराङ्ग आदि बारह अंग रचते हैं वे अंगप्रविष्ट कहे जाते हैं। और काल दोषसे मनुष्योंकी आयु तथा बुद्धि कम होती हुई देखकर आचार्य वगैरह जो ग्रन्थ रचते हैं उन्हें अंगबाह्य कहते हैं। इस तरह ग्रन्थात्मक श्रुतके बारह और चौदह भेद हैं। द्रव्य, क्षेत्र काल और भावकी मर्यादा लेकर मूर्तिक पदार्थोंको प्रत्यक्ष जाननेवाले ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। यद्यपि दोनों ही प्रकारके अवधिज्ञान अवधि ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके होनेपर ही होते हैं। फिर भी जो क्षयोपशम भवके निमित्तसे होता है उससे होने वाले अवधिज्ञानको भवप्रत्यय कहते हैं और जो क्षयोपशम सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके निमित्तसे होता है उससे होनेवाले अवधिज्ञानको गुणप्रत्यय कहते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होता है। विषय आदिकी अपेक्षासे अवधिज्ञानके देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद किये जाते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि रूप ही होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तीनों रूप होता है। उत्कृष्ट

णात्। तत्र—

मद्यमांसमधुत्यागः सहोदुम्बरपञ्चकैः[1]।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥२७०॥
सर्वदोषोदयो मद्यान्महामोहकृतेर्मतः[2]।
सर्वेषां पातकानां च पुरःसरतया स्थितम् ॥२७१॥
हिताहितविमोहेन देहिनः किं न पातकम्।
कुर्युः संसारकान्तारपरिभ्रमणकारणम् ॥२७२॥
मद्येन यादवा नष्टा नष्टा द्यूतेन पाण्डवा।
इति सर्वत्र लोकेऽस्मिन्सुप्रसिद्धं कथानकम् ॥२७३॥
समुत्पद्य विपद्येह[3] देहिनोऽनेकशः[4] किल।
मद्यीभवन्ति[5] कालेन मनोमोहाय देहिनाम् ॥२७४॥

मूल गुण और उत्तर गुणके भेदसे दो प्रकारके होते है।

अष्ट मूल गुण

आगममें पाँच उदुम्बर और मद्य, मांस तथा मधुका त्याग ये आठ मूल गुण गृहस्थोंके बतलाये है ॥२७०॥

शराबकी बुराइयाँ

मद्य अर्थात् शराब महा मोहको करनेवाला है। सब बुराइयोंका मूल है और सब पापों का अगुआ है ॥२७१॥ इसके पीनेसे मनुष्यको हित और अहितका ज्ञान नहीं रहता। और हित-अहितका ज्ञान न रहनेसे प्राणी संसाररूपी जंगलमें भटकानेवाला कौन पाप नहीं करते? ॥२७२॥

सब लोकमें यह कथा प्रसिद्ध है कि शराब पीनेके कारण यादव बरबाद हो गये और जुआ खेलनेके कारण पाण्डव बरबाद हो गये ॥२७३॥ जन्तु अनेक बार जन्म-मरण करके कालके द्वारा प्राणियोंका मन मोहित करनेके लिए मद्यका रूप धारण करते है ॥२७४॥ मद्यकी एक बूँदमें

---

१ त्यागा सहोदुम्बरपञ्चक, अ० ज० मु०। त्यागैः सहोदुम्बरपञ्चकैः—सागारधर्मामृत पृ० ४०
'मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥ —रत्नकरण्ड०।
हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥ —महापुराण (?)
मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥ —पुरुषार्थसि०।
मद्यमांसमधुरात्रिभोजनं क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम् ॥१॥—अमित० श्रावका०।
त्याज्यं मांसं च मद्यञ्च मधूदुम्बरपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः ॥२३॥ —पद्म० पञ्चविं०, पृ० १९६।
२—मते—अ० ज० मु०। ३ मृत्वा। ४ बहुवारम्। ५ मद्ये भवन्ति—सागारधर्मा० पृ० ४२।

सम्यक्त्वात्सुगतिः प्रोक्ता ज्ञानात्कीर्तिरुदाहृता ।
वृत्तात्पूजामवाप्नोति त्रयाच्च लभते शिवम् ॥२६६॥
रुचिस्तत्त्वेषु सम्यक्त्वं ज्ञानं तत्त्वनिरूपणम् ।
औदासीन्यं परं प्राहुर्वृत्तं सर्वक्रियोज्झितम् ॥२६७॥
वृत्तमग्निरुपायो धीः सम्यक्त्वं च रसौषधिः ।
साधुसिद्धो भवेदेव तथात्मा सपारदः[1] ॥२६८॥
सम्यक्त्वस्याश्रयश्चित्तमभ्यासो मतिसम्पदः ।
चारित्रस्य शरीरं स्याद्वित्तं दानादिकर्मणः ॥२६९॥

इत्युपासकाध्ययने रत्नत्रयस्वरूपनिरूपणो नामैकविंशतितमः कल्पः ।

पुनर्गुणमणिकटक वैकटकर्मेव माणिक्यस्य, सुधाविधानमिव प्रासादस्य, पुरुषकारानुष्ठानमिव दैवसम्पदः, पराक्रमावलम्बनमिव नीतिमार्गस्य, विशेषवैदग्ध्यमिव सेव्यत्वस्य, व्रतं हि खलु सम्यक्त्वरत्नस्योपबृंहकमाहुः । तत्र देशयतीनां द्विविधं मूलोत्तरगुणाश्रयं

सम्यग्दर्शनसे अच्छी गति मिलती है। सम्यग्ज्ञानसे संसारमें यश फैलता है। सम्यक्चारित्रसे सम्मान प्राप्त होता है और तीनोंसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥२६६॥

तत्त्वोंमें रुचिका होना सम्यग्दर्शन है। तत्त्वोंका कथन कर सकना सम्यग्ज्ञान है और समस्त क्रियाओंको छोड़कर अत्यन्त उदासीन हो जाना सम्यक्चारित्र है ॥२६७॥

चारित्र अग्नि है, सम्यग्ज्ञान उपाय है और सम्यग्दर्शन परिपूर्ण औषधियोंके तुल्य है। इन सबके मिलनेपर आत्मारूपी पारदधातु अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है ॥२६८॥

भावार्थ—पारेको सिद्ध करनेके लिए रसायनशास्त्री उसमें अनेक औषधियोंके रसोंकी भावना दे-देकर आगपर तपाते हैं तब पारा सिद्ध हो जाता है वैसे ही आत्मारूपी पारदको सिद्ध करनेके लिए चारित्ररूपी अग्नि, सम्यग्ज्ञानरूपी उपाय और सम्यग्दर्शनरूपी औषधियाँ आवश्यक हैं। उनके मिलनेपर आत्मा सिद्ध अर्थात् मुक्त हो जाता है।

सम्यग्दर्शनका आश्रय चित्त है। सम्यग्ज्ञानका आश्रय अभ्यास है। सम्यक्चारित्रका आश्रय शरीर है और दान वगैरहका आश्रय धन है ॥२६९॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें रत्नत्रयका स्वरूप बतलानेवाला इक्कीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

जैसे चूनाकी पुताईसे मकान, पौरुष करनेसे दैव, पराक्रमसे नीति और विशेषज्ञतासे सेव्यपना चमक उठता है वैसे ही व्रत भी सम्यक्त्वरूपी रत्नको चमका देता है। गृहस्थोंके व्रत

१ वृत्तं वह्निरुपायो धीर्दर्शनं परमौषधि । साधुसिद्धो भवेदेव तस्मादात्मा सपारदः ॥ दर्शनस्याश्रय-श्चित्तमभ्यासो मतिसम्पदः । वृत्तस्य शरीरं स्याद्वित्तं दानादिसिद्धये ॥—प्रबोधसार [illegible] । २ अत्र यतीनामष्टमूलगुणानां [illegible] षष्ठ आश्वास समाप्तो यथा— इति सकलतार्किक[illegible] श्रीमन्नेमिदेव भगवत शिष्येण [illegible] श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलका[illegible] नाम षष्ठ आश्वासः । ३ [illegible] रत्नाश्रिता । ४ [illegible] । ५ [illegible] । ६ [illegible] । ७ [illegible] (?) । ८, व्रतम् ।

णात्। तत्र—

मद्यमांसमधुत्यागः सहोदुम्बरपञ्चकैः[1] ।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणा श्रुते ॥२७०॥
सर्वदोषोदयो मद्यान्महामोहकृतेर्मतः[2] ।
सर्वेषां पातकानां च पुरःसरतया स्थितम् ॥२७१॥
हिताहितविमोहेन देहिनः किं न पातकम् ।
कुर्युः संसारकान्तारपरिभ्रमणकारणम् ॥२७२॥
मद्येन यादवा नष्टा नष्टा द्यूतेन पाण्डवाः ।
इति सर्वत्र लोकेऽस्मिन्सुप्रसिद्धं कथानकम् ॥२७३॥
समुत्पद्य विपद्येह देहिनोऽनेकशः किल ।
मद्यीभवन्ति कालेन मनोमोहाय देहिनाम् ॥२७४॥

मूल गुण और उत्तर गुणके भेदसे दो प्रकारके होते हैं।

अष्ट मूल गुण

आगममें पाँच उदुम्बर और मद्य, मांस तथा मधुका त्याग ये आठ मूल गुण गृहस्थोंके बतलाये हैं ॥२७०॥

शराबकी बुराइयाँ

मद्य अर्थात् शराब महा मोहको करनेवाला है। सब बुराइयोंका मूल है और सब पापोंका अगुआ है ॥२७१॥ इसके पीनेसे मनुष्यको हित और अहितका ज्ञान नहीं रहता। और हित-अहितका ज्ञान न रहनेसे प्राणी संसाररूपी जंगलमें भटकानेवाला कौन पाप नहीं करते ? ॥२७२॥ सब लोकमें यह कथा प्रसिद्ध है कि शराब पीनेके कारण यादव बरबाद हो गये और जुआ खेलनेके कारण पाण्डव बरबाद हो गये ॥२७३॥ जन्तु अनेक बार जन्म-मरण करके कालके द्वारा प्राणियोंका मन मोहित करनेके लिए मद्यका रूप धारण करते है ॥२७४॥ मद्यकी एक बूँदमें

---

१ त्यागा सहोदुम्बरपञ्चक, अ० ज० मु०। त्यागैः सहोदुम्बरपञ्चकैः—सागारधर्मामृत पृ० ४०
'मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥ —रत्नकरण्ड०।
हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥ —महापुराण (?)
मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥ —पुरुषार्थसि०।
मद्यमांसमधुरात्रिभोजनं क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम् ॥१॥—अमित० श्रावका०।
त्याज्यं मांसं च मद्यञ्च मधूदुम्बरपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ताः गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः ॥२३॥ —पद्म० पञ्चविं०, पृ० १९६।
२ —मंते—अ० ज० मु०। ३ मृत्वा। ४ बहुवारम्। ५ मद्ये भवन्ति— सागारधर्मा० पृ० ४२।

मद्यैकबिन्दुसंपन्नाः प्राणिनः प्रचरन्ति चेत्।
पूरयेयुर्न संदेहं समस्तमपि विष्टपम्॥२७५॥
[1]मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाच्च दुर्गतेः।
मद्यं सद्भिः सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत्॥२७६॥

श्रूयतामत्र मद्यप्रवृत्तिदोषस्योपाख्यानम्—चतुर्वेदाभ्यासोर्वगर्वोर्वीचलनैकवृत्तीभूतादि-त्यम्बपगभरैकचक्रात्पुरादेकपान्नाम परिव्राजको जाह्नवीजलेषु मज्जनाय मजस्विसन्ध्यापा-पर्वतपापप्रातिकूल्यमवाप्यगन्धसिन्धुरोद्धुरविषाणविदार्यमाणमेदिनीहृदये विन्ध्याटवीविषये मकरन्दमीदयौवनासवास्वादपुनरुक्तकादम्बरीपानप्रसक्तासरासविलासमहिलाभिर्मोहिताभिः सह [2]पलोपदंशयस्य कश्यमासेव्यमानस्य महतो मातङ्गसमूहस्य मध्ये निपतितः सन् सीधुसं-बन्धविधुरधीसङ्गैर्मातङ्गैरुपलभ्य असौ किलैवमुक्तः—'त्वया मद्यमांसमहिलासु मध्येऽन्यत-मसमाणमः कर्तव्यः, अन्यथा जीवन्न पश्यसि मन्दाकिनीम्' इति। सोऽप्येवमुक्ते तिलसर्ष-पमितस्यापि हि पिशितस्य प्राशने स्मृतिषु महापातकयो विपत्तयः श्रूयन्ते। मातङ्गीनां

इतने जीव रहते हैं कि यदि वे फैलें तो समस्त जगत्‌में भर जायें। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है॥२७५॥ अतः चूँकि मद्यपानसे मन हित अहितके विचारसे शून्य हो जाता है और वह दुर्गतिका कारण है, इसलिए इस लोक और परलोकमें बुराइयोंको पैदा करनेवाले मद्यका सज्जन पुरुषोंको सदाके लिए त्याग करना चाहिए॥२७६॥

६ मद्यपायी एकपात संन्यासीकी कथा

मद्यपानके दोषोंके सम्बन्धमें एक कथा है उसे सुनें—

एकपात नामका एक संन्यासी गंगास्नान करनेके लिए एकचक्र नामके नगरसे चला। मार्गमें वह विन्ध्याटवीसे गुजरा। वहाँ भीलोंका एक बड़ा भारी झुण्ड यौवन मदके साथ शराब पीकर मस्त हुई विलासिनी तरुणियोंके साथ मांस और सुराका सेवन कर रहा था। वह संन्यासी उस झुण्डमें जा फँसा। शराबके नशेमें मस्त हुए भीलोंने उसे पकड़ लिया और उससे बोले—'तुम मद्य, मांस और स्त्रीमें-से किसी एकका सेवन करना होगा, नहीं तो तू जीते जी गंगाका दर्शन नहीं कर सकता।

यह सुनकर तापसी सोचने लगा—'स्मृतियोंमें एक तिल या सरसों बराबर भी मांस खाने पर बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका आना सुना जाता है। भिल्लनीके साथ सम्बन्ध करनेपर प्रायश्चित्त

---

१ मनोमोहस्य निदानत्वाद् भवापदाम्।...दोषकृत्॥ —प्रबोधसारे उद्धृत।

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति॥६२॥
रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा सञ्जायतेऽवश्यम्॥६३॥ —पुरुषार्थसि०।

चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्यपानाद् भ्रान्ते चित्ते पापचर्यामुपैति।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढास्तस्मान्मद्यं नैव देयं न पेयम्॥ —सुभाषितरत्नभाण्डागार पृ० १४८।१

२ महत्। ३ बडवानल। ४ गज। ५ दन्त। ६ मद। ७ मांसमद्यमर्दिनम्।
८ मदम्। ९ विवशमतिबुधैः। १ मातंगैरुक्तं तत् चिन्तयति।

च मृतिनिकेतनं[1] प्रायश्चेतनम्[2]। य एवंविधा सुरां पिबति न तेन सुरा पीता भवतीति निखिलमखशिखामणौ सौत्रामणौ मदिरास्वादाभिसंधिरनुमतविधिरस्ति। यैश्च पिष्टोदकगुडधातकीप्रायैर्वस्तुकायैः सुरा संधीयते[3] तान्यपि वस्तूनि विशुद्धान्येवेति चिरं चेतसि विचार्यानार्यविद्याविधान[4] कृतमद्यपानस्तन्माहात्म्यात्समाविर्भूतमनोमहामोहः कौपीनमपहाय हारहूरव्यवहारातिलङ्घितमातङ्गिकागीतानुगतकरतालिकाविडम्बनावसरो ग्रहगृहीतशरीर इवानीतानेकविकारः पुनर्बुभुक्षाशुशुक्षिणि[6]क्षीणकुक्षिकुहरस्तरसमपि[7] भक्षितवान्। प्रादुर्भवद्दुःसहोद्रेकमदनो मातङ्गीं कामितवान्[8]।

भवति चात्र श्लोकः—

हेतुशुद्धे श्रुतेर्वाक्यात्पीतमद्य किलैकपात्।
मांसमातङ्गिकासङ्गमकरोन्मूढमानस ॥२७७॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यप्रवृत्तिदोषदर्शनो नाम द्वाविंशः कल्पः।

श्रूयतां मद्यनिवृत्तिगुणस्योपाख्यानम्—अशेषविद्यावैशारद्य[9]मदमत्तमनीषि[10]मत्तालिकुलकेलि[11]कमलनाभ्या[12] वलभ्यां पुरि[13]खात्रचरित्रशील[14]करवालः, कपाटोद्घाटनपटुर्वटु,

---

लेना पडता है जो मृत्युका घर है। किन्तु समस्त यज्ञोंके सिरमौर सौत्रामणि नामके यज्ञमें शराब पीनेकी अनुमति है, और लिखा है कि जो इस विधिसे मदिरापान करता है, उसका मदिरापान मदिरापान नहीं है। तथा पीठी, जल, गुड, धतूरा आदि जिन वस्तुओंसे शराब बनती है वे भी शुद्ध ही होती है।' ऐसा चिरकाल तक मनमें विचार कर उसने शराब पी ली। उसके पीते ही उसका मन चंचल हो उठा। नशेमें मस्त होकर उसने अपनी लगोटी खोल डाली। और शराब पीकर मत्त हुई भिल्लनियोंके गीतके साथ तालियाँ बजा-बजा कर कूदने लगा। उस समय उसकी दशा ऐसी हो गयी मानो उसके शरीरमें कोई भूत घुस गया है। उसने अनेक विकृत चेष्टाएँ कीं और फिर भूखसे पीडित होकर मास भी खा लिया। उससे उसे असह्य कामोद्रेक हुआ और उसने भिल्लनीको भी भोगा।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

"मद्यको उत्पन्न करने वाली वस्तुओंके शुद्ध होनेसे तथा वेदमें लिखा होनेसे मूढ़ एकपातने मद्य पी लिया और फिर उसने मास भी खाया और भिल्लनीको भी भोगा" ॥२७७॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें मद्यके दोष बतलानेवाला बाईसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

१० मद्यव्रती धूर्तिल नामक चोरकी कथा

अब मद्य त्यागके लाभके सम्बन्धमें कथा सुनें—

वलभी नगरीमें पाँच चोर रहते थे। उनमें-से करवाल नामका चोर मकानोंमें सेंध लगानेमें कुशल था। वटु दरवाजा खोलनेमें कुशल था। धूर्तिल महानिद्रा बुलानेमें कुशल था। शारद

---

१ मरणलक्षणमेव। २ प्रायश्चित्तम्। ३ निष्पाद्यते। ४ निधान आ०। ५ मद्यपान। ६ अग्नि। ७ मासम्। ८ सेवितवानित्यर्थ। ९. चातुर्य। १० मनीषिण एव मत्तभ्रमरा। ११ क्रीडा। १२ मध्यकोशसदृशायाम्। १३ चौरकर्म। १४ नाम।

महानिधानसंपादनकुशलो धूर्तिलः, परगोपायितद्रविणदर्शनविशारदः शारदः, करपत्रागमविलासः कुहकविलासश्चेति पञ्च मलिम्लुचाः प्रतिपन्नपरस्परप्रीतिप्रपञ्चाः स्वव्यवसायसाहसाभ्यामीश्वरशरीरार्धवासिनीं भवानीमपि मुकुन्दहृदयाश्रयविधिं श्रियमपि कात्यायनीलोचनाञ्जनमञ्जनमपि हर्तुं समर्थाः, पश्यतोहराणामपि पश्यतोहराः, कृतान्तदूतानामपि कृतान्तदूताः, कदाचिदेकस्यां निशि वेलोल्लोपं वर्षति देवे कज्जलपटलकालकायप्रतिष्ठासु सकलासु काष्ठासु विहितपुरसारापहाराः पुरबाहिरिकोपवने धनं विभजन्तस्तवेदं ममेदमिति विवदमानाः कलहमपहाय समानायितमैरेयाः पानगोष्ठीमनुतिष्ठन्तः पूर्वाहितकलहकोपोन्मेषकलुषधिषणाः यष्टायष्टि मुष्टामुष्टि च युद्धं विधाय सर्वेऽपि मम्रुरन्यत्र धूर्तिलात्।

स किल यदा[10] धर्मसम्मतमहामुनिविलोकनात्तस्मिन्नहन्येकं व्रतं गृह्णाति। तत्र च दिने तदा[12] धर्मावधानव्रतमग्रहीत्। तदनु धूर्तिलः समानशीलेषु वयस्येषु विनाशं[13] लेश्यामारमसमवमुपलभ्य[14] विरज्याजवञ्जवात्[15] पादपीठाद्युत्पाट्य[16] च मनोजकुञ्जजटाजालनिवेशमिव केशपाशं चिराय[17] (?)परत्र[18] हितनैपाय समीहांचक्रे।

छिपाये हुए धनका स्थान खोज निकालनेमें कुशल था। और कुहकविलास ठग विद्यामें निपुण था। पाँचोंमें परस्परमें बड़ी प्रीति थी। और अपने उद्यम और साहससे वे शिवके अर्धांगमें निवास करनेवाली पार्वतीको, विष्णुके हृदयमें बसनेवाली लक्ष्मीको और दुर्गाकी आँखोंमें लगे अंजनको भी चुरानेमें समर्थ थे। वे चोरोंके भी चोर थे और यमराजके दूतोंके लिए भी यमराजके दूत थे।

एक बार रातमें सब ओरसे वर्षा हो रही थी और दिशाएँ कज्जलकी तरह काली थीं, वे चोर चोरी करके नगरसे बाहर एक उद्यानमें धनका बटवारा करते थे। और यह मेरा है यह तेरा है कहकर परस्परमें झगड़ रहे थे। झगड़ा बन्द करके उन्होंने शराब मुलवायी और पीने लगे। झगड़ेके कारण उनके मनमें क्रोध तो समाया ही हुआ था, शराब पीकर वे परस्परमें मुक्का मुक्की और लट्ठम-लट्ठा करने लगे और धूर्तिलके सिवा सब मर गये। धूर्तिलके यह नियम था कि यदि उसे किसी दिन किसी महामुनिके दर्शन होते थे तो उस दिनके लिए वह एक व्रत ले लेता था। उस दिन भी उसे महामुनिके दर्शन हुए थे और उसने शराबका व्रत ले लिया था। इसी से वह बच गया।

उक्त घटनाके बाद शराबके कारण अपने साथियोंका विनाश हुआ देखकर धूर्तिल दुःखोंके मूल इस संसारसे विरक्त हो गया और कामदेवरूपी वृक्षकी जटाओंके समान बालोंका लोंच करके परलोकमें अहितको जीतनेवाले रत्नत्रयकी प्राप्तिका इच्छुक हो गया।

---

१ —वेषनिबद्धवि—ब। २ ठगविद्या। ३ चौरा। ४ वेलावेलं—आ। ५ कृष्णशरीरवीमासु। ६ दिशासु। ७ द्रव्य। ८ युद्धम्। ९. अन्येन केनचित् कृत्वा आनायितमद्या। १० मद्यपानात् पूर्वं हद—। ११ यस्मिन् दिने मुनयो मिलन्ति तद्दिने नित्यं व्रतं गृह्णाति। १२ मुनि। १३ मरणावस्थाम्। १४ दृष्ट्वा। १५ संसारात्। १६ उत्पाटनं कृत्वा। १७ चिरं दीर्घकालं पालितमानितस्य (?)। १८ परलोकपापपुञ्जगमनशीलाय।

भवति चात्र श्लोक —

एकस्मिन्वासरे मद्यनिवृत्तेर्धूर्तिलः किल ।
एतद्दोषात्सहायेषु मृतेष्वापदनापदम्[1] ॥ २७८ ॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यनिवृत्तिगुणनिदानो नाम त्रयोविंशतितम॰ कल्पः ।

स्वभावाशुचि दुर्गन्धमन्यापायं दुरास्पदम्[2] ।
सन्तोऽदन्ति[3] कथं मांस विपाके दुर्गतिप्रदम् ॥ २७९ ॥
कर्माकृत्यमपि प्राणी करोतु यदि चात्मन ।
हन्यमानविधिर्न स्यादन्यथा वा न जीवनम्[4] ॥ २८० ॥
धर्माच्छर्मभुजां धर्मे किन्तु विद्वेषकारणम् ।
प्रार्थितार्थप्रदं द्वेष्टु[5] को नामामरपादपम् ॥ २८१ ॥
अल्पात्क्लेशात्सुखं सुष्ठु सुधीश्चेत्स्वस्य वाञ्छति ।
[6]आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत् ॥ २८२ ॥
[7]स सुखं सेवमानोऽपि जन्मान्तरसुखाश्रय ।
यः परानुपघातेन सुखसेवापरायणः ॥ २८३ ॥

उक्त कथाके सम्बन्धमें एक श्लोक है, जिसका भाव इस प्रकार है—

"जब कि मद्यपानके दोषसे अन्य साथी चोर मर गये तब एक दिनके लिए शराबका त्याग कर देनेसे धूर्तिल चोर बच गया" ॥२७८॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें मद्यत्यागके गुणोंको बतलानेवाला तेईसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

मांस निषेध

मास स्वभावसे ही अपवित्र है, दुर्गन्धसे भरा है, दूसरोंकी जान ले-लेनेपर तैयार होता है, तथा कसाईके घर-जैसे दुस्थानसे प्राप्त होता है। ऐसे मासको भले आदमी कैसे खाते है? ॥२७९॥ यदि जिस पशुको मासके लिए हम मारते है, दूसरे जन्ममें वह हमें न मारे या मासके बिना जीवन ही न रह सके तो प्राणी नहीं करने योग्य पशु-हत्या भले ही करे। किन्तु ऐसी बात नहीं है। मासके बिना भी मनुष्योंका जीवन चलता ही है ॥२८०॥

धर्मसे सुख भोगनेवाले न जाने धर्मसे द्वेष क्यों करते है ? इच्छित वस्तुको देनेवाले कल्पवृक्षसे कौन द्वेष करता है ॥२८१॥ यदि बुद्धिमान् पुरुष थोडेसे कष्टसे अच्छा सुख प्राप्त करना चाहता है तो जो काम उसे स्वय बुरे लगें उन कामोंको दूसरोंके प्रति भी उसे नहीं करना चाहिए ॥२८२॥

जो दूसरोका घात न करके सुखका सेवन करता है वह इस जन्ममें भी सुख भोगता है और दूसरे जन्ममें भी सुख भोगता है ॥२८३॥ [धर्मरत्नाकरके पाठके अनुसार दूसरा अर्थ यह भी

---

१ प्राप्तवान् । २ दुस्थाने शूनाकारगृहे लभ्यम् । ३ भक्षयन्ति । ४ यथा पशुर्हत तथा पश्चाच्चेत्स पशु तस्य हिंसकस्य न हिनस्ति, अथवा चेन्मास विनाऽन्य. कोऽपि जीवनोपायो नास्ति चेदन्नफलादिक वर्तते तर्हि मास कथ भक्ष्यते । ५ को द्वेष करोतु । ६ 'श्रूयता धर्मसर्वस्व श्रुत्वा चैवावधारयेत् । आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत् ॥'—महाभारत । ७ 'य परानुपघातेन सुखसेवापरायण । स सुख सेवमानोऽपि जन्मान्तरासुखाश्रय ' ॥—धर्मरत्नाकर, पृ० ७८ ।

स पुमाननु लोकेऽस्मिन्नुत्तर्के दुःखभाजितः ।
यस्तदात्वसुखासक्तो मुह्येद्धर्मैककर्मणि ॥ २८४ ॥
स भूभारः परं प्राणी जीवन्नपि मृतश्च सः ।
यो न धर्मार्थकामेषु भवेदन्यतमाश्रयः ॥ २८५ ॥

हो सकता है कि] 'जो दूसरोंके घातके द्वारा सुख भोगनेमें तत्पर रहता है वह वर्तमानमें सुख भोगते हुए भी दूसरे जन्ममें दुःख भोगता है।' [आगेके श्लोकको देखते हुए यही अर्थ विशेष उचित प्रतीत होता है] ॥ जो मनुष्य तात्कालिक सुखोपभोगमें आसक्त होकर धर्म-कर्ममें मूढ़ नहीं हो जाता अर्थात् धर्म-कर्म करता रहता है, वह इस लोकमें और परलोकमें दुःख नहीं उठाता ॥२८४॥

भावार्थ—धर्मका मतलब केवल पूजा-पाठ कर लेना मात्र ही नहीं है, किन्तु अपने प्रतिदिनके आचरणमें सुधार करना भी है। और वह सुधार है, ऐसे काम न करना जिनसे दूसरोंको कष्ट पहुँचता हो। मांस भक्षण एक ऐसी आदत है जो दूसरे प्राणियोंकी जान लिये बिना व्यवहारमें नहीं आयी जा सकती, क्योंकि बिना किसी प्राणीकी जान लिये मांस मिल ही नहीं सकता। अतः जरासे जीभके स्वादके लिए किसी प्राणीकी मृत्युका कारण बनना किसी भी समझदार आदमीका काम नहीं है। हमारी यदि जरा-सी खाल भी उचट जाती है तो कितनी वेदना होती है। फिर कसाईकी छुरीसे जिसे काटा जाता है, उसकी तकलीफका तो कहना ही क्या है? मनुष्य जानता है कि बुराईका फल बुरा है और भलाईका फल भला है। फिर भी वह अपने स्वार्थके लिए बुराई करनेपर उतारू हो जाता है। वह स्वयं तो चाहता है कि मेरे साथ कोई बुरा व्यवहार न करे, मेरी कोई जान न ले मेरे बच्चोंको कोई न सताये, मेरी स्त्री, बहन और बेटीको कोई बुरी निगाहसे देखे भी नहीं, मेरा माल-मता कोई चुराये नहीं। किन्तु स्वयं वह दूसरोंकी जानका ग्राहक बन जाता है, दूसरोंकी बहू-बेटियोंको देखकर आवाजें कसता है और मौका मिलते ही दूसरोंका माल हड़प कर जाता है। ऐसी स्थितिमें उसका यह चाहना कि मेरे साथ कोई बुरा व्यवहार न करे, कैसे ठीक कहा जा सकता है। इसी बुराईको दृष्टिमें रखकर ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि थोड़ेसे कष्टसे खूब सुख भोगना चाहते हो तो उसका एक सीधा उपाय यह है कि जो व्यवहार तुम अपने लिए अनुचित समझते हो उसे दूसरोंके साथ भी मत करो। अनेक मनुष्य सुखमें ऐसे मग्न हो जाते हैं कि उन्हें दीन-दुनियाकी सुध ही नहीं रहती। फिर वे अपने सामने किसीको कुछ समझते ही नहीं। ऐसे मदान्ध मनुष्य जीते जी भले ही सुख भोग लें किन्तु मरनेपर उनकी दुर्गति हुए बिना नहीं रहती। क्योंकि कहावत है कि 'जब तक तेरे पुण्यका नहीं आता है छोर। अवगुन तेरे माफ हैं कर ले लाख करोर'। पुण्यका अन्त आनेपर उसकी भी वही दुर्गति होगी जो वह आज दूसरोंकी करता है। अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि जरासे सुखमें मग्न होकर उस धर्म-कर्मको मत भूलो जिसका फल सुखके रूपमें भोग रहे हो।

जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काममें-से एकका भी पालन नहीं करता, वह पृथ्वीका भार है

१ त्रिषु मध्ये एकस्यापि आश्रयो न भवेत्।
स भूभारः —भवेदन्यतमाश्रय —धर्मरत्ना० पृ० ७८ ब।
'स भूभारः परं पापी पशोरपि महापशुः।
यो न धर्ममय प्राप्य दयाधर्मं निषेवते ॥१६॥—प्रबोधसार

स मूर्खः स जडः सोऽज्ञः स पशुश्च पशोरपि।
योऽश्नन्नपि[1] फलं धर्माद्धर्मे भवति मन्दधीः ॥ २८६ ॥
स विद्वान्स महाप्राज्ञः स धीमान्स च पण्डित.।
यः[2] स्वतो वान्यतो वापि नाधर्माय समीहते ॥ २८७ ॥
तत्स्वस्य हितमिच्छन्तो मुञ्चन्तश्चाहित मुहु ।
अन्यमांसैः स्वमांसस्य कथं वृद्धिविधायिनः ॥२८८॥
यत्परत्र करोतीह सुखं वा दुःखमेव वा।
वृद्धये धनवद्दत्तं स्वस्य तज्जायतेऽधिकम् ॥२८९॥
मद्यमांसमधुप्रायं[3] कर्म धर्माय चेन्मतम्।
अधर्मः कोऽपर' किं वा भवेद् दुर्गतिदायकम् ॥२९०॥
स[4] धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुख यत्र नासुखम्।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागति ॥२९१॥
स्वकीयं[5] जीवितं यद्वत्सर्वस्य प्राणिन प्रियम्।
तद्वदेतत्परस्यापि ततो हिंसां परित्यजेत् ॥२९२॥

और जीते हुए भी मृत है ॥२८५॥ तथा जो धर्मका फल भोगता हुआ भी धर्माचरण करनेमें आलस्य करता है वह मूर्ख है, जड है, अज्ञानी है और पशुसे भी गया बीता है ॥२८६॥ और जो न स्वय अधर्म करता है और न दूसरोंसे अधर्म कराता है वह विद्वान् है, बडा समझदार है, बुद्धिमान् है और पण्डित है ॥२८७॥ जो अपना हित चाहते है और अहितसे बचते है वे दूसरोंके माससे अपने मासकी वृद्धि कैसे करते हैं ॥२८८॥ जैसे दूसरेको दिया हुआ धन कालान्तरमें व्याज के बढ़ जानेसे अपनेको अधिक होकर मिलता है वैसे ही मनुष्य दूसरेको जो सुख या दुःख देता है, वह सुख या दु ख कालान्तरमें उसे अधिक होकर मिलता है। अर्थात् सुख देनेसे अधिक सुख मिलता है और दु ख देनेसे अधिक दु ख मिलता है ॥२८९॥ यदि मद्य, मास और मधुका सेवन करना धर्म है तो फिर अधर्म क्या है और कौन दुर्गतिका कारण है ? ॥२९०॥ धर्म वही है जिसमें अधर्म नहीं है। सुख वही है जिसमें दु ख नहीं है। ज्ञान वही है जिसमें अज्ञान नहीं है और गति वही है जहाँसे लौटकर आना नहीं है ॥२९१॥

जिस प्रकार सभी प्राणियोंको अपना जीवन प्रिय है उसी तरह दूसरोंको भी अपना जीवन प्रिय है। इस लिए हिंसाको छोड देना चाहिए ॥२९२॥

---

१. भुञ्जन्। 'स विद्वान् स महामान्य स धीमान् तत्त्वबोधनः।
योऽश्नन्नपि फल धर्माद् धर्मे भवति तत्पर ॥१७॥'—प्रबोधसार।

२ 'य स्वतोऽन्यतो वापि नाधर्माय समीहते।
विश्वत्रयशिरोरत्न त पुमाम विदुर्बुधा ॥१८॥'—प्रबोधसार।
'य स्वतो । स एव विदुपामाद्यो विपरीत चरन् जड ॥४॥'—धर्मर०, पृ० ७८ उ।

३ 'मद्यमासमधुप्राय यदि धर्माय सम्मतम्। भावन तर्हि पापस्य हत नास्तीह भूतले ॥२१॥'—प्रबोधसार।

४ यह श्लोक आत्मानुशासनका (४६वाँ श्लोक) है।

५ प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दया कुर्वन्ति माधव ॥२३६॥—सुभापितरत्न० पृ० २५२।
इष्टो यथात्मनो देह सर्वेषा प्राणिना तथा।
एव ज्ञात्वा सदा कार्या दया सर्वासुधारिणाम् ॥१८६॥—पद्मपुराण १४ पर्व।

जीवयोगाविशेषेण मेषमेषादिकायवत् ।
मुद्गमाषादिकायोऽपि मांसमित्यपरे जगुः[1] ॥२००॥

तदयुक्तम् । तदाह—

मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम् ।
यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ॥२०१॥

किं च—

द्विजाण्डजनिहन्तॄणां यथा पापं विशिष्यते ।
जीवयोगाविशेषेऽपि तथा फलपलाशिनाम् ॥२०२॥
स्त्रीत्वपेयत्वसामान्याद्दारवारिवदीहताम् ।
एष वादी यदभ्येषं मद्यमातृसमागमे[2] ॥२०३॥
शुद्धं दुग्धं न गोर्मांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशम् ।
विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे यतः[3] ॥२०४॥

भले ही कहलायें किन्तु इसकी परवाह न करें। आप दृढ़ रहेंगे तो दुनिया आपकी बातकी कदर करने लगेगी। किन्तु यदि आप ही अपना विश्वास खो बैठेंगे और क्षण-भरकी वाहवाहीमें बह जायेंगे तो न अपना हित कर सकेंगे और न दूसरोंका हित कर सकेंगे। मधु भी मद्य और मांसका ही भाई है। कुछ लोग आधुनिक ढंगसे निकाले जानेवाले मधुको खाद्य बतलाते हैं। किन्तु ढंगके बदलने मात्रसे मधु खाद्य नहीं हो सकता। आखिरका तो वह मधु-मक्खियोंका उगाल ही है।

मांस, और अन्न, दूध वगैरहमें अन्तर

कुछ लोगोंका कहना है कि मूँग, उड़द वगैरहमें और ऊँट मेढ़ा वगैरहमें कोई अन्तर नहीं है क्योंकि जैसे ऊँट, मेढ़ा वगैरहके शरीरमें जीव रहता है वैसे ही मूँग उड़द वगैरहमें भी जीव रहता है। दोनों ही जीवके शरीर हैं। अतः जीवका शरीर होनेसे मूँग उड़द वगैरह भी मांस ही हैं ॥२००॥ किन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि मांस जीवका शरीर है यह ठीक है। किन्तु जो जीवका शरीर है वह मांस होता भी है और नहीं भी होता। जैसे, नीम वृक्ष होता है किन्तु वृक्ष नीम होता भी है और नहीं भी होता ॥२०१॥ तथा—

जैसे ब्राह्मण और पक्षी दोनोंमें जीव है फिर भी पक्षीको मारनेकी अपेक्षा ब्राह्मणको मारनेमें अधिक पाप है। वैसे ही फल भी जीवका शरीर है और मांस भी जीवका शरीर है, किन्तु फल खानेवालेकी अपेक्षा मांस खानेवालेको अधिक पाप होता है ॥२०२॥ तथा जिसका यह कहना है कि फल और मांस दोनों ही जीवका शरीर होनेसे बराबर हैं उसके लिए पत्नी और माता दोनों स्त्री होनेसे समान हैं और शराब तथा पानी दोनों पेय होनेसे समान हैं। अतः जैसे वह पानी और पत्नीका उपभोग करता है वैसे ही शराब और माताका भी उपभोग क्यों नहीं करता? ॥२०३॥

गौका दूध शुद्ध है किन्तु गोमांस शुद्ध नहीं है। वस्तुका वैचित्र्य ही इस प्रकार है। देखो साँपकी मणिसे विष दूर होता है किन्तु साँपका विष मृत्युका कारण है ॥२०४॥

---

१ जगुः । 'जीवयोगाविशेषेण मन्मेषादिकायवत् ।'—धर्मर० पृ० ८ प । २ मातर दाराणिव मद्य वारीव ईहताम् । प्राण्यङ्गत्वाविशेषेऽपि भोज्यं मांसं न धार्मिकैः । भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका ॥१॥ —सागारधर्मामृत २ अ० । ३ अहेः सर्पस्येदं रत्नम् । धेन्वादीनां पयः पेयं न मूत्रादि स्वभावतः । विषापहमहे रत्नं विषं तु मृतिदायकम् ॥१७॥—प्रबोधसार ।

अथवा—

हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे ।
विपद्द्रो[1]रायुषे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥३०५॥

अपि च—

[2]शरीरावयवत्वेऽपि मांसे दोषो न सर्पिषि ।
जिह्वावन्न हि दोषाय पादे मद्यं द्विजातिषु ॥३०६॥
विधि[3]श्चेत्केवलं शुद्ध्यै द्विजैः सर्वं[4] निषेव्यताम् ।
[5]शुद्ध्यै चेत्केवलं वस्तु भुज्यतां श्वपचालये ॥३०७॥
तद्द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ विधिशुद्धता ।
यत्संस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजतां व्रजेत ॥३०८॥
तच्छाक्यसांख्यचार्वाकवेदवैद्यकपर्दिनाम् ।
मतं विहाय हातव्यं[6] मांसं श्रेयोऽर्थिभि सदा ॥३०९॥
यस्तु लौल्येन मांसाशी[7] धर्मधीः[8] स द्विपातकः ।
परदारक्रियाकारी मात्रा [9]सत्रं यथा नरः ॥३१०॥

अथवा, मास और दूधका एक कारण होनेपर भी मास छोडने योग्य है और दूध पीने योग्य है। जैसे कारस्कर नामके विषवृक्षका पत्ता आयुवर्धक होता है और उसकी जड़ मृत्युका कारण होती है ॥३०५॥ और भी कहते है—

मास भी शरीरका हिस्सा है और घी भी शरीरका ही हिस्सा है फिर भी मासमें दोष है, घी में नहीं। जैसे ब्राह्मणोंमे जीभसे शराबका स्पर्श करनेमें दोष है पैरमें लगानेपर नहीं ॥३०६॥

यदि विधिसे ही वस्तु शुद्ध हो जाती तो ब्राह्मणोंके लिए कोई वस्तु असेव्य रहती ही नहीं। और यदि केवल वस्तुकी शुद्धि ही अपेक्षित है तो चाण्डालके घरपर भी भोजन कर लेना चाहिए ॥३०७॥ अत· द्रव्य, दाता और पात्र तीनोंके शुद्ध होनेपर ही शुद्ध विधि बनती है। क्योंकि सैकडो सस्कार करनेपर भी शूद्र ब्राह्मण नहीं हो सकता ॥ ३०८ ॥ इस लिए जो अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें बौद्ध, साख्य, चार्वाक, वैदिक और शैवोंके मतोकी परवाह न करके मासका त्याग कर देना चाहिए ॥३०९॥

जैसे जो परस्त्रीगामी पुरुष अपनी माताके साथ सम्भोग करता है वह दो पाप करता है, एक तो परस्त्री गमनका पाप करता है और दूसरे माताके साथ सम्भोग करनेका पाप करता है। वैसे ही जो मनुष्य धर्मबुद्धिसे लालसापूर्वक मास भक्षण करता है वह भी डबल पाप करता है। एक तो वह मास खाता है दूसरे धर्मका ढोंग रचकर उसे खाता है ॥३१०॥

---

१ विषतरो आयुर्निमित्त पत्र स्यात्। "पय पेय पल हेयं समे सत्यपि साधने। विपद्रोरायुपे पत्र मूल तु मृतये मतम् ॥३८॥" —प्रबोधसार। "ग्राह्य दुग्ध पल नैव वस्तुनो गतिरीदृशी। विषद्रो पत्रमारोग्य-कृन्मूल मृतिकृद् भवेत ॥४२॥" —धर्मस०। २. द्वयोर्मासिसर्पिषो निमित्त शरीरमेव। "शरीरावयवत्वेऽपि मासे दोषो न सर्पिषि। धेनुदेहसुतं मूत्र न पुन पयसा समम् ॥३९॥" —प्रबोधसार। ३ सम्प्रोक्षणं यज्ञादिश्चेत् शुद्धर्थं भवति। ४ योग्यमयोग्यञ्च। ५. अथवा विधिस्तिष्ठतु वस्तु स्वयमेव शुद्ध वर्तते। ६ त्याज्यम्। ७ मासभक्षक। ८ तस्य पातकद्वय भवति। ९ सह। 'यस्तु मासादिलौल्येन धर्म धर्मेति भाषते। मासास्वादाद्विवेकध्वंसात् स स्यात्पापद्वयाश्रय ॥४०॥' —प्रबोधसार। 'पापी ह्यस्य लभेतासौ मासलौल्येन धर्मधी। परदार विधातेव मात्रा सार्द्ध नराधम ॥४१॥ प्रबोधसार।

मांसादिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु ।
आनृशंस्यं न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु ॥२९३॥
मक्षिकागर्भसंभूतबालाण्डकनिपीडनात् ।
जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाकृति ॥२९४॥
उत्क्रान्तार्भकगर्भेऽस्मिन्नण्डजाण्डकखण्डवत् ।
कुतो मधुं मधुच्छत्रे व्याधलुब्धकजीवितम् ॥२९५॥
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधादिफलेष्वपि ।
प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्थूलाः सूक्ष्माश्चागमगोचराः ॥२९६॥
मद्यादिस्वादिगेहेषु पानमन्नं च नाचरेत् ।
तदमत्रादिसंपर्कं न कुर्वीत कदाचन ॥२९७॥

जो मांस खाते हैं उनमें दया नहीं होती। जो शराब पीते हैं वे सच नहीं बोल सकते। और जो मधु और उदुम्बर फलोंका भक्षण करते हैं उनमें रहम नहीं होता॥२९३॥

मधुके दोष

मधु मक्खियोंके अण्डोंके निचोड़नेसे पैदा हुए मधुको, जो रज और वीर्यके मिश्रणके समान है, सज्जन पुरुष कैसे सेवन करते हैं ? ॥२९४॥ मधुका छत्ता व्याकुल शिशुके गर्भकी तरह है और अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले जन्तुओंके छोटे-छोटे अण्डोंके टुकड़ोंके जैसा है। भील कोपी वगैरह हिंसक मनुष्य उसे खाते हैं। उसमें माधुर्य कहाँसे आया ? ॥२९५॥

उदुम्बरफलकी बुराइयाँ

पीपल, उदुम्बर जिसे जन्तुफल भी कहते हैं, पाकर और वट वृक्ष वगैरहके फलोंमें स्थूल जन्तु रहते हैं जो प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं। इनके सिवा सूक्ष्म जन्तु भी उनमें पाये जाते हैं जो शास्त्रोंके द्वारा जाने जा सकते हैं ॥२९६॥

मद्यादिका सेवन करनेवालोंसे बचो

मद्य मांस वगैरहका सेवन करनेवाले लोगोंके घरोंमें खान-पान भी नहीं करना चाहिए। तथा उनके बरतनोंको कभी भी काममें नहीं लाना चाहिए ॥२९७॥ जो मनुष्य मद्य आदिका

---

१ मांसमस्तीति [illegible] मनुष्येषु। २ दयामुक्तम्।
धर्मभावो न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु ॥—प्रबोधसार उद्धृत।
'[illegible] दया नास्ति न शौचं मद्यपासु च। [illegible] प्रोक्तो न धर्मं [illegible] ॥१४७॥
—[illegible] भा पृ ११८।

३ गर्भज—अ० ज । [illegible]। ४ मधुकम्।
५ योनिरुदुम्बरयुग्मं [illegible]।
[illegible] ॥७२॥—पुरुषार्थसि० ।
[illegible] विविधास्त्रसा। तथैव [illegible] स्थावरा [illegible] ॥१२॥
—प्रबोधसार।

६ [illegible]। ७ तेषां [illegible]। मद्यादिस्वादमनेन [illegible] नाचरेत्। [illegible] ॥१४॥—प्रबोधसार।

कुर्वन्[1]व्रतिभिः सार्धं संसर्गं भोजनादिषु ।
प्राप्नोति वाच्यतामत्र परत्र च न सत्फलम् ॥२९८॥
दृति[2]प्रायेषु पानीयं स्नेहं च कुतु[3]पादिषु ।
व्रतस्थो वर्जयेन्नित्यं योषितश्चाव्रतोचिताः ॥२९९॥

सेवन करनेवाले पुरुषोंके साथ खान-पान करता है उसकी यहाँ निन्दा होती है और परलोकमें भी उसे अच्छे फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥२९८॥ व्रती पुरुषको चमड़ेकी मशकका पानी, चमडेके कुप्पोंमें रखा हुआ घी, तेल और मद्य, मास आदिका सेवन करनेवाली स्त्रियोंको सदाके लिए छोड देना चाहिए ॥२९९॥

भावार्थ—छोटीसे-छोटी बुराईसे वचनेके लिए बडी सावधानी रखनी होती है। फिर आज तो मद्य, मासका इतना प्रचार बढ़ता जाता है कि उच्च कुलीन पढ़े-लिखे लोग भी उनसे परहेज नहीं रखते। अँग्रेजी सभ्यताके साथ अँग्रेजी खान-पान भी भारतमें वढ़ता जाता है। और अँग्रेजी खान-पानकी जान मद्य और मास ही है। प्राय जो लोग शाकाहारी होते है उनका भोजन भी रेल्वे वगैरहमें मासाहारियोंके भोजनके साथ ही पकाया जाता है। उसीमें-से मासको वचाकर शाकाहारियोंको खिला देते हैं। जो लोग पार्टियों वगैरहमें शरीक होते है उनमेंसे कोई-कोई सभ्यताके विरुद्ध समझकर जो कुछ मिल जाता है उसे ही खा आते हैं। इस तरह सगतिके दोपसे बचे-खुचे शाकाहारी भी मासादिकके स्वादसे नहीं वच पाते और ऐसा करते-करते उनमें से कोई-कोई मासाहार करने लग जाते हैं। अँग्रेजी दवाइयोंका तो कहना ही क्या है, उनमें भी मद्य वगैरहका सम्मिश्रण रहता है। पौष्टिक औपधियो और तथोक्त विटामिनोंको न जाने किन-किन पशु-पक्षियों और जलचर जीवों तकके अवयवों और तेलोंसे वनाया जाता है। फिर भी सव खुशी-खुशी उनका सेवन करते हैं। ओवल्टीन नामके पौष्टिक खाद्यमें अण्डे डाले जाते है फिर भी जैन-घरानों तकमें उसका सेवन छोटे और वडे करते है। यह सव सगति दोषका ही कुफल है। उसीके कारण बुरी चीजोंसे घृणाका भाव घटता जाता है और धीरे-धीरे उनके प्रति लोगोंकी अरुचि टूटती जाती है। इन्हीं बुराइयोंसे वचनेके लिए आचार्योंने ऐसे स्त्री-पुरुषोंके साथ रोटी-वेटी व्यवहारका निषेध किया है जो मद्यादिकका सेवन करते हैं। जैनाचारको वनाये रखनेके लिए और अहिंसाधर्मको जीवित रखनेके लिए यह आवश्यक है कि जैनधर्मका पालन करनेवाले कमसे-कम अपने खान-पानमें दृढ़ वने रहें। यदि उन्होंने भी देखा-देखी शुरू की और वे भी भोग-विलासके गुलाम वन गये तो दुनियाको फिर अहिंसा-धर्मका सन्देश कौन देगा? कौन दुनियाको वतायेगा कि शरावका पीना और मासका खाना मनुष्यको वर्वर वनाता है और वर्वरताके रहते हुए दुनियामें शान्ति नहीं हो सकती। अत जैसे सफेदपोश वदमाशोंसे वचे रहनेमें ही कल्याण है वैसे ही सभ्य कहे जानेवाले पियक्कड़ों और गोश्तखोरोंके साथ खान-पानका सम्बन्ध न रखनेमें ही सबका हित है। ऐसा करनेसे आप प्रतिगामी, कूढ़मग्ज़ या दकियानूसी

---

१ 'अपाङ्क्तेयै सम कुर्वन् ससर्गं भोजनादिपु ।
प्राप्नोति निन्द्यतामत्र परत्र च न सत्फलम् ॥७३॥'–धर्मर०, पृ० ८० उ ।
२. चर्मभाण्डेपु । ३ घृततैलाधारचर्मभाजनेपु । 'दृतिप्रायेपु पात्रेपु तोय स्नेह तु नाश्रयेत् ।' –प्रवोधसार पृ० ७४ ।

मांसादिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु ।
आनृशंस्यं[1] न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु ॥२९३॥
मक्षिकागर्भसंभूतबालाण्डकविनिपीडनात् ।
जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाकृति ॥२९४॥
उद्भ्रान्तार्भकगर्भेऽस्मिन्नण्डजाण्डकखण्डवत् ।
कुतो मधु मधुच्छत्रे व्याधलुब्धकजीवितम् ॥२९५॥
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधादिफलेष्वपि ।
प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्थूलाः सूक्ष्माश्चागमगोचराः ॥२९६॥
मद्यादिस्वादिगेहेषु पानमन्नं च नाचरेत् ।
तदमत्रादिसंपर्कं न कुर्वीत कदाचन ॥२९७॥

जो मांस खाते हैं उनमें दया नहीं होती। जो शराब पीते हैं वे सच नहीं बोल सकते। और जो मधु और उदुम्बर फलोंका भक्षण करते हैं उनमें रहम नहीं होता ॥२९३॥

मधुके दोष

मधु मक्खियोंके अण्डोंके निचोड़नेसे पैदा हुए मधुका, जो रज और वीर्यके मिश्रणके समान है, सज्जन पुरुष कैसे सेवन करते हैं ? ॥२९४॥ मधुका छत्ता व्याकुल शिशुके गर्भकी तरह है और अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले जन्तुओंके छोटे-छोटे अण्डोंके टुकड़ोंके जैसा है। भील लोभी वगैरह हिंसक मनुष्य उसे खाते हैं। उसमें माधुर्य कहाँसे आया ? ॥२९५॥

उदुम्बरफलकी बुराइयाँ

पीपल, उदुम्बर जिसे जन्तुफल भी कहते हैं, पाकर और वट वृक्ष वगैरहके फलोंमें स्थूल जन्तु रहते हैं जो प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं। इनके सिवा सूक्ष्म जन्तु भी उनमें पाये जाते हैं जो शास्त्रोंके द्वारा जाने जा सकते हैं ॥२९६॥

मद्यादिका सेवन करनेवालोंसे बचो

मद्य मांस वगैरहका सेवन करनेवाले लोगोंके घरोंमें खान-पान भी नहीं करना चाहिए। तथा उनके बरतनोंको कभी भी काममें नहीं लेना चाहिए ॥२९७॥ जो मनुष्य मद्य आदिका

---

१ मांसभक्षणलीलस्येव धीमस्तेषु मनुष्येषु। २ दयालुत्वम्।
धर्मभावो न मर्त्येषु सर्वोदुम्बरसेविषु ॥—प्रधानशास्त्र उद्धृत।
'पलमधुषु दया नास्ति न शौचं मद्यपासु च। उदुम्बरादिषु प्रोक्तो न धर्मः सौख्यदो नृषु ॥१४७॥
—धर्म० श्रा० पृ० ११८।
३ चंचलम्—अ० ज०। पक्षिबालकमधुरम्। ४ माधुर्यम्।
५ 'योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ॥७२॥—पुरुषार्थसि०।
'पञ्चोदुम्बरमध्यस्था दृश्यन्ते विविधास्त्रसाः। तदेव भक्षणात्तेषां स्यान्नरः समयोज्झितः ॥११॥
—प्रबोधसार।
६ मद्यमांसमधुभक्षकाणां गेहेषु। ७ तेषां भाजनादिसंसर्गम्। 'मद्यादिस्वादगेहेषु पानमन्नं च नाहरेत्। दुष्टो हि विषाक्तभाजनसम्पर्कोऽन्यतादिषु' ॥१४॥—प्रबोधसार।

अथवा—

हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे ।
विषद्रोरायुषे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥३०५॥

अपि च—

शरीरावयवत्वेऽपि मांसे दोषो न सर्पिषि ।
जिह्वावन्न हि दोषाय पादे मद्यं द्विजातिषु ॥३०६॥
विधिश्चेत्केवलं शुद्ध्यै द्विजैः सर्वं निषेव्यताम् ।
शुद्ध्यै चेत्केवलं वस्तु भुज्यतां श्वपचालये ॥३०७॥
तद्द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ विधिशुद्धता ।
यत्संस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजतां व्रजेत् ॥३०८॥
तच्छाक्यसांख्यचार्वाकवेदवैद्यकपर्दिनाम् ।
मतं विहाय हातव्यं मांसं श्रेयोऽर्थिभिः सदा ॥३०९॥
यस्तु लौल्येन मांसाशी धर्मधीः स द्विपातकः ।
परदारक्रियाकारी मात्रा सत्रं यथा नरः ॥३१०॥

अथवा, मास और दूधका एक कारण होनेपर भी मास छोडने योग्य है और दूध पीने योग्य है । जैसे कारस्कर नामके विषवृक्षका पत्ता आयुवर्धक होता है और उसकी जड़ मृत्युका कारण होती है ॥३०५॥ और भी कहते है—

मास भी शरीरका हिस्सा है और घी भी शरीरका ही हिस्सा है फिर भी मासमें दोष है, घी में नहीं । जैसे ब्राह्मणोंमे जीभसे शराबका स्पर्श करनेमें दोष है पैरमें लगानेपर नहीं ॥३०६॥

यदि विधिसे ही वस्तु शुद्ध हो जाती तो ब्राह्मणोंके लिए कोई वस्तु असेव्य रहती ही नहीं । और यदि केवल वस्तुकी शुद्धि ही अपेक्षित है तो चाण्डालके घरपर भी भोजन कर लेना चाहिए ॥३०७॥ अत. द्रव्य, दाता और पात्र तीनोंके शुद्ध होनेपर ही शुद्ध विधि बनती है । क्योकि सैकडो सस्कार करनेपर भी शूद्र ब्राह्मण नहीं हो सकता ॥ ३०८ ॥ इस लिए जो अपना कल्याण चाहते है उन्हें बौद्ध, सांख्य, चार्वाक, वैदिक और शैवोंके मतोकी परवाह न करके मासका त्याग कर देना चाहिए ॥३०९॥

जैसे जो परस्त्रीगामी पुरुष अपनी माताके साथ सम्भोग करता है वह दो पाप करता है, एक तो परस्त्री गमनका पाप करता है और दूसरे माताके साथ सम्भोग करनेका पाप करता है । वैसे ही जो मनुष्य धर्मबुद्धिसे लालसापूर्वक मास भक्षण करता है वह भी डबल पाप करता है । एक तो वह मास खाता है दूसरे धर्मका ढोंग रचकर उसे खाता है ॥३१०॥

---

१ विषतरो आयुर्निमित्त पत्र स्यात् । "पय पेय पलं हेय समे सत्यपि साधने । विषद्रोरायुषे पत्र मूल तु मृतये मतम् ॥३८॥" —प्रबोधसार । "ग्राह्य दुग्ध पल नैव वस्तुनो गतिरीदृशी । विषद्रो पत्रमारोग्यकृन्मूल मृतिकृद् भवेत् ॥४२॥" —धर्मस० । २. द्वयोर्मांससर्पिषो निमित्त शरीरमेव । "शरीरावयवत्वेऽपि मासे दोषो न सर्पिषि । धेनुदेहसुत मूत्र न पुन पयसा समम् ॥३९॥" —प्रबोधसार । ३ सप्रोक्षण यज्ञादिश्चेत् शुद्धयै भवति । ४ योग्यमयोग्यञ्च । ५. अथवा विधिस्तिष्ठतु वस्तु स्वयमेव शुद्ध वर्तते । ६ त्याज्यम् । ७ मासभक्षक । ८ तस्य पातकद्वय भवति । ९ सह । 'यस्तु मासादिलौल्येन धर्म धर्मेति भाषते । मासास्वादाद्विवेब्धंमात् स स्यात्पापद्वयाश्रय. ॥४०॥' —प्रबोधसार । 'पापी ह्यस्य लभेतासौ मासलौल्येन धर्मधी । परदार विधातेव मात्रा सार्द्ध नराधम ॥४१॥ प्रबोधसार ।

जीवयोगाविशेषेण मेषमेषादिकायवत्।
मुद्गमाषादिकायोऽपि मांसमित्यपरे जगुः ॥२००॥

तदयुक्तम्। तदाह—

मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम्।
यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ॥२०१॥

किं च—

द्विजाण्डजनिहन्तॄणां यथा पापं विशिष्यते।
जीवयोगाविशेषेऽपि तथा फलपलाशिनाम् ॥२०२॥
स्त्रीत्वपेयत्वसामान्याद्दारवारिवदीहताम्।
एष वादी यदन्येषां मद्यमातृसमागमे ॥२०३॥
शुद्धं दुग्धं न गोर्मांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशम्।
विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे यतः ॥२०४॥

भले ही कहलायें किन्तु इसकी परवाह न करें। आप दृढ़ रहेंगे तो दुनिया आपकी बातकी कदर करने लगेगी। किन्तु यदि आप ही अपना विश्वास खो बैठेंगे और धन-मरकी वाहवाहीमें बह जायेंगे तो न अपना हित कर सकेंगे और न दूसरोंका हित कर सकेंगे। मधु भी मद्य और मांसका ही भाई है। कुछ लोग आधुनिक ढंगसे निकाले जानेवाले मधुको साफ बतलाते हैं। किन्तु ढंगके बदलने मात्रसे मधु साफ नहीं हो सकता। आखिरको तो वह मधु-मक्खियोंका उगाल ही है।

मांस, और अन्न, दूध वगैरहमें अन्तर

कुछ लोगोंका कहना है कि मूँग, उड़द वगैरहमें और ऊँट, भेड़ा वगैरहमें कोई अन्तर नहीं है क्योंकि जैसे ऊँट, भेड़ा वगैरहके शरीरमें जीव रहता है वैसे ही मूँग उड़द वगैरहमें भी जीव रहता है। दोनों ही जीवके शरीर हैं। अतः जीवका शरीर होनेसे मूँग उड़द वगैरह भी मांस ही हैं ॥२००॥ किन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि मांस जीवका शरीर है यह ठीक है। किन्तु जो जीवका शरीर है वह मांस होता भी है और नहीं भी होता। जैसे नीम वृक्ष होता है किन्तु वृक्ष नीम होता भी है और नहीं भी होता ॥२०१॥ तथा—

जैसे ब्राह्मण और पक्षी दोनोंमें जीव है फिर भी पक्षीको मारनेकी अपेक्षा ब्राह्मणको मारनेमें अधिक पाप है। वैसे ही फल भी जीवका शरीर है और मांस भी जीवका शरीर है, किन्तु फल खानेवालेकी अपेक्षा मांस खानेवालेको अधिक पाप होता है ॥२०२॥ तथा जिसका यह कहना है कि फल और मांस दोनों ही जीवका शरीर होनेसे बराबर हैं उसके लिए पत्नी और माता दोनों स्त्री होनेसे समान हैं और शराब तथा पानी दोनों पेय होनेसे समान हैं। अतः जैसे वह पानी और पत्नीका उपभोग करता है वैसे ही शराब और माताका भी उपभोग क्यों नहीं करता? ॥२०३॥

गौका दूध शुद्ध है किन्तु गोमांस शुद्ध नहीं है। वस्तुका वैचित्र्य ही इस प्रकार है। देखो, साँपकी मणिसे विष दूर होता है किन्तु साँपका विष मृत्युका कारण है ॥२०४॥

---

१ जगुः। 'जीवयोगाविशेषेण उष्ट्रमेषादिकायवत्।'—धर्मर० पृ० ८ प०। २ मातृदारामिव मद्यवारीव ईहताम्। 'प्राण्यङ्गत्वाविशेषेऽपि भोज्यं मांसं न धार्मिकैः। भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका ॥१॥' —सागारधर्मामृत २ अ०। ३ अहेः सर्पस्येदं रत्नम्। 'श्वेताभीनां पयः पेयं न मूत्रादि स्वभावतः। विषापहमहे रत्नं विषं तु मृतिकारणम् ॥१७॥'—प्रबोधसार।

अथवा—

हेयं पलं पय. पेयं समे सत्यपि कारणे।
विषद्रोरायुषे पत्र मूलं तु मृतये मतम् ॥३०५॥

अपि च—

शरीरावयवत्वेऽपि मासे दोषो न सर्पिषि।
जिह्वावन्न हि दोषाय पादे मद्यं द्विजातिषु ॥३०६॥
विधि[3]श्चेत्केवलं शुद्धयै द्विजैः सर्वं निषेव्यताम्।
शुद्ध्यै चेत्केवलं वस्तु भुज्यतां श्वपचालये ॥३०७॥
तद्द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ विधिशुद्धता।
यत्संस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजतां व्रजेत ॥३०८॥
तच्छाक्यसांख्यचार्वाकवेदवैद्यकपर्दिनाम्।
मतं विहाय हातव्यं मांसं श्रेयोऽर्थिभि· सदा ॥३०९॥
यस्तु लौल्येन मांसाशी धर्मधी· स द्विपातकं।
परदारक्रियाकारी मात्रा [9]सत्रं यथा नर· ॥३१०॥

अथवा, मास और दूधका एक कारण होनेपर भी मास छोडने योग्य है और दूध पीने योग्य है। जैसे कारस्कर नामके विषवृक्षका पत्ता आयुवर्धक होता है और उसकी जड मृत्युका कारण होती है ॥३०५॥ और भी कहते है—

मास भी शरीरका हिस्सा है और घी भी शरीरका ही हिस्सा है फिर भी मासमें दोष है, घी में नहीं। जैसे ब्राह्मणोंमें जीभसे शराबका स्पर्श करनेमें दोष है पैरमें लगानेपर नहीं ॥३०६॥

यदि विधिसे ही वस्तु शुद्ध हो जाती तो ब्राह्मणोंके लिए कोई वस्तु असेव्य रहती ही नहीं। और यदि केवल वस्तुकी शुद्धि ही अपेक्षित है तो चाण्डालके घरपर भी भोजन कर लेना चाहिए ॥३०७॥ अत द्रव्य, दाता और पात्र तीनोंके शुद्ध होनेपर ही शुद्ध विधि बनती है। क्योकि सैकड़ों सस्कार करनेपर भी शूद्र ब्राह्मण नहीं हो सकता ॥ ३०८ ॥ इस लिए जो अपना कल्याण चाहते है उन्हें बौद्ध, सास्य, चार्वाक, वैदिक और शैवोंके मतोकी परवाह न करके मासका त्याग कर देना चाहिए ॥३०९॥

जैसे जो परस्त्रीगामी पुरुष अपनी माताके साथ सम्भोग करता है वह दो पाप करता है, एक तो परस्त्री गमनका पाप करता है और दूसरे माताके साथ सम्भोग करनेका पाप करता है। वैसे ही जो मनुष्य धर्मबुद्धिसे लालसापूर्वक मास भक्षण करता है वह भी डबल पाप करता है। एक तो वह मास खाता है दूसरे धर्मका ढोंग रचकर उसे खाता है ॥३१०॥

१ विषतरो आयुर्निमित्त पत्र स्यात्। "पय पेय पलं हेय समे सत्यपि साधने। विषद्रोरायुषे पत्र मूल तु मृतये मतम् ॥३८॥" —प्रबोधसार। "ग्राह्य दुग्ध पल नैव वस्तुनो गतिरीदृशी। विषद्रो पत्रमारोग्य-कृन्मूल मृतिकृद् भवेत् ॥४२॥" —धर्मस०। २. द्वयोर्मासिसर्पिषो निमित्त शरीरमेव। "शरीरावयवत्वेऽपि मासे दोषो न सर्पिषि। धेनुदेहस्रुतं मूत्र न पुन पयसा समम् ॥३९॥" —प्रबोधसार। ३ सप्रोक्षण यज्ञादिश्चेत् शुद्धयै भवति। ४ योग्यमयोग्यञ्च। ५. अथवा विधिस्तिष्ठतु वस्तु स्वयमेव शुद्ध वर्तते। ६ त्याज्यम्। ७ मासभक्षक। ८ तस्य पातकद्वय भवति। ९ सह। 'यस्तु मासादिलौल्येन धर्म धर्मेति भाषते। मासास्वादाद्विधेर्ध्वंसात् स स्यात्पापद्वयाश्रय ॥४०॥' —प्रबोधसार। 'पापी हास्य लभेतासौ मासलौल्येन धर्मधी। परदार विधातेव मात्रा सार्द्ध नराधम ॥४१॥ प्रबोधसार।

श्रूयतामत्र मांसाशनाभिध्यानमात्रस्यापि पातकस्य फलम्—श्रीमत्पुष्पदन्तभगवत्ता-वतारावतीर्णत्रिदिवपतिसपावितोपोपवेम्दिरासन्यां काकन्द्यां पुरि श्रावकान्वयप्रभूति सौरसेनो नाम नृपतिः कुलधर्मानुरोधबुद्ध्या गृहीतपिशितव्रतः पुनर्वेदवैद्यशैवमतमोहितमतिः सञ्जा-तमांसभक्षणाभिलाषानुमतिरक्षीकृतवस्तुनिर्वहणाज्ञानापयावाज्जुगुप्समानो मनोविश्वासिहेतुना कर्मप्रियनामकेतुना पाकस्थेन रहसि विलस्यस्थलजलान्तराश्रचरतरसमानायमयमप्येकराजकार्य-पर्याकुलमानसतया मांसमवरयम्भापाप।

भावार्थ—जो व्यक्ति या धर्म मांसाहारको उचित ठहराते हैं वे उसके समर्थनमें अनेक कुयुक्तियाँ देते हैं। उन्हींका निर्देश तथा परीक्षण ग्रन्थकारने ऊपर किया है। जीवका शरीर होने मात्रसे मांसको अभक्ष्य नहीं बतलाया गया है, किन्तु एक तो किसी पञ्चेन्द्रिय जीवको काटे बिना मांस उत्पन्न नहीं होता। दूसरे यह अत्यन्त तामसिक भोजन है। दूध, फल वगैरहमें यह बात नहीं है। ये पशुओं और वृक्षोंको बिना हानि पहुँचाये प्राप्त किये जा सकते हैं तथा उनके खानेसे चित्तमें सात्त्विकता आती है। कहा जा सकता है कि यदि स्वयं मरे हुए जीवका मांस प्राप्त हो जाये तो क्या हानि है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि इससे शुरूमें किसी जीवका घात नहीं होगा किन्तु आगे मांस खानेका चस्का लग जानेसे दूसरे लोगोंके द्वारा मारे गये पशुके मांसमें भी प्रवृत्ति होने लगेगी। जैसे बौद्ध धर्ममें त्रिकोटि परिशुद्ध मांसके ग्रहण कर लेनेका विधान है तो तिब्बतके लामाओंके लिए शहरसे दूर पशु मारे जाते हैं और उनका मांस वह ग्रहण कर लेते हैं। दूसरे, मांसमें भी एकेन्द्रिय जीवोंकी उत्पत्ति होने लगती है तीसरे, मृत पशुका मांस खानेपर भी तामसिकपना तो बना ही रहता है। यह तो मांसमात्रका धर्म है। अतः मांसाहार और दुग्ध तथा फलाहार समान नहीं हो सकता। हिन्दू धर्ममें यज्ञके प्रसादके तौरपर मांसके ग्रहणका विधान कुछ ग्रन्थोंमें मिलता है। किन्तु जो चीज स्वभाव से ही अशुद्ध है, मन्त्रादिकके द्वारा उसे शुद्ध नहीं किया जा सकता। यदि मंत्रोंके द्वारा स्वभावसे ही अशुद्ध वस्तुएँ भी शुद्ध हो सकती हैं तो फिर तो संसारमें अभक्ष्य कुछ रहेगा ही नहीं। अतः यज्ञादिकमें मन्त्रपाठपूर्वक पशुका बलिदान करके उसका मांस खाना भी निरामिषभोजियोंके लिए उचित नहीं है। मांस खाना तो बहुत दूर है उसका इरादा करना भी बुरा है। मांस खानेके संकल्पमात्रसे भी जो पाप होता है उसके फलके सम्बन्धमें एक कथा है उसे सुनें—

११ मांसभक्षणसंकल्पी राजा सौरसेनकी कथा

भगवान् पुष्पदन्तके जन्मोत्सवसे पवित्र काकन्दी नगरीमें श्रावककुलोत्पन्न सौरसेन नामका राजा राज्य करता था। उसने अपना कुलधर्म समझकर मांस खानेका त्याग कर दिया था। बादमें कुछ वैदिकों, वैद्यों और शैवोंके कहनेसे उसे मांस खानेकी रुचि उत्पन्न हुई। किन्तु की हुई प्रतिज्ञाका न निबाहनेके अपवादसे वह डरता था। उसका कर्मप्रिय नामका रसोइया एकान्तमें अनेक जलचर, थलचर और बिलोंमें रहनेवाले जन्तुओंका मांस तैयार करता था किन्तु अनेक राजकार्योंमें घिरे रहनेसे उसे मांस खानेके लिए एकान्त समय नहीं मिलता था।

---

१ चिन्तनम्-इच्छामात्रं वा। २ उत्सवप्रदमीस्थान। ३ वैदवचन-वैद्यवचन-शैववचन। ४ सूपकारेण। ५. एकान्ते। ६ भक्षणं नारब्धम्।

कर्मप्रियोऽपि तथा पृथिवीश्वरनिदेशमनुदिनमनुतिष्ठन्[1]नेकदा पृदाकु[2]पाकोपद्रुत प्रेत्य[3] स्वयम्भूरमणाभिधानमुद्रे समुद्रे महादेहबलस्तिमिङ्गिलगिलो बभूव। भूपालोऽपि चिरकालेन कथाशेषतामाश्रित्य पिशिताशनाशयानुबन्धात्तत्रैव सिन्धौ तस्यैव महामीनस्य कर्णबिले तन्मलाशंनशील शालिसिक्थ[6]कलकलेवर· शफरोऽभूत। तदन्वेष पर्याप्तोभयकरणस्तस्य वदन व्यादाय निद्रायतो गलगुहावगाढे वेलानदीप्रवाह इवानेकं जलचरानीकं प्रविश्य तथैव निष्क्रामन्तं निरीक्ष्य 'पापकर्मा निर्भाग्याणां चाग्रणीधर्मा खल्वेष झषो यद्वक्त्रसंपा[7]तरतचेतां-स्यपि न शक्नोति अशितुं यादांसि। मम पुनर्यदि हृदयेप्सितप्रभावाद्दैवादेतावन्मात्रं गात्रं स्यात्तदा समस्तमपि समुद्रं विद्रुतसकलसत्त्वसंचारमुद्रं विदधामि' इत्यभिध्यानादल्पकाय-कर्ल शकुलो[9] निखिलनक्रचक्रचाराद्[10] महादेहाधीनो मीन· कालेन विपद्यो[11]त्पद्य चोत्तमतस्त्र-यस्त्रिंशत्सागरोपमायुर्निलये निरये भवप्रत्ययायत्ताविर्भूतज्ञानविशेषौ तावनिमिषचरौ[12] नार-कपर्यायधरौ किलैवमालापं चक्रतु·—'अहो क्षुद्रमत्स्य, तथा निर्मितकर्मणो दुष्कर्मणो ममा-त्रागतिरुचितैव। तव तु मत्कर्णबिले मलोपजीवनस्य कथमत्रागमनमभूत्? हे महामत्स्य, चेष्टितादपि दुरन्तदु खसंबन्धनिबन्धनादशुभध्यानात्।'

भवति चात्र श्लोक·—

इस प्रकार कर्मप्रिय राजाकी आज्ञाके अनुसार प्रतिदिन मास पकाता था। एक दिन उसने साँपका मास पकाया और उसीके जहरसे मरकर वह स्वयभूरमण नामके समुद्रमें विशालकाय तिमिङ्गिल नामका महामत्स्य हुआ। कुछ कालके बाद राजा भी मरकर मास खानेके सकल्पके कारण उसी समुद्रमें उसी महामत्स्यके कानमें उसका मैल खानेवाला मत्स्य हुआ, जिसका शरीर शाली चावलके बराबर था। महामत्स्य मुँह खोलकर सोता रहता था और उसके गुफाके समान गहरे गलेमें नदीके प्रवाहकी तरह जलचर जीवोंकी सेना घुसकर जीवित निकल आती थी। उसे देखकर तन्दुलमत्स्य सोचता—'यह मत्स्य बडा पापी और अभागोमें भी सबसे बडा अभागा है, जो अपने मुँहमें स्वय ही आनेवाले मत्स्योंको भी नहीं खा सकता। यदि हार्दिक इच्छाके प्रभावसे दैववश मेरा इतना बड़ा शरीर हो जाये तो मैं समस्त समुद्रको जलचर जीवोंसे शून्य कर दूँ।'

इस सकल्पसे अल्पकाय तन्दुलमत्स्य और समस्त मगरमच्छोंको खानेसे महाकाय महाम-त्स्य मरकर सातवें नरकमें तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु लेकर उत्पन्न हुए। उन दोनोंको भवप्रत्यय नामका कुअवधि ज्ञान था। उसके द्वारा पूर्वजन्मका वृत्तान्त जानकर वे दोनो नारकी आपसमे कहते—'तन्दुलमत्स्य ! मैने बड़ा पाप किया इसलिए मेरा यहाँ आना तो उचित ही था। किन्तु तुम तो मेरे कानके बिलमें कानका मैल ही खाया करते थे। तुम यहाँ कैसे आये ?' तब तन्दुल मत्स्य उत्तर देता—'तुम्हारे कर्मसे भी बुरे, महादु खके कारण अशुभ ध्यानसे मरकर मैं यहाँ पैदा हुआ हूँ।'

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

---

१ कुर्वन्। २ सर्प। ३ मृत्वा। ४ सतत्या प्रवर्तनात्। ५ भक्षण। ६ शालिसिक्थ-मात्रशरीर। ७ मपातरन—अ० ज०। ८ भाग। ९ मत्स्य। १० भक्षणात्। ११ मृत्वा। १२ भूतपूर्वमत्स्यो।

क्षुद्रमत्स्यः किलैकस्तु स्वयम्भूरमणोदधौ ।
महामत्स्यस्य कर्णस्थः स्मृतिदोषादधो गतः ॥३११॥

—वरागचरित ५ । १ ।

इत्युपासकाध्ययने मांसाभिलाषमात्रफलप्रलपनो नाम चतुर्विंशतितमः कल्पः ।

श्रूयतामत्र मांसनिवृत्तिफलस्योपाख्यानम्—अवन्तिमण्डलललनाललामनिवाससरस्यामेकानस्यां[2] पुरि पुरबाहिरिकायां वैधिलामहिलाधिवासविशिष्टवृत्तिकोऽस्यरस्य चण्डनाम्नो मातङ्गस्यैकस्यां दिशि निषेवितपिशितोपदंशस्यापरस्यां दिशि विन्यस्तसुरासमृतकलशस्य तां पलाशवंशोपार्त्तां सुरां पायं पायं तदुभयान्तराले चर्मनिर्माणतन्त्रां वरत्रां वर्तयतो वियद्विहारोड्डीनाण्डजविडम्बतुण्डखण्डनविनिष्पतितविषधरविषविषीपविपदोपायका सुरासीत् । अत्रैवावसरे तत्समीपवर्त्मगोचरं धर्मश्रवणजन्मान्तराभिज्ञकथनपरायाभिः कथाभिर्विनेयजनोपकाराय कृतकामचारप्रचारमम्बराम्मूर्तिमत्स्वर्गापवर्गमार्गमिवावतरच्चारणर्षियुगलमवलोक्य सञ्जातकुतूहलस्तं देशमनुगम्य नगरे तद्दर्शनेन श्रावकलोकं व्रतानि समाददानमनुस्मृत्य समाचरितप्रणामः सुनन्दनामेतरगमनमभिनन्दनं भगवन्तमात्मोचितं व्रतमयाचत ।

भगवानपि—

उपकाराय सर्वस्य पर्जन्य इव धार्मिकः ।
तस्य पात्रास्थीनविचिन्तेय वृत्तिरत्र हितोक्तिषु ॥३१२॥

"स्वयम्भूरमण समुद्रमें महामत्स्यके कानमें रहने वाला तन्दुलमत्स्य बुरे संकल्पसे नरक में गया ॥३११॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें मांसकी इच्छा मात्र करनेका फल बतलानेवाला
चौबीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अब मांस त्यागके फलके सम्बन्धमें एक कथा कहते हैं, उसे सुनें—

१२ मांसत्यागी चाण्डालकी कथा

अवन्तिदेशकी उज्जयिनी नामकी नगरीमें नगरके बाहर चण्ड नामका एक चाण्डाल रहता था । एक दिन वह चाण्डाल मौज ले रहा था । उसके एक ओर मांसके व्यंजन रखे हुए थे । दूसरी ओर शराबसे भरे कलश रखे थे । चाण्डाल मांसके व्यंजनोंके साथ शराब पीता जाता था और बीच-बीचमें चमड़ेकी रस्सी बटता जाता था । आकाशमें उड़ते हुए एक पक्षीशावकका मुँह खुल जानेसे एक सर्प शराबमें आ गिरा था और उससे शराब विषैली हो गयी थी । इसी समय धर्मोपदेश तथा जन्मान्तरकी कथाओंके द्वारा लोगोंका उपकार करनेके लिए भ्रमण करते हुए दो चारण ऋद्धिके धारी मुनियोंको पासमें ही आकाशसे उतरते हुए देखकर चाण्डालको बड़ा कुतूहल हुआ । वह भी उनके समीप गया । वहाँ नगरके श्रावकोंको व्रत ग्रहण करते हुए देखकर उसने उन्हें प्रणाम किया और सुनन्दन मुनिके अग्रवर्ती भगवान् अभिनन्दन मुनिसे अपने योग्य व्रतकी याचना की ।

'जैसे मेघ सबके उपकारके लिए है वैसे ही धार्मिक पुरुष भी सबके उपकारके लिए हैं ।

---

१ क्षिप्रमत्स्य किलैकोऽसौ स्वयम्भूरमणाम्बुधौ । महामत्स्यसमान् दोषान् अवाप स्मृतिदोषतः ॥ ४७ ॥ —महापुराण २१ पर्व । २ उज्जयिन्याम् । ३ बाह्य । ४ सुराधारसं—अ । ५ पलोपदंशो—अ । ६ मेघ । ७ एष उत्तम एष नीच धर्मकथने इति चिन्ता न सर्वथा धर्मो वाच्यः ।

इत्यवगम्य सम्यगवधिबोधोपयोगाद[1]वगतैतद्रासन्नपरा[2]सुतायोगस्तन्मातङ्गमेवमवोचत्–'अहो मातङ्ग, तदु[3]भयान्तरालसज्जां रज्जुं सृजतस्तन्मध्ये तव तन्निवृत्तिव्रतम्' इति। मातङ्गस्तथा प्रतिपद्योपस[4]र्द्य च तमवकाश[5] पिशितं[6] प्राश्य[7] 'यावदहमिदं स्थानकं नायामि तावन्मेऽस्य निवृत्ति.' इत्यभिधाय समासादितमदिरास्थानः प्रतिपन्नपानस्तदुग्रतरगरभराल्लघूल्लङ्घितमतिप्रसरस्तन्निर्वृत्तिमलभमानचित्तोऽपि प्रेत्य[10] तावन्मात्रव्रतमाहात्म्येन यक्षकुले यक्षमुख्यत्वं प्रतिपेदे।

भवति चात्र श्लोक —

चण्डोऽवन्तिषु मातङ्गः पिशितस्य निवृत्तित.।
अत्यल्पकालभाविन्याः प्रपेदे यक्षमुख्यताम् ॥३१३॥

इत्युपासकाध्ययने मासनिवृत्तिफलाख्यानो नाम पञ्चविंशतितमः कल्प.।

अथ के ते उत्तरगुणाः—

[11]अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणा स्युर्द्वादशोत्तरे ॥३१४॥

और जैसे स्थान और अस्थानका विचार किये बिना मेघ सर्वत्र बरसता है वैसे ही धार्मिक पुरुष भी हितकी बात कहनेमें स्थान और अस्थानका विचार नहीं करते ॥३१२॥' ऐसा सोचकर भगवान् अभिनन्दन मुनिने अवधिज्ञानसे जाना कि यह चाण्डाल जल्द ही मरने वाला है। अत वे उससे बोले–'भाई चाण्डाल! मास खाने और शराब पीनेके बीचमें जितनी देर तुम रस्सी बाँटो उतनी देरके लिए तुम मास और शराबका त्याग कर दो।'

चाण्डालने इस बातको स्वीकार कर लिया। और वहाँसे चलकर अपने स्थानपर आया। मासके पास जाकर उसने मास खाया और सकल्प किया कि जबतक फिर मै इस स्थानपर नहीं आऊँगा तबतकके लिए मेरे मासका त्याग है। इसके बाद वह शराबके पास गया और वहाँ उसने शराब पी। पीते ही तीव्र जहरके प्रभावसे उसकी बुद्धि कुण्ठित हो गयी। अत यद्यपि वह उसका त्याग नहीं कर सका फिर भी मरकर उतने ही व्रतके प्रभावसे यक्षकुलमें प्रधान यक्ष हुआ।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है–

"अवन्ति देशमें चण्ड नामका चाण्डाल बहुत थोडी देरके लिए मासका त्याग कर देनेसे मरकर यक्षोंका प्रधान हुआ ॥३१३॥"

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें मास त्यागके फलको कहनेवाला पच्चीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

श्रावकोंके उत्तरगुण

[अब श्रावकोंके उत्तरगुण बतलाते हैं—]

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह उत्तरगुण है ॥३१४॥

---

१ ज्ञात। २ मरण। ३. यस्मिन् पार्श्वे यद्भुक्त तत्समीप त्यक्त्वा द्वितीयवार यावन्नायाति तावत्कालपर्यन्त तद्व्रतम्। ४ गत्वा। ५ स्थानम्। ६. मासम्। ७ भुक्त्वा। ८ शीघ्रम्। ९ मद्यनियमम। १० मृत्वा। ११ 'पंचेवणुव्वयाइ गुणव्वयाइ हवति तह तिण्णि। सिक्खावय चत्तारि सजमचरण च सायार' ॥ २ ॥ —चारित्रप्राभृत। 'गृहिणा त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मक चरणम्। पञ्चत्रिचतुर्भेद त्रय यथासख्यमाख्यातम् ॥५१॥' —रत्नकरण्ड श्रा०। 'अणुव्रतानि पञ्चैव त्रि प्रकार गुणव्रतम्। शिक्षाव्रतानि चत्वारि इत्येतद्द्वादशात्मकम् ॥' —वरागचरित १५,१११। 'व्रतान्यणूनि पञ्चैषा शिक्षा चोक्ता चतुर्विधा। गुणास्त्रयो यथाशक्तिनियमास्तु सहस्रश ॥१८३॥'—पद्मपु०, पर्व १४। पद्मनन्दि पञ्च६० पृ० १९

तत्र—

> हिंसास्तेयानृताब्रह्मपरिग्रहविनिग्रहाः ।
> एतानि देशतः पञ्चाणुव्रतानि प्रचक्षते ॥२१५॥
> संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते ।
> प्रवृत्तिविनिवृत्ती वा सदसत्कर्मसंभवे ॥२१६॥
> हिंसायामनृते चौर्यामब्रह्मणि परिग्रहे ।
> दृष्टा विपत्तिरत्रैव परत्रैव च दुर्गतिः ॥२१७॥

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका एक देश त्याग करनेको पाँच अणुव्रत कहते हैं ॥ २१५ ॥

व्रतका लक्षण

सेवनीय वस्तुका इरादापूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा अच्छे कार्योंमें प्रवृत्ति और बुरे कार्योंसे निवृत्तिको व्रत कहते हैं ॥२१६॥

भावार्थ—किसी वस्तुके सेवन न करनेका नाम व्रत नहीं है किन्तु उसका बुद्धिपूर्वक त्याग करके सेवन न करना व्रत कहलाता है, क्योंकि किसी वस्तुके सेवन नहीं करनेमें तो अनेक कारण हो सकते हैं। कोई अच्छी न लगनेके कारण किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। कोई न मिलनेके कारण किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। कोई स्वास्थ्यके अनुकूल न होनेके कारण किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। कोई बदनामीके भयसे किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। किन्तु यदि वह वस्तु उसे अच्छी लगने लगे, या बाजारमें मिलने लगे, या स्वास्थ्यके अनुकूल पड़ने लगे या बदनामीका भय जाता रहे तो वह उस वस्तुको तुरन्त सेवन करने लगेगा। परन्तु जो किसी वस्तुके सेवन न करनेका नियम ले लेता है वह अपने नियमकाल तक किसी भी अवस्थामें उस वस्तुका सेवन नहीं करता। अतः केवल सेवन न करनेका नाम व्रत नहीं है बल्कि समझ-बूझकर त्याग कर देनेका नाम व्रत है।

पाँचों पापोंमें बुराई

हिंसा करने, झूठ बोलने चोरी करने, कुशील सेवन करने और परिग्रहका संचय करनेसे इसी लोकमें मुसीबत आती देखी जाती है और परलोकमें भी दुर्गति होती है ॥२१७॥

भावार्थ—भारतीय पिनलकोडमें जिन जुर्मोंके लिए सजा देनेका विधान है वे सब जुर्म प्रायः इन पाँच पापोंमें ही सम्मिलित हैं। हिंसा करनेसे फाँसी तक हो जाती है। झूठी बात कहने झूठी गवाही देनेसे जेलकी हवा खानी पड़ती है। चोरी करनेसे भी यही दण्ड भोगना पड़ता है। दुराचार करनेसे जेलखानेकी साथ-ही-साथ बेतोंकी भी सजा मिलती है। और

---

१ अणे [illegible] थूले मोसे तिविहा थूले य । परिहारो परपिम्मे परिग्गहारम्भपरिमाणं ॥२१॥ —चारित्र प्रा० । हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च । पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४९॥ —रत्नकरण्ड श्रा० । [illegible] स्थूलादिरविविधानतया । [illegible] ॥१८४॥ [illegible] पञ्चधर्मसत्यमिदं व्रतम् । ॥१८५॥ —महापु० पर्व १४ । २ संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः । निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि ॥ ८ ॥ सागारधर्मामृत अ० २ । ३ सर्वार्थसिद्धि अ० ७ सू० इसके विवरणके लिए देखें ।

यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहापनम् ।
सा हिंसा रक्षणं तेषामहिंसा तु सतां मता ॥३१८॥
विकथाक्षकषायाणां निद्रायाः प्रणयस्य च ।
अभ्यासाभिरतो जन्तु प्रमत्त' परिकीर्तितः ॥३१९॥
देवतातिथिपित्रर्थं मन्त्रौषधभयाय वा ।
न हिंस्यात्प्राणिनः सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥३२०॥

अनुचित तरीकेसे ज्यादा सामग्री इकट्ठी कर लेनेपर भी सजाका भय बना ही रहता है। तथा परिग्रहीको चोरोंका डर भी सताता रहता है, इसके कारण वह रातको आरामसे सो भी नहीं पाता। जब इसी लोकमें इन पाँच पापोंके कारण इतनी विपत्ति उठानी पड़ती है तब परलोकका तो कहना ही क्या है।

अहिंसा

[अब अहिंसा धर्मका वर्णन करते हैं—]

प्रमादके योगसे प्राणियोंके प्राणोंका घात करना हिंसा है और उनकी रक्षा करना अहिंसा है ॥३१८॥ जो जीव ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रियाँ, निद्रा और मोहके वशीभूत है उसे प्रमादी कहते हैं ॥ ३१९ ॥

भावार्थ—प्रमादके पन्द्रह भेद हैं—४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रियाँ, एक निद्रा और एक मोह। विकथा खोटी कथाको कहते हैं जैसे स्त्रियोंकी चर्चा करना, भोजनकी चर्चा करना, चोरोंकी चर्चा करना, ये चर्चाएँ प्राय कामुकता और मनोविनोदके लिए की जाती हैं और उनसे लाभके बजाय हानि होती है। अतः जो मनुष्य इस प्रकारकी चर्चाओंमें रस लेता है वह प्रमादी है। क्रोध, मान, माया और लोभको कषाय कहते हैं। जो क्रोध करता है, मान करता है, मायाचार करता है या लोभी है वह तो प्रमादी है ही, क्योंकि ऐसा आदमी कभी भी अपने कर्तव्यके प्रति सावधान नहीं रह सकता। इसी तरह जो पाँचों इन्द्रियोंका दास है उन्हींकी तृप्तिमें लगा रहा है वह भी प्रमादी है। ऐसे लोग किसीका घात करते हुए नहीं सकुचाते। यही बात निद्रा और मोहके सम्बन्धमें जाननी चाहिए। अत प्रमादके योगसे जो प्राणोंका घात किया जाता है वह हिंसा है किन्तु जहाँ प्रमाद नहीं है वहाँ किसीका घात हो जानेपर भी हिंसा नहीं कहलाती है। इसका खुलासा पहले कर आये हैं।

देवताके लिए, अतिथिके लिए, पितरोंके लिए, मन्त्रकी सिद्धिके लिए, औषधिके लिए, अथवा भयसे सब प्राणियोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। इसे अहिंसाव्रत कहते हैं ॥३२०॥

---

१ 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा ॥' —तत्त्वार्थसूत्र ७-१३। २ 'विकहा तहा कसाया इंदिय णिद्दा तहेव पणयो य। चदु चदु पण एगेगं होंति पमादा हु पण्णरसा ॥ १५ ॥' —पञ्चसग्रह-जीवसमास। ३ 'मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि। अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनु ॥' —मनुस्मृति ५-४१। 'देवतातिथिप्रीत्यर्थं मन्त्रौषधिभयाय वा। न हिंस्या प्राणिन सर्वे अहिंसा नाम तद्व्रतम्।' —वराग च० १५-११२। 'देवतातिथिमन्त्रौषधपित्रादिनिमित्ततोऽपि सम्पन्ना। हिंसा धत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥२९॥' —अमित० श्रावकाचार ६ परि०। 'उक्त च—देवता मन्त्रौषधिभयेन वा। —धर्मरत्ना०, पृ० ८५।

तत्र—

हिंसास्तेयानृताब्रह्मपरिग्रहविनिग्रहाः ।
एतानि देशतः पञ्चाणुव्रतानि प्रचक्षते ॥३१५॥
सङ्कल्पपूर्वकः सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते ।
प्रवृत्तिविनिवृत्ती वा सदसत्कर्मसम्भवे ॥३१६॥
हिंसायामनृते चौर्यामब्रह्मणि परिग्रहे ।
दृष्टा विपत्तिरत्रैव परत्रैव च दुर्गतिः ॥३१७॥

हिंसा, झूठ, चोरी कुशील और परिग्रहका एक देश त्याग करनेको पाँच अणुव्रत कहते हैं ॥ ३१५ ॥

व्रतका लक्षण

सेवनीय वस्तुका इरादापूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा अच्छे कार्योंमें प्रवृत्ति और बुरे कार्योंसे निवृत्तिको व्रत कहते हैं ॥३१६॥

भावार्थ—किसी वस्तुके सेवन न करनेका नाम व्रत नहीं है किन्तु उसका बुद्धिपूर्वक त्याग करके सेवन न करना व्रत कहलाता है, क्योंकि किसी वस्तुके सेवन नहीं करनेमें तो अनेक कारण हो सकते हैं। कोई अच्छी न लगनेके कारण किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। कोई न मिलनेके कारण किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। कोई स्वास्थ्यके अनुकूल न होनेके कारण किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। कोई बदनामीके भयसे किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। किन्तु यदि वह वस्तु उसे अच्छी लगने लगे, या बाजारमें मिलने लगे, या स्वास्थ्यके अनुकूल पड़ने लगे या बदनामीका भय जाता रहे तो वह उस वस्तुको तुरन्त सेवन करने लगेगा। परन्तु जो किसी वस्तुके सेवन न करनेका नियम ले लेता है वह अपने नियमकाल तक किसी भी अवस्थामें उस वस्तुका सेवन नहीं करता। अतः केवल सेवन न करनेका नाम व्रत नहीं है बल्कि समझ-बूझकर त्याग कर देनेका नाम व्रत है।

पाँचों पापोंमें बुराई

हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने, कुशील सेवन करने और परिग्रहका संचय करनेसे इसी लोकमें मुसीबत आती देखी जाती है और परलोकमें भी दुर्गति होती है ॥३१७॥

भावार्थ—भारतीय पिनलकोडमें जिन जुर्मोंके लिए सजा देनेका विधान है वे सब जुर्म प्राय इन पाँच पापोंमें ही सम्मिलित हैं। हिंसा करनेसे फाँसी तक हो जाती है। झूठी बात कहने झूठी गवाही देनेसे जेलकी हवा खानी पड़ती है। चोरी करनेसे भी यही दण्ड भोगना पड़ता है। दुराचार करनेसे जेलखानेकी साथ-ही-साथ बेतोंकी भी सजा मिलती है। और

---

१ 'भूमे तथकायवहे भूके मोसे तिविसु चूके य। परिहारो परसिम्मे परिग्गहारम्भपरिमाणं ॥२१॥ —चारि प्रा । हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च। पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४९॥ —रत्नकरण्ड श्रा । प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छाभ्यः। स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति ॥५२॥ —रत्नकरण्ड श्रा। ...॥१८४॥ अमन्त्रावारण यदौन्या वस्त्रसंस्पर्शमिदं व्रतम्। ... ॥१८५॥ —पद्मपु पर्व १४। २ संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः। निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि ॥ ८ ॥ सागारधर्मामृत अ २। ३ सर्वार्थसिद्धि अ ७, सू इसके विवरणके लिए देखें।

अतिप्रसङ्गहानाय तपसः परिवृद्धये ।
अन्तरायाः स्मृता सद्भिर्व्रतबीजविनिर्क्रियाः[1] ॥३२४॥
अहिंसाव्रतरक्षार्थं[2] मूलव्रतविशुद्धये ।
निशायां वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥३२५॥

चमडा, कुत्ता वगैरहसे छू जाना, भोजनके पदार्थोंमें 'यह मासकी तरह है' इस प्रकारका बुरा सकल्प हो जाना, भोजनमें मक्खी वगैरहका गिर पडना, त्याग की हुई वस्तुको खा लेना, मारने, काटने, रोने, चिल्लाने आदिकी आवाज सुनना, ये सब भोजनमें विघ्न पैदा करनेवाले है । अर्थात् उक्त अवस्थाओंमें भोजन छोड़ देना चाहिए ॥३२३॥ ये अन्तराय व्रतरूपी बीजकी रक्षाके लिए बाडके समान हैं । इनके पालनेसे अतिप्रसङ्ग दोषकी निवृत्ति होती है और तपकी वृद्धि होती है ॥३२४॥

भावार्थ—भोजन करते समय यदि ऊपर कही हुई चीजोंको देख ले या उनसे छू जाये या ऊपर बतलायी हुई बातोंमें-से कोई और बात हो जाये तो भोजन छोड़ देना चाहिए । क्यों कि उस अवस्थामें भी यदि भोजन नहीं छोड़ा जायेगा तो बुरी वस्तुओंसे घृणा धीरे-धीरे दूर हो जायेगी और उसके दूर होनेसे मन कठोर होता जायेगा, बुरी वस्तुओंके प्रति अरुचि हटती जायेगी और फिर एक समय ऐसा भी आ सकता है जब उन बुरी वस्तुओंमें प्रवृत्ति होने लगे । इस तरह यह अतिप्रसङ्ग दोष उपस्थित हो सकता है । इससे बचनेके लिए अन्तरायोंका पालन करना जरूरी है । तथा ऐसी अवस्थामें भोजनके छोड देनेसे तपकी वृद्धि भी होती है, क्योंकि इच्छाके रोकनेको तप कहते हैं । भोजनके बीचमें अन्तरायके आ जानेपर भी भूख तो भोजन चाहती है अत मन भोजनके लिए लालायित रहता है । किन्तु समझदार व्रती भूखकी परवाह न करके भोजन छोड़ देता है और इस तरह वह खानेकी इच्छापर विजय पाकर अपने तपको बढ़ाता है । अत अन्तरायोंका पालना आवश्यक है । वे व्रतरूपी बीजकी बाडके समान है । जैसे खेतमें बीज बोकर उसकी रक्षाके लिए चारों ओर कॉटे वगैरहकी बाड़ लगा देते हैं उससे कोई पशु वगैरह भीतर घुसकर खेतीको नहीं चर पाता ; वैसे ही अन्तरायोंका पालन भी व्रतोंकी रक्षा करता है ।

रात्रि-भोजन त्याग

अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए और मूलव्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिए इस लोक और परलोकमें दु ख देनेवाले रात्रि-भोजनका त्याग कर देना चाहिए ॥३२५॥

भावार्थ—रातमें भोजन करनेसे हिंसा अवश्य होती है, क्योंकि सूर्यके सिवा अन्य जितने भी कृत्रिम प्रकाश हैं उनमें जीवोंका बाहुल्य देखा जाता है । रात्रिमें दीपक या बिजलीकी

यदि पश्येत तदन्न तु परित्यजेत् ॥' —व्यास. । 'चाण्डालपतितोदक्यावाक्य श्रुत्वा द्विजोत्तम । भुञ्जीत ग्रासमात्र चेद्दिनमेकमभोजनम् ॥' —कात्यायन । —आह्निक प्रकरण पृ० ४८२ पर उद्धृत ।

१. व्रतबीजवृत्तय । 'अतिप्रसङ्गमसितु परिवर्धयितु तप । व्रतबीजवृती भुक्तेरन्तरायान् गृही श्रयेत् ॥ ३० ॥' —सागारधर्मामृत ४ अ० । २ 'अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये । नक्त भुक्ति चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥' —सागारधर्मा०, ४-२४ । 'निशायामशन हेयमहिंसाव्रतवृद्धये । मूलव्रतविशुद्धयर्थ यमार्थ परमार्थत. ॥ ५१ ॥' —प्रबोधसार पृ० ८४ ।

गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत् ।
द्रवद्रव्याणि सर्वाणि पटपूतानि योजयेत् ॥३२१॥
आसनं शयनं मार्गमन्नमन्यच्च वस्तु यत् ।
अदृष्टं तन्न सेवेत यथाकालं भजन्नपि ॥३२२॥
दर्शनस्पर्शसंकल्पसंसर्गत्यक्तभोजिता ।
हिंसनाक्रन्दनप्रायाः प्रायःप्रत्यूहकारकाः ॥३२३॥

भावार्थ—मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायमें मांससे श्राद्ध करनेका विधान है तथा यह भी बतलाया है कि किस मांससे श्राद्ध करनेसे कितने दिन तक पितृ लोग तृप्त रहते हैं। पाँचवें अध्यायमें यज्ञके लिए पशुवध करनेका तथा मांस खानेका विधान है। उत्तररामचरितमें लिखा है कि जब वशिष्ठ ऋषि वाल्मीकि ऋषिके आश्रममें पहुँचे तो उनके आतिथ्य-सत्कारके लिए वाल्मीकि ऋषिने गायकी बछियाका वध कराया। ये सब कार्य हिंसा ही हैं। इसी तरहकी बातोंको देखकर ग्रन्थकारने देवता और अतिथिके लिए पशुघात करनेका निषेध किया है। आश्चर्य है कि धर्मके नामपर भी हिंसाका पोषण किया गया है। जब कि हिंसासे बड़ा कोई अधर्म नहीं है। इसी तरह दवाईके लिए भी किसीका घात नहीं करना चाहिए, क्योंकि अपने जीवनकी रक्षाके लिए दूसरोंके जीवनको नष्ट कर देनेका हमें क्या अधिकार है ?

पानी वगैरहको छानकर काममें लाओ

घरके सब काम देख-भाल कर करना चाहिए। और पतली वस्तुओंको कपड़ेसे छानकर ही काममें लाना चाहिए। आसन शय्या, मार्ग, अन्न और भी जो वस्तु हो, समयपर उसका उपयोग करते समय बिना देखे उपयोग नहीं करना चाहिए ॥३२१-३२२॥

भावार्थ—प्रत्येक वस्तुको देख-भाल कर काममें लानेकी आदत डालनेसे तथा पानी वगैरहको छानकर काममें लानेसे मनुष्य हिंसासे ही नहीं बचता, किन्तु बहुत-सी मुसीबतोंसे भी बच जाता है। उदाहरणके लिए प्रत्येक वस्तुको देख भाल कर काममें लानेकी आदतसे साँप, बिच्छू वगैरहसे बचाव हो जाता है। शय्याको बिना झाड़े उपयोगमें लानेसे अनेक मनुष्य साँपके शिकार बन चुके हैं। बिना देखे चाहे जहाँ हाथ डाल देनेसे भी ऐसी ही घटनाएँ प्रायः घटती हैं। बिना छाने या बिना देखे-भाले पानी पी लेनेसे मुरादाबाद जिलेके एक गाँवमें एक लड़केके मुँहमें बिच्छू चला गया था और उसके कारण उस लड़केकी मौत बिच्छूके डंक मारते रहनेसे बड़ी कष्टकर हुई थी। अतः प्रत्येक वस्तुको देखकर ही काममें लाना चाहिए और पानी वगैरह कपड़ेसे छानकर ही काममें लाना चाहिए।

भोजनके अन्तराय

ताजा चमड़ा हड्डी, मांस, खून और पीब वगैरहका देखना, रजस्वला स्त्री, सूखा

---

१ दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् । —मनुस्मृति अ. ६।४६। २ 'आसनं शयनं मार्गमन्नमन्यच्च' —सागारधर्मा. पृ. १२ । ३ भोजनान्तरायाः । दृष्ट्वार्द्रचर्मास्थिसुरामांसासृक्पूयपूर्वकम् । स्पृष्ट्वा रजस्वलाशुष्कचर्मास्थिशुनकादिकम् । श्रुत्वातिकर्कशाक्रन्दविड्वरप्रायनिःस्वनम् । भुक्त्वा नियमितं वस्तु भोज्येऽशक्यविवेचने ॥ संसृष्टे सति जीवद्भिर्जीवैर्वा बहुभिर्मृतैः । इदं मांसमिति दृष्टसंकल्पे चाशनं त्यजेत् ॥ —सागारधर्मामृत ४ अ. श्लो. ३२-३३ । 'दर्शनमपि [illegible] । [illegible]

अतिप्रसङ्गहानाय तपसः परिवृद्धये ।
अन्तरायाः स्मृता सद्भिर्व्रतबीजविनिक्रियाः ॥३२४॥[1]
अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये ।[2]
निशायां वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥३२५॥

चमडा, कुत्ता वगैरहसे छू जाना, भोजनके पदार्थोंमें 'यह मासकी तरह है' इस प्रकारका बुरा सकल्प हो जाना, भोजनमें मक्खी वगैरहका गिर पडना, त्याग की हुई वस्तुको खा लेना, मारने, काटने, रोने, चिल्लाने आदिकी आवाज सुनना, ये सब भोजनमें विघ्न पैदा करनेवाले है । अर्थात् उक्त अवस्थाओंमें भोजन छोड़ देना चाहिए ॥३२३॥ ये अन्तराय व्रतरूपी बीजकी रक्षाके लिए बाडके समान है । इनके पालनेसे अतिप्रसङ्ग दोषकी निवृत्ति होती है और तपकी वृद्धि होती है ॥३२४॥

भावार्थ—भोजन करते समय यदि ऊपर कही हुई चीजोंको देख ले या उनसे छू जाये या ऊपर बतलायी हुई बातोंमें-से कोई और बात हो जाये तो भोजन छोड़ देना चाहिए । क्यों कि उस अवस्थामें भी यदि भोजन नहीं छोडा जायेगा तो बुरी वस्तुओसे घृणा धीरे-धीरे दूर हो जायेगी और उसके दूर होनेसे मन कठोर होता जायेगा, बुरी वस्तुओंके प्रति अरुचि हटती जायेगी और फिर एक समय ऐसा भी आ सकता है जब उन बुरी वस्तुओमें प्रवृत्ति होने लगे । इस तरह यह अतिप्रसङ्ग दोष उपस्थित हो सकता है । इससे बचनेके लिए अन्तरायोंका पालन करना जरूरी है । तथा ऐसी अवस्थामें भोजनके छोड देनेसे तपकी वृद्धि भी होती है, क्योंकि इच्छाके रोकनेको तप कहते हैं । भोजनके बीचमें अन्तरायके आ जानेपर भी भूख तो भोजन चाहती है अत मन भोजनके लिए लालायित रहता है । किन्तु समझदार व्रती भूखकी परवाह न करके भोजन छोड देता है और इस तरह वह खानेकी इच्छापर विजय पाकर अपने तपको बढ़ाता है । अत अन्तरायोंका पालना आवश्यक है । वे व्रतरूपी बीजकी बाडके समान हैं । जैसे खेतमें बीज बोकर उसकी रक्षाके लिए चारों ओर कॉटे वगैरहकी बाड लगा देते हैं उससे कोई पशु वगैरह भीतर घुसकर खेतीको नहीं चर पाता ; वैसे ही अन्तरायोंका पालन भी व्रतोंकी रक्षा करता है ।

रात्रि-भोजन त्याग

अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए और मूलव्रतोको विशुद्ध रखनेके लिए इस लोक और परलोकमें दु ख देनेवाले रात्रि-भोजनका त्याग कर देना चाहिए ॥३२५॥

भावार्थ—रातमें भोजन करनेसे हिंसा अवश्य होती है, क्योंकि सूर्यके सिवा अन्य जितने भी कृत्रिम प्रकाश हैं उनमें जीवोंका बाहुल्य देखा जाता है । रात्रिमें दीपक या बिजलीकी

यदि पश्येत तदन्न तु परित्यजेत् ॥' —व्यास. । 'चाण्डालपतितोदक्यावाक्य श्रुत्वा द्विजोत्तम । भुञ्जीत ग्रासमात्र चेद्दिनमेकमभोजनम् ॥' —कात्यायन । —आह्निक प्रकरण पृ० ४८२ पर उद्धृत ।

१. व्रतबीजवृत्तय । 'अतिप्रसङ्गमसितु परिवर्धयितु तप । व्रतबीजवृती भुक्तेरन्तरायान् गृही श्रयेत् ॥ ३० ॥' —सागारधर्मामृत ४ अ० । २ 'अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये । नक्त भुक्ति चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥' —सागारधर्मा०, ४-२४ । 'निशायामशन हेयमहिंसाव्रतवृद्धये । मूलव्रतविशुद्धयर्थ यमार्थ परमार्थत. ॥ ५१ ॥' —प्रबोधसार पृ० ८४ ।

आश्रितेषु च सर्वेषु यथावद्विहितस्थितिः ।
गृहाश्रमी समीहेत शारीरेऽवसरे स्वयम् ॥३२६॥
सन्धानं पानकं धान्यं पुष्पं मूलं फलं दलम् ।
जीवयोनि न संग्राह्यं यच्च जीवैरुपद्रुतम् ॥३२७॥
[1]अभिन्नं [2]भिन्नमुत्सर्गि[3] कालदेशदशाश्रयम् ।
वस्तु किंचित्परित्याज्यमपीहास्ति जिनागमे ॥३२८॥
यदन्तः सुषिरप्रायं हेयं नालीनलादि तत् ।

रोशनीपर इतने जीव मँडराते देखे जाते हैं कि जिनकी संख्याका अन्दाजा भी लगाना कठिन है। ऐसे समयमें रातमें खानेवाला कैसे उनसे बच सकता है ? उसके भोजनमें वे जीव बिना पड़े रह नहीं सकते। और इस तरह भोजनके साथ उनका भी भोजन हो जाता है। ऐसी स्थितिमें न तो अहिंसा व्रतकी ही रक्षा हो सकती है और न अष्ट मूलगुण ही रह सकते हैं। रातके खानेमें केवल इतनी ही बुराई नहीं है। कभी-कभी तो विषैले जन्तुओंके संसर्गसे दूषित भोजनके कर लेनेपर जीवनका ही अन्त हो जाता है। जैसा कि एक बार लाहौरमें एक दावतमें चायके साथ छिपकलीके भी चुर जानेसे बहुत-से आदमी उसे पीकर बेहोश हो गये थे। यदि मकड़ी भोजनमें चली जाये तो कोढ़ पैदा कर देती है। यदि बालोंकी जूं पेटमें चली जाये तो जलोदर रोग हो जाता है। अतः दिनमें सूर्यके प्रकाशमें ही भोजन करना चाहिए।

गृहस्थको चाहिए कि जो अपने आश्रित हों पहले उनको भोजन कराये पीछे स्वयं भोजन करे ॥३२६॥ अचार, पानक, धान्य, फूल, मूल, फल और पत्तोंके जीवोंकी योनि होनेसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। तथा जिसमें जीवोंका वास हो ऐसी वस्तु भी काममें नहीं लानी चाहिए ॥ ३२७ ॥

भावार्थ—अधिक दिनोंका मुरब्बा, अचार, मद्य और मांसके तुल्य हो जाता है अतः मर्यादाके भीतर ही उसका सेवन करना चाहिए। पेय भी सब ताजे और साफ होने चाहिए। अनाज घुना हुआ नहीं होना चाहिए और न इतना अन्न संग्रह ही करना चाहिए कि घुन लग जाये। फल, फूल, शाक-सब्जी वगैरह भी साफ कर ही काममें लाना चाहिए। गन्दे सड़े हुए या कीड़ा खायी सब्जी प्रत्येक दृष्टिसे अभक्ष्य है।

जिनागममें कोई वस्तु अकेली त्याज्य बतलायी है कोई वस्तु किसीके साथ मिल जानेसे त्याज्य हो जाती है। कोई सदा त्याज्य होती है और कोई अमुक काल अमुक देश और अमुक दशामें त्याज्य होती है ॥३२८॥

अहिंसा पालनके लिए अन्य आवश्यक बातें

जिनके बीचमें छिद्र रहते हैं जैसे कमलदंड वगैरह शाकोंको नहीं खाना चाहिए।

१ केवलम्। २ संयुक्तम्। ३ निरवद्यम्। अपि वर्ज्यं विवर्जयेत् । —सागारधर्मा० अ० ५ श्लो० १०[illegible] । ... —चन्द्र हारीत—११ [illegible] ॥ ४ [illegible] ॥ ४९ ॥ —सागारधर्मा० अ० ५ श्लो० १७ । [illegible] ॥१६॥ —सागारधर्मा० ५ अ० ।

अनन्तकायिकप्राय[1] वल्लीकन्दादिकं[2] त्यजेत् ॥३२९॥
छिद्दल[3]-छिद्दलं[4] प्राश्यं प्रायेणानवतां गतम् ।
शिम्बयः[5] सकलास्त्याज्या साधिता सकलाश्च याः ॥३३०॥
तत्राहिंसा कुतो यत्र वह्वारम्भपरिग्रहः ।
वञ्चके च कुशीले च नरे नास्ति दयालुता ॥३३१॥
शोकसंतापसंक्रन्दपरिदेवनदुःखधी ।
भवन्स्वपरयोर्जन्तुरसद्वेद्याय[6] जायते ॥३३२॥
कषायोदयतीव्रात्मा भावो यस्योपजायते ।
जीवो जायेत चारित्रमोहस्यासौ[7] समाश्रयः ॥३३३॥

और जो अनन्तकाय है, जैसे लता, सूरण वगैरह, उन्हें भी नहीं खाना चाहिए ॥ ३२९ ॥

पुराने मूग, उडद, चना वगैरहको दलनेके बाद ही खाना चाहिए, बिना दले सारा मूंग, सारा उड़द वगैरह नहीं खाना चाहिए । और जितनी साबित फलियों है चाहे वे कच्ची हों या आगपर पकायी गयी हो, उन्हें नहीं खाना चाहिए । उन्हे खोलकर शोधनेके बाद ही खाना चाहिए ॥३३०॥ जहाँ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह है वहाँ अहिंसा कैसे रह सकती है ? तथा ठग और दुराचारी मनुष्यमे दया नहीं होती ॥ ३३१ ॥

भावार्थ—बहुत आरम्भ करनेवाले और बहुत परिग्रह रखनेवाले कभी अहिंसक हो ही नहीं सकते क्योंकि आरम्भ और परिग्रह हिंसाका मूल है । इसीलिए सागारधर्मामृतमें लिखा है कि जो सन्तोष धारण करके अल्प आरम्भ करता है और अल्पपरिग्रह रखता है उसीका मन शुद्ध रहता है और वही अहिंसाणुव्रतका पालन कर सकता है । इसी तरह व्यभिचारी और ठग भी निर्दय हो जाते हैं । जो दूसरोंको सताते है, खूब क्रोध वगैरह करते है उनके परिणाम भी सदा खराब रहते हैं और उससे उन्हें अशुभ कर्मका बन्ध होता है ।

जो मनुष्य स्वयं शोक करता है तथा दूसरोंके शोकका कारण बनता है, स्वय सन्ताप करता है तथा दूसरोके सतापका कारण बनता है, स्वय रोता है तथा दूसरोंको रुलाता या कलपाता है, स्वय दु:खी होता है और दूसरोंको दु:खी करता है, वह असातावेदनीय कर्मका बन्ध करता है ॥३३२॥ जिसके कषायके उदयसे अति सक्लिष्ट परिणाम होते है वह जीव चारित्रमोहनीय कर्मका बन्ध करता है ॥३३३॥

'सन्धान पुष्पित मिश्र पुष्प मूल फल दलम् । तथान्तर्विवरप्राय हेय नालीनलादि यत् ॥४९॥' —प्रबोधसार ।

१ गुडुच्यादि । २ सूरणादि । ३ द्विदल द्विदल हेय ।—धर्मरत्ना०, पृ० ८५ उ० । मापमुद्गादि । ४ द्विखण्डम् । 'आमगोरससम्पृक्त द्विदलं प्रायशोऽनवम् । वर्षास्वदलित चात्र पत्रशाक च नाहरेत् ॥१८॥' —सागारधर्मा० ५ अ० । 'वहुशोऽनन्तदेहास्त्वमृतवल्ल्यादिसश्रया ॥ शिम्बयोऽपि न हि प्राश्या यतस्तास्त्रसहिता ॥५०॥' —प्रबोधसार । ५ 'सिवय ' अ० ज० । मिद्धय मु० । फल्य । ६ 'दु खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य' —तत्त्वार्थसूत्र० ६-११ । ७ 'कपायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य' —तत्त्वार्थसूत्र ६-१४ ।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि यथाक्रमम्।
सत्त्वे गुणाधिके क्लिष्टे निर्गुणेऽपि च भावयेत् ॥३३४॥
कायेन मनसा वाचा परे सर्वत्र देहिनि।
अदुःखजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविदां मता ॥३३५॥
तपोगुणाधिके पुंसि प्रश्रयाश्रयनिर्भरः।
जायमानो मनोरागः प्रमोदो विदुषां मतः ॥३३६॥
दीनाभ्युद्धरणे बुद्धिः कारुण्यं करुणात्मनाम्।
हर्षामर्षोज्झिता वृत्तिर्माध्यस्थ्यं निर्गुणात्मनि ॥३३७॥
इत्थं प्रयतमानस्य गृहस्थस्यापि देहिनः।
करस्थो जायते स्वर्गो नास्य दूरं च तत्पदम् ॥३३८॥
पुण्यं तेजोमयं प्राहुः प्राहुः पापं तमोमयम्।
तत्पापं पुंसि किं तिष्ठेद्दयादीधितिमालिनि ॥३३९॥
सा क्रिया कापि नास्तीह यस्यां हिंसा न विद्यते।
विशिष्येते परं भावावत्र मुख्यानुषङ्गिकौ ॥३४०॥
[4]अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक्।
अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥३४१॥

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाका स्वरूप

सब जीवोंसे मैत्री भाव रखना चाहिए। जो गुणोंमें अधिक हों उनमें प्रमोद भाव रखना चाहिए। दुःखी जीवोंके प्रति करुणा भाव रखना चाहिए। और जो निर्गुण हों, असभ्य और उद्धत हों उनके प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए ॥ ३३४ ॥ 'अन्य सब जीवोंको दुःख न हो' मन, वचन और कायसे इस प्रकारका बर्ताव करनेको मैत्री कहते हैं ॥३३५॥ तप आदि गुणोंसे विशिष्ट पुरुषको देखकर जो विनयपूर्ण हार्दिक प्रेम उमड़ता है उसे प्रमोद कहते हैं ॥३३६॥ दयालु पुरुषोंकी गरीबोंका उद्धार करनेकी भावनाको कारुण्य कहते हैं। और उद्धत तथा असभ्य पुरुषोंके प्रति राग और द्वेषका न होनेको माध्यस्थ्य कहते हैं ॥३३७॥ जो प्राणी गृहस्थ होकर भी इस प्रकारका प्रयत्न करता है, स्वर्ग तो उसके हाथमें है और मोक्ष भी दूर नहीं है ॥ ३३८ ॥ पुण्यको प्रकाशमय कहते हैं और पापको अन्धकारमय कहते हैं। दयारूपी सूर्यके होते हुए क्या पुरुषमें पाप ठहर सकता है ? ॥ ३३९ ॥ ऐसी कोई क्रिया नहीं है जिसमें हिंसा नहीं होती। किन्तु हिंसा और अहिंसाके लिए गौण और मुख्य भावोंकी विशेषता है ॥३४०॥ संकल्पमें भेद होनेसे धीवर नहीं मारते हुए भी पापी है और किसान मारते हुए भी पापी नहीं है ॥३४१॥

---

१ 'मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु' —तत्त्वा. सू. ७-११।
२ 'परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री। वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः। दीनानुग्रहभावः कारुण्यम्। रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थम्। —सर्वार्थसिद्धि ७-११। उक्तं— कायेन मनसा वाचा सर्वेष्वपि च देहिषु। —धर्मर. प. ९९ पू.। ३ माध्यस्थ्यं समुदाहृतं ॥५९॥ —धर्मर. प. ८९ पू.।
४ 'आरम्भेऽपि सदा हिंसां सुधीः सांकल्पिकीं त्यजेत्। घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः ॥२२॥ —सागारधर्मा. अ. २। घ्नतोऽपि न भवेत् पापमघ्नतोऽपि भवेद्ध्रुवम्। परिणामविशेषेण हि स्यात्तद्धि शुभाशुभम् ॥५६॥ —प्रबोधसार।

केस्यचित्सन्निविष्टस्य दारान्मातरमन्तरा।
वपुःस्पर्शाविशेषेऽपि शेमुषी तु विशिष्यते ॥३४२॥

तदुक्तम्—

"परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः कुशलाः।
तस्मात्पुण्योपचयः पापापचयश्च सुविधेयः" ॥३४३॥

—आत्मानुशासन, श्लो० २३।

वपुषो वचसो वापि शुभाशुभसमाश्रया।
क्रिया चित्तादचिन्त्येयं तदत्र प्रयतो भवेत् ॥३४४॥
क्रियान्यत्र[2] क्रमेण स्यात्कियत्स्वेव च वस्तुषु।
जगत्त्रयादपि स्फारा चित्ते तु क्षणतः क्रिया ॥३४५॥

भावार्थ—हिंसा और अहिंसाका विवेचन करते हुए पहले बतला आये हैं कि किसीका घात हो जानेसे ही हिंसाका पाप नहीं लगता। ससारमें सर्वत्र जीव पाये जाते है और वे अपने निमित्तसे मरते भी है फिर भी मात्र इतनेसे ही उसे हिंसा नहीं कह सकते। वास्तवमें तो हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है। जहाँ हिंसारूप परिणाम है वहाँ किसी अन्यका घात न होनेपर भी हिंसा होती है और जहाँ हिंसारूप परिणाम नहीं है वहाँ अन्यका घात हो जानेपर भी हिंसा नहीं होती। उदाहरणके लिए धीवर और किसानको उपस्थित किया जा सकता है। एक मच्छीमार धीवर मछली मारनेके उद्देश्यसे पानीमें जाल डालकर बैठा है। उसके जालमें एक भी मछली नहीं आ रही है फिर भी धीवर हिंसक है क्योंकि उसके परिणाम मछली मारनेमें लगे है। दूसरी ओर एक किसान है वह अन्न उपजानेकी भावनासे खेतमें हल चलाता है। हल चलाते समय बहुतसे जीव उसके हलसे मरते जाते हैं किन्तु उसका भाव जीवोंके मारनेका नहीं है बल्कि खेत जोत बोकर अन्न उत्पन्न करनेका है अत वह मारते हुए भी पापी नहीं है। इसीलिए गृहस्थको सबसे पहले सकल्पी हिंसाका त्याग करना आवश्यक बतलाया है।

एक आदमी पत्नीके समीप बैठा है और एक आदमी माताके समीप बैठा है। दोनों ही नारीके अगका स्पर्श करते है किन्तु दोनोंकी भावनाओंमें बड़ा अन्तर है ॥३४२॥

कहा भी है—

'कुशल मनुष्य परिणामोंको ही पुण्य और पापका कारण बतलाते हैं। अत' पुण्यका सचय करना चाहिए और पापकी हानि करनी चाहिए' ॥३४३॥

मनके निमित्तसे ही शरीर और वचनकी क्रिया भी शुभ और अशुभ होती है। मनकी शक्ति अचिन्त्य है। इसलिए मनको ही शुद्ध करनेका प्रयत्न करो ॥३४४॥ शरीर और वचनकी क्रिया तो क्रमसे होती हैं और कुछ ही वस्तुओंको अपना विषय बनाती हैं। किन्तु मनमें तो तीनों लोकोंसे भी बड़ी क्रिया क्षण-भरमें हो जाती है। अर्थात् मन एक क्षणमें तीनों लोकोंके बारेमें सोच सकता है ॥३४५॥

---

१ 'भावशुद्धिर्मनुष्याणां विज्ञेया सर्वकर्मसु। अन्यथा चुम्ब्यते कान्ता भावेन दुहितान्यथा ॥' —सुभाषितावलि, पृ० ४९३। २. काये वचसि च।

तथा च लोकोक्तिः—

"एकस्मिन्मनसः कोणे पुंसामुत्साहशालिनाम् ।
अनायासेन संमान्ति भुवनानि चतुर्दश" ॥३४६॥
भूपयःपवनाग्नीनां तृणादीनां च हिंसनम् ।
यावत्प्रयोजनं स्वस्य तावत्कुर्यादजन्तु यत् ॥३४७॥
ग्रामस्वामिस्वकार्येषु यथालोकं प्रवर्तताम् ।
गुणदोषविभागेऽत्र लोक एव यतो गुरुः ॥३४८॥
दर्पेण वा प्रमादाद्वा द्वीन्द्रियादिविराधने ।
प्रायश्चित्तविधिं कुर्याद्यथादोषं यथागमम् ॥३४९॥

इसी विषयमें एक कहावत भी है—

'उत्साही मनुष्योंके मनके एक कोनेमें बिना किसी प्रयासके चौदह भुवन समा जाते हैं' ॥ ३४६ ॥

भावार्थ—पहले बतला आये हैं कि जो काम अच्छे भावोंसे किया जाता है उसे अच्छा कहते हैं और जो काम बुरे भावोंसे किया जाता है उसे बुरा कहते हैं। अतः वचनकी और कायकी क्रिया तभी अच्छी कही जायेगी जब उसके कर्ताके भाव अच्छे हों। अच्छे इरादेसे बच्चोंको पीटना भी अच्छा है और बुरे इरादेसे उन्हें मिठाई खिलाना भी अच्छा नहीं है। अतः मनकी खराबीसे वचनकी और कायकी क्रिया खराब कही जाती है और मनकी अच्छाईसे अच्छी कही जाती है। इसीलिए मनकी शक्तिको अचिन्त्य बतलाया है। मन एक ही क्षणमें दुनिया-भर की बातें सोच जाता है किन्तु जो कुछ वह सोच जाता है उसे एक क्षणमें न कहा जा सकता है और न किया जा सकता है। अतः मनका सुधार करना चाहिए।

पृथ्वी, जल, हवा, आग और तृण वगैरहकी हिंसा उतनी ही करनी चाहिए जितनेसे अपना प्रयोजन हो ॥३४७॥

भावार्थ—जीव दो प्रकारके बतलाये हैं त्रस और स्थावर। त्रस जीवोंकी हिंसा न करनेके विषयमें ऊपर कहा गया है। स्थावर जीवोंकी भी उतनी ही हिंसा करनी चाहिए जितनेके बिना सांसारिक काम न चलता हो। व्यर्थ जमीनका खोदना पानीको व्यर्थ बहाना, व्यर्थ हवा करना व आग जलाना और बिना जरूरतके पेड़-पत्तोंको तोड़ना आदि काम नहीं करना चाहिए। आशय यह है कि मिट्टी, पानी, हवा, आग और लकड़ीका भी दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।

नागरिक कार्योंमें, स्वामीके कार्योंमें और अपने कार्योंमें लोकरीतिके अनुसार ही प्रवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि इन कार्योंकी भलाई और बुराईमें लोक ही गुरु है। अर्थात् लौकिक कार्योंको लोकरीतिके अनुसार ही करना चाहिए ॥३४८॥

प्रायश्चित्तका विधान

मदसे अथवा प्रमादसे द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवोंका घात हो जानेपर दोषके अनुसार आगममें बतलायी गयी विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥३४९॥

---

१ —दजन्तुजित्—सागारधर्मा० पृ० १२१। —यं तु यत् मु०।

प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनो भवेत् ।
एतच्छुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तं प्रचक्षते ॥३५०॥
द्वादशाङ्गधरोऽप्येको न कृच्छ्रं दातुमर्हति ।
तस्माद्बहुश्रुताः प्राज्ञाः प्रायश्चित्तप्रदाः स्मृताः ॥३५१॥
मनसा कर्मणा वाचा यद्दुष्कृतमुपार्जितम् ।
मनसा कर्मणा वाचा तत्तथैव विहापयेत् ॥३५२॥
आत्मदेशपरिस्पन्दो योगो योगविदां मतः ।
मनोवाक्कायतस्त्रेधा पुण्यपापास्रवाश्रयः ॥३५३॥

प्रायश्चित्तका स्वरूप

'प्राय' शब्दका अर्थ (साधु) लोक है। उसके मनको चित्त कहते हैं। अतः साधु लोगोंके मनको शुद्ध करनेवाले कामको प्रायश्चित्त कहते हैं ॥३५०॥

प्रायश्चित्त देनेका अधिकार

द्वादशांगका पाठी होनेपर भी एक व्यक्ति प्रायश्चित्त देनेका अधिकारी नहीं है। अतः जो बहुश्रुत अनेक विद्वान् होते हैं वे ही प्रायश्चित्त देते हैं ॥३५१॥

मनके द्वारा, वचनके द्वारा अथवा कायके द्वारा जो पाप किया है उसे मनके द्वारा, वचनके द्वारा अथवा कायके द्वारा ही छुड़वाना चाहिए ॥३५२॥

योगका स्वरूप, भेद और कार्य

योगके ज्ञाता पुरुष आत्माके प्रदेशोंके हलन-चलनको योग कहते हैं। वह योग मन, वचन और कायके भेदसे तीन प्रकारका होता है और उसीके निमित्तसे पुण्यकर्म और पापकर्मका आस्रव होता है ॥३५३॥

भावार्थ—जीवकाण्ड गोमट्टसारमें योगका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्मके उदयसे मन, वचन और कायसे युक्त जीवकी जो शक्ति कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण है उसे योग कहते हैं। इस योग शक्तिके द्वारा जीव शरीर, वचन और मनके योग्य पुद्गल वर्गणाओंका ग्रहण करता है और उनके ग्रहण करनेसे आत्माके प्रदेशोंमें कम्पन होता है। यदि वह कम्पन काय-वर्गणाके निमित्तसे होता है तो उसे काययोग कहते हैं, यदि वचन वर्गणाके निमित्तसे होता है तो उसे वचनयोग कहते हैं और यदि मनोवर्गणाके निमित्तसे होता है तो मनोयोग कहते हैं। इन योगोंके होनेपर जीवके पुण्य और पाप कर्मोंका आस्रव होता है। ये तीनों योग शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारके होते हैं।

---

१ 'प्रायः साधुलोकः, प्रायस्य यस्मिन् कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम्। अपराधो वा प्रायः, चित्तं शुद्धिः, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तम् अपराधविशुद्धिरित्यर्थः।' —तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ६२०। भगवती आराधना (गा० ५२९) की अपराजिता टीकामें उद्धृत है—'चित्तशुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्'॥ उसी गाथाकी मूलाराधना टीकामें भी उद्धृत है—'तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमितीरितम्'॥ किन्तु अनगारधर्मामृत टीका (पृ० ४९५) में उपासकाध्ययनवाले पाठको लिये हुए ही उद्धृत है। 'तदुक्तम्—प्रायो लोको जिनैरुक्तश्चित्तं तस्य मनो मतम्। तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तं निगद्यते' ॥६४॥—धर्मरत्ना०, पृ० ८७ पू०। २ प्रायश्चित्तम्। ३ 'आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगः। स निमित्तभेदेन त्रिधा भिद्यते। काययोगो वाग्योगो मनोयोग इति'। —सर्वार्थसिद्धि ६-१।

हिंसनाब्रह्मचौर्यादि काये कर्माशुभं विदुः ।
असत्यासभ्यपारुष्यप्रायं वचनगोचरम् ॥३५४॥
[2]मदेर्ष्यासूयनादि स्यान्मनोव्यापारसंश्रयम् ।
[3]एतद्विपर्ययाज्ज्ञेयं शुभमेतेषु तत्पुनः ॥३५५॥
हिरण्यपशुभूमीनां कन्याशय्यान्नवाससाम् ।
दानैर्बहुविधैश्चान्यैर्न पापमुपशाम्यति ॥३५६॥
लङ्घनौषधसाध्यानां व्याधीनां बाह्यको विधिः ।
यथाकिञ्चित्करो लोके तथा पापेऽपि मन्यताम् ॥३५७॥
निरस्य निखिलं पापं मनोवाग्देहदण्डनैः ।
करोतु सकलं कर्म दानपूजादिकं ततः ॥३५८॥
आमप्रवृत्तेर्निवृत्तिर्मे सर्वस्येति कृतक्रियः ।
संस्मृत्य गुरुनामानि कुर्यान्निद्रादिकं विधिम् ॥३५९॥

शुभाशुभ योग

हिंसा करना, कुशील सेवन करना, चोरी करना आदि कायसम्बन्धी अशुभ कर्म जानना चाहिए। झूठ बोलना, असभ्य वचन बोलना और कठोर वचन बोलना आदि वचनसम्बन्धी अशुभ कर्म जानना चाहिए ॥३५४॥ घमण्ड करना, ईर्ष्या करना दूसरोंकी निन्दा करना आदि मनोव्यापार सम्बन्धी अशुभ कर्म हैं। तथा इससे विपरीत करनेसे काय, वचन और मन सम्बन्धी शुभ कर्म जानना चाहिए। अर्थात् हिंसा न करना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य पालन करना आदि कायिक शुभ कर्म हैं। सत्य और हित मित वचन बोलना आदि वचन सम्बन्धी शुभ कर्म हैं। अर्हन्त आदि की भक्ति करना, तपमें रुचि होना, ज्ञान और ज्ञानियोंकी विनय करना आदि मानसिक शुभ कर्म हैं ॥३५५॥

पापसे बचनेका उपाय

सोना, पशु, जमीन, कन्या, शय्या, अन्न, वस्त्र तथा अन्य अनेक वस्तुओंके दान देनेसे पाप शान्त नहीं होता ॥३५६॥ जो रोग उपवास करने और औषधीका सेवन करनेसे दूर होते हैं जैसे उनके लिए केवल-बाह्य उपचार व्यर्थ होता है वैसे ही पापके विषयमें भी समझना चाहिए। अर्थात् मन वचन और कायको वशमें किये बिना केवल बाह्य वस्तुका त्याग कर देने मात्रसे पाप रूपी रोग शान्त नहीं होता ॥३५७॥ इसलिए पहले मन, वचन और कायको वशमें करके समस्त पापके कारणोंको दूर करो। फिर दान पूजा वगैरह सब काम करो ॥३५८॥

रात्रिका कर्तव्य

रात्रिको जब सोना हो तो सन्ध्याकालका अतिक्रम करके यह प्रतिज्ञा करो कि जबतक मैं गार्हस्थिक कार्योंसे विरत न रहूँ तबतकके लिए मैं सबका त्याग है। और फिर पञ्च नमस्कार

१ प्राणातिपातः स्तैन्यं च परदाराभिगोऽपि च। त्रीणि पापानि कायेन नित्यशः परिवर्जयेत्॥ असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा। चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत्॥ अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम्। कर्मणां फलमस्तीति मनसा त्रिविधं चरेत्॥ —सुभाषितावली पृ ४९२४ । २ ईर्ष्यासूयादि पापं हेतु विदुः । पैशुन्यमसत्यप्रायं भावोऽशुभं तथा ॥५८॥ —प्रवचनसार ।

देवादायुर्विरामे स्यात्प्रत्याख्यानफलं[1] महत् ।
भोगशून्यमतः कालं[2] नावहेदव्रतं व्रती ॥३६०॥
एका जीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः ।
परं फलं तु पूर्वत्र[3] कृषेश्चिन्तामणेरिव ॥३६१॥
आयुष्मान्सुभगः श्रीमान्सुरूपः कीर्तिमान्नरः ।
अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥३६२॥

श्रूयतामत्र हिंसाफलस्योपाख्यानम्—अवन्तिदेशेषु सकललोकमनोहरागमारामे शिरीषग्रामे मृगसेनाभिधानो मत्स्यबन्धः स्कन्धावलम्बितगलजालाद्युपकरणः [4]पृथुरोमसमानयनोपनीत[5]विहरणः कल्लोलजलप्ला[6]वितकूलशालेयमालवप्रां[7] सिप्रां सरितमनुसरन्नशेषमहर्षिपरिषद्धर्ममखिलमहाभागभूपतिपरिकल्पितसपर्यं मिथ्यात्वविरहितधर्मचर्यं[8] श्रीयशोधराचार्यं निचाय्य[9] समासन्नसुकृतासाद्यहृदयत्वाद्दूरादेव परित्यक्तपापसंपादनोपकरणग्रामः[10] [11]ससंभ्रमं सपादितदीर्घप्रणामः प्रकामप्रगलदेनाः समाहितमनाः 'साधुसमाजसत्तम, समस्तमहामुनिजनोत्तम, दैवादुपपन्नपुण्यगृह्यभावोऽनुगृह्यतां कस्यचिद्व्रतस्य प्रदानेनायं जनः' इत्यभाषत ।

मत्रका स्मरण करके निद्रा वगैरह ले ॥३५९॥ क्योंकि दैववश यदि आयु समाप्त हो जाये तो त्यागसे बड़ा लाभ होता है। इसलिए व्रतीको चाहिए कि जिस कालमें वह भोग न करता हो उस कालको बिना व्रत के न जाने दे। अर्थात् उतने समयके लिए भोगका व्रत ले ले ॥३६०॥

जीव दयाका महत्त्व

अकेली जीव दया एक ओर है और बाकीकी सब क्रियाएँ दूसरी ओर हैं। अर्थात् अन्य सब क्रियाओंसे जीव दया श्रेष्ठ है। अन्य सब क्रियाओंका फल खेतीकी तरह है और जीवदयाका फल चिन्तामणि रत्नकी तरह है—जो चाहो सो मिलता है। अकेले एक अहिंसा व्रतके प्रतापसे ही मनुष्य चिरजीवी, सौभाग्यशाली, ऐश्वर्यवान्, सुन्दर और यशस्वी होता है ॥३६१-३६२॥

१३ अहिंसाव्रतके पालक मृगसेन धीवरकी कथा

अब अहिंसाव्रतके फलके सम्बन्धमें एक कथा सुनें—

अवन्ति देशके शिरीष नामक गाँवमें मृगसेन नामका धीवर रहता था। एक दिन वह कन्धेपर जाल रखकर मछली लानेके लिए सिप्रा नदीकी ओर चला। रास्तेमें उसने मुनियोंकी परिषद्के बीचमें बैठे हुए तथा राजाओंसे पूजित और मिथ्यात्वसे रहित धर्मका आचरण करनेवाले आचार्य श्री यशोधरको देखा। अपने पापार्जनमें सहायक जाल वगैरह उपकरणोंको दूरसे ही छोड़कर वह आचार्यके पास गया और जल्दीसे साष्टांग नमस्कार करके बड़ी धीरताके साथ बोला—'हे साधु-समाजमें श्रेष्ठ और समस्त महामुनियोंमें उत्तम मुनिराज! आज भाग्यसे ही पुण्य संचयका यह अवसर मिला है अतः कोई व्रत देकर मुझे अनुगृहीत करें।'

---

१ सन्यासफलम् । २ नियमं विना कालं न गमयेत् । ३ अन्यासां क्रियाणां फलं कृषिवत्, दयायास्तु चिन्तामणिवत् । ४ मत्स्य । ५ कृत । ६ प्लावित ज० । ७ वृक्षश्रेणितटाम् । ८ मिथ्यात्वेन विरहिता धर्मचर्या चारित्रं यस्य स तम् । ९ अवलोक्य । १० समूह । ११ सादरम् ।

भगवान्—'ननु कथमस्य [1]बकस्येव सदैव [2]शकुलिविनाशनिःशूकाशयवशस्य व्रतग्रहणोपदेशे प्रवीणमन्तःकरणमभूत्। अस्ति हि लोके प्रवादः, न खलु प्रायेण प्राणिनां प्रकृतेर्विकृतिरायत्यां[3] शुभमशुभं वा विना भवति' इत्युपयुक्तावधिः सम्यगवबुद्धसौविदभेतद्भवी चिताधिपस्तमेवमवादीत्—'भद्रो शुभमल्पायतन प्रथममाह्नि यस्त्वयानायेवानाये मीनः समापतति स त्वया न प्रमापयितव्यः। यावच्चारभे[4]वृत्तिविषयमामिषं न प्राप्नोषि तावत्तव तन्निवृत्तिः[11]। अयं पुनः पञ्चत्रिंशदक्षरपवित्रो मन्त्रः सर्वदा सुस्थितेन दुःस्थितेन च त्वया ध्यातव्यः' इति।

मृगसेनः—'यथादिशति भवानस्तथास्तु' इत्यभिनिविश्य[12] तां शैवे[13]लिनीमनुसृत्य अमितमालयेयो[14]ऽकौलेयमतनूकरण[15] "वैसारिणमासाद्य स्मृतव्रतस्तस्य[16] [17]श्रवसि चिह्नाय[18] चीरचीरीं[19] निबध्यात्याक्षीत्[20]। पुनरपरावकाशे[21] तीरिणीमवेश तथैवाक्रूरतरश्मर्मा समापतितकर्मा [22]तमेवापद्मलीप्पमक्षीणायुषमवाप्यामुञ्चत। तदेवमेतस्मिन्ननुपिण्डे पाठीनपरिष्ठे पञ्चकृत्वो लग्ने विपद्यमने मुच्यमाने सति [24]"मस्तमस्तकमभ्यास्त[25]" [26]घोषंघुसृणरसारुणित परभ्रपुरपुरन्ध्रीकपोलकान्तिशाली गमस्तिमाली[27]। तदनु त गृहीतव्रतापरित्यागमोदमानचेतन मृगसेनमधार्मिकलोकव्यतिरिक्त[28] रिक्तमागच्छन्तं परिविभाव्य प्रवृद्धकोपापरिहार्या तद्भार्या घण्टाख्या यमघण्टेव किमपि कर्णकटु क्वणन्ती कुटीरान्तर्निभृतशरीरा निर्विघ्नैरपरर

यह सुनकर मुनिराज सोचने लगे—'बगुलेकी तरह सदैव मछलियोंके मारनेमें निःशङ्कचित्त इस धीवरका मन व्रतग्रहण करनेके लिए कैसे हुआ? लोकमें किंवदन्ती है कि प्रायः उत्तर कालमें होनेवाले शुभाशुभके बिना प्राणियोंका स्वभाव नहीं बदलता' यह सोचकर उन्होंने अवधिज्ञानका उपयोग किया और उसे अल्पायु जानकर बोले—'हे सत्पात्र! आज तुम्हारे जालमें जो पहली मछली आये उसे मत मारना। तथा जब तक अपनी जीविकारूप मांस तुम्हें प्राप्त न हो तब तकके लिए तुम्हारे मांसका त्याग है। और यह पैंतीस अक्षरका पवित्र नमस्कार मन्त्र है, सदा सुख-दुःखमें इसका ध्यान करना।'

मृगसेनने 'जो आज्ञा' कहकर व्रत ग्रहण कर लिये और नदीपर आकर जाल डाल दिया। जल्दी ही उसके जालमें एक बड़ी मछली आ गयी। उसने अपने व्रतका स्मरण करके पहचानके लिए उसके कानमें कपड़ेकी चिन्दी बाँधकर जलमें छोड़ दिया। फिर उसने दूसरे स्थानसे नदीमें जाल डाला किन्तु वही मछली जालमें फिर आ गयी। अतः उसे अवध्य जानकर छोड़ दिया। इस प्रकार पाँच बार वही मछली जालमें आयी और पाँचों बार उसने उसे जलमें छोड़ दिया। इतनेमें प्रचुर केसरसे युक्त स्त्रीके कपोलकी तरह कान्तिवाला सूर्य अस्त हो गया। और मृगसेन स्वीकार किये हुए व्रतका पालन करनेसे प्रसन्नचित्त होता हुआ खाली हाथ घर लौटा।

उसे खाली हाथ आता देखकर उसकी पत्नी घण्टा बड़ी क्रुद्ध हुई और यमराजके घण्टेकी

१ बकस्य। २ मत्स्य विनाशे। ३ निर्दयस्य। ४ उत्तरकाले। ५. समीप। ६ भवति। ७ प्रथमम्। ८ जाले। ९ न मारणीयः। १० स्वकरमानीतम्। ११ मांसस्य नियमः। १२ अभिप्राय कृत्वा। १३ शिप्रां नदीम्। १४ धीवरम्। १५. बृहच्छरीरम्। १६ मत्स्यम्। १७ मत्स्यस्य। १८ कर्णे। १९. अभिज्ञानाय। २० वस्त्रम्। २१ त्यजति स्म। २२ स्थाने। २३ मत्स्यम्। २४ अस्तपर्वते। २५ आश्रित। २६ प्रचुरघुसृणयुक्तकपोलवत् शोभमान। २७ सूर्य। २८ गृहागमनम्। २९. भार्या। ३० भित्तिर्व्यवधानं कपाटं।

प्रदायास्थात्। मृगसेनोऽपि तया निरुद्धवेश्मप्रवेशनस्तन्मन्त्रस्मरणशक्तचित्तः[1] पुराणतर-तरुभित्तमुच्छीर्षे[2] विधाय सान्द्रं निद्रायन्नेतत्तरुभित्ताभ्यन्तरविनिःसृतेन[3] सरीसृपसुतेन[4] दष्टः कष्टमवस्थान्तरमाविष्टो[5] व्युष्टसमये घण्टया दृष्टः। पुनरनेन सार्धमुपर्बुधमध्यानुग-मोचितनिश्चययात्मनि विहितबहुनिन्दया शोचितश्च। ततः सा 'यदेवास्य व्रतं तदेव ममापि। जन्मान्तरे चायमेव मे पति' इत्यावेदितनिदाना समितसमिद्धमहसि द्रविणोदसि[7] हव्यसम-स्नेहं देहं[8] जुहाव[9]।

अथ विलासिनीविलोचनोत्पलपुनरुक्तवन्दनमालायां[10] विशालाया[11] पुरि विश्वगुणा महादेवीश्वरो विश्वम्भरो विश्वम्भरो नाम नृपतिः धनश्रीपतिः पिता च दुहितुः[12] सुबन्धो-र्गुणपालो नाम श्रेष्ठी। तस्य किल गुणपालस्य मनोरथपान्थप्रीतिप्रपापालिकायामेतस्या[13] कुलपालिकायामनेन मृगसेनेन समापन्नसत्त्वायां[14] सत्याम्, असौ वसुधापतिर्विटकथा-संसृष्टतया प्रतिपन्नपाञ्चजनीनभावो[15] नर्मभर्मनाम्नो नर्मसचिवस्य सुताय नर्मधर्मणे गुण-पालश्रेष्ठिनमखिलकलाकलापालंकृतरूपसमन्विता सुतामयाचत। श्रेष्ठी दुष्प्रज्ञेन राज्ञा तथा याचित 'यदि नर्मसचिवसुताय सुता वितरामि[16] तदावश्यं कुलक्रमव्यतिक्रमो दुरपवादोप-क्रमश्च। अथ[17] स्वामिशासनमतिक्रम्यात्रैवासे तदा सर्वस्वापहारः प्राणसंहारश्च' इति निश्चित्य

तरह गाली-गलौज बकती-झकती अपनी झोपडीमें चली गयी और अन्दरसे दरवाजा बन्द करके बैठ गयी।

मृगसेन भी अपनी पत्नीके द्वारा घरमें प्रवेश करनेसे रोक दिये जानेपर पञ्च-नमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हुए एक पुराने वृक्षकी जड़को तकिया बनाकर गाढ़ नींदमें सो गया। जब वह गाढ़ नींदमें था तभी उस वृक्षकी जडसे निकलकर एक साँपने उसे डस लिया और वह बडे कष्टसे मर गया। प्रभात होनेपर घण्टाने उसे उस अवस्थामें देखा। उसने अपनी निन्दा करते हुए बडा पश्चात्ताप किया। और उसीके साथ अग्निमें जल जानेका निश्चय किया। तथा उसने निदान किया कि जो इसका व्रत था वही मेरा भी है और दूसरे जन्ममे भी यही मेरा पति हो। उसके बाद उसने आग प्रदीप्त की और उसमें होम सामग्रीके समान स्नेहसे पूरित शरीरको होम दिया।

विशाला नगरीमें विश्वम्भर नामका राजा राज्य करता था। उसकी पटरानीका नाम विश्व-गुणा था। वहीं गुणपाल नामका सेठ रहता था। उसकी पत्नीका नाम धनश्री था और पुत्रीका नाम सुबन्धु था। गुणपाल सेठकी पत्नी धनश्री गर्भवती हुई और मृगसेन धीवरका जीव उसके गर्भमे आया। राजा विश्वम्भरको विटोंकी सगतिके कारण भाण्डजन बहुत प्रिय थे। अत उसने नर्मभर्म नामके विदूषकके पुत्र नर्मधर्मके लिए गुणपालसे उसकी समस्त कलाओंमें प्रवीण सुन्दरी कन्याकी याचना की। दुर्बुद्धि राजाकी इस माँगसे गुणपाल विचारमें पड गया। 'यदि विदूषकके पुत्रको कन्या देता हूँ तो अवश्य ही कुलपरम्पराका लघन होता है और अपवाद भी फैलता है। और यदि राजाज्ञाको न मानकर भी यहाँ रहता हूँ तो सर्वस्व अपहरणके साथ-साथ प्राण भी जाते हैं।' ऐसा सोचकर उसने रत्नजटित करधौनीसे शोभित अपनी पत्नीको तो अपने

१ पञ्चनमस्कार मन्त्र। २ जीर्णवृक्षखण्डकाष्ठम्। ३ निद्रा कुर्वन्। ४ सर्पेण। ५ प्रभातकाले। ६ अग्नि। ७ अग्नौ। ८ घृतवत् चिक्कणम्। ९ आहुतीचकार। १० तोरण। ११ उज्जयिन्याम। १२. सुबन्धुपुत्रीतात। १३ भार्यायाम्। १४ गर्भिण्याम्। १५ पाञ्चजनीन भण्टप्रिय। १६ ददामि। १७ राजादेशम्।

प्रियसुहृदः श्रीदत्तस्य वणिक्पतेर्निकेतने सम्पणिमेकलकलत्रं कलत्रमनपत्याप्य स्वोपतेयसारं दुहितरं चा मसातकस्य सुलभकेलिवनवनोपवनविवेश कौशाम्बीदेशमयासीत् ।

अत्रान्तरे श्रीमद्दरिद्रमन्दिरनिर्विशेषमाचरितचर्योपचरनी शिवगुप्तमुनिगुप्तनामानौ मुनी श्रीदत्तमतिनिवेशननिवासिनोपासकेन यथाविधिविहितप्रतिग्रहौ कृतोपचारविभक्ती च ताम् अङ्गणाभर्या धनश्रियमपश्यताम् ।

तत्र मुनिगुप्तभगवान्किल केवलजलस्नानपरम्परापुष्पमुद्गमलीमसगात्राभोगत्वियम वैधव्यचिह्नस्वरकमात्रालंकारगुपमासकान्तापत्यपरिजनविरहवेदनार्तां गर्भगौरवखेदां च शिशिराजस्रवारुणपरम्परावर्तिनीं स्वप्नकमलिनीमिव मलिनच्छविमुद्वसिततैपरिसरे परगृहवास- 'विशीर्यमाणमुखश्रिय धनश्रियं निध्याय' 'अहो महीयसा खलु एनसामायास कोऽप्यस्या कुक्षौ महापुरुषोऽवतीर्णो येनावतीर्णमात्रेणापि दुष्पुत्रेणेव वराकी इयत्क्लेशा दशामधिशयत' इत्यभाषत । मुनिरूपो शिवगुप्त—'मुनिगुप्त मैवं भाषिष्ठा यतो यद्यपीयं श्रेष्ठिनी कानि चिद्दिनान्येवम्भूता सती [11]पराधिष्ठाने तिष्ठति तथाप्येतदपत्येन सकलवणिक्पतिना राजश्रेष्ठिना निरवधिश्रियं धीश्वरेण विश्वम्भरेश्वरसुतावरणं च भवितव्यम्' इत्यबोधत् ।

एतच्च स्वकीयमन्दिरालिन्दगतः[12] श्रीदत्तो निशम्य 'न खलु प्रायेणासत्यमिदमुक्तं भविष्यति महर्षेः' इत्यवधार्य सुधीमुखसपदरीहितदत्तचेतोवृत्तिरासीत् । धनश्रीश्च परि

प्रिय मित्र श्रीदत्त सेठके घरमें रखा और पुत्रीको साथ लेकर बाग-बगीचोंसे शोभित कौशाम्बीपुरी को चला गया ।

इसी बीचमें धनी और गरीबके मकानका भेद न करके चर्याके लिए भ्रमण करते हुए शिवगुप्त और मुनिगुप्त नामक दो मुनि श्रीदत्तके मकानके सामनेसे निकले । श्रीदत्तके पड़ोसमें रहनेवाले गृहस्थने उन्हें विधिपूर्वक पड़गाहा । और जब वे भोजन कर चुके तो आँगनमें बैठी हुई धनश्रीपर उनकी दृष्टि पड़ी ।

तेलके बिना स्नान करनेसे उसका शरीर रूक्ष हो गया था केवल दो वस्त्र और सधवाके चिह्न स्वरूप बहुत थोड़े अलंकार पहने हुए थी, पति पुत्री और परिजनोंके वियोगसे उसका शरीर खेद खिन्न था, गर्भके भारसे पीड़ित थी शीतऋतुके निरन्तर आगमनसे कुम्हलायी हुई स्थल-कमलिनीकी तरह उसकी कान्ति मलिन हो गयी थी, दूसरेके घरमें रहनेसे मुखकी शोभा चली गयी थी । घरके आँगनमें बैठी हुई धनश्रीको इस रूपमें देखकर मुनिगुप्त मुनि बोले— इसकी कोखमें कोई बड़ा पापी महापुरुष आया जान पड़ता है, जिसके गर्भमें आने मात्रसे इस बेचारीकी यह दुर्दशा हुई है ।'

यह सुनकर शिवगुप्त मुनि बोले—'मुनिगुप्त ! ऐसा मत कहो । यद्यपि यह सेठानी कुछ दिन तक इस तरह पराये घरमें रहेगी फिर भी इसका पुत्र समस्त वैश्योंका स्वामी और अपार सम्पत्तिशाली राजश्रेष्ठी होगा तथा राजा विश्वम्भरकी पुत्रीका वरण करेगा ।

यह बात अपने मकानके बाहर चबूतरेपर खड़े श्रीदत्तने सुनी । 'मुनियोंका कथन झूठ

१ कलत्रं जघन भार्या च । २ धनम् । ३ जलाशय । ४ सधननिर्धनगृहसमचित्त । ५ गुणवत्स्व मुक्ता भगवत्यः यस्याः । ६ दिन । ७ गृहाङ्गणे । ८ स्नान । ९ दृष्ट्वा । १० मुनिश्रेष्ठ । ११ परगृहे । १२ निधि । १३ चत्वरकगत ।

प्राप्तप्रसवदिवसा सती सुतमसूत।

श्रीदत्तः—'चित्रभानुरिवायमाश्रयाशः खलु बालिशः। तदसजातस्नेहायामेवास्य जनन्यामुपांशुदण्डः श्रेयान्' इति परामृश्य प्रसूतिदुःखेनातुच्छमूर्छापाश्रयां धनश्रियमाकलय्य निजपरिजनजरतीमुखेन 'प्रमीत एवायं तनयः संजातः' इति प्रसिद्धिं विधायाकार्ये चैकमाचरितोपचारप्रपञ्चं श्वपचं जिह्मब्राह्मीरहस्यनिकेतः कृतापायसंकेतस्तं स्तनंधयमेतस्मै समर्पयामास।

सोऽपि जनंगमः स्वर्भानुप्रभेण करेण रामरश्मिमिव तं स्तनन्धयमुपरुध्य निःशलाकावकाशं देशमाश्रित्य पुण्यपरमाणुपुञ्जमिव शुभशरीरभाजमेनमवेक्ष्य सजातकरुणारसप्रसरप्रसन्नमुखः सुखेन विनिधाय स्वकीयमटीकत। पुनरस्यैवावरमवभगिनीपतिरशेषापणिकपणपरमेष्ठी इन्द्रदत्तश्रेष्ठी विक्रयाडम्बरितशण्डमण्डलाधीनः पेठोपकण्ठगोष्ठीनमनुसृतो वत्सीयविषयसनीडक्रीडागतगोपालबालकल्पनपरम्परालापाद्वत्सतरतानकसंतानपरिवृतमनेकचन्द्रकान्तोपलान्तरालनिलीनमरुणमणिनिधानमिव तं जातमुपलभ्य स्वयमदृष्टनन्दनवदनत्वात्तद्बुद्ध्या साध्वनुरुध्य 'स्तनन्धयावधानधृतबोधे राधे, तवायं गूढगर्भसंभवस्तनूद्भवः' इति प्रवर्धितप्रसिद्धिर्महान्तमपत्योत्पत्तिमहोत्सवमकार्षीत्।

नहीं होता' यह सोचकर श्रीदत्तने विषधर सर्पकी तरह अपना मन अपने दुष्ट संकल्पकी ओर लगाया।

पूरे दिन होनेपर धनश्रीने पुत्रको जन्म दिया। श्रीदत्तने सोचा—'यह बालक आगकी तरह अपने आश्रयको ही खानेवाला है। इसलिए माताका इसपर स्नेह उत्पन्न होनेके पहले ही इसका गुप्त वध करा डालना श्रेष्ठ है।' प्रसूतिके कष्टसे धनश्रीको एकदम बेहोश देखकर उसने अपने कुटुम्बकी एक बुढ़ियाके द्वारा यह प्रसिद्ध करा दिया कि बच्चा मरा हुआ ही पैदा हुआ है। और घूस वगैरह देकर एक चाण्डालको इस कार्यके लिए तैयार किया तथा उसे बुलाकर उस कुटिल भाषाके रहस्यमें विशारद श्रीदत्तने उसे मारनेका संकेत करके बालकको सौंप दिया।

राहुके समान हाथके द्वारा सूर्यके समान उस बालकको उठाकर वह चाण्डाल एकान्त स्थानमें ले गया। वहाँ पुण्य परमाणुओंके पुंजकी तरह इस सुन्दर बालकको देखकर उसे दया आ गयी और प्रसन्नमुख होकर उसने उस बालकको वहीं सुखसे लिटा दिया तथा अपने घर चला आया।

श्रीदत्तका छोटा बहनोई इन्द्रदत्त श्रेष्ठी व्यापारके लिए उधर गया था। वहाँ उसने शिशुके पास खेलनेके लिए आये हुए ग्वाल-बालकोंके मुखसे उस बालकका समाचार सुना और वह उस स्थानपर गया। वहाँ उसने अनेक बछड़ोंसे घिरे हुए उस शिशुको देखा जो ऐसा प्रतीत होता था, मानो अनेक चन्द्रकान्त मणियोंके बीचमें स्थित लालमणिका खजाना है। उसके कोई पुत्र नहीं था। अतः उसने उसे अपना पुत्र मानकर उठा लिया और पुत्रके लिए अत्यन्त लालायित अपनी पत्नी राधासे बोला—'राधे! तुम्हारे गूढ़ गर्भसे इस शिशुने जन्म लिया है।' उसने सर्वत्र यह बात फैला दी और पुत्रोत्पत्तिकी खुशीमें बड़ा भारी उत्सव किया।

श्रीदत्तने कानों कान यह समाचार सुना और बच्चेको मार डालनेके विचारसे यमराजकी

१ अग्निवत्। २ आश्रयमश्नातीति। ३ तस्मात् कारणात्। ४ गूढवधः। ५ वृद्धा स्त्री। ६ मृत एव जनितः। ७ कुटिलवाणी। ८ बालम्। ९ राहु। १० चन्द्रम्। ११ एकान्तम्। १२ स्वगृहं गतः। १३. श्रीदत्तस्य। १४ लघुभगिनी। १५ वणिग्व्यवहार। १६. गोकुल। १७ वत्सेभ्यो हितप्रदेशः। १८ समीप। १९ मुख। २० लघुवत्स। २१ बालम्।

श्रीदत्तः प्रपणपरम्परया तमेन वृत्तान्तमुपश्रुत्याभिरूप्य च शिशुविनाशनाशयेन कीनाश इव तन्निवेशम् 'इन्द्रदत्त अयं महाभागधेयो भागिनेयो ममैव तावद्गृहे वर्धताम्' इत्यभिधाय समगिनीकं [1]तोकमात्मावासमानीय पुरावत्स्मरमाणः सर्वेपनार्थमन्त्यावसायिने[3] प्रायच्छत्। सोऽपि विधाकीर्तिरुपात्तपुण्यमाप्य सत्वरमुपह्वरगह्वरानुसारी समीरवशविगलितघनाम्बरावरणं [6]हरिणकिरणमिव ईक्षणरमणीयं गुणपालतनयमालोक्य सदयहृदयः प्रबलविटपिसंकटे सरित्तटनिकटे परित्यज्य यथायथमभ्यगात्[7]।

तत्राप्यसौ पुरोपार्जितपुण्यप्रभावादुपमातृभिरिव पयःक्षरणात्क्षरत्क्षीरस्तनीभिरानन्दोदीरितनिर्भरहम्भारम्भाभिः[10] [1]प्रचारागमागताभिः कुण्डोध्नीभिर्धेनुभिः[2] तोकधेनुमिव पय-[3]वत्सविषमागोऽपराह्णसमागतेन तत्क्षणदृष्टेन गोपालजनेन [15]वस्तावतंसमासिन्यशोकस्तबकचुम्बरे[1] सरोजसुहृदि सति विलोकितः। कथितश्च सकलगोष्ठज्येष्ठाय पञ्चकुलवरिष्ठाय निजाननापहसितारविन्दाय गोविन्दाय। सोऽपि पुत्रप्रेम्णा प्रमोदगरिम्णा चानीय अमितहृदयानन्दाया सुनन्दाया समर्पितवान्। अ(क)रोच्चास्येन्दिरामन्दिरस्य[8] धनकीर्तिरिति नाम।

ततोऽसौ क्रमेण मकरन्दपरित्यक्तशैशवदशः कर्मेश इव युवजनमनःपल्लवताम्भोरुहसमये[1] गोपीलोचनालिकुलाय [2]लावण्यलाभ्यमकरन्दमनन्यानन्दकामदमतिकान्तरूपायतनं यौवनमासादित पुनरपि प्राग्भाग्यपरिणामोपार्जनसमागमनेन तेन श्रीदत्तेन दृष्टः। पृष्टश्च गोविन्द

तरह इन्द्रदत्तके घर आया और बोला– इन्द्रदत्त! यह भाग्यशाली भानजा मेरे ही घरमें बड़ा होना चाहिए।' यह कहकर बहिनके साथ बच्चेको अपने घर ले आया और पहलेकी ही तरह मार डालनेके लिए उसे वधिकको दे दिया। वह वधिक भी उस बच्चेको लेकर शीघ्र ही एकान्त गुफाकी ओर चल दिया। हवाके चलनेसे जिसके ऊपरसे मेघपटलका आवरण हट गया है उस चन्द्रमाके समान नयनाभिराम उस बालकको देखकर उसका हृदय भी दयालु हो गया। और नदीके किनारे वृक्षोंके एक झुण्डमें उस बालकको रखकर वह चला गया।

इसके पूर्वोपार्जित पुण्यके प्रभावसे वहाँ भी चरनेके लिए जो गायें आयी थीं वे इसे देखते ही आनन्दसे रभाती हुई इसके पास चली आयीं और उनके थनोंसे दूध झरने लगा। सन्ध्याके समय जब सूर्य डूबने लगा तो उन गायोंके रखवाले ग्वालोंने यह कौतुक देखा और समस्त ग्वालोंके सरदार गोविन्दसे कहा। पुत्र स्नेह वश आनन्दसे गद्‌गद होता हुआ गोविन्द भी उस बालकको घर ले आया और अपनी पत्नी सुनन्दाको सौंप दिया। बालकका नाम धनकीर्ति रखा गया।

धीरे धीरे बचपनको छोड़कर धनकीर्ति असीम आनन्दको देनेवाली तथा अत्यन्त मनोहर रूपकी खानि युवावस्थाको प्राप्त हुआ। श्री कृष्णकी तरह युवाजनोंके मनको चुरानेके लिये चोर रूप तारुण्यसे विकसित गोपिकाओंके लोचनरूपी भ्रमर उसके लावण्यरूपी मकरन्दका पान करनेके लिए आकुल रहते थे। एक दिन घीके व्यापारके निमित्तसे श्रीदत्त उधर आ निकला। उसने देखा और गोविन्दसे पूछा कि यह लड़का उसे कहाँसे मिला? सुनकर श्रीदत्त बोला–

---

१ पुत्रम्। २ पारमार्थम्। ३ मातमाप। ४ एकान्त। ५ वायुवशेन। ६ चन्द्रम्। ७ आगु मनवान्। ८. पायोभिः। ९. धेनु। १ हंभा–शब्दनम्। ११ पुष्पावसानार्थम्। १२ चौरात। १४ समीर। १५. सन्ध्यासमये। १६ गोविन्द—आ। १७ रवौ। १८. लक्ष्मीगृहस्य। १ हरिरिव। २ मनोहरत्वे मन्मथं क्रियाय (?) अवसरायं तारुण्यम्। २१ गोपी। २२ आस्वाद।

स्तदवाप्तिप्रपञ्चम्। श्रीदत्तः—'गोविन्द, मदीये सद्ने किमपि महत्कार्यमात्मजस्य निवेद्यमस्ति। तदयं [1]प्रभुरिमं लेखं ग्राहयित्वा सत्त्वर प्रहेतव्यः[2]।' गोविन्द—'श्रेष्ठिन्, एवमस्तु।' लेखं चैवमलिखत्—'अहो विदितसमस्तपौतवकल[3] महाबल, एष खल्वस्मद्वंशविनाशवैश्वानरोऽवश्यं [4]विष्यो [5]मुशल्यो वा विधातव्य.' इति। धनकीर्तिस्तथा तातवणिक्पतिभ्यामादिष्टः सावष्टम्भं[6] गलालङ्कारसखं लेखं कृत्वा गत्वा च [7]जन्मान्तरोपकाराधीनमीनावतारसरसीमेकानसीं[8] तत्प्रवेशपदिरपर्यन्तवर्तिनि[9] वने वर्त्मश्रमापनयनाय [10]पिकप्रियालवालपरिसरे [11]निःसंज्ञमस्वाप्सीत्।

अत्रावसरे विहितपुष्पावचयविनोदा सपरिच्छदा निखिलविद्याविदग्धा[12] पूर्वभवोपकारस्निग्धा संजीवनौषधिसमानानङ्गसेनानामिका गणिका तस्यैव सहकारतरोस्तलमुपढौक्य विलोक्य च निस्पन्दलोचना चिराय तमनङ्गमिव [13]मुक्तकुसुमास्त्रतन्त्र [14]लोकान्तरमित्रमशेषलक्षणोपलक्षितमूर्तिं धनकीर्तिं पुनरायु श्रीसरस्वतीसमागमादेशरेखात्रयेणेव प्रकटवितर्कितकर्कोटत्रयेण[15] वन्धुरमध्यप्रदेशात्कण्ठदेशादादायापायप्रतिपादनाक्षरालेखं लेखमवाचयत्। लिलेख च तं वाणिजकापसदं हृदयेन [16]विकुर्वती लोचनाञ्जनकरण्डादुपात्तेन वनवल्लिपल्लवनिर्यासरसद्रुतेन[17] कज्जलेनार्जुनशलाकया[18] तत्रैव परिम्लिष्टपुरातनसूत्रे[19] पत्रे लेखान्तरम्। तथा हि—'यदि श्रेष्ठिनी मामवधेयवचन[20] श्रेष्ठिनं मन्यते, महाबलश्च यदि मामनुल्लङ्घनीय-

'गोविन्द, मुझे अपने घरपर अपने लडकेसे कुछ जरूरी बात कहलाना है। अतः इस लड़केको यह पत्र देकर शीघ्र भेज दो।'

गोविन्दने श्रीदत्तकी बात स्वीकार कर ली। पत्रमें लिखा था—'माप-तौलमें कुशल महाबल! यह लडका हमारे वंशका विनाश करनेके लिए आगके समान है। अत' या तो इसे विष दे देना या मूसलसे मार डालना।'

पिता और वैश्यपतिकी आज्ञा पाकर उस मुद्राङ्कित पत्रको अपने गलेमें बाँधकर धनकीर्ति उस उज्जैनी नगरीकी ओर चल दिया जिसमें उसके द्वारा पूर्व जन्ममें उपकृत मछलीने जन्म लिया था। नगरीके निकट पहुँचकर वह नगरीके प्रवेश मार्गके निकटवर्ती वनमें रास्तेकी थकान दूर करनेके लिए आमकी क्यारियोंके निकट गहरी नींदमें सो गया।

इसी बीचमें वस्त्रालकारसे सुसज्जित, समस्त विद्याओंमें निपुण और पूर्व जन्मके उपकारसे उपकृत अनङ्गसेना नामक वेश्या पुष्प चयन करके उसी आमके पेडके नीचे आयी और कामदेव के समान सुन्दर समस्त लक्षणोंसे युक्त तथा पूर्व जन्मके मित्र धनकीर्तिको देखकर देखती ही रह गयी। उसके कण्ठमें तीन रेखाएँ थीं जो मानो आयु, लक्ष्मी और सरस्वतीके आगमनको ही सूचित करती थीं। अचानक अनङ्गसेनाकी निर्निमेष दृष्टि गलेमें बँधे पत्रपर पडी। उसने उस अशुभ पत्रको खोलकर पढ़ा, और उस निकृष्ट वणिकका हृदयसे तिरस्कार करते हुए अपने लोचन रूपी अञ्जनकी डिबियासे काजल लेकर उसे लताओंकी नयी कोंपलोंके रसमें भिगोया तथा चाँदी की सलाईसे अथवा तृणसे उसी पत्रपर पहलेके लेखको मिटाकर दूसरा लेख लिखा। लेख इस

१. प्रकृष्ट जानु। २ प्रेषणीय। ३. तुला मान वा। ४ विषेण वध्य। ५ मुशलेन वध्य। ६ मुद्रासहितम्। ७ पूर्वजन्मनि यो मत्स्य स यत्र वेश्या जाता वर्तते। ८ उज्जयिनीम्। ९ मार्ग। १० आम्रवृक्षथाणप्रागणे। ११ निश्चेतन यथा। १२. चतुरा। १३ बाणान् विना कन्दर्पम्। १४ जन्मान्तरोपकारिणम्। १५ कण्ठरेखा। १६ निन्दती। १७ घोलितेन। १८ हेम, तृण वा। १९ पूर्वाक्षराणि परिमृज्य नूतनाक्षराणि लिखितानि। २० आदरणीय।

वाक्यसारं पितरं गण्यति, तदास्मै निकामं सप्तपुरुषपर्यन्तपरीक्षितान्वयसंपत्तये धनकीर्तये कुपदेयक्रमेण [2]विभावसुमुखसमक्षमविचारापेव श्रीमतिर्वितरितव्या इति। ततो यथाम्नातवि-[3]धिवमिमं लेखमामुच्य समाचरितगमनायामनङ्गसेनायां धनकीर्तिश्चिरेण विद्रावसान्द्र-निद्रोद्रेकः [6]सोत्सेकमुत्थाय प्रयाय च श्रीदत्तनिकेतनं जननीसमन्विताय महाबलाय प्रदर्शितलेखः श्रीमतीसखो[7]ऽभवत्।

श्रीदत्तो वार्तामिमामाकर्ण्य प्रदूर्णं मत्वा तस्य निर्धाय च तद्वधाय राजधानीबहिरिकायां चण्डिकायतने कृतसंकेतं सन्नद्धवपुषं पुरुषं कर्मरोपणपिशाचीं [11]देवश्रीषीं च परिम्लानोपसंसितो नाम्नि धनकीर्तिं मुहुराहूय बहुकूटकपटमतिरेवमभ्यधायि—'वत्स, मदीये कुले किलैष आचारो यदुत यामिनीमुखे कात्यायिनीमन्दिरे प्रवेशे प्रतिपन्नाभिनववधूपाणिग्रहणेन स्वयम-मागेषेन महारजनरसरञ्जितवसनसमन्धरः स्वयमेव मायूरमयोरमौकु निर्दयं बलिरूपौ दत्तव्यौ।' धनकीर्तिः—'तात, यथा तातादेशः' इति निगीर्य गृहीतकुलदेवतादेयहस्तोपकरणस्तेन दयालुना महाबलेन पुरप्रदेशमभिसरन्नवलोकितः। समालापितश्च—'हंहो धनकीर्ते, प्रवर्धमानान्धकारायामस्यां वेलायामेकाकी क्वोच्चलितोऽसि।' 'महाबल, मातुलनिदेशात् [19]भगवतीनिवेदनाय दुर्गालये।' 'यद्येवं नगरजनापवादस्तु तत्त्वात्त्वं निवास प्रति निवर्तस्व।

प्रकार था—'यदि सेठानी मेरे वचनोंको मानती है और यदि महाबल मुझे अपना पिता मानता है तथा मेरे वचनोंको अनुल्लंघ्य समझता है तो इस धनकीर्तिको, जिसके वंशकी श्रेष्ठताकी परीक्षा सात जनोंके सामने कर ली गयी है, बिना किसी विचारके अग्निकी साक्षी पूर्वक दहेजके साथ श्रीमतीको सौंप देना।' पहलेकी ही तरह इस लेखको उसके गलेमें बाँधकर अनङ्गसेना चली गयी। धनकीर्ति बहुत देर तक गहरी नींदमें सोता रहा। फिर उठकर श्रीदत्तके घर पहुँचा और माता सहित महाबलको पत्र देकर श्रीमतीका पति बन गया। श्रीदत्त इस समाचारको सुनकर शीघ्र ही लौट आया और राजधानीके बाहर स्थित चण्डीदेवीके मन्दिरमें धनकीर्तिको मारनेके लिए एक सशस्त्र मनुष्यको तथा कुत्सित काम करनेमें पिशाचीसमान देवीको नियुक्त करके घर आया। और एकान्तमें धनकीर्तिको बुलाकर वह कपटी बोला—'वत्स! मेरे कुलकी ऐसी रीति है कि जिस कन्याका नया विवाह होता है उसका पति रात्रिके समय कुसुम्भेके रंगसे रंगे हुए वस्त्र पहनकर स्वयं ही चण्डीके मन्दिरमें उड़दसे बने हुए मोर और कौवेकी बलि देता है।'

'जैसी आज्ञा' कहकर धनकीर्ति कुलदेवताको अर्पित करनेकी सामग्री लेकर घरसे निकला। सामनेसे आते हुए उसके साले महाबलने उसे देखा और पूछा—'धनकीर्ति! इस अन्धेरी रातमें अकेले कहाँ जाते हो?'

'महाबल! मामाकी आज्ञासे बलि देनेके लिए दुर्गाके मन्दिरको जाता हूँ।'

'यदि ऐसा है तो तुम्हारा जाना ठीक नहीं है। नगरके आदमी क्या कहेंगे! अत तुम

---

१ आमातृदेयं वस्तु तद्धिरण्यकन्यादायी नृपतः कथ्यते। २ अग्निसाक्षिकम्। ३ लेखम्। ४ नष्टे बन्धा। ५. उपयान्त। ६ सगर्वम्। ७ पत्या। ८. भर्ता। ९. पौरविमतात् लघुतमागम्य। १० पुरुषं स्थापयित्वा। ११ कुत्सितं। १२ चण्डिकां। १३ गृह। १४ आहूय। १५. कुसुम्भ। १६ रक्तवस्त्रेण वेष्टित। १७ माषचूर्णेन वलित। १८. मयूर-काक। १९. वाराह। २० याम। २१ एकाकी। २२ देव वस्तु। नमस्तित—म।

अहमेतदुपयाचितमैशान्याः[1] [2]स्पर्शयितुं प्रगच्छामि। यद्यत्र तातो रोषिष्यति तदा तद्रोषमहमपनेष्यामि।' ततो धनकीर्तिर्मन्दिरमगात्, महाबलश्च कृतान्तोदरकन्दरम्।

श्रीदत्तः सुतमरणशोकातङ्कोपान्तः प्रकाशिताशेषवृत्तान्तः 'सकलनिकाय्यै[3]कार्यानुष्ठानपरमेष्ठिनि श्रेष्ठिनि मन्मनोह्लादचन्द्रलेखे विशाखे, कथमयं वैधेयो[4] ममान्वयापाय[5]हेतुः [6]प्रयुक्तोपायविलोपनकेतुः [7]प्रवाशयितव्यः।' विशाखा—'श्रेष्ठिन्, [8]भेलभावात्सर्वमनुपपन्नं त्वया चेष्टितम्। अतः [9]कुरुण्डतो भीतः कुक्कुटपोत इव तूष्णीमास्स्व। भविष्यति भवतोऽशेषं मनीषितम्' इत्याभाष्य अपरेद्युर्दयितजीवितव्यतोदकेषु[10] मोदकेषु विषं संचार्य 'सुते श्रीमते, य एते कुन्दकुमुदकान्तयो मोदकास्ते स्वकीयाय कान्ताय देयाः, [11]श्यावश्यामाकश्यामलरुचयश्च जनकाय' इति समर्पितसमया[12] समासन्नमरणसमया सरिति [13]सवनायानुससार। श्रीमतिः 'यच्चोक्षं[14] भक्ष्यन्तत् [15]प्रतीक्ष्याय ताताय वितरीतव्यम्[16]' इत्यवगत्याविज्ञातसवित्रीचित्तकौटिल्या निःशल्यहृदया तानेतयोर्विपर्ययेणावीवृधत्। विशाखा पतिशून्यमरण्यसामान्यमगारमाप्य परिदेव्य च सुचिरं पुनः 'पुत्रि, किमन्यथा भवति महामुनिभाषितम्। केवलं तव [17]वापेन मया च [18]थेर्य्यात्मीयान्वयविलोपाय कृत्योत्थापनमाचरितम्।

घरको लौट जाओ। देवीको यह भेंट समर्पित करनेके लिए मै जाता हूँ। यदि पिताजी रुष्ट होंगे तो उनके रोषको मै दूर कर दूँगा।'

इस बात-चीतके बाद धनकीर्ति घरको चला गया और महाबल यमराजके पेटमें समा गया।

पुत्र-मरणके शोकसे विह्वल होकर श्रीदत्तने अपनी पत्नी विशाखासे सब समाचार कह दिया और बोला—सब गृहकार्योंके करनेमें चतुर सेठानी! यह अभागा मेरे वशका अनिष्ट करनेवाला है, इसके मारनेका जो-जो उपाय किया जाता है वही व्यर्थ हो जाता है। इसे कैसे मारना चाहिए।'

'सेठजी! अविचारके कारण आपके सब उपाय व्यर्थ हुए। अत बिलावसे डरे हुए मुर्गेके बच्चेकी तरह आप चुप होकर बैठो। आपकी सब इच्छाएँ पूर्ण होंगी।'

दूसरे दिन सेठानीने अपने पतिके जीवनको नष्ट करनेवाले लड्डुओंमें जहर मिलाकर अपनी पुत्री श्रीमतीसे कहा—'पुत्री! ये जो सफेद कमलकी तरह स्वच्छ लड्डू है इन्हें अपने पतिको देना और ये जो काले धान्यके समान काले रगके लड्डू है इन्हें अपने पिताको देना।' इतना कहकर सेठानी नदीमें स्नान करने चली गयी। श्रीमतीको माताके चित्तकी कुटिलताका पता नहीं था। उसने सोचा कि जो सुन्दर लड्डू हैं उन्हें पूज्य पिताको देना चाहिए। अत उसने जहर मिले सफेद लड्डू तो पिताको दिये और काले लड्डू अपने पतिको दिये। जब विशाखा लौटी तो उसका पति मर चुका था। वह बहुत रोई फिर बोली—'पुत्री! महामुनियोंका कथन कैसे झूठा हो सकता है? तेरे पिताने और मुझ वृद्धाने अपने वशका नाश करनेके लिए

१ नमसितम्। २ दातुम्। ३ गृहकार्य। ४ निर्भाग्य। ५ वश। ६. मम कृतानेककपटविनाशसमर्थ। ७ प्रणाश—व०। मारणीय। ८ वृद्ध वा अविचारक। ९ मार्जारात्। १० पीडकेषु। ११ श्याव स्यात् कपिश धूमरारुण। १२ मता-अभिप्राया। १३ स्नानाय। १४ चोक्ष सुन्दरगीतयो। १५ पूज्याय। १६ देयम्। १७ पित्रा। १८ वृद्धया।

तदलमनेन बहुप्रलापेन । कल्पद्रुमेण कल्पलतेव त्वमनेन दैवेनैवोद्धरिताभिधानेन भर्त्रा सार्धमाकल्पमिन्द्रियैश्वर्यसुखमनुभव' इति समारोपिताशीर्वादा तमेकं मोदकमास्वाद्य पत्युः पथि प्रैतस्थे ।

एवं विहितदुर्विहितपञ्चोपायामितलोकशोकावसरे वर्धमाने तस्मिन्श्वशुरे श्वश्रूजने च सति स पुरातनपुण्यमाहात्म्यात्तु तयोरप्रतिपक्षप्रकाशप्रतिदिनमुदीयमानसंपदेकदा तेन विश्वम्भरेण क्षितीश्वरेण निरीक्षितः । तद्रूपसंपत्ती जातबहुविस्मयेन तनूजया सह उभयेन विशामाधिपत्यपदेन योजितश्च । गुणपालः किंवदन्तीपरम्परया भव्यं कल्याणपरम्परामुपभुज्य कौशाम्बीदेशात्प्रागवन्तीपुरमागत्य अनेनाश्चर्यैश्वर्यभाजा सुतेन सह संजग्मे ।

अथान्यदा सकलत्रपुत्रमित्रतन्त्रेण धनकीर्तिना दर्शनायागतयानङ्गसेनया चानुगतिनिष्ठो गुणपालश्रेष्ठी मतिश्रुतावधिमनःपर्ययविषयसाम्राज्यमखिलमुनिमण्डलीराजं श्रीयशोध्वजनामानं भगवन्तमभिवन्द्य सविनयमेवमपृच्छत्—'भगवन्, किं नाम जन्मान्तरे धर्ममूर्तिना धनकीर्तिना सुकृतमुपार्जितम्, येन बालकालेऽपि तानि तानि दैवैकशरणप्रतीकाराणि व्यसनानि व्यतिक्रान्तः, येनास्मिन्नव्यतिरिक्तरूपसंपदभूत्, येनायं ज्योतिर्विभावसुप्रभासमार इव देवानामप्यप्रतिहततेजाः समजनि येन चापरेषामपि तेषां तेषां महापुरुषकथावमहार्णां गुणानां समवायोऽभवत् । तथा हि—त्याग वदान्यतायाः, समाश्रयो वदान्यं

ही यह गड्ढा खोदा था। अब रोनेसे क्या होता है ? कल्पवृक्षके साथ कल्पलताके समान तू अपने इस दैवरक्षित पतिके साथ कल्पकाल तक ऐश्वर्य और इन्द्रिय सुखको भोग।' ऐसा आशीर्वाद देकर उसने भी एक जहरीला लड्डू खा लिया और पतिकी अनुगामिनी बन गयी।

इस प्रकार पूर्व उपार्जित पुण्यके प्रतापसे पाँच भयानक विपत्तियोंसे बचकर धनकीर्ति अपने ही द्वारा की गयी दुर्भावनाओंके कारणसे सास और श्वसुरके चल बसनेपर प्रतिदिन सम्पत्तिशाली होने लगा। एक दिन राजा विश्वम्भरने उसे देखा। उसका सौन्दर्य देखकर राजाको बहुत अचरज हुआ। उसने उसके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया और उसे वैश्योंका अधिपति बना दिया। धनकीर्तिके पिता गुणपालने लोगोंके मुखसे जब अपने पुत्रके अभ्युदयका समाचार सुना तो वह कौशाम्बी नगरीसे उज्जयिनी आकर आश्चर्यजनक सम्पत्तिशाली पुत्रसे मिला।

एक बार मति श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानके धारी श्री यशोध्वज मुनिराज वहाँ पधारे। गुणपाल सेठ, सकुटुम्ब धनकीर्ति और उससे मिलनेके लिए आयी हुई अनंगसेनाके साथ मुनिराजके दर्शनके लिए गया, और उन्हें नमस्कार करके विनयपूर्वक बोला—'भगवन् ! धर्म-मूर्ति धनकीर्तिने पूर्व जन्ममें कौन-सा पुण्य कमाया था, जिसके कारण बचपनमें भी यह उन कष्टोंको पार कर गया जो दैवके द्वारा ही दूर किये जा सकते थे तथा इस जन्ममें इसने बड़ी भारी सम्पत्ति और सौन्दर्य पाया सूर्यके तेजकी तरह देवोंसे भी न रोका जा सकनेवाला इसे तेज प्राप्त हुआ। इसके सिवाय महापुरुषोंके योग्य अन्य भी गुण इसे प्राप्त हो सके। जैसे, यह बड़ा दानी

---

१ कल्पेन। २ दत्त। ३ मृता इत्यर्थः। ४ मृते। ५ विष्ण। ६ एको विवाहोत्सवो द्वितीय श्रेष्ठिपदप्रदानोत्सव। ७ धनकीर्तेः। ८ उज्जयिनीम्। ९. पुत्रेण। १० सम्मिलितः। ११ जन्मनि। १२ अधिक। —प्रसारत्व—आ। १३ महत्। १४ अप्रपटलसम्बन्धि अभितेज समूहवत्। वदान्यत्वं। १५. तेजः। १६ यशवधाना। १७ विदग्धतायाः। १८. ददाति दीयतामिति वदान्य। त्यागी।

भावस्य, निकेतनमवदानकर्मणः[1], क्षेत्र मैत्रेयिकायाः[2], स्वप्नेऽपि न स्वजनस्याजनि मनोमन्तुः[3] [4]कन्तुरिव च कामिनीलोकस्य। तदस्य [5]भदन्त, [6]प्रापणिकपरिषत्प्रवणस्य निःशेषशास्त्र-प्रवीणान्तःकरणस्य निसर्गादेव निखिलपरिजनालापनसक्तस्य विनेयजनमनःकुवलयानन्दि-कथावतारामृतमूर्तेः सुकीर्तेर्धनकीर्तेः पुरोपार्जितं सुकृतं कथयितुमर्हसि।'

भगवान्—'श्रेष्ठिन्, श्रूयताम्।' तत्संबन्धसक्तं पूर्वोक्तं वृत्तान्तमचकथत्—'या चास्य पूर्वभवनिकटा घण्टा वधूटी सा कृतनिदानादर्मूनसिप्रवेशादियं संप्रति श्रीमतिः संजाता। यश्च स मीन स कालक्रमेण व्यतिक्रम्य पूर्वपर्यायपर्वेयमनङ्गसेनाभूत्। अतोऽस्य महाभागस्यै-कदिवसाऽहिंसाफलमेतद्विजृम्भते। धनकीर्तिरेतद्वचःत्रपवित्रश्रोत्रवर्त्मा तथा श्रीमतिरनङ्गसेना च पुराभव भवं संभाल्योन्मूल्य च तमःसंतानतरुनिवेशमिव केशपाशं तस्यैव दोषज्ञस्यान्तिके यथायोग्यताविकल्पं तपःकल्पमादाय जिनमार्गोचितेनाचरितेन चिरायाराध्य रत्नत्रयं विधाय च विधिवन्निरंजन्यमनोवर्तनं प्रायोपवेशनम्। तदनु धनकीर्तिः सर्वार्थसिद्धिसाधनकीर्तिर्ब-भूव। श्रीमतिरनङ्गसेना च कल्पान्तरसंयोज्यं देवसायुज्यमभजत्।

भवति चात्र श्लोकः—

है, प्रियवादी है, सत्कर्म करता है, मित्रताके उपयुक्त है, स्वप्नमें भी स्वजनोंके मनको कष्ट नहीं पहुँचाता और स्त्रियोंके लिए तो मानो कामदेव ही है। इसलिए भगवन्! समस्त शास्त्रोंमें प्रवीण और स्वभावसे ही समस्त कुटुम्बीजनोंसे मीठे वचन बोलनेवाले इस वैश्यपति धनकीर्तिके पूर्वोपार्जित पुण्यकी कथा कहें। इसकी कथा सुनकर सबके मन प्रफुल्लित होंगे।'

मुनिराजने धनकीर्तिके पूर्व जन्मकी कथा कह सुनायी और बोले—'इसके पूर्वभवकी पत्नी घण्टा यह निदान करके कि 'जो इसका व्रत है वही मेरा भी व्रत है और मैं दूसरे भवमें भी इसकी पत्नी होऊँ' अग्निमें जल मरी थी। वही मरकर श्रीमती हुई है। और जो मछली थी जिसे मृगसेन धीवरने जलमें छोड़ दिया था, वह पूर्व पर्यायको छोड़कर अनङ्गसेना हुई है। अतः एक दिन हिंसा न करनेका यह फल इस महाभागको मिला है।'

पूर्वभवके इस वृत्तान्तको सुनकर धनकीर्ति, श्रीमती और अनंगसेनाने केशलोंच करके उन्हीं मुनिराजके पासमें जिनदीक्षा ले ली। और अपनी अपनी शक्तिके अनुसार तप ग्रहण करके जैनमार्गके अनुसार चिरकाल तक रत्नत्रयका आराधन किया। तथा अन्तमें विधिपूर्वक निर्विघ्न समाधिमरण करके धनकीर्ति तो सर्वार्थसिद्धिमें देव हुआ और श्रीमती तथा अनगसेना स्वर्गलोक-में उत्पन्न हुई।

इस कथाके विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

---

१ अवदान शत्रुखण्डन, सर्वपालनम् साहसम्। २ मित्रयुर्व्यवहारवेदी तस्य भावो मैत्रेयिका। ३ विप्रियम्। ४ काम। ५. हे मुने। ६ वणिक्। ७ चन्द्रस्य। ८ अग्नौ। ९ वचन। १० अतीन्द्रियज्ञस्य विदुष। ११ निर्विघ्न। १२ सन्यासविधिम्। १३ स्वर्गलोक।

तदसमयं बहुप्रलापेन। कल्पद्रुमेण कल्पलतेव त्वमनेन दैवदेयदेहरक्षाविधानेन धवेन सार्धमाकल्पमिन्द्रियैश्वर्यसुखमनुभव' इति समोधिताशीर्वादा तमेक मोदकमास्वाद्य पत्युः पथि मैतस्थे।

एवं विहितदुर्विहितप्रायापायामितलोकशोकावस्थे धर्मीस्थे तस्मिन्श्वशुर श्वश्रूजने च सति स पुरातनपुण्यमाहात्म्यादुल्लसितघोरप्रतिपक्षप्रकापप्रतिदिनमुदीयमानसंपदेकदा तेन विश्वम्भरेण क्षितीश्वरेण निरीक्षिता। तद्रूपसंपत्तौ जातबहुविस्मयेन तनूजया सह उभयेन विशामाधिपत्यपदेन योजितश्च। गुणपालः कियदल्पीपरम्परया श्रस्यैं कल्याणपरम्परामुपश्रुत्य कौशाम्बीदेशात्पार्वतीपुरमागत्य अनेनाश्चर्यैश्वर्यभाजा सुतेन सह संजग्मे।

अथान्यदा सकलजनपुरमित्रतमेन धनकीर्तिना दर्शनायागतया ममङ्गसेनया चानुगतिनिष्ठो गुणपालश्रेष्ठी मतिश्रुतावधिमनःपर्ययविषयसम्राजमखिलमुनिमण्डलीराजं श्रीयशोध्वजनामानं भगवन्तमभिवन्द्य सबहुमानमेवमपृच्छत्—'भगवन्, किं नाम जन्मान्तरे धर्ममूर्तिना धनकीर्तिना सुकृतमुपार्जितम् येन बालकालेऽपि तानि तानि दैवैकशरणप्रतीकाराणि व्यसनानि व्यतिक्रान्तः, येनास्मिन् व्यतिरिक्तरैश्वर्यरूपसंपदोऽभूत्, येनावै आदित्यैर्विभावसुप्रभासंसार इव दैवानामप्यप्रतिहततेजाः समजनि येन चापरेषामपि तेषां तेषां महापुरुषकक्षाणाममहार्णां गुणानां समवायोऽभवत्। तथा हि—स्थाने धन्यतायाः समाश्रयो धन्यं

ही यह गड़ा खोदा था। अब रोनेसे क्या होता है? कल्पवृक्षके साथ कल्पलताके समान तू अपने इस दैवरक्षित पतिके साथ कल्पकाल तक ऐश्वर्य और इन्द्रिय सुखको भोग।' ऐसा आशीर्वाद देकर उसने भी एक लड्डू खा लिया और पतिकी अनुगामिनी बन गयी।

इस प्रकार पूर्व उपार्जित पुण्यके प्रतापसे पाँच भयानक विपत्तियोंसे बचकर धनकीर्ति अपने ही द्वारा की गयी दुर्भावनाओंके कारणसे सास और श्वसुरके चल बसनेपर प्रतिदिन सम्पत्तिशाली होने लगा। एक दिन राजा विश्वम्भरने उसे देखा। उसका सौन्दर्य देखकर राजाको बहुत अचरज हुआ। उसने उसके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया और उसे वैश्योंका अधिपति बना दिया। धनकीर्तिके पिता गुणपालने लोगोंके मुखसे जब अपने पुत्रके अभ्युदयका समाचार सुना तो वह कौशाम्बी नगरीसे उज्जयिनी आकर आश्चर्यजनक सम्पत्तिशाली पुत्रसे मिला।

एक बार मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय ज्ञानके धारी श्री यशोध्वज मुनिराज वहाँ पधारे। गुणपाल सेठ, सकुटुम्ब धनकीर्ति और उससे मिलनेके लिए आयी हुई अनंगसेनाके साथ मुनिराजके दर्शनके लिए गया और उन्हें नमस्कार करके विनयपूर्वक बोला—'भगवन्! धर्ममूर्ति धनकीर्तिने पूर्व जन्ममें कौन-सा पुण्य कमाया था, जिसके कारण बचपनमें भी यह उन कष्टोंका पार कर गया जो दैवके द्वारा ही दूर किये जा सकते थे तथा इस जन्ममें इसने बड़ी भारी सम्पत्ति और सौन्दर्य पाया, सूर्यके तेजकी तरह देवोंसे भी न रोका जा सकनेवाला इसे तेज प्राप्त हुआ। इसके सिवाय महापुरुषोंके योग्य अन्य भी गुण इसे प्राप्त हो सके। जैसे, यह बड़ा दानी

१ वाल्लेन। २ वत्त। ३ भुंक्त इत्यर्थः। ४ मृते। ५ विप्र। ६ एतौ विवाहोत्सवौ द्वितीयश्रेष्ठिनश्चरतनोत्सव। ७ धनकीर्ते। ८. उज्जयिनीम्। ९. पुत्रेण। १० सम्मिलितः। ११ जन्मनि। १२ अपिच। —व्यसनारकप—आ। १३ बहुल। १४ अभ्रपटलसम्बन्धि अभिलेख धपूर्वक्रत्। अस्मादिषु। १५. तैज। १६ चपचपाना। १७ विरगपतायाः। १८ वर्तते दीपतामिति पदाम्य। त्यागी।

आत्मार्जितमपि द्रव्यं द्वापेरायान्यथा भवेत।
निजान्वयादतोऽन्यस्य व्रती स्वं परिवर्जयेत् ॥३६८॥
मन्दिरे पदिरे नीरे कान्तारे धरणीधरे।
तन्नान्यदीयमादेयं स्वापतेयं व्रताश्रयैः ॥३६९॥
पौतवन्यूनताधिक्ये स्तेनकर्म ततो ग्रहः।
विग्रहे संग्रहोऽर्थस्यास्तेयस्यैते निवर्तकाः ॥३७०॥
रत्नरत्नाङ्गरत्नस्त्रीरत्नाम्बरविभूतय.।
भवन्त्यचिन्तितास्तेषामस्तेयं येषु निर्मलम् ॥३७१॥
परप्रमोषतोषेण तृष्णाकृष्णधियां नृणाम्।
अत्रैव दोषसंभूतिः परत्रैव च दुर्गतिः ॥३७२॥

श्रूयतामत्र स्तेयफलस्योपाख्यानम्—प्रयागदेशेषु निवासविलासवारलाप्रलापवाचालितविलासिनीनूपुरे सिंहपुरे समस्तसमुद्रमुद्रितमेदिनीप्रसाधनसेनः पराक्रमेण सिंह इव सिंहसेनो नाम नृपतिः। तस्य निखिलभुवनजनस्तवनोचितवृत्ता रामदत्ता नामाग्रमहिषी। सुतौ चानयोराश्चर्यसौन्दर्यौदार्यपरितोषितानिमिषेन्द्रौ सिंहचन्द्र-पूर्णचन्द्रौ नाम। निःशेषशास्त्रविशारदमति· श्रीभूतिरस्य पुरोहित सूनृताधिकधिषणतया सत्यघोषापरनामधेयः।

उपार्जित द्रव्यमें भी यदि सशय हो जाये कि यह मेरा है या दूसरेका, तो वह द्रव्य ग्रहण करनेके अयोग्य है अत व्रतीको अपने कुटुम्बके सिवा दूसरोंका धन नहीं लेना चाहिए ॥३६८॥

अत· मकानमें, मार्गमें, पानीमें, जगलमें या पहाड़में रखा हुआ दूसरोंका धन अचौर्याणुव्रतीको नहीं लेना चाहिए ॥३६९॥ बॉट तराजूका कमती-बढ़ती रखना, चोरीका उपाय बतलाना, चोरीका माल खरीदना, देशमें युद्ध छिड़ जानेपर पदार्थोंका सग्रह कर रखना, ये सब अचौर्याणुव्रतके दोष है ॥३७०॥

जो निर्दोष अचौर्याणुव्रतको पालते हैं उनको रत्न, सोना, उत्तम स्त्री, उत्तम वस्त्र आदि विभूति स्वयं प्राप्त होती है, उसके लिए उन्हें चिन्ता नहीं करनी पडती ॥३७१॥ जो मनुष्य दूसरोंकी वस्तुओंको चुराकर प्रसन्न होते है, तृष्णासे कलुषित बुद्धिवाले उन मनुष्योंमें इसी जन्ममें अनेक बुराइयाँ पैदा हो जाती है और दूसरे जन्ममें भी उनकी दुर्गति होती है ॥३७२॥

१४. चोरीमें आसक्त श्रीभूति पुरोहितकी कथा

चोरीके फलके सम्बन्धमें एक कथा है उसे सुनें—

प्रयागदेशके सिंहपुर नामक नगरमें सिंहकी तरह पराक्रमशाली सिंहसेन नामका राजा राज्य करता था। उसकी पटरानीका नाम रामदत्ता था। उनके आश्चर्यजनक सौन्दर्य और उदारतासे देवोंके इन्द्रको भी सन्तुष्ट करनेवाले सिंहचन्द्र और पूर्णचन्द्र नामके दो पुत्र थे। समस्त शास्त्रोंमें कुशल श्रीभूति राजाका पुरोहित था। सत्यकी ओर अधिक रुझान होनेके कारण उसका

१ सदेहाय। २ स्ववशादन्यस्य धन वर्जयेत्। ३ मार्गे। ४ तुलाहीनाधिक्ये। ५ चौरार्थादानम्। ६ अतीचारा। 'स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः॥' तत्त्वार्थ सू० ७-२७। 'चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्रा। हीनाधिकविनिमानं पञ्चास्तेये व्यतीपाता ॥५८॥' —रत्न० श्रा०। पुरुषार्थसि०, श्लो० १८५। ७ सुवर्णादि। ८ उत्तम। ९ परवस्तुचौर्यहर्षेण। १० सत्यवचन।

पञ्चकृत्वः किलैकस्य मत्स्यस्याहिंसनात्पुरा।
अभूत्पञ्चापदोऽतीत्य धनकीर्तिः पतिः श्रियः ॥३६३॥

इत्युपासकाध्ययने अहिंसाफलावलोकनो नाम षड्विंशः कल्पः।

अवितीर्णस्य परस्वस्य ग्रहणं स्तेयमुच्यते।
सर्वभोग्यात्तदन्यत्र भावात्तोयतृणादितः ॥३६४॥
ज्ञातीनामत्यये वित्तमदत्तमपि संमतम्।
जीवतां तु निदेशेन व्रतक्षतिरतोऽन्यथा ॥३६५॥
स्वस्वेऽप्यभिनिवेशेन प्रवृत्तिर्यत्र जायते।
तत्सर्वं रायि विज्ञेयं स्तेयं स्वान्यजनाश्रये ॥३६६॥
रिक्थं निधिनिधानोत्थं न राज्ञोऽन्यस्य युज्यते।
परस्वस्यास्वामिकस्येह दायादो मेदिनीपतिः ॥३६७॥

"पूर्व जन्ममें पाँच बार एक मछलीको न मारनेसे धनकीर्ति पाँच बार आपत्तिसे बचकर लक्ष्मीका स्वामी बना" ॥३६३॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें अहिंसाका फल बतलानेवाला छब्बीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

अब चोरी न करनेका उपदेश करते हैं—

अचौर्याणुव्रत

पानी, घास वगैरह जो वस्तु सबके भोगनेके लिए हैं उनके सिवा शेष सब बिना दी हुई परवस्तुओंको ले लेना चोरी है ॥३६४॥ यदि कोई ऐसे कुटुम्बी मर जायें जिनका उत्तराधिकार हमें प्राप्त है तो उनका धन बिना दिये हुए भी लिया जा सकता है। किन्तु यदि वह जीवित हों तो उनकी आज्ञासे ही उनका धन लिया जा सकता है। उनकी जीवित अवस्थामें ही उनसे पूछे बिना उनका धन ले लेनेसे अचौर्याणुव्रतकी क्षति होती है ॥३६५॥

अपना धन हो या दूसरोंका हो, जिसमें चोरीके भावसे प्रवृत्ति की जाती है तो वह सब चोरी ही समझना चाहिए ॥३६६॥ जमीन वगैरहमें गड़ा हुआ धन राजाका होता है किसी दूसरेका नहीं। क्योंकि जिस धनका कोई स्वामी नहीं है उसका स्वामी राजा होता है ॥३६७॥ अपने द्वारा

१ बलस्य। अदत्तादानं स्तेयम्। —तत्त्वा सू ७-१५। निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्। न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ॥५७॥ —रत्नकरण्डश्रा। अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्। तत्प्रत्येयं स्तेयं ॥१०२॥ असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्। तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥१०६॥ —पुरुषार्थसि०। 'परस्वस्याप्रदत्तस्यादानं स्तेयमुदाहृतम्। सर्वसाधारणतोयादेरन्यत्र सम्मतं सताम् ॥६१॥ प्रबोध०। २ मरणे सति। ३ आदेशेन ग्राह्यम्। ४ विनाश। 'बन्धूनामत्यये वित्तमदत्तमपि सम्मतम्। समक्षं निदेशेन व्रतहानिरतोऽन्यथा ॥६६॥ —प्रबोधसार। ५. 'स्वस्वेऽप्यभिनिवेशेन गृहमन्यस्य यत् धनम्। अदत्तमाददानो वा दयावानस्तस्करो ध्रुवम् ॥४७॥ सागारधर्मा ४ अ०। ६ यो व्ययीकृतः सर्व न याति स निधिः। यद् व्ययीकृतं सत् सर्वं याति तन्निधानम्। ७ धनस्य। 'नास्वामिकमिति ग्राह्यं निधानादि धनं यतः। धनस्यास्वामिकस्येह दायादो मेदिनीपतिः ॥४८॥ —सागारधर्मा ४ अ०। प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत्। अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥३०॥ —मनुस्मृति ८ अ०। 'द्रव्यं निधिनिधानोत्थं भूपस्यान्यस्य नो भवेत्। निरीक्षस्व यत स्वस्य दायादो मेदिनीपतिः ॥६७॥ —प्रबोधसार।

आत्मार्जितमपि द्रव्यं द्वापरायान्यथा भवेत् ।
निजान्वयादतोऽन्यस्य व्रती स्वं परिवर्जयेत् ॥३६८॥
मन्दिरे पदिरे नीरे कान्तारे धरणीधरे ।
तन्नान्यदीयमादेय स्वापतेयं व्रताश्रयैः ॥३६९॥
पौतवन्यूनताधिक्ये स्तेनकर्म ततो ग्रहः ।
विग्रहे संग्रहोऽर्थस्यास्तेयस्यैते निवर्तकाः ॥३७०॥
रत्नरत्नाङ्गरत्नस्त्रीरत्नाम्बरविभूतयः ।
भवन्त्यचिन्तितास्तेषामस्तेयं येषु निर्मलम् ॥३७१॥
परप्रमोषतोषेण तृष्णाकृष्णधियां नृणाम् ।
अत्रैव दोषसभूतिः परत्रैव च दुर्गतिः ॥३७२॥

श्रूयतामत्र स्तेयफलस्योपाख्यानम्—प्रयागदेशेषु निवासविलासवारलाप्रलापवाचालितविलासिनीनूपुरे सिंहपुरे समस्तसमुद्रमुद्रितमेदिनीप्रसाधनसेनः पराक्रमेण सिंह इव सिंहसेनो नाम नृपतिः। तस्य निखिलभुवनजनस्तवनोचितवृत्ता रामदत्ता नामाग्रमहिषी। सुतौ चानयोराश्चर्यसौन्दर्यौदार्यपरितोषितानिमिषेन्द्रौ सिंहचन्द्र-पूर्णचन्द्रौ नाम। निःशेषशास्त्रविशारदमतिः श्रीभूतिरस्य पुरोहितः सूनृताधिकधिषणतया सत्यघोषापरनामधेयः।

उपार्जित द्रव्यमें भी यदि सशय हो जाये कि यह मेरा है या दूसरेका, तो वह द्रव्य ग्रहण करनेके अयोग्य है अत व्रतीको अपने कुटुम्बके सिवा दूसरोंका धन नहीं लेना चाहिए ॥३६८॥

अतः मकानमें, मार्गमें, पानीमें, जगलमें या पहाड़में रखा हुआ दूसरोंका धन अचौर्याणुव्रतीको नहीं लेना चाहिए ॥३६९॥ बॉट तराजूका कमती-बढ़ती रखना, चोरीका उपाय बतलाना, चोरीका माल खरीदना, देशमें युद्ध छिड़ जानेपर पदार्थोंका सग्रह कर रखना, ये सब अचौर्याणुव्रतके दोष हैं ॥३७०॥

जो निर्दोष अचौर्याणुव्रतको पालते हैं उनको रत्न, सोना, उत्तम स्त्री, उत्तम वस्त्र आदि विभूति स्वय प्राप्त होती है, उसके लिए उन्हें चिन्ता नहीं करनी पडती ॥३७१॥ जो मनुष्य दूसरोंकी वस्तुओंको चुराकर प्रसन्न होते हैं, तृष्णासे कलुषित बुद्धिवाले उन मनुष्योंमें इसी जन्ममें अनेक बुराइयाँ पैदा हो जाती है और दूसरे जन्ममें भी उनकी दुर्गति होती है ॥३७२॥

१४. चोरीमें आसक्त श्रीभूति पुरोहितकी कथा

चोरीके फलके सम्बन्धमें एक कथा है उसे सुनें—

प्रयागदेशके सिंहपुर नामक नगरमें सिंहकी तरह पराक्रमशाली सिंहसेन नामका राजा राज्य करता था। उसकी पटरानीका नाम रामदत्ता था। उनके आश्चर्यजनक सौन्दर्य और उदारतासे देवोंके इन्द्रको भी सन्तुष्ट करनेवाले सिंहचन्द्र और पूर्णचन्द्र नामके दो पुत्र थे। समस्त शास्त्रोंमें कुशल श्रीभूति राजाका पुरोहित था। सत्यकी ओर अधिक रुझान होनेके कारण उसका

१ सदेहाय। २ स्ववशादन्यस्य धन वर्जयेत्। ३ मार्गे। ४ तुलाहीनाधिक्ये। ५ चौरार्थादानम्। ६ अतीचारा। 'स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥' तत्त्वार्थ सू० ७-२७। 'चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्रा। हीनाधिकविनिमान पञ्चास्तेये व्यतीपाता ॥५८॥' —रत्न० श्रा०। पुरुषार्थसि०, श्लो० १८५। ७ सुवर्णादि। ८ उत्तम। ९ परवस्तुचौर्यहर्षेण। १० सत्यवचन।

धर्मपत्नी चास्य पतिहितैकचित्ता श्रीदत्ता नामाभूत्।

स किल श्रीभूतिर्विश्वासरससिन्धुतया परोपकारनिघ्नतया च विमलकामैकापवरकरचनाशालिनीभिर्महामाण्डवाहिनीभिर्गोशालोपशल्याभिः कुल्याभिः समन्वितमविसुलभसत्येन्धनप्रचारं भव्यनारम्भोद्भटभटीरपेटकपञ्जरद्वासारं गोरुतप्रमाणं वप्रप्राकारप्रतोलिपरिखापरिक्षिप्तप्रान्तं प्रपासत्रसमासनाथवीथीविनिवेशनं पण्यपुटभेदनं विदूरितकितवविटविदूषकपीठमर्दोपस्थानं पेण्ठास्थानं विनिर्माप्य नानादिग्देशोपसर्पणपुषां वणिजां[1] प्रथमस्वल्पशुल्कभाटकभागहारं व्यवहारमधीकरत्।

अत्रान्तरे पद्मिनीखेटपत्तनविनिविष्टावासस्तम्भस्य सुदत्ताकलत्रचरित्रपवित्रितगोत्रस्य वणिक्पतेः सुमित्रस्य[15] मित्रसमामित्रनाम्नोऽत्रमानुः सुनुर्भद्रमित्रो नाम समानधनचारित्रैर्वणिक्पुत्रैः[15] सत्र[14] बहिर्यानयात्रायां विधासुः

'पादमायान्निधिं[17] कुर्यात्पादं वित्ताय[18] कल्पयेत्।
धर्मोपभोगयोः पादं पादं भर्तव्यपोषणे ॥२७२॥ इति पुण्यश्लोकः।

श्लोकार्थमवधार्य विचार्य चातिचिरमुर्वनिधिन्यासयोग्यमावासम् अविरतचारसेभ्यो-[19] चकारितेतिकर्तव्यस्तस्याखिललोकश्लाघ्यविश्वासप्रसरो श्रीभूतेर्हस्ते तत्पत्नीसमक्षमनघ-

नाम सत्यघोष पड़ गया था। उसकी धर्मपत्नीका नाम श्रीदत्ता था। वह सदा पतिका हित चाहती थी।

श्रीभूति पुरोहितका सब विश्वास करते थे और वह सदा परोपकारमें लगा रहता था। उसने एक बाजार बनवाया था। उसमें अनेक गलियाँ थीं, जिनमें अनेक दूकानें बनी हुई थीं, जो मालसे भरी रहती थीं और उनके पासमें ही गोशालाएँ बनी हुई थीं।

पानी, घास व ईंधन वगैरह बहुत सहूलियतसे मिल जाता था। लड़नेके लिए तत्पर अनेक सुभट वीर उसकी रक्षा करते थे। दो कोसका उसका विस्तार था। खाई, कोट, गली-कूँचा आदिसे सुरक्षित था। मार्गोंमें प्याऊ और सदाव्रतशालाएँ बनी हुई थीं, धूर्त, जार और विलासी पुरुषोंसे रहित था। उसमें नाना देशोंके व्यापारी व्यापारके लिए आते थे। उनसे बहुत थोड़ा टैक्स, भाड़ा और दाम लिया जाता था।

एकबार पद्मिनीपुरके निवासी, सुदत्ता नामकी सुशील स्त्रीके पति, वणिक्पति सुमित्रके पुत्र भद्रमित्रने धन और चारित्रमें अपने समान अन्य वणिक् पुत्रोंके साथ समुद्र-यात्रा करनेकी इच्छा की।

नीतिमें कहा है—"अपनी आमदनीका एक चौथाई तो जमा करके रखना चाहिए। एक चौथाईसे व्यापार करना चाहिए। एक चौथाई धार्मिक कार्यों और भोगमें खर्च करना चाहिए और एक चौथाईसे अपने आश्रितोंका पालन करना चाहिए ॥२७२॥

इस नीतिको मानकर भद्रमित्रने अपने संचित धनको किसी सुरक्षित स्थानमें रखनेका विचार किया और सोच-विचार कर समस्त लोकमें अति विश्वस्त माने जानेवाले उसी श्रीभूतिके

१ परवशतया। २ शोभाद्वितीयविपणनस्थानगलीनामिः। ३ तृण। ४ संग्राम। ५ भ्रमट। ६ भटीर—भ ट भु। सुभट। ७ तत्निमार्ग। ८ नागचार्य। ९. पीठमर्दनम्। १० ट्टम। ११ दाम। १२ गोव्रज। १३ तद्। १४ यानपात्र। १५ वणाजितलाभमध्यात्। १६ अन्त्रोर्म—स्थानम्। १७ पुंजीनिमित्तम्। १८ व्यापारनिमित्तव्यवहारनयोग्यम्। १९. निर्धारितकार्य।

[1]कक्षमनुगतासकं[2] रत्नसप्तकं निधाय विधाय च जलयात्रासमर्थमर्थमेकवर्णप्रजाप्रलापसुवर्ण-द्वीपमनुससार।

पुनरगण्यपण्यविनिमयेन तत्रत्यमचिन्त्यमात्माभिमतवस्तुस्कन्ध[3]मादाय [4]प्रत्यावर्तमानस्यादूरसागरावसानस्याकाण्डप्रचण्डबलादनिलात्परिवर्तितपोतपात्रस्य यद्भविष्यत्तया[5] आयुषः शेषत्वात्तस्यैकस्य [6]प्रमादफलकावलम्बनोद्यतस्य कण्ठप्रदेशप्राप्तजीवितस्य कथंकथमपि क्षणदा[7]याः क्षयिणि चरमयामक्षणे[8]ऽब्धिरोधोपलब्धिरभवत् ।

ततोऽसो सुखैधित[9]शरीरत्वादपाराकूपारक्षारवारिवशवशिका[10]शयश्चिरायापचितमूर्छोदयः कर[11]प्रचारचूर्णितचक्रवाकचिन्तामणौ[12] प्राग्चलचूलिकाचक्रवाल[13]चूडामणौ कमलिनीकुलविकासाहितहंसवासिता[14]शर्मणि विश्वकर्मणि[15] दरनलि[16]नान्तरालरुचिरे लोचनगोचरे संजाते सति बान्धवजनमरणाद्द्रविणे[17] संद्रवणाच्चातीवान्तर्मनस्तया[18] [19]छातच्छायकायः पटच्चर[20]चेलचीरीनिचिताङ्गशकटिः[21] [22]कर्पटिः परपस्त्यो[23]पास्तिनिरस्ताभिमानावनिर्वर्तनि[24] सन् क्रमेण सिंहपुरं नगरमागत्य गीर्मात्रावसेयपूर्वपर्यायस्तं महामोहरसोत्सारितप्रीतिं[25] श्रीभूतिमभिज्ञानाधिकवाक्यो माणिक्यसप्तकमयाचत ।

हाथमें उसकी पत्नीके सामने अत्यन्त मूल्यवान् सात रत्न सौंपकर जल-यात्रामें समर्थ एक जहाजके द्वारा सुवर्णद्वीपको चल दिया ।

वहाँ बहुत-सा माल बेचकर तथा उसके बदलेमें वहाँकी बहुत-सी मनपसन्द वस्तुएँ खरीद कर वह घरके लिए लौटा । जब समुद्रका किनारा थोडी दूर रह गया, बडी जोरका तूफान आ गया और उससे उसका जहाज उलट गया । दैववश आयु शेष होनेसे उसे जहाजका टूटा हुआ एक लकड़ीका पटिया मिल गया और उसने उसे पकड लिया । उसे पकडे-पकडे जब उसके प्राण कण्ठमें आ गये तब जिस किसी तरह रात्रिका अन्तिम पहर बीतते-बीतते उसे समुद्रका किनारा मिल गया ।

एक तो वणिक्पुत्र जन्मसे ही सुखमें पला था दूसरे अपार समुद्रके खारी पानीने उसे धनशून्य ही नहीं सज्ञाशून्य भी बना दिया था। अतः किनारेपर लगकर वह बहुत देर तक मूर्छित पड़ा रहा। जब सूर्योदय हुआ तो उसकी आँखें कमलोंकी तरह कुछ खुलीं। बन्धुजनोंके मर जाने और धनके नष्ट हो जानेसे उसका मन बहुत दुखी था और मुख पीला पड़ गया था। जिस किसी तरह फटे हुए वस्त्रके टुकडेसे अपने शरीरको ढाँककर वह वहाँसे उठा।

दूसरोंकी चाकरी करते-करते उसका सब अभिमान जाता रहा। अन्तमें आजीविकाके न मिलनेसे घूमता-घूमता सिंहपुर पहुँचा और श्रीभूतिके पास जाकर उससे अपने सात रत्न माँगे। इस समय उसकी दशा बिलकुल हीन थी। उसकी पूर्व दशाको उसके वचनसे ही जाना जा सकता था। अन्य कुछ प्रमाण उसके पास नहीं था।

---

१ बहुमूल्य । २ पूर्वपुरुषसंचितम् । ३ समूह । ४ व्याघुटितस्य । ५ दैवालम्बनपरतया । ६ त्रुटित । भग्नप्रवहणकाष्ठ । ७ रात्रे । ८. समुद्रतटप्राप्ति । ९. वर्धित । १० शून्यचित्त । ११. किरण । १२ चिन्ता एव मणि । १३ मण्डल । १४ स्त्री । १५ सूर्ये । १६ विकसत्कमल । १७. धनविनाशात् । १८ अतीवार्तमनस्तया—मु० । मानसदुःखेन । १९ कृश । २० जीर्णवस्त्र । २१ अङ्गमेव शकटि । २२ कटिमात्रवस्त्र दरिद्र । २३ परगृहसेवा । २४. वर्तनि —आजीविका । २५ त्यक्तस्नेहम् ।

परप्रतारणाभ्यस्तमतिः श्रीभूतिः

'सुप्रयुक्तेन दम्भेन स्वयंभूरपि वञ्च्यते ।
का नामालोकमान्यत्र संवृत्तिः परमा यदि ॥३७४॥

इति परामृश्य [1]महाप्रमादपिशाचस्तमायातं [2]पुनमेवमवोचत्—'अहो दुर्बुद्धे किराट, किमिह खलु त्वं केनचित्पिशाचेन छलितः, किमु मनोमहामोहावहानुरोधेन मोहनौषधेन विलङ्घितः, किं वा कितवव्यवहारेषु हारितसमस्तचित्तवृत्तिः, उत अहो परचित्तवञ्चनपिशाचिकया कयाचिज्ज्ञाविकया[7] जनितदुष्प्रवृत्तिः, आहोस्वित्फलवत पादपस्येव श्रीमत क्रियमाणोऽभियोगो न खलु किमपि फलमसंपाद्य विश्राम्यतीति चेतसा केनचिद्दुर्मेधसा विप्रलब्धबुद्धिरेवमतिविसंस्थुलमभिधत्से । क्वाहम्, क्व भवान्, क्व भवतः कथायाः सम्बन्धः । तत्कूटकपटचेष्टिताकर पट्टनपोटचर, मेणिकवणिक, सकलमपि समतीतमत्यर्थिकेशीलमति [11]वेशमेव मामकाख्ये सम्वर्कर्मण्यपर्यनुयुञ्जान[13] कथं न लज्जसे'। पुनश्चैनमर्थमापन्नपथमनोरथविरक्तं ग्रन्थार्तं[14] बलात्यौ क्षितिमन्दिरमनुचरैरानाय्य समायमतिः[16] देव, अयं वणिग्भिक्षा रणमस्माकं दुरपवादमुद्धस्य सुखेनासितुं न ददाति' इत्यादिभि र्वचनैराप्तमप्रतयोत्तेजितराजहृदयस्तयैव पृथिवीनाथेनापि निराकारयत् ।

अब दूसरोंको ठगनेमें कुशल श्रीभूतिने सोचा—

'यदि अच्छी तरहसे छलका प्रयोग किया जाये तो ब्रह्माको भी ठगा जा सकता है। और यदि दूसरे मनुष्यमें बड़ा परिवर्तन हो गया हो तब तो आजकलकी बात ही दूर है'॥३७४॥

ऐसा विचारकर वह महाधूर्त उस शोकमग्न वणिक्पुत्रसे इस प्रकार बोला—'अरे दुराग्रही नीच वणिक्! क्या तुझे किसी पिशाचने छला है ? या मनको मोहित करनेवाली किसी मोहन औषधने तुझ बदहोश कर दिया है ? या जुएमें अपनी चित्तवृत्तिको भी हार गया है ? या दूसरोंके मनको ठगनेवाली किसी दुराचारिणीने तेरी यह दुर्गति की है ? या 'फलवान वृक्षकी तरह किसी श्रीमान्के विरुद्ध लगाया गया अभियोग बिना फल दिये नहीं रहता' इस विचारसे किसी दुर्बुद्धिने तुझे ठगा है जिससे तू ऐसी बेसिर-पैरकी बात बोलता है ? कहाँ मैं, कहाँ तू, कहाँ रत्न ! हमारा तुम्हारा सम्बन्ध ही क्या ? छल-कपटमें चतुर मगरचोर, निन्दनीय वणिक ! सर्वत्र दशमें मेरी विश्वसनीयताकी ख्याति है। इस तरह असमयमें मुझसे पूछते हुए तुझे लज्जा नहीं आती ?'

इसके पश्चात् उस पिशाच श्रीभूतिने अपने रत्न प्राप्त करनेके लिए चिल्लाते फिरते उस वणिक्पुत्रको जबरदस्ती नौकरोंके द्वारा राजमन्दिरमें बुलाकर राजासे कहा—'महाराज ! यह वणिक् व्यर्थ ही सर्वत्र हमारा अपवाद करता फिरता है। बिना मालिक बैलकी तरह सुखसे बैठने भी नहीं देता।' इत्यादि बातोंके द्वारा उसने राजाका हृदय भी उसकी ओरसे उत्तेजित कर दिया। और राजाके द्वारा भी उस महलसे निकलवा दिया।

१ यास्ते वेद स्मृतिरव । २ विचारः । ३ परजरे । ४ धूर्ता । ५ माप्तपोषम् । ६ दुराग्रहिन् । ७ वेश्यया । ८ वदसि । ९ मगरचौर । १० निन्दवणिक । ११ विश्वासस्वभावम् । १२ अनीव । १३ प्रच्छन् । १४ वाचालम् । १५ राजमन्दिरम् । १६ असमयमति । —नायमति वा । १७ नागर हिन्दूपमवन् । १८ निर्घाटनं कारयामास ।

भद्रमित्रः 'चित्रमेतन्ननु यन्मामपि परविप्रलम्भाय[1] कुलक्रमायाताखिलकमलानिलयमनन्यसामान्यसाहसालयमेष मोषधिपणानिधिरपर[3] इवापायजलनिधिर्नगरमध्येऽपि मोपितुमभिलषति' इति जातामर्षोत्कर्षस्तं न्यासार्पणेऽतिचिक्कणचित्तं निश्चित्य स्वाध्यायिपरिषदि महापरिषदि च तदन्यायोपविन्यासेन साध्यसिद्धिमनवबुद्धयानधीनधी अशङ्कशङ्कमतिर्महादेवीधामनेमनिवेशमम्लिकानोकहशिखादेशमारुह्यापद्गृह्य कुररीविरहावसरे कुरर इव तमस्विनीप्रथमपश्चिमयामसमये 'सुहृच्चराद्युतिः श्रीभूतिरेवंविधकरण्डकविन्यस्तम्, इयत्संस्थानसम्, एतद्वर्णम्, अदः संख्याभ्यर्णं च मदीय मणिगणमुपनिधिनिधेयं न प्रतिददातीत्यत्र चास्यैव धर्मरमणी साक्षिणी। यदि च यद्वदतयैतदन्यथा मनागपि भवति तदा मे चित्रवधो विधातव्य' इति दीर्घघोषघूर्णितमूर्धमध्यमूर्ध्वबाहु सर्वर्तुपरिवर्तार्धं पूत्कुर्वन्नेकदा नगराङ्गनाजनस्य 'चन्द्रामृतपात्रयन्त्रधारागृहावगाहगौरितजगत्त्रयं कौमुदीमहोत्सवसमयमालोकमानया तमङ्कोत्सङ्गसमासीनया निपुणिकाभिधानोपसवित्री समेतया अनाथलोकलोचनचकोरकौमुदीकल्पवृत्तया रामदत्तया करुणारसप्रचारपदव्या महादेव्याकर्णितोऽनुक्रोशाभिनिवेशान्निर्वर्णितश्च।

[superscript footnote markers in the above passage, as printed: 1 परविप्रलम्भाय; 2 मोष; 3 अपर; 4 अमर्ष; 5 न्यास; 6 चिक्कण; 7 महापरिषदि; 8 अनधीनधी; 9 अशङ्कशङ्क; 10 नेम; 11 कुररी; 12 तमस्विनी; 13 सुहृच्चरा; 14 निधेयं; 15 अन्यथा; 16 परिवर्तार्धं; 17 चन्द्रामृत; 18 समासीनया; 19 उपसवित्री; 20 पदव्या; 21 अनुक्रोश]

तदस्मन्मनःसधात्रि धात्रि, न खल्वेष मनुष्यः पिशाचपरिप्लुतो नाप्युन्मत्ताचरितो

तब भद्रमित्र विचारने लगा—'मेरे घरमें वंशपरम्परासे लक्ष्मीका निवास चला आता है, तथा मैं असाधारण साहसी भी हूँ फिर भी आश्चर्य है कि यह पक्का ठग नगरके बीचमें ही मेरा माल हड़प लेना चाहता है।' यह सोचकर उसे बड़ा क्रोध हो आया। उसे निश्चय हो गया कि श्रीभूति मेरी धरोहरको कभी नहीं देगा तथा समझदारों और धर्माधिकारियोंके सामने उसके अन्यायको रखनेसे भी कुछ लाभ नहीं होगा। तब उस बुद्धिशालीने एक दूसरा उपाय किया।

राजाकी पटरानीके महलके समीप एक इमलीका वृक्ष था। रातके समय वह उसकी चोटीपर चढ़ जाता और जैसे सारसीके विछोहमें सारस चिल्लाता है उस तरह रात्रिके प्रथम और अन्तिम पहरमें हाथ ऊपर उठाकर बड़े जोरसे चिल्लाता—"मेरा पूर्व मित्र किन्तु अब शत्रु श्रीभूति अमुक प्रकारकी पेटीमें रखे हुए, अमुक आकार और अमुक रंगके तथा अमुक सख्यावाले मेरे रत्नोंको नहीं देता। मैंने उसके पास धरोहरके रूपमें रखे थे। इसकी साक्षी उसीकी धर्मपत्नी है। यदि मेरा कथन रंच मात्र भी असत्य हो तो मुझे मरवा दिया जाये।"

ऐसा चिल्लाते-चिल्लाते उसे छह माह बीत गये। एकबार अनाथ लोगोंके लोचनरूपी चकोरके लिए चाँदनीके समान आचरणवाली दयावती राजमहिषी रामदत्ता कौमुदी महोत्सव देखती थी। उसके पासमें उसकी धाय निपुणिका बैठी थी। उस समय रामदत्ताने उस वणिक्की पुकार सुनी और दयापूर्ण भावसे अपनी धायसे बोली—

'धाय! न तो यह मनुष्य पिशाचसे ही ठगा गया है और न इसका आचरण पागलोंके

---

१. परवञ्चननिमित्ते मामपि मोषितुमभिलषति। २ चौर्य। ३ द्वितीय। ४ क्रोध। ५ स्थापितधनदाने। ६ लोभिष्टम्। ७ धर्माधिकार। ८ न परवशबुद्धि। ९ असकमुक—अ० ज० द०। स्थिरमति। १० समीप। ११ पक्षिणी। १२ रात्रि। १३ पूर्वं सुहृदिदानी शत्रुरिति। १४ स्थाप्य धनम्। १५ असबद्धप्रलापतया। १६ षण्मासान् यावत्। १७ चन्द्र एवाऽमृतपात्रं तदेव यन्त्रधारागृहम्। १८ उपरितनभूमिस्थितया रामदत्तया। १९ धात्री। २० मार्गरूपया। २१ करुणाभिप्रायात्।

परप्रतारणाभ्यस्तबुद्धिर्गीतिः श्रीभूति

'सुप्रयुक्तेन दम्भेन स्वयंभूरपि वञ्च्यते ।
का नामालोकमात्रेऽस्मिन् संवृत्तिः परमा यदि ॥१७४॥

इति परामृश्य [1]महाग्रहग्रामात्तचेतास्तमायातं गृहमेधमवोचत्—'अहो दुर्मुरूढं किराट, किमिह खलु त्वं केनचित्पिशाचेन छलितः, किमु मनोमहामोहापहानुरोधेन मोहनौषधेना तिरस्कृतः, किं वा कितवव्यवहारेषु हारितसमस्तचित्तवृत्तिः, उत अहो परचित्तवञ्चनप्रपञ्चाविष्कृत्या कयाचिद्विदग्धिकया[2] जनितदुष्प्रवृत्तिः, आहोस्वित्फलवत पादपस्येव श्रीमत क्रियमाणोऽभियोगो न खलु किमपि फलमसंपाद्य विश्राम्यतीति चेतसा केनचिद्दुर्मेधसा विप्रलब्धबुद्धिर्येनैवमतिविरुद्धमभिधत्से । क्वाहम्, क्व भवान्, क्व भवतः कस्माच्चापि सम्बन्धः । तत्कूटकपटचेष्टिताकर पत्तनपोट्टचर, वेणीकृपणिक, सकलमप्यजगत्प्रतीतमस्त्यपि केशीलमति [13]चेतसमेवं मामकाम्बे धन्वकर्मण्यपर्यनुयुञ्जान[13] कथं न लज्जसे'। पुनरेनमर्थप्रार्थनपथमनोरथविश्वास वाचालं[14] पश्चात्पौ[15]लिन्दमन्दिरमनुचरैरसाम्यसमायमति[16], 'देव, अयं वणिग्निष्कारणमस्माकं दुरपवादमुद्रक्लन्मुखरमुखः सुखेनानवस्थितस्तावदेकं स्वासितुं न ददाति' इत्यादिभिरुदितैरवात्तप्रसरतयोत्तेजितराजहृदयस्तथैव पृथिवीनाथेनापि निराकारयत् ।

अब दूसरोंको ठगनेमें कुशल श्रीभूतिने सोचा—

'यदि अच्छी तरहसे छलका प्रयोग किया जाये तो ब्रह्माको भी ठगा जा सकता है । और यदि दूसरे मनुष्यमें बड़ा परिवर्तन हो गया हो तब तो आलोचनाकी बात ही दूर है' ॥१७४॥

ऐसा विचारकर वह महादुष्टात्मा उस शोकमग्न वणिक्पुत्रसे इस प्रकार बोला—'अरे दुराग्रही नीच वणिक् ! क्या तुझे किसी पिशाचने छला है ? या मनको मोहित करनेवाली किसी मोहन औषधने तुझे बदहोश कर दिया है ? या जुएमें अपनी चित्तवृत्तिको भी हार गया है ? या दूसरोंके मनको ठगनेवाली किसी दुराचारिणीने तेरी यह दुर्गति की है ? या 'फलवान वृक्षकी तरह किसी श्रीमान्‌के विरुद्ध लगाया गया अभियोग बिना फल दिये नहीं रहता' इस विचारसे किसी दुर्बुद्धिने तुझे ठगा है जिससे तू ऐसी बेसिर-पैरकी बात बोलता है ? कहाँ मैं, कहाँ तू, कहाँ रत्न ? हमारा तुम्हारा सम्बन्ध ही क्या ? छल-कपटमें चतुर, नगरचोर, निन्दनीय वणिक ! सर्वत्र देशोंमें मेरी विश्वसनीयताकी ख्याति है । इस तरह असमयमें मुझसे पूछते हुए तुझे लज्जा नहीं आती ?'

इसके पश्चात् उस पिशाच श्रीभूतिने अपने रत्न प्राप्त करनेके लिए चिल्लाते फिरते उस वणिक्‌पुत्रको जबरदस्ती नौकरोंके द्वारा राजमन्दिरमें बुलवाकर राजासे कहा—महाराज ! यह वणिक् व्यर्थ ही सर्वत्र हमारा अपवाद करता फिरता है । बिना नाथके बैलकी तरह सुखसे बैठने भी नहीं देता।' इत्यादि बातोंके द्वारा उसने राजाका हृदय भी उसकी ओरसे उत्तेजित कर दिया । और राजाके द्वारा भी उसे महलसे निकलवा दिया ।

---

१ शास्त्रे वेद स्मृतिश्च । २ विचार । ३ परस्मै । ४ शुण्ठ्यां । ५ प्राप्तयोग्यम् । ६ दुराग्रहिन् । ७ वेश्यया । ८ वदसि । ९. नगरचौर । १० निन्द्यवणिक । ११ विश्वासजनकत्वम् । १२ अतीव । १३ प्रच्छन् । १४ वाचालम् । १५. राजमन्दिरम् । १६ असंगतकर्मणि । —मार्गमनि वा । १७ नागर हितपुरुषम् । १८ निर्भर्त्स्य चारयामास ।

भद्रमित्रः 'चित्रमेतन्ननु यन्मामपि परविप्रलम्भाय[1] कुलक्रमायाताखिलकमलानिलयम-
नन्यसामान्यसाहसालयमेष मोष[2]धिषणानिधिरपर[3] इवापायजलनिधिर्नगरमध्येऽपि मोपितुम-
भिलषति' इति जातामर्षोत्कर्षस्तं[4] न्यासार्पणे[5]ऽतिचिक्कणचित्तं[6] निश्चित्य स्वाध्यायिपरिषदि
महापरिषदि[7] च तदन्यायोपविन्यासेन साध्यसिद्धिमनवबुद्ध्यानधीनधी[8] अशङ्कशङ्कु[9]र्मतिर्महा-
देवीधामने[10]निवेशमम्लिकानोकहशिखादेशमारुह्यापद्गृह्यः[11] कुररीविरहावसर कुरर इव
तमस्विनी[12]प्रथमपश्चिमयामसमये [13]'सुहृच्चराहुतिः श्रीभूतिरेवंविधकरण्डकविन्यस्तम्, इय-
त्संस्थानसम्, एतद्वर्णम्, अदः संख्याभ्यर्णं च मदीयं मणिगणमुपनिधिनिधेयं[14] न प्रतिददा-
तीत्यत्र चास्यैव धर्मरमणी साक्षिणी। यदि च यद्वदतयैतदन्यथा[15] मनागपि भवति तदा मे
चित्रवधो विधातव्य' इति दीर्घघोषघूर्णितमूर्धमध्यमूर्ध्वबाहुः सर्वर्तुपरिवर्ताधि[16] पूत्कुर्वन्ने-
कदा नगराङ्गनाजनस्य [17]'चन्द्रामृतपात्रयन्त्रधारागृहावगाहगौरितजगत्त्रयं' कौमुदीमहोत्स-
वसमयमालोकमानया तमङ्कोत्सङ्गसमासीनया[18] निपुणिकाभिधानोपसवित्री[19] समेतया अना-
थलोकलोचनचकोरकौमुदीकल्पवृत्तया रामदत्तया करुणारसप्रचारपद्व्या[20] महादेव्याकर्णि-
तोऽ[21]नुक्रोशाभिनिवेशान्निर्वर्णितश्च।

तदस्मन्मनःसंधात्रि धात्रि, न खल्वेष मनुष्यः पिशाचपरिप्लुतो नाप्युन्मत्ताचरितो

तब भद्रमित्र विचारने लगा—'मेरे घरमें वंशपरम्परासे लक्ष्मीका निवास चला आता है, तथा मैं असाधारण साहसी भी हूँ फिर भी आश्चर्य है कि यह पक्का ठग नगरके बीचमें ही मेरा माल हड़प लेना चाहता है।' यह सोचकर उसे बड़ा क्रोध हो आया। उसे निश्चय हो गया कि श्रीभूति मेरी धरोहरको कभी नहीं देगा तथा समझदारों और धर्माधिकारियोंके सामने उसके अन्यायको रखनेसे भी कुछ लाभ नहीं होगा। तब उस बुद्धिशालीने एक दूसरा उपाय किया।

राजाकी पटरानीके महलके समीप एक इमलीका वृक्ष था। रातके समय वह उसकी चोटीपर चढ़ जाता और जैसे सारसीके विछोहमें सारस चिल्लाता है उस तरह रात्रिके प्रथम और अन्तिम पहरमें हाथ ऊपर उठाकर बड़े जोरसे चिल्लाता—"मेरा पूर्व मित्र किन्तु अब शत्रु श्रीभूति अमुक प्रकारकी पेटीमें रखे हुए, अमुक आकार और अमुक रंगके तथा अमुक संख्यावाले मेरे रत्नोंको नहीं देता। मैंने उसके पास धरोहरके रूपमें रखे थे। इसकी साक्षी उसीकी धर्मपत्नी है। यदि मेरा कथन रंच मात्र भी असत्य हो तो मुझे मरवा दिया जाये।"

ऐसा चिल्लाते-चिल्लाते उसे छह माह बीत गये। एकबार अनाथ लोगोंके लोचनरूपी चकोरके लिए चाँदनीके समान आचरणवाली दयावती राजमहिषी रामदत्ता कौमुदी महोत्सव देखती थी। उसके पासमें उसकी धाय निपुणिका बैठी थी। उस समय रामदत्ताने उस वणिक्की पुकार सुनी और दयापूर्ण भावसे अपनी धायसे बोली—

'धाय! न तो यह मनुष्य पिशाचसे ही ठगा गया है और न इसका आचरण पागलोंके

---

१ परवञ्चननिमित्तं मामपि मोपितुमभिलषति। २ चौर्य। ३ द्वितीय.। ४ क्रोध। ५. स्थापितधनदाने। ६ लोभिष्टम्। ७ धर्माधिकार। ८ न परवशबुद्धि। ९ असकमुक—अ० ज० द०। स्थिरमति। १० समीप। ११ पक्षिणो। १२. रात्रि। १३ पूर्वं सुहृदिदानीं शत्रुरिति। १४ स्थाप्य धनम्। १५ असम्बद्धप्रलापतया। १६ षण्मासान् यावत्। १७ चन्द्र एवाऽमृतपात्रं तदेव यन्त्रधारागृहम्। १८ उपरितनभूमिस्थितया रामदत्तया। १९. धात्री। २० मार्गरूपया। २१ करुणाभिप्रायात्।

यतस्ते दिवससमाप्तिं कृत्वा सकलमपि परिवत्सरमेकमेकयाक्ष्यया[1]दोराकुण्ठपाठकठोर कण्ठनालः। तद्विचार्येयं तावच्चिरकाल[3]शारविशारदहृदयाम्बुजस्य पतत्क्रीडाव्याजेन[4] मन्मोरन्तःकरणम्। अम्बिके, त्वयापि 'द्यूतदेवनावसरे यद्यहमेनमनेककुर्वैरावारमिचित चित्तमतिचटुकुकुटिचेष्टितं[8] पक्षोटपृच्छमुक्तजातं पृच्छामि यच्चास्य 'कटकोर्मिकांशुकादिकं[9] जयामि, तद्देवामिधामीकस्य मृगीमुखव्याघ्रीसमाचारकुट्टनी[10] भीषणा गृहिणी विम्बिणीकातरमाजोऽस्य वणिजो विपमरुचिमरीचिसंकाशपद्मानि[11] रत्नानि याचयितव्या' इति निपुणिकायाः कृतसंगीतिः[12] भास्वत्येऽहनि[13] 'सदैव मदीयहृदयानन्दकुसुमे कुसुमे त्वयापि भगवत्या साधु विजृम्भितव्यम्, यद्यस्य विश्वापुरुषस्यास्ति सत्यता' इत्यभ्येत्य[14] तथैवाचरिताचरणा शतशस्तच्चरमिनागतापन्नानुवन्धतन्नाचत्कलमाम्मणीनुपमणीय[15] राज्ञः समर्पयामास।

स राजामृतांशौ[16] स्वकीयरत्नराशौ तानि संकीर्य[17] आकाय चैनमासन्नसमीकस्य कृतावित्ताचर्तेन्मम चैहकमम्बनम् 'अहो वणिक्तनय, यान्यत्र रत्ननिचये तव रत्नानि सन्ति तानि त्वं विविच्य गृहाण' इत्यभाणीत्। भद्रमित्रः 'चिरेणाय ननु दिष्ट्या वर्धेऽहम्' इति मनस्यभिनिविश्य[18] 'यथादिशति क्षितिपतिः' इत्युपाविश्य विमृश्य च तस्यां माणिक्यपुञ्जौ[19] निजान्येव मनाग्विलम्बितपरिचयचिररत्नानि रत्नानि समग्रहीत्।

ततः स नरवरः सपरिवारः प्रकामं विस्मितमतिः 'वणिक्पते त्वमेवासत्यवर्त

जैसा ही है। क्योंकि उस दिनसे लेकर पूरे छह माह तक यह एक ही बात चिल्लाता है। अत द्यूतक्रीडाके शौकीन श्रीभूतिके साथ द्यूतक्रीडाके बहानेसे उसके मनकी बात शीघ्र जाननी चाहिए। जुआ खेलते समय मैं उस धर्माचारी धगुला भगतसे जो-जो बात पूछूँ तथा जो उसके कंकण, अँगूठी वस्त्र वगैरह जीतूँ उन सबको प्रमाणरूपसे उपस्थित करके तुम्हें उस मृगीके समान मुख किन्तु सिंहनीके समान आचरणवाली कुट्टनी श्रीदत्तासे इमलीके वृक्षपर चढ़े हुए इस वणिक्के सात रत्न माँग लाने चाहिए।'

इस प्रकार निपुणिकाको समझाकर दूसरे दिन रानीने—हे मेरे हृदयको आनन्द देनेवाले पाशदेवता! यदि इस इमलीके वृक्षवाला मनुष्य सच्चा है तो तुम्हें भी उसमें सहायता करनी चाहिए ऐसी प्रार्थना करके वैसा ही किया और बार-बार जुएमें जीते हुए पदार्थोंको प्रमाण रूपसे उपस्थित करके श्रीभूतिकी पत्नीसे रत्न माँग लिये तथा उन्हें राजाको दे दिया। राजाने उन रत्नोंको अपने अद्भुत रत्नोंमें मिलाकर उस वणिक्-पुत्रको बुलाया और कहा—'वणिक्-पुत्र! इन रत्नोंमें-से जो रत्न तुम्हारे हों उन्हें चुनकर ले लो।' 'चिरकालके बाद मेरा भाग्योदय हुआ है' ऐसा मनमें सोचकर भद्रमित्र बोला—'जो आज्ञा महाराज।' चूँकि रत्नोंको देखे हुए बहुत दिन हो गये थे इसलिए उन्हें चुननेमें थोड़ा समय लगा। किन्तु उसने विचारकर उन रत्नोंमें-से अपने रत्नोंको खोज लिया।

यह देखकर सपरिवार राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बोला—'वणिक्पति! तुम ही

१ वर्षार्धं। २ आलाप। ३ जनस्य। ४ द्यूतक्रीडा। ५ तद्विषस्य। ६ द्यूतक्रीडन। ७ पुच्छिव। ८. माया। कुक्कुटि—का। ९. कंकण-मुद्रिका-वस्त्रादिकं। १० कुट्टनीति भाषायाम्। ११ रत्नानि मंस्यानि। १२ सचिव। १३ आगामिनि दिने। १४ प्रार्थ्य। १५. आनीय। १६ किरणे। १७ मिश्रीकृत्य। १८. देवोपानम्। १९. विराज। २० पुञ्जेन। २१ अभिप्रायं कृत्वा। २२ समूहे। २३ मनाग् विलम्बितपरिचयेन विरल कालतो येषु रत्नेषु तानि चिररत्नानि।

सत्यघोपः, त्वमेव च परमनिस्पृहमनीप', यत्तव चेतसि वचसि च न मनागप्यन्यथाभावः समस्ति' इति प्रतीतिभिः पारितोपिकप्रदानपुरःसरप्रकृतिभिस्तत्तदौपयिकोपचितिवसतिभिश्च भणितिभिस्तमखिलब्रह्म[1]स्तम्बस्तिभीविजृम्भमाणगुणस्तोत्रं भद्रमित्रं कथंकारं न श्लाघयामास।

पुनरदूर[2]ाशिवतातिं श्रीभूतिं निखिललोकलपना[3]लवालमूलकौलीन[4]तालताश्रयशाखिनं न्युब्जाननं[5] निसर्गेण [6]हरिणीसमच्छायमपि महासाहसानुष्ठानात्सूर्मी[7]समानकायमनल्पवैलक्ष्यस्फुटदास्वनितमतीवभयाविर्भूतोत्पथ[8]वेपथु[9]स्तिमितमवेक्ष्य बह्वाक्षेपम्, 'आ[10] सोमपायिनामपांक्तेय[11] वैधेय[12], विश्वासघातपातकप्रसव श्रोत्रियकितव दुराचार प्रवर्तितनूत्नरत्नापहार, कुसिक[13]कुलपांसन, वकानुष्ठानसदन, साधुजनमनःशकुं[14]निबन्धनायातनुतन्त्रीजालमिव खलु तवेदं यज्ञोपवीतम्। असदाचारावधिक[15] वेदवैवधिक[16], सद्धर्मधामध्यामलताविधानाय विश्वभोजः[17] समेधन[18], अकृत्यचैत्य[19] वात्यामात्य[20] जरायमदूतिको[21]पपतिक[22] दुर्गतिक, किमात्मनो न पश्यसि [23]चर्मितरुत्वचमिवातिप्रवृद्धविश्रो[24]वात्योन्माथशिथिलितां, प्रभातप्रदीपिकामिवास्तासन्नजीवितरविमङ्कच्छविं येनाद्यापि वयोधसि[25] वयसि वर्तमान इव चेष्टसे। तदिदानीं यदि घनाभि[26]घारघोरतेजसि विश्ववेदसि[27] निक्षिप्यसे, तदा चिरोपचितदुराचारग्रहस्य स तवाचिरदुःखदायिपरिग्रहोऽनुग्रहो इव। ततो द्विजापसद, कदा[28]चित्त्वयेदमति-

---

वास्तवमें सत्यघोप हो, तुम ही अत्यन्त निस्पृही हो, क्योंकि तुम्हारे मन और वचनमें जरा भी छलछिद्र नहीं है।' इस प्रकारके वचनोंके द्वारा, पारितोषिक वगैरहके द्वारा तथा उस समयके योग्य अन्य उपायोंके द्वारा राजाने सबके द्वारा प्रशसित भद्रमित्रकी बहुत-बहुत सराहना की।

बेचारा अभागा श्रीभूति नीचा मुख किये हुए खडा था। यद्यपि वह स्वभावसे ही देखनेमें हरिणीके समान दीन था तथापि उसने बडा साहस किया था और उसके कारण वह ऐसा प्रतीत होता था मानो लोहेकी कोई मूर्ति है। उसके मुखपर असीम लज्जा बोलती थी। भयके कारण वह थर-थर काँप रहा था। उसे देखकर राजा बड़े तिरस्कारके साथ बोला—'ब्राह्मण कुल कलक, मूर्ख, विश्वासघाती, जुएके द्वारा नये-नये रत्नोंको अपहरण करनेवाले, बगुला भगत! तुम्हारा यह यज्ञोपवीत साधु पुरुषोंके मनरूपी पक्षियोंको फँसानेके लिए बडा भारी ताँतका जाल है। अरे दुराचारी, वेदोके भारवाही! समीचीन धर्मरूपी मन्दिरको मलिन करनेवाले, कुकर्मके घर, दुष्ट मन्त्री! क्या तुम वृद्धताके कारण भोजवृक्षकी छालकी तरह शिथिल हुए और तेज हवा के झोंकेसे बुझनेके उन्मुख हुए प्रभातकालीन दीपककी तरह अथवा अस्त होनेके उन्मुख हुए सूर्यकी तरह अपने शरीरकी दशाको नहीं देखते हो, जिससे अब भी ऐसी चेष्टाएँ करते हो मानो तुम युवा हो। अत अब यदि तुम्हें खूब जलती हुई अग्निमें डाल दिया जाये तो यह तुम्हारे जैसे पुराने पापीपर अनुग्रह ही होगा, क्योंकि इससे तुम थोड़ी ही देर तक दु ख उठा सकोगे। इसलिए नीच ब्राह्मण! या तो तुम्हें अत्यन्त दुर्गन्धित गोबरसे भरे हुए तीन प्याले खाने चाहिये, या

---

१ ब्रह्माण्ड। २ समीपाऽमगलम्। ३ मुख। ४ जनापवाद। ५ अधोमुखम्। ६ स्वर्णप्रतिमा। ७ लोहप्रतिमा। ८ उन्मार्ग। ९ कम्पेनार्द्र—प्रस्वेदितम्। १० खेदे। ११ पक्तिरहित। १२ निर्भाग्य। १३ ब्राह्मणकुलदूषण। १४ पक्षिबन्धनार्थम्। १५ मर्यादक। १६१ भारवाहक। १७ अग्ने। १८ इन्धन। १९ गृह। २० निकृष्टमन्त्रिन्। २१ जरा एव यमदूती। २२ जार। २३ भूर्जपत्रवत् शिथिलशरीरचर्म। २४ जरा एव वात्या। २५ यौवने। २६ घृत। २७ अग्नौ। २८. अथवा।

यतस्त दिवसमादिं कृत्वा सकलमपि परिवत्सरमेकवाक्याभ्याहारात्कुण्ठपाठकठोर कण्ठनालः । तद्विचारयेयं तावच्चिरकालं [४]शारदिशारदृश्याम्बुजस्य द्यूतक्रीडाव्याजेन [५]मन्त्रेरन्तःकरणम् । अम्बिके, त्वयापि [६]द्यूतदेवनावसरे यदहमेनमनेककुशंरावारनिर्मित चित्रमतिचञ्चुकुटिलेवृत्तिर्[७] चकोदघृतमुद्राग्रात पृच्छामि, यदचास्य [८]कटकोर्मिकांशुकादिकं जयामि तत्तदेवाभिज्ञानीकृत्य मृगीमुखव्याघ्रीसमाचारकुट्टनी[१०] श्रीदत्ता भद्रिमी तिन्तिणीकातरुमाश्रोऽस्य वणिजो विपमर्कवमरीचिविधक्यासपदानि[११] रत्नानि याचयितव्या' इति निपुणिकायाः कृतसंगीतिः[१२] श्वस्त्येऽहनि[१३] 'सदैव मदीयहृदयानन्दकुसुमे कुसुमे त्वयापि भगवत्या साधु विजृम्भितव्यम्, यद्यस्य विद्यापुरुषस्यास्ति सत्यता' इत्यभ्येर्थ्य[१४] तथैवाचरिताचरणा सततमस्तमदभिज्ञानज्ञापनानुबन्धतन्त्रात्तत्कलत्राग्मणीनुपप्रणीय[१५] राज्ञः समर्पयामास ।

स राजानुरागी[१६] स्वकीयरत्नराशौ तानि सकीर्य[१७] आकार्य चैनमासन्नसन्नीकृत्य-कृतायिसासनैर्न्यक्षैः कृतकसमनम् 'अहो वणिक्तनय, याम्यत्र रत्नविषये तव रत्नानि सन्ति तानि त्वं विचिन्त्य गृहाण' इत्यभाषीत् । भद्रमित्रः 'चिरेणाय ननु दिष्ट्या वर्षेऽहम्' इति मनस्यभिनिविश्य 'यथादिशति विश्वपतिः' इत्युपाविश्य विमृश्य च तस्यां माणिक्यपुञ्जे[१८] निजान्येव समाग्निसम्मिर्तपरिचयचिररत्नानि रत्नानि समग्रहीत् ।

ततः स नरवरः सपरिवारः प्रकामं विस्मितमतिः 'वणिक्पते त्वमेवात्रान्वर्थ'

वैसा ही है । क्योंकि उस दिनसे लेकर पूरे छह माह तक यह एक ही बात चिल्लाता है । अतः द्यूतक्रीडाके शौकीन श्रीभूतिके साथ द्यूतक्रीडाके बहानेसे उसके मनकी बात शीघ्र जाननी चाहिए । जुआ खेलते समय मैं उस बनावटी भगुआ भगतसे जो-जो बात पूछूँ तथा जो उसके कंकण, अँगूठी, वस्त्र वगैरह जीतूँ उन सबको प्रमाणरूपसे उपस्थित करके तुम्हें उस मृगीके समान मुख किन्तु सिंहनीके समान आचरणवाली कुट्टनी श्रीदत्तासे इमलीके वृक्षपर चढ़े हुए इस वणिक्के सात रत्न माँग लाने चाहिए ।'

इस प्रकार निपुणिकाको समझाकर दूसरे दिन रानीने—हे मेरे हृदयको आनन्द देनेवाले पुष्पदेवता ! यदि इस इमलीके वृक्षवाले मनुष्य सच्चा है तो तुम्हें भी उसमें सहायता करनी चाहिए ऐसी प्रार्थना करके वैसा ही किया और बार-बार जुएमें जीते हुए पदार्थोंको प्रमाण रूपसे उपस्थित करके श्रीभूतिकी पत्नीसे रत्न माँग लिये तथा उन्हें राजाको दे दिया । राजाने उन रत्नोंको अपने अद्भुत रत्नोंमें मिलाकर उस वणिक्-पुत्रको बुलाया और कहा—'वणिक्-पुत्र ! इन रत्नोंमें-से जो रत्न तुम्हारे हों उन्हें चुनकर ले लो ।' 'चिरकालके बाद मेरा भाग्योदय हुआ है' ऐसा मनमें सोचकर भद्रमित्र बोला—'जो आज्ञा महाराज ।' चूँकि रत्नोंको देखे हुए बहुत दिन हो गये थे इसलिए उन्हें चुननेमें थोड़ा समय लगा । किन्तु उसने विचारकर उन रत्नोंमें-से अपने रत्नोंको खोज लिया ।

यह देखकर सपरिवार राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ । वह बोला—'वणिक्पति ! तुम ही

१ कर्णो । २ आलाप । ३ अभय । ४ द्यूतक्रीडा । ५ अभिप्राय । ६ द्यूतक्रीडन । ७ कुत्सित । ८ माया । कुत्सुदि—वा । ९. कंकण-मुद्रिका-वस्त्रादिकं । १० कुट्टनीति भाषायाम् । ११ उच्चार्य रत्नानि । १२ संकेत । १३ आयातमिति दिने । १४ प्रार्थ्य । १५ आनीय । १६ दिवसे । १७ मिश्रीकृत्य । १८. वैयोत्यामम् । १९. विचाय । २० पृष्ट्वा । २१ अभिमार्थ कृत्वा । २२ समूहे । २३ मनाक् विलम्बितपरिचयेन चिरत्न कालमेवी येषु रत्नेषु तानि चिरत्नानि ।

जायन्ते येन वा स्वस्य व्यापदश्च दुरास्पदाः ॥३७७॥
प्रियशीलः प्रियाचारः प्रियकारी प्रियंवदः ।
स्यादानृशंसधीर्नित्यं[1] नित्यं परहिते रतः ॥३७८॥
केवलिश्रुतसङ्घेषु देवधर्मतपःसु च ।
अवर्णवाद[2]वाञ्जन्तुर्भवेद्दर्शनमोहवान् ॥३७९॥
मोक्षमार्गे स्वयं जानन्नर्थिने यो न भाषते ।
मदापह्नवमात्सर्यैः स स्यादावरण[3]द्वयी ॥३८०॥
[4]मन्त्रभेदः परीवादः पैशून्य कूटलेखनम् ।
मुधासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यते विघातकाः ॥३८१॥
परस्त्रीराजविद्विष्टलोकविद्विष्टसंश्रयाम् ।
अनायकसमारम्भां न कथां कथयेद्बुध ॥३८२॥
[5]असत्यं सत्यगं किंचित्किंचित्सत्यमसत्यगम् ।
सत्यसत्यं पुनः किंचिदसत्यासत्यमेव च ॥३८३॥

अस्येदमैदंपर्यम्—असत्यमपि किंचित्सत्यमेव, यथान्धांसि रन्धयति वयति वासांसी-

या अपने ऊपर दुर्निवार सकट आता हो ॥ ३७७ ॥

मनुष्यको सदा प्रिय स्वभाववाला, प्रिय आचरणवाला, प्रिय करनेवाला, प्रिय बोलनेवाला, सदा दयालु और सदा दूसरोंके हितमें तत्पर होना चाहिए ॥ ३७८ ॥

जो जीव केवली, शास्त्र, सघ, देव, धर्म और तपमें मिथ्या दोष लगाता है, वह दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध करता है ॥ ३७९ ॥ जो मोक्षके मार्गको जानता हुआ भी, जो उसे जानने को इच्छुक है उसे भी नहीं बतलाता, वह अपने ज्ञानका घमण्ड करनेसे, ज्ञानको छिपानेसे तथा उसके सिवा दूसरा कोई न जानने पावे इस ईर्ष्या भावसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका बन्ध करता है ॥ ३८० ॥

सकेत वगैरहसे दूसरेके मनकी बातको जानकर उसे दूसरोंपर प्रकट कर देना, दूसरेकी बदनामी फैलाना, चुगली खाना, जो बात दूसरेने नहीं कही या नहीं की, दूसरोंका दबाव पडनेसे ऐसा उसने कहा या किया है इस प्रकारका झूठा लेख लिखना, और झूठी गवाही देना, ये सब काम सत्यव्रतके घातक हैं ॥३८१॥ समझदार मनुष्यको परायी स्त्रियोंकी कथा, राजविरुद्ध कथा, लोकविरुद्ध कथा और कपोलकल्पित व्यर्थ कथा नहीं कहनी चाहिएँ ॥ ३८२ ॥

वचन चार प्रकारका होता है। कोई वचन असत्य-सत्य होता है, कोई वचन सत्य-असत्य होता है। कोई वचन सत्य-सत्य होता है और कोई वचन असत्य-असत्य होता है ॥ ३८३ ॥

इसका यह अभिप्राय है कि कोई वचन असत्य होते हुए भी सत्य होता है, जैसे–'भात पकाता है, या कपड़ा बुनता है'। ये वचन यद्यपि असत्य हैं क्योंकि न भात पकाया जाता है

१ दयासहितबुद्धि । २ निन्दापर । 'केवलिश्रुतसघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥' तत्त्वा० सू० ६, १३ सू० । ३ 'तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो ॥' ६ तत्त्वा० सू० ६, १० । ४ 'मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदा ।' —त० सू० ७–२६ । 'परिवादरहोभ्याख्या पैशून्य कूटलेखकरण च । न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमा पञ्च सत्यस्य ॥५६॥' —रत्न० श्रा० । पुरुषार्थसि० श्लो० १८४ । अमित० श्राव०, अ०-७, श्लो० ४ । ५ एतत् सर्वं गद्यभागसहित धर्मरत्नाकरे समुपलभ्यते ।

दुर्गन्धगोर्वरोद्गर्षितमल्लास्यं शालाजिरचयमशितव्यम्, नो चेदशरीरबलस्योत्तुङ्गगात्राणां मल्लानां त्रयस्त्रिंशत्प्रहतानि सहितव्यानि । ध्रुवमन्यथा तव सर्वस्वापहारः ।'

प्रणाशापकायविभूति श्रीभूतिरायतनयं दण्डत्रयं क्रमेणातितितिक्षमाणः पर्यासितसमस्तद्रविणः किमिकिर्मीरपरिपत्परिकल्पितमौर्तिः, स्वकलङ्ककपालमालाबासितकण्ठः खरपृष्ठारोपणपरिष्कृतः पुरोऽस्वासर्वासेपकमारोप्य सधिकार निष्कासितः पापविपाकोपपन्नाकृतिरकुष्ठी दुष्परिणामकर्मिर्द्धमायस्पारम्पविनायमहसि हिरण्यरेतसि तनुविसर्गाद्विरीप्रसर्गाद्वाहे पेऽन्त्येपाये भोगीभूय चिरायापराध्ये च प्राणिषु आतबीविताबधिरचयप्रधाननिधिर्भूय ।

भवति चात्र श्लोकः—

श्रीभूतिः स्तेयदोषेण परां प्राप्य पराभवम् ।
दोहितभ्रं मर्वतेन दुरोर श्वभ्रयोगतः ॥३७५॥

इत्युपासकाध्ययने स्तेयफलप्रलपनो नाम सप्तविंशतितमः कल्पः ।

वस्तुचिन्त्यदोषोक्तिमसभ्योक्तिं च वर्जयेत् ।
भाषेत वचनं नित्यमभिजातं हितं मितम् ॥३७६॥
तत्सत्यमपि नो वाच्यं यत्स्यात्परविपत्तये ।

खूब मोटे ताजे बलशाली पहलवानोंके हाथके तेतीस प्रहार सहने चाहिएँ । नहीं तो अवश्य ही तुम्हारा सर्वस्व हर लिया जायेगा ।'

विनाशसे बचावका विभूति माननेवाला श्रीभूति पहलेके दो दण्ड तो क्रमसे नहीं सह सका । अतः उसका सब धन हर लिया गया और समस्त बदनपर चितकबरे रंगसे चित्रकारी करके तथा मट्ठेके लम्पोंकी और फूटे हुए शकोरोंकी माला पहना कर गधेपर बैठाकर उसे तिरस्कारपूर्वक नगरसे निकाल दिया । पापकर्मका उदय आनेसे उसे कोढ़ हो गया और वह अत्यन्त नीच परिणामोंसे आगमें जलकर मर गया । तथा साँपोंके कुलमें उत्पन्न हुआ । वहाँ उसने अनेक प्राणियोंको डँसा और आयु पूरी करके नरकमें गया ।

इसके सम्बन्धमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'चोरीके दोषके कारण श्रीभूति राजाके द्वारा तिरस्कृत हुआ । और आगमें जलकर मर गया । फिर सर्पयोनिमें जन्म लेकर नरकगामी हुआ' ॥३७५॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें चोरीका फल बतलानेवाला सत्ताईसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब सत्य व्रतका वर्णन करते हैं—]

सत्याणुव्रत

किसी बातको बढ़ाकर नहीं कहना चाहिए न दूसरेके दोषोंको ही कहना चाहिए और न असभ्य वचन ही बोलना चाहिए । किन्तु सदा हित मित और सभ्य वचन ही बोलना चाहिए ॥ ३७६ ॥ किन्तु ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए, जिससे दूसरोंपर विपत्ति आती हो

---

१ मुक्तमल्लरेवम् । २ खरस्य भारम् । ३ बहुबल । ४ कोट्टयी । ५ असहमान । ६ गृहीत । ७ कर्बुरचित्रित । ८ विभिन्न । ९ वष्टिक । १० उपहसनाकारेण । ११ गर्दभ । १२ मृत्युं प्राप्य । १३ अशोभमान । १४ अकृत्य । १५ अग्नौ । १६ सर्पकुले । १७ सर्पाय । १८ प्राणिषु अपराधं कृत्वा । १९ अग्नि । २० सर्प । २१ अभिजातस्तु कुलजे बुधे शुभ्रमाहे स्मात्ये चोक्तवत्प्तम् । २२ 'स्थूलम् अलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे । यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥ ५५ ॥ —रत्न० श्रा० । पुरुषार्थसि० श्लो० ९१-९८ । अमित० श्रा० अ० ६ श्लो० ४५-४८ । 'तत्सत्यमपि नो वाच्यं यत्स्यात्परविपत्तये । वर्तन्ते येन वा स्वस्य व्यापदस्तु दुरुत्तराः ॥७५॥ —प्रबोधसार ।

जायन्ते येन वा स्वस्य व्यापदश्च दुरास्पदाः ॥३७७॥
प्रियशीलः प्रियाचार प्रियकारी प्रियंवद. ।
स्यादानृशंसधी[1]र्नित्य नित्यं परहिते रतः ॥३७८॥
केवलिश्रुतसङ्घेषु देवधर्मतपःसु च ।
अवर्णवाद[2]वाञ्जन्तुर्भवेद्दर्शनमोहवान् ॥३७९॥
मोक्षमार्गं स्वयं जानन्नर्थिने यो न भाषते ।
मदापह्नवमात्सर्यैः स स्यादावरणद्वयी[3] ॥३८०॥
मन्त्रभेदः[4] परीवादः पैशून्य कूटलेखनम् ।
मुधासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यते विघातकाः ॥३८१॥
परस्त्रीराजविद्विष्टलोकविद्विष्टसंश्रयाम् ।
अनायकसमारम्भां न कथां कथयेद्बुध ॥३८२॥
असत्यं[5] सत्यगं किंचित्किंचित्सत्यमसत्यगम् ।
सत्यसत्य पुनः किंचिदसत्यासत्यमेव च ॥३८३॥

अस्येदमैदंपर्यम्—असत्यमपि किंचित्सत्यमेव, यथान्धांसि रन्धयति वयति वासांसी-

---

या अपने ऊपर दुर्निवार सकट आता हो ॥ ३७७ ॥

मनुष्यको सदा प्रिय स्वभाववाला, प्रिय आचरणवाला, प्रिय करनेवाला, प्रिय बोलनेवाला, सदा दयालु और सदा दूसरोंके हितमें तत्पर होना चाहिए ॥ ३७८ ॥

जो जीव केवली, शास्त्र, संघ, देव, धर्म और तपमें मिथ्या दोष लगाता है, वह दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध करता है ॥ ३७९ ॥ जो मोक्षके मार्गको जानता हुआ भी, जो उसे जानने को इच्छुक है उसे भी नहीं बतलाता, वह अपने ज्ञानका घमण्ड करनेसे, ज्ञानको छिपानेसे तथा उसके सिवा दूसरा कोई न जानने पावे इस ईर्ष्या भावसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका बन्ध करता है ॥ ३८० ॥

सकेत वगैरहसे दूसरेके मनकी बातको जानकर उसे दूसरोंपर प्रकट कर देना, दूसरेकी बदनामी फैलाना, चुगली खाना, जो बात दूसरेने नहीं कही या नहीं की, दूसरोंका दबाव पड़नेसे ऐसा उसने कहा या किया है इस प्रकारका झूठा लेख लिखना, और झूठी गवाही देना, ये सब काम सत्यव्रतके घातक है ॥३८१॥ समझदार मनुष्यको परायी स्त्रियोंकी कथा, राजविरुद्ध कथा, लोकविरुद्ध कथा और कपोलकल्पित व्यर्थ कथा नहीं कहनी चाहिएँ ॥ ३८२ ॥

वचन चार प्रकारका होता है। कोई वचन असत्य-सत्य होता है, कोई वचन सत्य-असत्य होता है। कोई वचन सत्य-सत्य होता है और कोई वचन असत्य-असत्य होता है ॥ ३८३ ॥

इसका यह अभिप्राय है कि कोई वचन असत्य होते हुए भी सत्य होता है, जैसे–'भात पकाता है, या कपडा बुनता है'। ये वचन यद्यपि असत्य है क्योंकि न भात पकाया जाता है

---

१ दयासहितबुद्धि । २ निन्दापर । 'केवलिश्रुतसघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥' तत्त्वा० सू० ६, १३ सू० । ३ 'तत्प्रदोपनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो ॥' ६ तत्त्वा० सू० ६, १० । ४ 'मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदा ।' —त० सू० ७–२६ । 'परिवादरहोभ्याख्या पैशून्य कूटलेखकरण च । न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमा पञ्च सत्यस्य ॥५६॥' —रत्न० श्रा० । पुरुषार्थसि० श्लो० १८४ । अमित० श्राव०, अ०-७, श्लो० ४ । ५ एतत् सर्वं गद्यभागसहित धर्मरत्नाकरे समुपलभ्यते ।

दुर्गन्धगोमयरसपूर्णकांस्यभाजनत्रयभक्षणम्, नो चेत्सर्वस्वमल्लमुष्टिप्रहाराणां त्रयस्त्रिंशदुपर्युपरि प्रहतानि सहितव्यानि । भुवमन्यथा तव सर्वस्वापहारः ।'

प्रथमाध्यायकाण्डविभूतिः श्रीभूतिरयमनयं दण्डत्रयं क्रमेणातिविक्रमाणः पर्याप्तसमस्त द्रविणः किर्मिकिर्मीरपरिपत्परिकल्पितमौर्णिः, कृतकलशकपालमालार्धासिकशिरस्त्वपसव्यकपरिष्कृतं पुरोवधासवोत्सेयकमारोप्य सनिकारं निष्कासितः पापविपाकोपपन्नप्रतिपक्षेपो दुष्परिणामकर्मिर्दे ग्रामाश्रयारण्यविनाशमहसि हिरण्यरेतसि तनुविसर्गाद्वितरीप्रसर्गाशये चेऽप्यवेवांपे प्रादुर्भूय चिरायापराध्ये च प्राणिषु आतमीविविषचिरबप्रधानमिविषभूय ।

भवति चात्र श्लोकः—

श्रीभूतिः स्तेयदोषेण पश्चात् प्राप्य पराभवम् ।
रोहितग्ने मनोयेन वशेरः सर्पयोगतः ॥१७५॥

इत्युपासकाध्ययने स्तेयफलप्रलपनो नाम सप्तविंशतितमः कल्पः ।

वस्तुन्यपि स्वयं दोषोक्तिमसभ्योक्तिं च वर्जयेत् ।
भाषेत वचनं नित्यमभिजातं हितं मितम् ॥१७६॥
तत्सत्यमपि नो वाच्यं यत्स्यात्परविपत्तये ।

खूब मोटे ताजे बलशाली पहलवानोंके हाथके तेतीस प्रहार सहने चाहिएँ। नहीं तो अवश्य ही तुम्हारा सर्वस्व हर लिया जायेगा।'

विनाशसे बचावको विभूति माननेवाला श्रीभूति पहलके दो दण्ड तो क्रमसे नहीं सह सका। अतः उसका सब धन हर लिया गया और समस्त बदनपर चितकबरे रंगसे चित्रकारी करके तथा मस्तक खप्परोंकी और फूटे हुए शकोरोंकी माला पहना कर गधेपर बैठाकर उसे तिरस्कारपूर्वक नगरसे निकाल दिया। पापकर्मका उदय आनेसे उसे कोढ़ हो गया और वह अत्यन्त नीच परिणामोंसे आगमें जलकर मर गया। तथा साँपोंके वंशमें उत्पन्न हुआ। वहाँ उसने अनेक प्राणियोंको डँसा और आयु पूरी करके नरकमें गया।

इसके सम्बन्धमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'चोरीके दोषके कारण श्रीभूति राजाके द्वारा तिरस्कृत हुआ। और आगमें जलकर मर गया। फिर सर्पयोनिमें जन्म लेकर नरकगामी हुआ' ॥१७५॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें चोरीका फल बतलानेवाला सत्ताईसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब सत्य व्रतका वर्णन करते हैं—]

सत्याणुव्रत

किसी बातको बढ़ाकर नहीं कहना चाहिए, न दूसरेके दोषोंको ही कहना चाहिए और न असभ्य वचन ही बोलना चाहिए। किन्तु सदा हित मित और सभ्य वचन ही बोलना चाहिए ॥ १७६ ॥ किन्तु ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए, जिससे दूसरोंपर विपत्ति आती हो

---

१ भुक्तमप्यखेदम् । २ सपाद भाजनं । ३ बहुकम । ४ कोहणी । ५ जल्पमान । ६ पृष्ठेन । ७ कर्मिमिर्विचित्र । ८ विलेपन । ९ अश्विह । १० सराबमालाकोरव । ११ नकपतु । १२ पुराशम्म् । १३ अधोभमान । १४ बलाप्य । १५ अग्नौ । १६ सर्पवंशे । १७ उत्पद्य । १८ प्राणिषु अपराधं कृत्वा । १९. अग्नि । २० सर्प । २१ अभिजातस्तु कुलजे बुधे सुकुमारे न्याय्ये योग्यचारात् । २२ 'स्थूलम लीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे । यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥ ५५ ॥ —रत्न श्रा । पुरुषार्थसि श्लो ९१–९८ । अमित श्राव अ ६ श्लो ४५–५८ । 'अन्यत्वमपि नो भाष्यं यस्मात्स्वपरविपत्तयो । वर्तन्ते येन वा स्वस्य व्यापत्स्तु दुरुत्तरा ॥७५॥ —प्रबोधसार ।

तथा तथात्मनाडीषु तमोधारा निषिञ्चति ॥३८८॥
दोषतोयैर्गुणग्रीष्मैः संगन्तूणि शरीरिणाम् ।
भवन्ति चित्तवासांसि गुरूणि च लघूनि च ॥३८९॥
सत्यवाक्सत्यसामर्थ्याद्वचःसिद्धिं समश्नुते ।
वाणी चास्य भवेन्मान्या यत्र यत्रोपजायते ॥३९०॥
तर्षेर्ष्यामर्षहर्षाद्यैर्मृषाभाषामनीषितः ।
[1]जिह्वाच्छेदमवाप्नोति परत्र च गतिक्षतिम् ॥३९१॥

श्रूयतामत्रासत्यफलस्योपाख्यानम्—जाङ्गलदेशेषु हस्तिनागनामावनीश्वरकुञ्जरजनितावतारे हस्तिनागपुरे[2] प्रचण्डदोर्दण्डमण्डलीमण्डनमण्डलाग्रखण्डितभण्डनकण्डूलारातिकीर्तिलतानिबन्धनोऽभूदयोधनो नाम नृपतिः। अनवरतवसुविश्राणनप्रीणितातिथिरतिथिर्नामास्य[3] महादेवी। सुता चानयोः सकलकलावलोकानलसा सुलसा नाम। सा किल तया महादेव्या गर्भगतापि [4]ज्ञातेयेनैकोदरशालिनो[5] रम्यकदेशनिवेशोपेतपौदनपुरनिवेशिनो निर्विपक्षलक्ष्मी[6]-लक्षितान्न्यूर्णमङ्गलस्य[7] पिङ्गलस्य [8]गुणगीर्वाणाचलरत्नसानवे सूनवे दुर्वारवैरिवक्षःस्थलोद्दलनावदानोद्योगलाङ्गलाय[9] मधुपिङ्गलाय परिपणिता[10] बभूव।

भूभुजा च महोदयेन तेन विदितमहादेवीहृदयेनापि 'यस्य कस्यचिन्महाभागस्य भाग्यैर्भोग्यतया योग्यमिदं स्त्रैणं द्रविणं तस्यैतद्भूयात्। अत्र सर्वेषामपि वपुष्मतामचिन्तितसुख-

---

अन्धकार फैलाता है वैसे-वैसे अपनी नाडियोंमें अन्धकारकी धाराको प्रवाहित करता है। अर्थात् दूसरोंका बुरा सोचनेसे अपना ही बुरा होता है ॥ ३८८ ॥

प्राणियोंके चित्तरूपी वस्त्र यदि दोषरूपी जलमें डाले जाते है तो भारी हो जाते हैं और यदि गुणरूपी ग्रीष्म ऋतुमें फैलाये जाते हैं तो हल्के हो जाते हैं ॥ ३८९ ॥ सत्यवादीको सदा सच बोलनेके कारण वचनकी सिद्धि प्राप्त होती है। जहाँ-जहाँ वह जो कुछ कहता है उसकी वाणीका आदर होता है ॥ ३९० ॥ इसके विपरीत जो तृष्णा, ईर्षा, क्रोध या हर्ष वगैरहके वशीभूत होकर झूठ बोलता है उसकी जिह्वा कटवा दी जाती है और परलोकमें भी उसकी दुर्गति होती है ॥ ३९१ ॥

१५ असत्यभाषी वसु और पर्वत-नारदकी कथा।

अब झूठ बोलनेका क्या फल होता है इसके विषयमें एक कथा सुनें—जागल देशमें हस्तिनागपुर नामका नगर है, वहाँ अयोधन नामका राजा था। उसके अतिथि नामकी राजमहिषी थी। उनके समस्त कलाओंमें निपुण सुलसा नामकी पुत्री थी। जब वह गर्भमें थी तभी रानीने अपने सहोदर भाई पौदनपुरनरेश पिंगलके गुणी पुत्र मधुपिंगलके साथ उसका वाग्दान करनेका सकल्प कर लिया था।

राजाको यद्यपि रानीके हृदयकी बात ज्ञात थी फिर भी उसने सोचा कि 'यह स्त्रीधन

---

१ 'तथा अनृतवादी अश्रद्धेयो भवति इहैव च जिह्वाच्छेदादीन् प्रतिलभते।' 'प्रेत्य च अशुभां गतिम् ॥' —सर्वार्थसिद्धि ७, ९। २. हस्तिनागनामा कश्चिद् राजा तत्र पूर्वमभूत् तेन तन्नगर हस्तिनागपुरमित्यभवत्। ३ नामा चास्य—मु०। ४ ज्ञातेर्भाव ज्ञातेय तेन बन्धुत्वेन इत्यर्थः। ५ अतिथिपिंगलावेकोदरोत्पन्नौ। ६ शत्रुरहित। ७. परिपूर्ण। ८ गुणा एव गीर्वाणाचलः मेरुस्तत्र रत्नशिखराय। ९ उद्दलनाय अवदानं अद्भुतकर्म तत्र उद्योग एव लाङ्गल यस्य तस्मै। १०. सकल्पिता।

ति। सत्यमप्यसत्यं किंचिद्यथार्धमासतमे दिवसे तवेदं देयमित्यास्थाय मासतमे संवत्सरतमे वा दिवसे ददातीति। सत्यसत्यं किंचिद्यद्वस्तु यद्देशकालाकारप्रमाणं प्रतिपन्नं तत्र तथैवाविसंवादः। असत्यासत्यं किंचित्स्वस्यासत्संगिरते कल्ये दास्यामीति।

तुरीयं वर्जयेन्नित्यं लोकयात्रा त्रये स्थिता।
सा मिथ्यापि न गीर्मिथ्या या गुर्वादिप्रसादिनी ॥१८४॥
न स्तूयादात्मनात्मानं न परं परिवादयेत्।
न सतोऽन्यगुणान् हिंस्यान्नासतः स्वस्य वर्णयेत् ॥१८५॥
तथा कुर्वन्प्रजायेत नीचैर्गोत्रोचितः पुमान्।
उच्चैर्गोत्रमवाप्नोति विपरीतकृतेः कृती ॥१८६॥
यत्परस्य प्रियं कुर्यादात्मनस्तत्प्रियं हि तत्।
अतः किमिति लोकोऽयं पराप्रियपरायणः ॥१८७॥
यथा यथा परेष्वेतच्चेतो वितनुते तमः।

और न कपड़ा बुना जाता है किन्तु पके हुए को भात कहते हैं, और बुन जानेपर कपड़ा कहलाता है, फिर भी लोकव्यवहारमें ऐसा ही कहा जाता है इसलिए इस तरहके वचनोंको सत्य मानते हैं। इसी तरह कोई वचन सत्य होते हुए भी असत्य होता है। जैसे किसीने वादा किया कि पन्द्रह दिनमें मैं तुम्हें अमुक वस्तु दे दूँगा। किन्तु पन्द्रहवें दिन न देकर वह एक मासमें या एक वर्षमें देता है। यहाँ चूँकि उसने वस्तु दे दी इस लिए उसका कहना सत्य है किन्तु समयपर नहीं दी इस लिए सत्य होते हुए भी असत्य है। जो वस्तु जिस देशमें, जिस कालमें, जिस आकारमें और जिस प्रमाणमें जानी है उसको उसी रूपमें कहना सत्य-सत्य है। जो वस्तु अपने पास नहीं है उसके लिए ऐसा वचन देना कि मैं तुम्हें कल दूँगा असत्य असत्य वचन है।

इनमेंसे चौथे असत्य असत्य वचनको कभी नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि लोकव्यवहार शेष तीन प्रकारके वचनोंपर ही स्थित है। जो वचन गुरुजनोंको प्रसन्न करनेवाला है, वह मिथ्या होते हुए भी मिथ्या नहीं है ॥ १८४ ॥

न स्वयं अपनी प्रशंसा करनी चाहिए और न दूसरोंकी निन्दा करनी चाहिए। दूसरोंमें यदि गुण हैं तो उनका लोप नहीं करना चाहिए और अपनेमें यदि गुण नहीं हैं तो उनका वर्णन नहीं करना चाहिए कि मेरेमें ये गुण हैं ॥ १८५ ॥ ऐसा करनेसे मनुष्य नीच गोत्रका बन्ध करता है, और उससे विपरीत करनेसे अर्थात् अपनी निन्दा और दूसरोंकी प्रशंसा करनेसे तथा दूसरोंमें गुण न होनेपर भी उनका वर्णन करनेसे और अपनेमें गुण होते हुए भी उनका कथन न करनेसे उच्चगोत्रका बन्ध करता है ॥ १८६ ॥

जो दूसरोंका हित करता है वह अपना ही हित करता है फिर भी न जाने क्यों यह संसार दूसरोंका अहित करनेमें ही तत्पर रहता है ॥ १८७ ॥ जैसे-जैसे यह चित्त दूसरोंके विषयमें

---

१ 'यद्वस्तु यद्देशकालप्रमाकारं प्रतिश्रुतम्। तस्मिंस्तथैव संवादि सत्यसत्यं वचो वदेत् ॥४१॥ —सागारधर्मामृत अ० ४। २ 'लोकयात्रानुरोधित्वात्सत्यसत्यादिवाक्त्रयम्। ब्रूयादसत्यासत्यं तु तद्विरोधान्न जातुचित् ॥४०॥ —सागारधर्मा० अ० ४। ३ 'परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥ तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥ —तत्त्वा० सू० ६ अ०। ४ 'सा मिथ्या न भवेन्मिथ्या या परप्रसादकारिणी। न स्तुयादात्मनात्मानं न परं परिवादयेत् ॥८६॥ —प्रबोधसार।

तथा तथात्मनाडीषु तमोधारां निषिञ्चति ॥३८८॥
दोषतोयैर्गुणग्रीष्मैः संगन्तृणि शरीरिणाम् ।
भवन्ति चित्तवासांसि गुरूणि च लघूनि च ॥३८९॥
सत्यवाक्सत्यसामर्थ्याद्वचःसिद्धिं समश्नुते ।
वाणी चास्य भवेन्मान्या यत्र यत्रोपजायते ॥३९०॥
तर्षेर्ष्यामर्षहर्षाद्यैर्मृषाभाषामनीषित. ।
[1]जिह्वाच्छेदमवाप्नोति परत्र च गतिक्षतिम् ॥३९१॥

श्रूयतामत्रासत्यफलस्योपाख्यानम्—जाङ्गलदेशेषु हस्तिन[2]ागनामावनीश्वरकुञ्जरजनितावतारे हस्तिनागपुरे प्रचण्डदोर्दण्डमण्डलीमण्डनमण्डलाग्रखण्डितभण्डनकण्डूलारातिकीर्तिलतानिबन्धनोऽभूदयोधनो नाम नृपतिः । अनवरतवसुविश्राणनप्रीणितातिथिरतिथिर्ना[3]मास्य महादेवी । सुता चानयोः सकलकलावलोकानलसा सुलसा नाम । सा किल तया महादेव्या गर्भगतापि [4]ज्ञातेयेनै[5]कोदरशालिनो रम्यकदेशनिवेशोपेतपौदनपुरनिवेशिनो निर्विप[6]क्षलक्ष्मीलक्षितापू[7]र्णमङ्गलस्य पिङ्गलस्य [8]गुणगीर्वाणाचलरत्नसानवे सूनवे दुर्वारवैरिवक्षःस्थलोद्दल[9]नावदानोद्योगलाङ्गलाय मधुपिङ्गलाय परिप[10]णिता बभूव ।

भूभुजा च महोदयेन तेन विदितमहादेवीहृदयेनापि 'यस्य कस्यचिन्महाभागस्य भाग्यैर्भोग्यतया योग्यमिदं स्त्रैणं द्रविणं तस्यैतद्भूयात् । अत्र सर्वेषामपि वपुष्मतामचिन्तितसुख-

अन्धकार फैलाता है वैसे-वैसे अपनी नाडियोंमें अन्धकारकी धाराको प्रवाहित करता है । अर्थात् दूसरोंका बुरा सोचनेसे अपना ही बुरा होता है ॥ ३८८ ॥

प्राणियोंके चित्तरूपी वस्त्र यदि दोषरूपी जलमें डाले जाते है तो भारी हो जाते हैं और यदि गुणरूपी ग्रीष्म ऋतुमें फैलाये जाते है तो हल्के हो जाते हैं ॥ ३८९ ॥ सत्यवादीको सदा सच बोलनेके कारण वचनकी सिद्धि प्राप्त होती है । जहाँ-जहाँ वह जो कुछ कहता है उसकी वाणीका आदर होता है ॥ ३९० ॥ इसके विपरीत जो तृष्णा, ईर्षा, क्रोध या हर्ष वगैरह के वशीभूत होकर झूठ बोलता है उसकी जिह्वा कटवा दी जाती है और परलोकमें भी उसकी दुर्गति होती है ॥ ३९१ ॥

१५ असत्यभाषी वसु और पर्वत-नारदकी कथा ।

अब झूठ बोलनेका क्या फल होता है इसके विषयमें एक कथा सुनें—जागल देशमें हस्तिनागपुर नामका नगर है, वहाँ अयोधन नामका राजा था । उसके अतिथि नामकी राजमहिषी थी । उनके समस्त कलाओंमें निपुण सुलसा नामकी पुत्री थी । जब वह गर्भमें थी तभी रानीने अपने सहोदर भाई पोदनपुरनरेश पिंगलके गुणी पुत्र मधुपिंगलके साथ उसका वाग्दान करनेका सकल्प कर लिया था ।

राजाको यद्यपि रानीके हृदयकी बात ज्ञात थी फिर भी उसने सोचा कि 'यह स्त्रीधन

१ 'तथा अनृतवादी अश्रद्धेयो भवति इहैव च जिह्वाच्छेदादीन् प्रतिलभते। प्रेत्य च अशुभा गतिम् ॥' —सर्वार्थसिद्धि ७, ९ । २ हस्तिनागनामा कश्चिद् राजा तत्र पूर्वमभूत् तेन तन्नगर हस्तिनागपुरमित्यभवत् । ३. नामा चास्य—मु० । ४ ज्ञातेर्भाव ज्ञातेय तेन बन्धुत्वेन इत्यर्थ । ५ अतिथिपिंगलावेकोदरोत्पन्नौ । ६ शत्रुरहित । ७ परिपूर्ण । ८ गुणा एव गीर्वाणाचल मेरुस्तत्र रत्नशिखराय । ९ उद्दलनाय अवदानं अद्भुतकर्म तत्र उद्योग एव लाङ्गलं यस्य तस्मै । १०. सकल्पिता ।

दुरागमानुमेयप्रभावं दैवमेव शरणम्' इति विगणय्य स्वयंवरार्थं भीम-भीष्म-भरत-भाग-संग-सगर-सुबन्धु-मधुपिङ्गलादीनामवनिपतीनामुपदानुकूलं मूलं प्रस्थापयाम्बभूव।

अत्रान्तरे मगधमध्यप्रसिद्धधाराध्यायामयोध्यायां नरवरः सगरो नाम। स किल शास्त्राधिविलासकौशलसरसायाः सुलसायाः कर्णपरम्परया श्रुतसौरूप्यातिशयो ममागुपर मसारुण्यलावण्योदयः प्रयोगेण तामात्मसात्चिकीर्षुस्तौर्यत्रिकसूत्रे मतिकर्मविकल्पेषु समोग-सिद्धान्ते विमर्शनविधायां स्त्रीपुरुषलक्षणेषु 'कथाख्यायिकाख्यानप्रवाह्लिकास्वपरासु च तासु तासु कलासु परमसंप्रवीणत्वाच्चाधरितौ मन्दोदरी नाम धात्रीं ज्योतिषादिविद्यासमिधिष्ठितमति मसृति विश्वभूतिं च बहुमानसंभावितमनस पुरोधसं तत्र पुरि प्राहिणोत्।

"विविधकायस्थार्जूनसरी" मन्दोदरी तां पुरमुपगम्य परप्रतारणप्रगल्भमनीषा कृत "कात्यायिनीवेषा तत्तत्कलावलोकनकुतूहलसमयोधनपरायत्ते "निजनाथार्थसिद्धिपरवती" रक्षितवती सती "शुद्धान्तोपाध्यायी भूत्वा सुलसां सगरे" 'संगरं प्राहयामास। तथा बकोद वृत्तिवेषः स पुरोधाश्च तैस्तैरादेशैस्तस्य नृपस्य महादेव्याश्च वशीकृतचित्तवृत्तिः

कुण्टे परित्रीतिः स्याद्वेकाचे बधिरे शतम्।
वामने च शतं विंशं दोषाः पिङ्गे त्वसंख्यया ॥३१२॥

जिस किसी महाभागके भाग्यमें भोगनेके योग्य है उसीका यह होना चाहिए। इस विषयमें सब शरीरधारियोंका दैव ही शरण है और दैवका प्रभाव अचानक सुख-दु खके आगमनसे अनुमेय है।' ऐसा जानकर उसने स्वयंवरके लिए भीम, भीष्म, भरत, भाग, संग, सगर, सुबन्धु और मधुपिंगल वगैरह राजाओंके पास भेंट पूर्वक पत्र भिजवा दिये।

इसी बीचमें एक दूसरी घटना घटी। अयोध्याके राजा सगरने कानों-कान नृत्य आदि कलामें कुशल सुलसाके सौन्दर्यकी चर्चा सुनी। इस राजाका तारुण्य अपने लावण्यके साथ थोड़ा ढल चला था। अत उसने उसे उपायसे अपनानेके लिए ज्योतिष आदि शास्त्रोंमें प्रवीण विश्वभूति नामक पुरोहितके साथ मन्दोदरी नामकी धायको सुलसाकी नगरीमें भेजा। वह धाय सब कलाओंमें प्रवीण थी गाना-बजाना और नाचना जानती थी। साज-शृङ्गार करनेमें चतुर थी। सम्भोगके सिद्धान्त सामुद्रिक विद्या स्त्री पुरुषके लक्षण, कथा कहानी और पहेलीमें पूरी पण्डिता थी।

उस नगरमें पहुँचकर दूसरोंको ठगनेमें पटु उस धायने प्रौढ़ा स्त्रीका वेष बनाया और अपने स्वामीका प्रयोजन सिद्ध करनेके लिए तरह-तरहकी कलाएँ दिखाकर राजा अयोधनको प्रसन्न कर लिया तथा उसके अन्त पुरमें अध्यापिका बनकर सुलसासे यह प्रतिज्ञा करा ली कि वह सगरको ही वरण करेगी। बगुला भगत पुरोहितने भी तरह-तरहके आदेशोंसे राजा और रानीका मन अपने वशमें कर लिया। उसने स्वयं श्लोक रच-रचकर राजा-रानीको सुनाये जिनका भाव इस प्रकार था—

टुण्टेमें ६० दोष होते हैं, कानेमें अस्सी और बहरेमें सौ दोष होते हैं। बौनेमें एक सौ बीस दोष होते हैं। किन्तु जिसकी आँखें पीतवर्णकी होती हैं, उसमें तो अगणित दोष होते

१ भाग्या। २ भेंटपूर्वक। ३ मिलत्। ४ तेन भुवा। ५. वैशाखपुत्रार्थमेतत्पदं। ६ अधमा चरणादिषु। ७ होरातत्त्वरश्मि चर्यवत्तलक्षणम्। ८. कथा चिन्तार्थता प्रेमा ख्यायिका आख्यायिका मता। दृष्टान्तयोगिनरास्याम प्रवाह्लिका प्रहेलिका। वीरप। १ परवञ्चनोताय। ११ अध्यापका। १२ बकवृत्ता। १३ नगरनृप। १४ तत्रतत्र। १५. अन्त पुर। १६ प्रतिज्ञा।

मुखस्यार्धं शरीरं स्यादघ्राणार्धं मुखमुच्यते ।
नेत्रार्धं घ्राणमित्याहुस्तत्तेपु[1] नयने परे ॥३६३॥

इत्यादिभिः स्वयं विहितविरचनैर्मधुपिङ्गले विप्रीतिं कारयामास ।

[2]ततश्चाम्पेयमञ्जरीसौरभपयःपानलुब्धबोधस्तनन्धयेषु पुष्पन्धयेष्विव मिलितेषु तेषु स्वयंवराह्वानशृङ्गारिताहङ्कारेषु महोश्वरेषु सा मन्दोदरीवशमानसा सुलसा श्रुतिमनोहरं सगरमवृणीत्तन्निम्न[3]धरोपगाप[4]गेव सागरम् ।

भवति चात्र श्लोकः—

अल्पैरपि समर्थैः स्यात्सहायैर्विजयो नृपः ।
कार्य[5]यान्तो हि कुन्तस्य दण्डस्त्वस्य[6] परिच्छदः ॥३६४॥

इत्युपासकाध्ययने सुलसायाः सगरसगमो नामाष्टाविंशः कल्पः ।

प्ररूढनिर्वेदकन्दलो मधुपिङ्गलः 'धिगिदमभोगाय[7]तन भोगार्यतनं यदेकदेशदोषादिमामुचितसमागमामपि मामत[8]नूद्वहामहं नाल[10]प्सि' इति मत्वा विमुक्तसंसारपक्षः परिगृहीतदीक्षः क्रमेण तांस्तान्ग्रामारामनिवेशान्निर[11]नुको [12]जङ्घाकरिक इव लोचनोत्सवतां नयन्नश[13]नायायुद्धयायोध्यामागत्यानेकोपवासपरवशहृदयोत्साहस्तीव्रातपातिश्रान्तदेहो [14]चाष्पीह इव

हैं ॥३९२॥ तथा, शरीरमें मुखके आधे भागका जो मूल्य है वह पूरे शरीरके बराबर है। नाकके आधे भागका मूल्य पूरे मुखके बराबर है। और आधे नेत्रका मूल्य पूरी नाकके बराबर है। इसलिए उन सबमें नेत्र ही बेशकीमत होते हैं ॥३९३॥

इस प्रकारके वचनोंसे उसने उन्हें मधुपिंगलके प्रति विरक्त बना दिया।

इसके बाद स्वयवर हुआ। जैसे चम्पेकी कलीकी सुगन्धि रूपी दुग्धका पान करनेके लिए भौंरे एकत्र हो जाते हैं उसी तरह स्वयवरके नियत्रणको पाकर मदमत्त हुए सब राजा उसमें सम्मिलित हुए। सुलसाका मन तो मन्दोदरीके वशमें था। अतः जैसे नीची भूमिकी ओर बहनेवाली नदी सागरमें जाकर मिल जाती है वैसे ही उसने उन राजाओंमें-से सगर राजाको वरण कर लिया।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

शक्तिशाली थोडेसे भी सहायकोंके द्वारा राजा विजयी होता है। जैसे भालेकी नोक ही अपना काम करती है, उसमें लगा डंडा तो उसका सहायक मात्र है ॥३९४॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें सुलसाका सगरके साथ सगम नामका अठाईसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

इस घटनासे मधुपिंगलको बड़ा वैराग्य हुआ—'इस भोगशून्य शरीरको धिक्कार हो जिसके एक भागमें दोष होनेसे मैं समागमके योग्य भी मामाकी पुत्री नहीं प्राप्त कर सका'। ऐसा सोचकर उसने ससारको छोड दिया और जिन-दीक्षा ले ली। इसके बाद एकाकी पादचारीकी तरह अनेक ग्रामों और नगरोंमें भ्रमण करता हुआ एक दिन अचानक वह भोजनके लिए अयोध्या नगरीमें

१ पूर्वोक्तेपु मध्ये नेत्रे उत्कृष्टे। २ 'चम्पकवल्लरी शुभसुगन्धता एव दुग्धपान तत्र लोभिष्टज्ञानवालकेषु। ३ निम्नभूगामिनी। ४. नदी। ५ अग्रभाग। ६ कुन्तस्य।—स्तस्य आ०। ७ भोगरहितम्। ८ शरीरम्। ९ मातुलपुत्रीम्। १० न प्राप्तवान्। ११ एकाकी। १२ पादचारी। १३ आहारार्थम्। १४ चातकवत्।

दुःखागमानुमेयप्रभावं दैवमेव शरणम्' इति विगणय्य स्वयंवरार्थं भीम-भीष्म-भरत-भाग-संग-सगर-सुबन्धु-मधुपिङ्गलादीनामवनिपतीनामुपदेशपुरस्सरं मूलं प्रस्थापयामास ।

अथान्तरे मगधमध्यप्रसिद्धराजधान्यामयोध्यायां नरवरः सगरो नाम । स किल आस्यादिविविलासकौशलसरसायाः सुलसायाः कर्णपरम्परया श्रुतसौन्दर्यातिशयो मनागुपरतारुण्यलावण्योदयः प्रयोगेषु तामात्मसात्कर्तुमिच्छुः स्त्रीयेभिः कल्पने प्रविकल्पविकल्पेषु संभोगसिद्धान्ते विमर्शनविचारायां स्त्रीपुरुषलक्षणेषु 'कथाख्यायिकाख्यानप्रयोगादिकासु परासु च तासु तासु कलासु परमसंपीप्राक्तनापरिवर्षी मन्दोदरी नाम धात्री ज्योतिषादिविद्याप्रतिष्ठितमतिप्रसरं विश्वभूतिं च बहुमानसंभावितमनस पुरोधस तस्य पुरि प्राहिणोत् ।

"विविकासम्पयाईलसरी" मन्दोदरी तां पुरमुपगम्य परप्रतारणप्रगल्भमनीषा "कात्यायिनीवेषा तत्तत्कलावलोकनकुतूहलमयोधनपरापार्श्वे "निजमायार्थसिद्धिपरवती" रक्षितवती सती "प्रयाम्ताोपाध्यायी भूत्वा सुलसां सगरे" "संचरं ग्राहयामास । तथा चकोटवृत्तिवेषाः स पुरोधाश्च तैस्तैरादयैस्तस्य नृपस्य महादेव्याश्च वशीकृतचित्तवृत्ति

> कुण्टे षष्टिरशीतिः स्यात्काणे वधिरे शतम् ।
> वामने च शतं विंशं दोषाः पिङ्गे त्वसंख्यया ॥११२॥

जिस किसी महाभागके भाग्यमें भोगनेके योग्य है उसीका वह होना चाहिए। इस विषयमें सब शरीरधारियोंका दैव ही शरण है और दैवका प्रभाव अचानक सुख-दुःखके आगमनसे अनुमेय है।' ऐसा जानकर उसने स्वयंवरके लिए भीम, भीष्म, भरत, भाग, संग, सगर, सुबन्धु और मधुपिंगल वगैरह राजाओंके पास भेंट पूर्वक पत्र भिजवा दिये।

इसी बीचमें एक दूसरी घटना घटी। अयोध्याके राजा सगरने कानों-कानों नृत्य आदि कलामें कुशल सुलसाके सौन्दर्यकी चर्चा सुनी। इस राजाका तारुण्य अपने लावण्यके साथ थोड़ा ढल चला था। अतः उसने उसे उपायसे अपनानेके लिए ज्योतिष आदि शास्त्रोंमें प्रवीण विश्वभूति नामक पुरोहितके साथ मन्दोदरी नामकी धायको सुलसाकी नगरीमें भेजा। वह धाय सब कलाओंमें प्रवीण थी, गाना-बजाना और नाचना जानती थी। साज-शृङ्गार करनेमें चतुर थी। सम्भोगके सिद्धान्त, सामुद्रिक विद्या, स्त्री पुरुषके लक्षण, कथा-कहानी और पहेलीमें पूरी पण्डिता थी।

उस नगरमें पहुँचकर दूसरोंको ठगनेमें पटु उस धायने बौद्ध स्त्रीका वेष बनाया और अपने स्वामीका प्रयोजन सिद्ध करनेके लिए तरह-तरहकी कलाएँ दिखाकर राजा अयोधनको प्रसन्न कर लिया तथा उसके अन्तःपुरमें अध्यापिका बनकर सुलसासे यह प्रतिज्ञा करा ली कि वह सगरको ही वरण करेगी। बगुला भगत पुरोहितने भी तरह-तरहके आदेशोंसे राजा और रानीका मन अपने वशमें कर लिया। उसने स्वयं श्लोक रच-रचकर राजा-रानीको सुनाये जिनका भाव इस प्रकार था—

टुण्टेमें ६० दोष होते हैं, कानेमें अस्सी और बहरेमें सौ दोष होते हैं। बौनेमें एक सौ बीस दोष होते हैं। किन्तु जिसकी आँखें पीतवर्णकी होती हैं उसमें तो अगणित दोष होते

१ आत्मा। २ चेष्टापूर्वक। ३ श्रेयम्। ४ तेन श्रुतम्। ५. केनाप्युपायेनेत्यर्थः। ६ नवयौवनरागादिषु। ७ होरादशरात्रिषि' पर्यालोचनम्। ८. 'कथा विचारार्थता ज्ञेया ख्यातार्था ख्यायिका मता। इष्टार्थस्योक्तिराख्यानं प्रयाणेऽस्मिन् प्रहेलिका। तीक्ष्ण। १ परवञ्चनोपाय। ११ व्याजमुद्रा। १२ बौद्धमुद्रा। १३ अमरनृप। १४ वल्लराम्। १५. अन्तःपुर। १६ प्रतिज्ञा।

मुखस्यार्धं शरीरं स्याद्घ्राणार्धं मुखमुच्यते ।
नेत्रार्धं घ्राणमित्याहुस्तत्तेषु[1] नयने परे ॥३९३॥

इत्यादिभिः स्वयं विहितविरचनैर्मधुपिङ्गले विप्रीतिं कारयामास ।

[2]ततश्चाम्पेयमञ्जरीसौरभपयःपानलुब्धबोधस्तनन्धयेषु पुष्पन्धयेष्विव मिलितेषु तेषु स्वयंवराह्वानश्रृङ्गारिताहङ्कारेषु महोश्वरेषु सा मन्दोदरीवशमानसा सुलसा श्रुतिमनोहरं सगरमवृणीत्तन्निम्न[3]धरोपगा[4]पगेव सागरम् ।

भवति चात्र श्लोकः—

अल्पैरपि समर्थैः स्यात्सहायैर्विजयी नृपः ।
कार्यायान्तो[5] हि कुन्तस्य दण्डस्त्वस्य[6] परिच्छदः ॥३९४॥

इत्युपासकाध्ययने सुलसायाः सगरसगमो नामाष्टाविंशः कल्प. ।

प्ररूढनिर्वेदकन्दलो मधुपिङ्गलः 'धिगिदमभोगायतनं[7] भोगार्यतनं यदेकदेशदोषादिमामुचितसमागमामपि मामतनूद्भवामहं[8] [9] नाल[10]प्सि' इति मत्वा विमुक्तसंसारपक्षः परिगृहीतदीक्षः क्रमेण तांस्तान्ग्रामारामनिवेशान्निरनुको[11] [12]जङ्घाकरिक इव लोचनोत्सवतां नयन्नशनाया[13]बुद्ध्यायोध्यामागत्यानेकोपवासपरवशहृदयोत्साहस्तीव्रातपातिश्रान्तदेहो [14]चाप्पीह इव

है ॥३९२॥ तथा, शरीरमें मुखके आधे भागका जो मूल्य है वह पूरे शरीरके बराबर है। नाकके आधे भागका मूल्य पूरे मुखके बराबर है। और आधे नेत्रका मूल्य पूरी नाकके बराबर है। इसलिए उन सबमें नेत्र ही बेशकीमत होते हैं ॥३९३॥

इस प्रकारके वचनोंसे उसने उन्हें मधुपिंगलके प्रति विरक्त बना दिया।

इसके बाद स्वयवर हुआ। जैसे चम्पेकी कलीकी सुगन्धि रूपी दुग्धका पान करनेके लिए भौंरे एकत्र हो जाते हैं उसी तरह स्वयवरके नियत्रणको पाकर मदमत्त हुए सब राजा उसमें सम्मिलित हुए। सुलसाका मन तो मन्दोदरीके वशमें था। अतः जैसे नीची भूमिकी ओर बहनेवाली नदी सागरमें जाकर मिल जाती है वैसे ही उसने उन राजाओंमें-से सगर राजाको वरण कर लिया।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

शक्तिशाली थोडेसे भी सहायकोंके द्वारा राजा विजयी होता है। जैसे भालेकी नोक ही अपना काम करती है, उसमे लगा डडा तो उसका सहायक मात्र है ॥३९४॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें सुलसाका सगरके साथ सगम नामका
अठाईसवॉं कल्प समाप्त हुआ।

इस घटनासे मधुपिंगलको बड़ा वैराग्य हुआ—'इस भोगशून्य शरीरको धिक्कार हो जिसके एक भागमें दोष होनेसे मै समागमके योग्य भी मामाकी पुत्री नहीं प्राप्त कर सका'। ऐसा सोचकर उसने ससारको छोड़ दिया और जिन-दीक्षा ले ली। इसके बाद एकाकी पादचारीकी तरह अनेक ग्रामों और नगरोंमें भ्रमण करता हुआ एक दिन अचानक वह भोजनके लिए अयोध्या नगरीमें

---

१ पूर्वोक्तेषु मध्ये नेत्रे उत्कृष्टे। २ 'चम्पकवल्लरी शुभसुगन्धता एव दुग्धपानं तत्र लोभिष्ठज्ञानवालकेषु। ३ निम्नभूगामिनी। ४. नदी। ५ अग्रभाग। ६ कुन्तस्य।-स्तस्य आ०। ७ भोगरहितम्। ८ शरीरम्। ९ मातुलपुत्रीम्। १० न प्राप्तवान्। ११ एकाकी। १२ पादचारी। १३ आहारार्थम्। १४ चातकवत्।

क्लमेऽपुण्यपोहाय सगरागारद्वारपर्यन्ते मनागम्यतिष्ठत। तत्र च पुराप्रयुक्तपरिणयापायनीतिः विश्वभूतिः प्रगल्भमतये शिवभूतये कविप्रायाय शिष्याय रहितरहस्यमुद्रकं सामुद्रकमशेषविदुषविचक्षणो व्याचक्षाणो बभूव। परामर्शप्रवणधीरिति शिवभूतिस्तं व्यक्तलक्षणपेशलं मधुपिङ्गलमवलोक्य–'उपाध्याय, घनघृताहुतिशुचिमदमग्रशालिनि [3]ज्वालामालिनि दग्धव्यमेतद्देहित्वमस्याध्यायो यदेवंविधमूर्तिरप्ययमीदृगवस्थाकीर्तिः'। सदाचारमिपूरीतिर्विश्वभूतिः अपर्याप्तपूर्वापरसंगीते शिवभूते मा गाः खेदम्, 'यदेष भूपवरस्य सगरस्य निर्देशादस्मदुपदेशाद्धनन्यसामान्यलावण्यखनिमिमां सुलसामलभमानस्तपस्वी तपस्वी समभूत्।

एतदाकर्णनान्तरितविश्वभूतेर्वचनमेकाग्रमनाः स यतिर्निशम्य प्रवृद्धकोपानलः कालेन [5]विपद्यासुरेषु कालासुरनामा भवप्रत्ययमाहात्म्यादुपजातावधिसन्निधिस्तपस्यामेवं प्रसभमसुरात्मयोऽभ्य[12] आत्मनो विनिश्चित्य यदीदानीमेव महापराधनगर सगरमकरस्थकारितकोपाग्नि विश्वभूतिं च चूर्णयेयं पिनष्मि, तदानयोः सुकृतभूयिष्ठत्वात्प्रेत्यापि[13] सुरमेदुरत्वावाप्तिरिति न साध्वपराधः स्यात्। ततो [14]'यथैतयोर्बहुविडम्बनाकरोऽयं वधः, परत्र च दुःखपरम्परानुरोधो भवति, तथा विधेयम्। न चैकस्य बृहस्पतेरपि कार्यसिद्धिरस्ति' इत्यभि-

पाया। कई दिनसे उपवास होनेके कारण उसके हृदयका उत्साह मन्द पड़ गया था और तेज घामसे उसका शरीर अत्यन्त खिन्न था। अतः बातकी तरह थकान दूर करनेके लिए सगर राजाके महलके द्वार-मण्डपपर थोड़ी देरके लिए ठहर गया।

वहाँ समस्त विद्वानोंमें प्रवीण विश्वभूति, जिसने पहले सुलसाका सगरके साथ विवाह करानेमें दुर्नीतिका प्रयोग किया था, अपने प्रिय शिष्य बुद्धिशाली शिवभूतिको खुले तौरपर सामुद्रिक विद्याका व्याख्यान दे रहा था। विचारचतुर शिवभूतिने समस्त लक्षणोंसे युक्त मधुपिंगलको देखकर अपने गुरुसे कहा—'गुरुजी! घीकी आहुतिसे प्रज्वलित अग्निमें इस सामुद्रिक विद्याको जला देना चाहिए क्योंकि इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त होनेपर भी इस आदमीकी यह अवस्था है।' सदाचारका शत्रु विश्वभूति बोला—'पूर्वापर सम्बन्धसे अनजान शिवभूति! खेद मत करो, क्योंकि राजा सगरकी आज्ञासे और हमारे कहनेसे असाधारण सुन्दरी सुलसाको न पा सकनेके कारण यह बेचारा तपस्वी हो गया है।'

विश्वभूतिका वचन निकट था। अतः उसकी बात उस एकाग्रमन तपस्वीने सुन ली। सुनते ही उसकी कोपाग्नि भड़क उठी और वह मरकर कालासुर नामका देव हुआ। वहाँ उसे भवप्रत्यय नामका अवधिज्ञान प्राप्त हुआ। उसके द्वारा उसने अपने पूर्व भवका सब वृत्तान्त जान लिया। तब वह सोचने लगा कि यदि मैं इसी समय महा अपराधी सगरको और दुष्ट विश्वभूतिको पीस डालूँगा तो पुण्य अधिक होनेसे ये दोनों मरकर भी देव हो जायेंगे और यह प्रतिशोध ठीक नहीं होगा। इसलिए ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि इनका वध भी कष्टसे हो और ये मरकर परलोकमें भी बहुत दुःख उठा सकें। किन्तु अकेले तो बृहस्पतिका भी काम सिद्ध नहीं हो

१ श्रमदूरीकरणाय। २ प्राङ्गणे। ३ आत्मीयस्वेदयोग्याय विदुषे। ४ गोप्यरहितम्। ५ अग्नौ। ६ लक्षण। ७ खेद। ८ असत्कृत। ९ एकाग्रमना। १० मृत्वा। ११ विस्तारम्। १२ उद्भवन्। १३ मृत्वा। १४ नृपमन्त्रिणो द्वयो।

प्रायेणात्मवैकारिकर्द्धिप्रदर्शनातिथिं वैरनिर्यातनमनोरथरथसारथिमन्वेषमाणमतिरासीत्।

अथ कामकोदण्डकारणकान्तारैरिक्षुवणावतारविराजितमण्डलायां डहालायामस्ति स्वस्तिमती नाम पुरी। तस्याममिचन्द्रापरनामवसुर्विश्वावसुर्नाम नृपतिः। तस्य निखिलगुणमणिप्रसूतिवसुमती वसुमती नामाग्रमहिषी। सूनुरनयोः समस्तसपत्नभूरुहविभावसुर्वसुः। पुरोहितश्च निश्चिताशेषशास्त्ररहस्यनिकुरम्बः क्षीरकदम्बः। कुटुम्बिनी पुनरस्य सतीव्रतोपास्तिमती स्वस्तिमती नाम। जन्युरनयोरनेकनैमसितपर्वतप्राप्तः पर्वतो नाम। स किल सदाचारणभूरिः क्षीरकदम्बकसूरिः शिष्यशेमुष्यामिव स्वाध्यायसंपादनविशालायां सुवर्णगिरिगुहाङ्गणशिलायामेकदा तस्मै मुदा गतस्मयाय यथाविधि समधिजिगांसवे वसवे प्रगलितपितृपाण्डित्यगर्वपर्वताय तस्मै पर्वताय गिरिकूटपत्तनवसतेर्विश्वनाम्नो विश्वम्भरापतेः पुरोहितस्य विहितानवद्यविद्याचार्यचरणसेवस्य विश्वदेवस्य नन्दनाय नारदाभिधानाय च निखिलभुवनव्यवहारतन्त्रमागमसूत्रमतिमधुरस्वरोपदेशमुपदिशन्नम्बरादवतरद्भ्यां सूर्याचन्द्रमस्समाभ्याममितगत्यनन्तगतिभ्यामृषिभ्यामीक्षांचक्रे।

तत्र समासन्नसुगतिरनन्तगतिर्भगवान्किलैवमभाषत—'भगवन्, एत एव खलु विदुष्याः शिष्याः यदेवमनवद्य [10]ब्रह्मोद्यविद्यमेतस्माद्ग्रन्थार्थप्रयोगभङ्गीषु यथार्थप्रदर्शनतया [12]विधूतोपाध्यायादुपाध्यायादेकसर्गधियोऽधीयते'। प्रयुक्तावधिबोधस्थितिरमितगतिर्भगवान्—'मुनिवृषन्, सत्यमेवैतत। किन्त्वेतेषु चतुर्षु मध्ये द्वाभ्यामम्भसि गौरवोपेतपदार्थ-

---

सकता।' ऐसा सोचकर वह ऐसे व्यक्तिकी खोजमें चला, जिसके द्वारा वह अपनी विक्रिया शक्तिका चमत्कार दिखला कर अपने बैरका परिशोध ले सके।

इक्षुवनसे सुशोभित डहाला देशमें स्वस्तिमती नामकी नगरी है। उसमें विश्वावसु नामका राजा राज्य करता था। उसकी पटरानीका नाम वसुमती था। उनके वसु नामका पुत्र था। समस्त शास्त्रोंके रहस्यका ज्ञाता क्षीरकदम्ब राजाका पुरोहित था। उसकी पत्नी स्वस्तिमती थी। उन दोनोंके पर्वत नामका पुत्र था जो बहुविध देवाराधनसे प्राप्त हुआ था।

एक दिन क्षीरकदम्ब सुवर्ण गिरिकी गुफाके आँगनमें एक शिलापर पढ़नेके इच्छुक मद-रहित वसुको, अपने पिताके पाण्डित्यके गर्वसे गर्वित पर्वतको और गिरिकूट नगरके स्वामी राजा विश्वके पुरोहित विश्वदेवके पुत्र नारदको अत्यन्त मधुर स्वरसे समस्त लोकके व्यवहारोंसे पूर्ण आगम सूत्रका उपदेश देता था। उस समय आकाशसे उतरते हुए सूर्य और चन्द्रमाके समान अमितगति और अनन्तगति नामके दो मुनियोंने उन्हें देखा।

भगवान् अनन्तगति बोले—'भगवन्! ये ही शिष्य विद्वान् है, जो ग्रन्थके अर्थको यथार्थ रूपसे बतलानेवाले गर्वरहित उपाध्यायसे इस निर्दोष ब्रह्मज्ञानको एकाग्रतासे पढ़ रहे है।'

अवधिज्ञानसे जानकर भगवान् अमितगतिने उत्तर दिया—'मुनिश्रेष्ठ! आपका कहना

---

१ विकारे भवा विक्रियर्द्धि। २ वैरशुद्धिकरणसहायम्। ३. शत्रुवृक्षदहनाग्नि। ४ पुत्र.। ५ हतकारा एव पर्वता तै प्राप्त बहुलनैवेद्येन देवाराधनैः प्राप्त इत्यर्थ। ६ रहितगर्वाय। ७ अध्येतुमिच्छवे। ८. त्रैलोक्यवर्णनसिद्धान्तम्। ९. स्वरसहितम्। १० शास्त्रम्। ११ रचनासु। १२ विधूत स्फेटित उपाधेविकारस्य आय आगमन येन स तथोक्तस्तस्मात्। १३. एकाभिप्राया।

पयःप्रबोधोषितमतिभ्यामिव मतिपथिमपि सूत्रं विपर्यासयितव्यम्'।

एतच्च प्रथममस्तोकमालोकितब्रह्मस्तम्बः क्षीरकदम्बः संश्रुत्य 'नूनमस्मिन्महामुनिवाक्येऽर्यात्सप्तार्चिमरीचिवद्भ्यामूर्ध्वगाभ्यां भवितव्यमिति प्रतीयते। तत्राहं तावदेकदेशव्रतपूतात्मानमात्मानमधरगामिनं संभावयेयम्। नरकान्तं राज्यम्, बन्धनान्तो नियोगः, मरणान्तः स्त्रीषु विश्वासः विपदन्ता खलेषु मैत्री, इति वचनाद्विरविरामविरामदमसितमनःप्रचारे राज्यभारे प्रसरत्सौख्यं वसुं च नोर्ध्वं वियासुम्। तन्नारदपर्वतौ परीक्षाधिकृतौ इति निश्चित्य 'समिदन्तयमूर्णायुद्वयं' निर्माय प्रदाय च ताभ्याम् 'अहो शास्त्रामपि भवद्भ्यामिदमुरणयुगलं यत्र न कोऽप्यालोकते तत्र विनाश्य आशितव्यम्' इत्यादिदेश। तावपि तदादेशेन इध्मवाहं वाहमश्रित्य प्रत्येकमादाय यथायथमपासिषाताम्। तत्र तस्यार्थं[12] सर्वं पर्वतः परस्परमाभ्यकुम्भामुं पत्तयापार्थ्यं च मतिमसुरसपुत्रमुदराभ्यन्तरमकार्षीत्। शुभाशयविचारको नारदस्तु 'यत्र न कोऽप्यालोकते' इत्युपाध्यायोक्तं ध्यायन् 'को नामात्र पुरे कान्तारे वा स प्रदेशो[15] योऽधिकरणं नात्मेक्षणस्य अभ्यन्तरगणस्य महामुनिप्रज्ञान्तःकरणस्य च' इति विचिन्त्य तथैव तं वृष्णिमुपाध्यायाय समर्पयामास।

उपाध्यायो नारदमप्यूर्ध्वगमवबुध्य संसारतरुस्तम्भमिव कथमिकुरम्बमुत्पाट्य

ठीक है, किन्तु इन चारोंमें-से दो शिष्योंकी बुद्धि पानीमें पड़े भारी पदार्थकी तरह नीच गतिकी ओर जानेवाली है, ये दोनों इस अत्यन्त पवित्र शास्त्रको भी विपरीत कर देंगे।'

शास्त्ररूपी चक्षुसे ब्रह्माण्डको देखनेवाले क्षीरकदम्बने मुनियोंकी बातचीत सुन ली। वह सोचने लगा—'महामुनिके वाक्यसे ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें-से दो निश्चय ही अग्निकी शिखाकी तरह ऊर्ध्वगामी हैं। उनमें-से मैं तो देशचारित्रका पालक हूँ अतः अपने नरकगामी होनेकी सम्भावना तो मैं नहीं कर सकता। कहावत है कि—'राज्यका फल नरक है। शासनका फल बन्धन है। स्त्रीमें विश्वास करनेका फल मरण है और दुर्जनोंसे मैत्री करनेका फल विपत्ति है।' अतः लक्ष्मीरूपी मदिराके मदसे मनको कलुषित करनेवाले राज्यभारमें जिसके प्राण बसे हैं वह वसु ऊर्ध्वगामी हो नहीं सकता। शेष रह जाते हैं नारद और पर्वत। इनकी परीक्षा करनी चाहिए।' ऐसा निश्चय करके पुरोहितने हविष्यके दो मेढ़े बनवाये और दोनों को एक-एक मेढ़ा देकर कहा— तुम दोनों जहाँ कोई न देख सके ऐसे स्थानपर इन मेढ़ोंको मारकर खा आओ।'

गुरुकी आज्ञासे वे दोनों उन मेढ़ोंको लेकर चले गये। उनमेंसे पर्वतने तो घरके पिछवाड़े एक घिरे हुए स्थानपर जाकर उस मेढ़ेके बच्चेको भूनकर अपने पेटमें रख लिया। किन्तु शुभाशयी नारदने गुरुके 'जहाँ कोई न देख सके' इस वचनका ध्यान करके विचारा—'नगर या जंगलमें ऐसा कौन-सा स्थान है जो अतीन्द्रियदर्शी व्यन्तरादिकका और महामुनियोंके अन्तःकरणका विषय न हो।' ऐसा विचारकर उसने वह मेढ़ा जैसाका-तैसा उपाध्यायको सौंप दिया।

पुरोहितने जान लिया कि नारद भी ऊर्ध्वगामी है। अतः संसाररूपी वृक्षके गुच्छोंके

---

१ ब्रह्माण्डः। २ अग्नि। ३ नीचस्थान-नरक। ४ विस्तरत्सौख्यम्। ५ नाहं संभावयेयमिति वाक्यशेष। ६ कथितमर्द छागद्वयम्। ७ ऊरणद्वयं। ८ —मूर्णायुयुगलं—वा। ९ हत्वा। १० मेषद्वयम्। ११ तयोर्मध्यात्पयोः। १२ तुरत। १३ भृतिम्। १४ हत्वा। १५ भुक्तवान्। १६ प्रदेश। १७ स्थानम्।

स्वर्गलक्ष्मीसपक्षां दीक्षामादाय निखिलागमसमीक्षां शिक्षामनुश्रित्य चातुर्वर्ण्यश्रमणसङ्घसंतोषणं गणपोषणमात्मसात्कृत्य एकत्वादिभावनापुरस्कारमात्मसंस्कारं विधाय कायकषायकर्शनां सल्लेखनामनुष्ठाय निःशेषदोषालोचनपूर्वकाङ्गविसर्गसमर्थमुत्तमार्थं[1] च प्रतिपद्य सुरसुखकृतार्थो बभूव। पूर्वमेव तदादेशाद्यात्मदेशोपदेशदः[2] सकलसिद्धान्तकोविदो नारदः सद्गुणभूरेः क्षीरकदम्बसूरेः प्रव्रज्याचरणं स्वर्गावरोहणं चावगत्य 'गुरुवद्गुरुपुत्रं च पश्येत्' इति कृतसूक्तस्मरणः। पर्यात्त[3]तदाराधनोपकरणस्तद्विरहदुःखदुर्मनसमुपाध्यायानीं जननीं सहपांसुक्रीडितं पर्वतं च द्रष्टुमागतः।

अपरेद्युस्तं पर्वतम् 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यम् 'अजैर्जातमजैर्[4]यष्टव्यं हव्यकव्यार्थो विधिर्विधातव्यः' इति श्रद्धामात्रावभासिभ्योऽन्तेवासिभ्यो व्याहरन्तमुपश्रुत्यबृहस्पतिप्रश्न – पर्वत, मैवं व्याख्यः। किं तु 'न जायन्त इत्यजा वर्षत्रयप्रवृत्तयो व्रीहयस्तैर्यष्टव्यं शान्तिपौष्टिकार्था क्रिया कार्या' इति परार्ये[5]वाचार्यादिदं वाक्यमेवमश्रौष्व[6] परुत्सजूं[7]स्तथैवाचिन्तयाव। तत्कथमैषमे[8] एव तव मतिर्द्वापरं[9]वसतिः समजनीति बहुविस्मय मे मन। आचार्यनिकेत[10] पर्वत, यद्येवमर्थाभिधाने[11] भवानपरवानपि[12] [13]विपर्यस्यति, तदा पराधीने मादृग्विधीने[14] को नाम संप्रत्ययः।

समान केशोंका लोंच करके उसने स्वर्गरूपी लक्ष्मीकी सखी जिन-दीक्षा ले ली। तथा समस्त शास्त्रोंकी शिक्षाका अनुसरण करके आचार्य पदको सुशोभित किया और श्रमण संघका पालन करके जब आयु थोड़ी शेष रह गयी, तब एकत्व आदि भावनाओंसे आत्माको सुसंस्कृत करके काय और कषायकी सल्लेखनारूप समाधिमरण धारण किया। तथा अपने समस्त दोषोंकी आलोचना पूर्वक शरीरको त्याग कर देवलोकमें उत्पन्न हुआ।

गुरुकी आज्ञासे नारद पहले ही अपने देशकी ओर चला गया था। समस्त सिद्धान्तके पण्डित नारदने जब गुणोंसे भूषित आचार्य क्षीरकदम्बके दीक्षा ग्रहण और स्वर्गारोहणके समाचार सुने तो उसे 'गुरुके समान ही गुरु-पुत्रको मानना चाहिए' इस सूक्तिका स्मरण हो आया। और वह उनकी भेंटके लिए बहुत-सा सामान साथ लेकर गुरुके वियोगसे दुःखी गुरुपत्नी और एक साथ खेले हुए मित्र पर्वतको देखनेके लिए आया।

दूसरे दिन नारदने सुना कि पर्वत श्रद्धालु छात्रोंको 'अजैर्यष्टव्यम्' का अर्थ 'बकरोंसे यज्ञ और श्राद्ध करना चाहिए' ऐसा बतला रहा है। नारदने रोका–'पर्वत! ऐसी व्याख्या मत करो। किन्तु 'अज' अर्थात् जो उग न सकें ऐसे तीन वर्षके पुराने धान्यसे शान्ति आदि क्रिया करनी चाहिए' ऐसा अर्थ करो। क्योंकि परार साल आचार्यसे हम दोनोंने इस वाक्यका यही अर्थ सुना था, और गत वर्ष हम दोनोंने ऐसा ही विचार भी किया था। न जाने इसी वर्ष तुम्हारी मति संशयमें क्यों पड़ गयी है? मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हो रहा है। पर्वत! तुम आचार्यका काम करते हो। यदि तुम स्वतन्त्र होकर भी इस अर्थके करनेमें भूल करते हो तो मेरे समान पराधीनका ही क्या विश्वास है?'

१ सन्यासम्। २ नारदो गत। ३ गृहीत। ४ छागपुत्रै। ५ परारि—पूर्वतरवत्सर। ६ आवां श्रुतवन्तौ। ७ गतवर्षे। ८ इदानीमस्मिन् वर्षे। ९ सन्देह। १० अद्यश्व परदिने वा प्रसोष्यते। ११ अर्थकथने। १२. स्वतन्त्र। १३ विपरीत करोति। १४. मादृशी विधि तस्य इने-नाथे।

यदेषामधोधोचितमतिस्थामिदमतिपवित्रमपि शास्त्रं विपर्यासयितव्यम्'।

एतच्च प्रत्यक्षमशोचमालोकितप्रमेयस्तम्भः क्षीरकदम्बः संश्रुत्य 'नूनमस्मिन्महामुनिवाक्येऽप्योत्सर्पेदर्चिमरीचिवदाभ्यामूर्ध्वगाभ्यां भवितव्यमिति प्रतीयते। तत्राहं तावदेकदेशव्रतपूतात्मानमात्मानमधरगतिसंभावनं न समाचरेयम्। नरकान्तं राज्यम्, बन्धनान्तो नियोगः, मरणान्तः स्त्रीषु विश्वासः, विपदन्ता खलेषु मैत्री, इति वचनाद्विश्वासविरामभ्रमसितमनस्यधारे राज्यभारे प्रसरत्प्रेर्ष्मु वसु न चोर्ध्वं विधातुम्। तन्नारदपर्वतौ परीक्षाविषयौ' इति निश्चित्य 'समिष्टमयमूर्णायुद्वयं' निर्माय प्रदाय च ताभ्याम् 'भद्रौ युवाभ्यामपि नयद्भ्यामिदमुरणयुगलं यत्र न कोऽप्यालोकते तत्र विनाश्य भक्षितव्यम्' इत्यादिदेश। तावपि तदादेशेन इत्यवादे धाहमहितयं प्रत्येकमादाय यथायथमन्यासिषाताम्। तत्र तस्माति खर्वे पर्वतः पश्स्यपाश्चात्यकुञ्जामुं पक्षापाये च भक्तिभमुरभ्रपुत्रमुदरान्तःपात्रमकार्षीत्। शुभाशयविशारदो नारदस्तु 'यत्र न कोऽप्यालोकते' इत्युपाध्यायोक्तं ध्यायन् 'को नामात्र पुरे कान्तारे वा स प्रदेशो योऽप्रतिकेरैर्मं नास्मेक्षणस्य व्यन्तरगणस्य महामुनिजनान्तःकरणस्य च' इति विचिन्त्य तथैव तं वृष्णिमुपाध्यायाय समर्पयामास।

उपाध्यायो नारदमप्यूर्ध्वगमवबुध्य संसारतरुस्तम्भमिव कथंचिदुरम्भमुत्पाट्य

ठीक है, किन्तु इन चारोंमें-से दो शिष्योंकी बुद्धि पानीमें पड़े भारी पदार्थकी तरह नीच स्थानकी ओर जानेवाली है, ये दोनों इस अत्यन्त पवित्र शास्त्रको भी विपरीत कर देंगे।'

शास्त्ररूपी चक्षुसे प्रमाणको देखनेवाले क्षीरकदम्बने मुनियोंकी बातचीत सुन ली। वह सोचने लगा—'महामुनिके वाक्यसे ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें-से दो निश्चय ही अग्निकी शिखाकी तरह ऊर्ध्वगामी हैं। उनमें-से मैं तो देशचारित्रका पालक हूँ अतः अपने नरकगामी होनेकी सम्भावना तो मैं नहीं कर सकता। कहावत है कि—'राज्यका फल नरक है। शासनका फल बन्धन है। स्त्रीमें विश्वास करनेका फल मरण है और दुर्जनोंसे मैत्री करनेका फल विपत्ति है।' अतः लक्ष्मीरूपी मदिराके मदसे मनको कलुषित करनेवाले राज्यभारमें जिसके प्राण बसे हैं वह वसु ऊर्ध्वगामी हो नहीं सकता। शेष रह जाते हैं नारद और पर्वत। इनकी परीक्षा करनी चाहिए।' ऐसा निश्चय करके पुरोहितने हविष्यके दो मेढ़े बनाये और दोनों को एक एक मेढ़ा देकर कहा—'तुम दोनों जहाँ कोई न देख सके, ऐसे स्थानपर इन मेढ़ोंको मारकर खा जाओ।'

गुरुकी आज्ञासे वे दोनों उन मेढ़ोंको लेकर चले गये। उनमेंसे पर्वतने तो घरके पिछवाड़े एक घिरे हुए स्थानपर जाकर उस मेढ़ेके बच्चेको भूनकर अपने पेटमें रख लिया। किन्तु शुभाशयी नारदने गुरुके 'जहाँ कोई न देख सके' इस वचनका ध्यान करके विचारा—'नगर या जंगलमें ऐसा कौन-सा स्थान है जो अतीन्द्रियदर्शी व्यन्तरादिकका और महामुनियोंके अन्तःकरणका विषय न हो।' ऐसा विचारकर उसने वह मेढ़ा जैसाका-तैसा उपाध्यायको सौंप दिया।

पुरोहितने जान लिया कि नारद भी ऊर्ध्वगामी है। अतः संसाररूपी वृक्षके गुच्छोंके

---

१ मत्राण्डः। २ अग्नि। ३ नीचस्थान-नरक। ४ विस्तरत्याग्यम्। ५ नाहं संभावयेयमिति वाक्यशेषः। ६ निजकस्य मातृम्। ७ ऊरणार्थं। ८ —मूर्णायुयुगलं—बा। ९. इत्या। १० मेषयुगम्। ११ तयोरुणयो। १२. हस्व। १३ मतिम्। १४ हत्वा। १५. मूलाहुतं। १६ प्रदेश। १७ स्थानम्।

नगरनिवासहर्षिभिर्जनैरगणितापकार सरासभारोहणावतारं कण्ठप्रदेशप्राप्तप्राणः पुरुपूत्कृतोल्वणकाण्डः सकलपुरवीथिषु विश्वरघुष्टानुजातो निष्काशितः श्वपचस्मशानांशुकपिहितमेहनो विपरीतक्षुरधाराचरितमार्गमुण्डन. प्रकाशितशिखाश्रीफलजालो गलनालावलम्बितशरावमालः प्रथीयसि वनगहनरहसि प्रविष्ट तुच्छोदकद्वीपिनीतटिनीतटनिकटोपविष्टस्तेन कालासुरेण दृष्टः।

प्रत्यवसृष्टहृच्चेष्टेन 'चाहं तावद्वैकारिकर्द्धिप्रविकाशयिषुशक्ति' एषोऽपि स्वमतप्रतितिष्ठापयिषुमतिप्रसक्तिरत निष्प्रतिघं खलु मे कार्योल्लाघः' इति निभृतं वितर्क्य पर्याप्तपरिव्राजकवेषेण मायामयमनीषेण भाषितश्च। तथा हि—'पर्वत, केन खलु समासन्नकीनाशकेलिनर्मणा दुष्कर्मणा विनिर्मापितनिर्वरोपकार.' । पर्वतः—'तात, को भवान्' । 'पर्वत, भवत्पितु खलु प्रियसुहृदह सहाध्यायी शाण्डिल्य इति नामाभिधायी। यदा हि वत्स, भवान्पोडन्सेमंभवत्तदाहं तीर्थयात्रायामगाम्। इदानीं चागाम्। अतो न भवान्मां सम्यगवधारयति। तत्कथय हन्त कारणमस्य व्यतिकरस्य' ।

पर्वतः—'मत्प्राणितपरित्राणसद्मन् भगवन्, समाकर्णय। समस्तागमरत्नसन्निधातरि सुकृतमणिसमाहर्तरि जिनरूपानुजातरि पितरि नाकलोकमिते सति स्वातन्त्र्यादेकदा प्रदीप्तनिकामकामोद्गम संपन्नपण्याङ्गनाजनसमागम' कृतपिशितकापिसायनस्वाद पापकर्मप्रासादः चेतन्नप्यार्योपदिष्टं विशिष्टं व्याख्यानमह दुरात्माख्यानः[18] स्वव्यसनविवृद्धये

कफनके टुकडेसे उसकी नग्नताको ढाँक दिया गया था। बेचारा रास्ते-भर चिल्लाता जाता था। कष्टसे प्राण कण्ठमे आ गये थे। इस रूपमें उसे नगरसे निकाल दिया गया और वह एक घने जगलमें घुसकर एक नदीके किनारे बैठ गया। वहाँ उसे कालासुर नामके व्यन्तरने देखा। उसके मनकी दशा जानकर कालासुरने सोचा—'मैं अपनी विक्रिया शक्तिको दिखलाना चाहता हूँ और यह अपना मत चलाना चाहता है अत मेरा काम निर्विघ्न होगा।' ऐसा विचारकर उसने सन्यासीका वेष धारण किया और मायावी बुद्धिसे बोला—'पर्वत! जल्दी ही यमराजकी क्रीड़ाके शिकार बननेवाले किस दुष्टने तुम्हारे साथ यह निष्ठुर व्यवहार किया है?'

पर्वत—पिता! आप कौन है?

'मै तुम्हारे पिताका सहपाठी मित्र हूँ। मेरा नाम शाण्डिल्य है। जब तुम्हारे दाँत निकले थे तब मैं तीर्थयात्राके लिए चला गया था। और अब लौटा हूँ। इसलिए तुम मुझे नहीं पहचानते हो। अपनी इस विपत्तिका कारण बतलाओ।'

पर्वत—'मेरे प्राणोंके रक्षक भगवन्! सुनिए। समस्त आगमरूपी रत्नोंके धारक और पुण्यरूपी मणियोंके सग्राहक मेरे पिता जिन-दीक्षा धारण करके जब स्वर्गलोकको चले गये तो मै स्वतन्त्र हो गया। एक दिन मैंने कामके वशीभूत होकर वेश्या सेवन किया और मास-मदिराका स्वाद लिया। 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्यका पिताजीने जो व्याख्यान किया था उसे जानते हुए

---

१ महत्। २ सारमेया पृष्ठतो भवन्ति। विस्वरघुष्टा –आ०। ३ चाण्डालचितास्थानवस्त्रेण कृतकौपीन। ४ नदी। ५ निर्विघ्न। ६ निश्चल विचार्य। ७ तपस्वि। ८ यम। ९ निष्ठुर। १० यदा तव पड्दन्ता। ११ आगत। १२ अहो। १३ जीवितरक्षणे। १४ सग्राहके। १५ कृतवेश्यासमागम। १६ मद्य। १७ जानन्नपि पित्रा उपदिष्टम्। १८ दुरात्मा—दुष्टस्वभावमाख्यान चरित यस्य सोऽहम्।

कालं पातालमूलं जगाहे । अत एवाद्यापि प्रथममाहुतिवेलायां मन्त्रा जल्पन्ति—'उत्तिष्ठ वसो, स्वर्गं गच्छ' इति । भवति चात्र श्लोकः—

> असत्याग्रहकर्तॄणां नराणां सुलभं द्वयम् ।
> परत्र दुर्गतिर्दीर्घा दुष्कीर्तिश्चात्र शाश्वती ॥२१६॥

इत्युपासकाध्ययने वसो रसातलासादनो नामैकोनत्रिंशः कल्पः ।

नारदस्तमेव निर्वेदमुररीकृत्य मतैर्भूयिष्ठभ्रमभ्रमरकुन्तलमिलयमीलोत्पलस्तूपमिव कुन्तलकलापमुन्मूल्य परमनिष्किञ्चनतानिरूपं जातरूपमास्थाय सकलसत्त्वाभयप्रदानामृतवर्षाधिकरणं संयमोपकरणमाकलय्य मुक्तिलक्ष्मीसमागमसंचारिकामिवोपकरण्डारिकामादाय शिवश्रीवशीकरणार्यामिव स्वाध्यायमनुपदस्य मनोमर्कटक्रीडामकोममिन्द्रियाराममुपरम्य अन्तरात्महेमाश्मसमस्तमलदहनं ध्यानदहनमुद्दीप्य समातकेवलस्तत्पदेऽशेषसिद्धो बभूव ।

पर्वतस्तु तथा सर्वसमाजसमाजोदीरितोदीर्णदुरपवादरजसि मिथ्यासाक्षिपक्षविपक्षवचसि दुराचारेऽत्यन्तकुपितसकलजनानुवर्तितीक्ष्णमहसि कपटोपेतेऽजसि 'वसौ सति कर्तृस्वहीनतया पौरापचितीर्षयोः' च निरन्तरोद्भूतरोमाञ्चकायः शल्यर्वेलाकाग्निकीर्णकाय इव निःशेषगर्णयवधीविताभ्यां लोचनचर्मपुटः स्फुटमिव च तैपुपतिविनाशव्यग्रामर्षिभिः संभूयोपविष्टसोपधर्षिभिरतुच्छापिच्छोच्चैस्तालस्थलप्रकर्षिभिः प्रतिघातोच्चलत्कफसकपालप्रहारवर्षिभिः

वसुको पातालमें भेज दिया । इसीसे आज भी यज्ञमें पहली आहुति देते समय ब्राह्मणजन कहते हैं—'वसु उठ । स्वर्ग जा ।'

किसीने ठीक ही कहा है— 'झूठी बातका दुराग्रह करनेवाले मनुष्योंके लिए दो बातें सुलभ हैं—परलोकमें दीर्घकाल तक दुर्गति और इस लोकमें स्थायी अपयश' ॥२१६॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें वसुकी रसातल-प्राप्तिको बतलानेवाला उनतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ॥

इस घटनासे नारदको बड़ा वैराग्य हुआ । उसने केशलोंच करके नग्न दिगम्बर होकर सकल जीवोंको अभयदान देनेवाले संयमके उपकरण पीछी और कमण्डलु ग्रहण कर लिये । और स्वाध्यायपूर्वक मनरूपी बन्दरके खेलनेके स्थान इन्द्रियरूपी उपवनको नष्ट करके अन्तरात्मारूपी स्वर्णपाषाणके समस्त मलको जलानेमें समर्थ ध्यानरूपी अग्निको प्रदीप्त किया । तथा केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो गया ।

राजा वसुके मर जानेपर अत्यन्त सज्जन तथा पुरवासी जनोंके तीव्र तिरस्कारके कारण पर्वतको क्रोधसे रोमांच हो आया । उस समय ऐसी पीड़ा हुई मानो सेहीके काँटोंसे उसका शरीर बींधा गया है । अपने असत्य दुष्ट संकल्पोंके कारण उसका पेट फटने-सा लगा । उधर नगरवासी लोग राजाकी मृत्युसे क्रुद्ध होकर उसके ऊपर ईंट-पत्थरोंकी वर्षा करने लगे । उन्होंने उसे गधेपर चढ़ाकर समस्त नगरमें घुमाया । पीछे-पीछे कुत्ते भौंकते जाते थे । ईंट-पत्थरोंकी वर्षा होती जाती थी । उलटे उस्तरेसे सिर मूँड़ा जाता था । गलेमें फूटे ठीकरोंकी माला पड़ी थी । चाण्डालके

१ [illegible] । २ प्रभा [illegible] । [illegible] । ३ स्त्री । ४ मयूरपिच्छम् । ५ गृहीत्वा । [illegible] ७ कमण्डलुम् । ८ परिच्छेद । ९ कृत्वा । १० पर्वतम् = अविरतम् । ११ सुवर्णपाषाण । [illegible] १४ बाढी—[illegible] । १५ [illegible] १७ सेहीपूर्णविद्धशरीर । १८ चर्मवत् । १९ अनुचित । २० [illegible] ।

नगरनिवासहर्षिभिर्जनैरगणितापकार सरासभारोहणावतारं कण्ठप्रदेशप्राप्तप्राणः पुरुपूत्कृ[1]तोल्वणकाण्डः सकलपुरवीथिषु विश्वरघुष्टानुजातो[2] निष्काशितः श्वपचस्मशानांशुकपिहितमेहनो[3] विपरीतक्षुरधाराचरितमार्गमुण्डन. प्रकाशितशिखाश्रीफलजालो गलनालावलम्बितशरावमालः प्रथीयसि वनगहनरहसि प्रविष्ट तुच्छोदकद्वीपिनीतटिनीतट[4]निकटोपविष्टस्तेन कालासुरेण दृष्टः।

प्रत्यवमृष्टहृच्चेष्टेन 'चाहं तावद्वैकारिकर्द्धिप्रचिकाशयिपुशक्ति एपोऽपि स्वमतप्रतितिष्ठापयिपुमतिप्रसक्तिरत्त निष्प्रतिघं[5] खलु मे कार्योल्लाघ.' इति निर्भृतं वितर्क्य[6] पर्याप्तपरिव्रा[7]जकवेपेण मायामयमनीपेण भापितश्च। तथा हि—'पर्वत, केन खलु समासन्नकीनाश[8]केलिनर्मणा दुष्कर्मणा[9] विनिर्मापितनिर्वैरोपकार'। पर्वतः—'तात, को भवान्'। 'पर्वत, भवत्पितु खलु प्रियसुहृदह सहाध्यायी शाण्डिल्य इति नामाभिधायी। यदा हि वत्स, भवान्पोडन्सेमं[10] भवत्तदाह तीर्थयात्रायामगाम्। इदानीं चागाम्[11]। अतो न भवान्मां सम्यगवधारयति। तत्कथय हन्त[12] कारणमस्य व्यतिकरस्य'।

पर्वत.—'मत्प्राणिते[13]परित्राणसद्मन् भगवन्, समाकर्णय। समस्तागमरत्नसन्निर्धा[14]तरि सुकृतमणिसमाहर्तरि जिनरूपानुजातरि पितरि नाकलोकमिते सति स्वातन्त्र्यादेकदा प्रदीप्तनिकामकामोद्गम संपन्नपण्याङ्गनाजनसमागम[15] कृतपिशितकापिसायन[16]स्वाद पापकर्मप्रासाद: चेतन्नप्यार्योपदिष्टं[17] विशिष्टं व्याख्यानमह दुरात्माख्यान:[18] स्वव्यसनविवृद्धये

कफनके टुकड़ेसे उसकी नग्नताको ढाँक दिया गया था। बेचारा रास्ते-भर चिल्लाता जाता था। कष्टसे प्राण कण्ठमें आ गये थे। इस रूपमें उसे नगरसे निकाल दिया गया और वह एक घने जगलमें घुसकर एक नदीके किनारे बैठ गया। वहाँ उसे कालासुर नामके व्यन्तरने देखा। उसके मनकी दशा जानकर कालासुरने सोचा—'मै अपनी विक्रिया शक्तिको दिखलाना चाहता हूँ और यह अपना मत चलाना चाहता है अत मेरा काम निर्विघ्न होगा।' ऐसा विचारकर उसने सन्यासीका वेष धारण किया और मायावी बुद्धिसे बोला—'पर्वत ! जल्दी ही यमराजकी क्रीडाके शिकार बननेवाले किस दुष्टने तुम्हारे साथ यह निष्ठुर व्यवहार किया है ?'

पर्वत— पिता ! आप कोन है ?

'मै तुम्हारे पिताका सहपाठी मित्र हूँ। मेरा नाम शाण्डिल्य है। जब तुम्हारे दाँत निकले थे तब मैं तीर्थयात्राके लिए चला गया था। और अब लौटा हूँ। इसलिए तुम मुझे नहीं पहचानते हो। अपनी इस विपत्तिका कारण बतलाओ।'

पर्वत—'मेरे प्राणोंके रक्षक भगवन् ! सुनिए। समस्त आगमरूपी रत्नोंके धारक और पुण्यरूपी मणियोंके सग्राहक मेरे पिता जिन-दीक्षा धारण करके जब स्वर्गलोकको चले गये तो मैं स्वतन्त्र हो गया। एक दिन मैंने कामके वशीभूत होकर वेश्या सेवन किया और मास-मदिराका स्वाद लिया। 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्यका पिताजीने जो व्याख्यान किया था उसे जानते हुए

१ महत्। २ सारमेया पृष्ठतो भवन्ति। विस्वरघुष्टा —आ०। ३ चाण्डालचितास्यानवस्त्रेण कृतकौपीन। ४ नदी। ५ निर्विघ्न। ६ निश्चल विचार्य। ७ तपस्वि। ८ यम। ९ निष्ठुर। १० यदा तव पड्दन्ता। ११ आगत। १२ अहो। १३ जीवितरक्षणे। १४ सन्धारके। १५ कृतवेश्यासमागम। १६ मद्य। १७ जानन्नपि पित्रा उपदिष्टम्। १८ दुरात्मा—दुष्टस्वभावमाख्यान चरित यस्य सोऽहम्।

<u>पर्वतः—नारद</u>, नेदमङ्गीकरोमि[1] यतस्तस्य पदस्य मयोक्त एवातिसूक्तोऽर्थः[2]। यदि चाय-मन्यथा स्यात्तदा रसनाछेदनमहमेव मे दण्डः।

<u>नारदः—'पर्वत</u>, को नु आवयोर्विवदमानयोरावयोर्निकषभूमिः'[3]।

<u>पर्वतः—'नारद, वसुः'</u>।

कर्हि तर्हि स समयानुसर्तव्यः। 'इदानीमेव नान्योऽवसरः' इत्यभिधाय द्वावपि तौ <u>वसु</u>-निकषा प्रास्थिषाताम्[4]। वेदितवार्तौ च तयोपस्थितौ तेन <u>वसुना</u> गुरुनिर्विशेषमाचरितसम्मानौ यथावसरकृतवर्णशिपुविधानौ विहितोचितोचितकाञ्चनदानौ[5] समागमनकारणमापृष्टौ स्वाभिप्राय-मभापिषाताम्। <u>वसुः</u>—'यथाहतुस्तयमयन्तौ तथा प्रातरेवानुष्ठेयम्'।

अत्रान्तरे वसुलक्ष्मीजयजपेव जपाया सा किलोपाध्याया <u>नारदपक्षानुमत</u> <u>क्षीरकदम्बा</u>-चार्येहतं तद्वाक्यव्याख्यानं स्मरन्ती <u>स्वस्तिमती</u> <u>पर्वतपरिभवापायबुद्ध्या</u> <u>वसुमनुसृत्य</u> 'वत्स <u>वसो</u> यः पूर्वमुपाध्यायादस्तपोनापराधकदण्डावसरो वरस्त्वयादायि स मे संप्रति समर्पयितव्यः' इत्युवाच। सत्यप्रतिपालनाद्वसुः—'किमत्र संदेहस्तत्र। यथैवं यथा सहाध्यायी <u>पर्वतो</u> वदति, तथा त्वया साक्षिणा भवितव्यम्'। वसुस्तया स्वयमाचार्योऽन्या[6]भिहित—'यदि साक्षी भवामि तदावश्यं निरये पतामि। अथ न भवामि तदा सत्यात्प्रच्यवामि' इत्युभयाप्यपशार्दूलविद्रुतमनोमृगश्चिरं विचिन्त्य

पर्वत—नारद! मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि इस पदका मेरा कहा हुआ अर्थ ही ठीक है। यदि वह ठीक न हो तो मैं अपनी जिह्वा कटवा दूँगा।

नारद—पर्वत! हमारे विवादका फैसला कौन करेगा?

पर्वत—वसु।

नारद—तो उसके पास कब चलना चाहिए?

पर्वत—इसी समय। इसमें विलम्ब क्यों?

इस प्रकार बातचीत करके दोनों वसुके पास चल दिये। वसुने जैसे ही उन दोनोंको आते हुए देखा, गुरुके समान ही उनका सम्मान किया और यथायोग्य भोजन, वस्त्राभरण तथा स्वर्ण प्रदान करके उनसे आनेका कारण पूछा। दोनोंने अपना-अपना अभिप्राय कह दिया। वसुने उनसे सुबह आनेके लिए कहा।

इसी बीचमें पर्वतकी माता स्वस्तिमती गुरुआनीको अपने पति क्षीरकदम्बकके द्वारा बतलाया हुआ उस वाक्यका व्याख्यान स्मरण हो गया। उसे लगा कि नारदका व्याख्यान ही ठीक है। अतः पर्वतके अनिष्टकी आशंकासे वह रात्रिमें ही वसुके पास गयी और बोली—'पुत्र वसु! पहले गुरुसे छिपनेका अपराध करनेके समय तुमने मुझे जो वर दिया था वह मुझे अब दो।' सत्यका पालक वसु बोला—'माता! उसमें सन्देह मत करो।' 'तो जैसा तुम्हारा गुरुपुत्र कहता है वैसा ही तुम्हें भी कहना चाहिए।' गुरुपत्नीके ऐसा कहनेपर वसु विचारमें पड़ गया—'यदि पर्वतका कथन ठीक ठहराता हूँ तो नरकमें गिरता हूँ। और यदि नहीं ठहराता हूँ तो सत्यसे विचलित

---

१ न मुञ्चामि। २ जिह्वा। ३ न विलम्बः। ४ समीपम्। ५. प्रतिपत्ती। ६ मोक्षमाध्यापकनी। ७. विहितोचितोचित मु०। ८ निरयेषाम। ९. प्रार्थित।

'न व्रतमस्थिग्रहणं शाकपयोमूलभैक्षचर्या वा ।
व्रतमेतदुन्नतधियामङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणम्' ॥३९५॥

इति च विमृश्य निरयनिदानदत्तं चरमे[1]पक्षमेव पक्षमालैप्सीत्[2] ।

तदनु मुमुदिष[3]माणारविन्दहृदयविनिद्रेन्दिन्दिरचरणप्रचारोदञ्चन्मकरन्दसिन्दूरितनीर[4]-देवतासीमन्तान्तराले प्रभातकाले, सेवासमागतसमस्तसामन्तोपास्तिपर्य[5]स्तोत्तंसकुसुम-संपादितोपहारमहीयसि च सति सदसि मृगयाव्यसनव्याजशरव्यीकृते कुरङ्गपोते, अपराद्धेषु[7]-रिपु[6]प्रत्यावृत्त्यासादितस्पर्शमात्रावसेयाकाशस्फटिकघटितविलसनं सिंहासनमुपगत्य 'सत्य-शौचादिमाहात्म्यादहं विहायसि गतो जगद्व्यवहारं[7] निहालयामि' इत्यात्मनात्मानमुत्कु[8]-र्वाणो विवादसमये तेन विनत[9]वरदेन नारदेन 'अहो, नृपोद्योद्भिदविभावसो वसो, अद्यापि न किञ्चिन्नङ्क्ष्यति[10] तत्सत्यं ब्रूहि' इत्यनेकश कृतोपदेशः काश्यपीतलं यियासुर्वसुः—'नारद, यथैवाह पर्वतस्तथैव सत्यम्' इत्यसमीक्ष्यं साक्ष्यं वदन् 'देव, अद्यापि यथायथं वद यथायथं वद' इत्यालापबहुले समन्यु[11]मानसविलासिनीस्ख[12]लितोक्तिलोहले[13] विषादासादि-हृदयप्रजाप्रजल्पकाहले स्फुटद्ब्रह्मा[14]ण्डखण्डध्वनिकुतूहले समुच्छलति परिच्छदकोलाहले सत्यधर्मकर्मप्रवर्तनकुपितपुरदेवतावशदुर्विलसनः ससिंहासनः क्षणमात्रमप्य[15]नासादितसुख-

होता हूँ ।' इस प्रकार उसका मनरूपी मृग द्विविधारूपी सिंहके फेरमें पड गया । बहुत देर तक विचार करनेके बाद उसने सोचा—

हड्डीका धारण करना, शाक, पानी, कन्दमूलका लेना अथवा भिक्षा भोजन करना ये सब व्रत नहीं है । किन्तु स्वीकार की हुई वस्तुको निबाहना ही समझदार पुरुषोंका व्रत है ॥३९५॥

ऐसा विचार कर उसने नरकमें ले जानेवाले दूसरे पक्षको ही स्वीकार कर लिया ।

एक बार एक शिकारी जंगलमें शिकार खेलनेके लिये गया था वहाँ उसने एक हरिणके बच्चेपर तीर चलाया । किन्तु वह तीर किसी वस्तुसे टकराकर लौट आया । तब शिकारीको बडा आश्चर्य हुआ और वह इसका कारण जाननेके लिए आगे बढ़ा । मार्गमें उसे आकाशकी तरह स्वच्छ स्फटिकमणिकी एक शिला मिली, जो छूनेसे ही जानी जा सकती थी । उस शिलाको मँगाकर वसुने अपनी सभामे रखा और उसपर अपना सिंहासन रखवाया । तथा उसपर बैठकर अपने ही मुखसे अपनी प्रशसा करते हुए यह घोषणा की कि मै 'अपने सत्य धर्मके प्रभावसे आकाशमें बैठकर जगत्का न्याय करता हूँ ।'

दूसरे दिन प्रभात होनेपर राजसभा लगी । वसु अपने उसी सिंहासनपर आकर बैठ गया । सेवाके लिए आये हुए सामन्तोंने भेंटें चढ़ायीं । और विवाद प्रारम्भ हुआ । नारदने विनय पूर्वक कहा—'असत्यवादी वसु अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है अत सच बोल,' बार बार समझानेपर भी नरकगामी वसुने यही कहा—'जो पर्वत कहता है वही सत्य है' । इस प्रकार झूठी गवाही देते देखकर प्रजाको भी क्रोध आ गया और वह भी चिल्लाने लगी—'महाराज ! 'अब भी सच बोलिए,', 'अब भी सच बोलिए ।' सभामें ऐसा कोलाहल मचा मानो ब्रह्माण्डके फटनेकी आवाज है । इसी समय सत्य धर्म-कर्मका लोप करनेके कारण क्रुद्ध हुए नगर-देवताने सिंहासन-सहित

१ मांक्षिवचनम् । २ अङ्गीचकार । ३ विकसमानपद्ममध्य–उच्छ्रीयमाणभ्रमरचरण ।-४ जलदेवता । ५ लक्ष्यच्युतबाण । ६ बाण पश्चाद्वलनेन । ७ न्याय पश्यामि । ८. उत्कर्षता प्रापयन् । ९. विनतानां विनेयानाम् । १० नाश यास्यति । ११ सकोपचित्त । १२ अव्यक्तवचन । १३ अस्फुटे । १४ मर्त्यलोक । १५. अप्राप्त ।

काष्ठं पातालमूलं अगाहे । अत एवाद्यापि प्रथममाहुतिवेलायां मन्त्रा[2] जल्पन्ति—'उत्तिष्ठ वसो, स्वर्गं गच्छ' इति । भवति चात्र श्लोकः—

> असत्ये पक्षपातानां नराणां सुलभं प्रथम् ।
> परत्र दुर्गतिर्दीर्घा दुष्कीर्तिश्चात्र शाश्वती ॥३१६॥

इत्युपासकाध्ययने वसो रसातलासादनो नामैकोनत्रिंशः कल्पः ।

नारदस्तमेव निर्वेदमुररीकृत्य मतेऽपि भ्रमभ्रमरकुलनिलयमीलोत्पलस्तूपमिव कुन्तलकलापमुन्मूल्य परमनिष्किञ्चनतामिरूपं जातरूपमास्थाय सकलसत्त्वाभयप्रदानामृतपर्याधिकरणं संयमोपकरणमाकलय्य मुक्तिलक्ष्मीसमागमसंसर्गपरिकामिवोत्कर्षपरिचारिकामात्यनिःश्रेयसीकरणार्थमिव स्वाध्यायमनुबध्य मनोमर्कटक्रीडामर्कटमिन्द्रियाराममुपरम्य अन्तरात्महेमाश्मसमस्तमलदहनं ध्यानदहनमुद्दीप्य सञ्जातकेवलस्तत्पदेऽवासिपेशलो बभूव ।

पर्वतस्तु तथा सर्वसमाजसमाक्षेपीरितोदीर्णदुरपवादरजसि मिथ्यासाक्षिपक्षविपक्षवचसि दुराचारोत्पन्नकुमितसहभावानुवर्तीचित्तवीक्षितमहसि कथाशेषवसि "वसौ सति महत्स्वहीनतया पौरापचिकीर्षयो" च निरन्तरोद्गतरोमाञ्चमिकायः शत्रुसंघैः काकानिकीर्णकाय इव निसर्गभेयपुरीहिताश्मो लोकरत्नमेपुरः स्फुटमिव च तेऽप्युपतिविमानाश्मशामर्पिभिः संभूयोपविपत्तोपयर्पिभिरतुल्यपिमोकोर्वेतास्फालसम्प्रकर्षिभिः प्रतिघातोऽभ्रमन्...कामयामहारतर्पिभि

वसुको पातालमें भेज दिया । इसीसे आज भी यज्ञमें पहली आहुति देते समय ब्राह्मणजन कहते हैं—'वसु उठ । स्वर्ग जा ।

किसीने ठीक ही कहा है— 'झूठी बातका दुराग्रह करनेवाले मनुष्योंके लिए दो बात सुलभ हैं—परलोकमें दीर्घकाल तक दुर्गति और इस लोकमें स्थायी अपयश' ॥३१६॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें वसुको रसातल-पातिको बतलानेवाला उनतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ॥

इस घटनासे नारदको बड़ा वैराग्य हुआ । उसने केशलोंच करके नग्न दिगम्बर होकर सकल जीवोंको अभयदान देनेवाले संयमके उपकरण पीछी और कमण्डलु ग्रहण कर लिये । और स्वाध्यायपूर्वक मनरूपी बन्दरके खेलनेके स्थान इन्द्रियरूपी उपवनको बन्द करके अन्तरात्मा रूपी स्वर्णपाषाणके समस्त मलको जलानेमें समर्थ ध्यानरूपी अग्निको प्रदीप्त किया । तथा केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो गया ।

राजा वसुके मर जानेपर अत्यन्त लज्जा तथा पुरवासी जनोंके तीव्र तिरस्कारके कारण पर्वतको क्रोधसे रोमांच हो आया । उसे ऐसी पीड़ा हुई मानो सेहीके काँटोंसे उसका शरीर बींधा गया है । अपने असंख्य दुष्ट संकल्पोंके कारण उसका पेट फूटने-सा लगा । उधर नगरवासी लोग राजाकी मृत्युसे क्रुद्ध होकर उसके ऊपर ईंट-पत्थरोंकी वर्षा करने लगे । उन्होंने उसे गधेपर चढ़ाकर समस्त नगरमें घुमाया । पीछे-पीछे कुत्ते भौंकते जाते थे । ईंट-पत्थरोंकी वर्षा होती जाती थी । मार्गमें उड़ते उस्तरेसे सिर मूँडा जाता था । गलेमें फूटे ठीकरोंकी माला पड़ी थी । चाण्डालके

१ सप्तमनरकम् । २ प्रथमाहुतिवेलायां । विप्राः । ३ स्त्री । ४ मयूरपिच्छम् । ५ पूर्वावस्था । ६ मूर्ती । ७ कमण्डलुम् । ८ परित्यज्य । ९. कृत्वा । १० पर्वतम् = अधिकम् । ११ सुवर्णपाषाण । १२ मोक्ष । १३ किंचूरीभिः चित्रं विस्तार्य जीवितमेव महत्सौख्यं यस्य । १४ वाली—अ० ... मु० । १५ दीर्घलज्जिततया । १६ बलात्कारेणा । १७ सेहीपूलविद्धशरीर । १८ असंख्य । १९ संभूषित । २० वध ।

नगरनिवासहर्षिभिर्जनैरगणितापकारं खरासभारोहणावतारं कण्ठप्रदेशप्राप्तप्राणः पुरुपूत्कृतोल्वणकाएः सकलपुरवीथिषु विश्वरघुष्टानुजातो निष्काशितः श्वपचस्मशानांशुकपिहितमेहनो विपरीतक्षुरधाराचरितमार्गमुण्डनः प्रकाशितशिखाश्रीफलजालो गलनालावलम्बितशरावमालः प्रथीयसि वनगहनरहसि प्रविष्ट तुच्छोदकछोपिनीतटिनीतटनिकटोपविष्टस्तेन कालासुरेण दृष्टः।

प्रत्यवमृष्टहृच्चेष्टेन 'चाहं तावद्वैकारिकर्द्धिप्रचिकाशयिषुशक्तिः एषोऽपि स्वमतप्रतितिष्ठापयिषुमतिप्रसक्तिरत निष्प्रतिघं खलु मे कार्योल्लाघ' इति निभृतं वितर्क्य पर्याप्तपरिव्राजकवेषेण मायामयमनीषेण भाषितश्च। तथा हि—'पर्वत, केन खलु समासन्नकीनाशकेलिनर्मणा दुष्कर्मणा विनिर्मापितनिर्वरापकार'। पर्वतः—'तात, को भवान्'। 'पर्वत, भवत्पितु खलु प्रियसुहृदहं सहाध्यायी शाण्डिल्य इति नामाभिधायी। यदा हि वत्स, भवान्षोडन्स्तेमं भवत्तदाहं तीर्थयात्रायामगाम्। इदानीं चागाम्। अतो न भवान्मां सम्यगवधारयति। तत्कथय हन्त कारणमस्य व्यतिकरस्य'।

पर्वतः—'मत्प्राणितपरित्राणसज्ञन् भगवन्, समाकर्णय। समस्तागमरत्नसन्निधातरि सुकृतमणिसमाहर्तरि जिनरूपानुजातरि पितरि नाकलोकमिते सति स्वातन्त्र्यादेकदा प्रदीप्तनिकामकामोद्गम. संपन्नपण्याङ्गनाजनसमागम कृतपिशितकापिसायनस्वाद पापकर्मप्रासाद. चेतन्नप्यार्योपदिष्टं विशिष्टं व्याख्यानमह दुरात्माख्यानः स्वव्यसनविवृद्धये

कफनके टुकड़ेसे उसकी नग्नताको ढाँक दिया गया था। बेचारा रास्ते-भर चिल्लाता जाता था। कष्टसे प्राण कण्ठमें आ गये थे। इस रूपमें उसे नगरसे निकाल दिया गया और वह एक घने जंगलमें घुमकर एक नदीके किनारे बैठ गया। वहाँ उसे कालासुर नामके व्यन्तरने देखा। उसके मनकी दशा जानकर कालासुरने सोचा—'मैं अपनी विक्रिया शक्तिको दिखलाना चाहता हूँ और यह अपना मत चलाना चाहता है अत मेरा काम निर्विघ्न होगा।' ऐसा विचारकर उसने सन्यासीका वेष धारण किया और मायावी बुद्धिसे बोला—'पर्वत! जल्दी ही यमराजकी क्रीडाके शिकार बननेवाले किस दुष्टने तुम्हारे साथ यह निष्ठुर व्यवहार किया है?'

पर्वत— पिता! आप कौन है?

'मैं तुम्हारे पिताका सहपाठी मित्र हूँ। मेरा नाम शाण्डिल्य है। जब तुम्हारे दाँत निकले थे तब मै तीर्थयात्राके लिए चला गया था। और अब लौटा हूँ। इसलिए तुम मुझे नहीं पहचानते हो। अपनी इस विपत्तिका कारण बतलाओ।'

पर्वत—'मेरे प्राणोंके रक्षक भगवन्! सुनिए। समस्त आगमरूपी रत्नोंके धारक और पुण्यरूपी मणियोंके सग्राहक मेरे पिता जिन-दीक्षा धारण करके जब स्वर्गलोकको चले गये तो मै स्वतन्त्र हो गया। एक दिन मैंने कामके वशीभूत होकर वेश्या सेवन किया और मास-मदिराका स्वाद लिया। 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्यका पिताजीने जो व्याख्यान किया था उसे जानते हुए

१ महत्। २ सारमेया पृष्ठतो भवन्ति। विस्वरघुष्टा –आ०। ३ चाण्डालचितास्थानवस्त्रेण कृतकौपीन। ४ नदी। ५ निर्विघ्न। ६ निश्चल विचार्य। ७ तपस्वि। ८. यम। ९ निष्ठुर। १० यदा तव षड्दन्ता। ११ आगत। १२ अहो। १३ जीवितरक्षणे। १४ सम्रारके। १५ कृतवेश्यासमागम। १६ मद्य। १७ जानन्नपि पित्रा उपदिष्टम्। १८ दुरात्मा—दुष्टस्वभावमाख्यान चरित यस्य सोऽहम्।

धर्मबुद्ध्या साधुमन्ये भक्तैर्यष्टव्यमितीव वाक्यमशेषकल्मषनिषेधको ऽप्ययोपम्यस्यमानो नारदेनापादितव्यसनस्तेन मम एतावद्विपत्तिस्थानमयमवापम्।

कालासुरः—'पर्वत मा शोच। मुञ्च स्वमशेषं विषण्णकलुषम्। भद्र, साधु सम्बोधयात्मानम्। न खलु निरीहस्य नरस्यास्ति काचिन्मनीषितावाप्तिः। तदलं हन्त हृदयदाहानुशोचनावेगेन। हंहो पुत्र पर्वत, यथा स्वकीयसङ्केताद् अजगोसवाश्वमेधसौत्रामणिवाजपेयराजसूयपुण्डरीकप्रभृतीनां सवनानां प्रतिपादकानि वाक्यानि विरचय्य स्थानान्तरेषु वेदवचनेषु निवेशय। वत्स, मयि भूर्भुवः स्वरादीविपर्यासनसमर्थमन्त्रमाहात्म्ये त्वयि च तरसास्ययसविधीनप्रवृत्तिहेतुश्रुतिगीतिसमभ्यस्तसामर्थ्ये किं नु नामेहासाध्यम्' इत्युक्त्वा स्वयं विद्याधरसम्भवाभिरष्टाभिरीतिभिरुपद्रुतमाजनपदमयोध्याविषयमागत्य नगरबाहिरिकायां स दैवब्रह्मण्डो ऽभूत्। अध्वर्युः पर्वतः समासीत्। मायामयरूपाः पिङ्गल-मनु-मतङ्ग-मरीचि-गौतमादयश्च होतारो ऽभवन्। तत्र श्रुतिस्मृतिचतुर्मुखवदनैरुपदिशति। पर्वतस्तु

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा।
यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥२९७॥

भी मुझ दुरात्माने अपने व्यसनकी पुष्टिके लिए उसे बदल कर अन्यथा रूपसे कहा। नारदने मेरी इस गलतीको पकड़ लिया। बस उसीसे मेरी यह दुर्दशा हुई है।'

कालासुर—'पर्वत! रंज मत कर और इस मन बुद्धि विकारको दूर कर' अपनेको सम्बोध। जो मनुष्य निरीह है उसकी मनोवाञ्छा पूरी नहीं होती। अतः हृदयको जलानेवाले शोकको छोड़। और पुत्र पर्वत! अपने संकेतसे निर्मित अजमेध, गोमेध अश्वमेध सौत्रामणि, वाजपेय, राजसूय पुण्डरीक आदि यज्ञोंके प्रतिपादक वाक्योंको रचकर वेदमें जगह-जगह मिला दो। पुत्र! मेरेमें 'भूर्भुवः स्वः' इत्यादि मन्त्रको बदलनेकी सामर्थ्यके होते हुए और मांस-मदिरा आदिमें प्रवृत्ति करानेवाले वेदमन्त्रोंकी रचनामें सिद्धहस्त तुम्हारे होते हुए ऐसा कौन काम है जो हम नहीं कर सकते।'

इस प्रकार पर्वतको उत्साहित करके उस कालासुरने अपनी विद्याके बलसे अतिवृष्टि आदि आठ ईतियोंको समस्त देशमें फैला दिया। तथा आप अयोध्या नगरीमें आकर ब्रह्माका रूप धारण करके नगरके बाहर बैठ गया। पर्वत यजुर्वेदका ज्ञाता पुरोहित बना। मायामयी पिंगल, मनु, मतङ्ग, मरीचि गौतम वगैरह होता बन गये। ब्रह्माजी चारों मुखोंसे उपदेश देते थे। और पर्वत आदेश देता था—

ब्रह्माजीने स्वयं यज्ञके लिए ही पशुओंकी सृष्टि की है। यज्ञ सबकी समृद्धिके लिए है इसलिए यज्ञमें किया जानेवाला पशुवध वध नहीं है॥ २९७॥

१ भस्मीभूतोऽपि निःस्पृहस्य। २ इमं सर्वेऽपुरुषार्था वाक्यारम्भविघातको। ३ गोमेध। ४ यज्ञानाम्। ५ मध्ये। ६ तु प्रकटतया विरचने च विदर्शे च। नाम प्रकाशकर्तास्य भोगोपभोगमनुरागम्। ७ अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः॥ ८ यजुर्वेदज्ञाता। ९ ब्रह्मा।

ब्रह्मणे[1] ब्राह्मणमालभेत, इन्द्राय क्षत्रियं, मरुद्भ्यः वैश्यं, तमसे शूद्रम्, उत्तमसे तस्करं, आत्मने क्लीवं, कामाय पुंश्चलमप्रतिक्रुष्टाय मागधं, गीताय सुतम्, आदित्याय स्त्रियं गर्भिणीं, सौत्रामणौ च एवंविधां सुरां पिबति, न तेन सुरा पीता भवति। सुराश्च[2] तिस्र एव श्रुतौ संमताः—पैष्टी, गौडी, माधवी चेति। गोसवे ब्राह्मणो गोसवेनेष्ट्वा संवत्सरान्ते मातरमप्यभिलषति। उपेहि मातरम्, उपेहि स्वसारम्।

[3]षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूना मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनादूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥३९८॥
[4]महोक्षो वा [5]महाजो वा श्रोत्रियाय विशस्यते[6]।
निवेद्यते तु दिव्याय स्रक्सुगन्धनिधिर्विधिः ॥३९९॥
गोसवे सुरभिं हन्याद्राजसूये तु भूभुजम्।
अश्वमेधे हयं हन्यात्पौण्डरीके च दन्तिनम् ॥४००॥
[7]औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणो नराः।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रिता गतिम् ॥४०१॥

ब्रह्माके लिए ब्राह्मणका वध करना चाहिए, इन्द्रके लिए क्षत्रियका वध करना चाहिए, वायुके लिए वैश्यका वध करना चाहिए, तमके लिए शूद्रका वध करना चाहिए, गाढ़तमके लिए चोरका वध करना चाहिए, आत्माके लिए नपुंसकका वध करना चाहिए, कामके लिए बदमाशका वध करना चाहिए, अप्रतिक्रुष्टके लिए मागधका वध करना चाहिए, गीतके लिए पुत्रका वध करना चाहिए, सूर्यके लिए गर्भिणी स्त्रीका वध करना चाहिए। सौत्रामणि यज्ञमें जो अमुक प्रकारकी शराब पीता है वह शराब नहीं पीता। तीन प्रकारकी शराब वेदसम्मत है—पैष्टी—जो जौ वगैरहके आटेसे बनायी जाती है, गौडी—जो गुडसे बनायी जाती है, और माधवी, जो महुएसे बनती है। गोसव यज्ञमें ब्राह्मण तुरतके जन्मे हुए गौके बछड़ेसे यज्ञ करके वर्षके अन्तमें मातासे भी भोग करता है। माताके पास जाओ, बहनके पास जाओ।

अश्वमेध यज्ञमें मध्यके दिन तीन कम छह सौ अर्थात् पाँच सौ सत्तानवे पशु मारे जाते है ऐसा वचन है ॥ ३९८ ॥ श्रोत्रियके लिए महान् बैल अथवा बकरा मारा जाता है। तथा माला गन्ध वगैरह विधिपूर्वक अर्पित की जाती है ॥३९९॥

गोसव यज्ञमें गायका वध करना चाहिए। राजसूय यज्ञमे राजाका वध करना चाहिए। अश्वमेधमें घोडेका वध करना चाहिए और पौण्डरीक यज्ञमें हाथीका वध करना चाहिए ॥४००॥ औषधि, पशु, वृक्ष, तिर्यञ्च, पक्षी और मनुष्य ये सब यज्ञमें मारे जाने से उच्चगति पाते है ॥४०१॥

१ 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते। क्षत्राय राजन्यम्। मरुद्भ्यो वैश्यम्। तपसे शूद्रम्। तमसे तस्करम्। नारकाय वीरहणम्। पाप्मने क्लीवम्। आक्रयाया योगूम्। कामाय पुंश्चलम्। अतिक्रुष्टाय मागधम्। गीताय सूतम्। नृत्ताय शैलूषम्।' –तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, ४। वाजसनेयी संहिता ३०, ५ में तथा शतपथ ब्राह्मण १३, ६, २ में भी पाठभेदके साथ उक्त उद्धरण मिलता है। २ 'गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।' –मनुस्मृति ११,९४। ३ वाजसनेयी संहिता २४, ४० की उव्वट और महीधरकी टीकामें वह श्लोक पाया जाता है। उसमें उत्तरार्ध इस प्रकार है–'अश्वमेधस्य यज्ञस्य नवभिश्चाधिकानि च।' ४ 'महोक्ष वा महाज वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्। सत्क्रियान्वासन स्वादु भोजन सूनृतं वच ॥१०९॥'–याज्ञवल्क्यस्मृति, पृ० ३४। उक्षो वृषभ। ५ छाग। ६ हिंस्यते। ७ 'ओषध्य पक्षिणस्तथा। प्राप्नुवन्त्युत्सृती पुन ॥ ४० ॥ –मनुस्मृति अ० ५।

मानवं व्यासवासिष्ठं वचनं वेदसंयुतम् ।
अप्रमाणं तु यो ब्रूयात् स भवेद्ब्रह्मघातकः ॥४०२॥
[1]पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥४०३॥

इति मनु मरीचि-मतङ्गप्रभृतयश्च स्वधर्मकारमन्त्रविद्धगजवाजिप्रभृतीन्देहिनो जुह्वति। एवं श्रुतिधर्मोपासिष्वसिजीवोपजीविनामीतीः पर्वतो व्यपोहति। कालासुरः पुनरासन्नमानान् प्राणिनः साक्षाद्विमानारूढान्स्वर्गे सायं प्रयान्तो दर्शयति। मनुप्रमुखाश्च मुनयः प्रमाणयन्ति। एवं मायामयविविधविमानारोपणप्रवेशादिलोभे सञ्जाते सकलजनलोके समस्तासन्ननरकनगराः नगरः, स च स्वभावविभ्रमोचितस्थितिर्विश्वभूतिस्तत्पुरोहितश्चोभौ तान्सत्त्वान् हत्वा पलाला च दुरन्तदुरितविपन्नचेतसौ महाभिमानात्कालासुरेण स्मारितपूर्वभवागसौ प्रीतिहोमाहु तैर्यथाविधिविधयपरद्दसौ विधिवन्माया परितप्या प्राचीनो दुष्कर्मपुमन्तरं तमसमगाताम्। पर्वतोऽप्यन्नायीपतिविवरे जठरेषणक्षये च हव्यकव्यकर्मभिः समाचरितसमस्तसत्त्व-संहारः कालासुरविरोधानविधुरविधिसारस्तद्विपाकाद्दशोकशोषितः कृशकायशरीरः कालेन क्षीणजीवितप्रचारः सप्तमरसातलः समपादि।

मनु, व्यास, वसिष्ठ आदि ऋषियोंके वचनोंको और वैदिक वचनोंको जो अप्रमाण बतलाता है वह ब्रह्मघाती है ॥४०२॥ पुराण मानवधर्म मनुस्मृति, साङ्गवेद और आयुर्वेद ये चार स्वयं प्रमाण हैं। इन्हें युक्तियोंसे खण्डित नहीं करना चाहिए ॥४०३॥ इस तरहकी आज्ञाएँ पर्वत देता था। और मनु, मरीचि, मतङ्ग आदि ऋषि 'स्वाहा' शब्दके साथ बकरा, हिरन, हाथी घोड़ा वगैरह प्राणियोंसे होम करते थे। इस प्रकार वेदसे जीविका करनेवाले ब्राह्मणोंमें, शस्त्रसे जीविका करनेवाले क्षत्रियोंमें, व्यापारसे जीविका करनेवाले वैश्योंमें और खेती आदिसे जीविका करनेवाले कृषकोंमें कालासुरने जो बीमारियाँ फैलायी थीं उन्हें पर्वत दूर करता था और कालासुर मारे गये प्राणियोंको अपनी मायाके द्वारा विमानमें सवार कराकर स्वर्गको जाते हुए दिखाता था। मनु वगैरह मुनि इससे दूसरोंको प्रभावित करते थे। इस प्रकार जब सब लोगोंमें मायाके द्वारा दिखलाये गये स्वर्ग गमनके लोभसे हलचल मच गयी तो नरकगामी सगर और विश्वभूति पुरोहितने भी कालासुरके उपदेशसे बहुतसे प्राणियोंका वध किया और उन्हें खाया। इससे उनका चित्त पापमें लिप्त हो गया। फिर कालासुरने उन दोनोंके पूर्व जन्ममें किये गये अपराधका स्मरण कराकर यज्ञके बहानेसे उन दोनोंको यज्ञकी अग्निमें होम दिया और वे दोनों मरकर तीसरे नरकमें चले गये। पर्वतने भी अग्निको तिरस्कृत करनेवाली अपनी जठराग्निमें देवताओं और पितरोंकी तृप्तिके बहाने समस्त प्राणियोंका संहार कर डाला। कालासुर तो अपना काम करके अन्तर्धान हो गया। अतः उसके बिना उसकी सब विधि फीकी पड़ गयी। कालासुरके विरह रूपी संतापके शोकसे उसकी दशा शोचनीय हो गयी। क्षयरोगसे उसका शरीर कृश हो गया। अन्तमें मरकर वह सप्तम नरकमें उत्पन्न हुआ।

१ मनुस्मृति १२ ११। २ स्वाहाशब्दितम्। ३ भुक्तजीविनां विप्राणां शस्त्रजीविनां क्षत्रियाणां वाणिज्यकृषिजीविनां वणिजां या ईतयः कालासुरेण मायया कृताः ताः पर्वतः कालासुरमायया स्फेटयति। ४ द्रियमाणान्। ५ मायया। ६ प्रमाणतां नयन्ति। ७ समीपनरकनगराः। ८ कालासुर। ९ पतितात्मा। १० पुरोहितः दुरन्तपापरतौ। ११ अग्नि। १२ बाहुल्यप्रमाणात्। १३ दीपकरम्। १४ परिणामेन मन्दमन्दमहिम्न (?)। १५ वर्गो। १६ अग्निनिरस्कारके। १७ उदराग्नौ। १८ देवदेव। १९ पितृदेव। २० सोमाग्नि। २१ क्षीण। २२ मन्त्रमपुष्टिदी। २३ संजात।

भवति चात्र श्लोक.—

मृषोद्यादीनवोद्योगात्पर्वतेन समं वसुः ।
जगाम जगतीमूलं ज्वलदातङ्कपावकम् ॥४०४॥

इत्युपासकाध्ययने असत्यफलसूचनो नाम त्रिंशत्तमः कल्पः ।

वधूवित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने ।
माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे ॥४०५॥
धर्मभूमौ स्वभावेन मनुष्यो नियतस्मरः ।
यज्जात्यैव पराजातिबन्धुलिङ्गिस्त्रियस्त्यजेत् ॥४०६॥
रक्ष्यमाणे हि वृहन्ति यत्राहिंसादयो गुणा ।
उदाहरन्ति तद्ब्रह्म ब्रह्मविद्याविशारदा ॥४०७॥

इसके विषयमे एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'झूठ बोलनेके दोषके कारण पर्वतके साथ वसु भी सातवें नरकको गया, जहाँ सदा सताप-रूपी अग्नि जलती रहती है ॥४०४॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें असत्यके फलका सूचक तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब ब्रह्मचर्याणुव्रतका वर्णन करते है—]

अपनी विवाहिता स्त्री और वेश्याके सिवा अन्य सब स्त्रियोंको अपनी माता बहिन और पुत्री मानना ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥४०५॥

विशेषार्थ—सब श्रावकाचारोंमें विवाहिताके सिवा स्त्री मात्रके त्यागीको ब्रह्मचर्याणुव्रती बतलाया है। परनारी और वेश्या ये दोनों ही त्याज्य है। किन्तु प० सोमदेवजीने अणुव्रतीके लिए वेश्याकी भी छूट दे दी है। न जाने यह छूट किस आधारसे दी गई है ?

धर्मभूमि आर्यखण्डमें स्वभावसे ही मनुष्य कम कामी होते है। अत अपनी जातिकी विवाहित स्त्रीसे ही सम्बन्ध करना चाहिए और अन्य कुजातियोंकी तथा बन्धु-बान्धवोंकी स्त्रियोंसे और व्रती स्त्रियोंसे सम्बन्ध नहीं करना चाहिए ॥४०६॥

जिसकी रक्षा करने पर अहिंसा आदि गुणोंमें वृद्धि होती है उसे ब्रह्मविद्यामें निष्णात विद्वान् ब्रह्म कहते है ॥४०७॥

---

१ आदीनवं दोप । २ परिणीता अवधृता च । ३ स्त्रीजने । ४ 'न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् । सा परदारनिवृत्ति स्वदारसन्तोपनामाऽपि ॥५९॥' —रत्नकरण्ड श्रा० । 'उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनाया सङ्गान्निवृत्तरतिर्गृहीति चतुर्थमणुव्रतम् ।'—सर्वार्थसिद्धि ७, २० । 'ये निजकलत्रमात्र परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात् । निशेपशेषयोषिन्निषेवण तैरपि न कार्यम् ॥११०॥' —पुरुषार्थसि० । विवाहिता वा यदि वा विरुद्धा भजेदुदीर्णे मदनेऽथ वेश्याम् । विवर्जयेत् स्वामपि किन्त्वकाले स्वदारसन्तोप-पर मदैव ॥२१॥ —धर्मर०, प० ९२ उ० । स्वसृमातृदुहितृसदृशी दृष्ट्वा परकामिनी पटीयास । दूर विवर्जयन्ते भुजगीमिव घोरदृष्टिविपाम् ॥६४॥ —अमित० श्रा०, ६ प० । 'सोऽस्ति स्वदारसन्तोषी योऽन्यस्त्रीप्रकटस्त्रियौ । न गच्छत्यहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा ॥ ५२ ॥' —सागारधर्मा०, ४ अ० । ५ आर्यखण्डे । ६ अल्पकाम । ७ यस्मात् । स्वजात्या परिणीतया सह सभोग कार्य । ८ परा चासौ अजाति पराजाति परकीयजातिस्त्री । ९ 'अहिंसादयो धर्मा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म ।' —सर्वार्थसि० ७–१६ ।

मदनोद्दीपनैर्वृत्तैर्मदनोद्दीपनै रसैः ।
मदनोद्दीपनैः शास्त्रैर्मदमात्मनि नाचरेत् ॥४०८॥
[1]इन्धनैरिव हुतभीतिः [2]पाथोभिरिव नीरधिः ।
[3]तोषमेति पुमानेष न भोगैर्भवसम्भवैः ॥४०९॥
[4]विषवद्विषया पुंसामापाते मधुरागमाः ।
अन्ते विपत्तिफलदास्तत्सतामिह को ग्रहः ॥४१०॥
[5]चाटुस्तास्ताः क्रियाः कुर्वन्नरः सङ्कल्पसम्भवान् ।
[6]मायासायेव निर्वाति क्लेशस्तत्राधिकः परम् ॥४११॥
[7]निकामं कामकामात्मा तृतीयां[8] प्रकृतिमर्भवेत् ।
अनन्तवीर्यपर्यायस्तत्स्त्रीमाररतसेवने ॥४१२॥
सर्वा क्रियानुलोमा स्यात्फलाय हितकामिनाम् ।
अपरत्रार्थकामाभ्यां [9]यतो न स्तां तदर्थिषु ॥४१३॥
[10]क्षयामये समः कामः सर्वदोषोदयद्युतिः ।
[11]उत्सृष्टे तत्र मर्त्यानां कुतः श्रेयः समागमः ॥४१४॥
[12]देहद्रविणसंस्कारसमुपार्जनवृत्तयः ।
जितकामे वृथा सर्वास्तत्कामः सर्वदोषभाक् ॥४१५॥

अतः कामोद्दीपन करनेवाले कार्योंसे, कामोद्दीपन करनेवाले रसोंके सेवनसे और कामोद्दीपन करनेवाले शास्त्रोंके श्रवण या पठनसे अपनेमें कामका मद नहीं लाना चाहिए ॥४०८॥

जैसे ईंधनकी सामग्रीसे अग्नि और जलसे समुद्र कभी तृप्त नहीं होते। वैसे ही यह पुरुष सांसारिक भोगोंसे कभी तृप्त नहीं होता ॥४०९॥ ये विषय विषके तुल्य हैं। जब खाते हैं तो मिष्ट लगते हैं किन्तु अन्तमें विपत्तिको ही लाते हैं। अतः सज्जनका विषयोंमें आग्रह कैसे हो सकता है ॥४१०॥ तरह-तरहकी चाटु क्रियाओंको करता हुआ कामी मनुष्य रति सुखके मिलने पर ही सुखी होता है। किन्तु इसमें क्लेश ही अधिक होता है सुख तो नाम मात्र है ॥४११॥ जो अत्यन्त कामासक्त होता है वह निरन्तर कामका सेवन करनेसे नपुंसक हो जाता है और जो निरन्तर ब्रह्मचर्यका पालन करता है वह अनन्त वीर्यका धारी होता है ॥४१२॥ जो अपना हित चाहते हैं उनकी सब अनुलोम क्रियाएँ फलदायक होती हैं। किन्तु अर्थ और कामको छोड़कर। क्योंकि जो अर्थ और कामकी अभिलाषा करते हैं उन्हें अर्थ और कामकी प्राप्ति नहीं होती, अतः उन्हें अर्थ और कामकी प्राप्ति होने पर भी सदा असन्ताप ही रहता है ॥४१३॥ काम क्षय रोगके समान सब दोषोंको उत्पन्न करता है। उसका आधिक्य होने पर मनुष्योंका कल्याण कैसे हो सकता है? ॥४१४॥

जिसने कामको जीत लिया उसका देहका संस्कार करना धन कमाना आदि सभी व्यापार व्यर्थ हैं; क्योंकि काम ही इन सब दोषोंकी जड़ है ॥४१५॥

१ देवेन्धनाग्नी। 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।' २ अग्निर्न तोयमेति। ३ जले। ४ 'किंपाकफलसम्भोगसन्निभं तद्धि मैथुनम्। आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ॥१॥' –ज्ञानार्णव पृ० ११४। ५ रतिरसप्राप्त्यैव सुखी भवति किन्तु तत्र सुखं स्तोकम्। ६ अतीव कामेच्छावान्। ७ नपुंसकः। ८. ब्रह्मचर्यस्य। ९. 'यतःअर्थकामाभिलाषिणो न स्तां न भवेताम्। केषु? तदर्थिषु अर्थकामाभिलाषिषु। कोऽर्थः? तेषु तृप्तिर्न भवतीति भावार्थः। १० क्षयरोगसदृशः। ११ आधिक्ये। १२ देहस्य संस्कारवृत्तिः द्रविणस्योपार्जनवृत्तिः।

स्वाध्यायध्यानधर्माद्या क्रियास्तावन्नरे कुतः ।
ईद्धे[1] चित्तेन्धने यावदेष कामाशुशुक्षणिः[2] ॥४१६॥
ऐदम्पर्यमतो[3] मुक्त्वा भोगानाहारवद्भजेत् ।
देहदाहोपशान्त्यर्थमभिध्यानविहानये ॥४१७॥
परस्त्रीसंगमानङ्गक्रीडान्योपयमक्रियाः[4] ।
तीव्रतारतिकैतव्ये[5][6] हन्युरेतानि तद् व्रतम्[7] ॥४१८॥
मद्य द्यूतमुपद्रव्यं[8] तौर्यत्रिकमलंक्रियाः[9] ।
मदो विटा[10] वृथाटयेति[11] दशधानङ्गजो गणः ॥४१९॥
हिंसनं साहसं द्रोह पौरो[12] भाग्यार्थदूपणे ।
ईर्ष्या वाग्दण्डपारुष्ये कोपजः स्याद्गणोऽष्टधा ॥४२०॥
ऐश्वर्यौदार्यशौण्डीर्यधैर्यसौन्दर्यवीर्यता ।
लभेताद्भुतसञ्चाराश्चतुर्थव्रतपूतधीः ॥४२१॥

जबतक चित्तरूपी ईंधनमें यह कामरूपी आग धधकती है तबतक मनुष्य स्वाध्याय, ध्यान, धर्माचरण आदि क्रिया कैसे कर सकता है ? ॥४१६॥ अत· कामुकताको छोडकर शारीरिक सन्तापकी शान्तिके लिए और विषयोंकी चाहको कम करनेके लिए आहारकी तरह भोगोंका सेवन करना चाहिए ॥४१७॥ परायी स्त्रीके साथ सगम करना, काम सेवनके अगोंसे भिन्न अगोंमें काम-क्रीडा करना, दूसरोंके लडकी-लडकोंका विवाह कराना, कामभोगकी तीव्र लालसाका होना और विटत्व, ये बातें ब्रह्मचर्यव्रतको घातनेवाली हैं ॥४१८॥ शराब, जुआ, मास मधु, नाच, गाना और वादन, लिंगपर लेप वगैरह लगाना, शरीरको सजाना, मस्ती, लुच्चापन और व्यर्थ भ्रमण, ये दस कामके अनुचर है ॥४१९॥

हिंसा, साहस, मित्रादिके साथ द्रोह, दूसरोंके दोष देखनेका स्वभाव, अर्थदोष अर्थात् न ग्रहण करने योग्य धनका ग्रहण करना, और देयधनको न देना, ईर्ष्या, कठोर वचन बोलना और कठोर दण्ड देना ये आठ क्रोधके अनुचर हैं ॥४२०॥

ब्रह्मचर्याणुव्रती अद्भुत ऐश्वर्य, अद्भुत उदारता, अद्भुत शूर-वीरता, अद्भुत धीरता, अद्भुत सौन्दर्य और अद्भुत शक्तिको प्राप्त करता है ॥४२१॥

---

१ ज्वलति । २ कामाग्नि । 'श्रुत सत्य तप शील विज्ञान वृत्तमुत्तमम् । इन्धनीकुरुते मूढ प्रविश्य वनितानले ॥२२॥ –ज्ञानार्णव पृ० १६१ । ३ आसक्तिम् । 'भजेद्देहमनस्तापशमान्त स्त्रियमन्नवत् । क्षीयन्ते खलु धर्मार्थकामास्तदतिसेवया ॥२९॥ –सागारधर्मा० अ० ३ । 'स्मरदोषास्पद बुद्ध्वा स्वस्त्रीमन्नवदाश्रयेत् । देहदाहोपशान्त्यर्थं दुर्ध्यानस्यापि हानये ॥ ९८ ॥ –प्रबोधसार । ४ परविवाहकरणम् । ५. विपुलतृपा । ६ विटत्वम् । ७ ब्रह्मचर्यम् । 'परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशा ॥२८॥–तत्त्वा० सू०, अ० ७ । 'अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषा । इत्वरिकागमन चास्मरस्य पञ्च व्यतीचारा ॥६०॥ –रत्नकरण्ड श्रा० । 'स्मरतीव्राभिनिवेशानङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम् । अपरिगृहीततरयोर्गमने चेत्वरिकयो पञ्च ॥१८६॥ –पुरुषार्थसि० । अमित० श्रा० ७, ६ । सागारधर्मा० ४, ५८ । ८ मास मधु । ९ यन्त्रलिङ्गलेपादिप्रयोग । १० एवमेव विहरणम् । ११. 'मृगयाऽक्षो दिवा स्वप्न परिवाद स्त्रियो मद । तौर्यत्रिक वृथाटया च कामजो दशको गण ॥ ४७ ॥ –मनुस्मृति अ० ७ । १२. पौरे भा–आ० मु० । पौरभा–ज० । पौरोभाग्यम्–असूयकत्वम् । 'पैशुन्य साहस द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् । वाग्दण्डज च पारुष्य क्रोधजोऽपि गणोऽष्टक ॥ ४८ ॥–मनुस्मृति अ० ७ ।

अनङ्गानलसंलीढे परस्त्रीरतिचेतसि।
सद्यस्का विपदो ह्यत्र परत्र च दुरास्पदाः ॥४२२॥

श्रूयतामत्राब्रह्मफलस्योपाख्यानम्—काशिदेशेषु सुरसुन्दरीसपत्नपौराङ्गनाजनविनोदावधिम्बसरस्यां वाराणस्यां सपादितसमस्तारातिसंततामप्रकर्षैककर्षणो धर्मध्वजो नाम नृपतिः। अस्यातिचिरप्ररूढप्रणयसहकारमञ्जरी सुमञ्जरी नामाग्रमहादेवी। पञ्चतन्त्रादिविद्याभ्यस्तवचन उग्रसेनो नाम सचिवः। पतिहितैकमनोमुद्रा सुमुद्रा नामास्य पत्नी। दुर्विलासरसरसिकः कडारपिङ्गो नामानयो सुतः। अनवद्यविद्यापदेशप्रकाशिताशेषशिष्यः पुष्पो नाम पुरोहितः। गौरूप्यातिशयापहसितपद्मा पद्मा नामास्य धर्मपत्नी। समस्ताभिजातजनवाच्यव्यवहारानुगः स कडारपिङ्गः स्यापतेयताच्यमप्रमत्तमानसावाप्यतादुराशपनमध्वेन विटगोष्ठ्येन सह मन्मथविभ्रमाभ्यर्थ्यमानमुखाक्षातिथिषु वीथिषु संचरमाणस्तामेकदा प्रासादतलोपसङ्गामगोल-पक्ष्मेक्षणाक्षिप्तपद्मां पद्मामवलोक्य

'पर्येन्द्रियद्रुमसमुल्लसनाम्बुवृष्टि-
रेषा मनोमृगविनोदविहारभूमिः।
पपा स्मरद्विरदबन्धनवारिवृत्तिः
किं खेचरी किममरी किमियं रतिर्वा ॥४२३॥

जिसका कामरूपी अग्निसे चेष्टित चित्त पर-नारीसे रति करनेमें आसक्त है उसे इसी जन्ममें तत्काल विपत्तियाँ उठानी पड़ती हैं और परलोकमें भी कठोर विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है ॥४२२॥

दुराचारके फलके सम्बन्धमें एक कथा सुनें—

१६ दुराचारी कडारपिंगकी कथा

काशी देशमें वाराणसी नामकी नगरी है। उसमें धर्मध्वज नामका राजा राज्य करता था। सुमञ्जरी नामकी उसकी पटरानी थी, और उग्रसेन नामका मन्त्री था। मन्त्रीकी पत्नीका नाम सुमुद्रा था और पुत्रका नाम कडारपिंग था। वह बड़ा विलासी था। राजपुरोहितका नाम पुष्प था और उसकी पत्नीका नाम पद्मा था।

मन्त्रीपुत्र कडारपिंग कुलीन पुरुषोंके न करने योग्य काम करता था। एक दिन वह धन और भवानीके मदसे मस्त होकर अश्लील बात चीत करते हुए कामीजनोंके साथ उन गलियोंमें घूमता था जहाँ स्त्रियोंके विभ्रमसे आमन्त्रित होकर विलासी जन आतिथ्य ग्रहण करते हैं। उसने महलके ऊपर अपने सुन्दर नयनोंसे कमलको तिरस्कृत करनेवाली पद्माको देखा। वह सोचने लगा—

इन्द्रियरूपी वृक्षकी वृद्धिके लिए जलवृष्टि मनरूपी मृगके विनोदके लिए क्रीडाभूमि और कामरूपी हाथीको बाँधनेके लिए साँकलके समान यह कौन है? कोई विद्याधरी है या देवाङ्गना है अथवा रति है? ॥४२३॥

---

१ तिरस्कृतपद्मा। २ विटसमूहेन। ३ कामिजन। ४ गताम्। ५ जलार्थ बाद वृष्टिर्वा। ६ विषम्।

इति च विचिन्त्य मकरकेतुवशव्यापारनिधिः प्रवृत्तदुरभिसन्धिः पुरुषप्रयोगेणाभिमतसिद्धिमनवबुध्यमानः पराशयशैलविदारणतडिल्लतामिव तडिल्लता नाम धात्रीं अपवर्दीणे शरणे सुनयायतनपतनादिभिः पादपतनादिभिः प्रश्रयैरसदाशयाश्रयैरवन्ध्यसाध्यमुपरुध्य स्वकीयाकूतकान्तारप्रवर्धनधरित्रीमकरोत्।

तदुपरोधात्तथाविधविधिविधात्री धात्री—(स्वगतम्) 'परपरिग्रहोऽन्यतरानुरागग्रहश्चेति दुर्घटप्रतिभासः खलु कार्योपन्यासः। अथवा सुघट एवायं कार्यघटः। यतस्तप्तातप्तवयसोरयसोरिव चेतसोः साङ्गत्याय खलु पण्डितैर्दौत्यं दौत्यमन्यथा सरंसतरसोरम्भसोरिव द्वयोरपि द्रवस्वभावयोरेकीकरणे किं नु नाम प्रतिभाविजृम्भितम्। किं च।

सा दूतिकाभिमतकार्यविधौ बुधानां
चातुर्यवर्यवचनोचितचित्तवृत्तिः।
या चुम्बकोपलकलेव हि शल्यमन्तश्चेतोनिरूढमपरस्य बहिष्करोति ॥४२४॥

तदलं विलम्बेन। परिपक्वफलमिव न खलु व्यतिक्रान्तकालमदः सरसतामधिष्ठानमनुष्ठानम्। किं त्वस्य साहसावलम्बनधर्मणः कर्मणः सिद्धावसिद्धौ वा दैवात्परेङ्गिताकारसर्वज्ञे प्राज्ञे कथमपि बहुजनावकाशे कृते सति पुरश्चारी हि शरीरी भवति दुरपवाद-

ऐसा विचारते हुए उसने कामसे पीडित होकर दुष्ट संकल्प किया। बलात्कारके द्वारा अपने मनोरथकी सिद्धि न होती जानकर उसने दूसरेके अभिप्रायरूपी पर्वतको भेदनेमें बिजलीकी तरह कुशल तडिल्लता नामकी धायको उसके पास भेजनेका विचार किया। और एकान्त गृहमें नीतिवानोंको भी मार्ग भ्रष्ट करनेवाले पैरों पर गिरना आदि दुर्जनोंके द्वारा आश्रय की जानेवाली विनयके द्वारा उसे अपना मनोरथ सिद्ध करनेके लिए तैयार किया।

उसके अति आग्रहसे उस कार्यका भार लेकर धाय सोचने लगी—'पर-नारी और किसी दूसरेके प्रेमको जुटानेका कार्य बड़ा कठिन प्रतीत होता है। अथवा यह कार्य सरल ही है, क्योंकि तपे हुए और बिना तपे हुए लोहोंके समान दो चित्तोंको मिलानेके लिए पंडित जन जो कुछ प्रयत्न करते हैं वही तो वास्तवमें दौत्य है। अन्यथा वेगसे बहनेवाले दो जलोंकी तरह दो तरल हृदयोंको मिलानेमें क्या बुद्धिमानी है?' तथा

वही दूती इष्ट कार्यको करनेमें चतुर कहलाती है, जो चुम्बक पत्थरकी तरह दूसरेके मनके भीतरके शल्यको बाहर निकाल लेती है ॥४२४॥

अतः इस कार्यमें देरी नहीं करनी चाहिए। जैसे समय बीत जानेपर पका फल भी सरस नहीं रहता वैसे ही समय बीत जानेपर सुकर काम भी दुष्कर हो जाता है। किन्तु यह कार्य बड़े साहसका है भाग्यवश यह सिद्ध हो या न हो किन्तु दूसरेके अभिप्रायको जाननेमें सर्वज्ञ विद्वान् भी यदि ऐसे कार्यको बहुतसे मनुष्योंके सामने करें तो दूत निन्दाका पात्र तो बनता ही है, साथ

---

१ बलात्कारेण। २ —मतकार्यघटनासिद्धि—आ०। ३ विद्युत्। ४ न सन्ति षट् अक्षीणि यत्र—तृतीयागोचरे। ५ गृहे। ६ सुनयायतनस्य पतनं गमनमदन्ति विनाशयन्तीत्येवं शीलानि तैः। ७ विनयैः। ८ सफलं। अवन्ध्यसाध्यमिति क्रियाविशेषणम्। ९ अभिप्रायवनं। १० भूमिप्रायाम्। ११ तस्याग्रहात्। १२ कर्त्री। १३ कलत्रम्। १४ यत् क्रियते तदेव दूतत्वम्। १५ द्रवीभूतवेगयोः। १६ चुम्बकपाषाणः। १७ पक्षे लोहादिकम्। १८ कार्यम्। १९ यथा पक्वं फलं अतीतकालं सरसं न भवति। २० दूतः।

परागावसरो व्यसनगोचरस्य । तद् व्यर्थपेयमिदमवसेयमद्वितीयापत्यप्रसयाय सचिवाय । तदुदाहरन्ति च चाणक्येय मतुः किञ्चिदारम्भं कुर्यादन्यत्रापत्प्रतीकारेभ्य इति । (प्रकाशम्) 'प्राणप्रियैकापत्य अमात्य, ईदृश एव ननु मयाद्यजोऽपि जनो जातको जीवितामृताभिषेकाय अचिरस्य यत्नं कर्तुमर्हति ।

अमात्यः—'समस्तमनोरथसमर्पणकथास्मार्ये आर्ये, तज्जीवितामृताभिषेकाय मज्जीवितोचितविवेकाय च तवमयत्नेव प्रभवति ।

धात्री—'अथ किम् । तथाप्यबलाजनमनोतिरिक्तमतिमावता तत्रभवतापि प्रतियतितव्यम् । इत्यभिधाय धृतकात्योपयिनीप्रतिकर्मा करतलामलकमिवाकलितसकलश्रेणधर्मा तैस्तैः परचित्ताकर्षणमन्त्रैर्वचनैश्चक्षुश्चेतोह्लादकैर्वस्तुभिश्च मतिचिरायाचरितोपचारा परिमासप्रणयप्रसरावतारा च एकदा मुदा रहसीमं प्रस्तुतकार्यघटनासमसीमं तां पुण्यकान्तामुद्दिश्य श्लोकमुदाहार्षीत् ।

'स्त्रीषु धन्यात्र गङ्गैव परभोगोपगापि या ।
मणिमालेव सोल्लासं ध्रियते मूर्ध्नि शम्भुना ॥४२५॥'

भट्टिनी—(स्वगतम्) इत्वरीजनाचरणहर्म्यनिर्माणाय प्रथमसूत्रपात इवायं वाक्यो-

---

ही साथ मुसीबतमें भी पड़ जाता है। इसलिए यह काम केवल एक ही पुत्रवाले मन्त्रीसे कह देना चाहिए, कहा भी है कि स्वामीसे निवेदन किये बिना सेवकको कोई भी काम नहीं करना चाहिए। हाँ, यदि कोई आपत्ति आ जाये तो उसका प्रतीकार स्वामीसे बिना कहे भी किया जा सकता है।'

ऐसा मनमें सोचकर धाय मन्त्रीसे बोली—

'मंत्री जी! आपका यह प्राणप्रिय इकलौता लड़का है। आप भी पहले ऐसे ही थे। इसलिए पुत्रके जीवनको बचानेके लिए आपको शीघ्र प्रयत्न करना चाहिए।'

मंत्री—आर्ये! मेरे और मेरे पुत्रके जीवनको बचाना आपके ही हाथ है।

धाय—सो तो है ही, किन्तु फिर भी आपकी प्रतिभा हम स्त्रियोंकी बुद्धिसे बहुत अधिक है। इसलिए आपको भी प्रयत्न करना चाहिए।

इतना कहकर धायने दासी उसकी जैसा वेश धारण किया। वह स्त्रीजनोचित सब बातोंमें बड़ी चतुर थी। उसने दूसरेके चित्तको आकृष्ट करनेवाले वचनोंसे और आँखों तथा मनको प्रसन्न करनेवाली वस्तुओंसे कुछ दिनोंमें ही पद्माको लुब्ध कर लिया। एक दिन प्रेमका जाल फैलाने का अवसर आया देखकर धायने बड़े हर्षके साथ एकान्तमें पद्माका लक्ष्य करके एक श्लोक कहा उसका भाव यह था—'इस लोककी स्त्रियोंमें गङ्गा नदी ही धन्य है जिसे सब भोगते हैं, फिर भी महादेव बड़े हर्षसे मणियोंकी मालाकी तरह उसे अपने मस्तक पर धारण करते हैं ॥४२५॥

इसे सुनकर पद्माने अपने मनमें विचारा—'इसकी यह भूमिका तो दुराचारिणी स्त्रियोंके

---

१ मूल चैव-मु० । कथयामि । २ कार्यम् । ३ आर्या वचयन्ति । ४ आपत्प्रतीकारं स्वामिनोऽनिवेद्यापि करणीयं अन्यत्कार्यं वचनीयमिदमर्थं । ५. पूर्वं त्वमपीदृशोऽभूः इति भावः । ६. पुत्रजीवितमेवामृतं तस्सेचनाय । ७ त्वमेव । ८ समर्था । ९. अर्थपृष्टा । १ वचने । ११ वास्तुभिर्वस्तुभिश्च च ।

[1]पोद्घातः। तथा चाह येयं[2] तावदेतदाकूतपरिपाकम्[3]। (प्रकाशम्।) आर्ये, किमस्य सुभाषितस्य ऐदम्पर्यम्[4]।

धात्री—परमसौभाग्यभागिनि भट्टिनि, जानासि एवास्य सुभाषितस्य [5]कैम्पर्यम्, यदि न वज्रघटितहृदयासि।

भट्टिनी—(स्वगतम्) सत्यं वज्रघटितहृदयाहम्, यदि भवत्प्रयुक्तोपघातघण[6]-जर्जरितकाया न भविष्यामि। (प्रकाशम्) आर्ये, हृदयेऽभिनिविष्टमर्थं श्रोतुमिच्छामि।

धात्री—वत्से, कथयामि। किं तु।

'चित्त द्वयो पुरत एव निवेदनीयं
ज्ञानाभिमानधनधन्यधिया[7] नरेण।
यः प्रार्थितं न [8]रहयत्यभियुज्यमानो[9]
यो वा भवेन्ननु जनो मनसोऽनुकूलः ॥४२६॥

भट्टिनी—(स्वगतम्) अहो नभः[10]प्रकृतिमपीयं पङ्कैरुपलेप्तुमिच्छति। (प्रकाशम्) आर्ये, [11]उभयत्रापि समर्थाहं न चैतन्मदुपज्ञं[12] भवदुपक्रमं वा।

धात्री—(स्वगतम्) [13]अनुगुणेय खलु कार्यपरिणतिः, यदि निकटतटतन्त्रस्य वहित्रपोत्र[14]स्येव [15]दुर्वातालीसन्निपातो न भवेत्। (प्रकाशम्) अत एव भद्रे, वदन्ति पुराणविद :—

योग्य दुराचारका महल बनानेके लिए पहली नापा-जोखी जैसी है। फिर भी जो कुछ इसने कहा है उसके अभिप्रायको परिपक्व करनेका प्रयत्न करना चाहिए।' यह सोच धायसे बोली—'माता आपके इस सुभाषितका क्या मतलब है ?'

धाय—परम सौभाग्यवती देवी यदि तुम्हारा हृदय वज्रका नहीं है तो इस सुभाषितका मतलब तुम जानती ही हो।

पद्मा—(मनमें) यदि तुम्हारे द्वारा फेंके गये इस लोह मुद्गरसे मेरा मन चूर्ण नहीं होता तो जरूर मेरा हृदय वज्रसे बना है। (प्रकाशमें) माता ! हृदयमें वर्तमान अर्थको मै तुमसे सुनना चाहती हूँ।

धाय—पुत्री ? बतलाती हूँ। किन्तु समझदार और स्वाभिमानी मनुष्यको दोके ही सामने अपने मनकी बात कहनी चाहिए। एक तो उससे, जो प्रार्थना करने पर प्रार्थनाको अस्वीकार न करे। दूसरे उससे, जो अपने मनके अनुकूल हो ॥४२६॥

पद्मा—(मनमें) देखो इसकी धृष्टता, आकाशकी तरह निर्लिप्त वस्तुको भी यह कीचडसे लीपना चाहती है। (प्रकाशमें) माता ! मै उक्त दोनों बातोंमे समर्थ हूँ। न मेरे लिए यह कोई नयी बात है और न इसमें तुम्हारा ही कुछ प्रयत्न है।

धाय—(मनमें) यदि कोई तूफ़ान न आ पहुँचे तो तटके निकट आये हुए जहाजकी तरह यह कार्य सिद्ध है। (प्रकाशमें) पुत्री ! इसीलिए पुराणकारोंने कहा है कि प्राचीनकालमें

---

१ अवतारणक्रम। २ या इयं धात्री आह। ज्ञेय आ०। ३ अभिप्रायोदय सूत्रपातसदृशम्। ४ रहस्यम्। ५ रहस्यम्। ६ -घुण-अ० ज०। ७ -न धवनधन्य- आ० ज०। ८ त्याजयति। ९ प्रार्थित। १०. आकाशस्वभावम्। ११ प्रार्थितदाने मनोऽनुकूलतायाञ्च। १२ न हि मदीय उपाधिर्न च भवदीय उद्यम किन्तु पुरैव ईदृशी गतिरस्ति। १३ अनुकूला इयम्। १४ पोतस्य। १५ वात्या।

विधुर्गुरो: कलत्रेण गौतमस्यामरेश्वरः ।
सन्तनोश्चापि धुर्मर्मा समगंस्त पुरा किल ॥४२७॥

मन्त्रिणी—मातः, एवमेव । यतः–

'स्त्रीणां वपुर्बन्धुभिरग्निसाक्षिकं परत्र विक्रीतमिव न मानसम् ।
स एव तस्याधिपतिर्मतः कृती विस्रम्भगर्भा ननु यत्र निर्वृतिः ॥४२८॥'

धात्री—पुत्रि, तर्हि श्रूयताम् । त्वं किलैकदा कस्यचित्कुसुमकिसलयनिर्मितवपुषः पुराङ्गनाजनलोचनोत्पलोत्सवामृतरोचिषः प्रासादपरिसरविहारिणी वीक्षणपथानुसारिणी सती कौमुदीव हृदयचन्द्रकान्तानन्दस्यन्दप्रदायिनी अभूः । तत्प्रभृति ननु तस्य मन्मथसुन्दरस्य पुनः प्रत्यवसितवसन्तश्रीसमागमसमयस्य पुष्पन्धयस्येव रसालमञ्जरीमिव भवतीं मधुपान्ति खलु मन्मथकरन्दास्वादनदोहदानि मितान्तं चिन्ताचक्रपरिक्रान्तं स्वान्तम्, भवत्गुणस्मरणपरिणामाधिकृतमन्तःकरणम्, अनवरतं रामणीयकानुकीर्तनसंकेतं चेतः, अपि कलत्कुसुमविलासोचितसंनिहितेऽप्यन्यस्मिन्नसताकान्ताजने महाननुबन्धः, पिशाचस्खलितस्येवास्थानानुबन्धः, सन्निपातोन्मादस्येव विचित्रोपक्रमः क्रियाप्रारम्भः, स्वकल्पगतगृहीतस्येव प्रतिवासरं कार्श्याविष्कारः, स्मराराधनप्रणीतप्रणिधानस्येवेन्द्रियेषु संजाता प्रवृत्ता प्राणेषु बाह्यभीनपथाकथा । अपि च–

'अनवरतजलार्द्रान्दोलनस्पन्दमन्दैः
प्रतिसरसमृणालीकन्दकैश्चन्दनार्द्रैः ।

चन्द्रमाने अपनी गुरुपत्नीसे, इन्द्रने गौतमकी पत्नी अहिल्यासे और महादेवने सन्तनु राजाकी पत्नीसे संगम किया था ॥४२७॥

पद्मा—माता आपका कहना ठीक है; क्योंकि बन्धु-बान्धव अग्निकी साक्षी पूर्वक स्त्रीका शरीर दूसरेको बेच देते हैं, मन नहीं। उसका पति तो वही भाग्यशाली होता है जिससे उसे विश्वासके साथ ही साथ सुरत भी मिलता है ॥४२८॥

धाय—पुत्री ! तो सुन एक दिन तू अपने महलके ऊपर घूमती थी। फूलकी पंखुड़ीकी तरह कोमल और नगरकी स्त्रियोंके नयन कुमुदोंको विकसित करनेके लिए चन्द्रमाके तुल्य किसी युवाकी दृष्टि तेरे ऊपर पड़ गयी। जैसे वसन्तका समागम होनेपर भौंरा आमकी मंजरीका रस पान करनेके लिए लालायित रहता है वैसे ही उस दिनसे कामदेवकी तरह सुन्दर वह युवा तेरे रसका पान करनेके मनोरथ बाँधता रहता है। उसी दिनसे उसका चित्त तेरे लिए चिन्तित है सदा तेरे गुणोंका स्मरण करता है तेरी सुन्दरताका बखान करता है जिससे के साथ अन्य स्त्रियोंके पास आनेपर भी उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। भूताविष्टकी तरह एक स्थानपर नहीं बैठता। पागलोंकी तरह विचित्र काम करता है। क्षयरोगके रोगीकी तरह दिन-दिन कृश होता जाता है। इन्द्रियाँ ऐसी क्षीण हो गयी हैं मानो कामदेवकी आराधनाके लिए उसने ध्यान लगाया है। आज-कलमें ही उसके प्राण पखेरू उड़ना चाहते हैं। सदा सदा जलसे भीगे हुए पंखसे

---

१ चन्द्रमाः । २ हर । ३ नाम । ४ समागत । ५ अवसरस्य । ६ आम्र । ७ –स्वादने दोहदा म द । ८ स्वान्त –आ० मु । क्षयरोग । ९ क्षीणता । १ अद्य श्वस्य वा प्राणा यास्यन्ति ।

अमृतरुचिमरीचिप्रौढितायां निशायां
प्रियसखि सुहृदस्ते किञ्चिदात्मप्रबोध'[1] ॥४२६॥'

भट्टिनी—आर्ये, किमित्यद्यापि गोपाय्यते ।

धात्री—([2]कर्णजाहमनुसृत्य) एवमेवम् ।

भट्टिनी—को दोषः ।

धात्री—कदा ।

भट्टिनी—यदा तुभ्यं रोचते ।

इतश्चानन्तरायतया [3]तनयानुमताहितमतिपाटव' सचिवोऽपि नृपतिनिवासोचितप्रचारेषु [4]वासुरेषु गुणव्यावर्णनावसरायातमेतस्य महीपतेः पुरस्ताच्छ्लोकमिममुपन्यास्थत[5]—

'राज्यं प्रवर्धते तस्य किञ्जल्पो यस्य वेश्मनि ।
शत्रवश्च क्षयं यान्ति सिद्धाच्चिन्तामणेरिव ॥४३०॥'

राजा—अमात्य, क्व तस्य प्रादुर्भूतिः, कीदृशी च तस्याकृतिः ।

अमात्य—देव, भगवतः पार्वतीपतेः [6]श्वशुरस्य मन्दाकिनीस्पन्दनिदानकन्दरनीहा[7]रस्य [8]रमणसहचरखेचरीसुरतपरिमलमत्तमत्तालिमण्डलीविलिख्यमानमरकतमणिमेखलस्य प्रालेयाचलस्य [9]वृन्दोत्पलषण्डमण्डितशिखण्डस्य रत्नशिखण्डनाम्नः शिखरस्याभ्यासे[10] नि-

---

मन्द-मन्द हवाके किये जानेसे और अत्यन्त सरस कमलोंके डोंडोंको चन्दनके रसमें भिगोकर उनका लेप करनेसे चाँदनी रातमें तेरे प्रेमीको कुछ होश होता है ॥४२९॥

पद्मा—माता! तो अब तक यह बात तुम क्यों छिपाये रहीं ?

धाय—(कानमें) । इस इस प्रकार ।

पद्मा—इसमें क्या बुराई है ?

धाय—तो कब ?

पद्मा—जब तुम चाहो ।

इधर धायका प्रयत्न चालू था उधर मन्त्री भी प्रतिदिन अपने पुत्रकी हित-कामनासे राजाके पास जाता था और राजाके महलमें रहने योग्य पक्षियोंके गुणोंका वर्णन किया करता था । एक दिन अवसर पाकर उसने राजाके सामने एक श्लोक पढ़ा । जिसका मतलब यह था कि जिस राजाके महलमें किञ्जल्प नामका पक्षी रहता है उसका राज्य बढ़ता है और सिद्ध किये गये चिन्तामणि रत्नकी तरह उससे शत्रु नष्ट हो जाते हैं ॥४३०॥

राजा—मन्त्री ! यह पक्षी कहाँ पैदा होता है और उसकी शक्ल कैसी होती है ?

मन्त्री—स्वामी ! भगवान् महादेवके श्वसुर हिमालय पर्वतकी रत्नशिखण्ड नामकी चोटीके समीपमें एक गुफा है, जिसमें सब प्रकारके पक्षी उत्पन्न होते हैं । जटायु, वैनतेय, वैशम्पायन

---

१ –प्रबोधं आ० ज० ब० । २ कर्णसमीपं शनैः कथितवती । ३ पुत्र । तयानुमता हि गता म–ब० । ४ पक्षिषु । ५ पठति स्म । ६ हिमाचलस्य । ७ हिमस्य । हिमं गलित्वा जलं भूत्वा गङ्गा वहति । ८ भर्तृसहगमन । ९ कर्णिकार । १० समीपे ।

शेषशकुन्तसंभवावहा गुहा समस्ति। यस्यां जटायु-वैनतेय-वैशम्पायनप्रभृतयः शकुन्तयः प्रादुरासन्। तस्यामेव तस्योत्पत्तिः। तां च गुहामहं पुष्पश्चानेकशो मन्दाभगवतीयात्रानुसारित्वात्साधु जानीवः। प्रतिकृतिश्चास्यानेकवर्णा मनुष्यसवर्णा च।

भूपालः—(सञ्जातकुतूहलः) अमात्य, कथं तद्दर्शनोत्कण्ठा ममाकुण्ठा स्यात्।

अमात्यः—देव, मयि पुष्पे वा गते सति।

राजा—अमात्य भवानतीव प्रवयाः। तत्पुष्पः प्रयातु।

अमात्यः—देव तर्हि दीयतामस्मै सरत्नाङ्गहारमवेकं पारितोषिकम् अगमेयं पाथेयं च।

राजा—बाढम्।

स्वामिचित्तावारश्चपुष्पः पुष्पस्तयादिष्टो गेहमागत्य 'आदेशे न विकल्पयेत्' इति मतानुसारी प्रयाणसामग्रीं कुर्वाणस्तया सतीमतपवित्रितसमया पद्मया पृष्टः—'भद्र किमकाण्डे प्रयाणाडम्बरः।

पुष्पः—प्रस्तुतमाचष्टे।

महिली—भद्र, सर्वमेतत्सचिवस्य कुटकपटचेष्टितम्।

भद्रः—महिलि किं नु खल्वेतच्चेष्टितस्यायतनम्।

महिली—प्रकान्तममापिष्ट।

भद्रः—किमत्र कार्यम्।

आदि पक्षी उसी गुफामें पैदा हुए थे। उसी गुफामें किञ्जल्प नामका पक्षी उत्पन्न होता है। उस गुफाको मैं और पुष्प अच्छी तरह जानते हैं क्योंकि हम दोनों भगवती मन्दाकी यात्रा करने गये थे। उसका आकार मनुष्यकी तरह होता है और वह अनेक रंगका होता है।

राजा—(बड़े कौतूहलसे) मंत्री! उसके दर्शनकी मेरी अभिलाषा कैसे सफल हो?

मन्त्री—स्वामी! मेरे या पुष्पके जानेसे आपकी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है।

राजा—मन्त्री! तुम बहुत वृद्ध हो इसलिए पुष्पको भेज दो।

मन्त्री—स्वामी! तो पुष्पको उत्तम रत्नजड़ित कंकण पारितोषिकमें दीजिए और रास्तेके लिए बहुत-सी आवश्यक सामग्री भी।

राजा—अच्छा।

आज्ञा पाकर पुष्प घर आया। उसका मत था कि आज्ञामें संकल्प विकल्प नहीं करना चाहिए। अतः आते ही जानेकी तैयारी करने लगा। पतिव्रता पद्माने यह देखकर पूछा—'स्वामी! यह असमयमें जानेकी तैयारी क्यों?'

पुष्प—प्रस्तुत बातको कहता है।

पद्मा—यह सब कपटी मन्त्रीका जाल है।

पुष्प—ऐसा करनेका कारण क्या?

पद्माने सब कुछ कह सुनाया।

पुष्प—फिर अब क्या करना चाहिए?

---

१ गुहायाम्। २-३ किञ्जल्पादिप। ४ जनाना। ५ वद्धः। ६ वन्दूपम्। ७ प्रचुरम्। ८ तदा दिष्टो आ। ९ कारणम्।

भट्टिनी—कार्यमेतदेव। दिवा सप्रकाशमेतस्मात्पुरात्प्रस्थाय निशि निभृतं च प्रत्यावृत्य अत्रैव महावकाशे निजनिवासनिवेशे सुखेन वस्तव्यम्। उत्तरत्राहं जानामि।

भट्टः—तथास्तु।

ततोऽन्यदा तया परनिकृतिपात्र्या धात्र्या [2]सदुराचाराभिषङ्गः कडारपिङ्ग सुप्तजनसमये समानीतः 'समभ्यसतु तावदिहैवेयमयं[3] च महीमूलं यियासु. पातालावासदुःखम्' इत्यनुध्याय तया पद्मया [4]महावर्तस्य गर्तस्योपरि कल्पितायामवानायां खट्वायां क्रमेणोपवेशितवपुषौ तौ द्वावपि दुरातङ्कावन्ध्ये श्वभ्रमध्ये विनिपेततु। अनुबभूवतुश्च निखिलपरिजनोच्छिष्टसिक्थजीवनौ कुम्भीपाकोपक्रमं षट्समाशाखान्दुःखक्रमम्।

पुनरेकदा 'स्वाम्यादेशविशेषविदुष्य. पुष्य. तथाविधपक्षिप्रसवसमर्थपक्षिणीसहितं कृतपञ्जरपरिकल्पं किञ्जल्पमादाय आगच्छंस्त्रिचतुरेषु वासरेष्वस्यां पुरि प्रविशति' इति प्रसिद्धम्। प्रवर्तिनी भट्टिनी विविधवर्णविडम्बितकायेन चटकचकोरचापचातकादिछदच्छादितप्रतीकनिकायेन पञ्जरालयेन तद्द्वयेन सह चिरप्रवासोचितवेषजोष्यं[7] पुष्यं पुरोपवने विनिवेश्य भट्टोद्भूतारम्भसंभाषणसनाथसखीजनसंकल्पा धृतप्रोपितभर्तृकाकल्पाभि[9]मुखमयासीत्। अपरेद्युः स निखिलगुणविशेष्य. पुष्य. पृथिवीपतिभवनमनुगम्य 'देव, अयं स किञ्जल्पः पक्षी, इयं च तत्प्रसवित्री पतत्रिणी च' इत्याचरत।

पद्मा—यही करना चाहिए कि दिन चढ़नेपर इस नगरसे प्रस्थान करो और रातमें चुपचाप लौट कर अपने इसी बड़े मकानके किसी एक हिस्सेमें सुखसे निवास करो। आगे जो करना है वह मैं कर लूँगी।

पुष्य—ठीक है।

दूसरे दिन जब सब सो गये तो वह ठगनी धाय उस दुराचारी कडारपिंगको लेकर आयी। उधर पद्माने यह सोचकर कि 'ये दोनों नरकगामी इसी जन्ममें नरकके दुःखोंको सहनेका अभ्यास क्यों न करें' अपने घरमें एक खूब गहरा गढ़ा खुदवाकर उसके ऊपर बिना बुनी खाट बिछा दी और खाटपर एक कपड़ा डाल दिया। वे दोनों जैसे ही उस खाटपर बैठे दोनों उस गड्ढेमें गिर गये। और छह मासतक सबका झूठा भात खाकर नरकके समान दुखोंको भोगते रहे।

एक दिन सारे नगरमें यह बात फैल गयी कि स्वामीकी आज्ञाका पालक पुष्य एक पिंजरेमें किञ्जल्प पक्षीको और इस प्रकारके पक्षीको जन्म दे सकने वाली पक्षिणीको लेकर आ रहा है और तीन चार दिनमें वह इस नगरमें प्रवेश करेगा। उधर पद्माने उन दोनोंके शरीरोंको अनेक रंगोंसे रँगा और चिड़िया, चकोर, नीलकण्ठ, चातक आदि पक्षियोंके पर उनपर चिपका दिये। तथा पिंजरेमें बन्द करके उन दोनोंके साथ अपने पति पुष्यको चिर प्रवासके योग्य वेश बनाकर पहलेसे नगरके बाहर स्थित उपवनमें भेज दिया। और आप विरहिणी स्त्रीका वेश बनाकर पुरोहितके अद्भुत कार्यके सम्बन्धमें बातचीत करनेके लिए आतुर सहेलियोंके साथ पतिसे मिलने गयी।

दूसरे दिन गुणी पुष्य राजभवनमें जाकर बोला—"महाराज! यह किंजल्प पक्षी है और

१. माया। २ दुराचारेण सह अभिषङ्गः सम्बन्धो यस्य। ३ धात्रीकडारपिंगौ। ४ विस्तारेण गम्भीरस्य। ५ मासान्। ६ अवयव। ७ सेवनीयम्। ८ वेषा। ९ सम्मुख गता।

राजा—(चिरं निर्वर्ण्य निर्णीय च स्वरेण ।) पुरोहित, नैष खलु किञ्जल्पः पक्षी, किं तु कदारपिङ्गोऽयम् । पद्मापि विहङ्गी न भवति, किं तु तद्विस्लब्धेव कुट्टिनी ।

पुष्पः—देव, एतत्परिज्ञाने भगवानतिप्रसक्तः सचिवः ।

राजा सचिवस्तथा पृष्टः क्ष्मातलं प्रविविक्षुरिव ग्रीवोपनीतवदनमवालोकत ।

राजा—पुष्प, समास्तामेवं, यथावृत्तमेव व्यतिकरं कथयितुमर्हति ।

पुष्प—स्वामिन्, कुलपालिकात्र प्रगल्भते ।

भूपतिः मल्लिनीमाहूय 'अम्ब, कोऽयं व्यतिकरः' इत्यपृच्छत् । मल्लिनी गतमुखमव मास्यत्—'कांस्यपीश्वरः[1] शैलूष[2] इव दर्पामर्षोत्कर्षेस्यामवस्थामनुभवन्निविलासम्[3] पुरपुरन्ध्रीजनवन्ध्यमानपादपद्मां पद्मां देस्ते[4] सतीजनमुखावनवमीः सम्मानसन्निधानैरलङ्कारदानैश्चोपचर्य प्रवेश्य च देवविदृग्जिओ[5]मानकर्णीरथारूढां वेश्म[6], पुनः 'अरे निहीन, किमिह नगरे न सन्ति सकललोकसाधारणभोगाः सुभगाः सीमन्तिन्यः, येनैवमाचर[7] । कथं च दुराचार, एवमाच रन्नाद्य विनाश्य[5] विलीनोऽसि । तदिदानीमेव यदि भवन्तं तृणाङ्कुरमिव तृणेद्मि तदा न च-दुरुत्तमपकृतं स्यात्' इति निर्भरं निर्भर्त्स्य[8] दुर्नयनगरमुखं कदारपिङ्गं कुट्टिनीममोरथातिथि-[9]सचिवमुग्रसेनमग्रिमं च निखिलजनसमक्षमाधारर्थापूर्वकं प्रावासयत् । पुष्पदन्तावनमौ

मह उसको जन्म देने वाली पक्षिणी है ।'

राजा—(बहुत देरतक देखकर और स्वरसे पहचान कर) पुरोहित ! यह किञ्जल्प पक्षी नहीं है, यह तो कदारपिङ्ग है । यह भी पक्षिणी नहीं है किन्तु कुट्टिनी तद्विस्लब्धा है ।

पुष्प—स्वामी ! इनको पहचाननेमें मन्त्रीजी बहुत प्रवीण हैं ।

राजाने मन्त्रीसे उन्हें पहचाननेके लिए कहा तो मन्त्री पृथ्वीको देखता रह गया, मानो पृथ्वीमें समा जाना चाहता है ।

राजा—पुष्प ! मन्त्रीको रहने दो, तुम सब समाचार कहो ।

पुष्प—स्वामी ! मेरी पत्नी ही यह काम कर सकनेमें समर्थ है ।

राजाने पद्माको बुलाकर कहा—"माता ! यह क्या मामला है ?" पद्माने सब बीता वृत्तान्त सुना दिया । वृत्तान्त सुनते-सुनते कभी राजा नरकी तरह प्रसन्न होता था और कभी क्रोधसे तमतमा उठता था । सब सुनकर अन्तःपुरकी स्त्रियोंने पद्माके पैर पड़े और राजाने सती स्त्रियोंके योग्य आनन्ददायक वचनोंसे और आदरसूचक वस्त्राभरणके प्रदानसे पद्माको सम्मानित करके पालकीमें बैठाकर उसके घर पहुँचा दिया । फिर कुट्टिनी और कदारपिङ्गका तिरस्कार करते हुए बोला—"अरे नीच ! क्या इस नगरमें वेश्याएँ नहीं हैं जो तूने ऐसा आचरण किया । अरे दुराचारी ! ऐसा करते हुए तू मर क्यों नहीं गया ? अतः यदि इसी समय मैं तुझे तिनके-की तरह नष्ट कर डालूँ तो यह तेरा बहुत अपकार नहीं कहलायेगा ।" इस प्रकार बुरी तरहसे तिरस्कार करके दुराचारी कदारपिङ्गको और कुट्टिनीके साथी उग्रसेन मन्त्रीको सब लोगोंके सामने फटकारते हुए देशसे निर्वासित कर दिया ।

---

१ प्रवेष्टुं पर्तुमिच्छुरिव । २ विष्टनु तावदर्थं मन्त्री । ३ यदाचार्यवत् । ४ गृहम् । ५ विनाशं गत्वा किम विनष्टोऽसि । ६ हिनस्मि । ७ अवमानम् । ८ भाषोप । ९ निर्वासित । १ अनङ्ग एव मातङ्गो यस्य ।

तद्गः कडारपिङ्गस्तथा प्रजाप्रत्यक्षमाक्षारित. सुचिरमेतदेनःफलमनुभूय [1]दशमीस्थः सन् श्वभ्रप्रभवभाजनं[2] जनमभजत ।

भवति चात्र श्लोकः—

मन्मथोन्माथितस्वान्तःपरस्त्रीरतिजातधीः ।
कडारपिङ्गः संकल्पान्निपपात रसातले ॥४३१॥

इत्युपासकाध्ययनेऽब्रह्मफल[3]सारणो नामैकत्रिंशत्तमः कल्पः ।

ममेदमिति संकल्पो बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु ।
[4]परिग्रहो मतस्तत्र कुर्याच्चेतोनिकुञ्चनम् ॥४३२॥
क्षेत्रं[5] धान्यं धनं वास्तु कुप्यं शयनमासनम् ।
द्विपदाः पशवो भाण्डं बाह्या दश परिग्रहाः ॥४३३॥
[6]समिथ्यात्वास्त्रयो वेदा हास्यप्रभृतयोऽपि षट् ।
चत्वारश्च कषायाः स्युरन्तर्ग्रन्थाश्चतुर्दश ॥४३४॥

इस प्रकार व्यभिचारके लिए प्रजाके सामने तिरस्कृत होकर कामी कडारपिङ्ग बहुत समय तक इस पापका फल भोगता रहा । फिर मरकर नरकमें चला गया ।

इस विषयमें एक श्लोक है, जिसका भाव इस प्रकार है—

'कामसे पीड़ित और परस्त्री सम्भोगके लिए उत्सुक कडारपिङ्ग परस्त्रीगमनके संकल्पसे नरकमें गया ।' ॥ ४३१ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें दुराचारके फलको बतलानेवाला एकतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब परिग्रह परिमाण व्रतको कहते हैं—]

बाह्य और अभ्यन्तर वस्तुओंमें 'यह मेरी है' इस प्रकारके संकल्पको परिग्रह कहते हैं । उसके विषयमें चित्तवृत्तिको संकुचित करना चाहिए अर्थात् संकल्पको घटाकर परिग्रहका परिमाण करना चाहिए ॥ ४३२ ॥

खेत, अनाज, धन, मकान, ताँबा-पीतल आदि धातु, शय्या, आसन, दास-दासी, पशु और भाजन ये दस बाह्य परिग्रह हैं ॥ ४३३ ॥

मिथ्यात्व, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हास्य, शोक, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह हैं ॥ ४३४ ॥

भावार्थ—बाह्य वस्तुओंको बाह्य परिग्रह कहते हैं । और आत्माके कर्मजन्य क्रोधादि भावोंको अन्तरंग परिग्रह कहते हैं ।

---

१ मृत । २ स्थान नारकलोक श्रित इत्यर्थ । ३. सावारणो मु० । ४ 'मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥' –तत्त्वा० सू० ७ अ० । 'ममेदमिति सङ्कल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुषु । ग्रन्थस्तत्कर्शनात्तेषां कर्शनं तत्प्रमाव्रत ॥५९॥' –सागारधर्मा० । ५. 'वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं दासी दासं चतुष्पदं भाण्डम् । परिमेयं कर्त्तव्यं स मन्तोपकुशलेन ॥ ७३ ॥' –अमित० श्रा० ६ । ६ 'मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः । चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाऽभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥११६॥' –पुरुषार्थसि० ।

अथवा—

चेतनाचेतनासङ्गाद् द्विधा [1] बाह्यपरिग्रहः ।
अन्तः स एक एव स्यात्प्रदेशाश्रयाश्रयः [2] ॥४३५॥
धनाशाविद्धबुद्धीनामधनाः [3] स्युर्मनोरथाः ।
न ह्यर्थक्रियारम्भो [4] धीस्तदर्थिषु [5] कामधुक् ॥४३६॥
[6] सहसंभूतिरप्येष देहो यत्र न शाश्वतः ।
अन्यदारकदारेषु तत्र काऽऽस्था महात्मनाम् ॥४३७॥
स श्रीमानपि निःश्रीकः स नरश्च नराधमः ।
यो न धर्माय भोगाय विनियोजेत धनागमम् ॥४३८॥
प्राप्तेऽर्थे ये न माद्यन्ति नाप्राप्ते स्पृहयालवः ।
लोकद्वयश्रितां श्रीणां त एव परमेश्वराः ॥४३९॥
चित्तस्य वित्तचिन्तायां न फलं परमेनसः [7] ।
अस्थाने क्लिश्यमानस्य न हि क्लेशात्परं फलम् ॥४४०॥
अन्तर्बहिर्गते सङ्गे निःसङ्गं यस्य मानसम् ।
सोऽनल्पपुण्यसम्पन्नः सर्वत्र सुखमश्नुते ॥४४१॥

अथवा, चेतन और अचेतनके भेदसे बाह्य परिग्रह दो प्रकारका है, और संसारके कारण-भूत कर्मोंसे की अपेक्षा अन्तरङ्ग परिग्रह एक ही प्रकारका है ॥४३५॥

जो धनकी वाञ्छा करते रहते हैं उनके मनोरथ सफल नहीं होते; क्योंकि वाञ्छा करने मात्रसे इच्छित वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती ॥४३६॥

जहाँ साथ पैदा होनेवाला शरीर भी स्थायी नहीं है वहाँ शरीरसे भिन्न धन, स्त्री और पुत्रमें महात्माओंकी आस्था कैसे हो सकती है ? ॥४३७॥

वह मनुष्य धनी होकर भी गरीब है तथा मनुष्य होकर भी मनुष्योंमें नीच है जो धनको न धर्ममें लगाता है और न भोगता है ॥४३८॥

जो धनको पाकर मद नहीं करते और धनके न मिलनेपर उसकी इच्छा नहीं करते वे ही इस लोक और परलोकमें लक्ष्मीके स्वामी होते हैं ॥४३९॥

मनमें धनकी चिन्ता करनेका फल पापके सिवा और कुछ नहीं है। ठीक ही है अस्थानमें क्लेश करनेसे क्लेशके सिवा और क्या फल हो सकता है ॥४४०॥

अन्तरङ्ग और बाह्य परिग्रहमें जिसका मन अनासक्त है वह महान् पुण्यशाली सर्वत्र सुख भोगता है ॥४४१॥

---

१ अथ निश्चितसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ । —पुरुषार्थसि० ११७ श्लो० । २. —धयभय- ब० च० । संसाराश्रयपरिणामः । ३ निष्फला । ४ वाञ्छामात्र । ५. वाञ्छितप्रदा । ६ तिष्ठन्तु बाह्यधन-धान्यपुरःसरार्थाः संवर्धिता प्रचुरलोभवशेन पुंसा । कायोऽपि नश्यति निजोऽयमिति प्रचिन्त्य कौमारिगुणगुणहन्ति विरक्तचित्तम् ॥८२॥ —सुभाषितरत्नसंदोह । देहोऽयं सह संभूतिः सोऽप्येष नहि शाश्वतः । अन्यद्वस्तु प्रत्यक्षपरिभवार्थं सर्वथा वृथा ॥१११॥ प्राप्तेऽर्थे न प्रमाद्यन्ति न दुष्प्राप्तेऽप्यथवा स्थिते । —प्रबोधसार । ७ 'पापाद् भिन्नं फलं न किन्तु पापमेव भवति । वित्तार्थचित्तचिन्तायां न फलं परमेनसः । अतीवोद्योगिनोऽस्थाने न हि क्लेशात् परं फलम् ॥६१॥ —धर्मरत्ना० पृ० ६६ ।

बाह्यसङ्गरते पुंसि कुतश्चित्तविशुद्धता ।
सतुषे हि वहिर्धान्ये दुर्लभान्तर्विशुद्धता ॥४४२॥
सत्पात्रचिनियोगेन[1] योऽर्थसंग्रहतत्परः ।
लुब्धेषु स परं लुब्ध. सहामुत्र धनं नयन् ॥४४३॥
कृतप्रमाणाल्लोभेन धनादधिकसंग्रहः ।
पञ्चमाणुव्रतज्यानिं[2] करोति गृहमेधिनाम् ॥४४४॥
यस्य [3]द्वन्द्वद्वयेऽप्यस्मिन्निस्पृहं देहिनो मनः ।
स्वर्गापवर्गलक्ष्मीणां क्षणात्पदे स दक्षते ॥४४५॥
अत्यर्थमर्थकाङ्क्षायामवश्यं जायते नृणाम् ।
अघसंघचितं चेतः संसारावर्तवर्तगम् ॥४४६॥

श्रूयतामत्र परिग्रहाग्रहस्योपाख्यानम्—पञ्चालदेशेषु त्रिदशनिवेशानुकूलोपशल्ये[4] काम्पिल्ये निजमतिमाहात्म्यापहसितामराचार्यप्रतिभो[5] रत्नप्रभो नाम नृपतिः । आत्मीय-

जो पुरुष बाह्य परिग्रहमे आसक्त है उसका मन कैसे विशुद्ध रह सकता है ? ठीक ही है, जो धान्य तुष—छिलके सहित है उसके भीतरी भागका स्वच्छ पाया जाना दुर्लभ है ॥४४२॥

भावार्थ—जब धानको कूटकर उसका छिलका अलग कर दिया जाता है तभी साफ चावल निकलता है । छिलकेके रहते हुए उसके अन्दरका चावल भी लाल ही रहता है । वैसे ही बाह्य परिग्रहमें आसक्त रहते हुए मनुष्यका मन स्वच्छ नहीं होता ।

जो सत्पात्रको दान देकर धनका सग्रह करनेमें तत्पर है, वह उस धनको परलोकमें अपने साथ ले जाता है । अत॰ वह लोभियोंमें परम लोभी है ॥४४३॥

भावार्थ—जो अपने धनको सत्पात्रोंके लिए खर्च करता है वह असीम पुण्यका बन्ध करता है और उस पुण्यको, जो धन-प्राप्तिका मूल कारण है, वह अपने साथ परलोकमें ले जाता है । उसके प्रभावसे उसे उस जन्ममें भी धनका लाभ होता है । अत ऐसा आदमी ही सच्चा धनका लोभी है । किन्तु जो धनको ही समेटकर रखता है—न उसे भोगता है और न किसीको देता है वह तो उसे यहीं छोड जाता है । अत सत्पात्रमें धनको खरचना ही उत्तम है । और पुण्यरूपी धन ही सच्चा धन है ।

जितने धनका प्रमाण किया है, लोभमे आकर उससे अधिकका सचय करना गृहस्थोंके परिग्रह परिमाणव्रतको हानि पहुँचाता है । अर्थात् यह उस व्रतका अतिचार है ॥४४४॥

जिस प्राणीका मन अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहमें निस्पृह है वह क्षण-भरमें स्वर्ग और मोक्षकी लक्ष्मीका स्वामी बन जाता है ॥४४५॥

धनकी बहुत अधिक तृष्णा होनेपर मनुष्योंका मन पापके भारसे दबकर संसाररूपी भँवरके गड्ढेमें चला जाता है ॥४४६॥

अब परिग्रहकी तृष्णाके सम्बन्धमें एक कथा कहते है, उसे सुनें—

१७. लोभी पिण्याकगंधकी कथा

पञ्चाल देशमें कम्पिला नामकी नगरी है, वहाँ रत्नप्रभ राजा राज्य करता था । उसकी

१ दानयोगेन । २ हानिम् । 'कृत यो धनाधिक्यसंग्रह '–धर्मर०, पृ० ९५ उ० । 'कृत धनाद्यधिक्-सग्रह । पञ्चमाणुव्रतहानि ।'–सागारधर्मा० पृ० १६४से उद्धृत। ३ परिग्रहे । ४ समीपे। ५ बृहस्पतिवृद्धि ।

कपोलकान्तिविधिवितामृतमरीचिमण्डला मणिकुण्डला नामास्य महादेवी। कुलक्रमागतास्मोपार्जितामितवित्तः सागरदत्तो नाम श्रेष्ठी। गृहस्य श्रीरिव धनश्रीर्नामास्य भार्या। सुनुरनयोर्न्याय्योपार्जनैकचित्तः सुदत्तो नाम। स महालोभविभावसुज्वलचित्तभित्तिः सागरदत्तः पुरुषपरम्परायाताया[1] काञ्चनकोटेरेकस्याः स्वयमुपार्जिताधकोटेः पतिर्भवन्नपि शालीयादि भक्तभोजने छिलकमुपायनोतिर्धायनाभावमनुकृतिश्च[2], शाकपाकविधाने 'संभाराविकृति[3] प्रसभा[4]-भ्यवहृतिश्च घातपूरपूरिमावेष्टिमादिमलोपलेपे[5] महती स्नेहापहृतिरिन्धनविरतिश्च दुग्धदधिघोलरसाद्युपयोगे न विक्रयाय घृतं न च तक्रं[6] 'कदङ्करायेति[7] च मन्यमानः स्वयमेव प्रतिदिवसमृद्धिमहत्वाय[8] "व्यवसायकपाटके विहरमाणः 'प्रतिपिदम्मियमस्मसुपघस्य 'भ्राः सुरभिः वास्येव वसा सजात" इति सस्मेरं व्याहरन्, गृहीतपिण्डिकाखण्डः[9] प्रत्यवसानसमये तद्गन्धमाजिघ्रन् सकललोकपरिहृतमनघवि काललोपितमतिसमर्घतां[10] गतमकम्प्रितेमेव च स्वाद्गीविलीर्य भवति "तस्यैवतायम्तिसोमसहायमाहरति। अत एवास्य[11] महामोहानुबन्धस्य पिण्याकगन्ध इति जगति नाम बभूवे। 'मुखामोदमात्रेण च प्रयोजनम्। तदलं ताम्बूलार्थमर्थव्ययेन' इति विचिन्त्य पिप्पलतरुत्वच[12]" "कालयवनीदलो[13]-त्तरास्वादवशः कवलयति। 'अर्धप्राणोदरः[14]" परिचारः कदाचिदपि देहे हृदये वा न मनागपि

पटरानी मणिकुण्डला थी। नगरसेठ सागरदत्त था। उसके पास बहुत धन था। नगरसेठकी पत्नीका नाम धनश्री था। उनके सुदत्त नामका पुत्र था वह सदा न्यायपूर्वक ही धन कमाता था।

महालोभी सागरदत्त यद्यपि वंश-परम्परासे प्राप्त एक करोड़ स्वर्णमुद्राओंका और स्वयं उपार्जित आधे करोड़ स्वर्णमुद्राओंका स्वामी था, फिर भी वह सोचता था कि यदि चावलका भात खाया जाये तो उसके छिलके दूर करने होंगे और धोने-धानेमें भी कुछ कमी अवश्य होगी, यदि शाक पकाया जाये तो मसाला वगैरह खर्च होगा और उसके साथमें अधिक अन्न खाया जायेगा, घेवर पूरी वगैरह व्यञ्जनोंके बनानेमें घी खर्च होगा और ईंधन भी ज्यादा लगेगा, दूध, दही आदि रसोंका सेवन करनेसे न बेचनेके लिए घी रहेगा और न भूमीके लिए मठा बचेगा। अतः अब वह प्रतिदिन ब्याज वसूल करनेके लिए जाता तो तेलियोंमें घूमते-घूमते उनके कोल्हूके पास जाकर जरा हँसकर कहता 'वाह यह तो खूब खुशबूदार है'—और ऐसा कहकर तेलकी खलका एक टुकड़ा उठा लेता। जब भोजनका समय होता तो उस खलकी गन्धको सूँघता जाता और जिसे कोई भी नहीं खा सकता ऐसे बहुत पुराने और कम कीमती धानको बिना ही कूटे छाटे काँजीके साथ खा जाता। इसीसे सर्वत्र उस लोभीका नाम 'पिण्याकगन्ध' प्रसिद्ध हो गया था।

'मुखको सुगन्धित करने मात्रसे ही तो प्रयोजन है, अतः पानमें धन खर्च करना व्यर्थ है' ऐसा सोचकर वह पीपलके वृक्षकी छालको तमाखूके पत्तेके साथ खाता था उसके खानेसे भोजनसे भी अरुचि हो जाती थी।

आधे पेट खानेसे न शरीरमें कोई विकार उत्पन्न होता है और न मनमें, ऐसा सोचकर वह

---

१ परिपाटीना व्याप्त। २ प्रचुरान्नस्य भुक्तिः। ३ पाच्यवर्णिनिमित्तम्। ४ व्याप। ५ तिलकुट। ६ तिलपीलनभाण्डम्। ७ बल। ८. भोजनवेलायाम्। ९. अतिजीर्णम्। १० स्वल्पमूल्यम्। ११ दलन रहितम्। १२ काञ्जिकेन सह। १३ सागरदत्तस्य। १४ पिप्पलवल्कलं। १५ नागवीपत्र। पत्राणां पत्रात् भोजने न रुचयितीर्णं विमुक्तत्वचा सा। १६ अर्धाहारेण।

विकुरुते' इति मत्वा न कमप्यूर्धपूरं पूरयति। प्रतिचारकांश्चैवं शिक्षयति—'न तैलार्थं लवणार्थं वित्तं व्ययितव्यम्, किं तु कार्षापण मापं चादाय आपणमुपढौक्य तदुभयं गृहीत्वा पुनरिदं साधु न भवतीति प्रतिसमर्पयंस्तत्र मापे किञ्चिल्लग्नमायाति तेन शारीरो विधिर्विधातव्यः।' परिजनार्भकान्स्वकीयांश्चैवमुपजपति—'न भवद्भिरङ्गाभ्यङ्गार्थं भवनमुपद्रोतव्यम्, किं तु सस्नेहदेहैः [1]प्रातिवेशिकशिशुसंदोहैः सहातिसंबाधं योद्धव्यम्। अतो भवतामनुपायसंनिधिः स्नानविधिः। क्षपायां च प्रतिवेशवेश्मप्रदीपप्रभाप्रज्वलितेन वली[2]कान्तावलम्बितेन [3]काचमुकुरेण गृहाङ्गणे प्रदीपकार्यं [4]निकाय्यमध्ये च सणसरण्डप्रोतै[5]र्विषमरुचिदीप्तैरुरुबूकबीजैः करोति। सकलजनसाधारणांश्च नवीनसङ्गा एव [7]युगाः सपरिच्छदः परिदधाति। मनागमलीमसरागांश्च विक्रीणीते। ततोऽस्य [8]वसनधावनार्थमपि न कपर्दकोपक्षय'। [9]पर्वाणि च पुराणपल्लवकचवरापनयनक[10]णोत्करेणातपतप्तसंघाटस्नेहद्रवेण गुडगोणीक्षालनकषायेण च निवर्तयति। प्रत्यामन्त्रणेन द्रविणव्ययात्परागार[11]भोजनावलोकनेनाश्रितजनमनोविनाशभयाच्चामन्त्रितो न कस्यापि निकेतने [12]प्सांति।

एवमतीवतर्षोत्कर्षरसहार्ये सकलकदर्याचार्ये तस्मिञ्जीवत्यपि मृतकल्पमनसि वसति

अपने कुटुम्बको कभी भी भर पेट भोजन नहीं करने देता था। वह अपने नौकरोंको शिक्षा देता था कि 'तेल और नमकके लिए पैसा नहीं खर्च करना चाहिए, किन्तु पैसा और बर्तन लेकर दुकान पर जाना चाहिए और दोनों चीजें लेकर फिर यह कहकर लौटा देना चाहिए कि ये अच्छी नहीं है। ऐसा करनेसे बर्तनमें कुछ तेल और नमक लगा रह जाता है, उसीसे अपना काम चलाना चाहिए।' अपने और अपने कुटुम्बके बच्चोंसे वह कहता था कि 'तुम्हें शरीरमें तेल लगानेके लिए घरमें ऊधम नहीं मचाना चाहिए किन्तु पड़ोसियोंके तेल लगाये हुए बच्चोंके साथ खूब भिड़कर लडना चाहिए। इससे बिना प्रयत्नके ही तुम्हारे स्नानकी विधि बन जायेगी।'

उसने अपने घरकी छत पर एक दर्पण टाँग रखा था। रात्रिमें जब सामनेके घरमें दीपक जलता था तो उसका प्रकाश दर्पणमें प्रतिबिम्बित होकर घरके आगनमें पडता था। और उससे दीपकका काम निकल जाता था। तथा घरके अन्दर एरण्डके बीजोंको सड़ैरेकी लकड़ीमें पिरोकर और उन्हें आगसे जलाकर दीपकका काम लेता था। जन साधारणके पहनने योग्य कोरे वस्त्र ही वह पहनता था। और जैसे ही वह मैले होते थे उन्हें बेच डालता था। इस तरह कपडे धोनेमें उसकी एक कौड़ी भी खर्च नहीं होती थी। पुराने पल्लवोंको कूट कर उसमेंसे रेसे निकाल देता था। घाममें सघाट (?) को सुखानेसे उसमेंसे तेल निकल आता था और गुड़के बोरोंको धोकर उनमेंसे मीठा निकाल लेता था। और इन सबसे तीज त्योहारका काम चलाता था। बदलेमें दूसरोंका निमन्त्रण करनेसे धन खर्च होगा, तथा दूसरोंके घरका भोजन देखनेसे मेरे आश्रित जनोंके मन मुझसे टूट जायेंगे इस भयसे निमन्त्रण आनेपर भी वह किसीके घर नहीं जीमता था। इस प्रकार वह तृष्णालु और सब कजूसोंका सिरमौर जीते हुए भी मुर्देकी तरह जीवन व्यतीत करता था।

---

१ पडोसी। २ गृहस्योपरितनभागे। ३ दर्पणेन। ४. गृहमध्ये। ५ अग्नि। ६. एरण्ड। ७ कोरावस्त्र। ८ वस्त्रप्रक्षालनार्थम्। ९. दीपोत्सवादि। १०. करणो– अ० ज० मु०। ११ अन्यलोकगृहे भोजन यदि एभिर्दृष्ट तदा मद्गृहे एते न स्थास्यन्तीति भयात्। १२ भुक्ते।

सति एकदा स स्वभोगकमलिनीपरिमलकलभो रत्नप्रभो राजसिन्धुरप्रधावनस्थानमासाद्य संपादनाय चयनाय पूर्वस्य[1] प्रसवदत्तस्य महीपतेः कालेन स्थण्डिलताद्भुतायकारे भवनमेरे भूखोपनं विधापयतेतत्रास्थानमण्डपाभोगपर्यन्तभुवः प्रकामोपरदोपकलुषवपुषः संपूर्णविस्ता-[3]रपुषः [4]प्रथिमगुणविशिष्टका[5] सुवर्णेष्टकाः समालोक्य यदृच्छिकाम कलङ्कमलिनत्वाद्वितरेष्ट-कापिशिष्टस्यमाकलयन् 'एताः खलु चैत्यालयनिर्माणाय योग्याः' इति चेतसैकत्र स्तूपतां मानाययामास।

अत्रान्तरे समस्तवणिक्पथपुरोगमसर्गेषु पिण्याकगन्धः सरभसमापततामिष्टकावहानां [7]वैवधिकनिवहानां [8]सायंसमये मार्गविषये पतितामेकामिष्टकामवाप्य [9]चरणक्षालनदेशे न्यधात्। तत्र च [10]प्रतिदिनसमक्षिप्तसपर्यादृष्टोपकालुष्यमोषे[11] मर्मनिर्मितत्वमवेत्य तैस्तैः प्रलोभनवस्तुभिः कापयहानां विहितोपचारस्ताः [12]संगृहन् भुवन्य[13] स्वीयापायोदन्त स्फा-[14]यमानमनोमन्युकृतान्त [15]पिण्याकगन्धः 'पुत्र निखिलकलापरातचित्त सुवृत्त भगवस्तिस्तृ स्वसुः सुतशोकशङ्कुशमनाय ममावश्यं तत्र गन्तव्यमवस्नातव्यं[16] च। ततस्त्वयाप्येताः परि-[17]रक्ष्यलोकप्रलोभनेन साधु समाहीतव्याः इत्युपह्वरे[18] व्याहृत्य सकलजगद्व्यवहारपरा-त्रियोषां काकन्दीं तोकशोकमूर्छितायास्तस्य कनिष्ठाया दर्शनार्थमगच्छत्। प्रसवद्व्यवहारे[19]

एक बार राजा रत्नप्रभने हाथीकी दौड़ देखनेके लिए एक महल बनवानेका विचार किया और उसके लिए स्वर्गीय राजा प्रसवदत्तके महलके खण्डहरोंवाले प्रदेशको चुना। जब उन खण्डहरों को ढवाया गया तो उसके सभामण्डपसे बहुत-सी बड़ी-बड़ी सोनेकी ईंटें निकलीं। किन्तु वे बहुत दिनोंसे मिट्टीमें दबी रहनेके कारण एक दम काली पड़ गयी थीं। अतः उन्हें भी अन्य पुरानी ईंटोंकी तरह साधारण ईंट मानकर और यह सोचकर कि ये चैत्यालय बनवानेके लायक हैं एक जगह उनका ढेर लगवा दिया।

इसी बीचमें लुब्धक शिरोमणि पिण्याकगन्ध संध्याके समय उधर गया। जल्दी-जल्दी ईंटें ढोने वालोंसे मार्गमें एक ईंट गिर पड़ी वह उसे उठा लाया और लाकर पैर धोनेके स्थानपर उसे डाल दिया। प्रतिदिन पैरोंकी रगड़से उसकी कलौंसी जाती रही। तब उसे मालूम हुआ कि यह तो सोनेकी ईंट है। फिर तो वह ईंटें ढोने वालोंको तरह-तरहका लालच देकर ईंटें इकट्ठी करने लगा।

एक दिन पिण्याकगन्धने अपने भानेजकी मृत्युका समाचार सुना। उसे बड़ा रंज हुआ। पुत्रको बुलाकर कहा—"पुत्र सुवृत्त! तुम्हारी बुआके पुत्र-शोकको शान्त करनेके लिए मुझे अवश्य जाना है और मृतक स्नान भी करना है। अतः तुम भी बोझा ढोने वालोंको लालच देकर सोनेकी ईंटें संग्रह करते रहना।" इस तरह एकान्तमें पुत्रको समझाकर पिण्याकगन्ध शीघ्र ही अपनी छोटी बहनसे मिलनेके लिए काकन्दीकी ओर चला गया।

---

१ –प्रधावन– अ ब मु। २ मृतस्य। ३ विस्तारं पुष्णाति याः। ४ पृथु। ५ सवृत्त। ६ भारवाहानाम्। ७ वार्तावहो वैवधिक विवधो भारः पर्याहारो वा तं वहतीति वैवधिक। ८ सन्ध्यायाम्। ९. पादधावन। १० प्रतिदिनम्। ११ किलाये सति। १२ इष्टकाः। १३ भागिनेयमरण। १४ वृद्धि गच्छमान। १५. शोकयम। १६ मृतकस्नान कर्तव्यम्। १७ कार्यविद। १८ एकान्ते। १९ व्यवहार-पराङ्मुख।

व्यावृत्तः सुदत्तः तातोपदेशमनिश्रेयसमवस्यन्[1] यतो राजपरिगृहीततृणमपि गृहीतं काञ्चनीभवति संपद्यते च पूर्वोपार्जितस्याप्यर्थस्यापहाराय प्राणसंहाराय चेति जातमतिर्नैकामपीष्टकां समग्रहीत्।

महालोभलोलतान्धः पिण्याकगन्धस्तस्याः पुरोऽपस्नायागतः[2] सुतमप्राक्षीत्—'वत्स, कियतीः खलु त्वमिष्टकाततीः पर्यग्रहीः?'

स्तेययोगविनिवृत्तः सुदत्तः—'तात, नैकामपि।'

प्रादुर्भवद्दीर्घदुर्गतिदुरितबन्धः पिण्याकगन्धः समर्थे सदाचारकृतार्थे पुण्यभाजि तुजि परमुत्तरमपश्यन्, 'यदीमौ क्रमौ परिक्रमणक्षमौ मम नाभविष्यतां तदा कथंकारमहं मन्मनोरथवन्ध्यां काकन्द्यामगमिष्यम्। अत[4] एतावेवात्र श्रीविरामावहौ द्रोहौ' इति विचिन्त्योद्वर्तनं वर्तयन्त्याः स्ववासिन्याः करादाक्षिप्तैः शरीरेण शिलापुत्रकेण तौ जर्जरितावजोजनत्। एतच्च[6] वैदेहकाव्यञ्जनपरिजनात्प्राचीनबर्हिनिभः[7] क्षितिरमणीकरिणीभः रत्नप्रभः श्रुत्वा वासीचक्रेण शिल्पिभिर्विर्धापितेष्टकातत्क्षणः सुवर्णत्व निर्णीय विहितसर्वस्वापहारं सनिकारं नगरजनोच्चार्यमाणदुरपवादप्रबन्धं पिण्याकगन्धं निरवासयत्[9]। 'इन्द्रयमस्थानं हि गुणदोषयोर्महीपतय.' इति नीतिवाक्यमनुस्मृत्य मूलधनप्रदानेनान्वयागतनिवासनिवेदनेन च परद्रव्यादाननिवृत्तं सुदत्त साधु समाश्वासयत्। स तथा निर्वासितः सञ्जातनरकनिषेकनिबन्धः कृतप्रका-

सुदत्त बुरे कामोंसे बचता था। उसे अपने पिताका उपदेश अहितकर प्रतीत हुआ। उसने विचारा कि राजाका तृण भी सोना हो जाता है और उसके लेनेसे पहलेका सञ्चित धन भी हर लिया जाता है और प्राण भी चले जाते हैं। अत. उसने एक भी ईंट नहीं ली।

महालोभी पिण्याकगन्ध मृतक स्नान करके लौटा तो उसने पुत्रसे पूछा—'बेटा! तुमने कितनी ईंटें ली है?'

चोरीके त्यागी सुदत्तने उत्तर दिया—"पिता जी! एक भी नहीं।"

घोर दुर्गतिके कारण पापका बन्ध करनेवाले पिण्याकगन्धको अपने सदाचारी पुण्यशाली पुत्रकी बात सुनकर कोई उत्तर नहीं सूझा।

तब "यदि मेरे ये दोनों पैर चलनेके लायक न होते तो मैं अपने मनोरथकी घातक काकन्दीको कैसे जाता। इसलिए ये दोनों ही लक्ष्मी समागमके शत्रु हैं।" ऐसा सोचकर उसने उबटन पीसती हुई अपनी पत्नीके हाथसे लोढ़ा लेकर अपने पैर तोड़ डाले। राजा रत्नप्रभने उसके आदमियोंसे यह बात सुनकर शिल्पियोंसे उन ईंटोंको तुड़वाया, तो वे सोनेकी निकलीं। उसने तुरन्त ही पिण्याकगन्धका सर्वस्व लुटवा लिया और उसे बेइज्जत करके देश निकाला दे दिया।

"राजा लोग गुणवान्के लिए इन्द्र है और दोषीके लिए यमराज हैं।" इस नीतिके अनुसार राजा रत्नप्रभने पराये धनको न लेनेके कारण सुदत्तको उसका मूल धन और वंशपरम्परागत निवास स्थान देकर धीरज बँधाया।

---

१. ससारकारण जानन्। २ मृतकस्नान कृत्वा। ३. केन प्रकारेण। ४ पादौ। ५. गृहीत। ६ वणिक्। ७ इन्द्रसमान। ८ कारित। ९ निर्घाटितवान्। १० वशागत-आवासानुमतेन।

महालोभसम्बन्धनिरायोपार्जितदुरन्तदुष्कर्मसंक्रमः पिण्याकगन्धः प्रेत्य पातालमगात् ।

भवति चात्र श्लोकः—

> षष्ठ्या क्षितेस्तृतीयेऽस्मिन्नरके लल्लके ।
> पेते पिण्याकगन्धेन धनायाविष्टचेतसा ॥४४७॥
> *इत्युपासकाध्ययने परिग्रहाग्रहफलसूचनो नाम द्वात्रिंशः कल्पः ।*
> [1]दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिस्त्रितयाश्रयम् ।
> गुणव्रतत्रयं सद्भिः सागारयतिषु स्मृतम् ॥४४८॥
> दिक्षु[2] सर्वास्वधश्चोर्ध्वं देशेषु निखिलेषु च ।
> एतस्यां दिशि देशेऽस्मिन्नियत्येवं गतिर्मम ॥४४९॥
> [3]दिग्देशनियमादेवं ततो बाह्येषु वस्तुषु ।
> हिंसालोभोपभोगादिनिवृत्तेश्चित्तयन्त्रणा ॥४५०॥
> एवमिदं प्रयत्नेन गुणव्रतत्रयं गृही ।

देशसे निकाला जाकर पिण्याक गन्ध अत्यन्त लोभवश नरकायुका बन्ध तथा चिर-कालके लिए अत्यन्त दुःखदायी कर्मोंका बन्ध करनेके कारण मरकर नरकमें गया।

इसके विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'धनका भूखा पिण्याक गंध मरकर छठे नरकके लल्लक नामके तीसरे पाथड़ेमें गया ॥४४७॥

इस प्रकार परिग्रहकी आसक्तिका फल बतलानेवाला बत्तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब गुणव्रतोंका वर्णन करते हैं—]

महापुरुषोंने दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्ड विरतिके भेदसे गृहस्थ व्रतियोंके तीन गुणव्रत बतलाये हैं ॥ ४४८॥

दिग्विरति और देशविरति व्रतोंका स्वरूप

"अमुक-अमुक दिशामें मैं अमुक-अमुक स्थान तक ही जाऊँगा" इस प्रकार जन्म पर्यन्तके लिए जो सब दिशाओंमें और ऊपर तथा नीचे जानेकी मर्यादा की जाती है उसे दिग्विरतिव्रत कहते हैं। और (दिग्विरतिके भीतर कुछ समयके लिए) जो मर्यादा की जाती है कि मैं अमुक अमुक दिशामें देश तक ही जाऊँगा, उसे देशविरति व्रत कहते हैं ॥ ४४९ ॥

इन व्रतोंसे लाभ

इस प्रकार दिशाओंका और देशका नियमकर लेनेसे उससे बाहरकी वस्तुओंमें लोभ, उपभोग और हिंसा वगैरहके भाव नहीं होते हैं और उसके न होनेसे चित्त संयत होता है ॥४५०॥ जो गृहस्थ प्रयत्न करके इन तीन गुणव्रतोंका पालन करता है वह जहाँ-जहाँ जन्म

---

१ 'दिग्देशानर्थदण्डविरति' । तत्त्वा० सू० ७-२१ । २ 'दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि । इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥ ६८ ॥ —रत्नकरण्डश्रा० । 'ऊर्ध्वाधो विदिशि दिक्स्वाशं कृत्वा यत्परिमाणतः । पुनरतिक्रमणे नैव प्रथमं तद् गुणव्रतम् ॥११७॥ —वराङ्गचरित। पुरुषार्थसि० श्लोक ११७ । अमित० श्रा० ६-७६ । ३ अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् । पञ्च महाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥ ७० ॥ —रत्नकरण्डश्रा० । पुरुषार्थसि० ११८ श्लो० । —अमित० श्रा० श्लोक ६-७७ ।

आशैश्वर्यं लभेतैष यत्र यत्रोपजायते ॥४५१॥

आशादेशप्रमाणस्य गृहीतस्य व्यतिक्रमात् ।
देशव्रती प्रजायेत प्रायश्चित्तसमाश्रयः ॥४५२॥

शिखण्डिकुक्कुटश्येनविडालव्यालबभ्रवः ।
विषकण्टकशस्त्राग्निकशापाशकरज्जवः ॥४५३॥

पापाख्यानाशुभध्यानहिंसाक्रीडावृथाक्रियाः ।
परोपतापपैशुन्यशोकाक्रन्दनकारिता ॥४५४॥

वधबन्धनसंरोधहेतवोऽन्येऽपि चेदृशाः ।
भवन्त्यनर्थदण्डाख्याः संपरायप्रवर्धनात् ॥४५५॥

पोषणं क्रूरसत्त्वानां हिंसोपकरणक्रियाम् ।
देशव्रती न कुर्वीत स्वकीयाचारचारुधीः ॥४५६॥

अनर्थदण्डनिर्मोक्षादवश्यं देशतो यतिः ।
सुहृत्तां सर्वभूतेषु स्वामित्वं च प्रपद्यते ॥४५७॥

वञ्चनारम्भहिंसानामुपदेशात्प्रवर्तनम् ।

लेता है वहीं-वहीं उसे ऐश्वर्य और हुकूमत मिलती है ॥ ४५१ ॥

दिशा और देशके किये हुए प्रमाणका उल्लघन करनेसे अर्थात् उससे बाहर चले जानेसे दिग्व्रती और देशव्रतीको प्रायश्चित्त लेना पडता है ॥ ४५२ ॥

[अब तीसरे अनर्थदण्डविरति व्रतको कहते हैं—]

अनर्थदण्डविरति व्रतका स्वरूप

मोर, मुर्गा, बाज, बिलाव, साँप, नेवला आदि हिंसक जन्तुओंका पालना, विष, काँटा, शस्त्र, आग, कोड़ा, जाल, रस्सा वगैरह हिंसाके साधनोंको दूसरोंको देना, पापका उपदेश देना, आर्त और रौद्र ध्यानका करना, हिंसामयी खेल खेलना, व्यर्थ इधर-उधर भटकना, दूसरोंको कष्ट पहुँचाना, चुगली करना, रज करना, रोना, अन्य भी इस प्रकारके जो दूसरोंके घातमें बाँधनेमें और दूसरोंको रोक रखनेमें कारण है उन्हें अनर्थदण्ड कहते हैं; क्योंकि उनसे ससारकी वृद्धि होती है—बहुत समय तक ससारमें भटकना पड़ता है ॥ ४५३-४५५ ॥

अपने आचारका पालन करनेमें दक्ष देशव्रती श्रावकको हिंसक प्राणियोंका पोषण तथा हिंसाके उपकरणोंका दान नहीं करना चाहिए ॥ ४५६ ॥ ऊपर बतलाये हुए अनर्थदण्डोंको छोड़नेसे अणुव्रती श्रावक सब प्राणियोंका मित्र और स्वामी बन जाता है ॥ ४५७ ॥ उपदेशसे ठगी, आरम्भ, और हिंसाका प्रवर्तन करना, शक्तिसे अधिक बोझा लादना और दूसरोंको अधिक कष्ट देना आदि

---

१ दिशा । २ 'मण्डलविडालकुक्कुटमयूरशुकसारिकादयो जीवाः । हितकामैर्न ग्राह्याः सर्वे पापोकारपरा ॥८२॥ –अमितगति० ६-८१ । ३ 'विषकण्टकशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादि हिंसोपकरणप्रदान हिंसाप्रदानम् । –सर्वार्थसि० ७-२२ । 'दण्डपाशविडालाश्च विषशस्त्राग्निरज्जवः । परेभ्यो नैव देयास्ते स्वपराघातहेतवः । छेद भेदवधौ बन्धगुरुभारातिरोपणम् । न कारयति योऽन्येषु तृतीय तद्गुणव्रतम् ।' –वरागचरित १५, ११९-१२० । ४ 'पार्द्धिजयपराजयसगरपरदारगमनचौर्याद्या । न कदाचनापि चिन्त्या पापफल केवल यस्मात् ।' –पुरुषार्थसिद्धि० ॥१४१॥ ५ निष्प्रयोजन भूखननादि । ६ ससार । ७ मैत्रीम् ।

भाराधिक्याधिकक्लेशौ तृतीयगुणहानये ॥४५८॥

*इत्युपासकाध्ययने गुणव्रतत्रयसूत्रणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः ।

आदौ सामायिकं कर्म प्रोषधोपासनक्रिया ।
सेव्यार्थनियमो दानं शिक्षाव्रतचतुष्टयम् ॥४५९॥
आप्तसेवोपदेशः स्यात्समयः समयार्थिनाम् ।
नियुक्तं तत्र यत्कर्म तत्सामायिकमूचिरे ॥४६०॥
आप्तस्यासंनिधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम् ।
तार्क्ष्यमुद्रा न किं कुर्याद्विषसामर्थ्यसूदनम् ॥४६१॥

कर्म अनर्थदण्डव्रतको हानि पहुँचाते हैं, अर्थात् इस प्रकारके कामोंके करनेसे अनर्थदण्डव्रतमें दोष लगता है अतः ऐसे काम अणुव्रती श्रावकको नहीं करना चाहिए ॥ ४५८ ॥

भावार्थ—मन, वचन और कायको दण्ड कहते हैं। और बिना प्रयोजनके उनकी प्रवृत्ति करनेको अनर्थदण्ड कहते हैं। तथा उसको रोकनेको अनर्थदण्डव्रत कहते हैं। अणुव्रती श्रावकको देशकी मर्यादाके अन्दर भी मनसे, वचनसे और कायसे इस प्रकारके काम नहीं करना चाहिए जो दूसरोंको कष्ट पहुँचाते हों। मनमें किसीका बुरा नहीं विचारना चाहिए। वचनसे आरम्भका, जीवोंको कष्ट पहुँचानेवाले व्यापारका उपदेश नहीं देना चाहिए और शरीरसे ऐसी चीजें दूसरोंको नहीं देनी चाहिए जिससे दूसरोंका घात किया जा सके या दूसरोंको कष्ट पहुँचाया जा सके। तथा स्वयं भी किसीको कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए। ऐसा करनेसे मनुष्य बहुतसे व्यर्थके पापोंसे बच जाता है और सब उसे अपना मित्र और रक्षक समझने लगते हैं॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें तीन गुणव्रतोंका कथन करनेवाला तैंतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब *शिक्षाव्रतोंको कहते हैं—*]

सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और दान ये चार शिक्षाव्रत हैं ॥४५९॥

सामायिक व्रतका स्वरूप

जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा करनेका जो उपदेश है उसे समय कहते हैं और उसमें उसके इच्छुकजनोंके जो-जो काम बतलाये गये हैं उन्हें सामायिक कहते हैं ॥४६०॥

मूर्तिपूजाका विधान

जिनेन्द्र भगवान्‌के अभावमें उनकी प्रतिमाका पूजन करनेसे भी पुण्यबन्ध होता है। क्या गरुड़ मुद्रा विषकी शक्तिको दूर नहीं करती ? ॥ ४६१ ॥

---

* अत्र यशस्तिलकचम्पूकाव्यस्य सप्तम आश्वासः समाप्यते यथा—"इति सकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये धर्मामृतवर्षिणो नाम सप्तम आश्वासः।

१ प्रोषधोपवासक्रिया। २ आ समयमुक्तिमुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन। सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति ॥९७॥ —रत्नकरण्ड श्रा०। 'समता सर्वभूतेषु संयमः शुभभावना। आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥१२२॥—वराङ्गचरित १५ सर्ग। 'रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य। तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥१४८॥ —पुरुषार्थ०। अमितग० श्रा० १-८९। पद्मनन्दिपञ्चविंश० पृ० १९२। ३ 'तीर्थेशासंनिधानेऽपि प्रतिमा चर्यते । वैनतेयस्य मुद्रापि विषं हन्ति न संशयः ॥२१२॥—प्रबोध०। ४ गरुड। ५. अपनोदनम्।

अन्तःशुद्धिं वहिःशुद्धिं विदध्याद्देवतार्चने।
आद्या[1] दौश्चित्य[2]निर्मोक्षादन्या[3] स्नानाद्यथाविधि ॥४६२॥

संभोगाय विशुद्ध्यर्थं स्नानं धर्माय च स्मृतम्।
धर्माय तद्भवेत् स्नानं यत्रामुत्रोचितो विधिः ॥४६३॥

नित्यस्नान गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे।
यतेस्तु दुर्जन[4]स्पर्शात्स्नानमन्यद्विगर्हितम् ॥४६४॥

वातातपादिसंस्पृष्टे भूरितोये जलाशये।
अवगाह्याचरेत्स्नानमतोऽन्यद्गालितं भजेत्[5] ॥४६५॥

देवपूजन करनेके लिए अन्तरङ्गशुद्धि और वहिरंगशुद्धि करनी चाहिए। चित्तसे बुरे विचारोंको दूर करनेसे अन्तरङ्गशुद्धि होती है और विधिपूर्वक स्नान करनेसे वहिरङ्गशुद्धि होती है ॥ ४६२ ॥

स्नानविधिका विधान

सभोगके लिए, विशुद्धिके लिए और धर्मके लिए स्नान करना बतलाया है। जिसमें परलोकके योग्य विधि की जाती है वह स्नान धर्मके लिए होता है ॥ ४६३ ॥

देवपूजा करनेके लिए गृहस्थको सदा स्नान करना चाहिए। और मुनिको दुर्जनसे छू जानेपर ही स्नान करना चाहिए। अन्य स्नान मुनिके लिए वर्जित है ॥ ४६४ ॥

जिस जलाशयमें खूब पानी हो और वायु, धूप वगैरह उसे खूब लगती हो उसमें घुस करके स्नान करना उचित है, किन्तु अन्य जलाशयोंका पानी छानकर ही स्नानके काममें लाना चाहिए ॥ ४६५ ॥

भावार्थ—यों तो गृहस्थको पानी छानकर ही काममें लाना चाहिए। किन्तु यदि कोई

---

१ अन्त शुद्धिः। 'अन्तरङ्गवहिरङ्गविशुद्धिर्देवतार्चनविधौ विदधीत। आर्तरौद्रविरहात् प्रथमा स्यात् स्नानत किल यथाविधितो ज्ञ ॥'—धर्मरत्ना० प० १०३ उ०। 'मध्यशुद्धिं वहि शुद्धिं, विदध्यात्तदुपासने। पूर्वा स्यात् स्वान्तनैर्मल्यात्परा स्नानाद्यथाविधि ॥ २२३ ॥—प्रबोधसार। "शौच च द्विविध प्रोक्त बाह्यमाभ्यन्तरं तथा। मृज्जलाभ्यां स्मृत बाह्य भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥"—दक्ष और व्याघ्रपाद। २ आर्तरौद्रध्यान। ३ वहि शुद्धि। ४ चाण्डाल। ५ 'धर्मवायुकलिते वहत्यगाधवारिभरिते जलाशये। स विगाह्य तदिहाचरेदतो वस्त्रपूतमपरं समाचरेत् ॥ १४ ॥— धर्मरत्ना०, प० १०३। पाषाणोत्स्फुटित तोय प्रासुक प्रहरद्वम्। सद्य सतप्तवापीना प्रासुक जलमुच्यते ॥६३॥ देवर्षीणा प्र शौचाय स्नानाय च गृहार्थिनाम्। अप्रासुक पर वारि महातीर्थजमप्यद ॥६४॥—रत्नमाला। गालितैर्निर्मलै नीरै सन्मन्त्रेण पवित्रितै। प्रत्यह जिनपूजार्थं स्नान कुर्याद् यथाविधि ॥१॥ सरिता सरसा वारि यदगाध भवेत् क्वचित्। सुवातातपसंस्पृष्ट स्नानार्हं तदपि स्मृतम् ॥२॥ नभस्वताहृतं ग्रावघटीयन्त्रादिताडितम्। तप्तं सूर्यांशुभिर्वाप्या मुनय प्रासुक विदु ॥३॥ —धर्मस० श्रा० पृ० २१८। 'नदीपु देवखातेपु तडागेपु सर सु च। स्नान समाचरेन्नित्य गर्तप्रस्रवणेपु च ॥२०३॥—'मनुस्मृति। 'अपोऽवगाहन स्नान विहित सार्ववर्णिकम्। मन्त्रवत् प्रोक्षण चापि द्विजातीना विशिष्यते ॥—बौधायनधर्मसूत्र २-४-४। 'स्नान च सर्ववर्णाना कार्यं शौचपुर सरम्। समन्त्रकद्विजाना स्यात् स्त्रीशूद्राणाममन्त्रकम् ॥ —स्मृत्यर्थसार पृ० २६।

पादजानुकटिग्रीवाशिरःपर्यन्तसंश्रयम् ।
स्नानं पञ्चविधं ज्ञेयं यथादोषं शरीरिणाम् ॥४६६॥
ब्रह्मचर्योपपन्नस्य निवृत्तारम्भकर्मणः ।
यदा तदा भवेत्स्नानमन्त्यमन्यस्य तद्द्वयम् ॥४६७॥
सर्वारम्भविजृम्भस्य ब्रह्मजिह्मस्य देहिनः ।
अविधाय बहिःशुद्धिं नाप्तोपास्त्यधिकारिता ॥४६८॥
अद्भिः शुद्धिं निराकुर्वन्मन्त्रमात्रपरायणः ।
स मन्त्रैः शुद्धिभाङ् नूनं भुक्त्वा हत्वा विहृत्य च ॥४६९॥
मृत्स्नयेष्टकया वापि भस्मना गोमयेन च ।
शौचं तावत्प्रकुर्वीत यावन्निर्मलता भवेत् ॥४७०॥

नदी वगैरहमें स्नान करना चाहे तो उसका पानी बहता हुआ होना चाहिए और उस पानीको धूप और हवा खूब लगना चाहिए। ऐसा पानी स्नानके योग्य है।

स्नान पाँच प्रकारका होता है—पैर तक, घुटनों तक, कमर तक, गर्दन तक और सिर तक। इनमें-से मनुष्योंको दोषके अनुसार स्नान करना चाहिए ॥४६६॥ जो ब्रह्मचारी है और सब प्रकारके आरम्भोंसे विरत है वह इनमें-से कोई-सा भी स्नान कर सकता है किन्तु अन्य गृहस्थोंको तो सिर या गर्दनसे ही स्नान करना चाहिए ॥४६७॥ जो सब प्रकारके आरम्भोंमें लगा रहता है और ब्रह्मचारी भी नहीं है, उसे बाह्य शुद्धि किये बिना देवोपासना करनेका अधिकार नहीं है ॥४६८॥ जो जलसे शुद्धिका निराकरण करता हुआ केवल मन्त्रपाठमें ही तत्पर रहता है, उसे भोजन करके, किसीको मारकर और विहार करके निश्चय ही मन्त्रोंके द्वारा शुद्ध हो जाना चाहिये ॥४६९॥

जल मिट्टीसे, ईंटसे अथवा राखसे या गोबरसे तबतक सफाई करनी चाहिए जबतक निर्मलता न आ जाये ॥४७०॥

---

१ स्नानं तु द्विविधं प्रोक्तं गौणमुख्यप्रभेदतः । तयोस्तु वारुणं मुख्यं तत्पुनः षड्विधं भवेत् । नित्यं नैमित्तिकं काम्यं क्रियाङ्गं मलकर्षणम् । क्रिया स्नानं तथा षष्ठं षोढा स्नानं प्रकीर्तितम् ।—स्मृतिचन्द्रिका पृ० ११ । 'इष्टापूर्तक्रियार्थं यत्क्रियाङ्गं स्नानमुच्यते ।—स्मृत्यर्थसार पृ० २७ । 'अशिरस्कं भवेत् स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणाम् । आर्द्रेण वाससा वापि मार्जनं दैहिकं विदुः ॥—अपरार्क पृ० १३५ । २. ब्रह्मचर्यमन्यस्य । ३ 'अस्नातस्तु पुमान्नार्हो जप्याग्निहवनादिषु । प्रातःस्नानं तदर्थं च नित्यस्नानं प्रकीर्तितम् ।—अपरार्क पृ० १२७ में उद्धृत । स्नात्वा देव स्पृशेन्नित्यं ब्रह्मचर्यविलोपने । स्नानाद्विना सदारस्य निष्फलो दैवतो विधिः ॥२२४॥ ब्रह्मचर्योपपन्नस्य सर्वारम्भविहिंसके । तोयस्नानं विना शुद्धिर्मन्त्रशुद्धो हि संयमी ॥२२५॥—प्रबोधसार । ४ 'यथाशक्त्यशरीरस्य कालशक्त्याद्यपेक्षया । मन्त्रस्नानादिकं सप्त वैदिकैः कथितं पुरा ॥ मान्त्रं भौमं तथाग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च । वारुणं मानसं चैव सप्त स्नानान्यनुक्रमात् ॥ आपो हिष्ठादिभिर्मान्त्रं मृदालम्भस्तु पार्थिवम् । आग्नेयं भस्मना स्नानं वायव्यं गौरजं स्मृतम् ॥ यत्तु सातपवर्षेण तद्दिव्यस्नानमुच्यते । वारुणं चावगाहस्तु मानसं विष्णुचिन्तनम् ॥ —स्मृतिचन्द्रिका पृ० १११ । ५ यत्नं कृत्वा (?) ।

वहिर्विहृत्य संप्राप्तो नानाचम्य[1] गृहं विशेत् ।
स्थानान्तरात्समायात सर्वं[2] प्रोक्षितमाचरेत्[3] ॥४७१॥
आप्लुतः[4] सप्लुतस्वान्तः[5] शुचिवासो विभूषितः ।
[6]मौनसंयमसम्पन्नः कुर्याद्देवार्चनाविधिम्[7] ॥४७२॥
दन्तधावनशुद्धास्यो मुखवासोचिताननः ।
असजातान्यसंसर्गः सुधीर्देवानुपाचरेत् ॥४७३॥
होमभूतवली[8] पूर्वैरुक्तौ[9] भक्तविशुद्धये ।
भुक्त्यादौ सलिलं सर्पिरूध[10]स्य च रसायन[11]म् ॥४७४॥
एतद्विधिर्न धर्माय नाधर्माय तदक्रिया ।
दर्भपुष्पाक्षतश्रोत्रवन्दनादि[12]विधानवत् ॥४७५॥
द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः ।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः[13] स्यादागमाश्रयः ॥४७६॥

जब बाहरसे घूम कर आये तो विना कुल्ला किये घरमें नहीं जाना चाहिए। दूसरी जगहसे आयी हुई सब वस्तुओंको पानी छिड़ककर ही काममें लाना चाहिए ॥४७१॥

स्नान करके, शुद्ध वस्त्र पहने, फिर शरीरको आभूषणोंसे भूषित करे और चित्तको वशमें करके मौन तथा सयमपूर्वक जिनेन्द्र देवकी पूजा करे ॥४७२॥ दातौनसे मुख शुद्ध करे और मुखपर वस्त्र लगाकर दूसरोंसे किसी तरहका सम्पर्क न रखकर जिनेन्द्र देवकी पूजा करे ॥४७३॥

पूर्व पुरुषोंने भोजनकी शुद्धिके लिए भोजन करनेसे पहले होम और भूतवलिका विधान किया है। भोजन करनेसे पहले होम पूर्वक अर्थात् प्राणियोंके उद्देश्यसे कुछ अन्न अलग निकालकर रख देना चाहिए। तथा भोजनके पहले पानी, घी और दूधके सेवनको रसायन कहा है। कुश, पुष्प, अक्षत, स्तवन, वन्दना वगैरह के विधानकी तरह उक्त विधि करनेसे न कोई धर्म होता है और न करनेसे न कोई अधर्म होता है। अर्थात्—ऊपर भोजनकी शुद्धिके लिए जो क्रिया बतलायी है उसके करनेसे धर्म नहीं होता और न करनेसे अधर्म नहीं होता है ॥४७४-४७५॥

गृहस्थोंका धर्म दो प्रकारका होता है—एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। इनमें-से लौकिक धर्म लोककी रीतिके अनुसार होता है और पारलौकिक धर्म आगमके अनुसार होता है ॥४७६॥

---

१ 'सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतानि च। पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचमेत् प्रयतोऽपि सन् ॥ १४५ ॥—मनुस्मृति ५ अ०। 'वहिरागतो नानाचम्य गृह प्रविशेत् ॥ १३ ॥—नीतिवाक्यामृत पृ० २५२। 'वहिर्विहृत्य । स्थानान्तरात् समानीते'।—धर्मरत्ना० पृ० १०३। २ वस्तु। ३ अभ्युक्षित्वा। ४ स्नात। ५ सद्वृतचित्तः। ६ मौनसंयमसम्पन्नैर्देवोपास्तिर्विधीयताम्। दन्तधावनशुद्धास्यैर्धौतवस्त्रपवित्रितैः ॥२२६॥—प्रबोधसार। ७ वासोवृत्तानन—सागारधर्मा० पृ० ६३ के पादटिप्पणमें पाठ है। ८. भोजनावसरे किञ्चिदग्नौ किञ्चित् प्राङ्गणेऽन्न क्षिप्यते। 'अध्यापन ब्रह्मयज्ञ पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो वलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥—मनुस्मृति, ३ अ०। ९ 'घृताधरोत्तरभुञ्जानोऽग्निं दृष्टिं च लभते ॥३४॥—नीतिवाक्यामृत, पृ० २५३। १० दुग्धम्। ११ मथितम्। १२ शकुनार्थं वन्द्यते (?) —'स्तोत्र वन्दनादि' पाठ सम्यक् प्रतीत होता है। क्योंकि प्रबोधसार (पृ० १९४) में लिखा है—'पुष्पादि स्तवनादिर्वा नैव धर्मस्य साधनम्'। १३ पारलौकिक.।

> जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधा।
> श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ॥४७७॥
> स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत्।
> तत्क्रियाविनियोगाय जैनागमविधिः परम् ॥४७८॥
> यद्भवभ्रान्तिनिर्मुक्तिहेतुधीस्तत्र दुर्लभा।
> संसारव्यवहारे तु स्वतःसिद्धे वृथागमः ॥४७९॥

तथा च—

> सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
> यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥४८०॥

इत्युपासकाध्ययने स्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिंशत्तमः कल्पः।

सब जातियाँ अनादि हैं और उनकी क्रिया भी अनादि है। उसमें वेद अथवा अ शास्त्र प्रमाण रहो, उससे हमारी कोई हानि नहीं है ॥४७७॥

रत्नकी तरह जो वर्ण अपने जन्मसे ही विशुद्ध होते हैं उन्हें उनकी क्रियाओंमें लगाने लिए जैनागमोंका विधान ही उत्कृष्ट है ॥४७८॥ क्योंकि शास्त्रान्तरोंमें संसार भ्रमणसे छूटने कारणोंमें मनको लगानेवाले ज्ञानका पाया जाना दुर्लभ है। रहा लौकिक व्यवहार, वह तो स्व सिद्ध है उसको अपनानेके लिए किसी आगमकी आवश्यकता नहीं है ॥४७९॥ तथा सभी जैन धर्मानुयायियोंको वह लौकिक व्यवहार मान्य है जिससे उनके सम्यक्त्वमें हानि न आती और न उनके व्रतोंमें दूषण लगता हो ॥४८०॥

भावार्थ—ऊपर ग्रन्थकारने भोजनकी शुद्धिके लिए भोजनसे पहले होम और भूतबलि विधान किया है। हिन्दू स्मृति-ग्रन्थोंमें गृहस्थके करने लायक पाँच यज्ञोंमें-से एक भूतयज्ञ बतलाया है। कौवा आदि जीवोंके लिए भोजन निकालनेको भूतयज्ञ कहते हैं, क्योंकि स्मृति कहा है—'भूतेभ्यो बलिहरणं भूतयज्ञः'। यह हिन्दू स्मृतियोंकी चीज ग्रन्थकारने यहाँ क्यों दी ऐसी शंका प्रत्येक पाठकको हो सकती है क्योंकि जैन परम्परामें इस तरहका कोई विधान नहीं है। उसका समाधान करनेके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कोई धार्मिक विधि नहीं है इसके करनेसे धर्म नहीं होता और न करनेसे अधर्म नहीं होता। किन्तु यह तो एक लौकिक शिष्टाचार है। गृहस्थका धर्म लौकिक भी होता है और पारलौकिक भी होता है। लौकिक धर्म लोकके रीति-रिवाजके अनुसार होता है। उसके लिए किसी शास्त्रीय विधानकी आवश्यकता नहीं है। जैसे जातियाँ हमेशासे चली आती हैं वैसे ही उनके रीति-रिवाज भी हमेशासे चले आते हैं। शायद कोई कहे कि उन जातियोंका चला आता हुआ रीति-रिवाज तो शास्त्रसम्मत है, हिन्दू-स्मृति-ग्रन्थोंमें उनका विधान है? तो ग्रन्थकार कहते हैं कि वह प्रमाण रहो, हमें उससे कोई हानि नहीं है; क्योंकि जो लोकाचार जैनोंके सम्यक्त्वमें हानि नहीं पहुँचाता और न उनके व्रतोंमें दूषण लगाता है वह हमें मान्य है। अतः यदि कोई लोकाचार अन्य शास्त्रोंसे प्रमाणित है और जैन भी उसे मानते हैं किन्तु उसके माननेसे न उनके सम्यक्त्वमें हानि आती है और न व्रतोंमें दूषण लगता है तो उसमें कोई बुराई नहीं है। किन्तु इस लोकाचारके सिवा जो वास्तविक

---

१ निरवद्यानाम्। २ तत्संसारभ्रमणमोचनमतिर्दुर्लभम्। ३ विवाहसूत्रमपि।

द्वये[1] देवसेवाधिकृताः संकल्पितात्तपूज्यपरिग्रहाः कृतप्रतिमापरिग्रहाश्च । संकल्पोऽपि दलफलोपलादिष्विव न समयान्तर[2]प्रतिमासु विधेयः । यतः—

शुद्धे वस्तुनि संकल्पः कन्याजन इवोचितः ।
नाकारान्तरसंक्रान्ते यथा परपरिग्रहे ॥४८१॥

तत्र प्रथमान्[3] प्रति समयसमाचारविधिमभिधास्यामः । तथा हि—

अर्हन्नतनुर्[4]मध्ये दक्षिणतो गणधर[5]स्तथा पश्चात् ।
श्रुतगीः[6] साधुस्तदनु च पुरोऽपि दृगवगमवृत्तानि ॥४८२॥
भूर्जे फलके सिचये[7] शिलातले सैकते[8] क्षितौ व्योम्नि ।
हृदये चैते स्थाप्याः समयसमाचारवेदिभिर्नित्यम् ॥४८३॥
रत्नत्रयपुरस्काराः पञ्चापि परमेष्ठिनः ।
भव्यरत्नाकरानन्दं कुर्वन्तु भुवनेन्दवः ॥४८४॥

धर्म है वह तो जैन शास्त्रोके सिवा अन्य शास्त्रोंमें नहीं पाया जाता। वह वास्तविक धर्म है, संसार-भ्रमणसे छूटनेके जो कारण है उनमें मनका लगना। इस धर्मका सच्चा व्याख्यान तो जैन शास्त्रोंमें ही है और वे ही इस विषयमें प्रमाण है। अतः भोजनके प्रारम्भमें भूतबलिका विधान कोई धार्मिक विधान नहीं है वह तो लोकाचार है। जैन घरानोंमें तवेकी पहली रोटी मन्दिरके माली को देनेकी जो प्रथा है वह शायद उसी लोकाचारका जैन रूप है।

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें 'स्नानविधि' नामका चौंतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

देवपूजाकी विधि

देवपूजाके दो रूप हैं—एक तो पुष्प वगैरहमें जिन भगवान्‌की स्थापना करके पूजा की जाती है और दूसरे, जिन-बिम्बोंमें जिन भगवान्‌की स्थापना करके पूजा की जाती है। किन्तु जिस प्रकार पुष्प फल या पाषाणमें स्थापना की जाती है उस तरह अन्य देव हरि-हरादिककी प्रतिमामें जिन भगवान्‌की स्थापना नहीं करना चाहिए; क्योंकि जैसे शुद्ध कन्यामें ही पत्नीका संकल्प किया जाता है दूसरेसे विवाहितमें नहीं, वैसे ही शुद्ध वस्तुमें ही जिन देवकी स्थापना करना उचित है, जो अन्यरूप हो चुकी है उसमें स्थापना करना उचित नहीं है ॥४८१॥

ऊपर जो दो प्रकारके पूजक कहे हैं उनमेंसे पुष्पादिकमें जिन भगवान्‌की स्थापना करके पूजा करनेवालोंके लिए पूजाविधि बतलाते हैं—पूजाविधिके ज्ञाताओंको सदा अर्हन्त और सिद्धको मध्यमें, आचार्यको दक्षिणमें, उपाध्यायको पश्चिममें, साधुको उत्तरमें और पूर्वमें सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको क्रमसे भोजपत्रपर, लकड़ीके पटियेपर, वस्त्रपर, शिलातलपर, रेत निर्मित भूमिपर, पृथ्वीपर, आकाशमें और हृदयमें स्थापित करना चाहिए ॥४८२-४८३॥

सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रयसे भूषित और जगत्‌के लिए चन्द्रमा-के तुल्य पाँचों परमेष्ठी भव्य जीवरूपी समुद्रको आनन्दित करें ॥४८४॥

---

१. द्विप्रकारा । २ अन्यदेवहरिहरप्रतिमाविषये जिनसंकल्पो न क्रियते । ३ संकल्पिताप्तपूज्यपरि-ग्रहान् प्रति धर्मोपदेशं दास्यामः । ४ सिद्ध । ५ आचार्य । ६ उपाध्याय । ७ वस्त्रे । ८ पुलिने ।

ॐ निखिलभुवनपतिविहितनिरतिशयसपर्यापरम्परस्य परापेक्षापर्यायप्रवृत्त
सर्वावलोकलोचनकेवलज्ञानसाम्राज्यलाञ्छनपञ्चमहाकल्याणाष्टमहाप्रातिहार्यचतुस्त्रिंश
दतिशयविशेषविराजितस्य घोरश्लाघ्यलक्षणसहस्राष्टदिव्यदेहमाहात्म्यस्य द्वादशगणाग्रमु
मुनिमनःप्रणिधानसंनिधीयमानपरमेश्वरपरमसर्वज्ञादिनामसहस्रस्य विरहितारिरजोर
हस्यस्य समवसरणसरोवतीर्णजगत्त्रयपुण्डरीकपद्मबन्धुमण्डलस्य दुस्तारसंसार
जलनिमज्जज्जन्तुजातहस्तावलम्बपरमागमस्य भक्तिभरविनतविष्टपत्रयीपालमौलिमणि
रोचिर्गगनमोचितनक्षत्रमालायमानचरण[नख]मयूखनिकुरम्बस्य सरस्वतीवरप्रसादचिन्तामणेर्लक्ष्मी
निकेतकल्पानोकहस्य कीर्तिपोर्तिकामधेनुनामधेयमोरथीनिपरिचयमहीकारकारणो
नैमात्रमन्त्रप्रभावस्य सौभाग्यसौरभसपादनपारिजातप्रसवस्तवकस्य सौरूप्योत्पत्ति
कोरिकापटमविकटाकारस्य रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतोऽर्हत्परमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टि
मीति स्वाहा।

अपि च—

नरोरगसुराम्भोजविरोचनमरोचिभियम्।
आरोग्याय जिनाधीशं करोम्यर्चनगोचरम् ॥४८४॥

अर्हन्तपूजा

समस्त लोकपतियोंने जिनकी लगातार परमोत्कृष्ट पूजा की है, दूसरोंकी सहाय
बिना समस्त पदार्थोंको देखनेवाले लोचनके तुल्य केवलज्ञानरूपी साम्राज्य जिनका चि
और जो पाँच महाकल्याणकों, आठ प्रातिहार्यों और चौंतीस अतिशयोंसे सुशोभित हैं, जि
दिव्य औदारिक शरीर एक हजार आठ लक्षणोंसे युक्त है बारह गणोंके प्रमुख महामुनि जि
परमेश्वर परम सर्वज्ञ आदि एक हजार आठ नामोंका चिन्तन अपने मनमें करते हैं, जो ज्ञ
वरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तरायरूप घातियाकर्मोंसे रहित हैं, जो समवसरण
सरोवरमें आये हुए तीन जगत्के भव्य जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्यके स
हैं, जिनके द्वारा उपदिष्ट परमागम दुष्पार संसाररूपी समुद्रमें डूबते हुए प्राणियोंके लिए ह
वलम्बरूप है, भक्तिके भारसे विनत हुए तीनों लोकोंके स्वामियोंके मुकुटोंकी मणियोंकी प्रभारि
रूपी आकाशमें जिनके चरणनख खिले हुए नक्षत्र-समूहकी तरह प्रतीत होते हैं, जो सरस्वती
वरका प्रसाद देनेके लिए चिन्तामणि हैं, लक्ष्मीरूपी लताके लिए कल्पवृक्षके तुल्य हैं, कीर्ति
लक्ष्मीके पोषणके लिए कामधेनु हैं जिनके नाम मात्र मंत्रका प्रभाव नरकगतिकी संगति
तिरस्कृत करनेवाला है। सौभाग्यरूपी सुगन्धिको देनेके लिए जो पारिजात वृक्षके पुष्पगुच्छ
तुल्य हैं, तथा सौरूप्यकी उत्पत्तिरूपी भमिभद्रित पुतलीके निर्माणके लिए जो स्वर्णका
तुल्य हैं, रत्नत्रयसे भूषित उन भगवान् अर्हन्त परमेष्ठीकी मैं आठ द्रव्यसे पूजा करता हूँ।

तथा मैं आरोग्य प्राप्तिके लिए मनुष्य, नाग और देवरूपी कमलोंके लिए सूर्यकी शोभा
धारण करनेवाले जिनेन्द्र देवकी पूजा करता हूँ ॥४८५॥

---

१ नरपतयः—आ। २ अतिशोभित। रजो ज्ञानदर्शनावरणद्वयम्। रहः अन्तराय। दुरर्थ—
सागर। ३ आकाशकमलीकृत—अंगार। ४ निवास एव भव। ५ स्थान। ६ मंजिका। ७ अधीयमान
अतिशयेन तस्य परिचय भवति। ८ कामनाय—भु। दुर्नाशिका। १ स्वर्णकारक। ११ पूर्व।

ॐ सहचरसमीचीनचारित्रयविचारगोचरोचितहिताहितप्रविभागस्य अतएव परनिरपेक्षतया स्वयंभुवः सलिलान्मुक्ताफलमिव उपलादिव च काञ्चनमस्मादेवात्मनः कारणविशेषोपसर्पणवशादाविर्भूतमखिलमलविलयलब्धात्मस्वभावमसममसहायमक्रममवधीरितान्यसंनिधिव्यवधानमनवधिमयत्नसाध्यमवसितातिशयसीमानमात्मस्वरूपैकनिबन्धनमन्तःप्रकाशमध्यासितवन्तमनन्तदर्शनवैशद्यविशेषसाक्षात्कृतसकलवस्तुसर्वस्वमनवसानसुखस्रोतसमपर्यन्तवीर्यमचाक्षुषसूक्ष्मावभासमसदृशाभिनिवेशावगाहमलघुगुरुव्यपदेशमपगतबाधापराकारसंक्रममतिविशुद्धस्वभावतया निवृत्ताशेषशारीरद्वारतया च मनागमुक्तपूर्वावस्थान्तरमरूपरसगन्धशब्दस्पर्शमशेषभुवनशिरःशेखरायमाणपदं विश्वंभरमुपशान्तसकलसंसारदोषप्रसरं परमात्मानमुपेयुषो गुरुणापि प्रतिपन्नगुरुभावस्य रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा।

अपि च—

प्रत्नकर्मविनिर्मुक्तान्नूत्नकर्मविवर्जितान्।
यत्नतः संस्तुवे सिद्धान् रत्नत्रयमहीयसः ॥४८६॥

सिद्धपूजा

जिनका हित-अहितका विवेक एक साथ रहनेवाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रके विचारके विषयके योग्य है, इसीलिए जो परनिरपेक्ष होनेके कारण स्वयभू है, जैसे जलसे मोती और पाषाणसे स्वर्ण प्रकट होता है वैसे ही इसी ससारी आत्मासे विशेषकारणोंके मिलनेसे जो प्रकट हुआ है, समस्त कर्ममलके नष्ट हो जानेसे जो अपने स्वभावको प्राप्त है, सहाय रहित, क्रमरहित, अन्यकी निकटता और दूरीको तिरस्कृत कर देनेवाले, सीमारहित, अयत्न-साध्य, निरतिशय, आत्मस्वरूप ही जिसका एकमात्र कारण है, जो अन्त प्रकाशरूप है, अनन्त दर्शनकी विशेष निर्मलताके कारण जिसने समस्त वस्तुओंके सारका साक्षात्कार कर लिया है, जो अनन्त सुखका स्रोत है, अनन्तवीर्यसे युक्त है, चक्षुके अगोचर सूक्ष्म पदार्थोंको जानता है, क्षायिक सम्यक्त्व, अवगाहनत्व और अगुरु-लघु गुणोंसे विशिष्ट है, बाधा तथा परके आकार रूप सक्रमण करनेसे रहित है, अत्यन्त विशुद्ध स्वभाव होनेसे तथा समस्त शारीरिक द्वारोंके हट जानेसे जो पूर्व अवस्थासे छुटकारा पा चुका है, जो रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शसे रहित है, जिसके चरण समस्त लोकोंके सिरपर अर्थात् ऊपर मुकुटके तुल्य शोभायमान है, और जिसके समस्त सासारिक दोष उपशान्त हो गये है, ऐसे परमात्मा पदको प्राप्त कर लेनेवाले, और परमगुरु तीर्थङ्कर भी जिन्हें गुरु मानते है, रत्नत्रयसे शोभित उन सिद्ध परमेष्ठीकी मै आठ द्रव्योंसे पूजा करता हूँ।

पुराने कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हुए और नवीन कर्मोंके आस्रवसे रहित तथा रत्नत्रयसे महान् उन सिद्धोंका मै यत्नपूर्वक स्तवन करता हूँ ॥४८६॥

भावार्थ—ऊपर सिद्ध परमेष्ठीका स्वरूप बतलाया है। ससारी आत्मा ही स्वय कारण मिलनेपर पहले अर्हन्त पर्यायको प्राप्त करता है और तत्पश्चात् सिद्ध पर्यायको प्राप्त करता है।

---

१ मतिश्रुतावधिश्च। २ पूर्वससारिण। ३ आगमन। ४ मसमस—अ० ज० मु०। ५ अभिनिवेश सम्यक्त्वम्। ६ स्थानम्। ७ परमतीर्थङ्करदेवेन। ८ पुरातन।

ॐ पूज्यतमस्य उदितोदितकुलशीलगुरुपरम्परोपात्तसमस्तैतिह्यरहस्यसारस्य अध्ये पनाध्यापनविधिभिर्योगविनयनियमोपनयनादिक्रियाकाण्डनिष्णातचित्तस्य चातुर्वर्ण्यसंघप्रवर्धनधुरन्धरस्य द्विविधात्मकधर्मावबोधनविधूतैहिकव्यपेक्षासंबन्धस्य सकलवर्णाश्रमसमयसमाचारविचारोचितवचनमयूखप्रभापीयूषविविधलिताखिलजगदाशयपद्मिनीमिथ्यात्वमहामोहान्धकारपटलस्य ज्ञानतपःप्रभावप्रकाशितजिनशासनस्य शिष्यप्रशिष्यसंपदारोपमिव भुवनमुद्धर्तुमुद्यतस्य भगवतो रत्नत्रयपुरःसरस्याचार्यपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा।

अपि च—

विचार्य सर्वमैतिह्यमाचार्यकमुपेयुषः।
आचार्यवर्यानर्चामि संचार्य हृदयाम्बुजे ॥४८७॥

ॐ श्रीमद्भगवदर्हद्वदनारविन्दविनिर्गतद्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णविस्तीर्णश्रुतपारावार-

---

चार घातिकर्म नष्ट हो जानेपर आत्मामें अनन्तदर्शन अनन्तज्ञान आदि गुण प्रकट हो जाते हैं। ये परनिरपेक्ष होते हैं, इन्द्रियादिकी सहायताके बिना केवल आत्मासे ही होते हैं तथा सदा स्थायी होते हैं। शेष चार अघातिकर्मोंके नष्ट हो जानेपर शरीर भी छूट जाता है किन्तु मुक्तावस्थामें शरीरके नहीं होनेपर भी आत्माका भाव कुछ न्यून वही आकार बना रहता है, जो पूर्व शरीरका आकार होता है। आत्मा स्वभावसे अमूर्तिक है अतः आत्मामें रूप रस वगैरह गुण नहीं होते क्योंकि रूपादि पुद्गलके गुण हैं। इसलिए मुक्तात्मा इन गुणोंसे शून्य होता है और आत्मिक गुणोंसे सम्पन्न होता है। सिद्ध परमेष्ठी तीर्थङ्करोंके भी गुरु होते हैं, क्योंकि तीर्थङ्कर उन्हींके स्मरणपूर्वक जिनदीक्षा धारण करते हैं, इस लोकमें अन्य कोई उनका गुरु नहीं होता।

आचार्यपूजा

जो अत्यन्त पूजनीय हैं, अति उन्नत कुल शीलवाले और गुरुपरम्परासे प्राप्त समस्त शास्त्रोंके रहस्यके ज्ञाता हैं, पढ़ना-पढ़ाना, व्याख्यान, विनय नियम, दीक्षादान आदि क्रियाकाण्डमें जो परम प्रवीण हैं, मुनि-आर्यिका और श्रावक-श्राविकाके भेदसे चार प्रकारके संघकी वृद्धिमें धुरन्धर—अग्रेसर हैं, गृहस्थ और मुनिधर्मके ज्ञानके कारण जो इस लोकसम्बन्धी समस्त सम्बन्धोंसे निरपेक्ष होते हैं, जो समस्त वर्णों और आश्रमोंकी आगमिक क्रियापद्धतिके विचारसे पूर्ण वचनरूपी किरणोंके द्वारा समस्त जनतारूपी कमलिनीके महामिथ्यात्व मोहरूपी अन्धकारपटलको दूर करते हैं, अपने ज्ञान और तपके प्रभावसे जिन-शासनको प्रकाशित करते हैं, शिष्य-प्रशिष्य परम्पराके द्वारा समस्त लोकका उद्धार करनेमें तत्पर रहते हैं, रत्नत्रयसे शोभित उन भगवान् आचार्य परमेष्ठीकी मैं आठ द्रव्योंसे पूजा करता हूँ।

समस्त शास्त्रोंका विचार करके आचार्य पदको प्राप्त हुए श्रेष्ठ आचार्योंको अपने हृदयकमलमें विराजित करके पूजा करता हूँ ॥४८७॥

उपाध्यायपूजा

जो श्रीमान् भगवान् अर्हन्त देवके मुखकमलसे निकले हुए बारह अङ्गों चौदह पूर्वों और

---

१ उदितोदित—अ ब मु। आत्मावरणपूतम्। २ पठन-पाठन। ३ व्याख्यानम्। ४ दीक्षावतारोपणादिविधि। ५ वर्तितापवर्तन।

पारंगमस्य अपारसंपरा[1]यारण्यविनिर्गमानुपसर्गमार्गमार्गणनिरतविनेयजनशरण्यस्य दुरन्तै-कान्तवादमदमषीमलिनपरवादिकरिकण्ठीरवोत्कण्ठकण्ठार[2]व्यमाणप्र[3]माणन[4]यनि[5]क्षेपानुयो[6]ग-वाग्व्यतिकरस्य श्रवणग्रहणावगा[7]हनावधारणप्रयो[8]गवाग्मित्वकवित्वगमकशक्तिविस्मापित-विनतनरनिलिम्पाम्बरचरचक्रवर्तिसीमन्तप्रान्तपर्यस्तो[9]त्तंसस्रक्सौरभाधिवासितपादपीठोपक-ण्ठस्य व्रतविधान[10]वद्यहृदयस्य भगवतो रत्नत्रयपुरःसरस्य उपाध्यायपरमेष्ठि[,]नोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा ।

अपि च—

अपास्तैकान्तवादीन्द्रानपारागमपारगान् ।
उपाध्यायानुपासेऽहमुपायाय[11] श्रुताप्तये ॥४८८॥

ॐ विदित[12]वेदितव्यस्य वाह्याभ्यन्तराचरणकरण[13]त्रयविशुद्धित्रिप[14]थगापगाप्रवाहनिर्मू-लितमनोजकुजकुटुम्बाडम्बरस्य अमराम्बरचरनरनितम्बि[15]नीकदम्बनदप्रादुर्भूतमदनमदमकर-न्ददुर्दिनविनोदारविन्दच[16]न्द्रायमाणोदितोदितव्रतव्राता[17]पहसितार्वाचीनचरित्रच्युत[18]विरिञ्चवि-

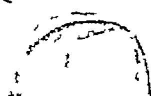
अंगवाह्योंके रूपमें विस्तीर्ण श्रुतरूपी समुद्रके पारगामी होते हैं, जो अपार ससाररूपी महावनसे निकलनेके लिए उपसर्ग-रहित मार्गकी खोजमें लगे हुए शिष्यजनोंके लिए शरणभूत हैं, दुरन्त एकान्तवादरूपी मदकी कालिमासे मलिन परवादी रूपी हाथियोंके लिए प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोगसे युक्त जिनका वचनसमूह सिंहकी गर्जनाके तुल्य होता है, श्रवण (सुनना), ग्रहण, मन्थन, अवधारण (याद रखना), प्रयोग, वाग्मित्व (पाण्डित्यपूर्ण वचन बोलनेकी कला), कवित्व और गमक शक्ति (समझाने की शक्ति) के द्वारा आश्चर्ययुक्त किये गये विनत (नमस्कार करते हुए) मनुष्यों, देवों और विद्याधरोंके स्वामियोंके केशोंसे नीचे गिरी हुई मालाओंकी सुगन्धसे जिनके चर-णोंके आसनका निकट भाग सुवासित है, और जो व्रतविधानमें निर्दोष हृदय हैं, उन रत्नत्रयसे भूषित भगवान् उपाध्याय परमेष्ठीकी आठ द्रव्योंसे पूजा करता हूँ ।

प्रमुख एकान्त वादियोंको हरानेवाले और अपार श्रुत-समुद्रके पारगामी उपाध्याय परमेष्ठी-की मैं पुण्य और श्रुतकी प्राप्तिके लिए उपासना करता हूँ ॥ ४८८ ॥

साधुपूजा

जो कुछ जानने योग्य है उसे जिन्होंने जान लिया है; बाह्य और आभ्यन्तर आचरण पूर्वक मन, वचन, कायकी विशुद्धिरूपी गङ्गानदीके प्रवाहसे जिन्होंने कामदेवरूपी वृक्षके कुटुम्बके आडम्बरको जड़-मूलसे उखाड़ कर फेंक दिया है, देवाङ्गना, विद्याधरी और नारियोंके समूहरूप नदीमें उत्पन्न हुए काममदरूपी पुष्पमधुसे युक्त विनोदरूपी कमलके लिए चन्द्रमाके तुल्य अपने

१ ससाराटवी । २ शब्दायमान । ३. वस्तुयाथात्म्यप्रतिपत्तिहेतु प्रमाणम् । ४. प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशनिरूपणप्रवणो नय । ५ शब्दसकल्पयोग्यतास्वरूपैर्वस्तुव्यवस्थापनहेतुर्निक्षेप । ६. सामान्यविशेषाभ्यामशेषपदार्थावगमपक्ष. अनुयोग. । ७. अवगाहनम्–विमर्शनम् । ८ प्रयोग शास्त्रार्थख्यापनम् । ९ अध -पतित । १० व्रतविधावन–न० । ११ उप समीपे अय शुभावहो विधिर्यस्य स उपाय. पुण्यमित्यर्थ । पुण्यार्थं च । १२ ज्ञाततत्त्वस्य । १३ मनोवाक्काय । १४ गगा । १५ स्त्रीसमूहह्रदोत्पन्न । १६ कमलसकोच-कारक । १७ व्रात —समूह । १८ ब्रह्मा ।



योगमाविर्भावोनसरसस्य अनेकशस्त्रिभुवनक्षोभविधायिभिर्ध्यानधैर्योपधृतविघ्नव्यूहैर-नन्यजनसामान्यवृत्तिभिरगोचरातिचरैराश्चर्यप्रभावभूमिभिरनवधारितविधानैस्तैस्तैर्मूलोत्तरगुणग्रामणीभिस्तपःप्रारम्भैः सकलैहिकसुखसाम्राज्यपदप्रदानायाहूतैरायातैरपारितविस्मितोपनतवनदेवतालकालिकुलविलुप्यमानचरणसरसिरुहपरागस्य निर्वाणपथप्रस्थितमनसो रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतः सर्वसाधुपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा।

अपि च—

बोधापगाप्रवाहेण विध्यातानङ्गवह्नय[1]।
विध्याराध्यक्रमाः[5] सन्तु साध्यबोध्याय[6] साधवः ॥८८९॥

ॐ जिनजिनागमजिनधर्मजिनोक्तजीवादितत्त्वाय भावमेवमयविजृम्भितनिरतिशयाभि-निवेशाधिष्ठानासु शङ्काविरहमुक्ताकाङ्क्षाव्यावहावगकुमलवर्जितध्यवसायासु प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्यस्तम्भसंभृतासु स्थितिकरणोपगूहनवात्सल्यप्रभावनोपरचितोत्सवसपर्यासु अनेकविधविशेषनिर्मापितभूमिकासु सुकृतिचेतःप्रासादपरम्परासु कृतक्रीडाविहारमपि च निसर्गा-

---

उपशमशील व्रतसमूहसे जिन्होंने चारित्रसे डिगे हुए प्राचीन ब्रह्मा, विरोचन आदि ऋषियोंके तापसरसको तिरस्कृत कर दिया है; अनेक बार तीनों लोकोंको क्षोभित कर देनेवाले, ध्यानकी स्थिरतासे समस्त विघ्नोंके व्यूहको तिरस्कृत कर देनेवाले, असाधारण मनके अगोचर आश्चर्यकारक प्रभाववाले और मूलगुण तथा उत्तरगुणोंमें प्रमुख नाना प्रकारके तपोंके अभ्याससे (क्षुभित होकर) समस्त इस लोकसम्बन्धी सुखोंके साम्राज्यका वर देनेके लिए आये हुए और तिरस्कृत होनेपर आश्चर्यसे नत हुए वनदेवताओंके केशरूपी भ्रमरोंके द्वारा जिनके चरण-कमलका पराग विलुप्त कर दिया गया है; और जो मोक्षके मार्गमें संलग्न हैं, रत्नत्रयसे भूषित उन सर्व साधु परमेष्ठीकी आठ द्रव्योंसे पूजा करता हूँ।

ज्ञानरूपी नदीके प्रवाहसे जिन्होंने कामरूपी अग्निको बुझा दिया है और जिनके चरण विधि-पूर्वक पूजनीय हैं, वे साधु आत्माकी साधनाके लिए होंवे ॥८८९॥

सम्यग्दर्शनपूजा

जिन, जिनागम, जिनधर्म और जिन भगवान्‌के द्वारा कहे हुए तत्त्व ही ठीक हैं, अन्य ठीक नहीं हैं इस प्रकारकी आस्थासे भरे हुए निरतिशय परिणामस्थानोंसे युक्त; शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा और मूढ़ दृष्टिरूपी शल्योंसे रहित; प्रशम, संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्यरूपी स्तम्भोंसे सहित, स्थितिकरण, उपगूहन, वात्सल्य और प्रभावना सम्बन्धी उत्सवोंके समारोहसे भूषित, और देवोंके अनेक भेदोंके द्वारा जिसके कक्षोंका निर्माण हुआ है ऐसे पुण्यात्माओंके चित्तरूपी महलों-की पंक्तिमें जो क्रीड़ा-विहार करता हुआ भी निसर्गसे ही महामुनियोंके मनरूपी समुद्रसे परिचित है, समस्त भरत ऐरावत और विदेह क्षेत्रोंमें होनेवाले चक्रवर्ती चूड़ामणियों (तीर्थङ्करों) का कुल

---

१ तापसः। २ विघ्न। ३ अगम्यैः। ४ सावधान। ५ पूजाविधिना आराध्याः क्रमाः चरणा येषाम्। ६ साध्यो बोध्य आत्मा यस्य तत् साध्यबोध्यं तस्मै। ७ जमोन-अन्यमोक्षमार्गेष्वेव जिनदेव एव जिन एव देव इत्यादि। ८. सर्वेषां सम्यग्दृष्टीनामभिप्रायाः परिणामाः समाना एव भवन्ति न न्यूनाधिकाः। ९. आकांक्षा विचिकित्सा मूढदृष्टि एतानि चत्वारि।

न्महामुनिमनःपयोधिपरिचित अशेषभरतैरावतविदेहवर्षधरचक्रवर्त्तिचूडामणिकुलदेवतं अमरेश्वरमतिदेवतावतंसकल्पवल्लीपल्लव अम्बरचरलोकहृदयैकमण्डन अपवर्गपुरप्रवेशागण्यपुण्यपण्यात्मसात्करणसत्यंकारं अनुल्लङ्घ्य यदुरघघनघटादुर्दिनेष्वपि जन्तुषु ज्योतिर्लोकादिगतिगर्तपातनतमस्काण्डभेदनमामनन्ति मनीषिणः, तस्य संसारपादपोच्छेदप्रथमकारणस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यग्दर्शनरत्नस्याष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा।

अपि च—

मुक्तिलक्ष्मीलतामूलं युक्तिश्रीवल्लरीवनम्[2]।
भक्तितोऽर्हामि सम्यक्त्वं भुक्तिचिन्तामणिप्रदम्[3] ॥४६०॥

ॐ यन्निखिलभुवनतार्तीयलोचनम्, आत्महिताहितविवेकयाथात्म्यावबोधसमासादितसमीचीनभावम्, अधिगमसम्यक्त्वरत्नोत्पत्तिस्थानम्, अखिलास्वपि दशासु क्षेत्रज्ञस्वभावसाम्राज्यपरमलाञ्छनम्, अपि च यस्मिन्निदानीमपि नदीस्नातचेतोभिः सम्यगुपाहितोपयो-

देवता है; देवेन्द्रोंकी बुद्धिदेवताको भूषित करनेके लिए कल्पलताके पल्लवके समान है, विद्याधरोंके हृदयका अद्वितीय भूषण है, मोक्षपुरीमें प्रवेश पानेके लिए जिस असंख्य पुण्यरूपी मुद्राकी आवश्यकता होती है, उसके होनेका जो प्रमाणपत्र है, जिसे शास्त्रज्ञ गण अटल महापापरूपी मेघोंकी घटासे ग्रस्त जीवोंके भी ज्योतिर्लोक आदि गतिरूपी गड्ढोंमें गिरानेवाले पापरूपी अन्धकारके पटलका भेदन करनेवाला मानते है, अर्थात् पापी-से-पापी जीवको भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जानेपर प्रथम नरकके सिवाय शेष नरकों और भवनत्रिक देव निकाय आदिमें जन्म लेना नहीं पड़ता. उस ससाररूपी वृक्षको काटनेमें प्रथम कारण, समस्त मङ्गलोंके विधाता और पञ्चपरमेष्ठीके पुरस्कर्ता भगवान् सम्यग्दर्शनकी आठों द्रव्योंसे पूजा करता हूँ।

जो मुक्ति लक्ष्मीरूपी लताका मूल है, युक्ति लक्ष्मीरूपी वेलके लिए जलके तुल्य है और जिससे भोग सामग्री प्राप्त होती है उस चिन्तामणिको देनेवाला है, उस सम्यग्दर्शनकी मै भक्तिपूर्वक पूजा करता हूँ ॥ ४६० ॥

सम्यग्ज्ञानपूजा

जो समस्त लोकोंका तीसरा नेत्र है, या समस्त लोकोंको देखनेके लिए तीसरे नेत्रके तुल्य है (क्योंकि ज्ञानके द्वारा ही सब जगत्को जाना जा सकता है), आत्माके हित-अहितके विवेक पूर्वक ठीक-ठीक जाननेके द्वारा ही जिसे समीचीनपना प्राप्त है अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको वैसा ही जानने मात्रसे ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं होता किन्तु आत्माके हिताहितको विवेकपूर्वक यथार्थ जाननेसे ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है; जो अधिगम सम्यग्दर्शनरूपी रत्नकी उत्पत्तिका स्थान है (क्योंकि परोपदेशपूर्वक जीवादि तत्त्वोंको जानकर जो सम्यक्त्व होता है उसे अधिगम सम्यग्दर्शन कहते हैं), सब दशाओंमें आत्मस्वभावरूपी साम्राज्यका उत्कृष्ट चिह्न है अर्थात् जीवकी प्रत्येक अवस्थामें ज्ञान ही उसका उत्तम चिह्न है उसीके द्वारा जीवको जाना जाता है; तथा आज भी सरस्वती रूपी नदीमें स्नान करनेसे जिनके चित्त निर्मल हो गये हैं ऐसे विद्वानोंके द्वारा सम्यक्रूपसे अपने उपयोगको विशुद्ध कर लेनेपर उनके ज्ञानमें सूर्यकान्तमणिके दर्पणकी तरह स्वभावसे ही

१ पाप। २ जलम्। ३ भुक्तिरेव चिन्तामणि (?)। ४ तृतीय। ५ ज्ञाने। ६ न केवलं केवलिना तीर्थे। ७. सरस्वत्या स्नातचित्तैर्विद्वद्भिः। ८ आरोपित। ९ ज्ञान।

गतमात्मने युगपदिमेणिवर्पण इव साक्षान्नयन्ति ते ते मार्थैकसंप्रत्ययाः स्वमोपक्षेत्रसमवबि-प्रकाºं पिण्डोऽपि भावास्तस्या रमसामनिवन्धनोमपदे बुधिविदयविचित्रपरिणतिभिर्मतिश्रुता-वधिमनःपर्ययकेवलै पञ्चतयीमवस्थामवगाहमानस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुर सरस्य भगवतः सम्यग्ज्ञानरत्नस्याष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा।

अपि च—

नेत्रं हिताहितालोके सूत्रं धीसौधसाधने।
पात्रं पूजाविधेः कुर्वे क्षेत्रं लक्ष्म्याः समागमे ॥४११॥

ॐ यस्सकललोकालोकावलोकनप्रतिव पकान्धकारविध्वंसनम्, अनवद्यविद्याम्भा किनीनिवानमेदिनीधरम्, भरोपसत्वोत्सवानन्दचन्द्रोदयम्, अखिलव्रतगुप्तिसमितिलतारामपुष्पाकरसमयम्, अनल्पफलसम्पादितपःकल्पद्रुमप्रसवभूमिमस्मयोपशमसौमनस्यधृतिधैर्य प्रधानैरनुष्ठीयमानमुशन्ति सुधीधनाः परमपदप्राप्तेः प्रथममिव सोपानम्, तस्य पञ्चतयीसमताः सर्वाङ्गेपोपशमातिशयावसानस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः

सूक्ष्म परमाणु वगैरह, क्षेत्रकी अपेक्षा दूरवर्ती सुमेरु वगैरह और कालकी अपेक्षा दूरवर्ती राम, रावण आदि स्वात्माके द्वारा अनुभवनीय पदार्थ प्रत्यक्ष गोचर प्रतीत होते हैं; वह ज्ञान यद्यपि एक है किन्तु अपनी उत्पत्तिके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणोंसे होनेवाली विचित्र परिणतिके द्वारा मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञानके भेदसे उसकी पाँच अवस्थाएँ हो गयी हैं, उस समस्त मंगलोंके कर्ता और पञ्चपरमेष्ठीके पुरस्कर्ता भगवान् सम्यग्ज्ञानकी आठ द्रव्योंसे पूजा करता हूँ।

जो हित और अहितको देखनेमें नेत्रके समान है बुद्धिरूपी महलको साधनेमें सूत्रके (जिससे मापकर मकान बनाया जाता है) समान है तथा लक्ष्मीके समागमके लिए क्षेत्रके समान है, उस सम्यग्ज्ञानको मैं पूजाविधिका पात्र बनाता हूँ अर्थात् उसकी मैं पूजा करता हूँ ॥४११॥

सम्यक्चारित्रपूजा

जो समस्त लोक और अलोकके देखनेमें रुकावट डालनेवाले अज्ञानान्धकारको नष्ट कर देता है, निर्दोष विद्या (ज्ञान) रूपी गङ्गाके उद्गमके लिए हिमाचलके समान है अर्थात् जैसे हिमाचलसे गङ्गा निकलती है वैसे ही चारित्रकी आराधनासे निर्मलज्ञान प्रकट होता है; जो समस्त प्राणियोंके आनन्दके लिए चन्द्रोदयके समान है, अर्थात् जैसे चन्द्रमाका उदय होनेपर सबको आनन्द होता है वैसे ही चूँकि चारित्र सब जीवोंकी रक्षाका पक्षपाती है अतः सबके लिए आनन्ददायक है, समस्त व्रत गुप्ति और समितिरूपी लताओंके उद्यानके लिए वसन्त ऋतुके समान है अर्थात् जैसे वसन्त ऋतुमें उद्यानोंमें सभी लताएँ पुष्पित हो जाती हैं वैसे ही चारित्रके धारण करनेपर व्रतादि भी खिल उठते हैं; जो बहुत फल देनेवाले तपरूपी कल्पवृक्षका उत्पत्ति स्थान है गर्वरहित प्रशमभाव मनकी सौम्यता और धीरता आदिके द्वारा पालन किये जानेवाले ऐसे चारित्रको निर्मल बुद्धिके धनी महात्मा मोक्षपदकी प्राप्तिका प्रथम सोपान (सीढ़ी) मानते हैं। सामायिक, छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात चारित्रके भेदसे

१ सुवर्णकान्तमुकुरे। २ स्वात्मानुभवनीया जीवादिपदार्थाः। ३ केवल भावाः स्वभावेन दूराः केवल क्षेत्रापेक्षया दूराः केवल कालापेक्षया। ४ दूरतरा। ५. सम्यग्ज्ञानस्य। ६ अन्तरंगो बाह्यश्च। ७ केवलज्ञानहिमाचलम्। ८. वसन्त। ९. अगर्व। १० सामायिकादिपञ्चप्रकारस्य। ११ मनोवाक्काय-प्रमादाचारसमपर्यन्तस्य।

सम्यक्चारित्ररत्नस्याष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा।

अपि च—

धर्मे योगिनरेन्द्रस्य[1] कर्मवैरिजयार्जने।
शर्मकृत्सर्वसत्त्वानां धर्मधीर्वृत्तसमाश्रये ॥४९२॥
जिनसिद्धसूरिदेशकसाधुश्रद्धानबोधवृत्तानाम्[2]।
कृत्वाष्टतयीमिष्टिं विदधामि ततः स्तवं युक्त्या ॥४९३॥
तत्त्वेषु प्रणयः परोऽस्य मनसः श्रद्धानमुक्तं जिनै-
[3]रेतद्द्वित्रिदशप्रभेदविषयं व्यक्तं चतुर्भिर्गुणैः।
अष्टाङ्गं भुवनत्रयार्चितमिदं मूढैरपोढं त्रिभि-
श्चित्ते देव दधामि संसृतिलतोल्लासावसानोत्सवम् ॥४९४॥
ते कुर्वन्तु तपांसि दुर्धरधियो ज्ञानानि सञ्चिन्वतां
वित्तं वा वितरन्तु देव तदपि प्रायो न जन्मच्छिदः।
एषा येषु न विद्यते तव वचः श्रद्धावधानोद्धुरा
दुष्कर्माङ्कुरकुञ्जवज्रदहनद्योतावदाता रुचिः ॥४९५॥

पाँच भेदरूप किन्तु समस्त मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाका अत्यन्त शान्त हो जाना ही जिसकी चरम सीमा है उस समस्त मङ्गलोंके कर्ता और पञ्चपरमेष्ठीके पुरस्कर्ता भगवान् सम्यक्-चारित्रकी आठ द्रव्योंसे पूजन करता हूँ।

जो योगीरूपी राजाके कर्मरूपी वैरियोंको जीतनेमें धनुषके समान है तथा सब प्राणियोंको सुख देने वाला है, मै धर्म बुद्धिसे उस चारित्रकी शरण जाता हूँ ॥४९२॥

इस प्रकार अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी अष्टद्रव्यसे पूजन करके मै इनका युक्तिपूर्वक स्तवन करता हूँ ॥४९३॥

सम्यग्दर्शनकी भक्ति

[सबसे प्रथम सम्यग्दर्शनकी भक्ति इस प्रकार करे—]

जिनेन्द्र देवने तत्त्वोंमें मनकी अत्यन्त रुचिको सम्यग्दर्शन कहा है। इस सम्यग्दर्शनके दो, तीन और दस भेद बतलाये है। तथा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणके द्वारा सम्यक्त्वकी पहचान होती है। उसके निःशंकित, निःकांक्षित आदि आठ गुण है। वह तीन प्रकार-की मूढ़तासे रहित होता है। हे देव! संसार रूपी लताका अन्त करनेवाले और तीनों लोकोंमें पूज्य उस सम्यग्दर्शनको मैं अपने हृदयमें धारण करता हूँ ॥४९४॥

हे देव! जिनकी आपके वचनोंमें एकनिष्ठ श्रद्धापूर्ण निर्मल रुचि नहीं है, जो रुचि दुष्कर्म रूपी अंकुरोंके समूहको भस्म करनेके लिए वज्राग्निके प्रकाशकी तरह निर्मल है, वे दुर्बुद्धि कितनी ही तपस्या करें, कितना ही ज्ञानार्जन करें और कितना ही दान दें, फिर भी जन्म परम्परा का छेदन नहीं कर सकते ॥४९५॥

---

१ धर्मयोगि–अ० ज० मु० आ०। २ बोधरत्नानाम् आ० मु०। ३ नैस्तत्त–अ० ज०। निसर्गाधिगम-उपशम-क्षायिक-मिश्र, आज्ञामार्गादि। ४ उपशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य।

संसाराम्बुधिसेतुबन्धमसमप्रारम्भलक्ष्मीघन
मोक्षावासमृतधारिपाहमखिलत्रैलोक्यचिन्तामणिम् ।
कल्याणाम्बुजषण्डसर्गमयसरं सम्यक्त्वरत्नं कृती
यो धत्ते हृदि तस्य नाथ सुलभाः स्वर्गापवर्गश्रियः ॥४९६॥
[इति दर्शनभक्तिः]

अल्पद्वपापविरसज्ञा मतिरपि बोधोऽवधिः सावधि-
सावद्यः क्वचिदेव योगिनि स च स्वल्पो मनःपर्ययः ।
दुष्प्राप पुनरद्य केवलमिदं ज्योतिः कथागोचरं
माहात्म्यं निखिलार्थगे तु सुलभे किं वर्णयामः श्रुते ॥४९७॥
यद्देवैः शिरसा धृतं गणधरैः कर्णावतंसीकृतं
न्यस्तं चेतसि योगिभिर्नृपवरैरामातसारं पुनः ।
हस्ते हक्पथे मुखे च निहितं विद्याधराधीश्वरैः
स्तत्स्याद्वादसरोरुहं मम मनोहंसस्य भूयान्मुदे ॥४९८॥
मिथ्यातमःपटलभेदनकारणाय स्वर्गापवर्गपुरमार्गनिबोधनाय ।
तत्तत्त्वभावनमना प्रणमामि नित्यं त्रैलोक्यमङ्गलकराय जिनागमाय ॥४९९॥
[इति ज्ञानभक्तिः]

हे नाथ ! संसार रूपी समुद्रके लिए सेतुबन्धके समान, क्रमसे उत्पन्न होने वाले रत्नत्रय रूपी धनके विकासके लिए अमृतके मेघके समान तीनों लोकोंके लिए चिन्तामणि रत्नके समान और कल्याण रूपी कमल समूहकी उत्पत्तिके लिए तालाबके तुल्य, सम्यक्त्वरूपी रत्नको जो पुण्यात्मा हृदयमें धारण करता है उसे स्वर्ग और मोक्षरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति सुलभ है ॥४९६॥

सम्यग्ज्ञानकी भक्ति

इन्द्रियोंसे उत्पन्न होने वाले मतिज्ञानका विषय बहुत थोड़ा है। अवधिज्ञान भी द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी मर्यादाको लेकर रूपी पदार्थोंको ही विषय करता है। मनःपर्ययका भी विषय बहुत थोड़ा है और वह भी किसी मुनिके हो जाय तो आश्चर्य ही है। केवलज्ञान महान् है किन्तु उसकी प्राप्ति इस कालमें सुलभ नहीं है। एक श्रुतज्ञान ही ऐसा है जो समस्त पदार्थोंको विषय करता है और सुलभ भी है, उसकी हम क्या प्रशंसा करें ॥ ४९७ ॥

जिस जिनेन्द्र देवने सिरपर धारण किया गणधरोंने अपने कानका भूषण बनाया, मुनियोंने अपने हृदयमें रखा, राजाओंने जिसका सार ग्रहण किया और विद्याधरोंके स्वामियोंने हाथमें, आँखोंके सामने और मुखमें स्थापित किया वह स्याद्वादश्रुत रूपी कमल मेरे मानसरूपी हंसको प्रमोदके लिए हो ॥४९८॥

आगममें कहे हुए तत्त्वोंकी मनमें भावना करता हुआ मैं मिथ्यात्व रूपी अन्धकारके पटलको दूर करनेवाले और स्वर्ग और मोक्ष नगरका मार्ग बतलानेवाले तथा तीनों लोकोंके लिए मंगलकारक जैन आगमको सदा नमस्कार करता हूँ ॥४९९॥

---

१ [illegible]। २ [illegible]। ३ [illegible]।

ज्ञानं दुर्भगदेहमण्डनमिव स्यात्स्वस्य खेदावहं
धत्ते साधु न तत्फलश्रियमयं सम्यक्त्वरत्नाङ्कुरः।
कामं देव यदन्तरेण विफलास्तास्तास्तपोभूमय-
स्तस्मै त्वच्चरिताय संयमदमध्यानादिधाम्ने नमः ॥५००॥
यच्चिन्तामणिरीप्सितेषु वसतिः सौरूप्यसौभाग्ययोः
श्रीपाणिग्रहकौतुकं[2] कुलबलारोग्यागमे संगमः।
यत्पूर्वैश्चरितं समाधिनिधिभिर्मोक्षाय पञ्चात्मकं
तच्चारित्रमहं नमामि विविधं स्वर्गापवर्गाप्तये ॥५०१॥
हस्ते स्वर्गसुखान्यतर्कितभवास्ताश्चक्रवर्तिश्रियो
देवाः पादतले लुठन्ति फलति द्यौः कामितं सर्वतः।
कल्याणोत्सवसम्पदः पुनरिमास्तस्यावतारालये
प्रागेवावतरन्ति यस्य चरितैर्जैनैः पवित्रं मनः ॥५०२॥
[इति चारित्रभक्तिः]

बोधोऽवधिः श्रुतमशेषनिरूपितार्थमन्तर्बहिः करणजा सहजा मतिस्ते।
इत्थं स्वतः सकलवस्तुविवेकबुद्धेः का स्याज्जिनेन्द्र भवतः परतो व्यपेक्षा ॥५०३॥

चारित्र भक्ति

[इस प्रकार ज्ञानकी भक्ति करके फिर चारित्रकी भक्ति करे—]

जिसके[1] विना अभागे मनुष्यके शरीरमें पहनाये गये भूषणोंकी तरह ज्ञान खेदका ही कारण होता है, तथा सम्यक्त्व रत्नरूपी वृक्ष ज्ञानरूपी फलकी शोभाको ठीक रीतिसे धारण नहीं करता, और जिसके न होनेसे बड़े-बड़े तपस्वी भ्रष्ट हो गये, हे देव! संयम, इन्द्रियनिग्रह और ध्यान वगैरहके आवास उस तुम्हारे चारित्रको मैं नमस्कार करता हूँ ॥५००॥

जो इच्छित वस्तुओंको देनेके लिए चिन्तामणि है, सौन्दर्य और सौभाग्यका घर है, मोक्ष रूपी लक्ष्मीके पाणिग्रहणके लिए कंकणबन्धन है और कुल, बल और आरोग्यका संगमस्थान है अर्थात् तीनोंके होनेपर ही चारित्र धारण करना संभव होता है, और पूर्वकालीन योगियोंने मोक्षके लिए जिसे धारण किया था, स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्तिके लिए उस पाँच प्रकारके चारित्रको मैं नमस्कार करता हूँ ॥५०१॥

जिसका मन जैनाचारसे पवित्र है, स्वर्गके सुख उसके हाथमें है, चक्रवर्तीकी विभूतियाँ अकस्मात् उसे प्राप्त हो जाती हैं, देवता उसके पैरोंपर लोटते हैं, जिस दिशामें वह जाता है वही दिशा उसके मनोरथको पूर्ण करती है और जहाँ वह जन्म लेता है उसके जन्म लेनेसे पहिलेसे ही वहाँ कल्याणक उत्सव मनाये जाते हैं ॥५०२॥

अर्हन्त भक्ति

[इस प्रकार चारित्र भक्तिको करके फिर अर्हन्त भक्तिको करे]

हे जिनेन्द्र आपको जन्मसे ही अन्तरंग और बहिरंग इन्द्रियोंसे होनेवाला मतिज्ञान, समस्त कथित वस्तुओंको विषय करनेवाला श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है, इस प्रकार आपको स्वतः ही सकल वस्तुओंका ज्ञान है तब परकी सहायताकी आपको आवश्यकता ही क्या है? ॥५०३॥

---

१ चारित्र विना। २ कंकणम्।

ध्यानावलोकविगलत्तिमिरप्रताने त्वां देव केवलमयीं श्रियमादधाने ।
आसीत्त्वयि त्रिभुवनं मुहुरुत्सवाय व्यापारमन्थरमिवैकपुरं महाय ॥५०४॥
छत्रं दधामि किमु चामरमुत्क्षिपामि हेमाम्बुजान्यथ जिनस्य पदेऽर्पयामि ।
इत्थं सुरामरपतिः स्वयमेव यत्र सेवापरः परमहं किमु वच्मि तत्र ॥५०५॥
त्वं सर्वदोषरहितः सुनयं वचस्ते सत्त्वानुकम्पनपरः सकलो विधिश्च ।
लोकस्तथापि यदि तुष्यति न त्वयीश कर्मास्य तन्ननु रवाविव कौशिकस्य ॥५०६॥
पुष्पं त्वदीयचरणार्चनपीठसङ्गाच्चूडामणीभवति देव जगत्त्रयस्य ।
अस्पृश्यमन्यशिरसि स्थितमप्यतस्ते को नाम साम्यमनुयातु रवीश्वराद्यैः[1] ॥५०७॥
मिथ्यामहान्धतमसावृतमप्रबोधमेतत्पुरा जगदभूद्भवगर्तपाति ।
तद्देव दृग्हृदयाम्बुजविकासकान्तैः[2] स्याद्वादरश्मिभिरयोद्धृतवांस्त्वमेव[3] ॥ ५०८॥
पादाम्बुजद्वयमिदं तव देव यस्य स्वच्छे मनःसरसि संनिहितं समास्ते ।
तं श्रीः स्वयं भजति तं नियतं वृणीते स्वर्गापवर्गजननी च सरस्वतीयम् ॥५०९॥
[इत्यर्हद्भक्तिः]

हे देव ! ध्यानरूपी प्रकाशके द्वारा अज्ञानरूपी अन्धकारका फैलाव दूर होनेपर जब आपने केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीको धारण किया तो तीनों लोकोंने अपना अपना काम छोड़कर एक नगरकी तरह महान् उत्सव किया ॥५०४॥

'छत्र लगाऊँ या चमर ढोरूँ अथवा जिनदेवके चरणोंमें स्वर्णकमल अर्पित करूँ' इस प्रकार जहाँ इन्द्र स्वयं ही हर्षित होकर सेवाके लिए तत्पर है वहाँ मैं क्या कहूँ ॥५०५॥

हे देव ! तुम सब दोषोंसे रहित हो, तुम्हारे वचन सुनयरूप हैं—किसी वस्तुके विषयमें इतर दृष्टिकोणोंका निराकरण न करके विवक्षित दृष्टिकोणसे वस्तुका प्रतिपादन करते हैं। तथा तुम्हारे द्वारा बतलायी गयी सब विधि प्राणियोंके प्रति दयाभावसे पूर्ण है। फिर भी लोक यदि तुमसे सन्तुष्ट नहीं होते तो इसका कारण उनका कर्म है। जैसे उल्लूको सूर्यका तेज पसन्द नहीं है किन्तु इसमें सूर्यका दोष नहीं है बल्कि उल्लूके ही कर्मोंका दोष है ॥५०६॥

हे देव ! तुम्हारे चरणोंकी पूजाके लिए तुम्हारे आगे जो वेदी रहती है उसके संसर्ग मात्रसे फूल तीनों लोकोंके मस्तकका भूषण बन जाता है अर्थात् उस फूलको सब अपने सिरसे लगाते हैं। और दूसरोंके सिरपर भी रखा हुआ फूल अस्पृश्य माना जाता है। अतः अन्य सूर्य रुद्रादि देवताओंसे तुम्हारी क्या समानता ? ॥५०७॥

हे देव ! पहले मिथ्यात्वरूपी गाढ़ अन्धकारसे आच्छादित होनेके कारण ज्ञानशून्य होकर यह जगत् संसाररूपी गड्ढेमें पड़ा हुआ था। नेत्र कमल और हृदय-कमलको विकसित करनेवाली स्याद्वादरूपी किरणोंके द्वारा तुमने ही उसका उद्धार किया ॥५०८॥

हे देव ! जिसके मनरूपी स्वच्छ सरोवरमें तुम्हारे दोनों चरणकमल विराजमान हैं उसके पास लक्ष्मी स्वयं आती है तथा स्वर्ग और मोक्षको देनेवाली यह सरस्वती नियमसे उसे वरण करती है ॥५०९॥

[इस प्रकार अर्हद्भक्तिको करके सिद्ध भक्ति को करे]

---

१ सूर्यरुद्राद्यैः । २ नेत्रकमलं हृत्कमलं च । ३ किरणैः आपर्यवसानतया रश्मिभिः ।

सम्यग्ज्ञानत्रयेण[1] प्रविदितनिखिलज्ञेयतत्त्वप्रपञ्चाः
प्रोद्धूय ध्यानवातैः सकलमघरजःप्राप्तकैवल्यरूपाः ।
कृत्वा सत्त्वोपकारं त्रिभुवनपतिभिर्दत्तयात्रोत्सवा ये
ते सिद्धाः सन्तु लोकत्रयशिखरपुरीवासिनः सिद्धये वः ॥५१०॥
दानज्ञानचरित्रसंयमनयप्रारम्भगर्भं मनः
कृत्वान्तर्बहिरिन्द्रियाणि मरुतः[2] संयम्य पञ्चापि च ।
पश्चाद्वीतविकल्पजालमखिलं ध्वस्यत्तमःसततिं
ध्यानं तत्प्रविधाय ये च मुमुचुस्तेभ्योऽपि बद्धोऽञ्जलिः ॥५११॥
इत्थं येऽत्र समुद्रकन्दरसरःस्रोतस्विनीभूनभो-
द्वीपाद्रिद्रुमकाननादिषु धृतध्याना[3] वधानर्द्धयः ।
कालेषु त्रिषु मुक्तिसंगमजुषः स्तुत्यास्त्रिभिर्विष्टपै-
स्ते रत्नत्रयमङ्गलानि ददतां भव्येषु रत्नाकराः ॥५१२॥

[इति सिद्धभक्तिः]

भौमव्यन्तरमर्त्यभास्करसुरश्रेणीविमानाश्रिताः
स्वर्ज्योतिःकुलपर्वतान्तरधरारन्ध्रप्रबन्धस्थितीः ।

सिद्ध भक्ति

जिन्होंने अपनी छद्मस्थ अवस्थामें मति, श्रुत और अवधिज्ञानके द्वारा सब ज्ञेय तत्त्वोंको विस्तारसे जाना फिर ध्यानरूपी वायुके द्वारा समस्त पापरूपी धूलिको उड़ाकर केवलज्ञान प्राप्त किया; फिर इन्द्रादिकके द्वारा किये गये बड़े उत्सवके साथ सर्वत्र विहार करके जीवोंका उपकार किया; तीनों लोकोंके ऊपर विराजमान वे सिद्ध परमेष्ठी हम सबकी सिद्धिमें सहायक हों ॥५१०॥

मनको दान, ज्ञान, चारित्र, सयम आदिसे युक्त करके और अन्तरग तथा बहिरग इन्द्रियों और प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पाँचों वायुओंका निरोध करके फिर अज्ञानरूपी अन्धकारकी परम्पराको नष्ट करनेवाले निर्विकल्प ध्यानको करके जो मुक्त हुए उन्हें भी मैं हाथ जोडता हूँ ॥५११॥

भावार्थ—पहले जो तीर्थङ्कर होकर सिद्ध हुए उन्हें नमस्कार किया है। इसमें जो सामान्य जन सिद्ध हुए उन्हें नमस्कार किया है।

इस प्रकार समुद्र, गुफा, तालाब, नदी, पृथ्वी, आकाश, द्वीप, पहाड़, वृक्ष और वन वगैरहमें ध्यान लगाकर जो अतीत कालमे मुक्त हो चुके, वर्तमानमें मुक्त हुए हैं और भविष्यमें मुक्त होंगे, तीनों लोकोंके द्वारा स्तुति करनेके योग्य वे भव्यशिरोमणि हमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी मङ्गलको देवें ॥५१२॥

[इस प्रकार सिद्धभक्ति समाप्त हुई ।]

चैत्य भक्ति

[फिर चैत्य भक्ति करे—]

भवनवासी और व्यन्तरोंके निवासस्थानोंमें, मर्त्यलोकमें, सूर्य और देवताओंके श्रेणी विमानोंमें,

---

१. छद्मस्थावस्थायाम् । २ वातान्—प्राणापानव्यानोदानसमानान् । ३. ध्यानावधानमेव ऋद्धि ।



वन्दे तत्पुरपालमौलिविलसद्रत्नप्रदीपार्चिताः
साम्राज्याय जिनेन्द्रसिद्धगणभृत्स्वाध्यायिसाध्वाकृतीः ॥५१३॥
[इति चैत्यभक्ति]

समवसरणवासान् मुक्तिलक्ष्मीविलासान्
सकलसमयनाथान् वाक्यविद्यासनाथान्।
भवभिगलविनाशोद्योगयोगप्रकाशान्
निरुपमगुणभावान् संस्तुवेऽहं क्रियावान् ॥५१४॥
[इति पञ्चगुरुभक्ति]

भवदुःखानलशान्तिर्धर्मामृतवर्षजनितजनशान्तिः ।
शिवशर्मास्रवशान्तिः शान्तिकरः स्तात्जिनः शान्तिः ॥५१५॥
[इति शान्तिभक्ति]

मनोमात्रोचितायापि यः पुण्याय न चेष्टते ।
दुराशस्य कथं तस्य कृतार्थाः स्युर्मनोरथाः ॥५१६॥

स्वर्गलोकमें, ज्योतिषी देवोंके विमानोंमें, कुलाचलोंपर पाताल लोक तथा गुफाओंमें जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठीकी प्रतिमाएं हैं, जिन्हें उन स्थानोंके रक्षक अपने मुकुटोंमें जड़े हुए रत्न रूपी दीपकोंसे पूजते हैं, मैं साम्राज्यके लिए उन्हें नमस्कार करता हूँ ॥५१३॥

[इस प्रकार चैत्य भक्ति समाप्त हुई ।]

पञ्चगुरु भक्ति

[फिर पञ्च गुरुओंकी भक्ति करे—]

समवसरणमें विराजमान अर्हन्तोंको मुक्तिरूपी लक्ष्मीसे आलिंगित सिद्धोंको, समस्त शास्त्रोंके पारगामी आचार्योंको, सम्यग्ज्ञानमें निपुण उपाध्यायोंको और संसार रूपी बन्धनका विनाश करनेके लिए सदा उद्योगशील, योगका प्रकाश करनेवाले और अनुपम गुणवाले साधुओंको क्रिया कर्ममें उद्यत मैं नमस्कार करता हूँ ॥५१४॥

[इस प्रकार पञ्चगुरुकी भक्ति करके फिर शान्ति भक्ति करे—]

शान्ति भक्ति

संसारके दुःखरूपी अग्निको शान्त करनेवाले, और धर्मामृतकी वर्षा करके जनतामें शान्ति करनेवाले तथा मोक्षसुखके विघ्नोंको शान्त—नष्ट कर देनेवाले शान्तिनाथ भगवान् शान्ति करें ॥५१५॥

जो केवल मानसिक संकल्पसे होने योग्य पुण्यबन्धके लिए भी प्रयत्न नहीं करता, उस दुराश मनुष्यके मनोरथ कैसे पूर्ण हो सकते हैं ? ॥ ५१६ ॥

[फिर आचार्य भक्ति करे—]

---

१ उपाध्याय । २ अर्हत । ३ सिद्धान् । ४ सूरीन् । ५. उपाध्यायान् । ६ भवबन्ध । ७ साधून् । ८. क्रियानुष्ठान । ९ दिव्यात्मानं बिभर्ति । १ शीलम् ।

येषां तृष्णातिमिरभिदुरस्तत्त्वलोकावलोकात्
पारेऽवारे प्रशमजलधेः सगवार्धेः परेऽस्मिन् ।
वाह्यव्यासिप्रसरविधुरश्चित्तवृत्तिप्रचार-
स्तेषामर्चाविधिषु भवताद्वारिपूरः श्रिये वः ॥५१७॥
दूरारूढे प्रणिधितरणावन्तरात्माम्बरेऽस्मि-
न्नास्ते येषां हृदयकमलं मोदनिस्पन्दवृत्तिः ।
तत्त्वालोकावगमगलितध्वान्तवन्धस्थितीना-
मिष्टिं तेषामहमुपनये पादयोश्चन्दनेन ॥५१८॥
येषामन्तस्तदमृतरसास्वादमन्दप्रचारे
क्षेत्राधीशे विगतनिखिलारम्भसंभोगभावः ।
ग्रामोऽक्षाणामुदुषित इवाभाति योगीश्वराणां
कुर्मस्तेषां कलमसदकैः पूजनं निर्ममाणाम् ॥५१९॥
देहारामेऽप्युपरतधियः सर्वसंकल्पशान्ते-
र्येषाम् ऊर्मिस्मयविरहिता ब्रह्मधामामृताप्तेः ।
आत्मात्मीयानुगमविगमाद्वृत्तयः शुद्धबोधा-
स्तेषां पुष्पैश्चरणकमलान्यर्चयेयं शिवाय ॥५२०॥

आचार्य भक्ति

तत्त्वोंके यथार्थ प्रकाशसे तृष्णारूपी अन्धकारको दूर कर देनेवाला जिनकी चित्तवृत्तिका प्रचार वाह्य वार्तोंमें नहीं होता और परिग्रहरूपी समुद्रके उस पार रहता है, तथा शान्तिरूपी समुद्रके इस पार या उस पार रहता है। अर्थात् जिनकी चित्तवृत्ति परिग्रहकी भावनासे मुक्त हो चुकी है और शान्तिरूपी समुद्रमें सदा वास करती है, उन आचार्योंकी पूजा विधिमें अर्पित की गयी जलकी धारा तुम्हारा (हमारा) कल्याण करे ॥५१७॥

आत्मारूपी आकाशमें ध्यानरूपी सूर्यके अपनी उन्नत अवस्थाको पहुँचनेपर जिनका हृदयकमल हर्षसे निश्चल हो जाता है और तत्त्वोंके दर्शन तथा ज्ञानसे ज्ञानावरणादिक कर्मबन्धकी स्थिति गलने लगती है, उनके चरणोंमें चन्दन अर्पित करके मैं उनकी पूजा करता हूँ ॥५१८॥

अध्यात्मरूपी अमृत रसके पान करनेसे वाह्य वार्तोंमें आत्माकी गतिके मन्द पड़ जानेपर जिन योगीश्वरोंकी इन्द्रियोंका समूह समस्त आरम्भादिकको छोड़कर अन्यत्रगत प्रतीत होता है, उन मोहरहित आचार्योंकी हम अक्षतसे पूजा करते हैं ॥५१९॥

समस्त सकल्पोंके शान्त होजानेके कारण जो शरीर रूप परिग्रहमें भी ममत्व भाव नहीं रखते, ब्रह्मधामरूपी अमृतकी प्राप्ति हो जानेके कारण जो भूख-प्यासकी पीड़ाको सहते हुए भी उसका गर्व नहीं करते, आत्मामें भी अपनेपनकी भावनाके न होनेसे जिनकी वृत्तियाँ शुद्ध ज्ञानरूप है, मोक्षकी प्राप्तिके लिए उनके चरण-कमलोंकी हम पुष्पसे पूजा करते है ॥५२०॥

---

१ समूह। २ येषा चित्तवृत्तिप्रचार प्रशमजलधे पारे परकूले अवारे अर्वाकूले वर्तते प्रशमसमुद्रमध्ये एव वर्तते इत्यर्थ । पुन प्रचार सगवार्धे परिग्रहसमुद्रस्य परे पारे वर्तते । तस्मादुत्तीर्ण इत्यर्थ । ३. जलधारा। ४ प्रकर्षप्राप्ते सति। ५ ध्यानसूर्ये। ६ ध्वान्तस्याज्ञानस्य प्रवन्ध समूह तस्य स्थिति । ७ परिकल्पयामि। ८ अक्षतै। ९. देहारम्भे—आ० ।। आराम-परिग्रह । १० ऊर्मि पीडा क्षुत्पिपासादय । ११ गर्व।

[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥
[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥
[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥
[illegible]
[illegible] (?) [illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[इत्याचार्यभक्तिः]

इत्युपासकाध्ययने समयसमाचारविधिर्नाम पञ्चत्रिंशत्तमः कल्पः ।

इदानीं ये कृतप्रतिमापरिग्रहास्तान्प्रति स्नपनार्चनस्तवजपध्यानश्रुतदेवताराधनविधीन् षट् प्रोदाहरिष्यामः । तथा हि—

श्रीकेतनं वाग्वनितानिवास पुण्यार्जनक्षेत्रमुपासकानाम् ।
स्वर्गापवर्गागमनैकहेतुं जिनाभिषेकाश्रयमाश्रयामि ॥५२६॥

भावामृतेन मनसि प्रतिलब्धशुद्धिः पुण्यामृतेन च तनौ नितरां पवित्रः ।
श्रीमण्डपे विविधवस्तुविभूषितायां वेद्यां जिनस्य सवनं विधिवत्तनोमि ॥५२७॥

उदङ्मुखं स्वयं तिष्ठेत्प्राङ्मुखं स्थापयेज्जिनम् ।
पूजाक्षणे भवेन्नित्यं यमी वाचंयमक्रियः ॥५२८॥

प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सन्निधापनम् ।
पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम् ॥५२९॥

यः श्रीजन्मपयोनिधिर्मनसि च ध्यायन्ति यं योगिनो
येनेदं भुवनं सनाथममरा यस्मै नमस्कुर्वते ।

समान यह पुष्पाञ्जलि आचार्यचरणोंका पूजन करनेसे श्रावकोंकी लक्ष्मीके कटाक्षरूपी भ्रमरोंके आगमनका कारण हो ॥५२५॥

[इस प्रकार आचार्य भक्ति समाप्त हुई]

[इस प्रकार उपासकाध्ययनमें पूजा विधिको बतलानेवाला पैंतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।]

अब जो प्रतिमामें स्थापना करके पूजन करते हैं उनके लिए अभिषेक, पूजन, स्तवन, जप, ध्यान और श्रुतदेवताका आराधन इन छह विधियोंको बतलाते हैं—

अभिषेक विधि

मैं जिनभगवान्का अभिषेक करनेके लिए जिनबिम्बका सहारा लेता हूँ। जो जिनबिम्ब लक्ष्मीका घर है, सरस्वती देवीका निवास स्थान है, गृहस्थोंके पुण्य कमानेका क्षेत्र है और स्वर्ग तथा मोक्षको लानेका प्रमुख कारण है ॥५२६॥

शुभ भावरूपी जलसे मेरा मन शुद्ध है और पवित्र जलसे मेरा शरीर शुद्ध है अर्थात् मैंने शुद्ध जलसे स्नान किया है और मेरे मनमें शुभ भाव हैं। मैं श्रीमण्डपमें अनेक वस्तुओंसे विभूषित वेदीपर विधिपूर्वक जिन भगवान्का अभिषेक करता हूँ ॥५२७॥

ऐसी प्रतिज्ञा करके स्वयं उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके खड़ा हो और जिनबिम्बका मुख पूर्व दिशाकी ओर करके उनकी स्थापना करे। तथा पूजाके समय सदा अपने मन, वचन और कायको स्थिर रखे ॥५२८॥

देवपूजनके छह प्रकार हैं—प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजाका फल ॥५२९॥

पहले प्रस्तावनाको कहते हैं—

प्रस्तावना

जो लक्ष्मीके जन्मके लिए सागरके समान है, योगीजन मनमें जिसका ध्यान करते हैं, जिसके-

१ जिनबिम्ब । २ पवित्रजलेन ।

यस्मात्प्रादुरभूच्छ्रुतिः सुकृतिनो यस्य प्रसादाज्जना
यस्मिन्नैव भवाश्रयो व्यतिकरस्तस्यारभे स्नापनम् ॥५३०॥
धौतोपलेपवपुषो न मलानुषङ्गस्त्रैलोक्यपूज्यचरणस्य कुतः परोऽर्घ्यः ।
मोक्षामृते धृतधियस्तव नैव कामः स्नानं ततः कमुपकारमिदं करोतु[2] ॥५३१॥
तथापि स्वस्य पुण्यार्थं प्रस्तुवेऽभिषवं तव ।
को नाम सूपकारार्थं फलार्थी विहितोद्यमः ॥५३२॥

[इति प्रस्तावना]

रत्नाम्बुभिः कुशकृशानुभिरात्तशुद्धौ भूमौ भुजङ्गमपतीनमृतैरुपास्य[3] ।
कुर्वे प्रजापतिनिकेतनदिङ्मुखानि दूर्वाक्षतप्रसवदर्भविदर्भितानि ॥५३३॥
पाथःपूर्णान्कुम्भान्कोणेषु सुपल्लवप्रसूनार्चान् ।
दुग्धाब्धीनिव विदधे प्रवालमुक्तोल्बणांश्चतुरः ॥५३४॥

[इति पुराकर्म]

यस्य स्थानं त्रिभुवनशिरःशेखराग्रे निसर्गा-
त्तस्यामर्त्याचलविभृति[10] मर्त्येप्यद्भुत नामपीठी[11] ।

द्वारा यह लोक सनाथ है जिसे देवतागण नमस्कार करते हैं, जिससे श्रुत (आगम)का प्रादुर्भाव हुआ है, जिसके प्रसादसे मनुष्य पुण्यशाली होते हैं, तथा जिसमें ये सांसारिक दु:ख-सुखादि नहीं हैं, उस जिनेन्द्रके अभिषेकको मैं प्रारम्भ करता हूँ ॥५३०॥

हे जिनेन्द्र! शारीरिक मलसे रहित होनेके कारण आपका मैलसे कोई सम्बन्ध नहीं है, आपके चरण तीनों लोकोंके द्वारा पूज्य हैं, अत उससे भी उत्कृष्ट पूज्य कैसे हो सकता है ? आपका मन मोक्षरूपी अमृतके पानमें निमग्न है अत आप कामसे भी दूर हैं, अत यह स्नान आपका क्या उपकार कर सकता है ? अर्थात् स्नान या अभिषेकके तीन प्रयोजन हो सकते हैं, शारीरिक मलको दूर करना, जलार्चनके द्वारा पूज्यताका समावेश तथा गार्हस्थिक कामादि सेवनगत दोषोंकी विशुद्धि । किन्तु जिनेन्द्र देवका परम औदारिक शरीर मलरहित होता है, वे कामादिका भी सेवन नहीं करते हैं तथा तीनों लोक उनकी पूजा करते हैं अत जल स्नानसे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता ॥५३१॥

फिर भी मैं अपने पुण्यसंचयके लिए आपके अभिषेकको आरम्भ करता हूँ । क्योंकि ऐसा कौन फलार्थी—फलका इच्छुक है जो सम्यक् उपकारके लिए प्रयत्न न करना चाहता हो ॥५३२॥

[इस प्रकार प्रस्तावना कर्म समाप्त हुआ । आगे पुराकर्मको कहते हैं]

पुराकर्म

रत्न सहित जलसे तथा कुश और अग्निसे शुद्ध की गयी भूमिमें दुग्धसे नागेन्द्रोंको संतुष्ट करके पूर्वादि दश दिशाओंको दूर्वा अक्षत पुष्प और कुशसे युक्त करता हूँ ॥५३३॥ वेदीके चारों कोनोंमें पल्लव और फूलोंसे सुशोभित, जलसे भरे हुए चार घड़ोंको स्थापित करता हूँ, जो मूँगे और मोतीसे युक्त होनेके कारण क्षीरसमुद्रकी तरह हैं ॥५३४॥

स्थापना

जिस जिनेन्द्रका निवासस्थान स्वभावसे ही तीनों लोकोंके मस्तकके ऊपर लोकके अग्र-

---

१ विपदागमकस्य । २ अपि तु न किमपि । ३ रत्नसहितजलैः । कुम्भमध्ये भृङ्गारे वा पञ्चरत्नं क्षिप्यते । ४ दर्भाग्निप्रज्वालनम् । ५ प्रीत । ६ विरच्य । ७ महास्नानपीठस्थापनप्रमुखानि । ८ गुम्फितानि । ९ जल । १० मेरौ । ११ सिंहासनम् ।

लोकानन्दामृतजलनिधेर्वारि चैतत्सुधात्वं
धत्ते यत्ते सवनसमये तत्र चित्रीयते कः ॥५३५॥

तीर्थोदकैर्मणिसुवर्णघटोपनीतैः पीठे पवित्रवपुषि[1] प्रतिकल्पितार्घे[2]।
लक्ष्मी[3]श्रुतागमनवीजविदर्भ[4]गर्भे संस्थापयामि भुवनाधिपतिं जिनेन्द्रम् ॥५३६॥

[इति स्थापना]

सोऽयं जिनः सुरगिरिर्ननु पीठमेतदेतानि दुग्धजलधेः सलिलानि साक्षात्।
इन्द्रस्त्वहं तव सवनप्रतिकर्मयोगात्पूर्णा ततः कथमियं न महोत्सवश्रीः ॥५३७॥

[इति संनिधापनम्]

योगेऽस्मिन्नाकनाथ ज्वलन पितृपते[9] नैगमेय[10] प्रचेतो[11]
वायो रैदेश शेषोडुपसपरिजना यूयमेत्य ग्रहाग्राः।
मन्त्रैर्भूः स्वः[13] सुधाद्यैरधिगतबलयः[14] स्वासु दिक्षूपविष्टाः
क्षेपीयः[15] क्षेमदक्षाः कुरुत जिनसवोत्साहिनां विघ्नशान्तिम् ॥५३८॥

भागमें है (क्योंकि प्रत्येक जीव स्वभावसे ऊर्ध्वगामी है अतः मुक्त होनेके पश्चात् लोकके अग्रभाग तक जाकर वहीं ठहर जाता है) अतः यदि उसका अभिषेक सुमेरुपर्वत पर हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसी तरह हे जिनेन्द्र ! तुम्हारे अभिषेकके समय लोगोंके आनन्दरूपी क्षीरसमुद्रका यह जल यदि अमृतपनेको प्राप्त होता है तो इसमें क्या आश्चर्य है ॥५३५॥

मणिजड़ित सोनेके घटोंसे लाये गये पवित्र जलसे जो शुद्ध किया गया है और फिर जिसे अर्घ दिया गया है तथा जिसपर 'श्री ह्रीं' लिखा हुआ है, ऐसे सिंहासनपर तीनों लोकोंके स्वामी जिनेन्द्रदेवकी मैं स्थापना करता हूँ ॥५३६॥

भावार्थ—पुराकर्मके पश्चात् स्थापना की जाती है। उसमें सिंहासनको शुद्ध जलसे धोनेके पश्चा उसपर 'श्री ह्रीं' लिखा जाता है और उसे अर्घ देकर फिर उसपर जिनविम्बको स्थापित किया जाता है।

[यही स्थापना है। अब सन्निधापनको कहते हैं—]

सन्निधापन

यह जिनविम्ब ही साक्षात् जिनेन्द्रदेव है, यह सिंहासन सुमेरुपर्वत है, घटोंमें भरा हुआ जल साक्षात् क्षीरसमुद्रका जल है और आपके अभिषेकके लिए इन्द्रका रूप धारण करनेके कारण मैं साक्षात् इन्द्र हूँ तब इस अभिषेक महोत्सवकी शोभा पूर्ण क्यों नहीं होगी ! ॥५३७॥

पूजा

इस अभिषेक महोत्सवमें हे कुशलकर्ता इन्द्र, अग्नि, यम, नऋति वरुण, वायु, कुबेर और ईश तथा शेष चन्द्रमा आदि आठ प्रमुख ग्रह अपने-अपने परिवारके साथ आकर और 'भूः स्वः आदि मन्त्रोंके द्वारा बलि ग्रहण करके अपनी-अपनी दिशाओंमें स्थित होकर शीघ्र ही जिन अभिषेकके लिए उत्साही पुरुषोंके विघ्नोंको शान्त करें ॥५३८॥

भावार्थ—इन्द्र, अग्नि, यम नैर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर और ईशको क्रमसे पूर्वादि आठ दिशाओंका पालक माना गया है। इसीसे इन्हें दिग्पाल कहते हैं। तथा सूर्य, शुक्र, मगल, राहु,

---

१ जलै प्रक्षालिते। २ पीठस्यापि पूर्वमर्घो दीयते। ३ श्रीं। ४ ह्रीं। ५ गुम्फित। ६ पीठमेव मेरु। ७ अभिषेक। ८ स्नपनविधौ। ९ यम। १० नैर्ऋति। ११ वरुण। १२ चन्द्र। १३ भूः भुवः स्वः स्वधा—अ० ज० व०। १४ अधिगता प्राप्ता बलिर्यैस्ते। १५ शीघ्रम्।

वेदे अस्मिन्थिदितार्थमेन निनदति मारव्यगीतध्यना-
पातोद्यैः स्तुतिपाठमङ्गलरवैश्चास्मिन्निनि माङ्गणे ।
मृत्स्नागोमयभूतिपिण्डहरितैः सारमैमस्लाक्षतै-
रम्भोभिश्च सचन्दनैर्जिनपतेर्नीराजना प्रस्तये ॥५३१॥
पुण्यद्रुमश्चिरमयं नयपल्लवश्रीमेतः सरः प्रमदमन्दसरोजगर्भम् ।
वागापगा च मम दुस्तरतीरमार्गा स्नानामृतैर्जिनपतेस्त्रिजगत्प्रमोदैः ॥५४०॥
द्राक्षाखर्जूरचोचेक्षुप्राचीनामलकोद्भवैः ।
राजादनाम्रपूगोत्थैः स्नापयामि जिन रसैः ॥५४१॥
आयुः प्रजासु परमं भवतात्सदैव धर्मावबोधपुरसिश्चिरमस्तु भूपः ।
पुष्टिं चिनेयजनता चितनोतु कामं हैयंगवीनसवनेन जिनेश्वरस्य ॥५४२॥
येषां कर्मभुजङ्गनिर्विषविधौ बुद्धिप्रबन्धो नृणां
येषां जातिजरामृतिक्षयपरध्यानप्रपञ्चाग्रहः ।
येषामात्मविशुद्धबोधविभवालोके सतृष्णं मन-
स्ते चारोष्णपयःप्रवाहधवलं ध्यायन्तु जैनं वपुः ॥५४३॥

शनि, चन्द्र, बुध और गुरु इन आठ ग्रहोंको ज्योतिषशास्त्रमें पूर्वादि आठ दिशाओंका स्वामी माना है तथा हिन्दु पद्मपुराणमें इनको पूजनेका विधान भी है। पौराणिक मतके बढ़ते हुए प्रभाव के कारण दसवीं शताब्दीसे इन दिशाओं और ग्रहोंको अनिष्टकारक मानकर पूजाविधिमें भी स्थान दे दिया गया।

इस आनन्दपूरित आँगनमें, जो बाजों और स्तुति पाठकोंके मांगलिक शब्दोंसे गूँज रहा है तथा जिसमें गीतोंकी ध्वनि हो रही है, मैं इस पूजित जिनबिम्बमें मिट्टी गोबर, राख, दूर्वा, कुश, फूल, अक्षत, जल तथा चन्दनसे जिनभगवान्‌की नीराजना (आरती) करता हूँ ॥५३९॥

जिनभगवान्‌के तीनों लोकोंको हर्षित करनेवाले स्नानजलसे मेरा यह पुण्यरूपी वृक्ष चिरकाल तक नये पल्लवोंकी शोभाको धारण करे मेरे चित्तरूपी तालाबमें हर्षरूपी कमल विकसित हो और मेरी वाणीरूपी नदीके तटका मार्ग दुस्तर हो—उसे कोई पार न कर सके ॥५४०॥

मैं दाख, खजूर, नारियल, ईख प्राचीन आमलक (आँवला नामक फल) राजादन, आम तथा सुपारीके रसोंसे जिनभगवान्‌का अभिषेक करता हूँ ॥५४१॥

जिनदेवके घृताभिषेकसे सदैव प्रजा दीर्घजीवी हो, राजा धर्मके ज्ञानसे सुवासित हो और भव्यजन खूब पुष्टिको प्राप्त हों ॥५४२॥

जिन मनुष्योंकी बुद्धिका विकास कर्मरूपी सर्पोंको निर्विष करनेमें संलग्न है, जिन मनुष्योंको जन्म, जरा मरणको दूर करनेवाले ध्यानके विस्तारका आग्रह है तथा जिनका मन आत्माके विशुद्ध ज्ञानरूपी ऐश्वर्यको देखनेके लिए लालायित है, वे धारोष्ण दूधके प्रवाहसे धवल हुए जिनेन्द्रदेवके शरीरका ध्यान करें ॥५४३॥

---

१ जिनवेद्यां नीराजना प्रारभे। २ भस्म। ३ दूर्वा। ४ प्रारभे। ५. भवतु इदमभ्याहार्यम्। ६ चित्तमेव तडागम्। ७ दृप। ८ नालिकेर। ९. प्राचीनामलक फलविशेष। १ घृत।

जन्मस्नेहच्छिदपि जगतः स्नेहहेतुर्निसर्गा-
त्पुण्योपाये मृदुगुणमपि स्तब्ध[1] लब्धात्मवृत्तिः।
चेतोजाड्यं हरदपि दधि प्रास्तजा[2] ड्यस्वभावं
जैनस्नानानुभवनविधौ मङ्गलं वस्तनोतु ॥५४४॥
एलालवङ्गकङ्कोलमलयागरुमिश्रितैः।
पिष्टैः कल्कै[3] कषायैश्च[4] जिनदेहमुपास्महे ॥५४५॥
नन्द्यावर्तस्वस्तिकफलप्रसूनाक्षताम्बुकुशपूलैः।
अवतारयामि देवं जिनेश्वरं वर्धमानैश्च ॥५४६॥

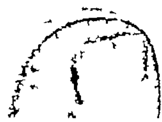
ॐ भक्तिभरविनतोरगनरसुरासुरेश्वरशिरःकिरीटकोटिकल्पतरुपल्लवायमानचरणयुग-
ल, अमृताशनाङ्गनाकरविकीर्यमाणमन्दारनमेरुपारिजातसंतानकवनप्रसूनस्यन्दमानमकरन्द-

दही जगत्के जन्म स्नेहका छेद करनेवाला होनेपर भी स्वभावसे ही स्नेह (घी) का कारण है, पुण्यके साधनमें कोमलता युक्त होते हुए भी स्थिर होकर ही वह आत्मलाभ करता है, अर्थात् दही कोमल होता है और स्थिर होनेपर ही वह जमता है तथा चित्तकी जडताको हरनेवाला होते हुए भी स्वय जडस्वभाव या जलस्वभाव है, ऐसा दही जिन भगवान्की अभिषेक विधिमें आपका मंगलकारक हो ॥५४४॥ इलायची, लौंग, कङ्कोल, चन्दन और अगुरु मिले हुए चूर्णसे और पकाकर तैयार किये गये काढ़ेसे जिनदेवके शरीरकी उपासना करता हूँ ॥५४५॥ नन्द्यावर्तक, स्वस्तिक, फल, फूल, अक्षत, जल और कुशसमूहसे तथा सकोरोंसे जिनेश्वरदेवकी अवतारणा करता हूँ ॥५४६॥

भक्तिके भारसे नमस्कार करते हुए नागेन्द्र, नरेन्द्र, देवेन्द्र और असुरेन्द्रोंके सिरोंपर स्थित मुकुटोंके अग्रभागमें जिनके चरणयुगल कल्पवृक्षोंके नये पत्तोंके समान प्रतीत होते हैं, देवागनाओंके द्वारा बरसाये गये मन्दार, नमेरु, पारिजात और सन्तानक नामक देववृक्षोंके फूलोंसे

१. सदर्प न किन्तु कठिन वर्तते। २ मूर्तत्व न किन्तु सघनम्। ३ चूर्णे। ४ क्वाथै।
५ आश्रुत्य स्नपन विशोध्य तदिला पीठ्या चतुष्कुम्भयुक्-
कोणाया सकुशश्रिया जिनपतिं न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक्।
नीराज्याम्बुरसाज्यदुग्धदधिभि सिक्त्वा कृतोद्वर्तनम्
सिक्त कुम्भजलैश्च गन्धसलिलैः सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत् ॥२२॥

टीका—स्नपनमभिषेकम, आश्रुत्य प्रतिज्ञाय, तदिला स्नपनभूमि विशोध्य रत्नाम्बुकुशाग्निना सन्तर्पणविधिभि शोधयित्वा, चतुष्कुम्भयुक्कोणायाम्—चत्वार कुम्भयुज पूर्णकलशोपेता कोणा यस्या सा तस्याम्, सकुशश्रियाम्—दर्भैश्चन्दननिर्मितश्रीकाराक्षरेण च महिताया श्रियामित्युपलक्षण तेन ह्रींकारोऽपि लेख्य। पीठयाम्—स्नपनपीठस्योपरि, जिनपतिं—जिनेन्द्र, न्यस्य स्थापयित्वा, अन्तमाप्य, इष्टदिक्—इष्टा यज्ञांशं प्रापिता दिशस्तत्स्था दिक्पाला दश इन्द्रादयो यत्र नीराजनकर्मणि तदिष्टदिक्। नीराज्य-पूजापुरस्सर मृत्स्नागोमयभूतिपिण्डदूर्वादर्भपुष्पाक्षतमचन्दनोदकैर्नीराजन प्रापय्य अम्बुरसाज्यदुग्धदधिभि सिक्त्वा—अम्बूनि च रसाश्च आज्यानि च दुग्धानि च दधीनि च अम्बुरसादीनि पञ्च स्नानीयद्रवद्रव्याणि तै क्रमेण। जिनपतिममिषिच्य। कृतोद्वर्तनम्—एलादिचूर्णकल्ककषायैरुद्वर्त्य कृतनन्द्यावर्ताद्यवतारणम्। गन्धसलिलैः-सुरभिद्रव्यमिश्रोदकैः कुम्भजलैः—पूर्वस्थापितकलशाम्भोभि, च सिक्त-अभिषिक्त सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत्॥—सागारधर्मामृत अ ६। ६ शरावपुटै।



गावोन्मदमिलन्मधुपालिकुलप्रलापोत्तालितगीतिनिनादेतिहासपरिणाहम्, अम्बरचरकुमारकरास्फालितवेणुवल्लकी-वीणापणवानकमृदङ्गझल्लरीकाहलत्रिविलतालभल्लरीभेरीभम्भाप्रभृत्यनवद्यविविधगम्भीरैः-र्वाद्यध्वनैर्व्यापनादनिवेदितनिखिलविष्टप(प)ाधिपोपासनावसरम्, अनेकामरविकिरत्सकीर्णकिरणमयपार्श्वोफानोफलोमसरप्रसवपरागपुमवत्सकलविष्पासमदवपरागप्रसरम्, अखिलभुवनैश्वर्यसाम्राज्यातपत्रत्रयशिखरमध्यमणिमयूखरेखालिख्यमानमेचकमुखरखेचरीभालस्थलतिलकपभम्, अनवरतयक्षविक्षिप्यमाणोभयपक्षचामरपरम्पराधूलाउमवलितविनेयजनमनमासात्मधरित्रम्, अशेषप्रकाशितपदार्थातिशायिशारीरप्रभापरिवेषमुषितपरिषत्तमस्तारतितिमिरनिकरम् अमयविषयस्तुविस्ताराराममसात्काराप्तापविस्फारितसरस्वतीतरङ्गसङ्गसंपितसमस्तसत्त्वसरोजाकरम्, हमारातिपरिवृढोपग्रमासमायसानमरत्नकरप्रसरपाहतविपरमपत्रपामोगम्, अनन्यसामान्यसमवसरणसमासीनमनुजदिविजभुजङ्गेन्द्रवृन्दवन्द्यमानपादारविन्दयुगलम्

मङ्गायितलक्ष्मीलतिकायनस्य प्रवर्धमाय जितचारिपूरैः ।
जिन चतुर्भिः स्नपयामि कुम्भैर्नमःसदोमेनुपयोधरामैः ॥५४७॥

सप्तमीकल्पलते समुल्लसजनानन्दैः परं पल्लवैः
धर्मारामफलैः प्रकामसुभगस्त्वं भव्यसेव्यो भव ।

हते हुए मकरन्द (पुष्प मधुरस) के स्वादसे मत्त हुए भौंरोंके प्रलापसे जिन्होंने गीत गानमें लग्न देवोंके गर्भोंको उत्सुक कर दिया है, विद्याधर कुमारोंके द्वारा क्रीड़ासे बजाये गये बाँसुरी, णा ढोल, मृदंग, चंग, नगारा, भरताल, झाँझ, भेरी, नफीरी आदि बाजोंके नाना प्रकारके ब्दोंसे जिन्होंने समस्त लोकोंके स्वामीकी उपासनाके अवसरको सूचित कर दिया है । (जिनपर गे हुए) समस्त लोकोंके ऐश्वर्यके चिह्नरूप तीन छत्रोंके मस्तकपर लगी हुई मणिकी किरणोंकी लासे स्तुति करती हुई विद्याधरियोंके ललाटपर तिलककी रचना अंकित होती है अर्थात् जिनेन्द्र दवके ऊपर लगे हुए तीन छत्रोंके मस्तकपर लगी हुए मणिकी किरणें स्तुति करती हुई विद्याधरी ारियोंके मस्तकपर तिलककी तरह प्रतीत होती हैं, दोनों ओर खड़े हुए यक्षोंके द्वारा निरन्तर ारे जानेवाले चामरोंकी किरणोंसे शिष्यजनोंके मनरूपी महलको जिन्होंने श्वेत कर दिया है, समस्त प्रकाशशील पदार्थोंको अतिक्रमण करनेवाली शारीरिक प्रभाके परिवेष (घेरा) से जिन्होंने समव रणमें उपस्थित सदस्योंकी बुद्धिके अन्धकारसमूहको दूर कर दिया है अनन्त पदार्थोंके वेस्तारको प्रत्यक्ष करने रूप महावृष्टिसे बढ़ी हुई सरस्वतीरूपी नदीकी तरंगोंके संसर्गसे जिन्होंने समस्त प्राणीरूपी कमलसमूहको सन्तुष्ट किया है, जिनके सिंहासनमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंके फैलावसे आकाशमें वृक्षका विस्तार पल्लवित हो गया है और अनुपम समवसरण-सभामें ैठे हुए मनुष्य, देव और नागोंके इन्द्रोंका समूह जिनके चरणयुगलकी वन्दना करता है— से जिनेन्द्र देवका मेरी भावी लक्ष्मीरूपी लताके वनको बढ़ानेवाले जलके पूरसे युक्त तथा कामधेनुके स्तनोंके तुल्य चार कलशोंसे अभिषेक करता हूँ ॥५४७॥

जिनभगवान्के तीनों लोकोंको आनन्द देनेवाले गन्धोदकके सिंचनसे हे लक्ष्मीरूपी

---

१ चरणुकीड़न । २ गीत । ३ वीणा । ४ पटहभेद । ५ नफेरी । ६ तालादि । ७ वंशादि । ८ वीणादि । ९ मुरजादि । १० मस्तक । ११ स्तुति । १२ ललाट । १३ समवसरणसभा । १४ सिंह । १५ भुजङ्गमेन्द्र-अ ब । १६ -युगम् अ ब । १७ वपतु ।

बोधाधीश[1] विमुञ्च संप्रति मुहुर्दुष्कर्मघर्मक्लमं
त्रैलोक्यप्रमदाव हे जिनपतेर्गन्धोदकैः[2] स्नापनात् ॥५४८॥
शुद्धैर्विशुद्धबोधस्य जिनेशस्योत्तरोदकैः ।
करोम्यवभृथ[3]स्नानमुत्तरोत्तरसंपदे ॥५४९॥
अर्म[4]नकृतकर्णिकेऽस्मिन्निजाक्षबीजे कलांदले[5] कमले ।
संस्थाप्य पूजयेयं त्रिभुवनवरदं जिनं विधिना ॥५५०॥
पुण्योपार्जनशरण[6] पुराणपुरुष स्तवोचिताचरणम् ।
पुरुहू[7]तविहितसेवं पुरुदेवं[8] पूजयामि तोयेन ॥५५१॥
मन्दमदमदनदमनं[9] मन्दरगिरिशिखरमज्जनावसरम् ।
कन्दमुमं[10] लतिकायाश्चन्दनचर्चार्चितं जिनं कुर्वे ॥५५२॥
अघमं[11] तरुगहनदहनं निकाससुखसंभवामृतस्थानम् ।
आगमदीपालोकं कलमभवैस्तन्दुलैर्भजामि जिनम् ॥५५३॥
स्मररसे[12] विमुक्तसूक्तिं विज्ञानसमुद्रमुद्रिताशेषम् ।
श्रीमानसकलहंसं कुसुमशरैरर्चयामि जिननाथम् ॥५५४॥

कल्पलता ! तुम मनुष्योंके आनन्दरूपी पल्लवोंसे उल्लासको प्राप्त होवो । हे धर्मरूपी उद्यान ! तुम फलोंसे अत्यन्त सुन्दर होकर भव्यजीवोंके सेवनीय बनो । और हे ज्ञानवान् आत्मा ! तुम अब दुष्कर्मरूपी घामके सन्तापको छोडो, अर्थात् बुरे कर्म करना छोड दो । और बुरे कर्मोंके फलसे मुक्त हो जाओ ॥५४८॥

अधिकाधिक सम्पत्तिके लिए विशुद्ध ज्ञानी जिनेन्द्र भगवान्का तालाब वगैरहसे लाये गये शुद्ध जलसे मैं अन्तिम स्नान कराता हूँ ॥५४९॥

इस सोलह पाखुड़ीके कमलपर तीनों लोकोंको मनवाछित वर देनेवाले जिनेन्द्र भगवान् को विधिपूर्वक स्थापित करके पूजना चाहिए ॥५५०॥ [इस श्लोकके पूर्वार्धके पदोंका अर्थ स्पष्ट नहीं हो सका है । टिप्पणके अनुसार उस कमलकी कर्णिका पवर्गसे निर्मित होती है और उसके मध्यमें अपना नाम स्थापित किया जाता है]

जो पुण्यके कमानेके लिए आश्रयभूत है, पुराण पुरुष है, जिनका आचरण स्तुतिके योग्य है, और इन्द्रने जिनकी सेवा की थी, उन प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथकी मैं जलसे पूजा करता हूँ ॥५५१॥ जो अत्यधिक मदशाली कामका दमन करनेवाले है, सुमेरु पर्वतके शिखरपर जिनका अभिषेक हुआ है तथा जो यशरूपी बेलकी जड़ है उन जिनदेवकी चन्दनसे पूजा करता हूँ ॥५५२॥ दोषरूपी वृक्षोंके जङ्गलको जलानेवाले, उत्तम सुखकी उत्पत्तिके लिए मोक्षके समान तथा आगमरूपी दीपकके प्रकाशक जिनेन्द्रदेवकी सुगन्धित तन्दुलोंसे पूजन करता हूँ ॥५५३॥ जिनकी सूक्तियाँ श्रृङ्गार रससे रहित है, जिन्होंने अपने ज्ञानरूपी समुद्रसे सबको आच्छादित किया है और जो लक्ष्मीरूपी मानसरोवरके राजहस हैं, उन जिनेन्द्रदेवकी पुष्पोंसे पूजा करता हूँ ॥५५४॥ अनन्त-

१ हे आत्मन् । २ श्रेष्ठजलैः । ३ यज्ञान्तस्नानम् । ४ पवर्ण । ५ षोडश । पकारेण कर्णिका क्रियते, तन्मध्ये स्वकीय नाम निक्षिप्यते, षोडशदलेषु अकारादय स्वरा लिख्यन्ते । ६ गृह । ७ इन्द्र । ८. आदिभगवन्तम् । ९ प्रचुरदर्पसहितकामदमनम् । १० कीर्ति । ११ दोष । १२ रागादिविमुक्ता सूक्ति अर्चन, यस्य स तम् ।

अर्हन्तमस्तमितमीर्ति निरञ्जन मिहिरंमाधिदावाम्भो ।
आराधयामि हविषा मुक्तिश्रीरमितमानसमनङ्गम् ॥५५५॥
भक्त्यानतामरचित्तकमलघनारातितिमिरमार्तण्डम् ।
जिनमुपचरामि दीपैः सकलसुखारामकामघ्नकामम् ॥५५६॥
अनुपमकेवलवपुष सकलकलाविलयवर्तिरूपस्थम् ।
योगावगम्यनिलयं यजामहे निखिलग जिन धूपैः ॥५५७॥
स्वर्गापवर्गसंगतिविधायिनं व्यस्तजातिमृतिदोषम् ।
व्योमचरामरपतिभिः स्मृत फलैर्जिनपतिमुपासे ॥५५८॥
अम्भश्चन्दनतन्दुलोद्गममहर्दीपैः सधूपैः फलै-
र्चित्वा त्रिजगद् गुरुं जिनपतिं स्नानोत्सवानन्तरम् ।
त स्तौमि प्रजपामि चेतसि दधे कुर्वे श्रुताराधन
त्रैलोक्यप्रभव च तन्महमह कालत्रये श्रद्दधे ॥५५९॥
यश्चैर्मुदावबोधमभिरुपास्य देवं पुष्पाञ्जलिप्रकरपूरितपादपीठम् ।
श्वेतातपत्रचमरीरुहदर्पणाद्यैराराधयामि पुनरेनमिनं जिनानाम् ॥५६०॥

[इति पूजा]

ज्ञानशाली, निर्विकार, दुराशारूपी दावाग्नि (जङ्गलकी आग) के लिए मेघके समान, निराकार तथा जिनका मन मुक्तिरूपी स्त्रीमें लीन है, उन अर्हन्त देवकी नैवेद्यसे पूजा करता हूँ ॥५५५॥

भक्तिसे विनम्र हुए देवोंके चित्तरूपी कमलवनका घोर अन्धकार दूर करनेके लिए जो सूर्यके समान हैं, और समस्त सुखोंके लिए उद्यानरूप तथा मनोरथको पूर्ण करनेवाले हैं उन कामरहित जिनेन्द्रदेवकी दीपोंसे पूजा करता हूँ ॥५५६॥

अनुपम केवलज्ञान ही जिनका शरीर है, समस्त भाव कर्मोंका विनाश हो जानेपर जो रूप रहता है उसी रूपमें जो स्थित हैं जिनके स्थानको योगके द्वारा जाना जा सकता है और जो केवलज्ञानके द्वारा सर्वत्र व्यापक है, उन जिनदेवकी मैं धूपसे पूजा करता हूँ ॥५५७॥

जो स्वर्ग और मोक्षका दाता है, जन्म-मरणरूपी दोषोंसे रहित है, और विद्याधरों तथा देवोंके स्वामी जिनको स्मरण करते हैं, उन जिनेन्द्रदेवकी फलोंसे पूजा करता हूँ ॥५५८॥

अभिषेक समारोहके पश्चात् तीनों लोकोंके गुरु जिनेन्द्रदेवकी जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य दीप, धूप और फलोंसे पूजा करके मैं उनका स्तवन करता हूँ, उनका नाम जपता हूँ, उन्हें चित्तमें धारण करता हूँ शास्त्रकी आराधना करता हूँ तथा तीनों लोकोंसे उत्पन्न हुए उनके (ज्ञानरूपी) तेजकी मैं तीनों कालोंमें श्रद्धा करता हूँ ॥५५९॥

भावार्थ—अभिषेकके पश्चात् आठद्रव्यसे जिनेन्द्रदेवका पूजन करना चाहिए। तथा पूजनके पश्चात् उनका स्तवन, उनके नामका जप, ध्यान वगैरह तथा शास्त्र स्वाध्याय करना चाहिए।

पुष्पाञ्जलिके समूहसे जिनका पादपीठ—चरणोंके पासका स्थान—भरा हुआ है उन जिनेन्द्रदेवकी अभिषेकपूर्वक पूजासे सहर्ष उपासना करके मैं पुन उनकी श्वेतछत्र, चमर, दर्पण आदि

---

१ मेघ । २ एका भावकर्मापि तावा विलये विनाशे सति एकल कलाविलये कर्मेदे सद् कर्म तत्सकलकलाविलयवर्तिरूपं तत्र तिष्ठतीति तस्थं केवलज्ञानदर्पनिमग्नः । ३ केवलज्ञानापेक्षया सर्व व्यापकम् । ४ पुष्पम् । ५. पूजामि । ६ अभिषेक ।

भक्तिर्नित्यं जिनचरणयोः सर्वसत्त्वेषु मैत्री
सर्वातिथ्ये मम विभवधीर्बुद्धिरध्यात्मतत्त्वे ।
सद्विद्येषु प्रणयपरता चित्तवृत्तिः परार्थे
भूयादेतद्भवति भगवन्धाम यावत्त्वदीयम् ॥५६१॥

प्रातर्विधिस्तव पदाम्बुजपूजनेन मध्याह्नसन्निधिरयं मुनिमाननेन ।
सायन्तनोऽपि समयो मम देव यायान्नित्यं त्वदाचरणकीर्तनकामितेन ॥५६२॥

धर्मेषु[1] धर्मनिरतात्मसु धर्महेतौ[2] धर्मादवाप्तमहिमास्तु नृपोऽनुकूलः[3] ।
नित्यं जिनेन्द्रचरणार्चनपुण्यधन्याः कामं प्रजाश्च परमां श्रियमाप्नुवन्तु ॥५६३॥

[इति पूजाफलम्]

आलस्याद्वपुषो हृषीकहरणैर्व्याक्षेपतो वात्मन-
श्चापल्यान्मनसो मतेर्जडतया मान्द्येन वाक्सौष्ठवे ।
यः कश्चित्तव संस्तवेषु समभूदेष प्रमादः स मे
मिथ्या स्तान्ननु देवताः प्रणयिनां तुष्यन्ति भक्त्या यतः ॥५६४॥

देवपूजामनिर्माय मुनीननुपचर्य च ।
यो भुञ्जीत गृहस्थः सन् स भुञ्जीत परं तमः[4] ॥५६५॥

इत्युपासकाध्ययने स्नानार्चनविधिर्नाम षट्त्रिंशः कल्पः ।

मांगलिक द्रव्योंसे आराधना करता हूँ ॥५६०॥

[इस प्रकार पूजा समाप्त हुई । आगे पूजाका फल बतलाते हैं—]

पूजाफल

हे भगवन् ! जबतक इस चित्तमें आपका निवास है तबतक सदा जिनभगवान्‌के चरणोंमें मेरी भक्ति रहे, सब प्राणियोंमें मेरा मैत्रीभाव रहे, मेरी ऐश्वर्यरत मति सबका आतिथ्य सत्कार करनेमें संलग्न हो, मेरी बुद्धि अध्यात्म तत्त्वमें लीन रहे, ज्ञानीजनोंसे मेरा स्नेह भाव रहे और मेरी चित्तवृत्ति सदा परोपकारमें लगी रहे ॥५६१॥

हे देव ! प्रातःकालीन विधि आपके चरण-कमलोंकी पूजासे सम्पन्न हो, मध्याह्न कालका समागम मुनियोंके आतिथ्यसत्कारमें बीते; तथा सायंकालका भी समय आपके चारित्रके कथन और कामनामें व्यतीत हो ॥५६२॥ धर्मके प्रभावसे राज्यपदको प्राप्त हुआ राजा धर्मके विषयमें, धार्मिकोंके विषयमें और धर्मके हेतु चैत्यालय आदिके विषयमें सदा अनुकूल रहे–उनका अहित न करके संरक्षण करे। तथा प्रतिदिन जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी पूजासे प्राप्त हुए पुण्यसे धन्य हुई जनता यथेच्छ उत्कृष्ट लक्ष्मीको प्राप्त करे ॥५६३॥

शरीरके आलस्यसे या इन्द्रियोंके इधर-उधर लग जानेसे अथवा आत्माकी अन्यमनस्कतासे अथवा मनकी चपलतासे अथवा बुद्धिकी जड़तासे अथवा वाणीमें सौष्ठव (शुद्ध स्पष्ट उच्चारण) की कमीके कारण आपके स्तवनमें मुझसे जो कुछ प्रमाद हुआ है, वह मिथ्या हो। क्योंकि देवता तो अपने प्रेमियोंकी भक्तिसे सन्तुष्ट होते हैं ॥५६४॥ जो गृहस्थ होते हुए भी देवपूजा किये बिना तथा मुनियोंकी सेवा किये बिना भोजन करता है, वह महापापको खाता है ॥५६५॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें अभिषेक, पूजन विधि नामका छत्तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

---

१ धार्मिकेषु । २ चैत्यालय-मुनि-शास्त्र-सघेषु । ३ नृप' अनुकूलो हितो भवतु । ४. पापम् ।

नमदमरमौलिमण्डलमिलद्रत्नांशुनिकरगगनेऽस्मिन् ।
अरुणायतेऽङ्घ्रियुगलं यस्य स जीयाज्जिनो देवः ॥५६६॥

सुरपतियुवतिश्रवणसमर्पितसुमनोमञ्जरीरुचिरम् ।
चरणनखकिरणजालं यस्य स जयताज्जिनो जगति ॥५६७॥

चर्चरी—

विविधकुल¹रमौलिमन्दारमकरन्द²मकरन्दसरसारधूसरपदाम्बुज वैदर्भी-
परमपद भासयान्वय विजितमनसिज,

मात्रा—

यस्त्वाममितगुणं जिन कश्चित्स्वल्पधियोधः स्तौति विपश्चित् ।
नूनमसौ ननु काञ्चनशैलं तुलयति हस्तेनाचिरकालम् ॥५६८॥
स्तोत्रे यत्र महामुनिपतयः सकलैतिह्याम्बुधिविधिपतयः ।
मुमुक्षुभिस्ताननयधियोधास्तत्र कथं ननु मादृग्वेधाः ॥५६९॥
तदपि वदेयं किमपि जिन त्वयि यद्यपि शक्तिर्नास्ति तथा मयि ।
यदियं भक्तिर्मौनस्थं देव न काम कुरुते स्वस्थम् ॥५७०॥

चतुष्पदी—

सुरपतिविरचितसंस्तव दमिताखिलभव परमधामसम्भोदय ।
कस्तव सम्पुण्यगणमपहरचरण प्रथयतुलां हतमतमय ॥५७१॥

[पूजनके पश्चात् जिन भगवान्‌की स्तुति करना चाहिए । अतः स्तुति करते हैं—]

स्तुति

नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुटोंके समूहमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंके समूहरूपी इस आकाशमें जिनके चरणयुगल सन्ध्याकी अरुणिमाकी तरह प्रतीत होते हैं वे जिनदेव जयवन्त हों ॥५६६॥ जिनके चरणोंके नखोंकी कान्तिका समूह देवांगनाओंके कानोंमें धारण की गयी कल्पलताकी पुष्पित लताके सम्पर्कसे सुन्दर प्रतीत होता है, वे जिन भगवान् जगत्‌में जयवन्त हों ॥५६७॥

देवेन्द्रोंके मुकुटोंमें लगे हुए मन्दार पुष्पके परागसे जिनके चरणकमल पाण्डुर हो गये हैं, जो पाण्डित्यके सर्वोत्कृष्ट स्थान हैं, जिन्होंने वादमें जयलाभ किया है, ऐसे कामजेता हे जिनेन्द्र देव!

जो अल्पज्ञानी विद्वान् तुम्हारे अपरिमित गुणोंका स्तवन करता है, वह निश्चय ही थोड़ीमें हाथसे सुमेरु पर्वतको तोलनेका प्रयत्न करता है ॥५६८॥ समस्त शास्त्ररूपी समुद्रको विधिमें चतुर, असीम ज्ञानधारी महामुनि भी जिसका स्तवन करनेमें, समर्थ नहीं हो सके, मेरे समान अल्पज्ञानी उसका स्तवन कैसे कर सकते हैं ॥५६९॥ हे जिन! यद्यपि मेरेमें आपका स्तवन करनेकी शक्ति नहीं है, तथापि कुछ कहता हूँ। क्योंकि मेरे मौन रहनेपर आपकी यह भक्ति मुझे स्वस्थ नहीं रहने देती ॥५७०॥

इन्द्रने जिसका स्तवन किया, जिसने समस्त संसार-परिभ्रमणको नष्ट कर दिया, मोक्षके साथ ही जिसने आत्मिक गुणोंको प्राप्त किया, जिसके चरण पापके नाशक हैं, और जिसने विश्व मनुष्यके मदको नष्ट कर दिया है ऐसे हे जिनेन्द्रदेव! कौन प्राणी आपके गुणसमूहका विस्तारसे कथन कर सकता है ॥५७१॥

---

१ कर्णतलाम्। २ प्रधान। ३ इमन्दचारी त्रिदश- प्रधान। मन्दारपुष्पाणां समूह-प्रभारसारेण धूसरः ईषत्पाण्डुरः। ४ क्षीणम्। ५ देव न मं—ज्ञ च।

जय निखिलनिलिम्पालापकल्प[1] जगतीस्तुतकीर्तिकलत्रतल्प[2] ।
जय परमधर्महर्म्यावतार[3] लोकत्रितयोद्धरणैकसार ॥५७२॥
जय लक्ष्मीकरकमलार्चिताङ्ग सारस्वतरसनटनाटधरङ्ग ।
जय बोधमध्यसिद्धाखिलार्थ[4] मुक्तिश्रीरमणीरतिकृतार्थ ॥५७३॥
नमदमरमौलिमन्दरतटान्तराजत्पदनखनक्षत्रकान्त ।
विबुधस्त्रीनेत्राम्बुजविबोध मरकध्वजधनुरुद्धवनिरोध ॥५७४॥
बोधत्रयविदितविधेयतन्त्र[5] का नामापेक्षा तव परत्र ।
दधतः प्रबोधमसुभृज्जनस्य गुरुरस्ति कोऽपि किमिहारुणस्य[6] ॥५७५॥
निजबीजबलान्मलिनापि महति धीः शुद्धिं परमामभव भजति ।
युक्तेः कनकाश्मा भवति हेम किं कोऽपि तत्र विवदेत नाम ॥५७६॥

हे समस्त देवोंकी स्तुतिके ग्रन्थरूप, और हे समस्त पृथिवीके द्वारा स्तुत कीर्तिरूपी स्त्रीके विश्रामके लिए शय्यारूप ! आपकी जय हो । हे परम धर्मरूपी महलके अवतार और हे तीनों लोकोंका उद्धार करनेमें समर्थ ! आपकी जय हो ॥५७२॥

जिनका अङ्ग लक्ष्मीके कर-कमलोंसे पूजित है, जो सारस्वत रसरूपी नटके लिए रंगमचके तुल्य हैं, जिनके केवलज्ञानमें समस्त पदार्थ प्रतिभासित है तथा जो मुक्तिश्रीरूपी स्त्रीके साथ रमण करके कृतार्थ हो चुके है ऐसे हे जिनेन्द्र ! आपकी जय हो ॥५७३॥

नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुटरूपी सुमेरुके प्रान्तभागमें जिनके पद नख चन्द्रमाकी भाँति शोभित होते हैं, जो देवागनाओंके नेत्ररूपी कमलोंको विकसित करते है और जो कामदेवके धनुषके उत्सवको रोकते हैं। ऐसे काम-विजेता हे जिनेन्द्र देव ! आप जयवन्त हो ॥५७४॥

हे जिन ! आपने मति, श्रुत और अवधिज्ञानके द्वारा जानने योग्य वस्तुओंको जान लिया है। इस लिए आपको किसी गुरुकी आवश्यकता नहीं हुई। ठीक ही है प्राणियोंको जगानेवाले सूर्यका भी क्या कोई गुरु है ? हे भवरहित ! महापुरुषोंकी मलिन बुद्धि भी अपने ज्ञान ध्यान आदिके बलसे अत्यन्त शुद्ध हो जाती है। उपायसे स्वर्णपाषाण स्वर्णरूप हो जाता है इसमें क्या किसीको विवाद है ? ॥५७५-५७६॥

भावार्थ—आशय यह है कि तीर्थङ्कर जन्मसे ही तीन ज्ञानके धारी होते हैं, अत. अपने ज्ञानबलसे ही वे जानने योग्य वस्तुओंको जान लेते है, उन्हें किसी गुरुसे शिक्षा लेनेकी आवश्यकता नहीं होती। बादको दीक्षा लेकर और तपस्या करके वे चार घातिया कर्मोंका नाश करके पूर्णज्ञानो हो जाते हैं। अत जैसे खनिसे सोना अशुद्ध ही निकलता है किन्तु उपाय करनेसे मलको दूर करके वही सोना शुद्ध हो जाता है, वैसे ही ससारी आत्मा अशुद्ध होते हुए भी तपस्याके द्वारा शुद्ध हो जाता है और शुद्ध होते ही उसके ज्ञानादिक गुण पूर्ण विकसित हो जाते है और तब वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाता है।

[किन्तु मीमासक किसी पुरुषका सर्वज्ञ होना स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि मनुष्यकी बुद्धिमें कुछ विशेषता मानी जा सकती है किन्तु उसका यह मतलब नहीं है कि वह अतीत और अनागतको भी जान सके, उसे उत्तर देते हुए कहते हैं—]

१ स्तुतिग्रन्थ। २ शय्या। ३ धर्मस्य प्रासादप्राय। ४ केवलज्ञान। ५ परिच्छेद्यवस्तु। ६ सूर्यस्य। ७ ज्ञानध्यानादि।

परिमाणमिवातिशयेन वियति मतिरुच्चैर्नरि गुरुतामुपैति ।
तज्जैमिनेर्विनिन्दा सकलस्य विश्राम्यति चित्ते देव कस्य ॥५७७॥
कपिलो यदि वाञ्छति निर्विमर्शं चितिं सुरगुरुगीर्गुम्फेष्वेव पतति ।
चैतन्यं बाह्यप्रमाणरहितमुपयोगि कस्य देव तथैव विदितं ॥५७८॥
भूपयःपवनानलतत्त्वकेषु चिद्वर्णो निरूपयति विभेदेष्वेषु ।
न पुनर्विदितं तद्विपरीतधर्मभाजि प्रवीति वचस्य कर्म ॥५७९॥

जैसे परिमाणका अतिशय आकाशमें पाया जाता है वैसे ही बुद्धिका अत्यन्त विकास मनुष्यमें होता है। इसलिए मीमांसकने जो सर्वज्ञकी आलोचना की है वह हे देव! किसीके भी चित्तमें नहीं उतरती ॥५७७॥

भावार्थ—जिसमें उतार-चढ़ाव पाया जाता है उसका उतार-चढ़ाव कहीं अपनी अन्तिम सीमाको अवश्य पहुँचता है। जैसे परिमाण (माप)में उतार चढ़ाव देखा जाता है अत उसका अन्तिम उतार परमाणुमें पाया जाता है और अन्तिम चढ़ाव आकाशमें, क्योंकि परमाणुसे छोटी और आकाशसे बड़ी कोई वस्तु नहीं है। वैसे ही ज्ञान भी घटता-बढ़ता है किसीमें कम ज्ञान पाया जाता है और किसीमें अधिक। अत किसी मनुष्यमें ज्ञानका भी अन्तिम विकास अवश्य होना चाहिए और जिसमें उसका अन्तिम विकास होता है वही सर्वज्ञ है।

यदि सांख्य अचेतन प्रकृतिमें ज्ञान मानता है तो यह तो चार्वाकके वचनोंका ही अनुपालन हुआ, क्योंकि चार्वाक पञ्चभूतसे आत्मा और ज्ञानकी उत्पत्ति मानता है। और यदि चैतन्य बाह्य वस्तुओंको नहीं जानता तो हे विश्वप्रसिद्ध देव! आप बतलावें कि वह कैसे किसीके लिए उपयोगी हो सकता है? ॥५७८॥

भावार्थ—सांख्य आत्मा मानता है और उसको चैतन्य स्वरूप भी स्वीकार करता है किन्तु चैतन्यको ज्ञान-दर्शनरूप नहीं मानता। उसके मतसे ज्ञान जड़ प्रकृतिका धर्म है। इसीसे मुक्तावस्थामें चैतन्यके रहनेपर भी वह ज्ञानका अस्तित्व नहीं मानता। इसी बातको लेकर ऊपर ग्रन्थकारने सांख्यमतकी आलोचना की है।

चार्वाकगुरु बृहस्पति पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु तत्त्वसे ज्ञान बतलाता है किन्तु उनसे विरुद्ध धर्मवाले आत्मामें ज्ञान नहीं बतलाता। यह उस चार्वाकका महत्पाप है ॥५७९॥

भावार्थ—चार्वाक आत्मा नहीं मानता। उसका मत है कि पृथिवी जल आदि भूतोंके मिलनेसे एक शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसे लोग आत्मा कहते हैं और शरीरके नष्ट होनेपर उसके साथ ही वह शक्ति भी नष्ट हो जाती है। किन्तु पञ्चभूत और आत्माका स्वभाव बिल्कुल अलग है। ऐसा नियम है कि जो जिससे उत्पन्न होता है उसके गुण उसमें पाये जाते हैं, मगर पञ्चभूतोंका एक भी गुण आत्मामें नहीं पाया जाता और जो गुण आत्मामें पाये जाते हैं उनकी गन्ध भी पञ्चभूतोंमें नहीं मिलती है। फिर भी ज्ञानको आत्माका गुण नहीं मानता और उसे पञ्चभूतका कार्य बतलाता है। यह उसका कथन ठीक नहीं है।

---

१ जिनविषये निन्दा। २ देवस्य च। ३ सांख्य। ४ ज्ञानम्। ५ अचेतने प्रधाने। ६ चार्वाकवचनेषु चतुर्भूतस्थानेषु। ७ कपिलः। ८. कार्यकारकम्। ९ त्वं वद। १० चैतन्ये। ११ हे विख्यात। १२ जड। १३ चार्वाकगुरुः बृहस्पतिः। १४ कथयति। १५ निर्भेदं ज्ञानम्। १६ आत्मनि ज्ञानं न कथयति। १७ तस्मात् अचेतनात् विपरीतधर्मशालिनि। १८. चार्वाकस्य पाप कर्ते।

विज्ञानप्रमुखाः सन्ति विमुचि[1] न गुणाः किल यस्य नयोऽत्र वाचि।
तस्यैष पुमानपि[2] नैव तत्र दाहाद्दहनः[3] क इहापरोऽत्र ॥५८०॥
धरणीधरधरणिप्रभृति[4] सृजति ननु निपगृहादि[5] गिरिशः[6] करोति।
चित्रं तथापि यत्तद्वचांसि लोकेषु भवन्ति महायशांसि ॥५८१॥
पुरुषत्रयमबलासक्तमूर्त्ति तस्मात्परस्तु[7] गतकार्यकीर्तिः[8]।
एवं सति नाथ कथं हि सूत्रमाभाति हिताहितविषयमत्र ॥५८२॥
सोऽहं[9] योऽभूव बालवयसि निश्चिन्वन्क्षणिकमत जहासि।
संतानोऽप्यत्र न वासनापि यद्यन्वयभावस्तेन नापि ॥५८३॥
चित्तं[10] न विचारकमक्षजनितमखिलं सविकल्पं स्वांशपतितम्।
उदितानि[11] वस्तु नैव स्पृशन्ति शाक्याः कथमात्महितान्युशन्ति[12] ॥५८४॥

जिस सांख्यका यह सिद्धान्त है कि मुक्त आत्मामें ज्ञानादिक गुण नहीं हैं उसके मतमें आत्मा भी नहीं ठहरता; क्योंकि जैसे बिना उष्ण गुणके अग्नि नहीं रह सकती वैसे ही ज्ञानादिक गुणोंके बिना आत्मा भी नहीं रह सकता ॥५८०॥

[*इस प्रकार सांख्य मतकी आलोचना करके ईश्वरकी आलोचना करते हैं—*]

महेश्वर पृथ्वी, पहाड़ वगैरहको तो बनाता है किन्तु मकान, घट वगैरहको नहीं बनाता। आश्चर्य है फिर भी उसके वचन लोकमें प्रसिद्ध हो रहे है ॥५८१॥

भावार्थ—आशय यह है कि यदि ईश्वर पृथ्वी, पहाड़ वगैरहको बना सकता है तो घट, पट वगैरहको भी बना सकता है फिर उसके लिए कुम्हार और जुलाहे वगैरहकी जरूरत नहीं होनी चाहिए। जैसे उसने मनुष्योंके लिए पृथ्वी वगैरहकी सृष्टि की वैसे ही वह इन चीजोंको क्यों नहीं बना देता। इससे मालूम होता है कि जगत्का कोई रचयिता नहीं है, आश्चर्य है कि फिर भी मनुष्य उसकी बातको माने जाते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश तो तिलोत्तमा, लक्ष्मी और गौरीमें आसक्त है तथा जो परम शिव है वह कायरहित है। हे नाथ! ऐसी स्थितिमें उनसे हित और अहितको बतलानेवाले सूत्रोंका उद्गम कैसे हो सकता है ॥५८२॥

[*इस प्रकार वैदिक मतकी आलोचना करके बौद्ध मतकी आलोचना करते हैं—*]

जो मैं बचपनमें था वही मैं हूँ ऐसा निश्चय करनेसे क्षणिक मत नहीं ठहरता। यदि कहा जाये कि सन्तान या वासनासे ऐसी प्रतीति होती है कि मैं वही हूँ तो न तो सन्तान ही बनती है और न वासना ही सिद्ध होती है। यदि ऐसा मानते हो कि पूर्व क्षणका उत्तर क्षणमें अन्वय पाया जाता है तो आत्माको ही क्यों नहीं मान लेते। तथा इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला निर्विकल्प

---

१ मुक्तजीवे विज्ञानादयो गुणा न वर्तन्ते। २ जीवोऽपि नास्ति तस्मिन् मते। ३ उष्णत्व विना यथाऽग्निर्नास्ति तथा विज्ञानादिगुणान् विना आत्माऽपि नास्ति। ४ गिरिप्रभृति यदि वस्तु सृजति तर्हि घटादयोऽपि सृजति। ५ घट। ६ शिव। ७ पर परम एव शिव। ८ कायरहित। ९ 'सोऽहम्' इति मन्यसे चेत्तर्हि त्वं क्षणिकमतं जहासि। यो जीव प्रथमसमये विध्वंस प्राप्त तस्माज्जीवादन्यो जीवो नोत्पद्यते एवंविध सन्ताननिषेधोऽस्ति तव मते। यथा सन्तानो नास्ति तथा वासनाऽपि नास्ति। तर्हि कथमुच्यते वासनाया ज्ञानमुत्पद्यते। १० ज्ञानम्। 'तच्च निर्विकल्पकमिव सविकल्पमपि न विचारकम्, पूर्वापरपरामर्शशून्यत्वादभिलापसंसर्गरहितत्वात्।'—अष्टसह० पृ० ७४। ११ बौद्धोक्तानि। १२ वदन्ति।



अद्वैतं तत्त्व वदति कोऽपि सुधियां धियमातनुते न सोऽपि ।
यत्पक्षहेतुदृष्टान्तवचनसत्त्वात् कुतोऽत्र शिवशर्मसदन ॥५८५॥
हेत्वाद्यनेकधर्मप्रवृत्तिराख्याति जिनेश्वरतत्त्वसिद्धिम् ।
अन्यत्पुनरखिलमतिव्यतीतमुद्भाति सर्वमुदयनिकेत ॥५८६॥

ज्ञान तो विचारक नहीं है और जो सविकल्प ज्ञान है वह निर्विकल्पके द्वारा गृहीत वस्तुमें ही प्रवृत्ति करता है। तथा वचन वस्तुको नहीं कहते। ऐसी स्थितिमें बौद्ध मतानुयायी कैसे आत्म-हितका कथन करते हैं ॥५८३ ५८४॥

भावार्थ—बौद्ध क्षणिकवादी हैं। उनके मतसे प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षणमें नष्ट होती है। किन्तु वस्तुके प्रथम क्षणके नष्ट हो जानेपर दूसरा क्षण और दूसरे क्षणके नष्ट हो जानेपर तीसरा क्षण उत्पन्न होता रहता है और इस तरहसे क्षणसन्तान चलती रहती है, ऐसा वे मानते हैं। किन्तु यदि वस्तुके पूर्व क्षण और उत्तर क्षणमें एकत्व नहीं माना जाता है तो वह सन्तान बन नहीं सकती और यदि एकत्व माना जाता है तो वस्तु स्थायी सिद्ध हो जाती है। उसी एकत्वके कारण बड़े होनेपर भी हमें बचपनकी बातोंकी स्मृति रहती है और हममें-से प्रत्येक यह अनुभव करता है कि जो मैं बच्चा था वही मैं अब युवा या वृद्ध हूँ। यह तो हुई बौद्धके क्षणिकवादकी आलोचना। बौद्ध ज्ञानको निर्विकल्पक मानता है और उसे ही वस्तुग्राही कहता है। तथा निर्विकल्पकके बाद जो सविकल्पक ज्ञान होता है उसे अवस्तुग्राही कहता है। निर्विकल्पकका विषय क्षणिक निरंश वस्तु है जो बौद्धकी दृष्टिसे वास्तविक है और सविकल्पक स्थिर स्थूलाकार वस्तुको ग्रहण करता है जो उसकी दृष्टिसे अवास्तविक है। चूँकि शब्द भी स्थिर स्थूलाकार वस्तुको ही कहता है, निरंश वस्तुको वह कह ही नहीं सकता। अतः बौद्ध शब्दको भी अवस्तुग्राही मानता है, इसी लिए बौद्धमतमें शब्दको प्रमाण नहीं माना गया। ऐसी स्थितिमें जब निर्विकल्पक और सविकल्पक अविचारक हैं और शब्द वस्तुग्राही नहीं है तब बौद्ध मतमें हिंसाहिंसका विचार और उपदेश कैसे सम्भव हो सकता है ?

[अब अद्वैतवादकी आलोचना करते हैं—]

हे शिव सुखके मन्दिर ! जो अद्वैत तत्त्वका कथन करता है वह भी बुद्धिमानोंके विचारोंको प्रभावित नहीं करता; क्योंकि अद्वैतवादमें पक्ष, हेतु और दृष्टान्त वगैरह कैसे बन सकते हैं ? अद्वैतकी सिद्धिके लिए हेतुको मान लेनेसे उसके साथमें हेतुके पक्षधर्मत्व सपक्ष-सत्त्व आदि अनेक धर्म मानने पड़ते हैं और उनके माननेसे जिनेश्वरके द्वारा कहे गये द्वैत तत्त्वकी ही सिद्धि होती है—अद्वैतकी नहीं। अतः हे अनेकान्त नयके प्रणेता ! तुम्हारे द्वारा कहे गये तत्त्वोंके सिवा शेष सब बुद्धिसे परे प्रतीत होता है, वह बुद्धिको नहीं लगता ॥५८५ ५८६॥

---

१ पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वादि। 'हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययो। हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥ २६ ॥—आप्तमीमांसा। २ हे अनेकान्तनयनिकेत।

मनुजत्वपूर्वनयनायकस्य भवतो भवतोऽपि गुणोत्तमस्य ।
ये द्वेषकलुषधिषणा भवन्ति ते जडजं मौक्तिकमपि रहन्ति[2] ॥५८७॥
नाप्तेषु बहुत्वं यः सहेत पर्यायैविभूतिष्वपि महेत[4] ।
नूनं द्रुहिणादिषु दैवतेषु कं[5] तस्य स्फुटति तथाविधेषु[6] ॥५८८॥
दीक्षासु[7] तपसि वर्चसि त्वयि[8] नयदिहैक्यं सकलगुणैरहीन[9] ।
तस्मादवैमि[10] जगतां त्वमेव नाथोऽसि बुधोचितपादसेव ॥५८९॥
देव त्वयि कोऽपि तथापि विमुखचित्तो यदि विदलितमदनविशिख[11] ।
निन्द्यः स एव घूके दिवापि विद्[12]शीनमुपालभते न कोऽपि ॥५९०॥
निष्किञ्चनोऽपि जगते न कानि जिन दिशसि[13] निकामं कामितानि ।
नैवात्र चित्रमथवा समस्ति वृष्टिः किमु खादिह नो[14] चकास्ति ॥५९१॥

भावार्थ—अद्वैतवादी केवल एक ब्रह्म तत्त्व ही मानते है किन्तु बिना द्वैतके अद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि अद्वैतकी सिद्धि बिना प्रमाणके तो हो नहीं सकती और प्रमाण माननेसे अनुमान वगैरह प्रमाण मानने पड़ेंगे। तथा बिना पक्ष हेतु और दृष्टान्तके अनुमान नहीं होता और इन सबके माननेसे अद्वैत नहीं ठहरता।

हे देव! आप गुणोंसे श्रेष्ठ है, फिर भी चूँकि आप अनेकान्त नयके नायक होनेसे पूर्व मनुष्य थे इसलिए जिनलोगोंकी मति द्वेषसे कलुषित है वे मोतीको इसलिए छोड़ देते हैं चूँकि वह जड़ या जलसे पैदा हुआ है ॥५८७॥ हे पूज्य! जिन्हें अनुक्रमसे होनेवाले बहुत आप्तोंकी मान्यता सह्य नहीं है निश्चय ही अवतार रूप ब्रह्मादि देवताओंके सामने वे अपना सिर फोड़ते है। अर्थात् अनेक देवताओंको जब वे नहीं मानते और फिर भी ब्रह्मादिक देवताओं को सिर नवाते है अत उनका उन्हें सिर नवाना सिर फोड़ना ही जैसा है ॥५८८॥

हे सकलगुणशाली! आपके चारित्रमें, तपमें और वचनमें एकरूपता पायी जाती है अर्थात् जैसा आप कहते हैं वैसा ही आचरण भी करते है। इस लिए हे देवताओंसे पूजित चरण! आप ही तीनों लोकोंके स्वामी हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ५८९ ॥

कामके वाणोंको चूर्ण कर डालनेवाले हे देव! फिर भी यदि कोई तुमसे विमुख रहता है तो वही निन्दाका पात्र है, क्योंकि दिनके समय उल्लूके अन्धे हो जानेपर कोई भी सूर्यको दोष नहीं देता ॥ ५९० ॥

हे जिन! आपके पास कुछ भी नहीं है फिर भी आप जगत्की किन इच्छित वस्तुओं-को नहीं देते? अर्थात् सभीको इच्छित वस्तु देते हैं। किन्तु इसमें कोई अचरजकी बात नहीं है, क्योंकि आकाशके पास कुछ भी नहीं है फिर भी क्या आकाशसे वर्षा होती नहीं देखी जाती ॥ ५९१ ॥

---

१ अय जिन पूर्वं नर। २ 'तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव त्वा येऽवगायन्ति कुल प्रकाश्य। तेऽद्यापि नन्वा-श्मनमित्यवश्यं पाणौ कृत हेम पुनस्त्यजन्ति ॥२३॥'—विषापहार। हरन्ति आ। त्यजन्ति। ३ अनुक्रमेणोत्पन्नेषु। ४ हे पूजाप्राप्त। ५ मस्तकम्। ६. बहुषु हरिहरादिषु। ७ चारित्रेषु। ८ त्वयि विषये निश्चयेन चारित्रादी-नामैक्य वर्तते। ९ परिपूर्ण। १०. अह जानामि। ११ हे चूर्णीकृत मदनवाण। १२ घूके अन्धे सति इन सूर्यं न कोऽपि निन्दति। १३ अपि तु सर्वाणि वाञ्छितवस्तूनि त्व ददासि। १४ किं न भवति। 'तुङ्गात् फल यत्तदकिंचनाच्च प्राप्य समृद्धान्न धनेश्वरादे। निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रेर्नैकापि निर्याति धुनी पयोधे ॥ १९ ॥—विषापहार।

पद्धतिका—

इति तव नुतमाय स्मरपरमाय त्रिभुवनपतिमतिनिकेतन ।
मम दिश जगदीश प्रशमनिवेश त्वत्पदनुतिहृदय जिन ॥५१२॥

घत्ता—

अमरतरुणीनेत्रानन्दे महोत्सवचन्द्रमाः
स्मरमदमयध्वान्तध्वंसे मतः परमोऽर्यमा ।
अदयहृदयः कर्मारातौ मते च कृपासमः
इति विसदृशव्यापारस्त्वं तथापि भवान्महान् ॥५१३॥
अनन्तगुणसंनिधौ नियतबोधसंपन्निधौ
श्रुताम्बुधिमुपस्तुते परिमितोक्तवृत्तस्थिते ।
जिनेश्वर सतीदृशे त्वयि मयि स्फुटं तादृशे
कथं सदृशनिर्णयं तदिदमस्तु वस्तुद्वयम् ॥५१४॥
तदनुपमसुख स्वादृग्वाणीपथस्तवनोचिते
त्वयि गुणगणापात्रे स्तोत्रैकस्य हि मादृशः ।
प्रणतिविषये व्यापारेऽस्मिन्पुनः सुलभे मम
कथमयमवागास्तां स्वामिन्नतोऽस्तु नमोऽस्तु ते ॥५१५॥

इसलिए हे मोक्षपति! हे कामके नाशक! हे तीनों लोकोंके स्वामियोंकी बुद्धिके धाम! हे शान्तिके आगार! हे जगत्के स्वामी जिनेन्द्रदेव! मुझे आपके चरणोंमें नमस्कार भाव रखने वाला हृदय प्रदान करें अर्थात् मेरा हृदय सदा आपके चरणोंमें लीन रहे ॥ ५१२ ॥

हे जिनदेव! देवांगनाओंके नेत्रोंको आनन्दित करनेके लिए आप आनन्ददायक चन्द्रमा हैं और कामके मदरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए उत्कृष्ट सूर्य हैं। कर्मरूपी शत्रुके लिए आपके हृदयमें थोड़ी भी दया नहीं है किन्तु जो आपको नमस्कार करता है उस पर आप कृपालु हैं। इस प्रकार विपरीत आचरण करनेपर भी आप महान् हैं ॥ ५१३ ॥

आप अनन्त गुण युक्त हैं और मैं थोड़ेसे परिमित ज्ञानका स्वामी हूँ। श्रुतके समुद्र विद्वानोंने आपका स्तवन किया है और मेरे पास परिमित शब्द हैं और परिमित छन्द हैं। हे जिनेश! आपमें और मुझमें इतने स्पष्ट अन्तरके होते हुए हम दोनों समान कैसे हो सकते हैं। इस लिए मैं और आप दोनों दो वस्तु हैं ॥ ५१४ ॥ अतः हे अनुपम! जब आप उस प्रकारके विद्वानोंके द्वारा स्तवन करनेके योग्य हैं, तो मुझ मूर्खका उन स्तवनोंसे, जो तुम्हारे गुण-समूहको छूते भी नहीं, आपका स्तवन करना व्यर्थ है। किन्तु स्तवन करना कठिन होते हुए भी आपको नमस्कार करना तो सरल है उसमें मैं मूक कैसे रह सकता हूँ। अतः हे स्वामिन्! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ५१५ ॥

---

१ मोक्ष। २ कामविध्वंसक। ३ कामकर्दमयो योऽसौ अन्धकारः तस्य विनाशे। ४ कथित। ५ सूर्य। ६ नमने नरे। ७ विपरीत। ८ त्वयि। ९ मयि। १० स्तोत्रैर्मार्गणो नरस्य। ११ जव स्तद्गुणवाणीमार्गबोध्ये। १२ असमानमूर्ति स्तोत्रैरलम्। १३ मौनवान् कथं तिष्ठतु अर्थं नमस्याम।

जगन्नेत्रं पात्रं निखिलविषयज्ञानमहसां[1]
महान्तं त्वां सन्तं [2]सकलनयनीतिस्मृतगुणम् ।
महोदारं सारं विनतहृदयानन्दविषये
ततो याचे नो चेद्भवसि भगवन्नर्थिविमुखः ॥५९६॥
मनुजदिविजलक्ष्मीलोचनालोकलीला-[3]
श्चिरमिह [4]चरितार्थास्त्वत्प्रसादात्प्रजाताः ।
हृदयमिदमिदानीं स्वामिसेवोत्सुकत्वात्
[5]सहवसतिसनाथं [6]छात्रमित्रे विधेहि ॥५९७॥

इत्युपासकाध्ययने स्तवनविधिर्नाम सप्तत्रिंशत्तमः कल्पः ।

[7]सर्वाक्षरनामाक्षरमुख्याक्षराद्यै[8][9][10]कवर्णविन्यासात् ।
[11]निगिरन्ति जपं केचिदहं तु [12]सिद्धक्रमैरेव ॥५९८॥
पातालमर्त्यखेचरसुरेषु सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्य ।
[13]अधिगानात्सर्वसिद्धेः [14]समवाये देवयात्रायाम्[15] ॥५९९॥

हे भगवन् ! आप जगत्के नेत्र हैं, समस्त पदार्थोंके ज्ञानरूपी तेजके स्थान हैं, महान् हैं, समस्त शास्त्रोंमें आपके गुणोंका स्मरण किया गया है, विनत मनुष्योंके हृदयोंको आनन्द देनेके विषयमें आप महान् उदार हैं अत मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ । आशा है आप याचकसे विमुख नहीं होंगे अर्थात् मेरी प्रार्थना पूरी करेंगे ॥ ५९६ ॥

भगवन् ! आपके प्रसादसे मानवीय और दैवीय लक्ष्मीके नेत्रोंके द्वारा मेरे देखे जानेकी शोभा तो बहुत काल हुआ तभी चरितार्थ हो चुकी है । अब तो मेरा हृदय आपकी सेवाके लिए उत्सुक है इसलिए अब मेरे हृदयको अपने निवाससे सनाथ करो—मेरे हृदयमें बसो ॥५९७ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें स्तवन विधि नामक सैंतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब जप करनेकी विधि बतलाते हैं—]

जप विधि

कोई 'णमो अरहताण' आदि पूरे नमस्कार मन्त्रसे जाप करना बतलाते हैं । कोई अरहन्त सिद्ध आदि पच परमेष्ठीके नामाक्षरोंसे जप करना बतलाते है । कोई पच परमेष्ठीके वाचक 'अ सि आ उ सा' इन मुख्य अक्षरोंसे जप करना बतलाते है । कोई 'ओं' अथवा 'अ' आदि एक अक्षरसे जप करना बतलाते हैं, किन्तु मैं (ग्रन्थकार) तो अनादि सिद्ध पञ्चनमस्कार मन्त्रसे ही जप करना बतलाता हूँ ॥५९८॥

पाताल लोकमें अर्थात् भवनवासी और व्यन्तर देवोंमें, मनुष्योंमें, विद्याधरोंमें, वैमानिक देवोंमें, जनसमाजमें और देवयात्रामें सिद्धिदायक होनेसे पञ्चनमस्कारमन्त्रका सर्वत्र अति आदर है ॥५९९॥

---

१ तेजसा पात्र स्थानम् । २ समस्तसिद्धान्तचिन्तितगुणम् । ३ शोभा. । ४ सत्यार्था ५. सह निवाससहित मदीय हृदय कुरु । ६ छात्रा एव मित्राणि यस्य । ७ 'णमो अरहताण' इत्यादि पञ्चत्रिंशत् । ८ अरहत सिद्ध इत्यादि । ९ अ सि आ उ सा । १०. ॐ अथवा अ । ११ कथयन्ति । १२ अनादिस सिद्धपञ्चत्रिंशदक्षरै । १३ अधिकप्रतिपत्ते –आदरात् । अविगानात्' इत्यपि पाठ । अविगानात्–अविप्रतिपत्ते । १४ समाजे–संघमेलापके । १५ तीर्थंकरपूजायाम् ।

पुष्पैः पर्वभिरङ्गुल्या बीजैः स्वर्णार्क[1]कान्तरत्नैर्वा ।
निष्कम्पितात्मकरणः पर्यङ्कस्थो जपं कुर्यात् ॥६००॥
अङ्गुष्ठे मोक्षार्थी तर्जन्यां (न्या) साधु बहिरिव नयतु ।
इतरास्वङ्गुलिषु पुनर्बहिरन्तर्लौकिकापेक्षी ॥६०१॥
वचसा वा मनसा वा कार्यो जाप्यः समाहितस्वान्तैः[3] ।
शतगुणमाद्ये पुण्यं सहस्रसंख्यं द्वितीये तु ॥६०२॥
नियमितकरणग्रामः स्थानासनमानसप्रचारज्ञः ।
पवनप्रयोगनिपुणः सम्यक्सिद्धो भवेदशेषज्ञः ॥६०३॥

पर्यङ्क आसनसे बैठकर, इन्द्रियोंको निश्चल करके पुष्पोंसे या अँगुलीके पर्वोंसे या कमल-गट्टोंसे या सोने अथवा सूर्यकान्त मणिके दानोंसे अथवा रत्नोंसे नमस्कारमन्त्रका जप करना चाहिए ॥६००॥

मोक्षके अभिलाषी जपकर्ताको अँगूठेपर मालाको रखकर अंगूठेके पासवाली तर्जनी अंगुलीके द्वारा सम्यक् रीतिसे बाहरकी ओर जप करना चाहिए । और इस लोकसम्बन्धी किसी शुभ कामना की पूर्तिके अभिलाषीको शेष अंगुलियोंके द्वारा बाहर या अन्दरकी ओर जप करना चाहिए ॥६०१॥

मनको स्थिर करके वचनसे या केवल मनसे जप करना चाहिए । बोल-बोलकर जप करने-से सौगुना पुण्य होता है, किन्तु मन-ही-मनमें जप करनेसे हजारगुना पुण्य होता है ॥६०२॥

जो अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है और स्थान, आसन व मनके संचारको जानता है तथा श्वासोच्छ्वासके प्रयोगमें सिद्धहस्त होता है, वह सर्वज्ञ होकर सिद्ध पद प्राप्त करता है ॥६०३॥

भावार्थ—आशय यह है कि जपके लिए इन्द्रियोंको वशमें करना आवश्यक है, उसके बिना जपमें मन नहीं लग सकता और बिना मन लगाये जप हो भी नहीं सकता । क्योंकि यदि मुँहसे मन्त्र बोलते रहने और हाथोंसे गुरिया सरकाते रहनेपर भी मन कहीं और भटकता है तो वह जाप बेकार है । ऊपर जो मनसे और वचनसे जाप करना बतलाया है उसका यह मतलब नहीं है कि वचनसे किये जानेवाले जापमें मनको छुट्टी रहती है । मन तो हर हालतमें उसीमें लगा रहना चाहिए । किन्तु मनसे किये जानेवाले जापमें वचनका उच्चारण नहीं किया जाता और मन-ही-मनमें जप किया जाता है । अतः प्रत्येक प्रकारके जपके लिए इन्द्रियोंपर काबू होना आवश्यक है । दूसरे, स्थान कैसा होना चाहिए, आसन किस प्रकार लगाना चाहिए, मन्त्रोंमें मनका संचार किस प्रकार करना चाहिए—ये सब बातें भी जप करनेवालेको ज्ञात होनी चाहिए । तथा जप करते समय श्वासकी गति कैसी होनी चाहिए, कितने समयमें श्वास लेना चाहिए और

---

१ कमलगट्टा । २ सूर्यकान्त । ३ समाहितस्वान्ते अ आ. ब. मु । 'विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः । उपांशु स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥—मनुस्मृति २ ८५ । 'वाचाप्युपांशु व्युत्सर्गे कार्यो जप्यः स वाचिकः । पुण्यं शतगुणं चैतः सहस्रगुणमावहेत् ॥ २४ ॥—अनगारधर्मा. अ ९ ।

इममेव मन्त्रमन्ते पञ्चत्रिंशत्प्रकारवर्णस्थम् ।
मुनयो जपन्ति विधिवत्परमपदावाप्तये नित्यम् ॥६०४॥
मन्त्राणामखिलानामयमेकः कार्यकृद्भवेत्सिद्धः ।
[1]अस्यैकदेशकार्ये[2] परे तु कुर्युर्न ते सर्वे ॥६०५॥
कुर्यात्करयोर्न्यासं कनिष्ठिकान्तः[3] प्रकारयुगलेन ।
तदनु हृदाननमस्तककवचास्त्रविधिर्विधातव्य' ॥६०६॥
संपूर्णमतिस्पष्टं सनादमानन्दसुन्दरं जपतः ।
सर्वसमीहितसिद्धिर्निःसंशयमस्य जायेत ॥६०७॥

कब छोड़ना चाहिए, इस क्रियाका अच्छा अभ्यास होना चाहिए। जो इन सब बातोंका अभ्यासी होकर जप करता है वह सच्चा ध्यानी बन कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

मुनि भी मोक्षकी प्राप्तिके लिए इसी पैंतीस अक्षरोंके नमस्कारमन्त्रको सदा विधिपूर्वक जपते है ॥६०४॥ यह अकेला ही सब मन्त्रोंका काम करता है किन्तु अन्य सब मन्त्र मिलकर भी इसका एक भाग भी काम नहीं करते ॥६०५॥

[जप प्रारम्भ करनेसे पूर्व सकलीकरण विधान]

दोनो हाथोंकी अँगुलियोंपर अँगूठेसे लेकर कनिष्ठिका अंगुलीतक दो प्रकारसे मन्त्रका न्यास करना चाहिए। उसके पश्चात् हृदय, मुख और मस्तकका सकलीकरण विधि करना चाहिए ॥६०६॥

भावार्थ—'ॐ ह्रा णमो अरहताण ह्रा अगुष्ठाभ्या नमः, यह मन्त्र पढ़कर दोनों अंगूठोंको पानीमें डुबोकर शुद्ध करे। 'ॐ ह्रीं णमो सिद्धाण ह्रीं तर्जनीभ्या नम.' इस मन्त्रको पढ़कर दोनों तर्जनी अँगुलियोंको शुद्ध करे। 'ॐ ह्रू णमो आइरियाण ह्रू मध्यमाभ्या नमः' इस मन्त्रको पढ़कर दोनो बीचकी अगुलियोंको शुद्ध करे। 'ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाण ह्रौ अनामिकाभ्या नम' इस मन्त्रको पढ़कर दोनों अनामिका अँगुलियोंको शुद्ध करे। 'ॐ ह्र णमो लोए सव्वसाहूण, ह्रः कनिष्ठिकाभ्या नम' इस मन्त्रको पढ़कर दोनों कनिष्ठिका अँगुलियोंको शुद्ध करे। फिर 'ॐ ह्रीं ह्रूँ ह्रौ ह्रः करतलकरपृष्ठाभ्या नमः' इस मन्त्र को पढ़ दोनों हथेलियोंको दोनों तरफसे शुद्ध करे। 'ॐ ह्रा णमो अरहंताण ह्रा मम शीर्ष रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मन्त्रको पढ़कर मस्तकपर पुष्प डाले। 'ॐ ह्री णमो सिद्धाण ह्रीं मम वदन रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मन्त्रको पढ़कर अपने मुखपर पुष्प डाले। 'ॐ ह्रू 'णमो आइरियाणं ह्रू हृदय रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मन्त्रको पढ़कर छातीपर पुष्प डाले। 'ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं ह्रौं मम नाभिं रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मत्रको पढ़कर नाभिका स्पर्श करे। 'ॐ ह्र णमो लोए सव्वसाहूण ह्र मम पादौ रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मंत्रको पढ़कर पैरोंपर पुष्प डाले। इस तरह यह सकलीकरण क्रिया मन्त्र जपनेसे पूर्व करना चाहिए।

[नमस्कार मन्त्रके जपका फल तथा माहात्म्य]

जो आनन्दपूर्वक प्राणवायुके साथ सम्पूर्णमन्त्रका अत्यन्त स्पष्ट जप करता है उसके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥६०७॥

---

१ मन्त्रस्य। २ 'णमो अरहताण' एतावन्मात्रेण। ३ 'कनिष्ठिकात –अ ज।

मन्त्रोऽयमेव सेव्यः परत्र मन्त्रे फलोपलम्भेऽपि ।
यद्यप्यग्रे विटपी फलति तथाप्यस्य सिच्यते मूलम् ॥६०८॥
अस्मात्परं च नियतं कामितफलसिद्धये परो मन्त्रः ।
नाभूदस्ति भविष्यति गुरुपञ्चकवाचकान्मन्त्रात् ॥६०९॥
अभिलषितकामधेनौ दुरितद्रुमपावके हि मन्त्रेऽस्मिन् ।
इहामुत्रफले सति परत्र मन्त्रे कथं सजतु ॥६१०॥
इत्थं मनो मनसि बाह्यमबाह्यवृत्ति कृत्वा हृषीकनगरं मरुतो नियम्य ।
सम्यग्जपं विदधतः सुधियः प्रयत्नाल्लोकत्रयेऽस्य किमसाध्यमस्ति ॥६११॥

इत्युपासकाध्ययने जपविधिर्नामाष्टत्रिंशत्तमः कल्पः ।

आदिध्यासुः परज्योतिरिविप्सुस्तत्पदं शाश्वतम् ।
इमं ध्यानविधिं यत्नादभ्यस्यतु समाहितः ॥६१२॥
तत्त्वचिन्तामृताम्भोधौ द्वन्द्वमग्नतया मनः ।
बद्ध्वा ततः कृत्वा प्रथमासनमाचरेत् ॥६१३॥
सूक्ष्मप्राणयमायामः सर्वसर्वाङ्गसंवरः ।
प्रायोत्कीर्ण इवासीत ध्यानानन्दसुधां लिहन् ॥६१४॥

अन्य मन्त्रोंसे फल प्राप्ति होनेपर भी इसी नमस्कारमन्त्रकी आराधना करनी चाहिए। क्योंकि यद्यपि वृक्षके ऊपरके भागमें फल लगते हैं फिर भी उसकी जड़ ही सींची जाती है। अर्थात् यह मन्त्र सब मन्त्रोंका मूल है इसलिए इसीकी आराधना करनी चाहिए ॥६०८॥

पंच परमेष्ठीके वाचक इस णमोकार मन्त्रके सिवा इस लोक और परलोकमें इच्छित फलको नियमसे देनेवाला दूसरा मन्त्र न था, न है और न होगा ॥६०९॥ जब यह मन्त्र इच्छित वस्तुके लिए कामधेनु और पापरूपी वृक्षके लिए आगके समान है तथा इस और परलोक फलको देता है तो अन्य मन्त्रोंमें क्यों लगा जाये। अर्थात् इसी एक मन्त्रका जप करना उचित है ॥६१०॥

इस प्रकार मनको मनमें और इन्द्रियोंके समूहको आभ्यन्तरकी ओर करके तथा श्वासोच्छ्वासका नियमन करके जो बुद्धिमान् प्रयत्नपूर्वक सम्यग् जप करता है उस कर्मठ व्यक्तिके लिए तीनों लोकोंमें कुछ भी असाध्य नहीं है ॥६११॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें जपविधि नामका अड़तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब ध्यानकी विधि बतलाते हैं]

ध्यानविधि

जो अर्हन्त भगवान्‌का ध्यान करनेका इच्छुक है और उस स्थायी मोक्ष स्थानको प्राप्त करना चाहता है, उसे सावधान होकर प्रयत्नपूर्वक आगे कहनेवाली गयी ध्यानकी विधिका अभ्यास करना चाहिए ॥६१२॥ तत्त्वचिन्तारूपी अमृतके समुद्रमें मनका ऐसा डुबा दो कि वह बाह्य बातोंमें एकदम जड़ हो जाये और फिर पद्मासन या खड्गासन लगाओ ॥६१३॥

ध्यानरूपी आनन्दामृतका पान करते समय श्वासवायुको बहुत धीमेसे अन्दरकी ओर ले जाना चाहिए और बहुत धीमेसे बाहर निकालना चाहिए। तथा समस्त अंगोंका हलन-चलन एकदम बन्द होना चाहिए। उस समय ध्यानी पुरुष ऐसा मालूम हो मानो कोई पत्थरकी

१ आध्यातुमिच्छुः । २ शाश्वतम् । ३ सूक्ष्मश्चासौ प्राणनिरोधः तस्य यमः प्रोक्तः आयामो निर्गमः । ४ सदा निश्चलः । ५. पाषाणघटित ।

यदेन्द्रियाणि पञ्चापि स्वात्मस्थानि समासते।
तदा ज्योतिः स्फुरत्यन्तैश्चित्ते[1] चित्ते[2] निमज्जति ॥६१५॥
चित्तस्यैकाग्रता[3] ध्यानं ध्यातात्मा तत्फलप्रभुः।
ध्येयमात्मागमज्योतिस्तद्विधिर्देहयातना[4] ॥६१६॥
तैरश्चमामरं मार्त्यं[5] नाभसं भौममङ्गजम्।
[6]सहतु समधीः सर्वमन्तरायं [7]द्वयातिग. ॥६१७॥
[8]नाक्षमित्वमविघ्नाय न [9]क्लीबत्वमसृत्यवे।
तस्मादक्लिश्यमानात्मा परं ब्रह्मैव चिन्तयेत् ॥६१८॥
[10]यत्रायमिन्द्रियग्रामो [11]व्यासङ्गस्तेनावविप्लवम्।
नाश्नुवीत तमुद्देशं भजेताध्यात्मसिद्धये ॥६१९॥

मूर्ति है ॥६१४॥ जब पाँचों इन्द्रियाँ बाह्य व्यापारको छोड़कर आत्मस्थ हो जाती हैं और चित्त अन्तरात्मामें लीन हो जाता है तब अन्तरात्मामें ज्योतिका उदय होता है ॥६१५॥

ध्यान आदिका स्वरूप

चित्तकी एकाग्रताको ध्यान कहते है। आत्मा ध्याता यानी ध्यान करनेवाला है। वही ध्यानके फलका स्वामी है। आत्मा और श्रुतज्ञान ध्येय है, ध्यानमें उन्हींका चिन्तन किया जाता है और शरीर तथा इन्द्रियोंपर काबू रखना ध्यानका उपाय है ॥६१६॥

ध्यान करते समय यदि कोई पशुकृत उपसर्ग उपस्थित हो जैसे सुकुमाल मुनिपर शृगालीने किया था, या देवकृत उपसर्ग उपस्थित हो, जैसे भगवान् पार्श्वनाथके ऊपर कमठके जीव व्यन्तर-ने किया था, या मनुष्यकृत उपसर्ग उपस्थित हो जैसे पाण्डवोंपर उनके शत्रुओंने किया था, या आकाशसे अचानक बिजली, पानी और ओला बरसने लगे, या जमीन चुभने लगे अथवा शरीरमें ही कोई पीड़ा उत्पन्न हो जाये तो ध्यानी पुरुषको राग-द्वेष न करके सब प्रकारकी बाधाओं-को शान्तिपूर्वक सहना चाहिए ॥६१७॥ ऐसे समय असहनशीलता दिखानेसे विघ्न दूर नहीं हो सकता और न कायरता दिखलानेसे जीवन ही बच सकता है। अत किसी प्रकारका दु ख न मानकर परमात्माका ही ध्यान करना चाहिए ॥६१८॥

ध्यानके योग्य स्थान कैसा होना चाहिए

जहाँपर इन्द्रियोंको अन्य पदार्थमें आसक्तिरूपी चोरके द्वारा कोई बाधा प्राप्त न हो अर्थात् इन्द्रियाँ इधर-उधर न भटक कर अपनेमें ही आसक्त रहें, आत्माकी सिद्धिके लिए ऐसे ही स्थानपर ध्यान करना चाहिए ॥ ६१९ ॥

---

१ अन्तरात्मनि। २ मनसि। ३ 'गुप्तेन्द्रियमना ध्याता ध्येय वस्तु यथास्थितम्। एकाग्रचिन्तन ध्यान निर्जरासवरौ फलम ॥ ३८ ॥–तत्त्वानुशासन।–४ तमा जगज्ज्योनि–आ। ५ करणग्रामनियत्रणा। ६ सहत अ ज। ७ रोषतोपाभ्या रहित। ८ असमर्थत्वम। ९ कातरत्वम्। १० स्थाने। 'देश कालश्च सोऽन्वेष्य सा चावस्थानुगम्यताम्। यदा यत्र यथाध्यानमपविघ्न प्रसिद्धयति ॥ ३९ ॥–तत्त्वानुशासन। ११ व्यासङ्ग एव स्तेन चौरस्तस्य विघ्न न प्राप्नोति।

फल्गुजन्माप्यय देहो यद्वलाबुफलायते।
संसारसागरोत्तारे [1]रक्ष्यस्तस्मात्प्रयत्नतः ॥६२०॥
नरेऽधीरे वृथा [2]'वर्म येनेऽसस्ये'[3] वृतिर्वृथा।
यथा तथा वृथा सर्वो ध्यानशून्यस्य तद्विधिः ॥६२१॥
बहिरन्तस्तमोवातैरस्पन्दं[4] दीपवन्मनः।
यत्तत्त्वालोकनोद्भासि तत्स्याद्ध्यानं सबीजकम् ॥६२२॥
निर्विचारावतारासु चेतःस्रोतःप्रवृत्तिषु।
आत्मन्येव [5]स्फुरन्नात्मा भवेद्ध्यानमबीजकम्[6] ॥६२३॥

[शायद कोई यह सोचे कि यह शरीर तो अपना नहीं है और नष्ट होनेवाला है। इस लिए इसे जल्दी नष्ट कर डालना चाहिए तो उसके लिए कहते हैं—]

यद्यपि इस शरीरका जन्म निरर्थक है फिर भी संसाररूपी समुद्रसे पार उतरनेके लिए यह तुम्बीकी तरह सहायक है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक इसकी रक्षा करनी चाहिए ॥ ६२० ॥

भावार्थ—यद्यपि तुम्बीका जन्म निरर्थक होता है, वह खाने आदिके योग्य नहीं होती फिर भी नदी वगैरहको पार करनेमें वह सहायक होती है, इसीलिए लोग उसे नष्ट न करके पास रखते हैं। वैसे ही शरीर भी व्यर्थ है वह न होता तो आत्माको बारम्बार जन्म-मरणका दुःख क्यों उठाना पड़ता। फिर भी शरीरके बिना धर्म साधन नहीं हो सकता। ध्यानके लिए तो सुदृढ़ संहननवाले शरीरकी आवश्यकता होती है। अतः उसे यूँ ही नष्ट नहीं कर डालना चाहिए, *किन्तु उसकी रक्षा करनी चाहिए, परन्तु यदि वह रक्षा करनेपर भी न बच सकता हो तो उसकी* चिन्ता नहीं करनी चाहिए। सारांश यह है कि धर्म सेवनके लिए शरीरको स्वस्थ बनाये रखना जरूरी है किन्तु धर्म खोकर शरीरको बनाये रखना मूर्खता है।

जैसे कायर मनुष्यको कवच पहनाना व्यर्थ है और बिना धान्यके खेतमें बाड़ लगाना व्यर्थ है, वैसे ही जो मनुष्य ध्यान नहीं करता उसके लिए ध्यानकी सब विधि व्यर्थ है ॥ ६२१ ॥

[ध्यान दो प्रकारका होता है—एक सबीज ध्यान और दूसरा अबीज ध्यान। दोनोंका स्वरूप बतलाते हैं—]

सबीज ध्यान और अबीज ध्यानका स्वरूप

जैसे वायुरहित स्थानमें दीपककी लौ निश्चल रहती है वैसे ही जिस ध्यानमें मन अन्तरंग और बहिरंग चञ्चलतासे रहित होकर तत्त्वोंके चिन्तनमें लीन रहता है उसे सबीज ध्यान कहते हैं और मनमें किसी विचारके न होते हुए जब आत्मा आत्मामें ही लीन होता है उसे निर्बीज ध्यान कहते हैं ॥ ६२२-६२३ ॥

भावार्थ—कर्मोंके क्षय होनेसे ही मोक्ष होता है। और कर्मोंका क्षय ध्यानसे होता है अतः जो मुमुक्षु हैं उन्हें ध्यानका अभ्यास अवश्य करना चाहिए। ध्यान करनेके लिए मोहका त्याग आवश्यक है; क्योंकि जिसका मन स्त्री पुत्र और धनादिमें आसक्त है वह आत्माका ध्यान कैसे कर सकता है। इसलिए जो कामभोगसे विरक्त होकर और शरीरसे भी ममता छोड़कर

1 'न धर्मसाधनमिति स्थास्नु नाश्यं वपुर्बुधैः। न च केनापि नो रक्ष्यमिति शोच्यं विनश्वरम् ॥ ५ ॥'—सागारधर्मामृत अ० ८। 2 कवच। 3 धान्यरहिते। 4 निश्चलम्। 5 चमत्कुर्वन्। 6 एकत्ववितर्कावीचाराख्यं शुक्लध्यानम्।

निर्ममत्ववाला हो जाता है वही पुरुष ध्याता हो सकता है। ध्यान शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है। वस्तुके यथार्थ स्वरूपका चिन्तन करना शुभ ध्यान है और मोहके वशीभूत होकर वस्तुके अयथार्थ स्वरूपका चिन्तन करना अशुभ ध्यान है। शुभ ध्यानसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है और अशुभ ध्यानसे नरकादिकमें जन्म लेना पड़ता है। एक तीसरा ध्यान भी है जिसे शुद्ध ध्यान कहते हैं। रागादिके क्षीण हो जानेसे जब अन्तरात्मा निर्मल हो जाता है तब जो अपने स्वरूपकी उपलब्धि होती है वह शुद्ध ध्यान है। इस शुद्ध ध्यानसे ही स्वाभाविक केवलज्ञानलक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। साराश यह कि जीवके परिणाम तीन प्रकारके होते हैं–अशुभ, शुभ और शुद्ध। अत· अशुभसे अशुम, शुभसे शुभ और शुद्धसे शुद्ध ध्यान होता है। आर्त और रौद्र ध्यान अशुभ होते हैं, अतः उन्हें नहीं करना चाहिए। धर्मध्यान शुभ है और शुक्ल ध्यान शुद्ध है। ये दो ही ध्यान करनेके योग्य है। इनमें पहले धर्म ध्यान ही किया जाता है। उसके लिए ध्यान करनेवालेको उत्तम स्थान चुनना चाहिए; क्योंकि अच्छे और बुरे स्थानका भी मनपर बडा प्रभाव पड़ता है। जहाँ दुष्ट लोग उपद्रव कर सकते हों, स्त्रियाँ विचरण करती हों वहाँ ध्यान नहीं करना चाहिए। तथा जहाँ तृण, काँटे, बाँबी, ककड़, खुरदरे पत्थर, कीचड़, हाड़, रुधिर आदि हो वहाँ भी ध्यान नहीं करना चाहिए। साराश यह है कि जहाँ किसी बाह्य निमित्तसे मनमें क्षोभ उत्पन्न हो सकता है वहाँ ध्यान नहीं हो सकता। इस लिए ध्यान करनेवालेको ऐसे स्थान त्याग देने चाहिए। सिद्धिक्षेत्र, तीर्थङ्करोंके कल्याणकोंसे पवित्र तीर्थस्थान, मन्दिर, वन, पर्वत, नदीका किनारा, गुफा आदि स्थान जहाँ किसी तरहका कोलाहल न हो, समस्त ऋतुओंमें सुखदायक हों, रमणीक हों, उपद्रवरहित हों, वर्षा, घाम, शीत और वायुके प्रबल झकोरोंसे रहित हों, ध्यान करनेके योग्य होते हैं। ऐसे शान्त स्थानोंमें काष्ठके तख्तेपर, शिलापर या भूमिपर अथवा बालूमें आसन लगाना चाहिए। पर्यंक आसन, अर्द्धपर्यङ्कासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कायोत्सर्ग ये ध्यानके योग्य आसन माने गये हैं। इस समय चूँकि जीवोंके शरीर उतने दृढ़ और शक्तिशाली नहीं होते, इसलिए पर्यंकासन और कायोत्सर्ग ये दो आसन ही उत्तम माने जाते हैं। स्थान और आसन ध्यानकी सिद्धिमें कारण है। इनमें-से यदि एक भी ठीक न हो तो मन स्थिर नहीं हो पाता। ध्यानीको चाहिए कि वह चित्तको प्रसन्न करनेवाले किसी रमणीक स्थानमें जाकर पर्यंकासनसे ध्यान लगाके पालथी लगाकर दोनों हाथोंको खिले हुए कमलके समान करके अपनी गोदमें रखे। दोनों नेत्रोंको निश्चल, सौम्य और प्रसन्न बनाकर नाकके अग्र भागमें ठहरावे। भौंहें विकाररहित हों और दोनों होठ न तो बहुत खुले हों और न बहुत मिले हों। शरीर सीधा और लम्बा हो मानो दीवारपर कोई चित्राम बना है। ध्यानकी सिद्धि और मनकी एकाग्रताके लिए प्राणायाम भी आवश्यक माना जाता है। प्राणायाम वायुकी साधनाको कहते है। शरीरमें जो वायु होती है वह मुख नाक वगैरहके द्वारा आती जाती है। इसके कारण भी मन चचल रहता है। जब वह वशमें हो जाती है तब मन भी वशमें हो जाता है। किन्तु जैनशास्त्रोंमें प्राणायामको चित्तशुद्धिका प्रबल साधन नहीं माना गया है; क्योंकि उसको हठपूर्वक करनेसे मन स्थिर होनेके बदले व्याकुल हो उठता है। अतः मोक्षार्थीके लिए प्राणायाम उपयुक्त नहीं है। किन्तु ध्यानके समय श्वासोच्छ्वासका मन्द होना आवश्यक है, जिससे उसके कारण ध्यानमें विघ्न न पड़ सके। अत. ध्यान करनेके लिए इन्द्रियों

चित्तेऽनन्तप्रभावेऽस्मिन्प्रकृत्या [1]रसचञ्चले ।
तत्तेजसि [2]स्थिरे सिद्धे न किं सिद्धं जगत्त्रये ॥६२४॥

को वशमें करके और राग-द्वेषको दूर करके अपने मनको ध्यानके दस स्थानोंमेंसे किसी एक स्थान पर लगाना चाहिए। नेत्र, कान, नाकका अग्र भाग, सिर, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु और दोनों भौंहोंका बीच—ये दस स्थान मनको स्थिर करनेके योग्य हैं। इनमेंसे किसी एक स्थान पर मनको स्थिर करके ध्येयका चिन्तन करनेसे ध्यान स्थिर होता है। ध्यान करनेसे पहले ध्यानी को यह विचारना चाहिए कि देखो, कितने खेदकी बात है कि मैं अनन्त गुणोंका भण्डार होते हुए भी संसाररूपी वनमें कर्मरूपी शत्रुओंसे ठगाया गया। यह सब मेरा ही दोष है। मैंने ही तो इन शत्रुओंको पाल रखा है। यदि मैं रागादिक बन्धनोंमें बँधकर विपरीत आचरण न करता तो कर्मरूपी शत्रु प्रबल ही क्यों होते? और, अब मेरा रागरूपी ज्वर उतर चला है और मैं मोह नींदसे जाग गया हूँ। अतः अब ध्यानरूपी तलवारकी धारसे कर्म-शत्रुओंको मारे डालता हूँ। यदि मैं अज्ञानको दूर करके अपनी आत्माका दर्शन करूँ तो कर्म-शत्रुओंको क्षणभरमें जलाकर राख कर दूँ तथा प्रबल ध्यानरूपी कुठारसे पापरूपी वृक्षोंको जड़मूलसे ऐसा काटूँ कि फिर इनमें फल ही न आ सके। किन्तु मैं मोहसे ऐसा अन्धा बना रहा कि मैंने अपनेको नहीं पहचाना। मेरा आत्मा परमात्मा है परंज्योतिरूप है, जगत्‌में सबसे महान् है। मुझमें और परमात्मामें केवल इतना ही अन्तर है कि परमात्मामें अनन्तचतुष्टयरूप गुण व्यक्त हो चुके हैं और मेरेमें वे गुण शक्तिरूपसे विद्यमान हैं। अतः मैं उस परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए अपनी आत्माको जानना चाहता हूँ। न मैं नारकी हूँ, न तिर्यञ्च हूँ, न मनुष्य हूँ, और न देव हूँ। ये सब कर्मजन्य अवस्थाएँ हैं। मैं तो सिद्धस्वरूप हूँ। अतः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्यका स्वामी होनेपर भी क्या मैं कर्मरूपी तिनकोंको उखाड़ कर नहीं फेंक सकता? आज मैं अपनी शक्तिको पहचान गया हूँ और अब बाह्य पदार्थोंकी चाहको दूर करके आनन्दमन्दिरमें प्रवेश करता हूँ। फिर मैं कभी भी अपने स्वरूपसे नहीं डिगूँगा। ऐसा विचारकर दृढ़ निश्चयपूर्वक ध्यान करना चाहिए। जिसका ध्यान किया जाता है उसे ध्येय कहते हैं। ध्येय दो प्रकारके होते हैं—चेतन और अचेतन। चेतन तो जीव है और अचेतन शेष पाँच द्रव्य हैं। चेतन ध्येय भी दो हैं—एक तो देहसहित अरिहन्त भगवान् हैं और दूसरे देहरहित सिद्ध भगवान् हैं। धर्मध्यानमें इन्हीं जीवाजीवादिक द्रव्योंका ध्यान किया जाता है। जो मोक्षार्थी हैं वे तो और सब कुछ छोड़कर परमात्माका ही ध्यान करते हैं। वे उसमें अपना मन लगाकर उसके गुणोंको चिन्तन करते-करते अपनेको उसमें एक रूप करके तल्लीन हो जाते हैं। 'यह परमात्माका स्वरूप ग्रहण करनेके योग्य है और मैं इसका ग्रहण करनेवाला हूँ, ऐसा द्वैत भाव तब नहीं रहता। उस समय ध्यानी मुनि अन्य सब विकल्पोंको छोड़कर उस परमात्मस्वरूपमें ऐसा लीन हो जाता है कि ध्याता और ध्यानका विकल्प भी न रहकर ध्येय रूपसे एकता हो जाती है। इस प्रकारके निश्चल ध्यानको सबीज ध्यान कहते हैं। इससे ही आत्मा परमात्मा बनता है। और जब शुद्धोपयोगी होकर मुनि अपनी शुद्ध आत्माका ध्यान करता है तो उस ध्यानको निर्बीज ध्यान कहते हैं।

यह चित्त अनन्त प्रभावशाली है किन्तु स्वभावसे ही पारेकी तरह चंचल है। जैसे आग

१ पारदवत्। २ ज्ञानी जाते च।

निर्मनस्के[1] मनोहंसे पुंहंसे सर्वतः स्थिरे।
बोधहंसोऽखिलालोक्यसरोहंसः प्रजायते ॥६२५॥
यद्यप्यस्मिन्मन क्षेत्रे क्रियां तां तां[2] समादधत्।
कश्चिद्वेद्यते[3] भावं तथाप्यत्र न विभ्रमेत्[4] ॥६२६॥
[5]विपक्षे क्लेशराशीनां यस्मान्नैष विधिर्मतः।
तस्मान्न विस्मयेतास्मिन् परंब्रह्म समाश्रितः ॥६२७॥
प्रभावैश्वर्यविज्ञानदेवतासंगमादयः।
योगोन्मेषाद्भवन्तोऽपि नामी तत्त्वविदां मुदे ॥६२८॥
भूमौ जन्मेति रत्नानां यथा सर्वत्र नोद्भवः।

के द्वारा पारा सिद्ध हो जाता है उसी तरह यदि यह आत्मज्ञानमें स्थिर होकर सिद्ध हो जाये तो इसके सिद्ध होनेसे तीनों लोकोंमें ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सिद्ध यानी प्राप्त न हो ॥६२४-६२५॥

भावार्थ—पारा स्वभावसे ही चचल होता है, किन्तु यदि आगमें आँच देकर विधिपूर्वक उसे सिद्ध कर लिया जाये तो उसके सिद्ध होनेसे अनेक रससिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है। वैसे ही चञ्चल मन यदि आत्मस्वरूपमें स्थिर हो जाये तो फिर ऐसी कौन-सी सिद्धि है जो प्राप्त नहीं हो सकती। अत. मनको स्थिर करना आवश्यक है।

यदि यह मनरूपी हस अपना व्यापार छोड़ दे और आत्मारूपी हस सर्वथा स्थिर हो जाये तो ज्ञानरूपी हस इस समस्त ज्ञेयरूपी सरोवरका हस बन जाये अर्थात् मन निश्चल होनेके साथ यदि आत्मा, आत्मामें सर्वथा स्थिर हो जाये तो विश्वको जाननेवाला केवलज्ञान प्रकट होता है ॥६२५॥

यद्यपि इस मनरूपी क्षेत्रमें अनेक क्रियाओंको करता हुआ मुनि किसी पदार्थको जान लेता है, फिर भी उसमें धोखा नहीं खाना चाहिए। क्योंकि विपक्षमें नाना क्लेशोंके रहते हुए ऐसा करना उचित नहीं है। अत. परब्रह्म परमात्मस्वरूपका आश्रय लेनेवालेको इस विषयमें अचरज नहीं करना चाहिए ॥६२६-६२७॥

भावार्थ—आशय यह है कि मनोनिग्रह करनेसे यदि कोई छोटी-मोटी ऋद्धि या ज्ञान प्राप्त हो जाये तो मोक्षार्थी ध्यानीको उसीमें नहीं रम जाना चाहिए क्योंकि उसका उद्देश्य इससे बहुत ऊँचा है। वह तो ससारके दु:खोंका समूल नाश करके परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए योगी बना है, अत उसे प्राप्त किये बिना उसे विश्राम नहीं लेना चाहिए और मामूली लौकिक ऋद्धि-सिद्धिके चक्करमें नहीं पड़ जाना चाहिए। क्योंकि उसके प्राप्त हो जानेपर भी अनन्त क्लेश राशिसे छुटकारा नहीं हो सकता। यही आगे स्पष्ट करते हैं—

ध्यानका प्रादुर्भाव होनेसे प्रभाव, ऐश्वर्य, विशिष्ट ज्ञान और देवताका दर्शन आदिकी प्राप्ति होनेपर भी तत्त्वज्ञानी इनसे प्रसन्न नहीं होते ॥६२८॥

ध्यानकी दुर्लभता

जैसे भूमिसे रत्नोंकी उत्पत्ति होनेपर भी सब जगह रत्न पैदा नहीं होता, वैसे ही

१ मनोव्यापाररहिते। 'निर्व्यापारे मनोहंसे पुंहंसे सर्वथा स्थिरे। बोधहंस प्रवर्तेत विश्वत्रयसरोवरे ॥१८६॥'—प्रबोधसार। २ मुनि। ३ जानाति। ४ हेयमुपादेयतया उपादेयं हेयतया न पश्येत्। ५ 'मोहादि शत्रुसैन्याना यस्मान्नैव विधिर्मत। तस्मान्न विस्मयेतास्मिन् परं ब्रह्मसमाश्रित ॥ १८७ ॥'—प्रबोधसार।

तथात्मन्यपि ध्यानं सर्वत्रात्मनि नोद्भवेत् ॥६२९॥
तस्य कालं वदन्त्यन्तर्मुहूर्तं मुनयः परम् ।
अपरस्पन्दमानं हि तत्परं[1] दुर्धरं मनः ॥६३०॥

तत्कालमपि तद्ध्यानं स्फुरदेकाग्रमात्मनि ।
हन्ति कर्मोच्चयं भिन्द्यात् वज्रं शैलमिव क्षणात् ॥६३१॥

[2]कल्पैरप्यम्बुधिः शक्यः शुक्तिकैर्नोऽम्बु पूरितुम् ।
[3]कल्पान्तभूः पुनर्वातस्तं[4] मुहुः शोषमानयेत् ॥६३२॥

[5]रूपे मरुति[6] चित्ते च [7]तथान्यत्र यथा चिरात् ।
समेत कामितं तद्वदात्मना परमात्मनि ॥६३३॥

[8]वैराग्यं ज्ञानसम्पत्तिरसङ्गः[10] स्थिरचित्तता ।
[11]ऊर्मिस्मयसहत्वं च पञ्च योगस्य हेतवः ॥६३४॥
[12]आधिव्याधि[13]विपर्यास[14]प्रमादा[15]लस्य[16]विभ्रमाः[17] ।

ध्यानके अभ्यासे अन्य होनेपर भी सभी प्राणियोंकी आत्माओंमें ध्यान उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् जैसे रत्न विशिष्ट भूमिमें ही उपजते हैं वैसे ही किन्हीं विशिष्ट आत्माओंमें ही ध्यान करनेकी शक्ति प्रकट होती है। हरेक ध्यान नहीं कर सकता ॥६२९॥ मुनिजन उस ध्यानका काल अन्तर्मुहूर्त बतलाते हैं उतने काल तक मन निश्चल रहता है इससे अधिक समय तक मनको स्थिर रखना अत्यन्त कठिन है ॥६३०॥ किन्तु आत्मामें इतने समयके लिए भी होनेवाला निश्चल ध्यान महान् कर्मसमूहका उसी प्रकार भेदन करता है जैसे वज्र क्षण भरमें पहाड़को चूर्ण कर डालता है ॥६३१॥ ठीक ही है सैकड़ों कल्पकालमें तक बुल्लुओंके द्वारा समुद्रके जलको सींचनेपर भी समुद्र खाली नहीं होता किन्तु प्रलयकालीन वायु उसे शीघ्र ही सुखा डालती है ॥६३२॥

जैसे किसी मूर्तिमें या देवतामें या चित्तमें या अन्य किसी बाह्य वस्तुमें मनको लगानेसे इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है वैसे ही आत्माके द्वारा परमात्मामें मनको लगानेसे परमात्मपदकी प्राप्ति होती है ॥६३३॥

वैराग्य, ज्ञान सम्पदा निष्परिग्रहता, चित्तकी स्थिरता तथा भूख-प्यास शोक-मोह, जन्म-मृत्युको तथा मदको सहन करना ये पाँच बातें ध्यानमें कारण हैं ॥६३४॥ मानसिक पीड़ा, शारीरिक रोग अतत्त्वको तत्त्व मानना, तत्त्वको समझनेमें अनादर करना, तत्त्वको प्राप्त करके भी उसपर

---

१ अन्तर्मुहूर्तकालान्तरम् । २ युगान्तरैः । ३ प्रलयकालोत्पन्न । ४ समुद्रम् । ५ अग्नतत्त्वादौ । ६ परकायप्रवेशादौ । ७ अन्यत्र बाह्ये वस्तुनि यथा वाञ्छितं भवति । ८ विषये वैतृष्ण्यम् । ९ ज्ञानं बन्धमोक्षोपायविवेकः । १० बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्यागः । ११ 'शोकमोहौ जरामृत्यू क्षुत्पिपासे षडूर्मयः ।'—श्री माघवटीका । उपसर्गाद्युपसर्गकर्मभिः मनसोऽविचलितत्वम् । शारीरमानसागन्तुकपरीषहैरविचलितत्वम् । 'निर्वेदोपशमप्रीति स्वात्मस्थैर्यं रहःस्थितिः । विविक्तोर्मिसहत्वं तु चतुर्था ध्यानहेतवः ॥१९१॥ —प्रबोधसार । 'संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम् । मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥ ७५ ॥ —तत्त्वानुशासन । १२ दौर्मनस्यम् । १३ दोषवैषम्यम् । १४ अतत्त्वे तत्त्वाभिनिवेशो विपर्यासः । १५ तत्त्वावगमानादरः प्रमादः । १६ ज्ञातस्यापि तत्त्वस्याननुष्ठानमालस्यम् । १७ तत्त्वातत्त्वयोः समा बुद्धिर्विभ्रमः ।

[1]अलाभ[1] [2]सङ्गितास्थैर्यमेते[3] [4]तस्यान्तरायकाः ॥६३५॥

यः कण्टकैस्तुदत्यङ्गं यश्च लिम्पति चन्दनैः ।
रोषतोषाविपिक्तात्मा तयोरासीत लोष्ठवत् ॥६३६॥

आचरण न करना, तत्त्व और अतत्त्वको समान मानना, अज्ञानवश तत्त्वकी प्राप्ति न होना, योगके कारणोंमें मनको न लगाना, ये सब ध्यानके अन्तराय है ॥६३५॥

भावार्थ—ध्यान मनकी एकाग्रताके होनेसे होता है। और मन एकाग्र तभी हो सकता है या अपनी ओर तभी लग सकता है जब ससार, शरीर और भोगोंसे विरक्ति हो, स्व और परके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो, पासमें थोड़ा-सा भी परिग्रह न हो, अन्यथा परिग्रहमें फँसे रहनेसे मन आत्मोन्मुख नहीं हो सकता, और चित्त भी स्थिर नहीं रह सकता। तथा भूख-प्यास वगैरहका कष्ट सहन करनेकी भी क्षमता होना जरूरी है, नहीं तो थोड़ा-सा भी कष्ट होनेसे मनके अस्थिर हो उठनेपर ध्यान कैसे हो सकता है? इसी तरह यदि मनमें अहङ्कार उत्पन्न हो गया तब भी मन आत्मोन्मुख नहीं हो सकता। इसलिए ऊपर ध्यानके लिए पाँच बातें आवश्यक बतलाई है। और कुछ बातें ध्यानकी बाधक बतलायी हैं। यदि मनमें या शरीरमें कोई पीड़ा हुई तो ध्यान करना कठिन होता है इसी तरह प्रमादी और आलसी मनुष्य भी ध्यान नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसे मनुष्य प्राय आरामतलब होते है और आरामतलब आदमी शरीरको कष्ट नहीं दे सकता। जो सन्देह और विपरीत ज्ञानसे ग्रस्त है, जिन्हें यही निश्चय नहीं है कि आत्मा परमात्मा बन सकता है या ध्यान परमात्मपदका कारण है वे योगी बनकर भी योगकी साधना नहीं कर सकते, क्योंकि उनके चित्तमें यह सन्देह बराबर काँटेकी तरह कसकता रहता है कि न जाने इससे कुछ होगा या नहीं, यह सब बेकार न हो आदि। जो किसी लौकिक वाञ्छासे ध्यान करते है यदि उनकी वह वाञ्छा पूरी न हुई तो उनका मन ध्यानसे विचलित हो जाता है, और जो परिग्रही और अस्थिर चित्त है उनका मन भी एकाग्र नहीं हो सकता। इसलिए ये सब बातें ध्यानमें विघ्न करनेवाली हैं।

जो शरीरको काँटोंसे छेदे और जो शरीरपर चन्दनका लेप करे उन मनुष्योंपर रोष और प्रसन्नता न करके ध्यानी पुरुषको लोष्ठके समान होना चाहिए। अर्थात् जैसे लोढ़ेपर इन बातोंका कोई प्रभाव नहीं होता वैसे ध्यानीपर भी इन बातोंका कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए और उसे दोनोंमें समबुद्धि रखनी चाहिए ॥६३६॥

आगेके श्लोक ६३७-६३९ में तान्त्रिक साधनाके अगोंका उल्लेख करते हुए ग्रन्थकारने उनका निषेध किया है। तान्त्रिकोंका कहना है कि इनके करनेसे मृत्युपर भी विजय प्राप्त हो जाती है। ग्रन्थकार इसे मूढ़बुद्धि पुरुषोंकी अपनेको और दूसरोंको ठगनेवाली नीति बतलाते है। इन तान्त्रिक अगोंका विवेचन हमें ज्ञात नहीं हो सका, इस लिए हमने इन श्लोकोंका अर्थ भी लिखा नहीं है फिर भी कुछ प्रकाश डाला जाता है—

---

१ स्वपरयोरज्ञानादाभ्यन्तरत्वाप्राप्ति अलाभ। तत्त्वज्ञाने सुख-दुःखसाधनोत्कर्षापकर्षाभिनिवेश सगिता। २ योगहेतुषु मनसो अस्थैर्यम्। ३ योगस्य। 'स्वान्तास्थैर्यं विपर्यास प्रमादालस्यविभ्रमा। रौद्रार्तधियथास्थानमेते प्रत्यूहदायिनः ॥ १९२ ॥'–प्रबोधसार। ४ असयुक्ताशय।

तथात्मजमिति ध्यानं सर्वयाङ्गिनि नोद्भवेत् ॥६२९॥
तस्य कालं वदन्त्यन्तर्मुहूर्तं[1] मुनयः परम् ।
अपरस्पन्दमानं हि तत्परं[2] दुर्धरं मनः ॥६३०॥
तत्कालमपि तद्ध्यानं स्फुरदेकाममात्मनि ।
उच्चैः कर्मोच्चयं भिन्द्याद्वज्रं शैलमिव क्षणात् ॥६३१॥
[3]कल्पैरप्यम्बुधिः शक्यः शुष्कैर्नोष्णुशुम्पितुम् ।
[4]कल्पान्तमूः पुनर्वातस्तं[5] मुहुः शोषमानयेत् ॥६३२॥
[6]रूपे भवति[7] चित्ते च [8]तथान्यत्र यथा चिरम् ।
लभेत कामितं तद्वदात्मना परमात्मनि ॥६३३॥
[9]वैराग्यं [10]ज्ञानसंपत्तिरसङ्गः[11] स्थिरचित्तता ।
[12]ऊर्मिस्मयसहत्वं च पञ्च योगस्य हेतवः ॥६३४॥
[13]आधिव्याधि[14]विपर्यासप्रमादा[15]लस्य[16]विभ्रमाः[17] ।

ध्यानके आत्मासे जन्य होनेपर भी सभी प्राणियोंकी आत्माओंमें ध्यान उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् जैसे रत्न विशिष्ट भूमिमें ही उपजते हैं वैसे ही किन्हीं विशिष्ट आत्माओंमें ही ध्यान करनेकी शक्ति प्रकट होती है। हरेक ध्यान नहीं कर सकता ॥६२९॥ मुनिगन उस ध्यानका काल अन्तर्मुहूर्त बतलाते हैं उतने काल तक मन निश्चल रहता है इससे अधिक समय तक मनको स्थिर रखना अत्यन्त कठिन है ॥६३०॥ किन्तु आत्मामें इतने समयके लिए भी होनेवाला निश्चल ध्यान महान् कर्मसमूहको उसी प्रकार भेदन करता है जैसे वज्र क्षण भरमें पहाड़को चूर्ण कर डालता है ॥६३१॥ ठीक ही है सैकड़ों कल्पकालमें तक धुआँओंके द्वारा समुद्रके जलको सींचनेपर भी समुद्र खाली नहीं होता किन्तु प्रलयकालीन वायु उसे शीघ्र ही सुखा डालती है ॥६३२॥

जैसे किसी मूर्तिमें या देवतामें या चित्रमें या अन्य किसी बाह्य वस्तुमें मनको लगानेसे इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है वैसे ही आत्माके द्वारा परमात्मामें मनको लगानेसे परमात्मपदकी प्राप्ति होती है ॥६३३॥

वैराग्य, ज्ञान सम्पदा, निष्परिग्रहता, चित्तकी स्थिरता तथा भूख-प्यास शोक-मोह, जन्म-मृत्युको तथा मदको सहन करना ये पाँच बातें ध्यानमें कारण हैं ॥६३४॥ मानसिक पीड़ा, शारीरिक रोग असत्यको तत्त्व मानना, तत्त्वको समझनेमें अनादर करना, तत्त्वको प्राप्त करके भी उसपर

---

१ अन्तर्मुहूर्तकालमात्रम् । २ मुक्तान्तरे । ३ प्रलयकालोत्पन्न । ४ समुद्रम् । ५ कामवृत्त्यादौ । ६ परकायप्रवेशादौ । ७ अन्यत्र बाह्ये वस्तुनि यथा वाञ्छितं भवति । ८ विषये वैतृष्ण्यम् । ९ ज्ञानं बन्धमोक्षोपायविवेकः । १० बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्यागः । ११ 'शोकमोहौ जरामृत्यू क्षुत्पिपासे षडूर्मयः ।—श्री भागवतटीका । तपस्वाध्यायध्यानकर्मणि मनसोऽविचलित्वम् । शारीरमानसागन्तुकपरीषहोपसर्गविजयित्वम् । 'निर्वेदोऽवश्यम्भावी स्यात्तस्यैर्यं दृढ स्थितिः । विविधोर्मिसहत्वं तु चामूनि ध्यानहेतवः ॥१९१॥ —प्रबोधसार । संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम् । मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥ ७५ ॥ —तत्त्वानुशासन । १२ दौर्मनस्यम् । १३ रोगवैषम्यम् । १४ अतत्त्वे तत्त्वाभिनिवेशो विपर्यासः । १५ तत्त्वावगमानादरः प्रमादः । १६ अज्ञात्वापि तत्त्वस्वानुष्ठानमालस्यम् । १७ तत्त्वावगमयोः सम्भ्रान्तिर्विभ्रमः ।

[1]अलाभः [2]सङ्गितास्थैर्यमेते[3] [4]तस्यान्तरायकाः ॥६३५॥
यः कण्टकैस्तुदत्यङ्गं यश्च लिम्पति चन्दनैः ।
रोपतोपाविपिक्तात्मा तयोरासीत लोष्ठवत् ॥६३६॥

आचरण न करना, तत्त्व और अतत्त्वको समान मानना, अज्ञानवश तत्त्वकी प्राप्ति न होना, योगके कारणोंमें मनको न लगाना, ये सब ध्यानके अन्तराय है ॥६३५॥

भावार्थ—ध्यान मनकी एकाग्रताके होनेसे होता है। और मन एकाग्र तभी हो सकता है या अपनी ओर तभी लग सकता है जब ससार, शरीर और भोगोंसे विरक्ति हो, स्व और परके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो, पासमें थोड़ा-सा भी परिग्रह न हो, अन्यथा परिग्रहमें फँसे रहनेसे मन आत्मोन्मुख नहीं हो सकता, और चित्त भी स्थिर नहीं रह सकता। तथा भूख-प्यास वगैरहका कष्ट सहन करनेकी भी क्षमता होना जरूरी है, नहीं तो थोड़ा-सा भी कष्ट होनेसे मनके अस्थिर हो उठनेपर ध्यान कैसे हो सकता है? इसी तरह यदि मनमें अहङ्कार उत्पन्न हो गया तब भी मन आत्मोन्मुख नहीं हो सकता। इसलिए ऊपर ध्यानके लिए पाँच बातें आवश्यक बतलाई हैं। और कुछ बातें ध्यानकी बाधक बतलायी हैं। यदि मनमें या शरीरमें कोई पीड़ा हुई तो ध्यान करना कठिन होता है इसी तरह प्रमादी और आलसी मनुष्य भी ध्यान नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसे मनुष्य प्राय. आरामतलब होते हैं और आरामतलब आदमी शरीरको कष्ट नहीं दे सकता। जो सन्देह और विपरीत ज्ञानसे ग्रस्त है, जिन्हें यही निश्चय नहीं है कि आत्मा परमात्मा बन सकता है या ध्यान परमात्मपदका कारण है वे,योगी बनकर भी योगकी साधना नहीं कर सकते, क्योंकि उनके चित्तमें यह सन्देह बराबर काँटेकी तरह कसकता रहता है कि न जाने इससे कुछ होगा या नहीं, यह सब बेकार न हो आदि। जो किसी लौकिक वाञ्छासे ध्यान करते है यदि उनकी वह वाञ्छा पूरी न हुई तो उनका मन ध्यानसे विचलित हो जाता है, और जो परिग्रही और अस्थिर चित्त हैं उनका मन भी एकाग्र नहीं हो सकता। इसलिए ये सब बातें ध्यानमें विघ्न करनेवाली हैं।

जो शरीरको काँटोसे छेदे और जो शरीरपर चन्दनका लेप करे उन मनुष्योंपर रोष और प्रसन्नता न करके ध्यानी पुरुषको लोष्ठके समान होना चाहिए। अर्थात् जैसे लोढ़ेपर इन बातोंका कोई प्रभाव नहीं होता वैसे ध्यानीपर भी इन बातोंका कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए और उसे दोनोंमें समबुद्धि रखनी चाहिए ॥६३६॥

आगेके श्लोक ६३७-६३९ में तान्त्रिक साधनाके अगोंका उल्लेख करते हुए ग्रन्थकारने उनका निषेध किया है। तान्त्रिकोंका कहना है कि इनके करनेसे मृत्युपर भी विजय प्राप्त हो जाती है। ग्रन्थकार इसे मूढ़बुद्धि पुरुषोंकी अपनेको और दूसरोंको ठगनेवाली नीति बतलाते हैं। इन तान्त्रिक अगोंका विवेचन हमें ज्ञात नहीं हो सका, इस लिए हमने इन श्लोकोंका अर्थ भी लिखा नहीं है फिर भी कुछ प्रकाश डाला जाता है—

---

१ स्वपरयोरज्ञानादाभ्यन्तरत्वाप्राप्ति अलाभ। तत्त्वज्ञाने सुख-दु खसाधनोत्कर्पामर्पाभिनिवेश सगिता। २ योगहेतुपु मनसो अस्थैर्यम्। ३ योगस्य। 'स्वान्तास्थैर्यं विपर्यास प्रमादालस्यविभ्रमा। रौद्रार्ताधिययास्थानमेते प्रत्यूहदायिनः ॥ १९२ ॥'—प्रबोधसार। ४ असपृक्ताशय।

ज्योतिर्बिन्दुः कलानादः कुण्डलीवायुसंचराः ।
मुद्रामण्डलमोक्षाणि निर्बीजीकरणादिकम् ॥६६७॥
नाभौ नेत्रे ललाटे च ब्रह्मरन्ध्रे च तालुनि ।
अग्निमध्ये रवौ चन्द्रे सुधातन्तौ हृदम्बुजे ॥६६८॥
मृत्युञ्जयं पदस्थेषु तत्त्वं किल मुकर्षे ।
अहो मूढधियामेष मयः स्वपरवञ्चनः ॥६६९॥

परमात्माको सब ज्योतियोंका ज्योतिस्वरूप मानकर उनके ज्योतिमय रूपकी कल्पना करके ध्यानका अभ्यास करनेकी व्यवस्था हठयोगमें है। तन्त्रमतमें शिव, शक्ति और बिन्दु ये तीन रत्न माने गये हैं। शुद्ध जगत्का उपादान बिन्दु है। बिन्दुका ही दूसरा नाम महामाया है। बिन्दु क्षुब्ध होकर जिस प्रकार एक ओर शुद्ध देह, इन्द्रिय, भोग और भुवनके रूपमें परिणत होता है उसी प्रकार यही शब्दकी भी उत्पत्ति करता है। शब्द सूक्ष्म नाद, अक्षर-बिन्दु और वर्ण भेदसे तीन प्रकारका है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति तथा शान्त्यतीत, ये कलाएँ बिन्दु की ही पृथक्-पृथक् अवस्था हैं। शान्त्यतीत रूप या परबिन्दु समस्त कलाओंकी कारणावस्था या अव्यावस्था है। लययोगके ध्यानका नाम बिन्दुध्यान है। तान्त्रिक मतमें षट्चक्रोंका अभ्यास हुए बिना आत्मज्ञान नहीं होता। इडा और पिंगला नामक दो नाड़ियोंके मध्यमें जो सुषुम्ना नाड़ी है उसकी छह ग्रन्थियोंमें पद्मके आकारके छह चक्र सम्पन्न हैं। गुह्यस्थानमें, लिंगमूलमें, नाभिदेशमें, हृदयमें, कण्ठमें और दोनों भ्रूके बीचमें—इन छह स्थानोंमें छह चक्र विद्यमान हैं। ये छह चक्र सुषुम्ना नामकी छह ग्रन्थियोंके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इन छह ग्रन्थियोंका भेदन करके जीवात्माका परमात्माके साथ संयोग किया जाता है। मनुष्य शरीरमें तीन लाख पचास हजार नाड़ियाँ हैं। उन सबमें सुषुम्ना नाड़ी प्रधान है। अन्य समस्त नाड़ियाँ इसी सुषुम्ना नाड़ीके आश्रयसे रहती हैं। इस सुषुम्ना नाड़ीके मध्यगत चित्रानाड़ीके मध्य सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर ब्रह्मरन्ध्र है। कुण्डलिनी शक्ति इसी ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा मूलाधारसे सहस्रारमें गमन करती है। इसीसे इस ब्रह्मरन्ध्रको ब्रह्ममार्ग कहते हैं। इडा नाड़ी वाम भागमें स्थित होकर सुषुम्ना नाड़ीको प्रत्येक चक्रमें घेरती हुई दक्षिण नासापुटसे और पिंगला नाड़ी दक्षिण भागमें स्थित होकर सुषुम्ना नाड़ीका प्रत्येक चक्रमें परिवेष्टित करके वामें नासापुटसे आज्ञाचक्रमें मिलती है। इडा और पिंगलाके बीच-बीचमें सुषुम्ना नाड़ीके छह स्थानोंमें छह शक्तियाँ और छह पद्म निहित हैं। कुण्डलिनीने कुण्डलित होकर सुषुम्ना नाड़ीके समस्त अग्रको घेर रखा है। तथा अपने मुखमें अपनी पूँछको डालकर साढ़े तीन घेरे दिये हुए स्वयंभू लिंगको वेष्टन करके ब्रह्मद्वारका अवरोध कर सुषुम्नाके मार्गमें स्थित है। यह कुण्डलिनी सर्पका-सा आकार धारण करके यहाँ निद्रा ले रही है उसी स्थानको मूलाधार चक्र कहते हैं। मूलाधार चक्रके ऊपर लिंगमूलमें षड्दल विशिष्ट स्वाधिष्ठान नामक चक्र है। स्वाधिष्ठान चक्रके ऊपर नाभिमूलमें मणिपूर नामक दशदलपद्म है। जो योगी इस चक्रमें ध्यान करते हैं

---

१ दक्षिणनासया। २ वामनासया। अधो नाभिभागे चन्द्रबोधं वदन्ति तत्त्वविदः। पृष्ठौ च दन्ति नाभे रवेरनवङ्गुलमार्गां ॥७॥—ज्ञानार्णव पृ० २९७। ३ यदा भटनबोधा वदते तदा निर्बीजीकरणं क्रियते। तेन समया मृत्यो ब्रह्मिवते यदि भवताद् ब्रह्मापि मरणं न स्वादित्यर्थ।

कर्माण्यपि यदीमानि साध्यान्येवंविधैर्नयैः ।
अलं तपोजपाप्तेष्टि[1]दानाध्ययनकर्मभिः ॥६४०॥
योऽविचारितरम्येषु क्षणं देहार्तिहारिषु ।
इन्द्रियार्थेषु वश्यात्मा सोऽपि योगी किलोच्यते ॥६४१॥
यस्येन्द्रियार्थतृष्णापि जर्जरीकुरुते मनः ।
[2]तन्निरोधभुवो धाम्नः स [3]ईप्सीत कथं नरः ॥६४२॥
आत्मज्ञः सचितं दोषं [4]यातनायोगकर्मभिः[5] ।
कालेन [6]क्षपयन्नेति योगी रोगी च [7]कल्पताम् ॥६४३॥
[8]लाभेऽलाभे वने वासे मित्रेऽमित्रे प्रियेऽप्रिये ।
सुखे दुःखे समानात्मा भवेत्तद्ध्यानधीः सदा ॥६४४॥
परे ब्रह्मण्यनूचानो[9] धृतिमैत्रीदयान्वितः ।
अन्यत्र[10] सूनृताद्वाक्यान्नित्यं वाचंयमी[11] भवेत् ॥६४५॥

उनकी कामनासिद्धि, दुःखनिवृत्ति और रोगशान्ति होती है, इसके द्वारा वे परदेहमें भी प्रवेश कर सकते हैं और अनायास ही कालको भी जीतनेमें समर्थ होते हैं। यह तन्त्रसाधकोंका मत है। इसी मतका निरूपण तथा निषेध ग्रन्थकारने श्लोक नम्बर ६३७-६३९ में किया है।

यदि इस प्रकारके प्रपचोंसे ये काम हो सकते हैं तो जप-तप, देवपूजा, दान और शास्त्रपठन, आदि कर्म व्यर्थ ही हैं ॥६४०॥ कैसी विचित्र बात है कि जो बिना विचारे सुन्दर प्रतीत होनेवाले और क्षण भरके लिए शारीरिक पीड़ाको हरनेवाले इन्द्रियोंके विषयोंमें फँसा हुआ है वह भी योगी कहा जाता है ॥६४१॥ इन्द्रियोंके विषयोंकी लालसा जिसके मनको सताती रहती है वह मनुष्य इन्द्रियोंके निरोधसे प्राप्त होनेवाले मोक्ष धामकी इच्छा ही कैसे कर सकता है ॥६४२॥

भावार्थ—जो साधु सन्यासी प्राणायाम वगैरहकी साधनाके द्वारा अपने शरीरको पुष्ट बना लेते हैं और इन्द्रियोंका निग्रह न करके विषयासक्त देखे जाते हैं उन्हें भी लोग योगी मानते हैं, किन्तु वे योगी नहीं हैं। योगी वही है जो इन्द्रियासक्त नहीं है।

रोगी भी अपनेको जानता है। योगी भी अपनी आत्माको जानता है। रोगी अपने शरीरमें सचित हुए दोषको समयसे उपवास आदिके कष्ट तथा औषधादिके द्वारा क्षय कर देता है और नीरोग हो जाता है। योगी भी अपनी आत्मामें सचित हुए दोषको परीषहसहन तथा ध्यानादिकके द्वारा समयसे क्षय कर देता है और मुक्तावस्थाको प्राप्त कर लेता है ॥६४३॥

जो ध्यान करना चाहता है उसे सदा हानि और लाभमें, वन और घरमें, मित्र और शत्रुमें, प्रिय और अप्रियमें तथा सुख और दुःखमें समभाव रखना चाहिए ॥६४४॥ तथा परम आत्मतत्त्वका पूर्णज्ञाता होनेके साथ-साथ धैर्य, मित्रता और दयासे युक्त होना चाहिए। और उसे सदा सत्य वचन ही बोलना चाहिए, अथवा मौनपूर्वक रहना चाहिए। एक पुस्तकमें 'सूत्रित'

१ जिनपूजा। २ इन्द्रिय। ३ कथं प्राप्नुमिच्छति। ४ तीव्रवेदना। ५ योग औषधप्रयोग, ध्यानं च। ६ क्षयं कुर्वन्। ७ नीरोगताम्। ८ 'लाभालाभे सुखे दुःखे शत्रौ मित्रे प्रियेऽप्रिये। मानापमानयोस्तुल्यो मृत्युजीवितयोरपि ॥२६॥'–अमित० श्राव०, परि० १५। ९ प्रियाप्रियवस्तूपनिपाते चित्तस्याविकृतिर्धृतिः। सर्वसत्त्वानभिद्रोहबुद्धिर्मैत्री। आत्मवत् परस्यापि हितापादनवृत्तिर्दया। १० विना। ११ सत्यं वदेत् अथवा मौनी स्यात्।

संयोगे विप्रलम्भे[1] च निदाने परिवेदने[2]।
हिंसायामनृते स्तेये भोगरक्षासु तत्परे ॥६९६॥
अन्धोरनन्तसंसारभ्रमैनोरथवर्त्मनी[3]।
[4]आर्तरौद्रे त्यजेद्ध्याने दुरन्तफलदायिनी ॥६९७॥

पाठ है उसके अनुसार ध्यानी पुरुषको शास्त्रानुकूल वचनोंके सिवा अन्यत्र अपने वचनको वशमें रखना चाहिए। अर्थात् उसे शास्त्रानुकूल वचन व्यवहार करना चाहिए ॥६९५॥

भावार्थ—प्रिय और अप्रिय वस्तुकी प्राप्ति होनेपर चित्तमें राग-द्वेषका नहीं होना धैर्य है। सब प्राणियोंमें द्वेषभावका न रखना मैत्री है। और अपनी तरह दूसरोंका भी हित करनेमें तत्पर रहना दया है। ध्यानीको सदा इन भावोंसे युक्त होना चाहिए।

आर्त और रौद्रध्यानका स्वरूप तथा उनको त्यागनेका उपदेश

संयोग, वियोग, निदान, वेदना, हिंसा, झूठ, चोरी और भोगोंकी रक्षामें तत्परतासे होने वाले आर्त और रौद्रध्यान बुरे फलोंको देनेवाले हैं और जीवको अनन्त संसारमें भ्रमण करानेवाले पापरूपी रथके मार्ग हैं। इनको त्याग देना चाहिए ॥ ६९६–६९७ ॥

भावार्थ—पहले ध्यानके तीन भेद बतलाकर आर्तध्यान और रौद्रध्यानको अशुभ ध्यान बतला आये हैं। यहाँ उन दोनों ध्यानोंका ही स्वरूप बतलाया है। आर्तध्यान चार प्रकारका होता है—एक, अनिष्ट वस्तुका संयोग हो जानेपर उससे छुटकारा पानेके लिए जो रात दिन अनेक प्रकारके उपायोंका चिन्तन करना है उसे अनिष्टसंयोग नामका आर्तध्यान कहते हैं। जैसे किसीको कुरूपा कुलटा पत्नी मिल गयी या कर्कशा पत्नी मिल गयी तो कैसे यह मरे या कैसे इससे पिण्ड छूटे इस प्रकारका निरन्तर चिन्तन करते रहना प्रथम आर्तध्यान है। यदि किसी अप्रिय वस्तुका संयोग हो जाये तो उससे बचनेके लिए रात-दिनका कल्पना छोड़कर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वह अपने अनुकूल हो जाये। दूसरा इष्टवस्तुका वियोग हो जानेपर उसकी प्राप्तिके लिए जो रात-दिन चिन्तन करते रहना है उसे इष्टवियोग नामका आर्तध्यान कहते हैं। तीसरा, आगामी भोगोंकी प्राप्तिके लिए सतत चिन्ता करना निदान नामका आर्तध्यान है। चौथे, शरीरमें कोई पीड़ा हो जानेपर उसके दूर करनेके लिए जो रात-दिन चिन्तन करता है उसे वेदना नामका आर्तध्यान कहते हैं। आशय यह है कि किसी भी प्रकारकी मानसिक वेदनासे पीड़ित होकर जो बुरे संकल्प-विकल्प किये जाते हैं वह सब आर्तध्यान हैं। दूसरा अशुभ ध्यान रौद्रध्यान है। इसके भी चार प्रकार हैं—प्रथम, दूसरोंको सतानेमें, उनकी जान लेनेमें आनन्द मानना हिंसानन्दी नामका रौद्रध्यान है। दूसरा, झूठ बोलनेमें आनन्द मानना मृषानन्दी नामका रौद्रध्यान है। तीसरा चोरी करनेमें आनन्द अनुभव करना, चौर्यानन्दी नामका रौद्रध्यान है। चौथा, विषय-भोगकी सामग्रीका

---

१ वियोगे। २ वेदनायाम्। ३ भ्रमणे पापरथमार्गभूते। ४ 'आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३० ॥ विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥ वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥ निदानं च ॥ ३३ ॥ तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥ हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३५ ॥'—तत्त्वार्थसूत्र अ० ९। ज्ञानार्णव पृ० २५६ २७१।

वोध्यागमकपाटे ते मुक्तिमार्गार्गले परे।
सोपाने श्वभ्रलोकस्य तत्त्वेक्षावृतिपक्ष्मणी ॥६४८॥
लेशतोऽपि मनो यावदेते समधितिष्ठतः।
एष जन्मतरुस्तावदुच्चैः समधिरोहति ॥६४९॥
ज्वलन्नञ्जनमाधत्ते प्रदीपो न रविः पुनः।
तथाशयविशेषेण ध्यानमारभते फलम् ॥६५०॥
प्रमाणनयनिक्षेपैः[1] सानुयोगैर्विशुद्धधीः।
मतिं तनोति तत्त्वेषु धर्मध्यानपरायणः ॥६५१॥
[2]अरहस्ये यथा लोके [3]सती काञ्चनकर्मणी[4]।
अरहस्यं[5] तथेच्छन्ति सुधियः परमागमम् ॥६५२॥
[6]यः स्खलत्यल्पबोधानां विचारेष्वपि मादृशाम्।

सचय करनेमें आनन्द मानना विषयानन्दी नामका रौद्रध्यान है। ये दोनों ही प्रकारके ध्यान नहीं करने चाहिए। क्योंकि—

ये दोनों अशुभ ध्यान ज्ञानकी प्राप्तिको रोकनेके लिए किवाडके तुल्य हैं, मुक्तिके मार्गको बन्द करनेके लिए साकलके तुल्य है, नरकलोकमें उतरनेके लिए सीढ़ीके तुल्य हैं और तत्त्वदृष्टिको ढाँकनेके लिए पलकोंके समान है ॥ ६४८ ॥ जब तक मनमें ये दोनों अशुभ ध्यान लेशमात्र भी रहते है तब तक यह जन्मरूपी वृक्ष बराबर ऊँचा होता जाता है। अर्थात् इन दोनों ध्यानोंके रहते हुए जन्म-मरणरूपी ससारचक्रका अन्त नहीं हो सकता बल्कि वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है ॥ ६४९ ॥

जैसे दीपक भी जलता है और सूर्य भी जलता है। किन्तु दीपकके जलनेसे काजल बनता है, सूर्यसे नहीं। वैसे ही ध्यान भी ध्यान करनेवालेके अच्छे या बुरे भावोंके अनुसार ही अच्छा या बुरा फल देता है ॥ ६५० ॥

धर्मध्यान

[*अब धर्मध्यानका वर्णन करते हैं—*]

जो निर्मल बुद्धि मनुष्य धर्मध्यान करता है वह प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोगद्वारोंके साथ तत्त्वोंका चिन्तन करनेमें मनको लगाता है ॥ ६५१ ॥

[*धर्मध्यानके चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, लोक या सस्थानविचय और विपाकविचय। इनमेंसे प्रत्येकका स्वरूप बतलाते हैं—*]

आज्ञाविचयका स्वरूप

जैसे ससारमें सोनेमें दो काम खुले रूपमें होते हैं—एक, उसे कसौटीपर कसा जाता है—दूसरे, उसे छैनीसे काटकर देखा जाता है। इन दो कामोंसे सोनेकी पहचान भलीभाँति हो जाती है। वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्य परमागमको भी गूढ़तारहित ही पसन्द करते हैं। आशय यह हैं कि सोने-की तरह परमागम भी ऐसा होना चाहिए जिसे सत्यकी कसौटीपर कसा जा सके। ऐसा परमागम

१ 'प्रमाणनयनिक्षेपैर्निर्णीत तत्त्वमञ्जसा। स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेत चिदचिल्लक्षण स्मरेत् ॥८॥' ज्ञानार्णव पृ० ३३८। २ अगूढे। ३ विद्यमाने भवत। ४ सुवर्णस्य द्वे कर्मणी कषछेदलक्षणे। ५ प्रकटार्थम्। ६. परकीय आगम। 'निःशेपनयनिक्षेपनिकषग्रावसन्निभम्। स्याद्वादपविनिर्घातभग्नान्यमतभूधरम् ॥ १७ ॥'—ज्ञानार्णव पृ ३३९।

स संसारार्णवे मज्जज्जन्त्वालम्बः कथं भवेत् ॥६५३॥

(इत्याज्ञा)

अहो [1]मिथ्यातमः पुंसां युक्तिद्योतैः (ते) स्फुरत्स्वपि ।
यदन्धयति चेतांसि रत्नत्रयपरिग्रहे ॥६५४॥
आशास्महे तदेतेषां दिनं यत्रास्तकल्मषाः ।
इदमेते प्रपश्यन्ति तत्त्वं दुःखनिबर्हणम् ॥६५५॥

(इत्यपायः)

ही श्रेष्ठ समझा जाता है और उसमें जो कुछ कहा गया है वह ठीक माना जाता है । किन्तु जो आगम हमारे सरीखे अल्पज्ञानियोंके विचारोंकी कसौटीपर भी खरा नहीं उतरता, वह संसाररूपी समुद्रमें डूबते हुए जीवोंका सहारा कैसे हो सकता है ॥ ६५२—६५३ ॥

भावार्थ—धर्मयुक्त ध्यानको धर्मध्यान कहते हैं । उस ध्यानके कई एक बाधक कारण हैं । कभी-कभी तो ध्यानी आत्माके स्वरूपको ठीक-ठीक जानता हुआ भी मोहके उदयसे या अभ्यास न होनेसे आत्मस्वरूपमें अपनेको स्थिर नहीं कर पाता । कभी अज्ञानके वशीभूत होनेके कारण ध्यानीका मन प्रयत्न करनेपर भी अपनेमें स्थिर नहीं हो पाता । इन बाधक कारणोंको दूर करनेके लिए यह आवश्यक है कि वस्तुका यथार्थ स्वरूप जाना जाये । जिससे मोह और अज्ञानका पर्दा हटकर आत्मा परमात्म स्वरूपमें स्थिर हो सके । अतएव दृश्यवस्तुके सम्बन्धसे अदृश्य वस्तुका ध्यान करना बतलाया गया है । किन्तु परमात्मा तो अर्हन्त और सिद्ध परमेष्ठी है । अल्पज्ञानीके लिए वे अदृश्य हैं । अपना स्वरूप यद्यपि उनके समान बतलाया है किन्तु वह शक्तिरूप है, व्यक्तिरूप नहीं है इसलिए छद्मस्थके लिए वह भी अगोचर है । छद्मस्थ तो अपने क्षायोपशमिक ज्ञानका उपयोग कर सकता है । अत क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा सर्वज्ञ भगवान्‌के द्वारा प्रतिपादित परमागमसे परमात्माके स्वरूपका निश्चय करके परमात्माका ध्यान करना चाहिए । इसीसे परमात्म-पदकी प्राप्ति होती है । जिस ध्यानमें जैन सिद्धान्तमें प्रतिपादित वस्तुस्वरूपका चिन्तन सर्वज्ञ भगवानको प्रमाण मानकर—उनकी आज्ञाको ही प्रधान करके किया जाता है, उसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं । चूँकि छद्मस्थका क्षायोपशमिक ज्ञान सर्वज्ञप्रतिपादित वस्तुस्वरूपका निर्णय स्वयं जानकर तो कर नहीं सकता । अत 'वह जिनेन्द्र भगवान् वीतराग हैं अत वह अन्यथा नहीं कह सकते' यह मानकर ही परमागममें प्रतिपादित वस्तुस्वरूपका ध्यान करता है । चूँकि इस ध्यानमें आज्ञाकी प्रधानता रहती है इस लिए उसे आज्ञाविचय कहते हैं ।

अपायविचयका स्वरूप

आश्चर्य है कि युक्तिरूपी प्रकाशक फैले रहते भी मिथ्यात्वरूपी अन्धकार रत्नत्रयको ग्रहण करनेमें मनुष्योंके चित्तोंको अन्धा बनाता है । हम उस दिनकी आशा करते हैं जब ये मनुष्य पापोंको दूर करके दुःखोंसे छुड़ानेवाले तत्त्वको देख सकेंगे ॥ ६५४—६५५ ॥

---

१ जात्यन्धवन्मिथ्यादृष्टयः सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद् विमुखा मोक्षार्थिनः सम्यङ्मार्गापरिज्ञानात्सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः । अथवा मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः कथं नाम इमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः —सर्वार्थसिद्धि ९.३६ । ज्ञानार्णव ३४वां प्रकरण ।

[1]अकृत्रिमो विचित्रात्मा मध्ये च त्रसराजिमान् ।
मरुत्त्रयीवृतो लोकः प्रान्ते [2]तद्धामनिष्ठितः ॥६५६॥

(इति लोकः)

[3]रेणुवज्जन्तवस्तत्र तिर्यगूर्ध्वमधोऽपि च ।

भावार्थ—प्रकाशके रहते हुए अन्धकार नहीं ठहरता किन्तु युक्तिरूपी प्रकाशके रहते हुए भी मिथ्यात्वरूपी अन्धकार ठहरा हुआ है, यह आश्चर्यकी बात है। परमागममें अनेक युक्तियोंसे यह प्रमाणित किया गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही दु:खोंसे छूटनेका मार्ग है; किन्तु मनुष्योंके चित्तमें जो मिथ्यात्वरूपी अन्धकार छाया हुआ है उसके कारण वे रत्नत्रयको स्वीकार नहीं कर पाते और इसीसे उनका दु:खोंसे छुटकारा नहीं होता। हम उस दिनकी प्रतीक्षामें हैं जब इनका यह मिथ्यात्वरूपी अन्धकार दूर होगा और वे रत्नत्रयको अंगीकार करेंगे। इस प्रकार सन्मार्गसे भ्रष्ट हुए मनुष्योंका उद्धार करनेके बारेमें जो चिन्तन किया जाता है उसे अपायविचय धर्मध्यान कहते हैं।

लोकविचयका स्वरूप

यह लोक अकृत्रिम है—इसे किसीने बनाया नहीं है। तथा इसका स्वरूप भी विचित्र है—कोई मनुष्य दोनों पैर फैलाकर और दोनों हाथ दोनों कूल्होंपर रखकर खड़ा हो तो उसका जैसा आकार होता है वैसा ही आकार इस लोकका है। उसके बीचमें चौदह राजू लम्बी और एक राजू चौड़ी त्रसनाली है। त्रसजीव उसी त्रसनालीमें रहते हैं। यह लोक चारों ओरसे तीन वातवलयोंसे घिरा हुआ है। उन वातवलयोंका नाम घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय है। वलय कड़ेको कहते हैं। जैसे कड़ा हाथ या पैरको चारों ओरसे घेर लेता है वैसे ही ये तीन वायु भी लोकको चारों ओरसे घेरे हुए हैं। इसलिए उन्हें वातवलय कहते हैं। तथा लोकके ऊपर उसके अग्रभागमें सिद्ध स्थान है, जहाँ मुक्त हुए जीव सदा निवास करते हैं। इस प्रकार लोकके स्वरूपका चिन्तन करनेको लोकविचय या संस्थानविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥ ६५६ ॥

भावार्थ—लोकके स्वरूपका चिन्तन उसके आकारका चिन्तन किये बिना नहीं हो सकता, इसलिए उसे संस्थानविचयके नामसे भी पुकारा जाता है। शास्त्रान्तरोंमें यही नाम पाया जाता है। किन्तु यहाँ लोकविचय नाम दिया है, सो दोनोंमें केवल नामका अन्तर है वास्तविक अन्तर नहीं है। लोकका स्वरूप संक्षेपमें ऊपर बतलाया ही है। जो विशेषरूपसे जानना चाहें उन्हें त्रिलोकसार या त्रिलोक प्रज्ञप्तिसे जान लेना चाहिए।

विपाकविचयका स्वरूप

उस लोकके ऊपर नीचे और मध्यमें सर्वत्र अपने कर्मरूपी वायुसे प्रेरित होकर धूलिके

---

१ 'लोकसंस्थानस्वभावविचयाय स्मृतिसमन्वाहारः संस्थानविचयः।'—सर्वार्थसिद्धि। ज्ञानार्णव ३६ वाँ प्रकरण। २ 'ततोऽग्रे शाश्वतं धाम जन्मजातङ्कविच्युतम्। ज्ञानिनां यदधिष्ठानं क्षीणनिःशेषकर्मणाम् ॥१८२॥' —ज्ञानार्णव। ३ 'कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाकविचयः'।—सर्वार्थसि० ९,३६। ज्ञानार्णव ३५वाँ प्रकरण।

अनारतं भ्रमन्त्येते निजकर्मानिलेरिताः ॥६५७॥

(इति विपाकः)

इति चिन्तयतो धर्म्यं प्रत्याहृतेन्द्रियचेतसः ।
तमांसि [1]प्रशमायान्ति [2]भास्वतोऽभ्युदयादिव ॥६५८॥
[3]भेद [4]विवर्जितामेदमभेद[5] भेदवर्जितम्[6] ।
ध्यायन्सूक्ष्मक्रियमप्रत्यो[7] निष्क्रियं[8] योगमाचरेत् ॥६५९॥
विलीनाशयसम्बन्धः शान्तमारुतसञ्चयः ।
देहातीतः परंधाम कैवल्यं प्रतिपद्यते ॥६६०॥

समान जीव सदा भ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकार कर्मोंके विपाक यानी उदयका चिन्तन करने को विपाकविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥ ६५७ ॥

भावार्थ—जैसे वायुके झोंकेसे धूलके कण उड़ते फिरते हैं वैसे ही अपने-अपने अच्छे या बुरे कर्मोंके प्रभावसे जीव भी तीनों लोकोंमें सदा भ्रमण करते रहते हैं। अपने-अपने उपार्जन किये हुए कर्मके फलका जो उदय होता है उसे विपाक कहते हैं। वह विपाक प्रतिक्षण होता रहता है और अनेक रूप होता है। उसका विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान कहा जाता है।

धर्मध्यानका फल

इस प्रकार अपनी इन्द्रियोंको और चित्तको संयत करके जो धर्मध्यान करता है उसका अज्ञान ऐसा विनष्ट होता है जैसे सूर्यके उदयसे अन्धकार नष्ट होता है ॥६५८॥

शुक्लध्यानका स्वरूप

[धर्मध्यानके बाद शुक्लध्यान होता है। अतः शुक्लध्यानका स्वरूप बतलाते हैं—]

अभेदरहित भेद अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और भेदरहित अभेद अर्थात् एकत्ववितर्क शुक्लध्यानको करके जीव सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक ध्यानको करता है और फिर क्रिया निवृत्ति नामक चौथे शुक्लध्यानको करता है॥ इसके करते ही आत्मासे समस्त कर्मोंका सम्बन्ध छूट जाता है। श्वासोच्छ्वास रुक जाता है और अशरीरी आत्मा परंधाम–मोक्षको प्राप्त करता है ॥ ६५९–६६० ॥

भावार्थ—जो ध्यान क्रियारहित इन्द्रियातीत और अन्तर्मुख होता है उसे शुक्लध्यान कहते हैं। कषायरूपी मलके क्षय होनेसे अथवा उपशम होनेसे आत्माके परिणाम निर्मल हो जाते हैं और उन परिणामोंके होते हुए ही यह ध्यान होता है, इस लिए आत्माके शुचि गुणके सम्बन्धसे इसे शुक्लध्यान कहते हैं। उसके चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और क्रिया निवृत्ति। इनमें-से पहलेके दो शुक्लध्यान उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणीवाले जीवोंके होते हैं और शेष दो शुक्लध्यान केवलज्ञानियोंके होते हैं। पहला शुक्ल-

---

१ विनाशम्। २ सूर्य। ३ पृथक्त्वम्। ४ एकत्वरहितम्। ५ एकत्वम्। ६ पृथक्त्वरहितम्। अनेन एकत्ववितर्कवीचाराख्य शुक्लध्यानमुक्तम्। ७ अनेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिशुक्लध्यानमुक्तम्। ८ उपरत-योगक्रियारहितं अनेन समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिध्यानमुक्तम्।

प्रक्षीणोभयकर्माणं जन्मदोषैर्विवर्जितम् ।
लब्धात्मगुणमात्मानं मोक्षमाहुर्मनीषिणः ॥६६१॥
मार्गसूत्रमनुप्रेक्षाः सप्ततत्त्वं जिनेश्वरम् ।

ध्यान वितर्क वीचार और पृथक्त्वसहित होता है। इसमें पृथक-पृथक् रूपसे श्रुतज्ञान और योग बदलता रहता है। इसलिए इसे पृथक्त्ववितर्क वीचार कहते है। पृथक्त्व अनेकपनेको कहते है। वितर्क श्रुतज्ञानको कहते है और वीचार ध्येय, वचन और योगके संक्रमणको कहते हैं। जिस शुक्लध्यानमें ये तीनों बातें होती हैं उसे पहला शुक्लध्यान जानना चाहिए। दूसरा शुक्लध्यान वितर्कसहित वीचाररहित अतएव एकत्वविशिष्ट होता है। इस ध्यानमें ध्यानी मुनि एक द्रव्य अथवा एक पर्यायको एक योगसे चिन्तन करता है। इसमें अर्थ, वचन और योगका सक्रमण नहीं होता। इस लिए इसे एकत्व वितर्क कहते है। इस ध्यानसे घातिकर्म शीघ्रही नष्ट हो जाते है और ध्यानी मुनि सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। उसके बाद आयु जब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष रहती है तब तीसरा शुक्लध्यान होता है। इसे करनेके लिए पहल केवली बादर काययोगमें स्थिर होकर बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको सूक्ष्म करते है। फिर काययोगको छोड़कर वचनयोग और मनोयोगमें स्थिति करके बादर काययोगको सूक्ष्म करते है। पश्चात् सूक्ष्म काययोगमें स्थिति करके वचनयोग और मनोयोगका निग्रह करते हैं। तब सूक्ष्मक्रिय नामक ध्यानको करते है। इसके बाद अयोगकेवली गुणस्थानमें योगका अभाव हो जानेसे आस्रवका निरोध हो जाता है। उस समय वे अयोगी भगवान् समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यानको ध्याते है। इस ध्यानमें श्वासोच्छ्वासका संचार और समस्तयोग तथा आत्माके प्रदेशोंका हलन-चलन आदि क्रियाएँ नष्ट हो जाती है। इसलिए इसे समुच्छिन्नक्रिय या क्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान कहते हैं। इसके प्रकट होनेपर अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमें कर्मोंकी ७२ प्रकृतियाँ नष्ट हो जाती है। अन्त समयमें बाकी बची १३ प्रकृतियाँ भी नष्ट हो जाती है और योगी सिद्धपरमेष्ठी बन जाता है।

मोक्षका स्वरूप

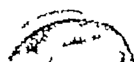
[शुक्लध्यानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, अत मोक्षका स्वरूप बतलाते है—]

जिसके द्रव्यकर्म और भावकर्म नष्ट हो गये है, अतएव जो जन्म, जरा, मृत्यु आदि दोषोंसे रहित है तथा अपने गुणोको प्राप्त कर चुका है उस आत्माको बुद्धिमान् मनुष्य मोक्ष कहते है ॥६६१॥

भावार्थ—मोक्ष आत्माकी ही एक अवस्थाका नाम है। जो आत्मा कर्मोंके बन्धनसे छूट चुका है वही मोक्ष है। मोक्ष शब्दका अर्थ छूटना होता है। जब आत्मा कर्मोंसे छूट जाता है तो उसके सब दोष हट जाते है, क्योंकि वे दोष कर्मोंके कारण ही उत्पन्न होते है। जब कारण नहीं रहा तो कार्य भी नहीं रहा। तथा दोषोके कारण ही आत्माके स्वाभाविक गुण मलिन पड़ जाते हैं और उनमें विकार पैदा हो जाता है। दोषोंके चले जानेसे आत्माके सब स्वाभाविक गुण चमक उठते हैं, जैसे सोनेमें-से मैलके निकल जानेपर सोना चमक उठता है। अत कर्मोंसे मुक्त आत्माका नाम ही मोक्ष है।

किसका ध्यान करना चाहिए ?

शास्त्रद्रष्टा ध्यानी पुरुषको 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' इस सूत्रका बारह



ध्यायेदागमचक्षुष्मान्मनस्तन्मयतां गतः ॥६६२॥
ज्ञाने तत्त्वं यथैतिह्यं श्रद्दधे तद्गतान्वधीः ।
मुञ्चेऽहं सर्वमारम्भमात्मन्यात्मानमादधे ॥६६३॥
आत्मायं बोधिसम्पत्तेरात्मन्यात्मानमात्मना ।
यदा ध्याते तदात्मानं लभते परमात्मना ॥६६४॥
ध्यातात्मा ध्येयमात्मैव ध्यानमात्मा फलं तथा ।
आत्मा रत्नत्रयात्मोक्तो यथायुक्तिपरिग्रहः ॥६६५॥
सुखामृतसुधासूतिस्तत्प्रभेरुदयाचलः ।
परं ब्रह्माहमत्रासे तमःपाशवशीकृतः ॥६६६॥
यदा चकास्ति मे चेतस्तद्ध्यानोदयगोचरम् ।
तदाहं जगतां चक्षुः स्यामादित्य इवातमाः ॥६६७॥
आदौ मधुमधु प्रान्ते सर्वमिन्द्रियजं सुखम् ।
प्रातःस्नायिषु हेमन्ते तोयमुष्णमिवाङ्गिषु ॥६६८॥
यो दुरन्तवपुर्ग्रासो वक्त्रमासो यमोऽङ्गिनि ।
स्वभावसुभगे तस्य स्पृहा केन निवार्यते ॥६६९॥

अनुप्रेक्षाओंका, सात तत्त्वोंका और जिनेन्द्र भगवान्‌का ध्यान करना चाहिए ॥ ६६२ ॥

ध्यानीको क्या विचार करना चाहिए

मैं आगमानुसार तत्त्वोंको जानता हूँ और एकाग्र मन होकर उनका श्रद्धान करता हूँ। तथा समस्त आरम्भको छोड़ता हूँ और अपनेमें अपनेको लगाता हूँ ॥ ६६३ ॥ जब यह ज्ञानरूप सम्पत्तिका स्वामी आत्मा आत्मासे आत्मामें आत्माको ध्यान करता है तब आत्माको परमात्मरूपसे पाता है ॥ ६६४ ॥ आत्मा ध्यान करनेवाला है आत्मा ही ध्येय है, आत्मा ही ध्यान है और रत्नत्रयमयी आत्मा ही ध्यानका फल है। अर्थात् ध्याता ध्यान, ध्येय और उसका फल ये सब आत्मस्वरूप ही पड़ते हैं। युक्तिके अनुसार इसका ग्रहण करना चाहिए ॥ ६६५ ॥

मैं सुखरूपी अमृतके लिए चन्द्रमा हूँ। तथा सुखरूपी सूर्यके लिए उदयाचल हूँ। अर्थात् सुख आत्माकी ही वस्तु है उसीसे वह उत्पन्न होता है। मैं परब्रह्म स्वरूप हूँ किन्तु अज्ञानान्धकाररूपी गड्ढेमें फँसकर इस शरीरमें ठहरा हुआ हूँ ॥ ६६६ ॥ जब मेरे चित्तमें उस ध्यानका उदय होगा तब मैं अन्धकाररहित सूर्यके समान संसारका द्रष्टा हो जाऊँगा ॥६६७॥

जितना भी इन्द्रियजन्य सुख है वह आरम्भमें मीठा प्रतीत होता है किन्तु अन्तमें कटुक ही लगता है। जैसे जो लोग शीतऋतुमें प्रात स्नान करते हैं उन्हें पानी उष्ण प्रतीत होता है ॥ ६६८ ॥

जो यमराज रागसे भ्रष्ट और दर्शनमें असुन्दर प्राणीको खानेके लिए तैयार रहता है स्वभावसे ही सुन्दर मनुष्यमें उसकी रुचिको कौन हटा सकता है? अर्थात् वह सुन्दर मनुष्यको छोड़ नहीं देता है किन्तु उसे भी खा जाता है ॥ ६६९ ॥

---

१ ध्यानान्तरं । २ अहम् । ३ एतावनितः । ४ अनर्घ्यां ध्यायति वा । ५ सुखसूर्यस्य । ६ देहे निष्पन्नि ।

जन्मयौवनसंयोगसुखानि यदि देहिनाम् ।
निर्विपक्षाणि को नाम सुधीः संसारमुत्सृजेत् ॥६७०॥

अनुयाचेत नायूंपि नापि मृत्युमुपाहरेत् ।
भृतो भृत्य इवासीत कालावधिमविस्मरन् ॥६७१॥

महाभागोऽहमद्यास्मि यत्तत्त्वरुचितेजसा ।
सुविशुद्धान्तरात्मासे तमःपारे प्रतिष्ठितः ॥६७२॥

तन्नास्ति यदहं लोके सुखं दुःखं च नासवान् ।
स्वप्नेऽपि न मया प्राप्तो जैनागमसुधारसः ॥६७३॥

सम्यगेतत्सुधाम्भोधेर्विन्दुमप्यालिहन्मुहुः ।
जन्तुर्न जातु जायेत जन्मज्वलनभाजन ॥६७४॥

देवं देवसभासीनं पञ्चकल्याणनायकम् ।
चतुस्त्रिंशद्[1]गुणोपेतं प्रातिहार्योपशोभितम् ॥६७५॥

निरञ्जनं [2]जिनाधीशं परमं रमयाश्रितम् ।
अच्युतं च्युतदोषौघमभेवं भवभृद्गुरुम् ॥६७६॥

यदि प्राणियोके जन्म, यौवन, सयोग और सुखके विपक्षी मृत्यु, बुढ़ापा, वियोग और दु ख न होते तो कौन बुद्धिमान् ससारको छोडता ? ॥ ६७० ॥ अतः न तो आयुकी याचना करना चाहिए कि मैं और अधिक दिनों तक जीता रहूँ, और न मृत्युको बुलाना चाहिए कि मै जल्दी मर जाऊँ । किन्तु अपने जीवनकी अवधिको न भूलकर वेतनपानेवाले नौकरकी तरह रहना चाहिए ॥ ६७१ ॥ आज मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ; क्योंकि तत्त्वरुचिरूपी तेजसे मेरा अन्तरात्मा सुविशुद्ध हो गया है और मैं मिथ्यात्वरूपी अन्धकारको पार कर चुका हूँ ॥ ६७२ ॥ ससारमें ऐसा कोई सुख और दु ख नहीं है जो मैंने नहीं भोगा । किन्तु जैनागमरूपी अमृतका पान मैने स्वप्नमें भी नहीं किया ॥ ६७३ ॥ इस अमृतके सागरकी एक बूँदको भी जो चख लेता है वह प्राणी फिर कभी भी जन्मरूपी अग्निका पात्र नहीं बनता अर्थात् जैनशास्त्रोंका थोडा-सा भी स्वाद जिसे लग जाता है वह उनका आलोडन करके उस शाश्वत सुखको प्राप्त कर लेता है और फिर उसे ससारमें भ्रमण करना नहीं पड़ता ।

[अब अर्हन्तदेवका ध्यान करनेकी प्रेरणा करते हैं—]

समवसरणमें विराजमान, पॉच कल्याणकोंके नायक, चौंतीस अतिशयोंसे युक्त, आठ प्रातिहार्योंसे सुशोभित, घातियाकर्मरूपी मलसे रहित, उत्कृष्ट अन्तरग और बहिरग लक्ष्मीसे वेष्टित, जिनश्रेष्ठ, आत्मस्वरूपसे कभी च्युत न होनेवाले, दोषसमूहसे रहित, ससारातीत किन्तु ससारी प्राणियोंके गुरु, स्वय सबके द्वारा स्तुति करनेके योग्य किन्तु जिनके लिए कोई भी स्तुति-योग्य

---

१ 'चतुस्त्रिशन्महाश्चर्यै प्रातिहार्यैश्च भूषितम् । मुनितिर्यङ्नरस्वर्गिसभाभि सन्निषेवितम् ॥१२५॥ जन्माभिषेकप्रमुखप्राप्तपूजातिशायिनम् । केवलज्ञाननिर्णीतवस्तुतत्त्वोपदेशिनम् ॥ १२६ ॥'—तत्त्वानुशासन । ज्ञानार्णव २९वाँ प्रकरण । चतुस्त्रिशद्गुणोपेतम्–नि स्वेदत्वादयो दश सहजा' । गव्यूतिशतचतुष्टय सुभिक्षादयो घातिक्षयजा दश, अर्धमागधीभापादयो देवोपनीताश्चतुर्दश । २ जनाधी–अ. ज ।

ध्यायेदागमचक्षुष्मान्प्रसव्योमपरायणः ॥६६२॥
आगमे तस्य यथैतिह्य श्रद्धे तदनन्यधीः।
मुञ्चेऽहं सर्वमारम्भमात्मन्यात्मानमात्मने ॥६६३॥
आत्माय योधिसंपत्तेरात्मन्यात्मानमात्मना।
यदा सुते तदात्मानं लभते परमात्मना ॥६६४॥
ध्यातात्मा ध्येयमात्मैव ध्यानमात्मा फलं तथा।
आत्मा रत्नत्रयात्मोक्तो यथायुक्तिपरिग्रहः ॥६६५॥
सुधामृतसुधांशुर्विस्तद्प्रवेश्यदयाचलः।
परं ब्रह्माहमभ्यासे तमःपाशवशीकृतः ॥६६६॥
यदा चकास्ति मे चेतस्तत्रयामोदयगोचरम्।
तदाहं जगतां चक्षुः स्यामादित्य इवातमाः ॥६६७॥
आदौ मध्यमधु प्रान्ते सर्वमिन्द्रियजं सुखम्।
प्रातःस्नायिषु हेमन्ते तोयमुष्णमिवाङ्गिषु ॥६६८॥
यो दुरामयदुर्दर्शो यदासो यमोऽङ्गिनि।
स्वभावसुन्दरो तस्य स्पृहा केन निवार्यते ॥६६९॥

अनुप्रेक्षाओंका, सात तत्त्वोंका और जिनेन्द्र भगवान्‌का ध्यान करना चाहिए ॥ ६६२ ॥

ध्यानीको क्या विचार करना चाहिए

मैं आगमानुसार तत्त्वोंको जानता हूँ और एकाग्र मन होकर उनका श्रद्धान करता हूँ। तथा समस्त आरम्भको छोड़ता हूँ और अपनेमें अपनेको ध्याता हूँ ॥ ६६३ ॥ जब यह ज्ञानरूप सम्पत्तिका स्वामी आत्मा आत्मासे आत्मामें आत्माको ध्यान करता है तब आत्माको परमात्मरूपसे पाता है ॥ ६६४ ॥ आत्मा ध्यान करनेवाला है आत्मा ही ध्येय है, आत्मा ही ध्यान है और रत्नत्रयमयी आत्मा ही ध्यानका फल है। अर्थात् ध्याता ध्यान, ध्येय और उसका फल ये सब आत्मस्वरूप ही पड़ते हैं। युक्तिके अनुसार उसको ग्रहण करना चाहिए ॥ ६६५ ॥

मैं सुखरूपी अमृतके लिए चन्द्रमा हूँ। तथा सुखरूपी सूर्यके लिए उदयाचल हूँ। अर्थात् सुख आत्माकी ही वस्तु है, उसीसे वह उत्पन्न होता है। मैं परब्रह्म स्वरूप हूँ किन्तु अज्ञानान्धकाररूपी जालमें फँसकर इस शरीरमें ठहरा हुआ हूँ ॥ ६६६ ॥ जब मेरे चित्तमें उस ध्यानका उदय होगा तब मैं अन्धकाररहित सूर्यके समान संसारका द्रष्टा हो जाऊँगा ॥६६७॥

जितना भी इन्द्रियजन्य सुख है वह प्रारम्भमें मीठा प्रतीत होता है किन्तु अन्तमें कटुक ही लगता है। जैसे जो लोग शीतऋतुमें प्रातःस्नान करते हैं उन्हें पानी उष्ण प्रतीत होता है ॥ ६६८ ॥

जो यमराज रोगसे ग्रस्त और देखनेमें असुन्दर प्राणीको खानेके लिए तैयार रहता है स्वभावसे ही सुन्दर मनुष्यमें उसकी रुचिको कौन हटा सकता है ? अर्थात् वह सुन्दर मनुष्यको छोड़ नहीं देता है किन्तु उसे भी खा जाता है ॥ ६६९ ॥

---

१ ध्यानतत्पर। २ अहम्। ३ एकाग्रचित्तः। ४ जानाति ध्यायति वा। ५ सुखपूर्वस्य। ६ देहे तिष्ठामि।

अतावकगुणं[1] सर्वं त्वं सर्वगुणभाजनः ।
त्वं तृप्तिः सर्वकामानां[2] कामतृप्तिनिमीलनः[3] ॥६८५॥

खसुप्तदीपनिर्वाणेऽप्राकृते[4] वा त्वयि स्फुटम् ।
खसुप्तदीपनिर्वाणं[5] प्राकृतं स्याज्जगत्त्रयम् ॥६८६॥

त्रयीमार्गं[6] त्रयीरूपं[7] त्रयीमुक्तं[8] [9]त्रयीपतिम् ।
त्रयीव्याप्तं[10] त्रयीतत्त्वं[11] त्रयीचूडामणिस्थितम् ॥६८७॥

जगतां कौमुदीचन्द्रं कामकल्पावनीरुहम् ।
गुणचिन्तामणिक्षेत्रं कल्याणागमनाकरम् ॥६८८॥

प्रणि[12]धानप्रदीपेषु साक्षादिव चकासतम् ।
ध्यायेज्जगत्त्रयार्चार्हमर्हन्तं सर्वतो[13]मुखम् ॥६८९॥

आहुस्तस्मात्परं ब्रह्म तस्मादैन्द्रं पदं करे ।
क्ष्मास्तस्माद्यत्नाप्त्यो[14]श्चक्राङ्का क्षितिपश्रियः ॥६९०॥

यं यमध्यात्ममार्गेषु भावमस्मयमत्सराः ।
तत्पदाय दधत्यन्तः स स तत्रैव लीयते ॥६९१॥

मनुष्यकी तरह मानागया है क्योंकि मुक्तावस्थामें ज्ञान नहीं रहता, बौद्ध मतमें दीपकके निर्वाणकी तरह आत्माका निर्वाण माना गया है किन्तु अर्हन्त भगवान्में तीनों प्रकारके निर्वाण अपने प्राकृत स्वरूपमें विद्यमान है। राग-द्वेष और मोहसे रहित होनेके कारण वे प्रायः आकाशकी तरह शून्य है, ध्यानमें लीन होनेके कारण सुप्त है और दीपकी तरह केवलज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंके प्रकाशक है, रत्नत्रय जिनका मार्ग है, सत्ता, सुख और चैतन्यसे विशिष्ट होनेके कारण जो त्रयीरूप है. राग-द्वेष और मोहसे मुक्त है, स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोकके स्वामी हैं, तीनों लोकोंको जान लेनेके कारण तीनों लोकोंमें व्याप्त हैं, अथवा सदा रहनेसे तीनों कालोंमें व्याप्त हैं, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है, तीनों लोकोंके शिखरपर विराजमान हैं तथा जगत्के लिए पूर्णिमासीके चन्द्रमा हैं, इच्छित वस्तुके लिए कल्पवृक्ष है, गुणरूपी चिन्तामणिके स्थान, कल्याणकी प्राप्तिके लिए खनि, तीनों लोकोंसे पूजनीय और ध्यानरूपी दीपकोंके प्रकाशमें साक्षात् चमकनेवाले अर्हन्त भगवान्का ध्यान करना चाहिए ॥ ६७४—६८९ ॥

उन अर्हन्तका ध्यान करनेसे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, उनका ध्यान करनेसे इन्द्रपद तो हाथमें ही समझना चाहिए। तथा चक्रवर्तीकी विभूति भी बिना प्रयत्नके प्राप्त हो जाती है ॥ ६९० ॥ मान और ईर्षासे रहित पुरुष अध्यात्म-मार्गमें अपने अन्तःकरणमें अर्हन्तपदकी

---

१ यत्तु वस्तु तत्सर्वं तावकगुण त्वत्स्वरूप न। २. वाञ्छितवस्तूनाम्। ३ सकोचन। ४ अलौकिके। ५ खनिर्वाण वैशेपिकाणा ज्ञानाद्यभावाभ्युपगमात्। सुप्तनिर्वाण साख्याना चित्तमात्राभ्युपगमात्। दीपनिर्वाण बौद्धाना निरन्वयविनाशाभ्युपगमात्। ६ रत्नत्रय मार्गो यस्य। ७ रत्नत्रयरूपम्। अथवा सत्ता सुखचैतन्यरूपम्। ८ रागद्वेषमोहरहितम् अथवा जातिजरामरणमुक्तम्। ९ जगत्त्रयपतिम्। १० कालत्रयव्याप्तम्। ११ उत्पादव्ययध्रौव्यमेव तत्त्व यस्य। १२. ध्यान। १३ सर्वतो सुखम्–अ ज। १४ प्राप्त्या। "प्राहुस्तस्मात्पर ब्रह्म तस्मादैन्द्रपदोद्रय। तस्मादपि लभ्यन्ते शर्मदा सर्वसम्पद ॥२०५॥"—प्रबोधसार।

सर्वसंस्तुत्यमस्तुत्य[1] सर्वेश्वरमनीश्वरम्[2] ।
सर्वाराध्यमनाराध्यं सर्वाश्रयमनाश्रयम् ॥६७७॥
समयं सर्वविद्यानां सर्वलोकपितामहम् ।
सर्वसत्त्वहितारम्भं ज्ञातसर्वमसर्वगम् ॥६७८॥
नम्रामरकिरीटांशुपरिवेषनभस्तले ।
भवत्पादद्वयद्योतिनखनक्षत्रमण्डलम् ॥६७९॥
स्तूयमानमनूचानैर्महायोगैर्ध्येयकामिभिः ।
अध्यात्ममार्गमध्येयोभिर्योगिमुख्यैर्महर्षिभिः ॥६८०॥
नीरूपं रूपिताशेषमशब्दं [8]शब्दनिष्ठितम् ।
अस्पर्शं [9]योगसंस्पर्शमरसं सरसागमम् ॥६८१॥
गुणैः सुरभितात्मानमगन्धगुणसंगमम् ।
व्यतीतेन्द्रियसम्बन्धमिन्द्रियार्थावभासकम् ॥६८२॥
भुवमाभ्यसस्यानामम्भस्तृष्णानलार्चिषाम् ।
पवनं दोषरेणूनामग्निमेनोवनीरुहाम् ॥६८३॥
यजमानं[1] सदर्थानां व्योमालेपादिसम्पदाम् ।
भानुं भव्यारविन्दानां चन्द्रं मोक्षामृतश्रियाम् ॥६८४॥

नहीं, स्वयं सबके स्वामी किन्तु जिनका स्वामी कोई नहीं, सबके आराध्य किन्तु जिनका कोई आराध्य नहीं सबके आश्रय किन्तु जिनका कोई आश्रय नहीं, समस्त विद्याओंके उत्पत्तिस्थान सब लोकोंके पितामह, सब प्राणियोंके हितू, सबके ज्ञाता, स्वशरीर प्रमाण, नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुटोंके किरण जालरूपी आकाशमें जिनके दोनों चरणोंके प्रकाशमान नख नक्षत्रमण्डलके समान प्रतीत होते हैं, ध्यानयोग्य वस्तुको पानेके इच्छुक अध्यात्म शास्त्रके रचयिता ऋद्धिधारी ऋषिगण जिनकी स्तुति करते हैं, उन रूपरहित किन्तु सबका निरूपण करनेवाले, स्वयं शब्दरूप न होते हुए भी शब्द यानी आगमके द्वारा कहे जानेवाले, स्पर्शगुणसे रहित किन्तु ध्यानके द्वारा स्पृष्ट, रस गुणसे रहित किन्तु सरस उपदेशके दाता, गन्ध गुणसे रहित किन्तु गुणोंकी सुगन्धसे विशिष्ट, इन्द्रियोंके सम्बन्धसे रहित किन्तु इन्द्रियोंके विषयोंके प्रकाशक, आनन्दरूपी धान्यकी उत्पत्तिके लिए पृथ्वीकी तृष्णारूपी अग्निकी लपटोंको शान्त करनेके लिए पानी, दोषरूपी धूलिको हटानेके लिए वायु, पापरूपी वृक्षोंको जलानेके लिए अग्नि, आकाशकी तरह निर्लिप्त रहना आदि उत्तमोत्तम सम्पत्तियोंके दाता, भव्यरूपी कमलोंके विकासके लिए सूर्य, मोक्षरूपी अमृतके लिए चन्द्रमा, अलौकिक गुणशाली, समस्त गुणोंके भाजन सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले, कामविकार को दूर करनेवाले नैयायिक मतमें निर्वाणका स्वरूप आकाशकी तरह माना गया है क्योंकि मुक्त अवस्थामें आत्माके विशेष गुणोंका उच्छेद हो जाता है। सांख्य मतमें निर्वाणका स्वरूप सोये हुए

---

१ न विद्यते स्तुत्यो यस्य। २ न विद्यते ईश्वरः स्वामी यस्य। ३ ज्ञातं सर्वं येन। ४ न सर्वं गच्छतीति शरीरप्रमाणमित्यर्थः। ५. मूयमान–अ ज। ६ महायोगिभिः। ७ आगमकर्तृभिः। ८ आगमेन निष्ठा यस्य। ९. ध्यान। १ दातारं उत्तमार्थानाम्।

न ते गुणा न तज्ज्ञानं न सा दृष्टिर्न तत्सुखम् ।
यद्योगद्योतने न स्यादात्मन्यस्ततमश्चये ॥६९६॥
देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवताः ।
समं पूजाविधानेषु पश्यन् दूरं [1]व्रजेदधः ॥६९७॥
ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे ।

भावार्थ—छायानरका दृष्टान्त ग्रन्थकारने अन्य मतकी अपेक्षासे दिया जान पड़ता है। योगप्रदीपिकाके अन्तर्गत उमामहेश्वर (शिव-पार्वती) सवादमें छायापुरुष लक्षण नामका पाँचवाँ पटल है। उसमें पार्वती शिवजीसे प्रश्न करती है कि भगवन्! पापी मनुष्योंके पापसे मुक्त होनेका क्या उपाय है और कैसे मनुष्य अपनी मृत्युके कालका ज्ञान कर सकता है? प्राय मनुष्यों-की आयु अल्प होती है और योगाभ्यास तो अनेक वर्ष साध्य है, उसके करनेमें मनुष्य असमर्थ होते है। तब शिवजी बोले—यह बात बहुत गोपनीय है। पापी और भक्तिहीनको इसे नहीं बत-लाना चाहिए। जो भक्त और सेवक हों उन्हें ही बतलाना चाहिए। शुद्ध मनसे आकाशमें अपने छायापुरुषको देखना चाहिए। उसके देखनेसे पापराशि नष्ट हो जाती है, और छह मासतक उसे देखनेसे कालका ज्ञान भी हो जाता है। तब पार्वतीने पुन प्रश्न किया कि मनुष्यकी छाया तो जमीनपर पड़ती है उसे आकाशमें कैसे देखा जा सकता है? और उसके देखनेसे कालका ज्ञान कैसे होता है? तब शिवजीने कहा—देवि! जब आकाश स्वच्छ हो, उसमें बादल वगैरह न हों, तब मनुष्य अपनी छायाकी ओर मुख करके निश्चल खड़ा हो और अपने गुरुके द्वारा बतलायी गयी रीतिके अनुसार अपनी छायाको देखकर एकाग्रमनसे सामने आकाशको टकटकी लगाकर देखे। तो उसे वहाँ शुद्ध स्फटिकके तुल्य पुरुष दिखलायी देगा। यदि न दिखायी दे तो पुनः वैसा ही करे। बारम्बार ऐसा करनेसे निश्चय ही उसका दर्शन होता है। इसी कथनको दृष्टान्तके रूपमें उपस्थित करते हुए ग्रन्थकारने कहा है कि जैसे योगाभ्याससे आकाशमें छायापुरुषका साक्षात्कार हो सकता है उसी तरह अभ्याससे आत्माका भी साक्षात्कार हो सकता है।

न ऐसे कोई गुण है, न कोई ज्ञान है, न ऐसी कोई दृष्टि है और न ऐसा कोई सुख है जो अज्ञान आदि रूप अन्धकारके समूहका नाश हो जानेपर ध्यानसे प्रकाशित आत्मामें न होता हो। अर्थात् ध्यानके द्वारा आत्मामें अज्ञानरूप अन्धकारके नष्ट हो जानेपर ज्ञानादि सभी गुण प्रकाशित हो जाते हैं ॥ ६९६ ॥

शासन-देवताकी कल्पना

[कुछ व्यन्तरादिक देवता जिनशासनके रक्षक माने जाते हैं। कुछ लोग उनकी भी पूजा करते हैं। उसके विषयमें ग्रन्थकार बतलाते हैं—]

जो श्रावक तीनों लोकोंके द्रष्टा जिनेन्द्र देवको और व्यन्तरादिक देवताओंको पूजाविधान-में समान रूपसे मानता है अर्थात् दोनोंकी समान रूपसे पूजा करता है वह नरकगामी होता है ॥ ६९७ ॥ परमागममें जिनशासनकी रक्षाके लिए उन शासन-देवताओंकी कल्पना की गयी है

---

१ अतिशयेन अधोगामी स्यात्। तेन कारणेन अन्यदेवता जिनसदृशा न माननीया, किन्तु जिनाद् हीना ज्ञातव्या इत्यर्थः।

अनुपायानिलोद्भ्रान्तं पुंस्तरूणां मनोदलम्।
तद्भूमावेव भज्येत लीयमानं चिरादपि ॥६९२॥
ज्योतिरेकं परं वेधा[1] करीषोऽश्मसमित्समः।
तस्मिन्नप्युपायविद्भूढा भ्रमन्ति भवकानने ॥६९३॥[2]
परापरपरं देवमेवं चिन्तयतो यतेः।
भवन्त्यतीन्द्रियास्ते ते भावा लोकोत्तरश्रियः ॥६९४॥
व्योम च्छायानरोत्सङ्गि यथामूर्तमपि स्वयम्।
योगयोगात्तथात्मा[3]ऽयं भवेत्प्रत्यक्षवीक्षणः[4] ॥६९५॥

प्राप्तिके लिए जो-जो भाव रखते हैं वह-वह भाव उसीमें लीन हो जाता है ॥ ६९१ ॥ पुरुषरूपी वृक्षोंका मनरूपी पत्ता मोक्षके लिए जो उपायरूप नहीं है ऐसे मिथ्यादर्शन आदि रूप वायुसे सदा चंचल बना रहता है। किन्तु अर्हन्तरूपी भूमिमें पहुँचकर वह मनरूपी पत्ता टूटकर उसीमें चिरकालके लिए लीन हो जाता है ॥ ६९२ ॥

भावार्थ—पुरुष एक वृक्ष है और मन उसका पत्ता है। जैसे वायुसे पत्ता सदा हिलता रहता है वैसे ही नाना प्रकारके सांसारिक प्रपंचोंमें फँसे रहनेके कारण मनुष्यका मन भी सदा चंचल बना रहता है। किन्तु जब मनुष्य मोक्षके उपायमें लगकर अपने मनको स्थिर करनेका प्रयत्न करता है और अर्हन्तका ध्यान करता है तो उसका मन उसीमें लीन होकर उसे अर्हन्त बना देता है और तब मनरूपी पत्ता टूटकर गिर पड़ता है क्योंकि अर्हन्त अवस्थामें भाव मन नहीं रहता।

जैसे आग एक है किन्तु कण्डा, पत्थर और लकड़ीके रूपमें वह विभिन्न आकार धारण कर लेती है। वैसे ही आत्मा एक है किन्तु स्त्री, नपुंसक और पुरुषके वेषमें वह तीन रूप प्रतीत होती है। उस आग या आत्माकी प्राप्तिके उपायोंसे अनजान मनुष्य संसाररूपी जंगलमें भटकते फिरते हैं। आशय यह है कि जैसे कण्डेसे आगका प्रकट होना कठिन है वैसे ही स्त्री-शरीरमें आत्माका विकास होना कठिन है। जैसे पत्थरसे आग जल्दी प्रकट हो जाती है वैसे ही पुरुष-शरीरमें आत्मा का विकास जल्द हो जाता है। और जैसे लकड़ीसे आगका प्रकट होना अतिकठिन है वैसे ही नपुंसक-शरीरमें आत्माका विकास अतिकठिन है ॥६९३॥

इस प्रकार जो मुनि पर और अपरसे भी श्रेष्ठ श्री अर्हन्तदेवका ध्यान करता है उसके बड़े उच्च अलौकिक भाव होते हैं जिन्हें हम इन्द्रियोंसे नहीं जान सकते ॥ ६९४ ॥

जैसे आकाश स्वयं अमूर्तिक है फिर भी पुरुषकी छायाके संसर्गसे स्वच्छ आकाशमें भी पुरुषका दर्शन होता है वैसे ही यद्यपि आत्मा अमूर्तिक है फिर भी ध्यानके सम्बन्धसे उसका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है ॥ ६९५ ॥

---

१ पृथक् वेष । आकारः पृथक् स्त्रीपुंनपुंसकभेदात्। २ यथा करीषेऽग्नि शीघ्रं प्रकटो न स्यात्तथा स्त्रीषु आत्मा पारम्पर्येण प्रकटो भवति। पाषाणेऽग्निः शीघ्रं प्रकटः स्यात्तद्वत् पुंस्यात्मा। समित्सु शीघ्रं न स्यात्तद्वन्नपुंसके। ३ आत्मनः अभेदत्व। ४ नरबिम्बं भित्तिस्थं पुरुषः स्वशरीरच्छायालोकनं करोति। छायासौबन्धाद्यथा आकाशे मूर्तिरपि नरो दृश्यते तथा ध्यानाभ्यासात् आत्मा दृश्यते इत्यर्थः। 'निरर्थं गगनं देवि यदा भवति निर्मलम्। तदा छायापुमान् दृश्यो निरन्तरं शमनी दिवा। स्वच्छायावीक्षणाद्वीक्ष्य स्वपुरुषमक्रमेण वै। तन्मुखं गगनं पश्येन्निर्मेघं चन्द्रपीयूषी ॥ तद्दर्पणतलच्छाया पुरुषस्तत्र दृश्यते।'—श्रीनवनीतिग्रन्थे छायापुरुषदर्शने छायापुरुषदर्शनं नाम लक्षणं सदा।

कुर्यात्तपो जपेन्मन्त्रान्नमस्येद्वाऽपि देवताः ।
सस्पृहं यदि तच्चेतो रिक्तः सोऽमुत्र चेह च ॥७०१॥
ध्यायेद्वा वाङ्मयं ज्योतिर्गुरुपञ्चकवाचकम् ।
एतद्धि सर्वविद्यानामधिष्ठानमनश्वरम् ॥७०२॥
ध्यायन् विन्यस्य देहेऽस्मिन्निदं मन्दिरमुद्रया[1] ।
सर्वनामादिवर्णार्हं[2] वर्णाद्यन्त[3] सबीजकम्[4] ॥७०३॥
तपःश्रुतविहीनोऽपि तद्ध्यानाविद्धमानसः ।
न जातु तमसां स्रष्टा तत्तत्त्वरुचिदीप्तधीः ॥७०४॥
अधीत्य सर्वशास्त्राणि विधाय च तप. परम् ।
इमं मन्त्रं स्मरन्त्यन्ते मुनयोऽनन्यचेतसः ॥७०५॥

अनायास हो जाती है। अत. विपत्तिमें पड़कर भी रागी, द्वेषी देवताओंकी आराधना नहीं करनी चाहिए।

निष्काम होकर धर्माचरण करना चाहिए

तप करो, मन्त्रोंका जाप करो अथवा देवोंको नमस्कार करो, किन्तु यदि चित्तमें सासारिक वस्तुओंकी चाह है कि हमें यह मिल जाये तो वह इस लोकमें भी खाली हाथ रहता है और परलोकमें भी खाली हाथ रहता है ॥ ७०१ ॥

भावार्थ—वैसे तो इच्छा मात्र ही बुरी है क्योंकि वह मोहकी पर्याय है। किन्तु सासारिक भोगोंकी चाह तो एकदम ही बुरी है, क्योंकि वह मनुष्यको पथभ्रष्ट कर देती है। यदि चाह पूरी न हुई तो आराधक उस मार्गको व्यर्थ समझकर छोड़ देता है और यदि पूरी हो गयी तो विषय-भोगमें मग्न होकर प्राणी स्वय पथभ्रष्ट हो जाता है। अत' धर्म जिस चीजको त्याज्य बतलाता है धर्म करके उसीकी चाहना करना नासमझी है। फिर चाह करनेसे कोई चीज मिल ही जाये इसकी क्या गारण्टी है ? क्योंकि चाह करनेपर भी किसी वस्तुका मिलना अपने लाभान्तराय कर्मके क्षयोपशमपर निर्भर है। यदि क्षयोपशम हुआ तो बिना चाहके भी वस्तु मिल जाती है और यदि क्षयोपशम न हुआ तो लाख चाह करनेपर भी कुछ नहीं मिलता। अत जप तप या देवपूजा निस्पृह होकर ही करना चाहिए।

अथवा पञ्च परमेष्ठीके वाचक मत्रका ध्यान करना चाहिए; क्योंकि यह मत्र सब विद्याओंका अविनाशी स्थान है ॥ ७०२ ॥ जिसमें पञ्च नमस्कार मत्रके पाँचों पदोंके प्रथम अक्षर सन्निविष्ट है ऐसे 'अर्हं' इस मन्त्रको इस शरीरमे स्थापित करके मन्दिर मुद्राके द्वारा ध्यान करनेवाला मनुष्य तप और श्रुतसे रहित होनेपर भी कभी अज्ञानका जनक नहीं होता; क्योंकि उसकी बुद्धि उस तत्त्वमें रुचि होनेसे सदा प्रकाशित रहती है ॥ ७०३-७०४ ॥ सब शास्त्रोंका अध्ययन करके तथा उत्कृष्ट तपस्या करके मुनिजन अन्त समय मन लगाकर इसी मन्त्रका ध्यान करते हैं ॥ ७०५ ॥

---

१ मस्तकोपरि हस्तद्वयेन शिखराकारकुड्मल क्रियते स एव मन्दिर । २ पञ्चपदप्रथमाक्षरेण योग्यम् । अर्हन्-शब्दस्य अर्ह इति गृह्यते । अशरीर अ; अर्य अ, अव्यापक अ, मुनि म् । पश्चात् रूपे रूप प्रविष्टमिति वचनात् अकाररकाराश्च लुप्यन्ते । तदनन्तर अर्ह इत्यत्र उच्चारणार्थम् अकार क्षिप्यते । मोऽनुस्वार व्यञ्जने अर्हं इति तत्त्व निष्पन्नम् । ३ अर्हम् । ४ साक्षरं ध्यानमिदम् । 'अकारादि हकारान्त रेफमध्यं स बिन्दुकम् । तदेव परम तत्त्व यो जानाति स तत्त्ववित् ॥'—ज्ञानार्णव पृ २९१ पर उद्धृत ।

अतो यज्ञांशदानेन माननीयाः [1]सुदृष्टिभिः ॥६९८॥
तच्छासनैकभक्तीनां सुदृशां सुव्रतात्मनाम् ।
स्वयमेव प्रसीदन्ति ताः पुंसां सपुरन्दराः ॥६९९॥
[2]तद्धामनयरूढानां रत्नत्रयमहीयसाम् ।
उभे कामदुघे स्यातां द्यावाभूमी मनोरथैः ॥७००॥

अतः पूजाका एक अंश देकर सम्यग्दृष्टियोंको उनका सम्मान करना चाहिए ॥ ६९८ ॥ जो अपनी सम्यग्दृष्टि जिनशासनमें अचल भक्ति रखते हैं उनपर वे व्यन्तरादिक देवता और उनके इन्द्र स्वयं ही प्रसन्न होते हैं ॥ ६९९ ॥ जो रत्नत्रयके धारक मोक्षधामकी प्राप्तिके लिए कमर कस चुके हैं, भूमि और आकाश दोनों ही उनके मनोरथोंको पूर्ण करते हैं ॥ ७०० ॥

भावार्थ—जिनशासनकी रक्षाके लिए शासन-देवताओंकी कल्पना की गयी है और इसलिए प्रतिष्ठापाठोंमें पूजाविधानके समय उनका भी सत्कार करना बतलाया है। किन्तु कुछ नासमझ लोग उनको ही सब कुछ समझ बैठते हैं और उनकी ही आराधना करने लग जाते हैं। जैसे आजकल अनेक स्थानोंमें पद्मावती देवीकी बड़ी मान्यता देखी जाती है। उनकी मूर्तिके मुकुटपर भगवान् पार्श्वनाथकी मूर्ति विराजमान रहती है; क्योंकि उनके ही णमोकार मन्त्रके दानसे नाग-नागनी मरकर धरणेन्द्र-पद्मावती हुए थे। और जब भगवान् पार्श्वनाथके ऊपर कमठके जीव व्यन्तरने उपसर्ग किया तो दोनोंने पूर्व भवके उपकारको स्मरण करके भगवान्‌का उपसर्ग दूर किया था। अतः पद्मावतीकी मूर्तिके सामने भी कुछ लोग अष्ट द्रव्यसे पूजा करते हुए देखे जाते हैं। उनके आगे दीपक जलाते हैं, पद्मावती स्तोत्र पढ़ते हैं 'भुज चारसे फल चार दो पद्मावती माता'। उन नासमझ लोगोंको लक्ष्य करके ही ग्रन्थकारने बतलाया है कि जो इन देवी-देवताओंकी पूजा जिनेन्द्र भगवान्‌की तरह करते हैं उनका कल्याण नहीं हो सकता। यह तो वैसा ही है जैसा कोई किसी महाराजाके चपरासीकी ही महाराजाकी तरह आवभगत करने लगे। दूसरे, पद्मावती आदि देवता तो जिनशासनके भक्त हैं और जिनशासनके भक्त थे इसलिए हैं कि उसकी आराधना करनेसे ही आज उन्हें यह पद प्राप्त हुआ है। अतः जो कोई जिनशासनका भक्त संकटग्रस्त होता है धर्म-प्रेमवश वे उसकी सहायता करते हैं। वे अपनी स्तुतिसे प्रसन्न नहीं होते किन्तु अपने आराध्यकी आराधनासे स्वयं प्रसन्न होते हैं। अतः जो सच्चे सम्यग्दृष्टि हैं वे उन देवताओंकी आराधना नहीं करते। इसीलिए पं० आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतकी टीकामें लिखा है कि पहली प्रतिमाका धारक श्रावक आपत्ति आनेपर भी उसको दूर करनेके लिए कभी भी शासन-देवताओंकी आराधना नहीं करता, हाँ, पाक्षिक श्रावक भले ही ऐसा कर ले। अतः जो लोग केवल मोक्षकी अभिलाषा रखकर धर्माचरण करते हैं उन्हें मोक्ष तो यथासमय प्राप्त होता ही है, किन्तु लौकिक वस्तुओंकी प्राप्ति भी

१ न तु जिनवत् स्नपनादिना। २ 'आपदाकुलितोऽपि दर्शनिकस्तन्निवृत्त्यर्थं शासनदेवतादीन् कदाचिदपि न भजते। पाक्षिकस्तु भजत्यपीत्येवमर्थमेवकारः'।—सागारधर्मामृत टीका अ० ३-७८ श्लो०। तत्र क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितमनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणसहितं वीतरागसर्वज्ञदेवतास्वरूपमजानन् ख्यातिपूजालाभरूपलावण्यसौभाग्यपुत्रकलत्रराज्यादिविभूतिनिमित्तं रागद्वेषोपहतार्तरौद्रपरिणतक्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवानां यदाराधनं करोति जीवस्तद्देवतामूढत्वं भण्यते। —द्रव्यसंग्रह टीका गाथा ४१। ३ मोक्ष।

उक्तं लोकोत्तरं ध्यानं किञ्चिल्लौकिकमुच्यते ।
प्रकीर्णकप्रपञ्चेन दृष्टाऽदृष्टफलाश्रयम् ॥७०८॥
पञ्चमूर्तिमयं [2]बीजं नासिकाग्रे विचिन्तयन् ।
निधाय संगमे चेतो दिव्यज्ञानमवाप्नुयात् ॥७०९॥
यत्र यत्र हृषीकेऽस्मिन्निदंधीताचलं मनः ।
तत्र तत्र लभेतायं बाह्यग्राह्याश्रय सुखम् ॥७१०॥
स्थूलं सूक्ष्मं द्विधा ध्यानं तत्त्वबीजसमाश्रयम् ।
आद्येन लभते कामं द्वितीयेन परं पदम् ॥७११॥
[6]पद्ममुत्थापयेत्पूर्वं नाडीं संचालयेत्ततः ।
मरुच्चतुष्टयं पश्चात्प्रचारयतु चेतसि ॥७१२॥

चिन्तन करना चाहिए। ऐसा करनेसे यदि मन स्थिर हो तो ध्येय अर्हन्त आदिके न होते हुए भी ध्याताको ऐसा प्रतिभास होता है मानो वह साक्षात् अर्हन्तका दर्शन कर रहा है। ऐसा करते-करते ध्याता स्वय तद्रूप होकर एक दिन वास्तवमें अर्हन्त बन जाता है।

लौकिक ध्यानका वर्णन

अलौकिक ध्यानका वर्णन हो चुका। अब उसकी चूलिकाके रूपमें दृष्ट और अदृष्ट फलके दाता लौकिक ध्यानका कुछ वर्णन करते है ॥ ७०८ ॥

नाकके अग्र भागमें दृष्टिको स्थिर करके और मनको भौहोंके बीचमें स्थापित करके जो पचपरमेष्ठीके वाचक 'ओं' मन्त्रका ध्यान करता है वह दिव्य ज्ञानको प्राप्त करता है ॥ ७०९ ॥ जिस-जिस इन्द्रियमें यह मनको स्थिर करता है, इसे उस-उस इन्द्रियमें बाह्य पदार्थोंके आश्रयसे होनेवाला सुख प्राप्त होता है ॥७१०॥ ध्यानके दो भेद हैं—एक स्थूलध्यान, दूसरा सूक्ष्मध्यान। स्थूलध्यान किसी तत्त्वका साहाय्य लेकर होता है और सूक्ष्मध्यान बीजपदका साहाय्य लेकर होता है। स्थूलध्यानसे इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होती है और सूक्ष्मध्यानसे उत्तम पद मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ७११ ॥

लौकिक ध्यानकी विधि

पहले नाभिमें स्थित कमलका उत्थापन करे। फिर नाडीका सचालन करे। फिर जो पृथ्वी, अग्नि, वायु और जल ये चार वायुमण्डल स्थित हैं उनको आत्मामें प्रचारित करे ॥ ७१२ ॥

भावार्थ—योग अथवा ध्यानके आठ अग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ध्यानकी सिद्धि और अन्तरात्माकी स्थिरताके लिए प्राणायामको भी प्रशसनीय बतलाया है। प्राणायामके तीन भेद हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक। नासिकाके द्वारा वायुको

---

१ चूलिकाव्याख्यया। २ ॐकारम्। ३ भ्रूमध्ये। ४ स्पर्शनादौ। ५ आरोपयेत्। ६ नाभौ स्वभावेन स्थित कमल चालयेत्। पश्चान्नालाकारेण नाडीं नालिका सचालयेत्। नाड्या मरुत हृदय प्रति प्रापयेत्। पश्चात् मरुच्चतुष्टय पृथ्वी-अप्-तेजो-वायुमण्डलानि नासिकामध्ये सूक्ष्मानि स्थितानि सन्ति तानि चेतसि आत्मविषये प्रचारयतु योजयतु।

मन्त्रोऽयं स्मृतिधाराभिर्भिन्नस्य यस्याभिवर्षति ।
तस्य सर्वे प्रशाम्यन्ति क्षुद्रोपद्रवपांसवः ॥७०६॥
अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा ।
भवत्येतस्स्मृतिर्भर्तुरास्पदं सर्वसम्पदाम् ॥७०७॥

यह मन्त्र जिसके चित्तमें स्मृतिरूपी धाराओंके द्वारा बरसता है अर्थात् जो बारम्बार अपने चित्तमें इस मन्त्रका स्मरण करता है, उसके छोटे-मोटे सब उपद्रवरूपी धूल शान्त हो जाती है ॥ ७०६ ॥ अपवित्र या पवित्र, ठीक तरहसे स्थित या दुःस्थित जो प्राणी इस मन्त्रका स्मरण करता है उसे सब सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ७०७ ॥

भावार्थ—जपमें और ध्यानमें अन्तर है। मन्त्रका जप तो स्वाध्यायमें गर्भित है किन्तु ध्यान उससे भिन्न है। यद्यपि जप भी ध्यानकी ओर ले जानेवाला है। मोक्षके जो कारण बतलाये गये हैं उनमें भी ध्यान ही प्रधान है। अतः शास्त्रकारोंने मुमुक्षुके लिए ध्यानाभ्यासपर विशेष जोर दिया है। *मनके एकाग्र करनेका नाम ध्यान है।* *मनकी एकाग्रता सांसारिक इष्टवियोग,* अनिष्टसंयोग, हिंसा, चोरी आदि कामोंमें भी देखी जाती है। ऐसी एकाग्रता दुर्ध्यान कहलाती है। अतः ध्यानके चार भेदोंमें-से आर्त और रौद्रध्यानको संसारका कारण कहा है और धर्म तथा शुक्लध्यानको मोक्षका कारण कहा है। इनमें-से शुक्लध्यान तो आज-कल होना सम्भव नहीं है क्योंकि शुक्लध्यान आठवें आदि गुणस्थानवर्ती मुनियोंके ही होता है और आज-कल सातवें गुणस्थानसे आगे होना संभव नहीं है क्योंकि न तो आज-कल वैसा संहनन होना संभव है और उतना ज्ञान ही होना सम्भव है। केवल धर्मध्यान ही आजकल हो सकता है। और उसीका विशेष वर्णन उपासकाध्ययनमें, ज्ञानार्णवमें तथा तत्त्वानुशासन आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है। धर्मध्यानके लिए भी अभ्यासकी आवश्यकता है।

ध्यानका स्थान बहुत शान्त और एकान्त होना चाहिए, जहाँ किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित होनेकी आशंका न हो। ऐसे स्थानमें जमीनपर या शिला वगैरहपर सुखासनसे बैठकर या कायोत्सर्ग मुद्रामें खड़े होकर, अपनी दृष्टिको नाकके अग्रभागपर स्थित करके, और शरीरको सीधा सरल रूपसे निश्चल करके मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वासपूर्वक अपने मनको ध्येयमें एकाग्र करना चाहिए और अन्तरंगकी विशुद्धिके लिए स्वरूप या पररूपका चिन्तन करना चाहिए। *ध्यान भी निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है। स्वरूपके ध्यानको निश्चय और पररूपके* ध्यानको व्यवहार कहते हैं। व्यवहार निश्चयका साधक है अतः पहले व्यवहार ध्यानका ही अभ्यास करना आवश्यक है। पहले जो आज्ञाविचय, अपायविचय, संस्थानविचय और *विपाकविचय नामके धर्मध्यान बतलाये हैं उनका चिन्तन करना चाहिए। उनके सिवा भी नाम* स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे ध्येय (ध्यान करनेके योग्य) के चार भेद कहे हैं। अपने हृदयमें चार पाँखुड़ीका कमल कल्पित करके और उसकी कर्णिका तथा चारों पत्तोंपर क्रमसे पंचपरमेष्ठीके वाचक *अ सि आ उ सा मन्त्रका ध्यान करना या इसी प्रकारके अन्य मन्त्रोंका ध्यान करना यह* नामध्येय है। जिनेन्द्र बिम्बका ध्यान करना स्थापना ध्येय है। यथार्थमें तो पाँचों परमेष्ठी ध्यान करनेके योग्य हैं। अर्हन्त आदिका जैसा स्वरूप शास्त्रोंमें बतलाया है वैसा ही अपने मनमें

रूपं स्पर्शं रसं गन्धं शब्दं चैव विदूरतः।
आसन्नमिव गृह्णन्ति विचित्रा योगिनां गतिः ॥७१७॥[1]
दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥७१८॥[2]

योगका माहात्म्य

योगियोंकी गति बड़ी विचित्र होती है। वे दूरवर्ती रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्दको ऐसे जान लेते है मानो वह समीप ही है ॥ ७१७ ॥

भावार्थ—योगकी शक्ति अद्भुत है। इसीसे योगियोको अनेक प्रकारकी ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उनका क्षयोपशम प्रबल हो जाता है और उसके कारण वे अन्य प्राणियोंकी शक्तिसे बाहरके पदार्थोंको भी जान लेते है। आजकल जड शक्तिसे प्रभावित जनसमूह आध्यात्मिक शक्तिको भुला बैठा है और वह शास्त्रोंमें वर्णित ऋद्धियोको कपोल-कल्पना मानता है। किन्तु वह यह नहीं समझता कि जो मनुष्य जड़ शक्तिके आविष्कार और उसके नियन्त्रणमे पटु है वह स्वय कितना शक्तिशाली है? यदि वह अपनी उस शक्तिको केन्द्रित कर सके तो वह क्या नहीं कर सकता। योग या ध्यान आत्मिक शक्तिको केन्द्रित और विकसित करनेका साधन है। जो योगी बाह्य प्रवृत्ति-योंसे प्रेरित होकर योगकी साधना करते है, उनमें भी अनेक चमत्कारिक बातें पायी जाती है। १४वीं शतीमें इब्नबतूता नामका एक विदेशी मुसलमान यात्री भारत भ्रमणके लिए आया था। उसने अपने यात्राविवरणमे अनेक भारतीय योगियोंके आखो देखे चमत्कारिक प्रयोगोंका उल्लेख किया है और लिखा है कि मै उनके आश्चर्यजनक कामोंको देखकर भयसे मूर्च्छित हो गया। अत. जब बाह्य साधनासे इस प्रकारके चमत्कारिक प्रयोग सम्भव है तब यह मानना पडता है कि आध्यात्मिक साधनासे क्या नहीं किया जा सकता। अत योगमें अद्भुत शक्ति है और वह आत्माको परमात्मा बना सकता है।

जैसे बीजके जलकर राख हो जानेपर उससे अकुर उत्पन्न नहीं हो सकता वैसे ही कर्मरूपी बीजके जलकर राख हो जानेपर ससाररूपी अकुर नहीं उगता ॥ ७१८ ॥

भावार्थ—बीजसे अकुर पैदा होता है और वह अकुर बढ़कर नव वृक्षका रूप लेता है तो उससे बीज पैदा होता है। इस तरह बीजसे अकुर और अकुरसे बीज पैदा होता चला आता है और उसकी सन्तान अनादि है। किन्तु यदि बीजको जलाकर राख कर दिया जाये तो फिर वह बीज उग नहीं सकता और इस तरह अनादिकालसे चली आयी बीज-अकुरकी परम्परा नष्ट हो जाती है। उसी तरह कर्मसे ससार और ससारसे कर्मकी सन्तान भी अनादिकालसे चली आती है। किन्तु कर्मरूपी बीजके नष्ट हो जानेपर ससाररूपी अकुर उत्पन्न नहीं होता और इस तरह कर्म और ससारकी अनादि सन्तानका मूलोच्छेद हो जाता है।

---

१ 'सस्पर्शन मश्रवण च दूरादास्वादनाघ्राणविलोकनानि। दिव्यान्मतिज्ञानबलाद् वहन्त स्वस्ति-क्रियासु परमर्षयो न।'—संस्कृतदेवशास्त्रगुरुपूजा। २ उमास्वातिरचित तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें, तत्त्वार्थ-वार्तिककी अन्तिम कारिकाओमें, जयधवलाके अन्तमें और तत्त्वार्थसार (मोक्षतत्त्व ७ श्लो) में यह श्लोक पाया जाता है।

दीपहस्तो यथा कश्चित्किञ्चिदालोक्य तं त्यजेत् ।
ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात्तु ज्ञानमुत्सृजेत् ॥७१३॥

सर्वपापास्रवे क्षीणे ध्यानं भवति भावना ।
पापोपहतबुद्धीनां ध्यानवार्ताऽपि दुर्लभा ॥७१४॥

दधिभावगतं क्षीरं न पुनः क्षीरतां व्रजेत् ।
तत्त्वज्ञानविशुद्धात्मा पुनः पापैर्न लिप्यते ॥७१५॥

मन्दं मन्दं क्षिपेद्वायुं मन्दं मन्दं विनिक्षिपेत् ।
न कचिद्धार्यते वायुर्न च शीघ्रं प्रमुच्यते ॥७१६॥

अन्दरकी ओर ले जाकर शरीरमें पूरनेको पूरक कहते हैं । उस पूरक वायुको स्थिर करके नाभि-कमलमें घड़ेकी तरह भरकर रोके रखनेका नाम कुम्भक है । और फिर उस वायुको यत्नपूर्वक धीरे धीरे बाहर निकालनेको रेचक कहते हैं । इसके अभ्याससे मन स्थिर होता है । मनमें संकल्प विकल्प नहीं उठते, और कषायोंके साथ विषयोंकी चाह भी घट जाती है । प्राणायामके अभ्यासी योगीको चार पवनमण्डलोंको भी जानना आवश्यक है । ये चारों पवनमण्डल नासिकाके छिद्रमें स्थित हैं । इनका ज्ञान सरल नहीं है । प्राणायामके महान् अभ्याससे ही इन चार पवनमण्डलोंका अनुभव हो सकता है । ये चार पवनमण्डल हैं—पार्थिव, वारुण, मारुत और आग्नेय । इनका स्वरूप ज्ञानार्णवके २९वें प्रकरणमें वर्णित है । वहाँसे जाना जा सकता है । इन पवनमण्डलोंकी साधना के द्वारा लौकिक शुभाशुभ जाना जा सकता है । यह ऊपर कहा ही है कि लौकिक ध्यानका वर्णन करते हैं सो यह सब वशीकरण, स्तम्भन, उच्चाटन आदि लौकिक क्रियाओंके लिए उपयोगी हैं ।

जैसे कोई आदमी दीपक हाथमें लेकर और उसके द्वारा आवश्यक पदार्थको देखकर उस दीपकको छोड़ देता है वैसे ही ज्ञानके द्वारा ज्ञेय पदार्थको जानकर पीछे उस ज्ञानको छोड़ देना चाहिए ॥७१३॥

समस्त पापकर्मोंका आस्रव रुक जानेपर ही मनुष्यको ध्यान करनेकी भावना होती है । जिनकी बुद्धि पापकर्ममें लिप्त है उनके लिए तो ध्यानकी कथा भी दुर्लभ है । अर्थात् पापी मनुष्य ध्यान करना तो दूर रहा, ध्यानका नाम भी नहीं ले पाते ॥ ७१४ ॥ तथा जैसे जो दूध दही बन जाता है वह फिर दूधरूप नहीं हो सकता, वैसे ही जिसका आत्मा तत्त्वज्ञानसे विशुद्ध हो जाता है वह फिर पापोंसे लिप्त नहीं होता ॥ ७१५ ॥

भावार्थ—आशय यह है कि पापकर्मोंको छोड़कर ही मनुष्य सम्यग् ध्यानका पात्र होता है । और ध्यानके द्वारा विशुद्ध आत्माकी प्रतीति हो जानेपर फिर वह पापकर्ममें नहीं फँसता ।

ध्यान करते समय वायुको धीरे-धीरे छोड़ना चाहिए और धीरे-धीरे ग्रहण करना चाहिए । न वायुको हठपूर्वक रोकना ही चाहिए और न जल्दी निकालना ही चाहिए । अर्थात् श्वासोच्छ्वासकी गति बहुत मन्द होनी चाहिए ॥ ७१६ ॥

रूपं स्पर्शं रसं गन्धं शब्दं चैव विदूरतः ।
आसन्नमिव गृह्णन्ति विचित्रा योगिनां गतिः ॥७१७॥
दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥७१८॥

योगका माहात्म्य

योगियोंकी गति बड़ी विचित्र होती है। वे दूरवर्ती रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्दको ऐसे जान लेते है मानो वह समीप ही है ॥ ७१७ ॥

भावार्थ—योगकी शक्ति अद्भुत है। इसीसे योगियोंको अनेक प्रकारकी ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उनका क्षयोपशम प्रबल हो जाता है और उसके कारण वे अन्य प्राणियोंकी शक्तिसे बाहरके पदार्थोंको भी जान लेते हैं। आजकल जड़ शक्तिसे प्रभावित जनसमूह आध्यात्मिक शक्तिको भुला बैठा है और वह शास्त्रोंमें वर्णित ऋद्धियोंको कपोल-कल्पना मानता है। किन्तु वह यह नहीं समझता कि जो मनुष्य जड शक्तिके आविष्कार और उसके नियन्त्रणमे पटु है वह स्वय कितना शक्तिशाली है ? यदि वह अपनी उस शक्तिको केन्द्रित कर सके तो वह क्या नहीं कर सकता। योग या ध्यान आत्मिक शक्तिको केन्द्रित और विकसित करनेका साधन है। जो योगी बाह्य प्रवृत्तियोंसे प्रेरित होकर योगकी साधना करते है, उनमें भी अनेक चमत्कारिक बातें पायी जाती है। १४वीं शतीमें इब्नबतूता नामका एक विदेशी मुसलमान यात्री भारत भ्रमणके लिए आया था। उसने अपने यात्राविवरणमें अनेक भारतीय योगियोंके आखों देखे चमत्कारिक प्रयोगोंका उल्लेख किया है और लिखा है कि मैं उनके आश्चर्यजनक कामोंको देखकर भयसे मूर्च्छित हो गया। अत जब बाह्य साधनासे इस प्रकारके चमत्कारिक प्रयोग सम्भव है तब यह मानना पड़ता है कि आध्यात्मिक साधनासे क्या नहीं किया जा सकता। अतः योगमें अद्भुत शक्ति है और वह आत्माको परमात्मा बना सकता है।

जैसे बीजके जलकर राख हो जानेपर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता वैसे ही कर्मरूपी बीजके जलकर राख हो जानेपर ससाररूपी अकुर नहीं उगता ॥ ७१८ ॥

भावार्थ—बीजसे अकुर पैदा होता है और वह अकुर बढ़कर नव वृक्षका रूप लेता है तो उससे बीज पैदा होता है। इस तरह बीजसे अकुर और अकुरसे बीज पैदा होता चला आता है और उसकी सन्तान अनादि है। किन्तु यदि बीजको जलाकर राख कर दिया जाये तो फिर वह बीज उग नहीं सकता और इस तरह अनादिकालसे चली आयी बीज-अकुरकी परम्परा नष्ट हो जाती है। उसी तरह कर्मसे ससार और ससारसे कर्मकी सन्तान भी अनादिकालसे चली आती है। किन्तु कर्मरूपी बीजके नष्ट हो जानेपर ससाररूपी अकुर उत्पन्न नहीं होता और इस तरह कर्म और ससारकी अनादि सन्तानका मूलोच्छेद हो जाता है।

---

१ 'सस्पर्शन सश्रवण च दूरादास्वादनाघ्राणविलोकनानि। दिव्यान्मतिज्ञानबलाद् वहन्त स्वस्ति-क्रियासु परमर्षयो न ।'—सस्कृतदेवशास्त्रगुरुपूजा। २ उमास्वातिरचित तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें, तत्त्वार्थवार्तिककी अन्तिम कारिकाओंमें, जयधवलाके अन्तमें और तत्त्वार्थसार (मोक्षतत्त्व ७ श्लो) में यह श्लोक पाया जाता है।

[1]नाभौ चेतसि नासाग्रे दृशौ भाले च मूर्धनि ।
विहारयेन्मनो हंसं सदा कायसरोवरे ॥७१९॥
[2]वायावृभ्योम्नि जले तिष्ठेद्विशेदेवानलार्चिषि ।
मनोमरुत्समयोगेन शस्त्रैरपि न बाध्यते ॥७२०॥
जीवः शिवः शिवो जीवः किं भेदोऽस्त्यत्र कश्चन ।
पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः शिवः पुनः ॥७२१॥
साकारं नश्वरं सर्वमनाकारं न दृश्यते ।
पक्षद्वयविनिर्मुक्तं कथं ध्यायन्ति योगिनः ॥७२२॥
अत्यन्तं मलिनो देहः पुमानत्यन्तनिर्मलः ।
देहादेनं पृथक्कृत्वा तस्मान्नित्यं विचिन्तयेत् ॥७२३॥
तोयमध्ये यथा तैलं पृथग्भावेन तिष्ठति ।
तथा शरीरमध्येऽस्मिन्पुमानास्ते पृथक्तया ॥७२४॥

कायरूपी सरोवरके नाभिदेशमें, चित्तमें, नाकके अग्रभागमें, दृष्टिमें, मस्तकमें अथवा शिरोदेशमें मनरूपी हंसका विहार सदा कराना चाहिए। अर्थात् ये सब ध्यान करनेके स्थान हैं, इनमें से किसी भी एक स्थानपर मनको स्थिर करके ध्यान करना चाहिए ॥ ७१९ ॥ जो मन और वायुको साथ लेता है वह आकाशमें विहार कर सकता है, जलमें स्थिर रह सकता है और आगकी लपटोंमें पैठ सकता है। अधिक क्या ? शस्त्र भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते ॥ ७२० ॥ जीव शिव अर्थात् परमात्मा है और परमात्मा जीव है। इन दोनोंमें क्या कुछ भी भेद है ? जो कर्मरूपी बन्धनसे बँधा हुआ है वह जीव है और जो उससे मुक्त हो गया वह परमात्मा है अर्थात् आत्मा और परमात्मामें शुद्धता और अशुद्धताका अन्तर है, अन्य कुछ भी अन्तर नहीं है। शुद्ध आत्माको ही परमात्मा कहते हैं ॥ ७२१ ॥

आत्मध्यानके विषयमें प्रश्न और उत्तर

जो साकार है वह विनाशी है और जो निराकार है वह दिखायी नहीं देता। किन्तु आत्मा तो न साकार है और न निराकार है उसका योगीजन कैसे ध्यान करते हैं ? ॥७२२॥

शरीर अत्यन्त गन्दा है किन्तु आत्मा अत्यन्त निर्मल है। अतः शरीरसे आत्माको जुदा करके सदा उसका ध्यान करना चाहिए ॥ ७२३ ॥

शरीर और आत्माकी भिन्नतामें उदाहरण

जैसे पानीके बीचमें रहकर भी तेल पानीसे जुदा रहता है, वैसे ही इस शरीरमें रहकर भी

---

१ 'नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते। ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे, तेष्वेकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ॥१३॥' —ज्ञानार्णव पृ. ३ ९। 'नाभी हृदये वक्त्रे ललाटे मस्तके स्थितम्। पुष्पसारवतो बुद्ध्या चिन्तनीयं सुखेप्सया ॥१४॥' —अमित० श्राव० १५ परि०। २ मध्येत्। ३ प्राणायामादिना।

दध्न सर्पिरिवात्मायमुपायेन शरीरतः।
पृथक्क्रियेत तत्त्वज्ञैश्चिरं संसर्गवानपि ॥७२५॥
पुष्पामोदो तरुच्छाये यद्वत्सकलनिष्कले।
तद्वत्तौ देहदेहस्थौ यद्वा लपनविम्बवत ॥७२६॥

आत्मा उससे अलग ही रहता है ॥ ७२४ ॥ जैसे घी और दहीका सम्बन्ध पुराना है फिर भी जानकार लोग उपायके द्वारा दहीसे घीको अलग कर लेते है वैसे ही इस आत्माका शरीरके साथ यद्यपि बहुत पुराना सम्बन्ध है, फिर भी तत्त्वके ज्ञाता पुरुष उपायके द्वारा आत्माको शरीरसे अलग कर लेते है ॥ ७२५ ॥ अथवा जैसे पुष्प साकार है किन्तु उसकी गन्ध निराकार है, या वृक्ष साकार है किन्तु उसकी छाया निराकार है अथवा मुख साकार है किन्तु उसका प्रतिविम्ब निराकार है वैसे ही शरीर और शरीरमें स्थित आत्माको जानना चाहिए ॥ ७२६ ॥

भावार्थ—प्रश्नकर्ताका कहना है कि जो साकार होता है वह विनाशी होता है जैसे घट पट वगैरह, और जो निराकार होता है वह दिखायी नहीं देता जैसे आकाश। किन्तु आत्मा न तो साकार है क्योंकि वह नित्य है और न निराकार है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष गम्य है। ऐसी अवस्थामें योगीजन उसका ध्यान कैसे करते हैं? इस प्रश्नका समाधान अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा ग्रन्थकारने किया है। उनका कहना है कि ससार दशामें आत्मा शरीरके विना नहीं रहता। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि शरीर और आत्मा दोनों एक है। जैसे पानीमें पड़ा हुआ तेल पानीमें रहकर भी उससे अलग है, वैसे ही शरीरमें रहकर भी आत्मा उससे अलग है। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि आत्मा तो शरीरसे अलग प्रतीत नहीं होता। शरीरमें कष्ट होनेपर आत्माको भी कष्टका अनुभव होता है फिर दोनोंका सम्बन्ध भी अनादि है। इस प्रश्नको मनमें रखकर ग्रन्थकारका कहना है कि देखो, दही और घीका सम्बन्ध अनादि है, फिर भी जानकार लोग दहीको मथकर उसमें-से घीको अलग कर लेते हैं। किन्तु आत्मा और शरीर तो दही और घीकी तरह एकमेक नहीं है, तब यदि तत्त्वद्रष्टा पुरुष शरीरसे आत्माको पृथक् कर लें तो इसमें कौन-सी अनोखी बात है? इस तरह शरीरसे भिन्न आत्माको मानकर भी प्रश्नकर्ताका यह प्रश्न खडा ही रहता है कि जो न साकार है और न निराकार, उसका ध्यान कैसे किया जाता है। उसके समाधानके लिए ग्रन्थकारने आत्माकी साकारता अथवा निराकारताका उपपादन करनेके लिए तीन दृष्टान्त दिये है। पुष्प और उसकी गन्ध, वृक्ष और उसकी छाया तथा मुख और उसका प्रतिविम्ब। जैसे पुष्प, वृक्ष और मुख साकार है वैसे ही शरीर भी साकार है। तथा जैसे पुष्पकी गन्ध, वृक्षकी छाया और मुखका प्रतिविम्ब निराकार है वैसे ही आत्मा भी निराकार है। यदि देखा जाये तो गन्ध, छाया और प्रतिविम्ब भी साकार है, किन्तु पुष्प, वृक्ष और मुखकी तुलनामें तो वे निराकार ही ठहरते हैं। वैसे ही एक दृष्टिसे तो आत्मा भी साकार है, क्योंकि आत्माको शरीराकार माना गया है। किन्तु शरीरकी तुलनामें तो वह निराकार ही ठहरता है। अत जैसे पुष्पकी गन्ध पुष्परूप होनेसे, वृक्षकी छाया वृक्षाकार होनेसे और मुखका प्रतिविम्ब मुखकी आकृतिको धारण करनेसे साकार है और स्वत निराकार है वैसे ही आत्मा शरीर प्रमाण होनेके कारण साकार है और शरीरकी तरह उसमें अवयव

१ पुष्प साकार, परिमलो निराकार।

एकस्तम्भं नवद्वारं पञ्चपञ्चजनाश्रितम् ।
अनेककक्षमेवेदं शरीरं योगिनां गृहम् ॥७२७॥
ध्यानामृताशनस्य क्षान्तियोषिद्रतस्य च ।
अत्रैव रमते चित्तं योगिनो योगबान्धवे ॥७२८॥
रज्जुभिः कृष्यमाणः स्यात्पथा पारिप्लवो हयः ।
कृष्यस्तथेन्द्रियैरात्मा ध्याने लीयेत न क्षणम् ॥७२९॥
रक्षां संहरणं सृष्टिं गोमुद्रामृतवर्षणम् ।
विधाय चिन्तयेदाप्तमाप्तरूपधरः स्वयम् ॥७३०॥

नहीं है इसलिए निराकार है। अतः साकार होते हुए भी शरीरकी तरह अवयवविशिष्ट न होनेसे वह नष्ट नहीं होता और सर्वथा निराकार न होनेसे अदृश्य भी नहीं ठहरता।

यह शरीर ही योगियोंका घर है। यह घर एक आयुरूपी स्तम्भपर ठहरा हुआ है। इसमें नौ द्वार हैं—दोनों आँखोंके दो छिद्र, दोनों कानोंके दो छिद्र, नाकके दो छिद्र, मुखका एक छिद्र, और मल-मूत्र त्यागके दो छिद्र। पाँचों इन्द्रियरूपी मनुष्य इसमें वास करते हैं और यह अनेक कोठरियोंसे युक्त है॥ ७२७॥ चूँकि यह शरीर योगका सहायक है इसलिए जो योगी ध्यानरूपी अन्न-जलसे सन्तुष्ट रहते हैं और क्षमारूपी स्त्रीमें आसक्त होते हैं उनका मन इसीमें रमता है, इससे बाहर नहीं जाता॥ ७२८॥

भावार्थ—बिना शरीरकी स्वस्थताके योगाभ्यास नहीं हो सकता। इसलिए शरीर योगका मित्र है। अतः योगी पुरुष अपने मनको उससे बाहर भटकने नहीं देते, उसीके नाभि आदि प्रदेशोंमें मनको स्थिर करके ध्यानमें लीन रहते हैं; किन्तु जो शरीरके मोहमें पड़कर उसीकी पुष्टिमें आसक्त हो जाते हैं वे योगका साधन नहीं कर सकते।

जैसे रासके खींचनेसे घोड़ा चंचल हो जाता है वैसे ही इन्द्रियोंके द्वारा आकृष्ट आत्मा क्षणभर भी ध्यानमें लीन नहीं हो सकता। अतः ध्यानी पुरुषको इन्द्रियोंको वशमें रखना चाहिए, स्वयं उनके वशमें नहीं होना चाहिए॥ ७२९॥

रक्षा, संहार, सृष्टि, गोमुद्रा और अमृतवृष्टिको करके स्वयं आप्त स्वरूपधारी मनुष्यको आप्तके स्वरूपका ध्यान करना चाहिए॥ ७३०॥

विशेषार्थ—धर्मध्यानके संस्थानविचय नामक भेदके भी चार अवान्तर भेद हैं—पिण्डस्थ पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। पिण्डस्थध्यानमें पाँच धारणाएँ होती हैं—पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्वरूपवती। पार्थिव धारणाका स्वरूप इस प्रकार है—प्रथम ही योगी निःशब्द, तरंगरहित क्षीरसमुद्रका ध्यान करता है। उसके मध्यमें एक सुनहरे रंगके सहस्रदल कमलका ध्यान करता है। फिर उस कमलके मध्यमें मेरुके समान एक कर्णिकाका ध्यान करता

१ वायुना धृतम्। २ छिद्रम्। ३ पञ्चेन्द्रियाणि एव पञ्चजना मनुष्यास्तैराश्रितम्। ४ नाभि-कमलब्रह्मरन्ध्रादिभेदेन। ५ भोजनस्य। 'ध्यानामृतान्नतृप्तानां मैत्रीरामानुषेयुषाम्। तत्रैव रमते स्वान्तं तत्त्वविचारशालिनाम्' ॥—प्रबोधसार ॥२१५॥ ६ चञ्चलः। ७ सकलीकरणे यथापूर्वं शरीररक्षा क्रियते पश्चादग्नितत्त्वे धामकलशं संहरणं पश्चात् वरुणमण्डलात् अमृतवर्षेण सृष्टिम्। ८ सुरभिमुद्रा।

धूमवन्निर्वमेत्पापं [2]गुरुबीजेन तादृशा।
गृह्णीयादमृतं तेन [3]तद्वर्णेन मुहुर्मुहुः ॥७३१॥
[4]संन्यस्ताभ्यामधोङ्घ्रिभ्यामूर्वोरुपरि युक्तितः।

है और फिर उस कर्णिकाके ऊपर स्थित सिंहासनपर अपनेको बैठा हुआ विचारता है। यह पार्थिवी धारणा है। अब आग्नेयी धारणाको कहते हैं—फिर वह योगी अपने नाभिमण्डलमें सोलह पत्रोंके एक कमलका चिन्तन करता है। फिर उन सोलह पत्रोंपर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः। इन सोलह अक्षरोंका ध्यान करता है और कमलकी कर्णिकापर 'र्हं' का ध्यान करता है फिर 'र्हं' की रेफसे निकलती हुई धूमकी शिखाका चिन्तन करता है। फिर उसमें-से निकलते हुए स्फुलिंगोंका चिन्तन करता है। फिर उसमें-से निकलती हुई ज्वालाकी लपटोंका और उन लपटोंके द्वारा हृदयस्थित कमलको जलता हुआ चिन्तन करता है। उस कमलके जल चुकनेके पश्चात् शरीरके बाहर बड़वानलकी तरह जलती हुई अग्निका चिन्तन करता है। यह प्रज्वलित अग्नि उस नाभिस्थ कमलको और शरीरको भस्म करके जलानेके लिए कुछ शेष न रहनेसे स्वयं शान्त हो जाती है ऐसा चिन्तन करता है। अब मारुती धारणाको कहते हैं—फिर योगी आकाशको पूरकर विचरते हुए महावेगशाली और महाबलवान वायुमण्डलका चिन्तन करता है। उसके बाद ऐसा चिन्तन करता है कि उस महावायुने शरीरादिकके सब भस्मको उडा दिया है। आगे वारुणी धारणाको कहते हैं—फिर वह योगी बिजली गर्जन आदि सहित मेघोंके समूहसे भरे हुए आकाशका चिन्तन करता है। फिर उनको बरसते हुए चिन्तन करता है। फिर उस जलके प्रवाहसे शरीरादिकी भस्मको बहता हुआ चिन्तन करता है। अब तत्त्वरूपवती धारणाको कहते हैं—फिर वह योगी पूर्ण चन्द्रमाके समान निर्मल सर्वज्ञ आत्माका चिन्तन करता है। फिर वह ऐसा चिन्तन करता है कि वह आत्मा सिंहासनपर विराजमान है, दिव्य अतिशयोंसे सहित है और देव-दानव उसकी पूजा कर रहे हैं। फिर वह उसे आठ कर्मोंसे रहित पुरुषाकार चिन्तन करता है। यह तत्त्व-रूपवती धारणा है। इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यानका अभ्यासी योगी शीघ्र ही मोक्ष सुखको प्राप्त कर लेता है। उक्त श्लोकके द्वारा ग्रन्थकारने इन्हीं धारणाओंका कथन किया है।

उस प्रकारके बीजाक्षर 'र्हं' से धूमकी तरह पापको नष्ट करना चाहिए। अर्थात् आग्नेयी धारणामें र्हं की रेफसे निकलती हुई धूमशिखाका चिन्तन करनेसे धूमकी तरह पापका क्षय होता है। तथा उस अमृत वर्ण पकारसे बारम्बार अमृतको ग्रहण करना चाहिए ॥७३१॥ [इसका भाव अस्पष्ट नहीं हो सका है।]

ध्यानके आसनोंका स्वरूप

जिसमें दोनों पैर दोनों घुटनोंसे नीचे दोनों पिण्डलियोंपर रखकर बैठा जाता है उसे पद्मा-

---

१ निर्वतेत् आ। २ हुकारेण। ह्रकारेण (?)। ३ अमृतवर्णेन पकारेण। ४ सक्थ्योरध पादौ तदा पद्मासनम्। सक्थ्योरुपरि तदा वीरासनम्। घूटा उपरि घूटा तदा सुखासनम। 'जङ्घाया जङ्घया श्लेषो समभागे प्रकीर्तितम्। पद्मासन सुखावायि सुसाध्य सकलैर्जनैः ॥ ४५ ॥ बुधैरुपर्यधोभागे जङ्घयोरुभयोरपि। समस्तयो कृते ज्ञेय पर्यङ्कासनमासनम् ॥४६॥ ऊर्वोरुपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति। वीरासन चिर कर्तुं शक्य वीरैर्न कातरैः ॥ ४७ ॥—अमित० श्रा०, ८ प०। 'पद्मासन स्थितौ पादौ जङ्घाभ्यामुत्तराधरे। ते पर्यङ्कासन न्यस्तावूर्वो वीरासन क्रमौ ॥८३॥' —अनगारधर्मामृत ८ अ.।

भवेच्च समगुल्फाभ्यां पादयोस्तु सुखासनम् ॥७२२॥

तत्र सुखासनस्येदं लक्षणम्—

गुल्फोत्तानकराङ्गुष्ठरेखारोमालिनासिका ।
समदृष्टिः समाः कुर्यान्नातिस्तब्धो न वामनः ॥७२३॥
द्वादशाङ्गुलमध्याङ्घ्रिः स्थिरग्रीवशिरोधरः ।
समनिष्पन्दपार्ष्ण्यग्रजानुभ्रूहस्तलोचनः ॥७२४॥
न कासकृतिम कण्डूतिर्नौष्ठमर्दनकम्पितः ।
न पर्वगणितिं कार्यो नोच्छ्रिन्दोञ्छितिः स्मितिः ॥७२५॥
न कुर्यात् रवक्षपातं नैव कैकरप्रीक्षणम् ।
न स्पन्दं पक्ष्ममालानां तिष्ठेन्नासाग्रदर्शनः ॥७२६॥
विक्षेपाक्षेपसमोहदुर्विहरहिते हृदि ।
सम्यग्वस्थे करस्थोऽयमशेषो ध्यानजो विधिः ॥७२७॥

इत्युपासकाध्ययने ध्यानविधिनामैकोनचत्वारिंशः कल्पः ।

सन कहते हैं। जिसमें दायों पैर दोनों घुटनोंके ऊपरके हिस्सेपर रखकर बैठा जाता है अर्थात् दायीं ऊरूके ऊपर बाँया पैर और बायीं ऊरूके ऊपर दाँया पैर रखा जाता है उसे वीरासन कहते हैं। और जिसमें पैरोंकी गाँठे बराबरमें रहती हैं उसे सुखासन कहते हैं॥ ७२२॥

भावार्थ—उत्तर भारतमें बैठी हुई जिनबिम्बोंमें जो आसन पाया जाता है वही पद्मासन है क्योंकि उसमें दोनों पैर घुटनोंसे नीचे पिण्डियोंके ऊपर रहते हैं। यदि दोनों पैर दोनों घुटनोंसे ऊपरके भागपर रखे हों तो उसे वीरासन समझना चाहिए। वीरासनसे पद्मासन सरल है क्योंकि जांघोंके ऊपर पैर होनेसे खिंचाव कम पड़ता है। और पद्मासनसे भी सरल सुखासन है क्योंकि उसमें पैरके ऊपर पैर रहता है। इसलिए खिंचाव बिल्कुल नहीं पड़ता। इसीसे इसका नाम सुखासन रखा गया है। गृहस्थोंको ध्यान करते समय इसी सुखासनसे बैठना चाहिए। इसीसे आगे सुखासनका स्वरूप बतलाते हैं।

पैरोंकी गाठोंपर बायीं हथेलीके ऊपर दायीं हथेलीको सीधा रखे। अंगूठोंकी रेखा नाभिसे निकलकर ऊपरको आनेवाली रोमावली और नाक एक सीधमें हों। दृष्टि सम हो। शरीर न एकदम तना हुआ हो और न एकदम झुका हुआ हो। खड्गासन अवस्थामें दोनों चरणोंके बीचमें चार अंगुलका अन्तर होना चाहिए। सिर और गर्दन स्थिर हों। एड़ी घुटने, भृकुटि हाथ और आँखें समान रूपसे निश्चल हों। न खाँसे न खुजाये। न ओठ चबाये, न काँपे न हाथके पर्वोंपर गिने न बोले, न हिले-डुले न मुसकराये न दृष्टिको दूर तक ले जाये और न कटाक्षसे ही देखे। आँखके पलकोंको न मारे और नाकके अग्रभागमें अपनी दृष्टिको स्थिर रखे। हृदयमें चञ्चलता तिरस्कार, मोह और दुर्भावनाके न होनेपर तथा तत्त्वज्ञानके होनेपर यह समस्त ध्यानकी विधि करमें स्थित अर्थात् सुलभ है॥ ७२३—७२७॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें ध्यान विधि नामक उनतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

---

१ विलस्तेस्तृतीयमाववचतुरङ्गुल । २ ग्रीवा । ३ कासनम् । ४ कम्पनम् । ५. कटाक्ष ।

यस्यां पदद्वयमलंकृतियुग्मयोग्यं लोकत्रयाम्बुजसरः प्रविहारहारि।
तां वाग्विलासवसतिं सलिलेन देवीं सेवे कविद्युतरुमण्डनकल्पवल्लीम् ॥७३८॥
(इति तोयम्)

यामन्तरेण सकलार्थसमर्थनोऽपि बोधोऽवकेशितरुवन्न फलार्थिसेव्यः।
सोऽत्यल्पवेद्यपि ययानुगतस्त्रिलोक्याऽऽसेव्यः सुरद्रुरिव तं प्रयजेय गन्धैः ॥७३९॥
(इति गन्धम्)

या स्वल्पवस्तुरचनापि मितप्रवृत्तिः संस्कारतो भवति तद्विपरीतलक्ष्मीः।
स्वर्वल्लरीवनलतेव सुधानुबन्धात्तामद्भुतस्थितिमहं सदकैः श्रयामि ॥७४०॥
(इत्यक्षतम्)

[अब अष्टद्रव्यसे शास्त्रका पूजन कहते है—]

जिसके सुबन्त और तिङन्तरूप अथवा शब्द और धातुरूप दोनों पद (चरण) शब्दालकार और अर्थालकारके योग्य है, तथा तीनों लोकरूपी कमलसरोवरमें विचरण करनेसे मनोहर हैं उस कविरूपी कल्पवृक्षोंको शोभित करनेके लिए कल्पलताके तुल्य सरस्वती देवीको मैं जलसे पूजता हूँ ॥७३८॥

भावार्थ—जिनवाणी सरस्वती देवी है, उसके दो चरण हैं—एक शब्दरूप और एक धातुरूप, उन दोनोंके मेलसे ही तो वाणीकी रचना होती है जैसे—'मुनि जाते है।' यहाँ 'मुनि' शब्दरूप पद है और 'जाते हैं' धातुरूप पद है। ये दोनों पद दो अलकारों (आभूषणों) से युक्त होते हैं। उनमें-से एकका नाम शब्दालकार है और दूसरेका नाम अर्थालकार है। तथा सरस्वती कवियोंका भूषण होती है।

जिसके बिना समस्त पदार्थोंका समर्थन करनेवाला भी ज्ञान फलहीन वृक्षकी तरह फलार्थी पुरुषोंके द्वारा सेवनीय नहीं होता, और जिसका अनुसरण करनेवाला अत्यन्त अल्पज्ञानी भी मनुष्य कल्पवृक्षकी तरह तीनों लोकोंसे पूजित होता है, उस जिनवाणीको मैं गन्धसे पूजता हूँ ॥७३९॥

भावार्थ—जिनवाणी स्व और परका ज्ञान कराकर जीवोंको हितमें लगाती है और अहितसे बचाती है। अत हिताहितके विवेकसे रहित बहुत ज्ञान भी मोक्षाभिलाषियोंके लिए बेकार है। और हिताहितके विवेकसे युक्त अल्पज्ञान भी पूजनीय है; क्योकि उसीके द्वारा जीव सिद्ध-बुद्ध बनकर त्रिलोकपूजित होता है।

जिस जिनवाणीके सस्कारवश अल्प अर्थवाली और अल्प शब्दवाली रचना भी महान् अर्थशाली और महाशब्दवाली हो जाती है, जैसे अमृतके सिञ्चनसे वनकी लता भी कल्पलता हो जाती है। उस अद्भुत स्थितिवाली जिनवाणीको मैं अक्षतसे पूजता हूँ ॥७४०॥

---

१ शब्दालङ्कार–अर्थालङ्कार। २ कविरेव कल्पतरुस्तस्यालङ्करणे। ३ वन्ध्यवृक्षवत्। ४ नर। ५ वाण्या। ६ सुरद्रुम इव। ७ अल्पार्थाऽपि। ८ अल्पशब्दसहिताऽपि। ९ अभ्यासवशात्। १० अमितावहा।

[1]यद्बीजमल्पमपि सज्जनधीधरायां सम्यक्प्रवृद्धिविविधानघविप्रबन्धैः ।
[2]सस्यैरपूर्वरससूचितिभिरेव रोहत्याश्चर्यगोचरविधिं[3] प्रसवैर्यजे ताम् ॥७४१॥
(इति पुष्पम्)

यास्पष्टतांधिकविधिः [4]परतन्त्रनीतिः प्रायः कण्ठोपरिगतापि मता प्रसूते ।
स्पष्टं स्वतन्त्रमुपयान्त्यकलं च नृणां चित्रा हि वस्तुगतिरर्चिषिचैर्यजे ताम् ॥७४२॥
(इति चरुम्)

एकं[7] पदं बहुपदापि ददासि तुष्टा [9]वर्णात्मिकापि च करोषि न [10]वर्णभाजम् ।
सेवे तथापि भवतीमथवा जनोऽर्थी दोषं न पश्यति तदस्तु तवैव दीपः ॥७४३॥
(इति दीपम्)

चक्षुः परं करण[11]दूरविदूरितेऽर्थे मोहान्धकारविधुतौ परमः प्रकाशः ।
सद्यामगामिपथबोधनरत्नदीपस्त्वं सेव्यसे तदिह देवि जनेन धूपैः ॥७४४॥
(इति धूपम्)

जिस जिनवाणीका छोटा-सा भी बीज सज्जनकी बुद्धिरूपी भूमिमें अनेक प्रकारके असीम वृद्धिगत प्रबन्धोंके द्वारा और अपूर्व रससे युक्त फलोंके साथ उगता है, तथा जिसकी विधि आश्चर्यका विषय है उस जिनवाणीको मैं फूलोंसे पूजता हूँ ॥७४१॥

जो शब्दरूप होनेसे नेत्रका विषय नहीं है अतएव अति अस्पष्ट है तथा जो कण्ठ तालु आदि स्थानोंसे उत्पन्न होनेके कारण परतन्त्र है और मूर्तिसहित है—साकार है, उस वाणीको मनुष्योंका मन स्पष्ट स्वतन्त्र और शरीररहित प्रकट करता है। आशय यह है कि जिनवाणी श्रुत ज्ञानरूप है और श्रुतज्ञान अस्पष्ट होता है तथा श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमके अधीन होनेसे परतन्त्र भी होता है। किन्तु केवलज्ञान होने पर वही वाणी स्पष्ट, स्वतन्त्र और निराकार रूपमें अवतरित होती है। सच है वस्तुओंकी गति बड़ी विचित्र है उस वाणीको मैं चरुसे पूजता हूँ॥७४२॥

हे जिनवाणी माता ! आप बहुत पदवाली होनेपर भी सन्तुष्ट होनेपर एक पद देती हैं, वर्णात्मक होनेपर भी *वर्ण प्रदान नहीं करतीं* इस तरह आप बहुत कृपण हैं, फिर भी मैं आपकी सेवा करता हूँ; क्योंकि अर्थी मनुष्य दोष नहीं देखता। यह विरोधाभास अलंकार है। इसका परिहार इस तरह है। द्वादशांग रूप जिनवाणीके पदोंकी संख्या एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच है। अतः वह बहुपदा है। और उसके द्वारा एक पद—*अद्वितीय मोक्ष प्राप्त* होता है। तथा वह जिनवाणी अक्षरात्मक है मगर आत्माको ब्राह्मणादि वर्णोंसे मुक्त कर देती है। अतः मैं उसे दीप अर्पित करता हूँ ॥७४३॥

हे देवि सरस्वती ! गुफाके समान इन इन्द्रियोंसे दूरवर्ती पदार्थको देखनेके लिए आप चक्षुके समान हैं अर्थात् जो पदार्थ इन्द्रियोंके अगोचर हैं उन्हें जिनवाणीके प्रसादसे जाना जा सकता है, और मोहरूपी अन्धकारका नष्ट करनेके लिए आप परम प्रकाशके तुल्य हैं। तथा मोक्ष महलको जानेवाले मार्गको दिखानेके लिए आप रत्नमयी दीपक हैं। इसलिए आप धूपसे आपका पूजन करते हैं ॥७४४॥

---

१ यस्या बीजम्। २ धर्मी। ३ आश्चर्येण गोचरा यस्या विधिर्यस्याः या ताम्। ४ ताल्वादि स्थानेषामनम्या तथापि मन आत्मा स्पष्टं प्रसूते प्रकटीकरोति। ५. अहस्थानापेक्षया। ६ मूर्तिसहितापि। ७ चक्रपारे। ८ अद्वितीयं मोक्षम्। ९ अक्षरस्वरूपा। १० विप्रादि। ११ करणात्मेव गम्भराणि गुफा तेषां गम्भराणां दूरे पदार्थे त्वं तदरूपी चक्षुः।

चिन्तामणिस्त्रिदिवधेनुसुरद्रुमाद्याः पुंसां मनोरथपथप्रथितप्रभावाः ।
भावा भवन्ति नियतं तव देवि सम्यक्सेवाविधेस्तदिदमस्तु मुदे फलं ते ॥७४५॥
(इति फलम्)

कलधौतकमलमौक्तिकदुकूलमणिजालचामरप्रायैः ।
आराधयामि देवीं सरस्वतीं सकलमङ्गलैर्भावैः ॥७४६॥

स्याद्वादभूधरभवा मुनिमाननीया देवैरनन्यशरणैः समुपासनीया ।
स्वान्ताश्रिताखिलकलङ्कहरप्रवाहा वागापगास्तु मम बोधगजावगाहा ॥७४७॥

[1]मूर्धाभिषिक्तोऽभिषवाज्जिनानामर्च्योऽर्चनात्संस्तवनात् स्तवार्हः ।
[2]जपी जपाद्ध्यानविधेरबाध्यः[3] श्रुताश्रितश्रीः श्रुतसेवनाच्च ॥७४८॥

दृष्टस्त्वं जिन सेवितोऽसि नितरां [4]भावैरनन्याश्रयैः
[5]स्निग्धस्त्वं न तथापि यत्[6]समविधिर्भक्ते विरक्तेऽपि च ।
मच्चेतः पुनरेतदीश भवति प्रेमप्रकृष्टं ततः
किं भाषे परमत्र यामि भवतो भूयात्पुनर्दर्शनम् ॥७४९॥

इत्युपासकाध्ययने श्रुताराधनविधिर्नाम चत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

हे देवि ! आपकी विधिपूर्वक सेवा करनेसे मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले चिन्तामणि रत्न, कामधेनु और कल्पवृक्ष आदि पदार्थ नियमसे प्राप्त होते है अतः यह फल आपकी प्रसन्नताके लिए हो ॥७४५॥

मैं स्वर्णकमल, मोती, रेशमी वस्त्र, मणियोंका समूह और चमर वगैरह मागलिक पदार्थोंसे सरस्वती देवीकी आराधना करता हूँ ॥७४६॥

स्याद्वादरूपी पर्वतसे उत्पन्न होनेवाली, मुनियोंके द्वारा आदरणीय, अन्यकी शरणमें न जानेवाले देवोंके द्वारा सम्यक् रूपसे उपासनीय और जिसका प्रवाह अन्तःकरणके समस्त दोषोंको हरनेवाला है, ऐसी वाणीरूपी नदी मेरे ज्ञानरूपी हाथीके अवगाहनके लिए हो, अर्थात् मैं ज्ञान द्वारा उस जिनवाणीका अवगाहन करूँ—उसमें डुबकी लगाऊँ ॥७४७॥

जिनभगवान्का अभिषेक करनेसे मनुष्य मस्तकाभिषेकका पात्र होता है, पूजा करनेसे पूजनीय होता है, स्तवन करनेसे स्तवनीय (स्तवन किये जानेके योग्य) होता है, जपसे जप किये जानेके योग्य होता है, ध्यान करनेसे बाधाओंसे रहित होता है और श्रुतकी सेवा (स्वाध्यायादि) करनेसे महान् शास्त्रज्ञ होता है ॥७४८॥

हे जिनेन्द्र ! मैंने तुम्हारा दर्शन किया और जिनका अन्य आश्रय नहीं है ऐसे भावोंसे तुम्हारी अतिशय सेवा (पूजा) की । यद्यपि प्रभु राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण निस्नेह (स्नेहरहित) हो, तथापि भक्तमें और विरक्तमें तुम्हारा समभाव है अर्थात् जो तुम्हारी सेवा करता है उससे तुम्हें राग नहीं है और जो तुम्हारी सेवा नहीं करता, उससे द्वेष नहीं है । फिर भी मेरा यह चित्त हे स्वामिन् ! आपके प्रति प्रेमसे भरा है । अधिक क्या कहूँ अब मैं जाता हूँ । मुझे आपका पुन. दर्शन प्राप्त हो ॥७४९॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें श्रुताराधनविधि नामक चालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

---

१ राजा भवति । २ जप्य स्यात् । ३ बाधारहित । ४ पदार्थ अष्टप्रकारपूजनैः । ५ त्वं वीतरागद्वेषत्वान्नि स्नेह । ६ समता युक्त मध्यस्थ ।

[1]यद्बीजमल्पमपि सज्जनधीधरायां सम्यक्प्रवृद्धिविविधाभवभिप्रबन्धैः ।
[2]सस्यैरपूर्वरसवृत्तिभिरेव रोहत्याश्चर्यगोचरविधिं[3] प्रसवैर्महे ताम् ॥७४१॥
(इति पुष्पम्)

वाक्यप्रवाधिकविधिः [4]परतन्त्ररीतिः प्रायः कर्त्रोपरिगतापि मनः प्रसूते ।
स्पष्टं स्वतन्त्रमुपशान्तकलं च नृणां चित्रा हि वस्तुगतिरर्चयितैर्यजे ताम् ॥७४२॥
(इति चरुम्)

एकं[8] पदं बहुपदापि ददासि तुष्टा [9]वर्णात्मिकापि च करोषि न [10]वर्णभाजम् ।
सेवे तथापि भवतीमथवा जनोऽर्थी दोषं न पश्यति तदस्तु तवैव दीपः ॥७४३॥
(इति दीपम्)

चक्षुः परं करणं [11]कस्यदूरितेऽर्थे मोहान्धकारविधुतौ परमः प्रकाशः ।
तद्धामगामिपथदीपनरत्नदीपस्त्वं सम्मते तदिह देवि जनेन धूपैः ॥७४४॥
(इति धूपम्)

जिस जिनवाणीका छोटा-सा भी बीज सज्जनकी बुद्धिरूपी भूमिमें अनेक प्रकारके असीम वृद्धिगत प्रबन्धोंके द्वारा और अपूर्व रससे युक्त फलोंके साथ उगता है, तथा जिसकी विधि आश्चर्यका विषय है उस जिनवाणीको मैं फूलोंसे पूजता हूँ ॥७४१॥

जो शब्दरूप होनेसे नेत्रका विषय नहीं है अतएव अति अस्पष्ट है तथा जो कण्ठ तालु आदि स्थानोंसे उत्पन्न होनेके कारण परतन्त्र है और मूर्तिसहित है—साकार है, उस वाणीको मनुष्योंका मन स्पष्ट स्वतन्त्र और शरीररहित प्रकट करता है। आशय यह है कि जिनवाणी श्रुत ज्ञानरूप है और श्रुतज्ञान अस्पष्ट होता है तथा श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमके अधीन होनेसे परतन्त्र भी होता है। किन्तु केवलज्ञान होने पर वही वाणी स्पष्ट, स्वतन्त्र और निराकार रूपमें अवतरित होती है। सच है वस्तुओंकी गति बड़ी विचित्र है उस वाणीको मैं चरुसे पूजता हूँ॥७४२॥

हे जिनवाणी माता! आप बहुत पदवाली होनेपर भी सन्तुष्ट होनेपर एक पद देती हैं, वर्णात्मक होनेपर भी वर्ण प्रदान नहीं करतीं इस तरह आप बहुत कृपण हैं, फिर भी मैं आपकी सेवा करता हूँ; क्योंकि अर्थी मनुष्य दोष नहीं देखता। यह विरोधाभास अलंकार है। इसका परिहार इस तरह है। द्वादशांग रूप जिनवाणीके पदोंकी संख्या एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच है। अतः वह बहुपदा है। और उसके द्वारा एक पद—अद्वितीय मोक्ष प्राप्त होता है। तथा वह जिनवाणी अक्षरात्मक है मगर आत्माको ब्राह्मणादि वर्णोंसे मुक्त कर देती है। अतः मैं उसे दीप अर्पित करता हूँ ॥७४३॥

हे देवि सरस्वती! गुफाके समान इन इन्द्रियोंसे दूरवर्ती पदार्थको देखनेके लिए आप चक्षुके समान हैं, अर्थात् जो पदार्थ इन्द्रियोंके अगोचर हैं उन्हें जिनवाणीके प्रसादसे जाना जा सकता है, और मोहरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए आप परम प्रकाशके तुल्य हैं। तथा मोक्ष महलको जानेवाले मार्गको दिखानेके लिए आप रत्नमयी दीपक हैं। इसलिए लोग धूपसे आपका पूजन करते हैं ॥७४४॥

१ यस्या बीजम्। २ फलैः। ३ आश्चर्येण गोचरा यस्या विधिर्यस्याः तां ताम्। ४ शब्दरूपत्वान्नयनागम्या तथापि मनः आत्मा स्पष्टं प्रसूते प्रकटीकरोति। ५ कण्ठस्थानापेक्षया। ६ मूर्तिसहितापि। ७ चरुप्रकारैः। ८ अद्वितीयं मोक्षम्। ९ अक्षरस्वरूपा। १० विप्रादि। ११ यस्मात्येव गह्वराणि गुहा इवेन्द्रियाणि दूरे स्थार्थे त्वं सरस्वती चक्षुः।

स्नानगन्धाङ्गसंस्कारभूपायोपाविपक्तधीः [1]।
[2]निरस्तसर्वसावद्यक्रियः संयमतत्परः ॥७५३॥
देवागारे गिरौ चापि गृहे वा गहनेऽपि वा।
उपोपितो भवेन्नित्यं धर्मध्यानपरायणः ॥७५४॥

भोजन करना है। तब वह प्रोपधोपवास कहा जाता है। जो प्रोपधोपवास नहीं कर सकते, वे अनुपवास कर सकते है। अनुपवासमें एक बार केवल जल लिया जाता है। और जो उपवास भी नहीं कर सकते वे एक बार हलका सात्त्विक आहार ले सकते है। इसे एकाशन कहते हैं। एकाशनका मतलब है एक बार भोजन। इसी तरह तिथि, नक्षत्र वगैरहका विचार करके आगममें बतलाये गये अन्य उपवास भी यथाशक्ति श्रावकको करने चाहिए।

[*आगे उपवासकी विधि बतलाते हैं—*]

उपवास करनेवाला गृहस्थ स्नान, इत्र-फुलेल, शरीरकी सजावट, आभूपण और स्त्रीसे मनको हटाकर तथा समस्त सावद्य क्रियाओंसे विरक्त होकर सयममें तत्पर हो और देवालयमें, पहाड़पर या घरमें अथवा किसी दुर्गम एकान्त स्थानमें जाकर धर्मध्यानपूर्वक अपना समय बितावे ॥७५३-७५४॥

भावार्थ—उपवासके दिन स्नानका भी निपेध किया गया है। इसपर प्राय कुछ भाई यह आपत्ति करते हुए देखे जाते हैं कि बिना स्नान किये पूजा कैसे की जा सकती है। ऐसी आपत्ति करनेवाले उपवासका महत्त्व नहीं समझते। उपवासका महत्त्व पूजनसे भी अधिक है। पूजन द्रव्यका आलम्बन लेकर मन, वचन और कायकी एकाग्रताके लिए किया जाता है। उससे सामायिक ऊँचा है, क्योंकि सामायिकमें द्रव्यादिक परवस्तुका आलम्बन न लेकर अमुक समय तक मन, वचन और कायको एकाग्र किया जाता है, किन्तु उपवास सामायिकसे भी ऊँचा है, क्योंकि उसमें समस्त सावद्य कार्योंको छोड़कर उपवासके समय तक मन, वचन और कायकी एकाग्रता रखी जाती है। केवल पेटको ही भूखे रखनेका नाम उपवास नहीं है; किन्तु जिसमें पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विपयोंसे निवृत्त होकर उपवासी रहती हैं वही सच्चा उपवास है। अत. उपवासके दिन गृहस्थको भावपूजा करनी चाहिए; किन्तु चूँकि अधिकतर गृहस्थ लोग इतनी ऊँची परिणतिके नहीं होते, जो इस प्रकारका आदर्श उपवास कर सकें, अतः वे स्नान करके प्रासुक द्रव्यसे पूजा कर सकते हैं।

१ "पञ्चाना पापानामलङ्क्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्। स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृति कुर्यात् ॥१०७॥ धर्मामृतं सतृष्ण श्रवणाभ्या पिबतु पाययेद्वाऽन्यान्। ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालु ॥१०८॥" रत्नकरण्डश्रा०। "स्वशरीरसस्कारकारणस्नानगन्धमाल्याभरणादिविरहित शुभावकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोपधोपवासगृहे वा धर्मकथाचिन्तनावहितान्त करण सन्नुपवसेत् निरारम्भ श्रावक।"—सर्वार्थसिद्धि ७-२१। "मुक्तसमस्तारम्भ प्रोपधदिनपूर्ववासरस्यार्धे। उपवास गृह्णीयान् ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥ श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय। सर्वेन्द्रियार्थविरत कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥ धर्मध्यानाशक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधि। शुचिसस्तरे त्रियामा गमयेत् स्वाध्यायजितनिद्र ॥१५४॥ प्रात प्रोत्थाय तत कृत्वा तात्कालिक क्रियाकल्पम्। निर्वर्तयेद्यथोक्त जिनपूजा प्रासुकद्रव्यैः ॥१५५॥ उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवस द्वितीयरात्रिं च। अतिवाहयेत् प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६॥ इति य पोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्य। तस्य तदानीं नियत पूर्णमहिंसाव्रतं भवति॥१५७॥"—पुरुपार्थसि०। "ताम्बूलगन्धमाल्यस्नानाभ्यङ्गादिसर्वसंस्कारम्। ब्रह्मव्रतगतचित्तैः स्थातव्यमुपोपितैस्त्यक्त्वा ॥८९॥"—अमित० श्राव०, परि० ६। २ निवृत्तिसर्व—अ० ज० मू०।

पर्वाणि [१]प्रोषधान्याहुर्मासे चत्वारि तानि च ।
पूजाक्रियाव्रताधिक्याद्धर्मकर्मात्र बृंहयेत् ॥७५०॥
रसत्यागैकभक्तैकस्थानोपवसनक्रियाः ।
यथाशक्ति विधेयाः स्युः पर्वसन्धौ च पर्वणि ॥७५१॥
तधीरन्तर्यसान्तर्यतिथितीर्थर्क्षपूर्वकः ।
उपवासविधिरित्येवमनेकः श्रुतसमाश्रयः ॥७५२॥

[इस प्रकार शिक्षाव्रतके चार भेदोंमें-से प्रथम भेद सामायिकका स्वरूप बतलाकर अब ग्रन्थकार दूसरे प्रोषधोपवास व्रतका स्वरूप बतलाते हैं]

प्रोषधोपवास व्रतका स्वरूप

प्रोषध पर्वको कहते हैं। वे पर्व प्रत्येक मासमें चार होते हैं। इन पर्वोंमें विशेष पूजा, विशेष क्रिया और विशेष व्रतोंका आचरण करके धर्म-कर्मको बढ़ाना चाहिए ॥ ७५० ॥ पर्व तथा पर्वके *सन्धि दिनोंमें रसोंका त्याग, एकाशन, एकान्त स्थानमें निवास, उपवास आदि* क्रियाएँ यथाशक्ति करनी चाहिए ॥ ७५१ ॥ लगातार या बीचमें अन्तराल देकरके तिथि तीर्थंकरोंके कल्याणक तथा नक्षत्र वगैरहका विचार करके आगमानुसार अनेक प्रकारके उपवासकी विधिको विचार लेना चाहिए। अर्थात् रसत्याग, एकभक्त, उपवास आदि कोई तो सदा करते हैं, कोई अमुक तिथिको करते हैं, कोई तीर्थंकरोंके कल्याणकके दिन करते हैं, इस प्रकार अनेक प्रकारके उपवासकी विधिका आगमानुसार विचार कर लेना चाहिए ॥ ७५२ ॥

भावार्थ—प्रोषध पर्वको कहते हैं। प्रत्येक मासमें दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस तरह चार पर्व होते हैं। उनमें उपवास करनेको प्रोषधोपवास कहते हैं। नौमी और अमावस्या या पूर्णमासी पर्वके सन्धि दिन कहलाते हैं। उनमें भी यथाशक्ति एकाशन वगैरह किया जाता है। यथार्थमें प्रोषधोपवासकी विधि पर्वके पहले दिनसे ही प्रारम्भ हो जाती है। सप्तमी या त्रयोदशीको मध्याह्नका भोजन करके ही उपवासकी प्रतिज्ञा ले ली जाती है और समस्त गार्हस्थिक कार्योंसे निवृत्त होकर गृहस्थ एकान्त स्थानमें चला जाता है तथा सोलह पहर तक यानी दो पहर सप्तमी या त्रयोदशीके चार पहर रातके, चार पहर अष्टमी या चतुर्दशीके, चार पहर उसकी रातके और दो पहर नौमी या पन्द्रसके इस तरह सोलह पहर तकका समय धर्मध्यानपूर्वक बिताकर एकबार

१ 'चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः । स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥१९॥'— रत्नकरण्डश्रा. । 'प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची' 'प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः' ।—सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक ७–२१ । 'मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्धे । उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥' पुरुषार्थसिद्ध्युपाय । 'हेलोत्तारमसत्पापस्य पूरणात् पर्व कीर्त्यते । पूजाक्रियाव्रताधिक्यधर्मकर्मात्र बृंहयेत् ॥'—धर्मरत्नाकर पृ. १११ । 'स प्रोषधोपवासो यच्चतुष्पर्व्यां यथागमम् । साम्यसंस्कारदार्ढ्याय चतुर्भुक्त्युज्झनं सदा ॥'—सागारधर्मामृत ४–१४ । 'निवृत्तसन्मार्गं पर्व प्रोषधं तं विदुर्बुधाः । तत्र तदीनता सार्धैर्विधेयो विधिवद्विधिः ॥ १ ॥'—प्रबोधसार ३ अध्याय । 'प्रोषधः पर्वाणीह चतुर्विधाहारवर्जनम् । तत्प्रोषधोपवासाख्यं व्रतं साम्यस्य सिद्धये ॥५ ॥'—धर्मसंग्रह श्राव. पृ. ११९ । २ अहम्यान् । तत्रर्ते नियमं वार्ता चोक्तव्यं भावनाम् । ब्रह्मचर्यादिपोषधमुखादीन् तत्र च बृंहयेत् ॥२॥—प्रबोधसार पृ. १८१ । ३ स्थाने वने स्वगाते वा चैत्यस्थानादिभूमिषु । धर्मध्यानस्य संधानं प्रोषधस्योपवासिनाम् ॥४॥—प्रबोधसार पृ. १८२ । ३ सधीरन्तर्यतिथि— अ ब मु । ४ तथा । ५. नाना प्रकारः ।

[1]स्नानगन्धाङ्गसंस्कारभूषायोषाविपक्तधीः ।
[2]निरस्तसर्वसावद्यक्रियः संयमतत्पर. ॥७५३॥
देवागारे गिरौ चापि गृहे वा गहनेऽपि वा ।
उपोषितो भवेन्नित्यं धर्मध्यानपरायणः ॥७५४॥

भोजन करता है। तब वह प्रोषधोपवास कहा जाता है। जो प्रोषधोपवास नहीं कर सकते, वे अनुपवास कर सकते है। अनुपवासमें एक बार केवल जल लिया जाता है। और जो उपवास भी नहीं कर सकते वे एक बार हलका सात्त्विक आहार ले सकते है। इसे एकाशन कहते है। एकाशन-का मतलब है एक बार भोजन। इसी तरह तिथि, नक्षत्र वगैरहका विचार करके आगममें बतलाये गये अन्य उपवास भी यथाशक्ति श्रावकको करने चाहिए।

[*आगे उपवासकी विधि बतलाते हैं—*]

उपवास करनेवाला गृहस्थ स्नान, इत्र-फुलेल, शरीरकी सजावट, आभूषण और स्त्रीसे मनको हटाकर तथा समस्त सावद्य क्रियाओंसे विरक्त होकर सयममें तत्पर हो और देवालयमें, पहाड़पर या घरमें अथवा किसी दुर्गम एकान्त स्थानमें जाकर धर्मध्यानपूर्वक अपना समय बितावे ॥७५३-७५४॥

भावार्थ—उपवासके दिन स्नानका भी निषेध किया गया है। इसपर प्राय कुछ भाई यह आपत्ति करते हुए देखे जाते है कि बिना स्नान किये पूजा कैसे की जा सकती है। ऐसी आपत्ति करनेवाले उपवासका महत्त्व नहीं समझते। उपवासका महत्त्व पूजनसे भी अधिक है। पूजन द्रव्यका आलम्बन लेकर मन, वचन और कायकी एकाग्रताके लिए किया जाता है। उससे सामायिक ऊँचा है, क्योंकि सामायिकमें द्रव्यादिक परवस्तुका आलम्बन न लेकर अमुक समय तक मन, वचन और कायको एकाग्र किया जाता है, किन्तु उपवास सामायिकसे भी ऊँचा है, क्योंकि उसमें समस्त सावद्य कार्योंको छोड़कर उपवासके समय तक मन, वचन और कायकी एकाग्रता रखी जाती है। केवल पेटको ही भूखे रखनेका नाम उपवास नहीं है; किन्तु जिसमें पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंसे निवृत्त होकर उपवासी रहती है वही सच्चा उपवास है। अत. उपवासके दिन गृहस्थको भावपूजा करनी चाहिए, किन्तु चूँकि अधिकतर गृहस्थ लोग इतनी ऊँची परिणतिके नहीं होते, जो इस प्रकारका आदर्श उपवास कर सकें, अतः वे स्नान करके प्रासुक द्रव्यसे पूजा कर सकते हैं।

---

१ "पञ्चाना पापानामलङ्क्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्। स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥१०७॥ धर्मामृत सतृष्ण श्रवणाभ्या पिबतु पाययेद्वाऽन्यान्। ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालु ॥१०८॥" रत्नकरण्डश्रा०। "स्वशरीरसस्कारकारणस्नानगन्धमाल्याभरणादिविरहित शुभावकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाचिन्तनावहितान्त करण सन्नुपवसेत् निरारम्भ श्रावक।"—सर्वार्थसिद्धि ७-२१। "मुक्तसमस्तारम्भ प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्धे। उपवास गृह्णीयान् ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥ श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय। सर्वेन्द्रियार्थविरत. कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥ धर्मध्यानाशक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधि। शुचिसस्तरे त्रियामा गमयेत् स्वाध्यायजितनिद्र ॥१५४॥ प्रात प्रोत्थाय तत कृत्वा तात्कालिक क्रियाकल्पम्। निर्वर्तयेद्यथोक्त जिनपूजा प्रासुकद्रव्यै ॥१५५॥ उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवस द्वितीयरात्रिं च। अतिवाहयेत् प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६॥ इति य षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्य। तस्य तदानी नियत पूर्णमहिंसाव्रत भवति॥१५७॥"—पुरुषार्थसि०। "ताम्बूलगन्धमाल्यस्नानाभ्यङ्गादिसर्वसस्कारम्। ब्रह्मव्रतगतचित्तै स्थातव्यमुपोषितैस्त्यक्त्वा ॥८९॥"—अमित० श्राव०, परि० ६। २ निवृत्तिसर्व—अ० ज० मू०।

पुंसः कृतोपवासस्य यद्यारम्भरतात्मनः ।
कायक्लेशः प्रजायेत गजस्नानसमक्रियः ॥७५५॥
[1]अनवेक्षाप्रतिलेखनदुष्कर्मारम्भदुर्मनस्काराः ।
[2]आवश्यकविरतियुताश्चतुर्थमेते विघ्नन्ति ॥७५६॥
विशुध्येतान्तरात्मायं कायक्लेशविधिं विना ।
किमग्नेरन्यदस्तीह काञ्चनाश्मविशुद्धये ॥७५७॥
हस्ते चिन्तामणिस्तस्य दुःखद्रुमदवानलः ।
पवित्रं यस्य चारित्रैश्चित्तं [4]सुकृतजन्मनः ॥७५८॥

इत्युपासकाध्ययने प्रोषधोपवासविधिर्नामैकचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

जो पुरुष उपवास करके भी अनेक प्रकारके आरम्भोंमें फँसा रहता है, उसका उपवास केवल कायक्लेशका ही कारण होता है और उसकी क्रिया हाथीके स्नानकी तरह व्यर्थ है ॥७५५॥

भावार्थ—हाथी स्नान करनेके बाद सूँडमें धूल भर-भरकर अपने ऊपर डाल लेता है अतः उसका स्नान व्यर्थ होता है। उसी तरह जो उपवास करके भी गार्हस्थिक धन्धोंमें फँसा रहता है उसका उपवास केवल शरीरको कष्ट देता है, आत्माका उससे कुछ भी लाभ नहीं होता।

बिना देखे और बिना साफ किये किसी भी पापकामसे युक्त आरम्भको करना, बुरे विचार लाना और सामायिक, वन्दना, प्रतिक्रमण आदि षट्कर्मोंका न करना, ये काम प्रोषधोपवासव्रतके घातक हैं। अतः उपवासके दिन इस प्रकारकी असावधानी नहीं करनी चाहिए ॥७५६॥

[यह कहा जा सकता है कि उपवास करनेसे शरीरको कष्ट होता है और शरीरको कष्ट देनेसे आत्माका कुछ लाभ नहीं है। अतः उपवास नहीं करना चाहिए। इस प्रकारकी आपत्ति करनेवालोंको ग्रन्थकार उत्तर देते हैं—]

शरीरको कष्ट दिये बिना शरीरमें रहनेवाली आत्मा विशुद्ध नहीं हो सकती। सुवर्ण पाषाणको शुद्ध करके उसमें-से सोना निकालनेके लिए क्या अग्निके सिवा दूसरा कोई उपाय है? अग्निमें तपानेसे ही सोना शुद्ध होता है वैसे ही शरीरको कष्ट देनेसे आत्मा विशुद्ध होती है ॥७५७॥

जिस पुण्यात्मा पुरुषका चित्त चारित्रसे पवित्र है, चिन्तामणिरत्न उसके हाथमें है जो दुःखरूपी वृक्षको जलानेके लिए अग्निके समान है। चारित्र ही वह चिन्तामणि रत्न है जो दुःखोंको नष्ट करनेवाला है ॥७५८॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें प्रोषधोपवासविधि नामक इकतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

---

१ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥ —तत्त्वार्थसूत्र ७–३४। ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे। यत्प्रोषधोपवासे व्यतिक्रमपञ्चकं तदिदम् ॥११०॥" रत्नकरण्डश्रा.। 'अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः। स्मृत्यनुपस्थापनमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥१९२॥ —पुरुषार्थसि.। २ षडावश्यकरहिता। ३ उपवासम्। ४ सुकृतजन्मनः।—धर्मरत्नाकर पृ ११४॥ सुकृतिन—अ ब मु।

य: [1]सकृत्सेव्यते भाव: स भोगो भोजनादिक: ।
भूषादि: परिभोग: स्यात्पौन:पुन्येन सेवनात् ॥७५९॥
परिमाणं तयो: कुर्याच्चित्तव्याप्तिनिवृत्तये ।
प्राप्ते योग्ये च सर्वस्मिन्निच्छया नियमं भजेत् ॥७६०॥
यम[2]श्च नियमश्चेति द्वौ त्याज्ये वस्तुनि स्मृतौ ।
यावज्जीवं यमो ज्ञेय: सावधिर्नियम: स्मृत: ॥७६१॥
पला[3]ण्डुकेतकीनिम्बसुमन:सूरणादिकम् ।
त्यजेदाजन्म तद्रूपबहुप्राणिसमाश्रयम् ॥७६२॥
दुष्पक्वस्य निषिद्धस्य जन्तुसबन्धमिश्रयो[4]: ।

भोगपरिभोगपरिमाणव्रत

[अब भोगपरिभोगपरिमाणव्रतको कहते हैं—]

जो पदार्थ एक बार ही भोगा जाता है जैसे भोजन वगैरह, उसे भोग कहते हैं । जो बार-बार भोगा जाता है जैसे भूषण वगैरह, उसे परिभोग या उपभोग कहते हैं ॥७५ चित्तके फैलावको रोकनेके लिए भोग और उपभोगका परिमाण कर लेना चाहिए । और जो प्राप्त है और प्राप्त होनेके साथ ही-साथ जो सेवन करनेके योग्य है उसमें भी अपनी इच्छानु नियम कर लेना चाहिए ॥७६०॥ भोगपरिभोगका परिमाण दो प्रकारसे किया जाता है— यमरूपसे, दूसरे नियम रूपसे । जीवन पर्यन्त त्याग करनेको यम कहते हैं और कुछ समयके त्याग करनेको नियम कहते हैं ॥७६१॥ प्याज आदि जमीकन्द, केतकी और नीमके फूल सूरण वगैरह तो जीवन पर्यन्त छोड़ देने चाहिए; क्योंकि इनमें उसी प्रकारके बहुत जीवोंका होता है ॥७६२॥ जो भोजन कच्चा है या जल गया है, जिसका खाना निषिद्ध है, जो जन्तु

---

१ "भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्य । उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिपाञ्चे विषय ॥८३॥"—रत्नकरण्ड श्रा० । "उपभोगोऽशनपानगन्धमाल्यादि. । परिभोग आच्छादनप्रावरणाल शयनाशनगृहयानवाहनादि तयो. परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम् ।"—सर्वार्थसि० ७-२१। २ "f यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसहारात् । नियम परिमितकालो यावज्जीव यमो ध्रियते ॥ ८ —रत्नकरण्डश्रा० । ३ "त्रसहृतिपरिहरणार्थं क्षौद्र पिशित प्रमादपरिहृतये । मद्य च वर्जनीय जिन शरणमुपयातै ॥ ८४ ॥ अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि । नवनीतनिम्बकुसुम कैत त्येवमवहेयम ॥८५॥ यदनिष्ट तद् व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।" रत्नकरण्ड श्रा० । "मधु मास म सदा परिहर्तव्य त्रसघातान्निवृत्तचेतसा । केतक्यर्जुनपुष्पादीनि शृङ्गवेरमूलकादीनि बहुजन्तुयोनिस्था नन्तकायव्यपदेशार्हाणि परिहर्तव्यानि बहुघाताल्पफलत्वात् । यानवाहनाभरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यद मित्यनिष्टान्निवर्तन कर्तव्य कालनियमेन यावज्जीव वा यथाशक्ति ।"—सर्वार्थसिद्धि ७-२१ । "भोगपरि पञ्चविध त्रसघात-प्रमाद-बहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात् ॥२७॥"—तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ५५० । पु मि०, १६२-१६६ श्लो० । "नालीसूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादि वर्जयेत् । आजन्म तद्भुजा ह्यल्प फल घ भूयसाम् ॥१६॥ आमगोरससपृक्त द्विदल प्रायशोऽनवम् । वर्षास्वदलित चात्र पत्रशाकं च नाहरेत् ॥१८ सागारधर्मा० ५ अ० । ४ 'सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहारा ।"—तत्त्वार्थसूत्र ७-३५ । "अ हि सचित्त सचित्तमिश्र सचित्तसम्बन्ध । दु पक्वोऽभिषवोऽपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य ॥१९३॥"— र्थसि० । "सहचित्त सबद्धं मिश्र दु पक्वमभिषवाहार । भोगोपभोगविरतेरतिचारा पञ्च परिवर्ज्या ।।१३॥ अमित० श्रा० ७-१३ ।

अधीचितस्य च प्राशस्तस्स्यात्तत्तिकारणम् ॥७६३॥
इत्थं नियतवृत्तिः स्यादनिच्छोऽप्याश्रयः श्रियाम् ।
नरो नरेषु देवेषु मुक्तिश्रीस्तस्य चागमः ॥७६४॥

इत्युपासकाध्ययने भोगपरिभोगपरिमाणविधिर्नाम द्विचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

छू गया है या जिसमें जन्तु आ पड़े हैं, तथा जिसे हमने देखा नहीं है ऐसे भोजनको खाना भोगपरिभोगपरिमाणव्रतको क्षतिका कारण होता है ॥७६३॥

भावार्थ—भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें भोग्य और उपभोग्य वस्तुओंका यावज्जीवन या कुछ समयके लिए परिमाण किया जाता है। परिग्रहपरिमाणव्रतमें तो सम्पत्तिका ही परिमाण किया जाता है, किन्तु इसमें उन वस्तुओंका परिमाण किया जाता है जिन्हें मनुष्य प्रतिदिन अपने सेवनमें लाता है। इनका परिमाण कर लेनेसे मनुष्यकी चित्तवृत्ति एक सीमामें बद्ध हो जाती है और फिर वह ज्यादा इधर-उधर नहीं भटकती। प्राय ऐसा देखा जाता है कि नयी वस्तुको देखते ही मन चंचल हो उठता है। और तब हमें आवश्यकता न होनेपर भी नयी वस्तुओंका संग्रह करना पड़ता है। इससे एकके पास अनावश्यक संग्रह होता है और दूसरे जिन्हें उसकी आवश्यकता है वे उसके बिना कष्ट भोगते रहते हैं। किन्तु परिमाण कर लेनेसे एक ओर हम अनावश्यक वस्तुओंके संचयके भारसे बच जाते हैं दूसरी ओर दूसरे लोग उनसे अपना काम चलाते हैं। अतः खान-पान, विषय-भोग सवारी, कपड़ा आदि सभी वस्तुओंकी एक मर्यादा कर लेनी चाहिए। इससे तृष्णा शान्त होती है और तृष्णा शान्त होनेसे मनुष्यको शान्ति मिलती है। शान्ति मिलनेसे उसके परिणाम निर्मल होते है। परिमाण करते समय ऐसी वस्तुएँ जो अखाद्य हैं या सेवन करनेके योग्य नहीं हैं, बिलकुल त्याग देनी चाहिए। जिनके सेवनसे स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता उन्हें भी छोड़ देना चाहिए और खान-पान ऐसा होना चाहिए जिससे शरीर और इन्द्रियाँ सभी स्वस्थ रहें और कामभोग आदि विकारोंको बल न मिल सके। यदि ऐसी वस्तुओंका सेवन किया गया जो रोगकारक हैं या विकारकारक हैं तो भोगोपभोगपरिमाणव्रतकी मर्यादा सुरक्षित नहीं रह सकेगी; क्योंकि यदि हम रोगी हो गये तो हमारे व्रत, नियम सब रखे रह जायेंगे और हम अपना प्रतिदिनका भी धर्मसाधन न कर सकेंगे। अतः खान-पान, रहन-सहन सब सादा होना चाहिए।

इस प्रकार जो भोगोपभोगका परिमाण करता है वह मनुष्य और देवपर्यायमें जन्म लेकर बिना चाहे ही लक्ष्मीका स्वामी बनता है और मुक्ति भी उसे मिल जाती है ॥७६४॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें भोगोपभोगपरिमाण नामक बयालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

---

१. स्यादित्थं नियता वृत्तिर्यस्य सर्वेषु वस्तुषु। स सर्वासां श्रियामीशः सर्वविश्वेषु वल्लताम् ॥१२॥ —प्रबोधसार पृ १८९।

यथाविधि यथादेशं यथाद्रव्यं यथागमम् ।
यथापात्र यथाकालं दान देयं गृहाश्रमैः ॥७६५॥
आत्मनः श्रेयसेऽन्येषां रत्नत्रयसमृद्धये ।
स्वपरानुग्रहायेत्थं यत्स्यात्तद्दानमिष्यते ॥७६६॥
दातृपात्रविधिद्रव्यविशेषात्तद्विशिष्यते ।
यथा घनाघनोद्गीर्णं तोयं भूमिसमाश्रयम् ॥७६७॥
दातानुरागसंपन्नः पात्रं रत्नत्रयोचितम् ।
सत्कारः स्याद्विधिर्द्रव्यं तपःस्वाध्यायसाधकम् ॥७६८॥

दानका स्वरूप

[अब दानका वर्णन करते हैं—]

गृहस्थोंको विधि, देश, द्रव्य, आगम, पात्र और कालके अनुसार दान देना चाहिए ॥७६५॥ जिससे अपना भी कल्याण हो और अन्य मुनियोके रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उन्नति हो, इस तरह जो अपने और दूसरोंके उपकारके लिए दिया जाता है उसे ही दान कहते हैं ॥७६६॥

जैसे मेघोंसे बरसा हुआ पानी भूमिको पाकर विशिष्ट फलदायी हो जाता है वैसे ही दाता, पात्र, विधि और द्रव्यकी विशेषतासे दानमें भी विशेषता आ जाती है ॥७६७॥

दाता आदिका स्वरूप

जो प्रेमपूर्वक दे वह दाता है, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे भूषित है वह पात्र है। आदरपूर्वक देनेका नाम विधि है और जो तप और स्वाध्यायमें सहायक हो वही द्रव्य है ॥ ७६८ ॥

भावार्थ—साराश यह है कि यदि देनेवाला योग्य पात्रको प्रेमसे आदरपूर्वक ऐसी वस्तु दे जो उसके आत्मकल्याणके मार्गमें सहायक हो वह दान उत्तम दान है। और जिस किसीको जो कुछ भी निरादरपूर्वक दे डालना दान नहीं है। जिसका मन दान देते हुए दुःखी होता है या जो नाम आदिके लोभसे दान देता है वह दाता नहीं है। जो स्व-परकल्याणमें रत नहीं है वह पात्र नहीं है। और न निरादरपूर्वक देना देना है। तथा ऐसा भोजन, जो घी तथा स्वादकी दृष्टिसे बहुमूल्य होते हुए भी साधुके ज्ञान, ध्यानका साधक नहीं है, वह साधुओंके योग्य द्रव्य नहीं है।

---

१ "पात्रागमविधिद्रव्यदेशकालानतिक्रमात् । दान देय गृहस्थेन तपश्चर्यं च शक्तित ॥४८॥"—सागारधर्मामृत २ अ०। "यथाद्रव्य यथादेश यथापात्र यथापयम् । यथाविधानसम्पत्या दान देय तदर्थिनाम् ॥१३॥" —प्रबोधसार पृ०१८७। २ "अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥"—तत्त्वार्थसूत्र ७-३८। ३ "विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेष ॥"—तत्त्वार्थसूत्र ७-३९। "पात्रदातृविधिद्रव्यविशेषैस्तद्विशिष्यते । यथाम्बु तोयदैर्वान्त स्थाने स्थाने विशिष्यते ॥१५॥"—प्रबोधसार पृ० १८८।

परलोकधिया कश्चित्कश्चिदैहिकचेतसा ।
औचित्यमनसा कश्चित्सतां वित्तव्ययक्रिया ॥७६९॥

परलोकैहिकौचित्येष्वस्ति येषां न धीः समा ।
धर्मः कार्यं यशश्चेति तेषामेतत् त्रयं कुतः ॥७७०॥

अभयाहारभैषज्यश्रुतभेदाच्चतुर्विधम् ।
दानं मनीषिभिः प्रोक्तं भक्तिशक्तिसमाश्रयम् ॥७७१॥

सौरूप्यमभयादाहुराहाराद्भोगवान् भवेत्[1] ।
आरोग्यमौषधाज्ज्ञेयं श्रुतात्स्याच्छ्रुतकेवली ॥७७२॥

सज्जन पुरुष तीन प्रकारसे अपने धनको खर्च करते हैं कोई परलोककी बुद्धिसे कि पर लोकमें हमें सुख प्राप्त होगा, धन खरचते हैं। कोई इस लोकके लिए धन खरचते हैं और कोई उचित समझकर धन खरचते हैं। किन्तु जिन्हें न परलोकका ध्यान है न इहलोकका ध्यान है और न औचित्यका ही ध्यान है वे न धर्म कर सकते हैं, न अपने लौकिक कार्य कर सकते हैं और न यश ही कमा सकते हैं ॥ ७६९–७७० ॥

भावार्थ—इस लोककी बुद्धिसे धन खरचनेसे लौकिक काम विवाह-शादी, रोजगारमें सफलता, लोकसम्मान आदि कार्य होते हैं। तथा परलोककी बुद्धिसे या उचित समझकर दान देनेसे धर्म और यश होता है। जैसे मुनियोंको दान देना आदि, बाढ़पीड़ितोंका या दुर्भिक्ष-पीड़ितोंकी मदद देना, शिक्षा-औषधालयकी आवश्यकता समझकर दान देना आदि। जो इन तीनोंमें धन नहीं खरचते, न उनके लौकिक काम सफल होते हैं और न पारलौकिक। तथा उन्हें यश भी नहीं मिलता।

दानके भेद

बुद्धिमान् पुरुषोंने चार प्रकारका दान बतलाया है—अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान। ये चारों दान अपनी शक्ति और श्रद्धाके अनुसार देने चाहिए ॥ ७७१ ॥

चारों दानोंका फल

अभयदानसे सुन्दर रूप मिलता है। आहार दानसे भोग मिलते हैं। औषधदानसे आरोग्य प्राप्त होता है और शास्त्रदानसे श्रुतकेवली होता है ॥७७२॥

---

१. "आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन । वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥११७॥"—रत्नकरण्ड श्रा० । 'त्यागो दानम् । तत्त्रिविधं आहारदानमभयदानं ज्ञानदानं चेति ।'—सर्वार्थसि० ९–२४ । आहारोसहसत्थाभयभेओ जं चउव्विहं दाणं । तं वुच्चइ दायव्वं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥२३३॥ —वसुनन्दि श्रा० । अन्नपानौषधज्ञानभेदैर्दानं चतुर्विधम् । दातं विनयतो भक्त्या प्राणिनामुपकारकम् ॥८३॥ —अमित० श्रा० ९ परि० । निर्मलाहारपीयूषमौषधश्रुतयोरपि । तथा मनीषिभिर्देयं गृहधर्मप्रवर्तनम् ॥१७॥ —प्रबोधसार पृ० १९ । २. अभीतितोऽभुतमनल्पसत्त्वमाहारतो भोगविभूतिमत्त्वम् । भैषज्यतो रोगविरामुक्तत्वं ज्ञानात् धर्मे वसितत्वम् ॥"—अमरत्नाकर पृ० १२१ । सौरूप्यमभयात् प्राहुराहारात् सर्वसुखता । ज्ञानात् श्रुतमहाधीशो निर्व्याधित्वं तथौषधात् ॥१८॥ —प्रबोधसार पृ० १९ ।

अभयं सर्वसत्त्वानामादौ दद्यात्सुधीः सदा ।
तद्धीने हि वृथा सर्वः परलोकोचितो विधिः ॥७७३॥
दानमन्यद्भवेन्मा वा नरश्चेदभयप्रदः ।
सर्वेषामेव दानाना यतस्तद्दानमुत्तमम् ॥७७४॥
तेनाधीतं श्रुतं सर्वं तेन तप्तं तपः परम् ।
तेन कृत्स्नं कृतं दानं यः स्यादभयदानवान् ॥७७५॥
नवोपचारसंपन्नः समेतः सप्तभिर्गुणैः ।
अन्नैश्चतुर्विधैः शुद्धैः साधूनां कल्पयेत्स्थितिम् ॥७७६॥
प्रतिग्रहोच्चासनपादपूजाप्रणामवाक्कायमनः प्रसादाः ।

अभयदानकी श्रेष्ठता

सबसे प्रथम सब प्राणियोंको अभयदान देना चाहिए। क्योंकि जो अभयदान नहीं दे सकता उस मनुष्यकी समस्त पारलौकिक क्रियाएँ व्यर्थ है ॥७७३॥ और कोई दान दो या न दो, किन्तु अभयदान जरूर देना चाहिए, क्योंकि सब दानोंमें अभयदान श्रेष्ठ है ॥७७४॥ जो अभयदान देता है, वह सब शास्त्रोंका ज्ञाता है, परम तपस्वी है और सब दानोंका कर्ता है ॥७७५॥

भावार्थ—प्राणीमात्रका भय दूर करके उनके जीवनकी रक्षा करना अभयदान है। जो इस दानको करता है वह सब दानोंको करता है; क्योंकि जीवनकी रक्षा सब चाहते है। सबको अपना-अपना जीवन प्रिय है। यदि जीवनपर ही सकट हो तो आहारदान या औषधदान या शास्त्रदान किस कामका। जो मनुष्य अपनेसे दूसरोंकी रक्षा नहीं कर सकता अर्थात् जो अहिंसा धर्मका पालन नहीं करता वह यदि परलोकके लिए धर्मकर्म करे भी तो वह सब व्यर्थ है। क्योंकि धर्मका मूल जीवरक्षा है। यदि मूल ही नहीं तो धर्म कहाँसे हो सकता है। अत प्राणिमात्रको यथाशक्ति जीवनदान देना ही सर्वोत्तम दान है।

[*अब आहारदानको कहते हैं—*]

सात गुणोंसे युक्त दाताको नवधा भक्तिपूर्वक साधुजनोंको अन्न, पान, खाद्य, लेह्यके भेदसे चार प्रकारका शुद्ध आहार देना चाहिए ॥७७६॥

[*अब नवधा भक्ति बतलाते हैं—*]

गृहस्थको मुनियोंकी नवधा भक्ति करनी चाहिए। सबसे पहले अपने द्वारपर मुनिको

---

१ "धर्मार्थकाममोक्षाणा जीवितव्ये यत स्थिति । तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे सन्ति देहिनाम् ॥८४॥ देवैरुक्तो वृणीष्वैक त्रैलोक्यप्राणितव्ययो । त्रैलोक्य वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥८५॥ त्रैलोक्यं न यतो मूल्य जीवितव्यस्य जायते । तद्रक्षता ततो दत्त प्राणिना किं च काक्षितम् । नाभीतिदानतो दान समस्ताधारकारणम् । महीयो निर्मल नित्य गगनादिव विद्यते ॥८७॥"—अमित० श्रा०, ९ परि० । "ज कीरइ परिरक्खा णिच्च मरणभयभीरुजीवाण । त जाण अभयदाण सिहामणि सव्वदाणाण ॥ २३८ ॥"—वसुनन्दिश्रा० । २ अन्नपानखाद्यलेह्यभेदै । "नवपुण्यै प्रतिपत्ति सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन । अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥११३॥"—रत्नकरण्ड० । ३ "प्रतिग्रह उच्चदेशस्थापन पादप्रक्षालनम् अर्चन प्रणमनमित्येवमादिक्रियाविशेषाणा क्रमो विधि ।"—तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ५५९ । "प्रतिग्रहणमत्युच्चै स्थानेऽस्य विनिवेशनम् । पादप्रधावनञ्चार्चा नति शुद्धिश्च सा त्रयी ॥८६॥ विशुद्धिश्चाशनस्येति नवपुण्यानि दानिनाम् ।"—महापुराण ।

विशुद्धिश्च यथोपचाराः कार्या मुनीनां गृहसंमितेन ॥७७७॥
श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः ।
यत्रैते सप्त गुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥७७८॥

आते देखकर उन्हें आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिए कि स्वामी ! ठहरिए, ठहरिए, ठहरिए । य
वे ठहर जायें तो घरमें ले जाकर उन्हें ऊँचे आसनपर बैठाना चाहिए । फिर उनके चरणों
पूजा करनी चाहिए । फिर उन्हें प्रणाम करना चाहिए । फिर उनसे निवेदन करना चाहिए
मेरा मन शुद्ध है, वचन शुद्ध है, काय शुद्ध है और अन्न, जल शुद्ध है । ये नवधा भक्ति हैं ॥७७

भावार्थ—आजकल कुछ लोग इस नवधा भक्तिको व्यर्थ बतलाते हैं । किन्तु यह व्य
नहीं है । इससे एक तो साधुको सद्गृहस्थकी पहचान हो जाती है । वे जान जाते हैं कि य
गृहस्थ कैसा है । इसके यहाँ जो भोजन बना है वह उसने विधिपूर्वक बनाया है या नहीं । इस
मनमें देते हुए कुछ संक्लेश तो नहीं हो रहा है ? आदि । दूसरे, लेनेवालेसे देनेवालेका पद ऊँ
समझा जाता है । अतः यदि नवधा भक्ति न करायी जाये तो गृहस्थ अपनेको ऊँचा मानने ल
और साधुको नीचा मानने लगे । और ऐसा माननेसे धर्मकी साक्षात् मूर्ति साधुजनोंके प्रति अव
का भाव आ जानेसे धर्मके प्रति भी श्रद्धा उठ जाये, अतः मैं जो कुछ देता हूँ वह अपनी भक्ति
बुद्धिसे देता हूँ और मुझसे लेकर भी यही बड़े और पूज्य हैं । इत्यादि भावको बनाये रखने
लिए नवधा भक्तिपूर्वक ही आहारदानकी विधि बतलायी गयी है ।

[अब दाताके सात गुण बतलाते हैं—]

जिस दातामें श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति विज्ञान, अलोभीपना, क्षमा और शक्ति ये सात गु
पाये जाते हैं वह दाता प्रशंसाके योग्य होता है ॥७७८॥

भावार्थ—पात्रदानको अच्छा समझना श्रद्धा है । देते हुए प्रसन्नताका होना सन्तोष है
पात्रके गुणोंमें अनुरागका होना भक्ति है । कैसा द्रव्य देना चाहिए इत्यादि बातोंका ज्ञान होन
विज्ञान है । दान देकर किसी सांसारिक फलकी इच्छा न करना अलोभीपना है । क्रोधके कार

---

२ पर्व । उक्तं हि—प्रतिग्रहोच्चस्थाने च पादक्षालनमर्चनम् । प्रणामो योगशुद्धिश्च भिक्षाशुद्धिश्च ते नव ।
—चारित्रसार पृ १४ । "संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामञ्च । वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधि
माहुः ॥१६८॥"—पुरुषार्थसि । 'पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च । मणवयणकायसु
एसणसुद्धी य दाणविही ॥२२५॥ वसुनन्दि श्रा । प्रतिग्रहोच्चासनपादपूजाप्रणामवाक्कायमनःप्रसादाः । विशु
शुद्धिश्च यथोपचाराः कार्या यतीनां गृहमेधिनेति धर्मरत्नाकर । पृ ११२ ।

१ आहार । २ 'प्रतिग्रहीतरि अनसूयात्यागेऽविषादः दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोगः कुशलाभि
सन्धिता दृष्टफलानपेक्षिता निरुपरोधत्वमनिदानत्वमित्येवमादि दातृविशेषोऽवसेयः । —तत्त्वार्थवार्तिक पृ
५५९ । 'श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च विज्ञानञ्चाप्यलुब्धता । क्षमा त्यागश्च सप्तैते प्रोक्ता दानपतेर्गुणाः ॥८२॥'
महापुराण २ पर्व । 'ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम् । अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्व
मिति हि दातृगुणाः ॥१६९॥"—पुरुषार्थसि । उक्तं हि—श्रद्धा शक्तिरलुब्धत्वं भक्तिर्ज्ञानं दया क्षमा ।
इति श्रद्धादयः सप्त गुणाः स्युर्गृहमेधिनाम् । —चारित्रसार पृ १४ । सद्धा भत्ती तुट्ठी विण्णाण मलुद्धया
खमा सत्ती । जत्थेदे सत्तगुणा तं दायारं पसंसंति ॥२२४॥—वसुनन्दि श्रा । अमितगति श्रा ९-३ ।

तत्र विज्ञानस्येदं लक्षणम्—

विवर्णं विरसं विद्धमसात्म्यं प्रसृतं च यत्।
मुनिभ्योऽन्नं न तद्देयं यच्च भुक्तं गदावहम् ॥७७९॥
उच्छिष्टं नीचलोकार्हमन्योद्दिष्टं विगर्हितम्।
न देयं दुर्जनस्पृष्टं देवयक्षादिकल्पितम् ॥७८०॥
ग्रामान्तरात्समानीतं मन्त्रानीतमुपायनम्।
न देयमापणक्रीतं विरुद्धं वाऽयथर्तुकम् ॥७८१॥
दधिसर्पिपयोभक्ष्यप्रायं पर्युषितं मतम्।
गन्धवर्णरसभ्रष्टमन्यत्सर्वं विनिन्दितम् ॥७८२॥
बालग्लानतपःक्षीणवृद्धव्याधिसमन्वितान्।
मुनीनुपचरेन्नित्यं यथा ते स्युस्तपःक्षमाः ॥७८३॥
शाठ्यं गर्वमवज्ञानं पारिप्लवमसंयमम्।
वाक्पारुष्यं विशेषेण वर्जयेद्भोजनक्षणे ॥७८४॥

मिलनेपर भी क्रोध न करना क्षमा है। और पासमें थोड़ा धन होते हुए भी दानमें विशेष अभिरुचि होना शक्ति है। दाताके ये सात गुण बतलाये है।

[इन गुणोंमें-से विज्ञानगुणका स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं बतलाते हैं—]

दाताके विज्ञानगुणका स्वरूप

जो भोजन विरूप हो, चलितरस हो, फेंका हुआ हो, साधुकी प्रकृतिके विरुद्ध हो, जल गया हो, तथा जो खानेसे रोग पैदा करे, वह भोजन मुनिको नहीं देना चाहिए ॥७७९॥ जो उच्छिष्ट हो—खानेसे बच गया हो, नीच लोगोंके खाने योग्य हो, दूसरोंके लिए बनाया हो, निन्दनीय हो, दुर्जनसे छू गया हो या किसी देवता अथवा यक्षके उद्देश्यसे रखा हो, वह भोजन मुनिको नहीं देना चाहिए ॥७८०॥ जो दूसरे गाँवसे लाया गया हो, या मन्त्रके द्वारा लाया गया हो, या भेंटमें आया हो या बाजारसे खरीदा हो या ऋतुके प्रतिकूल हो, वह भोजन मुनिको नहीं देना चाहिए ॥७८१॥ दही, घी, दूध वगैरह जो बासी भी खानेके योग्य है (?) किन्तु जिसका रूप, गन्ध और स्वाद बदल गया हो वह मुनिको देनेके योग्य नहीं है ॥७८२॥

अवस्थामें छोटे, रोगसे दुर्बल, तपसे दुर्बल, बूढ़े और कोढ़ आदि व्याधियोंसे पीड़ित मुनियोंकी सदा सेवा करनी चाहिए, जिससे वे तप करनेमें समर्थ हो सकें ॥७८३॥ भोजनके समय कपट, घमण्ड, निरादर, चचलता, असयम और कठोर वचनोंको विशेष रूपसे छोड़ना चाहिए अर्थात् वैसे तो इनको सदा ही छोडना चाहिए, किन्तु भोजनके समय तो खास तौरसे छोड़ देना चाहिए; क्योंकि इन सबका मनपर अच्छा असर नहीं पड़ता और मन खराब होनेसे भोजनका भी परिपाक ठीक नहीं होता ॥७८४॥

---

१ अतिजीर्णम्। २ रोगकारि। ३. प्राभृतम्। ४ वासी। ५ अभीष्ट दातुम्। ६ रुजादिक्लिष्टशरीर। ७ कपटत्वम्। ८ निरादर। ९ चञ्चलत्वम्।

अभक्तानां कदर्याणामव्रतानां च सद्मसु ।
न भुञ्जीत तथा साधुर्दैन्यकारुण्यकारिणाम् ॥७८५॥
नाहरन्ति महासत्त्वाश्चित्तेनाप्यनुकम्पिताः ।
किं तु ते दैन्यकारुण्यसंकल्पोज्झितवृत्तयः ॥७८६॥
धर्मेषु स्वामिसेवायां सुतोत्पत्तौ च कः सुधीः ।
अन्यत्र कार्यदैवाभ्यां प्रतिहस्तं समादिशेत् ॥७८७॥
आत्मवित्तपरित्यागात्परैर्धर्मविधापने ।
निःसंदेहमवाप्नोति परभोगाय तत्फलम् ॥७८८॥
भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वरस्त्रियः ।
विभवो दानशक्तिश्च स्वयं धर्मकृतेः फलम् ॥७८९॥

जो भक्तिपूर्वक दान नहीं देते, या अत्यन्त कृपण हैं अथवा अव्रती हैं या दीनता और करुणा उत्पन्न करते हैं अर्थात् अपनी दीनता प्रकट करते हैं, या करुणा बुद्धिसे दान देते हैं, उनके घरपर साधुको आहार नहीं लेना चाहिये ॥ ७८५ ॥

वे साधु बड़े सत्त्वशाली होते हैं, चित्तसे भी बड़े दयालु होते हैं, उनकी वृत्ति दीनता और करुणाजनक संकल्पोंसे रहित होती है। अत वे दीनों और दयापात्रोंके घरपर आहार नहीं करते ॥७८६॥

[जो लोग स्वयं दान न देकर दूसरोंसे दान दिलाते हैं उनके बारेमें ग्रन्थकार कहते हैं—]

जो काम दूसरोंसे कराने लायक है, या जो भाग्यवश हो जाता है उनको छोड़कर धर्मके कार्य, स्वामीकी सेवा और सन्तानोत्पत्तिको कौन समझदार मनुष्य दूसरेके हाथ सौंपता है ? ॥ ७८७ ॥ जो अपना धन देकर दूसरोंके द्वारा धर्म कराता है वह उसका फल दूसरोंके भोगके लिए ही उपार्जित करता है इसमें सन्देह नहीं है ॥ ७८८ ॥ खाद्य पदार्थ, भोजन करनेकी शक्ति, रमण करनेकी शक्ति, सुन्दर स्त्रियाँ, सम्पत्ति और दान करनेकी शक्ति, ये चीजें स्वयं धर्म करनेसे ही प्राप्त होती हैं ॥ ७८९ ॥

भावार्थ—बहुतसे आरामतलब धनी लोग स्वयं धर्म न करके दूसरोंसे धार्मिक कृत्य कराते हैं। भगवान्‌की पूजाके लिए पुजारी रख लेते हैं। पैसा देकर दूसरोंसे विधान वगैरह कराते हैं। कोई साधु वगैरह आते हैं तो अपने नौकरोंको द्वारपर खड़ा कर देते हैं और उनसे ही आहार भी दिलाते हैं। और यह समझते हैं कि चूँकि इसमें हमारा द्रव्य खर्च होता है इसलिए इसका फल हमें ही मिलेगा। ऐसा समझनेवाले भ्रममें हैं। फल द्रव्य खरचनेसे नहीं मिलता किन्तु भावोंसे मिलता है। जो अपना द्रव्य खरचकर आप ही दानादिक देते हैं उसका फल भी वे स्वयं ही

---

१ कृपणानाम् 'आत्मानं धर्मकृत्यञ्च पुत्रदारांश्च पीडयन्। यो लोभात् संचिनोत्यर्थं स कदर्य इति स्मृतः ॥ इति स्मृतिः। अतएव तामसत्वदर्पमत्सरकारुण्यदैन्यातिथमाश्रितानाम्। दत्तं निवासेषु हि साधुवर्गे परानुकम्पाहितधीर्न भुङ्क्ते ॥१९॥ उक्तं च—नाहरन्ति महासत्त्वाश्चित्ते नाप्यनुकम्पिताः। किन्तु ते दैन्यकारुण्यसंकल्पोज्झितवृत्तयः ॥ —धर्मरत्नाकर पृ १२४। २ किं तु—अ ब। ३—ज्झितवृ—अ ब मु। वृत्तय इत्यत किं नाहरन्ति ? अपि तु न। ४ प्रेषयं। ५ अतिकमपि हस्तमिदं न वेद करोति तत्र स्वहस्ते किमपि कर्तुं शक्नोति अतस्तत्र स्वहस्तनियमो नास्ति। ६ निजधनेन परहस्तेन धर्मं कारयति।

शिल्पिकारुकवाक्पण्यसंभलीपतितादिषु[1][2][3][4] ।
देहस्थितिं न कुर्वीत [5]लिङ्गिलिङ्गोपजीविषु ॥७९०॥
दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः[6][7] ।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥७९१॥
पुष्पादिरशनादिर्वा[8] न स्वयं धर्म एष हि ।
क्षित्यादिरिव धान्यस्य किं तु भावस्य[9] कारणम् ॥७९२॥

भोगते है । किन्तु जो अपना धन खरचकर दूसरोसे दानादिक दिलाते हैं उसका फल भी दूसरे ही भोगते है । ऐसा देखा जाता है कि बहुतसे मनुष्योंके पास खूब धन होता है मगर वे न उसे खा सकते हैं और न दूसरोंको दे सकते है । सुन्दर स्त्री होती है मगर शरीरमें भोग शक्ति नहीं होती है । ये सब दूसरोंसे धर्म करानेका ही फल है । खानेको भी हो और हजम करनेकी शक्ति भी हो, सुन्दर स्त्री हो और रमण करनेकी शक्ति भी हो, खूब धन हो और दान देनेकी शक्ति भी हो, ये बातें तो स्वयं धर्म करनेसे ही प्राप्त होती हैं । अतः धर्मके कार्य स्वयं ही करने चाहिए ।

मुनियोंके आहार लेनेके अयोग्य घर

नाई, धोबी, कुम्हार, लुहार, सुनार, गायक, भाट, दुराचारिणी स्त्री, नीच लोगोंके घरमें तथा जो मुनियोंके उपकरण बेचकर उनसे आजीविका करते है उनके घरमें मुनिको आहार नहीं करना चाहिए ॥ ७९० ॥

जिन-दीक्षा तथा आहारदानके योग्य वर्ण

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण ही जिनदीक्षाके योग्य है किन्तु आहार दान देनेके योग्य चारों ही वर्ण हैं, क्योंकि सभी प्राणियोंको मानसिक, वाचनिक और कायिक धर्मका पालन करनेकी अनुमति है ॥ ७९१ ॥

पुष्प वगैरह और भोजन वगैरह स्वयं धर्म नहीं है, किन्तु जैसे पृथ्वी वगैरह धान्यकी उत्पत्तिमें कारण हैं वैसे ही ये चीजें शुभ भावोंके होनेमें कारण हैं ॥ ७९२ ॥

भावार्थ—पूजामें जो पुष्प वगैरह चढ़ाये जाते हैं और मुनिको जो आहार दिया जाता है सो ये पुष्प वगैरह द्रव्य या भोजन स्वयं धर्म नहीं है । किन्तु इनके निमित्तसे जो शुभ भाव होते हैं वे धर्मके कारण है क्योंकि उनसे शुभ कर्मका बन्ध होता है ।

---

१ "तेषा शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्यकारवः । कारवो रजकाद्याः स्युः ततोऽन्ये स्युरकारवः ॥१८५॥ कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्याऽस्पृश्यविकल्पतः । तत्रास्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्तकादयः ॥१८६॥"—महापुराण, १६ पर्व । २ वन्दिजन । ३ कुट्टिनी । ४ जातिबाह्य । ५ यतीनामुपकरणजीवित गृहे आहारो न कर्तव्य । "गायकस्य तलारस्य नीचकर्मोपजीविनः । मालिकस्य विलिङ्गस्य वेश्यायास्तैलिकस्य च ॥३८॥ दीनस्य सूतिकायाश्च छिंपकस्य विशेषतः । मद्यविक्रयिणो मद्यपानसंसर्गिणश्च न ॥३९॥ क्रियते भोजनं गेहे यतिना भोक्तुमिच्छुना । एवमादिकमप्यन्यच्चिन्तनीयं स्वचेतसा ॥४०॥"—नीतिसार । ६ वर्णा । ६ शूद्रानामपि विधा-आहार उचितो योग्य दीयते इत्यर्थः । ७ चाण्डालादयोऽपि मनोवाक्कायैः कृत्वा पुण्यमुपार्जयन्ति दोषो नास्ति । ८ —दिरासनादिर्वा आ० । "पुष्पादि स्तवनादिर्वा नैव धर्मस्य साधनम् । भावो हि धर्महेतुः स्यात्तदत्र प्रयतो भवेत् ॥३१॥"—प्रबोधसार पृ० १९५ । ९. परिणामनिर्मलतायाः ।

युक्तं हि श्रद्धया साधु सकृदेव मनो नृणाम् ।
परां शुद्धिमवाप्नोति लोहं सिद्धरसैरिव ॥७९३॥
तपोदानार्चनाहीनं मनः सदपि देहिनाम् ।
तत्फलप्राप्तये न स्यात्कुशूलस्थितबीजवत् ॥७९४॥
आवेशिकाश्रितज्ञातिदीनात्मसु यथाक्रमम् ।
यथौचित्यं यथाकालं यज्ञपञ्चकमाचरेत् ॥७९५॥
[1]काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके ।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥७९६॥
यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम् ।
तथा पूर्वमुनिच्छाया पूज्याः संप्रति संयताः ॥७९७॥
तदुत्तमं भवेत्पात्रं यत्र रत्नत्रयं नरे ।
वैराग्यवती भवेन्मध्यमन्यथाऽऽसंयतः सुदृक् ॥७९८॥

मनुष्योंका मन यदि एक बार भी सच्ची श्रद्धासे युक्त हो तो वह उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त होता है। जैसे पारदके योगसे लोहा अत्यन्त शुद्ध हो जाता है ॥ ७९३ ॥ और प्राणियोंके मन होते हुए भी यदि वह मन तप, दान और पूजामें रत न हो तो जैसे खत्तीमें पड़ा हुआ बीज धान्यको उत्पन्न नहीं कर सकता। वैसे ही वह मन भी उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त नहीं कर सकता। अतः यदि मन है तो उसे शुभ कार्योंमें लगाना चाहिए ॥ ७९४ ॥

अपने घरपर आये हुए अतिथिको, अपने आश्रितको, सजातीयको और दीन मनुष्योंको समयके अनुसार यथायोग्य पाँच दान क्रमशः देने चाहिए ॥ ७९५ ॥

कलिकालमें जिनरूपधारियोंके दर्शन दुर्लभ हैं

यह बड़ा आश्चर्य है कि इस कलिकालमें जब मनुष्योंका मन चंचल रहता है और शरीर अन्नका कीड़ा बना रहता है, आज भी जिनरूपके धारक मनुष्य पाये जाते हैं ॥ ७९६ ॥ जैसे पाषाण वगैरहमें अंकित जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिकृति पूजने योग्य है, लोग उसकी पूजा करते हैं, वैसे ही आजकलके मुनियोंको भी पूर्वकालके मुनियोंकी प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिए ॥७९७॥

पात्रके तीन भेद

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे विभूषित मुनि उत्तम पात्र हैं। अणुव्रती

---

१ अतिथि। २ दानपञ्चकम्। 'अतिथिभ्य वेश्मनां पूजनं च सर्वदा। पूजां किंचिद् च यथाशक्ति न हापयेत् ॥२१॥ —मनुस्मृति अ० ४। आवेशिकाश्रितेषु दरिद्रेषु दीनानुकम्पेषु यथायथं तु। देयोचितं कालबलानुरूपं दद्यान्न किंचित् स्वयमेव बुद्ध्या ॥ —धर्मरत्नाकर पृ० १२६। ३ काले कलौ चलेऽतिचपलके च चित्ते तदाहारमये च काये। चित्रं यदद्यापि जिनेन्द्ररूपधरा नरा दृष्टिपथं प्रयान्ति ॥६२॥ यतो यथा चैत्यनायकानां लेपादिकृष्टं प्रतिबिम्बकम्यम्। तथैव पूर्वप्रतिबिम्बबाह्या सम्प्रत्युपास्याः यतयः मुनीभि ॥६३॥ —धर्मरत्नाकर पत्र १२६। 'वन्द्यं यथार्हतां रूपं शिलालेपादिनिर्मितम्। तथा पूर्वमुनिच्छाया वन्द्याः संप्रति संयताः ॥१४॥'—प्रबोधसार पृ० १९७। विन्यस्यैदंयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव। भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् पुनः श्रेयोऽतिचर्चिनाम् ॥६४॥" सागारधर्मा २ अ० ।४ 'पात्रं दानादिविशेषे अनल्पो गुणवान् भवेत्। तत्र भेदा त्रयस्तावत् विधेयैर्भेदमुपेयिवत् ॥११९॥ जघन्यं शीलवान् मिथ्यादृष्टिश्च पुरुषो भवेत्। सद्दृष्टिर्मध्यमं पात्रं

यत्र रत्नत्रयं नास्ति तदपात्रं विदुर्बुधाः[1] ।
उप्तं तत्र वृथा सर्वमूषरायां क्षिताविव ॥७९९॥
पात्रे दत्तं भवेदन्नं पुण्याय गृहमेधिनाम् ।
शुक्ताविव हि मेघानां जलं मुक्ताफलं भवेत् ॥८००॥
मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु चारित्राभासभागिषु ।
दोषायैव भवेद्दानं पयःपानमिवाहिषु ॥८०१॥[2]
कारुण्यादथवौचित्यात्तेषां किञ्चिद्दिशन्नपि ।
दिशेदुद्धृतमेवान्नं[3] गृहे भुक्तिं न कारयेत् ॥८०२॥
सत्कारादिविधावेषां[4] दर्शनं दूषितं भवेत् ।
यथा विशुद्धमप्यम्बु विषभाजनसंगमात् ॥८०३॥
शाक्यनास्तिकयागज्ञजटिलाजीवकादिभिः[5] ।
सहावासं सहालापं तत्सेवां च विवर्जयेत् ॥८०४॥

श्रावक मध्यमपात्र है और असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र है ॥७९८॥ जिस मनुष्यमें न सम्यग्दर्शन है, न सम्यग्ज्ञान है और न सम्यक्चारित्र है उसे विद्वज्जन अपात्र समझते हैं। जैसे ऊसर भूमिमें कुछ भी बोना व्यर्थ होता है वैसे ही अपात्रको दान देना भी व्यर्थ है ॥७९९॥ पात्रको आहार दान देनेसे गृहस्थोंको पुण्य फल प्राप्त होता है; क्योंकि मेघका पानी सीपमें ही जानेसे मोती बनता है, अन्यत्र नहीं ॥८००॥ जिनका चित्त मिथ्यात्वमें फँसा है और जो मिथ्या चारित्रको पालते हैं, उनको दान देना बुराईका ही कारण होता है, जैसे साँपको दूध पिलानेसे वह जहर ही उगलता है ॥८०१॥ ऐसे लोगोंको दयाभावसे अथवा उचित समझकर यदि कुछ दिया भी जाये तो भोजनसे जो अवशिष्ट रहे वही देना चाहिए। किन्तु घरपर नहीं जिमाना चाहिए ॥८०२॥ जैसे विषैले बरतनके सम्बन्धसे विशुद्ध जल भी दूषित हो जाता है वैसे ही इन मिथ्यादृष्टि साधुवेषियोंका आदर-सत्कार करनेसे श्रद्धान दूषित हो जाता है ॥८०३॥ अत. बौद्ध, नास्तिक, याज्ञिक, जटाधारी तपस्वी और आजीवक आदि सम्प्रदायके साधुओंके साथ निवास, बातचीत और उनकी

नि शीलव्रतभावन ॥१४०॥ सद्दृष्टि शीलसम्पन्न पात्रमुत्तममिष्यते । कुदृष्टिर्यो विशीलश्च नैव पात्रमसौ मत ॥१४१॥ कुमानुषत्वमाप्नोति जन्तुर्ददपात्रके । अशोधितमिवालाम्बु तद्धि दान प्रदूषयेत् ॥१४२॥ आमपात्रे यथाक्षिप्त मङ्क्षु क्षीरादि नश्यति । अपात्रेऽपि तथा दत्त तद्धि स्व तच्च नाशयेत् ॥१४३॥"—महापुराण, २० पर्व । "पात्र त्रिभेदमुक्त संयोगो मोक्षकारणगुणानाम् । अविरत सम्यग्दृष्टिर्विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१७१॥"—पुरुषार्थसि० । अमितगतिश्रावकाचार परि० १० ।

१ "काले ददाति योऽपात्रे वितीर्ण तस्य नश्यति । निक्षिप्तमूषिरे बीज किं कदाचिदवाप्यते ॥३६॥" —अमि० श्रा०, ९ परि० । "जस्स ण तओ ण चरण ण चावि जस्सत्थि वरगुणो कोई । त जाणेह अपत्त अफल दाण कय तस्स ॥५३१॥ ऊसरखित्ते बीय सुक्खे रुक्खे य णीरअहिसेओ । जह तह दाणमवत्ते दिण्ण खु निरत्थय होई ॥५३२॥"—भावसग्रह । २ "मिथ्यात्ववासितमनस्सु तथा चरित्राभासप्रचारिषु कुदर्शिनिषु प्रदानम् । प्रायो ह्यनर्थजननप्रतिघातिहेतु क्षीरप्रयाणमिव विद्ध्यनिलाशनेषु ॥६६॥' —धर्मरत्ना० प० १२६ । ३ स्वभोजनानन्तरमुद्धृत अधिक स्थित तदेव न तु पूर्वं समीचीनम् । ४ कुदृशाम् । ५. "पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकाञ्छठान् । हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥३०॥"—मनुस्मृति अ० ४ ।

अज्ञाततत्त्वचेतोभिर्दुराग्रहमलीमसैः ।
युद्धमेव भवेद्गोष्ठ्यां दण्डादण्डि कचाकचि ॥८०५॥
भयलोभोपरोधाद्यैः[1] कुलिङ्गिषु निषेवणे[2] ।
अवश्यं दर्शनं म्लायेन्नीचैराचरणे सति ॥८०६॥
बुद्धिपौरुषयुक्तेषु दैवायत्तविभूतिषु ।
नृषु कुत्सितसेवायां दैन्यमेवातिरिच्यते ॥८०७॥

सभा वगैरह नहीं करना चाहिए ॥८०४॥ तत्त्वोंसे अनजान और दुराग्रही मनुष्योंके साथ बातचीत करनेसे लड़ाई ही होती है जिसमें डण्डा-डण्डी और जूतम जाजार तककी नौबत आ सकती है ॥ ८०५ ॥ जो भी पुरुष किसी अनिष्टके भयसे या पुत्र वगैरहके लालचसे या दूसरोंके आग्रहसे कुलिङ्गी साधुओंकी सेवा करते हैं, उनका श्रद्धान नीच आचरण करनेसे अवश्य मलिन होता है ॥८०६॥ सभी मनुष्य बुद्धिशाली हैं और यथायोग्य पौरुष-उद्योग भी करते हैं किन्तु सम्पत्तिका मिलना तो भाग्यके अधीन है। फिर भी यदि मनुष्य बुरे मनुष्योंकी सेवा करता है तो यह तो दीनताका अतिरेक है ॥८०७॥

भावार्थ—जो स्वयं सन्मार्गमें लगे हुए हैं और दूसरोंको सन्मार्गमें लगाते हैं या सन्मार्ग-पर सच्ची आस्था रखते हैं वे पात्र कहलाते हैं। उन्हें श्रद्धा और भक्तिपूर्वक दान देना चाहिए। किन्तु जो साधुका तो वेष धारण किये हैं किन्तु सच्चे साधुका एक भी चिह्न जिनमें नहीं है ऐसे गंजेड़ी, भंगेड़ी, जटाजूटधारी, भिखमंगे साधु पात्र नहीं हैं किन्तु अपात्र हैं। उन्हें साधु समझकर दान देना मूर्खता है। ऐसे लोगोंको यदि कुछ दिया जा सकता है तो पात्र-बुद्धिसे नहीं, किन्तु दया बुद्धिसे। और दया-बुद्धिसे या आवश्यकता समझकर भी जो दिया जाये वह इसी रूपमें दिया जाना चाहिए कि हम एक भूखे मनुष्यकी या दुःखी मनुष्यकी मदद कर रहे हैं, न कि इस रूपमें, जिससे ऐसा लगे कि हम किसी साधुकी अभ्यर्थना कर रहे हैं क्योंकि ऐसा करनेसे अपनी सन्तानपर या दूसरोंपर गलत प्रभाव पड़नेका भय नहीं रहता और इससे उन साधु-वेषियोंको दूसरोंपर रंग जमानेका मौका नहीं मिलता। ऐसा देखा गया है कि साधुका वेष बनाकर घर-घर भीख माँगनेवाले मनुष्योंकी कमजारीका लाभ उठाकर कभी-कभी उन्हें खूब ठगते हैं। उदाहरणके लिए घरमें कोई बीमार हुआ तो भय दिखाकर अपनी भभूत वगैरहके द्वारा घरवालोंपर रंग जमा लेते हैं। कभी सोना, चाँदी दूना करनेका लोभ दिखाकर गहरा हाथ मार देते हैं। पहले मनुष्य लोभमें आकर फँस जाता है और पीछे पछताता है। इसीलिए ग्रन्थ-कारने भय, लोभ और दूसरोंके कहनेसे भी इन प्रपंची साधुओंकी सेवा करनेका कड़ा निषेध किया है। मनुष्योंको यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि जो कुछ मनुष्यको मिलता है वह उसके पूर्व जन्ममें किये हुए या इस जन्ममें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल है। अपने शुभाशुभ कर्मोंके सिवा कोई किसीको न कुछ दे सकता है और न उसका कोई कुछ भला या बुरा कर सकता है। इसलिए उसे यह भाव अपने मनसे निकाल ही देना चाहिए, कोई दूसरा कुछ दे सकता है।

---

१ भयाद्। २ सेवायां सत्यां। भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम्। प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥१॥ —रत्नकरण्डश्रा०।

समयी[1] साधकः[2] साधुः सूरिः समयदीपकः ।
तत्पुन पञ्चधा पात्रमामनन्ति मनीषिणः ॥८०८॥
गृहस्थो वा यतिर्वापि जैनं समयमास्थितः ।
यथाकालमनुप्राप्तः पूजनीयः सुदृष्टिभिः ॥८०९॥
ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तज्ञ सुप्रज्ञः[3] कार्यकर्मसु ।
मान्यः समयिभिः सम्यक्परोक्षार्थसमर्थधीः ॥८१०॥
दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्याः क्रियास्तद्विरहे कुतः ।
तदर्थं परपृच्छायां कथं च समयोन्नतिः ॥८११॥

ो ऐसा दृढ़ विश्वास करके प्रयत्नशील रहेगा वह कभी किसीके चक्करमें नहीं फँसेगा। अतः ीनताको दूर करके सदा सच्चे निःस्पृही दिगम्बर गुरुओंकी ही सेवा-भक्ति करनी चाहिये। योंकि वे किसीसे कुछ माँगते नहीं हैं और न देनेवालेसे प्रसन्न होते है और न न देनेवालेपर ोध करते हैं। वे भोजनके लिए नहीं जीते किन्तु जीनेके लिए भोजन करते है। और उनका ीना जीनेके लिए नहीं है किन्तु स्व और परके कल्याणके लिए है।

[अब दूसरी तरहसे पात्रके पाँच भेद और उनका स्वरूप बतलाते हैं—]

बुद्धिमान् पुरुष समयी, साधक, साधु, आचार्य और धर्मके प्रभावकके भेदसे पात्रके पाँच ेद मानते हैं ॥८०८॥ गृहस्थ हो या साधु, जो जैन धर्मका अनुयायी है उसे समयी या साधर्मी हते हैं। ये साधर्मी पात्र यथाकाल प्राप्त होनेपर सम्यग्दृष्टि भाइयोंको उनका आदर-सत्कार करना चाहिए ॥८०९॥ जिनकी बुद्धि परोक्ष अर्थको भली प्रकारसे जाननेमें समर्थ है उन ज्योतिषशास्त्र, मन्त्रशास्त्र और निमित्तशास्त्रके ज्ञाताओंका तथा कार्यक्रम अर्थात् प्रतिष्ठा आदिके ज्ञाताका साधर्मी भाइयोंको सम्मान करना चाहिए ॥८१०॥

भावार्थ—प्रति अ आ और ज. में 'कायकर्मसु' पाठ है। और टिप्पणमें उसका अर्थ शारीरिक चिकित्सा करनेवाला वैद्य दिया है और प्रबोधसारमें भी वैद्य ही अर्थ लिया है। किन्तु धर्मरत्नाकरमें और सागारधर्मामृतमें उद्धृत श्लोकमें 'कायकर्मसु' पाठ है। हमें यही पाठ ठीक प्रतीत होता है क्योंकि आगेके श्लोकमें कहा है कि उसके अभावमें दीक्षा, यात्रा, प्रतिष्ठा आदि क्रिया कैसे हो सकती हैं। इन क्रियाओंको तो वही करा सकता है जो क्रियाकाण्डमें कुशल हो। अत यही पाठ समुचित प्रतीत होता है।

यदि वह न हो तो जिनदीक्षा, तीर्थयात्रा और जिन बिम्बप्रतिष्ठा वगैरह क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं; क्योंकि इनमें मुहूर्त देखनेके लिए ज्योतिषविद्या और क्रियाकर्म करानेके लिए प्रतिष्ठाशास्त्रके ज्ञाताकी आवश्यकता होती है। शायद कहा जाये कि दूसरे लोगोंमें जो ज्योतिषी या मन्त्रशास्त्री है उनसे काम चला लिया जायेगा। किन्तु इस तरह दूसरोंसे पूछनेसे अपने धर्मकी उन्नति कैसे हो सकती है ॥ ८११ ॥

---

१ "समयिकसाधकसमयद्योतकनैष्ठिकगणाधिपान् धिनुयात्। दानादिना यथोत्तरगुणरागात् सद्गृही नित्यम् ॥५१॥"—सागारधर्मा०, अ० २। २ स्रावक अ० ज०। श्रावक मु०। ३. कायकर्मसु—अ०, आ०, ज०। वैद्य।

मूलोत्तरगुणश्लाघ्यैस्तपोभिर्निष्ठितस्थितिः।
साधुः साधु भवेत्पूज्यः पुण्योपार्जितपण्डितः ॥८१२॥
ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरःसरः।
सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः ॥८१३॥
लोकवित्वकवित्वाद्यैर्वादवाग्मित्वकौशलैः।
मार्गप्रभावनोद्युक्ताः सन्तः पूज्या विशेषतः ॥८१४॥
[1]मान्यं ज्ञानं तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम्।
द्वयं यत्र स देवः स्याद् द्विहीनो गणपूरणः ॥८१५॥
अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्याद्विरतौ विनयक्रिया।
अन्योन्यं क्षुल्लके चाहमिच्छाकारवचः सदा ॥८१६॥

भावार्थ—अपने धर्मकी उन्नति तो तभी हो सकती है जब अपनेमें भी सब आवश्यक बातोंके जाननेवाले हों। तथा अपने मुहूर्तविचारमें भी दूसरोंसे अन्तर है और प्रतिष्ठा आदि विधि तो बिलकुल ही अलग है। अतः जैन ज्योतिष और जैन मन्त्रशास्त्रके और प्रतिष्ठाशास्त्रके वेत्ताओंका भी सम्मान करना चाहिए, जिससे वे बने रहें और हमारे धर्मकी क्रियाएँ शुद्ध विधिपूर्वक चालू रहें।

मूलगुण और उत्तरगुणोंसे युक्त तपस्वी महात्माको साधु कहते हैं। जो पुण्यको कमानेमें चतुर हैं उन्हें साधुकी भक्तिभावसे पूजा करनी चाहिए ॥ ८१२ ॥

जो ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्डमें चतुर्विध संघके मुखिया होते हैं तथा संसाररूपी समुद्रसे पार उतारनेमें समर्थ हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। उनकी देवके समान आराधना करनी चाहिए ॥ ८१३ ॥

जो लोकज्ञता तथा कवित्व आदिके द्वारा और शास्त्रार्थ तथा वक्तृत्वशक्तिके कौशल-द्वारा जैन धर्मकी प्रभावना करनेमें सदा संलग्न रहते हैं उन सज्जन पुरुषोंका विशेषरूपसे समादर करना चाहिए ॥ ८१४ ॥

भावार्थ—जैन धर्मकी प्रभावना करनेके लिए लोक चतुर व्यक्ति, सुयोग्य कवि, शास्त्रार्थी विद्वान् और कुशल वक्ता भी आवश्यक हैं। अतः उनका भी समादर होना आवश्यक है।

तपसे हीन ज्ञान भी समादरके योग्य है। और ज्ञानसे हीन तप भी पूजनीय है। किन्तु जिसमें ज्ञान और तप दोनों हैं वह देवता है और जिसमें दोनों नहीं हैं वह केवल संघका स्थान भरनेवाला है ॥ ८१५ ॥

अभिवादनकी विधि

जिन-मुद्राके धारक साधुओंको 'नमोऽस्तु' कहकर अभिवादन करना चाहिए। त्यागियों-की विनय करना चाहिए। और क्षुल्लक त्यागी परस्परमें एक दूसरेको सदा 'इच्छामि' कहकर

---

१. ज्ञानं तपोहीनमपि प्रपूज्यं ज्ञानं प्रहीणं मुनयोऽपि पूज्यम्। यत्र द्वयं देव स एव पूज्यो द्वयेन हीनो गणपूरणः स्यात् ॥९८॥"—धर्मरत्ना० प० १२७। मान्यं ज्ञानं तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम्। द्वयं यत्र स देवः स्याद् द्विहीनो गणपूरणः ॥४६॥ —प्रबोधसार पृ० २ २।

अनुवीचीवचो भाष्यं सदा पूज्यादिसंनिधौ ।
यथेष्टं हसनालापान् वर्जयेद्गुरुसंनिधौ ॥८१७॥
भुक्तिमात्रप्रदाने[1] हि का परीक्षा तपस्विनाम् ।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्ध्यति ॥८१८॥
सर्वारम्भप्रवृत्तानां[2] गृहस्थानां धनव्यय ।
बहुधास्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा ॥८१९॥
यथा यथा विशिष्यन्ते तपोज्ञानादिभिर्गुणैः ।
तथा तथाधिकं पूज्या मुनयो गृहमेधिभिः ॥८२०॥
दैवाल्लब्धं धनं धन्यैर्वप्तव्यं समयाश्रिते ।
एको मुनिर्भवेल्लभ्यो न लभ्यो वा यथागमम् ॥८२१॥
उच्चावचजनप्राय. समयोऽयं जिनेशिनाम् ।
नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालय ॥८२२॥
ते नामस्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधाः ।
भवन्ति मुनयः सर्वे दानमानादिकर्मसु ॥८२३॥
उत्तरोत्तरभावेन विधिस्तेषु विशिष्यते ।
पुण्यार्जने गृहस्थानां[3] जिनप्रतिकृतिष्विव ॥८२४॥

अभिवादन करते है । पूज्य पुरुषोंके सामने सदा शास्त्रानुकूल वचन बोलना चाहिए । तथा गुरुजनों के समीपमें स्वच्छन्दतापूर्वक हँसी-मजाक नहीं करना चाहिए ॥ ८१६—८१७ ॥

केवल आहारदानके लिए साधुओंकी परीक्षा नहीं करनी चाहिए । चाहे वे सज्जन हों या दुर्जन हों । गृहस्थ तो दान देनेसे शुद्ध होता है ॥ ८१८ ॥ गृहस्थ लोग अनेक आरम्भोंमें फँसे रहते है और उनका धन भी अनेक प्रकारसे खर्च होता है । इससे तपस्वियोंको आहारदान देनेमें ज्यादा सोच-विचार नहीं करना चाहिए ॥ ८१९ ॥ मुनिजन जैसे-जैसे तप, ज्ञान आदि गुणोंसे विशिष्ट हों वैसे-वैसे गृहस्थोंको उनका अधिक समादर करना चाहिए ॥ ८२० ॥ धन भाग्यसे मिलता है, अत भाग्यशाली पुरुषोंको आगमानुकूल कोई मुनि मिले या न मिले, किन्तु उन्हें अपना धन जैन धर्मानुयायिओंमें अवश्य खर्च करना चाहिए ॥ ८२१ ॥ जिन भगवान्का यह धर्म अनेक प्रकारके मनुष्योंसे भरा है । जैसे मकान एक खम्भेपर नहीं ठहर सकता वैसे ही यह धर्म भी एक पुरुषके आश्रयसे नहीं ठहर सकता ॥ ८२२ ॥

मुनियोंके चार भेद

नाम, स्थापना, द्रव्य और भावनिक्षेपकी अपेक्षासे मुनि चार प्रकारके होते हैं और वे सभी दान, सम्मानके योग्य हैं ॥ ८२३ ॥ किन्तु गृहस्थोंके पुण्य उपार्जनकी दृष्टिसे जिनविम्बोंकी तरह उन चार प्रकारके मुनियोंमें उत्तरोत्तर रूपसे विशिष्ट विधि होती जाती है ॥ ८२४ ॥

१ "भुक्तिमात्रप्रदाने तु शूद्रो दानेन शुद्धयति"—सागारधर्मामृत अ० २–६४ श्लोकका टिप्पण । "अनेकवारम्भविजृम्भितानां वित्तव्ययो हर्म्यवतामगण्य । तद्भुक्तिमात्रा हतये (?) न योग्या विचारणा लिङ्गिषु तीर्थहन्त्री ॥७०॥"—धर्मरत्ना०, प० १२७ । २ "दैवायत्ता धनलवभरा प्राप्य भूति गृहस्था वप्तव्यास्तो जिनपसमयाध्यासितप्राणिभूमौ । साधु शुद्धव्रतगुणगण सूत्रमार्गानुसारी चैको लक्षे क्षपितकलिलो लभ्यते वा न वेति ॥७१॥"–धर्मरत्ना० प० १२७ । ३. –र्जनगृह–अ०, ज०, मु० । ४ जिनप्रतिमावत् । ।

मूलोत्तरगुणश्लाघ्यैस्तपोभिर्निष्ठितस्थितिः ।
साधुः साधु भवेत्पूज्यः पुण्योपार्जितपण्डितः ॥८१२॥
ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरःसरः ।
सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः ॥८१३॥
लोकवित्त्वकवित्वाद्यैर्वादवाग्मित्वकौशलैः ।
मार्गप्रभावनोद्युक्ताः सन्तः पूज्या विशेषतः ॥८१४॥
[1]मान्यं ज्ञानं तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम् ।
द्वयं यत्र स देवः स्याद् द्विहीनो गणपूरणः ॥८१५॥
अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्याद्विरतौ विनयक्रिया ।
अन्योन्यं क्षुल्लके चाहमिच्छाकारवचः सदा ॥८१६॥

भावार्थ—अपने धर्मकी उन्नति तो तभी हो सकती है जब अपनेमें भी सब आवश्यक बातोंके जाननेवाले हों। तथा अपने मुहूर्तविचारमें भी दूसरोंसे अन्तर है और प्रतिष्ठा आदि विधि तो बिल्कुल ही अलग है। अतः जैन ज्योतिष और जैन मन्त्रशास्त्रके और प्रतिष्ठाशास्त्रके वेत्ताओंका भी सम्मान करना चाहिए, जिससे वे बने रहें और हमारे धर्मकी क्रियाएँ शुद्ध विधिपूर्वक चालू रहें।

मूलगुण और उत्तरगुणोंसे युक्त तपस्वी महात्माको साधु कहते हैं। जो पुण्यको कमानेमें चतुर हैं उन्हें साधुकी भक्तिभावसे पूजा करनी चाहिए ॥ ८१२ ॥

जो ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्डमें चतुर्विध संघके मुखिया होते हैं तथा संसाररूपी समुद्रसे पार उतारनेमें समर्थ हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। उनकी देवके समान आराधना करनी चाहिए ॥ ८१३ ॥

जो लोकज्ञता तथा कवित्व आदिके द्वारा और शास्त्रार्थ तथा वक्तृत्वशक्तिके कौशल-द्वारा जैन धर्मकी प्रभावना करनेमें सदा संलग्न रहते हैं उन सज्जन पुरुषोंका विशेषरूपसे समादर करना चाहिए ॥ ८१४ ॥

भावार्थ—जैन धर्मकी प्रभावना करनेके लिए लोक चतुर व्यक्ति, सुयोग्य कवि, शास्त्रार्थी विद्वान् और कुशल वक्ता भी आवश्यक हैं। अतः उनका भी समादर होना आवश्यक है।

तपसे हीन ज्ञान भी समादरके योग्य है। और ज्ञानसे हीन तप भी पूजनीय है। किन्तु जिसमें ज्ञान और तप दोनों हैं वह देवता है और जिसमें दोनों नहीं हैं वह केवल संघका स्थान भरनेवाला है ॥ ८१५ ॥

अभिवादनकी विधि

जिन-मुद्राके धारक साधुओंको 'नमोऽस्तु' कहकर अभिवादन करना चाहिए। त्यागियों-की विनय करना चाहिए। और क्षुल्लक त्यागी परस्परमें एक दूसरेका सदा 'इच्छामि' कहकर

---

१. ज्ञानं तपोहीनमपि प्रपूज्यं ज्ञानं प्रहीणं सुतपोऽपि पूज्यम् । यत्र द्वयं देववदेव पूज्यो द्वयेन हीनो गणपूरणं स्यात् ॥९८॥"—धर्मरत्ना० प० १२७ । मान्यो बोधस्तपोहीनो बोधहीनो तपोऽर्हितम् । द्वयं यत्र स देवः स्यात् द्विहीनो गणवेषभृत् ॥७६॥ —प्रबोधसार पृ० ५२ ।

यदात्मवर्णनप्रायं क्षणिकाहार्यविभ्रमम् ।
परप्रत्ययसंभूतं दानं तद्राजसं मतम् ॥८२८॥
पात्रापात्रसमावेक्ष्यमसत्कारमसंस्तुतम् ।
दासभृत्यकृतोद्योगं दानं तामसमूचिरे ॥८२९॥

कहना भावनिक्षेप है ॥८२७॥

भावार्थ—लोकमें प्रत्येक वस्तुका चार रूपसे व्यवहार पाया जाता है। वे चार रूप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जैसे मुनिको ले लीजिए। 'मुनि' पदका व्यवहार चार रूपसे देखा जाता है। अनेक लोग अपने लड़कोंका नाम मुनि रख लेते हैं। वे लडके गुणोंसे मुनि नहीं है किन्तु नामसे मुनि है। मुनियोंकी मूर्तियाँ स्थापनासे मुनि हैं उनमें मुनियोंकी स्थापना की गयी है। नाम और स्थापनामें यह अन्तर है कि यद्यपि स्थापना होती तो नामपूर्वक ही है किन्तु जिस व्यक्तिकी स्थापना की गयी हो उसके पदके अनुसार उसका आदर वगैरह भी किया जाता है, परन्तु नाममें यह बात नहीं है। जिस बच्चेका नाम मुनि है उसका मुनिकी तरह कोई समादर नहीं करता किन्तु मुनिकी मूर्तिको सब कोई पूजते हैं। और जो व्यक्ति भविष्यमें मुनि होनेवाला है और उसके लिए प्रयत्नशील है वह द्रव्यकी अपेक्षा मुनि है। उसमें मुनिपना द्रव्यरूपसे है भाव रूपसे नहीं है। किन्तु जो बाह्य और अन्तरसे मुनिपदका धारी है वह भावसे मुनि है। इस प्रकार मुनिके चाररूप लोकमें पाये जाते हें इनमें-से नामरूपको छोड़कर शेष तीन रूप मान्य है; क्योंकि उनमें किसी-न-किसी रूपमें मुनिपदकी बुद्धि या उसकी योग्यता पायी जाती है। वर्तमानके जिन मुनियोंमे मुनिपदके अनुकूल आचरण नहीं पाया जाता, ग्रन्थकारने उनमें भी पूर्व मुनियोंकी स्थापना करके उनका समादर करनेका विधान किया है।

[अब प्रकारान्तरसे दानके तीन भेद बतलाते हे—]

राजस दान

जो दान अपनी ख्यातिकी भावनासे कभी-कभी किसीको तब दिया जाता है जब दूसरे दाताको वैसे दानसे मिलनेवाले फलको देख लिया जाता है, उस दानको राजस दान कहते है। अर्थात् उसे स्वय तो दानपर विश्वास नहीं होता किन्तु किसीको दानसे मिलनेवाला फल देखकर कि इसने यह दिया था तो उससे इसे अमुक-अमुक लाभ हुआ, दान देता है। ऐसा दान रजोगुण प्रधान होनेसे राजस कहा जाता है ॥८२८॥

तामस दान

पात्र और अपात्रको समानरूपसे मानकर या पात्रको अपात्रके समान मानकर बिना किसी आदर-सम्मान और स्तुतिके, नौकर-चाकरोंके उद्योगपूर्वक जो दान दिया जाता है उस

१ स्वचित्ते दानस्य विश्वासो नास्ति परन्तु कस्यचिद्दानस्य फल दृष्ट्वा अनेन ईदृश प्राप्त पश्चात् ददाति। २ "निजस्तवनलालसैरलससादरं मान्तर यशोलवसमाकुले कलितलोकसम्प्रत्ययम्। सगर्वमविभावितातिथिगुण च यद्दीयते विहायितमिनीरित मतिमता मतं राजसम् ॥७९॥"—धर्मरत्न० प० १२७। ३ "पात्राविचारणाविरहित दूरादपास्तादर, भार्यासूनुनियोगिभिर्विरचित चित्तादिशुद्धिच्युतम्। मात्सर्योद्धत विवेकविकल यत्किञ्चनार्हेऽपि च, एतत्तामसमामनन्ति मुनयो दान गतप्रार्थनम् ॥ ८० ॥"—धर्मरत्ना०, प० १२७।

अतद्गुणेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये ।
यत्संज्ञाकर्म तन्नाम नरेच्छावशवर्तनात् ॥८२५॥
साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम् ।
सोऽयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ॥८२६॥
आगामिगुणयोग्योऽर्थो द्रव्यन्यासस्य गोचरः ।
तत्कालपर्ययाक्रान्तं वस्तु भावो विधीयते ॥८२७॥

भावार्थ—ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारके समयमें मुनियोंमें शिथिलाचार अधिक बढ़ गया था, जिसके कारण गृहस्थ लोग उन्हें आहार देते हुए भी झिझकते थे और परीक्षा करके ही आहार देते थे। इसीलिए ग्रन्थकारको यह लिखना पड़ा कि भोजन देनेमें मुनियोंकी क्या परीक्षा करते हो, गृहस्थ तो दान देनेसे शुद्ध होता है आदि। उन्होंने चार निक्षेपोंकी अपेक्षासे मुनियोंके चार भेद करके नामके मुनियोंको भी दान सम्मानके योग्य बतलाया है। ये सब उन्होंने साधर्मी प्रेमवश ही लिखा प्रतीत होता है। इसमें तो सन्देह नहीं कि ग्रन्थकारकी दृष्टि उदार है और वह यह खूब समझते हैं कि धार्मिक सम्बन्धकी स्थिति कैसे रह सकती है। इसीसे वे लिखते हैं कि जिन भगवान्का धर्म एक आदमीके ऊपर निर्भर नहीं रह सकता। इसमें तो तरह-तरहके आदमी भरे हैं और उन सबका ही ध्यान रखना जरूरी है। उसके बिना यह चल नहीं सकता। अतः गृहस्थोंको भोजन तो सभीको देना चाहिए किन्तु जैसे-जैसे जिसमें गुण अधिक हों वैसे-वैसे उसका विशिष्ट समादर करना चाहिए। जो नामसे मुनि हैं या स्थापनासे मुनि हैं उनसे द्रव्यमुनि उत्तम हैं और द्रव्यमुनिसे भावमुनि उत्तम हैं। अतः नामसे मुनि और स्थापनासे मुनिकी अपेक्षा द्रव्यमुनि और भावमुनिका विशिष्ट समादर करना चाहिए। 'सब धान बाईस पसेरी'की कहावत नहीं चरितार्थ करना चाहिए।

[अब क्रमशः चारों निक्षेपोंका स्वरूप बतलाते हैं—]

नामनिक्षेप

नामसे व्यक्त होनेवाले गुणसे हीन पदार्थोंमें लोक-व्यवहार चलनेके लिए मनुष्य अपनी इच्छानुसार जो नाम रख लेते हैं उसे नामनिक्षेप कहते हैं ॥८२५॥

स्थापनानिक्षेप

तदाकार या अतदाकार लकड़ी वगैरहमें 'यह अमुक है' इस प्रकारके अभिप्रायसे जो स्थापना की जाती है उसे स्थापनानिक्षेप कहते हैं ॥८२६॥

द्रव्य और भावनिक्षेप

जो पदार्थ भविष्यमें अमुक गुणोंसे विशिष्ट होगा उसे अभी ही से उस नामसे पुकारना द्रव्यनिक्षेप है। और जो वस्तु जिस समय जिस पर्यायसे विशिष्ट है उसे उस समय उसी रूप

---

१ 'अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषाकारान्नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम।' —सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थवार्तिक श्लोकवार्तिक १–५। २ "काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना।"—सर्वार्थसि. तत्त्वार्थवार्तिक १–५। ३ 'अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम्। अतद्भावं वा।'—तत्त्वार्थवार्तिक १–५। ४ 'वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः।' —सर्वार्थसि. तत्त्वार्थवार्तिक १–५। ५ 'भावोऽभिधीयते' इति पाठः प्रतिभाति।

यदात्मवर्णनप्रायं क्षणिकाहार्यविभ्रमम्[1] ।
परप्रत्ययसंभूतं दानं तद्राजसं[2] मतम् ॥८२८॥
पात्रापात्रसमावेक्ष्यमसत्कारमसंस्तुतम् ।
दासभृत्यकृतोद्योग दानं तामसमूचिरे[3] ॥८२९॥

कहना भावनिक्षेप है ॥८२७॥

भावार्थ—लोकमें प्रत्येक वस्तुका चार रूपसे व्यवहार पाया जाता है। वे चार रूप है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जैसे मुनिको ले लीजिए। 'मुनि' पदका व्यवहार चार रूपसे देखा जाता है। अनेक लोग अपने लड़कोंका नाम मुनि रख लेते हैं। वे लड़के गुणोंसे मुनि नहीं है किन्तु नामसे मुनि है। मुनियोंकी मूर्तियाँ स्थापनासे मुनि है उनमें मुनियोंकी स्थापना की गयी है। नाम और स्थापनामें यह अन्तर है कि यद्यपि स्थापना होती तो नामपूर्वक ही है किन्तु जिस व्यक्तिकी स्थापना की गयी हो उसके पदके अनुसार उसका आदर वगैरह भी किया जाता है, परन्तु नाममे यह बात नहीं है। जिस बच्चेका नाम मुनि है उसका मुनिकी तरह कोई समादर नहीं करता किन्तु मुनिकी मूर्तिको सब कोई पूजते है। और जो व्यक्ति भविष्यमें मुनि होनेवाला है और उसके लिए प्रयत्नशील है वह द्रव्यकी अपेक्षा मुनि है। उसमें मुनिपना द्रव्यरूपसे है भाव रूपसे नहीं है। किन्तु जो बाह्य और अन्तरसे मुनिपदका धारी है वह भावसे मुनि है। इस प्रकार मुनिके चाररूप लोकमें पाये जाते हैं इनमें-से नामरूपको छोड़कर शेष तीन रूप मान्य है; क्योंकि उनमें किसी-न-किसी रूपमें मुनिपदकी बुद्धि या उसकी योग्यता पायी जाती है। वर्तमानके जिन मुनियोंमें मुनिपदके अनुकूल आचरण नहीं पाया जाता, ग्रन्थकारने उनमें भी पूर्व मुनियोंकी स्थापना करके उनका समादर करनेका विधान किया है।

[अब प्रकारान्तरसे दानके तीन भेद बतलाते हैं—]

राजस दान

जो दान अपनी ख्यातिकी भावनासे कभी-कभी किसीको तब दिया जाता है जब दूसरे दाताको वैसे दानसे मिलनेवाले फलको देख लिया जाता है, उस दानको राजस दान कहते हैं। अर्थात् उसे स्वय तो दानपर विश्वास नहीं होता किन्तु किसीको दानसे मिलनेवाला फल देखकर कि इसने यह दिया था तो उससे इसे अमुक-अमुक लाभ हुआ, दान देता है। ऐसा दान रजोगुण प्रधान होनेसे राजस कहा जाता है ॥८२८॥

तामस दान

पात्र और अपात्रको समानरूपसे मानकर या पात्रको अपात्रके समान मानकर बिना किसी आदर-सम्मान और स्तुतिके, नौकर-चाकरोंके उद्योगपूर्वक जो दान दिया जाता है उस

---

१ स्वचित्ते दानस्य विश्वासो नास्ति परन्तु कस्यचिद्दानस्य फल दृष्ट्वा अनेन ईदृश प्राप्तं पश्चात् ददाति। २ "निजस्तवनलालसैरलससादरं सान्तर यशोलवसमाकुलं कलितलोकसम्प्रत्ययम्। सगर्वमविभावितातिथिगुण च यद्दीयते विहायितमिनीरित मतिमता मतं राजसम् ॥७९॥"—धर्मरत्न० प० १२७। ३ "पात्राविचारणाविरहित दूरादपास्तादर, भार्यासूनुनियोगिभिर्विरचित चित्तादिशुद्धिच्युतम्। मात्सर्योपहत विवेकविकल यत्किञ्चनार्हेऽपि च, एतत्तामसमामनन्ति मुनयो दान गतप्रार्चनम् ॥ ८० ॥"—धर्मरत्ना०, प० १२७।

अतिथेय[1] स्वयं यत्र यत्र पात्रनिरीक्षणम् ।
गुणाः श्रद्धादयो यत्र दानं तत्सात्त्विकं[2] विदुः ॥८१०॥
उत्तमं सात्त्विकं दानं मध्यमं राजसं भवेत् ।
दानानामेव सर्वेषां जघन्यं तामसं पुनः ॥८११॥
यद्दत्तं[3] तदमुत्र स्यादित्यसत्यपरं वचः ।
गावः पयः प्रयच्छन्ति किं न तोयतृणाशनाः ॥८१२॥
मुनिभ्यः शाकपिण्डोऽपि भक्त्या काले प्रकल्पितः ।
भवेदगण्यपुण्यार्थं भक्तिश्चिन्तामणिर्यतः ॥८१३॥
अभिमानस्य रक्षार्थं विनयायागमस्य च ।
भोजनादिविधानेषु मौनमूचुर्मुनीश्वराः ॥८१४॥
लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य[4] रक्षणम् ।
ततश्च समवाप्नोति मनःसिद्धिं जगत्त्रये ॥८१५॥

दानको तामस दान कहते हैं ॥८२९॥

सात्त्विक दान

जिस दानमें स्वयं पात्रको देखकर स्वयं उसका अतिथि-सत्कार किया जाता है तथा जो श्रद्धा वगैरहके साथ दिया जाता है उस दानको सात्त्विक दान कहते हैं ॥८१०॥

इन तीनों दानोंमें-से सात्त्विक दान उत्तम है, राजस दान मध्यम है और तामस दान सब दानोंमें निकृष्ट है ॥८११॥

जो दिया जाता है परलोकमें वही मिलता है, ऐसा कहना झूठ है। क्या पानी और घास खानेवाली गायें दूध नहीं देती हैं? अतः मुनियोंको समयपर भक्तिपूर्वक दिया गया शाक-पात भी अपरिमित पुण्यका कारण होता है; क्योंकि भक्ति ही चिन्तामणि है ॥८१२-८१३॥

भावार्थ—सारांश यह है दानकी कीमत दिये जानेवाले द्रव्यकी कीमतसे नहीं आँकी जाती किन्तु दाताकी श्रद्धा और भक्तिसे आँकी जाती है। बिना भक्तिके दिया गया खीरका भोजन भी व्यर्थ है और भक्तिपूर्वक दिया गया शाक-पात भी बहुफलदायी है।

[अब भोजनके समय मौनका विधान करते हैं—]

जिनेन्द्र भगवान्ने अभिमानकी रक्षाके लिए और श्रुतकी विनयके लिए भोजन वगैरहके समय मौन करना बतलाया है। भोजनकी लिप्साके त्यागनेसे तपकी वृद्धि होती है और अभिमान-

---

१ 'अतिथेयं हितं यत्र'—सागारधर्मामृत अ० ५-४७ की टीकामें उद्धृत। २ यत्रातिथेयं स्वयमेव साक्षाद् भक्त्यादयो यत्र गुणाः प्रकामाः। पात्राववेक्षापरता च यत्र तत्सात्त्विकं दानमुदाहरन्ति ॥७८॥—धर्मरत्ना० पृ० १२७। ३ यद् दत्तं परत्र तत्र फलस्यास्य नैकान्तिकं इत्य वचो मतोऽसि (?)। गावः प्रयच्छन्ति न किं पयांसि तृणानि तोयान्यपि सम्भुज्य ॥८१। ये भक्तिभारविनता किल शाकपिण्डं संवत्सरन्ति समयानुगुणं मुनिभ्यः। तेऽगण्यपुण्य-गुणसन्ततिसिद्धिपात्रा चिन्तामणिर्विनयवितीर्णविधिकाद् भिनत्ति ॥८१॥—धर्मरत्ना० पृ० १२८। ४ रक्षणे च अ० च० ड०।

श्रुतस्य [1] प्रश्रयाच्छ्रेयः समृद्धेः स्यात्समाश्रयः।
ततो मनुजलोकस्य प्रसीदति सरस्वती ॥८३६॥
शारीरमानसागन्तुव्याधिसबाधसंभवे।
साधु संयमिना कार्यः प्रतीकारो गृहाश्रितैः ॥८३७॥

तत्र [2] दोषधातुमलविकृतिजनिताः शारीराः, दौर्मनस्यदुःस्वप्नसाध्वसा[3]दिसंपादिता मानसाः, शीतवाताभिघातादिकृता आगन्तवः।

मुनीनां व्याधियुक्तानामुपेक्षायामुपासकैः।
असमाधिर्भवेत्तेषां स्वस्य चाधर्मकर्मता ॥८३८॥

की रक्षा होती है और उनके होनेसे मन वशमें होता है। श्रुतकी विनय करनेसे कल्याण होता है, सम्पत्ति मिलती है और उससे मनुष्यपर सरस्वती प्रसन्न होती है ॥ ८३४–८३६ ॥

भावार्थ—भोजनके समय मौन करनेसे जूठे मुँह वाणीका उच्चारण नहीं करना पड़ता। यह वाणीकी विनय है। इसके करनेसे वाणीपर असाधारण अधिकार प्राप्त होता है। जो लोग दिन-भर बक-झक करते है उनके वचनकी कीमत जाती रहती है। दूसरा लाभ यह है कि माँगना नहीं पड़ता। माँगनेसे स्वाभिमानका घात होता है और न माँगनेसे उसकी रक्षा होती है। तथा अपनी इच्छाको रोकना पडता है और इच्छाका रोकना तप है अत मौनसे तपकी वृद्धि होती है और मन वशमें होता है, अत. मौनपूर्वक भोजन करना चाहिए।

रोगी-मुनियोंकी परिचर्याका विधान

मुनिजनोको शारीरिक, मानसिक या कोई आगन्तुक रोगादिककी बाधा होनेपर गृहस्थोको उसका प्रतीकार करना चाहिए ॥८३७॥ वात, पित्त, कफ, रुधिरादि धातु और मलके विकारसे जो रोग होते हैं उन्हें शारीरिक कहते हैं। मनके दूषित होनेसे, बुरे स्वप्नोंसे या भय आदिके कारणसे जो रोग होते हैं वे मानसिक हैं, ठण्ड वायु वगैरहके लग जानेसे जो आकस्मिक बाधा हो जाती है उसे आगन्तुक कहते हैं। इन बाधाओंको दूर करनेका प्रयत्न गृहस्थोंको करना चाहिए; क्योंकि रोगग्रस्त मुनियोकी उपेक्षा करनेसे मुनियोंकी समाधि नहीं बनती और गृहस्थोंका धर्म-कर्म नहीं बनता ॥८३८॥

भावार्थ—आशय यह है कि मुनियोको किसी तरहकी बाधा होनेपर यदि गृहस्थ उसका निवारण न करें तो व्याधिग्रस्त होनेके कारण मुनिजन ठीक रीतिसे आत्मसाधना नहीं कर सकते और चूँकि गृहस्थ अपने कर्तव्यपालनमें प्रमाद करते हैं अत वे भी अपने धर्म-कर्मसे च्युत कहे जायेंगे या हो जायेंगे, क्योकि धर्म तो मुनिजनोंके ही आश्रयसे चलता है। अत. गृहस्थोंको रुग्ण साधुओंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

---

१ "प्रश्रयाधिकतया श्रुतस्य वै श्रेयसा च विभवस्य भाजनम्। सभवन्ति मनुजा प्रमन्ननामेत्यतो भवभवे सरस्वती ॥८६॥"—धर्मरत्ना०, पृ० १२८। अमित० श्राव० १२ परि० १०१–११६ श्लो०। "अभिमानावने गृद्धिरोधात् वर्धयते तप। मौन तनोति श्रेयश्च श्रुतप्रश्रयतायनात् ॥३५॥"—सागारधर्मा० अ०४। २ वातपित्तश्लेष्म। ३ – साधि– आ०। "शरीरा ज्वरकुष्टाद्या क्रोधाद्या मानसा स्मृता। आगन्तवोऽभिघातोत्था सहजा क्षुत्तृपादय ॥८८॥"—धर्मरत्ना०, पृ० १२८।

आतिथेयं[1] स्वयं यत्र यत्र पात्रनिरीक्षणम्।
गुणाः श्रद्धादयो यत्र दानं तत्सात्त्विकं[2] विदुः ॥८३०॥
उत्तमं सात्त्विकं दानं मध्यमं राजसं भवेत्।
दानानामेव सर्वेषां जघन्यं तामसं पुनः ॥८३१॥
यद्दत्तं[3] तदमुत्र स्यादित्यसत्यपरं वचः।
गावः पयः प्रयच्छन्ति किं न तोयतृणाशनाः ॥८३२॥
मुनिभ्यः शाकपिण्डोऽपि भक्त्या काले प्रकल्पितः।
भवेदगण्यपुण्यार्थं भक्तिश्चिन्तामणिर्यतः ॥८३३॥
अभिमानस्य रक्षार्थं विनयायागमस्य च।
भोजनादिविधानेषु मौनमूचुर्मुनीश्वराः ॥८३४॥
लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षणम्।
ततश्च समवाप्नोति मनःसिद्धिं जगत्त्रये ॥८३५॥

दानको तामस दान कहते हैं ॥८२९॥

सात्त्विक दान

जिस दानमें स्वयं पात्रको देखकर स्वयं उसका अतिथि-सत्कार किया जाता है तथा जो श्रद्धा वगैरहके साथ दिया जाता है उस दानको सात्त्विक दान कहते हैं ॥८३०॥

इन तीनों दानोंमें-से सात्त्विक दान उत्तम है, राजस दान मध्यम है और तामस दान सब दानोंमें निकृष्ट है ॥८३१॥

जो दिया जाता है परलोकमें वही मिलता है, ऐसा कहना झूठ है। क्या पानी और घास खानेवाली गायें दूध नहीं देती हैं? अतः मुनियोंको समयपर भक्तिपूर्वक दिया गया शाक-मात्र भी अपरिमित पुण्यका कारण होता है; क्योंकि भक्ति ही चिन्तामणि है ॥८३२-८३३॥

भावार्थ—सारांश यह है दानकी कीमत दिये जानेवाले द्रव्यकी कीमतसे नहीं आँकी जाती, किन्तु दाताकी श्रद्धा और भक्तिसे आँकी जाती है। बिना भक्तिके दिया गया खीरका भोजन भी व्यर्थ है और भक्तिपूर्वक दिया गया शाक-मात्र भी बहुफलदायी है।

[अब भोजनके समय मौनका विधान करते हैं—]

जिनेन्द्र भगवान्ने अभिमानकी रक्षाके लिए और श्रुतकी[4] विनयके लिए भोजन वगैरहके समय मौन करना बतलाया है। भोजनकी लिप्साके त्यागनेसे तपकी वृद्धि होती है और अभिमान-

---

१. अतिथेयं हितं यत्र —सागारधर्मामृत अ० ५-४७ की टीकामें उद्धृत। २. "यत्रातिथेयं स्वयमेव नायात् श्रद्धादयो यत्र गुणाः प्रकामम्। दानाद्यवेक्षापरता च यत्र तत्सात्त्विकं दानमुदाहरन्ति ॥८८॥"—धर्मरत्ना० पृ० १२०। ३. दत्तं परत्रैव समस्तमस्तं नैवास्तिकं हन्त वचो मनोज्ञः (?)। गावः प्रयच्छन्ति न किं पयांसि तृणानि तोयान्यपि संश्रयन्त्यः ॥८२॥ ये भक्तिपाठविनयाः किल पात्रसिन्धुसंदरसन्ति समयानुगुणं मुनिभ्यः। ते... ॥८६॥"—धर्मरत्ना० पृ० १२८। ४ 'दानेन' अ० ब० ।

श्रेयोऽर्थिनां श्रुताभावे सर्वमेतत्तमस्यते ॥८४२॥
अस्त्र[1] धारणवद्वाह्ये क्लेशे हि सुलभा नराः ।
यथार्थज्ञानसंपन्नाः शौण्डीरा इव दुर्लभाः ॥८४३॥
ज्ञानभावनया हीने कायक्लेशिनि केवलम् ।
कर्मवाहीकवत्किञ्चिद्व्येति[2] किञ्चिदुदेति[3] च ॥८४४॥
सृणिवज्ज्ञानमेवास्य[4] वशायाशयदन्तिनः ।
[5]तदृते च वहिः क्लेशः क्लेश एव परं भवेत् ॥८४५॥
वहिस्तपः स्वतोऽभ्येति[6] ज्ञानं भावयतः सतः ।
[7]क्षेत्रज्ञे यन्निमग्नेऽत्र[8] कुतः स्युरपराः[9] क्रियाः ॥८४६॥
यदज्ञानी[10] युगैः कर्म बहुभिः क्षपयेन्न वा ।
तज्ज्ञानी योगसंपन्नः क्षपयेत्क्षणतो ध्रुवम् ॥८४७॥
ज्ञानी पटुस्तदैव स्याद्वहिः क्लेष्टु[11] व्रतेऽखिले[12] ।
ज्ञातुर्ज्ञानलवेऽप्यस्य[13] न पटुत्वं युगैरपि ॥८४८॥

है। यदि शास्त्र न हो तो अपने कल्याणके इच्छुक जनोंको सर्वत्र अन्धकार ही दिखलायी दे ॥८४२॥ जैसे तलवार वगैरह बाँधनेका कष्ट उठानेवाले मनुष्य तो सरलतासे मिल जाते हैं, किन्तु सच्चे शूरवीरोंका मिलना दुर्लभ है। वैसे ही बाह्य कष्ट उठानेवाले मनुष्य सुलभ हैं किन्तु सच्चे ज्ञानी दुर्लभ हैं ॥८४३॥ जो मनुष्य ज्ञानकी भावनासे शून्य है और केवल शरीरको कष्ट देता है, बोझ ढोनेवाले मनुष्यकी तरह उसका एक कष्ट जाता है तो दूसरा आ जाता है और इस तरह वह केवल कायक्लेश ही उठाता रहता है ॥८४४॥

सच्चे ज्ञानकी महत्ता

मनुष्यके मनरूपी हाथीको वशमें करनेके लिए ज्ञान ही अंकुशके तुल्य है अर्थात् जैसे अंकुश हाथीको रोकता है वैसे ही ज्ञान मनुष्यके मनको बुरी तरफ जानेसे रोकता है। उस ज्ञानके बिना जो शारीरिक कष्ट उठाया जाता है वह कष्ट केवल कष्ट ही के लिए है, उससे कुछ भी लाभ नहीं होता ॥८४५॥ जो ज्ञानकी भावना करता है उसे बाह्य तप स्वयं प्राप्त हो जाता है। क्योंकि जब आत्मा ज्ञानमें लीन हो जाता है तो अन्य क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं? ॥८४६॥ अज्ञानी जिस कर्मको बहुतसे युगोंमें भी नहीं नष्ट कर पाता, ध्यानसे युक्त ज्ञानी पुरुष उस कर्मको निश्चयसे क्षण-भरमें ही नष्ट कर देता है ॥८४७॥ समस्त बाह्य व्रतोंमें क्लेश उठानेवाले अज्ञानी यतिसे ज्ञानी पुरुष तत्काल कुशल हो जाता है, किन्तु बाह्य व्रतोंको करनेवाला अज्ञानी,

१ "शास्त्राणि यद्वद्धतो वराका क्लेशे हि बाह्ये सुलभा मनुष्या । सुदुर्लभाः सन्ति सुधीरवच्च यथार्थविज्ञानधना जगत्याम् ॥९४॥"—धर्मरत्ना०, प० १२९ । २ विनश्यति । ३ उदयमायाति । ४ अंकुशवत् । ५ ज्ञानं विना । ६ आगच्छति । ७ आत्मनि । ८. ज्ञाने । ९ बाह्या । "बाह्यं तपो प्रायितमेति पुंसो ज्ञानं स्वयं भावयतः सदैव । क्षेत्रज्ञरत्नाकरसंन्निमग्ने बाह्या क्रिया सन्तु कुतः समस्ता ॥९६॥"—धर्मरत्ना० पत्र १२९ । १० "जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं । तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥"—प्रवचनसार ३-३८ । अंतोमुहुत्तेण । भगवती आराधना गा० १०८ । "प्रसिद्धं च—यदज्ञानी क्षपेत्कर्म बह्वीभिर्भवकोटिभिः । तज्ज्ञानवास्त्रिभिर्गुप्तः क्षपयेदन्तमुहूर्ततः ॥९७॥"—धर्मरत्नाकर, प० १२९ । ११ क्लेशं कुर्वतः । क्लेष्टे व्रतेऽखिले, आ० । १२ सम्पूर्णे चारित्रे सति पटुः परिपूर्णज्ञानी भवेत् । न तु ज्ञानलवलेशमात्रेण केवली स्यादिति भावः । १३ – लवे यस्मान्न अ०, ज०, मु० ।

सौमनस्यं सदा सर्वे व्याख्यातृषु पठत्सु च ।
आवासपुस्तकाहारसौकर्यादिविधायकैः ॥८३९॥
अङ्गपूर्वप्रकीर्णोक्तं सूक्तं केवलिभाषितम् ।
नश्येद्धि मूलतः सर्वं श्रुतस्कन्धधरात्यये ॥८४०॥
आश्रयोत्साहमानस्वाध्यायोचितवस्तुभिः ।
श्रुतप्रज्ञान्मुनीन्कुर्वञ्जायते श्रुतपारगः ॥८४१॥
श्रुतोपास्त्यपरिज्ञाने श्रुतात्समयवर्धनम् ।

श्रुतकी रक्षाके लिए श्रुतधरोंकी रक्षा आवश्यक है

जो जिनशास्त्रोंका व्याख्यान करते हैं या उनको पढ़ते हैं उन्हें, रहनेको निवास-स्थान, पुस्तक और भोजन आदिकी सुविधा देकर गृहस्थोंको सदा अपनी सदाशयताका परिचय देते रहना चाहिए ॥८३९॥ क्योंकि श्रुतके व्याख्याता और पाठक श्रुतसमूहके धारक हैं—उनके नष्ट हो जाने से केवली भगवान्के द्वारा उपदिष्ट ग्यारह अंग और चौदह पूर्व रूप समस्त श्रुतज्ञान जड़से नष्ट हो जायेगा ॥८४०॥ जो आश्रय देकर, उत्साह बढ़ाकर, आराम देकर तथा स्वाध्यायके योग्य शास्त्र आदि वस्तुओंको देकर मुनियोंको शास्त्रमें निपुण बनानेका प्रयत्न करते हैं वे स्वयं श्रुतके पारगामी हो जाते हैं ॥८४१॥

भावार्थ—वास्तवमें जैनधर्म तभीतक कायम है जबतक जैनशास्त्रोंके ज्ञाता जन मौजूद हैं और लोगोंमें जैनशास्त्रोंका पठन-पाठन चालू है। क्योंकि यदि लोगोंमें-से शास्त्रज्ञान लुप्त हो गया तो वे अपने धर्म-कर्मको भी भूल बैठेंगे और धर्म-कर्मके भूल बैठनेसे वे केवल नामके जैनी रह जायेंगे और कुछ समय बाद यह भी भूल जायेंगे कि हम जैनी हैं। अतः इस बातका प्रयत्न अपने भरसक करना चाहिए कि जैनशास्त्रोंका पठन-पाठन चालू रहे। और उसके लिए उन लोगोंको बराबर साहाय्य देते रहना चाहिए जो अपना जीवन इस काममें लगाये हुए हैं। पहले समयमें तो मुनिसंघ होते थे और गृहस्थ लोग भी अपने बच्चोंको पढ़नेके लिए संघोंमें भेज देते थे। किन्तु अब तो विरले ही मुनि दृष्टिगोचर होते हैं और जो होते हैं उनमें भी ज्ञानका विकास बहुत कम पाया जाता है। अतः जो गृहस्थ लोग इस काममें अपने जीवनको लगाकर श्रुतकी रक्षा करते हैं स्वयं श्रुताभ्यास करते हैं और दूसरोंको कराते हैं या जो विद्यार्थी विद्यालयों या पाठशालाओंमें पढ़ते हैं उन सबको यथायोग्य साहाय्य देते रहना चाहिए और जो संस्थाएँ इसीलिए खुली हुई हैं कि जैनशास्त्रोंका पठन-पाठन चालू रहे उनकी रक्षा और प्रचार हो, उन्हें भी भरपूर मदद देते रहना चाहिए।

श्रुत या शास्त्रका महत्त्व

श्रुत या शास्त्रसे ही तत्त्वोंका ज्ञान होता है और शास्त्रसे ही जिन-शासनकी वृद्धि होती

---

१ आवासपुस्तकादीनां सौकर्यादिविधायकः ॥१॥'—धर्मरत्ना० प० १२८। सौकर्या— अ० प० मु०। २ अङ्गपूर्वप्रकीर्णकं श्रीजिनपतिभाषितम्। नश्यतीह समस्तं श्रुतधर्मं विना न श्रुतधरा- श्रयम् ॥११॥ तदाश्रयोत्साहयोग्यवासादानप्रमोदादिमहाभ्यर्थिभिः। कुर्वन् मुनीनागमविशारदान् स्वयं नरः स्यादागमपारगामी ॥१॥ —धर्मरत्ना० प० १२८। ३ श्रुतेन तत्त्वं पुरुषैः प्रबुध्यते श्रुतेन वृद्धिः समयस्य जायते। श्रुतप्रभावं परिवर्णयन्ति जनाः पर विना सर्वमिदं विनश्यति ॥११॥ —धर्मरत्ना० प० १२९।

श्रेयोऽर्थिनां श्रुताभावे सर्वमेतत्तमस्यते ॥८४२॥
अस्त्र[1] धारणवद्बाह्ये क्लेशे हि सुलभा नराः।
यथार्थज्ञानसंपन्नाः शौण्डीरा इव दुर्लभाः ॥८४३॥
ज्ञानभावनया हीने कायक्लेशिनि केवलम्।
कर्मवाहीकवत्किञ्चिद्व्येति[2] किञ्चिदुदेति[3] च ॥८४४॥
सृणिवज्ज्ञानमेवास्य[4] वशायाशयदन्तिनः।
[5]तद्दते च वहिः क्लेशः क्लेश एव परं भवेत् ॥८४५॥
वहिस्तपः स्वतोऽभ्येति[6] ज्ञानं भावयतः सतः।
[7]क्षेत्रज्ञे यन्निमग्नेऽत्र[8] कुतः स्युरपराः[9] क्रियाः ॥८४६॥
यदज्ञानी[10] युगैः कर्म वहुभिः क्षपयेन्न वा।
तज्ज्ञानी योगसंपन्नः क्षपयेत्क्षणतो ध्रुवम् ॥८४७॥
ज्ञानी पटुस्तदैव स्याद्वहिः क्लेष्टु[11] व्रतेऽखिले[12]।
ज्ञातुर्ज्ञानलवेऽप्यस्य[13] न पटुत्वं युगैरपि ॥८४८॥

है। यदि शास्त्र न हो तो अपने कल्याणके इच्छुक जनोंको सर्वत्र अन्धकार ही दिखलायी दे ॥८४२॥ जैसे तलवार वगैरह बाँधनेका कष्ट उठानेवाले मनुष्य तो सरलतासे मिल जाते है, किन्तु सच्चे शूरवीरोंका मिलना दुर्लभ है। वैसे ही बाह्य कष्ट उठानेवाले मनुष्य सुलभ हैं किन्तु सच्चे ज्ञानी दुर्लभ हैं ॥८४३॥ जो मनुष्य ज्ञानकी भावनासे शून्य है और केवल शरीरको कष्ट देता है, बोझ ढोनेवाले मनुष्यकी तरह उसका एक कष्ट जाता है तो दूसरा आ जाता है और इस तरह वह केवल कायक्लेश ही उठाता रहता है ॥८४४॥

सच्चे ज्ञानकी महत्ता

मनुष्यके मनरूपी हाथीको वशमें करनेके लिए ज्ञान ही अंकुशके तुल्य है अर्थात् जैसे अंकुश हाथीको रोकता है वैसे ही ज्ञान मनुष्यके मनको बुरी तरफ जानेसे रोकता है। उस ज्ञानके बिना जो शारीरिक कष्ट उठाया जाता है वह कष्ट केवल कष्ट ही के लिए है, उससे कुछ भी लाभ नहीं होता ॥८४५॥ जो ज्ञानकी भावना करता है उसे वाह्य तप स्वयं प्राप्त हो जाता है। क्योंकि जब आत्मा ज्ञानमें लीन हो जाता है तो अन्य क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं ?॥८४६॥ अज्ञानी जिस कर्मको बहुतसे युगोंमें भी नहीं नष्ट कर पाता, ध्यानसे युक्त ज्ञानी पुरुष उस कर्मको निश्चयसे क्षण-भरमें ही नष्ट कर देता है ॥८४७॥ समस्त बाह्य व्रतोंमें क्लेश उठानेवाले अज्ञानी यतिसे ज्ञानी पुरुष तत्काल कुशल हो जाता है, किन्तु बाह्य व्रतोंको करनेवाला अज्ञानी,

---

१ "शास्त्राणि यद्वद्दधतो वराका क्लेशे हि वाह्ये सुलभा मनुष्या। सुदुर्लभाः सन्ति सुवीरवच्च यथार्थविज्ञानधना जगत्याम् ॥९४॥"—धर्मरत्ना०, प० १२९। २ विनश्यति। ३ उदयमायाति। ४ अंकुशवत्। ५ ज्ञानं विना। ६ आगच्छति। ७ आत्मनि। ८. ज्ञाने। ९ वाह्याः। "वाह्यं तपो प्राथितमेति पुंसो ज्ञानं स्वयं भावयतः सदैव। क्षेत्रज्ञरत्नाकरसन्निमग्ने वाह्या क्रिया सन्तु कुतः समस्ता ॥९६॥"—धर्मरत्ना० पत्र १२९। १० "जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं। तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥"—प्रवचनसार ३-३८। अतोमुहुत्तेण। भगवती आराधना गा० १०८। "प्रसिद्धं च—यदज्ञानी क्षपेत्कर्म वह्वीभिर्भवकोटिभिः। तज्ज्ञानवांस्त्रिभिर्गुप्तः क्षपयेदन्तमुहूर्ततः ॥९७॥"—धर्मरत्नाकर, प० १२९। ११ क्लेशं कुर्वतः। क्लेष्टे व्रतेऽखिले, आ०। १२ सम्पूर्णे चारित्रे सति पटुः परिपूर्णज्ञानी भवेत्। न तु ज्ञानलवलेशमात्रेण केवली स्यादिति भावः। १३ – लवे यस्मान्न अ०, ज०, मु०।

शब्दैतिह्येन गीः शुद्धा यस्य शुद्धा न धीर्नयैः ।
स परप्रत्ययात्तिष्ठन्नस्यन्नन्धसमः पुमान् ॥८४९॥

युग बीत जानेपर भी ज्ञानके एक अंशमें भी कुशल नहीं होता ॥८४८॥

भावार्थ—ज्ञानका फल आत्मकल्याण है और ऐसा ज्ञान वीतराग हितोपदेशी गुरुओंके द्वारा उपदिष्ट शास्त्रोंसे ही प्राप्त हो सकता है। यों तो संसारमें पुस्तकोंकी कमी नहीं है, किन्तु उनसे बाह्य बातोंका तो विस्तारसे ज्ञान होता है परन्तु मैं कौन हूँ मेरा क्या स्वरूप है आदि बातोंका कुछ भी ज्ञान नहीं होता। और सब कुछ जानकर भी जिससे अपना ज्ञान नहीं हुआ वह अपने किस कामका। अतः शास्त्रोंके द्वारा आत्मस्वरूपका ज्ञान पहले करना चाहिए। बहुत-से लोग अपनेको तो जानते नहीं और रात-दिन बाह्य क्रियाकाण्डका कष्ट उठाते रहते हैं। ऐसे आत्मज्ञान-विमुख लोगोंका बाह्य क्रियाकाण्ड केवल कष्टका कारण है। उससे वह कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते। क्योंकि सच्चे ज्ञानके होनेपर बाह्य आचारमें तो जीवकी प्रवृत्ति स्वयं हो जाती है किन्तु बाह्य आचारमें लगे-लगे सच्चे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि जब जीवको यथार्थज्ञान हो जाता है तो उसकी प्रवृत्ति बाह्यमुखी न रहकर स्वयं अन्तर्मुखी हो जाती है और प्रवृत्तिका अन्तर्मुख हो जाना ही तो तप है। किन्तु प्रवृत्तिके बहिर्मुख रहनेसे यथार्थज्ञान नहीं हो पाता है। और यथार्थज्ञानका ही सच्चा महत्त्व है जैसा कि ऊपर बतलाया है। अतः यथार्थज्ञानकी प्राप्ति करनी चाहिए।

जिसकी वाणी व्याकरणके द्वारा शुद्ध नहीं हुई और बुद्धि नयोंके द्वारा शुद्ध नहीं हुई वह मनुष्य दूसरोंके विश्वासके अनुसार चलनेसे कष्ट उठाता हुआ अन्धेके समान आचरण करता है ॥८४९॥

भावार्थ—आशय यह है कि वाक्यकी शुद्धि या कथनकी शुद्धि केवल शब्दप्रयोग वगैरहकी शुद्धतापर निर्भर नहीं है किन्तु वक्ताकी नयज्ञतापर निर्भर है। कौन बात कहाँ किस दृष्टिसे कही गयी है या कहनी चाहिए इस बातमें जो निपुण है वही यथार्थ वक्ता है और उसके द्वारा जो कुछ कहा जाता है वह शुद्ध होता है। किन्तु इस बातको न समझकर जो केवल शब्दशुद्धिके बाह्य साधन व्याकरणादिकके प्रयोगमें ही साधुत्व समझते हैं और उसीमें लगे रहते हैं उनका वचन-व्यवहार शुद्ध नहीं कहा जा सकता। जैसे जैन-शास्त्रोंमें संसारभावनाका स्वरूप बतलाते हुए यह कहा है कि इस संसारमें कुछ भी नित्य नहीं है सब जलके बुलबुलेकी तरह क्षणिक है। जो केवल शब्दशास्त्री है और यह नहीं समझता कि यहाँ यह कथन किस अपेक्षासे कहा गया है वह तो यही समझेगा कि जैन धर्म वस्तुको क्षणिक मानता है और इसलिए वह क्षणिकवादी है तथा ऐसा ही वह दूसरोंको समझायेगा। किन्तु नयप्रयोगका जानकार ऐसा गलती नहीं कर सकता, वह बराबर यह समझ जायेगा कि वैराग्य उत्पन्न करानेके लिए पर्यायदृष्टिसे ऐसा कथन किया गया है। द्रव्यदृष्टिसे तो सभी नित्य हैं। अतः शुद्ध शब्द प्रयोगके लिए वक्ताको अपनी बुद्धि नयज्ञान-से भी शुद्ध करना चाहिए।

१ व्याकरणे। "शब्दानुशासनमशेषमधीत्य यस्य नैतिह्यतोऽपि धिषणा न तथा नयेभ्यः। संशय-मतिमन्नमना स परप्रतीते विचरन् पुमान् भवति नेत्रविहीनतुल्यः॥ ॥"—धर्मर० प० १२९।

स्वरूपं रचना शुद्धिर्भूषार्थश्च समासतः ।
प्रत्येकमागमस्यैतद्द्वैविध्यं प्रतिपद्यते ॥८५०॥

तत्र स्वरूपं च द्विविधम्—अक्षरम्, अनक्षरं च । रचना द्विविधा—गद्यम्, पद्यं च । शुद्धिर्द्विविधा—प्रमादप्रयोगविरहः, अर्थव्यञ्जनविकलतापरिहारश्च । भूषा द्विविधा—वागलंकारः, अर्थालंकारश्च । अर्थो द्विविधः—चेतनो[1]ऽचेतनश्च जाति[2]र्व्यक्तिश्चेति वा ।

सार्धं[3] संचित्तनिक्षिप्तवृत्ताभ्यां दानहानये ।
अन्योपदेशमात्सर्यकालातिक्रमणक्रियाः ॥८५१॥

नतेर्[4]गोत्रं श्रियो दानादुपास्ते सर्वसेव्यताम् ।
भक्ते कीर्तिमवाप्नोति स्वयं दाता यतीन्भजन् ॥८५२॥

इत्युपासकाध्ययने दानविधिर्नाम त्रिचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

प्रत्येक शास्त्रमें संक्षेपसे इतनी बातें होती हैं— स्वरूप, रचना, शुद्धि, अलंकार और वर्णित विषय । ये प्रत्येक दो-दो प्रकारके होते है ॥ ८५० ॥ स्वरूप दो प्रकारका होता है—अक्षररूप और अनक्षररूप । रचना दो प्रकारकी होती है गद्यरूप और पद्यरूप । शुद्धि दो प्रकारकी होती है—एक तो प्रमादसे कोई प्रयोग न किया गया हो, दूसरे न उसमें कोई अर्थ छूटा हो और न कोई शब्द छूटा हो । अलकार दो तरहके होते है—एक शब्दालकार और दूसरा अर्थालकार । वर्णित विषय दो प्रकारका होता है चेतन और अचेतन या जाति और व्यक्ति ।

मुनिदानके अतिचार

सचित्त पत्ते वगैरहमें आहारको रखना, सचित्त पत्ते वगैरहसे आहारको ढाँकना, यह दाता है और यह आहार भी इसीका है इस प्रकार कहकर दान देना, दान देते हुए भी आदरपूर्वक न देना या अन्य दाताओंसे ईर्ष्या करना और साधुओंके भिक्षाके समयको टालकर उससे पहले या उसके बादमें भोजन करना ये पाँच बातें मुनिदान व्रतमें दोष लगानेवाली है। अत श्रावकको इन्हें नहीं करना चाहिए ॥ ८५१ ॥ जो दाता स्वय यतियोको दान देता है उसे मुनिको नमस्कार करनेसे उच्च गोत्र मिलता है, दान देनेसे लक्ष्मी मिलती है, उनकी उपासना करनेसे सब लोग उसकी सेवा करते हैं, और उनकी भक्ति करनेसे संसारमें यश होता है ॥ ८५२ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें 'दानविधि' नामका तैतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

---

१. यत्र जीवाना व्याख्या क्रियते सोऽर्थश्चेतन । यत्र पर्वतादीना व्याख्या सोऽर्थोऽचेतन । २ जातिलिङ्गम् । व्यक्तिरेकवचनद्विवचनवहुवचनम् । ३ "सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमा ॥"—तत्त्वार्थसूत्र ७-३६ । "हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि । वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमा पञ्च कथ्यन्ते ॥१२१॥"—रत्नकरण्डश्रा० । "परदातृव्यपदेश सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च । कालस्यातिक्रमण मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥"—पुरुपार्थसि० । अमित० श्रा० ७-१४ । ४ "उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात् पूजा । भक्ते सुन्दररूप स्तवनात् कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥११५॥"—रत्नकरण्डश्रा० ।

मूलव्रतं व्रतान्यर्चापर्वकर्माकृषिक्रियाः ।
दिवा नवविध ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम् ॥८५३॥
परिग्रहपरित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता ।
तद्धानी च वदन्त्येतान्येकादश यथाक्रमम् ॥८५४॥

ग्यारह प्रतिमाएँ

[अब श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएँ बतलाते हैं—]

सम्यग्दर्शनके साथ अष्टमूलगुणका निरतिचार पालन करना पहली प्रतिमा है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंको निरतिचार पालन करना दूसरी व्रत प्रतिमा है। नियमसे तीनों सन्ध्याओंको विधिपूर्वक सामायिक करना तीसरी सामायिक प्रतिमा है। [ग्रन्थकारने उसके लिए अर्चा शब्दका प्रयोग किया है जिसका अर्थ पूजा होता है। उन्होंने सामायिकमें पूजन-पर विशेष जोर दिया है। इसीसे अर्चा शब्दका प्रयोग किया जान पड़ता है।] प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको नियमसे उपवास करना चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा है। खेती बाड़ी न करना पाँचवीं प्रतिमा है। दिनमें ब्रह्मचर्यका पालन करना छठी दिवामैथुनत्याग प्रतिमा है। मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे स्त्रीसेवनका त्याग सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। सचित्त वस्तुके खानेका त्याग करना आठवीं सचित्तत्याग प्रतिमा है। समस्त परिग्रहका त्याग देना नौवीं परिग्रह त्याग प्रतिमा है। किसी आरम्भ उद्योग या विवाहादि कार्यमें अनुमति न देकर केवल भोजन मात्रमें अनुमति देना दसवीं आरम्भत्याग प्रतिमा है और अपने भोजनमें भी किसी प्रकारकी अनुमति नहीं देना ग्यारहवीं प्रतिमा है ये क्रमसे ११ प्रतिमाएँ हैं ॥८५३-८५४॥

भावार्थ—ये श्रावकके ग्यारह दर्जे हैं, जिनपर श्रावक क्रमवार आगे-आगे बढ़ता है। सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन और आठमूल गुणोंका होना आवश्यक है। उसके बाद बारह व्रत पालने चाहिए। फिर तीनों सन्ध्याओंको सामायिक करनी चाहिए। उसके बाद पर्वके दिन नियमसे उपवास करना चाहिए। यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि सामायिक और प्रोषधोपवास व्रत व्रतप्रतिमामें भी किये जाते हैं किन्तु वहाँ वे अभ्यासरूपमें होते हैं और तीसरी तथा चौथी प्रतिमामें अवश्य करने होते हैं। चार प्रतिमाओंमें पूर्ण अभ्यस्त हो जानेके बाद गृहस्थ ब्रह्मचर्यकी ओर अपना चित्त लगा देता है और उसके लिए सबसे पहले वह सचित्त फल वगैरहका भक्षण करना छोड़ देता है। हरे साग-सब्जी, पके फल वगैरहको सचित्त कहते हैं। उनके खानेसे इन्द्रिय मद अधिक होता है जो ब्रह्मचर्यका घातक है। अतः उन्हें सुखाकर या आगमें पकाकर या चाकूसे

---

१ 'दंसण वय सामाइय पोसह सच्चित्त राइभत्ती य। बंभारम्भपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥"—चारित्तपाहुड २१। प्रा० पञ्चसंग्रह १।१३६। बारस अणुवेक्खा ६९। गो० जीवकाण्ड ४७६। वसुनन्दिश्रा० ४। सद्दर्शनव्रतोद्योत समता प्रोषधव्रतम्। सचित्तसेवाविरतिमह्नि स्त्रीसंगवर्जनम् ॥ १५९ ॥ ब्रह्मचर्यमथारम्भपरिग्रहपरिच्युतिम्। तत्रानुमननत्यागं स्वोद्दिष्टपरिवर्जनम् ॥१६० ॥ स्थानानि गृहिणां प्राहुः एकादश गणाधिपाः। —महापुराण १० पर्व। 'दर्शनिकोऽथ व्रतिकः सामयिकी प्रोषधोपवासी च। सचित्तदिवामैथुनविरतो गृहिणोऽणुयमिषु हीनाः षट् ॥ २ ॥ अब्रह्मारम्भपरिग्रहविरता वर्णिनस्त्रयो मध्याः। अनुमतिविरतोद्दिष्टविरतावुभौ भिक्षुकौ प्रकृष्टौ च ॥ ३ ॥"—सागारधर्मा० अ० ३।

अध्यधिव्रतमारोहेत्पूर्वपूर्वव्रतस्थितः ।
सर्वत्रापि समाः प्रोक्ता ज्ञानदर्शनभावनाः ॥८५५॥
षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः ।
भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः ॥८५६॥

काटकर और उसमें नमक वगैरह मिलाकर पहले उन्हें अचित्त कर लेता है तब खाता है। ऐसा करनेसे उनका इन्द्रियमदकारक अंश, जिसे विटामिन या पोषकतत्त्व कहते हैं, नष्ट हो जाता है। फिर उसके खानेसे जीवन शक्ति तो उनसे मिलती है किन्तु मादकता नहीं आने पाती और तब वह भोजन विकारी नहीं होता। इस तरह ब्रह्मचर्यके उपयुक्त आहारका अभ्यस्त होनेपर वह पहले दिनमें ब्रह्मचर्य पालन करनेका नियम लेता है और जब उसमें पक्का हो जाता है तो रात्रिमें भी ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा ले लेता है। ब्रह्मचर्य ले लेनेके बाद सन्तानोत्पत्ति रुक जाती है, इसलिए नयी सन्तानका उत्तरदायित्व नहीं रहता। जब पहली सन्तान समझदार हो जाती है और घरका कार्य-व्यवहार सम्हाल लेती है तो गृहस्थ अपना कार्य-रोजगार अपने लड़कोंपर छोडकर स्वयं उधरसे छुट्टी ले लेता है। जब लडके अच्छी तरह रोजगार सम्हाल लेते है और अपने काममें चतुर प्रमाणित हो जाते है तो गृहस्थ अपनी कुल सम्पत्ति उनको सौंप कर निर्द्वन्द्व हो जाता है। मगर उन्हें सलाह-मशविरा देता रहता है। जब देख लेता है कि अब लडके विना मेरी सलाहके भी सब काम करनेमें समर्थ हो गये है तो फिर उन्हें सलाह देना भी बन्द कर देता है। इस तरह अपने कौटुम्बिक उत्तरदायित्वसे मुक्त होकर अब गृहस्थ आत्मसाधनामें अपना विशेष ध्यान लगाता है और उसके लिए वह सब घरवालोंसे पूछ-ताछकर घर छोड़ देता है और साधुजनोंके सत्संगमें रहकर साधुओंकी ही तरह भिक्षावृत्तिसे भोजन करने लगता है। उसके बाद यदि वह शक्ति देखता है तो साधु बन जाता है। इस तरह इस क्रमिक त्यागसे प्रत्येक गृहस्थका इहलौकिक और पारलौकिक जीवन सुख और शान्तिसे समृद्ध होता है। ग्रन्थकारने पाँचवीं सचित्त त्याग-प्रतिमाके स्थानमें आठवीं आरम्भत्याग-प्रतिमाको गिनाया है और उसके स्थानमें पाँचवींको। ऐसा व्यतिक्रम अन्य किसी भी श्रावकाचारमें नहीं पाया जाता और न क्रमिक त्यागकी दृष्टिसे ही ठीक जँचता है। इसीसे हमने उक्त दोनो श्लोकोंका अर्थ परम्पराके अनुसार ही लिखा है।

प्रतिमा धारणका क्रम तथा उनके धारकोंकी संज्ञाएँ

जब गृहस्थ पहले पहलेकी प्रतिमामें पक्का हो जाये तब आगे-आगेकी प्रतिमा ले। 'आगेको दौड़ पीछेको छोड' वाली कहावत चरितार्थ न करे। तथा सभी व्रतोंमें सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन भावनाका होना जरूरी है। उसके विना त्याग त्याग नहीं है ॥ ८५५ ॥ इन ग्यारह प्रतिमाओंमें-से पहलेकी छह प्रतिमाके धारक गृहस्थ कहे जाते हैं। सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमाके धारक ब्रह्मचारी कहे जाते हैं तथा अन्तिम दो प्रतिमावाले भिक्षु कहे जाते है और उन सबसे ऊपर मुनि या साधु होता है ॥ ८५६ ॥

---

१ अवधि—अ० ज० मु०। दर्शनप्रतिमापूर्वक व्रतप्रतिमामारोहयेत् इत्यर्थः। २ प्रथमप्रतिमादिषु क्रमेण रत्नत्रयभावना सदृशा।

मूलव्रतं व्रतान्यर्चापर्वकर्माकृषिक्रिया।
दिवा नवविध ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम् ॥८५३॥
परिग्रहपरित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता।
तद्धानी च वदन्त्येतान्येकादश यथाक्रमम् ॥८५४॥

ग्यारह प्रतिमाएँ

[अब श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएँ बतलाते हैं—]

सम्यग्दर्शनके साथ अष्टमूलगुणका निरतिचार पालन करना पहली प्रतिमा है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंको निरतिचार पालन करना दूसरी व्रत प्रतिमा है। नियमसे तीनों सन्ध्याओंको विधिपूर्वक सामायिक करना तीसरी सामायिक प्रतिमा है। [ग्रन्थकारने उसके लिए अर्चा शब्दका प्रयोग किया है जिसका अर्थ पूजा होता है। उन्होंने सामायिकमें पूजन-पर विशेष जोर दिया है। इसीसे अर्चा शब्दका प्रयोग किया जान पड़ता है।] प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको नियमसे उपवास करना चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा है। खेती बाड़िका न करना पाँचवीं प्रतिमा है। दिनमें ब्रह्मचर्यका पालन करना छठी दिवामैथुनत्याग प्रतिमा है। मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे स्त्रीसेवनका त्याग सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। सचित्त वस्तुके खानेका त्याग करना आठवीं सचित्तत्याग प्रतिमा है। समस्त परिग्रहका त्याग देना नौवीं परिग्रह त्याग प्रतिमा है। किसी आरम्भ उद्योग या विवाहादि कार्यमें अनुमति न देकर केवल भोजन मात्रमें *अनुमति देना दसवीं आरम्भत्याग प्रतिमा है और अपने भोजनमें भी किसी प्रकारकी अनुमति* नहीं देना ग्यारहवीं प्रतिमा है ये क्रमसे ११ प्रतिमाएँ हैं ॥८५३-८५४॥

भावार्थ—ये श्रावकके ग्यारह दर्जे हैं, जिनपर श्रावक क्रमवार आगे-आगे बढ़ता है। सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन और आठमूल गुणोंका होना आवश्यक है। उसके बाद बारह व्रत पालने चाहिए। फिर तीनों सन्ध्याओंको सामायिक करनी चाहिए। उसके बाद पर्वके दिन नियमसे उप-वास करना चाहिए। *यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि सामायिक और प्रोषधोपवास व्रत* व्रतप्रतिमामें भी किये जाते हैं किन्तु वहाँ वे अभ्यासरूपमें होते हैं और तीसरी तथा चौथी प्रतिमामें अवश्य करने होते हैं। चार प्रतिमाओंमें पूर्ण अभ्यस्त हो जानेके बाद गृहस्थ ब्रह्मचर्यकी ओर अपना विशेष लक्ष देता है और उसके लिए सबसे पहले वह सचित्त फल वगैरहका भक्षण करना छोड़ देता है। हरे साग-सब्जी, पके फल वगैरहको सचित्त कहते हैं। उनके खानेसे इन्द्रिय मद अधिक होता है जो ब्रह्मचर्यका घातक है। अत उन्हें सुखाकर या आगमें पकाकर या चाकूसे

---

१. 'दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त राइभत्ती य। बंभारम्भपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥' —चारित्तपाहुड २१ प्रा. पञ्चसंग्रह १।१३६। बारस अणुवेक्खा ६९। गो. जीवकाण्ड ४७६। वसुनन्दि श्रा. ४। 'सद्दर्शनं व्रतोद्योतं समता प्रोषधव्रतम्। सचित्तसेवाविरतिमह स्त्रीसंगवर्जनम् ॥१५९॥ ब्रह्मचर्यमनारम्भमपरिग्रहपरिच्युतिम्। तथानुमननत्यागं स्वोद्दिष्टपरिवर्जनम् ॥१६०॥ स्थानानि गृहिणां प्राहुः एकादश गणाधिपाः।' —महापुराण १० पर्व। 'दर्शनिकोऽथ व्रतिकः सामयिकी प्रोषधोपवासी च। सचित्तदिवामैथुनविरतो गृहिणोऽणुयमिषु हीनाः षट् ॥२॥ अब्रह्मारम्भपरिग्रहविरता वर्णिनस्त्रयो मध्याः। अनुमतिविरतोद्दिष्टविरतावुभौ भिक्षुको प्रकृष्टौ च ॥३॥' —सागारधर्म. अ. ३।

तं निर्ममसुशन्तीह केवलात्मपरिच्छदम् ॥८६४॥
यः कर्मद्वितयातीतस्तं मुमुक्षुं प्रचक्षते ।
पाशैर्लोहस्य हेम्नो वा यो बद्धो बद्ध एव सः ॥८६५॥
निर्ममो निरहंकारो निर्मानमदमत्सरः ।
निन्दायां संस्तवे चैव समधीः शंसितव्रतः ॥८६६॥
योऽवगम्य यथाम्नायं[1] तत्त्वं तत्त्वैकभावन. ।
वाचंयमः स विज्ञेयो न मौनी पशुवन्नरः ॥८६७॥
श्रुते व्रते प्रसंख्याने[2] संयमे नियमे यमे ।
यस्योच्चैः सर्वदा चेत. सोऽनूचानः[3] प्रकीर्तित' ॥८६८॥
योऽक्षस्तेनेष्व[4]विश्वस्तः शाश्वते पथि निष्ठितः ।
समस्तसत्त्वविश्वास्यः सोऽनाश्वानिह गीयते ॥८६९॥

करते, केवल धार्मिक काम करते है। किन्तु उन्हें भी किसी लौकिक फलकी इच्छासे नहीं करते, अपना कर्तव्य समझकर करते है। और उनके पास अपनी आत्माके सिवा और कुछ रहता नहीं है, शरीर है किन्तु उससे भी उन्हें कोई ममता नहीं रहती, इसीलिए उन्हें 'निर्मम' कहते हैं ॥ ८६४ ॥ जो पुण्य और पाप दोनोंसे रहित है उसे मुमुक्षु कहते हैं। क्योंकि बन्धन लोहेके हों या सोनेके हों, जो उनसे बँधा है वह तो बद्ध ही है। अर्थात् पुण्यकर्म सोनेके बन्धन हैं और पापकर्म लोहेके बन्धन है। दोनो ही जीवको ससारमें बाँधकर रखते हैं। अत जो पाप-कर्मको छोडकर पुण्यकर्ममें लगा है वह भी कर्मबन्ध करता है, किन्तु जो पुण्य और पाप दोनोंको छोड़कर शुद्धोपयोगमें सलीन है वही मुमुक्षु है ॥ ८६५ ॥

जो ममतारहित है, अहकाररहित है, मान, मस्ती और डाहसे रहित है तथा निन्दा और स्तुतिमें समान बुद्धि रखता है [वैदिक धर्ममें यह भी साधुकी एक सज्ञा है] ॥ ८६६ ॥

जो आम्नायके अनुसार तत्त्वको जानकर उसीका एकमात्र ध्यान करता है उसे मौनी जानना चाहिए। जो पशुकी तरह केवल बोलता नहीं है वह मौनी नहीं है ॥ ८६७ ॥

जिसका मन श्रुतमें, व्रतमें, ध्यानमें, सयममें तथा यम और नियममें सलग्न रहता है उसे अनूचान कहते हैं। अर्थात् वैदिक धर्ममें साङ्ग वेदके पूर्ण विद्वान्को अनूचान कहते है। किन्तु ग्रन्थकारका कहना है कि जो श्रुत, व्रत नियमादिकमें रत है वही अनूचान है। और इसलिए जैन-मुनि ही 'अनूचान' कहे जा सकते हैं ॥ ८६८ ॥

जो इन्द्रियरूपी चोरोंका विश्वास नहीं करता तथा स्थायी मार्गपर दृढ रहता है और सब प्राणी जिसका विश्वास करते हैं अर्थात् जो किसीको भी कष्ट नहीं पहुँचाता उसे अनाश्वान् कहते हैं। अर्थात् वैदिक धर्ममें जो भोजन न करे उसे अनाश्वान् कहा जाता है। किन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि जिसमें उक्त बातें हों उसीको अनाश्वान् कहना चाहिए ॥ ८६९ ॥

---

१ यथान्याय अ०, ज०। २. ध्याने। ३ "अनूचानो विनीते स्यात् सागवेदविचक्षणे"—इति मेदिनी।
४ इन्द्रियचौरेषु।

तत्तद्गुणप्रधानत्वाद्यतयोऽनेकधा स्मृताः ।
निरुक्तिं युक्तितस्तेषां वदतो मन्निबोधत ॥८५७॥
जित्वेन्द्रियाणि सर्वाणि यो वेत्त्यात्मानमात्मना ।
गृहस्थो वानप्रस्थो वा स जितेन्द्रिय उच्यते ॥८५८॥
मानमायामदामर्षक्षपणात्क्षपणः स्मृतः ।
यो न श्रान्तो भवेद्भ्रान्तेस्तं विदुः श्रमणं बुधाः ॥८५९॥
यो हताशः प्रशान्ताशस्तमाशाम्बरमूचिरे ।
यः सर्वसङ्गसंत्यक्तः स नग्नः परिकीर्तितः ॥८६०॥
रेषणात्क्लेशराशीनामृषिमाहुर्मनीषिणः ।
मान्यत्वादात्मविद्यानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः ॥८६१॥
यः पापपाशनाशाय यतते स यतिर्भवेत् ।
योऽनीहो देहगेहेऽपि सोऽनगारः सतां मतः ॥८६२॥
आत्माशुद्धिकरैर्यस्य न सङ्गः कर्मदुर्जनैः ।
स पुमाञ्छुचिराख्यातो नाम्बुसंप्लुतमस्तकः ॥८६३॥
धर्मकर्मफलेऽनीहो निवृत्तोऽधर्मकर्मणः ।

मुनियोंके विविध नामोंका अर्थ

उन उन गुणोंकी प्रधानताके कारण मुनि अनेक प्रकारके बतलाये हैं। अब उनके उन नामोंकी युक्तिपूर्वक निरुक्ति बतलाते हैं, उसे मुझसे सुनिए ॥८५७॥ जो सब इन्द्रियोंको जीतकर अपनेसे अपनेको जानता है वह गृहस्थ हो या वानप्रस्थ उसे जितेन्द्रिय कहते हैं ॥८५८॥ मान, माया, मस्ती और क्रोधका नाश कर देनेसे क्षपण कहते हैं और जगह जगह विहार करता हुआ जो थकता नहीं है इसलिए उसे श्रमण कहते हैं ॥ ८५९ ॥ उसने अपनी आशाओंको नष्ट कर दिया है अथवा उसकी आशाएँ शान्त हो गयी हैं इसलिए उसे आशाम्बर कहते हैं और वह अन्तरंग तथा बहिरंग सब परिग्रहोंसे रहित है इसलिए उसे नग्न कहते हैं ॥ ८६० ॥

क्लेशसमूहको रोकनेके कारण विद्वान् लोग उसे ऋषि कहते हैं। और आत्मविद्यामें मान्य होनेके कारण महात्मा लोग उसे मुनि कहते हैं ॥ ८६१ ॥ चूँकि वह पापरूपी बन्धनके नाश करनेका यत्न करता है इसलिए उसे यति कहते हैं और शरीररूपी घरमें भी उसकी रुचि नहीं है इसलिए उसे अनगार कहते हैं ॥ ८६२ ॥ जो आत्माको मलिन करनेवाले कर्मरूपी दुर्जनोंसे सम्बन्ध नहीं रखता वही मनुष्य शुचि या शुद्ध है सिरसे पानी डालनेवाला नहीं। अर्थात् जो पानीसे शरीरका मलमलकर धोता है वह पवित्र नहीं है किन्तु जिसकी आत्मा निर्मल है वही पवित्र है। अर्थात् यद्यपि मुनि स्नान नहीं करते किन्तु उनकी आत्मा निर्मल है इसलिए उन्हें पवित्र या शुचि कहते हैं ॥ ८६३ ॥

जो धर्माचरणके फलमें इच्छा नहीं रखता तथा अधर्माचरणका त्यागी है और केवल आत्मा ही जिसका परिवार या सम्पत्ति है उसे निर्मम कहते हैं। अर्थात् मुनि अधार्मिक काम नहीं

---

१ नवरम्यात् ।

भवेत्परमहंसोऽसौ नाग्निवत्सर्वभक्षकः ॥८७६॥
ज्ञानैर्मनो वपुर्वृत्तैर्नियमैरिन्द्रियाणि च ।
नित्यं यस्य प्रदीप्तानि स तपस्वी न वेषवान् ॥८७७॥
पञ्चेन्द्रियप्रवृत्त्याख्यास्तिथयः[1] पञ्च कीर्तिताः ।
संसाराश्रयहेतुत्वात्ताभिर्मुक्तोऽतिथिर्भवेत्[2] ॥८७८॥
अद्रोहः सर्वसत्त्वेषु यज्ञो यस्य दिने दिने ।
स पुमान्दीक्षितात्मा[3] स्यान्नत्वजादियमाशयः[4] ॥८७९॥
दुष्कर्मदुर्जनास्पर्शी सर्वसत्त्वहिताशयः ।
स श्रोत्रियो भवेत्सत्यं न तु यो बाह्यशौचवान् ॥८८०॥
अध्यात्माग्नौ दयामन्त्रैः सम्यक्कर्मसमिच्चयम् ।
यो जुहोति स होता[5] स्यान्न बाह्याग्निसमेधकः ॥८८१॥

पानीकी तरह कर्म और आत्माको जुदा-जुदा कर देता है वही परमहस साधु है। जो आगकी तरह सर्वभक्षी है, जो मिल जाये वही खा लेता है वह परमहस नहीं है ॥ ८७६ ॥ जिसका मन ज्ञानसे, शरीर चारित्रसे और इन्द्रियाँ नियमोंसे सदा प्रदीप्त रहती है वही तपस्वी है, जिसने कोरा वेष बना रखा है वह तपस्वी नहीं है ॥ ८७७ ॥

पाँचों इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयमें लगना ही पाँच तिथियाँ हैं। चूँकि इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयमें प्रवृत्ति करना ससारका कारण है। अत: जो उनसे मुक्त हो गया उसे अतिथि कहते हैं ॥ ८७८ ॥

भावार्थ—भोजनके लिए आनेवाले साधु अतिथि कहे जाते है। अतिथि शब्दका एक अर्थ यह भी होता है कि जिसके आनेकी कोई तिथि (मिति) निश्चित नहीं है वह अतिथि है। साधु आहारके लिए किस दिन आ जायेंगे यह पहलेसे निश्चित तो होता नहीं तथा साधुओंके अष्टमी आदिका विचार भी नहीं होता। अत वे अतिथि कहलाते है। ग्रन्थकार कहते हैं कि अतिथि शब्दका यह अर्थ तो लौकिक है। वास्तवमें तो पाँचों इन्द्रियाँ ही द्वितीया, पचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी रूप पाँच तिथियाँ हैं और जो उनसे मुक्त हो गया, जिसने पाँचों इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लिया वही वास्तवमें अतिथि है।

जो प्रतिदिन समस्त प्राणियोंमें मैत्रीरूपी यज्ञका आचरण करता है वह मनुष्य दीक्षित कहलाता है। जो बकरे वगैरहका बलिदान करता है वह दीक्षित नहीं है ॥ ८७९ ॥

जो बुरे कामोंको नहीं करता और न बुरे मनुष्योंकी सगति ही करता है तथा सब प्राणियोंका हित चाहता है वह वास्तवमें श्रोत्रिय है, जो केवल बाह्य शुद्धि पालता है वह श्रोत्रिय नहीं है ॥ ८८० ॥ जो आत्मारूपी अग्निमें दयारूपी मन्त्रोंके द्वारा कर्मरूपी काष्ठ-समूहसे हवन करता है वह होता है, जो बाह्य अग्निमें हवन करता है वह होता नहीं है ॥ ८८१ ॥ जो

१ प्रवृत्ता–अ०, ज०, मु० । २ ससारे श्रेय–अ०, ज०, मु० । ३. "स सोमवति दीक्षित" इत्यमर । ४ छागादीना घातक । ५ होमकर्ता ।

तत्त्वे पुमान्मनः पुंसि मनस्यक्षकदम्बकम् ।
यस्य युक्तं स योगी स्यान्न परेच्छादुरीहितः ॥८७०॥
कामः क्रोधो मदो माया लोभश्चेत्यग्निपञ्चकम् ।
येनेदं साधितं स स्यात्कृती पञ्चाग्निसाधकः[1] ॥८७१॥
ज्ञानं ब्रह्म दया ब्रह्म ब्रह्म कामविनिग्रहः ।
सम्यगत्र वसन्नात्मा[2] ब्रह्मचारी भवेन्नरः ॥८७२॥
क्षान्तियोषिति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः ।
स गृहस्थो भवेन्नूनं मनोदैवतसाधकः ॥८७३॥
ग्राम्यमर्थं बहिश्चान्तर्यः परित्यज्य संयमी ।
वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वनस्थः कुटुम्बवान् ॥८७४॥
संसाराग्निशिखाच्छेदो येन ज्ञानासिना कृतः ।
तं शिखाच्छेदिनं प्राहुर्न तु मुण्डितमस्तकम् ॥८७५॥
कर्मात्मनोर्विवेक्ता यः क्षीरनीरसमानयोः ।

जिसका आत्मा तत्त्वमें लीन है, मन आत्मामें लीन है और इन्द्रियाँ मनमें लीन हैं उसे योगी कहते हैं। अर्थात् जिसकी इन्द्रियाँ मनमें, मन आत्मामें और आत्मा तत्त्वमें लीन है वह योगी है। जो दूसरी वस्तुओंकी चाहरूपी दुष्ट संकल्पसे युक्त है वह योगी नहीं है ॥ ८७० ॥

काम, क्रोध, मद, माया और लोभ ये पाँच अग्नियाँ हैं। जो इन पाँचों अग्नियोंको अपने वशमें कर लेता है उसे पञ्चाग्निका साधक कहते हैं। अर्थात् वैदिक साहित्यमें पाँच अग्नियोंकी उपासना करनेवालेको पञ्चाग्निसाधक कहते हैं। किन्तु ग्रन्थकारका कहना है कि सच्ची अग्नि तो काम, क्रोधादिक हैं जो रात-दिन आत्माको जलाती हैं। उन्हींका साधक पञ्चाग्निका साधक है। बाह्य अग्नियोंकी उपासनावाला नहीं ॥ ८७१ ॥

ज्ञानको ब्रह्म कहते हैं। दयाको ब्रह्म कहते हैं। कामको वशमें करनेको ब्रह्म कहते हैं। जो आत्मा अच्छी रीतिसे ज्ञानकी आराधना करता है या दयाका पालन करता है अथवा कामको जीत लेता है वही ब्रह्मचारी है ॥ ८७२ ॥

जो क्षमारूपी स्त्रीमें आसक्त है, सम्यग्ज्ञानरूपी अतिथिका प्यारा है और मनरूपी देवताकी साधना करता है वही सच्चा गृहस्थ है। अर्थात् जो क्षमाशील है ज्ञानी है और मनोजयी है वही वास्तवमें गृहस्थ है ॥ ८७३ ॥

जो अन्दरसे और बाहरसे अश्लील बातोंको छोड़कर संयम धारण करता है उसे वानप्रस्थ जानना चाहिए। जो कुटुम्बको लेकर जंगलमें जा बसता है वह वानप्रस्थ नहीं है ॥८७४॥

जिसने ज्ञानरूपी तलवारके द्वारा संसाररूपी अग्निकी शिखा यानी लपटोंको काट डाला उसे शिखाछेदी कहते हैं, सिर घुटानेवालेको नहीं ॥ ८७५ ॥

संसार अवस्थामें कर्म और आत्मा दूध और पानीकी तरह मिले हुए हैं। जो दूध और

---

1 'जठरे गार्हपत्याग्निरग्न्याधेये तु दक्षिणः। आस्ये आहवनीयोऽग्निः सत्यः पर्वा च मूर्धनि। यः पञ्चाग्नीनिमान् वेद आहिताग्निः स उच्यते।' —पद्मपुराण। 2 'परमात्मा' इत्यपि पाठः।

यः स्यात्स ब्राह्मणः सत्यं न तु[1] जातिमदान्धलः ॥८८६॥
सा जातिः परलोकाय यस्याः सद्धर्मसंभवः ।
न हि सस्याय जायेत शुद्धा भूर्बीजवर्जिता ॥८८७॥
स शैवो यः शिवज्ञात्मा स बौद्धो योऽन्तरात्मभृत् ।
स सांख्यो यः प्रसंख्यावान्स द्विजो यो न जन्मवान् ॥८८८॥
ज्ञानहीनो दुराचारो निर्दयो लोलुपाशयः[2] ।
दानयोग्यः कथं स स्याद्यश्चात्तानुमतक्रियः ॥८८९॥
अनुमान्या[3] समुद्देश्या[4] त्रिशुद्धा भ्रामरी तथा ।
भिक्षा चतुर्विधा ज्ञेया यतिद्वयसमाश्रया ॥८९०॥

इत्युपासकाध्ययने यतिनामनिर्वचनश्चतुश्चत्वारिंशः कल्पः ।

काम, क्रोध, मोह आदि तथा जमीन-जायदाद, धन आदि अन्तरग और बहिरग परिग्रहसे रहित है वही सच्चा ब्राह्मण है। जो जातिके मदसे अन्धा है, अपनेको सबसे ऊँचा और दूसरोंको नीच समझता है वह ब्राह्मण नहीं है ॥ ८८६ ॥

वही जाति परलोकके लिए उपयोगी है जिससे सच्चे धर्मका जन्म होता है, जमीन शुद्ध भी हो किन्तु यदि उसमें बीज न डाला गया हो तो अनाज पैदा नहीं हो सकता। अर्थात् ब्राह्मण जाति शुद्ध भी हो किन्तु उसमें यदि समीचीन धर्मके पालनकी परिपाटी न हो तो वह शुद्ध जाति भी व्यर्थ है ॥ ८८७ ॥

जो शिव अर्थात् अपने कल्याणरूप मुक्तिको जानता है वही सच्चा शैव—शिवका अनुयायी है। जो अपनी अन्तरात्माका पोषक है वही वास्तवमें बौद्ध है। जो आत्मध्यानी है वही साख्य है और जिसे फिर ससारमें जन्म नहीं लेना है वही द्विज अर्थात् ब्राह्मण है ॥ ८८८ ॥

जो अज्ञानी है, दुराचारी है, निर्दय है, विषयोंका लोलुपी है तथा इन्द्रियोंका दास है वह दानका पात्र कैसे हो सकता है ? अर्थात् ऐसे आदमीको कभी भी दान नहीं देना चाहिए ॥ ८८९ ॥

भिक्षाके भेद

देशविरत और सर्वविरतकी अपेक्षासे भिक्षा चार प्रकारकी होती है—अनुमान्या, समुद्देश्या, त्रिशुद्धा और भ्रामरी ॥ ८९० ॥

भावार्थ—मुनिसम्बन्धी भिक्षाके लिए तो भ्रामरी शब्द शास्त्रोंमें अति प्रसिद्ध है। किन्तु श्रावकसम्बन्धी भिक्षाके इन भेदोंका उल्लेख अन्यत्र हमारे देखनेमें नहीं आया। टिप्पणकारने अनुमान्या भिक्षाको दस प्रतिमापर्यन्त बतलाया है और आमन्त्रणपूर्वक भोजनको समुद्देश्य बतलाते हुए छठी प्रतिमापर्यन्त बतलाया है। छठी प्रतिमापर्यन्त गृही सज्ञा है। छठीके पश्चात् नवीं प्रतिमा पर्यन्त ब्रह्मचारी सज्ञा है और भिक्षुक सज्ञा केवल अन्तिम दो प्रतिमाधारियोंकी है। दसवीं प्रतिमाका धारी घर छोड़कर बाहर रहने लगता है और आमन्त्रणदाताके घर भोजन करता है। अत

---

१ न जातु म०, ज०। २ पञ्चेन्द्रियवश। ३ दशप्रतिमापर्यन्तम्। ४ आमन्त्रणपूर्विका षट्प्रतिमापर्यन्तम्।

भावपुष्पैर्यजेद्देवं व्रतपुष्पैर्वपुर्गृहम् ।
क्षमापुष्पैर्मनो वह्निं यः स यष्टा सतां मतः ॥८८२॥
षोडशानामुदारात्मा यः प्रभुर्भावनर्त्विजाम् ।
सोऽध्वर्युरिह बोद्धव्यः शिवशर्माध्वरोद्धुरः ॥८८३॥
विवेक वेदयेदुच्चैर्यः शरीरशरीरिणोः ।
स प्रीत्यै विदुषां वेदो नाखिलक्षयकारणम् ॥८८४॥
जातिर्जरा मृतिः पुंसां त्रयी संसृतिकारणम् ।
एषा त्रयी यतस्त्रय्याः क्षीयते सा त्रयी मता ॥८८५॥
अहिंसः सद्व्रतो ज्ञानी निरीहो निष्परिग्रहः ।

भावरूपी पुष्पोंसे देवताकी पूजा करता है, व्रतरूपी पुष्पोंसे शरीररूपी घरकी पूजा करता है और क्षमारूपी पुष्पोंसे मनरूपी अग्निकी पूजा करता है उसे सज्जन पुरुष यष्टा अर्थात् यज्ञ करनेवाला कहते हैं। जो महात्मा सोलह कारण भावनारूपी यज्ञ करानेवाले ऋत्विजोंका स्वामी है, मोक्ष-सुखरूपी यज्ञके उद्धारक उस पुरुषको अध्वर्यु जानना चाहिए ॥८८२–८८३॥

भावार्थ—दीक्षित, श्रोत्रिय, होता, यष्टा, अध्वर्यु ये सब वैदिक यज्ञसे सम्बन्ध रखते हैं। वेदोंमें मन्त्रोंके द्वारा जो हवन किया जाता है उसे यज्ञ कहते हैं। पुराने युगमें वैदिक यज्ञोंका बड़ा चलन था और उनमें बकरे वगैरहका बलिदान किया जाता था तथा उनके अनेक भेद थे। जो सोमयज्ञ करता था उसे दीक्षित कहते थे। इस यज्ञमें सोमरस पिया जाता था तथा बलिदान होता था। जो वेदका ज्ञाता होता था उसे श्रोत्रिय कहते थे। यह बाह्य शुद्धिका बड़ा ध्यान रखता था। जो होम करता था उसे होता कहते थे। जो यज्ञका प्रधान होता था सबको अपने-अपने कामकी आज्ञा देता था उसे यष्टा या यजमान कहते थे। जो यजुर्वेदका ज्ञाता होता था उसे अध्वर्यु कहते थे। ये सब क्रियाकाण्डी होते थे। वैदिक क्रियाकाण्डमें बाह्य आचरण ही सब कुछ है। अतः ग्रन्थकारने आत्म-यज्ञको ही सच्चा यज्ञ बतलाकर जो उसीको करता है उसे ही दीक्षित आदि नामोंसे पुकारनेके लिए कहा है।

जो आत्मा और शरीरके भेदको जोरदार शब्दोंमें बतलाता है वही सच्चा वेद है और विद्वान् लोग उससे ही प्रेम करते हैं। किन्तु जो सब पशुओंके विनाशका कारण है वह वेद नहीं है ॥ ८८४ ॥

जन्म, बुढ़ापा और मृत्यु ये तीनों संसारके कारण हैं। इस त्रयी अर्थात् तीनोंका जिस त्रयीसे नाश हो वही त्रयी है। आशय यह है कि ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेदको त्रयी कहते हैं। किन्तु ग्रन्थकारका कहना है जो संसारके कारण जीवन, मृत्यु और बुढ़ापेको नष्ट कर दे, जिससे संसारमें न जन्म लेना पड़े और न मृत्युका दुःख उठाना पड़े वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही सच्ची त्रयी है ॥ ८८५ ॥

जो अहिंसक है, समीचीन व्रतोंका पालन करता है, ज्ञानी है, सांसारिक चाहसे दूर है और

१ षोडश भावना एव ऋत्विजः तेषां मध्येऽध्वर्युः यजुर्वेदज्ञाता मुख्यः।

यः स्यात्स ब्राह्मणः सत्यं न तु[1] जातिमदान्धलः ॥८८६॥
सा जातिः परलोकाय यस्याः सद्धर्मसंभवः ।
न हि सस्याय जायेत शुद्धा भूर्बीजवर्जिता ॥८८७॥
स शैवो यः शिवज्ञात्मा स बौद्धो योऽन्तरात्मभृत् ।
स सांख्यो यः प्रसंख्यावान्स द्विजो यो न जन्मवान् ॥८८८॥
ज्ञानहीनो दुराचारो निर्दयो लोलुपाशयः ।
दानयोग्यः कथं स स्याद्यश्चाक्षानुमतक्रियः[2] ॥८८९॥
अनुमान्या[3] समुद्देश्या[4] त्रिशुद्धा भ्रामरी तथा ।
भिक्षा चतुर्विधा ज्ञेया यतिद्वयसमाश्रया ॥८९०॥

इत्युपासकाध्ययने यतिनामनिर्वचनश्चतुश्चत्वारिंशः कल्पः ।

काम, क्रोध, मोह आदि तथा जमीन–जायदाद, धन आदि अन्तरग और बहिरग परिग्रहसे रहित है वही सच्चा ब्राह्मण है । जो जातिके मदसे अन्धा है, अपनेको सबसे ऊँचा और दूसरोंको नीच समझता है वह ब्राह्मण नहीं है ॥ ८८६ ॥

वही जाति परलोकके लिए उपयोगी है जिससे सच्चे धर्मका जन्म होता है, जमीन शुद्ध भी हो किन्तु यदि उसमें बीज न डाला गया हो तो अनाज पैदा नहीं हो सकता । अर्थात् ब्राह्मण जाति शुद्ध भी हो किन्तु उसमें यदि समीचीन धर्मके पालनकी परिपाटी न हो तो वह शुद्ध जाति भी व्यर्थ है ॥ ८८७ ॥

जो शिव अर्थात् अपने कल्याणरूप मुक्तिको जानता है वही सच्चा शैव—शिवका अनुयायी है । जो अपनी अन्तरात्माका पोषक है वही वास्तवमें बौद्ध है । जो आत्मध्यानी है वही सांख्य है और जिसे फिर ससारमे जन्म नहीं लेना है वही द्विज अर्थात् ब्राह्मण है ॥ ८८८ ॥

जो अज्ञानी है, दुराचारी है, निर्दय है, विषयोंका लोलुपी है तथा इन्द्रियोंका दास है वह दानका पात्र कैसे हो सकता है ? अर्थात् ऐसे आदमीको कभी भी दान नहीं देना चाहिए ॥ ८८९ ॥

भिक्षाके भेद

देशविरत और सर्वविरतकी अपेक्षासे भिक्षा चार प्रकारकी होती है—अनुमान्या, समुद्देश्या, त्रिशुद्धा और भ्रामरी ॥ ८९० ॥

भावार्थ—मुनिसम्बन्धी भिक्षाके लिए तो भ्रामरी शब्द शास्त्रोंमें अति प्रसिद्ध है । किन्तु श्रावकसम्बन्धी भिक्षाके इन भेदोंका उल्लेख अन्यत्र हमारे देखनेमें नहीं आया । टिप्पणकारने अनुमान्या भिक्षाको दस प्रतिमापर्यन्त बतलाया है और आमन्त्रणपूर्वक भोजनको समुद्देश्य बतलाते हुए छठी प्रतिमापर्यन्त बतलाया है । छठी प्रतिमापर्यन्त गृही संज्ञा है । छठीके पश्चात् नवीं प्रतिमा पर्यन्त ब्रह्मचारी सज्ञा है और भिक्षुक सज्ञा केवल अन्तिम दो प्रतिमाधारियोंकी है । दसवीं प्रतिमाका धारी घर छोडकर बाहर रहने लगता है और आमन्त्रणदाताके घर भोजन करता है । अत

---

१ न जातु अ०, ज० । २ पञ्चेन्द्रियवश । ३ दशप्रतिमापर्यन्तम् । ४ आमन्त्रणपूर्विका षट्प्रतिमापर्यन्तम् ।

तरुदलमिव परिपक्वं स्नेहविहीनं प्रदीपमिव देहम् ।
स्वयमेव विनाशोन्मुखमवबुध्य करोतु विधिमन्त्यम् ॥८९१॥
[1]गहनं न शरीरस्य हि विसर्जनं किं तु गहनमिह वृत्तम् ।
तन्न [2]स्थास्नु विनाश्यं न नश्वरं [3]शोच्यमिदमाहुः ॥८९२॥
प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम् ।
वपुरेव नृणां निगिरति चरमाचरित्रोदयं समयम् ॥८९३॥
[4]सविधौ पापकृतेरिव [वापकृतिरिव] जनिताखिलकायकम्पनातङ्का ।

वह उद्दिष्ट भोजन करता है क्योंकि दाता उसके उद्देश्यसे भोजन तैयार करता है। इसलिए उसकी भिक्षा समुद्देश्या होनी चाहिए। वह अनुमति-त्यागी होता है अतः भोजनके विषयमें किसी प्रकारकी अनुमति नहीं दे सकता। किन्तु नौवीं प्रतिमा तकके धारी भोजनके विषयमें अनुमति दे सकते हैं, अतः उनकी भिक्षा अनुमान्या होनी चाहिए। ग्रन्थकारने भिक्षाके भेदोंका जो क्रम रखा है उससे भी यही ध्वनित होता है कि प्रारम्भिक प्रतिमावाले अनुमान्या भिक्षा करते हैं, दसवीं प्रतिमावाले समुद्देश्या और अन्तिम प्रतिमावाले त्रिशुद्धा भिक्षा करते हैं, तथा साधु भ्रामरी भिक्षा करते हैं। हमारी दृष्टिसे तो छठी प्रतिमा तकके लिए भिक्षा भोजनका व्यवहार ही उचित नहीं है। वे तो गृही होते हैं।

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें, मुनिके नामोंकी व्युत्पत्ति बतलानेवाला चौवालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब समाधिमरणकी विधि बतलाते हैं—]

वृक्षके पके हुए पत्तेकी तरह या तेलरहित दीपककी तरह शरीरको स्वयं ही विनाशोन्मुख जानकर अन्तिम विधि (समाधिमरण) करना चाहिए ॥ ८९१ ॥ किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि शरीरका त्याग देना कठिन नहीं है किन्तु उसमें संयमका धारण करना कठिन है। अतः यदि शरीर ठहरने योग्य हो तो उसे नष्ट नहीं कर डालना चाहिए और यदि वह नष्ट होता हो तो उसका रंज नहीं करना चाहिए ॥ ८९२ ॥

[यह कहा जा सकता है कि यह हमें कैसे मालूम हो कि समाधिमरणका समय आ गया है? इसका उत्तर ग्रन्थकार स्वयं देते हैं—]

जब शरीरकी शक्ति प्रतिदिन घटने लगे, खाना-पीना छूट जाये और कोई उपाय कारगर न हो तो स्वयं शरीर ही मनुष्योंको यह बतला देता है कि अब समाधिमरण करनेका समय आ गया है ॥ ८९३ ॥

जब सन्निकटवर्ती [5]अपकारकी तरह समस्त शरीरमें कँपकँपी पैदा करनेवाला बुढ़ापा

---

१ 'गहनं न तनोर्हानं पुंसः किन्त्वत्र संयमः । योगानुवृत्तेर्व्यावृत्य तदात्मात्मनि युज्यताम्' ॥४॥ —सागारधर्मा० ८।४। २ 'न धर्मसाधनमिति स्थास्नु नाश्यं वपुर्बुधैः । न च केनापि नो रक्ष्यमिति शोच्यं विनश्वरम्' ॥५॥—सागारधर्मा० ८।५। ३ शोच्यमित्याहुः —सागारधर्मामृत टीका ८।५ में उद्धृत। ४ सविधौ—सागा० टी० ८।१९ में उद्धृत। ५ समीपवर्तिनी अपकृतिरिव या जरिका—धर्मरत्ना० पृ० ११२।

यमदूतीव जरा यदि समागता जीवितेषु कस्तर्षः[1] ॥८९४॥
कर्णान्तकेशपाशग्रहणविधेर्बोधितोऽपि यदि जरया।
स्वस्य हितैषी न भवति तं किं मृत्युर्न संग्रसते ॥८९५॥
उपवासादिभिरङ्गे[2] कषायदोषे च बोधिभावनया।
कृतसल्लेखनकर्मा प्रायाय यतेत गणमध्ये ॥८९६॥
यमनियमस्वाध्यायास्तपांसि देवार्चनाविधिर्दानम्[3]।
एतत्सर्वं निष्फलमवसाने चेन्मनो मलिनम् ॥८९७॥
द्वादशवर्षाणि नृपः शिक्षितशस्त्रो रणेषु यदि मुह्येत्।
किं[4] स्यात्तस्यास्त्रविधेर्यथा तथान्ते यतेः पुराचरितम् ॥८९८॥

यमके दूतकी तरह आकर खडा हो गया तो फिर जीनेकी क्या लालसा ? ॥ ८९४ ॥

बुढ़ापेके द्वारा कानके समीपके बालोंको पकडकर समझाये जानेपर भी अर्थात् बुढ़ापेके चिह्नस्वरूप कानके पासके बालोंके सफेद हो जानेपर भी जो अपने हितमें नहीं लगता है क्या उसे मौत नहीं खाती ? ॥ ८९५ ॥

भावार्थ—आशय यह है कि बुढापा आ जानेपर जीवनमें कोई ऐसा रस नहीं रहता जिसके लिए मनुष्य जीनेकी इच्छा करे। अतः बुढ़ापा आनेपर आत्म-कल्याणमें लगना ही हितकर है; क्योंकि उसके बाद मौतके मुँहमें जाना सुनिश्चित है।

समाधिमरणकी विधि

जो समाधिमरण करना चाहता है, उसे उपवास वगैरहके द्वारा शरीरको और ज्ञानभावनाके द्वारा कषायोंको कृश करके किसी मुनिसंघमें चला जाना चाहिए ॥ ८९६ ॥

भावार्थ—समाधिमरणको सल्लेखना व्रत कहते हैं। सल्लेखनाका अर्थ है योग्य रीतिसे शरीर और कषायोंका कृश करना। यदि शरीर मलसे भरा हो और मनमें कुटुम्बवालोंका मोह समाया हो तो समाधिमरण हो नहीं सकता। अतः शरीर और आत्मा दोनोंको शुद्ध करके समाधिमरण करना चाहिए और उनके लिए घरवालोंके फन्देसे निकलकर त्यागी जनोंमें चले जाना चाहिए।

यदि मरते समय मन मैला रहा तो जीवन-भरका यम, नियम, स्वाध्याय, तप, देवपूजा और दान निष्फल है ॥ ८९७ ॥ जैसे एक राजाने बारह वर्ष तक शस्त्र चलाना सीखा। किन्तु जब युद्धका अवसर आया तो वह शस्त्र नहीं चला सका। उस राजाकी शस्त्रशिक्षा किस कामकी, वैसे ही जो व्रती जीवन-भर धर्माचरण करता रहा, किन्तु जब अन्त समय आया तो मोहमें पड़ गया। उस व्रतीका पूर्वाचरण किस कामका ॥ ८९८ ॥

---

१ का तृष्णा। २ "उपवासादिभिः कायं कषायं च श्रुतामृतैः। संलिख्य गणिमध्ये स्यात् समाधिमरणोद्यमी ॥"—सागारधर्मा० ८-१५। ३ –चर्नादिवि–धर्मरत्ना० पृ० १३३। ४ किं तस्य शस्त्रविधिना–धर्मरत्ना० पृ० १३३। "नृपस्येव यतेर्धर्मो चिरमभ्यस्तिनोऽस्त्रवत्। युधीव स्खलितो मृत्यौ स्वार्थभ्रंशोऽयशः कटु ॥१७॥"—सागारधर्मा० अ० ८।

तरुदलमिव परिपक्वं स्नेहविहीनं प्रदीपमिव देहम्।
स्वयमेव विनाशोन्मुखमवबुध्य करोतु विधिमन्त्यम् ॥८९१॥
[1]गहनं न शरीरस्य हि विसर्जनं किं तु गहनमिह वृत्तम्।
तन्न [2]स्थास्नु विनाश्यं न नश्वरं [3]शोच्यमिदमाहुः ॥८९२॥
प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम्।
वपुरेव नृणां [4]निगिरति चरमचरित्रोदयं समयम् ॥८९३॥
[5]सविधौ पापकृतेरिव [पापकृतिरिव] जनिताखिलकायकम्पनातङ्का।

यह उद्दिष्ट भोजन करता है क्योंकि दाता उसके उद्देश्यसे भोजन तैयार करता है। इसलिए उसकी भिक्षा समुद्देश्या होनी चाहिए। वह अनुमति-त्यागी होता है अतः भोजनके विषयमें किसी प्रकारकी अनुमति नहीं दे सकता। किन्तु नौवीं प्रतिमा तकके धारी भोजनके विषयमें अनुमति दे सकते हैं, अतः उनकी भिक्षा अनुमान्या होनी चाहिए। ग्रन्थकारने भिक्षाके भेदोंका जो क्रम रखा है उससे भी यही ध्वनित होता है कि प्रारम्भिक प्रतिमावाले अनुमान्या भिक्षा करते हैं, दसवीं प्रतिमावाले समुद्देश्या और अन्तिम प्रतिमावाले त्रिशुद्धा भिक्षा करते हैं, तथा साधु भ्रामरी-भिक्षा करते हैं। हमारी दृष्टिसे तो छठी प्रतिमा तकके लिए भिक्षा भोजनका व्यवहार ही उचित नहीं है। वे तो गृही होते हैं।

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें, मुनिके नामोंकी व्युत्पत्ति बतलानेवाला चौवालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[*अब समाधिमरणकी विधि बतलाते हैं—*]

वृक्षके पके हुए पत्तेकी तरह या तेलरहित दीपककी तरह शरीरको स्वयं ही विनाशोन्मुख जानकर अन्तिम विधि (समाधिमरण) करना चाहिए ॥ ८९१ ॥ किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि शरीरको त्याग देना कठिन नहीं है किन्तु उसमें संयमका धारण करना कठिन है। अतः यदि शरीर ठहरने योग्य हो तो उसे नष्ट नहीं कर डालना चाहिए और यदि वह नष्ट होता हो तो उसका रंज नहीं करना चाहिए ॥ ८९२ ॥

[*यह कहा जा सकता है कि यह हमें कैसे मालूम हो कि समाधिमरणका समय आ गया है! इसका उत्तर ग्रन्थकार स्वयं देते हैं—*]

जब शरीरकी शक्ति प्रतिदिन घटने लगे, खाना-पीना छूट जाये और कोई उपाय कारगर न हो तो स्वयं शरीर ही मनुष्योंको यह बतला देता है कि अब समाधिमरण करनेका समय आ गया है ॥ ८९३ ॥

जब सन्निकटवर्ती अपकारकी तरह समस्त शरीरमें कँपकँपी पैदा करनेवाला बुढ़ापा

---

१ 'गहनं न तनोर्हानं पुंसः किन्त्वत्र संयमः। योगानुवृत्तेर्व्यावृत्य तदात्मात्मनि युज्यताम् ॥२४॥' —सागारधर्मा० ८ अ०। २ 'न धर्मसाधनमिति स्थास्नु नाश्यं वपुर्बुधैः। न च केनापि नो रक्ष्यमिति शोच्यं विनश्वरम् ॥५॥'—सागारधर्मा० ८ अ०। ३ शोच्यमिदमाहुः —सागारधर्मामृत टीका ८-५ में उद्धृत। ४ निगदति—सागा० टी० ८।१२ में उद्धृत। ५ समीपवर्तिनी पापकृतिरिव या सविधा—धर्मरत्ना० प० ११२।

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुराग. सुखानुबन्धविधिः ।
एते सनिदाना स्युः सल्लेखनहानये पञ्च ॥९०३॥
आराध्य रत्नत्रयमित्थमर्थी समर्पितात्मा गणिने यथावत् ।
समाधिभावेन कृतात्मकार्य कृती जगन्मान्यपदप्रभुः स्यात् ॥९०४॥

इत्युपासकाध्ययने सल्लेखनाविधिर्नाम पञ्चचत्वारिंशः कल्पः ॥४५॥

अथ प्रकीर्णकम्

विप्रकीर्णार्थवाक्यानामुक्तिरुक्तं प्रकीर्णकम् ।
उक्तानुक्तामृतस्यन्दविन्दुस्वादनकोविदे. ॥९०५॥

आचार्य जो प्रायश्चित्त बतलायें उसे करके समाधिमरण करनेके लिए पूरब या उत्तरको सिर करके शान्तिके साथ चटाईपर विराजमान हो जाये। और यदि वह महाव्रत धारण करनेकी प्रार्थना करे तो आचार्य उसे समस्त परिग्रहका त्याग कराकर महाव्रत धारण करा दे। इसके बाद वह नग्न होकर महाव्रत अङ्गीकार करके महाव्रतकी भावना भाये और जो महाव्रत धारण न कर सकता हो तो वह बिना ही महाव्रत अङ्गीकार किये महाव्रतकी भावना भाये। संघमें जो श्रेष्ठ मुनि हों उन्हें उसकी सेवामें देकर आचार्य उसे सम्बोधते रहें। पहले उससे यह मालूम करें कि तुम्हारी कुछ खानेकी इच्छा है क्या! यदि वह कुछ खाना चाहे तो उसे खिला दें, जिससे उसका मन किसी खाद्यमें उलझा न रहे। और यदि वह उसीमें आसक्त हो तो उसे समझाकर उसका मन उधरसे हटाये। इस तरह उससे भोजनका त्याग कराकर दुग्ध वगैरह देते रहें। फिर धीरे-धीरे भोजन भी छुड़ाकर गर्म जल देते रहें। उसके बाद जब आचार्य आज्ञा दें, तो वह जीवन-भरके लिए सब प्रकारका आहार छोड़ दे। यदि उसे कोई ऐसा रोग हो जिसके कारण उसे बार-बार प्यास लगती हो तो पानी रख सकता है और जब मृत्यु निकट मालूम दे तब उसे छोड़ सकता है।

समाधिमरणके अतीचार

जीनेकी इच्छा करना, मरनेकी इच्छा करना, मित्रोंको याद करना, पहले भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना और आगामी भोगोंकी इच्छा करना, ये पाँच बातें समाधिमरणव्रतमें दोष लगानेवाली है ॥९०३॥ इस प्रकार आचार्यके ऊपर विधिवत् अपना भार सौंपकर तथा रत्नत्रयकी आराधना करके जो समाधिमरण करता है वह संसारमें पूजनीय पदका स्वामी होता है ॥९०४॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें सल्लेखनाविधि नामक पैंतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब कुछ फुटकर बातें बतलाते हैं।]

उक्त—जिन्हें कह चुके और अनुक्त—जिन्हे नहीं कहा, उन सब विषयरूपी अमृतसे टपकनेवाली बूँदोंका स्वाद लेनेमें चतुर पण्डितजनोंने फुटकर बातोंका कथन करनेको प्रकीर्णक कहा है ॥ ९०५ ॥

---

१ यदि स्तोक कालं जीव्यते तदा भव्यमिति जीविताशंसा। यदि शीघ्रं म्रियते तदा भव्यमिति मरणाशंसा। आशंसा वाञ्छा। "जीवितमरणाशंसा मित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥' तत्त्वार्थसूत्र ७-३७। "जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः। सल्लेखनातीचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥१२९॥"—रत्नकरण्डश्रा०। "जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च। सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ॥१९५॥"—पुरुषार्थसि०। अमित०श्राव० ७-१५ सागारधर्मा० ८।४५।

स्नेहं विहाय[1] बन्धुषु मोहं विभवेषु कलुषतामहिते ।
गणिनि च निवेद्य निखिलं दुरीहितं तदनु भजतु विधिमुचितम् ॥८९९॥
अशनं क्रमेण हेयं स्निग्धं पानं ततः खरं चैव ।
तदनु च सर्वनिवृत्तिं कुर्याद्गुरुपञ्चकस्मृतौ निरतः ॥९००॥
कदलीघातवदायु[३]: क्वापि सकृदेव विरतिमुपयाति ।
तत्र पुनर्नैष विधिर्यद्दैवे क्रमविधिर्नास्ति ॥९०१॥
सूरौ प्रवचनकुशले साधुजने यत्नकर्मणि प्रवणे ।
चित्ते च समाधिरते किमिहासाध्यं[६] यतेरस्ति ॥९०२॥

कुटुम्बियोंसे स्नेह, सम्पत्तिसे मोह और जिन्होंने अपना बुरा किया है उनके प्रति कलुषपने का छोड़कर आचार्यसे अपने सब अपराधोंको कह दे, और उसके बाद समाधिमरणके योग्य विधिका पालन करे ॥ ८९९ ॥

धीरे-धीरे भोजनको छोड़ दे और दूध मठा वगैरह रख ले। फिर उन्हें भी छोड़कर गर्म जल रख ले। उसके बाद पञ्च नमस्कार मन्त्रके स्मरणमें लीन होकर सब कुछ छोड़ दे ॥ ९०० ॥

यदि किसी पुण्यशाली पुरुषकी आयु कटे हुए केलेकी तरह एक साथ ही समाप्त होती हो तो वहाँ समाधिमरणकी यह विधि नहीं है, क्योंकि दैववश अचानक मरण उपस्थित होनेपर क्रमिक विधि नहीं बन सकती ॥ ९०१ ॥

यदि समाधिमरण करानेवाले आचार्य आगममें कुशल हों और साधुसंघ प्रयत्न करनेमें कुशल हो तथा समाधिमरण करनेवालेका मन ध्यानमें लगा रहे तो फिर कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ ९०२ ॥

भावार्थ—समाधिमरणके इच्छुक मनुष्यको किसी पवित्र तीर्थ-स्थानपर चले जाना चाहिए, यदि ऐसा करना शक्य न हो तो जिनालय या मुनिसंघ वगैरहमें चले जाना चाहिए। यदि तीर्थक्षेत्रके लिए कोई घरसे चले और रास्तेमें ही उसका मरण हो जाये तो उसका मरण समाधिमरण ही कहा जाता है क्योंकि समाधिमरणकी भावना भी फलदायक है। जानेसे पहले सबसे अपने अपराधोंकी क्षमा माँगे और जिसने अपना अपराध किया हो उसे क्षमा कर दे। फिर समाधिमरणके योग्य स्थानपर पहुँचकर आचार्यके सामने अपने सब दोष निवेदन कर दे और

---

१ स्नेहं विहाय — 'विविमस्त्यम्। —धर्मरत्नाकर प० १११। विधाय अ० ब० मु०। स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः। स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः ॥१२४॥ आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्। आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥१२५॥ —रत्नकरण्ड श्रा०। २ आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत् पानम्। स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत् क्रमशः ॥१२७॥ खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या। पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत् सर्वयत्नेन ॥१२८॥ —रत्नकर०। ३ —वदायुषि अ० ब० मु०। 'सहसापवर्तकवशात् कदलीघातवत् सकृत्। विरमत्यायुषि प्रायमविचारं समाचरेत् ॥११॥ —सागारधर्मा० अ० ८। ४ —र्नैव—धर्मरत्ना० प० १११। ५ 'समाधिसाधनचणे गणेशे च गणे च न। दुर्विधोऽपि सुकरः प्रत्यूहो भावितात्मनः ॥२६॥ —सागारधर्मामृत ८ अ०। ६ —ध्यं समस्तीति—धर्मरत्ना० प० १११।

स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तवः[1] ।
षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम् ॥९१२॥

आचार्योपासनं श्रद्धा शास्त्रार्थस्य विवेचनम् ।
तत्क्रियाणामनुष्ठानं श्रेयःप्राप्तिकरो गणः ॥९१३॥

शुचिर्विनयसंपन्नस्तनु[2]चापलवर्जितः ।
अष्ट[3]दोषविनिर्मुक्तमधीतां गुरुसंनिधौ ॥९१४॥

अनुयोगगुणस्थानमार्गणास्थानकर्मसु ।
अध्यात्मतत्त्वविद्यायाः पाठः स्वाध्याय उच्यते ॥९१५॥

देवपूजाकी विधि

सुज्ञ जनोंने गृहस्थोंके लिए देवपूजाके विषयमें छह क्रियाएँ बतलायी हैं—पहले अभिषेक, फिर पूजन, फिर भगवान्के गुणोंका स्तवन, फिर पञ्च नमस्कार मन्त्र वगैरहका जाप, फिर ध्यान और अन्तमें जिनवाणीका स्तवन। इसी क्रमसे जिनेन्द्र देवकी आराधना करनी चाहिए ॥ ९१२ ॥

कल्याणकी प्राप्तिके साधन

आचार्यकी उपासना, देवशास्त्र गुरुकी श्रद्धा, शास्त्रके अर्थका विवेचन, उसमें बतलायी गयी क्रियाओंका आचरण ये सब कल्याणकी प्राप्ति करनेवाले हैं ॥९१३॥

अपने कल्याणके इच्छुक शिष्यसमुदायको पवित्र होकर तथा शारीरिक चपलताको छोडकर विनयपूर्वक गुरुके समीपमें आठ दोषोंसे रहित अध्ययन करना चाहिए ॥ ९१४ ॥

भावार्थ—आचार्य परमेष्ठी या उपाध्याय परमेष्ठी गुरु कहलाते हैं। उनसे विनयपूर्वक अध्ययन, शास्त्रचर्चा, उनकी आज्ञाका पालन आदि करना चाहिए। ज्ञानाराधनके आठ दोष होते हैं—स्वाध्यायके समयका ध्यान न रखना पहला दोष है। शुद्ध उच्चारण न करना, अक्षरादिको छोड़ जाना दूसरा दोष है। शास्त्रका अर्थ ठीक न करना तीसरा दोष है। न उच्चारण ठीक करना और न अर्थ ठीक करना चौथा दोष है। जिनसे पढ़ा है या विचारा है उनका नाम छिपाना पाँचवाँ दोष है। जो पढ़ा है उसको अवधारण न करना छठा दोष है। विनयपूर्वक अध्ययन न करना सातवाँ दोष है। और गुरुका आदर न करना आठवाँ दोष है। इन आठ दोषोंको टालकर गुरुसे अध्ययन करना चाहिए।

स्वाध्यायका स्वरूप

चारों अनुयोगोंके शास्त्र तथा गुणस्थान और मार्गणास्थानका और अध्यात्म तत्त्वरूप विद्याका पढ़ना स्वाध्याय है ॥ ९१५ ॥

---

१ श्रुताराधनम्। २ शरीर। ३ अकाल १, अविनय २, अनवग्रह ३, अबहुमान ४, निह्नव ५, अव्यजन ६, अर्थविकल ७, अर्थव्यञ्जनविकल ८, इत्यष्टौ दोषा।

सुजनत्वं विनयो विवेकः परीक्षणं तत्त्वविनिश्चयश्च ।
एते गुणाः पञ्च भवन्ति यस्य स धारमवाग्धर्मकथापरः स्यात् ॥१०६॥
असूयकत्वं शठताऽविचारो दुराग्रहः सूक्तविमानना च ।
पुंसाममी पञ्च भवन्ति दोषास्तत्त्वावबोधप्रतिबन्धनाय ॥१०७॥
पुंसो यथा संशयिताशयस्य दृष्टा न काचित्सफला प्रवृत्तिः ।
धर्मस्वरूपेऽपि विमूढबुद्धेस्तथा न काचित्सफला प्रवृत्तिः ॥१०८॥
[1]ज्ञातिपूजाकुलज्ञानरूपसंपत्तपोबलैः ।
उत्पन्नस्याहंयुतोद्रेकं मदमस्मयमानसाः ॥१०९॥
यो मदात्समयस्थानामवहेलेन मोदते ।
स नूनं धर्महा यस्मान्न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥११०॥
देवसेवा [2]गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥१११॥

धर्मकथा करनेका अधिकारी

सज्जनता, विनय, समझदारी, हिताहितकी परीक्षा और तत्त्वोंका निश्चय जिसमें ये पाँच गुण होते हैं वही विशिष्ट आत्मा, धर्म कथा, धार्मिक चर्चा या धर्मोपदेशका अधिकारी है ॥१०६॥

तत्त्वको समझनेमें प्रतिबन्धक बातें

किसीके गुणोंमें दोष लगाना, ठगना, विचारहीनता, हठीपना और अच्छी बातका निरादर करना, मनुष्योंके ये पाँच दोष तत्त्वको समझनेमें रुकावट डालते हैं। अर्थात् जिसमें ये दोष होते हैं वह तत्त्वको समझनेका प्रयत्न नहीं करता और अपनी ही हाँके जाता है ॥ १०७ ॥

जैसे प्रत्येक बातको सन्देहकी दृष्टिसे देखनेवाला संशयालु मनुष्य किसी भी काममें सफल होता नहीं देखा जाता, वैसे ही जो मनुष्य धर्मके स्वरूपके विषयमें भी मूढबुद्धि है उसकी कोई प्रवृत्ति सफल नहीं होती ॥ १०८ ॥

मदोंका निषेध

गर्वसे रहित गणधरादिक देव, जाति, प्रतिष्ठा कुल, ज्ञान, रूप सम्पत्ति, तप और बलका सहारा लेकर अहंकार करनेको मद या घमंड कहते हैं। अर्थात् लोकमें इन आठ बातोंको लेकर लोग घमंड करते देखे जाते हैं॥१०९॥ जो मनुष्य घमण्डमें आकर अपने साधर्मी भाइयोंका अपमान करके प्रसन्न होता है वह निश्चयसे धर्मघातक है क्योंकि धार्मिकोंके बिना धर्म नहीं है ॥११०॥

गृहस्थके छह कर्म

देवपूजा, गुरुकी सेवा, स्वाध्याय, संयम तप और दान ये गृहस्थोंके छह दैनिक कर्म हैं। प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन ये छह काम अवश्य करने चाहिए ॥ १११ ॥

---

१ 'धर्मस्वरूपेऽपि तथाविमत्य कौतूक कर्मस्वासु क्वा प्रवृत्तिः'। —धर्मरत्ना प ११९। २ ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः। अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥२५॥ स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः। सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥२६॥ —रत्नकरण्डश्रा०। ३ अयं श्लोक पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकायामपि विद्यते।

स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तवः[1] ।
षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम् ॥९१२॥

आचार्योपासन श्रद्धा शास्त्रार्थस्य विवेचनम् ।
तत्क्रियाणामनुष्ठानं श्रेयःप्राप्तिकरो गण ॥९१३॥

शुचिर्विनयसंपन्नस्तनु[2]चापलवर्जितः ।
अष्ट[3]दोषविनिर्मुक्तमधीतां गुरुसंनिधौ ॥९१४॥

अनुयोगगुणस्थानमार्गणास्थानकर्मसु ।
अध्यात्मतत्त्वविद्यायाः पाठः स्वाध्याय उच्यते ॥९१५॥

देवपूजाकी विधि

सुज्ञ जनोंने गृहस्थोंके लिए देवपूजाके विषयमें छह क्रियाएँ बतलायी हैं—पहले अभिषेक, फिर पूजन, फिर भगवान्‌के गुणोंका स्तवन, फिर पञ्च नमस्कार मन्त्र वगैरहका जाप, फिर ध्यान और अन्तमें जिनवाणीका स्तवन। इसी क्रमसे जिनेन्द्र देवकी आराधना करनी चाहिए ॥ ९१२ ॥

कल्याणकी प्राप्तिके साधन

आचार्यकी उपासना, देवशास्त्र गुरुकी श्रद्धा, शास्त्रके अर्थका विवेचन, उसमें बतलायी गयी क्रियाओंका आचरण ये सब कल्याणकी प्राप्ति करनेवाले हैं ॥९१३॥

अपने कल्याणके इच्छुक शिष्यसमुदायको पवित्र होकर तथा शारीरिक चपलताको छोड़कर विनयपूर्वक गुरुके समीपमें आठ दोषोंसे रहित अध्ययन करना चाहिए ॥ ९१४ ॥

भावार्थ—आचार्य परमेष्ठी या उपाध्याय परमेष्ठी गुरु कहलाते है। उनसे विनयपूर्वक अध्ययन, शास्त्रचर्चा, उनकी आज्ञाका पालन आदि करना चाहिए। ज्ञानाराधनके आठ दोष होते है—स्वाध्यायके समयका ध्यान न रखना पहला दोष है। शुद्ध उच्चारण न करना, अक्षरादिको छोड़ जाना दूसरा दोष है। शास्त्रका अर्थ ठीक न करना तीसरा दोष है। न उच्चारण ठीक करना और न अर्थ ठीक करना चौथा दोष है। जिनसे पढ़ा है या विचारा है उनका नाम छिपाना पाँचवाँ दोष है। जो पढ़ा है उसको अवधारण न करना छठा दोष है। विनयपूर्वक अध्ययन न करना सातवाँ दोष है। और गुरुका आदर न करना आठवाँ दोष है। इन आठ दोषोंको टालकर गुरुसे अध्ययन करना चाहिए।

स्वाध्यायका स्वरूप

चारों अनुयोगोंके शास्त्र तथा गुणस्थान और मार्गणास्थानका और अध्यात्म तत्त्वरूप विद्याका पढ़ना स्वाध्याय है ॥ ९१५ ॥

---

१ श्रुताराधनम्। २ शरीर। ३ अकाल १, अविनय २, अनवग्रह ३, अबहुमान ४, निह्नव ५, अव्यञ्जन ६, अर्थविकल ७, अर्थव्यञ्जनविकल ८, इत्यष्टौ दोषा।

गृही यतः स्वसिद्धान्तं साधु बुध्येत धर्मधीः ।
प्रथमः सोऽनुयोगः स्यात्पुराणचरिताश्रयः ॥९१६॥
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु चतुर्गतिविचारणम् ।
शास्त्रं करणमित्याहुरनुयोगपरीक्षणम् ॥९१७॥
ममेदं स्यादनुष्ठानं तस्यायं रक्षणक्रमः ।
इत्यमात्मचरित्रार्थोऽनुयोगश्चरणाश्रितः ॥९१८॥
जीवाजीवपरिज्ञानं धर्माधर्मावबोधनम् ।
बन्धमोक्षज्ञता चेति फलं द्रव्यानुयोगतः ॥९१९॥
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानगो विधिः ।

प्रथमानुयोगका स्वरूप

धर्मात्मा गृहस्थ जिससे अपने सिद्धान्तोंको अच्छी तरह समझ सकता है वह प्रथमानुयोग है। उसमें श्रेष्ठ शलाकापुरुषोंका वृतान्त या प्रसिद्ध पुरुषोंका चरित्र पाया जाता है ॥ ९१६ ॥

करणानुयोगका स्वरूप

अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकमें चारों गतियोंका विचार जिसमें किया गया हो उसको करणानुयोग कहते हैं। यह करणानुयोग अन्य अनुयोगोंकी परीक्षा करनेकी कसौटी है। अर्थात् इसीपरसे अन्य सबके प्रामाण्यकी परीक्षा की जाती है ॥ ९१७ ॥

चरणानुयोगका स्वरूप

यह मेरा अनुष्ठान—कर्तव्यकर्म है और उसके पालनका यह क्रम है। इस प्रकार आत्माके चरित्रका वर्णन जिसमें किया गया हो उसे चरणानुयोग कहते हैं ॥ ९१८ ॥

द्रव्यानुयोगका स्वरूप

द्रव्यानुयोगसे जीव और अजीव द्रव्यका ज्ञान होता है, धर्म और अधर्म द्रव्यका ज्ञान होता है तथा बन्ध और मोक्षका ज्ञान होता है ॥ ९१९ ॥

जीवसमास, गुणस्थान और मार्गणा प्रत्येक चौदह चौदह प्रकारके होते हैं। इनका स्वरूप

---

१ 'पुराणचरिताश्रिकः — धर्मरत्ना० प० १४ । प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् । बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥४३॥ —रत्नकरंडश्रा० । २ लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च । आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥४४॥ —रत्नकरंड० । ३ 'इत्यमात्मचरित्रार्थे-नुयोगश्चरणाश्रितः । —धर्मरत्ना० प० १४ । गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् । चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४५॥ —रत्नकरंड० । ४ 'जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च । द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते । ४६॥'—रत्नकरंड० । ५. 'बादरसुहुमेगिंदिय बितिचउरिंदिय असण्णी सण्णी य । पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चोद्दसा होंति ॥३४॥—प्रा० पंचसंग्रह । ६ 'मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य । विरदो पमत्तइयरो अपुव्व अणियट्टि सुहुमो य ॥४॥ उवसंत खीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य । चोद्दस गुणट्ठाणाणि य कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥५॥—प्रा० पंचसंग्रह । ७ 'गइ इंदियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य । संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे' ॥५७॥—प्रा० पञ्चसंग्रह ।

चतुर्दशविधो बोध्यः स प्रत्येक यथागमम् ॥९२०॥
आदितः[1] पञ्च तिर्यक्षु चत्वारि श्वभ्रिनाकिनोः।
गुणस्थानानि मन्यन्ते नृषु चैव चतुर्दश ॥९२१॥

आगमोंसे जानना चाहिए। तिर्यञ्चोंमें पहलेके पाँच गुणस्थान होते है। देव और नारकियोंमें पहलेके चार गुणस्थान होते है और मनुष्योंमें चौदहों गुणस्थान होते है ॥ ९२०–९२१ ॥

भावार्थ—साधारण तौरपर तो जो कुछ मनोयोगपूर्वक पढ़ा जाता है वह स्वाध्याय है किन्तु वस्तुत. जो स्व यानी आत्माके लिए पढ़ा जाता है वही स्वाध्याय है। इसीलिए अध्यात्मविद्याके ग्रन्थोंका अध्ययन करनेको स्वाध्याय बतलाया है। आत्मा क्या है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह ससार कैसे होता है, मुक्ति कैसे होती है, आत्माके गुण कौन है आदि बातोंका जानना ही सच्चा ज्ञान है। अपनेको न जानकर यदि सबको जान भी लिया तो उससे क्या ? सब शास्त्र चार विभागोंमें बँटे हुए हैं। उन विभागोंको अनुयोग कहते हैं। जिन शास्त्रोंमें महापुरुषोंका जीवन-वृत्तान्त तथा कथानकोंके द्वारा पुण्य और पापका फल बतलाया गया हो वे सब प्रथमानुयोगमें आ जाते हैं। जिनमें लोकका स्वरूप चारों गतियोंका वर्णन वगैरह हो वे करणानुयोगमें आ जाते हैं। जिनमें आचारका वर्णन हो ये चरणानुयोगमें आ जाते हैं और जिनमें जीव अजीव आदि द्रव्योंका या सात तत्त्वोंका वर्णन हो वे सब द्रव्यानुयोगमें आ जाते हैं। इनमें-से सबसे पहले गृहस्थको प्रथमानुयोगके शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए। उनसे रोचकता भी बनी रहती है और सब सिद्धान्तोंका ज्ञान भी सुगम रीतिसे हो जाता है। उसके बाद फिर अन्य अनुयोगोंके शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए। और जब सिद्धान्तोंका अच्छा ज्ञान हो जाये तो गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंसे गुणस्थान, मार्गणास्थान तथा जीवस्थानका अनुगम करना चाहिए। साराश यह कि प्रत्येक गृहस्थको स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। जैन सिद्धान्तमें ससारके सब जीवोंका लेखा-जोखा रखनेके लिए जीव समास, गुणस्थान और मार्गणाओंका वर्णन विस्तारसे मिलता है। इनमें-से प्रत्येकके चौदह-चौदह भेद है। एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रियअसज्ञी और पञ्चेन्द्रियसज्ञी जीव बादर ही होते है, ये सातों पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे चौदह होते है। जिन जीवोंके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है उन्हें एकेन्द्रिय कहते है, जैसे—पृथ्वीकायिक, जलकायिक आदि जीव। जिनके स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें दो इन्द्रिय जीव कहते हैं जैसे—लट। जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण तीन इन्द्रियाँ होती हैं उन जीवोंको त्रीन्द्रिय कहते है, जैसे चिंऊँटी। जिन जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु चार इन्द्रियाँ होती हैं, उनको चतुरिन्द्रिय कहते हैं, जैसे मक्खी। और जिनके उक्त इन्द्रियोंके साथ कान भी होते है, उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते हैं जैसे मनुष्य। जिन पञ्चेन्द्रियोंके मन भी होता है, उन्हें सज्ञी पञ्चेन्द्रिय कहते हैं और जिनके मन नहीं होता है उन्हें असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय कहते है। इनमें सब समारी जीव गर्भित हो जाते है, इसलिए उन्हें जीवसमास कहते हैं। इसी तरह गुण

१ "सुरणारएसु चत्तारि होंति तिरिएसु जाण पचेव। मणुयगईए वि तहा चोद्दस गुणणामधेयाणि ॥५७॥"—प्रा० पञ्चसग्रह १।

गृही यतः स्वसिद्धान्तं साधु बुध्येत धर्मधीः ।
प्रथमः सोऽनुयोगः स्यात्पुराणचरिताश्रयः ॥९१६॥
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु चतुर्गतिविचारणम् ।
शास्त्रं करणमित्याहुरनुयोगपरीक्षणम् ॥९१७॥
ममेदं स्यादनुष्ठानं तस्यायं रक्षणक्रमः ।
इत्यमात्मचरित्रार्थोऽनुयोगश्चरणोचितः ॥९१८॥
जीवाजीवपरिज्ञानं धर्माधर्मावबोधनम् ।
बन्धमोक्षज्ञता चेति फलं द्रव्यानुयोगतः ॥९१९॥
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानगो विधिः ।

प्रथमानुयोगका स्वरूप

धर्मात्मा गृहस्थ जिससे अपने सिद्धान्तोंको अच्छी तरह समझ सकता है वह प्रथमानुयोग है। उसमें श्रेसठ शलाकापुरुषोंका वृतान्त या प्रसिद्ध पुरुषोंका चरित्र पाया जाता है ॥ ९१६ ॥

करणानुयोगका स्वरूप

अधोलोक मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकमें चारों गतियोंका विचार जिसमें किया गया हो उसको करणानुयोग कहते हैं। यह करणानुयोग अन्य अनुयोगोंकी परीक्षा करनेकी कसौटी है। अर्थात् इसीपरसे अन्य सबके प्रामाण्यकी परीक्षा की जाती है ॥ ९१७ ॥

चरणानुयोगका स्वरूप

यह मेरा अनुष्ठान—कर्तव्यकर्म है और उसके पालनका यह क्रम है। इस प्रकार आत्माके चरित्रका वर्णन जिसमें किया गया हो उसे चरणानुयोग कहते हैं ॥ ९१८ ॥

द्रव्यानुयोगका स्वरूप

द्रव्यानुयोगसे जीव और अजीव द्रव्यका ज्ञान होता है, धर्म और अधर्म द्रव्यका ज्ञान होता है तथा बन्ध और मोक्षका ज्ञान होता है ॥ ९१९ ॥

जीवसमास, गुणस्थान और मार्गणा प्रत्येक चौदह-चौदह प्रकारके होते हैं। इनका स्वरूप

१ पुराणचरिताश्रितः — धर्मरत्ना प १४। प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्। बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥४३॥ —रत्नकरंडश्रा । २ 'लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च। आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥४४॥ —रत्नकरंड । ३ "इत्यमात्मचरित्रार्थेऽनुयोगश्चरणाभिधः।"—धर्मरत्ना प १४। 'गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्। चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४५॥ —रत्नकरंड । ४ 'जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च। द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥ —रत्नकरंड । ५. 'बादरसुहुमेगिंदिय बितिचउरिंदिय असण्णि सण्णी य। पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चोद्दसा होंति ॥३४॥—प्रा पंचसंग्रह । ६ 'मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य। विरदो पमत्तइयरो अपुव्व अणियट्टि सुहुमो य ॥४॥ उवसंत खीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य। चोद्दस गुणट्ठाणाणि य कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥५॥—प्रा पंचसंग्रह । ७ 'गइ इंदिये च काए जोए वेए कसाय णाणे य। संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥५७॥—प्रा पञ्चसंग्रह ।

चतुर्दशविधो बोध्यः स प्रत्येकं यथागमम् ॥९२०॥
आदितः[1] पञ्च तिर्यक्षु चत्वारि श्वभ्रिनाकिनोः।
गुणस्थानानि मन्यन्ते नृषु चैव चतुर्दश ॥९२१॥

आगमोंसे जानना चाहिए। तिर्यञ्चोंमें पहलेके पाँच गुणस्थान होते है। देव और नारकियोंमें पहलेके चार गुणस्थान होते है और मनुष्योंमें चौदहों गुणस्थान होते है ॥ ९२०-९२१ ॥

भावार्थ—साधारण तौरपर तो जो कुछ मनोयोगपूर्वक पढ़ा जाता है वह स्वाध्याय है किन्तु वस्तुतः जो स्व यानी आत्माके लिए पढ़ा जाता है वही स्वाध्याय है। इसीलिए अध्यात्मविद्याके ग्रन्थोंका अध्ययन करनेको स्वाध्याय बतलाया है। आत्मा क्या है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह ससार कैसे होता है, मुक्ति कैसे होती है, आत्माके गुण कौन है आदि बातोंका जानना ही सच्चा ज्ञान है। अपनेको न जानकर यदि सबको जान भी लिया तो उससे क्या ? सब शास्त्र चार विभागोंमें बँटे हुए है। उन विभागोंको अनुयोग कहते है। जिन शास्त्रोंमें महापुरुषोंका जीवन-वृत्तान्त तथा कथानकोंके द्वारा पुण्य और पापका फल बतलाया गया हो वे सब प्रथमानुयोगमें आ जाते है। जिनमें लोकका स्वरूप चारो गतियोंका वर्णन वगैरह हो वे करणानुयोगमें आ जाते हैं। जिनमें आचारका वर्णन हो ये चरणानुयोगमें आ जाते है और जिनमें जीव अजीव आदि द्रव्योंका या सात तत्त्वोंका वर्णन हो वे सब द्रव्यानुयोगमें आ जाते है। इनमें-से सबसे पहले गृहस्थको प्रथमानुयोगके शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए। उनसे रोचकता भी बनी रहती है और सब सिद्धान्तोंका ज्ञान भी सुगम रीतिसे हो जाता है। उसके बाद फिर अन्य अनुयोगोंके शास्त्रोका स्वाध्याय करना चाहिए। और जब सिद्धान्तोंका अच्छा ज्ञान हो जाये तो गोम्मट्टसार आदि ग्रन्थोंसे गुणस्थान, मार्गणास्थान तथा जीवस्थानका अनुगम करना चाहिए। साराश यह कि प्रत्येक गृहस्थको स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। जैन सिद्धान्तमें ससारके सब जीवोंका लेखा-जोखा रखनेके लिए जीव समास, गुणस्थान और मार्गणाओंका वर्णन विस्तारसे मिलता है। इनमें-से प्रत्येकके चौदह-चौदह भेद है। एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके होते है। दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रियअसज्ञी और पञ्चेन्द्रियसज्ञी जीव बादर ही होते है, ये सातों पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे चौदह होते हैं। जिन जीवोंके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है उन्हें एकेन्द्रिय कहते है, जैसे—पृथ्वीकायिक, जलकायिक आदि जीव। जिनके स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियाँ होती है उन्हें दो इन्द्रिय जीव कहते हैं जैसे—लट। जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण तीन इन्द्रियाँ होती हैं उन जीवोंको त्रीन्द्रिय कहते हैं, जैसे चिंऊँटी। जिन जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु चार इन्द्रियाँ होती है, उनको चतुरिन्द्रिय कहते हैं, जैसे मक्खी। और जिनके उक्त इन्द्रियोंके साथ कान भी होते है, उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते हैं जैसे मनुष्य। जिन पञ्चेन्द्रियोंके मन भी होता है, उन्हें सज्ञी पञ्चेन्द्रिय कहते हैं और जिनके मन नहीं होता है उन्हें असज्ञी पञ्चेन्द्रिय कहते हैं। इनमें सब ससारी जीव गर्भित हो जाते हैं, इसलिए उन्हें जीवसमास कहते हैं। इसी तरह गुण

१ "सुरणारएमु चत्तारि होनि निरिएमु जाण पचेव। मणुयगईए वि तहा चोद्दस गुणणामधेयाणि ॥५७॥"—प्रा० पञ्चसग्रह १।

अनिगूहितवीर्यस्य कायक्लेशस्तपः[२] स्मृतम् ।
तच्च मार्गाविरोधेन गुणाय गदितं जिनैः ॥१२२॥

अथवा—

अन्तर्बहिर्मलप्लोषादात्मनः शुद्धिकारणम् ।
शारीरं मानसं कर्म तपः प्राहुस्तपोधनाः ॥१२३॥
कषायेन्द्रियदण्डानां विजयो व्रतपालनम् ।

स्थान भी चौदह हैं। सब कर्मोंमें मोहनीय कर्म प्रबल है। इसीके कारण आत्माके स्वाभाविक गुण विकृत हो रहे हैं। गुणस्थानोंकी रचना जीवोंके मोहके हीन और अधिक होनेके आधारपर की गयी है। मिथ्यादृष्टि सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली ये चौदह गुणस्थान हैं। संसारके सब जीव अपने अपने आध्यात्मिक विकासकी कमी-वेशीके कारण इन चौदह गुणस्थानोंमें बँटे हुए हैं। इनमें-से आरम्भके चार गुणस्थान तो नारकी, तिर्यञ्च मनुष्य और देव सभीके होते हैं। पाँचवाँ गुणस्थान केवल समझदार पशु-पक्षियों और मनुष्योंके ही होता है। आगेके सब गुणस्थान संयमी मनुष्योंके ही होते हैं। चौदहवें गुणस्थानसे जीव सिद्धि या मुक्ति प्राप्त करता है। गति, इन्द्रिय, काय, योग वेद, कषाय, ज्ञान संयम, दर्शन लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार ये चौदह मार्गणाएँ हैं। इनके द्वारा भी संसारी जीवोंको जाना जाता है। जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थानोंका कथन गोमट्टसार जीवकाण्ड तथा धवला टीकाके प्रथम भागसे जानना चाहिए।

तपका स्वरूप

अपनी शक्तिको न छिपाकर जो कायक्लेश किया जाता है, शारीरिक कष्ट उठाया जाता है उसे तप कहते हैं। किन्तु यह तप जैनमार्गके अविरुद्ध यानी अनुकूल होनेसे ही लाभदायक हो सकता है। *अथवा अन्तरङ्ग और बाह्य मलके संतापसे आत्माकी शुद्धि करनेके लिए जो शारीरिक और मानसिक कर्म किये जाते हैं उन्हें तपस्वीजन तप कहते हैं॥ १२२-१२३॥*

भावार्थ—उपवास करना, भूखसे कम खाना, रस आदि छोड़ना ये सब ऐसे तप हैं जिन्हें गृहस्थ पाल सकता है। इनसे मनका भी नियमन होता है और शरीरको कष्ट भी होता है। शरीरको कष्ट देनेका प्रयोजन इतना ही है कि मनुष्य कष्टसहिष्णु बना रहे और कभी अचानक कष्ट आ पड़नेपर एकदम घबरा न उठे। किन्तु मनको वशमें किये बिना शरीरको ही कष्ट देना व्यर्थ है।

संयमका स्वरूप

आत्माका कल्याण चाहनेवालोंके द्वारा जो कषायोंका निग्रह, इन्द्रियोंका जय मन, वचन

२ "अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः।" —सर्वार्थसिद्धि ६।२४।

संयमः[1] संयतैः प्रोक्तः श्रेयः श्रयितुमिच्छताम् ॥९२४॥

अस्यायमर्थः—कषन्ति संतापयन्ति दुर्गतिसंगसंपादनेनात्मानमिति कषायाः[2] क्रोधादय। अथवा यथा विशुद्धस्य वस्तुनो नैयग्रोधादयः कषायाः कालुष्यकारिणः, तथा निर्मलस्यात्मनो मलिनत्वहेतुत्वात्कषाया इव कषायाः। तत्र स्वपरापराधाभ्यामात्मेतरयोरपायोऽपायानुष्ठानमशुभपरिणामजननं वा क्रोधः। विद्याविज्ञानैश्वर्यादिभिः पूज्यपूजाव्यतिक्रमहेतुरहंकारो युक्तिदर्शनेऽपि दुराग्रहापरित्यागो वा मानः। मनोवाक्कायक्रियाणामयाथातथ्यात्परवञ्चनाभिप्रायेण प्रवृत्तिः ख्यातिपूजालाभाद्यभिनिवेशेन वा माया। चेतनाचेतनेषु वस्तुषु चित्तस्य महान्ममेदं भावस्तद[3]भिवृद्धिविनाशयोर्महान्सन्तोषो असन्तोषो वा लोभः।

सम्यक्त्व घ्नन्त्यनन्तानुबन्धिनस्ते कषायकाः।

और कायकी प्रवृत्तिका त्याग तथा व्रतोंका पालन किया जाता है उसे सयमी पुरुष सयम कहते हैं ॥ ९२४ ॥

इसका खुलासा इस प्रकार है—

जो आत्माको दुर्गतियोंमें ले जाकर कष्ट दें उन्हें कषाय कहते हैं। अथवा जैसे वटवृक्ष वगैरहका कसैला रस साफ वस्तुको भी काला कर देता है वैसे ही जो निर्मल आत्माको मलिन करनेमें कारण हो उसे कसैले रसके समान होनेसे कषाय कहते है। वे कषाय चार है—क्रोध, मान, माया और लोभ।

अपनी या दूसरोंकी गलतीसे अपना या दूसरोंका अनिष्ट होना या अनिष्ट करना अथवा बुरे भावोंका उत्पन्न होना क्रोध है। विद्या, ज्ञान या ऐश्वर्य वगैरहके घमडमें आकर पूज्य पुरुषोंका आदर-सत्कार नहीं करना अथवा युक्ति देनेपर भी अपने दुराग्रहको नहीं छोड़ना मान है। दूसरोको ठगनेके अभिप्रायसे अथवा ख्याति, आदर-सत्कार या धनलाभ वगैरहके अभिप्रायसे मन, वचन और कायकी मिथ्याप्रवृत्ति करना अर्थात् सोचना कुछ, कहना कुछ और करना कुछ, इसे माया कहते हैं। चेतन स्त्री-पुत्रादिकमें और अचेतन जमीन-जायदाद वगैरहमें 'यह मेरे है' इस प्रकारकी जो अत्यन्त आसक्ति होती है अथवा इन वस्तुओंकी वृद्धि होनेपर जो महान् सतोष या इनकी हानि होनेपर जो महान् असन्तोष होता है वह लोभ है।

इस प्रकार ये चार कषाय है। इन चारोंमें-से प्रत्येककी चार-चार अवस्थाएँ होती हैं—अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। इनमें से जो

---

१ "वय समिदि-कसायाण दडाण इदियाण पचण्ह। धारणपालणणिग्गहचायजओ सजमो भणिओ ॥१२७॥"—प्रा० पञ्चसग्रह १। २ "क्रोधादिपरिणाम कषति हिनस्त्यात्मान कुगतिप्रापणादिति कषाय। अथवा यथा कषायो नैयग्रोधादि श्लेषहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मन कर्मश्लेषहेतुत्वात् कषाय इव कषाय इत्युच्यते।"—तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ५०८। ३ "तदभिवृद्धयाशयो वा महानसतोष क्षोभो वा लोभ"—धर्मर० पृ० १४१। ४ "कषाया क्रोधमानमायालोभा। तेषा चतस्रोऽवस्था अनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणा प्रत्याख्यानावरणा सज्वलनाश्चेति। अनन्तससारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्त तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिन क्रोधमानमायालोभा। यदुदयाद्देशविरति सयमासयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति, ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणा क्रोधमानमायालोभा। यदुदयाद्विरति कृत्स्ना सयमाख्या न शक्नोति कर्तु ते कृत्स्न प्रत्याख्यान-

अनिगूहितवीर्यस्य कायक्लेशस्तपः[२] स्मृतम् ।
तच्च मार्गाविरोधेन गुणाय गदितं जिनैः ॥९२२॥

अथवा—

अन्तर्बहिर्मलप्लोषादात्मनः शुद्धिकारणम् ।
शारीरं मानसं कर्म तपः प्राहुस्तपोधनाः ॥९२३॥
कषायेन्द्रियदण्डानां विजयो व्रतपालनम् ।

स्थान भी चौदह हैं। सब कर्मोंमें मोहनीय कर्म प्रबल है। इसीके कारण आत्माके स्वाभाविक गुण विकृत हो रहे हैं। गुणस्थानोंकी रचना जीवोंके मोहके हीन और अधिक होनेके आधारपर की गयी है। मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि संयतासंयत, प्रमत्त-संयत, *अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय,* क्षीणकषाय सयोगकेवली और अयोगकेवली ये चौदह गुणस्थान हैं। संसारके सब जीव अपने अपने आध्यात्मिक विकासकी कमी-बेशीके कारण इन चौदह गुणस्थानोंमें बँटे हुए हैं। इनमें-से प्रारम्भ के चार गुणस्थान तो नारकी, तिर्यञ्च मनुष्य और देव सभीके होते हैं। पाचवाँ गुणस्थान कुछ समझदार पशु-पक्षियों और मनुष्योंके ही होता है। आगेके सब गुणस्थान संयमी मनुष्योंके ही होते हैं। चौदहवें गुणस्थानसे जीव सिद्धि या मुक्ति प्राप्त करता है। गति, इन्द्रिय, काय, योग वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार ये चौदह मार्गणाएँ हैं। इनके द्वारा भी संसारी जीवोंको जाना जाता है। जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थानोंका कथन गोम्मटसार जीवकाण्ड तथा षट्खण्डा टीकाके प्रथम भागसे जानना चाहिए।

तपका स्वरूप

अपनी शक्तिको न छिपाकर जो कायक्लेश किया जाता है शारीरिक कष्ट उठाया जाता है उसे तप कहते है। किन्तु वह तप जैनमार्गके अविरुद्ध यानी अनुकूल होनेसे ही लाभदायक हो सकता है। अथवा अन्तरङ्ग और बाह्य मलके संतापसे आत्माको शुद्ध करनेके लिए जो शारीरिक और मानसिक कर्म किये जाते हैं उन्हे तपस्वीजन तप कहते हैं॥ ९२२-९२३॥

भावार्थ—उपवास करना, भूखसे कम खाना, रस आदि छोड़ना ये सब ऐसे तप हैं जिन्हें गृहस्थ पाल सकता है। इनसे मनका भी नियमन होता है और शरीरको कष्ट भी होता है। शरीरको कष्ट देनेका प्रयोजन इतना ही है कि मनुष्य कष्टसहिष्णु बना रहे और कभी अचानक कष्ट आ पड़नेपर एकदम घबरा न उठे। किन्तु मनको वशमें किये बिना शरीरको ही कष्ट देना व्यर्थ है।

संयमका स्वरूप

आत्माका कल्याण चाहनेवालोंके द्वारा जो कषायोंका निग्रह इन्द्रियोंका जय मन, वचन

---

२ 'अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः।"—सर्वार्थसिद्धि ६ २४।

सयम.[1] संयतैः प्रोक्त. श्रेयः श्रयितुमिच्छताम् ॥९२४॥

अस्यायमर्थ.—कषन्ति सतापयन्ति दुर्गतिसंगसंपादनेनात्मानमिति कपायाः[2] क्रोधादय । अथवा यथा विशुद्धस्य वस्तुनो नैयग्रोधादय. कपाया' कालुष्यकारिणः, तथा निर्मलस्यात्मनो मलिनत्वहेतुत्वात्कपाया इव कपायाः । तत्र स्वपरापराधाभ्यामात्मेतरयोरपायोऽपायानुष्ठानमशुभपरिणामजननं वा क्रोधः। विद्याविज्ञानैश्वर्यादिभिः पूज्यपूजाव्यतिक्रमहेतुरहंकारो युक्तिदर्शनेऽपि दुराग्रहापरित्यागो वा मानः । मनोवाक्कायक्रियाणामयाथातथ्यात्परवञ्चनाभिप्रायेण प्रवृत्तिः ख्यातिपूजालाभाद्यभिनिवेशेन वा माया । चेतनाचेतनेषु वस्तुषु चित्तस्य महान्ममेदं भावस्तदभिवृद्धिविनाशयोर्महान्सन्तोषो असन्तोषो वा लोभः[3]।

सम्यक्त्व घ्नन्त्यनन्तानुवन्धिनस्ते कपायका. ।

और कायकी प्रवृत्तिका त्याग तथा व्रतोका पालन किया जाता है उसे सयमी पुरुष सयम कहते है ॥ ९२४ ॥

इसका खुलासा इस प्रकार है—

जो आत्माको दुर्गतियोमे ले जाकर कष्ट दें उन्हे कपाय कहते है । अथवा जैसे वटवृक्ष वगैरहका कसैला रस साफ़ वस्तुको भी काला कर देता है वैसे ही जो निर्मल आत्माको मलिन करनेमें कारण हो उसे कसैले रसके समान होनेसे कपाय कहते है । वे कपाय चार है—क्रोध, मान, माया और लोभ ।

अपनी या दूसरोकी गलतीसे अपना या दूसरोका अनिष्ट होना या अनिष्ट करना अथवा बुरे भावोका उत्पन्न होना क्रोध है । विद्या, ज्ञान या ऐश्वर्य वगैरहके घमडमें आकर पूज्य पुरुषोंका आदर-सत्कार नहीं करना अथवा युक्ति देनेपर भी अपने दुराग्रहको नहीं छोड़ना मान है । दूसरोंको ठगनेके अभिप्रायसे अथवा ख्याति, आदर-सत्कार या धनलाभ वगैरहके अभिप्रायसे मन, वचन और कायकी मिथ्याप्रवृत्ति करना अर्थात् सोचना कुछ, कहना कुछ और करना कुछ, इसे माया कहते हैं । चेतन स्त्री-पुत्रादिकमें और अचेतन जमीन-जायदाद वगैरहमे 'यह मेरे-है' इस प्रकारकी जो अत्यन्त आसक्ति होती है अथवा इन वस्तुओंकी वृद्धि होनेपर जो महान् सतोष या इनकी हानि होनेपर जो महान् असन्तोष होता है वह लोभ है ।

इस प्रकार ये चार कपाय है । इन चारोंमें-से प्रत्येककी चार-चार अवस्थाएँ होती है—अनन्तानुवन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। इनमें-से जो

---

१ "वय समिदि-कसायाण दडाण इदियाण पचण्ह । धारणपालणणिग्गहचायजओ सजमो भणिओ ॥१२७॥"—प्रा० पञ्चसंग्रह १ । २ "क्रोधादिपरिणाम कपति हिनस्त्यात्मान कुगतिप्रापणादिति कपाय । अथवा यथा कपायो नैयग्रोधादि श्लेपहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मन कर्मश्लेपहेतुत्वात् कपायं इव कपाय इत्युच्यते ।"—तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ५०८ । ३ "तदभिवृद्धयाशयो वा महानसतोप क्षोभो वा लोभ "—धर्मर० पृ० १४१ । ४ "कपाया क्रोधमानमायालोभा । तेपा चतस्रोऽवस्था अनन्तानुवन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणा प्रत्याख्यानावरणा सज्वलनाश्चेति । अनन्तससारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्त तदनुवन्धिनोऽनन्तानुवन्धिन क्रोधमानमायालोभा । यदुदयाद्देशविरतिं सयमासयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति, ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणा क्रोधमानमायालोभा । यदुदयाद्विरतिं कृत्स्ना सयमाख्या न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्न प्रत्याख्यान-

अनिगूहितवीर्यस्य कायक्लेशस्तपः[२] स्मृतम्।
तच्च मार्गाविरोधेन गुणाय गदितं जिनैः ॥१२२॥

अथवा—

अन्तर्बहिर्मलप्लोषादात्मनः शुद्धिकारणम्।
शारीरं मानसं कर्म तपः प्राहुस्तपोधनाः ॥१२३॥
कषायेन्द्रियदण्डानां विजयो व्रतपालनम्।

स्थान भी चौदह हैं। सब कर्मोंमें मोहनीय कर्म प्रबल है। इसीके कारण आत्माके स्वाभाविक गुण विकृत हो रहे हैं। गुणस्थानोंकी रचना जीवोंके मोहके हीन और अधिक होनेके आधारपर की गयी है। मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्त-संयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली ये चौदह गुणस्थान हैं। संसारके सब जीव अपने अपने आध्यात्मिक विकासकी कमी-बेशीके कारण इन चौदह गुणस्थानोंमें बँटे हुए हैं। इनमें-से प्रारम्भ के चार गुणस्थान तो नारकी, तिर्यञ्च मनुष्य और देव सभीके होते हैं। पाँचवाँ गुणस्थान केवल समझदार पशु-पक्षियों और मनुष्योंके ही होता है। आगेके सब गुणस्थान संयमी मनुष्योंके ही होते हैं। चौदहवें गुणस्थानसे जीव सिद्धि या मुक्ति प्राप्त करता है। गति, इन्द्रिय, काय, योग वेद, कषाय, ज्ञान संयम, दर्शन लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार ये चौदह मार्गणाएँ हैं। इनके द्वारा भी संसारी जीवोंको जाना जाता है। जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थानोंका कथन गोमट्टसार जीवकाण्ड तथा धवला टीकाके प्रथम भागसे जानना चाहिए।

तपका स्वरूप

अपनी शक्तिको न छिपाकर जो कायक्लेश किया जाता है, शारीरिक कष्ट उठाया जाता है उसे तप कहते हैं। किन्तु वह तप जैनमार्गके अविरुद्ध यानी अनुकूल होनेसे ही लाभदायक हो सकता है। अथवा अन्तरङ्ग और बाह्य मलके सन्तापसे आत्माको शुद्ध करनेके लिए जो शारीरिक और मानसिक कर्म किये जाते हैं उसे तपस्वीजन तप कहते हैं॥ १२२–१२३॥

भावार्थ—उपवास करना भूखसे कम खाना, रस आदि छोड़ना ये सब ऐसे तप हैं जिन्हें गृहस्थ पाल सकता है। इनसे मनका भी नियमन होता है और शरीरका कष्ट भी होता है। शरीरको कष्ट देनेका प्रयोजन इतना ही है कि मनुष्य कष्टसहिष्णु बना रहे और कभी अचानक कष्ट आ पड़नेपर एकदम घबरा न उठे। किन्तु मनको वशमें किये बिना शरीरको ही कष्ट देना व्यर्थ है।

संयमका स्वरूप

आत्माका कल्याण चाहनेवालोंके द्वारा जो कषायोंका निग्रह इन्द्रियोंका दमन मन, वचन

---

२ 'अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः। —सर्वार्थसिद्धि ६ २४।

संयमः[1] संयतैः प्रोक्तः श्रेयः श्रयितुमिच्छताम् ॥९२४॥

अस्यायमर्थः—कषन्ति संतापयन्ति दुर्गतिसंगसंपादनेनात्मानमिति कषायाः[2] क्रोधादय । अथवा यथा विशुद्धस्य वस्तुनो नैयग्रोधादय कषाया' कालुष्यकारिणः, तथा निर्मलस्यात्मनो मलिनत्वहेतुत्वात्कषाया इव कषायाः । तत्र स्वपरापराधाभ्यामात्मेतरयोरपायोऽपायानुष्ठानमशुभपरिणामजननं वा क्रोधः। विद्याविज्ञानैश्वर्यादिभिः पूज्यपूजाव्यतिक्रमहेतुरहंकारो युक्तिदर्शनेऽपि दुराग्रहापरित्यागो वा मानः । मनोवाक्कायक्रियाणामयाथातथ्यात्परवञ्चनाभिप्रायेण प्रवृत्तिः ख्यातिपूजालाभाद्यभिनिवेशेन वा माया । चेतनाचेतनेषु वस्तुषु चित्तस्य महान्ममेदं भावस्तदभिवृद्धिविनाशयोर्महान्सन्तोषो असन्तोषो वा लोभः।[3]

सम्यक्त्व घ्नन्त्यनन्तानुबन्धिनस्ते कषायकाः ।

और कायकी प्रवृत्तिका त्याग तथा व्रतोंका पालन किया जाता है उसे संयमी पुरुष संयम कहते हैं ॥ ९२४ ॥

इसका खुलासा इस प्रकार है—

जो आत्माको दुर्गतियोंमें ले जाकर कष्ट दें उन्हें कषाय कहते हैं । अथवा जैसे वटवृक्ष वगैरहका कसैला रस साफ़ वस्तुको भी काला कर देता है वैसे ही जो निर्मल आत्माको मलिन करनेमें कारण हो उसे कसैले रसके समान होनेसे कषाय कहते हैं । वे कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ ।

अपनी या दूसरोंकी गल्तीसे अपना या दूसरोंका अनिष्ट होना या अनिष्ट करना अथवा बुरे भावोंका उत्पन्न होना क्रोध है । विद्या, ज्ञान या ऐश्वर्य वगैरहके घमंडमें आकर पूज्य पुरुषोंका आदर-सत्कार नहीं करना अथवा युक्ति देनेपर भी अपने दुराग्रहको नहीं छोड़ना मान है । दूसरोंको ठगनेके अभिप्रायसे अथवा ख्याति, आदर-सत्कार या धनलाभ वगैरहके अभिप्रायसे मन, वचन और कायकी मिथ्याप्रवृत्ति करना अर्थात् सोचना कुछ, कहना कुछ और करना कुछ, इसे माया कहते हैं । चेतन स्त्री-पुत्रादिकमें और अचेतन जमीन-जायदाद वगैरहमें 'यह मेरे हैं' इस प्रकारकी जो अत्यन्त आसक्ति होती है अथवा इन वस्तुओंकी वृद्धि होनेपर जो महान् संतोष या इनकी हानि होनेपर जो महान् असन्तोष होता है वह लोभ है ।

इस प्रकार ये चार कषाय हैं । इन चारोंमें-से प्रत्येककी चार-चार अवस्थाएँ होती हैं—अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। इनमें-से जो

---

१ "वय समिदि-कसायाण दंडाण इंदियाण पंचण्हं । धारणपालणणिग्गहचायजओ संजमो भणिओ ॥१२७॥"—प्रा० पञ्चसंग्रह १। २ "क्रोधादिपरिणामः कषति हिनस्त्यात्मानं कुगतिप्रापणादिति कषायः । अथवा यथा कषायो नैयग्रोधादिः श्लेषहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मनः कर्मश्लेषहेतुत्वात् कषाय इव कषाय इत्युच्यते ।"—तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ५०८। ३ "तदभिवृद्ध्याशयो वा महानसंतोषः क्षोभो वा लोभः"—धर्मर० पृ० १४१। ४ "कषायाः क्रोधमानमायालोभाः । तेषां चतस्रोऽवस्थाः अनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणाः प्रत्याख्यानावरणाः संज्वलनाश्चेति । अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तं तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः । यदुदयाद्देशविरतिं संयमासंयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति, ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः । यदुदयाद्विरतिं कृत्स्नां संयमाख्यां न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्नं प्रत्याख्यान-

अप्रत्याख्यानरूपाश्च देशव्रतविघातिनः ॥९२५॥
प्रत्याख्यानसमाख्याः स्युः संयमस्य विनायकाः ।
चारित्रे तु यथाख्याते कुयुः संज्वलनाः क्षतिम् ॥९२६॥
पाषाणभूरजोवारिलेखाप्रख्यस्वभावभाक् ।
क्रोधो यथाक्रमं गत्यै श्वभ्रतिर्यङ्नृनाकिनाम् ॥९२७॥
शिलास्तम्भास्थिसाद्रं‍न्द्रपर्वतेन्द्रवृत्तिर्द्वितीयकः ।

कषाय सम्यग्दर्शनको घातती है अथवा सम्यग्दर्शनको नहीं होने देती उन्हें अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। जो कषाय सम्यग्दर्शनको तो नहीं घातती किन्तु देशव्रतको घातती है उन्हें अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं ॥ ९२५ ॥ जो कषाय न तो सम्यग्दर्शनको रोकती है और न देशचारित्रको रोकती है किन्तु संयमको रोकती है उन्हें प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। और जो कषाय केवल यथाख्यात चारित्रको नहीं होने देती उन्हें संज्वलनकषाय कहते हैं ॥ ९२६ ॥

चारों क्रोध आदि कषायोंमें-से प्रत्येकके शक्तिकी अपेक्षासे भी चार चार भेद होते हैं। पत्थरकी लकीरके समान क्रोध, पृथिवीकी लकीरके समान क्रोध, धूलिकी लकीरके समान क्रोध और जलकी लकीरके समान क्रोध। जैसे पत्थरकी लकीरका मिटना दुष्कर है वैसे ही जो क्रोध बहुत समय बीत जानेपर भी बना रहता है वह उत्कृष्ट शक्तिवाला होता है और ऐसा क्रोध जीवको नरक गतिमें ले जाता है। जैसे पृथ्वीकी लकीर बहुत समय बाद मिटती है वैसे ही जो क्रोध बहुत समय बीत जानेपर मिटे वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला क्रोध है ऐसा क्रोध जीवको पशुगतिमें ले जाता है। जैसे धूलमें की गयी लकीर कुछ समयके बाद मिटती है वैसे ही जो क्रोध कुछ समयके बाद मिट जाये वह अजघन्य शक्तिवाला क्रोध है। ऐसा क्रोध जीवको मनुष्य गतिमें उत्पन्न करता है। जैसे पानीमें की गयी लकीर तुरन्त ही मिट जाती है वैसे ही जो क्रोध तुरन्त ही शान्त हो जाये वह जघन्य शक्तिवाला क्रोध है। ऐसा क्रोध जीवको देवगतिमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होता है ॥ ९२७ ॥

मान कषायके भी शक्तिकी अपेक्षा चार भेद हैं—पत्थरके स्तम्भके समान, हड्डीके समान, गीली लकड़ीके समान और बेंतके समान। जैसे पत्थरका स्तम्भ कभी नमता नहीं है वैसे ही जो मान जीवको कभी विनयी नहीं होने देता वह उत्कृष्ट शक्तिवाला मान है ऐसा मान जीवको नरक गतिमें जानेका निमित्त होता है। जैसे हड्डी बहुत काल बीते बिना नमने लायक नहीं होती वैसे ही जो बहुत काल बीते बिना जीवको विनयी नहीं होने देता वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला मान है। ऐसा

मावृण्वन्तः प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः । समेकीभावे वर्तते । संयमेन सहावस्थानादेकीभूय ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्स्वेषु सत्स्वपीति संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः । —सर्वार्थसिद्धि ८।९ । 'सम्मत्त देससंयम-संजमजहखादघादिणो पढमाई । तेसि तु भवे नासे सहाई चउहं क्रमेण ॥११॥ —प्रा० पंचसंग्रह १ ।

१ विनायका —अमरकोश ५ १४१ । २ सिलभेय पुढविभेया धूलीराई य उदयराइसमा । णिर-तिरि णर देवत्तं उविंति जीवा हु कोहवसा ॥१११॥ —प्रा० पञ्चसंग्रह १ । ३ 'सेलसमो अट्ठिसमो दारुसमा तह य जाणवेत्तसमा । णिर तिरि णर-देवत्तं उविंति जीवा हु माणवसा ॥११२॥ —पं० सं० १ ।

अधः पशुनरस्वर्गगतिसगतिकारणम् ॥६२८॥
[1]वेणुमूलैरजाशृङ्गैर्गोमूत्रै[2]श्चामरैः समा।
माया तथैव जायेत चतुर्गतिवितीर्णये ॥६२६॥
[3]क्रिमिनीलीवपुर्लेपहरिद्रारागसन्निभः।
लोभः कस्य न सजातस्तद्वत्संसारकारणम् ॥६३०॥

मान जीवको पशुगतिमें उत्पन्न होनेका निमित्त होता है। जैसे गीली लकडी थोडे कालमें ही नमने योग्य हो जाती है वैसे ही जो थोडे समयमें ही शान्त हो जाता है वह अजघन्य शक्तिवाला मान है। ऐसा मान जीवको मनुष्यगतिमें उत्पन्न कराता है। जैसे बेंत जल्दी ही नम जाता है वैसे ही जो जल्दी ही शान्त हो जाये वह जघन्य शक्तिवाला मान है ऐसा मान जीवको देवगतिमें उत्पन्न कराता है ॥ ९२८ ॥

इसी प्रकार बाँसकी जड, बकरीके सींग, गोमूत्र और चामरोके समान माया क्रमशः चारो गतियोमे उत्पन्न करानेमे निमित्त होती है। अर्थात् जैसे बाँसकी जडमे बहुत-सी शाखा-प्रशाखा होती है वैसे ही जिसमें इतने छल-छिद्र हों कि उनका कोई हिसाब ही न हो, उसे उत्कृष्ट शक्तिवाली माया कहते है। जैसे बकरीके सींग टेढ़े होते है उस ढगका टेढ़ापन जिसके व्यवहारमें हो वह् अनुत्कृष्ट शक्तिवाली माया है। जैसे बैल कुछ मोडा देकर मूतता है उतना टेढ़ापन जिसमें हो वह अजघन्य शक्तिवाली माया है और जैसे चामर ढोरते समय थोडा मोड़ा खा जाते है किन्तु तुरन्त ही सीधे हो जाते है वैसे ही जिसमें बहुत कम टेढ़ापन हो जो जल्द ही निकल जाये वह जघन्य शक्तिवाली माया है। चारों प्रकारकी माया क्रमसे जीवको चारो गतिमें उत्पन्न करानेमें कारण है ॥ ९२९ ॥

किरमिचके रंग, नीलके रग, शरीरके मल और हल्दीके रंगके समान लोभ शेष कषायोकी तरह किस जीवके ससार-भ्रमणका कारण नहीं होता। जैसे किरमिचका रग पक्का होता है वैसे ही जो खूब गहरा और पक्का हो वह तो उत्कृष्ट शक्तिवाला लोभ है। जैसे नीलका रग किरमिचसे कम पक्का होता है मगर होता वह भी गहरा ही है वैसे ही जो कम पक्का और गहरा राग होता है वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला लोभ है। जैसे शरीरका मल हलका गहरा होता है वैसे ही जो हलका गहरा राग होता है वह अजघन्य शक्तिवाला लोभ है। तथा जैसे हल्दीका रग हलका होता हे और जल्दी ही उड़ जाता है वैसे ही जो बहुत हलका राग होता है वह जघन्य शक्तिवाला लोभ है। ये चारों प्रकारके लोभ जीवको क्रमश चारो गतियोंमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होते है ॥ ६३० ॥

१ "वसीमूल मेसस्म सिग गोमुत्तिय च खोरुप्पम्। णिरि-तिरि णर-देवत्त उविंति जीवा हु मायवसा ॥११३॥"—पञ्चस० १। २ -र्गोमूत्र्या—धर्मर० प० १४१। ३ "किमिराय चक्कमल कद्दमोय तह चेय जाण हारिद्द। णिर-तिरि-णरदेवत्त उविंति जीवा हु लोहवसा ॥११४॥"—पचस० १।

अप्रत्याख्यानरूपाश्च देशव्रतविघातिनः ॥९२५॥
प्रत्याख्यानस्वभावाः स्युः संयमस्य विनाशकाः ।
चारित्रे तु यथाख्याते कुर्युः संज्वलनाः क्षतिम् ॥९२६॥
पाषाणभूरजोवारिरेखासादृश्यमागमन् ।
क्रोधो यथाक्रमं गत्यै श्वभ्रतिर्यङ्नृनाकिनाम् ॥९२७॥
शिलास्तम्भास्थिसार्द्रैभवयष्टिर्द्वितीयकः ।

कषाय सम्यग्दर्शनको घातती हैं अर्थात् सम्यग्दर्शनको नहीं होने देती उन्हें अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। जो कषाय सम्यग्दर्शनको तो नहीं घातती किन्तु देशव्रतको घातती हैं उन्हें अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं ॥ ९२५ ॥ जो कषाय न तो सम्यग्दर्शनको रोकती हैं और न देशचारित्रको रोकती हैं किन्तु संयमको रोकती हैं उन्हें प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। और जो कषाय केवल यथाख्यात चारित्रको नहीं होने देती उन्हें संज्वलनकषाय कहते हैं ॥ ९२६ ॥

चारों क्रोध आदि कषायोंमें-से प्रत्येकके शक्तिकी अपेक्षासे भी चार-चार भेद होते हैं। पत्थरकी लकीरके समान क्रोध, पृथिवीकी लकीरके समान क्रोध, धूलिकी लकीरके समान क्रोध और जलकी लकीरके समान क्रोध। जैसे पत्थरकी लकीरका मिटना दुष्कर है वैसे ही जो क्रोध बहुत समय बीत जानेपर भी बना रहता है वह उत्कृष्ट शक्तिवाला होता है और ऐसा क्रोध जीवको नरक गतिमें ले जाता है। जैसे पृथ्वीकी लकीर बहुत समय बाद मिटती है वैसे ही जो क्रोध बहुत समय बीत जानेपर मिटे वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला क्रोध है ऐसा क्रोध जीवको पशुगतिमें ले जाता है। जैसे धूलमें की गयी लकीर कुछ समयके बाद मिटती है वैसे ही जो क्रोध कुछ समयके बाद मिट जाये वह अजघन्य शक्तिवाला क्रोध है। ऐसा क्रोध जीवको मनुष्य गतिमें उत्पन्न करता है। जैसे पानीमें की गयी लकीर तुरन्त ही मिट जाती है वैसे ही जो क्रोध तुरन्त ही शान्त हो जाये वह जघन्य शक्तिवाला क्रोध है। ऐसा क्रोध जीवको देवगतिमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होता है ॥ ९२७ ॥

मान कषायके भी शक्तिकी अपेक्षा चार भेद हैं—पत्थरके स्तम्भके समान, हड्डीके समान, गीली लकड़ीके समान और बेतके समान। जैसे पत्थरका स्तम्भ कभी नमता नहीं है वैसे ही जो मान जीवको कभी विनम्र नहीं होने देता वह उत्कृष्ट शक्तिवाला मान है, ऐसा मान जीवको नरक गतिमें जानेका निमित्त होता है। जैसे हड्डी बहुत काल बीते बिना नमने योग्य नहीं होती वैसे ही जो बहुत काल बीते बिना जीवको विनम्र नहीं होने देता वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला मान है। ऐसा

नामानस्त्व प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। समेकीभावे वर्तते। सयमेन सहावस्थानादेकीभूय ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्स्वेषु सत्स्वपीति संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः। —सर्वार्थसिद्धि ८।९। 'सम्मत्त देसधम्म-संसुद्धीघादक्खाद पवमाई। होंति तु भवे माये सव्वाई चउई उप्पत्ति ॥११॥ —प्रा. पंचसंग्रह १।

१ विनाशका—धर्मरत्ना प. १४१। २ सिलभेय पुढविभेया धूलीराई य उदयराइसमा। णिर-तिरि णर देवत्तं उविंति जीवा हु कोहवसा ॥१११॥ —प्रा. पञ्चसंग्रह १। ३ 'सेलघणो अट्ठिसमो दारुसमो तह य वेत्तसमो। णिर-तिरि-णर-देवत्तं उविंति जीवा हु माणवसा ॥११२॥ —प्रा. सं. १।

अधः पशुनरस्वर्गगतिसगतिकारणम् ॥९२८॥

[1]वेणुमूलैरजाशृङ्गैर्गोमूत्रै[2]श्चामरैः समा।
माया तथैव जायेत चतुर्गतिवितीर्णये ॥९२९॥

[3]क्रिमिनीलीवपुर्लेपहरिद्रारागसन्निभः।
लोभः कस्य न संजातस्तद्वत्संसारकारणम् ॥९३०॥

मान जीवको पशुगतिमें उत्पन्न होनेका निमित्त होता है। जैसे गीली लकडी थोडे कालमें ही नमने योग्य हो जाती है वैसे ही जो थोड़े समयमें ही शान्त हो जाता है वह अजघन्य शक्तिवाला मान है। ऐसा मान जीवको मनुष्यगतिमें उत्पन्न कराता है। जैसे वेत जल्दी ही नम जाता है वैसे ही जो जल्दी ही शान्त हो जाये वह जघन्य शक्तिवाला मान है ऐसा मान जीवको देवगतिमें उत्पन्न कराता है ॥ ९२८ ॥

इसी प्रकार बाँसकी जड़, बकरीके सींग, गोमूत्र और चामरोंके समान माया क्रमशः चारों गतियोंमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होती है। अर्थात् जैसे बाँसकी जडमें बहुत-सी शाखा-प्रशाखा होती हैं वैसे ही जिसमें इतने छल-छिद्र हों कि उनका कोई हिसाब ही न हो, उसे उत्कृष्ट शक्तिवाली माया कहते हैं। जैसे बकरीके सींग टेढ़े होते हैं उस ढगका टेढ़ापन जिसके व्यवहारमें हो वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाली माया है। जैसे बैल कुछ मोड़ा देकर मूतता है उतना टेढ़ापन जिसमें हो वह अजघन्य शक्तिवाली माया है और जैसे चामर ढोरते समय थोडा मोडा खा जाते हैं किन्तु तुरन्त ही सीधे हो जाते हैं वैसे ही जिसमें बहुत कम टेढ़ापन हो जो जल्द ही निकल जाये वह जघन्य शक्तिवाली माया है। चारों प्रकारकी माया क्रमसे जीवको चारों गतिमें उत्पन्न करानेमें कारण है ॥ ९२९ ॥

किरमिचके रंग, नीलके रग, शरीरके मल और हल्दीके रंगके समान लोभ शेष कषायोंकी तरह किस जीवके ससार-भ्रमणका कारण नहीं होता। जैसे किरमिचका रग पक्का होता है वैसे ही जो खूब गहरा और पक्का हो वह तो उत्कृष्ट शक्तिवाला लोभ है। जैसे नीलका रग किरमिचसे कम पक्का होता है मगर होता वह भी गहरा ही है वैसे ही जो कम पक्का और गहरा राग होता है वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला लोभ है। जैसे शरीरका मल हलका गहरा होता है वैसे ही जो हलका गहरा राग होता है वह अजघन्य शक्तिवाला लोभ है। तथा जैसे हल्दीका रग हलका होता है और जल्दी ही उड़ जाता है वैसे ही जो बहुत हलका राग होता है वह जघन्य शक्तिवाला लोभ है। ये चारों प्रकारके लोभ जीवको क्रमशः चारों गतियोंमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होते हैं ॥ ९३० ॥

---

१ "वसीमूल मेसस्स सिग गोमुत्तिय च खोरुप्पम्। णिरि-तिरि-णर-देवत्त उविंति जीवा हु मायवसा ॥११३॥"—पञ्चस० १। २ -र्गोमूत्र्या—धर्मर०प० १४१। ३ "किमिराय चक्कमल कद्दमोय तह चेय जाण हारिद्द। णिर-तिरि-णरदेवत्त उविंति जीवा हु लोहवसा ॥११४॥"—पचस० १।



किञ्च—

यथौषधक्रिया रिक्ता रोगिणोऽपथ्यसेविनः ।
कामिनस्य तथा रिक्ताः समाधिश्रुतसंयमाः ॥९२१॥

मानदावाग्निदग्धेषु मदोर्वरकषायिषु ।
नृद्रुमेषु प्ररोहन्ति न सच्छायोचिताङ्कुराः ॥९२२॥

यावन्मायानिशाश्लेषोऽप्यात्मामभ्भुषु कृतास्पदः ।
न प्रबोधश्रियं तावद्धत्ते चित्ताम्बुजाकरः ॥९२३॥

लोमकीकसचिह्नानि सेवाच्छ्रोतांसि दूरतः ।
गुणाध्वन्यास्त्यजन्तीह चण्डालसरसीमिव ॥९२४॥

तस्मान्मनोनिकेतेऽस्मिन्निदं शल्यचतुष्टयम् ।
यतेतोद्धर्तुमात्मज्ञः क्षेमाय शमकीलकैः ॥९२५॥

यद्स्वार्थेषु विसर्पन्ति स्वभावादिन्द्रियाणि षट् ।
तत्स्वरूपपरिज्ञानमात्मस्यावर्तेत सर्वदा ॥९२६॥

जैसे अपथ्य सेवन करनेवाले रोगीका दवा सेवन व्यर्थ है वैसे ही कामी मनुष्यका ध्यान, शास्त्राभ्यास तथा संयम सब व्यर्थ हैं ॥ ९२१ ॥

मानरूपी वनकी आगसे जले हुए और मदरूपी खारी मिट्टीसे सने हुए मनुष्यरूपी वृक्षोंमें अच्छी छाया देनेवाले नये अंकुर नहीं उगते। अर्थात् जैसे वनकी आगसे जले हुए और खारी मिट्टीसे सने हुए वृक्षमें नये अंकुर पैदा नहीं होते वैसे ही जो मनुष्य घमंडी और अहंकारी है उनमें भी सद्गुण प्रकट नहीं हो सकता ॥ ९२२ ॥

मायाकी बुराई

जैसे थोड़ी-सी भी रातके रहते हुए जलाशयमें कमल नहीं खिलते वैसे ही आत्मामें थोड़ी-सी भी मायाके रहते हुए चित्त बोधको प्राप्त नहीं होता। अर्थात् मायाचारीके हृदयमें ज्ञानका प्रवेश नहीं होता ॥९२३॥

लोभकी बुराई

जैसे गुणी पथिक चाण्डालके तालाबको दूरसे ही छोड़ देते हैं क्योंकि उसके सोतोंमें हड्डियाँ पड़ी होती हैं वैसे ही जिसके चित्तमें लोभका वास होता है उसे गुण दूरसे ही छोड़ देते हैं। अर्थात् लोभी मनुष्यके सभी गुण नष्ट हो जाते हैं ॥९२४॥

अतः आत्मदर्शी मनुष्यको अपने कल्याणके लिए संयमरूपी कीलके द्वारा अपने मनरूपी मन्दिरसे इन चारों शल्योंको निकालनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥९२५॥ छहों इन्द्रियाँ स्वभावसे ही अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं। अतः उन विषयोंके स्वरूपको जानकर सदा उन इन्द्रियोंको

---

१ खार। २ नरवृक्षेषु। ३ अस्थि। ४ पथिकाः।

आपाते सुन्दरारम्भैर्विपाके विरसक्रियैः ।
विषैर्वा विषयैर्ग्रस्ते कुतः कुशलमात्मनि ॥९३७॥

दुश्चिन्तनं दुरालापं दुर्व्यापारं च नाचरेत् ।
व्रती व्रतविशुद्ध्यर्थं मनोवाक्कायसंश्रयम् ॥९३८॥

अभङ्गानतिचाराभ्यां गृहीतेषु व्रतेषु यत् ।
रक्षणं क्रियते शश्वत्तद्भवेद् व्रतपालनम् ॥९३९॥

वैराग्यभावना नित्यं नित्यं तत्त्वविचिन्तनम् ।
नित्यं यत्नश्च कर्तव्यो यमेषु नियमेषु च ॥९४०॥

तत्र दृष्टानुश्राविकविषयवितृष्णस्य मनोवशीकारसंज्ञा वैराग्यम् । प्रत्यक्षानुमान
गमानुभूतविषयाऽसंप्रमोषस्वभावा स्मृतिस्तत्त्वविचिन्तनम् । बाह्याभ्यन्तरशौचतपःस्वाध्या
प्रणिधाना नियमाः । अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा नियमाः ।

इत्युपासकाध्ययने प्रकीर्णकविधिर्नाम षट्चत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

उनके विषयोंमें फँसनेसे बचाना चाहिए ॥९३६॥ ये विषय विषके समान हैं । जब प्राप्त होते हैं
अच्छे मालूम होते हैं किन्तु जब वे अपना फल देते हैं तो अत्यन्त विपरीत हो जाते हैं । जो आ
इन विषयोंके चक्करमें फँसा हुआ है उसकी कुशल कैसे हो सकती है ? ॥९३७॥

व्रती पुरुषको अपने व्रतोंको शुद्ध रखनेके लिए मनमें बुरे विचार नहीं लाना चाहि
वचनसे बुरी बात नहीं कहनी चाहिए और शरीरसे बुरी चेष्टा नहीं करनी चाहिए । जो
ग्रहण किये हों उनमें न तो अतिचार लगने दे और न व्रतको खण्डित होने दे । इस प्रकार
व्रतोंकी रक्षा की जाती है इसे ही व्रतोंका पालन करना कहा जाता है ॥९३८-९३९॥

भावार्थ—जब व्रतका ध्यान रखते हुए उसका एकदेश खण्डित हो जाता है उसे अ
चार कहते हैं । और व्रतका कतई ध्यान न रखकर उसे तोड़ डालना भंग कहलाता है । जो
लो उसे खूब सोच-समझकर लो, जो कुछ सोचना-विचारना हो वह व्रत लेनेसे पहले ही सो
विचार लो । और जब व्रतको ले लो तो उसे पूरे प्रयत्नके साथ पालो, न तो उसमें कोई द
लगने दो और न व्रतको छोड़नेकी कोशिश करो । यदि कभी अज्ञान या प्रमादसे व्रत खण्
हो जाये तो यह सोचकर कि अब तो यह टूट ही गया उसे छोड़ मत बैठो बल्कि प्रयत्नपू
उसे फिर धारण करो । ऐसी सावधानता रखनेसे ही व्रतोंका पालन हो सकता है ।

अतः सदा वैराग्यको भाना चाहिए । सदा तत्त्वोंका चिन्तन करते रहना चाहिए अ
सदा यम और नियमोंमें प्रयत्न करते रहना चाहिए ॥ ९४० ॥

देखे हुए और सुने हुए विषयोंकी तृष्णाको छोड़कर मनको वशमें करनेको वैराग्य क
है । प्रत्यक्षसे, अनुमानसे और आगमसे जाने हुए पदार्थोंका जो भ्रान्तिरहित स्मरण है उसे त
चिन्तन कहते हैं । बाह्य और आभ्यन्तर शौच तथा सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ध्यान
यम कहते हैं और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहको नियम कहते हैं ।

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें विविध विधियोंको बतलानेवाला छियालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ

इत्येष गृहिणां धर्मः प्रोक्तः क्षितिपतीश्वर।
यतीनां तु श्रुताद् ज्ञेयो मूलोत्तरगुणाश्रयः ॥१४१॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

इस प्रकार हे राजन्! यह गृहस्थोंका धर्म कहा। यतियोंका धर्म उनके मूल गुण और उत्तरगुण-आगमसे जानना चाहिए ॥ १४१ ॥

श्री:

प० जिनदासविरचिता

उपासकाध्ययनटीका

जिनदेवं नतदेवं दातारं सकलभव्यजीवेभ्यः ।
मुक्तिसुखानां वन्दे वीरजिनं सकलसद्गुणोपेतम् ॥१॥
श्रीसोमदेवविरचितमुपासकाध्ययनमस्ति हितकथकम् ।
गृहिणामुपासकानां जिनदासेनास्य तन्यते टीका ॥२॥

[पृष्ठ १] धर्मादिति—किलेति निश्चये। हे भगवन् पूज्य, एष जन्तुः एष प्राणी। किल निश्चयेन। धर्मात्सुखी भवति। जगति लोके। स च धर्मः पुनः किंरूपः किंलक्षणः। किंभेदः किंप्रकारः। किमुपायः कैः उपायैः उत्पद्येत। किंफलश्च जायेत—अस्य धर्मस्य आराधनात् इहलोकसुखं परलोकसुखं वा जायेत उत्पद्येत ॥१॥ यस्मादिति—यस्मात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्रत्रयात्। पुंसां नराणाम्। निःश्रेयसफलाश्रयः। अतिशयेन प्रशस्यं निःश्रेयसं मोक्षः तदेव फलं तस्य आश्रयः आधारः। अभ्युदयाधारो विना तस्मात् स न लभ्यते। इन्द्रपदतीर्थंकरपदादिजं सांसारिकसुखं विशिष्टम् अविशिष्टं च अभ्युदयः उच्यते। विदितास्नायाः ज्ञातागमाः। धर्मसूरयः धर्माचार्याः। तं धर्मं वदन्ति ॥२॥ स इति—स गृहस्थेतरगोचरः गृहस्थयतिविषयो धर्मः। प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च ते आत्मा स्वरूपं यस्य सः। स धर्मः प्रवृत्तिस्वरूपः निवृत्तिस्वरूपश्च अस्ति। मुक्तिहेतौ मोक्षप्राप्तिकारणे रत्नत्रये तत्परता प्रवृत्तिः। भवकारणात् संसारहेतोः मिथ्यात्वादेः निवृत्तिः त्यागः। इति धर्मस्य द्विविधस्यापि स्वरूपम् ॥३॥ सम्यक्त्वेति—सम्यग्दर्शनम्, सम्यग्ज्ञानम्, सम्यक्चारित्रं च एतत्त्रयं मोक्षस्य सकलकर्मणाम् अत्यन्तक्षयस्य कारणं भवति। मिथ्यात्वम् अविरतिः कषायाः योगाश्च मिथ्यात्वादिचतुष्टयम् उच्यते। एतच्चतुष्कं संसारस्य चतुर्गतिपरिवर्तनरूपस्य भवस्य हेतुरूपं मीमांस्यं विमर्शनीयं विचारणीयम् इति ॥४॥ सम्यक्त्वमिति—युक्तियुक्तेषु प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धेषु, नयसिद्धेषु च। वस्तुषु जीवादिनवपदार्थेषु भावना दृढं श्रद्धानं सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनम् आहुः। युक्तमेतत् लक्षणम्। 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' [तत्त्वार्थसू० १।१] इति उमास्वामिवचनात्। मोहसंदेहविभ्रान्तिवर्जितं मोहः इदं किंचित् स्यात् इति पदार्थानवबोधः। इदं रजतं स्यादुत शुक्तिशकलम् इति चलन्ती प्रतीतिः संदेहः संशयः। विभ्रान्तिः विभ्रमः विपर्ययः शुक्तिकाशकले रजतज्ञानम्। एतत् त्रयम् अज्ञानम् उच्यते सत्यपदार्थानवबोधनात्। एभिः त्रिभिः अज्ञानैः वर्जितं यत् ज्ञानं तत् सम्यग्ज्ञानम् उच्यते ॥५॥ कर्मादानेति—कर्मादाने ज्ञानावरणादिकर्मणाम् आदाने ग्रहणे। निमित्तायाः हेतुभूतायाः वाचः मनसः च क्रियायाः प्रवृत्तेः शमः निरोधः, उपशान्तिः नाशो वा। चारु उत्तमं चारित्रम् ऊचिरे बभाषिरे। के चारित्रोचितचातुर्याः चारित्रे चारित्रधारणे उचितं योग्यं चातुर्यं येषां ते गणधरदेवादयः। एतत् चारित्रं त्रियोगरहिते अयोगिकेवलिनि यथाख्यातसंज्ञकं लभ्यते ॥६॥

[पृष्ठ २] सम्यक्त्वेति—सम्यक्त्वे ज्ञाने चारित्रे च विपर्ययपरं विपरीतभावयुक्तं मनः। सर्ववेदिनः सर्वज्ञाः भाषन्ते ब्रुवते। त्रिषु सम्यक्त्वादिषु। अतत्त्वे तत्त्वम् इति भावना सम्यक्त्वे मिथ्यात्वम्। मोहसंदेहविभ्रान्तिः ज्ञाने मिथ्यात्वम्। अहिंसादेः विपरीतम् आचरणं चारित्रे मिथ्यात्वम्। इति मिथ्यात्वं त्रिप्रकारम् ॥७॥ अत्रेति—परवादिनां प्रवृत्तयः बहुवृत्तयः नानाविधाः सन्ति। कथंभूतानाम्। दुरागमेति—दुरागमो मिथ्याम्नायस्तस्य वासना संस्कारः सैव विलासिनी मोहयन्ती नारी तया वासितं विह्वलं चेतो मनो येषां तेषाम्। पुनः कथंभूतानाम्। प्रवर्तितेति—प्रवर्तितानि प्रचारितानि प्राकृतलोकाः अज्ञजना एव अनोकहा वृक्षास्तेषाम् उन्मूलने उत्पाटने

इत्येष गृहिणां धर्मः प्रोक्तः क्षितिपतीश्वर ।
यतीनां तु श्रुताद् ज्ञेयो मूलोत्तरगुणाश्रयः ॥९४१॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः



इस प्रकार हे राजन्! यह गृहस्थोंका धर्म कहा। यतियोंका धर्म उनके मूल गुण और उत्तरगुण-आगमसे जानना चाहिए ॥ ९४१ ॥



श्री:

पं० जिनदासविरचिता

उपासकाध्ययनटीका

जितदोष नतदेव दातार सकलभव्यजीवेभ्य ।
मुक्तिसुखाना वन्दे वीरजिन सकलसद्गुणोपेतम् ॥१॥
श्रीसोमदेवविरचितमुपासकाध्ययनमस्ति हितकथकम् ।
गृहिणामुपासकानां जिनदासेनास्य तन्यते टीका ॥२॥

[पृष्ठ १] धर्मादिति—किलेति निश्चये। हे भगवन पूज्य, एप जन्तु एष प्राणी । किल निश्चयेन । धर्मात्सुखी भवति । जगति लोके । स च धर्म पुन किरूप किलक्षण । किभेद किप्रकार । किमपाय कं उपायं उत्पद्येत । किफलश्च जायेत—अस्य धर्मस्य आराधनात् इहलोकसुख परलोकसुख वा जायेत उत्पद्येत ॥१॥ यस्मादिति—यस्मात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्रत्रयात् । पुमा नराणाम् । नि श्रेयसफलाश्रय । अतिशयेन प्रशस्य नि श्रेयस मोक्ष तदेव फल तस्य आश्रय आधार । अभ्युदयाधारो विना तस्मात् स न लभ्यते । इन्द्रपदतीर्थकरपदादिज सामारिकमुख विशिष्टम् अविशिष्ट च अभ्युदय उच्यते । विदितास्नाया ज्ञातागमा । धर्मसूरय धर्माचार्या । त धर्म वदन्ति ॥२॥ स इति—स गृहस्थेतरगोचर गृहस्थयतिविषयो धर्म । प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च ते आत्मा स्वरूप यस्य स । स धर्म प्रवृत्तिस्वरूप निवृत्तिस्वरूपश्च अस्ति । मुक्तिहेतौ मोक्षप्राप्तिकारणे रत्नत्रये तत्परता प्रवृत्ति । भवकारणात् ससारहेतो मिथ्यात्वादे निवृत्ति त्याग । इति धर्मस्य द्विविधस्यापि स्वरूपम् ॥३॥ सम्यक्त्वेति—सम्यग्दर्शनम्, सम्यग्ज्ञानम्, सम्यक्चारित्र च एतत्त्रय मोक्षस्य सकलकर्मणाम् अत्यन्तक्षयस्य कारण भवति । मिथ्यात्वम अविरति कषाया योगाश्च मिथ्यात्वादिचतुष्टयम् उच्यते । एतच्चतुष्क ससारस्य चतुर्गतिपरिवर्तनरूपस्य भवस्य हेतुरूप मीमास्य विमर्शनीय विचारणीयम् इति ॥४॥ सम्यक्त्वमिति—युक्तियुक्तेषु प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धेषु, नयसिद्धेषु च । वस्तुषु जीवादिनवपदार्थेषु भावना दृढ श्रद्धान सम्यक्त्व सम्यग्दर्शनम् आहु । युक्तमेतत् लक्षणम् । 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' [तत्त्वार्थसू० १।१] इति उमास्वामिवचनात् । मोहसदेहविभ्रान्तिवर्जित मोह इद किचित् स्यात् इति पदार्थानवबोध । इद रजत स्याद्उत शुक्तिशकलम् इति चलन्ती प्रतीति सदेह सशय । विभ्रान्ति विभ्रम विपर्यय शुक्तिकाशकले रजतज्ञानम् । एतत् त्रयम् अज्ञानम् उच्यते सत्यपदार्थानवबोधनात् । एभि त्रिभि अज्ञानै वर्जित यत ज्ञान तत् सम्यग्ज्ञानम् उच्यते ॥५॥ कर्मादानेति—कर्मादाने ज्ञानावरणादिकर्मणाम आदाने ग्रहणे । निमित्ताया हेतुभूताया वाच मनस च क्रियाया प्रवृत्ते शम निरोध, उपशान्ति नाशो वा । चारु उत्तम चारित्रम् ऊचिरे बभाषिरे । के चारित्रोचितचातुर्या चारित्रे चारित्रधारणे उचित योग्य चातुर्यं येषा ते गणधरदेवादय । एतत् चारित्र त्रियोगरहिते अयोगिकेवलिनि यथाख्यातसज्ञक लभ्यते ॥६॥

[पृष्ठ २] सम्यक्त्वेति—सम्यक्त्वे ज्ञाने चारित्रे च विपर्ययपर विपरीतभावयुक्त मन । सर्ववेदिन सर्वज्ञा भाषन्ते ब्रुवते । त्रिषु सम्यक्त्वादिषु । अतत्त्वे तत्त्वम् इति भावना सम्यक्त्वे मिथ्यात्वम् । मोहसदेहविभ्रान्ति ज्ञाने मिथ्यात्वम् । अहिंसादे विपरीतम् आचरण चारित्रे मिथ्यात्वम् । इति मिथ्यात्व त्रिप्रकारम् ॥७॥ अत्रेति–परवादिना प्रवृत्तय बह्वृत्तय नानाविधा सन्ति । कथभूतानाम् । दुरागमेति–दुरागमो मिथ्याम्नायस्तस्य वासना सस्कार सैव विलासिनी मोहयन्ती नारी तया वासित विह्वलं चेतो मनो येषा तेषाम् । पुन कथभूतानाम् । प्रवर्तितेति–प्रवर्तितानि प्रचारितानि प्राकृतलोका अज्ञजना एव अनोकहा वृक्षास्तेषाम् उन्मूलने उत्पाटने

उभया दुर्गतानि एव स्रोतांसि जलप्रवाहा येस्तेषाम् । पुनः कथंभूतानाम्—सदाचारेति—सदाचाराः अहिंसानुवर्तिनः ज्ञानतपोऽनुष्ठानम् न तु असमञ्जसाचारिता । तेषाम् आचरणस्य या चातुरी निपुणता तस्याः विदूरवर्तिनः अतिदूरगामिनः तेषां मुक्तेः उपाये मोक्षप्राप्तिसाधने मोक्षस्वरूपे च बहुवृत्तयः अनेकरूपाः कथं प्रवृत्तयः । तथा हि—सकलेति—सकलः कलाभिः शरीरावयवैः सहितः आप्तः सकलाप्तः । सैद्धान्तवैशेषिकैः केवलमाप्त ईश्वरः सशरीरः केवलम् अशरीरश्च मन्यते । ईशाद् ईश्वरात् प्राप्तानि यानि मन्त्रतन्त्राणि तैः उपेताया दीक्षायाः मोक्षो भवतीति । दीक्षालक्षणाच्छ्रद्धानुसरणात् मोक्षप्राप्तिः इति सैद्धान्तवैशेषिका मन्यन्ते । द्रव्यमिति—साधर्म्यं सादृश्यम् । वैधर्म्यं विसदृशता । सदृशविसदृशधर्मसहित-द्रव्यादिपदार्थविवेचकशास्त्रज्ञानमात्रात् ज्ञानात् मोक्षो भवति । त्रिकालेति—प्रातः मध्याह्ने सायं च शरीरे भस्मलेपनम् । इज्या शिवलिङ्गपूजनम् । पटुकप्रदानं शिवलिङ्गस्य पुरतः अवस्थापनम् । शिवलिङ्गं परितः प्रदक्षिणीकरणम् । आत्मविडम्बनादि क्रियाकाण्डमायाविज्ञानं पञ्चाग्नितपश्चरणादिक्रियासमूहाश्रयणात् कार्यात् मोक्षः इति पाशुपतमतावलम्बिनो निगदन्ति । पेय इति—पेयं पेयं मदिरा न पेया इति विचारम् अकृत्वा उभयत्र निःशङ्का प्रवृत्तिः करणीया । मांसम् अभक्ष्यम् अन्नं भक्ष्यम् इति विमर्शम् अकृत्वा उभयत्र अशङ्कया प्रवृत्तिः । आदिशब्देन गम्यागम्यादिकं *ग्राह्यम् । एतेषु इत्येषु पापं भवेत्पुण्यं नैति अविमृश्य प्रवृत्तिं कुर्वतो मुक्तिर्भवतीति कुलाचार्यका वदन्ति ॥* तथा च त्रिकमतोक्तिः—मदिरेति—मदिरायाः आमोदेन अत्यन्तसमाकर्षिणा पञ्चेन वासितमुखः तरलस्य मांसस्य भक्षणेन सरसहृदयः मुदितमनाः वामपार्श्वस्थापितस्त्रीकस्थितिः शक्तिमुद्रायाः योगिनीमुद्रायाः आसनस्य च धारकः । स्वयमिति—स्वयं पार्वतीपरमेश्वर इव आचरन् कुल्यया मदिरया सर्वाणीश्वरं पार्वत्या समं महादेवम् आराधयेत् उपासीत । सांख्या एवं वदन्ति—अहं पुरुषः इदं शरीरादिकं प्रकृतेः समुत्थम् । न तन्मे स्वरूपम् इति विवेकज्ञानात् पुरुषः प्रकृतेः पृथग्भवति । तथा तस्य मोक्षो भवति इति । नैरात्म्यादीति—नैरात्म्यस्य भावनायाः रागद्वेषौ विनश्यतः ततश्च मोक्षो भवतीति सौगतानां मतम् ।

[पृष्ठ ३] अङ्गारादञ्जनादिवदिति—अङ्गारवत् अथवा अञ्जनवत् स्वभावादेव कालुष्यस्य कोपादिमालिन्यस्य उत्कर्षात् प्रवृत्तस्य चित्तस्य न कुतश्चिद्विशुद्धिः कुतश्चित्तपोऽभ्यासादेः चित्तनैर्मल्यं न जायते इति जैमिनीया वदन्ति । सति धर्मिणीति—सति विद्यमाने धर्मिणि चैतन्यलक्षणस्यापि धर्माः ज्ञानसुखादयः चिन्त्यन्ते विमृश्यन्ते । ततः परलोकिनः जीवस्य अभावात् परलोकस्य स्वर्गनरकादेः तत्कारणस्य पुण्यपापादेः अभावे कस्यासौ मोक्षः । इति समवाप्तकर्म्मसमस्तानां नास्तिकानाम् अधिकम् आधिपत्यं स्वामित्वं येस्ते बार्हस्पत्याः बृहस्पतेः शिष्याश्चार्वाका एवं वदन्ति । परमब्रह्मेति—परमब्रह्मणो दर्शने अनुभवे जाते सति अद्वैतभेददर्शिन्या अविद्याया विनाशो जायते ततश्च मोक्षो लभ्यते इति वेदान्तवादिनो वदन्ति । शाक्यविशेषाः पश्यतोहराः दृश्यमानं विश्वम् अपलपन्तः प्रकाशितपूर्णैकान्ततिमिराः प्रकटीकृतपूर्णैकान्ततमसः शाक्यविशेषाः बौद्धविशेषा एवं वदन्ति—नैवेति—अन्तस्तत्त्वम् आत्मतत्त्वं नास्त्येव । बहिस्तत्त्वं घटादिकम् अन्यत्ता परमार्थतः नैवास्ति न विद्यते एव । उभावपि चेतनाचेतनौ पदार्थौ विचारविषयौ न भवतः अतः ततः शून्यता एवं शून्यं शून्यम् इति वादः येषाम् ।

काणादाः यौगा एवं वदन्ति 'बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां नवसंख्यावसानानाम् नवसंख्याप्रमाणानाम् आत्मगुणानां जीवगुणानाम् अत्यन्तविनाशः मुक्तिः' इति । पुनस्तैरेव प्रकटम्—बहिरिति—देहाद् बहिः जीवस्य सद्रूपं जायते तदेव सम्भावितम् मुनिना वैशेषिकदर्शनस्य प्रणेत्रा मुक्तस्य नवगुणरहितस्य जीवस्य अचेतनपदार्थतुल्यस्य रूपमिति ॥२॥

[पृष्ठ ४] ताथागता बौद्धा एवं मुक्तेः स्वरूपम् आचक्षते । 'निरास्रवचित्तोत्पत्तिलक्षणो मोक्षः' रागद्वेषरहितता निरास्रवता तया अन्वितस्य चित्तस्य उत्पादो मोक्षः । तदुक्तम्—दिशमिति—यथा प्रदीपः तैलक्षयात् केवलं शान्तिम् अभावम् एव याति । न अवनिं दिशं विदिशं पृथ्वीं नभो वा नैव याति तथा जीवः क्लेशक्षयात् मुक्तः शान्तिम् अभावं प्रतिपद्यते ॥ १-११ ॥ कापिला एवं वर्णयन्ति मुक्तिम्—'बुद्धिमनो-

ऽहंकारविरहादखिलेन्द्रियोपशमावहात्तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थान मुक्ति' इति। बुद्धयादीनाम् इन्द्रियाणा च प्रशमे जाते द्रष्टु आत्मन स्वरूपे अवस्थान स्थिति मुक्ति। तथा ब्रह्माद्वैतवादिनः यथा घटविघटने घटस्य कुम्भस्य विघटने नाशे घटाकाश घटरहित भूत्वा निजस्वरूपे तिष्ठति, केवलम् आकाशमयम् एव जायते तथा देहोच्छेदात् देहस्य शरीरस्य आत्यन्तिकविनाशात् सर्व प्राणी जीव परे ब्रह्मणि परपुरुषे लीयते इति वदन्ति। अज्ञातेति—अज्ञात परमार्थो यै तेषा यथार्थवस्तुस्वरूपानभिज्ञाना मिथ्यादृष्टीना ये दुर्णया उपरि प्रदर्शिता तेभ्यो अन्येऽपि बहव सन्ति ते सर्वे न गणयितु शक्यन्ते। यथा अज्ञातगजस्वरूपाणा जन्मना अन्धाना दुर्णया सर्वे गणयितु न शक्या भवन्ति ॥१२॥ प्राय इति—यथा कृत्तघ्राणस्य नरस्य निर्मलदर्पणदर्शन कोपाय भवति, तथा परमार्थपथप्रतिपादन दुराग्रह बिभ्रति नरे बहुश कोपहेतुर्भवति ॥१३॥

[पृष्ठ ५] दृष्टान्तेति—निदर्शनानि बहूनि भवन्ति। तै बुद्धिर्जनाना वशीक्रियते धूर्तै। ते इमा मही पृथ्वी (आधारे आधेयोपचारात्) विवेकरहिता किं न कुर्वन्ति। अपि तु कुर्वन्त्येव ॥१४॥ दुराग्रहेति—यथा तोयद' तोय जल ददाति इति तोयद मेघ स श्यामाश्मशकलेषु मार्दव मृदुत्व नोत्पादयति तथा दुराग्रह-ग्रहग्रस्ते विपरीताग्रहपिशाचाविष्टे पुंसि नरे विद्वान् किं करोतु। तत्र पुरुषे परमार्थपदार्थप्रतिपादन तेन विदुषा क्रियमाण विफल भवति ॥१५॥ ईर्ते इति—अत्र अस्मिन्विषये। यदेव वस्तु युक्तिम् ईर्ते गच्छति तदेव सत् परमार्थरूपम्। यत भानुदीप्तिवत् सूर्यप्रकाश इव। तस्या युक्ते क्वचित्पक्षपातो न भवति। सूर्यप्रकाशो हीनानि उत्तमानि च वस्तूनि प्रकाशयति विना पक्षपातम्। तथा युक्त्या सदसत्त्व वस्तुन सिद्धयतीति ज्ञेयम् ॥१६॥ श्रद्धेति—केवला श्रद्धा श्रेयोऽर्थिना मुमुक्षूणा श्रेय सश्रयाय मोक्षदानाय हेतुर्न भवति। बुभुक्षितवशात् भोक्तुम् इच्छुकस्य नरस्य इच्छया उदुम्बरफले पाक उत्पद्येत किम्। इच्छा यदि सफला स्यात् जगत् अदरिद्र भवेत् अत इच्छा मोक्षदाने न क्षमा ॥१७॥ मन्त्रोऽपि न मोक्षकारणम् इति निगदति—पात्रेति—यथा पात्रे नरे नार्यां वा पिशाच प्रविशति तथा यदि मन्त्रात् आत्मनो रागादिदोषनाशो दृश्येत को नाम कृती विद्वान् सयमै तपोव्रतादिभि आत्मान क्लिश्येत पीडयेत् ॥१८॥ दीक्षापि न मुक्तिकारणम्—दीक्षेति—यस्मिन्क्षणे दीक्षा गृहीता तत्क्षणात्पूर्वं ये भवसभवा समारोद्भूता दोषा ते दीक्षाया पश्चात् अपि दृश्यन्ते। अत सा मोक्षहेतुर्न भवति ॥१९॥ ज्ञानात् मोक्ष इत्यपि वचनम् अनुचितम्—

[पृष्ठ ६] ज्ञानादिति—ज्ञानात् वस्तूना बोधो भवति पर तेषा प्राप्ति तस्मान्न भवति। वस्तुन यत् कार्यं जायते तस्य प्राप्ति ज्ञानान्न भवति। यदि ज्ञानादेव कार्यलाभोऽपि भवेत् तर्हि दृष्टमेव पय जल दर्शनसमकाल तर्षापकर्षयोगि तृष्णाविनाशक स्यात्। अत ज्ञानादेव मोक्षो न भवति इति ज्ञेयम् ॥२०॥ ज्ञानेन विना क्रियापि न कार्यकारिणी। ज्ञानहीने इति—ज्ञानहीने बोधशून्ये। पुंसि पुरुषे। विद्यमाना क्रिया फल न आरभते। सा निष्फला भवति। दृष्टान्तम् आह—नष्टदृष्टिभि नष्टे दृष्टी लोचने येषा ते नष्टदृष्टय अन्धा तै तरो वृक्षस्य छायेव फलश्री लभ्या किम्। छाया तु अन्धा प्राप्नुयु पर वृक्षे फलशोभा तै न द्रष्टु शक्या ॥ २१ ॥ ज्ञानक्रियाश्रद्धाभ्य एव फलोत्पत्तिरिति प्रतिपादयति—ज्ञानमिति—पङ्गौ पादहीने नरि ज्ञान पदार्थावगम व्यर्थं विफलम्। अन्धे क्रिया गमन विफला ज्ञानाभावात्। नि श्रद्धे श्रद्धाहीने। द्वय ज्ञान क्रिया च अर्थकृत् अर्थ प्रयोजन करोति इति अर्थकृत् न भवति इत्यर्थ। तत ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रय तत्पदकारण मुक्ति-पददानहेतु भवति। नैकैक न द्वे द्वे प्रत्युत त्रय मिलित्वा एव अर्थकृद् भवति। उक्त च—हतमिति—क्रियाशून्य ज्ञान न फलप्रापकम्। अज्ञानिनो मूर्खस्य क्रिया च अर्थलाभहेतु न भवति। कथम्। धावन् अपि पलायमानोऽपि अन्ध नष्ट अग्निदग्ध अभवत्। पश्यन् अपि च पङ्गुक अग्निम् अवलोकमानोऽपि पादहीन नर तेन अग्निना दग्ध ॥२३॥ भक्ष्याभक्ष्यादिषु नि शङ्का प्रवृत्ति कुर्वाणस्य मोक्ष इति कौलवचनम् अपि दूषयति—निःशङ्केति—नि शङ्काम् अकुतोभीतिं प्रवृत्ति कुर्वाणस्य नरस्य। यदि मोक्षसमीक्षण मोक्षस्य अवलोकन मुक्तिप्राप्ति स्यात् तर्हि पूर्वं टङ्कसूनाकृता टङ्क खड्ग तस्मात् सूना हिंसा कुर्वन्ति इति टङ्कसूनाकृत जीवघातका तेषाम्। पूर्वं प्रथम मुक्ति स्यात्। यत तत्र नि शङ्कात्मप्रवृत्ते दर्शनात्। ठकसूनाकृताम् इति पाठे तु ठका खारपटिका ते तु नि शङ्क सधनगर्भिण्यादीना वध कुर्वन्ति अत तेषा

समया दुर्मतानि एव स्रोतांसि जलप्रवाहा यैस्तेषाम् । पुनः कर्मभूतानाम्–सदाचारेति–सदाचारा अहिंसानुवर्तिनः दानतपोध्यानादयः न तु अश्वमेधादिकाः । तेषाम् आचरणस्य या चातुरी निपुणता तस्या विदूरवर्तिन अतिदूरगामिनः तेषां मुक्तेः उपाये मोक्षप्राप्तिसाधने मोक्षस्वरूपे च बहुधा अनेकधा खलु प्रवृत्तयः । तथा हि—सकलेति—सकलः कलाभिः शरीरावयवैः सहितः आप्तः सकलाप्तः । शैवान्तर्वैशेषिकाः केचनात्र ईश्वरः सशरीरः केचन अशरीरश्च मन्यते । ईशात् ईश्वरात् प्राप्तानि यानि मन्त्रतन्त्राणि तैः उपेताया दीक्षाया मोक्षो भवतीति । शैवागमप्रामाण्यानुसरणात् मोक्षप्राप्तिः इति शैवान्तर्वैशेषिका मन्यन्ते । द्रव्यमिति—साधर्म्यं सादृश्यम् । वैधर्म्यं विसदृशता । सदृशविसदृशत्वसहित-द्रव्यादिपदार्थविबोधकशास्त्रज्ञानमात्रात् ज्ञानात् मोक्षो भवति । त्रिकालेति—प्रातः मध्याह्ने सायं च शरीरे भस्मलेपनम् । इज्या पिण्डलिङ्गपूजनम् । गडुकप्रदानं पिण्डलिङ्गस्य पुरतः जलपात्रस्थापनम् । पिण्डलिङ्गं परितः प्रदक्षिणीकरणम् । आत्मविडम्बनादि-क्रियाकाण्डमात्राधिष्ठानं पञ्चाग्नितपश्चरणादिक्रियासमूहाश्रयणात् कार्यात् मोक्षः इति पाशुपतमतावलम्बिनो निगदन्ति । पय इति—पयः पेयं मदिरा न पेया इति विचारम् अकृत्वा उभयत्र निःशङ्का प्रवृत्तिः करणीया । भोज्यम् अभक्ष्यम् मांसं भक्ष्यम् इति विभागम् अकृत्वा उभयोः असंशया प्रवृत्तिः । आदिशब्देन गम्यागम्याविवेकं ग्राह्यम् । *एतेषु कृत्येषु पापं भवेत्पुण्यं वेति अविमृश्य प्रवृत्तिं कुर्वतो मुक्तिर्भवतीति कुलाचार्यका वदन्ति* ॥ तथा च विक्रमनोक्ति—मदिरेति—मदिरायाः आमोदेन अत्यन्तमाकर्षिता मन्देन आस्विन्नमुखः तरलस्य मांसस्य भक्षणेन सरसहृदयः मुदितमनाः वामपार्श्वस्थापितशक्तीघटितः शक्तिमुद्राया योनिमुद्राया आसनस्य च धारकः । स्वयमिति—स्वयं पार्वतीपरमेश्वर इव आचरन्, कृष्णया मदिरया सर्वाणीश्वर पार्वत्या सह *महादेवम् आराधयेत् उपासीत । सांख्याः एवं वदन्ति—अहं पुरुषः इदं शरीरादिकं प्रकृतेः स्वरूपम् ।* न तन्मे स्वरूपम् इति विवेकज्ञानात् पुरुषः प्रकृतेः पृथग्भवति । तदा तस्य मोक्षो भवति इति । नैरात्म्यादीति —नैरात्म्यस्य भावनया रागद्वेषौ विनश्यतः ततश्च मोक्षो भवतीति सौगतानां मतम् ।

[पृष्ठ ३] अङ्गारादञ्जनादिवदिति—अङ्गारवत् अथवा अञ्जनवत् स्वभावादेव कालुष्यस्य कोपादि मालिन्यस्य उत्कर्षात् प्रवृत्तस्य चित्तस्य न कुतश्चिद्विशुद्धिः कृतचित्ततपोध्यानादेः चित्तनैर्मल्यं न जायते इति जैमिनीया वदन्ति । सति धर्मिणीति—सति विद्यमाने धर्मिणि चैतन्यवदात्मनि धर्माः ज्ञानसुखादयः चिन्त्यन्ते विमृश्यन्ते । ततः परलोकिनः जीवस्य अभावात् परलोकस्य स्वर्गनरकादेः तत्कारणस्य पुण्यपापादेः अभावे कस्यासौ मोक्षः । इति समवाप्तं लब्धं समस्तानां नास्तिकानाम् अधिकम् आधिपत्यं स्वामित्वं यैस्ते बार्हस्पत्याः *बृहस्पतेः शिष्याश्चार्वाका एवं वदन्ति । परमब्रह्मेति—परमब्रह्मणो दर्शने अनुभवे जाते सति अशेषभेदवर्तिन्या* अविद्याया विनाशो जायते ततश्च मोक्षो लभ्यते इति वेदान्तवादिनो वदन्ति । शाक्यविशेषा वस्तुनीपराः दृश्यमानं विश्वम् अपलपन्तः प्रकाशितशून्यैकान्ततिमिराः प्रकटीकृतशून्यैकान्ततमसः शाक्यविशेषा बौद्धविशेषाः एवं वदन्ति—नैवेति—वस्तुतत्त्वम् आत्माख्यं नास्त्येव । बहिस्तत्त्वं घटादिकम् अन्यत्सा परमार्थतः नैवास्ति न *विद्यते एव । उभावपि चेतनाचेतनौ पदार्थौ विचारविषयौ न भवतः यतः तत् शून्यता सर्वं शून्यं शून्यम् इति* वादः श्रेयान् ।

काणादा यौगा एवं वदन्ति ज्ञानसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां नवसंख्याकसराणां नवसंख्यायुक्तानाम् आत्मगुणानां जीवगुणानाम् अत्यन्तविनाशः मुक्तिः इति । पुनस्तैरेव उक्तम्—बहिरिति—देहात् बहिः जीवस्य यत्स्वं ज्ञायते तदेव कणभोजिना मुनिना वैशेषिकदर्शनस्य प्रणेत्रा मुक्तस्य तद्गुणरहितस्य जीवस्य अचेतनघटादितुल्यस्य उक्तमिति ॥९॥

[पृष्ठ ४] ताथागता बौद्धाः एवं मुक्तेः स्वरूपम् आचक्षते । निरास्रवचित्तोत्पत्तिलक्षणो मोक्षः रागद्वेषरहितता निरास्रवता तथा युक्तस्य चित्तस्य उत्पादो मोक्षः । तदुक्तम्—दिशमिति—यथा प्रदीपः तैलक्षयात् केवलं शान्तिम् अभावम् एव याति । स क्वचन दिशं विदिशं पृथ्वीं नभो वा नैव याति तथा जीवः क्लेशक्षयात् मुक्तः शान्तिम् अभावं प्रतिपद्यते ॥ १–११ ॥ कापिला एवं वर्णयन्ति मुक्तिम्—'बुद्धिमनो-

ऽहंकारविरहादखिलेन्द्रियोपशमावशात्तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं मुक्ति' इति। बुद्धयादीनाम् इन्द्रियाणां च प्रशमे जाते द्रष्टुः आत्मनः स्वरूपे अवस्थानं स्थितिः मुक्तिः। तथा ब्रह्माद्वैतवादिनः यथा घटविघटने घटस्य कुम्भस्य विघटने नाशे घटाकाशः घटरहितः भूत्वा निजस्वरूपे तिष्ठति, केवलम् आकाशमयम् एव जायते तथा देहोच्छेदात् देहस्य शरीरस्य आत्यन्तिकविनाशात् सर्वः प्राणी जीवः परे ब्रह्मणि परपुरुषे लीयते इति वदन्ति। अज्ञातेति—अज्ञातः परमार्थो यैः तेषां यथार्थवस्तुस्वरूपानभिज्ञानां मिथ्यादृष्टीनां ये दुर्णयाः उपरि प्रदर्शिताः तेभ्यो अन्येऽपि बहवः सन्ति ते सर्वे न गणयितुं शक्यन्ते। यथा अज्ञातगजस्वरूपाणां जन्मना अन्धानां दुर्णयाः सर्वे गणयितुं न शक्या भवन्ति ॥१२॥ प्राय इति—यथा कृत्तघ्राणस्य नरस्य निर्मलदर्पणदर्शनं कोपाय भवति, तथा परमार्थपथप्रतिपादनं दुराग्रहं बिभ्रति नरे बहुशः कोपहेतुर्भवति ॥१३॥

[पृष्ठ ५] दृष्टान्तेति—निदर्शनानि बहूनि भवन्ति। तैः बुद्धिर्जनानां वशीक्रियते धूर्तैः। ते इमाः मही पृथ्वी (आधारे आधेयोपचारात्) विवेकरहिता किं न कुर्वन्ति। अपि तु कुर्वन्त्येव ॥१४॥ दुराग्रहेति—यथा तोयदः तोयं जलं ददाति इति तोयदः मेघः श्यामाश्मशकलेषु मार्दवं मृदुत्वं नोत्पादयति तथा दुराग्रह-ग्रहग्रस्ते विपरीताग्रहपिशाचाविष्टे पुंसि नरे विद्वान् किं करोतु। तत्र पुरुषे परमार्थपदार्थप्रतिपादनं तेन विदुषा क्रियमाणं विफलं भवति ॥१५॥ ईर्ते इति—अत्र अस्मिन्विषये। यदेव वस्तु युक्तिम् ईर्ते गच्छति तदेव सत् परमार्थरूपम्। यतः भानुदीप्तिवत् सूर्यप्रकाश इव। तस्या युक्तेः क्वचित्पक्षपातो न भवति। सूर्यप्रकाशो हीनानि उत्तमानि च वस्तूनि प्रकाशयति विना पक्षपातम्। तथा युक्त्या सदसत्त्वं वस्तुनः सिद्ध्यतीति ज्ञेयम् ॥१६॥ श्रद्धेति—केवला श्रद्धा श्रेयोऽर्थिना मुमुक्षुणा श्रेयः सश्रयाय मोक्षदानाय हेतुर्न भवति। बुभुक्षितवशात् भोक्तुम् इच्छुकस्य नरस्य इच्छया उदुम्बरफले पाकः उत्पद्येत किम्। इच्छा यदि सफला स्यात् जगत् अदरिद्रं भवेत् अतः इच्छा मोक्षदाने न क्षमा ॥१७॥ मन्त्रोऽपि न मोक्षकारणम् इति निगदति—पात्रेति—यथा पात्रे नरे नार्यां वा पिशाचः प्रविशति तथा यदि मन्त्रात् आत्मनो रागादिदोषनाशो दृश्येत को नाम कृती विद्वान् सयमैः तपोव्रतादिभिः आत्मानं क्लिश्येत पीडयेत् ॥१८॥ दीक्षापि न मुक्तिकारणम्—दीक्षेति—यस्मिन्क्षणे दीक्षा गृहीता तत्क्षणात्पूर्वं ये भवसंभवाः संसारोद्भूताः दोषाः ते दीक्षायाः पश्चात् अपि दृश्यन्ते। अतः सा मोक्षहेतुर्न भवति ॥१९॥ ज्ञानात् मोक्षः इत्यपि वचनम् अनुचितम्—

[पृष्ठ ६] ज्ञानादिति—ज्ञानात् वस्तूनां बोधो भवति परं तेषां प्राप्तिः तस्मान्न भवति। वस्तुनः यत् कार्यं जायते तस्य प्राप्तिः ज्ञानान्न भवति। यदि ज्ञानादेव कार्यलाभोऽपि भवेत् तर्हि दृष्टमेव पयः जलं दर्शनसमकालं तर्पकपर्ययोगि तृष्णाविनाशकं स्यात्। अतः ज्ञानादेव मोक्षो न भवति इति ज्ञेयम् ॥२०॥ ज्ञानेन विना क्रियापि न कार्यकारिणी। ज्ञानहीने इति—ज्ञानहीने बोधशून्ये। पुंसि पुरुषे। विद्यमाना क्रिया फलं न आरभते। सा निष्फला भवति। दृष्टान्तम् आह—नष्टदृष्टिभिः नष्टे दृष्टी लोचने येषां ते नष्टदृष्टयः अन्धाः तैः तरोः वृक्षस्य छायेव फलश्रीः लभ्या किम्। छाया तु अन्धैः प्राप्नुयुः परं वृक्षे फलशोभा तैः न द्रष्टुं शक्या ॥ २१ ॥ ज्ञानक्रियाश्रद्धाभ्य एव फलोत्पत्तिरिति प्रतिपादयति—ज्ञानमिति—पङ्गौ पादहीने नरि ज्ञानं पदार्थावगमः व्यर्थं विफलम्। अन्धे क्रिया गमनं विफला ज्ञानाभावात्। निःश्रद्धे श्रद्धाहीने। द्वयं ज्ञानं क्रिया च अर्थकृत् अर्थः प्रयोजनं करोति इति अर्थकृत् न भवति इत्यर्थः। ततः ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणं मुक्ति-पददानहेतुः भवति। नैकैकं न द्वे द्वे प्रत्युत त्रयं मिलित्वा एव अर्थकृद् भवति। उक्तं च—हतमिति—क्रियाशून्यं ज्ञानं न फलप्रापकम्। अज्ञानिनो मूर्खस्य क्रिया च अर्थलाभहेतुः न भवति। कथम्। धावन् अपि पलायमानोऽपि अन्धः नष्टः अग्निदग्धः अभवत्। पश्यन् अपि च पङ्गुकः अग्निम् अवलोकमानोऽपि पादहीनः नरः तेन अग्निना दग्धः ॥२३॥ भक्ष्याभक्ष्यादिषु निःशङ्का प्रवृत्तिः कुर्वाणस्य मोक्षः इति कौलवचनम् अपि दूषयति—निःशङ्केति—निःशङ्काम् अकुतोभीतिं प्रवृत्तिं कुर्वाणस्य नरस्य। यदि मोक्षसमीक्षणं मोक्षस्य अवलोकनं मुक्तिप्राप्तिः स्यात् तर्हि पूर्वं टङ्कसूनाकृतां टङ्कः खड्गः तस्मात् सूनां हिंसां कुर्वन्ति इति टङ्कसूनाकृतः जीवघातकाः तेषाम्। पूर्वं प्रथमं मुक्तिः स्यात्। यतः तत्र निःशङ्कात्मप्रवृत्तेः दर्शनात्। ठकसूनाकृताम् इति पाठे तु ठकाः खारपटिकाः ते तु निःशङ्कं मघवनगर्भिण्यादीनां वधं कुर्वन्ति अतः तेषां

तेषु विषः सन्ति परं यदा जीवेन घटादिवत् शरीरं त्यज्यते तदा ते घटादयः बुद्धया विविच्यन्ते तदा बुद्धे हानि तारतम्येन भवन्ती अचेतनेषु घटादिषु तस्याः हाने पराकाष्ठा भवति तदा चिद्रसाभ्यता भवेत् । जैनैः अचेतनेषु घटादिषु बुद्धे अभावः मन्यते ॥४०॥ तदावृतिहृतौ इति—यथा तपनस्य सूर्यस्य दीधितिः प्रकाशः तदावृतिहृतौ प्रकाशावरणस्य मेघादेः हृतौ विनाशे सर्वं वस्तु प्रकाशयति तथा धेमुषी बुद्धिः तदावृतिहृतौ तस्याः आवृते ज्ञानावरणकर्मणः विनाशे सति सा बुद्धिः यद् वस्तु चराचरं कथं न सर्वं प्रकाशयति । अपि तु निखिलं वस्तुजातं सा प्रकाशयति एव ॥४१॥ ब्रह्माद्वैतवादिनो मुक्तितत्त्वं निराकुर्वन्ति—ब्रह्मेति—यदि ब्रह्म परमपुरुषः एकम् अभेदरूपं विद्यते तर्हि तद् ब्रह्म कुतः कस्मात् कारणात् प्रमाणात् निस्तरङ्गं विवर्तरहितं न सिद्ध्यति । यदि विवर्तरहितं स्यात् एकं तद् सिद्ध्यतु । यथा घटाकाशम् आकाशे लीयते तथा इदं जगद् तत्र परब्रह्मणि लीयताम् अपृथक्त्वेन वर्तताम् । परं तथा अपृथक्त्वं न दृश्यते ॥४२॥ अथ मतम् एक एवेति—देहे देहे प्रतिशरीरम् एक एव हि भूतात्मा परमपुरुषः व्यवस्थितः विद्यते । परं जलचन्द्र इव एकधापि बहुधा नानारूपेण दृश्यते ॥४३॥

[पृष्ठ १२] तदयुक्तम् । एकः खे इति—यथा खे आकाशे इन्दुः चन्द्रः एकः वेद्यते ज्ञायते । अन्यत्र जलादौ अनेकधा वेद्यते तथा ब्रह्म भेदेभ्यो अन्यत् अभेदरूपं कुत्रापि न वेद्यते न ज्ञायते ॥४४॥ अलम् अति विस्तरेण । आनन्द इति—आनन्दः अनन्तं सुखम् । ज्ञानं क्षायिकं केवलज्ञानम् । ऐश्वर्यम् सकलगुणानाम् आत्यन्तिकी निर्मलता । वीर्यम् अनन्तशक्तिः । परमसूक्ष्मता अमूर्तत्वम् । एतद् आनन्दादिपञ्चकम् आत्यन्तिकम् अन्तम् अतिक्रान्तम् अविनाशि । यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तितः कथितः ॥ ४४ ॥ एतद् आनन्दादिपञ्चकम् आत्यन्तिकं अन्तमतिक्रान्तमविनाशि यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तितः कथितः ॥४५॥ ऊर्ध्वेति—ऊर्ध्वा अग्निशिखा तत्तूलबीजादेः एरण्डबीजादेः आदिशब्देन व्यपगतलेपालाब्वादीनां ग्रहणम् । एतेषां यथा स्वभावादूर्ध्वगतिः । नियता यथा निश्चिता—तथा मुक्तस्यापि आत्मनः स्वभावादूर्ध्वपरिवृत्तिः ॥ ४६ ॥ तथाप्यत्रेति—कर्मक्षये जातेऽप्यत्र तथापि मुक्तजीवस्यात्र मरणस्थाने निवासे अभिमते चेत् पुण्यपापात्मना पुण्योपेतात्मना पापोपेतात्मना च स्वर्गस्वभ्रागमो न स्यात् स्वर्गो देवलोके स्वभ्रे नरके च आगमो गमनं मा भवतु अत्रैव तेषां वसतिर्भवतु । तथा च ते तदालोकान्तरेण अन्यो लोको लोकान्तरं स्वर्गादिकं तेन अर्थं स्वार्थ तदार्थया न किमपि प्रयोजनम् ॥४७॥

इत्युपासकाध्ययने समस्तसमयसिद्धान्तावबोधनो नाम प्रथमः कल्पः ।

२. आप्तस्वरूपमीमांसनो द्वितीयः कल्पः ।

[पृष्ठ १२-१३] अहो धर्मराजनैकमते वसुमतीपते धर्मराजने एका केवलम् मतिर्बुद्धिर्यस्य तत्सम्बोधनं हे धर्मराजनपरायणबुद्धे वसुमतीपते भूपते हि निश्चयेन सम्यक्त्वं नाम नराणां पुरुषाणां संसिद्धयोगिभव्यजीवानां महती अनन्यसाधारणा पुण्यदेवता सामर्थ्यदेवतास्ति । अस्याः पौरुषं अप्रतिहत यतस्मात्कारणात् सद्भव एकदा एकमेव अगृहीतमेव । यथोक्तगुणमेव यथागमं तस्य गुणाः प्रोक्तास्तथैव प्रगुणतया तथैव गुणसहितत्वेन संजात सम्यक्त्वमात्मनि अर्धपुद्गलपरावर्तनकालावधिं सकलपापपरिणामे मलिनबुद्धित्वात् । नरकतिर्यङ्मनुष्यगतिषु न भवति संभूतिहेतु न जायते जनने कारणम् । पुण्यवतामपि मनुष्याणां पुंसि बद्धायुष्केषां तेषामपि नराणां येषां नृसुरनारकतिर्यगायुर्बन्धो जातस्तेषामपि नराणामित्यर्थः । येषां नरकायुर्बन्धो जातस्ते सम्यग्दृष्टयः षट्सु तलपातालेषु प्रथमां नरकभूमिं विहाय अन्यासु षट्सु नारकभूमिषु न जायन्ते । तत्सम्यक्त्वं तत्र संभूतिहेतुर्जन्म कारणं न भवति । अष्टविधेषु व्यन्तरेषु किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचेषु न संभूतिहेतुः । दशविधेषु भवनवासिषु असुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमारेषु न संभूतिहेतुः । पञ्चविधेषु ज्योतिष्केषु 'सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्चेति' सूक्तोक्तेषु न संभूतिहेतुः । त्रिविधासु स्त्रीषु नृतिर्यग्देवस्त्रीषु विकलकरणेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु विकलत्रयजीवेषु असंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु

च, पृथ्वीजलाग्निवायुकायिकेषु वनस्पतिषु च न भवति जन्मकारणम्। (इद सम्यक्त्व) सावधि समर्याद विदधाति करोति आजवजवीभाव समारभावम्। नियमेन सपादयति कचित्काल (जीवस्य ससारसुखम्) साधुत्वसपादनसार साधुगुणाना भाव साधुत्व तस्य सपादनमेव सारो यस्मिन्स सस्कार यथा जीवेषु जन्मान्तरेऽपि अन्यजन्मन्यपि आत्मन स्वस्य अनुवृत्तिम् अनुयायित्व न जहाति। तथा चारित्रे चार्वी निर्दोषा अनुवृत्तिम् अनुगमनम् उपलभ्य लब्ध्वा जन्मान्तरेऽपि न जहाति न त्यजति सम्यक्त्वम्। सिद्ध मन्त्राराधनादिभिर्लब्धश्चिन्तामणिर्यथा सम्यक्त्व असीमम् अतिमर्याद कामितानि स्वयाचितानि फलति ददाति। व्रतानि अहिंसादीनि पुनर्यथा ओषध्य व्रीह्यादयः फलपाकावसानानि फलपाकान्तानि फल दत्त्वा नश्यन्ति, पाथेयवन्नियतवृत्तीनि च पथि हित पाथेय तदिव पाथेयवत् सबलवत् मार्गे क्षुत्परिहारार्थं यदशितव्यमन्न तद्वत्। नियतवृत्तीनि कचित्काल सुखजनकानि। यथा सिद्धरसवेधसबन्धात् सिद्धपारदस्पर्शसपर्कात्। उपर्बुधसनिधानमात्रजन्मनि अग्निमानिध्येनैव जन्म उत्पत्तिर्यस्य तस्मिन् जाम्बूनद इव सुवर्णे यथा परिश्रम आयासो न समाश्रयणीयो नावलम्बनीय। तथा अत्र सम्यक्त्वे पदार्थयाथात्म्यसमवगमात् जीवादिनवपदार्थाना यत्स्वरूपम् आगमे प्रोक्त तथा तस्यावगमाज्ज्ञानात्। मनोमननमात्रतन्त्रे मनसा मनन चिन्तनम् एव मनोमननमात्र तस्य तन्त्रे आधीने केवल मन श्रद्धानाधीने सम्यग्दर्शने। न श्रुतश्रवणपरिश्रम आगमाकर्णनायास' आश्रयणीय अवलम्ब्य। एतत्सम्यक्त्वप्राप्तये शरीर नायासयितव्य शरीरखेद विनापि सम्यक्त्वमुत्पद्यते इति भाव। न देशान्तर गन्तव्यम्। देशान्तरे केनापि तत्सम्यक्त्व वस्तु न हि स्थापितं यत् तत्र गत्वा तदानीयेत। न कालक्षेपकुक्षि. अपेक्षितव्य. न कालयापनापेक्षा कर्तव्या। तस्मात् प्रासादस्य राजगृहस्य अधिष्ठानमिव गर्तपूरणमिव। रूपसपद सौन्दर्यसपत्ते कारण सुभगत्व यथा। भोगायतनस्य शरीरस्य उपचार स्थानगमनादिकं तस्य कारण प्राणित श्वासोच्छ्वास। विजयप्राप्ते कारण यथा मूलबल मुख्य सैन्यम्। आभिजात्यस्य कुलीनत्वस्य विनीतत्वं विनय शास्त्रसस्कारो वा। नयानुष्ठानमिव राज्यस्थिते राज्यस्थिरताया नयस्य सामाद्युपायचतुष्टयस्य अनुष्ठानम् आचरण यथा। अखिलस्यापि परलोकोदाहरणस्य सकलस्यापि परलोकप्राप्तेरुदाहरण निदर्शनमिव गरीयाम महापुरुषा ननु निश्चयेन सम्यक्त्वमेव प्रथम कारण गृणन्ति कथयन्ति। तस्य चेद लक्षणम्। आप्तेति—आप्त सर्वज्ञ, आगम सर्वज्ञस्यार्हतो मुखान्निर्गत दिव्यध्वनिराचारादिद्वादशाङ्गरूप उपदेश। पदार्था जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षपापपुण्यात्मका। एतेषा कारणद्वयात् श्रद्धान सम्यक्त्वम्। अन्तरङ्ग कारणं दर्शनमोहस्य उपशम, क्षय क्षयोपशमो वा। तस्मिन् प्राप्ते सति यद्बाह्योपदेशाद्विना प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकसम्यग्दर्शनम्। यच्च परोपदेशपूर्वकम् आप्तागमपदार्थश्रद्धान जायते तदधिगमजम्। आसन्नभव्यता[1], कर्महानि,[2] [3]सज्ञित्वम्, शुद्धि —विशुद्धपरिणाम एते सम्यग्दर्शनप्राप्तेरन्तरङ्गहेतव'। सम्यग्गुरूपदेश, जातिस्मरण, जिनप्रतिमादर्शनादि एते बाह्यहेतव। एतान् हेतूनासाद्य जीवे सम्यक्त्व जायते। तच्च मूढाद्यपोढ देव-लोक-गुरुमूढताभी रहितम् नि शङ्कितादयष्टाङ्गोपेतम्, प्रशमादिभाक् च। प्रशमसवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणम्। प्रशमा नतीति प्रशमादिभाक्। प्रशमादीना लक्षणानि ग्रन्थकारोऽग्रे वक्ष्यति ॥४८॥ आप्तलक्षणम्—

[१५] सर्वज्ञेति—आप्तमतोचिता अर्हन्मतप्रतिपादने उचिता योग्या विद्वास आप्त सर्वज्ञ त्रिकालगोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठित जगत् सर्वशब्देनोच्यते तत् जानातीति सर्वज्ञस्तम्। सर्वलोकेश, सर्वे च ते लोकाश्च सर्वलोका ऊर्ध्वा-ऽधो-मध्यलोकास्तेषामीशस्तम्। सर्वदोषविवर्जित सर्वे च ते क्षुत्पिपासादयोऽष्टादश दोषास्तैर्विवर्जित विशेषेण वर्जितो रहित ते दोषा कदाचनापि त यथा न स्पृशन्ति तथा स तै रहितस्तम्। सर्वसत्त्व-

---

१ आसन्नभव्यता भव्यो रत्नत्रयाविर्भावयोग्यो जीव आसन्न कतिपयभवप्राप्यनिर्वाणपद। आसन्नश्चासौ भव्यश्च आसन्नभव्यस्तस्य भाव आसन्नभव्यता। २ कर्महानि मिथ्यात्वादीनां सम्यक्त्वप्रतिबन्धकर्मणा यथासभवमुपशम क्षयोपशम क्षयो वा। ३ सज्ञित्वम्—सज्ञा-शिक्षाक्रियालापोपदेशग्राहित्वम्। सज्ञा अस्य अस्तीति सज्ञी सज्ञिनो भाव. सज्ञित्वम्। सा० ध०, अ० १, श्लो० ६।

तेषु भिन्नः सन्ति परं यथा जीवेन जरादिरूपं शरीरं लभ्यते तथा ते यदाङ्गः गुणाः विविच्यन्ते तदा गुणे हानि-तारतम्येन भवन्ती अश्मेतरेषु परादिषु तस्याः हानेः पराकाष्ठा भवति तदा सिद्धसाध्यता भवेत् । जैन-अश्मेतरेषु परादिषु गुणे अभावः मन्यते ॥४० ॥ तदावृतिहृतौ इति—यथा तमसः सूर्यस्य दीधितिः प्रकाश-तदावृतिहृतौ प्रकाशावरणस्य मेघादेः हृतौ विनाशे सर्वं वस्तु प्रकाशयति तथा धीमुखी बुद्धि तदावृतिहृतौ तस्याः आवृते ज्ञानावरणकर्मणः विनाशे सति सा बुद्धिः यत् वस्तु चराचर कथं न सर्वं प्रकाशयति । अपि तु निखिल वस्तुजातं सा प्रकाशयति एव ॥४१॥ ब्रह्माद्वैतवादिनो मुक्तितत्त्वं निराकुर्वन्ति—ब्रह्मेति—यदि ब्रह्म परमपुरुषः एकम् अभेदरूपं विद्यते तर्हि तत् ब्रह्म कुतः कस्मात् कारणात् प्रमाणात् निस्तरङ्गं विवर्तरहितं न सिद्ध्यति । यदि विवर्तरहितं स्यात् एवं तत् सिद्ध्यतु । यथा घटाकाशम् आकाशे लीयते तथा इदं जगत् तत्र परब्रह्मणि लीयताम् अपृथक्त्वेन वर्तताम् । परं तथा अपृथग्रूपं न दृश्यते ॥४२॥ अथ मतम् एक एवेति—देहे देहे प्रतिशरीरम् एक एव हि भूतात्मा परमपुरुषः व्यवस्थितः विद्यते । परं जलचन्द्रवत् एकधापि अनेकधा नानारूपेण दृश्यते ॥४३॥

[पृष्ठ १२] तदयुक्तम् । एकः स इति—यदि स आकाशे इन्दुः चन्द्रः एकः वेद्यते ज्ञायते । अन्यत्र जलादौ अनेकधा वेद्यते तथा ब्रह्म भेदेभ्यो अन्यत् अभेदरूपं क्वापि न वेद्यते न ज्ञायते ॥४३॥ अलम् अति-विस्तरेण । आनन्द इति—आनन्दः अनन्तं सुखम् । ज्ञानं क्षायिकं केवलज्ञानम् । ऐश्वर्यम् सकलगुणानाम् आत्यन्तिकी निर्मलता । वीर्यम् अनन्तशक्तिः । परमसूक्ष्मता अमूर्तत्वम् । एतद् आनन्दादिपञ्चकम् आत्यन्तिकम् अन्तम् अतिक्रान्तम् अविनाशि । यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तितः कथितः ॥ ४४ ॥ एतद् आनन्दादिपञ्चकम् आत्यन्तिकं अन्तमतिक्रान्तमविनाशि यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तितः कथितः ॥४५॥ ऊर्ध्वगेति—ऊर्ध्वगा अग्निशिखा लघुकीटादेः एरण्डबीजादेः बालिशत्वेन व्यपगतपिण्डाबन्धानाम् ग्रहणम् । एतेषां यथा स्वभावादूर्ध्वगतिः । स्थिरता यथा निश्चलता—तथा मुक्तस्यापि आत्मनः स्वभावादूर्ध्वगतिर्बुद्धा ॥ ४६ ॥ तथाप्यत्रेति—कर्मक्षये जातेऽप्यत्र तदावासे मुक्तजीवस्यावस्थान निवासे भविष्यति चेत् पुण्यपापात्मना पुण्योपेतात्मना पापोपेतात्मना च स्वर्गस्य आगमो न स्यात् स्वर्गे देवलोके श्वभ्रे नरके च आगमो गमनं मा भवतु अत्रैव तेषां वसतिर्भवतु । तथा च ते तथालोकान्तरेण अन्यो लोको लोकान्तरं स्वर्गादिकं तेन अर्थः स्यात् तदर्थता न किमपि प्रयोजनम् ॥४७॥

इत्युपासकाध्ययने समस्तसमयसिद्धान्तावबोधनो नाम प्रथमः कल्पः ।

२. आप्तस्वरूपमीमांसनो द्वितीयः कल्पः ।

[पृष्ठ १२-१३] अहो धर्मराजैकमते वसुमतीपते धर्मराजने एका केवला मतिर्बुद्धिर्यस्य तत्संबोधनं हे धर्मराजमपरायणबुद्धे वसुमतीपते भूपते हि निश्चयेन सम्यक्त्वं नाम नराणां पुंसां संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवानां महती अनन्यसाधारणा पुण्यदेवता सामर्थ्यविशेषास्ति । अस्याः पौरुषं अनन्यसि यतस्मात्कारणात् सा तु एकदा एकमेव असहायमेव । यदीच्छमनुगमेन यथापनं तस्य गुणा प्रोक्तास्तथैव प्रगुणतया तथैव गुणदर्शितत्वेन संजातं सम्यक्त्वमात्मनां अधोबन्धमपकलुषविधानतया तत्कल्पपापपरिणामे मलिनबुद्धित्वात् । नरकतिर्यङ्मनुष्यगतिषु न भवति संभूतिहेतु न जायते जनने कारणम् । पुण्यवतामपि मनुष्याणां पुंसि स्वजनमुखा तेषामपि नराणां तेषां नपुंसकतिर्यगायुर्बन्धो जातस्तेषामपि नराणामित्यर्थ । यथा नरकायुर्बन्धो जातस्ते सम्यग्दृष्टयः यद्यपि तत्पातालेषु प्रथमा नरकभूमिं विहाय अन्यासु षट्सु नारकभूमिषु न जायन्ते । ततस्तम्यक्त्वं तत्र संभूतिहेतुर्जन्म कारणं न भवति । अष्टविधेषु व्यन्तरेषु किंनरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचेषु न संभूतिहेतुः । दशविधेषु भवनवासिषु असुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमारेषु न संभूतिहेतुः । पञ्चविधेषु ज्योतिष्केषु 'सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्चेति' भूयोऽन्येषु न संभूतिहेतुः । त्रिविधासु स्त्रीषु तिर्यग्देवस्त्रीषु विकलकरणेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु विकलत्रयजीवषु अलब्धिपर्याप्तकेषु

[पृष्ठ ९] न्यक्षेति—न्यक्षवीक्षाविनिर्मोक्षे निर्गतानि अक्षाणि यस्या सा अथवा निर्गता अक्षेभ्यो या सा न्यक्षा अतीन्द्रिया सा चासौ वीक्षा विशिष्टा ईक्षा वीक्षा। इन्द्रियवीक्षाया भिन्ना अतीन्द्रियज्ञप्तिरित्यर्थ । तस्या विनिर्मोक्षे तस्माद्रहिते मोक्षे यदि मते तर्हि किं मोक्षिलक्षणम्। मोक्ष अस्य अस्तीति मोक्षी तस्य लक्षण किं स्यात्। न किमपि। यत ज्ञानम् आत्मलक्षण तस्य सर्वथा उच्छेदे मोक्षिण आत्मनो लक्षण नश्येत्। यथा अग्नौ उष्णत्वात् अन्यत् इतरत् लक्ष्यलक्षण विचक्षणै विद्वद्भि न लक्ष्य लक्षयितु न योग्यम्। औष्ण्यमेव अग्नेर्लक्षण तदभावे अग्ने अभाव । तथा चैतन्यम् एव आत्मन लक्षणम् । तदभावे अभाव आत्मन स्यात् ॥३३॥ किं चेति—किं च, सदा शिवेश्वरादय ससारिण मुक्ता वा। ससारित्वे कथमाप्तता। ससारिषु दोषा रागादय सन्ति। तेषा सद्भावे सर्वज्ञता न स्यात्। विना सार्वज्ञ्य मोक्षमार्गप्रणीते असभवात्। मुक्तत्वे 'क्लेशकर्मविपाकाशयै अपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम्' इति पतञ्जलिजल्पितम्। क्लेशदायकाना कर्मणाम् अज्ञानादीना विपाक उदयस्तस्मात् जातै आशयै रागद्वेषपरिणामै अपरामृष्ट रहित पुरुषविशेष ईश्वर, तत्र निरतिशय तारतम्यरहित सर्वज्ञबीजम् इति पतञ्जलिभाषितम्। ऐश्वर्येत्यादि—ऐश्वर्यम् अप्रतिहतम् अणिमामहिमादिरूपम् अष्टविध केनापि अप्रतिरुद्धम्। सहजो विराग स्वाभाविकी विषयविरक्ति । निसर्गजनिता तृप्ति स्वभावाज्जात सतोष । इन्द्रियेषु वशिता जितेन्द्रियत्वमिति भाव । आत्यन्तिक सुखम् अन्त विनाशम् अतिक्रान्तम् अत्यन्त विनाशरहित तत्र भवम् आत्यन्तिक सुखम् अविनाशिसुखम्। वैषयिकसुखव्यतिरिक्तमात्मानन्दज सुखम्। अनावरणा आवरणरहिता शक्ति अप्रतिहतवीर्यम्। तथा सर्वविषय ज्ञान सूक्ष्मान्तरितदूरार्थेषु प्रत्यक्ष ज्ञानम्। हे भगवन्, त्वयि एव विद्यते। इत्येतदाप्तलक्षण रागादिभि उपद्रुते रुद्रे आप्तत्वप्रक्लृप्तौ विरुध्यते ॥३४॥ अनेकेति—अनेकजन्मसतते अनेकानि च तानि जन्मानि च अनेकजन्मानि तेषा सतति परपरा तस्या अनेकजन्मसतते। अस्य पुस समारे चतुर्गतिषु भ्रमत अनन्तानि जन्मानि व्यतीतानि। तथापि यावदद्य अक्षय क्षयरहित असौ जीव अस्ति यदि। मुक्त्यवस्थाया कुतो हेतुत कस्मात्कारणात् क्षीयेत क्षय तस्य जीवस्य स्यात्। पुस अनादिनिधनत्वात् तस्य मुक्त्यवस्थाया नाशाभिमनन मलक्षयात् सुवर्णनाशाभिमननवत् अयुक्त प्रतिभाति ॥३५॥

[पृष्ठ १०] कापिला द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थान मुक्तिरिति मन्यन्ते तदभिमत दूषयति—बाह्ये ग्राह्ये इति—मलापायात् वातपित्तकफादीना वैषम्याभावात् बाह्ये ग्राह्ये बाह्ये वस्तुनि यथा सत्यस्वप्नो भवति तथा मलापायात् कर्ममलविनाशात् बाह्ये ग्राह्ये इव द्रष्टु आत्मन स्वरूपे अवस्थान भवति। पर द्रष्टु स्वरूपे एव अवस्थान अनुभवो भवति न बाह्ये इति कथनम् अमानक प्रमाणरहितम्। चैतन्य खलु स्वपरावभासकम्। मलापगमे तु सकल वस्तुजातम् अन्तर्बाह्य तद्वेत्त्येव प्रतिबन्धकापायात् ॥३६॥ न चायमिति—न चाय सत्यस्वप्न अप्रसिद्ध, स्वप्नाध्यायेऽतीव सुप्रसिद्धत्वात्। तथा हि—यस्त्विति—राज्यन्ते निशाया चरमे यामे यो नर नृप राजानम्। कुञ्जर गजम। हय अश्वम्। सुवर्ण बलीवर्द धेनु मही च पश्यति तस्य कुटुम्ब वर्धते ॥३७॥ यत्रेति—यत्र यस्मिन् मुक्तात्मनि नेत्रादिक नेत्रादिकानि इन्द्रियाणि न सन्ति तत्र मुक्तात्मनि मति ज्ञान नास्ति इति साख्ये वदति मति सूरिभिरुच्यते तन्न, यत अन्धोऽपि स्वप्न वीक्षते पश्यति। नेत्राभ्या विनापि अन्धो यथा स्वप्ने पश्यति तथा इन्द्रियाभावेऽपि अशरीर मुक्तात्मा सचराचर जगत् जानाति पश्यति च ॥३८॥ पुरुषत्वात् पाण्यादिमत्त्वात् नर सर्वज्ञो न भवतीति मीमासकमत निरस्यति—जिमिन्यादे इति—जिमिन्यादे पुरुषत्वेऽपि यदि तस्य मति ज्ञान प्रकृष्येत प्रकर्ष यायात् तर्हि तस्या मते क्वचिन्नरि मानवे सर्वक्लेशकर्मरहिते महात्मनि प्रकर्ष पराकाष्ठापि स्यात्। यथा परिमाण परमाणुम् आरभ्य खे विश्राम्यति। आकाशे परिमाणस्य प्रकर्ष समाप्ति याति ॥३९॥

[पृष्ठ ११] तुच्छाभावे इति—कस्यापि वस्तुन तुच्छाभाव सर्वथा अभाव विनाश न। हानि न। दीप सर्वथा नश्यति इत्यपि न युक्तम्। दीपे वायुना प्रशान्तिमिते तस्य सर्वथा नाशो जात इति वचन न युक्तम्। दीपस्तदा तमसा अन्वयी तम स्वरूप याति दीप । धरादिषु पृथिव्यप्पवनादिषु वियद् वृद्धे हानौ सत्या विश्लेषो भवति इति सिद्धसाध्यता भवेत्। यावत्काल धरादय जीवेन शरीररूपेण गृहीतास्तावत्काल

प्रथमं मोक्षो भवेत् । पश्चात् तदनन्तरम् । असौ भक्तिः । कौलेषु कौलमतानुयायिषु भवेत् । हिंसादिना मोक्षो न लभ्यते इत्यर्थः ॥२४॥ सांख्यमतं दूषयति । अव्यक्तेति—नित्यं नित्यव्यापिस्वभावयोः नित्यं सततम् । नित्ययोः व्यापिस्वभावयोः अव्यक्तनरयोः प्रकृतिपुरुषयोः । विवेकेन प्रकृतेः पुरुषो भिन्नः इति ज्ञानं विवेकः तेन । ख्याति मुक्तिम् । सांख्यमुख्याः कपिलादयः । कथं प्रवदत ब्रुवन्ति । 'अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं कूटस्थनित्यम्' इति नित्यस्य लक्षणम् । कूटस्थनित्ये अर्थक्रिया न भवति । क्रमयौगपद्येनापि परिणामो न जायते । अतः पूर्वस्वरूपत्यागोऽन्यस्वरूपप्राप्तिश्च तयोर्न भवति । अतः तयोर्मुक्तिकल्पना व्यर्था ॥ २५ ॥

[पृष्ठ ७] नैरात्म्यादिभावनातो मुक्तिरिति मतं निराकुरुते । सर्वमिति—सर्वं वस्तु जीवादिकम् । भावनया शुभाशुभया तत्स्वरूपस्य पुनः पुनश्चेतसि चिन्तनेन । स्फुटं व्यक्तम् । भासेत जायेत । तावन्मात्रेण स्पष्टावलोकनेनैव । यदि मुक्तत्वे मोक्षप्राप्तौ । विप्रलम्भितानां वञ्चकानाम् विरहिणां वा मुक्तिः स्यात् ॥२६॥ उक्तं च—पिहिते इति—कारागारे बन्धनालये । पिहिते कपाटनिरुद्धे सति । सूचीमुखाग्रनिर्भेद्ये सूचीमुखाग्रेण व्यवनीयमानाग्रेण निर्भेद्ये नियतो भेदो यस्य एवंविधे तमसि विद्यमाने । मयि च निमीलितनयने मयि च चौरे जारे वा पिहितलोचने सति । तथापि कान्ताननं व्यक्तम् कान्तायाः रमण्याः मुखं व्यक्तं विस्पष्टतयाहम् अवलोकयामीत्यर्थः ॥२७॥ अङ्गारकृष्णवत्कृष्णमुक्तिर्न भवतीति अयुक्तम्—स्वभावेति—यत्र यस्मिन् वस्तुनि । स्वभावान्तरसंभूतिः अन्यः स्वभावः स्वभावान्तरम् । पूर्वस्वभावत्यागः उत्तरस्वभावप्राप्तियोग्यता । सा यत्र अस्ति तत्र मलक्षयो भवति कर्तुं शक्यः । केभ्यः स भवेत् । स्वहेतुभ्यः स्वकारणतः । मणिमुक्ताफलेष्विव रत्नमौक्तिकेषु यथा मलनिर्मुक्तिर्जायते । तदहर्ज इति पद्यं व्याख्यायते—तस्य अह्नः तदहः तदहनि तद्दिने जायते स्मेति तदहर्जः तद्दिनजातबालकः तस्य स्तनेहा स्तनपानाभिलाषः तस्मात् हेतोः अयम् आत्मा सनातनः नित्यः वर्तते । यदि क्षणिक आत्मा स्यात्तर्हि जातबालको जननक्षणे एव विनष्टोऽपरस्तस्य स्थाने स्थितस्तस्य स्तनाभिलाषो जातः एवं यदि कल्पना क्रियते तदा कृतनाशाकृताभ्यागमदोषौ भवताम् । अतस्तद्दिन जातबालकस्य स्तनाभिलाषतो हेतोः अभिलाषसंस्कारो न तत्क्षणे स प्राक्तन एवेति अभ्युपगम्यताम् । अस्माद्धेतोरेव आत्मनः सनातनत्वं सिद्ध्यति । रक्षोदृष्टेः रक्षसो दर्शनात्—मानवो मृत्वा रक्षो जातः तस्य दर्शनात् आत्मा नित्यो मन्तव्यः । भवस्मृतेः—पूर्वभवे अहं देव आसम् अधुना अहं मानवो जात इत्यादि पूर्वभवस्य स्मरणात् सनातनत्वमात्मनः । भूतानन्वयनात्—चैतन्याख्यो गुणो भूतेषु पृथिव्यादिषु नोपलभ्यते स जीव एव विद्यते । तस्य भूतेषु अनुगमनम् अन्वयः स न दृश्यते । भूतानन्वयनात् जीवः प्रकृतिः प्रकृति स्वभावं परपटार्दोना(?) जानातीति प्रकृतिज्ञः आत्मा स च सनातनः अनादिनिधनः ज्ञेयः ॥२९॥ एवं परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावे कस्यासौ मोक्षः इति चार्वाकमतं प्रतिविहितम् ॥ चार्वाकाणाम् अभेदवादो निरस्यते—

[पृष्ठ ८] भेदोऽयमिति—मानवतिभिः प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणसिद्धः । जन्ममृत्युसुखप्रायैः पुनरन्तरितम् । प्राणापानादिक्रियाविशेषव्युच्छेदो मृत्युः मरणम् । प्रीतिरूपपरिणामः सुखम् । इत्यादि परिवर्तपर्यायैः भवत्यापि । कथं निर्भीकम् । वैचित्र्यं नानाविधत्वम् कुतः स्यात् । यदि सर्वं भेदं अविद्या गीयेत मायेति कथ्यते । अतो जगतो वैचित्र्यान्नूनं सत्य एव ॥१ ॥ शून्यवादिनो मतनिरसनम् । शून्यमिति—अहं वादी शून्यं तत्त्वं प्रमाणतः प्रत्यक्षादिभ्यः साधयामि इति व्याख्यातो प्रतिज्ञाया तेन (वादिना) इत्यादि सर्वशून्यता विरुध्येत । वादिनः साध्यसाधनादीनां च विद्यमानत्वात् अशून्यवाद एव सिध्येत् । कथं वादी शून्यवादं साधयेत् । वस्तुनि निजस्वरूपे अन्यवस्तुनः अभावो यदि तर्हि तदपेक्षया शून्यत्वं न केनापि अवगम्येत । सर्वे भावाः परस्वभावेन रहितत्वाच्छून्याः इत्यभ्युपगमे विरोध एव ॥११॥ भवानां पुनाना(?) ज्ञानाभावमतमुक्तिमाह—यायो पति—मुक्तो यदा । आत्मनः भवोद्भवः तदा स भवमानः जीवः ज्ञानम् । इन्द्रियज्ञानम् । संसारोद्भवं वा ज्ञानम् इन्द्रियविषयमूलं वा । यदि नास्ति तर्हि अत्यन्तमपि चैतन्यम् अपि किं न्याय्यतया न वाञ्छामि । वयमपि जैना मुक्तो इन्द्रियज्ञानमुत्पन्नं न तत् इति मन्यामहे । एतदभिमतो भवभावं चाक्षिक् ज्ञानं अवलोक्यते ॥१२॥

[पृष्ठ ९] न्यक्षेति—न्यक्षवीक्षाविनिर्मोक्षे निर्गतानि अक्षाणि यस्या सा अथवा निर्गता अक्षेभ्यो या सा न्यक्षा अतीन्द्रिया सा चासौ वीक्षा विशिष्टा ईक्षा वीक्षा। इन्द्रियवीक्षाया भिन्ना अतीन्द्रियज्ञप्तिरित्यर्थ। तस्या विनिर्मोक्षे तस्माद्रहिते मोक्षे यदि मते तर्हि किं मोक्षिलक्षणम्। मोक्ष अस्य अस्तीति मोक्षी तस्य लक्षण किं स्यात्। न किमपि। यत ज्ञानम् आत्मलक्षण तस्य सर्वथा उच्छेदे मोक्षिण आत्मनो लक्षण नश्येत्। यथा अग्नौ उष्णत्वात् अन्यत् इतरत् लक्ष्यलक्षण विचक्षणै विद्वद्भि न लक्ष्य लक्षयितु न योग्यम्। औष्ण्यमेव अग्नेर्लक्षण तदभावे अग्ने अभाव। तथा चैतन्यम् एव आत्मन लक्षणम्। तदभावे अभाव आत्मन स्यात् ॥३३॥ किं चेति—किं च, सदा शिवेश्वरादय ससारिण मुक्ता वा। ससारित्वे कथमाप्तता। ससारिषु दोषा रागादय सन्ति। तेषा सद्भावे सर्वज्ञता न स्यात्। विना सार्वज्ञ्य मोक्षमार्गप्रणीते असभवात्। मुक्तत्वे 'क्लेशकर्मविपाकाशयै अपरामृष्ट' पुरुषविशेष ईश्वर तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम्' इति पतञ्जलिजल्पितम्। क्लेशदायकाना कर्मणाम् अज्ञानादीना विपाक उदयस्तस्मात् जाते आशये रागद्वेषपरिणामे अपरामृष्ट रहित पुरुषविशेष ईश्वर, तत्र निरतिशय तारतम्यरहित सर्वज्ञबीजम् इति पतञ्जलिभाषितम्। ऐश्वर्यत्यादि—ऐश्वर्यम् अप्रतिहतम् अणिमामहिमादिरूपम् अष्टविध केनापि अप्रतिरुद्धम्। सहजो विराग स्वाभाविकी विषयविरक्ति। निसर्गजनिता तृप्ति स्वभावाज्जात सतोष। इन्द्रियेषु वशिता जितेन्द्रियत्वमिति भाव। आत्यन्तिक सुखम् अन्त विनाशम् अतिक्रान्तम् अत्यन्त विनाशरहित तत्र भवम् आत्यन्तिक सुखम् अविनाशिसुखम्। वैषयिकसुखव्यतिरिक्तमात्मानन्दज सुखम्। अनावरणा आवरणरहिता शक्ति अप्रतिहतवीर्यम्। तथा सर्वविषय ज्ञान सूक्ष्मान्तरितदूरार्थेषु प्रत्यक्ष ज्ञानम्। हे भगवन्, त्वयि एव विद्यते। इत्येतदाप्तलक्षण रागादिभि उपद्रुते रुद्रे आप्तत्वप्रक्लृप्तौ विरुध्यते ॥३४॥ अनेकेति—अनेकजन्मसतते अनेकानि च तानि जन्मानि च अनेकजन्मानि तेषा सतति परपरा तस्या अनेकजन्मसतते। अस्य पुस ससारे चतुर्गतिषु भ्रमत अनन्तानि जन्मानि व्यतीतानि। तथापि यावदद्य अक्षय क्षयरहित असौ जीव' अस्ति यदि। मुक्त्यवस्थाया कुतो हेतुत कस्मात्कारणात् क्षीयेत क्षय तस्य जीवस्य स्यात्। पुस अनादिनिधनत्वात् तस्य मुक्त्यवस्थाया नाशाभिमनन मलक्षयात् सुवर्णनाशाभिमननवत् अयुक्त प्रतिभाति ॥३५॥

[पृष्ठ १०] कापिला द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थान मुक्तिरिति मन्यन्ते तदभिमत दूषयति—बाह्ये ग्राह्ये इति—मलापायात् वातपित्तकफादीना वैषम्याभावात् बाह्ये ग्राह्ये बाह्ये वस्तुनि यथा सत्यस्वप्नो भवति तथा मलापायात् कर्ममलविनाशात् बाह्ये ग्राह्ये इव द्रष्टु' आत्मन स्वरूपे अवस्थान भवति। पर द्रष्टु स्वरूपे एव अवस्थान अनुभवो भवति न बाह्ये इति कथनम् अमानक प्रमाणरहितम्। चैतन्य खलु स्वपरावभासकम्। मलापगमे तु सकल वस्तुजातम् अन्तर्बाह्य तद्वेत्त्येव प्रतिबन्धकापायात् ॥३६॥ न चायमिति—न चाय सत्यस्वप्न अप्रसिद्ध, स्वप्नाध्यायेऽतीव सुप्रसिद्धत्वात्। तथा हि—यस्त्विति—रात्र्यन्ते निशाया चरमे यामे यो नर नृप राजानम्। कुञ्जर गजम्। हय अश्वम्। सुवर्ण बलीवर्द धेनु मही च पश्यति तस्य कुटुम्ब वर्धते ॥३७॥ यत्रेति—यत्र यस्मिन् मुक्तात्मनि नेत्रादिक नेत्रादिकानि इन्द्रियाणि न सन्ति तत्र मुक्तात्मनि मति ज्ञान नास्ति इति साख्ये वदति सति सूरिभिरुच्यते तन्न, यत अन्धोऽपि स्वप्न वीक्षते पश्यति। नेत्राभ्या विनापि अन्धो यथा स्वप्ने पश्यति तथा इन्द्रियाभावेऽपि अशरीर मुक्तात्मा सचराचर जगत् जानाति पश्यति च ॥३८॥ पुरुषत्वात् पाण्यादिमत्त्वात् नर सर्वज्ञो न भवतीति मीमासकमत निरस्यति—जिमिन्यादे इति—जिमिन्यादे पुरुषत्वेऽपि यदि तेर्स्य मति ज्ञान प्रकृष्येत प्रकर्ष यायात् तर्हि तस्या मते क्वचिन्नरि मानवे सर्वक्लेशकर्मरहिते महात्मनि प्रकर्ष पराकाष्ठापि स्यात्। यथा परिमाण परमाणुम् आरभ्य खे विश्राम्यति। आकाशे परिमाणस्य प्रकर्ष समाप्ति याति ॥३९॥

[पृष्ठ ११] तुच्छाभावे इति—कस्यापि वस्तुन' तुच्छाभाव सर्वथा अभाव विनाश न। हानि न। दीप सर्वथा नश्यति इत्यपि न युक्तम्। दीपे वायुना प्रशान्तिमिते तस्य सर्वथा नाशो जात• इति वचन न युक्तम्। दीपस्तदा तमसा अन्वयी तम स्वरूप याति दीप। घरादिषु पृथिव्यप्तेजनादिषु धिय बुद्धे हानौ सत्या विश्लेषो भवति इति सिद्धसाध्यता भवेत्। न यावत्काल घरादय' जीवेन शरीररूपेण गृहीतास्तावत्कालं

तेषु मिथः सन्ति परं यथा जीवन् जराविरूपं शरीरं त्यजन् तदा ते जराद्याः गुणाः निविसर्पन्ति तदा बुद्धेः हानि तारतम्येन भवन्ती अचेतनेषु जरादिषु तस्या हानेः पराकाष्ठा भवति तदा सिद्धसाम्यता भवेत् । तैर्मैः अचेतनेषु जरादिषु बुद्धेः अभावः मन्यत ॥४०॥ तदावृतिहतौ इति—यथा तपनस्य सूर्यस्य दीधितिः प्रकाश तदावृतिहतौ प्रकाशावरणस्य मेघादेः हतौ विनाशे सर्वं वस्तु प्रकाशयति तथा धीमुषो बुद्धिः तदावृतिहतौ तस्याः आवृते ज्ञानावरणकर्मणः विनाशे सति सा बुद्धिः यत् वस्तु चराचरं कथं न सर्वं प्रकाशयति । अपि तु निखिलं वस्तुजातं सा प्रकाशयति एव ॥४१॥ ब्रह्माद्वैतवादिनो मुक्तितत्त्वं निराकुर्वन्ति—ब्रह्मेति—यदि ब्रह्म परमपुरुषः एकम् अभेदरूपं विद्यते तर्हि तत् ब्रह्म कुतः कस्मात् कारणात् प्रमाणात् निस्तरङ्गं विवर्तरहितं न सिध्यति । यदि विवर्तरहितं स्यात् एकं तत् सिध्यतु । यथा घटाकाशम् आकाशे लीयते तथा इदं जगत् तत्र परब्रह्मणि लीयताम् अपृथग्रूपेण वर्तताम् । परं तथा अद्यापि न दृश्यते ॥४२॥ अथ मतम् एक एवेति—देहे देहे प्रतिशरीरम् एक एव हि भूतात्मा परमपुरुषः व्यवस्थितः विद्यते । परं जलचन्द्र इव एकधापि अनेकधा नानारूपेण दृश्यते ॥४३॥

[पृष्ठ १२] तदयुक्तम् । एकः खे इति—यथा खे आकाशे इन्दुः चन्द्रः एकः वेद्यते ज्ञायते । अन्यत्र जलादौ अनेकधा वेद्यते तथा ब्रह्म भेदेभ्यो अन्यत् अभेदरूपं क्वापि न वेद्यते न ज्ञायते ॥४४॥ अलम् अति विस्तरेण । आनन्द इति—आनन्दः अनन्तं सुखम् । ज्ञानं क्षायिकं केवलज्ञानम् । ऐश्वर्यम् सकलगुणानाम् आत्यन्तिकी निर्मलता । वीर्यम् अनन्तशक्तिः । परमसूक्ष्मता अमूर्तत्वम् । एतत् आनन्दादिलक्षणम् आत्यन्तिकम् अन्तम् अतिक्रान्तम् अविनाशि । यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तितः कथितः ॥ ४४ ॥ एतत् आनन्दादिलक्षणम् आत्यन्तिकं अन्तमतिक्रान्तमविनाशि यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तितः कथितः ॥४५॥ स्वभावेति—स्वभावात् अभिसिद्धा वस्तूनां जीवादेः ऊर्ध्वगतिः जीवस्य आदित्यादेः स्थावरादेः लोष्टादीनां ग्रहणम् । एतेषां यथा स्वभावादूर्ध्वगतिः । नियता यथा निश्चिता—तथा मुक्तस्यापि आत्मनः स्वभावादूर्ध्वगतिर्दृढा ॥ ४६ ॥ तथाप्यत्रेति—कर्मक्षये जातेऽप्यत्र तदावास मुक्तजीवस्याशेषावस्थान निवासे अभिमते चेत् पुण्यपापात्मना पुण्योपेतात्मना पापोपेतात्मना च स्वर्गश्वभ्रागमो न स्यात् स्वर्गे देवलोके श्वभ्रे नरके च आगमो गमनं मा भवतु अत्रैव तेषां वसतिर्भवतु । तथा च ते तदालोकान्तरेण अन्यो लोको लोकान्तरं स्वर्गादिकं तेन अर्थः स्यात् तदात्मना न किमपि प्रयोजनम् ॥४७॥

इत्युपासकाध्ययने समस्तसमयसिद्धान्तावबोधनो नाम प्रथमः कल्पः ।

२. आप्तस्वरूपमीमांसनो द्वितीयः कल्पः ।

[पृष्ठ १२ १३] अहो धर्मराजनैकमते वसुमतीपते धर्मराजस्य एका केवला मतिर्बुद्धिर्यस्य तत्संबोधनं हे धर्मराजमनपराजयबुद्धे वसुमतीपते भूपते हि निश्चयेन सम्यक्त्वं नाम नराणां पुरुषाणां संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवानां महती असाधारणा पुण्यदेवता सामर्थ्यदेवतास्ति । अस्याः पौरुषं सामर्थ्यं अस्मात्कारणात् ज्ञातव्य एकदा एकमेव असहायमेव । यदीयगुणमेव यथावत् तस्य पुण्या प्रोज्ज्वालस्तथैव प्रभुत्वमा तथैव पुनरहितत्वेन संघात अप्यात्मकाम अशेषकल्मषकलुषविषयतया सकलपापपरिणामे मलिनबुद्धित्वात् । नरकतिर्यङ्मनुष्यगतिषु न भवति संमूर्छितेषु न जायते अतो कारणम् । पुण्यदायुषामपि मनुष्याणां पुंसि बद्धायुषां तेषामपि नराणां येषां नृसुरनारकतिर्यगायुर्बन्धो जातस्तेषामपि नराणामित्यर्थः । यथा नरकायुर्बन्धो जातस्तेऽपि सम्यक्त्वं यद्यपि तत्प्रभावात्तेषु प्रथमां नरकभूमिं विहाय अन्यासु षट्सु नारकभूमिषु न जायन्ते । तत्सम्यक्त्वं तत्र संमूर्छितेष्वस्य कारणं न भवति । अष्टविधेषु व्यन्तरेषु किंनरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचेषु न संमूर्छितेषु । दशविधेषु भवनवासिषु असुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमारेषु न संमूर्छितेषु । पञ्चविधेषु ज्योतिष्केषु 'सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्चेति' भूतोऽपि तेषु न संमूर्छितेषु । त्रिविधासु स्त्रीषु नृतिर्यग्देवस्त्रीषु, विकलकरणेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु विकलत्रयजीवेषु असंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु

च, पृथ्वीजलाग्निवायुकायिकेषु वनस्पतिषु च न भवति जन्मकारणम्। (इद सम्यक्त्व) सार्वविसमर्याद विदधा करोति आजवजवीभावं समारभावम्। नियमेन सपादयति कचित्काल (जीवस्य ममारसुखम्) साधुत्वसपादनसार साधुगुणाना भाव साधुत्व तस्य सपादनमेव सारो यस्मिन्स सस्कार यथा जीवेषु जन्मान्तरेऽपि अन्यजन्मन्य आत्मन स्वस्य अनुवृत्तिम् अनुयायित्व न जहाति। तथा चारित्रे चार्वी निर्दोषा अनुवृत्तिम् अनुगमनम् उपलभ्य लब्ध्वा जन्मान्तरेऽपि न जहाति न त्यजति सम्यक्त्वम्। सिद्ध मन्त्राराधनादिभिर्लब्धश्चिन्तामणिर्यथा सम्यक्त्व असीमम् अतिमर्याद कामितानि स्वयाचितानि फलति ददाति। व्रतानि अहिंसादीनि पुनर्यथा ओषध्य व्रीह्यादय फलपाकावमानानि फलपाकान्तानि फल दत्त्वा नश्यन्ति, पाथेयवन्नियतवृत्तीनि च पथि हित पाथेय तदि पाथेयवत् सबलवत् मार्गे क्षुत्परिहारार्थं यदशितव्यमन्न तद्वत्। नियतवृत्तीनि कचित्काल सुखजनकानि यथा सिद्धरसवेधसबन्धात् सिद्धपारदव्यधमपर्कात्। उपर्बुधमनिधानमात्रजन्मनि अग्निमानिध्येनैव जन्म उत्पत्ति र्यस्य तस्मिन् जाम्बूनद इव सुवर्णे यथा परिश्रम आयासो न समाश्रयणीयो नावलम्बनीय। तथा अ सम्यक्त्वे पदार्थयाथात्म्यसमवगमात् जीवादिनवपदार्थाना यत्स्वरूपम् आगमे प्रोक्त तथा तस्यावगमाज्ज्ञानात् मनोमननमात्रतन्त्रे मनसा मनन चिन्तनम् एव मनोमननमात्र तस्य तन्त्रे आधीने केवल मन श्रद्धानाधीने सम्यग्दर्शने। न श्रुतश्रवणपरिश्रम आगमाकर्णनायासः आश्रयणीय. अवलम्ब्य। एतत्सम्यक्त्वप्राप्तये शरी नायासयितव्यं शरीरखेद विनापि सम्यक्त्वमुत्पद्यते इति भाव। न देशान्तर गन्तव्यम्। देशान्तरे केनापि तत्सम्य क्त्व वस्तु न हि स्थापित यत् तत्र गत्वा तदानीयेत। न कालक्षेपकुक्षि. अपेक्षितव्य. न कालयापनापेक्षा कर्तव्या तस्मात् प्रासादस्य राजगृहस्य अधिष्ठानमिव गर्तपूरणमिव। रूपसपद सौन्दर्यसपत्ते कारण सुभगत्व यथा भोगायतनस्य शरीरस्य उपचार स्थानगमनादिक तस्य कारण प्राणित श्वासोच्छ्वास। विजयप्राप्ते कारण यथा मूलबल मुख्य सैन्यम्। आभिजात्यस्य कुलीनत्वस्य विनीतत्व विनय शास्त्रसस्कारो वा। नयानुष्ठानमिव राज्यस्थिते राज्यस्थिरताया नयस्य सामाद्युपायचतुष्टयस्य अनुष्ठानम् आचरण यथा। अखिलस्यापि परलोको दाहरणस्य सकलस्यापि परलोकप्राप्तेरुदाहरण निदर्शनमिव गरीयास महापुरुषा ननु निश्चयेन सम्यक्त्वमेव प्रथम कारण गृणन्ति कथयन्ति। तस्य चेद लक्षणम्। आप्तेति—आप्त सर्वज्ञ, आगम सर्वज्ञस्यार्हतो मुखान्निर्गत दिव्यध्वनिराचारादिद्वादशाङ्गरूप उपदेश। पदार्था जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षपाप-पुण्यात्मका। एतेषा कारणद्वयात् श्रद्धान सम्यक्त्वम्। अन्तरङ्ग कारणं दर्शनमोहस्य उपशम, क्षय क्षयोपशमो वा। तस्मिन् प्राप्ते सति यद्बाह्योपदेशाद्विना प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकसम्यग्दर्शनम्। यच्च परोपदेशपूर्वकम् आप्तागमपदार्थश्रद्धान जायते तदधिगमजम्। आसन्नभव्यता[1], कर्महानि[2], [3]सज्ञित्वम्, शुद्धि—विशुद्धपरिणाम एते सम्यग्दर्शनप्राप्तेरन्तरङ्गहेतवः। सम्यग्गुरूपदेश, जातिस्मरण, जिनप्रतिमादर्शनादि एते बाह्यहेतव। एतान् हेतूनासाद्य जीवे सम्यक्त्वं जायते। तच्च मूढाद्यपोढ देव-लोक-गुरुमूढताभी रहितम् नि शङ्कितावष्टा-ङ्गोपेतम्, प्रशमादिभाक् च। प्रशमसवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणम्। प्रशमा नतीति प्रशमादि-भाक्। प्रशमादीना लक्षणानि ग्रन्थकारोऽग्रे वक्ष्यति ॥४८॥ आप्तलक्षणम्—

[१५] सर्वज्ञेति—आप्तमतोचिता अर्हन्मतप्रतिपादने उचिता योग्या विद्वास आप्त सर्वज्ञ त्रिकाल-गोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठित जगत् सर्वशब्देनोच्यते तत् जानातीति सर्वज्ञस्तम्। सर्वलोकेश, सर्वे च ते लोकाश्च सर्वलोका ऊर्ध्वा-ऽधो-मध्यलोकास्तेषामीशस्तम्। सर्वदोषविवर्जित सर्वे च ते क्षुत्पिपासादयोऽष्टादश दोषास्तै-र्विवर्जित विशेषेण वर्जितो रहित ते दोषा कदाचनापि त यथा न स्पृशन्ति तथा स तै रहितस्तम्। सर्वसत्त्व-

---

१ आसन्नभव्यता भव्यो रत्नत्रयाविर्भावयोग्यो जीव आसन्न कतिपयभवप्राप्यनिर्वाणपद। आसन्नश्चासौ भव्यश्च आसन्नभव्यस्तस्य भाव आसन्नभव्यता। २ कर्महानि मिथ्यात्वादीना सम्यक्त्व-प्रतिबन्धकर्मणां यथासभवमुपशम क्षयोपशम क्षयो वा। ३ सज्ञित्वम्—सज्ञा-शिक्षाक्रियालापोपदेश-ग्राहित्वम्। सज्ञा अस्य अस्तीति सज्ञी सज्ञिनो भाव सज्ञित्वम्। सा० ध०, अ० १, श्लो० ६।

तेषु त्रिय: सन्ति परं यथा जीवेन जराजिर्णं शरीरं त्यज्यते तथा ते जराजर्जरा बुद्धया विचिन्त्यन्ते तथा बुद्धेः हानि तारतम्येन भवन्ती सर्वेतरेषु जराजिषु तस्या हानेः पराकाष्ठा भवति तदा शिवसाम्यता भवेत् । जैनैः अनेकान्तेषु जराजिषु बुद्धेः अभावः मन्यते ॥४०॥ तदावृतिहती इति—यथा तमसः सूर्यस्य दीधितिः प्रकाश तदावृतिहती प्रकाशावरणस्य मेघादेः हतौ विनाशे सर्वं वस्तु प्रकाशयति तथा धीमती बुद्धिः तदावृतिहती तस्याः आवृतेः ज्ञानावरणकर्मणः विनाशे सति सा बुद्धिः यद् वस्तु चराचरं कर्म न सर्वं प्रकाशयति । अपि तु निखिलं वस्तुजातं सा प्रकाशयति एव ॥४१॥ ब्रह्माद्वैतवादिनो मुक्तितत्त्वं निराकुर्वन्ति—ब्रह्मेति—यदि ब्रह्म परमपुरुषः एकम् अभेदरूपं विद्यते तर्हि तद् ब्रह्म कुतः कस्मात् कारणात् प्रमाणात् निस्तरङ्गं विवर्तरहितं न सिद्ध्यति । यदि विवर्तरहितं स्यात् एवं तद् सिद्ध्येत् । यथा घटाकाशम् आकाशे लीयते तथा इदं जगत् तत्र परब्रह्मणि लीयताम् अपृथग्रूपेण वर्तताम् । परं तथा अपृथग्रूपं न दृश्यते ॥४२॥ अथ मतम् एक एवेति—देहे देहे प्रतिशरीरम् एक एव हि भूतात्मा परमपुरुषः व्यवस्थितः विद्यते । परं जलचन्द्र इव एकधापि बहुधा नानारूपेण दृश्यते ॥४३॥

[पृष्ठ १२] तदयुक्तम् । एककं खे इति—यदि खे आकाशे इन्दुः चन्द्रः एकः वेद्यते ज्ञायते । अम्भस्य जलादौ अनेकधा वेद्यते तथा ब्रह्म भेदेभ्यो भिन्नत् अभेदरूपं कुतः इति न वेद्यते न ज्ञायते ॥४४॥ अलम् अतिविस्तरेण । आनन्द इति—आनन्दः अनन्तं सुखम् । ज्ञानं क्षायिकं केवलज्ञानम् । ऐश्वर्यम् सकलगुणानाम् आत्यन्तिकी निर्मलता । वीर्यम् अनन्तवीर्यम् । परमसूक्ष्मता अमूर्तत्वम् । एतद् आनन्दादिलक्षणकम् आत्यन्तिकम् अन्तम् अतिक्रान्तम् अविनाशि । यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तितः कथितः ॥ ४४ ॥ एतद् आनन्दादिलक्षणकम् आत्यन्तिकं अन्तमतिक्रान्तमविनाशि यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तितः कथितः ॥४५॥ ज्वालेति—ज्वाला अग्निशिखा वायुकर्मादेः परस्परीयादेः आविरभावेन व्यपगतप्रेरणाद्यभावानां वहनम् । एतेषां यथा स्वभावादूर्ध्वगतिः । निष्ठता यथा निश्चिता—तथा मुक्तस्यापि आत्मनः स्वभावादूर्ध्वगतिर्ज्ञेया ॥ ४६ ॥ तथाप्यत्रेति—यद्यपि तथापि अत्र तथापि मुक्तजीवस्योर्ध्वगमनस्य निबाधं अभिमते चेद् पुण्यपापात्मनां पुण्योपेतात्मनां पापोपेतात्मनां च स्वर्गश्वभ्रगमनं न स्यात् स्वर्गे देवलोके श्वभ्रे नरके च आगमो गमनं मा भवतु यदैव तेषां वसतिर्भवतु । तथा च ते तथालोकान्तरेण अन्यो लोको लोकान्तरं स्वर्गादिकं तेन अर्थः स्यात् तदात्मना न किमपि प्रयोजनम् ॥४७॥

इत्युपासकाध्ययने समस्तसमयसिद्धान्तावबोधनो नाम प्रथमः कल्पः ।

२. आप्तस्वरूपमीमांसनो द्वितीयः कल्पः ।

[पृष्ठ १२ १३] अहो धर्माराधनैकमते वसुमतीपते धर्माराधने एका केवला मतिर्बुद्धिर्यस्य तत्संबोधनं हे धर्माराधनपरायणबुद्धे वसुमतीपते भूपते हि निश्चयेन सम्यक्त्वं नाम नराणां पुरुषाणां संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवानां महती असाधारणा पुण्यदेवता सामर्थ्यविशेषास्ति । अस्याः पौरुषं व्यवसितं सामर्थ्यं कारणात् सकृत् एकदा एकमेव असहायमेव । यदीयगुणमेव यथापरं तस्य गुणाः प्रोन्नतास्तथैव प्रभुत्वतया तथैव गुणसहितत्वेन संसारं कल्याणमकार्यं अशेषकल्मषपञ्चकपरिणामे मलिनबुद्धित्वात् । नरकतिर्यङ्मनुष्यगतिषु न भवति संभूतिहेतु न जायते जनन कारणम् । पुण्यकाङ्क्षामपि मनुष्याणां पुंसि जननमुखानां तेषामपि नराणां येषां पूर्वं नारकतिर्यगायुर्बन्धो जातस्तेषामपि नराणामित्यर्थः । तेषां नरकायुर्बन्धो जातस्ते सम्यक्त्वप्रभावात् तस्मात्ततस्तेषु प्रथमां नरकभूमिं विहाय अन्यासु षट्सु नारकभूमिषु न जायन्ते । तत्सम्यक्त्वं तत्र संभूतिहेतुर्जन्म कारणं न भवति । अष्टविधेषु व्यन्तरेषु किंनरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचेषु न संभूतिहेतु । दशविधेषु भवनवासिषु असुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमारेषु न संभूतिहेतु । पञ्चविधेषु ज्योतिष्केषु 'सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्चेति' सूत्रोक्तेषु न संभूतिहेतु । त्रिविधासु स्त्रीषु नृतिर्यग्देवस्त्रीषु विकलकरणेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु विकलत्रयजीवेषु असंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु

ष, पृथ्वीजलाग्निवायुकायिकेषु वनस्पतिषु च न भवति जन्मकारणम्। (इद सम्यक्त्व) सावधि ससर्याद विदधाति करोति आजवजवीभाव समाप्तभावम्। नियमेन सपादयति कचित्काल (जीवस्य ससारसुखम्) साधुत्वसपादननार साधुगुणाना भाव साधुत्व तस्य सपादनमेव सारो यस्मिन्स सस्कार यथा जीवेषु जन्मान्तरेऽपि अन्यजन्मन्यपि आत्मन स्वस्य अनुवृत्तिम् अनुयायित्व न जहाति। तथा चारित्रे चार्वी निर्दोषा अनुवृत्तिम् अनुगमनम् उपलभ्य लब्ध्वा जन्मान्तरेऽपि न जहाति न त्यजति सम्यक्त्वम्। सिद्ध मन्त्राराधनादिभिर्लब्धश्चिन्तामणिर्यथा सम्यक्त्व असीमम् अतिमर्याद कामितानि स्वयाचितानि फलानि ददाति। व्रतानि अहिंसादीनि पुनर्यथा ओषध्य व्रीह्यादय: फलपाकावसानानि फलपाकान्तानि फल दत्त्वा नश्यन्ति, पाथेयवन्नियतवृत्तीनि च पथि हित पाथेय तदिव पाथेयवत् सबलवत् मार्गे क्षुत्परिहारार्थं यदशिनव्यमन्न तद्वत्। नियतवृत्तीनि कचित्काल सुखजनकानि। यथा सिद्धरसवेधसबन्धात् सिद्धपारदव्यधसपर्कात्। उपर्बुधसनिधानमात्रजन्मनि अग्निसान्निध्येनैव जन्म उत्पत्तिर्यस्य तस्मिन् जाम्बूनद इव सुवर्णे यथा परिश्रम आयासो न समाश्रयणीयो नावलम्बनीय। तथा अत्र सम्यक्त्वे पदार्थयाथात्म्यसमवगमात् जीवादिनवपदार्थाना यत्स्वरूपम् आगमे प्रोक्त तथा तत्स्यावगमाज्ज्ञानात्। मनोमननमात्रतन्त्रे मनसा मनन चिन्तनम् एव मनोमननमात्र तस्य तन्त्रे आधीने केवल मन श्रद्धानाधीने सम्यग्दर्शने। न श्रुतश्रवणपरिश्रम आगमाकर्णनायास. आश्रयणीय अवलम्ब्य। एतत्सम्यक्त्वप्राप्तये शरीर नायासयितव्य शरीरखेद विनापि सम्यक्त्वमुत्पद्यते इति भाव। न देशान्तर गन्तव्यम्। देशान्तरे केनापि तत्सम्यक्त्व वस्तु न हि स्थापित यत् तत्र गत्वा तदानीयेत। न कालक्षेपकुक्षि. अपेक्षितव्य न कालयापनापेक्षा कर्तव्या। तस्मात् प्रासादस्य राजगृहस्य अधिष्ठानमिव गर्तपूरणमिव। रूपसपद सौन्दर्यसपत्ते कारण सुभगत्व यथा। भोगायतनस्य शरीरस्य उपचार स्थानगमनादिक तस्य कारण प्राणित श्वासोच्छ्वास। विजयप्राप्ते कारण यथा मूलबल मुख्य सैन्यम्। आभिजात्यस्य कुलीनत्वस्य विनीतत्व विनय शास्त्रसस्कारो वा। नयानुष्ठानमिव राज्यस्थिते राज्यस्थिरताया नयस्य सामाद्युपायचतुष्टयस्य अनुष्ठानम् आचरणं यथा। अखिलस्यापि परलोकोदाहरणस्य सकलस्यापि परलोकप्राप्तेरुदाहरण निदर्शनमिव गरीयास महापुरुषा ननु निश्चयेन सम्यक्त्वमेव प्रथम कारण गृणन्ति कथयन्ति। तस्य चेद लक्षणम्। आप्तेति—आप्त· सर्वज्ञ, आगम सर्वज्ञस्यार्हतो मुखान्निर्गत दिव्यध्वनिराचारादिद्वादशाङ्गरूप उपदेश। पदार्था जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षपापपुण्यात्मका। एतेषा कारणद्वयात् श्रद्धान सम्यक्त्वम्। अन्तरङ्ग कारण दर्शनमोहस्य उपशम, क्षय क्षयोपशमो वा। तस्मिन् प्राप्ते सति यद्बाह्योपदेशाद्विना प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकसम्यग्दर्शनम्। यच्च परोपदेशपूर्वकम् आप्तागमपदार्थश्रद्धान जायते तदधिगमजम्। आसन्नभव्यता[1], कर्महानि[2], सज्ञित्वम्[3], शुद्धि—विशुद्धपरिणाम एते सम्यग्दर्शनप्राप्तेरन्तरङ्गहेतव। सम्यग्गुरूपदेश, जातिस्मरण, जिनप्रतिमादर्शनादि एते बाह्यहेतव। एतान् हेतूनासाद्य जीवे सम्यक्त्व जायते। तच्च मूढाद्यपोढ देव-लोक-गुरुमूढताभी रहितम् नि शङ्कितादृष्टाङ्गोपेतम्, प्रशमादिभाक् च। प्रशमसवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणम्। प्रशमा नतीति प्रशमादिभाक्। प्रशमादीना लक्षणानि ग्रन्थकारोऽग्रे वक्ष्यति ॥४८॥ आप्तलक्षणम्—

[१५] सर्वज्ञेति—आप्तमतोचिता अर्हन्मतप्रतिपादने उचिता योग्या विद्वास आप्त सर्वज्ञ त्रिकालगोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठित जगत् सर्वशब्देनोच्यते तत् जानातीति सर्वज्ञस्तम्। सर्वलोकेश, सर्वे च ते लोकाश्च सर्वलोका ऊर्ध्वा-ऽधो-मध्यलोकास्तेषामीशस्तम्। सर्वदोषविवर्जित सर्वे च ते क्षुत्पिपासादयोऽष्टादश दोषास्तैर्विवर्जित विशेषेण वर्जितो रहित ते दोषा कदाचनापि त यथा न स्पृशन्ति तथा स तै रहितस्तम्। सर्वसत्त्व-

---

१ आसन्नभव्यता भव्यो रत्नत्रयाविर्भावयोग्यो जीव आसन्न कतिपयभवप्राप्यनिर्वाणपद। आसन्नश्चासौ भव्यश्च आसन्नभव्यस्तस्य भाव आसन्नभव्यता। २. कर्महानि मिथ्यात्वादीनां सम्यक्त्वप्रतिबन्धकर्मणा यथासभवमुपशम क्षयोपशम क्षयो वा। ३ सज्ञित्वम्—सज्ञा-शिक्षाक्रियालापोपदेशग्राहित्वम्। संज्ञा अस्य अस्तीति सज्ञी सज्ञिनो भाव संज्ञित्वम्। सा० ध०, अ० १, श्लो० ६।

तेषु किय सन्ति परं यदा जीवेन जरादिवशं शरीरं त्यज्यते तदा ते जरादय गुणाः विनिश्यन्ते तदा गुणे हानि तारतम्येन भवन्ती अनन्तानु जरादिषु तस्या हानेः पराकाष्ठा भवति तदा सिद्धसाध्यता भवेत् । जैनै-रप्येतेषु जरादिषु गुणे अभाव मन्यते ॥४०॥ सदावृतिहतौ इति—यथा तपनस्य सूर्यस्य दीधितिः प्रकाशः तदावृतिहतौ प्रकाशावरणस्य मेघादेः हतौ विनाशे सर्वं वस्तु प्रकाशयति तथा धीमुषी बुद्धि तदावृतिहतौ तस्याः आवृते ज्ञानावरणकर्मणः विनाशे सति सा बुद्धि यत् वस्तु चराचर कथं न सर्वं प्रकाशयति । अपि तु निखिल वस्तुजातं सा प्रकाशयति एव ॥४१॥ ब्रह्माद्वैतवादिनो मुक्तितत्त्वं निराकुर्वन्ति—ब्रह्मेति—यदि ब्रह्म परमपुरुषः एकम् अभेदरूपं विद्यते तर्हि तत् ब्रह्म कुतः कस्मात् कारणात् प्रमाणात् निस्तरङ्गं विवर्तरहितं न विद्यति । यदि विवर्तरहितं स्यात् एकं तत् सिद्ध्येत् । यथा घटाकाशम् आकाशे लीयते तथा इदं जगत् तत्र परब्रह्मणि लीयताम् अपृथग्रूपेण वर्तताम् । परं तथा अपृथग्रूपं न दृश्यते ॥४२॥ अथ मतम् एक एवेति—देहे देहे प्रतिशरीरम् एक एव हि भूतात्मा परमपुरुषः व्यवस्थितः विद्यते । परं जलचन्द्र इव एकधापि अनेकधा नानारूपेण दृश्यते ॥४३॥

[पृष्ठ १२] तदयुक्तम् । एकः खे इति—यथा खे आकाशे इन्दुः चन्द्रः एक वेद्यते ज्ञायते । अन्यत्र जलादौ अनेकधा वेद्यते तथा ब्रह्म भेदेभ्यो अन्यत् अभेदरूपं क्वापि न वेद्यते न ज्ञायते ॥४४॥ अलम् अति-विस्तरेण । आनन्द इति—आनन्दः अनन्तं सुखम् । ज्ञानं क्षायिकं केवलज्ञानम् । ऐश्वर्यम् सकलगुणानाम् आत्यन्तिकी निर्मलता । वीर्यम् अनन्तशक्तिः । परमसूक्ष्मता अमूर्तत्वम् । एतत् आनन्दादिपञ्चकम् आत्यन्तिकम् अन्तम् अतिक्रान्तम् अविनाशि । यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तितः कथितः ॥ ४४ ॥ एतत् आनन्दादिपञ्चकम् आत्यन्तिकमन्तमतिक्रान्तमविनाशि यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तितः कथितः ॥४५॥ स्वाङ्गेति—स्वाङ्ग-मभिधियक्ता वल्लूकमीनादेः एरण्डबीजादेः आदित्यभेन व्यपगतलेपालाबुकादीनां यद्वत् । एतेषां यथा स्वभावादूर्ध्वगतिः । नियता यथा निश्चिता—तथा मुक्तस्यापि आत्मनः स्वभावादूर्ध्वगतिर्ध्रुवा ॥ ४६ ॥ तथाप्यत्रेति—अस्मिन्नर्थे जातेऽप्यत्र तदावासे मुक्तजीवस्यावासस्थाने सिद्धे अभिमते चेत् पुण्यपापात्मना पुण्योपेतात्मना पापोपेतात्मना च स्वर्गश्वभ्रगमनो न स्यात् स्वर्गे देवलोके श्वभ्रे नरके च आत्मनो गमनं मा भवतु अत्रैव तेषां वसतिर्भवतु । तथा च त तथा लोकान्तरस्य अन्यो लोको लोकान्तरं स्वर्गादिकं तेन अर्थ स्यात् तदर्थेन न किमपि प्रयोजनम् ॥४७॥

इत्युपासकाध्ययने समस्तसमयसिद्धान्तावबोधनो नाम प्रथमः कल्पः ।

२. आप्तस्वरूपमीमांसनो द्वितीयः कल्पः ।

[पृष्ठ १२-१३] अहो धर्माराधनैकमते वसुमतीपते धर्माराधने एका केवला मतिर्बुद्धिर्यस्य तत्संबोधने हे धर्माराधनपरायणबुद्धे वसुमतीपते भूपते हि निश्चयेन सम्यक्त्वं नाम नराणां पुंसां संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवानां महती अनन्यसाधारणा पुण्यदेवता सामर्थ्यवतास्ति । अस्याः पौरुषं माहात्म्यं अकस्मात्कारणात् सा च एकदा एकमेव असहायमेव । यदीकगुणमेव यथायथ तस्य गुणा प्रोक्तास्तथैव प्रभुत्वतया तदैव गुणसहितत्वेन संसार सञ्चारसकार्यं अशेषकल्मषकलुषविषमतया सकलपापपरिणामैः मलिनबुद्धित्वात् । नरकतिर्यङ्मनुष्यगतिषु न भवति संमूर्छितेषु न जायते जनने कारणम् । पुण्यायुषामपि मनुष्याणां पुंसि बद्धायुष्कानां तेषामपि नराणां येषां नृसुरनारकतिर्यगायुर्बन्धो जातस्तेषामपि नराणामित्यर्थः । यथा नरकायुर्बन्धो जातस्ते सम्यक्त्वप्राप्त्या षट्सु तत्प्रमाणेषु प्रथमां नरकभूमिं विहाय अन्यासु षट्सु नारकभूमिषु न जायन्ते । तासु सम्यक्त्वं तत्र संमूर्छितेषुर्जन्म कारणं न भवति । अष्टविधेषु व्यन्तरेषु किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचेषु न संमूर्छितेषु । दशविधेषु भवनवासिषु असुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमारेषु न संमूर्छितेषु । पञ्चविधेषु ज्योतिष्केषु 'सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च' इति सूत्रोक्तेषु न संमूर्छितेषु । त्रिविधासु स्त्रीषु नृतिर्यग्देवस्त्रीषु विकलकरणेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु विकलमनस्कजीवेषु असंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु

च, पृथ्वीजलाग्निवायुकायिकेपु वनस्पतिपु च न भवति जन्मकारणम्। (इद सम्यक्त्व) सार्वावि समर्याद विदधाति करोति आजवजवीभाव समारभावम्। नियमेन सपादयति कचित्काल (जीवस्य ससारसुखम्) साधुत्वसपादनसार साधुगुणाना भाव साधुत्व तस्य सपादनमेव सारो यस्मिन्स सस्कार यथा जीवेपु जन्मान्तरेऽपि अन्यजन्मन्यपि आत्मन स्वस्य अनुवृत्तिम् अनुयायित्व न जहाति। तथा चारित्रे चार्वी निर्दोषा अनुवृत्तिम् अनुगमनम् उपलभ्य लब्ध्वा जन्मान्तरेऽपि न जहाति न त्यजति सम्यक्त्वम्। सिद्ध मन्त्राराधनादिभिर्लब्धशिचन्तामणिर्यथा सम्यक्त्व असीमम् अतिमर्याद कामितानि स्वयाचितानि फलति ददाति। व्रतानि अहिंसादीनि पुनर्यथा ओषध्य व्रीह्यादयः फलपाकावमानानि फलपाकान्तानि फल दत्त्वा नश्यन्ति, पाथेयवन्नियतवृत्तीनि च पथि हित पाथेय तदिव पाथेयवत् सवलवत् मार्गे क्षुत्परिहारार्थं यदशितव्यमन्न तद्वत्। नियतवृत्तीनि कचित्काल सुखजनकानि। यथा सिद्धरसवेधसबन्धात् सिद्धपारदव्यधसमपर्कात्। उपर्बुधमनिधानमात्रजन्मनि अग्निमानिध्येनैव जन्म उत्पत्तिर्यस्य तस्मिन् जाम्बूनद इव सुवर्णे यथा परिश्रम आयासो न समाश्रयणीयो नावलम्बनीय। तथा अत्र सम्यक्त्वे पदार्थयाथात्म्यसमवगमात् जीवादिनवपदार्थाना यत्स्वरूपम् आगमे प्रोक्त तथा तस्यावगमाज्ज्ञानात्। मनोमननमात्रतन्त्रे मनसा मनन चिन्तनम् एव मनोमननमात्र तस्य तन्त्रे आधीने केवल मन श्रद्धानाधीने सम्यग्दर्शने। न श्रुतश्रवणपरिश्रम आगमाकर्णनायासः आश्रयणीय अवलम्ब्य। एतत्सम्यक्त्वप्राप्तये शरीर नायासयितव्य शरीरखेद विनापि सम्यक्त्वमुत्पद्यते इति भाव। न देशान्तर गन्तव्यम्। देशान्तरे केनापि तत्सम्यक्त्व वस्तु न हि स्थापित यत् तत्र गत्वा तदानीयेत। न कालक्षेपकुक्षिः अपेक्षितव्य. न कालयापनापेक्षा कर्तव्या। तस्मात् प्रासादस्य राजगृहस्य अधिष्ठानमिव गर्तपूरणमिव। रूपसपद सौन्दर्यसपत्ते कारण सुभगत्व यथा। भोगायतनस्य शरीरस्य उपचार स्थानगमनादिक तस्य कारण प्राणित श्वासोच्छ्वास। विजयप्राप्ते कारण यथा मूलवल मुख्य सैन्यम्। आभिजात्यस्य कुलीनत्वस्य विनीतत्व विनय शास्त्रसस्कारो वा। नयानुष्ठानमिव राज्यस्थिते राज्यस्थिरताया नयस्य सामाद्युपायचतुष्टयस्य अनुष्ठानम् आचरण यथा। अखिलस्यापि परलोकोदाहरणस्य सकलस्यापि परलोकप्राप्तेरुदाहरण निदर्शनमिव गरीयाम महापुरुषा ननु निश्चयेन सम्यक्त्वमेव प्रथम कारण गृणन्ति कथयन्ति। तस्य चेद लक्षणम्। आप्तेति—आप्त सर्वज्ञ, आगम सर्वज्ञस्यार्हतो मुखान्निर्गत दिव्यध्वनिराचारादिद्वादशाङ्गरूप उपदेश। पदार्था जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षपापपुण्यात्मका। एतेषा कारणद्वयात् श्रद्धान सम्यक्त्वम्। अन्तरङ्ग कारण दर्शनमोहस्य उपशम, क्षय क्षयोपशमो वा। तस्मिन् प्राप्ते सति यद्बाह्योपदेशाद्विना प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकसम्यग्दर्शनम्। यच्च परोपदेशपूर्वकम् आप्तागमपदार्थश्रद्धान जायते तदधिगमजम्। आसन्नभव्यता[1], कर्महानि[2], सज्ञित्वम्[3], शुद्धि—विशुद्धपरिणाम एते सम्यग्दर्शनप्राप्तेरन्तरङ्गहेतव। सम्यग्गुरूपदेश, जातिस्मरण, जिनप्रतिमादर्शनादि एते बाह्यहेतव। एतान् हेतूनासाद्य जीवे सम्यक्त्व जायते। तच्च मूढाद्यपोढ देव-लोक-गुरुमूढताभी रहितम् निःशङ्किताद्यष्टाङ्गोपेतम्, प्रशमादिभाक् च। प्रशमसवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणम्। प्रशमा नतीति प्रशमादिभाक्। प्रशमादीना लक्षणानि ग्रन्थकारोऽग्रे वक्ष्यति ॥४८॥ आप्तलक्षणम्—

[१५] सर्वज्ञेति—आप्तमतोचिता अर्हन्मतप्रतिपादने उचिता योग्या विद्वास आप्त सर्वज्ञ त्रिकालगोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठित जगत् सर्वशब्देनोच्यते तत् जानातीति सर्वज्ञस्तम्। सर्वलोकेश, सर्वे च ते लोकाश्च सर्वलोका ऊर्ध्वा-ऽधो-मध्यलोकास्तेषामीशस्तम्। सर्वदोषविवर्जित सर्वे च ते क्षुत्पिपासादयोऽष्टादश दोषास्तैर्विवर्जित विशेषेण वर्जितो रहित ते दोषा कदाचनापि त यथा न स्पृशन्ति तथा स तै रहितस्तम्। सर्वसत्त्व-

---

१ आसन्नभव्यता भव्यो रत्नत्रयाविर्भावयोग्यो जीव आसन्न कतिपयभवप्राप्यनिर्वाणपद. । आसन्नश्चासौ भव्यश्च आसन्नभव्यस्तस्य भाव आसन्नभव्यता। २ कर्महानि मिथ्यात्वादीना सम्यक्त्वप्रतिबन्धकर्मणा ययासभवमुपशम क्षयोपशम क्षयो वा। ३ सज्ञित्वम्—सज्ञा-शिक्षाक्रियालापोपदेशग्राहित्वम्। सज्ञा अस्य अस्तीति सज्ञी सज्ञिनो भाव सज्ञित्वम्। सा० ध०, अ० १, श्लो० ६।

तेषु भिन्नः सन्ति परं यथा जीवेन जरादिरूपं शरीरं त्यज्यते तथा ते जरादयः युगपत् विश्लिष्यन्ते तदा बुद्धेः हानि-तारतम्येन भवन्ती अचेतनेषु जरादिषु तस्याः हानेः पराकाष्ठा भवति तदा सिद्धसाध्यता भवेत् । जैनैः अचेतनेषु जरादिषु बुद्धेः अभावः मन्यते ॥४०॥ तद्रावृतिहृतौ इति—यथा तपनस्य सूर्यस्य दीधितिः प्रकाशः तदावृतिहृतौ प्रकाशावरकस्य मेघादेः हृतौ विनाशे सर्वं वस्तु प्रकाशयति तथा सेमुषी बुद्धिः तदावृतिहृतौ तस्याः आवृतेः ज्ञानावरणकर्मणः विनाशे सति सा बुद्धिः यत् वस्तु चराचरं कथं न सर्वं प्रकाशयति । अपि तु निखिलं वस्तुजातं सा प्रकाशयति एव ॥४१॥ ब्रह्माद्वैतवादिनो मुक्तितत्त्वं निराकुर्वन्ति—ब्रह्मेति—यदि ब्रह्म परमपुरुषः एकम् अभेदरूपं विद्यते तर्हि तत् ब्रह्म कुतः कस्मात् कारणात् प्रमाणात् निरस्तद्वैतं विवर्तरहितं न सिद्ध्यति । यदि विवर्तरहितं स्यात् एकं तत् सिद्धयतु । यथा घटाकाशम् आकाशे लीयते तथा इदं जगत् तत् परब्रह्मणि लीयताम् अपृथग्रूपेण वर्तताम् । परं तथा अपृथग्रूपं न दृश्यते ॥४२॥ अथ मतम् एक एवेति—देहे देहे प्रतिशरीरम् एक एव हि भूतात्मा परमपुरुषः व्यवस्थितः विद्यते । परं जलचन्द्र इव एकधापि अनेकधा नानारूपेण दृश्यते ॥४३॥

[पृष्ठ १२] तदयुक्तम् । एकः स इति—यदि स आकाशे चन्द्रः यथा एक उदयते आयते । अन्यत्र जलादौ अनेकधा दृश्यते तथा ब्रह्म भेदेभ्यो अन्यत् अभेदरूपं कुत्रापि न दृश्यते न ज्ञायते ॥४४॥ अलम् अति-विस्तरेण । आनन्द इति—आनन्दः अनन्तं सुखम् । ज्ञानं क्षायिकं केवलज्ञानम् । ऐश्वर्यम् सकलगुणानाम् आत्यन्तिकी निर्मलता । वीर्यम् अनन्तशक्तिः । परमसूक्ष्मता अमूर्तत्वम् । एतत् आनन्दादिपञ्चकम् आत्यन्तिकम् अन्त्यम् अतिक्रान्तम् अविनाशि । यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तितः कथितः ॥ ४४ ॥ एतत् आनन्दादिपञ्चकम् आत्यन्तिकं अन्त्यमतिक्रान्तमविनाशि यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तितः कथितः ॥४५॥ ज्वालोर्वेति—ज्वाला अग्निशिखा उर्ध्वगमनं धूलीजालादेः एरण्डबीजादेः तादृशस्वभावेन व्यवस्थितिमप्यपाकाशादीनां ग्रहणम् । एतेषां यथा स्वभावादूर्ध्वगति । नियता यथा निश्चिता—तथा मुक्तस्यापि आत्मनः स्वभावादूर्ध्वगतिर्भवति ॥ ४६ ॥ तथाप्यत्रेति—कल्पदाये कालेऽप्यत्र तथाकाले मुक्तजीवस्यान्यैवास्त्विह निर्बाध अभिमते चेत् पुण्यपापसमर्था पुण्योपेतात्मना पापोपेतात्मना च स्वर्गनरकगमनागमनो न स्यात् स्वर्गे देवलोके श्वभ्रे नरके च आगमो गमनं मा भवतु अत्रैव तेषां वसतिर्भवतु । तथा च त तदालोकान्तरेण अन्यो लोको लोकान्तरं स्वर्गादिकं तेन अर्थः स्यात् तदात्मना न किमपि प्रयोजनम् ॥४७॥

इत्युपासकाध्ययने समस्तसमयसिद्धान्तावबोधनो नाम प्रथमः कल्पः ।

२. आप्तस्वरूपमीमांसनो द्वितीयः कल्पः ।

[पृष्ठ १२-१३] अहो धर्माराधनैकमते वसुमतीपते धर्माराधन एका केवला मतिर्बुद्धिर्यस्य तत्संबोधनं हे धर्माराधनपरायणबुद्धे वसुमतीपते भूपते हि निश्चयेन सम्यक्त्वं नाम नराणां पुरुषाणां संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवानां महती अनन्यसाधारणा पुण्यदेवता सामर्थ्यदेवतास्ति । अस्याः पौरुषं न्यूनाधिक्यदायकात्मस्मरणात् सहसा एकदा एकमेव अनहापयेत् । यथाजनगुणमेव यथाधर्मं तस्य गुणाः प्रोक्तास्तथैव प्रमुखतया तथैव गुणसहितेनैव संजात सम्यक्त्वकामं अथोपचस्मपचगुणयिचमतया सकलपापपरिणामी मलिनबुद्धित्वात् । नरकतिर्यङ्मनुष्यगतिषु न भवति संमूर्छितेषु न जायते जनने कारणम् । पुण्यदायुषामपि मनुष्याणां पुंसि बद्धायुष्कां तेषामपि नराणां येषां नृसुरनारकतिर्यगायुर्बन्धो जातस्तेषामपि नराणामित्यर्थः । देवा नरकायुर्बन्धो जातस्ते सम्यग्दृष्टयः सप्तसु तलपातालेषु प्रथमां नरकभूमिं विहाय अन्यासु षट्सु नारकभूमिषु न जायन्ते । तत्सम्यक्त्वं तत्र संमूर्छितेषु गर्भज नारकं न भवति । अष्टविधेषु व्यन्तरेषु किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचेषु न संमूर्छितेषु । दशविधेषु भवनवासिषु असुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमारेषु न संमूर्छितेषु । पञ्चविधेषु ज्योतिष्केषु सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्चेति भूलोकेषु न संमूर्छितेषु । निखिलासु स्त्रीषु नृतिर्यग्देवस्त्रीषु विकलकरणेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु विकलत्रयजीवेषु असंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु

तिलोत्तमायाम् आसक्त । श्रीपतिर्विष्णु श्रीरत लक्ष्म्या लम्पट । शभु अर्धनारीश्वर अर्धाङ्गे या नारी तस्या ईश्वर पति । स्मृत तत्कृतादागमादेव । तथापि किलेत्यरुचौ आप्तता एषा प्रणिगद्यते ॥६२॥ वसुदेवेति— यस्य हरेर्विष्णो पिता जनक वसुदेव । देवकी सवित्री माता । स्वय च राजधर्मस्य नृपतिधर्मे स्थित । तथापि स देव आप्तश्चित्रम् आश्चर्यम् ॥६३॥

[पृष्ठ १७] त्रैलोक्यमिति—यस्य जठरे उदरे त्रैलोक्य वर्तते। यश्च सर्वत्र व्याप्य विद्यते वर्तते। तथापि तस्य क्वचित् मथुरायाम् उत्पत्ति वने च विपत्तिर्मरण स्तो भवत इति चिन्त्यता भवद्भि । लोकत्रयम् अभिव्याप्य तिष्ठतस्तस्य जन्ममरणे युक्त्या नैव घटेते इत्यर्थ. ॥६४॥ कपर्दी—एप कपर्दी कपर्दो जटाजूट स यस्यास्तीति कपर्दी शंकर दोषवान् । सदाशिवो नि शरीर देहरहित । दोषवत्त्वात्तत्र कपर्दिनि प्रामाण्यानुपपत्ते । तत्र कथम् आगमागम आगमस्य आगमः उत्पत्ति । यो रागादिदोषवान् शिव ससारी स तावत् अप्रमाणम् । तत्कृत आगमोऽपि न प्रमाणम् । यस्तु सदाशिव स आगम कर्तुमशक्त जिह्वाकण्ठाद्युपकरणाभावात् । यथा अहस्त कुलाल. कुम्भकरणे ॥६५॥ परस्परेति—ईश्वर सदाशिव पञ्चभिर्मुखै परस्परविरुद्धार्थम् अन्योन्यविरुद्धाभिप्राय शास्त्रम् आगम शास्ति उपदिशति भक्तान् । तत्र तेपु अभिप्रायेपु कतमार्थविनिश्चय कतमस्य अभिप्रायस्य सवादित्व ज्ञातव्यम् ॥६६॥ सदाशिवेति—यदि युगे युगे कृतत्रेताद्वापरयुगादिपु । सदाशिवकला ईश्वरस्याशो यदि रुद्रे आयाति आगच्छति तत्र कथ स्वरूपभेद स्यात् सुवर्णस्य या कला अश तस्याम् अशिन सुवर्णात् भेदो न दृश्यते । तथैव अशिन सदाशिवात् अशरूपे रुद्रे भेदो न भवेत् सदाशिववत् । तथा च रुद्रेणापि अशरीरेण भूयेत । सदाशिवो विराग रुद्र सराग इति भेदो न भवेत् कारणसदृश कार्य भवतीति ॥६७॥

[पृष्ठ १८] भैक्षेति—भिक्षाणा समूहो भैक्षम्, नर्तनम्, नग्नत्व, दैत्याना नगरत्रयविनाशित्वम्, ब्रह्मणो मस्तककर्तनम्, तथा हस्ते कपालधारणम् एता क्रीडा किल ईश्वरे विद्यन्ते इति । तथापि तत्राप्तत्वाभिमननमद्भुत प्रतिभाति ॥६८॥

[पृष्ठ १९] सिद्धान्तेति—शैवदर्शन विचित्र विस्मयावहम् । कथ विस्मयावहम् सिद्धान्ते आगमे तत्त्व च आप्तस्वरूपम् अन्यत् भिन्न प्रतिपादितम् । प्रमाणे न्यायशास्त्रे च अन्यत् प्रतिपादितम् । काव्ये अन्यत् । ईहिते लौकिके च अन्यत् पृथक् प्रतिपादितम् । अत. परस्परविसवादाद्विचित्र तज्ज्ञातव्यम् ॥६९॥ एकान्त इति— तत्त्वपरिग्रहे वस्तुस्वरूपपरामर्शसमये एकान्त इद तत्त्व भेदरूपमेवाभेदरूपमेव वेत्यादिककल्पनम् एकान्त । स च वस्तुनिर्णये वृथा भवति । शपथश्च विश्वासश्च वृथा । यया युक्त्या अनुमानादिप्रमाणेन तत्त्वसिद्धिर्निर्दोषा स्यात्तथैव तेन च वस्तुस्वरूप सवादि ज्ञातव्यम् । तत्र एकान्त शपथश्च वृथा तत्त्वज्ञानप्रतिघातित्वात् । सन्त विद्वास आर्हता परप्रत्ययमात्रत अनार्हतोक्तयुक्त्या एव तत्त्व न हीच्छन्ति न मन्यन्ते तद्युक्त्या वस्तुनिर्णयाभावात् सर्वथा एकान्तपरिग्रहात् ॥७०॥ दाहेति—दाह अग्नौ सुवर्णस्य निक्षेप, छेद सुवर्णशलाकाया सुवर्णपट्टिकाया वा रन्ध्रजननं तथा तदशकर्तन वा । कषोपले तद्घर्षण वा एभिरुपायै सुवर्णस्य शुद्धौ प्रतीतायां तस्मिन् का शपथक्रिया विश्वासजननोपायस्य नावश्यकता । यद्येभिरुपायै परीक्षिते सति हेम्नि अशुद्धावुपलब्धाया विश्वासजननोपायो व्यर्थ एव ॥७१॥ यद्दृष्टमिति—यत्तत्त्व दृष्ट प्रत्यक्ष भजेत् तस्मात् तस्य संवादो जायेत, यत् अनुमान च भजेत् तेनापि तस्य निर्णयो भवेत् । यच्च लौकिकी प्रतीतिं च अवलम्बेत । लोकविश्वासेनापि अविरोध भजेत् । विद ज्ञातार पण्डितास्तत्तत्त्वमाहुर्ब्रुवन्ति स्म । तदेव रहोवर्जितं प्रच्छन्नतया रहितम् । सर्वेषा विदुषा पुरतो नि शङ्कतया प्रतिपादयितुमुचितमिति भाव । कुहकवर्जितं च कपटरहित च ॥७२॥

[पृष्ठ २०-२१] निर्बीजतेवेति—यथा अग्ने स्पर्शमासाद्य बीजं निर्बीज भवति। अङ्कुरोत्पादनशक्तिविकल जायते तथा तन्त्रेण यदि प्राणिनो मुक्ति भवेत् तर्हि मोक्षाभिलाषवति नरि अग्निस्पर्शो विधेय । येन सोऽपि नर बीजवत् विपत्युत्पत्तिभ्या विमुक्तो भवेत् ॥७३॥ विपसामर्थ्येति—इह मन्त्रात् विपसामर्थ्यक्षयवत्कर्मण क्षयश्चेत् तर्हि तन्मन्त्रमान्यस्य स मन्त्रो मान्यो यस्य स तन्मन्त्रमान्यस्तस्य नरस्य भवोद्भवा सासारिका रागादयो दोषा न स्युर्न भवेयु । मन्त्राद्विपक्षयो भवति न कर्मक्षय स तदुपायो नैव ॥७४॥ ग्रहगोत्रेति—

हितम् दुःखमविनाशकस्वात्मानायोगेषु सोऽवगच्छति सत्त्वा जीवास्तेभ्यो हितं मोक्षमार्गमाह इत्यर्थः ॥ चतुर्विशेषणविशिष्ट आप्तो भवतीत्यर्थः ॥४९॥ आप्तेन सर्वज्ञेनैव भवितव्यमिति कथयति । ज्ञानवानिति—अज्ञेन उपदेशस्य करणे विप्रलम्भनं वञ्चनं प्रतारणं स्यादिति धातुः दुर्बुद्धिः विप्रलिप्सुः कश्चित् अतो ज्ञानवान् मृग्यते अन्विष्यते । ज्ञानं तु सर्वेषां जीवानां विद्यते प्रशस्तं तु नास्ति अतो यस्य प्रशस्तं विरोधादिदोषरहितं विद्यते ज्ञानं सोऽत्र ज्ञानवान् कथ्यते । तेन ज्ञानवता उक्तं तदुक्तं शास्त्रम् आगमः तस्य प्रतिपत्तये तदागमवचनाङ्गीकारार्थम् । अन्यथा मूढवचनप्रमाणकरणे विप्रलम्भ उपालम्भो भवति ॥५० ॥ सर्वलोकेशत्वं विवृणोति—यः इति—यः आप्तस्तत्त्वोपदेशनात् जीवादिसप्ततत्त्वोपदेशं कृत्वा । दुःखार्णवे दुःखसमुद्रात् । जगत् लोकम् उद्धरति उत्तारयति । महीभूतजगत्त्रयः नम्रीभूतलोकत्रितयः । स सर्वलोकेशः कथं न । स एव लोकाधिपः परमार्थतो भवति ॥५१॥ आप्तस्य दोषरहितत्वं त्रिभिः पद्यैः निगद्यते । क्षुत्पिपासेति—क्षुत् क्षुधा पिपासा जलं पातुम् इच्छा तृषा । भयं भीतिः । द्वेषो वैरम् । चिन्तनं चिन्ता । मूढतामः मूढत्वम् । रागः प्रीतिः । जरा वृद्धत्वम् । रुजा रोगः । मृत्युः मरणम् । क्रोधः कोपः । खेदः श्रमः । मदो मदः । रतिः आसक्तिः । विस्मयः आश्चर्यम् । जननं जन्म । निद्रा स्वापः । विषादः विषण्णता । एते अष्टादश दोषाः प्रजाः नित्यं सन्ति । केषाम् । त्रिजगत्सम्भूतानां त्रिलोके सकलजन्तूनां संसारिणाम् । इमे साधारणा दोषाः सर्वसंसारिषु संभूतत्वात् । परमनिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सर्वथा रहितः । सोऽयमाप्तो निरञ्जनः निर्मलानि अञ्जनानि कृष्णानि यस्मात्स निरञ्जनोऽष्टादशदोषरहितः । स एव दोषरहितः । केवलज्ञानलोचनः केवलज्ञानं चराचरपदार्थनिवहं प्रत्यक्षं कुर्वत् ज्ञानमेव लोचनं चक्षुर्यस्य सः आप्तः सूक्तीनां पूर्वापरविरोधादिदोषरहितानां वाचां हेतुरुत्पत्तिकारणमस्ति ॥ ५२–५४ ॥ किमनृतभाषणकारणम् । कथ्यते—रागाद्वेति—रागात् प्रीतिकारणात् वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा अज्ञानाद्वा अनृतम् असत्यं वाक्यमुच्यते । यस्य तु एते रागद्वेषमोहादयो दोषा न सन्ति तस्यानृतकारणम् असत्यभाषणकारणं नास्ति ॥५५॥ जगत्पतित्वं व्यनक्ति—

[१६] उच्चावचेति—उच्चं उत्कृष्टं अवाक् अपकृष्टं प्रसूतिभिः उत्पत्तिर्येषां तेषां सत्त्वानां प्राणिनां वपुराकृति समानभावं बिभ्राणः ये उत्कृष्टकुलोद्भूता ये चापरजन्मवर्यास्तेषां प्राणिनां रागद्वेषरहितः आदर्श इव दर्पणो यथा यो भाति दृश्यते स एव जगतां पतिः स्वामी ज्ञेयः ॥५६॥ सतामनुमतस्याप्तस्य स्वरूपं निर्दिशति—यस्येति—यस्य आत्मनि मुक्तजीवतत्त्वे । श्रुते आगमे तत्त्वे जीवाजीवादिसप्ततत्त्वलक्षणे । चरित्रे सामायिकादिपञ्चविधे चारित्रे । मुक्तिकारणे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपे । एकवाक्यतया एकाद्यर्थप्रतिपादकत्वेन नास्ति प्रवृत्तिरस्ति । स सतां गणधरादीनाम् आप्तः अनुमतः प्रशस्यः । सर्वपूर्वोक्तेषु भावेषु यस्य वचनप्रवृत्तिः पूर्वापरविरोधदोषरहिता विद्यते स आप्तः ज्ञेयः ॥५७॥ अत्यक्षेऽपि इति—अक्षाणि इन्द्रियाणि अतिक्रान्तः अत्यक्षः तस्मिन् अत्यक्षे अतीन्द्रियज्ञानगम्येऽपि पुंसि पुरुषे सर्वज्ञे इत्यर्थः । आगमात् आप्तवचनेन विशिष्टत्वं हरिहरादिभ्यो विशिष्टत्वं प्रतीयते ज्ञायते । हरिहरादीनां रागादिदोषयुक्तत्वमपि कथ्यते । यथा स्वर्णं धर्मं भुक्त्वा पक्षिणाम् उद्यानमध्यवृत्तानां उपवनमध्यं वृत्तिः स्थितिर्येषां ते उद्यानमध्यवृत्तयस्तेषाम् । उपवने स्थिता ना नभोगता नगे लोकांसि येषां तथा पक्षिणामित्यर्थः । नभोकोकाविविकिरविविष्किरपतत्रयः इत्यमरः । विशिष्टत्वं प्रतीयते ज्ञायते । यथा अयं मयूररवोऽयं सारसरव इति तथा आगमात् हरिहरादेरपि जिनस्य विशिष्टत्वं प्रतीयते ॥ ५८ ॥ स्वगुणैरिति—अतो लोकः स्वगुणैः उत्पन्नजन्यादिभिः श्लाघ्यतां स्तुतिवाचकतां याति गच्छति । तथा अतो लोकः स्वदोषैर्निन्द्यवचनादिदोषैर्दूष्यतां दोषयुक्तत्वावस्थां याति गच्छति तत्र सुजने दुर्जने च रक्तपीतयोरिव सुवर्णलोहपाषाणयोरिव रोचनीयो हेयतायो दृष्टः ॥५९॥ द्रुहिणेति—द्रुहिणः ब्रह्मा अधोक्षजो विष्णुः ईशानः महादेवः शाक्यो बुद्धः सुरपुरःसराः सुरः सूर्यः ते पुरःसराः येषां ते देवाः । यदि रागाद्युच्छिष्टानां रागादिदोषाणां भाजनं सन्ति । कथं तत्र आप्तता भवेत् । तर्हि अर्थं मार्गमार्गप्रवेणुत्वं धर्मतीर्थत्वं च कथं भवेत् । ॥६० ॥ रागाद्यैरिति—अमीषु हरिहरादिषु रागादिदोषोत्पत्तिस्तदागमात् तदस्तीत्य साक्षादेव तच्चरित्रपुराणादिकात् ज्ञातव्या । अत्र अविद्यमानस्य परदोषस्य ग्रहीतो ग्रहणे पातकं महत् गुरुकं भवेत् । अवर्णवादेन दर्शनमोहनीयकर्मबन्धो जायते ॥६१॥ अजेति—अज न जायते इति अज ब्रह्मा

नालान्नाम् आह्न ... ईश्वर पति । ... न्द्र हरिवर्णो ... तु देव आप्तं ... [सू० ...] तस्य कश्चिद ... तिष्ठन्त्य ... कार्य ...

ाश्रयेणैव सह जन्म लभन्त । एतदेव व्यनक्ति—तत्त्व-
प्राक् तृतीयजन्मन समुत्था यस्या सा एवंरूपया तत्त्वभाव-
ाशमावनान्तर्गतया अभीक्ष्णज्ञानोपयोगाख्यया तत्त्वभावनया
ववेकाय भवति । तेन हिते रत्नत्रयरूपे मोक्षमार्गे प्रवृत्ति-
ादेर्निवृत्तिर्भवति ॥ ७९ ॥ जिने ज्ञानत्रयसद्भावात् न तस्य
ो जिन दृष्टम् अदृष्टम् अर्थ पदार्थम् अवैति ज्ञानत्रयेण मत्या,
ानमालम्ब्य जिन रूपवन्तम् अर्थम् एव जानाति । अथ देशावधि-
द्रव्यक्षेत्रकालभावमर्यादीभूतम् अतीन्द्रिय पदार्थनिवह जानाति ।
ाराङ्गादिद्वादशाङ्गज्ञान यत् श्रुतिसमाश्रेय श्रुति आगमस्तया
जिनस्य ज्ञान भवति तत क्वासौ परम् अपेक्षता क्व कस्मिन्विषये ।
ा॥ न चैतदसार्वत्रिकम्—एतज्ज्ञान सर्वत्र नोपलभ्यते इति न,
। वाराणस्या स्वत एव सजातपटपदार्थावसायप्रसरे कणचरे सजात
वशेषाणाम् अवसायप्रसर ज्ञानसमूहो यस्य एवरूपे कणचरमहर्षौ कणाद-
श्वरस्य उलूकावतारेण सायुज्यम् ऐक्य सरतीति सर तस्य सरस्य गच्छत
स्तुतिवचन कथ मगच्छेत् युक्तियुक्तं भवेत् । किं तद्वचनम् । उच्यते ।
ाच—हे विद्वन्, त्वयि दिवौकसा दिव स्वर्ग आकाशो वा ओको गृह येपा ते
र्थ । दिव्य नरपश्वादिदुर्लभम् अत एव अद्भुत विस्मयजनक ब्रह्मतुला नामेद
त्वयि प्रादुर्भूतम् इह वाराणस्याम् । तत् तस्मात् कारणात् हे वत्स, तत् ज्ञान
। उपाये इति—उपाये सति उपेयस्य लब्धव्यस्य पदार्थस्य प्राप्ते का प्रति-
यात् । यन्त्रात् यन्त्रमाहात्म्यात् । पातालस्थ जल करस्थ क्रियते, हस्तेन ग्रहीतु
ाते—अश्मा पाषाण । हेम सुवर्ण भवति । तद्धेतुप्राप्ते सुवर्णभवनकारण-
ात्रपि योज्यम् । तद्यथा—जल मुक्ता मौक्तिक सजायते तादृक्कारणलब्धे ।
ाजलं मौक्तिक सपद्यते इति विदितमेव । द्रुमो वृक्षो वह्निर्भवति शाखाना घर्षणात्
ातिर्भूमिर्मणि. रत्न जायते । तत्तद्धेतुतया तत्तत्कारणतालब्धे । भावा पदार्था ।
ापद्युक्ता भवन्तीति भाव । इति पद्यद्वयेन मनुष्योऽपि तत्त्वभावनया सर्वज्ञ
ाव्यम् ॥ ८२ ॥ सर्गेति—सर्ग उत्पत्ति । अवस्थिति अवस्थान ध्रुवत्वम् ।
ाव्ययध्रौव्यमित्यर्थ । तथा ग्रीष्म उष्णकाल । वर्षा पर्जन्यकाल । तुषारो हिमकाल ।
नाद्यन्तभाव आदिभाव अन्तभावश्च नास्ति । अनादिकालम् एतेषा प्रवृत्तिरस्ति ।
ाय अनाद्यन्तभाव श्रुतसमाश्रयात् आप्तो जायते । आप्तश्च श्रुतम् उत्पादयति ।
ान्यजनकभावोऽनादिनिधनोऽस्ति । अत आप्त न परम् आश्रयित्वा ज्ञान लभते
ायात् ॥ ८३ ॥ आप्ताना बहुत्व न दोषायेति प्रतिपादयति—नियतमिति—बहुत्वम्,
ारा इति जिनसख्याया बहुत्व नियत नियमित न चेत् एते पञ्चदश तिथय, नव ग्रहा,
कुलाचला इत्यादय पदार्था बहवोऽपि नियतसख्या कथम् ॥ ८४ ॥

.४-२५] अनयवेति—अनयैव दिशा उपर्युक्तप्रकारेणैव साख्यशाक्यादिशासन कपिलसौगत-
। चिन्त्यम् विचारणीयम् । तेपा तत्त्वागमानाम् आप्ताना च नानात्वस्य बहुत्वस्य अविशेष-
जैनेति—एक जैनमत मुक्त्वा सर्वाभ्युपगमागमा द्वैताद्वैतसमाश्रयौ मार्गौ समाश्रिता इत्यन्वय.।
दर्शनेषु कानिचिद् द्वैत कानिचिद् अद्वैतम् अवलम्बन्ते । तथा तेषु दर्शनेषु कानिचित्तत्त्वानि सर्वलोका-
ान्ति । अत सर्वे सर्वाभ्युपगमागमा इति उक्तम् ॥८६॥ वामेति—शभो आगम शैवागम ।
ाुगतस्य आगम सिद्धान्त । द्विजस्य याज्ञिकस्य वेदान्तिनश्च आगम द्विजागम । एतेषा त्रयाणाम्
वामदक्षिणमार्गयो तिष्ठन्ति । वाममार्ग मन्त्रतन्त्रप्रधान । तथा क्रियाकाण्डप्रतिपादकश्च । न तथा

ग्रहाणां रम्याविनतप्रहसने मतोऽपि मूढोऽपि पूज्यः सूर्यः पूज्यः अर्चनीयो न चन्द्रमाः अत्र का युक्तिः । सूर्यो यदि जनानां पूज्यस्तर्हि चन्द्रः कथं न । अविचारिततत्त्वस्य अविमृष्टवस्तुस्वरूपस्य जन्तोः वृत्तिः प्राणिनः प्रवृत्तिः निरङ्कुशा अविचारितरमणीया भवति ॥७५॥ द्वैताद्वैतेति—शंकराभ्युपगतागमः शंकरेण अनुमत अनुसृत आगमः यस्य सः शंकराभ्युपगतागमः शाक्यः बुद्धः । तस्य आगमो द्वैताद्वैताश्रयः । बौद्धमतं द्वैतम् आश्रयते यतः तन्मते संघम् उपासि इन्द्रियविनिग्रहस्य समुपदिष्टः । तत आसवनिरोध आसवनाशनस्य शास्त्रे इति कथनमस्ति तत्र । तथा विज्ञानाद्वैतप्रतिपादकोऽप्यस्ति तदागमः । तथा सर्वत्र प्रवृत्तिर्निरङ्कुशत्वम् अद्वैतम् । तदपि शाक्ये संभवति यतः स तरसासवसक्तधीः तरसे मांसे आसवे मदिरायाम् आसक्ता लुब्धा धीः बुद्धिः यस्य एवंभूतः कथं मनीषिभिः बुधैः मान्यः ॥७६॥ अधुना जैनमतं प्रतिचिकीर्षवः एवं वदन्ति—अयमेवमिति—अयम् अयं प्रत्यक्षनिष्ठाशयः भवन्मतस्य प्रतिविधानं कर्तुमिच्छाम । भवतां जैनानां मते जिन निरवद्येन मनुष्यः सन् न आप्तः न सर्वज्ञो भवति । तस्य च आप्तता अतीव दुर्घटा । युक्त्या नैव सिद्धिम् अभ्येति । तत्समयवर्ती आधुनिकमनुष्यो यथा सर्वज्ञो न भवति । तथा तस्य अभिलषिततत्त्वावबोधो न स्वतो भवति तथा वचनाभावात् । गुरुं विना तत्त्वज्ञानं न भवतीत्यर्थः । परतश्चेत् कोऽसौ परः । तीर्थकरोऽन्यो वा । तीर्थकरश्चेत् तथाप्ययं पर्यनुयोगः । अर्थात् तीर्थकरस्यापि स्वतोऽभिलषिततत्त्वावबोधो न स्यात् परश्चेत् कोऽसौ परः इति पुनः पुनः पर्यनुयोगे अनवस्था । सोऽपि तीर्थकरो यदि मनुष्यः सोऽपि स्वतः सर्वज्ञो न भवति । तस्मात् तन्मूलागमम् आप्तसमूलार्थं च आकाङ्क्षद्भिः तन्मूलागमम् अभिलषिततत्त्वावबोधं सकलसमूलार्थं च इच्छद्भिः तथा शिवः शिवापतिः शंकरो वा तस्य मनुष्यस्य तत्त्वोपदेशकः प्रतिबोधकः प्रतिज्ञातव्यः । तथाह पतञ्जलिः 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' । स सदाशिवः पूर्वेषाम् अपि चिरन्तनानाम् अपि महर्षीणां गुरुः कालेन अवच्छिन्नत्वाभावात् । अमुकस्मिन्काले सः अभवत्, ततः पूर्वं स नासीत् इति कालेन मर्यादीकृतः तस्य हि—अदृष्टविग्रहादिति—अदृष्टविग्रहात् न दृष्टो विग्रहः कायो यस्य स अदृष्टविग्रहः तस्मात् देहरहितत्वादित्यर्थः । शान्तात् सकलकर्मरहितात् पापपुण्यरहितात् इत्यर्थः । परमकारणात् सकलजगतोऽनाधारणहेतुभूतात् शिवात् परमपूर्वं नादरूपं अभिव्यक्तं शास्त्रं समुत्पन्नम् ॥७७॥ तथाप्तेनैकेनेति—तथा आप्तेन एकेन भवितव्यम् । एक एव आप्तः सर्वज्ञो भवति । नहि आप्तानाम् इतरप्राणिवद्बहुत्वम् समस्ति । संसारिप्राणिनां यथा बहवः भवन्ति तथा आप्तानां सर्वज्ञानां बहुत्वं न भवति । संभवे वा चतुर्विंशतिरिति नियमः कोऽसंस्कृत कुत कुतो न कोटिसंख्या । इति ईश्वरवादिनो ब्रुवते । तत्त्वतु अन्ध्यास्तनंधयधर्मव्यावर्णनम् । वन्ध्यासुतवीरतावर्णनमिव पङ्गु विक्रमम् । उदीर्णमोहार्णवविजृम्भितं च परेषाम् । उच्छ्रितमोहसागरे विजृम्भण विलीनीभवनम् एव परेषाम् ईश्वरवादिनां ज्ञातव्यम् । स च—अरूपेति—निष्करुण अनादित एव कर्मबन्धनरहितः अत एव सदाशिवः । निवृत्तानि करणानि स्पर्शनादीनि इन्द्रियाणि यस्य सः अशरीरः सदाशिवो वक्ता नैव मुखाद्यवयवाभावात् । कथमेतादृशात्सदाशिवात् आगमः उत्पद्यते । निष्करुणात्सदाशिवात्परः स शंभुः रागवान् रागद्वेषाद्युपप्लुतस्तस्मिन् सदोषे शंभौ सार्वज्ञं नास्ति । ततस्तस्मादागमोत्पत्तिर्दुर्घटा अन्यथा रथ्यापुरुषादपि सा स्यात् । सदाशिवात् शंभोः च अपरं तृतीयम् अभूत् । तस्मात् निष्क्रम्य तृतीयं शास्त्रं विरचितं चेत् तत् कस्य हेतोः अप्रमाणम् । आगमरचनाकारणभूता वक्तृता शिव आगमं रचयति चेत् सा वक्तृता ततः शिवात् भिन्ना तथा स शिवः कथं तद्वान् भवेत् असंबन्धात् । तेन तस्याः संबन्धोऽपि न घटतीति नैव घटते । अतो वक्ता वैशेषिकाणां शास्त्रं निरालम्बनं निरामयम् । आप्तप्रणीतं न भवतीति भावः ॥७८॥

[पृष्ठ २२–२३] सम्बन्ध इति—संबन्धो हि सदाशिवस्य वक्तृत्वा सह न भवति । संबन्धो भिन्नस्य द्रव्यस्य भवति । न संयोगान्यम् । नवसु द्रव्येषु वक्तृत्वे अनिर्देशात् वक्तृत्वं गुणत्वात् । 'द्रव्ययोरेव संयोग' इति योगसिद्धान्तः । समवायसंबन्धोऽपि न संभवः घटते पृथक्सिद्धत्वात् । वक्तिगुणस्यापि नास्ति । गुणानां द्रव्येण संसर्गः अयुतसिद्धोऽभिमतः । तथा च वैशेषिकमतसिद्धान्तम्— अयुतसिद्धानां गुणगुण्यादीनां समवायः संबन्धः परं वक्तृत्वा सह द्विधापि संबन्धो नास्ति इति सदाशिवो वक्ता न भवति । निष्करुणत्वान्न तस्मिन् वक्तृत्वं न विद्यते । रागवान् पार्वतीपतिस्तु सर्वज्ञो नैव भवितुमर्हति रथ्यापुरुषवत् । जिनानां सर्वज्ञत्वं मनुष्यत्वेऽ-

पि न परत. प्राप्त यतोऽनवस्था स्यात् । ते तु ज्ञानत्रयेणैव सह जन्म लभन्त । एतदेव व्यनक्ति—तत्त्व-भावनयेति—यस्य जिनस्य जन्मान्तरसमुत्थया । प्राक् तृतीयजन्मन समुत्था यस्या सा एवंरूपया तत्त्वभावनया, जीवादितत्त्वभावनया दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशभावनान्तर्गतया अभीक्ष्णज्ञानोपयोगाख्यया तत्त्वभावनया उद्भूत परं ज्ञानत्रयम् अन्यजनसुदुर्लभ हिताहितविवेकाय भवति । तेन हिते रत्नत्रयरूपे मोक्षमार्गे प्रवृत्तिर्भवति । अहिताच्च भववर्धनकारणान्मिथ्यात्वादेर्निवृत्तिर्भवति ॥ ७९ ॥ जिने ज्ञानत्रयसद्भावात् न तस्य परापेक्षतेति निगदति । दृष्टादृष्टमिति—असौ जिन दृष्टम् अदृष्टम् अर्थं पदार्थम् अवैति ज्ञानत्रयेण मत्या, श्रुतेन, अवधिना च जानाति । अवधे अवधिज्ञानमालम्ब्य जिन रूपवन्तम् अर्थम् एव जानाति । अथ देशावधिज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षात् जिनो रूपवन्त द्रव्यक्षेत्रकालभावमर्यादीभूतम् अतीन्द्रिय पदार्थनिवह जानाति । श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षात् श्रुते आचाराङ्गादिद्वादशाङ्गज्ञान यत् श्रुतिसमाश्रेय श्रुति आगमस्तया समाश्रेयम् अवलम्बनीयम् । एवरूप तस्य जिनस्य ज्ञान भवति तत क्वासौ परम् अपेक्षता क्व कस्मिन्विषये । असौ जिन अन्य ज्ञानिनम् अवलम्बते ॥८०॥ न चैतदसार्वत्रिकम्—एतज्ज्ञान सर्वत्र नोपलभ्यते इति न, अन्यथा कथमेतद्वचो वक्ष्यमाण सगच्छेत । वाराणस्या स्वत एव सजातषट्पदार्थावसायप्रसरे कणचरे सजात षट्पदार्थाना द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायविशेषाणाम् अवसायप्रसर ज्ञानसमूहो यस्य एवरूपे कणचरमहर्षौ कणाद-ऋषौ अक्षपादे उलूकसायुज्यसरस्य महेश्वरस्य उलूकावतारेण सायुज्यम् ऐक्य सरतीति सर तस्य सरस्य गच्छत उलूकावतारवत महेश्वरस्य इद वचन स्तुतिवचन कथ सगच्छेत् युक्तियुक्त भवेत् । किं तद्वचनम् । उच्यते । ब्रह्मेति—महेश्वर कणचरर्षिमेवमुवाच–हे विद्वन्, त्वयि दिवौकसा दिवं स्वर्ग आकाशो वा ओको गृह येषा ते दिवौकस तेषा स्वर्गिणा देवानामित्यर्थ । दिव्य नरपश्वादिदुर्लभम् अत एव अद्भुत विस्मयजनक ब्रह्मतुला नामेदं जगत्तोलने परिज्ञाने तुलाप्राय ज्ञान त्वयि प्रादुर्भूतम् इह वाराणस्याम् । तत् तस्मात् कारणात् हे वत्स, तत् ज्ञान विप्रेभ्य द्विजेभ्य वितरस्व देहि । उपाये इति—उपाये सति उपेयस्य लब्धव्यस्य पदार्थस्य प्राप्ते का प्रतिबन्धिना प्राप्तिप्रतिरोध कथ स्यात् । यन्त्रात् यन्त्रमाहात्म्यात् । पातालस्थ जल करस्थ क्रियते, हस्तेन ग्रहीतु शक्यते यत ॥८१॥ अश्मेति—अश्मा पाषाण. । हेम सुवर्ण भवति । तद्धेतुप्राप्ते सुवर्णभवनकारण-प्राप्ते. । एव मुक्तावह्निमणिष्वपि योज्यम् । तद्यथा—जल मुक्ता मौक्तिक सजायते तादृक्कारणलब्धे । स्वात्या शुक्तिपुटे पतित मेघजलं मौक्तिक संपद्यते इति विदितमेव । द्रुमो वृक्षो वह्निर्भवति शाखाना घर्षणात् अग्नेरुद्भूतिरवलोक्यते । क्षितिर्भूमिर्मणि रत्न जायते । तत्तद्धेतुतया तत्तत्कारणतालब्धे । भावा पदार्था । अद्भुतसपद विस्मयजनकसपद्युक्ता भवन्तीति भाव । इति पद्यद्वयेन मनुष्योऽपि तत्त्वभावनया सर्वज्ञ आप्तो भवत्येवेति ज्ञातव्यम् ॥ ८२ ॥ सर्गेति—सर्ग उत्पत्ति । अवस्थिति. अवस्थान ध्रुवत्वम् । सहार प्रलय । उत्पादव्ययध्रौव्यमित्यर्थ । तथा ग्रीष्म उष्णकाल । वर्षा पर्जन्यकाल । तुषारो हिमकाल । एतेषा षण्णा यथा अनाद्यन्तभाव आदिभाव अन्तभावश्च नास्ति । अनादिकालम् एतेषा प्रवृत्तिरस्ति । तथैव आप्तश्रुतसमाश्रय अनाद्यन्तभाव श्रुतसमाश्रयात् आप्तो जायते । आप्तश्च श्रुतम् उत्पादयति । एवम् आप्तश्रुतयोर्जन्यजनकभावोऽनादिनिधनोऽस्ति । अत आप्त न परम् आश्रयित्वा ज्ञान लभते येनानवस्थादूषण स्यात् ॥ ८३ ॥ आप्ताना बहुत्व न दोषायेति प्रतिपादयति—नियतमिति—बहुत्वम्, चतुर्विंशति जिनेश्वरा इति जिनसख्याया बहुत्व नियत नियमित न चेत् एते पञ्चदश तिथय, नव ग्रहा, चतुरुदधय, षट् कुलाचला इत्यादय पदार्था बहवोऽपि नियतसख्या कथम् ॥ ८४ ॥

[पृष्ठ २४-२५] अनयवेति—अनयैव दिशा उपर्युक्तप्रकारेणैव साख्यशाक्यादिशासन कपिलसौगत-चार्वाकादिदर्शनं चिन्त्यम् विचारणीयम् । तेषा तत्त्वागमानाम् आप्ताना च नानात्वस्य बहुत्वस्य अविशेषत्वात् ॥८५॥ जैनेति—एक जैनमत मुक्त्वा सर्वाभ्युपगमागमा द्वैताद्वैतसमाश्रयौ मार्गौ समाश्रिता इत्यन्वय. । साख्यशाक्यादिदर्शनेषु कानिचिद् द्वैत कानिचिद् अद्वैतम् अवलम्बन्ते । तथा तेषु दर्शनेषु कानिचित्तत्त्वानि सर्वलोकाभिमतानि सन्ति । अत सर्वे सर्वाभ्युपगमागमा इति उक्तम् ॥८६॥ वामेति—शभो आगम शैवागम. । शाक्यस्य सुगतस्य आगम सिद्धान्त । द्विजस्य याज्ञिकस्य वेदान्तिनश्च आगम द्विजागम । एतेषा त्रयाणाम् आगमा वामदक्षिणमार्गयो तिष्ठन्ति । वाममार्ग मन्त्रतन्त्रप्रधान । तथा क्रियाकाण्डप्रतिपादकश्च । न तथा

महात्मा रथ्यापिनरवप्रहर्षेषे यतोऽपि भूतोऽपि पुष्पा मूर्ख पुष्प अर्थनीयो न चन्द्रमा अत्र का युक्ति । पूर्वो यदि अनाना पुष्पस्तर्हि चन्द्र कथं न । अविचारितरत्नस्य अविमृश्यवस्तुस्वरूपस्य जन्तो वृत्ति प्रवृत्ति निरङ्कुशा अविचारितरमणीया भवति ॥७५॥ द्वैताद्वैतेति—शंकराचार्यानुकृतागमः शंकरेण अनुकृत अनुसृत आगम यस्य सः शंकरानुकृतागम शाक्य बुद्ध । तस्य आगमो द्वैताद्वैतागमः । बौद्धमतं हीन प्यामकते यत उच्यते संयम तपांसि इन्द्रियविनिग्रहश्च समुपदिष्ट । तत आत्मनिरोध, आत्मनाशश्च आम्नाते इति कथनमस्ति तत्र । तथा विज्ञानाद्वैतप्रतिपादकोऽप्यस्ति तदागम । तथा सर्वेण प्रवृत्तिनिरङ्कुश त्वम् अद्वैतम् । तथापि शास्त्रे संभवति यतः स तरसात्वस्वरूपी तरसे मांसे आसवे मदिरायाम् आसक्ता अन्या श्री बुद्धि यस्य एवंभूत कथं मनीषिभि बुधै मान्य ॥७६॥ अधुना जैनमतं प्रतिविधित्सवः एवं कश्चित्—अपैवमिति—यदेवं वयं प्रत्यवतिष्ठामहे भवन्मतस्य प्रतिविधानं कर्तुमिच्छाम । भवतां जैनानां मते जिन निश्चयेन मनुष्य तत् न आप्तः न सर्वज्ञो भवति । तस्य च आप्तता अतीव दुर्घटा । युक्त्या नैव सिद्धिम् अभ्येति । संसारमग्ना आधुनिकमनुष्यो यथा सर्वज्ञो न भवति । तथा तस्य अभिलषिततत्त्वावबोधो न स्वतो भवति तथा उपगमाभावात् । गुरुं विना तत्त्वज्ञानं न भवतीत्यर्थ । परश्चेत् कोऽसौ पर. । तीर्थकरोऽन्यो वा । तीर्थकरश्चेत् तथाप्येवं पर्यनुयोग । अथापि तीर्थकरस्यापि स्वतोऽभिलषिततत्त्वावबोधो न स्यात् परश्चेत् कोऽसौ पर इति पुनः पुनः पर्यनुयोगे अनवस्था । सोऽपि तीर्थकरो यदि मनुष्य सोऽपि स्वतः सर्वज्ञो न भवति । तस्मात् तत्प्रामाण्यम् आप्तसद्भावं च वाञ्छद्भिः तत्प्रामाण्यम् अभिलषिततत्त्वावबोधं सर्वज्ञसद्भावं च इच्छद्भिः सदाशिवः शिवापरि शंकरो वा तस्य मनुष्यस्य तत्त्वोपदेशक प्रतिभूतव्य प्रतिज्ञातव्य । तथाह पतञ्जलि "स पूर्वेषामपि गुरु कालेन अनवच्छेदात् । स सदाशिव पूर्वेषाम् अपि चिरन्तनानाम् अपि महर्षीणां गुरुः कालेन अनवच्छिन्नत्वाभावात् । अमुष्मिन्काले स अभवत् ततः पूर्वं स नासीत् इति कालेन नावच्छिन्न तथा हि—अदृष्टविग्रहादिति—अदृष्टविग्रहात् न दृष्टो विग्रह कायो यस्य स अदृष्टविग्रह तस्मात् देहरहितादित्यर्थ । शान्तात् सकलकर्मरहितात् पापपुण्यरहितात् इत्यर्थः । परमकारणात् सकलजगतोऽप्यादिकारणहेतुभूतात् शिवात् परमपुरुषं नादरूपं ध्वनिरूपं शास्त्रं समुत्पन्नम् ॥७७॥ तथाप्तेनैकेनेति—तथा आप्तेन एकेन भवितव्यम् । एक एव आप्त सर्वज्ञो भवति । नहि आप्तानाम् स्वरूपापेक्षया समस्ति । संसारिप्राणिनां यथा बहवः पुरुषं भवन्ति तथा आप्तानां सर्वज्ञानां बहुत्वं न भवति । संभवे वा चतुर्विंशतिरिति नियम कौतस्कुत कुत कुतो भव कौतस्कुत । इति ईश्वरवादिनो ब्रुवते । तत्सद्भावप्रतिपादनार्थं शास्त्रस्यार्थवत्त्वम् । अन्यथा तत्सद्भावोऽर्थवत्त्वमिव वस्तु विषमम् । स्वतीर्थमोहार्णवनिमग्नं च परेषाम् । तस्मिन्मोहसागरे निमग्न निर्भयीभवनम् एव परेषाम् ईश्वरवादिनां प्रतिषेधम् । मन—अस्पष्टेति—निष्करण अनादित्व एव कर्मबन्धनरहितः अत एव सदाशिव । निष्करणानि करणानि रसनादीनि इन्द्रियाणि यस्य स अशरीरः सदाशिवो वक्ता नैव मुखाद्यवयवाभावात् । कथमेतावद्वाचस्तत्त्वप्रतिपादक आगम उत्पद्येत । निष्करणात्तत्त्वावगमात् स शंभु रागवान् रागादिपापपुण्यहतस्तस्मिन् सदोषे धर्मो धार्मिकं नास्ति । ततस्तस्मादागमोत्पत्तिर्दुर्घटा अन्यथा रथ्यापुरुषादपि सा स्यात् । सदाशिवात् धर्मः च अपरं तृतीयम् अमूर्त । ताभ्यां मिलित्वा तृतीयं शास्त्रं विरचितं चेत् तत् कस्य हेतो अजायत । आगमरचनाकारणभूतया अन्यथा शिव आगमं रचयति चेत् सा शक्ति ततः शिवात्परा भिन्ना तथा स शिव कथं तद्वान् भवेत् अतत्त्वात् । तेन तस्या संबन्धोऽपि न घटतीति नैव घटत । अतो भवता शैवसिद्धान्त शास्त्रं निरालम्बनं निराश्रयम् । आप्तप्रणीत न भवतीति भाव ॥७८॥

[पृष्ठ २२–२३] संबन्ध इति—संबन्धो हि सदाशिवस्य शक्त्या सह न भवति । संबन्धो भिन्नस्य द्रव्यस्य भवति । न चाभिन्नस्यैव । ननु द्रव्ययु वर्तते अभिन्नत्वात् शक्तेः अद्रव्यत्वात् । 'द्रव्ययोरेव संयोग' इति वैशेषिकसिद्धान्तः । समवायसंबन्धोऽपि न संबन्ध वर्तते पृथक् सिद्धत्वात् । शक्तिर्गुणस्यापि नास्ति । गुणानां द्रव्येण संबन्ध अयुतसिद्धोऽभिमत । तथा च वैशेषिकमतेनिरूपणम्—'अयुतसिद्धानां गुणगुण्यादीनां समवाय संबन्ध' परं शक्त्या सह क्रियापि संबन्धो नास्ति इति सदाशिवो वक्ता न भवति । निष्करणत्वाच्च तस्मिन् वक्तृत्वं न विद्यते । रागवान् चाश्लीपतिसु सर्वज्ञो नैव भवितुमर्हति रथ्यापुरुषवत् । जिनानां सर्वज्ञत्वं मनुष्याणां-

पि न परत प्राप्त यतोऽनवस्था स्यात् । ते तु ज्ञानत्रयेणैव सह जन्म लभन्ते । एतदेव व्यनक्ति—तत्त्व-भावनयेति—यस्य जिनस्य जन्मान्तरसमुत्थया । प्राक् तृतीयजन्मनि समुत्था यस्या सा एवंरूपया तत्त्वभावनया, जीवादितत्त्वभावनया दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशभावनान्तर्गतया अभीक्ष्णज्ञानोपयोगाख्यया तत्त्वभावनया उद्भूत परं ज्ञानत्रयम् अन्यजनसुदुर्लभ हिताहितविवेकाय भवति । तेन हिते रत्नत्रयरूपे मोक्षमार्गे प्रवृत्ति-र्भवति । अहिताच्च भववर्धनकारणान्मिथ्यात्वादेर्निवृत्तिर्भवति ॥ ७९ ॥ जिने ज्ञानत्रयसद्भावात् न तस्य परापेक्षतेति निगदति । दृष्टादृष्टमिति—असौ जिन' दृष्टम् अदृष्टम् अर्थ पदार्थम् अवैति ज्ञानत्रयेण मत्या, श्रुतेन, अवधिना च जानाति । अवधे अवधिज्ञानमालम्ब्य जिन रूपवन्तम् अर्थम् एव जानाति । अथ देशावधि-ज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षात् जिनो रूपवन्त द्रव्यक्षेत्रकालभावमर्यादीभूतम् अतीन्द्रिय पदार्थनिवह जानाति । श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षात् श्रुते आचाराङ्गादिद्वादशाङ्गज्ञान यत् श्रुतिसमाश्रेय श्रुति आगमस्तया समाश्रेयम् अवलम्बनीयम् । एवरूप तस्य जिनस्य ज्ञान भवति तत सवासौ परम् अपेक्षता क्व कस्मिन्विषये । असौ जिन अन्य ज्ञानिनम् अवलम्बते ॥८०॥ न चैतदसार्वत्रिकम्—एतज्ज्ञान सर्वत्र नोपलभ्यते इति न, अन्यथा कथमेतद्वचो वक्ष्यमाण सगच्छेत । वाराणस्या स्वत एव सजातषट्पदार्थविसायप्रसरे कणचरे सजात षट्पदार्थाना द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायविशेषाणाम् अवसायप्रसर ज्ञानसमूहो यस्य एवरूपे कणचरमहर्षौ कणाद-ऋषौ अक्षपादे उलूकसायुज्यसरस्य महेश्वरस्य उलूकावतारेण सायुज्यम् ऐक्य सरतीति सर तस्य सरस्य गच्छत उलूकावतारवत महेश्वरस्य इद वचन स्तुतिवचन कथ सगच्छेत् युक्तियुक्त भवेत् । कि तद्वचनम् । उच्यते । ब्रह्मेति—महेश्वर कणचरर्षिमेवमुवाच—हे विद्वन्, त्वयि दिवौकसा दिव स्वर्ग आकाशो वा ओको गृह येषा ते दिवौकस तेषा स्वर्गिणा देवानामित्यर्थ । दिव्य नरपश्वादिदुर्लभम् अत एव अद्भुत विस्मयजनक ब्रह्मतुला नामेद जगत्तोलने परिज्ञाने तुलाप्राय ज्ञान त्वयि प्रादुर्भूतम् इह वाराणस्याम् । तत् तस्मात् कारणात् हे वत्स, तत् ज्ञान विप्रेभ्य द्विजेभ्य वितरस्व देहि । उपाये इति—उपाये सति उपेयस्य लब्धव्यस्य पदार्थस्य प्राप्ते का प्रति-बन्धिना प्राप्तिप्रतिरोध कथ स्यात् । यन्त्रात् यन्त्रमाहात्म्यात् । पातालस्थ जल करस्थ क्रियते, हस्तेन ग्रहीतु शक्यते यत ॥८१॥ अश्मेति—अश्मा पाषाण । हेम सुवर्ण भवति । तद्धेतुप्राप्ते सुवर्णभवनकारण-प्राप्ते । एवं मुक्तावह्निमणिष्वपि योज्यम् । तद्यथा—जल मुक्ता मौक्तिक सजायते तादृक्कारणलब्धे । स्वात्या शुक्तिपुटे पतित मेघजल मौक्तिक सपद्यते इति विदितमेव । द्रुमो वृक्षो वह्निर्भवति शाखाना घर्षणात् अग्नेरुद्भूतिरवलोक्यते । क्षितिर्भूमिर्मणि रत्न जायते । तत्तद्धेतुतया तत्तत्कारणतालब्धे । भावा पदार्था । अद्भुतसपद विस्मयजनकमपद्युक्ता भवन्तीति भाव । इति पद्यद्वयेन मनुष्योऽपि तत्त्वभावनया सर्वज्ञ आप्तो भवत्येवेति ज्ञातव्यम् ॥ ८२ ॥ सर्गेति—सर्ग उत्पत्ति । अवस्थिति अवस्थान ध्रुवत्वम् । सहार प्रलय । उत्पादव्ययध्रौव्यमित्यर्थ । तथा ग्रीष्म उष्णकाल । वर्षा पर्जन्यकाल । तुषारो हिमकाल । एतेषा षण्णा यथा अनाद्यन्तभाव आदिभाव अन्तभावश्च नास्ति । अनादिकालम् एतेषा प्रवृत्तिरस्ति । तथैव आप्तश्रुतसमाश्रय अनाद्यन्तभाव श्रुतसमाश्रयात् आप्तो जायते । आप्तश्च श्रुतम् उत्पादयति । एवम् आप्तश्रुतयोर्जन्यजनकभावोऽनादिनिधनोऽस्ति । अत आप्त न परम् आश्रयित्वा ज्ञान लभते येनानवस्थादूषण स्यात् ॥ ८३ ॥ आप्ताना बहुत्व न दोषायेति प्रतिपादयति—नियतमिति—बहुत्वम्, चतुर्विंशति जिनेश्वरा इति जिनसख्याया बहुत्व नियत नियमित न चेत् एते पञ्चदश तिथय, नव ग्रहा, चतुरुदधय, षट् कुलाचला इत्यादय पदार्था बहवोऽपि नियतसख्या कथम् ॥ ८४ ॥

[पृष्ठ २४-२५] अनयवेति—अनयैव दिशा उपर्युक्तप्रकारेणैव साख्यशाक्यादिशासन कपिलसौगत-चार्वाकादिदर्शन चिन्त्यम् विचारणीयम् । तेषा तत्रागमानाम् आप्ताना च नानात्वस्य बहुत्वस्य अविशेष-त्वात् ॥८५॥ जैनेति—एक जैनमत मुक्त्वा सर्वाभ्युपगमागमा द्वैताद्वैतसमाश्रयो मार्गौ समाश्रिता इत्यन्वयः । साख्यशाक्यादिदर्शनेषु कानिचिद् द्वैत कानिचिद् अद्वैतम् अवलम्बन्ते । तथा तेषु दर्शनेषु कानिचित्तत्त्वानि सर्वलोका-भिमतानि सन्ति । अत सर्वे सर्वाभ्युपगमागमा इति उक्तम् ॥८६॥ वामेति—शभो आगम शैवागम । शाक्यस्य सुगतस्य आगम सिद्धान्त । द्विजस्य याज्ञिकस्य वेदान्तिनश्च आगम द्विजागम । एतेषा त्रयाणाम् आगमा वामदक्षिणमार्गयो तिष्ठन्ति । वाममार्ग मन्त्रतन्त्रप्रधान । तथा क्रियाकाण्डप्रतिपादकश्च । न तथा

दविषमता दैवमर्द धामामार्गप्रधानम् । माशिकामयमोऽपि पदार्थादियमप्रवक्त । अत कर्मगतः । यदा[illegible] आमम्य बह्वार्थप्रतिपादक । सायामामोऽपि आमममगस्य मन्त्रतन्त्रप्रधानत्वात् । सुमत बहु[illegible] सम्यथीरामीत् । महामानर्मप्रवायध्याममार्गो जात ॥८७॥ यच्चैतत्—श्रुतिमिति—यह धर्मादि[illegible] श्रुतिम् आह । वेद श्रुतिरिति नामद्वयं धर्मवादीनामागमानाम् । स्मृतिस्तु धर्मशास्त्रमिति कथ्यते । सर्वपिंषु मतान्तिपु धर्मीमात्स्ये अविचारणीय । ताभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यां हि यस्मात् धर्मो निर्वमी निवरां श्रु[illegible] स्मृती न मत्वाश्रितावितं तत्सर्वं प्रमाणमेवति मन्तव्यम् ॥८८॥ ते त्विति—य द्विज हेतो शास्त्रा[illegible] श्रुतिस्मृती अवमन्येत तिरस्कुर्वीत न साधुभि बहि कार्यो यतो वेदनिन्दको नास्तिको भवा[illegible] तदपि न साधु तदपि वचनं साधु सुन्दरं न । यत यस्मात्कारणात् । समस्तेति—समस्तश्रु[illegible] प्रत्यक्षादिप्रमाणरहित केवलागममोचन कथमं पक्षिस्मृतिनयः यदि केवलेनागमेनैव तत्त्वनिश्च[illegible] तत् कस्य अप्रवादो भवत् । न कस्यापि । युक्ति हेतुवादं त्यजन् वादी केवलेन आपयेन तत्त्वसिद्धि[illegible] प्राप्नोति । युक्ति विना केवलम् आगमादेव तत्त्वसिद्धि इच्छन् वादी कथं न लभते प्राप्नुव[illegible] मानि ॥९ ॥ सन्त इति—सन्तो विद्वांसो गुणेषु तुष्यन्ति मत्सर्व गुणवत्प्रमाणसिद्धं तदेव तुष्यन्ति [illegible] शास्त्रेषु प्रमाणेन सिद्धिमनधिगतेषु वस्तुषु न तुष्यन्ति । यतो निर्गुणो शाखा कथमा पाठेन प्रियन्ते शूरमस[illegible] रत्न अपि: मौली किरीटे निधीयते स्थाप्यते ॥९१॥ श्रेष्ठ इति—गृहस्थ गुणै अहिंसादिभिरणुव[illegible] पूज्य स्यात् । तत गृहस्थादपि यच्चान्य पूज्यतरो यतिमयंपु महाव्रतधारकत्वात् । यतो श्रेष्ठतरो दे[illegible] गुणेऽपि पूज्यतर देव जिनपति । रत्नत्रयस्य परमप्रकर्षं गतत्वात् । देवादधिकं परं श्रेष्ठं लोके किमपि न[illegible] गहिनति—यदिहा गृहस्थेन समवृत्तस्य समानाचरणस्य । यतेः तपस्विनोऽप्याचरितमते गुणे सद[illegible] यस्य नैव भवति एवंविधस्य देवस्य यदि देवत्वं न देवो दुर्लभो भवेत् । यदि देवोऽपि गृहस्थसदृश[illegible] सर्वेऽपि जना देवा भवेयुरेव देवाना दुर्लभता न स्यात् ॥९३॥

इत्युपासकाध्ययने आप्तस्वरूपमीमांसनो नाम द्वितीयः कल्पः ।

३ आगमपदार्थपरीक्षणो नाम तृतीयः कल्पः ।

[पृष्ठ ७५-७६] इयमिति—आप्तो प्रथमं देवं परीक्ष्य क आप्तो भवितुमर्हति इति विचार्य [illegible] पाषाणवत्तत्र देवत्वकल्पिताधारमपरं तस्य वचनागमम् आगमस्य तथा विचारणीय । तात्पर्यविचारेण [illegible] निर्णीते तत्र अनुष्ठानम् एतत्तापमात्रापावरणं पर्यालोच । एतस्मिन्नपि आचरणं पापानुबन्धि पुण्यानुबन्धि वेति [illegible] योग्यम् । तत्कारणात् तत्र बुध मति कुर्यात् । तत्परीक्षायां मति बुद्धि विदध्यात् ॥९४॥ पडविचार्येति[illegible] यदा देवम् अविचार्य देवमपीत्य तथापि रति कुर्वत तथापि देवागम रति यत्नं कुरुते विरतो । [illegible] विचारतुम्बन यत्र [illegible] देवमुखे स्वार्थनिरतता इत्यपरास्ता मनुष्यति आज्ञामि[illegible] भोजनमिश्रम् । यथा [illegible] इत्यं [illegible] मनुष्यति [illegible] न तो लभन्ते तथा देवाव[illegible] प्रयत्नो यत्र तदात्म [illegible] मनुष्यति मनो मंडना [illegible] श्रुतिमार्ग न प्राप्नुवन्ति ॥ ९५ ॥ [illegible] गुणी इति—[illegible] गुणवन्ती विद्यमानाया [illegible] गुणी वा विगुणित इच्छते । तथ[illegible] [illegible] गुणिनामनुग्र [illegible] एतद्गुणे विगुणत्वे मति [illegible] [illegible] भवति ॥ ९६ ॥ पाणिमुद्रिति—[illegible] पर्व [illegible] [illegible] यदि भवत् यदि ना पुरा भवेत् [illegible] भवेत् । किन्तु यदि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पुरा [illegible] भवति । [illegible] [illegible] भवति तथा [illegible] [illegible] भवत् ॥ ९७ ॥ [illegible] इति—[illegible] [illegible] भवति । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

ग्रहणायोग्येऽर्थे अतीन्द्रियविषये वचनं पूर्वापराविरोधेन प्रमाणता प्रामाण्यं भवति ॥ ९८ ॥ आगमाभासस्याप्रमाणतां वदति—पूर्वापरेति—स आगमः किं प्रमाणं भवति । अपि तु न भवति । कीदृशः आगमः न प्रमाणम् उच्यते यः पूर्वापरविरोधेन दोषेण युक्तः स नागमः प्रमाणम् । यस्तु युक्त्या प्रत्यक्षादिप्रमाणेन बाध्यते सोऽप्रमाणमागमः । एवंविध आगमो मत्तोन्मत्तवचःप्रस्यः मत्तः सुराधत्तूरादिप्राशनात् । कामादिविकारादुन्मत्तस्तस्य वचसा प्रख्यस्तुल्यः न न प्रमाणं भवति ॥ ९९ ॥ आगमस्य निरुक्तिं कथयन्ति सूरिपादाः—हेयोपादेयेति—चतुर्वर्गसमाश्रयात् धर्मार्थकाममोक्षाः चतुःपुरुषार्थवर्गः तस्य समाश्रयणात् अवलम्बनात् । हेयोपादेयरूपेण जीवादिसप्तपदार्थेषु जीवः, संवरः, निर्जरा मोक्षश्चेति ग्राह्या उपादेयाः पदार्था मुक्तिकारणत्वात् । अजीवः, आस्रवो बन्धश्च हेयार्थाः संसारकारणत्वात् । एतान् भूतभाविभवत्कालगतान् हेयोपादेयार्थान् गमयन्ज्ञापयन्नागमः स्मृतः प्रतिपादितो ज्ञातव्यः ॥ १०० ॥ आत्मानात्मेति—तत्त्ववेदिभिः तत्त्वं विदन्तीति तत्त्ववेदिनः विद्वांसस्तैः आगमस्य पदार्था एव निगद्यन्ते भाष्यन्ते—आत्मानात्मस्थितिः आत्मा च अनात्मा च तयोः स्थितिः जीवाजीवयोः स्थितिर्यत्र स लोकः लोक्यन्ते जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकाला यत्र स लोकः, बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षौ सहेतुकौ कारणसहितौ बन्धस्य कारणानि मिथ्यात्वादीनि मोक्षस्य कारणानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि एते पदार्था निगद्यन्ते कथ्यन्ते ॥ १०१ ॥

[पृष्ठ २७-३५] उत्पत्तिस्थितिरिति—उत्पत्तिरुत्पादो जननं स्थितिर्ध्रौव्यम्, विनाशः संहारो एते सारा बलवन्तः सर्वे पदार्थाः स्वभावत एव । यथा तोयधेः समुद्रस्य तरङ्गाः कल्लोलाः तद्द्वयाश्रिता भवन्ति तथैते पदार्था नयद्वयाश्रिताः द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयौ आश्रित्य वर्तन्ते । तत्र वस्तुनि ध्रौव्यं द्रव्यार्थिकनयाश्रितम्, उत्पत्तिव्ययौ च पर्यायार्थिकनयाश्रितौ ॥ १०२ ॥ क्षयाक्षयैकपक्षत्वे इति—क्षयश्च अक्षयश्च क्षयाक्षयौ । एकपक्षत्वशब्दः क्षयेण अक्षयेण च क्रमशो योज्यः । तेन क्षयैकपक्षत्वम्, अक्षयैकपक्षत्वम् इति भवति । क्षयैकपक्षत्वे अङ्गीक्रियमाणे वस्तु सर्वथा विनाशि एव स्यात् ततश्च बन्धक्षयस्य आगमः प्राप्तिः भवेत्, मोक्षक्षयस्य आगमः प्राप्तिर्भवेत् । ततो बन्धो मोक्षश्च नैव सिद्ध्यतः । वस्तु उत्पद्य पश्चात् अनन्तरसमय एव विपद्येत तर्हि तस्य वस्तुनः न केनापि संयोगो भवेत् । सर्वथा विनाशशीलस्य आत्मनः कर्मबन्धो न भवेत् । सर्वथा वस्तु अक्षयि एव यदि तर्हि परिणामित्वाभावात् मोक्षक्षयागमः भवेत् । बद्ध आत्मा बन्धनपर्यायपरिणत एव सर्वदा भवेत् । तस्य मुक्तिः कदापि न स्यात् । अतः तात्त्विकैकत्वसद्भावो भवेत् यदि स्वभावान्तरहानिः स्यात् । सर्वथा एकरूपता वस्तुनः स्याद्यदि तत्र स्वभावान्तरप्रादुर्भावः कदापि न भवेत् । य आत्मा क्रुद्धः स क्रोधे गते प्रसक्तिभाक् दृश्यते । अतः वस्तुनि तात्त्विकैकत्वसद्भावे अङ्गीक्रियमाणे स्वभावान्तरदर्शनं न स्यात् । कथंचित् जीवादिवस्तु पर्यायापेक्षया क्षयि । द्रव्यापेक्षया तत् अक्षयि मन्यताम् । एवं वस्तुस्वरूपाभिमनने स्वभावान्तरहान्याख्यो दोषः न संसक्तो भवेत् ॥ १०३ ॥ आत्मनः स्वरूपं निगदति—ज्ञातेति—पुमान् आत्मा ज्ञाता द्रष्टा च अत एव ज्ञानदर्शनलक्षण आत्मा गीयते । महान् आत्मा केवलसमुद्घातापेक्षया लोकव्यापको भवति अतः महान् । सूक्ष्मः स्पर्शादिगुणरहितत्वात् अमूर्तः सूक्ष्म उच्यते । कृतिभुक्त्योः स्वयं प्रभुः "स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते ।" अतः स्वयं प्रभुत्वात् स कर्ता भोक्ता च भवति । ईश्वरप्रेरितो न गच्छति स्वर्गं श्वभ्रं वा । भोगायतनमात्रोऽयं शरीरं भोगायतनम् । शुभाशुभकर्मोदयप्राप्तयोः सुखदुःखयोः शरीरम् आयतनं गृहम् अस्ति । तत् तद्भोगे साधनं संपद्यते । आत्मा यच्छरीरं लभते तत्प्रमाणो भूत्वा आमृति तिष्ठति । यदा च स कर्मक्षयं करोति तदा स्वभावादेव स ऊर्ध्वं गच्छति अतः स ऊर्ध्वगः पुमानिति कथ्यते ॥ १०४ ॥ ज्ञानदर्शनेति—ज्ञानदर्शनशून्यस्य आत्मनः अचेतनात् भेदोऽन्यता न स्यात् । तथा च अयं जीवः इमौ घटपटौ इति भेदो न भवेत् । ज्ञानमात्रस्य जीवस्य न एकधीः । स एव अहम् इति प्रत्यभिज्ञानात् आत्मा ज्ञानी न ज्ञानमात्रं तस्य स्वरूपम् । ज्ञानमात्रस्य जीवत्वे मन्यमाने सा एकधीः नश्येत् । केवलं ज्ञानसामान्यं स्यात् । विशेषधर्माभावात् । इदं चित्रज्ञानम्, इदं पटज्ञानम्, इदं मित्रज्ञानम् इति नानात्वं ज्ञानानां न स्यात् । विशेषधर्मेणैव भेदा ज्ञानेषु भवन्ति ॥१०५॥ जीवकर्मणोः अन्योन्यसंबन्धं निगदति—प्रेर्यते इति—नौनाविकसमानयोः एतयोः जीवकर्मणोः अन्यो न प्रेरकः । यथा नौः नाविकेन प्रेर्यते स च तया प्रेर्यते तथा जीवेन कर्म प्रेर्यते तेन च जीवः प्रेरितो भवति ॥१०६॥ मन्त्र-

वदिति—यथा मन्त्रः नियतोऽपि परिमिताक्षरोऽपि स्वभावत अचिन्त्यशक्तिको भवति तथा अयम् आत्मा मितः शरीरप्रमाणोऽपि स्वभावत अचिन्त्यशक्तिको वेदितव्यः । अत स्वशरीराद् अन्यत्र नानुभूयते न च दृश्यते । शरीरप्रमाणत्वात् स व्यापको न भवति ॥१०७॥ जीवद्वैविध्यं निगदन्त्याचार्याः—त्रसस्थावरेति—त्रसस्थावरभेदेन केचित् जीवा चतुर्गतिसमाश्रया नारकतिर्यङ्नरदेवगती अवलम्ब्य संसारे स्थिता दृश्यन्ते । तथा अन्ये च केचित् पञ्चमी गतिं मोक्षगतिम् आश्रिता मुक्ता भवन्ति कर्मक्षयं कृत्वा इति द्विविधं जीवानाम् । संसारिणो जीवा त्रसस्थावरभेदेन द्विविधा । परं मुक्ता जीवा कर्मणः अभावेन भेदरहिता ज्ञेया ॥१०८॥ धर्माधर्माविति—धर्म अधर्म नभ कालः पुद्गलश्चेति पञ्च पदार्था अजीवत्वभेदेन वर्ण्यन्ते । एते विविधपर्याया एते नानावस्थायुता भवन्ति ॥१०९॥ गतिस्थितीति—धर्मद्रव्यं जीवपुद्गलयोर्गतिपरिणतिकारणम् । अधर्मद्रव्यं तयोरेव स्थितिपरिणतिकारणम् । नभ आकाशं द्रव्यम् अप्रतीघातकारणं जीवपुद्गलयोः प्रतीघातं प्रतिरोधं न करोति तत्तयोरवगाहं ददाति । कालः जीवपुद्गलयोः वर्तनाक्रियापरिणामपरत्वापरत्वपरिणतिनिमित्तं भवति । एवं सर्ववस्तूनां लक्षणं प्रोक्तम् । रूपात्मा च पुद्गलः 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः' इति पुद्गलस्य लक्षणम् ॥११०॥ बन्धस्य लक्षणम्—अन्योन्येति—अन्योन्यानुप्रवेशेन जीवप्रदेशेषु कर्मप्रदेशा प्रविशन्ति । कर्मप्रदेशेषु च जीवप्रदेशा प्रविशन्ति एवं कर्मात्मनोर्बन्धो भवति । स बन्धोऽनादिसान्तश्च भवति कालिकासुवर्णयोरिव यथो तत्पश्चात् सुवर्णं कालिकारहितमेवासीत् तत्र आदौ सुवर्णम् कालिमा तदनन्तरम् इति कालभेदो नास्ति परं ततः उपायैः सुवर्णात्कालिकापनयनं क्रियते येन तयोः सान्तता भवति तथादौ शुद्ध आत्मा तदनन्तरस्य प्रदेशेषु कर्मप्रदेशाना संश्लेषो जात इति न अनयो संश्लेषस्यानादिता वर्तते । परं रत्नत्रयं प्रकृष्यते यदा तदा जीवकर्मणोरत्यन्तं विश्लेषो भवति येन जीव शुद्ध उपपद्यते ॥१११॥ बन्धस्य चातुर्विध्यम्—प्रकृतीति—सर्वज्ञदेवैः देशिता संसारिजीवानां प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध प्रदेशबन्ध इति भेदात् चतुर्धा बन्धो भिद्यते चतुःप्रकारो भवतीत्यर्थः । ज्ञानावरणादिकर्मणा ज्ञानादिप्रतिबन्धनं स्वभाव प्रकृतिबन्ध । तत्स्वभावादप्रच्युति स्थितिबन्ध । ज्ञानावरणादिस्वभावादप्रच्युति स्थितिबन्ध । तद्रसविशेषोऽनुभव कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेशबन्ध ॥११२॥ मोक्षलक्षणम्—आत्मेति—जीवस्य बन्धकारणात् जीवस्य रागादिकपरिणतीनाम् अन्तर्मलकल्पाना समाधिबलेन या निवृत्ति अनन्तगुणस्वाभाविकचैतन्यसुखादिपरिणतौ प्रकर्षतमता तस्याः आत्मलाभं मोक्षं विदुः जानन्ति । जीवस्य अभावो मोक्षो न नापि अचैतन्यं चेतनारहितत्वं मोक्ष न च चैतन्यम् अनवयम् अर्थो घटादि तज्ज्ञानविरहितं चैतन्यं कदापि न तिष्ठति । मुक्तात्मना ज्ञानं प्रतिसमयम् अनन्तपदार्थमालिका जानातीति ज्ञेयम् ॥११३॥ बन्धमोक्षयो कारणानि—बन्धस्येति—मिथ्यात्वासंयमादिकं बन्धस्य कारणं प्रोक्तम् । आप्तागमपदार्थानाम् अश्रद्धानं मिथ्यात्वम् । इन्द्रियमनःप्राणिवधमनःसंयमाभाव असंयमः । आदिपदेन प्रमादादिकं गृह्यते । एतत्सर्वमस्यास्य कारणं निदानं प्रोक्तम् । रत्नत्रयं तु मोक्षस्य मुक्तेः कारणं प्रोक्तं कथितम् ॥११४॥ मिथ्यात्वभेदा निगद्यन्ते—आप्तेति—आप्तागमपदार्थानाम् अर्हत्सिद्धान्तजीवादितत्त्वार्थानाम् अश्रद्धानम् एकं मिथ्यात्वम्, विपरीतं द्वितीयम् संशयश्च तृतीयम् । इति भक्तिमान्मना गाढदर्शनमोहोदयवशात् त्रिधा मिथ्यात्वं प्रोक्तम् । अथवा—एकान्तेति—एकान्तसंशयाज्ञानम्-एकान्तमिथ्यात्वम् संशयमिथ्यात्वम् अज्ञानमिथ्यात्वं च तथा [illegible] विपर्यय आश्रय आचारो यस्य विपर्ययात्मकोऽत्यन्त विपरीतमिथ्यात्वम् । विनयाश्रयं विनयाचार विनयमिथ्यात्वमित्यर्थः । मिथ्यात्वभेदान् [illegible] [illegible] अनुसृत्यान् पञ्चधा पञ्चप्रकारं स्मृतम् ॥११५-११६॥ असंयमं विवृणोति—अव्रतित्वमिति—'हिंसादीनि पापानि न सेवे इत्यभिग्रहविहीनो नियमो व्रतम् । तदभावोऽव्रतित्वं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] । प्रमादित्वं [illegible] [illegible] प्रमाद [illegible] [illegible] प्रमादी [illegible] प्रमादित्वम् । [illegible] [illegible] । [illegible]—[illegible] [illegible] इति भाव । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इति— [illegible] । [illegible] [illegible] ॥११७॥ [illegible]

कषन्ति हिंसन्ति आत्मानं दुर्गतिं प्रापयन्ति इति कषायाः । ते क्रोधाद्याः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः पुनस्तेषामपि एकैकस्य चातुर्विध्यमेवम् अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः । अप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः । प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः । सञ्ज्वलनाश्च क्रोधमानमायालोभाः । एते प्राणिनां जीवानां संसारसिन्धुसंपातहेतवः–भवसागरप्रवेशे हेतवो मताः ॥११८॥ मनोवाक्कायेति—शुभाशुभविभेदतः मनोवाक्कायकर्माणि शुभं मनः कर्म शुभा मनोभावना, शुभं वाक्कर्म, शुभा वचनप्रवृत्तिः, शुभं कायकर्म, शुभा शरीरचेष्टा, अशुभं मनः कर्म, अशुभा मनोभावना, अशुभा वचनप्रवृत्तिः, अशुभा शरीरचेष्टा एताः शुभाशुभमनोवाक्कायानां प्रवृत्तयः आत्मनि जीवे पुण्यपापानां क्रमशो बन्धहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते ॥११९॥ लोकस्वरूपं प्रोच्यते—निराधार इति—निराधारः शेषकच्छपाद्याधाररहितः । निरालम्बः आकाशे सर्वतोऽनन्ते क्वापि न संलग्नः, पवमानसमाश्रयः पवमानाः घनवाताम्बुवाततनुवातानाम् आधारेण तिष्ठन्, नभोमध्यस्थितः आकाशमध्ये स्थितः । सृष्टिसंहारवर्जितः उत्पत्तिव्ययरहितः ॥१२०॥ अथ मतम्—नैवेति—जगत् क्वापि न लग्नम् । जगत् लोकोऽयं क्वापि कस्मिन् अपि न लग्नम् न संश्लिष्टम् । कथंभूतम् । भूभूध्राम्भोधिनिर्भरं भूः भूमिः, भूध्राः पर्वताः, अम्भोधिः समुद्रः तैः । निर्भरं भृतम् । धातारश्च धारकाः, के । मत्स्यकूर्माहिपोत्रिणः मत्स्यो मत्स्यावतारधारी विष्णुः, कूर्मः कच्छपः, अहिः शेषः, पोत्री वराहः न युज्यन्ते अनवस्थापत्तेः ॥१२१॥ एवमिति—एवमालोच्य इत्थं विचार्य । लोकस्य जगतः । कथंभूतस्य निरालम्बस्य आश्रयविहीनस्य । धारणे जैनैः पवनः वायुविशेषः कल्प्यते समर्थ्यते । इत्येतन्महत्साहसम् ॥१२२॥ यो हीति—हि यस्मात्कारणात्, यो वायुः अत्र अस्मिंल्लोके प्रत्यक्षीभूते । लोष्टकाष्ठादिधारणे लोष्टं मृत्तिकाखण्डम्, काष्ठं दारु, आदिशब्देन घटपटादयः तेषां धारणे न शक्तो न समर्थः । स त्रैलोक्यस्य जगत्त्रयस्य कथं धारणावसरक्षमः धारणावसरे धारणकार्ये क्षमः समर्थः स्यात् ॥१२३॥ तदसत्—उपर्युक्तमाक्षेपं प्रतिविदधाति—ये इति—ये मेघाः पानीयैः जलैः । सचराचरं चराः जङ्गमाः पदार्थाः । अचराः स्थिराः पदार्थाः धराधराधरादयः । तैः सहितं सचराचरं विष्टपं जगत् प्लावयन्ति पूरयन्ति । ते वातसामर्थ्यात् वायुशक्तेः । व्योम्न्याकाशे । किं न समासते किं न तिष्ठन्ति । अपि तु तिष्ठन्त्येव ॥१२४॥ आप्तागमपदार्थेषु अर्हति जिने, आगमे तदुक्तसिद्धान्ते, जीवादिनवपदार्थेषु च अपरं दोषम् अपश्यन्तोऽन्यमतीया अमज्जनेत्यादिदोषचतुष्टयं ब्रुवते—अमज्जनम् अस्नानम्, अनाचामम् अदन्तधावनम्, नग्नत्वम्, स्थितिभोजिता उद्भीभूय भोजनं मुनेः एतद्दोषचतुष्टयं मिथ्यादृशो वदन्ति ॥१२५॥

अत्र समाधिः एतद्दोषचतुष्टयस्य निरसनम्—यथा—ब्रह्मचर्येति—ब्रह्मचर्योपपन्नानां मैथुनम् अब्रह्म तत्त्यागो ब्रह्मचर्यम्, तदुपपन्नं स्वीकृतं यैस्ते ब्रह्मचर्योपपन्नास्तेषाम् । पुनः कथंभूतानाम् । अध्यात्माचारचेतसाम् आत्मानम् अधिकृत्य ये आचाराः जपध्यानतपांसि तेषु चेतो मनो येषां ते अध्यात्माचारचेतसः तेषाम् । मुनीनां स्नानम् अप्राप्तं स्नानस्यावश्यकता न । तु परंतु स्पर्शे अयोग्यजनस्पर्शे । अस्य स्नानस्य विधिर्मतः मान्यः ॥१२६॥ संगे इति—कापालिकात्रेयीचाण्डालशबरादिभिः कपालेन नृकपालेन चरति अभ्यवहारादिकं भोजनपानादिकं करोतीति कापालिकः वर्णसंकरजातिविशेषः । आत्रेयी पुष्पवती स्त्री । चाण्डालः ब्राह्मण्यां वृषलेन शूद्रेण जातः । शबरो म्लेच्छजातिः, "भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः" इति, आदिशब्देन शुनकगर्दभनापितस्पर्शे । वमने, विष्ठोपरि पादपतने, शरीरोपरि काकविण्मोचने इत्यादिस्नानोत्पत्तौ सत्यां दण्डवदुपविश्यते श्रावकादिकश्छात्रादिको वा जलं नामयति । सर्वाङ्गप्रक्षालनं क्रियते, स्वयं हस्तमर्दनेनाङ्गमलं न दूरीक्रियते । स्नाने सति उपवासो गृह्यते । पञ्चनमस्कारः शतमष्टोत्तरं वा कायोत्सर्गेण जप्यते एवं शुद्धिर्भवति ॥१२७॥ व्रतिकस्त्रीणां कथं शुद्धिर्भवति । एकान्तरमिति—ऋतौ रजस्वलावस्थायाम् । व्रतगताः स्त्रियः आर्यिकाक्षुल्लिकाश्राविकादयश्च । एकान्तरम् एकदिवसम् उपोषितम्, त्रिरात्रं वा त्रिदिनोपवासं वा कृत्वा । चतुर्थके दिने स्नात्वा स्नानं कृत्वा । अमदेहं निरारेकं निश्चयेन । शुद्ध्यन्ति रजोदोषदूरा भवन्तीत्यर्थः ॥१२८॥ यदेवेति—यदेव आगमेन शुद्धं भवतीति निगदितं तदेव शोध्यम् । केन । अद्भिर्जलेन । हि यतः अङ्गुलौ करशाखायां सर्पदष्टायां न हि नासा नासिका निकृन्त्यते छिद्यते ॥१२९॥ निष्पन्दादिविधौ—निष्पन्दादिविधौ मुखाल्लालाकफादिनिर्गमने सति मुखे यदि चेत् अपूतत्वम् अपवित्रत्वम् इष्यते मन्यते तर्हि वक्त्रापवित्रत्वे मुखस्य अशुचित्वे शौच

यदिति—यथा मन्त्रः नियतोऽपि परिमिताक्षरोऽपि स्वभावतः अचिन्त्यशक्तिको भवति तथा अयम् आत्मा नियतः शरीरप्रमाणोऽपि स्वभावतः अचिन्त्यशक्तिको वेदितव्यः । अतः स्वशरीरात् अन्यत्र आनुपूर्व्ये न च वर्तते । शरीरप्रमाणत्वात् स व्यापको न भवति ॥१०७॥ जीवद्वैविध्यं निगदन्त्याचार्याः—त्रसस्थावरेति—त्रसस्थावरभेदेन केचित् जीवाः चतुर्गतिसमाश्रयाः नारकतिर्यङ्नरदेवगतीः अवलम्ब्य संसारे स्थिताः दृश्यन्ते । तथा अन्ये च केचित् पञ्चमीं गतिं मोक्षगतिम् आश्रिताः मुक्ता भवन्ति कर्मक्षयं कृत्वा इति द्वैविध्यं जीवानाम् । संसारिणो जीवाः त्रसस्थावरभेदेन द्विविधाः । परे मुक्ता जीवाः कर्मणः अभावेन भेदरहिता ज्ञेयाः ॥१०८॥ धर्माधर्मावितिति—धर्म अधर्म नभः कालः पुद्गलश्चेति पञ्च पदार्थाः अजीवशब्देन कथ्यन्ते । एते विविधपर्यायाः एते नानावस्थायुता भवन्ति ॥१०९॥ गतिस्थितीति—धर्मद्रव्यं जीवपुद्गलयोर्गतिपरिणतिकारणम् । अधर्मद्रव्यं तयोरेव स्थितिपरिणतिकारणम् । नभः आकाशं द्रव्यम् अप्रतीघातकारणं जीवपुद्गलयोः प्रतीघातं प्रतिरोधं न करोति तयोरवगाहं ददाति । कालः जीवपुद्गलयोः वर्तनाक्रियापरिणामपरत्वापरत्वपरिणतिनिबन्धनं भवति । एवं षड्वस्तूनां लक्षणं प्रोक्तम् । रूपात्मा च पुद्गलः 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः" इति पुद्गलस्य लक्षणम् ॥११०॥ बन्धस्य लक्षणम्—अन्योन्येति—अन्योन्यानुप्रवेशेन जीवप्रदेशेषु कर्मप्रदेशाः प्रविशन्ति । कर्मप्रदेशेषु च जीवप्रदेशाः प्रविशन्ति एवं कर्मात्मनोर्बन्धो भवति । स बन्धोऽनादिसान्तश्च भवति कालिकास्वर्णयोरिव यथा स्वर्णं सुवर्णं कालिकारहितमेवासीत् तत्र आदौ सुवर्णम्, कालिका तदनन्तरम् इति कालभेदो नास्ति परं ततः उपायैः सुवर्णात्कालिमापनयः क्रियते येन तयोः सान्तता भवति तथाऽसौ शुद्ध आत्मा तदनु तस्य प्रदेशेषु कर्मप्रदेशानां संश्लेषो जात इति न, अनयोः संश्लेषस्त्वनादितो वर्तते । परं रत्नत्रयं प्रकृष्यते यदा तदा जीवकर्मणोरत्यन्तं विश्लेषो भवति येन जीवः शुद्धः संपद्यते ॥१११॥ बन्धस्य चातुर्विध्यम्—प्रकृत्यादीति—सर्वेषामेव देहिनां संसारिजीवानां प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धः अनुभागबन्धः, प्रदेशबन्धः इति भेदात् चतुर्धा बन्धो भिद्यते चतुःप्रकारो भवतीत्यर्थः । ज्ञानावरणादिकर्मणां ज्ञानादिप्रतिबन्धस्वभावः प्रकृतिबन्धः । तत्स्वभावादप्रच्युतिः स्थितिबन्धः । ज्ञानावरणादिस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिबन्धः । तद्रसविशेषोऽनुभवः कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेशबन्धः ॥११२॥ मोक्षलक्षणम्—आत्मेति—जीवस्य अनन्तमहत्त्वात् जीवस्य रागादिकषायपरिणामात् अन्तर्मलकलापानां समन्ताद्विश्लेषात् या निर्मलता अनन्तगुणस्वाभाविकचैतन्यसुखादिपरिणते प्रकर्षतमता तस्याः आत्मलाभं मोक्षं विदुः जानन्ति । जीवस्य अभावो मोक्षो न नापि चैतन्यं येनाहितत्वं मोक्षः न च चैतन्यम् अनर्थकम् यतो घटादिनाशाभावेऽर्थे चैतन्यं कृता च न तिष्ठति । मुक्तात्मना ज्ञाने प्रतिसमयम् अनन्तपदार्थमालिका [illegible] भवम् ॥११३॥ बन्धहेतवो कारणानि—मिथ्यात्वेति—मिथ्यात्वासंयमादिकं बन्धस्य कारणं प्रोक्तम् । आप्तागमपदार्थानाम् अश्रद्धानं मिथ्यात्वम् । इन्द्रियमनःसंयमप्राणिसंयमयोरभावः असंयमः । आदिशब्देन कषायादिकं गृह्यते । [illegible] कारणं निरुक्तं प्रोक्तम् । रत्नत्रयं तु मोक्षस्य मुक्तेः कारणं प्रोक्तं कथितम् ॥११४॥ मिथ्यात्वभेदान् प्रतिपादयन्ते—आप्तेति—आप्तागमपदार्थानाम् अर्हत्सिद्धान्तजीवादिपदार्थानाम् अश्रद्धानम् एकं मिथ्यात्वम्, विपरीतं द्वितीयम् संशयत्वं तृतीयम् । इति [illegible] त्रिधा मिथ्यात्वं प्रोक्तम् । अथवा—एकान्तेति—एकान्तविपरीतसंशयम्-एकान्तमिथ्यात्वम् संशयमिथ्यात्वम् अज्ञानमिथ्यात्वं च तथा [illegible] विपरीतमिथ्यात्वम् । विनयमिथ्यात्वम् [illegible] । मिथ्यात्वभेदाः [illegible] अनुकूलत्वात् [illegible] ॥११५-११६॥ [illegible]

अप्रतिहतमिति— [illegible]

कषन्ति हिंसन्ति आत्मानं दुर्गतिं प्रापयन्ति इति कषायाः । ते क्रोधाद्याः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः पुनस्तेषामपि एकैकस्य चातुर्विध्यमेवम् अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः । अप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः । प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः । सञ्ज्वलनाश्च क्रोधमानमायालोभाः । एते प्राणिनां जीवानां संसारसिन्धुसंपातहेतवः—भवसागरप्रवेशे हेतवो मताः ॥११८॥ मनोवाक्कायेति—शुभाशुभविभेदतः मनोवाक्कायकर्माणि शुभं मनःकर्म शुभा मनोभावना, शुभं वाक्कर्म, शुभा वचनप्रवृत्तिः, शुभं कायकर्म, शुभा शरीरचेष्टा, अशुभं मनःकर्म, अशुभा मनोभावना, अशुभा वचनप्रवृत्तिः, अशुभा शरीरचेष्टा एताः शुभाशुभमनोवाक्कायानां प्रवृत्तयः आत्मनि जीवे पुण्यपापानां क्रमशो बन्धहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते ॥११९॥ लोकस्वरूपं प्रोच्यते—निराधार इति—निराधारः शेषकच्छपाद्याधाररहितः । निरालम्बः आकाशे सर्वतोऽनन्ते क्वापि न संलग्नः, पवमानसमाश्रयः पवमानाः घनवाताम्बुवाततनुवातानाम् आधारेण तिष्ठन्, नभोमध्यस्थितः. आकाशमध्ये स्थितः । सृष्टिसंहारवर्जितः उत्पत्तिव्ययरहितः ॥१२०॥ अथ मतम्—नैवेति—जगत् क्वापि न लग्नम् । जगत् लोकोऽयं क्वापि कस्मिन् अपि न लग्नम् न संश्लिष्टम् । कथंभूतम् । भूभूध्राम्भोधिनिर्भरं भूः भूमिः, भूध्राः पर्वताः, अम्भोधिः समुद्रः तैः । निर्भरं भृतम् । धातारश्च धारकाः, के । मत्स्यकूर्माहिपोत्रिणः मत्स्यो मत्स्यावतारधारी विष्णुः, कूर्मः कच्छपः, अहिः शेषः, पोत्री वराहः न युज्यन्ते अनवस्थापत्तेः ॥१२१॥ एवमिति—एवमालोच्य इत्थं विचार्य । लोकस्य जगतः । कथंभूतस्य निरालम्बस्य आश्रयविहीनस्य । धारणे जैनैः पवनः वायुविशेषः कल्प्यते समर्थ्यते । इत्येतन्महत्साहसम् ॥१२२॥ यो हीति—हि यस्मात्कारणात्, यो वायुः अत्र अस्मिल्लोके प्रत्यक्षीभूते । लोष्टकाष्ठादिधारणे लोष्टं मृत्तिकाखण्डम्, काष्ठं दारु, आदिशब्देन घटपटादयः तेषां धारणे न शक्तो न समर्थः । स त्रैलोक्यस्य जगत्त्रयस्य कथं धारणावसरक्षमः धारणावसरे धारणकार्ये क्षमः समर्थः स्यात् ॥१२३॥ तदसत्—उपर्युक्तमाक्षेपं प्रतिविदधाति—ये इति—ये मेघाः पानीयैः जलैः । सचराचरं चराः जङ्गमाः पदार्थाः । अचराः स्थिराः पदार्थाः धराधराधरादयः । तैः सहितं सचराचरं विष्टपं जगत् प्लावयन्ति पूरयन्ति । ते वातसामर्थ्यात् वायुशक्तेः । व्योम्न्याकाशे । किं न समासते किं न तिष्ठन्ति । अपि तु तिष्ठन्त्येव ॥१२४॥ आप्तागमपदार्थेषु अर्हति जिने, आगमे तदुक्तसिद्धान्ते, जीवादिनवपदार्थेषु च अपरं दोषम् अपश्यन्तोऽन्यमतीया अमज्जनेत्यादिदोषचतुष्टयं ब्रुवते—अमज्जनम् अस्नानम्, अनाचामः अदन्तधावनम्, नग्नत्वम्, स्थितिभोजिता उद्भूीभूय भोजनं मुनेः एतद्दोषचतुष्टयं मिथ्यादृशो वदन्ति ॥१२५॥ अत्र समाधिः एतद्दोषचतुष्टयस्य निरसनम्—यथा—ब्रह्मचर्येति—ब्रह्मचर्योपपन्नानां मैथुनम् अब्रह्म तत्त्यागो ब्रह्मचर्यम्, तदुपपन्नं स्वीकृतं यैस्ते ब्रह्मचर्योपपन्नास्तेषाम् । पुनः कथंभूतानाम् । अध्यात्माचारचेतसाम् आत्मानम् अधिकृत्य ये आचाराः जपध्यानतपांसि तेषु चेतो मनो येषां ते अध्यात्माचारचेतसः तेषाम् । मुनीनां स्नानम् अप्राप्तं स्नानस्यावश्यकता न । तु परंतु स्पर्शे अयोग्यजनस्पर्शे । अस्य स्नानस्य विधिर्मतः मान्यः ॥१२६॥ संगे इति—कापालिकात्रेयीचाण्डालशवरादिभिः कपालेन नृकपालेन चरति अभ्यवहारादिकं भोजनपानादिकं करोतीति कापालिकः वर्णसंकरजातिविशेषः । आत्रेयी पुष्पवती स्त्री । चाण्डालः ब्राह्मण्यां वृषलेन शूद्रेण जातः । शबरो म्लेच्छजातिः, "भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः" इति, आदिशब्देन शुनकगर्दभनापितस्पर्शे । वमने, विष्टोपरि पादपतने, शरीरोपरि काकविण्मोचने इत्यादिस्नानोत्पत्तौ सत्यां दण्डवदुपविश्यते श्रावकादिकश्छात्रादिको वा जलं नामयति । सर्वाङ्गप्रक्षालनं क्रियते, स्वयं हस्तमर्दनेनाङ्गमलं न दूरीक्रियते । स्नाने सति उपवासो गृह्यते । पञ्चनमस्कारं शतमष्टोत्तरं वा कायोत्सर्गेण जप्यते एवं शुद्धिर्भवति ॥१२७॥ प्रतिकस्त्रीणां कथं शुद्धिर्भवति । एकान्तरमिति—ऋतौ रजस्वलावस्थायाम् । व्रतगताः स्त्रियः आर्यिकाः क्षुल्लिकाः श्राविकादयश्च । एकान्तरम् एकदिवसम् उपोषितम्, त्रिरात्रं वा त्रिदिनोपवासं वा कृत्वा । चतुर्थके दिने स्नात्वा स्नानं कृत्वा । असंदेहं निरारेकं निश्चयेन । शुद्ध्यन्ति रजोदोषदूरा भवन्तीत्यर्थः ॥१२८॥ यदेवेति—यदेव आगमेन शुद्धं भवतीति निगदितं तदेव शोध्यम् । केन । अद्भिर्जलेन । हि यतः अङ्गुली करशाखायां सर्पदष्टायां न हि नासा नासिका निकृन्त्यते छिद्यते ॥१२९॥ निष्पन्दादिविधौ—निष्पन्दादिविधौ मुखाल्लालाकफादिनिर्गमने सति मुखे यदि चेत् अपूतत्वम् अपवित्रत्वम् इष्यते मन्यते तर्हि वक्त्रापवित्रत्वे मुखस्य अशुचित्वे शौच

वह्निरिति—यथा मन्त्रः नियतोऽपि परिमिताक्षरोऽपि स्वभावतः अचिन्त्यशक्तिको भवति तथा अयम् आत्मा नियतः शरीरप्रमाणोऽपि स्वभावतः अचिन्त्यशक्तिको वेदितव्यः। अतः स्वशरीरात् अन्यत्र नानुभूयते न च गम्यते। शरीरप्रमाणत्वात् स व्यापको न भवति ॥१०७॥ जीवद्वैविध्य निरूपयन्नाह—त्रसस्थावरेति—त्रसस्थावरभेदेन केचित् जीवाः चतुर्गतिसमापन्नाः नारकतिर्यङ्नरदेवगतौ भवकानने संसारे स्थिता दृश्यन्ते। तथा अन्ये च केचित् पञ्चमीं गतिं मोक्षगतिम् आश्रिताः मुक्ता भवन्ति कर्मक्षयं कृत्वा इति द्वैविध्यं जीवानाम्। संसारिणो जीवाः त्रसस्थावरभेदेन द्विविधाः। परं मुक्ता जीवाः कर्मणः अभावेन भेदरहिता ज्ञेयाः ॥१०८॥ धर्माधर्मावितिति—धर्मः अधर्मः नभः कालः पुद्गलश्चेति पञ्च पदार्था अजीवशब्देन वर्ण्यन्ते। एते विविधपर्यायाः एते नानावस्थायुता भवन्ति ॥१०९॥ गतिस्थितीति—धर्मद्रव्यं जीवपुद्गलयोर्गतिपरिणतिकारणम्। अधर्मद्रव्यं तयोरेव स्थितिपरिणतिकारणम्। नभ आकाशं द्रव्यम् अप्रतीघातकारणं जीवपुद्गलयोः प्रतीघातं प्रतिरोधं न करोतीति तत्तयोरवगाहं ददाति। कालः जीवपुद्गलयोः वर्तनाक्रियापरिणामपरत्वापरत्वपरिणतिनिबन्धनं भवति। एवं सर्ववस्तूनां स्वरूपं प्रोक्तम्। रूपाकारेण च पुद्गलाः 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः' इति पुद्गलस्य लक्षणम् ॥११०॥ बन्धस्य लक्षणम्—अन्योन्येति—अन्योन्यानुप्रवेशेन जीवप्रदेशेषु कर्मप्रदेशाः प्रविशन्ति। कर्मप्रदेशेषु च जीवप्रदेशाः प्रविशन्ति एवं कर्मात्मनोर्बन्धो भवति। स बन्धोऽनादिसान्तश्च भवति काञ्चिकास्वर्णयोरिव यतो यत्पूर्वं सुवर्णं किट्टिकारहितमेवासीत् तत्र जातं सुवर्णम्, कालिका तदनन्तरम् इति कालभेदो नास्ति परं ततः उपायैः सुवर्णात्कालिकापगमः क्रियते येन तयोः सान्तता भवति तथायं शुद्ध आत्मा ततस्तस्य प्रदेशेषु कर्मप्रदेशानां संश्लेषो जात इति न अनयोः संश्लेषस्यानादिता गम्यते। परं रत्नत्रयं प्रकृष्यते यदा तदा जीवकर्मणोरत्यन्तं विश्लेषो भवति येन जीवः शुद्धः संपद्यते ॥१११॥ बन्धस्य चातुर्विध्यम्—प्रकृतीति—सर्वेषामेव देहिनां संसारिजीवानां प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धः, अनुभागबन्धः, प्रदेशबन्धः इति भेदात् चतुर्धा बन्धो भिद्यते चतुःप्रकारो भवतीत्यर्थः। ज्ञानावरणादिकर्मणां ज्ञानादिप्रतिबन्धनं स्वभावः प्रकृतिबन्धः। तत्स्वभावादप्रच्युतिः स्थितिबन्धः। ज्ञानावरणादिस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिबन्धः। तद्रसविशेषोऽनुभवः कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेशबन्धः ॥११२॥ मोक्षलक्षणम्—आत्मेति—जीवस्य बन्धकर्मक्षयात् जीवस्य रागादिरूपपरिणतीनाम् अन्तर्मलक्षयाणां अनादिस्थिरात् या निर्मलता अनन्तगुणस्वाभाविकचैतन्यसुखादिपरिणतेः प्रकर्षतमता तस्याः आत्मलाभं मोक्षं विदुः जानन्ति। जीवस्य अभावो मोक्षो न नापि अचैतन्यं चेतनारहितत्वं मोक्षः न च चैतन्यम् अनर्थकम् यतो ज्ञानादिज्ञानविरहितं चैतन्यं कदा च न तिष्ठति। मुक्तात्मनां ज्ञानं प्रतिसमयम् अनन्तपदार्थभासिका भवतीति ज्ञेयम् ॥११३॥ बन्धमोक्षयोः कारणानि—बन्धस्येति—मिथ्यात्वासंयमादिकं बन्धस्य कारणं प्रोक्तम्। आप्तागमपदार्थानाम् अश्रद्धानं मिथ्यात्वम्। इन्द्रियसंयमप्राणिसंयमयोरभावः असंयमः। आदिशब्देन कषायादिकं गृह्यते। भवकर्मबन्धस्य कारणं निदानं प्रोक्तम्। रत्नत्रयं तु मोक्षस्य मुक्तेः कारणं प्रोक्तं कथितम् ॥११४॥ मिथ्यात्वभेदाः प्रतिपाद्यन्ते—आप्तेति—आप्तागमपदार्थानाम् अर्हत्सिद्धान्तजीवादिनवपदार्थानाम् अश्रद्धानम् एकं मिथ्यात्वम्, विपर्ययत्वं द्वितीयम् संशयत्वं तृतीयम्। इति मतिज्ञानमतां पाक्षपातमोहोदयवतां त्रिधा मिथ्यात्वं प्रोक्तम्। अथवा—एकान्तेति—एकान्तसंशयाज्ञानम्-एकान्तमिथ्यात्वम्, संशयमिथ्यात्वम् अज्ञानमिथ्यात्वं च तथा व्यत्यासविनयाभ्याम् व्यत्यासो विपर्ययः आभ्यां आचारो यस्य विपर्यासविनयमिश्रम् विपरीतमिथ्यात्वम्। विनयाश्रयं विनयाचारं विनयमिथ्यात्वमित्यर्थः। मिथ्यात्वमेतत् भवपातनिबन्धनात् समारोपाभ्यां कल्पितत्वात् अनुकूलत्वात् पञ्चधा पञ्चप्रकारं स्मृतम् ॥११५-११६॥ अर्हद्वचनविनयोपलम्भात्—अप्रमत्तत्वमिति—हिंसादीनि पापानि न सेवेऽहमित्यभिमानविरतौ नियमो व्रतम्। तदस्यास्तीति व्रती तस्य भावो व्रतित्वम् न अविरतिः अनर्थकम्। हिंसादिभ्योऽविरमणमव्रतित्वमित्यर्थः। प्रमादो विविधकुशलकर्मसु अनादरः प्रमादः निवृत्तिः न विद्यते यस्य स प्रमादी तस्य भावः प्रमादित्वम्। तच्च पञ्चदशविधं विकथाकषायेन्द्रियनिद्राप्रणयभेदात् अनेकविधम्। निरवद्यम्—रतिषु तं दृष्ट्वा मनोज्ञातृत्वं कृत्वा इति भावः। अनुष्ठाना इष्टविषयेषु तन्मयतेति। मनसा रागद्वेषौ गृह्णाति। इष्टानिष्टानुभवतृष्णाम् इन्द्रियाणां तेषु तेषु विषयेषु स्पृहा आसक्तिः तदानुकूल्येन वचनम्। तस्य प्राणिनः अनवरतं कर्मबन्धनं प्राहुः वदन्ति स्म ॥११७॥ कषायभेदान् बध्नन्—कषाया इति—

समयादिपु या क्रिया पूजादिका क्रियते सा क्लेशायैव ममारम्भणायैव स्यात्—फलावाप्तिकारण न स्यात् । सम्यक्त्वादिफलावाप्तिहेतुर्न भवेत् । केषा मुग्धबाधाना मूर्खाणाम् अज्ञानिनामित्यर्थ । कथम् । ऊपरे क्षारमृद्विशिष्टे क्षेत्रे कृषिकर्मवत् बीजवपनकार्यवत् निष्फल स्यात् ॥१४१॥ जिनादिषु भक्ति सफला भवति—वस्तुनीति—प्रकृतत्वात् जिनादिष्वेव भक्ति । भावितकं भक्ति पूज्ये गुणानुराग सा प्रयोजन यस्य स भावितकस्तस्मिन् भावितके शुभारम्भाय पुण्यप्राप्तये भवेत् । रत्नाय रत्नप्राप्तिहेतवे अरत्नेन रत्नस्वरूपरहितेन पाषाणेन रत्नाय रत्नमिद भवति इति कृतो भाव. भूतये वैभवाय नहि भवति । 'नह्यरत्नेषु' इत्यपि पाठ रत्नस्वरूपरहितेषु पाषाणेषु रत्नानि इमानि इति कृतो भाव भूतये वैभवाय नहि भवति इति अभिप्रायो गृहीतव्य ॥१४२॥

[पृष्ठ ३७] मिथ्यात्वं त्याज्यमिति कथयति—अदेवे इति—अदेवे आप्तत्वरहिते हरिहरादिषु देवता-बुद्धि सर्वज्ञोऽयमिति भावम् । अव्रते व्रतभावनाम्, मिथ्यात्वयुक्ते तप आदौ व्रतभावना व्रतपरिणामम् । अतत्त्वे एकान्तनित्यादिषु तत्त्वविज्ञानं तत्त्वकलन मिथ्यात्व तत् उत्सृजेत् त्यजेत् ॥१४३॥ तथापि इति—तथापि यदि कोऽपि नर सर्वथा मूढत्वम् अदेवादिषु देवतादिभाव न त्यजेत् तर्हि असौ मिश्रत्वेन अर्हदादिषु अदेवादिषु च भक्ति कुर्वाणोऽसौ मिश्रत्वेन अनुमान्य अनुमत्यर्ह । यत सर्वनाश सुन्दर न । कालान्तरेण स जैनो भवेत् इति मत्वा स आदरणीय ॥१४४॥ न स्वत इति—जन्तव स्वत न प्रेर्या आप्तादिश्रद्धाने न प्रवर्तितव्या तथा प्रवर्तने कृते ते जिनागमे दुरीहा स्यु दुर्भावनायुक्ता भवेयु । स्वत एव आप्तादिश्रद्धाने प्रवृत्ताना तद्योग्यानुग्रहो मत आप्तादिश्रद्धानादिषु अनुग्रह उपकार कर्तव्य ॥१४५॥

इत्युपासकाध्ययने मूढतोन्मथनो नाम चतुर्थः कल्प· ।

५ जमदग्नितपःप्रत्यवसादनो नाम पञ्चम कल्पः ।

[पृष्ठ ३७] शङ्केति—शङ्का जिनोक्तम् इद धर्मादितत्त्व स्यादन्यद्वा वैशेषिकाद्युक्त धर्मादितत्त्वं स्यादिति चञ्चल श्रद्धान शङ्का । मदीयतपोमाहात्म्यान्ममेन्द्रपद ससारसौख्यं वा भवतु इति इच्छा काङ्क्षा । कोपादिवशात् रत्नत्रयसाधने शरीरादौ जुगुप्सा विनिन्दा । अन्यश्लाघा—सर्वथा क्षणिकादितत्त्ववादिनो मिथ्या-दृष्टयोऽन्ये तेषा श्लाघा प्रशसा अन्यश्लाघा एते दोषा मनसा गिरा वचसा भवन्ति तदा सम्यक्त्वविनाशकारण भवन्ति ॥१४६॥

[पृष्ठ ३८] तत्र शङ्कादोषस्य विशद स्वरूप प्ररूपयति—अहमिति—अहमेक असहाय, जगत्त्रये मे मम कश्चित् त्राता रक्षको नास्ति । इति एवरूपा व्याधीना रोगाणा व्रज समूह तेन उत्क्रान्ति आक्रमण तस्या जायमाना भीति भय शङ्का प्रचक्षते ब्रुवते—अथवा शङ्काया अपर लक्षणम्—एतदिति—एतत्तत्त्व जिनोक्त धर्मादितत्त्व वा इद तत्त्व वैशेषिकाद्युक्त तत्त्वम्, एतद्व्रत जिनोक्त तपोव्रतादिक वा इद व्रत मिथ्यादृष्टयुक्त पञ्चाग्नितपोव्रतादिकं वा, एष जिनो देव , हरिहरादिको वा देव इति परा शङ्का विदु ॥१४७–१४८॥ इत्थ शङ्कितचित्तस्य—इत्थ सशयितमनस जनस्य दर्शनविशुद्धता न स्यात् । दर्शन निर्मल निर्दोष न भवेत् । चित्ते शङ्किते ईप्सितावाप्तिर्न स्यात् । अभिलषितप्राप्तिर्न भवेत् । यथा उभयवेतने पुरुषे अभिलषित-लाभो न भवति । स्वामिद्वयेनापि त्वया आवयो सेवा न सुष्ठु कृता इति दोषारोपण क्रियते तस्मात् उभयलाभा-दपि स वञ्चितो भवति सेवक । अथवा पाठान्तरम् 'उभयवेदने' नपुसकवेदे उभयाभिलाषा भवति परतु उभययो-रपि वाञ्छितयो अर्थयो प्राप्तिर्न भवति । स्त्रिय पुरुष वा भोक्तु न क्षमो भवति नपुसक । तथा शङ्कित-चित्तस्य नुरपि सम्यग्दर्शननिर्मलता न जायते ॥१४९॥ नि शङ्कितधियो जनस्य स्वरूपमाह—एष एव भवेद्देवः—अर्हन्नेव देवो भवेत् । तदुक्तमेवानेकान्तरूप जीवादिक तत्त्वम्, एतत्तदेव व्रतम् अहिंसादिक मुक्त्यै मोक्षाय भवेत् इति निश्चय कुर्वाणो नरोऽशङ्कधी नि शङ्कितबुद्धि स्यात् ॥१५०॥ तत्त्वे इति—जीवादितत्त्वस्वरूपे ज्ञाते सति । रिपौ अरौ दृष्टे सति । पात्रे वा मुन्यादिके आगते सति यस्य चित्तं दोलायते संशययुक्तं स्यात्

पूर्वत्वं कृत्वा नारम्भते आगमे मुखशुद्धिरसाकृता न तु गुरुशुद्धिः तस्य सर्वथा अपवित्रत्वात् । मुखशुद्धिर्विना भवति । गुरुशुद्धिस्तेनापि न भवति ॥११०॥ विकारे इति—विकृतौ विरूपा मतिमतां द्वेषः । परम् अविकारानुवर्ति निर्विकारानुवर्तने रागद्वेषादिभावरहितस्य नग्नत्वस्य अनुवर्तने अनुसरणे द्वेषो न । मतिमन्तः रागद्वेषादिविषये विदो स्वयं द्वेषं कुर्वन्ति । परम् अविकारकार्यकरणे तद्विषये वा द्वेषं न कुर्वन्ति । तस्मात्तत्तथाजातत्वं मुनीनां निसर्गोत्थं स्वाभाविकम् । रागद्वेषविप्लुतं नामविकारेण विकृतं वा नास्ति । अतस्तत्र का नाम द्वेषस्य अवकाशः अशुभपरिणतिः का नाम कर्तव्या । विवेकं कृत्वा नग्नत्वे द्वेषस्त्याज्यः ॥१११॥ वस्त्रधारणे दोषाः—नैष्किंचन्यमिति—यदि ते संयमिनो मुनयो वल्कलाजिनवाससा तरुत्वक्चर्मनिर्मितवस्त्रं वस्त्रमुच्यते । अजिनं हरिणव्याघ्रादीनां चर्म । कार्पासवस्त्रं वास एतेषां संयमप्रहाणाय यदि देहत्वे स्पृहयन्ति तर्हि नैष्किंचन्यं निष्परिग्रहत्वम् अहिंसा च संयमिना कुतो भवेत् । न कस्मादपि हेतोः । रागद्वेषाद्युत्पत्तिः संयमनाशस्ततः ॥११२॥ स्थितिभोजिनां व्यपगति—नेति—स्थित्वा ऊर्ध्वीभूत्वा मुनिभिः भोजनं न स्वर्गाय । पुनः आसित्वा मुनिभिः उपविश्य भोजनं न स्वभ्राय नरकप्राप्तिहेतुः । किंतु अस्मिन्संयमिजने सा स्थितिभोजिता प्रतिज्ञार्थम् इष्यते । उपविष्टः सन् भाजनेन अन्यहस्तेन वा न भुञ्जेऽहमिति प्रतिज्ञार्थं च ॥११३॥ पाणिपात्रमिति—यावत्कालम् एतत्पाणिपात्रं पाणौ हस्तावेव पात्रं भाजनं मिलति तयोः पाण्योः संयोजनं भवति । यावत्कालं स्थिति-भोजने शक्तिः सामर्थ्यम् अस्ति तावत्कालं भुञ्जे भोजनं कुर्वे । अन्यथा यदा पाण्योः संयोजनं न भवेत् तावत् शक्तिश्च भङ्गादाहारग्रहणे नश्येत् तदाहारं त्यजामि त्यजामि ॥११४॥ केशलोचकरणम्—अदैन्येति—अदैन्यम् अयाचनम् । असङ्गः निर्ग्रन्थता । वैराग्यं संसारशरीरभोगेभ्यः विरक्तिः । परीषहो दु सहनम् एतदर्थं यदीयशाला मुनीश्वराणाम् । केशोत्पाटनक्रियाविधिः श्मश्रुमूर्धजानां केशानां हस्तेन उत्पाटनक्रियाविधिः अवश्यमेव विहितः ॥११५॥

इत्युपासकाध्ययने आगमपदार्थपरीक्षणो नाम तृतीयः कल्पः ।

४ मूढतोन्मथनो नाम चतुर्थः कल्पः ।

[पृष्ठ ३६] सूर्यार्घ इति—सूर्याय अर्घ्यदानम् । मिथ्यादृष्टयः खलु सूर्योऽयं नारायण इति मत्वार्घ्यं ददति । तत्पुण्यात् धर्मं ददतः सम्यक्त्वनाशः स्यात् । ग्रहणस्नानम्—ग्रहणं सूर्यचन्द्रमसोः राहुः संक्रान्तौ अपि च सूर्यस्य राश्यन्तरसंक्रमणम्, पुण्यार्थं तेन मिथ्यादृष्टिभिः समर्थिताया संक्रान्तौ द्रव्यदानम् । सन्ध्यावन्दनम् । संध्यावेलायां सन्ध्यासमये विष्ण्वादिदेवतानां तर्पणम् । अग्निसत्कारः अग्नौ देवतार्थं संस्कृत्य तत्पूजनं लोकमूढता गेहार्चनं गेहपूजनं देहार्चनं देहपूजनम् ॥११६॥ नदीति—नदीनदसमुद्रेषु धर्मचेतसा मज्जनम् अत्र स्नाने कृते पुण्यं लभ्यते परलोके च सुखी जीवो भवति इति कल्पनया स्नानम् । तथा स्तूपानामचलानां वन्दनं तरोरश्वत्थस्य वन्दनम् स्तूपादेः सिकताश्मनाम् उच्चयानस्य वन्दनम् । अस्त्राणाम् शस्त्राणां वन्दनम् । भृगुर्भयप्रपातः पर्वतात् तथाग्नौ च प्रवेशः तस्य संप्रदायोऽवलम्बनम् । भूमीरथोदयादिषु पतितानां मरणं पुण्यायेति मत्वा तथाकरणम् ॥११७॥ गोपृष्ठेति—गोपृष्ठान्तनमस्कारः गो धेनोः पृष्ठस्य अन्तस्य योनेश्च नमस्कारो वन्दनं तन्मूत्रस्य निषेवणं पानम् । रत्नवाहनभूयक्षवृक्षशस्त्रशैलादिसेवनं रत्नानां वाहनानाम् अश्वादीनां भूमेः यक्षाणां शस्त्राणां पर्वतानां च सेवनम् ॥११८॥ समयपि—जिनदर्शनं मुक्त्वा नैयायिकवैशेषिकबौद्धादिदर्शनानि समयान्तराणि आगमाः तत्र पटकापालिकादयः वेदः—ऋग्वेदादयः लोकः—लोकपालदेवतानामैका लौकिकी पूजा तथा वा विष्णुर्वा आदिः इत्यादिलोकसंभवमूढत्वम् । समयलक्षितं मूढत्वम् आगमलक्षितं मूढत्वम्, देवविषयमूढत्वम् । इत्यादि त्रिधा मूढत्वं भवेत् । समयादिषु ये आचारा विवेकरहिताः प्रतिपादितास्तेषां तथाचरणेन विमूढानाम् अविवेकि-नाम् ॥११९॥ देवमूढत्वं प्रतिपादयति—वरार्थमिति—पुत्रधनादिप्राप्त्यर्थं आशया वरः लभ्यते इति वरार्थम् । लोकवार्तार्थं कृष्यादिव्यापारलोकव्यवहारार्थं लोकवार्तां तस्यै लोकवार्तार्थम् । परोपरोधे निर्बन्धविषये उपरोधेन, अवीनां कुदेवानाम् उपासनं सेवनं सम्यग्दर्शनहानये कारणं स्यात् ॥१२०॥ असदाप्तसेवेति—आप्तेषु कर्तृष्वेषु

समयादिपु या क्रिया पूजादिका क्रियते सा क्लेशायैव ममारम्भमणायैव स्यात्—फलावाप्तिकारण न स्यात् । सम्यक्त्वादिफलावाप्तिहेतुर्न भवेत् । केपा मुग्धवाधाना मूर्खाणाम् अज्ञानिनामित्यर्थ । कथम् । ऊपरे क्षारमृद्विशिष्टे क्षेत्रे कृपिकर्मवत् बीजवपनकार्यवत् निष्फल स्यात् ॥१४१॥ जिनादिपु भक्ति सफला भवति—**वस्तुनीति**—प्रकृतत्वात् जिनादिष्वेव भक्ति । भाक्तिके भक्ति पूज्ये गुणानुराग सा प्रयोजन यस्य स भाक्तिकस्तस्मिन् भाक्तिके शुभारम्भाय पुण्यप्राप्तये भवेत् । रत्नाय रत्नप्राप्तिहेतवे अरत्नेन रत्नस्वरूपरहितेन पापाणेन रत्नाय रत्नमिद भवति इति कृतो भाव भूतये वैभवाय नहि भवति । 'नह्यरत्नेपु' इत्यपि पाठ रत्नस्वरूपरहितेपु पापाणेपु रत्नानि इमानि इति कृतो भाव भूतये वैभवाय नहि भवति इति अभिप्रायो गृहीतव्य ॥१४२॥

[पृष्ठ ३७] मिथ्यात्व त्याज्यमिति कथयति—**अदेवे इति**—अदेवे आप्तत्वरहिते हरिहरादिपु देवताबुद्धि सर्वज्ञोऽयमिति भावम् । अव्रते व्रतभावनाम्, मिथ्यात्वयुक्ते तप आदौ व्रतभावना व्रतपरिणामम् । अतत्त्वे एकान्तनित्यादिपु तत्त्वविज्ञान तत्त्वकल्पन मिथ्यात्व तत् उत्सृजेत् त्यजेत् ॥१४३॥ **तथापि इति**—तथापि यदि कोऽपि नर सर्वथा मूढत्वम् अदवादिपु देवतादिभाव न त्यजेत् तर्हि असौ मिश्रत्वेन अर्हदादिपु अदेवादिपु च भक्ति कुर्वाणोऽसौ मिश्रत्वेन अनुमान्य अनुमत्यर्ह । यत सर्वनाश सुन्दर न । कालान्तरेण स जैनो भवेत् इति मत्वा स आदरणीय ॥१४४॥ **न स्वत इति**—जन्तव स्वत न प्रेर्या आप्तादिश्रद्धाने न प्रवर्तितव्या तथा प्रवर्तने कृते ते जिनागमे दुरीहा स्यु दुर्भावनायुक्ता भवेयु । स्वत एव आप्तादिश्रद्धाने प्रवृत्ताना तद्योग्यानुग्रहो मत आप्तादिश्रद्धानादिपु अनुग्रह उपकार कर्तव्य ॥१४५॥

इत्युपासकाध्ययने मूढतोन्मथनो नाम चतुर्थ. कल्प ।

५ जमदग्नितपःप्रत्यवसादनो नाम पञ्चमः कल्पः ।

[पृष्ठ ३७] **शङ्केति**—शङ्का जिनोक्तम् इद धर्मादितत्त्व स्यादन्यद्वा वैशेपिकाद्युक्त धर्मादितत्त्व स्यादिति चञ्चल श्रद्धान शङ्का । मदीयतपोमाहात्म्यान्ममेन्द्रपद ससारसौख्य वा भवतु इति इच्छा काङ्क्षा । कोपादिवशात् रत्नत्रयसाधने शरीरादौ जुगुप्सा विनिन्दा । अन्यश्लाघा—सर्वथा क्षणिकादितत्त्ववादिनो मिथ्यादृष्टयोऽन्ये तेषा श्लाघा प्रशसा अन्यश्लाघा एते दोपा मनसा गिरा वचसा भवन्ति तदा सम्यक्त्वविनाशकारणं भवन्ति ॥१४६॥

[पृष्ठ ३८] तत्र शङ्कादोपस्य विशद स्वरूपं प्ररूपयति—**अहमिति**—अहमेक असहाय , जगत्त्रये मे मम कश्चित् त्राता रक्षको नास्ति । इति एवरूपा व्याधीना रोगाणा व्रज समूह तेन उत्क्रान्ति आक्रमण तस्या जायमाना भीति भय शङ्का प्रचक्षते ब्रुवते—अथवा शङ्काया अपर लक्षणम्—**एतदिति**—एतत्तत्त्व जिनोक्त धर्मादितत्त्व वा इद तत्त्व वैशेपिकाद्युक्त तत्त्वम्, एतद्व्रत जिनोक्त तपोव्रतादिक वा इदं व्रत मिथ्यादृष्ट्युक्त पञ्चाग्नितपोव्रतादिक वा, एप जिनो देव , हरिहरादिको वा देव इति परा शङ्का विदु ॥१४७–१४८॥ **इत्थ शङ्कितचित्तस्य**—इत्थ सशयितमनस जनस्य दर्शनविशुद्धता न स्यात् । दर्शन निर्मलं निर्दोष न भवेत् । चित्ते शङ्किते ईप्सितावाप्तिर्न स्यात् । अभिलपितप्राप्तिर्न भवेत् । यथा उभयवेतने पुरुपे अभिलपितलाभो न भवति । स्वामिद्वयेनापि त्वया आवयो सेवा न सुष्ठु कृता इति दोपारोपण क्रियते तस्मात् उभयलाभादपि स वञ्चितो भवति सेवक । अथवा पाठान्तरम् 'उभयवेदने' नपुसकवेदे उभयाभिलाषा भवति परतु उभययोरपि वाञ्छितयो अर्थयो प्राप्तिर्न भवति । स्त्रिय पुरुप वा भोक्तु न क्षमो भवति नपुसक । तथा शङ्कितचित्तस्य नुरपि सम्यग्दर्शननिर्मलता न जायते ॥१४९॥ नि शङ्कितधियो जनस्य स्वरूपमाह—**एप एव भवेद्देवः**—अर्हन्नेव देवो भवेत् । तदुक्तमेवानेकान्तरूप जीवादिक तत्त्वम्, एतत्तदेव व्रतम् अहिंसादिक मुक्त्यै मोक्षाय भवेत् इति निश्चयं कुर्वाणो नरोऽशङ्कवो नि शङ्कितबुद्धि स्यात् ॥१५०॥ **तत्त्वे इति**—जीवादितत्त्वस्वरूपे ज्ञाते सति । रिपौ अरौ दृष्टे सति । पात्रे वा मुन्यादिके आगते सति यस्य चित्तं दोलायते संशययुक्त स्यात्

पूरणं कृत्वा नारभ्यते आपणं मुखशुद्धिस्वादहेतुः न तु गुरुशुद्धिः तस्य सम्यक् अपरिमितत्वात्। मुखशुद्धिरेवैतेन भवति। गुरुशुद्धिस्तेनापि न भवति ॥११०॥ विकारे इति—विकृतौ विदुषां मतिमतां द्वेष । परम् अविकारमूर्तिनि निर्विकारानुवर्तिनि रागद्वेषादिविभावरहितस्य नग्नत्वस्य अनुवर्तने अनुसरणे द्वेषो न। मतिमन्तः रागद्वेषादिविषये विधौ कार्ये द्वेषं कुर्वन्ति। परम् अविकारकार्यकरणे तद्विषये वा द्वेषं न कुर्वन्ति। तस्मात्तावन्नग्नत्वं मुनीनां निरपेक्षत्वं स्वाभाविकम्। रागद्वेषादिसम्मुखं नामविकारेण विकृतं वा नास्ति। अतस्तत्र को नाम द्वेषस्य द्वेषेण कस्मात् अशुभपरिणतिः का नाम कर्तव्या। विवेकं कृत्वा नग्नत्वे द्वेषस्त्याज्यः ॥१११॥ वस्त्रधारणे दोषा—नैर्ग्रन्थ्यमिति—यदि ते संयमिनो मुनयो वल्कलाजिनवाससां तरुवल्कलादिनिर्मितवस्त्रं वल्कलमुच्यते। अजिनं हरिणव्याघ्रादीनां चर्म। कार्पासवस्त्रं वासः एतेषां संयमाय ग्रहणाय यदि वाञ्छन्ति स्पृहयन्ति तर्हि नैर्ग्रन्थ्यं निष्परिग्रहत्वम् अहिंसा च संयमिनां कुतो भवेत्। न कस्मादपि हेतोः। रागद्वेषादिसद्भावात् संयमाभावो भवः ॥११२॥ स्थितिभोजिता वर्णयति—नेति—स्थितो ऊर्ध्वीभूत्वा भुक्तिः भोजनं न स्वर्गाय। पुनः आसित्वा भुक्तिः उपविश्य भोजनं न श्वभ्राय नरकप्राप्तिहेतुः। किन्तु अस्मिन्संयमिजने सा स्थितिभोजिता प्रतिज्ञार्थम् इष्यते। उपविष्टः सन् भाजनेन अन्यहस्तेन वा न भुञ्जेऽहमिति प्रतिज्ञार्थं च ॥११३॥ पाणिपात्रमिति—यावत्कालम् एतत्पाणिपात्रं पाणी हस्तावेव पात्रं भाजनं मिलति तयोः पाण्योः संयोजनं भवति। यावत्कालं स्थितिभोजने शक्तिः सामर्थ्यम् अस्ति तावत्कालं भुञ्जे भोजनं कुर्वे। अन्यथा यदा पाण्योः संयोजनं न भवेत् पादयोः शक्तिश्च आहारग्रहणे न भवेत् तदाहारं त्यजामि त्यजामि ॥११४॥ केशलोचवर्णनम्—अदैन्येति—अदैन्यम् अयाचनम्। असंगः निर्ममत्वम्। वैराग्यं संसारशरीरभोगेभ्यो विरक्तिः। परीषहो दुःखसहनम् एतदर्थं तपोधनानां मुनीश्वराणाम्। केशोत्पाटनसद्विधिः श्मश्रुमूर्धजानां केशानां हस्तेन उत्पाटनसद्विधिः अयमवगमितः कृतः ॥११५॥

इत्युपासकाध्ययने आगमपदार्थपरीक्षणो नाम तृतीयः कल्पः।

४ मूढोन्मथनो नाम चतुर्थः कल्पः।

[पृष्ठ ३६] सूर्यार्घ इति—सूर्याय अर्घ्यदानम्। मिथ्यादृष्टयः खलु सूर्योऽयं नारायण इति मत्वार्घ्यं ददति। तदनुष्ठानं धर्म इत्युक्तः सम्यक्त्वनाशाय स्यात्। ग्रहणस्नानम्—ग्रहणं सूर्याचन्द्रमसोस्तथा संक्रान्तौ सूर्यस्य राश्यन्तरसंक्रमणम्, पुण्यार्थत्वेन मिथ्यादृष्टिभिः समर्थितायां संक्रान्तौ द्रव्यदानम्। सन्ध्यावन्दनम्। सन्ध्यावेला सन्ध्यासमये मिथ्यादेवतानां तर्पणम्। अग्निसत्कारः अग्नौ देवतात्वं संकल्प्य तत्पूजनं लोकमूढता। गेहार्चनं गेहपूजनं देहार्चनं देहपूजनम् ॥१३६॥ नदीति—नदीनदसमुद्रेषु धर्मचेतसा मज्जनम् अत्र स्नाने कृते पुण्यं लभ्यते परलोके च सुखी जीवो भवति इति कल्पनया स्नानम्। तरुस्तूपाग्रभक्तानां वन्दनं तरोरश्वत्थस्य वन्दनम् स्तूपस्य चिक्कणसमूहस्य उच्चपाषाणस्य वन्दनम्। भक्तानाम् अन्नानां वन्दनम्। भृगुर्भैरवपर्वतात् तदन्यस्मिन् भृगु पतनं समयलोकमूढत्वम्। भृगोः पर्वतपतिषु पतित्वा मरणं पुण्यार्थमिति मत्वा तदाचरणम् ॥१३७॥ गोपृष्ठेति—गोपृष्ठान्तनमस्कारः यो धेनोः पृष्ठस्य अन्तस्य मूत्रस्य नमस्कारो वन्दनं तन्मूत्रस्य निषेवणं पानम्। रत्नवाहनभूयक्षदेहलीनिषेवणं रत्नानां वाहनानाम् अश्वादीनां भूमेः यक्षाणां देहलीनां पर्वतादीनां च सेवनम् ॥१३८॥ समयेति—जिनदर्शनं मुक्त्वा नैयायिकवैशेषिकबौद्धादिदर्शनानि समयान्तराणि तान्यपि पटकापालिकादयः वेदे—ऋग्वेदादयः लोके—पञ्चपाण्डवाधारभेदा कुर्वन्ति हरिहरादि इत्यादिलोकसमयमूढत्वम्। समयसमर्पितं मूढत्वम्, लोकसमर्पितं मूढत्वम्, देवसमर्पितमूढत्वम्। इत्याद्यनेकधा मूढत्वं ज्ञेयम्। समयादिकेषु ये आचारा विवेकरहिता अविचारितशीलानां तदाचरणेन विमूढानाम् अविवेकिनाम् ॥१३९॥ देवमूढत्वं प्रतिपादयति—वरार्थमिति—पुत्रधनादिप्राप्त्यर्थं याचना वरः तदर्थं इति वरार्थम्। लोकवार्तार्थं दृष्टादिविषयाभिलाषकारणात् लोकवार्ता तदर्थं लोकवार्तार्थम्। अपरीक्षार्थं निवृत्तं दृष्टिविषयार्थकार्यम्, अन्येषां पुरुषाणाम् उपासनं सेवनं सम्यग्दर्शनहानये कारणं स्यात्।

सम्पूर्णेषु

समयादिषु या क्रिया पूजादिका क्रियते सा क्लेशायैव समारम्भमणायैव स्यात्—फलावाप्तिकारणं न स्यात्। सम्यक्त्वादिफलावाप्तिहेतुर्न भवेत्। केषां मुग्धबोधानां मूर्खाणाम् अज्ञानिनामित्यर्थः। कथम्। ऊषरे क्षारमृद्विशिष्टे क्षेत्रे कृषिकर्मवत् बीजवपनकार्यवत् निष्फलं स्यात् ॥१४१॥ जिनादिषु भक्तिः सफला भवति—वस्तुनीति—प्रकृतत्वात् जिनादिष्वेव भक्तिः। भाक्तिके भक्तिः पूज्ये गुणानुरागः सा प्रयोजनं यस्य स भाक्तिकस्तस्मिन् भाक्तिके शुभारम्भाय पुण्यप्राप्तये भवेत्। रत्नाय रत्नप्राप्तिहेतवे अरत्नेन रत्नस्वरूपरहितेन पाषाणेन रत्नाय रत्नमिदं भवति इति कृतो भावः भूतये वैभवाय नहि भवति। 'नह्यरत्नेषु' इत्यपि पाठः रत्नस्वरूपरहितेषु पाषाणेषु रत्नानि इमानि इति कृतो भावः भूतये वैभवाय नहि भवति इति अभिप्रायो गृहीतव्यः ॥१४२॥

[पृष्ठ ३७] मिथ्यात्वं त्याज्यमिति कथयति—अदेवे इति—अदेवे आप्तत्वरहिते हरिहरादिषु देवताबुद्धिं सर्वज्ञोऽयमिति भावम्। अव्रते व्रतभावनाम्, मिथ्यात्वयुक्ते तपः आदौ व्रतभावना व्रतपरिणामम्। अतत्त्वे एकान्तनित्यादिषु तत्त्वविज्ञानं तत्त्वकलनं मिथ्यात्वं तत् उत्सृजेत् त्यजेत् ॥१४३॥ तथापि इति—तथापि यदि कोऽपि नरः सर्वथा मूढत्वम् अदेवादिषु देवतादिभावं न त्यजेत् तर्हि असौ मिश्रत्वेन अर्हदादिषु अदेवादिषु च भक्तिं कुर्वाणोऽसौ मिश्रत्वेन अनुमान्यः अनुमत्यर्हः। यतः सर्वनाशः सुन्दरः न। कालान्तरेण स जैनो भवेत् इति मत्वा स आदरणीयः ॥१४४॥ न स्वतः इति—जन्तवः स्वतः न प्रेर्याः आप्तादिश्रद्धाने न प्रवर्तितव्याः तथा प्रवर्तने कृते ते जिनागमे दुरीहाः स्युः दुर्भावनायुक्ता भवेयुः। स्वतः एव आप्तादिश्रद्धाने प्रवृत्तानां तद्योग्यानुग्रहो मतः आप्तादिश्रद्धानादिषु अनुग्रहः उपकारः कर्तव्यः ॥१४५॥

इत्युपासकाध्ययने मूढतोन्मथनो नाम चतुर्थः कल्पः।

५ जमदग्नितपःप्रत्यवसादनो नाम पञ्चमः कल्पः।

[पृष्ठ ३७] शङ्केति—शङ्का जिनोक्तम् इदं धर्मादितत्त्वं स्यादन्यद्वा वैशेषिकाद्युक्तं धर्मादितत्त्वं स्यादिति चञ्चलं श्रद्धानं शङ्का। मदीयतपोमाहात्म्यान्ममेन्द्रपदं संसारसौख्यं वा भवतु इति इच्छा काङ्क्षा। कोपादिवशात् रत्नत्रयसाधने शरीरादौ जुगुप्सा विनिन्दा। अन्यश्लाघा—सर्वथा क्षणिकादितत्त्ववादिनो मिथ्यादृष्टयोऽन्ये तेषां श्लाघा प्रशंसा अन्यश्लाघा एते दोषाः मनसा गिरा वचसा भवन्ति तदा सम्यक्त्वविनाशकारणं भवन्ति ॥१४६॥

[पृष्ठ ३८] तत्र शङ्कादोषस्य विशदं स्वरूपं प्ररूपयति—अहमिति—अहमेकः असहायः, जगत्त्रये मे मम कश्चित् त्राता रक्षको नास्ति। इति एवंरूपा व्याधीनां रोगाणां व्रजः समूहः तेन उत्क्रान्तिः आक्रमणं तस्यां जायमाना भीतिं भयं शङ्कां प्रचक्षते ब्रुवते—अथवा शङ्काया अपरं लक्षणम्—एतदिति—एतत्तत्त्वं जिनोक्तं धर्मादितत्त्वं वा इदं तत्त्वं वैशेषिकाद्युक्तं तत्त्वम्, एतद्व्रतं जिनोक्तं तपोव्रतादिकं वा इदं व्रतं मिथ्यादृष्ट्युक्तं पञ्चाग्नितपोव्रतादिकं वा, एष जिनो देवः, हरिहरादिको वा देवः इति परां शङ्कां विदुः ॥१४७–१४८॥ इत्थं शङ्कितचित्तस्य—इत्थं संशयितमनसः जनस्य दर्शनविशुद्धता न स्यात्। दर्शनं निर्मलं निर्दोषं न भवेत्। चित्ते शङ्किते ईप्सितावाप्तिर्न स्यात्। अभिलषितप्राप्तिर्न भवेत्। यथा उभयवेतने पुरुषे अभिलषितलाभो न भवति। स्वामिद्वयेनापि त्वया आवयोः सेवा न सुष्ठु कृता इति दोषारोपणं क्रियते तस्मात् उभयलाभादपि स वञ्चितो भवति सेवकः। अथवा पाठान्तरम् 'उभयवेदने' नपुंसकवेदे उभयाभिलाषा भवति परंतु उभयोरपि वाञ्छितयोः अर्थयोः प्राप्तिर्न भवति। स्त्रियं पुरुषं वा भोक्तुं न क्षमो भवति नपुंसकः। तथा शङ्कितचित्तस्य नुरपि सम्यग्दर्शननिर्मलता न जायते ॥१४९॥ निःशङ्कितधियो जनस्य स्वरूपमाह—एष एव भवेद्देवः—अर्हन्नेव देवो भवेत्। तदुक्तमेवानेकान्तरूपं जीवादिकं तत्त्वम्, एतत्तदेव व्रतम् अहिंसादिकं मुक्त्यै मोक्षाय भवेत् इति निश्चयं कुर्वाणो नरोऽशङ्कधीः निःशङ्कितबुद्धिः स्यात् ॥१५०॥ तत्त्वे इति—जीवादितत्त्वस्वरूपे ज्ञाते सति। रिपौ अरौ दृष्टे सति। पात्रे वा मुन्यादिके आगते सति यस्य चित्तं दोलायते संशययुक्तं स्यात्

पृथक्त्वं कृतः नारम्भते आगम मुनमुद्धिकराहुला न तु न
गुरमुद्धिस्तैमापि न भवति ॥११ ॥ विकारे नि
र्विकाराऽनुवर्तने रागद्वेषादिभावरहितस्य मन
विषय विषौ कार्ये इर्व कुर्वन्ति । परम् प्रतिका
मुनीनां निसर्गोत्थं स्वाभाविकम् । रागद्वेषवि
द्वेषेण कस्यापि अशुभपरिणति का नाम च
बोधा —नैष्किचन्यमिति—यदि ते न
अभितं हरिणन्यायादीनां धर्म । यार्ता
निर्दोषमहत्त्वम् अहिंसा च संयमिना
मतः ॥११२॥ स्थितिभोजिता सर्वया
मुनिन उपविश्य भोजनं न इत्य
इष्यते । यदि च एत् आसनेन
यावत्कालम् एतस्याभिप्रायं या
भोजने शक्तिः सामर्थ्यम् ९
पादयोः शक्तिस्य प्रभृता
अर्थम् प्रत्याख्यानम् । अ
यतीनां मुनीनामाचार
कृतः ॥११५॥

तद्वृष्य
अत
वाप
र्व

हस्मादिद्धा
पूज्यत्वं ज्ञेयम् । तस्मादि ५
त्वाम् ॥११९॥ देवपूज्यत्वं प्रतिपादयते—यदा५।
लोकमार्गेषि इष्यादिपञ्चजीवनकर्माणि लोकपाली
सर्वेषां पुरोगानाम् ज्ञापनं केवलं

सन्धिबन्ध उद्घाटितारयुगसन्धिबन्धन, स्वकीयया निजया सविश्रा मात्रा सह विहितगाढावगुण्डनम् दत्त दृढालिङ्गनाम् आत्मकलत्र निजा भार्या जातनिद्रातन्त्र समागतस्वापायत्ताम् अवलोक्य, उपपतिशङ्कया जार सशयेन मुहुरुत्खातखड्गो, पुन पुन कोपाद्वहिर्निष्कासितासि, भगवता श्रीधर्माचार्येण उपपादित दत्त व्रत नियम अनुसन्मार स्मरणमार्गम् आनीतवान्। शुश्राव च आकर्णयामास च दैवात् तदैव "मनागत परत सर, ईषत् अत स्थानात् परतः पुरत. सर। खर तीक्ष्ण मे शरीरसबाध देहपीडा", इति गृहिणीगिरम् पत्नीवचनम्। ततश्च "यदीद व्रतमहमद्य नाग्रहीष्य नागृह्णाम् (अविचार्य पुन किमपि कार्यं मया क्रियेत) तर्हि इमा जननीम् इद च प्रिय कलत्र प्रिया जायाम् अमदेह विशम्य हत्वा इहलोके दुरपवादरजसा जननिन्दापामूनाम् अमुत्र परलोके च दुरन्तैनस नारकादिदु खाना दातृणा पापाना च भागी भवेयम्।" इति जातनिर्वेद उद्भूतवैराग्यभाव, सर्वमपि ज्ञातिलोक बान्धवजन यथायथ यथोचित मनोरथोत्सेक तदीयेच्छापूरणात् सर्वम् अवम्याप्य "यत्रैव देशे दु खदनिन्दापीडित चेत मनस्तत्रैव देशे अवलम्ब्यमान व्रत दीक्षा वा न भवति निरपवाद निर्दोष गर्हारहित वा" इति प्रकाशितोपदेशस्य प्रकटीकृतवर्मज्ञानस्य तस्य भगवतो निदेशात् आदेशमनुसृत्य धरणीभूषणभूधरोपकण्ठे धरणीभूषणनामगिरिसमी तपस्यतो वरधर्माचार्याद्दीक्षामादाय इति वितर्काम्भ्रणों बभूव। कथभूताद्वरधर्माचार्यात् कान्तारदेवताविहित सपर्यात् वनदेवताकृतपूजनात्। कीदृशीं दीक्षाम् आदाय। सुरसुन्दरीकटाक्षविपक्षाम् अमरललनापाङ्गसपत्नदीक्षा निर्ग्रन्थलिङ्ग धृत्वा विदितवेदितव्यसप्रदाय ज्ञातज्ञेयागम सन्नम्बरे आकाशे स्तम्बाडम्बरितोपात्तपलाशि मालाया स्तम्बकान्तियुतवृतपलाशिमान्नाया स्तम्बकान्तिधृतसपर्णवृक्षपङ्क्तियुक्ते पर्वततटे आतापनयोगस्थित ग्रीष्मकाले रविकिरतप्तशिलातले ध्यानसधारणम् आतापनयोग, तेन स्थित., अनवरतप्रवर्धमानाध्यात्मध्याना बन्ध्यवोध्यनिरत, सतत वर्धमानात्मविषयध्यानामोघज्ञेयनिरत स धन्वन्तरि "किमय कर्करोत्कीर्ण, किं व अस्मादेव पर्वतान्निरूढ" इति वितर्काम्यर्णो बभूव। किमय धन्वन्तरिर्मुनि कर्करोत्कीर्ण पर्वतोत्कीर्ण किं व अस्मादेव गिरे निरूढ निश्चयेन रूढ अङ्कुरित इति वितर्काम्यर्ण इत्यूहसमीपवर्ती अभवत्।

[पृष्ठ ४२] सूरिवरोऽधुना विश्वानुलोमस्य वृत्त कथयति—कथभूत स। संजातेति—सजात उत्पन्न सुहृदि मित्रे समालोकनकाम दर्शनाभिलाषो यस्य स विश्वानुलोमोऽपि तदिति—तस्य धन्वन्तरे परिजनात् ज्ञातिवर्गात् परिज्ञातोऽवगत एतद्धन्वन्तरे प्रव्रजनस्य जिनदीक्षाया व्यतिकर उदन्तो येन मित्रेति—"मित्रमेव मित्रधेयं तस्य सख्यु धन्वन्तरेर्या गतिर्भाविनी स्थिति सा ममापि" इति प्रतिज्ञाप्रवर कृत प्रतिज्ञ इत्यर्थ तत्र धरणीधरगिरौ आगत्य जैनेति—जिनो देवता यस्य स जैन स चासौ जनश्च जैनजन तस्य समवस्थिति सदाचारम् अनवबुध्यमानो अजानन् "हंहो मनोहरवयस्य चिरान्मिलितोऽसि बहुना कालेन दृष्टोऽसि किमिति न मे गाढाम् अङ्कपालीं दृढमाश्लेष ददासि। किमिति न काम विपुल भाषसे। किमिति आदरेण वार्ताम् उदन्त न आपृच्छसे" इत्यादि बहुसप्रश्रय नम्रतया आभाष्य निजव्रताचरणतत्परचित्ते निरागसि निरपराधे निष्पापे वा धन्वन्तरिमुनीश्वरे प्ररुष्य क्रोध कृत्वा सविधाशिवताति समीपासुखविस्तार, प्रादुर्भवदप्रीति प्रकटीभूतरोष, रमणीयधरणीधरसनिधनिर्मितपर्णशालस्य, सहस्रजटनामधेयस्य जटिन परिव्राजकस्य निकटे शतजटनामधेय परिव्राजकोऽभवत्।

[पृष्ठ ४३] धन्वन्तरिणा कृतोपदेशो विफलोऽभूत्—धन्वन्तरिरपि—आतापनयोगान्ते तस्य सबोधनाय जिनधर्मोपदेशदानाय समन्ते निकटे समुपसद्य गत्वाऽवददेवम्—"मत्प्रणयपान्यविश्रामारामविश्वानुलोम मत्प्रणय मदीय स्नेह स एव पान्य पथिकस्तस्य विश्रामाय मार्गश्रमापनोदाय, आराम इव उद्यानमिव, जिनधर्मस्थिति जिनधर्माचारम् अजानन् किमित्यकाण्डे किमर्थमनवसरे चण्डभावम् अत्यन्तकोपम् आदाय धृत्व दुराचारप्रधान पञ्चाग्नितप आदिके जीवहिंसाबहुले मिथ्याचारे तत्पर समभूरजायथा। तदेहि तत आगच्छ विहायेम दु पथकथामनाथ कुमार्गाचारयुक्त शमथावसथमनोरथ शम एव शमथ तस्य आवसथो गृह तस्य मनोरथम् इम विहाय त्यक्त्वा महैव युगपदेव तपस्याव" इति बहुश अनेकधा कृतप्रयत्नप्रकाशोऽपि स धन्वन्तरिमुनि प्रतिबोधयितु त विश्वानुलोम नाशक्नोत्। कथभूत विश्वानुलोमम्। दु शिक्षावशात् दु खदमिथ्योपदेशवशात् तम् ओतुपोतरुतभीतपतङ्गपाकमिव ओतुर्मार्जारस्तस्य पोतः शिशुस्तस्य रुत शब्दस्तच्छ्रवणाद् भीत-

स नरः इहलोके परलोके च स्थिर एव भवति। संयमादिदं न लभ्यते परं च विनश्यति। अतः संयमो न कर्तव्यः ॥१५१॥

[पृष्ठ ३९-४१] भूयवामन्त्रोपाख्यानम्—आकल्पवामत्र मिथ्यादृष्टिकत्वादयो संयमे च कथा— इहैवेति—अनेकानि आश्चर्याणि कुतूहलोत्पादकानि वृत्तानि समीपानि यस्य तस्मिन् जम्बूद्वीपे। जनपद-मिवाभासदे जनपदनामके जनपदे देशे इत्यर्थः। भूमितिलकनामनगराधिपते नरपालनामनृपस्य श्रेष्ठी सुगन्धनामास्ति। कर्णभूतस्य मदनस्य। पुष्पमालामहादेवीप्रतिकुसुमधरस्य सा महादेवी एव रति नामभार्या तस्याः कुसुमधरस्य मदनस्य। अस्य श्रेष्ठिनः पत्नी सुनन्दा नामास्ति। कर्णभूता सा जनितेति—जनितः उत्पादितः निखिलपरिजनानां हर्षेषु आनन्दो यया सा। अनयोः दम्पत्योः धन्वन्तरिर्नाम सुतः। कर्णभूतः। ममबन्धादिमातृपदकयन्मानन्तरम् अनुजः अनु पश्चात् जातस्तेभ्यः सर्वेभ्यः कनिष्ठ इति भावः। पुनः कर्णभूतः स। सकलेति—सकलानि सर्वाणि द्यूतानि असत्यभाषणानि कपटानि दम्भाः तद्युक्तानि च यानि चेष्टितानि कृत्यानि तत्करणे हरिरिवेति इत्थं इवेति। तथा नरपालनामनृपस्य पुरोहितः सोमशर्माग्निलाभार्यया सह सुखेनास्थात्। तयोर्दम्पत्योः विश्वानुलोमो नाम विश्वरूपादिपुत्रेभ्योऽवरजः ज्येष्ठः सकलसदाचारविमुख एव आसीत्। सुगन्धश्रेष्ठिनः कनिष्ठस्तनयो धन्वन्तरिर्विश्वानुलोमश्च पुरोहितसुतः समानपि इहमुत्रि-केलिकरणात् समानस्वभावयुक्तयोपचरणात्, पुष्पकण्टकाधीरतमुद्गधारी धूतसुरापानपरस्त्रीवेश्यादिरत-धनस्यजनोचितकार्येषु। तत्परमिषु तत्समुखेषु च कार्येषु प्रवर्तने मुख्यभावं गतौ मन्त्री तेन जननीपतिना अवन्या पुष्याः पतिरवनीपतिः नरपालनामा राजा तेन सनिकारं धिक्कारं कृत्वा निर्वासितौ स्वदेशात्प्रेषितौ। कुरुजाङ्गलदेशेषु वीरमतिमहादेवीवल्लभेन वीरनरेश्वरनाम्ना भूभुजाधिष्ठितम् अभ्युषितम्, धनधान्यरत्नादिभिः कोट्ट-पालेन रक्षितं सकलभवनाशेषमन्दिरनीभिः कनकानिर्मलोदरं चेतोमुष्टाकम् हस्तिनागपुरं प्राप्य तत्र तौ धन्वन्तरि विश्वानुलोमौ अवसितवन्तौ। कदाचित्तौ नित्यमण्डितं नाम चैत्यालयम् आगारयामासतुः प्रापतुरित्यर्थः। कस्मिन् समये संध्यासमये। कथंभूते। अस्तेति—अस्तगिरिशिखरं पद्मसूत्रभूमौ न्यस्तासमूहे संध्यासमये सत एव तदा तथा कलुषितपद्माकरकोटिनिलीनमधुमत्तमधुकरसमूहविभ्रमानवलम्बनविस्तारवनाविस्तारयुक्तात् गोकीर्ति-भवात् स्वैरं संमुखं नियुक्तं पराङ्मुख आकर्णतो श्रीधर्माचार्येण प्रदर्शितपरमागमधर्मप्रबन्धाय उचितं योग्यं नित्य-मण्डितं नाम चैत्यालयं जिनमन्दिरम् आसादयामासतुः प्रापतुः। तत्रेति—तत्र जिनमन्दिरे धन्वन्तरि सत्यभाव-मुक्त्वा विश्वानुलोमः सुष्वाप। किमुक्तं तेन। उच्यते— धन्वन्तरे चेत् सुरासुरलोकनरपाताल्यप्रभृतीनि भवसुखानि निरवद्यमनुभवितुम् आस्वादितुमिच्छसि तदा त्वं वयम् अम्बरमम्बरावृतवपुषाम् अम्बरम् आकाश-मेव अम्बरं वासः तेन आवृतं पिहितं वपुः शरीरं येषां तेषां दिगम्बराणां धर्मो न श्रोतव्यः नाकर्णनीयः" इत्यभिधायोक्त्वा निभाय च आच्छाद्य च कर्णयुगम्, अतिनिर्भरम् अतिशयेन गाढं प्रमीलाकलितलोचनाभाव-निद्रावस्थानितनेत्रवैर्य विश्वानुलोमः सुष्वाप निद्रालु। किं तथाऽऽचार्यवचनं धन्वन्तरिरश्रौषीत् तत्कथ्यते— प्राणिना हि नियमेन किमपि स्वल्पमपि व्रतम् अवलम्बितात्मतया पूर्वस्वभावेन उपात्तं गृहीतम् तत्र कृते परतरकाले कल्प्यमाने नियमेन एव श्रेयसि शिवे निमित्तं निदानं स्यात्।" इति प्रसंगमवागतम् उचितं भावयं श्रुत्वा नमस्कृत्य च एवं तर्हि यदि भगवन् पूज्य अयमपि जनः कस्यापि व्रतस्य प्रदानेन वितरणेन अनुगृह्यतामुपक्रियताम् इत्यवोचत् अकथीत्। तदनु धन्वन्तरिणा कृतविज्ञप्ते अनन्तरं सूरेः आचार्यात् 'अपि विलोकनात् त्वया भक्षणम्' इति व्रते आचारस्य गहनसत्कर्मसहस्य नरस्य विलोकनात् दर्शनात् त्वया भक्षणम् मांसं भक्षणीयम् इति व्रतग्रहणेन गुणात् कुम्भकारात् अन्यनिपाना प्राप्तव्रतकुम्भः। एवं पुरा निजपितृ-कृतपरिग्रहात् पुष्पपूरमृतपितृकमकत्वपुरुषस्य कण्टकस्य च धन्वन्तरिः स्वार्थं कृतवान् मस्तक पिठरमध्ये धरत् सर्पो निज परत विषम् उद्वीक्ष्य यमित्वा मत आसीत् तेन स अनुपितमरवत्तम आसीत्। अज्ञातकृतत्वेन कलाकौतुककिंचित्कलावपापमपि। पुनः अविमृश्य किमपि कार्यं नाचरणीयम् इति गृहीतव्रतविधिः। एकदा नियाता नगरलोकविज्ञाने नगरस्य नायकः नृपस्तस्य निकटे प्रासादे नटनृत्यनिरीक्षणात्कौतुकाक्षेपकः नटाना नृत्यस्य निरीक्षणेनावलोकनेन कृतकालक्षेपः स्वागारं निजगृहम् अनुसृत्य धनी विघटितकपाटपुट

सधिबन्ध उद्घाटितारयुगसधिबन्धन, स्वकीयया निजया सविश्रा मात्रा सह विहितगाढावरुण्डनम् दत्तदृढालिङ्गनाम् आत्मकलत्र निजा भार्यां जातनिद्रातन्त्र समागतस्वापायत्ताम् अवलोक्य, उपपतिशङ्कया जारसशयेन मुहुरुत्खातखड्गो, पुन पुन कोपाद्वहिर्निष्कासितासि, भगवता श्रीधर्माचार्येण उपपादित दत्त व्रत नियमम् अनुसस्मार स्मरणमार्गम् आनीतवान्। शुश्राव च आकर्णयामास च दैवात् तदैव "मनागत परत' सर, ईषत् अत स्थानात् परत पुरत सर। खर तीक्ष्ण मे शरीरसबाध देहपीडा", इति गृहिणीगिरम् पत्नीवचनम्। ततश्च "यदीद व्रतमहमद्य नाग्रहीष नागृह्णाम् (अविचार्य पुन किमपि कार्यं मया क्रियेत) तर्हि इमा जननीम् इद च प्रियकलत्र प्रिया जायाम् असदेह विशस्य हत्वा इहलोके दुरपवादरजसा जननिन्दापासूनाम् अमुत्र परलोके च दुरन्तैनसा, नारकादिदु खाना दातृणा पापाना च भागी भवेयम्।" इति जातनिर्वेद उद्भूतवैराग्यभाव, सर्वमपि ज्ञातिलोक बान्धवजन यथायथ यथोचित मनोरथोत्सेक तदीयेच्छापूरणात् सर्वम् अवस्थाप्य "यत्रैव देशे दु खदनिन्दापीडित चेतो मनस्तत्रैव देशे अवलम्ब्यमान व्रत्त दीक्षा वा न भवति निरपवाद निर्दोष गर्हारहित वा" इति प्रकाशितोपदेशस्य प्रकटीकृतधर्मज्ञानस्य तस्य भगवतो निदेशात् आदेशमनुसृत्य धरणीभूषणभूधरोपकण्ठे धरणीभूषणनामगिरिसमीपे तपस्यतो वरधर्माचार्याद्दीक्षामादाय इति वितर्काभ्यर्णो बभूव। कथभूताद्वरधर्माचार्यात् कान्तारदेवताविहितसपर्यात् वनदेवताकृतपूजनात्। कीदृशीं दीक्षाम् आदाय। सुरसुन्दरीकटाक्षविपक्षाम् अमरललनापाङ्गसपत्नदीक्षा निर्ग्रन्थलिङ्ग धृत्वा विदितवेदितव्यसप्रदाय ज्ञातज्ञेयागम सन्नम्बरे आकाशे स्तम्बाडम्बरितोपात्तपलाशिमालाया स्तम्बकान्तियुतधृतपलाशिमालाया स्तम्बकान्तिधृतसपर्णवृक्षपङ्क्तियुक्ते पर्वततटे आतापनयोगस्थित ग्रीष्मकाले रविकरतप्तशिलातले ध्यानसधारणम् आतापनयोग, तेन स्थित, अनवरतप्रवर्धमानाध्यात्मध्यानावष्टम्भनिरत, सतत वर्धमानात्मविषयध्यानामोघज्ञेयनिरत स धन्वन्तरि "किमय कर्कूरोत्कीर्ण', किं वा अस्मादेव पर्वतान्निरूढ" इति वितर्काभ्यर्णो बभूव। किमय धन्वन्तरिर्मुनि' कर्कूरोत्कीर्ण पर्वतोत्कीर्ण किं वा अस्मादेव गिरे. निरूढ निश्चयेन रूढ अङ्कुरित इति वितर्काभ्यर्ण इत्यूहसमीपवर्ती अभवत्।

[पृष्ठ ४२] सूरिवरोऽधुना विश्वानुलोमस्य वृत्त कथयति—कथभूत स। **संजातेति**—सजात उत्पन्न सुहृदि मित्रे समालोकनकाम दर्शनाभिलाषो यस्य स विश्वानुलोमोऽपि **तदिति**—तस्य धन्वन्तरे परिजनात् ज्ञातिवर्गात् परिज्ञातोऽवगत एतद्धन्वन्तरे प्रव्रजनस्य जिनदीक्षाया व्यतिकर उदन्तो येन, **मित्रेति**—"मित्रमेव मित्रधेय तस्य सख्यु धन्वन्तरेर्या गतिर्भाविनी स्थिति सा ममापि" इति प्रतिज्ञाप्रवर कृतप्रतिज्ञ इत्यर्थ तत्र धरणीधरगिरौ आगत्य **जैनेति**—जिनो देवता यस्य स जैन स चासौ जनश्च जैनजन तस्य समवस्थिति सदाचारम् अनवबुध्यमानो अजानन् "हहो मनोहरवयस्य चिरान्मिलितोऽसि बहुना कालेन दृष्टोऽसि। किमिति न मे गाढाम् अङ्कपाली दृढमाश्लेषं ददासि। किमिति न काम विपुल भाषसे। किमिति आदरेण वार्ताम् उदन्त न आपृच्छसे" इत्यादि बहुसप्रश्रय नम्रतया आभाष्य निजव्रताचरणतत्परचित्ते निरागसि निरपराधे निष्पापे वा धन्वन्तरिमुनीश्वरे प्ररुष्य क्रोध कृत्वा सविधाशिवताति समीपासुखविस्तार, प्रादुर्भवदप्रीति प्रकटीभूतरोष, रमणीयधरणीधरसनिधनिर्मितपर्णशालस्य, सहस्रजटनामधेयस्य जटिन परिव्राजकस्य निकटे शतजटनामधेय परिव्राजकोऽभवत्।

[पृष्ठ ४३] धन्वन्तरिणा कृतोपदेशो विफलोऽभूत्—**धन्वन्तरिरपि**—आतापनयोगान्ते तस्य प्रबोधनाय जिनधर्मोपदेशदानाय समन्ते निकटे समुपगम्य गत्वाऽवददेवम्—"मत्प्रणयपान्थविश्रामारामविश्वानुलोम मत्प्रणय मदीय स्नेह स एव पान्थ पथिकस्तस्य विश्रामाय मार्गश्रमापनोदाय, आराम इव उद्यानमिव, जिनधर्मस्थिति जिनधर्माचारम् अजानन् किमित्यकाण्डे किमर्थमनवसरे चण्डभावम् अत्यन्तकोपम् आदाय धृत्वा दुराचारप्रधान पञ्चाग्नितप आदिके जीवहिंसाबहुले मिथ्याचारे तत्पर समभूरजायथा। तदेहि तत आगच्छ विहायेम दु पथकथामनाथ कुमार्गाचारयुक्तं शमथावसथमनोरथ शम एव शमथ तस्य आवसथो गृह तस्य मनोरथम् इम विहाय त्यक्त्वा मद्दैव युगपदेव तपस्याव" इति बहुश अनेकधा कृतप्रयत्नप्रकाशोऽपि स धन्वन्तरिमुनि प्रतिबोधयितु न विश्वानुलोम नाशक्नोत्। कथभूत विश्वानुलोमम्। दु शिक्षावशात् दु खदमिथ्योपदेशवशात् तम् ओतुपोतरुतभीतपतङ्गपाकमिव ओतुर्मार्जारस्तस्य पोतः शिशुस्तस्य रुत शब्दस्तच्छ्रवणाद् भीत-

स्वामी पवनञ्जस्य पतिव्रता पाकः अमनस्तामिव मुक्तामौलमुक्तौत्तरीङ्गवितिलीलैकं मुक्तामौलं चित्तमौलं तेन मूर्च्छता समाधानं तेन उपरशिङ्गिलानाथकस्यमुक्तं चित्तं तेन सस्नेको मनो यस्य तम्। सितरुपाश्र इति—यथा तितरूपाश्रे इव भामिनीभाजने यथा तम्मनाम्बने तस्य विरक्तानुकोमस्य मनोऽम्बने चित्तभाजने अशान्त्वसदुपदेशपमोऽस्थान यथा भामिन्या पयोऽवस्थानं जलस्य स्थितिः भवति तदस्तत्वमस्मम् निर्मलति तथा तस्य चित्तभाजन उपदेशपमसौ अनवस्थिते तम् उपदेष्टुमसमो यमान्तरि मुनवरजमूलम् अनुयोस्य दीक्षित्वा कालेन समाधिमरण योग्ये चार्थसमये प्रवचनोचितं भवचत्वाराधनाचारमयोर्वं चरमाचरणाधिकृतम् अस्तिमाचरणं तत्रैव नाभिनयं तेन अविहतं कायकषायौ संलिख्य क्रियमाणं समाधिमरणविधिं विधाय कृत्वा विबुधेति—विबुधा देवास्तेषामङ्गनाजनस्तेन उच्चार्यमाणा पठ्यमाना चासौ मङ्गलपरम्परा 'स्वस्त्यस्तु जीव जय नन्देति' आसी-र्वचो योपन्नं तथा मनसे प्रचुरे अच्युतकल्पे तन्नामक षोडशस्वर्गे । समस्तेति—समस्ताः सकलाश्च ते सुरास्तेषां समाजः समूहस्तेन स्तूयमानं नमस्कारास्तस्मिन् परायणा तत्परा प्रतिमा मतिर्यस्य स्वपूर्वजन्मन्या-चरितस्य तपसो निमर्श कुर्वती प्रतिमा यस्येति अमितप्रभो नाम देवोऽभवत् । विषयानुलोमोऽपि पुरोपार्जितेति—पूर्वजन्मनि अवस्य जीवितस्यायुषोऽवसाने चरमदशायां विषय मृत्वा पतन च भ्रमित्वा च जन्मान्तरेषु द्वितीयनिकायदेवेषु गजनीकमध्ये हस्तिरूपधारिदैविकमध्ये विजयनामधेयस्य देवस्य विद्युत्प्रभाभिधो वाहनदेवो बभूव । अमितप्रभविद्युत्प्रभयोरन्योन्यं संलाप—पुरन्दरेति पुरन्दरपुर-न्दरेण पुरन्दर इत्यः स प्रसरः अपगोमस्य तेन दिविजवृन्देन दिवि स्वर्गे आगम्य इति दिविजास्तेषां वृन्दं समूह-स्तेन देवसमूहेन सह नन्दीश्वरद्वीपास्तव चैत्यास्यायामयो जिनबिम्बमन्दिराधिष्ठानाम् अष्टाह्निकपर्वक्रियाम् अष्टदिनसं-भाविनीम् चरणक्रियां जिनाभिषेकपूजादिक्रियां निर्वर्त्यं निष्पन्नम् प्रवर्तयित्वा पुनः स्वर्गं प्रस्थानकम् असौ अमितप्रभो देवस्तं विद्युत्प्रभं देवं गजानीकम् अवेक्ष्य आह्वानमानमानस प्रत्युत्थायचिन्मम् अवधिज्ञानेन ज्ञात्वेत्यर्थः । अवबुद्धः भात पूर्वभूतान्वः पूर्वजन्मोदन्तः स जन्मान्तरितरः देव इत्यमावत—विद्युत्प्रभ किं स्मरसि जन्मान्तरीयं किं भामते पूर्वभवभवा प्रवृत्तिः त्वया । अमितप्रभ बाढं स्मरामि मृषाम् असमर्थं स्मरामि । किन्तु सकलचारित्राधिष्ठानात् क्रमेण पत्न्या सह चरितं तपस्तस्य अधिष्ठानात् अवलम्बनात् मर्मविधि कर्मविपाकानुरोध कर्मविपाकप्र-प्राप्तिः । तव तु ब्रह्मचर्यवतारकायक्लेशादीदृशः । ब्रह्मचर्यमाश्रित्य कृतात् कायक्लेशात् तपसः महती देवी-सम्पदिति भावः । ये च मदीये समये सिद्धान्ताचारे प्रवृत्ति कुर्वाणा चमरञ्जि-मतहृय पिङ्गलकर्णपङ्कजादयः महर्षयस्ते तपोविशेषादिक्रमरणः भवतोऽपि अभ्यधिका महान्तो भविष्यन्ति । ततो न विस्मेतव्यम् न गर्व करणीयः ।

[पृष्ठ ४४ ४५] अमितप्रभः—विद्युत्प्रभ तोषस्यपि अमुनापि न मुञ्चसि न त्यजसि दुराग्रहम् । तदेहि तद्गमिष्व । तव मम च लोकस्य परीक्षावह चित्ते मन परीक्षणं कुर्वहे । इति विहितविचारौ कृतमित प्रतिज्ञौ । तौ द्वावपि देवौ करहाटदेशस्य पश्चिमदिग्भागमाश्रित्य काश्यपीतल भूमितलम् अवतेरतुः नमसौ भूतलम् अवतीर्णाविति भावः । सप्रेति—सम्प्रकाशन । कथंभूते । वनेचरेति—वने चरन्तीति वनेचराः शबराः तेषां दैन्यस्य दीनत्वस्य मुखं सुखस्थम् एव सौजन्यं तेन अपूर्वं सहितं तस्मिन् । तन्निकटवधूकानने तस्य करहाटदेशस्य निकटे समीपस्थिते वनकानने । बदरिकाश्रमे बदरिकाश्रमनामधेये मुनीनां वासस्थाने समन्तम् अवलोक्य । कथंभूतम् । मङ्कुलकाष्ठेति—अलकरूपपतसमयं भावत क्लं दुष्प्र कठिनं तीव्र तपो येन तम् । पुनः कथंभूतम् । चन्द्रेति—चन्द्रसमानरुचिः सूर्यस्यकास्तीव्रा यया किरणा यस्येति सूर्यचन्द्रमसौ तयोर्मरीचय किरणास्तेषां पानं तस्मिन्रजनेयनमित्यप तत्र परायण भावत मनो यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् । ऊर्ध्वबाहुम् ऊर्ध्वी-कृतकरम् । पुनः कथंभूतम्—एकेति—एकपादेन अवस्थानं स्थितिः तस्य आग्रहे शाठ्यमिव पुनः कथंभूतम्, अनस्येति—अनल्पानव ते सरम्यास्त सपल्लवावलीव किसलयानि तैर्युक्ता अविरला घना या वल्मीक गुल्मादय अप्रकाश्यवपुषा अस्मीकाः वामलूरा तैः अवरुद्धं व्याप्तं वपुः शरीरं यस्य अतिमघुद्धेति—अति प्रकर्षेण प्रवृद्धा या धूवता चरठभाव सैव मुख प्रासादवयलोकरणपूर्णं तेन अवलिप्तं मुषितं च एत् शिरो मस्तकम्, स्मश्रुकूर्चम् जटाजालं जटासमूहस्तेन तेषा ततिया भासता मुखाम् अवस्थस्य ऋषेः शिष्यं नमस्कृतम्

अवलोक्य वीक्ष्य (तौ देवौ पक्षिद्वयवेषेण जमदग्निकूर्चे निविष्टौ इति कथा) पत्रेति—पत्ररथयो पक्षिणोर्मिथुन युगल तस्य कथा वार्ता तस्या उचित योग्य आश्लेष सबन्धः यत्र त वेष रूप विरचय्य तदिति तस्य कूर्चे श्मश्रुणि कुलायकुटीरकोटरे नीडगृहरन्ध्रे निविष्टौ प्रविष्टौ (अन्योन्य सलाप कुरुतः) कान्ते, प्रिये, काञ्चनेति—काञ्चनाचलो मेरु, तस्य चमूमदृशी या मेखला शैलनितम्बस्तस्याम्, अशेषेति—सकलपक्षिचक्रपते वैन-तेयस्य गरुडस्य, वातराजसुतया मदनकन्दलीति नामधेयं बिभ्रत्या सम महान् विवाहोत्सवो वर्तते । तत्र मयाऽवश्यं गन्तव्यम्, त्व तु सखि प्रिये समासन्नप्रमवसमया अद्य श्वो वा प्रसविष्यसि डिम्भान् अत न शक्यसे नेतुम् । कालस्य वेलाया क्षेपो व्यय यथा न स्यात्तया अविलम्बम् अह पुनस्तद्विवाहोत्सवानन्तरम् अकालक्षेप शीघ्रमेवा-गमिष्यामि, यथा चाह तत्र चिर दीर्घकाल नावस्थास्ये न वसामि तथा मातु पितुश्चोपरि महान्त शपथा (मयोच्यन्ते इति भाव) किं च बहुनोक्तेन, यद्यहमन्यथाऽसत्य वदामि "तदास्य पापकर्मणस्तपस्विनो दुरित-भागी पातकभाजन स्याम्" इत्यालाप चक्रतु । त च जमदग्नि- कर्णकटुमालाप भाषणम् आकर्ण्य श्रुत्वा प्रवृद्धक्रोध इद्धकोप' कराभ्या तत्कदर्थनार्थ तयो पीडायै कूर्च श्मश्रु मलितवान् मर्दितवान् । अमरचरौ भूत-पूर्वसुरौ तौ विकिरौ अपि विहगावपि उड्डीय उत्पत्य तदग्रविटपिनि जमदग्निपुरत स्थितवृक्षे सनिविश्य उपविश्य पुनरपि त तापस तपस्विनम् अवलोहलालापौ कृतनिन्दाभाषणौ व्यक्तस्वरौ वा निकामम् अत्यर्थम् उपजहसतु उपहास निन्यतु । "तापसो जमदग्नि साध्वस भय विस्मयोऽद्भुत तौ प्रति उपसृत गत मानस यस्य स एव विमर्श चकार ।" नैतौ खलु पक्षिणौ भवत, किंतु रूपान्तरौ कृतवेषपरिवर्तनौ उमामहेश्वराविव पार्वती-परमेश्वराविव कौचिद्देवविशेषौ तदुपगम्य तत्समीप गत्वा प्रणम्य च पृच्छामि तावत् प्रथम स्वस्य पापकर्महेतुम् । (वक्ष्यमाणोऽनुयोगस्तेन कृत) अहो इति—मत्पूर्वपुण्येति मम पूर्व पुण्य मत्पूर्वपुण्य तेन सपादित लम्भितम् अवलोकन दर्शन यस्य, द्विजेषु पक्षिषु उत्तमा द्विजोत्तमा दिव्याश्च ते द्विजोत्तमा दिव्यद्विजोत्तमास्तेषाम् अन्वयो वश स एव सभवसदनम् उत्पत्तिगृहं यस्य एतादृश यत् पतङ्गयो पक्षिणोर्मिथुनयुगल तत्सबोधनम् "कथयता भवन्तौ महानुभावौ कथमह पापकर्मा इति ।" पतत्रिणौ पक्षिणौ, आकर्ण्य—अपुत्रस्येति—यस्य पुत्रो नास्ति योऽविद्यमानपुत्र पुरुष तस्य गतिर्नास्ति पुनर्मनुष्यो न जायते । स्वर्गस्तु तस्य नैव । तत पुत्रमुख दृष्ट्वा पश्चाद्भिक्षुकश्चतुर्थाश्रमी भवति ॥१५२॥ अधीत्येति—यथाशास्त्र वेदान् पठित्वा पुत्राश्च युक्तितो ब्राह्मणेन ब्राह्मण्याम्, क्षत्रियेण क्षत्रियायाम्, वैश्येन वैश्याया जनयित्वा धर्मपत्न्या योग्यकाले समागम कृत्वा यज्ञै इष्ट्वा देवान् पूजयित्वा तत यथाकाल चतुर्थे वयसि नर प्रव्रजितो भवेत् । गृह त्यक्त्वा वने दीक्षा गृहीत्वा वसेत् ॥१५३॥ इति स्मृतिकारकीर्तित वृत्तम् अप्रमाणीकृत्य तद्विरुद्धाचरणेन त्व तपस्यसि । कथ तर्हि मे शुभा परलोका स्वर्गादय । उत्तरमाह-परिणयनकरणादौरसपुत्रोत्पादनेन उद्वाह्य धर्मपत्न्याम् औरसपुत्रम् उत्पादयेत् । किमत्र दुष्करम् इत्यभिधाय मातुलस्येति मातुर्भ्राता तु मातुल तस्य विजयामहादेव्या भर्तु इन्द्रनगरवैभवधारकस्य काशिराजस्य भूपालस्य भवनभाग्भूत्वा प्रासाद गत्वा, तद्दुहितर तत्सुता रेणुका परिणीय विवाह्य, अविरलेति—अविरला सान्द्रा कलापा गुच्छा उलपा॰ प्रतानिन्य ताभि युक्तेन पुलिनेन असराले वक्रे मन्दाकिनीकूले गङ्गातटे, महान्तम् आश्रमस्थान सपाद्य परशुरामपिताभवत् । भवति चात्र श्लोक ।

[पृष्ठ ४९] अन्त इति—अन्तस्तत्त्वविहीनस्य अज्ञातात्मतत्त्वस्वरूपस्य अज्ञानिन व्रतपालन-परिश्रम वृथा विफलो भवति । केन हेतुना व्रताना पालन क्रियते त हेतुमज्ञात्वा व्रताचरण निष्फल भवति । स्वभावभीरो प्रकृत्यैव भयवत नरस्य आयुधग्रह शस्त्रग्रहण वृथा विफलो भवति । स शौर्याय न स्यात् ॥१५४॥

इत्युपासकाध्ययने जमदग्नितप प्रत्यवसादनो नाम पञ्चम कल्प ।

६ प्रतिज्ञानिर्वाहसाहसो नाम षष्ठः कल्पः ।

[पृष्ठ ४९-४८] पुनस्ताविति—पुनस्तौ त्रिदशौ देवौ मगधदेशेषु कुशाग्रनगरोपान्तापातिनि, कुशाग्र-नगर राजगृहनगर तस्य उपान्ते समीपे आपात अस्तित्व यस्य तस्मिन् पितृवने श्मशाने कृष्णचतुर्दशीरात्रौ,

[illegible] विद्युत्पतिरिति—[illegible] [illegible] विमानुगामाऽऽदि पुरातीत्यमिति—[illegible] [illegible]

[illegible]

[पृष्ठ ४४ ४५] अमिताभम—[illegible] [illegible] इति [illegible] तत्रेति—[illegible] । कर्ममुते । घनेपदमिति—[illegible] [illegible] कर्मभूतम् । [illegible] कर्मभूतम् । [illegible] पुनः कर्मभूतम्—[illegible] पुनः कर्मभूतम्, अतस्येति—[illegible] अतिप्रवृद्धति—अति [illegible]

अवलोक्य वीक्ष्य (तौ देवौ पक्षिद्वयवेषेण जमदग्निकूर्चे निविष्टौ इति कथा) पत्रेति—पत्ररथयो. पक्षिणोर्मिथुन युगल तस्य कथा वार्ता तस्या उचित योग्य आश्लेप सवन्व: यत्र त वेप रूप विरचय्य तदिति तस्य कूर्चे श्मश्रुणि कुलायकुटीरकोटरे नीडगृहरन्ध्रे निविष्टौ प्रविष्टौ (अन्योन्य सलाप कुरुत:) कान्ते, प्रिये, काञ्चनेति—काञ्चनाचलो मेरु, तस्य चमूमदृशी या मेखला शैलनितम्बस्तस्याम्, अशेषेति—सकलपक्षिचक्रपते वैन-तेयस्य गरुडस्य, वातराजसुतया मदनकन्दलीति नामधेयं बिभ्रतया सम महान् विवाहोत्सवो वर्तते । तत्र मयाऽवश्यं गन्तव्यम्, त्व तु सखि प्रिये समासन्नप्रसवसमया अद्य श्वो वा प्रसविष्यसि डिम्भान् अत न शक्यसे नेतुम् । कालस्य वेलाया क्षेपो व्यय यथा न स्यात्तया अविलम्बम् अह पुनस्तद्विवाहोत्सवानन्तरम् अकालक्षेप शीघ्रमेवा-गमिष्यामि, यथा चाह तत्र चिर दीर्घकाल नावस्थास्ये न वसामि तथा मातु पितुश्चोपरि महान्त शपथा (मयोच्यन्ते इति भाव) किं च बहुनोक्तेन, यद्यहमन्यथाऽसत्य वदामि "तदाम्य पापकर्मणस्तपस्विनो दुरित-भागी पातकभाजन स्याम्" इत्यालाप चक्रतु । त च जमदग्नि- कर्णकटुमालाप भाषणम् आकर्ण्य श्रुत्वा प्रवृद्धक्रोध इद्धकोप: कराभ्या तत्कदर्थनार्थं तयो पीडार्थं कूर्च श्मश्रु मलितवान् मर्दितवान् । अमरचरौ भूत-पूर्वसुरौ तौ विकिरौ अपि विहगावपि उड्डीय उत्पत्य तदग्रविटपिनि जमदग्निपुरत स्थितवृक्षे सनिविश्य उपविश्य पुनरपि त तापस तपस्विनम् अवलोह्लालापौ कृतनिन्दाभाषणौ व्यक्तस्वरौ वा निकामम् अत्यर्थम् उपजहसतु उपहास निन्यतु । "तापसो जमदग्नि साध्वस भय विस्मयोऽद्भुत तौ प्रति उपसृत गत मानस यस्य स एव विमर्श चकार ।" नैतौ खलु पक्षिणौ भवत , किंतु रूपान्तरौ कृतवेपपरिवर्तनौ उमामहेश्वराविव पार्वती-परमेश्वराविव कौचिद्देवविशेषौ तदुपगम्य तत्समीप गत्वा प्रणम्य च पृच्छामि तावत् प्रथम स्वस्य पापकर्महेतुम् । (वक्ष्यमाणोऽनुयोगस्तेन कृत) अहो इति—मत्पूर्वपुण्येति मम पूर्व पुण्य मत्पूर्वपुण्य तेन सपादित लम्भितम् अवलोकन दर्शन यस्य, द्विजेषु पक्षिषु उत्तमा द्विजोत्तमा दिव्याश्च ते द्विजोत्तमा दिव्यद्विजोत्तमास्तेषाम् अन्वयो वश स एव सभवसदनम् उत्पत्तिगृहं यस्य एतादृश यत् पतङ्गयो पक्षिणोर्मिथुनयुगल तत्सबोधनम् "कथयता भवन्तौ महानुभावौ कथमह पापकर्मा इति ।" पतत्रिणौ पक्षिणौ, आकर्णय—अपुत्रस्येति—यस्य पुत्रो नास्ति योऽविद्यमानपुत्र पुरुष तस्य गतिर्नास्ति पुनर्मनुष्यो न जायते । स्वर्गस्तु तस्य नैव । तत पुत्रमुख दृष्ट्वा पश्चाद्भिक्षुकश्चतुर्थाश्रमी भवति ॥१५२॥ अधीत्येति—यथाशास्त्र वेदान् पठित्वा पुत्राश्च युक्ततो ब्राह्मणेन ब्राह्मण्याम्, क्षत्रियेण क्षत्रियायाम्, वैश्येन वैश्याया जनयित्वा धर्मपत्न्या योग्यकाले समागम कृत्वा यज्ञै इष्ट्वा देवान् पूजयित्वा तत यथाकाल चतुर्थे वयसि नर प्रव्रजितो भवेत् । गृह त्यक्त्वा वने दीक्षा गृहीत्वा वसेत् ॥१५३॥ इति स्मृतिकारकीर्तित वृत्तम् अप्रमाणीकृत्य तद्विरुद्धाचरणेन त्व तपस्यसि । कथ तर्हि मे शुभा परलोका स्वर्गादय । उत्तरमाह-परिणयनकरणादौरसपुत्रोत्पादनेन उद्वाह्य धर्मपत्न्याम् औरसपुत्रम् उत्पादयेत् । किमत्र दुष्करम् इत्यभिधाय मातुलस्येति मातुर्भ्राता तु मातुल तस्य विजयामहादेव्या भर्तु इन्द्रनगरवैभवधारकस्य काशिराजस्य भूपालस्य भवनभाग्भूत्वा प्रासाद गत्वा, तद्दुहितर तत्सुता रेणुका परिणीय विवाह्य, अविरलेति—अविरला सान्द्रा कलापा गुच्छा उलपा प्रतानिन्य ताभि युक्तेन पुलिनेन असराले वक्रे मन्दाकिनीकूले गङ्गातटे, महान्तम् आश्रमस्थान सपाद्य परशुरामपिताभवत् । भवति चात्र श्लोक ।

[पृष्ठ ४६] अन्त इति—अन्तस्तत्त्वविहीनस्य अज्ञातात्मतत्त्वस्वरूपस्य अज्ञानिन व्रतपालन-परिश्रम वृथा विफलो भवति । केन हेतुना व्रताना पालन क्रियते त हेतुमज्ञात्वा व्रताचरण निष्फल भवति । स्वभावभीरो प्रकृत्यैव भयवत नरस्य आयुधग्रह शस्त्रग्रहण वृथा विफलो भवति । स शौर्याय न स्यात् ॥१५४॥

इत्युपासकाध्ययने जमदग्नितप प्रत्यवसादनो नाम पञ्चम कल्प ।

६ प्रतिज्ञानिर्वाहसाहसो नाम षष्ठः कल्पः ।

[पृष्ठ ४६–४८] पुनस्ताविति—पुनस्तौ त्रिदशौ देवौ मगधदेशेषु कुशाग्रनगरोपान्तापातिनि, कुशाग्र-नगरं राजगृहनगर तस्य उपान्ते समीपे आपात अस्तित्व यस्य तस्मिन् पितृवने श्मशाने कृष्णचतुर्दशीरात्रौ,

निशाप्रतिमाप्रपन्नयं सकलायां रात्रौ प्रतिमावज्जिनबिम्बवत् आश्रय शरीरममतात्यागाभिप्राय तस्य बन्ध बन्धीनं रात्रिप्रतिमायामपारिणम् एकाकिनम् महितोर्यं जिनदत्ताभिधम् उपासकं श्रावकं विलोक्य तमोन स्तिमित अरे कुपथगारस्य भावरणं तत्र भक्तिमस्य तत्संबोधनम्, निराकृते निर्मिता आकृतिः मुद्राकारस्येयो यस्मात्तस्य संबोधनम् अज्ञात परमात्मन पद येन तत्संबोधनम्, मनुष्यापसद मनुष्येषु अपसीदति निकृष्टं पञ्चतीति मनुष्यापसदः तत्संबोधनं हे मराधम धीप्रतिमाम् ऊर्ध्वपोषम् ऊर्ध्वं पुष्यतीति ऊर्ध्वपोषो यथा स्यात्तथा पुष्पशोभ-सदृशी प्रतिमां कायोत्सर्गप्राप्तस्थानं त्यक्त्वा पलायस्व न श्रेयस्करं हितकरं तवात्र श्मशाने अवस्थानम् यस्मात् । यस्मात्तावत् हि एतस्या अस्याः परेतपुरस्य श्मशानस्य भूमस्या प्रभूताया भूमे पिशाचपरमेश्वरी स्म । तस्मात्कारणात् अत्र श्मशाने कालसर्पविलोकनं कृत्वा प्रस्थानेन अवस्थानेन अलम् अस्मात् स्थाना-दन्यत्र गम्यताम् इति भाव । मा हीति—अनुष्ठा विपुलाश्च ताः स्वच्छन्दरचनया मया मनोभिलषितक्रीडास्तथा कुतूहलानि कौतुकानि तान्येव बहुलानि अन्तःकरणे मनसि प्रसवानि पुष्पाणि ममो तवो आमयो अन्तराय मा कार्षी मा कुरु । इत्युक्तमपि प्रकामप्रविशतोद्धुतमवेक्ष्य प्रकामम् अतिशयेन प्रविशन्तं श्मशानकाष्ठा तस्मिन् उपुक्तं तत्परम् अवेक्ष्य (तौ देवौ तस्योपसर्ग प्रत्यूहप्रबन्धं चक्रतु) स्यात पर्यासु विश्व । कीनाशेति—कीनाशो यमस्तस्य कारयः महिषास्तेषां निकाय समूहस्तस्य कायाः शरीराणि तद्वत् आकारो येषां ते घोरा भयान कारच ते घना मेघास्तथा घस्मरो भक्षकः भयङ्कर इत्यर्थः । आडम्बर एकत्रसंनिवेशः तस्य प्रथमं प्रारम्भम् आचष्टे इति तै प्रारम्भाचष्टैः । पुनः कथंभूते । प्रचण्डेति—तडित इच्छा इवैति तडिच्छया प्रचण्डाश्च ते तडिच्छ्या भीषणविद्युद्भाव तेषां संघट्ट अन्योन्यसंघर्षणं तस्मात् पञ्चकस्त समूहवस्तच ते ध्वान्तश्च तेषां संघोह समूहस्तस्मात् कुत्सहैः । निःसीमेति—निःसीमः मर्यादाम् अतिक्रमस्थासो समीरश्च वायुः तस्य अलघवा महान्तश्च ते पूरकारसप्तास्तै सहासार मेघाना सतत धारापातस्तेन ववर्षे भूमि । पुन कथंभूते । प्रत्यूहप्रबन्धे करालेति—करालम् करालश्च ते वेताला व्यन्तरदेवविशेषास्तेषां कुलं समूहस्तस्य काहला वाद्यविशेषास्तेषां कोलाहलाः घण्टास्तैरट्टहासैः अन्यसामान्ये प्रत्यूहे श्मशानेन प्रत्यूहप्रबन्धे विघ्नपरम्पराभिः । कथंभूतं । परिगृहीतेति—परिगृहीत अवलम्बितो गृहवासः पदस्य आसमन्तात् यद् भक्तिप्रबन्धनम्, वाग्वपुषा मनसा च विमर्शानुबन्धस्तं विनाशप्रबन्धं विघ्नसमूहैः सबहुमानं प्रभूतास्तर संहितैः तैस्तैर्भरप्रदाने मनोभिलषितवस्तुदानेन च । विहितविघ्नौ अपि कृतान्तरायौ विफलत्वात् विहितविघ्नौ । नि शेषामप्युषा रात्रेरन्तं यावत् अध्यात्मेति—आत्मानम् अधिकृत्य वर्तते इति अध्यात्म स चासौ समाधिश्च अध्यात्मसमाधि अध्यात्मस्वरूपैकाग्रता तस्य निरोधस्तस्मिन् विघ्नौ अमीनो । कथंभूतं जिनदत्तश्रेष्ठिनं देवौ चालयितुं न शेकतु । शमिति—एकाग्रभावस्य अभ्यासेन आत्मतत्त्वार्थं विभावनं हृदयम् अन्तःकरणस्य मनस बहिःकल्लोला इन्द्रियगोचरा च इङ्गितम् अभिप्रायो येन तम्, धर्मेति—धर्म पुण्य तदेव हर्म्यं प्रासाद तस्य निर्माणे रचनायां याः सा ये कामचरमायाः तेषां प्रबन्धनात् धर्मध्यानात् प्रबन्धनं यस्माद् भवति तस्मात् धर्मध्यानात् । (प्रभातसमये देवाभ्यां जिनदत्ताय विद्या दत्तेति वर्णयति) संजाते च प्रभातसमये सूर्योदयसमये । कथंभूते । सारति—बरारस्तोकमा किरणाः रश्मयो यस्य स बालकिरणः सूर्यस्तस्य किरणाः करास्तेषां निकर समूहस्तेनाभिराकृतः अन्धकारस्य उदय यत्र तस्मिन्, समुपहृतनिर्मलविपरीत समुपहत अपहृत परमवर्णितम् बाह्यबाधा धर्म समूह याभ्यां तौ पुन कथंभूतौ प्रकामं प्रकट प्रशम सर्व स्वभावौ भवोस्तौ । तेनैवमहा मायाविनौ महाभाग्यवता योग्यौ प्रणमौलिनौ प्रेममार्गं त जिनदत्तम् आसाद्य अवस्थ तस्मै विहायोगामिनी राम आकाशे विहरणाय पञ्चनिधिप्रदां पञ्चनिधिमन्त्रलक्षितां विद्या विनेतुर्दत्तवन्तु । इय हि यस्मात्कारणात् तव अस्मदनुग्रहात् अस्मदागमप्रसादात् अन्तरविहाराय भक्तिमनाय अवलम्बितानि विधिपूर्वकं विकानि साधिता तव भविष्यति । परं परया तु यस्माद्धिये एतस्यानुपायात् (असमाधात्) कथ्येन । (जिनदत्तोऽपि तो विद्या अनिरुद्ध परलोकाय प्रायादिति वर्णयति) कथंभूतो जिनदत्त । कुञ्जेति—कुञ्ज वनस्य वनलताविभागस्य सीमा कुञ्जसीमा अवरन्ते । यथा कुञ्जसीमाना विलम्बनीय मयूरपिच्छा इव मङ्गलमूर्तानि भूषणभूतानि विमान तनानि तयाम् भवलीलाये कुतूहलिन कुतूहलं यथानन्तरस्मिन् इति आस्यभूषणा आमपी विद्यावी यस्य । पुन

कथंभूत समाचरितेति—समाचरित विहित अक्षरानुवर्तनमय देवप्रतिपादितसंकेतो येन स, पुन कथंभूत । तां विद्यां प्रतिपद्य अङ्गीकृत्य, हृदयेति—हृदये दर्शनस्य उत्सवाय समानीता निखिला सकला अचलाः अकृत्रिमा चैत्यालया येन स जिनदत्त, तेषाम् अवलोकनस्य प्रेक्षणस्य कौतुकं यस्य तस्मै धरसेनाय, परमेति—परम उत्कृष्ट निर्दोष स चासावाप्तश्च तस्य उपासने पटवे निपुणाय पुष्पवटवे तां प्रादात् ददौ। (अमितप्रभ विद्युत्प्रभं वदति) विद्युत्प्रभ, अयं जिनदत्त अतीव अर्हदभिमतवस्तुपरिणतचित्त, अर्हतो जिनेन्द्र-भगवत अभिमतानि मान्यानि यानि वस्तूनि तेषु परिणतचित्त दृढम् अभिनिविष्टमना स्वभावादेव च स्थिरमति निश्चलबुद्धि अशेषोपसर्गसहनप्रकृतिश्च सकलचतुर्विधोपसर्गसहनस्वभावश्च । ततस्मात्कारणात् अत्र जिनदत्ते महदपि अकृतम् अकृत्य कुलिशे वज्रे घुणकीटचेष्टितमिव काष्ठकृमिव्यापार इव न भवति समर्थम् । अतोऽन्यमेव कंचन अभिनवजिनोपासनायतनचैतन्यम् अभिनवा नूतना या जिनोपासना जिनभक्ति तस्या आयतन गृह चैतन्य यस्य एतादृशं कंचन जनं निकषाव आवां परीक्षावहे। अन्यं कंचन परीक्षावहे इति विमृश्योच्चलिताभ्यां ताभ्यां पद्मरथो नाम राजा दृष्ट उपसृष्टश्चेति कविर्वर्णयति । कथंभूत नृप । मगधमण्डलमण्डनसनाथ मगधदेशभूषण प्रभु-ववविशिष्टश्च मिथिलापुरीनाथ पद्मरथो नाम नरपति (स च सुधर्माचार्यात् साणुव्रतं सम्यग्दर्शन बभारेति वर्णयति) कथंभूतादाचार्यात् । निजेति—निजमिथिलानगरसमीपपर्वते वृत्तो निसर्गरुचितो देह. शरीर यस्या तस्या कालाभिधाया गुहाया निवासे प्रीत चित्त यस्य तस्मात् । पुन कथंभूतात् । दीप्त तपो यस्य दीप्ततप-ऋद्धिधारिण, पुन कथंभूतात् ? निःशेषेति—नि शेषा सकलास्ते च ते अनिमिषा देवास्तेषां परिषत् सभा तया निषेव्यमाणम् आद्रियमाणम् आचरणचातुर्यं यस्य स तस्मात् सुधर्माचार्यात्, तदङ्गेति—तस्य सुधर्माचार्यस्य अङ्गानां हस्तपादमुखाद्यवयवानाम् अद्भुतप्रभाया विस्मयकारिण्या कान्ते प्रभावस्य माहात्म्यस्य दर्शनेन उपशा-न्ताभिप्राय सजातभक्तिपराशय, अणुव्रताधारं सम्यग्दर्शनम् आदाय गृहीत्वा तस्मिन्नेव दिने सुधर्माचार्योपदेशात् निश्चितेति—निश्चित अर्हत्परमेश्वरशरीरस्य निरतिशय तारतम्यरहित प्रकाशमहिमा कान्तिमाहात्म्य येन स, कृतनियम धृतव्रतप्रतिज्ञ. वासुपूज्यभगवन्त तन्नामकं द्वादश जिन वसुपूज्यनृपतिसुत भगवन्तं पूज्यं केवल-ज्ञानिनम्, कथंभूतम् ? सकलेति—सकलाश्च ते भुवनपतय इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्तिन तै स्तूयमाना ईड्यमानाश्च ते गुणगणा क्षायिकसम्यग्दृष्ट्यादिनवकेवललब्धयस्तेषाम् उदन्त प्रवृत्तिर्यस्य तम् उपासितु यष्टु पूजयितु प्रतिष्ठमान प्रयाण कुर्वन्, प्रमदेति—प्रमदो मोदस्तेन युक्तो नाद प्रमदनाद आनन्दजनकनादेन सुन्दराणा दुन्दुभीनाम् आनकाना रवै शब्दै आकारिता आहूता निरवशेषा नि शेषा परिजना बन्धुभृत्यादयो येन स, समासजत् इति समासजन्तो भवन्तम् आयान्तौ समस्तविष्टपे निखिलभुवने इति समस्तविष्टपविशिष्टदृष्टचेष्ट विशिष्टा अनन्यजनसाधारणा दृष्टा चेष्टा प्रवृत्तिर्यस्य स । स च दृष्ट. कदाचिदपि कस्मिंश्चित्समये क्षुद्रोपद्र-वात् क्षुद्रबाधाया विप्रलब्ध वञ्चित, रहित । (अतो देवाभ्या महोपद्रवैरुपद्रोतु प्रारब्ध ।) पुरेति-पुरप्लोषो अग्निना नगरदाह, अन्त पुरविध्वंस अन्त पुरे निशान्ते स्थिताना राजस्त्रीणा विध्वंस मृत्यादिना नाश, वरूथिन्या सेनाया मथन वधबन्धनादिकम्, प्रसभस्तीव्र स चासौ प्रभञ्जनश्च वायुस्तेन ऊर्जित प्रबलश्चासौ पर्जन्य जलवृष्टि, परुषा कठोरा वर्षोपला करका आसार जलधारासपात, आदीना वसतिनिवासो यासु ताभि, दुर्दमा दु खेन दमो वशीकरण येषा ते च ते शार्दूला व्याघ्रास्तेषाम् उत्तराकृतय ताभि विकृतिभि उत्तरविक्रियाभिरित्यर्थ । उपद्रोतु पीडयितुं प्रारब्धो नृप । तथापि अविचलितं निर्भयं चेतो मनो यस्य तम् अवसाय ज्ञात्वा, सनरवर सनृप कुञ्जर करिण मायामयप्रतिघे, मायामय प्रतिघ क्रोधो विघ्न वा यस्मिन्, अस्ताघे अस्त नष्टम् अघ गाघ यस्मात् तस्मिन्, व्याप्ता निरुद्धा अखिला दिश आरामा उपवनानि, तेषा सगमो यस्मिन्, एतादृशे कर्दमे पङ्के निमज्जयद्भ्या निमज्जन कारयद्भ्या ताभ्या देवाभ्याम् । नभ इति—सुरा देवा असुरा भवनत्रिकवासिनो देवाश्च तै कृता ये उपसर्गा उपद्रवास्तेषा सगस्य सबन्धस्य सूदन विनाशस्तस्य अभिधानमात्र शब्दमात्र स एव मन्त्र तस्य माहात्म्यं प्रभावस्तस्य साम्राज्य यस्य तस्मै "श्रीवासु-पूज्याय नम " इति एव तत्र कर्दमे निमज्जत ब्रुवत भूभृतो भुव बिभर्ति इति भूभृत् तस्य नृपस्य वचनम् आकर्ण्य । तदिति—तस्य नृपस्य धैर्योत्कर्षात् तन्निपश्चासौ तोषश्च प्रादुर्भवदानन्द मनीषा च बुद्धिस्तयो

निशाप्रतिमायधर्मे एकस्यां रात्रौ प्रतिमावज्जिनबिम्बवत् आदाय शरीरममतात्यागाभिप्राय तस्य वचम् अधीन रात्रिप्रतिमायोगधारिणम् एकाकिनम् अद्वितीयं जिनदत्ताभिधम् उपासकं श्रावकं विलोक्य आलोक्य अमिलन् 'अरे दुराचारस्य आचरणं तत्र मलिनस्य तत्संबोधनम्, निराकृते निर्मला आकृतिः शृङ्गारवेषो यस्मात्तत्र संबोधनम् अथवा परमात्मनः पदं येन तत्संबोधनम् मनुष्यापसद मनुष्येषु अपसीदति निकृष्टं भवतीति मनुष्यापसदः तत्संबोधनं हे नराधम शीघ्रमिमाम् उत्थापय ऊर्ध्वं कुर्वतीति ऊर्ध्वदोषी यथा स्यात्तथा पुष्करीकसदृशी प्रतिमा कायोत्सर्गधारणस्थानं त्यक्त्वा पलायस्व न क्षेमस्करं हितकरं तवात्र श्मशाने अवसरं वर्तं पस्थाय । यस्मादावां हि एतस्य अस्याः परेतपुरस्य श्मशानस्य भूतस्य प्रभुतायां भूमेः पिशाचपरमेश्वरौ स्व । तस्मात्कारणात् अत्र श्मशाने कायोत्सर्गादिकर्म कृत्वा प्रस्थानेन अवस्थानेन अलम् अस्माद् स्थानादन्यत्र गम्यताम् इति भावः । मा ईसि—अतुच्छ विपुलाश्च ताः स्वच्छन्दकेलयः यथा मनोभिलषितक्रीडास्ताश्च कुतूहलानि कौतुकानि तान्येव बहुलानि अन्तःकरणे मनसि प्रकाशानि पुण्यानि ययो तयो आवयोः अन्तरायं मा कार्षीः मा कुरु । इत्युक्तमपि प्रकाममविचार्योक्तमवस्य प्रकामम् अतिशयेन प्रविश्यतं ध्यानैकाग्रतया तस्मिन् उपुक्तं तत्परम् अवेत्य (तौ देवौ तस्योपसर्गं प्रत्यूहप्रबन्धैः आवृत्य) व्यक्तः पर्वांसु दिक्षु । कीनाशेति-कीनाशो यमस्तस्य कायाः महिषास्तेषां निकायः समूहस्तस्य कायाः शरीराणि तद्वत् आकारो येषां ते घोरा भयानकाश्च ते घना मेघास्तथा घस्मरो भक्षकः भयङ्कर इत्यर्थः । आडम्बरः एकत्रसंनिवेशः तस्य प्रथमं प्रारम्भम् आगच्छन्ति इति तैः प्रारम्भमाणैः । पुनः कथंभूतैः । प्रचण्डेति—तडित् इयत्ता इवेति तडिद्दण्डाः प्रचण्डाश्च ते तडिद्दण्डा भीषणविद्युद्दण्डाः तेषां संघट्ट अन्योन्यसंघर्षणं तस्मात् उच्छलन्त उद्गच्छन्तस्च ते धान्याश्च तेषां संदोह समूहस्तस्मात् दुस्सहैः । निस्सीमेति—निःसीम मर्यादाम् अतिक्रान्तश्चासौ समीरणश्च वातः तस्य मखराश्च महान्तश्च ते सुरकारसभ्यास्तैः सहासारः मेघानां सततं धारापातस्तेन भयकैः भुवि । पुनः कथमन । प्रत्यूहप्रबन्धैः करालेति—करालाः क्रूराश्च ते वैतालाः व्यन्तरदेवविशेषास्तेषां कुलं समूहस्तस्य कालुका मायाविशेषास्तेषां कोलाहलाः प्रकाशास्तैः कुतूहलास्तैः अन्यसामान्यैः इत्यसभूतैः अन्यैश्च प्रत्यूहप्रबन्धैः विघ्नपरम्पराभिः । कथंभूतैः । परिगृहीतेति—परिगृहीतः अवलम्बितो गुरुतरः गुरुस्य आसनन्तरम् अत्र अभिनिःष्यन्दनम् आसनस्य नानानां च निर्मलतापुष्पलयः विनायप्रबन्धे विघ्नसमूहैः समवृत्ताः प्रभूतास्तैः सहितैः तैर्गम्भीरप्रकारैः नानाविकल्पितवस्तुदानैश्च । विहितविघ्नौ अपि कृतान्तरायौ किमत्कारं विहितविघ्नौ । नि तेषामप्युपार्जितं आचरन् अध्यात्मेति—आत्मानम् अधिकृत्य वर्तते इति अध्यात्मं स चासौ समाधिश्च अध्यात्मसमाधि अध्यात्मसमाध्येकाग्रता तस्य निरोधस्तस्मिन् निष्ठौ अधीनौ । कथंभूतं जिनदत्तश्रेष्ठिनं देवौ चालयितुं न शेकतुः । तमिति—एकाग्रभावस्य अभ्यासेन आत्मतत्त्वस्थं निराधीनं कृतम् अन्तःकरणस्य मनस बहिः करणानां इन्द्रियाणां च ईहितम् अभिप्रायो येन तम्, धर्मेति—धर्मं कृतं तदेव हर्म्यं प्रासादस्तस्य निर्माणे रचनायां क्षमा ये कामपरमोक्षाः तेषां प्रबन्धनात् धर्मध्यानात् प्रवर्तनं यस्माद् भवति तस्मात् धर्मध्यानात् । (प्रभातसमये अवाप्या जिनदत्ताय विद्या ददतोति वर्षमति) संजाते च प्रभातसमये सूर्योदयसमये । कथंभूते । स्मरति—स्मरस्य तीक्ष्णा किरणाः रश्मयो यस्य स तीक्ष्णकिरणः सूर्यस्तस्य किरणाः करास्तेषां निकरसमूहस्याभिरामः अन्धकारस्य उदयः येन तस्मिन्, समुल्लसीतलमौर्वी समुल्लसन् कराकुल कालवर्णितम् नाटयतां वत समुद्र नाट्या नौ पुनः कथंभूतौ प्रकाशं प्रकटं प्रतम सर्वं स्वभावो पथान्यौ । तैर्गम्भीर मानापिनौ महामात्यवता योग्यौ प्रत्यर्पातिनौः प्रेमतापधौ तं जिनदत्तम् आनन्दं प्रणम्य तस्मै विहायोगविहाराय आकाशे विहरणाय पञ्चनिमस्कारामन्त्रसहितां विद्यां वितेरतुः । एवं हि मन्मात्कारणात् तव अस्मदनुग्रहात् असमग्र प्रभावात् अम्बरविहाराय नभोगमनाय अनेकाविधानि विधिपूर्वकं विधाप्य नाविधानं नर भविष्यति । यो परेषां तु अस्मादिष्टे उपदेशानुसारात् (वा उपायात्) कर्मेण । (जिनदत्तोऽपि ता विद्या अपि रथ परेभ्योऽपि प्रादादिति इत्यादि) कथंभूतौ जिनदत्त । कुम्भेति—कुम्भ कलश अतर्कितकाक्षा दैवी कुम्भोत्था उत्पन्न । तयोः कुम्भकेतनां गिरिपालस्य अमृतमिम इव नाट्यभूतानि कुम्भनाभूतानि जिनाद्य . . . । पुन तनानि तताम् असंभाव्य कुतूहलित कुतूहलैः ॥

कस्मिन्समये भाषित । निशीथेति—निशीथो अर्धरात्र तस्य पर्यवर्ति मार्गवर्ति वीक्षण यत्र तस्मिन् क्षपाक्षणे निशासमये । अञ्जनचोर कस्य सुत । विप्रियते—मध्यदेशे प्रसिद्धविजयपुरस्वामिन , कथभूतस्य । सुन्दरीमहादेव्या विलासी पति तस्य, स्वकीयेति-स्वकीयो निज स चासौ प्रतापो विक्रम स एव बहुलवाहनोऽग्नि तस्मिन् आहुतीकृता प्रक्षिप्ता अरातीना शत्रूणा समिति॰ समूहो येन तस्य, अरिमन्थमहीपते॰ ललितो नाम सुतः पुत्र , पुन कथभूत । समस्तेति—सकलद्यूतादिव्यसनसप्तकलम्पटत्वात् दायादा सपिण्डा ते च ते क्रव्यादा राक्षसास्तै सपादित साम्राज्यपदे अपायो यस्य स । परम् उपाय परा गतिम् अवीक्षमाण । अदृश्येति—अदृश्यो येन अक्तेन नरो भवति तदञ्जनम् अदृश्याञ्जनमुच्यते तेन अदृश्याञ्जनेन आवर्जिता लब्धा ऊर्जिता बलवती उन्नति प्राप्ता प्रज्ञा मतिर्यस्य स । प्रतीतेति—प्रसिद्धाञ्जनचोरापरनामा किलैवम् अञ्जनसुन्दर्या भाषितः—कुशाग्रपुरेति—कुशाग्रपुर राजगृह तस्य परमेश्वरस्य स्वामिनो या अग्रमहिषी प्रधानराज्ञी स्ताविषी नाम तस्या. सौभाग्यरत्नाकर नाम कण्ठालङ्कार ग्रीवाभूषण यदि चेत् आनीय मह्य प्रयच्छसि तदा त्व मे कान्त प्रिय , अन्यथा नो चेत् प्रणयान्त प्रीतिविनाश स्यादिति । सोऽपि कियद्गहनमेतत् । न किमपि कठिनम् इत्युदाहृत्य उक्त्वा प्रियतमाया वल्लभतमाया मनोरथम् अभिलाषम् अन्वर्थक सफल चिकीर्षु कर्तुमिच्छु । निजेति—निजा चासौ छाया प्रतिविम्ब तस्या अदृश्यताकरण शील यस्य तत्कज्जलं बहुल यत्र तथावस्थित लोचनयोर्नेत्रयोर्युगल युग विधाय कृत्वा, प्रयाय च गत्वा च तन्महीश्वरगृहम् तन्नृपतिप्रासादम् । गृहीतेति—मुषिततद्भूषण । तत्प्रभेति—तत्कान्तिप्रसरणेन अवगतपदसचार , शब्दै शस्त्रैश्च उत्ताल वाचालम् आनन कराश्च येषा तै तलवरस्य कोट्टपालस्य अनुचरै किङ्करै अभियुक्तो अभिद्रुत । निस्तरीतु तान् वञ्चयित्वा गन्तुम् अक्षम , परित्यज्य तद्रत्नाभरणम् इतस्ततो नगरबाह्ये प्रदेशे विहरन्, प्रदीपेति—प्रदीपकान्तिवशात् अथ स्थापितास्त्ररचनाभीते पुन पुन उत्तरणावतरणे आवहतीति तादृशा देहेन खिन्न धरसेन वीक्ष्य, गत्वा च त देशम् एव निर्दिदेश अकथयत् । अहो प्रलयेति—कल्पान्तकालतमोव्याप्तायाम् अस्या वेलाया समयेऽस्मिन् महासाहसिकवृषन् महासाहस कुर्वत्सु वृषन् प्रधान, दुष्कर्मकारिन्, कठिनकार्यकारिन्, को नाम भवान् । धरसेन —कल्याणमित्र महाभाग्ययुक्त वृत्त चारित्र यस्य तस्य जिनदत्तस्य विदित पुष्पबटुरिति नियोगस्य संबन्धो यत्र, पूजासमये पुष्पानयनकार्ये नियुक्तिसबन्धो यस्य सोऽहम् एतदुपदेशात् आकाशविहारव्यवहारे निषद्या प्रवृत्तिर्यस्या ता विद्या साधयितुमिच्छन् अत्र अयासिषम्—अहम् आगत । अञ्जनचोर —कथमिय साध्यते । धरसेन —कथयामि । पूजोपचारनिषेक्ये शिक्ये पूजोपचारस्य गन्धाक्षतादे निषेकस्य क्षेपणस्य योग्ये अस्मिन् शिक्ये नि शङ्क निर्भयम् उपविश्य इमा विद्याम् अकुण्ठकण्ठम् अविराम कण्ठेन पठन्, एकैक शरप्रवेक सिक्यकदर्भग्रथितसूत्र स्वच्छधी निर्मलमति छिन्द्यात् । अवसाने गगनगमनेन युज्यते । यद्येवम् अपसर अपसर एतत्कार्यात् विरम विरम । त्व हि तलोन्मुखेति—तले भूमितले उपरि अग्राणि कृत्वा विन्यस्ततीक्ष्णशस्त्रावलोकनजातभीतबुद्धि न खलु विद्या साधयितु समर्थो भवसि । यतो यज्ञोपवीतदर्शनेन धनसपादनकृतार्थ धनार्जनकार्ये त्वं समर्थ । तस्मात् कारणात् भाषस्व मे यथार्थोपायमनोरमा विद्याम् । साधयामि एनाम् । ततस्तेनेति—आत्महिताय अरोचमाणेन पुष्पवटुना सम्यग् उपायै सह दत्तविद्य सम्यग्ज्ञातज्ञातव्य , सपत्त्या सम्यग्ज्ञानेन, निकटमुक्तिगृह अञ्जनचोर (एव निश्चितवान्) स्वप्नेऽपि अन्यप्रतारणाचारपरावृत्तमना जिनदत्त , स खलु महताम् अपि महान्, आदरणीयानामपि आदरणीय , स्वीकृतश्रावकव्रतपालनतत्पर , प्राणिमात्रस्यापि नान्यथा चिन्तयति, किं पुन विहितप्रीते पुत्रसाधारणतया पालितस्य धरसेनस्य अस्य अन्यथा चिन्तयेत् । इति निश्चित्य उपविश्य च सोत्कण्ठ सिक्ये । निःशङ्केति—नि सशयमति स्वकीयेति—निजसाहसोद्योगप्रमोदितसुरासुरसमूह युगपदेव तद्दर्भसूत्रसमूह छिनत्ति स्म, आससादेति—सप्राप च नभश्चरपदम् । पुनर्यत्र जिनदत्तस्तत्र मे गतिर्भूयादिति कृताभिलाष , काञ्चनाचलेति—सुवर्णपर्वततटनिवासिनि सौमनसवनशालिनि जिनगृहे जिनदत्तस्य धर्मश्रवणकृत गुरुदेवाभिधस्य भगवत पूज्यस्य सन्निधौ तपो गृहीत्वा अञ्जनचौरो मुक्तो बभूव । कथभूत स॰ । विज्ञातसकलाप्तोपदेशस्वरूप ऐतिह्य नाम आप्तोपदेश जिनागम । हिमवदिति—हिमवत्पर्वतशिखरे प्रादुर्भूतकेवलबोध । [कैला]सेति—कैलासकेसरवनगत मुक्तिरमासमागमासक्तभोगगृह बभूव । भवति चात्र श्लोक —क्षत्रपुत्रेति—

प्रसृतः ययोः ताभ्यां देवाभ्याम्। पुनः कथंभूताभ्याम् ? छुरितेति—कपु झटिति परिमुषितः विन्न छिन्न अशेषाः सकलाः विघ्ना: तैयांमविघ्नरः प्रसंगः याभ्याम्। पुनः कथंभूताभ्याम्। आचरितेति—कृतादराभ्याम्। (देवाभ्यां कथ्यमानं वचनम् उक्त्वा तत प्रारभ्यादि) अहो राजन् भुवनम्य सम्यग्दर्शनमणेः अकलङ्क निर्मल-सकलमार्गं पञ्चरत्न जैनशासनधर्मम् अत्र पवत्समाच्चारणात् गेहात् प्रतिमाः सन्त्वं चैव ताभ्यां पुत्रेषु अवयवेषु अनुरागेषु भवानुगेषु अतिनिर्भरति लोके क्रियमाणा न प्रभवन्ति तामा न भवन्ति प्रसमप्रसभा तीर्थलतया भ्रूतो-परता। यत। एकापीति—इयम् एकापि जिनभक्तिः कृतिनः पूर्णं प्रशस्तं कर्म यस्यास्तीति पुण्यो अस्य कृतिन निपुणस्य पवित्रस्य दुर्गति निवारयितुं समर्था पुण्यानि च पूरयितुं संचेतुं समर्था कुशला। मुक्तिश्रियं च दातुं समर्था दक्षा ॥१५५॥

[पृष्ठ ४९] इति निगोद्य उक्त्वा जिनमतारागवशाधीने भवत्येव सर्वरोगापनीतं कृपेमं हार सकलसुरसुर्वतीति स्वैरं योग्ये चैत्यालये वादं च प्रेषणं तथा करिष्यतीति कृतसंकल्पाभ्यां कृतसंभावनाभ्यां ताभ्याम् अभीष्टस्थानं प्राप्तावपि अगम्यत। त्रिदशेश्वरेति—त्रिदशाना तृतीया जीवनावस्था दशा येषां ते त्रिदशा देवाः तेषाम् ईश्वरः त्रिदशेश्वरः तस्य वचनामृतात् जृम्भमाणा वर्धमाना गुणानां संकथा स्तुतिर्यस्य स पद्मरथोऽपि दत्तीपकृतो वासुपूज्यस्य गणधरपदाधिकारी भूत्वा कृत्वा चारणानाम् अनूनं पूर्वं च दशलक्ष-प्रवृत्तिप्रागनुतानि ततस्तं तद्वीर्यं मोक्षामृतपानम् अजायत। भवति चात्र श्लोकः—उररीकृतेति—उररीकृते स्वीकारिते च ते निर्वाहसाहसे तयोर्विषये कथितं येन येषाम् ते उररीकृतनिर्वाहसाहसोचितकेतस तेषाम्। प्रारब्धस्यात्यन्तम् निर्वाहः धैर्येण यत् क्रियते कार्यं तत्साहसमिति। निर्वाहसाहसगुणधारिणाम् इहपरलोकौ कामदुघौ इष्टदायकौ स्याताम्। कीदृश कामधुप् भवति। तेषां नराणां अपत्यमेतद् अल्पं प्रतिभाति। कीर्तेरपात्यं जगत्त्रयम् इत्यपि पाठः। कीर्तेः एतत् जगत्त्रयं वास्यं व्याख्यातुं मार्गं भवति इति भावः।

इत्युपासकाध्ययने जिनदत्तस्य पद्मरथपुरंदरसौख्यस्य च प्रतिज्ञानिर्वाहमाहात्म्यो नाम षष्ठः कल्पः।

७ निःशङ्कितत्वप्रकाशनो नाम सप्तमः कल्पः।

[पृष्ठ ४९] इत्थम् संपादितसकलोपकरणत्वेन संपन्निना एकीकृता सकलानाम् अपकरणानां ताम माना सेना समूहो येन स वरसेनोऽपि अतुच्छेति—अतुच्छा विपुला महत्त्वात् पूजानादय तेन अवश्य सफले मानसद्रे पचविधेति चतुर्दशीरात्रिसमये सर्वतः सर्वाविरभ्य। पातुधानेति—पातुधाना रक्षांसि तेषां भावनं प्रवर्तते यासु तासु श्मशानभूमिषु। प्रवर्तितेति—प्रवर्तितं संपादितं तथाराधनोचितमण्डलं येन स्थानासु सर्वासु दिसु दिशासु, निक्षिप्तरक्षावलाः स्थापितरक्षामण्डल अयमेव एकः कृतसकलीकरण कृत-दिग्बन्धनाद्यमृतपानिकार्मः मायबैरीविधानसमर्थः नक्षत्रमण्डले मध्यविभागे वटवृक्षशाखायां परिकरेति—परिकरा कन्था तथा निकरेण कर्तितानि यानि तृणानि तन्तवः तेषां छत्रं तेन संपादितं रचितम्। पुनः कथंभूतं शिक्यम्। आत्मेति—आत्माधर्मं निषोपवेशनं तेन समानं छत्रं यत् अन्तराल मध्यं स्थानं तत्र वर्तितं शिक्यम् लम्बं निबध्य अस्तानिति—अस्त भवति यो वस्यः पत्र तेन संकल्पितानि विनिक्षिप्तानि मन्त्रवाक्यानि येन स पुनः कथंभूतो वरसेनः। प्रवर्तमानत् शिक्यावयवस्तात् ऊर्ध्वेति—ऊर्ध्वमुखानि उपरि वदनानि कृत्वा निक्षिप्तानि स्थापितानि निशितानि तीक्ष्णानि अयोमयशस्त्राणि तत्कर्मसहस्राणि येन स। पुनः कर्मम् । बहिरिति—बहिर्मण्डलादूरात् निवेशिता स्थापिता दत्तदिशा दृष्टिविषयः पूजाविधौ येन स अमुना प्रकारेण स वरसेनः यथावत्सर्वं मन्त्राराधनमनुसृत्य तद्विद्याराधनसमृद्धि या चाती विद्या च तद्विद्या बाकाचविहारविद्या तस्या आराधने समृद्धबुद्धि परिपूर्णमतिर्बभूव। तमतो वचो इति भावः। कथान्तरे एत स्मिन् प्रस्तावे कथान्तरं वर्तते। तद्यथा—

[पृष्ठ ५०–५१] अञ्जनसुन्दर्यञ्जनचोर किमिममुक्त—निष्कारणेति निष्कारणं विना हेतुं कर्म करोतीति कलिकारिणी कलहं कुर्वन्ती या अञ्जनसुन्दरी नाम वेश्या तया स अञ्जनचोर एवं भाषितः।

कस्मिन्समये भाषित । निशीथेति—निशीथो अर्धरात्र तस्य पथवर्ति मार्गवर्ति वीक्षणं यत्र तस्मिन् क्षपाक्षणे निशासमये । अञ्जनचोर कस्य सुत. । विश्रियते—मध्यदेशे प्रसिद्धविजयपुरस्वामिन , कथभूतस्य । सुन्दरीमहादेव्या विलासी पति तस्य, स्वकीयेति–स्वकीयो निज स चासौ प्रतापो विक्रम. स एव वहुलवाहनोऽग्नि तस्मिन् आहुतीकृता प्रक्षिप्ता अरातीना शत्रूणा समिति समूहो येन तस्य, अरिमन्थमहीपते ललितो नाम सुत पुत्र , पुन कथभूत' । समस्तेति—सकलद्यूतादिव्यसनसप्तकलम्पटत्वात् दायादाः सपिण्डा ते च ते क्रव्यादा राक्षसास्तै सपादित साम्राज्यपदे अपायो यस्य स । परम् उपाय परा गतिम् अवीक्षमाण । अदृश्येति—अदृश्यो येन अक्तेन नरो भवति तदञ्जनम् अदृश्याञ्जनमुच्यते तेन अदृश्याञ्जनेन आवर्जिता लब्धा ऊर्जिता वलवती उन्नतिं प्राप्ता प्रज्ञा मतिर्यस्य स । प्रतीतेति—प्रसिद्धाञ्जनचोरापरनामा किलैवम् अञ्जनसुन्दर्या भाषितः—कुशाग्रपुरेति—कुशाग्रपुर राजगृह तस्य परमेश्वरस्य स्वामिनो या अग्रमहिषी प्रधानराज्ञी स्ताविषी नाम तस्या सौभाग्यरत्नाकर नाम कण्ठालङ्कार ग्रीवाभूषण यदि चेत् आनीय मह्य प्रयच्छसि तदा त्व मे कान्त प्रिय , अन्यथा नो चेत् प्रणयान्त प्रीतिविनाश स्यादिति । सोऽपि कियद्गहनमेतत् । न किमपि कठिनम् इत्युदाहृत्य उक्त्वा प्रियतमाया वल्लभतमाया मनोरथम् अभिलाषम् अन्वर्थक सफल चिकीर्षु कर्तुमिच्छु । निजेति—निजा चासौ छाया प्रतिविम्ब तस्या अदृश्यताकरण शील यस्य तत्कज्जल वहुल यत्र तथावस्थित लोचनयोर्नेत्रयोर्युगल युग विधाय कृत्वा, प्रयाय च गत्वा च तन्महीश्वरगृहम् तन्नृपतिप्रासादम् । गृहीतेति—मुषिततद्भूषण । तत्प्रभेति—तत्कान्तिप्रसरणेन अवगतपदसचार , शब्दै शस्त्रैश्च उत्ताल वाचालम् आननं कराश्च येषा तै तलवरस्य कोट्टपालस्य अनुचरै किङ्करै अभियुक्तो अभिद्रुत । निस्तरीतु तान् वञ्चयित्वा गन्तुम् अक्षम , परित्यज्य तद्रत्नाभरणम् इतस्ततो नगरवाह्ये प्रदेशे विहरन्, प्रदीपेति—प्रदीपकान्तिवशात् अध स्थापितास्त्ररचनाभीते पुन पुन उत्तरणावतरणे आवहतीति तादृशा देहेन खिन्न धरसेन वीक्ष्य, गत्वा च त देशम् एव निर्दिदेश अकथयत् । अहो प्रलयेति—कल्पान्तकालतमोव्याप्तायाम् अस्या वेलाया समयेऽस्मिन् महासाहसिकवृषन् महासाहस कुर्वत्सु वृषन् प्रधान, दुष्कर्मकारिन्, कठिनकार्यकारिन्, को नाम भवान् । धरसेन –कल्याणमित्र महाभाग्ययुक्त वृत्त चारित्र यस्य तस्य जिनदत्तस्य विदित. पुष्पवटुरिति नियोगस्य सवन्धो यत्र, पूजासमये पुष्पानयनकार्ये नियुक्तिसवन्धो यस्य सोऽहम् एतदुपदेशात् आकाशविहारव्यवहारे निपद्या प्रवृत्तिर्यस्या ता विद्या साधयितुमिच्छन् अत्र अयासिषम्—अहम् आगत । अञ्जनचोर'—कथमिय साध्यते । धरसेन —कथयामि । पूजोपचारनिषेक्ये शिक्ये पूजोपचारस्य गन्धाक्षतादे निषेकस्य क्षेपणस्य योग्ये अस्मिन् शिक्ये नि शङ्क निर्भयम् उपविश्य इमा विद्याम् अकुण्ठकण्ठम् अविराम कण्ठेन पठन्, एकैक शरप्रवेकं सिक्यकदर्भग्रथितमूत्र स्वच्छधी निर्मलमति छिन्द्यात् । अवसाने गगनगमनेन युज्यते । यद्येवम् अपसर अपसर एतत्कार्यात् विरम विरम । त्व हि तलोन्मुखेति—तले भूमितले उपरि अग्राणि कृत्वा विन्यस्ततीक्ष्णशस्त्रावलोकनजातभीतवुद्धि न खलु विद्या साधयितु समर्थो भवसि । यतो यज्ञोपवीतदर्शनेन वनसपादनकृतार्थ धनार्जनकार्ये त्व समर्थ । तस्मात् कारणात् भापस्व मे यथार्थोपायमनोरमा विद्याम् । साधयामि एनाम् । ततस्तेनेति—आत्महिताय अरोचमाणेन पुष्पवटुना सम्यग् उपायै मह दत्तविद्य सम्यग्ज्ञातज्ञातव्य , सपत्त्या सम्यग्ज्ञानेन, निकटमुक्तिगृह अञ्जनचोर (एव निश्चितवान्) स्वप्नेऽपि अन्यप्रतारणाचारपरावृत्तमना जिनदत्त , स खलु महताम् अपि महान्, आदरणीयानामपि आदरणीय , स्वीकृतश्रावकव्रतपालनतत्पर , प्राणिमात्रस्यापि नान्यथा चिन्तयति, किं पुन विहितप्रीते पुत्रसाधारणतया पालितस्य धरसेनस्य अस्य अन्यथा चिन्तयेत् । इति निश्चित्य उपविश्य च सोत्कण्ठ सिक्ये । निःशङ्केति—नि सशयमति स्वकीयेति—निजसाहसोद्योगप्रमोदितसुरासुरसमूह युगपदेव तद्दर्भसूत्रसमूह छिनत्ति स्म, आससादेति—सप्राप च नभश्चरपदम् । पुनर्यत्र जिनदत्तस्तत्र मे गतिर्भूयादिति कृताभिलाप , काञ्चनाचलेति—सुवर्णपर्वततटनिवासिनि सौमनसवनशालिनि जिनगृहे जिनदत्ताख्य धर्मश्रवणकृत गुरुदेवाभिधस्य भगवत पूज्यस्य सन्निधौ तपो गृहीत्वा अञ्जनचोरो मुक्तो वभूव । कथभूत सः । विज्ञातसकलाप्तोपदेशस्वरूप ऐतिह्य नाम आप्तोपदेश जिनागम । हिमवदिति—हिमवत्पर्वतशिखरे प्रादुर्भूतकेवलबोध । कैला ... कैलासकेसरवनगत मुक्तिरमासमागमासक्तभोगगृह वभूव । भवति चात्र श्लोक —क्षत्रपुत्रेति—

प्रवर: यशो ताभ्यां देवाभ्याम्। पुन कथंभूताभ्याम् ? सवितिति—मधु प्रटिति परिमुषित विन विव मबेला सकला: विभ्रा तेषां व्यतिकर: प्रसंग: याभ्याम्। पुन कथंभूताभ्याम्। आचरितेति—ख्यातराभ्याम्। (देवाभ्यां कथमार्थ वचनम् उक्त्वा तत प्रास्थापि) अहो राजन् भूतनम्य सम्यग्दर्शनमध्ये कस्य निर्वेद सन्मार्ग प्रवरव नैतद्रापयमम् अत्र मदस्मात्कारणात् सदा प्रमिता सत्त्वं चैव ताभ्यां युक्तेषु भवषु अनुगमेषु मवामृतपु मलिमलैरपि लोके क्रियमाणा न प्रमवन्ति तमा न भवन्ति प्रसमप्रसवा तीवोत्सवम् मुपे पद्मा। भत। एकापीति—इयम् एकापि जिनभक्ति दुर्गति: इतं प्रशस्तं कर्म अस्यास्तीति कृती तस्य कृतिन निपुणस्य पण्डितस्य दुर्गतिं निवारयितुं समर्था पुण्यानि च पूरयितुं संचेतुं समर्था कुशला। मुक्तिश्रियं च दातुं समर्था दक्षा ॥१५५॥

[पृष्ठ ४९] इति निमोमे उक्त्वा जिनमक्तारावनामीने भवद्वेवे सर्वरोगापनोदं कुर्वतम् हार एककमवर्तिनि क्षेत्र योग्यं चैतद्वाणोदं वादं च प्रेयम् तेषां करिष्यतीति कृतसंकथाभ्यां कृतसंभाषणाभ्यां ताभ्याम् अभीष्टस्थानं प्रास्थायि अगम्यत। त्रिदशेश्वरेति—त्रिदशाना तृतीया यौवनाख्या दशा येषां ते त्रिदशा देवा तेषाम् ईश्वर: त्रिदशेश्वर: तस्य वचनामृतात् श्रूयमाणा वर्धमाना गुणानां संकथा स्तुतिर्यस्य स पचरथोऽपि तत्तोषकृतो वासुपूज्यस्य पचरथपदाधिकारी भूत्वा कृत्वा चारमात्मम् अमुम् पूर्वं च तत्समर्थं सद्बुद्धिमानवृत्तानि तत्सम तदधीनं मोक्षामृतपात्रम् अजायत। भवति चात्र श्लोक —शरीरेति—शरीरे स्वीकारिते च ते निर्वाहसाहसे तयोर्विषये धृतिर्येन येषाम् ते शरीरकृतनिर्वाहसाहसोचितचेतस तेषाम्। प्रारब्धस्यान्तगमनं निर्वाह धैर्येण यत् क्रियते काम तत्साहसमिति। निर्वाहसाहसमुपचारिणाम् इहपरलोके कामयुगौ इष्टदायको स्याताम्। कीर्तिश्च प्रयमयुम् भवति। तेषां नराणां अमलत्वमेतद् वस्तु प्रतिभाति। 'कीर्तेरप्यस्ति अमलत्वम्' इत्यपि पाठ.। कीर्ते एतत् अमलत्वं चारुत्वं चायचितुं यायं भवति इति भाव:।

इत्युपासकाध्ययने जिनदत्तस्य पद्मरथनृपस्योपाख्यानस्य च प्रतिज्ञानिर्वाहसाहसो नाम षष्ठ: कल्प:।

७ निश्शङ्कितत्वप्रकाशनो नाम सप्तम: कल्प:।

[पृष्ठ ४९] इत्यत्र संपादितमक्तोपकरणवेन संपादिता एकीकृता सकलानाम् उपकरणाना तान नाना देशा समूहा येन स परसेनोऽपि अतुच्छेति—अतुच्छा विपुला महत्सूच्छाया प्रभाभाव तेन प्रबन्धे सफल्ये शासनप्रदे पर्वविरचितेति चतुर्दशीरात्रिमध्ये सर्वत सर्वदिग्भ्य। पासुपानेति—पासुनाना रक्षादि तेषां भावनं प्रवर्तते यासु तासु श्मशानभूमिषु। प्रवर्तितेति—प्रवर्तितं संपादितं तदाराधनोचितमण्डलं येन त्यासु सर्वासु दिशु दिवासु, निविष्टरजावला स्थापितरत्नामण्डल भवमन एकक: कृतवकलीकरण कृत-दिग्बन्धनाहगपुष्पादिकार्य मायबेमीविधानसमये बस्मार्पणसमये कटविटपाये वटवृक्षशाखायै पतिंवरेति—पतिंवरा कन्या तथा निजकरेण कण्ठानि यानि पुष्पाणि तान्येव तेषां सहस्रं येन संपादितं रचितम्। पुन: कथंभूतं शिक्यम्। आमेति—आसनासनं निर्वापयेतनं तेन समस्तं सकुर्सं यत् अन्तराले मध्ये स्थानं तत्र स्थितं मौल्यम् शिक्यं निबध्य अन्तरिति—अन्त: भवति यो क्रम्य: पदानां तेन संकल्पितानि विनिर्मितानि मन्त्रवाक्यानि येन स पुन कथंभूतो परसेन:। प्रवचनस्य शिक्याधस्तात् ऊर्ध्वेति—ऊर्ध्वमुखानि उपरि वदनानि कृत्वा निमग्नानि स्थापितानि निशितानि तीक्ष्णानि अयोमयानि शस्त्रप्रहरणानि येन स:। पुन: कथंभूत:। बहिरिति—बहिर्मध्यमपूर्णाहे निवेशिता: स्थापिता बन्धविधा वृद्धिविरोधा पुष्पादिवधो येन स: अमुना प्रकारेण स परसेन: यथाशास्त्रं मन्त्रशास्त्रमनुसृत्य तदाराधनतत्परो ता चान्ती विद्या च तद्विद्या आकाशविहारविद्या तस्या आराधने समुद्बुद्धि: परिपूर्णमतिरभून। उभयो काले इति भाव। कथान्तरे एतस्मिन् प्रस्तावे कथान्तरं वर्तते। तद्यथा—

[पृष्ठ ५०—५२] अञ्जनसुन्दर्यामञ्जनचौर: किंभूत —निष्कारणेति निष्कारणं विना हेतुं कलि करोतीति कलिकारिणी कलहं कुर्वन्ती या अञ्जनसुन्दरी नाम वेश्या तया स अञ्जनचोर एव

उत्तरङ्गा उच्छलन्त ये अपाङ्गा कटाक्षा तै अपहसित च तदमृतं तस्य सरणिर्मार्गस्तस्य विषयस्तस्मिन्, सदा पाञ्चालिका कृत्रिमपुत्रिका तया सह केलि क्रीडा तस्या किल रत हृदय तस्मिन् । तद्गृह्यतां तावत् सकलव्रतेषु ऐश्वर्येण प्रभावेण वर्यं। श्रेष्ठ ब्रह्मचर्यम् । अत्र अस्मिन् व्रते, भगवान् पूज्य । अशेषेति–सकलागमप्रकाशनाभिप्रायभूरि धर्मकीर्तिसूरि.। अनन्तमतिः—तात नितान्त सर्वथा गृहीतवत्यस्मि एतद्ब्रह्मचर्यव्रतम् । न केवलमत्र विषये मे भगवानेव साक्षी, किंतु भवान् अम्बा च माता च। अन्यदा तु–उद्भिन्ने इति—स्तनकुड्मले कुचकोशे उद्भिन्ने सति उन्मीलिते सति, विलासालसे हास्ये स्फुटरसे विलासेन अलसे सुन्दरे हास्ये स्फुटरसे प्रीत्युत्पादके सति, वच प्रक्रमे वचनस्य प्रक्रमे प्रारम्भे किंचित् ईषत् कम्पित वेपित तदेव कैतव निमित्त यत्र तदवरदल प्रायो यत्र, नेत्राश्रिते विभ्रमे कटाक्षसचारे, कन्दर्पस्य मदनस्य अभिभवकारक यदस्त्र तस्य वृत्ति स्वभावस्तद्वच्चतुरे कुशले । मध्यस्य यौवनस्य गौरवगुणं महत्त्वगुण प्रादायेव गृहीत्वेव नितम्बे श्रोण्या वृद्धे सति पीवराया जातायाम् ॥१६३॥

[पृष्ठ ५५-५७] कथभूते वसन्तसमयावसरे समायाते। मुहुरिति—मुहुर्वार वार उत्पथे उन्मार्गे यत् प्रयाण गमन येन स चासौ मन्मथ स्मरस्तेन उन्माथो विभ्रमस्तेन मन्थर चञ्चल समस्तसत्त्वाना प्राणिना स्वन्त हृदय यत्र । सद्यः प्रसूतेति—सद्य प्रसूता नूतनोत्पन्ना ये सहकाराङ्कुरा. आम्रमञ्जर्य तेषा कवलनेन भक्षणेन कषायकण्ठा यासा ता कोकिलकामिन्यस्तासा कुहारावा कुहकुहेति ध्वनय तै असरालित प्रसारितः मनसि जायते इति मनोज मदनस्तस्य विजयो यत्र । मलयाचलेति—मलयाचलस्य मेखला तट तत्र निलीनानि प्रविष्टानि यानि किन्नरमिथुनानि किन्नरदेवदेवीयुगलानि तेषा मोहन सभोगस्तस्मादुद्भूत आमोदः अतिनिर्हारी गन्धस्तेन मेदुर परिपूर्ण परि आसमन्तत सरन् गच्छन् य समीरस्तस्य समुदय उन्नतिर्यत्र। विकसदिति—विकसन्त प्रस्फुटन्त कोशा कलिका येषा तानि कुरवकप्रसवानि अरुणानि पुष्पाणि तेषा परिमलस्य पाने लुब्धा या मधुकर्य. भ्रमर्यस्तासा निकरो वृन्दं तस्य झङ्कारो गुञ्जारवस्तस्य सारप्रसर उत्तम प्रसरणं यत्र, तस्मिन् वसन्तसमयप्रसगे प्राप्ते, ('आन्दोलनक्रीडार्थं उपवन गता तामनन्तमतिं कुण्डलमण्डितो नभश्चरपतिर्दृष्टवान्' इति वर्णयति कवि) कथभूता सानन्तमति । प्रसरदिति—प्रसरन् प्रादुर्भवन् स्मरविकारो यस्या सा । पुन कथभूता । स्मरेति—स्मरेण मन्मथेन स्खलन्ती मतिर्गतिश्च यस्या सा अनन्तमति. सह सहचरीसमूहेन सह वयस्याजनेन मदनोत्सवदिवसे दोलेति—दोलया आन्दोलन वार वार इतश्चेतश्चलन तत्र लालस सोत्कं मानस यस्या सा । पुन कथभूता सा । स्वकीयेति—स्वकीय निज च तत् रूप तस्यातिशय उत्कर्ष स एव सपत् तया तिरस्कृत सकलाना भवनस्थितानाम् अङ्गनाना नारीणाम् अङ्गविलासो यया सा। कथभूतेन कुण्डलमण्डितेन दृष्टा सा । सुकेशीति–सुकेश्यभिधया प्रियतमया भार्यया अनुगतेन, पुन कथभूतेन । कृतेति—कृत विहितं कामचारप्रचारे यथेष्टसचारे चेतो मनो येन तेन, पुन कथभूतेन पूर्वापरेति—पूर्वापरौ पूर्वपश्चिमौ च तौ अकूपारौ च समुद्रौ तत्र या पालिन्द्रीसुन्दरी पालिन्द्री वेला एव सुन्दरी स्त्री तया सहितम् उत्सङ्ग तट तया सनाथ धरतीति तस्य। विजयेति—विजयार्धश्चासौ अवनीं पृथ्वीं धरतीति विजयार्धावनीधरस्तस्य । विद्येति—विद्या प्रज्ञप्त्यादिविद्या धरन्तीति विद्याधरा नभश्चरास्तेषा विनोदरूपा पादपा वृक्षास्तेषाम् उत्पादे उत्पत्तौ क्षोणि भूमिस्तस्या दक्षिणश्रेण्या दक्षिणपङ्क्तौ, किन्नरेति—किन्नरगीतनामनगरस्य पुरस्य इन्द्रेण स्वामिना कुण्डलमण्डितनाम्ना अम्बरचरेण अम्बरे आकाशे चरतीति अम्बरचरस्तेन विद्याधरेण नभोविहारिणा निचाययित्वा दृष्ट्वा । शृङ्गारेति—नून सत्यम्, आत्मभुवा विधिना इयं बाला जगत्त्रयवशीकरणाय लोकत्रयं स्ववशे विधातु प्रयत्नात् सृष्टा निर्मितेति । कानादाय निर्मितेति व्याचष्टे—शृङ्गारेति—शृङ्गारस्य सारम्, अमृतद्युतिं सुधाजलम्, इन्दुकान्तिं चन्द्रप्रभाम्, इन्दीवरद्युतिं नीलकमलस्य कान्तिम्, सर्वान् अनङ्गशरान् मदनस्य कुसुमबाणान् आदाय गृहीत्वा ॥१६४॥ इति विचिन्त्याभिलषिता च । ततस्ताम् अपजिहीर्षुधिषणेन अपहरणकरणेच्छामतिना, मुहुर्निवृत्य पुन परावृत्य । निर्वर्तितेति—निर्वर्तित कृत निजे निलये गृहे सुकेश्या निजपत्न्या निवेश स्थितिर्येन, प्रत्यागत्य पुनरागम्य अपहृत्य ताम् अनन्तमतिं हृत्वा च, पुनर्नभश्चरपुर प्रत्यनुसरता प्रत्यनुगच्छता गगनमार्गात् आकाशपथात् । प्रतीति—प्रतिनिवृत्ता परावृत्य आगता कुपिता च सा सुकेशी

मधविविध्य इन्द्रियविषयकम्पटः चिचितेति—अभीताकृपदकच्छलविवा सपपुत्र राजपुत्र निवधू निर्मल दीव्यदलिलपुरुषसम्मदर्शन अञ्जनचोरः अन्तरिक्षगति नभोगमनं प्राप ॥ १५७ ॥

इत्युपासकाध्ययने निःशङ्कितत्वप्रकाशनो नाम सप्तमः कल्पः ॥७॥

८. निष्काङ्क्षितत्वावेक्षणो नामाऽष्टमः कल्पः।

[पृष्ठ ५२–५४] (निष्काङ्क्षिताङ्गलक्षणम्) स्यामिति—यदि सम्यग्दर्शनस्य माहात्म्यं प्रभावो विद्येत तर्हि अहं देवः स्यां भवेयम्। यद्वा स्यां भवेयं वा वसुमत्याः पृथ्व्याः पतिः नृपो भवेयम् इतीच्छा वर्जयेत् ॥१५८॥ तदसिता तदेव मालिन्यं यथा भवति सांसारिकैः सुखैः सम्यक्त्वस्य विक्रयं कुर्वाणः नरः केवलं स्वस्य वञ्चकः प्रतारकः भवेत् ॥१५९॥ यस्य चित्ते भवति चिन्तामणिः, यस्य हस्ते सुरद्रुमः कल्पतरुः। यस्य धने कामधेनुस्तस्य कः याचनाक्रमः। सम्यक्त्वं खलु चिन्तामणिः, कल्पतरुकामधेनुसमं विद्यते अतः विनापि प्रार्थना सर्वं सम्यग्दृष्टिर्लभते इति ज्ञात्वा तेन इच्छा त्याज्येति तात्पर्यम् ॥१६॥ प्रचिते स्वानके धर्मकर्मणि यस्य मनोवृत्तिः अनाकुला भवसुखेषु च निःस्पृहा विद्यते तस्य सा स्वानके स्थितेति उच्यते यथा कुर्वं सम्यग्दृष्टिजनं प्रति समुद्रं नद इव नियमं स्वयमायाति॥१६१॥तदिति—मिथ्यादर्शनोदयात्मनस्मृद्भूतम्। इह परलोके च समुद्भूतां त्रिविधाम् आकाङ्क्षां दैवकराजोद्भवाम्। सम्यग्दर्शननिष्काङ्क्षार्थं परित्यजेत् ॥१६२॥ भूमतामतोपाख्यानम्—अत्र निष्काङ्क्षिताङ्गे उपाख्यानं सम्यग्दृष्टिकथा आकर्ण्यताम्। अङ्गमण्डलेषु अङ्गाख्यदेशेषु, चम्पायां पुरि नगर्यां कर्णभूतायाम्। समस्तेति—समस्तानाम् ते सफला समवसृता अमरो मुदं तस्य समारम्भे प्रारम्भे जाते सति निष्कम्पायां वैपपुरीलायाम् निर्मितायाम्, वसिवति—वसुवर्धन इति कथितम् अन्वर्थं नाम यस्य तस्य वसुवाचने वसु धनं रत्नादिनिर्मितं तद्धातीति वसुधा तस्याः पतिर्नृपपुत्रस्य नृपस्तस्य पुनः कर्णभूतस्य। लक्ष्मीति—लक्ष्मीमतिप्रत्याख्यी नामधेया तस्याः धनिकस्य वसकमस्य प्रिय दत्तनामा श्रेष्ठी आसीत्। कर्णभूतः। निरवद्येपेति—निरवद्येषा सकला ते च वैदेहका वैश्याः तेषु वरिष्ठः श्रेष्ठः (स अङ्गवतीनाम्ना पत्न्या सह जिनार्चं विधातुं अनङ्गमतिमेवम् अपृच्छत्।) अङ्गवतीनाम्ना पत्न्या सह कर्णभूत्या। गृहेति—गृहलक्ष्म्याः सपत्नी तथा पुनः कर्णभूत्या। सकलेति—समस्तलक्ष्मीगुणगृह भूतया महाय श्रीमम्। प्राह्णे पूर्वाह्णे। अष्टाह्नीति—अष्टानाम् अह्नां समाहारः अष्टाह्नी तस्याम् जिनानां पूजाभिषेकधर्मोपदेशादिकानां करणाय। अभ्रेति—अभ्राणि कपन्ति इति अभ्रङ्कषाणि मेघस्पर्शीनि तानि च तानि कूटानि च शिखराणि तेषां कोटयोऽग्राणि तेषु घटिताः स्थापिता याः पताकाः शुभ्रध्वजाः तासां पटानां वस्त्राणां प्रतानानां विस्तृता अञ्चलाः वस्त्राग्रास्तेषां जालाः समूहाः तैः स्वलितं प्रतिहतं निलिम्पानां देवानां विमानमार्गं येन तत् सहस्रकूटचैत्यालयं विधातुः पत्नुमिच्छुकः। स्वकीयसुतापत्यां निजपुत्रीसमीप् अनङ्गमतिम् एवम् अपृच्छत् अब्रवीत्। वत्सेति अभिनवैति च जाते अभिनवानि नूतनानि विवाहमुपयाति तैः सुभगे सुन्दरी हस्ती यस्यास्तत्संबोधनम्, क्वास्ते कुत्र तिष्ठति। समुल्लसितेति—समुल्लसितं प्रोल्लसितं लावण्यं यस्मात् त याचौ इन्दुरसमस्तदिव सुन्दरं मुखं यस्याः सा प्रियवती नवकमाली तव वर्तीव कैकिशीलप्रकृतिः क्रीडापरायणा प्रकृतिः स्वभावो यस्याः सा अनन्तमतिः। अनङ्गमतिः—तात वणिगिति—वणिषु वैश्येषु वृन्दारको मुख्यस्तस्य दारिका कन्या तया लक्ष्मीमनाम् अभीप्स्यमानं अङ्गनं वरयेः वा इमिष्यमाणो वरस्तस्य व्याजेन निमित्तेन। आत्मेति—आत्मनः स्वस्य परिणयस्य विवाहस्य आचरणं विधानं तस्य नीत्यार्थमाशिःप्रायेण वेपथा सुन्दरा। पञ्चरेति—पञ्जरेषु आसिता अध्युषिता ये शुकास्तारिकाश्च तेषां वरतरम्या एव वादानि तैः सुन्दरे मनोहरे वातायनपरिसरे निपादकृलाङ्गणे समास्ते तिष्ठति। समाहूयतामिति यथा दिशति तात। प्रियदत्तश्रेष्ठी—पुत्रमाताम् परिहासो नर्म तदिच्छ आलापः भाषणं तत्र श्रेष्ठी चतुरः समापतां सुतामवलोक्य पुनि तत्र हृदये सापत्येव अपूर्वेव अधानवया वाक्यार्थं परिणममनोद्या विवाहं विकास्य। कर्णभूते हृदये। निसर्गेति—निसर्गेण प्रकृत्या विकासः तत्समानजनीयनम् तत्र रमेण शृङ्गारेण

उत्तरङ्गा उच्छलन्त ये अपाङ्गा कटाक्षा तै अपहसित च तदमृत तस्य सरणिर्मार्गस्तस्य विषयस्तस्मिन्, सदा पाञ्चालिका कृत्रिमपुत्रिका तया सह केलि क्रीडा तस्या किल रत हृदय तस्मिन् । तद्गृह्यतां तावत् सकलव्रतेषु ऐश्वर्येण प्रभावेण वर्यं । श्रेष्ठ ब्रह्मचर्यम् । अत्र अस्मिन् व्रते, भगवान् पूज्य । अशेषेति—सकलागमप्रकाशनाभिप्रायभूरि धर्मकीर्तिसूरिः । अनन्तमतिः—तात नितान्त सर्वथा गृहीतवत्यस्मि एतद्ब्रह्मचर्यव्रतम् । न केवलमत्र विषये मे भगवानेव साक्षी, किंतु भवान् अम्बा च माता च । अन्यदा तु—उद्भिन्ने इति—स्तनकुड्मले कुचकोशे उद्भिन्ने सति उन्मीलिते सति, विलासालसे हास्ये स्फुटरसे विलासेन अलसे सुन्दरे हास्ये स्फुटरसे प्रीत्युत्पादके सति, वच प्रक्रमे वचनस्य प्रक्रमे प्रारम्भे किंचित् ईषत् कम्पित वेपित तदेव कैतव निमित्त यत्र तदधरदल प्रायो यत्र, नेत्राश्रिते विभ्रमे कटाक्षसचारे, कन्दर्पस्य मदनस्य अभिभवकारक यदस्त्र तस्य वृत्ति स्वभावस्तद्वच्चतुरे कुशले । मध्यस्य यौवनस्य गौरवगुण महत्त्वगुण प्रादायेव गृहीत्वेव नितम्बे श्रोण्या वृद्धे सति पीवराया जातायाम् ॥१६३॥

[पृष्ठ ५५-५७] कथभूते वसन्तसमयावसरे समायाते । मुहुरिति—मुहुर्वार वार उत्पथे उन्मार्गे यत् प्रयाणं गमन येन स चासौ मन्मथ स्मरस्तेन उन्माथो विभ्रमस्तेन मन्थर चञ्चल समस्तसत्त्वाना प्राणिना स्वान्त हृदय यत्र । सद्यः प्रसूतेति—सद्य प्रसूता. नूतनोत्पन्ना ये सहकाराङ्कुरा. आम्रमञ्जर्य तेषा कवलनेन भक्षणेन कषायकण्ठा यासा ता. कोकिलकामिन्यस्तासा कुहारावा कुहकुहेति ध्वनय तै अशरालित प्रसारित. मनसि जायते इति मनोज मदनस्तस्य विजयो यत्र । मलयाचलेति—मलयाचलस्य मेखला तट तत्र निलीनानि प्रविष्टानि यानि किन्नरमिथुनानि किन्नरदेवदेवीयुगलानि तेषा मोहन सभोगस्तस्मादुद्भूत आमोद. अतिनिर्हारी गन्धस्तेन मेदुर परिपूर्ण परि आसमन्तत सरन् गच्छन् य समीरस्तस्य समुदय उन्नतिर्यत्र। विकसदिति—विकसन्त प्रस्फुटन्त कोशा कलिका येषा तानि कुरवकप्रसवानि अरुणानि पुष्पाणि तेषा परिमलस्य पाने लुब्धा या मधुकर्य भ्रमर्यस्तासा निकरो वृन्दं तस्य झङ्कारो गुञ्जारवस्तस्य सारप्रसर उत्तम प्रसरणं यत्र, तस्मिन् वसन्तसमयप्रसगे प्राप्ते, ('आन्दोलनक्रीडायै उपवन गता तामनन्तमर्ति कुण्डलमण्डितो नभश्चरपतिर्दृष्टवान्' इति वर्णयति कवि) कथभूता सानन्तमति । प्रसरदिति—प्रसरन् प्रादुर्भवन् स्मरविकारो यस्या सा । पुन कथभूता । स्मरेति—स्मरेण मन्मथेन स्खलन्ती मतिर्गतिश्च यस्या सा अनन्तमति सह सहचरीसमूहेन सह वयस्याजनेन मदनोत्सवदिवसे दोलेति—दोलया आन्दोलन वारं वार इतश्चेतश्चलन तत्र लालस सोत्कं मानस यस्या सा । पुन कथभूता सा । स्वकीयेति—स्वकीयं निज च तत् रूप तस्यातिशय उत्कर्ष स एव सपत् तया तिरस्कृत सकलाना भवनस्थितानाम् अङ्गनाना नारीणाम् अङ्गविलासो यया सा। कथभूतेन कुण्डलमण्डितेन दृष्टा सा । सुकेशीति—सुकेश्यभिधया प्रियतमया भार्यया अनुगतेन, पुन कथभूतेन । कृतेति—कृतं विहितं कामचारप्रचारे यथेष्टसचारे चेतो मनो येन तेन, पुन कथभूतेन पूर्वापरेति—पूर्वापरौ पूर्वपश्चिमौ च तौ अकूपारौ च समुद्रौ तत्र या पालिन्द्रीसुन्दरी पालिन्द्री वेला एव सुन्दरी स्त्री तया सहितम् उत्सङ्ग तट तया सनाथ धरतीति तस्य । विजयेति—विजयार्धश्चासौ अवनीं पृथ्वीं धरतीति विजयार्धावनीधरस्तस्य । विद्येति—विद्या प्रज्ञप्त्यादिविद्या धरन्तीति विद्याधरा नभश्चरास्तेषा विनोदरूपा पादपा वृक्षास्तेषाम् उत्पादे उत्पत्तौ क्षोणि भूमिस्तस्या दक्षिणश्रेण्या दक्षिणपङ्क्तौ, किन्नरेति—किन्नरगीतनामनगरस्य पुरस्य इन्द्रेण स्वामिना कुण्डलमण्डितनाम्ना अम्बरचरेण अम्बरे आकाशे चरतीति अम्बरचरस्तेन विद्याधरेण नभोविहारिणा निचायिता दृष्टा । शृङ्गारेति—नूनं सत्यम्, आत्मभुवा विधिना इय बाला जगत्त्रयवशीकरणाय लोकत्रय स्ववशे विधातु प्रयत्नात् सृष्टा निर्मितेति । कानादाय निर्मितेति व्याचष्टे—शृङ्गारेति—शृङ्गारस्य सारम्, अमृतद्युर्ति सुधाजलम्, इन्दुकान्ति चन्द्रप्रभाम्, इन्दीवरद्युति नीलकमलस्य कान्तिम्, सर्वान् अनङ्गशरान् मदनस्य कुसुमबाणान् आदाय गृहीत्वा ॥१६४॥ इति विचिन्त्याभिलषिता च । ततस्ताम् अपजिहीर्षुधिषणेन अपहरणकरणेच्छामतिना, मुहुर्निवृत्य पुन परावृत्य । निर्वर्तितेति—निर्वर्तित कृत निजे निलये गृहे सुकेश्या निजपत्न्या निवेश स्थितिर्येन, प्रत्यागत्य पुनरागम्य अपहृत्य ताम् अनन्तमर्ति हृत्वा च, पुनर्नभश्चरपुर प्रत्यनुसरता प्रत्यनुगच्छता गगनमार्गात् आकाशपथात् । प्रतीति—प्रतिनिवृत्ता परावृत्य आगता कुपिता च सा सुकेशी

निजभार्या तस्या दर्शनात् । शङ्कितावयेन शङ्कित भीत अभिप्राय यस्य तेन । सत्कायेति—तस्या अनङ्गमत्याः काये शरीरे संक्रमिता प्रवेशिता मलकोकिनी च पर्वतपुत्रिका च तयोर्मध्येन युवकेन धङ्कपुरस्य अभ्यर्णसमीपं भवतीति अभ्यर्णभाक् तस्मिन्, भीमवननामनि कानने वने मुक्ता त्यक्ता । तत्र च मृगयेति—मृगया आखेटं तस्य प्रयोजनमभिलषन्तं तद्वनं समागतेन भीमनाम्ना किरातराजेन अवलोकिता कर्मभूतेन । किरातेति—किराताना भिल्लानां राजा किरातराज तस्य लक्ष्मीस्तस्य सीम्ना मर्यादाभूतेन अवलोकिता भीता च परित्यक्ता च शरणम् । उपान्तेति—उपान्ते समीपे प्रकीर्णानाम् इतस्ततः विकीर्णानाम् ऋतमुनीनां तापसतरुकाणां आश्रयस्थानो यत्र ताम् । एतदिति—एतस्या अनन्यमते रूपदर्शनेन दीप्तौ प्रज्वलितौ मदमदनौ यस्य स तेन । स्वतः परदार तैस्तैस्सार्थं निजसंभोगसहार्थं प्रार्थितापि याचितापि अनुत्पन्नकामा हठात् बलात्कारेण कृतं कठोरं कामोपभोगो येन । स इति—तस्या परिगृहीतानां स्वीकृतानां व्रतानां स्थैर्यं स्थिरत्वं तस्मात् आवर्जिता विस्मितास्य तत्कान्तारदेवता वनदेवतास्ताभिः कृताश्चर्यविहार्यात् माहात्म्यात् पर्यप्तं सकलं पावकं पावकसमूहस्तस्य ज्वालेन ज्वलनेन । मृत्युरिति—मृत्युमरणं हेतुर्यस्य मत्युहेतुकः स चासौ आतङ्कश्च रोगः स एव पावकोऽग्निस्तेन पच्यमानं विक्लिद्यमानं शरीरं देहो यस्य तेन किरातराजेन मात समस्य एकमिममपराधम् । इत्यभिधाय इत्युक्त्वा वनेचरेति—वनेचराणां शबराणाम् उपचारेः प्रेम तेनोपनीयमाना सहचरीभिस्ताभिः सखीभिर्यता उत्कण्ठा यत्र तस्य धङ्कपुरस्य पर्यन्तः सीमाकर पर्वत. तस्य उपकण्ठे समीपे परित्यक्ता त्यक्ता । स इति—तस्य समीपे समागतोऽभ्युषित स चासौ सार्थो वणिक्समूहस्तस्य अनीकेन सैनिकेन वणिजां वणिग्भिरपि वणिक्स्वामी तस्य पालक पुत्रेण पुष्पकनाम्ना अवलोकिता दृष्टा सती तेन स्वीकृता च । तेन तेन नायकपरावर्तिता तस्य वचनम् आनेतुम् असमर्थेन कोसलदेशस्य मध्ये वर्तमानायाम् अयोध्यायां पुरि व्यामिकाभिधानकामपाशककुम्भस्याः दम्पत्या समर्पिता । व्यामिका नाम मदनविलसन्मानाम् अङ्गुरक्त्रायाः पण्यस्त्री पुत्रिका दत्ता । तथापि मदन कामः मदो दर्पस्तयो संपादने आसक्तायामि पुरुषवाममानायामि कयापि लोभमिपुतया तद्राजधानीविनिवेशस्य सा चासौ राजधानी च तद्राजधानी तेन विनिवेशो यस्य तस्य सिंहमहीपस्य उपायनीकृत्य प्राभृतीकृता । तेनाप्यकृतमनःप्रवेशेन तेन सिंहमहीपेन अपि अकम्पः अप्राप्य तस्या मनसि प्रवेशो येन तेन । विलक्षितेति—विशेषेण लक्षित आक्षिप्य गृहीत दुरभिसंधिः दुष्टोऽभिप्रायो येन तत्कन्येति—सा चासौ कन्या च तत्कन्या तस्या पुण्यप्रभावेण प्रेरिता पुरदेवतास्ताभि आपादित अन्तःपुरस्य पुरोपरि च अपकारविनिर्मलस्य तेन साधु संबोध्य अपरित्यज्य नियमेति—एवं हिंसादिकं पापम् अहं न सेविष्ये इति अभिप्रायो नियमः तस्मिन् समाहितम् एकाग्रमनसं मौनं मधुरं तस्य चेष्टा अस्याः सा अनन्तमति तेन सिंहमहीपेन विसृष्टा त्यक्ता । (सा अनन्तमतिरपि पैत्याश्रयं गता तत्र न्यवसत् ।) सुदेवीनामधेयायाः आर्यिकायाः स्वस्तु परमपूज्य जिनेश्वरदत्तस्य सदवस्थितसमीपवर्तिनं गृहस्य धर्मिणी स्थिता विरक्तिचैत्यालयं विरतम आर्यिका यत्र निवसन्ति तच्चैत्यालयं जिनमन्दिरम् अवाप्य कर्मभूतस्य जिनेन्द्रदत्तस्य । गृहीतेति—गृहीत नाम पूर्णं च चारित्रं येन तथाभूतस्य अर्हद्दत्तस्य पितु । तत्र विरतिचैत्यालये निवसन्ती आर्या पूर्णता । यमेति—हिंसादेर्यावज्जीवनत्यागो यमः परिमितकालस्त्यागो नियमः उपवासस्य चतुर्विधाहारत्यागः त पूर्वे येषां तैर्विविधैः नानाविधैराचरणैः । क्षपितेति क्षपिता विनाशं प्रापिता इन्द्रियाणां मनसश्च वृत्तिः स्वभावो यया सा अनन्तमती नाम्ना तथी विरतिरत्न ममनस्यम् इति संबन्ध । तस्मादनुरोधपरावर्तनात जिनेन्द्रदत्त निजाभिनीतम् । कर्मभूतम् । चिरेति—चिरं चिरात् दीर्घकालवियोगसत्वेन सताप उत्कण्ठाया श्वासं विलोचिनुभावेन प्रियदत्तमपश्यन्ता । वीतविषयेति—विषयाणां पञ्चेन्द्रियार्थानाम् अभिलाष स्पृहा तस्य भोग परित्यागतत्वात् यस्या यस्याः तथा देशा यस्याः सा । विहितेति—विहिता कृता अहो पुष्प येन तेन प्रियदत्तपरिष्वक्ता पुनः प्रत्याय्य प्रार्थितविरक्तं समुदाय तस्मै जिनेन्द्रदत्तानुगाय अर्हद्दत्ताय दातुम् उपक्रान्ता आरब्धा (अनन्तमतिः निरस्यैव तदा भाविनिरोधिनी नामयन्) तात तं मदन्तं पूर्वं मयस्यं कान्तिं सर्वदीतिपूर्वं स्वं मातरं च प्रत्यागतिमन्यत् सार्थीकृत्य कृतानि—इति निरवधि भावना अनुभवाय प्रणयत्वं संसारि वैसा (?) । तदा अनन्तमत् इत्यत्र

अनन्तमतिना विरक्ता

संप्रति विवाहविषयं परिकल्पनीया दातुं योग्या इति निर्णीय

समीपे, विरतीति—विरतीनाम् आर्यिकाणा विशेषस्तस्य वश तेन परिपाल्यमान रत्नत्रयकोश सद्दृष्ट्यादित्रय निधिम् अभजत् सेवते स्म । भवति चात्र श्लोक –ह्रासादिति—पितुर्जनकस्य हासात् नर्मभाषणात् चतुर्थे ऽस्मिन् व्रते स्थिता अनन्तमति , निष्काङ्क्षा विषयाभिलापाया दूर गता त्यक्तविषयेच्छा, तप कृत्वा द्वादश कल्पम् अच्युत स्वर्गम् आविशत् प्रवेशं कृतवती ॥१६५॥

इत्युपासकाध्ययने निष्काङ्क्षिततत्त्वावेक्षणो नामाष्टम कल्प ॥८॥

९ निर्विचिकित्सासमुत्साहनो नाम नवमः कल्पः ।

[पृष्ठ ५७] (निर्विचिकित्साङ्गस्य वर्णनम्) तप इति—जिनेन्द्राणाम् इद तीव्र तप सवादमन्दिर न सम्यक् वाद सवाद प्रशसा तस्य मन्दिर गृहम् न सत्यताया गृह न समीचीनफलप्रद न । अद अपवादि च स्यात् अपवादो निन्दा तेन युक्त स्यात् । इत्येव चेतोऽभिप्रायः विचिकित्सना जुगुप्सालक्षण भवति ॥१६६॥

[पृष्ठ ५८-५९] स्वस्येति—यो नर श्रुताशयम् आगमस्याभिप्राय निबोधितु न शक्त स स्वस्यैव आत्मन एव दोष । शील सदाचार व्रतपरिरक्षणात्मकम् आश्रयितु ग्रहीतु न शक्त , तदर्थं शीलार्थम् आचरण-प्रयोजन ज्ञातुम् असमर्थो वा ॥१६७॥ स्वत इति—स्वत प्रकृत्यैव शुद्धमपि निर्मलमपि व्योमाकाश यन्नरो मलीमस कृष्ण वीक्षते पश्यति नासौ अस्य नभसो दोष किंतु स दोषश्चक्षुराश्रय नेत्राश्रित एव ज्ञेय ॥१६८॥ दर्शनादिति—देहस्य रोगादिसजातमालिन्यादिदोषाणा दर्शनात् य तत्त्वाय आत्मनो रत्नत्रयस्वरूपाय जुगुप्सते निन्दति तत्र दोषानापादयति स नर लोहे कालिकाया कृष्णत्वस्य दर्शनात् नून सत्यम्, काञ्चन सुवर्णं न मुञ्चति ॥१६९॥ स्वस्येति—आत्मन अन्यस्य च परजनस्य च अयं काय शरीर बहिश्छायामनोहर बाह्यस्य चर्मण कान्त्या मनो हरति । अन्त शरीरस्य मध्ये स्थितताना पदार्थाना रक्तादीना विचारे कृते औदुम्बरफलसदृश उदुम्बरतरुफलसमान स्यात् । उदुम्बरफलानि जन्तुसहितत्वात् जन्तुफलानि इति अन्वर्थनाम लभन्ते ॥१७०॥ ऐतिह्येति—तत्तस्मात् ऐतिह्ये आप्तोपदेशे श्रुते, देहे च याथात्म्य यथार्थत्व पश्यताम् अवलोकमानाना सता चित्तवृत्ति मनोऽभिप्राय उद्वेगाय जुगुप्सायै कथ नाम प्रवर्तताम् भवतु । यस्य स्वरूप यादृग् वर्तते तत्र कृतापि जुगुप्सा तत्स्वरूपपरिवृत्तये न क्षमा भवति अतो देहस्य जुगुप्सा न कार्येति भाव ॥ १७१ ॥ सौधर्मेन्द्रो निर्विचिकित्साङ्गस्य कथा कथयति श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मतिश्रुतेति—मतिश्रुतावधिज्ञानान्येव मार्गत्रय तेन प्रवृत्तया मतिमन्दाकिन्या ज्ञानगङ्गया सान्द्र निबिड सौधर्मेन्द्र किल । सकलेति—सर्वसुरैं सेव्यमानाया सभायाम् अवसरसमये प्रसगमुद्दिश्योचिते काले गीर्वाणाना देवानाम् अनुग्रहाय तानुपकर्तुं सम्यक्त्वमणिगुणान् वर्णयन् इदानीं इन्द्रकच्छदेशेषु मायापुरीत्यन्यनामावसरस्य । मायापुरीति—अन्याभिधा दवानस्य रौरुकपुरस्य प्रभो स्वामिन उद्दायनात् भूपते पुन कथभूतात् । प्रभावती महादेव्या क्रीडायतनात्, अपर कोऽपि सद्दर्शनमेव शरीर देह तस्य गदचिकित्साया रोगपरीक्षायाम् अन्य कोऽपि क्षान्तिमतिप्रसर क्षमाज्ञान-युक्तप्रसार । मोक्षेति—मोक्ष एव लक्ष्मी मुक्तिरमा तस्या कटाक्षा नेत्रापाङ्गास्तेषामवेक्षा अत्र समन्तात् ईक्षा अवलोकन तस्य अक्षूणपात्रम् अखण्डभाजन तस्मिन्, मर्त्यक्षेत्रे नरलोके नास्ति, इत्येतच्च वासव-सज्ञाया नाम्न ईश स्वामी त्रिदश वासवनामा देव पुरन्दरस्य इन्द्रस्य उदित भाषण तत् असहमाना सोढुमक्षमा प्रज्ञा मतिर्यस्य स , तत्र नगरे मायापुरे । कथभूते । महामुनिसमूहप्रचारेण प्रवरे श्रेष्ठे, अवतीर्य स्वर्गादागत्य (कुष्ठादिपीडितमुनिवेषम् आदाय नृपतिगृहमविशत्) कथभूत मुनिवेषम् आदाय प्राविशद्राज-गृहमिति विज्ञिप्तेऽमुना । सर्वाङ्गेति—सर्वाङ्गान्यधिकृत्य प्रतितिष्ठतीति प्रतिष्ठ तच्च तत्कुष्ठ च तस्य कोष्ठक सग्रहागारम् । पुन कथभूतम् । निष्ठ्यूतेति—निष्ठ्यूत खात्कृत्य बहिर्वान्तो यो द्रव कफ तस्य उद्रेक आधिक्य तेन उपद्रुत पीडितो देहो यस्य तम् । पुन कथभूतम् । अखिलेति— अखिलाश्च ते देहिन प्राणिनस्तेषा सदोह समूहस्तस्य उद्वेजनानि जुगुप्सोत्पादकानि यानि श्रवणेक्षणघ्राणगरणानि कर्णनेत्रनासिका-[illegible] निर्गलन् स्रवन् अनर्गल अप्रतिबद्ध· सतत प्रवर्तमान दुर्गन्ध पूति पूयप्रवाह दूषितरुधिरस्राव

निजभार्या तस्या दर्शनात् । धाष्ट्र्यनाशयेन धाष्ट्र्यं भीतः अभिप्रायः यस्य तेन । तत्कायेति—तस्याः अनङ्गमत्याः काये शरीरे संक्रमिता प्रवर्तिता अवलोकिनी च चलत्पुत्रिका च नर्मोर्मिणा सुभगं पद्मपुरस्य अभ्यर्णं समीपं भजतीति अभ्यर्णभाक् तस्मिन् भीमवननामनि कानने वन मुक्ता त्यक्ता । तत्र च मृगयेति—मृगया आखेटं तस्य प्रयाणमभिलषन्तं तत्र समागतेन भीमनाम्ना किरातराजेन अवलोकिता अवधूतेन । किरातेति—किरातानां भिल्लानां राजा किरातराज तस्य अरमास्वस्य लोम्ना मर्यादाभूतेन अवलोकिता भीता च पल्लिं शबराणाम् । सपान्तेति—उपान्ते समीपे प्रकीर्णानाम् इतस्ततः विकीर्णानाम् दरगुरीकृतानां तरलतरदलानां ...... यत्र ताम् । एतदिति—एतस्या अनङ्गमत्याः दर्शनेन दीप्तौ प्रज्वलितौ मदमदनौ यस्य स तेन । स्वतः ...... तैस्तैरुपायैः निजशीलोपघातार्थं प्रार्थितापि याचितापि अनुत्पन्नकामा हठात् बलात्कारेण कृतः कचग्रहः कामोद्रेको येन । तदिति—तस्या परिगृहीतानां स्त्रीरत्नानां प्रजानां स्वैव दिव्यत्वं तस्मात् आवर्जिता विस्मितास्य तत्कान्तारदेवता वनदेवतास्ताभिः कृतारक्षादिव्यार्थम् माहात्म्यात् पर्याप्तः सकलः ...... आगमेन । मृत्युरिति—मृत्युमरणं हेतुर्यस्य मृत्युहेतुकः स चासौ आतङ्कश्च रोगः स एव पावकोऽग्निस्तेन पच्यमानं विक्लिद्यमानं शरीरं देहो यस्य तेन किरातराजेन मातः ...... एकाकिनमरण्यम् । एवंविधाम् इत्युक्त्वा वनेचरेति—वनेचराणां शबराणाम् ...... तेनोपभोग्यमाना सहचरीचितानां ...... यत्र तस्य पद्मपुरस्य पर्यन्तः सीमाकः पर्वतः तस्य उपकण्ठे समीपे परिहृता त्यक्ता । तदिति—तस्य समीपे समागतोऽस्मिन्पुष्पक स चासौ सार्थो वणिग्समूहस्तस्य अनीकेन सैनिकेन वणिजां अधिपतिः पुष्पकनामा तस्य पार्श्वेन पुत्रेण पुष्पकनाम्ना अवलोकिता दृष्टा सती तेन स्वीकृता च । तेन तेन ...... तस्य भवनम् आनेतुम् असमर्थेन कोशलदेशस्य मध्ये ...... अयोध्यायां पुरि ...... कामपताकानाम्न्याः पण्यस्त्रियाः समर्पिता । ...... नाम ...... गुणिका । तस्यापि ...... तद्राजधानीविनिवेशस्य सा चासौ राजधानी च तद्राजधानी सैव विनिवेशो यस्य तस्य सिंहमहीपस्य उपायनी कृता प्राभृतीकृता । तेनाप्यसाध्यतन्मनःप्रवेशेन तेन सिंहमहीपेन अपि ...... अप्राप्य तस्या मनसि प्रवेशो येन तेन । विलक्षितेति—विशेषेण लक्षित आशीःशिक्षाः पुष्पितः ...... यत्र तत्कन्येति—सा चासौ कन्या च तत्कन्या तस्याः पुण्यप्रभावेण प्रेरिताः पुरदेवतास्ताभिः आपादितं जन्यपुरस्य पुरीपरिवासस्य च अपकारविविधमस्य तेन साधु संबोध्य उपदिश्य नियमेति—इदं हिंसादिकं पापम् अहं न सेविष्ये इति अभिप्रायो नियमः तस्मिन् सम्यक् स्थितम् एकान्तभावं नीतं ...... तस्य येषां ...... सा अनन्तमतिः तेन सिंहमहीपेन विसृष्टा त्यक्ता । (सा अनन्तमतिश्चैत्यालयं गत्वा तत्र स्थितवत् ।) सुदेवीनामधेयायाः ...... जिनेन्द्रदत्तस्य ...... पुरस्य संनिधौ स्थितं विरतिचैत्यालयं विरतयः आर्यिका यत्र निवसन्ति तच्चैत्यालयं चिरमचिरम् अवाप्य ...... जिनेन्द्रदत्तस्य । गृहीतेति—गृहीतं नाम वृत्तं च चारित्रं येन तथाभूतस्य अर्हद्दत्तस्य पितुः । तत्र विरतिचैत्यालये निवसन्ती वासं कुर्वती । समेति—हिंसादेर्मोक्षपरिमितस्य समः परिमितकालस्थायी नियमः ...... चतुर्विधाहारत्यागः ते पूर्वं ...... । अपितेति अपिता विनाशं प्रापिता इन्द्रियाणां मनसश्च वृत्तिः स्वभावो यया सा भवन्ती आत्मा सती विरक्तिरत्न ...... इति संबन्धः । तस्मात् ...... जिनेन्द्रदत्त ...... । चिरेति—चिरं चिरात् दीर्घकालवियोगस्तेन ...... तत्कण्ठितस्य ...... विलोकितुमागतेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना । ...... विषयेति—विषयाणां पञ्चेन्द्रियार्थानाम् अभिलाषः स्पृहा तस्य मोचः परिहारस्तस्मात् ...... यस्याः सा । विहितेति—विहिता कृता ...... येन तेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना पुनः प्रत्याय्य प्रतीतिं नीत्वा समुत्पाद्य तस्मै जिनेन्द्रदत्तसुताय अर्हद्दत्ताय दातुम् ...... प्रारब्धा (अनन्तमतिः पितरमेवम् उवाच ......) तात तं भवन्तं पूर्वं भगवन्तं ...... धर्मकीर्तिसूरिं ...... मातरं च प्रमाणीकृत्य तमस्तीकृत्य कृतेति—कृत नियमेन आजन्म चतुर्थव्रतस्य ब्रह्मचर्यस्य परिग्रहो यया सा । ततः ...... इदानीं संप्रति विवाहविषये परिकल्पनीया दातुं योग्या इति निगीर्य उक्त्वा ...... तमालकेशाया विरत्या

समीपे, विरतीति—विरतीनाम् आर्यिकाणां विशेषस्तस्य वशं तेन परिपाल्यमानं रत्नत्रयकोशं सद्दृष्ट्यादित्रय
निधिम् अभजत् सेवते स्म । भवति चात्र श्लोकः—हासादिति—पितुर्जनकस्य हासात् नर्मभाषणात् चतुर्थे
ऽस्मिन् व्रते स्थिता अनन्तमतिः, निष्काङ्क्षा विषयाभिलाषाया दूरं गता त्यक्तविषयेच्छा, तपः कृत्वा द्वादश
कल्पम् अच्युत स्वर्गम् आविशत् प्रवेशं कृतवती ॥१६५॥

इत्युपासकाध्ययने निष्काङ्क्षिततत्त्वावेक्षणो नामाष्टमः कल्पः ॥८॥

९ निर्विचिकित्सासमुत्साहनो नाम नवमः कल्पः ।

[पृष्ठ ५७] (निर्विचिकित्साङ्गस्य वर्णनम्) तप इति—जिनेन्द्राणाम् इदं तीव्रं तपः सवादमन्दिरं न
सम्यक् वादः सवादः प्रशंसा तस्य मन्दिरं गृहम् न सत्यताया गृहं न समीचीनफलप्रदं न । अदः अपवादि च स्यात्
अपवादो निन्दा तेन युक्तं स्यात् । इत्येवं चेतोऽभिप्रायः विचिकित्सना जुगुप्सालक्षणं भवति ॥१६६॥

[पृष्ठ ५८-५९] स्वस्येति—यो नरः श्रुताशयम् आगमस्याभिप्रायं निबोधितुं न शक्तः स स्वस्यैव
आत्मन एव दोषः । शीलं सदाचारं व्रतपरिरक्षणात्मकम् आश्रयितुं ग्रहीतुं न शक्तः, तदर्थं शीलार्थम् आचरण
प्रयोजनं ज्ञातुम् असमर्थो वा ॥१६७॥ स्वत इति—स्वतः प्रकृत्यैव शुद्धमपि निर्मलमपि व्योमाकाशं यन्नरो
मलीमसं कृष्णं वीक्षते पश्यति नासौ अस्य नभसो दोषः किंतु स दोषश्चक्षुराश्रयः नेत्राश्रित एव ज्ञेयः ॥१६८॥
दर्शनादिति—देहस्य रोगादिसंजातमालिन्यादिदोषाणां दर्शनात् यः तत्त्वाय आत्मनो रत्नत्रयस्वरूपाय जुगुप्सते
निन्दति तत्र दोषानापादयति स नरः लोहे कालिकायाः कृष्णत्वस्य दर्शनात् नूनं सत्यम्, काञ्चनं सुवर्णं न
मुञ्चति ॥१६९॥ स्वस्येति—आत्मनः अन्यस्य च परजनस्य च अयं कायः शरीरं बहिश्छायामनोहरं बाह्यस्य
चर्मणः कान्त्या मनो हरति । अन्तः शरीरस्य मध्ये स्थितानां पदार्थानां रक्तादीनां विचारे कृते औदुम्बरफलसदृश
उदुम्बरतरुफलसमानं स्यात् । उदुम्बरफलानि जन्तुसहितत्वात् जन्तुफलानि इति अन्वर्थनाम लभन्ते ॥१७०॥
ऐतिह्येति—ततस्मात् ऐतिह्ये आप्तोपदेशे श्रुते, देहे च याथात्म्यं यथार्थत्वं पश्यताम् अवलोकमानानां
सतां चित्तवृत्तिः मनोऽभिप्रायः उद्वेगाय जुगुप्सायै कथं नाम प्रवर्तताम् भवतु । यस्य स्वरूपं यादृग् वर्तते तत्र
कृतापि जुगुप्सा तत्स्वरूपपरिवृत्तये न क्षमा भवति अतो देहस्य जुगुप्सा न कार्येति भावः ॥ १७१ ॥ सौवर्मेन्द्रो
निर्विचिकित्साङ्गस्य कथां कथयति श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मतिश्रुतेति—मतिश्रुतावधिज्ञानान्येव मार्गत्रय
तेन प्रवृत्तया मतिमन्दाकिन्या ज्ञानगङ्गया सान्द्रः निबिडः सौवर्मेन्द्रः किल । सकलेति—सर्वसुरैः सेव्यमानाया
सभायाम् अवसरसमये प्रसंगमुद्दिश्योचिते काले गीर्वाणानां देवानाम् अनुग्रहाय तानुपकर्तुं सम्यक्त्वमणिगुणान्
वर्णयन् इदानीं इन्द्रकच्छदेशेषु मायापुरीत्यन्यनामावसरस्य । मायापुरीति—अन्याभिधां दधानस्य रौरुकपुरस्य
प्रभोः स्वामिनः उद्दायनात् भूपतेः पुनः कथंभूतात् । प्रभावती महादेव्याः क्रीडायतनात्, अपरः कोऽपि
सद्दर्शनमेव शरीरं देहः तस्य गदचिकित्सायां रोगपरीक्षायाम् अन्यः कोऽपि क्षान्तिमतिप्रसरः क्षमाज्ञान-
युक्तप्रसारः । मोक्षेति—मोक्ष एव लक्ष्मी मुक्तिरमा तस्याः कटाक्षाः नेत्रापाङ्गास्तेषामवेक्षा अव समन्तात्
ईक्षा अवलोकनं तस्य अक्षूणपात्रम् अखण्डभाजनं तस्मिन्, मर्त्यक्षेत्रे नरलोके नास्ति, इत्येतच्च वासव-
संज्ञाया नाम्नः ईशः स्वामी त्रिदशः वासवनामा देवः पुरन्दरस्य इन्द्रस्य उदितं भाषणं तत् असहमाना
सोढुमक्षमा प्रज्ञा मतिर्यस्य सः, तत्र नगरे मायापुरे । कथंभूते । महामुनिसमूहप्रचारेण प्रवरे श्रेष्ठे,
अवतीर्य स्वर्गादागत्य (कुष्ठादिपीडितमुनिवेषम् आदाय नृपतिगृहमविशत्) कथंभूतं मुनिवेषम् आदाय प्राविशद्राज-
गृहमिति त्रिभिर्वदतेऽन्वुना । सर्वाङ्गेति—सर्वाङ्गान्यधिकृत्य प्रतितिष्ठतीति प्रतिष्ठं तच्च तत्कुष्ठं च तस्य
उद्रेकः आधिक्यं तेन उपद्रुतः पीडितो देहो यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् । निष्ठ्यूतेति—निष्ठ्यूतं खात्कृत्य बहिर्वान्तो यो द्रवः कफः तस्य
प्राणिनस्तेषां सदोहः समूहस्तस्य उद्वेजनानि जुगुप्सोत्पादकानि यानि श्रवणेक्षणघ्राणगरणानि कर्णनेत्रनासिका-
कण्ठास्तेभ्यो विनिर्गलन् स्रवन् अनर्गलं अप्रतिबद्धं सततं प्रवर्तमानं दुर्गन्धं पूतिः पयप्रवाहः ...

स च मूर्धस्फुटितस्फोटश्च मस्तकोद्भूतपिटकाश्च तत्र या स्फुटन्तीयो हस्तनखादिभिः घर्षणं तस्मिन् सति आरोग्यविधायका या मक्षिकास्ताभिरावलितम् आवृतम् अशेषं शरीरं यस्य । पुनः कथंभूतम् । अभ्यन्तरेति— अभ्यन्तरं शरीरस्य मध्यं इति अभ्यन्तरम् अभ्यन्तरादेव समुद्भूतः स्वयमुत्पन्नः शोफः तेन जातो यः कोपः दुर्गन्धभावस्तस्तथा क्षतरक्तादय वलीभूताश्च ताः स्थलचर्माणि तासाम् अन्तराले प्रलीनानि अक्षिकानि यानि गण्डानि तच्छरीरं वासिका च तम् । पुनः कथंभूतम् । अविच्छिन्नेति—अविच्छिन्ना संततं प्रवर्तमाना सम्मूर्छन्ती समुद्रवन्ती अतुच्छा महती सर्वाङ्गव्यापिनी या कण्डूः कण्डूरोगः तया करणभूतया ये पूयका अवयवप्राप्तास्तत्र एव सारिण्यो निर्यद्धारापि यस्य अरण्यिमध्यन् सततं आसामाणो दुरभिरसविशेषो यस्मात् तम् । पुनः कथंभूतम् । अनवरतेति—अनवरतं सततं यत् स्रोतः स्रुतम् असृग्भिश्रपरिणतविष्ठानिर्गमस्तस्माज्जातो योऽसौ गाढप्रवाहिकारोगविशेषः तस्मात्संभूता या बीभत्सा भयानका भावना आकृतिर्यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् । अनेकस्त इति—अनेकशो बहुवारं विहिता रथ्या तस्या विवा अपि तत्र सन्ताप पवनं तेन नियतः निविश्चतः वामितः संचितः यो मधुविरतामि पूतिगन्धिस्वार्पणकरः तद्वत् दुर्दर्शं जुगुप्सायतनत्वात् द्रष्टुम् अशक्यं वपुः शरीरं यस्य तम् । एवाभूतम् ऋषिवेषं मुनिरूपम् आत्मानं गृहीत्वा अवनाय आहारार्थम् अयाच्या पृष्ट्वा पतिः स उद्दायननृपः तस्य भवनं गृहम् अभवत् आश्रयत् गतवान् । भूपतिरपि सप्तेति—सप्तकानि भूमयो आरब्धा निर्मिता यस्य स चासौ सौधः प्रासादस्तस्य मध्यम् अध्यासीनः तिष्ठन् आकण्ठम् यावत् भोजयामासेति संबन्धः । कथंभूतम् ऋषिं भोजयामासेति निरूप्यते—तम् अगाध्या ये व्याधयो रोगाः तैर्विधुरा पीडिता विपत्ता दुःखिताः तस्या अधीनम् । विस्मापस्य आहारस्य अन्वेषणा भावना तस्मै निजनिकटं निजगृहम् आलोकमानम् आयच्छन्तम् अवलोक्य सौरसुख्यं सादरम् अवलोक्य दृष्ट्वा स्वीकृत्य च तम् ऋषिवेषं देवम् उद्दामीय आहूय उत्थाप्य आगमत् । कथमूर्तं तमागतः स इति विवियते । कृत्रिमेति—कृत्रिमश्चासौ आतङ्कश्च रोगः स एव पावकोऽग्निः तेन परवशं पीडितम् आत्मनि चित्तं यस्य तम् । मुहुर्मुहुः पुनः पुनः महीतले निपतन्तम् । कथमूत उद्दायनः । अन्वितीति— अजुगुप्सम् अजुगुप्साभावं गतं मनः चरितं च यस्य स नृपः । मुनिवेषं देवम् उद्दामीय भोजयामास । पुनः कथंभूतम् । प्रकामेति—प्रकामम् अतिशयेन दुर्वर्णं च तत् वर्जनं कण्डूमर्दनं तस्य अर्जनं पुनः पुनः कण्डूयनं तेन खर्जितं गात्रं शरीरं यस्य तमृषिवेषम् । काश्मीरेति—काश्मीरस्य कुङ्कुमस्य पङ्कः लेपः तेन लिप्तकरेण पीठेन मुखपङ्कजेन उद्दामीय उत्थाप्य आनीय च अशनवेश्मोदरं रसवतीगृहमध्यं स्वयमेव समाचरितोपचारं स्वरूपेण उद्दायनः । तदिति—तस्य अभिलाषा इच्छा तस्या अन्वेषणा प्रादुर्भावः तत्र सारभूतं आहारः यः यान्ता सौहित्यं प्राप्ता अवगाहमाना बुभुक्षा उत्कण्ठा यथा स्यात्तथा आकण्ठम् यावत् भोजयामास आहारं कारयामासेत्यर्थः ।

[पृष्ठ ९०] मायामुनिरिति—(मायामुनिर्भुक्तेरनन्तरं अवमीत्) पुनरपि तस्य उद्दायनस्य मनः विश्वासमयनं मानसं यस्य सः प्रसभं वेगात् अति—अतिगम्भीरा चासौ पक्वपूरा च ऐव क्रूरं विवरं तस्मात् ऊर्ध्वमाहार्य बहिरापन्नम् य घोरो भयङ्करः शोफः वमनं तस्य अभिघातस्तेन वमनम् अतिशयेन मूर्च्छितं कम्पितम् अपवर्तं शरीरं यथा स्यात्तथा अप्रतिहतम् अप्रतिबद्धम् अवमीत् वान्तिं चकार । भूमिपतिरपि—का वेलोद्गारे कष्टं जातम् । यदस्मात्कारणात् मन्त्रमात्मस्य मम गृहे गृहीताहारोऽस्योदस्य भुक्तभोजनस्य वस्य मनसः खेद एव पापो भूसस्तस्य विवक्षितिनि पेविषेण उर्ध्वः वमन समभूत् । इति एवं प्रकारेण । उपकुर्वेति—उपकारं निमित्तं वनितम् आलिङ्गन् चेष्टितं चरितं तस्य चरमं मार्गस्वरूपम् आत्मानं विनिन्दन् पश्यामः । मायेति—मायामयः विक्रिया सामर्थ्येन निर्मितास्ता मक्षिकास्तासां मध्यस्थितेन समूहेन कृत्वा वधोऽवे क्षये रेखा यत्र तस्मात् तदिति— तस्य एतस्य मायामुनेर्मुखात् अशराका विपुला या धारा तया विकल्मम् आर्द्रम् अयम् । इन्दिरेति—इन्दिरा लक्ष्मीस्तस्या अरविन्दं निवासकमलं तस्य उदरम् मन्दप्रवेशस्तस्य वक्तोन्यं तस्य निकटेन तत्संपूर्णेनेत्यर्थः । मध्यविपुलेन प्रथुविपुलेन भाजनासनाय गृहीत्वा गृहीत्वा भेरिम्या भूमौ—अनवच्छन्दं अनुस्थलम् । पुनश्चेति— उद्गीर्णं यान्त उद्गीर्णः प्रकटीभूतः पूयकः पुनःस्वकान्तिपुरः निकटः अमूः तस्मिन् ।
भर्मीति—भर्मि माया तया मुक्ता वा भूमिः विपत्प्रकोपेन

वा तस्य आरम्भ' तेन पतित शरीर यस्य, त मायामुनिम् । सप्रयत्नेति—सप्रयत्नौ च तौ करौ हस्तौ तयो. स्थाम्न. वलस्य सीमा मर्यादा यथा स्यात्तथा त मायामुनि समुत्थाप्य। जलेति—जलात् जनित क्षालनस्य प्रसङ्गो यस्य तम् । पुन कथभूतम् । उत्तरीयेति—उत्तरीय देहस्योपरि उत्तरभागे धार्यमाण वस्त्रम् उत्तरीय तच्च तत् दुकूल पट्टवस्त्र तस्य अञ्चल प्रान्तभाग तेन विलुप्त निराकृत. सलिलस्य जलस्य सग स्पर्शो यस्य तम्, अङ्गसवाहनेन शरीरविमर्दनेन, अनुकम्पनस्य दयाया विधान प्रदर्शन येषु तादृग्वचनाना रचनेन दयावचनाना उच्चारणेन साधु समाश्वासयत् आश्वास सन्तोषमजनयत् । (मायामुनिरात्मरूप प्रकटीकृत्य स्तुत्वा चोद्दायन स्वर्ग जगाम) कथभूतो मायामुनि. । प्रमोदेति—प्रमोद एव हर्ष एव अमृत सुधा तेन अमन्द परिपूर्ण यद्धृदय तदेव आलवालवलय अम्भसो धारणार्थ यद्वेष्टन तस्य वलय तत्र उल्लसन्ती विकसन्ती या प्रीति सा एव लता तदर्थम् अवनिरिव भूमिरिव स सुरचर भूतपूर्व सुर स मुनि यथैवायम् उद्दायनभूपो वर्णित तथैवाय मया निर्वर्णित इति कथयति । कुत्र वर्णित । परिषदि सभायाम्, कथभूतायां त्रिदिवोत्पादि त्रिदिवे स्वर्गे उत्पादो यस्याः सा तस्याम् पुन कथभूतायाम् । सद्दर्शनेति—सद्दर्शनस्य सम्यक्त्वगुणस्य श्रवणाय उत्कण्ठित हृद् मनो यस्या तस्या परिषदि, (इन्द्रेण यथायमुपवर्णितस्तथाय मया निर्वर्णित) कथभूतेन इन्द्रेण । विवुधप्रधानेन विवुधेषु देवेषु प्रधानेन श्रेष्ठेन पुन कथभूतेन गुणेति—गुणाना सम्यक्त्वादीना ग्रहण तत्र रुचि प्रदर्शन तस्य आग्रहोऽभिनिवेश तत्र निधानेन निधिस्वरूपेण । प्राज्येति—प्राज्य समृद्ध यत्, राज्यं तदेव समज्या सभा तत्र अर्जुन इव सर्जिता उत्पादिता जगत्त्रय्या त्रिलोक्या निजनामधेयस्य स्वनाम्न. स्वकीर्ते. प्रसिद्धि प्रख्यातिर्येन स पुन कथंभूत । यथोक्तेति—यथोक्तम् आगमे यथा प्रतिपादितं सम्यक्त्व सम्यग्दर्शनस्वरूप तथा तस्य अधिगमात् प्राप्ते, अत्रवेया जीवादिपदार्थेषु समाहितु योग्या वुद्धिर्यस्य म उद्दायनो नृप यथा उपवर्णित व्यावर्णित स्तुतो वा तथैव मया (वासवनामधेयेन देवेन) निर्वर्णित परीक्षित, इति विचिन्त्य प्रकटितेति—(आविष्कृतनिजरूपाडम्बर, तम् उद्दायनम् अवनीश्वर नृप सभाव्य समान्य स्वर्ग जगामेति सवन्ध कथयति कवि) कै सभाव्य अमरेति—अमराणा तरव कल्पवृक्षा तेषा प्रसूनानि पुष्पाणि तेषा वर्षा वृष्टि', आनन्ददुन्दुभीना प्रमोदभेरीणा नादो ध्वनि तस्य उपघातेन मिश्रणेन शुचिभि निर्मलै । साधुकारेति—साधुकार साधुकृत साधुकृतमिति उच्चारण साधुकार, तस्मिन् पर साधुकारपर. स चासो व्याहारो भाषण तस्यावसरो वेला तेन शुचिभि सुन्दरै उदारै महद्भिः उपचारै पूजनै आदरै सभाव्य, पुन कै' संभाव्येति उच्यते—अनिमिषेति—अनिमिषा देवास्तेषा विषयो देश. स्वर्ग तत्र सभूष्णव भवनशीलास्तै । मन्त्र इति—चित्तेप्सितप्राप्तौ विष्णुभि जित्वरै समर्थै क्षमैरिति यावत्, तैस्तै' पठितमात्रेण विधेयै साध्यै विद्योपदेशगर्भै. विद्योपदेशो गर्भे येषा तै मन्त्रै तथा वस्त्रसदर्भैश्च वसनाना सदर्भै रचनाभिश्च सभाव्य सपूज्य सुरसैन्य देशमाविवेश स्वर्ग जगामेत्यभिप्राय ।

[पृष्ठ ६१] भवति चात्र श्लोक —वालेति—बालवयसो यतीन्, वृद्धयतीन् गदेन रोगेण ग्लानान् पीडितान्, मुनीन् औद्दायनो नृप स्वयं प्रेरणया विना स्वकर्तव्यमेतदिति बुद्धया भजन् सेवमान निर्विचिकित्सात्मा जुगुप्सा मनागपि अकुर्वाण' पुरन्दरात् इन्द्रात् स्तुति प्रशसा प्रापत् लेभे ॥१७२॥

इत्युपासकाध्ययने निर्विचिकित्सासमुत्साहनो नाम नवम कल्प' ॥९॥

१० अमूढदृष्टिगुणोपाख्यानं नाम दशमः कल्पः ।

[पृष्ठ ६१] अन्तरिति—आत्मनि दुरन्तो दु खदायक सचारो भवभ्रमण यस्मात् वहिरिति—वाह्यस्वरूपे सुन्दर शोभावहम्, एतत्कुदृष्टीना वौद्धनैयायिकादीना मत किंपाकसनिभम् कुत्सित पाक. परिणामो यस्य तस्य विषफलस्य सनिभ तुल्यम् मतं न श्रद्दध्यात् न विश्वस्यात् ॥१७३॥ श्रुतीति—श्रुत्याम्नाय वैदिकमतम् । शाक्याम्नाय सौगतमतम् । शिवाम्नाय शिवमतम् । क्षौद्र मधु, मास प्रतीतम् । आसवो मदिरा एते आधारा अधिष्ठानानि येषा ते । वैदिका मधु ग्राह्यं वदन्ति । सौगता मासभक्षणमामनन्ति । शैवाम्नाये मद्यपान-

स च मूर्धस्फुटितस्फोटाश्च मस्तकोद्भूतपिटकाश्च तत्र या स्फुटवेदना हस्तमथादिभिः खादनं तस्मिन् मक्षिकारोपितविलासका या मक्षिकास्ताभिराचितम् व्याप्तम् अशेषं शरीरं यस्य । पुनः कथंभूतम् । अम्यन्तरेति—अम्यन्तरं शरीरस्य मध्य इति अम्यन्तरम् अम्यन्तरादेव उद्भूतः स्वयमुत्थो शोषः तेन बाह्ये च कोषः दुर्गन्ध मांसस्तनश्च उत्तरङ्गाश्च श्लीपदाश्च ता त्वचश्चर्माणि तासाम् अन्तराले प्रलीनानि अविकलानि यानि सर्वाणि नाडीरे नाडिका च तम् । पुनः कथंभूतम् । अविच्छिन्नेति—अविच्छिन्ना संततं प्रवर्तमाना उत्पन्नोत्पन्ना बहुच्छा महती सर्वाङ्गव्यापिनी या कण्डूः कण्डूरोगः तया कण्डूया ये शुष्का अवयवप्रान्तास्त एव तारिष्यो निगमहाराणि तासु दुर्गन्धिर्बन्धम् संततं छादनाचो दुर्गन्धसविशेषो यस्मात् तम् । पुनः कथंभूतम् । अनवरतेति—अनवरतं संततं यत् स्रोतः सृतम् अपूर्वियदक्षपरिस्रवविस्राभिर्मस्तकसमागतो मोऽन्तीसारः प्रवाहिकारोगविशेषः तस्मात्संभूता या बीभत्सा भयानका मायना आकृतिर्यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् । अनेकस्य इति—अनेकशो बहुवारं विधिना एन्या तस्या शिला अग्रं तत्र तलाद्यः पतनं तेन निमग्न निश्चित आचित संचितः यो अशुचिराधिः पूतिगन्धिरसावलेपकरः तस्य दुर्वर्णं जुगुप्सावत्त्वात् अपटुम् असमं वपुः शरीरं यस्य तम् । एवगुणम् ऋषिवर्यं मुनिश्रेष्ठम् आदाय गृहीत्वा अशनाय आहारार्थम् अनया पृथ्व्याः पतिः स महाराजश्चूडः तस्य भवनं गृहम् अनमत् आनयत् गत्वा । भूपतिरपि सप्ततेति—सप्ततलानि भूमयो वास्तुना निर्मिता यस्य स चासौ सौधः प्रासादस्तस्य मध्यम् अध्यासीन तिष्ठन् आकण्ठम् आमर्श भोजयामासेति संबन्धः । कथंभूतम् ऋषिं भोजयामासेति निरूप्यते—तम् अथाख्या ये व्यापयो रोगा तैर्विद्धः पीडिता विवशा बुभुक्षितस्या क्षीणम् । विरुग्णस्य आहारस्य अन्वेषया याचना तस्मै निजनिलयं निजगृहम् आक्रोशमानम् आयन्तम् अथकोपि सोत्सुकं सादरम् आक्रोशम् दृष्ट्वा स्त्रोऽहस्य च तम् ऋषिवर्यं देवम् उपानीय बाहुना उत्थाप्य आनयत् । कथंभूतं तमानयत् स इति निगद्यते । कृत्रिमेति—कृत्रिमरताशी बाताभृच्च रोगः स एव पावकोऽग्निः तेन परवशं पीडितम् आस्वनितं चित्तं यस्य तम् । मुहुर्मुहुः पुनः पुनः महीपतेर्निवासन्तम् । कथंभूत राजमानः । अन्विति—अनुविग्नम् अजुगुप्साभावं गतं मनः चरितं च यस्य स नृपः । मुनिमेव देवम् उपानीय भोजयामास । पुनः कथंभूतम् । प्रकामेति—प्रकामम् अतिशयेन दुःखं च तत् वर्धनं कण्डूयनं तस्य वर्धनं पुनः पुनः कण्डूयनं तेन सर्वचरितं गात्रं शरीरं यस्य तमृषिवेषम् । काश्मीरेति—काश्मीरस्य कुङ्कुमस्य पङ्कः कर्दमः तेन पिञ्जरेण पीतेन भुजपञ्जरेण उपानीय उत्थाप्य आनीय च आसनदेशमोदरं रसवतीगृहमध्ये स्वयमेव समाचरितोपचारः कृतपूजनः महाराजः । तदिति—तस्य अभिलाषा इच्छा तस्या दर्शनेन प्रादुर्भावः तत्र सारभूतः आहारः उप शान्त्या सौहित्यं प्राप्ता उपनामया बुभुक्षया यथा यथा स्यात्तथा आकण्ठम् यावत् भोजयामास आहारं कारयामासेत्यर्थः ।

[पृष्ठ ६०] मायामुनिरिति—(मायामुनिर्मुक्तोत्तरम् अवमीत्) पुनरपि तस्य महाराजस्य मनः जिज्ञासया मानसं यस्य सः प्रथमं नेपात् अति—अतिकलीरा वामी मनुष्या च दैव कुहरं विवरं तस्मात् उद्गिहान बहिरागच्छन् य घोरो भयङ्करः शोषः तस्य अभिघातस्तेन नयम् अतिशयेन मूर्च्छितं कम्पितम् अपघनं शरीरं यथा स्यात्तथा अप्रतिमम् अप्रतिबद्धम् अवमीत् वान्ति चकार । भूमिपतिरपि—आ बेदोद्गारे कर्म जातम् । यदस्मात्कारणात् मत्समागमस्य मम महद् गृहीताहारोपभोगस्य मुनियोग्यस्य अस्य मनसः ऐव एव पापो नृपस्तस्य निर्वातिदिव नैरिकैव अर्थः वमनं समभूत् । इति एवं प्रकारेण । उपकुर्वेति—उपकर्तुं निर्मितं वमितम् अहितकृत् चेष्टित चरितं तस्य कर्म मार्गस्वरूपम् आत्मान निनिन्दन् गर्हमाणः । मायेति—मायामयः विक्रिया सामर्थ्येन निर्मितास्ता मक्षिकास्तासां मध्यस्थितेन समूहेन कृता कपोले मध्ये रेखा यत्र तस्मात् तदिति—तस्य एतस्य मायामुनेर्मुखात् अवतारा विपुला या धारा तया विलम्बम् आर्द्रम् असमम् । इन्दिरेति—इन्दिरा लक्ष्मीस्तस्या अरविन्दं निवासकमलं तस्य सदृशम् अन्तःप्रदेशस्तस्य चलनीयं तस्य निकटेन तत्समीपेनेत्यर्थः । मध्यविपुलेन प्रवृत्तिपुटेन आदायादाय गृहीत्वा पहीत्वा भेदिन्यां भूमौ उपपूजनं असुमन् । पुनरेति—

उद्गीर्णं वान्तं नवीनः प्रकटीभूतः दुर्वर्ण
अर्मीति—अमि माया तया मुक्ता या अमि

वा तस्य आरम्भ' तेन पतित शरीर यस्य, त मायामुनिम् । सम्प्रयत्नेति—सप्रयत्नी च तौ करौ हस्तौ तयो स्थाम्न- वलस्य सीमा मर्यादा यथा स्यात्तथा त मायामुनिं समुत्थाप्य। जलेति—जलात् जनित क्षालनस्य प्रसङ्गो यस्य तम्। पुन कथभूतम्। उत्तरीयेति—उत्तरीय देहस्योपरि उत्तरभागे धार्यमाण वस्त्रम् उत्तरीय तच्च तत् दुकूल पट्टवस्त्र तस्य अञ्चल प्रान्तभाग तेन विलुप्त निराकृत सलिलस्य जलस्य सग स्पर्शो यस्य तम्, अङ्गसवाहनेन शरीरविमर्दनेन, अनुकम्पनस्य दयाया विधान प्रदर्शन येषु तादृग्वचनाना रचनेन दयावचनाना उच्चारणेन साधु समाश्वासयत् आश्वास सन्तोषमजनयत् । (मायामुनिरात्मरूप प्रकटीकृत्य स्तुत्वा चोद्दायनं स्वर्ग जगाम) कथभूतो मायामुनि. । प्रमोदेति—प्रमोद एव हर्ष एव अमृत सुधा तेन अमन्द परिपूर्ण यद्हृदय तदेव आलवालवलय अम्भसो धारणार्थ यद्वेष्टन तस्य वलय तत्र उल्लसन्ती विकसन्ती या प्रीति. सा एव लता तदर्थम् अवनिरिव भूमिरिव स सुरचर भूतपूर्व सुर स मुनि यथैवायम् उद्दायनभूपो वर्णित तथैवाय मया निर्वणित इति कथयति । कुत्र वर्णित । परिषदि सभायाम्, कथभूताया त्रिदिवोत्पादि त्रिदिवे स्वर्गे उत्पादो यस्या. सा तस्याम् पुन कथभूतायाम् । सद्दर्शनेति—सद्दर्शनस्य सम्यक्त्वगुणस्य श्रवणाय उत्कण्ठित हृद् मनो यस्या तस्या परिषदि, (इन्द्रेण यथायमुपवर्णितस्तथाय मया निर्वणित) कथभूतेन इन्द्रेण । विबुधप्रधानेन विबुधेषु देवेषु प्रधानेन श्रेष्ठेन पुन कथभूतेन गुणेति—गुणाना सम्यक्त्वादीना ग्रहण तत्र रुचिः प्रदर्शन तस्य आग्रहोऽभिनिवेश तत्र निधानेन निधिस्वरूपेण । प्राज्येति—प्राज्य समृद्ध यत्, राज्य तदेव समज्या सभा तत्र अर्जुन इव सर्जिता उत्पादिता जगत्त्रय्या त्रिलोक्या निजनामधेयस्य स्वनाम्न. स्वकीर्ते प्रसिद्धि प्रख्यातिर्येन स पुन कथभूत । यथोक्तेति—यथोक्तम् आगमे यथा प्रतिपादित सम्यक्त्व सम्यग्दर्शनस्वरूप तथा तस्य अधिगमात् प्राप्ते , अवधेया जीवादिपदार्थेषु समाहितु योग्या वुद्धिर्यस्य स उद्दायनो नृप यथा उपवर्णित व्यावर्णित स्तुतो वा तथैव मया (वासवनामधेयेन देवेन) निर्वणित परीक्षित, इति विचिन्त्य प्रकटितेति— (आविष्कृतनिजरूपाडम्बर , तम् उद्दायनम् अवनीश्वर नृपं सभाव्य समान्य स्वर्गं जगामेति सबन्ध कथयति कवि) कै सभाव्य अमरेति—अमराणा तरव' कल्पवृक्षा तेषा प्रसूनानि पुष्पाणि तेषा वर्षा वृष्टि', आनन्ददुन्दुभीना प्रमोदभेरीणा नादो ध्वनि तस्य उपघातेन मिश्रणेन शुचिभि निर्मलै । साधुकारेति— साधुकार. साधुकृत साधुकृतमिति उच्चारण साधुकार , तस्मिन् पर साधुकारपर. स चासौ व्याहारो भाषण तस्यावसरो वेला तेन शुचिभि सुन्दरै उदारै महद्भि' उपचारै पूजनै आदरै सभाव्य, पुन कै संभाव्येति उच्यते—अनिमिषेति—अनिमिषा देवास्तेषा विषयो देश' स्वर्ग तत्र सभूष्णव भवनशीलास्तै' । मन इति— चित्तेप्सितप्राप्तौ विष्णुभि जित्वरै समर्थै क्षमैरिति यावत्, तैस्तै' पठितमात्रेण विधेयै साध्यै विद्योपदेशगर्भै. विद्योपदेशो गर्भे येषा तै मन्त्रै तथा वस्त्रसदर्भैश्च वसनाना सदर्भै रचनाभिश्च सभाव्य सपूज्य सुरसेव्य देशमाविवेश स्वर्गं जगामेत्यभिप्राय ।

[पृष्ठ ६१] भवति चात्र श्लोक —बालेति—बालवयसो यतीन्, वृद्धयतीन् गदेन रोगेण ग्लानान् पीडितान्, मुनीन् औद्दायनो नृप स्वयं प्रेरणया विना स्वकर्तव्यमेतदिति वुद्ध्या भजन् सेवमान निर्विचिकित्सात्मा जुगुप्सा मनागपि अकुर्वाण पुरन्दरात् इन्द्रात् स्तुतिं प्रशसा प्रापत् लेभे ॥१७२॥

इत्युपासकाध्ययने निर्विचिकित्सासमुत्साहनो नाम नवम' कल्प' ॥९॥

१० अमूढदृष्टिगुणोपाख्यानं नाम दशमः कल्पः ।

[पृष्ठ ६१] अन्तरिति—आत्मनि दुरन्तो दु खदायक सचारो भवभ्रमण यस्मात् वहिरिति— वाह्यस्वरूपे सुन्दर शोभावहम्, एतत्कुदृष्टीना वौद्धनैयायिकादीना मत किंपाकसनिभम् कुत्सित. पाक. परिणामो यस्य तस्य विषफलस्य सनिभ तुल्यम् मतं न श्रद्दध्यात् न विश्वस्यात् ॥१७३॥ श्रुतीति—श्रुत्याम्नाय वैदिकमतम् । शाक्याम्नाय सौगतमतम् । शिवाम्नाय शिवमतम् । क्षौद्र मधु, मास प्रतीतम् । आसवो मदिरा एते आधारा अधिष्ठानानि येषा ते । वैदिका मधु ग्राह्य वदन्ति । सौगता मासभक्षणमामनन्ति । शैवाम्नाये मद्यपान-

मतर्हणीयम् । अत्र वैदिकधिकाम्नाये मतमोक्षाय विधिः मन्त्रे मोक्षप्राप्तौ च यो विधिः क्रियते तत्र उक्तानां मन्त्रादीनां प्रयोगो विद्यते इति ॥१७४॥ भस्मिभस्मेति—भस्मि: मायापरकम्पनम् भस्मक्षेपनम् । जटाजूटधारणम् कौपीनपट्टो वस्त्रविशेषधारणम् । कटासनं चर्मासनम् । मेखला चर्मकटिसूत्रम् । प्रोक्षणं भूमिपुरुषं जलकुम्भादि-सिञ्चनम् । मुद्रा पद्ममुद्रामुक्ताशुक्तिमुद्रादिक हस्ताद्गुलीनाम् आकारविशेषः । वृसी कुशादिमयासनम् कटक । दण्डः पालाशपर्णपत्रादिकाष्ठविशेषः । आषाढो व्रतिना दण्डः । करण्डकः वंशादिरचितः समुद्गकः ॥१७५॥ शौचम् अङ्गावयवानां पवित्रीकरणम् मज्जनं नद्यादिषु स्नानम् आचामः आचमनम्, पितॄणां पूजनं मासेन संतर्पणम्, कमलार्चनम् अग्निपूजनम्, इयं प्रक्रिया एतानि कर्माणि आप्तस्वरूपविहीनानाम् आत्मानात्मविचारशून्यानां विराजन्ते शोभन्ते ॥१७६॥ को देव इति—आप्तः को भवितुमर्हति किमिदं ज्ञानम् येन परमात्मबोधो भवति तज्ज्ञानम्, किं वा कुटुम्बपोषणोपयोगिबोधो ज्ञानम्, किं तत्त्वम् एकान्तवस्तुस्वरूपम् उतानेकान्तवस्तुस्वरूपं तत्त्वम् । को बन्धः कर्मात्मनोरन्योन्यं द्वाराश्लेषो बन्धः उत रज्ज्वादिना बन्धनम् । कश्च मोक्षः कारागारान्मुक्तिरुत कर्मजीवयोरत्यन्तविश्लेषो मुक्तिः इत्यादि विचारस्तत्र न विद्यते । मिथ्यादृष्टिमतानि एकान्तप्रतिपादकानि ततस्तत्र बन्धमुक्त्यादीनामसंभवः स च प्राक्प्रतिपादितः ॥१७७॥ आप्तेति—आप्तस्य आगमस्य च अविशुद्धत्वे सदोषत्वे आप्तो यदि रागादिदूषितः स्यात्, आगमश्च यदि पूर्वापरविरोधादिदोषयुक्तो मद्यादिविधानानां च प्रतिपादकः स्यात्तर्हि तत्र विशुद्धत्वं न संभवेत् । तथा देहिषु प्राणिषु क्रिया शुद्धापि आचारविशुद्धिरपि अभिमतफलप्राप्त्यै सततमीप्सितपरमसुखप्राप्त्यै न भवति । यथा विजातिषु व्यभिचारादिदोषदूषितेषु मानवेषु सद्गोत्रभूषितपुत्रादिफलप्राप्तिर्न भवति ॥१७८॥

[पृष्ठ ६२] तत्संस्तवेति—तेषां कुदृष्टीनां संस्तवं मिथ्याज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं वचसा न कुर्वीत । तत्प्रशंसां वा भूताभूतगुणोद्भावनं मनसा न कुर्वीत । तथा विपश्चित् विद्वान् तेषां ज्ञानविज्ञानयोः मन्त्रवादादि विषये ज्ञाने विज्ञाने च निर्मीलकरणादि मूढस्य नेत्रयो निमीलनम् । एकान्ततत्त्वज्ञाने कलादिज्ञाने च न विभ्रमेत् विभ्रमं विस्मयभ्रान्तिं च न गच्छेत् ॥१७९॥ (अमूढत्वाङ्गे रेवतीराज्ञी-कथा) मूढतामनोपाख्यानम्—(देवयतिचन्द्रप्रभः उत्तरमथुरां गन्तुकामः श्रीमुनिगुप्तमपृच्छत्) कर्णमूलेषु पाण्ड्यमण्डलेषु । मुक्ताफलेति—मुक्ताफलानि मौक्तिकानि तेषां मञ्जरी पङ्क्तिः तया विराजितानि शोभितानि विलासिनीनां कर्णकुण्डलानि येषु तेषु पाण्ड्यमण्डलेषु पाण्ड्यदेशेषु इत्यर्थः । दक्षिणमथुरायां कर्णभूतायाम् । पौरेति—पुरे भवाः पौराः नागरिकाः तेषां पुण्याचाराः देवपूजादिसत्कर्माणि । तैः विधूरितानि विनाशितानि विधुराणि कष्टानि यया सा तस्याम् । (श्रीमुनिगुप्तनामभ्याहारं भवन्तं चन्द्रप्रभो देवयतिरपृच्छत्) कर्णमूतम् भवन्तं मन्यते इति भवान् यदि कस्यापि पृच्छति तम्, भगवन्तं महाज्ञानिनम्, तमेव विवृणोति—अङ्गपेति—अङ्गैः च तत् अर्थं द्वादशाङ्गश्रुतज्ञानं तदेव पारावारः समुद्रः तं गच्छतीति तम्, अवधिबोध अवधमीति—अव इत्यतीति अवधिः स चासौ बोधश्च भवस्ताप्रयुत्तरविषयाथा प्रत्यक्षविशेषतः तृतीयमतीन्द्रियज्ञानं रूपिविषयकम् । स एव अम्बुधिः समुद्रः तस्य मध्ये साधितः धर्मकमुक्तमायः येन तम् । अष्टाङ्गेति—अष्टौ अङ्गानि यस्य तत् अष्टाङ्गं कानि तानि चेदुच्यन्ते—अन्तरिक्ष-भौम-अङ्ग-स्वर-व्यञ्जन-लक्षण-छिन्न-स्वप्ननामानि) तत्र तन्महानिमित्तं शास्त्रं तस्य संपत्त्या समधिका प्रकर्षं प्राप्ता या विपश्चा बुद्धिस्तया अधिकरणम् अधिष्ठानम् । अखिलेति—अखिला सकला समग्रा भव्यः तेषां संघः स एव सिंहसैन उपास्यमानो पूज्यमानो चरणौ यस्य सः तम्, अत्याश्चर्येति—अत्याश्चर्येण युक्तं तत्तच्चरणं तस्य गोचरी विषयीभूतः स चासौ आचारस्तस्य चातुरी नैपुण्यं तया चमत्कृतं विस्मयभावं नीतं चित्तं येषां ते च ते खेचरा विद्याधराः तेषाम् ईश्वरः स्वामिनः तैर्विरचिता कृता या चरणयोः अर्चना पूजा तस्याः उपचारः सेवा यस्य तं चन्द्रप्रभो देवयतिरपृच्छत् । अधुना चन्द्रप्रभदेवस्ते संबन्ध प्रवर्तते—कर्णमूलस्य विजयार्धश्रेणीमस्य । गगनेति—गगने आकाशे गमनं येषां ते गगनगमनाः विद्याधरास्तेषाम् अट्टना लक्ष्म्या तासाम् अपाङ्गा मेखान्ता। कटाक्षा तेषाम् अमन्दतारम्भो मुक्तावृत्त्या तस्याः संबन्धेन शोभमान पुष्पाणि प्राप्तस्य विजयार्धपर्वतस्य दक्षिणश्रेणौ । रतिवेल्लादिति—रतिवेल्लि संभोगभोगा तल्लन्ती यो विलासा प्रमानसगानरमनङ्गमुखीनां च

कश्चिदुत्पद्यते विशेष स विलास तत्रमगे विगलिता निलिम्पललनाना देवस्त्रीणा मेखलाना काञ्चीना मणयो रत्नानि यत्र तस्या दक्षिणश्रेणौ मेघकूटाट्टनाधिपत्योपान्ते मेघकूटनगरस्य आधिपत्य स्वामित्वम् उपान्त्ये समीपे यस्य स, सोमन्तिनी नामधेया कान्ता यस्य स । समागमुखेभ्र पराङ्मुखा प्रतिभा बुद्धिर्यस्य स चन्द्रप्रभ खगेश चन्द्रशेखराय पुत्राय निजैश्वर्य विनीर्य दत्त्वा पर्यन्त्रमितेति—पर्यन्तमितेन निश्चयेनाधिगतक्षुल्लकव्रतिरूप सकला चासौ अम्बरचरविद्या आकाशगामिनी विद्या तस्या परिग्रह स्वीकृति समीपे यस्य, सप्रश्रय सविनय अभिवन्द्य प्रणम्य अनवद्येति—अनवद्या निर्दोषा मुक्तिदातृत्वात् या विद्या अध्यात्मज्ञान तया महन श्रेष्ठ, भगवन् अहम् उत्तरमथुराया जिनमन्दिराणि वन्दितुकामोऽस्मि । कथभूतायाम् उत्तरमथुरायाम् । पौराङ्गनेति—नागरस्त्रीणा भृङ्गाग्र्युवना उत्तरङ्गा तरङ्गवत् उर्मि प्राप्ता ये अपाङ्गा नेत्रान्तास्तै, पुनरुक्ता स्मरशरा मदनबाणा यत्र तस्याम् उत्तरमथुरायाम् । जिनेन्द्रनन्दिगणि वन्दने स्तौति अभिवादयते इति वन्दारु वन्दनशील तच्च तद्हृदय च तस्य दोहद इच्छा वर्तते यस्य स अहं वर्ते । अतस्तन्नगरगमनाय भगवतानुज्ञातोऽस्मि । किं च कस्य तस्या पुरि कथयितव्यम् इति । अपृच्छत् ।

[पृष्ठ ६३] मुनिसत्तम—प्रियतम यया ते मनोरथस्तया अभिमतपथ इष्टमार्ग समस्तु भवतु । सदेऽन्यत्र पुनस्तत्रैवानदेव कथितव्य पुनस्मात्र इदमेव, यद्गु तत्पुरोपुन्दरस्य उत्तरमथुरापुर्या इन्द्रस्य स्वामिन इत्यर्थ, वरुणधरणोदवरस्य वरुणभूमिपते शचीदृश इन्द्राणीतुल्याया सुदृश सुदृष्टे सम्यग्दर्शनधारिण्या, जिनपते चरणयो चित्तेन मनसा य उपचार सेवा तस्य पदव्या मार्गभूताया महादेव्या रेवतीतिनामधेयाया मदीया आशी आशीर्वादो वाच्य वक्तव्य । तथा आवश्यकविशेषवशचित्तवत आवश्यकानि सामायिकादीनि तेषा विशेषे वश्य चित्तम अस्ति यस्य तस्य सुव्रतभगवत वन्दना च वाच्या । देशयतिवर—किम् अपरस्तत्र भगवन् जैनो जनो नास्ति । भगवान्—देशव्रतिन्, अल विकल्पेन विचारणेन पर्याप्तम् । तत्र गतस्य भविष्यति समस्ताप्यार्हतेनरशरीरिसपक्षासमक्षा स्थिति । ये जिनानुयायिनो ये चान्ये जना तेषा स्थिति अस्तित्व तत्रास्ति न वेति सर्वमेव तव गतस्य व्यक्तीभविष्यति । ये जैना जना ये च तत्सदृशा तेषां अस्तित्व समक्ष प्रत्यक्ष भवति । खचरविद्याबीजमल्लक क्षुल्लको यथादिशति दिव्यज्ञानभगवान् भगवान् । नभश्चरविद्याबीजवपने मृत्पात्रसदृश क्षुल्लको देशयतिरब्रवीदेव भगवान् खलु दिव्यज्ञानस्य अतीन्द्रियज्ञानस्य भगेन युक्त । अत यदादिशति तत्र भवान् तत्सर्वं सत्यमेव । इति निगीर्य एव भाषित्वा । गगनचर्यया आकाशगमनेन अवतीर्य उत्तरमथुराया परीक्षेय परीक्षा कुर्वीय तावत्प्रथमम् एकादशाङ्गनिधानम् आचाराद्येकादशाङ्गाना निधीभूतस्य भव्यसेनमुने । तदनु भव्यसेनपरीक्षणात्पश्चात् सम्यक्त्वरत्नवती सम्यग्दर्शनमणिभूषिता रेवती परीक्षेय इति कृतकुतूहल (क्षुल्लक वटुरूपेण भव्यसेनस्य मुनेराश्रममगच्छत् ।) कथभूत कपटवटुवेषम् आश्लिष्य तदाश्रममगच्छत् । कलमेति—शालिविशेषशस्यमञ्जरीणाम् अग्रसदृशकेशमनोहरविपुलचूडम् । उत्तप्तेति—अग्नितप्तसुवर्ण-कान्तिमनोज्ञदेहगौरतामनुसृत्य कमलमधुरजोवत् कपिशलोचनम्, अतिस्पष्टेति—अतिविशदविस्तराक्षरवर्णनाय उदीर्णमुख मुख व्यादाय ब्रुवन्तमिति भाव । एकादशवर्षजातकुमारसदृशम् अत्याश्चर्यविषयभूतम्, कपटेन विद्या-सामर्थ्येन कुमारवेष गृहीत्वा भव्यसेनस्य उटवमितम् आश्रमम् अयासीत् प्राविशत् । वेषमुनि वेषेण द्रव्यलिङ्गेन मुनि भव्यसेन तम् ईक्षणकमनीय नेत्रप्रियतामावहन्तं द्विजेति—विप्रतनयसमान तम् आलोक्य किलैवं स्नेहा-धिक्य स्नेहातिशयेन अलोलपत् अब्रवीत् । "हहो वटो हे कुमार निखिलेति—निखिला सकलाश्च ते द्विजा विप्रास्तेषा वशस्तस्मात् अव्यतिरिक्तम् अभिन्नं च तत् सुकृत पुण्य तेन कृत यत्कल्याण हित तत्प्रकृतितया तत्स्वभावतया । समस्तेति—समस्ताश्च ते लोकाश्च सकलजनाश्च तेषा लोचनानि नेत्राणि तेषाम् आनन्दस्य प्रमोदस्य उत्पादने निर्मापणे पटुश्चतुर तत्सबोधन हे वटो इति । कुत खलु समागतोऽसि । वटुराह—

[पृष्ठ ६४] अभिनवेति—अभिनवा नूतनाश्च ते जनाश्च तेषा मनसाम् आह्लादनानि तानि वचनानि तान्येवागदा औषधानि तेषा प्रयोगे चरकभट्टारक इव तत्सबोधनम् । सकलेति—सकलकलाना विलासगृहरूपा ये विद्वज्जनास्तै पवित्रात्पाटलिपुत्रात् तन्नामधेयात् नगरात् । किमर्थं समागतोऽसि । अध्ययनार्थम् । काधिजिगांसेति—क्व कस्मिन्विषये अधिजिगासा ज्ञातुमिच्छा तस्या अधिकरणम् आधारभूत भवत अन्त करण

मम अस्ति श्रूयताम् । वाङ्मलेति—वाचो मम वाङ्मलः अशुद्धवचनप्रयोगः तस्य ... कारकं तस्य प्रकरणं तस्मिन् व्याकरणे । पयोधमिति—मदन्तिके मत्समीपे । स्वाध्यायस्य ... सम्पूर्ण पर्व यस्य तत्संबोधनम् हे स्वाध्यायस्थानसर्वस्व । समास्व सम्यक्-विनयेन तिष्ठ । ... परमार्थविवर्जितनाशिनीमां वाचो प्रक्रमः आरम्भ एव अस्ति परम यस्य तत्संबोधनम् । हे भगवन् ... भवतः सन्निधौ । वस्तु तदनन्तरम् । अतीतेति—अवसानं यातेषु कियत्सु समयविभागेषु । बटो ... माणवकः माणवकं याचते । त्वगृहाण इमं कमण्डलुम् । पर्यटन आयच्छामि । बटुः ... पुनरिति—पुनः पुरस्तात्प्रदेशे निमते याते सत्यपरमतेऽपेमुषी । स कपटबटुरिति—स ... वर्धितवान्याङ्कुरमुम्यस्याप्ताम् अवनिं भूमिम् अकार्पीत् अकरोत् । तद्दर्शनादिति—तदवलोकनात् ... मुनिः इत्यकाले व्यालम्बितः विलम्ब्य अतिष्ठत् । भगवन् इति—भगवन् किमिति समवसरे अस्माकं ... क्रियते । बटो आगमे किम एते धान्याङ्कुराः स्थावराः एकेन्द्रियाः प्राणिनः पठ्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते । ... स्वासादिति—अमीषां धान्याङ्कुराणां प्रायः प्राणेषु मध्ये क्रियन्तिमुष्य कति ... केवलमिति—अथा मतिमयधान्याङ्कुराः पृथ्वीविकाराः अचेतनास्तथैव धान्याङ्कुराः ...

[पृष्ठ ६५] वैयमुनिः—वाक्यमिदमभिदधाति । धीमतमयं बटुरुवाच । इति विचिन्त्य विहारं कृत्वा च निःसत्त्वं संशयं मनसि अकृत्वा नित्यादिनीहारः नित्यादिः विहितः नीहारः ... तथा विरहितव्याहार विरहितवस्त्वतो व्याहारः भाषणविधिर्येन स मध्ये न करेण किमपि अभिनयन् ... कुर्वन् अनेन बटुना एवं वक्तः भगवन् किमिदं मौनेनाभिनीयते । चित्रस्थापीव चित्रस्थैव ... आमीलतीति प्रचारपोषण करोतीति चित्रस्थापीव । स अभिमानस्य रक्षार्थं शचीशार्थं भुक्तस्य च । ... मुनयो मौनम् अवनादिषु कर्मसु ॥१८॥ अभिमानस्य अयाचनाया रक्षणहेतोः भुक्तस्य ... विनयाख्यम् आचरार्थम् अवनादिकर्मसु मोचने स्नाने सामायिकादिकर्षट्कर्मसु इत्ते मुक्ते इत्यादिषु ... मुनयो मौनम् अनादयं व्यनक्ति कुर्वन्ति । इति मौनफलम् अविकल्प्य अर्थकल्प्य बाटवस्य ... हितात्मक निष्कटो समन्वितं संक्षोभ्य समानीयताम् आधारात्कामो लोमशो यस्मिन् ... पोषण पृथ्वी भक्तिपटलं भस्मसमूहः इत्यादिकम् अभिपक्वमृत्तिकाखण्डो वा । भगवन् ... वीतोचितमृत्तिकाया सकलानि पृथ्वी क्रियते रचिता प्रभृतिः यस्यां तस्यां मृत्तिकायां को दोषः ? बटो प्रवचनलोचननिवारिका प्रवचनलोचनेन आगमनयनेन निरीक्ष्यन्ते अवलोक्यन्ते इति प्रवचन-लोचननिवारिका तत्कायिका पृथ्वी एव काय शरीरं येषां ते जीवाः किन्तु तत्र सन्ति । भगवन्, आगमलोचनेपयोऽपलक्षम्यो जीवगुणः न च तेषु उपयुक्तयम् उपलभ्यते । मृत्तिकायां मार्ग दर्शनं च न विद्यते इति भावः । सेवनीया बटुस्त्वाचार्य—बटुस्त्वया कृत्वा कुत्सितः कमण्डलुमर्पयति । शुभाशुभिनकविरतः कमण्डलु करेण ... आकलय्य च त्वा बटो रिक्तोऽयं कमण्डलुः । भगवन्, इदमुदकं अचिरकाले अचिरं शून्यं वर्ज संवरणं ... तस्मिन् तदैव तस्मिन् समागते निरगे । अगे पटापूरणनीलावाने पटेन वस्त्रेण अपूरम् अवाकितं ... जलं तस्यावाने खरो महारोमवं महारावः अनस्तत्र कारणं सन्ति । तदन्तरम् इह इच्छया निर्मलया ... विद्यमानीव आकाश इव पयसि अस्मै तरङ्गलोलनाप अन्तर्गतवर्णनात् । इति वचनात् अन्यायवान् अहिंसायां ... संवरिणि बाह्यागमेन बाह्यप्रवृत्त्या नवनीतिरनी तस्याभिनिवेशाभिकारणवर्षमपि तत्राणां लोकानाम् अतिनी ... बैठ यथार्थमद्य तत्र वर्णितो अन्यत्र आगमलोपमिथ्यावस्त्वस्य लेभ इव वस्तिम्मुखामुषी तद्वेव रहित अदमन ... भावितयोर्थे इत्यादिभ्यो भवेत निशान्तेव विचित्रम् । अत एव भगवान् अतीन्द्रियपदार्थप्रत्यक्षयेतुकोत् ... अतीन्द्रिया पदार्था पापपुण्यानि अवद इत्यादीनां प्रत्यक्षे प्रत्यक्षे शेमुषी बुद्धिः प्राप्ता ।

[पृष्ठ ६६] धीमुनिपुङ्गव अन्य किमपि वाचिकं संदेशं न प्राहिणोत् न प्रेषयति स्म । अस्मात् ... अस्मिन् मण्डपे प्रतापवनितावनमिव अतीत्य दयानुवर्तिन अन्यतरकर्मणे अन्यतरत्वेन अन्यतमत्वं तस्य पर्वे ... उपात्तो निगमनीयम् इदमाख्यानं भावार्थ च वदि प्रयाणे वर्त प्रीतिपूर्वं च । भवति चात्र श्लोकः—

जले तैलमिवेति—रसवत् पारद इव यथा पारद धातुषु लोहादिषु वेधाय भवति लोहादिक स्वस्पर्शेन अन्त प्रविश्य वा सुवर्णीकरोति तथा यत्र ऐतिह्य श्रुतज्ञानम् अध्यात्मज्ञान रसवत् अन्त प्रविश्य मुन्यादिक रत्नत्रयवन्त न करोति तत्र स अन्तर्बोध जले तैलमिव वृथा तत्र केवल वहिर्द्युतिरेव ।

इत्युपासकाध्ययने भवसेनदुर्विलसनो नाम दशम कल्प ॥१०॥

११ अमूढताप्रौढिपरिवृढो नामैकादशः कल्पः

परीक्षितस्तावत्प्रसभाविर्भविष्यद्भवसेनो भवसेन. । प्रसभ हठात् आविर्भविष्यन्ती प्रकट भविश्री भवस्य ससारस्य सेना यस्य स भवसेन परीक्षितस्तावत् । इदानीम् अधुना भगवदिति—भगवत श्रीमुनिगुप्तस्य आशीर्वाद एव पादपो वृक्षस्तस्य उत्पादाय वसुमतिमिव भूमिमिव रेवती राज्ञी परीक्षे, इति आक्षिप्तं विमृष्टम् अन्त करणे मनसि येन स विद्याधर ब्रह्मण आकार गृहीत्वा सकल पुर क्षोभयामास । कस्या दिशि पुरस्य नगरस्य पुरन्दरदिशि इन्द्रदिशायाम् । कथभूत ब्रह्मण आकारम् । हसेति—हसानाम् असा भुजशिरासि तेषाम् उपरि उत्तम भूषणभूतश्चासौ आवास विमान तस्य वेदिका वितर्दि तस्या अन्तराले मध्ये या कमलकर्णिका कमलकोष तस्या उपरि आस्तीर्णम् प्रसारित यन्मृगाजिन हरिणचर्म तदेव पर्यङ्कपर्याय मञ्चकतुल्यता यस्य तम् । पुन कथभूतम् अमरेति—अमरसरसि देवतडागे सजातानि यानि सरोजानि कमलानि तेषा सूत्राणि तै वर्तित विहित यदुपवीत यज्ञसूत्र तेन पून काय शरीर यस्य तम् । पुन कथभूतम् ? अमृतेति—अमृतमया करा यस्य स अमृतकरश्चन्द्र तस्य कुरङ्गकुले हरिणवशे जातो य कृष्णसारो मृगविशेष तस्य कृत्तिश्चर्म तेन कृत विहित उत्तरासगस्य वामस्कन्धे धार्यमाणस्य वस्त्रस्य सनिवेशो रचना येन तम् पुन. कथभूतम् । अनवरतेति—अनवरत सततम् यो हासस्यारम्भ तस्मात् सभूत यद्भसित भस्म तेन विहिता ये पाण्डव शुभ्रा पुण्ड्रकास्तिलका तेन उत्कटो उद्दीप्त निटिलदेशो ललाटदेशो यस्य तम् । पुन कथभूतम् । अम्बरेति—अम्बरे आकाशे चरन्ति विहरन्ति ये ते अम्बरचरा देवा तेषा तरङ्गिणी नदी तस्या जल तेन क्षालितानि धौतानि यानि कल्पकुजानाम् कल्पतरूणाम् वल्कलानि त्वचस्तैर्वलितानि यानि उत्तरीयाणि ऊर्ध्वदेहाच्छादकानि वस्त्राणि तेषा प्रतान जाल तेन परिवेष्टित जटावलय जटामण्डल येन स तम् । पुन कथभूतम् । अमृतेति—अमृतम् अन्ध अन्न येषा ते अमृतान्धस देवा तेषा सिन्धुर्नदी गङ्गा तस्या रोधसि तटे सजाता ये कुतपाङ्कुरा कुशतृणाङ्कुरा, अक्षमाला जपमाला, कमण्डलु, योगमुद्रा च एभिश्चतुर्भि अङ्कितम् चिह्नितम् करचतुष्टय हस्तचतुष्कम् यस्य तम् । पुन कथभूतम् । उपासनेति—उपासनार्थं समायाता समागता ये सनङ्ग-भृगु-भर्ग-भरत-गौतम-गर्ग-पिङ्गल-पुलह-पुलोम-पुलस्ति-पराशर-मरीचि-विरोचना एव चञ्चरीकानीक भृङ्गसमूह तेन आस्वाद्यमानो लिह्यमानो यत् वदनारविन्दस्य मुखकमलस्य कन्दरात् विनिर्गलन्त वहिरागच्छन्तो ये वेदास्त एव मकरन्दसदोहो यस्य तम् । पुन कथभूतम् ।

[पृष्ठ ६७] उभयेति—उभययो पार्श्वयो अवस्थिता मूर्ति तनु धृत्वा समागता निखिला कला इव या विलासिन्य तासा समाजेन समूहेन सचार्यमाणो वीज्यमानश्चामराणा प्रवाह यत्र तम् । पुन कथभूतम् । उदारेति—उदारो महान् नादो रवो यस्य स चासौ नारदो मुनिस्तेन मन्यमान स्वीक्रियमाण प्रतीहारव्यवहार द्वारपालनकर्म यस्य तम् । अम्भोजोद्भवाकारम् अम्भोज कमल तत् उद्भव उत्पत्तिस्थान यस्य ब्रह्मण आकार स्वरूपम् आसाद्य प्राप्य स विद्याधर समस्तमपि नगर क्षोभयामास क्षुब्धम् अकरोत् । सापि रेवती कथभूता । जिनेश्वरेति—जिनेश्वरस्य चरणयो पादयो प्रणय प्रीति स एव मण्डप तस्य मण्डन भूषणस्वरूपा माधवीलतेव, वरुणवरणीश्वरवरुणनामधेयस्य धरण्या पृथ्व्या ईश्वरस्य पत्युर्महादेवी नृपते वरुणराजस्य पुरोहितात् तम् उदन्त ब्रह्मणो वार्ताम् आकर्ण्य, त्रिषष्टिशलाकासु उदात्तेषु पुरुषेषु मध्ये ब्रह्मा नाम न कोऽपि श्रूयते । तथा—आत्मनीति—ब्रह्मेति गी शब्द आत्मनि जीवे, मोक्षे सकलकर्मविदलेपणलक्षणे, ज्ञाने, वृत्ते, चारित्रे, भरतचक्रवर्तिन आद्यस्य पितरि वृषभनाथे, प्रगीता प्रवृत्ता । अत एतान्मुक्त्वा न चान्यो ब्रह्मा विद्यते । ॥१८२॥ इति च अनुस्मृत्य विमर्श कृत्वा अविस्मयबुद्धि गर्वरहितमति अतिष्ठत् (पुन दक्षिण-

मन अस्ति तच्छ्रूयताम् । वाक्प्रसङ्गेति—वाचां मल वाङ्मलः अशुद्धवचनप्रयोग तस्य क्षालनं करोतीति क्षालनकरं तस्य प्रकरणं तस्मिन् व्याकरणे । सरोवरमिति—सरसिके सरसमीपे । स्वाध्यायध्याने एव सर्वस्वं सम्पूर्ण धनं यस्य तत्संबोधनम् हे स्वाध्यायध्यानसर्वस्व । समास्व सम्यक्-विनयेन तिष्ठ । परवादीति—परवादिनर्वविनाशिनीनां वाचां प्रक्रमः प्रारम्भ एव असि खड्ग यस्य तत्संबोधनम् । हे भगवन्, साधु तिष्ठसि भवत पवित्रो । तदनु तदनन्तरम् । अतीतेति—अवसानं यातेषु किंयत्सु समयविभागेषु । बटो इति—बटो मातः, मातःप्रवेशं याचते । तद्गृहाण इमं कमण्डलुम् । पर्यटय बापम्भाप । बटु यथाज्ञापयति भगवान् । पुनरिति—पुनः पुरप्रवेशे निगते याते सकलसंयते वेषमुनौ । स कपटबटुरिति—स बटुवेषी विविक्ता वर्धितधान्याङ्कुरवृन्दव्याप्ताम् अवनिं भूमिम् अकार्षीत् अकरोत् । तद्दर्शनादिति—तदवलोकनात् व्यक्तिकृत्रिमुनिः ईषत्कालं व्यसनिवाह विलम्ब्य अतिष्ठत् । भगवन् इति—भगवन् किमिति अनवसरे अस्थाने च विलम्बः क्रियते । बटो आगमे किल एते धान्याङ्कुराः स्थावराः एकेन्द्रियाः प्राणिनः पठ्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते । भगवन् प्मासादिष्विति—अमीषां धान्याङ्कुराणां प्राणः दशसु प्राणेषु मध्ये कियन्तिवगुणः कतितमः प्राय । केवलमिति—यथा मणिमयाङ्कुराः पृथ्वीविकाराः अचेतनास्तथेमे धान्याङ्कुराः अचेतनाः भूमिविकाराः ।

[पृष्ठ ६५] वेषमुनिः—सत्यमभिदधाति । शोभनमयं बटुरब्रवीति । इति विचिन्त्य विहृत्य च विहार कृत्वा च नि वद्ध संशय मनसि अमृत्वा भिक्षाविनगोचार भिक्षाविधि विहित गोचार गोचरविधिना । तथा विरहितव्याहार विरहितसस्यको व्याहारः भाषणविधिर्येन स मध्यदीन करेण किमपि अभिनयन् संज्ञां कुर्वन् अनेन बटुना एवं उक्तः 'भगवन्, किमिदं मौनेनाभिनीयते । जिनरूपाजीव जिनरूपेण नग्नताकारेण आजीवतीति उदरपोषणं करोतीति जिनरूपाजीव । स अभिमानस्य रक्षार्थं प्रतीकारार्थं भुतस्य च । भजन्ति मुनयो मौनम् अन्नादिषु कर्मसु ॥१८॥ अभिमानस्य अयाचनाया रक्षणहेतोः श्रुतस्य प्रतीकार्थं विनयार्थम् आचराणम् अशनादिकमसु भोजने स्नाने सामायिकादिषट्कर्मसु हवन मूत्रणे इत्यादिकार्येषु मुनयो मौनम् अयाचनं भजन्ति कुर्वन्ति । इति मौनफलम् अभिकस्य सर्वरूप्य बाढबस्य कृतमायस्य हितारम्भ विप्रबटो समन्विष्य संशोध्य समानीयताम् आवामत्काशा गोमयो यस्मिन् जीवोत्पत्तिर्नास्ति स गोमयः शुष्क भसितपटलं भस्मसमूहः इष्टकापाक्यम् अग्निपक्वमृत्तिकाखण्डो वा । भगवन् अखिललोकलोचनोचितप्रवृत्तिकाया सकलजनैः पूज्यमे क्रियते उचिता प्रवृत्तिः यस्यां तस्यां मृत्तिकायां को दोष ! बटो प्रवचनलोचननिबन्धिका प्रवचनलोचनेन आगमनयनेन निवीयन्ते अवलोक्यन्ते इति प्रवचनलोचननिबन्धिका उत्कामिका पृथ्वी एव काय शरीर येषां ते जीवा किल तत्र सन्ति । भगवन्, ज्ञानदर्शनो पयोगलक्षणो जीवगुणः न च तेषु तद्गुणद्वयम् उपलभ्यते । मृत्तिकायां ज्ञानं दर्शनं च न विद्यते इति भाव । यद्येवं यदि तत्र जीवगुणो नोपलभ्यते तर्हि आनीयतां मृत्स्ना कृत्स्ना सकला प्रशस्ता मृत्तिका असुमद्भिः प्राणिभिः सेवनीया बटुस्त्वावश—बटुस्तथा कृत्वा कुण्डिकां कमण्डलुमर्पयति । मृत्तामुनिकलविकलां कमण्डलुं करेण आकलय्य स तथा बटो रिक्तोऽयं कमण्डलु । भगवन् इदमुदकं अचिरकाले अचिरं नूतनं अल्पं जलं यस्य तस्मिन् तटाके तडागे समागते विद्यते । बटो घटापूर्णपानीयागतैः पटेन गलितेन अनूनम् अनालिप्तं तत्र तत्पानीयं यत् तत्स्थाने तटाके महत्तरदोषमयं महापाप यतस्तत्र त्रसजन्तवः सन्ति । तदसारम् बहु स्वच्छतया निर्मलतया विहायसीव आकाश इव पतति अन्धे तडागवाक्यमास्त् अप्तुनामदर्शनात् । इति वचनात् बटुमायाम् अहिताय संवमिति बाह्याभ्यन्तरेण बाह्यप्रवृत्त्या संयमिनि यतौ तत्कामिनिवेदनधिकाप्यवेशमपि तत्त्वानां जीवादीनाम् अभिनि वेश यथार्थमिदा तत्र यदि को यत्न आचार्योऽभिप्रायस्तस्य वेषम इव तस्मिन्मुखामुखौ तदेवम् अहिरस अवलम्ब्य वाभिजघ्ने कृतवाविष्ये अपरेण विचारेण विचित्रम् । अत एव भगवान् अतीन्द्रियपदार्थप्रकाशनधेनुपीन अतीन्द्रिया पदार्था पापपुण्यादि अनेन इत्यादिना प्रकाशने प्रकल्पने धेनुर्धी बुद्धि प्राप्त ।

[पृष्ठ ६६] मौनमुनिमुख्य अस्य किमपि वाचिकं वचितुं न प्राहितोऽस्तु न प्रेषयति स्म । यस्मात् अस्मिन् अधमेन प्रदीपवर्तिविकलमिव प्रदोषस्य तथागुणमिव अन्तस्तत्त्वमर्मे अन्तस्तत्त्व अध्यात्मतत्त्वे तस्य सर्वे पतन्ती निर्मलमतीमतं स्वभावमभिनं मानसं च बहिःप्रकाशने उदयं प्रीतिपूर्वकं च । भवति चात्र श्लोक—

अनिमिषेति—अनिमिषा देवाः तेषा वन नन्दन तत्र विसर्पिण प्रसरन्त ते च ते कर्पूरोद्भिदाना कर्पूरवृक्षाण गर्भत सम्भवाना परागा रजासि तैं पाण्डुरित शुभ्रीकृत पिण्डस्य देहस्य परिकरोऽवयवसमूहो यस्य तम् पुन कथभूत तम् । अचिरेति—अचिरा सूक्ष्मा या गोरोचना गोपित्तमणि तस्या भङ्गः मर्दन तस्माज्जातो य राग कान्ति, तद्वत् पिङ्गल विशङ्क तत् अम्बकम् नेत्र तदेव भालसरसो ललाटसरोवरस्य स्वर्णसरोजाक हेमकमलवृन्द यस्य तम् । पुन कथंभूत तम् । अवालेति—अवालानि महान्ति तानि कपालानि नृकरोटय ते दलकलापा दलसमूहा~त एवं आलवालवलयानि तत्र विलसन्त मौलय शिरासि तेषा मूलाना व्यतिकरो मिश्र यस्य तम् । पुन कथभूत तम् । अतिविकटेति—अतिविकटानाम् अतिविस्तीर्णाना जटानाम् अन्योन्य सलग्नकेशाना जूटा समूहास्तेषा कोटरेषु गर्तासु पर्यटन्ती प्रवहन्ती चासौ गगनाटनतटिनी गगनाटना देवास्ते तटिनी गङ्गानदीत्यर्थ, तस्या तरङ्गा वीचय त एव करा हस्तास्तेषा केलि क्रीडा तस्या कुतूहलि आश्चर्यविषयीभूत बालप्रालेयाकर बालचन्द्रो यस्य तम् । पुन कथभूत तम् । आभरणेति—आभरणा भूषणानि तेषा भङ्गी रचना तया सर्दर्मिता ग्रथिता ये अनर्भका अशिशव महान्त इत्यर्थ भुजङ्गा सर्पा ते भोगा शरीराणि तेषु सगतानि खचितानि च तानि माणिक्यानि च पद्मरागरत्नानि तेषा विरोकानि तेजा तेषा निकर समूह तस्य अतिशयस्तेन शाराणि शबलानि च तानि शार्दूलाजिनानि व्याघ्रचर्माणि तैर्विराजमा शोभमानस्तम् । पुन कथभूत तम् । उड्डमरेति—उड्डमर श्रेष्ठ यत् डमरुक वाद्यविशेष (महादेवस नर्तनसमये तेन वाद्यमानो वाद्यविशेष) अजकाव नाम धनु , कृपाणम् असि , परशु परश्वध , त्रिशूलखट्वाङ्ग अस्त्रविशेषौ, एते आदौ येषा तेषा सग सयोग तेन सकटा व्याप्ता ये सकोटा हस्ता तेषा कोटिविस्ता अग्रविस्तार यस्य तम् । पुन कथम्भूत तम् । स्तम्बेरमेति—स्तम्बेरमो हस्ती तन्नामकोऽसुर गजास इति तस्य वर्मणस्तनुत्रात् द्रवत् गलत् यद्रुधिर रक्त तेन दुर्दिनीकृत वृष्टिप्लुत नर्तावनीप्रतान नृत्यभूमिपरिस यत्र तम् । अनलोद्भव-निकुम्भ-कुम्भोदर-हेरम्ब-भिङ्गिरिटघादयो ये पारिषद परिषदि साधव पारिषद सभासद प्रमथादय तेषा परिषत् सभा तया परिकल्प्यमानम् बलिविधान उपहारविधि यस्य तम् । पु कथभूतम्—अहिर्बुध्नेति—अहिर्बुध्नस्य शिवस्य अवसरो अवतरण तस्य निधान स्थानम् आकारम् अनुकृ स विद्याधर समस्तमपि नगर क्षोभयामास ।-

[पृष्ठ ६९] सापि स्याद्वादसरस्वती एव सुरभिर्धेनु तस्या सभावने आदरकरणे वल्लवीव गोपी वरुणमहीशमहादेवी वरुणनृपालस्य कृताभिषेका राज्ञी इमा जनश्रुति लोकोक्ति कुतश्चित् पश्चिमप्रतोल सृतात् पश्चिमरथ्याया निर्गतात् विपश्चित विदुष निश्चित्य निर्णीय 'निशम्यन्ते श्रूयन्ते खलु प्रवचने त प्रत्यवायवार्ताभद्रा तपोविघ्नस्य वार्तया अभद्रा अकल्याणयुक्ता रुद्रा एकादश ते पुन संप्रति स्वकीयाशु कर्मणा विपाकात् उदयात् कालिन्दीसोदरोदरगर्तवर्तिन कालिन्दी यमुना तस्या सोदरो यम तस्य उ जठर तदेव गर्तम् अवटः बिल नद्विवर्तिन सजाता । तस्मात् अयम् अपर एव कश्चित् अन्य एव नरेन्द्रविद्याविन दाविदग्धहृदयमर्दी इन्द्रजालिकविद्याचातुर्येण अविदग्धा मुग्धास्तेषा हृदयव्यामोहक कपर्दी महादेव च प्रपद्य ज्ञात्वा नि सदिग्धबोधा निरारेकज्ञाना समासिष्ट सम्यक्तया स्वगृह एवोपविष्टा । पुन स्वापतेये दिशि स्वापतेय धन तस्य ईश स्वामी कुबेर तस्य दिशि दिशायाम् उत्तरस्या दिशायामित्यर्थ । विश्वम्भरा लादूर्ध्वं समवसरण विश्वम्भराया भूमेस्तलादूर्ध्वम् उपरि अयोमुखासनदशसहस्रार्धावकृष्टम्, अय लोह अग्रे येषा ते अयोमुखा बाणा तेषाम् आसनानि धनूषि तेषा दशसहस्र तस्य अर्ध पञ्चसहस्र धनूषि तावतान्त दूरनभसि स्थितम्, एकेन्द्रनीलशिलावर्तुलाधिष्ठानोत्कृष्टम् एका अखण्डा चासौ इन्द्रनीलमणिशिला तया निर्मि यत् वर्तुल वृत्तम् अधिष्ठानम् आधार तेन उत्कृष्टम् उत्तमम्, पुन कथभूतम् । अखिलागतिगर्तोत्तर मार्गैरिव अखिलाश्च ता गतय देवमानवतिर्यङ्नारकाश्चतस्रो गतयस्ता एव गर्तास्तास्य उत्तरणमार्गै उत्थानमार्गैरिव सोपानसर्गै आरोहणरचनाभि चतुर्दिशम् चतुर्षु दिक्षु यथा स्यात्तथा उपाहितावतार गृहीत वतारम्, पुन कथभूतम् । अनर्घेति—अनर्घा विघ्ना तन्नाशका दूषणा इव परमव इव ये मणय रत्नानि ~~ल्या प्रधान्या ये उज्ज्वला नवप्राकारास्तेषामन्त आचरिता निर्मिता स्पष्टा अष्टविधा अष्टप्रक

विधि चन्द्रप्रभ क्षुल्लक विष्णुरूपं समारेभे) पुन कीदृशविधि कीदृशो मम तस्य किंक कथितवान् तस्मात्, सर्पोऽशयवेषं विष्णुवेषं कथंभूतम्। पवनाशनेति—पवनाशनानां सर्पाणाम् ईश्वरः शेष उपराजस्तस्य शरीरं तदेव शयनं शय्या तत् शायितम् सवक्रमितम् अपगतं शरीरं (विष्णो) यस्य तम्। ततस्तत्र प्रकाम् अतिशयेन प्रसरन्ती याऽसौ तदङ्गस्य शेषाङ्गस्य उत्तरङ्गा उच्छलल्लहरीवद् या कान्ति प्रभा तस्या प्रवाह स्तेन परिकल्पितम् अमृताम्बुधेः सुधासागरस्य सन्निधानं समीपभावो येन तम्। पुन कथंभूतमनोपमम्। उल्लोलेति—उल्लोलेन चपलेन उल्लसन्त शोभमाना ये फणामणीनां मरीचय किरणा तेषां निचय समूह स एव सिचय वस्त्रं तेन मापरितो विहितो निरालम्बे अम्बरे आकाशे वितानभाव उल्लोचभावो यत्र तम्। अमर्त्येति—अमर्त्या देवास्तेषाम् उद्यानं वनं नन्दनवनमित्यर्थ तत्र यानि प्रसूनानि पुष्पाणि मञ्जरीजालं च अभिनवनिर्गता आयता सुकुमारा सकुसुमा अकुसुमा च मञ्जरी कथ्यते मञ्जरीणां जालं तेन जालेन घटिता प्रताना विस्तीर्णा या वनमाला आजानुलम्बिनी माला सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वला। मध्ये स्थूलकदम्बाढ्या वनमालेति कीर्तिता' तस्या निर्गतमकरन्देन मधुना मण्डित कौस्तुभस्य रत्नविशेषस्य प्रभावो यस्य तम्। पुन कथंभूतम्। असितेति—असितानि कृष्णकान्तीनि सितानि धवलद्युतीनि यानि रत्नानि तन्निर्मितदण्डस्योपरि तेन संघा- टितौ शोभमानौ च तौ पक्षौ पार्श्वौ तौ एव विभासितौ यौ पक्षौ शुक्लकृष्णपक्षाविव वा ताभ्याम् आक्षेपो महत्त्वं यस्य तम्। पुन कथंभूतम्। अनेकेति—अनेकानि च तानि माणिक्यानि च पद्मरागरत्नानि तेषाम् आधिक्यं विपुलता तेन आघटिता रचितपताकौ किरीटस्य तस्य कोटयो अग्राणि तेषु विन्यस्ता स्थापिता अस्तोका विपुला स्तबका पुष्पगुच्छा पारिजातप्रसवा पारिजातकुसुमानि तेषां परिमलस्य सुरभिगन्धस्य घनमनोहरस्य पानपरिचयेन पटुका मुग्धा चञ्चला वा चञ्चरीका भ्रमरास्तेषां वर्ग समूह रम्यमाणोऽमरोऽम्बरो इन्दीवराणा नीलकमलानां शेखरा शिखाविन्यस्तमालास्तेषां कलापा वर्ग यस्य तम्। पुन कथंभूतम् गम्भीरेति—गम्भीरा निम्ना या नाभी तुच्छकूपी सा एव नद तस्मान्निर्गतो य कमलो दीर्घनालस्तस्य यत् नलिनं कमलं तदेव निलयं गृह तत्र निलयेन स्थितो योऽसौ हिरण्यगर्भ ब्रह्मा तेन संवाह्यमानानाम् उपमानानाम् नाम्ना उद्देशेन कृतो यतो इरस्तम्। पुन कथंभूतम्। आरक्तक इन्द्र कमलिसुता क्षीरोदतनया लक्ष्मीश्च ताभ्यां संवाह्यमानौ सेव्यमानौ क्रमौ चरणौ कमले इव यस्य तम्। पुन कथंभूतम्।

[पृष्ठ ९८] अन इति—अनल्पतरं सपदचक्रम् सुदर्शनचक्रमित्यर्थ शङ्ख पाञ्चजन्य शार्ङ्ग चाप नन्दक खड्ग तै संकीर्णा व्याप्ता करा यस्य तम्। पुन कथंभूतम्। असुरेति—असुराणां दैत्यानां वृन्दं समूह तस्य बन्दीकृता कारागारनिक्षिप्ता या सुन्दर्य अङ्गना ताभिः संपाद्यमाना क्रियमाणाश्चामरैः उपचा रास्तेषां व्यतिकरो मिश्रणं यस्य तम्। पुन कथंभूतं तम्। अरुणेति—अरुणस्य सूर्यसारथेः अनुजो अनुभ्राता गरुड तेन विनीयमाना: क्रियमाणा सेवायता आदरकरणार्थं समागता सुरा देवाः तेषां समाजो यस्य तम्। तथाभूतम् अमोघजवेषं निभिन्न विष्णुवेषं गृहीत्वेत्यर्थ.। स विद्याधरचर शीघ्रगमनात् पूर्वं विद्याधरत्वं त्यक्त्वा विद्याधरचर अपूर्वं चरद् विमानान्। समस्तमपि नगरं क्षोभयामास। तानि जिनसमयस्य जिनागमस्य रहस्यस्य गूढतत्त्वस्य अवगमाय निश्चयस्तस्मिन् सरस्वतीवति सरस्वती रेवती क्रमपरम्परया नियतन्तीं वार्ताम् उपश्रुत्य सन्ति एक अर्धचक्रवर्तिना नवनारायणा नवप्रतिनारायणास्तन्नामधेयाया नव ता स्वामिनः। ते तु साम्प्रतं न विद्यन्ते। अयं पुन अपर एव कश्चिदिन्द्रजालिक इत्याशाम् इन्द्रियाणां वाञ्छिक आकारः मायावर्म पूर्वांच योऽपि लोकानां विप्रलम्भनाय बकध्यानम् अवतीर्ण। इति निश्चित्य विनिश्चितत्वं अविचलितचित्ता दृढचित्ता गमनाय न गमनम्। पुन पाखण्डिकेति नाना विमतीनि पाखण्डिन् वचन तत्र विधि धर्मक्रियादिर्न धर्मक्रियाविभ्रमोऽपि न। शिशिरेति—शिशिर शीतल स चासौ गिरिश्च शिशिरगिरि हिमगिरिरिति यावत् तस्य शिखरं तद्वत् गौर उज्ज्वल स चासौ कायस्य च भागो तावद्वत्तः शरीरस्य तत् आभिनं शरीरस्य (महादेवस्य देहस्य) आभोग विस्तारो यस्य तम्। पुन कथंभूतं महादेवम्। अभ्यगिनि—अगम्यमाना अनुसरतां अर्धाङ्गनि सति इति अगम्यमाना महादेवाङ्गगौरि निशाचिरस्यानुभूता वामो वनमाला हिमालयपुत्री पार्वती यस्या निवसित वाहर स चासौ दारु पुष्प तेन गुम्फितमस्तक तिलक यत्र पुष्पमाला यस्य तम्। पुन कथंभूतम्।

अनिमिषेति—अनिमिषा देवाः तेषा वन नन्दन तत्र विसर्पिण प्रसरन्त ते च ते कर्पूरोद्भिदाना कर्पूरवृक्षाणा गर्भत सम्भवाना परागा रजासि तै पाण्डुरित शुभ्रीकृत पिण्डस्य देहस्य परिकरोऽवयवसमूहो यस्य तम् । पुन कथभूत तम् । अचिरेति—अचिरा सूक्ष्मा या गोरोचना गोपित्तमणि तस्या भङ्ग मर्दन तस्माज्जातो य राग कान्ति. तद्वत् पिङ्गल पिशङ्ग तत् अम्बकम् नेत्र तदेव भालसरसो ललाटसरोवरस्य स्वर्णसरोजाकर हेमकमलवृन्द यस्य तम् । पुन कथभूत तम् । अबालेति—अबालानि महान्ति तानि कपालानि नृकरोटय तेषा दलकलापा दलसमूहा ‍त एव आलवालवलयानि तत्र विलसन्त मौलय शिरासि तेषा मूलाना व्यतिकरो मिश्रण यस्य तम् । पुन कथभूत तम् । अतिविकटेति—अतिविकटानाम् अतिविस्तीर्णाना जटानाम् अन्योन्य-सलग्नकेशाना जूटा समूहास्तेषा कोटरेषु गर्तासु पर्यटन्ती प्रवहन्ती चासौ गगनाटनतटिनी गगनाटना देवास्तेषा तटिनी गङ्गानदीत्यर्थ, तस्या तरङ्गा वीचय त एव करा हस्तास्तेषा केलि क्रीडा तस्या कुतूहलित आश्चर्यविषयीभूत वालप्रालेयाकर वालचन्द्रो यस्य तम् । पुन कथभूत तम् । आभरणेति—आभरणानि भूषणानि तेषा भङ्गी रचना तया सर्दभिता ग्रथिता ये अनर्भका अशिशव महान्त इत्यर्थ भुजङ्गा सर्पा तेषा भोगा शरीराणि तेषु नगतानि खचितानि च तानि माणिक्यानि च पद्मरागरत्नानि तेषा विरोकानि तेजासि तेषा निकर समूह तस्य अतिशयस्तेन शाराणि शवलानि च तानि शार्दूलाजिनानि व्याघ्रचर्माणि तैर्विराजमान शोभमानस्तम् । पुन कथभूत तम् । उड्डमरेति—उड्डमर श्रेष्ठ यत् डमरुक वाद्यविशेष (महादेवस्य नर्तनसमये तेन वाद्यमानो वाद्यविशेष) अजकाव नाम धनु, कृपाणम् असि, परशु परश्वध, त्रिशूलखट्वाङ्गौ अस्त्रविशेषौ, एते आदौ येषा तेषा सग सयोग तेन सकटा व्याप्ता ये सकोटा हस्ता तेषा कोटिविस्तार अग्रविस्तार यस्य तम् । पुन कथम्भूत तम् । स्तम्बेरमेति—स्तम्बेरमो हस्ती तन्नामकोऽसुर गजासुर इति तस्य वमणस्तनुत्रात् द्रवत् गलत् यद्रुधिर रक्त तेन दुर्दिनीकृत वृष्टिप्लुत नर्तावनीप्रतान नृत्यभूमिपरिसरो यत्र तम् । अनलोद्भव-निकुम्भ-कुम्भोदर-हेरम्ब-भिङ्गिरिटयादयो ये पारिषद परिषदि साधव पारिषद्या सभासद प्रमथादय तेषा परिषत् सभा तया परिकल्प्यमानम् वलिविधान उपहारविधि यस्य तम् । पुनः कथभूतम्—अहिर्बुध्नेति—अहिर्बुध्नस्य शिवस्य अवसरो अवतरण तस्य निवान स्थानम् आकारम् अनुकृत्य स विद्याधर समस्तमपि नगर क्षोभयामास ।

[पृष्ठ ६९] सापि स्याद्वादसरस्वती एव सुरभिर्धेनु तस्या सभावने आदरकरणे वल्लवीव गोपीव वरुणमहीशमहादेवी वरुणनृपालस्य कृताभिषेका राज्ञी इमा जनश्रुति लोकोक्ति कुतश्चित् पश्चिमप्रतोली-सृतात् पश्चिमरथ्याया निर्गतात् विपश्चित विदुष निश्चित्य निर्णीय 'निशम्यन्ते श्रूयन्ते खलु प्रवचने तप-प्रत्यवायवार्ताभद्रा तपोविघ्नस्य वार्तया अभद्रा अकल्याणयुक्ता रुद्रा एकादश ते पुन सप्रति स्वकीयाशुभ-कर्मणा विपाकात् उदयात् कालिन्दीसोदरोदरगर्तवर्तिन कालिन्दी यमुना तस्या सोदरो यम तस्य उदर जठर तदेव गर्तम् अवटः बिल तद्विवर्तिन सजाता । तस्मात् अयम् अपर एव कश्चित् अन्य एव नरेन्द्रविद्याविनो-दाविदग्धहृदयमर्दी इन्द्रजालिकविद्याचातुर्येण अविदग्धा मुग्धास्तेषा हृदयव्यामोहक कपर्दी महादेव इति च प्रपद्य ज्ञात्वा नि सदिग्धबोधा निरारेकज्ञाना ममासिष्ट सम्यक्तया स्वगृह एवोपविष्टा । पुन स्वापतेयेश-दिशि स्वापतेय धन तस्य ईश स्वामी कुबेर तस्य दिशि दिशायाम् उत्तरस्या दिशायामित्यर्थ । विश्वम्भरात-लादूर्ध्वं समवसरण विश्वम्भराया भूमेस्तलादूर्ध्वम् उपरि अयोमुखासनदशसहस्रार्धविकृष्टम्, अय लोह मुखे अग्रे येषा ते अयोमुखा बाणा तेषाम् आसनानि धनूषि तेषा दशसहस्र तस्य अध पञ्चसहस्र धनूषि तावतान्तरेण दूरनभसि स्थितम्, एकेन्द्रनीलशिलावर्तुलाधिष्ठानोत्कृष्टम् एका अखण्डा चासौ इन्द्रनीलमणिशिला तया निर्मितम् यत् वर्तुल वृत्तम् अधिष्ठानम् आधार तेन उत्कृष्टम् उत्तमम्, पुन कथभूतम् । अखिलागतिगर्तोत्तरण-मार्गैरिव अखिलाश्च ता गतय देवमानवतिर्यङ्नारकाश्चतस्रो गतयस्ता एव गर्तास्तेभ्य उत्तरणमार्गैरिव उत्थानमार्गैरिव सोपानसर्गै आरोहणरचनाभि चतुर्दिशम् चतुर्षु दिक्षु यथा स्यात्तथा उपाहितावतार गृहीता-वतारम्, पुन कथभूतम् । अनर्घेति—अनर्घा विघ्ना तन्नाशका दूषणा इव परघाव इव ये मणय रत्नानि तैः श्लाघ्या प्रशस्या ये उन्नता नवप्राकारास्तेषामन्त आचरिता निर्मिता स्पष्टा अष्टविधा अष्टप्रकारा

विधि चक्रप्रभः सुस्पष्टं विष्णुरूपं बभारेति) पुनः कीदृशमिति कीदृशो मम तस्य विक दर्शितपाया तस्याम्, मयोक्तवत्वं विष्णुरूपं कथंभूतम् । पवनाशनेति—पवनाशनानां सर्पाणाम् ईश्वरः शेषः स एव तल्पस्तस्य शरीरं तदेव शयनं शय्या तत् आश्रितम् अवलम्बितम् अपघनं शरीरं (विष्णोः) यस्य तम् । इतस्ततः प्रसरत् अतिशयेन प्रसरन्ती चासौ तदङ्गस्य शेषाङ्गस्य उत्तरङ्गा उत्पन्नलहरीकत् या कान्तिः प्रभा तस्याः प्रवाह स्तेन परिकल्पितम् अमृताम्बुधेः सुधासागरस्य सन्निधानं समीपभावो येन तम् । पुनः कथंभूतमधोक्षजम् । उत्फेनेति—उत्फेनेन प्रचुरेण सल्लसन्त शोभमाना ये फणामणीनां मरीचयः किरणाः तेषां निचयः समूह स एव सिचयः वस्त्रं तेन आचरितो विहितो निरालम्बे अम्बरे आकाशे वितानभावः उल्लोचभावो येन तम् । अमर्त्येति—अमर्त्या देवास्तेषाम् उद्यानं वनं नन्दनवनमित्यर्थः तत्र यानि प्रसूनानि पुष्पाणि मन्दारादीनां च अभिनवनिर्मिता आयता सुकुमारा सकुसुमा अकुसुमा च मञ्जरी कथ्यते मञ्जरीणां चार्यं तेन चापेन वल्लिम प्रदामा विस्तीर्णा या वनमाला आजानुलम्बिनी माला सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वला । मध्ये स्थूलकदम्बाढ्या वनमालेति कीर्तिता' तस्या निष्यन्दमकरन्देन मधुना मण्डित कौस्तुभस्य रत्नविशेषस्य प्रभाभा यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् । असितेति—असितानि कृष्णकान्तीनि सितानि धवलद्युतीनि यानि रत्नानि तन्निर्मितकङ्कणमणिभिः संभा- वितौ शोभमानौ च तौ पक्षौ पार्श्वौ तौ एव विभावितौ यौ पक्षौ पुष्पकुड्मलप्रभाविव वा ताभ्याम् आश्लेषो यस्य यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् । अनेकेति—अनेकानि च तानि माणिक्यानि च पद्मरागरत्नानि तेषाम् आविर्भ विपुलता तेन आचरितो रचितप्रकाशो किरीटस्तस्य कोटयो अग्राणि तत्र विन्यस्ता स्थापिता अस्तोका विपुला स्तबका गुच्छरूपा पारिजातप्रसवाः पारिजातकुसुमानि तेषां परिमलस्य सुरभिगन्धस्य अतिमनोहरस्य पानपरिचयेन पटुना सुभगा चञ्चला वा चञ्चरीका भ्रमरास्तेषां चये समूहे रज्यमानोऽमरोऽस्मो इन्दीवराभा नीलकमलाभा येषां शिखाविम्बस्तम्भस्तथा कलापो वर्णो यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् गम्भीरेति—गम्भीर निम्ना या नाभी तुन्दकूपी सा एव गर्तस्तस्मान्निर्गतो यः शयालो दीर्घनालस्तस्य यत् नलिनं कमलं तदेव विकर्ष गृहं तत्र निलीनः स्थितो योऽसौ हिरण्यगर्भः ब्रह्मा तेन संभाव्यमानानाम् उच्यमानानां नाम्नां सहस्रेण कर्णौ मनो हरस्तम् । पुनः कथंभूतम् । आजन्मत इन्द्र अधुनिसुता क्षीरोदतनया अमीयत ताभ्यां सदाश्लिष्यमाणौ सेव्यमानौ कमलौ चरणौ कमले इव यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् ।

[पृष्ठ ६८] चन इति—अतिभास्वरं सकटचक्रम् सुदर्शनचक्रमित्यर्थः शङ्खः पाञ्चजन्यः शार्ङ्गं चाप नन्दकः खड्गः तैः संकीर्णा व्याप्ता कराः यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् । असुरेति—असुराणां दैत्यानां वर्ग समूह तस्य बन्दीकृता कारागारनिक्षिप्ता या सुन्दरी अङ्गना ताभिः संपाद्यमाना क्रियमाणाश्चामरैस्तथा वार्तैषा व्यतिकरो मिश्रणं यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् । अरुणेति—अरुणस्य सूर्यसारथेः अनुजः लघुभ्राता गरुडः तेन विधीयमानाः सेव्यमानाः सेवकता आदरव्यवहारार्थं समागताः सुराः देवाः तैः समाजो यस्य तम् । तथाभूतम् अधोक्षजस्य विधिमित्य विष्णुरूपं गृहीतोत्सर्पः । स विद्याधरचरः दीक्षाग्रहणात् पूर्वं विद्याधरस्य राजा: विद्याधरचरः भूतपूर्वं चरट् विद्याधरात् । समस्तमपि नगरं क्षोभमापाद । यानि जिनधर्मस्य जिनागमस्य रहस्यस्य भूततत्त्वस्य अवसायो निश्चयस्तस्मिन् भारस्वतीमिति सरस्वती देवी कर्णपरम्परया जिवदन्तो वार्ता सयमुक्ता सन्ति दश चक्रवर्तिनो नवनारायणा नवकोटीश्वरास्तन्मानमोचयामा नवामा स्वामिनः । ते तु सम्प्रति न विद्यन्ते । अयं पुनः अपर एव नवितनिर्वाचिक इत्यादाम् इन्द्रियाणां वाचिक आचारकः नामावम कुर्वाणः कोऽपि लोकानां विप्रलम्भनाम अत्यद्भुतम् अवतीर्णः । इति निश्चित्य जिनधर्मस्य अविचलितचित्ता वृद्धचिता समाधीम् समभवत् । पुनः पापभूदिति पापं विनष्टमिति वाक्यम् बदत तस्य किति परिचयमरिति स परिचयमविज्ञातोऽस्मि । शिशिरेति—शिशिरं शीतलं च आसौ शिशिरं शिशिरगिरिः हिमगिरिरिति आय तस्य निर्झरः जलप्रपातः यस्य कायस्य स चासौ धवलः अङ्गोदरः तत् आश्रितः शरीरस्य (महादेवस्य देहस्य) आभोग विस्तारो यस्य तम् । पुनः कथंभूतं महादेवम् । अन्वगिति—अन्वगनूना अनु पश्चात् अन्वयति तरति इति अन्वग्भूता महादेवाद् पश्चादपि निवासितस्तारकत्यवसूता चासौ नगराजता हिमालयपुत्री पार्वती यस्याः निवरीत पीवरः स चासौ स्तन कूट तेन गुल्मितकतया स्पर्श पृष्ठभागो यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् ।

अनिमिषेति—अनिमिषा. देवाः तेषा वन नन्दन तत्र विसर्पिण प्रसरन्त. ते च ते कर्पूरोद्भिदाना कर्पूरवृक्षाणा गर्भत सम्भवाना परागा रजासि तै पाण्डुरित शुभ्रीकृत पिण्डस्य देहस्य परिकरोऽवयवसमूहो यस्य तम्। पुन कथभूत तम्। अचिरेति—अचिरा सूक्ष्मा या गोरोचना गोपित्तमणि तस्या भङ्ग. मर्दन तस्माज्जातो य राग कान्ति. तद्वत् पिङ्गल पिशङ्ग तत् अम्बकम् नेत्र तदेव भालसरसो ललाटसरोवरस्य स्वर्णसरोजाकर हेमकमलवृन्द यस्य तम्। पुन कथभूत तम्। अवालेति—अवालानि महान्ति तानि कपालानि नृकरोटय तेषा दलकलापा दलसमूहा त एव आलवालवलयानि तत्र विलसन्त मौलय शिरासि तेषा मूलाना व्यतिकरो मिश्रण यस्य तम्। पुन कथभूत तम्। अतिविकटेति—अतिविकटानाम् अतिविस्तीर्णाना जटानाम् अन्योन्य-सलग्नकेशाना जूटा समूहास्तेषा कोटरेषु गर्तासु पर्यटन्ती प्रवहन्ती चासौ गगनाटनतटिनी गगनाटना देवास्तेषा तटिनी गङ्गानदीत्यर्थ, तस्या तरङ्गा वीचय त एव करा हस्तास्तेषा केलि क्रीडा तस्या कुतूहलित आश्चर्यविषयीभूत बालप्रालेयाकर बालचन्द्रो यस्य तम्। पुन कथभूत तम्। आभरणेति—आभरणानि भूषणानि तेषा भङ्गी रचना तया सदभिता उचिता ये अनर्भका अशिशव महान्त इत्यर्थ भुजङ्गा सर्पा तेषा भोगा शरीराणि तेषु सगतानि खचितानि च तानि माणिक्यानि च पद्मरागरत्नानि तेषा विरोकानि तेजासि तेषा निकर समूह तस्य अतिशयस्तेन शाराणि शबलानि च तानि शार्दूलाजिनानि व्याघ्रचर्माणि तैर्विराजमान शोभमानस्तम्। पुन कथभूत तम्। उड्डमरेति—उड्डमर श्रेष्ठ यत् डमरुक वाद्यविशेष (महादेवस्य नर्तनसमये तेन वाद्यमानो वाद्यविशेष) अजकाव नाम धनु, कृपाणम् असि, परशु परश्वध, त्रिशूलखट्वाङ्गौ अस्त्रविशेषौ, एते आदौ येषा तेषा सग सयोग तेन सकटा व्याप्ता ये सकोटा हस्ता तेषा कोटिविस्तार अग्रविस्तार यस्य तम्। पुन कथम्भूत तम्। स्तम्बेरमेति—स्तम्बेरमो हस्ती तन्नामकोऽसुर गजासुर इति तस्य वर्मणस्तनुत्रात् द्रवत् गलत् यद्रुधिर रक्त तेन दुर्दिनीकृत वृष्टिप्लुत नर्तावनीप्रतान नृत्यभूमिपरिसरो यत्र तम्। अनलोद्भव-निकुम्भ-कुम्भोदर-हेरम्ब-भिङ्गिरिटयादयो ये पारिषद परिषदि साधव पारिषद्या सभासद प्रमथादय तेषा परिषत् सभा तया परिकल्प्यमानम् बलिविधान उपहारविधि यस्य तम्। पुनः कथभूतम्—अहिर्बुध्नेति—अहिर्बुध्नस्य शिवस्य अवसरो अवतरण तस्य निधान स्थानम् आकारम् अनुकृत्य स विद्याधर समस्तमपि नगर क्षोभयामास।-

[पृष्ठ ६९] सापि स्याद्वादसरस्वती एव सुरभिर्धेनु तस्या सभावने आदरकरणे वल्लवीव गोपीव वरुणमहीशमहादेवी वरुणनृपालस्य कृताभिषेका राज्ञी इमा जनश्रुति लोकोक्ति कुतश्चित् पश्चिमप्रतोली-सृतात् पश्चिमरथ्याया निर्गतात् विपश्चित विदुष' निश्चित्य निर्णीय 'निशाम्यन्ते श्रूयन्ते खलु प्रवचने तप-प्रत्यवायवार्ताभद्रा तपोविघ्नस्य वार्तया अभद्रा अकल्याणयुक्ता रुद्रा एकादश ते पुन सप्रति स्वकीयाशुभ-कर्मणा विपाकात् उदयात् कालिन्दीसोदरोदरगर्तवर्तिन कालिन्दी यमुना तस्या सोदरो यम तस्य उदर जठर तदेव गर्तम् अवटः बिल तद्विवर्तिन सजाता। तस्मात् अयम् अपर एव कश्चित् अन्य एव नरेन्द्रविद्याविनो-दाविदग्धहृदयमर्दी इन्द्रजालिकविद्याचातुर्येण अविदग्धा मुग्धास्तेषा हृदयव्यामोहक कपर्दी महादेव इति च प्रपद्य ज्ञात्वा नि सदिग्धबोधा निरारेकज्ञाना समासिष्ट सम्यक्तया स्वगृह एवोपविष्टा। पुन स्वापतेयेश-दिशि स्वापतेय धन तस्य ईश स्वामी कुबेर तस्य दिशि दिशायाम् उत्तरस्या दिशायामित्यर्थ। विश्वम्भरात-लादूर्ध्वं समवसरण विश्वम्भराया भूमेस्तलादूर्ध्वम् उपरि अयोमुखासनदशसहस्रार्धविकृष्टम्, अय लोह मुखे अग्रे येषां ते अयोमुखा बाणा तेषाम् आसनानि धनूषि तेषा दशसहस्र तस्य अर्ध पञ्चसहस्र धनूषि तावतान्तरेण दूरनभसि स्थितम्, एकेन्द्रनीलशिलावर्तुलाधिष्ठानोत्कृष्टम् एका अखण्डा चासौ इन्द्रनीलमणिशिला तया निर्मितम् यत् वर्तुल वृत्तम् अधिष्ठानम् आधार तेन उत्कृष्टम् उत्तमम्, पुन कथभूतम्। अखिलागतिगर्तोत्तरण-मार्गैरिव अखिलाश्च ता गतय देवमानवतिर्यङ्नारकाश्चतस्रो गतयस्ता एव गर्तास्तास्य उत्तरणमार्गैरिव वरस्थानमार्गैरिव सोपानसर्गै आरोहणरचनाभि चतुर्दिशम् चतुर्षु दिक्षु यथा स्यात्तथा उपाहितावतार गृहीता-वतारम्, पुन कथभूतम्। अनर्घेति—अनर्घा विघ्ना तन्नाशका द्रुघणा इव परशव इव ये मणय रत्नानि तैः श्लाघ्या प्रशस्या ये उन्नता नवप्राकारास्तेषामन्त आचरिता निर्मिता स्पष्टा अष्टविधा अष्टप्रकारा

समुन्नता भूमयो यत्र पुनः कथंभूतम् । अनयपातिः—अनर्घ्याणि अमर्यादिकानि निर्मले रचना यासां तानि माणिक्यानि तैः मूर्तिमती घटिता या त्रिमेखला कटनीमयं तस्य अलंकाररूपा च कण्ठीरवा सिंहाः तैर्युक्तं पत्रीटमासनम् तत्र प्रतिष्ठा उपवेशनं यस्य स चासौ परमेष्ठी च तत्प्रतिमा आकृतिर्यस्य तत् पुनः कथंभूतम् । अल्पपत्र इति—अल्पपत्रादिमत्सु अमार्गाला या द्वादशसभा तासाम् अन्तराले मध्ये विलसन्ति शोभमाना निलिम्पाना देवानाम् आमता आदृतानि अमालानि अशोकवृक्षः प्रमुखानि मुख्यानि प्रातिहार्याणि सुर पुष्पवृष्टिदिव्यध्वनिचामरादीनि अष्टौ तैः शोभितम् । पुनः कथंभूतम् । इषदिति—ईषत् स्तोकं उन्मिषन्ति स्फुरन्ति विकसन्ति यानि अनिमिषाणां देवानाम् उद्यानस्य नन्दनवनस्य प्रसूनानि पुष्पाणि तेषाम् उपहारः अर्पणम् तस्य हरिचन्दनस्य तथामवकस्पष्टस्य आमोदोऽतिनिर्हारी गन्धः तेन सनाथा युक्ता या सम्पुटी तन्नाम्ना सभा तया सनाथ युक्तम् । पुनः कथंभूतम् । अनेकेति—अनेके मानस्तम्भाः जिनेन्द्रदर्शनाय समागतमन्दजनमानमद्रुत गमर्थो ये रत्नस्तम्भास्ते मानस्तम्भा उच्यन्ते तडागाः सरांसि तोरणानि वन्दनमालाः, स्तूपा ध्वजा पुत्तलिका पूरणा निपानानि सर्वनिलयस्तैर्निर्भरं भरितम् । पुनः कथंभूतम् । उरगेति—उरगा नागदेवा नरा मनुष्याः अनिमिषा देवाः तेषाम् नायका स्वामिनः तेषां अनीकानि सैन्यानि तैः आकीर्ण विहित स चासौ महामहोत्सवस्तस्य प्रसरः यत्र तत् । अमितः इति—मकरेन्द्रः प्रभृति आदौ येषां ते मकरेन्द्रप्रभृतयः तैः च ते आरामा च अनाभाराश्च तैः प्रभासिता याता प्रमुखतनाय समग्रं तस्य अविरतम् आधार तथाभूतं समवसरणं विरचय स विद्यामर समस्तमपि नगरं शोभयामास ।

[पृष्ठ ७०]—भाति जिनसमवसरणैरावणी जिनपास्त्रोदेशगजा ऐरावतमिव रैवतोपरी इव शतामोदर्नं अनारम्भस्य अमूर्नि दूरात् अति जैनानामागमसर्वेशरिता जिताम्भ नामु अनुदितानिरेव तीर्थंकरा ते भापना शिववन्धा सिद्धाभिषा सौधस्य प्रासादस्य मध्ये विहारः क्रीडा येषां ते तस्मात् एव भारः एव कार्येण मायाचारी तस्य जिनदत्तस्य व्यवहारो । इति भावनाय विनिश्चित्य अनिवर्त्यमतिः अनायमार्गं प्रवति वृद्धि परि गत्वा आत्मघातमय स्वगृहे एव आत्मनो गृहे वा प्रशस्तिम् आचरितम् धर्मगर्भा यद्धं पूर्वं मा तस्मिन् मुनौ भावावर्त्ते प्रयाति । (पुनः स श्रावक मनिरीर्ष पूजा रैवती परीक्ष्यामुक्ताय [illegible] निश्चित्य तावत्स्वमन्यत्) पुनः स बहुदूरान्तरमितः बहुदूरा अस्तिवत्ता नन्दे मनिर्यस्य स दैवयन्त्यादि [illegible] [illegible] [illegible] तस्या स्वस्था आगमिनं मन अनुभवं निश्चयम् [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] क्रियति—लोकानाम् आचरणं बहुधा अनुमानं बोध्य गतोऽसि [illegible] तथाभूत [illegible] [illegible] [illegible] रत्नप्या [illegible] प्रविष्टः तथा स्वयमेव अनादिरपि प्रविष्टाहिमत्विपीन् कृत्वा अनतिक्रम्य प्रतिपन्नपद [illegible] तथापि विद्याधरान् कथंभूतम् । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तस्याः प्रथमात् इत्यादि—[illegible] अनेक नानाविध नामक्रम [illegible] [illegible] [illegible] औदार्य येन स [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] महामोदम् मनीतापाय देवनायकमध्ये । [illegible] [illegible] [illegible]—[illegible] [illegible] विद्याधरा तथा विनितानाम् [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

मा तदर्पितानि क्षुल्लकमुनेन श्रीमुनिगुप्तमुनिना दत्तानि आशीर्वचनान्यापादिता ग्राहितवती। भवति चात्र श्लोक —एषा रेवती कादम्बताक्ष्यगो-सिंहपीठाधिपतिषु पादम्बा हंसा, ताक्ष्यो गरुड, गौ बलीवर्द, सिंह प्रतीत तैर्युक्तानां पीठानाम् आसनानाम् अधिपतय स्वामिन क्रमेण ब्रह्माहरिहरजिनेन्द्रा तेषु आगतेष्वपि एषा रेवती मूढतावती मौढ्ययुक्ता नाभूत् न भवति स्म ॥१७३॥

इत्युपासकाध्ययने अमूढतापरिशुद्धो नामैकादश कल्प ॥११॥

१२. धर्मोपबृंहणार्हणो नाम द्वादशः कल्पः

[पृ० ७१] उपगूहेति—धार्मिकजनदोपसम्पनम् उपगूह, दर्शनात् चरणाद्वा चलता प्रत्यवस्थापन तत्र स्थितीकार उपगूहश्च स्थितीकारश्च उपगूहस्थितीकारौ। यथाशक्ति अज्ञानतिमिरम् अपसार्य जिनशासनमाहात्म्यप्रकटन यथाशक्ति प्रभावनम्। वात्सल्य च साधर्मिकान् प्रति निष्कपट यथायोग्यमादरकरणम्। एते गुणा सम्यक्त्वैश्वर्यवृद्धयै भवन्ति ॥१७४॥ तत्र—क्षान्त्येति—क्षान्त्या क्षमया क्रोधाभावेन, सत्येन प्राणिहितवचसा, शौचेन लोभाभावेन, मार्दवेन विनयेन मदाभावेन, आर्जवेन च अकपटभावेन, तपोभि सयमै दानैश्च समयबृंहण शासनवृद्धि कुर्यात् ॥१७५॥ सवित्रीवेति—माता यथा तनूजाना पुत्राणाम् अपराध निगूहेत् आच्छादयेत् तथा सधर्मसु समानधर्मवत्सु गृहिषु मुनिषु वा दैवात् प्रमादाचरणात् सम्पन्न प्राप्त अपराध दोष गुणसपदा निगूहेत् आच्छादयेत् ॥१७६॥ अशक्तस्येति—अशक्तस्य असमर्थस्य अपराधेन दोषेण धर्म मलिन दूषित भवेत् किम्। भेके मण्डूके मृते सति पयोधि समुद्र पूतिगन्धिता दुर्गन्धिता न हि याति न गच्छतीति। यस्तु जन जात दोष न गूहति, यस्तु धर्मम् न वृंहयेत् न वर्धयेत् तत्र जिनागमवहि स्थिते जिनशास्त्रबहिर्भूते जने। सम्यक्त्व सम्यग्दर्शन दुष्कर दुर्लभम् ॥१७७॥

[पृ० ७२] (उपगूहनाङ्गकथा) श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अत्र सम्यग्दर्शनस्य उपगूहनाङ्गे उपाख्यानं पूर्वमहापुरुषस्य प्रथितस्य चरित श्रूयताम्—सुराष्ट्रदेशेषु पाटलिपुत्रे कथभूते। मृगेक्षणेति—मृगस्येव ईक्षणे नयने यासा ता मृगेक्षणा हरिणनेत्रा युवतय तासा पक्ष्मभि सहितानि पक्ष्मलानि तानि च तानि मूलानि अग्राणि येषा तानि च अवलोकितानि कटाक्षा तै अपहसित तिरस्कृतम् अनङ्गास्त्राणा मदनवाणाना तन्त्रम् कार्यम् कामिपुरुषमनोवेधनम् यत्र [यशोध्वजस्य भूभुज सुवीरो नामसूनु पुत्र वीरपुरिपदमवादीदिति सबन्ध] कथभूतस्य यशोध्वजस्य राज्ञ। सुसीमेति—सुसीमाख्या या कामिनी राज्ञी तस्या मकरध्वजस्य इव मदनस्येव सुवीर पुत्रोऽभूत्। कथभूत स.। पराक्रमेति—पराक्रमेण निजशौर्येण अक्रमेण युगपत् आक्रान्ता वशीकृता सकला प्रवीरा महाभटा येन स पुन कथभूत नृपसूनु। अनासादितेति—विद्याभि वृद्धा विद्यावृद्धा अनासादित अलब्ध विद्यावृद्धसयोगात् समयत्वम् आगमाध्ययन तस्मात् अप्राप्तविद्यावृद्धजनसमागमशास्त्रत्वात्, विटेति—विटा कामुका विदूषका पीठमर्दा वैहासिका तै दूषित-मलिनचित्तत्वात्, प्रायेण बहुश परेति—परेषा द्रविण धनम् दारा स्त्रियश्च तस्य तासा चादान ग्रहणम् तत्र उदारा महती क्रिया यस्य तथाभूत स यशोध्वजसूनु सुवीर क्रीडार्थं क्रीडावने गत। कितवेति—कितवा वञ्चका किराता म्लेच्छा पश्यतोहरा पश्यन्त जनम् अनादृत्य हरन्तीति पश्यतोहराश्चौरा ते च ते वीरा भटास्तेषा परिषदम् सभाम् एवम् अवादीत् [यदवादीत् तदुच्यते]—अहो जना, विक्रमेति—विक्रम शौर्यम् स एव एक मुख्यो रस अस्ति येषा ते विक्रमैकरसिका शौर्यैककार्यकारिण, तेषु महासाहसिकेषु अतीव बलात्कारेण धनहरणादिकार्यकारिण तेषु भवत्सु मध्ये किं कोऽपि मम प्रार्थनेति—मम प्रार्थनाया याञ्चाया अतिथिरूपाया मनोरथस्य सारथि मम याचनाभिलाषपूरणप्रवीण इत्यर्थ किं कोऽपि अस्ति। य खलु पूर्वदेशस्य वेश वेश्याजनसमाश्रय तेन अवाप्त कीर्तन येन तस्मिन् तामलिप्तिनगरे पुण्येति—पुण्य सुकृतम्, पुरुषकार प्रयत्नस्ताभ्याम्, आत्मेति—आत्मसात्कृत स्वायत्तीकृत रत्नाकर मणिसमूह रत्नखनिर्वा येन तस्य जिनेन्द्रभक्तनाम्ना अवतारो यस्य वणिक्पते वैश्यस्वामिन, जिनसद्मनि जिनगृहे कथभूते। सप्ततलेति—

वसुन्धरा भूमयो यत्र पुनः कर्मभूतम् । अनवद्यीति—अनवद्यं अमर्यादिकया निर्मितं रचना यस्यां तानि माणिक्यानि तैः भूषिता खचिता या निमेषमा कटनीयं तस्य अलंकाररूपा ये कण्ठीरवाः सिंहाः तैर्युक्तं यत्पीठमासनम् तत्र प्रतिष्ठा उपवेशनं यस्य स चासौ परमेष्ठी च तत्प्रतिमा आकृतिर्यस्य तत् पुनः कर्मभूतम् । अशेषत इति—अशेषतोऽभित समासीना या द्वादशसभा तासाम् अन्तराले मध्ये विकसन्ति शोभमाना निमिषमाना देवानाम् यानका वाद्यानि अशोकानोकह अशोकवृक्षः प्रमुखानि मुख्यानि प्रातिहार्याणि सुर पुष्पवृष्टिदिव्यध्वनिचामरादीनि अष्टौ तैः शोभितम् । पुनः कर्मभूतम् । ईषदिति—ईषद् स्तोकं उन्मिषन्ति स्फुटन्ति विकसन्ति यानि अनिमिषाणां देवानाम् उद्यानस्य नन्दनवनस्य प्रसूनानि पुष्पाणि तेषाम् उपहारः अर्चनम् तस्य हरिचन्दनस्य तमालकक्कस्यपृक्तस्य आमोदोऽतिनिर्झरी गन्धः तेन समाधा युक्ता या सभाभूमी तदाख्या सभा तया समत युक्तम् । पुनः कर्मभूतम् । अनेकेति—अनेके मानस्तम्भाः जिनेन्द्रदर्शनार्थं समागतमध्यजनमानहरणे समर्था ये रत्नस्तम्भास्ते मानस्तम्भा उच्यन्ते तडागाः सरांसि तोरणानि वन्दनमाला स्तूपा ध्वजा पूर्णनिधा पूर्णघटा निधानानि नवनिधयस्तैर्निर्भरं भरितम् । पुनः कर्मभूतम् । उरगेति—उरगा नागदेवाः नरा मनुष्याः अनिमिषा देवाः तेषाम् नायकाः स्वामिनः तैः अनीकानि सैन्यानि तैः आनीत विहित स चासौ महामहोत्सवस्तस्य प्रसरो यत्र तत् । भगवत इति—भवसेनः प्रभृतिः आदौ येषां ते भवसेनप्रभृतयः ते च ते मालाकाराश्च वैनाकाराश्च तैः प्रभाविता यात्रा प्रभुदर्शनार्थं गमनं तस्य अधिकरणम् आधारः तथाभूतं समवसरणं विस्ताय स विद्याधरः समस्तमपि नगरं शोभयामास ।

[पृष्ठ ७०]—तापि जिनसमवसरणरेवती जिनधर्मवात्सल्येन ऐरावतमपि रेवतीराज्ञी इमं वृत्तान्तमाकर्ण्य अनादरस्वरूप तद्भूति कुतोऽपि जैनाभासजनमतेऽर्हता सिद्धान्ते पञ्चविंशतिरेव तीर्थंकराः ते चाधुना सिद्धगतिं निरुक्तानिष्ठा लोकस्य प्रासादस्य मध्ये विहारः क्रीडा येषां ते तस्मात् एष मायाः एव कोऽपि मायावारी तस्य जिनरूपस्य धारको । इति वाक्यार्थ विनिश्चित्य अविवर्यस्तमतिः यथायथार्थे प्रवर्तिन बुद्धि यदि सकल आरम्भारम्भेण स्वगृहे एव आत्मकर्मे मूढ वा प्रवर्तितम् आचरितम् धर्मं तमथा चार्यं पुनं यत्र तस्मिन् सुगत माधावके उवास । (पुनः स क्षुल्लक मुनिमार्ग पृष्ठा रेवती परीक्ष्यामुक्तावली निविशत्य तामम्य गच्छन्) पुनः स बहुरूपकाष्ठमनिः बहुरूपा बहुविधा कपटे मनिमस्य स वेषधनिम्नाभि विविधरचनाभिः आकृतिभि महाप्रहरविहरविभार निभि तदाश्चर्यं तस्या रेवत्या आश्रमितं मन अमुकितं निश्चलम् अवधार्य मत्वा उत्साहो गतोत मायोपधायिनो मूर्तयो मेन स क्षुल्लक क्रियति—क्षीणानाम् आपदमं दृष्ट्वा अनुमानं प्राप्य सहसान्यप्रवृत्तियेन तथाभूत क्षुल्लकः मायया भाराव तदास्यं रेवत्या गृहं प्रविष्टः तया स्वयमेव यथाविधि प्रतिपत्त्यादिभक्तिपोष्य कृत्वा मनतिक्रम्य प्रतिपन्नवेद शुश्रूषणमिव तमपि विद्याधरमात् स्वभू ताम् । अनवनाप्त मलिनाचनवलितपरमम् अमगामिमुषारः तास्मा प्रकटात् इत्याति—नठन् यमेव नानाविध मायागन्य उज्ज्वलधारक पीठाधर वैयाप्त्यम् कोपरय मन स रेवत्या कश्चिद् निःसीमाति कार्ये अनामोच्यम् अयोतमाय रेवतीमेवमवदन्। अत्र मात शाखाभ्यन्तरवर्तित—मन च ते अम्बरचरा विद्याधरा तेषां विद्यानाम् आधारभूता मूलभूता वास्मान्यवरत्नं तस्य आपदपुत्र है रेवति भवता दक्षिणमथुरा प्रतिष्ठापनाट सर्वगुप्ताचार्यनिर्वाणरथविद्युतावारगमनिः श्रीमुनिगुप्तमुनिः सर्वगतवन्ते अयमेव अत्र बालिका रचना यथा तथाभूः वचने पूर्ण धर्मभूते । परिमुचितमिति—पञ्चगुणानि विद्यातिनि [illegible] तथा च विद्यानिर्वेदी च पुनः कथं [illegible] अतिरि [illegible] [illegible]

[illegible]

सा तदर्पितानि क्षुल्लकमुखेन श्रीमुनिगुप्तमुनिना दत्तानि आशीर्वचनान्यापादिता ग्राहितवती। भवति चात्र श्लोक —एषा रेवती कादम्बवतार्क्ष्यगो-सिंहपीठाधिपतिषु कादम्बा हंसा, तार्क्ष्यो गरुड, गौ वलीवर्द, सिंह प्रतीत तैर्युक्तानां पीठानाम् आसनानाम् अधिपतय स्वामिन क्रमेण ब्रह्महरिहरजिनेन्द्रा तेषु आगतेष्वपि एषा रेवती मूढतावती मौढ्ययुक्ता नाभूत् न भवति स्म ॥१७३॥

इत्युपासकाध्ययने अमूढतापरिवृढो नामैकादश कल्प ॥११॥

१२ धर्मोपबृंहणार्हणो नाम द्वादशः कल्पः

[पृ० ७१] उपगूहेति—धार्मिकजनदोषप्रच्छादनम् उपगूह, दर्शनात् चरणाद्वा चलता प्रत्यवस्थापन तत्र स्थितीकार उपगूहश्च स्थितीकारश्च उपगूहस्थितीकारौ। यथाशक्ति अज्ञानतिमिरम् अपसार्य जिनशासनमाहात्म्यप्रकटन यथाशक्ति प्रभावनम्। वात्सल्य च सार्धर्मिकान् प्रति निष्कपट यथायोग्यमादरकरणम्। एते गुणा सम्यक्त्ववैभववृद्ध्यर्थं भवन्ति ॥१७४॥ तत्र—क्षान्त्येति—क्षान्त्या क्षमया क्रोधाभावेन, सत्येन प्राणिहितवचसा, शौचेन लोभाभावेन, मार्दवेन विनयेन मदाभावेन, आर्जवेन च अकपटभावेन, तपोभि सयमै दानैश्च समयबृंहण शासनवृद्धि कुर्यात्॥१७५॥ सवित्रीवेति—माता यथा तनूजाना पुत्राणाम् अपराध निगूहेत् आच्छादयेत् तथा सधर्मसु समानधर्मवत्सु गृहिषु मुनिषु वा दैवात् प्रमादाचरणात् सम्पन्न प्राप्त अपराध दोष गुणसपदा निगूहेत् आच्छादयेत् ॥१७६॥ अशक्तस्येति—अशक्तस्य असमर्थस्य अपराधेन दोषेण धर्म. मलिन दूषित भवेत् किम्। भेके मण्डूके मृते सति पयोधि समुद्र पूतिगन्धिता दुर्गन्धिता न हि याति न गच्छतीति। यस्तु जन जात दोष न गूहति, यस्तु धर्मम् न बृंहयेत् न वर्धयेत् तत्र जिनागमवहि स्थिते जिनशास्त्रवहिर्भूते जने। सम्यक्त्व सम्यग्दर्शन दुष्कर दुर्लभम् ॥१७७॥

[पृ० ७२] (उपगूहनाङ्गकथा) श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अत्र सम्यग्दर्शनस्य उपगूहनाङ्गे उपाख्यानं पूर्वमहापुरुषस्य प्रथितस्य चरित श्रूयताम्—सुराष्ट्रदेशेषु पाटलिपुत्रे कथभूते। मृगेक्षणेति—मृगस्येव ईक्षणे नयने यासा ता मृगेक्षणा हरिणनेत्रा युवतय तासा पक्ष्मभि सहितानि पक्ष्मलानि तानि च तानि मूलानि अग्राणि येषा तानि च अवलोकितानि कटाक्षा तै अपहसित तिरस्कृतम् अनङ्गास्त्राणा मदनवाणाना तन्त्रम् कार्यम् कामिपुरुषमनोवेधनम् यत्र [यशोध्वजस्य भूभुज सुवीरो नामसूनु पुत्र वीरपुरिपदमवादीदिति सवन्ध] कथभूतस्य यशोध्वजस्य राज्ञ। सुसीमेति—सुसीमाख्या या कामिनी राज्ञी तस्या मकरध्वजस्य इव मदनस्येव सुवीर पुत्रोऽभूत्। कथभूत स·। पराक्रमेति—पराक्रमेण निजशौर्येण अक्रमेण युगपत् आक्रान्ता वशीकृता सकला प्रवीरा महाभटा येन स पुन कथभूत नृपसूनु। अनासादितेति—विद्याभि वृद्धा विद्यावृद्धा अनासादित अलब्ध विद्यावृद्धसयोगात् समयत्वम् आगमाध्ययन तस्मात् अप्राप्तविद्यावृद्धजनसमागमशास्त्रत्वात्, विटेति—विटा कामुका विदूषका पीठमर्दा वैहासिका तै दूषित-मलिनचित्तत्वात्, प्रायेण वहुश परेति—परेषा द्रविण धनम् दारा स्त्रियश्च तस्य तासा चादान ग्रहणम तत्र उदारा महती क्रिया यस्य तथाभूत स यशोध्वजसूनु सुवीर क्रीडार्थं क्रीडावने गत। कितवेति—कितवा वञ्चका किराता म्लेच्छा पश्यतोहरा पश्यन्त जनम् अनादृत्य हरन्तीति पश्यतोहराश्चौरा. ते च ते वीरा भटास्तेषा परिषदम् सभाम् एवम् अवादीत् [यदवादीत् तदुच्यते]—अहो जना, विक्रमेति—विक्रम शौर्यम् स एव एक मुख्यो रस अस्ति येषा ते विक्रमैकरसिका शौर्यैककार्यकारिण, तेषु महासाहसिकेषु अतीव वलात्कारेण धनहरणादिकार्यकारिण तेषु भवत्सु मध्ये किं कोऽपि मम प्रार्थनेति—मम प्रार्थनाया याच्ञाया अतिथिरूपाया मनोरथस्य सारथि मम याचनाभिलाषपूरणप्रवीण इत्यर्थ किं कोऽपि अस्ति। य खलु पूर्वदेशस्य वेश वेश्याजनसमाश्रय तेन अवाप्त कीर्तन येन तस्मिन् तामलिप्तिनगरे पुण्येति—पुण्य सुकृतम, पुरुषकार प्रयत्नस्ताभ्याम्, आत्मेति—आत्मसात्कृत. स्वायत्तीकृत रत्नाकर मणिसमूह रत्नखनिर्वा येन तस्य जिनेन्द्रभक्तनाम्ना अवतारो यस्य वणिक्पते वैश्यस्वामिन, जिनसद्मनि जिनगृहे कथभूते। सप्ततलेति—

सप्ततलानि भूम्यो यस्य स चासौ अगारं गृहं तस्य अग्रिमा सप्तमा या भूमिः सप्तमं मस्तकं तां भजतीति भाक् तस्मिन् भागिनि (अगारे गत्वा यः वैडूर्यमणिं आनयति स पारितोषिकं लभेत) तत्र स्थितं वैडूर्यमणिं आनयति अन्यमूर्न । छत्रेति—छत्राया यत्र छत्रस्य तस्य शिखरं शिखायां तस्य मण्डनीभूतम् चमत्कारकरम् अद्भुतम् विस्मयावहम् अद्भुतश्चासौ उद्योतश्च प्रकाशः तेन सनीडं सहितं वैडूर्यमणिम् तम् लोकमणिम् आनयति तथा नेतुः तम् आनयतः पुनः अभिलाषविषयस्य स्वेप्सितवस्तुनः निषेकः दानं तदेव पारितोषिकम् परितोषस्य संतोषस्य मूल्यमिव । तत्र च सदर्पः साहङ्कारः सूर्यो नाम समस्तमलिम्लुचानाम् तस्कर-चोराणाम् अग्रेसरः पुरोगामी वीरः किलैवम् अजल्पीत् अवादीत् । 'देव कियद्ग्रहणमेतद् यतः योऽहं देवप्रासादस्य प्रभोः प्रसादमुपलभ्य दिवसावसाने नमसः अवसाने अस्त एवोऽपि दूरे विरचितामरावतीपुरपरमेश्वरस्य नमसोऽन्ते निर्मितामरावतीनगरस्वामिनः पुरन्दरस्य इन्द्रस्यापि चूडामणिचूडकारभूतम् शिखाभूषणभूतं मणिम्, पातालस्य अधोभुवनस्य भूके निर्मितभोगवतीनगरस्य स्थितभोगवतीपुरस्य धरणेश्वरस्यापि धरमाणां नागदेवानाम् ईश्वरस्य स्वामिनः फणगुम्फनाभिरूप्यं फणानां स्फटानां गुम्फनाभिरूप्यं प्रभवात् आभिरूप्यं यस्य फणानामुपरि अधिष्ठाय मासमात्रं माणिक्यं लोकरत्नम् आहरामि तस्य मे मनुष्यमात्रपरिवारं मनुष्यैरेव रक्ष्यमाणवस्था-मपि रत्नम् । कस्मात् लोचनेति—लोचनयोः गोचरं विषयं अगारविहारं अगारे गृहे विहारो यस्य गृहे वर्तमानं तं वैडूर्यमणिं अपहरतश्चोरयतः कियन्मात्रं महासाहसम् एतत्साहसं लीलया करिष्यामीति भावः सूर्यचोरस्य । इति शौर्यं भणित्वा प्रमुष्य नित्यस्वामस्य च गौडमध्यस्थं चोरदेशम् । अपरमुपायं अपश्यन् मणिमोषाय रत्नाप-हरणाय गृहीतक्षुल्लकवेषस्तत्रादायत्रतावरणक्रमैः क्षपणपारणाकरणैः पक्षोपवासानन्तरं पारणाकरणैः मासोप-वासप्रारम्भैः अपरैरपि अन्यैरपि तपःसंरम्भैः तपसां कर्मभिः लोभिताः नराः यत्र ताः नगराणि पुराणि ग्रामाः प्राकारपरिखाविरहिताः द्वारादिशून्या वसतयः ग्रामाः तेषु निवासपीठिका ये ग्रामणीमनाः अग्रेसरजनास्ते येन लोभं नीताः स सूर्यचोरः क्रमेण जिनेन्द्रभक्तनामकस्य आगारस्थानमभवत् । जिनेन्द्रभक्तः श्रेष्ठी तद्गुणेषु रक्तमतिरभवत् ।

[पृष्ठ ७१-७४] एकान्तभक्तिरसतः एकान्ता चासौ भक्तिस्तस्याः रसतः अविचलभक्तियुक्त इति भावः स जिनेन्द्रभक्तः तं मायेति—मायया कपटेन आत्ममायाकृतः स्वामरोपकृत् प्रियतमाकारः क्षुल्लकवेषो येन एवंभूतं तम् अपरमार्थाचारम् अपरमार्थोऽसत्यो मायापरिप्लुतः आचारो यस्य तम् अजानन्, स चोरं श्रेष्ठी एवमवदत्—आयवर्य आर्येषु यतिषु वर्यः श्रेष्ठः तत्सम्बोधन हे आर्यवर्य अवधय अनेकेति—अनेकानि च तानि अनर्घ्याणि अमूल्यानि रत्नानि तैः रचितो जिनचैत्यानां संदोहः समूहो यत्र एवंविधे अस्मद्गृहे त्वया तावत्कालम् आसितव्यम् अधिकृत्य निवासः कार्यः यावत्कालम् अहं वहिन अन्येषु देशेषु यात्रां विधाय समायामि इत्थं यावत् याचना कुर्वतः जोजिनभक्तस्य स क्षुल्लकः एवम् अवदत् अप्रकटकूटकपटाक्ष अप्रकटः अज्ञातः कूटः ग्राहकः कपटाक्ष येन तत्सम्बोधनं हे अप्रकटकूटकपटाक्ष प्रियतम श्रेष्ठिन् मैवं भाषिष्ठाः मैवं वादीः । यस्मात्कारणात् अङ्गनाजनसंकीर्णेषु स्त्रीजनव्याप्तेषु प्रविश्योत्कीर्णेषु प्रविष्टं वनम् उदीर्णं प्रकटं तृणवत् येषु धनसमृद्धेषु देशेषु विहितोकसः कृतवसतीनाम् अधिवासः इति भावः प्रायेण अमजिनमतसामपि बहुधा स्वच्छमतीनामपि निर्मोहानामपीत्यर्थः, सुकरोपाहारा सुखमयस्वा तथा कलङ्कोपकथा । श्रेष्ठी-वैव यतीव न सत्यमेतत्, अपरिज्ञातपरलोकव्यवहारस्य स्वमनस्कारितः परलोकः तत्प्राप्तिः सदाचारेण असदा-चारेण च कमशो भवतीति व्यवहारानभिज्ञस्य भवदीयव्यापारस्य अभिज्ञस्य इन्द्रियव्यापाराः यत्र नमन्ति तत्र तपस्वीयो भूत्वा पच्छतः पुरुषस्य वहिः वस्य वाह्यपरिग्रहे कलत्रादिभ्यादौ स्वान्तं मनो विकृत्याम् नाम विकारं प्राप्नोतु नाम न पुनश्चार्यवृषा परमार्थलोकिनाम् अनन्यसामान्यसंयमस्पृहाम् अनितर साधारणसंयमं पालयताम् भवादृशां युष्मादृशां पूज्यानां मुनिवर्याणाम् । इति बहुशो देवगृहादिविहार देवगृहे भवाधिवसितवति तम् अवधार्य मुनिं कपटिनं मुनिवेषं संप्रार्थ्य प्रार्थयित्वा कलत्रपुत्रमित्रबान्धवेषु पत्नीतनयसुहृद्गणादिषु कृतविश्वास अविहितविस्रम्भः मनःपरितोषविभवप्रभूतगमनानुकूलतया नगरबहिरङ्गस्थाने पुरबाह्यप्रदेशे प्रस्थानम् अकार्षीत् प्रस्थानं प्रयाणम् अकरोत् । मायामुनिस्तस्मिन्नेव अवसरे तस्मिन्नेव

क्षणे तदगार तद्गृहम् आकुलपरिवार स्वस्वकार्यकरणतत्परपरिजनम् अवबुध्य ज्ञात्वा अर्घविशिष्टाया रात्री विहितमणिचौर्य तन्मरीचिप्रचारात् तद्रत्नकिरणप्रसरणात्, आरक्षकै तलवरै अनुद्रुतशरीर तीव्रेण जवेन अनुगतदेह, पलायितुमशक्त तस्यैव धर्महर्म्यनिर्माणपरमेष्ठिन धर्म एव हर्म्यं गृह तस्य निर्माणे रचनाया परमेष्ठिन ब्रह्मण इव वर्तमानस्य श्रेष्ठिन प्रस्थानावासनिवेशम् आविवेश प्रयाणगृहप्रवेशम् अकरोत्। श्रेष्ठ्यपि दुरालापबहलात् गालिप्रदानादि-दुर्भाषणप्रचुरात् तत्तलवरादिकलकलात्, द्रागृविद्राणनिद्र शीघ्रम् अपगतस्वाप, तदैव मृषामुनिमुद्रम् अवगाय धृतमायायतिरूप निश्चित्य, स्वभावत शुद्धाप्तागमपदार्थ-समाचारनयस्य निर्दोषपरमजिनशासनजीवादिवस्तुमार्थसम्यगाचारनयव्यवहारस्य नि शेषान्यदर्शनव्यतिरिक्ता-न्वयस्य सकलान्यमतभिन्नसम्प्रदायस्य जिनशासनस्य, अविदितपरमार्थजनापेक्षया अज्ञातयथार्थलोका-पेक्षया दुरपवादो जिनमतनिन्दा माभूत् मा जायताम् इति विचिन्त्य समस्तमपि आरक्षकलोकम् एवमभणीत्—सकलमपि तलवरवृन्दम् इत्थमभाषत। अहो दुर्वर्णीका अहो दुर्वाचाटा, किमित्येन सयमिनम् अभल्लेन अभद्रभाषणेन सभावयन्ति तिरस्कुर्वन्ति भवन्त। यत एप खलु महातपस्विनामपि महातपस्वी, परमनि.स्पृहा-णामपि परमनि स्पृह, प्रकृत्यैव स्वभावत एव महापुरुष· मायामोहरहितचित्तवृत्ति, अस्मदभिमतेन अस्माक समर्ति लब्ध्वा मणिमेनम् आनयन् कथ नाम तेन भावेन मायामोहादिदिग्धचित्तेन सभावनीय सकल्प्य। तस्मात् प्रतूर्णं शीघ्रम् अभ्यर्णीभूय समीप गत्वा प्रसन्नवपुष प्रशान्तशरीरा प्रणमद्देहा भवन्त मदाचारकैर-वार्जनज्योतिष सम्यगाचारकुमुदविकसने चन्द्रम् एन क्षमयत, स्तुत प्रशसत, नमस्यत नमत, वरिवस्यत च पूजयत च। भवति चात्र श्लोक—भक्तवाक्पर· भक्त इति—वाक्शब्द पर अग्रे यस्य स जिनेन्द्रः जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठी इत्यर्थ। मायासयमनोत्सूर्पे कपटसहितसयमस्य वृद्धि कुर्वाणे सूर्ये सूर्पचौरे रत्नापहारिणि वैडूर्यमणेश्चौर्यं कुर्वाणे, दोपम् अपवादम् अय चौर इति निन्दा निपूदयामास निरस्ता चक्रे ॥१८९॥

इत्युपासकाध्ययने धर्मोपबृंहणार्हणो नाम द्वादश. कल्प ॥१२॥

१३ वारिषेणकुमारप्रव्रज्याव्रजनो नाम त्रयोदशः कल्पः

परीपहेति—परीपहात् क्षुदादिद्वाविंशतिपरीपहेपु एकस्मात्कस्मादपि परीपहात् पीडाया उद्विग्न भीतम्, व्रतात् अहिंसादिमहाव्रतपालनाच्च उद्विग्न खिन्नम्, अजातागमसगमम् आगमस्य जिनशास्त्रस्य सगमो-ऽध्ययनम् अजात आगमसगमो यस्य स अनधीतजिनागम. एवरूप समयस्थित कथभूत भ्रश्यदात्मान भ्रश्यन् जिनधर्मत्याग कुर्वन् आत्मा यस्य तं समयी धार्मिक स्थापयेत् ॥१९०॥

[पृष्ठ ७५] तपस इति—तपस प्रत्यवस्यन्त भ्रश्यन्तं सयत सयमिन य समयी न रक्षति। नून सत्यमेव स समयस्थितिलङ्घनात् जिनमतस्थित्ते लघनात्। सद्दर्शनबाह्य सम्यग्दर्शनाद्बाह्य मिथ्यात्विजनतुल्य ज्ञेय ॥१९१॥ नवैरिति—नवै सन्दिग्धनिर्वाहै सन्दिग्ध सशययुक्त निर्वाह जिनधर्मप्रतिपालन येषा ते सन्दिग्धनिर्वाहास्तै जनै गणवर्धन नवै जनै गणवर्धन स्वसङ्घजनसख्यावृद्धि कुर्यात्। एकदोपकृते एकस्मिन्दोपे जाते सति प्राप्ततत्त्व ज्ञाततत्त्वार्थो नर कथ त्याज्य। दोपे जातेऽपि तस्य उपगूहन कार्यमिति भाव ॥१९२॥ यस्मात् समयकार्यार्थि शासनसाध्यार्थ नानापञ्चजनाश्रय बहुजनसन्दोहाधार अत उपदिश्य यो यस्मिन् कार्ये धर्मप्रभावनादिकार्ये योग्य त जन तत्र योजयेत् ॥१९३॥ उपेक्षायामिति—सधर्मणो जनस्य उपेक्षाया कृताया स समयो तत्त्वात् जिनशासनात् अधिक दूर गच्छेत् त त्यजेत् तथा तद्विनाश कर्तुमिच्छेत्। एवम् अनिष्टमाचरतस्तस्य ससारो दीर्घो भवेत् समयश्च जिनशासनं हीयते क्षीणो भवति ॥१९४॥

[पृष्ठ ७६] (स्थितिकरणे वारिषेणस्य कथा) श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अत्र स्थितिकरणगुणे कथा शृण्वन्तु। वारिषेणराजसूनो कथा—मगधाभिधेपु देशेपु राजगृहेति अपरनाम्न अन्याभिधाया अवसर प्रसगो यस्य एवभूते पञ्चशैलपुरे चेलिनी महादेव्या प्रणय स्नेह क्रीणातीति क्रेणिक तस्य श्रेणिकस्य कथभूतस्य। गोत्राकलत्रस्य गोत्रा पृथ्वी एव कलत्र भार्या यस्य 'गोत्रा कु पृथिवी पृथ्वी' इत्यमर।

सप्ततमानि भूमयो यस्य स चासौ अगारं गृहं तस्य अग्रिमा सप्तमा या भूमिः सप्तमं तलं तां गच्छतीति गाङ् तस्मिन् गामिनि (अगारे गत्वा यः वैडूर्यमणिं आनयति स पारितोषिकं लभेत) तत्र स्थितं वैडूर्यमणिं आनयति कथम्भूतं । छत्रेति—छत्रस्य अग्रं छत्राग्रं तस्य शिखाग्रं शिखायां तस्य मण्डनीभूतम् अलङ्कारकपम् अद्भुतम् विस्मयावहम् अद्भुतश्चासौ उद्योतश्च प्रकाशः तेन सनीडं सहितं वैडूर्यमणिम् इन्द्रनीलमणिम् आनयति तस्मैतु तम् आनयतः पुनः अभिलाषविषयस्य स्वेप्सितवस्तुनः नियोगः दानं तदेव पारितोषिकम् परितोषस्य संतोषस्य मूल्यमिव । तत्र च सदपः साहङ्कारः सूर्यो नाम समस्तमलिम्लुचानाम सकलचोराणाम अग्रेसरः पुरोगामी वीरः विक्रमम् अकार्षीत् अब्रवीत् । देव किमयुगहनमेतत् यतः योऽहं देवपादानाम् प्रभो। प्रसादमुपलभ्य विपदवसाने समस्तः अवसाने अन्ये द्यवोऽतिदूरे विरचितामरावतीपुरपरमेश्वरस्य नमसोऽर्ध्वं निर्मितामरावतीनगरस्वामिनः पुरन्दरस्य इन्द्रस्यापि चूडालङ्कारभूतम् शिखाभूषणभूतं मणिम्, पाताले अधोभुवनस्य मूले निःशेषमोगवतीनगरस्य स्थितभोगवतीपुरस्य उरगेश्वरस्यापि उरगाणां नागदेवानाम् ईश्वरस्य स्वामिनः फणगुम्फनाभिरुचं फणानां स्फटानां गुम्फनाभिरुचं प्रकटात् आभिरुचं यस्य फणानामुपरि अधिष्ठितया भासमानं भाभिरुचं दामरत्नम् आहरामि तस्य मे मनुष्यमात्रपरिवारं मनुजैरेव रक्ष्यमाणवरभ्यार्णमपि रत्नम् । कथम्भूतं लोचनेति—लोचनयोः गोचरं विषयं अगारविहारं अगारे गृहे विहारो यस्य गृहे वर्तमानं तं वैडूर्यमणिं आहरतश्चारयतः कियन्मात्रं महासाहसम् एतत्साहसं कीदृशाहं करिष्यामीति भावः सूर्यचोरस्य । इति शौर्यं गर्जित्वा प्रयुज्य निगरयामरस्य च गौडमण्डलं गौडदेशम् । अवरमुपायं अकरवम् मणिमोषाय रत्नापहरणाय गृहीतमुग्धक्षपणकवेषमायामयप्रभावरणकर्मे पञ्चशरवाकरणैः पञ्चोपवासानन्तरं पारणाचरणं माससोपवासप्रारम्भे अपरैरपि अन्यैरपि तपःसंरम्भैः तपसां कर्मैः शोभिता नगाः पर्वताः नगराणि पुराणि ग्रामाः प्राकारपरिखादिरहिताः कुक्कुटादिभूम्या वसतयः ग्रामाः तेषु निवासधीकाः ये ग्रामणीमनाः अवेशरस्थमास्ते यत्र सोमं नीताः स सूर्यचोरः क्रमेण जिनेन्द्रभक्तनामस्य आगारस्थानमभवत् । जिनेन्द्रभक्तः श्रेष्ठी तद्गुणेष्वनुरक्तमतिरभवत् ।

[पृष्ठ ७२-७४] एकान्तभक्तिशरणः एकान्ता चासौ भक्तिश्च तस्यां शरणः अभिनवभक्तियुक्त इति भावः स जिनेन्द्रभक्तः तं मायेति—मायया कपटेन आत्मनायकः स्वामप्तोऽपि प्रियतमाकारः गुरुरूपेणैव एवंभूतं तम् अपरमार्थाचारम् अपरमार्थो असत्यः मायाविशिष्टः आचारो यस्य तम् अजानन्, स चोरं श्रेष्ठी एवमवदत्—*आर्यवर्य आर्येषु यतिषु वर्य श्रेष्ठः तत्सम्बोधनं हे आर्यवर्य* अवधारय अनेकेति—अनेकानि च तानि अनर्घ्याणि अमूल्यानि रत्नानि ते रश्मयो जिनदेवानां संवाहः समूहो यत्र एवंविधे अस्मद्गृहे तथा तादृशताम् मालिन्यम् उपितम्यं निवासः कार्यः आवस्थानम् अहं यदि अन्येषु देशेषु यात्रां विधाय समायामि इत्थं यावत् यावता पूर्वेव भोजिनमन्नस्य स क्षुल्लकः एवम् अवदत् अप्रकटकूटकपटकम अप्रकटः अज्ञातः कूटः कारकः कपटकम येन तत्सम्बोधनं हे अप्रकटकूटकपटकम प्रियनाम मयि इम् नैवं भाषिष्याः नैवं वादीः । यस्मात्कारणात् अङ्गनाजनसंकीर्णेषु स्त्रीजनव्याप्तेषु इति भावः प्रायेण [illegible] इति भावः प्रायेण अनलिनमनसामपि [illegible] रक्तमनीनामपि निर्मोहानामनीश्वर्यभ्, कुमनोमहारा कुमनमनसः तत्र रतलोलवक्रा । श्रेष्ठीनैव यतीव न मन्यमिन्नम् अपरिग्रहस्य लोकव्यवहारस्य स्वर्गनरकादि परलोकः तस्मादि सदाचारेण सदाचारेण च इत्थं भवन्तीति व्यवहाराभिमानः अवबोधिन्यमाचारस्य अनिर्दिष्टस्य इति तत्र भवति तत्र तत्स्थाने भूत्वा गम्भीरः पुरुषम् यदि सर्वे चात्मादिकं वमनवाक्यात् स्थाने गतो विद्यमान् नाम विचारं प्राप्नोतु नाम न पुनर्यथार्थवृत्तौ परमार्थसत्कीर्तिनाम् अनन्यगामाप्यसामुदाय अनिवार्य मायावचनम् नानयनाम् अयाकृतां कृच्छ्रकृतां कृत्यानां मुनिवर्यागाम् । इति बहुधा देवपूजादिहृदयदेशेषु अध्यवसायादि तम् अवस्थानं मुनि तत्र मुनिर्वै संस्थाप्य स्थापयित्वा [illegible] [illegible] [illegible] पुत्रादयो देशी प्रयाणम् अकार्षीत् प्रयाणं प्रस्थानं अकरोत् । [illegible]

क्षणे तदगारं तद्गृहम् आकुलान्विारं स्वस्वकार्यकरणतत्परपरिजनम् अवबुध्य ज्ञात्वा अर्धविशिष्टायां रात्रौ विहितमणिचौर्यः तन्मरीचिप्रचारात् तद्रत्नकिरणप्रसरणात्, आरक्षकं तलवरं अनुद्रुतशरीरः तीव्रेण जवेन अनुगतदेहः, पलायितुमशक्तः तस्यैव धर्महर्म्यनिर्माणपरमेष्ठिनः धर्म एव हर्म्यं गृहं तस्य निर्माणे रचनायां परमेष्ठिनः ब्रह्मणः इव वर्तमानस्य श्रेष्ठिनः प्रस्थानावासनिवेशम् आविवेश प्रयाणगृहप्रवेशम् अकरोत्। श्रेष्ठ्यपि दुरालापबहलात् गालिप्रदानादि-दुर्भाषणप्रचुरात् तत्तलवरादिकलकलात्, द्रागविद्राणनिद्रः शीघ्रम् अपगतस्वापः, तदैन मृषामुनिमुद्रम् अवनाय धृतमायायतिरूपं निश्चित्य, स्वभावतः शुद्धाप्तागमपदार्थ-समाचारनयस्य निर्दोषपरमजिनशासनजीवादिवस्तुमार्गसम्यगाचारनयव्यवहारस्य निःशेषान्यदर्शनव्यतिरिक्ता-न्वयस्य सकलान्यमतभिन्नसम्प्रदायस्य जिनशासनस्य, अविदितपरमार्थजनापेक्षया अज्ञातयथार्थलोका-पेक्षया दुरपवादो जिनमतनिन्दा माभूत् मा जायताम् इति विचिन्त्य समस्तमपि आरक्षकलोकम् एवमभणीत्— सकलमपि तलवरवृन्दम् इत्यमभाषत। अहो दुर्वर्णीका अहो दुर्वाचाटा, किमित्येन संयमिनम् अभल्लेन अभद्रभाषणेन सभावयन्ति तिरस्कुर्वन्ति भवन्तः। यत एष खलु महातपस्विनामपि महातपस्वी, परमनिःस्पृहा-णामपि परमनिःस्पृहः, प्रकृत्यैव स्वभावत एव महापुरुषः मायामोहरहितचित्तवृत्तिः, अस्मदभिमतेन अस्माकं ममति लब्ध्वा मणिमेनम् आनयन् कथं नाम तेन भावेन मायामोहादिदिग्धचित्तेन सभावनीयः सकल्पः। तस्मात् प्रतूर्णं शीघ्रम् अभ्यर्णीभूय समीपं गत्वा प्रसभ्रवपुषः प्रशान्तशरीराः प्रणमद्देहाः भवन्त सदाचारकैर-वार्जनज्योतिषं सम्यगाचारकुमुदविकसने चन्द्रम् एनं क्षमयत, स्नुत प्रशसत, नमस्यत नमत, वरिवस्यत च पूजयत च। भवति चात्र श्लोकः—भक्तवाक्परः भक्त इति—वाक्शब्दः परः अग्रे यस्य स जिनेन्द्रः जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठी इत्यर्थः। मायामयमनोत्सूर्पे कपटसहितसंयमस्य वृद्धिं कुर्वाणे सूर्ये सूर्पचौरे रत्नापहारिणि वैडूर्यमणेश्चौर्यं कुर्वाणे, दोषम् अपवादम् अयं चौर इति निन्दा निष्पदयामास निरस्ता चक्रे ॥१८९॥

इत्युपासकाध्ययने धर्मोपबृंहणार्हणो नाम द्वादशः कल्पः ॥१२॥

१३ वारिषेणकुमारप्रव्रज्याव्रजनो नाम त्रयोदशः कल्पः

परीषहेति—परीषहात् क्षुदादिद्वाविंशतिपरीषहेषु एकस्मात्कस्मादपि परीषहात् पीडाया उद्विग्नं भीतम्, व्रतात् अहिंसादिमहाव्रतपालनाच्च उद्विग्नं खिन्नम्, अजातागमसगमम् आगमस्य जिनशास्त्रस्य सगमो-ऽध्ययनम् अजातः आगमसगमो यस्य स अनधीतजिनागमः एवरूपं समयस्थितं कथभूतं भ्रश्यदात्मानं भ्रश्यन् जिनधर्मत्यागं कुर्वन् आत्मा यस्य तं समयी धार्मिकः स्थापयेत् ॥१९०॥

[पृष्ठ ७५] तपस इति—तपसः प्रत्यवस्यन्तं भ्रश्यन्तं सयतं संयमिनं यः समयी न रक्षति। नूनं सत्यमेव स समयस्थितिलङ्घनात् जिनमतस्थितेः लघनात्। मद्दर्शनबाह्यः सम्यग्दर्शनाद्बाह्यः मिथ्यात्विजनतुल्यः ज्ञेयः ॥१९१॥ नवैरिति—नवैः सन्दिग्धनिर्वाहैः सन्दिग्धः सशययुक्तः निर्वाहः जिनधर्मप्रतिपालनं येषां ते सन्दिग्धनिर्वाहास्तैः जनैः गणवर्धनं नवैः जनैः गणवर्धनं स्वसङ्घजनसंख्यावृद्धिं कुर्यात्। एकदोषकृते एकस्मिन्दोषे जाते सति प्राप्ततत्त्वः ज्ञाततत्त्वार्थो नरः कथं त्याज्यः। दोषे जातेऽपि तस्य उपगूहनं कार्यमिति भावः ॥१९२॥ यस्मात् समयकार्यार्थं शासनसाध्यार्थं नानापञ्चजनाश्रयः बहुजनसन्दोहाधारः अतः उपदिश्य यो यस्मिन् कार्ये धर्मप्रभावनादिकार्ये योग्यः तं जनं तत्र योजयेत् ॥१९३॥ उपेक्षायामिति—सधर्मणो जनस्य उपेक्षायां कृतायां स समयो तत्त्वात् जिनशासनात् अधिकं दूरं गच्छेत् तं त्यजेत् तथा तद्विनाशं कर्तुमिच्छेत्। एवम् अनिष्टमाचरतस्तस्य ससारो दीर्घो भवेत् समयश्च जिनशासनं हीयते क्षीणो भवति ॥१९४॥

[पृष्ठ ७६] (स्थितिकरणे वारिषेणस्य कथा) श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अत्र स्थितिकरणगुणे कथां शृण्वन्तु। वारिषेणराजसूनोः कथा—मगधाभिधेषु देशेषु राजगृहेति अपरनाम्नि अन्याभिधाया अवसर प्रसगो यस्य एवभूते पञ्चशैलपुरे चेलिनी महादेव्याः प्रणयः स्नेहं क्रीणातीति क्रेणिकः तस्य श्रेणिकस्य कथभूतस्य। गोत्राकलत्रस्य गोत्रा पृथ्वी एव कलत्रं भार्या यस्य 'गोत्रा कु पृथिवी पृथ्वी' इत्यमरः।

पृथ्वीमायस्य पुत्रः सकलवैरिपुराभिषेण समस्तान्यनगराणि प्रतिसेनया सहितोऽभिषेणो ब्राह्मण यस्य स वारिषेणो नाम। स किल कुमारकाल एव संसारसुखसमागमविमुखमानसः परमवैराग्योद्गूर्णः परमं वैराग्यं संसारमोगेभ्यश्च विरक्तिभावः तद्योगः प्रकटीभूतो यस्य पुनः कथंभूतो वारिषेणः। धृतनिर्भरसः पूर्णः अध्यात्मविषये निर्भररसः निरवभरसो यस्य, पुनः कथंभूतः। श्रावकधर्मस्याराधनेन अस्या समुद्रा मा विपणा बुद्धिस्तया गुरूपासनतत्परतया च गुरूणां निर्ग्रन्थाचार्याणाम् उपासनासु पूजासु संबीभवया तत्परतया च प्रत्यग्रधर्मसिद्धोपासकाध्ययनविधिः सम्यक्तया अवसितः निश्चितः उपासकाध्ययनानां श्रावका चरणविषयप्रतानाम् अध्ययनानां श्रावणपाठानां विधिर्येन सः। पुनः कथंभूतः आश्चर्यशौर्यनिधिः विस्मयावह पराक्रमाणां निधानम् स वारिषेणः एकदा प्रेतभूमिषु प्रेतानां शवानां भूमिषु भूतकालचतुर्दश्यां कृष्णचतुर्दशीनिशायां रात्रिप्रतिमास्थितो बभूव। रात्रिप्रतिमायोगेन स्मशाने अध्यात्मध्यानरतोऽभवत्। अत्रान्तरे अस्मिन्प्रसंगे तस्यां निशायां परिणतः आभोग व्याप्तान्धकारस्वाधिमेव खलु निशाया मध्ययामे मगधसुन्दरीनामया पण्याङ्गनया पण्या पणेन मूल्येन भव्या या अङ्गना स्त्री पण्याङ्गना तया वेश्यया एवं । आत्मनि स्वस्मिन् विषये अतीवाधरूपचित्तवृत्तिप्रसरो अतीव सुतराम् आसक्ता सम्पटा या चित्तवृत्तिः मनो वृत्तिः तस्याः प्रसरो यस्य एवंभूता मगधसमाभा वीरं धनगतमम् आयम आयत सन् एवमुक्तः—राजश्रेष्ठिनो धनदत्तनामधेयस्य कीर्तिमतीनामायाः प्रियतमायाः स्तनमण्डलोदारम् अलङ्कारसारं हारमिवानीमेव आनीय मयि निधाययसि तदा त्वं मे रतिरामः अन्यथा प्रणयविराम इति। प्रियतमायाः अत्यन्तवल्लभायाः स्तनमण्डलयोः कुचमण्डलयोः उदारं शोभामापादयन्तम् अलङ्कारेषु भूषणेषु सारं श्रेष्ठं निधाययसि ददासि त्वं मे रतिरामः रतौ रतिसुखे रमयतीति रामः अन्यथा प्रणयविरामः प्रणयस्य प्रेम्णः विरामः अवसानम् इति। सोऽपि अनपायादृष्यवेगो मृदवेगः न वशो अधीनः अनङ्गवेगः कामस्य तीव्रता यस्य कामवेगम् असहमानः इति भावः। तद्वचनादेव तस्याः मगधसुन्दर्याः भाषणादेव तथायततनात् तस्याः गहनम् निःशरण निर्मत्य धनदत्तस्यागारं धनदत्तश्रेष्ठिनो हर्म्यम् अभिगम्य आगत्य च निवसकावकाशात् स्वकलाचातुर्येण आचरितहारापहारः आचरितो विहितः हारस्य अपहारः मापणः येन सः इति—तस्य हारस्य किरणानां रश्मीनां निकरः समूहः तेन निशितक- भवरकमोषधारः यैः मः तलारानुचरैः आरक्षकानुचरैः अनुसृतः अनुगतः मृगाभिषु मम एव आचरितुम् असमर्थः पलायितुं असमर्थः व्युत्सर्गविषयं व्युत्सर्गस्य शरीरममत्वस्यागस्य आवेगम् उत्कटतां उपेयुषः प्राप्तवतः तस्य वारि षेणस्य पुरतः हारम् अपहाय त्यक्त्वा तिरोऽभवत् अन्तर्हितोऽभवत्।

[पृष्ठ ७७] तदनुचराः तलारसेवकाः तत्प्रकाशविशेषवशात् तस्य हारस्य कान्तिविशेषवशात् 'वारि षेणोऽयं ननु राजकुमारः पलायितुम् अक्षम इति' चेलनापतिमिकटो आवर्तितस्य अपाशनत्वात् इमां जिनेश्वर बिम्बसदृशीम् आकृतिं स्वीकृत्य पुरोऽभवत् स्थापितहार समास सम्यक आस स्थितः। तदनन्तरम् विचारं कृत्वा प्रविश्य च विश्वम्भराधीशायेममशेषं विश्वंभरायाः पृथिव्याः अधीशः स्वामी भूमिरक्षकः तस्य श्रेणिकः गृहस्य निवेदनम् अन्तःस्थाने एतस्मिन् एतस्य वारिषेणस्य पितुः श्रेणिकस्य प्रतिपादितवृत्तान्ताः कथितवृत्तान्तः— दण्ड इति—दण्डो हि अपराधिशासनोपायः स केवलः एक एव इमं लोकम् इहलोकम् परं च परलोकं च रक्षतीति रक्षति इहलोके प्रजासु विनियुक्तो राजा यथापराधोऽभीष्टेनाः रक्षति ततश्च प्रजानाम् अनीतेः रक्षणात् स्वर्गप्राप्तिर्भवति इति भावः। राजा पुत्रेण शत्रौ पुत्रे च यथादोषं दोषम् अनतिक्रम्य धृतः यस्य सादृश्येण तस्य शासनं क्रियेत चेत् राजा स यस्य उभयोः सम धृत इति भवति। तदा समदण्डो राजा उभय लोकरक्षको भवतीति भावः ॥१९५॥ इति वचनात् न हि महीभुजां पुत्रशत्रुभ्याम् अन्यत्र निग्रहविग्रहव स्थितिः राज्ञा पुत्रदोषी भुक्ता निग्रहानुग्रहस्था न भवति। यत्र पुत्राः उचित एव नरो निर्मलमत च दोषाः स प्रभुरिति व्यवस्था राजधर्मा भवति। तत् तस्मात् अस्य वारिषेणस्य रत्नहारापहारेण स्त्रैलम्बितस्य रत्नहारस्य अपहारो मोषणं तेन अपहृतं नष्टं चरितं सदाचारप्रवृत्तिर्यस्य पुत्रकस्य पुत्रकस्य एवस्य शनो: न प्रायश्चित्ताचारवशो दण्डः समस्ति। अस्य प्राणघात एव समुचितं शासनं विधेयं इति व्यवस्थितिसूचितायाः आदेशो यस्मिन् तथाभूतात्मिनृपादेशात् आज्ञायाः आगस्य तं सदाचारमहान्तं सदाचारेण तत्परीतेन आचारेण आपणिकानि

पाल्लेन महान्त पूज्य प्रहरन्त ते तल्वरानुचरा देवनाभि कृतानि प्रातिहार्याणि श्रेणिकभूपाय न्यवेदयन्। दानविनरान् वाणसमूहान्, प्रसूनपेशरत्ना पुष्परचितनिजानामालात्वम्, प्रमिलमण्डलानि चक्रमण्डलानि कर्ण-कुण्डलताम्, कृपाणनिकरान् खड्गसमूहान् मौक्तिकहारत्वम् एवम् अवराण्यपि अन्यान्यपि अस्त्राणि भूषणताम् अलङ्कारताम् अनुसरन्ति भजन्ते। निबुध्य ज्ञात्वा तद्ध्यानेति-तस्य वारिषेणस्य ध्यानधैर्येण ध्यानस्य स्थैर्येण प्रवृद्धानन्दतया स्वयमेव पुरदेवताना करैः विकीर्यमाणमरतकप्रसवोपहार नगरदेवीना हस्ते प्रवृष्यमाण-सुरवृक्षपुष्पवर्षिर्यद तम्। अम्बरेति-अम्बरे नभसि चरन्तीति अम्बरचरा आकाशगामिनस्ते च ते कुमारा देवविशेषा तैं आस्फाल्यमानाश्च वाद्यमानाश्च ते आनकाश्च दुन्दुभय तेषा निकर समूहो यत्र तम्। अनिमिषेति—अनिमिषा देवा तेषा निकाय समूह तेन कीर्त्यमानाश्च प्रशस्यमानाश्च ता स्तुतयस्तासा व्यतिकरो मिश्रण यत्र, तम् इत्यत्तो महामहोत्सवावतारं च निचाय्य अवलोक्य, सत्वरम् अतिभीतिविस्मि-तान्त करणा अतिशयभयेन विस्मितानि आश्चर्यं प्राप्तानि अन्त करणानि मनासि येषा ते तलवरानुचरा श्रेणिकधरणीश्वरायेद निवेदयामासु।

[पृ० ७७] नरवर मोत्ताल सत्वर तत्रागत सन् कुमारेति-कुमारस्याचार कुमारस्य सत्प्रवर्तन तस्माज्जातो योऽनुराग स्नेह तस्य रसेन उत्कटतया उत्सारितमृतिभीतिनिमगात् उत्सारितो निराकृत मृति-भीतिनग, मरणभयसम्पर्को येन तस्मात् मृगवेगात् गौरात् अवगतो ज्ञात आमूलं मूलमारभ्य आदित इति भाव वृत्तान्त प्रवृत्ति येन स श्रेणिक त कुमार सास्रु क्षमयामास। क्षमाम् अयाचतेति भाव। नृपनन्दनोऽपि श्रेणिकपुत्रो वारिषेणोऽपि प्रतिज्ञातसमयावसाने इयन्त काल रात्रिप्रतिमायोग बिभर्मीति प्रतिज्ञातस्य समयस्य कालस्य अवसाने अन्ते, (वारिषेण सुरदेवस्यान्तिके तपो जग्राह) एव विचार्य दीक्षा जग्राह। क विचार कृत्वा। 'प्राणिना सुलभसम्पाता खलु ससारे व्यसनविनिपाता' खलु अस्मिन् ससारे व्यसननिपाता सकटानाम् आघाता सुलभागमा जीवानाम्। 'तदलमत्र कालकवलनावलम्बेन विलम्बेन' तस्मात् अत्र भवे विलम्बेन कालयापनेन अल कालयापन मया न क्रियते। यत तत्कालयापन कालकवलनालम्बन कालस्य यमस्य कवलनाय भक्षणाय अवलम्बनम् अधिकरण भवेत्। एषाऽहमिदानीम् अवाप्तयथार्थमनीषोन्मेष तावदात्महितस्योपस्करिष्ये" । एषो अह (वारिषेण) इदानीमधुना अवाप्ताया लब्धाया यथार्थमनीषाया परमार्थभूताया मनीषाया मते उन्मेष उदया जन्म येन स तथाभूतोऽहम् अभवम्। अधुना मम यथार्थात्मस्व-रूपग्राहिण्या बुद्धेर्जन्म जातमिति भाव। तावत् प्रथमम् आत्महितस्य उपस्करिष्ये आत्महिते पुन पुनर्यत्न करिष्ये इति भाव। इति निश्चयमुपश्लिष्य इति निश्चय कृत्वा। आभाष्य च पितर जनकस्य श्रेणिकस्य अनुमति लब्ध्वा च, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाग्रहम् आपिष्य आसमन्तात् पिष्ट्वा परित्यज्येत्यर्थ, आचार्यस्य सुरदेवस्य अन्तिके समीपे तपो जग्राह। भवति चात्र श्लोक—विशुद्धमनसामिति—निर्मलचित्तानाम् परिच्छेदपरा-त्मना परिच्छेदे यथार्थात्मस्वरूपनिर्णये तत्पराणां सदाचारखिलैं समीचीनाचारै खिला अप्रहता रहिता इत्यर्थ। 'द्वे खिलाप्रहते समे' इत्यमर। तैं खलैर्दुर्जनैं कृता विघ्ना किं कुर्वन्ति का हानि जनयितु प्रभवन्ति। न कामपि ॥१९६॥

इत्युपासकाध्ययने वारिषेणकुमारप्रव्रज्याव्रजनो नाम त्रयोदश कल्प ॥१३॥

१४ स्थितिकारकीर्तनो नाम चतुर्दशः कल्पः

[पृष्ठ ७८-७९] पुन 'इष्ट धर्मे नियोजयेत्' इष्ट प्रिय जन मित्र बन्धु वा धर्मे ससारदुःखत सत्वान् उत्तमे सुखे धरति इत्येव स्वरूपवति धर्मे नियोजयेत् स्थापयेत् तथा आतुरस्य व्याधितस्य अगदका-रोपयोग इव गदो रोग करोतीति कार अगद नीरोग करोतीति अगदकार औषध तस्य उपयोग इव प्राशनम् अनिच्छन्नोऽपि जनो कुशलैं हितकामैश्चतुरैं क्रियमाण आयत्याम् उत्तरकाले श्रेयसे हितायावश्य भवति तथा धर्मम् अनिच्छन्नपि जन्तोर्धर्मसबन्ध क्रियमाण आयत्याम् उत्तरभवे अवश्य नि श्रेयसाय मोक्षाय

पृथ्वीनाथस्य पुत्रः सकलवैरिपुराभिषेणः समस्तमनुजपरावि प्रतिसेनया सहितोऽभिषेणो अभियानं यस्य स वारिषेणो नाम। स किल कुमारकाल एव संसारसुखसमागमविमुखमानसः परमवैराग्योद्गुप्तः परमं वैराग्यं संसारभोगनिर्वाणविरक्तिभाव समीर्णः प्रकटीभूतो यस्य पुनः कर्मभूतो वारिषेणः। पूर्वमिथ्यरस पूर्वः अध्यात्मविषये निर्भरस निश्चयरसो यस्य पुनः कर्मभूतः। श्रावकधर्मस्याराधनेन धन्या समृद्धा या विनया बुद्धिस्तया गुरूपासनसंयोगतया च गुरूणां निर्ग्रन्थाचार्याणाम् उपासनासु पूजासु संबीजतया तत्परतया च मनःप्रसन्नशीलोपासकाध्ययनविधिः सम्यक्तया अवसितः निश्चितः उपासकाध्ययनानां श्रावकाचरणविषयभूतानाम् अध्ययनानां आलपाठमा विधिर्येन सः पुनः कर्मभूतः श्रावकधर्मचोदितनिर्भिः विस्मयावहपराक्रमाणां निधानम् स वारिषेण एकदा प्रेतभूमिषु प्रतानां शवानां भूमिषु भूतवासरविभावरी कृष्णचतुर्दशीनिशायां रात्रिप्रतिमास्थितो बभूव। रात्रिप्रतिमायोगेन ध्यानं अध्यात्मध्यानरतोऽभवत्। अथावसरे अस्मिन्प्रसंगे तपाया निशाया परिणतः आमोद माडाम्बकारस्वादिर्येन ननु निशाया मध्यमायं मगधसुन्दरीनामया पण्याङ्गनया पण्या पणेन मूल्येन लभ्या या अङ्गना स्त्री पण्याङ्गना तया वेश्ययैत्यर्थः। आत्मनि स्वस्मिन् विषये अतीवाशक्तचित्तवृत्तिप्रसरो अतीव सुतराम् आसक्ता अभ्यस्ता या चित्तवृत्तिः मनोवृत्तिः तस्याः प्रसरो यस्य एवंभूतो मृगवेगनामा चौरः पश्यतस्तम् आपन्नः आगतः सन् एवमुक्तः—राजश्रेष्ठिनो धनदत्तनामनिष्ठस्य कीर्तिमतीनामाया प्रियतमायाः स्तनमण्डलोदारम् अलङ्कारसारं हारमिदानीमेव आनीय यदि विधापयसि तदा त्वं मे रतिरामः अन्यथा प्रणयविराम इति। प्रियतमाया अत्यन्तवल्लभायाः स्तनमण्डलयो कुचमण्डलयोः उदारं शोभामापादयन्तम् अलङ्कारेषु भूषणेषु सारं श्रेष्ठं विधापयसि ददासि त्वं मे रतिरामः रतौ रतिसुखे रमयतीति रामः अन्यथा प्रणयविरामः प्रणयस्य प्रेम्णः विरामः अवसानम् इति। सोऽपि अनयाङ्गनयेमो मृगवेगः न वशो अधीनः अनङ्गवेगः कामस्य तीव्रता यस्य कामवेगम् असहमानः इति भावः। तद्वचनादेव तस्याः मगधसुन्दर्याः भाषणादेव तथायतनात् तस्याः गृहात् नि सृत्य निर्गत्य धनदत्तस्यागारं धनदत्तश्रेष्ठिनो हर्म्यम् अभिमुख्य आगत्य च निजकलावकात् स्वकलाचातुर्यात् आचरितहारापहारः आचरितो विहितः हारस्य अपहारः मोषणं येन तदिति—तस्य हारस्य किरणानां रश्मीनां निकरः समूहः तेन निबिड-व्यतिकरः संचारः यैः स तथारक्षकैः आरक्षकपुरुषैः अनुसृतः अनुगतः मृगामितु भय इव आचरितुम् असमर्थः पलायितुं अक्षमः श्मशानसमविर्म श्मशानस्य शरीरममत्वत्यागस्य आवेगम् तत्कटतां उपेयुषः जग्मुषः तस्य वारिषेणस्य पुरतः हारम् अपहाय त्यक्त्वा तिरोदधे अन्तर्हितोऽभवत्।

[पृष्ठ ७७] तदनुचरा तस्करसेवका तत्प्रकाशविशेषवशात् तस्य हारस्य कान्तिविशेषवशात् वारिषेणोऽयं ननु राजकुमारः पलायितुम् अक्षमः पितुः श्रेणिकमहीपतेः श्रावकत्वात् उपासकत्वात् इमां जिनेश्वरबिम्बसदृशीम् आकृतिं स्वीकृत्य पुरोऽवस्थापितहारः समास्ते सम्यक् आस्ते स्थितः इत्यवमृश्य विचारं कृत्वा प्रविश्य च विश्वम्भराधीशवसतिनिवेशं विश्वम्भरायाः पृथिव्याः अधीशः स्वामी श्रेणिकनृपः तस्य वेश्मनः गृहस्य निवेशम् अन्तःस्थानं गतवत्सु एतस्य वारिषेणस्य पितुः श्रेणिकस्य प्रतिपादितवृत्तान्ताः कथितप्रवृत्तयः—

दृण्ड इति—दण्डो हि अपराधिशासनोपायः स केवलः एक एव इमं लोकम् इहलोकं परं च परलोकं च स्वर्गादिकं रक्षति इहलोके प्रजासु विनियुक्तो राज्ञा दण्डोपायोऽभीष्टः रक्षति तत्र च प्रजानाम् अनीतेः रक्षणात् स्वर्गप्राप्तिर्भवति इति भावः। राज्ञा नृपेण शत्रौ पुत्रे च यथादोषं दोषम् अनतिक्रम्य धृतः यस्य यादृशो दोषः तादृशैव तस्य शासनं क्रियेत चेत् राज्ञा स दण्डः समयो सम्यक् धृतः इति भवति। तथा समदण्डो राजा उभयलोकरक्षको भवतीति भावः ॥१९५॥ इति वचनात् न हि महीभुजा गुणदोषाभ्याम् अन्यत्र मित्रामित्रव्यवस्थितिः राज्ञा गुणदोषौ मुक्त्वा मित्रशत्रुव्यवस्था न भवति। यत्र गुणाः सन्ति स एव नरो मित्रं यत्र च दोषाः स शत्रुरिति व्यवस्था राज्ञां भवति। तत् तस्मात् अस्य वारिषेणस्य रत्नहाराहारोपहृतचरितस्य रत्नहारस्य अपहारो मोषणं तेन अपहृतं नष्टं चरितं सदाचारप्रवृत्तिर्यस्य दुष्टमतेः दुष्टस्यैव कर्मणः न प्राणप्रयाणादपरो दण्डः समस्ति। अस्य प्राणघात एव समुचितं शासनं विद्यते इति श्रावणिष्ठुरतामा—आदेशो यस्मिन् तथाभूतात्पितुरादेशात् आज्ञायाः आगत्य तं सदाचारमहान्तं सदाचारेण सर्म ककक्कृकारि

पालनेन महान्तः पूज्य प्रहर्षः ते तलवरानुचराः दर्शनानि कुमानि प्रातिहार्याणि श्रेणिकभूपाय न्यवेदयन्। सारविसरान् वाणसमूहान्, प्रसूनशेखरता पुष्परचितशिखामालात्वम्, असिमण्डलानि चक्रमण्डलानि कर्णकुण्डलताम्, कृपाणनिकरान् चन्दनसमूहान् मौक्तिकहारत्वम् एवम् अपराण्यपि अन्यान्यपि अस्त्राणि भूषणताम् अलङ्कारताम् अनुसरन्ति भजन्ते। निशुष्य ज्ञात्वा तद्ध्यानेति—तस्य वारिषेणस्य ध्यानस्थैर्येण ध्यानस्य स्थैर्येण प्रवृद्धानन्दतया स्वयमेव पुरदेवतानां करैः विकीर्यमाणामरतरुप्रसवोपहारं नगरदेवीनां हस्तैः प्रवृष्यमाणसुरवृक्षपुष्पबलिर्यत्र तम्। अम्बरेति—अम्बरे नभसि चरन्तीति अम्बरचराः आकाशगामिनस्ते च ते कुमाराः देवविशेषाः तैः आस्फाल्यमानाश्च वाद्यमानाश्च ते आनकाश्च दुन्दुभयः तेषां निकरः समूहो यत्र तम्। अनिमिषेति—अनिमिषा देवाः तेषां निकायः समूहः तेन कीर्त्यमानाश्च प्रशस्यमानाश्च ताः स्तुतयस्तासां व्यतिकरः मिश्रणं यत्र, तम् इत्थंभूतं महामहोत्सवावतारं च निचाय्य अवलोक्य, सत्वरम् अतिभीतिविस्मितान्तःकरणाः अतिशयभयेन विस्मितानि आश्चर्यं प्राप्तानि अन्तःकरणानि मनांसि येषां ते तलवरानुचराः श्रेणिकधरणीश्वरायेद निवेदयामासुः।

[पृ० ७७] नरवर सोत्ताल सत्वर तत्रागत सन् कुमारेति—कुमारस्याचारः कुमारस्य सत्प्रवर्तनं तस्माज्जातो योऽनुरागः स्नेहः तस्य रसेन उत्कटतया उत्सारितमृतिभीतिनिसर्गात् उत्सारितो निराकृत मृतिभीतिसर्गः, मरणभयसम्पर्को येन तस्मात् मुगर्वेगात् गौरात् अवगतो ज्ञात आमूल मूलमारभ्य आदित इति भाव वृत्तान्त प्रवृत्ति येन स श्रेणिक त कुमार सानु क्षमयामास। क्षमाम् अयाचतेति भाव। नृपनन्दनोऽपि श्रेणिकपुत्रो वारिषेणोऽपि प्रतिज्ञातसमयावसाने इयन्तं कालं रात्रिप्रतिमायोगं विभर्मीति प्रतिज्ञातस्य समयस्य कालस्य अवसाने अन्ते, (वारिषेण सुरदेवस्यान्तिके तपो जग्राह) एवं विचार्य दीक्षां जग्राह। क विचारं कृत्वा। 'प्राणिनां सुलभसम्पाताः खलु समारे व्यसनविनिपाताः' खलु अस्मिन् समारे व्यसननिपाताः सकटानाम् आघाताः सुलभागमाः जीवानाम्। 'तदलमत्र कालकवलनावलम्बेन विलम्बेन' तस्मात् अत्र भवे विलम्बेन कालयापनेन अलं कालयापनं मया न क्रियते। यतः तत्कालयापनं कालकवलनालम्बनं कालस्य यमस्य कवलनाय भक्षणाय अवलम्बनम् अधिकरणं भवेत्। 'एषोऽहमिदानीम् अवाप्तयथार्थमनीषोन्मेषः तावदात्महितस्योपस्करिष्ये'। एषो अहं (वारिषेण) इदानीमधुना अवाप्ताया लब्धाया यथार्थमनीषायाः परमार्थभूताया मनीषाया मतेः उन्मेषः उदयो जन्म येन स तथाभूतोऽहम् अभवम्। अधुना मम यथार्थात्मस्वरूपग्राहिण्या बुद्धेर्जन्म जातमिति भावः। तावत् प्रथमम् आत्महितस्य उपस्करिष्ये आत्महिते पुनः पुनर्यत्नं करिष्ये इति भावः। इति निश्चयमुपश्लिष्य इति निश्चयं कृत्वा। आभाष्य च पितरं जनकस्य श्रेणिकस्य अनुमतिं लब्ध्वा च, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाग्रहम् आपिष्य आसमन्तात् पिष्ट्वा परित्यज्येत्यर्थः, आचार्यस्य सुरदेवस्य अन्तिके समीपे तपो जग्राह। भवति चात्र श्लोकः—विशुद्धमनसामिति—निर्मलचित्तानाम् परिस्छेदपरात्मना परिच्छेदे यथार्थात्मस्वरूपनिर्णये तत्पराणां सदाचारखिलैः समीचीनाचारैः खिला अप्रहता रहिता इत्यर्थः। 'द्वे खिलाप्रहते समे' इत्यमरः। तैः खलैर्दुर्जनैः कृता विघ्नाः किं कुर्वन्ति कां हानिं जनयितुं प्रभवन्ति। न कामपि ॥१९६॥

इत्युपासकाध्ययने वारिषेणकुमारप्रव्रज्याव्रजनो नाम त्रयोदश कल्प ॥१३॥

१४ स्थितिकारकीर्तनो नाम चतुर्दशः कल्पः

[पृष्ठ ७८-७९] पुनः 'इष्टं धर्मे नियोजयेत्' इष्टं प्रियं जनं मित्रं बन्धुं वा धर्मे समारद्ध खत मत्वान् उत्तमे सुखे धरति इत्येव स्वल्पवति धर्मे नियोजयेत् स्थापयेत् तथा आतुरस्य व्याधितस्य अगदकारोपयोग इव गदो रोगः करोतीति कारः अगदं नीरोगं करोतीति अगदकारः औषधं तस्य उपयोग इव प्राशनम् अनिच्छतोऽपि जन्तोः कुशलैः हितकामैश्चतुरैः क्रियमाणः आयत्याम् उत्तरकाले श्रेयसे हितायावश्य भवति तथा धर्मम् अनिच्छतोऽपि जन्तोर्धर्मसंबन्धः क्रियमाणः आयत्याम् उत्तरभवे अवश्यं निःश्रेयसाय मोक्षाय

पृथ्वीभार्यस्य पुत्रः सकलवैरिपुराभिषेणः समस्तजनमराति प्रतिषेणया सहितोऽभिषेणो अभिमुखः यस्य स वारिषेणो नाम। स किल कुमारकाल एव संसारसुखममागमविमुखमानसः परमवैराग्यासुमूष परमं वैराग्यं संसारभोगनिर्गमनविरक्तिभावः तद्भोगे प्रकटीभूतो यस्य पुनः कथंभूतो वारिषेणः। पूर्णनिमयरतः पूर्ण अध्यात्मविषये निमग्नरसः निमग्नरसो यस्य पुनः कथंभूतः। श्रावकधर्मस्याराधनेन अस्या सम्यक् या विषया बुद्धिस्तया गुरूपासनसंबोधनतया च गुरूणां निग्रन्थाचार्याणाम् उपासनासु पूजासु संबोधनत्वा तत्परतया च मन्त्रगणसिद्धोपासकाध्ययनविधिः सम्यक्तया अवस्थितः निश्चितः उपासकाध्ययनानां श्रावकाचरणविषयभूतानाम् अध्ययनानां ज्ञानपाठानां विधिर्येन सः पुनः कथंभूतः आश्चर्यचर्योदधिनिधिः विस्मयावह पराक्रमाणां निधानम् स वारिषेण एकदा प्रेतभूमिषु प्रेतानां शवानां भूमिषु मृतवासरविभावरी कृष्णचतुर्दशीनिशायां रात्रिप्रतिमास्थितो बभूव। रात्रिप्रतिमायोगेन धर्मध्याने अध्यात्मध्यानरतोऽभवत्। अत्रान्तरे अस्मिन्प्रसंगे अपायायां निशायां परिणतः आभोग पाठान्धकारत्वादिर्भव खलु निशायां मध्यभागे मगधसुन्दरीनामका पण्याङ्गनया पण्या पणेन मूल्येन लभ्या या अङ्गना स्त्री पण्याङ्गना तया वेश्यया। आत्मनि स्वस्मिन् विषय अतीवासक्तचित्तवृत्तिप्रसरो अतीव सुतराम् आसक्ता सम्पृक्ता या चित्तवृत्तिः मनोवृत्तिः तस्याः प्रसरो यस्य एवंभूतो मगधेशनामा चौरः समयतलम् आपद्य आगत्य उम् एवमुक्त—राजश्रेष्ठिनो धनदत्तनामनिष्ठस्य कीर्तिमतीनामाया प्रियतमायाः स्तनमध्यलोलारम् अलङ्कारसारं हारमिहानीयैव आनीय यदि विभावयसि तदा त्वं मे रतिरामः अन्यथा प्रणयविरामः इति। प्रियतमायाः अत्यन्तवल्लभायाः स्तनमध्यलमो कुचमध्यलम्बी उदारं शोभामापादयन्तम् अलङ्कारेषु भूषणेषु सारं श्रेष्ठं विभावयसि ददासि त्वं मे रतिरामः रतौ रतिसुखे रमयतीति रामः अन्यथा प्रणयविरामः प्रणयस्य प्रेम्णः विरामः अवसानम् इति। सोऽपि मदनाशुगवेगो मृगवेगः न असौ मचीनः अनङ्गवेगः कामस्य तीक्ष्णो यस्य कामवेगम् असहमानः इति भावः। तद्वचनादेव तस्याः मगधसुन्दर्याः मापनादेव तदायत्तत्वात् तस्याः महत्त्वं निशम्य निर्गत्य धनदत्तस्याकारं धनदत्तश्रेष्ठिनो हर्म्यम् अभिभूय आगत्य च निजकलाकलापात् स्वकलाचातुर्यात् आचरितहारापहारः आचरितो विहितः हारस्य अपहारः मोषणं येन तद्दिति—तस्य हारस्य किरणानां रश्मीनां निकरः समूहः तेन निश्चितचरणयोरुपचारैः यैः स तलारानुचरैः आरक्षकपुरुषैः अनुसृतः अनुगतः मूषायितुं मय इव आचरितुम् असमर्थः पलायितुं असमः व्युत्सर्गादिगां व्युत्सर्गस्य शरीरममत्वत्यागस्य आवेशम् उत्कटता उपेयुषः प्राप्तस्य तस्य वारिषेणस्य पुरतः हारम् अपहाय त्यक्त्वा तिरोधत्ते अन्तर्हितोऽभवत्।

[पृष्ठ ७७] तदनुचराः तलवरसेवकाः तत्प्रकाशविशेषवशात् तस्य हारस्य कान्तिविशेषवशात् 'वारिषेणोऽयं ननु राजकुमारः पलायितुम् अक्षमः पितोः चेलनाश्रेणिकयोः श्रावकत्वात् तपास्वरत्वात् इमां जिनेश्वरबिम्बसदृशीम् आकृतिं स्वीकृत्य पुरोऽभूत स्थापितहारः अमात्र सम्यक् आस स्थितः' इत्येवमस्य विचारं कृत्वा प्रविश्य च विजयमरातीनामवेश्मनिवेशे विश्वंभरायाः पृथिव्याः अधीशः स्वामी श्रेणिकनृपः तस्य वेश्मनः गृहस्य निवेशम् अन्तःस्थानं गत्वापि एतस्य वारिषेणस्य पितुः श्रेणिकस्य प्रतिपादितवन्तः कथितप्रवृत्तम्—नृपः इति—दण्डो हि अपराधविनाशनोपाय स केवल एक एव इमं लोकम् इहलोकम् परं च परलोकं च स्वर्गादिकं रक्षति इहलोके प्रजासु विनियुक्तो राजा दण्डापायोऽस्तीत्येभ्यो रक्षति ततश्च प्रजानाम् अनीतेः रक्षणात् स्वर्गप्राप्तिर्भवति इति भावः। राज्ञा नृपेण शत्रौ पुत्रे च यथादोषं दोषम् अनतिक्रम्य भूतः यस्य माधुर्यो तादृशेन तस्य शासनं क्रियेत चेत् राज्ञा स दण्ड समदो सम पुन इति भवति। तथा समवशो राजा उभयलोकरक्षको भवतीति भावः ॥१९५॥ इति वचनात् न हि महीभुजा गुणदोषाभ्याम् अन्यत्र मित्रामित्रव्यवस्थितिः राज्ञा गुणदोषौ मुक्त्वा मित्रशत्रुव्यवस्था न भवति। यत्र गुणाः सन्ति स एव नरो मित्रं यत्र च दोषाः स शत्रुरिति व्यवस्था राजनृणा भवति। तत् तस्मात् अस्य वारिषेणस्य रत्नहारापहारोपार्जनचरितस्य रत्नहारस्य अपहारो मोषणं तेन उपार्जितं गर्ह्यं चरितं तदाचारप्रवृत्तिर्यस्य पूजकयोः पूजकयोर मनोः न प्रायश्चित्तोपसर्गकरो दण्डः समस्ति। अस्य प्राणघात एव समुचितं शासनं विधत्ते इति न्यायनिष्ठुराणाम् आर्याणां अस्मिन् तथाभूताभिमुखत्वेनात् आज्ञाया आयत्तं तं तदाचारमहान्तं महाचारेण समीचीनेन आचारेण मातङ्गनाटि

पालनत महान्त पूत्र प्रहृष्टेन ते तत्रचरानुचरा देवताभि कृतानि प्रातिहार्याणि श्रेणिकभूपाय न्यवेदयन्। शरविसरान् बाणसमूहान्, प्रसूनसौरभ्या पुष्परचितशिलीमालात्वम्, भ्रमिलमण्डलानि चक्रमण्डलानि कर्णकुण्डलताम्, कृपाणनिकरान् खड्गसमूहान् मौक्तिकहारत्वम् एवम् अपराण्यपि अन्यान्यपि अस्त्राणि भूषणताम् अलङ्कारताम् अनुसरन्ति भजन्ते। निबुध्य ज्ञात्वा तद्ध्यानेति–तस्य वारिषेणस्य ध्यानधैर्येण ध्यानस्य स्थैर्येण प्रवृद्धानन्दतया स्वयमेव पुरदेवताना करैः विकीर्यमाणामरतरुप्रसरोपहार नगरदेवीना हस्तैः प्रवृष्यमाणसुरवृक्षपुष्पावकिर्यत्र तम्। अम्बरेति–अम्बरे नभसि चरन्तीति अम्बरचरा आकाशगामिनस्ते च ते कुमारा देवविशेषा तै आस्फाल्यमानाश्च वाद्यमानाश्च ते आनकाश्च दुन्दुभय तेषा निकर समूहो यत्र तम्। अनिमिषेति–अनिमिषा देवा तेषा निकाय समूह तेन कीर्त्यमानाश्च प्रशस्यमानाश्च ता स्तुतयस्तासा व्यतिकर मिश्रण यत्र, तम् इत्थन्तो महामहोत्सवावतार च निचाय्य अवलोक्य, सत्वरम् अतिभीतिविस्मितान्त करणा अतिशयभयेन विस्मितानि आश्चर्यं प्राप्तानि अन्त करणानि मनासि येषा ते तत्रचरानुचरा श्रेणिकधरणीश्वरायेद निवेदयामासु।

[पृ० ७७] सत्वर सोत्ताल सत्वर तत्रागत सन् कुमारेति–कुमारस्याचार कुमारस्य सत्प्रवर्तन तस्माज्जातो योऽनुराग स्नेह तस्य रसेन उत्कटतया उत्सारितमृतिभीतिनिसर्गात् उत्सारितो निराकृत मृतिभीतिसर्ग, मरणभयसम्पर्को येन तस्मात् मृगवेगात् तीरात् अवगतो ज्ञात आमूल मूलमारभ्य आदित इति भाव वृत्तान्त प्रवृत्ति येन स श्रेणिक त कुमार सानु क्षमयामास। क्षमाम् अयाचतेति भाव। नृपनन्दनोऽपि श्रेणिकपुत्रो वारिषेणोऽपि प्रतिज्ञातसमयावसाने इयन्त काल रात्रिप्रतिमायोग बिभर्मीति प्रतिज्ञातस्य समयस्य कालस्य अवसाने अन्ते, (वारिषेण सुरदेवस्यान्तिके तपो जग्राह) एव विचार्य दीक्षा जग्राह। क विचार कृत्वा। 'प्राणिना सुलभसम्पाता खलु ससारे व्यसनविनिपाता' खलु अस्मिन् ससारे व्यसननिपाता सकटानाम् आपाता सुलभागमा जीवानाम्। 'तदलमत्र कालकवलनावलम्बेन विलम्बेन' तस्मात् अत्र भवे विलम्बेन कालयापनेन अल कालयापन मया न क्रियते। यत तत्कालयापन कालकवलनालम्बन कालस्य यमस्य कवलनाय भक्षणाय अवलम्बनम् अधिकरण भवेत्। 'एषोऽहमिदानीम् अवाप्तयथार्थमनीषोन्मेष तावदात्महितस्योपस्करिष्ये'। एषो अह (वारिषेण) इदानीमधुना अवाप्ताया लब्धाया यथार्थमनीषाया परमार्थभूताया. मनीषाया मते उन्मेष उदया जन्म येन स तथाभूतोऽहम् अभवम्। अधुना मम यथार्थात्मस्वरूपग्राहिण्या बुद्धेर्जन्म जातमिति भाव। तावत् प्रथमम् आत्महितस्य उपस्करिष्ये आत्महिते पुन पुनर्यत्नं करिष्ये इति भाव। इति निश्चयमुपश्लिष्य इति निश्चय कृत्वा। आभाष्य च पितर जनकस्य श्रेणिकस्य अनुमति लब्ध्वा च, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाग्रहम् आपिष्य आसमन्तात् पिष्ट्वा परित्यज्येत्यर्थ, आचार्यस्य सुरदेवस्य अन्तिके समीपे तपो जग्राह। भवति चात्र श्लोक—विशुद्धमनसामिति—निर्मलचित्तानाम् परिच्छेदपरात्मना परिच्छेदे यथार्थात्मस्वरूपनिर्णये तत्पराणा सदाचारखिलै समीचीनाचारे खिला अप्रहता रहिता इत्यर्थ। 'द्वे खिलाप्रहते समे' इत्यमर। तै खलैर्दुर्जनै कृता विघ्ना किं कुर्वन्ति का हानि जनयितु प्रभवन्ति। स कामपि ॥१९६॥

इत्युपासकाध्ययने वारिषेणकुमारप्रव्रज्याव्रजनो नाम त्रयोदश कल्प ॥१३॥

१४ स्थितिकारकीर्तनो नाम चतुर्दशः कल्पः

[पृष्ठ ७८-७९] पुन 'इष्ट धर्मे नियोजयेत्' इष्ट प्रिय जन मित्र बन्धु वा धर्मे समान्तु सत. सत्वान् उत्तमे सुखे धरति इत्येव स्वरूपवति धर्मे नियोजयेत् स्थापयेत् यथा आतुरस्य व्याधितस्य अगदकारोपयोग इव गदो रोग करोतीति कार अगद नीरोग करोतीति अगदकार औषध तस्य उपयोग इव प्राशनम् अनिच्छतोऽपि जन्तो कुशलै हितकामैश्चतुरै क्रियमाण आयत्याम् उत्तरकाले श्रेयसे हिताय भवति तथा धर्मम् अनिच्छतोऽपि जन्तोर्धर्मसम्बन्ध क्रियमाण आयत्याम् उत्तरत्र भवस्य नि श्रेयसाय सौख्याय

भवति इति भावमति इत्युदरम्भवृत्ति (वारिषेणमुनि स्वसुहृदं पुष्पदन्तं गुरुदेवपार्श्वे दीक्षां ग्राहयामास) तपःपरिग्रहेऽपि तपस स्वीकारेऽपि अहृपासुवेदितत्वात्, पुष्पदन्तेन वयस्येन सह बाल्ये आरमन् धूलिक्रीडा-करणात् चिरपरिचयत्वप्रथमरहाच्च दीक्षाकालपर्यन्तं परिचय अन्योन्यस्वभावपरिज्ञान तेन वद्धप्रमवत्वाच्च संजातदृढस्नेहत्वात् । आत्मन प्रियसुहृदं स्वस्य प्रियं मित्रम् कस्य नन्दनं शाण्डिल्यायनस्य शाण्डिल्यस्य अपत्यं शाण्डिल्यायन तस्य नन्दनं पुत्रं कथंभूतस्य शाण्डिल्यायनस्य पुष्पवतीति—पुष्पवती भट्टिन्या पुष्पवत्या-ख्याया ब्राह्मण्या भर्तु अमात्यस्य नन्दन पुत्रं हस्तेन गृहीत्वा कथंभूतम् अमात्यनन्दनम् अभिनवेति—अभि नवो नूतन स चासौ विवाहश्च तस्मिन् कृतकरसूत्रबन्धनं पुष्पदन्ताभिधानम् एतदायतनामुगमनेन एतस्मान्नगरं गृहं तत् अनुगम्य गमनेन स्वामिपुत्रत्वात् स्वामिन श्रेणिकनृपस्य पुत्रत्वात्, प्रतिपन्नमहामुनिकल्पत्वाच्च स्वीकृतमहाव्रतविमतिकल्पत्वात् आचरितात्युत्थानम् आचरितं विहितम् अभ्युत्थानं गौरवेण आसनादुत्थाय पूर्वं प्रति गत्वा तं स्वीकाय आसने स्थापनादिकरणं येन तं पुष्पदन्तं हस्तेन गृहीत्वा पुन अस्माद् अस्मात्सदनात् मां व्यावर्तयिष्यत्ययं भगवान् अधुना स्वगृहं याहीति वदिष्यति पुष्पोऽयमिति तेन सह अनुसरन्तम् अनुयान्तम् गुरु-पार्श्वं गुरोर्दीक्षाचार्यस्य समीपम् अवाप्तवन्तम् आनतवन्तं (तं वर्धयित्वा गुरोः दीक्षादाने सूचनां करोति स्म ।)

भगवन् हे पूज्य एष खलु महानुभावतास्वात्सम्भवतः महासज्जनता एव श्रद्धा तस्या आधारभूतो गृह इव स्वभावेनैव गम्भीर संसारात्कुद्विग्नः भागानुभवने अनेकान्तापुपभोग्यपदार्थानुभव विरक्तचित्तः सर्वे च ते संयता जैनमुनय तेषां वृत्ते महाव्रतादिके तस्य भावनार्थं भगवत पूज्यस्य भवत पादमूलं चरणसमीपम् आयात आगत । इति सूचयित्वा भगवतोऽभ्यर्णे भगवतो दीक्षाचार्यस्य समीपे कामकरिकर्णिकाकर्ण-भारमिव कामो मदन स एव करी गजस्तस्य कर्णिका अम्बा तस्य वहमार परिवारसमूहमिव मूर्धजनिकर मर्धनि मस्तके जायन्ते इति मूर्धजा शिरोरुहा तेषां निकरं समूहम् अनल्पम् लोचं कारयित्वा दीक्षां ग्राहयामास अजीग्रहत् । सोऽपि पुष्पदन्त तदुपरोधावेशात् तस्य वारिषेणमुने उपरोधावेशात् आग्रहवशात् दीक्षामादाय हृदयस्य मनसः अविदितवैरित्वात् अविदितम् अज्ञातं च तद्वैरित्वं लोकाचरितत्वरूपं वैरं यस्य मनस तत् हृदयप्रसिद्धत्वाच्च कामोपभोगेन ग्रसितत्वाच्च पीडितत्वाच्च । (स वारिषेणरक्षिता रक्ष्यमाणोऽपि अन्या ध्यायन् द्वादशसमा अनैषीत् ।) पञ्जरपात्र पतत्त्रीव पञ्जरगत स्वपते पक्ष्यादिवत् तत्पञ्जरं पक्ष्यादिबन्धनपञ्जरम् । तदेव पात्रम् आधेयधारकवस्तु तत्र पतत्त्रीव पक्षीव यथा पक्षी पञ्जरे बद्ध्वा रक्ष्यते तथा पुत्राङ्कु सप स मन्य-थजितकीर्तिप्रतापो रक्ष्यते मन्मथस्तस्या मन्मथसामर्थ्येन कीर्तित स्वभित प्रताप विक्रमो यस्य । वाडवानलाद-भितो वाडवानलेन दृढबन्धनेन आकालित स्तम्भे बद्ध व्यालसुण्डाल इव करभ इव चाहर्निशं रात्रिन्दिवं वारिषेणविभा रक्ष्यमाण स प्रियकान्ता ध्यायति स्मैवम् । अलकेति—स्मेरबिम्बाधराया ईषद्धसमुखो बिम्ब-फलसमानो रक्तोऽधरो यस्या सा तस्या प्रियायास्तन्मुख पुरत इव समास्ते । कथंभूतं मुखम् अलकमकरन्दम् अलकाख्यपुष्पगुच्छमा अलकात्समीपस्था केशा अलका भ्रमरेन तेषां भ्रमरेण भ्रमरेण मे मम प्रियाया वदनं रम्यं सुन्दर प्रतिभाति । पुन कथंभूत भ्रूलतान्तर्कान्तं भ्रुवो लते इव भ्रूलते तयो मतः मध्यं तेन कान्तं सुन्दरम् । पुन कथंभूतं नवनयनविकासं नवो नूतन नयनयोर्नवोविकाश शृङ्गारको भाव यत्र तत् । पुन कथंभूतं चारु-गण्डस्थलं च चारुणी मनोहरे गण्डस्थले यस्य तत् पुन कथंभूतं मधुरवचनगर्भं मधुराणि वचनानि गर्भे यस्य तत् ॥१९७॥

कर्णावतंसेति—ये भूपा राजान प्रणयिनीषु प्रेमवतीषु कान्तासु कर्णयो श्रोत्रयो अवतंसौ भूषणे तन्वन्ति रचयन्ति मुक्तामण्डनं च कपोलयोरङ्गवल्ली च रचयन्ति । रागात् प्रेम्णा वक्षोजयो स्तनयो पत्र-वल्लीलेखनम् जघने काञ्ची भाभरणानि रचनाविशेषं च रचयन्ति पादेषु अलक्तककरणेन च यावकरञ्जन च वचनानि केशपाशानि कुर्वन्ति त एव धन्या भाग्यवन्तः ॥१९८॥

[श्लो ८] ऊीलति—प्रियस्यानुकूलितलीला प्रियानयन स्निग्धो बोधन्ते विशेषा यस्मै स विलास भाव्या विकसन्ती शोभमाने नयने एव उत्पले नीलकमले यस्या सा तस्या पुनः कथंभूता सा । स्मारति—स्मार महान् य स्मर नाम तस्मात्तरङ्गितचञ्चल अधरपल्लव ओष्ठकिसलयं यस्याः सा तस्या पुन कथंभूता । उत्तुङ्गेति—उत्तुङ्गौ उन्नतौ पीवरौ पुष्टौ च तौ स्तनौ स्तनौ तयोर्मण्डलं यस्याः सा तस्या । कथं-

सह तस्या कदा सगम स्यात् ननु वितर्के ॥१९९॥ किं च —चित्रेति—कानने उत्कण्ठित वेपमुनि इत्थ दिनानि गमयति। दिनगमनव्यापारान् वर्णयति—चित्रालेखनकर्मभि निजमनसि निखाताया इव प्रियाया वस्त्रे चित्रलेखनकार्ये, **मनसिजेति**—मनसिजो मदन तस्य व्यापारा: मधुरप्रवृत्तय तेषा साराणा स्मरणे, **गाढेति**—सन्तत मनसा दृढभावनया अग्रस्थिताया प्रियतमाया पादयो असकृत् मूर्ध्ना प्रणामकरणक्रमै स्वप्न इति सहवासवियोगविषये स्नेहदु खागमै वेपमुनि दिनानि कानने समुत्कण्ठित यापयति स्म ॥२००॥ इति निर्वन्धेन अनवरत ध्यायन् चिन्तयन् द्वादशवर्षाणि समानैषीत् यापयति स्म। शूरदेवभट्टारकोऽप्याभ्या सह तेषु विषयेषु शूरदेवाचार्योऽपि वारिषेणपुष्पदन्तमुनियुगलेन सह तेषु तेषु विषयेषु विविधदेशेषु तीर्थकृताम् ऋषभादिवर्धमानान्ताना चतुर्विशतेर्जिनवराणा पञ्चकल्याणैर्मङ्गलानि मङ्ग पुण्य लान्तीति यच्छन्ति भक्तेभ्य इति मगलानि म पाप गालयन्तीति वा मगलानि पुण्योत्पादीनि पापविनाशीनि च स्थानानि जन्मादिनिर्वाणपर्यन्तानि स्थानानि तीर्थभूमीर्वन्दित्वा पुनर्विहारवशात्तत्रैव जिनायतनोत्तमितोपान्तशैलचूले पञ्चशैलपुरे जिनानाम् आयतनानि गृहाणि तै उत्तसिता भूपिता उपान्ता समीपस्था शैलस्य पर्वतसवन्धिनी चूला शिखर यस्य तस्मिन् पञ्चशैलपुरे राजगृहे, समागत्य आत्मन (शूरदेवमुने) वारिषेणऋषेश्च तद्दिवसे पर्युपासितोपवासत्वात् स्वीकृतचतुर्विधाहारत्यागात्, त पुष्पदन्तम् एकाकिनम् एव प्रत्यवसानाय आहाराय आदिदेश आज्ञा ददाविति भाव। 'भक्षित-चर्वित-लीढ-प्रत्यवसित-गिलित-खादितरसातम्' इत्यमर। तदर्थम् आदिष्टेन तेन च चिन्तितम्। 'चिरात् कालात् खल्वेकस्मादपमृत्योर्जीवन्नुद्धरितोऽस्मि। दीर्घकालोऽतीत खलु अद्य एकस्मादपमरणात् जीवन् उत्तीर्णोऽभवम् (सप्रति हि मेऽन्यूनानि विपुलानि पुण्यानि अवेक्ष्य दृष्ट्वा दीक्षा मुमुक्षुणा दीक्षा त्यक्तुम् इच्छा यस्य तथाभूतेन तेन मङ्क्षु शीघ्र पाशपरिक्षेपक्षरितेनेव, पाशस्य जालस्य परि सर्वत क्षेप आवरण तस्मात् क्षरितेन च्युतेन पक्षिणा विहगेन इव पलायितुम् आरब्धम्। वारिषेण तथाप्रस्थानात् कृतोदर्कं वितर्क्य ज्ञातोत्तरफल यथा स्यात्तथा तस्य शीघ्र गमनमवलोक्य दीक्षाया अनेन जलाञ्जलिर्दत्तेति ऊह कृत्वा 'अवश्यमय जिनरूप जिहासुरिव सोत्सुक्य विक्रमते जिनरूप जिनदीक्षा जिहासुरिव त्यक्तुमिच्छन्निव उत्कण्ठित विक्रमते अश्ववद्वेगेन याति। 'तदेप कपायमुष्यमाणधिषण समयप्रतिपालनाधिकरणैर्न भवत्युपेक्षणीय' तस्मात् एप पुष्पदन्तमुनि कपायै क्रोधादिभि मुष्यमाणा अपह्रियमाणा धिषणा बुद्धि यस्य स समयस्य जिनशासनप्रतिपालने रक्षणे अधिकरणै आधारभूतै जिनशासनरक्षणभारवाहिभि न भवत्युपेक्षणीय न त्याज्य इति अद्धा यथार्थम् अञ्जसा अनुध्याय विचिन्त्य तमनुरुध्य त पुष्पदन्तम् अनुसृत्य एतत्स्थापनाय जनकनिकेत पितु श्रेणिकभूपस्य निकेत गृह जगाम। चेलिनी महादेवी पुत्र मित्रेण सत्र सह उपढौकमानम् आगच्छन्तम् अवेक्ष्य तदभिप्रायपरीक्षार्थ सराग वीतराग चासनमयच्छत्। वारिषेणस्तेन सम चरमोपचार चरम अन्तिम उपचार शम अस्मिन् तत् चरमोपचार वीतरागोपशमयुक्त विष्टर सिंहासनम् अलकृत्य भूषयित्वा अम्ब, समाहूयता समस्ता अपि आत्मीया स्नुषा।

[पृष्ठ ८१] (तदनु वारिषेणजाया श्वश्र्वा आज्ञया तत्रागता) कथभूतास्ता वनदेवता इव यथा वनदेवता प्रसूनोत्तंसोत्तरङ्गितकुन्तलारामा भवन्ति। पुष्पभूपितोत्तरङ्गितकुन्तलै केशै आसमन्तात् रामा रमणीया भवन्ति। तथा ता वध्वोऽपि कल्पलता इव मणिभूषणरमणीयाङ्गनिर्गमा यथा कल्पलता कल्पवल्लय रत्नालङ्कारमनोहरावयवोत्पत्तय तथा वध्वोऽपि। प्रावृष इव समुन्नद्धपयोधराविद्धमध्यभागा यथा वर्षा समुन्नतजलधरावृतनभोमध्यभागास्तथा समुन्नतस्तनावर्जितावलग्नभागा। सकलजगल्लावण्यलवलिपिलिखिता इव समस्तलोकसौन्दर्यांशरूपलिपिना लिखिता इव सुभगभोगायतनाभोगा सुभगानि रमणीयानि तानि तानि भोगायतनानि शरीराणि तेषाम् आभोग विस्तारो यासा ता। पुन कथभूता। कङ्केलिकाननक्षितय इव पादपल्लवोल्लासितविहारविषया अशोकवनभूमयो यथा पादा मूलानि तानारभ्य पल्लवै किसलयै उल्लासिता शोभिता विहारविषया उद्यानप्रान्ता याभिस्ता तथा इमा वध्वोऽपि पादपल्लवा चरणकिसलया तै उल्लसिता शोभिता विहारविषया लीलाप्रदेशा याभिस्ता। कमलिन्य इव मणिमञ्जीरमणितोन्मदमरालमण्डलस्खलितचलनजलेशया यथा कमलिन्य कमललता रत्नजडितनूपुररवमिव शब्द कुर्वाणा उन्मदा उन्मत्ता

भवति स्म तत आत्मनि हरमुरागबुद्धि (वारिषेणमुनिः स्वसुहृदं पुष्पदन्तं गुरवेषपार्श्वे दीक्षां ग्राहयामास) तपःपरिग्रहेऽपि तपसः स्वीकारेऽपि सहपांसुक्रीडितत्वात् पुष्पदन्तेन वयस्येन सह बाल्ये आत्मना धूलिक्रीडाकरणात् चिरपरिचयजनप्रणयरागेण दीर्घकालपर्यन्तं परिचयेन अन्योन्यस्नेहभावपरिज्ञानं तेन च प्रणयस्नेहसंबन्धानुबन्धसहत्वात् । आत्मनः प्रियसुहृदं स्वस्य प्रियं मित्रम् कस्य नन्दनं शाण्डिल्यायनस्य शाण्डिल्यस्य अपरं शाण्डिल्यायनः तस्य नन्दनं पुत्रं कथंभूतस्य शाण्डिल्यायनस्य पुष्पदन्तीति—पुष्पवती भट्टिन्याः पुष्पवत्या भार्याया प्राणप्रिया भर्तुः अमात्यस्य नन्दनं पुत्रं हस्तेन अवलम्ब्य कथंभूतम् अमात्यनन्दनम् अभिनवेति—अभिनवो नूतन स चासौ विवाहश्च तस्मिन् इन्दुकरसूत्रबन्धनं पुष्पदन्ताभिधानम् एतदायतनानुगमनेन एतस्यायतनं गृहं तत् अनुसृत्य गमनेन स्वामिपुत्रत्वात् स्वामिन श्रेणिकनृपस्य पुत्रत्वात् प्रतिपन्नमहामुनिरूपत्वाच्च स्वीकृतमहाव्रतियतिरूपत्वात् आचरिताभ्युत्थानम् आचरितं विहितम् अभ्युत्थानं गौरवेण आसनादुत्थाय पूर्वं प्रति गत्वा तं स्वीकार्य आसने स्थापनादिकरणं येन तं पुष्पदन्तं हस्तेन गृहीत्वा पुनः अस्मात् अस्मात्प्रदेशात् या स्यावन्निष्पत्यर्थं गमनाम् अधुना स्वगृहं याहीति वदिष्यति पुष्पोऽयमिति तेन सह अनुसरन्तम् अनुयान्तम् गुरुपार्श्वं गुरोर्दीक्षाचार्यस्य समीपम् अवाप्तवन्तम् आगतवन्तं (तं दर्शयित्वा गुरोः दीक्षादाने सूचना करोति स्म ।]

भवन्त हे पूज्य एष खलु महानुभावताश्वाभ्यतः महासज्जनता एव भद्रा तस्या आधारभूतो गृह इव स्वभावेनैव भवभोग संसाराद्विग्नः भोगानुभवने भवकान्तारपरिभ्रमणपराङ्मुखे विरक्तचित्तः सर्वे च ते संयता जैनमुनयः तेषां व्रतं महाव्रतादिकं तस्य याचनार्थं भगवत पूज्यस्य भवतः पादमूलं चरणसमीपम् आभाव आगत । इति सूचयित्वा भगवतोऽभ्यर्थं भगवतो दीक्षाचार्यस्य समीपं कामकरिकवाक्रियार्थं आरमिव कामो मदन स एव करी गजस्तस्य कलिका भञ्ज तस्य बहुभार परिवारसमूहमिव मूलनिकर मूर्धनि मस्तके आयन्त इति सूचका शिरोरुहाः तेषां निकरं समूहम् अपनाय्य लोचं कारयित्वा दीक्षां ग्राहयामास अजीग्रहत् । सोऽपि पुष्पदन्त तदुपरोधाक्षेपात् तस्य वारिषेणमुने उपरोधाक्षेपात् आग्रहवशात् दीक्षाममुख हृदयस्य मनसः अविदितवैराग्यात् अविदितम् अज्ञातं च तद्वैराग्यं भौतादिस्वरूपं येन यस्य मनस मन इन्द्रियप्रणिहितत्वाच्च कामपिशाचेन ग्रसितत्वाच्च पीडितत्वाच्च । (स वारिषेणविना राजभवनोऽपि कान्तां ध्यायन् द्वादशसमा अनैषीत् ।) पञ्जरपाश पतत्रीव पञ्जरस्थ बध्यते पक्षपातिर्वन तत्पञ्जरं पक्षपातिबन्धनगृहम् । तदेव पाशम् आपेयवारणबन्धनस्तु तत्र पतत्रीव पक्षीव यथा पक्षी पञ्जरे बद्धो रमते यथा पुराङ्कुश तप स मन्त्रपवितकीलितप्रतापो रमते मन्त्रशक्त्या मन्त्रसामर्थ्येन कीलित स्तम्भित प्रताप विक्रमो यस्य । गारुडमन्त्रावाहितो गारुडमन्त्रैः कृष्टकलन्ततः आश्रमितः स्तम्भे बद्ध व्यालमुखाल इव भुजग इव चारुमिव रात्रिन्दिवं वारिषेणविना रममाण स निजकान्ता ध्यायति स्मैवम् । अलकेति—स्मेरस्मितान्वितया ईषद्धसमुखो नित्य फलमानी स्फोटोऽधरो यस्या सा तस्या प्रियायास्तन्मुखं पुरत इव समास्ते । कथंभूतं मुखम् अलकपाशपरम्परम् अलकाप्रपूर्णकुन्तलाः ललाटसमीपस्था केशा अलका प्रोच्यन्त तेषां वर्धनेन प्रपञ्चेन मे मम प्रियाया वदनं रम्यं सुन्दरं प्रतिभाति । पुन कथंभूत भ्रूलतावर्तकान्तं भ्रुवौ लते इव भ्रूलते तयो वर्तः वर्तनं तेन कान्तं सुन्दरम् । पुन कथंभूतं नवनयनविकासं नवो नूतन नयनयोर्नेत्रयोविकास शृङ्गाररसो वाच यत्र तत् । पुन कथंभूतं वारुणमदहस्तके च वारुणी मदहस्तके यस्य तत् पुन कथंभूतं मधुरवचनगर्भं मधुराणि वचनानि गर्भे यस्य तत् ॥१९७॥

कणावर्तंसेति—ये नृपा राजान प्रणयिनीषु प्रेमवतीषु कान्तासु कर्णयो श्रोत्रयोः अवतंसौ भूषण तन्वन्ति रचयन्ति मुखमण्डनकं च कपोलयोरङ्गनवल्ली च रचयन्ति । रागात् प्रेम्णा वक्षोजयो स्तनयो पत्र तन्वन्ति रचयन्ति मुखमण्डनक च कपोलयोरङ्गनवल्ली च रचयन्ति । रागात् प्रेम्णा वक्षोजयो स्तनयो पत्रवल्लीकेतनम् चमर करो आमरणानि रत्नादिकं च रचयन्ति चारेषु अलक्तकरसेन च यावकरसेन च वचनानि कैतवानि कुर्वन्ति त एव धन्या भाग्यवन्तः ॥१९८॥

[पृष्ठ ८०] कीदृशीति—प्रियस्यानुकृतिर्लीला क्रियागमने स्त्रियो बाऽङ्गने विशेषो जायते न विलासभाग्या विलसन्ती शोभमान नयन एव कराले नीलकमले यस्या सा तस्या पुन कथंभूता सा । स्मारेति—स्मार महान् य स्मर काम तस्मात्तरलितचञ्चलः अधरपल्लव ओष्ठकिसलयं यस्या सा तस्या पुन कथंभूता । तनुतुङ्गेति—तनुदरी समतो पीवरौ पुष्टौ च तौ पयोधरौ स्तनौ तयोर्भरके यस्याः सा तस्याः । यथा

सह तस्या कदा सगम स्यात् ननु वितर्के ॥१९९॥ किं च—चित्रेति—कानने उत्कण्ठित वेषमुनि इत्थ दिनानि गमयति । दिनगमनव्यापारान् वर्णयति—चित्रालेखनकर्मभि निजमनसि निखाताया इव प्रियाया वस्त्रे चित्रलेखनकार्ये, **मनसिजेति**—मनसिजो मदन तस्य व्यापाराः मधुरप्रवृत्तय तेपा साराणा स्मरणै, **गाढेति**—सन्तत मनसा दृढभावनया अग्रस्थिताया प्रियतमाया पादयो असकृत् मूर्ध्ना प्रणामकरणक्रमै स्वप्न इति सहवासवियोगविषये स्नेहदु खागमै वेषमुनि दिनानि कानने समुत्कण्ठित यापयति स्म ॥२००॥ इति निर्वन्धेन अनवरत ध्यायन् चिन्तयन् द्वादशवर्षाणि समानैषीत् यापयति स्म । शूरदेवभट्टारकोऽप्याभ्या सह तेपु विपयेपु शूरदेवाचार्योऽपि वारिषेणपुष्पदन्तमुनियुगलेन सह तेपु तेपु विपयेपु विविधदेशेपु तीर्थकृताम् ऋपभादिवर्धमानान्ताना चतुर्विंशतेर्जिनवराणा पञ्चकल्याणैर्मङ्गलानि मङ्ग पुण्य लान्तीति यच्छन्ति भवतेभ्य इति मगलानि म पाप गालयन्तीति वा मगलानि पुण्योत्पादीनि पापविनाशीनि च स्थानानि जन्मादिनिर्वाणपर्यन्तानि स्थानानि तीर्थभूमीर्वन्दित्वा पुनर्विहारवशात्तत्रैव जिनायतनोत्तसितोपान्तशैलचूले पञ्चशैलपुरे जिनानाम् आयतनानि गृहाणि तै उत्तसिता भूपिता उपान्ता समीपस्था शैलस्य पर्वतसबन्धिनी चूला शिखर यस्य तस्मिन् पञ्चशैलपुरे राजगृहे, समागत्य आत्मन (शूरदेवमुने) वारिषेणऋषेश्च तद्दिवसे पर्युपासितोपवासत्वात् स्वीकृतचतुर्विधाहारत्यागात्, त पुष्पदन्तम् एकाकिनम् एव प्रत्यवसानाय आहाराय आदिदेश आज्ञा ददाविति भाव । 'भक्षित-चर्वित-लीढ-प्रत्यवसित-गिलित-खादितरसातम्' इत्यमर । तदर्थम् आदिष्टेन तेन च चिन्तितम् । 'चिरात् कालात् खल्वेकस्मादपमृत्योर्जीवन्नुद्धरितोऽस्मि । दीर्घ कालोऽतीत खलु अद्य एकस्मादपमरणात् जीवन् उत्तीर्णोऽभवम् (सप्रति हि मेऽन्यूनानि विपुलानि पुण्यानि अवेक्ष्य दृष्ट्वा दीक्षा मुमुक्षुणा दीक्षा त्यक्तुम् इच्छा यस्य तथाभूतेन तेन मङ्क्षु शीघ्र पाशपरिक्षेपक्षरितेनेव, पाशस्य जालस्य परि सर्वत क्षेप आवरण तस्मात् क्षरितेन च्युतेन पक्षिणा विहगेन इव पलायितुम् आरब्धम् । वारिषेण तथाप्रस्थानात् कृतोदर्कं वितर्क्य ज्ञातोत्तरफल यथा स्यात्तथा तस्य शीघ्र गमनमवलोक्य दीक्षाया अनेन जलाञ्जलिर्दत्तेति ऊह कृत्वा 'अवश्यमय जिनरूप जिहासुरिव सौत्सुक्य विक्रमते जिनरूप जिनदीक्षा जिहासुरिव त्यक्तुमिच्छन्निव उत्कण्ठित विक्रमते अश्ववद्वेगेन याति । 'तदेप कपायमुष्यमाणधिषण समयप्रतिपालनाधिकरणैर्न भवत्युपेक्षणीय ' तस्मात् एप पुष्पदन्तमुनि कपायै क्रोधादिभि मुष्यमाणा अपह्रियमाणा धिषणा बुद्धि यस्य स समयस्य जिनशासनप्रतिपालने रक्षणे अधिकरणै आधारभूतै जिनशासनरक्षणभारवाहिभि न भवत्युपेक्षणीय न त्याज्य इति अद्धा यथार्थम् अञ्जसा अनुध्याय विचिन्त्य तमनुरुध्य त पुष्पदन्तम् अनुसृत्य एतत्स्थापनाय जनकनिकेत पितु श्रेणिकभूपस्य निकेत गृह जगाम । चेलिनी महादेवी पुत्र मित्रेण सत्र सह उपढौकमानम् आगच्छन्तम् अवेक्ष्य तदभिप्रायपरीक्षार्थ सराग वीतराग चासनमयच्छत् । वारिषेणस्तेन सम चरमोपचार चरम अन्तिम उपचार धाम असिमन् तत् चरमोपचार वीतरागोपशमयुक्त विष्टर सिंहासनम् अलकृत्य भूपयित्वा अम्ब, समाहूयता समस्ता अपि आत्मीया स्नुपा ।

[पृष्ठ ८१] (तदनु वारिषेणजाया श्वश्र्वा आज्ञया तत्रागता) कथभूतास्ता वनदेवता इव यथा वनदेवता प्रसूनोत्तमोत्तरङ्गितकुन्तलारामा भवन्ति । पुष्पभूपितोत्तरङ्गितकुन्तलै केशै आसमन्तात् रामा रमणीया भवन्ति । तथा ता वध्वोऽपि कल्पलता इव मणिभूषणरमणीयाङ्गनिर्गमा यथा कल्पलता कल्पवल्लय रत्नालङ्कारमनोहरावयवोत्पत्तय तथा वध्वोऽपि । प्रावृष इव समुन्नद्धपयोधराविद्धमध्यभागा यथा वर्षा समुन्नतजलधरावृतनभोमध्यभागास्तथा समुन्नतस्तनावर्जितावलग्नभागा । सकलजगल्लावण्यलवलिपिलिखिता इव समस्तलोकसौन्दर्यांशरूपलिपिना लिखिता इव सुभगभोगायतनाभोगा सुभगानि रमणीयानि तानि तानि भोगायतनानि शरीराणि तेषाम् आभोग विस्तारो यासा ता । पुन कथभूता । कङ्केलिकाननक्षितय इव पादपल्लवोल्लासितविहारविषया अशोकवनभूमयो यथा पादा मूलानि तानारभ्य पल्लवै किसलयै उल्लासिता शोभिता विहारविषया उद्यानप्रान्ता याभिस्ता तथा इमा वध्वोऽपि पादपल्लवा चरणकिसलया तै उल्लसिता शोभिता विहारविषया लीलाप्रदेशा याभिस्ता । कमलिन्य इव मणिमञ्जीररणितोन्मदमरालमण्डलस्खलितचलनजलेशया यथा कमलिन्य कमललता रत्नजडितनूपुररवमिव शब्द कुर्वाणा उन्मदा उन्मत्ता

भवति इति जातमति इत्युपलब्धिः (वारिषेणमुनिः स्वसुहृदं पुष्पदन्तं गुरुदेवपार्श्वे दीक्षां ग्राहयामास) तपःपरिग्रहेऽपि तपसः स्वीकारेऽपि सहपांसुक्रीडितत्वात्, पुष्पदन्तेन वयस्येन सह बाल्ये आसन्नः धूलिक्रीडा करणात् चिरपरिचयकृतप्रणयरागाच्च दीर्घकालपर्यन्तं परिचयः अन्योन्यस्वभावपरिज्ञानं तेन कृतप्रणयत्वाच्च संजातदृढस्नेहत्वात् । आत्मनः प्रियसुहृदं स्वस्य प्रियं मित्रम् कस्य नन्दनं चामिरस्यायनस्य सामिरसस्य वसर्य घामिरस्यायनः तस्य नन्दनं पुत्रं कर्मभूतस्य घामिरस्यायनस्य पुष्पवतीति—पुष्पवती पट्टराज्ञी पुष्पवत्या स्वमाता अग्रमहिष्या भर्तुः अमात्यस्य नन्दनं पुत्रं हस्तेन अवलम्ब्य कर्मभूतम् अमात्यनन्दनम् अभिनवेति—अभिनवो नूतनः स चासौ विवाहश्च तस्मिन् स्वकरसूत्रबन्धनं पुष्पदन्ताभिधानम् एतदायतनागमनेन एतस्यास्त्वं पदं तत् अनुसृत्य गमनेन स्वामिपुत्रत्वात् स्वामिनः श्रेणिकनृपस्य पुत्रत्वात् प्रतिपन्नमहामुनित्वव्रतत्वाच्च स्वीकृतमहाव्रतनियमितत्वत्वात् आचरिताभ्युत्थानम् आचरितं विहितम् अभ्युत्थानं यौरवेण आसनादुत्थाय पूर्वं प्रति गत्वा तं स्वीकारं आसने स्थापनादिकरणं येन तं पुष्पदन्तं हस्तेन गृहीत्वा पुनः अस्मात् अस्मात्प्रदेशात् मा व्याजविस्मरणं भगवान् अधुना स्वगृहं याहीति वदिष्यति पृच्छेऽस्मिन्निति तेन सह अनुसरन्तम् अनुगच्छन्तम् पुष्पदन्तं गुरोर्दीक्षाचार्यस्य समीपम् अवाप्तवन्तम् आगतवन्तं (तं दर्शयित्वा गुरोः दीक्षादान सूचना करोति स्म ।]

भगवन् ! पुष्प एष मम महानुभावतास्वतान्मन्तरः महासज्जनता एव लता तस्या आधारभूतो वृक्ष इव स्वभावेनैव भवभीरु संसाराद्भीरुः भोगानुभवने सकलाम्यानुपभोग्यपदार्थानुभवे विरक्तचित्तः अत एव ते संस्थिताः जैनमुनयः तेषां वृत्तं महाव्रतादिकं तस्य भाजनार्थं भगवतः पुष्पस्य भगवः पादमूलं चरणसमीपम् आयातः आगतः । इति सूचयित्वा भगवतोऽभ्यर्णे भगवतो दीक्षाचार्यस्य समीपे कामकरिकलभिकायहं मारमिव कामो मदनः स एव करी गजस्तस्य कलभिका स्त्री तस्य बहुभारः परिवारसमूहमिव मूर्धजनिकर मूर्धनि मस्तके जायन्ते इति मूर्धजाः शिरोरुहाः तेषां निकरं समूहम् अपनाय्य लोचं कारयित्वा दीक्षां ग्राहयामास अवीग्रहत् । सोऽपि पुष्पदन्तः तदुपरोधाक्षेपात् तस्य वारिषेणमुनेः उपरोधाक्षेपात् आग्रहवशात् दीक्षामादाय हृदयस्य मनसः अविचलितवैचित्र्यात् अविचलितम अभावं च तद्वैचित्र्यं दीक्षाविदत्वरूपं प्रेम यस्य मनसः अत एवाग्रहग्रथितत्वाच्च कामपिशाचेन ग्रसितत्वाच्च पीडितत्वाच्च । (स वारिषेणविना रममाणोऽपि कान्ता ध्यायन् द्वादशसमा अनैषीत् ।) पञ्जरपात्र पतत्त्रीव पञ्जरगते पत्ते पक्षादिर्वन्न तत्पञ्जरं पक्षादिबन्धनगृहम् । तदेव पात्रम् आधेयाधारवस्तु तत्र पतत्त्रीव पक्षीव यथा पक्षी पञ्जरे स्थित्वा रमते यथा पृदाकुः सर्पः स इव पाणिकीलितप्रतापो रमते मन्त्रवतस्ता मन्त्रसामर्थ्येन कीलितः स्तम्भितः प्रतापः विक्रमो यस्य । गाढबन्धनालानितो गाढबन्धनेन दृढबन्धनेन आलानितः स्तम्भे बद्ध व्यालसमुत्पाल इव करराज इव चाऽनिशं रात्रिदिवं वारिषेणविना रममाणः स निजकान्तां ध्यायति स्मैवम् । अलककेति—स्मेरबिम्बाधरायाः ईषद्धसनयुतौ बिम्बफलसमानो रक्तोऽधरो यस्याः सा तस्याः प्रियायास्तन्मुखं पुरत इव समास्ते । कर्मभूतं मुखम् अलककलापालम्बम् अलकाश्चूर्णकुन्तलाः ललाटसमीपस्थाः केशाः अलकाः प्रोक्तास्ते तेषां कलापः मण्डलेन मे मम प्रियाया वदनं रम्यं सुन्दरं प्रतिभाति । पुनः कथंभूतं भ्रूलतानतकान्तं भ्रुवौ लते इव भ्रूलते तयोः नतः नतत्वं तेन कान्तं सुन्दरम् । पुनः कथंभूतं नयनयुगलविलासं यथा भूतनः नयनमार्गेणयोर्विलासः शृङ्गारजो भावः यत्र तत् । पुनः कथंभूतं चारुगण्डस्थलं च चारुणी गण्डस्थले यत्र तत् पुनः कथंभूतं मधुरवचनगर्भं मधुराणि वचनानि गर्भे यस्य तत् ॥१९७॥

कणाबतसमिति—च भूता राजाना प्रमदाविनोदेषु प्रेमवतीषु कान्तासु कर्पूरं भोग्यता अवनतौ भूषणे लम्बनि रचयन्ति भुजबन्धनं च कराग्रधारदृगर्वर्ती च रचयन्ति । राजान् प्रेम्णा अधोवयो नम्रौ च कर्णावतंसम् कर्णे भ्रमरश्चाति रत्नादिकं च रचयन्ति पादेषु अलक्तकरसेन च यावकरसेन च चरणानि शोणानि कुर्वन्ति स एव धन्या भाग्यवन्तः ॥१९८॥

[पृष्ठ ८] शीतलेति—प्रियस्याङ्गुलिलीला प्रियागमन दिवसा वाऽस्मि विठोषी आगने न विलासकान्ता विलासली तावत् नवे तत्र हस्ते नीलकमले कस्या सा तया पुनः कथंभूता सा । स्मरेति—स्मरं महान् च रमर नाम तन्मालालिनरचनया अलरव्याज भोटांचलन यस्याः सा तया पुनः कथंभूता । उत्तुङ्गेति—उन्नतौ उन्नतौ पीवरौ पुष्टौ च तौ पयोधरौ स्तनौ तदाभरणं यस्याः सा तया । यथा

वारिषेण, पर्याप्तिम् अत्रावस्थानेन, अशालम् उपवेशनेन । प्रकामम् अतिशयेन शकलित खण्डित कुसुमास्त्रस्य मदनस्य रहस्य गूढस्वरूप येन तत्सम्बोधनम्, हे वयस्य हे सखे, इदानीमधुना, यथार्थनिर्वेदावनि यथार्थ वस्तुभूत निर्वेद. विरक्तिभाव तस्य अवनि स्थानम् अह मनोमुनिरस्मीति मनसा मुनि भावेन मुनिरस्मि इति च अवधाय विज्ञाय, विशुद्धहृदयौ तौ द्वावपि चेलिनीमहादेवीम् अभिनन्द्य, उपसद्य च गुरुपादोपशल्य गुरुचरणसमीपम् उपसद्य स्थित्वा च नि शल्याशयौ मायामिथ्यात्वनिदानशल्यरहिताभिप्रायौ साधु तपश्चक्रतु । भवति चात्र श्लोक —सुदतीति—कृतत्राण कृत त्राण रक्षण येन स वारिषेण सुदतीसगमासक्त । तपस्विन पुष्पदन्त सयमे स्थापयामास ॥२०२॥

इत्युपासकाध्ययने स्थितिकारकीर्तनो नाम चतुर्दश कल्प ॥१४॥

१५ वज्रकुमारस्य विद्याधरसमागमो नाम पञ्चदशः कल्पः

[पृष्ठ ८२] चैत्यैरिति—चैत्यै जिनबिम्बै, चैत्यालयै जिनमन्दिरै विविधात्मकै ज्ञानै व्याकरण-काव्यन्यायधर्मशास्त्राणा ज्ञानै, विविधात्मकै तपोभि अनशनादिद्वादशविधैस्तपोभि, पूजामहाध्वजाद्यैश्च नित्यपूजा, अष्टाह्निकपूजा, इन्द्रमहपूजा महामहपूजादिभि मार्गप्रभावना कुर्यात् जिनधर्म प्रभावयेत् ॥२०३॥

[पृष्ठ ८३] ज्ञाने, तपसि, पूजायाम् । केषा यतीना य असूयति मत्सर करोति मुनीना ज्ञानम्, तप उपासना च दृष्ट्वा यो दुर्धी असूयति तेषा गुणेभ्य द्रुह्यति नून सत्यमेव तस्यापि स्वर्गापवर्गभूलक्ष्मी सुरेन्द्रलक्ष्मी तथा अपवर्गभूलक्ष्मी मोक्षभूमिलक्ष्मी असूयति मत्सर करोति उभे ते लक्ष्म्यौ तस्मान्नराद् दूर तिष्ठत इति भाव ॥२०४॥ समर्थ इति—यो धार्मिको नर चित्तेन धैर्यादिना ज्ञानेन वा, वित्तेन धनधान्यवस्त्रादिदानेन इह अस्मिन्देशे समर्थ सन्नपि अशासनभासक शासनस्य जिनधर्मस्य भासक प्रभावनाकारको न स्यात् स चित्तवित्ताभ्या समर्थ सन्नपि अमुत्र परलोके न भासक भासको न भवति । तस्य स्वर्गादिलक्ष्मीर्वशा न भवतीति भाव ॥ २०५ ॥ तद्दानेति—तस्मात् दानैश्चतुर्विधै, ज्ञानै आध्यात्मिकैरागमजैश्च विज्ञानै, चतु षष्टिकलाना ज्ञानै, महामहमहोत्सवै महामहादिपूजाविशेषै धनिकै राजभिश्च क्रियमाणै एहिकापेक्ष-योज्झित अह देव स्यामह वसुमतीपति स्यामिति इहलोकसबन्धिधनाद्यभिलाषया मुक्त धार्मिक दर्शनोद्योतन कुर्यात् दर्शनस्य प्रकाशनप्रभावना कुर्यात् ॥२०६॥

[पृष्ठ ८४-८५] श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अत्र प्रभावनागुणे आख्यान प्रसिद्धा कथा श्रूयताम् आकर्ण्यताम् वज्रकुमारस्य कथा शृण्वन्तु जना इति भाव । पञ्चालदेशेषु श्रीमदिति—श्रियानन्तचतुष्टयलक्ष्म्या युक्तस्य पार्श्वनाथपरमेश्वरस्य यश प्रकाशनपात्रे अहिच्छत्रनामनगरे चन्द्राननाख्या या अङ्गना नारी सा एव रति तस्या कुसुमचापस्य मदनस्य द्विषन्तपस्य तन्नामधेयस्य भूपते सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत् । कथभूत स उदितोदित-कुलशील प्रति पुरुषम् अधिकाधिकतया प्राप्तोदये उन्नति प्राप्ते कुलशीले वशसदाचारौ यस्य स षडङ्गे वेदे शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-ज्योतिष च्छन्दासि वेदस्य षडङ्गानि तदात्मके वेदे दैवे दैवविषये, निमित्ते अष्टाग-निमित्ते, दण्डनीत्या च अभिविनीतमति कुशलधी । दैवीना देवताप्रकोपजातानाम्, मानुषीणा मनुष्यैर-रिभिरुत्पादितानाम् आपदा प्रतिकर्ता निवारक, यज्ञदत्ताभट्टिनीभर्ता तन्नामधेयाया ब्राह्मण्या भर्ता पति, सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत् । एकदा तु सा किल यज्ञदत्ता अन्तर्वत्नी अन्त गर्भमध्यस्थम् अपत्य विद्यतेऽस्या इति गर्भिणीत्यर्थ, सती माकन्दमञ्जरीकर्णपूरेषु माकन्द आम्रतरु तस्य मञ्जर्या कर्णपूरेषु तन्नामकालङ्कारेषु तत्परिणतफलाहारेषु च समासादितदोहला लब्धेच्छावती अभूत् । व्यतिक्रान्तरसालवल्लरीफलकालनया व्यती-ताम्रमञ्जरीफलसमयत्वात्, कामितम् अभिलषित अनाप्तवती अलभमाना, शिफासु व्ययमाना प्रतानिनीव शिफासु मूलेषु पीडायुक्ता वल्लीव तनुतानव देहकार्श्य उपेयुषी जग्मुषी तेन पुरोहितेन ज्ञातिजनेन बन्धुगणेन च प्रबन्धेन आग्रहेण पृष्टा हृदयेष्ट मनोऽभिलाषम् अभाषिष्ट अब्रूत । भट्टस्तन्निशम्य श्रुत्वा "कथम् एतन्मनोरथम् अयथार्थपथम् अस्मन्मनोमथ अगर्ह्यप्रार्थन कथ करिष्यामि" एतन्मनोरथ अस्या यज्ञदत्ताया

ये मराला हंसाः तेषाम् मण्डलं समूहः तस्य स्खलितानि यानि प्रयाणेन चलनानि यावः त एव कलभाणि कमलानि तथा मणिमञ्जीराणि रत्ननूपुराणि तेषां मणितं शब्दः पुनः कर्णमूलाः । स्वकीयकल्पसंपत्ति विरसहृदविमुखकरणसमायका स्वसौन्दर्यसम्पदा अपरागितनिमोलकस्मतालोन्दर्या सतीनां अहमहमिकोत्सुका अहम् अग्रे गच्छामि अहम् अग्रे गच्छामीति मानेनोत्कण्ठिता या अत्र समागत्य सवतः परिवृत्य परिरम्य पुष्पदेवता इव ता सुवासिन्यः । पुष्पदन्तभार्या सुवस्याप्याकारिता अन्ये मद्भ्रातृजाया सुवती मयि आकार्यताम् । हे मातः मद्भ्रातृजाया (पुष्पदन्तभार्या) मम भ्रातुः पुष्पदन्तस्य भार्या सुवती नामकं मयि आकार्यताम् आहूयताम् । तत्र मंक्ष्वेव पातुरक्ताम्बरवराटोपा यथा सन्ध्या रक्ताम्बरं लौहित्य-वर्णाकाशं तत्र चरतीति रक्ताम्बरचरः स आटोपः आडम्बरो यस्याः तथा सा सुवती अपि वस्त्रमेरिक तेन रक्तं यत् अम्बरं वस्त्रं तेन चरतीति चरा तस्या आटोपेन युक्ता तपस श्रीरिव विमुक्तकुन्तलकलापा यथा तपसः श्रीः शोभा विमुक्ताः कुन्तलाना केशानां कलापा समूहा यत्र लोचेन भूषिता भाति तथा इयं सुवत्यपि विमुक्तकुन्तलकलापा शोभते । सम्यक्त्वमतिरिव विभ्रमपरिक्षिप्तदर्शना सम्यग्दर्शना मतिर्बुद्धिः विभ्रमस्य विपरीतज्ञानस्य भ्रंशो नाशो यस्मिन् तादृशगुणोपेता विपरीतज्ञानरहितदर्शनेन सम्यक्त्वेन युक्ता भवति तथा इयं सुवत्यपि भ्रमरहितदर्शना निमलसम्यक्त्वोपेता अथ च विभ्रमरहितनेत्रा कटाक्षपरिहितनेत्रेत्यर्थः । हिमो-पमर्दिता कमलिनीव क्षामच्छायापचना हिमेन नीहारेण उपमर्दिता पीडिता कमलिनी कमललता यथा क्षामच्छाया-पचना कृशकान्तिशरीरा भवति तथा सुवत्यपि क्षामच्छाया क्षीणकान्तिदेहाभवत् । शरदिव क्षीणपयोधरभरा यथा शरदृतुस्थितिः क्षीणा विरला च पयोधरा मेघास्तेषां भारः समूहो यस्याम् तथा सुवत्यपि क्षीणः कृशः पयोधरयो स्तनयोः भारो यस्याः सा । अटवाङ्कुरकुङ्गाकृतिरिव यथा अटव्याया मम्मलस्य अङ्गानि अवयवाः तद्रूपा ये करङ्का अस्थीनि चर्मावशेषाः तेषाम् आकृतिरिव प्रकटकीकसनिकरा इव सुवती प्रकटा कीकसानाम् अस्थ्नां निकरो यस्याः सा । सकलसंसारसुखव्यावृत्तिनीतिमूर्तिमती वैराग्यस्थितिरिव विरता । सकलसंसारसुखेभ्यो व्यावृत्ति पराङ्मुखता तस्याः मूर्तिमती सदेहा वैराग्यस्थितिरिव विरता तत्र श्रेणिकनृपभासाये आगमाम । पुष्पदन्तेति—पुष्पदन्तस्य मुनेः हृदयम् एव कन्दर्पं अङ्कुरः तस्य उत्पादे निश्चयम वसुमतीव यथैव सा सुवती (पुष्पदन्तस्य भार्याचरी) ता चारित्रेणोऽस्मादाचार्य विसृज्य (अपवद्) मिव तेन तत्र प्रथमिनी तैर्य तत्र वल्कला यत्किमितम् अद्यापि न संपद्यते मनोमुनिरिति । यस्या निमित्तेन अद्यापि द्वादशवर्षाण्यतीतानि मनिर्वे तथापि मनसा मुनिरिति भावयति भावस्वभिति । एतादर्शनविषयकायास्तव भ्रातृजायाः एता पुरतो दृश्यमाना तव भ्रातृजाया हे भ्रातः वारिषेणस्य पत्न्य एवंविधकाया उत्कण्ठना अभिमुखकायमलशरीरा । तथैते च वयं तव समसमाचरिताभिजातजनोचितचरिता । तव समसमवयं तव प्रत्यक्षे एव यतस्य (चारि-त्रस्य) यथा स्यात्तथा वयं समाचरितं निर्दोषं पालितं अभिजातजनोचितं कुलीनपुरुषयोग्यं चरितं वृत्तं यैस्ते । (मम भार्या अतीव रमणीयास्तथापि ताः परित्यज्याहं सम्यागाचरितमुनिचारित्रोऽभवम् । त्वं तु असुन्दरी जायामपि मनसा वेगाकृमाशुषी मत्वा हीनचारित्रोऽभवः । इति दर्शनवचनैः निर्भर्त्सित पुष्पदन्तः ।

[पृ० ८२] स्नानानुलेपनेति—अङ्गनानां वपुः शरीरम् आवेयमानसुभगं आपेयमानं संसृज्य मानचन्दनमगमदकर्पूरादिभिः सुभग वसते । केन विधिना आधेयमानसुभगम् स्नानादिविधिना—स्नानं सुप-रिशीलेन देह संमर्द सुगन्धिजलेनाभ्यङ्गस्नानम् अनुलेपन चन्दनादिकुङ्कुम देहलेपनं कौशेयादिवस्त्रधारणम् वेष-भादिभूषणधारणम् पुष्पमालादिभिः कण्ठाभरणमालां शोभासमुत्पादनम्, ताम्बूलवासचर्वणम् इत्यादिविधिना नारीदेहः सुन्दरः प्रतिभाति । तु परम् अस्य देहस्य नैसर्गिकी स्वाभाविकी स्थितिः स्वाभाविकं रूपं किमिव किम् उपमानमायाय वर्णनीयं भवत् ॥२ १॥ इत्यर्थसमम् आगम्य माता विविनय वा स्त्रीभेव स्त्रीसंबन्धिषु सुमनःकार्येषु निर्विचिकित्सालब्ध्या जुगुप्सायुक्ता लज्जाम् अभिनीय सम्प्राप्य इंदो इति प्राक्नोच्चार्यतम् अथवं ‘मो’ इत्यर्थे ज्ञेयम् । निकामेति—निकामम् अतिशयेन निकृष्ट विनाशित मकरध्वजस्य मदनस्य कदव पराक्रमो यैन तत्सम्बोधनम् । विधुराणां दुःखार्तानां बान्धव सहायकारिन् । संसारेति—संसारकृपयेव सरोज कमलं तस्य उल्लासाय विनाशाय नीहाराणामाणी हिमपुञ्जो चरणो यस्य तस्य संबोधनम्, हे

वारिषेण, पर्याप्तम् अत्रावस्थानेन, अत्रालम् उपवेशनेन । प्रकामम् अतिशयेन शकलित खण्डित कुसुमास्त्रस्य मदनस्य रहस्य गूढस्वरूप येन तत्सम्बोधनम्, हे वयस्य हे सखे, इदानीमधुना, यथार्थनिर्वेदावनि यथार्थ वस्तुभूत निर्वेद विरक्तिभाव तस्य अवनि स्थानम् अह मनोमुनिरस्मीति मनसा मुनि भावेन मुनिरस्मि इति च अवबाय विज्ञाय, विशुद्धहृदयौ तौ द्वावपि चेलिनीमहादेवीम् अभिनन्द्य, उपसद्य च गुरुपादोपशल्य गुरुचरणसमीपम् उपसद्य स्थित्वा च नि शल्याशयौ मायामिथ्यात्वनिदानशल्यरहिताभिप्रायौ साधु तपश्चक्रतु । भवति चात्र श्लोक —सुदतीति—कृतत्राण कृत त्राण रक्षण येन स वारिषेण सुदतीसगमासक्त । तपस्विन पुष्पदन्त सयमे स्थापयामास ॥२०२॥

इत्युपासकाध्ययने स्थितिकारकीर्तनो नाम चतुर्दश कल्प ॥१४॥

१५ वज्रकुमारस्य विद्याधरसमागमो नाम पञ्चदशः कल्पः

[पृष्ठ ८२] चैत्यैरिति—चैत्यै. जिनबिम्बै, चैत्यालयै जिनमन्दिरै विविधात्मकै ज्ञानै व्याकरण-काव्यन्यायधर्मशास्त्राणा ज्ञानै, विविधात्मकै तपोभि अनशनादिद्वादशविधैस्तपोभि, पूजामहाध्वजाद्यैश्च नित्यपूजा, अष्टाह्निकपूजा, इन्द्रमहपूजा महामहपूजादिभि मार्गप्रभावना कुर्यात् जिनधर्म प्रभावयेत् ॥२०३॥

[पृष्ठ ८३] ज्ञाने, तपसि, पूजायाम् । केषा यतीना य असूयति मत्सर करोति मुनीना ज्ञानम्, तप उपासना च दृष्ट्वा यो दुर्धी असूयति तेषा गुणेभ्य द्रुह्यति नून सत्यमेव तस्यापि स्वर्गापवर्गभूलक्ष्मी सुरेन्द्रलक्ष्मी तथा अपवर्गभूलक्ष्मी मोक्षभूमिलक्ष्मी असूयति मत्सर करोति उभे ते लक्ष्म्यौ तस्मान्नराद् दूर तिष्ठत इति भाव ॥२०४॥ समर्थ इति—यो धार्मिको नर चित्तेन धैर्यादिना ज्ञानेन वा, वित्तेन धनधान्यवस्त्रादिदानेन इह अस्मिन्देशे समर्थ सन्नपि अशासनभासक शासनस्य जिनधर्मस्य भासक प्रभावनाकारको न स्यात् स चित्तवित्ताभ्या समर्थ सन्नपि अमुत्र परलोके न भासक भासको न भवति । तस्य स्वर्गादिलक्ष्मीर्वशा न भवतीति भाव ॥ २०५ ॥ तद्दानेति—तस्मात् दानैश्चतुर्विधै, ज्ञानै आध्यात्मिकैरागमजैश्च विज्ञानै, चतु षष्टिकलाना ज्ञानै, महामहमहोत्सवै महामहादिपूजाविशेषै धनिकै राजभिश्च क्रियमाणै ऐहिकापेक्ष-योज्झित अह देव स्यामह वसुमतीपति स्यामिति इहलोकसबन्धिधनाद्यभिलापया मुक्त धार्मिक दर्शनोद्योतन कुर्यात् दर्शनस्य प्रकाशनप्रभावना कुर्यात् ॥२०६॥

[पृष्ठ ८४-८५] श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अत्र प्रभावनागुणे आख्यान प्रसिद्धा कथा श्रूयताम् आकर्ण्यताम् वज्रकुमारस्य कथा शृण्वन्तु जना इति भाव । पञ्चालदेशेषु श्रीमदिति—श्रियानन्तचतुष्टयलक्ष्म्या युक्तस्य पार्श्वनाथपरमेश्वरस्य यश प्रकाशनपात्रे अहिच्छत्रनामनगरे चन्द्राननाख्या या अङ्गना नारी सा एव रति तस्या कुसुमचापस्य मदनस्य द्विषन्तपस्य तन्नामधेयस्य भूपते सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत् । कथभूत स उदितोदित-कुलशील प्रति पुरुषम् अधिकाधिकतया प्राप्तोदये उन्नति प्राप्ते कुलशीले वशसदाचारौ यस्य स षडङ्गे वेदे शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-ज्योतिष-च्छन्दासि वेदस्य षडङ्गानि तदात्मके वेदे दैवे दैवविषये, निमित्ते अष्टाङ्ग-निमित्ते, दण्डनीत्या च अभिविनीतमति कुशलधी । दैवीना देवताप्रकोपजातानाम्, मानुषीणा मनुष्यैर-रिभिरुत्पादितानाम् आपदा प्रतिकर्ता निवारक, यज्ञदत्ताभट्टिनीभर्ता तन्नामधेयाया ब्राह्मण्या भर्ता पति, सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत् । एकदा तु सा किल यज्ञदत्ता अन्तर्वत्नी अन्त गर्भमध्यस्थम् अपत्य विद्यतेऽस्या इति गर्भिणीत्यर्थ, सती माकन्दमञ्जरीकर्णपूरेषु माकन्द आम्रतरु तस्य मञ्जर्या कर्णपूरेषु तन्नामकालङ्कारेषु तत्परिणतफलाहारेषु च समासादितदोहला लब्धेच्छावती अभूत् । व्यतिक्रान्तरसालवल्लरीफलकालतया व्यती-ताम्रमञ्जरीफलसमयत्वात्, कामितम् अभिलषित अनाप्तवती अलभमाना, शिफासु व्यथमाना प्रतानिनीव शिफासु मूलेषु पीडायुक्ता वल्लीव तनुतानव देहकार्श्य उपेयुषी जग्मुषी तेन पुरोहितेन ज्ञातिजनेन बन्धुगणेन च प्रबन्धेन आग्रहेण पृष्टा हृदयेष्ट मनोऽभिलाषम् अभाषिष्ट अब्रूत । भट्टस्तन्निशम्य श्रुत्वा "कथम् एतन्मनोरथम् अयथार्थपथम् अस्मन्मनोमथ अवग्रर्थप्रार्थन कथ करिष्यामि" एतन्मनोरथ अस्या यज्ञदत्ताया.

मनोरथं मनधाधपधं पूरयितुं असमर्थानाम् अस्माकं मनो दुष्यत् अम्यर्या सफला प्रावनस्य स्पृहायाः कथा यस्मिन् स तं कथं करिष्यामि । यस्या दाहकपूर्ति अकाम तद्भूतत्वात् कथं मया कर्तुं शक्यति भाव । इत्या- कुलमना परिच्छदच्छायतत्मानुपद परिच्छद परिवाररूप स यातो यत्र शिष्य स एव तन्त्र अर्थसाधकः तम् अनुसृत्य पदानि यस्य स । पुनः कथंभूत सातपत्रपदत्राण आतपत्रं छत्रं पदत्राणे उपानही तेषां समाहार आतपत्रपदत्राणं तेन सहित सातपत्रपदत्राणः पुन कथंभूतः । तदिति-तासां माकन्दमञ्जरीणां तत्कथायां च पर्येषणे अन्वेषणे या विपक्षा बुद्धि तस्यां परायणः सन् इतस्ततः भ्रमन् गच्छन् जलेति—जलवाहिनी यत्र नद्यास्तटसमीपे निविष्ट स्थितं प्रथमं विस्तारो यस्य तस्मिन् महति कालिदासकानने (सुमित्रेण मुनिना भव्या सितमुकुलसम्भूतभूरा सोमदत्तेन विलोकित प्रथमं तावत् सुमित्रं मुनिं ददर्श कविः) कथंभूतेन सुमित्रेण । परमेति—परमतपश्चरणाचरणेन शुचि पवित्रं शरीरं यस्य तेन । पुन कथंभूतेन । निक्षेपति—नि क्षेपम् अक्षिपं तत्र तत्त्व तं द्वादशाङ्गम् श्रुतज्ञानं तस्य भवनेन । गुरुमुखात् प्रसृत प्रकटीभूत नमस्कारो विरचितो यस्य तेन । पुनः कथंभूतेन । समस्तेति—समस्तानि सकलानि तत्त्वानि जीवाजीव तानि तत्त्व तयां विस्तरं यस्मिन् स चासौ स्वाध्यायस्तस्य ध्वनि स एव सिद्धौषधिः तस्या सविकतया सामीप्येन साधित वशीकृत यक्ष- देवतानां निकर समूहो येन । मूर्तिमतेव शरीरवतेव धर्मेण पुनः कथंभूतेन । विनेयेति—विनेयाः विनतुं शिक्षितुं योग्या विनयाः उपासकाः त एव दैविकेयानि दीर्घिकायां जातानि दैविकेयानि कमलानि तेषां मित्रेण सूर्येण उपासककमलसूर्येणेत्यर्थः । सुमित्रेण मुनिना सुमित्र नामवता यतिना अशोकतरुमूलाश्रयम् अशोकवृक्षमूलं आलवालस्थलं वृक्षमूले आलवालार्थं यन्मृत्तिकाबन्धनं तस्य वलयं मण्डलं यस्य तम् एवं भूतम् आम्रतरुम् अवलोक्य दृष्ट्वा कथंभूतम् । एतद् ब्रह्मचर्यसमाहात्म्यात् ब्रह्मण ब्रह्मचर्यपूतकतपसो वचसं तेजस्तन्माहात्म्यात् आमूलपूर्णं पुष्पतरुसमारम्भाद्भावविपाकात् फलकसत्वकोफलगुच्छस्फीतम् लतावन्ती विकसन्ती या कनकी लताविशेषस्तस्या फलानां गुरुगुच्छानि गुच्छा तद्वत् स्फीतं समृद्धं आम्रफलगुच्छसमृद्धं विलोक्य श्लोकमाहस्ते श्लोको विरचितः चतुर. स चासौ छात्रश्च शिष्यस्तस्य हस्ते फलकस्य मार्गया पिकप्रियप्रसवफलप्रतोली पिकानां कोकिलानां प्रिया पिकप्रियाः प्रसवा पुष्पाणि यस्य स आम्रतरु तस्य फलानि तेषां प्रतोली पुञ्जं प्रहृत्य आदाय क्वो भवत पूज्यस्य सुमित्रमुने धर्मश्रवणावसरप्रयत्नात् कथंभूतात्प्रयत्नात् । अवधीति—अवधि अवधिज्ञानं स एव पयोधि समुद्र तस्य मध्ये संनिवेशमाना निविष्टमेव भासमानाः सकलास्त ते रूपा समूहा तेर्युक्तानि रत्नानि सम्यग्दर्शनादीनि यत्र तस्मात् धर्मश्रवणावसरप्रयत्नात् धर्मकथनतत्परप्रयत्नात् (आत्मजातिस्मरण सोम दत्तो मुनिर्बभूव) भवान्तरं पूर्वजन्म आकर्ण्य । कथंभूतम् धर्मश्रवणसमये प्रसङ्गात् समायातं प्राप्तम्, पुन कथं- भूतं । सहस्रारकल्पे द्वादशस्वर्गे सूर्यविमानसभूतं सूर्याख्यविमाने जात सूर्यवराभिधानानुरूपं सूर्यवरोच इति नामानुसृतम् अत्यल्पविनयपरिप्लुतम् अखिलोकसंपद्युतम् आत्मगोचरं स्वविषयं भवान्तरं जन्मान्तरं श्रुत्वा शरीरजातिस्मरणात् अनुभूतपूर्वभवस्मरण स्वप्नसमासादितप्राग्भवसमानसारात् संसाराद्विरक्त स्वप्ने समा- सादितं कर्म वस्त्वाभास्यं तेन समान सार बलं यस्य तस्मात् संसाराद्विरक्त विरक्तो भूत्वा मनोजविजयप्रख्या मनोजो मदन तस्य विजयः तेन प्राप्यमाम् उत्कृष्टां प्रव्रज्यां जिनदीक्षाम् आसन्न संप्राप्य मधुरसिद्धान्तसूत्र ज्ञातसिद्धान्तरहस्य मगधविषये सोपारपुरस्य पर्यन्तसमीपे ग्राम निवासो यस्य तस्मिन् नाभिगिरिनाम्नि महीधरे पर्वते सम्यग्योगो निर्दोष योगो मनोवाक्कायैकाग्र्य यस्मिन् तथाभूतो म आतापनयोग ग्रीष्मर्तौ रविकरतप्त पर्वतशिलायां कायोत्सर्गेण स्थित्वा आत्मचिन्तनं तं करोतीति सम्यग्योगातापनयोगधरो बभूव । तत्तु सोमदत्तस्य दीक्षाग्रहणविनिमारम्भ तद्वियोगावतङ्कोद्भूतचिन्ता तस्य सोमदत्तस्य वियोगो विरह स एव आतङ्को रोगो ज्वरो वा तस्मात् उद्भूतम् अनवस्थितं चित्त यस्याः सा यज्ञदत्ता तदन्तेवासिन्या तस्य सोमदत्तस्य अन्तेवासिन्या शिष्येण आत्मलेखकर सोमदत्तव्यतिकरं सोमदत्तस्य व्रतग्रहणस्य व्यतिकरं वार्ताम् अनुभूय श्रुत्वा प्रसूय च समये स्तनन्धयं बालकम्, पुनस्तमादाय गृहीत्वा प्रयाय च गत्वा च तं भूमिभृतं पर्वतं नाभिगिरिम् [यज्ञदत्ता तं मुनिं वचनैर्निर्भर्त्स्य तस्य पुरो देशे शिलातले बालकं मुक्त्वा गृहं जगाम] अहो कूटकपट कूटमपि सत्यीकरोति कपटं यस्य तत्संबोधनं हे कूटकपट कपिपट कपिवत् मर्कटवत् कटौ हैम निम्न इति

मन्मन इति—मम मन मन्मन तदेव वनम् अरण्य तस्य दाहे दहने दावपावक, दावोऽरण्य तस्य पावक अग्निरिव तत्मबोधनम्, नि स्निग्ध दुर्विदग्ध नष्टप्रीते दुर्विदग्ध खलचतुर, यदि चेत् इमं पुरोऽवस्थित दिगम्बरप्रतिच्छन्दं नग्नरूपम् अवच्छिद्य त्यक्त्वा, स्वच्छया निर्मलया इच्छया आगच्छ, नो चेत् गृहाण स्वीकुरु एनम् इमम् आत्मनो नन्दन पुत्रम्। इति व्याहृत्य भाषित्वा अस्य ऊर्ध्वज्ञो उत्थितकायोत्सर्गस्य भगवत-पुरत शिलातले बालकम् उत्सृज्य मुक्त्वा विजहार निज निवासम्। जगाम स्वकीयमावासम्। भगवानपि तेन मृतेन पुत्रेण दृषद शिलाया प्लोपोत्कर्षकलुषत्वात् प्लोपस्य दाहस्य उत्कर्ष तीव्रता तेन कलुषत्व श्यामीभूतता तस्मात्, विष्टरीकृतचरणवर्ग आमनोकृतपदयुग सोपसर्ग सोपद्रवः तथैव पूर्ववदेव अवतस्थौ तिष्ठति स्म।

[पृष्ठ ८६] अत्रान्तरे अस्मिन् प्रसगे (त्रिशङ्कुर्नाम खगपति भास्करदेवाय राज्यं दत्वा सयमी अजायत) कथभूत स त्रिशङ्कुर्नप। विजयार्धोत्तरश्रेण्याममरावतीनगरीपति। कथभूतस्य विजयार्धपर्वतस्य। सहेति—सहचरै सखीजनै, अनुचरै दास्यादिभि. सह सचरन्त्यस्ता खेचर्य विद्याधराङ्गनास्तासा चरणाना पादानाम् अलक्तकेन यावकेन रक्तानि लोहितानि रम्प्राणि यस्य, तथाभूतस्य विजयार्ध इति वटीध्र पर्वत तस्य विजयार्धनटीध्रस्य, उत्तरश्रेण्याम्, कथभूतायाम्। दयितेति—दयितात् पत्यु अविदूरा समीपवर्तिनी या विद्याधरी खचराङ्गना तस्या विनोदेन नर्मभाषणेन विहारेण च परिमलिता सुगन्धीभूता कान्तारधरणी वनभूमि यस्या तस्याम् उत्तरश्रेण्याम् अमरावतीनगरीपरमेश्वर सुमङ्गलाभिधाना या अवला ललना तस्या वर भर्ता। कथभूत त्रिशङ्कुर्नृप। प्रकामेति—प्रकामं यथेप्सित निखाता राज्याच्च्याविताश्च ते अरातय शत्रवश्च तेपा कान्ता सुन्दर्य तासाम् आशयश्चित्त तत्र यः शोकजनने शङ्कुरिव शल्य इव त्रिशङ्कुर्नाम नृपति। समरेति—समरावसरे युद्धसमये अभिसरन्तोऽभिद्रवन्त ये सपत्ना शत्रवस्तेषा सतानो वशस्तस्य अवसान विनाश तत्करणे सारा वलीयास ये शिलीमुखा बाणा यस्य, तथाभूत स नृप राज्यसुखम् अनुभूय, जिनागमादवगतसंसारशरीरभोगवैराग्यस्थिति यति सार्वुर्बुभूपु, भूगोचरसचाराय भूमिविपये सचारो भ्रमणं यस्य तस्मै हेमपुरेश्वराय हेमपुराधीशाय कथभूताय। समस्तेति—समस्ता सकलाश्च ते महीशा राजान तै मान्य शासन यस्य तस्मै बलवाहननामधेयाय नृपाय सुदेवी सुताम्, ज्येष्ठाय पुत्राय च भास्करदेवाय च राज्यं प्रदाय वितीर्य सुप्रभसूरिसमीपे सयमी यतिरजायत। ततो गतेषु कतिपयेषु चिद्दिवसेषु विहित कृत राज्यापहारो यस्य। केन राज्यापहार कृत पुरदरदेवेन कथभूतेन। समुत्साहित. धनादिदानेन उन्नतिं नीत आत्मीयाना स्वसबन्धिना वीराणा समूहो येन तेन, पुन कथभूतेन। स्वदोरिति—निजभुजयोर्दर्पेण विद्या सामर्थ्ययुतसैन्यवृन्देन, दुर्विनीता दु शिक्षिता खलास्तेषु वरिष्ठेन ज्येष्ठेन लघिष्ठेन भ्राता पुरदरदेवेन विहितराज्यापहार परिजनेन सम स भास्करदेव तत्र बलवाहनपुरे अमरावतीपुरे शिविर स्वसैन्य सस्थाप्य मणिमालया राज्या सह त सोमदत्त भगवन्तम् उपासितु पूजयितुम् आगत। तत्पादमूले स्थलकमलमिव त बालकमवलोक्य 'अहो महदाश्चर्य महदद्भुतम्, यत कथमिदम् अरत्नाकरमपि रत्न रत्नाकरे समुद्रे अजातमपि रत्नमिव, अजलाशयमपि कुशेशय जलाशये तडागे अजातमपि कुशेशयमिव कमलमिव, अनिन्धनमपि तेज-पुञ्जम् इन्धनरहितमपि तेज.पुञ्जम् अङ्गकान्तिसहितम्, अचण्डकरमपि उग्रत्विप न चण्डा. तीक्ष्णा करा किरणा यस्य तथाभूतमपि उग्रत्विप तीव्रकान्तिम्। अनिलामातुलमपि कमनीयम् (?) न इलामातुल अनिलामातुल इलामातुलश्चन्द्र इला चन्द्रस्य स्नुपा। चन्द्रस्तस्या मातुल इलामातुलश्चन्द्र स वज्रकुमारोऽचन्द्रोऽपि चन्द्रवत् कमनीय इति भाव। अपि च कथमय बालपल्लव इव पाणिस्पर्शेनापि म्लायमानलावण्य बालकिसलय इव करस्पर्शेनापि म्लायमान कान्तिहीन लावण्य सौन्दर्य यस्य तथाभूत। कठोरोष्मणि तीव्रातपतप्ते पाषाणे वज्ररचित इव रिरममानमानस क्रीडमानमना, मातुरुत्सगगत इव सुखेनास्ते जनन्या अङ्कगत इव आमोदेन वर्तते इति। एव कृतमतिर्विहितविमर्श स भास्करदेव "प्रियतमे वल्लभे कामम् अतिशयेन स्तनधयधृतमनोरथाया स्तन धयति पिबतीति स्तनधयो बाल तस्मिन्वृतो मनोरथोऽभिलापो यया सा तस्यास्तव अय भगवत सोमदत्तमुने प्रसादात् कृपाया सुमन्न लब्ध सर्वलक्षणोपपन्न सकलसामुद्रिकशुभलक्षणलक्षित वज्रकुमारो नाम

मनोरथं यथावयवं पूरयितुं अशक्यत्वापायम् अस्माकं मनो दुनोतु अभ्यर्था सफला प्रार्थनस्य स्पृहायाः क्या यस्मिन् स तं कथं करिष्यामि । यस्या बाहुप्रवृत्तिः अकाण्ड उद्भूतत्वात् कर्तुं मया कर्तुं अशक्येति भावः । उपम-कुङ्कुमना परिकल्पकग्रामतन्मानुषः परिच्छद परिवारकस्य स चासौ भावः शिष्यः स एव उत्तमं अवसायकः तम् अनुसृत्य पदानि यस्य स । पुनः कथंभूतः सातपत्रपदत्राणः आतपत्रं छत्रं पदत्राणे उपानहौ तेषां समाहार आतपत्रपदत्राणं तेन सहितः सातपत्रपदत्राणः पुनः कथंभूतः । तदिति—तासां भाक्तमसक्तवरीणां तत्क्षमा च यवेदने अन्वेषणे या पिपक्षा बुद्धिः तस्याः परायणः सन् इतस्ततः भ्रमन् भ्रमन् जलेति—जलवाहिनी नाम नद्यास्तत्समीपे निविष्टं स्थितं प्रततं विस्तारो यस्य तस्मिन् महति काननवासकानने (सुमित्रेण मुनिना यथा शिवभूतस्तत्सुतभूतः सोमदत्तेन विलोकितः प्रथमं तावत् सुमित्रं मुनिं अपश्यदिति कविः) कथंभूतेन सुमित्रेण । परमेति—परमतपश्चरणाचरणेन शुचि पवित्रं शरीरं यस्य तेन । पुनः कथंभूतेन । निःश्रेयेति—निःश्रेयसं अविकलं तस्य तत्त्वं तं ह्यावबोधम् भूतग्रामं तस्य भवनेन । गुरुमुखात् प्रसूतः प्रकटीभूतः नमस्कारो नियमो यस्य तेन । पुनः कथंभूतेन । समस्तेति—समस्तानि सकलानि तत्त्वानि जीवाजीवादीनि सप्त तेषां निरूपणं यस्मिन् स चासौ स्वाध्यायस्तस्य ध्वनिः स एव शिरोऽधिः तस्याः सविकल्पा सामीप्येन साधितः वशीकृतः कन-देवतानां निकरः समूहो येन । मूर्तिमतेव शरीरवतेव धर्मेण पुनः कथंभूतेन । विनेयेति—विनेयाः विनेतुं शिक्षितुं योग्याः शिष्याः उपासकाः त एव कैरविकेयाणि नीलिकामां जातानि कैरविकेयाणि कमलानि तेषां मित्रेण सूर्येण उपासककमलसूर्येणेत्यर्थः । सुमित्रेण मुनिना सुमित्रं नामवन्तं यतिनां अलंकृताम्भ्यामसमम् अलंकृतयोधित्वं आलवालकल्पं वृक्षमूले अवधारणार्थं यन्मृत्तोहनं तस्य कल्पं मण्डलं यस्य तम् एकं चूतम् आम्रतरुम् अवलोक्य दृष्ट्वा कथंभूतम् । एतत् ब्रह्मचर्यमाहात्म्यात् ब्रह्मणः ब्रह्मचर्यपूर्वकतपसो वर्चसं तेजस्तन्माहात्म्यम् आमूलपूर्वं यन्नतकमारभ्यायामविधायात् उच्छ्वसत्स्तबकोफलगुलुच्छस्फीतम् उल्लसन्ती विकसन्ती या अवनी लताविशेषस्तस्याः फलानां गुलुच्छानि गुच्छाः तैः स्फीतं समृद्धं आम्रफलगुच्छसमृद्धं विलोक्य कोमलफलहस्ते कोमलो विरलाः चतुरः स चासौ आम्रस्य भिष्मस्तस्य हस्ते करतस्य भार्यया पिकप्रियप्रसवफलप्रलोभी पिकानां कोकिलानां प्रिया पिकप्रिया प्रसवाः पुष्पाणि यस्य स आम्रतरुः तस्य फलानि तेषां प्रलोभी पुष्पं प्रहृत्य आदाय ततो भगवत पूज्यस्य सुमित्रमुनेः धर्मश्रवणावसरप्रयत्नात् कथंभूतात्प्रयत्नात् । अवधीति—अवधि अवधिज्ञानं स एव पयोधिः समुद्रः तस्य मध्ये संनिपीयमाना निर्विकल्पेन भासमानाः सकलाश्च ते अकाया समूहाः तैर्युक्तानि रत्नानि सम्यग्दर्शनादीनि यत्र तस्मात् धर्मश्रवणावसरप्रयत्नात् धर्मनिर्भरसमयप्रयत्नात् (जातजातिस्मरणः सोम दत्तो मुनिर्बभूव) भवान्तरं पूर्वजन्म आकर्ण्य । कथंभूतम् धर्मश्रवणसमये प्रसंगात् समायातं प्राप्तम् पुनः कथं भूतं । सहस्रारकल्पे द्वादशस्वर्गे सूर्यविमानसंभूतं सूर्याख्यविमाने जातं सूर्यवराभिधानानुगतं सूर्यवरेण इति नामानुगतम् अप्सरोभिर्मण्डपरिष्कृतम् अविरतलोकसंपदुतम् आत्मनोऽपरं स्वकीयं भवान्तरं जन्मान्तरं श्रुत्वा उदीर्णजातिस्मरभावः समुद्भूतपूर्वभवस्मरणः स्वप्नसमासादितराज्यसमानसारात् संसारादिरन्य स्वप्ने समा-सादितं प्राप्तं यद्राज्यं तेन समानः सारः बलं यस्य तस्मात् संसारादिरस्य विरक्तो भूत्वा मनोजविजयराज्यं मनोजो मदनः तस्य विजयः तेन राज्यम् उत्कृष्टां प्रव्रज्यां जिनदीक्षाम् आदाय संप्राप्य प्रबुद्धशिक्षान्तहृदय आत्मशिक्षान्तरहस्यः मगधविषये शोपारपुरस्य पर्यन्ते समीपे नाम निवासो यस्य तस्मिन् नाभिगिरिनाम्नि महीधरे पर्वते सम्यग्योगी निर्दोषः योगो मनोवाक्कायैकाग्र्यम् यस्मिन् तथाभूतो यः आतापनयोग ग्रीष्मर्तौ रविकरतप्त शिलायां कायोत्सर्गेण स्थित्वा आत्मचिन्तनं तं धरतीति सम्यग्योगातापनयोगधारी बभूव । तदनु सोमदत्तस्य दीक्षाग्रहणदिनमारभ्य तद्वियोगातङ्कोपतप्तचित्ता तस्य सोमदत्तस्य वियोगो विरहः स एव आतङ्को रोगो ज्वरो वा तस्मात् उद्गतम् उत्पन्नम् अलसचित्तं चित्तं यस्याः सा यज्ञदत्ता तस्मै अन्तेवासिनः तस्य सोमदत्तस्य अन्तेवासिनः शिष्यस्य आत्मनोऽदरं सोमदत्तप्रव्रज्याविधानं सोमदत्तस्य प्रव्रजनस्य व्यतिकरं वार्ताम् अनुभूय श्रुत्वा प्रसूय च समये स्तनन्धयं बालकम् पुनरन्तरायाय गृहीत्वा प्रयाणं च कृत्वा च तं भूमिभृतं पर्वतं नाभिगिरिम् [यज्ञदत्ता तं मुनिं भ्रातृभिर्भर्त्स्यं तस्य पुरो देशे शिलातले बालकं मुक्त्वा गृहं जगाम] अहो मुनिवर द्रष्टुमुनि दर्शनीयेति वराटं यस्य तत्संबोधनं हे मुनिवर अविचार कठिनम् ... हेऽवक्तव्य इति

विहायश्चर्य विद्याधरस्त्रिय ताभि परिमलनेन मर्दनेन म्लानानि ग्लानि प्राप्तानि मृणालानि बिसानि कमलनालानि जलजानि च यत्र, पुन कथभूत स्थानम्। अशोकेति—अशोकतरो पल्लवाना शय्यासु दयितेन पत्या आसाद्य प्राप्य यद्विद्याधरीसुरत तस्य परिमलेन सुगन्धेन वहल विपुलम् इद लताकुञ्जस्थानम् इति निध्यायन्, पुनश्च कन्दुकेति—कन्दुकविनोद गेन्दुकक्रीडा तस्मिन् परिणतास्तत्परा या अम्बरचर्य खग्य तासा चरणालक्तकेन पादलिप्तयावकेन अङ्कित चिह्नितम् अद स्थानम्। तमालमूलानाम् आवलय मण्डल यत्र तथाभूतमिदम्। इद रमणीयम् मन्मनोहरमद, अदश्च सुन्दरम् अटनीध्रतट मेखलाधरतटस्थान मनोहरम्। इति निध्यायन् पश्यन् चिन्तयन् वा। समेत्ति—समाचरित विहित स्वैरविहारो येन, पुन. प्राप्तो हिमवद्गिरे प्राग्भार अग्रभागो येन स। वज्रकुमार मायाजगरेण निगीर्णां विद्याधरकन्या पवनवेगा सरक्षितवान्। [कस्य विद्याधरपतेरिय पवनवेगेति वर्ण्यते] खेचरीति—खेचरीलोचनाना चन्द्रवदाह्लादकस्य चन्द्रपुरेति नगरस्येन्द्र स्वामी, यश्च अङ्गवती युवत्या प्रीतेर्धाम गृह तस्य गरुडवेगनाम्न विद्याधरपते अतिशयरूपस्य पात्री भाजनभूता प्रियपुत्री पवनवेगा नाम असगा सख्यादिपरिवाररहिताम्। प्रालेयेति—प्रालेय हिम तेन उपलक्षित अचल पर्वत हिमाभिध शैल तस्य मेखलाया नितम्बे यत्खलतिक नाम वन तस्य लतालये निलीनाङ्गा निलीन स्थितम् अङ्ग यस्या सा ताम्। पुन कथभूता ता बहुरूपिणो इति नाम्न. निषद्या स्थापना यस्या सा ताम् अनवद्या निर्दोषा विद्यामाराधयन्तीम्, अनयैव विघ्ननिघ्नया विघ्न कुर्वत्या जात अजगररूप यस्या तथाभूतया विद्यया निगीर्णवदना निगीर्ण गिलित वदन मुख यस्यास्ताम् उपलक्ष्य दृष्ट्वा परोपकारचतुर तार्क्ष्यविद्यया गरुडविद्यया एतस्या लपन मुख तेन आविल भूत तालु यस्य त मायाशयालु मायाजगर विश्रासयामास पीडयामास। पवनवेगा तत्प्रत्यूहाभोगापगमानन्तरमेव तस्य मायाजगरस्य प्रत्यूहो विघ्नस्तस्याभोगो विस्तार तस्य अपगमो विनाशस्तस्य अनन्तरमेव विघ्ननाशक्षण एव विद्याया सिद्धि प्रपद्य प्राप्य 'अवश्य इह जन्मनि अयमेव मे कृतप्राणत्राणावेश कृत विहित प्राणत्राणस्य असुरक्षणस्य आवेश प्रयत्नो येन स वज्रकुमार एव प्राणेश प्राणनाथ' इति चेतसि अभिनिविश्य निश्चय कृत्वा पुन अस्यैव नीहारमहीधरस्य नीहारो हिम तस्य महीधर पर्वत हिमाचल तस्य नितान्तम् अतिशयेन तीरिणीपर्यन्ते नद्यास्तटे सूर्यप्रतिमाम् आतापनयोग श्रितवत धृतवत. भगवत पूज्यस्य। तप इति—तपोमाहात्म्येन कृतसकलप्राणिव्यसननाशस्य सयतस्य सयमिनो मुने पादपीठोपकण्ठे चरणासनसमीपे पठत तत्र सेत्स्यति सिद्धि यास्यति इत्युपदेशवशेन अभिनवमाराय अभिनवो नूतन स चासौ मारो मदन तस्मै वज्रकुमाराय गगनेति–गगने गमन येपा तेपा विद्याधराणा या अङ्गना स्त्रिय, तासा विद्याधरस्त्रीणा जीवितभूताम् अभिमतेति–अभिमत अभिलपित स चासौ अर्थश्च तस्य साधने पर्याप्ति पूर्णता यस्यास्ता प्रज्ञप्ति विद्या वितीर्य दत्त्वा, निजनगर्यां पर्यटन् वज्रकुमार तथैव तत्सूरिसमक्ष फेनमालिनीनदीतटे विद्या प्रसाध्य असाध्यसाधनेन प्रवृद्धविक्रम अक्रमेति—अक्रमेण अन्याय्येन विक्रमेण शौर्येण अल्पीभूतदेव पुरदरदेव पितृव्य पितुर्भ्रातरम् अव्याजम् अनिमित्तम् उच्छिद्य सद्यस्तत्क्षण एव ता विजयोत्सवपरम्परावतीम् अमरावती पुर नगरीम् आत्मपितर स्वतातम् अखिलगगनचरै विहितपादसेव भास्करदेव स्थापयित्वा वश्येन्द्रिय स्वयवरनिमित्तेन कृताभिलपितवल्लभसमागमाम्, मदनसमागमसजातशृङ्गारसुन्दरा पवनवेगाम् अन्याश्च खेचरपतिकन्या परिणीय भाग्यवता धुर्य नभोगामिन सकल्पमात्रलब्धैस्तैस्तै अलब्धपूर्वैर्विलासै समय गमयामास।

[पृष्ठ ८६] अन्यदा पुन इष्टा अभिप्रेता सुहृदादयस्तेपाम् प्रज्ञया तया दुष्टा मत्सरिण ये ज्ञातय गोमिणो जना तेपा अवज्ञया अवहेलनेन आत्मन स्वस्य परैधित्व परेण एधित्व वर्द्धन पोपण च अवबुध्य ज्ञात्वा निजान्वयनिश्चये स्ववशनिर्णये सति शारीरेपु उपचारेपु स्नानान्नपानादिव्यवहारेपु प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्ति इति विहितप्रतिज्ञ। ताभ्या मातापितृभ्या महेति—महान्तश्च ते मुनय महामुनय सप्तर्षय तेपा माहात्म्ययुक्त प्रभावसपन्न यो मन्त्र तेन विश्रामिना भय प्रापिता दुष्टा ईतय रोगादिबाधा ता एव निशाचरा राक्षसा यत्र तथाभूताया मथुराया तपस्यत सोमदत्ताख्य भगवत सनीडे समीपे नीत। तदङ्गमुद्राप्राय मुनिशरीराकृतितुल्यम् आत्मकाय स्वदेहम् अवसाय निश्चित्य नजातानन्दनिकाय उद्भूतप्रमोदवृन्द तौ

अस्माकम् इति अस्मदीयः स चासौ वंशश्च तस्य विद्याख्यां विस्तृतिं विद्याकीर्तीति विद्याख्यातिविभामि तत्र तत्पर्य च अस्मदीमान्वमस्य प्रभिन्निविधाने पार्श्व योग्योऽस्तीति अभिप्रायोक्त्या विवाह च यथावत्तस्य भवतः पर्युप-सनम्, पूजनम्, पुनरत्र च अस्मादेव सोमदत्तगुरोः महतः माहात्म्यवतः अविपर्त्त कार्यं च एतत्पर्य चान्योऽस्मिति वृत्तान्तः ५१ स नभश्चरपतिः भानुपुरं जिनभवनसमीपवर्तिनगरम् अनुससार यथाविधि भावः।

[पृष्ठ ८७] भवति चात्र श्लोकः—अन्तःसारेति—अन्तः आत्मनि सारो बलम् उपसर्गसहनसामर्थ्यं येषु तानि अन्तःसाराणि तादृशि शरीराणि येषां ते अन्तःसारशरीराः तेषु महापुरुषेषु। अहितहितम् अहितानाम् शरीणाम् ईप्सितं चेष्टितम् उपसर्गादिक पुष्कल्यं हितायैव भवति। महापुरुषाणां गुणप्रादुर्भावकारणं भवति। अग्निसंयोगः तदश्मनि स्वर्णपाषाणे स्वर्णत्वाय हेमप्रादुर्भूत्यै किं न स्यात्। अपि तु स्यादेव ॥२ ७॥

इत्युपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य विद्याधरसमागमो नाम पञ्चदशः कल्पः ॥१५॥

१६ वज्रकुमारस्य तपोग्रहणो नाम षोडशः कल्पः

[पृष्ठ ८७-८८] वज्रकुमारो यौवनेनालंचक्रे इति संबन्धः। कथंभूतः सः। पुनरिति—पुन बालभावात् शैशवात् शोभा ताम्रा छाया कान्तिः यस्य कायस्येति क इव कङ्केल्लिपल्लव इव अशोकपल्लव-किसलय इव भावकीति—पुष्पितामिव तरुपुष्पगुच्छ इव अवनमनिमि पद्मरागमणिमि निर्मित कन्दुक इव गेन्दुक इव बन्धूनां संबन्धिजनानाम्। पुन कथंभूत। आनम्रितेति—आनम्रितम्, नीरीक्षितम् स्वरूपतो वीक्षां कुर्वत् अमृतपीयम् अमृतं वक्त्रम्, पूर्णं पूर्त च तत्पानं पूर्णानम्, मन्थरं मन्दं मन्दं चलितं कुमारं मुखं यस्य सखीकं क्रीडया हस्तपरम्परया संचार्यमाणः नीयमान क्रमेण वत्सानयन सम्मुखयवनम्, उदञ्चितम् ईपत्स्मितम् बाहुभ्यां चंक्रमणं रिङ्खणम् उरुदण्डयोर्मध्यमाभ्याम् बद्धपदाक्रमः अस्पष्टभाषणम्, स्पष्टञ्चिता च अस्खलितगमनभाषणादिकं च एतदन्यतराणाम् अवस्थां दशाम् अनुभूय स वज्रकुमारः यौवनेनालंचक्रे। क इव केन। यथा मरुमार्गं त्रिवर्ती पिपासया परिम्लानः स चासौ मार्गः निर्जल पन्था छायावता वाटेन अल-क्रियते छायागारस्थो यथा छायाप्रधानस्वर्पया अकालाभ्येन शोभते स च सकाशो यथा कमलाकरेण कमलवनेन स च कलहंसविहीन मराकविहगवृन्देन कलहंसविहगो यथा रामागमागमेन स च रामासमागम युवतिजन-संघ स्मरलीलायितेन मदनक्रीडनेन तस्मीजनो युवतिसमूहः तस्य मन एव मृगो हरिणस्तस्य प्रमदवनेनैव मासन्तरेण उपवनमेव यौवनेन तारुण्येन स वज्रकुमार अलंचक्रे शुशुभे। (तदनु वज्रकुमारः मामस्य दुहितरम् इन्दुमतीं परिणीय मायाविनम् अकम्पं पवनवेगा पीडयन्तं विद्राययामास इति संबन्धोऽत्र ज्ञेय) तदनु यौवनप्राप्त्यनन्तरं कथंभूतो वज्रकुमार। बाढमिति—बाढम् अतिशयेन प्रकटम् प्रभूतं तत्र तद् प्रौढं प्रभूतं यौवनं तारुण्यं तस्य अवतारस्थले आगमनसामर्थ्यं यस्मिन् सः पुन कथंभूत। किंतु मर्तुश्च बाधो निर्वेदः निशातो चासौ तथाभूताभिः अनवद्याभिः निर्दोषाभिः विद्याभिः प्रवर्तितप्रतापगुणः प्रकटसामर्थ्यविक्रमेण गुप्तः रक्षितः तदनु। प्राप्तेति—प्राप्तं लब्धं अमरकोशम् नयोपायविज्ञानात् आधिक्यं येप्सितं येन सः (मामस्य कन्या पर्यणयत्) किं नामधेयस्य मामस्य। सुवाक्येति—सुवाक्यमूर्तिः इति नाम नामस्य महाभूतस्य मामस्य अनलीकान्तु। कथंभूता दुहितरं पर्यणयत्। मदनेति—मदनस्य कामस्य यो मद उदरेण तेन पथ्यं लक्ष्यं यतारुण्यं तस्य लावण्यमेव अरण्यं तत्र अनवेक्षणावतारस्य अनुमतीव भूमिरिव ताम् इन्दु मतीं दुहितरं गुणा परिणीय विवाह्य मणिकुण्डलावत पुरःसरा अवगा येषु तं नभश्चरकुमारी तत्पुर्भी अनुमन विजयार्धमहीधरम् अध्यास्त इति संबन्ध। कथंभूतं विजयार्धम्। पूर्वापरेति—पूर्वश्च अपरश्चानु पूर्वापरौ तौ च तौ अपारपारौ समुद्रौ पूर्वापरपारावारौ तयोस्तटस्था वीचयः तै अनुग समता व्याप्ता या अन्तरः भूषाः ता पततीति अर तं पुन कथंभूतम्। क्रीडेति—क्रीडाया रतः प्रीतिः तस्या बलेन अनुरम् अलसम्। विजयार्धमहीधरम् अध्यास्य अवस्थित तस्य विजयार्धस्य नानारत्नानि निर्मायन् माया धनु (विद्रावयामासेति संबन्ध वर्तयति।) विहायसरीति—विहायसा आकाशं तत्र चरो गमनं यासां ताः

विहायश्चर्य विद्याधरस्त्रिय ताभि परिमलनेन मर्दनेन म्लानानि ग्लानि प्राप्तानि मृणालानि बिसानि कमलनालानि जलजानि च यत्र, पुन कथभूत स्थानम्। अशोकेति—अशोकतरोः पल्लवाना शय्यासु दयितेन पत्या आसाद्य प्राप्य यद्विद्याधरीसुरत तस्य परिमलेन सुगन्धेन वहल विपुलम् इद लताकुञ्जस्थानम् इति निध्यायन्, पुनश्च कन्दुकेति—कन्दुकविनोद गेन्दुकक्रीडा तस्मिन् परिणतास्तत्परा या अम्बरचर्य खग्य तासा चरणालक्तकेन पादलिप्तयावकेन अङ्कित चिह्नितम् अद स्थानम्। तमालमूलानाम् आवलय मण्डल यत्र तथाभूतमिदम्। इद रमणीयम् मन्मनोहरमद, अदश्च सुन्दरम् अटनीध्रतट मेखलावरतटस्थान मनोहरम्। इति निध्यायन् पश्यन् चिन्तयन् वा। समेति—समाचरित. विहित स्वैरविहारो येन, पुन प्राप्तो हिमवद्गिरे प्राग्भार अग्रभागो येन स। वज्रकुमार मायाजगरेण निगीर्णा विद्याधरकन्या पवनवेगा सरक्षितवान्। [कस्य विद्याधरपतेरिय पवनवेगेति वर्ण्यते] खेचरीति—खेचरीलोचनाना चन्द्रवदाह्लादकस्य चन्द्रपुरेति नगरस्येन्द्र स्वामी, यश्च अङ्गवती युवत्या प्रीतेर्धाम गृह तस्य गरुडवेगनाम्न विद्याधरपते. अतिशयरूपस्य पार्श्वे भाजनभूता प्रियपुत्री पवनवेगा नाम असगा सखयादिपरिवाररहिताम्। प्रालेयेति—प्रालेय हिम तेन उपलक्षित अचल पर्वत हिमाभिध शैल तस्य मेखलाया नितम्बे यत्खलतिक नाम वन तस्य लतालये निलीनाङ्गा निलीन स्थितम् अङ्ग यस्या सा ताम्। पुन कथभूता ता वहुरूपिणी इति नाम्न निषद्या स्थापना यस्या सा ताम् अनवद्या निर्दोषा विद्यामाराधयन्तीम्, अनयैव विघ्ननिघ्नया विघ्न कुर्वत्या जात अजगररूप यस्या तथाभूतया विद्यया निगीर्णवदना निगीर्ण गिलित वदन मुख यस्यास्ताम् उपलक्ष्य दृष्ट्वा परोपकारचतुर तार्क्ष्यविद्यया गरुडविद्यया एतन्म्या लपन मुख तेन आविल भूत तालु यस्य त मायाशयालु मायाजगर वित्रासयामास पीडयामास। पवनवेगा तत्प्रत्यूहाभोगापगमानन्तरमेव तस्य मायाजगरस्य प्रत्यूहो विघ्नस्तस्याभोगो विस्तार. तस्य अपगमो विनाशस्तस्य अनन्तरमेव विघ्ननाशक्षण एव विद्याया सिद्धि प्रपद्य प्राप्य 'अवश्य इह जन्मनि अयमेव मे कृतप्राणत्राणावेश कृत विहित प्राणत्राणस्य असुरक्षणस्य आवेश. प्रयत्नो येन स वज्रकुमार एव प्राणेश प्राणनाथ' इति चेतसि अभिनिविश्य निश्चय कृत्वा पुन अस्यैव नीहारमहीधरस्य नीहारो हिम तस्य महीधर पर्वत. हिमाचल तस्य नितान्तम् अतिशयेन तोरिणीपर्यन्ते नद्यास्तटे सूर्यप्रतिमाम् आतापनयोग श्रितवत धृतवत भगवत पूज्यस्य। तप इति—तपोमाहात्म्येन कृतमकलप्राणिव्यसननाशस्य सयतस्य सयमिनो मुने पादपीठोपकण्ठे चरणासनसमीपे पठत तत्र सेत्स्यति सिद्धि यास्यति इत्युपदेशवशेन अभिनवमाराय अभिनवो नूतन स चासौ मारो मदन तस्मै वज्रकुमाराय गगनेति—गगने गमन येषा तेषा विद्याधराणा या अङ्गना स्त्रिय तासा विद्याधरस्त्रीणा जीवितभूताम् अभिमतेति—अभिमत अभिलषित स चासौ अर्थश्च तस्य साधने पर्याप्ति पूर्णता यस्यास्ता प्रज्ञप्ति विद्या वितीर्य दत्त्वा, निजनगर्यां पर्यटन् वज्रकुमार तथैव तत्सूरिसमक्ष फेनमालिनीनदीतटे विद्या प्रसाध्य असाध्यसाधनेन प्रवृद्धविक्रम अक्रमेति—अक्रमेण अन्याय्येन विक्रमेण शौर्येण अल्पीभूतदेव पुरदरदेव पितृव्य पितुर्भ्रातरम् अव्याजम् अनिमित्तम् उच्छिद्य सद्यस्तत्क्षण एव ता विजयोत्सवपरम्परावतीम् अमरावती पुर नगरीम् आत्मपितर स्वतातम् अखिलगगनचरै विहितपादसेव भास्करदेव स्थापयित्वा वश्येन्द्रिय स्वयवरनिमित्तेन कृताभिलषितवल्लभसमागमाम्, मदनसमागमसजातशृङ्गारसुन्दरा पवनवेगाम् अन्याश्च खेचरपतिकन्या परिणीय भाग्यवता धुर्य नभोगामिन सकलसमाप्तलब्धैस्तैस्तै अलब्धपूर्वैर्विलासै समय गमयामास।

[पृष्ठ ८६] अन्यदा पुन इष्टा अभिप्रेता सुहृदादयस्तेषाम् प्रज्ञया तया दुष्टा मत्सरिण ये ज्ञातय गोत्रिणो जना तेषा अवज्ञया अवहेलनेन आत्मन स्वस्य परैधित्व परेण एधित्व वर्द्धन पोषण च अवबुध्य ज्ञात्वा निजान्वयनिश्चये स्ववशनिर्णये सति शारीरेषु उपचारेषु स्नानान्नपानादिव्यवहारेषु प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्ति इति विहितप्रतिज्ञ। ताभ्या मातापितृभ्या महेति—महान्तश्च ते मुनय महामुनय सप्तर्षय तेषा माहात्म्ययुक्त प्रभावसम्पन्न यो मन्त्र तेन वित्रासिता भय प्रापिता दुष्टा ईतय रोगादिबाधा ता एव निशाचरा राक्षसा यत्र तथाभूताया मथुराया तपस्यत सोमदत्ताख्य भगवत मनीडे समीपे नीत। तदङ्गमुद्राप्राय मुनिशरीराकृतितुल्यम् आत्मकाय स्वदेहम् अवमाय निश्चित्य सजातानन्दनिकाय उद्भूतप्रमोदवृन्द तौ

तमी अपि उपनेतारौ मुनिसमीपं प्रापकौ मातापितरौ यावत् सस्नेहम् वस्त्रमुक्तिभ्यां प्रतिबोध्य सर्वविरम सर-
वीरितोभयसम्बन्धस्वकतबाह्याभ्यन्तरग्रन्थ निर्ग्रन्थ चारित्रविरति समपादि चारित्रविचारक समजायत।
भवति भावार्थ—कामविदूरे कामात् मदनात् विदूरे विशेषेण दूर रहिते नरे जाते सति नरे कामम
तत्कामरिपुहाभिलापाभ्यो वा दूरे जाते सति यौवनम् लक्ष्मीसदृशा सुन्दर कान्तालोक स्त्रीणा समूहा पुन
कस्य पृथक्पुरेवणीय त्यक्तु योग्या भवति । चित्त संचित निमग्नः चित्तालोक सकलोकवत् जायते । सकल
सम्पूर्णः पुष्पजनस्य रागसंगमो जायते ॥२०८॥

इत्युपासकाध्ययन वज्रकुमारस्य तपोमहत्त्वं नाम षोडशः कल्पः ॥ १६ ॥

१७. मुद्गलास्या पूतिकवाहनचरणो नाम सप्तदश कल्पः

[पृष्ठ ८९-९०] पुनश्च एतस्यामेव किल मथुरायाम् कर्णभूतायां महामहोत्सवति—महामहोत्सव
भवत्या मुकुटबद्धैः क्रियमाणा या जिनपूजा सा महामहोत्सव उच्यते तस्मिन् वस्त्राहितायां नगर्यां जातेऽपि
बाधायां नाना भवन तैः मेदुरा प्रतिध्वनियुक्ता ये प्रासादास्ते एव कन्दरा यस्याः तस्याम् गोचराय आहाराय
चारित्रयुगलं तपुंश्चिमहितं मुनिद्वयं नगरमार्गे संभ्रमगतिसमं सगतो पथे भ्रमणस्य सर्वो विस्मयो यस्य तत्
एकस्मिन्नेव समय समागतया आहाराय निमन्त्रितयुगलं । तत्र मथुरायां द्विधिपरिवत्सर एव द्वौ वा नवा वा
परि वर्णिका हीना वा वत्सरा यस्मिन् तथाभूते वयस्यावसर बालिकामेका विस्फविघ्निमलोचनकलाया विलेन
मेघमलेन पिहितं विरूपं च ते लोचने नयने ताभ्यां उभाभ्यां सहिताम् अनाथा पितृभ्यां रहिताम् आपदापूर्ण
चारित्रोम् आपन्नानाम् अङ्कुरं तत्र चारिणी भ्रमन्ती पण्यवीथिकायां भ्रमणं कुर्वतीम् स्वसम्बन्धनमनविहारिणीं
स्वच्छा गमनेन विहरन्तीम् निरीक्ष्य विलोक्य प्रतीक्ष्य विमर्शं कृत्वा । पश्चात्तनः पृष्ठतो गच्छन् सुनन्दा-
भिधानयोधनः सुनन्दन इति नामधियो यस्य स भगवान् पूज्यो मुनिः एवमवदत् । अहो दुरालोका बहु
प्राणिनां कर्मविपाकः यदस्यामेव वयस्यां प्रभवति । अहो प्राणिनां जीवानां बहु कर्मविपाकः दुष्कर्मणां पापस्य
पुण्यस्य वा फलानुभवः दुरालोकः महता कष्टेन आलोको दर्शनं ज्ञानं यस्य तत् । यत् अस्यामेव वयसा
वैधव्यावस्थायां प्रभवति स्वफलम् आस्वादयति । इति । पुरश्चारी भगवान् अभिनन्दननामचारी—आगे गच्छन्
भगवान् पूज्यः अभिनन्दननामा मुनिः—तपःकल्पद्रुमोत्पादनन्दन सुनन्दनमुने मैवं वादीः—तपः एव कल्प-
वृक्षस्तस्य उत्पादे उत्पादने नन्दनवनमिव सुनन्दनमुने मैवं वादीः मा एवं वदी । यतोऽयं बालसम्भूता सती
राजश्रेष्ठिपदप्रभृतं समुद्रदत्तं पितरम् अकाण्ड एव दशमीं दशाम् आनीय स्वकवत्सान्तरम् अनुभवन्ती तिष्ठति ।
गर्भे समागता सती राजश्रेष्ठिपदम् अधिष्ठितं समुद्रदत्तं जनकम् अनवसर एव दशमी दशा मरणावस्था नीत्वा
इदं दुःखदं दशान्तरम् अनुभवन्ती तिष्ठति । जातमात्रवर्तिनीभूतोपनिबद्धा जनता मातरम् अनवसर एव तस्य
पश्चाद्विरहदुःखशल्यां जननीम् अनवसर एव मरणावस्था नीत्वा इदं दशान्तरम् अनुभवन्ती तिष्ठति ।
प्रवर्तमाना च बन्धुजनम् अनवसर एव मृत्युमुखप्रत्यम् इति पूर्वोक्त संबन्धोऽत्र ज्ञेय । तथाप्यनया प्रौढयौवनया
प्रौढं विपासं लोभनीयं यौवनं तारुण्यं यस्याः सा तया । अस्य मथुरानाथस्य श्रीविकारेयीनिनोदासक्तस्य
श्रीविकारेण्या कृतानिवेशाया महिष्या विनोदासक्तस्य लोकागृहनूतनस्य पूतिकवाहनस्य महीशस्य पृथ्वीपते
अग्रमहिष्या प्रमानरागया भवितव्यम् । इत्यवोचत् । एतच्च तत्रैव प्रस्तावे पिण्डपातार्थं तत्रैव मथुरानगरी प्रस्तावे
अवसरे समये पिण्डपानाय आहारग्रहणाय भिक्षार्थे हिण्डमानः भ्रमन् धावमभिक्षुः बुद्धदासः उपश्रुत्य आकर्ण्य
'नान्यथा मुनिभाषितम् न भवेत् यतिवचनम् अनृतम् इति निश्चित्य नि संशयं संकल्प्य विमल । स्वीकृत्य जैनात्
अभिज्ञ बालिकाम् । आहितविहारवसतिकाम् आहिता स्थापिता विहारवसतिकायां बौद्धमठवासे या ताम् बौद्धमठ
अभिज्ञ बालिकाम् । अहि ... ते आहार-
तो संस्थापयति भाव। अभिलषितेति—अभिलषितानाम् अभिप्रेतानाम् अनुसार आनयनं देयानि आहार-
अवीवदत् ता बालिका तथार्धकम् पोषयति स्म । परिजनपरिग्रहाधीनेन यौवनेन नाम्ना बुद्धदासीति आजुहाव
स्यासहार । (तत्र वर्षेषु केषुचिदपगतेषु यौवनं प्राप्ते तां राजा अपश्यत् इति अन्वयति) कर्णभूते यौवने । भ्रमर
कति भ्रमरको नाम नृत्यविशेष तस्य मद्दुक पठति तस्य अभिनयप्रदर्शने भरतो नाट्याचार्यः । पुनः कर्णभूते ।

भ्रूविभ्रमेति—भ्रुवोर्विभ्रमो विलास उत्क्षेपणादिक तस्य आरम्भे शिक्षणे उपाध्यायस्थानिनि शिक्षागुरुतुल्ये। लोचनेति—लोचनयोर्नेत्रयोविचारो भ्रमण तस्य चातुर्ये आचार्य इव तस्मिन्। चतुरोक्ति—चतुराणा दक्षाणाम् उक्तौ या चातुरी पटुता तस्या. प्रचारे प्रसारे गुरुणि गुरुतुल्ये। बिम्बाधरेति—बिम्बवत् तुण्डिकाफलवत् रक्तौ तावधरौ तयोर्विकारस्य सौन्दर्ये कादम्बर्या मदिराया योगे सबन्धे इव। निम्नोन्नतेति—निम्नानि जघनादीनि उन्नतानि स्तनादीनि तेपा प्रदेशाना प्रकाशने व्यक्तीकरणे शिल्पिनि सूत्रधारे। मनसिजेति—मनसिजो मदन स एव गज करी तस्य मदस्य उद्दीपने पिण्डिराहार. तेन पिण्डिते पुष्टे। शृङ्गारेति—शृङ्गारस्य या गर्भगति अन्तरात्मनि गति तस्या रहस्यस्य गूढस्वरूपस्य उपदेशके, समस्तेति—समस्त च तद्भुवन च तस्य मनदिचत्त तस्य मोहने सिद्धौपधे प्रतिदिन प्रादुर्भावस्य सामीप्य प्राप्ते सति यौवने। सा रूपसम्पन्महीयसी रूपसपदा सौन्दर्यविभवेन महीयसी प्रवृद्धा गुर्वी बुद्धदासी सोत्ताल सोत्कण्ठम् उत्तुङ्ग उन्नत तमङ्ग प्रासाद तस्य शृङ्ग शिखर तस्य उत्सगो मध्यभागस्त सगता। भ्रमणिकया भ्रमणहेतुना कृत विहारस्य मठस्य उपान्ते समीपे गमन येन त पूतिकवाहन राजान सा अदर्शत् अपश्यत्। राजा च तामपश्यत्। राजा—अलकेति—इह हि बुद्धदासीरूपाया सरिति नद्या मम मति अलकाश्चूर्णकुन्तला कुटिलकेशा तेपा वलयं मण्डल तदेव आवर्तो जलभ्रम· तस्मिन् भ्रान्ता भ्रमणखिन्ना। विलोचनेति—विलोचने नेत्रे एव वीचिकास्तरङ्गा तेपा प्रसरात् विधुरा पीडिता। स्तनद्वयसैकते कुचयुगलमेव सैकत पुलिन तस्मिन्। त्रिवलिवलने श्रान्ता त्रयाणा वलीना समाहारस्त्रिवली तस्या वलनेन भ्रमणेन श्रान्ता क्लान्ता पुन नाभौ निमज्जनात् ब्रुडनात् अपि श्रान्ता एव मम मति प्रायेण मन्दोद्योगा शिथिलप्रयत्ना भवति खिन्ना भवतीति भाव वर्तते।

[पृष्ट ९१] इति राजा विचिन्त्य, चेतोभुव मदनस्य विजृम्भप्रारम्भ वृद्धिप्रक्रम निवार्य निरुध्य च, किमिय विहितविवाहोपचारा कृतपरिणयविधि अथवा अद्यापि पतिवरा वरीतु योग्येति, भिक्षूनापृच्छ्य, तत्र द्वितीयपक्षे यदि पतिवरा तर्हि अस्मत्पक्षे अस्माकम् अधीना कर्तव्या। तया सह विवाहम् अह करोमीति। समर्पितोऽभिलापो यस्य तथाभूतम् आप्तपुरुप विश्वस्त नर प्रेष्य प्रहित्य। रणरणकजडान्त करण उत्कण्ठाजडचित्त शरणमगात् गृहमगच्छत्। 'शरण गृहरक्षित्रो'रित्यमर। आप्तपुरुपोऽपि विश्वस्तनरोऽपि। अग्रमहिपीपदपणबन्धेन प्रधानराज्ञीपदप्रदानस्य व्यवहार विनिश्चित्य साध्यसिद्धि विधाय स्वामिन राजान तत्समागमिन तया समागमवन्तम् अकरोत्। भवति चात्रार्या—पुण्य वेति—जन्तुना प्राणिना यत्काले यस्मिन्काले पुरा यत् पुण्यं वा पाप वा आचरित तत्समये तस्य पुण्यस्य पापस्य उदयकाले समागते सति तस्य जीवस्य सुख च दु ख च योजयति। त जीव तत्पुण्य वा पाप वा सुखिन दु खिनं च करोति ॥२१०॥

इत्युपासकाध्ययने बुद्धदास्याः पूतिकवाहनवरणो नाम सप्तदश. कल्प ॥१७॥

१८. प्रभावनविभावनो नामाष्टादशः कल्पः

[पृष्ठ ९१-९३] अथ समायाते इति—भव्यजनानन्दस्य सपादकानि कर्माणि पूजाभिपेकादीनि यत्र तथाभूते नन्दीश्वरपर्वणि समायाते सति। तया प्रतिप्रणयप्रेयस्या प्रतिविरुद्धा या प्रणयप्रेयसी पूतिवाहनस्य राज्ञ प्रीतियुक्ता वल्लभा बुद्धदासी तया प्रतिचातुर्मास्यम् औविलादेव्या. स्यन्दनविनिर्गमेण रथयात्रया भगवत सकलभुवनोद्धरणस्थिते सकलजगदुद्धार कुर्वत जिनपतेर्महामहोत्सवम् उच्छेत्तु विनाशयितुम् अभिलपन्त्या, शुद्धोदनतनयस्य शुद्धोदननृपपुत्रस्य सुगतस्य इष्टयर्थं पूजार्थम् अष्टाहा अष्टदिनपर्यन्त सकलपरिवारानुगतम् एतदुचितम् एतस्या रथयात्राया उचित योग्यम् उपकरणजात रथ-छत्र-चामरादिकम् अवनिपति राजा पूतिकवाहन याचित प्रार्थित, स तथैव प्रत्यपद्यत अङ्गयकरोत्। उर्विलादेव्यपि सुभगभावात् पतिप्रियत्वात् सपत्नीप्रभव सपत्न्या प्रभव उत्पत्तिर्यस्य तत् दौर्जन्य दुष्टत्वम् अनन्यसामान्यम् असाधारणम् अप्रतीकारम् अनुपाय आकलय्य ज्ञात्वा सोमदत्ताचार्यम् उपमत्र प्राप्य 'भदन्त, यदि एतस्मिन् द्वित्रिदिनभाविनि द्वित्रिदिवसानन्तर भविष्यति अष्टदिनोत्सवे पूर्वक्रमेण जिनपूजार्थं मथुराया मदीयो रथो भ्रमिष्यति तदा मे देहस्थितिहेतुपु अन्नजलादिषु

पदार्थेषु साभिलाषं मनः इच्छायुक्तं मनः अन्यथा निरभिलाषं निरिच्छम् इति प्रतिज्ञामासमाना प्रतिज्ञां कर्तुम् इच्छन्ती तेन सोमदत्तेन भगवता पूज्येन मुनिना तन्मनोरथसमर्थनार्थं तच्चित्तेच्छासफलीकरणाय अवलोकितलक्षण दृष्टमुखेन वज्रकुमारेण साधुना साधु संबोधिता आश्वासिता। मातः सम्यग्दृष्टिः सद्दर्शनवतीनाम् एवंविधानां इति गमनानां स्त्रीणाम् अवाप्तप्रथमकथे अवाप्ता लब्धा प्रथमकथा आख्यवर्णनं यया तत्संबोधनम्, हे मातः, अलम् अलम् आवेगेन खेदेन पूर्ववत् मा स्म खेदिनी भूरित्यर्थः । मतः न खलु मयि समयपतिबिम्बा जैनसमयानु... पुत्रके सति, अर्हतां जिनेश्वराणाम् अर्हणायाः पूजायाः प्रत्यवायः विघ्नः न खलु नैव भवेदित्यर्थः । तद् तस्मात् पूर्वस्थित्या यथापूर्वम् आरमस्थाने स्वप्रासादे स्थातव्यम् । चिन्ता न कर्तव्येति । इति हृद्यं मनोहरम् अवद्यं निर्दोषम् अमृषोद्यं न मृषा असत्यं तद् न तत् सत्यं वचनं सत्यं मायममिति भावः । निगद्य उक्त्वा युगपत्— युगपत्या आकाशगमनेन विद्याधरपुरम् आसाद्य प्राप्य गतः। महामुनित्वात् आत्मचरित्रपतया च प्रस्थापन च भास्करदेवो मुख्यो यस्मिन् तेन निखिलेन समस्तखचरचक्रेण विद्याधरसमूहेन क्रमशः कृताभ्युत्थानादिभिः सप्रश्रयं सविनयम् कृत्वा अभ्युत्थानं ससंभ्रमम् आसनात् उत्थानम् अञ्जलिपुटं कृत्वा शिरसि संस्थापनम्, आदि क्रिया यस्य स वज्रकुमारमुनिः आपन्नस्य आसनम् आधारं पुनः स्पष्टम् आगत अभूत । [विद्याधरसमूहैः सह वज्रकुमारो मुनिः ओविलाया एवं नगरे संचार्य महतीं प्रभावनां चकार] कर्णमूर्तविहायोविहारैः विहायः आकाशं तत्र विहारः अस्ति येषां ते विहायोविहारास्तैः विद्याधरैरित्यर्थः। तानेव सविशेषं वर्णयति कवि— तदनन्तरम् आनकाः पटहाः दुमदुम दुं दुम् इति अव्यक्तशब्दं कुर्वाणा वाद्यविशेषाः तेषां नादा रवा उत्तालानि उत्कटानि च तानि ध्वनितानि निनादाः तैः मुखराणि वाचालानि मुखमण्डलानि येषां ते तैः । पुनः कर्णमूर्तैः सामयिकेति—समयः संकेतः अस्ति येषां ते सामयिकाः अयम् अलंकारो गजस्य अयं अश्वस्य अयं बलीवर्दस्य इत्यादि संकेतयुताः सामयिकालंकाराः उच्यन्ते । तेषु सारैः उत्तमैः अलंकारैः सज्जिता ये पद्मनाभ... विमानानि च तेषां गमनेन प्रचलन्ति कम्पमानानि कर्णकुण्डलानि येषां ते तैः अनेकेति—अनेके बहवः अनर्घ्यमूल्याः महारत्नानि तैः निर्मिताः किंकिण्यः क्षुद्रघण्टिकाः ताभिः चारुभिः घटितानि प्रथितानि च यानि दुकूलानि क्षौमवस्त्राणि तैः कल्पिताः ये पालिध्वजाः महाध्वजास्तेषां राजिः पङ्क्तिः तया विराजितानि शोभितानि भुवनाम्बराणि येषां तैः पुनः कर्णमूर्तैः । करीति—करी गजः मकरः नक्रः सिंहः शार्दूलः व्याघ्रः शरभः अष्टापदः कुम्भीरः जलचरविशेषः शफरः मत्स्यः, शकुन्तानां पक्षिणाम् ईश्वरः गरुडः इति एतेषां पुरःसरा मुख्या आकारा यासां तासां ताः पताकाः क्षुद्रध्वजाः तासां संतानाः समूहाः तैः स्थगिताः स्तब्धाः करा येषां ते तैः मानस्तम्भेति—मानस्तम्भः स्तूपः तोरणम्, मणिवितानं रत्नखचितं चन्द्रोपकः दर्पणः सितातपत्रं श्वेतच्छत्रम् चामराः विरोचनः सूर्यः चन्द्रः मङ्गलकुम्भः मंगलकुम्भः एतैः पदार्थैः संभृताः धृताः हस्ता यथा तैः । करेषु एतान् पदार्थान् गृहीत्वाऽऽगतैः इति भावः । पुनः कर्णमूर्तैः । अतुल्येति—अतुल्यो महान् स चासौ देवच्छन्दश्च हारविशेषः तन्मस्तिके तेन आच्छन्नः सर्वतो भूषितः स चासौ कर्णीरथः पुष्पकप्रभृतीनाम् रथः स्यन्दनः प्रभुमुकुटप्रभाविभवानाम् रथविशेषः । द्विपः करी तुरगः अश्वः नरा मनुष्यास्तैर्निर्मितानि व्याप्तानि च तानि सैन्यानि तैः इति । पुनः कर्णमूर्तैः । अमन्दत्या सहिताश्च ते पदुपटहाः महाभेर्यः करटा वाद्यविशेषाः मृदङ्गा मड्डुकाः काहलाः किङ्किणः ताला झल्लर्य भेर्यः मम्मारश्च एते आदी येषां तानि वाद्यानि अनुगतानि भासि गीतानि तैः संगताश्च याः अञ्जनास्तासाम् आमोदः विस्तारः तेन सुभगः सुन्दरः संचारो यथा ते तैः । पुनः कर्णमूर्तैः । कुब्जाः मड्डुकाः वामनाः कुह्या किराताः चाटुकारकाः क्षितयाः कञ्चुकिनः नटाः नृपादिवेषधारिणः नर्तका नृत्यविधायकाः बन्दिनः वैतालिकाः चाम्योचना स्तुतिपाठकाः तेषां विनोदेन आनन्दित विविधाना नमस्कारः येस्ते तैः पुनः कर्णमूर्तैः । सखेलेति—सखेलाः क्रीडया सहिता ये खेचरा विद्याधरास्तेषां सहचर्यः नार्यः तासाम् हस्तेषु विन्यस्ताः गृहीताः ते च ते स्वस्तिकाश्च प्रदीपाश्च पूजालम्बिताः पटवासश्च प्रभृति... विनाधि वर्णनाना पूजन नाम् कारकरणानि भाजनानि तेषां रमणीयः प्रचारो येषां तैः ।   —विष्टराः

रस्नपुष्पीकरणपूर्वं पटवासाश्च उत्सवपुष्पीकरणानि प्रमुखानि   अजिर नभः

रमण्य ललनास्तासा निकरो येषु तै । पुन कथभूतै । अपरैश्च तैस्तै विधृतपूजापर्यायपरिवारैर्विहायोविहारै: विधृत सधारित पूजापर्यायाणा नित्यमहादिपूजाना परिवारो यैस्ते विहायोविहारा नभश्चरजना तै सह त वज्रकुमार त भगवन्तम् अम्बरात् आकाशात् अवतरन्तम् उत्प्रेक्ष्य दृष्ट्वा भिक्षुदीक्षापटीयसी भिक्षूणा बौद्धसाधूना दीक्षादाने पूजने पटीयसी चतुरा खलु बुद्धदासी पुण्यभूयसी पुण्य भूय प्रचुर यस्याः सा प्रचुरपुण्यवतीति भाव । यस्या सुगतसपर्यासमये बुद्धपूजावेलाया समायात समागत सकलमेतत्सुरसैन्यम् । इति धृतधिपणे धृता धिषणा मतिर्येन तस्मिन् पौरजनान्त करणे नागरिकमनसि सति, स भगवान्गगनगमनानीकै. सार्कं गगने नभसि गमन येषा तानि अनीकानि सैन्यानि नभश्चराणा सैन्यैरित्यर्थ । ओविलानिलये निलीय ओविलाया महादेव्या प्रसादे निलीय उषित्वा सावष्टम्भ सगर्वम् अष्टाह्नि नन्दीश्वरपर्वणि मथुराया चक्रचरण चक्राणि चरणा यस्य त परिभ्रमय्य अर्हत्प्रतिबिम्बाङ्कित जिनप्रतिमासनाथम् एक स्तूप तत्रातिष्ठिपत् स्थापितवान् । अत एवाद्यापि तत्तीर्थ देवनिर्मिताख्यया प्रथये प्रसिद्धम् अभवत् । बुद्धदासी दासीवासीद्भग्नमनोरथा । किङ्करीव बुद्धदासी भग्नमनोरथा नष्टमनोऽभिलाषा बभूव । भवति चात्र श्लोक —पूतिकस्य महीभुज नृपस्य ओविलाया महादेव्या स्यन्दन रथ वज्रकुमारको मुनिर्भ्रामयामास ॥ २११ ॥

इत्युपासकाध्ययने प्रभावनविभावनो नामाष्टादश कल्पः ॥ १८ ॥

१९. वलिनिर्वासनो नामैकोनविंशः कल्पः

[पृष्ठ ९३-९४] अर्थित्वम् इति—अर्थित्व प्रयोजनवत्त्वम् । भक्तिसपत्ति गुणानुरागसपत् । प्रयुक्ति जीवादितत्त्वेषु आत्मनो योजन श्रद्धानम् इति भाव । सत्क्रिया सम्मान । सधर्मणा सुविधेयता दासत्वम् । सधर्मसु समानधर्मिषु जनेषु सौचित्यकृति दानप्रियवचनाभ्या तेषा सतोषोत्पादनम् । वत्सलना मना वात्सल्यगुणोऽभिहित ॥२१२॥ स्वाध्याये इति—स्वाध्याये अध्यात्मादिविद्याविषये । संयमे प्राणिसयमे इन्द्रियसयमे च । सङ्घे श्रावकश्राविकार्यिकामुनिषु । गुरौ दीक्षाचार्ये शिक्षाचार्ये च । सब्रह्मचारिणि सहाध्यायिनि । यथौचित्यं दानमानाभ्या यथा संतोषोत्पादनं भवेत्तथा । विनयम् आदर प्राहु ब्रुवन्ति स्म । के कृतात्मान कृत ज्ञात आत्मा जीवस्वरूपं यै ते ॥२१३॥ आधीति—आधिर्मानसी व्यथा । व्याधयो ज्वरादयो रोगा तै. निरुद्धस्य पीडितस्य निरवद्येन कर्मणा पापरहितेन वैयावृत्त्येन औषधधनादिना सौचित्यकरण सतोषोत्पादनम्, वैयावृत्त्य शुश्रूषा प्रोक्तम् । किमर्थम् । विमुक्तये कर्मराहित्याय अनन्तचतुष्टयप्राप्तये ॥२१४॥ जिने इति—दुर्जयकर्मठकर्मारातीन् जयतीति जिन , अर्हन् तस्मिन् वीतरागसर्वज्ञे । जिनागमे अर्हत्प्रोक्ते द्वादशाङ्गप्रवचने । सूरौ आचार्ये । तप श्रुतपरायणे तप परायणे साधौ, श्रुतपरायणे उपाध्याये । सद्भावशुद्धिसपन्न अनुराग निष्कपटमन शुद्धया तेषा गुणेषु अनुराग प्रीति भक्तिरुच्यते ॥२१५॥ चातुर्वर्ण्यस्येति—चातुर्वर्ण्यस्य सङ्घस्य मुनि-ऋषि यति-अनगारेति चतुर्भेदात्मकसङ्घस्य । यथायोग्य तत्तद्गुणानतिवृत्त्या । प्रमोदवान् हृष्टेन मनसा वात्सल्य प्रीति न कुर्यात् स समयी सधर्मा कथ स्यात् ॥२१६॥ तद्व्रतैरिति—तद्व्रतै तत् तस्मात्कारणात् अहिंसादिभिः व्रतै । विद्यया सम्यग्ज्ञानेन शास्त्रादिपाठनेन । वित्तै धनै । श्रीमदाश्रयै , श्रीमता धनिनाम् आश्रयै आधारै । शारीरैश्च शरीरसेवया च हस्तपादादिमर्दनेन मलमूत्राद्यपनयनेन च त्रिविधातङ्कसप्राप्तान् आधिव्याधिवार्धक्यादिबाधाभि क्लिष्टान् शारीरमानसागन्तुकाभि पीडाभिर्दुःखितान् सयतान् मुनीन् उपकुर्वन्तु ॥२१७॥

[पृष्ठ ९५] श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अस्मिन् वात्सल्यगुणे उपाख्यान कथा श्रूयताम् । [जयवर्मनामा नृप शुक्रादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रिभि सह सर्वजनानन्दनं वन गत्वा अकम्पनाचार्यमभिवन्द्य धर्मकथा शुश्रावेति कथासक्षेप] अवन्तिविषयेषु अवन्तिदेशेषु । सुधेति—सुधा अमृतमेव अन्ध अन्न येषा ते सुधान्धस देवा , तेषा सौधा विमानानि तानि स्पर्द्धन्ते शाला गृहाणि यत्र तस्या विशालाया पुरि उज्जयिनीनगरे । जयवर्मनामा काश्यपीश्वर काश्यप्या पृथिव्या ईश्वर अधिपति । कथभूत । प्रभावतीमहादेवीश्रितशर्मसीमा प्रभावती नाम महाराज्ञी ता श्रिता शर्मण सुखस्य सीमा मर्यादा यस्य । [चतुर्भिर्मन्त्रिभि सह राज्य पालयन् प्रजा अन्वशात्]

पदार्थेषु साभिलाषं मनः इच्छामुक्तं मम अन्यथा निरभिलाषं निरिच्छम् इति प्रतिविभावमाना प्रतिज्ञां कुर्व-
इच्छन्ती तेन सोमदत्तेन भगवता पूर्वमेव मुनिना तन्मनोरथसमर्थनार्थं तज्जिनेन्द्रोत्सवप्रकटीकरणाय अवलोकितवदन-
वृष्टमुखेन वज्रकुमारेण साधुना साधु संबोधिता आश्वासिता। 'मातः सम्यग्दृशां षड्दर्शनवतीनाम् एणीदृशां हरिण-
नयनानां स्त्रीणाम् अवाप्तप्रथमकक्षे अवाप्ता प्रथमकक्षा आसनवर्णने यया तत्संबोधनम्, हे मातः अम्ब
अलम् खेदेन शोकेन पूर्यतां मा स्म खेदिनी भूरित्यर्थः । मयि न खलु मयि सम्यक्त्वविभ्राजे जैनजनमातृ जिनालये
पुत्रके सति अर्हतां जिनेश्वराणाम् अनुपमायाः पूजायाः प्रत्यूहाय विघ्नाय न खलु नैव भवेदित्यर्थः । तत् तस्मात्
पूर्वस्थित्या यथापूर्वम् आरमस्थाने स्वप्रासादे स्थातव्यम् । चिन्ता न कर्तव्येति । इति हृद्यं मनोहरम् अकर्द-
निर्दोषम् अमृषोद्यं न मृषा असत्यं तत् च तत् उद्यं वचनं सत्यं भाषणमिति भावः गिरम् उक्त्वा द्युगति—
द्युगत्या आकाशगमनेन विद्याधरपुरम् आसाद्य प्राप्य गत्वा । महामुनिरिमां आत्मवर्णविषयतया च प्रावृषीव
च भास्करदेवो मुक्तो यस्मिन् तेन निखिलेन अम्बरचरचक्रेण विद्याधरसमूहेन क्रमशः अभ्युत्थानादिविधि
सप्रश्रयं सविनयम् कृता अभ्युत्थानं ससंभ्रमम् आसनात् उत्थानम् अञ्जलिपुटं कृत्वा शिरसि तत्स्थापनम्, आदि
क्रिया यस्य स वज्रकुमारमुनिः मामकस्य आत्मनः आचारं पृष्टं स्वाम् आचष्ट अकथयत् । [विद्याधरसमूहैः
सह वज्रकुमारो मुनिः श्रीविलासाख्ये नगरे संप्राप्य महतीं प्रभावनां चकार] कर्मभूमिविहायोविहारि विहाय-
आकाशं तत्र विहारः अस्ति येषां ते विहायोविहारास्तैः विद्याधरैरित्यर्थः । तानेव सविशेषं वर्णयति कवि—
तदनन्तरम् आनकाः पटहाः धुम्धुमध धुं धुम् इति अव्यक्तशब्दं कुर्वाणाः वाद्यविशेषाः तेषां नादाः रवाः
उत्तालानि उत्कटानि च तानि दवीयांसि दिङ्गताः, तैः मुखराणि वाचालानि मुखमण्डलानि येषां ते तैः ।
पुनः कर्मभूमौ सामयिकेति—समयः संकेतः अस्ति येषां ते सामयिकाः अयम् अलंकारो भवतु अयम् अलङ्कारः
अयं बलीवर्दस्य इत्यादि संकेतयुताः सामयिकालंकाराः उच्यन्ते । तेषु धारः पतनैः अलंकारैः उज्ज्वला ये
मकरवाहनविमानानि च तेषां गमनेन प्रचलन्ति कम्पमानानि कर्मकुम्भकानि येषां ते तैः अनेकेति—अनेके
बहवः अमधुमधवः महारत्नानि तैः निर्मिताः किङ्किण्यः क्षुद्रघण्टिकाः तासां चारूणि कटिकानि घटितानि च यानि
दुकूलानि क्षौमवस्त्राणि तैः कल्पिता ये वाहिन्यका महाध्वजास्तेषां पंक्तिः पङ्क्तिः तथा विराजितानि
शोभितानि मुखपञ्जराणि येषां तैः पुनः कर्मभूमौ । करीति—करी गजः मकरः मत्स्यः सिंहः
शार्दूलः व्याघ्रः शरभः अष्टापदः कुम्भीरः जलचरविशेषः मकरः मत्स्यः, शकुन्तानां पक्षिणाम् ईश्वराः पक्षि
इति एतेषां पुरःसरा मुख्या आकारा यासां तादृशः ताः पताकाः वैजयन्त्यः तासां संहतयः समूहाः तैः स्थगिता
व्याप्ता कृता येषां ते तैः मानस्तम्भेति—मानस्तम्भः स्तूपः तोरणम् मणिनिर्मितं रत्नखचितं बहिर्द्वारम्
दर्पणः, सितातपत्रं श्वेतच्छत्रम्, चामराः, विरोचनः सूर्यः चन्द्रः भाकुम्भः मंगलकुम्भः एतैः पदार्थैः
संभृता धृता हस्ता येषां तैः । करेषु एतान् पदार्थान् धृतवन्त इति भावः । पुनः कर्मभूमौ । अनु-
पमेति—अनुपमो महान् यः वाद्यो देवच्छन्दस्य हारविशेषः तद्यष्टिकः तेन आच्छन्नः सर्वतो भूषितः च
चासौ वर्णीरव पुरवस्कन्धसीमप्रान्तरः स्यन्दनः रथविशेषा । द्विपः करी तुरग
अश्व नराः मनुष्यास्तैर्निकीर्णानि व्याप्तानि च तानि सैन्यानि तैः इति । पुनः कर्मभूमौ । अनवद्यया शोभितानि
ते पटुपटहाः महाभेर्यः करटाः वाद्यविशेषाः मृदङ्गाः पटहाः काहलाः तिमिलाः तालाः तासां घोषः
सन्नादश्च एतैः आतोद्यानि यानि तानि वादितानि अनुमतानि यानि गीतानि तैः संयतानि मा बहुमानतावताम् आमोदा
विस्तारः तेन सुभगः सुन्दरः संचारो येषां ते तैः । पुनः कर्मभूमौ । कुब्जा वामनाः असत्पुरुषाश्च वामना
कुरूपाः किराताः चोरकरसाधकाः क्रियाबद्धकाः नटाः नृपाविशेषधारिणः नर्तकाः नृत्यनिपुणाः अभिनयः
वैतालिका मागधाः स्तुतिपाठकाः तेषां विनोदेन आलापेन विविधाना नमस्काराः येषां तैः पुनः कर्मभूमौ ।
सरसेति—सविलासं क्रीडया सहिता ये लोकाः विद्याधरास्तेषां लहर्यः याः तासु इत्येषु
विस्मयिता महीप ते च ते दर्शितकाश्च प्रतीपाश्च भूपाला नितान्तं चटाश्च प्रभूतानि विविधानि वर्णनानि
भूषण नाम् उपकरणानि भाषणानि तेषां रमणीयः प्रकाराः येषां तैः । पुनः कर्मभूमौ । पिष्टातकेति—पिष्टातकः
रत्नमुक्ताचूर्णकर्म कटाक्षाय अवरुमुक्ताकरणानि प्रभूतानि चूर्णानि तेषाम् उत्करः बहिः तेन अविरतम्

रमण्य ललनास्तासा निकरो येषु तै । पुन कथभूतै । अपरैश्च तैस्तै विधृतपूजापर्यायपरिवारैर्विहायोविहारैः विधृतः संधारित, पूजापर्यायाणा नित्यमहादिपूजाना परिवारो यैस्ते विहायोविहारा नभश्चरजना तै सह त वज्रकुमार त भगवन्तम् अम्बरात् आकाशात् अवतरन्तम् उत्प्रेक्ष्य दृष्ट्वा भिक्षुदीक्षापटीयमी भिक्षूणा बौद्धसाधूना दीक्षादाने पूजने पटीयमी चतुरा खलु बुद्धदासी पुण्यभूयसी पुण्य भूय प्रचुर यस्या' सा प्रचुरपुण्यवतीति भाव । यस्या सुगतमपर्यासमये बुद्धपूजावेलायां समायात समागतं सकलमेतत्पुरसैन्यम् । इति धृतधिषणे धृता धिषणा मतिर्येन तस्मिन् पौरजनान्त करणे नागरिकमनसि सति, स भगवान्गगनगमनानीकै साक गगने नभसि गमन येपा तानि अनीकानि सैन्यानि नभश्चराणा सैन्यैरित्यर्थ' । औविलानिलये निलीय औविलाया महादेव्या प्रसादे निलीय उषित्वा सावष्टम्भ सगर्वम् अष्टाह्नि नन्दीश्वरपर्वणि मथुराया चक्रचरण चक्राणि चरणा यस्य त परिभ्रमय्य अर्हत्प्रतिबिम्बाङ्कित जिनप्रतिमासनाथम् एक स्तूप तत्रातिष्ठिपत् स्थापितवान् । अत एवाद्यापि तत्तीर्थ देवनिर्मिताख्यया पप्रथे प्रसिद्धम् अभवत् । बुद्धदासी दासीवासोऽद्भग्नमनोरथा । किङ्करीव बुद्धदासी भग्नमनोरथा नष्टमनोऽभिलाषा बभूव । भवति चात्र श्लोक —पूतिकस्य महीभुज नृपस्य औविलाया महादेव्या स्यन्दन रथ वज्रकुमारको मुनिर्भ्रामयामास ॥ २११ ॥

इत्युपासकाध्ययने प्रभावनविभावनो नामाष्टादश कल्पः ॥ १८ ॥

१६. वलिनिर्वासनो नामैकोनविंशः कल्पः

[पृष्ठ ६३-६४] अर्थित्वम् इति—अर्थित्व प्रयोजनवत्त्वम् । भक्तिसपत्ति गुणानुरागसपत् । प्रयुक्ति जीवादितत्त्वेषु आत्मनो योजन श्रद्धानम् इति भाव । सत्क्रिया सम्मान । सधर्मणा सुविधेयता दासत्वम् । सधर्मसु समानधर्मिषु जनेषु सौचित्यकृति दानप्रियवचनाभ्या तेषा सतोषोत्पादनम् । वत्सलता मना वात्सल्यगुणोऽभिहित ॥२१२॥ स्वाध्याये इति—स्वाध्याये अध्यात्मादिविद्याविषये । सयमे प्राणिसयमे इन्द्रियसयमे च । सङ्घे श्रावकश्राविकार्यिकामुनिषु । गुरौ दीक्षाचार्ये शिक्षाचार्ये च । सब्रह्मचारिणि सहाध्यायिनि । यथौचित्यं दानमानाभ्या यथा संतोषोत्पादन भवेत्तथा । विनयम् आदरं प्राहु ब्रुवन्ति स्म । के कृतात्मान कृत ज्ञात आत्मा जीवस्वरूपं यै ते ॥२१३॥ आधीति—आधिर्मानसी व्यथा । व्याधयो ज्वरादयो रोगा तै निरुद्धस्य पीडितस्य निरवद्येन कर्मणा पापरहितेन वैयावृत्त्येन औषधधनादिना सौचित्यकरणं सतोषोत्पादनम्, वैयावृत्त्य शुश्रूषा प्रोक्तम् । किमर्थम् । विमुक्तये कर्मराहित्याय अनन्तचतुष्टयप्राप्तये ॥२१४॥ जिने इति—दुर्जयकर्मठकर्मारातीन् जयतीति जिन , अर्हन् तस्मिन् वीतरागसर्वज्ञे । जिनागमे अर्हत्प्रोक्ते द्वादशाङ्गप्रवचने । सूरौ आचार्ये । तप श्रुतपरायणे तप परायणे साधौ, श्रुतपरायणे उपाध्याये । सद्भावशुद्धिसपन्न अनुराग निष्कपटमन शुद्धया तेषा गुणेषु अनुराग' प्रीति भक्तिरुच्यते ॥२१५॥ चातुर्वर्ण्यस्येति—चातुर्वर्ण्यस्य सङ्घस्य मुनिऋषि यति-अनगारेति चतुर्भेदात्मकसङ्घस्य । यथायोग्य तत्तद्गुणानतिवृत्त्या । प्रमोदवान् हृष्टेन मनसा वात्सल्य प्रीति न कुर्यात् स समयी सधर्मा कथ स्यात् ॥२१६॥ तद्व्रतैरिति—तद्व्रतै तत् तस्मात्कारणात् अहिंसादिभिः व्रतै । विद्यया सम्यग्ज्ञानेन शास्त्रादिपाठनेन । वित्तै धनै । श्रीमदाश्रयै , श्रीमता धनिनाम् आश्रयैः आधारै । शारीरैश्च शरीरसेवया च हस्तपादादिमर्दनेन मलमूत्राद्यपनयनेन च त्रिविधातङ्कसप्राप्तान् आधिव्याधिवार्धक्यादिबाधाभि क्लिष्टान् शारीरमानसागन्तुकाभि पीडाभिर्दु खितान् सयतान् मुनीन् उपकुर्वन्तु ॥२१७॥

[पृष्ठ ६५] श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अस्मिन् वात्सल्यगुणे उपाख्यान कथा श्रूयताम् । [जयवर्मनामा नृप शुक्रादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रिभि सह सर्वजनानन्दन वन गत्वा अकम्पनाचार्यमभिवन्द्य धर्मकथा शुश्रावेति कथासक्षेप] अवन्तिविषयेषु अवन्तिदेशेषु । सुधेति—सुधा अमृतमेव अन्ध अन्न येपा ते सुधान्धस देवा , तेषा सौधा विमानानि तानि स्पर्द्धन्ते शाला गृहाणि यत्र तस्या विशालाया पुरि उज्जयिनीनगरे । जयवर्मनामा काश्यपीश्वर काश्यप्या पृथिव्या ईश्वर अधिपति । कथभूत । प्रभावतीमहादेवीश्रितशर्मसीमा प्रभावती नाम महाराज्ञी ता श्रिता शर्मण सुखस्य सीमा मर्यादा यस्य । [चतुर्भिर्मन्त्रिभि सह राज्य पालयन् प्रजा अन्वशात्]

पदार्थेषु सामिलाषं मया इच्छामूर्च्छं मत् अन्यथा निरभिलाषं निरिच्छम् इति प्रतिविलापमाना प्रविष्टा कुर्वन् इच्छन्ती तेन सोमदत्तेन भगवता पूज्येन मुनिना तत्कालोरूपसमर्थनार्थं तत्कालोचितसफलीकरणाय सकलोमिश्रलेन बृहन्मुखेन वज्रकुमारेण साधुना साधु संबोधिता आश्वासिता। मातः सम्यग्दृष्टां सद्दर्शनवतीनाम् एतादृशां हरिषेणनामां स्त्रीणाम् अवाप्तप्रथमकथे अवाप्ता लब्धा प्रथमकथा आद्यवर्णनं यया तत्संबोधनम् हे मातः अलम् अलम् आवेगेन खेदेन पूर्ववां मा स्म खेदिनी भूरित्यर्थः । यतः न खलु मयि समयसमिच्छा जीवनमात्रु विनाशे पुत्रके सति, अर्हतां जिनेश्वराणाम् अर्हणायाः पूजायाः प्रत्यवायः विघ्नः न खलु नैव भवेदित्यर्थः । तत् तस्मात् पूर्वस्थितया यथापूर्वम् आरमस्थाने स्वप्रासादे स्थातव्यम् । चिन्ता न कर्तव्येति । इति वचं मनोहरम्, अनघं निर्दोषम् अमृषोद्यं न मृषा असत्यं तत् च तत् उद्यं वचनं सत्यं भाषणमिति भावः निगद्य कथयित्वा युगति— युगत्या आकाशगमनेन विद्याधरपुरम् आसाद्य प्राप्य यस्मा । महामुनित्वात् आकाशविचरणतया च प्रभावेन च भास्करदेवो मुख्यो यस्मिन् तेन निखिलेन अम्बरचरचक्रेण विद्याधरसमूहेन क्रमशः कृतम् अभ्युत्थानादिभिः सप्रश्रयं सविनयम् कृत्वा अभ्युत्थानं ससंभ्रमम् आसनात् उत्थानम् अञ्जलिपुटं कृत्वा शिरसि संस्थापनम् आदि क्रिया यस्य स वज्रकुमारमुनिः आगमनस्य आगतम् आचारे पृष्टः स्पष्टम् आचष्ट अभूत । [विद्याधरसमूहे सह वज्रकुमारो मुनिः श्रीविलासात् एवं नगरे संचार्य महती प्रभावनां चकार] कर्मभूतैर्विहायोविहारैः विहायः आकाशं तत्र विहारः अस्ति येषां ते विहायोविहारास्तैः विद्याधरैरित्यर्थः । तानेव सविशेषं कथयति कवि— तदनन्तरम् आनका पटहाः दुन्दुभयः दुं दुम् इति अव्यक्तशब्दं कुर्वाणाः वाद्यविशेषाः तेषां आसा रवा उत्तानानि उत्कटानि च तानि रवलितानि विहगाः तैः मुखराणि वाचालानि मुखमण्डलानि येषां ते तैः । पुनः कथंभूतैः सामयिकैरिति—समय संकेतः अस्ति येषां ते सामयिकाः समयम् अलंकारो अजस्य अयं आवस्य अयं बलीवर्दस्य इत्यादि संकेतयुक्ता सामयिकालंकारा उच्यन्ते। तेषु आरैः उत्तमैः अलंकारैः सज्जिता ये गजवाजय विमानानि च तेषां गमनेन प्रचलन्ति कम्पमानानि कनकध्वजानि येषां ते तैः अनेकैरिति—अनेके बहवः मनयुमयः महारत्नानि तैः निर्मिता किंकिण्यः क्षुद्रघण्टिकाः तासां जालैः जटितानि ग्रथितानि च यानि दुकूलानि क्षौमवस्त्राणि तैः कल्पिता ये पालिध्वजा महाध्वजास्तेषां पङ्क्तिः पङ्क्तयः तया विराजितानि शोभितानि भुजपञ्जराणि येषां तैः पुनः कथंभूतैः । करीति—करी गजः मकरः नक्रः सिंह शार्दूलः व्याघ्रः शरभः अष्टापदः कुम्भीरः जलचरविशेषः, मकरः मत्स्यः, पक्षिणां पतित्वाम् ईश्वरः गरुड इति एतेषां पुरःसरा मुख्या आकारा येषां तादृशा ताः पताकाः क्षुद्रध्वजाः तासां संताना समूहा ते स्तिमिता स्तब्धाः कराः येषां ते तैः मानस्तम्भेति—मानस्तम्भः स्तूपः तोरणम्, मणिनिर्मितं रत्नजटितं बहिर्तोरणम् वर्षणः सिताततत्रं श्वेतच्छत्रम् चामरा विरोचनः सूर्यः चमरः कलशकुम्भः मङ्गलकुम्भः एतैः पदार्थैः संपूर्णा यस्मा हस्ता येषां तैः । करेषु एतान् पदार्थान् गृहीत्वाऽऽगतैः इति भावः । पुनः कथंभूतैः । अद्भुतेति—अद्भुतो महान् च आसो देवच्छन्दकः हारविशेषः एकयष्टिकः तेन आच्छन्नः वर्षेणो भूषितः च आसो वर्णनीयः पुरःसरकम्पनीयमान एव स्यन्दनः आश्चर्यकरप्रभोत्पादनात् रथविशेषः। हिमकरी पुरः सरः नरः मनुष्यास्तैः निकीर्णानि व्याप्तानि च तानि सैन्यानि तैः इति । पुनः कथंभूतैः । मदमन्दा बहिस्ताः ते पटुपटहाः महाभेर्यः करटा वाद्यविशेषाः मृदङ्गाः शङ्खाः काहलाः डिण्डिमाः ताला, तत्प्रभृतयश्च ये आतोद्य एते आद्ये येषां तानि वाद्यानि अनुगतानि यानि गीतानि तैः संपन्नाश्च ये मङ्गलारम्भणाम् आलोका विस्तारः तेन सुभगः सुन्दरः प्रचारो येषां ते तैः । पुनः कथंभूतैः । कुब्जा वामना प्रमुखप्रकारास्तै नृत्यन्ति वैताल्यः किराता वाररमणीकाः किन्नरा वल्लभका नटाः नृत्यविशेषकारिणः नर्तका नृत्यकारिणः ते च ताः वैतालिका चारणवन्दिका स्तुतिपाठकाः तेषां विवादेन आर्या ये विविधाः प्रसिद्धाः येषां ते पुनः कथंभूतैः । सप्तमेति—सप्तमाः श्रीयमा वाद्यविशेषाः ये खेचरा विद्याधरास्तेषां सहचराः आतोद्यं तासां करोति विरूपाः भरणीव मन्त्रितां तेन च ने गणिकाः प्रतीवाद्यं कृत्वा नित्यं भवति धीवति मिलिता च अर्थनाभि पृथक्मात्र उरुकरणानि नाचकानि येषां रमणीयं प्रचारो येषां ते । पुनः कथंभूते । विहायेति—विहायः सरङ्गसमीरण चालितानि उद्यानानि सरङ्गसमीरणानि अनुमानि कुसुमानि तेषाम् आकरः आकर तेन अनिशं

[illegible] निकरो येषु तं । पुनः कथंभूतं । [illegible]
[illegible] विहृत संधारित पूजापर्यायाणा नित्यमहादिपूजानां परिपाटी [illegible]
[illegible] दत्तकुमारं तं भगवन्तम् अम्बरात् आकाशात् अवतरन्तम् [illegible]
[illegible] दीक्षादाने पूजने पटीयसी चतुरा [illegible] वृद्धदासी पुण्यमूर्ती पुण्य [illegible]
[illegible] सन्ध्या [illegible] समायानं समागनं [illegible]
[illegible] अस्मिन् [illegible] नागरिकजनस्य मनि, [illegible]
[illegible] । श्रीविशालिकर्ये [illegible]
[illegible] नन्दीश्वरपर्वणि [illegible]
[illegible] जिनप्रतिमास्नानम् एवं [illegible] स्थापितवान् । [illegible]
[illegible] । वृद्धदासी [illegible]
[illegible] ॥ २२१ ॥

[illegible] ॥ ३४ ॥

[illegible]

पदार्थेषु सामिकार्यं मनः इच्छायुक्तं मन अन्यथा निरमिकार्यं निरिच्छम् इति प्रतिबिम्बसमाना प्रतिबि-
इच्छन्ती तेन सोमन्तेन भगवता पूज्येन मुनिना तन्मनोरथसमन्नार्थं तत्क्षितेन्द्रसपत्नीकरणाय अवबोधि
दुष्समुपन वज्रकुमारेण सायुना साधु संबोधिता आस्वादिता। 'मात सम्यग्दृष्टा सद्दर्शनवतीनाम् एषी
मयनानां स्त्रीणाम् अवाप्तप्रथमकथे अवाप्ता सम्या प्रथमकथा आपवर्जनं यथा तत्संबोधनम्,
अम्म् आपयेन सेदेन पूर्णता मा स्म दोहिनी भूरित्यर्थं । मतः न यमु मयि सम्यक्सविम्या वैनत
पुत्रके सति, अर्हतां जिनेश्वराणाम् अहूनायाः पूजाया प्रस्थाय विम्न न खलु नैव भवेदि
पूर्वस्थित्या यथापूर्वम् आरमस्थाने स्वप्रासादे स्थातव्यम् । चिन्ता न कर्तव्येति । इति
निर्दोषम् अमृपोर्धं न मृषा असत्यं तत् च तत् उर्ध वचनं सत्यं मापणमिति भावः
पुनस्या आकाशगमनेन विद्याधरपुरम् आसाद्य प्राप्य यस्मा। महामुनिस्मा
च भास्करदेवो मुख्यो यस्मिन् तेन मिलितेन अम्बरचरचक्रेण विद्याधरसमूहेन
सप्रश्रयं सविनयम् कृत्वा अभ्युत्थानं धर्मश्रवणम् आकर्णात् तत्वानम् अभ्यर्थितः
क्रिया यस्य स वज्रकुमारमुनिः आगमनस्य आयतनम् आधारं पुष्प
सह वज्रकुमारा मुनि औविलाया रथं नगरे संधाय महती प्रभावना
आकाशं तत्र विहार अस्ति येषां ते विहायोविहारास्तैः विद्याधरैरि
दरनन्तरम् आमध्य पटहाः दुन्दुभय दुं दुम् इति अव्यक्तध्वनं ।
पताकानि उत्सृष्टानि च तानि दर्शितानि विद्याधरा तैः मुखरा
पुन कर्णमूते स्वामयिकेति—समय संकेत अस्ति येषां ते
अयं बलीवर्दस्य इत्यादि संकेतयुता सामयिकालंकारा
गजवाजयः विमानानि च तेषां गमनेन प्रचलन्ति कम्पमाना
बहुवः अनघुमचय महारत्नानि तैः निर्मिता किंकिण्य
कुसुमानि सौमयस्थानि तैः कल्पिता ये पादिका
योभितानि भुवपञ्चराणि यथां तैः पुन
पादपम् व्याप्य परम आतपः कुम्भीरः
दधि पत्रयां पुरःसरा मुखमा आकारा येषां त
स्तम्भा करा येषां ते तैः मानस्तम्भेरि
दर्शनः सितातपत्रं श्वेतच्छत्रम्
संभवा यथा हस्ता यथा तैः।
पठेति—अनुष्ठो महान् स
पाठो वर्णीरुच पुरुषकम्पनीव
भव भरा मनुष्यादिनिकी
ते पटुपटाः महाभेदः
भरमारव एते मादो वेद
विस्तार तैन मुखम
इत्वा विराग
वैतालिका, वा
मङ्गलमति—

...। इत्यादर्श मधुर्य सौमम्
... हृदयं यस्य स यया तत्र गमनाय ...
... मधुर्य स एव कृता तस्या ...

... अनुरूपं ...।

[पृ ११६] ...—न ...न ...

न देव शंकरात्पर अन्य । शिवेन प्रणीत शैव तच्च तच्छास्त्र च शैवशास्त्रं तस्मात्परम् अन्यत् भुक्तिमुक्तिप्रद वच नास्ति । शिवशास्त्रादेव भोगादिक लब्ध्वा अवसाने मुक्ति च लभते जीव ॥२१९॥ तथा नास्तिक्याधिक्यवाचस्पती नास्तिक्य नास्ति जीव न परलोकवार्ता, न पाप पुण्य च इत्यादि-मानसिको विमर्श नास्तिक्यम् तस्याधिक्ये वाचस्पती इव देवगुरू इव शुक्रबृहस्पती अपि राज्ञे जयवर्मणे स्वप्रज्ञा स्वबुद्धि विज्ञापयामासतु प्रकटयाचक्रतु । मनागन्त क्षुभितमति क्षितिपति ईषत् चित्ते कोपकलुषितबुद्धि भूपति —अहो दुर्जनतालतालम्बनकुजद्विजा दुर्जनता खलता सा एव लता वल्ली तस्या आलम्बने आधारदाने कुजा वृक्षा इव द्विजा हे ब्राह्मणा । किं ममैव पुरतो भवता भारती वाणी प्रवर्तते प्रगल्भते मत्ता भवति समर्था भवति । किं वा बुधप्रवेकस्य लोकस्यापि । बुधेषु विद्वत्सु प्रवेक श्रेष्ठ महाविद्वान् तस्यापि महाविदुषोऽपि लोकस्यापि पुरत भवता वाणी प्रगल्भते । सन्नीतिवसुमतीविदारणहलिर्वलि —सती प्रशस्ता नीति सदाचार सा एव वसुमती भूमि तस्या विदारणे हल इव लाङ्गल इव बलिर्मन्त्री अभाषत—इलापाल, इलां पृथ्वी पालयतीति इलापालस्तत्सम्बोधन हे इलापाल, यदि तव अस्मन्मनीषोत्कर्षविषये सेर्ष्यं मनः अस्माकं मनीषा मति तस्या प्रकर्षविषये तव चित्त यदि असूयापर विद्यते । तदास्ताम् तावदभ्यस्तशास्त्रप्रवीणप्रज्ञ पर प्राज्ञ, अभ्यस्तानि वाचनापृच्छनाम्नायानुप्रेक्षादिभि मलितानि यानि शास्त्राणि तेषु प्रवीणा प्रज्ञा यस्य स प्राज्ञ पर तावदास्ताम्, किं तु सर्वज्ञस्यापि वादिन पुरस्ताद्वादे परिगृहीतविद्यानवद्या एव, अभ्यस्तविद्यासु अनवद्या एव पराजयदोषरहिता एव भवेम । स्थिरप्रकृति. क्षोणीपति स्थिरा धैर्यवती प्रकृति स्वभावनिर्मितिर्यस्य क्षोण्या भूमे पति स्वामी जयवर्मनृप 'यद्येव शूराणा कातराणा च रणे व्यक्तिर्भविष्यति ।' इत्याद्यभिधाय आनन्ददुन्दुभिरवोपार्जितपरिजनपूजोपकरणो आनन्दपटहध्वनिना आनायितपरिच्छदजनपूजाद्रव्यसाधन विजयशेखर नाम करिण गजम् आरुह्य, अन्त पुरानुगमग्राह्य अन्त पुरस्त्रीणाम् अनुगम अनुयानं तेन ग्राह्य अङ्गीकार्य सन् । अतिवाह्य नगरमार्गम् उल्लङ्घ्य । उपगतारामसीमससर्ग सम्प्राप्तोपवनमर्यादासबन्ध । तत करिण गजात् अवरुह्य अवतीर्य गृहीतार्यवेषपरिकर राजवेष परित्यज्य स्वीकृतविनीतजनवेषव्यतिकर, कतिपयाप्तपरिवारपुर सर कतिचनविश्वस्तपरिच्छदाग्रगत । तं व्रतविद्यानवद्य भगवन्तं व्रतानि अहिंसादीनि पञ्चमहाव्रतानि, विद्याश्च मतिश्रुतावधिज्ञानानि तै अनवद्य निर्दोष परिपूर्ण इत्यर्थ तम् । भगवन्तं यथावत् अष्टाङ्गसहित नमस्कारं कृत्वा, समाचरितनीचासनपरिग्रह समाचरितो विहित नीचासनस्य परिग्रह स्वीकारो येन, गुरो पुरत शिष्येण विनयेन उपवेष्टव्यम्, उच्चस्थाने गुरौ तिष्ठति शिष्येण नीचै स्थाने स्थातव्यम् इति नियमात्, सविनयाग्रह विनयाग्रहेण सहितो भूत्वा स्वर्गापवर्गस्वरूपनिरूपणपरायण सद्धर्मसनाथा कथा प्रथयामास । स्वर्गमोक्षयो स्वरूपस्य निरूपणे परायण तत्पर समीचीनहिंसाधर्मोपेता कथाम् आख्यातवान् ।

[पृष्ठ ९७-९८] सत्कर्मवशप्रभिदलिर्बलि —सन्ति च तानि कर्माणि अहिंसासत्याचौर्यादीनि तान्येव वशो वेणु त प्रभिनत्ति इति प्रभित् स चासौ अलिर्भ्रमर स इव बलिरवदत्—स्वामिन, कोऽयं स्वर्गापवर्गास्तित्वसङ्ग्रहे देवस्य दुराग्रह । आचार्य, देवस्य नृपस्य स्वर्गमोक्षयो अस्तित्वकल्पनाया कोऽय दुरभिनिवेश । अय विफलाग्रहोऽस्ति । यतो द्वादशवर्षा स्त्री, षोडशवर्ष पुरुष तयोरन्योऽन्यम् अनन्यसामान्यस्नेहरसोत्सेकप्रादुर्भूति प्रीतिः । तयो उक्तवयसोर्नारीपुरुषयो. अन्यजनासाधारणस्नेहप्रकर्षोत्पत्ति. प्रीतिरुच्यते । सा एव प्रत्यक्षसमधिसर्ग स्वर्ग न पुन न अदृष्ट कोऽपीष्टः स्वर्ग समस्ति । सा प्रीतिरेव प्रत्यक्षेण सम्यक् निश्चयो यस्य स स्वर्गो ज्ञातव्य , न पुन अदृष्ट केनापि मत स्वर्ग विद्यते । गुणभूरि सूरि —सकले प्रमाणवले बले, किं प्रत्यक्षताधिकरणम् एकमेव प्रमाण समस्ति । सह कलिना वर्तते इति सकलिस्तत् सबोधन हे सकले, अखिले प्रमाणसमूहे विद्यमानेऽपि हे बलिमन्त्रिन्, प्रत्यक्षताश्रय किमेकमेव प्रमाणं विद्यते । नास्तिकेन्द्रमनोरथरथमातलिर्वलि —अखिलश्रुतधरोद्धारादिपुरुषविदुष, एकमेव । नास्तिक एव इन्द्र तस्य मनोरथ मनोऽभिलाषः नास्ति परलोक, नास्ति पुण्य पापं चेत्यादिरूप स एव रथ तस्य मातलि तन्नामा शक्रसारथि तद्रूप बलिरवदत् 'अखिल श्रुतं सकलम् आगमज्ञानमेव धरा पृथ्वी तस्या उद्धारे आदिपुरुषविदुष प्रथमपुरुष विद्वान् तत्सबोधनम् ।

शाक्येति—शाक्यः सुगतस्तस्य शासनम् उपदेशः तदेव वारिधिः समुद्रः तस्मिन् भ्रान्तिः भ्रमणं यस्य तथाभूतेन महेशेन सुतेन । चार्वाकलोकानां नास्तिकानां दिवस्पतिना इन्द्रेण बृहस्पतिना मन्त्रिणा । रुद्रस्य महादेवस्य मुद्रा चिह्नं तेन मुद्रितो अनष्टो विवेको यस्य तेन प्रह्लादकेन मन्त्रिणा अनुगतेन अनुसृतेन । वेदविद्यावल्लिना कविकेन चिन्त्यमानराज्यस्थितिः चिन्त्यमाना विचार्यमाणा राज्यस्थितिः राज्यपालनं यस्य । एकदा एकस्मिन् समये समस्तेति—सकलशास्त्राम्नाय एव वर्षा वृष्टिः तेन विस्फारिता प्रवृद्धिं गता सरस्वती शारदा एव नदी तस्याः तरङ्गाः वीचयः नानाभुवनजनविषयाः तेषां परम्परा तस्याः प्लावनेन स्नानेन पवित्रिता पूता ये विनेयजना शिष्यास्तेषां मनांस्येव नलिनानि कमलानि तेषां विकुड्मलं समूहो येन तस्य । पुनः कथंभूतस्य । परमेति—परमाणि निर्दोषाणि तानि तपश्चरणानि तेषां चक्रं समूहः तस्य पटुत्वे अभिहितं बहाति परित्यजति सारस्यमिति चिह्नं न चिह्नम् अचिह्नं तच्च तद्गुह्यं च स एव स्वम्बः भुवनमयं यस्य निष्कपटं यथा स्यात्तथा इतेन तपसा समाप्यारमस्वकायस्य महामुनिसप्तशतीवर्यस्य महामुनीनां सप्तशती तस्यां वर्यस्य श्रेष्ठस्य भगवतोऽकम्पना- चार्यस्य महर्द्धिभुजः महर्द्धीः भुङ्क्ते सेवते धारयते इति महर्द्धिभुक् तस्य महर्द्धिभुजः महर्द्धीः धारयतः । सर्वजना- नन्दनं नाम नगरोपवनम् अधितस्थुषः कृतनिवासस्य तस्य चरणार्चनोपचाराय पादपूजनविषये राजमार्गेषु महोत्सवस्य उत्साहः मानन्दः तस्य उत्सेकः अभिलाषो यस्य स चासौ परिजनः परिवारः यस्य तथाभूतं पौरजनं नागरिकलोकम् अभ्रंलिहगेहाग्रभागावसरे अभ्रं मेघं लेढि इति अभ्रंलिहं तत् गेहम् अभ्रंलिहगेहं मेघसंस्पर्शि- मित्यर्थः तस्य अग्रभाग तस्य अवसरः प्रदेशः तत्र । त्रिविष्टपलोकमन्दमन्दिरे त्रिदशां विलोकमानस्य आनन्दो यत्र तथाभूते मन्दिरे स्थितः यशर्धर्मनृपः समवलोक्य कोऽयमकाण्डे प्रचण्डः पौराणामुद्योगो निमोघः कोऽयम् अनवसरे प्रचण्डः महान् पौराणां नगरनिवासिनाम् उद्यमः उत्सवः तस्मिन् उद्योगः प्रवृत्तिः तस्मिन् निर्मोघ- निचयः इति वितर्कयन् [मूः वनपालेन आगत्य सर्वेषाः अकम्पनसूरिः समायात इति अकम्पनः] सकलसमय- संभविप्रसूनस्तिमितहस्तपल्लवनाम्नावनपालात् सकलसमया सकलऋतवः तेषु संभवीनि च तानि प्रसूनानि पुष्पाणि तैः स्तिमितौ पूर्णौ हस्तौ तावेव पल्लवनामान्तरावस्य यस्य तस्मात् वनपालात् 'देव भवद्दर्शनोत्सुकजनदेवतालोकने तथावलोकनोत्कण्ठितानि मनवैरतानयनानि यत्र तथाभूते । भगवतस्तपःप्रभावप्रभूतसमस्तर्तु, सम्पादितमेदिनीलावने भगवतो मुनेस्तपसा माहात्म्यात् प्रभूतसकलर्तु सम्पादितपर्वितीमण्डने । निजलक्ष्मीनिरीक्षणीकृतनन्दनवने स्वस्य लक्ष्म्या शोभया निरीक्षणीकृतो नि नीकृतो नन्दनवनो येन तस्मिन् पुरोपवने नगरोद्याने । सद्गुणमणीसंपादितसमूहेन सद्गुणानां सम्यक्त्वादिगुणानां मणिमा अनल्पा संपादितः कृतः सम्यक् उहः येन तथाभूतेन महता मुनिसमूहेन अकम्पनसूरिः समायातः । कथंभूत । सर्वसत्त्वेति—सर्वे च ते सत्त्वाः आत्मानः तेषाम् आनन्दस्य प्रदाने उदाराणि या महौषधयः ता एव सुधा अमृतं तस्याः प्रबन्धेन अनवीरितं तिरस्कृतम् अमृतमरीचिमण्डलम् अमृतमयाः मरीचयः किरणा यस्य स अमृतमरीचिरिन्दुः तस्य मण्डलं बिम्बं येन । मिलितेति—सकलदिक्पालमुकुटरत्नमरीचि- वर्षणीसदृशचरणनखमण्डलः, पुण्येति—पुण्यान्येव श्रियः नक्षत्राणि तेषां मूर्तः समूहः तस्य कल्पनवारि कल्पतरुम् अकम्पनसूरिः समायातः । तदुपासनाय चास्य तस्य सूरेः उपासनाय पूजनाय च अस्य प्रजाविनीजनस्य महामहा- महः महोत्सवो महः महोत्सवः तम् आवहति इति महामहावहः चित्तोत्साहः । इत्याकर्ण्य प्रभूतं प्रीतम् एतत्पादपद्मोपहृत्य एतस्य अकम्पनसूरेः पादयोर्मध्ये अवनतं हृदयं यस्य स नृपः तत्र वनगाम मिथ्यात्व- प्रकल्पनस्वामवर्तकि स वचिम् अपृच्छत् । मिथ्यात्वस्य प्रबलता प्राचुर्यं स एव कथा तस्याः आधारवर्तिनम् आधारभूतं विभीतकभूतं बलिम् अपृच्छत् पृष्टवान् ।

[पृष्ठ ६६] सद्धर्मपुरोहरणविकलितः देव—धर्मः अहिंसालक्षणस्य मूर्धं तस्य मुद्गरत्वं निराकरणं तत्र मतिः यस्यासौ अन्योऽस्मन्मूर्धे धर्मपरः । अतिः एवमवक् । देव—नेति—न देवात्परम् अन्यत्तत्त्वम् । न मायापरो विधिः अन्यत् धर्मकार्यं न विद्यते । धातु प्राणिहिंसनात्मकात् अपरः अन्यः धर्मो न विद्यते । तथा हिंसायां शास्त्रात्परोऽन्यः मतिर्न विद्यते ॥२१८॥ सन्मार्गतर्वोच्छेदकः महात्मन—रत्नत्रयात्मको मोक्षमार्ग एव सन्मार्गः तस्य तर्थे उत्पत्तिः तस्य उच्छेदकः महात्मन एवम् अवदत्—अद्वैतेति—अद्वैतात् न परं तत्त्वम् । अद्वैतम् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म इत्येव तत्त्वम् । परं द्वैतादिकं मायाजन्यत्वात् तत्त्वं न भवति ।

न देव शकरात्पर. अन्य । शिवेन प्रणीत शैव तच्च तच्छास्त्र च शैवशास्त्र तस्मात्परम् अन्यत् भुक्तिमुक्तिप्रदं वच नास्ति । शिवशास्त्रादेव भोगादिक लब्ध्वा अवसाने मुक्ति च लभते जीव ॥२१९॥ तथा नास्तिक्याधिक्यवाचस्पती नास्तिक्य नास्ति जीव न परलोकवार्ता, न पाप पुण्य च इत्यादि-मानसिको विमर्श नास्तिक्यम् तस्याधिक्ये वाचस्पती इव देवगुरू इव शुक्रबृहस्पती अपि राज्ञे जयवर्मणे स्वप्रज्ञा स्वबुद्धि विज्ञापयामासतु प्रकटयाचक्रतु । मनागन्त क्षुभितमति क्षितिपति ईषत् चित्ते कोपकलुषितबुद्धि. भूपति —अहो दुर्जनतालतालम्बनकुजद्विजा दुर्जनता खलता सा एव लता वल्ली तस्या आलम्बने आधारदाने कुजा वृक्षा इव द्विजा हे ब्राह्मणा । किं ममैव पुरतो भवता भारती वाणी प्रवर्तते प्रगल्भते मत्ता भवति समर्था भवति । किं वा बुधप्रवेकस्य लोकस्यापि । बुधेषु विद्वत्सु प्रवेक श्रेष्ठ महाविद्वान् तस्यापि महाविदुषोऽपि लोकस्यापि पुरत भवता वाणी प्रगल्भते । सन्नीतिवसुमतीविदारणहलिर्बलि —सती प्रशस्ता नीति सदाचार सा एव वसुमती भूमि तस्या विदारणे हल इव लाङ्गल इव बलिर्मन्त्री अभाषत—इलापाल, इला पृथ्वी पालयतीति इलापालस्तत्संबोधन हे इलापाल, यदि तव अस्मन्मनीषोत्कर्षविषये सेर्ष्य मन' अस्माकं मनीषा मति तस्या प्रकर्षविषये तव चित्त यदि असूयापर विद्यते । तदास्ताम् तावदभ्यस्तशास्त्रप्रवीणप्रज्ञ पर प्राज्ञः, अभ्यस्तानि वाचनापृच्छनाम्नायानुप्रेक्षादिभि मलितानि यानि शास्त्राणि तेषु प्रवीणा प्रज्ञा यस्य स प्राज्ञ पर तावदास्ताम्, किं तु सर्वज्ञस्यापि वादिन पुरस्ताद्वादे परिगृहीतविधानवद्या एव, अभ्यस्तविद्यासु अनवद्या एव पराजयदोषरहिता एव भवेम । स्थिरप्रकृति क्षोणीपति स्थिरा धैर्यवती प्रकृति स्वभावनिमितिर्यस्य क्षोण्या भूमे पति स्वामी जयवर्मनृप 'यद्येव शूराणा कातराणा च रणे व्यक्तिर्भविष्यति ।' इत्याद्यभिधाय आनन्ददुन्दुभिरवोपाजितपरिजनपूजोपकरणो आनन्दपटहध्वनिना आनायितपरिच्छदजनपूजाद्रव्यसाधन विजयशेखर नाम करिण गजम् आरुह्य, अन्त'पुरानुगमग्राह्य अन्त पुरस्त्रीणाम् अनुगम अनुयान तेन ग्राह्य' अङ्गीकार्य सन् । अतिवाह्य नगरमार्गम् उल्लङ्घ्य । उपगतारामसीमसंसर्ग सप्राप्तोपवनमर्यादासबन्ध । तत करिण गजात् अवरुह्य अवतीर्य गृहीतार्यवेषपरिकर राजवेष परित्यज्य स्वीकृतविनीतजनवेषव्यतिकर , कतिपयाप्तपरिवारपुर सर कतिचनविश्वस्तपरिच्छदाग्रगत । त व्रतविद्यानवद्यं भगवन्तं व्रतानि अहिंसादीनि पञ्चमहाव्रतानि, विद्याश्च मतिश्रुतावधिज्ञानानि तै अनवद्य निर्दोष परिपूर्ण इत्यर्थ तम् । भगवन्त यथावत् अष्टाङ्गसहित नमस्कार कृत्वा, समाचरितनीचासनपरिग्रह समाचरितो विहित नीचासनस्य परिग्रह स्वीकारो येन, गुरो पुरत शिष्येण विनयेन उपवेष्टव्यम्, उच्चस्थाने गुरौ तिष्ठति शिष्येण नीचै स्थाने स्थातव्यम् इति नियमात, सविनयाग्रह विनयाग्रहेण सहितो भूत्वा स्वर्गापवर्गस्वरूपनिरूपणपरायण सद्धर्मसनाथा कथा प्रथयामास । स्वर्गमोक्षयो स्वरूपस्य निरूपणे परायण तत्पर समीचीनहिंसाधर्मोपेता कथाम् आख्यातवान् ।

[पृष्ठ ६७-६८] सत्कर्मवंशप्रभिदलिर्बलि —सन्ति च तानि कर्माणि अहिंसासत्याचौर्यादीनि तान्येव वशो वेणु त प्रभिनत्ति इति प्रभित् स चासौ अलिर्भ्रमर स इव बलिरवदत्—स्वामिन, कोऽय स्वर्गापवर्गास्तित्वसङ्ग्रहे देवस्य दुराग्रह । आचार्य, देवस्य नृपस्य स्वर्गमोक्षयो अस्तित्वकल्पनाया कोऽयं दुरभिनिवेश । अय विफलाग्रहोऽस्ति । यतो द्वादशवर्षा स्त्री, षोडशवर्ष पुरुष तयोरन्योऽन्यम् अनन्यसामान्यस्नेहरसोत्सेकप्रादुर्भूति प्रीति- । तयो उक्तवयसोर्नारीपुरुषयो अन्यजनासाधारणस्नेहप्रकर्षोत्पत्ति: प्रीतिरुच्यते । सा एव प्रत्यक्षसमधिसर्ग स्वर्ग न पुन' न अदृष्ट कोऽप्यदृष्टः स्वर्ग समस्ति । सा प्रीतिरेव प्रत्यक्षेण सम्यक् निश्चयो यस्य स स्वर्गो ज्ञातव्य , न पुन' अदृष्ट. केनापि मत' स्वर्ग' विद्यते । गुणभूरि सूरि —सकले प्रमाणबले बले, किं प्रत्यक्षताधिकरणम् एकमेव प्रमाण समस्ति । सह कलिना वर्तते इति सकलिस्तत् सबोधन हे सकले, अखिले प्रमाणसमूहे विद्यमानेऽपि हे बलिमन्त्रिन्, प्रत्यक्षताश्रय किमेकमेव प्रमाण विद्यते । नास्तिकेन्द्रमनोरथरथमातलिर्बलि —अखिलश्रुतधरोद्धारादिपुरुषविदुष, एकमेव । नास्तिक एव इन्द्र तस्य मनोरथ मनोऽभिलाष' नास्ति परलोक', नास्ति पुण्य पाप चेत्यादिरूप स एव रथ तस्य मातलि तन्नामा शक्रसारथि तद्रूप बलिरवदत् 'अखिल श्रुतं सकलम् आगमज्ञानमेव धरा पृथ्वी तस्या उद्धारे आदिपुरुषविदुष प्रथमपुरुष विद्वान् तत्सबोधनम् ।

भगवान्—कथं तर्हि भवतः पित्रोर्विवाहादिव्यवस्थापनम् । यदि त्वम् एकमेव प्रमाणं मन्यसे तर्हि तव पित्रो मातुः पितुश्च विवाहादेः नास्तित्वे च तव कारणं किं नु स्यात् । कथं वा तातादयमानां वंश्यानाम् अवस्थितिः । तव ये पूर्वजाः ये तु अधुना न दृश्यन्ते ते पुरा आसन् इति कथं निर्णयः स्यात् । स्वपक्षप्रत्यक्षप्रमेयत्वात् आप्तपुरुषोपदेशाभिमतो स्वपक्षपरित्यागः परमतोत्सवकृतिश्च । द्वे अपि तव पूर्वजाश्च अप्रत्यक्षप्रमेयाः प्रत्यक्षेण प्रमेयाः ज्ञेया नैव भवन्ति । तत आप्तपुरुषोपदेशाश्रयः कर्तव्यः स्यात् । ये विश्वस्ताः पुरुषास्तेषां पूर्वजादिवार्ताकथने प्रामाण्यम् अङ्गीकर्तव्यं स्यात् । ततश्च स्वपक्षस्य हानिर्भवेत् परस्य च आस्तिकानां मतोत्सवविधानं भवेत् । वक्रिमट्टो भट्ट इव इत्यसत्यमितो मतोत्कटः कटतीति संकटकमकटकमापतितः । वक्रिमन्मो भट्ट इव भेक इव पतित इव इतस्ततः किरि-किरितिरितो मतोत्कटः बालोत्थेन निजभवनकवाटो यत इति संकटप्रकटकं गुरुप्रकर्षमासात । परं समासनकरम् उत्तरं आगमप्रबलमुत्तरम् अपश्यन् आश्रितं प्राम्यम् असम्यक्त्वं सम्यक्तोचितं निरर्थकमार्गम् अप्रकटकमथं किमपि मायमं तं ममवर्त्तं प्रत्युवाच । क्षितिपतिः जयवर्मनृपः अतीवमन्दाय विकिन्नबीजमो अतिशमीम अन्धानमलोचन मुमुक्षुमनसाम् आत्मानं कर्मबन्धनान्मोचनुम् इच्छावतां प्रत्यक्षम् आसन्नापितकालापिर्संवृष्टं समीचीभूतासन्नापवदपावं वक्रिभट्टं प्रतिष्ठानगरमम्यात् निष्कासयितव्यं किमपि अनुक्त्वा । भगवान्, संयमतत्त्वसंबन्धस्य सम्यक्त्वसंपर्कस्य निजस्वकितप्रवृत्तचित्तमहामोहान्धस्य स्वापराध परिनिविष्टमनस्कस्य महामोहान्धस्य सद्धर्मभञ्जनहेतोः जिनधर्मविनाशकारणस्य वक्रो प्राणिनः निजर्मसैर्वमैत्रेषु गुणगुरुषु प्रकृत्यैव वीरताया निःस्पृहेषु गुर्वैर्महापुरुषता प्राप्तेषु साधुषु न खलु दुष्यवादकरणात्परं दोषारोपकरणादन्यत् अवसाने परिणाम महत्त्वमस्ति धर्मं भवति । इति भगवत्पुरःसरं कथान्तरम् अनुबध्य अस्या कथा कथान्तरम् अन्यविषयिणी कथाम् अनुबध्य प्रसंगेन संधाय याव निष्कपटं समाराध्य भक्त्या संपूज्य प्रयान्तिहैमवतीप्रभवगिरिम् अकम्पनसूरिं प्रणम्य स शान्तिः स्वस्वरूपचिन्तनात्प्रथया परमाह्लादः सा एव हैमवती हिमवतः प्रभवति प्रजायते प्रथमं दृश्यते इति हैमवती गङ्गानदी तस्याः प्रभवगिरिं हिमवन्तमिव अकम्पनसूरिम् विवेकवन्धसंभावनोचितस्वयं तदनुज्ञया विनेयजना शिष्याः तेषां संभावना आदरः तस्याः औचित्यं योग्यता तन्मानतेति तथा शिष्यादरयोग्यता विनस्या तदनुज्ञया सूरिसम्मत्या आत्मवदनं स्वगृहम् आगाय अपरेद्युः अन्यस्मिन् दिवसे अपराधोपमिषेण अन्यापराधनिमित्तेन दण्डिकारकत्वं निकारो तिरस्कारः तस्य करणं विधानं तेन सहितं दण्डिकारकरणम् अमुं पुरुषम् अङ्गावकृष्णतिथिः सह कर्मसम्बन्धं नारकिन् वर्ति विवरेभ्यामिर्वासयामास स्वमण्डलाभिर्बहिष्यामास । अथतस्याम श्लोको—सत्येति—यदि चिरं मनीमतम् अनुमविमर्वकृषितं स्यात् तर्हि त तत् तस्मिन्नो असमसलक्षणः तथापि न तयोः किमन्यन्तरम् । पूर्वः सन्तानः ज्ञातो ववाप्युवमाहनात् नायं विनाशे याति । परस्य अनुमनीषितात् पर पूर्वेण अबुधकार्यकरणात् नायं लभते ॥२२ ॥ स्वमेवेति—यथा हिपन् पूर्वेण स्वमेव आत्मानमेव हन्तु हिंस एन्वेत् । न एकमतुम तुनाया एक पार्श्वम् आरोहेत् । अतो यथा न वजेत् किम् । अवश्यमेव वजेत ॥२११॥

इत्युपासकाध्ययने वक्रिनिर्वासनो नामैकोनविंशः कल्पः ॥१९॥

२० वात्सल्यरक्षणो नाम विंशः कल्पः

[पृष्ठ ९८-११] वक्रिमन्त्री अनुमितर्भातृभिः सह हस्तिनापुरे पदराजानमाश्रयत् । वक्रिर्विक्रमेण साधुम् सम्यग्जनपदमद्यं सर्वजनप्रसवनम् असुखमसुखमपूर्वकम् असुखमे महान् सुखमथं पराजय तत्पूर्वकं निर्बोधिता निपातितः तत्र मुनिविपदरोपणेन मेककलुषितः अकम्पनसूरिमुद्दिश्य यो रोषस्तस्य आवेश तेन कलुषितः संस्थापितः भूत्वा । कुरुजाङ्गलजनपदेषु तद्विश्वासिनीति—तेषां कुरुजाङ्गलानां[1] जनानामकनेत्राणाम् निजप्रियं कर्म तस्याः वशीकरणः नीरजमिला तासि निशीथितं नामेकं कुङ्कुमम् सुगन्धिद्रव्यम् तेन पाटला खेतरक्ता वै मलयोत्पत्तिसत्यचा तान् वहति वहतीति वरा सा नारी सुरवरित् मन्दाकिनी सा एव सीमन्तिनी कामिनी तथा

1 जाङ्गलजनानामाकार्य इति टिप्पण्याम् ।

चुम्बित सश्लिष्ट पर्यन्तप्रसर आसमन्तप्रदेशो यस्य तस्मिन् हस्तिनापुरे। साम्राज्यलक्ष्मीमिव लक्ष्मीमती महादेवीम् अवहाय कृताभिषेका लक्ष्मीमती महिषी त्यक्त्वा। सरस्वतीरसावगाहसागरस्य सरस्वत्या वाचा देव्या रस आस्वाद्यमान प्रीतिविशेष तस्य अवगाहे स्थानदाने सागरस्य समुद्रस्येव श्रुतसागरस्य भगवत अभ्यर्णे समीपे पितृविनयविष्णुना पितुर्जनकस्य सबन्धिन विनय वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णु तेन विष्णुना निजजनके विनयातिशय धारयता, विष्णुना तन्नामधारकेण लघुभूत जन्म यस्य तेन तथाभूतेन सूनुना पुत्रेण सार्धं सह प्रवर्धितदीक्षापद्मस्य प्रवर्धित विकास नीत दीक्षा एव पद्म कमल येन तस्य महापद्ममहीपते महापद्मेति नामवतो भूपते पद्मनामनिलय तनयम् अशिश्रयत् आश्रयदित्यर्थ. बलिर्मन्त्री निजानुजे सह पद्मनामान राजानम् आश्रयदित्यर्थ.। पद्मोऽपि चारसञ्चारात् चाराणा गूढपुरुषाणा सञ्चारात् भ्रमणात् विदितवशविद्याप्रभावाय ज्ञातान्वयज्ञानमाहात्म्याय तस्मै बलिसचिवाय सर्वाधिकारिक स्थानमदात्। सर्वे अधिकारिण यस्मिन् वशा भवन्ति तत् महास्थानम् अयच्छत्। बलि —देव, गृहीतोऽय स्वीकृतोऽयम् अनन्यसामान्यसभावनाह्लाद प्रसाद इतरजनासाधारणादरप्रमोद प्रसाद। किं तु कर्णेजपवृत्तीना कर्णे लगित्वा परापकारजपनरूपा वृत्तिर्येषा ते कर्णेजपवृत्तय. परापकारोक्तिस्वभावाना खलानामित्यर्थ। पुन कथभूताना लञ्चलुञ्चेति—लञ्चस्य उत्कोचस्य लुञ्चन ग्रहण तस्य उचिता योग्या चेतस. मनस प्रवृत्तिर्येषा तेषा पुरुषाणा प्रायेण नियोगिपदम् अधिकारिपद हृदयास्पद तेषा हृदयानुरूप न प्रतिभाति। पर शौर्येण ऊर्जितम् उन्नत चित्त यस्य, उदार दानशील चित्त यस्य तस्य च इद नियोगिपद नोचितम् अपि तु उचितमेव तत् तस्मात् असाध्यसाधनेन यत्कार्यं साधयितु दु शक तस्य साधनेन साधनभूतेन ननु अय जन निदेशदानेन आज्ञाप्रदानेन अनुगृहीतव्य उपकार्य इत्यर्थ। पद्म —सत्यमिदम्। किं तु स्वामिसमीहितसुमन सवीणेषु स्वामिनो नृपस्य समीहितम् इष्ट कार्यं तस्मिन् सुमनसा सवीणेषु तत्परेषु भवद्विधेषु भवादृशेषु सचिवेषु सहायकमन्त्रिषु विद्यमानेषु किं नामासाध्यम् अस्ति। अन्यदा तु अन्यस्मिन्काले तु कुम्भपुराधिकृतमूर्ति कुम्भपुरनामनगरे अधिकृतमूर्ति स्वामित्वेन अधिष्ठिता मूर्ति देहो यस्य कुम्भपुरस्य यो राजा अस्ति स तथाभूत सिंहकीर्तिर्नाम नृपति। अनेकयोधनेषु नानायुद्धेषु लब्धम् आप्त यशःप्रसाधनं कीर्तिभूषण येन। सन्नद्ध युद्धोद्यत सारसाधन बलवत्सैन्यं यस्य। हस्तिनागपुरावस्कन्दप्रदानाय हस्तिनागनगराक्रमणप्रदानाय आगच्छन् एतन्नगरच्छन्नावसर्पनिवेदितागमन अस्य नृपस्य कुम्भपुरे छन्ना गूढतयावस्थिता ये अवसर्पा चारास्तैर्निवेदितम् आगमन यस्य, स बलिसचिव पद्मनिदेशात् पद्मनृपादेशमनुरुध्य अभ्यमित्रीणप्रयाणपरायणेन विद्विषन्त प्रति जेतु गमन यत्तदभ्यमित्रीणप्रयाणमुच्यते तस्मिन् परायणेन तत्परेण कूट वञ्चनापूर्णं प्रकाम कदनम् अतिशयेन रोषेण कदन युद्ध तस्मिन् कोविदा निपुणा धिषणा बुद्धि यस्य तेन बलिना सचिवेन। अध्वमध्ये मार्गम् अवरुध्य युध्यमान, नामनिर्गमविधानै स्वकीयनामविरुदावलीसहितै प्रधानै युद्धसिद्धान्तोपान्तै सामन्तैश्च नम्रीभूय ततो निर्गमोपायवद्भि मुख्यै युद्धस्य समरस्य सिद्धान्तानाम् उपान्त समीप गतै सामन्तै स्वविषयानन्तरराजभि स सलग्नोऽन्त एकदेशो यस्या सा समन्ता स्वविषयानन्तरा भूमि तस्या अधिपतय सामन्ता। तैश्च सार्धं प्रबध्य तस्मै हृदयशल्योन्मूलनप्रमदमतये क्षितिपतये प्राभृतीकृत। हृदयस्य मनस शल्यस्य पीडाया उन्मूलनात् नि शेषतया नाशात् प्रमदयुक्ता सानन्दा मतिर्यस्य तस्मै क्षितिपतये भूमिपतये पद्मनृपाय प्राभृतीकृत. उपायनीकृत। क्षितिपति —शस्त्रशास्त्रेति—शस्त्राणि च शास्त्राणि च तेषा विद्यानाम् अधिकरणम् आश्रयरूप व्याकरण तस्य व्याकर्ता पतञ्जलिरिव तत्सबोधन हे बले, निखिलेऽपि बले सकलेऽपि सैन्ये चिरकालमनेकश कृतकृष्णवदनच्छायस्यास्य कृता कृष्णा श्यामा वदनच्छाया मुखकान्तिर्येन तस्य अस्य द्विषस्य शत्रो विर्जयात् नितान्तम् अत्यन्त तुष्टोऽस्मि प्रीतोऽस्मि। तद्याच्यता मनोऽभिलाषवरो वर, तस्मात्कारणात् य वर ते मनोऽभिलष्यति स याच्यता ध्रियताम्। बलि —यदाहं याचे तदार्य प्रसादीकर्तव्य। इत्युदारम् उदीर्य नि स्पृहता प्रदर्शयन्निव उदीर्य उक्त्वा, पुनश्चतुरङ्गबलप्रबल चत्वारि अङ्गानि हस्त्यश्वरथपादातरूपाणि यस्य तेन बलेन सैन्येन प्रबल महाशक्तिमान् बलि प्रतिकूलभूपालविनयाय प्रतिकूला विरुद्धा ये भूपाला राजान तेषा विनयाय आनुकूल्योत्पादनाय। पद्मम् अवनीपतिम् अवन्या पति पृथ्वीशम् आदेशम् आज्ञा याचित्वा गृहीत्वा सत्त्वर शीघ्रम् अशेषेति—अशेषा सकला ताश्च ता आशा दिश तासु वशा निजाधीना कृता निवेशा स्थानानि ग्राम-

भगवान्—कथं तर्हि भवत पित्रोर्विवाहाद्यवस्थितत्वम्‌ । यदि त्वम् एकमेव प्रमाणं मन्यसे तर्हि तव पित्रोः मातुः पितुश्च विवाहादेः अस्तित्वे च तत्र कारणं किं नु स्यात्‌ । कथं वा तथाभूतानां वंशानाम् अवस्थितिः । तव ये पूर्वजाः ये तु अधुना न दृश्यन्ते ते पुरा आसन् इति कथं निर्णयः स्यात्‌ । स्वयमप्रत्यक्षप्रमेयत्वात्तत्त्व पुरुषोपदेशाश्रितो स्वपक्षपरिक्षतिः परमतप्रसक्तिश्च । हि यतो तव पूर्वजादयः अप्रत्यक्षप्रमेयाः प्रत्यक्षेण प्रमेयाः ज्ञेया नैव भवन्ति । तत आप्तपुरुषोपदेशाश्रयः कर्तव्यः स्यात्‌ । ये विश्वस्ताः पुरुषास्तैर्वा पूर्वजादिवार्ता कथने प्रामाण्यम् अङ्गीकर्तव्यं स्यात्‌ । ततश्च स्वपक्षस्य हानिर्भवेत् परस्य च आस्तिकानां मतोत्सर्पणं भवेत्‌ । बलिभट्टो भट्ट इव स्वस्वदमितो मध्योत्कटः करटीति सपटकप्रपटकमापतित । बलिमन्त्री भट्ट इव वेद इव पठित इव स्वस्त्वं गिरि-भित्तिरितो मध्योत्कटः सामीरवेण विलग्नमकरको यज इति संकटप्रपटकं पुन प्रकर्षमापात । एवं समागमकरम् उत्तरं आगमप्रमुत्तरम् अपश्यन् बलीनं प्राम्यम् असम्बद्धं बलदलोपिर्विनिर्गलमार्गम् उन्मूलकमर्थं किमपि मायया तं भगवन्तं प्रस्तुवन् । क्षितिपतिः जयवर्मनृपः अतीवमत्यन्त विधिक्लिष्टवीक्षणो अतिशयेन कल्याणप्रबोधेन मुमुक्षुसमरम् आत्मानं कर्मबन्धनान्मोक्तुम् इच्छावतो प्रत्यक्षम् आसन्नाधिपताधिमिसंयुद्ध समीपीभूतानुस्थापयतः बलिभट्ट प्रतिष्ठामदगमयात्‌ किमप्यननिरूप्य किमपि अनुक्त्वा । भगवन्, संपन्नतत्त्वसंबन्धस्य तत्त्वसंपर्कस्य निजस्वभावप्रवृत्तचित्तमहामोहान्धस्य स्वापराध संनिविष्टमनस्त्वान्महामोहान्धस्य सद्धर्मध्वंसहेतोः जिनधर्मविनाशकारणस्य जन्तोः प्राणिनः निसर्गसौवर्णेषु पुनपुनः प्रकर्षेण वीरतायां वैरास्पदेषु, पुण्यैर्महापुरुषतां प्राप्तेषु सत्पुरुषेषु न खलु दुरपवादकरणात्‌ दोषारोपकरणादन्यत्‌ अवसाने परिणामे प्रहरणमस्ति शस्त्रं भवति । इति वचनपुरःसरं कथान्तरम् अनुबध्य अन्या कथा कथान्तरम्‌ अन्यविषयिणी कथाम् अनुबध्य प्रसंगेन संचार्य साधु निष्कपटं समारभ्य भक्त्या संपूज्य प्रधानित्रैर्हिमवतीप्रभवगिरिम् अकम्पनसूरिं प्रकर्षेण या शान्तिः स्वस्वरूपचिन्तनाभ्यासात् परमाह्लादः सा एव हैमवती हिमवत प्रभवति प्रकाशते प्रथमं दृश्यते इति हैमवती गङ्गानदी तस्याः प्रभवगिरिं हिमवन्तमिव अकम्पनसूरिम् विनेयजनसंभावनौचित्यप्रथया तदनुज्ञया विनेयजनाः शिष्याः तेषां संभावना आदरः तस्याः औचित्यं योग्यता तत्प्राधान्येनेति तया विश्वासरमोष्मया निजस्या तदनुज्ञया सूरिसम्मत्या आत्मसदनं स्वगृहम् आगत्य जगदेशु अन्यस्मिन् दिवसे अपरदोषाभिवेद्येन अन्यायारापनिमित्तेन सनिकारकरणं निकारो तिरस्कारः तस्य करणं विधानं तेन सहितं सनिकारकरणम् अनुर्भ पुरुषानुशासनपुरुषकृतिभिः सह कर्मसम्बन्ध आत्मविम् अपि निजदेशान्निर्वासयामास स्वमण्डलान्निष्कासयामास । भवतश्चात्र श्लोकौ—सन्तीति—यदि चित्तं मलीमसम् अशुभविमर्शदूषितं स्यात्‌ तर्हि च सन् सज्जनो अवसरज्ञस्य समानेन न तयो किमप्यन्तरम्‌ । पूर्वः सज्जनः जनान्तः परापमृष्यमाणनात् अयं विनाशं याति । परश्च अधमस्तेषु परः दुर्जन अनुचितकार्य करणात् सर्व लभते ॥२२॥ स्वमेवेति—सम्यक् त्रिपन् पुरुष स्वमेव आत्मानमेव हन्तुं हितं इच्छेत्‌ । न परमतुला तुलाया एक पार्श्वम् आरोहेत्‌ । असौ नरः न भवेत् किम । अवनमनम् भवेदेव ॥२२१॥

इत्युपासकाध्ययने बलिनिर्वासनो नामैकोनविंशः कल्पः ॥१९॥

२० वात्सल्यरक्षणो नाम विंशः कल्पः

[पृष्ठ १८ ११] बलिमन्त्री स्वमुनिप्रभृतिभिः सह हस्तिनापुरे पद्मराजमपाश्रयत्‌ । कतिपयदिनानि सानुज सकलजनसमक्षं सर्वजनप्रत्यक्षम् अभूतपूर्वकम् अपूर्वं महान् दुःसहं परमं पराक्रमं तत्पूर्वकं निर्वासितः निर्वासित तत् मुनिनिवहरोषोन्मेषकलुषित अकम्पनसूरिमुद्दिश्य यो रोषस्तस्य अमोघं फलं तेन कलुषितः संकल्पितं मुखा । कुरुजाङ्गलमण्डलेषु तद्विलासिनीति—तेषां कुरुजाङ्गलानां तन्नामकदेशानाम् विलासिन्यः कामिन्यः तासां जलकेलयः नीरक्रीडाः तासां विपाण्डिमपक्षित कुङ्कुम सुगन्धिताम्भसा तेन नाटका स्रोतस्वती यै कल्लोलास्तरङ्गाः तान् धरति धर्तीति धरा सा नदी सुरसरित् गङ्गानदी सा एव सीमन्तिनी कामिनी तथा

१ आप्तनिर्णयमाचार्य इति। टिप्पणम्।

चुम्बित सश्लिष्ट' पर्यन्तप्रमर आसमन्तप्रदेशो यस्य तस्मिन् हस्तिनापुरे। साम्राज्यलक्ष्मीमिव लक्ष्मीमती महादेवीम् अवहाय कृताभिषेका लक्ष्मीमती महिषी त्यक्त्वा। सरस्वतीरसावगाहसागरस्य सरस्वत्या वाचा देव्या. रस आस्वाद्यमान प्रीतिविशेष' तस्य अवगाहे स्थानदाने सागरस्य समुद्रस्येव श्रुतसागरस्य भगवत अभ्यर्णे समीपे पितृविनयविष्णुना पितुर्जनकस्य सवन्धिन विनय वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णु तेन विष्णुना निजजनके विनयातिशय धारयता, विष्णुना तन्नामधारकेण लघुभूत जन्म यस्य तेन तथाभूतेन सूनुना पुत्रेण सार्धं सह प्रवर्धितदीक्षापद्मस्य प्रवर्धित विकाम नीत दीक्षा एव पद्म कमल येन तस्य महापद्ममहीपते महापद्मेति नामवतो भूपते पद्मनामनिलयं तनयम् अशिश्रयत् आश्रयदित्यर्थ वलिर्मन्त्री निजानुजे' सह पद्मनामान राजानम् आश्रयदित्यर्थ। पद्मोऽपि चारमञ्चारात् चाराणा गूढपुरुषाणा सञ्चारात् भ्रमणात् विदितवशविद्याप्रभावाय ज्ञातान्वयज्ञानमाहात्म्याय तस्मै वलिसचिवाय सर्वाधिकारिक स्थानमदात्। सर्वे अधिकारिण यस्मिन् वशा भवन्ति तत् महास्थानम् अयच्छत्। वलि —देव, गृहीतोऽय स्वीकृतोऽयम् अनन्यसामान्यसभावनाह्लाद प्रसाद इतरजनासाधारणादरप्रमोद प्रसाद। कि तु कर्णेजपवृत्तीना कर्णे लगित्वा परापकारजपनरूपा वृत्तिर्येषा ते कर्णेजपवृत्तय परापकारोक्तिस्वभावाना खलानामित्यर्थ। पुन कथभूताना लञ्चलुञ्चेति—लञ्चस्य उत्कोचस्य लुञ्चनं ग्रहण तस्य उचिता योग्या चेतस मनम प्रवृत्तिर्येषा तेषा पुरुषाणा प्रायेण नियोगिपदम् अधिकारिपद हृदयास्पद तेषा हृदयानुरूप न प्रतिभाति। पर शौर्येण ऊर्जितम् उन्नत चित्त यस्य, उदार दानशील चित्त यस्य तस्य च इद नियोगिपद नोचितम् अपि तु उचितमेव तत् तस्मात् असाध्यसाधनेन यत्कार्यं साधयितु दु शक तस्य साधनेन साधनभूतेन ननु अय जन निदेशदानेन आज्ञाप्रदानेन अनुगृहीतव्य उपकार्य इत्यर्थ। पद्म —सत्यमिदम्। किं तु स्वामिसमीहितसुमन सवीणेषु स्वामिनो नृपस्य समीहितम् इष्ट कार्यं तस्मिन् सुमनसा सवीणेषु तत्परेषु भवद्विधेषु भवादृशेषु सचिवेषु सहायकमन्त्रिषु विद्यमानेषु किं नामासाध्यम् अस्ति। अन्यदा तु अन्यस्मिन्काले तु कुम्भपुराधिकृतमूर्ति कुम्भपुरनामनगरे अधिकृतमूर्ति स्वामित्वेन अधिष्ठिता मूर्ति देहो यस्य कुम्भपुरस्य यो राजा अस्ति स तथाभूत सिंहकीर्तिर्नाम नृपति। अनेकयोधनेषु नानायुद्धेषु लब्धम् आप्त यशःप्रसाधनं कीर्तिभूषण येन। सन्नद्ध युद्धोद्यत सारसाधन वलवत्सैन्य यस्य। हस्तिनागपुरावस्कन्दप्रदानाय हस्तिनागनगराक्रमणप्रदानाय आगच्छन् एतन्नगरच्छन्नावसर्पनिवेदितागमन अस्य नृपस्य कुम्भपुरे छन्ना गूढतयावस्थिता ये अवसर्पा चारास्तैर्निवेदितम् आगमन यस्य, स बलिसचिव. पद्मनिदेशात् पद्मनृपादेशमनुरुध्य अस्यमित्रीणप्रयाणपरायणेन विद्विषन्त प्रति जेतु गमन यत्तदभ्यमित्रीणप्रयाणमुच्यते तस्मिन् परायणेन तत्परेण कूट वञ्चनापूर्णं प्रकाम कदनम् अतिशयेन रोषेण कदन युद्ध तस्मिन् कोविदा निपुणा धिषणा बुद्धि यस्य तेन वलिना सचिवेन। अध्वमध्ये मार्गम् अवरुध्य युध्यमान, नामनिर्गमविधानै स्वकीयनामविरुदावलीसहितै प्रधानै' युद्धसिद्धान्तोपान्तै सामन्तैश्च नम्रीभूय ततो निर्गमोपायवद्भि मुख्यै युद्धस्य समरस्य सिद्धान्तानाम् उपान्त समीपं गतै सामन्तै स्वविषयानन्तरराजभि स सलग्नोऽन्त एकदेशो यस्या सा समन्ता स्वविषयानन्तरा भूमि तस्या अधिपतय सामन्ता। तैश्च सार्धं प्रवध्य तस्मै हृदयशल्योन्मूलनप्रमदमतये क्षितिपतये प्राभृतीकृत। हृदयस्य मनस शल्यस्य पीडाया उन्मूलनात् नि शेषतया नाशात् प्रमदयुक्ता सानन्दा मतिर्यस्य तस्मै क्षितिपतये भूमिपतये पद्मनृपाय प्राभृतीकृत उपायनीकृत। क्षितिपति —शस्त्रशास्त्रेति—शस्त्राणि च शास्त्राणि च तेषा विद्यानाम् अधिकरणम् आश्रयरूप व्याकरण तस्य व्याकर्ता पतञ्जलिरिव तत्सवोधन हे वले, निखिलेऽपि वले सकलेऽपि सैन्ये चिरकालमनेकश कृतकृष्णवदनच्छायस्यास्य कृता कृष्णा श्यामा वदनच्छाया मुखकान्तिर्येन तस्य अस्य द्विषत्स्य शत्रो विर्जयात् नितान्तम् अत्यन्त तुष्टोऽस्मि प्रीतोऽस्मि। तद्याच्यता मनोऽभिलाषधरो वर, तस्मात्कारणात् य वर ते मनोऽभिलष्यति स याच्यता व्रियताम्। वलि —यदाह याचे तदार्य प्रसादीकर्तव्य। इत्युदारम् उदीर्य नि स्पृहता प्रदर्शयन्निव उदीर्य उक्त्वा, पुनश्चतुरङ्गवलप्रवल चत्वारि अङ्गानि हस्त्यश्वरथपादातरूपाणि यस्य तेन वलेन सैन्येन प्रवल महाशक्तिमान् वलि प्रतिकूलभूपालविनयाय प्रतिकूला विरुद्धा ये भूपाला राजान तेषा विनयाय आनुकूल्योत्पादनाय। पद्मम् अवनीपतिम् अवन्या पतिं पृथ्वीशम् आदेशम् आज्ञा याचित्वा गृहीत्वा सत्वर शीघ्रम् अशेषेति—अशेषा सकला ताश्च ता आशा दिश तासु वशा निजाधीना कृता निवेशा स्थानानि ग्राम-

भगवान्—कथं तर्हि भवतः पित्रोर्विवाहादयस्तित्वतम्यम्। यदि त्वम् एकमेव प्रमाणं मन्यसे तर्हि तव पित्रोः मातुः पितुश्च विवाहादेः अस्तित्वे च तस्मं कारणं किं नु स्यात्। कथं वा तवादृश्यानां वंश्यानाम् अवस्थितिः। तव च पूर्वजाः ये नु अधुना न दृश्यन्ते ते पुरा आसन् इति कथं निर्णयः स्यात्। स्वयमप्रत्यक्षप्रमेयत्वात् पुरुषोपदेशादिति स्वपक्षपरिक्षतिः परमतोत्सवाहतिश्च। हे भक्ते तव पूर्वजादयः अप्रत्यक्षप्रमेयाः प्रत्यक्ष प्रमेया ज्ञेया नैव भवन्ति। तत्र आप्तपुरुषोपदेशादयः कथम्भ स्यात्। ये विश्वस्ताः पुरुषास्तेषां पूर्वजादिकथने प्रामाण्यम् अङ्गीकर्तव्यं स्यात्। तदस्य स्वपक्षस्य हानिर्भवेत् परस्य च आस्तिकानां मतोत्सवविघातं भवेत्। भक्तिभट्टो भट्ट इव तस्स्तटमिति मनोत्कटः करटीति सच्छकप्रकटकमापत्ति। भक्तिमन्त्री भट्ट इव मेष इव पण्डित इव तस्स्तटं गिरि-भित्तिरिति मनोत्कट वामोदरेण विश्वसनशास्त्रको भजः इति संकटप्रकटं दुष्प्रकर्षमासाद्य। परं समाचमनकरम् अतरं आमन्त्रयमुत्तरम् अपश्यन् अवमील्य शाम्यम् अवसन्नरसं अवचनीयं निरर्थकमार्यम् उपसृ वाक्यमं किमपि भाषण तं भगवन्तं प्रत्युवाच। क्षितिपतिः जयजमनृपः अतीवमन्दाक्षविक्षिप्तवीक्षणो भक्तिमयेन अभ्यामप्रलोकनः मुमुक्षुधमक्षम् आत्मानं कर्मबन्धनात्मोक्तुम् इच्छावतो आत्मवत् वासस्तापिनवासनिर्वर्थम् समीपीभूतावस्थाधवचपार्श्वं भक्तिभट्ट प्रतिष्ठामाव्ययपात् किमप्यनभिलप्य किमपि अनुक्त्वा। भगवन्, संयमवत्सर्वस्य अम्बतत्त्वसंपर्कस्य निरस्तविनितप्रभृतविचमहामोहान्धस्य स्वात्मपरिविक्षिप्तमनस्त्वात्महामोहान्धस्य सद्धर्मधर्ममहिमाः जिनधर्मविनाशकारणस्य मत्तोः प्राणिनः निरर्थकैर्वृषु गुणपुरुषु प्रकृत्यैव मौरवामा मेरुतुल्येषु, गुर्वमहापुरुषता प्राप्तेषु सत्पुरुषेषु न खलु दुरपवादकरणात् दोषारोपकरणाश्च अवसाने परिणामः प्रकृष्टमस्ति यस्य भवति। इति वचनपुरःसरं कथान्तरम् अनुबध्य भरया कथा कथान्तरम् अभ्यविपश्चिती कथाम् अनुबध्य प्रसंगेन संभाष्य साधु निष्कपटं सत्यतम भक्त्या संपृच्छ प्रशान्तिहैमवतीप्रभवगिरिम् अकम्पनसूरिं प्रकर्षेण मा प्रापितः स्वस्वरूपचिन्तनाम्यासपरमाह्लाद्यः सा एव हैमवतो हिमवतः प्रभवति प्रकाशते प्रथमं दृश्यते इति हैमवती गङ्गानदी तस्याः प्रभवगिरिं हिमवन्तमिव अकम्पनसूरिम् विवेकजनसमागमौचित्यप्रथया तदनुज्ञया निर्गतवता शिष्याः तेषां संभावना आदरः तस्योः औचित्यं योग्यता तत्कालादीति तथा शिष्याचरणोम्यता विचक्षणा तदनुज्ञया सूरिसम्मत्या आत्मसदृशं स्वाहर्म्यम् आसाद्य अपरेद्युः अन्यस्मिन् दिवसे अपरदोषमिषेण अन्यापराधनिमित्तेन छलिकारकरणं निकायो निष्कारः तस्य करणं विधानं तेन सहितं छलिकारकरणम् अमुना सुकुमारादिसहायैः सह कर्मस्थानगत [1]बालदिवम् तं निःशेषानिर्वासयामास स्वमण्डलाभिनिर्वासयामास। भवतश्चात्र श्लोकौ—समेति—यदि चित्तं मलीमसम् अपुनर्विमर्शदूषितं स्यात् तर्हि तु सम् सज्जनो अवसरज्ञान समासेन न तयो किमन्यतरम्। पूर्वाः तस्यावः वचाम्भो पयोम्बुसमावहनात् कथं विनाशं याति। परश्च अनुमतेऽपि स्थितात् परः दुर्जन अनुकम्पं करणात् कथं लभते ॥२१९॥ स्वमेवेति—सज्जनं शिष्यम् दुर्जनः स्वमेव आत्मानमेव हन्तुं शक्तिं इच्छेत्। यः एकादुष्टो तुलाया एकं पार्श्वम् आरोहेत्। असौ मतः न ऊर्ध्वं किम्। अधस्तमनः व्रजेदेव ॥२२१॥

इत्युपासकाध्ययने भक्तिनिर्वासनो नामैकोनविंशः कल्पः ॥१९॥

२० नासत्यरक्षणो नाम विंशः कल्पः

[पृष्ठ १८-११] भक्तिमन्त्री अनुनिर्वासितोऽपि सह हस्तिनापुरे पद्मराजानमाश्रयत्। भक्तिरिव तस्मात् तत्काले समस्त सर्वजनत्रस्तम् अनुपमसुखप्रदपूर्वकम् असुखं महान् गुरूत्तम परात्मा तत्पूर्वकं निर्वासित निवासितः सन् मुनिविषयरोषोन्मेषवशात् किमिव अकम्पनसूरिमुद्दिश्य यो रोषस्तस्य शमे न करणं तेन कलुषितः संचकितं मुक्त्वा। पुरवाङ्गलमन्दरेषु हस्तिनासिनीति—तेषां पुरवासिनाम् तन्नामकदेवानाम् निवासिनः अग्रतः तस्ती अनकेन नीरक्षेप्ता शमि विपालितं पालनं दुष्टम् मुनिनाम्नाद्य तेन पातका सोपरक्ता वै दीर्घनिनी कामिनी वस्त्र अलीकास्तरना तान् करोति महतीति यत् सा याती

1 वालखिल्याचार्य इति टिप्पण्याम्।

चुम्बित मश्लिष्ट पर्यन्तप्रसर आसमन्तप्रदेशो यस्य तस्मिन् हस्तिनापुरे । साम्राज्यलक्ष्मीमिव लक्ष्मीमतीं महादेवीम् अवहाय कृताभिषेका लक्ष्मीमती महिषीं त्यक्त्वा । सरस्वतीरसावगाहसागरस्य सरस्वत्या वाचा देव्या रस आस्वाद्यमान प्रीतिविशेष' तस्य अवगाहे स्थानदाने सागरस्य समुद्रस्येव श्रुतसागरस्य भगवत अभ्यर्णे समीपे पितृविनयविष्णुना पितुर्जनकस्य सवन्धिन विनय वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णु तेन विष्णुना निजजनके विनयातिशय धारयता, विष्णुना तन्नामधारकेण लघुभूत जन्म यस्य तेन तथाभूतेन सूनुना पुत्रेण सार्धं सह प्रवर्धितदीक्षापद्मस्य प्रवर्धित विकास नीत दीक्षा एव पद्म कमल येन तस्य महापद्ममहीपते महापद्मेति नामवतो भूपते' पद्मनामनिलय तनयम् अशिश्रयत् आश्रयदित्यर्थ. वलिर्मन्त्री निजानुजे सह पद्मनामान राजानम् आश्रयदित्यर्थ । पद्मोऽपि चारसञ्चारात् चाराणा गूढपुरुषाणां सञ्चारात् भ्रमणात् विदितवशविद्याप्रभावाय ज्ञातान्वयज्ञानमाहात्म्याय तस्मै वलिसचिवाय सर्वाधिकारिक स्थानमदात् । सर्वे अधिकारिण यस्मिन् वशा भवन्ति तत् महास्थानम् अयच्छत् । वलि —देव, गृहीतोऽयं स्वीकृतोऽयम् अनन्यसामान्यसभावनाह्लाद प्रसाद इतरजनासाधारणादरप्रमोद प्रसाद । किं तु कर्णेजपवृत्तीना कर्णे लगित्वा परापकारजपनरूपा वृत्तिर्येषा ते कर्णेजपवृत्तय परापकारोक्तिस्वभावाना खलानामित्यर्थ । पुन कथभूताना लञ्चलुञ्चेति—लञ्चस्य उत्कोचस्य लुञ्चन ग्रहणं तस्य उचिता योग्या चेतस मनस प्रवृत्तिर्येषा तेषा पुरुषाणा प्रायेण नियोगिपदम् अधिकारिपद हृदयास्पद तेषा हृदयानुरूप न प्रतिभाति । परं शौर्येण ऊर्जितम् उन्नत चित्त यस्य, उदार दानशील चित्त यस्य तस्य च इद नियोगिपद नोचितम् अपि तु उचितमेव तत् तस्मात् असाध्यसाधनेन यत्कार्यं साधयितु दु शक तस्य साधनेन साधनभूतेन ननु अय जन निदेशदानेन आज्ञाप्रदानेन अनुगृहीतव्य उपकार्य इत्यर्थ । पद्म —सत्यमिदम् । किं तु स्वामिसमीहितसुमन सवीणेषु स्वामिनो नृपस्य समीहितम् इष्ट कार्यं तस्मिन् सुमनसा सवीणेषु तत्परेषु भवद्विधेषु भवादृशेषु सचिवेषु सहायकमन्त्रिषु विद्यमानेषु किं नामासाध्यम् अस्ति । अन्यदा तु अन्यस्मिन्काले तु कुम्भपुराधिकृतमूर्ति कुम्भपुरनामनगरे अधिकृतमूर्ति स्वामित्वेन अधिष्ठिता मूर्ति देहो यस्य कुम्भपुरस्य यो राजा अस्ति स तथाभूत सिंहकीर्तिर्नाम नृपति । अनेकयोधनेषु नानायुद्धेषु लब्धम् आप्त यशःप्रसाधन कीर्तिभूषण येन । सन्नद्ध युद्धोद्यत सारसाधन वलवत्सैन्यं यस्य । हस्तिनागपुरावस्कन्दप्रदानाय हस्तिनागनगराक्रमणप्रदानाय आगच्छन् एतन्नगरच्छन्नावसर्पनिवेदितागमन अस्य नृपस्य कुम्भपुरे छन्ना गूढतयावस्थिता ये अवसर्पा चारास्तैर्निवेदितम् आगमन यस्य, स वलिसचिव पद्मनिदेशात् पद्मनृपादेशमनुरुध्य अस्यमित्रीणप्रयाणपरायणेन विद्विषन्त प्रति जेतु गमन यत्तदभ्यमित्रीणप्रयाणमुच्यते तस्मिन् परायणेन तत्परेण कूट वञ्चनापूर्णं प्रकाम कदनम् अतिशयेन रोषेण कदन युद्ध तस्मिन् कोविदा निपुणा धिषणा वुद्धि यस्य तेन वलिना सचिवेन । अध्वमध्ये मार्गम् अवरुध्य युध्यमान , नामनिर्गमविधानै स्वकीयनामविरुदावलीसहितै प्रधानै' युद्धसिद्धान्तोपान्तै सामन्तैश्च नम्रीभूय ततो निर्गमोपायवद्भि मुख्यै' युद्धस्य समरस्य सिद्धान्तानाम् उपान्त समीप गतै सामन्तै स्वविषयानन्तरराजभि स सलग्नोऽन्त एकदेशो यस्या सा समन्ता स्वविषयानन्तरा भूमि तस्या अधिपतय सामन्ता । तैश्च सार्धं प्रवध्य तस्मै हृदयशल्योन्मूलनप्रमदमतये क्षितिपतये प्राभृतीकृत । हृदयस्य मनस शल्यस्य पीडाया उन्मूलनात् नि शेषतया नाशात् प्रमदयुक्ता सानन्दा मतिर्यस्य तस्मै क्षितिपतये भूमिपतये पद्मनृपाय प्राभृतीकृत' उपायनीकृत । क्षितिपति —शस्त्रशास्त्रेति—शस्त्राणि च शास्त्राणि च तेषा विद्यानाम् अधिकरणम् आश्रयरूप व्याकरण तस्य व्याकर्ता पतञ्जलिरिव तत्सबोधन हे वले, निखिलेऽपि वले सकलेऽपि सैन्ये चिरकालमनेकश कृतकृष्णवदनच्छायस्यास्य कृता कृष्णा श्यामा वदनच्छाया मुखकान्तिर्येन तस्य अस्य द्विषस्य ग्रहो' विजयात् नितान्तम् अत्यन्त तुष्टोऽस्मि प्रीतोऽस्मि । तद्याच्यना मनोऽभिलाषवरो वर , तस्मात्कारणात् य वर ते मनोऽभिलष्यति स याच्यता म्रियताम् । वलि —यदाहं याचे तदायं प्रसादीकर्तव्य । इत्युदारम् उदीर्य नि स्पृहता प्रदर्शयन्निव उदीर्य उक्त्वा, पुनश्चतुरङ्गवलप्रवल चत्वारि अङ्गानि हस्त्यश्वरथपादातरूपाणि यस्य तेन वलेन सैन्येन प्रवल महाशक्तिमान् वलि प्रतिकूलभूपालविनयाय प्रतिकूला विरुद्धा ये भूपाला राजान तेषा विनयाय आनुकूल्योत्पादनाय । पद्मम् अवनीपतिम् अवन्या पतिं पृथ्वीशम् आदेशम् आज्ञा याचित्वा गृहीत्वा सुन्दर गोत्रम् अशेषेति—अशेषा सकला ताश्च ता आशा दिश ताम् वया निजाधीना कृता निवेश्य स्थानानि प्राम-

नगरादीनि येन तेन अनीकेन सैन्येन भुवितं व्याप्तं सकलं महीतलं येन तथाभूतः स अभिमानी विधिमार्गम् उच्चचाल प्रतस्थे ।

[पृष्ठ १००–१०१] अथान्तरे अस्मिन्प्रस्तावे । विहारक्रमात् भगवान् अभयदेवाचार्यः तेन महता मुनिनिकायेन साधुसमूहेन सार्धं हास्तिनपुरम् अनुसृत्य उत्तरदिग्विकासिस्मेरकुसुमवती हेमगिरौ उत्तरा चासौ दिक् तस्यां विकासिना स्मेरा तस्या अवतंसकल्पानि भूषणकल्पानि यानि कुसुमानि तैर्युता स्तबका यत्र तस्मिन्हेमगिरौ । महातपमाहात्म्या महान्तम् अवगाहो विस्तारेण अवकाशवती यस्यां तथाभूतायां गुहायां चातुर्मासीनिमित्तं स्थितिं चक्रे । चतुर्णां मासानां समाहारः चातुर्मासी तस्या निमित्तेन तत्र स्थितिं चक्रे निवासं तेने (अग्निरपि हेमगिरिगुहायां संयमम् अभयदेवसूरिमद्भोग्य तं पीडयितुम् अग्निहोममारेभे) अग्निरपि निर्विलक्षेति—निर्विलक्षस्य ते अक्षताक्ष समुद्रा तैर्वा रोमाणि लटानि तैषां सविधे समीपे यानि कनानि तेषु विनोदितानि धीरत्वमुखा दूषणानि येन सः । दिव्यगर्वं विचार्य सागरस्थं भगवन्तम् अवबुध्य प्रत्यभिज्ञाय चिरकालस्यापि दीर्घकालान्तरितेऽपि अलर्कविषनिषेक इव उन्मत्तः श्वा अलर्क उच्यते तस्य विषम् अलर्कविषम् तस्य निषेक क्षरणं दीर्घकालेनापि उन्मत्तत्वमिव मनं नितरां व्यस्यति तथा चाकृष्टकोपोत्कर्षः स अक्षितत्वपराभिभवाभाव पूर्वमिव तच्छुद्धये वैरप्रतिनिर्यातनाय वराचीवरं घनं भूपं प्रावरणनिमित्तेन समाधानार्थं समा वत्सरः तस्य जाता षण्मासकाल तस्य कर्मम् यस्मिंस्तद् । षाण्मासिकमिति भावः । किं तद् राज्यम्, कथंभूतम् मासैकचालनमनन्तरम् मासेन एकेनैव चाल्यते परिपाल्यते इति मासैकचालनं तस्मात् प्राज्यं प्रचुरम् । अन्तःपुरप्रचारैः खर्वमाणवपत पपातोऽभ्यस्य । भूभुजा दण्डकारमन्तःपुरं तत्र प्रचारः सञ्चारः तदोकमर्वनं वैपर्य यत्र तत्र च तत्सम यस्य तस्मात् चपलः चपलभूपात् अस्मर्थ्य करोपविष्टा कृत्वा मन्त्रमिव मन्त्रवादेन मुनिसैन्याभ्योत्कर्षं चिकीर्षुं मुनीनां सैन्यं समूहं तेन सह वा समन्तात् अभ्योत्कर्षं मुनीत्कर्षं चिकीर्षुः मुनिसमूहं नितरां पीडयितुमिच्छन् । मन्त्राद्या-विकरणैः उपकरणैः अग्निहोममारेभे । मन्त्राक्षरं कुरुकुरुक अभिचारं अभिरो वा अभिचरणम् आचारो येषु तैः उपकरणैः साधनैः अग्निहोमं मखम् आरेभे चकार । (विक्रमपुर जिनदत्तसूरेः शिष्यो माणिक्यमुनिर्नाम नगरे कथ्यमाने भवभावनार्थं गीतम् अभयदेवमहामुनीनाम् उपसर्गो वर्तते इति कथा) अथान्तरे अस्मिन्प्रसङ्गे निजनिवासेन निजेना-धमेन पवित्रीकृते विक्रमपुरे जिनसूरेः जिनमुनामधेयस्याचार्यस्य अन्तेवासी शिष्य माणिक्यमुनि नामा समये तस्यां निशायां मध्य समये वेला तस्याम् निशामध्यवेलायाम् । बहिर्विहितविहारः कायमग्नाद्यप्रदेशे ऊर्ध्वमन समीरस्य वायोर्मार्गे पथि गमनशीलत्वं । नक्षत्रवीथी तारकाणां परिक्रमम् । कोकनदालोकनसमानां कोकनदो-न्मेषोद्बोधनेव वीक्षणेन समासा मुक्तां विरचयन् । नेत्राभ्यां गगनमुखं वीक्षमाणः । चमूरुधुम्रवारचकितवारं चमूरोषु परिवेषस्य उच्चारः आगमनं तेन चकितं भीतं चार्थं शरीरं यस्य कुरङ्गलक्षणमिव हरिणमादाय तरक्षारकामयत् अश्ववलक्ष्मीनिकाचारं यस चक्रकोटूनाम् आचारं भवनं उत्पातमर्क नक्षत्रम् । अन्तरिक्षे गमति अवेत्य स्वयं यथा किमिदम् अवीरवोचत् । अहो न चार्मे अभयदेवमहामुनीनां महानुपसर्गो वर्तते । एतच्च श्रवण सरस्वती समन्तात् भाग्यवित बाह्यम् अभ्यन्तरं च तपश्चरणमिति भगवा तावच्छेत्या दर्शनं रक्षक स चासौ गणी आचार्य जिनसूरिः समाकर्ण्य प्रयुक्तावधिबोधः सम्पूर्णतावधिज्ञानः । तमपरगिरिगुहायाम् अभयदेवाचार्यस्य अग्निपुञ्जकलितमपचार अग्निना इवं दुर्निरूपितं दुःखिनां निरिक्षस्य मगनगमनप्रभावम् आकाशगमने प्रभावो माहात्म्यं यस्य तं पुष्पकेन देवलोकेन देवतवचारिणं आरुह्य आकाशं गगनम् ईदृशे पुष्पकेन तत्र निजिन माहात्म्य माया तं पुष्पकेन देवकेन देववचारिणं आरुह्य आकाशं गगनम् ईदृशे पुष्पकेन तत्र निजिन दुर्गमपूर्वं तदुपसर्गविसर्गे सामर्थ्यमस्ति । तत विक्रमपुरेऽभावात् सर्वानाकम्पसूरिण उपायमोचने न तत्र तास्ति । ततस्तच्छाविचर्जितमुद्भिरभिव्यक्त विज्ञाने तदसर्गमोचनसमर्थीजिनमुद्रया रोहिण्यां प्राणिभ्यो पीयमानाम तामन्त्रविनिपिततानिवस्मरिष्याम् आदि अतिपुजे अद्भुतविद्यया गुणैरविशेषः तस्य अभिचारमिति अविमानं रिक्ता गुणैरविशेषण प्राप्तामपि अतिपुजे अजानते । निवेद कारयिता तदुपसर्गं सर्वावसरमोक्षसर्गनिवारणाय । अत्र स्वर्गान् अस्माकमारेभम् । नियोजमितव्य प्रयोजयितुं योग्य ।[१४] पुष्पकेन विरहोत्थितचरणसेवस्य विद्या स्वर्गान् अस्माकमारेभस्त् । देवान्ते रचिता कर्तुं योग्या चरणसेवा यस्य तस्य मार्गे मानिनाऽचन्नत् तं देवमानाय जिनमुनये तथाविध-देवान्ते रचिता कर्तुं योग्या चरणसेवा यस्य तस्य मार्गे मानिनाऽचन्नत् तं देवताताय जिनमुनये तथाविध- त्रिवति तावती विविधविद्यप्रवृत्तिम् गुणनिरेवपूर्वं च गुरोर्निदेश आज्ञा तस्य श्रुति श्रवणि च प्रतिपादयामास

यामास । विष्णुमुनि प्रदीप इव स्फाटिकभित्तिमध्यलब्धप्रसरेण किरणनिकरेण यथा प्रदीप स्वच्छमणि-
तकुड्यमध्यादाप्तप्रचारेण रश्मिसमूहेनेव, कथभूतेन करेण । उच्यते, वारिधिवज्रवेदिकानिर्भेदनेन मानु-
तरगिरिपर्यन्तसवेदनेन सागरस्य वज्रतटस्फेटन कुर्वता करेण हस्तेन, पुन कथभूतेन मानुषोत्तरो नाम गिरि
करद्वीपस्य बहुमध्यभागे वलयाकारो वर्तते तस्य पर्यन्त यावत् सवेदनम् अनुभवो यस्य तेन । पुन कथभूतेन
रेण मनुष्यक्षेत्रसूत्रपातविडम्बनकरेण करेण मनुष्यक्षेत्रस्य यो मानदण्डस्तस्य विडम्बनकरेण अनुकरण
र्वता करेण ऊर्णनाभ इव तन्तुनिकाये काये स्ववशाश्रयया व्याससमासक्रियया च तामवगम्य । यथा ऊर्ण-
भस्तन्तुवायनामा कीटविशेष स तन्तुसमूहे व्यासो विस्तार समास सक्षेप तयो क्रियया निजवशाधारया
र्वित जानाति तथा स्ववशाश्रयया निजाधीनाधारया विस्तारसक्षेपक्रियया स्वकाये स्वशरीरे च तामवगम्य
त्वा । उपगम्य च हास्तिनपुर गत्वा च हस्तिनागपुरम् । 'न खल्वनिवेद्य निखिलवर्णिवर्णाश्रमपालाय मध्य-
लोकपालाय आमर्षप्रवृत्ततन्त्रेण हुङ्कारमात्रेणापि कम्पितजगत्त्रया प्रसख्यानवनविध्वसदावे तप प्रभावे
र्जनविनयनार्थमभिनिविशन्ते यतीशा' न खलु अनिवेद्य अकथयित्वा । कस्मै । निखिलेति—निखिलाश्च
वर्णिन ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा तेषा वर्णा आचारविशेषा आश्रमाश्च ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थता
क्षुकत्व चेति चत्वारश्चाश्रमा तान् पालयतीति तस्मै । मध्यमलोकपालाय मध्यमो लोक नृलोक
पालयतीति तस्मै नृपतये । आमर्षप्रवृत्ततन्त्रेण आमर्ष क्रोधस्तेन प्रवृत्त तन्त्र काय यस्य तेन
ङ्कारमात्रेणापि कम्पितजगत्त्रया प्रसख्यानं ध्यान तदेव वन तस्य ध्वसो नाशस्तस्मै दावोऽग्नि तत्सदृश
ति भाव तस्मिन् तप प्रभावे सत्यपि दुर्जनविनयनार्थं दुर्जनान् सन्मार्गेऽवतारयितु यतीशा मुनीश्वरा
अभिनिविशन्ते न प्रयतन्ते । मुनयो महाप्रभावास्तथापि भूपालमनिवेद्य स्वतप-प्रभाव न दर्शयन्ति इति
ाव' । इति च परामृश्य मनसि विमर्श कृत्वा, प्रविश्य च पुरैव प्रथममेव चिरपरिचितकञ्चुकिसूचितप्रचार
न्त पुर दीर्घकालमारभ्य विज्ञातसौविदल्लानुज्ञातप्रवेश । प्रविश्य च अन्त पुरम्, पद्ममहीपते, राजधानीषु
रण्यानीषु वा 'महारण्य अरण्यानी' इति महावनेषु इत्यर्थ । तपस्यत सयतलोकस्य मुनिजनस्य । न खलु नरेश्व-
न्नृपात् पराऽन्य प्रायेण बहुश गोपायिता रक्षिताऽस्ति । तत्कथं नाम तृणमात्रेऽपि अनपराधमतीना तृणमात्र-
यापि हिंसाम् अकुर्वता यतीनाम् आत्मनि अशुभलोकनिषेकसर्गम् अशुभो लोक नरकतिर्यग्गतिषु जन्म तस्य निषेक
ाप्ति तस्य सर्ग प्रादुर्भाव यस्माद्भवेत् तम् उपसर्गं महसा अविचारेण कथ करोषीति भाव इति उक्त ।
गवन् सत्यमेवैतत् । किं तु कतिचिद्दिनानि बलिरत्र राजा नाहम् ।' इति प्रत्युक्तियुक्तिस्थित प्रतिवचनयुक्तौ
स्थित पद्मनृपतिम् अवमत्य अवज्ञाय । छलेन निमित्तेन खलु परेषु प्रायेण बहुश अन्येषु तप प्रभवर्द्धिलीला
तपोजाता ऋद्धीना लीला फलोल्लासनशीला फलप्रकटनस्वभावा, इति वा अवगत्य विज्ञाय । शालाजिर-
सम्पुटकोटरावकाशप्रदीपप्रकाश इव सजातवामनाकृति । शालाजिरस्य वर्धमानस्य शरावस्य वा 'शालाजिरो
वर्धमान शराव स्मर्यते बुधै' इति हलायुध । सम्पुटस्य च कोटरे मध्यभागे अवकाशोऽवगाहो यस्य तथाभूतस्य
प्रदीपस्य प्रकाश इव सजातवामनाकृति प्रकटीकृतह्रस्वनराकार । सप्ततन्तुवसुमतीमनुसृत्य सप्तभिरग्नि-
जिह्वाभिस्तन्यते विस्तार्यते इति सप्ततन्तुर्यज्ञ तस्य वसुमतीं भूमिम् अनुसृत्य अनुगम्य । मधुरध्वनितृतीयेन
सवनेन मधुरध्वनिना सह तृतीयेन सवनेन उदात्तेन स्वरेण प्राध्ययनम् उच्चैरध्ययनं वेदस्य व्यधात् अकरोत् ।

[पृष्ठ १०२–१०३] बलिरिति—बलि मेघशब्दसुन्दर वाक्प्रसर वचनप्रवाह सिन्धुर इव गज इव
निभृतकर्ण वशीभूतश्रोत्र निर्वर्ण्य दृष्ट्वा कोऽय खलु वेदवाचि विरिञ्च इव उच्चारचतुर वेदवचने ब्रह्मा इव
उच्चारणकुशल, इति कुतूहलितहृदय कुतुकितमना, सत्रनिलयान्निर्गत्य सत सज्जनान् त्रायते इति सत्र
यज्ञ तस्य निलयाद् गृहात् निर्गत्य । वयसि च निश्चिताश्चर्यसौन्दर्य द्विजवर्यम् एनमवादीत् । वयसि तारुण्ये
विज्ञाताद्भुतसौन्दर्यम् एन विप्रश्रेष्ठम् अवादीत् अब्रवीत् । 'भट्ट, किमिष्ट वस्तु, चेतसि निधाय प्राधीषे' हे विद्वन्,
कस् ईप्सित पदार्थं धनादिक हृदये सकल्प्य प्राधीषे उच्चैर्वेदवचनानि ब्रूषे । 'बले दायादविलुप्तालयत्वात्
तदर्थं पादत्रयप्रमाणकलमवनितलम् । हे बलिमन्त्रिन्, सनाभिहृतगृहत्वात् चरणत्रयमानसुन्दर भूमितल चेतसि
निधायाह वेदवचनानि प्रोच्चैर्ब्रुवे । द्विजोत्तम ब्राह्मणश्रेष्ठ मया ते निकाम यथेप्सित दत्तम् । यद्येव बहुमान-

नगरादीनि येन तेन अलीकेन दम्भेन दूषितं व्याप्तं सकलं महीतलं येन तथाभूतः स बलिमन्त्री विविधयागम् उन्मथाय प्रवृत्ते ।

[पृष्ठ १००-१०१] अथान्तरे अस्मिन्प्रस्तावे । विहारवशात् भगवान् अकम्पनाचार्यः तेन महता मुनिनिकायेन साधुसमूहेन सार्धं हास्तिनपुरम् अनुसृत्य उत्तरदिग्विभागसन्निधिवर्तकुसुमस्तरी हेमगिरौ तदा चारी विक इव विलासिना रमी तस्या अवतंसरूपाणि भूषणरूपाणि यानि कुसुमानि तैर्युतास्तरवो यत्र तस्मिन्हेमगिरौ । महाप्रपाहायां महान् अवगाहो विस्तारेण अवकाशतलं यस्यां तथाभूतायां गुहायां चातुर्मासीनिमित्तं स्थितिं कृत्वा । चतुर्णां मासानां समाहारः चातुर्मासी तस्या निमित्तेन तत्र स्थितिं कृत्वा स्थितास्ते तेने (बलिरपि हेमगिरिगुहायां ससैन्यम् अकम्पनसूरिमुनिलोकम् तं पीडयितुम् अग्निहोममारेभे) बलिरपि निखिलेति—निखिलाश्च ते सकलप्रजा समूहाः तेषां रोमाणि तदानि तेषां छविर्वे समीपे यानि वनानि तेषु विनोदितानि श्रीरमणानां हृदयानि येन स । विविधयागं विधाय आपततस्तं भगवन्तम् अवबुध्य प्रत्यभिज्ञाय चिरकालव्यवधानेऽपि दीर्घकालान्तरितेऽपि अलर्कविषनिषेक इव उन्मत्त यथा अलर्क उन्मत्तो तस्य विषम्, अलर्कविषम् तस्य निषेक आरम्भं दीर्घकालेनापि उन्मत्तत्वमपि वर्तं नितरा व्यापयति तथा बालप्रकोपोत्कर्ष च बलिस्तदपराधविधानाय पूर्वनिराकृतत्वे वैराग्निविनिर्यातिनाय पराधीनवरं पदं नृपं प्राप्तवरनिमित्तेन समाधानार्थं सभा वत्सरः तस्य सप्ता पञ्चाक्षरकालः तस्य अथम् यस्मिंस्तत् । निमासावधिकमिति भावः । किं तद् राज्यम्, कर्मभूतम् आरम्भेकशासनप्राज्यम् आत्मना एकेनैव शास्यते परिपाल्यते इति आत्मैकशासनं तस्मात् प्राज्यं प्रचुरम् । अन्तःपुरपरिवारैः सममात्तपदा पदभ्रष्टोऽस्मात् । भूभुजां रम्यगारमन्तःपुरं तत्र प्रचार सञ्चार. तपोमयमेवैश्वर्यं वैभवं यत्र तद् च ततश्च यस्य तस्मात् पदतः पदभृतात् अमर्ष्य परोपलिप्सा कृत्वा मखमिषेण यज्ञव्याजेन मुनिसैन्यावस्थोत्कर्षं जिकीषु मुनीनां सैन्यं साधु तत्र सह वा समन्तात् अन्योत्कर्षं युद्धोत्कर्षं जिकीषु मुनिसमूहं नितरां पीडयितुमिच्छन् । मखमध्याभिकरणैः उपकरणैः अग्निहोममारेभे । मखमध्यं यूपयूपकः अधिकरणं आहितो वा अधिकरणम् आधारो यत्र तैः उपकरणैः साधनैः अग्निहोमं मखम् आरेभे चकार । (मिथिलापुरे विष्णुसूरेः शिष्यो भ्राजिष्णुर्नाम नमसि कम्पमान मन्दनक्षत्रं वीक्ष्य क्वचिन्महामुनीनाम् उपसर्गो वर्तते इति जगौ) अथान्तरे अस्मिन्प्रसङ्गे मिथिलानिवासेन मिथिलानगरीव पवित्रीकृते मिथिलापुरे विष्णुसूरेः विष्णुनामधेयस्याचार्यस्य अन्तेवासी शिष्य भ्राजिष्णुर्नाम तमीमध्य समयं तस्या निशाया मध्य समय वेला तस्याम् निशामध्यवेलायाम् । बहिर्विहितविहार आमममहाप्रदेशे इतगमन समीरस्य मार्गोर्मीर्यो पथि नभसीस्यर्थ । नक्षत्रवीथी तारकाणां पङ्क्तिम् । लोचनालोकनसनाथा लोचनयोः लोचनेन वीक्षणेन सनाथा युक्ता विदधानः । नेत्राभ्यां नक्षत्रपुञ्जं वीक्षमाणः । श्रवणसञ्चारचकितवामनमृगरोमपरिपीडितस्य सञ्चार आगमनं तेन चकितं भीतं वामं शरीरं यस्य कुरङ्गलक्ष्मणस्य हरिणलक्ष्मणस्य तरलतारकामयस्य चञ्चलतमीनिकाचारं पश्यन् तदन्यकोटुन्नाम् आचारं भवनं तन्नामकं नक्षत्रम् । मन्त्रिभि नमसि अवरस्य भयं नभसा किमेवमुच्चैररवीत् । अहो न जाने क्वचिन्महामुनीनां महानुपसर्गो वर्तते । एतच्च भगवान् स्मरणवशी भवनाना भाष्यमिति वाक्यम् अभ्यन्तरं च तपश्चरणेनेति भगवान् सावधानेन वचनं रक्षक स चासी गणी आचार्य विष्णुसूरि समाकर्ण्य प्रमुक्तापरिवीतः प्रमुक्तापविताय । तमकार्यविनिर्मुक्तात्मा भगवदाचार्यस्य बलिर्दुर्विलसितमवधाय बलिना दुष्टं दुर्विलसितं दुश्चेष्टितं निश्चित्य गगनगमनप्रभावम् आकाशगमने प्रभावो माहात्म्यं यस्य तं पुष्पदन्तं देवदत्तं वेलन्धरचारणं गगनगम् आकाशं गामिन्यं हृष्टी पुष्पदन्तेन तत्र विविध उपसर्गमिति तदुपसर्गनिवर्तने सामर्थ्यमस्ति । तत्र विक्रियर्द्धेरभावात् तदभावकमनुग्रहीत उपप्रयोजन न तत्र तानि । ततस्तदधिगतविद्यर्द्धिर्विनीतस्य विष्णवे उपसर्गोपशमनसमर्थविष्णुद्रव्यो भ्राजिष्णवे भ्राजिष्णवे ततस्तस्य तामद्यविदितविक्रियर्द्धिमाहात्म्याम् अपि अविदुषे अदृष्टविदितस्य पूर्वदेवविशेषः तस्य अविदन्तर्मनि अविभावने विना पूर्वदेवविशेषेण प्राप्तामपि अविद्युत अजानते । निवेद्य कथयित्वा तदुपसर्गनिवर्तनसमर्थविक्रियाय । अत्र पूर्वदेवविशेषेण प्राप्तामपि अविद्युत अजानते । निवेद्य स्वर्गान् अवतारयामास । निर्दोषविनयः प्रदीपयितुं योग्य । पुष्पदन्तेन निरन्तरविनयवचनेन विद्या देवान्ते यदिना वर्तुं योग्या परमसेवा मध्य तस्य मार्गे आतिथ्यात्मकम् भी देवतादाय विनीतमुनये तथापि विकृति प्रकृति च अनिमावधानाय प्रभावति नारदी विविधर्द्धिप्रवृत्तिम्, मुनिरेववरनि च उ

।णा नभोगाना

कथयामास । विष्णुमुनि प्रदीप इव ... ।प । खचरा

रचितकुड्यमध्यादाप्तप्रचारेण रदिमसमूहेनेव, ... मानचरणकमल ।

पोत्तरगिरिपर्यन्तसंवेदनेन मागन्स्य ... ।गण तेपु उपकारे

पुष्करद्वीपस्य बहुमध्यभागे वलयाकारो ... आह्लाद नीता मनीपा

करेण मनुष्यक्षेत्रसूत्रपातनिदम्बनश्च ... ग्रानभृत वलि सबान्धव

कुर्वता करेण ऊर्णनाभ इव तन्तुनिरापे ... चात्र श्लोक —वत्सल

नामस्तन्तुवायनामा कीटविशेष स ... रहित विघ्न शमयामास

स्वर्शात जानाति तथा स्वबन्धाश्रयता ...

ज्ञात्वा । उपगम्य च हास्तिनपुर ...

मलोकपालाय आमर्षप्रवृत्तत्वेन ... । ॥ २० ॥

दुर्जनविनयनार्थमभिनिविशन्ते यतीना ...

ते वर्गिन ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टय ... ।तमः कल्पः

भिक्षुकत्व चेति चत्वारश्चाश्रमा ... नत्कथादच सूरिवरेण कथिताः । अधुना

त पालयतीति तस्मै नृपाय ... इति—तदाप्तौ सम्यग्दृष्टे आप्तौ प्राप्तौ ।

हुङ्कारमात्रेणापि कम्पितजगत्त्रया ... ।म् । इति कारणयुगल तत्प्राप्तेर्भवति । यदा

इति भाव तस्मिन् तत्प्रसादं ... ।त्वभाग् भवति तदा तस्य तत्सम्यक्त्व निसर्गात्

न अभिनिविशन्ते न प्रयतन्ते । ... ४ तदा तस्य तत् अधिगमज ज्ञेयम् ॥ २२३ ॥

भाव. । इति च परामृष्य मर्त्य- ... ।वो भव्य, कतिपयभवप्राप्यनिर्वाणपद आसन्न ।

अन्तःपुर दीर्घकालमारभ्य ... ।भव्यता । कर्महानि मिथ्यात्वादीना सम्यक्त्वप्रति-

अरण्यानीषु वा 'महारण्य ... ।यो वा । सज्ञित्व शिक्षाक्रियालापोपदेशग्राहित्वम् । सज्ञा

रान्नृपात् परोऽय प्रवेश ... ।शुद्धपरिणामा एते अन्तरङ्गहेतव सम्यक्त्वस्य । बाह्योऽपि

स्यापि हिंसाम् अकुर्वन्ता ... आदिशब्देन जातिस्मरणजिनप्रतिमादर्शनादिकानि गृह्यन्ते ।

प्राप्ति तस्य मार्ग ... २२४ ॥ एतदुक्तं भवति—अस्यैव विवरण भवति—कस्यचिदास-

भगवन् सत्यमेवैतत् । ... प्तयोग्यद्रव्यक्षेत्रकालभावभवसपदासेव्यस्य सनाथस्य । विधूतेति—

स्थितं यथानृपतिम् ... निर्गतस्य । आक्षिप्तेति—गृहीत शिक्षाक्रियालापचतुरेन्द्रियान्त करण-

तपोधाता ... लशुनादिदुर्वासनागन्धरहित भवति तथा मिथ्यात्ववासनासभूतपापण्डि-

सम्पुटकोटराव ... ।यावस्थितपदार्थस्वरूपज्ञानकारणयुगलात्, स्फाटिकरत्नरचितदर्पणसदृशस्य ।

वर्धमान ... ।णेन वा । वेदनानुभवनेन वा । धर्मश्रवणेन वा । जिनप्रतिमादर्शनेन वा । महा-

प्रदीपस्य ... द्धिप्राप्तमुनीश्वरनिहालनेन वा । नरेषु देवेषु वा सम्यग्दर्शनप्रभाववैभवदर्शनेन वा ।

... ।रवनेषु मनोविहारेणापि खेदम् अप्राप्नुवन्, यदा जीवादिवस्तुषु याथात्म्य ज्ञात्वा

।विना आयास कष्ट नानुभवति । यथा शुष्का शालय अनायासेन लूयन्ते स्वयमेव,

स्वयमेव, इत्यादिवत्तन्निसर्गात्सम्यक्त्व जातमिति प्रोच्यते । यदा तु अव्युत्पन्नता,

ज्ञाने उद्भवन्ति, तदा अधिमुक्तियुक्तिसूक्तिसबन्धसविधस्य मुक्तौ मुक्तिविषये मुक्तिम्

।धमुक्ति तस्मिन् जीवस्य कर्माष्टकरहितशुद्धस्वरूपे युक्तियुक्ता सूक्ती. श्रुत्वा, तच्छ्रवणात्

।सबन्धस्य प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगोपयोगावगाह्येषु सकलजीवादिषु वस्तुषु ऊहापोहरूपेण परीक्षणात्,

... प्राप्य नि शेषदुराशयविनाशात्, सकलमिथ्याज्ञानविनाशात्, सम्यग्ज्ञानसूर्यकरै तत्त्वेषु रुचि

- सजायते, तदा विधातुरायासहेतुत्वात् कार्यकारिण सक्लेशकारणत्वात् मया निर्मापितोऽय हार

...सारेण, मयेदम्, सपादितम् आभूषणं रत्नरचनाश्रयम् इत्यादिवत् तदा अधिगमात्प्रादुर्भूत सम्यग्दर्शनम्

...ुच्यते । उक्त च अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिति—अतर्कितोप... त अनुकूल प्रतिकूल वा दैवकृतम् । तत्र

मजमान विनीयतामुपकारोत्तरप्रवर्तितम् इति । अतएव वामनोऽपि महाकरपात्रं मजमान उपकारस्य इत्थं जलधारापातादनन्तरं प्रवृत्तिर्यस्याः एतादृशी वृत्तिः संकल्पितवतीं विनीयताम् क्रियताम् । बलिः प्रथम महतीम् भास्वत् कमण्डलुम् आदाय गृहीत्वा । दिग्भावार्थं प्रसारितो हस्तः तत्पुनः कथंभूतं शङ्खमिव कुक्षिगतनिकेतनम् यथा शङ्खस्य इत्थं कुक्षिगतनिकेतनम् कुक्षिः उदरम्, निकेतनं स्थानो यस्य एवंभूतो भवति । तथा हस्तोऽपि कुक्षिगतनिकेतनः कुक्षिं उदरं निकेतयति निवसति यस्मिन्निति कुक्षिगतनिकेतनस्तम् । पुनः कथंभूतं हस्तम् । प्रासादमिव कलशालङ्कृतम् प्रासादो यथा कलशेन अलङ्क्रियते तथा हस्तोऽपि कलशेन कुम्भाकाररेखा- भिरलङ्क्रियते । जलाशयमिव मत्स्याश्रयम्, यथा जलाशयः मत्स्यानाम् आश्रयः आधारभूतः तथा हस्तोऽपि मत्स्याकाररेखाभिर्युतः । सरित्पतिमिव शङ्खसनाथम् सरित्पतिः समुद्रः स शङ्खैः युतस्तिष्ठति तथा हस्तोऽपि शङ्खचिह्नेन शोभते । विरहिणीवाससदनकुड्यप्रदेशमिव ऊर्ध्वरेखावकाशम्, यथा विरहिणी स्वकान्त- वियोगदिनगणनाय कुड्यप्रदेशे भित्तौ ऊर्ध्वरेखाः रचयति तद्वत् हस्तोऽपि ऊर्ध्वरेखाणाम् अवकाशेन शोभते । नारायणमिव चक्रलाञ्छनम् यथा नारायणः कृष्णः चक्रलाञ्छनेन सुदर्शनचक्रेण लक्ष्यते तथा हस्तोऽपि चक्रचिह्नेन सामुद्रिकचिह्नेन विराजते । यज्ञोपकरणमिव यवाङ्कितकरणम् यथा यज्ञ- यज्ञोपकरणे हवनसामग्रीमध्ये यवो धान्यं दृश्यते तथा हस्तोऽपि अङ्गुष्ठमध्ये यवाकाररेखायुतो भवति । जलयानपात्रमिव निबिडमग्नम्, जलयानपात्रं नौका तद्वत् नीरमग्नपात्रं भवति तथा हस्तोऽपि निबिडमग्नाङ्गुलियुतो भाति । स्तम्बेरमकरमिव दीर्घाङ्गुलिप्रसरम् यथा स्तम्बेरमो गजः तस्य करः शुण्डा स करो यथा दीर्घो भवति तथा हस्तोऽपि दीर्घाणां अङ्गुलीनां प्रसरेण शोभते । वंशकिसलयमिव आनुपूर्व्या प्रवृत्तपर्वसन्धयम् यथा वंशस्य वेणोः किसलयं पल्लवं आनुपूर्व्यं पूर्वम् अपरम् अनुपूर्व्येति आनुपूर्व्यं तेन प्रवृत्ताः पर्वणां वेणुग्रन्थीनां सन्धयो यस्मिन् वेणौ यत्र यत्र ग्रन्थयो वर्तन्ते तास्मः किसलयोत्पत्तिर्भवति तथा अयं हस्तकिसलयमपि अङ्गुलिपर्वसन्धियुतं भवति । कमलकोशमिव अल्पप्रकाशनिवेशम् । यथा कमलस्य कोशः कलिका अल्पप्रकाशस्य निवेशेन पाटलया कान्त्या निवेशेन स्थितया शोभते तथा हस्तोऽपि ताम्रया कान्त्या कमलकोश इव विराजते । विद्रुमलतावामोदमिव स्निग्धपाटलम्तरालं विद्रुमाणां प्रवालानां रचना तस्या आमोदः विस्तारः स यथा स्निग्धस्ताम्रश्च भवति तथा स्निग्धानि मसृणानि पाटलानि ताम्राणि अन्तरालानि यस्य एतादृशो वामन-विप्रस्य हस्तः शोभते पुनः कथंभूतं हस्तं लक्ष्मीक्षीराविर्भावोदयं लक्ष्मी क्षीरेण क्षता यस्मै तस्या आविर्भावस्य उत्पत्तेः उदयो समुत्पत्तिः । एतादृशं हस्तं पुनः रूपकमय दृष्ट्वा । ननु अयम् एवंविधपावित्र्यसंबन्धो नोचः पुरुषः परेषाम् अन्येषां याचिता । अन्येभ्यः पुरः याचनार्थं हस्तं न प्रसारयेत् किं तु अयम् स्वर्गमोक्षो भवेत् इति अवलम्ब्य कांक्षेत्या तुल्यं पूर्णम् अवदानस्य बलिः स्वकीया वर्ति वार्ता पादत्रयप्रमाणाया भूमेः उदकधारोत्तरा जलधारया हस्तोऽर्पणा- नन्तरम् अकार्षीत् अकरोत् । तदनु स विष्णुमुनिः विरोचनविरोधिनिकरः इव विरोचनः सूर्यः तस्य विरोधिनः किरणाः तेषां निकरः समूह इव अप्रमेय ऊर्ध्वम् अधस्तात् अनवधिवृद्धिपरः अनवधिः न अवधिर्मर्यादा यस्याः सा अनवधी वृद्धिः तस्याः परः अमर्यादोपचयतत्परः सर्वतश्च समयत प्रवृत्ताखण्डमण्डल इव प्रवृत्तजल- जलविस्तार इव द्विर आक्रमन्तत प्रवरत् वृद्धिं प्राप्नुवद्देहो यस्य स विष्णुमुनिः एवं कायवर्- कायं शरीरं करोतीति कायकरः पादः इति भावः एवं पादम् अकूपारकवलीविस्तारम् अकूपारो समुद्र- समुद्रः तस्य वलयमध्यां वेदिकायां निधाय स्थापयित्वा परं च अन्यम् अपरं पादं चरणं गगनाङ्गणवलिष्करे । पुनस्तृतीयस्य चरणस्य मेदिनीं भूमिम् अलभमानः उद्गमरससञ्जनहेतुना सुरसरित्सुरवधूमोक्षहेतुना इत्यादि विशेषणानि तृतीयपादस्याश्चर्यत्याणि । कथंभूतेन पादेन भूर्भुवस्तलस्थ प्रयोजने हेतुना भाविना भूपरसमार्ग-प्रतिवन्ध- कीर्तिरयनं । पुनः कथंभूतेन पादेन सुरेति—सुराणां सरित् गङ्गानदी तस्या सुरवधूतुर्यं सोता प्रवाहः तस्य हेतुना वसुधारणेनैव गङ्गा विष्णुपदोद्भूतेति पौराणिकी कथा । सपादितेति—संपादितः उत्पादितः त्रिविध सुरनारीणां देवाङ्गनानां चरणमार्गस्य विशेष्या विभ्रम संघयो येन । पुनः कथंभूतेन पादेन । समाचरितेति— समाचरितः उत्पादितः दैत्यानां मनोवाङ्मयानां वेदसंपदो अन्तसंपदो येन । पुनः कथंभूतेन भूयोऽप्यीस परिच्छेदे तुलादण्डविडम्बनेन भूयोऽपस्य वीर्य भुक्ता तस्याः परिच्छेदे माने तुलादण्डविडम्बनेन आकम्पन्

नुकुर्वता चरणेन पादेन । क्षोभितान्तरिक्षचरपुरकक्ष क्षोभिता. क्षोभ प्रापिता अन्तरिक्षचराणा नभोगाना कक्षा नगरविभागा येन । किन्नरामरखचरचारणादिवृन्दै किन्नरामरा व्यन्तरदेवविशेष । खचरा भोगा विद्याधरा । चारणादयो देवविशेषा तेषा वृन्दै समूहैः, वन्द्यपादारविन्द' प्रणम्यमानचरणकमल. । यतजनोपकारसारस्वकीयर्द्धिवृद्धिपरितोषितमनीषै व्यन्तरानिमिषै सयतजनो निर्ग्रन्थमुनिगण तेषु उपकारे रभूता समर्था या स्वकोया ऋद्धिवृद्धि वैक्रियिकशरीरर्द्धिवृद्धि, तया परितोपिता आह्लाद नीता मनीषा द्धियेषा तै । व्यन्तरानिमिषै व्यन्तरसुरै । अकारणखलतास्थलि निर्हेतुकदुष्टताया स्थानभूत वलि सवान्धव क्रवृहस्पतिप्रह्लादसहितम् अबन्धयत् । प्रावेशयच्च सदेह रसातलगेहम् । भवति चात्र श्लोक —वत्सल यतजनस्नेहल महापद्मसुतो महापद्मनृपतनय विष्णु हास्तिननगरे वलिमन्त्रिविहित विघ्न शमयामास नषूदयाञ्चकार ।। २२२ ।।

इत्युपासकाध्ययने वात्सल्यरक्षणो नाम विंशतितम कल्प ॥ २० ॥

२१ रत्नत्रयस्वरूपनिरूपणो नामैकविंशतितमः कल्पः

[पृष्ठ १०४–१०५] एव सम्यग्दर्शनस्याष्टाङ्गाना स्वरूप तत्कथाश्च सूरिवरेण कथिताः । अधुना सम्यग्दर्शनोत्पत्तिकारणानि तद्भेदाश्च निगद्यन्ते सूरिणा निसर्ग इति—तदाप्तौ सम्यग्दृष्टे आप्तौ प्राप्तौ । निसर्ग इति—एक कारणम् । अधिगमो वा तत्प्राप्तौ कारणम् । इति कारणयुगलं तत्प्राप्तेर्भवति । यदा मल्पप्रयासात् पुरुषश्चतुर्गतिज सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियो जीव सम्यक्त्वभाग् भवति तदा तस्य तत्सम्यक्त्व निसर्गात् जातमिति । यदा च अनल्पप्रयासत सम्यक्त्व लभ्यते तेन तदा तस्य तत् अधिगमज ज्ञेयम् ।। २२३ ।। उक्त च–आसन्नभव्यतेति—रत्नत्रयाविर्भावयोग्यो जीवो भव्य, कतिपयभवप्राप्यनिर्वाणपद आसन्न । आसन्नश्चासौ भव्यश्चासन्नभव्यस्तस्य भाव आसन्नभव्यता । कर्महानि मिथ्यात्वादीना सम्यक्त्वप्रतिबन्धककर्मणा यथा सम्भवमुपशम, क्षयोपशम क्षयो वा । सञ्ज्ञित्वं शिक्षाक्रियालापोपदेशग्राहित्वम् । सञ्ज्ञा अस्यास्तीति सञ्ज्ञी सञ्ज्ञिनो भाव सञ्ज्ञित्वम् । शुद्धपरिणामा एते अन्तरङ्गहेतव सम्यक्त्वस्य । बाह्योऽपि उपदेशकादिश्च सम्यगुपदेशको गुर्वादि । आदिशब्देन जातिस्मरणजिनप्रतिमादर्शनादिकानि गृह्यन्ते । एतान् हेतूनवाप्य जीव सम्यग्दृष्टिर्भवति ।। २२४ ।। एतदुक्त भवति—अस्यैवं विवरण भवति—कस्यचिदासन्नभव्यस्य तन्निदानेति—सम्यक्त्वप्राप्तियोग्यद्रव्यक्षेत्रकालभावभवसपदासेव्यस्य सनाथस्य । विधूतेति—सम्यक्त्वप्रतिबन्धकमिथ्यात्वतिमिराद्दूरं निर्गतस्य । आक्षिप्तेति—गृहीत शिक्षाक्रियालापचतुरेन्द्रियान्त करणसबन्धस्य । नव मृत्तिकादिभाण्डं लशुनादिदुर्वासनागन्धरहित भवति तथा मिथ्यात्ववासनासभूतपापपण्डिजनगन्धरहितस्य शीघ्रमेव यथावस्थितपदार्थस्वरूपज्ञानकारणयुगलात्, स्फाटिकरत्नरचितदर्पणसदृशस्य । पूर्वभवश्रवणात् सजातजातिस्मरणेन वा । वेदनानुभवनेन वा । धर्मश्रवणेन वा । जिनप्रतिमादर्शनेन वा । महामहोत्सवावलोकनेन वा । महर्द्धिप्राप्तमुनीश्वरनिहालनेन वा । नरेषु देवेषु वा सम्यग्दर्शनप्रभाववैभवदर्शनेन वा । अन्येन केनचिद्धेतुना, विचारवनेषु मनोविहारेणापि खेदम् अप्राप्नुवन्, यदा जीवादिवस्तुषु याथात्म्य ज्ञात्वा श्रद्धानं भवति तदा प्रयोक्ता आयास कष्ट नानुभवति । यथा शुष्का शालय अनायासेन लूयन्ते स्वयमेव, शिक्ष्यन्ते चतुरमतय स्वयमेव, इत्यादिवत्तन्निसर्गात्सम्यक्त्व जातमिति प्रोच्यते । यदा तु अव्युत्पन्नता, सशय. विपर्ययश्च ज्ञाने उद्भवन्ति, तदा अधिमुक्तियुक्तिसूक्तिमवन्वसविधस्य मुक्तौ मुक्तिविषये मुक्तिम् अधिकृत्य वा अधिमुक्ति तस्मिन् जीवस्य कर्माष्टकरहितशुद्धस्वरूपे युक्तियुक्ता सूक्ती श्रुत्वा, तच्छ्रवणात् जातसम्यग्ज्ञानसबन्धस्य प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगोपयोगावगाह्येषु सकलजीवादिषु वस्तुषु ऊहापोहरूपेण परीक्षणात्, अतिक्लेशं प्राप्य नि शेषदुराशयविनाशात्, सकलमिथ्याज्ञानविनाशात्, सम्यग्ज्ञानसूर्यकरै तत्त्वेषु रुचि. श्रद्धानं सजायते, तदा विधातुरायासहेतुत्वात् कार्यकारिण सक्लेशकारणत्वात् मया निर्मापितोऽय हार सूत्रानुसारेण, मयेदम्, संपादितम् आभूषणं रत्नरचनाश्रयम् इत्यादिवत् तदा अधिगमात्प्रादुर्भूत सम्यग्दर्शनम् इत्युच्यते । उक्त च अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिति—अतर्कितोपस्थितम् अनुकूलं प्रतिकूल वा दैवकृतम् । तत्र

बुद्धिपूर्वापेक्षापायात् तत्र पुरुषकारस्य प्रयत्नस्य अप्राधान्यात् । तद्विपरीतं पौरुषापादितं तत्र दैवस्य गुणत्वात् पौरुषस्य प्रधानभावात् । अविगणनसम्यग्दर्शनं पौरुषाद् भवति । निसर्गजसम्यग्दर्शनं दैवात्कर्म इत्यर्थः ॥ २२५ ॥

[पृ० १०६-१०९] सम्यक्त्वभेदानाह सूरयः—द्विविधमिति—आत्महितमतयः आत्महिते मतिर्येषां ते आत्महितमतयः सम्यक्त्वज्ञानिनः । सम्यक्त्वं द्विविधम् आहुः निसर्गजमधिगमजं चेति । त्रिविधम्—औपशमिकम्, क्षायोपशमिकम् क्षायिकं चेति । दशविधं च तद् पुरस्तात्कथ्यते—तत्त्वश्रद्धानमिति सम्यक्त्वम् । सर्वत्र च जीवादिषु समवृत्तिः रागद्वेषाभावः उपेक्षा भवति ॥२२६॥ पुनरपि सम्यक्त्वस्य द्वैविध्यमन्येन प्रकारेण निगदति—सरागेति—सरागः आत्मा विषयो यस्य तद् सरागसम्यक्त्वं स्मृतम् । वीतराग आत्मा विषयो यस्य तद् वीतरागसम्यक्त्वं मतम् । सरागसम्यक्त्वं प्रशमादियुक्तं प्रशमादयो गुणा यस्य तद् प्रशम-संवेग-अनुकम्पा-आस्तिक्यगुणचतुष्टययुतम् । तद् पूर्वं प्रथमं कथ्यते । आत्मविशुद्धिमात्रस्तं द्वितीयं वीतरागसम्यक्त्वं भवति । तद् उपशान्तकषायादिगुणस्थानवर्ति भवति तत्र हि चारित्रमोहस्य सहकारिणोऽभावात् प्रशमादयोऽभिव्यक्ति स्वात्मकत्वं स्वसंवेदनेनैव तद्वेद्यते ॥२२७॥ यथा हि पुरुषस्य पुण्यपवित्ररिमम् अतीन्द्रियमपि अनुमानप्रत्यक्षगोचरे अपत्योत्पादनेन च । विपदि धैर्यावलम्बनेन वा । प्रारब्धवस्तुनिर्वाहेण वा । सत्कार्यम् आरब्धं उपसर्गेण वा निरसितुं शक्यते तथा आत्मस्वभावतया अतिसूक्ष्ममलमपि सम्यक्त्वरत्नं प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्यैरेव वाक्यैरावेदयितुं शक्यम् । नरस्य पौरुषं यथा नेत्रादिभिर्ग्राह्यं नास्ति तथापि नारीसंयोगादिकार्यैः निर्णेयं भवति तथा सम्यक्त्वमिदम् आत्मस्वभावत्वात् अतीन्द्रियमपि प्रशमादिभिरेव ज्ञातुं सुशकं भवति ।

[पृष्ठ ११०-१११] १ प्रशमलक्षणम्—यद्रागादिष्विति—रागद्वेषादिदोषेषु मनोभूते विषये निवर्तनं तैभ्य दूरतः स्थापनम् प्राज्ञाः तं प्रशमं ब्रुवन्ति । एवं प्रशमं विना अकलङ्कतानां ज्ञानम् अपायम् । अत एनेन सकलतानि भूष्यन्ते ॥२२८॥ २ संवेगलक्षणम्—शारीरेति—शारीरदुःखं ज्वरादिकम् । मानसं दुःखम् अपमानादिकम् । आगन्तुकं च दुःखं विद्युदादिना जायते । एतद् त्रयं वेदनासमवायं ज्ञेयम् । एतासां वेदनानां प्रभवात् उत्पादकात् भवात् संसारात् भीतिः संवेगः कथ्यते । भवं च भवं संसारः स्वप्नेन इन्द्रजालेन च संकल्पः तद्वत्तो वर्णने ॥२२९॥ ३ अनुकम्पालक्षणम्—सत्त्वे इति—सर्वस्मिन् सत्त्वे प्राणिनि चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः कृपावन्तो नराः धर्मस्य परमं मूलं वृक्षस्य मूलमिव अनुकम्पां करुणाम् दयाम् कृपां च प्रवदन्ति आचक्षते ॥२३० ॥ ४ आस्तिक्यमाह—आप्ते इति—सर्वज्ञे भगवति जिने । श्रुते द्वादशाङ्गेषु । व्रते अहिंसादिषु । यस्य चित्ते मनः आस्तिक्यपरिचितं भवति तद् आस्तिक्यम् । अस्ति युक्तं मतिः प्रमाणनयादिभिः तं चरतीति अस्तिमुक्तिचरः तस्मिन्नरे उक्तम् । अथवा मोक्षसंयोगचरे मुक्ति-गामिनि नरे आस्तिक्यम् उत्तमम् ॥२३१॥ ५ निर्दयस्य संसारदीर्घता—रागेति—रागद्वेषवति नित्यं निर्दये दयानाम् अहिंसादिवर्जिते । निर्दयात्मनि निर्दय आत्मा यस्य तादृशे निष्कृपे नास्तिक्यभीतिमुक्ते नरे संसारो दीर्घतरः स्यात् दीर्घभवभ्रमणः भवेत् । नास्तिको निर्दयश्च नरः दीर्घकालं संसारे परिभ्रमेत् इति भाव ॥२३२॥

[पृष्ठ ११२-११५] १ सम्यक्त्वस्य उत्पत्तिः प्रकारात्रय—अनन्तानुबन्धिचतुष्टयस्य सम्यक्त्वप्रकृतेः सम्यग्मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वस्य च समूलात्ययात् जीवादिवस्तुनि यच्छ्रद्धानं भवति तत्क्षायिकं सम्यक्त्वम् । एतासां सप्तप्रकृतीनां शान्तेः उपशमात् औपशमिकम् । एतासु सप्तसु सम्यक्त्वस्य उदयेन अन्यासाम् उपशमेन क्षयेण च जायमानं श्रद्धानं क्षायोपशमिकं ज्ञेयम्, एतत्त्रिविधं सम्यक्त्वं सर्वत्र यदि नारकतिर्यङ्नरदेवगतिषु संज्ञि-पर्याप्तभव्येषु बोध्यं ज्ञेयम् ॥ २३३ ॥ दशविधं सम्यक्त्वम्—आज्ञेति—प्रत्यायनार्थं ॥ २३४ ॥ १ आज्ञासम्यक्त्वम्—भगवता अर्हता सर्वज्ञेन रचितागमे जीवादितत्त्वार्थदर्शने यथार्थम् अनुभाषा आदेशरूप स्वीकरणात् आयमानां तेषां सम्यक्श्रद्धानम् आज्ञासम्यक्त्वम् । २ मार्गसम्यक्त्वम्—रत्नत्रयं मोक्षमार्गं तस्य विचारात् सम्यग्दर्शनस्य विभावेन् सर्व उत्पत्तितस्य तन्मार्गसम्यक्त्वम् । ३ उपदेशसम्यक्त्वम्—तीर्थंकर-चक्र वर्ति-नारायण प्रतिनारायण-बलभद्र- पुराणपुरुषादिचरितैः, तेषां चरितानां अवणाज्जायमानं अतिविशेषः उपदेशसम्यक्त्वम् । ४ सूत्रसम्यक्त्वम्—मुनीनां महाव्रतादिचारित्रविधानसमाचारस्य सूत्र

श्रद्धानं सूत्रसम्यक्त्वम्। बीजसम्यक्त्वम्–सकलसमया सकलसंकेता तेषां दला विभागा समूहा तेषां सूचनाया व्याजं निमित्तं यस्य तत् बीजसम्यक्त्वम्। संक्षेपसम्यक्त्वम्–आप्तश्रुतव्रतपदार्थानां संक्षेपेण आलापो वर्णनं तच्छ्रुत्वा आक्षेपं रुचिग्रहणं श्रद्धानम्। विस्तारसम्यक्त्वम्–द्वादशाङ्गानाम् आचारादीनाम् चतुर्दशपूर्वाणाम् उत्पादादीनाम्, प्रकीर्णकानां सामायिकादीनाम्, अङ्गबाह्यानां विस्तीर्णश्रुतानाम् अर्थस्य समर्थनं श्रुत्वा प्रस्तारं हृदि रुचे विस्तारो जायते। अर्थसम्यक्त्वम्–प्रवचनविषये आगमविषये स्वप्रत्ययसमर्थं स्वप्रत्ययं अर्थानुभवं तद्वितरणसमर्थं जीवादिरर्थं तच्छ्रद्धानम् अर्थसम्यक्त्वम्। अवगाढसम्यक्त्वम्–द्वादशाङ्गागमं, चतुर्दशपूर्वागमं, चतुर्दशप्रकीर्णकागमं एते त्रयं आगमत्रयं कथ्यन्ते। एतेषां निःशेषतया साकल्येन अन्यतमदेशेन वा अवगाहनं कृत्वा आलीढम् उत्पन्नं यच्छ्रद्धानं तदवगाढम्। परमावगाढसम्यक्त्वम्–अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिमहापुरुषाणां प्रत्ययेन उपदेशेन जातं सम्यक्त्वं परमावगाढम् इति सम्यग्दृष्टिर्दशविधा ज्ञेया। अधुना गृहस्थमुन्योर्भेदा प्रतिपाद्यन्ते–गृहस्थ इति—सम्यक्त्वस्य आधारभूतो गृहस्थो वा यतिरपि वा। पूर्वं गृहस्थ एकादशविध—मूलव्रती (दर्शनिकः), व्रतिकः, अर्चा (सामयिकी), पर्वकर्मा, (प्रोषधोपवासी), अकृषिक्रिया (आरम्भत्यागी), दिवाब्रह्मा (दिवाब्रह्मचारी), नवविधब्रह्मा (ब्रह्मचारी), सचित्तत्यागी, परिग्रहपरित्यागी, भुक्तिमात्रानुमान्यता भुक्तिमापन्ने चतुर्विधाहारे अनुमान्यता सम्मतिदानम्। अन्यत्र आरम्भादिषु अनुज्ञाया अदानम् (अनुमतित्यागी), उद्दिष्टाहारत्यागी। यतिश्च चतुर्विधः—मुनिः, ऋषिः, जिनयतिः, अनगारश्चेति येषां धर्मः चरमः मुनिधर्म इत्यर्थः ॥२३५॥ मायेति—माया वञ्चना, निकृतिः, निदानं विषयभोगाकाङ्क्षा, मिथ्यात्वम् अतत्त्वश्रद्धानम् एतानि त्रीणि शारीरमानसबाधाहेतुत्वात् कर्मोदयविकारः शल्यमित्युपचर्यन्ते। एतच्छल्यत्रयम् आर्जवम् अवञ्चकत्वम् अकाङ्क्षणाभावः निःस्पृहत्वम्, तत्त्वभावनं च जीवादितत्त्वेषु परमार्थरूपा श्रद्धा। एतैरेव कीलकैः शङ्कुभिः कृत्वा उपर्युक्तं शल्यत्रयम् उद्धरेत् हृदयादपसारयेत् ॥२३६॥

[पृष्ठ ११६-११७] दृष्टिहीन इति—यथा दृष्टिहीनः नेत्रान्धः पुमान् ईप्सितं स्वेष्टं स्थानं न एति न प्राप्नोति तथा दृष्टिहीनः पुमान् सम्यक्त्वरहितो नरः ईप्सितं स्वाभिलषितं कर्मक्षयादिकं न एति न प्राप्नोति ॥२३७॥ सम्यक्त्वमिति—अङ्गहीनं निःशङ्कादिगुणरहितं सम्यग्दर्शनम् अङ्गहीनं दण्डकोशस्वामिसुहृदादिसप्ताङ्गरहितं राज्यमिव प्राज्यभूतये विपुलवैभवप्राप्तये न भवति ततः सम्यग्दर्शनस्याङ्गानां निःशङ्कितादीनाम् अष्टानां सगत्याम् एकीभूतायाम् अङ्गी जीवः निःसगं निरपेक्षम् अष्टाङ्गपूर्णसम्यक्त्वोपेतं चारित्रं वाञ्छतु भव्यः ईहताम् ॥२३८॥ विद्येति—विद्या सम्यग्ज्ञानम्, विभूतिः ऐश्वर्यम्, रूपाद्या सौन्दर्यम्, सज्जातिः सत्कुलादिकं सम्यग्दर्शनहीने अङ्गिनि जीवे कुतः भवन्ति बीजव्यपाये बीजाभावे सस्यसंपत्तिः धान्यानां निष्पत्तिर्न हि भवति ॥२३९॥ यस्य नरस्य दर्शनं निर्दोषं तस्य चक्रिश्रीः त्रिखण्डाधिपतेः षट्खण्डाधिपतेश्च राज्यविभूतिः, सश्रयोत्कण्ठा तम् अवलम्बितुमभिलष्यति। नाकिश्रीः नाकिनां स्वर्गिणां श्रीर्लक्ष्मीः तं द्रष्टुमुत्सुकीभवति। तस्य मुक्तिश्रीः निर्वाणलक्ष्मीः सकलकर्मक्षयरूपा अनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणरूपा च दूरे नैव ॥२४०॥ मूढत्रयमिति—दृग्दोषाः दृशः सम्यग्दृष्टेः दोषाः दूषणानि मलाः पञ्चविंशतिः तान् कथयति—मूढत्रयं लोकदेवपाषण्डिमूढतास्तिस्रः, मदाः गर्वाः अष्टौ ज्ञान-पूजा-कुल-जाति-बल-ऋद्धि-तपो-वपूंषि अष्टौ आश्रित्य मानवहनम् अष्टौ मदाः। तथा अनायतनानि षट्-सम्यग्दर्शनस्य आश्रयभूतानि निवासतुल्यानि आयतनानि यानि न भवन्ति तानि अनायतनानि, तानि चैवम्–मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि त्रीणि, त्रयश्च तद्वन्तः पुरुषा इति षडनायतनानि। अथवा असर्वज्ञ, असर्वज्ञायतनम्, असर्वज्ञज्ञानम्, असर्वज्ञज्ञानसमवेतपुरुषः, असर्वज्ञानुष्ठानम्, असर्वज्ञज्ञानानुष्ठानसमवेतपुरुषश्चेति। अष्टौ शङ्कादयश्च शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा मूढदृष्टिता अनुपगूहनम् अस्थितीकरणम् अवात्सल्यम् अप्रभावना चेति सम्यग्दर्शनस्य पञ्चविंशतिर्दोषाः ॥२४१॥ निश्चयोचितेति—सुदृष्टिः सम्यग्दृष्टिः तत्त्वकोविदः तत्त्वानां जीवाजीवादिसप्तपदार्थानां कोविदः ज्ञाता। निश्चयोचितचारित्रं निश्चयः आत्मनः शुद्धस्वरूपं तत्प्राप्त्यै उचितं योग्यं चारित्रम् आत्मनि स्थितिरूपं तत्रस्यास्मिन् स निश्चयोचितचारित्रः भवति। सम्यग्दृष्टिर्जनः सम्यग्ज्ञानं चारित्रं च लभते इत्यर्थः। स सम्यग्दृष्टिः अव्रतस्थोऽपि मुक्तिसद्मो भवति। परं व्रतस्थोऽपि अदर्शनः मिथ्यादृष्टिः मुक्तिस्थः न

बुद्धिपूर्वविनाशाभावात् तत्र पुरुषकारस्य प्रयत्नस्य अप्राधान्यात् । तद्विपरीते पौरुषापादिते तत्र दैवस्य गुणभूत-पौरुषस्य प्रधानभावात् । अधिगमजसम्यग्दर्शनं पौरुषम् भवति । निसर्गजसम्यक्त्वं दैवाधीनं द्रष्टव्यं ॥ २२५ ॥

[पृ० १०६-१०९] सम्यक्त्वभेदानाह सूत्र—द्विविधमिति—आत्महितमतय आत्मोन्नतिर्मतिर्येषां ते आत्महितमतयः सम्यग्ज्ञानिनः । सम्यक्त्वं द्विविधम् आहुः निसर्गजमधिगमजं चेति । त्रिविधम्—औपशमिकम्, क्षायोपशमिकम्, क्षायिकं चेति । दशविधं च तत् पुरस्तादवश्यते—तत्त्वश्रद्धानविधि ज्ञातव्यम् । सर्वत्र च वीतादिषु समवृत्तिः रागद्वेषाभावः उपेक्षावृत्तिः ॥२२६॥ पुनरपि सम्यक्त्वस्य द्वैविध्यमन्येन प्रकारेण निगदति—सरागेति—सरागः आत्मा विषयो यस्य तत् सरागसम्यक्त्वं स्मृतम् । वीतराग आत्मा विषयो यस्य तत् वीतरागसम्यक्त्वं मतम् । सरागसम्यक्त्वं प्रशमादिगुणं प्रशमादयो गुणा यस्य तत् प्रशम-संवेग-अनुकम्पा-आस्तिक्यगुणचतुष्टययुक्तम् । तत् पूर्वं प्रथमं कथ्यते । आत्मविशुद्धिमात्रं द्वितीयं वीतरागसम्यक्त्वं भवति । तत् उपशान्तकषायादिगुणस्थानवर्ति भवति तत्र हि चारित्रमोहस्य सहकारिणोऽपायात् प्रशमादिअभिव्यक्तिः स्यात्केवलं स्वसंवेदनेनैव तद्वेद्यत ॥२२७॥ यथा हि पुरुषस्य पुत्रोत्पत्तिशक्तिरियम् अतीन्द्रियापि अङ्गनासङ्गसंभोगेन अपत्योत्पादनेन च । विपदि धैर्यावलम्बनेन वा । प्रारब्धवस्तुनिर्वहणेन वा । यत्कार्यम् आरब्धं तस्यान्तगमनेन वा निश्चेतुं शक्यते तथा आत्मस्वभावतया अतिसूक्ष्मत्वमपि सम्यक्त्वरत्नं प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्यैरेव वाक्यैरनुमापयितुं शक्यम् । नरस्य पौरुषं यथा नैयायिकैर्द्रष्टुं नार्हं तथापि नारीसंयोगादिकार्यं निर्णेयं भवति तथा सम्यक्त्वमिदम् आत्मस्वभावत्वात् अतीन्द्रियमपि प्रशमादिभिरेव ज्ञातुं सुशकं भवति ।

[पृष्ठ ११०-१११] १ प्रशमलक्षणम्—यद्रागादिष्विति—रागद्वेषादिदोषेषु मनोवृत्तेः निवर्हणं निवर्तनं तेभ्यः दूरतः स्थापनम् प्राज्ञाः तं प्रशमं ब्रुवन्ति । एवं प्रशमं विना सकलव्रतानां पालनम् भारस्वरूपम् । अत एव व्रतपतीनि मुच्यन्ते ॥२२८॥ २ संवेगलक्षणम्—शारीरेति—शारीरं ज्वरादिकम् । मानसं दुःखम् अपमानादिकम् । आगन्तुकं च दुःखं विद्युदादिना जायते । एतत्त्रयं वेदनात्रयं भेदम् । एतासां वेदनानां प्रभवात् उत्पादकात् भवाद् संसारात् भीतिः संवेग कथ्यते । अयं च भवः संसारः स्वप्नेन इन्द्रजालेन च सदृशः सदृशो वर्तते ॥२२९॥ ३ अनुकम्पालक्षणम्—सत्त्वे इति—सर्वेषु सत्त्वे प्राणिनि चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः कृपालवो नराः धर्मस्य परमं मूलं वृक्षस्य मूलमिव अनुकम्पा कथयाम् दयाम् कृपा च प्रवदन्ति आम्नासिषु ॥२३० ॥ ४ आस्तिक्यमाह—आप्ते इति—आप्ते सर्वज्ञे जिने । श्रुते द्वादशाङ्गेषु । व्रते अहिंसादिषु । यस्य चित्तं मनः अस्तित्वपरिचितं भवति तत् आस्तिक्यम् । उक्तिं च प्रमाणनयाभ्यां ते वर्तीति वक्तिमुक्तियुक्त तस्मिन्नरे उक्तम् । अथवा जीवादिपदार्थे मुक्तिगामिनि नरे आस्तिक्यम् उक्तम् ॥२३१॥ ५ निर्दयस्य संसारदीर्घता—रागेति—रागद्वेषवति निर्दये निर्दये हिंसादिकृत्यरहिते । निरात्मनि निर्दयः आत्मा यस्य तादृशे निर्दये नास्तिकमतिविमुक्ते नरे संसारो दीर्घः स्यात् दीर्घभ्रमणपरः भवेत् । नास्तिको निर्दयश्च नरः दीर्घकालं संसारे परिभ्रमेद् इति भावः ॥२३२॥

[पृष्ठ ११२-११५] १ सम्यक्त्वस्य उत्पत्तिः प्रकारश्च—अनन्तानुबन्धिचतुष्कस्य सम्यक्त्वाद्वे सम्यङ्मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वस्य च प्रकृतीनाम् उपशमात् जीवादिवस्तुनि यच्छ्रद्धानं भवति तत् औपशमिकं सम्यक्त्वम् । एतासां सप्तप्रकृतीनां क्षये क्षयात् क्षायिकम् । एतासु सप्तसु सम्यक्त्वस्य उदयेन अन्यासाम् उपशमेन क्षयेण च जायमानं भवति क्षायोपशमिकं ज्ञेयम् एतत्त्रिविधं सम्यक्त्वं सर्वेषु गतिषु नारकतिर्यङ्नरदेवगतिषु ॥ २३४ ॥ संज्ञि-पञ्चेन्द्रियपर्याप्तेषु भव्येषु ज्ञेयम् ॥ २३५ ॥ दशविधं सम्यक्त्वम्—आज्ञेति—आज्ञाप्रभृति १ आज्ञासम्यक्त्वम्—भगवता अर्हता सर्वज्ञेन रचितागमे जीवादितत्त्वार्थेषु यथार्थम् आज्ञया आदेशस्य स्वीकरणात् आत्मनां या श्रद्धा सम्यग्ज्ञानम् आज्ञासम्यक्त्वम् । २ मार्गसम्यक्त्वम्—रत्नत्रयं मोक्षमार्गः तस्य विचारात् सम्यग्ज्ञानस्य विपर्यासं सर्वं ... तत्त्वार्थसम्यक्त्वम् । ३ उपदेशसम्यक्त्वम्—तीर्थंकर चक्रवर्ति-नारायण प्रतिनारायण-बलभद्र-पुराणपुरुषादिचरितैः तेषां चरितानां श्रवणात् ... उपदेशसम्यक्त्वम् । ४ सूत्रसम्यक्त्वम्—मुनिजनानां महाव्रतचारित्रादिनिरूपक...

शुद्धान्तरात्मनि शुद्धे निजे अन्तरात्मनि स्वस्वरूपे सपन्न प्रवृत्ति कुर्वन् आत्मा हिंसकोऽपि न हिंसक । अयत्नाचारस्य नरस्य निश्चिता हिंसा प्रयनस्य समितस्य हिंसामात्रेण बन्धो नास्ति हिंसाध्यवसायरहितत्वात्, निष्प्रमादप्रवृत्तिकत्वात् ॥२५१॥ मन सकल्पात् पाप वा पुण्य वा जायते । पुण्यायेति—स्वस्मिन् स्वजीवे, अन्यत्र अन्यस्मिन् जीवे नीत कृत दु ख पुण्याय भवेत् । तत्कथमिति चेदुच्यते–यदि स्वस्य हिताय व्रत तप आदिक क्रियमाण दु खरूप सदपि दयादिसद्भावनारूपत्वात् पुण्यायैव भवेत् । अन्यत्र वा शिष्यादिषु प्रतिपाद्यमान व्रततप आदिक तैर्वा कार्यमाण दु खरूप सदपि पुण्याय भवेत् तथा स्वजीवे अन्यत्र वा शिष्यादिजीवे नीत कृत सुख पापाय भवेत् । यथा विषयेषु स्वस्य निरतत्वात् सुख भवेत् तथापि तत्र कृता रतिस्तीव्ररागभावात् पापबन्धाय भवेत् । यद्यपि सप्रति कृता प्रवृत्ति सुखाय जातेति प्रतिभाति तथापि आयत्याम् अध्यवसानाना मलिनत्वात् पापायैव सा प्रवृत्तिर्भवेत् । अत चित्तस्य चेष्टित प्रवृत्ति अचिन्त्यम् अतर्कगोचरम् ॥२५२॥ सुखेति—सुखस्य विधानम् अकुर्वन्, दु खस्यापि विधानम् अकुर्वन् नर पापसमाश्रयो भवेत् पापेन लिप्येत । सक्लेशपरिणामत्वात् नर अन्य सुखिन दु खिन वा कुर्वन् पापभाजन भवेत्, पेटीमध्ये मञ्जूषाया विनिक्षिप्त स्थापित वास वस्त्र मलिन न स्यात् किम् । बहि स्थित वस्त्र रजसा मलिन भवति पर मञ्जूषाया तन्मलिन किं न स्यात् क्रोधादिकषायावेशात् सुखम् अददानो दु ख वा पापभागेव भवति मानव ॥२५३॥

[पृष्ठ १२३-१२४] अध्यवसानाना नित्व प्रतिपादयति—बहिरिति–बाह्येन देहादिना हिंसापरोपकारादि-शुद्धाशुद्धकार्यकरणेऽक्षमोऽपि हृदि मनसि हृद्येव मनसि सस्थिते पर पाप तीव्रतम पापम्, विशुद्धतम पुण्य परम पदम् अनन्तगुणचतुष्टयात्मक मोक्षपद च भवेत् जीवस्य । मनसि तीव्रसक्लेशपरिणामसतप्ते जीवस्य तीव्रतमपापबन्धो भवति । परोपकारादिविमर्शे सम्यग्दर्शनादिगुणप्रापके पर पुण्य भवति । तथा नितरा रागद्वेषरहितेषु शुद्धोपयोगेषु सलीने हृदि सकलकर्मक्षयो भवति ततश्च परम पद मोक्षो भवति । जीवस्य अशुभध्यानेन पाप स्यात्, शुभेन पुण्यम् परमशुक्लेन पर पद चित्तमेव स्यात् ॥२५४॥ प्रकुर्वाण इति–तास्ता क्रिया प्रकुर्वाण अनशनादितपासि, सामायिकादीनि षडावश्यककर्माणि कुर्वाण नर केवल क्लेशभाजन शरीर-क्लेशाना पात्र स्यात् उचितमेवैतत्तस्य यतो यश्चित्तप्रचारज्ञ न, य धर्मध्याने जीवादितत्त्वचिन्तने मन न प्रचारयति, कमुपायमवलम्ब्य जीवादितत्त्वरूपे मनस प्रचार कर्तव्य, तत्र का युक्तिरिति यो न जानाति तस्य मोक्षपदलाभ कुतो भवेत् ॥२५५॥ सम्यग्ज्ञानस्य स्वरूपम्—यदिति–यत् यथावस्थ यस्य या वा यथार्था अवस्था सन्ति तास्ता अनतिक्रम्य अञ्जसा अविसवादित्वेन वस्तुसर्वस्वम् वस्तुन सर्वस्व सर्वधन गुणपर्यायादिरूप सर्वधर्मान् वा जानाति तत्सम्यग्ज्ञानम् उच्यते तत् नृणा नराणां तृतीय लोचन नयन ज्ञेयम् ॥२५६॥ यष्टिवदिति—जनुषान्धस्य जन्मान्धस्य तु यष्टिवत् यष्टिरिव दण्ड इव प्रवृत्तिविनिवृत्त्यङ्ग यथा यष्टि तस्यान्धस्य प्रवृत्तौ गमने अङ्ग कारण भवति, विनिवृत्त्यङ्ग च मार्गं निम्नोन्नत ज्ञापयित्वा ततो निवृत्तौ अङ्ग कारण जायते तथा तत्सम्यग्ज्ञान सुकृतचेतस पुण्यवन्मनसो नरस्य हिताहितविवेचनात् हित सुख तत्साधन रत्नत्रयम्, अहित दु ख तत्साधन मिथ्यात्वादिक तयोर्विवेचनात् सशयादिदोषाभावप्रकारेण प्रतिपादनात् ॥२५७॥ मतिरिति–मति इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् अवग्रहादिज्ञानम् सा दृष्टेऽर्थे जागर्ति इन्द्रियानिन्द्रियपरिच्छेदनयोग्ये वस्तुनि जागर्ति प्रकटीभवति । आगम दृष्टे अदृष्टे च वस्तुनि सूक्ष्मान्तरितदूरार्थेऽदृष्टे वस्तुन्यागम जागर्ति । यदि मन जैनदर्शने निर्मत्सर द्वेषरहित स्यात्तस्य दुर्लभ तत्त्व न । स्याद्वादाद्वस्तुयाथात्म्य ज्ञायते सम्यग्दृष्टिनेति भाव ॥२५८॥ यदि आगमेन मत्या च अर्थे जीवादिवस्तुसंदोहे दर्शितेऽपि प्रतिपादितेऽपि जन्तो मति सततमसा अज्ञानबहुला स्यात् तर्हि तस्य नरस्य ज्ञान वृथा स्यात् । यथा रविरिवो धूकस्य आलोक दिनकरप्रकाश व्यर्थ स्यात् ॥२५९॥ ज्ञातुरिति—यत् अबाधेऽपि वस्तुनि बाधारहितेऽपि पदार्थे कथचिन्नित्यानित्यात्मके कथचिद्भेदाभेदात्मके वस्तुन्यपि मति बुद्धि विपर्यय सर्वथा नित्यात्मक सर्वथा अनित्यात्मक सर्वथैकान्तस्वरूप वस्तु इति विपरीततावस्था धत्ते तत्र ज्ञातु आत्मन प्रमातुरेव स दोष यत स मिथ्यात्वतमसावृत यथा इन्दौ चन्द्रे मन्दचक्षुष तिमिरोपहतनयनस्य मति बुद्धि विपर्यय धत्ते नभसि सा चन्द्रद्वय पश्यति वा चन्द्र नील कृष्णादिक वा पश्यति ॥२६०॥

भवति। मिथ्यादर्शनानि मुक्तये न भवन्ति ॥२४२॥ बहिः क्रियेति—बाह्या क्रिया बाह्यज्ञानचारित्र-विकल्पं बहिःश्रमं केवलं रत्नत्रयमतम् सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानां समूहे कथ्यते केवलं कारणं निमित्तं शरीरेण क्रियमाणं गमनादिकं देवपूजनादिकं च भवेत् घटोत्पत्तौ मृदादेः कुलालादिवत्। परम् आत्मा स्वयं रत्नत्रय-पर्यायं कृत्वा रत्नत्रयात्मको भवति। रत्नत्रयम् आत्मानं मुक्त्वा अन्यद्रव्ये न वर्तते। अतः स एव रत्नत्रय-परिणतात्मोपादानम्। तस्मिन् कस्मिन् आत्मा मोक्षस्य कारणं भवति ॥२४३॥ रत्नत्रयस्वरूपमाह—विशुद्धेति—भूतार्थनयवादिनां निश्चयनयवादिनाम्। वस्तुनः अन्यवस्त्वन्तरत्वेन यत् कर्मकारकादीनाम् अभेदेन प्रतिपादनं कुर्वन्तो यथा भूतार्थनयं तस्य वादिनः भूतार्थनयवादिनः तेषाम्। विशुद्धवस्तुनि दृष्टिः विशुद्धं ज्ञानादिभ्यो-ऽभिन्नं वस्तु आत्मा इति धी बुद्धिः सा एव दृष्टिः दर्शनम्। अभिन्नः ममात्मा ज्ञानादिभिः इति यथा दर्शनम्। साकारगोचरो बोधः। आकारः अर्थविकल्पः। अयं घटः अयं पटः इत्यादिवस्तुभेदः आकारः वस्तुनो धर्मसंस्थानादयोऽपि। आकारेण सहितः साकारः पदार्थः स गोचरो विषयो यस्य स पुनः बोधः उच्यते। अप्रकम्पः तथा अप्रकम्पं वृत्तम्। तयोः सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानयोः अप्रकम्पः रागद्वेषमोहादिभिः अचलनत्वं रहितत्वं वा चारित्रम् इति निश्चयनयेन रत्नत्रयस्वरूपम् उक्तम् ॥२४४॥

[पृष्ठ ११८-१५२] अज्ञानात् इति—यत् यस्मात् आत्मनि मोक्षं प्राप्ते सति अज्ञानात् पौद्गलिकात् ज्ञानं न भवति मोहात् मोहे मोहनीयकर्मणः क्षपणे किं तु आत्मस्वरूपेणैव आविर्भवति। देहाद्युत्तरोत्तरम् चारित्रं न किं तु आत्मन्येव लीनीभावरूपचारित्रम्। अथवा अज्ञात् इन्द्रियपदार्थात् घटपटादेर्ज्ञानं नास्ति। मोहात् यस्मिन् देवतागुरौ मयूरो गुरुरूपतः अन्यत्र तत्त्वमोहः बुद्धिमिथ्यात्वम् तस्मात् रुचिः यथार्थतत्त्वश्रद्धा नास्ति। यत् देहात् वृत्तं चारित्रं च नास्ति तस्मात् निश्चयनयेन सिद्धीभूते शुद्धस्वरूपावस्थिते अस्मिन्नात्मनि ज्ञानं रुचिः वृत्तं च विद्यते यत तत् आत्मैव रत्नत्रयं मतः ॥२४५॥ नात्मेति—आत्मा कर्म न ज्ञानावरणादिकर्म च कर्म आत्मरूपं न यत् यस्मात् तयोर्मध्ये परस्परं स्वरूपपरिहारेण सम्बन्धः। तत् तस्मात् आत्मा आत्मैव सता आत्मा केवलं व्योमेव आकाशमिव कर्मरहितः आत्मा निर्लेपः व्योमेव कर्मरहितत्वात् शुद्धत्वात् आत्मा सतो-महासतीव ॥२४६॥ कस्येष्टायेति—आत्मनि जीवे स्वयं विशुद्धे सति तन्निमित्तीकरणाय क्रियमाणं तपश्चर-चारित्रं कर्म कस्येष्टाय कारणं स्यात्। किंचित् अन्यत् यत् स्वतः स्वभावेन उष्णं न किं तु वह्निसमयं अग्नि-सान्निध्येन तत् उष्णं भवति ॥२४७॥ कर्मणः आत्मनश्च कर्तृत्वं स्वस्वविषयम् एवेति दर्शयति—नात्मेति—आत्मा स्वपर्याये ज्ञानदर्शनादिगुणानाम् अवस्थाविशेषे कर्ता भवति तथा कर्म च स्वपर्याये कर्ता ज्ञानावरणादि-पर्याये परं मिथः अन्योन्यम् अनयोः कर्तृत्वम् उपचारात् मयतः कर्मणः आत्मनि आत्मनश्च कर्मणि ज्ञेयम्। वास्तु उपचारं विमुच्य अन्योन्ययोः कर्तृत्वं नास्ति। आत्मनः पर्याये कर्म निमित्तकारणम् कर्मणः पर्याय-परिणतौ आत्मा निमित्तं परम् उभे अपि आत्मकर्मणी स्वस्वपर्याये उपादानकारणं भवत इति ज्ञेयम् ॥२४८॥ स्वत इति—इदं षड्द्रव्यमयं जगत् सचराचरं विद्यते तत्र जीवपुद्गलौ यतो चेयं द्रव्यचतुष्कम् अचरम् एवं जगत् स्वभावेषु सक्रियम्। क्रिया द्विविधा—परिस्पन्दात्मिका अपरिस्पन्दात्मिका च। उभयनिमित्तवशादुत्पद्य-मानः पर्यायो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया सा क्रिया जीवपुद्गलयोर्वर्तते तयोरेवस्वात् स्थानान्तर-गमनावलोकनात्। अपरा क्रिया अपरिस्पन्दात्मिका वर्तते। द्रव्यस्य पर्यायो धर्मान्तरनिवृत्तिधर्मान्तरोपजननरूपः अपरिस्पन्दात्मकः परिणामाभिधानो यथा जीवस्य क्रोधादि। पुद्गलस्य वर्णादि। धर्माधर्मोकाशानाम् अगुरुलघु-गुणवृद्धिहानिकृतः। यथा सरिति मत्स्ये वाः जलं गतिनिमित्ता भवति मत्स्यः स्वयं गच्छति जलं तद्गतौ उदासीननिमित्तं भवति। तथा सर्वं चराचरं स्वतः स्वभावेषु सक्रियं भवति परम् अन्यद्रव्यं तत्क्रियायां निमित्तं भवति ॥२४९॥ जीवस्य हिंसकत्वं निरस्यति प्राणिनः स्वकर्मतः जीवन्तु जीवनं प्राणधारणं कुर्वन्तु म्रियन्तां वा मरणं वा प्राप्नुवन्तु। परं स्वं विशुद्धं निर्मलं मन हिंसन् रागद्वेषवशीभूतं कुर्वन् जन्तुः हिंसकः पापभाक् भवेत्। यथा मणी रागद्वेषवर्जं जायते तथा मलिनं पापयुक्तं संपद्यते ॥२५०॥ जीवेषु आत्मा हिंसकोऽपि न हिंसक इत्यनुयुक्ते उत्तरं ददाति—शुद्धमार्गेति—शुद्धमार्गे मुक्तिसमिचित्कर्मादिषु मतः बलीय प्रवृत्तिर्यस्य तं शुद्धमार्गमतोद्योगं। शुद्धचेतोवचोवपुः एवं चेतो मनः वचो वाणी वपुः शरीरं यस्य यो या सा वचसा शरीरेण च आत्मस्वरूपे स्थिरो भवति। परद्रव्येषु विविधेन अतिक्रमोद्भवा रागद्वेषता न भवन्तीत्यर्थः।

शुद्धान्तरात्मनि शुद्धे निजे अन्तरात्मनि स्वस्वरूपे सपन्न प्रवृत्ति कुर्वन् आत्मा हिंसकोऽपि न हिंसक । अयत्नाचारस्य नरस्य निश्चिता हिंसा प्रयतस्य समितस्य हिंसामात्रेण बन्धो नास्ति हिंसाध्यवसायरहितत्वात्, निष्प्रमादप्रवृत्तिकत्वात् ॥२५१॥ मन सकल्पात् पाप वा पुण्य वा जायते। पुण्यायेति—स्वस्मिन् स्वजीवे, अन्यत्र अन्यस्मिन् जीवे नीत कृत दु ख पुण्याय भवेत्। तत्कथमिति चेदुच्यते—यदि स्वस्य हिताय व्रत-तप आदिक क्रियमाण दु खरूप सदपि दयादिसद्भावनारूपत्वात् पुण्यायैव भवेत्। अन्यत्र वा शिष्यादिषु प्रतिपाद्यमान व्रततप आदिक तैर्वा कार्यमाण दु खरूप सदपि पुण्याय भवेत् तथा स्वजीवे अन्यत्र वा शिष्यादिजीवे नीत कृत सुख पापाय भवेत्। यथा विषयेषु स्वस्य निरतत्वात् सुख भवेत् तथापि तत्र कृता रतिस्तीव्ररागभावात् पापबन्धाय भवेत्। यद्यपि सप्रति कृता प्रवृत्ति सुखाय जातेति प्रतिभाति तथापि आयत्याम् अध्यवसानाना मलिनत्वात् पापायैव सा प्रवृत्तिर्भवेत्। अत चित्तस्य चेष्टित प्रवृत्ति अचिन्त्यम् अतर्कगोचरम् ॥२५२॥ सुखेति—सुखस्य विधानम् अकुर्वन्, दु खस्यापि विधानम् अकुर्वन् नर पापसमाश्रयो भवेत् पापेन लिप्येत। सक्लेशपरिणामत्वात् नर अन्य सुखिन दु खिन वा कुर्वन् पापभाजन भवेत्, पेटीमध्ये मञ्जूषाया विनिक्षिप्त स्थापित वास वस्त्र मलिन न स्यात् किम्। बहि स्थित वस्त्र रजसा मलिन भवति पर मञ्जूषाया तन्मलिन कि न स्यात् क्रोधादिकषायावेशात् सुखम् अददानो दु ख वा पापभागेव भवति मानव ॥२५३॥

[पृष्ठ १२३-१२४] अध्यवसानाना त्रित्व प्रतिपादयति—बहिरिति—बाह्येन देहादिना हिंसापरोपकारादि-शुद्धाशुद्धकार्यकरणेऽक्षमोऽपि हृदि मनसि हृद्येव मनसि सस्थिते पर पाप तीव्रतम पापम्, विशुद्धतम पुण्य परम पदम् अनन्तगुणचतुष्टयात्मक मोक्षपद च भवेत् जीवस्य। मनसि तीव्रसक्लेशपरिणामसतप्ते जीवस्य तीव्रतमपापबन्धो भवति। परोपकारादिविमर्शे सम्यग्दर्शनादिगुणप्रापके पर पुण्य भवति। तथा नितरा रागद्वेषरहितेषु शुद्धोपयोगेषु सलीने हृदि सकलकर्मक्षयो भवति ततश्च परम पद मोक्षो भवति। जीवस्य अशुभध्यानेन पाप स्यात्, शुभेन पुण्यम् परमशुक्लेन पर पद चित्तमेव स्यात् ॥२५४॥ प्रकुर्वाण इति—तास्ता क्रिया प्रकुर्वाण अनशनादितपासि, सामायिकादीनि षडावश्यककर्माणि कुर्वाण नर केवल क्लेशभाजन शरीर-क्लेशाना पात्र स्यात् उचितमेवैतत्तस्य यतो यश्चित्तप्रचारज्ञ न, य धर्मध्याने जीवादितत्त्वचिन्तने मन न प्रचारयति, कमुपायमवलम्ब्य जीवादितत्त्वस्वरूपे मनस प्रचार कर्तव्य, तत्र का युक्तिरिति यो न जानाति तस्य मोक्षपदलाभ कुतो भवेत् ॥२५५॥ सम्यग्ज्ञानस्य स्वरूपम्—यदिति—यत् यथावस्थ यस्य या या यथार्था अवस्था सन्ति तास्ता अनतिक्रम्य अञ्जसा अविसवादित्वेन वस्तुसर्वस्वम् वस्तुन सर्वस्व सर्वधन गुणपर्यायादिरूप सर्वधर्मान् वा जानाति तत्सम्यग्ज्ञानम् उच्यते तत् नृणा नराणा तृतीय लोचन नयन ज्ञेयम् ॥२५६॥ यष्टिवदिति—जनुषान्धस्य जन्मान्धस्य नु यष्टिवत् यष्टिरिव दण्ड इव प्रवृत्तिविनिवृत्त्यङ्ग यथा यष्टि तस्यान्धस्य प्रवृत्तौ गमने अङ्ग कारण भवति, विनिवृत्त्यङ्ग च मार्ग निम्नोन्नत ज्ञापयित्वा ततो निवृत्तौ अङ्ग कारण जायते तथा तत्सम्यग्ज्ञान सुकृतचेतस पुण्यवन्मनसो नरस्य हिताहितविवेचनात् हित सुख तत्साधन रत्नत्रयम्, अहित दु ख तत्साधन मिथ्यात्वादिक तयोर्विवेचनात् सशयादिदोषाभावप्रकारेण प्रतिपादनात् ॥२५७॥ मतिरिति—मति इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् अवग्रहादिज्ञानम् सा दृष्टेऽर्थे जागर्ति इन्द्रियानिन्द्रियपरिच्छेदनयोग्ये वस्तुनि जागर्ति प्रकटीभवति। आगम दृष्टे अदृष्टे च वस्तुनि सूक्ष्मान्तरितदूरार्थेऽदृष्टे वस्तुन्यागम जागर्ति। यदि मन जैनदर्शने निर्मत्सर द्वेषरहित स्यात्तस्य दुर्लभ तत्त्व न। स्याद्वादाद्वस्तुयाथात्म्य ज्ञायते सम्यग्दृष्टिनेति भाव ॥२५८॥ यदि आगमेन मत्या च अर्थे जीवादिवस्तुसंदोहे दर्शितेऽपि प्रतिपादितेऽपि जन्तो मति सततमसा अज्ञानबहुला स्यात् तर्हि तस्य नरस्य ज्ञान वृथा स्यात्। यथा रविरिपो घूकस्य आलोक दिनकरप्रकाश व्यर्थ स्यात् ॥२५९॥ ज्ञातुरिति—यत् अबाधेऽपि वस्तुनि बाधारहितेऽपि पदार्थे कथचिन्नित्यानित्यात्मके कथचिद्भेदाभेदात्मके वस्तुन्यपि मति बुद्धि विपर्यय सर्वथा नित्यात्मक सर्वथा अनित्यात्मक सर्वथैकान्तस्वरूप वस्तु इति विपरीतावस्था धत्ते तत्र ज्ञातु आत्मन प्रमातुरेव स दोष यत स मिथ्यात्वतमसावृत यथा इन्दौ चन्द्रे मन्दचक्षुष तिमिरोपहतनयनस्य मति बुद्धि विपर्यय धत्ते नभसि सा चन्द्रद्वय पश्यति वा चन्द्र नील कृष्णादिक वा पश्यति ॥२६०॥

[पृ० १२५ १२८] ज्ञानभेदान् कथयति—ज्ञानमेकमिति—ज्ञायते अनेन वस्तुतत्त्वमिति ज्ञानम् इति करणात् ज्ञानम् एकम्। पुनः तद्द्वेधा प्रत्यक्षपरोक्षभेदात्। पुनः पञ्चधा अपि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानानि इति वदन्ति। केवलज्ञानात् अन्यत्र केवलज्ञानं विना तत्पञ्चकं मतिज्ञानादि अनन्तभेदम् अनेकधा भवति। अनेकभेदभिन्नं भवति। केवलज्ञानं तु सकलद्रव्यपर्यायविषयत्वादेकमेव ॥२६१॥ चारित्रस्वरूपम् आह—अधर्मेति—अधर्मकर्माणि हिंसा अनृतम् स्तेयम् मैथुनमेवा, ममत्वम् एतेभ्यः पञ्चपापेभ्यः सर्वथा निवृत्तिः रहितत्वं चारित्रनामकम्, तथा धर्मकर्मविनिर्मितिः धर्मकर्मणां सम्यक्करणम्, तद्रूपं चारित्रं कर्मणां निर्मितिः आचरणम् अहिंसापालनम् सत्यभाषणम्, परद्रव्यत्यागः ब्रह्मचर्यम् ममत्वत्यागः एतदाचरणं चारित्रं तच्च सागारानगारविभेदेन गृहस्थमुनिविषयं द्विधा भवति ॥२६२॥ यत्रेति इति—यत्र यस्य सर्वतः सर्वथा स्वर्गमोक्षयोः अन्यतरमार्गता नास्ति स्वर्गमोक्षकारणता मुक्तिमार्गता वा नास्ति स तत् देशव्रतम् अणुव्रतस्वरूपं सर्वतो वा तत् महाव्रतस्वरूपं न लभते ॥२६३॥ यत्रेति इति—चारित्रादिविषयाणि चेतसा च तत् पुरुषं निरोधं तच्च तच्चारित्रं तस्य विचारे विमर्शे उचितं योग्यं मनो यथा तैषां निरोधचारित्रेण सहितं कर्तुमिच्छतां गृहस्थानां मुनीनां च। प्रथमं चारित्रं देशतः स्यात् अणुव्रतरूपं गृहस्थस्य भवति। द्वितीयं महाव्रतरूपं चारित्रं स्यात् तच्च मुनीनां स्यात्। हिंसादिभ्यो देशतो विरतिः अणुव्रतम्। तेभ्यश्च सर्वतो विरतिः महाव्रतं भवति। गृहस्थानां देशचारित्रम् मुनीनां च सर्वचारित्रमिति ॥२६४॥ मुण्डेति—सम्यक्त्वविधुरे नरे सम्यग्दृष्टिरहिते मनुष्ये चारित्रं मुण्डकमुण्डनं मुण्डमुण्डनायासम् एव भवति। तपस्तस्य स्वर्गमोक्षस्य न भवतीति भावः। तु ज्ञानहीने चारित्रं कुम्भाभरणभारम् कुष्ठे मम माल्ये यस्या तस्याः आभरणधारणोपमम्। यस्या उपरि शिरो नास्ति तस्याः आभरणधारणं यथा विफलं भवति तथा ज्ञानहीनस्य चारित्रधारणं विफलं भवति ॥२६५॥ सम्यक्त्वादीनां प्रत्येकं फलमभिदधाति—सम्यक्त्वात् सुगतिः स्वर्गगतिः भवति। ज्ञानात् इहलोके कीर्तिः यशः सर्वत्र कथिता। वृत्तात् पूजाम् अवाप्नोति चारित्रधारणात् पूजां लोके लभते। त्रयाच्च एकत्रीभावं प्राप्तात् रत्नत्रयात् अविचलं मोक्षं लभते जीवः ॥२६६॥ सम्यक्त्वादीनां लक्षणानि—रुचिरिति—तत्त्वेषु जीवादिषु रुचिः प्रीतिः सम्यक्त्वम्। तत्त्वनिरूपणं स्याद्वादेन जीवादितत्त्वकथनं ज्ञानम्। सर्वक्रियोपरतिः सकलकामवाङ्मनोयोगरहिताम् आत्मनि स्थितिम् उदासीनरूपां परम् उत्तमं वृत्तं प्राहुः कथयन्ति ॥२६७॥ आत्मधारणविशेषमाह—वृत्तमिति—वृत्तं चारित्रम् अपि अग्निमुख्यम् धीः ज्ञानम् उपायः साध्यसाधने हेतुः च सम्यक्त्वम्, रसौषधिः पारदसिद्धिकारणे विविधवनस्पतिरूपम् पारदौषधम्, तत्त्वत्रयं तेषां त्रयाणां प्राप्ते आत्मा एव पारदः पुनः स धातुः समीचीनरूपेण सिद्धः प्राप्य सन् भवेत् ॥२६८॥ सम्यक्त्वादीनाम् आधाराधेयौ वर्णयति—सम्यक्त्वस्येति—चित्तं मनः सम्यक्त्वस्य आश्रयः आधारः। अतिशयेन ज्ञानगतेः आश्रयः अभ्यासादरसमात् ज्ञानं वर्धते इति। चारित्रस्य आधारः शरीरं देहः स्यात्। दानादिकर्मणः धनम् आदौ यस्य कर्मणः देवपूजादेः तस्य वित्तं धनम् आधारः स्यात् ॥२६९॥

[1]इत्युपासकाध्ययने रत्नत्रयस्वरूपनिरूपणो नाम एकविंशतितमः कल्पः ॥२१॥

२२ मद्यप्रवृत्तिदोषदर्शनो नाम द्वाविंशः कल्पः

[पृष्ठ १२८ १२९] पुनरिति—यथा पुष्पविकटस्य गुणा एव मधवी एतानि तैषां कटुकमधुरे मारिवत् भूप। यथा माणिक्यस्य पद्मरागमणेः यत् वेधकर्म अभिषेचनवैभवादिकर्म तदास्य पद्मरागस्य गुणवर्धकं भवति। यथा प्रासादस्य महाद्भुतस्य सुधाविधानं सुधया चूर्णेन लिम्पितरक्षणाय विमलेन क्रियमाणं कर्मवर्धकं भवति।

---

१ अत्र यशस्तिलकचम्पूकाव्यस्य षष्ठ आश्वास समाप्ते यथा—इति सकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योऽनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये षष्ठ आश्वासः ॥६॥

प्रामादस्य उपवृहक शोभासवर्धक भवति। यथा पुरुषकारानुष्ठान पौरुषशक्तिकर्तव्यम् उद्यमविधान दैवसपद पूर्वोपार्जितपुण्यस्य उपवृहक पोषणकर भवति। यथा नीतिमार्गस्य सदाचारस्य पराक्रमावलम्बनम् उपवृहक समृद्धिकर भवति। सेव्यत्वस्य आराध्यस्य पूज्यस्य विशेषवेदित्व विशेषेण विवेकविमर्शादिसहित वेदित्व विद्वत्त्वम् उपवृहकम् उन्नतिकर वर्तते। तथा हि यस्मात् व्रत खलु सम्यक्त्वरत्नस्य उपवृहक गुणोत्कर्षविधायक भवति। तच्च व्रत देशयतीना द्विविध मूलोत्तरगुणाश्रयात् मूलगुणावलम्बनात् उत्तरगुणावलम्बनाच्च। तत्र—मद्येति—महोदुम्बरपञ्चका उदुम्बराणा पञ्चकम् उदुम्बरपञ्चकम् उदुम्बरपञ्चकेन सह वर्तमाना सहोदुम्बरपञ्चका पिप्पलफलानि, उदुम्बरफलानि, प्लक्षफलानि, वटफलानि, फल्गुफलानि 'अञ्जीर' इत्याख्यानि इति पञ्चफलैं सह मद्यमासमधुत्यागा एते अष्टौ मूलगुणाः गृहस्थानाम् उक्ता। क्व। श्रुते जिनागमे। मूलगुणा उत्तरगुणप्ररोहणनिमित्तत्वात् मयमाथिभि प्रागनुष्ठेयत्वात् मूलगुणा ते चाष्टौ श्लोकेऽस्मिन्प्रदर्शिता ॥२७०॥ सर्वदोपेति—मद्य तु सर्वदोपोदय सर्वेपा हिंसासत्यस्तेयमैथुनादिदोपाणामपराधानाम् उदय उत्पत्तिर्भवति। कथभूतान्मद्यात् महामोहकृत महामोह करोतीति महामोहकृत् तस्मान्महामोहकृतः। अहिते हितवुद्धिर्हिते चाहितभावना मोहात् जायते। स च मोहो मद्यादुद्भवति अत सर्वेपा पातकानाम् अग्रणीत्वेन स्थित मद्यम ॥२७१॥ मद्यात्ससारपरिभ्रमणम्—हिताहितयोर्यदा मोहो अज्ञान देहिपु प्राणिपु जायते तदा ते देहिनो जीवा ससार एव कान्तार वन तत्र परिभ्रमणम् अटन तस्य कारण निदान किं पातक न कुर्यु । मद्यात्सर्वपापानि जायन्ते इति भाव ॥२७२॥ मद्येन यादवा नष्टा, नष्टा द्यूतेन पाण्डवा, इति अस्मिन् लोके सर्वत्र सर्वदेशेपु कथानक प्रसिद्धमस्ति ॥२७३॥ समुत्पद्येति—इह मद्ये देहिन जीवा अनेकश वहुकृत्व । समुत्पद्य जनित्वा विपद्य मृत्वा च कालेन देहिना मनोमोहाय मद्यीभवन्ति । मृतोत्पन्नजीवाना कलेवराणि मद्यरसतया परिणमन्ते ॥२७४॥

[पृष्ठ १३०-१३१] मद्यैकेति—मद्यैकविन्दुसपन्ना मद्यस्य एकस्मिन् विन्दौ सपन्ना उत्पन्ना. प्राणिनो जीवा विन्दोर्निर्गत्य वहि प्रचरन्ति भ्रमन्ति चेत् समस्तमपि विष्टप जगत् पूरयेयु व्याप्नुयु न सदेह तत्र सशयो नास्ति ॥२७५॥ मद्यस्य त्याज्यताकारणानि—मनोमोहस्येति—मद्य सद्भि सज्जनै सदा त्याज्य मनोमोहस्य हेतुत्वात्। दुर्गतेर्दुर्भवान्तरे निदानत्वाच्च कारणत्वाच्च। तन्मद्यम् इहलोके, अमुत्र परलोक च दोपकृत् दोपोत्पादकमस्ति ॥२७६॥ श्रूयतामत्र मद्यप्रवृत्तिदोपस्य उपाख्यानम्—तदुर्वीश्वरेति—स चासौ उर्वीश्वरश्च पृथ्वीपतिश्च तदुर्वीश्वर, तस्य अखर्व महान् स चासौ गर्वश्च स एव और्वानिलो वडवानल तस्मिन् आहुतीभूता देवोद्देशेनाग्नौ यथा मन्त्रोच्चारण कृत्वा हविर्निक्षिप्यते तथा आहुतिवत् निक्षिप्ता ये अहिता शत्रवस्तेषामन्वया वशास्त एव नक्रा यादासि यत्र तस्मात्, एकचक्रात्पुरात् एकपान्नाम परिव्राजको परित्यज्य विपयान् व्रजतीति परिव्राजक कश्चित् साधु, जाह्नव्या गङ्गाया जलेपु मज्जनाय स्नानाय व्रजन् गच्छन् मातङ्गै उपवध्य किल एवमुक्त । क्व एवमुक्त । विन्ध्याटवीविपये विन्ध्यारण्यदेशे कथभूते निजच्छायेति—निजा चासौ छाया प्रतिविम्व सा एव अपरद्विप अन्य. करी तस्य आशङ्का सशयस्तस्मात् अतिक्रुद्धा ये मदान्धगन्धसिन्धुरा मदेन दानजलेन अन्धा विवेकरहिता ये गन्धसिन्धुरा उन्मत्तद्विपा येपा गन्ध समाघ्राय अन्ये द्विपा समदा भवन्ति, तेपा उद्धुरा दीर्घा ये विपाणा दन्तास्तैर्विदार्यमाण मेदिन्या पृथिव्या हृदय मध्यप्रदेशो यत्र तस्मिन्, विन्ध्याटवीविपये। महतो मातङ्गसमूहस्य मध्ये निपतित चाण्डालवृन्दस्य मध्ये आपतित पुन कथभूतस्य प्ररूढेति—प्ररूढ च तत् प्रादुर्भूत च तत् प्रौढम् उत्कट यौवन तारुण्य तदेव आसवो मदिरा तस्य आस्वादो रसानुभव. पुनरुक्त च कादम्वरीपान मदिराप्राशन तस्मात् प्रसूत प्रादुर्भूत स चासौ अमराल उत्कटो यो विलास तेन ग्रहिलाभि उन्मत्ताभि महिलाभि नारीभि सह पलोपदशवश्यकश्य पल मास तस्य उपदशभूत रुच्युत्पादक व्यञ्जनभूत यदावश्यक कश्य मद्य तत् आसेवमानस्य भजमानस्य महतो मातङ्गसमूहस्य मध्ये निपतित सन् सीधुसवन्धविधुरसगै सीधुर्मदिरा तस्या. सवन्धेन पानेन विधुरो विह्वल सग आसक्तिर्येपा तथाभूतै मातङ्गैश्चाण्डालै उपवध्य निरुध्य असौ एकपान्नामा परिव्राजक किल एवमुक्त—त्वया मद्यमासमहिलासु मध्ये अन्यतममागम कर्तव्य अन्यथा जीवन्न पश्यसि मन्दाकिनीम्। मन्दाकिनीं गङ्गानदीम्। सोऽपि परिव्राजको एव भापित मनसि एव वक्ष्यमाणप्रकारेण

[पृ० १२९ १२८] ज्ञानभेदान् कथयति—ज्ञानमेकमिति—ज्ञायते अनेन वस्तुतत्त्वमिति ज्ञानम् इति लक्षणात् ज्ञानम् एकम्। पुनः तद्द्वेधा प्रत्यक्षपरोक्षभेदात्। पुनः पञ्चधा अपि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानमिति तद्भवेत्। केवलज्ञानात् अन्यत् केवलज्ञानं विना तदन्यदेव मतिमारभ्य मनःपर्ययान्तम् अनेकधा भवति। अनेकभेदभिन्नं भवति। केवलज्ञानं तु सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वादेकमेव ॥२६१॥ चारित्रलक्षणम् अधर्मेति—अधर्मकर्माणि हिंसा अनृतम् स्तेयम् मैथुनसेवा ममत्वम् एतेभ्यः पञ्चपापेभ्यः अधर्मकर्मनिर्मुक्तिः रहितत्वं चारित्रलक्षणम्। तथा धर्मकर्मविनिर्मितिः धर्मकर्मणां संसारतु ततः धर्मयुक्त तत्त्वमूलानां कर्मणां निर्मितिः आचरणम् अहिंसापालनम् सत्यभाषणम् अचौर्यव्रतम् ब्रह्मचर्यम् ममत्वत्याग एतदाचरणं चारित्रम् तच्च सागारानगारधर्मभेदम् गृहस्थैर्मुनिभिश्च धार्यमाणम् ॥२६२॥ दृक्तत इति—यस्य नरस्य सम्यग्दर्शनं स्वर्गमोक्षयो अन्यतरयोः प्रदाता नास्ति स्वर्गगमनयोग्यता मुक्तिगमनयोग्यता वा नास्ति स नरः देशव्रतम् अणुव्रतस्वरूपं लभते वा व्रतं महाव्रतस्वरूपं न लभते ॥२६३॥ देशत इति—चारित्रविचारोऽपेक्षया चाद द्वयं निर्दोषं तच्च तच्चारित्रं तस्य विचारे विमर्शे उचितं योग्यं मतो येषां तेषां निर्दोषचारित्रेण सहितं कर्तुमिच्छतां जनानां गृहस्थानां मुनीनां च। प्रथमं चारित्रं देशतः स्यात् अणुव्रतरूपं तद्गृहस्थानां भवति। द्वितीयकं महाव्रतरूपं चारित्रं स्यात्तच्च मुनीनां स्यात्। हिंसादिभ्यो देशतो विरतिरूपम् अणुव्रतम्। तेभ्यश्च सर्वतो विरतिरूपं महाव्रतं भवति। गृहस्थानां देशचारित्रम् मुनीनां च सकलचारित्रमिति ॥२६४॥ तुण्डमिति—सम्यक्त्वविधुरे नरे सम्यग्दृष्टिरहिते मनुष्ये चारित्रं तुण्डकपूरकं तुण्डमुखविनाशनम् एव भवति। ततस्तस्य स्वात्मानुभवो न भवतीति भाव। तु ज्ञानहीनं चारित्रं तुण्डमाभरणाभं दुष्टं यथं भाग यस्या दा तस्याः आभरणधारणोपमम्। यस्या उपरि पतिस्नेहो नास्ति तस्या आभरणधारणं यथा विफलं भवति तथा ज्ञानहीनस्य चारित्रधारणं विफलं भवति ॥२६५॥ सम्यक्त्वादीनां प्रत्येकं फलमभिदधाति—सम्यक्त्वात् सुगतिः स्वर्गनिवसना। ज्ञानात् इहलोकेऽपि कीर्तिः यशः तु हृता कथिता। वृत्तात् पूजाम् अवाप्नोति चारित्रधारणात् पूजां लोकादरं लभते। त्रयाच्च एतस्त्रीणामपि प्राप्यात्मलाभयाचितम मोक्षं लभते जीवः ॥२६६॥ सम्यक्त्वादीनां लक्षणानि—रुचिरिति—तत्त्वेषु जीवादिषु रुचिः प्रीतिः सम्यक्त्वम्। तत्त्वनिरूपणं स्याद्वादेन जीवादितत्त्वकथनं ज्ञानम्। सर्वक्रियोज्झितं सकलकायवाङ्मनोयोगरहितम् आत्मनि स्थितिम् यथाशीलरूपा परम् उत्तमं वृत्तं प्रयुञ्जन्ति ॥२६७॥ आत्मपारदर्शितादेः साम्यः—वृत्तमिति—वृत्तं चारित्रम् अग्निः अग्निरूपम् धीः सम्यग्ज्ञानम् उपाय साधनभावने हेतु च सम्यक्त्वम्, रसौषधिः पारदसिद्धिकरणे विशिष्टवनस्पतिरूपम् पारदौषधम्, तस्मात् तेषां त्रयाणां प्राप्तः आत्मा एव पारदः सूत सः साधु समीचीनरूपेण सिद्धः प्राप्य सम्यग् भवेत् ॥२६८॥ सम्यक्त्वादीनाम् आश्रयादीन् कथयति—सम्यक्त्वस्येति—चित्तं मनः सम्यक्त्वस्य आश्रयः आधारः। मतिः गतः ज्ञानं तत्तो आश्रयः भवतस्तस्मात् ज्ञानं भवते इति। चारित्रस्य आधारः शरीरं देहः स्यात्। दानादि कर्मणः दानम् आदौ यस्य कर्मणः देवपूजादेः तस्य वित्तं धनम् आधारः स्यात् ॥२६९॥

[1]इत्युपासकाध्ययने रत्नत्रयस्वरूपनिरूपणो नाम एकविंशतितमः कल्पः ॥२१॥

६२ मदप्रवृत्तिदोषपरिणामो नाम द्वाविंश कल्पः

[पृष्ठ १०८ १ ६] पुनरिति—यथा गुणविवर्जक गुणा एव मदनी रसादि तेषां मदकलयुतं हि चारित्रं मद। यथा मानिनः पदपरागमन मद् मदलम आभिमानकेतनादिकं ततस्य उत्पूर्वं गुण अर्धं भवति। यथा ज्ञानस्य मदद्रव्यस्य गुणादिकार्यं गुणता पूर्वेण विविधरत्नानां भेदेन विनाशो वा

---

१ अत्र धनलिखनसम्पूर्णात्प्रत् अन्ते आदर्श समाप्ते यथा—इति सकलार्धिकचीक्षुकानेपारापविवेकमदन निर्मल मदनमदमदविचारकजातिमिति धनसम्पौरूप धनदेव धौलेचेर्तुर्विनां विरचिते यशस्तिलकमहाकाव्ये यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये अष्टम आश्वासः ॥१॥

प्रासादस्य उपबृंहक शोभासवर्धक भवति। यथा पुरुषकारानुष्ठान पौरुषशक्तिकर्तव्यम् उद्यमविधान दैवसपद पूर्वोपार्जितपुण्यस्य उपबृंहक पोषणकर भवति। यथा नीतिमार्गस्य सदाचारस्य पराक्रमावलम्बनम् उपबृंहक समृद्धिकर भवति। सेव्यत्वस्य आराध्यस्य पूज्यस्य विशेषवेदित्व विशेषेण विवेकविमर्शादिमहित वेदित्व विद्वत्त्वम् उपबृंहकम् उन्नतिकर वर्तते। तथा हि यस्मात् व्रत खलु सम्यक्त्वरत्नस्य उपबृंहक गुणोत्कर्षविधायक भवति। तच्च व्रत देशयतीना द्विविधं मूलोत्तरगुणाश्रयात् मूलगुणावलम्बनात् उत्तरगुणावलम्बनाच्च। तत्र—**मद्येति**—सहोदुम्बरपञ्चका उदुम्बराणा पञ्चकम् उदुम्बरपञ्चकम् उदुम्बरपञ्चकेन सह वर्तमाना सहोदुम्बरपञ्चका पिप्पलफलानि, उदुम्बरफलानि, प्लक्षफलानि, वटफलानि, फलगुफलानि 'अञ्जीर' इत्याख्यानि इति पञ्चफलैः सह मद्यमासमधुत्यागा. एते अष्टौ मूलगुणा. गृहस्थानाम् उक्ता। क्व। श्रुते जिनागमे। मूलगुणा उत्तरगुणप्ररोहणनिमित्तत्वात् मयमार्थिभि प्रागनुष्ठेयत्वात् मूलगुणा ते चाष्टौ श्लोकेऽस्मिन् प्रदर्शिता ॥२७०॥ **सर्वदोषेति**—मद्य तु सर्वदोषोदय सर्वेषा हिंमासत्यस्तेयमैथुनादिदोषाणामपराधानाम् उदय उत्पत्तिर्भवति। कथभूतान्मद्यात् महामोहकृत महामोह करोतीति महामोहकृत् तस्मान्महामोहकृतः। अहिते हितबुद्धिर्हिते चाहितभावना मोहात् जायते। स च मोहो मद्यादुद्भवति अत सर्वेषा पातकानाम् अग्रणीत्वेन स्थित मद्यम् ॥२७१॥ मद्यात्ससारपरिभ्रमणम्—हिताहितयोर्यदा मोहो अज्ञान देहिषु प्राणिषु जायते तदा ते देहिनो जीवा ससार एव कान्तार वन तत्र परिभ्रमणम् अटन तस्य कारण निदान किं पातक न कुर्यु। मद्यात्सर्वपापानि जायन्ते इति भाव ॥२७२॥ मद्येन यादवा नष्टा, नष्टा द्यूतेन पाण्डवा, इति अस्मिन् लोके सर्वत्र सर्वदेशेषु कथानक प्रसिद्धमस्ति ॥२७३॥ **समुत्पद्येति**—इह मद्ये देहिन जीवा अनेकश बहुकृत्व। समुत्पद्य जनित्वा विपद्य मृत्वा च कालेन देहिना मनोमोहाय मद्यीभवन्ति। मृतोत्पन्नजीवाना कलेवराणि मद्यरसतया परिणमन्ते ॥२७४॥

[पृष्ठ १३०-१३१] **मद्यैकेति**—मद्यैकबिन्दुसपन्ना मद्यस्य एकस्मिन् बिन्दौ सपन्ना उत्पन्ना प्राणिनो जीवा बिन्दोर्निर्गत्य बहि प्रचरन्ति भ्रमन्ति चेत् समस्तमपि विष्टप जगत् पूरयेयु व्याप्नुयु न सदेह तत्र सशयो नास्ति ॥२७५॥ मद्यस्य त्याज्यताकारणानि—**मनोमोहस्येति**—मद्य सद्भि सज्जनै सदा त्याज्य मनोमोहस्य हेतुत्वात्। दुर्गतेर्दुर्भवान्तरे निदानत्वाच्च कारणत्वाच्च। तन्मद्यम् इहलोके, अमुत्र परलोक च दोषकृत् दोषोत्पादकमस्ति ॥२७६॥ श्रूयतामत्र मद्यप्रवृत्तिदोषस्य उपाख्यानम्—**तदुर्वीश्वरेति**—स चासौ उर्वीश्वरश्च पृथ्वीपतिश्च तदुर्वीश्वर, तस्य अखर्व महान् स चासौ गर्वश्च स एव और्वानिलो वडवानल तस्मिन् आहुतीभूता, देवोद्देशेनाग्नौ यथा मन्त्रोच्चारण कृत्वा हविर्निक्षिप्यते तथा आहुतिवत् निक्षिप्ता ये अहिता शत्रवस्तेषामन्वया वशास्त एव नक्रा यादासि यत्र तस्मात्, एकचक्रात्पुरात् एकपान्नाम परिव्राजको परित्यज्य विषयान् व्रजतीति परिव्राजक कश्चित् साधु, जाह्नव्या गङ्गाया जलेषु मज्जनाय स्नानाय व्रजन् गच्छन् मातङ्गैः उपवध्य किल एवमुक्त। क्व एवमुक्त। विन्ध्याटवीविषये विन्ध्यारण्यदेशे कथभूते **निजच्छायेति**—निजा चासौ छाया प्रतिबिम्ब सा एव अपरद्विप अन्य करी तस्य आशङ्का सशयस्तस्मात् अतिक्रुद्धा ये मदान्धगन्धसिन्धुरा मदेन दानजलेन अन्धा विवेकरहिता ये गन्धसिन्धुरा उन्मत्तद्विपा येषा गन्ध समाघ्राय अन्ये द्विपा समदा भवन्ति, तेषा उद्धुरा दीर्घा ये विषाणा दन्तास्तैर्विदार्यमाण मेदिन्या पृथिव्या हृदय मध्यप्रदेशो यत्र तस्मिन्, विन्ध्याटवीविषये। महतो मातङ्गसमूहस्य मध्ये निपतित चाण्डालवृन्दस्य मध्ये आपतित पुन कथभूतस्य **प्ररूढेति**—प्ररूढ च तत् प्रादुर्भूत च तत् प्रौढम् उत्कट यौवन तारुण्य तदेव आसवो मदिरा तस्य आस्वादो रसानुभव पुनरुक्त च कादम्बरीपान मदिराप्राशन तस्मात् प्रसूत प्रादुर्भूत स चासौ असराल उत्कटो यो विलास तेन ग्रहिलाभि उन्मत्ताभि महिलाभि नारीभि सह पलोपदशवश्यकस्य पल मास तस्य उपदशभूत रुच्युत्पादक व्यजनभूत यदावश्यक कस्य मद्य तत् आसेवमानस्य भजमानस्य महतो मातङ्गसमूहस्य मध्ये निपतित सन् सीधुसबन्धविधुरसगै सीधुर्मदिरा तस्या संबन्धेन पानेन विधुरो विह्वल सग आसक्तिर्येषा तथाभूतै मातङ्गैश्चाण्डालै उपवध्य निरुध्य असौ एकपान्नामा परिव्राजक किल एवमुक्त —त्वया मद्यमासमहिलासु मध्ये अन्यतमस्मागम कर्तव्य अन्यथा जीवन्न पश्यसि मन्दाकिनीम्। मन्दकिनीं गङ्गानदीम्। सोऽपि परिव्राजको एवं भाषित मनसि एव वक्ष्यमाणप्रकारेण

[पृ० १२५ १२८] ज्ञानभेदान् कथयति—ज्ञानमेकमिति—ज्ञायते अनेन वस्तुतत्त्वमिति ज्ञानम् इति व्युत्पत्त्या ज्ञानम् एकम्। पुनः तद्द्वेधा प्रत्यक्षपरोक्षभेदात्। पुनः पञ्चधा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानमिति तद्भवेत्। केवलज्ञानात् प्राक् केवलज्ञानं विना तदावरणं मतिज्ञानादि मनःपर्ययान्तम् अनकधा भवति। अनन्तभेदभिन्नं भवति। केवलज्ञानं तु सकलद्रव्यपर्यायविषयत्वादेकमेव ॥२६१॥ चारित्रलक्षणम् आचष्टे—अघमकर्मेति—अघं पापकर्म हिंसा अनृतं स्तेयं मैथुनमेव मूर्च्छा एतेभ्यः पञ्चपापेभ्यः अघकर्मभ्यः निर्मुक्ति रहितत्वं चारित्रलक्षणम् तथा मत्तकर्मभिर्निवृत्तिः पञ्चमहाव्रतानि तस्य उत्तमगुणे चारित्रे कर्मणो निर्मितिः आचरणम् अहिंसादिपञ्चकम् सम्यगाचरणम् धुरंधराणाम्। अत्र चैतत् समासतः एतदाचरणं चारित्रं तच्च सामायिकादिचारित्रभेदैर्गृहस्थैर्मुनिभिश्च आचरणीयम् ॥२६२॥ देशत इति—यस्य नरस्य सर्वविरतेः स्वल्पमोहत्वात् अप्रत्याख्यानावरणस्य क्षयोपशमात् मुनिसाम्यतया वा नास्ति स नर देशव्रतम् अणुव्रतस्वरूपं अथवा महाव्रतस्वरूपं न लभते ॥२६३॥ देशत इति—चारित्रविचारोऽयम्—अथवा चारित्रं द्विविधं तत्र तच्चारित्रं तस्य विचारे विमर्शे उचितं बोध्यं सर्वं तथा निरीक्षणीयम् अत्र स्थितं गृहस्थानां मुनीनां च। प्रथमं चारित्रं देशतः स्यात् अणुव्रतरूपं तद्गृहस्थानां भवति। द्वितीयं महाव्रतरूपं चारित्रं सर्वतश्च मुनीनां स्यात्। हिंसादिभ्यो देशतो विरतिः अणुव्रतम्। तेभ्यस्तु सर्वथा विरतिस्तु महाव्रतं भवति। गृहस्थानां देशचारित्रं मुनीनां च सकलचारित्रमिति ॥२६४॥ सुदृष्टेति—सम्यक्त्वविभूते नरे सम्यग्दृष्टिरहिते मनुष्ये ज्ञानं सुदुस्तरदूरं सुपात्रदानविहीनम् एव भवति। तत्स्वस्य स्वात्मानुभवो न भवतीति भावः। तु ज्ञानहीनं चारित्रं कुमतादरणम् दुःखं सर्वं साध्यं यथा तथा आभरणभारोपमम्। यस्मात् उपरि चक्षुषो नास्ति तस्मात् आभरणभारस्य यथा विफलं भवति तथा ज्ञानहीनस्य चारित्रधारणं विफलं भवति ॥२६५॥ सम्यक्त्वादीनां प्रत्येकं फलमभिधत्ते—सम्यक्त्वात् सुगतिः स्वर्गादिसम्पदा। ज्ञानात् त्रिलोकेऽपि कीर्तिः उदाहृता कथिता। वृत्तात् पूजाम् अवाप्नोति चारित्रधारणात् पूजा लोकोत्तरं लभते। त्रयाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां समुच्चयात् मोक्षं लभते जीवः ॥२६६॥ सम्यक्त्वादीनां लक्षणानि—रुचिरिति—तत्त्वेषु जीवादिषु रुचिः प्रीतिः सम्यक्त्वम्। तत्त्वनिरूपणं स्याद्वादेन जीवादितत्त्वस्वरूपज्ञानं ज्ञानम्। सर्वक्रियोपरमं सकलकायवाङ्मनोव्यापाररहितम् आत्मनि स्थितिम् उदासीनरूपां परमं चरणं वृत्तं प्राहुः ॥२६७॥ आत्मपारवश्यसिद्धेरुपायाः—बृत्तमिति—वृत्तं चारित्रम् अपि अचिन्तनीयम् श्री सम्यग्ज्ञानम् उपाय साध्यमानसे हेतुः च सम्यक्त्वम्, एतेऽपि पारवश्यसिद्धिकरणे विविधस्वरूपसिद्धिरूपम् पारवश्यम्, तस्मात् तेषां समाप्ता प्राप्ते आत्मा एव पारदः सूतः स साधु समीचीनरूपेण सिद्धं प्राप्य रसत्वं भवेत् ॥२६८॥ सम्यक्त्वादीनाम् आश्रयादीन् कथयति—सम्यक्त्वस्येति—चित्तं मनः सम्यक्त्वस्य आश्रयः आधारः। मतिः सार आत्मनः वस्तुनः अथवा अन्यस्मात् ज्ञानं भवति इति। चारित्रस्य आधारः शरीरं देहः स्यात्। दानादि कर्मणः दानम् आदौ यस्य कर्मणः देवपूजादेः तस्य वित्तं धनम् आधारः स्यात् ॥२६९॥

इत्युपासकाध्ययने रत्नत्रयस्वरूपनिरूपणो नाम एकविंशतितमः कल्पः ॥२१॥[1]

२२ अधमबुद्धिदोषपरिक्रमो नाम द्वाविंशः कल्पः

[पृष्ठ १२८ १२९] पुनरिति—यथा गुणमणिकटक गुणा एव मणयो रत्नानि तैषां कटुकमुत्र चारित्रस्य नृप। यथा माणिक्यस्य पद्मरागमणेः अपि वेष्टकर्म अग्निसोधनविहनादिकर्म तस्य उज्ज्वलं गुण वर्धकं भवति। यथा प्रासादस्य महाहर्म्यस्य सुधाविधानं सुधया चूर्णेन विविधरूपाणां लेपनेन निर्माणं कर्म

---

१ अत्र यशस्तिलकचम्पूकाव्यस्य षष्ठ आश्वास समाप्यते यथा—इति सकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डलीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि धर्मसुदृशो नाम षष्ठ आश्वासः ॥६॥

प्रासादस्य उपबृंहक शोभासवर्धक भवति। यथा पुरुषकारानुष्ठान पौरुषशक्तिकर्तव्यम् उद्यमविधान दैवसपद पूर्वोपार्जितपुण्यस्य उपबृंहक पोषणकर भवति। यथा नीतिमार्गस्य सदाचारस्य पराक्रमावलम्बनम् उपबृंहक समृद्धिकर भवति। सेव्यत्वस्य आराध्यस्य पूज्यस्य विशेषवेदित्व विशेषेण विवेकविमर्शादिसहित वेदित्व विद्वत्त्वम् उपबृंहकम् उन्नतिकर वर्तते। तथा हि यस्मात् व्रत खलु सम्यक्त्वरत्नस्य उपबृंहक गुणोत्कर्षविधायक भवति। तच्च व्रत देशयतीना द्विविध मूलोत्तरगुणाश्रयात् मूलगुणावलम्बनात् उत्तरगुणावलम्बनाच्च। तत्र—**मद्येति**—सहोदुम्बरपञ्चका उदुम्बराणा पञ्चकम् उदुम्बरपञ्चकम् उदुम्बरपञ्चकेन सह वर्तमाना सहोदुम्बरपञ्चका पिप्पलफलानि, उदुम्बरफलानि, प्लक्षफलानि, वटफलानि, फल्गुफलानि 'अञ्जीर' इत्याख्यानि इति पञ्चफलै सह मद्यमासमधुत्यागा एते अष्टौ मूलगुणाः गृहस्थानाम् उक्ता। क्व। श्रुते जिनागमे। मूलगुणा उत्तरगुणप्ररोहणनिमित्तत्वात् सयमार्थिभि प्रागनुष्ठेयत्वात् मूलगुणा ते चाष्टौ श्लोकेऽस्मिन् प्रदर्शिता ॥२७०॥ **सर्वदोषेति**—मद्य त् सर्वदोषोदय सर्वेषा हिंसासत्यस्तेयमैथुनादिदोषाणामपराधानाम् उदय उत्पत्तिर्भवति। कथभूतान्मद्यात् महामोहकृत महामोह करोतीति महामोहकृत् तस्मान्महामोहकृतः। अहिते हितबुद्धिर्हिते चाहितभावना मोहात् जायते। स च मोहो मद्यादुद्भवति अत सर्वेषा पातकानाम् अग्रणीत्वेन स्थित मद्यम ॥२७१॥ मद्यात्ससारपरिभ्रमणम्—हिताहितयोर्यदा मोहो अज्ञान देहिषु प्राणिषु जायते तदा ते देहिनो जीवा ससार एव कान्तार वन तत्र परिभ्रमणम् अटन तस्य कारण निदान किं पातक न कुर्यु। मद्यात्सर्वपापानि जायन्ते इति भाव ॥२७२॥ मद्येन यादवा नष्टा, नष्टा द्यूतेन पाण्डवा, इति अस्मिन् लोके सर्वत्र सर्वदेशेषु कथानक प्रसिद्धमस्ति ॥२७३॥ **समुत्पद्येति**—इह मद्ये देहिन जीवा अनेकश बहुकृत्व। समुत्पद्य जनित्वा विपद्य मृत्वा च कालेन देहिना मनोमोहाय मद्यीभवन्ति। मृतोत्पन्नजीवाना कलेवराणि मद्यरसतया परिणमन्ते ॥२७४॥

[पृष्ठ १३०-१३१] **मद्यैकेति**—मद्यैकबिन्दुसपन्ना मद्यस्य एकस्मिन् बिन्दौ सपन्ना उत्पन्ना प्राणिनो जीवा बिन्दोर्निर्गत्य बहि प्रचरन्ति भ्रमन्ति चेत् समस्तमपि विष्टप जगत् पूरयेयु. व्याप्नुयु न सदेह तत्र सशयो नास्ति ॥२७५॥ मद्यस्य त्याज्यताकारणानि—**मनोमोहस्येति**—मद्य सद्भि सज्जनै सदा त्याज्य मनोमोहस्य हेतुत्वात्। दुर्गतेर्दुर्भवान्तरे निदानत्वाच्च कारणत्वाच्च। तन्मद्यम् इहलोके, अमुत्र परलोक च दोषकृत् दोषोत्पादकमस्ति ॥२७६॥ श्रूयतामत्र मद्यप्रवृत्तिदोषस्य उपाख्यानम्—**तदुर्वीश्वरेति**—स चासौ उर्वीश्वरश्च पृथ्वीपतिश्च तदुर्वीश्वर, तस्य अखर्व महान् स चासौ गर्वश्च स एव और्वानलो वडवानल तस्मिन् आहुतीभूता, देवोद्देशेनाग्नौ यथा मन्त्रोच्चारण कृत्वा हविर्निक्षिप्यते तथा आहुतिवत् निक्षिप्ता ये अहिता शत्रवस्तेषामन्वया वशास्त एव नक्रा यादासि यत्र तस्मात्, एकचक्रात्पुरात् एकपान्नाम परिव्राजको परित्यज्य विषयान् व्रजतीति परिव्राजक कश्चित् साधु, जाह्नव्या गङ्गाया जलेषु मज्जनाय स्नानाय व्रजन गच्छन् मातङ्गै उपबध्य किल एवमुक्त। क्व एवमुक्त। विन्ध्याटवीविषये विन्ध्यारण्यदेशे कथभूते **निजच्छायेति**—निजा चासौ छाया प्रतिबिम्ब सा एव अपरद्विप अन्य करी तस्य आशङ्का सशयस्तस्मात् अतिक्रुद्धा ये मदान्धगन्धसिन्धुरा मदेन दानजलेन अन्धा विवेकरहिता ये गन्धसिन्धुरा उन्मत्तद्विपा येषा गन्ध समाघ्राय अन्ये द्विपा समदा भवन्ति, तेषा उद्धुरा दीर्घा ये विषाणा दन्तास्तैर्विदार्यमाण मेदिन्या पृथिव्या हृदय मध्यप्रदेशो यत्र तस्मिन्, विन्ध्याटवीविषये। महतो मातङ्गसमूहस्य मध्ये निपतित चाण्डालवृन्दस्य मध्ये आपतित पुन कथभूतस्य **प्ररूढेति**—प्ररूढ च तत् प्रादुर्भूत च तत् प्रौढम् उत्कट यौवन तारुण्य तदव आसवो मदिरा तस्य आस्वादो रसानुभव पुनरुक्त च कादम्बरीपान मदिराप्राशन तस्मात् प्रसूत प्रादुर्भूत स चासौ असराल उत्कटो यो विलास तेन ग्रहिलाभि उन्मत्ताभि महिलाभि नारीभि सह पलोपदशवश्यकश्य पल मास तस्य उपदशभूत रुच्युत्पादक व्यजनभूत यदावश्यक कश्य मद्य तत् आसेवमानस्य भजमानस्य महतो मातङ्गसमूहस्य मध्ये निपतित सन् सीधुसबन्धविधुरसर्गं सीधुर्मदिरा तस्या सबन्धेन पानेन विधुरो विह्वल सग आसक्तिर्येषा तथाभूतै मातङ्गैश्चाण्डालै उपबध्य निरुध्य असौ एकपान्नामा परिव्राजक किल एवमुक्त—त्वया मद्यमासमहिलासु मध्ये अन्यतमसमागम कर्तव्य अन्यथा जीवन्न पश्यसि मन्दाकिनीम्। मन्दाकिनी गङ्गानदीम्। सोऽपि परिव्राजको एव भाषित मनसि एव वक्ष्यमाणप्रकारेण

[पृ० १२५ १

इति मरणात् मानम् ए। मैवमानि मानमिति ए मनेकधा मवति। मनघ्र अधर्मेति—अपमरमा निर्मुक्त रहितत्वं चारि त्रमणां निर्मिति मावरण तत्र मामारानमारपति बगमा स्वममाश्रमा । प्रमम् मनुपनरनक भव। बेतमां चाव मुगरं मिरो मन स्वहितं मनुमित्रतां भवति। द्वितीयर्द्ध मप्रार तम्मरच सर्गो मिरनिक्त तुण्डति—मम्मसर्वभु ततस्नम्य स्वारमानुमबो तस्माः मामरममारणोत्र मानहीनस्य चारित्रपार स्वमगनिवरता। मानात् दर्ं लभते। मयाच ए रुचिरिति—तत्पु वं सर्वकिशोजितं सकल सुवन्ति ॥२६७॥ मारम चराम साम्यसाधन हेतु तैषा भवाभा प्राप्ते । सम्यक्त्वादीनाम् मापद सार मानमंगतेः माम कर्मव तानम् मावी मर

[1] इत्युप

[पृष्ठ १२८

हे मारिवत्त नृप। मम वर्षण भवति। यथा १

---

१ मन मस
मीमत्रेमिदेवमपमत
विरचिते मशोधरमहा

काष्ठासु दिशासु विहितपुरमारापहारा विहित कृत पुरमारस्य पुरजनधनस्यापहारो हरण यैस्ते चौरा पुरबाहिरिकोपवने पुरस्य नगरस्य वाहिरिके उपवने उद्याने धन विभजन्त धनविभाग कुर्वन्त, तवेद ममेदम् इति विवदमाना कलह कुर्वन्त, कन्दल युद्धम् अपहाय त्यक्त्वा समानायितमैरेया आनायितमद्या पानगोष्ठीं पानाय गोष्ठी ता पानगोष्ठी सभूय मद्यपानम् अनुतिष्ठन्त कुर्वन्त, पूर्वाहितकलहकोपोन्मेष-कलुषधिषणा पूर्वाहित मद्यपानात्पूर्वम् आहित कृतश्चासौ कलह विवाद तस्य कोपस्य उन्मेष उदय तेन कलुपा मलिना धिषणा बुद्धि येषा ते पञ्चचौरा यष्ट्यायष्टि, दण्डादण्डि, मुष्टामुष्टि, मुष्टिभिर्मुष्टिभिश्च युद्ध विधाय सर्वेऽपि मम्रु पञ्चत्व जग्मु अन्यत्र विना धूर्तिलात्। धूर्तिलो जीवित, चत्वारश्चौरा मृता इत्यर्थ । स किल धूर्तिल. यथादर्शनसभव यथा येन प्रकारेण दर्शनस्य मुन्यवलोकनस्य सभव उत्पत्ति स्यात्तथा महामुनिविलोकनात् तस्मिन्नहनि दिने एक व्रत गृह्णाति, तत्र च दिने तद्दर्शनात् मुनिदर्शनात् आसवव्रत मदिरात्यागव्रतम् अग्रहीत् गृहीतवान्। तदनु धूर्तिल समानशीलेषु सदृशस्वभावेषु कश्यवश्य मदिराधीना विनाशलेश्यामात्ममक्षम् उपयुज्य मरणावस्था दृष्ट्वा, असुखबीजात् दुखकारणात् आजवञ्जवात् ससाराद् विरज्य विरक्तो भूत्वा, मनोजकुजजटाजालनिवेशमिव केशपाशम् उत्पाटच मनोजो मदन स एव कुजो वृक्ष तस्य जटाना प्रारोहाणा जालनिवेशमिव समूहरचनेव केशपाशम् उत्खाय चिराय दीर्घकालम् अपरत्र परलोके अहितजैत्राय कर्मारिजयाय समीहावक्रे प्रयत्नम् अकरोत्। भवति चात्र श्लोक —धूर्तिल एकस्मिन्नेव दिवसे मद्यत्यागात् अनापद मृत्युरूपसकटाभावम् आपत्। एतद्दोषात् मदिराप्राशनदोषात्सहायेषु मित्रेषु मृतेषु सत्सु ॥२७८॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यनिवृत्तिगुणनिदानो नाम त्रयोविंशतितमः कल्प ॥२३॥

२४ मासाभिलापमात्रफलप्रलपनो नाम चतुर्विंशतितमः कल्पः

[पृष्ठ १३३-१३४] सन्तो मासभक्षण त्यजन्ति—स्वभावेति—प्रकृत्यैव मासम् अशुचि अपवित्र दुर्गन्धं च। अन्यापायदुरास्पदम् अन्येषा पशुपक्षिणाम् अपायात् घातात् दुरास्पद दुखस्थानम्। अथवा दुरास्पदे सूनाकार-गृहे लभ्यम्। तथा विपाके अवसाने दुर्गतिप्रद तिर्यङ्नरकगतिदायकम्। सन्त सज्जना कथम् अदन्ति अपि तु नैव ते भक्षयन्ति ॥२७९॥ कर्मेति—प्राणी अकृत्यम् अपि कर्म, कर्तुम् अयोग्यम् अकृत्य-कर्म कार्यं करोतु यदि आत्मन हन्यमानविधिर्न स्यात्। चेत् स्वस्य केनापि हन्यमानविधि मारणकार्यं न क्रियेत। यथा पशुर्हतस्तथा चेत् स पशुस्त हिंसक न हन्यात्। अथवा अन्यथा अन्येन प्रकारेण जीवमारण विना जीवनम् उदरपोषण न स्यात्। अन्नफलाद्यभावे मासभक्षण करोतु परम् अन्नफलाभाव कदापि न भवति अत मासभक्षण न करोतु जन ॥२८०॥ धर्मादिति—धर्मात् ससारदुखनिवारकात् धर्मभुजा सुखं भुञ्जानाना धर्मे किं नु विद्वेषकारण धर्मे द्वेषो नोचित एव। प्रार्थितेति—अभिलषितपदार्थदायिनम् अमरपादप कल्पवृक्ष क द्वेष्टु। को द्वेष कुर्यात् ॥२८१॥ अल्पात्क्लेशात् इति–अल्पक्लेशात् स्वल्पदुखात्। सुधी विबुध। स्वस्य आत्मन। सुष्ठु सुख न्याय्य शर्म चेत् वाञ्छति अभिलष्यति। आत्मन प्रतिकूलानि स्वस्य विरुद्धानि यानि कर्माणि यथा स्वस्य दुखप्रदानि तानि परेषा न समाचरेत् ॥२८२॥ य जन परानुपघातेन अन्येषा घातम् अकृत्वा सुख-सेवापरायण सुखभोगतत्परो भवेत्। स सुख भुञ्जानोऽपि जन्मान्तरसुखाश्रय स्यात्। अन्यजन्मलभ्यशर्म-धारी भवेत् ॥२८३॥ य पुमान् नर तदात्वसुखासगात् तदाभव तदात्व तच्च सुख तस्य आसगात् तात्कालिकसुखेष्वासक्ते धर्मकर्मणि देवपूजादिके कार्ये न मुह्येत् सशय न कुर्यात् स पुमान् ननु वितर्के अस्मिन् लोके उदर्के उत्तरभवे दुखवर्जित भवति ॥२८४॥ स इति—य धर्मे अर्थे कामे च अन्यसमाश्रय त्रिषु एकस्यापि आश्रय न करोति स प्राणी पर भूभार, स जीवन्नपि मृतश्च स ॥२८५॥

[पृष्ठ १३५] स इति—य धर्मात्पुण्यात्फल स्त्रीधनादिभव सुखम् अश्नन्नपि अनुभवन्नपि धर्मे मन्दधी मन्दादरो भवति स मूर्ख। स जड। स अज्ञ, स पशोरपि पशुर्भवति ॥२८६॥ स विद्वानिति—य स्वत अन्यस्मादपि वा अधर्माय पापाय पापं कर्तु न समीहते न प्रयतते। स विद्वान्, स महाप्राज्ञ, स महाबुद्धिमान्,

न्यमवत् । तिलसर्षपप्रमितस्यापि हि निषिद्धस्य तिलप्रमाणस्य सर्षपप्रमाणस्य वस्तुनः प्रमाणस्यापि मांसस्य प्राशने भक्षणे स्मृतिषु महाव्रतविरतत्वं भूयस्ते । स्मृतिग्रन्थेषु महाव्रतस्य अहिंसाव्रतस्य विपत्तत्वं लोपः प्रतिपाद्यते । मातङ्गोऽसमे च भुक्तिनिषेवनं मरणमिष्टं प्रायश्चित्तम् । देहत्याग एव प्रायश्चित्तम् । न पुनरेवं सुरा पिबति न तेन सुरा पीता भवति इति निरिक्षणकत्वविवासनो एकसमयेषु सूत्रमणिरिव ग्रथिते सौत्रामणिनाम्नि मखे मदिरास्वादाभिसंधिरनुमतविधिरस्ति । मद्यप्राशनस्य अभिलाषा चेद् तत्पानं विधेयम् इति आगमस्य वेदस्य अनुमतिरस्ति । वैश्य पिष्टोदकगुडधातकीप्रायैः गोधूमादिकं चूर्णं पिष्टम्, उदकं जलम् गुडः इक्षुरसः धातकी धौतपुष्पीप्रभृतिभिः वस्तुभिः वस्तुना कार्यं अवयवैः सुरा मद्यं संधीयते निर्मीयते । तान्यपि वस्तूनि विशुद्धान्येव शुचिन्येव इति चिर दीर्घकालं विचार्य धर्माधर्मविचारविधानं धर्माधर्मसारम्भैश्चास्तेषां विचारं वेदः तस्य विधानम् अनुसरन् यस्य स विहितमदिरामदनः तस्मादस्मात् मदिरामदप्रमाणात् । आदिभूतस्मरोन्मादोक्तप्रकटीभूतवित्तमहामोहभावः कौपीनं पुरुषलिङ्गाच्छादनवसनम् अपहाय त्यक्त्वा हारकुम्भकहाराटिकाट्टिन्ताव त्रिकालीताम्रमतकरतालिकाविडम्बनावसरो हारकुम्भकहारेति भाषासंभावनमद्यविक्षेपस्य व्यवहारेण चालेन अतिक्लिष्टा भवमता या मातङ्गिका चाण्डाली तस्याः गीतानुगता गानमनुसृता या करतालिकाः हस्ततालिकाः तासां विडम्बनस्य अनुकरणस्य अवसरो यस्य स एकपादद्विज पिशाचाविष्टदेह इव आसीत्तानेकविकारः प्रकटीकृतकाममदविभावः । पुन कुक्षुरेति—कुक्षुणा क्षुत् सा एव ज्वालामुखानि अग्निः तेन क्षीणं कुक्षिकुहरमेव कुहरं बिलं यस्य सः तरसमपि मांसमपि भक्षितवान् खादितवान् । व्यक्तीभवत्सद्यस्कटकामविकारः मातङ्गीं कामितवान् बुभुजे । भवति चात्र श्लोकः हेतुशुद्धेरिति—हेतुशुद्धः यस्य कारणानि शुद्धानि सन्तु अतः शुद्धम् इति श्रुतेर्वेदस्य वाक्यात् पीतमद्यः कृतमद्यपानः एकपात् ब्राह्मणः मूढमानसो भूत्वा मांसमातङ्गिकासेवनम् अकरोत् ॥२७७॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यप्रवृत्तिदोषवर्णनो नाम द्वाविंशः कल्पः ॥२२॥

२३ मद्यनिवृत्तिगुणनिदानो नाम त्रयोविंशतितमः कल्पः

[पृष्ठ १२१ १२२] अथवा मद्यनिवृत्तिगुणस्योपाख्यानम्—अस्त्यत्र—अपेयाश्च ता व्यापव्याकरणादि विद्याः तेषां पारगर्त नैपुण्यं तस्य भरेण भराः समर्थाः ये मनीषिणः विद्वांसः त एव मत्ताः मत्ता सौख्यभ्रमरा तेषां पुञ्जं पुञ्जं तस्य कैरवी कौमुदी चन्द्रकान्तिः कमलिनी च तस्याः मध्यकोशकृपायां वलभ्यां पुरि । बहुधा चिरपौरः करवाल वर्णं यस्य तस्य चरितं कार्यं कलनकार्यं तद् शीलं यस्य भवार्थं कलकलस्वायमनस्यभाव चौरकर्म कुर्वन् करवालो नाम चौरः । कपाटोद्घाटनपटुः पटुः पिहितद्वारोद्घाटननिपुणः बहुनामस्तेन महानिद्राप्रधानमनुष्याः पूर्णिमा दीर्घस्वापोत्पादनचतुरो भूतिकाभिधचौरः । परमोपायविधिविकल्पविचारकः धारकः अपि भौमादिभूमिनिरयादिषु निक्षिप्तं धनं तस्य वेधः प्रवेशस्तस्य मार्गं विचारकः चतुरः विचारको नाम दस्युः । परपटाकर्मविलास इति शिलासचनः कुसुम्भ । भनिष्ठो एवम्भाः इति प्रतिरात्रिपरपटान्ये विलासचातुर्यं यस्य स इति विलासो नाम मोषकः । एवं पञ्च मनिम्लुचाः पाटच्चराः स्तेनाः प्रतिरात्रप्रवरसंप्रीतिप्रकटाः स्त्रीकृमाम्याम्यसंस्नेहविस्ताराः । अन्यदा तेषामन्यो निर्भीकोपरतारात्र्याम् ईश्वरवरीरार्थ कान्तिर्नी महादेवदेहार्धवधिवलयीका भवानीमपि पार्वतीमपि कुसुमकृन्तमपि पिपासि कुसुमं कुम्भस्तस्य हृदयं मनः यावत् स एतावत् आधारं प्रवेशि बुद्धिपुरुषं चित्रं लभेम् अपि कात्यायनीलोचनानन्दजनं कात्यायनी पावनी तस्याः लोचनयोर्नेत्रयोः अञ्जनं कर्तुं समर्थाः । परतोहरणायापि परनो अगतागनारस्य धनं हरन्ति परगनोहरचौरा तेषामपि अप्यादरचौराः तान् चोरानपि धुराधौरेयेण बभयत् । इमास्तु नामानि अमूनामानि अमूना । कदाचित् एकस्यां निशि रात्रौ पिण्डमोदं अर्पितं देवं यच्यादना यथा स्यात्तथा कृतं कुर्वन्ति पञ्चमं । अन्यदा कान्तास्वाभवनप्रतिष्ठाय तस्मात् चान्द्राम् चन्द्रमसो मुदः उत्सवात्मनः यमस्य या चाव यतिरे तत्र प्रतिष्ठा निर्जनयोः तान् तस्मात्

काष्ठासु दिशासु विहितपुरमारापहारा विहित कृत पुरसारस्य पुरजनधनस्यापहारो हरण यैस्ते चौरा. पुरबाहिरिकोपवने पुरस्य नगरस्य बाहिरिके उपवने उद्याने धन विभजन्त धनविभाग कुर्वन्त, तवेद ममेदम् इति विवदमाना कलह कुर्वन्त, कन्दल युद्धम् अपहाय त्यक्त्वा समानायितमैरेया आनायितमद्या पानगोष्ठी पानाय गोष्ठी ता पानगोष्ठी सभूय मद्यपानम् अनुतिष्ठन्त कुर्वन्त, पूर्वाहितकलहकोपोन्मेष-कलुषधिषणा पूर्वाहित मद्यपानात्पूर्वम् आहित कृतश्चासौ कलह विवाद तस्य कोपस्य उन्मेष उदय तेन कलुषा मलिना धिषणा बुद्धि येषा ते पञ्चचौरा यष्टायष्टि, दण्डादण्डि, मुष्टामुष्टि, मुष्टिभिर्मुष्टिभिश्च युद्ध विधाय सर्वेऽपि ममु पञ्चत्व जग्मु अन्यत्र विना धूर्तिलात्। धूर्तिलो जीवित, चत्वारश्चौरा मृता इत्यर्थ। स किल धूर्तिल यथादर्शनमभव यथा येन प्रकारेण दर्शनस्य मुन्यवलोकनस्य सभव उत्पत्ति स्यात्तथा महामुनिविलोकनात् तस्मिन्नहनि दिने एक व्रत गृह्णाति, तत्र च दिने तद्दर्शनात् मुनिदर्शनात् आसवव्रत मदिरात्यागव्रतम् अग्रहीत् गृहीतवान्। तदनु धूर्तिल समानशीलेषु सदृशस्वभावेषु कश्यवश्य मदिराधीना विनाशलेश्यामात्मसमक्षम् उपयुज्य मरणावस्था दृष्ट्वा, असुखबीजात् दु खकारणात् आजवजवात् ससाराद् विरज्य विरक्तो भूत्वा, मनोजकुजजटाजालनिवेशमिव केशपाशम् उत्पाट्य मनोजो मदन स एव कुजो वृक्ष तस्य जटाना प्रारोहाणा जालनिवेशमिव समूहरचनेव केशपाशम् उत्खाय चिराय दीर्घकालम् अपरत्र परलोके अहितजैत्राय कर्मारिजयाय समीहा चक्रे प्रयत्नम् अकरोत्। भवति चात्र श्लोक.—धूर्तिल एकस्मिन्नेव दिवसे मद्यत्यागात् अनापद मृत्युरूपसकटाभावम् आपत्। एतद्दोषात् मदिराप्राशनदोषात्सहायेषु मित्रेषु मृतेषु सत्सु ॥२७८॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यनिवृत्तिगुणनिदानो नाम त्रयोविंशतितम. कल्प ॥२३॥

२४ मांसाभिलापमात्रफलप्रलपनो नाम चतुर्विंशतितमः कल्पः

[पृष्ठ १३३-१३४] सन्तो मासभक्षण त्यजन्ति—स्वभावेति—प्रकृत्यैव मासम् अशुचि अपवित्र दुर्गन्ध च। अन्यापायदुरास्पदम् अन्येषा पशुपक्षिणाम् अपायात् घातात् दुरास्पद दु खस्थानम्। अथवा दुरास्पदे सूनाकार-गृहे लभ्यम्। तथा विपाके अवसाने दुर्गतिप्रद तिर्यङ्नरकगतिदायकम्। सन्त सज्जना कथम् अदन्ति अपि तु नैव ते भक्षयन्ति ॥२७९॥ कर्मेति—प्राणी अकृत्यम् अपि कर्म, कर्तुम् अयोग्यम् अकृत्य-कर्म कार्यं करोतु यदि आत्मन हन्यमानविधिर्न स्यात्। चेत् स्वस्य केनापि हन्यमानविधि मारणकार्यं न क्रियेत। यथा पशुर्हतस्तथा चेत् स पशुस्त हिंसक न हन्यात्। अथवा अन्यथा अन्येन प्रकारेण जीवमारण विना जीवनम् उदरपोषण न स्यात्। अन्नफलाद्यभावे मासभक्षण करोतु परम् अन्नफलाभाव कदापि न भवति अत मासभक्षण न करोतु जन ॥२८०॥ धर्मादिति—धर्मात् ससारदु खनिवारकात् शर्मभुजा सुखं भुञ्जानाना धर्मे किं नु विद्वेषकारण धर्मे द्वेषो नोचित एव। प्रार्थितेति—अभिलषितपदार्थदायिनम् अमरपादप कल्पवृक्ष क द्वेष्टु। को द्वेष कुर्यात् ॥२८१॥ अल्पात्क्लेशात् इति—अल्पक्लेशात् स्वल्पदु खात्। सुधी विबुध। स्वस्य आत्मन। सुष्ठु सुख न्याय्य शर्म चेत् वाञ्छति अभिलष्यति। आत्मन प्रतिकूलानि स्वस्य विरुद्धानि यानि कर्माणि यथा स्वस्य दु खप्रदानि तानि परेषा न समाचरेत् ॥२८२॥ य जन परानुपघातेन अन्येषा घातम् अकृत्वा सुख-सेवापरायण सुखभोगतत्परो भवेत्। स सुख भुञ्जानोऽपि जन्मान्तरसुखाश्रय स्यात्। अन्यजन्मलभ्यशर्म-धारी भवेत् ॥२८३॥ य पुमान् नर तदात्वसुखासगात् तदाभव तदात्व तच्च सुख तस्य आसगात् तात्कालिकसुखेष्वासक्ते धर्मकर्मणि देवपूजादिके कार्ये न मुह्येत् सशय न कुर्यात् स पुमान् ननु वितर्के अस्मिन् लोके उदर्के उत्तरभवे दु खवर्जित भवति ॥२८४॥ स इति—य. धर्मे अर्थे कामे च अन्यसमाश्रय त्रिषु एकस्यापि आश्रय न करोति न प्राणी पर भूभार, स जीवन्नपि मृतश्च स ॥२८५॥

[पृष्ठ १३५] स इति—य धर्मात्पुण्यात्फल स्त्रीवनादिमव सुखम् अश्नन्नपि अनुभवन्नपि धर्मे मन्दधी मन्दादरो भवति स मूर्ख। स जड। स अज्ञ, स पशोरपि पशुर्भवति ॥२८६॥ स विद्वानिति—य स्वत अन्यस्मादपि वा अधर्माय पापाय पाप कर्तु न समीहते न प्रयतते। स विद्वान्, स महाप्राज्ञ, स महाबुद्धिमान्,

स धीमान् स च पण्डितः ॥२८७॥ सत्त्वस्येति—तस्मात् स्वस्यात्मनः हितम् अभिलषन्तः च पुंसः पुनः अहितम् असुखं मुञ्चन्तु । अन्यसत्त्वेषु पशुस्त्र्यादिषु जीवेषु स्वसमानम् बुद्धिविकल्पैः कथं स्यात् ॥२८८॥ यदिति—इह भो जनाः । परस्य अन्यप्राणिनि । सुखं वा दुःखम् एव वा करोति । पुरुषे यत् धनम् ददाति तद् सुखं वा दुःखं वा स्वस्य अधिकम् एव आपद्यते । उत्तमर्णो यथा स्वो धनम् अधमर्णाय पुरुषाय ददाति तत्पश्चात् तत् पूर्णतोऽप्यधिकं लभते तथा परस्मिन् जने यः सुखं वा दुःखं वा करोति तद् परस्मिन् जन्मनि पूर्णतोऽप्यधिकं तेन लभ्यते ॥२८९॥ मद्यमांसमधुप्रायमिति—मद्यपानं मांसभक्षणम् मधुभक्षणं च एतत्त्रयं धर्माय पुण्याय मतम् । अपरः अधर्मः कः । अपरं पापं किं भवेत् । किं वा दुर्गतिकारकं वा अपरं किं कर्म स्यात् ॥२९०॥ स धर्म इति—यत्र अधर्मः पापं मिथ्यात्वादिकं हिंसादिकं वा नास्ति स धर्मः यत्र असुखं नरकादिदुःखं नास्ति तत् सुखम् । यत्र अज्ञानं नास्ति तज्ज्ञानम् । यत्र पुनः आगतिः संसारे आगमनं नास्ति सा गतिः ॥२९१॥ स्वकीयमिति—यथा स्वकीयं जीवितं सर्वस्य प्राणिनः प्रियम् इष्टं भवति तथा एवम् परस्यापि जीवितं प्रियं भवति । तदा हिंसां परित्यजेत् ॥२९२॥

[पृष्ठ १२६] मांसादिषु इति—मांसम् अश्नन्तीति मांसादिनः मांसभक्षकाः तेषु दया नास्ति । मद्यपायिषु सत्यं [illegible] मद्यपायिनः सुरापानशीलास्तेषु सत्यं न वर्तते । मधूदुम्बरसेविषु मधुनः क्षौद्रस्य उदुम्बराणां च पञ्चफलानां भक्षणं कुर्वाणेषु मर्त्येषु मनुष्येषु अक्रूरता दयालुता न वर्तते ॥२९३॥ मधुसेवनं सन्तो न कुर्वन्ति—मक्षिकेति—मक्षिकाणां मुखानां यमीव [illegible] तानि तेषां यदा मर्दनं क्रियते तत्र मधुन उत्पत्तिर्भवति । तच्च [illegible] मधु रजोवीर्यमिश्रणात् [illegible] स्त्रियो अपरे [illegible] स [illegible] मधु [illegible] पुरुषाः कथं सेवन्ते भक्षयन्ति ॥२९४॥ तदुद्भ्रान्तेति—तदुद्भ्रान्त[illegible] अर्भकाः मक्षिकाबालका गर्भे मध्ये यस्य तस्मिन् मधुच्छत्रे मधुपोलके [illegible] वत् [illegible] । मधु माधुर्यं कुत्र । यतस्तत् मधुच्छत्रं [illegible] जीवितं यथा मधुकारीणां [illegible] तेषां जीवितं सत्यं वर्तते । मधु [illegible] जीवनिर्मितम् अतस्तदुत्तमानां न भक्ष्यम् ॥२९५॥ पञ्चोदुम्बरेषु जीवानां [illegible] स्वाद्यत्वमाह—अश्वत्थेति—अश्वत्थफलानि पिप्पलफलानि । उदुम्बरफलानि जम्बुफलानि । प्लक्षफलानि पक्टीफलानि । न्यग्रोधफलानि वटफलानि । काकोदुम्बरफलानि 'अंजीर' इति देशभाषायाम् । एतानि फलेष्वपि प्रत्यक्षाः स्थूलाः प्राणिनो जीवा दृश्यन्ते । सूक्ष्माश्च सन्ति परं ते आगमविषयाः अतः तेषां भक्षणं पापप्रदत्वात्त्याज्यम् ॥२९६॥ मद्यादीति—ये मद्यमांसमधुभक्षिणः सन्ति तद्गेहेषु अन्नं पानं च नाचरेत् । अन्नं न भक्षणीयं जलं च न पेयम् । तेषाम् अमत्राणि भाजनानि आदिशब्देन तेषां स्त्रीवस्त्रादिसेवनं च कदाचिदपि न कुर्यात् व्रतिकः ॥२९७॥

[पृष्ठ १२७-१२९] अमतिना संगात् लोके वाच्यता भवति—कुर्वन्निति—भोजनादिषु भोजनपानादिकार्येषु अमतिभिः सह समं सम्बन्धं कुर्वन् अत्र अस्मिन् लोके वाच्यतां निन्दां प्राप्नोति । परत्र परलोके च इह च तत्फलं न लभते तेन नरेण सदाचारधर्मलोकमुख्यं न लभ्यते ॥२९८॥ दृतीति—दृतिकादिषु चर्म पुटादिचर्मभाजनेषु पानीयं जलं प्रासुकमपि न अश्नीयात् । कुतपादिषु चर्मनिर्मितपात्रस्नेहभाजनेषु स्नेहं तैलं घृतं परित्यजेत् अव्रतिभिः अव्रतिजनयोग्याः स्त्रियः मद्यमांसभक्षिण्यः [illegible] नित्यं परिहार्याः त्याज्याः ॥२९९॥ जीवेति—यत्र यत्र मैथुनं [illegible] ती भार्या येषां ते [illegible] तत्रापरम् तच्छरीरम् यथा तच्छरीरं मांस [illegible] तथा [illegible] मांसं [illegible] एव [illegible] ॥ तदुक्तम् । तथाह—तथा [illegible] जीवयोगस्य समानत्वात् मांसम् इति [illegible] वदन्ति [illegible] ॥१॥ मांसमिति—मांसं प्राणिशरीरं स्यात् तथा जीवशरीरं मांसं भवेत् वा । यथा निम्बो वृक्षो भवति परं वृक्षस्तु निम्बो भवेत् वा ॥१ १॥ किं च—द्विजाण्डजेति—द्विजानि अण्डजानि [illegible] वा [illegible] पानं कुर्वताम् [illegible] तथा जीवाकारविशेषेऽपि तथा [illegible] अधिकः तेषामपि पानं कुर्वतां पापं [illegible] विशिष्टं वर्तते । तथा [illegible] एव जीवा [illegible] एकेन्द्रियाः [illegible] जीवाः सन्ति परं [illegible] एकेन्द्रियाः एव जीवाः [illegible] । [illegible] जीवाः सन्ति [illegible] जीवाः सन्ति [illegible] स्याताम् । सन्ति भावे तु द्वीन्द्रियादारभ्य पञ्चेन्द्रियपर्यन्तं [illegible] ॥१ २॥ स्त्रीरत्नेति—स्त्रीरत्नमात्रत्वं तासु [illegible] तासां [illegible] भवेत् ॥१ ३॥

वर्तते एव वदन् एष वादी मन्त्रमातृसमागमो ईहताम् इच्छतु । यथा स्त्रीत्व पत्न्या विद्यते तथैव जनन्यामपि अतो भार्यासमागममिव जननीसमागमोऽपि वादिनेष्येत । यथा जले पेयत्वसामान्य वर्तते तथा मद्येऽपि वर्तते अतो जलवन्मदिरापि पीयता वादिना पर तेन मदिरा त्यज्यते जल पीयते । स्त्री सेव्यते माता वन्द्यते अत पेयत्व स्त्रीत्व च सर्वत्र समान नैव भवेत् ॥३०३॥ शुद्धेति—शुद्ध दुग्ध न गोमासम् । एकस्या एव गोर्दुग्ध शुद्ध सेव्य भवति पर तस्या मासम् अशुद्धत्वात् सेव्य नैव भवति । एतादृश पदार्थस्वभाववैचित्र्य वर्तते । आहेयम् अहे सर्पस्य इदम् आहेय सर्पसत्कमित्र सर्पमस्तके स्थित रत्न विषम् अपहरति । पर तद्दन्तस्थित विष विपदे मरणाय स्यात् ॥३०४॥

[पृष्ट १३९] अथवा—हेयमिति—कारणे समे सत्यपि मास त्याज्य पय दुग्ध पेयम् । धेन्ववयवत्वसाम्येऽपि माम हेय न दुग्धम् । विषतरो पत्रम् आयुषे जीवनकारण भवति पर तन्मूल मृतये मरणाय स्यात् । विषतर्ववयवसमत्वेऽपि पत्र भक्ष्य भवति न मूलमिति ॥३०५॥ अपि च-शरीरेति—शरीरावयवत्वेऽपि मासे दोष तद्भक्षण निन्द्यम्, न सर्पिषि घृते न दोषोऽस्तद्भक्षणीयम् । द्विजातिषु जिह्वाया मद्य दोषाय भवति । पादे मद्य द्विजातिषु ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्येषु न दोषाय भवति ॥३०६॥ विधिरिति—सप्रोक्षण यज्ञादिश्चेद् विधि शुद्धयै भवति तर्हि द्विजै सर्व भुज्यताम् तत्र मासादिक हेयम्, ओदनादिक भोज्यम् इत्याग्रहो न विधेय । केवल वस्तु शुद्धयै चेत् अन्नादिकम्, यत्र अन्नादिक शुद्ध लभ्येत तत्र तद्ग्राह्यमिति मन्यते चेत् श्वपचालये मातङ्गगृहे भुज्यताम् । अत केवल विधिना अन्नादे दातु पात्रस्य च शुद्धिर्भवतीति न मन्तव्यम् । यदि अन्न शुद्धयै भवेत् तर्हि तेनान्नेन दाता पात्रमपि शुद्ध भवेत् । ततश्च तच्छुद्ध यत्र कुत्रापि मातङ्गगृहेऽपि लभ्येत तद्ग्रहणे दोषो न स्यात् । अत केवलया अन्नशुद्धया भाव्यमिति न । तर्हि केषा शुद्धया त्रिविशुद्धि स्यादिति प्रश्ने आह—॥३०७॥ तद्द्रव्येति—तस्मात् द्रव्यदातृपात्राणा विशुद्धौ द्रव्यशुद्धौ सत्या, दातृशुद्धौ सत्या, पात्रशुद्धौ च सत्या विधिशुद्धता भवति । द्रव्यादीनाम् अशुद्धौ केवल विधिशुद्धया पर्याप्ति स्यात् इति न मन्तव्यम् । केवल द्रव्यशुद्धयापि पर्याप्तता न सभवति, केवल दातृशुद्धयापि सा न भवति अत द्रव्यदातृपात्रशुद्धया सहिता विधिशुद्धता विशुद्ध फल जनयतीति ज्ञेयम् । अशुद्धोऽपि दाता शुद्धो भवेदिति चेदुच्यते—यत्सस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजता व्रजेत् । सस्कारशतेनापि द्विजान्मुक्त्वा अन्यो अजाति शूद्रो जन द्विजता न व्रजेत् । गर्भजन्म सत्कुले जन्म दीक्षायोग्ये कुले जन्म यस्य तस्यैव सस्कारजन्म भवति स एव सस्कारजन्मना द्विजता गच्छति । सस्कारहीनो द्विज जात्या द्विजो भवति । स नामधारको द्विजो ज्ञेय । यस्य सत्कुले जन्म न स सस्कारशतेनापि अजातिरेव नामधारकाद् द्विजादपि स हीन एव । किरणाकुलोऽपि काच असस्कृतमणेरपि समानता न याति कथ सस्कृतमणे समता स बिभृयात् ॥३०८॥ तच्छाक्येति—तस्मात् शाक्याना बौद्धाना साख्याना पञ्चविंशतितत्त्ववादिना कापिलानाम्, चार्वाकाणा बृहस्पतिशिष्याणा नास्तिकानाम्, वेदवादिना मीमासकानाम्, वैद्यानाम्, कपर्दिना कापालिकाना मत विहाय श्रेयोऽर्थिभि मुक्तिकामै सदा मास हातव्यम् आजन्म मासत्यागो विधेय ॥३०९॥ यस्तु इति—यो जनः लौल्येन जिह्वालाम्पट्येन मासाशी मासम् अश्नाति भक्षयति, तेन मासभक्षणेन तथा यज्ञे प्राणिवधेन धर्मो वर्धते इति च मन्यते स द्विपातक ज्ञेय । हिसा धर्म मन्यमान मास च भुञ्जान देवान् मास प्रीणयतीति मिथ्या सकल्पयन् द्विपातको भवति । यथा मात्रा सत्र परदाराक्रियाकारी नर मातृगमनपातक परस्त्रीसेवनपातक च कुरुते ॥३१०॥

[पृष्ठ १४०-१४२] श्रूयतामत्र मासाशनाभिध्यानमात्रस्यापि पातकस्य फलम्—मासभक्षणसकल्पमात्रस्यापि पापस्य फल दृष्टान्तद्वारेण कथयति सूरि सुदत्ताचार्य तच्छ्रूयतामाकर्ण्यताम्—श्रीमदिति—श्री अस्यास्तीति श्रीमान् स चासौ पुष्पदन्त श्रीमत्पुष्पदन्त नवमो जिनपति स एव भदन्त भव्यजनकल्याणविधायी ऋषि तस्य अवतारे जन्मसमये अवतीर्ण स्वर्गात्समागतो यस्त्रिदिवपति· स्वर्गनाथ सौधर्मेन्द्र तेन सपादितो विहितो विधापितश्च य उद्याव उत्सव तस्य या इन्दिरा लक्ष्मीस्तस्यै आसन्दी आसनभूता या काकन्दीपुरी तस्या चार्वाकवशोद्भव सौरसेनो नाम भूपति कुलधर्मानुरोधबुद्धया निजवशधर्मानुसरणमत्या, गृहीतपिशितव्रत अङ्गीकृतमासत्याग । पुनर्वेदवैद्याद्वैतमोहितमति श्रुतिविपर्यासितमति वैद्यविपर्यासितप्रज्ञ अद्वैतमतपरावर्तितमतिश्च, सजातजाङ्गलजिघित्सानुमति उत्पन्नमासबुभुक्षानुसृतबुद्धि । अङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणात् जनापवादाज्जुगुप्समान ।

स धीमान्, स च पण्डितः ॥२८७॥ तस्करस्येति—यस्मात् स्वकर्मागमनं हितम् अभिलषन्तः च मुहुर्मुहुः पुनः अहितम् असुखं भुञ्जानः । अन्यजन्मनि पापकर्माविपाकैः स्वमांसस्य वृद्धिविधायिनः कर्म स्यु ॥२८८॥ यदिति—यद् यो जनः । परत्र अन्यप्राणिनि । सुखं वा दुःखम् एव वा करोति । तस्य परं फलम् सुखं दुःखं वा स्वस्य अधिकम् एव प्राप्यते । उत्तमर्णो यथा दत्तं धनम् अधमर्णाय अर्पये पश्चात् तस्मात् अधिकं पूर्वतोऽप्यधिकं धनं तथा परस्मिन् जनः यः सुखं वा दुःखं वा करोति तत् परस्मिन् जन्मनि पूर्वजन्मतोऽपि अधिकं तेन लभ्यते ॥२८९॥ मद्यमांसमधुमायमिति—मद्यपानं मांसभक्षणम् मधुसेवनं च एतानि चेत् धर्माय पुण्याय मतम् । अपरः अधर्मः कः । अपरं पापं किं भवेत् । किं वा दुर्गतिदायकं वा अपरं किमर्थं स्यात् ॥२९०॥ स धर्मे इति—यत्र अधमः पापं मिथ्यात्वादिकं हिंसादिकं वा नास्ति स धर्मः यत्र असुखं नरकादिदुःखं नास्ति तत् सुखम् । यत्र अज्ञानं नास्ति तज्ज्ञानम् । यत्र पुनः आगतिः संसारे आगमनं नास्ति सा गतिः ॥२९१॥ स्वजीवमिति—यथा स्वकीयं जीवितं सर्वस्य प्राणिनः प्रियम् इष्टं भवति तथा एव परस्यापि जीवितं प्रियं भवति । ततो हिंसां परित्यजेत् ॥२९२॥

[पृष्ठ १२६] मांसादिषु इति—मांसम् अदन्तीति मांसादिनः मांसभक्षकाः तेषु दया नास्ति । मद्यपायिषु मद्यं पिबन्तीति मद्यपायिनः सुरापानशीलास्तेषु सत्यं न वर्तते । मधूदुम्बरसेविषु मधुना सेवनस्य उदुम्बरादयो च पञ्चफलानि भक्षणं कुर्वाणेषु मर्त्येषु अनृशंस्यम् अक्रूरता दयालुता न वर्तते ॥२९३॥ मधुसेवनं सन्तो न कुर्वन्ति—मक्षिकेति—मक्षिकाणां मधुमक्षिकाणां गर्भात् संभूतानि यानि बालाण्डकानि तेषां यदा मदनं क्रियते तदा मधुन उत्पत्तिर्भवति । तत्र कललाकृति मधु रजोवीर्यमिश्रणात् तज्जन्मनो यो अवयवाः रिक्तिमा पवने खादन्ति स कललमुच्यते तत्तुल्यमात्रं मधु सन्तः दयार्द्रहृदयाः पुरुषाः कथं सेवन्ते भक्षयन्ति ॥२९४॥ तद्भ्रान्त्येति—उद्भ्रान्तास्त्रस्तचलिताः अर्भकाः मक्षिकाबालकाः गर्भे मध्ये यस्य तस्मिन् मधुच्छत्रे मधुगोलके अण्डखण्ड-खण्डवत् पतिताण्डकसमूहवत् । मधु माधुर्यं कुतः । यतस्तत् मधुच्छत्रं व्यापन्नजन्तुजीवितं व्यापादितजीवा भुञ्जका जनाः तेषां जीवितं सदयं वर्तते । मधु लोकलोकनाः सर्वं जीवभिन्नितम् अतस्तद्गृहमात्मा न भक्ष्यम् ॥२९५॥ पञ्चोदुम्बरेषु जीवानां दर्शनात्तेषां त्याज्यत्वमाह—अश्वत्थेति—अश्वत्थफलानि पिप्पल-फलानि । उदुम्बरफलानि जन्तुफलानि । प्लक्षफलानि पक्खरफलानि । न्यग्रोधफलानि वटफलानि । काकोदुम्बर-फल्गुफलानि 'अंजीर' इति देशभाषायाम् । इत्यादि फलेष्वपि प्रत्यक्षाः स्थूलाः प्राणिनो जीवा दृश्यन्ते । सूक्ष्मास्तु सन्ति परं ते आगमविषयाः अतः तेषां भक्षणं पापप्रदत्वात्त्याज्यम् ॥२९६॥ मद्यादीति—ये मद्यमांसमधुभक्षिणः सन्ति तद्गेहेषु अन्नं पानं च नाचरेत् । अन्नं न भक्षणीयं जलं च न पेयम् । तैषाम् अमत्रादि भाजनानि आदिशब्देन तेषां स्त्रीवस्त्रादिविक्रयणं च कथाचिदपि न कुर्यात् व्रतिकः ॥२९७॥

[पृष्ठ १२७-१२९] अव्रतिनां संगात् लोके वाच्यता भवति—कुर्वन्निति—भोजनादिषु भोजन-शय्यासनादिकार्येषु अव्रतिभिः सह संसर्गं संगतं कुर्वन् अत्र अस्मिन् लोके वाच्यतां निन्दां प्राप्नोति । परत्र परलोके च दुःखं च सत्कारं न लभते तेन नरेण सत्फलं स्वर्गादिकसुखं न लभ्यते ॥२९८॥ दृतीति—दृतिप्रायेषु चर्म-पुटकादिचर्मभाजनेषु पानीयं जलं स्नेहो घृतम् तैलं वर्जयेत् । व्रतस्थादिषु चर्माभिर्निर्मितस्नेहभाजनेषु स्नेहं तैलं घृतं परित्यजेत् अव्रतोचिताः अव्रतिजनयोग्याः स्त्रियः मद्यमांसादिसेविन्य व्रतिभिः नित्यं परिहार्याः त्याज्याः ॥२९९॥ ओजेति—अत्र यस्य मैथ क्षय ती भावो येषां ते समवेतारमः तत्समानवत् तच्छरीरवत् यथा तच्छरीरं मांस तथा मुद्गमाषादिकमपि जीवयोनेः समानतया मांसम् इति इतरे वदन्ति स्म ॥१ ॥ तदयुक्तम् । तदाह—मांसमिति—मांसं प्राणिशरीरं स्यात्तत् जीवशरीरं मांसं भवेत् वा । यथा निम्बो वृक्षो भवति परं वृक्षस्तु निम्बो भवेत् वा ॥१ १॥ किं च—द्विजाण्डजेति—द्विजाण्डजप्रभृति ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यानां घातं कुर्वताम् अण्डजा पक्षिणः तेषामपि घातं कुर्वता पापं विशिष्यते विशिष्टं वर्तते । तथा जीवयोनित्वेऽपि तथा फल-पत्रादिना पापं विशिष्यते । कन्देष्वपि जीवाः सन्ति फलेऽपि जीवाः सन्ति परं फलेषु एकेन्द्रिया एव जीवाः सन्ति मांसे तु द्वीन्द्रियादारभ्य पञ्चेन्द्रियपर्यन्तं जीवराशय सर्वेऽपि सन्ति अतः फलादिना स्तोकं पापं स्यात्तत् पलाशिना महापापभाग् भवेत् ॥१ २॥ स्त्रीत्वेति—स्त्रीत्वसामान्यं दारेषु वर्तते पेयत्वसामान्यं वारिषि

वर्तते एव वदन् एष वादी मद्यमातृसमागमौ ईहताम् इच्छतु । यथा स्त्रीत्वं पत्न्यां विद्यते तथैव जनन्यामपि अतो भार्यासमागममिव जननीसमागमोऽपि वादिनेष्येत । यथा जले पेयत्वसामान्यं वर्तते तथा मद्येऽपि वर्तते अतो जलवन्मदिरापि पीयतां वादिना परं तेन मदिरा त्यज्यते जलं पीयते । स्त्री सेव्यते माता वन्द्यते अतः पेयत्वं स्त्रीत्वं च सर्वत्र समानं नैव भवेत् ॥३०३॥ शुद्धेति—शुद्धं दुग्धं न गोमांसम् । एकस्या एव गोर्दुग्धं शुद्धं सेव्यं भवति परं तस्या मांसम् अशुद्धत्वात् सेव्यं नैव भवति । एतादृशः पदार्थस्वभाववैचित्र्यं वर्तते । आहेयम् अहेः सर्पस्य इदम् आहेयं सर्पमस्तकस्थितं सर्पमस्तके स्थितं रत्नं विषम् अपहरति । परं तद्दन्तस्थितं विषं विपदे मरणाय स्यात् ॥३०४॥

[पृष्ठ १३९] अथवा—हेयमिति—कारणे समे सत्यपि मांसं त्याज्यं पयः दुग्धं पेयम् । धेन्ववयवत्वसाम्येऽपि मांसं हेयं न दुग्धम् । विषतरोः पत्रम् आयुषे जीवनकारणं भवति परं तन्मूलं मृतये मरणाय स्यात् । विषतर्ववयवसमत्वेऽपि पत्रं भक्ष्यं भवति न मूलमिति ॥३०५॥ अपि च—शरीरेति—शरीरावयवत्वेऽपि मांसे दोषः तद्भक्षणं निन्द्यम्, न सर्पिषि घृते न दोषोऽनस्तद्भक्षणीयम् । द्विजातिषु जिह्वाया मद्यं दोषाय भवति । पादे मद्यं द्विजातिषु ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्येषु न दोषाय भवति ॥३०६॥ विधिरिति—सम्प्रोक्षणं यज्ञादिश्चेद् विधिः शुद्ध्यै भवति तर्हि द्विजैः सर्वं भुज्यताम् तत्र मांसादिकं हेयम्, ओदनादिकं भोज्यम् इत्याग्रहो न विधेयः । केवलं वस्तु शुद्ध्यै चेत् अन्नादिकम्, यत्र अन्नादिकं शुद्धं लभ्येत तत्र तद्ग्राह्यमिति मन्यते चेत् श्वपचालये मातङ्गगृहे भुज्यताम् । अतः केवलं विधिना अन्नादेः दातुः पात्रस्य च शुद्धिर्भवतीति न मन्तव्यम् । यदि अन्नं शुद्ध्यै भवेत् तर्हि तेनान्नेन दाता पात्रमपि शुद्धं भवेत् । ततश्च तच्छुद्धं यत्र कुत्रापि मातङ्गगृहेऽपि लभ्येत तद्ग्रहणे दोषो न स्यात् । अतः केवलया अन्नशुद्ध्या भाव्यमिति न । तर्हि कया शुद्ध्या विधिशुद्धिः स्यादिति प्रश्ने आह—॥३०७॥ तद्द्रव्येति—तस्मात् द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ द्रव्यशुद्धौ सत्यां, दातृशुद्धौ सत्यां, पात्रशुद्धौ च सत्यां विधिशुद्धता भवति । द्रव्यादीनाम् अशुद्धौ केवलं विधिशुद्ध्या पर्याप्तिः स्यात् इति न मन्तव्यम् । केवलं द्रव्यशुद्ध्यापि पर्याप्तता न सम्भवति, केवलं दातृशुद्ध्यापि सा न भवति अतः द्रव्यदातृपात्रशुद्ध्या सहिता विधिशुद्धता विशुद्धं फलं जनयतीति ज्ञेयम् । अशुद्धोऽपि दाता शुद्धो भवेदिति चेदुच्यते—यत्संस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजतां व्रजेत् । संस्कारशतेनापि द्विजान्मुक्त्वा अन्यो अजातिः शूद्रो जनः द्विजतां न व्रजेत् । गर्भजन्म सत्कुले जन्म दीक्षायोग्ये कुले जन्म यस्य तस्यैव संस्कारजन्म भवति स एव संस्कारजन्मना द्विजतां गच्छति । संस्कारहीनो द्विजः जात्या द्विजो भवति । स नामधारको द्विजो ज्ञेयः । यस्य सत्कुले जन्म न स संस्कारशतेनापि अजातिरेव नामधारकाद् द्विजादपि स हीन एव । किरणाकुलोऽपि काचः असंस्कृतमणेरपि समानतां न याति कथं संस्कृतमणेः समतां स बिभृयात् ॥३०८॥ तच्छाक्येति—तस्मात् शाक्यानां बौद्धानां सांख्यानां पञ्चविंशतितत्त्ववादिनां कापिलानाम्, चार्वाकाणां बृहस्पतिशिष्याणां नास्तिकानाम्, वेदवादिनां मीमांसकानाम्, वैद्यानाम्, कपर्दिनां कापालिकानां मतं विहाय श्रेयोऽर्थिभिः मुक्तिकामैः सदा मांसं हातव्यम् आजन्म मांसत्यागो विधेयः ॥३०९॥ यस्तु इति—यो जनः लौल्येन जिह्वालाम्पट्येन मांसाशी मांसम् अश्नाति भक्षयति, तेन मांसभक्षणेन तथा यज्ञे प्राणिवधेन धर्मो वर्धते इति च मन्यते स द्विपातकः ज्ञेयः । हिंसां धर्मं मन्यमानः मांसं च भुञ्जानः देवान् मांसं प्रीणयतीति मिथ्या सङ्कल्पयन् द्विपातको भवति । यथा मात्रा सह परदाराक्रियाकारी नरः मातृगमनपातकं परस्त्रीसेवनपातकं च कुरुते ॥३१०॥

[पृष्ठ १४०-१४२] श्रूयतामत्र मांसाशनाभिध्यानमात्रस्यापि पातकस्य फलम्—मांसभक्षणसंकल्पमात्रस्यापि पापस्य फलं दृष्टान्तद्वारेण कथयति सूरिः सुदत्ताचार्यः तच्छ्रूयतामाकर्ण्यताम्—श्रीमदिति—श्रीः अस्यास्तीति श्रीमान् स चासौ पुष्पदन्तः श्रीमत्पुष्पदन्तः नवमो जिनपतिः स एव भदन्तः भव्यजनकल्याणविधायी ऋषिः तस्य अवतारे जन्मसमये अवतीर्णः स्वर्गात्समागतो यस्त्रिदिवपतिः स्वर्गनाथः सौधर्मेन्द्रः तेन सम्पादितो विहितो विधापितश्च यः उद्योतः उत्सवः तस्य या इन्दिरा लक्ष्मीस्तस्यै आसन्दी आसनभूता या काकन्दीपुरी तस्यां चार्वाकवशोद्भवः सौरसेनो नाम भूपतिः कुलधर्मानुरोधबुद्ध्या निजवंशधर्मानुसरणमत्या, गृहीतपिशितव्रतः अङ्गीकृतमांसत्यागः । पुनर्वेदवैद्याद्वैतमोहितमतिः श्रुतिविपर्यासितमतिः वैद्यविपर्यासितप्रज्ञः अद्वैतमतपरावर्तितमतिश्च, संजातजाङ्गलजिघत्सानुमतिः उत्पन्नमांसबुभुक्षानुसृतबुद्धिः । अङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणात् जनापवादाज्जुगुप्समानः ।

स्तोकप्रविश्रामगमनागमनात् मनस्विस्पन्दनात् च भीतिमतिः मनोविभ्रान्तिहेतुना मन समाधानकारणेन धर्मप्रियति नाम एव केतु ध्वज यस्य तेन धार्मिकेन पापकेन रहसि एकान्ते विस्तरसमभागान्तरालवरतरसमानामयप्रपि विपदः भूपकायम स्वच्छन्दा जलाशयः जलचरा मत्स्यादय मन्दरागचरा मुक्ताश्च तेषां तरलं पापकेन अनामन् अपि अनेकरागकार्यपर्याकुलमानतया नानाविधरागकीयविधानव्यापृतचित्ततया मोक्षमसमर्थो नाम च प्राप्नोत् । धर्मप्रियोऽपि तथा मनुविनम् महरहः पूर्वोक्तारमिदेवममुविष्टम् महीपतेरादेशम् आचरत्, एकदा पृथुकुपाकोपभुतः पृथाकु सर्प तस्य पाक विषु तेन दष्टः पीडित तेन दष्ट इति मत्वा प्रेत मृत्वा स्वयंभूरमणाभिधानमुद्रे समुद्रे स्वयंभूरमणेति अभिधानं नाम तदेव मुद्रा चिह्नं यस्य तस्मिन् समुद्रे सागरे महादेवक महोदरम् धर्म यस्य स तिमितिङ्गलगिल तिमितिङ्गली नाम महान् मत्स्य तमपि गिलति इति तिमितिङ्गलगिलः जातः । पुनाके अपि चिरकालेन कषायोपततामाश्रित्य कषा एव योषा यस्य स कषायोपततम् आश्रित्य मत्स्यत्वम् । पिशितेति— पिशितस्य मांसस्य अशनं भक्षणं तस्याशयोऽभिप्रायः तस्मात् तस्य अनुबन्धात् संस्कारात् । तत्रैव तिमितिङ्गलस्य महामीनस्य कर्णबिले तन्मध्यागमनपीन तस्य कर्णस्य बी मल तस्यापन भक्षणं बीजं स्वभावो यस्य । शालिसिक्थकलकलेवर शास्यः सिक्थं तण्डुल तत्प्रमाणं कलं मनोहरं कलेवरं शरीरं यस्य तथाभूत शफर मत्स्योऽभवत् । तदनु तदनन्तरम् एष शालिसिक्थो मीन पर्याप्तोभयकरण पूर्वजन्मसम्भवमावेशितः । वदनं मुखं व्यादाय उद्घाटय निद्रायत निद्रायस्य स्वपतः मत्स्ययुगानमाहे गल कण्ठ स एव गुहा गह्वरं तस्य अवकाशे विस्तारे वेलानदीप्रवाह इव समुद्रकूपे संप्राप्तपरिशोष इव अनेकं जलचराणां नाना जलमत्स्यादिकजन्तुसमूहं प्रविश्य तत्रैव निष्क्रमन् निर्गच्छन् निरीक्ष्य (तन्दुलमत्स्य मनसि चिन्तयति) पापकर्मा पापम् अघ रायादर्श कर्म यस्य स अत एव निर्भाग्यो दुर्विदग्धो च अपदीयमान अपेक्षरवसं विभ्राण अस्य तथ मत्स्य महाजलसंघातवेलास्यपि यस्मात् वदने वदने संपातनम् पतनं तत्र यैतानि तेषां तथाभूतानि यावन्ति जलचराणि भक्षितुं भक्षयितुं न शक्नोति समर्थो न भवति । मम पुनर्यदि हृदयस्थितप्रमाणात्मनोऽभिलषितसामर्थ्यात् देवात् एतावन्मात्रं मानम् एतत्प्रमाणं शरीरं स्यात् तदा समस्तमपि समुद्रं निःशेषजलचरसमाकुलं गह्न सकलमत्स्यानां सर्वप्राणिनां संचारस्य भ्रमणस्य मुद्रा चिह्नं यस्य तं विदधामि । यदि मे महामत्स्यदेहतुल्यो देहो भविष्यति तदा सकलान्जलचरान् भक्षयित्वा समुद्रं जलचरैः शून्यं करिष्यामि । इति अभिध्याननामत्वान् अल्पकायकस्य अल्पक अल्पकायम् अल्पशरीर कलति धारयति इति अल्पकायकल तन्दुल मत्स्य निःशेष नक्रचक्रादीनां महादेहानां मीनो निःशेषा सकलास्ते नक्राः मकराः तेषां चक्रं समूहः तस्य आरो मक्षण तस्माद् महादेहवान् स मीन कालेन विपद्य मृत्वा उत्पद्य च जनित्वा च उत्तमत त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायु निकृष्टे निरये अपर्याप्तरसगुरुदुःखशरीरैककालजीवनस्य पृष्ठे नरके सप्तमे भवप्रत्ययमात्राविर्भूतज्ञानविशेषो अयो जन्म स प्रत्ययो हेतु तस्य भावतः अधीनः आविर्भूत प्रकटीभूत ज्ञानविशेषो यस्यासौ अनिमिषचरो पूर्वपूर्वमत्स्यो नारकपर्यायचरो चिरं एव स्वपमानम् आलापम् अन्योन्यसंबोधनपूर्वकं भाषणं चकार । अहो पुत्रमत्स्य तथा निमित्त कर्मणा दुष्कर्मणा निर्मितम् सत्यापितं क्रूरतया जलचरजीवभक्षणात्मकं कर्म कार्यं येन च तस्य मम दुष्कर्मणा पापकर्मणो नारकायुष उदयात् मम अत्रागमनं आगमनम् उचितैव शोभा एव । त्वं तु मत्कर्णबिले मलोपजीवी यस्य कर्ममलेन उपजीवनम् उदरनिर्वाहो यस्य कथमत्रागमनमभूत् सर्वथा मांसाहाररहितस्य प्राणिवधरहितस्य च तथाभूतमनं सर्वथा भवति (महामत्स्येनोक्ते तन्दुलमत्स्यो वदति) हे महामत्स्य यद्यपि दुःखेन तु संवर्धनिमित्तमात्रदुष्टध्यानात् । शारीरिकाव्यापारविरहितव्यापारादहं विमुक्तोऽस्मि । परं तु दुष्ट मनो मम स्यात तथाभूतदुःखबन्धस्य निबन्धनात् कारणात् अशुभध्यानात् मनागागमनमभूत् । भवति चात्र श्लोक —क्षुद्रमत्स्येति—स्वयंभूरमणसमुद्रे महामत्स्यस्य कर्णस्थ एक क्षुद्रमत्स्य किल स्मृतिदोषात अशुभध्यानात् अधो गत सप्तमनरके अविस्मरणीयापरोपमायुषा जन्म अलभत ॥१११॥

इत्युपासकाध्ययने मांसाभिलाषमात्रफलप्रकथनो नाम चतुर्विंशतितमः कल्पः ॥२४॥

२५. मांसनिवृत्तिफलाख्यानो नाम पञ्चविंशतितमः कल्पः

[पृ० १४२-१४३] श्रूयतामत्र मासनिवृत्तिफलस्योपाख्यानम्—चण्डमातङ्गस्य कथा—अवन्तिमण्डलेति—अवन्तयश्च ते मण्डलाश्च अवन्तिमण्डलास्त एव नलिन कम तस्मिन्नभिनिवासे सरसी रसयुक्ता या एकानसीनाम पुरी तस्या पुरवाहिरिकाया तस्या पुरो वाह्यप्रदेशे। देविलेति—देविला नामो महिला पत्नी देविलाख्या पत्नी तस्या विलासा एव विशिखा वाणास्तेषा वृत्या सवन्धेन कोदण्डस्य धनु सदृशस्य चण्डनाम्नो मातङ्गस्य एकस्या दिशि। निवेशितेति—निवेशित स्थापित पिशित मासम् उपदशश्च तद्राचकभक्ष्यद्रव्य च येन तस्य। अपरस्या दिशि। विन्यस्तेति—विन्यस्त स्थापित सुरया मदिरया सभृत पूर्ण कलशो येन तस्य। पुन कथभूतस्य चण्डमातङ्गस्य पलोपदशोदारा सुरा मासभक्षणे रुच्युत्पादकरूपाम् उदारा विपुला सुरा पाय पाय पीत्वा पीत्वा तदुभयान्तराले तयोरुभययो अन्तराले मध्य चर्मनिर्माणतन्त्रा चर्मणा निर्माण रचना तदेव तन्त्र हेतुर्यस्या ता वरत्रा वर्ध्री वर्तयत रचयत चण्डमातङ्गस्य। वियदिति—वियति आकाशे विहारो भ्रमण तदर्थम् उड्डीन उत्पतन कुर्वाण अण्डजडिम्भ पक्षिशिशु तस्य तुण्डेन मुखेन यत्खण्डन तस्मात्। विनिष्यन्दि स्रवत यद्विषवरविष सर्पविष तस्य दोषस्यावसरो यत्र तथाभूता सुराभवत्। सर्पविषविन्दो पतनात्सविषा मदिरा जातेति भाव। अत्रैवावसरे अस्मिन्नेव प्रस्तावे तत्समीपवर्तमगोचरे चण्डमातङ्गनिवासस्य समीपमेव मार्गे धर्मेति—धर्मश्रवणम्, जन्मान्तरादिप्रकटनम् इत्याद्युपाययुक्ताभि कथाभि विनेयजना शिष्यास्तेपामुपकाराय कृतेति—कृत. उत्पन्ना कामचार इच्छा तेन प्रचारो भ्रमण यस्य, पुन कथभूतम् ऋषियुगलम्। मूर्तिमदिति—मूर्तिमत् सदेह स्वर्गमोक्षमार्गयुग्ममिव अम्बरात् आकाशात् अवतरत् अध. आगच्छत् ऋषियुग्मम् अवलोक्य सजातकुतूहल उत्पन्नविस्मय। त देशं मुनिप्रदेशम् अनुसृत्य नगरे मुनिवरावलोकनात् श्रावकलोक व्रतानि समाददान गृह्णन्तम् अनुस्मृत्य ज्ञात्वा। समाचरितप्रणाम विहितवन्दन। सुनन्दमुनेः अग्रेसरगमनम् अभिनन्दन भगवन्तम् आत्मोचित व्रतमयाचत। भगवान्। उपकारायेति—पर्जन्य इव यथा मेघवृष्टि सर्वस्य उपकाराय तथा धार्मिक सर्वस्य उपकाराय हितोपदेशेषु प्रवर्तते। यथा मेघवृष्टे स्थानास्थानचिन्ता नास्ति तथा हितोक्तिषु अपि धार्मिकस्य सा न भवति ॥३१२॥ इत्यवगम्य ज्ञात्वा सम्यगिति—सम्यक् सम्यग्दर्शनयुक्त यदवधिज्ञान तस्योपयोगात् अवगत ज्ञात एतस्य चण्डमातङ्गस्य आसन्नपरासुतायोग आसन्न समीप परासुताया मरणस्य योग सवन्ध येन स भगवान्स्वार्णपि त मातङ्गमेवम् अवोचत्। 'अहो मातङ्ग, तदुभयान्तरालसज्जा रज्जू भिन्नदिशो स्थितयो पिशितसुराकुम्भयोरन्तराले मध्ये सज्जा स्थिता रज्जू वरत्रा सृजत निर्मिमाणस्य तन्मध्ये तव तन्निवृत्तिव्रतम् तयो पलसुरयोस्त्यागस्य व्रतम्' इति मातङ्गस्तथा प्रतिपद्य स्वीकृत्य तम् अवकाश तत्स्थानम् उपसद्य प्राप्य पिशित प्राश्य भक्षयित्वा यावदहम् इद स्थानक नायामि यावत् कालम् अहम् एतत्स्थान प्रदेश नायामि नागच्छामि तावन्मेऽस्य पिशितस्य निवृत्तिस्त्याग। इत्यभिधाय समासादितमदिरास्थान लब्धसुराकलशप्रदेश प्रतिपन्नपान पीतसुर। तदुग्रतरगरभरात् तस्य विषभरस्य उग्रतर तीव्रतर यत् गर विष तस्य भरात्प्रभावात् लघूल्लङ्घितमतिप्रसर लघु शीघ्रम् उल्लघित विनष्ट मतिप्रसर चेतनाविलास यस्य। विषवेगान्मूर्च्छितस्येत्यर्थ तन्निवृत्ति मद्यमासयो निवृत्ति त्यागम् अलभमानचित्तोऽपि अप्राप्तमानसोऽपि प्रेत्य मृत्वा तावन्मात्रव्रतमाहात्म्येन स्तोककाल यावद्गृहीतव्रतप्रभावेन यक्षकुले यक्षमुख्यत्व प्रतिपेदे प्राप। भवति चात्र श्लोक —चण्डेति—अवन्तिषु देशेषु चण्डो मातङ्ग अत्यल्पकालभाविन्या अतिस्तोकसमयसजाताया पिशितस्य निवृत्तेः मासस्य त्यागात् यक्षमुख्यता प्राप यक्षाणा व्यन्तरदेवविशेषाणाम् अग्रणीर्महर्द्धिकोऽभवत् ॥३१३॥

इत्युपासकाध्ययने मासनिवृत्तिफलाख्यानो नाम पञ्चविंशतितम' कल्प ॥२५॥

स्पोहरग्रविधानमागमनात् मनसिन्धनात् च मीरितमतिः मनोविमानितहेतुना मनःसमाधानकारणेन कर्मप्रेरितेव यः एव हेतु भावः यस्य तेन बलवेन पापकेन रहसि एकान्ते विकल्पकलङ्कान्तरामकरवरसमागमयमपि विकल्प-मूपकारय स्वमचरा कमाद्यः बकचरा मत्स्यादयः अन्तराकचरा शुकादयः तेषां वर्षं पापकेन मनसम् अपि अनेकराजकार्यप्रमोदुमानसतया नानाविपरावकीयविधानभ्यापृतचित्ततया मांसभक्षणेको नासाप च प्राप्नोत् । कर्मप्रियोऽपि तथा प्रतुविनम् महत्त्व पृथ्वीश्वरनिवेशमनुतिष्ठन् महीपतेरादेशम् आचरन् एकदा पुरा-कृताकोपाहुतः पृथकू सप तस्य पाके सिद्धु तेन क्वथुत पीडित तेन दष्टः इति भावः प्रेत्य मृत्वा स्वयंभूरमणाभि-धानसमुद्रे समुद्रे स्वयंभूरमणेति अभिधानं नाम तत्रैव मुखा चिह्नं यस्य तस्मिन् समुद्रे सागरे महावेलक्ष महावेलव दर्भ यस्य स तिमिङ्गिलकमिम तिमिङ्गिलो नाम महान् मत्स्यः तमपि गिलति इति तिमिङ्गिलगिला जातः । मृतोऽ-ऽपि चिरकालेन कषायोपशान्ताभिरम कषा एव पीता यस्य स कषायोपस्तास् माधिरस मलैस्तथ । पिशितेति—पिशितस्य मांसस्य अशनं भक्षणं तस्याशनोऽभिप्रायम् इच्छा तस्य अनुबन्धात् संस्कारात् । तत्रैव तिमौ तत्रैव महामीनस्य कर्णविवरे तण्डुलतण्डुलीक तस्य कर्णस्य यो मलः तस्माज्जातं जन्म यस्य । शालि-सिक्थकलकलेवर शास्या सिक्थं तण्डुल तत्प्रमाणं कणं मनोहरं कलेवरं शरीरं यस्य तथाभूत सफर मत्स्यो ऽभवत् । तदनु तदनन्तरम् एष शालिसिक्थो मीनः पर्वस्तोमप्रकरम पूर्वजन्माभ्यासावेशिनिय । स्वर्भ पूर्व व्यादाय उद्घाट्य निद्रायत निद्रावत्स्य स्वपतः यत्मुखविवराहे गलं कण्ठं स एव मुखा गह्वरं तस्य अपारे विस्तारे वेलानदीप्रवाह इव समुद्रकूले संप्राप्तपरिवोव इव अनेक अवचरामीनं नाना जलमस्स्यादिजलजन्तु समूह प्रविश्य तथैव निष्क्रामत् निष्क्रामन् निरीक्ष्य (तन्दुलमत्स्य मनसि चिन्तयति) पापकर्मा पापम् अन्त-रामास्यं कर्म यस्य सः अत एव निर्भाग्यानां दुर्विवक्तो च अपरीमर्मा अपेक्षरचर्म विभाष घस्मेप मपः मत्स्य मत्स्यतर्पातनकेतास्यपि यस्मात् वदने वदने संपातनम् मत्स्यवर्ग तत्र केतोऽसि मेदां तथाभूतानि भागासि अन्तःपुरा भक्षितुं भक्षयितुं न शक्नोति समर्थो न भवति । मम पुनर्यदि दुरवैम्यितप्रमाणास्मनोऽनिमपितशामन्यात् दैवात् एतावन्मात्रं यावत् एतज्जरीरप्रमाणं शरीरं स्यात् तदा समस्तमपि समुद्रं विधुतसकलसत्त्वसंचारमुद्रं विहा गहा सकलसत्त्वानां सर्वप्राणिनां संचारस्य भ्रमणस्य मुद्रा चिह्नं यस्य तं विदधामि । यदि मे महामत्स्यदेहतुल्यो देहो भविष्यति तदा सकलजलचरान् भक्षयित्वा समुद्रं जलशेषं करिष्यामि । इति अभिध्यानध्यानप्रक्रा-नात् अल्पकायकत पाकुल अल्पकायम् अल्पशरीरं क्वचित् धारयति इति अल्पकायकत तन्दुल मत्स्य निरिक्ष-मकरमकराद्य महादेहशालिनो निमिका सकलास्ते नक्राः मकरा तेषां वर्गः समूहः तस्य वारो मध्ये तस्मात् महादेहवान् स मीनः कालेन विपद्य मृत्वा पतनाय च अनित्वा च तत्रोत्पन्नः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुः निरये निरये त्रयस्त्रिंशत्सागरमुहस्मरीर्षकालजीवितस्य गृहे नरके सप्तमे भवप्रत्ययावधिनाविर्भूतज्ञानविशेषो तयो तत्र स मत्स्यो हेतुः तस्य चापतः नवीनः आविर्भूत प्रकटीभूत ज्ञानविशेषो ययोस्तौ अनिमिषचरो मुखपूर्वभवकी नारक पर्यायपरो नित्य एव वयमावम् आलापम् अन्योन्यसंवादनपूर्वकं भाषणं वक्तु । अहो तन्दुलमत्स्य तथा निमि-कर्मणा दुष्कर्मण निमित्तम् इत्यादिवं कृत्वा पकबरजीवप्रयाणात्मक कर्म मर्म येन स तस्य मम दुष्कर्मण पापकर्मणो नारकायुष उदयात् मम अवायतिः आगमनम् युक्तितैव शोभा एव । तव तु मत्स्यकर्ण मलोऽयोग मत्स्य कर्णमलेन उत्पादनम् उदरनिर्वाहो यस्य वचनमात्रजननभूत् तथा मांसाहारविहितस्य प्राणिवधरहितस्य च तथाचापमनं उत्पं नेति (महामत्स्येनोक्ते तन्दुलमत्स्यो वदति) हे महामत्स्य चेहितानि दुरन्तु त संकल्पनिस्पन्नादमुमध्यानात् । शारीरिकापजीविकपरिवर्तितस्याङ्गारायरैः विमुक्तोऽस्मि । परं तु पुष्ट अन्यो यस्य स्यात तथाभूतदुःखनरकस्य निरन्तरस्य कारणात् अशुभध्यानात् अनापायनभूत् । भवति भाव श्लोक —तन्दुलमत्स्येति—स्वयंभूरमणसमुद्रे महामत्स्यस्य कर्णस्य एव तन्दुलमत्स्य विल इत्तिनिरोधान् अशुभ ध्यानात् अयो तत्र सप्तमनरके त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुषा जात नारकः ॥१११॥

इत्युपासकाध्ययने मांसाभिलाषमात्रफलप्रपञ्चनो नाम चतुर्विंशतितम कल्पः ॥२४॥

२५. मांसनिवृत्तिफलाख्यानो नाम पञ्चविंशतितमः कल्पः

[पृ० १४२-१४३] श्रूयतामत्र मासनिवृत्तिफलस्योपाख्यानम्—चण्डमातङ्गस्य कथा—अवन्तिमण्डलेति—अवन्तयश्च ते मण्डलाश्च अवन्तिमण्डलास्त एव नलिन कम तस्मिन्नभिनिवासे सरसी रसयुक्ता या एकानसीनाम पुरी तस्या पुरबाहिरिकाया तस्या पुरो बाह्यप्रदेशे। देविलेति–देविला नामो महिला पत्नी देविलाख्या पत्नी तस्या विलासा एव विशिखा बाणास्तेषा वृत्त्या सबन्धेन कोदण्डस्य धनु सदृशस्य चण्डनाम्नो मातङ्गस्य एकस्या दिशि। निवेशितेति–निवेशित स्थापित पिशित मासम् उपदशश्च तद्राचकभक्ष्यद्रव्य च येन तस्य। अपरस्या दिशि। विन्यस्तेति–विन्यस्त स्थापित सुरया मदिरया सभृत पूर्ण कलशो येन तस्य। पुन कथभूतस्य चण्डमातङ्गस्य पलोपदशोदारा सुरा मासभक्षणे रुच्युत्पादकरूपाम् उदारा विपुला सुरा पाय पायं पीत्वा पीत्वा तदुभयान्तराले तयोरुभययो अन्तराले मध्य चर्मनिर्माणतन्त्रा चर्मणा निर्माण रचना तदेव तन्त्र हेतुर्यस्या ता वरत्रा वद्ध्री वर्तयत रचयत चण्डमातङ्गस्य। वियदिति–वियति आकाशे विहारो भ्रमण तदर्थम् उड्डीन उत्पतन कुर्वाण अण्डजडिम्भ पक्षिशिशु तस्य तुण्डेन मुखेन यत्खण्डन तस्मात्। विनिष्यन्दि स्रवत् यद्विषधरविष सर्पविष तस्य दोषस्यावसरो यत्र तथाभूता सुराभवत्। सर्पविषबिन्दो पतनात्मविषा मदिरा जातेति भाव। अत्रैवावसरे अस्मिन्नेव प्रस्तावे तत्समीपवर्त्मगोचरे चण्डमातङ्गनिवासस्य समीपमेव मार्गे धर्मेति–धर्मश्रवणम्, जन्मान्तरादिप्रकटनम् इत्याद्युपाययुक्ताभि कथाभि विनेयजना शिष्यास्तेषामुपकाराय कृतेति–कृत. उत्पन्ना कामचार इच्छा तेन प्रचारो भ्रमण यस्य, पुन कथभूतम् ऋषियुगलम्। मूर्तिमदिति—मूर्तिमत् सदेह स्वर्गमोक्षमार्गयुग्ममिव अम्बरात् आकाशात् अवतरत् अध आगच्छत् ऋषियुग्मम् अवलोक्य सजातकुतूहल उत्पन्नविस्मय। त देश मुनिप्रदेशम् अनुसृत्य नगरे मुनिवरावलोकनात् श्रावकलोकं व्रतानि समाददान गृह्णन्तम् अनुस्मृत्य ज्ञात्वा। समाचरितप्रणाम विहितवन्दन। सुनन्दमुने. अग्रेसरगमनम् अभिनन्दन भगवन्तम् आरमोचित व्रतमयाचत। भगवान्। उपकारायेति–पर्जन्य इव यथा मेघवृष्टि सर्वस्य उपकाराय तथा धार्मिक सर्वस्य उपकाराय हितोपदेशेषु प्रवर्तते। यथा मेघवृष्टे स्थानास्थानचिन्ता नास्ति तथा हितोक्तिषु अपि धार्मिकस्य सा न भवति ॥३१२॥ इत्यवगम्य ज्ञात्वा सम्यगिति–सम्यक् सम्यग्दर्शनयुक्त यदवधिज्ञान तस्योपयोगात् अवगत ज्ञात एतस्य चण्डमातङ्गस्य आसन्नपरासुतायोग आसन्न समीप परासुताया मरणस्य योग सबन्ध येन स भगवाञ्चारणपि त मातङ्गमेवम् अवोचत्। 'अहो मातङ्ग, तदुभयान्तरालसज्जा रज्जू भिन्नदिशो स्थितयो पिशितसुराकुम्भयोरन्तराले मध्ये सज्जा स्थिता रज्जू वरत्रा सृजत निर्मिमाणस्य तन्मध्ये तव तन्निवृत्तिव्रतम् तयो पलसुरयोस्त्यागस्य व्रतम्' इति मातङ्गस्तथा प्रतिपद्य स्वीकृत्य तम् अवकाश तत्स्थानम् उपसद्य प्राप्य पिशित प्राश्य भक्षयित्वा यावदहम् इद स्थानक नायामि यावत् कालम् अहम् एतत्स्थान प्रदेश नायामि नागच्छामि तावन्मेऽस्य पिशितस्य निवृत्तिस्त्याग। इत्यभिधाय समासादितमदिरास्थान लब्धसुराकलशप्रदेश प्रतिपन्नपान पीतसुर। तदुग्रतरगरभरात् तस्य विषधरस्य उग्रतर तीव्रतर यत् गर विष तस्य भरात्प्रभावात् लघूल्लङ्घितमतिप्रसर लघु शीघ्रम् उल्लघित विनष्ट मतिप्रसर चेतनाविलास यस्य। विषवेगान्मूर्च्छितस्येत्यर्थ तन्निवृत्ति मद्यमासयो निवृत्ति त्यागम् अलभमानचित्तोऽपि अप्राप्तमानसोऽपि प्रेत्य मृत्वा तावन्मात्रव्रतमाहात्म्येन स्तोककाल यावद्गृहीतव्रतप्रभावेन यक्षकुले यक्षमुख्यत्व प्रतिपेदे प्राप। भवति चात्र श्लोक —चण्डेति—अवन्तिषु देशेषु चण्डो मातङ्ग अत्यल्पकालभाविन्या अतिस्तोकसमयसजाताया पिशितस्य निवृत्तित मासस्य त्यागात् यक्षमुख्यता प्राप यक्षाणा व्यन्तरदेवविशेषाणाम् अग्रणीर्महर्द्धिकोऽभवत् ॥३१३॥

इत्युपासकाध्ययने मासनिवृत्तिफलाख्यानो नाम पञ्चविंशतितम' कल्प ॥२५॥

२६ अहिंसाफलावलोकनो नाम षड्विंशः कल्पः

[पृ० १४३-१४९] अथ के ते उत्तरगुणा —उत्तरे मूलगुणानन्तरं सेव्यत्वादुत्तरत्वाच्च ते च ते गुणाश्च उत्तरगुणाः के ते इति प्रश्न उत्तरमाह—अणुव्रतानीति—पञ्चैव अणुव्रतानि त्रिप्रकारं त्रिविधं गुणव्रतम्। चत्वारि शिक्षाव्रतानि एवं द्वादश उत्तरे गुणाः स्युः। गुणार्थम् अणुव्रतानाम् उपकारार्थं व्रतं गुणव्रतं त्रिविधं स्यादेतेषाम् अणुव्रतानुबृंहणार्थत्वात्। शिक्षाव्रतम्—शिक्षायै अभ्यासाय व्रतं देशावकाशिकादीनां प्रतिदिवसाभ्यसनीयत्वात्। अतएव गुणव्रतादस्य भेदः। गुणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविकमाहुः। अथवा शिक्षा विद्योपादानं शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतम्। देशावकाशिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञानभावनापरिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात् ॥११४॥ तत्र—हिंसास्तेयेति—हिंसाया प्राणिवधस्य देशत स्थूलत्वेन असर्वविषयस्य विनिग्रहो विरतिस्त्वाद्य इति प्रथमम् अणुव्रतम्। स्तेयस्य देशतो विनिग्रहः अनृतस्य देशतो विनिग्रहः अब्रह्मणो देशतो विनिग्रहः तथा परिग्रहाणां देशतो विनिग्रहः एतानि पञ्चाणुव्रतानि प्रचक्षते स्यान्ति ॥११५॥ व्रतस्य लक्षणम्—सङ्कल्पेति—सेव्ये स्वाचारत्वात्सूनृतादौ सङ्कल्पपूर्वक इदं एतावत्कालं न सेविष्ये इति मनसा अध्यवसायं कृत्वा नियम प्रतिज्ञा व्रतं स्यात् अथवा अहम् इदम् इयत् एतावत्कालं सेविष्यामीयति संकल्पेन नियम प्रतिज्ञा व्रतं स्यात्। अथवा सत्कर्मसंभवा प्रवृत्तिर्व्रतं स्यात्। किं विशिष्टा संकल्पपूर्विका शुभकर्मणि पात्रदानादिके संभवो यस्याः सा। अथवा असत्कर्मसंभवा निवृत्तिर्व्रतं स्यात् हिंसादिकम् असत्कर्म तस्मान्निवृत्तिः विरतिः संकल्पपूर्विका एवं व्रतस्य स्वरूपम् ॥११६॥ हिंसादिभ्यो विपत्तिर्भवति अत्र परत्रेति प्रोच्यते—हिंसायामिति—हिंसायाम्, अनृते असत्यभाषणे चौर्ये स्तेये अब्रह्मणि मैथुने परिग्रहे ममत्वे अत्रैव विपत्तिर्दृष्टा वधबन्धादिरूपा। परत्र परलोके नरकादौ दुर्गतिर्भवति ॥११७॥ हिंसाहिंसयोः स्वरूपमाह—यदिति—यस्मात् प्रमादयोगेन कषायावशेन अनवधानतया इन्द्रियाणां प्रचारमनवधाय वा। प्राणिषु प्राणहरणम् इन्द्रियाण्यायुः बलप्राणाः तथा यथासंभवं व्यपरोपणं वियोगकरणं हिंसेत्यभिधीयते। तेषां प्राणानां रक्षणम् अहिंसा या सतां मुनीनां मान्या ॥११८॥ पिकमति—स्त्रीकथादयश्चतस्रः। अक्षाणि इन्द्रियाणि पञ्च। कषायाश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः। निद्रा प्रणयश्च। एषाम् अभ्यासे पुनः पुनरावर्तने रतो जन्तुः प्रमत्तः परिकीर्तितः प्रतिपादित ॥११९॥ अहिंसाव्रतमाह—गृहकार्याणीति—देवतार्थं अतिथ्यर्थे पितृभ्यः मन्त्रार्थं औषधार्थं भयाय च सर्वान् जीवान् न हिंस्यात् न घातयेत्। अहिंसा नाम तद्व्रतं भवेत् ॥१२० ॥ गृहकार्याणीति—सर्वाणि गृहकार्याणि पेषणादिकानि पञ्च सूक्ष्माणि दृष्ट्वा सम्यग्निरीक्षितानि कारयेत्। सर्वाणि द्रवद्रव्याणि जलघृततैलादीनि पटपूतानि वस्त्रगालितानि योजयेत् पानादिकार्येषु ॥१२१॥ आसनमिति—आसनं पीठम् शयनं शय्या मार्गः पन्थानम् अन्नम् ओदनादिकम् अन्यच्च यत् वस्तु तत् अदृष्टं दृष्ट्वा अवीक्षितं न सेवेत नोपभुञ्जीत। यथाकालं अवसरेऽपि अस्मिन्काले गवाक्षादिकं सेव्यते तत् दृष्ट्वा सम्यग्वीक्ष्य भजेत् तथा च हिंसादोषस्पर्शो न भवेत् विचारादिकप्राप्तिर्वा न भवेत् ॥१२२॥ दर्शनेति—भोजनान्तरायाणां निरूपणाय—दर्शनेत्यादि—दर्शनस्पर्शनसंसर्गत्यक्तभोजिता स्पर्शत्यक्तभोजिता संसर्गत्यक्तभोजिता संकल्पत्यक्तभोजिता निगदान्तरायाः प्राणप्रयुक्ताः आर्द्रचर्मास्थिसुरामांसासृक्पूयानां दर्शनात् दर्शनेन अशनं दृष्ट्वा त्यक्त्वा च आत्माभिप्रायात् त्यजनम्। इदं दर्शनत्यक्तभोजिता। स्पर्शत्यक्तभोजिता चैवम्—रजस्वला स्त्री शुष्कचर्मास्थिशुनकमार्जारादिकं स्पृष्ट्वा आहारत्यजनम्। संकल्पत्यक्तभोजिता—इदं भुज्यमानं वस्तु मांसं मद्यादिवत् इदं रुधिरम् इदं मद्यं अयं मद्यं इत्यादिकल्पेन अथवा मांसपानाद्युपि विकल्प्यमाने अशनं त्यजेत्। संसर्गत्यक्तभोजिता—द्वि-चतुरिन्द्रियप्राणिभिः अन्ने संसृष्टे भोजनद्रव्यान्तर्गते मृतकलेवरे जीवैः सह अन्नं त्यजेत्। तथा निगदान्तरायाः अविरमणवाक्यम् तत्र मार्जारं हर च इत्यादिकम् आकर्णनं त्यजेत्। शरीरादावार्द्रमनुजमांस विद्धत्वादिकम् आकर्ण्य भोजनं त्यजेत्। भाजनेन निमित्तं प्राणाप्रवृत्ताः अथवा अन्नं त्यजनम्। एवं आत्मप्रयुक्ताः भोजनान्तरायाः आत्मजा ॥१२३॥ अतिचारानाह—सद्विपद्वयं हिंसादि उपसर्गः लोभे निषिद्धः स्पृष्टा कथिता। हिंसके नाशेऽतिपातकतया ... [illegible] ... प्रमादात्। तत्र

इच्छानिरोध तस्य परिवृद्धये समन्तादुपचयाय। व्रतबीजवृतिक्रिया बीजस्येव व्रतानाम् आवेष्टकक्रिया रक्षोपाया येषु ते अन्तराया सन्ति ॥३२४॥ अहिंसाव्रतेति—अहिंसाव्रतस्य पालनार्थम्। मूलव्रतानाम् अष्टमूलगुणाना विशुद्धये अतिचाररहितत्वाय निशाया भुक्ति भोजन वर्जयेत् परिहरेत्। यत सा इहामुत्र दु खदायिनी भवति ॥३२५॥ आश्रितेष्विति—सर्वेषु आश्रितेषु मनुष्येषु पक्षिषु पशुषु च अनन्यस्वामिकेषु। यथावद्विहितस्थिति यस्य येन अन्नादिना शरीरपोषण स्यात् तेन तस्य तथा करणीयम्। एवम् आश्रिताना भरण विधाय शारीरे अवसरे आहारग्रहणसमये स्वय गृहाश्रमी गृहस्थ समीहित यत्न कुर्यात् ॥३२६॥ सधानमिति—यत्र रसकायिका जीवा अनन्तशो जायन्ते तत्सधानकम्। पानक दधिगुडचातुर्जातकादिद्रव्योद्भवम। धान्य शाल्यादिकम्। पुष्प कुसुमम्। मूल वृक्षवल्ल्यादे पादा, दल पत्रम्। यद् यद् जीवयोनि जीवस्य यदुत्पत्तिस्थान तत् न सग्राह्यम्। यच्च जीवैरुपद्रुत कीटकै उपद्रुत छिद्रित तत् न सग्राह्यम् ॥३२७॥ अमिश्रमिति—अन्येन अन्नादिना मिश्रणम् अकृतमपि कालाश्रयेण वर्षाकालाद्यवलम्बनेन उत्सर्गे ग्राह्यमपि किंचिद्वस्तु जीवयोनित्वात् जीवैरुपद्रुतत्वाद्वा जिनागमे त्याज्य भवति। किंचिद्वस्तु शीतोष्णादिदेशाश्रयेण, किंचिद्वस्तु जीर्णादि पुष्पितादिदशाश्रयेण प्रागुत्सर्गे सदपि जिनागमे त्याज्य भवति। किंचिद्वस्तु मिश्रमपि कालदेशदशा अवलम्ब्य अग्राह्य भवति ॥३२८॥ यदन्त इति—यस्य अन्त मध्ये सुषिर छिद्र प्राय बहुश वर्तते तन्नालीनलादि कमलनाल नलादि देवनालवेत्रादिक मृदु वेण्वादिक हेय त्याज्यम्, तत्सुषिरे त्रसजीवानाम् आगन्तुकाना सभवात्। तथा अनन्तकायिकप्रायम् अनन्तजीवाना शरीर यद्भवति तदनन्तकायिक प्राय बहुश अनन्तकायिकतुल्य च यद्बहुजीवनिचित त्रसजीवसकीर्ण च भवति तद्वल्लीकन्दादिक त्यजेत्। या वल्ली कोमला विद्यते, तस्या किसलयवृन्तादिक कोमलम् अनन्तकायिक च भवति अतस्तत् व्रतिभिर्हेयम्। कन्दादिक च पलाण्डुसूरणादिक च बहुतराणा तदाश्रितजीवानाम् आश्रयस्थानत्वात् त्याज्यम्। अन्यथा तद्भक्षणेन जिह्वेन्द्रियप्रीणनमात्र फलमल्प भवति बहुजीवाना घातश्च भवति ॥३२९॥ द्विदलमिति—द्विदल मुद्गमाषादिधान्य द्विदल द्वे दले विभागौ यस्य पृथक्तया पेषणादिना जाते तद्द्विदल मुद्गमाषादिक सखण्ड प्रायश भक्षणीयम् तत्र सखण्डत्वात् अङ्कुरशक्त्यभाव। अनवता गत द्विदलम् अकृतद्विदलभाव द्विदल जीर्णं प्रायेण ग्राह्यम् यदि अदृष्टजन्तुसम्मूर्च्छन विद्येत। जन्तुसम्मूर्च्छने तद्धेयम्। सिम्बय भल्लराजमाषप्रमुखफलिका सबला त्याज्या न भक्षणीया। कदा न भक्षणीया। या सकलाश्च साधिता स्यु अकृतद्विभावा एव यदि अग्निना पाचिता स्युस्तर्हि तासा भक्षण पापप्रद स्यात्, अखण्डत्वात् तद्गतत्रसजीवानाम् अग्निसयोगेन मृति प्राप्तत्वात् ॥३३०॥ दयार्द्रताया यथाभावस्तद्वर्णनम्—तत्रेति—यत्र बह्वारम्भपरिग्रहस्तत्राहिंसा कुत। प्राणिपीडाहेतुव्यापार आरम्भ। ममेद बुद्धिलक्षण परिग्रह। बहव आरम्भपरिग्रहा यस्य तस्मिन्नरे अहिंसा कुतो भवेत्। तत्र कोमलपरिणामाभावात् लोभाकुलत्वात् च दयाभावो न भवति। वञ्चके परप्रतारणशीले नरे कुशीले परदारलम्पटे च दयालुता नास्ति ॥३३१॥ कस्य जीवस्य असद्वेद्य कर्म बध्यते। शोकेति—स्वपरयो शोकसतापसक्रन्दपरिदेवनदु खानि भवन्जन्तु असद्वेद्याय जायते। अन्यस्मिञ्जने स्वस्मिश्च शोकाद्युत्पादिका यस्य बुद्धिर्भवति स जन्तु प्राणी असद्वेद्याय असत् अशुभ दु खदायक वेद्य वेदनीयाख्य कर्म असद्वेद्य तस्मै हेतुर्जायते भवति। शोकादीना[1] व्याख्या क्रमश—अनुग्राहकसबन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेष शोक। परिवादादिनिमित्तादाविलान्त करणस्य तीव्रानुशय सताप। परितापजाताश्रुपातप्रचुरविलापादिव्यक्तक्रन्दन सक्रन्दनम्। सक्लेशपरिणामावलम्बन गुणस्मरणानुकीर्तनपूर्वक स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयमनुकम्पाप्रचुर रोदन परिदेवनम् ॥३३२॥ चारित्रमोहास्रव निगदति—कषायेति—यस्य भाव कषायोदयतीव्रात्मा उपजायते असौ जीव चारित्रमोहस्य समाश्रयो जायते। यस्य जीवस्य भाव क्रोधादिकषायाणाम् उदयात्तीव्र उत्कट भवति स चारित्रमोहकर्मण समाश्रय अवलम्बन भवति। ततश्च स जीव व्रतादिपालने समर्थो न भवति। तस्मिन् हिंसादिपापसमर्थो भवति ॥३३३॥

---

१ सर्वार्थसिद्धौ 'दु खशोकादि' सूत्रस्य टीकाया व्याख्या इमा द्रष्टव्या।

२६ अहिंसाफलावलोकना नाम षड्विंशः कल्पः

[पृ० १४३ १४९] अथ के ते उत्तरगुणा —उत्तरे मूलगुणानन्तरं सेव्यत्वादुत्तरत्वाच्च ते च ते गुणाश्च उत्तरगुणा के ते इति प्रश्ने उत्तरमाह—अणुव्रतानीति—पञ्चैव अणुव्रतानि त्रिप्रकारं त्रिविधं गुणव्रतम्। चत्वारि शिक्षाव्रतानि एवं द्वादश उत्तरे गुणा स्युः । गुणव्रतम् अणुव्रतानाम् उपकाराय व्रतं गुणव्रतं दिग्विरत्यादीनाम् अणुव्रतानुबृंहणार्थत्वात् । शिक्षाव्रतम्—शिक्षायै अभ्यासाय व्रतं देशावकाशिकादीनां प्रतिदिवसाभ्यसनीयत्वात् । अतएव गुणव्रतादस्य भेदः । गुणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविकमाहुः । अथवा शिक्षा विद्योपादानं शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतम् । देशावकाशिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञानभावनापरिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात् ॥११४॥ तत्र—हिंसास्तेयेति—हिंसायाः प्राणिवधस्य देशतः स्थूलत्वेन त्रसजीववधस्य विनिग्रहो विरतिरस्याय इति प्रथमम् अणुव्रतम् । स्तेयस्य देशतो विनिग्रहः अनृतस्य देशतो विनिग्रहः अब्रह्मणो देशतो विनिग्रहः तथा परिग्रहाणां देशतो विनिग्रहः एतानि पञ्चाणुव्रतानि प्रचक्षते कथ्यन्ते ॥११५॥ व्रतस्य लक्षणम्—संकल्पेति—सेव्ये स्वदारतांबूलादौ संकल्पपूर्वक इदं इयत्कालपर्यन्तं कालं न सेविष्ये इति मनसा अध्यवसायं कृत्वा नियम प्रतिज्ञा व्रतं स्यात् अथवा अहम् इदम् इयत् एतावन्तं कालं सेविष्याम्यतः परं तु नेति संकल्पेन नियम प्रतिज्ञा व्रतं स्यात् । अथवा सत्कर्मसंभवा प्रवृत्तिर्व्रतं स्यात् । किं विशिष्टा संकल्पपूर्विका शुभकर्मणि पात्रदानादिके संभवो यस्याः सा । अथवा असत्कर्मसंभवा निवृत्तिर्व्रतं स्यात् हिंसादिकम् असत्कर्म तस्मान्निवृत्तिः विरतिः संकल्पपूर्विका एवं व्रतस्य लक्षणम् ॥११६॥ हिंसादिभ्यो विपत्तिर्दुर्गतो अत्र परत्रेति कथ्यते—हिंसायामिति—हिंसायाम्, अनृते असत्यभाषणे चौर्ये स्तेये अब्रह्मणि मैथुने परिग्रहे ममत्वे अत्रैव विपत्तिर्दुःखं वधबन्धपरिक्लेशादिरूपा । परत्र परलोके नरकादौ दुर्गतिरुच्यते ॥११७॥ हिंसाहिंसयोः स्वरूपमाह—यदिति—यस्मात् प्रमादयोगेन कषायावेशेन अयत्नाचारतया इन्द्रियाणां प्रचारमनवधाय वा । प्राणिषु प्राणव्यपरोपणम् इति भावतो द्रव्यप्राणानां तेषां यथासंभवं व्यपरोपणं वियोजनकरणं हिंसेत्यभिधीयते । तेषां प्राणानां रक्षणम् अहिंसा सा सतां मुनीनां मान्या ॥११८॥ विकथेति—स्त्रीकथाद्याश्चतस्रः । अक्षाणि इन्द्रियाणि पञ्च । कषायाश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । निद्रा प्रणयश्च । एषाम् अभ्यासे पुनः पुनरावर्तने रतो यस्तु प्रमत्तः परिकीर्तितः प्रतिपादितः ॥११९॥ अहिंसाव्रतमाह—देवतेति—देवतायै अतिथये पितृभ्यः मन्त्राय औषधाय भयाच्च सर्वान् जीवान् न हिंस्यात् न घातयेत् । अहिंसा नाम तद्व्रतं भवत् ॥१२ ॥ गृहकार्याणीति—सर्वाणि गृहकार्याणि पेषणादिकानि पञ्च दृष्टिपूतानि दृष्ट्या सम्यङ्निरीक्षितानि कारयेत् । द्रवाणि द्रवद्रव्याणि जलघृततैलादीनि पटपूतानि वस्त्रगालितानि योजयेत् पानादिकार्येषु ॥१२१॥ आसनमिति—आसनं पीठम् शयनं शय्या मार्गं पन्थानम् अन्नम् ओदनादिकम् अन्यच्च यत् वस्तु तत् अदृष्टं दृष्ट्या अवीक्षितं न सेवेत नोपभुञ्जीत । यथाकालं भजन्नपि अस्मिन्काले यथासमयादिकं सेव्यते तत् दृष्ट्वा सम्यग्वीक्ष्य भजेत् तथा च हिंसादोषस्पर्शो न भवेत् विषादिकप्राप्तिर्वा न भवेत् ॥१२२॥ दर्शनेति—भोजनान्तरायाम् विवृणोति—दर्शनेत्यादि—दर्शनत्यक्तभोजिता स्पर्शत्यक्तभोजिता संकल्पत्यक्तभोजिता संसर्गत्यक्तभोजिता । हिंसनाक्रन्दनप्रायाः मांसमद्यपूयकालकार्द्रचर्मास्थिसुरामांसासृक्पूयानां दर्शनात् व्रतिकेन अशनं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च तात्कालिकाहारस्त्यक्तव्यः । एवं दर्शनत्यक्तभोजिता । स्पर्शत्यक्तभोजिता चैवम्—रजस्वला स्त्री शुष्कचर्मास्थिशुनकमार्जारश्वपचादिकं स्पृष्ट्वा आहारस्त्यक्तव्यः । संकल्पत्यक्तभोजिता—इदं भुज्यमानं वस्तु मांसं सादृश्यात् इदं रुधिरम् इदमस्थि अयं सर्प इत्यादिरूपेण मनसा भोज्यवस्तूनि विकल्प्यमाने अशनं त्यजेत् । संसर्गत्यक्तभोजिता—त्रिभिः चतुर्भिरिन्द्रियप्राणिभिः अन्ने संसृष्टेः भोज्यद्रव्यात्पृथक् कर्तुमशक्ये जीवद्भिः मृतैर्वा बहुभिस्त्रिचतुरादिभिः पुनरशनं त्यजेत् । तथा हिंसनाक्रन्दनप्रायाः अतिकर्कशस्वरम् अस्य मस्तकं छिन्धि इत्यादिरूपम् आक्रन्दनं स्वकीयप्रदेशस्थानवसरानां विद्वरप्रायाणि स्वनम् परचक्रागमनाग्निदाहप्रदीपनादिविषयम् आकर्ण्य भोजनं त्यजेत् । प्राप्ते समये नियमितं प्रत्याख्यानं वस्तु भुक्त्वा अशनं त्यक्तव्यम् । एवं प्रायश्चित्ताद्यरिष्टा भोजनान्तरायाः ज्ञातव्याः ॥१२३॥ अतिप्रसंगेति—अहिंसायाः पञ्चधारितिर्विधा अन्तराया मुनीन्द्रैः स्मृताः कथिताः । किमर्थं स्मृताः अतिप्रसंगहानाय अतिप्रसंगस्य शिथिलाचारस्य निवृत्त्यर्थं प्रवृत्तिः तपस इमान् त्याजयत । तत्

एकस्मिन्निति—उत्साहशालिना पुंसा मनस एकस्मिन् कोणे अनायासेन चतुर्दशभवनानि समान्ति । उत्साहेन शोभमानानाम् उद्यमिना नराणा मनस एकस्मिन् विभागे अनायासेन विना परिश्रम चतुर्दशभुवनानि समान्ति । अर्थात् मनस तादृशी शक्तिरस्ति यया चतुर्दशभुवनान्यपि ज्ञायन्ते । अथवा चतुर्दशभुवनाना स्वरूप दर्पणतले यथा पुरत स्थित सकलोऽपि वस्तुनिवहो दृश्यते तथा प्रतिभाति । अत लोकोक्तिरिय सत्येति ज्ञातव्या ॥३४६॥ तृणादीनामपि हिंसन यावता निज प्रयोजन सिद्ध्येत्तावदेव कुर्यात् इति कथयति—भूपेति—भुव भूमे पयसो जलस्य पवनस्य वायो अग्नेश्च तथा तृणादीनाम् आदिशब्देन वल्लीगुल्मतर्वादीना हिंसन तावदेव कुर्यात् यावता स्वस्य कार्यं स्यात् कोऽसौ कुर्यात् अय गृहस्थ । कथम् अजन्तु यत् यत्र स्थाने त्रसा न सन्ति तस्मात्स्थानाद् गृहीतव्य जलतृणादिकमिति भाव ॥३४७॥ ग्रामेति—ग्रामस्वामिस्वकार्येषु ग्रामकार्यं सकलजनाना यत् कार्यं तस्मिन् राज्ञा नियुक्त गृहस्थ यथालोक लोकस्यानतिक्रमेण लोकानुसारेण कुर्यात् एव स्वामिकार्य निजप्रभुणा आदिष्टम्, स्वकार्य च लोकानुसारेण कुर्याद्वा यो य आलोक आप्तोपदेशप्रकाशस्तेन तेन तत्तत्कार्यमाचरेत् इति ग्राह्यम्, यत अत्रास्मिञ्जगति गुणदोषविभागे लोक एव गुरुर्ज्ञातव्यः ॥३४८॥ दर्पेणेति—दर्पेण इन्द्रियमदेन प्रमादाद्वा कषायावेशवशतया वा । द्वीन्द्रियादिविराधने द्वीन्द्रियादिप्राणिविनाशने यथादोष दोषमनतिक्रम्य यथागमम् आगम प्रायश्चित्तशास्त्रम् अनुसृत्य प्रायश्चित्तविधि कुर्यात् ॥३४९॥ प्रायश्चित्तनिरुक्तिमाह—प्राय इति—लोक प्राय इत्युच्यते प्राय इति शब्दो लोकस्य वाचक । तस्य लोकस्य चित्त मन उच्यते । एतस्य मनस शुद्धिकर कर्म तप अनशनादिक प्रायश्चित्त प्रचक्षते आख्यान्ति । योऽपराधी जन प्रायश्चित्त करोति तस्य मनसस्तत्करणाच्छुद्धिर्जायते अन्ये च ये सधर्माण सन्ति तेषामपि मनस सतोषोत्पादन भवति, प्रायश्चित्त गृह्णतो जनस्य पुनरकार्ये प्रवृत्तिर्न भवति । जिनाज्ञा च प्रतिपालिता भवति ॥३५०॥ प्राज्ञा प्रायश्चित्तस्य दातार —द्वादशेति—आचारादिद्वादशाङ्गश्रुतधारकोऽपि एक गुरु कृच्छ्र प्रायश्चित्त दातुं नार्हति तस्माद्बहुश्रुतज्ञा विद्वास प्रायश्चित्तप्रदाने अधिकारिणो मता । एको विद्वान् देशकालादिसकलावस्थाना विमर्शं कर्तु न प्रभवति अत विशिष्टप्रायश्चित्तदाने आचार्यो बहूना विदुषामभिप्रायस्य सम्यगालोचन कृत्वा प्रायश्चित्त दातु समर्थो भवति ॥३५१॥ येन साधनेन दुष्कृत कृत तेनैव तस्य विनाश कार्य इत्याह—मनसेति—मनसा चित्तेन, कर्मणा हस्तपादादिना शरीरेण, वाचा च परुषया दुरभिप्राययुतया यद्दुष्कृतमघम् उपार्जित सचित तत् तेनैव मनसा कर्मणा वाचा विशुद्धाभिप्रायतया तद्दुष्कृत तत्पाप तथैव विहापयेत् विनाशयेत् ॥३५२॥ योगस्वरूप निगदति—आत्मदेशेति—आत्मन प्रदेशाना परिस्पन्द कम्पन योग इति स योगविदा योगमार्गणास्वरूपस्य ज्ञातृणा मत अभिमत । स च मनोवाक्कायत जायते मनसा आत्मप्रदेशाना कम्पने जातो योग मनोयोगसज्ञा लभते । वचसात्मप्रदेशकम्पनं वचोयोग , कायेन जीवप्रदेशचञ्चलता भवति तदा काययोगो जायते । इति त्रियोगा पुण्यपापास्रवाश्रया पुण्यास्रवकारणत्वात् शुभयोगत्रितयम् । पापास्रवकारणत्वादशुभयोगत्रितयमुच्यते ॥३५३॥ अशुभयोगत्रितय क्रमशो दर्शयति—हिंसनाब्रह्मचौर्येति—हिंसन प्राणिवध अब्रह्म मैथुनसेवनम्, चौर्यादिकं च काये शरीरे कर्म अशुभ विदु । अशुभ पापोत्पादकम् । असत्यम् असभ्य सभ्यजनायोग्यम्, पारुष्य कर्कशम्, इत्यादि वचनविषय कर्म अशुभवाग्योगयुक्त ज्ञायताम् ॥३५४॥ मदेर्ष्येति—मदो गर्व , ईर्ष्या द्वेष , असूया परगुणामहनम् आदिशब्देन रागादयो विकारा एतत्सर्वं मनोव्यापाराश्रितम् अशुभमनोयोगसज्ञमुच्यते । एतद्विपर्ययात् हिंसनादेर्विपर्ययात् असत्यासभ्यादेर्विपर्ययात् मदेर्ष्यासूयनादेर्विपर्ययात् शुभ कायवाङ्मनोगतं कर्म ज्ञेयम् ॥३५५॥ तत्पुन पापम् एतेषु हिरण्यादिदानेषु दत्तेषु न शाम्यतीति कथयति—हिरण्येति—हिरण्य सुवर्णं पशुर्धेन्वादिक भूमि सस्योत्पत्तिक्षेत्रम् कन्या प्रसिद्धा शय्या तल्पम् अन्नम् ओदनादिकम्, वासासि वस्त्राणि, एतेषा वस्तूना दानै अन्यैश्च पदार्थैर्न पापम् उपशाम्यति । पापनाशने एतानि दानानि नोपाय । यथा लङ्घनेन आहारत्यागेन ओषधग्रहणेन साध्यानाम् उपशान्ति व्रजता रोगाणा बाह्यो विधि हस्तपादमर्दनादिकम् अकिंचित्करम् रोगहरणेऽक्षमम् । तथा पापेऽपि दानादिक मन्यताम्, तेन पापापायो न भवति ॥३५६-३५७॥ निहत्येति—मनोवाग्देहदण्डनै मनोनिग्रह कृत्वा, भाषानिग्रह विधाय, देहनिग्रह च कृत्वा सकल पाप निहत्य विनाश्य, तत दानपूजादिक कर्म व्रतिक करोतु ॥३५८॥ प्रत्याख्यान विधाय

[पृष्ठ १५०-१५१] अहिंसादिगुणप्राप्तये मैत्र्यादिभावनाभ्यासः कार्यः—मैत्रीति—मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि यथाक्रमं । सत्त्वे गुणाधिके क्लिष्टे निर्गुणेऽपि च भावयेत् । मैत्र्यादीनां सत्त्वादीनां च क्रमशो वैशद्यं स्वयं ग्रन्थकारः पद्यत्रयेण कथयति ॥११४॥ कायेनेति—कायेन शरीरेण मनसा वाचा च परे अन्यस्मिन् सर्वस्मिन् देहिनि प्राणिनि अनुक्षणमपि दुःखं कस्यापि माभूत् इति मनोवृत्तिः मैत्रीविदां मैत्री विदन्ति जानन्ति इति मैत्रीविदः तेषां मैत्री मता परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री संमता ॥११५॥ तपोगुणेति—तपसा अधिके पुंसि सम्यग्दर्शनादिभिश्च अधिके गरीयसि पुंसि धार्मिके जने । प्रश्रयाश्रयनिर्भरः प्रश्रयः विनयो वा तस्य आश्रयः आधारः तेन निर्भरः पूर्णः जायमानः मनोरागः मनोभक्तिः प्रमोदः । वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः इति विदुषां मतः विदुषामानां मतः संमतः ॥११६॥ दीनेति—असद्वेद्योदयापादितक्लेशैः क्लिश्यमाना दीनाः तेषां दीनानाम् अभ्युद्धरणे दारिद्र्यरोगादिपीडापनयने या बुद्धिः संकल्पः तत्कारुण्यम् । माध्यस्थ्यस्य लक्षणमेवम्—निर्गुणात्मनि तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसंपादितगुणो निर्गुणात्मा तस्मिन् अविनेये दुर्नयमदोज्झिता वृत्तिर्माध्यस्थ्यं रागद्वेषरहितो मनःस्वभावः उपेक्षाभावः माध्यस्थ्यमुच्यते ॥११७॥ इत्थमिति—एवं मैत्र्यादिभावनोपेतस्य प्रशममानस्य ईर्ष्याविसमितितत्परस्य गृहस्थस्यापि देहिनः स्वर्गः करस्थो जायते । अस्य गृहस्थस्य च तत्पदं मुक्तिपदं दूरं नास्ति स्तोकभवैरनन्तर एव तत् ॥११८॥ दयावति नरे पापाभावः—पुण्यमिति—पुण्यं तेजःस्वरूपम्, पापं दुष्कृतं तमोमयम् अन्धकाररूपम् अस्ति विद्वांसः । तत्पापं दयादीधितिमालिनि दयारूपा दीधितिमाला किरणमाला यस्य स दयादीधितिमाली तस्मिन् दयादीधितिमालिनि कृपारश्मिमति पुण्यसूर्ये तत्पापं किं तिष्ठेत् अपि तु तत्र पापं नैव तिष्ठेत् ॥११९॥ सतीति—यस्यां क्रियायां हिंसा नैवास्ति सा क्रिया कापि इहलोके नास्ति परम् अत्र क्रियायां मुख्यानुषङ्गिको भावो विशिष्यते । यदा इमं प्राणिनं हिनस्मीति संकल्पो यत्र क्रियायां वर्तते सा क्रियैव हिंसामयी जायते । यदा च क्रिया भवति परं तदा सार्धं हिंसासंकल्पः न विद्यते तत्र गौणो भावो हिंसायां भवति अत एव स भावः आनुषङ्गिको भवेत् ॥१४ ॥ हिंसकाहिंसकयोः स्वरूपम्—अघ्नन्नपि इति—अघ्नन् जनः अघ्नन्नपि प्राणिमारणम् अकुर्वाणोऽपि अभिप्रायविशेषेण हिंसासंकल्पेनैव पापी भवेत् । निघ्नन्नपि पापभाक् न प्राणिपीडां कुर्वाणोऽपि पापवान् न भवति । कथम् । प्राणिहिंसायाः असंकल्पनात् । यथा धीवरः सततहिंसाध्यवसायवान् भवति अतः स अघ्नन्नपि पापी स्यात् । कर्षकस्य भूमिकर्षणसमये जीवहिंसनम् अनिवार्यं तथापि जीवहिंसासंकल्पेन स भूमिकर्षणे न प्रवर्तते अतः स पापभाक् न भवति । कर्षकस्य अभिप्रायविशेषः जीवमारणसंकल्परहितो भवति । धीवरस्य च अभिप्रायविशेषे तद्वधसंकल्पः सर्वदा विद्यते अतः अघ्नन्नपि पापी भवत्येव ॥१४१॥ अभिप्रायविशेषं द्वितीयेन निदर्शनेन व्यनक्ति—कस्यचिदिति—कस्यचित् एकपार्श्वे दारास्तिष्ठन्ति द्वितीयपार्श्वे माता तिष्ठति तयोर्मध्ये शयितस्य सुप्तस्य तस्य वपुःस्पर्शाविशेषेऽपि उभयोर्जननीभार्ययोरङ्गस्पर्शे समानेऽपि शेमुषी तु विशिष्यते बुद्धिविशेषो भवत्येव पृथक्त्वेन इयं माता भार्येयमिति च भिन्नविषया बुद्धिर्भिन्नतुलायते ॥१४२॥ तदुक्तम्—परिणाममेवेति—बुधाः पण्डिताः खलु पुण्यपापयोः परिणाममेव अभिप्रायमेव कारणं वदन्ति । तस्मात्पुण्योपचयः शुभपरिणामेभ्यः पुण्योपचयः सुविधेयः कार्यः । तथा पापापचयः पापानां दुरितानाम् अपचयः हानिर्विनाशः सुविधेयः करणीयः ॥१४३॥ वपुष इति—वपुषः शरीरस्य । वचसः भाषणस्य वा शुभाचारा अशुभाचारा वा क्रिया भवति सा क्रियैव वस्तुषु स्थूलपदार्थेषु क्रमेणैव भवेत् । युगपत् नैव भवेत् । सूक्ष्मवस्तुषु तथा गुणेषु वचसः प्रवृत्तिः शरीरस्य च नैव भवति । अत आभ्यां पृथक् विशेषतो मनो विभर्ति । या काचन शुभा अशुभा वा प्रवृत्तिः वपुर्वचसी कुरुतः तया मनः अवसायमेवेति ज्ञेयम् । चिन्ता चित्ते तां कर्तुं न क्षमे अतः अत्र मनोविषयक्रियासु नरः प्रयतः सावधानो भवेत् । मनसो या क्रिया भवति सा लोकत्रितयादपि महत्तरा जायते । तथा एकस्मिन्क्षणे जायते । अतः मनःक्रियासु विशेषेण आत्मसंयमता महान् पापबन्धः स्यात् ॥१४४॥ क्रियान्यत्रेति—विपरीतैव वस्तुषु दानपूजादिषु शुभेषु हिंसादिष्वशुभेषु वा वाचिकी कायिकी वा क्रिया भवति सा क्रमेणैव भवति परं । मनसो या क्रिया भवति न लोकत्रितयादपि महत्तरा जायते तथा एकस्मिन् क्षणे जायते । अतः मनःक्रियासु विशेषेण आत्मसंयमता महान् पापबन्धः स्यात् ॥१४५॥

एकस्मिन्निति—उत्साहशालिना पुंसा मनसः एकस्मिन् कोणे अनायासेन चतुर्दशभवनानि समान्ति। उत्साहेन शोभमानानाम् उद्यमिना नराणां मनसः एकस्मिन् विभागे अनायासेन विना परिश्रमं चतुर्दशभुवनानि समान्ति। अर्थात् मनसः तादृशी शक्तिरस्ति यया चतुर्दशभुवनान्यपि ज्ञायन्ते। अथवा चतुर्दशभुवनानां स्वरूपं दर्पणतले यथा पुरतः स्थितः सकलोऽपि वस्तुनिवहो दृश्यते तथा प्रतिभाति। अतः लोकोक्तिरियं सत्येति ज्ञातव्या ॥३४६॥ तृणादीनामपि हिंसनं यावता निजं प्रयोजनं सिद्धयेत्तावदेव कुर्यात् इति कथयति—भूपेति—भुवः भूमेः पयसो जलस्य पवनस्य वायोः अग्नेश्च तथा तृणादीनाम् आदिशब्देन वल्लीगुल्मतर्वादीनां हिंसनं तावदेव कुर्यात् यावता स्वस्य कार्यं स्यात् कोऽसौ कुर्यात् अयं गृहस्थः। कथम् अजन्तु यत् यत्र स्थाने त्रसा न सन्ति तस्मात्स्थानाद् गृहीतव्यं जलतृणादिकमिति भावः ॥३४७॥ ग्रामेति—ग्रामस्वामिस्वकार्येषु ग्रामकार्यं सकलजनानां यत् कार्यं तस्मिन् राज्ञा नियुक्तः गृहस्थः यथालोकं लोकस्यानतिक्रमेण लोकानुसारेण कुर्यात् एवं स्वामिकार्यं निजप्रभुणा आदिष्टम्, स्वकार्यं च लोकानुसारेण कुर्याद्वा यो यः आलोकः आप्तोपदेशप्रकाशस्तेन तेन तत्तत्कार्यमाचरेत् इति ग्राह्यम्, यतः अत्रास्मिञ्जगति गुणदोषविभागे लोक एव गुरुर्ज्ञातव्यः ॥३४८॥ दर्पेणेति—दर्पेण इन्द्रियमदेन प्रमादाद्वा कषायावेशवशतया वा। द्वीन्द्रियादिविराधने द्वीन्द्रियादिप्राणिविनाशने यथादोषं दोषमनतिक्रम्य यथागमम् आगमं प्रायश्चित्तशास्त्रम् अनुसृत्य प्रायश्चित्तविधिं कुर्यात् ॥३४९॥ प्रायश्चित्तनिरुक्तिमाह—प्राय इति—लोकः प्राय इत्युच्यते प्राय इति शब्दो लोकस्य वाचकः। तस्य लोकस्य चित्तं मनः उच्यते। एतस्य मनसः शुद्धिकरं कर्म तपः अनशनादिकं प्रायश्चित्तं प्रचक्षते आख्यान्ति। योऽपराधी जनः प्रायश्चित्तं करोति तस्य मनसस्तत्करणाच्छुद्धिर्जायते अन्ये च ये सधर्माणः सन्ति तेषामपि मनसः सतोषोत्पादनं भवति, प्रायश्चित्तं गृह्णतो जनस्य पुनरकार्ये प्रवृत्तिर्न भवति। जिनाज्ञा च प्रतिपालिता भवति ॥३५०॥ प्राज्ञाः प्रायश्चित्तस्य दातारः—द्वादशेति—आचारादिद्वादशाङ्गश्रुतधारकोऽपि एकः गुरुः कृच्छ्रं प्रायश्चित्तं दातुं नार्हति तस्माद्बहुश्रुतज्ञा विद्वांसः प्रायश्चित्तप्रदाने अधिकारिणो मताः। एको विद्वान् देशकालादिमकलावस्थानां विमर्शं कर्तुं न प्रभवति अतः विशिष्टप्रायश्चित्तदाने आचार्यो बहूनां विदुषामभिप्रायस्य सम्यगालोचनं कृत्वा प्रायश्चित्तं दातुं समर्थो भवति ॥३५१॥ येन साधनेन दुष्कृतं कृतं तेनैव तस्य विनाशः कार्य इत्याह—मनसेति—मनसा चित्तेन, कर्मणा हस्तपादादिना शरीरेण, वाचा च परुषया दुरभिप्राययुतया यद्दुष्कृतमघम् उपार्जितं संचितं तत् तेनैव मनसा कर्मणा वाचा विशुद्धाभिप्रायतया तद्दुष्कृतं तत्पापं तथैव विहापयेत् विनाशयेत् ॥३५२॥ योगस्वरूपं निगदति—आत्मदेशेति—आत्मनः प्रदेशानां परिस्पन्दः कम्पनं योगः इति स योगविदां योगमार्गणास्वरूपस्य ज्ञातॄणां मतः अभिमतः। स च मनोवाक्कायतः जायते मनसा आत्मप्रदेशानां कम्पने जातो योगः मनोयोगसंज्ञां लभते। वचसात्मप्रदेशकम्पनं वचोयोगः, कायेन जीवप्रदेशचञ्चलता भवति तदा काययोगो जायते। इति त्रियोगाः पुण्यपापास्रवाश्रयाः पुण्यास्रवकारणत्वात् शुभयोगत्रितयम्। पापास्रवकारणत्वादशुभयोगत्रितयमुच्यते ॥३५३॥ अशुभयोगत्रितयं क्रमशो दर्शयति—हिंसनाब्रह्मचौर्येति—हिंसनं प्राणिवधः अब्रह्म मैथुनसेवनम्, चौर्यादिकं च काये शरीरे कर्म अशुभं विदुः। अशुभं पापोत्पादकम्। असत्यम् असभ्यं सभ्यजनायोग्यम्, पारुष्यं कर्कशम्, इत्यादि वचनविषयं कर्म अशुभवाग्योगयुक्तं ज्ञायताम् ॥३५४॥ मदेर्ष्येति—मदो गर्वः, ईर्ष्या द्वेषः, असूया परगुणासहनम् आदिशब्देन रागादयो विकाराः एतत्सर्वं मनोव्यापाराश्रितम् अशुभमनोयोगसंज्ञमुच्यते। एतद्विपर्ययात् हिंसनादेर्विपर्ययात् असत्यासभ्यादेर्विपर्ययात् मदेर्ष्यासूयनादेर्विपर्ययात् शुभं कायवाङ्मनोगतं कर्म ज्ञेयम् ॥३५५॥ तत्पुनः पापम् एतेषु हिरण्यादिदानेषु दत्तेषु न शाम्यतीति कथयति—हिरण्येति—हिरण्यं सुवर्णं पशुर्धेन्वादिकं भूमिः सस्योत्पत्तिक्षेत्रम् कन्या प्रसिद्धा शय्या तल्पम् अन्नम् ओदनादिकम्, वासांसि वस्त्राणि, एतेषां वस्तूनां दानैः अन्यैश्च पदार्थैर्न पापम् उपशाम्यति। पापनाशने एतानि दानानि नोपायः। यथा लङ्घनेन आहारत्यागेन ओषधग्रहणेन साध्यानाम् उपशान्तिं व्रजतां रोगाणां बाह्यो विधिः हस्तपादमर्दनादिकम् अकिंचित्करम् रोगहरणेऽक्षमम्। तथा पापेऽपि दानादिकं मन्यताम्, तेन पापापायो न भवति ॥३५६-३५७॥ निहत्येति—मनोवाग्देहदण्डैः मनोनिग्रहं कृत्वा, भाषानिग्रहं विधाय, देहनिग्रहं च कृत्वा सकलं पापं निहत्य विनाश्य, ततः दानपूजादिकं कर्म प्रतिकं करोतु ॥३५८॥ प्रत्याख्यानं विधाय

[पृष्ठ १५०-१५५] अहिंसादिगुणलाभाय मैत्र्यादिभावनाभ्यासः कार्यः —मैत्र्यादि— मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि यथाक्रमं । सत्त्वे गुणाधिके क्लिश्यमाने निर्गुणेऽपि च भावयेत् । मैत्र्यादीनां सत्त्वादीनां च क्रमशो वैपरीत्यं स्वयं ग्रन्थकारः पद्यत्रयेण कथयति ॥१३४॥ कायेनेति—कायेन शरीरेण मनसा वाचा च परे अन्यस्मिन् सकलेऽपि देहिनि प्राणिनि अदुःखजननी दुःखं कस्यापि माभूत् इति मनोवृत्तिः मैत्रीविदां मैत्री विदन्ति जानन्ति इति मैत्रीविदः तेषां मैत्री मता परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री स्मृता ॥१३५॥ तपोगुणेति—तपसा अधिके गुणैः सम्यग्दर्शनादिभिश्च अधिके गरीयसि पुंसि धार्मिके जने । प्रश्रयाश्रयनिर्भरः प्रश्रयः विस्रम्भो विनयो वा तस्य आश्रय आधारः तेन निर्भरः पूर्णः जायमानः मनोरागः मनोभक्तिः प्रमोदः । सत्प्रमाणादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः इति विदुषां मतः विदुषाणां मतः संमतः ॥१३६॥ दीनेति—असद्वेद्योदयमापादितक्लेशाः विक्लवमाना दीनाः तेषां दीनानाम् अभ्युद्धरणे दारिद्र्यरोगादिपीडापनयने या बुद्धिः संकल्पः तत्कारुण्यम् । माध्यस्थ्यस्य लक्षणमेवम्—निर्गुणात्मनि तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामपरिपालितगुणा निर्गुणात्मा तस्मिन् अविनये दुर्वाग्निर्योजिता वृत्तिर्माध्यस्थ्यं रागद्वेषरहितो मम स्वभावः उपेक्षाभावः माध्यस्थ्यमुच्यते ॥१३७॥ इत्यमिति—एवं मैत्र्यादिभावनोपेतस्य प्रयतमानस्य ईर्ष्यादिरहितचित्तस्य गृहस्थस्यापि देहिनः स्वर्गः करस्थो जायते । अस्य गृहस्थस्य च तत्पदं मुक्तिपदं दूरं नास्ति स्तोककर्मसम्बन्धेन एव तत् ॥१३८॥ दयावति नरे पापाभावः—पुण्यमिति—पुण्यं तेजःस्वरूपम् पापं पुनः तमोमयम् अन्धकारमयम् आहुः कथितवन्तः । तत्पापं दयादीधितिमालिनि दयाख्या दीधितिमाला किरणमाला यस्य स दयादीधितिमाली तस्मिन् दयादीधितिमालिनि कृपारश्मिमति पुरुषसूर्ये तत्पापं किं तिष्ठेत् अपि तु तत्र पापं नैव तिष्ठेत् ॥१३९॥ सेति—यस्याः हिंसायाः हिंसा नैवास्ति सा क्रिया कापि इहलोके नास्ति परम् अत्र क्रियायां मुख्यानुषङ्गिकौ भावौ विविच्येते । यथा इमं प्राणिनं हिनस्मीति संकल्पो यत्र क्रियायां वर्तते सा क्रियैव हिंसामयी जायते । यदा च क्रिया भवति परं तत्र तादृक् हिंसासंकल्पो न विद्यते तत्र गौणो भावो हिंसायाः भवति अत एव स भाव आनुषङ्गिको मतः ॥१४०॥ हिंसकाहिंसकयोः स्वरूपम्—अघ्नन्नपि इति—कश्चन जनः अघ्नन्नपि प्राणिमारणम् अकुर्वाणोऽपि अभिध्यानविशेषेण हिंसासंकल्पेनैव पापी भवेत् । निघ्नन्नपि पापभाक् न प्राणिपीडां कुर्वाणोऽपि पापवान् न भवति । कथम् । प्राणिहिंसायाः असंकल्पनात् । यथा धीवरः सततं हिंसाध्यवसायवान् भवति अतः स अघ्नन्नपि पापी स्यात् । कर्षकस्य भूमिकर्षणसमये जीवहिंसनम् अनिवार्यं तथापि जीवहिंसासंकल्पेन स भूमिकर्षणे न प्रवर्तते अतः स पापभाक् न भवति । कर्षकस्य अभिध्यानविशेषः जीवमारणसंकल्परहितो भवति । धीवरस्य च अभिध्यानविशेषे तद्वधसंकल्पः सर्वदा विद्यते अतः अघ्नन्नपि पापी भवत्येव ॥१४१॥ अभिध्यानविशेषं द्वितीयेन निदर्शनेन व्यनक्ति—पश्यविदिति—दाराम्बान्तरमन्तरा एकपार्श्वे दारास्तिष्ठन्ति द्वितीयपार्श्वे माता तिष्ठति तयोर्मध्ये सन्निविष्टस्य उपविष्टस्य तस्य वपुःस्पर्शाविशेषेऽपि उभयोर्जननीभार्ययोरङ्गस्पर्शे समानेऽपि शेमुषी तु विविच्यते बुद्धिविशेषो भवत्येव पृथक्त्वेन इयं माता भार्येयमिति च भिन्नविषया बुद्धिर्युगपदुत्पद्यते ॥१४२॥ तदुक्तम्—परिणाममेवेति—कुशलाः पण्डिताः खलु पुण्यपापयोः परिणाममेव अभिध्यानमेव कारणं ब्रुवन्ति । तस्मात्पुण्योपचयः शुभपरिणामेभ्यः पुण्योपचयः सुविधेयः कार्यः । तथा पापापचयः पापानां दुरितानाम् अपचयः हानिर्विनाशः सुविधेयः करणीयः ॥१४३॥ वपुष इति—वपुषः शरीरस्य । वचसः भाषणस्य वा शुभाचाराः अशुभाचाराः या क्रिया भवति सा क्रियास्त्वेव वस्तुषु स्थूलपदार्थेषु क्रमेणैव भवेत् । युगपत् नैव भवेत् । सूक्ष्मवस्तुषु तथा युगपत् वचसः प्रवृत्तिः शरीरस्य च नैव भवति । अत्र आभ्यां पृथक् विशेषतां मनो बिभर्ति । वा कायेन शुभाम् अशुभां वा प्रवृत्तिं अपूर्वयती कुर्वता मनः युगपत्कर्मशीलमिति ज्ञेयम् । विना चित्तं वै ता कर्तुं न क्षमे अतः अत्र मनोविषयक्रियासु नरः प्रयतः सावधानो भवेत् । मनसो या क्रिया भवति सा लोकत्रितयादपि महत्तरा जायते । तथा एकस्मिन्क्षणे जायते । अतः मनःक्रियासु विवेकेन भाव्यमन्यथा महान् पापबन्धः स्यात् ॥१४४॥ क्रियान्यत्रेति—क्रियास्त्वेव वस्तुषु बाह्यपूजादिषु शुभेषु हिंसादिष्वशुभेषु या कायिकी वचःसम्बन्धिनी वा क्रिया भवति सा क्रमेणैव भवति परं । मनसो या क्रिया भवति सा लोकत्रितयादपि महत्तरा जायते तथा एकस्मिन् क्षणे जायते । अतः मनःक्रियासु विवेकेन भाव्यमन्यथा महान् पापबन्धः स्यात् ॥१४५॥

आसाद्य । स्मृतव्रत' आद्यो मत्स्यो न हन्तव्य इति गृहीतव्रतस्य स्मरण मृगसेनस्याजायत । तस्य मत्स्यस्य श्रवसि कर्णे चिह्लाय चोरचोरि वस्त्रखण्ड वस्त्रस्य दशा निबध्य तम् अत्यजत् । पुन अपरावकाशे अन्यस्थाने । तीरिणीप्रदेशे नद्या प्रदेशे । तथैव अदूरतरशर्मा समीपतरसुख', समाचरितकर्मा कृतजालक्षेपण । तमेव अपक्षीण मत्स्यम् अक्षीणायुषम् अनष्टजीवितम् अवाप्य लब्ध्वापि अमुञ्चत् । तस्मात् एतस्मिन् अनणिष्ठे मलघिष्ठे पाठीनवरिष्ठे पाठीनेषु मत्स्येषु वरिष्ठे महिष्ठे, पञ्चवार जाले लग्ने पतिते विपदमग्ने सकटेन समग्ने अस्पृष्टे मुच्यमाने त्यज्यमाने सति, गभस्तिमाली सूर्य अस्तमस्तकमध्यास्त अस्ताचलशिखरमध्यारोहत । कथभूत सूर्य । घनघुसृणेति—घन विपुल यत् घुसृण काश्मीरजम्, तस्य रसेन अरुणिता लोहितवर्णा या वरुणपुरस्य पुरन्ध्रय सुचरिता स्त्रिय तासा कपोला गण्डा तेषां कान्तिरिव कान्तिस्तया शालते शोभते इति । तदनु तदनन्तरम् । गृहीतव्रतस्यापरित्यागात् ह्लादमानमान मृगसेनम् अधार्मिकलोकात् व्यतिरिक्तम् अन्यम् । रिक्तम् अप्राप्तमीनम् आयान्त परिच्छिद्य ज्ञात्वा । अतुच्छो महान् कोप क्रोध अपरिहार्यस्त्यक्तुम-शक्यो यस्या तथाभूता तद्भार्या मृगसेनस्य जाया घण्टाख्या । यमघण्टेव किमपि कर्णकटु श्रोत्रपरुष क्वणन्ती ब्रुवाणा । कुटीरान्त श्रितशरीरा उटजस्यान्त मध्ये आश्रित शरीर देहो यस्या मृगसेन निरुद्धान्त प्रवेश कृत्वा स्वयम् उटजे स्थितेति भाव । निर्विवर निश्छिद्रम् अरर कपाट निरुध्य अस्थात् अतिष्ठत् । मृगसेनोऽपि तया प्रतिरुद्धसदनप्रवेश तन्मन्त्रस्मरणसक्तचित्त पञ्चत्रिंशदक्षरपवित्रस्य णमोकारमन्त्रस्य स्मरणे चिन्तने निरत-हृदय , पुराणतरतरुभित्त जीर्णतरद्रुमस्य शकलम् उच्छीर्षे विधाय सान्द्र निविड निद्रायन् स्वपन्, एतत्तरुभित्ता-भ्यन्तरविनि सृतेन उच्छीर्षीकृतस्य द्रुमखण्डस्य अन्तश्छिद्राद् बहिरागतेन सरीसृपसुतेन भुजगतनयेन दष्ट । कष्टम् अवस्थान्तर मरणदशाम् आविष्ट प्राप्त । व्युष्टसमये प्रभातकाले घण्टया दृष्ट । पुनरनेन सार्धं सह उपर्बुधमध्यानुमोचितेति—उपर्बुधोऽग्नि तस्य मध्ये पतिशरीरानन्तरम् अनुमोचित त्याजित स्वनिश्चयेन स्वदेहो यया । आत्मनि विहितबहुनिन्दया स्वस्मिन् कृतबहुगर्हणया । शोचितश्च शोकविषयं नीत । तत "सा यदेवास्य व्रत तदेव ममापि । जन्मान्तरे अपि चायमेव मे पति भूयात्" इत्यावेदितनिदाना इति प्रकटीकृतभावि-पतिस्नेहा । समित्समिद्धमहसि समिद्भि काष्ठै समिद्ध प्रवृद्ध महस्तेज यस्य तस्मिन् , द्रविणोदसि अग्नौ हव्यसमस्नेहम्, हव्येन देवेभ्यो दीयमान द्रव्य हव्य घृत तेन सम स्नेहो यस्मिन् त देह घृतवत्स्निग्ध सा जुहाव अजुहोत् अग्निसात् चकार । अथ विलासिनीति—विलासिनीना शृङ्गाररसप्रियाणा स्त्रीणा विलोचनान्येव नेत्राण्येव उत्पलानि कमलानि तै पुनरुक्ता वन्दनमाला तोरणमाला यस्याम् । विशालाया पुरि उज्जयिन्या नगर्याम् । विश्वगुणामहादेवीश्वरो विश्वगुणानाम्न्या महादेव्या पति विश्वभरो विश्व बिभर्ति इति विश्वंभरो जगत्पालक विश्वभरो नाम नृपति । धनश्रीपति धनश्रिया पति , दुहितु कन्याया सुबन्धोः पिता च सुबन्धुनाम्न्या कन्याया पितेत्यर्थ । गुणपालो नाम श्रेष्ठी । तस्य किल गुणपालस्य मनोरथपान्थप्रीति-प्रपापालिकायाम् एतस्या कुलपालिकायाम्, गुणपालस्य मनोरथा एव पान्था पथिका तेषा प्रीते प्रपा पानीय-शालिका तस्या पालिकाया रक्षिकायाम् । एतस्या कुलपालिकाया कुलीनपत्न्याम्, अनेन मृगसेनेन समापन्न-सत्त्वाया समापन्न प्राप्त सत्त्वो जीवो यस्या सा एवभूताया गर्भिण्या जातायाम् इत्यर्थ । असौ वसुधापति वसुधाया भूमेः पति राजा विश्वभर विटकथासंसृष्टतया विटा जारा तेषा कथा ताभि संसृष्टतया संसर्गं प्राप्तत्वात् प्रतिपन्नपाञ्चजनीनभाव पञ्चभिर्भूतैर्जन्यतेऽसौ पञ्चजन पञ्चजनाय हितो भाव पाञ्चजनीनभाव प्रतिपन्न स्वीकृत पाञ्चजनीनभाव नास्तिकत्वभाव येन स नास्तिको भूत्वा पञ्चेन्द्रियविषयासक्ति गत भाण्डादिरतो वा नर्मभर्मनाम्नो नर्मसचिवस्य परिहासे कुशलस्य नर्मभर्मनाम्नो मन्त्रिण सुताय नर्मधर्मणे गुणपालश्रेष्ठिनम् अखिलकलाकलापालकृतरूपसमन्विता सुतामयाचत । अखिलाश्च ता कला नृत्यगायनादि-विद्या तासा कलाप समूह तेन अलकृत च तद्रूप सौन्दर्यं तेन समन्विता युक्ता सुताम् अयाचत । [श्रेष्ठी गुणपाल दुहित्रा सुबन्धुना सह कौशाम्बीदेशमयात्] श्रेष्ठी दुष्प्रज्ञेन राज्ञा दुष्टा प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य तेन राज्ञा याचित प्रार्थित यदि नर्मसचिवसुताय सुता वितरामि तदावश्य कुलक्रमव्यतिक्रमो दुरपवादोपक्रमश्च निजवश-परम्पराचारोल्लङ्घन भवेत्, दुष्टोऽपवादो निन्दा च तस्या उपक्रम प्रारम्भ स्यात् । अथ स्वामिशासनं नृपत्याज्ञाम् अतिक्रम्य उल्लङ्घ्यात्रैवासे तिष्ठामि, तदा सर्वस्वापहार सर्वस्वस्य धनदारादे अपहारो लुण्ठन

निशाविर्क विशेषम्—भावभूसेरिति—पुनः भोगादिषु भावभूसे प्रवृत्तिर्मया भवेत्तावत्कालं मे सर्वस्य भोगोपभोगादे निवृत्तिरस्याद्योऽस्त्विति इति कृत्वाक्रिय कृतप्रतिमः सन् गुरुनामानि पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रं स्मरन् निशाविर्क विधि कुर्वन्ति ।।१५१।। प्रत्याख्यानस्य महाफलं निवेदयति—दैवादिति—दैवात् विधेः आयुर्विरामे सति मनुष्ये समाप्ति गते सति । यद्भोगोपभोगप्रत्याख्यानं निशाया पूर्व विहितं तस्य महत्फलं तेन प्रत्याख्यानबलाऽवाप्यते । अतः व्रती नर भोगशून्यं भोगरहितम् व्रत कालं व्रतरहितं कालं न नाययेत् न नयेत् न गमयेत् । प्रतिदिनं व्रतिना प्रत्याख्यानं कृत्वैव सुप्यताम् इति भाव ।।१६ ।। धीवरमाता फलं चिन्तामणेरिवेति प्रतिपादयति—एकेति—एकत्र एका धीवरया । एकस्मिन्पार्श्वे एका धीवरया । परत्र अन्यस्मिन् पार्श्वे सकला सत्याचौर्यादिका क्रिया । पूर्वत्र पूर्वस्या धीवरयाया परं फलं चिन्तामणेरिव यथा चिन्तामणेः मविष्यते तत्फलम् इत्यादमभेप्यते परत्र सत्याचौर्यादिकानां क्रियाणां फलं कुर्येरिव यथा भूमिं कृत्वा धान्यमुप्यते परं तत्फलं चिरचुनिर्वर्तिरवाप्यते । अतो धीवरयैवाम्यक्रियाभ्य श्रेष्ठेति विज्ञेयम् ।।१११।। अहिंसाव्रतमाहात्म्यं वर्णयति—आयुष्मानिति—एकस्माव अहिंसाव्रतप्रभावात् नर आयुष्मान् दीर्घायुः कीर्तिमान् प्रचितयशा सुभगः सौभाग्यवान् श्रीमान् लक्ष्मीवान् सुरूप सुन्दराङ्गो जायते ।।२११।।

[पृष्ठ १५५] मृगसेनधीवरस्याहिंसाफलस्योपाख्यानम्—अथास्तीत्येषु सकलसंघोकेति—सकलमनोहरा आगमा वृक्षा येषु ते आरामाः उपवनानि यत्र तस्मिन् शिरीषग्रामे मृगसेनाभिधानो मत्स्याजीवी धीवरः । स्कन्धेति—निजासायकम्पितकक्षिपनानाशिलासन । पृथुरोमेति—पृथुरोमाणो मत्स्या तेषाम् आनयनाय उपनीतं कृतं विहारणं गमनं येन सः । कल्लोलेति—कल्लोलकलैस्तरङ्गनीरैः प्लावितानि आर्द्रितानि उपकण्ठानि कूलस्थानि तटवर्तीनि शाल्मलाकल्पानि यानिकास्यमुखोत्थलेपानि यया सा ताम् । यया सरितं नदीम् अनुसरन् अनुगच्छन् । स मृगसेनो धीवरः यशोधराचार्यं निशाम्य अवलोक्येति संबन्ध । कथंभूतं तम् । अस्तेति—सकलसाधुपरिषदि समाया सर्व श्रेष्ठम् । पुनः कथंभूतम् ।[अखिलेति—सकलमहाभाग्यभवनं भूतकभूत पुनः कथंभूतम् । मिथ्येति—मिथ्यात्वरहिता धर्मवसी धर्मानुष्ठानं यस्य स तं यशोधराचार्यं निशाम्य विलोक्य । समासन्नेति—समासन्नं समीपस्थं यत्सुकृतं पुण्यं तेन आगतं भाग्यं हृदयं यस्य तस्य भावस्तस्मात् । दूरादेवेति—दूरादेव परिहृतपापोपार्जनसाधनसमूहः सर्वभ्रमम् आदरेण । संपादितेति—संपादित कृत दीर्घप्रणाम येन कृतपादाङ्कनमस्कारः । प्रकामेति—प्रकामं प्रतिक्षणम् अतिशयेन प्रणमन् विनमत् एन पापं यस्य सः समाहितमना सावधानचित्त [स धीवरः आचार्य प्रति गत्वा प्रणनाम] । साधु इति—साधुना मुनीनां समाजे उत्तम श्रेष्ठ सकलमहामुनिजनपूज्य दैवात् शुभविधे उपपद प्राप्तं अनुज्ञं तेन गृहमाव स्वपसमाचः यस्य एवंभूतोऽयं जन अस्यापि व्रतस्य प्रदानेन अनुगृह्यताम् इत्यभाषत ।

[पृष्ठ १५६-१५९] भगवान्—ननु वितर्के अकुलीति—अकुलयो मत्स्या तेषां विनाशे मारणे निभूतकाय क्रूराभिप्रायस्यैव अस्य ययापतङ्गो अत्र तस्यैव व्रतप्रदानोपदेशे कथं प्रवीणम् अन्तःकरण मभूत् । अस्ति हि लोके प्रवादः हि यस्मात् अवधि क्लिश्यन्ती प्रवर्तते । न खलु प्रायेण प्रकुप प्राणिनां प्रकृतेः स्वभावस्य विकृति विकारः आयत्यां भाविनि काले शुभम् अशुभं वा विना भवति । भाविनि काले प्रकृतेः स्वभावस्य विकृतिः भवति । तथा भाविनि काले यस्य अशुभं भवेत् तस्य यस्य शुभं भवेत् तस्य क्रूरोऽपि स्वभाव परिवर्ती स मनुर्भवति । एवं विमर्शं कृत्वा धामुक्तावधि सम्यग्ज्ञानसमीपवर्तिपुरस्सरमवात् तदेव मुग्धो भद्रतरोऽपि क्षरा भवेत् । एवं विमर्शं कृत्वा प्रयुक्तावधि सम्यग्ज्ञानसमीपवर्तिभविष्यत् प्रवर्तितमेव इति भाव । अवश्यम् । अहो शुभायतनायतन शुभपरिणामभन्दिर । अद्यतनाहनि अद्यतनदिवसे प्रवर्तितव्ये इति । यः तव जालेऽवेव प्रथमत एव आगमे काले मीनः समापतितः स त्वया न प्रमापयितव्यः न हिंस्या इति । यावत्त्व मावतारिकानाम् आरम्भवृत्तिनियमं स्वजीविकाभिवाहितव्यम् आमितं मार्गं प्राप्नोऽपि तावन्न मालेन यावत्त्व तावत्तारिकानाम् आरम्भप्रवृत्तिनियमं तस्य तन्निवृत्तिमस्त्यमारब्धव्याम । अयं पुनः अन्वर्थितव्रतपत्रिका अत्र सर्वेषां मुनिमनेन तु मितेन च त्वया ज्ञानस्य इति । मनमेन—अकारियोऽपि बहुभायवयासु । हस्तीभिमिबिरव इति भवति तद्वनमङ्गीकृत्य । स धीवरस्त्री मृगी नदीम् अनुसृत्य इत्यालभेथा । अथानन्तरं कालविलम्बनम् अकृत्वा तीरमिति भाव अत गुरुत्वम् अनन्यमि महामि कारणानि मेनादीनि इन्द्रियाणि दत्त च अनुस्मरन् महान् तं दैवाहितं अनवम्

आसाद्य । स्मृतव्रत' आद्यो मत्स्यो न हन्तव्य इति गृहीतव्रतस्य स्मरण मृगसेनस्याजायत । तस्य मत्स्यस्य श्रवसि कर्णे चिह्नाय चोरचीरि वस्त्रखण्ड वस्त्रस्य दशा निबध्य तम् अत्यजत् । पुन अपरावकाशे अन्यस्थाने । तीरिणीप्रदेशे नद्या प्रदेशे । तथैव अदूरतरशर्मा समीपतरसुख, समाचरितकर्मा कृतजालक्षेपण । तमेव अपक्षीण मत्स्यम् अक्षीणायुषम् अनष्टजीवितम् अवाप्य लब्ध्वापि अमुञ्चत् । तस्मात् एतस्मिन् अनणिष्ठे अलघिष्ठे पाठीनवरिष्ठे पाठीनेषु मत्स्येषु वरिष्ठे महिष्ठे, पञ्चवार जाले लग्ने पतिते विपदमग्ने सकटेन अमग्ने अस्पृष्टे मुच्यमाने त्यज्यमाने सति, गभस्तिमाली सूर्य अस्तमस्तकमध्यास्त अस्ताचलशिखरमध्यारोहत । कथभूत सूर्य । घनघुसृणेति—घन विपुल यत् घुसृण काश्मीरजम्, तस्य रसेन अरुणिता लोहितवर्णा या वरुणपुरस्य पुरन्ध्रय सुचरिता स्त्रिय तासा कपोला गण्डा तेषा कान्तिरिव कान्तिस्तया शालते शोभते इति । तदनु तदनन्तरम् । गृहीतव्रतस्यापरित्यागात् ह्लादमानशान मृगसेनम् अधार्मिकलोकात् व्यतिरिक्तम् अन्यम् । रिक्तम् अप्राप्तमीनम् आयान्त परिच्छिद्य ज्ञात्वा । अतुच्छो महान् कोप क्रोध अपरिहार्यस्त्यक्तुमशक्यो यस्या तथाभूता तद्भार्या मृगसेनस्य जाया घण्टाख्या । यमघण्टेव किमपि कर्णकटु श्रोत्रपरुष क्वणन्ती ब्रुवाणा । कुटीरान्त श्रितशरीरा उटजस्यान्त मध्ये आश्रित शरीर देहो यस्या मृगसेन निरुद्धान्त प्रवेश कृत्वा स्वयम् उटजे स्थितेति भाव । निर्विवर निश्छिद्रम् अररं कपाट निरुध्य अस्थात् अतिष्ठत् । मृगसेनोऽपि तया प्रतिरुद्धसदनप्रवेश तन्मन्त्रस्मरणसक्तचित्त पञ्चत्रिंशदक्षरपवित्रस्य णमोकारमन्त्रस्य स्मरणे चिन्तने निरतहृदय, पुराणतरतरुभित्त जीर्णतरद्रुमस्य शकलम् उच्छीर्षे विधाय सान्द्र निबिड निद्रायन् स्वपन्, एतत्तरुभित्ताभ्यन्तरविनि मृतेन उच्छीर्षीकृतस्य द्रुमखण्डस्य अन्तश्छिद्राद् बहिरागतेन सरीसृपसुतेन भुजगतनयेन दष्ट । कष्टम् अवस्थान्तर मरणदशाम् आविष्ट प्राप्त । व्युष्टसमये प्रभातकाले घण्टया दष्ट । पुनरनेन सार्धं सह उपर्बुधमध्यानुमोचितेति—उपर्बुधोऽग्नि तस्य मध्ये पतिशरीरानन्तरम् अनुमोचित त्याजित स्वनिश्चयेन स्वदेहो यया । आत्मनि विहितबहुनिन्दया स्वस्मिन् कृतबहुगर्हणया । शोचितश्च शोकविषय नीत । तत "सा यदेवास्य व्रत तदेव ममापि । जन्मान्तरे अपि चायमेव मे पति भूयात्" इत्यावेदितनिदाना इति प्रकटीकृतभाविपतिस्नेहा । समित्समिद्धमहसि समिद्भि काष्ठै समिद्ध प्रवृद्ध महस्तेज यस्य तस्मिन्, द्रविणोदसि अग्नौ हव्यसमस्नेहम्, हव्येन देवेभ्यो दीयमान द्रव्यं हव्यं घृत तेन सम स्नेहो यस्मिन् त देह घृतवत्स्निग्ध सा जुहाव अजुहोत् अग्निसात् चकार । अथ विलासिनीति—विलासिनीना शृङ्गाररसप्रियाणा स्त्रीणा विलोचनान्येव नेत्राण्येव उत्पलानि कमलानि तै पुनरुक्ता वन्दनमाला तोरणमाला यस्याम् । विशालाया पुरि उज्जयिन्या नगर्याम् । विश्वगुणामहादेवीश्वरो विश्वगुणानाम्न्या महादेव्या पति विश्वंभरो विश्व बिभर्ति इति विश्वभरो जगत्पालक विश्वभरो नाम नृपति. । धनश्रीपति धनश्रिया पति', दुहितु कन्याया सुबन्धो पिता च सुबन्धुनाम्न्या कन्याया पितेत्यर्थ । गुणपालो नाम श्रेष्ठी । तस्य किल गुणपालस्य मनोरथपान्थप्रीतिप्रपापालिकायाम् एतस्या कुलपालिकायाम्, गुणपालस्य मनोरथा एव पान्था पथिका तेषा प्रीतै प्रपा पानीयशालिका तस्या पालिकाया रक्षिकायाम् । एतस्या कुलपालिकाया कुलीनपत्न्याम्, अनेन मृगसेनेन समापन्नसत्त्वाया समापन्न प्राप्त सत्त्वो जीवो यस्या सा एवभूताया गर्भिण्या जातायाम् इत्यर्थ । असौ वसुधापति वसुधाया भूमेः पति राजा विश्वभर विटकथासंसृष्टतया विटा जारा तेषा कथा ताभि संसृष्टतया संसर्गं प्राप्तत्वात् प्रतिपन्नपाञ्चजनीनभाव पञ्चभिर्भूतैर्जन्यतेऽसौ पञ्चजन पञ्चजनाय हितो भाव पाञ्चजनीनभाव प्रतिपन्न स्वीकृत पाञ्चजनीनभाव नास्तिकत्वभाव येन स नास्तिको भूत्वा पञ्चेन्द्रियविषयासक्ति गत भाण्डादिरतो वा नर्ममर्मनाम्नो नर्मसचिवस्य परिहासे कुशलस्य नर्ममर्मनाम्नो मन्त्रिण सुताय नर्मधर्मणे गुणपालश्रेष्ठिनम् अखिलकलाकलापालकृतरूपसमन्विता सुतामयाचत । अखिलाश्च ता कला नृत्यगायनादिविद्या तासा कलाप समूह तेन अलकृत च तद्रूप सौन्दर्यं तेन समन्विता युक्ता सुताम् अयाचत । [श्रेष्ठी गुणपाल दुहित्रा सुबन्धुना सह कौशाम्बीदेशमयात्] श्रेष्ठी दुष्प्रज्ञेन राज्ञा दुष्टा प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य तेन राज्ञा याचित प्रार्थित यदि नर्मसचिवसुताय सुता वितरामि तदावश्य कुलक्रमव्यतिक्रमो दुरपवादोपक्रमश्च निजवशपरम्पराचारोल्लङ्घन भवेत्, दुष्टोऽपवादो निन्दा च तस्या उपक्रम प्रारम्भ स्यात् । अथ स्वामिशासनमतिक्रम्य उल्लङ्घ्यात्रैवासे तिष्ठामि, तदा सर्वस्वापहार सर्वस्वस्य धनदारादे अपहारो लुण्ठन

स्यात् । प्राणसंहारश्च प्राणानां वधानां विनाशः भवेत् । इति निश्चित्य प्रियसुहृदः बलसमन्वितस्य श्रीदत्तस्य वणिक्पतेः वैश्यस्वामिनः निकेतने गृहे । समनिमेषक्षणकलत्रं मणिमयरचनामुखं कलत्रं श्रीमन्दिरस्य तथाभूतं कलत्रं भार्याम् अवस्थाप्य स्वापतेयसारं स्वापतेयेषु धनेषु सारं मणिकनकमौक्तिकादिकं द्वितीयं च सुतां च आत्मसात्कृत्वा स्वायत्तं कृत्वा सुकुमकेलिवनवनासन्निवेश कौशाम्बीदेशम् समासीत् । सुकुमा केलि क्रीडा यत्र तानि वनानि उद्यानानि वनावया अवधायाक्ष तदासावय तेषां निवेशो रचना यत्र तं कौशाम्बीदेशम् समासीत् । अत्रान्तरे श्रीमदर्हद्धर्मस्थिरनिविष्टपम् आचरितपर्यन्तौ अस्मिन्समये श्रीमता धनिना दरिद्रा च मन्दिरेषु गृहेषु निर्विशेषं समतां मत्वा कृतविहारौ उभयोः गृहेषु विहितगमनौ शिवगुप्त-मुनिगुप्तनामानौ मुनी श्रीदत्तगर्भितेवसनिवासिनोपासकेन यथाविधिविहितप्रतिग्रही कृतोपचारविग्रही च तामङ्गनामथो वनमिदम् अव-स्थिताम् । श्रीदत्तश्रेष्ठिनो गृहस्य समीपे निवासिना असता उपासकेन श्रावकेन आवयोः प्रतिग्रहादिनवविधार्च-कृतसत्कारो कृतो च उपचारः सेवा वैयावृत्यं तेन युक्तौ विग्रहौ देहौ ययोस्तौ मुनी आविरवतां वनमिदम् ऐक्षेताम् । तत्र मुनिगुप्तमसबालिकेक वनमिदं निध्याय श्रीदत्त कोऽपि पापी कुत्रावस्था अवतीर्णोऽत्र इयं दुःखार्ता आसीति समापत । सर्वभूतां वनमिदम् । केवलस्वसितस्नानपत्याम् तैलविरहितसिक्लिष्टेन केशेन कृतस्नानतस्य पश्यो वसानाम् वपुमनीयसंमताङ्गामोमलिपम् वदुपमनीयं श्रीवत्सत्वर्म तैम संगता एकत्वमापन्ना मद्गामाम् कासोपा सुविस्तरा स्विद् कान्तिमस्यास्ताम् । अर्थैमध्येति—अर्थवस्थाविशं श्रीवत्सविकासमयं दरदमाम मध्यमभूत तदेव युवते देवते इति ताम् । पुनः कथंभूताम् । आप्तेति—आप्तो विश्वस्तो जनः कान्तः पति-मपत्यं यस्या सुतश्च परिजनः किङ्करगणः एषां विरहेण विशेषेण देहसारः शरीरकृशता यस्याः ताम् । गम्भीरवटेषां गर्भभारमन्थराम् च शिशिरावसरासनमवर्तिनी (?) शिशिरादिक शीतानि अवसायूनि सततमश्नेनचलानि तेषां सहवर्तिनी । स्वकन्यकमलिनीमिव मलिनगर्भां मलिनकान्तिम् उपवसितपरिसरे उपवसितस्य गृहस्य परिसरे पर्यन्तभुवि पतगृहे वासो निवासस्तेन विधीर्यमाणा म्लायमाना मुखस्य श्रीः शोभा यस्यास्तां वनमिदं निध्याय विलोक्य अहो महीयसां खलु एनसाम् आपामः महीयसां महताम् एनसां पापानाम् आपाम गृहं यत्र कोऽपि अस्याः कुक्षौ उदरे महापुरुषोऽवतीर्णः आगतो भवेत् । येन अवतीर्णमात्रेणापि प्रविष्ट-मात्रेणापि दुष्पुत्रेण कुपुत्रेणैव दीना इत्यवाग्भाषा इमाम् अवस्थितवत् इमाम् आवेशो यस्यास्ताम् एवंस्वरूपाम् अवस्थाम् अवालम्बत इत्यभाषत (मुनिगुप्तो मुनिः) मुनिगुप्ता शिवगुप्त—मैवं भाषिष्ट मुनिषु पुत्रेण एव इत्येति मुनिगुप्त शिवगुप्तः मैवं वोचः । यतो यद्यपीयं श्रेष्ठिनी ज्ञानिविहितानि एवंभूता सती पराभिमानी परस्य अन्यस्य अधिष्ठाने पदे तिष्ठति तथाप्येतत्कालेन एतस्याः पुत्रेण सकलजयिनिविशता सर्वश्रीसमवाभिना राजश्रेष्ठिना निरवधिलेवहर्षेण नि सीमनिषीनाम् ईश्वरेण स्वामिना चिरकालभरसुतायनेन च चिरकालतरम्य नृपसुताया वरेण परया भवितव्यम् इत्यवोचत् । एतच्च स्वकीयमन्दिरात्मिश्वरतः निकुञ्जगतस्तत्कालोर्ध्वं माता श्रीदत्तः निशम्य श्रुत्वा 'न खलु प्रायेण असत्यमिदम् वचनं भवति महर्षेः इत्यवधार्य इति विनिश्चित्य मुखा मुखम्परवत् दुरीक्षितवत्येनोघृति आसीत् । मुषीवत् शीतलं मुखं यस्य स चासौ सर्वत्र त इव दुरीक्षित दुरनार्यं तत्र तता येनोदविति मनोम्लानारो येन स तथाभूत आसीत् अजायत । अनर्गेरव परिप्राप्तप्रसववासरा सती पुत्रमसूत परिप्राप्तप्रसवदिवसं प्रसूतिदिनं यथा एवंभूता सती पुत्रम् अजनयत् । श्रीदत्त —चित्तमानुरिव अभिचिन्त्य । अयं खलु बालिकाः बालकः । आगमयाय आगमम् आचारत्वस्तु अन्यानि इति आगमयन्त मम विनाशको भवतु । तत् तस्मात् कारणात् अर्भकावस्थेहायामेव अनुत्पन्नप्रीती एव अयम् मारिर् तरलाम् मम विनाशको भवतु । इति परामृश्य इति विचार्य । प्रसूतिषु येन सर्वानुगताः एतस्मै नियुक्तस्य तस्य श्रेयाम् हितकृत् भवेत् । इति परामृश्य इति विचार्य । प्रसूतिषु येन कन्यापुत्र्याः पुत्रीवत्सा दीर्घनिमोहात् काम्यविषयामीभूतेन्दुः वनमिदम् आरभ्य आरक्ष निवारितजनवती मुग्धेन निवारितजनानां अवलोका च कलन प्रवीण एतावं तत्र अन एतावं मुनी यत्र इति प्रतिज्ञि विभाव आश्रय आतृप च एवं इत्यवं आनाद् सर्वभूतम् आवारितोऽपवारकत्वम् आवरित विहिता उपकारस्य आदरेण प्रकृत्या विकारी यस्य तत् । विज्ञायाधीरदुर्वलितैः कुमारवरगोत्रेण विना अपर मुग्धा सा वामी वाटी माना तस्या रहस्यस्य निपुणतया निवेश सहभूतः पुनः अतावत विभावन वंशौ येन तथाभूतः श्रीदत्त तं इत्यर्थं समागतस्य इत्यर्थं पुत्रं तत्निवर्तीनि तत्पर तं पुत्रं

चाण्डालाय समर्पयामास । सोऽपि जनगम चाण्डाल स्वर्भानुप्रभेण करेण राहुसमेन कृष्णवर्णेन हस्तेन रामरश्मिमिव रामा मनोज्ञा रश्मय किरणा यस्य तम् इव चन्द्रमिव त स्तनधयम् उपरुध्य गृहीत्वा । नि शलाकावकाश निर्जनप्रदेश देश स्थानमाश्रित्य । पुण्यपरमाणुपुञ्जमिव पुण्याना परमाणूना पुञ्जमिव शुभदेहवन्तम् एन बाल दृष्ट्वा । सजातकरुणारसप्रसरप्रसन्नमुख सजात उत्पन्नश्चासौ करुणारस दयारस तस्य प्रसर प्रवाह तेन प्रसन्नवदन , सुखेन विनिधाय स्वकीय गृहमटीकत अगच्छत् । पुनरस्यैव अधरभवभगिनीपति अशेषापणिकपणपरमेष्ठी इन्द्रदत्तश्रेष्ठी अधरभवा लघीयसी सा चासौ भगिनी तस्या पति । अशेषाश्च ते आपणिका पण्याना क्रयविक्रयादियोग्याना वस्तूना व्यवहारकारिण , तेषा पणो व्यवहारस्तस्मिन् परमेष्ठी चतुर इन्द्रदत्तश्रेष्ठी, विक्रयाडम्बरितशण्डमण्डलाधीन विक्रयणक्रियया डम्बरिता शोभिता ये शण्डा वृषभा तेषा मण्डल समूह तस्य अधीनम् आयत्तम्, पेठोपकण्ठगोष्ठीन पेठस्य (?) उपकण्ठ समीप गोष्ठीन भूतपूर्वक गोष्ठ गोष्ठीनम् अनुसृत गत , वत्सीयविषयसनीडक्रीडागतगोपालबालकलपनपरस्परालापात् वत्सेभ्यो हित वत्सीय स चासौ विषय वत्सहितो निवासप्रदेश. तस्य सनीड समीप क्रीडार्थम् आगता ये गोपालबालका बल्लवाना शिशव', तेषा लपनानि मुखानि तेषा परस्परालापात् अन्योन्यसभाषणात् । वत्सतरतानकसतानपरिवृत वत्सतराः दम्या तानका सद्योजाता गोशिशव , तेषा सतान समूह तेन परिवृतम् । अनेकेति—अनेके बहव ते च ते चन्द्रकान्तोपला चन्द्रकान्तमणय तेषाम् अन्तराले मध्ये निलीन स्थितम् । अरुणेति—पद्मरागरत्ननिधिमिव त जात बालम् उपलभ्य दृष्ट्वा स्वयम् अवीक्षितपुत्रमुखत्वात् तद्बुद्धया 'मदीयस्तनयोऽयमिति मत्वा' साधु अनुरुध्य सम्यक् विज्ञप्य 'स्तनधयावधानधृतबोधे राधे स्तनधय शिशु तस्य अवधान 'कदा मे पुत्रो भविष्यतीति अवधान चिन्ता तस्या धृतो बोधो ज्ञान यया तत्सबोधनम्, राधा इति । इन्द्रदत्तस्य जायाया नाम तत्सबोधन हे राधे इति । तवाय गूढगर्भसभव तनूद्भव , तन्वा शरीरात् उद्भव उत्पत्तिर्यस्य इति प्रवर्द्धिता प्रसिद्धिर्येन स श्रेष्ठी महान्तम् अपत्योत्पत्तिमहोत्सवम् अकार्षीत् अकरोत् ।

[पृष्ठ १६०-१६४] [श्रीदत्त भगिन्या सह त बाल गृहमानीय पुन त मातङ्गाधीन मारणायाकरोत् । सोऽपि वृक्षाकुले नदीतटनिकटे त्यक्त्वा ततो निजगृहम् अगमत् ।] श्रीदत्त. श्रवणपरपरया कर्णपरपरया तमेनं वृत्तान्त वार्ताम् उपलभ्य श्रुत्वा, शिशिवति—शिशो स्तनधयस्य विनाशस्याशयेन अभिप्रायेण, कीनाश इव यम इव तन्निवेशम् आश्रित्य इन्द्रदत्तश्रेष्ठिन गृह गत्वा 'इन्द्रदत्त, अय महाभागधेयो महाभाग्य भागिनेयः भगिन्या पुत्र स्वस्रीय ममैव तावद्धाम्नि गृहे वर्धता वृद्धि यातु' इत्यभिधाय उक्त्वैवम् सभगिनीक भगिनीसहित तोक पुत्रम् आत्मावास निजगृहम् आनीय, पुरावत् पूर्वमिव क्रूरप्रज्ञ निर्दयमति सज्ञपनार्थ मारणार्थम्, अन्तावसायिने चाण्डालाय प्रायच्छत् समर्पयामास । सोऽपि दिवाकीर्तिश्चाण्डाल उपात्तपुत्रभाण्ड गृहीतपुत्रपात्र , सत्वरम् उपह्वरानुसारी निर्जनप्रदेशमनुगच्छन् । समीरेति—समीरस्य वायोर्वशात् गलित विनष्ट घना मेघा एव अम्बराणि वस्त्राणि तेषाम् आवरणम् आच्छादन यस्य, हरिणकिरणमिव हरिणा मनोहरा किरणा करा यस्य तमिव चन्द्रमिव ईक्षणरमणीय नेत्राह्लादकम् , गुणपालतनयमालोक्य सदयहृदय प्रबलविटपिसकटे प्रबला दृढा सारवन्त ये विटपिन वृक्षा तै. सकटे व्याप्ते सरित्तटनिकटे नदीतीरसमीपे परित्यज्य अश्वल्लीत् आशु अगमत् । [गोविन्दो नाम गोपालस्त गृहीत्वा स्वभार्यायै सुनन्दायै समर्पितवान्] तत्राप्यसौ पुरोपार्जितपुण्यप्रभावात् पूर्वजन्मार्जितपुण्यमाहात्म्यात्, धेनुभि उपरुद्धसविधभाग , कथभूताभि धेनुभि । उपमातृभिरिव धात्रीभिरिव एतद्वीक्षणात् अस्य बालकस्यावलोकनात् क्षरत्क्षीरस्तनाभि निर्गलद्दुग्धकुचाभि । आनन्देति—आनन्देन उदीरिता उच्चारिता निर्भरा विपुला हुमेति ध्वनयो याभि धेनुभि पुन कथभूताभि । प्रचाराय तृणभक्षणाय आगताभि , कुण्डोध्नीभि कुण्डमिव ऊधासि यासा ताभि , व्रजलोकधेनुभि गोपाललोकगोभि उपरुद्धसविधभागो व्याप्तसमीपदेश अपदान्तर पद स्थानम् अन्यत्पद पदान्तर स्थानान्तरमिति, न पदान्तरम् अपदान्तर तदेव स्थानमागतेन तद्रक्षणदक्षेण तस्य बालकस्य रक्षणे दक्षेण चतुरेण गोपालजनेन (सूर्यास्तसमये विलोकित) कथभूते सूर्ये । अस्तेति—अस्तोऽस्ताचल तस्य अवतस इव भूषणवत् भास किरणा यस्य तस्मिन्, पुन कथभूते । अशोकेति—अशोकपुष्पगुलुञ्छमनोज्ञे सरोजसुहृदि सरोजाना दिनविकासिकमलाना सुहृदि मित्रे सति विलोकित दृष्ट ।

स्यात् । प्राणसंहारश्च प्राणानां यथायां विनाशः भवतु । इति निश्चित्य प्रियसुहृदः वसन्तमित्रस्य वीरदत्तस्य अधिवसते वैश्यस्वामिनः निकेतने गृहे । समभिमेयक्षलकलशं मणिमयपरममाधुर्यं कलशं मोषित्वा तदानुर्व कलशं मार्गम् अवस्थाप्य स्वापतेयसारं स्वापतेयपु मध्येषु सारं मणिरत्नकमौक्तिकादिकं दुहितरं च पुत्रीं च मारनमारकृत्वा स्वायत्तं कृत्वा सुकमकेलिवनसमाश्रयनिवेश कौशाम्बीदेशम् अयासीत् । सुकमा केलि क्रीडा यत्र तानि वनानि उद्यानानि वनाश्रया वसाश्रयाश्च तदाश्रयाः तेषां निवेशो रचना यत्र तं कौशाम्बीदेशम् अयासीत् । अत्रान्तरे श्रीमदर्हद्भिमन्दिरनिर्विशेषम् आचरितिपण्डितो अस्मिन्समये श्रीमतां वणिजां धनिनां च मन्दिरेषु गृहेषु निर्विशेषं समतां मत्वा कृतविहारी तत्समेषां गृहेषु विहितममतो शिवगुप्त-मुनिगुप्तनामानौ मुनी श्रीदत्तश्रेष्ठिप्रतिमार्जितोपासकेन यथाविधिविहितप्रतिग्रहौ कृतोपचारविग्रहौ च तामनुज्ञामवाप्य धर्मश्रियम् अश्रयाताम् । श्रीदत्तश्रेष्ठिनो गृहस्य समीपे निवासिना अस्य उपासकेन भावकेन आगमोक्तप्रतिग्रहादिनवविधाभिः कृतसत्कारौ कृत्वा च उपचारः सेवा वैयावृत्त्यं तेन युक्तौ विग्रहौ देहौ ययोस्तौ मुनी आजिरमतां धर्मश्रियम् ऐक्षेताम् । तत्र मुनिगुप्तमुनेः वाञ्छितम् धर्मश्रियं निध्याय वीक्ष्य कोऽपि पापी कुमारस्या श्रवणीयोऽस्य दर्पं दुःसाध्यो यतो देव अमायत । यदमुना धर्मश्रियम् । केवलकमिस्तानपरयाम् दैवविरहितलितमविट्टेन केवलेन कुत्सायतनम् यस्याः स्वाङ्गाम् उत्पथमनीयसर्वताङ्गामीगलितम् उत्पथमनीयं श्रीतपस्महदं तेन संगता एतदवमापन्ना अद्भुतायाम् मायोपा सुविस्तरा सिद्ध् कान्तियस्याः तम् । अथैकस्येति—अर्थेकस्मिन्दिने श्रीवराविवाक्यार्थं एतदकमार्थं महदनमृत्तं तदैव सुधने सेवते इति ताम् । पुन धर्ममूलाम् । आप्तेति—आप्ती विदग्धो जनः कान्ता पत्नी, अपरं कन्या सुतश्च परिजनः किङ्करगणः एषां विरहेण वियोगेन देहतारः शरीरकृशता यस्याः ताम् । यमभीरवचोभिः यममारबकाभ्याम् च शिथिरावमवासवधर्तिनी (?) शिथिरामि धौतानि अमलाभूमि सञ्जननम्नकलानि तथा बद्धजिनी । स्वल्पकमलिनीमिव मलिनवर्ज्यं मलिनकान्तिम् उदवसितपर्यन्ते वसवसितस्य गृहस्य परिसरे पमन्तभूमि परगृहे बालो निवासस्तेन वियोगमाना ममायमाना सुखस्य श्री शोभा यस्यास्तां धर्मश्रियं निध्याय विलोक्य अहा महोपमा तत्र एतत्ताम् आयातः महीश्रमा महताम् एतनां पावनाम् आयातः गृहं यमु कोऽपि अस्याः कुक्षौ उदरे महापुरुषोऽवतीर्णः आगतो भवेत् । येन अवनीर्णमात्रेणापि अति मारेणापि दुष्पुत्रेणैव सुपुत्रेणैव शीता एतदवस्था दशाम् अधितिष्ठत् दशाम् आसेदी अस्याः तम् एवंरूपाम् अवस्थाम् अवाप्स्यत एतदवाप्त (मुनिगुप्तो मुनि) मुनिरूपा शिवगुप्त—मैवं भाषिता मुनिषु मुग्ध इव इत्येति मुनिरूपा शिवगुप्त मैवं बोध । अतो यदारीयं मन्दिमी कातिविहितानि एवंभूता तदा तदाविश्ले चरम अग्नम अधिष्ठाने गृहे तिष्ठति तथाप्येतत्मतेन एतस्याः पुत्रेण सकलवणिजनिता सर्वदेवस्वामिना राजमन्त्रिणा निरवद्यपीतवीरवरेण नि सीमनिर्माणाम् ईश्वरेण स्वामिना विशेषमस्मुनागरेष च विशेषतया गुणगुणामा वरेण यया भवितव्यम् इत्यबोधत् । एतच्च स्वकीयगृहरान्तिकस्थः विश्रुतवंशोद्भवः वात श्रीदत्तः विस्मय गत्वा न तत्र प्रायम अनरपमितम् सर्वं मानि महर्षे इत्यवधार्य इति विचिन्त्य बुधा सुगर्भवान् धुरीणिरतचेतोऽवति आसीत् । मुनीनाम् तीव्रम् सुर्यं मन्य न भामी धर्तव्य न इत्यवगम्य दुर्गहिर्य दुरुपायेन तदा अचोवति मनागपारो येन स तथाभूत आसीत् अथासत । अधर्मेण परित्राणाय अनिवारितम् तदा मुनिगुप्त परिरक्षिता प्रागर्भितम् प्रमुखितेन यथा एवंभूता तनो पुत्रम् अजनयत् । श्रीदत्त —विचारानुगत आवित्य । अथ धन्ता आन्यः बालकः । आप्तवाग् आप्तम् आचारवान् असाति इति आप्तवाम अथ विभागवत भवत् । तत् तस्मात् कारणात् अनधीतान्तमेधाधिवेन अनुत्पन्नदशी एव बाद भार्गि सम्प्राप्त् बाव अभावकः एतां निर्गुरुवा इति येनाम् दुहितद् भवेत् । इति तदा इति विचार्य । अनुदिनु ओन सुपुत्रादावुपासितो वीर्ववंशगृहात् बालकमिनादीनामगुणैर्धर्मश्रियम् आचम्य आत्मा निर्वापितमवारी अयोरनिर्वाहितप्रमाणा अरणीसा मदालीया च वदन प्रीत उपाय तदा अत एवाय पुत्रो जाता इति इत्येति विचार आवात बाहूर च एवं रक्तार्थं आतर्णु धर्मभूतम् आत्मदीक्षितकारकम् अग्नेन विधिना अनवाप्य अवगत आगमा विवाहो मात मत् । निजगृहेद्रवर्धनेन कृतावरणेन निशा वर पुत्रो मा मातो हारी अन्या सखा तदायाम विवाहाय निवेश गुरुतः कृतः [illegible] विवाहस्य अथैनो तत्ख्यं [illegible] एतावे देव श्वशुर श्रीदत्त न इत्यर्थ दत्तावर्णं दत्तं

चाण्डालाय समर्पयामास । सोऽपि जनगम चाण्डाल स्वर्भानुप्रभेण करेण राहुसमेन कृष्णवर्णेन हस्तेन रामरश्मिमिव रामा मनोज्ञा रश्मय किरणा यस्य तम् इव चन्द्रमिव त स्तनधयम् उपरुध्य गृहीत्वा । नि शलाकावकाश निर्जनप्रदेश देश स्थानमाश्रित्य । पुण्यपरमाणुपुञ्जमिव पुण्याना परमाणूना पुञ्जमिव शुभदेहवन्तम् एन बाल दृष्ट्वा । सजातकरुणारसप्रसरप्रसन्नमुख सजात उत्पन्नश्चासौ करुणारस दयारस तस्य प्रसर प्रवाह तेन प्रसन्नवदन, सुखेन विनिधाय स्वकीय गृहमटीकत अगच्छत् । पुनरस्यैव अपरभवभगिनीपति अशेषापणिकपणपरमेष्ठी इन्द्रदत्तश्रेष्ठी अपरभवा लघीयसी मा चासौ भगिनी तस्या पति । अशेपाश्च ते आपणिका पण्याना क्रयविक्रयादियोग्याना वस्तूना व्यवहारकारिण', तेपा पणो व्यवहारस्तस्मिन् परमेष्ठी चतुर इन्द्रदत्तश्रेष्ठी, विक्रयाडम्बरितशण्डमण्डलाधीन विक्रयणक्रियया डम्बरिता शोभिता ये शण्डा वृषभा तेषा मण्डलं समूह तस्य अधीनम् आयत्तम्, पेठोपकण्ठगोष्ठीन पेठस्य (?) उपकण्ठ समीप गोष्ठीन भूतपूर्वक गोष्ठ गोष्ठीनम् अनुमृत. गत, वत्सीयविपयसनीडक्रीडागतगोपालबालकलपनपरस्परालापात् वत्सेभ्यो हित वत्सीय स चासौ विषय वत्सहितो निवासप्रदेश तस्य सनीड समीप क्रीडार्थम् आगता ये गोपालबालका बल्लवाना शिशव, तेपा लपनानि मुखानि तेपा परस्परालापात् अन्योन्यसभाषणात् । वत्सतरतानकसतानपरिवृत वत्सतरा दम्या तानका सद्योजाता गोशिशव., तेषा सतान समूह तेन परिवृतम् । अनेकेति—अनेके बहव ते च ते चन्द्रकान्तोपला चन्द्रकान्तमणय तेपाम् अन्तराले मध्ये निलीन स्थितम् । अरुणेति—पद्मरागरत्ननिधिमिव तं जात बालम् उपलभ्य दृष्ट्वा स्वयम् अवीक्षितपुत्रमुखत्वात् तद्बुद्धया 'मदीयस्तनयोऽयमिति मत्वा' साधु अनुरुध्य सम्यक् विज्ञप्य 'स्तनधयावधानधृतबोधे राधे स्तनधय शिशुः तस्य अवधान 'कदा मे पुत्रो भविष्यतीति अवधान चिन्ता तस्या धृतो बोधो ज्ञान यया तत्सबोधनम्, राधा इति । इन्द्रदत्तस्य जायाया नाम तत्सबोधन हे राधे इति । तवाय गूढगर्भसभव तनूद्भव, तन्वा शरीरात् उद्भव उत्पत्तिर्यस्य इति प्रवर्द्धिता प्रसिद्धिर्येन स श्रेष्ठी महान्तम् अपत्योत्पत्तिमहोत्सवम् अकार्षीत् अकरोत् ।

[पृष्ठ १६०-१६४] [श्रीदत्त भगिन्या सह त बाल गृहमानीय पुन त मातङ्गाधीन मारणायाकरोत् । सोऽपि वृक्षाकुले नदीतटनिकटे त्यक्त्वा ततो निजगृहम् अगमत् ।] श्रीदत्त श्रवणपरपरया कर्णपरपरया तमेनं वृत्तान्त वार्ताम् उपलभ्य श्रुत्वा, शिशिवति—शिशो स्तनधयस्य विनाशस्याशयेन अभिप्रायेण, कीनाश इव यम इव तन्निवेशम् आश्रित्य इन्द्रदत्तश्रेष्ठिन गृह गत्वा 'इन्द्रदत्त, अय महाभागधेयो महाभाग्य भागिनेयः भगिन्या पुत्र. स्वस्रीय ममैव तावद्धाम्नि गृहे वर्धता वृद्धि यातु' इत्यभिधाय उक्त्वैवम् सभगिनीक भगिनीसहित तोक पुत्रम् आत्मावास निजगृहम आनीय, पुरावत् पूर्वमिव क्रूरप्रज्ञ निर्दयमति सज्ञपनार्थ मारणार्थम्, अन्तावसामिने चाण्डालाय प्रायच्छत् समर्पयामास । सोऽपि दिवाकीर्तिश्चाण्डाल उपात्तपुत्रभाण्ड गृहीतपुत्रपात्र, सत्वरम् उपह्वरानुसारी निर्जनप्रदेशमनुगच्छन् । समीरेति—समीरस्य वायोर्वशात् गलित विनष्ट घना मेघा एव अम्बराणि वस्त्राणि तेपाम् आवरणम् आच्छादन यस्य, हरिणकिरणमिव हरिणा मनोहरा किरणा करा यस्य तमित्र चन्द्रमिव ईक्षणरमणीय नेत्राह्लादकम्, गुणपालतनयमालोक्य सदयहृदय प्रबलविटपिसकटे प्रबला दृढा सारवन्त ये विटपिन वृक्षा तै. सकटे व्याप्ते सरित्तटनिकटे नदीतीरसमीपे परित्यज्य अस्वल्लीत् आशु अगमत् । [गोविन्दो नाम गोपालस्त गृहीत्वा स्वभार्यायै सुनन्दायै समर्पितवान्] तत्राप्यसौ पुरोपार्जितपुण्यप्रभावात् पूर्वजन्मार्जितपुण्यमाहात्म्यात्, धेनुभि उपरुद्धसविधभाग, कथभूताभि धेनुभि । उपमातृभिरिव धात्रीभिरिव एतद्वीक्षणात् अस्य बालकस्यावलोकनात् क्षरत्क्षीरस्तनाभि निर्गलद्दुग्धकुचाभि । आनन्देति—आनन्देन उदीरिता उच्चारिता निर्भरा विपुला हम्भेति ध्वनयो याभि धेनुभि पुन कथभूताभि । प्रचाराय तृणभक्षणाय आगताभि., कुण्डोध्नीभि कुण्डमिव ऊधासि यासा ताभि, व्रजलोकधेनुभि गोपाललोकगोभि उपरुद्धसविधभागो व्याप्तसमीपदेश अपदान्तर पद स्थानम् अन्यत्पद पदान्तर स्थानान्तरमिति, न पदान्तरम् अपदान्तर तदेव स्थानमागतेन तद्रक्षणदक्षेण तस्य बालकस्य रक्षणे दक्षेण चतुरेण गोपालजनेन (सूर्यास्तसमये विलोकित) कथभूते सूर्ये । अस्तेति—अस्तोऽस्ताचल तस्य अवतस इव भूषणवत् भास किरणा यस्य तस्मिन्, पुन कथभूते । अशोकेति—अशोकपुष्पगुलुञ्छमनोज्ञे सरोजसुहृदि सरोजाना दिनविकासिकमलाना सुहृदि मित्रे मति विलोकित दृष्ट ।

कथितवच्च वणिक्। गोविन्दनामधेयाय गोपालाय कर्णमूताय सकलमापत्स्वपेक्ष्याय सकलस्वजनेभ्यो ज्येष्ठाय वयसा अधिकाय सकलकुलवरिष्ठाय प्रबर्धमपत्याय, निजकुलेन तिरस्कृतकमलाय गोविन्दाय। सोऽपि तनयमोस्या मातस्य मधुरया च भामीव उत्पादितमनोमोदाया सुनन्दायाः समर्पितवान्। कृतम् अस्य इन्दिरामन्दिरस्य लक्ष्मीगेहस्य धनकीर्तिरिति नाम गोविन्देन। ततोऽसौ क्रमेण परित्यक्तशैशवदशः कपटेन इव परित्यक्ता मुग्धा शैशवदशा बाल्यावस्था मन सः कमनेन इव हरिरिव। युवजनेति—युवजनास्तरुणास्तेषां मनः पवन मनाप्रकृपे यत्सर्व क्ष्मामम् अपप्रायं तारुण्यं तेन उत्फुल्लानि विकासं प्राप्तानि यानि नवयौवनाःगोपाङ्गनानां लोचनानि एव अलिकुलानि भृङ्गसमूहा तैः अवलेह्यं स्वाद्यं लावण्यमेव मकरन्दो यस्य। पुनः कर्णमूतम्। अमन्देति—अमन्दः महान् स चासौ मानस्य तस्य काम इच्छा तां ददातीति। अतिमन्मथरूपायतनम् अतिमनोहरसौन्दर्यगेहम् यौवनम् आसादित प्राप्त। पुनरपि प्राप्तम् उत्तमं यत् भाग्यं वृतं तस्य वणिज्या व्यवहारः तस्य उपार्जनं लाभः तदर्थं उद्यमम् आगमनं यस्य तेन श्रीदत्तेन दृष्टः। पृष्टश्च गोविन्दः तस्य जन्मादिप्रपञ्च प्राप्तिविस्तरः [श्रीदत्तः मत्पत्र दर्शनमात्रं एवं विषेण मुखेन वा वहि इति निजपुत्राय पत्रं लिखितवान्] श्रीदत्त —गोविन्द मदीये भवन किमपि महत्कार्यम् आपन्नमस्ति तमपत्य निवेद्यं कथनीयमस्ति। तदयं प्रभुः प्रकर्षवेगवती बाहुनी यस्य स प्रभुरयं धनकीर्तिः इमं लेखं हारयित्वा सत्वरं प्रहीनम्य प्रेषणीय। गोविन्द—श्रेष्ठिन्, एवमस्तु। लेखं नीत्वमनिवत् अहो विधिसमस्तपीतवक्त्र श्रावसमस्तमुखामानपरिमाणक महावक एव ननु अस्मदीयविनाशवैश्वानरः अस्मार्क वंशस्य कुलस्य विनाशाय वैश्वानरः अग्निरिवास्ति। अवश्य विष्णो विषेण वध्यः मुखस्थो मुखलेन वध्यो वा विधातव्य इति धनकीर्तिस्वपा तातमणिवरतिम्याम् आदिष्टः सावष्टम्भम् अवष्टम्भ आधारः तेन सहितं सावष्टम्भं मुद्रासहितं मकार्यकारणं लेखं कृत्वा दत्तकेन लेखपत्रं निबध्य तद्गतो स वधवानिर्गतः। पथकनगमपवन सहेद लेखपत्रमपि तेन गले बद्धम्। गत्वा च जन्मान्तरोपकारातोऽमीनावतारसरस्याम् एकानस्याम् अन्यजन्म जन्मान्तरं पूर्वजन्मेत्यर्थः। तस्मिन्‌ तृतीयो य उपकारः तस्याधीनमीनस्य अवसरः वसति प्रवेशो वा यस्यां तथाभूतायाम् एकानस्याम् उज्जयिन्याम्। पूर्वजन्मनि यो मत्स्यो मृगसेनेन अहिंसाव्रतरतार्थे जालाग्रके मुक्तः स मृत्वा धनश्रियोऽपत्या वेश्याऽजायत। तत्समीपवर्तिपर्यन्तवर्तिनि वने तस्यां प्रवेश तत्प्रवेशः तत्र मतवरिं महावटः तस्य परिपर्यन्त (?) वनिति वने उपाले वाल्मीकमपारसवनाम अरमन मार्गस्य श्रमहरणाय विकसितपत्रलतापरिसरे शिखावां कोकिलानां प्रिय आम्रवृक्षस्य मासमालस्य समन्ततोऽमलो वारनार्थे मधूकमूले नेत्र्यं लिम्बे तरातवालमुखतेतस्य परिसरे समीपप्रदेशे निःशङ्कम् अवबोधरहितं गाढम् अस्वाप्सीत् अतिशयत्। [तत्रोद्याने अनङ्गसेनावणिक्कागता सा सादरमिदं विलोक्य तस्य गलास्लेखम् आदायावाचयत्। तल्लेखस्य परिवर्तनं कृत्वा तत्र लेखे धनश्रीर्यमे मदीया कन्या मदागमनमनपेक्ष्य दातव्येति लिलेख] अत्रावसरे अस्मिन् प्रस्तावे विहितपुष्पावचयविनोदा पुष्पकुसुमोच्चयकेलिः। उपरिसृता सपरिवारा। निखिलविद्याविदग्धा सकलजनमनोहारिकलाचतुरा। पूर्वमत्पकारस्निग्धा पूर्वजन्मानुगीतहृदया स्नेहना। संजीवनीविद्यायां संजीवनी नामौषधिस्तस्या मत्स्यार्थे मृगसेनगतो योऽपि तदा सखी अनङ्गसेना नाम गणिका तस्यैव वणिजः जामातृत्वस्य तन्त्रम् अवलोक्य गत्वा विलोक्य च निःशङ्कलोचना निरवसनेका विराय दोषमवर्ण तम् अनङ्गम् इव मदनमिव कुसुमकुसुमास्तरणं मुग्धं स्वर्णं कुसुमास्तरणां गुणानामां तन्वं अनुरागितरिक्षरो येन लोकान्तरमिवम् अन्यो लोकः स्वर्गलोकं विना स्पर्शनेषु तस्य मित्रम् अयोग्यरजनीति सामुद्रिकोक्तलक्षणशुभलक्षणैर्युक्तदेहं धनकीर्तिम् पुनराह श्रीमनस्विनी विना मध्यसर्वः तस्य मित्रम् प्रतिपादयता रेखाविन्यैवैव प्रकार्य विज्ञनिम् अङ्गिनं वर्णान्तराणां नानाकारमूलकानां विषवन मधुरः सुन्दरः अस्वाद्य यस्य तस्मात् कण्ठदेशात् आदाय अवाचयन्निदानमातरादेश लेखम् अवाचयत्। अनन्तरं तस्य अभ्यन्तरेण यस्य तस्मात् प्रतिपादनं पूर्वनाम् अपाठतां वरवासरवरकपात्राम् आदेशो लेखन तत् तदान्ने लेखम् अवाचयत् पठति स्म। [अनङ्गसेनया मधुरा अपूर्वेता श्रेष्ठिपुत्री धीमती धनदे तदे दातव्येति लिखिते] n वाणिज्यवत्तत्त्वं च वेदं हरवेन विदुषी अनुरागमाना लावण्यालङ्कृतप्रत्यानुरागेण लोचनाख्य अवचनं ददाने गोचराकरणं तत्र धनात् नयनात् उपालेन मदीयेन वज्रकीलस्ववविष्णीनरपतेन कारवनानिजननानां करेताम् निजवीरस्वेन हस्तालस्वरेन कण्ठेन अनुगमनाव्य अनुगतस्वभाव पञ्चता लेखकाः तत्र रतिमिव

पुरातनसूत्रे परिम्लिष्टानि परिमृष्टानि विनाशितानि पुरातनसूत्राणि पूर्वतनानि वाक्यानि यत्र तथाभूते पत्रे लेखान्तरम् अन्य लेख लिलेख। तथाहि—"यदि श्रेष्ठिनी माम् अवधेयवचनम् अवधेयानि ग्राह्याणि प्रमाणभूतानि वचनानि यस्य तथाभूत यदि मा मन्यते, महाबलश्च यदि माम् अनुल्लङ्घनीयवाक्प्रसर पितर गणयति, वाचा प्रसर. वाक्प्रसर [अनुल्लङ्घनीयो वाक्प्रसरो यस्य आदेयभाषणस्त यदि मा पितर जनक महाबलो मन्यते, तदा अस्मै निकाम नितरा सप्तपुरुषपर्यन्तपरीक्षितान्वयसपत्तये धनकीर्तये सप्तपुरुषावमान यावत् अवलोकितवशशुद्धये अस्मै धनकीर्तये कूपदप्रक्रमेण जामातृदेय वस्तु कूपमुच्यते। हिरण्यकन्यादायी कूपद कथ्यते। हिरण्यकन्यादानक्रमेण द्विजदेवसमक्षम् अविचारापेक्षं विचारस्य अपेक्षाम् अकृत्वा श्रीमतिर्दातव्या इति। ततो यथाम्नातविशिखम् इम लेखम् आमुच्य यथा आम्नाता प्रोक्ता विशिखा इकार-उकारादिमात्राचिह्नानि यत्र तथाभूतम् इम लेखम् आमुच्य गले निबध्य समाचरितगमनाया विहितस्वस्थानगतौ अनङ्गसेनाया सत्या धनकीर्तिश्चिरेण विद्राणसान्द्रनिद्रोद्रेक विद्राण विनष्ट सान्द्र· निबिड अवबोधरहित निद्रोद्रेक स्वापस्य अतिशयो यस्य, सोत्सेक सगर्वम् उत्थाय प्रयाय च गत्वा च श्रीदत्तनिकेतन श्रीदत्तगृहम्, जननीसमन्विताय महाबलाय प्रदर्शितलेख श्रीमतिसख श्रीमति सखा यस्य स श्रीमतिजानि अजायत [श्रीदत्तो धनकीर्ति मारणार्थं कात्यायनीमन्दिर प्राहिणोत्, पर तच्छ्याल त गृह प्रेष्य स्वय देवीमन्दिरम् अव्रजत् तत्र च स श्याल मारकैर्मारित।] श्रीदत्तो वार्ताम् इमाम् आकर्ण्य प्रतूर्णं शीघ्र प्रत्यावर्त्य प्रतिनिवृत्य निधाय स्थापयित्वा च तद्वधाय तन्मारणाय राजधानीबाहिरिकाया चण्डिकायतने चण्डिकानामदेव्या मन्दिरे कृतसकेतसनद्धवपुष मारणसकेते सनद्ध वपु यस्य त नर कच्चराचरणपिशाचीं मलिनाचारो जीववध तत्र पिशाची पिशाचवदाचरणशीला देवद्रीचो देवमञ्चति देवद्रयङ् पुरुष, देवपूजिका स्त्री देवद्रीची ता च तद्वधाय स्थापयित्वा, परिप्राप्तोदवसित परिप्राप्त उदवसित निजगृह रहसि धनकीर्ति मुहुराहूय बहुकूटकपटमति कूटो राशि बहुराशियुक्तकपटेषु मतिर्यस्य स श्रीदत्त एवम् आबभाषे अब्रवीत्। वत्स, मदीये कुले किलैवम् आचार, पटुतरयामिनीमुखे कृष्णचतुर्दशीरात्रिप्रारम्भे कात्यायनीदेव्या प्रमुखे प्राङ्गणे चण्डिकादेवीमन्दिरे इति भाव, प्रतिपन्नाभिनवकङ्कणबन्धेन प्रतिपन्नोऽङ्गीकृत. अभिनवो नूतन कङ्कणबन्ध विवाहमङ्गलसूत्रबन्धो येन। स्तनधयागोधेन स्तनधया बाला तस्या गोधेन पतिना। महारजनरसरक्ताशुकसमाश्रय स्वयमेव माषमयमोरमौकुलिर्बलिरुपहर्तव्य। महारजनानि कुसुम्भपुष्पाणि तेषा रसेन रक्त रागयुक्त यदशुक वस्त्रं तस्य समाश्रय अवलम्बन यस्य लोहितवस्त्रेणाच्छादित इत्यर्थ। स्वयमेव वरेणैव माषपिष्टविनिर्मितमोरमौकुलि मोर मयूर काक बलि उपहाररूपेण उपहर्तव्य समर्पणीय। धनकीर्ति—तात तात, यथा तातादेश भवत पूज्यस्य आदेशस्तथा तम् अनुरुध्ये। इति निगीर्य उक्त्वा, गृहीतकुलदेवतादेयहन्तकारोपकरण गृहीतानि स्वीकृतानि कुलदेवतायै निजान्वयरक्षिकायै देवतायै देया हन्तकारास्तण्डुला उपकरणानि च येन स धनकीर्तिः, तेन श्यालेन पत्नीभ्रात्रा महाबलेन पुरप्रदेशान्निःसरन्नवलोकितश्च समालापितश्च भाषितश्च। हहो धनकीर्ते, प्रवर्धमानान्धकारावन्ध्यायाम् अस्या वेलायाम् अवगण क्वोच्चलितोऽसि। प्रवर्धमान वृद्धि गच्छश्चासौ अन्धकार तेन अवन्ध्याया युक्तायाम्, अस्या वेलायाम् अस्मिन्नवसरे, अवगण एकक एव गणेन परिवारेण रहित अवगण क्व उच्चलितोऽसि। क्व गन्तुमुद्यतोऽसि। महाबल, मातुलनिदेशाच्चमसितनिवेदनाय दुर्गालये। श्वशुराज्ञाया उपयाचितस्य निवेदन कर्तुं देयवस्तुनिवेदनाय चण्डिकामन्दिर यामि। यद्येव नगरजनासस्तुतत्वात्त्व निवास प्रति निवर्तस्व। यदि गन्तुमिच्छसि, मागच्छ, यत स चण्डिकामन्दिरमार्ग नगरजनान् प्रति असस्तुत अस्मिन् समये तेन मार्गेण गन्तु नोचितम्। त्व निवास स्वगृह प्रति निवर्तस्व याहि। अहम् एतदुपयाचितम् ऐशान्या स्पर्शयितु प्रगच्छामि इष्टसिद्धयै देयद्रव्यम् ऐशान्या कात्यायन्या अर्पयितु प्रगच्छामि यद्यत्र तातो रोषिष्यति तद्रोषमहमपनेष्यामि। ततो धनकीर्तिर्मन्दिरमगात्, महाबलश्च कृतान्तोदरकन्दरम् कृतान्तस्य यमस्य उदरकन्दर कुक्षिगह्वरम्। महाबलस्तत्रत्यै मारणार्थं नियुक्तै पुरुषैर्मारितश्च। [श्रीदत्तभार्या विशाखा धनकीर्तिमारणोपाय रचयति पर सोऽपि विफल एव भवति। विषमोदक भक्षयित्वा उभावपि श्रेष्ठिश्रेष्ठिन्यौ म्रियेते।] श्रीदत्त सुतमरणशोकातङ्कोपान्त प्रकाशितापवृत्तान्त. पुत्रमृत्युजातदु खज्वरसमीपागतान्तक, निवेदितसकलोदन्त, "सकलनिकाय्यकार्यानुष्ठानपरमेष्ठिनि, मन्मनोह्लादचन्द्रलेखे

कथितवत्य अस्मै। गोविन्दनामधेयाय गोपालाय कर्णभूताय सकलगोपभ्योऽप्यधिकाय सकलस्वजनेभ्यो ज्येष्ठाय वयसा अधिकाय अस्मत्कुलवरिष्ठाय प्रशंसाप्रष्ठाय, निजमुखेन तिरस्कृतकमलाय गोविन्दाय। सोऽपि तनयप्रीत्या आनन्दमहत्या च आनीय सत्यावितमनोमोदाया सुनन्दायाः समर्पितवान्। तत्पश्चात् अस्य दक्षिण-मन्दिरस्य अदसीयेऽङ्गस्य धनकीर्तिरिति नाम गोविन्देन। ततोऽसौ क्रमेण परित्यक्तशैशवदशः क्रमेण एव परित्यक्ता मुक्ता शैशवदशा बाल्यावस्था येन सः क्रमेण इव हरिरिव। भुवजनेति—भुवजनास्तरुणास्तेषां मनः तस्येन मनोज्ञरूपे मनसम् कपायम् नवप्रायं तारुण्यं तेन परस्कृतानि विकासं प्राप्तानि यानि अस्मदीया गोपाङ्गनाना लोचनानि एव अलिकुसुमानि भृङ्गसमूहा तैः मधुकैः स्वादं लावण्यमेव मकरन्दः यस्य। पुनः कर्णभूतम्। अमन्देति—अमन्दः महान् स चासौ आनन्द तस्य काम इच्छा तां ददातीति। अतिमनोहरुपायजनम् अतिमनोहरसौन्दर्यगेहम् यौवनम् आसादित प्राप्त। पुनरपि प्राप्तम् उदयं यत् आभ्यं पूर्व तस्य अभिज्ञया व्यवहारः तस्य उपार्जने कामः तदर्थं उद्यमम् आगमनं यस्य तेन गौरवेण पृष्टः। पृष्टश्च गोविन्दः तस्य यथास्थितप्रपञ्च प्राप्तिविस्तरः [गोविन्दः मत्पत्न गर्भमन्वं त्वं विपेन मुखेन वा बहिः इति निजपुत्राय पत्रं लिखितवान्] गौरव —गोविन्द मदीये भवने किमपि महत्कार्यम् आसन्नस्य तनयस्य निवेदं कथनीयमस्ति। तदयं प्रभु: प्रकर्षविषयवती वानुगो यस्य स प्रभुरयं धनकीर्ति इमं लेखं ग्राहयित्वा सत्वरं प्रहेतव्य प्रेषणीय। गोविन्द —दोष्ठिन् एवमस्तु। लेखं गृहीत्वा गतो विदित-समस्तपौरवककार्य श्रावककर्तुकामामपरिमाणकर्म महाराक एव खलु अस्मदीयविमाग्नवैश्वानर अस्मार्क वंशस्य कुलस्य विनाशाय वैश्वानर अग्निरिवास्ति। अयमयं विपो विषेण दग्ध मुसल्यो मुद्गरेण बध्यो वा विनाश्य इति धनकीर्तिस्तथा तत्पत्रिकयतिम्याम् मानिष्य धामदस्यम् सदशस्य आधार तेन सहितं सादृश्यं मुद्रा सहितं मषांककारसदर्श लेखं कृत्वा दशकेन लेखपत्रं निवध्य तद्गमने स वनवासिरुपार्थं। यत्नवद्भूषणेन सहेरं लेख-पत्रमपि तेन यके बद्धम्। सता च जन्मान्तरोपकाराधीनमोनाव्वापरसरस्याम् एकानस्याम् जन्मकन्यायामन्तरं पूर्वजन्मेऽस्पर्शः। तस्मिन्जन्मनि य उपकारः तस्याधीनमोनस्य ब्रजनातः उत्पत्ति प्रवेशो वा यस्यां तथाभूतायाम् एकानस्याम् जन्मभूम्याम्। पूर्वजन्मनि यो मत्स्यो मृगसेनेन अहिंसाव्रतरतायां बासारजके मुक्तः स मृत्वा जन्मनिम्ना वेषयाऽजायत। तत्प्रवेशपरिपर्यन्तपतितनि वने तस्यां प्रवेश तत्प्रवेशः। तत्र मत्पवित्रं सहाकरः तस्य परि पर्यन्त (?) वर्तिनि वने उद्याने धर्मधनापमनाय धर्मेण मार्गस्य श्रमहरणाय विकत्रिशाकाकारिवते पिकानां कोकिलानां प्रिय आम्रतरुस्तस्य आलवालस्य समन्ततोऽभयो वारलार्य मृदुमूले वेष्टनं लिखते तदालवालमुन्नते तस्य परिसरे समीपप्रदेशे निःसंशम् अनवोचरहितं गाढम् अस्वाप्सीत् अनिद्रात्। [तदनन्तरं अनङ्गसेना मल्लिकापदा सा गाढनिद्रं तं विज्ञाय तस्य सकाशेलेखम् आदायगाभवत्। लेखस्य परिवर्तनं कृत्वा तत्र वेषे धनकीर्तये मदीया कन्या मदायमनतकेष दातव्येति लिलेख] अथावसरे अस्मिन् प्रस्तावे विहितपुष्पावचयविनोदा कुसुमोपचयकेलिः। सपरिच्छदा सपरिवारा। निखिलकलाविलासा सकलकलासु चातुरा। पूर्वमयो एकादशिकया भगमस्कनीनकृत्या स्नेहेना। संजीवनौषधिसमाना संजीवनी नामौषधिर्यस्यास्तया सपमोहे मृतरहितो मृतो जीवति तथा तद्वृषो अनङ्गसेना नाम गणिका तस्यैव सहकारतरो आम्रवृक्षस्य तलम् अधोभागं गत्वा विलोक्य च निःस्पन्दलोचना निश्चलनेत्रा विराय दीर्घसमयं तम् अनङ्गम् इव मदनमिव मुग्धकुमारस्वरूपं मुक्तं त्यक्तं कुसुमास्त्राणां पुष्पबाणानां तत्र धनुरादिपरिग्रहो येन लोकान्तरमिव अयो लोकः स्वर्गलोके विना मध्यलोकः तस्य भिन्नम् असदृशदर्शनेति सामुद्रिकलक्षणगुणस्यार्थैर्गुणवेद्यैः धनकीर्तिम् पुनरादु—श्री-सरस्वती कलाधर्म प्रतिपादयता रेखाविवर्तनेन प्रकाशं निर्गतम् अहितं कल्कितया भालाकारमुद्रया विनयेन मधुरः सुन्दर मध्यप्रदेश यस्य तस्मात् कण्ठदेशात् आदाय अनादप्रतिपादनायवाहीर्न लेखम् अवाचयत्। अथासौ मुग्धं तस्य प्रतिवादनं गुणानाम् अक्षराणां पदवाक्यविवक्षाणाम् आलोक्य लेखनं मम तथाभूत लेखम् अवाचयत् पठति स्म। [अनङ्गसेनया संमज्य मृदुलेखं श्रेष्ठिपुत्री श्रीमती धनकीर्तये दातव्येति लिखिते] त वाचितवत्यसौ यत्ते मैव हृदयम् विघूर्णी ग्रसुप्यमाना लोचनाञ्जनकरव्यापारेण लोचनायां कज्जलं तत्क्षणं लोचनाञ्जनं तस्य लेखं हृदयन विघूर्णी जुगुप्समाना लोचनाञ्जनकरव्यापारेण लोचनार्थम् कज्जलं नवखलं लोचनाञ्जनं तस्य शेषं हृदयन विघूर्णी ग्रसुप्यमाना लोचनाञ्जनकरव्यापारेण लोचनार्थम् कज्जलं तत्क्षणं लोचनाञ्जनं तस्य करणात् मध्यगात् तद्गतेन गृहीतेन नवनालीकमलविलोचनतद्गुणेन तत्क्षणनाविलनयनस्य वर्णनात् निर्गत-करणात् अङ्गुलात् तस्मात् गृहीतेन नवकालीकमलविलोलनतद्गुणेन मङ्गलमाविलनयना वर्णनात् निर्वत-वीररसेन द्रवमाणमानेन कलमेन अनुपलालकमा अनुनाम्बुसृष्ट अक्षरका लेखम् अर्थे परिणिष्य

पुरातनसूत्रे परिम्लिष्टानि परिमृष्टानि विनाशितानि पुरातनसूत्राणि पूर्वतनानि वाक्यानि यत्र तथाभूते पत्रे लेखान्तरम् अन्य लेख लिलेख। तथाहि—"यदि श्रेष्ठिनी माम् अवधेयवचनम् अवधेयानि ग्राह्याणि प्रमाणभूतानि वचनानि यस्य तथाभूत यदि मा मन्यते, महाबलश्च यदि माम् अनुल्लङ्घनीयवाक्प्रसर पितर गणयति, वाचा प्रसरः वाक्प्रसर [अनुल्लङ्घनीयो वाक्प्रसरो यस्य आदेयभापणस्त यदि मा पितर जनक महाबलो मन्यते, तदा अस्मै निकाम नितरा सप्तपुरुषपर्यन्तपरीक्षितान्वयसपत्तये धनकीर्तये सप्तपुरुषावसान यावत् अवलोकितवंशशुद्धये अस्मै धनकीर्तये कूपदप्रक्रमेण जामातृदेय वस्तु कूपमुच्यते। हिरण्यकन्यादायी कूपद कथ्यते। हिरण्यकन्यादानक्रमेण द्विजदेवसमक्षम् अविचारापेक्षं विचारस्य अपेक्षाम् अकृत्वा श्रीमतिर्दातव्या इति। ततो यथाम्नातविशिखम् इम लेखम् आमुच्य यथा आम्नाता प्रोक्ता विशिखा इकार-उकारादिमात्राचिह्नानि यत्र तथाभूतम् इम लेखम् आमुच्य गले निबध्य समाचरितगमनाया विहितस्वस्थानगतौ अनङ्गसेनाया सरया धनकीर्तिश्चिरेण विद्राणसान्द्रनिद्रोद्रेक. विद्राण विनष्ट सान्द्र. निविड अवबोधरहित निद्रोद्रेक स्वापस्य अतिशयो यस्य, सोत्सेक सगर्वम् उत्थाय प्रयाय च गत्वा च श्रीदत्तनिकेतन श्रीदत्तगृहम्, जननीसमन्विताय महाबलाय प्रदर्शितलेख श्रीमतिसख श्रीमति सखा यस्य स श्रीमतिजानि अजायत [श्रीदत्तो धनकीर्ति मारणार्थं कात्यायनीमन्दिरं प्राहिणोत्, पर तच्छ्याल त गृह प्रेष्य स्वय देवीमन्दिरम् अव्रजत् तत्र च स श्याल मारकैर्मारित ।] श्रीदत्तो वार्ताम् इमाम् आकर्ण्य प्रतूर्णं शीघ्र प्रत्यावर्त्य प्रतिनिवृत्य निधाय स्थापयित्वा च तद्वधाय तन्मारणाय राजधानीबाहिरिकाया चण्डिकायतने चण्डिकानामदेव्या मन्दिरे कृतसकेतसनद्धवपुष मारणसकेते सनद्ध वपु यस्य त नर कच्चराचरणपिशाचीं मलिनाचारो जीववध तत्र पिशाची पिशाचवदाचरणशीला देवद्रीची देवमञ्चति देवद्रयङ् पुरुष , देवपूजिका स्त्री देवद्रीची ता च तद्वधाय स्थापयित्वा, परिप्राप्तोदवसित परिप्राप्त उदवसित निजगृह रहसि धनकीर्ति मुहुराहूय बहुकूटकपटमति कूटो राशि बहुराशियुक्तकपटेषु मतिर्यस्य स श्रीदत्त एवम् आवभापे अब्रवीत्। वत्स, मदीये कुले किलैवम् आचार , पटुतरयामिनीमुखे कृष्णचतुर्दशीरात्रिप्रारम्भे कात्यायनीदेव्या प्रमुखे प्राङ्गणे चण्डिकादेवीमन्दिरे इति भाव , प्रतिपन्नाभिनवकङ्कणबन्धेन प्रतिपन्नोऽङ्गीकृत अभिनवो नूतन कङ्कणबन्ध विवाहमङ्गलसूत्रबन्धो येन। स्तनधयागोधेन स्तनधया बाला तस्या. गोधेन पतिना। महारजनरसरक्तांशुकसमाश्रय स्वयमेव माषमयमोरमौकुलिर्बलिरुपहर्तव्य । महारजनानि कुसुम्भपुष्पाणि तेषा रसेन रक्त रागयुक्त यदंशुक वस्त्र तस्य समाश्रय अवलम्बन यस्य लोहितवस्त्रेणाच्छादित इत्यर्थ । स्वयमेव वरेणैव मापपिष्टविनिर्मितमोरमौकुलि मोर मयूर काक बलि उपहाररूपेण उपहर्तव्य समर्पणीय । धनकीर्ति—तात तात, यथा तातादेश भवत पूज्यस्य आदेशस्तथा तम् अनुरुन्धे। इति निगीर्य उक्त्वा, गृहीतकुलदेवतादेयहन्तकारोपकरण गृहीतानि स्वीकृतानि कुलदेवतायै निजान्वयरक्षिकायै देवतायै देया हन्तकारास्तण्डुला उपकरणानि च येन स धनकीर्तिः, तेन श्यालेन पत्नीभ्रात्रा महाबलेन पुरप्रदेशान्निःसरन्नवलोकितश्च समालापितश्च भापितश्च । हहो धनकीर्ते, प्रवर्धमानान्धकारावन्ध्यायाम् अस्या वेलायाम् अवगण क्वोच्चलितोऽसि। प्रवर्धमान वृद्धि गच्छश्चासौ अन्धकार तेन अवन्ध्याया युक्तायाम्, अस्या वेलायाम् अस्मिन्नवसरे, अवगण एकक एव गणेन परिवारेण रहित अवगण क्व उच्चलितोऽसि। क्व गन्तुमुद्यतोऽसि। महाबल, मातुलनिदेशान्नमसितनिवेदनाय दुर्गालये। श्वशुराज्ञाया उपयाचितस्य निवेदन कर्तुं देयवस्तुनिवेदनाय चण्डिकामन्दिर यामि। यद्येवं नगरजनासस्तुतत्वात्त्व निवास प्रति निवर्तस्व। यदि गन्तुमिच्छसि, मागच्छ, यत म चण्डिकामन्दिरमार्ग नगरजनान् प्रति असस्तुत अस्मिन् समये तेन मार्गेण गन्तु नोचितम्। त्व निवास स्वगृह प्रति निवर्तस्व याहि। अहम् एतदुपयाचितम् ऐशान्या स्पर्शयितु प्रगच्छामि इष्टसिद्ध्यै देयद्रव्यम् ऐशान्या कात्यायन्या अर्पयितुं प्रगच्छामि यद्यत्र तातो रोपिष्यति तद्रोपमहमपनेष्यामि। ततो धनकीर्तिर्मन्दिरमगात्, महाबलश्च कृतान्तोदरकन्दरम् कृता तस्य यमस्य उदरकन्दर कुक्षिगह्वरम्। महाबलस्तत्रत्यै मारणार्थं नियुक्तै पुरुषैर्मारितश्च। [श्रीदत्तभार्या विशाखा धनकीर्तिमारणोपाय रचयति पर सोऽपि विफल एव भवति। विषमोदक भक्षयित्वा उभावपि श्रेष्ठिश्रेष्ठिन्यौ म्रियेते।] श्रीदत्त सुतमरणशोकातङ्कोपान्त प्रकाशिताशेषवृत्तान्त पुत्रमृत्युजातदु.खज्वरसमीपागतान्तक , निवेदितसकलोदन्त , "सकलनिकाय्यकार्यानुष्ठानपरमेष्ठिनि, मन्मनोह्लादचन्द्रलेखे

कल्पितस्य तस्मै । गोविन्दनामधेयाय गोपालाय, कर्णमूलाय सकलगोपश्रेष्ठाय सकलस्वजनेभ्यो श्रेष्ठाय यशसा अधिकाय कल्पवृक्षपरिष्ठाय सर्वसंपन्नाय, निजमुखेन तिरस्कृतकमलाय गोविन्दाय । सोऽपि तनयप्रीत्या आनन्दमहत्या च आनीय उत्पादितमनोमोदाया सुनन्दायाः समर्पितवान् । कृतम् अस्य इन्दिरा-मन्दिरस्य लक्ष्मीगेहस्य धनकीर्तिरिति नाम गोविन्देन । ततोऽसौ क्रमेण परित्यक्तशैशवः कमलेन इव परित्यक्ता मुग्धा दीपवत्ता बाल्यावस्था येन सः कमलेन इव हरिरिव । मुग्धजनेति—मुग्धजनास्तरुणास्तेषां मन पचेन मनोग्रहणे यत्लब्धं प्रमाणम् अचप्रायं लावण्यं तेन यत्कुड्मलानि विकासं प्राप्तानि यानि कलत्रीणां गोपाङ्गनानां लोचनानि एव अलिकुलानि भृङ्गसमूहा तैः अवलेह्यं स्वाद्यं लावण्यमेव मकरन्दो यस्य । पुनः कर्णमूलम् । अमन्देति—अमन्दः महान् स चासौ आनन्दः तस्य कामः इच्छा तां ददातीति । अतिक्रान्तरूपायनम् अतिमनोहरसौन्दर्यगेहम् यौवनम् आश्रावित प्राप्त । पुनरपि प्रागमम् उत्तमं यत् मान्यं पूर्वं तस्य वणिग्या व्यवहारः तस्य उपार्जनं कामः तदर्थं संगमम् आपन्नं यस्य तेन भीदत्तेन सह । पुनश्च गोविन्दः तस्य अवाप्तिप्रपञ्च प्राप्तिविस्तरः [भीदत्तः मत्पार्श्वे वर्धमानं त्वं विपेन सुखेन वा वहि इति निजपुत्राय पत्रं लिखितवान्] भीदत्त —गोविन्द मदीये सदने किमपि महत्कार्यम् अलमस्य तनयस्य निवेदं कथनीयमस्ति । तदयं प्रभुः प्रकर्षवैभवती आयुषी यस्य स प्रभुरयं धनकीर्तिः इमं लेखं ग्राहयित्वा सत्वरं प्रहेतव्य प्रेषणीय । गोविन्द—भेष्ठिन् एवमस्तु । लेखं चैवमलिखत् अहो विविध समस्तपीठचक्र आठसकलसुखामानवरिमाणक महावक एष खलु अस्मद्वंशविनाशवैश्वानर अस्माकं वंशस्य कुलस्य विनाशाय वैश्वानर अग्निरिवास्ति । अतएवं विष्णो विपेन अथवा मुसल्या मुखलेन यष्ट्या वा विनाशनः इति धनकीर्तिस्तथा तातविमवविभ्याम् आविद्य साधारणम् अवष्टम्भ आधारः तेन सहितं तावद्राम्यं मुद्रा सहितं यथासंकारसर्व लेखं कृत्वा दवरकेण लेखपत्रं निबध्य तदुपके च बद्धवानिरवच । धनकीर्तिभूपतेन सहैव लेख पत्रमपि तेन सहैव बद्धम् । यदा च अन्यास्तरोपकारस्वीयमीनाक्षावरसरस्याम् एकाननस्याम् अन्यजनस्य समागमं पूर्वजन्मैरमथ । तस्मिन्नहनि च उपकारः तस्याधीनमीनस्य अवनाद उत्पत्ति प्रवेशो वा यस्यां तथाभूतायाम् एकाननस्याम् अवगाहिन्याम् । पूर्वजन्मनि यो मत्स्यो मृगसेनेन अहिंसापालनार्थे जालमध्ये मुक्ता स मृत्वा धनकीर्तिना वेश्मागमनता । तत्समीपपरिसरपर्यन्तवर्तिनि वने तस्या प्रवेश तत्प्रवेशः तत्र यत्परिसरे महासर तस्य परिसर पयन्त (?) वर्तिनि वने उद्याने बालममापगमनाय परमम् मार्गस्य अपहरणाय पिकप्रियालावलाकसरिसरे पिकानां कोकिलानां प्रिय आम्रवृक्षस्तस्य बालकालस्य समग्रतोऽप्यसौ बालस्यार्थे मधुसमूहे वेदनं क्रियते तथाच्यालसुप्तवने तस्य परिसरे समीपप्रदेशे निःशङ्कम् अपरोपरहितं पादम् अस्वाप्सीत् अनिद्रात् । [तदोद्याने अनङ्गसेना गणिकागता सा गाढनिद्रं तं विज्ञाय तस्य गलास्लेषम् आदायावाचयत् । तल्लेखस्य परिवर्तनं कृत्वा तत्र लेखे धनकीर्तये मदीया कन्या मदागमनमनपेक्ष्य दातव्येति लिलेख] अत्रावसरे अस्मिन् प्रस्तावे विविधपुष्पाचयकौतुकविलोल-कुसुमोत्करपरिकरैः । उपरिष्कृता सा रिका । निखिलकलाविलासविलासिता सकलमानसमनोविलासचतुरा । पूर्वजन्मो-पकारस्निग्धा पूर्वजन्मश्रीतिहेतुः स्नेहना । संजीवनौषधिसमाना संजीवनी नामौषधिस्तया उपमीनं मृतमत्स्यो मतो जीवति तथा सदृशी अनङ्गसेना नाम गणिका तस्यैव सङ्गतारतरी आम्रवृक्षस्य तलम् उपरोक्ष बलात् विलोक्य च निगदश्लोकमा निराकुलेना निराकुल शीर्षतमर्दनं तम् अनङ्गम् इव मत्तमिव सुमनःसुमनस्वतां मुखं रत्नं कुसुमारात्रानां पुष्पवाणानां लावण्यं अनुरागविरचितो यत्र लोकान्तरमितम् अयो लोकः स्वर्गलोकं विना कामनीय तस्य मिलम् अभवलमध्येनि सामुद्रिकोक्तलक्षणमध्यगतमुनदेहं धनकीर्तिम् पुनराप श्री-सरस्वती कर्णाट मदिरावस्था रेखाविरचितेन मत्स्य विदितम् अद्भुतं कर्णोद्भवा नामाकारसुन्दरा विलेन मधुरः सुन्दरः अभ्यन्तरेण यस्य तस्मात् कण्ठदेशात् आनाय अनावमनिपातनायाः लेखं बृहत् अवाचयत् । अवाचो मृषु तस्य प्रतिपादनं पुनरात् अस्तराणां पदवाक्यरचनायाम् आचेतो लेखनं तत्र तथाभूत लेखम् अवाचयत् वर्तिते इव । [अनङ्गसेनया संयत्न मत्पुत्रेण श्रेष्ठिनी श्रीमती धनकीर्तये दातव्येति लिलिखे] स वाचिकस्तावद्वर्णं दैवं हृदयम् विदुषी उद्युक्तमाना लोचनाञ्जनकरणानुपातेन लोचनाञ्जनं कज्जलं लोचनाञ्जनं तत्र कलत्रम् नगरात् ज्ञातेन रागेण अकारीश्वरलोकनिवेशनविघ्नेन तत्परतयाविकलतया वर्णान् निर्ग-लोत्लेखन इवमाददातुमेन वचनेन अनुग्रहमाणवा अनुगामानुप च [illegible] लेखम् अमेव धीरिमन्द-

पुरातनसूत्रे परिम्लिष्टानि परिमृष्टानि विनाशितानि पुरातनसूत्राणि पूर्वतनानि वाक्यानि यत्र तथाभूते पत्रे लेखान्तरम् अन्य लेख लिलेख। तथाहि—"यदि श्रेष्ठिनी माम् अवधेयवचनम् अवधेयानि ग्राह्याणि प्रमाणभूतानि वचनानि यस्य तथाभूत यदि मा मन्यते, महाबलश्च यदि माम् अनुल्लङ्घनीयवाक्प्रसर पितर गणयति, वाचा प्रसर वाक्प्रसर [अनुल्लङ्घनीयो वाक्प्रसरो यस्य आदेयभाषणस्त यदि मा पितर जनक महाबलो मन्यते, तदा अस्मै निकाम नितरा सप्तपुरुषपर्यन्तपरीक्षितान्वयसपत्तये धनकीर्तये सप्तपुरुषावसान यावत् अवलोकितवशशुद्धये अस्मै धनकीर्तये कूपदप्रक्रमेण जामातृदेय वस्तु कूपमुच्यते। हिरण्यकन्यादायी कूपद कथ्यते। हिरण्यकन्यादानक्रमेण द्विजदेवसमक्षम् अविचारापेक्षं विचारस्य अपेक्षाम् अकृत्वा श्रीमतिर्दातव्या इति। ततो यथाम्नातविशिखम् इम लेखम् आमुच्य यथा आम्नाता प्रोक्ता विशिखा इकार-उकारादिमात्राचिह्नानि यत्र तथाभूतम् इम लेखम् आमुच्य गले निबध्य समाचरितगमनाया विहितस्वस्थानगतौ अनङ्गसेनाया सत्या धनकीर्तिश्चिरेण विद्राणसान्द्रनिद्रोद्रेक विद्राण विनष्ट सान्द्र निबिड अवबोधरहित निद्रोद्रेक स्वापस्य अतिशयो यस्य, सोत्सेक सगर्वम् उत्थाय प्रयाय च गत्वा च श्रीदत्तनिकेतन श्रीदत्तगृहम्, जननीसमन्विताय महाबलाय प्रदर्शितलेख श्रीमतिसख श्रीमति सखा यस्य स श्रीमतिजानि अजायत [श्रीदत्तो धनकीर्ति मारणार्थं कात्यायनीमन्दिर प्राहिणोत्, पर तच्छ्याल त गृह प्रेष्य स्वय देवीमन्दिरम् अव्रजत् तत्र च स श्याल मारकैर्मारित ।] श्रीदत्तो वार्ताम् इमाम् आकर्ण्य प्रतूर्णं शीघ्र प्रत्यावर्त्य प्रतिनिवृत्य निधाय स्थापयित्वा च तद्वधाय तन्मारणाय राजधानीबाहिरिकाया चण्डिकायतने चण्डिकानामदेव्या मन्दिरे कृतसकेतसनद्धवपुष मारणसकेते सनद्ध वपु यस्य त नर कच्चराचरणपिशाची मलिनाचारो जीववध तत्र पिशाची पिशाचवदाचरणशीला देवद्रीचो देवमञ्चति देवद्रघङ् पुरुष , देवपूजिका स्त्री देवद्रीची ता च तद्वधाय स्थापयित्वा, परिप्राप्तोदवसित परिप्राप्त उदवसित निजगृह रहसि धनकीर्ति मुहुराहूय बहुकूटकपटमति कूटो राशि बहुराशियुक्तकपटेषु मतिर्यस्य स श्रीदत्त एवम् आबभाषे अब्रवीत्। वत्स, मदीये कुले किलैवम् आचार , पटुतरयामिनीमुखे कृष्णचतुर्दशीरात्रिप्रारम्भे कात्यायनीदेव्या प्रमुखे प्राङ्गणे चण्डिकादेवीमन्दिरे इति भाव , प्रतिपन्नाभिनवकङ्कणबन्धेन प्रतिपन्नोऽङ्गीकृत अभिनवो नूतन कङ्कणबन्ध विवाहमङ्गलसूत्रबन्धो येन। स्तनधयागोधेन स्तनधया बाला तस्या. गोधेन पतिना। महारजनरमरक्ताशुकसमाश्रय स्वयमेव माषमयमोरमौकुलिर्बलिरुपहर्तव्य । महारजनानि कुसुम्भपुष्पाणि तेषा रसेन रक्त रागयुक्त यदशुक वस्त्र तस्य समाश्रय अवलम्बन यस्य लोहितवस्त्रेणाच्छादित इत्यर्थ । स्वयमेव वरेणैव माषपिष्टविनिर्मितमोरमौकुलि मोर मयूर काक बलि उपहाररूपेण उपहर्तव्य समर्पणीय । धनकीर्ति —तात तात, यथा तातादेश भवत पूज्यस्य आदेशस्तथा तम् अनुरुधे। इति निगीर्य उक्त्वा, गृहीतकुलदेवतादेयहन्तकारोपकरण गृहीतानि स्वीकृतानि कुलदेवतायै निजान्वयरक्षिकायै देवतायै देया हन्तकारास्तण्डुला उपकरणानि च येन स धनकीर्तिः, तेन श्यालेन पत्नीभ्रात्रा महाबलेन पुरप्रदेशान्नि सरन्नवलोकितश्च समालापितश्च भाषितश्च । हहो धनकीर्त्ते, प्रवर्धमानान्धकारावन्ध्यायाम् अस्या वेलायाम् अवगण क्वोच्चलितोऽसि। प्रवर्धमान वृद्धि गच्छश्चासौ अन्धकार तेन अवन्ध्याया युवतायाम्, अस्या वेलायाम् अस्मिन्नवसरे, अवगण एकक एव गणेन परिवारेण रहित अवगण. क्व उच्चलितोऽसि। क्व गन्तुमुद्यतोऽसि। महाबल, मातुलनिदेशान्नमसितनिवेदनाय दुर्गालये। श्वशुराज्ञाया उपयाचितस्य निवेदन कर्तुं देयवस्तुनिवेदनाय चण्डिकामन्दिर यामि। यद्येव नगरजनासस्तुतत्वात्त्व निवास प्रति निवर्तस्व। यदि गन्तुमिच्छसि, मागच्छ, यत स चण्डिकामन्दिरमार्ग नगरजनान् प्रति असस्तुत अस्मिन् समये तेन मार्गेण गन्तु नोचितम्। त्व निवास स्वगृह प्रति निवर्तस्व याहि। अहम् एतदुपयाचितम् ऐशान्या स्पर्शयितु प्रगच्छामि इष्टसिद्ध्यर्थं देयद्रव्यम् ऐशान्या कात्यायन्या अर्पयितु प्रगच्छामि यद्यत्र तातो रोषिष्यति तद्रोषमहमपनेष्यामि। ततो धनकीर्तिर्मन्दिरमगात्, महाबलश्च कृतान्तोदरकन्दरम् कृता तस्य यमस्य उदरकन्दर कुक्षिगह्वरम्। महाबलस्तत्रत्यै मारणार्थं नियुक्तै पुरुषैर्मारितश्च। [श्रीदत्तभार्या विशाखा धनकीर्तिमारणोपाय रचयति पर सोऽपि विफल एव भवति। विषमोदक भक्षयित्वा उभावपि श्रेष्ठिश्रेष्ठिन्यौ म्रियेते।] श्रीदत्त सुतमरणशोकातङ्कोपान्त प्रकाशिताशेषवृत्तान्त पुत्रमृत्युजातदु खज्वरसमीपागतान्तक , निवेदितसकलोदन्त , "सकलनिकाय्यकार्यानुष्ठानपरमेष्ठिनि, मन्मनोह्लादचन्द्रलेखे

विशाखे समस्तगृहकार्यभारचतुरे मनोऽभिलषितासम्पादने चन्द्रलेखासदृशे विशाखे कथमयं सर्वोऽपि ममान्वय-पापहेतुः प्रभुतगोत्रावविलोपनहेतुः प्रधाममितव्यः । कथमयं दैवेन गृहकर्मा मूर्खं मम वंशविनाशहेतु-प्रसूतापापविनाशे केतुतुल्यः हन्तव्यः । विशाखा—श्रेष्ठिन्, मेघमालायाः सर्वमनुपपन्नं त्वया चेष्टितम्। श्रेष्ठिन्, मेघमालायाः मूर्खत्वात् मूढत्वात् बाल्यकत्वाद्वा । सथम् अनुपपन्नं अयुक्तिकं कार्यं त्वया कृतम्। अत कुरङ्गक दासपुत्रकात् मार्जारिता भीतः कुक्कुटपोत इव ताम्रचूडशिशुरिव तूष्णीं मौनेन आस्ते उपविष्ट । भविष्यति भवतोऽप्येवं मनीषितम् । यन्मिहं त पूर्वं भविष्यति इत्याभाष्य उक्त्वा अपरेषु अन्यस्मिन्दिवसे ईप्सितजीवितव्यलोचकेषु मोदकेषु विषं संधाय दयितस्य बालकस्य जीवितव्यं लोचन तस्य तोदनेषु दुःखदायिषु मारणेषु लड्डुकेषु विषं संधाय मेघयित्वा सुते श्रीमते म एते कुलकुमारकान्तको मोदकास्ते स्वकीयाय कान्ताय देया कुम्भपुण्यवत् श्वेतकमलवत् च शिवभुवयो लड्डुकाः निजाय कान्ताय स्वामिने देया सपादस्थामाकरश्यामलवच्छर्च घनकाय धूसरास्यवर्णधूमवाम्यविशेषवद्धूसरकान्तयो मोदकाः पित्रे देया । इति समर्पितममया अन्यमनिसर्कला समासमम्भरणसमया समीपागतमृत्युवेला सरिति नद्यां स्नानाय स्नानं कर्तुम् अनुससार अन्वगच्छत् । श्रीमतिः अन्धोस(?) अस्य तदप्रतीक्षाय ताताय वितरितव्यम्। चोऽयं मम सुन्दर. पुंश्चिमोरिकः स प्रतीक्षाय पुण्याय ताताय पित्रे देयः इत्यमस्य विभाय अविज्ञातसंवित्ती-चितकौटिल्या अनुगमातुमनःकपटमावा निःशल्यहृदया सरलमानसा तात्त्मोदकान् एतयो जनकपत्यो विपर्ययेण अवीवृधत् पर्यवेषयत् । ये भूसरवर्णा मोदकास्ते निजपतये चन्द्रकान्तास्ते पित्रे तया पर्यवेष्यन्त । विशाखा—पतिपूर्व्यं मरणं प्राप्तत्वात् पतिरहितम्, अरण्यसामान्यं वनसदृशम् असारं गृहम् आप्य आगत्य परिवेष्य च चोर्ध्वं विभाय च दीपसममम् । पुण पुनि किमन्यथा भवति महामुनिभाषितम् । केवलं तव वापेन मया च वैर्यारिमोपान्ममविलोपाय कृत्योरपानमाचरितम् । तव वाघेन पित्रा वैर्यां स्थविरया जरत्या मया च आत्मीयाभ्यां निजवंश तस्य विलोपाय विनाशाय कृत्या नाम क्रूरदेवताया उत्थापनम् आचरितम् । सा आमरूपा कृतेति भावः । तदलमथ बहुप्रलापेन । अस्पृष्टमप्यत्यन्तमेव स्वमनेन दैवदेवतेहरसादिविधानेन अपेन सार्धम् आकल्पम् इन्द्रियेयक-सुखमनुभव इति नमाभिवादीर्घरात्रा तमेकं मोदकमास्वाद्य परयुः पथि प्रगस्थे । अस्पृष्ट्वा अस्तास्तीव स्वमनेन विधिना वेधस्य देहस्य शरीरस्य रक्षणविधानेन अचेन मया सह आकल्पं कल्पान्तकालं यावत् इन्द्रियसुखम् ऐश्वर्यसुखं च अनुभव इति समभिवादी तमेकं लड्डुकं भक्षयित्वा परमुः पथि मार्गे प्रतस्थे जगाम मृतेति भावः । [विश्वंभरेण राज्ञा स्वकन्या धनकीर्तये दत्ता पुण्यपालोऽपि धनकीर्तेः पिता कौशाम्बीदेशात्पाटलीपुरम् (उज्जयिनीं) आगत्य पुत्रेण सार्धं समतिष्ठत ।] एव विहितेति—एवं पूर्वोक्तप्रकारेण कृतपापाभिधाना-भोगतया प्राप्तासोमसुतयोन्मुखे तस्मिन् मातामहे तम्मातरि च दशमीस्थे मृते सति स पुरातनगुरुत्व-प्रभावात् । वल्लम्पितेति—प्रतिबन्धनमपालकप्रायविनाशकपञ्चर्वकेट प्रतिदिवसं वर्धिष्यमाणश्रीः एकदा तेन विश्वंभरेण राज्ञावलोकित तदङ्गसौन्दर्यं परमाभिपुल्यकर्षेण तनूजया स्वसुतया सह तनयेन विवाहम् आपि दयपरेण देवतानाम् आधिपत्यपदेन श्रेष्ठिपदेन तथा विशां मनुजानाम् आधिपत्यपदेन स्वामित्वपदव्या योजितश्च गुणपालः विवर्गोचरंपरया अनवरत परंपरया अस्य अपत्यपरंपराम् आरभ्य कौशाम्बीदेशात्पाटली-पुरमागत्य अनेन आश्चर्यपुत्रविभवमहिम्ना अनुजातेन श्रीमता पुत्रेण सह संगमे समवस्थाः ।

[पृष्ठ १६४-१६६] अथान्यदा सकलेति—कलत्रं पत्नी पुत्रः मित्रं च तन्त्रं सैन्यं च तेन सहितेन धनकीर्तिना दर्शनामानयता अत्यन्तमेव च अनुचरमनतरः गुणपालाभिषठो मणिमुक्ताभिर्मण्डितसर्वतोभद्र सभाभम्, सकलनगरराज भोपयोग्यधनामपार्थ भगवन्तम् अभिवन्द्य स बहुविनयेन आपपातम् अपृच्छत्—भगवन्, किं नाम जन्मान्तरे धनकीर्तिना अनेन पुण्याचरणादिसुकृतस्य मुनिना शरीरेण धनकीर्तिना सुकृतं पुण्यमुपार्जितम् । येन बालकाले तानि तानि देवेश्वरकृताक्रीडानि दैवम् एव एवं सुखं परमं लक्ष तेन प्रतीकारः संकटविनाशोपायो यथा तानि व्यसनानि संकटानि व्यतिक्रान्तः अतिक्रान्तवान् । येन सुकृतेन अस्मिन् जन्मनि अत्यन्तिरिताम् अपि इह एतया पृथिव्याम् अनुपमत्वमानं मयूरं तादृशं तेन नोत्तम अभूत् । अथ भदन्त जिनेन्द्र अभिज्ञ धाराजर्गजन्मी निमानुः विधुरभित तस्य प्रमाणभाराः वारिनमुद इव देवताम् अपि अप्रतिहतमद अनिवार्यशक्तिभिः अभजनि । येन मायाशक्तिः अन्यदाम् अपि तथा देवा अन्तःपुरचराय

ग्रहाणा महानरपार्श्वाश्रिताना गुणाना समवाय मचय अभवत् । तथाहि—स्थान वदान्यताया दातृत्वस्य, समाश्रय, निकेतनम् अवदानकर्मण प्रशस्तकर्मण, गृहम्, क्षेत्र मैत्रेयिकाया मैत्रीभावस्य निवासः, स्वप्नेऽपि न स्वजनस्य अजनि अजायत मनोमन्तु मनमाप्यपराध । कन्तुरिव च मदन इव च कामिनीलोकस्य नारीजनस्य । तदस्य भदन्त महामुने, प्रापणिकपरिषत्प्रवणस्य प्रापणिका क्रयविक्रयकारिणो वैश्या तेपा परिपत् सभ तस्मिन् प्रवणस्य चतुरस्य । निःशेषेति—सकलागमवनुरचित्तस्य निसर्गादेव । निखिलेति—सकलपरिच्छदाभापणतत्परस्य । विनेयेति—विनेतु शिक्षितु योग्या विनेया भव्या श्राद्धजना तेपा मन कुमुदमोदिकथावतारे अमृतमूर्ते चन्द्रस्य सुकीर्ते. शोभनयशस' पुरोपार्जित पूर्वजन्मलब्ध सुकृत पुण्य कथयितुमर्हसि । भगवान्—श्रेष्ठिन् श्रूयताम् । तत्सवन्धमक्त धनकीर्तिश्रेष्ठिन. प्राग्जन्मसवन्धसहित पूर्वोक्त वृत्तान्तम् अचकथत् कथयति स्म । या चास्य पूर्वभवनिकटा पूर्वजन्मना समीपस्था घण्टाभिधेया वधूटी पत्नी आसीत्, सा पूर्वजन्मकृताभिलापा दमूनसि अग्नौ प्रवेशादिय सप्रति अधुना श्रीमति. सजाता, यश्च मीन स कालक्रमेण व्यतिक्रम्य उल्लङ्घ्य पूर्व प्राक्तन पर्यायपर्व अवस्थाग्रन्थिम् इय अनङ्गसेना अजनि अजायत । अतोऽस्य महाभागस्य एकदिवसाहिंसाफल एतद्विजृम्भते परिवर्तते । धनकीर्ति एतद्वचत्रपवित्रश्रोत्रवर्त्मा एतस्य वचत्रेण वाक्येन पूतकर्णमार्ग, तथा श्रीमति अनङ्गसेना च पुराभवभव प्राग्जन्मभव भव जन्म सभाल्य श्रुत्वा, उन्मूल्य च तम सतानतरुनिवेशमिव तमसाम् अज्ञानाना सतान समूह स एव तरु वृक्ष तस्य निवेशमिव रचनामिव केशपाश तस्यैव दोषज्ञस्य अन्तिके दोषान् रागद्वेषमोहादीन् जानातीति दोषज्ञ तस्य मुने यशोध्वजस्य अन्तिके समीपे, यथायोग्यताविकल्पं योग्यताया विकल्प भेदम् अनुसृत्य, जिनमार्गोचितेन जिनकथितचारित्रोपाययोग्याचरणेन चिराय दीर्घकालम् आराध्य रत्नत्रयम्, विधाय च विधिवत् आगमम् । अनुसृत्य निरजन्यमनोवर्तन प्रायोपवेशनम् । अजन्यम् उपसर्ग विघ्न निर्गतम् अजन्यात् मनोवर्तन यस्मिन् तथाभूत निर्विघ्न भाव प्रायोपवेशनमिति मासादिकमवधि कृत्वा चतुराहारत्याग विधाय । तदनु धनकीर्ति सर्वार्थसिद्धिसाधनकीर्तिर्बभूव । सर्वार्थसिद्धिनामकस्य पञ्चमानुत्तरस्य साधने कीर्तिर्यस्य तथा बभूव । समाधिमरणेन धनकीर्तिमुनि सर्वार्थसिद्धि जगामेति भाव । श्रीमतिरनङ्गसेना च कलान्तरसयोज्य षोडशस्वर्गेषु केनचिदन्यतमेन कल्पान्तरेण स्वर्गान्तरेण सयोज्य देवसायुज्यं देवादमयोगम् अभजत् । भवति चात्र श्लोक [1]सर्वार्थे । पञ्चकृत्वः इति—किलेत्यागमे । आगमे इति कथितमिति भाव । पुरा एकस्य मत्स्यस्य पञ्चकृत्व पञ्चवारम् अहिंसनात् पञ्चवारम् अभयदानात् धनकीर्ति पञ्चापद पञ्च सकटानि अतीत्य उल्लघ्य, श्रिय पति राजलक्ष्म्या पति स्वामी अभवत् ॥३६३॥

इत्युपासकाध्ययने अहिंसाफलावलोकनो नाम षड्विंश कल्प. ॥२६॥

२७ स्तेयफलप्रलपनो नाम सप्तविंशः कल्पः ।

[पृष्ठ १६६] अदत्तस्येति—अदत्तस्य वित्तस्वामिना यन्न समर्पित तस्य परस्वस्य परकीयधनस्य ग्रहण स्तेय चौर्यम् उच्यते । पर सर्वभोग्यात् सकलै जनै स्थिरै आगन्तुभिश्च भोक्तु योग्यात् तोयतृणादित भावात् जलतृणादित पदार्थात् अन्यत्र तत् स्तेयम् उच्यते । जलतृणादीना सर्वभोग्यत्वात् न तद्ग्रहण चौर्यम् । तत्र स्वस्वामिकत्वाभावात् ॥३६४॥ ज्ञातीनामिति—ज्ञातीना दायादानाम् अत्यये मरणे तै. अदत्तमपि धन ग्राह्यम् इति समतम् । तु अन्यथा जीवतां ज्ञातीना निवेशेन दुरभिप्रायेण राजवर्चसा धन गृह्यते चेत् व्रतक्षति अचौर्यव्रतनाश स्यात् । जीवता ज्ञातीना निदेशेन इद त्व गृहाणेति दत्त चेत् चौर्यं न भवति ॥३६५॥ संक्लेशेति—सक्लेशाभिनिवेशेन रागाद्यावेशेन आर्तरौद्राभिप्रायेण वा यत्र स्वपराश्रिते रायि धने प्रवृत्ति स्यात्

---

१ 'व' प्रतौ सर्वार्थ इति नास्ति 'क' प्रतौ च नास्ति सर्वार्थ. ।

विषादे समस्तगृहकार्यविरचनचतुरे मदीयचित्तानन्ददाने वसन्तसेनासदृशे विशाखे कथमयं श्रेष्ठेः ममान्यायहेतु मधुकोपायविलोचनकेतु प्रयाणयितव्यः। कथमयं मैषेव गृहकर्मा भूत मम बन्धितापहेतु मधुकोपायविनाशे केतुतुल्य हन्तव्य । विशाखा—श्रेष्ठिन्, मेषमाचाप् सर्वमनुपपन्नं त्वया चेष्टितम्। श्रेष्ठिन्, मेषमाचात् मूर्खत्वात् वृद्धत्वात् कामुकत्वाद्वा। सर्वम् अनुपपन्नं अनुचितं कार्यं त्वया कृतम्। अत कुलवत दासपुत्रकात् मार्जारात् भीतः कुक्कुटपोत इव तामचूडशिशुरिव तूष्णी मौनम् आस्स्व उपविश। भविष्यति भवतोऽप्येष मनीषितम्। मदिष्टं ते पूर्णं भविष्यति इत्याभाष्य उक्त्वा अपरेद्युः अस्मिन्दिवसे अजितजीवितम्यतोरकेषु मोदकेषु विषं संचार्य अजितस्य बालकस्य जीवितव्यं जीवनं तस्य तोदकेषु कुक्कुटामिषु मोदकेषु कन्दुकेषु विषं संचाय मेलयित्वा सुते भीमते भ एते कुम्भकुम्भकान्तयो मोदकास्ते स्वकीयाय कान्ताय देया कुम्भपुष्पवत् श्वेतकमलवत् च सितद्युतयो कन्दुका निजाय कान्ताय स्वामिने देया स्वाददायामाकम्पामकतयमम पानकाय धूसरास्यवर्णद्युमधाम्यविशेषवद्धूसरकान्तयो मोदका पित्रे देया। इति समभिलसममा अपमभिलषंकेता सभासभमरभसमया समीपागतमृतिवेला धरिति मया समयाय स्थाने कर्तुम् अनुससार अभ्ययच्छत्। भीमतिः भयोल(?) भक्षं तत्प्रतीक्षाय ताताय वितरितव्यम्। चौर्यं भक्षं मुष्टC मुखिमोदकः स प्रतीक्ष्याय पूज्याय ताताय पित्रे देय इत्यगमत्य विशाय अविज्ञाततभिर्ची- चितकौटिल्या अनुक्रमातृमनःकपटमाया नि सस्यादृश्या सरभमागसा ताम्बीबकाम् एतयो चनकयत्नो विपर्यासेन कवीपूपत् पर्यवेषयत्। ये धूसरवर्णा मोदकास्ते निजपतये चन्द्रकान्तास्ते पित्रे तथा पर्यवेषयत। विशाखा— पतिवृत्तं मरणं प्राप्तत्वात् पतिरहितम्, अरण्यसामान्यं वनसदृशम् असारं गृहम् आप्य आगत्य परिदेव्य च शोकं विषाद च दीनतममम्। पुन पुत्रि किमन्यथा भवति महामुनिभाषितम्। येषां तव नाशेन मया च वैर्याभिमोपायविलोपाय हस्मोत्थापनमाचरितम्। तव वार्येण पिता येषां स्थविरता अरत्या मया च आत्मीयात्मयो निवर्तय तस्य विलोपाय विनाशाय कृत्या नाम क्रूरदेवता उत्थापनम् आचरितम्। सा आमकन्या कृतेति भाव। तदकमत बहुप्रलापेन। कल्पद्रुमेण कल्पकल्पेन त्वमनेन दैवदेयदेहरक्षाविधानेन अनेन सार्धम् आकल्पम् इन्द्रियसर्व- सुखमनुभव इति संभाविताशीर्वादा तमर्क मोदकमास्वाद्य परत्रु पथि प्रतस्थे। कल्पद्रुमा कल्पकल्पेन त्वमनेन विविधा देयस्य देहस्य शरीरस्य रक्षणविधानेन अनेन परया सह आकल्पं कल्पान्तकालं यावत् इन्द्रियसुखम् ऐश्वर्यसुखं च अनुभव इति सर्पविताशी तमेकं कन्दुकं भक्षयित्वा परत्र पथि मार्गे प्रतस्थे जगाम मृतेति भावः। [विश्वम्भरेण राज्ञा स्वकन्या धनकीर्तये दत्ता गुणपालोऽपि धनकीर्तेः पिता कौशाम्बीदेशात्सपादतोपुरम् (उज्जयिनी) आगत्य पुत्रेण सार्धं समतिष्ठत।] एवं विहितेति—एवं पूर्वोक्तप्रकारेण कृतपालाभिप्राया- मोक्षतया प्राप्ताशीमसुखसोकरपे तस्मिन् मातापितरि तन्मातरि च तत्समीपस्थे मृते सति स पुरमागत्य प्रमादात्। उज्जयिनीति—मतिमन्तमयानकप्रायविनाशकपक्षसंकट प्रतिदिवसं वर्धिष्यमाणश्रीः एकदा तेन विश्वंभरेण राज्ञावलोकित उद्धृतैश्वर्ये उत्पन्नविपुलश्वर्येण अनुगया स्वसुतया सह सममेन विवाहं कारि पत्यपदेन वैश्यानाम् भाविपत्यपदेन श्रेष्ठिपदेन तथा विशां मनुजानाम् आधिपत्यपदेन स्वामित्वपदव्या शोभितस्य गुणपालः क्षिप्तदीपपरम्परया जनमुख्या परंपरया अस्य कन्यायपरंपराम् आकर्ण्य कौशाम्बीदेशात्सपादतो- पुरमागत्य अनेन आश्चर्ययुक्तविभवसहितेन अनुजातेन अवीमता पुत्रेण सह संयम्य समगच्छत।

[पृष्ठ ११४-११६] अथान्यदा सकलेति—सकलं पत्नी पुत्र मित्रं च तन्यं तैस्तं च तेन सहितेन धनकीर्तिना दर्शनागतया जनसेनया च अनुसरमवरार गुणपालश्रेष्ठी अतिमुक्तविमल पर्वतवोपर उधानम्, सकलसंयतजनपुण्डरीकं शीलगोपजगामपार्श्वे भगवन्तम् अभिवन्द्य च बहुविनयेन सकलानाम् अपृच्छत्—भगवन् किं नाम जन्मान्तरे अमूर्तिना अमस्य पुत्रादाभाविसुकृतस्य मूर्तिना शरीरेण धनकीर्तिना सुकृतं पुण्यमुपार्जितम्। येन बालकालेऽपि तानि तानि दैवकृतप्रतीकाराणि दैवम् एव एकं मुख्यं शरणं रक्षकं तेन प्रतीकार संकटविनाशोपायो येषां तानि व्यसनानि संकटानि व्यतिक्रान्त उल्लङ्घितवान्। येन सुकृतेन अस्मिन् जगति व्यतिरिक्तम् अधिकं रक्षायां पृथिव्याम् अनुरागकमलात् बहुलं आश्चर्यं तेन लोका अभूत्। येन अरम्य विपुलं अधिक आकाशसंवन्धी विमानतुः विधुरपि तस्य प्रभासंभारः कान्तिसमूह इव देवानाम् अपि अप्रतिहतमद अभिरामतकान्तिः समजनि। येन वार्तेनापि अन्येषाम् अपि तेषां तेषां महापुरुषाणाम्

ग्रहाणा महानरपार्श्वाश्रिताना गुणाना समवाय सचय अभवत्। तथाहि—स्थान वदान्यताया दातृत्वस्य, समाश्रय, निकेतनम् अवदानकर्मण प्रशस्तकर्मण, गृहम्, क्षेत्र मैत्रेयिकाया मैत्रीभावस्य निवास:, स्वप्नेऽपि न स्वजनस्य अजनि अजायत मनोमन्तु' मनसाऽप्यपराध । कन्तुरिव च मदन इव च कामिनीलोकस्य नारीजनस्य। तदस्य भदन्त महामुने, प्रापणिकपरिषत्प्रवणस्य प्रापणिका क्रयविक्रयकारिणो वैश्या तेपा परिषत् सघ तस्मिन् प्रवणस्य चतुरस्य। निःशेषेति—सकलागमचतुरचित्तस्य निसर्गादेव। निखिलेति—सकल-परिच्छदाभापणतत्परस्य। विनेयेति—विनेतु शिक्षितु योग्या विनेया भव्या श्राद्धजना तेपा मन कुमुद-मोदिकथावतारे अमृतमूर्ते चन्द्रस्य सुकीर्ते शोभनयशस पुरोपार्जित पूर्वजन्मलब्ध सुकृत पुण्य कथयितुमर्हसि। भगवान्—श्रेष्ठिन् श्रूयताम्। तत्सबन्धसक्त धनकीर्तिश्रेष्ठिन. प्राग्जन्मसबन्धसहित पूर्वोक्त वृत्तान्तम् अचकथत् कथयति स्म। या चास्य पूर्वभवनिकटा पूर्वजन्मना समीपस्था घण्टाभिधेया वधूटी पत्नी आसीत्, सा पूर्व-जन्मकृताभिलापा दमूनसि अग्नौ प्रवेशादिय सप्रति अधुना श्रीमति सजाता, यश्च मीन स कालक्रमेण व्यतिक्रम्य उल्लङ्घ्य पूर्वं प्राक्तन पर्यायपर्व अवस्थाग्रन्थिम् इय अनङ्गसेना अजनि अजायत। अतोऽस्य महाभागस्य एकदिवसाहिंसाफल एतद्विजृम्भते परिवर्तते। धनकीर्ति एतद्वचत्रपवित्रश्रोत्रवत्र्मा एतस्य वचत्रेण वाक्येन पूतकर्णमार्ग, तथा श्रीमति अनङ्गसेना च पुराभवभव प्राग्जन्मभव भव जन्म समाकर्ण्य श्रुत्वा, उन्मूल्य च तम सतानतरुनिवेशमिव तममाम् अज्ञानाना सतान समूह स एव तरु वृक्ष तस्य निवेशमिव रचनामिव केशपाश तस्यैव दोषज्ञस्य अन्तिके दोषान् रागद्वेषमोहादीन् जानातीति दोषज्ञ तस्य मुने. यशोध्वजस्य अन्तिके समीपे, यथायोग्यताविकल्पं योग्यताया विकल्प भेदम् अनुसृत्य, जिनमार्गोचितेन जिनकथितचारित्रोपाययोग्या-चरणेन चिराय दीर्घकालम् आराध्य रत्नत्रयम्, विधाय च विधिवत् आगमम्। अनुसृत्य निरजन्यमनोवर्तन प्रायोपवेशनम्। अजन्यम् उपसर्ग विघ्न निर्गतम् अजन्यात् मनोवर्तन यस्मिन् तथाभूत निर्विघ्न भाव प्रायोपवेशनमिति, मासादिकमवधि कृत्वा चतुराहारत्याग विधाय। तदनु धनकीर्ति सर्वार्थसिद्धिसाधनकीर्ति-र्बभूव। सर्वार्थसिद्धिनामकस्य पञ्चमानुत्तरस्य साधने कीर्तिर्यस्य तथा बभूव। समाधिमरणेन धनकीर्तिमुनि सर्वार्थसिद्धि जगामेति भाव। श्रीमतिरनङ्गसेना च कल्पान्तरसयोज्य षोडशस्वर्गेषु केनचिदन्यतमेन कल्पान्तरेण स्वर्गान्तरेण सयोज्य देवसायुज्यं देवपदसयोगम् अभजत्। भवति चात्र श्लोक [1]सर्वार्थे। पञ्चकृत्वः इति—किलेत्यागमे। आगमे इति कथितमिति भाव। पुरा एकस्य मत्स्यस्य पञ्चकृत्व पञ्चवारम् अहिंसनात् पञ्चवारम् अभयदानात् धनकीर्ति पञ्चापद पञ्च सकटानि अतीत्य उल्लंघ्य, श्रिय पति. राजलक्ष्म्या पति स्वामी अभवत् ॥३६३॥

इत्युपासकाध्ययने अहिंसाफलावलोकनो नाम षड्विंश कल्पः ॥२६॥

२७ स्तेयफलप्रलपनो नाम सप्तविंशः कल्पः।

[पृष्ठ १६६] अदत्तस्येति—अदत्तस्य वित्तस्वामिना यन्न समर्पित तस्य परस्वस्य परकीयधनस्य ग्रहण स्तेय चौर्यम् उच्यते। पर सर्वभोग्यात् सकलै जनै स्थिरै. आगन्तुभिश्च भोक्तु योग्यात् तोयतृणादित भावात् जलतृणादित पदार्थात् अन्यत्र तत् स्तेयम् उच्यते। जलतृणादीना सर्वभोग्यत्वात् न तद्ग्रहण चौर्यम्। तत्र स्वस्वामिकत्वाभावात् ॥३६४॥ ज्ञातीनामिति—ज्ञातीना दायादानाम् अत्यये मरणे तैं अदत्तमपि धन ग्राह्यम् इति समतम्। तु अन्यथा जीवता ज्ञातीना निदेशेन दुरभिप्रायेण राजवर्चसा धन गृह्यते चेत् व्रतक्षति' अचौर्यव्रतनाश स्यात्। जीवता ज्ञातीना निदेशेन इदं त्व गृहाणेति दत्त चेत् चौर्यं न भवति ॥३६५॥ सक्लेशेति—सक्लेशाभिनिवेशेन रागाद्यावेशेन आर्तरौद्राभिप्रायेण वा यत्र स्वपराश्रिते रायि धने प्रवृत्ति स्यात्

---

१ 'व' प्रतौ सर्वार्थ इति नास्ति 'क' प्रतौ च नास्ति सर्वार्थे।

विशाखे समस्तगृहकार्यधुरन्धरचतुरे मदीयमित्ताभावमवाप्ते कथमहं सहेय ममाक्स्मापायहेतु प्रमुक्तोपायविलोचनकेतु प्रणामयितव्यः । कथमहं स्नेहः सुहृत्कर्मा सुख मम अंगविनाशहेतु प्रयुक्तोपायविनाशे केतुतुल्य हन्तव्य । विशाखा—श्रेष्ठिन्, मेकमावात् सकलमनुपपन्नं त्वया चेष्टितम् । श्रेष्ठिन्, मेकमावात् मूर्खत्वात् मूढत्वात् अज्ञानत्वाद्वा । सर्वम् अनुपपन्नं अयुक्तिकं कार्यं त्वया कृतम् । अत कुरुष्व तावत् तस्मात् मार्जाराद्भीतः कुक्कुटपोत इव ताम्रचूडशिशुरिव तूष्णी मौनेन आस्स्व उपविश । भविष्यति भवतोऽभीष्टं मनीषितम् । यदिष्टं ते पूर्णं भविष्यति इत्याभाष्य उक्त्वा अपरेद्युरन्यस्मिन्दिवसे अमितजीवितम्यतोदकेषु मोदकेषु विषं संधाय अमितस्य बालकस्य जीवितस्य जीवनस्य तस्य तोयकेषु दुःखदायिषु मोदकेषु अर्द्धेषु विषं संधाय मेलयित्वा सुते श्रीमते च एते कुसुमकुसुमकान्तयो मोदकास्ते स्वकीयाय कान्ताय देया कुसुमपुष्पवत् श्वेतकमलवत् च सितपुष्पवत् अर्द्धका निजाय कान्ताय स्वामिने देया अपावस्यामासभयामसवर्णपरस्य जनकाय धूसरारक्तवर्णतृणधान्यविशेषवद्धूसरकान्तयो मोदका पित्रे देया । इति समर्पितसमया अवधितमित्रसंविदा समासन्नमरणसमया समीपागतमृतिवेला सरिति नद्यां स्नानाय स्नानं कर्तुम् अनुससार अन्वगच्छत् । श्रीमतिः मन्योक्त(?) अर्द्धं तत्प्रतीक्षाय ताताय वितरितवान् । चौर्यं भावं सुचार सुधिर्मोहकः स प्रतीक्ष्याय पूज्याय ताताय पित्रे देयं इत्यनयस्य विज्ञाय अविज्ञातविषविकारकौटिल्या अनुक्रमात्प्रमादात्कपटमाया निःस्पृहया सरलमानसा तन्मोदकान् एतयोः जनकपत्या विपर्ययेण अदीयन्त पर्यवेषयत् । ये धूसरवर्णा मोदकास्ते निजपतये श्वेतकान्तास्ते पित्रे तथा पर्यवेष्यन्त । विशाखा—पतिमृत्युं मरणं प्राप्तत्वात् पतिपीडितम् अरण्यसामान्य वनसदृशम् अगारं गृहम् आप्य आगत्य परिदेवनं च शोकं विधाय च दीनसमयम् । पुनः पुत्रि किमस्यां भवति महामुनिनापितम् । केवलं तव पापेन मया च वैर्यामोहात्म्यविलोपाय हत्योत्पादनमाचरितम् । तव भर्त्रा पिता वैर्या स्थविरया जरत्या मया च आत्मीयात्मजो निजवधः तस्य विलोपाय विनाशाय कृत्वा नाम क्रूरदेवताया उत्पादनम् आचरितम् । सा आमकत्वा कुर्विति माया । तद्बन्धन बहुप्रलापेन । अस्मत्पुत्रेण अस्मत्कृतेन त्वमनेन देवदेवदेहरक्षाविधानेन अनेन सार्धम् आक्रम्य इन्द्रियसौख्यं सुखमनुभव इति संभाविताशीर्वचना तमेकं मोदकमास्वाद्य पञ्चत्वं प्रापत् । अस्मत्पुत्रा अस्मत्कृतेन त्वमनेन विधिना देवस्य देहस्य शरीरस्य रक्षणविधानेन अनेन पत्या सह आकल्पं कल्पान्तकालं यावत् इन्द्रियसुखम् ऐश्वर्यसुखं च अनुभव इति समर्पिताशीः तमर्धं अर्द्धकं भक्षयित्वा पञ्चत्वं मार्गं प्रपन्ना अगाम मृतेति भावः । [विश्वम्भरेण राज्ञा स्वकन्या जयकीर्तये दत्ता पुष्पपालोऽपि जयकीर्तेः पिता कौशाम्बीवेलावलपाटलीपुरम् (कनकमिनी) आगत्य पुत्रेण सार्धं समतिष्ठत ।] एवं विहितेति—एवं पूर्वोक्तप्रकारेण कृतपापाभिप्राया-सीनतया प्राप्ताशोभसुतशोकाग्नौ तस्मिन् मातापितरि तन्मातरि च तत्समीपे मृते सति स पुरातनसुकृत-प्रभावात् । सत्वर्द्धयितेति—अतिक्रान्तमयानकप्रारब्धविनाशकपञ्चसंकटः प्रतिदिवसं वर्धिष्यमाणश्री एकदा तेन विश्वम्भरेण राज्ञा कोविदः तत्कुलसौन्दर्येण सत्पात्रविपुलसम्पदेन तनूजया स्वसुतया सह क्रमेण विवाह्य आधिपत्यपदेन वैश्यानाम् आधिपत्यपदेन श्रेष्ठिपदेन तथा विश्वं मनुजानाम् आधिपत्यपदेन स्वामित्वपदव्या योजितश्च पुष्पपालः स्थितवंशीयपरंपरया जनपदस्य परंपरया तस्य कर्मावधिपरंपराम् आकर्ण्य कौशाम्बीवेलावलपाटलीपुरमागत्य अनेन आश्चर्यभुक्तविभवसहितेन तनुजातेन कनीयसा पुत्रेण सह संगमे समगच्छत ।

[पृष्ठ १६४-१६६] अथान्यदा सकलेति—कलत्रं पत्नी पुत्रः मित्रं च तन्त्रं सैन्यं च तेन सहितेन जयकीर्तिना दर्शनायागतया जनकेनया च अनुरागवशात् गुणपालश्रेष्ठी मतिश्रुतावधिमनःपर्ययलोचन-सभागम्, सकलसंयतजनवृन्दराजं श्रीमत्सोमयशनामधेयं भगवन्तम् अभिवन्द्य स बहुविनयेन अवनतमानम् अपृच्छत्—भगवन्, किं नाम जन्मान्तरे धर्ममूर्तिना धर्मस्य पूजादानादिपुण्यस्य मूर्तिना शरीरेण जयकीर्तिना सुकृतं पुण्यमुपार्जितम् । येन बालकालेऽपि तानि तानि दैवकादम्बरसमतीतानि दैवम् एवं सुखं सर्वं रसानां तेन प्रतीकारः संकटविनाशोपायो येषां तानि व्यसनानि संकटानि अतिक्रान्तानि अवलङ्घितवान् । येन सुकृतेन अस्मिन् जगति व्यतिरिक्तम् अधिकं रसाया पृथिव्याम् अनुपलभ्यमानं माधुर्यं लावण्यं तेन गौरवम् अभूत् । येन अस्य विपुलं अमितं आकाशसंबन्धी विमानवधूः विधूतानि तस्य प्रभावसंभारः शमितसमूहः इव देवानाम् अपि अप्रतिहतमहः अनिराकृतकान्तिः समजनि । येन भाग्येनापि अभूतपूर्वम् अपि सैन्या सैन्य

प्रशान्तशुल्कभाटकभागहारव्यवहारम् अचीकरत् । वणिजा वैश्याना प्रशान्तशुल्क घट्टादिदेयद्रव्यम्, भाटक गृहादिस्वामिने निवासार्थं व्यवहारार्थं वा देयद्रव्य भाटकम्, भागहारव्यवहारम् उत्तमर्णाधमर्णयो यो धनदानादिव्यवहारो भवति तत्रोत्तमर्णेन यत् अशव्यवहारेण अधमर्णत धनग्रहण क्रियते स भागव्यवहार उच्यते । एवविध व्यवहार स पुरोहितोऽकरोत् । कि कृत्वा स व्यवहारमकरोत् । पेण्ठास्थान क्रयाणपत्तनं पीठस्थान (?) विनिर्माय । कथभूत तत् । विभक्तेति—विभक्ता पृथक्पृथक् स्थिता ये अनेके अपवरका अन्तर्गृहाणि तेषा या रचना तया शालिनीभि शोभमानाभि महाभाण्डवाहिनीभि महावणिङ्मूल-धनधारिणीभि, गोशालोपशल्याभि गवा शाला गोशाला तस्या उपशल्याभि समीपस्थिताभि कुल्याभि पटशालाभि समन्वितम् । पुन कथभूतम् । अतिसुलभेति—अतिसुलभाना जलाना यवसाना तृणानाम् इन्धनाना काष्ठाना च प्रचारो यत्र तत् । पुन कथभूत तत् । भाण्डनारम्भेति—भाण्डन कलह तस्यारम्भे उद्भटा शूरा ये भरीरा योधास्तेषा पेटकपक्ष समूहपक्ष तेन रक्षासार कृतरक्षणत्वात् सारभूतम् पुन कथभूतम् । गोरुतेति—गो धेनो रुत ध्वनि यावद्दूर श्रूयते तावत्प्रमाण यद्वप्र सस्यक्षेत्रम्, प्राकार साल प्रतोलि रथ्या, परिखा खातिका इत्यादिभि सूत्रित कृत त्राण रक्षण यस्य तत् । पुन कथभूतम् । प्रपेति—पानीयशाला । सत्रम् अन्नदानशाला । सभा व्यवहारनिर्णयपरिषत् । एभि सनाथा युक्ता या वीथय गृहपङ्क्तय तासा निवेशन रचना यत्र तत् पण्यपुटभेदन विक्रेयद्रव्यपरिपूर्णं पुटभेदन नगरम् । पुन कथभूतम् । विदूरितेति—विदूरित निवारित किनवा द्यूतक्रीडारता । विटा पिङ्गा । विदूषका चाटुवटुका । पीठमर्दा नर्मभाषणकारिण । एतेषाम् अवस्थान यत्र तत् तथाभूत पेण्ठास्थान विनिर्माय विरच्य नानादिग्देशगमनकारिणा वणिजा वैश्याना प्रशान्तशुल्कभाटकभागहारव्यवहारमचीकरत् पुरोहित श्रीभूतिरिति सवन्धोऽत्र ज्ञेय । [अस्मिन्प्रस्तावे भद्रमित्रो नाम वणिक् श्रीभूतेर्हस्ते तत्पत्नी-समक्ष सप्तरत्नानि दत्वा सुवर्णद्वीपम् अगच्छत्] अत्रान्तरे अस्मिन् प्रसगे भद्रमित्र सुवर्णद्वीपम् अनुससारेति सबन्ध । स कस्य सूनुरिति विवृणोति कवि —पद्मिनीखेटेति—पद्मिनीखेटपट्टने विनिविष्ट सनिवेश-विशिष्टो य आवास मन्दिरम् आलय तस्मिन् तन्त्रस्य तदधीनस्य तत्र निवसत इत्यर्थ । सुमित्रस्य वणिक्पते सूनु भद्रमित्र । कथभूतस्य सुमित्रस्य । सुदत्तेति—सुदत्ता कलत्र सुदत्ता भार्या तस्या चरित्रेण सदाचारेण पवित्रित गोत्र यस्य, तस्य वणिक्पते (सुमित्रस्य) सूनु । कथभूत । निजेति—निजा ये सनाभय अन्वयजा जना त एव अम्भोजानि कमलानि तेषा विकासने भानुरिव सूनु । कथभूत । समानेति—समान घन चारित्र येषा ते वणिक्पुत्रै वैश्यसुतै सत्र सह वहित्रयात्राया नौकागमने यियासु यातुमिच्छु यियासु जिगमिषु । इति विचार्य सुवर्णद्वीपमनुससार । कि विचार्य । पादेति—यत् उद्यमात् धन लभ्यते तस्य चत्वारो विभागा कर्तव्या. । तत्र आयात् जाताद्धनलाभात्, पाद चतुर्थांश निधि कुर्यात् मूलधनत्वेन रक्षेत् पाद वित्ताय कल्पयेत् चतुर्थांश वित्ताय उद्यमे भाण्डमिति योजयेत् । चतुर्थांश धर्मे च उपभोगे च योजयेत् अवशिष्ट पाद भर्तव्यपोषणे कुटुम्बभरणार्थे तद्विनियोग कुर्यात् ॥३७३॥ इति श्लोकार्थम् अवधार्य, अतिचिरम् उपनिधिन्यासयोग्यम् आवास विचार्य च दीर्घकाल रत्नादिनिधिस्थापनयोग्यम् आवास स्थान कि स्यात् कुत्र स्यात् इति विमृश्य, उदिताचारसेव्य उदित विज्ञै कथित· आचार व्यवहार सेव्यो यस्य । अवधारितेतिकर्तव्य निश्चितकार्यपद्धति, सन् स भद्रमित्र । अखिलेति—अखिला सकला, ते च ते जनाश्च तेषां श्लाघ्य· प्रशस्य यो विश्वास विस्रम्भ तस्य प्रसूति उत्पत्तिः यस्मात् । तथाभूतस्य श्रीभूते हस्ते तत्पत्नीसमक्षम् अनर्घकक्षम् अनर्घा उत्तमा कक्षा पार्श्वभागा यस्य तत्, अनुगताप्तकम्, आप्तेभ्यो अनुगत हितकारिभ्य पूर्वजेभ्य अनुयात रत्नसप्तक निधाय स्थापयित्वा । विधाय च जलयात्रा-समर्थ जलयात्रासपादकम् अर्थं धनम् । एकवर्णप्रजाप्रलापम् एकवर्णा एव प्रजा वर्तते इति प्रलाप किंवदन्ती यत्र तथाभूत सुवर्णद्वीपम् अनुससार ।

[पृष्ठ १६९-१७०] पुनरिति—पुन अगण्यपण्यविनिमयेन असख्यक्रयविक्रयवस्तूना प्रतिदानेन, तत्रत्य सुवर्णद्वीपसवन्धि अचिन्त्यम् असकल्प्यम् आत्माभिमतवस्तुस्कन्ध स्वेष्टपदार्थसमूहम् आदाय गृहीत्वा, प्रत्यावर्तमानस्य स्वदेश प्रतिनिवर्तमानस्य व्याघुटितस्य अदूरसागरावसानस्य अदूर समीप सागरस्य समुद्रस्य

तत् स्तेयं स्यात् । तदस्तु स्वयं गृहीतम् अथवा अन्यजनाभ्यर्थं क्रियते तत्स्तेयं स्यात् । तदस्तु स्वयं न गृह्णीयात् अन्यजने च न दद्यात् । तन्मतं रात्रि विशेषम् स्वान्यजनाभ्यर्थे रात्रि प्रवृत्तिर्भवेत् तत्सर्वं स्तेयं विशेषम् । राजि रात्रि पथे परासिने रात्रि पथे वा सर्वं स्तेयं भवति । संक्लेशाभिनिवेशेन प्रवर्तनात् ॥१६६॥ रिक्थमिति—निधिनिपातोत्थं रिक्थं नद्योगुहादिविस्तारकाशदेशस्थितं रिक्थं धनं राज्ञ विना अन्यस्य कुलस्य न युज्यते । राजा एव तद्धनस्य स्वामी । अत उक्तम् इद् अस्वामिकस्य स्वस्य धनस्य मेदिनीपति राजा दायाद स्वामी । निधिः यो स्वीकृतः धर्मं न याति स निधिः । यत् स्वीकृतं तत् सर्वं याति तन्निधानम् ॥१६७॥

[पृष्ठ १६७] आत्मार्जितमिति—स्वेन अर्जितं उपार्जितो लाभमपि द्वारराय उपाय स्यात् एवं मम धनमस्ति न वेति यदा संशय उत्पद्येत तदा तत्परद्रव्ये दाने वा अन्यथा भवेत् स्तेयं स्यात् । अत एवो निजागर्यं विमुच्य अन्यस्य धनं परिहरेत् ॥१६८॥ मन्दिरे इति—मन्दिरे गृहे चत्वरे मार्गे (?) नीरे, कान्तारे वने पर्वतोपरे पथे तत् अन्यदीयम् अन्येषाम् इदम् अन्यसंबन्धि इवादेयं द्रव्यं पतितमपि अर्थपतितं विस्मृतं न आदेयं न ग्राह्यम् ॥१६९॥ पीनयेति—पीनत्वमूनानिषमे पीनत्वं परिमाणं तत्र न्यूनता न्यूनेन परिमाणेन अन्यासै दत्वा अधिकेन आत्मने गृह्णाति । स्तेनकर्म चौर्यस्य प्रयोगः चोरस्य स्वयम् अन्येन वा तं चोरयेति चोरणक्रियायां प्रेरणम् ततो धनं चोरेण चौर्यं कृत्वा आनीतस्य धनादिवस्तुनो ग्रहणम् । विरुद्धे राज्ये राज्ञोविरोधोऽस्ति तत्र अल्पमूल्येन महार्घाणि द्रव्याणि प्राप्स्यसे इति मत्वा तत्र गत्वा तथा बहूनां विरुद्धे अपरस्य संग्रहः सम्यक् एव एता अतीचारा अस्तेयस्य निजगता अचौर्यव्रतस्य निजगता न्यूनताकारका अतीचारा भवन्ति ॥१७०॥ रत्नेति—येषु धनिकेषु अस्तेयं व्रतं निर्मलं निरतीचारं वर्तते । तेषाम् अचिन्तिता मनसा अनवचिन्तिताः रत्नस्वर्णविभूषणः मणिमाणिक्यवस्त्रवैभवानि भवन्ति । तेषां रत्नानि भवन्ति रत्नानि अनर्घ्याणि अथवा तेषां तानि गृहादीनि भवन्ति तथा च रत्नत्रयो स्तैन्यत्वं विनाशयतो अभूतमम् अर्हन्त्य मानं तेषां भवति ॥१७१॥ परममोपेति—परेषां प्रमोषः परप्रमोषः परस्य प्रमोषे चौर्ये भावे भी अपहारेण दुःखविधा अनिमयलोभात् गुणागुणविधा गुणवता दुष्टा यो तैषां तेषां गुणान् अर्थ अपि लोके लोकमनुभ्य राजादण्डनादिरूपं दुःखादिकानि । परत्र च परलोके च दुर्गति नरकतिर्यग्गतौ दुर्गतौ च जन्म जायते ॥१७२॥

[पृष्ठ १६७-१६८] धूपगामन स्तेयफलभावोदाहरणम्—प्रपञ्चेषु निवासविलासावासामण्डपपयापानिधविमानिर्नूपुरे इति—[illegible] तत्र [illegible] दुर्बलो वा चारुदत्तः [illegible] नाना धनानि मधुरस्तथा नै गृह वासनिवासानि कुसुलिकानि विलासिनीनां पुरुषानि बहुतत्सहितो विदुरे विदुषो नाम धूर्तः आसीत् । धर्मबुध । समस्तेति—[illegible] अहंकार [illegible] दुर्विनीतो वा [illegible] कृच्छ्री तयोः प्रजायते [illegible] विद एव विदुषो नाम धूर्तः । [illegible] नामाकर्मदृष्टी । धर्मबुधा वा । निलिम्पेति—[illegible] [illegible] [illegible] धूर्तो नामनी विदग्धपूर्णवन्ती नाम । धर्मबुधौ तौ । [1]आहयमिति—[illegible] आहूताः [illegible] तौ । [illegible] । धर्मबुधा । निर्दोषेति—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

---

1 [illegible]

2 [illegible]

प्रशान्तशुल्कभाटकभागहारव्यवहारम् अचीकरत् । वणिजा वैश्याना प्रशान्तशुल्क घट्टादिदेयद्रव्यम्, भाटक गृहादिस्वामिने निवासार्थं व्यवहारार्थं वा देयद्रव्य भाटकम्, भागहारव्यवहारम् उत्तमर्णाधमर्णयो यो धनदानादिव्यवहारो भवति तत्रोत्तमर्णेन यत् अशव्यवहारेण अधमर्णत धनग्रहण क्रियते स भागव्यवहार उच्यते। एवविध व्यवहार स पुरोहितोऽकरोत् । किं कृत्वा स व्यवहारमकरोत् । पेण्ठास्थान क्रयाणपत्तन पीठस्थान (?) विनिर्माय । कथभूत तत् । विभक्तेति—विभक्ता पृथक्पृथक् स्थिता ये अनेके अपवरका अन्तर्गृहाणि तेषा या रचना तया शालिनीभि शोभमानाभि महाभाण्डवाहिनीभि महावणिङ्मूल-धनधारिणीभि, गोशालोपशल्याभि गवा शाला गोशाला तस्या उपशल्याभि समीपस्थिताभि कुल्याभि पटशालाभि समन्वितम् । पुन कथभूतम् । अतिसुलभेति—अतिसुलभाना जलाना यवसाना तृणानाम् इन्धनाना काष्ठाना च प्रचारो यत्र तत् । पुन कथभूत तत् । भाण्डनारम्भेति—भाण्डन कलह तस्यारम्भे उद्भटा शूरा ये भरीरा योधास्तेषा पेटकपक्ष समूहपक्ष तेन रक्षासार कृतरक्षणत्वात् सारभूतम् पुन कथभूतम् । गोरुतेति—गो धेनो रुत ध्वनि यावद्दूर श्रूयते तावत्प्रमाण यद्वप्र सस्यक्षेत्रम्, प्राकार साल प्रतोलि रथ्या, परिखा खातिका इत्यादिभि मूत्रित कृत त्राण रक्षण यस्य तत् । पुन कथभूतम् । प्रपेति—पानीयशाला । सत्रम् अन्नदानशाला । सभा व्यवहारनिर्णयपरिषत् । एभि सनाथा युक्ता या वीथय गृहपङ्क्तय तासा निवेशन रचना यत्र तत् पण्यपुटभेदन विक्रेयद्रव्यपरिपूर्ण पुटभेदन नगरम् । पुन कथभूतम् । विदूरितेति—विदूरित निवारित कितवा द्यूतक्रीडारता । विटा पिड्गा । विदूषका चाटुवटुका । पीठमर्दा नर्मभाषणकारिण । एतेषाम् अवस्थान यत्र तत् तथाभूत पेण्ठास्थान विनिर्माय विरच्य नानादिग्देशगमनकारिणा वणिजा वैश्याना प्रशान्तशुल्कभाटकभागहारव्यवहारमचीकरत् पुरोहित श्रीभूतिरिति सबन्धोऽत्र ज्ञेय । [अस्मिन्प्रस्तावे भद्रमित्रो नाम वणिक् श्रीभूतेर्हस्ते तत्पत्नी-समक्ष सप्तरत्नानि दत्वा सुवर्णद्वीपम् अगच्छत्] अत्रान्तरे अस्मिन् प्रसगे भद्रमित्र सुवर्णद्वीपम् अनुससारेति सबन्ध । स कस्य सूनुरिति विवृणोति कवि —पद्मिनीखेटेति—पद्मिनीखेटपट्टने विनिविष्ट सनिवेश-विशिष्टो य आवास मन्दिरम् आलय तस्मिन् तन्त्रस्य तदधीनस्य तत्र निवसत इत्यर्थ । सुमित्रस्य वणिक्पते सूनु भद्रमित्र । कथभूतस्य सुमित्रस्य । सुदत्तेति—सुदत्ता कलत्र सुदत्ता भार्या तस्या चरित्रेण सदाचारेण पवित्रित गोत्र यस्य, तस्य वणिक्पते (सुमित्रस्य) सूनु । कथभूत । निजेति—निजा ये सनाभय अन्वयजा जना त एव अम्भोजानि कमलानि तेषा विकासने भानुरिव सूनु । कथभूत । समानेति—समान धन चारित्र येषा ते वणिक्पुत्रै वैश्यसुतै सत्र सह वहित्रयात्राया नौकागमने यियासु यातुमिच्छु यियासु जिगमिषु । इति विचार्य सुवर्णद्वीपमनुससार । किं विचार्य । पादेति—यत् उद्यमात् धन लभ्यते तस्य चत्वारो विभागा कर्तव्याः । तत्र आयात् जाताद्धनलाभात्, पाद चतुर्थांश निधि कुर्यात् मूलधनत्वेन रक्षेत् पाद वित्ताय कल्पयेत् चतुर्थांश वित्ताय उद्यमे भाण्डमिति योजयेत् । चतुर्थांश धर्मे च उपभोगे च योजयेत् अवशिष्ट पाद भर्तव्यपोषणे कुटुम्बभरणार्थे तद्विनियोग कुर्यात् ॥३७३॥ इति श्लोकार्थम् अवधार्य, अतिचिरम् उपनिधिन्यासयोग्यम् आवास विचार्य च दीर्घकाल रत्नादिनिधिस्थापनयोग्यम् आवास स्थान किं स्यात् कुत्र स्यात् इति विमृश्य, उदिताचारसेव्य उदित विज्ञै कथित आचार व्यवहार सेव्यो यस्य । अवधारितेतिकर्तव्य निश्चितकार्यपद्धति, सन् स भद्रमित्र । अखिलेति—अखिला सकला, ते च ते जनाश्च तेषां श्लाघ्यः प्रशस्य यो विश्वास विस्रम्भ तस्य प्रसूति उत्पत्ति यस्मात् । तथाभूतस्य श्रीभूते हस्ते तत्पत्नीसमक्षम् अनर्घकक्षम् अनर्घा उत्तमा कक्षा पार्श्वभागा यस्य तत्, अनुगताप्तकम्, आप्तेभ्यो अनुगत हितकारिभ्य पूर्वजेभ्य अनुयात रत्नसप्तकं निधाय स्थापयित्वा । विधाय च जलयात्रा-समर्थ जलयात्रासपादकम् अर्थं धनम् । एकवर्णप्रजाप्रलापम् एकवर्णा एव प्रजा वर्तते इति प्रलाप किंवदन्ती यत्र तथाभूत सुवर्णद्वीपम् अनुससार ।

[पृष्ठ १६९–१७०] पुनरिति—पुन अगण्यपण्यविनिमयेन असख्यक्रयविक्रयवस्तूना प्रतिदानेन, तत्रत्य सुवर्णद्वीपसबन्धि अचिन्त्यम् असकल्प्यम् आत्माभिमतवस्तुस्कन्ध स्वेष्टपदार्थसमूहम् आदाय गृहीत्वा, प्रत्यावर्तमानस्य स्वदेश प्रतिनिवर्तमानस्य व्याघुटितस्य अदूरसागरावसानस्य अदूर समीप सागरस्य समुद्रस्य

मरसाने दर्पे यस्य समुन्नटस्य मनीन्द्र मउक्त । अकाण्डेति—अकाण्डे असमये घोरं वनं यस्मै यस्य तथानुगात् अनिष्टात् मायापरिवर्तितगोत्रस्य भामिनीकस्य मङ्गविप्लवया माध्यमीनया दैवाकम्बर परगया मायुरः दैवतात् तस्यैतस्य प्रमादकृतावसमनोऽपनस्य प्रमादेन मगवतानया फलस्य माययर्प उपरागस्य कण्ठेगतप्राणजीवितस्य कष्टगतप्राणस्यापि कथं कथमपि धाराया शिलायाः तलमवलम्ब्य यामताप्यमवीगात्रमानप्रहरसमय अभिरोपोरतविरमभत् समुद्रतटप्राप्तिरभवत् । [महता यत्नेन मलिन मायाय पोभूमि मणिमण्डपमध्याचम] तनस्ततः स्मरम्, सुर्भिपवनसरोरुहात् मुखेन वनदेशदेशात् । अपारेति—मनागम्भसो अकूपारः समुद्रः तस्य पारवारि सकलमलं अस्य बलेन वणिजः अपीन मापा चित्तं यस्य शून्यचित्तप्रसर्पः । चिराय दीर्घकालानन्तरम् अपगतमूर्छोऽस्य अपगता सह मूर्छोदयो यस्य स मङ्गलिक धामूनि मणिमण्डपमध्याचम । कथा मणिमण्डपमध्ये अपाचम । विस्मयमिति भूयं कांचनगोपुरे नवविन्दे गते सति कर्षभूते विस्मयमिति । करप्रपारेति—करा रश्मयः तथा प्रकाराः तत्र पूर्णिमा आवासा एव शिला प्रगयः येन सः तस्मिन् । पुनः कर्षभूत । प्रागपलति—प्रागचलः पूर्वाचलः तस्य चूलिका शिखरापि तैलं चक्रवाल सान्द्रः तस्य चूडामणिरिव तस्मिन् । पुनः कर्षभूते । कमलिनीति—कमलिनीनां कमलानां वृन्दं समूहः तस्य विलासे मालिन्यम् अत्यादिते हंसकामिनीनां हंसस्त्रीणां दाम यत्र तस्मिन् । पुनः कथंभूते विस्मयमिति । दुरन्तेति—दुरन्ति विस्मयन्ति च तानि मलिनानि कमलानि तेषाम् अन्तरालो अभ्यन्तरे स्नात् चक्रित मनोहरे भास्वत्यन्ते विस्मयमिति मेषविषये याते सति । कथंभूत मङ्गलिक अभ्यन्तरमाद् हरितने स्नात् इन्दिरिन्दिरावात् अशोकार्कसमनया अभिवृक्षशिखिलतात् । उत्पन्नलाभगत तत्रा दीर्णा छाया कान्ति यस्य यस्य स दीपशाखिगतरीर । पञ्चपरमेष्ठिति—पदपदं अर्थ तत्र तदीयं पदं तस्य पीरी ज्ञानं त्या सिद्धिना मासरेतिता अह्नराष्टि वैदग्धो यस्य सः । कारि मणिमण्डपमध्य पुरः वलिमाचरन्त । पदेति—पदेषां नरस्यानि मणानि तेषाम् उपरि न तत्र याचनार्थे बलनं तेन विरागा महा अभिमतानादिनः समयनिदानं अवानि तपोधिकारादिना सन् अपेन शिखरं समस्त मास्य । गीमा प्रति—गीः वाणी सा एव गाम्भीर्य तेन सकलस्य । पूजापीठा सर्व पूर्व यत्र यत्र स पर्णिका । महति—महासो महायोग स एव रसः तेन उपभासितः भाविता प्रीति रस । यत्र तं धेनु वसु अर्थ मानानि शिल्लानि अभिमानि बालेन यस्य स मङ्गलिक मणिमण्डपमध्याचम । परेति—परेषां प्रसाधन अन्तरालो पुन पुरस्तात् अतिशो वदेन सः पीठभूमि—मुखमुखेनानि श्लोकाभिनयं तदानन्द शुभशुभनमि—भृङ्गु पूर्णोदयाभावेन कृत्वा विशिष्टेन रूपेण भावेन स्वयंभूस्तोत्रेणोक्ति बन्धने प्रारब्धे । मतिः तत्र यदि परमा पूर्ण स्यात् न तत्र मन्दमतिरिवै वा नाम मानोचना को नाम परमार्थ । अपसरतु रूपेण कस्मै एव ॥१३४॥ इति परमार्थ विचार्य । मनःप्रह्लादकैस्ता कालावहा मनसाता महात्मा च तेन मनसा तार्क्ष्यं येषां यथा च एव । ननु भावानुरूपम्, अंशात्मसाम्, अशोभन सर्व नु । [illegible]

[illegible]

सत्प्रवृत्ति यस्य एतादृश गाम् अतिवेलम् तत्र वेला मर्यादाम् अतिक्रम्यैव अकाण्डे अनवसरे चण्डकर्मन् पर्यनुयुञ्जान प्रश्नान् कुर्वन्, न्यथ न लज्जसे। पुनरत्रैनम् अर्थप्रार्थनपथमनोरथविशालम् अर्थाना मत्नमणीना प्रार्थन याचना तस्य पथि मार्गे यो मनोरथस्तेन विशाल शब्दाल ग्रहिलवत् शवरान् ब्रुवन्त भद्रमित्र पालिन्दमन्दिर राजगृहम् अनुचरै निर्जरिकरै. आनाय्य नीत्वा अनार्यमति अनार्या पापयुक्ता मतिर्यस्य स श्रीभूति, त भद्रमित्र पृथिवीनाशेनापि राज्ञापि निरसारयत् निरघाटयत्। उत्तेजितराजहृदय उत्तेजित क्रोधक्षोभ नीत राज्ञो हृदय येन स श्रीभूति यै उदितै वचनै.। तान्येव वर्णयति—'देव, अय वणिक् निष्कारणम् अस्माक दुरपवादमृदङ्गवत् दुरपवादो निन्दा अयशश्च तयोर्घोषण कुर्वाणो मृदङ्ग इव मुखरमुख वाचालवदन नायरहितवृषभवत् सुखेन आसितु नारोहण कर्तु न ददाति। अनस्तितस्नातक इव सुखेन असितु न ददाति।' इत्यादिभि उदितैर्भाषितै अवाप्तप्रसरतया लब्धावकाशत्वात् उत्तेजितराजहृदय। तथैव स्ववत् राज्ञापि निरघाटयत।

[पृष्ट १७१-१७२] भद्रमित्र—चित्रमेतत्, ननु यन्मामपि परविप्रलम्भाय कुलक्रमायाताखिलकमलानिलयम् अनन्यसामान्यनाहसालयम् एष मोषधिषणानिधि अपर इव अपायजलनिधि नगरमध्येऽपि मोषितुमभिलषति। आश्चर्यमेतत्, ननु यत् यस्मात् मामपि परविप्रलम्भाय अन्यप्रतारणाय। कुलेति—वशपरम्परायातसकललक्ष्मीगृहम् अनन्यसदृशसाहसगृहम्। एष मोषधिषणानिधि एष सत्यघोष: मोष स्तेय तत्र या धिषणा बुद्धि तस्या निधिर्निधानम् अपर इव अपायजलनिधि अन्य इव अपायो विनाश. तस्य जलनिधि समुद्र·। स एष श्रीभूति नगरमध्येऽपि मोषितु स्तेनितु चोरितुम् अभिलषति इच्छति। इति जातामर्षोत्कर्ष जात उत्पन्न अमर्षस्य क्रोधस्य उत्कर्ष तीव्रता यस्य स भद्रमित्र' त न्यासार्पणे न्यासस्य निक्षिप्तस्य धनादे अर्पणे तत्स्वामिने दाने अतिचिक्कणचित्तम् अतिकठिनमनस निश्चित्य। स्वाध्यायिपरिषदि स्वाध्यायिनाम् अध्ययनशीलाना मठवासिनाम् परिषदि सभाया महापरिषदि च महान्त राजपुरुषा मान्यनागरिका वा धर्माधिकारिण तेषा परिषदि सभाया च तस्य अन्यायस्य विश्वसितद्रोहस्य विन्यासेन स्थापनेन साध्यसिद्धि मणिसप्तकप्राप्तिम् अनवबुध्य अनवोनधी न परवशबुद्धि अशङ्कसुकमति नि.सशयबुद्धि महादेवीधामनेमनिवेश महादेव्या रामदत्ताया धाम प्रासाद तस्य नेमे समीपे निवेश स्थितिर्यस्य तम् अम्लिकानोकहशिखादेशम् अम्लिकानोकह तिन्त्रिणीतरुस्तस्य शिखादेशम् अग्रप्रदेशम् आरुह्य आपद्गृह्ल. आपद्भि मर्कटैर्गृह्य विवश मर्कटपीडित, कुररीविरहावसर क्रौञ्चीवियोगसमय प्राप्त कुरर इव तमस्विनीप्रथमपश्चिमयामसमये तमस्विन्या तस्या आद्यन्त्यप्रहरवेलाया "सुहृच्चराहूति श्रीभूति भूतपूर्व सुहृत् सुहृच्चर भूतपूर्वमित्रम् इति आहूति आख्या यस्येति श्रीभूति एवविधकरण्डविन्यस्तम् एवविधसमुद्गकस्थापितम् इयत्सस्थानसदनम्, इयदाकारसहितम्, एतद्वर्णम् अद सख्यास्वर्ण च मदीय मणिगणम् उपनिनिनिधेय न्यासरूपेण रक्षणाय दत्तम्, न प्रतिददातीति। अत्र च अस्यैव धर्मरमणी धर्मपत्नी साक्षिणी च यदि यद्वदतयैतदन्यथा मनागपि भवति चेत् एतद्वचन असबद्धप्रलापतया सर्वेषा ऋतूना परिवर्तस्य निर्गमनस्य अर्थ यावत् षण्मासान् यावदिति भाव। मिथ्या भवति ईषदपि तदा मे चित्रवधो विधातव्य" इति दीर्घघोषघूर्णितमूर्धमध्यम् ऊर्ध्वबाहु दीर्घस्तारो घोष स्वर तेन घूर्णित कम्पित स चासौ मूर्धा तस्य मध्यो यथा स्यात्तथा। ऊर्ध्वं कृतौ बाहू हस्तौ येन स ऊर्ध्वभुज, सर्वर्तुपरिवर्तार्धे पूत्कुर्वन् आक्रोश कुर्वन् एकदा रामदत्तया निर्वर्णित अवलोकित इति सबन्धो द्रष्टव्य। कथभूतया रामदत्तया कौमुदीमहोत्सवसमय चन्द्रज्योत्स्नाया शुक्लाष्टमीमारभ्य पौर्णिमातिथि यावत् रात्रौ नारीनरै विहारनृत्यगायनादिक्रीडा क्रियते तस्या कौमुदीमहोत्सवेति नाम, तत्समयम् अवलोकमानया। तत्समय विदृणोति नगराङ्गनाजनस्य चन्द्रामृतपात्रयन्त्रधारागृहावगाहगौरितजगत्त्रय चन्द्रस्य अमृत सुधा तत्पात्रमिव यानि यन्त्रधारागृहाणि तेषु अवगाहेन प्रवेशेन गौरितजगत्त्रय धवलितत्रिभुवनम्। पुन कथभूतया रामदत्तया। तमङ्गेति—प्रासादोपरितनभूम्यग्रे समासीनया उपविष्टया, निपुणिकेति—निपुणिकानाम्न्या उपमविश्या धात्र्या समेतया सहितया, अनाथेति—अनाथा अनाश्रया ते च ते लोकास्तेषा लोचनानि नयनान्येव चकोरपक्षिण तेषा कौमुदीकल्प ज्योत्स्नासदृश वृत्तम आचरण यस्या सा तया। करुणेति—करुणा दया

अपहार्य तटं यस्य समुद्रतटस्य समीपं मजगाम । अकाण्डेति—अकाण्डे अनवसरे प्रचण्डे घोरे चण्डं साम्यं यस्य तथाभूतात् अनिलात् वायोः परिवर्तितपोतस्य भ्रामितनौकस्य यन्त्रविध्वस्तया मास्यबीनतया दैवावलम्बनपरतया मापुपः दीपरवान् तस्यैतस्य प्रमादफलकावसम्बनोद्यतस्य प्रमादेन अनवधानतया फलकस्य आपवानम् उपुजनस्य कण्ठस्थेनप्राणजीवितस्य कण्ठगतप्राणस्यापि कथं कथमपि दाणवाया निशायाः तपपचरमयामगमे गयोरगाममानप्रहरसमये अचिरेपोपोतकचिरमभवत् समुद्रतटप्राप्तिरभवत् । [महता कष्टेन मत्समिव मामरल पीमूर्नि मपिसन्धकममायन] तदनन्तरम् मूर्छितशरीरत्वात् मूर्छेन नपितदेहत्वात् । अपारेति—अपाररूपाशौ अकूपारः समुद्रः तस्य क्षारवारि लवणजलं तस्य वशेन पतिकः मलीन मापप चिरं यस्य पून्यचित्तस्यस्यः । चिराय दीर्घकालानन्तरम् अपचितमूर्च्छोदय अपचितो नष्टः मूर्च्छोदयो यस्य स मत्समिव मामूर्ति मपिसञ्चलमयाचत । कदा मपिसप्तकममो अयाचत । विवस्वमपि सूर्ये कोकनमावरे मनोविषय जाते सति कर्णमूले विवरमपि । करप्रचारेति—करा रश्मयः तेषां प्रचारः तत्र चुम्बिता चक्रवाका एव विलासमयः यत्र सः तस्मिन् । पुनः कर्णमूले । प्रागचलेति—प्रागचलः पूर्वाचलः तस्य चूलिका शिखराणि तेषां चक्रवालं समूहः तस्य चूडामणिरिव तस्मिन् । पुनः कर्णमूले । कमलिनीति—कमलिनीनां कमलवनानां कुलं समूहः तस्य विकासेन आह्लिनम् उत्पादितं हंसकादिवानां हंसस्वीनां धर्म यत्र तस्मिन् । पुनः कर्णमूले विवरमपि । दृगविति—दरन्ति विकसन्ति च तानि नलिनानि कमलानि तेषाम् अन्तरालो मध्यप्रदेश स्थलम् रुचिरे मनोहरे भारतवर्षे विवरमपि नेत्रविषये जाते सति । कर्णमूलं मत्समिव भागमरणात् दुविचनप्रयात् प्रन्यविभापनात् अतीवागतमनस्तया अतीवदुःखितचित्तत्वात् । आतपच्छायवायः छाया क्षीणा छाया कान्तिः कायस्य यस्य सः क्षीणकान्तिशरीरः । पटच्चरेति—पटच्चरं जीर्णं तच्च तद्वस्त्रं वस्त्रं तस्य चीरो खण्डं तया निबिडा आच्छादिता अङ्कुसन्धिः देहांशो यस्य सः । कर्पटैः मलिनवस्त्रखण्डैः युत कटिमागवस्त्र । परेति—परेषां धन्यानि गृहाणि तेषाम् द्वाराणि तत्र याचनार्थं भ्रमणं तेन विरक्ता मुष्टा अभिमानावनिः सत्समुचितस्य अचलितः शरीरोविकाररहितः सन् क्रमेण सिंहपुरं नगरम् आगत्य । गौणा श्रेति—गीः वाणी सा एव पोमणि तत्र अवसेयः ज्ञेयः पूर्वपर्यायो यस्य पूर्वा दशा यस्य स मत्समिव । महति—महामोह महालोभ स एव रसः तेन अवसारिता नाशिता प्रीतिः स्नेहो यस्य तं श्रीभूतिम् अभिज्ञानानि चिह्नानि अविकानि वाक्यपु यस्य स मत्समिव मपिसप्तकमयाचत । परेति—परेषां प्रतारणाय अभ्यस्ता पुनः पुनराम्नाता प्रतिगीतिर्येन सः श्रीभूतिः—सुमसुपतेति एलोकाभिप्रायं पठामय सुमसुमनेति—सुष्ठु पूर्वापरालोचनं कृत्वा विहितेन दम्भेन कपटेन स्वर्गमूर्खस्त्रैलोक्यपि बध्यते प्रतायते । संभति दम्भ यदि परमा पुनः स्यात् अन्यत अन्यजनविषय का नाम आलोचना को नाम परामर्शः । अन्यजनस्तु दम्भेन बध्यते एव ॥१०४॥ इति परामृश्य विचार्य । महामहामावयता महाबद्धो महोत्साहः महात्मा च तेन आमार्तः स्पृष्टं येनो वर्तो यस्य स । तम् मायावरुमम्, नंशप्राप्तचारम्, अजोचान् अभवत् । अहो दुर्दैव विलस मुज्जानिताम् अभ्यमाय दैन्य दुरावलितिरूपम । किमिह राक रवं नेत्रविकिरणावेन दमितः पीडितः किमु मनामहमोहाकुलानुरोधेन मनस महामोह अनीकमनविपर्यासी तृष्णा तम् आवहति बलयति इति त चावो अनुरोधः आवह तेन मोहमोहवेन मनिसंबद्धिनः चित्तमाभाटं दुष्कृत नन्देन परवशीभूतः कि वा विनयव्यवहारेषु शिक्षा पूर्णबुद्धिरताएः नद बन्धनारेषु हृताषु पूर्णपक्षाषु हारितसमस्तवित्ततितः विकाषित सर्वमपि उत अथवा अहो परचित्तरञ्जनविद्याविकता परेषां मनःप्रसादने शिक्षाधीमत्तया नयार्जितस्य वयं वयापि येनस्वया वनितापुत्रादि वन्तारितुं बहार । अर्थात् तदा प्रभात अधतो वर्म सकलं रचिता भवतस्तो युग । आरातिरत् यमप्रः पारश्रम विमलिताप अस्पदेव भोभूत अनितस्य विन्ध्योर्जितवीनरपरः न याव विमति कनप् अर्द्धतार अनुपाय विधाप्यर्थं ति विचलति मन्ये मंत्रार्थे वेदवित् दुर्देना पृथिवा विजम्बरातुदि प्रतारितमतिः एवं नाम इति अर्थतत्त्वम् । येन एवं तस्य अतिचिन्तत् अविषय इति । बराम्पू यरमरम्, का भाग्य कल्पावती मंडप । त तस्यात्मा दर्शन एव तत्राम्बर तमाप् मूरय मनो बंधार भाया च भामा पुशयाशो भहिनाद्यम् आचारोनम् अवयम सवय च गारसवर भवागोद । अनवरत एव तु वरदेव । यदनन्ति—यते बातो तेषां अर्थ प्रसिद्धं कारयेत न अनुपर्य दीन

—

सत्प्रवृत्ति यस्य एतादृश माम् अतिवेलम् एव वेला मर्यादाम् अतिक्रम्यैव अकाण्डे अनवसरे चण्डकर्मन् प
नुयुञ्जान प्रश्नान् कुर्वन्, कथ न लज्जसे। पुनश्चैनम् अर्थप्रार्थनपथमनोरथविशालम् अर्थाना सप्तमणी
प्रार्थन याचना तस्य पथि मार्गे यो मनोरथस्तेन विशाल शब्दाल ग्रहिलवत् शब्दान् ब्रुवन्त भद्रमित्र पालि
मन्दिर राजगृहम् अनुचरै निजकिंकरै आनाय्य नीत्वा अनार्यमति अनार्या पापयुक्ता मतिर्यस्य स श्रीभूति
त भद्रमित्र पृथिवीनाथेनापि राज्ञापि निराकारयत् निरघाटयत्। उत्तेजितराजहृदय उत्तेजित क्रोधक्ष
नीत राज्ञो हृदय येन स श्रीभूति कै· उदितै वचनै। तान्येव वर्णयति—'देव, अय वणिक् निष्कार
अस्माक दुरपवादमृदङ्गवत् दुरपवादो निन्दा अयशश्च तयोर्घोषण कुर्वाणो मृदङ्ग इव मुखरमुख वाचालवद
नाथरहितनृपभवत् सुखेन आसितु आरोहण कर्तु न ददाति। अनस्तितस्नात्रक इव सुखेन अमितु न ददाति
इत्यादिभि उदितैर्भाषणै· अवाप्तप्रसरतया लब्धावकाशत्वात् उत्तेजितराजहृदय। तथैव स्ववत् राज्ञ
निरघाटयत्।

[पृष्ठ १७१-१७२] भद्रमित्र—चित्रमेतत्, ननु यन्मामपि परविप्रलम्भाय कुलक्रमायाताखि
कमलानिलयम् अनन्यसामान्यसाहसालयम् एष मोषधिषणानिधि अपर इव अपायजलनिधि नगरमध्ये
मोषितुमभिलषति। आश्चर्यमेतत्, ननु यत् यस्मात् मामपि परविप्रलम्भाय अन्यप्रतारणाय। कुलेति
वशपरम्परायातसकललक्ष्मीगृहम् अनन्यसदृशसाहसगृहम्। एष मोषधिषणानिधि एष सत्यघोषः मो
स्तेय तत्र या धिषणा बुद्धि तस्या निधिर्निधानम् अपर इव अपायजलनिधि अन्य इव अपायो विन
तस्य जलनिधि समुद्र। स एष श्रीभूति नगरमध्येऽपि मोषितु स्तेनितु चोरितुम् अभिलषति इच्छ
इति जातामर्षोत्कर्ष जात उत्पन्न अमर्षस्य क्रोधस्य उत्कर्ष तीव्रता यस्य स भद्रमित्रः त न्यासा
न्यासस्य निक्षिप्तस्य धनादे· अर्पणे तत्स्वामिने दाने अतिचिक्कणचित्तम् अतिकठिनमनस निश्चित
स्वाध्यायिपरिषदि स्वाध्यायिनाम् अध्ययनशीलाना मठवासिनाम् परिषदि सभाया महापरिषदि
महान्त राजपुरुषा मान्यनागरिका वा धर्माधिकारिण· तेषा परिषदि सभाया च तस्य अन्यायस्य विश्ववि
द्रोहस्य विन्यासेन स्थापनेन साध्यसिद्धि मणिसप्तकप्राप्तिम् अनवबुध्य अनवीनधी न परवशबुद्धि अशठ
सुकमति नि मशायबुद्धि महादेवीवामनेमनिवेश महादेव्या रामदत्ताया धाम प्रासाद तस्य नेमे स
निवेश स्थितिर्यस्य तम् अम्लिकानोकहशिखादेशम् अम्लिकानोकह तिन्त्रिणीतरुस्तस्य शिखादेशम् अ
प्रदेशम् आरुह्य आपद्गृह्यः आपद्भि सकटैर्गृह्य विवश सकटपीडित, कुररीविरहावसर क्रौञ्चीविय
समय प्राप्त कुरर इव तमस्विनीप्रथमपश्चिमयामसमये तमस्विन्या तस्या आद्यन्त्यप्रहरवेलाया "सुहृच्चराह्
श्रीभूति भूतपूर्व सुहृत् सुहृच्चर भूतपूर्वमित्रम् इति आहूति आख्या यस्येति श्रीभूति· एवविधकर
विन्यस्तम् एवविधसमुद्गकस्थापितम् इयत्ससस्थानसदनम्, इयदाकारसहितम्, एतद्वर्णम् अद·सख्याभ्यर्ण
मदीय मणिगणम् उपनिविनिवेश्य न्यासरूपेण रक्षणाय दत्तम्, न प्रतिददातीति। अत्र च अस्यैव धर्मर
धर्मपत्नी साक्षिणी च यदि यद्वदतयैतदन्यथा मनागपि भवति चेत् एतद्वचन असबद्धप्रलापतया सर्वेषा ऋ
परिवर्तस्य निर्गमनस्य अर्ध यावत् षण्मासान् यावदिति भाव। मिथ्या भवति ईषदपि तदा मे चित्र
विघातव्य" इति दीर्घघोषघूर्णितमूर्धमध्यम् ऊर्ध्वबाहु दीर्घस्तारो घोष स्वर तेन घूर्णित कम्पित
धामो मूर्धा तस्य मध्यो यथा स्यात्तथा। ऊर्ध्व कृतौ बाहू हस्तौ येन स ऊर्ध्वभुज, सर्वर्तुपरिव
पूत्कुर्वन् आक्रोश कुर्वन् एकदा रामदत्तया निर्वर्णितः अवलोकित इति सबन्धो द्रष्टव्य। कथभूतया रामद
कौमुदीमहोत्सवसमय चन्द्रज्योत्स्नायां शुक्लाष्टमीमारभ्य पौर्णिमातिथि यावत् रात्रौ नारीनरै विहार
गायनादिक्रीडा क्रियते तस्या कौमुदीमहोत्सवेति नाम, तत्समयम् अवलोकमानया। तत्समय विदूर्ण
नगराङ्गनाजनस्य चन्द्रामृतपाश्रयन्त्रधारागृहावगाहगौरितजगत्त्रय चन्द्रस्य अमृत सुधा तत्पात्रमिव यानि य
धारागृहाणि तेषु अवगाहेन प्रवेशेन गौरितजगत्त्रय धवलितत्रिभुवनम्। पुन कथभूतया रामदत्त
तमङ्गेति—प्रासादोपरितनभूम्यग्रे समासीनया उपविष्टया, निपुणिकेति—निपुणिकानाम्न्या उपमवि
धात्र्या समेतया सहितया, अनाथेति—अनाथा अनाश्रया ते च ते लोकास्तेषा लोचनानि नयना
चकोरपक्षिण तेषा कौमुदीकल्प ज्योत्स्नासदृश वृत्तम् आचरण यस्या सा तया। करुणेति—करुणा

तस्या रत्न तस्य प्रचारे प्रवृत्ती यया मार्गभूतया महादेव्या आकर्णितानुभोक्षाभिनिवेशात् मुक्ताकोशाय करुणाभिप्रायात् निर्लोभितस्य उपकारिता । तदनु तदनन्तरम् अस्मन्मम संचाभि भाति न कस्येव मनुष्य पिशाचपरिस्फुर अस्माकं मन अस्मन्मनः तत् सं सम्यक् दधाति धारयति संतोषयतीति संधात्री तत्संबोधनम् हे भाति हे तस्मात् एष नर यतु न पिशाचेन परिस्फुत आविष्ट नाप्युन्मत्तावरित मदिरादिपानेन विक्षिप्त-चित्तमनस्त्वात् निरर्थकाचरण न । यतस्तं दिवसम् आद्यं कृत्वा सकलमपि परिवत्सरवर्ष यस्मिन्निपेऽपि नर चिन्मिचर्णीपृष्ठमारुह्य भीमूतिमा मदीयरत्नसप्तकं मुद्रीतम् इति वचो वक्तुमारम्भं कृतवान् तम् आद्यं दिवसम् यथापि कृत्वा सकलमपि वर्षस्य वर्ष वण्मासान् यावद् एकवाक्यव्याहारपाठकुण्ठकठोरकण्ठनाड एकमेव वाक्यं मादर्श तस्य व्याहार उच्चारणं तस्य पाठेन अकुण्ठः अस्खलित कठोरः कण्ठस्य नीवाया नाड नलिका यस्य स । तद्विचारयेयं ततस्मात् विचारयेम विमर्शं कुर्याम्, अचिरकालं शीघ्रकालं यावत् । सारेति—सारा: पूतकैतवपाशा तेषु विशारदं चतुरं हृदयं मन एव अम्बुजं कमलं यस्य एतत्कोशाभ्यावेन मन्त्री सचिवस्य पुरोहितस्य अन्तःकरणं चित्तं विचारयेयं परीक्षेयम् । अम्बिके मातः त्वयापि चूतवेलावसरे चूतक्रीडासमये । यदहम् एनम् अनेकचतुराचारनिचितचित्तं नानाविधाकुसिताचारभृतमनसम् कर्वितकुर्कटिचेष्टितम्, अतिशयनाभाविभमायाचारम् । अकोटवृत्तं अकोटो वक तस्येव वृत्तम् आचरणं यस्य एनम् उदन्तवार्तां वार्तासमूहं पृच्छामि । यतश्च अस्य पटकोमिकांशुकादिकं वयामि कटकौ हस्तभूषणं ऊर्मिका अंगुलीयकम्, अंशुकादिकं वस्त्रादिकं वयामि चूतक्रीडनेन तत्तेन अभिज्ञानीकृतस्य चिह्नीकृतस्य यथोऽनुसमापा-समाचारकुट्टिनी धीरता मट्टिनी मूर्खा हरिण्या इव मुग्धं व्याघ्रया इव समाचार तत्र कुट्टिनी दुष्ट्या धीरता मट्टिनी अस्ति । विनिवीतवभासो अभिकामृताभितस्य वणिज श्रेष्ठस्य विषमविषमरीचितसारसंपदानि रत्नानि याचयितव्या विपमा कारास्तोष्ट्या शचि कान्तिर्यस्य स मणि तस्य मरीचयः सप्तव्यामा तत्संख्यासंपन्नानि सप्तसंख्यायुक्तानि रत्नानि याचयितव्या । इति निपुणिकाया कृतसंगीतिः कृतसंकेता । स्वस्त्येऽह्नि अधरिमावनन्तरदिने आगामिदिने सर्वेव मदीयहृदयाभयकुमुमे कुमुमे मयेदं मदीये तव तद्धृदयं मम तस्य आलस्यकुमुमे मोदामन्दकुमुमे हे बालक त्वयापि ममवरमा पूज्यया साधु सम्यक् विजृम्भितम् मत्कार्ये साहाय्य दातव्यमिति यतस्य चिन्तापुरस्सरम् चिन्तातत्समाश्रितस्य नरस्य सत्वरा अस्ति चेत् । इत्यव्यंच्य इति सत्कारं कृत्वा तत्कर्माणि चूतकर्माणि निवाप्य तथाचरितावरणा तयैव यथा भवति संबन्ध कृत्य तमनुसरय कृतकार्या यतस्य तत्तदभिज्ञानज्ञापनानुबन्धतन्मातरकथामध्योपनयप्रवीण राज्ञा समर्पयामास । तत्निवृत्तानवाचकसंबन्धचणीकृतायाः श्रीभूतिपुरोहितभार्याया सकाशात् मनीन् सप्तरत्नानि उपलभ्य तज्जन्या राज्ञ सिंहसेनस्य समर्पयामास दत्ती । [राज्ञा स्वयमपि राज्ञी तानि संमिश्र मध्ये निज भाण्डार एतेषु मानि तव रत्नानि तानि गृहाणेत्युक्तः स्वीयानेव मणीन् सोऽग्रहीत् तुष्टो राजा तं पप्रच्छ] राज्ञा सिंहसेनेन अद्भुतांघ्री अद्भुता आश्चर्योत्पादका अंघ्रा: क्रियया यस्य तस्मिन् सकोचरत्नराशी । नैजमणिपुञ्जे तानि सप्तरत्नानि संयीर्य मध्यीयत्वा । आनाय चेतम् आत्मतत्त्वलीलवाविलासवन्मनसं वैदेहकमभ्यागम् अचिरादेव समीपागतमीलनीविकासतन्मनसवर्णं वैश्यपुत्रम् अहो वणिक्तनय माध्यम रत्ननिचये मणिसमूहे तव रत्नानि सन्ति तानि त्वं चिन्वित्य गृहाण इत्यभाणीत् अचोचत् । मारीच—चिरदाय दोधनाथैन ननु चित्त दिष्ट्या मुनिनैव ममाहम् इति आत्मनिमित्तिस्य । विमृश्य 'यथावृत्तिरिति विभावयति गृहाति । इत्युपादिस्य इति उपलभ्य विमृश्य च तस्या माणिक्यपुञ्जो रत्नराशी निजान्येव ममान्निजलक्षितपरिचयानि ईदृक्षाक्रमवत्सम्य विचारकस्वकानि रत्नानि समग्रहीत् ।

[पृष्ठ १७२–१७४] तत स नरवरः सपरिवारः प्रणामम् अतिशयेन विस्मितमतिः वणिकाणे त्वमेवात्र मध्यचाः अथम् अनुमृत्य सत्यघोष स्वयम् च चरमनिस्पृहबीजः परमानिस्पृहा नितरां निर्लोभा तमोषा चनिषस्य यस्य तव चेतसि वर्तते च न नमामि ईदृशि अस्य तमाषो वचनात्मान्यादिवं वयतिः।" इति मनीनिधि प्रपदेः पारितोषिकप्रदानपुरस्सरमुनिमिः परितोषयकवचनप्रदानपुरस्सरता तत्तो पवित्रीविरहिततिनिवेशं ततस्मात्प्रदान शक्तिमानानि भाण्डागारेभि गणितान । तदनिलकल्पलावण्यतिरोवितदित्तनिवेश तवस्मातत्प्रदाय अखिलमानानि आदरणीयानि गणितानि । सर्वामितलङ्घनक्- सिनी(?) विजन्मदायपुष्पवरतोषम् ततश्चाप्रस्तुवर्णे वयकानुकरणमात्रं यदीनं चयद्धरं च

श्लाघयामास न पराना सके अर्थात् अनेकधा राजा त तुष्टुवे। [श्रीभूति. दण्डत्रयेण दण्डित' मृत्वा अयु अजायत] पुन अनूनानिरत्नानिम् अदूग समीपा अधिवतति अमुमविस्तारो यस्य त श्रीभूति पुरोहित निखिलेति—नरलजनवदनान्येव आलवालमूल तत्र कौलीनतालता निन्दा एव लता अयशोवल्ली तस्या अवलम्बवृक्ष न्युब्जाननम् अध कृतवदनम्, निसर्गेण प्रकृत्या हरिणीसमच्छायमपि सुवर्णप्रतिमागमकान्तिमपि महामाहनानुष्ठानात् नूमीगमानपाय सूम्या लोहप्रतिमया समान काय शरीर यस्य तम्। अनल्पेति—अनल्प विपुल वैलक्ष्य खेद. तेन स्फुटन् द्विधाभाव गतम् आत्मनित मनो यस्य तम्। अतीव भयेति—अतिशयभयात् आविर्भूत प्रकटीभूत उत्पचवेपथु कुमार्गाचरणात् य शरीरकम्प. तेन तिमित प्रस्विन्नम्, वह्वाक्षेप बहव आक्षेपा अपराधा' यस्य स श्रीभूतिम्। [सिंहसेन. प्रभु परुषाक्षरै वाक्यै तीव्र तर्जयति] आ-गोमपायिनाम् अपाङ्क्तेय वैधेय यज्ञे सोमलतारसपानं कुर्वता द्विजाना पङ्क्तेर्बहिर्भूत, वैधेय मूर्ख, युक्तायुक्त-शून्यत्वात्। विश्वासघातपातकप्रभवश्रोत्रिय, यो जनो विश्वस्त. तस्य घातो नाश तदेव पातक तस्य प्रभवस्थान, श्रीभूतिना बहूना विश्वासघात कृत अत स विश्वमित्रवञ्चको जात। श्रोत्रियकितव श्रोत्रियधूर्त। दुराचार-प्रवर्तितनूत्नरत्नापहार दुराचारेण प्रवर्तित निष्पादित नूत्नाना नवाना रत्नानाम् अपहार चौर्यं येन तत्सबोधनम्। कुशिकपाशन कुशिको नाम नृप स तु विश्वामित्रस्य पितामह तस्य कुल वश तत्पाशयति नाशयतीति पाशन तत्सबोधनम्। बकानुष्ठानसदन यथा बक एकेन पादेन उद्भीभूय नेत्रे नासाग्रे विधाय मत्स्य गिलति तथा साधुत्व प्रदर्श्य तत्सदृश प्रवर्तमानस्य कार्यमपि बकानुष्ठानमुच्यते तस्य सदनम् आवास-भूत तत्सबोधनम्। साधुजनमन शकुनिबन्धनाय अतनुतन्त्रीजालमिव तवेद यज्ञोपवीतम्। हे श्रीभूते तवेद यज्ञोपवीत साधुजनाना मन एव शकुनि शुकादिपक्षी तस्य बन्धनाय अतनूना विपुलाना तन्त्रीणा तन्तूना जालमिव पाश इव वर्तते। असदाचारावधिक असदाचारो दुराचार तस्य अवधिर्मर्यादाभूत तस्य सबोधनम् हे वेदवैवधिक वेदभारवाहक सद्धर्मधामश्यामलताविधानाय विश्वभुज समेधन, सद्धर्मोऽहिंसा-सत्यादिरूप स एव धाम गृह तस्य श्यामलताविधानाय श्यामलतोत्पादनाय विश्वभुज विश्व सकल वस्तु भुङ्क्ते इति विश्वभुक् अग्नि तस्य समेधन वृद्धिविधायिन्, अकृत्यचैत्यवात्यामात्य(?) अकृत्य विश्वसितवञ्च-नादिकम् अकार्यमेव चैत्य गृहम् तत्सबोधनम्। अकार्याधारभूत इति भाव। वात्यामात्य निकृष्टमन्त्रिन्, जरायमदूति-कोपपतिक जरा एव यमस्य दूतिका तस्या उपपत्तौ आदरे परायण तत्सबोधनम्, दुर्गतिक दु खदा गतिर्यस्य तत्सबोधनम्, किमात्मन अङ्गच्छविं न पश्यसीति सबन्ध न पश्यसि, चर्मितरुत्वचमिव चर्मितरुर्भूर्जवृक्ष तस्य त्वचमिव वल्कलमिव अतिप्रवृद्धविस्र अतिशयेन प्रवृद्धा विस्रा जरा यस्य, वात्योन्माथशिथिलिता प्रभात-प्रदीपिकामिव वाताना समूहो वात्या तस्या उन्माथ तीव्रत्वं तेन शिथिलावस्था नीता प्रभातप्रदीपिकामिव उष कालीनप्रदीपिका यथा तत्सदृशीमिव, अस्तासन्नजीवितरविम् अङ्गच्छविम् अस्तपर्वतसमीप गच्छन्त रविमिव अस्त मृत्यु आसन्न समीपो यस्य स चासौ जीवितरवि तम् अङ्गच्छविम् अङ्गकान्ति न पश्यसि, येन अद्यापि वयोधसि यौवने वयसि वर्तमान इव चेष्टसे। तदिदानीं तस्मादधुना यदि चेत् घनाभिघातघोर-तेजसि विश्ववेदसि निक्षिप्यसे घनानाम् अयोघनानाम् अभिघात. प्रहार तेन घोर तेज प्रज्वलन यस्य तस्मिन् विश्ववेदसि अग्नौ प्रक्षिप्यसे तदा चिरोपचितदुराचारग्रहस्य दीर्घकालसचितदुर्निवारमोहस्य स तव अचिर-दु खदायिपरिग्रहानुग्रह अनुग्रह इव शीघ्रकष्टदायकधनादिपरिग्रहस्य अनुग्रह अनुग्रह इव, पिशाचवत् पीडाकर इव। ततो द्विजापसद द्विजेषु विप्रेषु अपसीदति अपकृष्टत्व प्राप्नोति य तत्सबोधन हे द्विजापसद, हे द्विजनीच, कदाचित्त्वया इदम् अतिदुर्गन्धगोर्वरोद्गवितमध्याशय शालाजिरत्रयम् अशितव्यम्। इदम् अतिदुर्गन्धगोमयेन उद्गवित भृत मध्याशयो मध्यप्रदेशो यस्य तच्छालाजिरत्रय तत्सरावत्रितयम् अशितव्य भक्षितव्यम्। नो चेत् गोमयभक्षण न क्रियेत चेत् असरालवलोत्फुल्लगल्लाना मल्लाना त्रयस्त्रिंशदपहस्तप्रहतानि सहितव्यानि। असराल विपुल च तद्बलं च तेन उत्फुल्ला पीवरा गल्ला कपोला येषा तथाभूताना मल्लाना बाहुयोधिना त्रयस्त्रिंशदपहस्तप्रहतानि श्युत्तरत्रयस्त्रिंशा हस्तमुष्ट्याघाता सोढव्या ध्रुवम्। अन्यथा तव सर्वस्वापहार सर्वस्वस्य धनादेरपहरण क्रियेत। प्राणाशा प्रणाशावकाशविभूति श्रीभूति जीविताभिलाषाया प्रणाशस्य मृत्यो अवकाशदाने विभूतिरिति मन्यमान श्रीभूति आद्यनय दण्डद्वय क्रमेण अतितिक्षमाण असहमान। पर्याप्ति-

तस्या एव तस्य प्रकारे प्रवृत्तौ पदव्या मार्गभूतया महादेव्या आकर्णितानुभोगाभिनिवेशात् भूताकोलम् करणाभिप्रायात् निर्वर्तितश्च उपलक्षित । तदनु तदनन्तरम्, अस्मन्मन उपाधि याति न वर्त्मैव मनुष्य पिशाचपरिप्लुत अस्माकं मन अस्मन्मन। तद् सं सम्यक् ददाति धारयति संतोषयतीति संधात्री तत्संबोधनम्, हे धात्रि हे उपमातः एष नर खलु न पिशाचेन परिप्लुत आविष्ट नाप्युन्मत्ताचरित मदिरादिपानेन विविध चरितमानस्कत्वात् निर्मलाचरण न । मत्तस्त्वं दिवसम् यावत् कृत्वा सकलमपि परिवत्सरवर्त्म अस्मिन्नितरत्र नर त्रिविक्रमगीतश्रुतपाठक श्रीमुनिना मदीयरत्नसप्तकं गृहीतम् इति वचो यदनुसारम्य इत्थाम् तम् यावत् दिवसम् यावत् कृत्वा सकलमपि वयस्य वर्षे पठ्यमानम् यावत् एकवाक्यव्याहारपाठाकुण्ठकठोरकण्ठात् एकमेव वाक्यं यावत् तस्य व्याहार उच्चारणं तस्य पाठेन अकुण्ठ अस्खलित कठोरः कण्ठस्य ग्रीवाया नाल नलिका यस्य स । तद्विचारयेयं तत्तस्मात् विचारयेयं विमर्शं कुर्याम्, अचिरकालं दीर्घकालं यावत् । इत्युक्ते—धात्रा पुत्रीदापाया तेषु विचारं चतुरं हृदयं मन एव अम्बुजं कमलं यस्य एतत्संबोधनार्थेन मन्ये सचिवस्य पुरोहितस्य मन्त्रकरणं चित्तं विचारयेयं परीक्षेयम् । धात्रिके मातः त्वयापि पुत्रीदेवावसरे पुत्रीदोहसमये । यदहम् एवम् अनेककुचरपरतरमिश्रितचित्तं नानाविधकुत्सिताचारभूतमनसम् अविज्ञ- कुकूटिवेष्टितम् अविषयनानाविधमायाचारम् । अकोटवृत्तं अकोटो वक तस्येव वृत्तम् आचरणं यस्य एवम् उपलक्ष्यते धूर्तसमूहं पृच्छामि । यद्यन्य अस्य कन्कोलमिकामुकादिकं वदामि कटको हस्तमूषणे ऊर्मिका अंगुलीयकम्, अंगुलादिकं वस्त्रादिकं वदामि पुत्रकीडमेन तत्रैव धर्मिकाभीरुस्य विद्रीकृत्य मनोमुखाव्यापी- समाचारकुट्टिनी भीरुता भट्टिनी मुग्धा हरिणा इव मुग्धं व्याख्या इव समाचार तेन कुट्टिनी मुग्धा भीरुता भट्टिनी अस्ति । तित्तिवीतस्वभावो धर्मिकापुत्राधिपतस्य वपिव वैश्यस्य विषमकविमरीचिविसंवादरूपाणि रत्नानि याचयितव्या विषमा कराशोभा सर्व कान्तिर्यस्य स अग्नि तस्य मरीचय सप्तरत्नानि तत्संवादरूपाणि सप्तसंख्यायुतानि रत्नानि याचयितव्या । इति निपुणिकानाम कृतसंकेतिता कृतवैत्या । स्वस्त्येऽहनि अपरिनाशनम्वरदिने आगामिदिन सदैव मदीयहृदयानन्दकुसुम कुसुमे ममैव मदीयं तव तद्धृदयं मन तस्य आनन्दकुसुमे मोदामन कुसुमकुसुमे हे पाठक त्वयापि भगवत्या पुण्यया साधु सम्यक् विजृम्भितव्यम्, मत्कार्ये साहाय्य दातव्यमिति यदस्य विकल्पापुरुषस्य विम्बाधमाचितस्य नरस्य उपकता अस्ति चेत् । इदमप्येव्य इति बरकारं कृत्वा तत्कर्मणि पूतकमपि नियोज्य तदैवाचरिताचरणा तथैव यथा भवति तदन्य इत तमनुसृत्य कृतकार्या यतः वसतिप्रदानमापनानुकम्पतव्यातरकषाध्ययोनुनयमीय राज्ञः समर्पयामास । तत्तद्भिन्नमयबोधकर्तव्यधीश्वरात्मा श्रीमुनिपुरोहितमाचपि सकाशात् मदीनु सप्तरत्नानि समर्पणीय सम्यक् राज्ञः सिंहसेनस्य समर्पयामास स्वरी । [राजा स्वमनिराशी तानि संमिश्य भद्रमित्र आनायित एतेषु मानि तव रत्नानि तानि गृहाणेत्युक्तः स्वीयानव मदीनु सोऽगृह्णात् तुष्टो राजा तं सत्कारे] राजा सिंहसेनेन अद्भुतांशो अद्भुता आश्चर्योत्पादका अंशाः किरणा यस्य तस्मिन् स्वकीयरत्नराशौ । नैजमणिपुञ्जे तानि सप्तरत्नानि संदीर्य मेलयित्वा । याचाम नीनम् आत्मसत्वमीमताविकाशनम्वतं वैदेहसार्थकम् सचिवादेव सर्वीयाम्बभीतस्कीविकाशनमवनं वैश्यपुत्रम् अहो वणिक्तनय यावत् रत्ननिवह अपितगृहे तव रत्नानि सन्ति तानि त्वं विविच्य गृहाण इत्यभाषीत् अवोचत् । भद्रमित्र—चिरकालाय दीर्घकालेन ननु किन्तु विषय गुरुणेन अवश्यम् इति मनस्यभिनिविश्य । विमृश्य 'यथानिपाति निपतति मुमति । इत्युपादिश्य इति वस्त्रा विमृश्य च तस्यां माणिक्यपुञ्जी रत्नराशौ निजान्येव मनाग्निर्गिलितकीर्तिमानि ईयत्ताकमवलम्ब्य विज्ञातस्वरूपाणि रत्नानि समग्रहीत् ।

[पृष्ठ १७२–१७४] तत स नरवर सपरिवारः प्रकामम् अतिप्रीतेन विस्मितमना अविरते रमीदाय अन्यथा। अवम् अनुमतय सरभोप स्वमेव च नरमनिपुणमतीवः परमा विस्मिता निवारा विलोभा मर्मैवा मनियम यस्य तव चेतसि वर्तते च न मनागपि ईदृशं अन्यथाभावो वचनान्तरस्यादिति अभवत ।" इति प्रतीतिभिः प्रत्ययैः पारितोषिकप्रदानपुरःसरप्रतिमाभिः परितोषकनकवस्त्रदानपुरःसरैः तथा अविरोधविवेकशिवित्य तत्समानताराशि वणिजमाज्ञाय आदरनीयैः अर्पितम् । तर्जितमत्सराराध- सिंहनी(?) विजयमानापुत्रमकरतोषम् तत्र हसुतानटस्त्र पणपानमुखयुगलार्थं भवनं चतुर्द्वारं च

श्लाघमामास न प्रशंसा चक्रे अर्थात् अनेकधा राजा त तुष्टुवे। [श्रीभूति दण्डत्रयेण दण्डित मृत्वा सर्पयु अजायत] पुन अन्तराशिवतातिम् अदूरा समीपा अशिवताति अशुभविस्तारो यस्य त श्रीभूति पुरोहित निखिलेति—सकलजनवदनान्येव आलवालभूत तत्र कौलीनतालता निन्दा एव लता अयशोवल्ली तस्या अवलम्बवृक्ष न्युब्जाननम् अध कृतवदनम्, निसर्गेण प्रकृत्या हरिणोममच्छायमपि सुवर्णप्रतिमागमकान्तिमपि महासाहसानुष्ठानात् सूर्मीसमानकाय सूर्म्या लोहप्रतिमया समान काय शरीर यस्य तम्। अनल्पेति—अनल्प विपुल यल्लक्ष्म खेद तेन स्फुटत् द्विधा जायमानम् आस्वनित मनो यस्य तम्। अतीव भयेति—अतिशयभयात् आविर्भूत प्रकटीभूत वलयवेपथु कुमार्गाचरणात् य शरीरकम्प तेन तिमित प्रस्विन्नम्, बह्वाक्षेप बहव आक्षेपा अपराधा यस्य त श्रीभूतिम्। [सिंहसेन प्रभु परुषाक्षरै वाक्यै तीव्र तर्जयति] आ-सोमपायिनाम् अपाङ्क्तेय वैधेय यज्ञे सोमलतारसपान कुर्वता द्विजाना पङ्क्तेर्बहिर्भूत, वैधेय मूर्ख, युक्तायुक्त-शून्यत्वात्। विश्वासघातपातकप्रभवश्रोत्रिय, यो जनो विश्वस्त तस्य घातो नाश तदेव पातक तस्य प्रभवस्थान, श्रीभूतिना बहूना विश्वासघात कृत अत स विश्वसितवञ्चको जात। श्रोत्रियकितव श्रोत्रियधूर्त। दुराचार-प्रवर्तितनूलरत्नापहार दुराचारेण प्रवर्तित निष्पादित नूलाना नवाना रत्नानाम् अपहार चौर्य येन तत्सबोधनम्। कुशिकपाशन कुशिको नाम नृप स तु विश्वामित्रस्य पितामह तस्य कुल वश तत्पाशयति नाशयतीति पाशन तत्सबोधनम्। बकानुष्ठानसदन यथा बक एकेन पादेन उन्नीभूय नेत्रे नासाग्रे विधाय मत्स्य गिलति तथा साधुत्व प्रदर्श्य तत्सदृश प्रवर्तमानस्य कार्यमपि बकानुष्ठानमुच्यते तस्य सदनम् आवास-भूत तत्सबोधनम्। साधुजनमन शकुनिबन्धनाय अतनुतन्त्रीजालमिव तवेद यज्ञोपवीतम्। हे श्रीभूते तवेद यज्ञोपवीत साधुजनाना मन एव शकुनि शुकादिपक्षी तस्य बन्धनाय अतनूना विपुलाना तन्त्रीणा तन्तूना जालमिव पाश इव वर्तते। असदाचारावधिक असदाचारो दुराचार तस्य अवधिर्मर्यादाभूत तस्य सबोधनम् हे वेदवैवधिक वेदभारवाहक सद्धर्मधामश्यामलताविधानाय विश्वभुज समेधन, सद्धर्मोऽहिंसा-सत्यादिरूप स एव धाम गृह तस्य श्यामलताविधानाय श्यामलतोत्पादनाय विश्वभुज विश्व सकल वस्तु भुज्यते इति विश्वभुक् अग्नि तस्य समेधन वृद्धिविधायिन्, अकृत्यचैत्ययात्यामात्य(?) अकृत्य विश्वसितवञ्च-नादिकम् अकार्यमेव चैत्य गृहम् तत्सबोधनम्। अकार्याधारभूत इति भाव। यात्यामात्य निकृष्टमन्त्रिन्, जरायमदूति-कोपपतिक जरा एव यमस्य दूतिका तस्या उपपत्तौ आदरे परायण तत्सबोधनम्, दुर्गतिक दु खदा गतिर्यस्य तत्सबोधनम्, किमात्मन अङ्गच्छविं न पश्यसीति सबन्ध न पश्यसि, चर्मितरुत्वचमिव चर्मितरुर्भूर्जवृक्ष तस्य त्वचमिव वल्कलमिव अतिप्रवृद्धविश्र अतिशयेन प्रवृद्धा विश्रा जरा यस्य, वात्योन्माथशिथिलिता प्रभात-प्रदीपिकामिव वाताना समूहो वात्या तस्या उन्माथ तीव्रत्व तेन शिथिलावस्था नीता प्रभातप्रदीपिकामिव उष कालीनप्रदीपिका यथा तत्सदृशीमिव, अस्तासन्नजीवितरविम् अङ्गच्छविम् अस्तपर्वतसमीप गच्छन्त रविमिव अस्त मृत्यु आसन्न समीपो यस्य स चासौ जीवितरवि तम् अङ्गच्छविम् अङ्गकान्ति न पश्यसि, येन अद्यापि वयोवसि यौवने वयसि वर्तमान इव चेष्टसे। तदिदानीं तस्मादधुना यदि चेत् घनाभिघातघोर-तेजसि विश्ववेदसि निक्षिप्यसे घनानाम् अयोघनानाम् अभिघात प्रहार तेन घोर तेज प्रज्वलन यस्य तस्मिन् विश्ववेदसि अग्नौ प्रक्षिप्यसे तदा चिरोपचितदुराचारग्रहस्य दीर्घकालसचितदुर्निवारमोहस्य स तव अचिर-दु खदायिपरिग्रहानुग्रह अनुग्रह इव शीघ्रकष्टदायकधनादिपरिग्रहस्य अनुग्रह अनुग्रह इव, पिशाचवत् पीडाकर इव। ततो द्विजापसद द्विजेषु विप्रेषु अपसीदति अपकृष्टत्व प्राप्नोति य तत्सबोधन हे द्विजापसद, हे द्विजनीच, कदाचित्त्वया इदम् अतिदुर्गन्धगोर्वरोद्गवितमध्याशय शालाजिरत्रयम् अशितव्यम्। इदम् अतिदुर्गन्धगोमयेन उद्गवित भृत मध्याशयो मध्यप्रदेशो यस्य तच्छालाजिरत्रय तत्सरावत्रितयम् अशितव्य भक्षितव्यम्। नो चेत् गोमयभक्षण न क्रियेत चेत् असरालवलोत्फुल्लगल्लाना मल्लाना त्रयस्त्रिंशदपहस्तप्रहतानि सहितव्यानि। असराल विपुल च तद्बल च तेन उत्फुल्ला पीवरा गल्ला कपोला येषा तथाभूताना मल्लाना बाहुयोधिना त्रयस्त्रिंशदपहस्तप्रहतानि त्र्युत्तरत्रयस्त्रिंशा हस्तमुष्ट्याघाता सोढव्या ध्रुवम्। अन्यथा तव सर्वस्वापहार सर्वस्वस्य धनादेरपहरण क्रियेत। प्राणाशा प्रणाशावकाशविभूति श्रीभूति जीविताभिलाषाया प्रणाशस्य मृत्यो अवकाशदाने विभूतिरिति मन्यमान श्रीभूति आद्यनय दण्डद्वय क्रमेण अतितिक्षमाण असहमान। पर्याप्त-

समस्तानिभिः पर्याप्तं गृहीतं सकलप्रविभं भर्म यस्य सः । क्रिमिकिर्मीरपरिस्फुरत्परिकल्पितमाल्यकपालमालाकलितमूर्तिः कृमयः कीटाः तैः किर्मीरः कर्बुरितवर्णः सः चासौ परिस्फुरत्कर्मः तेन परिकल्पिता या माल्यमाला तया च कपालमाला तया कलितः परिवृतः कालिका कृष्णरात्रिः तेषां सृष्टिः रचना यत्र उच्छिष्टसरावमल्लकपरिस्फुरत् मुसला क्षिप्ता उच्छिष्टशरावे च ते सरावाश्च तेषां स्रजा मालया परिस्फुरत्ः अलंकृतः । पुरात् नगरात् प्रवालवासेयकम् प्रवालं तत्पं वासेयकं नरमग् आरोह्य घटाधिरोप्य सनिकारं सधिक्कारं निराकुलितः निःसारितः । पापविपाकोपपन्नाप्रतिष्ठाकृष्टः पापस्य विपाकेन उदयेन उपपन्ना प्राप्ता या अप्रतिष्ठा अकीर्तिस्तया कृष्टः कर्षितः कुत्सितपरिणामकनिष्ठः अशुभाध्यवसायैः कनिष्ठः हीनतमतां गतः शुभावहायाः पुण्यसंकल्पायाः सदैव अरत्यं तस्य विमाताय मतः देवो यस्य तथाभूते हिरण्यरेतसि अग्नौ अतिरौद्रसमर्थं मतिवधवर्णं यज्ञीयं रौद्रध्यानं तस्य सर्गः उत्पत्तिर्यस्मात् तथाभूतात् तनुवर्णात् देहत्यागात् । आत्महत्याया सर्वसंबन्धिनि अम्बराय कुले प्रादुर्भूय उत्पद्य चिराय दीर्घकालम् अपराध च प्राणिषु बहून् जीवान् हिंसित्वा मर्दयित्वा च आतर्जाविवादपि याता जीवितस्यावधिमर्यादा तस्य समाप्तौ जीवितमर्यादान्ते अपः प्रयाणमिति अपः नरकेषु प्रयाणः मुख्यः निधिः बभूव । भवति चात्र श्लोकः—श्रीभूतिरिति—श्रीभूतिः पुरोहितः स्तेयदोषेण चौर्यापराधेन परम् विहितभूतराजात् परामर्शं विचारं प्राप्य तस्मात् राज्ञिशरवप्रवेशेन अग्नौ प्रवर्तं कृत्वा वैरेः सन् अहिः भवन् अन्यो गतः नरके पतितः ॥१७५॥

इत्युपासकाध्ययने स्तेयफलसूचनो नाम सप्तविंशतितमः कल्पः ॥२७॥

२८. सुसमायाः मगरसंगमो नामाष्टाविंशः कल्पः

[पृष्ठ १७५-१७७] कि वचनं वाच्यं कि च वाच्यम् । अत्युक्तादि—अत्युक्तिम् अतिशयेन उक्तिं अत्युक्तिं यथा यद् वस्तुस्वरूपं विद्यते ततोऽत्यधिकवचनं वचनम् अत्युक्तिः । अन्यदापादितं अन्यस्य दोषाणाम् वचनं अन्यदापादितम् । ता च अर्थानर्थाः भवन्तीति हिंसो क्रियमाणा अनर्थवचनानि प्राप्नोति परस्य हिंसविधानात् । असभ्योक्तिं च असभ्या निन्दा निन्द्यसदाहिर्भूता मर्यादनवाक्यमपि नाविधकर्मादि च वर्जयेत् त्यजेत् । कादृशं वचनं वाच्यमित्यनुयुक्ते आह—मितम् अभिमतं हितं मितं वचनं भाषेत । यत्र अभिमतं कुमीलनमीविनाम् हितं प्राणिनां हितकारकम् मितम् अल्पं वचनं भाषेत । पूर्वमिव भाषणे सावधानतया भवेत् ॥१७६॥ सत्यं सत्यमपीति—अन्तरविरतय अन्यस्य प्राणिनः विनाशे जीवितनाशाय वा स्यात्तरणमपि वचनं नो वाच्यं न ब्रूयात् येन वा वचनेन स्वस्य आत्मनः दुरन्ततः दुष्परिणामः मन्दोऽपि यदि भावं नो वाच्यम् ॥१७७॥ प्रियशीलः इति—प्रियवद्भिः प्रियं वदन्तीति प्रियंवदः एव प्राणिनां लोके आपन्न न दुःखम् तारतम्यापन्नं वाग् तत्र प्रियंवद इत्यत्र । तं अतः प्रियशीलः प्रियं वदेत् तानि स्वभावो यस्य तथा प्रियवादः प्रियः [illegible] आचारः [illegible] । प्रियवाः प्रियं [illegible] [illegible] कोऽपि प्रियवादी प्रियत्वं करणात् । [illegible]

[illegible]

[illegible]

१ [illegible] [[illegible] १५ ११] ।

मादिवचन केवलिष्ववर्णवाद । मासभक्षणाद्यभिधान श्रुतावर्णवादः । शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावना सघावर्णवाद. । सुरामामोपसेवाद्याघोषण देवावर्णवाद । अनशनादितपश्चरण केवलम् आत्मक्लेशहेतु न तत सुखलाभ कश्चित् इति तपसोऽवर्णवाद ॥३७९॥ **मोक्षमार्गेति**—य मोक्षमार्गं रत्नत्रयरूप स्वय जानन् विदन् अर्थिने प्रार्थनाया कृतायाम् 'उपदिश मम मोक्षमार्गमिति' अह त ज्ञातुमिच्छामीति प्रार्थना कुर्वते मदापह्नवमात्सर्यैं तस्य त न भापते न ब्रूते स आवरणद्वयी ज्ञानदर्शनावरणद्वयास्रववान् जायते । न मत्समानो ज्ञानी कश्चित् इति स्वस्योत्कर्षतावहन मद । कुतश्चित्कारणान्नास्ति, न वेद्मि इत्यादि ज्ञानस्य दर्शनस्य च व्यपलपन निह्नव । कुतश्चित्कारणाद्भावितमपि मोक्षमार्गज्ञान दानार्हमपि यतो न दीयते तन्मात्सर्यम् । इति मदापह्नवमात्सर्याणा लक्षणानि ॥३८०॥ सत्याणुव्रतस्य दोपा —**मन्त्रभेद इति**—मन्त्रभेद , परीवाद , पैशुन्यम्, कूटलेखनम्, मुधा साक्षिपदोक्तिश्च एते सत्यस्य विघातका सन्ति । मन्त्रभेद —अर्थप्रकरणाङ्गविकारभ्रूनिक्षेपणादिभि पराकूतमुपलभ्य तदाविष्करणम् असूयादिभि । परीवाद मिथ्योपदेश अभ्युदयनि श्रेयसार्थेपु क्रियाविशेषेपु अन्यस्यान्यथा प्रवर्तनम् । पैशुन्य परस्परभेदशीलत्वम्, अप्रकाशेन अनुचित कथयित्वा अन्योन्यस्नेहदूपकत्वम् । कूटलेखनम्—अन्येन अनुक्तम् अननुष्ठित च यत्किंचिदेव तेनोक्तमनुष्ठित चेति वञ्चनानिमित्त लेखन कूटलेखनम् । मुधा साक्षिपदोक्ति अह तत्र साक्षी आसम् । इति व्यवहारनिर्णये मुधा असत्य भाषणम् एते सत्याणुव्रतस्य विघातका नाशका सन्ति ॥३८१॥ **परस्त्रीति**—परस्त्रीसश्रया कथा बुधो न कथयेत् अमुकस्य स्त्रीसौन्दर्यादिगुणैरुपेता चतुरा च वर्तते इत्यादिकथनम् । राजविद्विष्टसश्रया कथाम् अस्माक राज्ञ प्रतिपक्षी हीनबलोऽविकबलो वेति राजविरुद्ध कथनम् । लोकविद्विष्टसश्रया कथा लोकेपु विद्विष्टाना शत्रूणा सबन्धिनी कथा लोकविरुद्धा न कथयेत् । अनायकसमारम्भा कथानायक विना यस्य कस्यापि कथन यद्वा तद्वासबद्ध कपोलकल्पित प्रलपन न कुर्याद् बुध । अभिजात, हित मित वदेदित्यर्थ ॥३८२॥ **असत्यमिति**—अस्यैदपर्यम् । असत्यमपि किंचित्सत्यमेव यथान्धासि रन्धयति, वयति वासासि इति । अन्धोयोग्यतण्डुलादिपु अन्ध शब्दप्रयोगादसत्यत्वम् । लोके तथा व्यवहारात् सत्यग असत्यमेतत् । सत्यमपि असत्य किंचित् यथा अर्धमासतमे दिवसे तवेद देयमित्यास्थाय मासतमे सवत्सरतमे वा दिवसे ददातीति अत्र दानाव्यभिचारात्सत्यत्वम् । प्रतिपन्नकालव्यभिचाराच्चासत्यत्वम् । सत्यमत्य किंचिद्यद्वस्तु यद्देशकालाकारप्रमाण प्रतिपन्न तत्र तथैव अविसवाद । यद्वस्तु यद्देश यस्मिन् देशे तिष्ठति तथा तद्देशस्थस्य वर्णनम् । तद्वस्तुपरिमाणम्, तद्वर्ण तदाकारश्च सर्वं यथार्थं वर्ण्यते तत् वच सत्यसत्यम् । तथैव तदविसवादिस्वरूपकथनम् । असत्यासत्य किंचित्स्वस्यासत्मगिरते कल्ये दास्यामीति । यद्वस्तु स्वस्य सबन्धि न भवति तत् तुभ्य कल्ये प्रात वितरिष्यामि इत्यादि प्रतिज्ञया कथनम् असत्यासत्य नालपेत् ॥३८३॥ **तुरीयमिति**—लोकयात्रात्रये स्थित लोकव्यवहाराविसवादित्वात् सत्यसत्यादिवाक्त्रये स्थित पुरुष व्रती तुरीय चतुर्थम् असत्यासत्य भाषण नित्य वर्जयेत् न ब्रूयादित्यर्थ । या गुर्वादिप्रसादिनी या यद्वच गुर्वादे मातापित्रुपाध्यायादे प्रसन्नता जनयति सा गीः तद्वच मिथ्यापि असत्यापि न मिथ्येति मन्यताम् । यतस्तत्र स्वस्य गुर्वादेश्चाहितामावात् ॥३८४॥ **न स्तुयादिति**—आत्मना स्वेन आत्मान स्व न स्तुयात् न प्रशसेत् । न परम् अन्य जन परिवादयेत् न निन्देत् सत विद्यमानान् अन्यगुणान् अन्येपा गुणान् न हिंस्यात् न नाशयेत् गुणेपु दोषारोपण हिंसा ता न कुर्यात् । असत अविद्यमानान् स्वस्य गुणान् न वर्णयेत् ॥३८५॥ **तथेति**—स्वस्याविद्यमानान् गुणास्तुवन् अन्यगुणान् विनाशयश्च पुमान्नर नीचैर्गोत्रोचित नीचगोत्रे जननयोग्यो भवेत् । गर्हितेपु कुलेपु जन्म लभेतेत्यर्थ । पर विपरीतकृते अन्येपा गुणाना वर्णनात् स्वस्य सतोऽपि उत्कृष्टान् गुणान् वर्णयन् कृती विद्वान् उच्चैर्गोत्र लोकपूजित कुलम् अवाप्नोति लभते ॥३८६॥ **यत्परस्येति**—परस्य अन्यस्य यत् प्रिय प्रीत्युत्पादक कार्यमुपकारादिक कुर्यात् तत् आत्मन स्वस्य हि यस्मात् प्रिय भवेत् अत अय लोक जन. पराप्रियपरायण किमिति । परस्य अप्रियकरणे अनुपकृतिकरणे किमिति प्रवृत्तो भवति । तेन तथा करणे प्रवृत्तेन न भवितव्यम् ॥३८७॥ **यथा यथेति**—यथायथा एतच्चेत मन परेपु अन्यजीवेपु तम वितनुते पाप विस्तारयति । तथा तथा आत्मनाडीपु आत्मन निजस्य नाडीपु तच्चेत तमोधारा पापोदकधारा निपिञ्चति । अशुभपरिणामै आत्मनालीसु आत्मन प्रदेशनलिकासु तमोधारा पापधारा प्रविशन्ति ॥३८८॥

समस्तान्विय पर्यन्तिं गृहीतं सकलमखिलं धनं यस्य स । किमिकिर्मीरपरिपक्वपरिकलितमाल्पिहस्तकर्पर-कपालमालाकाशिकसृष्टिः कृमयः कीटाः तैः किर्मीराः कर्बुरितवर्णाः स चासौ परिपक्वकर्पर तेन परिकलिता या माल्हिः मङ्गलेपनं यस्य तथा च ककपालानां मृद्घटानां या कपालमाला खर्परपंक्तिः शासिका कृतारस्य तया सृष्टिः रचना यत्र उच्छिष्टसरावसन्निपरिप्लुतः भुक्त्वा त्यक्ता उच्छिष्टास्ते च ते सरावाश्च तेषां संघा मालया परिप्लुतः अलंकृतः । पुरात् नगरात् सभासदोत्पेयकम् सभायां तस्य मालेयकं गर्दभम् आरोह यत्पारसित्वा सधिक्कारं सधिक्कारं निष्कासितः निःसारितः । पापविपाकोपपन्नाप्रतिष्ठाकुष्टः पापस्य विपाकेन उदयेन उपपन्ना प्राप्ता या अप्रतिष्ठा अकीर्तिस्तया कुष्टः मलिनः दुष्परिणामकनिष्ठः अशुभाध्यवसायैः कनिष्ठः हीनतमतां गतः शुभाशयाः पुण्यसंकल्पाः तदेव अरण्यं तस्य विनाशाय मदः दैवो यस्य तथाभूते हिरण्यरेतसि अग्नौ अतिरौद्रभयादि अतिशयभयं यथा रौद्रध्यानं तस्य सर्गं उत्पत्तिर्यस्मात् तथाभूतात् अनुबन्धात् देहत्यागात् । आहेयेऽन्ववाये सर्पसंबन्धिनि अन्वयाय कुले प्रादुर्भूय उत्पद्य चिराय दीर्घकालम् अपराधं च प्राणिषु बहून् लोकान् हिंसित्वा भक्षयित्वा च यावज्जीवितावधि जाता जीवितस्यावधिर्मर्यादा यस्य समाप्त-जीवितमर्यादः अधः प्रयाणमिषितः अधः नरकेषु प्रयाणं मुख्यः निधिः अभूत । भवति चात्र श्लोकः—धीभूतिरिति—धीभूतिः पुरोहितः स्तेयदोषेण चौर्यापराधेन परम् सिंहसेनराजात् पराभवं धिक्कारं प्राप्य कष्टा-दोहितलक्ष्य प्रवेशं अग्नौ प्रपञ्चं कृत्वा वैरं सन् अहिः भवन् भ्रमो गतः नरके गतवान् ॥१७५॥

इत्युपासकाध्ययने स्तेयफलसूचको नाम सप्तविंशतितमः कल्पः ॥२७॥

२८. सुखसाया सगरसगमो नामाष्टाविंशः कल्पः

[पृष्ठ १७४ १७७] किं वचनं वाच्यं किं च अवाच्यम् । असूयुक्तीति—असूयुक्तिम् अतिशयेन उक्ति असूयुक्तिः यथा यत् वस्तुस्वरूपं विद्यते ततोऽभ्याधिक्येन कथनम् असूयुक्तिः । अन्यदोषोक्तिः अन्यस्य दोषाणाम् उत्कीर्तनम् अन्यदोषोक्तिः । सा च अन्यनिन्दा भवतीति हेतोः क्रियमाणा असत्यवचनतो भ्राम्यति परस्य हितविच्छेदात् । असभ्यादिव च असभ्या निन्द्या विद्वज्जनबहिर्भूता नरास्तेषामुचित मालिकवचनादिकं च वर्जयेत् त्यजेत् । कीदृशं वचनं वाच्यमित्यनुयुक्त वदति—नित्यम् अभिजातं हितं मितं वचनं भाषेत । सदा अभिजातं कुलीनजनोचितम्, हितं प्राणिनां हितकारकम्, मितम् अल्पं वचनं भाषेत । एवंविधे भाषणे सत्यव्रतपालनं भवेत् ॥१७६॥ सत् सत्यमपीति—परस्य विपत्तये अन्यस्य प्राणिनः विपत्तये पीडायै जीवितनाशाय वा स्यात् तत्सत्यमपि वचनं नो वाच्यं न ब्रूयात् येन वा वचनेन स्वस्य आत्मनः दुराशाः दुष्टत्वं भवेत् संक्लेशाः वर्धन्ते सत्यं ना वाच्यम् ॥१७७॥ प्रियशील इति—प्रियंवदः प्रियं वदतीति प्रियंवदः येन प्राणिनां तोषो भवति न दुःखम् तादृग्भाषणं वदन् जनः प्रियंवद उच्यते । स जनः प्रियशीलः प्रियं मनोज्ञं शीलं स्वभावो यस्य तथा प्रियाचारः प्रियः सकलजनप्रीत्युत्पादकः आचारः प्रवृत्तिर्यस्य । प्रियकारी प्रियं सकलजनहितकरं कार्यं करोतीति प्रियकारी प्रियस्य करणात् । स जनः ऋजुमतयो गुणाः निर्मला धीः बुद्धिः न कुटिला योऽमुद्रितस्य स ऋजुर्धर्मीः भावमन्यात् ऋजुरमणी यस्य स ऋजुमनाः वरः शान्तबुद्धिः । नित्यं परहिते रतः भवति सत्यवादिनि नरे एवंविधा गुणाः सन्ति ॥१७८॥ असत्यवचनेन दानं शास्त्रवि । नित्यं परहिते रत भवति सत्यवादिनि नरे एवंविधा गुणा सन्ति ॥१७८॥ असत्यवचनेन दान
मोहान्धो भवति—केवलिश्रुतेति—निरावरणज्ञाना केवलिनः तदुक्तं शास्त्रं निरस्तगुणविशेषसमस्तवचनं सम्यक्त्वं पूतम् । रत्नत्रयालंकृतात्मा सङ्घः तदनु अप्रमत्तानाम् आगमभूतरागोऽयजनम् अवज्ञया न मन्यते । रत्नत्रयात्मकः अविनयवान् धर्म व्यवहारनय प्रतिपादितः । देवमात्मन्तु च देवतु अग्नि दाय न अवर्णवादकत् वस्तुतदर्शनमानात् भवेन वर्शनमोहस्यास्रवणो भवत् । देववर्णनात् न देवेषु वनुमिवादेषु यथाः अभिमानतः अन्यायतमेभिश्च धर्मः । अ दुर्निमित्तकल्पितेषु तत्र तु च अ देवाकोपात् भावम् अवस्थाय न य करोति न सम्यग्ज्ञानवान् भवेत् । देवनाम्यवहारनीतिनः केवलिनः इत्येव

१ मर्वाभिन्नो देवदि दुर्मदपदमदवार्गताबो ताबनमोदस्य इति मुद्रित प्रतिमान् ए १ बर्ने कारणं न विद्यते [पृ० २१६ २१६]।

मादिवचन केवलिष्ववर्णवाद । मासभक्षणाद्यभिधान श्रुतावर्णवादः । शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भाविना सघावर्णवाद । सुरामासोपसेवाद्याघोषण देवावर्णवाद । अनशनादितपश्चरण केवलम् आत्मक्लेशहेतु न तत सुखलाभ कश्चित् इति तपसोऽवर्णवाद ॥३७९॥ **मोक्षमार्गेति**—य मोक्षमार्गं रत्नत्रयरूप स्वयं जानन् विदन् अर्थिने प्रार्थनाया कृतायाम् 'उपदिश मम मोक्षमार्गमिति' अह त ज्ञातुमिच्छामीति प्रार्थना कुर्वते मदापह्नवमात्सर्यै तस्य त न भाषते न ब्रूते स आवरणद्वयी ज्ञानदर्शनावरणद्वयास्रववान् जायते । न मत्समानो ज्ञानी कश्चित् इति स्वस्योत्कर्षतावहन मद । कुतश्चित्कारणान्नास्ति, न वेद्मि इत्यादि ज्ञानस्य दर्शनस्य च व्यपलपन निह्नव । कुतश्चित्कारणाद्भावितमपि मोक्षमार्गज्ञान दानार्हमपि यतो न दीयते तन्मात्सर्यम् । इति मदापह्नवमात्सर्याणा लक्षणानि ॥३८०॥ सत्याणुव्रतस्य दोषा —**मन्त्रभेद इति**—मन्त्रभेद , परीवाद , पैशुन्यम्, कूटलेखनम्, मुधा साक्षिपदोक्तिश्च एते सत्यस्य विघातका सन्ति । मन्त्रभेद —अर्थप्रकरणाङ्गविकारभ्रूनिक्षेपणादिभि पराकूतमुपलभ्य तदाविष्करणम् असूयादिभि । परीवाद मिथ्योपदेश अभ्युदयनि.श्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्तनम् । पैशुन्य परस्परभेदशीलत्वम्, अप्रकाशेन अनुचित कथयित्वा अन्योन्यस्नेहदूषकत्वम् । कूटलेखनम्—अन्येन अनुक्तम् अननुष्ठित च यत्किंचिदेव तेनोक्तमनुष्ठित चेति वञ्चनानिमित्त लेखन कूटलेखनम् । मुधा साक्षिपदोक्ति अह तत्र साक्षी आसम् । इति व्यवहारनिर्णये मुधा असत्य भाषणम् एते सत्याणुव्रतस्य विघातका नाशका सन्ति ॥३८१॥ **परस्त्रीति**—परस्त्रीसश्रया कथा बुधो न कथयेत् अमुकस्य स्त्रीसौन्दर्यादिगुणैरुपेता चतुरा च वर्तते इत्यादिकथनम् । राजविद्विष्टसश्रया कथाम् अस्माक राज्ञ प्रतिपक्षी हीनबलोऽधिकबलो वेति राजविरुद्ध कथनम् । लोकविद्विष्टसश्रया कथा लोकेषु विद्विष्टाना शत्रूणा सबन्धिनी कथा लोकविरुद्धा न कथयेत् । अनायकसमारम्भा कथानायक विना यस्य कस्यापि कथन यद्वा तद्वासबद्ध कपोलकल्पित प्रलपन न कुर्याद् बुध । अभिजात, हित मित वदेदित्यर्थ ॥३८२॥ **असत्यमिति**—अस्यैदपर्यम् । असत्यमपि किंचित्सत्यमेव यथान्धासि रन्धयति, वयति वासासि इति । अन्धोयोग्यतण्डुलादिषु अन्ध शब्दप्रयोगादसत्यत्वम् । लोके तथा व्यवहारात् सत्यग असत्यमेतत् । सत्यमपि असत्य किंचित् यथा अर्धमासतमे दिवसे तवेद देयमित्यास्थाय मासतमे सवत्सरतमे वा दिवसे ददातीति अत्र दानाव्यभिचारात्सत्यत्वम् । प्रतिपन्नकालव्यभिचाराच्चासत्यत्वम् । सत्यसत्य किंचिद्यद्वस्तु यद्देशकालाकारप्रमाण प्रतिपन्न तत्र तथैव अविसवाद । यद्वस्तु यद्देश यस्मिन् देशे तिष्ठति तथा तद्देशस्थस्य वर्णनम् । तद्वस्तुपरिमाणम्, तद्वर्ण तदाकारश्च सर्वं यथार्थं वर्ण्यते तत् वच सत्यसत्यम् । तथैव तदविसवादिस्वरूपकथनम् । असत्यासत्य किंचित्स्वस्यासत्सगिरते कल्ये दास्यामीति । यद्वस्तु स्वस्य सबन्धि न भवति तत् तुभ्य कल्ये प्रात वितरिष्यामि इत्यादि प्रतिज्ञया कथनम् असत्यासत्य नालपेत् ॥३८३॥ **तुरीयमिति**—लोकयात्रात्रये स्थित लोकव्यवहाराविसवादित्वात् सत्यसत्यादिवाक्त्रये स्थित पुरुष व्रती तुरीय चतुर्थम् असत्यासत्य भाषण नित्य वर्जयेत् न ब्रूयादित्यर्थ । या गुर्वादिप्रसादिनी या यद्वच गुर्वादे मातापित्रुपाध्यायादे प्रसन्नता जनयति सा गी. तद्वच मिथ्यापि असत्यापि न मिथ्येति मन्यताम् । यतस्तत्र स्वस्य गुर्वादेश्चाहिताभावात् ॥३८४॥ **न स्तुयादिति**—आत्मना स्वेन आत्मान स्व न स्तुयात् न प्रशसेत् । न परम् अन्यं जन परिवादयेत् न निन्देत् सत विद्यमानान् अन्यगुणान् अन्येषा गुणान् न हिंस्यात् न नाशयेत् गुणेषु दोषारोपण हिंसा ता न कुर्यात् । असत अविद्यमानान् स्वस्य गुणान् न वर्णयेत् ॥३८५॥ **तथेति**—स्वस्याविद्यमानान् गुणास्तुवन् अन्यगुणान् विनाशयश्च पुमान्नर नीचैर्गोत्रोचित नीचगोत्रे जननयोग्यो भवेत् । गर्हितेषु कुलेषु जन्म लभेतेत्यर्थ । पर विपरीतकृते अन्येषा गुणाना वर्णनात् स्वस्य सतोऽपि उत्कृष्टान् गुणान् वर्णयन् कृती विद्वान् उच्चैर्गोत्र लोकपूजित कुलम् अवाप्नोति लभते ॥३८६॥ **यत्परस्येति**—परस्य अन्यस्य यत् प्रिय प्रीत्युत्पादक कार्यमुपकारादिक कुर्यात् तत् आत्मन स्वस्य हि यस्मात् प्रिय भवेत् अत अय लोक जन. पराप्रियपरायण किमिति । परस्य अप्रियकरणे अनुपकृतिकरणे किमिति प्रवृत्तो भवति । तेन तथा करणे प्रवृत्तेन न भवितव्यम् ॥३८७॥ **यथा यथेति**—यथायथा एतच्चेत मन परेषु अन्यजीवेषु तम वितनुते पाप विस्तारयति । तथा तथा आत्मनाडीषु आत्मन निजस्य नाडीषु तच्चेत तमोधारा पापोदकधारा निषिञ्चति । अशुभपरिणामै आत्मनालीसु आत्मन प्रदेशनलिकासु तमोधारा पापधारा. प्रविशन्ति ॥३८८॥

दोषसोयैरिति—शरीरिणां प्राणिनां चित्तवासांसि मनोवस्त्राणि दोषतोयैः रागादिदोषजलैः संमज्जन्ति संमग्नानि भवन्ति गुरूणि भारयुक्तानि भवन्ति । यदि शरीरिणो जीवानां चित्तवासांसि मनोवस्त्राणि गुणदीप्त्यैः सत्यशौचादिगुणा एव ग्रीष्मतपः तैः संमज्जन्ति संयं गच्छन्ति दोषजलापनयात् लघूनि भारहितानि भवन्ति । अत एव दोषोत्सर्गपरा गुणान् प्रतिज्ञा गृह्णीरन् ॥१८९॥ सत्यवागिति—सत्यवाक् सत्यं वचनं ब्रुवाणो व्रती सत्यस्य सामर्थ्यप्रभावात् वचःसिद्धिं समश्नुते प्राप्नोति । तथा स निग्रहानुग्रहं कर्तुं प्रभुर्भवति । तस्य वचःसिद्धिं प्राप्तस्य व्रतिकस्य वाणी यत्र यत्र उपजायते प्रवर्तते तत्र तत्र जनानां मान्या भवेत् ॥१९०॥ सर्पेति—कै मृषाभाषामनोषित इत्याह तर्पेत्यादि । मृषाभाषामनीषित: मृषाभाषायाम् असत्यभाषणे मनीषा बुद्धिरस्यास्तीति मृषाभाषामनीषितः । असत्यवचनेषु प्रेरितमतिर्नरः तर्पेण समादेः अभिमानया ईर्ष्यया परोत्कर्षासहिष्णुतया असर्पेण क्रोधेन इत्येव । कं दुःखं प्राप्नोति । जिह्वाच्छेदं दुःखम् अवाप्नोति परत्र च परलोके च पतितार्ति सुमतिविनाशं प्राप्नोति लभते तिर्यग्गतिं नरकगतिं वा लभते ॥१९१॥

[पृष्ठ १७७-१७८] मृषावादाय असत्यफलस्योपाख्यानम्—वाकृत्कदेशेषु हस्तिनामकनामाभोगसुन्दर कुम्भस्थलनिभावतारे हस्तिनागपुरे वाकृतेति नाम्ना प्रथितेषु देशेषु हस्तिनामकनामा प्रथमा भूमेः ईश्वरेषु नृपेषु कुञ्जर इव मत्त इव तस्य कम्पा अम्मसा आतावतारे यात अवतारो यस्य तस्मिन् हस्तिनागपुरे [हस्तिनामकनाम्ना नृपेण निर्मितत्वात् नगरस्यापि नाम हस्तिनागपुरमिति जातम् ।] अयोधनो नाम नृपतिस्तत्र बभूव । कथंभूतः स । प्रचण्डेति—प्रचण्डौ विक्रमशालिनौ तौ च तौ दोर्दण्डौ बाहुदण्डौ तयोर्मण्डली तस्या मण्डनं भूषणं स च मण्डलाग्रः खड्गः तेन मण्डनं खड्गं कण्डूः यतनम् अस्ति येषां ते कण्डूमण्डनकण्डूलास्ते च ते भटाश्च चरणः तेषां यष्टिता च या मण्डनकण्डूकारातिकीर्तिकथा तस्या विकर्षणे हेतुः अयोधनो नाम नृपतिरभूत् । तस्य च अतिथिर्नाम महादेवी कृताभिषेका । या अनवरतेति—अनवरतं सततं वसुविधानं धनदानं तेन प्रीणिता संतोषं नीता अतिथयो यया सा । अनयोः अयोधनातिथ्योः सुता सुलसा नाम सकलाश्च ताः कलाः नृत्यादयः तासाम् अवलोकनम् अर्जनं तस्मिन् अलकसा आलस्यरहिता सुलसा नाम । सा किल तया महादेव्या गर्भगतापि तया महादेव्या अतिथिना किल गर्भगतापि सा भ्रातृकेन आदित्येन एकोदरसाक्षिणः एकस्मिन्नेव उदरे जातत्वात् सखिना सोममामस्य रम्यकदेशनिवेशेति—रम्यकदेशे निवेशेन रचनया रूपेण सहितं सतीरमपुरं तत्र निवेशिनः तदधीशस्य । निर्विपक्षेति—निर्गता विपक्षा शत्रवो यस्याः सा अक्षमो रसा तया लक्षितस्य । अमृतमङ्गलस्य मदिरमहमङ्गलस्य अविरतपुण्यस्य पिङ्गलस्य सुतो मधुपिङ्गलाय सुलसा परिणीता बभूव । कथंभूताय सुतो गुणा एव मौक्तिकानि तेषां रत्नाकर इव प्रस्ताय पर्यन्तमापसमायेति भावः पुनः कथंभूताय । दुर्वार इति—दुर्वाराः दुर्जेयाः ते वैरिणः तेषां वधः रूपाणि वनोभूषणः तेषाम् सहजं विचारणं तदेव अवदानं प्रशस्तं कर्म तस्य संतोषः प्रभृतिः तस्मै अवक्रुद्धस्य हृदयकृताय मधुपिङ्गलाय तथामनेनाम सुतो परिणीता तावत्याम्वेति संकल्पवती बभूव । भ्रुकुटा च महोदयेन राज्ञा अयोधनेन महान् उदयः समुन्नतिः आधिपत्यं वा यस्य तथाभूतेन तेन पुनः गर्भभूतेन । चित्तितेति—चित्तितं ज्ञातं महादेव्याः अतिथेः हृदयं संकल्पो येन तेनापि विश्वभूतिमित्रस्य विचारं कृत्वा कथंभूतं विचारं इत्येति विचिन्त्यते—'यस्य सर्वपिण्डमहामात्यस्य महाप्रभावशालिनः पदस्य नाम्नी सोमप्रभा संयोगयोग्यतया इदं सर्वं स्त्रीरत्नं प्रथितं जनं तस्यैतत् भूपात् भवतात् । अत्र सर्वेषामपि वपुष्मतां वपुः शरीरम् अस्ति येषां ते वपुष्मन्तः जीवाः तेषां दैवमेव शरणम् अवलम्बनम् अस्ति । कथंभूतं तत् । अचिन्त्येतेति—अचिन्तितानि मनसा असंकल्पितानि यानि सुखानि दुःखानि च तेषाम् आगमः प्राप्तिः तेन अनुमेयः प्रमाणं सामर्थ्यं यस्य तत् दैवमेव शरणम् ।" इति विगमय्य स्वयंवरार्थं स्वयं स्वेच्छया पतिरमणा सुलसया विवाहमिति हितो मीम-भीष्म भरत-भाग-संग सगर-मुवन्धु-मधुपिङ्गलादीनामवनिपतीनां भूपतीनाम् तत्परमकूल पर सानालुकूलं मूलं प्रस्तापपरोक्षमूले समवाने सम्यावतानं तस्य अनुकूलम् कथितं मूलं पूर्वे संदेशं प्राप्नोति स्म । अत्रान्तरे मगधेति—मगधदेशार्तविवादस्य प्रसिद्धिर्यस्या तस्याम् अयोध्यायां नगर्यां भूपतिः सगरो नाम । स किल कीदृश इति वातोबाम् । छास्येति—आस्यं नरपम् आदित्यवंशेन भागधानामिति तस्य विशदः सौमा तस्य सौरकं चातुर्यं तस्य रसः श्रोत्रियैः अंशाः गुणदासा क्रमपरम्परया भार्यमा

श्रुतेति—श्रुत आकर्णित. सौरूप्यातिशय लावण्यप्रकर्ष येन, स पुन कथभूत । मनागिति—मनाक् ईषत् उपरमन् अल्पीभाव व्रजन् तारुण्योदय यौवनप्रकर्ष· लावण्योदय सौरूप्योन्नतिश्च यस्य स, प्रयोगेण प्रयोगम् उपाय कृत्वा, ता सुलसाम्, आत्मसाच्चिकीर्षु निजवशा कर्तुमिच्छुक [सगर मन्दोदरी नाम धात्री विश्वभूर्ति नाम पुरोहितम् अयोधननृपालय प्रति प्राहिणोत्] कथभूतां मन्दोदरी प्राहिणोत् । तौर्यत्रिक नृत्यगीतवाद्य अथ तौर्यत्रिकं तूर्यं मुरजादि तत्र भव तौर्यम् । तौर्योपलक्षित त्रिकम् इति विग्रह । तस्य सूत्रं तस्मिन् भरतमुनिशास्त्रे इति, प्रतिकर्मविकल्पेषु प्रत्यङ्गं कर्म प्रतिकर्म शरीरस्य प्रत्यवयवप्रसाधनार्थं वेशादिकरण प्रतिकर्मोच्यते तस्य विकल्पा स्नानस्रक्चन्दनपङ्कादय तेषु, सभोगसिद्धान्ते कामशास्त्रे, विप्रश्नविद्याया विविधा प्रश्ना हानिलाभनष्टमुष्टादिविषया तेषा विद्या ज्ञान तस्याम्, स्त्रीपुरुषलक्षणेषु समुद्रर्षिप्रोक्तेषु, [1]कथाख्यायिकाख्यानप्रवह्लिकासु कथा-प्रबन्धस्य अभिधेयस्य कल्पना स्वय रचना, आख्यायिका-उपलब्धार्था स्वयम् अनुभूतार्थप्रतिपादनम् । आख्यान सदृष्टान्त कथाकथनम् । प्रवह्लिकासु अभिप्रायसूचनकथासु यथा सदेह स्यात् तादृशगुप्ताभिधानासु, तासु तासु कलासु च परमसवीणतालताधरित्रीम् उत्तमचातुर्यवल्लीभूमि मन्दोदरी नाम धात्रीम् उपमातरम् । ज्योतिषेति—ज्योतिषशकुनादिशास्त्रेषु निशिता तीक्ष्णा मतिर्बुद्धि तस्या प्रसूति उत्पत्तिर्यस्मिन् त विश्वभूर्ति च बहुमानेन अत्यादरेण संभावितम् आह्लादित मनो यस्य त पुरोधस पुरोहित तत्र पुरि नगरे हस्तिनापुरे प्राहिणोत् । [मन्दोदरी विश्वभूतिश्च सुलसा सगरे प्रीतियुक्ता मधुपिङ्गले च विप्रीतिम् अकारयताम्] कथभूता मन्दोदरी । विशिकेति—विशिका वशीकरण तस्या आशय अभिप्राय स एव शार्दूलो व्याघ्र तस्य दरीव मन्दोदरी ता पुरमुपगम्य । परेति—परेषा जनाना प्रतारणे वञ्चने प्रगल्भा प्रौढा मनीषा मतिर्यस्या , कृतेति—अर्धवृद्धा कषायवसना विधवा 'कात्यायिनी' त्युच्यते कृत विहित कात्यायिनीवेषो यया सा मन्दोदरी । ताश्च ताश्च कला तत्तत्कला तासाम् अवलोकन वीक्षण तस्माज्जात कुतूहल यस्य स तम् अयोधनधरापालम् । निजनाथेति—निजो नाथ स्वामी सगरो नृप तस्य अर्थसिद्धि प्रयोजनसफलता तस्या परवती अधीना रञ्जितवती सती अयोधन नृपम् अनुरक्त विश्वसितं कुर्वाणा शुद्धान्तोपाध्याया भूत्वा शुद्धान्तम् अन्त पुर तत्र उपाध्याया अध्यापिका भूत्वा सुलसा सगर ग्राहयामास । तथा बकोटवृत्तिवेधा वक्रप्रकृतिषु जनेषु वेधा ब्रह्मा महाकपटपटुरित्यर्थ । स पुरोधाश्च तैस्तैरादेशैः ज्योतिश्शास्त्रफलै तस्य नृपस्य सुयोधनस्य महादेव्याश्च अतिथे वशीकृतचित्तवृत्ति वशीकृता निजाधीना विहिता मनोवृत्तिर्येन स. । स्वय विहितरचनै· आत्मना कृतै श्लोकै मधुपिङ्गले विप्रीति विरक्तता कारयति स्म। तेन विहितरचने पद्ये कुण्टे इति—मन्दे आलस्यवति नरे वायुना उन्नतहृदये उन्नतपृष्ठे च पुरुषे षष्टिदोषा सन्ति। एकाक्षे अशीति । बधिरे शतम् । वामने च ह्रस्वे नरि शतं विंश विंशत्यधिक शतं दोषा सन्ति तु पिङ्गे पिङ्गले नरे दोषा असख्यया तत्र दोषाणा गणनाकरण न शक्यम् ॥३९२॥ मुखस्येति—मुखस्य अर्धं शरीर स्यात् मुखस्य शोभा पूर्णा शरीरस्य तु ततोऽल्पा अर्धा । मुख घ्राणार्धम् उच्यते यदि घ्राण न स्यात् तर्हि विगतनासिक मुख न शोभते । घ्राण नेत्रार्धं घ्राणे नासाया विद्यमानेऽपि नेत्रयोरभावे घ्राणं न शोभते । अत शरीरमुखघ्राणेषु नयने परे उत्तमे ज्ञेये ॥३९३॥ इत्यादिवर्णनै विश्वभूति सुलसाया मनसि अप्रेम उदपादयत् [तत सुलसा स्वयवरमण्डपे सगरराजान वृणुते स्म] तत चाम्पेयमञ्जरीसौरभ चम्पकपुष्पमञ्जरीसौगन्ध्यमेव दुग्धं तस्य पाने लुब्धा लोभिष्ठा स्तनधया इव पुष्पधया भ्रमरा तद्वत् । यथा पय पाने लुब्धा स्तनधया भवन्ति तथा तेषु स्वयवराह्वानशृङ्गारिताहकारेषु स्वयवराह्वाने समागते शृङ्गारोऽस्ति यस्य शृङ्गारित अहकारो यैस्ते शृङ्गारिताहकारा· सगर्वा इत्यर्थ । सगर्वेषु राजसु मिलितेषु मन्दोदरीवशमानसा मन्दोदर्यधीनमना सा सुलसा श्रुतिमनोहर श्रुत्या शब्देन मनो हरति इति शब्दचेतोहर सगरम् अवृणोत् वृणोति स्म । कथम्, यथा निम्नधरोपगा आपगा सागर निम्नधरा नीचभूमि ताम् उपगच्छतीति निम्नधरोपगा निम्नभूमिवाहिनी आपगा वाहिनी नदी सागर गच्छति

१ कथादीनाम् इदमपि लक्षणम्—कथा चित्रार्थगा ज्ञेया ख्यातार्थाख्यायिका मता । दृष्टान्तस्योक्तिराख्यान प्रवह्लीका प्रहेलिका ॥

दोषतोयैरिति—शरीरिणां प्राणिनां चित्तवासांसि मनोवस्त्राणि दोषतोयैः रागादिजलजलैः संगम्य संगं गच्छन्ति गुरूणि भारयुक्तानि भवन्ति । परं शरीरिणां जीवानां चित्तवासांसि मनोवस्त्राणि गुणाग्निभिः अहिंसासत्याचौर्यादिगुणा एव ग्रीष्मतव इति संगम्य संगं गच्छन्ति दोषजन्यापनयात् लघूनि भाररहितानि भवन्ति । अत एव दोषोत्सर्जकतया गुणान् व्रतिनः गृह्णीरन् ॥१८९॥ सत्यवागिति—सत्यवाक् सत्यं वचनं यस्यास्ति एवंभूतो सत्यस्य सामर्थ्यप्रभावात् वचःसिद्धिं समश्नुते प्राप्नोति । तथा स निग्रहानुग्रहं कर्तुं प्रभुर्भवति । यस्य वचःसिद्धिं प्राप्तस्य व्रतिकस्य वाणी यत्र यत्र उपशामयते प्रवर्तते तत्र तत्र जनानां मान्या भवति ॥१९॥ दर्पेति—अत्र मृषाभाषामनीषित इत्याह दर्पेत्यादि । मृषाभाषामनीषितः मृषाभाषायाम् असत्यभाषायां मनीषा बुद्धिरस्यास्तीति मृषाभाषामनीषितः । असत्यवचनेषु प्रेरितमतिर्नरः दर्पेण मदेन अभिमानेन ईर्ष्यया परोत्कर्षासहिष्णुतया अमर्षेण क्रोधेन दर्पेण । कं दुःखं प्राप्नोति । जिह्वाच्छेदं दुःखम् अवाप्नोति इह च परलोके च गतिभ्रंशं सुगतिविनाशं प्राप्नोति लभते तिर्यग्गतिं नरकगतिं वा लभते ॥१९१॥

[पृष्ठ १७७-१७८] भूयतामत्र असत्यफलस्योपाख्यानम्—कुरुजाङ्गलदेशेषु हस्तिनागनामावलोकितकुञ्जरवनितावतारे हस्तिनागपुरे कुरुजाङ्गलेति नाम्ना प्रथितेषु देशेषु हस्तिनागनामा अवनिपा भूमेः ईश्वरेषु नृपेषु कुञ्जर इव यथा इव तस्य बन्ध्या अम्मना जातावतारे जात अवतारो यस्य तस्मिन् हस्तिनागपुरे [हस्तिनागनाम्ना नृपेण विरचितत्वात् नगरस्यापि नाम हस्तिनागपुरमिति जातम् ।] अयोधनो नाम नृपतिस्तत्र बभूव । कथंभूतः स । प्रचण्डेति—प्रचण्डौ विक्रमशालिनौ तौ च तौ दोर्दण्डौ बाहुदण्डौ तयोर्मण्डली तस्या मण्डनं भूषणं स च मण्डलाग्रः खड्गः तेन मण्डनं कलहः कण्डूः खर्जनम् अस्ति येषां ते कण्डूलाः मण्डलकण्डूलास्ते च ते मराराम याचक तेषां यामिका च या मण्डलकण्डूलारातिकीलिकता तस्या निवर्तने हेतु अयोधनो नाम नृपतिरभूत् । तस्य च अतिथिर्नाम महादेवी कृतामिषेका । या अनवरतेति—अनवरतं सततं वसुविधानं धनदानं तेन प्रीणिता संतोषं नीता अतिथयो यया सा । अनघो अयोधनातिथ्योः पुत्री सुलसा नाम सकलाश्च ता कलाः नृत्यादयः तासाम् आलोकनम् अर्जनं तस्मिन् अनलसा आलस्यरहिता सुलसा नाम । सा किल तया महादेव्या गर्भगतापि तया महादेव्या अतिथिना किल पर्वगतापि सा आर्तेन आतिथ्येन एकोदरशालिना एकस्मिन्नेव उदरे जातत्वात् शालिना पोतनस्वामिनस्य रम्यकदेशनिवेशेति—रम्यकदेशे निवेशेन रचनया कपोतं सहितं पल्लीवनपुरं तत्र निवेशिन तद्वासिनस्य । निर्विघ्नेति—निर्गता विघ्ना यस्यो यस्या सा लक्ष्मी रमा तया लक्षितस्य । असुलभस्य अविनष्टसुखस्य अविकलपुण्यस्य पिङ्गलस्य पुत्राय मधुपिङ्गलाय सुलसा परिणीता बभूव । कथंभूताय सुलसे भुजा एव मौर्वीनाकाय मेरुस्तस्य तस्य रत्नाकरे मण्डिप्रस्थाय पर्वतधामसमायेति भावः पुनः कथंभूताय । दुर्वार इति—दुर्वाराः दुर्जेयाः ते वैरिणः तेषां यस्य स्पर्शनानि तन्नोभूमयः तेषाम् वहनं विदारणं तदेव यशकार्यं प्रशस्तं कर्म तस्य यशोभिः प्रभृति तस्मै सागरमय इक्ष्वाकुवंशाय मधुपिङ्गलाय तथाभवेयाय सुलसे परिणीता जामयोस्मीति संकल्पवती बभूव । भूभुजा च महोत्सवेन राजा अयोधनेन महान् उदयः समुन्नतिः आधिपत्यं वा यस्य तथाभूतेन तेन पुनः कथंभूतेन । विदितेति—विदितं ज्ञातं महादेव्याः अतिथेः हृदयं संकल्पो येन तेनापि विनयस्य विचारं कृत्वा कथंभूतं विचारं कृत्वेति विविच्यते— यस्य कल्पचिन्महायासस्य महादेवपालितः पुत्रस्य मार्गे मोमतया संयोगयोग्यतया इदं स्वीयं स्वीकृत्य इतरं वरं तस्यैव भूयात् भवतात् । अत्र सर्वेषामपि वपुष्मतां वपुः शरीरम् अस्ति येषां ते वपुष्मन्तः जीवाः तेषां दैवमेव शरणम् अवलम्बनम् अस्ति । कथंभूतं तत् । अचिन्तितेति—अचिन्तितानि मनसा अपरिकल्पितानि यानि सुखानि दुःखानि च तेषाम् आगम प्राप्तिः तेन अनुमेयः प्रभावः सामर्थ्यं यस्य तत् दैवमेव शरणम् ।" इति विचार्य स्वयंवरार्थं स्वयं स्वेच्छया पतिरणया सुलसया विज्ञातमिति हेतो भीम-भीष्म भरत-भाग-धय सगर-सुबन्धु-मधुपिङ्गलादीनामवनिपतीनां नृपतीनाम् उपरागकृत् यथा दाशानुकूलं मुखं प्रस्थापयामपूर्वे उपयातं कन्याप्रदानं तस्य अनुकूलम् उचितं मुखं दूरी वदितं प्राहिणोति स्म । अत्रान्तरे सगरेति—भयभरैकाग्रविकलस्य प्रसिद्धिर्यस्या तस्याम् अयोध्यायां नगर्याम् नृपतिः सगरो नाम । स किल किमिति वार्तायाम् । लास्येति—लास्यं नर्तनम् आदिग्रन्थेन तालवादनादिकं तस्य विलासः शोभा तस्य कौशलं चातुर्यं तस्य रस प्रीतिर्यस्याः सगराः सुलसाया कर्णपरम्परया वार्तया

श्रुतेति—श्रुत आकर्णित सौरूप्यातिशय लावण्यप्रकर्ष येन, स पुन कथभूत । मनागिति—मनाक् ईषत् उपरमन् अल्पीभाव व्रजन् तारुण्योदय यौवनप्रकर्ष लावण्योदय' सौरूप्योन्नतिश्च यस्य स, प्रयोगेण प्रयोगम् उपाय कृत्वा, ता सुलसाम्, आत्मसाच्चिकीर्षु निजवशा कर्तुमिच्छुक [सगर मन्दोदरीं नाम धात्री विश्वभूति नाम पुरोहितम् अयोधननृपालय प्रति प्राहिणोत्] कथभूता मन्दोदरी प्राहिणोत् । तौर्यत्रिक नृत्यगीतवाद्य त्रय तौर्यत्रिकं तूर्यं मुरजादि तत्र भव तौर्यम् । तौर्योपलक्षित त्रिकम् इति विग्रह । तस्य सूत्रं तस्मिन् भरतमुनिशास्त्रे इति, प्रतिकर्मविकल्पेषु प्रत्यङ्ग कर्म प्रतिकर्म शरीरस्य प्रत्यवयवप्रसाधनार्थं वेशादिकरण प्रतिकर्मोच्यते तस्य विकल्पा स्नानस्रक्चन्दनपङ्कादय तेषु, सभोगसिद्धान्ते कामशास्त्रे, विप्रश्नविद्याया विविधा प्रश्ना हानिलाभनष्टमुष्टादिविषया तेषा विद्या ज्ञान तस्याम्, स्त्रीपुरुषलक्षणेषु समुद्रर्षिप्रोक्तेषु, [1]कथाख्यायिकाख्यानप्रवह्लिकासु कथा-प्रबन्धस्य अभिधेयस्य कल्पना स्वय रचना, आख्यायिका-उपलब्धार्था स्वयम् अनुभूतार्थप्रतिपादनम् । आख्यान सदृष्टान्त कथाकथनम् । प्रवह्लिकासु अभिप्रायसूचनकथासु यथा सदेह स्यात् तादृशगुप्ताभिधानासु, तासु तासु कलासु च परमसवीणतालताधरित्रीम् उत्तमचातुर्यवल्लीभूमिं मन्दोदरीं नाम धात्रीम् उपमातरम् । ज्योतिषेति—ज्योतिषशकुनादिशास्त्रेषु निशिता तीक्ष्णा मतिर्बुद्धि तस्या प्रसूति उत्पत्तिर्यस्मिन् त विश्वभूतिं च बहुमानेन अत्यादरेण संभावितम् आह्लादित मनो यस्य त पुरोधस पुरोहित तत्र पुरि नगरे हस्तिनापुरे प्राहिणोत् । [मन्दोदरी विश्वभूतिश्च सुलसा सगरे प्रीतियुक्ता मधुपिङ्गले च विप्रीतिम् अकारयताम्] कथभूता मन्दोदरी । विशिकेति—विशिका वशीकरण तस्या आशय. अभिप्राय स एव शार्दूलो व्याघ्र तस्य दरीव मन्दोदरी ता पुरमुपगम्य । परेति—परेषा जनाना प्रतारणे वञ्चने प्रगल्भा प्रौढा मनीषा मतिर्यस्या, कृतेति—अर्धवृद्धा कषायवसना विधवा 'कात्यायिनी' त्युच्यते कृत विहित कात्यायिनीवेषो यया सा मन्दोदरी । ताश्च ताश्च कला तत्तत्कला तासाम् अवलोकन वीक्षण तस्माज्जात कुतूहल यस्य स तम् अयोधनधरापालम् । निजनाथेति—निजो नाथ स्वामी सगरो नृप तस्य अर्थसिद्धि प्रयोजनसफलता तस्या परवती अधीना रञ्जितवती सती अयोधन नृपम् अनुरक्तं विश्वसित कुर्वाणा शुद्धान्तोपाध्याया भूत्वा शुद्धान्तम् अन्त पुर तत्र उपाध्याया अध्यापिका भूत्वा सुलसा सगरं ग्राहयामास । तथा वकोटवृत्तिवेधा वक्रप्रकृतिषु जनेषु वेधा ब्रह्मा महाकपटपटुरित्यर्थ । स पुरोधाश्च तैस्तैरादेशैः ज्योतिश्शास्त्रफलै तस्य नृपस्य सुयोधनस्य महादेव्याश्च अतिथे वशीकृतचित्तवृत्ति वशीकृता निजाधीना विहिता मनोवृत्तिर्येन स. । स्वय विहितरचनै आत्मना कृतै श्लोकै मधुपिङ्गले विप्रीतिं विरक्तताकारयति स्म। तेन विहितरचने पद्ये कुण्टे इति—मन्दे आलस्यवति नरे वायुना उन्नतहृदये उन्नतपृष्ठे च पुरुषे षष्टिदोषा सन्ति। एकाक्षे अशीति । बधिरे शतम् । वामने च ह्रस्वे नरि शत विंश विंशत्यधिकं शतं दोषा सन्ति तु पिङ्गे पिङ्गले नरे दोषा असख्यया तत्र दोषाणा गणनाकरण न शक्यम् ॥३९२॥ मुखस्येति—मुखस्य अर्धं शरीर स्यात् मुखस्य शोभा पूर्णा शरीरस्य तु ततोऽल्पा अर्धा । मुखं घ्राणार्धम् उच्यते यदि घ्राण न स्यात् तर्हि विगतनासिक मुख न शोभते । घ्राण नेत्रार्धं घ्राणे नासाया विद्यमानेऽपि नेत्रयोरभावे घ्राण न शोभते । अत शरीरमुखघ्राणेषु नयने परे उत्तमे ज्ञेये ॥३९३॥ इत्यादिवर्णनै विश्वभूति सुलसाया मनसि अप्रेम उदपादयत् [तत सुलसा स्वयवरमण्डपे सगरराजान वृणुते स्म] तत चाम्पेयमञ्जरीसौरभ चम्पकपुष्पमञ्जरीसौगन्ध्यमेव दुग्धं तस्य पाने लुब्धा लोभिष्ठा स्तनधया इव पुष्पधया भ्रमरा तद्वत् । यथा पय पाने लुब्धा स्तनधया भवन्ति तथा तेषु स्वयवराह्वानशृङ्गारिताहंकारेषु स्वयवराह्वाने समागते शृङ्गारोऽस्ति यस्य शृङ्गारित अहकारो यैस्ते शृङ्गारिताहंकाराः सगर्वा इत्यर्थ । सगर्वेषु राजसु मिलितेषु मन्दोदरीवशमानसा मन्दोदर्यधीनमना सा सुलसा श्रुतिमनोहरं श्रुत्या शब्देन मनो हरति इति शब्दचेतोहर सगरम् अवृणोत् वृणोति स्म । कथम्, यथा निम्नधरोपगा आपगा सागर निम्नधरा नीचभूमि ताम् उपगच्छतीति निम्नधरोपगा निम्नभूमिवाहिनी आपगा वाहिनी नदी सागर गच्छति

१ कथादीनाम् इदमपि लक्षणम्—कथा चित्रार्थगा ज्ञेया ख्यातार्थाख्यायिका मता । दृष्टान्तस्योक्तिराख्यान प्रवह्लीका प्रहेलिका ॥

तथा सा समरं वृणुते स्म । भवति चात्र श्लोकः—अल्पैरिति—समर्थैः अल्पैरपि सहायैः साहाय्यं वितरद्भिः कार्यकारिभिः पुरुषैः नृप विजयी भवति । कुन्तस्य शस्त्रविशेषस्य अस्त्रा अर्थ कार्यस्य सर्वविनाशाय भवति । परम् अस्य कुन्तस्य दण्डस्तस्य परिरक्षणे सहायो भवति । तथा समरस्य नृपस्य वाग्मीपुरोहितौ तथैव तत्कार्ये समर्थौ जाताविति भावोऽत्र विशेषः ॥१९४॥

इत्युपासकाध्ययने सुलसाया सगरसंगमो नामाष्टाविंशः कल्पः ॥२८॥

२९. यशो रसातलसादनो नामैकोनत्रिंशः कल्पः

[पृष्ठ १७५-१८१] [जातवैराग्यः मधुपिङ्गलः गृहीतदीक्षः विहरन् समवसरणमधिगम्य, तत्र विश्वभूतिविश्वभूतिविम्बं सत्समवशरणोपेतं तमवलोक्य सकलसामुद्रिकशास्त्रमिदमुवाच । भूत्वा तद्विदं विश्वभूति सकलं पूर्वोदितार्थं तस्माकथयत् । सर्वमेतदवगतिकरं श्रुत्वा मधुपिङ्गलो मुनिः क्रुद्धो बभौ । कालेनोत्पन्नः कालासुरनामासुरो जातः ।] प्रकृतिनिर्वेदकारक उत्पन्नमनर्थैः रामाङ्कुरः मधुपिङ्गलः 'विभिदं भोगायतनं शरीरम् । अभोगायतनं सुलसाभोगरहितत्वात् अभोगायतनम् । यत् यस्मात् एकदेशदोषात् एकदेशः शरीरैकभागः नेत्रे तव दोषात् इमाम् अभिनवसमागमाम् अपि वनिता श्यामां सपायनं संयोगो परयास्ताम् अपि नाममात्रस्य पुत्रीम् अहं नाकम्पि न अभवाम् । इति मत्वा विमुक्तेति स्वात्ममहामोहः स्त्रीकुलवेष क्रमेण तास्ताम् ग्रामारामनिवेशादीन् ग्रामनगरादिरम्यविशेषान् विरमुक्त अभवत् । ककुद्मानिव इव प्रशस्ताभ्यां वेगवतीभ्यां ककुद्भ्यां इयति गच्छतीति ककुद्मानिव इव वाहिकपुरस्य लोकनीत्समता गमन् गमनागमस्थो गमन् तमस्यमनागो गमनयोर्मोर्ष विरम्, अवनामा शुभया लोकम् कामैर्भेति भाष अयोध्यामागत्य अनेकेति—अनेकैस्तपोभिः अनाहारैः चतुर्थषष्ठाद्यनशनादिभिः परातीतनिजसामर्थ्यं तीव्रोत्पन्नतया तीव्रतृष्णया अतिविक्लान्तशरीरः । बाल्मीहु इव बर्ह पांशुभिर्जर्जरकायः इव सकलपुद्गलपोषाय रक्षाभिक्षाय समरागारद्वारमन्दिरे सगरनृपस्य द्वारमुखे गताः ईर्यत्कामं व्याकरणं तस्थौ । तत्र च पुरेति—[पुरा यदा सा सुलसा अतिथिरूपा वर्ने आसीत् तदा मयेयं मधुपिङ्गलाय देयेति मम संकल्पमकरोत्सा । परं तस्याः सुलसायाः परिणयस्य प्रतानस्यापणं विश्वभूतिना अविक्लवत ।] पुरा स्वयंवरकाले प्रमुक्ता मोचिता परिणयापायस्य प्रतानविनाशस्य भीतिर्भेन स विश्वभूतिः प्रवरमणवे प्रवरणा प्रोक्ता मतिर्बुद्धिर्यस्य तस्यै विश्वभूतये रचिष्याय प्रियाय विश्वाय रहितेति—रहिता रहस्यस्य गोपनीयस्य भुवा प्रतीतिर्येन तत्तावृशं मधुपिङ्गलविषयं प्रोक्तं देहचिह्नरूपम् अवैतविदुषविद्वस्य लक्षणमुक्तमिदुष व्याख्यानं विवृणुते स्म । परेति—परामर्शः पूर्वापरालोचनज्ञानं तस्य पथः अलंधीतिः संयमरहितः स विश्वभूतिः तं व्यक्तसमपेयमं लक्षणानि च तानि अशुभानि शुभदेहचिह्नानि पपक्तृतीति तैः वेषकः सुन्दरः तं मधुपिङ्गलम् अवलोक्य उपाध्याय घनेति—घनं विपुलं तच्च पूर्व तस्य आकृतिनिर्मूर्तिर्मस्त्यस्तीति तस्मिन् तच्च उद्याम च तेजः तेन शालते इति नामधातिविनि व्याकरणार्थानि व्याकरणे चिन्तनी माला यस्य तस्मिन् वर्णी ब्रह्मचारी एतस्य ऐतिह्यस्य पारम्पर्योपदेशस्य स्वाध्यायः अभ्यसनं पठनम्, यत् यस्मात् एवमिति—एवंविधशरीरोऽपि अयं मुनिः ईदृशस्यायाः एतादृशस्यायाः कीर्तिर्धर्मं यस्य । अतः एतस्मात्कारणात् विफलम् इति विश्वभूतेर्वचनं श्रुत्वा विश्वभूतिर्वचनमाह अथाच 'कर्मभूगो विश्वभूतिः' । सदेति—सदाचारस्य निवृत्तिर्विनाशो यस्मात् स विश्वभूतिः (भवति) अपयाममिति—न परि सर्वतः आत्मा पूर्वापरमतिविर्भेन तत्संबोधनम् हे विश्वभूते का या शेरम्, यदेव नृपवरस्य समरस्य निवेशादेशात् निवेशात् कृतात् आदेशात् आज्ञायाः, अकमपुरुषात् च अनम्येति—अम्यम उपलक्ष्यमाणं सामान्यं लावण्यम् अल्पसामान्यलावण्यं न उपलक्ष्यमाणं सामान्यं लावण्यम् अगण्यसामान्यलावण्यम्, तस्य निवासो मन्दी सा तां सुलसाम् अलभमानः तपसी दीनः तपस्वी अभूत् मुनिरजायत । एतच्च आयमा समीना अरिष्टानां भरतकलपानां तति यर्दृस्तिर्वस्य तस्य विश्वभूते वचनम् एवामममता एकत्रितमुखे अथने भवने भवती यस्य स एवामममता एकान्तमाननो वा ।

मधुपिङ्गलो यतिः निशम्य श्रुत्वा प्रवृद्धक्रोधानल समिद्धरोषाग्निः कालेन कतिपयैर्दिवसैः विपद्य मृत्वा उत्पद्य जनित्वा चासुरेषु कालासुरनामा भवप्रत्ययमाहात्म्यात् भव जन्म प्रत्यय कारण तस्य माहात्म्यात् प्रभावात् उपजातावधि उत्पन्नावधिज्ञानस्य संनिधि समीपता यस्य, स कालासुर तपस्याप्रपञ्च तपोविस्तारम्, अन्वयोदञ्च च असुरकुले उदञ्चम् उत्पत्ति च आत्मनो निजस्य विनिश्चित्य, यत् इदानीमेव अधुनैव महापराधनगर महापराधाना नगरमाश्रय सगर नृपम् अकारण हेतु विना प्रकाशिता प्रकटिता दोषजाति येन त विश्वभूति च चूर्णपेषं पिनष्मि गोधूमचूर्णवद्दलन करोमि। तदानयो सगरविश्वभूत्यो सुकृतभूयिष्ठत्वात् पुण्यवैपुल्यात् प्रेत्यापि परलोकेऽपि सुरश्रेष्ठत्वावाप्ति देवज्येष्ठत्वलाभ न साध्वपराध स्यात्। ततो यथा इह अनयोर्बहुविडम्बनावरोधो वध बहुल विपुला विडम्बना क्लेशा तासाम् अवरोध सबन्ध यथा भवेत्, परत्र च परलोके नरकादौ दु खपरम्परानुरोध दु खसमूहसबन्धो यथा भवति तथा विधेयं कार्यम्। न च एकस्य बृहस्पते सुरगुरोरपि अतिचतुरस्यापि कार्यसिद्धिरस्ति। इति अभिप्रायेण आत्मेति—निजविक्रियासामर्थ्यप्रकटीकरणे साहाय्य प्रयच्छन्तम् अतिथिमिव, वैरनिर्यातन शत्रुप्रतिकार तस्य मनोरथ सकल्प स एव रथ तस्य सारथि रथचालकमिव कचन नरम् अन्वेषणमति अनुसधानबुद्धि आसीत्।

[पृष्ठ १८१-१८३] [यस्य साहाय्यमासाद्य कालासुर सगर विश्वभूति च मृति निन्ये तस्य पर्वतस्य पूर्वचरित वर्ण्यते] अथ मधुपिङ्गलस्य कालासुरावस्थाप्राप्तिवर्णनानन्तर पर्वतस्य कालासुरसाहायकस्य कथा कथ्यते—कामेति—कामस्य कोदण्डो धनुः तस्य कारणानि च तानि कान्ताराणि वनानि तैरिव इक्षुवणानाम् अवतारै उत्पत्तिभि विराजितमण्डलायाम् अलकृतो मण्डलो आसमन्ताद्भूप्रदेशो यस्या तस्या इहालाया तन्नामके देशे स्वस्तिमती नाम पुरी अस्ति। तस्याम् अभिचन्द्रापरनाम वसुविश्वावसुर्नाम नृपति अस्ति। तस्य सकलगुणरत्नप्रसूति वसुमतीनाम अग्रमहिषी प्रधानराज्ञी। अनयो सूनु पुत्र समस्तेति—सकलशत्रुतरुदहने विभावसु अग्निरिव वसुर्नाम। पुरोहितश्च निश्चितेति—ज्ञातसकलागमरहस्यसमूह क्षीरकदम्बो नाम। कुटुम्बिनी—अस्य कुटुम्बविशिष्टा भार्या सती पतिव्रता व्रतानाम् अहिंसादीनाम् उपास्तौ भक्तिपालने तत्परा स्वस्तिमती नाम। जन्यु पुत्र पुनरनयो क्षीरकदम्बस्वस्तिमत्यो [अनेकनमसितानि पूजनानि तेषा पर्वत समूह तेन प्राप्तो लब्ध पर्वतो नाम। स किल सदाचरणभूरि सदाचरणेषु अहिंसादिषु इज्यादिषट्कर्मसु भूरि ब्रह्मेव क्षीरकदम्बसूरि एकदा सुवर्णगिरिर्नाम तन्नामा पर्वत तस्य गुहाया अङ्गणशिलायाम्, यस्या शिष्यमताविव स्वाध्यायनपादनवत् विशालाया विस्तृताया तस्मै मुदा आनन्देन गतस्मयाय विनष्टगर्वाय यथाविधि विधिमनतिक्रम्य समाधिगामवे सम्यक् आधिम् एकाग्रता गच्छन्ति असव प्राणा यस्य तस्मै वसवे, प्रगलितेति—प्रगलित विनष्ट पितु पाण्डित्यस्य गर्व एव पर्वतो यस्मात् तस्मै पर्वताय, गिरिकूटपत्तन वसतिर्निवासस्थान यस्य तस्य विश्वनाम्न विश्वभरापते विश्वभरा पृथ्वी तस्या पत्यु स्वामिनः पुरोहितस्य कथभूतस्य। विहितेति—अनवद्या निर्दोषा सा चासौ विद्या च अनवद्यविद्या तयोपेत आचार्य अनवद्यविद्याचार्य विहिता कृता अनवद्यविद्याचार्यस्य चरणसेवा येन तथाभूतस्य विश्वदेवस्य नन्दनाय पुत्राय नारदाभिधानाय च निखिलभुवनेति—सकलजगद्व्यवहारस्य तन्त्र कारणम्, आगमसूत्रम्, अतिमधुरस्वरनिमित्तेन उपदिशन् (क्षीरकदम्बसूरि) अम्बरादाकाशात् अवतरद्भ्यां भूमितलम् आगच्छद्भ्याम्, सूर्यचन्द्राभ्यामिव अमितगत्यनन्तगतिभ्या ऋषिभ्याम् ईक्षाचक्रे अवलोकयामासे। [अमितगतिभगवतोक्त चतुर्षु एषु द्वाभ्यामूर्ध्वगतिर्लभ्येति' श्रुत्वा पर्वतनारदौ परीक्षितौ क्षीरकदम्बेन। पर्वतस्याधोगमन नारदस्य चोर्ध्वगमन निश्चित्य क्षीरकदम्बो मुनिर्जज्ञे। आयुरन्ते सल्लेखना विधाय देवो बभूव] तत्र समासन्नसुगति समासन्ना निकटीभूता सुगतिर्यस्य स भगवाननन्तगति किलैवम् अभाषत—भगवन्, अत एव खलु विदुष्या शिष्या वेत्तुम् अध्येतु योग्या विदुष्या शिष्या, यदेवम् अनवद्य निर्दोष ब्रह्मोद्यविद्य ब्रह्मणा अर्हता जिनदेवेन उद्या प्रतिपादिता विद्या जीवादिसप्ततत्त्वज्ञान यत्र तदेतच्छास्त्र ग्रन्थ। शब्दपदवाक्यानि अर्थ तदभिप्राय। तयो प्रयोग सनिदर्शन प्रतिपादनम्। तस्य भङ्ग्य प्रकारा। तेषु यथार्थप्रतिपादनेन विधूनोपाध्यायात् उपाध्यायात् विधूत तपाध्यायो बृहस्पति येन तस्मादुपाध्यायात् गुरो, एकसर्गधिय एकनिश्चयमतय, अधीयते पठन्ति। प्रयुक्तेति—प्रयुक्ता उपयोगदशाम् आनीता अवधिज्ञानस्थितिर्येन स अमितगतिर्भगवान्—"मुनिवृषन् यतिश्रेष्ठ, सत्यमेवैतत्।

तथा सा समरं मुमुचे स्म । भवति चात्र श्लोकः—अल्पैरिति—समर्थैः अल्पैरपि सहायैः साहाय्यं वितन्वद्भिः कार्यकारिभिः पुरुषैः नृपः विजयी भवति । कुन्तस्य शस्त्रविशेषस्य अग्रतः अग्रं कार्याय शत्रुविनाशाय भवति । परम् अस्य कुन्तस्य दण्डस्तम्भस्य परिच्छदः सहायो भवति । तथा सगरस्य नृपस्य धात्रीपुरोहितौ द्वावेव कार्याय समर्थौ जाताविति भावोऽत्र विशेषः ॥१९४॥

इत्युपासकाध्ययने सुलसायाः सगरसंगमो नामाष्टाविंशः कल्पः ॥२८॥

२९. असो रसातलसाधनो नामैकोनत्रिंशः कल्पः

[पृष्ठ १७९–१८१] [बालवैराग्य मधुपिङ्गलः मुनीभूत्वा विहरन् समवसारमागात्, तत्र शिवभूतिविश्वभूतिशिष्यः उत्तमलक्षणोपेतं तमवलोक्य बहुधामेतस्यामुद्रिकावास्तमित्युवाच । श्रुत्वा तद्गिरं विश्वभूतिः सकलं पूर्ववृत्तान्तं तस्याकथयत् । सर्वमितद्वृत्तिकरं श्रुत्वा मधुपिङ्गलो मुनिः क्रुद्धो मृतो । कालेनोदय कालासुरनामासुरो जात ।] प्रबलनिर्वेदकन्दल वत्सप्रमबवैराग्याङ्कुरः मधुपिङ्गल- पिपिदं मोषामलं शरीरम् । अमोघामलं दुष्प्रामोपरहितत्वात् अमोघाचरणम् । मद् अस्मात् एकदेशरोपम् एकदेश शरीरैकमात्र नैवे तत्र दोषात् इमाम् अभिनवमागमाम् अपि कश्चित् न्याय्यम् समागम संयोगो मरणास्त्राम् अपि मामतनूभूते मामस्य पुत्रीम् अहं नाकल्पि न लभ्यवान् । इति मत्वा विमुक्तोऽपि तत्त्व- भवमोहः स्वीकृतवीत क्रमेण तास्ताम् ग्रामागममिवेद्याचीत् ग्रामनगरादिरचनाविशेषाम् निरगुरू अकाम: । अङ्गारिक इव प्रशस्ताभ्यां वैवर्तीभ्यां अङ्गाभ्यां दर्शति चम्मश्रीति अङ्गारिक इव वाहिकम्पुसवर लोकमोरसवतो गमन् मयनानन्दतो गमन् तमरयभाना गमनबोधार्थं विहरन्, अयनाया मुद्रया बोध- कामेनेति भाव अयोध्यानामस्य अनेकेति—अनेकैरुपवासैः अनाहारैः चतुर्विधाहारत्यागैः पराजोगवित- सामर्थ्य क्षीणोऽभ्युतया क्षीणपुष्पका अतिकृशान्तरशरीरः । बाल्यीह इव अस्वं पातुविक्रमोत्पातक इव लब्धपुण्य- पोहाय ग्लानिमापाम सगरामारहारमन्दिरे सगरनृपस्य द्वारगृहे मनाम् ईषत्कालं व्यक्तमत तस्थौ । तत्र च पुरेति–[पुरा यदा सा सुलसा अतिथिवेश्या गर्भे आसीत् तदा अयेयं मधुपिङ्गलाय देयेति मम संकल्पमकरोत्ता । परं तस्याः सुलसायाः परिणयस्य प्रकाशस्यापाम विश्वभूतिना अभिमत ।] पुरा स्वयंवरकाले मधुना योजिता परिणयाशयस्य प्रकाशविनाशस्य नीतिर्येन स विश्वभूतिः प्रथममत्वे प्रथमा प्रोक्ता मतिर्बुद्धिर्येस्य तस्मै शिव मूनवे अविष्याम प्रियाय विप्राय रहितेति–रहिता रहस्यस्य गोपनीयस्य मुद्रा प्रतीतिर्यत्र तत्तामुदर्क अनुवेध विना प्रोक्तं देहविसूत्रम् अशेषविद्वुपविवेशाय सकलगुणनिपुण व्याख्याभो विश्वस्ताः बभूव । परेति— परामर्श पूर्वापरालोचनमार्गे तस्य यदा अस्तंयोति संघगर्हित स विश्वभूति तं व्याख्यानमपेक्षते व्यक्ताश्च सवतानि च तानि लक्षणानि शुभदेहचिह्नानि पदपद्मान्तरेषु तैः पैकल सुन्दर तं मधुपिङ्गलम् अवलोक्य 'उवाच्याय घनेति—घनं विपुलं तच्च वर्त तस्य बाहुतिविवृद्धिस्यात्तीति अविमन् तच्च तथा च तैव तेन पातले इति पापपालिनि ज्वालामालिनि ज्वालानां शिखानां माला यस्य तस्मिन् अग्नौ हवनाम् ज्वाल ईर्ष्यायाम पारन्तोयोऽशास्य स्वाध्याय अध्ययनं पठनम् । मद् अस्मात् पवमिति—एवंविधशरीरे अपि अयं मुनिः ईदृशस्याया एताहृशघाता नीतिर्वर्मनं यस्य । अत एतल्लक्षणमार्थं विलक्षम् इति विश्वभूतेर्वचनं श्रुत्वा विश्वभूतिर्वचनमाय उवाच 'कपेभूतो विश्वभूति । सदैति—नयाचारस्य विशुद्धीभिरिमायी परमात् न विश्वभूति (वदति) अपयामेति—न यदि सर्वज्ञ आत्मा पूर्वापरमनतिशानि नैव तत्त्वबोधनम् हे विश्वभूते मा ता नेरम्, यदेव गुरुतरस्व समरस्य निरेकादेशात् निदेशात् इत्यात् आदेशात् आज्ञया असद्गुरुदेशात् च अनन्यति—अत्यन्त असमञ्जसमार्गं मामागमं आसम्प्य अव्यक्तावगमनावन्नं न उत्तमप्रकारं नामार्थं नामपद् अमाग्यमामाग्यलावण्यम् तत्र निधानो यस्मा वा तो गुणताप् अनवधान तस्यो दोष तस्यो अपूर मुनिरभावन । एतच्च आत्मा अमोघ अरिहन्ता अरचनतवाना तदि बहिरियाम तत्र विश्वभूते वचनम् एतापनमना एवंविधमुक्ते अयं नमर्थ अमको चाव न एतावमनना एकावमानतयो वा ।

—

मधुपिङ्गलो यति निशम्य श्रुत्वा प्रवृद्धक्रोधानल' समिद्धरोषाग्नि कालेन कतिपयैर्दिवसै. विपद्य मृत्वा उत्पद्य जनित्वा चासुरेषु कालासुरनामा भवप्रत्ययमाहात्म्यात् भव जन्म प्रत्यय कारण तस्य माहात्म्यात् प्रभावात् उपजातावधि उत्पन्नावधिज्ञानस्य सनिधि समीपता यस्य, स कालासुर तपस्याप्रपञ्च तपोविस्तारम्, अन्वयोदञ्च च असुरकुले उदञ्चम् उत्पत्ति च आत्मनो निजस्य विनिश्चित्य, यत् इदानीमेव अधुनैव महापराधनगर महापराधाना नगरमाश्रय सगर नृपम् अकारण हेतु विना प्रकाशिता प्रकटिता दोषजाति येन त विश्वभूति च चूर्णपेषं पिनष्मि गोधूमचूर्णवद्दलन करोमि। तदानयो सगरविश्वभूत्यो सुकृतभूयिष्ठत्वात् पुण्यवैपुल्यात् प्रेत्यापि परलोकेऽपि सुरश्रेष्ठत्वावाप्ति. देवज्येष्ठत्वलाभ न साम्वपराध स्यात्। ततो यथा इह अनयोर्बहुविडम्बनावरोधो वध बहुच विपुला. विडम्बना' क्लेशा तासाम् अवरोध सबन्ध यथा भवेत्, परत्र च परलोके नरकादौ दु.खपरम्परानुरोध. दु खसमूहसबन्धो यथा भवति तथा विधेयं कार्यम्। न च एकस्य बृहस्पते सुरगुरोरपि अतिचतुरस्यापि कार्यसिद्धिरस्ति। इति अभिप्रायेण आत्मेति—निजविक्रियासामर्थ्यप्रकटीकरणे साहाय्य प्रयच्छन्तम् अतिथिमिव, वैरनिर्यातन शत्रुप्रतिकार तस्य मनोरथ सकल्प स एव रथ तस्य सारथि रथचालकमिव कचन नरम् अन्वेषणमति अनुसधानबुद्धि आसीत्।

[पृष्ठ १८१-१८३] [यस्य माहात्म्यमासाद्य कालासुर सगर विश्वभूर्ति च मृति निन्ये तस्य पर्वतस्य पूर्वचरित वर्ण्यते] अथ मधुपिङ्गलस्य कालासुरावस्थाप्राप्तिवर्णनानन्तर पर्वतस्य कालासुरसाहायकस्य कथा कथ्यते—कामेति—कामस्य कोदण्डो धनुः तस्य कारणानि च तानि कान्ताराणि वनानि तैरिव इक्षुवणानाम् अवतारै उत्पत्तिभि विराजितमण्डलायाम् अलकृतो मण्डलो आसमन्ताद्भूसभूप्रदेशो यस्या तस्या इहालाया तन्नामके देशे स्वस्तिमती नाम पुरी अस्ति। तस्याम् अभिचन्द्रापरनाम वसुविश्वावसुर्नाम नृपति अस्ति। तस्य सकलगुणरत्नप्रसूति वसुमतीनाम अग्रमहिषी प्रधानराज्ञी। अनयो सूनु पुत्र समस्तेति—सकलशत्रुतरुदहने विभावसु अग्निरिव वसुर्नाम। पुरोहितश्च निश्रितेति—ज्ञातसकलागमरहस्यसमूह क्षीरकदम्बो नाम। कुटुम्बिनी—अस्य कुटुम्बविशिष्टा भार्या सती पतिव्रता व्रतानाम् अहिंसादीनाम् उपास्तौ भक्तिपालने तत्परा स्वस्तिमती नाम। जन्यु पुत्र पुनरनयो क्षीरकदम्बस्वस्तिमत्यो [अनेकनमसितानि पूजनानि तेषा पर्वत. समूह तेन प्राप्तो लब्ध पर्वतो नाम। स किल सदाचरणभूरि सदाचरणेषु अहिंसादिषु इज्यादिषट्कर्मसु भूरि. अह्नोत्र क्षीरकदम्बसूरि एकदा सुवर्णगिरिर्नाम तन्नामा पर्वत तस्य गुहाया अङ्गणशिलायाम्, यस्या शिष्यमताविव स्वाध्यायसपादनवत् विशालाया विस्तृताया तस्मै मुदा आनन्देन गतस्मयाय विनष्टगर्वाय यथाविधि विधिमनतिक्रम्य समाधिगासवे सम्यक् आधिम् एकाग्रता गच्छन्ति असव प्राणा यस्य तस्मै वसवे, प्रगलितेति—प्रगलित विनष्ट पितु पाण्डित्यस्य गर्व एव पर्वतो यस्मात् तस्मै पर्वताय, गिरिकूटपत्तन वसतिर्निवासस्थान यस्य तस्य विश्वनाम्न विश्वभरापते विश्वभरा पृथ्वी तस्या पत्यु स्वामिन पुरोहितस्य कथभूतस्य। विहितेति—अनवद्या निर्दोषा सा चासौ विद्या च अनवद्यविद्या तयोपेत आचार्य अनवद्यविद्याचार्य विहिता कृता अनवद्यविद्याचार्यस्य चरणसेवा येन तथाभूतस्य विश्वदेवस्य नन्दनाय पुत्राय नारदाभिधानाय च निखिलभुवनेति—सकलजगद्व्यवहारस्य तन्त्र कारणम्, आगमसूत्रम्, अतिमधुरस्वरनिमित्तेन उपदिशन् (क्षीरकदम्बसूरि) अम्बरादाकाशात् अवतरद्भ्यां भूमितलम् आगच्छद्भ्याम्, सूर्याचन्द्राभ्यामिव अमितगत्यनन्तगतिभ्या ऋषिभ्याम् ईक्षाचक्रे अवलोकयामासे। [अमितगतिभगवतोक्त चतुर्षु एषु द्वाभ्यामूर्ध्वगतिर्लभ्येति' श्रुत्वा पर्वतनारदौ परीक्षितौ क्षीरकदम्बेन। पर्वतस्याधोगमन नारदस्य चोर्ध्वगमन निश्चित्य क्षीरकदम्बो मुनिर्जज्ञे। आयुरन्ते सल्लेखना विधाय देवो बभूव] तत्र समासन्नसुगति समासन्ना निकटीभूता सुगतिर्यस्य स भगवाननन्तगति किलैवम् अभाषत—भगवन्, अत एव खलु विदुष्या शिष्या वेत्तुम् अध्येतु योग्या विदुष्या शिष्या, यदेवम् अनवद्य निर्दोष ब्रह्मोद्यविद्य ब्रह्मणा अर्हता जिनदेवेन उद्या प्रतिपादिता विद्या जीवादिसप्ततत्त्वज्ञान यत्र तदेतच्छास्त्र ग्रन्थ। शब्दपदवाक्यानि अर्थः तदभिप्राय। तयो प्रयोग सनिदर्शन प्रतिपादनम्। तस्य भङ्ग्य प्रकारा। तेषु यथार्थप्रतिपादनेन विधूनोपाध्यायात् उपाध्यायात् विधूत उपाध्यायो बृहस्पतिः येन तस्मादुपाध्यायात् गुरो, एकसर्गधिय एकनिश्चयमतय, अधीयते पठन्ति। प्रयुक्तेति—प्रयुक्ता उ[illegible] आनीता अवधिज्ञानस्थितिर्येन स अमितगतिर्भगवान्—"मुनिवृषन् यतिश्रेष्ठ, सत्यमेवैतत्।

किंतु एतेषु चतुर्षु मध्ये द्वाभ्याम् अविरतमीरवीपेतपदार्थकम् दुष्प्रमादमुक्तवस्तुकम्, अवतप्रबोधोदितमतिभ्याम् अपोमविश्रामयोग्यकुशलामृतवृत्तिभ्याम् इदम् अतिपवित्रमपि सूत्रम् आगम विपर्यासितव्यम् विपरीतामिधेयं कर्तव्यम्। एतच्च प्रवचनम् आगम तदेव श्रोतव्यं नेत्रं तेन आलोकितः वीक्षित आत्मा बहुसत्त्वो जगत्स्तम्भ चराचरजगतां धर्मधुरंधरो येन स श्रीरकवचन। संमुख्य आकर्ण्य 'नूनमस्मिन् महामुनिवास-उर्वत् छन्दसि वर्तते' तस्य मरीचयो ज्वाला तत् यथा ऊर्ध्वं गच्छन्ति तथा चतुर्षु मध्येषु द्वाभ्याम् ऊर्ध्वगाभ्यां सुरलोकं अस्मद्रूपां भवितव्यमिति प्रतीयते मायते। तथाहं तावत् एकान्तेयमतिपूतात्मानम् एतदेवमपि उपासकः स चासौ पूतात्मा पवित्रात्मा तम् अवरवाममसंनिधानम् अपरं च त्वाम च त्वाम तत्र संनिधाने सामीप्यं न संस्पृशेयम् अवीचिविस्तारं नरकं तत्र अहम् आत्मानं न प्रक्षिपेयम्। अथवा अहं भावत धर्माचारकलापयोगात् न यास्यामीति भावः। [अहं वस्तु च मौर्ख्यं विभाव्य संस्पृशेयम्] मत नरकान्तं राज्यम्। नरकः नरकप्राप्तिः अन्तः अवसानं फलं यस्य एतादृशं राज्यम्। बन्धनान्तो नियोग नियोगः पापकार्ये प्रेरणा स बन्धनान्तो बन्धनं पापबन्धः अन्तोऽवसानं फलं यस्य एवंविधो भवति पापकार्ये प्रेरणया पाप बध्यते इत्यर्थः। मन्त्रामयः स्त्रीषु विश्वासः नारीषु विश्वासेन बहवो विनष्टा जाता विपत्त्या कलेषु मैत्री दुष्टेषु सततम् आचरितं विपत्कष्टं जनयति। इति वचनात् इति पूर्वोक्तैः, इन्दिरेति—इन्दिरा लक्ष्मी तस्या मदो गर्वः। मदिरामद सुरापानान्मतं विवेकविकलत्वम् एताभ्यां द्वाभ्यां मलिनप्रचारे मलिनं पापं तस्मिन् प्रचारः प्रवृत्तिः यस्मान्नृपति तथाभूते राज्यभरे प्रसरत्सु प्रकर्षेण तत्र अशठ-प्राणा यस्य तथाभूतं वसु च मौर्ख्यं विभावयम् ऊर्ध्वं सुरलोकं विभावयं जिगमिषुं न संस्पृशेयम् न जानामि। तथा रतवर्जितो परीक्षाविकलौ परीक्षायाम् अविकलौ निपुणौ तौ मया परीक्षितौ इति निश्चित्य समितमर्थं निर्णीय तम् ऊर्ध्वगमनं छायामुखं निर्माय विरच्य प्रदाय च ताभ्याम् 'अहो द्वाभ्यामपि भवद्रूपाम् इदं तरलमुखं छायाङ्गं यत्र न कोऽप्यवलोकते न पश्यति तत्र विनाश्य हत्वा प्राप्तिलब्धं भवितव्यम् इत्यादिदेश। तावपि तदादेशेन तदाज्ञया इभ्यवाहनवाहनस्थितं हर्म्यं तमिरादित्य्यं चढतीति इभ्यवाहनः अस्ति तस्य वाहनो अश्वो तयोर्द्वितयं पुत्रकं प्रत्यक्षम् आदाय गृहीत्वा यथायथम् आत्मसदृशमतिक्रमेण अयाचितम् अवस्थिताम्। तत्र ससत्त्वाभिवर्षं पर्वत संनिकृष्ट तत्समीपः तस्य मैत्र्यं सत्त्वस्य तस्मिन् अतिशयं अतिपावनः तज्जननिकटादूर इति भाव। पर्वतः पत्त्यपादपातमुख्याम् उपसाद्य पत्रस्य पुरस्य पादपातं परागमे वर्तमाना कुम्भी तदभिलितम् उपसाद्य आश्रितस्य बहुलः ऊष्म पर्वत तम् उदर्धं कार्यं भटिनं संपाद्य अभिमतं विधाय तस्य तदनुष्ठाय तद मरणाम् पदप्राप्तिभाजनम् अकार्षीत् अकरोत्। पुष्पाद्यमवादविचारको नारदस्तु पुष्पविचारचतुर नारदः 'यत्र न कोऽप्यवलोकते' इति उपाध्यायोक्तं पुस्तकं ध्यायन् मनसा चिन्तयन्, को नामात्र पुरे, कान्तारे वा समुद्रमुद्भिन् पुरी सहितः सहु स चासौ मनः तत्र तमूलतः भूतमिविक्त प्रदेश (?) अत्र पुरे नगरे कान्तारे वने वा को नाम सद्गुणः न आत्मैकस्य आत्मनयनस्य आत्मानमनवनुगो यस्य तत् तस्य अवविमल-पर्यन्तचल-मानिन स्यम्भरगणेति—स्थम्भरामरसमूहस्य महामुनिजनानाम् अन्तःकरणस्य क पदार्थ अविकरणं विषया न भवेत्। इति विचिन्त्य तथैव तं कुक्कुटं तापम् उपाध्यायाय समर्पयामास वशी। उपाध्यायः नारदमपि ऊर्ध्वगं सुरलोकगतियोग्यम् अबुध्यत। तदारभ्यस्तदभिप्रायं कथमिदम् नैतसम्भ्रमम् क्रतादय कोप विधाय। सर्वज्ञसमीलितग्यो गुरुरप्यासन्नो दीक्षाम् आदाय गृहीत्वा। निश्चितापमसमीपा जनक जिनलिङ्गाख्यानां तत्त्व दिव्यं यस्याः भवति तां विद्यां गतम् अनुविनय चातुर्वर्ण्यममर्गवर्ताबोध भवालोकम् आरमणारूरय। मुनि-ऋषि-यति-अनगारभेद चातुर्विधसाधुसमूह तस्य मनःप्रसादसंवादं यथोचितं चित्ता धीरं कृत्वा आचार्यवरं पश्चेदर्थं। एतच्चाधिकारमात्रमुद्दतराम् आरबतरकारं विधाय तत्रोमयनेत्रस्थापना-पुण्यभावनात्मकभावनापूर्विकाभावनानाम् अभ्यासं विधाय कामयमानमर्षणा वसिष्ठनाम् अनुष्ठाय काय शरीर यथायास ओचारः तेषां यथाक्रमं वर्तनम् अस्तीकरणं विधाय निःस्पर्शति—तत्कृतमनुमानिरोषवाम् आलोचना कृत्वा अन्तर्विमर्शनमयम् देहत्यागानन्तरम् उत्तमार्थं वाचश्रीर्ष अनुविचारहरस्थाने प्रतिपद अनुत्तर गुरुगुणरत्नावो बभूव देवगुणं स्वरा इन्द्रयोगतो भवे [एवता सर्वज्ञनारदयोरेकैकस्मिन्नविति प्रवचन चारण पहुँच ध्याताऽपि तत्र मधुरतमो जातः] पूर्वमेव तदादेशात् क्षीरकदम्बगुरोः ।अनुवाच

देशोपदेशः आत्मन स्वस्य देश गत्वा कृतोपदेश सकलसिद्धान्तकोविद नारद सद्गुणभूरे सद्गुणप्राप्तेः भूरि ग्रह्य देवतुल्य तस्य क्षीरकदम्बसूरे. प्रव्रज्याचरण स्वर्गारोहण चावगत्य 'गुरुवद्गुरुपुत्र च पश्येत्' इति कृतसूक्तस्मरणपर्याप्तितदाराधनोपकरण इति सूक्ते' स्मरणात् गृहीतगुर्वाराधनसाहित्य तद्विरहदु'खदुर्मनस निजपतिवियोगदु खव्याकुलचित्ताम् उपाध्यायभार्याम् जननी निजमातृतुल्या सहपांसुक्रीडित सहधूलिक्रीडित निजमित्र पर्वत च द्रष्टुम् आगत । अपरेद्यु अन्यस्मिन्दिने त पर्वतम् 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यम् अजै अजात्मजै छागै यष्टव्यम्, हव्यकव्यार्थो विधिर्विधातव्य' । देवेभ्यो दीयमानम् अन्न हव्यम् । पितृभ्यो दीयमानमन्न कव्यम् अग्निमुखेन देवेभ्योऽन्न दीयते, विप्रमुखेन पितृभ्योऽन्नमिति । इति श्रद्धामात्रावभासिभ्योऽन्तेवासिभ्यो व्याहरन्तमुपश्रुत्य केवलं श्रद्धामात्रेण अवभासो येषा ते श्रद्धामात्रावभासिनः तेभ्यः गुरुकथित श्रद्धया श्रोतव्यम् इति मत्या तदभिप्राय शृण्वद्भ्य विद्यार्थिभ्य व्याहरन्त प्रतिपादयन्तम् उपश्रुत्य श्रुत्वा बृहस्पतिप्रज्ञ सुरगुरुतुल्यमति (नारद) "पर्वत, मैव व्याख्य' एव विवरण मा कुरु । कि तु 'न जायन्ते इत्यजाः वर्षत्रयवृत्तयो व्रीहयस्तैर्यष्टव्यम् व्रीहयो धान्यमात्र त्रैवार्षिकैर्धान्यैर्यष्टव्य शान्तिकपौष्टिकार्था क्रिया कार्या इति परार्येव आचार्यादिद वाक्यम् एवम् अश्रौष्व परारि एव गततृतीयवर्षे एव आचार्यमुखादिद वचनम् अशृण्व ।' परुत्सजूस्तथैवाचिन्तयाव गतवत्सरे सहमिलित्वा आचार्यवचनाभिप्रायानुसारेण चिन्तन चावा अकुर्वहि । तत्कथमैषम एव तव मति द्वापरवसति' समजनि इति बहुविस्मय मे मन । तत्कथ केन कारणेन ऐषम एव अस्मिन्नेव वत्सरे तव मति द्वापरवसति सशयस्थानम् अजायत इति मम चित्तम् अतीवाश्चर्ययुक्तम्" आचार्यकनिकेत[1] पर्वत, यद्येवमद्यश्वीनेऽप्यथा(र्था) भिधाने भवान् अपरवानपि विपर्यस्यति तदा पराधीने मादृग्विधीने मादृशा विधिस्तस्य इत्ने ईश्वरे को नाम सप्रत्यय । आचार्यकगृह आचार्यसदृशेति भाव चेदेवम् अद्य श्वो वा भवम् अद्यश्वीन तस्मिन् अद्यश्वीने सद्य एव प्रतिपादिते अर्थाभिधाने शब्दाना वाच्यार्थप्रतिपादने भवान् अपरवान् अपि स्वाधीनोऽपि विपर्यस्यति, यथागम न कथयसीत्यर्थ , तदा पराधीने मादृशे को नाम जनस्य सप्रत्यय सवाद सम्यक् प्रतीति स्यात् ।

[पृष्ठ १८४] पर्वत —नारद, नेदमस्तुकारम् इद वचन न स्वीकारार्हम् इति मे कथनम् । यदस्य शब्दस्य मन्निरुक्त मया निरुक्त्या कृत एव अर्थ अतिसूक्त अतिप्रशस्ततया उक्त. इति अर्थात् मया योऽर्थ निरुक्त्या प्रोक्त स भवता ग्राह्य इति न ममाग्रह । पर यदि चायमन्यथा स्यात्तदा चेत् अय मन्निरुक्तोऽर्थ अन्यथा स्यात् विपरीतता गच्छेत् तदा रसवाहिनीखण्डनमेव दण्ड रसान् अम्लमधुरतुवरादिकान् वहति जानातीति रसवाहिनी जिह्वा तस्या खण्डन कर्तनमेव दण्ड दमनम् । नारद —पर्वत, को नु खल्वत्र विवदमानयोर्निकषभूमि । को विद्वान् विवदमानयो विवाद कुर्वाणयो खलु अत्र अजशब्दार्थविवादे निकषभूमि यथार्थनिर्णयदानाधार , यथा निकषपट्टे सुवर्णस्य परीक्षा भवति तथा सभाध्यक्षे निरपेक्षे सति सत्तत्त्वनिर्णयो भवति । पर्वत —नारद, वसु सभाध्यक्ष । ततो निर्णयो भवेत् । कर्हि तर्हि त समयानुसर्तव्यम् । कदा तर्हि त समया तस्य समीपम् अनुयातव्यम् । इदानीम् एव नात्रोद्धार अधुनैव न विलम्ब । इत्यभिधाय तौ द्वावपि वसु निकषा वसो. समीप प्रास्थिषाताम् अयाताम् । ऐक्षिषाता च अपश्यता च । तथोपस्थितौ तेन गुरुनिर्विशेषमाचरितसमानौ तथागतौ तेन वसुना गुरुसमान कृतसत्कारौ, यथावत् कृतकशिपुविधानौ दत्ताशनवस्त्रविधानौ, विहिताचितोचितकाञ्चनदानौ विहित दत्तम् आचितः भार विंशतिशतानि उचित योग्यतामनुसृत्य काञ्चनस्य सुवर्णस्य दान ययोस्तौ समागमनकारणम् आपृष्टौ अनुयुक्तौ, स्वाभिप्राय निजागमनस्य हेतु वादनिर्णयम् अभाषिषाताम् अकथयताम् । वसु — यथाहतुस्तत्रभवन्तौ पूज्यौ यथा ब्रूत तथा प्रात एव प्रभातकाले एव अनुतिष्ठेय कुर्यामहम् । [पर्वतमाता स्वस्तिमती वसु प्रति गत्वा पर्वतानुकूल न्यायदान कुर्वित्युवाच तथास्त्विति प्रतिपन्न तेन] अत्रान्तरे वसुलक्ष्मीक्षयक्षपेव क्षपाया किल उपाध्याया अस्मिन् प्रसगे वसुनृपस्य राजलक्ष्मीविनाशरात्रिरिव रात्रौ किल उपाध्याया, नारदपक्षानुमत क्षीरकदम्बाचार्यकृत तद्वाक्यव्याख्यान स्मरन्ती स्वस्तिमती पर्वतपरिभवापायबुद्ध्या वसुमनुसृत्य नारदपक्षाभिप्रायानुकूल क्षीरकदम्बसूरिविहितम् 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यविवरण चिन्तयन्ती

[1] आचार्यस्य कर्तव्य विद्यार्थिपाठन तदाचार्यकमुच्यते । तस्य निकेत गृहम् ।

किंतु एतेषु चतुर्षु मध्ये द्वाभ्याम् मतिरूपीरवोपनयवाचकम् दुष्कमारयुक्तवस्तुवत्, अथःप्रवाबोधितमतिम्मन् मनोमध्विप्रायनयोग्यकुशामगुनयुक्तिभ्याम् इयम् अतिपवित्रमपि सूत्रम् आगम विपर्यासितव्यम् विपरीताभिधेयं कर्तव्यम् । एतच्च प्रवचनम् आगम तदेव लोचनं नेत्रं तेन आलोकितः वीक्षित भाव बहुतत्त्वो अमरत्वम्य चराचरात्मात्मा सर्वगुणपर्यायो यस्य स वीरकल्पः संपूज्य आकर्ण्य 'गुणमस्मिन् महामुनिगण उर्वाद् उपत्यक्षिरमि तस्य मरीचमो ज्वाला ताः यथा ऊर्ध्वं गच्छन्ति तथा चतुर्षु मार्गेषु द्वाभ्याम् ऊर्ध्वगाम्यां सुरलोकं गन्तव्यम् मवितव्यमिति प्रतीयते भाषते । तथाहं तावत् एकत्रैवमतिपूतात्मानम् एकत्रैवमतिः उपासकः स चासौ पूतात्मा पवित्रात्मा तम् अवरवामसंनिधानम् अमरं च तद्धाम च स्थानं तत्र संनिधाने सामीप्यं न संवसेयम् अधोगतिस्थानं नरकं तत्र अहम् आत्मानं न नयीयाम् । अथवा अहं आतत-धर्मवारकत्वात्कथोगति न यास्यामीति भावः । [अहं वसु च नौर्व्वं विधायु संवसेयम्] यत नरकान्तं राज्यम् । नरकः नरकप्राप्ति अन्तः अवसानं फलं यस्य एतादृशं राज्यम् । कामगान्तो निमोप निदोषः पापकार्ये प्रेरणा स कामगान्तो अन्तं पापवन्ध अन्तोऽवसाने फलं यस्य एवंविधो भवति पापकार्ये प्रेरणा पापं बध्यते इत्यर्थ । भरवान्ता स्त्रीषु विश्वासः नारीषु विश्वासेन बहवो निधनं याता विपत्ता जनेषु मैत्री दुष्टेषु सख्यम् आचरितं विपत्फलं जनयति । इति वचनात् इति गुरोर्वचः, इन्द्रियेति—इन्द्रिय लक्ष्मी तस्या मदो मम । मविरामव सुरापानाभ्यासं विवेकविकलत्वम् एताभ्यां द्वाभ्यां मतिप्रचारे मतिर्मे पापं तस्मिन् प्रचारः प्रवृत्ति यस्माद्भवति तथाभूते राज्यभरे प्रसरत्सु प्रकर्षेण सरत्सु अवद प्राणा यस्य तथाभूतं वसुं च नौर्व्वं विधायुम् ऊर्ध्वं सुरलोकं विधायुं निपर्विषुं न संवसेयम् न वाणाभि । तथारवपर्वतौ परीक्षाधिकृतौ परीक्षायाम् अधिकृतौ नियुक्तौ तौ यथा परीक्षौ इति निरिक्षत्य समिथमयं निर्दृतम् ऊर्ध्वमुखं तापयुग्मं निर्माय विरच्य प्रदाय च ताभ्याम् अहो द्वाभ्यामपि भवद्रूपाम् इदं तरक्षुवर्त छागयुग्मं यत्र न कोऽप्यवलोकते न पश्यति तत्र विनाश्य हत्वा प्रायश्चित्तं भक्तिव्यम्" इत्यादिदेश । तावपि तदादेशेन तदाज्ञया कुम्भवाहनवाहनरहितं कर्म समिधादिकर्म वहतीति कुम्भवाहन अग्नि तस्य वाहनो अजौ तयोरिदं युगलं प्रत्येकम् आदाय गृहीत्वा यथायथम् आत्मयथास्वमतिक्रमेण यथाविहितम् अगच्छताम् । तत्र सरसत्पादितव पर्वत सद्भिः सज्जनैः सत्यं मैत्र्यं सत्यसत्यं तस्मिन् अविचलः अविचलमनाः सज्जननिधानम् इति भाव । पर्वतः पसत्पापपातकुम्भाम् जगत्सु पसत्यस्य गृहस्य पाश्चात्ये दरमाये वर्तमाना कुम्भा तदभिति उपसद्य आश्रित्य अहृत्यः समत पर्वत तम् करणं पापं भविष्यं संधाय अभियम्यं विधाय तस्य वर्ग मांसम् नरकनसरानम् नरकाभिसाधनम् अकार्षीत् अकरोत् । गुणायमविचारको नारदस्तु पुण्यविचारचतुर नारद 'अत्र न कोऽप्यवलोकते इति उपाध्यायोक्तं गुरुवचम् ध्यायम् मनसा विमृशम्, को नामात्र पुरे कान्तारे, वा तनुमन् वृक्षि वनी तहितः सह स चासौ यत्र तान्त्र सहवासः वृक्षविधिक प्रदेश (?) अत्र पुरे नगरे कान्तारे वने वा कोनाम सहचर न आत्मेश्वरस्य आत्मगमगस्य आत्मानमनपूरतो यस्य वा तस्य अवधिमन पर्ययकेवलज्ञानिन ध्यन्तरगणेति—व्यन्तरामरसमूहस्य महामुनिजनानाम् अन्तःकरणस्य च. दर्शनं अविकरणं विषयो न भवेत् । इति विविच्य तत्रैव तं वृष्णि छागम् उपाध्यायाय समर्पयामास ददौ । उपाध्यायः नारदमपि ऊर्ध्वगं सुरलोकमवियोग्यम् अबुध्य । ऊसारवसनग्रथिन कचनिकरणं वेशमूहन् वपराज्य कोष विधाय । स्वमतमीलपक्षौ गुरुरमाताचौ दीक्षाम् आदाय गृहीत्वा । निविकावमलमीयां कल्प-निर्मसिद्धाभावा सम्यक् देयते यस्याः भवति तां विधा पत्नम् अनुभवितय आतुर्वर्ण्यश्रवणसंवर्धनीयं यतीयचम् आत्ममात्मगत्य । मुनि ऋषि-यति अनगारभेद चातुर्वर्ण्यं चातुमगद् तस्य मनःप्रसादसंतापनं वनीयनं विशालजीवं कृत्वा आचार्यतरं पुण्डरीकं । एतस्यादिमायवानुरक्षाकरम् आत्मसंस्कारं विधाय तदीयानेकसंज्ञानाम् अनगायगातत्वाययतावृतिपायनामाम् अन्त्यार्थ विधाय कायकलापर्यानां तत्तैतनाम् अनुष्ठाय काल छ08 यथायायच लोचार्य तैषां यथाक्रमं ध्यानम् अनशीकरणं विधाय निष्ठापति—अवमनूननुपादिशोकानाम् आलोचना कृत्वा अङ्गुविसर्जनमत्रम् देहत्यागमवम् यत्नायमं मानवीयं अनुनिवाहारत्याग अनिलप कृतीपस्य गुरुगुणवृत्ताचौ अभूत देवपूर्णे तत्रका कृतद्रोणसो जातो [पश्चात् सर्वनारदयोर्द्वैदेद्यादिकं प्रवचन गुरुगुणयुक्तयो व्युवत्य पारोऽर्जनि तम अनुरक्तसी ज्ञात] कृत्यैव अतीरेवाम् सौरविरवपुरी भावानुभव भात

देशोपदेश. आत्मन स्वस्य देश गत्वा कृतोपदेश सकलसिद्धान्तकोविद नारद' सद्गुणभूरे सद्गुणप्राप्ते भूरि' ग्रह्य देवतुल्य तस्य क्षीरकदम्वसूरे प्रव्रज्याचरण स्वर्गारोहण चावगत्य 'गुरुवद्गुरुपुत्र च पश्येत्' इति कृतसूक्तस्मरणपर्याप्ततदाराधनोपकरण इति सूक्ते स्मरणात् गृहीतगुर्वाराधनसाहित्य तद्विरहदु खदुर्मनस निजपतिवियोगदु खव्याकुलचित्ताम् उपाध्यायभार्याम् जननी निजमातृतुल्या सहपासुक्रीडित सहधूलिक्रीडित निजमित्र पर्वत च द्रष्टुम् आगत । अपरेद्यु अन्यस्मिन्दिने त पर्वतम् 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यम् अजै अजात्मजै छागै यष्टव्यम्, हव्यकव्यार्थो विधिर्विधातव्य । देवेभ्यो दीयमानम् अन्न हव्यम् । पितृभ्यो दीयमानमन्न कव्यम् अग्निमुखेन देवेभ्योऽन्न दीयते, विप्रमुखेन पितृभ्योऽन्नमिति । इति श्रद्धामात्रावभासिभ्योऽन्तेवासिभ्यो व्याहरन्तमुपश्रुत्य केवल श्रद्धामात्रेण अवभासो येषा ते श्रद्धामात्रावभासिनः तेभ्यः गुरुकथित श्रद्धया श्रोतव्यम् इति मत्वा तदभिप्राय शृण्वद्भ्य विद्यार्थिभ्य व्याहरन्त प्रतिपादयन्तम् उपश्रुत्य श्रुत्वा बृहस्पतिप्रज्ञ सुरगुरुतुल्यमति (नारद) "पर्वत, मैव व्याख्य' एव विवरण मा कुरु । किं तु 'न जायन्ते इत्यजा' वर्षत्रयवृत्तयो व्रीहयस्तैर्यष्टव्यम् व्रीहयो धान्यमात्र त्रैवार्षिकैर्धान्यैर्यष्टव्य शान्तिकपौष्टिकार्था क्रिया कार्या इति परार्येव आचार्यादिद वाक्यम् एवम् अश्रोष्व परारि एव गततृतीयवर्षे एव आचार्यमुखादिद वचनम् अशृण्व ।' परुत्सजूस्तथैवाचिन्तयाव गतवत्सरे सहमिलित्वा आचार्यवचनाभिप्रायानुसारेण चिन्तन चावा अकुर्वहि । तत्कथमेषम एव तव मति द्वापरवमति' समजनि इति बहुविस्मय मे मन । तत्कथ केन कारणेन ऐषम एव अस्मिन्नेव वत्सरे तव मति द्वापरवसति सशयस्थानम् अजायत इति मम चित्तम् अतीवाश्चर्ययुक्तम्" आचार्यकनिवेत पर्वत, यद्येवमद्यश्वीनेऽन्यथा(र्था) भिधाने भवान् अपरवानपि विपर्यस्यति तदा पराधीने मादृग्विधीने मादृशा विधिस्तस्य इने ईश्वरे को नाम सप्रत्यय' । 'आचार्यकगृह आचार्यसदृशेति भाव चेदेवम् अद्य श्वो वा भवम् अद्यश्वीन तस्मिन् अद्यश्वीने सद्य एव प्रतिपादिते अर्थाभिधाने शब्दाना वाच्यार्थप्रतिपादने भवान् अपरवान् अपि स्वाधीनोऽपि विपर्यस्यति, यथागम न कथयसीत्यर्थ , तदा पराधीने मादृशे को नाम जनस्य सप्रत्यय सवाद सम्यक् प्रतीति' स्यात् ।

[पृष्ठ १८४] पर्वत —नारद, नेदमस्तुकारम् इद वचन न स्वीकारार्हम् इति मे कथनम् । यदस्य शब्दस्य मन्निरुक्त मया निरुक्त्या कृत एव अर्थ अतिसूक्त अतिप्रशस्ततया उक्त इति अर्थात् मया योऽर्थ निरुक्त्या प्रोक्त स भवता ग्राह्य इति न ममाग्रह । पर यदि चायमन्यथा स्यात्तदा चेत् अय मन्निरुक्तोऽर्थ अन्यथा स्यात् विपरीतता गच्छेत् तदा रसवाहिनीखण्डनमेव दण्ड रसान् अम्लमधुरतुवरादिकान् वहति जानातीति रसवाहिनी जिह्वा तस्या खण्डन कर्तनमेव दण्ड दमनम् । नारद —पर्वत, को नु खल्वत्र विवदमानयोर्निकषभूमि । को विद्वान् विवदमानयो विवाद कुर्वाणयो खलु अत्र अजशब्दार्थविवादे निकषभूमि यथार्थनिर्णयदानाधार , यथा निकषपट्टे सुवर्णस्य परीक्षा भवति तथा सभाध्यक्षे निरपेक्षे सति सत्तत्त्वनिर्णयो भवति । पर्वत —नारद, वसु सभाध्यक्ष' । ततो निर्णयो भवेत् । कर्हि तर्हि त समयानुसर्तव्यम् । कदा तर्हि त समया तस्य समीपम् अनुयातव्यम् । इदानीम् एव नात्रोद्धार अधुनैव न विलम्ब । इत्यभिधाय तौ द्वावपि वसु निकषा वसो समीप प्रास्थिषाताम् अयाताम् । ऐक्षिषाता च अपश्यता च । तथोपस्थितौ तेन गुरुनिर्विशेषमाचरितसमानौ तथागतौ तेन वसुना गुरुसमान कृतसत्कारौ, यथावत् कृतकशिपुविधानौ दत्तान्नवस्त्रविधानौ, विहिताचितोचितकाञ्चनदानौ विहितं दत्तम् आचितः भार विंशतिशतानि उचित योग्यतामनुसृत्य काञ्चनस्य सुवर्णस्य दान ययोस्तौ समागमनकारणम् आपृष्टौ अनुयुक्तौ, स्वाभिप्राय निजागमनस्य हेतु वादनिर्णयम् अभाषिषाताम् अकथयताम् । वसु — यथाहतुस्तत्रभवन्तौ पूज्यौ यथा ब्रूत तथा प्रात एव प्रभातकाले एव अनुतिष्ठेय कुर्यामहम् । [पर्वतमाता स्वस्तिमती वसु प्रति गत्वा पर्वतानुकूल न्यायदान कुर्वित्युवाच तथास्त्विति प्रतिपन्न तेन] अत्रान्तरे वसुलक्ष्मीक्षयक्षपेव क्षपाया किल उपाध्याया अस्मिन् प्रसगे वसुनृपस्य राजलक्ष्मीविनाशरात्रिरिव रात्रौ किल उपाध्याया, नारदपक्षानुमत क्षीरकदम्वाचार्यकृत तद्वाक्यव्याख्यान स्मरन्ती स्वस्तिमती पर्वतपरिभवापायबुद्धया वसुमनुसृत्य नारदपक्षाभिप्रायानुकूलं क्षीरकदम्बसूरिविहितम् 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यविवरण चिन्तयन्ती

१ आचार्यस्य कर्तव्य विद्यार्थिपाठन तदाचार्यकमुच्यते । तस्य निकेत गृहम् ।

स्वादिउमती पवतपरिभवापायबुद्धया वसुमनुगम्य पर्वतेन नारदस्य परिभवः पराभवः आपाद्य प्रापित इति मत्वा वसुमनुगम्य वस वत्स म पूर्वमुपाध्यायादस्वर्गानापराधकमावसरो वरस्त्वयासि स मे संप्रति दर्शितम्य इत्युवाच । वस वत्सो बालक वत्सो यः पुरा गुरोः अन्तर्हितापोक्षणप्रसंगे वरस्त्वया दत्तः स मे अधुना देय इत्याचष्टीत् । सत्यप्रतिपालनमासुर्वसु—सत्यस्य संरक्षणाय अथवा माता यस्य स वसु किमत्र किं मातः संदेहस्तत्र । यदयं यथा सहाध्यायी पर्वतो वदति यदि संदेहो नास्ति तर्हि यथा सहपाठप वक्तो ब्रवीति तथा त्वया साक्षिणा भवितव्यम् । वसुस्तया स्वयमाचार्याभ्यां अभिहितः । 'यदि साक्षी भवामि तदा नरकं निरये पतामि अथ न भवामि तदा सत्यात् प्रच्यवामि' इति समयाक्षपयार्थकविहुठमनोभूत चिरं विचिन्त्य समयाभिप्रायम्माध्यानुयातचित्तहरिणः दीर्घं विमृश्य—

[पृष्ठ १८५-१८६] न प्रतमिति—असिमषहर्न कपालसहुमं चर्मधारणं व्रतं न शाकेति—शाकपत्रादि पयो पयस्, मूले कन्दादि भैक्षचर्या भिक्षायां समूहो भैक्षं तेन चर्या जीवननिर्वाह इति व्रतं न भवति । किं तु अङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणम् स्वीकृतकार्यस्य अन्ते गमनम् एतद् उन्नतधियाम् यमतां प्राप्त धीर्मतिर्येषां ते उन्नतधियः तेषां महामतीनां व्रतं भवति ॥१९५॥ इति च विमृश्य विचिन्त्य निरयमितकारं नरकद्वारमचतुरं चरमपक्षम् अन्त्यपक्षम् एव पक्षम् आक्षेप्सीत् अपूजुत् । [पर्वतपक्ष एव सत्य इति वदन् वसुः सिंहासनः पाताले पतित्वा मृत्वा निरयं जगाम] तदनु मुमुक्षिपमाणारविन्दैरिति—आह्लादं विषयिभिः च तानि आरविन्दानि कमलानि तेषां हृदय मध्यप्रदेशः कर्णिका तत्र विनिद्रा निद्रारहिता उत्साहवन्तः ये इन्दिराः भ्रमराः तेषां चरमाणां पादानां प्रचारात् अपरम्परम् ऊर्ध्वं अम्बरम् उत्तरम् च याती मकरन्दः स एव सिन्दूरं नागसमर्भं तेन मुक्तं यत् गीर्देवतानां सीमन्तस्य अन्तरालं यत्र तस्मिन् प्रभातकाले, [अधुना दत्तो वचनम्] सेवेति—सेवार्थं समागता ये समस्ताः सकलाः सामन्ताः राजानः तेषाम् उपासितः उपासना नमस्कारादि करणं तस्मिन् समये पयस्तानि स्वालिस्ताणि तानि च कर्णसकुसुमानि भूषणभूतपुष्पाणि तान्येव उपहारः उपायनं तेन महीपः तस्मिन् सदसि सभायाम् । मृगयेति—मृगया आखेटकं पापर्द्धिः तस्य व्यसनं तस्य व्यासङ्ग विनिवेश धारम्भीहठे धरेण वैश्ये हृते सति कुरङ्गपोते हरिणशिशौ अपराद्धेति—अपराद्धेषु यस्मात् भुवनवाणः धनुः प्रत्यावृत्य प्रतिनिवृत्य आस्फालितः स्पर्शमात्रलेशेन च आकाशस्फटिकः तेन घटितं रचितं विशदं शोभा यस्य तथाभूतं सिंहासनम् वसुस्य सत्यघोषादिमाहात्म्यात् सत्यस्य निर्दोषस्य कारित्वेन अहिंसा देवमाहात्म्यात् प्रभावात् अहं सिंहासनं आकाशे एव स्थित अपहृतव्यवहारं लोकप्रसिद्धिं सिंहासनमपि निर्दयेन पस्तामि' इति आत्मानम् वसुर्धर्म पर्वोक्तिं विस्थाना विवादसमये तेन जितभरतेन नारदेन विवदेभ्यो गर्भाधिपतिभ्यः वरदेन वाञ्छितफल दत्ता नारदेन 'अहो नृपोऽयोग्निहरिणवाचको यतो यथा यथावस्थम् उत्प्रतिपाद्य तदेव वज्रिदूरं भूमिम् अनुमत्य इति वज्रिदूरं नृपवस्त्वादिकं तस्य विनाशनाः अपितु सर्वदोषम् हे यतो अपाति न विविधद्रव्यादि न विमति हीनं भवेत् न चापि हानिर्भवेत् 'तत्त्वस्य यदि इत्येवंकथा इत्योपदेशः । वास्तवीउस्तं विपासुर्वसु—वास्यप्या पृथिव्या तलं अधोभागं पिपासुः निपातितुं वसुः (वसीत्) 'नारद यदाह पर्वतस्यैव सत्यम् । इत्यसमीक्ष्यम् अविचार्य सत्यं कान्तिधर्म वदन् देव यदपि यथा यथं यथासत्यं विषदे तथा वद ब्रूहि इत्याज्ञापयसुने इति आज्ञायेन संवादन कृते सति वसुस्तु मधुना घोरेण सहितं वसन्तु तस्मात् नामा सा अवगुणामता तारयता विजातिस्था रत्नशिलाः तानी रत्नशिलात्र. अवद्वराणि वचनानि तानि तस्मिन् अन्तरायामुक्ते विषादेति—विषादेन खेदेन आकारि स्पन्दितं हृदयं यासां ताः प्रजा तासां प्रजया उत्कम्पितं तदेव आकाशाक्षपितो यत्र सुन्दरीति— सुन्दर मनमान च तद् महाप्रकारं तस्य स्थितिः भूतस्थानमतः तत्र सुन्दरं यत तथाभूते महाद्वारे प्रविशते सति परिष्कारोऽस्मात् परिवारजनवत्सले प्राप्ते सति । (वसुः रसातलं गतः) अभयवेति— अवगाढः यत्र अन्धतमसे मग्ने प्राणिवधः तत्र धर्मधर्मे विषादवति तेन दुःखिताः उत्ताप ता पुर देवता महादेवस्य तासां दर्शनं दुःखितानां दुःखं यस्य न कनिष्ठातम निश्चयेन सदा सागरवासि क्व-वारितः अमराः गुणराजा अत्र यथाभूतं नारायणं भव हे सन्देहः । अत एव महति दम्भ नाट्यदेवतायाः वासो अर्हद्विन्यासकमलं दम्भ वदन वचनम् वदति सतीच वसी वस्त्र तस्य दाय इति । अत त् वाच राति —

अस्थाने इति—अस्थाने अकृत्ये बद्धकक्षाणां कृतप्रयत्नाना नराणा द्वयं सुलभम्। किं तत्। परत्र परलोके दीर्घा दुर्गति दु खदा तिर्यङ्नरकगति, अत्र च शाश्वती सदातनी दुष्कीर्ति ॥३९६॥

इत्युपासकाध्ययने वसो रसातलासादनो नामैकोनत्रिंश कल्प' ॥२९॥

३०. असत्यफलसूचनो नाम त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ १८६-१८९] [वसो पातालतलगमनान्निर्वेद प्राप्तो नारदो मुनिदीक्षा गृहीत्वा शुक्लध्यानेन केवलमुत्पाद्य सिद्धोऽभवत्] नारदस्तमेव निर्वेदम् असत्यपापफल वीक्ष्य समाराद्वैराग्यम् उररीकृत्य स्वीकृत्य। कुन्तलकलाप कचवृन्दम् उन्मूल्य उत्पाटच, कथंभूत कचकलापम्। नतभ्रू इति—नते वक्रे भ्रुवौ यासा ता नतभ्रुव' ललना तासा विभ्रमा शृगारभावजक्रियाविशेषा त एव भ्रमरा षट्पादा तेपा कुल समूहः तस्य निलया गृहाणि इव तानि नीलोत्पलानि नीलकमलानि तेपा स्तूपमिव राशिमिव। जातरूप निर्ग्रन्थता नग्नताम् आस्थाय प्रतिज्ञाय, कथभूत तत्। परमनिष्किचनतारूप परमा लोकोत्तरा निष्किचनता नास्ति किंचन धनधान्यादि परिग्रहोऽस्येति निष्किचन तस्य भावो निष्किचनता सैव निरूप निश्चयेन स्वरूपं लक्षण यस्य तत्। सयमोपकरण मयूरपिच्छिका प्राणिदयाकरम् आकलय्य गृहीत्वा। कथभूत तत्। सकलेति—समस्तजीवानाम् अभयदानसुधावृष्टे अधिकरणम् आश्रयभूत भाजनम्। उदकपरिचारिका कमण्डलूम् आदृत्य स्वीकृत्य कथभूता ताम्। मुक्ति इति—मुक्तिलक्ष्म्या समागम सबन्ध तस्य सचारिकामिव दूतीमिव। स्वाध्याय स्वस्मै आत्मने सवरनिर्जराहेतुत्वात् हित उपकारकः अध्याय अध्ययनम् स्वाध्यायस्तम्। कथभूतम्। शिवेति—शिवश्री मुक्तिलक्ष्मी तस्याः वशीकरणस्य आयत्तीकरणस्य अध्यायमिव अनुबध्य स्वीकृत्य। इन्द्रियारामम् उपरम्य इन्द्रिया इन्द्रियाणा विपया स्पर्शरसादय त एव आराम उपवन तम् उपरम्य विनाश्य। कथभूत तम्। मनोमर्कटेति—मन एव मर्कट वानर तस्य क्रीडास्तासा प्रकामा अभिलाषा यत्र तम्। ध्यानदहनम् उद्दीप्य शुक्लध्यानाग्नि प्रदीपयित्वा। कथभूतम्। अन्तरेति—अन्तरात्मा अह ज्ञानदर्शनलक्षण, शरीरादय कर्मसयोगजास्ते न मम स्वरूपम् इति मत्वा तेपु रागद्वेषाभ्याम् अवश आत्मा अन्तरात्मा स एव हेमाश्म सुवर्णपाषाण, तस्य समस्तमलाना दहन दाहक यथा सुवर्णे किट्टकालिकादिक मलम् अग्निर्दहति तथा शुक्लध्यानाग्नि ज्ञानावरणादिकर्माणि तेषा विकाराश्च रागाज्ञानादिमलान् निरस्यति। श्रीनारदो मुनि शुक्लध्यानेन सजातकेवल तत्पदाप्तिपेशलो बभूव तत्पद परमात्मपद सिद्धपद तस्य आप्तिर्लाभस्तेन पेशलो मनोरमो बभूव। [वसुनृपे मृते सति प्रजाजनेन निर्घाटित पर्वत वनगहने प्रविष्ट' कालासुरेण दृष्ट पर्वतस्तु तथा सर्वेति—सकलसभासद्भि समाजेन च उदीरित उच्चारितः उद्दीर्घ महान् य दुरपवाद' धिक्कार. स एव रज. पासु यस्य स, तस्मिन् वसौ कथाशेपतेजसि कथैव शेप तेज यस्य तथाभूते सति, पुन' कथभूते वसौ मिथ्येति—मिथ्या असत्य स चासौ साक्षिपक्ष प्रत्यक्षद्रष्टृपक्ष तस्मिन् विचक्षण चतुर वक्ष' यस्य तस्मिन्। पुन कथभूते दुराचारेति—दुराचरणम् असत्यभाषण तस्य ईक्षणम् अवलोकन तेन क्षुभितः कुपित स चासौ सहस्राक्ष इन्द्र तस्य अनुचरा किंकरा यक्षादय तै ईक्षित जीवितस्य मह तेजो यस्य स तथाभूते वसौ कथाशेपतेजसि जाते सति। अह्नस्वह्रीणतया ह्रीण लज्जित अह्नस्व महान् स चासौ ह्रीण तस्य भावस्तया अतीव लज्जिततयेति भाव, पौरापचिकीर्पया च पौरेपु नागरिकेपु अपकारकरणेच्छया च, निरन्तरेति—निरन्तरा निविडा उदञ्चन्त ऊर्ध्वाग्रा रोमाञ्चा केशा तेपा निकाय समूहो यस्य स पर्वत शल्लेति—शल्लस्य श्वाविधः या' शलाका छत्रादीनाम् अय शलाकावत् ताभि निकीर्ण व्याप्त काय देहो यस्य स इव, निजागणेयदुरीहिताध्मातोदरचर्मपुट निजानि स्वकीयानि अगणेयानि गणयितु सख्यातुम् अशक्यानि यानि दुरीहितानि दुष्टप्रकल्पा दुरभिप्राया तै आध्मातो स्फीतो विवृद्धो उदरचर्मणो. पुटौ पार्श्वौ यस्य, स्फुटन्निव स्फोटं गच्छन्निव स पर्वत. कालासुरेण दृष्ट। पुन कथंभूत जनै नगरान्निष्कासित। कीदृशैर्जनैः निष्कासित' तै नृपतिविनाशवशामर्पिभि नृपते वसो विनाशः तस्य वशात् आमर्प क्रोधो येषा तै, पुन कथंभूतै।

संभूय संहत्य । उपदिष्टेति—उपदेशप्राप्तकोपाणां मूलकानां कर्णेन कुर्वन्ति । अतुच्छेति—अतुच्छानि महान्ति यानि निम्बोकानि त्वचः रक्तानि च कनकफलानि च तेषाम् मास्कन्नानां ताडनानां प्रकर्षं कुर्वन्ति प्रतिघातेन सञ्छन्ति स्फटन्ति च तानि छकछानि कपाटवत् तेषां प्रहारेषु तथं अभिलाषो यथा तैः पुनः कथंभूतैः नगरनिवासहर्षितैः नगरे पुरे निवासेन हर्षं येषां ते नगरनिवासहर्षिताः तैः । जनैः अपमितापकारं न पमिता अपकाराः यथा भवन्ति तथा अपमितापकारं च ताडनारोहणावतारं यस्मिन् कर्मणि तस्योपरि रोहणं पतनं तेन अवतारः प्रवाहो यस्य । पुनः कथंभूतः पर्वतः महान् (यथा नाम तथा गुणः, तथाकृतिर्वा) कष्टप्रदेशे प्राप्ताः प्राणा यस्य कुसूलस्तोत्पन्नकमाणः पुनः महत् पुरतः पुष्करम् आलोक्य तस्य उत्तमः ग्रन्थ स्थानं स्थानिर्यस्य । सकलपुरवीथिषु सकलगमनगृहप्राङ्गणेषु निवसत्कुलानुगता निवसन्तः सारमेयाः तेषां कुले भ्रमणं तद् अनुगतः निष्कासितः नगराद्बहिर्देशं सधिक्कारं प्रेषितः । पुनः कथंभूतः पर्वतः । श्वपचेति—श्वपचो मातङ्गः तस्य श्मशानोपमुक्तं गर्दभं तेन पिहितं मेहनं पुष्टिकाङ्गं यस्य सः पुनः कथंभूतः विपरीतेति—मुदः कैशालस्यरसनस्य तस्य पादः तैरस्यं विपरीतं यथा स्यात् तथा मुखारम्भा आचरितं कृतं मार्गणं यस्या मुखकर्म यस्य सः, प्रकाशितेति—प्रकटतया गर्दं शिखायां पीलुकानां बिल्वफलानां जालं यस्य सः । पुनः कथंभूतः गलेति—कण्ठनालाभिग्रात्तासिरततिः गलनालावलम्बितसरावपङ्क्तिः । प्रवीर्यपि महति वनगहनप्रवृत्ति अरण्यप्रान्तेकान्ते प्रवेशं इत्यर्थः । पुनः कथंभूतः । स काकासुरेण दृष्टः । मुच्छेति—मुच्छम् अल्पम् उदकं यस्यां तथाभूता वापी दीपिनी दीपोऽस्त्यस्याम् इति दीपिनी दीपयुक्ता या वापी तटिनी नदी तस्याः तटनिकटे उपविष्ट स्थित स पर्वतः तेन काकासुरेण दृष्टः [काकासुरस्तं महवाचे तदेव कविर्दर्शयति] प्रत्यग्रमृष्टेति—प्रत्यग्रमृष्टा सम्यक्तया मार्गा हरस्मैव येन तथाभूतेन काकासुरेण निभृतं निर्जनम् इति वक्ष्यमाणप्रकारेण विलक्ष्य भाषितः पर्वतः । किं विवक्षितं तेन । 'अहं तावत् वैकारिकाद्वि प्रविष्कायपिपुष्पितः अहं तावत् प्रथमं विशिष्टावस्थामूर्द्धि प्रकटयितुं शक्तिर्यस्य तथाभूतः अहं निमर्शितासम्यक्त्वेन परतो भवे कृताः विमानमानाद्य स्वयं यास्यामीति दर्शयितुं समवाः । एव परतोऽपि स्वस्य भवस्य प्रतिष्ठापनां कर्तुमिच्छन्नां मति तस्मां प्रकर्षेण प्रशक्तिर्यस्य तथाभूतोऽस्ति । अतः निभृतिकाः निश्चितम् खलु मे कार्यस्थानं कार्यं सम्यक् कृतं । इति निभृतं विलक्ष्य पर्याप्तेति—परि समन्तात् आप्तः कथं परिपालककलानुगेन येन मामाम्बी सकलप्य मनीषा बुद्धिर्यस्य तथाभूतेन तेन भाषितश्च तथा हि—पर्वत केन खलु समागतं समीपीभूतं कीनाश यम तस्य केशाः कीनाशा यमं परीहासः यस्य तथाभूतेन तेन कुत्सनया अशुभकार्येण निर्मिमापितः कारितः निर्वर निष्ठुर अहमद निर्वरः अतिरीव इति भावः स वाची अपकारः अपहृतिः । येन त्वमि अपकारं कृतस्त्वं मुखं संनिहितो मृत्युरिति मन्ये । पर्वत—तात को भवान् । पर्वतः—भवत्पितुः खलु निवसुहृत् अहं नियमित्रत्वं सहाध्यायी सहपाठी शाण्डिल्य इति नाम्ना अभिनीतेऽस्मि । यथा हि वत्स भवान् समभवत् अथापत तथाहं तीर्थयात्रामापणाम् । इदानीं यात्राम् आगच्छम् । अतो न भवान्मां सम्यक्तयावरमति न निश्चिनाति । तत्क कारणमस्य व्यतिकरस्य अस्या दशायाः किं नु निधानं तद् वद । पर्वत—मयीति—मम भाषितं कीर्तितं तत्त्व परिणामे रचने सम्यक् पूजयत्, समाकर्णय शृणु । मम पितरि नाकलोकम् इते सति अहं नारदेन विवदमानः एतादृशीम् अवस्थामनमम् । कथंभूते पितरि । समस्तेति—समस्ता सकला आपदा पद दर्शनानि त एव रत्नानि तानि संनिहितानि समीपे वासमतीति संनिधाता तस्मिन् । पुनः कथंभूते तस्मिन् । सुकृतेति—सुकृतानि पुण्यानि तान्येव भवया ताम् सम्यक् आहरति आनयति इति तथाहृतौ तस्मिन् । पुनः कथंभूते तस्मिन् । निजेति—निजजन्म कुलम् आगमकर्तं तद् अनु अनुसृत्य अतिरि वर्गं कुर्वाणे पुनः कथंभूते तस्मिन् यथा भूतारम्भाय स्यात् तथा प्रवृत्ति कुर्वाणे सम्यक् एवं पन्नं प्रवृत्तिर्यस्य तथाभूते पितरि नाकलोकं स्वर्गलोके इते गते सति । स्वातन्त्र्यात् स्वच्छन्दभावात् एकदा अहं 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यार्थं परिचक्षितवान् । कथंभूतोऽहम् । प्रदीप्तेति—प्रदीप्त प्रज्वलित भिक्षामम् अतिशयेन कार्मोद्गमः कामस्य मदनस्य उद्भूत यस्य तथाभूतः । पुनः कथंभूतः । संपन्नेति—संपन्ना संपन्न वधोद्भवागतस्य वैरमावोचस्य समागम संयोगो यस्य तथाभूतः । पुनः कथंभूतः । कृतेति—कृता निधिनस्य मांसस्य पापिष्ठामनस्य मद्यस्य कुत्सनस्य आस्वादो यस्य यानं च तेन तथाभूतः ।

थभूतोऽहम्। पापेति—पापकर्मणा प्राणिवधादीना कार्याणा प्रमाद कृपा यस्मिन् तथाभूतोऽहम्,
जानन्नपि आर्योपदिष्टम् आर्यै आचार्यपरपरागतविबुधै उपदिष्ट प्रतिपादित विशिष्टम् अहिंमाधर्म-
नात्, व्याख्यान विवरणमह दुरात्मा इति आख्यान नाम यस्य तथाभूत, स्वव्यसनविवृद्धये वेश्यासेवनादि
ोपणाय, धर्मबुद्धया साधुमध्ये 'अजैर्यष्टव्यम्' इतीद वाक्य वचनम् अशेषकल्मषनिषेव्य अशेषाणि
नि कल्मषाणि पापानि निषेव्याणि सेव्यानि यस्य तथाभूतोऽहम् अन्यथोपन्यस्यमानो विपरीतार्थोपस्थापक-
प्रतिपादयन् नारदेन आपादितवचनस्खलन आपादित प्रदर्शित वचनस्खलनम् अन्यथाप्ररूपण यस्य
त सन् एतावद्विपत्तिस्थाम् इयत्सकष्टदशाम् अवाप प्राप्तोऽहम्। [पर्वतस्य कार्ये साहाय्य तन्वान
पुर ब्रह्मवेष स्वीचकार] कालासुर—पर्वत, मा शोच, शोक मा कुरु। मुञ्च त्वम् अशेषं सकल
ाया बुद्धे कलुष मालिन्यम्। अङ्ग, हे पर्वत, साधु सबोधय आत्मानम्। स्वम् एव सुष्ठु उपदिश।
माभूरित्यर्थ। किं तत् आत्मसबोधनम्। 'न खलु निरीहस्य निश्चेष्टस्य निरुद्यमस्य नरस्यास्ति
मनीषितावाप्ति अभिलषितप्राप्ति। तदलं हन्त हृदयदाहानुगेनावेगेन। तस्मात् हन्त खेदे, मन-
कुर्वता आवेगेन खेदेन अलं मन सतापकर खेद मा कुरु इत्यर्थ। हहो पुत्र पर्वत, यथा स्वकीय-
ाङ्क स्वाभिप्रायव्यञ्जकलक्षणानि यथा स्युस्तथा ब्राह्मादि ब्राह्मगोसवाश्वमेधसौत्रामणिवाजपेयराजसूय-
ौकप्रभृतीनाम् सप्ततन्तूना यज्ञाना प्रतिपादकानि वाक्यानि रचयित्वा मध्ये मध्ये वेदवचनेषु निवेशय
य। वत्स, भू पातालम्, भुवर् मध्यलोक, स्वर् स्वर्गलोक' एषा यय्या विपर्यासिन वैपरीत्यापादन तत्र
ं मन्त्राणा माहात्म्य प्रभावो यस्य तथाभूते मयि सति, त्वयि च, तरसेति—तरस मासम्, आसवो मदिरा,
श्री माता एतेषु वस्तुषु प्रवृत्ति' एतत्सेवन तत्र हेतु श्रुतिर्वेद तस्या गीति' गान तस्या सम्यग् अभ्यस्तं
य तन्मयता येन तथाभूते त्वयि, किं नु नाम इहासाध्यम्। इत्युत्साह्य स्वकीयाभिप्रायद्योतकवाक्याना
निवेशनकार्ये प्रवर्त्य। स्वयं विद्यानाम् अवष्टम्भेन बलेन सृष्टाभि उत्पादिताभि अष्टाभिरपि ईतिभि'
वै उपद्रूयमाणजनपदहृदयं पीड्यमानदेशमध्यम् अयोध्याविषयम् आगत्य तत्र नगरबाहिरिकाया पुरबाह्य-
ो स देव कालासुर चतुराननश्चतुर्मुखो ब्रह्मा अजायत। अध्वर्यु पर्वत आसीत्। अध्वर यज्ञ यौति
दयतीति अध्वर्यु होमकारी ऋत्विक् अभवत्। मायामयसृष्टय मायया निर्वृत्ता मायामयी तद्रूपा सृष्टि
त्तिर्येषा ते मायामयसृष्टय पिङ्गलमनु-मतङ्ग-मरीचि-गौतमादयश्च ऋत्विज ऋतौ यजन्तीति ऋत्विज
हिता अजनिषत अजायन्त। तत्र श्रुतिधृति श्रुती वेदान् धरतीति श्रुतिधृति ब्रह्मा चतुर्भि वदनै मुखै
दिशति। पर्वतस्तु—यज्ञार्थमिति—स्वयभुवा स्वय भवतीति स्वयंभूर्ब्रह्मा तेन स्वयमेव पशव अजादय
ार्थ होमार्थं सृष्टा उत्पादिता। यज्ञ' सर्वेषा जनाना भूत्यै वैभवाय भवति तस्मात् यज्ञे कृत पशुवध अवध
ंसा भवति॥३९७॥ 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम् आलभेत। ब्रह्मणे ब्रह्मदेवाय ब्राह्मण विप्रम् आलभेत हिंस्यात्।
ाय क्षत्रियम् इन्द्रदेवाय क्षत्रियं राजन्यम् आलभेत हिंस्यात्। आलभेत इत्यस्य उत्तरत्र सर्वत्र सबन्ध।
रुद्भ्यो वैश्य वायुभ्यो वैश्यम् आलभेत। तमसे शूद्र राहवे शूद्रम् आलभेत। उत्तमसे तस्करम् आलभेत
तमोदेवाय चौरम्। आत्मने क्लीब नपुसकम्। कामाय पुश्चल व्यभिचारिणम्। अतिक्रुष्टाय मागध राजाग्र-
ातिकारिणम्। गीताय सूत सारथिम्। आदित्याय सूर्याय स्त्रिय गर्भिणीम्। सौत्रामणौ सौत्रामणियज्ञे य
त्रविधा सुरा पिबति न तेन सुरा पीता भवति। सुराश्च तिस्र एव श्रुतौ समता वेदे समता मान्या।
ष्टी, गौडी, मागधी चेति। पैष्टी विविधधान्यविकारजा मदिरा। गौडी गुडादिविकारजा सुरा। मागधी
सुरा। गोसवे गोमेधे यज्ञे ब्राह्मणो गोसवेन गोमेधेन इष्ट्वा पूजयित्वा सवत्सरान्ते मातरमप्यभिलषति,
पेहि मातरम्, उपेहि स्वसारम्।

[पृष्ठ १८९–१९१] षट्शतानि इति—अश्वमेधस्य यज्ञस्य मध्यमे अहनि दिवसे पशूना षट्शतानि
नियुज्यन्ते आलभ्यन्ते। वचनात् त्रिभि पशुभि ऊनानि रहितानि। अर्थात् सप्तनवत्यधिकानि पञ्चशतानि

१ अग्नीध्राद्या धनैर्वार्या ऋत्विजो याजकाश्च। आदिशब्दात् पोतृप्रशास्तृब्राह्मणच्छन्दस्य छायाक-
ावस्तुब्रह्ममैत्रावरुणप्रतिस्थातृप्रतिहन्तृनेतृनेष्टृसुब्रह्मण्या इत्य सदस्या सप्तदशर्त्विज।

संभूय संहत्य । उपविष्टेति—उपरेशमात्रस्फोटमानां मृदङ्गानां बधर्मं कुर्वद्भिः । अतुच्छेति—अतुच्छानि महान्ति यानि पिच्छोलानि तथा । उज्ज्वलानि च कलशकानि च तेषाम् आस्फालनानां ताडनानां प्रकर्षं कुर्वन्ति, प्रतिघातेन उच्छलन्ति उत्प्लवन्ति च तानि उल्मुकानि कपालानि तेषां प्रहारेषु तत्र अभिरुचयो येषां ते । पुनः कथंभूतैः नगरनिवासहर्षिभिः नगरे पुरे निवासेन हर्षं येषां ते नगरनिवासहर्षिणः तैः । अनि अवचितापकारं न चयिता अपकाराः यथा भवेयुः तथा अपचितापकारं स रासभरोहणावतारं रासभो गर्दभः तस्योपरि रोहणं चटनं तेन अवतारः प्रवेशो यस्य । पुनः कथंभूतः पर्वतः महान् (यथा नाम तथा गुणः तथाकृतिश्च) कच्छदेशे कच्छदेशे भाण्डा प्राणा यस्य पृथुलकोल्लकलापः पृथु महत् पुलक्वं पुत्कारम् आक्रोशः तस्य उपमः तस्य यस्य ध्वनिर्यस्य । सकलपुरवीथिषु सकलनगरगृहपङ्क्तिषु विषमरथ्यामुखाग्र विसरताः सारमेयाः तेषां भुक्तं भयं तत् अनुपतः निष्कासितः नगरमाहात्म्येन अधिककारं प्रेषितः । पुनः कथंभूतः पर्वतः । द्रवपथेति—स्वपथो मार्गः तस्य स्वपाणोपयुक्तं चर्मखण्डं तेन पिहितं मेहनं गुरिन्द्रियं यस्य सः पुनः कथंभूतः विपरीतेति—मुट केशकलापस्तस्य तस्य भारः तैरश्च्यं विपरीतं यथा स्यात् तथा क्षुरधारया आचरितं कृतं मार्गाकृत्या मुण्डनं यस्य सः, प्रकाशितेति—प्रकटतया अर्ध शिखायां भीषणानां विरलफणानां आसं यस्य सः । पुनः कथंभूतः गलेति—कण्ठनालावलम्बि-धावनजिरचितः गलनालावलम्बितशरावपङ्क्तिः । प्रवीणवति महति जनमहत्तरसंसदि अरण्यसाम्राज्यकान्ते प्रवेशं कृतवान् । पुनः कथंभूतः । स कालासुरेण दृष्टः । तुच्छेति—तुच्छम् अल्पम् उदकं यस्याः तथाभूता वाती दीपिनी दीपोऽस्त्यस्याम् इति दीपिनी दीपयुक्ता सा वाती तटिनी नदी तस्याः तटनिकटे उपविष्टः स्थितः स पर्वतः तेन कालासुरेण दृष्टः [कालासुरस्तं मन्त्रभावे तदेव अविर्वयति] प्रत्ययसृष्टेति—प्रत्ययमुद्रा सम्यक्तया ज्ञाता इङ्गितचेष्टा येन तथाभूतेन कालासुरेण निभृतं निर्जनम् इति वक्ष्यमाणप्रकारेण वितर्कं भावितः पुनः । किं वितर्कितं तेन । अहं तावत् वैकारिकर्द्धि प्रविकटवपिपुष्कसितः अहं तावत् प्रथमं विक्रियाऋद्धिप्रभृति प्रकटितुं शक्तिमत्त्वात् तथाभूतः अहं निजशक्तिसामर्थ्येन पञ्चमो भवे भूत्वा विमानमारुह्य स्वर्गं यामीति दर्शयितुं समर्थः । एव पर्वतोऽपि स्वस्य मतस्य प्रतिष्ठापना कर्तुमिच्छुर्या मतिः तस्याः प्रकर्षेण प्रवृत्तिर्यस्य तथाभूतोऽस्ति । अतः निष्प्रतिघः निर्विघ्नः ननु मे कार्यसिद्धेः कार्यं तस्माद् भूयः । इति निभृतं वितर्क्य पर्याप्तेति—परि समन्तात् आप्तः लब्धः परितापकथामुखेन येन मायामयी सकपटा मनीषा बुद्धिर्यस्य तथाभूतेन तेन भाषितस्य तथा हि—पर्वत केन ननु समासन्नं समीपीभूतं कीनाशः यमः तस्य कैस्याः क्रीडाया धर्म परीहासः यस्य तथाभूतेन तेन दुष्कर्मणा अशुभकार्येण विनिर्मापितः कारितः निर्भरः निष्ठुरः अत्युत्कटः निर्भरः अतिवीव इति भावः च वाती अपकारः अपकृतिः । येन त्वयि अपकारः कृतस्तस्य मूर्ध्नि संनिहितो मृत्युरिति मन्ये । पर्वतः—तात को भवान् । पर्वतः—भवन्तितु ननु प्रियसुहृद् अहं प्रियमित्रमहं सहाध्यायी सहपाठी शाण्डिल्य इति नाम्ना अभिधीयेऽहम् । यदा हि वत्स भवान् समभवत् भवान्स तदाहं तीर्थयात्रायामगमम् । इदानीं आगताम् आगमम् । यतो न भवाग्मी सम्यगवगच्छति न जानातीति । तत्कथय कारणमस्य व्यतिकरस्य अस्या अवस्था किं नु निदानं तद् वद । पर्वतः—मयिति—मम मानितं जीवितं तस्य परिणामे एवमेव भवान् प्रभूत भगवन्, समाकर्णय शृणु । मम पितरि नाकलोकम् गते सति अहं नारदेन विवदमानः एतादृशीम् अवस्थामगमम् । कथंभूते पितरि । समस्तेति—समस्ताः सकलाः आपदाः यत् दर्शनानि त एव रत्नानि तानि धनिस्थानि समीपे वायन्तीति संनिधाता तस्मिन् । पुनः कथंभूते तस्मिन् । गुरुत्वेति—गुरुत्वानि पुण्यानि सम्येव मनसः तान् अन्यत आहृति आनयति इति तथाहृतौ तस्मिन् । पुनः कथंभूते तस्मिन् । निजेति—निजकस्य पुत्रम् आत्मनः तत् अनु अनुसृत्य अत्र गमनं कुर्वाणे यथा गुरुत्वगमनाद्य स्यात् तथा प्रवृत्तिं कुर्वाणे अस्मिन् उत्तरं इतं गमनं प्रवृत्तिर्यस्य तथाभूते निर्जरे नाकलोके स्वर्लोके इते गते सति । स्वामिन्नाम् स्वच्छन्दस्वाद् एतद् अहं अवैर्गृहदुष्कम् इति वाक्यार्थे परिवर्णितवान् । कथंभूतोऽहम् । प्रत्येति—प्रतीप्य प्रज्वलित चित्तम् अनिवार्येण क्रोधोद्गमः यस्य तथाभूतः । पुनः कथंभूतः । संपमेति—संपमः तथाभूतः । पुनः कथंभूतः । कृतेति—कृतः तथाभूतः ।

पुनः कथभूतोऽहम् । पापेति—पापकर्मणा प्राणिवधादीना कार्याणा प्रसाद कृपा यस्मिन् तथाभूतोऽहम्, चेतन् जानन्नपि आर्योपदिष्टम् आर्ये आचार्यपरपरागतविबुधै उपदिष्ट प्रतिपादित विशिष्टम् अहिंसाधर्मपोषकत्वात्, व्याख्यान विवरणमह दुरात्मा इति आख्यान नाम यस्य तथाभूत , स्वव्यसनविवृद्धये वेश्यासेवनादि व्यसनपोषणाय, धर्मबुद्धया साधुमध्ये 'अजैर्यष्टव्यम्' इतीद वाक्य वचनम् अशेषकल्मषनिषेव्य अशेषाणि सकलानि कल्मषाणि पापानि निषेव्यानि सेव्यानि यस्य तथाभूतोऽहम् अन्यथोपन्यस्यमानो विपरीतार्थोपस्थापकरूपेण प्रतिपादयन् नारदेन आपादितवचनस्खलन आपादित प्रदर्शित वचनस्खलनम् अन्यथाप्ररूपण यस्य तथाभूत सन् एतावद्विपत्तिस्थाम् इयत्सकटदशाम् अवाप प्राप्नोऽहम् । [पर्वतस्य कार्ये साहाय्य तन्वान कालासुर ब्रह्मवेष स्वीचकार] कालासुर —पर्वत, मा शोच, शोक मा कुरु । मुञ्च त्वम् अशेष सकल विषणाया बुद्धे कलुष मालिन्यम् । अङ्ग, हे पर्वत, साधु सबोधय आत्मानम् । त्वम् एव सुष्ठु उपदिश । खिन्नो माभूरित्यर्थ । किं तत् आत्मसबोधनम् । 'न खलु निरीहस्य निश्चेष्टस्य निरुद्यमस्य नरस्यास्ति काचिन्मनोषितावाप्ति अभिलषितप्राप्ति । तदल हन्त हृदयदाहानुगेनावेगेन । तस्मात् हन्त खेदे, मनसताप कुर्वता आवेगेन खेदेन अल मन सतापकर खेद मा कुरु इत्यर्थ । हहो पुत्र पर्वत, यथा स्वकीयमकेताङ्क स्वाभिप्रायव्यञ्जकलक्षणानि यथा स्युस्तथा ब्राह्मादि ब्राह्मगोसवाश्वमेधसौत्रामणिवाजपेयराजसूयपुण्डरीकप्रभृतीनाम् सप्ततन्तूना यज्ञाना प्रतिपादकानि वाक्यानि रचयित्वा मध्ये मध्ये वेदवचनेषु निवेशय प्रवेशय । वत्स, भू पातालम्, भुवर् मध्यलोक , स्वर् स्वर्गलोक एषा त्रय्या त्रिपर्यासिन वैपरीत्यापादन तत्र समर्थं मन्त्राणा माहात्म्य प्रभावो यस्य तथाभूते मयि सति, त्वयि च, तरसेति—तरस मासम्, आसवो मदिरा, सवित्री माता एतेषु वस्तुषु प्रवृत्तिः एतत्सेवन तत्र हेतु श्रुतिर्वेद तस्या गीति गान तस्या सम्यग् अभ्यस्त सात्म्य तन्मयता येन तथाभूते त्वयि, किं नु नाम इहासाध्यम् । इत्युत्साह्य स्वकीयाभिप्रायद्योतकवाक्याना वेदे निवेशनकार्ये प्रवर्त्य । स्वयं विद्यानाम् अवष्टम्भेन बलेन सृष्टाभि उत्पादिताभि अष्टाभिरपि ईतिभि' उपद्रवै उपद्रूयमाणजनपदहृदय पीडयमानदेशमध्यम् अयोध्याविषयम् आगत्य तत्र नगरवाहिरिकाया पुरबाह्यप्रदेशे स देव कालासुर चतुराननश्चतुर्मुखो ब्रह्मा अजायत । अध्वर्यु पर्वत आसीत् । अध्वर यज्ञ यौति सपादयतीति अध्वर्यु होमकारी ऋत्विक् अभवत् । मायामयसृष्टय मायया निर्वृत्ता मायामयी तद्रूपा सृष्टि उत्पत्तिर्येषा ते मायामयसृष्टय पिङ्गलमनु-मतङ्ग-मरीचि-गौतमादयश्च ऋत्विज ऋतौ यजन्तीति ऋत्विज पुरोहिता अजनिषत अजायन्त । तत्र श्रुतिधृति श्रुती वेदान् धरतीति श्रुतिधृति ब्रह्मा चतुर्भि वदनै मुखै उपदिशति । पर्वतस्तु—यज्ञार्थमिति—स्वयभुवा स्वय भवतीति स्वयंभूर्ब्रह्मा तेन स्वयमेव पशव अजादय यज्ञार्थं होमार्थं सृष्टा- उत्पादिता । यज्ञः सर्वेषा जनाना भूत्यै वैभवाय भवति तस्मात् यज्ञे कृत पशुवध अवध अहिंसा भवति ॥३९७॥ 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम् आलभेत । ब्रह्मणे ब्रह्मदेवाय ब्राह्मण विप्रम् आलभेत हिंस्यात् । इन्द्राय क्षत्रियम् इन्द्रदेवाय क्षत्रिय राजन्यम् आलभेत हिंस्यात् । आलभेत इत्यस्य उत्तरत्र सर्वत्र सबन्ध । मरुद्भ्यो वैश्य वायुभ्यो वैश्यम् आलभेत । तमसे शूद्र राहवे शूद्रम् आलभेत । उत्तमसे तस्करम् आलभेत उत्तमोदेवाय चौरम् । आत्मने क्लीव नपुसकम् । कामाय पुश्चलं व्यभिचारिणम् । अतिक्रुष्टाय मागध राजाग्रस्तुतिकारिणम् । गीताय सूत सारथिम् । आदित्याय सूर्याय स्त्रिय गर्भिणीम् । सौत्रामणौ सौत्रामणियज्ञे य एवविधा सुरा पिबति न तेन सुरा पीता भवति । सुराश्च तिस्र एव श्रुतौ समता वेदे संमता मान्याः । पैष्टी, गौडी, मागधी चेति । पैष्टी विविधधान्यविकारजा मदिरा । गौडी गुडादिविकारजा सुरा । मागधी च सुरा । गोसवे गोमेधे यज्ञे ब्राह्मणो गोसवेन गोमेधेन इष्ट्वा पूजयित्वा सवत्सरान्ते मातरमप्यभिलषति, उपेहि मातरम्, उपेहि स्वसारम् ।

[पृष्ठ १८६–१९१] षट्शतानि इति—अश्वमेधस्य यज्ञस्य मध्यमे अहनि दिवसे पशूना षट्शतानि नियुज्यन्ते आलभ्यन्ते । वचनात् त्रिभि पशुभि ऊनानि रहितानि । अर्थात् सप्तनवत्यधिकानि पञ्चशतानि

---

१ अग्नीध्राद्या धनैर्वार्या ऋत्विजो याजकाश्च । आदिशब्दात् पोतृप्रशास्तृब्राह्मण्यच्छन्दस्य छायाकप्रावस्तुब्रह्ममैत्रावरुणप्रतिस्थातृप्रतिहन्तृनेतृनेष्टृसुब्रह्मण्या इत्य सदस्या सप्तदशर्त्विज ।

पशूनाम् अश्वमेधस्य यज्ञस्य मध्यमेऽह्नि नियुज्यन्ते ॥ १९८ ॥ महोक्षो वेति—श्रोत्रियाय वेदाध्येतृब्राह्मणाय महोक्षः महाबलीवर्दः महाजो महाछागः विशस्यते हिंस्यते दिव्याय ॥ १९९ ॥ गोसवे इति—गोसवे गोमेधयज्ञे सुरभिं गां हन्यात् हिंस्यात्। राजसूये यज्ञे तु भूभुजं राजानं हन्यात्। अश्वमेधे हयम् अश्वं हन्यात्। पौण्डरीके च दन्तिनं गजं हन्यात् ॥ ४० ॥ औषध्य इति—औषध्यः वनस्पतयः पशवः छागादयः वृक्षाः तरवः पलाशोदुम्बरपिप्पलादयः तिर्यञ्चः कूर्मादयः पक्षिणः हंससारसादयः नराः मनुष्याः एते यज्ञार्थं निधनं मरणं प्राप्ताः उच्छ्रितां समुन्नतां गतिं दैवादिगतिं प्राप्नुवन्ति यान्ति ॥ ४१ ॥ मानवमिति—मनोरिदं मानवं मनुवचनम् व्यासवासिष्ठं व्यासस्येदं व्यासम्, वसिष्ठस्येदं वासिष्ठम्, व्यासवचनं वसिष्ठवचनं च वेदसंयुतं वेदोक्तमेव भवति। यो नरः अप्रमाणं ब्रूयाद्वदेत् स ब्रह्मघातको भवेत् ब्राह्मणघातस्य पातकं तस्य भवेदित्यर्थः ॥ ४२ ॥ पुराणमिति—पुराणं रामायणभारतादिकम्। मानवो धर्मः मनुप्रणीतं स्मृतिशास्त्रम् साङ्गो वेदः शिक्षा-कल्प-व्याकरण-छन्दो-ज्योतिष-निरुक्ताख्यैः षडङ्गैः सहितः वेदः चिकित्सितम् आयुर्वेदम्। एतानि चत्वारि शास्त्राणि आज्ञासिद्धानि। एतेषां वचनमेव मन्यते। हेतुभिः न हन्तव्यानि। हेतुवादेन न निराकरणीयानि ॥ ४३ ॥ इति मनु-मरीचि-मतङ्गप्रभृतयश्च सवषट्कारं वषट्कारपूर्वकम् अजाः छागाः द्विजाः पक्षिणः गजाः हस्तिनः वाजिनः अश्वाः प्रभृतयो आद्यो येषां ते तान् वैदिको मन्त्रावयवो यज्ञकुण्डे मन्त्रोच्चारणपूर्वकं पातयन्ति। तदेवं श्रुतिर्वेदः वचनम् अस्माद्विदं प्रद्रुष्यम्, दक्षिणा प्रथमं ... क्रियादिकम्, जित्वा हत्वापकरणम् एतौ वचनौ विलो ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राणाम् ईशाः (ईशौ) पीडा पवतो व्यपोहति निराकरोति। कालासुरः पुनः आक्रम्यमाणान् हिंस्यमानान् प्राणिनः अजद्विजगजवाजीन् साक्षात् मायानि आदाय स्वर्गे दैवलोके साम्यर्यां मायया पर्यटतः विहरमाणान् दर्शयति। मनुप्रमुखान्त मुनयः प्रमाणयन्ति मन्त्रप्रमाणं दर्शयन्ति। मायया प्रकटितस्वर्गलोकप्रदेशादिलोभे वसन्ते सकलप्रजाजनलोभे च स सगरः प्रत्यासन्नं समीपं नरकनगरं यस्य स्वर्गे नरक तस्य विभ्रमस्य उचिता योग्या स्थितिर्यस्य स विभ्रमस्थितिश्च तदुपदेशात् पर्वतकालासुरादुपदेशात् तस्मात् प्राणिनोऽजादीन् हत्वा व्यासत्वा मत्वामित्वा च दुर्दुर्नय मन्तोऽभवाने यस्य तस्मुरितं पातकं तेन युक्तं चित्तं मनः चेतः आर्तं ययोस्तौ सगरविश्वभूती भयाभिप्रायात् पश्चात्तापेन कालासुरेण स्मारितं ज्ञापितं पूर्वभवानां पूर्वजन्मापराधं ययोस्तौ भीतिहोमोऽपि तस्मिन्नाहुति- क्रमेण विहितं कृतं विचित्रं नानाविधं यवद्रव्यं प्राप्य मासं वसोस्तौ चिरचिमाया धरिण्या भूमेः दारीयः दीर्घं दुःखरक्षः पीडासंतापः तेन मन्दरं मन्दं तर्त नरकतलम् इति भावः ययाताम् अवगच्छताम्। पर्वतोऽपि सप्तमनरके जन्म लेभे। कथंभूतः सः अजातीपतिविषये अन्ये स्त्री अगामी अश्लेषिर्या तस्याः पतिः अग्निः तस्य विषये जठरानलस्य पचयन्ती च हुम्भकम्पकर्मभिः विधुरेषकर्मभिः कृतसकलप्राणिघातः। पुनः कथंभूतः। कालासुरेति—कालासुरस्य तिरोधानम् अन्तर्धानं तेन विधुरविविसारः दुर्जनीजसारो यस्य। तद्विरहेति—तस्य कालासुरस्य विरहः वियोगः स एव आतङ्कः रोगाभिर्यस्य तेन कृशतमशरीरः दुःखेन कृशदेहः कालेन जीर्णं जीर्णं जीवितम् आयुः यस्य सः व्यालोष्मजातादिकं यमनादिकं च यस्य सः पचतः सप्तमरकावतरः सप्तमरसा सप्तमं नरकम् अवसरः तस्य स्थानम्। यमपादि अपयत्। भवति चात्र श्लोकः—सुधोधानीनयोयोगात्—सुधोयम् अवतारवचनं तदैव आधानयो योगः तस्य प्रयोगात् पर्वतेन शर्म वसु व्यवस्थातत्पापकं ज्वलनम् दीप्यम् आतङ्कः एव पावको वह्निर्येन तथाभूतं अवतीभूतं अवस्था भूतं नरकभूमिं जगाम प्रपन्नम् ॥ ४४ ॥

इत्युपासकाध्ययने यज्ञलक्षणसूचनो नाम त्रिंशत्तमः कल्पः ॥ ३० ॥

३१ आत्मफलसाधारणो नामैकत्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ १९१-१९२] चमू इति—चमू पत्नी चित्तवती येषां अवभृता तमे मुक्ता सर्वम् अन्यस्मिन् तज्जने स्वीकने कन्यादिषु तेषु माता स्वसा भगिनी तनूजेति कन्येति या मतिः संकल्पः गृहाश्रमे पुरुषधर्मे

ब्रह्म ब्रह्मचर्य वेदितव्यम् ॥४०५॥ धर्मेति—धर्माचरणस्य भूमि पुण्यभूमि आर्यदेश चैत्यालयादिक वा तत्र मनुष्य नियतस्मर. विजितमदनो भवेत् । धर्मभूमौ धर्मस्य स्थाने मातृस्वसृतनूजादिषु मनुष्य' जितमदनो भवेत् । यत् यस्मात् जात्यैव स्वजात्या एव परिणीतया सह सभोग कार्य, परा वधूवेश्ये मुक्त्वा परा ताभ्याम् अन्या जातिबन्धुलिङ्गिस्त्रिय जातिस्त्रिय या स्वीया जाति तत्स्त्रिय', बन्धुस्त्रिय सुहृदा स्त्रिय, स्यालादिसबन्धिना स्त्रिय, लिङ्गिस्त्रिय व्रतिन्य स्त्रिय आर्यिकादयश्च । ता त्यजेत् ॥४०६॥ रक्ष्यमाणे इति—यत्र यस्मिन् व्रते रक्ष्यमाणे अहिंसादयो गुणा अहिंसा-सत्य-अचौर्य-परिग्रहप्रमाणत्वादयो गुणा बृहन्ति वृद्धिमुपयान्ति । ब्रह्मविद्या-विशारदा अध्यात्मज्ञाननिपुणा तद्ब्रह्म उदाहरन्ति नियतस्मर नाम व्रत वदन्ति ॥४०७॥ मदनेति—मदनोद्दीपनै मदनस्य उद्दीपनानि कामवृद्धिविधायीनि यानि वृत्तानि वर्तनानि कुत्सिताचारा: तै आत्मनि मद न आचरेत् दर्प नोत्पादयेत् । मदनोद्दीपनै रसैर्वृष्यादिरसै स्वस्मिन् दर्प न जनयेत् । मदनोद्दीपनै शृङ्गार-प्रचुरै काव्यादिभि दर्प न उत्पादयेत् ॥४०८॥ हव्यैरिति—यथा हुतप्रीति हूयन्ते इति हुतानि घृतादीनि तेषु प्रीति यस्य स हुतप्रीति अग्नि, स हव्यैरिव हव्यैर्यथा देवदत्तद्रव्यैर्घृतादिभि तोष तृप्ति न एति। नीरधि समुद्र पायोभिरिव जलैर्यथा तोष नैति तथा भवसभवैः नृजन्मनि सभव उत्पत्तिर्येषा तैर्भोगै स्त्रीस्रक्चन्दनादिभि एष पुमान् पुरुष तृप्ति सतोष न एति ॥४०९॥ विषवदिति—यथा विषम् आपाते तत्काले मधुरागमं भवति मधुरस्वाद भवति । अन्ते अवसाने विपत्ति. मृत्यु फल ददाति तथा विषयाः कामिन्यादय तत्काले मधुरा. प्रिया भवन्ति अवसाने विपत्तिफलदा आपत्फलदायिनो भवन्ति । तत् इह विषयेषु सता सज्जनाना को ग्रह. क अभिनिवेश. ॥४१०॥ बहिरिति—बाह्यत तास्ताः आलिङ्गनचुम्बनादिका क्रिया कुर्वन् सकल्पजल्प-वान् नर' अहम् एव ता नारीमाश्लिष्यामि एव तस्या मुख चुम्बिष्यामि इति सकल्प कुर्वस्तथैव अन्तर्जल्प कुर्वाण नर भावाप्ताविव भाव समानरतिरिति । तस्याप्ताविव प्राप्तौ सत्यामेव स निर्वाति सतोष याति । पर तत्र विषयसेवने परस्त्रीसेवायाम् अधिक क्लेश समुत्पद्यते । अथवा भावाप्तौ एव समरसरसरङ्गोद्गमे सत्येव निर्वाति सुख लभते । अन्यथा भीत्यादिविकारे सति मन प्रसत्त्यभावे सुखं न लभते । प्रत्युत परस्त्र्यादिसेवने क्लेश एव अधिको भवेत् । अत परस्त्रिय वर्जयेत् ॥४११॥ निकाममिति—निकाम नितराम् । कामकामा-त्मा कामे मैथुनसुखे काम इच्छा यस्य स आत्मा जीव । तस्य मैथुनस्य अनारतसेवने सति । तस्य अनन्तवीर्य-पर्याय तृतीया प्रकृति भवेत् नपुसकभावो भवेत् ॥४१२॥ सर्वेति—हितकामिना हिताभिलाषिणाम् । फलाय धर्मफलप्राप्तये । सर्वा क्रिया अनुलोमा अनुकूला भवेत् । धर्मसेवने अनुकूला दानतप पूजादिका क्रिया स्वर्गा-पवर्गफलप्राप्तौ हेतु भवेत् । परम् अर्थकामौ वर्जयित्वा विश्वसितवञ्चनस्वामिद्रोहपरस्त्रीसेवनादिकाननुकूल-क्रियाणा करणेनार्थकामपुरुषार्थफल न लभ्यते । न्यायोपात्तधनादिकात् स्वस्त्रीसतोषादिकादेव अर्थकामफल लभ्यते ॥४१३॥ क्षमेति—काम मैथुनसेवन क्षयामयसम क्षयनामक आमयसम रोगतुल्य अय काम । सर्वे च ते दोषा सर्वदोषा तेषाम् उदये उत्पत्तौ द्युति कान्ति । कामाकुले नरे रागादिदोषाणाम् उत्पत्तिर्भवतीति भाव । तत्र मर्त्यानाम् मनुष्याणाम् उत्सूत्रे कामे उच्छृङ्खले सति कुत श्रेय समागम, कुत मोक्षप्राप्ति भवेत् ॥४१४॥ देहेति—देहस्य सस्कार दन्तनखकेशादिशृङ्गार शरीरसस्कार । द्रविणसमुपार्जन क्रयविक्र-यादिभि धनवृद्धि तथा द्रविणवृत्तय द्रविणेन धनेन वृत्ति उपजीवनम् । जितकामे जित कामो येन तस्मिन्नरे जितेन्द्रिये उपर्युक्ता सर्वा क्रिया वृथा । तत्काम सर्वदोषान् भजति ॥४१५॥

[पृष्ठ १९३-१९४] स्वाध्यायेति—यावत् यावत्काल चित्तेन्धने चित्तमेव मन एव इन्धन दारु तस्मिन् कामाशुशुक्षणि इन्द्धे दीप्तो भवति । तावत् तावत्काल स्वाध्याय धर्मग्रन्थाना पठनम्, पृच्छनादिकं च, ध्यान मन एकाग्र विधाय अर्हदादिषु तद्गुणेषु च विहित चिन्तनम् । धर्म अहिंसादिसदाचार आदिशब्देन तप सयमादिकम् । एता क्रिया कुत ॥ ४१६ ॥ ऐदंपर्यमिति—अत एतस्मात्कारणात्, मुक्त्वा अत्यधिकं कामसेवन मुक्त्वा, भोगान् आहारवद्व्रजेत् अत्यासक्त्या अन्ने सेविते धर्मार्थकाया नश्यन्ति । तथा स्त्र्यादि-भोगा अत्यासक्त्या सेविता धर्मम् अर्थम् काय च नाशयन्ति अत भोगान् अन्नवद्व्रजेत् । देहदाहस्य शान्तये, अभिध्यान सतत भोगानाम् अनुचिन्तन तस्य विहानये नाशाय ॥ ४१७ ॥ स्वस्त्रीसतोषव्रतदोषान् वर्णयति—परस्त्रीति—परस्त्री परस्य स्त्री परस्त्री तया सगम सभोग, स्वस्त्रीसंतोष व्रत नाशयति । अनङ्गक्रीडा-

मध्यं किञ्च मौनिरिव तयोरन्यत्र मुखादिभेदेन क्रीडा । अन्योन्यमर्दिका—अन्यावानम् उपमर्दिका । अन्यस्य स्वापत्यव्यतिरिक्तस्य कन्यादानकरित्वम् तथा स्नेहसम्बन्धादिना वा उपमर्दिका । तीव्रता परित्यक्तान्यव्यापारस्य पुनः पुनः स्वस्त्रीसेवनम् । रतिकैतव्यं रतिक्रियायां कैतव्यं कपटं विटत्वम्, एतानि तद्व्रतं ब्रह्मचर्यव्रतं हन्युः दूषयेयुः ॥ ४१८ ॥ मद्यमिति—मद्यं मदिरा द्यूतं पणः उपदंशं मांसम् माङ्गल्य मत्स्यादि वस्तु । तौर्यत्रिकं नाट्यम् गीतं वादित्रं च अङ्गक्रिया तिलकैरादिप्रयोगः आभूषणानि च मदो दर्पः व्यभिचारिणः पुरुषा विटाः वृथाट्या प्रयोजनं विना विचरणम् इति दशधा अनङ्गजः कामस्य गण ॥ ४१९ ॥ कोपजो गण—हिंसनम्, साहसम् अविचारेण सहसा कार्यकरणम्, द्रोहः स्वामिमित्रादिद्वेषः । पुरोभागी बकः तस्य भावः पौरोभाग्यं दुर्जनत्वम् । अपदूषणे अर्थनाश दूषणम् अन्तरार्थविधानम् । ईर्ष्या स्पर्धा परान्युदयासहनम् । वाक्पारुष्यं क्रोधावेशेन निन्दमानवचनं वाक्पारुष्यं पश्यमानस्य मर्मरहस्यत्वम् अनेकदीपपुष्पोऽसीति । इति कोपजः अष्टधा गण प्रोक्तः । ब्रह्मव्रतवता एते दोषा त्याज्याः ॥ ४२ ॥ ऐश्वर्यस्यादि—ऐश्वर्यं वैभवम् । औदार्यं दातृत्वगुणः । शौण्डीर्यम् अप्रतिहतमानता अन्येन अपरिभवः । धैर्यं निर्भयता सौन्दर्यं रूपवत्त्वम् । वीर्यता सामर्थ्यम् अद्भुतकार्यम् च आकाशगामित्वादिचारणऋद्धिभेदान् एतान् गुणान् चतुर्वर्णपूर्वी चतुर्वर्णं ब्रह्मचर्यं तेन पूता श्रीः पवित्रा मतिर्यस्य सः नरः क्रमेण प्राप्नुयात् ॥ ४२१ ॥ अब्रह्मचारिणो दोषा—अनङ्गेति—अनङ्गो मदनः स एव अनलः अग्निः तेन संतीव्रे संस्पृष्टे परस्त्रीरतिचेतसि परस्त्रिया सह संयोगसुखे चेतो मनो यस्य तथाभूते नरे अत्र इहलोके उपस्थिता विपदः तत्काले एव विपदः पीडा लिङ्गच्छेदादिका । परत्र च दुराशयाः परलोके च दुःखरूपाणि यासु ता विपदः आयान्तु ॥ ४२२ ॥

[पृष्ठ १६४] ब्रह्मव्रतपालकस्य कथोपाख्यानम्—कान्तिसुन्दरीसपत्नेति—सुरसुन्दर्यो देवाङ्गनाः तासां सपत्नः रूपगुणे तासां स्पर्धां कुर्वन् कः पौराङ्गनाजनः नगरनारीजनः तस्य विलोचना एव अरविन्दानि कमलानि तेषां सरसीव तथाभूतायां वाराणस्यां कनको नाम नृपतिः । कर्मभूत सः । संपादितेति—संपादितं कृतं समस्तारातीनां शत्रूणां संतानस्य वंशस्य प्रकर्षेण कर्षणं उपलक्षणकोपानां च हरणं येन तथाभूतः । अस्य सुमञ्जरी नाम अग्रमहादेवी पट्टमहाराज्ञी आसीत् । धर्मभूता सा । अति चिरति—अतिदीर्घकालात् प्रवृत्तः वृद्धिं गतः प्रथमः स्नेहः स एव सहकारः आम्रवृक्षस्तस्य मञ्जरीव पुष्पवीथिरिव । धर्मानुरागे धर्मसेनो नाम सचिवः कर्मभूत सः । अन्यतन्त्रादीनि यानि शास्त्राणि तेषामभ्यासात् विस्तृतं वचनं यस्य तथाभूत । अस्य सचिवस्य सुभद्रा नाम पत्नी धर्मभूता सा । अतिहितैकमनोमुद्रा स्वभर्तृ परमात्मे एव एका मनोमुद्रा मनोव्यापारो यस्याः सा । दुर्जिनसरसे रक्त प्रीतिर्यस्य तथाभूत कडारपिङ्गो नाम अमबो मुनु पुत्र । धर्मनृपस्य पुष्यो नाम पुरोहितः । कर्मभूत सः । अनवद्येति—अनवद्या पापरहिता या विद्या आगममार्गं तेन प्रकाशिता अध्यापिता अवगमिता येन स तथाभूत । अस्य पद्मा नाम धर्मपत्नी । धर्मभूता सा । सौरूप्येति—सुरूपस्य भावः सौरूप्यं सौन्दर्यं तस्य अतिशयः प्रकर्षः तेन अपहसिता उपहासं नीता विरहरूपा पद्मा लक्ष्मीर्यया सा । [कडारपिङ्गेन यथा एकदा अवलोकिता] । स कडारपिङ्गः कर्मभूत । समस्तेति—समन्तात् ते अभिमानमया सर्वप्रमना तेभ्यो ये बाह्याः अनाचाराः अनर्थाचाराः तानुपनयति इति सकडारपिङ्गः कडारस्तूष वस्त्रम् तद्वत् पिङ्गः कडारपिङ्गः । रसायनेयेति—रसायनं वनम् तारुण्यम् यौवनम् आरोहयेत् प्रथमं एव मार्गं मानवर्जं प्राप्तमात्रं यत्र तथाभूतमन्धकारात् दुराचारमार्गेण दुर्नीतये मध्येन चतुरेण आसीत्समापनमिपुणेन लिङ्गपतन विटमुखेन सह मतध्न इति—मते भुवो माया ता मनोमुखा तासां विभ्रमा शृङ्गारचेष्टाक्रियाविशेषाः ते अभ्यर्थनाया भुजङ्गा यारा एव अनिवार्य यासु तासु वीथिषु मार्गेषु संचरमाणः विहरन् तामन्यदा पद्माम् अवलोक्य वृहद्गत नीड्रुपी ताम् । प्रासादेति—प्रासादतले हर्म्यस्योपरितनभूमिम् उपविष्टां इति वातायने तां हर्म्यस्योपरिभूमौ निषण्णाम् । अरालेति—अरालानि वक्राणि परमाणि नैसर्गिकानि यस्यो ते च ते ईदृश मदन सम्भ्रमात् आलिङ्गन विरहेण यथा यथा तादृशी तां पद्माम् अवलोक्य । दृष्टेति—दृष्टा एव प्रत्यासीभूता नारी इष्टिका एव हृष्टा तस्य तेनां वनुकालवने विलासवेश्मनि अनुवृत्ति कल्पयति । तदा तत्र तत्

मृग हरिण. तस्य विनोदस्य विहारभूमि संचारस्थानम् । एषा स्मर काम एव द्विरद. गज तस्य वन्धने वारिवृत्ति वन्धनरज्जु । एषा किं खेचरी विद्याधरी, किम् अमरी सुरी, वा किम् इय रति· मदनभार्या ॥४२३॥

[पृष्ठ १६५-१६७] इति च विचिन्त्य मकरेति—मकर मत्स्य. केतौ ध्वजे यस्य स मदन तस्य वशे व्यापारनिधि प्रवृत्तिनिधान यस्य, प्रवृत्तेति—प्रवृत्त. प्रादुर्भूत दुरभिसधि. दुष्टो मनोविचारो यस्य पुरुषेति—पुरुषप्रयोगेण दूतसप्रेषणादिना अभिमतस्य इष्टस्य सिद्धि प्राप्तिम् अनववुद्धयमान अजानन्, तडिल्लता नाम धात्रीम्, कथभूताम् । पराशयेति—पराभिप्राय एव शैल पर्वत तस्य विदारणे विदलने तडिल्लतामिव विद्युल्लतामिव । अपडक्षीणे शरणे न पट् अक्षीणि नेत्राणि यत्र तथाभूते शरणे गृहे तृतीयाद्यगोचरे गृहे विजने गृहे इत्यर्थ । सुनयेति—सुनयाना विज्ञप्त्यादिव्यवहाराणाम् आयतनादिभि स्थानादिभि पादपतनादिभि चरणवन्दनादिकै प्रश्रयै. विनयै । कथभूतै. असदाशयाश्रयै दुरभिप्रायावलम्बनै अवन्ध्यसाध्य सफलसाध्यम् उपरुध्य ज्ञात्वा । स्वकीयेति—निजाभिप्रायगहनवर्धनभूमिम् अकरोत् विदधे । तदुपरोधात् तस्य उपरोधात् आग्रहात् तथाविधविधिविधात्री वशीकरणकार्यविधायिनी तत्कार्यविधायिनी—धात्री (स्वगतम्) परपरिग्रह परस्य अन्यस्य परिग्रह कलत्रम् । अन्यतरानुरागग्रहश्च अन्यतरस्य अनुराग स्नेहस्तस्य ग्रहण चेति दुर्घट दु सधान प्रतिभास अनुभवो यस्य तादृक् खलु अय कार्योपन्यास । अथवा सुघट एव सुसधान एव अय कार्यघट । इय कार्यरचना सुसधानैव । यत यस्मात् तप्तातप्तऽयसोरयसोरिव अग्नितप्तानग्नितप्तयो प्लवयसो चक्रलोहनेम्योरिव विरुद्धयोश्चेतसो मनसो सागत्याय अनुकूलीकरणाय खलु पण्डितै. दौत्य दूतत्व करणीयम् । अन्यथा सरसतरसो रससहितयो· वेगवतो द्रवस्वभावयो जलयोरिव सरसतरसो प्रेमवतो वेगवतोश्च अन्योन्य प्रति उत्सुकयो द्रवस्वभावयो काठिन्यरहितयो चित्तयो एकीकरणे किं नु नाम प्रतिभाविजृम्भितम् । का नाम नवनवोन्मेषशालिन्या वुद्धे स्फूर्ति । प्रतिकूलस्वभावयोर्मनसोरेकीकरणे यद्दौत्य क्रियते तदेव दौत्य प्रशस्यमित्यर्थ । किं च । सा दूतिकेति—या वुधाना विदुषाम् अभिमतकार्यविधौ इष्टकर्मकरणे चातुर्यवर्यवचनोचितचित्तवृत्ति चातुर्येण वुद्धिकौशल्येन वर्यं श्रेष्ठ यद्वचन तस्य उचिता योग्या चित्तवृत्ति मनोवृत्ति यस्या. सा दूतिका स्वामिसदेशप्रापिका ज्ञेया । या दूतिका किं करोति । चुम्बकोपलकलेव चुम्बति लोहमाकर्पति स चासौ उपलश्च चुम्बकोपल अयस्कान्त तस्य कला अश यथा अन्त शल्यं लोहमय वहि करोति । तथा अपरस्य अन्यस्य नरस्य चेतोनिरूढ मनसि स्थित शल्य वैरादिक वहि करोति ततो निष्कासयति । एतादृशी एव दूतिका प्रशस्येति भाव ॥४२४॥ तदल विलम्वेन अस्मिन् कार्ये कालक्षेपो न कर्तव्य इति भाव । यथा परिपक्वफल व्यतिक्रान्तकाल सरसत्वाधिष्ठान न भवति । तत् उचितकालातिक्रमेण गन्धवर्णरसभ्रष्ट भवति । तथात्र कार्ये विलम्वे जाते सति अस्य कार्यस्य सरसत्वं च नश्येत् । किंत्वस्य साहसावलम्वनधर्मण कर्मण साहसाश्रयसाध्यस्य कार्यस्य दैवात् सिद्धौ सत्याम्, परेङ्गिताकारसर्वज्ञै प्राज्ञै अन्यमन स्थिताभिप्रायचेष्टाना विद्भि विवुधै , कथमपि महता कष्टेन, वहुजनावकाशे कृते सति वहुजनाना मनसि अवकाशे परिचये कृते सति स्नेहे आदरे वा समुत्पादिते सति शरीरी साहसकर्मण कर्ता नर पुरश्चारी भवति अग्रणी जायते । साहसकार्यस्य असिद्धौ सत्या शरीरी तत्कार्यस्य विधाता दुरपवादपरागावसर जननिन्दाधूलिपातस्थान व्यसनगोचरश्च भवति विपद्विषयश्च जायते । तत् ध्वनयेय कथयामि या इयं पद्मा इद कार्यं च अवसेय ज्ञातु योग्यम् । इय पद्मा किंस्वभावा कीदृश्यस्या मनोवृत्तिरिति ज्ञातव्यम् । इद च कार्यम् अद्वितीयापत्यप्रसवाय अद्वितीयं न द्वितीयम् अद्वितीयम् एक तच्च तदपत्य पुत्र तस्यैव प्रसव उत्पत्तिर्यस्य तथाभूताय सचिवाय अवसेय ज्ञातव्यम् । तदुदाहरन्ति—"न च अनिवेद्य भर्तु किंचिदारम्भ कुर्यात् अन्यत्रापत्प्रतीकारेभ्य." स्वामिन अनिवेद्य अकथयित्वा न च किंचित् आरम्भम् कार्यं कुर्यात् स्वामिन पृष्ट्वा कार्यं कुर्यात् इति भाव । परम् आपत्प्रतीकारेभ्य अन्यत्र विपत्तिनिराकरणसमये स्वामी न प्रष्टव्य अपृष्ट्वा एव स्वामिन तदुपद्रवकारिणीम् आपद परिहरेत् इति । (प्रकाशम) प्राणप्रियैकापत्य अमात्य, प्राणवत् प्रिय वल्लभम् एकम् अपत्य यस्य तथाभूत हे अमात्य सचिव, ईदृश इव सामान्यजन इव भवादृशोऽपि जन जातस्य पुत्रस्य जीविते अमृतस्य निषेकाय सेचनाय अचिरत्न यत्न तात्कालिक प्रयत्न विधातुं योग्यो भवान् भवति । अमात्य —समस्तमनोरथसमर्थनकथासमार्ये आर्ये, समस्ताना सकलाना मनोरथानाम्

अङ्गं लिङ्गं योनिश्च तयोरन्यत्र मुखादिप्रदेशे क्रीडा । अन्योपयमक्रिया—कन्यादानम् उपयमक्रिया । अन्यस्य स्वापत्यव्यतिरिक्तस्य कन्याफलकलिप्सया स्नेहसंबन्धादिना वा उपयमक्रिया । तीव्रता परित्यक्तान्यव्यापारस्य पुनः पुनः स्वस्त्रीसेवनम् । रतिकैतव्यं रतिक्रियायां कैतव्यं कपटं विटत्वम्, एतानि चतुर्थं ब्रह्मचर्यव्रतं घ्नन्ति दुष्येषु ॥ ४१८ ॥ मद्यमिति—मद्यं मदिरा द्यूतं पणः उपद्रव्यं मांसमधु-माक्षिकमत्स्यादि वस्तु । तौर्यत्रिकं नाट्यम् गानं वादित्रं च अङ्गक्रिया स्निग्धरूपादिप्रयोगः आभूषणानि च मदो दर्पः व्यभिचारिका दुष्टा विटाः वृथाट्या प्रयोजनं विना विचरणम् इति दशधा अनङ्गजः कामजः गणः ॥ ४१९ ॥ कोपजो गण—हिंसनम्, साहसम् अविचारेण बलेन कार्यकरणम् द्रोहः स्वामिनिबाधिद्वेषः । पुरोभागी खलः तस्य भावः पौरोभाग्यं दुर्जनत्वम् । अर्थदूषणे अर्थनाश दूषणम् अन्तरायविधानम् । ईर्ष्या स्पर्धा पराभ्युदयासहनम् । वाक्पम वाक्पारुष्येण निन्दाभाषणं वाक्पारुष्यं परुषभाषणं मर्मघातकवचनम् अनेकदोषदुष्टोऽस्तीति । इति कोपजः अष्टधा गणः प्रोक्तः । ब्रह्मचर्यव्रता एते दोषाः त्याज्याः ॥ ४२० ॥ ऐश्वर्येत्यादि—ऐश्वर्यं वैभवम् । औदार्यं दातृत्वगुणः । शौण्डीर्यम् अप्रतिहतमानता अन्येन अपरिभवः । धैर्यं निर्भयता शौर्यं वा स्वात्वम् । वीर्यता सामर्थ्यम् अनुकूलसंपादनम् च आकाशगामित्वादिचारणर्द्धिभेदाम् एताम् गुणान् चतुर्थव्रतपूतधी चतुर्थव्रतं ब्रह्मचर्यं तेन पूता धी पवित्रा मतिर्यस्य सः नरः क्रमेण प्राप्नुयात् ॥ ४२१ ॥ अब्रह्मचारिणो दोषा—अनङ्गेति—अनङ्गो मदनः स एव अनलः अग्निः तेन संकीर्णे संस्पृष्टे परस्त्रीरतिचेतसि परस्त्रिया सह संयोगसुखे चेतो मनो यस्य तथाभूते नरे अत्र इहलोके तत्क्षणे विपदः तत्काले एव विपदः पीडा लिङ्गच्छेदादिका । परत्र च दुरास्पदाः परलोके च दुःखस्थानानि नानु ता विपदः आयान्ते ॥ ४२२ ॥

[पृष्ठ ११४] भूमतामकाब्रह्मफलस्योपाख्यानम्—काशिदेशेषु सुरसुन्दरीसपत्नेति—सुरसुन्दर्यो देवाङ्गनाः तासां सपत्न्य इव तामिः स्पर्धां कुर्वन् याः पौराङ्गनाजनाः नगरनारीजनः तस्य विलोचनं एव अरविन्दानि कमलानि तेषां सरसीव तथाभूतायां वाराणस्यां नपचो नाम नृपतिः । कर्मभूत सः । सपाहितेति—संपादितं कृतं समस्तानां जीवानां सकलजीवानां संतानस्य वंशस्य प्रकर्षेण कर्षणं सपत्नदेवकोपाणां च हरणं येन तथाभूतः । अस्य सुमञ्जरी नाम अग्रमहादेवी पट्टमहाराज्ञी आसीत् । कर्मभूता सा । अति चिरेति—अतिदीर्घकालात् प्रवृद्धः वृद्धिं गतः प्रणयः स्नेहः स एव सहकारः आम्रवृक्षस्तस्य मञ्जरीव पुष्पवल्लरीव । अर्पचनृपते प्रपञ्चो नाम सचिवः कर्मभूत सः । पञ्चतन्त्रादीनि नामि शास्त्राणि तेषामध्ययनात् विस्तृतं वचनं यस्य तथाभूतः । अस्य सचिवस्य सुभद्रा नाम पत्नी कर्मभूता सा । पतिहृदयमनोमुद्रा स्वभर्तुः अन्यासे एव एका मनोमुद्रा मनोव्यापारो यस्याः सा । दुर्विलासरसैः एकः प्रीतिर्यस्य तथाभूतः श्रृङ्गारपिङ्गो नाम अनयोः सुतः पुत्रः । अर्पचनृपस्य पुष्यो नाम पुरोहितः । कर्मभूतः सः । अनवद्येति—अनवद्या पापरहिता या विद्या आगममार्गे तेन प्रकाशिता अध्यापिता अध्यापिता येन स तथाभूतः । अस्य पद्मा नाम धर्मपत्नी । कर्मभूता सा । सौरूप्येति—सुरूपस्य भावः सौरूप्यं सौन्दर्यं तस्य अतिशयः प्रकर्षः तेन अपहसिता अपहारं नीता तिरस्कृता यया सा ।
[श्रृङ्गारपिङ्गेन यथा एकदा अवलोकिता]। स श्रृङ्गारपिङ्गः कर्मभूत । समस्तेति—समग्रास्ते अभिलाषजना सर्वदाजना तेभ्यो ये बाह्या व्यवहारा अनाचारा तानगुच्छति इति श्रृङ्गारपिङ्गः श्रृङ्गारस्य व्यवहारस्य लिङ्गः सकलार्थिकः । स्वापतेयेति—स्वापतेयं धनम् तारुण्यम् यौवनम्, मदः इन्द्रियदर्पः एभिः मत्तं मानवम् ज्ञानमात्रं मद तथाभूतान्वादानाम् दुराचरणमध्येन दुर्विवेकमध्येन चतुरेण बहुशीलभावसनिपुणेन विङ्गुपचेन विटमयूरम् नद मदम् इति—मदे भुवो बाला ता मदभुवः ताता विभ्रमाः श्रृङ्गारभावक्रियाविशेषाः ते अल्पाभ्यन्तरा सुभ्रुवा धारा एव अतिशयः तासु तासु वीथिषु मार्गेषु संचरमाणः विहरन् तानेकदा यथाम् अवलोक्य सुन्दरी नीदृशीं ताम्। प्रासादेति—प्रासादस्य हर्म्यस्योपरितनभूमिम् अवलोकते इति तथाविधां हर्म्यस्योपरिभूमौ स्थितां ताम् । अवलोकेन—अवलोकानि वातायनानि गवाक्षाणि तेषां अवलोकनानि यानि तैः च ते ईक्षणे नयने ताभ्याम् चातुर्येण निरन्तरम् नीता यथा तादृशी ता यथाम् अवलोक्य । तपनि—एवा इयं हस्तीभूता नारी इ हस्तानि एव इना तरुः तेनां अनुकूलने विरामके अस्मद्वहिः अनङ्गहिः । एषा मम त्व

मृग हरिण. तस्य विनोदस्य विहारभूमि सचारस्थानम्। एषा स्मर काम एव द्विरद. गज तस्य बन्धने वारिवृत्ति बन्धनरज्जु। एषा किं खेचरी विद्याधरी, किम् अमरी सुरी, वा किम् इय रति मदनभार्या ॥४२३॥

[पृष्ठ १६५-१६७] इति च विचिन्त्य मकरेति—मकर मत्स्य केतौ ध्वजे यस्य स मदन तस्य वशे व्यापारनिधि प्रवृत्तिनिधान यस्य, प्रवृत्तेति—प्रवृत्त. प्रादुर्भूत दुरभिसधिः दुष्टो मनोविचारो यस्य, पुरुषेति—पुरुषप्रयोगेण दूतसप्रेषणादिना अभिमतस्य इष्टस्य सिद्धि प्राप्तिम् अनवबुद्धयमान अजानन्, तडिल्लता नाम धात्रीम्, कथभूताम्। पराशयेति—पराभिप्राय एव शैल पर्वत तस्य विदारणे विदलने तडिल्लतामिव विद्युल्लतामिव। अपडक्षीणे शरणे न पट् अक्षीणि नेत्राणि यत्र तथाभूते शरणे गृहे तृतीयाद्यगोचरे गृहे विजने गृहे इत्यर्थ। सुनयेति—सुनयाना विज्ञप्त्यादिव्यवहाराणाम् आयतनादिभि स्थानादिभि पादपतनादिभि चरणवन्दनादिकै प्रश्रयै. विनयै। कथभूतै असदाशयाश्रयै दुरभिप्रायावलम्बनै. अवन्ध्यसाध्य सफलसाध्यम् उपरुध्य ज्ञात्वा। स्वकीयेति—निजाभिप्रायगहनवर्धनभूमिम् अकरोत् विदधे। तदुपरोधात् तस्य उपरोधात् आग्रहात् तथाविधविधिविधात्री वशीकरणकार्यविधायिनी तत्कार्यविधायिनी—धात्री (स्वगतम्) परपरिग्रह परस्य अन्यस्य परिग्रह कलत्रम्। अन्यतरानुरागग्रहश्च अन्यतरस्य अनुराग. स्नेहस्तस्य ग्रहण चेति दुर्घट दु सधान प्रतिभास अनुभवो यस्य तादृक् खलु अय कार्योपन्यास। अथवा सुघट एव सुसधान एव अय कार्यघट। इय कार्यरचना सुसधानैव। यत यस्मात् तप्तातप्तत्त्वयसोरयसोरिव अग्नितप्तानग्नितप्तयो प्लवयसो चक्रलोहनेम्योरिव विरुद्धयोश्चेतसो मनसो सागत्याय अनुकूलीकरणाय खलु पण्डितै दौत्य दूतत्व करणीयम्। अन्यथा सरसतरसो रसमहितयो. वेगवतो द्रवस्वभावयो जलयोरिव सरसतरसो प्रेमवतो वेगवतोश्च अन्योन्य प्रति उत्सुकयो द्रवस्वभावयो काठिन्यरहितयो चित्तयो एकीकरणे किं नु नाम प्रतिभाविजृम्भितम्। का नाम नवनवोन्मेषशालिन्या बुद्धे स्फूर्ति। प्रतिकूलस्वभावयोर्मनसोरेकीकरणे यद्दौत्य क्रियते तदेव दौत्य प्रशस्यमित्यर्थ। किं च। सा दूतिकेति—या बुधाना विदुषाम् अभिमतकार्यविधौ इष्टकर्मकरणे चातुर्यवर्यवचनोचितचित्तवृत्ति चातुर्येण बुद्धिकौशल्येन वर्यं श्रेष्ठ यद्वचन तस्य उचिता योग्या चित्तवृत्ति मनोवृत्ति यस्या. सा दूतिका स्वामिसदेशप्रापिका ज्ञेया। या दूतिका किं करोति। चुम्बकोपलकलेव चुम्बति लोहमाकर्षति स चासौ उपलश्च चुम्बकोपल अयस्कान्त तस्य कला अश' यथा अन्त.शल्यं लोहमय बहि करोति। तथा अपरस्य अन्यस्य नरस्य चेतोनिरूढ मनसि स्थित शल्य वैरादिक बहि करोति ततो निष्कासयति। एतादृशी एव दूतिका प्रशस्येति भाव ॥४२४॥ तदल विलम्बेन अस्मिन् कार्ये कालक्षेपो न कर्तव्य इति भाव। यथा परिपक्वफलं व्यतिक्रान्तकाल सरसत्वाधिष्ठान न भवति। तत् उचितकालातिक्रमेण गन्धवर्णरसभ्रष्ट भवति। तथात्र कार्ये विलम्बे जाते सति अस्य कार्यस्य सरसत्व च नश्येत्। किं त्वस्य साहसावलम्बनधर्मण कर्मण' साहसाश्रयसाध्यस्य कार्यस्य दैवात् सिद्धौ सत्याम्, परेङ्गिताकारसर्वज्ञै प्राज्ञै अन्यमन स्थिताभिप्रायचेष्टाना विज्ञै विबुधै, कथमपि महता कष्टेन, बहुजनावकाशे कृते सति बहुजनाना मनसि अवकाशे परिचये कृते सति स्नेहे आदरे वा समुत्पादिते सति शरीरी साहसकर्मण कर्ता नर पुरश्चारी भवति अग्रणी जायते। साहसकार्यस्य असिद्धौ सत्या शरीरी तत्कार्यस्य विधाता दुरपवादपरागावसर जननिन्दाधूलिपातस्थान व्यसनगोचरश्च भवति विपद्विषयश्च जायते। तत् ध्वनयेय कथयामि या इय पद्मा इदं कार्यं च अवसेय ज्ञातु योग्यम्। इय पद्मा किंस्वभावा कीदृश्यस्या मनोवृत्तिरिति ज्ञातव्यम्। इद च कार्यम् अद्वितीयापत्यप्रसवाय अद्वितीयं न द्वितीयम् अद्वितीयम् एक तच्च तदपत्य पुत्र तस्यैव प्रसव उत्पत्तिर्यस्य तथाभूताय सचिवाय अवसेय ज्ञातव्यम्। तदुदाहरन्ति—"न च अनिवेद्य भर्तु किंचिदारम्भ कुर्यात् अन्यत्रापत्प्रतीकारेभ्य" स्वामिन अनिवेद्य अकथयित्वा न च किंचित् आरम्भम् कार्यं कुर्यात् स्वामिन पृष्ट्वा कार्यं कुर्यात् इति भाव। परम् आपत्प्रतीकारेभ्य अन्यत्र विपत्तिनिराकरणसमये स्वामी न प्रष्टव्य अपृष्ट्वा एव स्वामिन तदुपद्रवकारिणीम् आपद परिहरेत् इति। (प्रकाशम्) प्राणप्रियैकापत्य अमात्य, प्राणवत् प्रिय वल्लभम् एकम् अपत्य यस्य तथाभूत हे अमात्य सचिव, ईदृश इव सामान्यजन इव भवादृशोऽपि जन जातस्य पुत्रस्य जीविते अमृतस्य निषेकाय सेचनाय अचिरत्न यत्न तात्कालिक प्रयत्न विधातु योग्यो भवान् भवति। अमात्य—समस्तमनोरथसमर्थनकथासमार्ये आर्ये, समस्ताना सकलाना मनोरथानाम्

अभिलाषाणां समर्थनकथा फलसाधनकथा तस्यां स्मार्ये स्मरणयोग्ये आर्ये पूज्ये तज्जीवितामृतनिषेकाय तस्य मदनरसस्य जीवितायम् अमृतनिषेकाय सुधासेचनाय मज्जीवितोचितविवेकाय च मदीयं जीवितं मत्प्राणा तस्य उचितो योग्यो यो विवेकः तस्मै तत्र भवती पूज्या त्वमेव प्रभवति समर्था भवसि । धात्री—अथ किम् । अभ्युपपन्नं भवाहन । तथापि अवश्लेति—अबलाजनानां नारीजनानां मनसो अतिरिक्ता अधिका या प्रतिमा सा अस्ति यस्य स प्रतिभावान् तेन प्रतिमावता । हे अमात्य नारीजनप्रतिमाया अपि भवत प्रतिभा अधिका अस्ति अतो भवतापि अस्मिन् कमपि प्रयत्नं करणीय इत्यभिप्राय पूतकात्यायनीप्रक्रियार्था पूतकात्यायनीरेषा या धनपूजा काषायवसना भगवा च सा वृद्धी कात्यायनीरुच्यते । करसङ्केति—हस्तगतमुक्तस्फटिकमणिरिव विलासवदकल्मषीस्वभावा तैर्त्रैः नयनमनोहरत्वमनी भवती नयनमनोमोदजनकपदार्थेव । अतिदीर्घकालं विहितावरा परिमाप्येति—परिप्राप्य अन्य। प्रथमस्य प्रीत्या प्रार्थनस्य प्रत्युपकार अपवारीभूय यथा सा तथाभूता सा वृद्धी एकदा मुदा भावत्वेन रहसि विजने तां पुण्यपुरोहितमार्यम् उद्दिश्य इमं वक्ष्यमाणम् प्रस्तुतेति—प्रवर्तमानकार्यरचनायाः अनुकूलमर्मविशेषैर्तं श्लोकं पद्यम् उदाहार्षीत् अवन्ती—स्त्रीषु इति—अत्र वदति स्त्रीषु नारीषु गज्जैव आकूल्येन यस्या पुष्पवती या परभोगोपभोगापि परेषां समीपे भोगदानाय उपगच्छन्त्यपि अमुना शिवेन मूर्ध्नि मस्तके अधिमाल्ये रत्नमणिव सोत्सवं सानन्दं ध्रियते स्थाप्यते ॥४२५॥ भट्टिनी—(स्वगतम्) इत्वरीति—परपुरुषानेति गच्छति इत्येवं शीला इत्वरी कुलटा पुंश्चली स चासौ जनश्च इत्वरीजन तस्माचरणम् असत्प्रवृत्तिः तदेव हर्म्यं भवनं यासु तस्य निर्माणाय प्रथमसूत्रपात इव प्रथमत एव भूमिमापनार्थं सूत्राकूलमिव अयं वाक्यप्रस्ताव उपलक्ष्यते । तथा चाह मा इयं तावत् वाकूलपरिपाकम् स्वामिप्रसादस्य परिपाके निकल्पीयं सारम् । (प्रकाशं) आर्ये किमस्य सुभाषितस्य ऐदंपर्यं तात्पर्यम् । धात्री—परमसौभाग्यभागिनि भट्टिनि वरतमहीयाम्यवति भट्टिनि भट्टं स्वामित्वम् अस्या अस्तीति भट्टिनी तत्संबोधनं हे भट्टिनि हे वाक्छन आर्ये ज्ञानासि एवास्य सुभाषितस्य कैम्पर्यम् तात्पर्यम् । यदि न कल्पवटितहृदयासि चेत्कपेन निर्मितचित्ता न भवसि । भट्टिनी—(स्वगतम्) सत्य कल्पवटितहृदयाहम् । यदि चेत् भवत्प्रयुक्तोपवाक्तुभवकर्ततिकाया न भविष्यामि । अथवा प्रयुक्तः य उपघातः अपकार स एव घुणः कीटकः तेन कर्तरितः कामः उत्कीर्ण देहो यस्याः तथाभूताहं न भविष्यामि । आर्ये हृदयेऽभिनिविष्टम् अर्थं मनसि निश्चयेन प्रविष्टम् अर्थम् अभिप्रायं श्रोतुमिच्छामि । धात्री—वत्से कथयामि किं तु चित्त द्वयोरिति—ज्ञानम् अभिमान विस्तोज्यति तथुभयम् एव कर्णं तैन बन्धावी बुद्धि यस्य तेन नरेण । द्वयोः पुरतः जगत एव चित्तं निजाभिप्रायं निवेदनीयं कथनीयम् । यौ तौ द्वौ नरौ ययोः पुरतः चित्तं निवेद्यते इत्याह—यः प्रार्थितम् इति—य नरः अभियुज्यमान संबध्य मानः प्रार्थितं निजस्य याचनाविषयं न खण्डयति न स्फोटयति यो वा जनो निजस्य मनसः अनुकूलः भवति सोऽपि रहस्यं न भिनत्ति । अत इमौ द्वौ एव नरौ रहस्यकथनयोग्यौ निस्नेही ॥४२६॥ भट्टिनी—(स्वगतम्) अहो नम प्रकृतिम् अपि इयं नमय आकाशस्य स्वभावम् अपि नैमल्यमपि पङ्कैः कर्दमैः उपलेप्तुं प्रक्षिप्तुम् इच्छति आकाशवन्निर्मलस्वभावां मा पतिव्रताम् इयं जाल्मी असतीजनयोग्यकर्दमैः प्रक्षिप्तुमिच्छति । इति स्पष्टं यथा अभूदेव । (प्रकाशम्) आर्ये प्रयमनापि समर्थाहम्, अहं रहस्यभेदिका न भवामि । त्वत्कलशोऽनुकूला च भवामि । चित्तं द्वयोरिति न मद्युक्तम् न ममाश्रयानम् । न मद्युपक्रमं वा न मत्प्रया प्रथमं कार्यम् प्रारब्धमिति । न हि मदीय उपाधिना च मदीय वचनं किं तु पूर्वं ईदृशी गतिरस्ति । धात्री—(स्वगतम्) अनुगुणेयं खलु कार्यपरिणति इयं खलु निश्चयेन कार्यपरिणति कर्मणः परिणमनम् अनुगुणा मदभिप्रायानुकूला भवति । यदि चेत् निकट तटकूलस्य समीपवर्तिप्राप्तस्य वहित्रयानस्येव नौकायानरीस्येव दुर्वाताभिघातो न भवेत् । दुष्टो वातः दुर्वात तस्य वातो पतितस्य दुर्वातको तस्या संनिपात वेगेन आपतनं न भवेत् । मम कार्यं तु अधुना सम्यक् अनुकूल प्रायमेव जाने इति धात्री वदति यदि कोऽपि नान्तरायोऽत्र स्यात् । (प्रकाशम्) अत एव मां वदन्ति पुराविदः ।

[पृष्ठ १९८] विधुरिति—गुरो बृहस्पतेः कलत्रेण भार्यया सह विधुश्चन्द्रः समागत्य मैथुनं चकार । सोमवंश्य भयो मायया अहल्यया सह अमरेश्वरः इन्द्रः । धन्वमोन् यस्य च भार्यया मञ्जुया सह बुधवर्गा चकार पुरा किल समयान्तः संभोगं चकार ॥४२७॥ भट्टिनी—आर्ये एवमेव सत्यमेतत् । अत । खोणामिति—स्त्रीणां

वपु शरीर बन्धुभि स्वजनै अग्निसाक्षिकम् अग्नि साक्षीकृत्य परत्र अन्यस्मिन् पुरुषे विक्रीतम् अर्पितम् । परम् इद मानस न विक्रीतम्, न दत्तमिति भाव । ननु यत्र विश्रम्भगर्भा निर्वृति प्रणयपूर्वा निर्वृति संतोष आह्लाद भवति स एव कृती पुण्यवान् धन्य तस्य मानसस्य अधिपति स्वामी मत ॥४२८॥ धात्री—पुत्रि, तर्हि श्रूयताम्, त्व किल एकदा कस्यचित्कुसुमकिमारुनिर्विशेषवपुष, कुसुमस्य किसारव. केशरा तै निर्विशेषवपुष समानशरीरस्य कुसुमकेशरकोमलदेहस्येति भाव । पुराङ्गनेति—नगरस्त्रीजननयनकमलमोदे अमृतरोचिष सुधाकरतुल्यस्य कस्यचिन्नरस्य । प्रासादेति—प्रासादस्य हर्म्यस्य परिसरे पर्यन्तभुवि विहारिणी त्वम् एकदा । वीक्षणेति—नयनमार्गानुयायिनी सती कौमुदीव ज्योत्स्नेव । हृदयेति—हृदयम् एव चन्द्रकान्तमणि तस्य आनन्द एव नि स्यन्द जलनिर्गम तस्य सपादिनी अभू त्वम् अभव । तत्प्रभृति तद्दिनमारभ्य, ननु तस्य मदनसुन्दरस्य यून तरुणस्य । प्रत्यवसितेति—प्रत्यवसित विनष्ट वसन्तश्रीसमागममयो यस्य तथाभूतस्य पुष्पधयस्येव भ्रमरस्येव रसालमञ्जर्यामिव आम्रपुष्पपङ्क्तौ इव भवत्या महान्ति खलु मन्दमकरन्दास्वादने स्वैर मकरन्द-भक्षणे दोहदानि अभिलाषा सन्ति । नितान्त नितरा चिन्ताचक्रपरिक्रान्त चिन्ता मानसी व्यथा तस्या चक्रेण परिक्रान्त व्याकुल स्वान्त तस्य मानसम् । प्रसभमिति—प्रसभ नितरा तव गुणस्मरणपरिणत्या. आधार तस्य मनोऽस्ति । अनवरतमिति—सतत रामणीयक तव देहसौन्दर्यम्, तस्य अनुकीर्तन पुन: पुन स्मरण तस्य सकेतो यत्र तथाभूत तस्य मन । प्रविकसदिति—प्रविकसत् विकास प्राप्नुवत् कुसुमतुल्यविलासयोग्य-वल्लरीसदृशवल्लभाजने सनिहितेऽपि समीपस्थितेऽपि तस्मिन् तस्य महानुद्वेग, अतीव खिन्नता विद्यते । पिशाचेति—पिशाचेन देवविशेषेण छलितस्येव पीडितस्य नरस्येव अस्थाने स्वायोग्ये वस्तुनि अनुबन्ध स्नेह । संजातेति—सजात: उत्पन्न उन्माद चित्तविभ्रम यस्य तथाभूतस्य नरस्येव विचित्र नानाविध उपलम्भ विभ्रम तेन क्रियाप्रारम्भो यस्य । पुन कथभूत । स्कन्धेति—स्कन्धे निजस्कन्धे निजभुजशिरसि गदेन गृहीत-स्य नरस्येव प्रतिदिन लब्धकृशावस्य । स्मरेति—स्मरस्य कामस्य आराधनाया प्रणीत विहित प्रणिधानम् ऐकाग्र्य येन तथाभूतस्य नरस्येव इन्द्रियेषु सनता अवसाद' कार्श्यम् अभवत् । प्राणेषु च अद्यश्वीनकथा असुषु जीविते वा अद्यश्वीनकथा अद्य श्वो वा भवति अद्यश्वीन मरण तस्य कथा । अपि च—अनवरतेति—अनवरत सतत जलेन आर्द्राणि क्लिन्नानि यानि आन्दोलनानि व्यजनानि तेषा स्पन्दा चञ्चलता. तै मन्दै अति-सरसा अतिस्निग्धा या मृणाल्य कमलिन्य तासा कन्दलै अङ्कुरै नालै कथभूतै चन्दनार्द्रै चन्दनेन आर्द्रै क्लिन्नै एतै सर्वै करणभूतै हे प्रियसखि, अमृतेति—अमृतरुचि चन्द्र तस्य मरीचय: करा: तै प्रौढिता प्रगल्भता यस्या तथाभूतायाा निशायाम् ते सुहृद मित्रस्य वल्लभस्येत्यर्थ किंचित् आत्मप्रबोध अल्पस्वानुभूति-विद्यते । स्मरव्यथया तव वल्लभोऽतीव पीडित इति भाव ॥४२९॥

[पृष्ठ १९९-२००] भट्टिनी—आर्ये, किमित्यद्यापि गोपायते, केनाह दृष्टा, क स्मरपीडित तस्य नामादिक कथ न कथयसीत्यर्थ । मा निह्नुष्व सर्वं स्फुट कथयेति भाव । धात्री—(कर्णजाहमनुसृत्य) एवमेवम् । सचिवपुत्र कह्लारपिङ्ग स्मरपीडित इति भाव. । भट्टिनी—को दोष । धात्री—कदा । कदा तेन आगन्तव्यम् इति प्रश्नो धात्र्या कृत । भट्टिनी—यदा तुभ्य रोचते । तदा तेनागन्तव्यम् इतश्च अनन्तरायतया निर्बाधतया तया पद्मया पुष्यभार्यया अनुमता सा धात्री । तनयानुमताहितमतिपाटव तनयस्य अनुमत प्रियं यत्कार्यं तत्र आहित स्थापित मतिपाटव बुद्धिचातुर्यं येन स सचिवोऽपि उग्रसेनोऽपि । नृपतीति—नृपते वर्षणाह्वस्य निवासे गृहे उचितप्रचारेषु उचित योग्य प्रचार प्रवर्तन येषा तेषु वासरेषु दिनेषु यातेषु कस्मिंश्चिद्दिने गुणव्यावर्णनप्रसगे आगतम् एतस्य महीपते नृपस्य पुरत श्लोकम् इमम् उपन्यास्थत् अपठ-दित्यर्थ । राज्यमिति—यस्य वेश्मनि गृहे किंजल्प पक्षिविशेष विद्यते तस्य राज्य विवर्धते । सिद्धात् मन्त्राराधनाल्लब्धाच्चिन्तामणेर्यथा किंजल्पपक्षिप्राप्ते शत्रवश्च क्षय यान्ति ॥ ४३० ॥ राजा—अमात्य, क्व तस्य प्रादुर्भूति, कीदृशी च तस्याकृति । अमात्य—देव, भगवत पार्वतीपते पूज्यस्य गौरीवल्लभस्य श्वशुरस्य पार्वतीपितु, कथभूतस्य श्वशुरस्य । मन्दाकिनीति—मन्दाकिन्या गङ्गाया स्पन्द प्रवाह तस्य निदान कारण कन्दरनीहारो गुहाहिम यस्य । पुन कथभूतस्य । रमणेति—रमण पति सहचरो सहयायी यासा ता खेचर्य खगाङ्गना तासा सुरतस्य सभोगस्य परिमल विमर्दोत्थजनमनोहरगन्ध, तेन मत्ता लम्पटा

ये मरकतमणयः मरकतमुक्ताः तेषां मध्यवर्ती समूहः तेन विनिर्मिता रच्यमाना मरकतमणिमेखला मरकतानां मणीनां हरिन्मणीनां मेखला रशना यस्य । पुनः कथंभूतस्य । कृष्णोत्पलेति—कृष्णोत्पलाः कर्णिकाराः तेषां पत्र-समूहः तेन मण्डितं भूषितं शिखरम् अग्रं यस्य रत्नशिखण्डनाम्न शिखरस्य अभ्यासे समीपे निःशेषाः सकला ये शकुन्ताः पक्षिण तेषां संगमम् उत्पत्तिम् आवहति धारयतीति तथाभूता गुहा समस्ति । यस्यां कदाचित् वैनतेय-वैशम्पायनप्रमुख शकुन्ताः पक्षिणः प्रादुरासन् अवापन्न । तस्यामेव तस्य किन्नरपक्षिणः उत्पत्ति-र्जन्म । तां च गुहाम् अहं पुष्पबटु अनेकशः अनकृत् नाम्नाऽनवतोचासानुसारित्वात् गौरीमनमरयाः मामामनु-सृत्वेत्वर्थ साधु आनीय । प्रकृतिपक्षस्य अनेकवर्णा मनुष्यवर्णा भरतमाना च । भूपालः—(संजात-कुतूहलः) अमात्य कथं तद्दर्शनोत्कण्ठा ममाकृष्टा स्यात् । तस्य किन्नरपक्षिणो दर्शनस्य उत्कण्ठा मम अकृष्टा वा उत्कण्ठा कथं मम सफला स्यादिति भावः । अमात्यः—देव अपि पुष्पे च गत सति । राजा—अमात्य भवान् अतीव प्रवरा बुद्ध । तत्पुष्प प्रयातु । अमात्यः—देव तर्हि दीयताम् अस्मै सरत्नालंकार प्रवेशम्, पारितोषिकम् । रत्नालंकारादय ते प्रवेशाश्च उत्तमाः रत्नालंकारप्रवेशा तैः सहितं सरत्नालंकार प्रवेशम् पारितोषिकं परितोषजनकं द्रव्यम् अस्मै पुष्पाय दीयताम् । अवशेषं पाथेयं च विपुलं पाथेयं पथि व्ययितव्यद्रव्यं सम्बलमिति भावः । राजा—बाढम् । अत्र मम संमतिरस्ति इति भावः । स्वामिचिन्ताचार बटुः पुष्पः स्वामिनो वर्णकनृपस्य चिन्ता यथा अभिप्रायोऽस्ति तथा आचारेण प्रवर्तनेन बटुः पुष्पः मेत्रानन्द-जनकः पुष्प तथा राजादिदेः गेहम् आगत्य 'आदेशं न विकल्पयेत्' नृपतिना आदेश ईदृश एव कथं कृत अस्मादेवं कथं न कृत इति विकल्प न कर्तव्य इति मतानुसारी प्रमाणसामग्री कुर्वीत तथा तदीप्रतपविनिश्चि-सपत्नी यथा सतीव्रतेन पविनिर्धि तव पूर्व यथा तथाभूतया पत्न्या पृष्ट—भट्ट किमकाण्डे किम् अनवसरे प्रयाणारम्भः देशान्तरगमनारम्भ । पुष्पः—प्रस्तुतमाचष्टे प्रतिपन्नं कथयति । भट्टिनी—भट्ट सर्वमिदम् विषयस्य कूटकपटचेष्टितम् । कूटम् अनृतमयं कपटचेष्टितम् अनृतमयमायाव्यवहारः । भट्टः—भट्टिनि किं न कर्तुं एतच्चेष्टितस्यायतनम् । एतत्कूटकपटव्यवहारस्य किमास्पदम् । भट्टिनी—प्रकाशम् अभाषिए । पूर्ववृत्त सकलम् अभाषत । भट्टः—किमत्र कार्यम् ।

[पृष्ठ २०१] भट्टिनी—कार्यमितरेव । दिवा सप्रकाशं सर्वजनसमक्षम् एतत्पुरात्प्रस्थाय निशि निभृतं च प्रत्यावृत्य गूढं पुनरागम्य अत्रैव महाकाशे निजवासनिवेशे विपुलवेश्ने निजगृहापवरके सुखेन वस्त-व्यम् । उत्तरमाहं जानामि । तदनन्तरं कार्यम् अहं धारयिष्ये । भट्टः—तथास्तु । ततोऽन्यदा तया पर निहतिपाल्या वाम्या अल्पप्रतारणपापमूलया वाम्या सपत्न्या स दुराचाराभिषङ्गः अवसरावासवान् कदाचि-पिङ्गः पुष्पजनमेलायाम् आनीत । 'समभ्यस्यतु तावत् इहैव इमं वाणी अयं च कदाचिपिङ्गः महीमूलं पाताल-तलं नरकं विशतु । विषमिषुः पाताकन्यादुः सं समभ्यसतु आवर्तयतु ।" इत्यनुध्याय इति चिन्तयित्वा तया वयसा महावर्तस्य विपुलविस्तारस्य भतस्य कूपवत् गम्भीरभूमिरन्ध्रस्य उपरि कल्पितायां स्थापितमासम् अवानी-धायां रज्जादिनिवेशपरिकल्पायां खट्वायां मञ्चके क्रमेण उपवेशितवपुषौ स्थापितदेहौ तौ द्वावपि दुराचारकृत्ये महाभयावृते स्तम्भगर्भे गर्ते विनिपेततुः अपततताम् । अनुभूतपुष्प भयभीता च निखिलपरिवारजन मुक्ताकविष्टमनोहारिणोयनी दुर्नीपाख्यद् उपाक्रम यस्य तथाभूतं षट्समाधावाम् समाया षट्धाता षट् विमाया तावत्कालं दुःखम्मम् । समाया वर्षस्य वावाविभागा मासा षट् च ता समायायाया षट्समाधावा पश्मासानिति भावः । पश्माताववि दुःखमम् अनुभूयास्तु । पुनरेवा 'स्वाम्यादेशविशेषविपुष्प पुष्प नृपादाविशेषे चतुरः पुष्पभट्ट तथाविनयविप्रतयसमयपक्षिपीतहितं किन्नरजातीयविहङ्गमनसमर्पया विरम्या संपुटं दृशो विहित पञ्जरे पतितशो यस्य यस्य तं किन्नरम् आदाय गृहीत्वा आयाच्य, निजपुरपु वासरेष दिवसेषु अस्यां पुरि प्रविशति ।" इति प्रतिविधिवर्तिनी इति वार्ता भोषयन्ती । विविधवर्णविहङ्गमवायेन नीलपीतादिवर्णविविधविहङ्गमिथुनौ चित्रितो कायो यस्य तद्युयेन पुनः कथंभूतेन तद्युयेन । चटकेति—चटक कर्णिक चकोरः चोचंचीच यो व्योमस्तथा भीरते । चाष किरीटिविविधमि पक्षी चातक तारकावच पक्षी एते आदी येषां ते चटकाद्य तेषां छद्य यथा तै छादितः आयुना प्रतीकस्य शरीरस्य निचया

रुचिरेण सुन्दरेण प्रयाणयोग्यवेषेण जोष्य सेवनीय त पुष्य पुर अग्रे वने विनिवेश्य स्थापयित्वा। भट्टेति—भट्टात् पुष्पभट्टात् हेतो. उद्भूत जात आरम्भ यस्य तथाभूतेन सभापणेन सनाथो युक्त य सखीजन तेन सकल्पा भूपिता। धृतेति—धृत प्रोपितभर्तृकाया आकल्पो वेषो यया सा, (प्रकृष्ट दूर गत प्रोपित प्रवास गतो भर्ता यस्या सा प्रोपितभर्तृका) अभिमुखम् अयासीत् अगच्छत्। अपरेद्यु अन्यस्मिन्दिने स निखिलगुणा एव द्रविण धन तेन विशेष्य इतरजनेभ्य असमान पुष्य पृथिवीपतिभवन धर्पणनृपप्रासादम् अनुगम्य 'देव, अय स किजल्प पक्षी, इय च तत्प्रसवित्री माता पतत्रिणी च पक्षिणी च, इत्याचरत् इत्यवदत्।

[पृष्ठ २०२-२०३] राजा—(चिर निर्वर्ण्य निर्णीय च स्वरेण) पुरोहित, नैप खलु किंजल्प पक्षी, किं तु कडारपिङ्गोऽयम्। एपापि विहङ्गी पक्षिणी न भवति किं तु तडिल्लतेय कुट्टिनी पुरुषेण सह परस्त्रीयोगम्य कर्त्री। पुष्य—देव, एतत्परिज्ञाने प्रगल्भमतिप्रसव. सचिव। देव एतस्य किंजल्पपक्षिविषयकपरिज्ञाने प्रगल्भ प्रौढ मतिप्रसव बुद्ध्युत्पाद यस्य तथाभूत सचिव। राज्ञा सचिवस्तथा पृष्ट क्ष्मातल पातालं प्रविविक्षुरिव प्रवेष्टुमिच्छन्निव क्षोणीतल भूतलम् अवालोकत ऐक्षत। राजा—पुष्य, समास्ताम्। अय भवान् ऐतिह्यनिकर प्राग्वृत्तजात कथयितुम् अर्हति। प्राग्वृत्त सकल कथयेति राजा पुष्यम् अपृच्छत्। पुष्य—स्वामिन्, कुलपालिकात्र प्रगल्भते। कुलं पालयति इति कुलपालिका कुलवती मे धर्मपत्नी ऐतिह्यनिकर कथयितु प्रगल्भते समर्था भवति। भूपति भट्टिनीम् आहूय 'अम्ब, कोऽय व्यतिकर किं प्रकरणमिदम' इत्यपृच्छत्। भट्टिनी तदुदन्त तत्प्रकरणस्य पूर्ववृत्तान्तम् आख्यत् अवर्णयत्। काश्यपीश्वर कश्यपस्येय काश्यपी पृथ्वी तस्या ईश्वर अधिपति धर्पण शैलूष इव नटवत् हर्षामर्षोत्कर्षस्थामवस्थामनुभवन् आनन्दकोपोत्कटाम् अवस्था दशाम् अनुभवन् सकलनिशान्तस्थितस्त्रीजनप्रणम्यमाणचरणकमला ता पश्चा तैस्तै साध्वीगणानन्ददै स्तुतिवचनै समानसनिधानै समादरसूचकै भूषणदानैश्च उपचर्य पूजयित्वा, वेदविद्द्विजोह्यमानकर्णीरथारूढा स्त्रीणा वाहनार्थं वस्त्रादिना आच्छादितस्य रथविशेषस्य कर्णीरथ इति नाम। वेदविद्भि वेदार्थं जानद्भि द्विजै विप्रै स्कन्धे धृत्वा नीयमानकर्णीरथम् आरूढा पश्चा वेश्म गृह प्रवेश्य, पुन 'अरे निहीन नितरा हीन नीच, किमिह नगरे न सन्ति सकललोकसाधारणभोगा अखिलजनसामान्यैर्भुज्यमाना सुभगा सुन्दरा सीमन्तिन्य नार्य किमिति न सन्ति येनैवम् आचर दुराचरण कृतवान्। कथ च दुराचार, एवमाचरन् न अत्र विलाय विलीनोऽसि। दुर्व्यवहार, एवम् आचरण कुर्वंस्त्व लवणवत् जले कथ न विलीनोऽसि। तत् इदानीमेव यदि भवन्तं तृणाङ्कुरमिव तृणेह्मि हन्मि, तदा तव हुकृतम् अभिमान अपकृत स्यात् नष्ट भवेत्।' इति निर्भरम् अतिशयेन निर्भर्त्स्य तर्जयित्वा दुर्नयनगरभुजग दुराचारपुरजार कडारपिङ्ग कुट्टिनीमनोरथातिथिं कुट्टिन्या परस्त्रिय पुरुषेण योजयन्त्या विद्युल्लताया मनोऽभिलाषस्य अतिथिम् अभ्यागत सतृण तृणेन सहितम् उग्रसेनमन्त्रिण च निखिलजनसमक्षम् आक्षारणापूर्वक परस्त्रीनिमित्त दूषण दत्वा प्रावासयत् देशान्तर प्राहिणोत्। दुष्प्रवृत्तानङ्गमातङ्ग दुष्प्रवृत्तेन दुराचारेण अनङ्गत्वात् कामाकुलत्वात् मातङ्ग चाण्डालसदृश, कडारपिङ्ग तथा प्रजाप्रत्यक्ष पौरसमक्षम् आक्षारित परस्त्रीनिमित्त दत्तदूषण सुचिर दीर्घकालम् एतदेन फलम् अनुभूय एतस्य परस्त्रीपापस्य फलं भुक्त्वा दशमीस्थ मरणावस्था दशमीत्युच्यते तस्या तिष्ठतीति दशमीस्थ। मरण प्राप्त सन् श्वभ्रप्रभवभाजन श्वभ्रे नरके प्रभव उत्पत्ति तस्य भाजन पात्र जनम् अभजत्। नरके समुत्पन्न इति भाव। भवति चात्र श्लोक—मन्मथेति—मन्मथ काम तेन उन्माथित पीडित स्वान्त मन यस्य, परस्त्रिया सह रति सभोग तस्मिन् जाता धी मतिर्यस्य स कडारपिङ्ग सकलात् परस्त्रीसभोगमनोऽभिलाषात् रसातले नरके निष्पात पतित अजायतेति भाव ॥४३१॥

इत्युपासकाध्ययनेऽब्रह्मफलसाधारणो नाम एकत्रिंशत्तम कल्प ॥३१॥

३२. परिग्रहमहत्त्वफलकथनो नाम द्वात्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २०३ २०४] ममेदमिति—बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु धनधान्यमणिमुक्तादिषु बाह्यवस्तुषु रागादिषु च अभ्यन्तरवस्तुषु मम इदम् इति संकल्प संरक्षणार्जनसंस्कारादिरूप परिग्रह मत तत्र येषाम् मनस मिथ्यात्वं सद्बोधनं कुर्वन्ति तेषु मनोऽभिलाषं कर्मणि निरर्थं ॥४१२॥ बाह्यपरिग्रहान् व्याचष्टे—क्षेत्र सस्योत्पत्ति स्थानम् वास्तु शालिकाद्यादिकम् धनं हिरण्यसुवर्णादि वास्तु गृहं कुप्यं क्षौम-कार्पास-कौशेय चन्दनादि । शयनं शय्या आसनं पीठमञ्चादिकम् द्विपदाः दासीदासम् चतुष्पदाः गोमहिष्यादय भाण्डं भाजनानि । इति बाह्या दश परिग्रहा ॥४१३॥ अभ्यन्तरपरिग्रहा —मिथ्यात्वेति—मिथ्यात्वेन अनन्तानुबन्धिना सहिता यथो वेदा स्त्रीवेद पुरुषेण सह रमणाभिलाष भार्यामुत्पादने । पुरुषवेद भार्या सह रमणाभिलाषः पुरुषे । नपुंसकवेद उभाभ्यां रमणाभिलाष । हास्यादय षट् हास्यं रति अरति शोक भयम् जुगुप्सा । चत्वारश्च कषाया क्रोध मान-माया-लोभा । इति अन्तःपरिग्रहा चतुर्दश । अन्तर्ग्रन्था अपि कथ्यन्ते । यत आत्मनि यै संसार बध्यते बध्यते ते ग्रन्था राग-द्वेष-लोभ-मोहादय परिणामविशेषा ते आत्मन्येव संभवन्ति ॥४१४॥ बाह्यान्तर परिग्रहवर्णनम्—चेतनेति—बाह्येषु स्वस्मात् भिन्नेषु चेतनेषु गो महिष-पुत्र-कलत्रादिषु आसक्तिः एका बाह्यचेतनपरिग्रह मणिमुक्तास्वर्णादिषु अचेतनेषु आसक्ति द्वितीय अचेतन बाह्य परिग्रह इति बाह्यचेतनाचेतनपरिग्रहद्वयम् उच्यते बाह्यपरिग्रहद्वैविध्यम् । परं मनोहेतुकत्वात्मक संसारकारणा ये मिथ्यात्वादिरूपाश्च आत्मनः चैतन्यरूपा परिणामा ते आत्मन आधार यस्य स अन्तःपरिग्रह एक एव । उपाधिभेदात् त्रिविधत्वम् अस्य परिग्रहस्य निगदन्त्याचार्या विध्यावबोधार्थम् ॥४१५॥ धनायेति—धनाया धनाभिलाषा तया आविद्ध बुद्धीनां व्याकुलमतीनां नराणां मनोरथा कदाचन धनरहिता भवन्ति । हि यस्मात्कारणात् अनर्थक्रियारम्भा धी तदर्थिषु कामभुक् न भवति । अर्थ प्रयोजनं यस्या सिध्यति सा क्रिया अर्थक्रिया न अर्थक्रिया अनर्थक्रिया अनर्थक्रियाया आरम्भो यस्यां सा धी मति तदर्थिषु धनार्थिषु धनादिषु कामभुक् न भवति कामान् इष्टाभिलषितान् न दुग्धे । इच्छया मनोरथैर्वा धनानि न लभ्यन्ते । धनप्राप्तिकारणम् अन्तरायकर्मणां क्षयोपशमोऽस्ति इति मत्वा आर्तध्यानं न कर्तव्यम् ॥४१६॥ सहेति—सह युगपत् समकालीना संभूति आत्मना सह जन्म यस्य स एव देहोऽपि यत्र शाश्वत स्थिरः न तत्र इष्टदारकदारेषु इष्टं धनम् दारक पुत्र दारा पत्नी एतेषु महात्मनां किं स्पृहायां का आस्था क प्रयत्न ॥४१७॥ स इति—य धर्माय दानपूजादिकार्याय धनागम धनप्राप्तिं न विमर्शेत नोपभुङ्क्ते तथा लोभाय य धनागमं नोपभुङ्क्ते तस्य स विफल एवायासस्तनवत् ॥४१८॥ प्राप्ते इति—ये धने प्राप्ते लब्धे न माद्यन्ति न गर्विणो भवन्ति । ये प्राप्तिस्पृहयाकुला न भवन्ति । धनप्राप्त्यै न स्पृहयन्ति च त एव महात्मानः लोकद्वयाभिगता इहपरलोकसुखसमन्विताः सर्वेषां परमेश्वरा भवन्ति । उपर्युक्ता एव महात्मान इहलोके चाभीष्टसिद्धिं लभन्ते परलोके स्वर्गादी इन्द्रविभूतिं च प्राप्नुवन्ति । ॥४१९॥ चित्तस्येति । हे चित्त हे मन चित्तस्य मनस्य चिन्तायाम् अभिलाषायाम् एतत् पापात् परम् अन्यत् फलं नास्ति न । हि यत कथितमेतद् यस्मात् कथिते चिन्त्यमानस्य प्रयतमानस्य नरस्य चित्तस्य वा चलता दुःखात् परम् अन्यत् फलं न भवति ॥४४ ॥ निर्ममस्य सुखं भवतीति निरूपयति—अन्तरिति—अन्त अंतरङ्गे । परिग्रहे रागादौ । बहिरपि परिग्रहे मणिमुक्तादिके । यस्य मानसं निर्ममम् अनासक्तं भवति । स अनन्यपुण्यसंपद्य अनन्यसुखसंपूर्णं नर सर्वत्र सुखम् आत्मनो लभ्यते ॥४४१॥

[पृष्ठ २०५] बाह्येति—बाह्ये मणिमुक्तादिषु पुत्रकलत्रादिके च । सङ्गे परिग्रहे । रते आसक्ते । पुंसि पुरुषे । चित्तविमुक्तता मनोनैर्मल्यं कुत एव स्यात् । यदि तद्रूपे बाह्ये बाह्ये आसक्ति तस्यै अन्त विमुक्तता अन्तर्निर्मलता दुर्लभा भवति ॥४४२॥ सत्पात्रेति—य पुरुष सत्पात्रे रत्नत्रययुक्ते मुनौ श्रावके च विधि योग्येन धनार्पणेन अर्थसंग्रहतत्पर धनार्जने तत्पर भवति स कुम्भेषु महाकुम्भ यत कुम्भ यावज्जीवं धनं न त्यजति परं मृत स्वेन सह अमुत्र परस्मिन्लोके धनं नेतुमक्षम । परं सत्पात्रे धनं विनियुञ्जान परलोकेऽपि धनं लभति अत स एव कुम्भेषु महाकुम्भ ज्ञेय ॥४४३॥ परिग्रहप्रमाणानुव्रतमाहात्म्यं प्रदर्शते—कृत्वेति—कृतं प्रमाणं परिमाणं यस्य तस्मात् धनात् । लोभेन अविकसंग्रह अविकधनसंग्रह यस्य भवति स गृहमेधिना कस्य

मणुव्रतत्रयाणि पञ्चमाणुव्रतहानि करोति ॥४४८॥ अस्मिन् द्वन्द्वद्वयेऽपि उभयपरिग्रहेऽपि यस्य देहिन शरीरिण। मन निःस्पृह वर्तते। स पुरुष स्वर्गापवर्गलक्ष्मीणा पक्षे क्षणात् दक्षते चतुरो भवति। निःस्पृहचित्तस्य नरस्य स्वर्गापवर्गलक्ष्मीणा प्राप्तिर्भवति॥४४९॥ अत्यर्थम्—अतिशयेन अर्थकाक्षाया धनाभिलाषाया नृणाम् अघौघसचित पापसमूहस भूतम्। येन मनागावर्तवर्तेन भवस्य आवर्त गर्त तत्र वर्त्त वर्तन गच्छतीति ससारावर्तवर्तगम्। भवगर्तभ्रमणवत् भवनि जायते ॥४४६॥

[पृष्ठ २०४-२०७] श्मश्रुनवनीतस्य परिग्रहाग्रहस्योपाख्यानम्—पाञ्चालदेशेषु त्रिदशेति—त्रिदशाना देवाना निवेश निवास स्वर्ग तद्वत् अनुकूले सुजनजनके उपशल्ये समीपे। काम्पिल्ये तन्नामके नगरे रत्नप्रभो नाम नृपति। कथभूत स। निर्जेति—स्वधीप्रभावधिकृतदेवगुरुप्रज्ञ। अस्य मणिकुण्डला नाम महादेवी कथभूता सा। आत्मीयेति—आत्मन इमौ आत्मीयौ तौ च तौ कपोलौ गण्डौ तयो कान्तिर्द्युति तया विजित पराभूतम् अमृतमरीचे सुधाकरस्य चन्द्रस्य मण्डल ययेति। अस्य नृपस्य सागरदत्तो नाम श्रेष्ठी। कथभूत स। कुलेति—कुल वश तस्य क्रम परम्परा तस्मात् आगत प्राप्तम् आत्मोपार्जित च स्वेन सपादित च अमित विपुल वित्त यस्य स। सागरदत्तो नाम श्रेष्ठी। गृहस्य श्रीरिव रमा यया धनश्रीर्नामास्य भार्या। सूनु पुत्र अनयो धनश्रीसागरदत्तयो सुदत्तो नाम। कथभूत स। न्यायादनपेतो न्याय्य स चासौ अर्थ न्याय्यार्थ स्वामिमित्रविश्वसितद्रोहवञ्चनादिकविरहित अर्थ न्याय्यार्थ तस्योपार्जने एक चित्त तत्पर मनो यस्य स सुदत्तो नाम सूनु पुत्र। स सागरदत्त कथभूत। महालोभेति—महालोभ एव विभावसुरग्नि तेन ज्वलत् दहत् चित्तस्य मनस भित्तम् अशो यस्य स सागरदत्त। पुरुषेति—अनेकपूर्वपुरुषक्रमेणागताया सुवर्णकोटे, स्वय सपादितार्धकोटे स्वामी भवन्नपि शालीयादिभक्तभोजने कलमाद्यन्नभुक्तौ द्वयो तुषयो त्वचो अपनीतिर्हानिर्भवति। द्वावनाश्राणाकृतिश्च द्वौ तुषौ अनाश्राणाकृती च अग्निजलसयोगेनापि अपक्वावस्थावेव तिष्ठत। शाकाना पाकविधाने अग्निना पक्वत्वकरणे सभारादिकृतिश्च तल्लवनक्रियाया तन्मूलाना शाकनाडिकाना कठिनावयवाना च अपनयन क्रियते, प्रसभ यथेच्छम् अभ्यवहृतिश्च भक्षण च भवति। घार्तपूराः घार्तिकाख्या भक्ष्यविशेषा, पूरिका पोलिका, वेष्टिमावेष्टनाकारा ('जिलेबी' इति भाषायाम्) एतेषा भक्ष्याणाम् उपक्षेपे ग्रहणे भक्षणे वा महती महान् स्नेहापहति घृततैलादिविनाश स्यात् इन्धनाना काष्ठाना विरति हानिर्भवेत्। दुग्धदधिघोलरसाद्युपयोगे भक्षणे कृते विक्रय कर्तुं न शक्यते 'यत्तु सस्नेहमजल मथित घोलमुच्यते' न च तक्र कडङ्गरायेति भक्ष्यविशेषाय तक्रस्यापि उपयोगो न भवेत्। इति मन्यमान विमर्श कुर्वन् स्वयमेव प्रतिदिवसवृद्धिग्रहणाय प्रतिदिनम् अधर्मणात् कुसीदग्रहणाय ध्वजलोकपाटके ध्वजलोकास्तैलिका तेषा पाटके गृहपङ्क्तौ विहरमाण गच्छन् प्रतिपितृप्रिययन्त्रमुपसृत्य तिलतुदयन्त्राणा समीप स्थित्वा आ सुरभि सुगन्धि खलु एष खल पिण्याक सजात इति सस्मेर स्मित कृत्वा व्याहरन् ब्रुवाण, गृहीतपिण्डखण्ड स्वीकृतपिण्याकशकल, प्रत्यवमानसमये भोजनवेलाया तद्गन्धम् आजिघ्रन् सन् सर्वजनत्यक्तम्, अतीतकालमर्याद जीर्णमित्यर्थ अतिक्रान्तसमर्घम् अतीव सुलभ दरिद्रेणापि प्राप्यम्, अकण्डितमेव च स्थालीविलीय स्थालीनिहित तदोदनादिक शीघ्र पक्व भवति तत् केवलम् अवन्तिसोमेन सह काञ्जिकया सह अय सागरदत्त आहरति भक्षयति। अत एव अस्य महामोहसबद्धस्य पिण्याकगन्ध इति नाम जगति पप्रथे, प्रसिद्ध बभूव। 'मुखामोदमात्रेण च प्रयोजनम्। तदल ताम्बूलार्थम् अर्थव्ययेन, धनत्यागेन'। इति विचिन्त्य विष्णुतरुत्वच वृक्षविशेषस्य या त्वक् तस्या कालवल्लीदलोत्तरास्वादरुच पिप्पलच्छल्ली वावचीपत्राणा च पश्चाद्भोजनेन रुक् रुचिर्यासा विष्णुतरुत्वच ता कवलयति भक्षयति। अर्धघ्राणोदर परिवार ऊनभोजन भृत्यवर्ग कदाचिदपि देहे हृदये वा न मनागपि विकुरुते आलस्ययुक्तो न भवति। इति मत्वा न कमण्डूर्वपूर पूरयति। कुक्षिपूरणमात्रम् अन्न कस्यापि न ददाति। प्रतिचारकाश्च स्वभृत्याश्च एव शिक्षयति उपदिशति—'न तैलार्थ लवणार्थ वित्त व्ययितव्यम्' किं तु कार्षापण माष चादाय कार्षापण कपिकाख्य पणास्य वा नाणकम् आदाय तथा माष चादाय गृहीत्वा यत तैलादिक मीयते तद्भाण्ड चादाय आपण विपणि उपढौक्य गत्वा तदुभय गृहीत्वा पुनरिद मान्न न भवति इति समर्पयन्नापणिकाय तत्र माषे भाण्डे किंचिल्लग्नम् आयाति

तत्र शरीरो विधिर्विधातव्यः तेन तैलेन अङ्गस्य प्रमर्दनं कृत्वा स्नानं विधातव्यम् । परिजनार्भकान् भृत्यबालकान् स्वकीयांश्च नियमतदिवसांश्च उपवसति (उपवासयति) नैवमति । न भवद्भिः अङ्गात्मजाङ्गार्थं मलनम् उपहोतव्यम् । अङ्गेषु अभ्यङ्गस्नानाय भवनं गृहं न उपगन्तव्यम् न उद्वेलितव्यम् किं तु प्रातिवेशिकविपुरुषवोढ्रि सहातिसंबाधं यातव्यम् । भासदगृहिका बालकसमूहैः सह अतिसंबाधं मल्लयुद्धं विधेयम् । अस्माद्धेतोः भवताम् अनुपायदर्शिभिः स्नानविधिः । उपायमन्तरा प्रयत्नमन्तरेण अभ्यङ्गस्नानकार्यं स्यात् । क्षपायां च रात्रौ प्रतिवेशवेश्मप्रदीपप्रभाप्रच्छादितेन भासमूहे प्रदीपकारया प्रकाशितेन भक्तीकान्तावकल्पितेन काचमुकुरेण गोप्राग्वाशितेन कार्यर्पणेन गृहाङ्गणे प्रदीपकाय कर्तव्यम् । तथा निकाय्यमध्ये गृहस्य मध्ये मध्येपूर्वं समुत्तरच्छ-प्रोतै विषमस्थितैः उपभुक्ताचैः सुधाप्रसंखमी प्रातैः भिन्नप्रच्छादितैः एरण्डदीपैः प्रदीपकार्यं करोति । प्रदीपप्रकाशं विदधाति । सकलजनसाधारणत्वाच्च नवीनसंधा एव युष्मा सकलजनसामान्यानि नवीनसंधा जूलार्थेन निर्मितानि वस्त्राणि सपरिच्छदः स्वपरिवारयुक्तः परिदधाति धारयति । भवान् ईषत् मलीमसरागात्त्व मलिनो रागी रंगो भवो ताम् विनिर्णीते । ततोऽस्य वसनधावनार्थं वस्त्रप्रक्षालनाय न कपर्दकोपक्षयः न व्ययम्म । पर्वाणि च पर्वदिनानि च उत्सवदिवसान् पुराणानि जीर्णानि पत्त्राणि पर्णानि कचवरं कच्चरं तेषाम् अपनयनकरणं स्थान यत्र तथाभूतेन उत्करेण गत्वाविना आकर्पणेन आतपत्रस्पर्शसंपादनसहायक आतपेन रविकिरणतापेन उष्ण म निविडं संपाद्य युगपत्संदीप्य स्नेहद्रवेण स्निग्धपाकेन गुडमोचीवाक्कमकदारोप च पुलोपेतकोबीना भाण्डेन भाजनेन संभातकपाकरणेन च निवपति यापयति । अस्यामन्त्रणेन भोजनार्थं लोकानाम् आह्वानेन प्रतिवचनवत् जनत्वाभावात् परागारभोजनाभावात्स्नैव परगृहे मधुरोदनं भुज्यते तस्य आलोकनेन प्रेक्षणेन भोजनकार्यं निर्वर्तयति । स्वामिनभवनभोविनायामयात्व आमन्त्रितोऽपि भोजनार्थम् आहूतोऽपि परगृहे भोजनाय न गच्छति यदि तत्र गच्छामि भोजनाय तर्हि स्वामिनमनामा मम विकृतं भवतु ते जनस्य चौर्यं कुर्युः अतः न कस्यापि निकेतने गृहे याति भवति । कर्मभूत पिण्याकगन्धे ।

[पृष्ठ २०७–२१०] एवमतीव तपोत्कर्षरमद्भार्ये उपसाम्या तस्य उत्कर्षः प्रवृद्धि तस्य रत्नः प्रेम तेन हाय तद्भीने हर्षः । पुन कर्मभूते । सकलेति—सकलाना कर्पाणा कृपणानाम् आचार्ये महाकृपणे इति भावः । तथाभूते तस्मिन्नोवत्यपि मृतकल्पमनसि मृतेन सदृश मृतकल्पं तन्मनः यस्य स मृतकल्पमनाः तस्मिन् वसति सति । एकदा (रत्नप्रभो नृप चैत्यालयनिर्माणाय सुवर्णेष्टकाः स्तूपताम् आनयत्) रत्नप्रभो नप राजसिन्धुरेति—राजान एव सिन्धुरा हस्तिन तेषां प्रभावस्य अभिप्रवस्य आक्रमवस्य संवर्धनाय अवलोकनार्थं प्रासादस्य संपादनाय रचनार्थे । भयणेति—भयतो कर्णौ तो आमयीभूतौ भृतस्य यस्य तथाभूतस्य वधूवतस्य महीपते नाकेन स्वपिकस्वया समतभूमिरूपतया कृप्तो विगाढः वलकाया परिस्थितस्य भुने भवनप्रदेशे प्रासादरेखैः भूपीठमर्द विधाय यत्ने कृते सति । सदारम्भानेति—तस्य आस्थानमण्डपस्य सभामण्डपस्य आभोग विस्तारः तस्य भर्गो भुवन्ति इति भवभुपः समाभूविस्तारसम्भमागिम्य इति भावः । पुनः कर्पभूताः । प्रकामेति—प्रकामम् अतिशयेन उग्ररतापः सारभूतिकबोपः तेन कतुलवपुषः कृष्णीभूता इति भावः । पुन कर्पभूताः । सपूर्णेति—सकलविस्तारभूत प्रतिमगुणविधिः पृथुलगुणसामिन्याः सुवर्णेष्टका सुवर्णेन हेम्ना रचिता इष्टका समाकोम्य बहिर्निष्कामं ब्राह्मणस्त्याना निधते कलकुम्भ कम्पारितेन मणिनिभारवर्य नात् इत्यभूतिकप्रभाम अविपेयता तासाम् आकस्म्यम् आभाम एता वस्तु चैत्यालयनिर्माणाय जिनगृह निर्माणाय योग्या इति मनसा एकत्र स्तूपताम् उपरतदाकारताम् आनयत् । [कथान्तरे पिण्याकगन्ध कथ वाहनम् भयमादिरिव प्रकोम्प तावा सुवर्णेष्टकाया संग्रहमकरोत्] कथान्तरे अतिमन्त्रवर्मै समस्तेति—सकलाना मिलितानां इष्टकानां पुरोगमसंनिभः अग्रणीत्वयुक्तः पिण्याकगन्धः एरमत वैवेन पाता वध्यताम् इष्टकान्तरं वहन्ता वेदविमिश्रदाता दिनते कमपणो वहतियते स्कन्धवाहककार्ये भारं वहन्तो नरा वैवधिका कथ्यन्ते तैर्वा समुद्धता गार्दभमन्ये मानविषये मार्गप्रदेशे पतितम् एकाम् इष्टकाम् अवाप्य लब्ध्वा परपथावनप्रदेशे ता तु स्वगात् अस्थापयत् । तत्र च मलिनम् प्रतिदिनम् अङ्घ्रिनिर्घर्षणात् पाषाणत्वात् मदेषकानुसारान्ये सकलमलिनताया अपगमे घनतिमिरात्ववम् भवेत्व धर्मणा सुवर्णेन रचितत्वं तस्या ज्ञात्वा तैलैः अन्येषामप्यसि भोजनादिभिः कायनह्यानां

भारवाहकाना विहितोपचार. गृहादर ना. सुवर्णेष्टका. सगृह्णन् स्वीकुर्वन् श्रुत आकर्णित स्वसीयस्य भगि
पुत्रस्य अपायोदन्त मृत्युवार्ता येन तथाभूत पिण्याकगन्ध. कायमानेति—कायमान वर्धमान य म
मन्यु मन शोक तेन गृतो अन्या नान यस्य स (स्वसुत सुवर्णेष्टकाग्रहणं कुर्विन्त्यादिश्य भगिनीग्राम गतवान्
पुत्र, सकलकलानिपुणचित्तसुदत्त तव पितृव्यस्य पुत्रशोकशान्त्यै मया अनन्य गन्तव्यम् अपस्नानव्य च मृतोद्दे
स्नान च कर्तव्यम्। ततस्तत्प्रार्थिता सुवर्णेष्टका परिस्कन्दलोकप्रलोभेन पति आसमन्तात् स्कन्देन भारवाहि
लोकानां प्रलोभेन दत्वा साधु सग्रहीतव्या । इत्युपह्वरे एकान्ते व्याहृत्य उक्त्वा सकलेति—सकल
तज्जगत् सकलजगत् तस्य व्यवहार प्रवृत्ति तस्य अवतार उत्पत्ति तस्मै पितेषा वेदत्रयनदृश्या काक
नगर्या तोकस्य पुत्रस्य शोकात् अश्रूणि नेत्रजलानि भूयिष्ठानि यस्या सा तथाभूताया कनिष्ठाया लघिष्ठा
स्वसु दर्शनार्थमगच्छत् । असद्व्यवहारव्यावृत्त असत्यव्यवहारात् निवृत्त सुदत्त तातोपदेश पितुरादे
अनि श्रेयस अश्रेयस्करम् अवस्यन् जानन्, सत राजपरिगृहीत राजस्वामिक तृणमपि काञ्चनीभवति सु
जायते सपद्यते च तद्धेतुर्भवति पूर्वपुरुषाजितस्यापि धनस्यापहरणाय प्राणविनाशाय च इति जातमति उद्
विवेक न एकामपि इष्टका समग्रहीत् समगृह्णात् । महालोभलोलतान्ध पिण्याकगन्ध तस्या काकन्द्या
पुर्या अपस्नात्वा मृतकोद्देशेन स्नान विधायागत सुतमपृच्छत् । वत्स, कियती खलु त्वम् इष्टकातती इष्टक
तती समूहान् पर्यग्रहीः अगृह्णा । स्तेययोगविनिवृत्त स्तेय चौर्य तस्य योग सबन्ध तस्माद्विनिवृत्त विर
सुदत्त —तात, नैकामपि इष्टकामहम् अगृह्णाम्। [श्रुत्वैतत्पुत्रवाक्य पिण्याकगन्ध स्वपादौ शिलापुत्रकेण जर्जरित
करोत्] प्रादुर्भवदिति—प्रकटीभवद्दीर्घनरकगतिपापबन्ध पिण्याकगन्ध समर्थे कुटुम्बपालनक्षमे सदाचारपाल
कृतार्थे जीवितसाफल्य कुर्वाणे, पुण्यकार्यं दानपूजादिक तद्भजतीति पुण्यभाक् तस्मिन् तुजि पुत्रे परम् अन्यत्
वचनम् अपश्यन् 'यदि चेत् इमौ क्रमौ चरणौ परिक्रमणक्षमौ परिक्रमण गमन तत्र क्षमौ समर्थौ मम न अभविष्
तदा कथकार किमर्थम् अह मन्मनोरथवन्ध्या' मन्मनोरथाना कारागारसदृश्या काकन्द्याम् अगमिष्यम् ।
एतौ एव पादौ अत्र श्रीविरामावहौ लक्ष्मीविनाशजनकौ द्रोहौ द्वेषरूपौ इति विचिन्त्य उद्वर्तन विलेपनम्
न्त्या मर्दयन्त्या स्वस्वामिन्या स्वपत्न्या करादाक्षिप्तशरीरेण बलाद्गृहीतेन शिलापुत्रकेण पेषणपाषाणेन
जर्जरितौ अकरोत् । [इष्टकासु सुवर्णत्व निर्वर्ण्य राजा पिण्याकगन्धस्य सर्वस्वमपाहरत्, स च मृत्वा
जन्मालभत] एतच्च वैदेहकव्यञ्जनपरिजनात् वैदयवेषधारिभृत्यजनात् रत्नप्रभो राजा अशृणोत् । कथभू
प्राचीनेति—प्राचीनबर्हीः इन्द्र. तस्य निभ तदुपम तत्सदृशो वा क्षितीति—क्षिति पृथ्वी एव रमणी
सा एव वरिणी हस्तिनी तस्या इभ गज रत्नप्रभ श्रुत्वा वासीवक्त्रेण कुठारिकामुखेन शिल्पिभि तक्षि
विधापितेति—कारितेष्टकाछेद नृप सुवर्णत्वं निश्चित्य विहितेति—कृतधनादिसकलवस्त्वपहारम्
कार सधिक्कार नगरेति—नागरिकजनेन उच्चार्यमाणदुरपवादाना घोष्यमाणवर्णाना प्रबन्धो विस्तारो यस्
पिण्याकगन्ध निरवासयत् स्वदेशात् निरघाटयत् । 'इन्द्रियम् अस्थानं हि गुणदोषयोर्महीपतय ' राजान
दोषयो अस्थानम् इन्द्रियम्' अस्थानेन यस्य नियत स्थान नास्ति तादृशेन इन्द्रियेण मनसा इन्द्रियेण गुणदो
विचार. क्रियते यथा तथा राजा जनाना गुणदोषौ अस्थानम् इन्द्रिय मन. भूत्वा विचारयति इति नीतिवा
अनुस्मृत्य मूलधनप्रदानेन राजा सुदत्तस्य मूलधन दत्वा समाश्वासयत् तथा अन्वयागतनिवासनिवेदनेन च
परम्परागतनिवासो भवतोऽत्रैव भवत्विति निवेदनं कृत्वा राजा सुदत्त साधु समाश्वासयत् । ,स तथा निर्वा
निर्घाटित सजातनरकनिषेकनिबन्ध सजात नरकस्य गते आस्रवस्य निश्चयेन बन्धो यस्य । कृतेति—
प्रकामम् अतिशयेन लोभेन सबन्धो येन स , चिरायेति—चिराय दीर्घकालावधिका उपार्जिता लब्धा दुर
दु खदोऽन्तो येषा तेषा दुष्कर्मणा स्कन्धा येन स पिण्याकगन्ध प्रेत्य मृत्वा पाताल श्वभ्र नरकम् अग
भवति चात्र श्लोक —षष्ठ्या क्षिते तम प्रभाया पृथिव्या दु खमल्लके दु खाना पात्रभूते अस्मिन्लल्लके न
इन्द्रकबिले धनायाविद्धचेतसा धनायया धनाभिलाषया आविद्ध भ्रान्तं चेत मनो यस्य तेन पिण्याकगन्धेन
अपतयत ।।४४७।।

इत्युपासकाध्ययने परिग्रहाग्रहफलफुल्लनो नाम द्वात्रिंशत्तम कल्प ।।३२।।

३३ गुणव्रतत्रयसूत्रणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१०] दिगिति—सद्भिः सज्जनैः गणधरदेवादिभिः सागारयतिषु गृहस्थेषु कथिताः ॥१॥ त च ते यतयश्च सागारयतयः गृहे स्थित्वा अहिंसादिषु एकदेशेन यतनत्वात् श्रावकाः सागारयतयः प्रोच्यन्ते। तेषु दिशां विरतिः देशानां विरतिः अनर्थदण्डानां च विरतिः इति त्रितयमर्थं विशेषाणामणुव्रतानां त्रितयस्य सायनम् आधारभूतं गुणव्रतत्रयं स्मृतम् दिग्भ्यो विरतिः दिग्व्रतम् देशेभ्यो विरतिः देशव्रतम्, अनर्थदण्डेभ्यो विरतिः अनर्थदण्डव्रतम् ॥४४८॥ दिग्व्रतदेशव्रते व्याचष्टे—सर्वासु दिक्षु पूर्वादिषु दशसु दिक्षु एतस्यां दिशि अस्यां विदिशि मम इयदेव इयदायामक्षेत्रादिपरिमाणा गतिर्गमनम् इति मर्यादां कृत्वा ततो बाह्ये गमनं नैवेति दिग्व्रतम् । तथा च निखिलेषु सर्वेषु अत्र प्रसिद्धदेशेषु ग्रामेषु नगरेषु देशेषु गृहादिषु पर्वतशिखरेषु च मम इयत्प्रमाणा गतिरिति देशव्रतम् ॥४४९॥ दिग्देशेति—एवं पूर्वोक्तप्रमाणेन दिशां देशानां च नियमात् अवधेः ततो बाह्येषु जन्तुषु भोगोपभोगादिषु वस्तुषु हिंसानिवृत्तेः लोभनिवृत्तेः लोभादिनिवृत्तेश्च चित्तप्रसरणात् मनोनिग्रहः भवति ॥४५ ॥

[पृष्ठ २११-२१२] रत्नमितीति—इदं गुणव्रतत्रयं प्रयत्नेन अहिंसाद्यणुव्रतपालनपूर्वकं रत्नम् गृही गृहस्थः यत्र यत्र भुवने स्वर्गादौ वा उपजायते उत्पद्यते तत्र तत्र सार्वभौमत्वं क्रमेण प्राप्नुयात् ॥४५१॥ आज्ञेति—पूर्वोक्तस्य देशगुणव्रतस्य स्वीकृतस्य आज्ञाप्रमाणस्य आज्ञायाः पूर्वादाना दशानां दिशां प्रमाणस्य इयत्तायाः अतिक्रमात् उल्लङ्घनात् देशव्रती अणुव्रती गृहस्थः प्रायश्चित्तसमाश्रयः प्रायश्चित्तस्य विषय प्रकाशित भवेत् । यथा लोभादिना महानदिग्वतस्य गृहीतदेशगुणव्रतस्य गृहिणः तन्मर्यादायाः उल्लङ्घनं स्यात् तदा प्रमादपरिहारार्थं तदुत्पन्नदोषस्य प्रायश्चित्तं तेन समाचरणम् । तथा कृते सति दोषपरिहारो भवत् यथोत्कर्षश्च भवत ॥४५२॥ त्रिलक्षणोति—शिखण्डी मयूरः कुक्कुटः ताम्रचूडः श्येनः पक्षिविशेषः बिडालो मार्जारः व्याघ्रः सर्पः बभ्रुः नकुलः विषं गरलम् कण्टकानि शस्त्रम् अग्निः तथा प्रतोदः पाशको बालं रज्जुः ॥४५३॥ पापाख्याः नेति—पापाख्यानं पापोपदेशः हिंसादाय्यादिसंभवः असुखप्रदानम् आतरौद्रचिन्तनम् हिंसा हिंसादानं विषादिहिंसोपकरणानां दानम्, क्रीडा अक्षक्रीडादिकम् । वृथाक्रिया पृथ्वीखननम् जलस्थापनम् अग्निदीपनम्, वनस्पतिच्छेदनादिकम् । वनस्पतीनां छेदादिकम् एते सर्वे अनर्थदण्डाः प्राज्ञा । परोपतापः परेषाम् उपतापः पीडनम् पैशुन्यं परेषां निन्दाकरणम्, शोकः अनुग्राहकसंबन्धविच्छेदे वैकल्यविशेषः शोकः आक्रन्दः परितापजाताश्रुपातप्रचुरविलापादिभिर्व्यक्ताक्रन्दनमाक्रन्दनम् । अन्ये एतेषां करणम् एते अनर्थदण्डहेतवो भवन्ति ॥४५४॥ वधेति—वधः दण्डकशावेत्रादिभिः अभिघातः प्राणिनाम् । बन्धनम्—रज्ज्वादिभिर्बन्धनं येनाभिमतगतिनिरोधः । संरोधः—रोधनम् एते अन्यत्रापि च ईदृशाः अनर्थदण्डाख्याः भवन्ति मात्सराः संसारः तस्य प्रवर्धकराः ॥४५५॥ पापणमिति—क्रूरसत्त्वानां जीवघातकानां मार्जारादीनाम् पोषणम् । हिंसोपकरणविक्रयाय हिंसायाः उपकरणानां विषशस्त्रादीनां क्रिया करणम् । देशव्रती गुणव्रतधारकः श्रावकः सर्वथा स्वयमपि त्यजेत् । अहिंसाणुव्रतेन भावनाकाराः ते श्रावकाः गुरवः तथा गुणाः पौर्वाह्णिकस्य ॥४५६॥ अनर्थदण्डत्यागस्य फलम्—अनर्थदण्डविवर्जनात् स्वस्य स्वकीयजनानां वा शारीरिकात्मप्रयोजनादिना अन्य अर्थे धनं शरीरादि परिग्रहणोपयोगिभिः मनुष्यजातानां तदा निर्मोचनम् त्यागात् । देशतो यतिः श्रावकः सर्वभूतेषु मुदुतां विधाय तेषां भूतानां दुःखानुत्पादनमित्यर्थम् । स्वामित्वं च प्राप्य भवति ॥४५७॥ अनर्थदण्डत्यागस्याभावात् का क्रिया आह—बध्नेति—बन्धनं तम्प्रमाणम्, आरम्भो जीवघातहेतुव्यापारः । हिंसा च प्राणिनाम् प्रहरणं कृत्वा एतत् अनर्थदण्डादिषु अन्येषां प्रवर्तनम् । भाराधिक्यं प्रमाणातिरिक्तभारारोपणम् । अधिकक्लेश निःशेषा अत्र ... स्वातन्त्र्यावरणं रज्ज्वादि वा बन्धनम् अन्नपाननिरोधनम् आदिकम् एता क्रियाः नैवानुष्ठेया भवन्ति ॥४५८॥

इत्युपासकाध्ययने गुणव्रतत्रयसूत्रणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः ॥३३॥

१ अत्र ... इति ...

३४. स्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१२-२१३] गुणव्रतवर्णनानन्तरं शिक्षाव्रतानि वर्ण्यन्ते प्रथमं तेषामभिधानानि कीर्त्यन्ते—आद्यावित—आद्यो सामायिक कर्म, द्वितीयो प्रोषधोपासनक्रिया, सेव्यार्थनियमस्तृतीयं शिक्षाव्रतम्, दानं चतुर्थं शिक्षाव्रतम्। शिक्षायै अभ्यासाय व्रतानि शिक्षाव्रतानि, प्रतिदिवसाभ्यासयोग्यत्वात्। गुणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविकमाहुः। अथवा शिक्षा विद्योपादानम्, शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतम्। सामायिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञानपरिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात् ॥४५९॥ सामायिकमाह—आप्तसेवेति—आप्तसेवोपदेशः समयः स्यात् तत्र समयाधिना आप्तसेवोपदेशाभिज्ञादिना श्रावकाणां नियुक्तं यत्कर्म तत्सामायिकम् ऊचिरे। यः सर्वज्ञः सर्वलोकेशः सर्वदापविर्जितः सर्वसत्त्वहितश्च सम् आप्तमाहुः इति आप्तस्य लक्षणं पूर्वमुक्तम्। तस्याप्तस्य सेवा पूजा तत्र नियुक्तं यत्कर्म जिनस्नपनार्चास्तुतिजपाः तत्सामायिकमूचिरे उक्तवन्तः ॥४६०॥ आप्ताभावेऽपि तदाकारपूजा पुण्योत्पादिकेति दर्शयति। आप्तेति—आप्तस्य अर्हत्परमेष्ठिनः असन्निधानेऽपि अविद्यमानेऽपि, तदाकृतिपूजनं पुण्याय पुण्यप्राप्तये भवति। दृष्टान्तमाह—तार्क्ष्यमुद्रा गरुडमुद्रा यस्या गरुडस्य सान्निध्ये अविद्यमानेऽपि विषमाक्षस्य मूर्च्छामृत्यादेः सूदनं विनाशनं किं न कुर्यात् अपि तु कुर्यादेव। अर्हदाकृतिः शान्ताम् आत्मध्यानमुद्राप्रदर्शिनी दृष्टा सतिमुत्पद्यते ततश्च पुण्यं प्राप्यते पापलोपश्च भवति ॥४६१॥ देवतार्चने शुद्धिद्वयस्यावश्यकता—अन्तःशुद्धिमिति—अन्तः शुद्धिं विधाय अशुभसंकल्पान्मुक्त्वेत्यर्थः, बहिः शुद्धिं विधाय, विधिवत् शौच-स्नान-दन्तधावनादिक्रिया बहिः शुद्धिं च विधाय देवतार्चनं विदध्यात् कुर्यात्। आद्या अन्तः शुद्धिः दौश्चित्यनिर्मोक्षात् पापसंकल्पत्यागात्। अन्या बहिः शुद्धिः स्नानाद् भवति। स्नानभेदान् अग्रे वक्ष्यति ॥४६२॥ स्नानं किमर्थं करणीयमित्यनुयोगस्य उत्तरमाह—संभोगायेति—अन्नादिभक्षणं संभोगः तदर्थं स्नानं कर्तव्यम्। विशुद्ध्यर्थं शरीरनिर्मलत्वाय परिणामविशुद्ध्यर्थं च स्नानं मतम्। यत्र यस्मिन् स्नाने। अमुत्र परलोके स्वर्गादौ उचितो विधिः दानव्रतपूजाभिषेकादिकः क्रियते तत्स्नानं धर्माय स्मृतम्। गृहस्थयत्योः स्नानकालनिर्णयः ॥४६३॥ नित्यमिति—गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे देवपूजास्वीकारे नित्यं स्नानम्, अकृतस्नानो गृही देवपूजां न कुर्यात् बहिः शुद्धेरभावात्। सा च अन्तःशुद्धेरपि निमित्तम्। यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानम्, दुर्जनाः कापालिकात्रेयीचाण्डालशबरादयः तेषां स्पर्शात् यतेः स्नानं भवति। एषां स्पर्शमात्रे तस्य स्नानं विगर्हितं निन्द्यं भवति ॥४६४॥ कुत्र कथं स्नानं कर्तव्यमिति कथयति—वातातपादीति—भूरितोये विपुलजले वातातपादिसंस्पृष्टे प्रवहता वायुना सर्वतः स्पृष्टे। आतपेन सूर्यकिरणैः सर्वतः स्पृष्टे। अपनीतशैत्ये जलाशये तडागादौ। अवगाह्य अन्तःप्रविश्य स्नानम् आचरेत्। उपर्युक्तविशिष्टजलाशयाभावे अन्यस्य कूपादेर्जलं गालितं भजेत् जलं गालयित्वा दृढेन निर्मलेन वाससा तेन स्नानमाचरेत्। अगालितकूपजलेन स्नानं न कुर्यात् कृतेऽपि तेन स्नाने बहिः शुद्धिर्न भवति। परं वातातपादिसंस्पृष्टं जलाशयजलं गालितजलवच्छुद्धं मतम् अतस्तेन स्नानं बहिः शुद्धिविधायकं ज्ञातव्यम् ॥४६५॥ स्नानस्य पञ्चविधत्वम्—

[पृष्ठ २१४-२१५] पादजानु इति—पादौ चरणौ, जानुनी ऊरुपर्वणी, कटिः श्रोणिः, ग्रीवा कण्ठः, शिरो मस्तकम्, एषां पञ्चानां पर्यन्तस्य संश्रयः अवलम्बनं यत्र तत् स्नानं पञ्चविधं पञ्चप्रकारं तद्यथादोषम्। दोषमनुसृत्य। शरीरिणां नराणां ज्ञेयं ज्ञातव्यम् ॥४६६॥ स्नानाधिकारिणो विशिनष्टि—ब्रह्मचर्योपपन्नस्येति—ब्रह्मचर्येण स्त्रीसंभोगवर्जनेन उपपन्नस्य युक्तस्य ब्रह्मचारिणः। पुनः कथंभूतस्य। निवृत्तारम्भकर्मणः सेवोद्योगकृष्यादिकर्मविरतस्य। यद्वा तद्वा स्नानं भवेत् पादस्नानं कटिस्नानं त्रिष्वेकेन केनापि स्नानेन आचरितेन स ब्रह्मचारी देवार्चनाधिकारी भवेत्। अन्यस्य स्थ्यारम्भसेवासंक्लिष्टस्य गृहिणः अन्त्यं तद्द्वयं स्नानं मतं ग्रीवास्नानं शिरःस्नानं च ताभ्यां स शुद्धः देवपूजां कुर्यात् ॥४६७॥ आरम्भादि-

---

श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योऽनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये सच्चरित्रचिन्तामणिर्नाम सप्तम आश्वासः।"

३३ गुणव्रतत्रयसूचनो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१०] दिगिति—सद्भिः सज्जनैः गणधरदेवादिभिः सागारमतिषु अगारेण सहिता सागारा ते च ते यतयश्च सागारयतयः गृहे स्थित्वा अहिंसादिषु एकदेशेन यतनत्वात् श्रावकाः सागारयतय उच्यन्ते। तेषु दिशां विरतिः देशानां विरतिः अनर्थदण्डानां च विरतिः इति त्रितयम् दिग्देशानर्थदण्डानां वितयस्य आश्रयम् आगारभूतं गुणव्रतत्रयं स्मृतम्। दिग्भ्यो विरतिः दिग्व्रतम्, देशेभ्यो विरतिः देशव्रतम्, अनर्थदण्डेभ्यो विरतिः अनर्थदण्डव्रतम् ॥४४८॥ दिग्व्रतदेशव्रते व्याचष्टे—दशसु दिक्षु पूर्वादिषु दशसु दिक्षु एतस्यां दिशि स्थितिः मम इयत्येव इयद्योजनकोशादिपरिमाणा गतिगमनम् इति मर्यादां कृत्वा ततो बाह्ये गमनं नैवेति दिग्व्रतम्। तथा च निजनिजेषु सर्वेषु मध्यप्राप्तदेशेषु निम्नगातटेषु देशेषु गृहादिषु पर्वतशिखरेषु च मम इयत्प्रमाणा गतिरिति देशव्रतम् ॥४४९॥ दिग्देशाविति—एवं पूर्वोक्तप्रमाणेन दिशां देशानां च नियमात् अवधेः ततो बाह्येषु वस्तुषु ग्रामनगरादिषु वस्तुषु हिंसानिवृत्तेः लोभनिवृत्तेः लोभादिनिवृत्तत्वेन चित्तस्य मनोनिग्रहः भवति ॥४५० ॥

[पृष्ठ २११ २१२] रत्नमिति—इदं गुणव्रतत्रयं प्रयत्नेन अहिंसाद्यणुव्रतपालनपूर्वकं रक्षन् गृही गृहस्थः यत्र यत्र भूतले स्वर्गादौ वा उपजायते उत्पद्यते तत्र तत्र आधिपत्यं लभेत प्राप्नुयात् ॥४५१॥ आज्ञेति—गृहीतस्य देशगुणव्रतस्य स्वीकृतस्य आज्ञाप्रमाणस्य आज्ञायां पूर्वादीनां दशानां दिशां प्रमाणस्य स्वाज्ञया व्यतिक्रमात् उल्लङ्घनात् देशव्रती अणुव्रती गृहस्थः प्रायश्चित्तसमाश्रयः प्रायश्चित्तस्य विषयः प्रजायेत भवेत्। यदा लोभादिना मर्यादितदिग्व्रतस्य गृहीतदेशगुणव्रतस्य गृहिणः तन्मर्यादायाः उल्लङ्घनं स्यात् तदा प्रमादपरिहारार्थं तदुल्लङ्घनदोषस्य प्रायश्चित्तं तेन समाचरणम्। तथा कृते सति दोषपरिहारो भवेत् व्रतोत्कर्षश्च जायेत ॥४५२॥ शिखण्डीति—शिखण्डी मयूरः कुक्कुटस्ताम्रचूडः श्येनः पक्षविशेषः बिडाली मार्जारः, व्यालः सर्पः बभ्रुः नकुलः विषं गरलम् कण्टकानि शस्त्रम् अग्निः तथा प्रतोदः पाशको जालं रज्जुः ॥४५३॥ पापार्थसाधनानि—पापारम्भाणि पापार्थसाधनानि हिंसाद्युपायाविशेषाः अशुभध्यानम् आर्तरौद्रचिन्तनम् हिंसा हिंसाकर्म विवाहनादिशिल्पव्यापाराणां दानम् क्रीडा चूतक्रीडादिकम्। वृथाटिता वृथाटनम् आलस्याद्यदाचरणम् अग्निबिम्बाचरणम् अकर्मबन्धादिकम्। बलात्कारेण छेदादिकम् एते सर्वे अनर्थदण्डाः स्वाख्याः। परोपतापः परेषाम् अपकारः पीडनम् पैशुन्यं परोक्षे निन्दाकरणम् शोकः अनुकम्पाभावाद्वन्धुवियोगे दैन्यादिविशेषः शोकः आक्रन्दः परिवादः प्राणान्तर्गतदुःखविलापादिविशिष्टकरुणाक्रन्दनम्। अपि एतेषां करणम् एते अनर्थदण्डहेतवो भवन्ति ॥४५४॥ वधेति—वधः दण्डकशायष्टिभिः अभिघातः प्राणिनाम्। बन्धनम्—रज्ज्वादिभिर्बन्धनं येनाभिमतदेशगति निरोधः। संतापः—पीडनम् एते सर्वेऽपि च ईदृशाः अनर्थदण्डाख्या भवन्ति प्राणानाम् संतापः तस्य प्रत्यवस्थानम् ॥४५५॥ पापर्णमिति—क्रूरकर्मणां जीवघातजीविनां मार्जारादीनाम् पोषणम्। हिंसोपकरणविक्रयम् लिप्साव्यवहारतः विषयसक्तानां क्रिया करणम्। देशव्रती गुणव्रतपालकः श्रावकः कर्मसु स्वर्गादिप्राप्ति-स्वर्गप्राप्त्यर्थमाचारान् अहिंसापुष्टान् आचरन् ते कार्यं कुर्याद् तथा मुक्ता पौर्वापर्यस्य ॥४५६॥ अनर्थदण्डव्रतस्य फलम्—अनर्थदण्डनिर्मोक्षात् त्यागात् स्वर्गपतनानां वा शरीरधारणमन्त्रप्रयोजनादिना मम अन्यद् भवति अखिलवतां शरीरं गरुडादिरिव दक्षाः देवा निर्मोचात् त्यागात्। देवो भवति भावतः वनमध्ये गुरुतो निजस्य देवो भूत्वा दुःखानुभवमभिलाषम्। स्वामि न च प्रयत्ने समर्थः ॥४५७॥ अनर्थदण्डत्यागादन्या का क्रिया आह—बन्धनमिति—बन्धनं परप्राणानाम् आरम्भो जीवघातहेतुव्यापारः। हिंसा च एतेषाम् कृत्वा कृत्वा एतेषु बन्धनादिषु अर्थानां प्रवर्तनम्। मारणमिदं प्रमादाभिनिवेशमाचरणम्। अविरतेन हिंसया येन केनापि व्यापारार्थमुद्दिश्य दण्डादिना बन्धनम् मारणम् आदिकम् एवा क्रिया न अनुष्ठेया भवति ॥४५८॥

इत्युपासकाध्ययने गुणव्रतत्रयसूचनो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः ॥३३॥

१ अत्र अनर्थदण्डव्रतस्य प्रकरणे आचारात् समाप्ते यथा— इति अनर्थदण्डविवरणोपयुक्तम्

३४. स्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१२-२१३] गुणव्रतवर्णनानन्तरं शिक्षाव्रतानि वर्ण्यन्ते प्रथमं तेषामभिधानानि कीर्त्यन्ते—आद्याविति—आद्यौ सामायिकं कर्म, द्वितीया प्रोषधोपवासक्रिया, सेव्यार्थनियमस्तृतीयं शिक्षाव्रतम्, दानं चतुर्थं शिक्षाव्रतम्। शिक्षायै अभ्यासाय व्रतानि शिक्षाव्रतानि, प्रतिदिवसमभ्यसनीयत्वात्। गुणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविकमाहुः। अथवा शिक्षा विद्योपादानम्, शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतम्। सामायिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञानपरिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात् ॥४५९॥ सामायिकमाह—आप्तसेवेति—आप्तसेवोपदेशः समयः स्यात् तत्र समयार्थिना आप्तसेवोपदेशाभिलाषिणा श्रावकाणां नियुक्तं यत्कर्म तत्सामायिकम् ऊचिरे। यः सर्वज्ञः सर्वलोकेशः सर्वदोषविवर्जितः सर्वसत्त्वहितश्च तम् आप्तमाहुः इति आप्तस्य लक्षणं पूर्वमुक्तम्। तस्याप्तस्य सेवा पूजा तत्र नियुक्तं यत्कर्म जिनस्नपनार्चास्तुतिजपाः तत्सामायिकमूचिरे उक्तवन्तः ॥४६०॥ आप्ताभावेऽपि तदाकारपूजा पुण्योत्पादिकेति दर्शयति। आप्तेति—आप्तस्य अर्हत्परमेष्ठिनः असन्निधानेऽपि अविद्यमानेऽपि, तदाकृतिपूजनं पुण्याय पुण्यप्राप्तये भवति। दृष्टान्तमाह—तार्क्ष्यमुद्रा गरुडमुद्रा यस्याः गरुडस्य सान्निध्ये अविद्यमानेऽपि विषसामर्थ्यस्य मूर्च्छामृत्यादेः सूदनं विनाशनं किं न कुर्यात् अपि तु कुर्यादेव। अर्हदाकृतिं शान्ताम् आत्मध्यानमुद्राप्रदर्शिनीं दृष्ट्वा मतिरुत्पद्यते ततश्च पुण्यं प्राप्यते पापलोपश्च भवति ॥४६१॥ देवतार्चने शुद्धिद्वयस्यावश्यकता—अन्तःशुद्धिमिति—अन्तःशुद्धिं विधाय अशुभसङ्कल्पान्मुक्त्वेत्यर्थः, बहिःशुद्धिं विधाय, विधिवत् शौच-स्नान-दन्तधावनादिक्रियां बहिःशुद्धिं च विधाय देवतार्चनं विदध्यात् कुर्यात्। आद्या अन्तःशुद्धिः दौश्चित्यनिर्मोक्षात् पापसङ्कल्पत्यागात्। अन्या बहिःशुद्धिः स्नानाद् भवति। स्नानभेदान् अग्रे वक्ष्यति ॥४६२॥ स्नानं किमर्थं करणीयमित्यनुयोगस्य उत्तरमाह—सम्भोगायेति—अन्नादिभक्षणं सम्भोगः तदर्थं स्नानं कर्तव्यम्। विशुद्धयर्थं शरीरनिर्मलत्वाय परिणामविशुद्धयर्थं च स्नानं मतम्। यत्र यस्मिन् स्नाने। अमुत्र परलोके स्वर्गादौ उचितो विधिः दानव्रतपूजाभिषेकादिकः क्रियते तत्स्नानं धर्माय स्मृतम्। गृहस्थयत्योः स्नानकालनिर्णयः ॥४६३॥ नित्यमिति—गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे देवपूजास्वीकारे नित्यं स्नानम्, अकृतस्नानो गृही देवपूजां न कुर्यात् बहिःशुद्धेरभावात्। सा च अन्तःशुद्धेरपि निमित्तम्। यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानम्, दुर्जनाः कापालिकाश्रेयीचाण्डालशबरादयः तेषां स्पर्शात् यतेः स्नानं भवति। एषां स्पर्शाभावे तस्य स्नानं विगर्हितं निन्द्यं भवति ॥४६४॥ कुत्र कथं स्नानं कर्तव्यमिति कथयति—वातातपादीति—भूरितोये विपुलजले वातातपादिसंस्पृष्टे प्रवहता वायुना सर्वतः स्पृष्टे। आतपेन सूर्यकिरणैः सर्वतः स्पृष्टे। अपनीतशैत्ये जलाशये तडागादौ। अवगाह्य अन्तःप्रविश्य स्नानम् आचरेत्। उपर्युक्तविशिष्टजलाशयाभावे अन्यस्य कूपादेर्जलं गालितं भजेत् जलं गालयित्वा दृढेन निर्मलेन वाससा तेन स्नानमाचरेत्। अगालितकूपजलेन स्नानं न कुर्यात् कृतेऽपि तेन स्नाने बहिःशुद्धिर्न भवति। परं वातातपादिसंस्पृष्टं जलाशयजलं गालितजलवच्छुद्धं मतम् अतस्तेन स्नानं बहिःशुद्धिविधायकं ज्ञातव्यम् ॥४६५॥ स्नानस्य पञ्चविधत्वम्—

[पृष्ठ २१४-२१५] पादजान्विति—पादौ चरणौ, जानुनी ऊरुपर्वणी, कटिः श्रोणिः, ग्रीवा कण्ठः, शिरो मस्तकम्, एषां पञ्चानां पर्यन्तस्य सश्रयः अवलम्बनं यत्र तत् स्नानं पञ्चविधं पञ्चप्रकारं तद्यथादोषम्। दोषमनुसृत्य। शरीरिणां नराणां ज्ञेयं ज्ञातव्यम् ॥४६६॥ स्नानाधिकारिणो विशिनष्टि—ब्रह्मचर्योपपन्नस्येति—ब्रह्मचर्येण स्त्रीसम्भोगवर्जनेन उपपन्नस्य युक्तस्य ब्रह्मचारिणः। पुनः कथंभूतस्य निवृत्तारम्भकर्मणः सेवोद्योगकृष्यादिकर्मविरतस्य। यद्वा तद्वा स्नानं भवेत् पादस्नानं कटिस्नानं त्रिष्वेकेन केनापि स्नानेन आचरितेन स ब्रह्मचारी देवार्चनाधिकारी भवेत्। अन्यस्य स्त्र्यारम्भसेवासंक्लिष्टस्य गृहिणः अन्त्यं तद्द्वयं स्नानं मतं ग्रीवास्नानं शिरःस्नानं च ताभ्यां स शुद्धः देवपूजां कुर्यात् ॥४६७॥ आरम्भादि

श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योऽनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये सच्चरित्रचिन्तामणिर्नाम सप्तम आश्वासः।"

२३ गुणव्रतत्रयसूचनो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ १०] दिगिति—सम्भूय समन्ततः गणधरदेवादिभिः सागारयतिषु मध्ये गृहिषु ॥२॥ तं च ते सम्यक्त्व सागारयतम् गृहे स्थित्वा अहिंसादिषु एकदेशेन वर्तमानत्वात् श्रावकाः सागारयतयः प्रोच्यन्ते। तेषु दिशां विरतिः देशानां विरतिः अनर्थदण्डानां च विरतिः इति नियमत्रयं विशेषानर्थदण्डानां नियमस्य साधनम् आधारभूतं गुणव्रतत्रयं स्मृतम् दिग्भ्यो विरतिः दिग्व्रतम् देशेभ्यो विरतिः देशव्रतम्, अनर्थदण्डेभ्यो विरतिः अनर्थदण्डव्रतम् ॥४४८॥ दिग्व्रतदेशव्रते व्याचष्टे—सर्वासु दिक्षु पूर्वादिषु दशसु दिक्षु एतस्यां मर्यादायां स्थितिरिति मम इयत्येव इयद्योजनक्रोशादिपरिमाणा परिगमनम् इति मर्यादां कृत्वा ततो बाह्ये गमनं नैवेति दिग्व्रतम्। तथा च निखिलेषु सर्वेषु ग्रामप्रोर्मदेशेषु निम्नोन्नतेषु देशेषु गृहादिषु पर्वतशिखरेषु च मम इयत्प्रमाणा गतिरिति देशव्रतम् ॥४४९॥ दिग्देशेति—एवं पूर्वोक्तप्रमाणेन दिशां देशानां च नियमात् अवधेः ततो बाह्येषु वस्तुषु नानाभोगादिषु वस्तुषु हिंसानिवृत्तेः लोभनिवृत्तेः मायाविनिवृत्तेश्च चित्तसंयमात् मनोनिग्रहः भवति ॥४५०॥

[पृष्ठ २११ २१२] रक्षन्निति—इदं गुणव्रतत्रयं प्रयत्नेन अहिंसाद्यणुव्रतपालनपूर्वकं रक्षन् गृही गृहस्थः यत्र यत्र भूतले स्वर्गादौ वा उपजायते उत्पद्यते तत्र तत्र आधिपत्यं लभेत प्राप्नुयात् ॥४५१॥ आज्ञेति—गृहीतस्य देशगुणव्रतस्य स्वीकृतस्य मायाप्रमादस्य आज्ञानां पूर्वादीनां व्यवस्था दिशां प्रमाणस्य इयत्तायाः अतिक्रमात् उल्लङ्घनात् देशव्रती अणुव्रती गृहस्थः प्रायश्चित्तसमाश्रयः प्रायश्चित्तस्य विषयः प्रायश्चित्त भवेत्। यदा लोभादिना गृहीतदिग्व्रतस्य गृहीतदेशगुणव्रतस्य गृहिणः तन्मर्यादाया उल्लङ्घनं स्यात् तदा प्रमाणपरिहारार्थे तदुपगमस्थाय प्रायश्चित्तं तेन समाचरणम्। तथा कृते सति दोषपरिहारो भवेत् प्रतीत्यर्थस्य यावत् ॥४५२॥ शिखण्डीति—शिखण्डी मयूरः कुक्कुटः ताम्रचूडः श्येनः पक्षिविशेषः बिडालो मार्जारः व्यालः सर्पः बभ्रुः नकुलः विषं गरलम् कण्टकानि शस्त्रम् अग्निः तथा प्रदीप्तः पाशः जालं रज्जुः ॥४५३॥ पापाख्यानेति—पापाख्यानं पापोपदेशः हिंसाकृष्यादिविषयः अशुभध्यानम् आर्तरौद्रविकल्पम् हिंसा हिंसादानं विषास्त्रादिहिंसाकरणानां दानम्, क्रीडा जलक्रीडादिकम्। वृथाक्रिया पृथ्वीखननम् जलस्फालनम् अग्निविध्यापनम् वनस्पतिच्छेदनादिकम्। प्रमादचर्या इत्यादिकम् एते सर्वे अनर्थदण्डास्समाख्याः। परोपतापः परेषाम् उपताप पीडनम् पैशुन्यं परोक्षे मिथ्याकरणम्, शोकः अनुग्राहकसंबन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः आक्रन्दः परिदेवनं नानाभूतप्रचुरविलापादिभिर्व्यक्ताक्रन्दनम्। अन्येषां एतेषां करणम् एते अनर्थदण्डहेतवो भवन्ति ॥४५४॥ वधेति—वधः दण्डकशावेत्रादिभिः अभिघातः प्राणिनाम्। बन्धनम्—रज्ज्वादिभिर्बन्धनं येनाभिमतगतिविरोधः। सरोधः—रोधनम् एते अन्येऽपि च ईदृशाः अनर्थदण्डाख्याः भवन्ति सावद्याः संसारः तस्य प्रवर्तनत्वात् ॥४५५॥ पोषणमिति—क्रूरसत्त्वानां जीवानां मार्जारादीनाम् पोषणम्। हिंसोपकरणक्रियाणाम् हिंसायाः उपकरणानां विषशस्त्रादीनां क्रियाकरणम्। देशव्रती गुणव्रतपालकः श्रावकः सर्वभूतस्वकीयेषि स्वकीयानपि तु आचाराः अहिंसादिपरा आचाराः ते सर्वे गुणवत् तथा मुक्ता पौर्णुहिंसस्य ॥४५६॥ अनर्थदण्डत्यागस्य फलम्—अनर्थदण्डाभिमोक्षात् स्वस्य स्वकीयजनानां वा शरीरात्मप्रयोजनादिना अन्यः अनर्थः तद्विपक्षाः अशुभमनोवाक्कायाः परपीडाकरत्वात् इव तथा तेषां निर्मोक्षात् त्यागात्। देशतो अहिंसा श्रावकः सर्वभूतेषु सुहृत्ता मित्रत्वं तेषां भूतानां तु आनुकूल्यमिस्थापनम्। स्वामित्वं च प्रपद्यते लभते ॥४५७॥ अनर्थदण्डस्वामन्तात्यागस्य का क्रिया आह—बन्धनेति—बन्धनं परप्रतारणम्, आरम्भो जीवपीडाहेतुव्यापारः। हिंसा च एतेषाम् उपदेशं कृत्वा एतेषु बन्धनादिषु अन्येषां प्रवर्तनम्। भाराधिक्यं प्रमाणातिरिक्तभारारोपणम्। अधिकक्लेशः तिरश्चां येन क्लेशः स्यात्तत्कार्यकरणं रज्ज्वादिना बन्धनम् अन्नादिदानम् आदिकम् एताः क्रियाः तृतीयगुणव्रतस्य मलानि भवन्ति ॥४५८॥

इत्युपासकाध्ययने गुणव्रतत्रयसूचनो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः ॥३३॥

१ अत्र यशस्तिलकचम्पूकाव्यस्य सप्तम आश्वासः समाप्यते यथा— इति सकलताकिकलोकचूडामणे

३४. स्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१२-२१३] गुणव्रतवर्णनानन्तर शिक्षाव्रतानि वर्ण्यन्ते प्रथम तेषामभिधानानि कीर्त्यन्ते—आदाविति—आदौ सामायिक कर्म, द्वितीया प्रोषधोपासनक्रिया, सेव्यार्थनियमस्तृतीय शिक्षाव्रतम्, दान चतुर्थ शिक्षाव्रतम्। शिक्षायै अभ्यासाय व्रतानि शिक्षाव्रतानि, प्रतिदिवसमभ्यसनीयत्वात्। गुणव्रत हि प्रायो यावज्जीविकमाहु। अथवा शिक्षा विद्योपादानम्, शिक्षाप्रधान व्रत शिक्षाव्रतम्। सामायिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञानपरिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात् ॥४५९॥ सामायिकमाह—आप्तसेवेति—आप्तसेवोपदेश समय स्यात् तत्र समयार्थिना आप्तसेवोपदेशाभिलाषिणा श्रावकाणा नियुक्तं यत्कर्म तत्सामायिकम् ऊचिरे। य सर्वज्ञ सर्वलोकेश' सर्वदोषविवर्जित सर्वसत्त्वहितश्च तम् आप्तमाहु इति आप्तस्य लक्षण पूर्वमुक्तम्। तस्याप्तस्य सेवा पूजा तत्र नियुक्त यत्कर्म जिनस्नपनार्चास्तुतिजपा तत्सामायिकमूचिरे उक्तवन्त ॥४६०॥ आप्ताभावेऽपि तदाकारपूजा पुण्योत्पादिकेति दर्शयति। आप्तेति—आप्तस्य अर्हत्परमेष्ठिन असन्निधानेऽपि अविद्यमानेऽपि, तदाकृतिपूजन पुण्याय पुण्यप्राप्तये भवति। दृष्टान्तमाह—तार्क्ष्यमुद्रा गरुडमुद्रा यस्या गरुडस्य सान्निध्ये अविद्यमानेऽपि विषसामर्थ्यस्य मूर्च्छामृत्वादे सूदन विनाशन किं न कुर्यात् अपि तु कुर्यादेव। अर्हदाकृति शान्ताम् आत्मध्यानमुद्राप्रदर्शिनी दृष्ट्वा भक्तिफलायते तनश्च पुण्य प्राप्यते पापलोपश्च भवति ॥४६१॥ देवतार्चने शुद्धिद्वयस्यावश्यकता—अन्तःशुद्धिमिति—अन्त शुद्धि विधाय अशुभसकल्पान्मुक्त्वेत्यर्थ, बहि शुद्धि विधाय, विधिवत् शौच स्नान-दन्तधावनादिक्रिया बहि शुद्धि च विधाय देवतार्चन विदध्यात् कुर्यात्। आद्या अन्त शुद्धि दौश्चित्यनिर्मोक्षात् पापसकल्पत्यागात्। अन्या बहि शुद्धि स्नानाद् भवति। स्नानभेदान् अग्रे वक्ष्यति ॥४६२॥ स्नान किमर्थं करणीयमित्यनुयोगस्य उत्तरमाह—संभोगायेति—अन्नादिभक्षण सभोग तदर्थ स्नान कर्तव्यम्। विशुद्ध्यर्थं शरीरनिर्मलत्वाय परिणामविशुद्ध्यर्थं च स्नान मतम्। यत्र यस्मिन् स्नाने। अमुत्र परलोके स्वर्गादौ उचितो विधि दानव्रतपूजाभिषेकादिक क्रियते तत्स्नान धर्माय स्मृतम्। गृहस्थयत्यो स्नानकालनिर्णय ॥४६३॥ नित्यमिति—गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे देवपूजास्वीकारे नित्य स्नानम्, अकृतस्नानो गृही देवपूजा न कुर्यात् बहि शुद्धेरभावात्। सा च अन्त शुद्धेरपि निमित्तम्। यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानम्, दुर्जना' कापालिकाश्रेयीचाण्डालशबरादय तेषा स्पर्शात् यते स्नान भवति। एषा स्पर्शाभावे तस्य स्नान विगर्हित निन्द्य भवति ॥४६४॥ कुत्र कथ स्नान कर्तव्यमिति कथयति—वातातपादीति—भूरितोये विपुलजले वातातपादिसंस्पृष्टे प्रबहता वायुना सर्वत स्पृष्टे। आतपेन सूर्यकिरणै सर्वत स्पृष्टे। अपनीतगर्तये जलाशये तडागादौ। अवगाह्य अन्तःप्रविश्य स्नानम् आचरेत्। उपर्युक्तविशिष्टजलाशयाभावे अन्यस्य कूपादेर्जल गालित भजेत् जल गालयित्वा दृढेन निर्मलेन वाससा तेन स्नानमाचरेत्। अगालितकूपजलेन स्नान न कुर्यात् कृतेऽपि तेन स्नाने बहि शुद्धिर्न भवति। पर वातातपादिसम्पृष्ट जलाशयजल गालितजलवच्छुद्ध मतम् अतस्तेन स्नान बहि शुद्धिविधायक ज्ञातव्यम् ॥४६५॥ स्नानस्य पञ्चविधत्वम्—

[पृष्ठ २१४-२१५] पादजानु इति—पादौ चरणौ, जानुनी ऊरुपर्वणी, कटि श्रोणि, ग्रीवा कण्ठ, शिरो मस्तकम्, एषा पञ्चाना पर्यन्तस्य सश्रय अवलम्बन यत्र तत् स्नान पञ्चविध पञ्चप्रकार तद्यथादोषम्। दोषमनुसृत्य। शरीरिणा नराणा ज्ञेय ज्ञातव्यम् ॥४६६॥ स्नानाधिकारिणो विशिनष्टि—ब्रह्मचर्योपपन्नस्येति—ब्रह्मचर्येण स्त्रीसभोगवर्जनेन उपपन्नस्य युक्तस्य ब्रह्मचारिण। पुन कथभूतस्य। निवृत्तारम्भकर्मण सेवोद्योगकृष्यादिकर्मविरतस्य। यद्वा तद्वा स्नान भवेत् पादस्नान कटिस्नान त्रिष्वेकेन केनापि स्नानेन आचरितेन स ब्रह्मचारी देवार्चनाधिकारी भवेत्। अन्यस्य स्त्र्यारम्भसेवासक्लिष्टस्य गृहिण अन्त्य तद्द्वय स्नान मत ग्रीवास्नान शिर स्नान च ताभ्या स शुद्ध देवपूजा कुर्यात् ॥४६७॥ आरम्भादि-

---

श्रीमन्नेमिदेवभगवत शिष्येण सद्योऽनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये सच्चरित्रचिन्तामणिर्नाम सप्तम आश्वास।"

३३ गुणव्रतत्रयसूचनो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१०] दिगिति—यदि दिग्देशानर्थदण्डविरतिभिः सागारयतिषु अनगारस्य सदृशाः सन्ति ते च ते यतयश्च सागारयतयः गृहे स्थित्वा अहिंसादिषु एकदेशेन व्रतत्वात् श्रावकाः सागारयतयः प्रोच्यन्ते। तेषु दिशां विरतिः देशानां विरतिः अनर्थदण्डानां च विरतिः इति त्रितयमपि विशेषानर्थदण्डानां त्रितयस्य आश्रयम् आधारभूतं गुणव्रतत्रयं स्मृतम्। दिग्भ्यो विरतिः दिग्व्रतम्, देशेभ्यो विरतिः देशव्रतम्, अनर्थदण्डेभ्यो विरतिः अनर्थदण्डव्रतम् ॥४४८॥ दिग्व्रतदेशव्रते व्याचष्टे—सर्वासु दिक्षु पूर्वादिषु दशसु दिक्षु एतस्यां दिशि इयत्येव इयत्यावधेयपरिमाणा गतिगमनम् इति मर्यादां कृत्वा ततो बाह्ये गमनं नैवेति दिग्व्रतम्। तथा च निखिलेषु सर्वेषु ग्रामदेशेषु निम्नोन्नतेषु देशेषु गुहादिषु पर्वतशिखरेषु च मम इयत्प्रमाणा गतिरिति देशव्रतम् ॥४४९॥ दिग्देशेति—एवं पूर्वोक्तप्रमाणेन दिशां देशानां च नियमात् अवधेः ततो बाह्येषु वस्तुषु भोगोपभोगादिषु वस्तुषु हिंसानिवृत्ते लोभनिवृत्ते भोगादिनिवृत्तेश्च विरतस्यात्मनो मनोनिग्रहः भवति ॥४५० ॥

[पृष्ठ २११-२१२] रक्षन्निति—एवं गुणव्रतत्रयं प्रयत्नेन अहिंसाद्यणुव्रतपालनपूर्वकं रक्षन् गृही गृहस्थः यत्र यत्र भुवने स्वर्गादौ वा जन्मान्तरे उत्पद्यते तत्र तत्र आज्ञैश्वर्यं लभेत प्राप्नुयात् ॥४५१॥ आज्ञेति—गृहीतस्य देवगुरुसमक्षं स्वीकृतस्य आज्ञाप्रमाणस्य आज्ञाया पूर्वाज्ञया दत्ताया दिशः प्रमाणस्य इयत्तायाः अति क्रमात् उल्लङ्घनात् देशव्रती अणुव्रती गृहस्थः प्रायश्चित्तसमाचयः प्रायश्चित्तस्य विषयः प्रमादेन भवेत्। यथा लोभादिना गृहीतदिग्व्रतस्य गृहीतदेशगुणव्रतस्य गृहिणः तन्मर्यादाया उल्लङ्घनं स्यात् तदा प्रमादपरिहारार्थं तदुल्लङ्घनदोषस्य प्रायश्चित्तं तेन समाचरणीयम्। तथा कृते सति दोषपरिहारो भवेत् अतीचारस्य वा भवेत ॥४५२॥ शिखण्डीति—शिखण्डी मयूरः कुक्कुटस्ताम्रचूडः श्येनः पक्षविशेषः बिडालो मार्जारः, व्यालः सर्पः बभ्रु नकुलः विषं गरलम् कण्टकानि शस्त्रम् अग्निः चर्म प्रतोदः पाशश्च बाणं रज्जुः ॥४५३॥ पापास्त्रेति—पापाख्यानं पापोपदेशः हिंसाकृष्यादिसंभवः अपध्यानम् आर्तरौद्रविकल्पम् हिंसा हिंसाकारिविषास्त्रादिहिंसाकारणानां दानम् क्रीडा जलक्रीडादिकम्। वृथाक्रिया पृथ्वीखननम् वातव्यापादनं अग्निविध्यापनम्, जलसेचनादिकम्। वनस्पतीनां छेदादिकम् एते सप्त अनर्थदण्डाः स्मृताः। परोपतापः परेषाम् उपताप पीडनम् पैशुन्यं परोक्षं मिथ्याकरणम्, शोकः अनुग्राहकसंबन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः आक्रन्दः परिताप-जातानुरागप्रचुरविलापादिभिर्व्यक्तक्रन्दनमाक्रन्दनम्। अमी एतेषां करणम् एते अनर्थदण्डहेतवो भवन्ति ॥४५४॥ वधेति—वधः दण्डकशावेत्रादिभिः अभिघातः प्राणिनाम्। बन्धनम्—रज्ज्वादिभिर्बन्धनं येनाभिमतगति-निरोधः। संरोधः—रोधनम् एते अन्यदपि च ईदृशाः अनर्थदण्डाख्या भवन्ति सापरायाः संसारे तस्य प्रवर्तनत्वात् ॥४५५॥ पोषणमिति—क्रूरसत्त्वानां जीवानां मार्जारादीनाम् पोषणम्। हिंसोपकरणक्रियाम् हिंसाया उपकरणानां विषशस्त्रादीनां क्रिया करणम्। देशव्रती गुणव्रतपालकः श्रावकः कर्मभूत् स्वकीयेति स्वकीयाश्च त आचाराः अहिंसाद्युपेताः श्रावकाचाराः तैः चार्वी सुन्दरा तथा मुक्ता धीर्बुद्धिर्यस्य ॥४५६॥ अनर्थदण्डत्यागस्य फलम्—अनर्थदण्डनिर्मोक्षात् स्वस्य स्वकीयजनानां वा शरीरकार्यमनःप्रयोजनादिना अन्य यद् अन्यत् तद्विषयकाः अशुभमनोव्यापाराः परपीडाकरत्वाद्दण्डा इव दण्डाः तेषां निर्मोक्षात् त्यागात्। देशतो यतिः श्रावकः सर्वभूतेषु सुहृत् मित्रस्य तेषां भूतानां शुभानुशंसनाभिलाषम्। स्वामित्वं च प्रपद्यते भजते ॥४५७॥ अनर्थदण्डत्यागभावस्य का क्रिया आह—बन्धनेति—बन्धनं परप्रतारणम्, आरम्भो जीवपीडाहेतुव्यापारः। हिंसा च एतेषाम् सर्वेषां कृत्वा एतेषु बन्धनादिषु आधेयाः प्रयतनम्। भाराधिक्यं प्रमाणातिरिक्तभारारोपणम्। अतिक्लेशः निरन्तरं मैथुनसेवा स्यात्तत्कार्यकरणं रज्ज्वादिना बन्धनम् अशनपानरोधनम् आदिकम्, एताः क्रियाः तृतीयगुणव्रतानये भवन्ति ॥४५८॥

इत्युपासकाध्ययने गुणव्रतत्रयसूचनो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः ॥३३॥

१ अथ यथास्थितनरचम्पूकाव्यस्य कल्पम् भावकाः समाप्यते यथा— इति अनेकशास्त्रिविकल्पयुक्तानके

३४. स्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१२-२१३] गुणव्रतवर्णनानन्तरं शिक्षाव्रतानि वर्ण्यन्ते प्रथमं तेषामभिधानानि कीर्त्यन्ते—आद्यावितिति—आदौ सामायिकं कर्म, द्वितीया प्रोषधोपासनक्रिया, सेव्यार्थनियमस्तृतीयं शिक्षाव्रतम्, दानं चतुर्थं शिक्षाव्रतम्। शिक्षायै अभ्यासाय व्रतानि शिक्षाव्रतानि, प्रतिदिवसमभ्यसनीयत्वात्। गुणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविकमाहुः। अथवा शिक्षा विद्योपादानम्, शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतम्। सामायिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञानपरिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात् ॥४५९॥ सामायिकमाह—आप्तसेवेति—आप्तसेवोपदेशः समयः स्यात् तत्र समयायिना आप्तसेवोपदेशाभिलाषिणा श्रावकाणां नियुक्तं यत्कर्म तत्सामायिकम् ऊचिरे। यः सर्वज्ञः सर्वलोकेशः सर्वदोषविवर्जितः सर्वसत्त्वहितः स तम् आप्तमाहुः इति आप्तस्य लक्षणं पूर्वमुक्तम्। तस्याप्तस्य सेवा पूजा तत्र नियुक्तं यत्कर्म जिनस्नपनार्चास्तुतिजपाः तत्सामायिकमूचिरे उक्तवन्तः ॥४६०॥ आप्ताभावेऽपि तदाकारपूजा पुण्योत्पादिकेति दर्शयति। आप्तेति—आप्तस्य अर्हत्परमेष्ठिनः असंनिधानेऽपि अविद्यमानेऽपि, तदाकृतिपूजनं पुण्याय पुण्यप्राप्तये भवति। दृष्टान्तमाह—तार्क्ष्यमुद्रा गरुडमुद्रा यस्याः गरुडस्य सांनिध्ये अविद्यमानेऽपि विषसामर्थ्यस्य मूर्च्छामृत्वादेः सूदनं विनाशनं किं न कुर्यात् अपि तु कुर्यादेव। अर्हदाकृतिं शान्ताम् आत्मध्यानमुद्राप्रदर्शिनीं दृष्ट्वा भक्तिरुत्पद्यते ततश्च पुण्यं प्राप्यते पापलोपश्च भवति ॥४६१॥ देवतार्चने शुद्धिद्वयस्यावश्यकता—अन्तःशुद्धिमिति—अन्तःशुद्धिं विधाय अशुभसंकल्पान्मुक्त्वेत्यर्थः, बहिःशुद्धिं विधाय, विधिवत् शौच-स्नान-दन्तधावनादिक्रियां बहिःशुद्धिं च विधाय देवतार्चनं विदध्यात् कुर्यात्। आद्या अन्तःशुद्धिः दौश्चित्यनिर्मोक्षात् पापसम्पर्कत्यागात्। अन्या बहिःशुद्धिः स्नानाद् भवति। स्नानभेदान् अग्रे वक्ष्यति ॥४६२॥ स्नानं किमर्थं करणीयमित्यनुयोगस्य उत्तरमाह—संभोगायेति—अन्नादिभक्षणं संभोगः तदर्थं स्नानं कर्तव्यम्। विशुद्ध्यर्थं शरीरनिर्मलत्वाय परिणामविशुद्ध्यर्थं च स्नानं मतम्। यत्र यस्मिन् स्नाने। अमुत्र परलोके स्वर्गादौ उचितो विधिः दानव्रतपूजाभिषेकादिकः क्रियते तत्स्नानं धर्माय स्मृतम्। गृहस्थयत्योः स्नानकालनिर्णयः ॥४६३॥ नित्यमिति—गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे देवपूजास्वीकारे नित्यं स्नानम्, अकृतस्नानो गृही देवपूजां न कुर्यात् बहिःशुद्धेरभावात्। सा च अन्तःशुद्धेरपि निमित्तम्। यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानम्, दुर्जनाः कापालिकात्रेयीचाण्डालशबरादयः तेषां स्पर्शात् यतेः स्नानं भवति। एषां स्पर्शाभावे तस्य स्नानं विगर्हितं निन्द्यं भवति ॥४६४॥ कुत्र कथं स्नानं कर्तव्यमिति कथयति—वातातपादीति—भूरितोये विपुलजले वातातपादिसंस्पृष्टे प्रवहता वायुना सर्वतः स्पृष्टे। आतपेन सूर्यकिरणैः सर्वतः स्पृष्टे। अपनीतशैत्ये जलाशये तडागादौ। अवगाह्य अन्तःप्रविश्य स्नानम् आचरेत्। उपर्युक्तविशिष्टजलाशयाभावे अन्यस्य कूपादेर्जलं गालितं भजेत् जलं गालयित्वा दृढेन निर्मलेन वाससा तेन स्नानमाचरेत्। अगालितकूपजलेन स्नानं न कुर्यात् कृतेऽपि तेन स्नाने बहिःशुद्धिर्न भवति। परं वातातपादिसंस्पृष्टं जलाशयजलं गालितजलवच्छुद्धं मतम् अतस्तेन स्नानं बहिःशुद्धिविधायकं ज्ञातव्यम् ॥४६५॥ स्नानस्य पञ्चविधत्वम्—

[पृष्ठ २१४-२१५] पादजानु इति—पादौ चरणौ, जानुनी ऊरुपर्वणी, कटिः श्रोणिः, ग्रीवा कण्ठः, शिरो मस्तकम्, एषां पञ्चानां पर्यन्तस्य संश्रयः अवलम्बनं यत्र तत् स्नानं पञ्चविधं पञ्चप्रकारं तद्यथादोषम्। दोषमनुसृत्य। शरीरिणां नराणां ज्ञेयं ज्ञातव्यम् ॥४६६॥ स्नानाधिकारिणो विशिनष्टि—ब्रह्मचर्योपपन्नस्येति—ब्रह्मचर्येण स्त्रीसंभोगवर्जनेन उपपन्नस्य युक्तस्य ब्रह्मचारिणः। पुनः कथंभूतस्य। निवृत्तारम्भकर्मणः सेवोद्योगकृष्यादिकर्मविरतस्य। यद्वा तद्वा स्नानं भवेत् पादस्नानं कटिस्नानं त्रिष्वेकेन केनापि स्नानेन आचरितेन स ब्रह्मचारी देवार्चनाधिकारी भवेत्। अन्यस्य स्त्र्यारम्भसेवासंक्लिष्टस्य गृहिणः अन्त्यं तद्द्वयं स्नानं मतं ग्रीवास्नानं शिरःस्नानं च ताभ्यां स शुद्धः देवपूजां कुर्यात् ॥४६७॥ आरम्भादि-

---

श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योऽनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये सच्चरित्रचिन्तामणिर्नाम सप्तम आश्वासः।"

३२ गुणव्रतत्रयसूत्रणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१०] दिगिति—यद्यपि सम्यक्त्वे गणधरदेवादिभिः सागारयतिषु अगारेण सहिता गारा त च ते यतयश्च सागारयतयः गृहे स्थित्वा अहिंसादिषु एकदेशेन यतनत्वात् श्रावकाः सागारयतयः प्रोच्यन्ते। तेषु दिशां विरतिः देशानां विरतिः अनर्थदण्डानां च विरतिः इति त्रितयमपि विशेषेणार्थदण्डानां त्रितयस्य आश्रयम् आधारभूतं गुणव्रतत्रयं स्मृतम्. दिग्भ्यो विरतिः दिग्व्रतम्, देशेभ्यो विरतिः देशव्रतम्, अनर्थदण्डेभ्यो विरतिः अनर्थदण्डव्रतम् ॥४८॥ दिग्व्रतस्वरूपं व्याचष्टे—दशसु दिक्षु पूर्वादिषु दशसु दिक्षु, एतस्यां कस्यांचिद्दिशि मम इयत्येव इयत्प्रमाणयोजनादिपरिमाणा गतिगमनम् इति मर्यादां कृत्वा ततो बाह्ये गमनं नैवेति दिग्व्रतम्। तथा च निखिलेषु सर्वेषु अन्यप्रान्तदेशेषु निम्नोन्नतेषु देशेषु गुहादिषु पर्वतशिखरेषु च मम इयत्प्रमाणा गतिरिति देशव्रतम् ॥४९॥ दिग्देशेति—एवं पूर्वोक्तप्रमाणेन दिशां देशानां च नियमात् अवधेः ततो बाह्येषु वस्तुषु भोगोपभोगादिषु वस्तुषु हिंसानिवृत्तेः लोभनिवृत्तेः भोगादिनिवृत्तेश्च चित्तसंयमात् मनोनिग्रहः भवति ॥५० ॥

[पृष्ठ २११-२१२] रक्षमिति—इदं गुणव्रतत्रयं प्रयत्नेन अहिंसाद्यणुव्रतपालनपूर्वकं रक्षत् गृही गृहस्थः यत्र यत्र भूतौ स्वर्गादौ वा उपजायते उत्पद्यते तत्र तत्र आधिक्यमेव लभेत प्राप्नुयात् ॥५१॥ आसेति—पुत्रीनस्य देवगुरुसमक्षं स्वीकृतस्य आदायप्रमाणस्य आशानां पूर्वादीनां दशानां दिशां प्रमाणस्य इयत्तायाः अति-क्रमात् उल्लङ्घनात् देशव्रती अणुव्रती गृहस्थः प्रायश्चित्तसमाश्रयः प्रायश्चित्तस्य विषयः प्रभावेन भवेत्। यदा लोभादिना महोदधिगमनस्य गुरोरुपदेशस्य गृहिणः तन्मर्यादाया उल्लंघनं स्यात् तदा प्रमादपरिहाराय तदुत्तरनैर्मल्याय प्रायश्चित्तं तेन समाचरणम्। तथा कृते सति दोषपरिहारो भवेत् यशोत्कर्षश्च जायेत ॥५२॥ शिखण्डीति—शिखण्डी मयूरः कुक्कुटस्ताम्रचूडः श्येनः शाखाचरः बिडालो मार्जारः व्यालः सर्पः मधु मधुक विष मरणम् कण्टकानि शस्त्रम्, अग्निः तथा प्रतोदः पाशको जालं रज्जुः ॥५३॥ पापोपदेशा-नेति—पापारम्भं पापोपदेशः हिंसाद्यारम्भविषयः अशुभध्यानम् आर्तरौद्रविकल्पम् हिंसा हिंसार्थं विषादयादिहिंसोपकरणानां दानम्, क्रीडा जलक्रीडादिकम्। वृथाक्रिया पृथ्वीखननम् वातव्यापाद अग्निविध्या-पनम् जलसेचनादिकम्। वनस्पतीनां छेदादिकम्, एते सर्व अनर्थदण्डास्यात्मा। परोपतापः परेषाम् उपताप पीडनम् पैशुन्यं परार्थं निन्दाकरणम् शोकः अनुग्राहकवियोगविच्छेदे वैकल्यविशेषः शोकः आक्रन्दः परिताप आत्मस्तु रागद्वेषविकारादिभिर्मनः क्लेशमाक्रन्दनम्। अन्यैः एतेषां करणम् एते अनर्थदण्डहेतवो भवन्ति ॥५४॥ वधेति—वध दण्डकशादिभिः अभिघातः प्राणिनाम्। बन्धनम्—रज्ज्वादिभिर्बन्धनं येनाभिमतगति-विरोध। सन्तापः—शोषणम् एते अन्येऽपि च ईदृशाः अनर्थदण्डाख्याः भवन्ति आतरायः संसारः तस्य प्रवर्ध नात् ॥५५॥ पापणमिति—क्रूरसत्त्वानां जीवमर्दकानां मार्जारादीनाम् पोषणम्। हिंसोपकरणविशेष हिंसाया उपकरणानां विषशस्त्रादीनां क्रिया करणम्। देशव्रतो गुणव्रतपालकः श्रावकः सर्वभूतः, एतदेवेति स्वरोपात्त ते आचाराः अहिंसापुष्टेषा श्रावकाचारः ते चार्वी सुन्दरा तथा सुखा धीबुद्धिर्यस्य ॥५६॥ अनर्थ दण्डव्रतस्य फलम्—अनर्थदण्डनिर्मोक्षात् स्वस्य स्वकीयजनानां वा शरीरकार्यप्रयोजनाभिन्ना यस्य अथ आत्मा अविद्यमानः अनुपभोगशरीरायाः पर्यन्ते परस्वाद्वन्धः स्वयं तथा निर्मोहात् त्यागात्। देशात् अपि यावत् गृहभूतु मुक्तो विरतः तेन भूतानां दुःखानुत्पत्त्यभिलापम्। स्नाभिस्व च प्रयत्नं लभते ॥५७॥ अनर्थदण्डत्यागस्य का क्रिया आह—वधबन्धनेति—बन्धना परप्राणारम्भम् आरम्भा जीवजीवादिहेतुभाराः हिंसा च परेषाम् शरीरं इत्वा तेन बन्धनादिषु अर्पितां प्रतापनम्। भारादिकं प्रमाणानतिरिक्तभारारोपणम्। अतिरेकेण चिरकालं देव पश्वादीनां स्यात्पर्वदर्पं तर्जनादिना बन्धनम् अन्नपानादानम् आदिकम् एषा हिंसा गुणेषु गुणानुरूपन भवति ॥५८॥

इ गुणव्रतत्रयस्य गुणव्रतत्रयसूत्रणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः ॥३३॥

१ अथ दर्शितानर्थदण्डानुपातस्य सप्तम आचारस्य समाप्तौ यथा— इति तदनन्तरिं दर्शनं भवति

३४. स्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१२-२१३] गुणव्रतवर्णनानन्तरं शिक्षाव्रतानि वर्ण्यन्ते प्रथमं तेषामभिधानानि कीर्त्यन्ते—आदाविति—आदौ सामायिकं कर्म, द्वितीया प्रोषधोपासनक्रिया, सेव्यार्थनियमस्तृतीयं शिक्षाव्रतम्, दानं चतुर्थं शिक्षाव्रतम्। शिक्षायै अभ्यासाय व्रतानि शिक्षाव्रतानि, प्रतिदिवसमभ्यसनीयत्वात्। गुणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविकमाहुः। अथवा शिक्षा विद्योपादानम्, शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतम्। सामायिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञानपरिणतत्वेनैव निर्वाहितत्वात् ॥४५९॥ सामायिकमाह—आप्तसेवेति—आप्तसेवोपदेशः समयः स्यात् तत्र समयार्थिना आप्तसेवोपदेशाभिलाषिणा आचराणां नियुक्तं यत्कर्म तत्सामायिकम् ऊचिरे। यः सर्वज्ञः सर्वलोकेशः सर्वदोषविवर्जितः सर्वसत्त्वहितश्च तम् आप्तमाहुः इति आप्तस्य लक्षणं पूर्वमुक्तम्। तस्याप्तस्य सेवा पूजा तत्र नियुक्तं यत्कर्म जिनस्नपनार्चास्तुतिजपाः तत्सामायिकमूचिरे उक्तवन्तः ॥४६०॥ आप्ताभावेऽपि तदाकारपूजा पुण्योत्पादिकेति दर्शयति। आप्तेति—आप्तस्य अर्हत्परमेष्ठिनः असन्निधानेऽपि अविद्यमानेऽपि, तदाकृतिपूजनं पुण्याय पुण्यप्राप्तये भवति। दृष्टान्तमाह—तार्क्ष्यमुद्रा गरुडमुद्रा यस्याः गरुडस्य सान्निध्ये अविद्यमानेऽपि विषसामर्थ्यस्य मूर्च्छामृत्यादेः सूदनं विनाशनं किं न कुर्यात् अपि तु कुर्यादेव। अर्हदाकृतिं शान्ताम् आत्मध्यानमुद्राप्रदर्शिनीं दृष्ट्वा भक्तिरुत्पद्यते ततश्च पुण्यं प्राप्यते पापलोपश्च भवति ॥४६१॥ देवतार्चने शुद्धिद्वयस्यावश्यकता—अन्तःशुद्धिमिति—अन्तःशुद्धिं विधाय अशुभसंकल्पान्मुक्त्वेत्यर्थः, बहिःशुद्धिं विधाय, विधिवत् शौच-स्नान-दन्तधावनादिक्रिया बहिःशुद्धिं च विधाय देवतार्चनं विदध्यात् कुर्यात्। आद्या अन्तःशुद्धिः दौश्चित्यनिर्मोक्षात् पापसंकल्पत्यागात्। अन्या बहिःशुद्धिः स्नानाद् भवति। स्नानभेदान् अग्रे वक्ष्यति ॥४६२॥ स्नानं किमर्थं करणीयमित्यनुयोगस्य उत्तरमाह—संभोगायेति—अन्नादिभक्षणं संभोगः तदर्थं स्नानं कर्तव्यम्। विशुद्ध्यर्थं शरीरनिर्मलत्वाय परिणामविशुद्ध्यर्थं च स्नानं मतम्। यत्र यस्मिन् स्नाने। अमुत्र परलोके स्वर्गादौ उचितो विधिः दानव्रतपूजाभिषेकादिकः क्रियते तत्स्नानं धर्माय स्मृतम्। गृहस्थयत्योः स्नानकालनिर्णयः ॥४६३॥ नित्यमिति—गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे देवपूजास्वीकारे नित्यं स्नानम्, अकृतस्नानो गृही देवपूजां न कुर्यात् बहिःशुद्धेरभावात्। सा च अन्तःशुद्धेरपि निमित्तम्। यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानम्, दुर्जनाः कापालिकाश्रेयीचाण्डालशबरादयः तेषां स्पर्शात् यतेः स्नानं भवति। एषां स्पर्शाभावे तस्य स्नानं विगर्हितं निन्द्यं भवति ॥४६४॥ कुत्र कथं स्नानं कर्तव्यमिति कथयति—वातातपादीति—भूरितोये विपुलजले वातातपादिसंस्पृष्टे प्रवहता वायुना सर्वतः स्पृष्टे। आतपेन सूर्यकिरणैः सर्वतः स्पृष्टे। अपनीतशैत्ये जलाशये तडागादौ। अवगाह्य अन्तःप्रविश्य स्नानम् आचरेत्। उपर्युक्तविशिष्टजलाशयाभावे अन्यस्य कूपादेर्जलं गालितं भजेत् जलं गालयित्वा दृढेन निर्मलेन वाससा तेन स्नानमाचरेत्। अगालितकूपजलेन स्नानं न कुर्यात् कृतेऽपि तेन स्नाने बहिःशुद्धिर्न भवति। परं वातातपादिसंस्पृष्टं जलाशयजलं गालितजलवच्छुद्धं मतम् अतस्तेन स्नानं बहिःशुद्धिविधायकं ज्ञातव्यम् ॥४६५॥ स्नानस्य पञ्चविधत्वम्—

[पृष्ठ २१४-२१५] पादजानु इति—पादौ चरणौ, जानुनी ऊरुपर्वणी, कटिः श्रोणिः, ग्रीवा कण्ठः, शिरो मस्तकम्, एषां पञ्चानां पर्यन्तस्य संश्रयः अवलम्बनं यत्र तत् स्नानं पञ्चविधं पञ्चप्रकारं तद्यथादोषम्। दोषमनुसृत्य। शरीरिणां नराणां ज्ञेयं ज्ञातव्यम् ॥४६६॥ स्नानाधिकारिणो विशिनष्टि—ब्रह्मचर्योपपन्नस्येति—ब्रह्मचर्येण स्त्रीसंभोगवर्जनेन उपपन्नस्य युक्तस्य ब्रह्मचारिणः। पुनः कथंभूतस्य। निवृत्तारम्भकर्मणः सेवोद्योगकृष्यादिकर्मविरतस्य। यद्वा तद्वा स्नानं भवेत् पादस्नानं कटिस्नानं त्रिष्वेकेन केनापि स्नानेन आचरितेन स ब्रह्मचारी देवार्चनाधिकारी भवेत्। अन्यस्य स्त्र्यारम्भसेवासंक्लिष्टस्य गृहिणः अन्त्यं तद्द्वयं स्नानं मतं ग्रीवास्नानं शिरःस्नानं च ताभ्यां स शुद्धः देवपूजां कुर्यात् ॥४६७॥ आरम्भादि-

---

श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योऽनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये सच्चरित्रचिन्तामणिर्नाम सप्तम आश्वासः।"

३३ गुणव्रतत्रयसूचणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१०] दिगिति—सर्वासु दिक्षु [illegible] देशावधिषु सागारयतिषु श्रावकेषु अहिंसा [illegible] मूर्द्धे स्थिता अणिमादिषु एकदेशेन गमनत्वात् श्रावका सागारयतयः प्राप्यन्ते। तेन दिशा विरति देशाना विरति अनर्थदण्डाना च विरति इति त्रिनयामर्थ दिग्देशानर्थदण्डानां विरतम् आश्रयम् आगारमूलं गुणव्रतत्रयं स्मृतम् दिग्भ्यो विरतिः दिग्व्रतम् देशेभ्यो विरतिः देशव्रतम्, अनर्थदण्डेभ्यो विरतिः अनर्थदण्डव्रतम् ॥४४८॥ दिग्देशव्रते व्याचष्टे—सर्वासु दिक्षु पूर्वादिषु दशसु दिक्षु एतस्मात् स्थानात् [illegible] मम [illegible] इति मर्यादां कृत्वा तस्मात् बाह्ये गमनं नैवेति दिग्व्रतम्। तथा च [illegible] सर्वेषु [illegible] निम्नादिषु [illegible] गुहादिषु पर्वतशिखरेषु च मम [illegible] मर्यादेति देशव्रतम् ॥४४९॥ दिग्व्रतेति—एवं पूर्वोक्तप्रमाणेन दिशो देशानां च नियमात् अवधेः बहिः [illegible] मायाकर्मागारिषु वस्तुषु हिंसानिवृत्ते लोभनिवृत्ते मायादिनिवृत्तश्च चित्तप्रशमः मनोनिरोधः भवति ॥४५० ॥

[पृष्ठ २११–१२] [illegible]—इदं गुणव्रतत्रयं प्रयत्नेन अहिंसादिगुणव्रतपालनपूर्वकं [illegible] गृहस्थः यत्र यत्र भूतले स्वर्गादौ वा उपजायते तत्र तत्र आधिपत्यं लभेत प्राप्नुयात् ॥४५१॥ [illegible]—[illegible] च देशगुणव्रतं [illegible] आगारमार्गस्य [illegible] पूर्वोक्तानां [illegible] दिशा प्रमाणस्य [illegible] प्रमादात् [illegible] देशव्रतो अणुव्रतो गृहस्थः प्रायश्चित्तसमाचयः प्रायश्चित्तस्य विषये प्रमादेन भवेत्। यदा [illegible] तदा प्रमादरहिततया तद्व्रतमेव [illegible] तेन समाचयम्। [illegible] ॥४५२॥ [illegible]—[illegible] मयूर कुक्कुटसारमेयाः [illegible] बिडाला मार्जाराः, व्याला सर्पाः, [illegible] [illegible] ॥४५३॥ पापोपदेशाति—[illegible] पापोपदेशः हिंसाप्रदानम् [illegible] अपध्यानम् [illegible] हिंसा [illegible] [illegible] अनर्थदण्डाः स्मृताः। [illegible] परेषाम् [illegible] [illegible] भवति ॥४५४॥ पर्वेति—[illegible] प्राणिनाम्। [illegible] [illegible] अनर्थदण्डः [illegible] भवति [illegible] ॥४५५॥ पापमिति—[illegible] [illegible] [illegible] ॥४५६॥ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥४५८॥

इत्युपासकाध्ययने गुणव्रतत्रयसूचणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः ॥३३॥

[illegible]

३४ स्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१२-२१३] गुणव्रतवर्णनानन्तरं शिक्षाव्रतानि वर्ण्यन्ते प्रथमं तेषामभिधानानि कीर्त्यन्ते—आद्यमिति—आदौ सामायिकं कर्म, द्वितीया प्रोषधोपवासक्रिया, सेव्यार्थनियमस्तृतीयं शिक्षाव्रतम्, दानं चतुर्थं शिक्षाव्रतम्। शिक्षायै अभ्यासाय व्रतानि शिक्षाव्रतानि, प्रतिदिवसमभ्यसनीयत्वात्। गुणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविकमाहुः। अथवा शिक्षा विद्योपादानम्, शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतम्। सामायिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञानपरिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात् ॥४५९॥ सामायिकमाह—आप्तसेवेति—आप्तसेवोपदेशः समयः स्यात् तत्र समवायिना आप्तसेवोपदेशाभिलाषिणा श्रावकाणां नियुक्तं यत्कर्म तत्सामायिकम् ऊचिरे। यः सर्वज्ञः सर्वलोकेशः सर्वदोषविवर्जितः सर्वसत्त्वहितस्तं तम् आप्तमाहुः इति आप्तस्य लक्षणं पूर्वमुक्तम्। तस्याप्तस्य सेवा पूजा तत्र नियुक्तं यत्कर्म जिनस्नपनार्चास्तुतिजपाः तत्सामायिकमूचिरे उक्तवन्तः ॥४६०॥ आप्ताभावेऽपि तदाकारपूजा पुण्योत्पादिकेति दर्शयति। आप्तेति—आप्तस्य अर्हत्परमेष्ठिनः असन्निधानेऽपि अविद्यमानेऽपि, तदाकृतिपूजनं पुण्याय पुण्यप्राप्तये भवति। दृष्टान्तमाह—तार्क्ष्यमुद्रा गरुडमुद्रा यस्या गरुडस्य सान्निध्ये अविद्यमानेऽपि विषसामर्थ्यस्य मूर्च्छामृत्यादेः सूदनं विनाशनं किं न कुर्यात् अपि तु कुर्यादेव। अर्हदाकृतिं शान्ताम् आत्मध्यानमुद्राप्रदर्शिनीं दृष्ट्वा भक्तिरुत्पद्यते ततश्च पुण्यं प्राप्यते पापलोपश्च भवति ॥४६१॥ देवतार्चने शुद्धिद्वयस्यावश्यकता—अन्तःशुद्धिमिति—अन्तःशुद्धिं विधाय अशुभसंकल्पान्मुक्त्वेत्यर्थः, बहिःशुद्धिं विधाय, विधिवत् शौचस्नानदन्तधावनादिक्रिया बहिःशुद्धिं च विधाय देवतार्चनं विदध्यात् कुर्यात्। आद्या अन्तःशुद्धिः दौश्चित्यनिर्मोक्षात् पापसंकल्पत्यागात्। अन्या बहिःशुद्धिः स्नानाद् भवति। स्नानभेदान् अग्रे वक्ष्यति ॥४६२॥ स्नानं किमर्थं करणीयमित्यनुयोगस्य उत्तरमाह—सम्भोगायेति—अन्नादिभक्षणं संभोगः तदर्थं स्नानं कर्तव्यम्। विशुद्ध्यर्थं शरीरनिर्मलत्वाय परिणामविशुद्ध्यर्थं च स्नानं मतम्। यत्र यस्मिन् स्नाने। अमुत्र परलोके स्वर्गादौ उचितो विधिः दानव्रतपूजाभिषेकादिकः क्रियते तत्स्नानं धर्माय स्मृतम्। गृहस्थयत्योः स्नानकालनिर्णयः ॥४६३॥ नित्यमिति—गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे देवपूजास्वीकारे नित्यं स्नानम्, अकृतस्नानो गृही देवपूजां न कुर्यात् बहिःशुद्धेरभावात्। सा च अन्तःशुद्धेरपि निमित्तम्। यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानम्, दुर्जनाः कापालिकात्रेयीचाण्डालशबरादयः तेषां स्पर्शात् यतेः स्नानं भवति। एषां स्पर्शाभावे तस्य स्नानं विगर्हितं निन्द्यं भवति ॥४६४॥ कुत्र कथं स्नानं कर्तव्यमिति कथयति—वातातपादीति—भूरितोये विपुलजले वातातपादिसंस्पृष्टे प्रवहता वायुना सर्वतः स्पृष्टे। आतपेन सूर्यकिरणैः सर्वतः स्पृष्टे। अपनीतशैत्ये जलाशये तडागादौ। अवगाह्य अन्तःप्रविश्य स्नानम् आचरेत्। उपर्युक्तविशिष्टजलाशयाभावे अन्यस्य कूपादेर्जलं गालितं भजेत् जलं गालयित्वा दृढेन निर्मलेन वाससा तेन स्नानमाचरेत्। अगालितकूपजलेन स्नानं न कुर्यात् कृतेऽपि तेन स्नाने बहिःशुद्धिर्न भवति। परं वातातपादिसंस्पृष्टं जलाशयजलं गालितजलवच्छुद्धं मतम् अतस्तेन स्नानं बहिःशुद्धिविधायकं ज्ञातव्यम् ॥४६५॥ स्नानस्य पञ्चविधत्वम्—

[पृष्ठ २१४-२१५] पादजानु इति—पादौ चरणौ, जानुनी ऊरुपर्वणी, कटिः श्रोणिः, ग्रीवा कण्ठः, शिरो मस्तकम्, एषां पञ्चानां पर्यन्तस्य संश्रयः अवलम्बनं यत्र तत् स्नानं पञ्चविधं पञ्चप्रकारं तद्यथादोषम्। दोषमनुसृत्य। शरीरिणां नराणां ज्ञेयं ज्ञातव्यम् ॥४६६॥ स्नानाधिकारिणो विशिनष्टि—ब्रह्मचर्योपपन्नस्येति—ब्रह्मचर्येण स्त्रीसंभोगवर्जनेन उपपन्नस्य युक्तस्य ब्रह्मचारिणः। पुनः कथंभूतस्य। निवृत्तारम्भकर्मणः सेवोद्योगकृष्यादिकर्मविरतस्य। यद्वा तद्वा स्नानं भवेत् पादस्नानं कटिस्नानं त्रिष्वेकेन केनापि स्नानेन आचरितेन स ब्रह्मचारी देवार्चनाधिकारी भवेत्। अन्यस्य स्त्र्यारम्भसेवासंक्लिष्टस्य गृहिणः अन्त्यं तद्द्वयं स्नानं मतं ग्रीवास्नानं शिरःस्नानं च ताभ्यां स शुद्धः देवपूजां कुर्यात् ॥४६७॥ आरम्भादि-

---

श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योऽनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये सच्चरित्रचिन्तामणिर्नाम सप्तम आश्वासः।”

संक्लिष्टस्य बहिर्गतेरप्याचमनका—सर्वेति—सर्वे च त आरम्भा सेवाकृषिवाणिज्यादयः तथा विजृम्भणं विजृम्भः प्रवृत्तिर्यस्य पुनः कर्मभूतस्य । ब्रह्मचिह्नस्य ब्रह्माति त्यजति इति विह्वः ब्रह्मचर्येण त्यक्तस्य स्वलिङ्गा प्रत्यर्पणस्यपि भाव । एतादृशो देहिनः त्रिभागकस्य बहिःशुद्धिम् अविनाय अकृत्वा आप्तोपास्त्यधिकारिता न । देवपूजाधिकारो नास्ति ॥४६८॥ अद्भिरिति—अद्भिः जलैः शुद्धिं निराकुर्वन् स्नानम् अकुर्वन् तत्र मन्त्रमात्ररक्षणः मन्त्रोच्चारणेनैव तत्र स म ब्रह्मचारी भुक्त्वा भोजनं कुर्वीत तदोपसर्गिहाराय मन्त्रम् उच्चार्य शुद्धिमाप्नुयात् कृत्वा मलमूत्रं कृत्वा मन्त्रं भुञ्जीत । विहृत्य च विहारं कृत्वा स्वाध्यायार्थं पुरीतिमरीय गतवतस्तस्य मार्गे पादस्नानादिषु जीववाते प्रति पञ्चपुरुषान्तरीयनिषद्युति कुर्वन् शुद्धिर्भवति न तस्य बाह्यशुद्धे प्रयत्नपरता ॥४६९॥ बहिर्गमनाचरणानि वस्तूनि—मृत्स्नयेति—प्रशस्ता शुचिस्थाने स्थिता पुष्पगन्धरसवर्जिता मृत्तिका मृत्स्नोच्यते तया । इष्टका स्वयमुत्कृष्टेन । भस्मना गोमयेन गोविता । तावच्छौचं शुद्धिं कुर्यात् यावन्निर्मलता इत्यादि स्यात् । इयं विशुद्धिब्रह्मचारिणा मुनिनापि विधेया । या स्नानशुद्धिः सा यथा विधेयेति तदनन्तरम् ॥४७० ॥ विहृत्य आगतस्य वस्तुना च शुद्धिः—बहिरिति—बाह्यदेशे विहृत्य बहिः पुनः संप्राप्य आगतः अनाचम्य आचमनम् अकृत्वा गृहं न प्रविशेत् । आचम्य अनाचम्य निषादं कृत्वा गृहप्रवेशः काय । तथा स्नानान्तरात् अन्यत् स्नानं स्नानान्तरम् अन्यग्रामगृहादेः आगतं सर्वं वस्तु आम्भकादिकं प्रोक्षितं प्रक्षेप प्रविश्य आचरेत् सैव ॥४७१॥ कर्मभूतः सन्ध्येवार्चनविधिं कुर्यात्—आप्लुत इति—आ समन्तात् प्लुतः जलमवगाह्य स्नातः । संप्लुतः सम्यक् प्लुतः संस्नातः । स्नानशुचिवासाः विभूषितः मनसा शुचिवाससा च शुद्धवस्त्रयुगलेन च विभूषितः शोभितः । मौनेन संयमेन इन्द्रियप्राणिसंयमयुगलेन च संयतः परिपूतः गृही देवार्चनादिविधिं कुर्यात् ॥४७२॥ दन्तधावनेति—दन्तानां धावनं दन्तधावनं दन्तप्रक्षालनं तेन शुद्धम् आस्यं मुखं यस्य स । मुखवासोचितानन वस्त्रवाससा शुद्धमुखः । असञ्जाताम्यसंसर्गः न संजातः अन्यजनानाम् असजातजनानां तदर्थसंसर्गः यस्य स । सुधीः देवान् उपाचरेत् पूजयेत् ॥४७३॥ होमेति—भोजनात्प्राक् होमः भूतबलिश्च एतौ द्वौ विधी पूर्वं प्राचीनसूरिभिः भक्तविशुद्धये अन्नविशुद्धये उक्तौ । भुक्तेः भोजनस्य आदौ प्रारम्भे अग्निषु आचमनम्, सर्पिः घृतम्, उपस्पर्शनम् उपसि भवम् उपस्यं आस्तनीकृते पुष्पमिति । एतेषां सेवनं रसायनम् । स्वरविच्याविविनाशकम् । होमेन देवानां तर्पणं भवति । अन्नदानेन भूतानां प्राणिनां तर्पणं स्यात् ॥४७४॥ एतद्विधिरिति—एष विधिः होमभूतबल्यादिविधिः न धर्माय न पुण्याय । न च तदक्रिया तस्य अक्रिया अकरणम् अधर्माय अपुण्याय कथम् । दर्भपुष्पादिवत् दर्भपुष्पाक्षतगोमयचन्दनादिविधानं यथा कृतं न धर्माय । अकृतं वा अधर्माय न भवति । दर्भाः लोकव्यवहारे पूजायां च पूताः मन्यन्ते । आचमनी अग्निभ्यासेन भूमि पृथ्वी च शुद्धयोग्यकरणवचनात् । पुष्पाक्षतानामपि पातितानि निर्माल्यानाम् अविचारितानामद्भुतत्वात् धर्महेतुत्वमपि विज्ञेयम् । अक्षतादिपुष्पकादीनां तदभावेऽपि भावपूजनं भवेत्तो भावपूजायामपि ॥४७५॥ द्वौ इति—हि यस्मात् गृहस्थानां द्वौ धर्मौ लौकिकः लोके भवः लौकिकः इहलोकसंबन्धी धर्मः । परस्मिन् लोके भवः पारलौकिकः । तत्र लौकिको धर्मः लोकाश्रयः अस्ति । होमो भूतबलिः दर्भपुष्पाक्षतादिकं च लौकिको धर्मः । परः पारलौकिकः आगमाश्रयः आगमाधारः जिनागमप्रोक्तः ॥४७६॥

[पृष्ठ–२१६] जातय इति—सर्वाः जातयः अनादयः ब्राह्मणक्षत्रियादयः । विदेहक्षेत्रापेक्षया एताः जातयः अनादयः । तत्र मुक्तिपर्यायाणां जातीनाम् अभ्युदय एव । भरतैरावतक्षेत्रापेक्षया चतुर्थकाले मुक्तियोग्यानां जातीनां संभवत्वात् क्रियाणां तासाम् । तत् तत्क्रियाकलापि तथाविधा अनादयः । श्रुतिः वेदः शास्त्रान्तरं वा अन्यत्र पात्रं स्मृत्यादिकं प्रमाणं भवतु अत्र नः अस्माकं का क्षतिर्हानिः ॥ लोकाश्रयो धर्मः यः पुनो द्वयोः लोकयोः च न आगमनिरपेक्षतायुक्तत्वानुपपत्तेन प्रमाणताम् ॥४७७॥ जैनागमविधिम् आगमैः प्रमाणयेत्—स्वजात्यैवेति—विशुद्धवृत्तानां स्वजात्यैव स्वस्य आत्मैव स्वतः एव विशुद्धानां वर्णानां ब्राह्मण-क्षत्रिय विशां तत्क्रियाविनियोगाय मर्यादा-रीतापत्र-कर्मसमुच्चयानां विनियोगाय आदिशाय जैनागमविधिः जिनागमप्रोक्तः आचारः परं प्रमाणं अन्यथा । यथा स्वजात्यैव स्वजात्यैव निर्मलस्य शांतिशुद्धो रत्नादि भवे तां स्पर्शविधिकोमः तामवर्णकादिकं रत्नाकरप्रोक्तं परं प्रमाणं अस्मिन् सर्वं तद्वत् ॥४७८॥

श्रुतिस्मृत्योरप्रामाण्य कथमिति चेदाह—यदिति—यत् यस्मात्। तत्र श्रुतिस्मृत्यो., भवभ्रान्तिनिर्मुक्तिहेतुधी दुर्लभा। भवे समारे भ्रान्ति भ्रमण तस्या निर्मुक्ति पृथग्भवन तस्या. हेतुधी उपायज्ञान कारणज्ञान दुर्लभ नितराम् अप्राप्यम्। समारमुक्त्युपायज्ञान श्रुतिस्मृत्योर्नास्त्येवातस्ते न प्रमाणे। ससारव्यवहारे तयोः प्रामाण्यमस्तु इति चेन्न, यत ससारव्यवहारे स्वत सिद्धे सति तत्र आगम वृथा। बाह्यशुद्ध्यादयो ये आचारा ते यावन्त सम्यक्त्वव्रतानुपघातहेतवस्तावन्त प्रमाण तेष्वेव श्रुतिस्मृत्यो प्रामाण्य जैनैर्मन्यते ॥ ४७९ ॥ तथा च—सर्व एवेति—यत्र यस्मिन् लौकिके विधौ होमभृतवल्यतिथिसत्कारादौ सम्यक्त्वहानि सम्यग्दर्शनस्य विनाशो न स्यात् यत्र च व्रतदूषणम् अहिंसादिव्रतेषु दूषणम् उपघात न स्यात्। स सर्व एव लौकिको विधि जैनाना प्रमाणम्। श्रुतिस्मृत्यो प्राणिवधो यज्ञेऽवधत्वेन प्रतिपादित.। तदाचरणम् अहिंसाव्रतोपघाताय भवेत् अत स लौकिको विधिर्न प्रमाण सम्यक्त्वव्रतविघातकत्वात्। ये च प्राणिवधयज्ञसमा अन्येऽपि लौकिका विधय· सम्यक्त्वव्रतविघातकृत सन्ति ते सर्वेऽपि वर्ज्या एव ॥४८०॥

इत्युपासकाध्ययने स्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिंशत्तम कल्पः ॥ ३४ ॥

३५ समयसारविधिर्नाम पञ्चत्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१७-२१८] द्वये देवसेवाधिकृता सकल्पिताप्तपूजापरिग्रहा· कृतप्रतिमापरिग्रहाश्च। देवेति दीव्यते स्तूयते इन्द्रादिभिरिति देव परमात्मा तस्य सेवा पूजाभिषेकस्तुतिवन्दना तासु अधिकृता अधिकारिण। द्वये श्रावका सन्ति। संकल्पिताप्तेति—दलफलोत्पलादिषु अय जिन इति सकल्पित आप्त तस्य पूजापरिग्रह येषा ते प्रथमे श्रावका। कृतप्रतिमापरिग्रहा अपरे श्रावका। इति श्रावकभेदौ द्वौ। स सकल्पोऽपि दल पत्र फल पूगीफलादिकम्, उत्पल कमलम्, आदिशब्देन कमलबीजादिकम्, तेषु यथा आप्तसकल्प क्रियते तथा समयान्तर वैदिकसमयादिक तत्प्रतिमासु हरिहरादिषु न विधेयः। यत·—शुद्धे इति—यथा कन्याजने शुद्धत्वात् इमा कन्याम् अह तुभ्य ददामि धर्मे चार्थे च कामे च नातिचर इति सकल्पेन कन्याप्रदान क्रियते। तत्र च कन्याया त्वमस्य भार्या भवेति सकल्प देवाग्निसाक्षिक· क्रियते। स च कन्याजने एव कर्तुम् उचित पूर्वं तादृक्सकल्पस्याकृतत्वात्। परपरिग्रहे परकीयभार्याया सकल्प कर्तुं नोचितो यथा, तथा आकारान्तरसक्रान्ते हरिहरादिप्रतिमारूपे अय जिन इति सकल्पकरणं नोचितमिति भाव ॥४८१॥ तत्र प्रथम प्रतिसमयसमाचारं सकल्पिताप्तसमाचारविधिम् अभिधास्याम कथयिष्याम। तथाहि—अर्हन्नतनुरिति—अर्हन् जिनेश्वर, अतनु सिद्ध, मध्ये भूर्जफलकसिचयादीना मध्यभागे स्थाप्यौ। तयोर्दक्षिणत सव्यभागे गणधर आचार्य, पश्चात् वामभागे श्रुतगी उपाध्यायपरमेष्ठी श्रुत द्वादशाङ्गात्मक श्रुतज्ञान गिरि वाण्या यस्य सः। तदनु तदनन्तर साधु परमेष्ठी। पुरोऽपि च दृगवगमवृत्तानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि स्थाप्यानि। एतेऽर्हदादय भूर्जे भूर्जपत्रे, फलके दारुपट्टके, सिचये वस्त्रे, शिलातले समतलपाषाणे, सैकते सिकताभिर्निर्मिते स्थण्डिले, क्षितौ भूमितले, व्योम्नि आकाशे, हृदये चेति समयसमाचारवेदिभि नित्य स्थाप्या। संकल्पसमाचारस्य ज्ञातृभि सदा स्थाप्या ॥४८२-४८३॥ एव स्थापनाकरणानन्तर पञ्चपरमेष्ठिना रत्नत्रयस्य चाष्टप्रकारेण पूजनवर्णन क्रमश क्रियते। प्रथम तावत् अर्हत्परमेष्ठिपूजन विधियते तद्यथा—रत्नत्रयेति—रत्नत्रयेण पुरस्कार अग्रत करणं पूजन येषा ते रत्नत्रयपुरस्कारा रत्नत्रयेण पूजनीया पञ्चापि परमेष्ठिन. परमे इन्द्रादीना वन्द्ये पदे तिष्ठन्तीति परमेष्ठिन। अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधव। कथभूता भुवनेन्दव त्रिजगच्चन्द्रा, भव्यरत्नाकरानन्द भव्या रत्नाकरा इव समुद्रा इव तेषाम् आनन्दम् आह्लाद कुर्वन्तु जनयन्तु ॥४८४॥ ॐ निखिलेति—निखिलेति, परानपेक्षेति अनेकानि विशेषणानि अर्हत्परमेष्ठिनो विशेष्यस्य, अत तानि क्रमशो विव्रियन्ते। रत्नत्रयपुर सरस्य भगवतोऽर्हत्परमेष्ठिन अष्टतयीमिष्टिम् अष्टविधा पूजा जल-गन्धाक्षत-पुष्प-नैवेद्य-दीप-धूप-फलै अष्टप्रकारैर्द्रव्यै पूजा करोमि इति स्वाहा। कथभूतस्य पूजा करोमि निखिलेति—निखिलाश्च ते भुवनपतय सकलजगत्स्वामिन अधोलोकस्य धरणेन्द्र प्रभु. मध्यलोकस्य नरलोकस्य चक्रवर्ती। ऊर्ध्वलोकस्य सौधर्मेन्द्रादयोऽधिपतय। तै विहिता कृता

निरतिशया नितराम् अतिशयो माहात्म्यं यासु ताः सपर्या पूजा तासां परंपरा पञ्चकल्याणपूजा यस्य स तस्येति भावः । परानपेक्षेति—पराणि इन्द्रियाणि आलोकः ज्ञानावरणक्षयोपशमश्च पराणि तेषाम् अनपेक्षणमसौ पर्यायश्च पूर्वपरमात्मावस्था तस्याः प्रकर्षं आर्त सकलवस्तुसमूहावीक्षणाय लोचनमिव नयनमिव यत् केवल ज्ञानं तदेव साम्राज्यं यस्य अन्यजनस्यापि अभिज्ञानरूपाणि यानि पञ्चमहाकल्याणानि गर्भ-जन्म-दीक्षा-केवल-निर्वाणानि । अष्टमहाप्रातिहार्याणि च अशोकवृक्ष-पुष्पवृष्टि-दिव्यध्वनि-चामर रत्नासन-भामण्डल-दुन्दुभि-छत्रत्रयाणि जन्मजातदशातिशयाः । केवलज्ञानजदशातिशयाः । देवकृतचतुर्दशातिशयाः एतैश्चतुस्त्रिंशदतिशयैः विराजितस्य एतेऽतिशयास्तीर्थकृतो विमुच्य अन्यत्र चक्रवर्त्यादिष्वपि नोपलभ्यन्ते । पुनः कथंभूतस्य अर्हतः । षोडशार्धेति—षोडशस्य अर्धम् अष्टौ लक्षणानां सहस्रं लक्षणसहस्रं षोडशार्धेन सहितं अष्टलक्षणसहस्रं तेन अङ्कितम् उपलक्षितं दिव्यदेहस्य माहात्म्यं प्रभावो यस्य तस्य । अर्हन्तो हि विषाग्निशस्त्रादिभिरप्रतिहतशरीराः मातुरुपसर्गादिविवर्जितदेहा अत एव तेषां दिव्यदेहत्वम् । द्वात्रिंशेति—त्रिदशकल्पादिविविधनिर्जरमुख्यावयवो इन्द्रगणाः तेषां प्रमुखा श्रेष्ठाः गणधरदेवा महामुनयः तेषां मन-प्रणिधानं चित्तैकाग्र्यं तेन सन्निधीयमानम् आरोप्यमाणं परमेश्वर इति परमसर्वज्ञ इति नाम्नां सहस्रं यस्य । पुनः कथंभूतस्य—निरहितेति—अरिर्मोहनीयं कर्म । रजसी ज्ञानदर्शनावरणे । रहः अन्तरायं कर्म । एभ्यो जाता ये मोहज्ञानादयः कुत्सकभावाः मिथ्याभावा वै निरहिताः गताः अरिरजोरहःकुत्सकभावा यस्य तस्य । पुनः कथंभूतस्य समवसरणेति—समवसरणं केवलज्ञानिजिनवैभवम् तदुद्योतकत्री इन्द्रनिर्मिता रत्नसभा समवसरणम् तदेव सरः तत्र भवतीयम् अद्भुतम् मानवं अमलपद्मेव पुण्डरीकवत् कमलतुल्यं तस्य (विकासने) मार्तण्डमण्डलस्येव सूर्यस्येव । पुनः कथंभूतस्य दुष्पारेति—दुष्प्राप्यं पारं परतीरं यस्य स आजवंजवीभावः संसारभावः स एव जलनिधिः तत्र निमज्जन्तो बुडन्तो ये जन्तवः तेषां आर्त समूहः तस्य हस्तावलम्ब इव परमागमः यस्य तस्य । पुनः कथंभूतस्य भक्तिभरेति—भक्तेर्गुणानुरागस्य भरो भारः तेन विनता नम्राः विद्याधरा पाताललोकस्थिताः विद्याधरपालाः ये इन्द्रास्ते मुकुटान्वितास्तेषां मौलयः किरीटानि तेषां मणयः रत्नानि तेषां प्रभा कान्तिः तस्याः आभोगो विस्तारः स एव नभः तत्र विजृम्भमाणाः चरणयोः पादयोः नखा एव नक्षत्राणि तेषां निकुरम्बं समूहो यस्य । पुनः कथंभूतस्य सरस्वतीति—सरस्वत्याः वाग्देव्याः प्रसादात् वरस्य वाञ्छितफलस्य प्रसादः वाञ्छानुग्रहः तत्करणे चिन्तामणेः चिन्तारत्नस्येव । पुनः कथंभूतस्य । लक्ष्मीति—लक्ष्मीरेव गौरेव क्रीडा तस्या निकेतो गृहम् आश्रयभूतस्तस्य कल्पवृक्षस्येव पुनः कथंभूतस्य । कीर्तीति—कीर्तिरेव पोतिका अत्यन्तं पीता पोतिका वस्त्रिका तस्याः प्रवर्तने कामधेनोरिव । अवनीपीति—अवनीपिनरकविशेषः तस्य परिचयः संपत्तिः तस्य पत्नीकारकरणम् अलंकारकरणं विनाशकरणं तस्मिन् अभिधानमात्रमस्य 'नमो अरिहंताणं' इति मन्त्रस्य प्रभावो यस्येति । सौभाग्येति—सौभाग्यस्य सुभगभावस्य सौरभस्य सुगन्धस्य संपादने लाभे पारिजातपुष्पगुच्छरूपस्य । पुनः कथंभूतस्य । सौरूप्येति—सौरूप्यस्य शोभनरूपस्य सौन्दर्यं तस्य उत्पत्तिः येषु ते च ते मञ्जका तेषां या मञ्जरिका तस्या करणे रचनायां चित्रशालारत्न विशुद्धाश्वविभुत्वस्य रत्नमयेन अर्चितस्य प्राप्तस्य भगवतोऽर्हतो जिनस्य परमेष्ठिनः अहन्तीम् अद्भुतिकाम् इति पूजां करोमीति स्वाहा ॥२५॥ अपि च—नरोरगेति—नराः मनुष्याः उरगा नागकुमाराः सुराः अमराः एते एव अम्भोजानि कमलानि तेषां विकाशने विरोचनस्य सूर्यस्य रवेः इव धीः यस्य तम् जिनाधीशम् अञ्जनपोतदं पूजनविषयं करोमि । विमलम् आरोग्याय आधिव्याधिजरामरणदोषाभावाय ॥४८५॥

[पृष्ठ २१९] अधुना सिद्धपरमेष्ठिनः पूजनं क्रियते—ॐ सहपरेति—आत्मना सह यत् त्रीणि सहचरम् आत्मना सहैव विद्यमानम् । समीचीनं निर्दोषं त्रयं परमात्मभूतम् । चारित्रं गुप्तरत्न यत् आत्मना सहैव जातम् यथार्थं यत् सुष्ठु च एकाग्रं सम्यग्दर्शनम् सम्यग्ज्ञानम् सम्यक्चारित्रं च चारित्रं तस्य विचारः क्रमस्य चिन्तनं तस्य गोचरो विषयः यत् परिणतं द्विशरीरं तस्य प्रतिकारो यस्य । अत एव दर्शनरोध तथा स्वयंभुव स्वयं शरीराद्यात्मनोऽन्यता भवति रत्नत्रयबलेन परिणतो भवतीति स्वयंभू तस्मात् सन्निधात् मुक्ताफलमिव शोभितं यथा । ज्ञानमिव च बाधाभावश्च मानस्यानम् । अस्मादेवात्मन पूर्वं संसारिणः कारणवशाद्दोषसंगात् सर्वसंगपरित्यागमभ्युपगम्य मोक्षमिच्छुनन्दकालगुणाक्रान्तत्वात् आविर्भूतम् उत्तमम्

परमात्मानम् उपेयुष प्राप्तवत सिद्धपरमेष्ठिन इष्टिं करोमीति सबन्ध.। कथभूत परमात्मानम्। अखिलेति—सकलमलानाम् आत्मगुणाना ज्ञानदर्शनादिकानाम् आच्छादकतया विरूपपरिणतिकारकत्वाद्वा ज्ञानावरणाद्यष्टकर्माणि मलत्वेन व्यवह्रियन्ते। तेषा विलयात् निरवशेषक्षयात् लब्धात्मस्वभाव प्राप्तनिजशुद्धज्ञानादिगुणम्। असहाय क्षयोपशमाद्यनपेक्षम्। अक्रमम् इन्द्रियाद्यनुत्पन्नत्वात् क्रमरहितम्। युगपत्सकलवस्तुगोचरम्, अवधीरितेति—अवधीरित तिरस्कृतम् अन्यसनिधिव्यवधान येन, तिरस्कृत पञ्चेन्द्रियविषयसानिध्यस्य व्यवधान येन। पञ्चेन्द्रियविषयेभ्योऽनुत्पन्नम्। साक्षादात्मन एव जायमानत्वात् व्यवधानरहितम्। अनवधिम् अवधिरन्त ततोऽप्रसृतत्वात् अनवधिम्, नि सीमानम् अयत्नसाध्यम्, केवल यत्नेन न साध्यम्। अत्रसितातिशयसीमानम् समाप्ततरतमादिमर्यादम्। आत्मस्वरूपैकनिवन्धनम् आत्मस्वरूपमेव एक केवल निवन्धनं कारणं यस्य। अन्यवस्तुन सकाशादनुपजायमानमित्यर्थं। अन्त प्रकाश सूर्यप्रकाशवद्वहिरनुपलभ्यमानम् अन्तरेव विद्यमानमपि सकलजगदवलोकमानम्, चैतन्यमधिष्ठितम्, अनन्तदर्शनगुणस्य वैशद्येन निर्मलत्वेन साक्षादवलोकितसकलपदार्थस्वरूपसर्वस्वम् दृष्टसकलद्रव्यपर्यायलक्षणम्। अनवसानसुखस्रोतसम्—अवसानमन्त न अवसानम् अन्तो यस्य तत् सुख तस्य स्रोत प्रवाहधारा तेन युक्तम्। अपर्यन्तवीर्यम् अनन्तशक्तिकम्, अचाक्षुष-सूक्ष्मावभासम् चक्षुर्भ्यामनुपलभ्यमानम् अत: सूक्ष्मतया अवभासयुक्तम्, असदृशाभिनिवेशावगाहम्, असदृशम्, अनुपमम् अभि सर्वत निवेश प्रवेश यत्र तथाभूतोऽवगाहगुणो यस्य। चरमदेहत किंचिदून आत्मप्रदेशानाम् अवगाह प्रवेशो यस्य तथाभूतम्। अगुरुलघुव्यपदेशम्, न गुरुर्नभारयुक्त न लघुश्च तादृग्गुणविशिष्टम्। अपगतेति—अपगता नष्टा बाधा पीडा यथा स्यात्तथा, परेषा सिद्धानाम् अनन्तानाम् आकाराणा सक्रम प्रवेशो यत्र तथाभूतम्। अतिविशुद्धस्वभावतया अत्यन्तनिर्मलप्रकृतितया, निवृत्ताशेषशारीरद्वारतया च विनष्टसकलदैहिकद्वारतया च ईषन्मुक्तपूर्वदशान्तरम्। रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्शरहितम्। अशेषभुवम् सकलस्वप्रदेशान् व्याप्नुवन्तम्। आशिर शेखरायमाणपदविश्वभरम् आमस्तक मुकुटायमानपद स्थान यत्र तथाभूत विश्व जगत्। विभर्तीति तथाभूतम्। उपशान्तेति—उपशान्त नष्ट सकलससारदोषाणा रागादीना प्रसर. प्रचार यत्र त परमात्मानम्। सकलकर्मविलयादत्यन्तशुद्धात्मानम् उपेयुष प्राप्तवत। गुरुणापि तीर्थकरपरमदेवेनापि नम सिद्धेभ्य इति वचनात् प्रतिपन्नगुरुभावस्य स्वीकृतगुरुत्वस्य रत्नत्रयपुर सरस्य भगवत सिद्धपरमेष्ठिन अष्टतयीम् इष्टिं करोमि इति स्वाहा। अपि च प्रत्नेति—प्रत्नानि पुरातनानि यानि कर्माणि पूर्वानेकजन्मबद्धानि तै विनिर्मुक्तान् रहितान्, नूत्नेति नूत्नानि नवानि अस्मिन्भवे बद्धानि यानि कर्माणि तै विवर्जितान् रहितान्, रत्नत्रयेण महीयस श्रेष्ठान् पूर्णरत्नत्रयलाभात् अर्हतोऽपि श्रेष्ठावस्था बिभ्राणान् सिद्धान् मुक्तान् यत्नत प्रमादं मुक्त्वा भक्तिभारेण सस्तुवे ऐहिकफलानभिलाषया स्व-स्वरूपप्राप्तिहेतो स्तवीमि ॥४८६॥

[पृष्ठ २२०] अधुनाचार्यपरमेष्ठिन पूजा करोमि—ॐ पूज्यतमस्य उपाध्यायसाधुपरमेष्ठिनोऽपेक्षया, उदितोदितेति—उदितोदिता प्रकर्षेण अभ्युदय प्राप्ता या कुलशीलगुरुपरपरा प्रकर्षेण अभ्युदिते कुलशीले यस्या तथाभूता या गुरुपरपरा गुरुपर्वक्रम तस्या उपात्त गृहीत ज्ञात समस्तस्य सकलस्य ऐतिह्यरहस्यस्य आगमगूढतत्त्वस्य सारो येन तस्य। पुन कथभूतस्य। अध्ययनेति—अध्ययन स्वय शास्त्राभ्यासकरणम्। अध्यापन शास्त्रपाठनम् विनियोग अनेन छात्रेणेद कर्तव्यमनेनेदमित्याज्ञाकरणम्। विनयेन नियमाना पालन व्रताना तपसा वा पालनम्। उपनयनादिक्रियाकाण्डे च तेषु निष्णातचित्तस्यात्यन्तप्रगल्भमते। पुनः कथभूतस्य। चातुर्वर्ण्येति—चतु प्रकारमुनिसमूह चातुर्वर्ण्यसघ ऋषिमुनियत्यनगारलक्षण। ऋष्यार्यिका श्रावकश्राविकासमूहो वा तस्य प्रवर्धना तस्य माहात्म्यवर्धन तस्य धुरम् अग्र धरति वहतीति तस्य। पुन कथभूतस्य। द्विविधात्मेति—द्विविध द्विप्रकार स चासौ आत्मधर्मश्च व्यवहारात्मधर्म, निश्चयात्मधर्मश्च अथवा द्विविधा आत्मान मुनय श्रावकाश्च तयोर्धर्मावबोधने, विधूतेति—विधूतस्त्यक्त ऐहिकफलापेक्षासबन्धो येन तस्य। पुन कथभूतस्य। सकलवर्णेति—सकलाश्च ते वर्णाश्च ब्राह्मणादय शूद्रान्ताश्चतुर्वर्णा आश्रमाश्च आ शास्त्रोक्तकालात् श्राम्यन्ति यथास्व तपस्यन्ति इत्याश्रमा ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ भिक्षुकश्चेति। समया चत्वार जैनजैमिनिशाक्यशाकरागमा, एषा समाचारा आचारा विचारा सम्य-

ध्यानानि तेषाम् उचितानि तदनुकूलानि यानि वचनानि तेषां प्रपञ्चा एव मरीचय किरणा: तै: विवर्जि-
निरस्तं सकलजनताकर्मक्रिया मिथ्यात्वमोहान्धकारपटलं येन तथाभूतस्य । पुन: कथंभूतस्य । ज्ञानेति—
ज्ञानस्य तपसश्च प्रभावेन प्रकाशितं जिनशासनं येन तस्य पुनः कथंभूतस्य । दिव्यसंपदा दिव्यानां विभवेन
अशेषमिव सकलमिव भुवनं जगत् भर्तुम् समस्तस्य संगतस्य सत्पथतो रत्नत्रयपुरःसरस्य आचार्यपरमेष्ठिन
अष्टतयीम् इष्टिं करोमीति स्वाहा । अपि च—विचार्येति—सर्वम् ऐतिह्यम् आगमं विचार्य मनसि निश्चित्य
आचारकम् आचार्यपदम् उपेयुषः प्राप्तवत आचार्यवर्यान् हृदम्बुजे संस्थाप्य अर्चामि पूजये ।।४८७।।

[पृष्ठ २२०–२२४] अथोपाध्यायपूजा भवति—ॐ श्रीमदिति—श्रीमन् समवसरणानन्तचतुष्टये-
त्युसमपष्ठ्नीमत भगवत अर्हत । वदनारविन्दात् मुखकमलात् । विनिर्गताङ्गान्यङ्गानि आचाराङ्गादीनि
उत्पादादिचतुर्दशपूर्वाणि सामायिकादिचतुर्दशप्रकीर्णकानि एभि: विस्तीर्णो य: श्रुतपारावार: श्रुतज्ञानसमुद्र:
तस्य पारंगमस्य । पुन: कथंभूतस्य । अपारेति—अपारश्चासौ संसारश्च संसार स एव अरण्यं तस्मात्
निर्गमन बहिर्निर्गमनं तदर्थं ये अनुपसर्गा: आधाररहिता: मार्गा: तस्मिन् निरताः तत्पराः ये विनेयजना
शिष्यजना: तेषां शरण्यस्य शरणे साधो: । पुन: कथंभूतस्य । दुरन्तैकान्तेति—दुरन्त: दुष्प्रान्त: स चासौ
एकान्तवाद: सर्वथा नित्यादिधर्माभिनिवेश: स एव मदमयी मदकृष्णवर्णः तेन मलिना ये परवादिकरिण: पर-
वादिगजा तेषां कण्ठीरवोत्कण्ठेति—कण्ठगो रवो गर्जना यस्य स कण्ठीरव सिंह तस्य उत्कण्ठ: उद्
ऊर्ध्वं कण्ठात् निर्गत: स चासौ कण्ठीरव: गर्जना तद्वद् भासमाना या प्रमाणनय-निक्षेपानुयोगाना वाग्
तासां व्यतिकर समूहो यस्य तथाभूतस्य । श्रवणेति—श्रवणम् आकर्णनम् । ग्रहणं शास्त्रार्थोपादानम् । अथ
धारणं ज्ञानं विषयस्य अवधारणम् । अवधारणा अविस्मरणम् प्रयोग विज्ञातमर्मम् मवमन्य अन्यस्मिन्नर्थे
व्याप्त्या तथाविधत्वसाधनं प्रयोग: । वाग्मित्वं प्रशस्ता वागस्यास्तीति वाग्मी तस्य भाव: प्रशस्तवचनवक्तृत्वम् ।
कवित्वं—सरसतया विपश्चकत्वशक्ति: । गमकत्वमिति अन्यमपि बोधयति विपक्षान् तथैव स यतक तस्य
शक्ति तामि: विस्मापिता आश्चर्यं प्रापिता: विद्याधरविविधाम्बरचरचक्रवर्तिन: चित्ता प्रमुखा ये नरा
निलिम्पा देवा: । अम्बरचरा: आकाशगामिन: विद्याधरा: । तेषां चक्रवर्तिन: स्वामिन: नृपाश्च तेषां
सीमन्ता: मैघवल्मीनि तेभ्य: प्रतिपर्ण्यस्ता मल्लिका या उत्तंसस्त्र शिरोमाला: चैवराजीस्वर्ण तासां सौरभ
सौगन्ध्यं तेन अधिवासिता: संस्कारिता: पादपीठस्य उपकण्ठ: समीपप्रदेश: यस्य । पुन: कथंभूतस्य तस्य ।
व्रतेति—व्रतानाम् अहिंसादीनां महाव्रतानां विधाने समाचरणे तस्मिन् अगवतं हृदयं मनो यस्य तस्य भगवत
रत्नत्रयपुरस्सरस्य उपाध्यायपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा । अपि च—अपास्तेति—अपास्ता
प्रतिविहिता एकान्तवादिनाम् इष्टा प्रमया: यै: तान् परावित्र्कान्तविभुधातीन् । अपारागमपारगान् अपार
श्चासौ आगम: तस्य पारं परतीरं गच्छन्तीति तान् उपाध्यायपरमेष्ठिन श्रुतज्ञानकामाय ज्ञानप्रभूताय अहं
उपासे भजे ।।४८८।। अधुना साधुपरमेष्ठिपूजनम् । ॐ विविक्तेति—विविक्तं ज्ञातं वेदितव्यं जीवादितत्त्वं
सप्तक येन स तस्य । पुन: कथंभूतस्य । बाह्येति—बाह्यम् अनशनादिकमाचरणम्, अभ्यन्तरं च प्रायश्चि-
त्तादिकम् इति बाह्याभ्यन्तराचरणे । करणत्रयं मनोवच कायानां यत्न करणत्रयम् अथवा अध करणम् अपूर्वकरणम्
अनिवृत्तिकरणं च परिणामविशेषाणां तदाख्येयाः एभि: परिणामै: जीव: सम्यक्त्वम् अणुव्रतानि महाव्रतानि
च लभते । एतत्कर्मविशुद्धिरेव निरवद्यापमानप्रवाह निर्झरीप्रवाह: । तेन निर्मूलित: विनाशित मनोभवजु
कुसुमायुधादयो येन मनोज: मदन: स एव दुम: वृक्ष द्रु पुष्पी तस्या आकार इति द्रुम: तस्य कुट्टमं पाल-
हेत-मद-मात्सर्यादय: तस्य आडम्बरो दर्प स निर्मूलितो येन तस्य तथाभूतस्य । पुन: कथंभूतस्य । अमराम्बर
चरेति—अमरा देवा अम्बरचरा गगनगामिन: विद्याधरा: तेषां निनिम्बाक रमण तासां नयन समूह
स एव मत तस्मात् प्रादुर्भूत मरन्दर एव मकरन्द: मदानरट: तस्य धूलिविनोद: एव अरविन्दं तस्य
चरणायमानस्य मुकुलीभवत् कमलवत् आचरणं यस्य । पुन: कथंभूतस्य । उदितादितेति—उत्तरोत्तरं यदर्थं
प्रव्यानि यानि व्रतानि तेषां तान् वधूद् तेन बाहुनिम् निरस्त अवाप्तमनस्कत्वेन निराभिमानतया धुरी
समानमाविताभ्यता चारित्रगुणस्थानो विरिक्त श्रुता तपआरम्भं विरोधभाव वैराग्य विराजित

यतय तेषा रसोऽनुरागो येन स. तस्य। पुन कथभूतस्य। वनदेवताभि विलुप्यमानचरणपरागस्य, कथभूते तप प्रारम्भे। अनेकश इति—अनेकश बहुवार त्रैलोक्यक्षोभकारिभि', ध्यानधैर्येति—ध्यानेन आत्मस्वरूपचिन्तनेन, धैर्येण मनसोऽक्षोभेण च अवधूता विनाशिता विष्वक् सर्वत प्रत्यूहव्यूहा विघ्नसमूहा यै. पुन कथभूतैः। अनन्येति—अन्यजनासभविभि, मनोविषयातिक्रामिभि, आश्चर्यप्रभावास्पदैः, अनवधारितम् अनुद्दिष्ट विधान भोजन येषु तै, तै तै मूलोत्तरगुणेषु ग्रामणीभि. पुरोगमै तप प्रारम्भै। पुन' कथभूतस्य। सकलेति—सकल च तत् ऐहिकमुखसाम्राज्य च तस्य वरप्रदाने अवहिता दत्तावधाना आयाता आगता' तथापि अवधीरिता अवज्ञाता तत्कारणात् विस्मिता उपनता नम्रीभूता. या वनदेवता तासाम् अलका. केशा एव अलयो भृङ्गा. तेषा कुलेन समूहेन विलुप्यमान. ह्रियमाण चरणकमलयो. परागो यस्य तस्य। पुन कथभूतस्य। निर्वाणपदनिष्ठितात्मन मुक्तिमार्गे निष्ठित निश्चयेन स्थित आत्मा यस्य तथाभूतस्य रत्नत्रयपुर सरस्य भगवत सर्वसाधुपरमेष्ठिन अष्टतयोमिष्टि करोमि इति स्वाहा। अपि च—बोधेति—बोध एव आपगा नदी तस्या प्रवाहेण, विध्यातो विध्वस्त अनङ्गवह्नि यैस्ते। विध्येति—विधिना आगमकथितप्रकारेण पूजनेन आराध्या पूज्या अङ्घ्रयश्चरणा येषा ते साधव साध्यबोधाय साधयितु योग्य साध्य मुक्तिपद रत्नत्रय साध्यो बोध्य. आत्मा यस्य तत् साध्यबोध्य केवलज्ञान तस्मै वा तस्य बोधाय ज्ञानाय भवन्तु॥ ४८९॥ अधुना सम्यग्दर्शनरत्नस्य पूजा। ॐ जिनेति—जिन दुर्जयकर्मठकर्मारातीन् जयतीति जिन, अर्हन्, जिनागम जिनेन अर्हता प्रोक्त आगम द्वादशाङ्गानि आचारादीनि, जिनधर्मः तेन जिनेन प्रणीतो धर्म' क्षमादिलक्षणो दशविधः, जिनोक्तजीवादितत्त्वावधारण च एभि विजृम्भित प्रवृद्ध निरतिशय निश्चयेन अतिशयो वैशिष्ट्य यस्मिन् तथाभूतोऽभिनिवेश परमार्थानाम् आप्तागमतपोभृता दृढश्रद्धान तदेव अधिष्ठानम् आधार. यासु तथाभूतासु चेत प्रासादपरपरासु। पुन कथभूतासु। प्रकाशितेति—प्रादुर्भूता या शङ्का जिनै अनेकान्तात्मक सर्वं प्रतिपादित तद्यथार्थम् उत अन्यन्नित्यम् अनित्य वा सर्वम् इति परमार्थम् एवरूपा धी' शङ्का। सम्यग्दर्शनमाहात्म्यात् तपोमाहात्म्याच्च मम देवपदं नृपतिपद वा लभताम् इति स्पृहा आकाक्षा प्राकाम्यमुच्यते। अवह्लादनम्—विचिकित्सा स्नानादिरहितस्य मुने शरीरं वीक्ष्य जुगुप्साकरणम्। कुमतार्ति कुधर्मे तदाचरणवति पुरुषे प्रशसादिकरण मूढत्वम्। एते खलु विकारा शल्यरूपा तेषाम् उद्धार अपनयन यासु तासु चेत्त प्रासादपरपरासु। पुन कथभूतासु। प्रशमेति—प्रशमादिचतुष्टयस्य लक्षणानि प्रागुक्तानि एते प्रशमादय एव सुकृतिचेत प्रासादपरपराया स्तम्भा तैरिय प्रासादपरपरा सधृता भवति। पुन कथभूतासु। स्थितिकरणेति—धर्माद् भ्रश्यतो धर्मे स्थापनं स्थितीकरणम्। उपगूहनम्—धार्मिकजनदोषप्रच्छादनम्। वात्सल्यम्—निर्मायेन मनसा धार्मिकजनस्य यथायोग्यम् आदरकरणम्। प्रभावना—दानतपोजिनपूजाविद्याविनयैर्जिनधर्ममाहात्म्यसवर्धनम्। स्थितिकरणोपगूहनवात्सल्यप्रभावनाभि आचरिता उत्सवसपर्या महपूजा यासु तासु। पुन कथभूतासु—अनेकेति—अनेके ये त्रिदशविशेषा देवविशेषा इन्द्रसामानिकादय तैषा निर्मापिता भूमिका यासु ता। तथाभूतासु सुकृतिचेत प्रासादपरपरासु सुकृतीना पुण्यवता मन सौधपक्तिषु, कृतक्रीडाविहारमपि कृत क्रीडायै विहारो येन तथाभूतमपि यत् सम्यग्दर्शन निसर्गात् स्वभावत महामुनीना मन एव पयोधि समुद्र तेन सह परिचित परिचयविशिष्ट भवति। अशेषेति—अशेषा सकला ये भरतैरावतविदेहा त्रीणि क्षेत्राणि वर्षधराश्च हिमवदादय तेषा चक्रवर्ती स्वामी मेरुपर्वत तस्य चूडामणिस्वरूप तत्कालजन्मा तीर्थकर तस्य कुलदैवतमेतत् सम्यग्दर्शनम्। अमरेति—अमरेश्वरा इन्द्रा तेषा या मतिर्ज्ञान सा एव देवता तस्या अवतस कर्णभूषणरूपम् एतत्सद्दर्शन कल्पवल्लीपल्लवम् इव। अम्बरेति—अम्बरचरा विद्याधरा ते च ते लोका जना तेषा सम्यग्दर्शनमेतत् हृदयस्य एकम् अद्वितीय मण्डनम्। अपवर्गेति—अपवर्गपुर मुक्तिनगर तत्र प्रवेश कृत्वा यत् अगण्यपण्यस्य आत्मसात्करण स्वीकरण तदर्थं दीयमान तस्य सत्यकारमिवैतत्सम्यग्दर्शनम्। अवश्य मयैतत्क्रेतव्यम् इति सत्याकरणमदृशम्। अनुल्लङ्घ्येति—उल्लङ्घयितुम् अशक्यम् अवश्यभोग्यमिति भाव एतादृग् यत् दुरर्घ दुष्टम् अघ पाप तदेव घनघटा मेघसमूह तस्य दुर्दिनानीव ये प्राणिनस्तेषु, ज्योतिरिति—

ज्योतिर्लोकादीनां ज्योतिष्कव्यन्तरभवनवास्यादीनां या भक्त्यः अवस्था ता एव गर्ता श्वभ्राणि रन्ध्राणि तेषु पाते पतने यद् तमस्काण्डं मिथ्यात्वतिमिरं तस्य भेदनमेतत्सम्यग्दर्शनम् । मामनन्ति मनीषिणः मनीषा बुद्धिरस्ति येषां ते मनीषिणः बोमन्त इति भावः । तस्य संसारपारपोतच्छेदे संसारवृक्षभेदने भावकारकस्य सकलसर्मपञ्चविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिनाम् मयणीकस्य भगवतः पूज्यस्य सम्यग्दर्शनरत्नस्य बहुतमीमिर्हि करोमीति स्वाहा । अपि च—मुक्तीति—लक्ष्मीकर्णेव तस्याः सम्यग्दर्शनमेतद् मुक्तमिव वर्तते । मुक्तिमौक्तिकरीयनम् प्रमाणनयादिप्रमा मुक्तिमो तस्या वस्करीभा स्त्रागा वनमिवेदम् । मुक्तीति—भीमानां सम्यक्तामिथ्यादीनां दाने समर्थो मणिचिन्तामणि तं प्रवदाति सम्यग्दर्शनमिदम् । एतद् सम्यक्त्वम् अहं मणितीश्रीमि पूजयामि ॥४९०॥ अथ सम्यग्ज्ञानपूजा—

ॐ पमिविलेति—यद् सम्यग्ज्ञानं सकलजगतः तृतीयं नेत्रम् । यद् स्वाहिताहितविमर्शाज्ज्ञातो यो भावास्तस्य बोधः यथार्थपरिचयः तेन संप्राप्तसमस्तस्वरूपम् । अधिगमेति—गुरूपदेशाज्जातं सम्यक्त्वरत्नमधिगमजमुच्यते तस्योत्पत्तिस्थानमेतद् । अविकासस्यापि दशासु निगोदावस्थामारभ्य मुक्त्यवस्थापर्यन्तं सर्वास्वपि दशासु येनात्मा तस्य स्वभावा गुणानन्तगुणा त एव साम्राज्यं तस्यैतद् सम्यग्ज्ञानं परमम् अभिज्ञानलक्षणम् । अपि च यस्मिन्सम्यग्ज्ञाने इदानीमपि अस्मिन्कलिकालेऽपि भवीव्याततेतीमि कुशलमनोभिः सम्यगिति—समीचीनतया उपाहितः प्रणिधानयुतः स चासौ उपयोगः अर्थग्रहणव्यापारः तेन संमार्जनं निर्मलीकरणं यस्मिन् तथाभूते मुकुरमिवदर्पण इव मुकुरमिव मुकुरं स चासौ मणिः सूर्यकान्तरत्नं तस्य दर्पणे आदर्शे छायारूपेण प्रत्यक्षतो प्रतिपद्यन्ते ते ते भावैकसंप्रत्ययाः भावोऽभिप्रायः एव एकः मुख्यः संप्रत्ययः परिज्ञानकारणं येषाम् स्वभावतोऽन्यसमय विप्रकर्षिणोऽपि भावाः स्वभावविप्रकर्षिणः परमाण्वादयः । क्षेत्रविप्रकर्षिणः देशान्तरिता इति ते च मेर्वादयः । समयविप्रकर्षिणः कालान्तरिता रामरावणादयः भावाः पदार्थाः । तस्य सम्यग्ज्ञानस्य कर्ममूलस्य पञ्च तमीमवस्थाम् अवगाह्यमानस्य तस्य तादृशीम् अवस्थां बिभ्रतीति—आत्मकामेति—तस्य सम्यग्ज्ञानस्य आत्मकाम-नियमस्य स्वोत्पत्तिविषयस्य समयहेतुविहितविविधपरिचर्याभिः बाह्याभ्यन्तरकारणाभ्यां कृत-नानापरिणतिभिः कृतज्ञानावधीः मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलैः पञ्चतयीं पञ्चविधाम् अवस्थां दशां भजमानम् अवगाह्यमानस्याप्रमितः सकलकर्मचक्राणां विधातुः पञ्चपरमेष्ठि-पुरःसरस्य भगवतः सम्यग्ज्ञानरत्नस्याहन्यीभिर्हि करोमि स्वाहा ॥१२॥ अपि च—नेत्रमिति—हिताहितयोः सुखदुःखयोः तत्कार णयोश्च आलोके दर्शने सम्यग्ज्ञानं नेत्रं लोचनम् अस्ति । तथा तद् बीजीवधावने धी बुद्धिः सा एव सौध प्रासादः तस्य धावने रचनायां सूत्रम् यथा सूत्रेण शिल्पी प्रासादादिकं सप्रमाणं निर्मिमीते तथा सम्यग्ज्ञानेन बुद्धिसौधनिर्माणं सप्रमाणं भवति । तस्मात् समायमे तेजम् एतत्सम्यग्ज्ञानं पूजाविधेः पार्थं कुर्वे ॥४९१॥ अधुना सम्यक्चारित्रं पूज्यते । ॐ यस्सकलेति—यच्चारित्ररत्नं सर्वलोकालोकप्रदर्शनप्रतिबन्धकस्य अन्धकारस्य मोहस्य विध्वंसकमस्ति । अनवद्येति—अनवद्या निर्दोषा चासौ विद्या सैव मन्दाकिनी गङ्गानदी तस्या उत्पत्ति हिमाचलमिव । अक्षयसस्योत्सवेति—अक्षयप्राप्युत्सवप्रमोदजनकोत्सवम्, अखिलेति—सकलभद्रपुण्य-समितिपथ एव लता यस्याः ताता य आराम उद्यानं तस्य विकसने पुष्पाकरसमयं वसन्तकालं । अनन्तेति—अनन्तकल्पानि स्वर्गादिसौख्यानि तेषां प्रथमे कल्पवृक्षोत्पत्तिभूमिम् । असमयेति—न समयो वर्णो यस्मिन् स चासौ उपशम चारित्रमोहस्य अनुदयः समोसमतव सौमनस्यं मनसः कपटपरहिता वृत्तिः धैर्यं च एते गुणाः प्रधाना येषां तैः अनुष्ठीयमानम् आचर्यमाणम् चारित्रं कर्तीमन्तः सती चासौ धीर्बुद्धिः सा अस्ति येषां ते तत्कीमन्तः समीचीनबुद्धयः भवतारस्य परमपदप्राप्ते परमं सर्वोत्कृष्टं पदं स्थानं मुक्तिमन्दिरं तस्य प्राप्ते प्रासादस्य प्रथमं सोपानमिव स्थानम् अपरिमितं तेन सह विद्यमानम् आरोहणम् इव । तस्य पञ्चतयात्मक सामायिकच्छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातेति पञ्चप्रकारस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यक्चारित्ररत्नस्य बहुतमीभिर्हि करोमीति स्वाहा ।

[पृष्ठ २२५] अपि च—धर्मेति—धर्मः उत्तमक्षमादिदशलक्षणात्मकस्तस्य योगो तदाचरणं कुर्वाण साधु एव नरेन्द्रः राजा तस्य । कर्मेति—कर्माण्येव वैरिणः शत्रवः तेषां अपार्जनं अपसारणं तत्पराङ्मुखीकरण साधनम् । सर्वसत्त्वानां सर्वजीवानां धर्मकृत् सौख्यकारणम् वृत्तं चारित्रं धर्मधी धर्मे धीर्बुद्धिर्यस्य सोऽहं पूज

चारित्रम् आश्रये अवलम्बे ॥४९२॥ जिनेति—जिनोऽर्हन्, सिद्ध मुक्त, सूरि आचार्य, देशक उपाध्याय, साधु साधुपरमेष्ठी, श्रद्धान सम्यक्त्वम्, बोधो ज्ञानम्, वृत्त चारित्र तेषाम् अष्टतयीम् अष्टप्रकाराम् इष्टि पूजा कृत्वा तत. युक्त्या स्तव विदधामि स्तुति करोमि ॥४९३॥ (प्रथम तावत् सम्यग्दर्शन स्तूयते।) तत्त्वेष्विति—तत्त्वेषु जीवादिसप्तपदार्थेषु प्रणयं रुचि जिनै. परस्य मनम तत्त्वतत्परस्य मनस चित्तस्य श्रद्धान सम्यग्दर्शनम् उक्तम्। एतत् निसर्गाधिगमाख्या द्विभेदम्, उपशम-क्षयोपशम-क्षयभेदात्त्रिभेदम्, आज्ञामार्ग-उपदेश-सूत्र बीज-सक्षेप-विस्तार-अर्थ-अवगाढ-परमावगाढेति भेदात् दशविधम्। चतुर्भि गुणै प्रशम-सवेगा-नुकम्पा-आस्तिक्यै न्दक्न प्रकटीभूतम्, नि शङ्कादिभिरष्टाङ्गम्। भुवनत्रयाचित त्रैलोक्यपूजितम् इद त्रिभि मूढै देव-लोक-पाखण्डिभि अपोढ रहितम्। हे देव जिनेन्द्र, ससृति ससार सा एव लता वल्ली तस्या उल्लास विकास, तस्य अवसानम् अन्त स एव उत्सव आनन्द. यस्य तत् सम्यग्दर्शनम् अह चित्ते दधामि धारयामि ॥४९४॥ ते कुर्वन्त्विति—हे देव जिनेन्द्र, एषा रुचि सम्यग्दर्शन येषु जीवेषु न विद्यते ते जीवा प्राय बहुश जन्मच्छिद ससारच्छेदका न भवन्ति। कथभूता रुचि। तवेति—तव भवत वच श्रद्धा यथार्थजीवादिवस्तुप्रतिपादके वचने श्रद्धारूपा, पुन कथंभूता अवधानोद्धुरा अवधान प्रणिधान तेन उद्धुरा उत्कटा जिनप्रोक्तमेव तत्त्व सत्यं नान्येषाम् इति दृढाभिनिवेशयुक्ता। पुन कथभूता। दुष्कर्मेति—दुष्कर्मणा ज्ञानावृत्यादीनाम् अशुभकर्मणा ये अङ्कुरा प्ररोहा तेषा कुञ्ज समूह तस्य वज्रदहन वज्राग्निरिव तस्य द्योन कान्ति तेन अवदाता शुद्धा निर्मला। येषु इय श्रद्धा न विद्यते ते दुर्धरधिय दु खेन ध्रियते इति दुर्धरा धीर्येषा ते दुर्धरधिय अतीव चञ्चलबुद्धय ते नरा तपासि कुर्वन्तु। ज्ञानानि सचिन्वताम् ज्ञानोपचय कुर्वन्तु। वा अथवा वित्त धन वितरन्तु ददतु। तदपि तथापि प्राय जन्मच्छिद न भवन्तीति विज्ञेयम् ॥४९५॥

[पृष्ठ २२६] संसारेति—हे नाथ स्वामिन्, य कृती पुण्यवान्, हृदि मनसि सम्यक्त्वरत्न सम्यग्दर्शनमणि धत्ते धारयति, तस्य नरस्य स्वर्गापवर्गश्रिय स्वर्गमुक्तिरमा सुलभा सुप्रापा भवन्ति। कथभूत सम्यक्त्वरत्नम्। संसारेति—ससार एव अम्बुधि समुद्र तस्य उल्लघने सेतुबन्ध सेतुरचनातुल्यम्। पुन कथभूतम्। असमेति—सम युगपत् न समम् असम क्रमेण प्रारम्भ[1] उत्पत्तिर्यस्य तच्च तल्लक्ष्मीवन रमाक्रीडा-राम, तस्य प्रोल्लासने विकासने अमृतवारिवाहम् पीयूषमेघसदृशम्। पुन कथभूतम्। अखिलत्रैलोक्यचिन्ता-मणिम्। सकलत्रैलोक्ये चिन्तामणि चिन्तितवस्तुदानरत्नसमम्। पुन कथभूतम्। कल्याणेति—कल्याणानि गर्भावतारादिनिर्वाणान्ता पञ्चमहोत्सवा तान्येवाम्बुजखण्डानि कमलवृन्दानि तेषा समवसर उत्पत्ति-सरोवरम् ॥४९६॥ [इति दर्शनभक्ति] [ज्ञानभक्ति] अत्यल्पेति—इयम् अक्षजा मति इन्द्रिया-निन्द्रियजा बुद्धि अत्यल्पायति अत्यल्पा अतिस्तोक आयति भविष्यत्कालो यस्या सा मतिज्ञान जातमपि कालान्तरस्थायि न भवति। विस्मृतिशील हि तत्। अवधि बोध अवध्याख्यं ज्ञान रूपिद्रव्यविषयम्। सावधि द्रव्यक्षेत्रकालभावमर्यादायुतम्। साश्चर्य विस्मयोत्पादक मन पर्यय तन्नामक ज्ञान परमनसि स्थित अर्थं प्रत्यक्ष-तया जानाति अत एव साश्चर्यं तत् पर स्वल्प स क्वचिदेव योगिनि कस्मिश्चिदेव सप्तविधान्यतमर्द्धिधारके मुनिवर्ये विद्यते। अथास्मिन् पञ्चमकाले पुन दुष्प्राप लब्धुं नितराम् अशक्यम्। इद केवल ज्योति केवलज्ञान प्रकाशस्वरूप कथागोचर प्राचीनमहापुरुषकथाविषयमेव। तु परम्। निखिलार्थगे सुलभे श्रुते सकलजीवादि-पदार्थविषये सुप्रापे श्रुतज्ञाने माहात्म्यं प्रभाव किं वर्णयाम। श्रुतज्ञानस्य माहात्म्य नास्माभिर्वर्णयितु शक्यते इति भाव ॥४९७॥ यद्देवैरिति—यत्स्याद्वादसरोरुह तच्छ्रुतज्ञानकमलं मम मनोहसस्य मन एव हस सितच्छ-दस्तस्य मुदे भूयात्। आनन्द जनयत्विति भाव। कथंभूत तत् यद्देवै शिरसा धृतम्। गणधरै कर्णावतसीकृत चतुर्ज्ञानधारिभिस्तीर्थकरमुख्यशिष्यै कर्णभूषणीकृतम्। योगिभि चेतसि मनसि स्थापितम्। पुन नृपवरै माण्डलिकमहामाण्डलिकादिभिर्नृपेश्वरै आघ्रात सारो यस्य, स्याद्वादसरोरुहस्य नासिकया गन्धो घ्रात। विद्याधराधीश्वरै नभश्चरभूपै हस्ते, दृष्टिपथे मुखे च निहितम् स्थापितम् ॥४९८॥ मिथ्यातम इति—

१. ब० क० पुस्तकयो तत्तद्द्विविदश इति पाठ।

जिनागमाय जिनप्रोक्ताय स्याद्वादरूपाय नित्यं प्रणमामि सदा नमस्करोमि । कथंभूतोऽहम् । तत्त्वस्येति—तस्य जिनागमस्य तत्त्वं स्वरूपं तस्य भावने चिन्तने मनः यस्य । कथंभूताय अहं प्रणमामि—मिथ्येति—मिथ्यात्वम् अतत्त्वश्रद्धानम् एव तम तिमिरं तस्य पटलं समूहं तस्य भेदनकारणाय विनाशहेतवे । पुनः कथंभूताय स्वर्गेति—स्वर्गमोक्षनगरपथप्रदर्शकाय । पुनः कथंभूताय त्रैलोक्यमङ्गलकराय जगत्त्रयहितकराय ॥४९१॥ [इति ज्ञानभक्तिः]

[पृष्ठ २२७] [चारित्रभक्तिः] ज्ञानमिति—यदन्तरेण चारित्रभक्तिं विना ज्ञानं दुर्भगस्य कुरूप नरस्य देहमण्डनम् इव शरीरालंकरणमिव स्वस्य खेदावहं स्यात् । अर्थं सम्यक्त्वरत्नाङ्कुर चारित्रं विना तत्फलमिदं स्वफलयोग्यो साधु स्वतमतया न धत्ते चारमति । येन प्रभो जिन तास्ता तपोभूमयः तपसां भूमयः स्थानानि कायवाड्मनांसि यदन्तरेण कायं निरतां विफला स्वर्गमोक्षफलरहिता भवन्ति । अतः तस्मै संयमरत्नध्यानादिधाम्ने प्राणीन्द्रियसंयमो द्वौ यम इन्द्रियनिग्रहः ध्यानम् एकाग्रचिन्तानिरोधः आदौ येषां तेषां गुप्तिसमित्यादीनां धाम्ने गृहाय सच्चारित्राय तव भगवत् चरिताय चारित्रभूताय नमः अस्तु ॥५ ॥ यश्चिन्तामणिरिति—अहं त्रिविधं पञ्चविधं तच्चारित्रं सामायिकच्छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातचारित्रभेदम् । नमामि । कथंभूतं तत्— यदिति—यच्चारित्रम् ईप्सितेषु इष्टेषु अभिलषितार्थे चिन्तामणिः सौख्यस्य सौन्दर्यस्य सौभाग्यस्य सुभगत्वस्य च वसतिर्गृहम् । श्रीति—श्रिया रमाया पाणिग्रहकौतुकं विवाहोत्सवः कुलेति—कुलं वंश वर्णं सामर्थ्यम् आरोग्यं रोगविहीनता एषाम् आवसथं संयमनिकेतस्थानम् । यदिति—यत् पञ्चात्मकं पञ्चभेदं चारित्रं पूर्वं प्राचीनैः समाधिनिधिभिः प्राप्तास्ते सम्यग्दर्शनादीनां पर्यन्तप्रापणं समाधिः ध्यानं वा धर्म्यं शुक्लं च समाधिः । स एव निधिः येषां तैः साधुभिः मोक्षाय चरितं सेवितम् ॥५ १॥ हस्ते इति—यस्य मुनेः चैत्ये जिनप्रोक्तं सामायिकादिचरितं भवा पवित्रं तस्य हस्ते स्वर्गसुखानि आयच्छन्ति । अतर्कितभवा अतर्कितो अकस्मात् भवः उत्पत्तिर्यासां ताः अकस्मात्प्राप्ता अविचारगोचरतयागच्छन्ति संभव तं यान्ति । येषां पश्चात्के कुठन्ति यौ स्वर्गं सर्वदा धयन्तो चिन्त्यः कामितम् इष्टं फलति यच्छति । पुनः इमाः आश्चर्योत्सवसंपदः गर्भादिकल्याणेषु रत्नादिभिः इति रत्नवृष्ट्यादिवृष्टिः चिन्तनोपोपभोगवस्तुप्राप्तिः तस्य अवतारार्थे स्वर्गावतरणे अस्तिप्रारम्भे भविष्यति तत्र प्रागेव अग्रतः पूर्वमेव अवतरन्ति आगच्छन्ति ॥५ २॥ [इति चारित्रभक्तिः] [अथार्हद्भक्तिः] बोधो इति—हे जिनेन्द्र ते तव अवधिबोधः अवध्याख्यम् इन्द्रियमनोऽनपेक्षं तृतीयं ज्ञानम् । अशेषनिरूपितार्थे अशेषा सकला निरूपिता परोक्षतया ज्ञाता अर्थाः जीवादयः पदार्था येन तत् तथाभूतम् श्रुतज्ञानम् । ते तव मतिः मतिज्ञानं सहजा त्वया सहैव जाता कथंभूता । अन्तर्बहिःकरणजा-अन्तःकरणं मनः तस्मात् जाता अन्तःकरणजा बहिःकरणानि बाह्येन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि पञ्च तेभ्यो जाता मतिः । इत्थम् एवं स्वतः स्वस्मादेव सकलपदार्थविमर्शनमतेः भवतः परतः परस्मात् गुरोः का अपेक्षा अभिलाषा स्यात् । न कापि इति । सहजज्ञानत्रितयत्वात् तीर्थकरस्य ज्ञानसंपादने गुर्वपेक्षा नास्तीति भावः ॥५ ३॥

[पृष्ठ २२८] ध्यानावलोकेति—येन हे जिनो शुक्लध्यानप्रभावेन निरस्त चिरसंस्तं तिमिरं अज्ञानम् अज्ञानपटलं यस्य तस्मिन् । ताम् अनुपमां केवलमयीम् अनन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपां श्रियं लक्ष्मीम् आस्पदाने बिभ्रति त्वयि । मुहुः पुनः पुनः । महाय उत्सवाय पूजनाय व्यापारमर्थ्वरं त्रिभुवनम् । एकपुरमिव आसीत् अभवत् । भगवनः केवलज्ञाने जाते सति तदास्थाने नरसुरपशवः धर्मश्रवणार्थं संगच्छन्तीति भावः ॥५ ४॥ स त्वमिति—अहं सर्वं प्रभो मस्तके दधामि धारयामि । किमु चामरम् अधिक्षिपामि धारये । अथ जिनस्य पदे हैमाम्बुजानि सुवर्णकमलानि अर्पयामि । इत्थम् एवंप्रकारेण । अमरपतिः सौधर्मेन्द्रः स्वयमेव यस्मिन् जिने सेवापरः आराधनापरः । तत् अहं वरं किमु वच्मि भगवतो महिमा वचसामपि वाचाम् अगोचर इति भावः ॥५ ५॥ त्वमिति—हे देव नाथ त्वं सर्वदोषरहितः शुचिरपापरहितः परमोपकारः । ते तव कुसुमम् अशेषया वस्तुजस्वर्गिसाधनम् । ते तस्यो विधि अपेक्षितः । तदनुगमनपरः प्राणिसमूहमिव प्रवर्तते । तथापि लोकाः स्वरोगविषयर्थिनः दृष्टास्ति न भोगयन्ति । [न तुष्यन्ति] ननु अस्य लोकस्य धर्मं एव

कारणम् न तु भवान्। यथा रवौ उदिते कौशिकस्य घूकस्य स दोष न तु रवे। घूको रविं न प्रेक्षते तथा जन न तुष्यति नासौ दोषो जिनदेवस्य। लोकस्य मिथ्यात्वोदय एव तत्रापराध्यति ॥५०६॥ पुष्पमिति—देव अर्हन्, त्वदीयेति तव इमौ त्वदीयौ तौ च तौ चरणौ पादौ तयो अर्चनस्य पूजनस्य यत्पीठ सिंहासन तस्य सगात् सपर्कात् जगत्त्रयस्य त्रैलोक्यस्य। चूडामणीव भवति। तत्पुष्प वन्द्य भवति अत जन' तत् मस्तके बिभर्ति। अत' अन्यशिरसि अपरेषा हरिहरादीनां मस्तके स्थितमपि अस्पृश्य भवति। अत ते तव। को नाम साम्यम् अनुशास्तु प्रतिपादयतु। कै। रवीश्वराद्यै' सूर्यरुद्राद्यै समता प्रतिपादयतु। न कदापि सूर्यहरिहरादिभि त्रैलोक्य-वन्द्यस्य भगवतो जिनेश्वरस्य साम्यमस्तीति ज्ञेयम् ॥५०७॥ मिथ्येति—पुरा एतज्जगत् मिथ्या मिथ्यात्वम् अतत्त्वार्थ-श्रद्धानोपदेश तदेव महान्धतमसं महागाढतिमिर तेन आवृतम् अत एव अप्रबोध ज्ञानरहितम्। भवगर्तपाति ससार-रन्ध्रे पातो यस्य तथाभूत्। पर तत्तस्मात्कारणात् हे देव, त्वमेव, भवानेव, दृष्टिहृदयाब्जविकासकान्तै दृष्टी नेत्रे, हृदय मन तान्येव अब्जानि कमलानि तेषां विकासे कान्तै मनोहरै। स्याद्वादेति—स्याद्वादरश्मिभि स्वरूप-चतुष्टय पररूपचतुष्टयचापेक्ष्य जातै सप्तभङ्गरज्जुभि. उद्धृतवान् भवगर्तपातात् उपरि निष्कासितवान् ॥५०८॥ पादाम्बुजद्वयमिति—देव विभो यस्य नरस्य स्वच्छे मनसि निर्मले हृदये। तव इद पादाम्बुजद्वय चरण-कमलयुगल ससास्ते विद्यते। श्री लक्ष्मी स्वय त भजति सेवते। स्वर्गमोक्षोत्तादिका मातेव इय सरस्वती त नियत निश्चयेन वृणीते स्वीकरोति ॥ ५०९ ॥ [इत्यर्हद्भक्ति]

[पृष्ठ २२९] [सिद्धभक्ति] सम्यग्ज्ञानत्रयेणेति—कथभूता सिद्धा मतिश्रुतावधीना त्रयेण प्रवि-दिन ज्ञात सकलज्ञेयजीवादितत्त्वविस्तारो यै ते। पुन कथभूता। अथ अनन्तरम्। ध्यानवातै सकल कर्मरज ज्ञानावरणादिघातिकर्मचतुष्करज प्रोद्धूय निरस्य। प्राप्तकैवल्यरूपा लब्धशुद्धात्मरूपा सप्राप्तकेवलज्ञानरूपा वा। पुन कथभूता सिद्धा। अथ सत्त्वोपकार प्राप्युपकृति कृत्वा ये त्रिभुवनपतिभि धरणेन्द्रचक्रवर्तिस्व पतिभि दत्तयात्रोत्सवा उद्घोषितनिर्वाणकल्याणा। ते लोकत्रयस्य शिखरे अग्रे सिद्धपुरीनिवासिन. सिद्धा' व युष्माकं सिद्धये मुक्तये सन्तु भवन्तु ॥५१०॥ दानज्ञानेति—आहारौषधावासशास्त्रभेदाच्चतुर्विधानि दानानि। ज्ञानम् आध्यात्मिकम्। चारित्र सामायिकादिकम्। प्राणीन्द्रियसयमौ द्वौ। तथा द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ नयौ एषा प्रारम्भ गर्भे यस्य तथाभूत मन कृत्वा। एषु विषयेषु मन सस्थाप्य। तथा च अन्तरिन्द्रिय मन बहिरिन्द्रियाणि च स्पर्शादीनि पञ्च। तथा पञ्चमरुत प्राणापानसमानोदानव्याना तान् सयम्य वशीकृत्य पश्चात् तत् ध्यान प्रविधाय। कथभूत ध्यानम्। वीतेति—वीत नष्ट विकल्पाना रागद्वेषादीना जाल यस्मात्। पुन कथभूतम्। भ्रस्यतम सन्तति, भ्रस्यन्ती तमसाम् अज्ञानाना सततिर्यस्मात्तत्। अखिल ध्यान शुक्लाह्वयं चतुर्विध प्रविधाय विचिन्त्य। ये च मुमुचु ये मुनय द्रव्यभावकर्मभ्या मुक्ता बभूवु। तेभ्योऽपि अञ्जलि प्रसृतिर्बद्ध तान् सिद्धपरमेष्ठिनोऽपि वय वन्दामहे ॥५११॥ इत्थमिति—इत्थम् एवम्। अत्र अस्मिन्लोके। ये मुनय, कथभूता। धृतेति—धृता ध्याने अवधानर्द्धि प्रणिधानवैपुल्य यैस्ते। कुत्र। समुद्रेति—समुद्र। कन्दर पर्वतदरी। सर सरोवरम्। स्रोतस्विनी नदी। भू भूमि। नभ आकाशम्। द्वीप जलवेष्टितभूमि। अद्रि पर्वत। द्रुम वृक्षमूलम्। कानन वन तानि आदौ येषा तेषु। धृतध्यानस्थिरा त्रिषु कालेषु भूतभविष्यद्वर्तत्सु कालेषु मुक्तिसगमे मुक्तिसगमसुखसेविन भव्येषु रत्नाकरा मुनय रत्नत्रयमङ्गलानि ददता समर्पयन्तु ॥५१२॥ [इति सिद्धभक्ति] [चैत्यभक्ति] भौमेति—भौमा भवनवासिनो देवाः। व्यन्तरा विविधदेशान्तराणि येषा निवासास्ते व्यन्तरदेवा। मर्त्या मनुष्या सार्धद्वीपद्वितयवर्तिन, भास्करसुरा चन्द्रसूर्यादय पञ्चविधा ज्योतिष्काः। सुरा स्वर्गवासिनो देवाश्च। एषा श्रेणीविमानाश्रिता पक्तिवद्धविमानेषु आवासेषु श्रिता स्थिता पुन कथभूता आकृती। स्वर्ज्योतिरिति—स्व स्वर्ग ज्योति ज्योतिर्मण्डलस्थानम् कुलपर्वतान्तरधरा हिमवदादय कुल-पर्वता अन्तरधरा व्यन्तराणा निवासभूमि। रन्ध्रप्रवन्ध भवनवासाः पक्तिवद्धा। एषु स्थिति यासा ता। पुन कथभूता'। जिनेन्द्रेति—जिनेन्द्रा अर्हन्त। सिद्धा मुक्ता। गणभृत आचार्या। स्वाध्यायिन उपाध्याया.। साधव साधुपरमेष्ठिनश्च एषाम् आकृती प्रतिमा अह वन्दे। पुन कथभूता। तत्पुरेति—तेषा भौमादिदेवाना

जिनागमाय जिनप्रोक्तार्थं स्याद्वादवाच्यं नित्यं प्रणमामि सदा नमस्करोमि। कर्तृभूतोऽहम्। तत्त्वस्येति—तस्य जिनागमस्य तत्त्वं स्वरूपं तस्य भावने चिन्तने मनः यस्य। कर्मभूताय अहं प्रणमामि—मिथ्येति—मिथ्यात्वम् अतत्त्वश्रद्धानम् एव तमः तिमिरं तस्य पटलं समूहः तस्य भेदनकारणाय विनाशहेतवे। पुनः कर्मभूताय स्वर्गेति—स्वर्गमोक्षनगरपथप्रदर्शकाय। पुनः कर्मभूताय त्रैलोक्यमङ्गलकराय जगत्त्रयहितंकराय ॥४९१॥
[इति ज्ञानभक्तिः]

[पृष्ठ २२७] [चारित्रभक्तिः] ज्ञानमिति—यदन्तरेण चारित्रभक्तिं विना ज्ञानं दुर्भगस्य कुरूपनरस्य देहमण्डनम् इव शरीरालंकरणमिव स्वस्य खेदावहं स्यात्। अयं सम्यक्त्वरत्नाङ्कुरः चारित्रं विना तत्फलमियं स्वफलयोग्यं साधु उत्तमतया न धत्ते धारयति। येन यमो जिन तास्ता तपोभूमय तपसां भूम्यः स्थानानि कायवाङ्मनांसि यदन्तरेण कामं नितरां विफला स्वर्गमोक्षफलरहिता भवन्ति। अतः तस्मै संयमसम्यग्ज्ञानादिचारित्रे प्राणोन्द्रियसंयमौ द्वौ यमः इन्द्रियनिग्रहः ध्यानम् एकाग्रचिन्तानिरोधः आदौ येषां तेषां गुप्तिसमित्यादीनां धाम्ने गृहाय स्वच्चरित्राय तव भगवतः चरिताय चारित्रगुणाय मम अस्तु ॥५०॥
यच्चिन्तामणिरिति—यद् त्रिविधं पञ्चविधं तच्चारित्रं सामायिकच्छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातचारित्रभेदम्। नमामि। कर्मभूतं तद्—यदिति—यच्चारित्रम् ईप्सितेषु इष्टेषु अभिलषितार्थे चिन्तामणि सौख्यस्य सौन्दर्यस्य सौभाग्यस्य सुभगत्वस्य च वशीकृत् हम्। श्रीरिति—श्रिया रमाया पाणिग्रहकौतुकं विवाहोत्सवः कुलेति—कुलं वंशः बलं सामर्थ्यम् आरोग्यं रोगविहीनता एषाम् आपणे संचयनिकेतनस्थानम्। यदिति—यत् पञ्चात्मकं पञ्चभेदं चारित्रं पूर्वं प्राचीनं समाधिनिधिभिः प्राप्तानां सम्यग्दर्शनादीनां पर्यन्तप्रापणं समाधिः ध्यानं वा धर्म्यं शुक्लं च समाधिः। स एव निधिः येषां तैः साधुभिः मोक्षाय चरितं सेवितम् ॥५१॥ हस्ते इति—यस्य मुनेः जैनं जिनप्रोक्तं सामायिकादिचारित्रं मनः पवित्रं तस्य हस्ते स्वर्गसुखानि आयान्ति। अतर्कितमपाः अतर्कितो अकस्मात् मन उत्पत्तिर्येषां ता अकस्मादायान्त्य अविचारगोचरपरम्पराविनि ईश्वरं तं यान्ति। देवाः पातालके कुर्वन्ति यो स्वर्गं सर्वदा दासवत् किंकराः कामितम् इष्टं फलति यच्छति। पुनः इमाः अस्याचौर्यसंपदः नवनिधिरत्नादिषु रत्नादिनिमि हस्ते अस्मै रत्नादिवृष्टिः विषयभोगोपभोगवस्तुप्राप्तिः तस्य अवतारावसरे स्वर्गनिवतरणे अहमहमिकया भविष्यति तत्र प्रागेव अवनमः पूर्वमेव अवतरन्ति आगच्छन्ति ॥५२॥ [इति चारित्रभक्तिः] [अथार्हद्भक्तिः]
बोधो इति—हे जिनेन्द्र ते तव भवविवर्तात् अवधानात्मकम् इन्द्रियमनोऽनपेक्षं तृतीयं ज्ञानम्। अक्षोपशमिकभावं अतीन्द्रियं तत्र निरूपिता परोक्षतया जाता अथवा नीचाश्रय परोक्षा येन तत् तथाभूतम् श्रुतज्ञानम्। ते तव मतिः मतिज्ञानं सहजा त्वया सहैव जाता कर्मभूता। अन्तर्बहिःकरणजा—अन्तःकरणं मनः तस्मात् जाता अन्तःकरणजा बहिःकरणानि बाह्येन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि पञ्च तेभ्यो जाता मतिः। इत्थम् एवं सति स्वस्मादेव तत्त्वपदार्थविमर्शनमते भवतः परतः परस्मात् गुरोः का अपेक्षा अभिलाषा स्यात्। न कापि इति। सहजज्ञानत्रितयवत्त्वात् तीर्थंकरस्य ज्ञानसंपादने गुरुपिता नास्तीति भावः ॥५३॥

[पृष्ठ २२८] ध्यानानलोद्वेति—देव हे जिनो शुक्लध्यानप्रभावेन विगलत् विगतं तिमिर अज्ञानम् अज्ञानपटलं यस्य तस्मिन्। ताम् अनुपमां केवलमयीम् अनन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपां श्रियं लक्ष्मीम् धारयामि बिभर्ति त्वयि। मुहुः पुनः पुनः। महाय उत्सवाय पूजनाय व्यापारान्तरं त्रिभुवनम्। एकपुरमिव आसीत् जगत्। भगवतः केवलज्ञाने जाते सति तदावसाने नरसुरपशवः धर्मश्रवणार्थं संततमागच्छन्तीति भावः ॥५४॥ छत्रमिति—अहं कर्ता यमो मस्तके धरामि धारयामि। किमु चामरम् चालयामि चाकम्पे। अथ जिनस्य पदे हैमाम्बुजानि सुवर्णकमलानि अर्पयामि। इत्थम् एवंप्रकारेण। अमरपतिः सौधर्मेन्द्रः स्वयमेव यस्मिन् जिने सेवापरः आराधनारतः। तत्र अहं परं किमु वच्मि भगवतो महिमा अचिन्त्यामपि वाचाम् अगोचर इति भावः ॥५५॥ रत्नमिति—हे देव नाथ त्वं सर्वदोषरहितः क्षुत्पिपासाद्यष्टादशदोषरहितः। ते तव गुणगणः अशेषतया वस्तुवर्णप्रतिपादनपरम्। ते तत्फलो निधिः परदेवादिकः। तत्त्वानुसरणपरः प्राणिसमाजाभिरम प्रवर्तते। तथापि लोकः स्वरीयकर्मविधि दृढयति न मौलयति। [न मुञ्चति] ननु अत्र लोकस्य कर्म एव

उपरतधिय सर्वसकल्पशान्ते सर्वेषा सकल्पाना शान्ते विनाशात् । अहमेषा स्वामी मम च इमे स्वम् इति सकल्पव्यपगमात् । ब्रह्मधामामृताप्तेः येषा ऊर्मिस्मयविरहिता ब्रह्मण आत्मन धाम स्थान यत् अमृत स्वात्मानुभूति तस्य आप्तेर्लाभात् ऊर्मिस्मयविरहिता शोकमोहौ जरामृत्यू क्षुत्पिपासे इति षडूर्मय । स्मयाश्च ज्ञानपूजाकुलजातिबलर्द्धितपोवपुषा मानित्व स्मया अष्टविधाः । षड्र्मिभि अष्टविधस्मयैश्च विरहिता रहितत्वम् लब्धम् । येषा च आत्मात्मीयानुगमविगमात् शुद्धबोधा वृत्तय सकल्पविकल्पानाम् अनुगमस्य उत्पत्तेर्विगमात् येषा वृत्तय मनोविमर्शा शुद्धबोधा शुद्धात्मस्वरूपज्ञानयुक्ता सन्ति । तेषा चरणकमलानि पुष्पै शिवाय मोक्षाय अर्चयेय पूजयेयम् ॥५२०॥

[पृष्ठ २३२] येषामङ्गे इति—येषा सूरीणाम् अङ्गे मलयजरसै चन्दनगन्धै सगम । लेपन कर्दमै मृदा लेपन वा समान हर्षाय विषादाय वा क्रमशो न भवति । स्त्रीविब्बोकै स्त्रीणा शृङ्गारभावजा क्रिया विब्बोक अभिमतवस्तुप्राप्तौ अपि गर्वादनादर । सापराधस्य मयमन ताडन च विब्बोक । एताभि स्त्रीणा शृङ्गारक्रियाभि अनुषङ्ग सबन्ध समान प्रतिभाति। पितृवनेति—पितृणा वनमिव श्मशानं तत्र चिताभस्मभि चीयते श्मशानाग्निरस्याम् इति चिता तस्या भस्मभि भसितै वा अनुषङ्ग लिप्ति समान न प्रीत्यप्रीत्यै भवति । मित्रे शत्रावपि च विषये अनुषङ्ग सबन्ध निस्तरङ्ग तरङ्ग मनोवृत्ति हर्षविषादात्मिका निर्गतौ तरङ्गौ हर्षविषादौ यस्मादसौ निस्तरङ्ग मित्रे दृष्टे न हर्ष स्यात् अरौ दृष्टे न खिन्नता । तेषा सूरीणा पूजाव्यतिकरविधौ पूजोत्सवविधौ एष हविर्नैवेद्य व युष्माक भूत्यै वैभवदानाय अस्तु भवतु ॥५२१॥ योगाभोगाचरणचतुरे इति—येषा सूरीणा स्वान्ते मनसि । कथभूते । योगेति—योगानाम् आतापनाभ्रावकाशवर्षायोगानाम् आभोगो विस्तार तस्य आचरण प्रवर्तन तत्र चतुरे कुशले । पुन. कथभूते। दीर्णेति—दीर्ण विनष्ट कन्दर्पस्य मन्मथस्य दर्प मदो येन तस्मिन् । पुन कथभूते ध्वान्तेति-ध्वान्तम् अज्ञान तस्य उद्धरण निरसन तत्र सविधे तत्परे । पुन कथभूते ज्योतिरिति—ज्योतिष स्वानुभूतिज्ञानस्य उन्मेष उद्भूति त भजतीति ज्योतिरुन्मेषभाक् तस्मिन् स्वान्ते स्वानुभूतिज्ञानसपन्ने सतीति भाव । क्षेत्रनाथ. क्षेत्र देह तस्य नाथ स्वामी आचार्याणाम् आत्मा । अन्त निजस्वरूपे उच्चै अत्यन्तम्, अमृतभूत इव सुधापूर्ण इव समोदेत ह्लादेत । तेषु क्रमपरिचयात् चरणपूजनात् प्रदीप व श्रिये लक्ष्म्यै सपदे स्यात् भवेत् ॥५२२॥ येषा ध्येयेति—येषा सूरीणा बोधाम्भोधि सम्यग्ज्ञानसागर कथभूताना सूरीणाम् । ध्येयाशयेति—ध्येयो ज्ञानदर्शनलक्षणो निजात्मा तस्मिन् ध्येये आशय विमर्श कुर्वन्मन स एव कुवलय कुमुद तस्य आनन्दे प्रमोदे चन्द्रोदयतुल्याना । येषा सूरीणा ज्ञानाब्धि प्रमदसलिलै आनन्दनीरै आत्मावकाशे निजस्वरूपे नैव माति ॥ वहि नानाविधलब्धि वहिरुत्पूरो भवति। एता अखिलेति—सकलजगद्विभवरमा समवसरणादिरूपा प्राप्यापि येषा चेत मन नि स्पृहम् अस्ति, तेषाम् अपचितौ पूजाया धूप वो युष्माक श्रेयसे मुक्तये अस्तु ॥५२३॥ चित्ते चित्ते इति—चित्ते मनसि चित्ते आत्मनि विशति सति प्रवेश कुर्वति सति । करणेषु स्पर्शनादिषु इन्द्रियेषु स्वान् विषयान्त्यक्त्वा अन्तरात्मन्येव स्थितेषु । स्रोतस्यूते स्रोतोभि स्पर्शनादिविषयै स्यूते अनुषक्ते पुसि । वहि वाह्ये अखिलत सर्वश व्याप्तिशून्ये वाह्यपदार्थविमर्शशून्ये सति । येषा ज्योति ज्ञान किमपि अनिर्वचनीयरूपेण परमानन्दसन्दर्भगर्भं परमश्चासौ आनन्दश्च परमानन्द विषयजादानन्दात् आत्मानन्द स्वानुभूतिरूप अपूर्वसुखजनकत्वात् परमानन्द उच्यते तस्य सन्दर्भ ज्ञानेन सह एकलोलीभाव स गर्भे यस्य तथाभूत ज्ञानज्योतिः जन्मच्छेदि जन्महन्तृ जन्मन भवस्य हन्तृ प्रभवति समर्थं जायते । तेषु आचार्येषु फलै सपर्या पूजा कुर्म ॥५२४॥

वाग्देवतावर इति—हे सूरिवर, तत् तत चरणार्चनेन तव पादपूजनेन अय पुष्पाञ्जलि इय कुसुमाना प्रसृति । उपासकानाम् आचार्यभक्ताना वाग्देवताया सरस्वत्या वर इव वाञ्छिताभिलाष इव । पुन कथभूत आगामिन्या तत्फलप्राप्तौ पुण्यपुञ्ज इव सुकृतसमूह इव । पुन कथभूत । लक्ष्मीति—लक्ष्म्या कटाक्षा एव मधुपा भृङ्गा तेषा आगमने एकहेतु मुख्य कारणम् । भवतु अस्तु ॥५२५॥ (इत्याचार्यभक्ति)

इत्युपासकाध्ययने समयसमाचारविधिर्नाम पञ्चत्रिंशत्तम कल्प. ॥३५॥

पुराणि नगराणि तेषां पाला रक्षका नृपुरेन्द्रास्तेषां मौलयः किरीटानि तेषु विलसन्ति यानि रत्नानि तानि एव प्रदीपास्तैः अर्चिता पूजिता आकृतिः याभ्यां ताभ्यां मुक्तिधामप्राप्त्याय वन्दे ॥५१३॥ [इति चैत्यभक्तिः]।

[पृष्ठ २१०] [पञ्चगुरुभक्तिः] समवसरणेति—अर्हतान् पञ्चपरमेष्ठिनः स्तुवे इति क्रियासंबन्धः। अर्हं समवसरणभाजान् अर्हन्तः स्तुवे। समवसरणे भाजो येषां तान्। मुक्तिलक्ष्मीविलासान् मुक्तिरमया विलासः क्रीडा कुर्वाणान् सिद्धान् स्तुवे। सकलसमयज्ञानान् सकलाश्च ते समयाः आगमास्तेषां ज्ञानान् स्वपरागमवेदिनः आचार्यान् स्तुवे। वाक्यविद्या व्याकरणादिविद्यास्तासामपि ते समाधाः सहिता तेषां भावः इति भावः। साधुपाध्यायान्। भवनिगळेति—संसारशृङ्खलानां विनाशस्फोटनं तस्य उद्योगाय तपो यो योग आतापनादिः तेन प्रकाशन्ते इति प्रकाशास्तान् साधुपरमेष्ठिनः। अर्हं क्रियाणान् सामायिकादिक्रिया कुर्वाणोऽहं संस्तुवे। पञ्चमूलान्पञ्चपरमेष्ठिनः स्तुवे। निरुपमेति—निरुपमा निगता उपमा येभ्यस्ते निरुपमा ते च ते गुणाश्च निरुपमगुणा तेषां भावो अस्तित्वं येषां तान् स्तुवे। अर्हतां षट्चत्वारिंशद्गुणाः। सिद्धानां सम्यक्त्वाद्योऽष्टौ। सूरीणां षट्त्रिंशद्गुणाः। उपाध्यायानां पञ्चविंशतिर्गुणाः। साधूनाम् अष्टाविंशतिगुणास्तेषां गुणानाम्। [इति पञ्चगुरुभक्तिः] ॥५१४॥ [शान्तिभक्तिः] भवेति—जिन शान्तिः शान्तिकरः स्यात् भवतु। कथंभूतः सः। भवेति—संसारासुखाग्निशान्तिः संसारदुःखाग्न्युपशामकः। धर्मामृतेति—धर्म एव अमृतमिति तस्य वर्षं वृष्टिः तस्मात् जनिता उत्पादिता शान्तिर्येन सः। पुनः कथंभूतः। शिवेति—मुक्तिसुखागमनाय शान्तिरूपः जिन शान्तिकरः स्यात्। [इति शान्तिभक्तिः] ॥५१५॥ [आचार्यभक्तिः] मनोमात्रेति-मनोमात्रस्य उचितं मनोमात्रोचितं तस्मै मनोमात्रोचिताय मनसैव वक्तुं योग्याय पुण्याय। न न चेष्टते न प्रवर्तते। दृणावस्य दीनस्य तस्य मनोरथाः मनोऽभिलाषाः कथं कृतार्थाः कृतकार्याः सफलाः स्युर्भवेयुः ॥५१६॥

[पृष्ठ २११] येषां तृष्णेति—येषां आचार्याणां चित्तवृत्तिप्रचारः मनोवृत्तिप्रसरः उत्कलोकालोकात् लोकालोकपर्यन्तमयो यो लोको जगत् तस्य अवलोकात् दीर्घात् तृष्णातिमिरभिदुरः तृष्णा विषयाभिलाषा एव तिमिरं तमः तस्य भिदुरः भेदकः अस्ति। प्रथमजलधे लोभादिरूपाभावात् प्रथमः अनुद्धर एव जलधिः समुद्रः तस्य पारे अपारे च तीरे उभयोस्तीरयोः चित्तवृत्तिप्रचारः सीमति। संसारार्थैः परिग्रहसमुद्रस्य परस्मिन् च तटे सीमति। बाह्येति—बाह्येषु कनकधान्यादिषु पुत्रदारादिषु च अनात्मीयेषु व्याप्तिप्रसरः विधुरः प्रवृत्तिप्रसररहितः वर्तते तेषाम्। आचार्याणाम् अर्थीविषयेषु पूजाकमसु चारिपूरः उपप्रवाहः अस्ति च पुण्यार्थं चिरं सर्वमोक्षप्राप्तिहेतवे भवतात् भवतु ॥५१७॥ दूरारूढे इति—अस्मिन् अन्तरात्मान्तरे अन्तरात्मा चित्तरोलारमविभ्राजिते चित्तं च चिरन्तः। रोलाश्च रागादयः। आत्मा च शुद्धचेतना वर् ब्रह्मम्। तेषु विषया विभक्ता प्रान्तिर्येषाम्। चित्तं चित्तत्वेन बुध्यते रोलाश्च रोलत्वेन आत्मानमात्मत्वेनैव स अन्तरात्मा स एव अम्बरम् आकाशम् तस्मिन्, प्रतिविम्बरूपी एकाग्रताश्रुतं मन एव तरणिः सूर्यः तस्मिन्। दूरारूढे अम्बरम् आरूढे सति। येषां दुरवबोधं मोहेन स्वात्मानुभूतिलीलेन निजचित्तवृत्ति स्थिरं भवति। तमस्यति—तत्त्वं गुडामृतस्वर्णं तस्य अवबोधः अनुभवनं तस्य अवबोधः प्रति तस्मात् चलिता गता व्याप्ता दर्शितेति मिथ्याज्ञानकक्षाचरणा येषाम्। तेषां सूरीणां पादयोः चरणेन अद्य इति पूजाम् उपायं निर्वर्तये। आत्मस्वरूपानुभवनं येषाम् आत्मस्वरूपानुभवनि तेषां पादौ आचार्याणामहं चरणेन चरणसामीप्यम् ॥५१८॥ येषामन्तरिति—येषाम् आचार्याणां चेतनीते आत्मनि अन्तरिति—अन्तः चित्ते तत्पुरतः सततमन्तःकारं सति स्वात्मानुभूत्यनन्तज्ञानानन्दस्वरूपं तेन भवः पदः प्रचारः आत्मानुभवं विरतं आचरन् अनात्मीयेषु पदार्थेषु भवनं गतिम्। अपर भवान्तर आत्मानुभूतिगुणानन्दभवत्वात् येषां न भवतीति भावः। तेषां योगीश्वराणाम् अन्तरात्मस्थितयोगवर्तिनाम् भवीनाम् ईश्वरः अधिपतयस्तेषां सूरीणाम्। विरतेति—विरतं विनिश्च ...... भवतः आत्मन ...... न पादौ समीप ...... । ...... भावः तेषां निर्मलानां ...... ॥५१९॥ दूरारामे इति—...... । ......

उपरतधिय सर्वसकल्पशान्ते सर्वेषा सकल्पाना शान्ते विनाशात्। अहमेषा स्वामी मम च इमे स्वम् इति सकल्पव्यपगमात्। ब्रह्मधामामृताप्ते येषा ऊर्मिस्मयविरहिता ब्रह्मण आत्मन धाम स्थान यत् अमृत स्वात्मानुभूति तस्य आप्तेर्लाभात् ऊर्मिस्मयविरहिता शोकमोहौ जरामृत्यू क्षुत्पिपासे इति षडूर्मय । स्मयाश्च ज्ञानपूजाकुलजातिवलर्द्धितपोवपुषा मानित्व स्मया अष्टविधाः। षडूर्मिभि अष्टविधस्मयैश्च विरहिता रहितत्वम् लब्धम्। येषा च आत्मात्मीयानुगमविगमात् शुद्धबोधा वृत्तय सकल्पविकल्पानाम् अनुगमस्य उत्पत्तेर्विगमात् येषा वृत्तय मनोविमर्शा शुद्धबोधा. शुद्धात्मस्वरूपज्ञानयुक्ता सन्ति। तेषा चरणकमलानि पुष्पै शिवाय मोक्षाय अर्चयेय पूजयेयम् ॥५२०॥

[पृष्ठ २३२] येषामङ्गे इति—येषा सूरीणाम् अङ्गे मलयजरसै चन्दनगन्धै सगम । लेपन कर्दमै मृदा लेपन वा समान हर्षाय विषादाय वा क्रमशो न भवति। स्त्रीविब्बोकै स्त्रीणा शृङ्गारभावजा क्रिया विब्बोक अभिमतवस्तुप्राप्तौ अपि गर्वादनादर । सापराधस्य सयमन ताडन च विब्बोक । एताभि स्त्रीणा शृङ्गारक्रियाभि अनुषङ्ग सबन्ध समान प्रतिभाति। पितृवनेति—पितॄणा वनमिव श्मशान तत्र चिताभस्मभि चीयते श्मशानाग्निरस्याम् इति चिता तस्या भस्मभि भसितै वा अनुषङ्ग लिप्ति समान न प्रीत्यप्रीत्यै भवति। मित्रे शत्रावपि च विषये अनुषङ्ग सबन्ध निस्तरङ्ग तरङ्ग मनोवृत्ति हर्षविषादात्मिका निर्गतौ तरङ्गौ हर्षविषादौ यस्मादसौ निस्तरङ्ग मित्रे दृष्टे न हर्ष स्यात् अरौ दृष्टे न खिन्नता। तेषा सूरीणा पूजाव्यतिकरविधौ पूजोत्सवविधौ एष हविर्नैवेद्य व युष्माक भूत्यै वैभवदानाय अस्तु भवतु ॥५२१॥ योगाभोगाचरणचतुरे इति—येषा सूरीणा स्वान्ते मनसि। कथभूते। योगेति—योगानाम् आतापनाभ्रावकाशवर्षायोगानाम् आभोगो विस्तार तस्य आचरण प्रवर्तन तत्र चतुरे कुशले। पुन. कथभूते। दीर्णेति—दीर्ण विनष्ट कन्दर्पस्य मन्मथस्य दर्प मदो येन तस्मिन्। पुन कथभूते ध्वान्तेति-ध्वान्तम् अज्ञान तस्य उद्धरण निरसन तत्र सविधे तत्परे। पुन कथभूते ज्योतिरिति—ज्योतिष स्वानुभूतिज्ञानस्य उन्मेष उद्भूति त भजतीति ज्योतिरुन्मेषभाक् तस्मिन् स्वान्ते स्वानुभूतिज्ञानसपन्ने सतीति भाव । क्षेत्रनाथ. क्षेत्र देह तस्य नाथ स्वामी आचार्याणाम् आत्मा। अन्त निजस्वरूपे उच्चै अत्यन्तम्, अमृतभृत इव सुधापूर्ण इव समोदेत ह्लादेत। तेषु क्रमपरिचयात् चरणपूजनात् प्रदीप व श्रिये लक्ष्म्यै सपदे स्यात् भवेत् ॥५२२॥ येषां ध्येयेति—येषा सूरीणा बोधाम्भोधि सम्यग्ज्ञानसागर कथभूताना सूरीणाम्। ध्येयाशयेति—ध्येयो ज्ञानदर्शनलक्षणो निजात्मा तस्मिन् ध्येये आशय विमर्शं कुर्वन्मन स एव कुवलय कुमुद तस्य आनन्दे प्रमोदे चन्द्रोदयतुल्याना। येषा सूरीणा ज्ञानाब्धि प्रमदसलिलै आनन्दनीरै आत्मावकाशे निजस्वरूपे नैव माति ॥ वहि नानाविधलब्धि वहिरुत्पूरो भवति। एता अखिलेति—सकलजगद्विभवरमा समवसरणादिरूपा प्राप्यापि येषा चेत मन नि स्पृहम् अस्ति, तेषाम् अपचितौ पूजाया धूप वो युष्माक श्रेयसे मुक्तये अस्तु ॥५२३॥ चित्ते चित्ते इति—चित्ते मनसि चित्ते आत्मनि विशति सति प्रवेश कुर्वति सति। करणेषु स्पर्शनादिषु इन्द्रियेषु स्वान् विषयान्त्यक्त्वा अन्तरात्मन्येव स्थितेषु। स्रोतस्यूते स्रोतोभि स्पर्शनादिविषयै स्यूते अनुषक्ते पुसि। वहि वाह्ये अखिलत सर्वश व्याप्तिशून्ये वाह्यपदार्थविमर्शशून्ये सति। येषा ज्योति ज्ञान किमपि अनिर्वचनीयरूपेण परमानन्दसन्दर्भगर्भ परमश्चासौ आनन्दश्च परमानन्द विषयजादानन्दात् आत्मानन्द स्वानुभूतिरूप अपूर्वसुखजनकत्वात् परमानन्द उच्यते तस्य सन्दर्भ ज्ञानेन सह एकलोलीभाव स गर्भे यस्य तथाभूत ज्ञानज्योतिः जन्मच्छेदि जन्महन्तृ जन्मन भवस्य हन्तृ प्रभवति समर्थ जायते। तेषु आचार्येषु फलै सपर्या पूजा कुर्म ॥५२४॥

वाग्देवतावर इति—हे सूरिवर, तत् तत चरणार्चनेन तव पादपूजनेन अय पुष्पाञ्जलि इय कुसुमाना प्रसृति । उपासकानाम् आचार्यभक्ताना वाग्देवताया सरस्वत्या वर इव वाञ्छिताभिलाष इव। पुन कथभूत आगामिन्या तत्फलप्राप्तौ पुण्यपुञ्ज इव सुकृतसमूह इव। पुन कथभूत । लक्ष्मीति—लक्ष्म्या कटाक्षा एव मधुपा भृङ्गा तेषा आगमने एकहेतु मुख्य कारणम्। भवतु अस्तु ॥५२५॥ (इत्याचार्यभक्ति)

इत्युपासकाध्ययने समयसमाचारविधिर्नाम पञ्चत्रिंशत्तम कल्पः ॥३५॥

३६ स्नपनार्चनविधिर्नाम षट्त्रिंशः कल्पः

[पृष्ठ २३१–३४] जिनप्रतिमास्नपनम् । इदानीम् अधुना । ये कृतप्रतिमापरिग्रहा कृतजिनबिम्बपूजाप्रतिज्ञा साम्प्रति तानुद्दिश्य । स्नपनम् अभिषेकः । अर्चनं पूजनं जलादिभिरष्टधा । स्तवः प्रतिमास्थितार्हदादीनां गुणानां स्तुतिः । जपः अर्हदादीनां मन्त्रस्य जपो वाचिको मानसिको वा जप्यः । ध्यानम् एकाग्रेण मनसार्हदादीनां गुणानां चिन्तनम् । श्रुतदेवताराधनविधिः श्रुतदेवतायाः शास्त्रस्य पूजानुरागपूर्वकं पूजनम् । एतान् षड्विधीन् प्रोपाहरिष्याम कीर्तयिष्यामः । तथाहि—अभिषेचनमिति—अहं जिनाभिषेकार्थं जिनाभिषेकस्य स्थापनं गृहम् आश्रयामि तत्र प्रवेशं करोमि । कर्ममुक्तं तम् आश्रयामि । श्रीकेतनं श्रियो देवतायाः केतनं गृहमिव । पुनः कर्ममुक्तम् । वागिति—वाग्वनिता वाग्देवता श्रुतदेवता तस्या निवासम् आश्रयम् । उपासकानां देवपूजादिषट्कर्माणि कुर्वतां श्रावकाणां पुण्यार्जनहेतुं शस्यप्राप्तिस्थानमिव पुण्यप्राप्तिस्थानम् । पुनः कर्ममुक्तम् । स्वर्गेति—स्वर्गमोक्षप्राप्तेर्मुख्यं निदानम् ॥५२६॥ [इति जिनमन्दिरप्रवेशः] भावामृतेनेति—भावो जिनगुणानुरागस्तद्रूपेण अमृतं जलं तेन मनसि प्रतिसमयमुज्झितः संप्राप्तशौचः अहम् । पुण्यामृतेन च मन्त्रपूतेन जलेन । तनौ शरीरे । नितरां पवित्रो भूत्वा सकलीकरणम् अङ्गन्यासं च कृत्वेत्यर्थः । श्रीमण्डपे यत्र जिनो भगवान् विराजते तत्स्थानं श्रीमण्डपः । तत्र विविधवस्तुविभूषितायाम् अष्टमङ्गलद्रव्यालंकृतायां वेद्यां पीठे । जिनस्य स्नपनम् अभिषेकम् । विधिवत् जिनस्नानशास्त्रोक्तप्रकारेण तनोमि करोमि ॥५२७॥ प्राङ्मुखमिति—पूजकः स्वयम् उदङ्मुखम् उत्तरां दिशं प्रति मुखं कृत्वा तिष्ठेत् । जिनं प्राङ्मुखं स्थापयेत् पूर्वदिङ्मुखं जिनं कृत्वा तं स्थापयेत् । तथा पूजाक्षणे पूजनसमये पूजकः नित्यं यमी अणुव्रतधारकः वाचंयमी वाग्यमी पूजामन्त्राक्षरस्य भाषणम् अकुर्वाणः पूजनक्रियां कुर्वाणः भवेत् ॥५२८॥ षड्विधं देवसेवनम् । प्रस्तावनेति—प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना संनिधापनम् । पूजा पूजाफलं च इति देवसेवनं षड्विधम् ज्ञेयम् ॥५२९॥ १ प्रस्तावनाधिकारः प्रथमः स वर्ण्यते—यः श्रीजन्मेति—यः श्रीजिनः श्रीजन्मपयोनिधिः श्रियो लक्ष्म्या जन्मने पयोनिधिः समुद्रः यं योगिनः मनसि ध्यायन्ति । येनेदं भुवनं सनाथम्, स्वामिना सहितम् । यस्मै अमराः नमस्कुर्वन्ति । यस्माज्जिनात् श्रुतिः द्वादशाङ्गरूपा प्रादुरभूत् जाता । यस्य प्रसादात् जनाः मुक्तिगा भवन्ति । यस्मिन् जिने न एव जन्मापायो जन्म संसृतिः आपायो भावनं यस्य तथाभूतः व्यतिकरः संबन्धः न तस्य स्नापनाम् आरभे ॥५३० ॥ धौतोपलेपवपुषः इति—धौतं निरस्तं मलस्य उपलेपः उपदेहः वपुषो शरीरं यस्य तस्य जिनस्य नित्यनिर्मलस्य मलानुषङ्गः मलस्य संबन्धः कृतः कस्मात् कारणात् भवेत् । त्रैलोक्यस्य पूज्यो वरो यस्य तस्य जिनस्य अर्चा पूजा न तेन अर्च्येण जिनस्य किमपि प्रयोजनं सिद्धमिति । हे जिन भावामृते पूतचित्त मोक्षपीयूषे विहितकामस्तस्य तव नैव काम अभिलाषः । तत् इदं स्नानं मम उपचारं तत् किं प्रयोजनं करोतु साधयतु ॥५३१॥ तथापीति—तथापि स्वस्य पुण्यार्थं पुण्यप्राप्त्यर्थं तव अभिषवं स्नानं प्रभुं प्रारभे । को नाम कः पुमान् फलार्थी फलाभ्यर्थमिच्छन् तरुपचारार्थं तरोः वृक्षस्य उपकारार्थम् उपकारकरणाय विहितोद्यम कृतप्रयत्नो भवेत् । यथा अभिषवेण जिनवरे काम्यपूरणं सर्वं यत् स स्वभावनिर्मलः । अतः स्वपुण्योपचयार्थम् एव उपासकेन तस्य स्नानं विधेयम् । यथा फलार्थी जनः वृक्ष जलदानेन सेवनेन पुष्पोपकाराय तथा स्वपुण्याय जिनाभिषवक्रिया श्रावकः करोति ॥५३२॥ इति प्रस्तावना] २ पुराकर्म । रत्नाम्बुभिरिति—रत्नयुक्तैः तथा कुशानां कुशाग्रैः अम्भिभिः भूमौ स्नानभूमौ जिनाभिषेकस्थाने आसनवेदी पल्वो पवित्रयो आनायाम् । भुजङ्गमपतीन् नागेन्द्रान् अमृते कुम्भैः उपास्य प्रोक्षयित्वा । प्रक्षालितनिर्मलवद्भिर्दुकूलानि प्रक्षालितनिर्मलं वस्त्रं यासां तत्पूजनानि विभूषणानि पूर्वाविरताविरा । दूर्वा रत्नाक्षतानलपवित्रेण । अथवा नागरङ्गकाणि । प्रवरा पुष्पाणि वर्णानि कृत्वा तैः विरचितानि पुष्पाणि पूर्णः ॥५३३॥ पाथःपूर्णानिति—अर्घपूजकः कोणेषु चतुर्षु कुम्भान् निदधे । पर्वपूर्णान् पावपूर्णान् (?) जलेन सहितान् । कुम्भैः आम्रपल्लवादिभिर्युक्तैः प्रसूनैः पुष्पैः अन्वितान् कुम्भान् । पुनः गन्धपूर्णान् प्रशस्तमन्त्रपूतान् विशदमुक्ताहारप्रभान् चतुरः दुग्धाब्धीनिव चतुर्दिक्स्थान् क्षीरसमुद्रानिव । वेदीचतुष्कोणेषु विरच्य स्थापयामि ॥५३४॥ [अथ जिनाभिषेकप्रस्तावनापुराकर्मणोर्मन्त्रा लिख्यन्ते । ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं

भू. स्वाहा। इति जिनाभिषेकप्रस्तावनापुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्।] पुराकर्ममन्त्रा —ॐ ह्रीं नम सर्वज्ञाय सर्वलोकनाथाय धर्मतीर्थंकराय श्रीशान्तिनाथाय परमपवित्रेभ्य शुद्धेभ्य, नमो भूमिशुद्धिं करोमि स्वाहा। इत्यनेन भूमिशोधनम्। ॐ ह्रीं अग्निं प्रज्वालयामि निर्मलाय स्वाहा, ॐ ह्रीं वह्निकुमाराय स्वाहा, ॐ ह्रीं शानोद्योताय नम स्वाहा। इति अग्निज्वालनम्। ॐ ह्रीं श्री क्षी भू नागेभ्य स्वाहा। इति नागतर्पणम्। ॐ ह्रीं क्रो दर्पमथनाय नम स्वाहा। इति ब्रह्मादिदशदिग्बलि। ॐ ह्रीं स्वस्तये कलशस्थापनं करोमि स्वाहा। ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं नेत्राय सवौषट् कलशार्चनं करोमि स्वाहा। [इति पुराकर्म।] ३ अथ स्थापना। यस्य स्थानमिति—यस्य प्रभो स्थान निवास। त्रिभुवनेति—त्रिभुवनस्य जगत्त्रयस्य शिर सर्वार्थसिद्धिविमान तस्योपरि शेखरमिव मुकुटमिव सिद्धशिला वसुधा तस्या अग्रे उपरि निसर्गात् स्वभावात् यस्य प्रभो स्थान निवास विद्यते। तस्य प्रभोर्जिनराजस्य अमर्त्यक्षितिभृति अमर्त्याना देवाना क्षितिभृति क्षिर्ति पृथ्वीं बिभर्तीति क्षितिभृत् पर्वत तस्मिन् देवपर्वते मेरौ स्नानपीठी स्नानासन भवेत् इत्यस्मिन् विषये अद्भुत न। हे जिन, ते सवनसमये अभिषेककाले लोकानन्दामृतजलनिधे लोकाना भव्यानाम् आनन्दक्षीरसमुद्ररूपस्य तव। एतद्वारि क्षीरसमुद्रजलम्। सुधात्वम् अमृतावस्था धत्ते तत्र क चित्रीयते आश्चर्ययुक्तो भवति। न कोऽपि ॥५३५॥ तीर्थोदकैरिति—मणिसुवर्णघटोपनीतै रत्नहेमकलशै आनीतै। तीर्थोदकै तीर्थजलै.। पवित्रवपुषि पूतशरीरे। जलै प्रक्षालिते इति भाव। पुन कथभूते प्रविकल्पितार्घे प्रविकल्पित दत्त अर्घो यस्मै तस्मिन् पीठस्यापि अर्घो देय इति भाव। पुन कथभूते पीठे लक्ष्मीति—लक्ष्म्या श्रुतस्य च आगमन येन भवेत् तथाभूतश्रीकारह्रीकारबीजाक्षरयुते विदर्भगर्भे अग्रसहिता दर्भा विदर्भास्ते गर्भे यस्य तथाभूते पीठे। भुवनाधिपर्ति त्रिलोकेश जिनेन्द्र सस्थापयामि ॥५३६॥ [इति स्थापना] स्थापनाया मन्त्रा —ॐ ह्रीं अर्हं क्ष्म ठठ श्रीपीठ स्थापयामि स्वाहा। ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्र नमोऽर्हते भगवते श्रीमते पवित्रजलेन श्रीपीठप्रक्षालनं करोमि स्वाहा। ॐ ह्रीं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राय स्वाहा। इति श्रीपीठमभ्यर्चयेत्। ॐ ह्रीं श्रीलेखनं करोमि स्वाहा। ॐ ह्रीं श्री क्लीं ऐं अर्हं श्रीवर्णे प्रतिमास्थापनं करोमि स्वाहा। ४ सनिधापनम् सोऽयमिति—येयम् अर्चा जिनप्रतिमा सोऽय जिन समवसरणस्थ। ननु एतत् पीठ सुरगिरि मेरु। एतानि सलिलानि कुम्भभृतानि साक्षात् दुग्धजलधे क्षीरसमुद्रस्य नीराणि। हे जिन, तव सवप्रतिकर्मयोगात् तवाभिषेककार्यसबन्धात् अहम् इन्द्र सौधर्मेन्द्र। तत इय महोत्सवश्री कथ न पूर्णा अभिषेकमहोत्सवस्य लक्ष्मी शोभा कथ न पूर्णा भवेत् ॥५३७॥ [इति सनिधापनम्] [सनिधापनमन्त्र —श्रीमण्डपादिषु शक्रमण्डपादिभावस्थापनार्थं जात्यकुट्कुमालुलितदर्भदूर्वापुष्पाक्षत क्षिपेत्] अथात ५ पूजाविधानम्। यागेऽस्मिन् अस्मिन् जिनयज्ञे, यूय सर्वे आगत्य विघ्नशान्ति कुरुध्वम्। इत्यनेन पद्येन लोकपालाह्वानम्। नाकनाथ नाक स्वर्ग तस्य नाथ पति स्वर्गेन्द्र इति भाव। नाकनाथ इति सबोधनैकवचनम्। अग्रेऽपि तदेकवचनान्येव। यथा ज्वलन अग्ने। पितृपते यम। नैगमेय हे नैऋत। प्रचेत वरुण। वायो। रैद धनपते, कुबेर। ईश शंकर। शेष हे नागनायक, उडुप उडूनि नक्षत्राणि पातीति उडुप. चन्द्र तत्सबोधन हे उडुप चन्द्र। तथा ग्रहाग्रा सोम-मङ्गल-बुध-गुरु शुक्र-शनैश्चर-रवि-राहु-केतव ग्रहा अग्रे येषा ते सर्वे उपर्युक्ता लोकपाला। यूयमेत्य आगम्य। भू स्व स्वधाद्यै मन्त्रै सह अधिगतबलयः प्राप्तोपहारा सन्त। स्वासु पूर्वादिषु दिक्षु उपविष्टा भवत। क्षेमदक्षा रक्षणचतुरा भवन्त क्षेपीय शीघ्र जिनसवोत्साहिना जिनयज्ञे उत्साहशालिनाम् उपासकाना विघ्नशान्तिम् अन्तरायोपशम कुरुत ॥५३८॥ दिक्पालमन्त्र —ॐ ह्रीं क्रो प्रशस्तवर्णसर्वलक्षणसपूर्णस्वायुधवाहनचिह्नसपरिवारा इन्द्राऽग्नि-यम-नैऋत-वरुण वायु-कुबेरेशान-धरणेन्द्र-सोमनामान दशलोकपाला आगच्छत आगच्छत सवौषट्। स्वस्थाने तिष्ठत तिष्ठत ठ ठ। ममात्र सनिहिता भवत भवत वषट्। इदमर्घ्यं पाद्य गृह्णीध्व ॐ भूर्भुव स्व स्वाहा स्वधा। इति इन्द्रादिदशलोकपालपरिवारदेवतार्चनम्।] [इति लोकपालाह्वानम्]

[पृष्ठ २३६] नीराजनावतरणम् देवेऽस्मिन्निति—अस्मिन्देवे जिनेश्वरे विहितार्चने कृतपूजने स्तुतिपाठमङ्गलशब्दे प्रारब्धगानस्वने आतोद्यै वाद्यै सह निनदति ध्वनि कुर्वति। प्राङ्गणे जिनमन्दिरस्याजिरे

एकत्वस्यादिभिः भव्यानां मनांसि मानन्दयति सति । जिनपते अर्हन् नीराजनमावतरणक्रियां प्रस्तुवे प्रारभे । कैः मृत्स्नादिभिः मत्स्ना प्रशस्ता मृत्तिका तया गोमयस्य पिण्डैः भूम्यपठितैः प्रशस्तैः गोमयपिण्डकैः भूतिपिण्डैः गोमयोद्भूतैः अग्निपक्वैः भस्मभिः हरिता दूर्वा दर्भाः कुशाः प्रसूनानि पुष्पाणि अक्षता अखण्डतण्डुलाः एभिः तथा सचन्दनैः अम्भोभिः चन्दनगन्धसहितैः जिनपते अर्हन् नीराजनां प्रस्तुवे अवतरणं कुर्वे नीरस्य पानीयस्य अजनं क्षेपणम् अजेति नीराजना ताम् । नीराजनामन्त्र —ॐ ह्रीं क्रौं समस्तनीराजनद्रव्यैः नीराजनं करोमि । दुरितमस्माकमपहरतु भगवान् स्वाहा । इति मृत्स्नागोमयादिपवित्रद्रव्यैः नीराजनम् । इति नीराजनावतरणम् ॥५३९॥ जलाभिषेकः पुण्यद्रुम इति—अयं चिरं पुण्यद्रुमः पुण्यवृक्षः नवपल्लवाभिया प्रतिभाति चेतःसरः मनःसरोवरं भ्रमर एव मन्दम् अकस्मात् सरोजं कमलं गर्भे मध्ये तत् । मम वाक्पथः मम वचनसरित् दुस्तरतीरमार्गा दुःखेन तरीतुं योग्यः तीरस्य मार्गो यस्याः सा । जिनपते त्रिजगत्प्रभोः त्रिलोकस्यैकनायकः स्नानामृते भातीति संबन्धः । अयं मम पुण्यद्रुमः मम चेतःसरः मम वाक्पथः च जिनपतेः स्नानामृते भातीति । इति जलाभिषेकः ॥५४०॥ जलाभिषेकमन्त्र —ॐ ह्रीं स्वस्तये कलशोद्धरणं करोमि स्वाहा । ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं वं मं हं सं तं पं वं वं मं मं हं हं सं सं तं तं पं पं झं झं क्ष्वीं क्ष्वीं क्ष्वीं क्ष्वौं हं सः । त्रैलोक्यस्वामिनो जलाभिषेकं करोमि नमोऽर्हते स्वाहा । रसाभिषेकः द्राक्षेति—द्राक्षा गोस्तनीफलानि खर्जूराणि स्वादुमस्तकपित्थबिल्वफलानि चोचानि नालिकेरफलानि इक्षुः रसालः प्रसिद्धः प्राचीनामलकानि जीर्णधात्रीफलानि तेषां समूहो येषां ते राजादनानि क्षीरवृक्षफलानि आम्राणि चूतफलानि पूगानि क्रमुकफलानि एषां रसैर्वारि रसैः जिनं स्नापयामि जिनाभिषेकं करोमि ॥५४१॥ ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं वं मं हं सं तं पं वं वं मं मं हं हं सं सं तं तं पं पं झं झं क्ष्वीं क्ष्वीं क्ष्वीं क्ष्वौं हं सः त्रैलोक्यस्वामिनो रसाभिषेकं करोमि नमोऽर्हते स्वाहा । इति रसाभिषेकः । घृताभिषेकः आयुरिति—जिनेश्वरस्य हैयंगवीनस्नपनेन स्नातमर्चितभावोद्भवार्थेभूते स्नपनेन अभिषेकेण प्रजासु परमं दीर्घम् आयुः भगवान् भवतु । धर्माविबोधसुरभिः धर्मज्ञानेन सुरभिः *सुगन्धयुक्ता प्रजा भवतात् । विनेयजनता तस्यार्थोपदेशश्रवणग्रहणाभ्यां विनीयन्ते धार्मीक्रियन्ते इति विनेयाः* विनेयाश्च ते जनाश्च विनेयजना तेषां समूहः विनेयजनता । कामं निश्चितं पुष्टिं वितनोतु धारयतु ॥५४२॥ घृताभिषेकमन्त्र —ॐ ह्रीं श्रीं… त्रैलोक्यस्वामिनो घृताभिषेकं करोमि नमोऽर्हते स्वाहा । दुग्धाभिषेकः येषामिति—ते नराः भव्यजनाः क्षीरोदधेः प्रवाहधवलं धाराभिः स्तननिर्झराभिः दुग्धं च तत् पयः दुग्धं तस्य प्रवाहवत् धवलं शुक्लम् । जैनं वपुः जिनस्य वपुः शरीरम् । ध्यायन्तु स्मरन्तु चिन्तयन्तु । यथा मुक्ता मराली काम एव भुजङ्गः सर्पः तस्य निर्विषविधौ निर्विषीकरणे । बुद्धिप्रबन्धः बुद्धेः प्रबन्धः धारणम् । येषां जन्मजरामृतीनां व्युपरमाय विनाशनाय व्यापस्य प्रपञ्चः विस्तारस्तत्त्वापहः विघटते ते ते नराः जैनं वपुश्चिन्तयन्तु येषाम् आत्मविशुद्धेति—आत्मनः जीवस्य विशुद्धबोधः निर्मलं ज्ञानं तस्य विभवः संपत् तस्य आलोके दर्शने कुतूहलम् उत्सुकं मनो विद्यते ते जैनं वपुः स्वच्छरूपं चिन्तयन्तु ॥५४३॥ दुग्धाभिषेकमन्त्र —ॐ ह्रीं श्रीं… त्रैलोक्यस्वामिनो दुग्धाभिषेकं करोमि नमोऽर्हते स्वाहा ।

[पृष्ठ २१७–२१९] दध्यभिषेकः अन्यस्नेहच्छिदिति—स्नेहहेतु निरूपति प्रहरणेन दधि स्नेहस्योत्पादने कारणं तत् जैनस्नानानुभवनविधौ जिनप्रभो स्नानस्य अनुभवः माहात्म्यं तस्य विधौ तद् दधि अन्यस्नेहच्छिदपि भवतः त्रैलोक्यस्य अन्यजनः स्नेहं रागभावं छिनत्तीति शेषम् । स्तब्धेति—स्तब्धतया शाठ्यतया कठिनत्वमपि प्राप्तवत्स्य दधि पुष्पोपायं पुण्यप्राप्त्युपाये मृदुगुणमपि कोमलस्वभावमपि प्राप्तवाक्य स्वभावं अवधमान्यमहृनिर्दं चेतो वाक्यं हरतु अपि भवतः अनात्मनो विकारमपि तदपि च मङ्गलं पुण्यं तनोतु विस्तारयतु ॥५४४॥ दधिमन्त्र —ॐ ह्रीं श्रीं… त्रैलोक्यस्वामिनो… दधिस्नपनं करोमि नमोऽर्हते स्वाहा ।] सर्वौषध्यभिषेकः एलेति—त्रिपुटा ('वेलदोडा' इति भाषायाम्) लवङ्गं देवकुसुमम् इत्यपरनाम । कङ्कोलं सुगन्धिद्रव्यविशेषः कोपकनामित्यपरनाम । चन्दनं चन्दनम् । अगुरुः कालागुरु । एभिः मिलितैः पिष्टैश्चूर्णैः कल्कैः सुगन्धिवर्तिभिः कषायैश्च कदम्बपल्लवोदुम्बरादीनां त्वचा कषायैः क्वाथजलैः । जिनदेहं जिनशरीरम् । उद्वर्तयामहे पूजयामः ।५४५॥ अस्य मन्त्र —ॐ ह्रीं श्रीं… त्रैलोक्यस्वामिने उद्वर्तनं करोमि

नमोऽर्हते स्वाहा। नीराजना नन्द्यावर्तेति—नन्द्यावर्त इति आकारविशेप सुवर्णादिपात्रे चन्दनगन्धेन मुक्ताकाररूपरेखाविशेप स्वस्तिक तु प्रसिद्धाकृतिकम्। फलानि आम्रादीनि। प्रसूनानि पुष्पाणि। अक्षता-स्तण्डुला। अम्बु जलम्। कुशपूलानि दर्भजूटानि। एभि वर्धमानैश्च शरावै। देव जिनेश्वरम् अवतारयामि ॥५४६॥ [नीराजनमन्त्र —ॐ ह्रीं क्रो समस्तनीराजनाद्रव्यै· नीराजन करोमि दुरितमस्माकम् अपहरतु अपहरतु भगवान् स्वाहा।] ॐ भक्तिभरेति— अस्य गद्यस्य 'मद्भाविलक्ष्मी'ति श्लोकेन संबन्ध। जिन चतुर्भि कुम्भै स्नपयामीति चतु कोणकलशाभिपेकः अनेन गद्येन श्लोकेन च प्रतिपादित। अधुना गद्य विव्रियते—ॐ भक्तिभरेति—भक्तिभरेण विनता नम्रा ये उरगाणा नागानाम् नराणा सुराणाम् असुराणाम् ईश्वरा अधिपतय शेपभूपतिदेवेन्द्रा सुरेन्द्रा तेपा शिरासि तेपा किरीटानि तेषा कोटय तेपु कल्पवृक्षकिसलयायमान पादयोर्युगल यस्य। पुन कथभूत जिनम् अमृताशनेति—अमृताशना देवा तेषा अङ्गना. देव्य। तासा करै विकीर्यमाणानि क्षिप्यमाणानि यानि मन्दारादिकल्पवृक्षाणा प्रसूनानि। तेभ्य स्पन्दमानस्य गलत मकरन्दस्य पुष्परसस्य स्वादात्पानात् उन्मदा मत्ता मिलन्त ये मत्तालय समदभ्रमरा तेपा कुलस्य प्रलाप झकार तेन उत्तालिता उत्साहिता ये निलिम्पा देवा तेपा लप्ति जिनगुणगणालाप तत्र व्यापारो गलो यत्र तथाभूत जिनम्। पुनरपि कथ भूतम्। अम्बरचरेति—अम्बरे नभसि चरन्ति इति अम्बरचरा विद्याधरास्तेपा कुमारा सूनव. तै हेलया लीलया आस्फालितानि ताडितानि वेणुवल्लक्यादिभेरी-भम्भाप्रभृतीनि यानि अनवधिघनसुपिरततावनद्धानि वाद्यानि तेपा नादेन निवेदित निरूपित निखिल-विष्टपाधिपाना सकलजगन्नायकानाम् उपासनावसर पूजनसमयो यस्य तम्। पुन कथभूतम्। अनेकामरेति—अनेके च ते अमरविकिरा देवपक्षिण तेपा श्रोटयश्चञ्चव ताभि कीर्णा इतस्ततो विक्षिप्तानि किशलयानि यस्य स अशोकश्चासौ अनोकह वृक्ष तस्य उल्लसन्त विकसन्तश्च ये प्रसवा पुष्पाणि तेपा परागो रज तेन पुनरुक्त. सकलदिक्पालहृदयरागस्य प्रसरो यस्मिन्विपये तम्। पुन कथभूतम्। अखिलेति—अखिल च तद्भुवनैश्वर्यं सकलजगद्विभव तस्य लाञ्छन चिह्न यत् आतपत्रत्रय छत्रत्रय तस्य शिखण्डे अग्रे मण्डनमणय भूपणरत्नानि तेपा मयूखा किरणा तेषा रेखाभि लिख्यमान स्पृश्यमान यन्मुख तेन मुखरा भापमाणा या खेचर्य नभोगनार्य तासा भालतलस्य ललाटपट्टतलस्य तिलकपत्रकं यत्र तथाभूत जिनम्। पुन कथ-भूतम्। अनवरतेति—अनवरत सततं यक्षै विक्षिप्यमाणा वीज्यमाना उभयपक्षयो पार्श्वद्वययो चामर-परम्परा चामराणा पङ्क्ति तस्या अंशुजालानि करसमूहा· तै धवलितानि विनेयजनाना तत्त्वार्थश्रद्धान-श्रवणग्रहणवता भव्यजनाना मन प्रासादचरित्राणि यत्र तथाभूतम्। पुन कथभूत जिनम्। अशेषेति—सकलप्रकटितवस्त्वतिशायिदेहकान्तिमण्डलपरिहृतसभागृहस्थितसम्यमतितम समूहम्। पुन कथ भूतम् जिनम्। अनवधीति—अवधिर्मर्यादा सा येपा नास्ति तेपा वस्तूना नि सीमपदार्थानाम् आत्मसात्कार कुर्वाणा निजाधीनता जनयन्ती सारा उत्तमा विस्फारिता वृद्धि प्राप्ता या सरस्वती तन्नामधारिणी सरिदिव शारदादेवी तस्या तरङ्गा वीचय तेपा सङ्ग सवन्ध तेन सतर्पिता सतोप नीता समस्तसत्त्वा सकल-प्राणिन एव सरोजानि कमलानि तेपाम् आकर समूहो यत्र तम्। पुन कथभूत जिनम्। इभारातीति—इभा हस्तिन तेषाम् अरातयो रिपव सिंहा तेपु परिवृढा श्रेष्ठा ये सिंहयूथस्वामिन तै उपवाह्यमान धार्यमाण यत् आसन पीठ तस्य अवसाने लग्नानि खचितानि यानि रत्नानि मणय तेपा करा रश्मय तेषा प्रसरेण पल्लवितं किसलयितं यद्वियदेव आकाशमेव पादपस्तरु तस्य आभागो विस्तारो यत्र। पुन कथभूत जिनम्। अनन्येति—अनन्यसामान्यम् अन्येन प्रासादादिना सामान्य सदृशम् अन्यसामान्य न अन्यसामान्यम् अनन्यसामान्यम् अनुपम च तत्समवसरण च सैव सभा रत्नमयी देवनिर्मिता सभा तस्याम् आसीना उपविष्टा ये मनुजा नरा दिविजा अमरा भुजङ्गा नागासुरा तेपाम् इन्द्रा स्वामिन तेपा वृन्द तेन वन्द्यमान पादार-विन्दयो चरणकमलयोर्युग्म यस्य त जिनम्। मद्भावीति—मम भाविलक्ष्मी भविष्यति काले प्राप्स्यमाना या लक्ष्मी सपद् सैव लतिका तस्या यद्वनम् आरामस्तस्य। प्रवर्धनेति—प्रवर्धनाय वृद्ध्यै आवर्जिता नम्रीभूता वारिपूरा जलप्रवाहा येपा तै चतुर्भि कुम्भै जिनं भगवन्त वीतराग स्नपयामि अभिपेचयामि। कथभूतै कुम्भै.

गम-गरोधेनुपयोधरामैः नमसि सीदन्ति इति नभःसदः देवाः तेषां धेनुः कामधेनुरिरस्या तस्याः पयोधरामैः पयसा भृताः पयोधराः स्तनाः तेषामिव आभा शोभा येषां ते पयोधराभास्तैः ॥५४७॥ इति चतुःकोणकलशाभिषेकः । मन्त्र—ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा नमोऽर्हते भगवते मङ्गलकोणोत्तम-धरणाय कोणकलशाभिषेकं करोमि नमोऽर्हते स्वाहा । गन्धोदकाभिषेक छायामीकल्पलते इति—त्रैलोक्यप्रमदावहैः लोकत्रये प्रति प्रमदं माह्लादम् आवहन्ति आनयन्ति इति त्रैलोक्यप्रमदावहास्तैः लोकत्रयाह्लादकैः गन्धोदकैः । जिनराजः स्नापनात् अभिषेचनात् कल्पाङ्घ्रिपलते त्वं अनानन्दं लोकाह्लादकम् परम् उत्तमं यथा स्यात्तथा फलैः किमर्थैः समुज्ज्वलं भूषिता भव । तथा हे धर्माराम धौविनोदैः उत्तमप्रभाविका भव एव आराम कृत्रिमम् उपवनं तस्य संबोधनं हे धर्माराम फलैः प्रकामसुमनसस्त्वं भव्येभ्यो भव प्रकामं निरन्तरं सुमनः सुमन त्वं भव्येभ्यो भव्यजनेभ्यः भव । हे दीपायीश हे ज्ञानपते आत्मन् त्वं संप्रति अधुना मुहुः पुनः दुष्कर्माणि मोहादीनि अतो आत्म बमलमः संतापकान्ति तं विमुञ्च परित्यज । यतः लोकत्रयानन्ददायको जिनपते गन्धोदकेन निषेको जात ॥५४८॥ [गन्धोदकाभिषेकमन्त्रः—ॐ नमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषदोषकल्मषाय दिव्यतेजोमूर्तये नमः श्रीशान्तिनाथाय शान्तिकराय सर्वविघ्नप्रणाशनाय सर्वरोगापमृत्युविनाशनाय सर्वपरकृतक्षुद्रोपद्रवविनाशनाय सर्वक्षामडामरविनाशनाय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा नमः मम सर्वशान्तिं कुरु मम तुष्टिं पुष्टिं कुरु स्वाहा स्वधा ।] आत्मपवित्रीकरणम् । शुद्धेरिति—विशुद्धबोधस्य निर्मलकेवलज्ञानिनः जिनेशस्य पूर्वैः निमज्जैः उत्तरोत्तरैः तदागाधमीडे । गन्धोदकाभिषेकानन्तरं केवलमहैः उत्तरोत्तरसंपदे उत्तम-उत्तमतर-उत्तम तमसंपत्प्राप्तये अवभृथस्नानम् अभिषेकावसानस्नानं करोमि ॥५४९॥ [तन्मन्त्रः—ॐ नमोऽर्हत्परमेष्ठिभ्यः मम सर्वशान्तिर्भवतु स्वाहा । स्वमस्तके गन्धोदकप्रक्षेपणम् ।] अधुना जिनपूजने जिनस्याह्वाननविधानं क्रियते तद्यथा—अमूर्तेति—यस्य पदस्याभिप्रायो यथार्थतया न ज्ञायते परम् अस्मिन् पदे अर्हत्परमेष्ठिनं कमले संस्थाप्य विधिनाहं तं पूजये इत्युपासकः कथयति । अहं त्रिभुवनवरदं त्रैलोक्यस्थितभव्येभ्योऽभीष्टफलदं जिनं विधिना आम्नायोक्तपूजाप्रकारेण पूजयेयं यजेय । कं पूजयेयं कमले संस्थाप्य । कर्णमूते कमले कर्णिके कला एव दलं यस्य तस्मिन् । पुनः कर्णमूते निजाङ्कुरीजे निजस्य आत्मनः अङ्कं लक्षणं तदेव बीजं यस्य तस्मिन् । पुनः कर्णमूते अमलहृदयाब्जके अमलेन प्रकारेण कृता कर्णिका कमलकोशो यस्य तस्मिन् । अमृतेन प्रकारेण कर्णिका क्रियते तन्मध्ये स्वकीयं नाम लिखिष्यते षकाराद्यैः षोडशदलेषु अकाराद्याः स्वराः लिख्यन्ते ॥५५० ॥ [मन्त्र —ॐ ह्रीं घ्यातृभिरभीप्सितफलदेभ्यः स्वाहा । इति पुष्पाञ्जलिः ।] जलपूजनम् पुण्योपार्जन शरण्यमिति—अहं पुरुषं तोयेन पूजयामि इति संबन्धः । कथंभूतं पुरुषम् । पुण्योपार्जनशरणं पुण्यप्राप्तेः शरणं गृहम् । पुराणपुरुषं पुराणविभवेन पुरुषः आत्मा यस्य तम् । स्तवेति—स्तवस्य गुणस्तुतेः उचितम् आचरणं महाप्रशंसितं यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् । पुरुकृतविहितस्तवम्—पुरुकृतेन इन्द्रेण विहिता कृता सेवा यस्य तं पुरुषं पुरुमहान्, इक्ष्वाकूणामारभ्य देवः पुरुदेवस्तम् जिनराजं पूजयामि तोयेन जलेन ॥५५१॥ [मन्त्रः—ॐ ह्रीं अर्हन् नमः परमेष्ठिभ्यः स्वाहा । जलम् । चन्दनपूजनम् । मन्देति—मन्दः मधुरः मरुत् पवनः मलयः नामः एतो वनवति इति वनमस्तम् । पुनः कथंभूतं जिनम् । मन्दरेति—मन्दरः सुमेरुः स चासौ गिरिश्च तस्य शिखरे शृङ्गे मज्जनावसरे स्नानसमये पुनः कथंभूतं जिनम् । उमेति—उमा लक्ष्मीः अम्बुदयनि येषां तया सा गीर्वाण एव कलिका यस्याः तस्याः चन्दनं तत्संसारम् जिनं चन्दनचर्चितं पूजे ॥५५२॥ [मन्त्र —ॐ ह्रीं अर्हन् नमः परात्मकेभ्यः स्वाहा चन्दनम् ।] तन्दुलपूजा । अपमेति—अपमानि निम्नतापीनि दीपा या तान्येव तदवः अक्षतानां बहुलं वर्ण तस्य दहनम् अग्निम् जिनम् । पुनः कथंभूतम् । निष्कामेति—निःकामम् कामरहितं मूर्तं तस्य संभवे उत्पत्ती अमृतस्थानम् मोक्षस्थानमिव पुनः कथंभूतम् । आयमनीराजीवम् आयत एव दीर्घ तस्य आलोकमिव प्रकाशमिव जिनं धवलकैः शाल्युत्थैः तन्दुलैः अर्चामि ॥५५३॥ [मन्त्र —ॐ ह्रीं अर्हन् नमोऽनन्तदर्शनेभ्यः स्वाहा । अक्षतान्] पुष्पपूजा । स्मरेति—कुसुमशरै जिनराजम् अर्चयामि । कथंभूतं जिनम् । स्मरदहनं शृङ्गारदहनं त्रिभुवनजयिना भूषितं भवन्तम् नारेय मदन नः तम् । विज्ञानेति—विज्ञानं केवलज्ञानम् एव मधुरं तेन भूषितं स्वात्मम् अमेयं परम्

वृन्दम् येन त जिनम् । श्रीति—श्रीरेव मानस तन्नामक सरोवरम् तत्र कलहस मधुरशब्द कुर्वाण. हस इव जिन कुसुमसरै पुष्पहारै अर्चयामि ॥५५४॥ [मन्त्र.—ॐ ह्री अर्हन् सर्वनृसुरासुरपूजितेभ्य स्वाहा पुष्पाणि ।]

[पृष्ठ २४०] नैवेद्यपूजा अर्हन्तमिति—हविपा नैवेद्येन अर्हन्तम् आराधयामि । कथभूतम् अर्हन्तम्। अमितनीतिम् अमिता अनन्ता नीतय नया यस्य तम् अनन्तनयस्वरूपप्रतिपादकम् । निरञ्जनम् अञ्जनम् ज्ञानावरणादि कर्म तस्मात् निष्क्रान्तो निरञ्जन तम् । पुन कथभूतम् । आधिदावाग्ने 'आविर्ना मानसी व्यथा' इत्यमरः । आधय एव दावाग्निर्वनाग्निस्तस्य मिहिर प्रशमनकरणे मेघम् । पुन कथभूतम् । मुक्तिस्त्रीरमितमानसमनङ्गम् मुक्तिस्त्रिया रमित स्वस्मिन् अनुरक्त कृत मानस यस्य तम् ॥५५५॥ मन्त्र —ॐ ह्री अर्हन् नमोऽनन्तज्ञानेभ्य स्वाहा नैवेद्यम् । दीपपूजा भक्त्येति—जिन दीपै उपचरामि । कथभूतम् ? भक्त्या गुणानुरागपरिणामेन । आनता ईषत् नम्रीभूता ये अमरा देवास्तेषाम् आशया मनासि तान्येव कमलवनानि तेषा यत् अराल तिमिरम् उत्कटम् अज्ञानम् अविकासित्व वा तद्विनाशे मार्तण्ड रविसदृशम् । पुन कथभूतम् । सकलसुखानाम् अनन्तसौख्यानाम् आराम उपवनभूत स चासौ कामद ईप्सिताना दायक । अकाम न काम इच्छा यस्य तम् ॥५५६॥ मन्त्र —[ॐ ह्री नमोऽनन्तदर्शनेभ्य स्वाहा दीपम् ।] धूपपूजा अनुपमेति—धूपैजिन यजामहे । कथभूतम् । अनुपमेति—अनुपमम् अप्रतिम केवलज्ञान वपुश्च शरीर यस्य तम् । सकलेति—सकलाश्च ता कला मतिज्ञानादयो अशा तेषा विलय नाश । क्षायोपशमिकज्ञानभेदा केवलज्ञाने समुत्पन्ने मति नावतिष्ठन्ते । सक्षीणसकलज्ञानावरणे भगवति अर्हति कथ क्षायोपशमिकाना ज्ञानाना सभव । न हि परिप्राप्तसर्वशुद्धौ पदे प्रदेशाशुद्धिरस्ति । अत सकलकलाविलयरूप केवलज्ञान तस्मिन्वर्तते यदात्मरूप य आत्मस्वभावस्तत्र तिष्ठतीति सकलकलाविलयवर्तिरूपस्थम् । पुन कथभूतम् । योगावगम्यनिलयम् । योगेन आत्मध्यानेन अवगम्यो निलय निवास मोक्षो यस्य तम् । पुन कथभूतम् । निखिलग सकलवस्तुपु ज्ञानेन गच्छति इति निखिलग तम् । विश्वतत्त्वाना ज्ञातारम् इति भाव ॥५५७॥ मन्त्र —[ॐ ह्रीं अर्हम् नमोऽनन्तवीर्येभ्य स्वाहा, धूपम् ।] फलपूजा स्वर्गापवर्गेति—फलैर्जिनपतिमुपासे । कथभूतम् जिनम् । स्वर्गेति—स्वर्ग सुरलोक अपवर्गो मोक्ष तयो. सगति प्राप्ति विधायिन कुर्वन्तम् । पुन कथभूतम् । व्यस्तेति—व्यस्ता विनाशिता जातिर्जन्म मृतिर्मरणम्, दोषाश्च क्षुत्पिपासादयो येन तम् । पुन कथभूतम् । व्योमेति—व्योमचरा विद्याधरा अमरा चतुर्णिकायदेवा तेषा पतय विद्याधरचक्रवर्तिनो देवेन्द्राश्च तै स्मृतं चिन्तित जिन फलै उपासे पूजये ॥५५८॥ [मन्त्र —ॐ ह्री अर्हन् नमोऽनन्तसौख्येभ्य फलानि ।] अर्घम् अम्भश्चन्दनेति—अम्भ जलम् । चन्दन तन्दुलोद्गमहविर्दीपै उद्गमा पुष्पाणि हविर्नैवेद्यम् एभिर्द्रव्यै । तथा सधूपै फलै धूपेन सहितै फलै अष्टद्रव्यै । अर्चित्वा पूजयित्वा । क जिनपतिम् । कदा स्नानोत्सवानन्तरम् कथभूत जिनम् त्रिजगद्गुरुम् त्रैलोक्यनाथम् । जिन पूजयित्वा स्तौमि स्तुवे । प्रजपामि त प्रभुम्, चेतसि दधे । तदनन्तर श्रुताराधन श्रुतस्य जिनवाण्या आराधन पूजनम् कुर्वे । त्रैलोक्यप्रभव तन्मह तत्पूजनम्, कालत्रये श्रद्दधे ॥५५९॥ [मन्त्र —ॐ ह्रीं अर्हन्नम परममङ्गलेभ्य स्वाहा अर्घ्यम् ।] अष्टमङ्गलै पूजनम् यज्ञैरिति—अष्टविधपूजनै मुदा आनन्देन देव निरुपास्य पूजयित्वा । पुन. पुष्पाञ्जलिसमूहेन पूरितपादासन जिनानाम् इन स्वामिनम् श्वेतातपत्रचमरीरुहदर्पणाद्यै छत्रत्रयचामरादर्शाद्यै आराधयामि ॥५६०॥ पुष्पाञ्जलि । [मन्त्र —ॐ ह्रीं अर्हन्नमो ध्यातृभिरभीप्सितफलदेभ्य स्वाहा । पुष्पाञ्जलि' । इति पूजा ।]

[पृष्ठ २४१] ६ पूजाफलम् । भक्तिरिति—जिनचरणयो जिनपदयो नित्य भक्ति सदा भक्तिरुपासना । सर्वसत्त्वेपु चतसृपु नरकादिगतिपु सीदन्तीति दु खमनुभवन्तीति सत्त्वा प्राणिन । सर्वे च ते सत्त्वाश्च सर्वसत्त्वा सकलजीवा । तेपु मैत्री तेपु दु खानुत्पत्तौ अभिलाप । सर्वत्र भूयादित्यनेन सवन्ध । सर्वातिथ्ये सर्वेपाम् आतिथ्ये गृहागते सकलाभ्यागतजने मम विभववी मम धनविनियोगो भवेदिति धीरभिप्रायो भूयात् । अध्यात्मतत्त्वे अध्यात्मशास्त्रनिगदितात्मस्वरूपे । मम बुद्धिर्भूयात् वर्तताम् । सद्विद्येपु सतो प्रशस्ता लोके धर्मोपदेशिनी विद्या येपा ते सद्विद्यास्तेपु प्रणयपरता प्रीतितत्परता । परार्थे परोपकारे चित्तवृत्ति मनोऽभिप्राय । हे भगवन्, यावत्काल त्वदीयं तव सवन्धि, धाम तेज भवति तावत्काल मम एतत् पद्यकथित

पुण्यपुण्यं भवतु ॥५६१॥ प्रातर्विधिरिति—हे देव मम प्रातर्विधिः प्रभातकालीनं कार्यम् । तव पादाम्बुज पूजनेन चरणकमलयोः पूजया यायात् व्यतीतो भवतु । अयं मध्याह्नसन्निधिः इयं मध्यदिनवेला मुनिमाननेन मुने यते मानमेन पूजया आहारदानेन । मम सायन्तनोऽपि समयः कालः देव त्वदाचरणकीर्तनकामितेन तव आचरणं प्रवृत्तपोध्यानादिकमं चारित्रं तस्य कीर्तनं प्रशंसा तस्य कामितेन इच्छया । जिनेन्द्रधर्म मम प्रवृत्तपोध्यानादिकं कृत्वा स्यादिति आर्यसनेन यायात् गच्छेत् ॥५६२॥ धर्मेष्विति—धर्मेषु उत्तमक्षमादि दशधर्माचरणेषु । धर्मनिरतात्मसु धर्मे रत्नत्रये निरताः आत्मा येषां ते धर्मनिरतात्मानः श्रावकाः श्राविकाः मुनयः आर्यिकाश्चेति चत्वारः संघास्तेषु । धर्मैहेतौ धर्माचरणसाधने जिनचैत्यालयादौ । नृपः अनुकूलः अस्तु । कथंभूतः सः ? धर्मावाप्तमहिमा धर्माचरणात्लब्धप्रभावः । तथा जिनेन्द्रेति—जिनपतिपदपूजनपुण्यात् अस्याः भुक्तवतस्य प्रजायाः चतुर्वर्णवत्याः नित्यं परमां श्रियम् उत्तमा श्रियं लक्ष्मी आप्नुवन्तु लभन्ताम् । इति पूजाफलम् ॥५६३॥ आलस्यात्—वपुषः आलस्यात् मान्द्यात् । कस्मादपि अनुत्साहत्वात् । हृषीकहरणैः हृषीकाणां नेत्रादीन्द्रियाणां हरणैः अन्योपयोगपरत्वात् । आत्मनः स्वस्य व्याक्षेपतो वा अन्यकार्यव्याकुलतया वा । मनसः चापल्यात् । मतेर्बुद्धेर्जडतया वस्तुस्वरूपानाकलनतया । वाक्सौष्ठवे मान्द्येन वचनस्य सौष्ठवं स्पष्टाक्षरवक्तृत्वं तस्मिन् मान्द्येन मुग्धवचनपरत्वेन । हे देव तव संस्तवेषु पूजादिकार्येषु एष प्रमादः अनवधानता समभूत् । स मे मिथ्या निष्फलः स्तात् भवतु । ननु निरवद्ये मताः देवताः प्रार्थिता प्रार्थनां कुर्वता भक्तया तुष्यन्ति प्रसन्ना भवन्ति ॥५६४॥ देवपूजामिति—यो गृहस्थः देवपूजाम् अर्हदादिजिनचतुष्टयपूजनम् अविरचय्य अकृत्वा मुनीन् उत्तमपात्रभूतान् यतीन् अनुपचर्य तेषाम् आहारदानप्रेक्षा अविधाय च भुञ्जीत भोजनं कुर्वीत स परं तम सत्पुरुष्टं तु स भुञ्जीत ॥५६५॥

इत्युपासकाध्ययने स्नपनार्चनविधिर्नाम षट्त्रिंशः कल्पः ॥३६॥

३७. स्नपनविधिनाम सप्तत्रिंशत्तमः कल्पः ।

[पृष्ठ २४२] नमदिति—स जिनो देवः श्रीमान् सर्वोत्कर्षेण वर्तितीष्ट । यस्य अङ्घ्रियुगलं पद द्वन्द्वम् अवभासते शोभितायते । कुर्वेति चेद्गुम्फते-नमदिति—नमन्तः नमस्कुर्वन्तः ये अमराः देवाः मौलिमण्डले मुकुटसमूहे विलग्नानि खचितानि यानि रत्नानि मणयः तेषां अंशवः कराः तेषां निकरः समूहः तेन युक्तेऽस्मिन् गगने नर्मसि ॥५६६॥ सुरपतियुवतिमणसामिति—सुराणां गणः सुरपतयः सौधर्मादयः इन्द्राः तासां युवतयः सम्यानस्थो देव्यः तासां अवनतां कर्णानाम् । अमरेति—अमरतरुः कल्पवृक्षः तस्य स्मेरा विकासमाप्ता या मञ्जरी मञ्जु मनोज्ञा राजतीति मञ्जरी अविनयनिर्मिता आवलाः पुष्पमालाः कुसुमाः मञ्जर्यं तासां संस्पर्शेन रुचिरं मनोज्ञं यस्य चरणयोः पादयोः नखानां किरणजालम् । स जिनो जयति भुवने जगताम् सर्वोत्कर्षम् अवाप्नोतु ॥५६७॥ नमदिति सुरस्तोत्रि पदद्वयं वर्णकल्पादिविशेषणस्य । दिविजेति—दिवि जायन्ते इति दिविजाः देवाः तेषां कुञ्जरः गजः ऐरावणः तस्य मौली मस्तके यानि मन्दारादि मन्दार तरुपुष्पाणि तेभ्यो निर्गतस्य मकरन्दस्य रसस्य प्रस्रवणं तेन युक्ताः ये कर्णविवराः गुञ्जाश्रमराः तस्य भ्रमरेण धारासंपातेन भूनर नयाम्बुजे चरणकमले यस्य स तत्संबोधनीकवचन पदाम्बुज । वैराग्यपरमास्पद वैराग्यस्य विरक्तो विराग् तस्य भावो वैराग्यं वैगुण्यं तस्य परमपद उत्कृष्टाधार वैकल्यभावाधार । प्राप्तो भाति यथौ येन तत्संबोधनं प्राप्तवारमय । विजिनमवति जिनिन नराजितः मम भिक्ष भवति आपदं इति भर्माम्रिय भगवाः येन तत्संबोधनम् । मानायकम्प । भनुगती—यस्यामिति—हे जिन अमितगुणं त्वां जिता मानं यस्य गुणा यस्य न जितगुण न जितगुणोऽजितगुणः अनन्तगुणः त्वम् । स्वाम् अनन्तगुणं व्यक्तिकरणार्थविवेच अवनति प्राप्तः । जितजिन् कृपा विशेषं पश्यति येनापि विश्वपतीति जितजिन् । यदि स्तौमि त्वां भूनं तर्हि यतो जितजिन् इत्येन अविवादं धीमान् आप्तवतीय भुवनस्थलं भेदं गुणाणि जितजितिलोकनीति भानु

मिच्छति। हे भगवन्, तव गुणानां स्तवं कर्तुं वाञ्छन् जनः तत्पारं न कदापि प्राप्नोतीति ज्ञेयम् ॥५६८॥ स्तोत्रे इति—यत्र स्तोत्रे अनवधिबोधाः न अवधिर्बोधे ज्ञाने येषां ते अनवधिबोधाः अमितज्ञानिनः । चिन्ता स्तोत्रं भगवतो विधास्यामः इति तत्स्य मुमुचुः त्यक्तवन्तः । पुनः कथंभूताः । सकलैतिह्येति—ऐतिह्यं नाम आप्तोपदेशः श्रुतज्ञानं वा, स एव अम्बुधिः समुद्रः तस्य विधिः स्वाध्यायः तस्मिन् दक्षाश्चतुराः । महामुनिपक्षाः महामुनयो गणधरदेवादयः तत् पक्षम् अवलम्बमानाः तत्सदृशाः । चिन्ता तत्यजुस्तत्र तस्मिन् प्रभुस्तोत्रे मादृग्वेधा मत्सदृशः विद्वान् कथं चिन्तां न त्यजेत् ॥५६९॥ तदपीति—तदपि च तथापि च यद्यपि अहं गणधरादिसदृशमतिर्नास्मि । मयि तथा स्तवनशक्तिर्नास्ति । तथापि हे जिन, त्वयि विषये अहं किमपि वदेयं वच्मि । यत् यतः इयं भक्तिः मां मामम् अतिशयेन स्वस्य तूष्णीं न कुरुते । त्वयि विषये मद्भक्तिर्हे देव, किमपि स्तवनं कुरु इति मां प्रेरयत्येवेति भावः । अतोऽहं त्वां स्तोतुमुद्यतोऽस्मीति ॥५७०॥ सुरपतिविरचितेति—हे जिन, कः तव गुणः प्रवितनुतां स्तुतिपथं नयतु न कोऽपि । सुरपतिर्देवेन्द्रः तेन विरचितो विहितः संस्तवः स्तुतिः यस्य तत्सम्बोधनं हे सुरपतिविरचितसंस्तव दलितेति—दलितो विनाशितः अखिलो भवः संसारो येन तत्सम्बोधनम्, परमेति—परमम् अत्युत्तमं धाम वीर्यम् अनन्तशक्तिः तेन लब्धः उदयः प्रातिहार्यादिवैभवं येन । अघेति—अघं पापं तस्य हरणे नाशने चरणं चारित्रं यस्य तत्सम्बोधनम् । हे हतनतभय हतं नतानां नमतानां भयं येन तत्सम्बोधनम् हे हतनतभय । ॥५७१॥

[पृष्ठ २४३-२४४] जयेति—जयेति सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । कथंभूतस्त्वम् । निखिलेति निखिलाः सकलाः निलिम्पाः देवाः तेषाम् आलापः गुणस्तुतिः तत्र कल्पः योग्यः । जगतीति जगत्या विश्वेन विश्वेन, स्तुता चासौ कीर्तिश्च सैव कलत्रं भार्या सा तल्पे शय्यायां यस्य। जय सर्वोत्कर्षेण तथाभूतस्त्वं वर्तस्व । परमेति—परमश्चासौ धर्मश्च तदेव हर्म्यं प्रासादः तत्र अवतारः जन्म यस्य । लोकेति—लोकानां त्रितयं लोकत्रितयं जगत्त्रयं तस्योद्धरणे कुगतेरुद्धरणे सारो रत्नत्रयबलं यस्य सः । अत्र कल्प, तल्प, अवतार, सारेति शब्दानां सम्बोधनैकवचनानि ज्ञेयानि ॥५७२॥ जयेति—लक्ष्मीति लक्ष्म्या प्रातिहार्यलक्ष्म्या समवसरणरमायाश्च करौ हस्तौ तावेव कमले ताभ्याम् अर्चितं पूजितम् अङ्गं शरीरं यस्य तत्सम्बोधनम् । सारस्वतेति—सरस्वत्या अयं सारस्वतः स चासौ रसः तेन नटने नर्तने आद्यरङ्गः प्रथमा नर्तनभूमिः तत्सम्बोधनम् । केवलबोधे जाते सति द्वादशाङ्गश्रुतदेव्या जिनवदनं आद्यरङ्गभूमिर्जातमिति भावः । हे जिन जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । कथंभूत जिनसम्बोधनम् । बोधेतिबोधस्य केवलज्ञानस्य मध्ये सिद्धाः ज्ञाताः अखिलार्थाः सकलजीवादिवस्तुनिवहाः यस्य तत्सम्बोधनम् । मुक्तिश्रीति—मोक्षलक्ष्मीरमण्याः रत्या सम्भोगेन कृतार्थ कृतकृत्य तत्सम्बोधनम् हे जिन त्वं जय ॥५७३॥ नमदिति—नमन्तश्च ते अमराश्च नमदमराः नम्रीभूताः सुराः तेषां मौलयः किरीटानि तान्येव मन्दरस्य मेरोः तटान्ताः तत्र राजन्तः शोभमानाः पदयोः ये नखाः त एव नक्षत्रकान्तः चन्द्रो यस्य तत्सम्बोधनं हे राजत्पदनखनक्षत्रकान्त । विबुधेति—विबुधानां देवानां स्त्रियः तासां नेत्राण्येव अम्बुजानि कमलानि तानि विबोधयतीति विकासयतीति विबोध तत्सम्बोधनम् । मकरेति—मकरः ध्वजे यस्य मकरध्वजः कामः तस्य धनुः कोदण्डः तस्य उद्भवस्य उत्सवस्य निरोधः प्रतिबन्धः तत्सम्बोधनम् । हे जिन त्वं जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । कामविनाशक जिन त्वं सदा जयेति ॥५७४॥ बोधत्रयेति—बोधानां मतिश्रुतावधीनां त्रयं बोधत्रयं तेन विदितं ज्ञातं विधेयतन्त्रं कार्यपद्धतिर्येन तत्सम्बोधनम् । तव परत्र अन्यस्मिन् पुरुषे का नाम अपेक्षा । अन्यस्मात्पुरुषात् कार्यस्वरूपज्ञानस्य नापेक्षा भवत्यस्तीति भावः । अत्र निदर्शनम्—असुभृज्जनस्य प्राणिसमूहस्य प्रबोधं व्यपगतनिद्रावस्थां दधतः तन्वतः, अरुणस्य सूर्यसूतस्य कोऽपि गुरुः अस्ति किम् । नैव विद्यते स्वयं प्रकाशशील एव सः ॥५७५॥ निजबीजेति—महति महापुरुषे निजबीजबलात् निजं बीजं कारणं तस्य बलात् प्रभावात् सामर्थ्यात् मलिनापि धीः दोषवत्यपि मतिः हे अभव हे संसाररहित । परमां शुद्धिं भजति आश्रयते । अत्र निदर्शनम्—युक्ते अग्न्यादिकारणसामग्र्या कनकाश्मा सुवर्णपाषाणः हेम सुवर्णं सम्पद्यते । किं कोऽपि तत्र सुवर्णे विवदेत नाम, नेदं सुवर्णम् इति विप्रतिपत्तिं कुर्यात् किं कोऽपि । यस्मिन्नासन्नभव्यात्मनि मलिनापि धीः रत्नत्रयकारणानि सम्प्राप्य निर्मला भवति विधिज्ञत्वं प्राप्नोति ॥५७६॥ परिमाणमिवेति—यथा परिमाणं परमाणो

गुणपूर्णं भवतु ॥५६१॥ प्रातर्विधिरिति—हे देव मम प्रातर्विधिः प्रभातकालीनं कार्यम् । तव पादाम्बुजपूजनेन चरणकमलयोः पूजया भवतात् अतीतो भवतु । अयं मध्याह्नसंनिधिः इयं मध्याह्नवेला मुनिमाननेन मुनेः यतेः माननेन पूजया आहारदानेन । मम सायन्तनोऽपि समयः कालः देव त्वदाचरणकीर्तनकामितेन तव आचरणं व्रततपोध्यानादिकर्म चारित्रं तस्य कीर्तनं प्रशंसा तस्य कामितम् इच्छया । जिनेन्द्रसदृशं मम व्रततपोध्यानादिकं कदा स्यादिति भावनया भवतात् गच्छेत् ॥५६२॥ धर्मेष्विति—धर्मेषु उत्तमक्षमादिदशधर्माचरणेषु । धर्मनिरतात्मसु धर्मे रत्नत्रये निरताः आत्मानो येषां ते धर्मनिरतात्मानः श्रावकाः श्राविकाः मुनयः आर्यिकाश्चेति चत्वारः संघास्तेषु । धर्महेतौ धर्माचरणसाधने जिनचैत्यालयादौ । नृपः अनुकूलः अस्तु । कथंभूतः सः ? धर्मावाप्तमहिमा धर्माचरणात्समुत्पन्नप्रभावः । तथा जिनेन्द्रेति—जिनपतिपदपूजनपुण्यात् यस्याः मुक्तव्यसनाः प्रजाश्च चतुर्वर्णचरणाः नित्यं परमां श्रियम् उत्तमां श्रियं लक्ष्मीं प्राप्नुवन्तु लभन्ताम् । इति पूजाफलम् ॥५६३॥ आलस्यात्—वपुषः आलस्यात् मान्द्यात् । कर्मणि अनुरागाहत्वात् । हृषीकहरणैः हृषीकाणां नेत्रादीन्द्रियाणां हरणैः अन्योपयोगपरत्वात् । आत्मनः स्वस्य व्याक्षेपतो वा अन्यकार्यव्याकुलतया वा । मनसः चापल्यात् । मतेर्बुद्धेर्जडतया वस्तुस्वरूपानवकलनतया । वाक्सौष्ठवे मान्द्येन वचनस्य सौष्ठवं स्पष्टाक्षरत्वमधुरत्वं तस्मिन् मान्द्येन कुण्ठवागपटुत्वेन । हे देव तव संस्तवेषु पूजादिकार्येषु एष प्रमादः अनवधानता समभूत् । स मे मिथ्या निष्फलः स्तात् भवतु । ननु निश्चये यतः देवताः प्रणयिना प्रार्थनां कुर्वता भक्त्या तुष्यन्ति प्रसन्ना भवन्ति ॥५६४॥ देवपूजामिति—यो गृहस्थः देवपूजाम् अर्हदादिपञ्चपरमेष्ठिपूजनम् अनिर्माय अकृत्वा मुनीन् उत्तमपात्रभूतान् यतीन् अनुपचर्य तदीयाम् आहारदानसेवाम् अविधाय च भुञ्जीत भोजनं कुर्वीत स परं तमः अत्युत्कृष्टं दुःखं भुञ्जीत ॥५६५॥

इत्युपासकाध्ययने स्नपनार्चनाविधिर्नाम षट्त्रिंशः कल्पः ॥३६॥

३७ स्तवनविधिर्नाम सप्तत्रिंशत्तमः कल्पः ।

[पृष्ठ २४२] नमदिति—स जिनो देवः श्रीयात् सर्वोत्कर्षेण वर्तिषीष्ट । यस्य अङ्घ्रियुगलं पदद्वयम् अरुणायते लोहितायते । कुत इति चेदुच्यते—नमदिति—नमन्तः नमस्कुर्वन्तः ये अमराः देवाः मौलिमण्डले मुकुटसमूहे निबद्धानि खचितानि यानि रत्नानि मणयः तेषां अंशवः कराः तेषां निकरः समूहः तेन युक्तेऽस्मिन् गगने नभसि ॥५६६॥ सुरपतियुवतिप्रवरसामिति—सुराणां पतयः सुरपतयः सौधर्मेन्द्रादयः इन्द्राः तासां युवतयः अप्सरसो देव्यः तासां नवता कपोलानाम् । अमरेति—अमरतरुः कल्पवृक्षः तस्य स्मेराः विकासमाप्ताः याः मञ्जर्यः मञ्जु मनोज्ञता राति ददातीति मञ्जर्यः अभिनवनिर्गताः आयताः सुकुमाराः सुकुसुमाः मञ्जर्यः तासां संस्पर्शेन रुचिरं मनोज्ञं यस्य चरणयोः पादयोः नखानां किरणजालम् । स जिनो जगति भूतले जगतात् सर्वोत्कर्षम् अवाप्नोतु ॥५६७॥ 'नमदिति सुरपतीति' पद्ययुग्मं वर्णच्छन्दोविशेषात्मकम् । दिविजेति—दिवि आकाशे इति दिविजाः देवाः तेषां कुञ्जरः गजः ऐरावणः तस्य मौलौ मस्तके यानि मन्दाराणि मन्दारकुसुमानि तेभ्यो निर्गतस्य मकरन्दस्य स्यन्दः प्रस्रवणं तेन युक्ताः ये करनिकराः शुण्डासमूहाः तस्य आसारेण धारासंपातेन धूसरे पदाम्बुजे चरणकमले यस्य सः तत्संबोधनैकवचनं पदाम्बुज । वैराग्यपरमपद वैराग्यस्य विरक्तो विरागः तस्य भावो वैराग्यं वैमुख्यं तस्य परमपद उत्तमाधार केवलज्ञानाधार । प्राप्तो पारे अवधौ येन तत्संबोधनं प्राप्तपारगम । विजितमनसिज विजितः पराजितः मनसिजः मनसि जायते इति मनसिजः मन्मथः येन तत्संबोधनम् । भावाभ्यर्च्य । चतुष्पदी—यस्त्वामिति—हे जिन अमितगुणं त्वां नितरां मातुं यस्या गुणा यस्य स मितगुणः न मितगुणोऽमितगुणः अनन्तगुणः त्वम् । त्वाम् अनन्तगुणं स्तवितुमविषयोऽपि तस्यापि दासः । विपश्चित् बुधः विशेषं पश्यति चेतति चिन्तयतीति विपश्चित् । यदि स्तौति त्वां नूनं तर्हि असौ विपश्चित् हठेन अचिरकालं धैर्यं वाञ्छनीयं गुणपर्वतं मेरुं तुलयति क्षिप्तपरिमाणोऽस्तीति आशु

उशन्ति ब्रुवन्ति ॥५८४॥ अद्वैतम्' इति—कोऽपि ब्रह्माद्वैतवादी अद्वैत तत्त्व वदति । सोऽपि सुधियां सुष्ठु धीः बुद्धि येषा ते सुधिय. तेषा सुधिया विदुषाम् । धिय बुद्धिम् । न आतनुते न विस्तारयति । अद्वैतिनो मत सुधीभ्यो न रोचते इति भाव । यत यस्मात् । हे शिवशर्मसदन मुक्तिसुखाना गृहीभूत जिनेश्वर । अत्र अद्वैत-मते पक्षस्य, हेतो, दृष्टान्तस्य, वचनस्य सस्था स्थिति कुतो भवेत् ? द्वैते एव पक्षहेतुदृष्टान्ताना सभव । नास्ति तत्सभवोऽद्वैते ॥५८५॥ हेताविति—हेतौ सति कारणहेतौ कार्यहेतौ विद्यमाने अनेकधर्मसिद्धि भवति। कार्याणि दृष्ट्वा कारणान्यनुमीयन्ते । समर्थकारणे सति कार्यम् अवश्य भवति। जिनेश्वर एवम् अनेकधर्मप्रवृद्धि जीवादिसप्ततत्त्वाना सिद्धिम् आख्याति कथयति। विशिष्टधर्मलक्षणसद्भावात् पृथक्-पृथक् तत्त्वसिद्धि भवति। यथा ज्ञानधर्म जीवतत्त्व निश्चिनोति। स्पर्शादयो धर्मा पुद्गलतत्त्वम्। अन्यत् पुन कथचित् नित्यम् कथचित् अनित्यम्, कथचित् भिन्नम् कथचित् अभिन्नम्। अखिलमतव्यतीत नित्याद्येकान्तमत-भिन्नम्। हे उरुनयनिकेत उरवो महान्तः ते च ते नयाश्च नैगमादयः। तेषा निकेत गृहभूत हे जिन तव मतम् उद्भाति प्रकर्षेण शोभते ॥५८६॥

[पृष्ठ २४७-२४९] मनुजत्वमिति—मनुजत्व पूर्वम् आदौ यस्य एतादृश । नयनायकस्य सकलनैगमादिनयानाम् अधीशस्य सकलनयचक्रस्य ज्ञातु । गुणोत्तमस्य गुणाना केवलज्ञानदर्शनशक्तिसुखानाम् अनन्ताना प्राप्तेरुत्तमस्य श्रेष्ठत्व प्राप्तस्य । भवतीति भवन् तस्य भवत सत, भवतः पूज्यस्य । ये द्वेषकलुष-धिषणा वैरमलिनमतय भवन्ति ते भवन्त रहन्ति त्यजन्ति । ते जडज मौक्तिकमपि रहन्ति । जलज मौक्तिक मत्वा रहन्ति त्यजन्ति । यथा कश्चित् मूर्ख जलान्मौक्तिक जात वीक्ष्य जलवत्तत्यजति तथा भवान् आदौ मनुष्य आसीत् तदनन्तरं घातिकर्मक्षय कृत्वा नयनायको जात पर द्वेषिण मनुष्योऽयमिति मत्वा अवमत्य भवत अवमानन कुर्वन्ति । अहो मूढत्व तेषाम् ॥५८७॥ नाप्तेषु इति—य एकम् ईश्वर एव आप्त मन्यते स आप्तेषु बहुत्व न सहेत । पर्यायविभूतिष्वपि न महेत । पर्याया ईश्वरस्य वराहाद्यवतारास्तेषा विभूतिषु वैभवेषु स न महेत पूजयेत ? अपि तु न पूजयेत् । यत स एकम् ईश्वर विना अन्यान् तदवतारानपि आप्तरूपान् अमन्यमान कथ पूजयेत् । नून द्रुहिणादिषु तथाविधेषु दैवतेषु तस्य क स्फुटति । तथाविधेषु ईश्वरावतारेषु दैवतेषु देवमन्येषु तस्य एकमेवाप्त मन्यमानस्य नु क मस्तक कथ स्फुटति कथ नमति नैव नमेत् ॥५८८॥ दीक्षास्विति—हे इन हे प्रभो, सकलगुणै व्रततप समित्यादिगुणै रत्नत्रयरूपै अहीन न हीन न अपूर्ण तत्सबोधन हे अहीन, दीक्षासु महाव्रतदीक्षासु, अणुव्रतदीक्षासु च । तपसि अनशनादिके द्वादशविधे, वचसि च पूर्वापरविरोधानवकाशे यत् यस्मात् इह ऐक्यम् एकरूपता अविरोधता वर्तते । तस्मात् बुधोचितपादसेव बुधै-रुचिता कर्तुं योग्या पादयो सेवा यस्य स तत्सबोधनम्, बुधोचितपादसेव । त्वमेव जगता नाथोऽसि इति ब्रवीमि । अन्येषा हरिहरादीना दीक्षातपोवचःसु ऐक्य नैवातस्ते त्रैलोक्यस्वामित्वानर्हा एव ॥५८९॥ देवेति—हे देव दीव्यति क्रीडति परमानन्दपदे इति देव परमाराध्य तत्सबोधन हे देव । तथापि कोऽपि नर त्वयि विमुखचित्त पराङ्मुखमना भवति तर्हि स एव निन्द्यो भवति । विदलितेति—विदलिता विनाशिताः मदनस्य विशिखा बाणा येन स तत्सबोधनम्, हे जिन, घूके दिवापि विदृशि नेत्ररहिते यथा निन्द्य तथा त्वयि विमुखचित्तो नर निन्द्य एव । पर य विदृशोन (?) अन्धाना स्वामी त न कोऽपि उपालभते दूषण ददाति । दिवा दिने घूके विदृशि अन्धेऽपि इन सूर्यं स उपलभते पर अन्य कोऽपि सूर्यं न निन्दति ॥५९०॥ निष्किंचन इति—निष्किंचनोऽपि न किंचन धनधान्यादिपरिग्रहो यस्य । निर्गत किंचनात् असौ निष्किंचन निष्परि-ग्रहोऽपि त्व जिन जगते त्रिलोकाय कामितानि अभिलषितानि निकाम यथेष्ट न दिशसि न ददासि । भक्ता-नाम् अभिलषितानि त्व निष्परिग्रहोऽपि पूरयस्येव । अत्र चित्र विस्मयो नैव । अथवा इह खात् आकाशात् शून्यस्वरूपादपि वृष्टि किमु नो समस्ति नो चकास्ति न शोभते अपितु शोभते एव । पद्धतिकाछन्द ॥५९१॥ इति—एव तदमृतनाथ तत्तस्मात् अमृतनाथ अमृतस्य मोक्षस्य नाथ स्वामिन् । स्मरशरमाथ, स्मरस्य कामस्य शरान् उन्मादमोहनसन्तापनादीन् बाणान् मथ्नाति पीडयतीति स्मरशरमाथ । तत्सबोधन हे स्मरशरमाथ । त्रिभुवनपतिमतिकेतन त्रिभुवनस्य पतय स्वामिन धरणेन्द्रादय' तेषा मते मान्यताया निकेतन गृहम् तत्सबो-

गर्भमानम् अतिशयेन विभति आकाशे पुस्तो महत्तमताम् उपैति प्राप्नोति । तथा मति अतिशयेन गर्भमाणा गरि कस्मिंश्चिदात्मनि उत्कर्षं गुरुताम् उपैति प्राप्नोति । तत् तस्मात्कारणात् शिवस्य सर्वज्ञ निषेधतो मीमांसकस्य विश्ववेदिनिन्दा सर्वज्ञनिन्दा हे देव कस्य चित्ते विभ्रमात्मति तिष्ठति । स्थाने न लभते इति भाव । दोषावरणयोर्हानि सेवमानात् कश्चिदात्मा सर्वज्ञो भवत्येव ॥५७७॥ कपिलो यदि इति—यदि कपिल साङ्ख्यदर्शनस्य प्रणेता अपिति अचेतने प्रधाने विति ज्ञानम् इच्छति तर्हि स सुरगुरोर्गुम्फेष्वेव पतति सुराणां देवानां गुरु सपाध्याय बृहस्पतिः तस्य यो दर्शन चार्वाकदर्शनं तस्य गुम्फेषु रचनासु एव कपिल पतति इति मन्यामहे वयम् । स च बृहस्पति जीवच्छरीरमेवात्मा नान्यो भिन्न कश्चिदात्मा नाम स च आत्मा गर्भादिमरणपर्यन्तमेव गर्भात्पूर्वं मरणाच्चोत्तरं नास्ति भवान्तरम् । इति मन्यते । कपिलोऽपि—प्रकृतौ अचेतनायां ज्ञत्वं मन्यमान बृहस्पतिमनुसरति । हे विविद हे सर्वज्ञ अर्हन्, चैतन्यं केवलं स्वरूपमात्रपरिच्छेदि बाह्यग्राह्यरहितं घटपटादिविषयाग्राहकम् अग्राहकं तर्हि तत् कस्य उपयोगि स्यात् ? न अतः हे अर्हन् भवानेव यथार्थदर्शी । आत्मा एव दोषावरणहाने सर्वज्ञो जायते इति भवति तदेव सत्यम् ॥५७८॥ भूपवनेति—भू पृथ्वी पवनो वायु वनं जलम्, अनलोऽग्नि इति तत्त्वान्येव तत्त्वकानि तेषु तत्त्वकेषु । चिपन बृहस्पति विमार्ग निर्भ्रान्ति प्रतिपादयति । एतत्तत्त्वचतुष्टयम् इति वदति । परन्तु तद्विपरीतधर्मवान्निः एभ्यः विपरीतस्वभावस्तत्त्वे चिति आत्मनि विमार्ग न ब्रवीति । ज्ञानं भूतचतुष्टयात्भिन्नं नेति मन्यते तत्तु तेभ्य उत्पद्यते इति मन्यते । तज्ज्ञानं तस्य भूतचतुष्टयस्य कथं कार्यं भवतु परं तत् आत्मनो धर्म न भूपवनादीनां इति ज्ञेयम् ॥५७९॥

[पृष्ठ २४८-२४९] विज्ञानप्रमुखाः इति—विज्ञानं प्रमुखं येषु ते विज्ञानप्रमुखा बुद्ध्यादय गुणा । विमुक्ति विशेषेण मुच्यति इति विमुक् तस्मिन् विमुक्ति मुक्तात्मनि न सन्ति । इति यस्य वाचि व्याख्याने किल नय वर्तते । मुक्तौ बुद्धिसुखदुःखादीनां नवानां गुणानाम् अत्यन्तोच्छेदान्मोक्ष इति वैशेषिको वदति । तस्य मते मुक्तौ गुणा न तिष्ठन्ति इति तत्र गुणत्वावस्थाया गुणानपि आत्मापि नैवेति मन्यताम् । यतस्तु औष्ण्यात् ऋतेऽग्नि अपरत्र अन्यत्र क तिष्ठति ॥५८० ॥ धरणीधरेति—धरणीधर पर्वत धरणि पृथ्वी प्रभृतय तरुलतादय तान् निरिह शंकर ईश्वर सृजति । ननु निपगृहादि घटगृहादिकं निरिह करोति इति वचनम्यम् । यदि सकलमेव कर्म निरिहा करोति तर्हि तपादीनां किं प्रयोजनम् । चित्रम् आश्चर्यं वर्तते । यत् यत तदपि लोकेषु महामसादि महाकोटिमन्ति सन्ति ॥५८१॥ पुरुषत्रयमिति—हरिहर ब्रह्माण पुरुषत्रयम् । भवकायस्तमूर्ति भवभासु लक्ष्मीपार्वतीसावित्र्यादिषु नारीषु आसक्ता मूर्ति शरीरं यस्य तत् । अत एतत्त्रय धामभस्य कर्तृ न संभवति । त्रैलोक्यस्यापि न तत्र कर्तृत्वं संभवेत् । अपरः शरीररहित अनादिमुक्त ईश्वर सृष्टिकर्ता नैवकर्ता वा स्यात् इति च नैव संभवति । अत स भवकामकीर्ति भवनाथ नमस्करोऽर इति यस्य कीर्ति भवति पद्ये । एवं सति हे नाथ जिन जग जयति भवतिम् । द्विजसुत ब्राह्मणानां वैदिकं कथं हिंसाहिंसाविषयम् आभाति योजते । वैदस्य ईश्वरकृतत्वं न संभवति । तदत्र स हिंसाहिते न कुर्यात् ॥५८२॥ सोऽहमिति—हे बौद्ध य अहं बाल्यवयसि बाल्यावस्थायाम् अभूवं प्राग् आसम् स एव अहम् इति निरिचन्वन् निश्चयं कुर्वन् क्षणिकमतं जहाति । सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् इत्यनुमानेन नित्यं स्वरूप तत्र आत्मनः स्वरूपं क्षणिकं नैव सिद्ध्येत् । सर्वथा क्षणिके आत्मनि सन्तानोऽपि अत्र न स्यात् । अपरामृष्ट भेदा कार्यकारणतया संतानः इत्यपि सन्तानलक्षणं नैव सिद्ध्यति । एकस्याभावे निरन्वयाभावे च पूर्वक्षण कारणम् उत्तरक्षण कार्यम् इति न भवेत् । तत कार्यकारणभावाभावात् सन्तानसिद्धि न । अस्थिरे वासनापि न । यदि अन्वय पूर्वापरीभावस्य तेनापि प्रयोजनसिद्धिर्न । अन्वये सति सर्वथा क्षणिकत्वं हीयते । क्षणिकमतप्रतिपादकेन सुगतेन तेन अन्वयभाव नापि न प्राप्त ॥५८३॥ चित्तमिति—चित्तं ज्ञानम् । कर्मभूत तत् । अचलम् इन्द्रियोत्पन्नम् । तत् विचारकं न पूर्वापरालोचनसमर्थं न । अचिन्तं सविकल्पं ज्ञानम् । तोयपतितसोमा घटादय स्थिरस्थूलाकाराणां सामान्यरूपा तत्र पतितम् तद्ग्राहकम् अस्ति । तेन क्षणिका चित्ताधार परमाणव न गृह्यन्ते । तदविकल्पं ज्ञानं वस्त्वालोकम् अभ्रान्तं नास्ति । क्षणिकानि तत्त्वा विविक्तस्वभावं क्षणिकं वस्तु च न स्पृशन्ति । अत धारया बौद्धा तानि वचनानि आत्मविहीनानि बौद्धहितानि वचनम्

सिद्धक्रमैरेव, यथा मन्त्राणा क्रम प्राचाम् आचार्याणा मते सिद्ध तथैव तमाश्रित्यैव जप कार्य: इति निगिरामि। यथागमे जपविषये क्रम श्रूयते तथा स जपो जप्य ॥५९८॥ पातालेति—पातालेषु भावनेषु। मर्त्येषु मनुजेषु। खेचरेषु विद्याधरेषु सुरेषु देवेषु सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्य ससिद्धे' सिद्धिर्भवतीति हेतो अधिगानात् प्रामाण्यात अधिकप्रतिपत्ते' आदरात् समवाये जनसमुदाये, देवयात्रायाम् देवप्रतिष्ठादौ। सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्यैव प्रामाण्य श्रूयते ॥५९९॥ जपकरणविधि —पुष्पैरिति—पर्यङ्कस्य पद्मासनेन स्थित निष्कम्पितम् अचलितम् अक्षवलयम् अक्षाणाम् इन्द्रियाणा वलय येन सर्वाणि इन्द्रियाणि सयम्य जप कुर्यादिति भाव । कै जपो विधेय इत्याह—पुष्पै कुसुमै, पर्वभि अङ्गुलिग्रन्थिभि, अम्बुजबीजै कमलबीजै, स्वर्णमणिभि, अर्ककान्तरत्नैर्वा सूर्यकान्तमणिभिर्वा जप कार्य । अथवा निष्कम्पितम् अचलितम् अक्षवलयम् जपमाला यस्य स जपी जप कुर्यात्। कमलबीजमालया, स्वर्णमणिमालया, सूर्यकान्तमणिमालया वा जपो विधीयेत जपिना ॥६००॥ अङ्गुष्ठे इति—मोक्षार्थी इदम् अक्षवलय जपमालाग्यम्, अङ्गुष्ठे तथा तर्जन्याम् अङ्गुष्ठसमीपाङ्गुल्या बहि बाह्ये नयतु सचारयतु। पुन ऐहिकापेक्षी धनधान्याद्यपेक्षा कुर्वाण इतरासु अङ्गुलीषु मध्यमानामिकाद्यङ्गुलीषु अन्त वहिश्च ता नयतु सचारयतु। (जाप्ये कृते सति वहिर्वस्तु उच्चाटनीय जाप्य प्रापयतु इति-टिप्पण्याम्) ॥६०१॥ वचसेति—वचसा वाण्या, मनसा वा चित्तेन वा समाहितस्वान्तै ध्येये निश्चलीकृतमनोभि, जाप्य कार्य जपो विधातव्य:, आद्ये जाप्ये वाण्या कृते जाप्ये शतगुण पुण्यम्, द्वितीये मनसा कृते जाप्ये वचनमनुक्त्वा विधेये जाप्ये सहस्रगुणित पुण्य जायते। वच कृते जाप्ये मनस स्थिरत्वात् शतगुण पुण्यं मनोविहितजाप्ये ततोऽपि मनस स्थिरतरत्वात् सहस्रगुण पुण्य लभ्यते ॥६०२॥ नियमितेति—नियमित' स्वस्वविषयादाकृष्य आत्मनि नियन्त्रित करणग्राम इन्द्रियगणो येन। स्थानेति जिनालयादिक स्थानम्। पद्मासनादिकम् आसनम्। मानसस्य चित्तस्य प्रचार नाभिनेत्रललाटादिषु सचारण मन प्रचार इत्यादिजप साधनानि जानन्। पुन कथभूत । पवनेति—कुम्भकरेचकादिवायुधारणरेचनाद्युपायज्ञ पुमान् सम्यक्सिद्ध भवेत् अशेषज्ञश्च स्यात् ॥६०३॥ इममेवेति—पञ्चत्रिंशत्प्रकारवर्णस्य पञ्चाधिकत्रिंशदक्षरोपेतम् इममेव मन्त्र 'णमो-अरिहताण' इत्यादिरूप प्रसिद्धम्। मुनय परमपदावाप्तये मुक्तिपदलाभाय। विधिवत् नियमितकरणग्राम इति श्लोकोक्तविधिमनुसृत्य जपन्ति ॥६०४॥ मन्त्राणामिति—अखिलाना मन्त्राणाम् अय एक पञ्चनमस्कार-मन्त्र सिद्ध सन् कार्यकृद्भवेत् इष्ट कार्यं कुर्यात्। परे तु सर्वे मन्त्रा अस्य णमो अरिहताण एतावन्मात्रस्य एकदेशकार्यं न कुर्यु । सर्वेषु मन्त्रेषु अयमेव मन्त्र श्रेष्ठ ॥६०५॥ कुर्यादिति—अङ्गुष्ठमारभ्य कनिष्ठिका-पर्यन्त करयो वामदक्षिणकरयो प्रकारयुगलेन (?) विधिपूर्वकाङ्गुलिरेपा करन्यास कुर्यात्। न्यास कृत्वा पञ्चनमस्कारमन्त्रम् उभयकरयोरङ्गुलीषु लिखित्वा। तदनु हृदाननमस्तककवचास्त्रविधि मनोमुखशिर सु कवचविधिम् अस्त्रविधि च कुर्यात्। कवचस्य विधि क देह वञ्चति विपक्षास्त्राणि वञ्चयित्वा रक्षति इति कवच तस्य विधि मन्त्रोच्चारेण सकलीकरणविधान विधातव्य:। एतत्सर्वं जपात्पूर्वं विधातव्यमित्यर्थ ॥६०६॥ संपूर्णेति—सपूर्णमति स्पष्ट। सनाद विन्दुसहित ॐकार पञ्चपरमेष्ठिवाचकम्, आनन्दसुन्दरम् आनन्देन आत्मानुभवसुखेन सुन्दर रमणीयम्। जपत अस्य मुनेरुपासकस्य वा सर्वेषा समीहितानाम् अभिलषितानाम् अभ्युदयनि श्रेयसा सिद्धि प्राप्ति नि सशय सजायेत भवेत् ॥६०७॥ मन्त्र इति—परत्र मन्त्रे अन्यस्मिन्मन्त्रे ऋषिमण्डलादिमन्त्रे। फलोपलम्भे अभिलषितप्राप्तौ सत्यामपि। अयमेव पञ्चपरमेष्ठिमन्त्र सेव्य आराध्य । यद्यपि अग्रे शाखादिषु । विटपी वृक्ष । फलति प्रादुर्भूतफलो भवति। तथापि तस्य वृक्षस्य मूल जलेन सिच्यते। तदसिञ्चने न फलोपलब्धिस्तथा अस्मिन्मन्त्रे सेव्यमाने इतरेभ्य एतन्मूलकेभ्यो मन्त्रेभ्य फललाभो भवेत् ॥६०८॥ अत्रामुत्रेति—गुरुपञ्चकवाचकान्मन्त्रात् पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रात् । आरोपमन्त्र अत्र अस्मिन् लोके। परत्र च स्वर्गादौ च। नियत निश्चयेन कामितफलसिद्धये अभीष्टफललाभाय। नाभूत् नाभवत्। नास्ति न भवति। न भविष्यति च ॥६०९॥ अभिलषितेति—अस्मिन् मन्त्रे इष्टपदार्थदाने सुरगोसदृशे सति कामधेनुसदृशे सति तथा अस्मिन्मन्त्रे दुरित पाप तदेव द्रुम तरु तस्य पावकेऽग्निसदृशे सति। दृष्टादृष्टफले दृष्ट लब्धम् ऐहलौकिकं धनादिकम् अदृष्ट पारलौकिक स्वर्गादिफल यस्य तथाभूते सति परत्रमन्त्रे

भवम्, भगवान् अमु चरणेन्द्रादिभिः कृतायाः पूजायाः स्थानमित्यर्थः । हे जिन कर्मारातिविजयिन् प्रणमति येन रागादिदोषनिवहर्न प्रणम तस्य निवह गृहीभूत्व । मयरीश अवधाय । मम त्वत्पदभुक्तिहृदयं विध । तव परमो मुक्तिः स्तुति तस्यां हृदयं मनः विध येहि । मम मनः त्वत्पदभक्तिपरं कुरुष्व । सता ॥५९२॥ अमरतरुणीति—हे जिन त्वम् अमरतरुणीति—अमरतरुण्य देवयुवतयः तासां नेत्राणाम् आनन्दे प्रमोदकार्ये महोत्सवचन्द्रमाः महोत्सवजनस्य पूर्णिमायां चन्द्रमा असि । हे जिन त्वं स्मरतीति—स्मरस्य मद एव यत् एव ध्वान्तं तिमिरं मदमयध्वान्तं तस्य ध्वंसे विनाशे परमः उत्तम अर्यमा सूर्यः भवतोऽसि । त्वं कर्मारातीनां ज्ञानावरणादिकर्मशत्रूणां अवग्रहस्य क्रूरमना असि । मतो भक्त्या नम्रे जने कृपारसवान् दयालुरसि इति त्वं विसदृशव्यापारः सती मित्रे भक्ते च विषमप्रवृत्तिः तथापि भवान् महान् पूज्यः । भगवान्जिन रागद्वेषाभ्यां सताम् असतां च अनुग्रहनिग्रहयोः विधाता स तु परमोदासीनः परन्तु सकलज्ञे जिने रागेण द्वेषेण च प्रवृत्तस्येऽसत्प्ररागद्वेषयोर्जिनो धर्माधर्मास्तिकायवत् कारणं मन्यते ॥५९३॥ अनन्तेति—जिनेश्वर, त्वयि अनन्तगुणसंनिधौ अनन्तानां गुणानां सम्यक् आश्रये निधौ निधाने सति । मयि च नियतबोधवर्त्मनिधौ नियत परिमित स चासौ बोधो ज्ञानं स एव वर्त्मनिधिः यस्य तथाभूते मयि अल्पज्ञ सतीत्यर्थः । पुनः कथंभूते भवति । श्रुतार्णवीति श्रुताब्धि द्वादशाङ्गज्ञानसमुद्र तस्य धुर्याः आधार गणधरदेवादयः तैः संस्तुवते स्तुति विषमतां नीते । मयि च कथंभूते परिमितोक्तीति—परिमितं सावधिकं यत् उक्तवृत्तम् अल्पज्ञताख्यं ओक्तं वृत्तम् चरणं तस्मिन् स्थिते मयि । हे जिनेश्वर स्फुटं प्रकटं त्वयि ईदृशे महाज्ञानसमुद्रे । मयि च तादृशे पल्वलकल्पे सति । तदिदं वस्तुद्वयं भवान् अहं च सदृशनिरवद्यं समानमिति निर्णयमात्रं कथं भवतु ॥५९४॥ सदृशमिति—हे अतुल अनुपम त्वादृगिति त्वया सदृशाः त्वादृशा तेषां वाणी त्वादृग्वाणी तस्याः पन्था त्वादृग्वाणीपथः तेन स्मरणं तस्य वचित तस्मिन्, त्वयि जिने । अल्पस्य मन्दस्य मादृशः । गुणानां गणः समूहः तस्य अपारैः अविषयभूतैः स्तोत्रैः अलं पर्याप्तम् । गणधरदेवादयः तव गुणानां स्तोत्राणि विधातुं क्षमा भवन्ति यतस्ते तव गुणानां वचनाभिज्ञाः । नाहं मन्दः । प्रवृत्तिविषये अस्मिन् व्यापारे कर्मणि शुभे सति कथमपि भवान् स्तुतिं कर्तुम् असमर्थो जनः त्वद्गुणस्तुतौ प्रवर्तते । हे स्वामिन् आस्तां स स्तुतिमार्गः नाहं तेन यन्तुं क्षमः अतः ते नमोऽस्तु अस्तु ॥५९५॥ जगत्त्रयमिति—हे जिन त्वां जगतां नमस्तुतम् । निखिलेति—सकलविषयज्ञानज्योतिषां पात्रं भाजनम् । पुनः कथंभूतम् । सकलेति—सकलश्च ते नयाश्च सकलनयाः नैगमादिनया तेषां नीतिः पद्धतिः तया स्तुता पूज्य यस्य तं महान्तं पूज्यं त्वाम् । पुनः कथंभूतम् । विनतेति—विनता भक्ता तेषां हृदयानन्दविधय महोत्सवं महान्तं कारुण्यं दानशीलं दातारम् उत्तमं त्वाम् अहं याच । हे भगवन् अर्थिविमुखः याचकविमुखत्वेत्वं न भवति ॥५९६॥ मनुजेति—इह अस्मिन् लोके । मनुजेति—मनुजा नराः । त्रिदिवा त्रिदिवे स्वर्गे वसन्ति इति देवा । तयो लक्ष्मी रमा तस्या भोगभवाः वैभवाः आलोकः प्रकाशः तस्य लीला या या तेषां तथाभूताः भाविन । त्वत्प्रसादात् तव कृपा प्राप्य । चिरं बहुना कालेन । परिताप्त हृदयरया याताः । स्वामीति—स्वामिन प्रभोः सेवायाम् आराधनायाम् जलनिधरत्वात् कृपानिर्भरत्वात् । इदानीम् अधुना । जन्मनि जन्मनि जिन्मान्तरे मिये अपि मयि त्वं हृदयम् । तद् जननिधानं सह सतरा निधानेन समानं मम विधेहि मुक्तिरेवमर्थं (परिपूर्णितवान्नं कुरु इत्यर्थः) ॥५९७॥

इत्युपासकाध्ययने स्नपनविधिर्नाम सप्तत्रिंशत्तमः कल्पः ॥३७॥

३८. जपविधिनामाष्टत्रिंशत्तमः कल्पः ।

[पृष्ठ २५०–२५२] सर्वेति—केचित् आचार्याः नवोक्ते जप निविदन्ति प्रणिनाममन्ति । केचित् गुरवः नामार्धमिदम् केचित् मुक्तावलादिषु स्ववर्णमालाम् एवर्णेकसप्ताहं वर्ण निविदन्ति । पदार्थं तु

सिद्धक्रमैरेव, यथा मन्त्राणा क्रम प्राचाम् आचार्याणा मते सिद्ध तथैव तमाश्रित्यैव जप कार्यः इति निगिरामि। यथागमे जपविषये क्रम श्रूयते तथा स जपो जप्य ॥५९८॥ पातालेति—पातालेषु भावनेषु। मर्त्येषु मनुजेषु। खेचरेषु विद्याधरेषु सुरेषु देवेषु सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्य ससिद्धे सिद्धिर्भवतीति हेतो. अविगानात् प्रामाण्यात् अधिकप्रतिपत्ते आदरात् समवाये जनसमुदाये, देवयात्रायाम् देवप्रतिष्ठादौ। सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्यैव प्रामाण्य श्रूयते ॥५९९॥ जपकरणविधि —पुष्पैरिति—पर्यङ्कस्य पद्मासनेन स्थित निष्कम्पितम् अचलितम् अक्षवलयम् अक्षाणाम् इन्द्रियाणा वलय येन सर्वाणि इन्द्रियाणि सयम्य जप कुर्यादिति भाव। कै जपो विधेय इत्याह—पुष्पै कुसुमै, पर्वभि अङ्गुलिग्रन्थिभि, अम्बुजबीजै कमलबीजै, स्वर्णमणिभि, अर्ककान्तरत्नैर्वा सूर्यकान्तमणिभिर्वा जप कार्य। अथवा निष्कम्पितम् अचलितम् अक्षवलयम् जपमाला यस्य स जपी जप कुर्यात्। कमलबीजमालया, स्वर्णमणिमालया, सूर्यकान्तमणिमालया वा जपो विधीयेत जपिना ॥६००॥ अङ्गुष्ठे इति—मोक्षार्थी इदम् अक्षवलय जपमालारूपम्, अङ्गुष्ठे तथा तर्जन्याम् अङ्गुष्ठसमीपाङ्गुल्या बहि बाह्ये नयतु सचारयतु। पुन ऐहिकापेक्षी धनधान्याद्यपेक्षा कुर्वाण इतरासु अङ्गुलीषु मध्यमानामिकाद्यङ्गुलीषु अन्त वहिश्च ता नयतु सचारयतु। (जाप्ये कृते सति वहिर्वस्तु उच्चाटनीय जाप्य प्रापयतु इति-टिप्पण्याम्) ॥६०१॥ वचसेति—वचसा वाण्या, मनसा वा चित्तेन वा समाहितस्वान्तै ध्येये निश्चलीकृतमनोभि, जाप्य कार्य जपो विधातव्य, आद्ये जाप्ये वाण्या कृते जाप्ये शतगुण पुण्यम्, द्वितीये मनसा कृते जाप्ये वचनमनुक्त्वा विधेये जाप्ये सहस्रगुणित पुण्य जायते। वच कृते जाप्ये मनस स्थिरत्वात् शतगुण पुण्य मनोविहितजाप्ये ततोऽपि मनस स्थिरतरत्वात् सहस्रगुण पुण्य लभ्यते ॥६०२॥ नियमितेति—नियमित· स्वस्वविषयादाकृष्य आत्मनि नियन्त्रित करणग्राम इन्द्रियगणो येन। स्थानेति जिनालयादिक स्थानम्। पद्मासनादिकम् आसनम्। मानसस्य चित्तस्य प्रचार नाभिनेत्रललाटादिषु सचारण मन प्रचार इत्यादिजप साधनानि जानन्। पुन कथभूत। पवनेति—कुम्भकरेचकादिवायुधारणरेचनाद्युपायज्ञ पुमान् सम्यक्सिद्ध भवेत् अशेपज्ञश्च स्यात् ॥६०३॥ इममेवेति—पञ्चत्रिंशत्प्रकारवर्णस्थं पञ्चाधिकत्रिंशदक्षरोपेतम् इममेव मन्त्र 'णमो-अरिहताण' इत्यादिरूप प्रसिद्धम्। मुनय परमपदावाप्तये मुक्तिपदलाभाय। विधिवत् नियमितकरणग्राम इति श्लोकोक्तविधिमनुसृत्य जपन्ति ॥६०४॥ मन्त्राणामिति—अखिलाना मन्त्राणाम् अय एक पञ्चनमस्कार-मन्त्र· सिद्ध सन् कार्यकृद्भवेत् इष्ट कार्यं कुर्यात्। परे तु सर्वे मन्त्रा अस्य णमो अरिहताण एतावन्मात्रस्य एकदेशकार्यं न कुर्यु। सर्वेषु मन्त्रेषु अयमेव मन्त्र· श्रेष्ठ ॥६०५॥ कुर्यादिति—अङ्गुष्ठमारभ्य कनिष्ठिका-पर्यन्त करयो वामदक्षिणकरयो प्रकारयुगलेन (?) विधिपूर्वकाङ्गुलिरेपा करन्यास कुर्यात्। न्यास कृत्वा पञ्चनमस्कारमन्त्रम् उभयकरयोरङ्गुलीषु लिखित्वा। तदनु हृदाननमस्तककवचास्त्रविधि मनोमुखशिर सु कवचविधिम् अस्त्रविधि च कुर्यात्। कवचस्य विधि क देह वञ्चति विपक्षास्त्राणि वञ्चयित्वा रक्षति इति कवच तस्य विधि मन्त्रोच्चारेण सकलीकरणविधान विधातव्यः। एतत्सर्वं जपात्पूर्वं विधातव्यमित्यर्थ· ॥६०६॥ संपूर्णेनि—सपूर्णमति स्पष्ट। सनाद विन्दुसहितं ॐकार पञ्चपरमेष्ठिवाचकम्, आनन्दसुन्दरम् आनन्देन आत्मानुभवसुखेन सुन्दर रमणीयम्। जपत अस्य मुनेरुपासकस्य वा सर्वेषा समीहितानाम् अभिलषितानाम् अभ्युदयनि श्रेयसा सिद्धि प्राप्ति नि सशय सजायेत भवेत् ॥६०७॥ मन्त्र इति—परत्र मन्त्रे अन्यस्मिन्मन्त्रे ऋषिमण्डलादिमन्त्रे। फलोपलम्भे अभिलषितप्राप्तौ सत्यामपि। अयमेव पञ्चपरमेष्ठिमन्त्र सेव्य आराध्य। यद्यपि अग्रे शाखादिषु। विटपी वृक्ष। फलति प्रादुर्भूतफलो भवति। तथापि तस्य वृक्षस्य मूल जलेन सिच्यते। तदसिञ्चने न फलोपलब्धिस्तथा अस्मिन्मन्त्रे सेव्यमाने इतरेभ्य एतन्मूलकेभ्यो मन्त्रेभ्य फललाभो भवेत् ॥६०८॥ अत्रामुत्रेति—गुरुपञ्चकवाचकान्मन्त्रात् पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रात्। आरोपमन्त्र अत्र अस्मिन् लोके। परत्र च स्वर्गादौ च। नियत निश्चयेन कामितफलसिद्धये अभीष्टफललाभाय। नाभूत् नाभवत्। नास्ति न भवति। न भविष्यति च ॥६०९॥ अभिलषितेति—अस्मिन् मन्त्रे इष्टपदार्थदाने सुरगोसदृशे सति कामधेनुसदृशे सति तथा अस्मिन्मन्त्रे दुरित पाप तदेव द्रुम तरु तस्य पावकेऽग्निसदृशे सति। दृष्टादृष्टफले दृष्ट लब्धम् ऐहलौकिकं धनादिकम् अदृष्ट पारलौकिक स्वर्गादिफल यस्य तथाभूते सति परत्रमन्त्रे

अन्यमन्ये मनः कथं वशमस्तु कथमासक्तो भवतु ॥११०॥ दृश्यमिति—मनसि स्वचित्ते बाह्यं मनः बहिः पुद्गलादौ प्रवर्तमानं मनः बाह्यम् उच्यते तत् अन्तर्वृत्ति अन्तर्मुखं कृत्वा आत्मस्वरूपरतं विधाय। हृषीकगणम् इन्द्रियसमूहम्। मरुता वायुना नियम्य निगमय्य। सम्यग्ज्ञानप्रयत्नात् विवशं कुर्वतः सुधियः विदुषः अस्य कृतिनः पुण्यवतः किम् असाध्यं अस्ति न किमप्यसाध्यम् ॥१११॥

इत्युपासकाध्ययने जपविधिर्नामाष्टत्रिंशत्तमः कल्पः ॥३८॥

३९. ध्यानविधिनामैकोनचत्वारिंशः कल्पः।

[पृष्ठ २५२–२५७] आदित्यासुरिति—परं ज्योतिः आदित्यासुः परम् उत्तमं ज्योतिः निरावरणं ज्ञानं यस्य तम् अर्हन्तम् आदित्यासुः ध्यानविषयं कर्तुम् इच्छन्। शाश्वतं तद्धाम ईप्सुः शाश्वतम् अविनश्वरं तद्धाम तस्य अर्हतः धाम स्थानं मुक्तिपुरम् ईप्सुः वाञ्छन् समाहितः सम्यक् प्रणिधानं यतः उपासकः। इमं ध्यानविधिं मत्तः आकर्णयतु ॥११२॥ तत्त्वेति—तत्त्वस्य अर्हदादिपरमेष्ठिस्वरूपस्य जीवादितत्त्वस्य वा या चिन्ता ध्यानं सा एव अमृताम्भोधिः सुधासमुद्रः तस्मिन् दृढमग्नतया दृढं निःसंदेहं मग्नतया बुडितत्वात्। मनः बहिर्व्याप्तौ बाह्ये भौतिककनकादिवस्तुनि गतं कृत्वा ततस्ततः कृष्येत्। समासनम् पद्मासनम् पर्यङ्कासनं च आचरेत्। तदासनेन स्थित्वा ध्यानं क्रियतामित्यर्थः ॥११३॥ सूक्ष्मेति—सूक्ष्मः उच्छ्वासनिःश्वासः तस्य यमः प्रबोधः आयामो नियमः। समेति—समं नष्टः सर्वाङ्गानां सञ्चारः चलनं यस्य सः स्थिरीभूतसर्वाङ्गः। शालोत्कीर्ण इव ग्रावणि पाषाणे उत्कीर्ण इव उट्टङ्कित इव आसीत उपविशेत्। किं कुर्वन् ध्यानेति—ध्यानानन्दसुधां लिहन् आत्मस्वरूपैकाग्र्योत्पन्नात्मानुभवसुखपीयूषमास्वादयमान ॥११४॥ यदेन्द्रियाणीति—यदा यस्मिन् समये पञ्चापि इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि पञ्चमात्रैन्द्रियाणि। आत्मस्थानि आत्मन्येव तिष्ठन्ति स्पर्शरसादिविषयान् विमुच्य आत्मनि ज्ञानदर्शनलक्षणे स्थिरीभवन्ति। तदा तस्मिन्काले। अन्तश्चित्ते ज्योतिः निरावरणं ज्ञानं स्फुरति उद्गच्छति तथा चित्ते स्वस्वरूपे एव निमज्जति। बाह्ये वस्तुनि ज्योती रागद्वेषमोहादियुक्तं न भवतीति भावः ॥११५॥ ध्यानध्यातृध्येयतत्फलान्याह—चित्तस्येति—चित्तस्य मनस एकाग्रता एकस्मिन् अग्रे वस्तुनि शुभे पदार्थे वा स्थिरीकरणं ध्यानमुच्यते। आत्मा ध्याता कथ्यते ध्याने कृते सति ततो यत् फलं लभ्यते तेन स ध्याता ध्यानफलस्वामी ध्यातिरुच्यते। ध्येयम् आगमज्योतिः आत्मा आगमज्ञानतपः जीवः ध्येयम्। देहात्मना तद्विधिः नायकस्य वा। एवं ध्यानादीनां चतुर्णां स्वरूपम् उक्तम् ॥११६॥ तैरश्चमिति—तिरश्चामिदं तैरश्चं पशुभिः कृतम्। अमरैर्देवैः कृतम्। मानुषं मर्त्यैर्मनुष्यैः कृतम्। नाभसं नभसो जातम् वज्रादिपतनादिरूपम्। भौमं भूमेर्जातम् भूकम्पादिकम्। आङ्गम् अङ्गात् जायते इति आङ्गम् रोगादिकम्। एतत्सर्वम् अन्तरायं सहेत। एतेभ्यो जातानाम् अन्तरायाणां सहनं कुर्यात्। कर्मभूत ध्याता स्यात्किम् इदं रागद्वेषौ अविभ्रमतः इति इमानि अपराजित तत्। रागद्वेषमोहरूपत्वात् आर्तध्यानं रौद्रध्यानं चोत्सृजेत्। अत तौ विमुच्य धर्मध्यानेन शोधयित्वा धर्म्यं ध्यानं ध्यायेत् ॥११७॥ नाश्रमित्वमिति—आश्रमित्वं समाधिहेतुकम् अविघ्नाय विघ्ननाशाय न भवति। अजीवत्वं पापरत्वं सर्वं अमरत्वं मरणरहितत्वाय न भवति। तस्मात् तत् अविघ्नपदमात्मा संक्लेशपरिणामरहितः परं परमं मुख्यमात्मस्वरूपमेव चिन्तयेत् विमृशेत् ॥११८॥ यत्रेति—यत्र यस्मिन् स्थाने ग्रामनगरादौ। इन्द्रियबाधाः इन्द्रियवशेन तत्र स्पर्शादिविषयाः गृह्यन्ते विषयेषु विषयविषयानुसारात्। तथा ग्राम समूहः इन्द्रियग्राम यत्र इन्द्रियविषयाः स्पर्शादयः सन्ति तत्र ध्याता न तिष्ठेत्। यत्र इन्द्रियबाधा ध्यानेन आसक्तिः संभवेत् तत्र ध्याता न तिष्ठेत्। विशेषेण आसक्ता आसक्तिः ध्यानस्य विघ्नकारिका। तेन ध्यानेन यत्र ध्येयचिन्तने स्थलं विघ्नं ध्याता नानुतिष्ठेत न आप्नुयात् तद्भूः तत्स्थानं ध्याता अध्यात्मनिष्ठस्य स्वस्वरूपलाभाय भजेत् आश्रयेत् ॥११९॥ देशस्य रसा धर्मस्य विमर्शम्। पञ्चगुरुस्मीति—पञ्चगुरवः पञ्च ध्यायं विदधे नाम

यस्य तथाभूत अपि अय देह । यत् यस्मात्कारणात् अलाबुफलायते तुम्बीफलसदृशो भवति। कस्मिन् विषये ससारसागरोत्तारे भवसमुद्रतरणे। तस्मात् तत प्रयत्नात् रक्ष्य । अलाबुफल कटुत्वादुद्भक्षणानर्हम् अनन्तस्य फल्गुजम तथापि तेन नर नदीसमुद्रादिक तरति तथा अय नरदेह पश्वादिदेहवत् नोपयुज्यते अतोऽसत्स्वपि अनेनैव ससारसागरस्तरीतु शक्यते न पशुदेहेन देवदेहेन वा। अत नृदेहोऽय प्रयत्नेन रक्षणीय ॥६२०॥ नरे इति—यथा अधीरे धैर्यरहिते पुरुषे वर्म तनुत्र कवचो वृथा विफलम् । असस्ये क्षेत्रे सस्य धान्य तत्र न तत्क्षेत्रम् असस्य धान्यरहितम् । तत्र वृति आसमन्तात् कण्टकादिभि परिवरण व्यर्था। तथा ध्यानशून्यस्य तद्विधि. वृथा अनेकाग्रवत नरस्य आसनादिकम्, विविक्तस्थान च वृथा स्यात् ॥६२१॥ बहिरन्तरिति—यथा वाते अस्पन्दो निश्चलो दीप आलोकनेन बहि प्रकाशेन उल्लासी शोभमानो भवति । तथा अन्तस्त्रसोवाते अन्त आत्मनि स्थितानि यानि तमासि अज्ञानानि तान्येव वाता वायवस्ते अस्पन्द निश्चल मनश्चित्त यत् यस्मात् तत्त्वावलोकनोल्लासि जीवादिसप्ततत्त्वदर्शनेन उल्लासि शोभमान भवति। तदा तत् ध्यान सबीज कारण बीज तेन सहित भवति। सालम्बन तद्ध्यान भवति इति ज्ञेयम् ॥६२२॥ निर्विचारेति—चेत स्रोत प्रवृत्तिषु चेतस मनस स्रोतासि प्रवाहाः तेषा प्रवृत्तय व्यापारा तासु। कथमूतासु निर्विचारावतारासु। विचार एकस्माद्ध्येयात् अन्यस्मिन् ध्येये मनस प्रवृत्ति विचार तस्य अवतार आगमन तद् यत्र न ता निर्विचारावतारा । स्वस्मिन् विषये एव मन प्रवृत्तिषु स्थिरासु जातासु आत्मनि एव स्फुरन् आत्मा ज्ञानदर्शनवति स्वरूपे एव विजृम्भमाण जीव । अबीजक ध्यान भवेत् । एकत्ववितर्कावीचाराख्य ध्यान भवेत्। इति भाव ॥६२३॥ चित्ते इति—अनन्तप्रभावे न अन्त विनाश यस्य स अनन्त स प्रभाव सामर्थ्य यस्य तत् अनन्तप्रभाव तस्मिन् चित्ते मनसि । पुन कथभूते प्रकृतया स्वभावेन रसवत् पारदवत् चले चञ्चले सति । तत् मन तेजसि आत्मनि ज्ञाने च स्थिरे जाते सति । जगत्त्रये किं न सिद्ध भवेत् आत्मनि ज्ञाने च मनसि स्थिरे भूते सर्वा अभ्युदयनि श्रेयससपदो लभ्यन्ते यथा पारदे तेजसि अग्नौ निश्चलीभूय सिद्धे सति सुवर्णादिसिद्धिर्भवति ॥६२४॥ निर्मनस्के—मनोहसे निर्मनस्के निर्विचारे सति। पुहसे आत्महसे सर्वत स्थिरे सति । सकल्पविकल्पमुक्ते सति। बोधहस ज्ञानहस अखिलालोक्यसरोहस अखिलानि सर्वाणि तानि आलोक्यानि विलोकितु ज्ञातु योग्यानि जीवादिवस्तूनि तान्येव सर सरोवर तत्रत्य हस जायते भवति। चित्ते रागद्वेषविहीने सति आत्मा आत्मन्येव स्थिरो भवति ततश्च स ज्ञानावृत्त्यादिघातिकर्मक्षयात् अखिलज्ञो भवति ॥६२५॥ यद्यप्यस्मिन् इति—यद्यपि अस्मिन्नत्र क्षेत्रे अस्मिन् चित्तस्थाने । ता ता क्रिया जीवादिध्येयेषु मनस एकाग्रीकरणरूपा ता ता प्रवृत्ति समादधत् सम्यक् कुर्वाण । किंचिद्भाव किंचिज्जीवादितत्त्वाना स्वरूप वेदयते विशेषतया जानाति, स्वात्मानुभवसुख चानुभवति। तथापि अत्र न विभ्रमेत् न मुह्येत् । मया आत्मानुभवो लब्ध इति विमर्शेन न हृष्येत् । हेयम् उपादेय च वस्तु यथावत्पश्येत् इत्यर्थ, अन्यथा रागादिभि अभिभूत स्यात् ॥६२६॥ विपक्षे इति—क्लेशराशीना दु खसमूहानां विपक्षे शत्रुभूते अस्मिन् स्वात्मानुभवे अय विभ्रम मोहो हर्षो वा यस्मान्न एष विधिर्भवेत् । तस्मात् पर ब्रह्म परमात्मस्वरूपम् आश्रित ध्याता अस्मिन् विषौ न विस्मयेत नाश्चर्य गच्छेत् न दर्प गच्छेत् । दर्प गते सति आत्मानुभवात् च्युतिर्भवेत् ॥६२७॥ प्रभावेति—प्रभाव अनुभाव । ऐश्वर्य विभव । विज्ञान, देवतासगमादय देवताया सगम प्रसन्नताभाव , आदौ येषा ते सर्वे व्यापारा एतानि सर्वाणि कार्याणि । योगोन्मेषात् ध्यानस्योदयात् ध्यानस्य प्रभावात् भवन्तोऽपि अमी तत्त्वविदा जीवादिस्वरूपज्ञानिना मुदे आनन्दाय न भवन्ति ॥६२८॥

[पृष्ठ २५८-२६१] भूमाविति—यथा रत्नाना जन्म उत्पत्ति भूमौ भवति इति सत्य एतावता यत्र कुत्रापि भूमौ रत्नजन्म न भवतीति ज्ञातव्यम् । तथा आत्मज आत्मनो जायते इति आत्मज ध्यान नाचेतनेभ्य पुद्गलादिभ्यस्तज्जन्म इति सत्य तथापि आत्मज ध्यान सिद्धमपि सर्वत्राङ्गिनि सर्वजीवराशौ तद्भवेदिति न ग्राह्यम् ॥६२९॥ तस्येति—तस्य ध्यानस्य परमम् उत्कृष्ट काल समय मुनय अन्तर्मुहूर्त वदन्ति तावत्काल मन अपरिस्पन्दमान निश्चलम् तत्पर ध्येये स्थिर भवति । तत पर मन दुर्धर भवति ॥६३०॥ तत्कालमपि इति—स अन्तर्मुहूर्तावधिक कालो यस्य तद्ध्यानम् आत्मनि एकाग्रम् आत्मविषये स्फुरत् जृम्भमाण उच्चै महान्तं

कर्मोत्पन्नं ज्ञानावरणादिकर्माष्टकम् भिन्द्यात् । आत्मनः सकाशात् पृथक् कुर्यात् । यथा मन्त्रम् अशनिः शैलं समाद् भिन्द्यात् स्फोटयेत् ॥६११॥ कल्पैरिति—कल्पैरपि कल्पप्रमाणैरपि युगान्तरैरपि मुमुक्षुः मोक्षमार्गम् अलब्ध्वापि मुक्तिं उपयुक्तमपि लोप्तुं न शक्यः अनंतप्रकल्पकालान् यावत् मुमुक्षुः समुद्धरितमीरपाय प्रयतमानोऽपि सन् तत्कार्यकरणे समर्थो न भवेत् । परं अल्पमन्तम् मात्र युगान्ततो वायुः तं समुद्रं पुनः शोषम् आनयेत् । तथा यदा आत्मध्यानमात्मनि स्फुरति तदा अनन्ताः कर्मस्कन्धाः अन्तर्मुहूर्तेनैव तेन विध्वस्यन्ते ॥६१२॥ रूपे मन्त्रीति—रूपे अमतत्त्वाधी भवति परकायप्रवेशार्थी चित्ते विषम् प्रवेश कुरुम् कामितं वाञ्छितं लभेत यथा तथा भयम आत्मा आत्मना स्वैनैव आत्मनि स्वस्वरूपे निरतः रतो भवन् कामितम् अभिलषितं शिवम् अनन्तसुखं लभेत प्राप्नुयात् ॥६१३॥ ध्यानहेतवः—वैराग्यमिति—वैराग्यं संसारात् भीतिः संवेगः तस्मिन् जाते सति वनादीनां भोगादीनां च त्यागरूपा परिणतिस्तत्स्वरूपे सैव वैराग्यं मन्यते । ज्ञानसम्पत्तिः अध्यात्मज्ञानप्राप्तिः । असंगः ममत्वरहितरूपः परिणामः असंगः । स्थिरचित्तता मनसः एकस्मिन्विषये निश्चलता । ऊर्मिस्मयसहत्वं च । क्षुत्पिपासे जरामृत्यू शोकमोहौ षडूर्मयः । एता षड्विधा पीडा । स्मयो गर्वः सोऽष्टविधः ज्ञानपूजाकुलजातिबलर्द्धितपोवपुषाम् अष्टानां गर्वः । एतेषां सहनम् एते योगस्य ध्यानस्य प्राप्त्यर्थं पञ्च हेतवः कारणानि सन्ति ॥६१४॥ ध्यानान्तरायाः—आधीति—आधिर्मानसी व्यथा । व्याधिः शरीरे रोगपीडा । विपर्यासः वस्तुनो विपरीतज्ञानम् । प्रमादः कुशलकर्मानादरता । आलस्यं कार्ये मन्दत्वम् । विभ्रमः इदं वस्तु इदं वेति असत्यनिश्चयः । अलाभः विविक्तदेशाद्यलाभप्राप्तिः । संगिता जनादिषु सुग्नता । अस्थैर्यं चित्तस्यानैकाग्र्यम् । एते नव तस्य ध्यानस्य अन्तरायकाः विघ्ना मताः ॥६१५॥ यः कण्टकैरिति—यः कण्टकैः अङ्गं देहं तुदति पीडयति । मन्त्र यदः विलपति अङ्गं चन्दनेन । तयोः कार्ययोः रोषे तोषेऽपि अविषयभावना अनासक्तप्रकृतिः । ध्याता योऽयम् मुक्तिपदम् अध्यानैश्च भवेत् ॥६१६॥ ज्योतिर्बिन्दुरिति—ॐकारस्याकारेण बिन्दुकलादीनामाकारेण च निर्बीजीकरणं यत्न करोति । तत्प्रभावे मरणस्य जयो भवति इति मिथ्यादृष्टयः कथयन्ति तत्कथनम् । बिन्दुः अर्धचन्द्रकला नादः अनुस्वारः उपरि एवा अर्धमात्र (?) नादः कथ्यते । कुण्डकुण्डली तन्नादादिना नाडीकरणम् । त्रिवेणी(?) कुम्भनिरोधनं रेचकादिबहुप्रकारस्तैन बहुबन्धनम् । प्रेतादि(?) निर्बीजीकरणादिकम् ज्योतिर्बिन्दु कलादीनामाकारेण पुनरपि शाबनं नामित्रकुलेषु स्थानेषु कार्यम् । ब्रह्मग्रन्थिः—त्रिविधानग्रात्मनः ब्रह्मग्रन्थिः कथ्यते । तथापि निर्बीजीकरणं भवति । नेत्रनासिकामुखमार्गेण पुरुषेन शाबनं कर्म मृत्युञ्जयं भवति शावनाभ्यासेन यदा अभ्यस्तता भवति तदा निर्बीजीकरणं क्रियते तेन कर्मणा भयो भङ्गिते सति परकालेऽपि मरणं न स्यादित्यर्थः । अभि—अमिकायाम अभितत्वं वर्तते । रवी—रविमण्डलयाम्, चन्द्रे चन्द्रमण्डलयाम् । मूलात्मको लिङ्गविवरे हृदये छिद्रं विधाति तदा नाडी मेरुस्थितमपि स्यात् । चन्द्रादिवाहिनीनाम् अभिधान टिप्पणी वर्तते वा टिप्पणी एकाक्षिनिरिजा । एतेषां अन्यानां कौलानाम् अत्र सम्भावना नास्त्योऽस्माभिः ॥६१७–६१९॥ कर्माणीति—यदि चेत् एवंविधैर्मनैः प्राणायामादिभिः उपायैः कर्माणि साध्यानि नतु शक्यानि तदे कुर्मादिः सतो मयनादिकम् । अन वाक्या मनसा वा मन्त्रादिकनिम् । बाह्यैरपि मल्लाश्वमेरुङ्गुह्मम् । तान् स्वरादानुपहार्य स्मरेत भवादेर्वनिम् । अभ्यन्तं स्वाध्यायः एतानि यानि आवश्यकादिरहितानि कार्याणि तैः कर्माणि भवेत् । एवं उपायैः अवगमादिकर्माणि ध्यायेत्सु ॥६४०॥ योऽपिपासितेनेति—यः पुमान् अविद्या तिरस्कृत्य अविद्याविनाशकेन । तत्र स्वोरतामं देहादिविषयेषु देहजनिमाचं कुरुतु । इन्द्रियार्थेषु इन्द्रिय प्रयोजनमात्रेण । प्राणायामादिषु अयत्नता आसक्त योऽपि किम योगी कथ्यते । विनेयदक्षो । योगीति नैव कथ्य ॥६४१॥ सम्यगिति—यतः पुनः इन्द्रियार्थेभ्यः मनः अनविपुरुषे चित्तं धीयते । न अत्र सति रोधनस्य तस्य इन्द्रियविषयाभिलाषा निरोधात् भवति आत्मनि आत्मा तथापि स्व आत्मस्वरूपे तत्त्वम् ईक्षते अभिगच्छति । आत्मनन्तं चिदानन्दस्वरूपम् अत्र धीयते तावन्तं मुक्ताभिलाषी भवेत् ॥६४२॥ आत्मन इति—आत्मस्वरूपस्य ज्ञाता आत्मानुभवं न अनवदातस्वैश्चर्यानंदो न परिवारदेहं च आत्मा देव विद्यमानो न तथा । एवं भवति योगी रागद्वेषविमुक्तः आत्मस्वरूपं ज्ञात्वा स्वस्वरूपे स्थितः योगी आत्मा ज्ञानानन्दरूपं विभावयति वा । यथा योगी ध्यानयोगेन

लङ्घनस्वेदनवमनादिभिरोषधसेवनेन च कालेन सचित कफादिक निरस्य कल्पता नीरोगता एति याति तथेति भाव ॥६४३॥ लाभेऽलाभे इति—य मुनि लाभे अलाभे। वने वासे ग्रामनगरादौ च। मित्रे अमित्रे शत्रौ च। प्रिये अप्रिये मनोज्ञे अमनोज्ञे च। सुखे दु खे च समानात्मा भवति उपेक्षायुत रागद्वेपरहितो जायते। तस्य सदा ध्यानधी आत्मानुभवलाभाय ध्यानधी एकाग्रबुद्धिर्भवति ॥६४४॥ कीदृगाचरण ध्यानलाभहेतुर्भवतीत्याह—परे ब्रह्मणीति—परे उत्तमे ब्रह्मणि आत्मनि परमात्मनि परमात्मस्वरूपप्रतिपादकागमे अनूचान विचक्षण। धृति सतोष। मैत्री परेषा दु खानुत्पत्त्यभिलाप, दया अनुग्रहार्द्रीकृतचेतस परपीडामात्मस्थामिव कुर्वतो यो मन परिणाम सा दया। धृत्या मैत्र्या दयया च अन्वित धृतिमैत्रीदयान्वित, स मुनि सूनृताद्वाक्यादन्यत्र सत्यप्रियवाक्याद्विना अन्यत् असत्यम् गर्हितम्, सावद्यम्, सदपह्नवादिक भाषण न ब्रूयात्। अर्थात् नित्य वाचयमी मौनवान् भवेत् ॥६४५॥

[पृष्ठ २६२-२६८] संयोगे इति—इष्टलाभे, विप्रलम्भे इष्टवियोगे। निदाने भाविविपयभोगकाङ्क्षायाम्, परिदेवने स्वपरानुग्रहाभिलापविपये अनुकम्पाप्रचुरे रोदने, हिंसाया प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणे। अनृते प्रमत्तयोगादसदभिधाने। स्तेये प्रमत्तयोगाददत्तादाने। भोगरक्षासु इन्द्रियविपया भोगा तेपा रक्षासु तत्परे। जन्तो प्राणिन अनन्तससारभ्रमैनोरथवर्त्मनी अनन्तभवेपु भ्रमणे पापरूपरथमार्गभूते द्वे ध्याने भूमिर्ययोस्ते एनोरथवर्त्मनी पापरथसचारमार्गस्वरूपे दुरन्तफलदायिनी दुष्टोऽन्तो येपा तानि फलानि दत्त. इति दुरन्तफलदायिनी नरकतिर्यग्गतिदु खफलदायके आर्तरौद्रे ध्याने त्यजेत् मुञ्चेत् ॥ ६४६-६४७ ॥ बोध्यागमेति—बोध्यो ज्ञातु योग्यो मुमुक्षुभिर्य आगम स बोध्यागम। तस्य कपाटे तस्य स्वरूपप्रच्छादकत्वात् कपाटसदृशे। तथा ते दुर्ध्याने परे मुक्तिमार्गार्गले परे दृढे मुक्तिपथरोधके। श्वभ्रलोकस्य नरकलोकस्य सोपाने निश्रेणीसदृशे। तत्त्वेक्षावृतिपक्ष्मणी जीवादिद्रव्याणा यथागमे याथात्म्य प्रोक्त तस्य तथा भवनं तत्त्व तस्य ईक्षा पुन पुनर्विमर्श: तस्या आवृतिराच्छादन तस्मिन् पक्ष्मणी नेत्रच्छदसदृशे ॥ ६४८ ॥ लेशतोऽपीति—यावत् यावत्कालम् एते आर्तरौद्रध्याने लेशतोऽपि स्तोकमपि मनः चित्त समधितिष्ठत आश्रयत तावत् एप जन्मतरु जननवृक्ष उच्चै समधिरोहति अतितुङ्गो वर्धते ॥ ६४९ ॥ ज्वलन्निति—ज्वलन् प्रकाशयुतो भवन् प्रदीप अञ्जन कज्जलम् आधत्ते धारयति उत्पादयति। पर रविर्ज्वलन् अञ्जन न आधत्ते। तथा आशयविशेषेण ध्यान फलम् आरभते शुभाशुभशुद्धपरिणामविशेषतया ध्यान शुभाशुभशुद्धफल जनयति। अशुभपरिणामविशेषेण आर्तरौद्रद्वय नरकतिर्यग्गतिफल ददाति। शुभपरिणामविशेषेण धर्म्यध्यान देवगतौ सुख ददाति। शुक्लध्यान शुद्धोपयोगपरिणामे मुक्तिसुख ददाति ॥ ६५० ॥ प्रमाणनयनिक्षेपैरिति—प्रमाण प्रकर्षेण सशयादिदोपरहित वस्तुतत्त्व येन मीयते तत्प्रमाणम्। नय प्रगृह्य प्रमाणत परिणतिविशेषादर्थावधारण नय। निक्षेप —नामादिभि वस्तुनिरूपण निक्षेप। अनुयोग सदादिप्रश्नै जीवादिस्वरूपनिश्चयोऽनुयोग। अनुयोगसहितै प्रमाणनयनिक्षेपै विशुद्धधी विशुद्धबुद्धिर्मुनि धर्मध्यानपरायण सन् तत्त्वेपु जीवादिपु मति तनोति विस्तारयति ॥६५१॥ अरहस्ये इति—यथा सती, काञ्चनकर्मणी पतिव्रता स्त्री, सुवर्णालकारश्च अरहस्ये गोपनीये न भवत. निर्दोषत्वात्। तथा सुधिय परमागमम् अरहस्य निर्दोपम् इच्छन्ति ॥६५२॥ यः स्खलतीति—य अल्पबोधाना मादृशा विचारेष्वपि स्खलति य आगम अल्पज्ञानाना मादृशा कार्यकारणविमर्शसमये स्खलति वस्तुतत्त्वनिर्णय दातु क्षमो न भवति। असत्यत्वात्। स आगम ससारसमुद्रे मज्जज्जन्त्वालम्ब ब्रुडत्प्राण्युत्तारक. कथ स्यात्। सर्वज्ञप्रणीतमागम प्रमाणीकृत्य "इत्थमेवेद नान्यथावादिनो जिना" इति गहनपदार्थश्रद्धानमर्थावधारणम् आज्ञाविचयाख्य धर्म्मध्यान ज्ञातव्यम् ॥६५३॥ अपायविचय धर्म्यध्यानमाचष्टे—अहो मिथ्यातम इति—युक्तिद्योते स्फुरति अपि अनेकान्तरूप पदार्थनिवह प्रमाणनयप्रकाशे प्रदर्शयत्यपि। मिथ्यातम अतत्त्वश्रद्धान विपरीतादिमिथ्यात्वसमूह पुसा भव्यजनाना चेतासि मनासि अन्धयति हिताहितविवेकशून्य करोति। कुत्र ? रत्नत्रयपरिग्रहे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यमोक्षमार्गस्वीकारे। अहो आश्चर्यम् ॥ ६५४ ॥ आशास्महे इति—तत् तस्मात् कारणात्, एतेपा भव्यजनानाम् आशास्महे एतेऽपि रत्नत्रयपरिग्रहवन्तो भवन्त्विति इच्छाम। अस्तकल्मपा निराकृतमिथ्यात्वपापा एते अद्य कथ दु ख-

निवर्हणं चतुर्गतिषु भवाधनं तत्त्वं यथावस्थमनेकान्तवस्तुस्वरूपं प्रकाशयन्ति । यथा ते तत्स्वरूपं प्रकाशयन्ति तथा तेषाम् आज्ञास्महे ॥ इति अपायधर्म्यध्यानम् ॥१५५॥ लोकविचयधर्म्यध्यानमाह—अकृत्रिम इति—अयं लोकः अकृत्रिमः नहि केनापि देवेन रचितः । विचित्रात्मा नानाविधस्वरूपः । मध्ये च नक्षत्रादिमान् चन्द्रार्कौ सहितः नक्षत्रमण्डलसुशोभितः । मरुत्समीरैः घनवातेन अम्बुवातेन तनुवातेन च सर्वतो वेष्टितः । प्रान्ते अस्य लोकस्य प्रान्ते मध्ये व्याप्तमनिष्ठितः तेषां मुक्तानां धाम आस्पदं निवासः तेन निष्ठितः समाप्तिं गतः । मुक्तानां निवासो लोकस्यान्ते स्थितः इति भावः । तत ऊर्ध्वं सर्वतः अलोकाकाश एवेति पुनः पुनः लोकस्य विचारणं लोकविचयधर्म्यध्यानमित्यर्थः ॥१५६॥ विपाकविचयधर्म्यध्यानमाह—रेणुवदिति—अत्र अस्मिल्लोके । तिर्यक् मध्यलोके । ऊर्ध्वम् उपरि स्वर्गादौ । अधः पाताले च । एते जन्तवः त्रसस्थावरप्राणिनः । रेणुवत् धूलिरजसा वायुप्रेरिता यथा तिर्यक् इतस्ततः ऊर्ध्वम् अधः अत्र कुत्रापि भ्रमति । तथा निजात्मीयकर्माणि यानि शुभाशुभानि तान्येव अनिलः वायुस्तेन ईरिता नोदिताः । अनारतम् ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्षु स्थानेषु भ्रमन्ति विविधान् देहान् धृत्वा । एवं पुनः स्मरणम् एकाग्रचेतसा लोकविचयध्यानम् ॥१५७॥ इतीति—इति एवं प्रकारेण । धर्म्यं चतुर्विधं धर्म्यध्यानं चिन्तयतः एकाग्रेण मनसा । पुनः कर्मभूतस्य । यतेति—'यतानि वान्तानि वशीकृतानि इन्द्रियाणि चेतो मनश्च यत्र तस्य मुने । तमांसि पापानि । द्रुतं विनाशम् आयान्ति गच्छन्ति । कस्मादिव । द्वादशेति—द्वादशात्मा सूर्यः मेषवृषादिराशीन् क्रमशः गच्छन्नपि स द्वादशात्मा कथ्यते । यथा सूर्यस्योदयात् ध्वान्तं पलायते तथा इन्द्रियाणि मनश्च वशीकृतस्य धर्म्यध्यानं चिन्तयतो मुनेः तमांसि अज्ञानानि विनाशं यान्ति ॥१५८॥ भेदमिति—विवर्जिताभेदम् अभेदं परित्यज्य भेदं ध्यानम् । भेदवर्जितम् अभेदं च ध्यानम् ध्याता शुद्धक्रियायुक्तो कायवाङ्मनसां व्यापारान् शुद्धीकरोति । ततश्च पूर्वविधया क्रियाशुद्धो भूत्वा निष्क्रियो भवति । योगत्रयरहितः ध्याता ततो निष्क्रियं ध्यानं प्रतिपद्यते स्वीकरोति ॥१५९–१६०॥

कीदृगात्मा मोक्ष इत्युच्यते—प्रक्षीणोभयेति—मनीषिणः स्याद्वादिनो विद्वांसः मोक्षम् आहुः । कर्मभूतं मोक्षम् । प्रक्षीणेति—प्रक्षीणे प्रनष्टे बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कर्मणी द्रव्यभावाख्ये यस्य सः तम् । पुनः कर्मभूतम् । जन्मदोषैर्विवर्जितम् जन्म चतुर्गतिभ्रमणम्, दोषाश्च आवरणानि क्षुत्पिपासादयश्च तैर्विवर्जितम् । पुनः कर्मभूतं मोक्षम् । अक्षयेति—अक्षयाः प्राप्ताः गुणाः अनन्तज्ञानादयोऽनन्ताः गुणा यस्य तथाभूतम् आत्मानं मोक्षम् आहुः ब्रुवन्ति । सकलकर्मक्षयम् प्राप्तानन्तगुणम् द्रव्यभावकर्मरहितम् नष्टचतुर्गतिभ्रमणम् दोषरहितम् आत्मानम् विद्वांसः मोक्षं कथयन्ति इति भावः ॥१६१॥ ध्यातुर्ध्येयमाचष्टे—मार्गसूत्रमिति—मार्गो मोक्षमार्गः तस्य सूत्रं 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' तद् ध्याता ध्यायेत् चिन्तयेत् । कर्मभूतो ध्याता आगम एव चक्षुर्यस्य स आगमचक्षुष्मान् स्याद्वादागमलोचनः । पुनः कर्मभूतः । प्रशस्तेति—प्रशस्तध्यानम् एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं तत्र परायणः प्रणिधानपरः । किं किं ध्यायेत् । अनुप्रेक्षाः शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनम् । सप्ततत्त्वं जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाख्येति सप्ततत्त्वानि तेषां समाहारम् । जिनेश्वरं प्रक्षीणघातिकर्माणं तीर्थकरदेवम् च । ध्यायेत् चिन्तयेत् ॥१६२॥ ज्ञान इति—यथा येनैव तत्त्वम् । इति इदं सत्यम् येनेदम् आख्यातम् जिनागमे । तत्त्वं जीवादिकं यथा यत्र येन तथा तन्मयी गतिम् अनन्याधीः यत्र स आगमे एव नान्यत्र इत्येवमतः । अहं सत्ये अस्मिन् मिथ्यागमे न कदाचनापि मम मतिः प्रवर्तेत । अहं सर्वम् आत्मनं शुद्धं प्राप्तिरीक्षाद्युक्ताकार आत्मनं न स्पृशामि । तथा आत्मनि ज्ञानदर्शनलक्षणे निश्चयेन आत्मानं स्वयम् आत्मने स्थापयामि स्थिरीकुर्वे । न बाह्ये वस्तुनि ॥१६३॥ आत्मानमिति—अयम् आत्मा जीवितमने रत्नत्रयविधौ तत्परात् । यदा आत्मना स्वेनैव स्वस्मिन् शुद्धात्मना । आत्मनि निजे स्वकीये स्थितवान् भवति तदा आत्मानं ज्ञानदर्शनलक्षणं शुद्धम् बाह्यवस्तुरहितं शुद्धे जानाति । तदा परमात्मना परमः आत्मा परमात्मा सकलकर्मरहितात् केवलज्ञानलाभाच्च निरामयं प्राप्तः आत्मा परमात्मा तस्य स्वरूपेण न आत्मानं लभते । यथा वर्तिः दीपं प्राप्य दीपा भवति तथा ध्यानाग्निना योगपरो एकाग्रीभूय चिन्मयस्वरूपेण आत्मानं योगी लभते ॥१६४॥ स्वरूपान्तविन्दौ आत्मैव ध्यातृध्यानध्येयात्मकतां करोति दर्शयति—ध्यानमिति—आत्मैव ध्याता भवति । यथा कुविन्दादिवत् प्रमाणवर्ती यथा कुविन्द

तस्या परिग्रह युक्तिपरिग्रह यथार्थत्वेन सम्यक्तया प्रमाणनयानाम् आश्रय कृत्वा निजस्वरूपम् आत्मा चिन्तयति तदा स ध्यातोच्यते । रत्नत्रय ध्येय भवति । आत्मैव आत्मान चिन्तयति निजेनैव स्वरूपेण निज रूप चिन्तयति । अतो ध्यानमप्यात्मैव । रत्नत्रय तस्य चिन्तनात्प्राप्यतेऽतस्तदेव आत्मनोऽनन्यं फलम् । अत्र रत्नत्रयम् आत्मन सकाशात् अभिन्नम् । अत रत्नत्रयवान् आत्मा रत्नत्रयमेवोक्त ॥६६५॥ सुखामृतेति—आत्मन निजस्वरूपे एव रति सुखामृतम् उच्यते । तस्योत्पत्ते आत्मा कारणम् । अत सुखोत्पत्तिर्यथा सुधासूतेश्चन्द्राज्जायते तथा सुखामृतोत्पत्ते कारण आत्मैव न स्त्रीस्रक्चन्दनादिवस्तूनि । अयमात्मैव निजानन्दरवे उदयाचल । परम् अह ग्रहापि अत्र अस्मिन ससारे तम पाशवशीकृत: तमोऽज्ञान तत् पाश इव पाश । यथा पाशेन कण्ठो निरुध्यते तथाऽज्ञानपाशेनायमात्मा निरुद्धत्वादचेतन इव स्वस्वरूपज्ञानमूढो भवति ॥६६६॥ यदेति—यदा काललब्धिर्मासाद्य पञ्चेन्द्रियसज्ञिपर्याप्तकत्वपर्याय प्राप्य सर्वविशुद्धया सम्यक्त्व चारित्र च लभते ममात्मा तदा तद्ध्यानोदयगोचर मे चेतश्चकास्ति । तस्य निजस्वरूपस्य ध्यान चिन्तन तस्य उदय उत्पत्ति स गोचरो विषयो यस्य तथाभूत चेत चकास्ति प्रकाशते । तदा आदित्य सूर्य अन्धकार निरस्य अतमा ध्वान्तरहित जगता चक्षुर्भवति । लोक निजतेजसा प्रकाशयति । तथा अहमपि अतमा तम मिथ्याज्ञान तेन रहितो भूत्वा आदित्यवत् प्रकाशमयो ज्ञानमयो भूत्वा जगता त्रिलोकाना चक्षु स्याम् यथार्थवस्तुस्वरूपदर्शको भवेयम् ॥६६७॥ इन्द्रियजसुखस्वरूप दर्शयति निदर्शनेन—आदाविति—सर्वम् इन्द्रियसुख पञ्चेन्द्रियविषयसुखम् । आदौ प्रारम्भे । मधुवन्मकरन्दवत् प्रतिभाति । पर प्रान्ते अवसाने तदेव अमधु कटुकम् अप्रिय जायते । यथा हेमन्ते शीततौ प्रात स्नायिषु प्रभातकाले स्नान कुर्वत्सु अङ्गिषु नरेषु तोयम् उष्णमिवाभाति । पर सूर्योदयानन्तर तदेव नीर तथा नानुभूयते ॥६६८॥ सर्वेऽपि यमेन कवलीक्रियन्ते जीवा । यो दुरामयेति—य दुरामयदुर्दर्शो य यम दुष्टेन रोगेण पीड्यमानत्वात् दुर्दर्श दुष्ट' कुरूप दर्श दर्शन यस्य, रोगेण कुरूपाकार जुगुप्स्याकार यो नर तस्मिन् । य बद्धग्रास त नर य ग्रासीकरोति । तस्य यमस्य । स्वभावसुभगे प्रकृतिसुन्दरे नरे । स्पृहा अभिलाषा । केन निवार्यते । न केनापि ॥६६९॥

[पृष्ट २६९-२७०] जन्मेति—जन्म जननम् यौवन तारुण्यम्, सयोगसुखानि इष्टजनसहवाससुखानि । यदि देहिना प्राणिनाम् । निर्विपक्षाणि निर्गतो विपक्ष शत्रुर्येभ्यस्तानि यदि भवेयु । तदा को नाम सुधीर्मतिमान्नर ससारमुत्सृजेत् मव त्यजेत् । गृहीत्वा दीक्षा को नाम जन तप क्लेश सहेत । जन्मन शत्रुर्मरणम् । यौवनस्य शत्रुर्जरा । सयोगसुखस्य शत्रु इष्टवियोगदु खम् ॥६७०॥ अनुयाचेतेति – आयूषि न अनुयाचेत आयुर्वृद्धये न स्पृहयेत् । नापि मृत्युम् उपाहरेत् मृत्युर्मे भूयादिति नाभिलषेत् । कालावधि कालस्य मर्यादाम् अविस्मरन् चिन्तयन् भृत भृत्य इव द्रव्यक्रीतो दास इव आसीत् । यथा भृत्य स्वामिन यावत्काल तेन न मुच्यते तावत्काल त सेवते तथा आयु समाप्तिर्यावन्न भवेत्तावत्काल स्वस्थेन चेतसा आसीत ॥६७१॥ महाभाग इति – अहम् अद्य महाभाग महाभाग्यवान् । अस्मि भवामि । यत् यस्मात्कारणात् तत्त्वरुचितेजसा जीवादिसप्ततत्त्वाना रुचि जिनदेवेन यत्सप्ततत्त्वाना स्वरूप प्रत्यपादि तत्र न दोषकणिकापीति विमर्शात्सजातहर्षेण नखच्छोटिकादान तदेव तेज तेन । अह सुविशुद्धान्तरात्मा अतीव निर्मलान्तरात्मा जात । मम प्राक्तन बहिरात्मस्वरूप यदन्धकारसदृशमासीत्तन्नष्टम् । अधुनाह तम पारे प्रतिष्ठित आसे । सम्प्रत्यह मिथ्याश्रद्धानतम उल्लङ्घ्य स्वस्वरूपे श्रद्धानरूपे स्थिरो जात स्वैर वर्ते ॥६७२॥ जैनागमसुधाया दुर्लभत्वमाह – तन्नास्तीति – लोके जगति । अह यत् सुख दु ख च नाप्तवान् न लब्धवान् तन्नास्ति । चतुर्गतिभवानि सर्वाणि सुखानि दु खानि च मया अनन्तवार भुक्तानि । पर मया स्वप्नेऽपि जैनागमसुधारस न प्राप्त । जागरितावस्थाया जिनप्रोक्तस्य आगमपीयूषस्य आस्वाद दूर एव आसीत् ॥६७३॥ जैनागमसुधाबिन्दुमप्यालिहतो जनस्य ससारज्वलनशान्तिर्भवतीति वदति – सम्यगिति – एतत्सुधाम्भोधे एष चासौ सुधाम्भोधि एतत्सुधाम्भोधि तस्य एतस्य जिनागमपीयूषसागरस्य । बिन्दुमपि मुहु पुन पुन आलिहन् आस्वादयन् जन्तु । जातु कदाचिदपि । जन्म एव ज्वलनोऽग्नि तस्य भाजन पात्र न जायेत । तस्य जीवस्य ससाराङ्गारस्पर्श कदाचनापि न भवेत् ॥६७४॥ अधुना अर्हत स्वरूप पञ्चदशभि श्लोकैर्व्यावर्णयति सूरि । तत्स्वरूप-

ध्यानेन तद्ध्यानं कर्तुं सुशकं भवेत् यत – देवं देवसमासीनमिति – ध्यायेदिति पञ्चवक्त्रपदस्थित क्रियया संबन्धः । कथंभूतम् अर्हन्तं ध्यायेत् । देवमिति – दीव्यते स्तूयते इन्द्रादिभिरिति देवः तम् । पुनः कथंभूतं देवसमासीनम् – देवैर्निर्मितायां समवसरणसंसदि समासीनं रत्नखचितशृङ्गसिंहासने पद्मोपरि उपविष्टम् । पुनः कथंभूतम् पञ्चकल्याणनायकम् – पञ्चानां गर्भजन्मतपःकेवलनिर्वाणसमयानां कल्याणानां मङ्गलानां देवैरवतीर्य विहितानाम् उत्सवानां नायकम् स्वामिनम् । पुनः कथंभूतम् चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतम् – अर्हत शरीरे जन्मसमये दशातिशयाः संजायन्ते । केवलज्ञाने जाते दशातिशया भवन्ति । देवकृताश्च चतुर्दशातिशयाः संभवन्ति अतोऽर्हन् भवति चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतः तम् । पुनः कथंभूतम् । प्रातिहार्याष्टशोभितम् – अशोकवृक्षाद्यष्टप्रातिहार्यैरपि शैस्यशोभितमलंकृतम् ॥१९७५॥ निरञ्जनम् – अञ्जनं कज्जलं तद्वत् यत्कालिकं मलिनं करोति तथा घातिकर्माञ्जनमात्मनो ज्ञानादिगुणान्मलिनीकरोति अतः तन्निर्गतं यस्मात्सोऽर्हन्निरञ्जनः तम् । पुनः कथंभूतम् परमम् उत्तमम् सर्वलोकेषु श्रेष्ठम् । रमयाश्रितम् – अनन्तज्ञानादिचतुष्टयलक्ष्म्या समाश्रयतमाश्रितम् । पुनः कथंभूतम् अच्युतम् न च्यवते स्म स्वस्वरूपात् अच्युतः परमात्मनिष्ठः तम् । च्युतदोषौघं च्युतो गलित दोषाणाम् ओघः समूहो यस्मात् यस्य वा तं क्षुत्पिपासाद्यष्टादशदोषरहितम् । अभवम् न भवः जन्ममरणादि लक्षणः यस्य तम् । भवभृद्गुरुम् भवं संसारं बिभ्रति इति भवभृतः तेषां गुरुः तम् – संसारिणां भव्यानां मोक्षमार्गोपदेशकत्वात् भवभृद्गुरुस्तम् । पुनः कथंभूतम् । सर्वसंस्तुत्यम् सर्वैः गणधरादिभिर्देवैः पद्भिरपि च स्तोतुं योग्यं सर्वसंस्तुत्यम् । पुनः कथंभूतम् । असंस्तुत्यम् न स्तुत्यो यस्य कोऽपि अर्हतः सर्वोत्कृष्टत्वात् पूर्णस्वरूपत्वात् च । पुनः कथंभूतं सर्वेश्वरम् अनीश्वरम् सर्वेषां त्रिभुवनपतीनाम् इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्तिनाम् ईश्वरः स्वामी तम् । अनीश्वरम् न ईश्वरो यस्मात् अन्य स अनीश्वरः अर्हत् कोऽपि प्रभुः नास्ति स सर्वेषामेव प्रभुः । सर्वाराध्यम् सर्वैः इन्द्रादिभिः पुनःप्राप्यसर्वमाराध्यं पूज्यम् । अनाराध्यम् नास्ति आराध्यो यस्य सः तम् स्वयमेव त्रिजगत्स्वामिनम् आराध्योऽर्हन् स्वयंभूरिति इति भावः । पुनः कथंभूतम् सर्वाश्रयम् सर्वेषां भव्यानाम् आश्रयभूतमवलम्बभूतम् । अनाश्रयम् निरालम्बनम् । सर्वेभ्यो गुरुत्वात् अनाश्रयम् ॥१९७६–१९७७॥ प्रभवमिति – सर्वविद्यानां प्रभवम् सकलद्वादशाङ्गानां भारत्यादीनाम् उत्पत्तिस्थानम् । सर्वलोकपितामहम् । सर्वेषां त्रिभुवनवर्तिनां लोकानां जीवानां पितामहः । गणधरदेवाश्च सर्वलोकानां पितरः तेषामपि जिनेश्वरः पिता अत अस्माकमधीनानां भव्यानां स पितामहः तम । पुनः कथंभूतम् । सर्वेति – सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनां यत् हितकरं रत्नत्रयं तद्धर्मम् आरम्भ उपदेशी यस्य स तम् । पुनः कथंभूतम् । सर्वगं सर्वगतं ज्ञानेन व्याप्तवान् सर्वाणि वस्तूनि यः स सर्वगतः सर्वज्ञ इति भावः । पुनः कथंभूतम् । असर्वगम् सर्वगो व्यापकः सर्वाणि वस्तूनि गच्छतीति सर्वगः न तथा असर्वगः अव्यापकः देहमात्रपरिमाणः । स्वदेहे एव सर्वेषां जनानां सुखदुःखानुभवाद्धि आत्मा स्वदेहपरिमाणः । नैयायिकवैशेषिकाणां मते आत्मनो व्यापकत्वं प्रतिपादितं परं तत्तथा न । व्यापकत्वे आत्मनस्तच्छरीरेणापि व्यापकेन भाव्यम् । “स्वाङ्गे एव स्वसंवित्त्या स्वात्मा ज्ञानसुखादिमान् । यतः संवेद्यते सर्वैः स्वदेहप्रमितिस्ततः” इत्यनेन प्रमाणेन तस्य स्वदेहपरिमाणत्वं सिद्धं भवेत् ॥१९७८॥ नम्रामरेति—नम्राश्च ते अमराश्च देवास्तेषां किरीटानि मुकुटाः तेभ्यो निर्गता ये अंशवः किरणास्तेषां परिवेषा मण्डलानि तैर्युक्ते नमस्तले आकाशतले । भवदिति—भवतः पूज्यस्य पादयोर्द्वयं युगलं तस्य द्योतितः कान्तिमन्तो ये नखाः त एव नखाग्रमण्डलम् । कथंभूतं तत् स्तूयमानं स्तुतिविषयीक्रियमाणम् । कैः ऋषिभिः ध्यानाध्यानिपुणैः । पुनः कथंभूतैः महोद्योतैः महा मुक्तिः सर्वं ज्ञानविषयं येषां तैः महोद्योतैः मुक्तिपदं दर्शयद्भिः । महाकामिभिः महा मुक्तिरमणी तस्मिन्कामो वाञ्छा येषां ते महाकामिनः तैः । पुनः किंभूतैः । अध्यात्मेति—आत्मनि अधिकृत्य वर्तते आगमः अध्यात्मागम जीवस्वरूपप्रतिपादकं शास्त्रम् तस्मिन् कोविदैः बहुभिः तत्त्वज्ञानैः पुण्यवद्भिः महर्षिभिः गुप्तिसमितिचारित्रसंपन्नैः योगिमुख्यैः ध्यानिवर्यमुनिभिः स्तूयमानम् अर्हन्तं ध्यायेदिति संबन्धो ज्ञेयः ॥१९७९–१९८० ॥ नीरूपमिति—कथंभूतमर्हन्तं ध्यायेदित्याह – नीरूपं निर्गतो रूपात् इति नीरूपः तम् शुक्लादिवर्णरहितम् तथापि रूपिणा देहेन सहितम् आत्मम् अवलोकितं सकलवस्तुकलापं येन स रूपितालोकस्तम् । अशब्दं शब्दरहितं यतस्तु पुद्गलपर्यायाः शब्दाः अर्हति न विद्यते । तथापि शब्दविधायि

शब्देन आगमेन निष्ठित निर्णीत त शब्दनिष्ठितम्। पुन कथभूतम्। अस्पर्श योगसम्पर्शम्। स्पर्शै अष्टविधै: शीतोष्णादिभि रहितम्। योग धर्म्यशुक्लध्याने तयो स सम्यक् स्पर्शो यस्य स तम्। अरस रसरहित पुन सरसागमम्। सरस सकलषड्द्रव्याणा रस स्वभाव तेन सहित तद्द्रव्यस्वरूपज्ञापक आगमो यस्य स तम्। अथवा सरसो भव्यजनमनोमोदक आगमो यस्य स तम् ॥६८१॥ गुणैरिति—अनन्तज्ञानादिभि गुणै सुरभित सुगन्धित आत्मा यस्य स त गुणै सुरभितात्मानम्। दोषदुर्गन्धकणिकयापि रहितम् अर्हन्त ध्यायेदिति भाव। अगन्धगुणसगमम् गन्धगुणस्य सगमेन रहितम्। गन्धो गुण पुद्गले वर्तते सोऽर्हति नास्तीति भाव। व्यतीतेति—व्यतीत विशेषेण अतीत अपगत इन्द्रियाणा सबन्धो यस्मात्। भगवान् केवलज्ञानी यदा जातस्तत प्रभृति तस्य मतिज्ञानावरणक्षयोपशमजातै स्पर्शनादीन्द्रियै सबन्धो नष्ट। भावेन्द्रियसबन्धापगमो जातो भगवत। नामकर्मोदयोत्पन्नैर्द्रव्येन्द्रियसबन्धस्तस्य अघातिकर्मणा सत्त्वाद्विद्यते। पुन कथभूत त ध्यायेत् इन्द्रियार्थविभासकम् इन्द्रियाणा पञ्चेन्द्रियाणाम् अर्था विषयभूता ज्ञेयपदार्था तान् अवभासयति जानातीति अवभासक तम् ॥६८२॥ अर्हत अष्टमूर्तिमत्त्व व्याख्याति—भुवमिति—आनन्दा अनन्तसुखानि एव सस्यानि धान्यानि तेषा भुव भूमिरूपम्। पुन कथभूतम्। तृष्णा आशा एव अनलार्चिष अग्निज्वाला तद्विध्यापने अम्भ पानीयरूपमर्हन्तम् दोषरेणूना क्षुत्पिपासादयो दोषा एव रेणव धूलय तेषाम् उड्डायने पवनरूपम्। एनोऽवनीरुहाम् अग्निम्—एनासि पापानि तान्येव अवनीरुहा वृक्षास्तेषा दहने अग्निरूपम्। यजमान सदर्थाना सन्त अनेकान्ता कथचिन्नित्यानित्यादयो ये जीवादिपदार्था तेषा यजमान भव्येभ्यो दातारम्। व्योम अलेपाद्धि सम्पदाम् हि यत सम्पदा समवसरणादिविभूतीना प्राप्तावपि अलेपात् अनुरक्त्यभावात् व्योमरूपम् आकाशरूपम् अर्हन्त ध्यायेत्। भानुमिति—भव्यारविन्दाना भव्यकमलानाम् विकासपटुत्वात् आनन्ददायकत्वात् भानु रविरूपम्। चन्द्रमिति—मोक्षामृतश्रियाम् मोक्ष एवामृत सुधा तस्य श्रिय कान्तय तासा चन्द्ररूपम् इत्यर्हतोऽष्टमूर्तिरूप प्रतिपादितम् ॥६८३–६८४॥

[पृष्ठ २७१–२७२] अतावकगुणमिति—सर्व सकल वस्तुजात अतावकगुणम् तव इमे तावकास्त्वदीयास्ते च गुणास्तावकगुणा ते यस्मिन् न सन्ति तथाभूत सर्व विद्यते वस्तुजातम्। सर्वज्ञत्वादिगुणा भवत्येव सन्ति अतो भवद्व्यतिरिक्ता सर्वे हरिहरादयोऽतावकगुणा इति भाव। त्वं तु सर्वगुणभाजन सकलघातिकर्मविलयात्त्व भवान् सकलानन्तबोधादिगुणाना पात्रभूत। त्व सृष्टि उत्पत्तिरूप केषा सर्वकामानाम् सर्वासाम् इच्छाना त्व पूरक। त्व भव्यमनोरथपूरणसमर्थ। तथापि कामसृष्टिनिमीलन कामस्य स्मरस्य अशुभमनोवाक्कायव्यापाररूपस्य निमीलन विध्वसक ॥६८५॥ खसुप्तदीपनिर्वाणे इति—अप्राकृते अलौकिके खसुप्तदीपनिर्वाणे-खनिर्वाण नैयायिकानाम्। बुद्धिसुखादीना नवानाम् आत्मगुणानाम् अत्यन्तमुच्छेदात् जीवो मुक्तो भवति इति मतम्। सुप्तनिर्वाण साख्यानाम्। यतस्ते मुक्तौ जीवस्य प्राकृतिकज्ञाननाश मन्यन्ते। दीपनिर्वाण बौद्धानाम् यतस्ते आत्मा दीप इव तैलक्षयात् सर्वथा विनाश यातीति मन्यन्ते। हे जिन, त्वयि अप्राकृते अलौकिके त्वयि। जिने आकाशवत् रागद्वेषमोहाभावात् शून्यत्वम्। योगनिद्राया सुप्तत्वम्। दीपवत्केवलज्ञानेन द्योतकत्व विद्यते। अत नैयायिकसाख्यबौद्धरूप जगत्त्रय प्राकृत रत्नत्रयस्वरूपहीन वर्तते स्फुटम् ॥६८६॥ त्रयीमार्गमिति—त्रयी सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणा त्रयमेव त्रयीत्युच्यते। तस्यास्त्रय्या भवान् प्रापकत्वात् त्रयीमार्ग त त्रयीमार्गम्। त्रयीरूप सम्यग्दर्शनादित्रयी एव भवत स्वरूप ततोऽनन्यत्वात् अग्नेरुष्णतावत्। त्रयीमुक्तम्, मिथ्यादर्शनम्, मिथ्याज्ञानम्, मिथ्याचारित्रम् एतेषा त्रयी तस्या मुक्त रहितम्। त्रयीपति लोकत्रयीस्वामिनम् रत्नत्रयपति वा। त्रयीव्याप्तम्—त्रय्या लोकत्रितये व्याप्तम्। केन व्याप्तम् ज्ञानेन। त्रयीतत्त्वम् रत्नत्रय त्रयीत्युच्यते। तदेव तत्त्व स्वरूप यस्य तथाभूत त्रयीतत्त्वम्। त्रयीति—त्रयी लोकत्रयम् तत्र चूडामणिवत् स्थितम् जिन ध्यायेत् ॥६८७॥ जगतामिति—जगता त्रिलोकाना कौमुदीचन्द्र ज्योत्स्नोत्पादक चन्द्रमिव। कामेति त्रिलोकाना या अभिलाषा तत्पूरणाय कल्पावनीरुहम् कल्पयति कामान् सम्पादयति इति कल्प स चासौ अवनीरुहश्च वृक्ष तम्। गुणेति—गुणा ज्ञानादय त एव चिन्तामणय चिन्तितफलदायका मणय तेषा क्षेत्रम् उत्पत्तिस्थानम्। अर्हन्त ध्यायेत्। पुन कथभूतम्। कल्याणेति—

ध्यानानाम् आयतनं तस्य आकरम् उत्पत्तिस्थानम् ॥१८८॥ प्रणिधानेति—प्रणिधानानि चित्तस्य एकाग्रता करणानि तान्येव प्रदीपाः तेषु साक्षादिव प्रत्यक्षमिव चकासतं प्रकाशमानम्। भवत्वयाऽर्हं लोकत्रयपूजन योग्यम्। सर्वतोमुखम्—विश्वतश्चतुर्दिक्षु मुखं वदनं यस्येति विश्वतोमुखः केवलज्ञानवन्तं स्वामिनं सर्वेऽपि जीवा निजनिजसम्मुखं भगवन्तं पश्यन्तीति भावस्तस्य ताद्दग्विभवत्वात्। अथवा विश्वतोमुखं प्रभुं स उच्यते तत्स्वभावत्वात् अभिव्यक्तप्रातकप्रसादकत्वात्। विषयसुखतृष्णानिवारकत्वात् प्रसन्नभावत्वाच्च भगवानपि विश्वतोमुख उच्यते। अथवा विश्वं संसारं तस्यति नाशयति निराकरोति मुखं यस्येति विश्वतोमुखः। भगवन् मुखदर्शनेन जीवः पुनः संभवे न समवेत्। अथवा विश्वतः सर्वाङ्गेषु मुखं यस्येति विश्वतोमुखः तम्। पुनः कथंभूतम् अर्हन्तम् इन्द्रादिकृतामनन्यसंभाविनीम् महत्पूजामर्हतीति योग्यो भवतीति अर्हन्। अथवा अकारस्यैव अरिर्लभ्यते स एव मोहनीयः। रकारेण रजो रहस्यं च लभ्यते किं तत् रजः ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च द्वयमेतत् रज उच्यते। रहस्यशब्देन अन्तरायकर्मोच्यते एतच्चतुष्टयं च घातिकर्मचतुष्टयं कथ्यते। तद्धन्ता अर्हन्नामार्हतीति अर्हन् तम् अर्हन्तं ध्यायेत् चिन्तयेन्मनसेति ॥१८९॥ आहुरिति—तस्मात् भगवतो जिनेश्वरात् परं ब्रह्म परमात्मपदं करे अमलाप्यं विना प्रयत्नं लभ्यमित्याहुर्गणधरदेवादयः। तस्मादेव अर्हतः ऐश्वर्यम् इन्द्रसंपत्ति चक्रवर्त्याधिपत्यं करे अमलभ्यमाहुः। तथा तस्मात् एव भगवतः इमा इहलोकसंपत्तिश्च चक्राङ्का सुदर्शनचक्रचिह्निता षट्खण्डाधिपतिपालिता क्षितिरपिच भूमिपतित्वसम्पत् अमलभ्या इति ॥१९०॥ य यमिति—अस्मयमत्सराः स्मयश्च मत्सरश्च स्मयमत्सरौ गर्वाऽन्यशुभद्वेषौ तौ येषां न ते अस्मयमत्सराः अगर्वा अन्यशुभसहिष्णवश्च भव्याः अध्यात्ममार्गेषु यं यं भावम् अभिप्रायं तत्पदाय अत्र भजन्ति दधति चिप्रति आर्हन्त्यप्राप्त्यै स स भावस्तत्रैव क्रीयते तस्मिन्नेव पदे लीनो जायते। स स भावः प्रकर्षं प्राप्य आर्हन्त्यप्राप्ति-कारणं भवति। एतदेव लोकाहरणं विवृणोति ॥१९१॥ अमुपायेति—पुंस्त्वश्च पुमांसः भव्याः त एव तत्त्वा भुमास्तेषां मनोहर्षं मनोऽभिमतमेव हर्षं पदं तत् अनुपायाभिप्रोद्भाप्तम् अनुपायाः मोक्षप्राप्तेरभावी मिथ्यादर्शनादयस्त एव अभिलाषास्तैरप्राप्तम्। परं यथा ते भविका साम्यन्ति तदा चिरादपि दीर्घकालादपि भूमावेव क्रीयमाणं भजेत। यथा तरोर्वृक्षस्य वा तेनोपरि नीयते परं तस्योपशमे तत्पुनरत्र आगत्य भूमिमाश्रयति तथा भव्यमनोरथं पुनः आर्हन्त्यलक्ष्मीं भूमिमाश्रयति। ज्योतिरेकमिति—इदं परमात्मज्योतिः। एकम् अद्वितीयम्। इदं पुद्गलकर्मनिर्मोक्षकारकेषु नोपलभ्यते। परम् अस्य परमात्मनः भेदः। करीषेति—करीषं शुष्कगोमयम्। अथवा पाषाणः समित् शुष्कतृणकाष्ठादि तैः समः तुल्यः अयं परमात्मा स्वस्मिन्नेवोपलभ्यः। परं तत्प्राप्तो परमात्मनः प्राप्तौ तथा अभिप्रायेऽपि च उपायाज्ञानाभावात् विमूढाः पथिका इव जीवाः भव कानने संसारारण्ये। भ्रमन्ति विचरन्ति। गोमयेऽग्निः वीर्यं प्रकटो न स्यात् तथा स्त्रीषु परमात्मा पारम्पर्येण प्रकटो भवति। पाषाणे अग्निः वीर्यं प्रकटो भवति तथा पुंसि आत्मा तस्मिन्नेव भवे प्रकटो भवेत् परमात्मत्वं प्राप्तुम् अर्हो भवेत्। नपुंसके च स्त्रीवत् ॥१९२-१९३॥ परापरेति—पराः श्रेष्ठा गणधरादयः। अपरा गृहस्थाः तेषु परं श्रेष्ठम्। एवम् उपर्युक्तप्रकारेण चिन्तयतो मनसि स्मरतो सतः। ते ते भावा लोकोत्तरमिव अमृतकूपस्थसम्पन्निः मुक्ता। अतीन्द्रियाः अतिक्रान्तेन्द्रियविषया भवन्ति। परात्मनः स्मरणात् सामान्यजन-दुर्लभाः अवधिज्ञानादिविषयविशेषाः जायन्ते। परा अनगारकेवलिनः तेभ्य परा उत्कृष्टा पदवी तैश्च गतो जिनः इति। जिनेश्वरात् न कोऽपि श्रेष्ठः ॥१९४॥ व्योमेति—यथा व्योमाकाशं स्वयम् अमूर्तमपि छायानरेति—छाया प्रतिबिम्बं तेन युक्तो नरः तस्य परस्पर्शं संबद्धं भवति। तथा अयम् आत्मा भाग्ययोगात् ध्यानयोगात् प्रत्यक्षं वीक्षणम् अनुभवो यस्य तथा भवति। किञ्च कश्चिन्निमित्ती मनुष्यः स्वशरीरच्छाया लोकनं करोति। छायालोकनाभ्यासवशात् चिरमपि छायां विनापि स तां वीक्षते एवं ध्यानाभ्यासात् आत्मा ध्याता दृश्यते ॥१९५॥

[पृष्ठ २७३–२८०] न ते गुणेति—यत् यस्मात्कारणात् योगस्य ध्यानस्य लेशेन प्रकाशेन। अस्तनमवध मे निरस्ता मानसमुच्चये येन स्फु प्रकटत्वं न प्राप्नुयुस्ते गुणा नैव। यत् न जायते तत्कार्यं नैव सा नोन्नमति सा वृत्तिर्नास्ति। मनोऽसत्यवते तत्कुशलमपि न। अस्थैर्यमदैव्यम्—आत्मनि निरस्तकर्मणि सर्वे

गुणा । सकल ज्ञानम् । सकल दर्शनम् । सकल सुख च उत्पद्यन्ते ॥६९६॥ देवम् इति—जगत्त्रयीनेत्र सकललोकलोचनम्, देवं जिनेशम्, तथा व्यन्तराश्च देवता शासनदेवतादय पूजाविधानेषु पूजाभिषेकादौ सम समानमानाह् पश्यन् वीक्षमाण अध दूर व्रजेत् अधोलोके दूर नरक गच्छेत् उत्पद्येत । व्यन्तरदेवताभि तुल्यत्वम् अर्हतोऽस्तीति सकल्पेन महानविनयो भवति जिनेन्द्रस्य तत पापलेपादधोगतिप्राप्ति स्यादेव ॥६९७॥ ता इति—ता शासनयक्षयक्षिण्य गोमुखचक्रेश्वर्यादय, क्षेत्रपाला दिक्पालादयो देवता । परमागमे शासनाधिरक्षार्थ जिनमतरक्षणाय कल्पिता सूरिभि मन्यन्ते स्म । अतो यज्ञाशदानेन पूजाशेषद्रव्यवितरणेन सुदृष्टिभि सम्यग्दर्शनधारिभिर्भव्यै माननीया पूजनीया । तथा सकल्पेन पूजिता भव्याना सम्यक्त्वहानये ता न भवन्ति । ता जिनसदृशा न माननीया किन्तु जिनाधीना ज्ञातव्या ॥६९८॥ तच्छासनेति—तस्य जिनेश्वरस्य शासने मते एका दृढा अद्वितीया भक्तिर्येषा तादृशा सुदृशा सम्यग्दर्शनवता सुव्रतात्मनाम् अणुव्रतिना ता सपुरन्दरा सौधर्मेन्द्रमहिता स्वयमेव सन्तुष्टा भूत्वा प्रसीदन्ति प्रसन्ना भवन्ति ॥६९९॥ तद्धर्मेति—तद्धर्मे जिनप्रोक्ते धर्मे बद्धकक्षाणा दृढतरबुद्धीनाम् । रत्नत्रयधारणात् महीयसा श्रेष्ठतामापन्नानाम् । मनोरथै मनोऽभिलषितै । उभे द्यावाभूमी द्यौ आकाश भूमि भूतलम् नभोभूतले । कामदुघे स्याताम् । इष्टदानसमर्थे कामधेनू भवेताम् ॥७००॥ वरोपलिप्सया चेतसो रिक्तत्वमाह—कुर्यादिति—जन तपोऽनशनादिक कुर्यात् विदधीत । मन्त्रान् जपेत्, देवता दा नमस्येत् नमस्कुर्यात् । यदि तच्चेत तस्य मन सस्पृह वरोपलिप्सयाकुल स्यात् स सम्यग्दृष्टि व्रतिको वा अमुत्र, परस्मिन् स्वर्गादौ इह च अस्मिल्लोके रिक्त फलशून्यो भवेत् ॥७०१॥ ॐकारजप करणीय इति निवेदयति—ध्यायेत् इति—गुरुपञ्चकवाचकम् अर्हत्सिद्धादिपरमेष्ठिना पञ्चाना वाचक प्रतिपादकम् । वाङ्मय पञ्चनमस्कारमन्त्र ध्यायेत् चिन्तयेत् एकाग्रीभूतमानस । एतद्धि वाङ्मय सर्वविद्याना सकलविद्यानाम् । अधिष्ठानम् आधारभूतम् । अविनश्वरम् अविनाशि ज्योति । अपूर्वम् चन्द्रसूर्यादिषु नोपलब्ध कदापि सकलपदार्थप्रकाशकम् ॥७०२॥ ध्यायन्निति—इद पञ्चपरमेष्ठिवाचकम् ॐ इत्यक्षरम् । अस्मिन्देहे मन्दरमुद्रया मस्तकोपरि हस्तद्वयेन शिखराकार कुड्मल क्रियते स एव मन्दरो गिरि । इति विन्यस्य स्थापयित्वा । ध्यायेत् चिन्तयेत् । सर्वनामादिवर्णार्हम् सर्वाणि यानि नामानि पञ्चपरमेष्ठिनाम् । तेषु आदिवर्णस्य अर्ह योग्यम् । वर्णान्त्य सबीजकम् बीजाक्षरोपेतम् । पञ्चपदप्रथमाक्षरेण योग्यम् अर्हन् शब्दस्य 'अर्ह' इति गृह्यते । अशरीर 'अर' इति । सूरि 'अर्य' इति । अध्यापक 'अ' इति । मुनि 'म' इति । पश्चात् 'रूपे रूप प्रविष्टम्' इति वचनात् अकाररकाराश्च लुप्यन्ते । तदनन्तरम् 'अर्ह' इत्यत्र उच्चारणार्थ अकार क्षिप्यते । 'मोऽनुस्वार व्यञ्जने' अर्हम् इति तत्त्व निष्पन्नम् ॥७०३॥ तपःश्रुतेति—तपसा श्रुतेन ज्ञानेन विहीनोऽपि । तद्ध्यानेति—तद्ध्यानेन आविद्ध व्याप्त मानस यस्य स पुरुष । तत्तत्त्वेति—तत्तत्त्वे 'ॐ अर्हम्' इत्यादिमन्त्रस्वरूपे तत्त्वे रुचि श्रद्धान तत्र दीप्रा धी बुद्धि यस्य स जन । जातु कदाचनापि । तमसाम् अज्ञानानाम् । स्रष्टा उत्पादक न भवति । स अज्ञो न भवति । उपर्युक्तमन्त्रचिन्तनेन स ज्ञानी स्यात् ॥७०४॥ अस्यैव मन्त्रस्य समाधिमरणे चिन्तन कार्यम्—अधीत्येति—सर्वशास्त्राणि आत्महितस्य कर्तॄणि अधीत्य पठित्वा । परम् उत्तम तप विधाय कृत्वा च । अन्ते मृतिसमये, अनन्यचेतस अन्यस्मिन् मन्त्रादौ, शरीरे च मन अकृत्वा । पञ्चपरमेष्ठिचरणेषु मन स्थिरीकृत्य इमम् मन्त्र स्मरन्ति ॥७०५॥ मन्त्रोऽयमिति—अय मन्त्र स्मृतिधाराभि पञ्चपरमेष्ठिगुणस्मरणजलधाराभि । यस्य मुनेराराधकस्य गृहिणो वा चित्तम् अभिवर्षति अभिषिञ्चति । तस्य सर्वे क्षुद्रेति—क्षुद्राश्च ते उपद्रवा उपसर्गा त एव पासव रजासि प्रशाम्यन्ति नश्यन्ति । क्षुद्रदेवतिर्यग्भि कृता पीडा अनेन मन्त्रेण नश्यन्तीत्यर्थ ॥७०६॥ अपवित्र इति—जन्तु अपवित्र अपूताङ्ग अशुचि । पवित्रो वा स्नानादिभि शुचिर्वा । सुस्थित नीरोग । दु स्थितोऽपि वा सरोगोऽपि वा । या कापि भवत्ववस्था एतत्स्मृते अस्य मन्त्रस्य स्मरणात् । सर्वसम्पदा सकलवैभवानाम् आस्पद स्थान भवति ॥७०७॥ उक्तम् इति—लोकोत्तर ध्यानमुक्तम् । लौकिक किञ्चित्स्तोकम् उच्यते । प्रकीर्णकप्रपञ्चेन इतस्तत प्रतिपादिताना विषयाणाम् एकत्र प्रतिपादन प्रकीर्णकम् । तस्य प्रपञ्चो विस्तरस्तेन । पुन कथभूत तत् दृष्टादृष्टफलाश्रयम्— दृष्टफलम् आरोग्यम् धनादिलाभश्च । अदृष्ट फल स्वर्गादिकम् तयो

कल्याणानाम् आपन्नं तस्य आकरम् उत्पत्तिस्थानम् ॥१८८॥ प्रणिधानेति—प्रणिधानानि चित्तस्य एकाग्रता करणानि तान्येव प्रदीपाः तेषु साक्षादिव प्रत्यक्षमिव चकासतं प्रकाशमानम् । अमलमपार्हि लोकत्रयपूजनीयम् । सर्वतोमुखम्—विश्वतश्चतुर्दिक्षु मुखं वक्त्रं यस्येति विश्वतोमुखः केवलज्ञानवन्तं स्वामिनं सर्वेऽपि जीवा निजनिजसम्मुखं समवसृतं पश्यन्तीति भावस्तस्य तादृक्षनिर्मलत्वात् । अथवा विश्वतोमुखं यत्र अकमुच्यते तत्स्वभावत्वात्, अमितजन्मपातकप्रक्षालकत्वात् । विषमसुखतृष्णानिवारकत्वात्, प्रसन्नभावत्वाच्च भगवानपि विश्वतोमुख उच्यते । अथवा विश्वं संसारं तत्पति नाशयति निराकरोतीति मुखं यस्येति विश्वतोमुखः । भगवन्मुखदर्शनेन जीवः पुनः संभवे न संभवेत् । अथवा विश्वतः सर्वाङ्गेषु मुखं यस्येति विश्वतोमुखः तम् । पुनः कथंभूतम् अर्हन्तम् इन्द्रादिकृतामनन्यसंभाविनीम् अर्हणामर्हति योग्यो भवतीति अर्हन् । अथवा अकारग्रहणेन अरिर्गृह्यते स एव मोहनीयं । रकारेण रजो रहस्यं च कथ्यते किं तत् रजः ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च द्वयमेतत् रज उच्यते । रहस्यशब्देन अन्तरायकर्मोच्यते एतच्चतुष्टयं च घातिकर्मचतुष्टयं कथ्यते । तद्धता अर्हणामर्हतीति अर्हन् तम् अर्हन्तं ध्यायेत् चिन्तयेदनन्यचेता इति ॥१८९॥ आहुरिति—तस्मात् भगवतो जिनेश्वरात् परं ब्रह्म परमात्मपदं करे अयत्नात्प्यं विना प्रयत्नं लभ्यमित्याहुर्गणधरदेवादयः । तस्मादेव अर्हतः ऐन्द्रं पदम् इन्द्रसंबन्धि सकलदेवाधिपत्यं करे अयत्नलभ्यमाहुः । तथा तस्मात् एव भगवतः इमा स्फुटाः सर्वविभूतयः चक्राङ्का सुदर्शनचक्रचिह्नाः षट्खण्डक्षितिपालिताः क्षितिपश्रियः भूमिपतिसंपदः अयत्नलभ्या सन्ति ॥१९०॥ यं यमिति—अस्यमनस्तराः स्फुटारम्भास्तरतश्च स्पष्टमनस्तरौ मर्मान्यगुणदोषौ तौ येषां न ते अस्पष्टमनस्तराः भगवन्तोऽन्यगुणस्तिमितावशः भव्याः अध्यात्ममार्गेषु यं यं भावम् अभिप्रायं तत्पदाय अन्त मनसि वपति बिभर्ति अर्हत्पदप्राप्तये स स भावस्तत्रैव लीयते तस्मिन्नेव पदे लीनो जायते । स स भावः प्रकर्षं प्राप्य अर्हत्पदप्राप्तिकारणं भवति । एतस्यैव लीलावृत्तं बिभूषोति ॥१९१॥ अनुपायेति—पुंस्त्वस्त्रियौ पुमांस स्त्री च एव तयोः मुक्तास्तेषां मनोवर्ण मनाश्चित्तमेव वर्णं पदं तत् अनुपायाभिकोद्भ्रान्तम् अनुपायाः मोक्षप्राप्तेरभावी मिथ्यादर्शनादयस्त एव अभिकास्तैरुद्भ्रान्तम् । परं यदा ते भणिकाः शाम्यन्ति तदा चिरादपि दीर्घकालादपि मुमार्गेण क्षीणमार्गं भजेत । यथा तयोर्वर्णं वा तेनोपरि नीयते परं तस्योपशमे तत्पुनरपि मार्गं भूमिभागम् पतति तथा मन्ममनोवर्णं पुनः अर्हत्स्वरूपां भूमिमाश्रयति । ज्योतिरेकमिति—इदं परमात्मज्योतिः । एकम् अद्वितीयम् । इदं पुरुषत्वधर्माधर्माकाशकालेषु नैवलभ्यते । परम् अस्य परमात्मनः मैत्र । करीषेति—करीषं शुष्कगोमयम् । अस्या पापाग्नि समिधः शुष्ककाष्ठानि ते एव पुरुषं यथं परमात्मा स्वस्मिन्नेवोपलक्षम् । परं तत्प्राप्ते परमात्मनः प्राप्ते तथा अभिप्राप्तेरप्यत्र उपायज्ञानाभावात् विमूढाः पथिका इव जीवा भव कानने संसारारण्ये । भ्रमन्ति विचरन्ति । जीवनेऽग्निः दीर्घं प्रकटो न स्यात् तथा स्त्रीषु परमात्मा पारम्पर्येण प्रकटो भवति । पाषाणे अग्निः दीर्घं प्रकटो भवति तथा पुंसि आत्मा तस्मिन्नेव भवे प्रकटो भवेत् परमात्मपदं प्राप्तुम् अर्हो भवेत् । नपुंसके च स्त्रीवत् ॥१९२-१९३॥ परापरेति—पराः श्रेष्ठा यत्यगारवन्तः । अपरा गृहस्थाः तेषु परं श्रेष्ठम् । एवम् उपर्युक्तप्रकारेण चिन्तयतो ममाह स्मरतो भवे । ते ते भावाः लोकोत्तरविभवाः सगुणलक्ष्यसम्पत्तिः मुक्ताः । अतीन्द्रियाः अतिक्रान्तेन्द्रियविषयाः भवन्ति । परात्मनः स्मरणात् सामान्यजनदुर्लभाः अवधिज्ञानादिविषयविशेषाः कथ्यन्ते । पराः अनगारकेवलिनः तेभ्य पराः उत्कृष्टाः अपराः तेभ्यः परो जिन इति । जिनेश्वरात् न कोऽपि श्रेष्ठः ॥१९४॥ व्योमेति—यथा व्योमाकाशं स्वयम् अमूर्तमपि छायानरेति—छाया प्रतिबिम्बं तेन युक्तो नरः तस्य वस्तुनः संबद्धं भवति । तथा अयम् आत्मा बोधबोधात् ध्यानयोगात् प्रत्यक्षं बोधनम् अनुभवो यस्य तथा भवति । किञ्च कश्चिद्विनिमित्ती मनुष्यः स्वशरीरस्याभावलोकनं करोति । तथाप्येकाभ्यासवशात् विपदि तथा विनापि स तत् बीजते एवं ध्यानाभ्यासात् आत्मा ध्याता दृश्यते ॥१९५॥

[पृष्ठ २७९–२८०] न ते गुणेति—यत् यस्मात्कारणात् मोक्षस्य ध्यानस्य योगेन प्रकाशेन । अस्तत्तमसः ये निरस्ता ज्ञानतमुख्यये येन स्युः प्रकटत्वं न प्राप्नुवन्ति ते गुणा नैव । यत् न जायते तस्मात् नैव मा भोङ्गवति सा वृत्तिर्नास्ति । अमीलयते तत्पुनरपि न । अस्यैवमर्थमेतत्—आत्मनि निरस्तकमपि सर्वं

दहस्य स्वरूप न तदात्मन । स तु नितान्त निर्मल । एनम् आत्मान देहाच्छरीरात्पृथक् कृत्वा विभिन्न कृत्वा तस्मान्नित्यम् अविनाशिन त विचिन्तयेत् ध्यायेत् ॥७२२–७२३॥ तोयमध्ये इति—यथा तोयमध्ये जलमध्ये। तैल पृथक् तिष्ठति। नीरक्षीरवत् अन्योन्यप्रदेशप्रवेशस्तयोर्न भवति। तथा अस्मिन् शरीरमध्ये पुमाञ्जीव पृथक्तया आस्ते विद्यते ॥७२४॥

[पृष्ठ २८१–२८४] दध्नः सर्पिरिवेति—यथा उपायेन मन्थनदण्डेन मथित्वा दध्न. सर्पिर्घृत पृथक् क्रियते तथा तत्त्वज्ञै जीवस्वरूपाभिज्ञै चिरम् अनादिकालेन ससर्गवानपि नीरक्षीरमिव देहेन, आत्मा शरीरतः देहात् पृथक् क्रियते। केन ध्यानोपायेन ॥७२५॥ पुष्पामोदाविति—यथा पुष्पात् आमोद गन्ध भिन्न.। यथा तरोश्छाया भिन्ना। तद्वत् देहदेहस्थौ ज्ञातव्यौ। देहजीवौ प्रतिपत्तव्यौ। देह पुष्पसदृश साकार जीवस्तद्गन्धतुल्य निराकार। देह तरुवत् जीवस्तच्छायेव। यद्वा तौ लपनबिम्बवत् देह लपनवत् मुखवत्। आत्मा आदर्शगतमुखबिम्बवत्। यद्वत्सकलनिष्कले सकल अर्हन् निष्कलः सिद्ध तत्र सकलनिष्कले ॥ ७२६ ॥ एकस्तम्भमिति—इद शरीर योगिना गृहम् गेहमिव। यथा गृह स्तम्भैः सहित वर्तते तथा इद योगिशरीरम्। एकस्तम्भम् एकः स्तम्भ. यत्र तथाभूतम्। एकस्तम्भ जीवे चेतना लक्षण तदेव लक्षण स्तम्भभूतम्। गृहे द्वाराणि विद्यन्तेऽत्र नवद्वाराणि सन्ति, शरीरे नवछिद्राणि सन्ति। द्वे नेत्रे नासिकारन्ध्रद्वयम्। कर्णरन्ध्रयुगम्। मुखरन्ध्रम्। शिश्नरन्ध्रम्। गुदरन्ध्रमिति नवरन्ध्र शरीरम्। एतानि रन्ध्राण्येव शरीरस्य द्वाराणि। पञ्चपञ्चजनाश्रितम् – यथा गृह पञ्चजना मनुष्यास्तैराश्रितम्। तथा योगिना शरीरगृहमपि पञ्च इन्द्रियाण्येव पञ्चजना मनुष्या तैराश्रितम्। यथा गृहम् अनेककक्ष बहुप्रकोष्ठक विद्यते। तथा योगिना शरीरमिदम् अनेककक्ष नाभिकमलादिनानावयवोपेतम् ॥७२७॥ ध्यानामृतान्नेति—योगिना चित्त योगबान्धवे योगो ध्यान स एव तस्य बान्धव आप्तजनस्तत्र तथाभूते शरीरे रमते सतुष्यति। कथभूतस्य योगिन। ध्यानेति-ध्यानमेव अमृतान्न पीयूषान्न तेन तृप्तस्य सौहित्य प्राप्तस्य। पुन कथम्भूतस्य। क्षान्तीति—क्षान्ति क्षमा सैव योषित् जाया तस्या रतस्य स्नेहं कृतवत ॥७२८॥ रज्जुभिरिति—यथा रज्जुभि प्रग्रहै। कृष्यमाण चोद्यमान। हयोऽश्व पारिप्लवश्चञ्चल। स्याद्भवति। तथा इन्द्रियै स्पर्शनादिभि। कृष्ट प्रेरित। आत्मा क्षणम् एकक्षणकालमपि ध्याने न लीयते लीनो निश्चलो न भवति। यो दुष्टाश्व स्यात्स प्रेरितस्तिष्ठति खचितश्चलति तथेन्द्रियै खचित आत्मा चलति न तिष्ठति। अत आत्मान शनै शनै वश करोतु ॥७२९॥ रक्षामिति—सकलीकरणविधिना स्वाङ्गरक्षण विधाय। तथा सहरणम् औदारिकशरीरभस्मन हरण कृत्वा। वैक्रियिकशरीर चोत्पाद्य। गोमुद्रामृतवर्पणम् सुरभिमुद्रयामृतवर्पण च कृत्वा। स्वयम् आप्तरूपधर आप्तोऽर्हन् तस्य रूपधर परमौदारिकदेहस्थोऽहमिति भावयित्वा आप्तम् अर्हन्त चिन्तयेत् सकलीकरणे पूर्व यथा शरीररक्षा क्रियते। पश्चात् अग्नितत्त्वे दहनलक्षण सहरणम्। चन्द्राद्वरुणमण्डलात् अमृतवर्षेण सृष्टि कृत्वा। स्वयम् आप्तरूपधर आप्तम् अर्हन्त चिन्तयेत् इति भाव। (टिप्पणे) ॥७३०॥ धूमवत् इति—धूमवत् पाप निर्वमेत् अघ परिक्षपयेत्। केन गुरुबीजेन। (क्ष्म्रू) कारेण। तेन कारणेन तद्वर्णेन अमृतवर्णेन पकारेण। मुहु मुहु वारवारम् ॥७३१॥ पद्मवीरसुखासनवर्णनम्—सन्यस्ताभ्यामिति—सन्यस्ताभ्या सस्थिताभ्याम् अवोङ्घ्रिभ्याम् अधश्चरणाभ्याम्, पद्मासनं भवति। ऊर्वोरुपरि सक्थ्नोरुपरि युक्तित अङ्घ्रिभ्या स्थापिताभ्या वीरासन भवति। तथा समगुल्फाभ्या समघुटिकाभ्या सुखासन भवति। टिप्पण्यामिदम् सक्थ्नोरध पादौ तदा पद्मासनम्, सक्थ्नोरुपरि तदा वीरासन घूण्टी उपरि घूण्टी तदा पद्मासनम् ॥७३२॥ तत्र सुखासनस्येद लक्षणम्—गुल्फोत्तानेति—गुल्फयो घुटिकयोः उपरि उत्तानौ ऊर्ध्वतलौ यौ करौ हस्तौ तयो अङ्गुष्ठे रेखा रोम्णाम् आलि. पंक्ति नासिका नासा च समदृष्टि समा कुर्यु विदध्यु। नातिस्तब्धो न अतिशयेन स्तब्ध स्थिर। न वामन नातिनम्र ॥७३३॥ तालेति—तालस्य वितस्ते त्रिभागस्त्र्यश तृतीयभागश्चतुरङ्गुल तावत् मध्ये अन्तरम् अङ्घ्र्योश्चरणयोर्यस्य स तालत्रिभागमध्याङ्घ्रि। पुन कथभूत योगी। स्थिरेति – स्थिरे निश्चले शीर्षशिरोधरे मूर्धग्रीवे यस्य स। पुन कथभूत समनिष्पन्देति—पाण्र्ण्यग्रौ गुल्फयो अग्र प्रदेशाग्रौ। जानुनी ऊरुपर्वणी भ्रुवौ हस्तौ करौ लोचने नयने समानि निस्पन्दानि च निश्चलानि च पार्ष्ण्यग्रजानुभ्रूहस्तलोचनानि यस्य स। एतादृशो

साधयं साकारं ध्यानम् उच्यते ॥७०८॥ पञ्चमूर्तिमयमिति—पञ्चमूर्तयः अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधव-स्तैर्निर्वृत्तं पञ्चमूर्तिमयम्। बीजं ॐ इत्यादि बीजाक्षरम्। नासिकाग्रे निधाय विचिन्तयन् जपन्। चेतः मन एव पद्मे भ्रूमध्ये निधाय स्वार्पयित्वा दिव्यं ज्ञानम् अवाप्नुयात् लभेत ॥७०९॥ यत्र यत्रेति—यस्मिन् यस्मिन् हृषीके इन्द्रिये स्पर्शनादौ। अयतं मनः निदधीत। तत्र-तत्र अयं बाह्यग्राह्याश्रयं बाह्येन्द्रियैर्ग्राह्यो यः आश्रयः आधारस्तज्जन्यं सुखं लभेत प्राप्नुयात्। इन्द्रियग्राह्या ये पदार्थाः तेभ्यः सुखं लभेतेत्यर्थः ॥७१०॥ स्थूलं सूक्ष्ममिति—स्थूलं सूक्ष्मं चेति ध्यानस्य भेदौ द्वौ। एकं स्थूलं तत्त्वाश्रयं द्वितीयं सूक्ष्मं बीजसमाश्रयं बीजाधारम्। आद्येन स्थूलेन कामम् अभिलषितं स्वर्गादिपदम्। द्वितीयेन परं पदं मुक्तिं लभते ॥७११॥ पद्ममिति—पूरणम् आदौ। पद्म कमलम् उत्थापयेत् नाभौ स्वभावेन स्थितं कमलं चालयेत्। पश्चात् नालाकारेण नाडीं नालिकां संचालयेत्। नाड्या कृत्वा मरुत्। हृदयं प्रापयेत्। पश्चात् मरुच्चतुष्कं पृथ्वी-अप्-तेजो-वायुमण्डलानि नासिकामध्ये सूक्ष्माणि स्थितानि सन्ति। तानि चेतसि आत्मविषये। प्रकारस्तु बोद्धव्यः॥ इति टिप्पणे ॥७१२॥ दीपहस्त इति—यथा दीपहस्तः करधृतदीपः कश्चिन्नरः किंचिद्वस्तु आलोक्य तं पदार्थम् आलोकनानन्तरं त्यजति। तथा ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात्तज्ज्ञानमुत्सृजेत्। ज्ञानेन प्रथमं यः पदार्थो ज्ञातस्तं समुत्सृज्य अन्यं ज्ञेयम् आश्रयेत् ततस्तमपि पदार्थम् परित्यजेत् ॥७१३॥ सर्वपापास्रवे इति—सर्वेति सकलपापानाम् आस्रवे आगमने क्षीणे सति ध्याने भावना भवति। ध्यानं कर्तव्यमिति विमर्शो मनसि स्फुरति। परं येषां बुद्धिः पापेन उपहता वर्तते तेषां मनसि ध्यानवार्तापि दुर्लभा भवति। यदा चारित्रमोहनीयकर्मणः क्षयोपशमः संपद्यते तदा आत्मध्याने मनो लीनं भवति परं पापात्मनाम् उत्कण्ठया यथा हृदि आर्ततिः तेषां ध्याने मनागपि मनो न लीयते ॥७१४॥ दधिभावगतमिति—क्षीरं दुग्धम् उत्तरपर्यायं दधिभावं प्राप्तं पुनः दुग्धावस्थां न याति। तथा तत्त्वज्ञानविशुद्धात्मा तत्त्वं जीवादिकं तस्य ज्ञानेन विशुद्धो निर्मल आत्मा यस्य सः आराधकः ध्याता पुनः पापैर्न लिप्यते तस्य ध्यातुः पापे बुद्धिर्न प्रवर्तते इति भावः ॥७१५॥ मन्द मन्दमिति—ध्याता वायुं मन्दं मन्दं शनैः शनैः क्षिपेत् मुञ्चेत्। तथा मन्दं मन्दं विनिक्षिपेत् आकर्षेत्। क्वचिदायुर्न धार्यते न रुध्यते। न च शीघ्रं प्रमुच्यते। शनैः शनैः वायुर्मोक्तव्यः। नासोदिरं निरोधाद्देहस्य मनसश्च स्वास्थ्यं विनाशयेत्। शीघ्रं तद्विमुक्तेश्च चेतश्चाञ्चल्यं प्रभावयेत् ॥७१६॥ रूपमिति—योगिनः ध्यातुः यदि स्वरूपं प्रभावो वा विविधा विस्मयोत्पादिका वर्तते। मतः ते विदूरतः स्थितं रूपं स्पर्शं रसं गन्धं शब्दं चैव आसन्नमिव समीपस्थमिव गृह्णन्ति जानन्तीत्यर्थः। निर्मले मनसि विमले दर्पण इव माया स्वस्वरूपं निरस्यतीति ज्ञेयम्। दग्धे बीजे इति—यथा बीजे अङ्कुरोत्पत्तिकारणे। अत्यन्तं दग्धे सति तत्र अङ्कुरः न प्रादुर्भवति नोत्पद्यते। तथा कर्मबीजे मोहकर्मणि ज्ञानमृत्यादिकभवसन्तानके प्ररोहणकारणे दग्धे सति भवाङ्कुरः जन्माङ्कुरः न रोहति न जायते ॥७१७—७१८॥ नाभाविति—नाभौ कुण्डलिरूपे। चेतसि हृदये। नासाग्रे नासिकाग्रे। दृष्टौ नेत्रे। भाले ललाटे। मूर्धनि शिरसि। च कायसरोवरे। ध्याता मनोहंसं विहारयेत् विचारयेत्। मन एव हंसः मनोहंसः तम्। एवं ध्यात्रा विहिते सति क्व कुत्रापि मनसः एकाग्रता स्यात् ॥७१९॥ यायादिति—नरः व्योम्नि आकाशे। आयायात् गच्छेत्। जले तिष्ठेत्। अनलार्चिषि अग्निज्वालायां निषीदेत् उपविशेत्। मनोमरुत्प्रयोगेण मनसः स्थिरीकरणेन मरुत्प्रयोगेण च प्राणायामेन च। शस्त्रैरपि न बाध्यते। शस्त्रप्रहारेण अथवा न छिद्यते। एवं पवनमनोविजयात्मकं सामर्थ्यं ध्यातरि प्राणायामाभ्यासात् उद्भवति ॥७२०॥ जीव इति—जीवः संसारी। शिवः मुक्तः। शिवमुक्तः जीव संसारी अत्र कश्चन भेदः अस्ति किम्, नास्ति। य एव जीवः संसारी स एव शिवः जीवत्वेन उभयोरपि अभेदात्। परम् एकः जीवः पापबद्धः कर्मशृङ्खलापीडितः वर्तते। अपरः पुनः शिवः पापमुक्तोऽस्ति ॥७२१॥ आत्मनो ध्यानं कथं क्रियते। साकारमिति—सर्वं वस्तुजातं साकारम् आकारेण सहितं नश्वरं विनाशशीलम्। अनाकारं वस्तु तन्न द्रष्टुं शक्यम्। अतः पक्षद्वयविनिर्मुक्तं साकारतामुक्तं निराकारं च यस्य स्वरूपं न विद्यते स जीवः योगिभिः कथं ध्यायते उपास्यतामिति प्रश्ने सूरिराह—अत्यन्तमिति—देहोऽत्यन्तं मलिनः सप्तधातुमयत्वात्। परम् आत्मा तथा न। कीदृशस्तर्हि सः पुमानात्मा अत्यन्तनिर्मलः सप्तधातुपृथक्त्वं

दहस्य स्वरूप न तदात्मन । स तु नितान्त निर्मल । एनम् आत्मान देहाच्छरीरात्पृथक् कृत्वा विभिन्न कृत्वा तस्मान्नित्यम् अविनाशिन त विचिन्तयेत् ध्यायेत् ॥७२२-७२३॥ तोयमध्ये इति—यथा तोयमध्ये जलमध्ये । तैल पृथक् तिष्ठति । नीरक्षीरवत् अन्योन्यप्रदेशप्रवेशस्तयोर्न भवति । तथा अस्मिन् शरीरमध्ये पुमाञ्जीव पृथक्तया आस्ते विद्यते ॥७२४॥

[पृष्ठ २८१-२८४] दध्नः सर्पिरिवेति—यथा उपायेन मन्थनदण्डेन मथित्वा दध्न. सर्पिर्घृत पृथक् क्रियते तथा तत्त्वज्ञै जीवस्वरूपाभिज्ञै चिरम् अनादिकालेन ससर्गवानपि नीरक्षीरमिव देहेन, आत्मा शरीरत. देहात् पृथक् क्रियते । केन ध्यानोपायेन ॥७२५॥ पुष्पामोदाविति—यथा पुष्पात् आमोद गन्ध भिन्न । यथा तरोश्छाया भिन्ना । तद्वत् देहदेहस्थौ ज्ञातव्यौ । देहजीवौ प्रतिपत्तव्यौ । देह पुष्पसदृश साकार जीवस्तद्गन्धतुल्य निराकार । देह तरुवत् जीवस्तच्छायेव । यद्वा तौ लपनविम्बवत् देह लपनवत् मुखवत् । आत्मा आदर्शगतमुखविम्बवत् । यद्वत्सकलनिष्कले सकल अर्हन् निष्कल. सिद्ध तत्र सकलनिष्कले ॥ ७२६ ॥ एकस्तम्भमिति—इद शरीर योगिना गृहम् गेहमिव । यथा गृह स्तम्भैः सहित वर्तते तथा इद योगिशरीरम् । एकस्तम्भम् एक. स्तम्भ यत्र तथाभूतम् । एकस्तम्भ जीवे चेतना लक्षण तदेव लक्षण स्तम्भभूतम् । गृहे द्वाराणि विद्यन्तेऽत्र नवद्वाराणि सन्ति, शरीरे नवच्छिद्राणि सन्ति । द्वे नेत्रे नासिकारन्ध्रद्वयम् । कर्णरन्ध्रयुगम् । मुखरन्ध्रम् । शिश्नरन्ध्रम् । गुदरन्ध्रमिति नवरन्ध्र शरीरम् । एतानि रन्ध्राण्येव शरीरस्य द्वाराणि । पञ्चपञ्चजनाश्रितम्—यथा गृह पञ्चजना मनुष्यास्तैराश्रितम् । तथा योगिना शरीरगृहमपि पञ्च इन्द्रियाण्येव पञ्चजना मनुष्या तैराश्रितम । यथा गृहम् अनेककक्ष बहुप्रकोष्ठक विद्यते । तथा योगिना शरीरमिदम् अनेककक्ष नाभिकमलादिनानावयवोपेतम् ॥७२७॥ ध्यानामृतान्नेति—योगिना चित्त योगबान्धवे योगो ध्यान स एव तस्य बान्धव आप्तजनस्तत्र तथाभूते शरीरे रमते सतुष्यति । कथमूतस्य योगिन । ध्यानेति-ध्यानमेव अमृतान्न पीयूषान्न तेन तृप्तस्य सौहित्य प्राप्तस्य । पुन कथम्भूतस्य । क्षान्तीति—क्षान्ति क्षमा सैव योषित् जाया तस्या रतस्य स्नेह कृतवत ॥७२८॥ रज्जुभिरिति—यथा रज्जुभि प्रग्रहै । कृष्यमाण चोद्यमान । हयोऽश्व पारिप्लवश्चञ्चल । स्याद्भवति । तथा इन्द्रियै स्पर्शनादिभि । कृष्ट प्रेरित । आत्मा क्षणम् एकक्षणकालमपि ध्याने न लीयते लीनो निश्चलो न भवति । यो दुष्टाश्व स्यात्स प्रेरितस्तिष्ठति खचितश्चलति तथेन्द्रियै खचित आत्मा चलति न तिष्ठति । अत आत्मान शनै शनै वश करोतु ॥७२९॥ रक्षामिति—सकलीकरणविधिना स्वाङ्गरक्षण विधाय । तथा सहरणम् औदारिकशरीरभस्मन हरण कृत्वा । वैक्रियिकशरीरं चोत्पाद्य । गोमुद्रामृतवर्षणम् सुरभिमुद्रयामृतवर्षण च कृत्वा । स्वयम् आप्तरूपधर आप्तोऽर्हन् तस्य रूपधर परमौदारिकदेहस्थोऽहमिति भावयित्वा आप्तम् अर्हन्त चिन्तयेत् सकलीकरणे पूर्वं यथा शरीररक्षा क्रियते । पश्चात् अग्नितत्त्वे दहनलक्षण सहरणम् । चन्द्राद्वरुणमण्डलात् अमृतवर्षेण सृष्टि कृत्वा । स्वयम् आप्तरूपधर आप्तम् अर्हन्त चिन्तयेत् इति भाव । (टिप्पणे) ॥७३०॥ धूमवत् इति—धूमवत् पाप निर्वमेत् अघ परिक्षपयेत् । केन गुरुबीजेन । (झ्रू) कारेण । तेन कारणेन तद्वर्णेन अमृतवर्णेन पकारेण । मुहु मुहु वारवारम् ॥७३१॥ पद्मवीरसुखासनवर्णनम्—संन्यस्ताभ्यामिति—सन्यस्ताभ्या सस्थिताभ्याम् अधोङ्घ्रिभ्याम् अग्रश्चरणाभ्याम्, पद्मासनं भवति । ऊर्वोरुपरि सक्थ्नोरुपरि युक्तित अङ्घ्रिभ्या स्थापिताभ्या वीरासन भवति । तथा समगुल्फाभ्या समघुटिकाभ्या सुखासन भवति । टिप्पण्यामिदम् सक्थ्नोरध पादौ तदा पद्मासनम्, सक्थ्नोरुपरि तदा वीरासन घूण्टी उपरि घूण्टी तदा पद्मासनम् ॥७३२॥ तत्र सुखासनस्येद लक्षणम्—गुल्फोत्तानेति—गुल्फयो घुटिकयो. उपरि उत्तानौ ऊर्ध्वतलौ यौ करौ हस्तौ तयो अङ्गुष्ठे रेखा रोम्णाम् आलि पक्ति नासिका नासा च समदृष्टि. समा कुर्यु विदध्यु । नातिस्तब्धो न अतिशयेन स्तब्ध स्थिर । न वामन नातिनम्र ॥७३३॥ तालेति—तालस्य वितस्ते त्रिभागस्त्र्यश तृतीयभागश्चतुरङ्गुल तावत् मध्ये अन्तरम् अङ्घ्र्योश्चरणयोर्यस्य स तालत्रिभागमध्याङ्घ्रि । पुन कथभूत योगी । स्थिरेति – स्थिरे निश्चले शीर्षशिरोधरे मूर्धग्रीवे यस्य स । पुन कथभूत समनिष्पन्देति—पाष्णर्यग्रौ गुल्फयो अग्र प्रदेशाग्रौ । जानुनी ऊरुपर्वणी भ्रुवौ हस्तौ करौ लोचने नयने समानि निस्पन्दानि च निश्चलानि च पाष्ण्यर्ग्रजानुभ्रूहस्तलोचनानि यस्य स । एतादृशो

योमो ध्यानयोग्य ॥७३४॥ ध्यानस्य विधिमाह—नखेति—न नखकुन्ति न नखानां कुन्तनं कर्तव्यं कार्यम् । न कण्डूतिः हस्तेन अङ्गकर्षणं नैव विधेयम् । न ओष्ठभक्षितः ओष्ठयोरनावृतता न विधेया । ओष्ठौ पिधाय ध्यानं विधेयम् । न कम्पति शरीरकम्पनं न कार्यम् । न पर्वगणितिः गणना कराङ्गुलीनां पर्वणां गणितिः गणना न कार्या । मोचितं न भाषणं वक्तव्यम् । आन्दोलितिः स्मितिः शरीरस्य आन्दोलनं स्मितं हास्यं च न विधेयम् ॥७३५॥ न कुर्यादिति—दूरं दृक्पातः दूरं दृक्पातावलोकनं न कुर्यात् । नैव केकरवीक्षणं तिर्यगवलोकनं नेत्राभ्यां नैव विधेयम् । न स्पन्दमिति—पक्ष्ममालानां स्पन्दं पक्ष्मपुटानां स्पन्दं चलनं नैव कुर्यात् । नासापर्वणि नासाया अग्रे दर्शने लोचने यस्य स ॥७३६॥ विक्षेपाक्षेपेति—विक्षेपो मनसश्चञ्चलता । आक्षेपः अपवादः । संमोहो मूर्च्छा मौढ्यं वा । दुरीहा दुरभिप्रायः । एभिः रहितं हृदि मनसि आप्ततत्त्वे च सम्यग्ज्ञानादिस्वरूपज्ञाने यस्ति । एवं भवेत् सकृत् ध्यानज्ञो विधिः ध्यानपरिकरः करणं [illegible] भवेत् ॥७३७॥

इत्युपासकाध्ययने ध्यानविधिर्नाम एकोनचत्वारिंशः कल्पः ॥३९॥

४० श्रुताराधनविधिर्नाम चत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

[पृष्ठ २८५-२८७] यस्या पदद्वयमिति—यस्याः जिनमुखोद्भवायाः सरस्वत्याः पदद्वयं चरणयुगलं स्याद्वादं स्यादवाच्यं च । अलङ्कृतियुग्मयोग्यम् नूपुरयुगलोचितं तस्मात् अलङ्कारार्थालङ्कारौ अलङ्कृतियुग्मं तस्य योग्यं तेन भूषितमिति । पुनः कथंभूतं तत्? लोकत्रयीति—लोकत्रयमेव अम्बुजसरः कमलसरोवरं तत्र प्रविहारि प्रकर्षेण विहरणशीलम् । हारि मनोहरं च । तां देवीं शारदां सक्तिभक्त्या भजेन सेवे पूजयामि । कथंभूतां देवीम् । कल्पीति — कल्पा एव पुतरवः कल्पवृक्षाः तेषां मध्यमाः सोमार्ये कल्पवल्ली कल्पलताम् । पुनः कथंभूताम् । वागिति—वाचां विलासः वाग्विलासः तस्य वसतिः गृहभूताम् । इति श्लोकेन सरस्वतीं पूजयत् ॥ ७३८ ॥ यामन्तरेणेति—या जिनशारदाम् अन्तरेण विना सकलार्थसमर्थनोऽपि सकलशास्त्रे अर्थज्ञः जीवादयः पदार्थाः कामप्रमेयाः वा तेषां समर्थनोऽपि प्रतिपादकोऽपि । बोध नयविषम ज्ञानम् । अवक्षिप्तवत् अन्धमूकवत् अव्यवहारवत् । एतावता धर्मार्थादिपुरुषार्थचतुष्टयं प्राप्तुकामो न तेभ्यः आप्यवणीयो न भवति । परं यया सरस्वत्या अनुगत युक्तः स जीवोऽल्पमतिरपि स्तोकशास्त्रबोधकोऽपि सुरगुरिव कल्पतरुरिव त्रिलोक्याः लोकत्रयमध्ये तेभ्यः भजनीयो भवति तां वाग्देवतां नत्वा प्रयत्नेन अहं पूजयेयम् । इति मन्त्रम् ॥७३९॥ यतिः—या वाग्देवी स्वरूपा वस्तुरचना जीवादितत्त्वरूपमनुष्या सा तथाभूतापि अस्तावीति अन्यतमसहितापि मितप्रवृत्तिः मिता अस्याः प्रवृत्तिः यस्याः सा परं संस्कारतः तविपरीतरूपा तस्या वाग्देव्याः संस्कारे अभ्यासे अतिशयाधाने कृते सति पूर्वोक्तात् विपरीता लक्ष्मी शोभा यस्याः सा अपि या अन्यतररचना भवति अमितप्रवृत्तिश्च भवति । या सुधानुबन्धात् सुधायाः अमृतस्य अनुबन्धात् संबन्धात् स्वर्णस्फटिकमणिनेव स्वर्णस्य निर्माता वस्तुनीका वक्षमं तरलया सहैव प्रतिभाति । सा सता यथा सुधा भूते तथा वाग्देवी मुनिमुखी भूरि आगमाम् अहं सतीं वपुषि [illegible] भजामि । इत्याशयम् ॥७४० ॥ यद्बीजमस्य अपि—यया बीज मद्बीजं भवा उत्पत्तिकारणम् अयम् अपि जीवे वास्तवत्वयामाम् अयं क्रियते वर्ते तत् तत्त्वमयीपरावां तापुरुषमनिभूम्या [illegible] अयं प्राप्तं प्रवृत्ति यत् तत् कि कारणं तस्य प्रभूते । विद्येति—विद्या तर्क-साहित्य-व्याकरणादयः यं अवबोधः अमर्यादा प्रगल्भा ग्रन्थरचनाविधेया तं [illegible] प्रत्ययमुक्तं यत् अनुभवस्मृतिभिः अपूर्वो अदृष्टपूर्वो अननुभूतपूर्वो वा [illegible] तस्य वृत्तयो विद्येन तेर्ष [illegible] वीहनि वचने । तान् आश्चर्यलोकविधिम् आश्चर्यस्य लोकः विषयो विधि कार्यं यस्याः तां वाचा देवी [illegible] पूजये । इति पूजनम् ॥७४१॥ येति—या वाग्देवी । अस्य [illegible] । [illegible] तथा अपरो विधिः कार्यं यस्याः सा । भूतनाशन [illegible] तदेव कार्यं यस्याः तथाभूता । अथवा [illegible] नैवाभ्यासनया । तथापि मम आत्मा [illegible] प्रभूते । [illegible] ।

परतन्त्रनीति. परतन्त्रनयरूपा श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाधीना । अष्टस्थानापेक्षया परतन्त्रनीति पराधीना तथापि मन स्वाधीन प्रसूते प्रकटीकरोति । प्राय कलापरिगता कलाभि वस्त्वदज्ञानै परिगता व्याप्ता । मन प्रसूते मन चित्त जनयति । कलापरिगतापि मूर्तिसहितापि । मन आत्मा उपशान्तकल शरीररहित सूते । 'श्रुतमनिन्द्रियस्येति' मनस श्रुतज्ञान विषय इति निर्देशात् । यदा च स्पष्ट तत् श्रुतज्ञानमस्पष्ट शुक्लध्यानेन घातिकर्मविनाशात् केवलज्ञानरूप बिभर्ति तदा तत् स्पष्ट स्वतन्त्रम् उपशान्तकल च भवति । सकलवस्तुपरिच्छेदकत्वात् । क्षायोपशमिकभावविनाशनात् । अशात्मकताविकलत्वात् । उचितमेव, नृणा वस्तुगति चित्रा नराणा नानाविध वस्तुविषय ज्ञान भवति । अत ता वाग्देवीम् अष्टविधै चरुप्रकारै यजे पूजये ॥७४२॥ एक पदमिति—बहुपदापि बहूनि पदानि यस्या सा बहुपदा तथाभूतापि तुष्टा मती एक पद ददासि । श्रुतपदसख्यागमे एव प्रतिपादिता—'कोटीशत द्वादश चैव कोट्यो, लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव । पञ्चाशदष्टौ च सहस्रसख्यमेतच्छ्रुत, पञ्चपद नमामि ।' एव बहुपदेषु सत्स्वपि एक पद ददासीति विरोध., तत्परिहारस्त्वेवम् । एक मुख्य पद स्थान सिद्धालय त्वं ददासि । वर्णात्मिकापि अकारादिहकार-पर्यन्तवर्णस्वरूपा अपि त्वम् आराधकजन वर्णभाज वर्णधारिण न करोषि इति विरुद्धमेतत्परिह्रियते—स्वय वर्णभागपि सती आराधक वर्णादिगुणधारिण ब्राह्मणत्वादिवर्णयुक्त मूर्तिमन्त च न करोति अर्थात् वाग्देव्याराधका. तत्प्रसादात् ससारदिशा मुक्त्वा सिद्धपद लभन्ते इति भाव । तथापि भवती अह सेवे यजे। यत अर्थी जनो दोष न पश्यति कार्यापेक्षी नर । तत् तस्मात् तव एष दीप समस्तु । इति दीपम् ॥७४३॥ चक्षुःपरमिति—करणेति-करणानि इन्द्रियाणि तान्येव कन्दर दरी तस्माद् दूरितार्थे तिरोहितार्थे जीवादि-पदार्थमार्गे । हे देवि, त्व परम् उत्तम चक्षु नेत्रमसि । अतीन्द्रियपदार्थत्रिलोकनक्षमत्वात् । मोहेति—मोहान्ध-कारापनयने देवि, त्व परम उत्कृष्ट प्रकाश असि मेघादिना कदाचनापि अतिरोहितप्रकाशा त्वमसि । तद्धामेति—तत् अनिर्वचनीय स्वरूप धाम स्थान सिद्धालय तत्प्रतिगामी गमनशील: य पन्था मार्गस्तस्य वीक्षणे रत्नदीप त्वमसि । तत् तस्मात् हे देवि, इह जनेन आराधकनरेण त्व धूपै सेव्यसे आराध्यसे । इति धूपम् ॥७४४॥ चिन्तामणीति—चिन्तामणिश्चिन्तारत्नम्, त्रिदिवधेनु स्वर्गसुरभि, कामधेनुरिति भाव । सुरद्रुमाद्या कल्पपादपादय पुसा पुरुषाणा मनोरथेति—चित्ताभिलाषा तेषा य मार्ग तस्मिन् प्रथित प्रसिद्ध प्रभाव माहात्म्य येषा ते भावा हे देवि, तव सम्यक्सेवाविधे समीचीनाराधनाविधानात्, नियत नियमेन भवन्ति भक्ताना जायन्ते । तत् तस्मात् इद फल नारिकेलादि समर्पित ते मुदेऽस्तु आनन्दाय जायताम् । इति फल ॥७४५॥ कलधौतेति—कलधौतेन सुवर्णेन रचितानि यानि कमलानि, मौक्तिकानि शौक्तिकानि मुक्ताफल-नीति भाव , दुकूल सूक्ष्मवस्त्रम् । मणिजाल रत्नसमूह , चामराणि चमरीजानि प्राय आदौ येषा तै अनर्घ्य वस्तुनिवहै तथा सकलमङ्गलभावै दर्पणदधिदूर्वादिभिर्मङ्गलैर्भावै पदार्थे अह देवी सरस्वतीम् आराधया सेवे ॥७४६॥ स्याद्वादेति—स्याद्वाद कथचिद्वाद स एव भूधर पर्वत तस्मादुद्भव उत्पत्तिर्यस्या सा मुनिभि माननीया यतिजनवन्द्या । अनन्येति—न अन्य शरण रक्षको येषा ते अनन्यशरणा तै । त्वमे रक्षिका येषा तै देवै समुपासनीया आराध्या । पुन कथभूता । स्वान्तेति—स्वान्ते मनसि आश्रिता सञ्चित ये अखिला कलङ्का ज्ञानावरणादिकर्मदोषा तेषा हरतीति हर तथाभूत प्रवाह यस्या सा । मन स्थि सकलकर्मकलङ्कहरणक्षमज्ञानजलौघो यस्या सा । वागापगा जिनवाणीनदी । मम बोध एव गज करी त अवगाह प्रवेशो यस्या तथाभूता भवतु ॥७४७॥ जिनाभिषेकादिभ्य का अवस्था लभते भाक्तिक इति प्र प्राह—मूर्धेति—जिनाना तीर्थकृताम् अभिषवात् स्नानात् भव्यो मूर्धाभिषिक्तो भवति प्रधाननृपो जायते जिनानाम् अर्चनात् पूजनात् अर्च्य नृसुरपूज्यो भवति । सस्तवनात् जिनगुणस्तुते स्तवार्ह स्तुतियो भवति । जपात् जपो नामस्मरणयोग्यो भवति । ध्यानविधे एकाग्रचित्तेन जिनगुणध्यानकरणात् अबाध अन्यैर्बाधा नाप्नोति । श्रुतसेवनात च श्रुतस्य जिनमुखोद्भूतवाण्या आराधनात् श्रुताश्रितश्री श्रुतल लक्ष्मीको भवति ॥७४८॥ दृष्ट इति—हे जिन, दृष्ट त्वम् अनन्याश्रये भावै नितरा सेवित असि अन्यजनाश्रयणादुद्भूता ये अनुरागादयो भावा ते अन्याश्रया भावा उच्यन्ते ते तु भवजनका । तथाभ

भावेभ्यो विलक्षणा पुण्यजनका मे भवद्बोधदानध्यानादिगुणा त आत्मनो यत्कर्तो येषां तैर्भवे । हे जिन त्वं मया पूर्व निरन्तरं सेवितः आराधित असि । तथापि त्वं जिनत्व अनुरक्तो मयि न । यस्त्वं भवे विरक्तोऽपि अभक्ते द्वेषिणि समविधि समस्वभाव असि । हे ईश पुन एतत् मन्ये मम मन भवति त्वयि प्रेमप्रकर्ष प्रेम्णा प्रकृष्टं संलग्नम् । तत अपरं किं मायां अन्यत् किं ब्रुवे वच्मि । यामि गच्छामि गृहम् । भवतस्तव पुनर्दर्शनं भूयात् भवतु ॥७४९॥

इत्युपासकाध्ययने भुवाराधनविधिर्नाम चत्वारिंशत्तमः कल्पः ॥४०॥

४१ प्रोषधोपवासविधिर्नामैकचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

[पृष्ठ २८८-२९०] पर्वाणि—मासे चत्वारि पर्वाणि शुक्लकृष्णाष्टम्यौ द्वे शुक्लकृष्णे चतुर्दश्यौ द्वे इति चत्वारि पर्वाणि पर्वदिनानि प्रोषधशब्दाभिधेयानि आहुर्बुवन्ति स्म । पूरयन्ते धर्मकर्माणि यत्रेति पर्वाणि । पूजाक्रियाव्रताधिक्यात् अन्वर्थनामधेयानि । अत्र धर्मकर्मपूजाभिषेकव्रतादिकं बृंहयेत् वर्धयेत् ॥७५॥ रसत्यागेति—रसानां क्षीरदधीक्षुतैलघृतानां त्याग रसत्याग । एकभक्तं दिने एकवारं भोजनम् एकभक्तम् । एकस्थानम्—एकस्मिन्नेव स्थाने सकृद्भोजनम् । उपवसनक्रिया चतुर्णाम् आहाराणां त्याग उपवसनम् । एता क्रिया यथाशक्ति आत्मन बलं वीर्यं चानतिक्रम्य विधेया स्यु कर्तव्या भवेयु । पर्वसप्तमी सप्तम्या नवम्यां च त्रयोदश्यां पौर्णिमायाम्, अमावस्यायां च । पर्वणि अष्टम्यां चतुर्दश्यां च ॥७५१॥ तत्तैरन्तर्येति—तस्य रसत्यागस्य एकभक्तस्य एकस्थानस्य उपवसनस्य च नैरन्तर्यं निरन्तरस्य भाव नैरन्तर्यम् । एता क्रिया केऽपि सततं कुर्वन्ति केचन रसत्यागादीनां सान्तर्यं कुर्वन्ति । केचन यस्मिन् तिथौ यद्व्रतम् उक्तं तत्र एता रसत्यागादिका क्रिया कुर्वन्ति । तीर्थे तीर्थकराणां गर्भजन्मतप केवलमोक्षदिनेषु एता क्रिया करणीया । रोहिण्यादिनक्षत्रेषु च । अयं विधि बहुविध उपवासविधि श्रुतसमाश्रय आगमाधार चिन्त्य स्मरणीय ॥७५२॥ प्रोषधोपवासवत आचारविशेषमाह—स्नानेति—स्नानम्, गन्ध अङ्गसंस्कार शरीरस्य सौन्दर्यधारणम् । भूषा अलङ्कार धारणम् । योषा स्त्रीसेवा । एषु अविषक्तधीः अविषक्ता अननुरागवती धी बुद्धिर्यस्य स एषां परिहारं कुर्वन् इति । निवृत्तेति—सर्वाश्च ता सह अवद्येन पापेन युक्ता क्रिया सर्वसावद्यक्रिया । निवृत्त सर्वसावद्यक्रियाभ्यो य स निवृत्तसर्वसावद्यक्रिय परित्यक्तसकलपापाचार । संयमयो इन्द्रियप्राणिसंयमयो तत्पर । एतादृशो गृहस्थ उपोषित गृहीतोपवास नित्यं धर्मध्यानपरायणो भवेत् शुभ ध्याननिरतो भवेत् । चैत्यागारे जिनमन्दिरे गिरौ पर्वते गृहे स्वागारे वा । गहनेऽपि वनेऽपि वा ॥७५३-७५४॥ उपोषितस्य तस्य बह्वारम्भनिषेधमाह—पुंस इति—कृतोपवासस्य त्यक्तचतुर्विधाहारस्यापस्य । पुन कथंभूतस्य । बह्विति—बहुषु व्याधौ आरम्भस्य प्राणिपीडाहेतुव्यापार तत्र रतो व्यापृत आत्मा यस्य स तस्य कायक्लेश शरीरकष्टम् गजस्य स्नानेन अनावगाहनेन समा क्रिया यस्य स तस्य यथा गज अपि निमज्ज्य तटमागम्यैव तत्रत्यानि रजांसि स्वाङ्गे पुष्पवत् निक्षिपति तद्वत् आरम्भरतस्य नरस्य उपवासकरणं शरीरक्लेश एव भवेत् ॥७५५॥ प्रोषधदिनप्रतिपालनीया क्रिया आह—अनवेक्षेति—भूमिर्जीवाकुलास्ति न वेति अन्यथालोकनम् तथार्हदा दिपूजोपकरणपुस्तकादे आत्मपरिधानादिवस्त्रस्य स्थापनं ग्रहणं वा । अप्रतिलेखनम्—मृदुना उपकरणेन प्रमार्जनं प्रतिलेखनम् । न प्रतिलेखनं अप्रतिलेखनम् । दुष्कर्मारम्भ पापकार्यारम्भ । दुर्मनस्कार अशुभमनोविमर्श । आवश्यकेषु—आवश्यकानां सामायिकादीनां विरतिस्त्याग । भुक्तीच्छादिव्यापारस्मरणेषु अनुत्साह प्रोषधव्रते वा । एते चतुर्धा उपवासं विनिघ्नन्ति विनाशयन्ति ॥७५६॥ कायक्लेशाचारमविशुद्धिमाह—विशुद्धयन्ति—अयम् अन्तरात्मा कायक्लेशविधि विना उपवासादिकं विना न विशुद्ध्येत् न निर्मलो भवेत् । निदर्शनमाह—काञ्चनेति—काञ्चनात्मा सुवर्णपाषाण तस्य विशुद्धता निर्दुष्टपाषाणभाव अग्नेरन्यत्र नास्ति अन्यथा अपरमस्ति नैव । अग्निरेव सुवर्णमलनिर्मलनोपायोऽस्ति । तथा कायक्लेशादिभिस्तपोभि कर्ममलनिर्मलनात्मनः

सुवर्णं शुद्ध जायेते ।।७५७।। हस्ते इति—सुकृतिजन्मन सुष्ठु कृति सत्कार्य पुण्य तेन युत जन्म यस्य स सुकृतिजन्मा तस्य पुण्यवतो । यस्य नरस्य चित्त चारित्रै पवित्र पूनम् । तस्य हस्ते दु खमेव द्रुमो वृक्ष तस्य दावानल वनाग्निरिव चिन्तामणि विद्यते इति ज्ञातव्यम् ।।७५८।

इत्युपासकाध्ययने प्रोषधोपवासविधिर्नामैकचत्वारिंशत्तम कल्पः ॥४१॥

४२. भोगपरिभोगपरिमाणविधिर्नाम द्विचत्वारिंशत्तमः कल्प ।

[पृष्ठ २९१-२९२] भोगपरिभोगयोर्लक्षणमाह—यः सकृदिति—य भोजनादिक भोजनपुष्पगन्धादिक भाव पदार्थ । सकृत् सेव्यते भुज्यते स भोग । पौन पुन्येन वारम्वार सेवनात् भूपादि अलङ्कारस्त्रीवस्त्रादिक परिभोग स्याद्भवेत्।।७५९।। परिमाणं तयो भोगपरिभोगयो इयन्त काल दिवसपक्षमासादिकाल यावत् अयत्रा इयत्सख्योपेतयो परिमाण कुर्याच्छ्रावक , किमर्थम् । चित्तेति–चित्तस्य मनम व्याप्तिरधिकाधिकसग्रहाशा तस्या निवृत्तये व्यपोहाय । प्राप्ते भोगोपभोगवस्तुनिवहे लब्धे योग्ये च सेवितुमर्हे च सर्वस्मिन् इच्छया इच्छापरिमाण कृत्वा नियम भजेत् आश्रयेत् । अद्याहं एतावन्तौ एव भोगपरिभोगौ भुञ्जे । इति नियमम् अवलम्बेत ।।७६०।। यमनियमयोर्लक्षणमाह—त्याज्ये वस्तुनि इच्छाकृशीकरणाय यमश्च नियमश्च स्मृते निगदिते भवत । यमो यावज्जीवम् आमरण ज्ञेय ज्ञातव्य । सावधि एकद्वित्र्यादिमख्यापरिच्छिन्नदिवममासादिसमय नियम स्मृत ।।७६१।। आजन्मत्याज्यान्याह—पलाण्डुवति—पलाण्डु सुकन्दक , केतकी केतकनामवेया वनस्पति निम्वसुमनासि प्रसिद्धानि निम्वकुसुमानि । सूरण तन्नामा कन्दविशेष अर्शोघ्न इत्यपर तस्य नाम । आदिशब्देन अर्जुनारणिशिग्रुपुष्पमधूकबिल्वफलादिक त्याज्यम् । तथा वहुघातविषयं गुडुचीमूलकलशुनार्द्रश्रृङ्गवेरादिक त्याज्यम् । एतानि वस्तूनि तद्रूपधारिवहुप्राणिसमाश्रयाणि विद्यन्ते । अत आजन्म एषा त्याग कार्य ।।७६२।। भोगोपभोगपरिमाणव्रतनाशकाना त्याग करणीय इत्युपदिशति—दुष्पक्वस्येति—दुष्पक्वस्य सान्तस्तण्डुलभावेन अतिक्लेदनेन वा दुष्टपक्वस्य मन्दपक्वस्य वा अन्नस्य प्राश भक्षण तत्क्षतिकारण भोगपरिभोगपरिमाणव्रतनाशकारणम्। निषिद्धस्य पूर्वश्लोकोक्तपलाण्ड्वादीनाम् आहारस्य प्राश भक्षण व्रतविनाशकम् । जन्तुसवन्धमिश्रयो जन्तुना सबद्धस्य सचित्तस्य सचेतनबीजादिसहितस्य । सबद्धस्य पक्वफलादेर्भक्षणम् । तेन सचित्तेन सम्मिश्र पृथक्कर्तुमशक्यम् आर्द्रकदाडिमबीजमिश्र तिलमिश्र च यद्यवधानादिक तस्य प्राशो भक्षणम् एतद्व्रतनाशकम् । अवीक्षितस्य अनालोकितफलादेर्भक्षणम् एतद्व्रतविनाशकरम्।।७६३।। एतद्व्रतस्य निरतीचारस्य पालनात्सातिशयफलमाह—इत्थमिति—इत्थम् उक्तप्रकारेण नियतवृत्ति भोगपरिभोगप्रमाण कुर्वाण । अनिच्छोऽपि अभिलाषम् अकुर्वन्नपि । नर नरेषु देवेषु च श्रिय चक्रवर्त्यादिविभवस्य आश्रय आवासो भवेत् । स च मुक्तिश्रिय समीपे आगमन यस्य तथाभूतो भवेत् ।।७६४।।

इत्युपासकाध्ययने भोगपरिभोगपरिमाणविधिर्नाम द्विचत्वारिंशत्तम कल्प ॥४२॥

४३ दानविधिर्नाम त्रिचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

[पृष्ठ २९३-२९७] अधुना दानविधिर्विस्तरेण वर्ण्यते—यथाविधीति—प्रतिग्रहादिनवविधिमनतिक्रम्य, यथादेश जाङ्गलानूपादिदेशमनुसृत्य । यथाद्रव्य शुद्धान्नजलादिकमनुसृत्य । यथागमम् आगमोक्तदानस्वरूपमनतिक्रम्य । यथापात्र पात्राण्यनतिक्रम्य । यथाकाल शीतोष्णादिककालमनतिक्रम्य । गृहाश्रमे गृहस्थश्रावकै दान देयम् ।। ७६५ ।। दानलक्षणमाह—आत्मन इति—आत्मन श्रेयसे दातु स्वस्य हिताय । अन्येषा रत्नत्रयसमृद्धये अन्येषा सत्पात्राणा रत्नत्रयस्य वृद्धिर्भवत्विति हेतो । इत्थ स्वपरानुग्रहाय स्वान्योप-

कारणं यस्मात् तद्दानमिष्यते ॥७६६॥ दातृपात्रेति—तद् दानम्, दातृविशेषात् पात्रविशेषात्, विधिविशेषात्, द्रव्यविशेषात् विशिष्यते। यथा यथा गोक्षीरमृतीर्णं तोयं मेघैर्वृष्टं जलम्। भूमिसमाश्रयं भूम्याधारं प्राप्य विशिष्यते तथा दानमपि दातृपात्रविध्यादिविशेषेण विशिष्टफलं भवत् ॥७६७॥ दात्रादीनां लक्षणान्याह—दातेति—अनुरागसंपन्नः दाता पात्रगुणानुरक्तो दाता भवति। पात्रं रत्नत्रयगुणविशेषसंपन्नम्। सत्कारो भक्त्या विधिरिष्यते। द्रव्यम् अन्नादि। तत्तु स्वाध्यायतपःसाधकं भवेत् ॥७६८॥ वित्तव्ययस्य प्रकारान् ब्रूते—कश्चिद्दाता परलोकधिया अनेन वित्तव्ययेन अन्नादित्यागेन मे परलोकः स्वर्गादिर्लभ्यत इति मन्यते। कश्चिद् दाता ऐहिककीर्तिलोकादरादिप्राप्तिर्मे भूयादिति वाञ्छया वित्तव्ययं करोति। कश्चिच्च औचित्यमनसा वित्तव्ययं करोति। दानप्रियवचनाभ्याम् अन्यस्य सन्तोषोत्पादनम् औचित्यं तेन युक्तेन मनसा अभिप्रायेण वित्तव्ययं करोति। इति सतां सज्जनानां दातॄणां वित्तव्ययः धनवितरणं त्रिधा त्रिप्रकारं भवति ॥७६९॥
परलोकेहिकौचित्येष्वस्तीति—येषां धीः बुद्धिः परलोके ऐहिके औचित्ये च तथा नास्ति। कदाचित् प्रवर्तते कदाचिन्नेति वैषम्यं येषां क्रिया वर्तते तेषां धर्मः ऐहिकं सुखादिकं वाञ्छतीति एतस्मात् कुतः स्यात्। एतत्सर्वं तैर्वृथेति मन्यते तेषां वित्तव्ययो विफल एव भवत् ॥७७०॥ दानचातुर्विध्यमाह—अभयेति—मनीषिभिः विद्वद्भिः। चतुर्विधं चतुःप्रकारं दानं प्रोक्तम्। अभयेति—अभयदानम् आहारदानम् औषधदानम् श्रुतदानम्—ज्ञानदानमिति। एतत् चतुर्विधं दानं भक्तिशक्तिसमाश्रयं भक्त्याधारम्, शक्त्याधारं च। यदि धनं समीपे न स्यात् तर्हि एतद्दानं दातुकामोऽपि न दातुं शक्नोति। शक्तिरस्ति तथापि भक्त्यभावे न दातुमिच्छति। यस्य समीपे एतद्द्वयं वर्तते स चतुर्विधमेतद्दानं पात्रेभ्यो दद्यात् ॥७७१॥ चतुर्विधदानानां फलचातुर्विध्यं वदति—सौरूप्यमभयादिति—अभयात् भीतस्य नरस्य अभयदानात् दाता सौरूप्यं सौन्दर्यं प्राप्नोति। आहारदानात् भोगवान् भवति दाता। औषधदानात् आरोग्यं दाता भवति। श्रुतात् शास्त्रदानात् दाता श्रुतकेवली स्यात् ॥७७२॥ अभयदानं प्रथमं देयमिति कथयति—अभयम् इति—सुधीः सुमतिः श्रावकः। सर्वसत्त्वानां प्राणिनां आदौ प्रथमं सदा अभयं दद्यात्। तदीये अभये असति सर्वं परलोकोचितविधिः देवपूजादिकं षट्कर्माचरणं वृथा भवेत्। जीवितरक्षणम् अभयात् भवति तच्चेत् न रक्ष्यते परलोकोचिताः क्रियाः को विदध्यात् ॥७७३॥ अभयदानं सर्वेषाम् उत्तममिति निगदति—दानमिति—अन्यदाहारादिकं दानं भवेन्मा वा भवतु न वेति। नरस्येकोऽपि अभयप्रदः अभयदानं यदि स ददाति तेन ॥७७४॥ तेनेति—यः अभयदानदाता—यः नरः अभयं दत्त्वा प्राणिनां निर्भयत्वम् करोति तेन सर्वं श्रुतम् अधीतं सकलं द्वादशाङ्गश्रुतं पठितम्। तेन परं तपः उत्तमम् उत्तमं तपः सेवितम्। तेन कृत्स्नं दानं कृतम् आहारौषधशास्त्रदानानि दत्तानीति मन्ये ॥७७५॥ दातुर्लक्षणमाह—नवेति—नव च ते उपचाराश्च नवविधः पात्रस्य नवादरप्रकारास्तैः उपेतः युक्तः। सप्तभिर्गुणैः समेतः सहितः दाता चतुर्विधं अन्नं पानं खाद्यं लेह्यमिति आहारचातुर्विध्यं तत्र ओदनादिकमन्नम्। जलादिकं पेयम्। अपूपपूरिकामोदकादिकं खाद्यम्। दाडिमादिफलानि क्षीरेक्ष्वादिकं लेह्यमिति। तैः युक्तैः अस्पृश्यजनादूषितैः स्वयं स्नानादिपूर्वेण दात्रा विहितैः अमीभिः आहारैः साधूनां स्थितिं कल्पयेत् भोजनविधिं कल्पयेत् कुर्यात् ॥७७६॥ नवोपचारानाह—प्रतिग्रहेति—गृहस्थितेन गृहनिरतेन श्रावकेण मुनीनां नवोपचाराः यथायोग्य-मुख्युपचाराः कार्याः विधेयाः। तान् प्रतिग्रहादीनाह—प्रतिग्रहः स्वगृहद्वारे यतिं दृष्ट्वा प्रसार्य कुड्मलीकृत्याञ्जलिं नमोऽस्तु तिष्ठत इति त्रिर्भणित्वा स्वीकरणम्। उच्चासनम्—स्वगृहान्तः स्वीकृत्य यतिं नीत्वा निरवद्यानुपहतस्थाने उच्चासने निवेशनम्। पादपूजा पादयोः क्षालनम्, पूजा च पञ्चोपचारविधिः। प्रणामः पूजितसंयतस्य पञ्चाङ्गप्रणामकरणम्। वाक्कायमनःप्रसादाः वाचः शरीरस्य मनसश्च प्रसन्नता। तत्र परुषकर्कशादिवचोवर्जनं वाक्शुद्धिः। सर्वत्र संवृताचारतया प्रवर्तनं कायशुद्धिः। आर्तरौद्रवर्जनं मनःशुद्धिः। भिक्षाशुद्धिः चतुर्दशमलरहितस्य आहारस्य प्रगुण भावोचितस्य हस्तपुटेऽर्पणम् ॥७७७॥ दातुर्गुणानाह—श्रद्धेति—श्रद्धेत्यादि सप्तगुणाः यत्र यस्मिन् दातरि सन्ति तं दातारं सूरयः प्रशंसन्ति। के ते सप्तगुणाः? आह—श्रद्धा तुष्टिः भक्तिः विज्ञानम्, अलुब्धता क्षमा शक्तिः। श्रद्धा—पात्रगुणानुरागः। विज्ञानम्—द्रव्यक्षेत्रकालादिविवेकित्वम्। अलुब्धता—सांसारिकफलानपेक्षा। क्षमा—दुर्निवार

कालुष्यकारणोत्पत्तावपि कोपाभाव । शक्ति —स्वल्पवित्तस्य स्वाढ्याश्चर्यकारिदानप्रवृत्त्यङ्गम् ॥७७८॥ तत्र विज्ञानस्येद लक्षणम्—विवर्णमिति—मुनिभ्य तदन्न न देयम् । कीदृश तद् यच्च भुक्त भक्षित गदावह रोगोत्पादकम् । पुन कथभूतम् अन्न न देयम् । विवर्ण कान्तिरहितम् । विरसं स्वादरहितम् । विद्ध कीटाद्युपद्रुतम् । असात्म्यम्—यस्य प्रकृते पानाहारादय विरुद्धा अपि सुखित्वाय कल्प्यन्ते तत्सात्म्यम् । प्रकृतिविरुद्धाहारपानादय भक्षिता सन्त सुखित्वाय नावकल्प्यन्ते तदसात्म्यमित्युक्तम् । प्रसृतम् अतिजीर्णं एतादृक् सदोषमन्न मुनिभ्यो न देयम् ॥७७९॥ उच्छिष्टमिति—भुक्त्वावशिष्टम् । नीचलोकार्हम्—नीचाश्चाण्डालादयस्तद्योग्यम् । अन्योद्दिष्टम् देवतायाचकपाखण्डाद्युद्दिष्टम् । विगर्हित निन्द्यम् । दुर्जनस्पृष्टम् दुर्जनै चाण्डालादिभि स्पृष्ट स्पर्शितम् । देवतायक्षाद्यर्थं कल्पित निर्मितम् ॥७८०॥ ग्रामान्तरादिति—अन्यस्माद् ग्रामात् आनीतम् । मन्त्रानीतम्—पठितसिद्धमन्त्रेण आनीतम् । उपायनम् उपहारीकृतम् अन्नम् । आपणक्रीतम् कान्दविकादिकृतम् अन्न यत्तस्मात् क्रीत्वानीतम् । विरुद्ध पात्रप्रकृतिविरुद्धम् । अयथर्तुकम् यस्मिन् ऋतौ यदनुकूलम् अन्न तद्ययर्तुकम् । तथा यन्न तत् अयथर्तुकम् । ऋत्वननुकूलम् ॥७८१॥ दधिसर्पिपयोरिति—यद्दध्ना सर्पिषा च रञ्जित तदन्न भक्ष्यप्राय पर्युषित मतम् । यत् गन्धवर्णरसभ्रष्ट अन्यत् सर्वं विनिन्दितम् अन्न न देयम् ॥७८२॥ मुनीना वैयावृत्य विदध्यादिति वर्णयति—बालग्लानेति—बालो मुनि वयसा लघु । ग्लान रोगपीडित । तप क्षीण तपसा अनशनादिना क्षीण कृश । वृद्ध जरया ग्रस्त । व्याधिसमन्वित रोगेण बहुकाल कदर्थित । एतान् मुनीन् नित्यमुपचरेत् आहारौषधादिना सेवेत । यथा ते तप क्षमा स्यु तप अनशनादिक कर्तुं समर्था स्यु ॥७८३॥ भोजनक्षणे परिहार्यान् दोषान् व्याचष्टे—शाठ्यमिति—शाठ्य कपट वक्रताम् । गर्वं कुलमदादिकम्, अवज्ञानम् अवमाननम्, निरादरताम्, पारिप्लव चञ्चलताम् । असयमम् अजितेन्द्रियताम् । वाक्पारुष्यम्—वाच भाषणस्य पारुष्य कठोरताम् तव मस्तक कृणोमि इत्यादिरूपं वचनम् । एतान् दोषान् भोजनक्षणे मुन्याहारवेलाया वर्जयेत् दाता ॥७८४॥

[पृष्ठ २९८-३००] कुत्र मुनिर्न भुञ्जीतेति निगदति—अभक्तानामिति—अभक्ताना ये जैनमुनिभक्ता न सन्ति, ये च कदर्या कृपणा तथा ये अव्रता व्रतरहिता सन्ति तेषा सद्मसु गेहेषु न भुञ्जीत न भोजन कुर्वीत । क साधु मुनि । तथा दैन्यकारुण्यकारिणा ये जना निज दैन्य दर्शयन्ति अथवाऽय मुनिर्दीनोऽस्य भोजन दीयताम् इति ये वदन्ति तेषा सद्मनि न भुञ्जीत । ये च मुनिविषये कारुण्य दर्शयन्ति तेषा गृहेऽपि मुनि नाहार गृह्णीयात् ॥७८५॥ किमर्थं दैन्यकारिणा गृहे न भुञ्जीरन् मुनय इति वर्णयति—नाहरन्तीति—महासत्त्वा धैर्यशालिन मुनय । चित्तेनापि केनापि अनुकम्पिता 'इमे मुनय दयापात्र येषामुपरि दया विधाय आहारो देय इति' इति मनसाऽपि सकल्पितास्तस्य गृहे ते नाहरन्ति न भुञ्जते । किं तु तेऽदैन्यकारुण्यसकल्पोचितवृत्तय अहम् अदीन जिनवत् इति सकल्पेन प्रवर्तन्ते । अह प्राणिषु करुणाक्रान्तचेता कथमिमे सर्वज्ञप्रतिपादितमोक्षमार्गे प्रवर्तेरन् इति सकल्पार्हस्वभावा सन्ति ॥ ७८६ ॥ कुत्र प्रतिहस्त दिशेदिति व्याचष्टे—धर्मेष्विति—धर्मेषु स्वाध्यायादिषट्कर्मसु । स्वामिसेवाया प्रभो सेवायाम् । सुतोत्पत्तौ च पुत्रजननकार्ये च । क सुधीर्बुद्धिमान् प्रतिहस्तम् अन्यपुरुषं समादिशेत् युञ्ज्यात् । एतानि कार्याणि सुधी स्वयमेव कुर्यात् अन्यत्र कार्यदैवाभ्या कार्य प्रेषणम्, दैव यत्किमपि इष्टम् अनिष्टं वा दैव करोति तत्र स्वहस्तात् किमपि न कर्तुं शक्नोति अतस्तत्र स्वहस्तनियमो नास्ति ॥७८७॥ आत्मेति—आत्मन स्वस्य वित्तपरित्यागेन धनव्ययेन परैः अन्यैर्धर्मविधापने धर्मसपादने । अन्यैर्नरै दानपूजाभिषेकादिधर्मकार्यकरणे नि सशय स स्वस्य वित्तत्याग विफलो भवति तस्य फल वित्तत्यागवता न लभ्यते । परभोगाय तत्फलम् अवाप्नोति स ॥७८८॥ स्वय धर्मविधायिन फल निर्दिशति—भोज्यम् इति—य स्वय धर्मं करोति तस्य धर्मकृते धर्मकार्यात् भोज्यम् इन्द्रियविषय लभ्यते । तस्य भोजनशक्ति इन्द्रियविषयभोगसामर्थ्य लभ्यते । वरस्त्रिय वराया रूपादिगुणै उत्तमाया स्त्रियो युवत्या रतिशक्ति सभोगसामर्थ्यम् । विभव ऐश्वर्यम् दानशक्तिश्च दानसामर्थ्यं च लभ्यते ॥७८९॥ केषु मुनिभिराहारग्रहण वर्ज्यते—शिल्पिकारुकेत्यादि—शिल्पिन मालाकारकुम्भकारचित्रकारादय । कारुकवाच निर्णेजकादय । शम्फली परनारी पुमा योजयित्री कुट्टनीत्यर्थ । पतितादय मद्यमाससेवनात् जातिच्युत पतित ।

आदित्यवेन अन्येऽपि तत्समुद्रा ये यथा अस्वाध्यायस्य । तेषु मुनि देहस्थितिं न कुर्वीत आहारं नैव गृह्णीयात् तथा लिङ्गिभिन्नापयोगिषु आर्यिका मुनयो वा ये भिन्नेन उपजीविनो कुर्वन्ति यतीनाम् उपकरण–पात्रस्य पिच्छयोगपट्टादिवस्त्रप्रयोगिनां गृहे आहारो न ग्राह्यः । एतेषु सर्वेषु मुनिना देहस्थितिर्न क्रियेत । कृतायां प्रायश्चित्तविधिं चरेन्मुनिः ॥७९०॥ दीक्षायोग्यस्याहारोचितत्वे वर्णमाह—दीक्षायोग्या इति—त्रयो वर्णाः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्याः एते त्रयो वर्णाः दीक्षायोग्याः महाव्रतधारणे मर्हा योग्याः । चत्वारश्च वर्णाः उच्चगोत्रेण सहिताः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्याः विशोधिताः आहारोचिताः । विवाहश्च्छेन आहारो गृह्यते सर्वेऽपि अन्यत्र मनो वाक्कायधर्माय मनसा वाचा कायेन च धर्माय धर्माचरणाय भता जिनैः करणी धर्माचरणं कर्तुं योग्याः । यस्य यद् धर्माचरणम् आहारदानादिकं निर्दिष्टं तेन तत्कार्यम् । यस्य तत् न प्रोक्तं तेन तत् न कार्यम् । स्वस्य योग्यतानुसारेण कृतो धर्मः पुण्याय कल्पते । अन्यथा आज्ञाभङ्गादिदोषः पापहेतुः स्यादिति ॥७९१॥ को धर्मः किं च तस्य कारणम् । पुष्पादिरिति—पुष्प-फल-नैवेद्यादिकानां देवपूजायाम् अर्पणं पात्रेभ्योऽशनम् आहारदानं वा न स्वयं धर्म एव हि यथा शिरयादि भूमिखननशातादिकं न स्वयं धान्यं किन्तु धान्यस्य कारणम् । तथा पुष्पादि अशनादि धर्मस्य कारणं यो मनसि भावः शुभः तदेव स धर्मसंज्ञां धत्ते । अन्यद् तस्य कारणं ज्ञेयम् । पुष्पाम्नादिदानेषु भावस्य परिणामनिर्मलतायाः कारणं स्यात् । अतः भावधर्मं प्रति कारणत्वात् तस्यापि परम्परया धर्मत्वमानने न हानिः ॥७९२॥ मुक्तमिति—भुक्तां तरण्या सायु मायाविरहितं मन सद्भव एनदेव यवमात्रं मुक्तं सत् परा वृद्धिम् अतीव निमज्जाम् अवाप्नोति लभते । यथा रसे पारदैविशम् अन्न प्रक्षिप्तपारदं कोटि परां शक्तिं निमज्जां पूरया सुवर्णतां प्राप्नोति ॥७९३॥ देहिना प्राणिना यथपि अनुष्ठितमपि मन तपोध्यानार्चनाहानमनशनादितपोभिः चतुर्विधाहाराभयौषधशास्त्रदानैः जिनपूजया च हीनं रहितं सद् तप आदिकम् संभाव्य पुण्यस्य प्राप्तये न स्यात् । कुपूलस्थितबीजवत् यथा कुशूले धान्यागारे स्थितं बीज तत्फलप्राप्तये धान्यफलोत्पादनाय हेतुर्न भवति तद् अनुष्ठितोऽपि मानवो धर्मतो भवेच्चेत् धर्मफलं लभेत नान्यथा ॥ ७९४ ॥ आवेशिकेति—आवेशिक अतिथिं आपन्नम् । आश्रित अनन्यस्वामिकं । ज्ञातिनिबन्धक । योग्य कुलीनो दरिद्रश्च तेषु यथाक्रमं क्रमम् अनतिक्रम्य यथोचितं दानमित्यवगन्तव्या सन्तोषानतिक्रमेण । यथाकालं कालमनतिक्रम्य । भक्तपानभक्तमाचरेत् । अपियत् देवद्रव्यं भूतद्रव्यं अयशं पितृद्रव्यं चेति पञ्चकद्रव्यम् क्रमशः कुर्यात् ॥ ७९५ ॥ पञ्चमकालेऽपि जैनमुनयः विहरन्तीति नियमति—काले इति—अस्मिन्कली काले दुःषमाख्ये पञ्चमकाले । चले चित्ते मनसि चञ्चले सति । देहे शरीरे च अन्नादिकीटके असम् अत्तीति भक्षयतीति अन्नादी च आसी कीटक तस्मिन् सति । एतच्चित्रम् आश्चर्यं विद्यते यत् अद्यापि जिनरूपधारिणः नराः विद्यन्ते । अयं पञ्चमकालः शुभो नास्ति यत सर्वे जनाः स्वैराचारपरायणाः पापरताः दृश्यन्ते । चित्तमपि चलं धर्माचरणाद्दूरमिच्छति । देहोऽपि अन्नाभिलाषपरस्तथापि अत्र भारते केचन जना जिनेन्द्रमुद्रां धृत्वा स्वपरहिताय यतन्ते ॥७९६॥ यथेति—यथा लेपादिनिर्मितं काष्ठपाषाणधात्वादिविरचितं जिनेन्द्राणां रूपं जिनप्रतिबिम्बं पूज्यम् । तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूर्वे ये मुनयः पूर्वमुनयस्तेषां छाया यत्र तत्सदृशा इत्यर्थः । अष्टाविंशतिमूलगुणधारिणः संयताः सम्प्रति अस्मिन्काले पूज्याः मान्याः । परं यदि स्वाचारात् भ्रष्टाः गृहस्थवत् आचरणं कुर्वन्ति मान्यान् मुनीनपि न मानयन्ति बहुमतिं न तेभ्यो हीनाः इति ये मन्यन्ते । न ते नमस्कारयोग्याः ये च तान् नमस्यन्ति ते तत्पापम् अनुमन्यमाना ज्ञातव्याः । उक्तं च कुन्दकुन्दाचार्येण षट्प्राभृते— 'तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोअमाणाणं'—तेषामपि नास्ति बोधिः पापम् अनुमन्यमानानाम् इति । पूर्वमुनिच्छाया इत्यत्र अयमाशयः अस्मात्परितोऽपि अत्र अस्मत्तं मुनिचारित्रापेक्षया पूर्वे मुनयः तपस्विनः परीषहोपसर्गान् सहमानाः आसन् आधुना ते तथा हीनसंहननधारित्वात् । परन्तु हीनसंहननेऽपि मूलगुणाना पालनं भवत्येव अतः मूलगुणधारिणः मुनयः पूर्वमुनिच्छायाः ज्ञातव्याः ॥७९७॥ पात्रप्रकारानाह— तदुत्तमम् इति—यत्र नरे रत्नत्रयं भवेद् विद्येत तद् उत्तमं पात्रं भवेत् । देशव्रती अणुव्रती दर्शनप्रतिमाद्येकादशप्रतिमासु या काश्चित् प्रतिमाम् सेवमानः श्रावकः मध्यमं पात्रं भवेत् । अव्रतश्च जघन्यं पात्रं स्यात् । रत्नत्रयं अव्रतश्च सम्यक्त्वधर्मविहीनः नैव सम्यग्दर्शनं पात्रम् ॥७९८॥

[पृष्ठ ३०१-३०४] यत्रेति—यत्र रत्नत्रय नाम्नि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र च रत्नत्रयम् तत् यस्मिन् नरे न विद्यते स अपात्रम् इति बुधा विद्वास विदु जानन्ति। तत्र उप्तम दत्तम् आहारादिक चतुर्विध दानम् ऊषरया क्षारमृत्तिकावत्या क्षिताविव भूम्याम् उप्त बीजमिव सर्व वृथा विफल स्यात् ॥७९९॥ पात्रे दत्तमिति—गृहमेधिना गृहिणा गृहे मेधा बुद्धिर्येषा ते गृहासक्ता श्रावका। तेषाम् अन्न पात्रे दत्त पुण्याय भवेत्। यथा मेघाना मुक्ताकेत्र पतित जल मुक्ताफल मौक्तिक भवेत् जायेत ॥८००॥ मिथ्यात्वेति—मिथ्यात्वेन अतत्त्वश्रद्धानेन कुदेवागमलिङ्गिना श्रद्धानेन वा ग्रस्तानि चित्तानि मनासि येषा तेषु नरेषु। कथभूतेषु चारित्राभासभागिषु चारित्रस्य आभास भजन्ते इति चारित्राभासभागिन तेषु यच्चारित्रमिव सम्यग्दर्शनयुक्त चारित्रम इव भासते पर तत्तथा नास्ति तत् चारित्राभासम् तद्युक्तेषु दानम् आहारादिकदानम् अहिषु सर्पेषु पय पानमिव दुग्धपानमिव दोषायैव भवेत्। तत ससार एव वर्धेत ॥ ८०१ ॥ कारुण्यादिति—कारुण्यात् करुणाया दयाया भाव कारुण्यम्। तस्मात् मनसि अनुकम्पाया उद्भवात्। अथवा औचित्यात् प्रियत्वात्तहित दानम् औचित्य तस्मात्। तेषा चारित्राभासभागिना मिथ्यादृशा किंचिद् स्वल्प अन्नादिक दिशन्नपि वितरन्नपि उद्धृतम् अन्नम् एव दिशेत्, तदीयपात्रे अन्न निक्षिपेत् अन्यत्र गत्वा भुज्यतामिति कथयेत्। गृहे भुक्ति न कारयेत् मदीये गृहे भुङ्क्ष्वेति कथयित्वा गृहे एव त न भोजयेत् ॥८०२॥ उद्धृतान्नदाने हेतुमाह—सत्कारादाविति—येषा सत्कारादिषु क्रियमाणेषु, आदरेण स्वीकरणम्। उच्चासनदानम्। पादप्रक्षालनम्। गन्धादिना पूजनम्, इत्यादि सत्कारक्रियाकरणे दर्शन सच्छ्रद्धान दूषित मलिन भवेत्। तदेव निदर्शनेन दृढयति—यथा विषभाजनसगमात् विषपात्रसहवासात् विशुद्ध निर्दोषमपि अम्बु जल दूषित पानकारिणो नरस्य प्राणहरण कुर्यात् ॥८०३॥ एषा सहवासादिकमपि परिहरेदिति कथयति—शाक्येति—शाक्या बौद्धा, नास्तिकाश्चार्वाका आत्मा नास्ति, परलोको नास्तीति वादिन। यागज्ञा मीमासका अश्वमेधादियज्ञविधायिन। जटिला जटाधारिण परिव्राजका, आजीवका आदौ येषा ते तै मिथ्यामतप्रवर्तिभि लोकै सहावासम् एकस्मिन् स्थाने निवसनम्। सहालाप तै सह भाषणम्, तत्सेवा च विवर्जयेत् त्यजेत् ॥८०४॥ अज्ञातेति—अज्ञात तत्त्वाना जीवादीना चेत हृदय स्वरूप यैस्ते अज्ञाततत्त्वचेतस। अथवा अज्ञातम् अनवबुद्ध तत्त्व जीवादीना स्वरूप येन तत् अज्ञाततत्त्व तत् चेत मन येषा तै अज्ञाततत्त्वचेतस तै शाक्यादिभि, पुन कथभूतै दुराग्रहमलीमसै दुरभिनिवेशान्मलिनमनोभि शाक्यादिभि गोष्ठ्या भाषणव्यवहारे कृते तत्त्वविमर्शे कृते दण्डादण्डि, दण्डैर्दण्डैरिद अन्योन्य युद्ध प्रवर्तते इति, अन्योन्य कचान् गृहीत्वेद युद्ध प्रवर्तत इति कचाकचि। दुराग्रहवशगतचेतस्त्वात् ते कलहोद्यता भवेयुरिति ॥८०५॥ दर्शनम्लानिकारणान्याह—भयलोभेत्यादि—भय भीति, राजादिजनिता, लोभ वर्तमानकाले अर्थप्राप्ति। उपरोध मित्रानुराग आदिशब्देन आशया भाविनोऽर्थस्य प्राप्त्याकाङ्क्षया। कुलिङ्गिषु शाक्यनास्तिकयागज्ञजटिलादिषु कुगुरुषु निषेवणे प्रणामविनयादिभि नीचै आचरणे हीने आचारे जाते सति दर्शनम् अवश्य म्लायेत् मलिन भवेत् उज्ज्वल न स्यात् ॥८०६॥ बुद्धिपौरुषेत्यादि—बुद्धि कर्मणि कौशलम्। पौरुष प्रयत्न उद्यमश्च। नृषु नरेषु कर्मकुशलेषु प्रयत्नवत्सु सत्स्वपि, दैवायत्तविभूतिषु सम्पद दैवाधीना सभवन्ति। तत्प्राप्त्यर्थं कुत्सितसेवाया यदि नरा उद्यताश्चेत् तत्र दैन्य दीनता एव दारिद्र्यमेव अतिरिच्यते अधिक कारण प्रधान कारण ज्ञातव्यम्। नर कश्चित् सम्यग्दृष्टि कुत्सितजनस्य दारिद्र्याभिभूतत्वात्सेवा करोति चेत् तेनैव विमर्श कर्तव्य अह सम्यग्दृष्टि यद्यपि कर्मकुशल पौरुषयुक्तश्च तथापि विभूतयो दैवायत्ता.। अत मयास्य सेवा क्रियते तथापि मम सदाचार नाह त्यजामि, नाह कुलिङ्गिनो निषेवे। मिथ्यादृष्टिनश्च नाह प्रणमामि। एव विवेकेन प्रवृत्ति कुर्वाण सम्यक्त्व न मलिनयेत् ॥८०७॥ समयीत्यादि—मनीषिण विद्वास तत्पात्र पुन पञ्चधा पञ्चप्रकारम्। आमनन्ति आगममनुसृत्य वदन्ति। किं समयी श्रावक साधुश्च जिनसमयश्रित, सूरि आचार्य समयदीपक वादित्वादिना मार्गप्रभावक ॥८०८॥ समयिकमाह—गृहस्थो वेत्यादि—जैन समय जिनप्रतिपादित समय मतम् आश्रित गृहस्थो वा गृहनिरत गृहविरतो वा। यथाकाल कालम् आहारकालम् अनतिक्रम्य अनुप्राप्त गृहमागतश्चेत् पूजनीय सुदृष्टिभि

सम्यग्दर्शनधारिभि ॥८१०॥ साधकमाह—ज्योतिर्मन्त्रेत्यादि—ज्योति ग्रहनक्षत्रादिक तद्गत्यादिकं च तज्जानातीति ज्योतिर्ज्ञ । मन्त्रज्ञ मन्त्रं तत्स्वरूपम् इष्टानिष्टं तत्फलम्, तदाराधनादिकं जानातीति मन्त्रज्ञ । निमित्तम् अष्टधा अन्तरिक्ष भौम-अङ्ग-स्वर-व्यञ्जन-लक्षण-छिन्न-स्वप्ना । तद् जानातीति निमित्तज्ञ य ज्योतिषु, मन्त्रेषु, निमित्तेषु च कुशल । य कार्यकर्मसु प्रतिष्ठादीक्षासंस्कारविधानप्रतोद्यापनादिषु कर्मसु सुप्रज्ञ सुबुद्धि सम्यक्तया परोक्षार्थान् ग्रहकृतान् शुभाशुभफलानि च तेषु समर्थ धीर्यस्य स समयिभि पूज्यते मुनिभिश्च मान्य आदरणीय । अथवा सामर्थ्यतस्तु सुप्रज्ञ यैव स च ज्ञानि परोक्षार्थं जानाति तत सोऽपि समयिभि मान्य ॥८११॥ साधकमाह—दीक्षायात्रेति—दीक्षा द्विविधा अनुव्रतदीक्षा महाव्रतदीक्षा च यात्रा ग्रामान्तरगमनं तीर्थयात्राकरणं वा । प्रतिष्ठा जिनबिम्बविधानम् । आद्यशब्देन प्रतोद्यापनं विवाहादिसंस्कारादय । एता क्रिया तद्विरहे ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तज्ञाभावे कुत भवेयु । तदर्थम् एतत्कार्यविधानाय परपृच्छया वैदिकादि ज्योतिर्विदादि-विद्वज्जनपृच्छाया जिनसमयोन्नति कथं स्यात् ॥८११॥ नैष्ठिकमाह—मूलोत्तरगुणेति—मूलगुणा अहिंसादय अष्टाविंशति । उत्तरगुणा चतुरशीतिलक्षा । एतैर्गुणै श्लाघ्यानि यानि तपांसि अनशनादीनि द्वादश तै निष्ठिता दृढा स्थिति मुनिधर्मे अवस्थानं यस्य स साधु मुनि सम्यक्तया मनोवाक्कायै पूज्य मान्य स्यात् । तै गुणोपार्जनपवित्रैः गुणसमर्थ निपुणै श्रावकै ॥८१२॥ गणाधिपमाह—ज्ञानकाण्डे इति—न्याय-धर्म-व्याकरण-साहित्यादिकशास्त्राणि ज्ञानकाण्डम् । क्रियाकाण्डे अणुव्रतमहाव्रताचाराः क्रियाकाण्डम् एतद् काण्डद्वये चातुर्वर्ण्यधुरंधर मुनय्यार्यिकानगाराणां धुरंधर अग्रणी सूरि संसाराब्धितरण्डक गणाधिपोऽत्र । देव इव अर्हन्निव आराध्य पूज्य ॥८१३॥ समयदीपकम् आह—लोकवित्त्वादि—लोकवित्त्वं लोकव्यवहारवेदित्वम् कवित्वं सुपदमनोहरकाव्यरचनाचातुर्यम् आद्यं येषु तै वादवाग्मित्वकौशलै विविधैः पुण्यानि गुण्यं यान्ति । वाग्मित्वं वक्तृत्वं तयो कौशलैः चातुर्यैः मार्गप्रभावनोद्युक्ता रत्नत्रयमार्गप्रभावने उद्योतने उद्युक्ता तत्परा सन्त साधव गृहस्थाश्च विशेषतः दानसन्मानादिना पूज्याः मान्या ॥८१४॥ कीदृशं ज्ञानं तपश्च पूज्यं स्यादित्याह—मान्यमित्यादि—तपोहीनं लोकविस्मयकारकतपोरहितं ज्ञानं दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्युपयोगि मान्यं भवेत् तद्युक् ज्ञानम् अनशनादितपोनिमित्तं भवेत् । ज्ञानहीनं तप नैष्ठिकत्वम् अहितं पूज्यं स्यात् । ज्ञानादिजन्य हेतुत्वात् । द्वयं ज्ञानतपोयुगलं गणाधिपत्वम् । यत्र स देव स्यात् अर्हन्निव स्यात् । द्वितीयं गणपूरणं पर्व संख्या पूरयति इति गणपूरणं भवेत् ॥८१५॥ मुख्यादीनां विनयक्रियामाह—अर्हद्रूपे इति—अर्हत इव रूपं यस्य स अर्हद्रूपः तस्मिन् जिनमुद्राधारके नग्नमुनौ नमोऽस्तु स्यात् । नमोऽस्तु इति भिक्षस्या मुनिं पञ्चाङ्गैः नमेत् । विरति आर्यिका तस्यां विनयक्रिया वन्दे इति । च अन्योऽन्यं क्षुल्लके च अहं यथायोग्यप्रतिपत्त्या इच्छाकारेण इच्छामीत्यादिप्रसिद्धविनयकर्म सदा स्यात् । श्रावका अन्योन्यं दृष्ट्वा इच्छामीत्युक्त्वा विनयक्रिया कुर्युः ॥८१६॥

[पृष्ठ २०५-२०८] अनुवीच्येत्यादि—पूज्यादिसंनिधौ पूज्या मान्या ये आचार्यादय ते आद्यो येषां ते पूज्यादय आर्यिकाक्षुल्लकादय । तेषां संनिधौ समीपे अनुवीचिवचः विचार्य भाषणम्, निरवद्यवचनं सदा माध्यम् अनिशं वाच्यम् । गुरुसंनिधौ यथेष्टं हसनालापाम् असत्यभाषणं नर्महासम्, कलहालापं मिथ्याविवादं वर्जयेत् त्यजेत् ॥८१७॥ भुक्तिमात्रेत्यादि—भुक्ति आहार एव भुक्तिमात्रं तस्य प्रदानविषये तस्मिन् तपस्विनां का परीक्षा को विमर्श करणीय अयम् आगमोक्ताचारं यतीनाम् आचरति न वेति विमर्शो न करणीय । ते सन्तः सद्गुणवन्तो भवन्तु असद्गुणयो वा यत गृही गृहस्थ दानेन शुद्ध्यति पुण्यं लभते ॥८१८॥ सर्वेति—सर्वे च ते आरम्भा सर्वारम्भा अनेकानि कार्याणि तत्र च गृहस्थानां बहुभि प्रकारै कण्डनपेषणजलादिभि धनव्यय भवति । ततोऽस्त्यर्थम् अतिशयेन विचारणा परीक्षा न कर्तव्या ॥ १९॥ यथा यथेति—यथा यथा गुणय तपांसि ज्ञानम्, महाव्रतादि समितय आदिभिर्गुणैः विशिष्टा विशिष्टा जायन्ते भवन्ति । तथा तथा ते गृहमेधिभि गृहस्थै पूज्या मान्या भवन्ति ॥८२॥ दैवादिति—अस्य पुण्यवान्नृ गृहस्थे दैवात्कर्मणा प्राप्ते धर्मे समभाविते तपसो जिनधर्म तम् आश्रिते मुख्यादी

जने वक्तव्य दातव्यम् । यथागमम् आगममनुसृत्य एक मुनि लभ्य प्राप्येत न वा लभ्य न प्राप्येत ॥८२१॥ अय जिनधर्म कीदृक्पुरुषै सेव्यते इति प्रश्ने उत्तरमाह—उच्चावचेति—अय जिनेशिना समय धर्म उच्चावचजनप्राय उदक् च अवाक् च उच्चावच अनेकप्रकार स च जन तेन प्राय भृत अस्ति । यथा आलय गृहम् एकस्तम्भे न तिष्ठेत् तथा एकस्मिन् पुरुषे अय जिनेशिना समय न तिष्ठेत् ॥८२२॥ जिनेशिना समये कतिविधा मुनयो भवन्तीति व्याचष्टे—ते नामेति—नामन्यासेन, स्थापनान्यासेन, द्रव्यन्यासेन, भावन्यासेन च मुनयः चतुर्विधा भवन्ति । ते सर्वेऽपि दानादरक्रियासु योग्या भवन्ति ॥८२३ ॥ उत्तरोत्तरेति—उत्तरोत्तरभावेन नामादिन्यस्तेपु मुनिपु उत्तरोत्तरन्यासेन न्यस्ते मुनौ विधि दानमानादिक्रियया आदरो विशिष्यते। नाममुने स्थापनामुनि श्रेयान् । तत द्रव्यमुनि श्रेयस्तर । ततोऽपि भावमुनि श्रेयोऽधिक । यथा पुण्यार्जने पुण्यसचये गृहस्थाना जिनप्रतिकृतिपु जिनबिम्बेपु नामादिन्यासेन उत्तरोत्तरभावेन आदरविधि विशिष्यते। यथा नामजिनत स्थापनाजिन पूज्य । स्थापनाजिनात् द्रव्यजिन भाविजिन अधिक पूज्यस्ततोऽपि भावजिनो विशेषेण पूज्य ॥८२४॥ नामनिक्षेपमाह—अतद्गुणेष्विति—न विद्यन्ते शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि जगत्प्रसिद्धानि जातिगुणक्रियाद्रव्यलक्षणगुणविशेषणानि येपु तेपु भावेपु व्यवहारप्रसिद्धये नरेच्छावशवर्तनात् पुरुषाभिप्रायमवलम्ब्य यत्सज्ञाकर्म नामविधानम्, तन्नाम ज्ञातव्यम् ॥८२५॥ स्थापनानिक्षेपमाह—साकारे इति—यत्प्रतिनिधिभूत वस्तु सादृश्यमावहति तत्साकारम् । ततोऽन्यथाप्रतिनिधिभूतत्वेन कल्प्यते तन्निराकारम् । एतादृशे काष्ठादौ काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिपु सोऽयमित्यभिप्रायेण न्यस्यमाना स्थापना निगद्यते अभिधीयते ॥८२६॥ द्रव्यनिक्षेप ब्रवीति—आगामीति—आगामिनि भाविकाले गुणलाभमपेक्ष्य योऽर्थो यद्वस्तु प्रकल्प्यते स द्रव्यन्यासस्य द्रव्यनिक्षेपस्य गोचरः विषय । भावनिक्षेप वदति—तत्कालेति—तत्कालपर्यायाक्रान्त वर्तमानदशास्थित वस्तु भावो भाष्यते ॥८२७॥ राजस दानमाह—यदात्मेति—यत् दानम् आत्मवर्णनप्रायम् स्वस्तुतिबहुलम् । क्षणिकाहार्यविभ्रमम् क्षणपर्यन्त सजातविलासम् । कदाचित ददाति, प्रतिदिन न ददाति । अत॰ क्षणिकविभ्रमम् । आपातमनोहरम् । परप्रत्ययसभूतम् अन्योपदेशसभूतम् । अन्येन जनेन दापित वा । स्वचित्ते दानस्य विश्वासो नास्ति । पर कस्यचिद्दानस्य फल दृष्ट्वा अनेन ईदृश प्राप्त फलमिति ज्ञात्वा पश्चात् ददाति । आहार्यम्—यदा कश्चित्प्रवर्तयेत् तदा दान ददाति । तद् दान राजस मत कथितम् ॥८२८॥ तामसदानमाह—पात्रापात्रेत्यादि—पात्र च अपात्र च उभयमपि सम समानरूपम् अवेक्ष्य वीक्ष्यते यत्र तत् । असत्कार पात्रस्य सत्कारो यत्र न क्रियते तथाभूतम् । असस्तुतम् – लज्जादिना दत्तम् । दासभृत्यकृतोद्योग क्रीतजनेन, वैतनिकभृत्येन वा कृत उद्योग पाचनादिकार्य वा यत्र तद्दान तामसम् ऊचिरे बभाषिरे ॥८२९॥ सात्त्विक दानमाह—आतिथेयमिति—यत्र स्वयम् आतिथेयम् अतिथे पात्रस्य स्वागतीकरणम् । यत्र पात्रनिरीक्षणम् आगतस्य अतिथे पात्रापात्रत्व विमृश्य तद्योग्यतामनुसृत्य प्रवर्तनम् । यत्र दाने श्रद्धादयो गुणा सन्ति तद्दान सात्त्विक विदु जानन्ति ॥८३०॥ दानानाम् उत्तमादिकत्वमाह—उत्तममिति—सात्त्विक दानम् उत्तमम् । मध्यम राजस भवेत् । सर्वेषा दानानां निर्धारणे षष्ठी । सर्वेपु दानभेदेपु सर्वेपु पुन जघन्य तामस ज्ञेयम् । सर्वेषामेव दानानाम् इति सात्त्विकराजसयोरपि योजनीयम् ॥८३१॥ दानफलम् इहापि लभ्यत इत्याह—यद्दत्तम् इति—यत् दानम् अभयादिक दत्त तत् अमुत्र अमुष्मिल्लोके परलोके स्यात् फलवद् भवेत् इति वच भाषणम् असत्यपर स्यात् । यत तोयतृणाशना जलतृणभक्षिण्य गावो धेनव । किं पय न प्रयच्छन्ति न ददति अपि तु ददत्येव । गाव यस्मिन् दिने जलयवस भक्षयन्ति तद्दिन एव दुग्ध ददति । तथा दानफल दात्रा अस्मिन्नेव लोके फल मन -प्रसादरूप लभ्यते । अथवा यत् अस्माभि रूक्ष स्निग्ध वा अन्न कदन्न वा दत्त तदेवान्यजन्मनि अस्माभि. प्राप्यते इति मिथ्यावच. । यत गौ तोय तृण चाश्नाति पर मधुर पयो ददाति । अत्र यद्दीयते तदेव लभ्यते इति वचो मिथ्या ॥८३२॥ मुनिभ्य इति—मुनिभ्य शाकपिण्डोऽपि शाकस्य पत्रशाकस्य पिण्ड पुञ्ज ग्रास पत्रशाकोऽपि । काले आहारवेलायाम् भक्त्या प्रकल्पित दत्त अगण्यपुण्यार्थं भवेत् । यत भक्ति चिन्तामणि चिन्तामणिरिव ॥८३३॥ मौनविधि किमर्थमित्याह—अभिमानस्येति—अभिमानस्य अयाचक-

श्रुतस्य रक्षणम्। आगमस्य विनयाचम् जिनवरा भाजनविविधानेषु मौनम् ऊचु उक्तवन्त ॥८१४॥ लौल्यस्यागादिति—लौल्यं जिह्वालम्पटता तस्य त्यागात् इच्छाया निरोधात्। तपोवृद्धिः भवति। अभिमानस्य च रक्षणम् अयाचकव्रतस्य पालनं स्यात्। ततश्च तस्माद्वचनरक्षणात् लौल्यत्यागाच्च कलत्रमविषये मम सिद्धिः स्याद् भवत्। मया सज्जना स्यात् ॥८१५॥

[पृष्ठ २०९–२१२] श्रुतस्येति—मौनेन श्रुतस्य प्रश्रयो विनयो भवेत्। ततश्च श्रेय समृद्धेः समाश्रयः स्यात्। मुक्तिसम्पन्न आश्रय भवेत्। ततः मौनात् मनुजलोकस्य सरस्वती प्रसीदति निग्रहानुग्रहसमर्थो दिव्यध्वनिप्रसादो भवति ॥८१६॥ संयमिनां व्याध्यादिप्रतीकारं करणीयं इति कथयति—शारीरेति—शारीरा व्याधयः दोषधातुमलविकृतिजनिता। मानसा व्याधयः दौर्मनस्यदुःस्वप्नसाध्वसादिसमुद्भविता। आगन्तुव्याधयः शस्त्राघाताभिघातादिकृता। एते व्याधिभिः सम्भावसम्भवे पीडासंभवे। तेषां संयमिनां तपस्विनाम्। गृहीतेति गृहिभिरुपासकैः। साधु सम्यक्तया। शारीरमानसागन्तुकानां रोगाणां प्रतीकारः चिकित्सोपायः। कार्यः करणीयः ॥८१७॥ व्याधिपीडितमुमुक्षूणां सर्वं श्रुतं नश्यतीति निवेदयति—मुनीनामिति—उपासकैः देवशास्त्रगुरूणाम् उपासनां कुर्वद्भिः श्रावकैः। व्याधियुक्तानां रोगपीडितानां आगमज्ञानां मुनीनाम् उपेक्षायाम् औदासीन्यकरणे। अप्रमादेन रत्नत्रयविराधना तेषां मुनीनां भवेत्। स्वस्थ औपचारिकाद्युद्यम् अविहृत्य अप्रमत्तभावा च प्रवर्तमानत्। अत जैनागमस्य व्याख्यानं विधानेषु निरतु। तदागमस्य पठनं कुर्वन्तु आगमशुश्रूषादिषु। तदा सौमनस्यं शुभं इष्टार्थिकम्। आचार्यं करणीयम्। क उपायं इत्याह आचार्येति—आचार्य वसतिका। पुस्तकं शास्त्रम्। आहार भुक्त्युपयोगि प्रासुकमन्नम् औषधानम्। औषधादिविधानकैः अल्पश्रुतसाधनानां सौख्यकारणं। श्रुतस्कन्धेति—श्रुतस्कन्धधारणे श्रुतस्कन्धस्य अङ्गपूर्वज्ञानस्य धरणे समर्थानां मुनीनाम् अत्यन्त विनाशे। निर्मूलतः सर्वम् अङ्गपूर्वं प्रकीर्णकम्—अङ्गेषु एकादशसु पूर्वेषु चतुर्दशसु च प्रकीर्णके श्रुतज्ञानं नश्येत्। तथा श्रुतम्—श्रुतं सर्वं *निर्दोषं प्रतिपादितं केवलिभाषितं जिनवरप्रोक्तं सर्वं नश्यत्।* अत गृहीतिति संयमिना व्याधेः प्रतीकारः कार्यः। प्रश्रयोत्साहसेति—प्रश्रयो विनय। उत्साहः उद्यम। तत्प्रयत्ने साहाय्यदानम्। आनन्दवर्धनम्। स्वाध्यायाभिरतसाधुभिः श्रुतवृद्धान् मुनीन् अनवरत् श्रावकः श्रुतपारग सकलश्रुतपारग जायते। ८१८–८२१॥ श्रुताच्च लाभान्तरं किं स्यादिति निवेदयति—श्रुतात् श्रुतश्रवणात् तु तत्त्वज्ञानं बोधादिकं बोध जायते। श्रुतात् श्रुतपालनात् समयवर्धनं स्वमतप्रभावना भवति। येषां तेषां सूत्रस्य अभिलाषिणां श्रुताभावे एतदर्थं जीवादितत्त्वज्ञानं स्वमतप्रभावना च विनश्यति सर्वं तमस्तते अन्धकारत्वं भवति ॥८२२॥ असाधारणमिति—यथा अश्वधारणं दुर्लभं तथा नरा बाह्ये कार्ये सुलभाः। परं तथा धौरेया पराक्रमिणो वीरा दुर्लभा तथा यथार्थज्ञानवन्तो नरा यथार्थज्ञानसंपन्ना दुर्लभा ॥८२३॥ ज्ञानभावन यति—ज्ञानभावनया हीनि कायक्लेशाय उग्रं प्रवरम् अनुष्ठितं कायक्लेशानि शरीरक्लेशाम् सहमान नरो केवलं वाहीकवत् भारं वहन्नर इव निष्कियारो हीयते अन्य। वर्तते। तथा कायक्लेशं कुर्वाणे नरि सुगम कर्मनिर्जरति पुराणं किंचित् भवति ॥८२४॥ मोहशमनाय ज्ञानमेव कारणम्—सृणिवदिति—सृणिवत् अंकुशो यथा दन्तिनः करिणः मदाय शमनाय हेतुर्भवति तथा ज्ञानवर्ज्जित मोहकरिणो शमनाय ज्ञानम् अंकुशवत् भवति। तद्वै ज्ञानादृते। बहिः कायक्लेशादन्तं तपः केवल एव पीड्य परम् अधिकं भवेत् ॥८२५॥ ज्ञानभावना श्रेष्ठेति—यदिरिति—ज्ञानं भावयत आत्मनि आगमभावनया ज्ञानं चिन्तयतः नरस्य संनिधौ बहिः अन्यतादिक्रियाः स्वयम् गच्छति तं प्राप्नोति। यत् यत यत्र ज्ञानभावनाया क्षेत्रे आत्मनि नियमेन एकाग्रचित्तपरिचितं याति सति। पुन कारण क्रिया उपभवत्र तु शीतरक्षितामसतायां परिणतो आत्मा जीवे कर्मागमनं न भवति। एवं च आपने ॥८२६॥ यदज्ञानीति—अज्ञानी आत्मज्ञानशून्य केवलं बाह्यं कायक्लेशं कुर्वाणो जीव। बहुभि युगैः कर्म क्षपयन् निर्णायक वा। परं जीवकर्मपञ्च एकाग्रचित्त ज्ञानी। युगं निरवद्य। क्षमन् मनुष्येषु। कर्म क्षपयन् दहेत्। मिथ्याज्ञानी कर्मक्षयं न करोति सम्यग्ज्ञानी क्षणात्कर्माणि क्षपयति भवति ॥८२७॥ ज्ञानानि—अनिके वर्धिते अनभ्यासी। बहुषु बहुध सहमानात् मते। ज्ञानी मुनि कर्म

कर्मक्षपणचतुरो गीयते। ज्ञानलवे ज्ञातु यते युगैरपि बहुभि यस्मात् न पटुत्व कर्मक्षपणकुशलत्व न भवति। सपूर्णे चारित्रे सति पटु परिपूर्णज्ञानी भवेत्। न तु ज्ञानलवमात्रेण केवली स्यादिति भाव ॥८४८॥ शब्दैतिह्यै-रिति—यस्य शब्दैतिह्ये शब्दागमे व्याकरणे यस्य गी वाणी शुद्धा न। यस्य च धी बुद्धिर्नये नैगमादिनये शुद्धा कुशला न। स परप्रत्ययात् अन्यस्मात् कुत्सितगुर्वादे प्रत्ययात् ज्ञानात् क्लिश्यन् क्लेश प्राप्नुवन् पुमान् अन्धसम अन्धतुल्य भवेत् ॥८४९॥ शब्दाद्यागमाना द्वैविध्यम् आह—स्वरूपमिति—स्वरूपम्। रचना। शुद्धि। भूषा। अर्थः। समासत सक्षेपात्। आगमस्य शास्त्रस्य। प्रत्येकम् एतद्द्वैविध्य भेदद्वय प्रतिपद्यते स्वीकरोति। तद्यथा—शब्दागम, न्यायागम, धर्मागम इति बहव आगमा सन्ति। तेषा प्रत्येक स्वरूपादे द्वैविध्य भवति। तद्यथा—स्वरूप द्विविधम् अक्षरम् अनक्षर च। अस्फुटार्थसूचनार्थम् यथा तडत्तटित्। पटपटायति। रचना द्विविधा गद्य पद्य च। प्रत्येकमागम गद्यरूपेण पद्यरूपेण वा स्वाभिप्राय निवेदयति। शुद्धिर्द्विविधा—प्रमादप्रयोगविरह प्रमादात् अनवधानात् य अशुद्ध प्रयोग अशुद्धा वाक्यरचना तस्या विरह अभाव। अर्थव्यञ्जनविकलतापरिहारश्च। अर्थ शब्देन प्रतिपाद्याशय। व्यञ्जनम् शब्द तयो विकलताया परिहार त्याग। भूषा द्विविधा वागलकार शब्दालकार अर्थालकारश्च उपमारूपकादय। अर्थो द्विविध चेतन अचेतनश्च। चेतनोऽर्थ. देवमानवादि। अचेतन पृथिव्यादि जाति व्यक्तिश्चेति वा ॥८५०॥ दानविधे अतिचारा-नाह—सार्धमिति—सचित्तनिक्षिप्तम्—सचित्ते पद्मपत्रादौ अन्नस्य निक्षिप्तम् अन्ननिक्षेप। सचित्तवृत सचित्तेन कमलपत्रादिना वृतमन्नस्योपरि आवरणम्। अन्योपदेश परस्य दातुरेतद्गुडखण्डादिकमस्तीति पात्रस्य निवेदनम्। मात्सर्यम् अन्यदातृगुणासहिष्णुत्व मात्सर्यम्। कालातिक्रमणक्रिया साधूनाम् उचितस्य भिक्षासमयस्य लङ्घनम्। एते पञ्चातिचारा दानहानये दानव्रतस्य विनाशाय भवन्ति ॥८५१॥ यतिभक्त्यादिकरणाद्दात्रा किं किं लभ्यते इत्याह—नतेरित्यादि—यतेर्नते मुनिनमस्कारात् गोत्रम् उच्च कुल दाता अवाप्नोति। दानात् आहारादिदानात् श्रिय सपद अवाप्नोति। उपास्ते यतिपूजनात् सर्वसेव्यता सकलजनमान्यता लभते। भक्ते यतिगुणानुरागात् कीर्तिमवाप्नोति, यशो लभते। क दाता कथभूत स्वय यतीन् भजन् स्वय मुनीन् आश्रयन् उपासमान ॥८५२॥

इत्युपासकाध्ययने दानविधिर्नाम त्रिचत्वारिंशत्तम कल्प ॥४३॥

४४ यतिनामनिर्वचनश्चतुश्चत्वारिंशत्तम कल्प।

[पृष्ट ३१४-३१७] गृहिणामेकादशपदान्याह—मूलव्रतमिति—मूलव्रत मद्यमासमधुभि सह पञ्चोदुम्बरत्यागो मूलव्रतम्। पञ्चाणुव्रतानि, गुणव्रतत्रयम् शिक्षाव्रतचतुष्टयम् एतेषा द्वादशाना पालनम् व्रतपद द्वितीयम्। अर्चा आप्तसेवा समयो वा तस्या करण तृतीय पदम् सामायिकाख्यम्। पर्वकर्म प्रोषधोप-वास चतुर्थ पदम्। अकृषिक्रिया क्षेत्रे सस्यादिवापनम्, हलेन भूमिकर्षणम् एतत्कार्यम् अस्मिन्पञ्चमे पदे निषिद्धम् अत अकृषिक्रियाख्य पदमेतत्पञ्चमम्। दिवा दिने स्वस्त्रीसभोगत्याग षष्ठ पदम्। नवविध ब्रह्म मनसा वचसा कायेन सभोगत्याग स्वयम्, अन्येन त्याजनम्, त्यजतो अनुमोदनम्। एतत्सप्तम पदम्। श्रावकस्य सचित्तस्य आमस्य मूलफलशाकशाखादेस्त्याग अष्टम श्रावकपदम्। परिग्रहपरित्याग बाह्यदशविधपरिग्रहाणा क्षेत्रवास्त्वा-दीना त्यागो वर्जन नवम श्रावकपदम्। भुक्तिमात्रानुमान्यता—भुक्तिराहार अन्नपानखाद्यलेह्याना चतुर्णाम् आहाराणाम् अनुमान्यता अनुमतिदानम्, दात्रा पुत्रादिना श्रावकेण क आहारोऽद्य ग्राह्य इति पृष्टे अमुक आहारो ममेष्ट इति कथनम्। भुक्तिमात्रानुमान्यता दशम पदम्। तद्दानौ च तस्या अनुमतेर्हानिस्त्याग एकादशपदम्।

१ भुक्त्यनुमतिं मुक्त्वा अन्यत्र आरम्भे, परिग्रहे, ऐहिकेषु विवाहादिकर्मसु अनुमतेरपि त्याग ज्ञातव्य।

२ दात्रा पुत्रादिना श्रावकेण क आहारोऽद्य भवेद्भवत इष्ट इति पृष्टेऽपि तद्विषये अनुमतेरपि अदा-नम् एकादश पदम्।

८५३–८५४। अथभीत्यादि—अर्धविरतम् आरोहेत् पूर्वपूर्वव्रतस्थितः। पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन् व्रते सम्यक्पालको स्थितः। अर्धविरतं कालमर्यादां कृत्वा उत्तरपदं गृह्णीयात्। यद्यपूर्वं नवीनं गृह्णाति तस्य तस्य मर्यादां कृत्वा तत्तत्समयेत्पूर्वव्रते भव। सर्वत्रापि एकादशसु पदेषु ज्ञानध्यानभावना समा प्रोक्ता। यदि एषां पदानां मध्ये ज्ञानं च न स्यात् तर्हि उत्तरोत्तरपदधारणं गोपितं भवेत्। सर्वेषु एकादशपदेषु क्रमेण रत्नत्रयभावना वर्धमाना समस्त्येव ॥ ८५५ ॥ षडत्रेति—अत्र आदिषट्पदधारिणः श्रावकाः गृहिणः ज्ञेयाः सप्तमाष्टमनवमपदधारिणो ब्रह्मचारिनामानो ज्ञेयाः। दशमैकादशपदधारकौ द्वौ भिक्षुकौ इति निर्दिष्टौ। ततः सर्वेभ्यः व्रतधारिभ्यः महाव्रतिनो यतिनामधेया ज्ञातव्याः ॥ ८५६ ॥ तत्तदिति—महाव्रतादिषु यस्य गुणस्य प्राधान्यं यत्र विद्यते तत्तद्गुणनामभिस्तत्र यतयो मुनयोऽनेकधा बहुविधा स्मृता प्रोक्ताः। तेषां यतीनां निरुक्तिं निश्चयेन उक्तिं कथनं निरुक्तिस्तां वक्ष्ये वचनं यत् मत्सकाशात् निबोधत शृणुध्वम् ॥८५७॥ जितस्येति—यः सर्वाणि इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनादीनि जित्वा स्वविषयेभ्यः पराङ्मुखं स्वायत्तानि करोति तथा आत्मना स्वयम् आत्मानं स्वं वेत्ति जानाति स गृहस्थो भवतु वानप्रस्थो वा भवतु। वानप्रस्थः – अपरिगृहीतजिनरूपा वस्त्रखण्डधारी निरतिशयतपस्युद्यतो भवति। स जितेन्द्रियनामधेयो भवति। इति जितेन्द्रियपदनिरुक्तिः ॥८५८॥ क्षपणकस्य योगिनश्चक्तिमाह—मानेति—मानो गर्वः माया कपटम् मदः उन्मत्तता आमर्षः क्रोधः एषां क्षपणात् क्षयकरणात् यतिः क्षपणः स्मृतः उक्तः ॥ यो नेति—यः यतिः श्रान्तः न श्रान्तः श्रान्तेः ईर्यासमित्या भ्रमणात् न श्रान्तः न क्लान्तः तं बुधा विद्वांसः श्रमणं विदुः जानन्ति ॥८५९॥ आशाम्बरनाम्नो योगिनश्चक्तिमाह—य इत्यादि—यः 'हताशः' हताः प्रणष्टा आशा अभिलाषा यस्य सः हताशः तम् आशाम्बरम् आशा दिश एव अम्बरं वस्त्रं यस्य स आशाम्बरः तम् आशाम्बरम् ऊचिरे कथयिरे। यः सर्वसंगपरित्यक्तः बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहमुक्तः स नग्नः परिकीर्तितः कथितः ॥८६०॥ ऋषिमुन्योर्निरुक्तिमाह—रेषणादिति—क्लेशराशीनां संसारे सम्प्राप्तचतुर्गतिदुःखसमूहानां रेषणात् उत्पाटनात् विनाशनात् संवरणात् मनीषिणः विद्वांसः ऋषिम् आहुः ब्रुवन्ति। आत्मविद्याना कर्मक्षयं कृत्वा सकलविमलकेवलज्ञानं लभ्यते तत्केवलज्ञानम् आत्मविद्या तथा च तपश्चरणसामर्थ्यात् या कोष्ठबीजबुद्ध्यादयो लभ्यन्ते ता अपि आत्मविद्याः प्रोच्यन्ते। आत्मविद्यानां मान्यत्वात् तत्प्राप्तेः पूर्वं प्राप्तत्वात् महर्षिः मुनिः कीर्त्यते वर्ण्यते ॥८६१॥ यत्यनगारयोर्निरुक्तिमाह—य इति—यः मुनिः पापपाशविनाशाय पापान्येव पाशाः बन्धनानि तेषां नाशाय यतते प्रयत्नं करोति स यतिर्भवति। यः मुनिर्देहगेहेऽपि देह एव गेहं शरीरमेव गृहं तत्र यः अनीहः इच्छारहितः स अनगारः सतां तज्ज्ञानवतां पूज्यः ॥८६२॥ शुचिश्रमणस्य निरुक्तिमाह—आत्मेति—आत्माशुद्धिकरैः आत्मनः अशुचिं कुर्वन्ति इति आत्माशुद्धिकरा ये कर्मदुर्मलाः कर्माण्येव दुर्मलाः। चाण्डाला अस्पृश्याः तैः यस्य न संगः न स्पर्शः स पुमान् पुरुषः शुचिः पवित्रः आख्यातः प्रोक्तः न अम्बुसम्प्लुतमस्तकः अम्बुना जलेन संप्लुतं संसिक्तं समन्ततः सर्वतः आर्द्रं मस्तकं यस्य स पुमान् न शुचिपदवाच्यः ॥८६३॥ निर्ममश्रमणस्य निरुक्तिमाह—धर्मेकर्मेति—यः धर्मकर्मफले धर्मो रत्नत्रयात्मकः तस्य कर्माणि आचरणानि गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्ररूपाणि। तेभ्यो जाते फले स्वर्गादिसुखलक्षणे। अनीहः निःस्पृहः। अधर्मकर्मणः निवृत्तः पापकर्मभ्यो हिंसादिभ्यो निवृत्तः दूरीभूतः। तम् इह अस्मिँल्लोके निष्कारणपरिष्कारं केवल एकः आत्मा एव परिष्कारः परिवारो यस्य तं निर्ममं निर्गता ममेति बुद्धिर्यस्य स निर्ममः तम् प्रशंसन्ति ब्रुवन्ति ॥८६४॥ मुमुक्षुमाह—यः इति—यः यतिः कर्मद्वितयातीतः द्रव्यकर्माणि ज्ञानावरणादीनि अष्टौ। भावकर्माणि च अज्ञानरागद्वेषमोहादयो भावाः। कर्मणोर्द्वितयं द्वयमित्यर्थः तस्माद् अतीतः रहितः तं मुमुक्षुं प्रचक्षते ब्रुवते। परं लोहस्य हैम्नो वा पादयोर्बद्धः स बद्ध एव। एते लोहादिपाशाः न वस्तुतो बन्धनानि तैर्नात्मा बध्यते यतः ॥८६५॥ श्रमणीत्वं प्रतिपादयति—निर्मम इत्यादि—निर्गतो ममभावो यस्य स निर्ममः निर्मूर्च्छः। निरहंकारः अहमस्य स्वामी इति मनःसंकल्पोऽहंकारः स निर्गतो यस्मात् स निरहंकारः निर्वैरं। निर्मानमदमत्सरः निर्गताः नष्टाः मानो मदो मत्सरश्च यस्मात् स निर्मानमदमत्सरः। लोकाभिमानेन्द्रियमदनरत्नगुणासहनभावः। निन्दायां तथ्यस्य अतथ्यस्य वा दोषस्योद्भावनं प्रति कृत्स्न निन्दा तस्याम्। संस्तवे चैव गुणप्रशंसायां चैव समचित्तः समानि चित्तानि यस्य सः। निर्गोपितात्मशक्तिः यः स

समधी समा रागद्वेषपरिहीणा बुद्धिर्यस्य स मुनि गृहस्थो वा समधीरुच्यते ॥८६६॥ वाचयमत्वलक्षणमाह—योऽवगम्येति—तत्त्वैकभावन तत्त्वेषु एका मुख्या भावना चिन्तन यस्य स तत्त्वैकभावन । य मुनि अनाद्यन्ततत्त्व न आदि उत्पत्तिर्जन्म अन्तो विनाश यस्य तत्तत्त्व जीवाजीवादिवस्तुस्वरूपम् अवगम्य ज्ञात्वा, वाचयम वाचो वाक्यात् यच्छति विरमतीति वाचयम मौनव्रती विज्ञेय , न पशुवन्नर मौनी विज्ञेय ॥८६७॥ अनूचानत्व ब्रूते—श्रुते इत्यादि—श्रुते आगमे । व्रते अहिंसादिमहाव्रते । प्रसख्यान ध्यान तस्मिन् । सयमे प्राणिसरक्षणात्मके इन्द्रियजयरूपे । नियमे परिमितकालावधिरूपे भोगोपभोगत्यागे । यमे आजन्मभोगोपभोगत्यागे यस्य उच्चैश्चेत उन्नत चेत मनो भवति स अनूचान श्रुतज्ञानविचक्षण विनीतो वा प्रकीर्तित ॥८६८॥ अनाश्वन्मुने स्वरूपमाह—य इत्यादि—य यति अक्षस्तेनेषु इन्द्रियचौरेषु अविश्वस्त विश्वास न च गच्छति । शाश्वते पथि नित्ये रत्नत्रयमार्गे च स्थित वर्तते स्म । समस्तसत्त्वविश्वास्य सकलप्राणिविश्वासार्ह स मुनिरिह अनाश्वान् गीर्यते उच्यते ॥८६९॥

[पृष्ठ ३१८-३२१] योगिनमाह—तत्त्वे इत्यादि—तत्त्वे जीवादिपदार्थे पुमान् यस्य आत्मा युक्तो वर्तते । मन पुसि यस्य मन बाह्यान् धनादिपदार्थान् विमुच्य पुसि ज्ञानदर्शनलक्षण आत्मन्येव युक्त वर्तते । मनसि एव युक्त यस्य अक्षकदम्बक इन्द्रियगणो वर्तते । तदपि स्पर्शादिविषयेषु न प्रवर्तते । स मुनि योगी भवति । परेच्छादुरीहित योगी न भवति । परेषु स्त्रीपुत्रधनादिषु या इच्छा मन सकल्प तस्या दुरीहित दुष्प्रवृत्त य स योगी न स्यात् ॥८७०॥ यते पञ्चाग्निसाधकत्व ब्रवीति—कामः क्रोध इत्यादि—यस्य काम सकल्परमणीय प्रीतिसभोगशोभी रुचिरोऽभिलाप काम । क्रोध अमर्ष असहनता । मदो गर्व । माया कपटम् । लोभ वर्तमानकाले अर्थप्राप्तिगृद्धि । इत्यग्निपञ्चकम् येन साधित वशीकृत स कृती कृतकृत्य मुनि पञ्चाग्निसाधक स्यात् ॥८७१॥ मुनेर्ब्रह्मचारित्वमाह—ज्ञानं ब्रह्मेति—आत्मस्वरूपपरिज्ञायक ज्ञान ब्रह्मेत्युच्यते आत्मज्ञानेन परपदार्थे आसक्तिरहितावहा । स्वात्मन्येव रतिर्हितकारिणीति प्रतिपाद्यते । तस्माज्ज्ञान ब्रह्मेति निर्वचन योग्यम् । दया ब्रह्म दया प्राण्यनुकम्पन सर्वे जीवा सुखमभिलषन्ति न कोऽपि दुःखम् । अत आत्मना सदृशा सर्वे प्राणिन इति ज्ञात्वा दया विधेया । दयेय ब्रह्मज्ञानकारणत्वाद् ब्रह्मेति परिगीयते । कामविनिग्रह कामाकुलितो मनुष्य रामाभिलाषी भवति । निजात्मनि शुद्धे तस्य रतिर्न भवति अतः आत्मस्वरूपरतिच्युत सोऽजितेन्द्रियो भवति तस्य ब्रह्मप्राप्ति कुत । कामविनिग्रहे कृते निजात्मनि ब्रह्मणि रतिर्जायते अत कामविनिग्रहस्य ब्रह्मेत्यभिधानम् । अत्र ज्ञानब्रह्मणि, दयाब्रह्मणि कामविनिग्रहाख्ये ब्रह्मणि च सम्यग्वसन्नर ब्रह्मचारी आत्मा भवेत् ॥८७२॥ मुनेर्गृहस्थत्व कथयति—क्षान्तियोषितीत्यादि—य मुनि क्षान्तियोषिति क्षमास्त्रिया सक्त रतिं करोति । य सम्यग्ज्ञानम् एव अतिथि स प्रियो यस्य यथा गृहस्थ ज्ञानादिसिद्धधर्थम् आहाराय यत्नेन श्रावकगृहम् । अतन्त गच्छन्तम् अतिथि पूजयति तथा सम्यग्ज्ञानरूपम् अतिथिम् आराधयति स मुनि नून गृहस्थो भवेत् । गृहस्थ दैवत साधयति आराधयति तथाय मुनिर्मन एव दैवत तत्साधयति । मनो वशीकृत्य तत् आत्मनि एकाग्र करोति तत आत्मानुभूत्याख्य सुख लभते ॥८७३॥ मुनेर्वानप्रस्थत्व व्यनक्ति—ग्राम्यमिति—ग्राम्यम् अर्थं ग्राम इन्द्रियगण तस्य विषय स्पर्शरसादि ग्राम्योऽर्थ उच्यते । त स्पर्शादिविषय स्त्रीस्रक्चन्दनादिक परित्यज्य मुक्त्वा । अन्त य अर्थ रागद्वेषादि तमपि परित्यज्य य सयमी यति प्रवर्तते स वानप्रस्थ विज्ञेय । न वनस्थ कुटुम्बवान् वने तिष्ठन् पोष्यवर्गसहित वानप्रस्थो नोच्यते । वानप्रस्थोऽय गृहस्थभेदेऽपि शब्दो वर्तते । वानप्रस्थो गृही तृतीयाश्रमी उच्यते तस्यापि स्वरूप जैनागमे एव प्रतिपादितम्—"वानप्रस्था अपरिगृहीतजिनरूपा वस्त्रखण्डधारिण निरतिशयतपस्युद्यता भवन्ति ।" वैदिकधर्मे वानप्रस्थो दाराभि सह वने तिष्ठति इत्युक्त तथा वानप्रस्थस्य गृहिण स्वरूप जैनागमे नास्ति । ग्राम्यमर्थमिति श्लोके मुनेर्वानप्रस्थेति नामापि कथ भवेदिति विषदीकृतम् । पर मुनिर्वानप्रस्थाभिधो गृही नेत्यत्र ज्ञेयम् ॥८७४॥ मुने शिखाछेदित्व कथयति—ससारेत्यादि—ससार एवाग्नि । चतुर्गतिभ्रमण ससार स एवाग्नि तस्य शिखा मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायाख्या । तासा छेदो विनाश कर्तन वा येन ज्ञानासिना । आत्मज्ञानमेव असि खड्ग तेन कृत त मुनि

८५१–८५४। अथधीत्यादि—प्रथमप्रतिमाम् आरोहेत् पूर्वपूर्वप्रतिमास्थितः । पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन् पदे मूलगुणेषु स्थितः । अथवा स्थितः कालमर्यादां कृत्वा उत्तरपदं गृह्णीयात् । मद्यमांसमधूनां मूलगुणे तस्य तस्य मर्यादां कृत्वा तत्संयमेत्पूर्वकैः सह । सर्वत्रापि एकादशसु पदेषु ज्ञानध्यानभावना समा प्रोक्ता । यदि एषां पदानां ध्यानं ज्ञानं च न स्यात् तर्हि उत्तरोत्तरपदधारणं नोचितं भवेत् । सर्वेषु एकादशपदेषु क्रमेण रत्नत्रयभावना समुचिता सम्यक् ॥ ८५५ ॥ पञ्चान्येति—अत्र आदिपदषट्कधारिणः श्रावका गृहिणो ज्ञेयाः तत्पश्चात्सप्तमाष्टमनवमपदधारिणो ब्रह्मचारिनामानो ज्ञेयाः । दशमैकादशपदधारकौ द्वौ भिक्षुकौ इति निर्दिष्टौ । तत ऊर्ध्वं व्रतधारिणः महाव्रतिनो यतिनामधेया ज्ञातव्याः ॥ ८५६ ॥ यस्तदिति—महाव्रतादिषु यस्य गुणस्य प्राधान्यं यत्र विद्यते तत्तद्गुणमाश्रित्य यतयो मुनयोऽनेकधा बहुविधाः स्मृताः प्रोक्ताः । तेषां यतीनां निरुक्तिं निश्चयेन वच्मि कथनं निरुक्तिस्तां वक्ष्ये यूयम् अद्य मत्सकाशात् निबोधत शृणुध्वम् ॥८५७॥ जितेत्येति—यः सर्वाणि इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनादीनि जित्वा स्वविषयेभ्यः पराङ्मुख्य स्वायत्तानि करोति तथा आत्मना स्वयम् आत्मानं स्वं वेत्ति जानाति स गृहस्थो भवतु वानप्रस्थो वा भवतु । वानप्रस्थः—अपरिगृहीतजिनरूपो वस्त्रखण्डधारी निरतिशयतपस्समुद्यतो भवति । स जितेन्द्रियनामधेयो भवति । इति जितेन्द्रियपदनिरुक्तिः ॥८५८॥ क्षपणपद-योगनिरुक्तिमाह—मानेति—मानो गर्वः माया कपटम् मदः उन्मत्तता आमर्षः क्रोधः एषां क्षपणात् क्षय-करणात् यतिं क्षपणं स्मृतं वदन्ति ॥ यो नेति—यः यतिः श्रान्ते न श्रान्तः श्रान्तेः ईर्यामित्या श्रमणम् स श्रान्तः न श्रान्तः तं बुधा विद्वांसः श्रमणं विदुः जानन्ति ॥८५९॥ आशाम्बरनाम्नोनिरुक्तिमाह—य इत्यादि—यः हताशः हता नष्टा आशा अभिलाषा यस्य स हताशः तम् आशाम्बरम् आशादिश एव अम्बरं वस्त्रं यस्य स आशाम्बरः तम् आशाम्बरम् ऊचिरे कथयन्ति । य सर्वसङ्गपरित्यक्तः सकलबाह्याभ्यन्तरपरिग्रहमुक्तः स नग्न परिकीर्तितः कथितः ॥८६०॥ ऋषिमुनिनोनिरुक्तिमाह—रेषणादिति—क्लेश-राशीनां संसारे सम्प्राप्तचतुर्गतिषु उद्भूतानां रेषणात् उत्पाटनात् विनाशनात् संवरणात् मनीषिणः विद्वांसः ऋषिम् आहुः कथयन्ति । आत्मविद्यानां कर्मक्षयं कृत्वा सकलविमलकेवलज्ञानं लभते तत्केवलज्ञानम् आत्मविद्या तथा च तपश्चरणसामर्थ्यात् या श्रेष्ठऋद्धयः उत्पद्यन्ते ता अपि आत्मविद्याः प्रोच्यन्ते । आत्मविद्यानां मान्यत्वात् तत्प्राप्तेः पूज्या मान्यत्वात् महद्भिः मुनिः कीर्त्यते कथ्यते ॥८६१॥ यत्यनगारयोर्निरुक्तिमाह—य इति—यः मुनिः पापपाशनाशाय पापान्येव पाशाः बन्धनानि तेषां नाशाय यतते प्रयत्नं करोति स यतिर्भवति । यः मुनिर्देहगेहेऽपि देह एव गेहं शरीरमेव गृहं तत्र यः अनीहः इच्छारहितः स अनगारः सतां सज्जनानां पूज्यः ॥८६२॥ शुचिशब्दस्य निरुक्तिमाह—आत्मेति—आत्माशुद्धिकरैः आत्मनः अशुद्धिं कुर्वन्ति इति आत्मा-शुद्धिकराः ये कर्मदुर्जनाः कर्माण्येव दुर्जनाः बान्धवाः अस्पृश्याः तैः यस्य न सङ्गः न स्पर्शः स पुमान् पुरुषः शुचिः पवित्रः आख्यातः प्रोक्तः न अम्बुसम्प्लुतमस्तकः अम्बुना जलेन संप्लुतं सं समन्तात् प्लुतं धौतं मस्तकं यस्य स पुमान् न शुचिरुच्यते ॥८६३॥ निर्ममशब्दस्य निरुक्तिमाह—धर्मकर्मेति—यः धर्मकर्मफले धर्मो रत्नत्रयात्मकः तस्य कर्माणि आचरणानि गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्ररूपाणि । तेभ्यो जाते फले स्वर्गादि-सुखलक्षणे । अनीहः निःस्पृहः । अधर्मकर्मणः निवृत्तः पापकर्मभ्यो हिंसादिभ्यो निवृत्तः दूरीभूतः । तम् इह अस्मिँल्लोके केवलात्मपरिच्छदं केवल एक आत्मा एव परिच्छदः परिवारो यस्य तं निर्ममं निर्ममताममेति बुद्धिर्यस्य स निर्ममः तम् वदन्ति बुधाः ॥८६४॥ मुमुक्षुमाह—यः इति—यः यतिः कर्मद्वितयातीतः द्रव्यकर्माणि ज्ञानावरणा-दीनि अष्टौ । भावकर्माणि च अज्ञानरागद्वेषमोहादयो भावाः । कर्मणोद्वितयं कर्मद्वितयं तस्मात् अतीतः रहितः तं मुमुक्षुं प्रभाषते कथयते । परं लोहस्य हेम्नो वा पार्श्वे बद्धः स बद्ध एव । एते लोहादिपाशाः न वस्तुतो बन्धनानि तैर्निर्मुक्तः मुमुक्षुर्न भवति यतः ॥८६५॥ समयोक्तं प्रतिपादयति—निर्मम इत्यादि—निर्गतो ममभावो यस्य स निर्ममः निर्मुक्तः । निरहंकारः अहमस्य स्वामी इति मनःसंकल्पोऽहंकारः स निर्गतो यस्मात् स निरहंकारः निर्मदः । निर्मानमदमत्सरः निर्गतः मदः मानो मदो मत्सरश्च यस्मात् स निर्मानमदमत्सरः । दीनाभिमानेभिन्नमनःरत्नत्रयधारणाय । निन्दायां लभ्यस्य अलभ्यस्य वा लोपस्योत्पादनं प्रति इच्छा निन्दा तस्याम् । संस्तवे चैव गुणवर्णनायां चैव संक्लिष्टः संक्लिष्टानि व्रतानि यस्य न । निर्दोषव्रतपालको यः स

चारित्ररूपायाम्त्रय्या क्षीयते सा त्रयी वुद्धिमता मता प्रशस्या। रत्नत्रयम् एव त्रयीनामधेय तदेव जन्मजरामृतित्रयी विनाशयेत् न ऋक्सामयजुषा त्रयो ससारक्षयकारणम् ॥८८५॥ मुनेर्ब्राह्मणत्व-माह--अहिंस इति--अहिंम न हिनस्तीति अहिंस प्राणिघातदूरो दयालु । सद्व्रत सन्ति व्रतानि यस्य स सन्ति सम्यग्दर्शनवन्ति, अथ च सन्ति निरतिचाराणि व्रतानि यस्य स । ज्ञानी सम्यग्ज्ञानी चतुर्णां प्रथमाद्यनुयोगाना ज्ञाता । निरीह निस्पृह । निष्परिग्रह निर्ममत्वरत । स सत्य ब्राह्मण स्यात् भवेत् न तु जातिमदान्धल अह जात्या श्रेष्ठ इति गर्वेण मदोद्धुर ब्राह्मणो न भवेत् ॥८८६॥ का जातिरिति प्रश्ने उत्तरमाह—सेति--यस्या सद्धर्मसभव यस्या जाते सकाशात् परलोकाय पर उत्तम लोक स्वर्गादि तस्मै परलोकाय उत्तमस्वर्गादिलाभाय सद्धर्मसभव॰ समीचीनरत्नत्रयधर्मस्य सभव उत्पत्ति स्यात् मा जाति उत्तमेत्यर्थ । शुद्धा भू यदि वीजवर्जिता स्यात् तर्हि सा न हि सस्याय जायेत धान्योत्पत्त्यै न भवेत् । केचन जना उत्तमजातौ जन्म लब्ध्वापि धर्मविहीना एव काल यापयन्ति, केचन च हीनजातौ समुत्पन्ना अपि तज्जात्युचित धर्मं पालयित्वा स्वहित साध्नुवन्ति अत धर्मपरिपालन भवेत् सा जाति उत्तमा ज्ञेया। हीनजातौ जनित्वापि तज्जातियोग्य धर्मं पालयन् यो नरो म्रियते सोऽन्यभवे उच्चा जाति सद्धर्मवतीं लभते ॥८८७॥ के शैववौद्धादय इति प्रश्ने उत्तर दीयते--स शैव इति—य शिव-मात्मा शिव मुक्त्युपाय सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि जानाति तथाभूत आत्मा शैव । य अन्तरात्मभुत् स वौद्ध अन्तरात्मान वुध्यतीति अन्तरात्मभुत् । किमन्तरात्मन स्वरूपम् । उच्यते चित्तदोपात्मविभ्रान्तिरन्तरात्मा चित्त च विकल्प दोपाश्च रागादय आत्मा च शुद्ध चेतनाद्रव्यम्, तेपु विगता विनष्टा भ्रान्तिर्यस्य स चित्त चित्तत्वेन वुध्यते । दोपाश्च दोषत्वेन । आत्मानम् आत्मत्वेनेत्यर्थ । एतादृश निजस्वरूप य वुध्यते जानाति स वौद्ध भवति। कस्तर्हि साख्य य प्रसख्यावान् स साख्य, प्रकर्पेण सशयविपर्ययानध्यवसायरहित यथा स्यात्तथा द्रव्यगुणपर्यायान् सख्याति वर्णयति इति प्रसख्यावान् साख्यो भवेत् । स द्विज यो न जन्मवान् य पुन जन्मवान् न भवति स द्विज । य कुलीनाया मातुरुत्पद्य कृतोपनयो गुरुणा तत्त्वज्ञान लम्भित प्राप्त द्वितीयजन्मा—लब्धसस्कारजन्मा दीक्षित्वा कर्मक्षय करोति तृतीय जन्म न लभते स द्विज इत्युच्यते ॥८८८॥ दानायोग्यत्वमाह—ज्ञानहीनेति—ज्ञानेन सम्यग्ज्ञानेन हीन ज्ञानहीन । दुराचार दुष्ट आगमविरुद्धा आचारा कार्याणि यस्य स, स्वच्छन्द प्रवृत्त । निर्दय दयारहित । लोलुपाशय पञ्चेन्द्रियविपयेपु लम्पट । तथा अक्षेति—अक्षाणि इन्द्रियाणि तानि अनुमता अनुसृता क्रिया गमनभोजनादिक्रिया यस्य एतादृशो य मुनि स्यात् स दानयोग्य कथं स्यात् । स मुनिर्दानानर्ह इति विज्ञेय ॥८८९॥ भिक्षाचातुर्विध्यमाह— अनुमान्या, समुद्देश्या, त्रिशुद्धा तथा भ्रामरी इति भिक्षा चतुर्विधा चतु प्रकारा ज्ञेया। कयोरिय चतुर्विधा भिक्षेत्याह—यतिद्वयसमाश्रया देशयतिविपयिणी महाव्रतिविपयिणी च अनुमान्या भिक्षा दशप्रतिमापर्यन्ता। समुद्देश्या आमन्त्रणपूर्विका पट्प्रतिमापर्यन्ता। एकादशप्रतिमाधारकस्य भिक्षा 'त्रिशुद्धे'ति नाम लभते। मुनिभिक्षाया नाम भ्रामरीति ज्ञेयम् । दातृजनवाधया विना कुशलो मुनिर्भ्रमरवदाहरतीति तस्य भिक्षा भ्राम-रीति नामाश्नुते ॥८९०॥

इत्युपासकाध्ययने यतिनामनिर्वचनश्चतुश्चत्वारिंश कल्प ॥४४॥

४५ सल्लेखनाविधिर्नाम पञ्चचत्वारिंशः कल्पः ।

[पृष्ठ ३२२-३२५]—अन्त्यविधि—सल्लेखनाविधिमाह—तरुदलेति—कदा सल्लेखना विधेयेति प्रश्ने व्याचष्टे—परिपक्व तरुदलमिव जीर्णावस्था प्राप्त शिथिलवृन्त वृक्षपर्णमिव । स्नेहविहीन स्नेहेन तैलेन विहीन रहित दीपमिव । स्वयमेव विनाशोन्मुख पतनावस्था प्रति अनुसरन्त देह शरीरम् अवबुध्य ज्ञात्वा । अन्त्य विधि सल्लेखनाख्य करोतु ॥८९१॥ गहनेति—शरीरस्य देहस्य विसर्जन त्याग गहन कठिन नहि । किंतु

शिखाछेदिनं प्राहुः न तु मुण्डितमस्तकम् मुण्डितं मस्तकं यस्य स मुण्डितमस्तकः तं न ब्रुवन्ति । केवलं केशलोचं करोति परम् अनाचारेण प्रवर्तते स मुण्डितमस्तकोऽपि न मुनिः । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायान् यश्छिनत्ति स एवान्वर्थो मुनिः शिखाच्छेदीत्युच्यते ॥८७५॥ मुनिं हंसमाह—कर्मेत्यादि—क्षीरनीरसमानयोः यथा क्षीरनीरयोः संयोगे इदं क्षीरम् इदं दुग्धम् इति विवक्तुं नान्यो जनः समर्थः हंसं विना । स तु नीरमिश्रितं क्षीरं नीरं मुक्त्वैव पिबति । यथा स हंसः नीरमिश्रिते क्षीरे निजां चञ्चुं प्रवेशयति तदा क्षीरं पीत्वा नीरमेवावशेषयति । तथैव मुनिरपि क्षीरनीरसमानयोः कर्मात्मनो विवेक्ता भवति । आत्मनः सकाशात् कर्माणि पृथक् करोति अत एव स परमहंसो भवति । स परमहंसः अग्निवत्सर्वभक्षको नास्ति । जैनसाधुः श्रावकगृहे [illegible] आहारं करोति आहारदोषांस्त्यक्त्वा । अग्निस्तु सर्वं शुद्धमशुद्धं वा भक्षयति । न तस्य विवेकोऽस्ति ॥८७६॥ मुनेस्तपस्वित्वं व्यनक्ति—ध्यानैरिति—यस्य ध्यानैर्मनः नित्यं प्रदीप्तं किट्टकालिकादिदोषपरहितं सुवर्णमिव तेजस्वि-निर्मलमभवत् । यस्य वपुः शुभे [illegible] गुप्तिसमितिमहाव्रतरूपैश्चारित्रैः नित्यं प्रदीप्तम् अभवत् । नियमैः नानाविधैः [illegible]पदार्थत्यागैः इन्द्रियाणि यस्य नित्यं दीप्तानि स तपस्वीत्युच्यते न वेषवान् केवलं नाम पिच्छिकाकमण्डलुसहितः तपस्वी नोच्यते । ॥८७७॥ मुनेरतिथित्वं व्यनक्ति—पञ्चेन्द्रियेत्यादि—या पञ्चेन्द्रियाणां स्पर्शादिविषयेषु प्रवृत्तयः ता एव पञ्च तिथयः मता यस्य रिपवस्ताः ता संसारे भव भ्रमणहेतुत्वात् अकल्याणकारणत्वात् ताभिर्मुक्तो अतिथिर्भवेत् ॥८७८॥ मुनेर्दीक्षितत्वं प्रतिपादयति—अद्रोह इति—सर्वसत्त्वेषु सकलजीवेषु अद्रोहः अद्वेषः स एव यस्य यज्ञः इष्यते हविरन्न इति यज्ञः स यस्य दिने दिने वर्तते स पुमान् यतिः दीक्षितात्मा ज्ञेयः । न तु अजादियज्ञाश्रय दीक्षितो ज्ञेयः अजाश्वादिषु यज्ञाश्रम अभवत् आशयो मारणाभिप्रायो यस्य स पुरुषः दीक्षितो न ज्ञेयः । दीक्षा संजाता यस्येति दीक्षितः । स यती न सोमपानपतिः अध्वरे यजमानः सन्दीक्षित उच्यते ॥८७९॥ श्रोत्रियत्वं मुनेः कथयति—दुष्कर्माणि दुष्टानि हिंसासत्यचौर्यादिपापकार्याणि तान्येव दुर्गन्धा [illegible] तान् न स्पृशतीति दुष्कर्मदुर्गन्धास्पर्शी । पुनः कथंभूतः । सर्वेति—सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनां हिते कुशले आशयोऽभिप्रायो यस्य स पुमान् श्रोत्रियः वेदाध्येतृब्राह्मणः । न तु यः बाह्यशौचवान् बाह्यं स्नानेन शौचं मन्वानः न स श्रोत्रियः ॥८८० ॥ मुनेर्होतृत्वं निर्दिशति—अध्यात्मेति—अध्यात्माग्नौ आत्मनि अधिकृत्य भवति इति अध्यात्मं स एवाग्निः तत्र दयादमहिंसाप्रमेयाप्रतिपादकपरैर्मन्त्रैः सम्यक्कर्म समिन्धनं सम्यक्त्वा धावमानो भूत्वा कर्माणि ज्ञानावरणादीनि एव समिधः होमे समर्पणीयानि पलाशादि काष्ठतुल्यानि तेषां चयं समूहं यः जुहोति अध्यात्माग्नौ प्रक्षिपति स होता स्यात् होमकर्ता भवेत् । परं न बाह्याग्निसमेधकः बाह्याग्नौ पलाशादिकाष्ठानि निक्षिप्य तस्य प्रवर्तकः भवति स अत्र होता न स्यात् । न यतिः स्वानुभूत्यग्नौ यथामन्त्रानुष्ठानं कर्मसमिन्धनं प्रक्षिपति प्राणिसमूहं होमे न प्रक्षिपति । प्राणिसमूहं होमे क्षिपन सदयः किं तु निर्दय एव । अत्र स्वानुभूतिरूपे होमे कर्मणां ज्ञानावरणादीनां प्रक्षेपणात् आत्मा होता भवति इति ज्ञेयम् ॥८८१॥ मुनेर्यज्वत्वं वक्ति—भावपुष्पैरिति—भक्तिकुसुमैः देवं यजेत् जिनं पूजयेत् वा शुद्धचिदानन्दस्वरूपं निजात्मानं पूजयेत् । कपुष्पैर्वपुर्गृहम्—पत्राण्येव पुष्पाणि तैः वपुरेव गृहं यजेत् पूजयेत् । क्षमापुष्पैः मनोवह्निं चित्तानलं पूजयेत् । स यज्वा अध्वरं कुर्वाणः सतां सज्जनानां मान्यः पूज्यो भवेत् ॥८८२॥ मुनिम् अध्वर्युमाचष्टे—षोडशानामिति—षोडशसंख्यानां भावनानां दर्शनविशुद्धि विनयसम्पन्नतादिषोडशभावनानां तीर्थंकरत्वप्राप्तिकारणानां पुरोहितानां यः प्रवरात्मा पातृगुरुः महात्मा मुनिः प्रभुः स्वामी स शिवेति—शिवधर्मं मोक्षसुखं तदेव अध्वरो यज्ञः तस्य सद्गुरुः श्रेष्ठः अध्वर्युः यज्ञ-सम्पादको योऽयम् आत्मा ॥८८३॥ भेदस्य स्वरूपमाह—विवेकमिति—यः शरीरशरीरिणोः शरीरं देहः शरीरी शरीरे निवसन्नात्मा । तयोः उभयोः विवेकं पार्थक्यं भिन्नस्वभावत्वम् सर्वं नितरां निवेदयेत् कथयेत् । स वेद विदुषां प्रीत्यै वचने स्यात् । वेद [illegible]कारणं सकलप्राणिविनाशहेतुः न प्रीतिहेतुर्न भवति ॥८८४॥ का नाम नदीति प्रश्ने तदुत्तरमाह—आर्तिरिति—आर्तिर्नाम जरा वृद्धत्वम् मृतिः मरणम् एतत्त्रयी मुधा संसृतिकारणं यद्धेतु भवति । एषा नदी यतस्त्रय्याः यस्याः अस्याः सम्यग्दर्शनज्ञान-

त्यजामीति सगरेण समाधिमरणं करोति ॥९०१॥ सूराविति—सूरौ निर्यापकाचार्ये। प्रवचनकुशले आराधनाशास्त्रनिपुणे व्याख्यानकुशले च। साधुजने परिचारकमुनिगणे यत्नकर्मणि वैयावृत्त्यकरणदक्षे निरलसे च सति। चित्ते च सल्लेखनाराधकस्य मनसि सदाविरते रत्नत्रये धर्मध्याने चतुराराधनरते च स्थिते सति। यते किमिहासाध्यम् इह लोके असाध्यं दुष्करं किमस्ति ॥९०२॥ सल्लेखनातिचारान् वक्ति—जीवितेति—जीविताशंसा, जीविताभिलाषा प्रत्याख्यातचतुर्विधाहारस्यापि मे जीवितमेव श्रेयः यत एव विधा मदुद्देशेनेयं विभूतिर्वर्तते इत्याकाङ्क्षेति यावत्। मरणाशंसा रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनसंक्लेशस्य मरणं प्रति चित्तप्रणिधानम्। अथवा यदा न कश्चित्त प्रतिपन्नानशनं प्रति सपर्यया आद्रियते। न च कश्चिच्छ्लाघते, तदा तस्य यदि शीघ्रं म्रियेय तदा भद्रकं भवेत् इत्येवं विविधपरिणामोत्पत्तिर्वा। सुहृदनुरागः बाल्ये सहपांसुक्रीडनादि, व्यसने सहायत्वम्, उत्सवे सम्भ्रमः इत्येवमादेश्च मित्रसुकृतस्यानुस्मरणम्, बाल्याद्यवस्थासहक्रीडितमित्रानुस्मरणं वा। सुखानुबन्धविधिः एवं मया भुक्तम्, एवं मया शयितम्, एवं मया क्रीडितमित्येवमादिप्रीतिविशेषं प्रति स्मृतिसमन्वाहारः। एते सनिदानाः अस्मात्तपसो दुश्चरात् जन्मान्तरे इन्द्रश्चक्रवर्ती धरणेन्द्रो वा स्यामहमित्येवमाद्यनागताभ्युदयाकांक्षा। एते पञ्च सल्लेखनाहानये स्युः सल्लेखनायाः हीनत्वाय भवेयुः ॥९०३॥ सल्लेखनाराधनायाः फलमाह—आराध्येति—इत्थं रत्नत्रयम् आराध्य भावयित्वा। गणिने निर्यापकाचार्याय। समर्पितात्मा समर्पित दत्त आत्मा येन स तदधीनो भूत्वा तदाज्ञामनुसृत्य प्रवर्तमानः। अर्थी सल्लेखनाकामः यथावत् समाधिभावेन विधिमनुसृत्य धर्मध्यानपरिणत्या कृतात्मकार्यः कृतम् आत्मकार्यं सल्लेखनाख्यं येन स कृती पुण्यवान् धन्यः जगन्मान्यपदप्रभुः स्यात्। जगतां मान्यं पूज्यं यत्पदं स्थानं तीर्थकरत्वं तस्य प्रभुः स्यात् भवेत् ॥९०४॥

इत्युपासकाध्ययने सल्लेखनाविधिर्नाम पञ्चचत्वारिंशः कल्पः ॥४५॥

४६ प्रकीर्णकविधिर्नाम षट्चत्वारिंशत्तमः कल्पः।

[पृष्ठ ३२५-३२८] विप्रकीर्णेति—विशेषेण प्रकीर्णानाम् इतस्ततः विस्तृतानां वाक्यानाम् अथवा अवशिष्टानाम् अनुक्तानाम् अर्थवाक्यानां प्रयोजनभूतवाक्यानाम् उक्तिः प्रतिपादनं प्रकीर्णकम् उक्तम्। किं प्रकीर्णकं उक्तम् इति प्रश्ने आह—उक्तेति—उक्ता कथिता अनुक्ता अकथिता उपदिष्टानुपदिष्टा इति। ये अमृतस्यन्दबिन्दवः अमृतवत् आनन्दजनकत्वात् उक्तानुक्तार्थवाक्यानि अमृतमेव तस्य गलता बिन्दूना आस्वादे कोविदैः प्रकीर्णकस्य लक्षणम् उक्तम् ॥९०५॥ कीदृग्गुणो नरः धर्मकथापरो भवतीत्याह—अदुर्जनत्वमिति—दुर्दुष्टो जनः दुर्जनः तस्य भावः दुर्जनत्वं कृतघ्नत्वम् न दुर्जनत्वम् अदुर्जनत्वं कृतोपकारस्मरणाख्यो गुणः अदुर्जनत्वम्। विनयः गुणिजनेषु आदरः। विवेकः हिताहितविमर्शशक्तिः। परीक्षणं पूर्वापरालोचनम्। तत्त्वविनिश्चयश्च जीवादितत्त्वानां यथागमं स्वरूपनिर्णयः। एते पञ्चगुणा यस्य भवन्ति स आत्मवान् विकारावशः पुरुषः धर्मकथापरः धर्मोपदेशने तत्परो भवेत् ॥९०६॥ के दोषास्तत्त्वावबोधे प्रतिबन्धका आह—असूयकत्वमिति—गुणेषु मत्सरोऽसूयकत्वम्। शठता पुरः प्रियं भाषणं पश्चात् विप्रियोत्पादनम्। अविचारः अविवेकः, दुराग्रहः दुष्टाभिप्रायः, सूक्तविमानना सूक्तस्य सता भाषितस्य विमानना अवहेलना अवज्ञा, अमी पञ्चदोषाः तत्त्वावबोधप्रतिबन्धनाय भवन्ति। यथार्थवस्तुस्वरूपज्ञानबाधाहेतवे भवन्ति ॥९०७॥ संशयितमूढयोः प्रवृत्तेः असाफल्यं दर्शयति। पुंस इति—यथा संशयिताशयस्य चलितप्रतिपत्तिमतः पुंसो नरस्य काचित् प्रवृत्तिः किमपि कार्यं सफलं न भवेत्। तथा धर्मस्वरूपेऽपि विमूढबुद्धेः विमूढा बुद्धिर्यस्य स विमूढबुद्धिः तस्य धर्मस्वरूपानभिज्ञस्य जडमतेरित्यर्थः तथाभूतस्य पुरुषस्य काचित् प्रवृत्तिः सफला न भवेत् विपरीतकार्यकरणात् ॥९०८॥ अष्टमदानाह—जातिपूजेति—जातिः मातृकुलम्। पूजा लोकादरः। कुलं पितृवंशः। ज्ञानं शास्त्रावबोधः। रूपं सौन्दर्यम्। संपत् ऐश्वर्यम्। तपः व्रताद्याचरणम्, बलं शरीरपराक्रमः। एतस्मिन्वस्तुनि अहयुतोद्रेकम् अभिमानस्य उत्कटता मदं गर्वं वदन्ति। के अस्मयमानसाः गर्वरहितचेतसः

इह मुक्तं चारित्रं चारित्रपालनं गहनं कठिनं वर्तते । तत् तस्मात्कारणात् स्वास्थ्ये चिरकालं स्थातुं योग्यं शरीरमिदं न विनाश्यं नाशयितुं न योग्यम् । यदा तु शरीरम् धर्मसाधनायासं समर्थं न भवति तदा सल्लेखना विधाय देह त्याग उचित । अन्यथा सल्लेखनाकरणम् आत्मघातसमं स्यात् । यदा तु तच्छरीरं नश्वरम् पतनाभिमुखं भवति तदा न पोष्यम् । धैर्येण धर्मरक्षणार्थं सल्लेखना विधेया । अत एव उक्तं चारित्रं गहनं न शरीरहानमिति ॥८ २॥ प्रतिदिवसमिति—दिवसं दिवसं प्रति प्रतिदिवसम् अनुदिनम् । प्रत्यहम् । वपुः विजहद्बलं बलं सामर्थ्यं विजहाति त्यजति यत् तत् शरीरं विजहद्बलम् । विनष्टसामर्थ्यम् इति भावः । उज्झत्कुक्षिं उज्झति त्यजति भुक्तं भोजनं यत् तच्छरीरम् अनुज्झदाहारम् । त्यजत्प्रतीकारं परिहृतसाधनोपायम् । एतदवस्थं वपुः शरीरं नृणां मनुष्याणां श्रावकाणां मुनीनां वा चरमचरित्रोदयं चरमम् अन्त्यं चरित्रोदयं सल्लेखनोत्पत्तिरूपं समयं कालं निगदति कथयति । एतदवस्थं यदा शरीरं भवति तदा सल्लेखना कार्येति व्यक्तीकृतं सूरिणा ॥८९१॥ पापकृते उचितेन पापकार्यस्य समिकटेन पापकार्यस्य समीपमागतेन जरा वृद्धावस्था । कीदृशी सा वनितास्तिमेति—अभित उत्पादितः अखिलस्य सर्वस्य कायस्य देहस्य कम्पनातङ्कः वेपथुरोगो यया सा जरा यदि यमदूतीव यमस्य वार्ताहरेव समागता आगता तर्हि जीवितेषु प्राणेषु क तर्षः का तृष्णा कोऽभिलाषः । तदा गृहस्थेन मुनिना निरभिलाषेण भाव्यम् ॥८ ४॥ कर्णान्तेति—यदि चेत् जरया वृद्धावस्थया कर्णान्ते श्रवणमूलस्य समीपे केशपाशस्य ग्रहणस्य मिषेण बोधितोऽपि प्रकटीकृतोऽपि ज्ञापितोऽपि मानवः स्वस्य हितैषी न भवति निवृत्तिकेच्छा न कुरुते तर्हि मृत्युः तं किं न ग्रसते । न ग्रसयति किम् अपि तु ग्रसयत्येव ॥८९५॥ उपवासादिभिरिति—उपवासैः आहारत्यजनेन स्निग्धपानपरिहापनेन खरपानेन तस्यापि हापनेन इत्यादिभिः अन्नहापनप्रकारैः अङ्गे कृतसल्लेखनकर्मा शरीरे कृतं सल्लेखनकर्म येन स सम्यक् शान्तेन मनसा लेखनम् उपवासादिभिः शरीरकर्शनं कायसल्लेखना तत् सल्लेखनकर्म येन कृतं स कृतसल्लेखनकर्मा । कषायदोषे च क्रोधादिककषायदोषे च कृतसल्लेखनकर्मा सम्यक्कृशीकृतकषायकर्मा गणमध्ये चतुःसंघमध्ये प्रायश भवेत । अनशनाय उपवासाय भवेत प्रयत्नं कुर्वन् आमरणं सावधिकं वा उपवासं कुर्यादिति ॥८९६॥ यमनियमेति—यम आमरणं भोगोपभोगादित्यागः । नियमः परिमितकालं तयोस्त्यागः । स्वाध्यायः वाचना पृच्छनादिपञ्चविधः । तपांसि अनशनादिकं बाह्यं षड्विधं तपः । प्रायश्चित्तादिकं षड्विधम् आभ्यन्तरं तपः । देवार्चनाविधिः देवस्य जिनप्रभोः पूजाभिषेकादिकम् । दानं त्रिविधपात्रेभ्य आहारादिदानम् । एतत्सर्वं निष्फलं भवेत् । कदा चेत् अवसाने मनः मलिनं स्यात् । मृतिसमये चित्तम् आर्तरौद्रादिध्यानेन मलिनं कलुषितं स्यात् ॥८९७॥ द्वादशेति—नृप द्वादशवर्षाणि यावत् शस्त्राभ्यासं कृत्वा यदि रणेषु समरेषु स मुह्येत् प्रमाद्येत्। तर्हि तस्मात्तस्य तस्य अस्त्रशिक्षणस्य किं स्यात् किं फलं भवेत् । तत्सर्वं निष्फलं भवेत् । तथा यतेः पुराचरितं यमनियमस्वाध्यायादिकं सर्वं प्रागाचरितम् आचरणं निष्फलं भवेत् । अतोऽवसाने परिणामेषु नैर्मल्येन भाव्यम् ॥८९८॥ स्नेहं विहायेति—बन्धुषु ज्ञातिबान्धवेषु स्नेहं विहाय त्यक्त्वा । मोहं विभवेषु संपत्सु त्यक्त्वा अहिते कलुषतां द्वेषं विहाय त्यक्त्वा । गणिनि निर्यापकाचार्ये निखिलं सकलं दुरीहितं दुश्चेष्टितं निवेद्य कथ मित्वा । तदनु तदनन्तरम् उचितं विधिं निर्यापकाचार्येण कथितम् उचितं योग्यं विधिं सल्लेखनाचारविधेयं भजतु आश्रयतु ॥८९९॥ सल्लेखनाचारविधेयं निगदति—अशनमिति—क्रमेण अशनम् अन्नं हेयं वर्जनीयम्। तदनन्तरं स्निग्धं पानं दुग्धादिकं विहाय तदपि हेयम् । तत खरं पानं काञ्जिकादिकं शुद्धपानीयरूपं वा विरूक्षं तदपि हेयम् । तदनु सर्वनिवृत्तिं सकलत्यागं चतुर्विधाहारत्यागम् उपवासम् अपि कुर्यात् अन्त्यं तत् गुणाश्रयस्मृती निरतः अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधूनां पञ्चपरमेष्ठिनां नामस्मरणे निरत तत्पर सन् ॥९ ॥ कदलीघातवदिति—यथा परशुादिना कठोरतरैकप्रहारेण रम्भास्तम्भे तथा दुर्निवाररोगपरम्परादिना सकृदेव अक्रमेण आयुषि जीविते विरतिम् उपयाति विनाशोन्मुखता गच्छति सति कथा इतिनां पुण्यवताम् । तत्र अकस्मात् आयुर्विरमणकाले एष सल्लेखनाविधिर्नास्ति आहारं त्यक्त्वा स्निग्धं विवर्धयेत् तदपि त्यक्त्वा खरपानं पूरयेत् इत्यादिकः क्रमेणानाविरामविधिर्नास्ति । तदेव ग्रन्थकृदेवमाह—एवं देवे प्रयत्नसामान्ये कथमपि सल्लेखनाविधानं नास्ति । न भवति कदलीघातमरणे यदि चतुर्विधाहारं

त्वजामीति सगरेण समाधिमरण करोति ॥९०१॥ सूरावित्ति—सूरो निर्यापकाचार्ये। प्रवचनकुशले आराधना शास्त्रनिपुणे व्याख्यानकुशले च। गणजने परिचारकमुनिगणे यत्नकर्मणि वैयावृत्यकरणदक्षे निरलसे च सति। चित्ते च सल्लेखनाराधकस्य मनसि समाधिरते रत्नत्रये धर्मध्याने चतुराराधनरते च स्थिते सति। यत इह किमिहासाध्यम् इह लोके असाध्य दुष्कर किमस्ति ॥९०२॥ सल्लेखनातिचारान् वक्ति—जीवितेति—जीविताशसा, जीविताभिलाषा प्रत्याख्यातचतुर्विधाहारस्यापि मे जीवितमेव श्रेय यत एव विधा मदुद्देशेनेय विभूतिर्वर्तते इत्याकाङ्क्षेति यावत्। मरणाशसा रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनसक्लेशस्य मरण प्रति चित्तप्रणिधानम्। अथवा यदा न कश्चित्त प्रतिपन्नानशन प्रति सपर्यया आद्रियते। न च कश्चिच्छ्लाघते, तदा तस्य यदि शीघ्र म्रियेय तदा भद्रक भवेत् इत्येव विविधपरिणामोत्पत्तिर्वा। सुहृदनुराग बाल्ये सहपासुक्रीडनादि, व्यसने सहायत्वम्, उत्सवे सभ्रम इत्येवमादेश्च मित्रसुकृतस्यानुस्मरणम्, बाल्याद्यवस्थासहक्रीडितमित्रानुस्मरण वा। सुखानुबन्धविधि एव मया भुक्तम्, एव मया शयितम्, एव मया क्रीडितमित्येवमादिप्रीतिविशेष प्रति स्मृतिसमन्वाहार। एते सनिदाना अस्मात्तपसो दुश्चरात् जन्मान्तरे इन्द्रश्चक्रवर्ती धरणेन्द्रो वा स्यामहमित्येवमाद्यनागताभ्युदयाकाक्षा। एते पञ्च सल्लेखनाहानये स्यु सल्लेखनाया. हीनत्वाय भवेयु ॥९०३॥ सल्लेखनाराधनाया फलमाह—आराध्येति—इत्य रत्नत्रयम् आराध्य भावयित्वा। गणिने निर्यापकाचार्याय। समर्पितात्मा समर्पित दत्त आत्मा येन स तदधीनो भूत्वा तदाज्ञामनुसृत्य प्रवर्तमान'। अर्थो सल्लेखनाकाम यथावत् समाधिभावेन विधिमनुसृत्य धर्मध्यानपरिणत्या कृतात्मकार्य कृतम् आत्मकार्य सल्लेखनाख्य येन स कृती पुण्यवान् धन्य जगन्मान्यपदप्रभु स्यात्। जगता मान्य पूज्य यत्पद स्थान तीर्थकरत्व तस्य प्रभु स्यात् भवेत् ॥९०४॥

इत्युपासकाध्ययने सल्लेखनाविधिर्नाम पञ्चचत्वारिंशः कल्प ॥४५॥

४६ प्रकीर्णकविधिर्नाम षट्चत्वारिंशत्तम' कल्पः।

[पृष्ठ ३२५-३२८] विप्रकीर्णेति—विशेषेण प्रकीर्णानाम् इतस्तत विस्तृताना वाक्यानाम् अथवा अवशिष्टानाम् अनुक्तानाम् अर्थवाक्याना प्रयोजनभूतवाक्यानाम् उक्ति प्रतिपादन प्रकीर्णकम् उक्तम्। किं प्रकीर्णक उक्तम् इति प्रश्ने आह—उक्तेति—उक्ता कथिता अनुक्ता अकथिता उपदिष्टानुपदिष्टा इति। ये अमृतस्यन्दबिन्दव अमृतवत् आनन्दजनकत्वात् उक्तानुक्तार्थवाक्यानि अमृतमेव तस्य गलता बिन्दूना आस्वादे कोविदै प्रकीर्णकस्य लक्षणम् उक्तम् ॥९०५॥ कीदृग्गुणो नर धर्मकथापरो भवतीत्याह—अदुर्जनत्वमिति—दुर्दुष्टो जन दुर्जन तस्य भाव दुर्जनत्व कृतघ्नत्वम् न दुर्जनत्वम् अदुर्जनत्व कृतोपकारस्मरणाख्यो गुण अदुर्जनत्वम्। विनय गुणिजनेषु आदर। विवेक हिताहितविमर्शशक्ति। परीक्षण पूर्वापरालोचनम्। तत्त्वविनिश्चयश्च जीवादितत्त्वाना यथागम स्वरूपनिर्णय। एते पञ्चगुणा यस्य भवन्ति स आत्मवान् विकारावश पुरुष धर्मकथापर धर्मोपदेशने तत्परो भवेत् ॥९०६॥ के दोषास्तत्त्वाववोधे प्रतिबन्धका आह—असूयकत्वमिति—गुणेषु मत्सरोऽसूयकत्वम्। शठता पुर प्रिय भाषण पश्चात् विप्रियोत्पादनम्। अविचार अविवेक, दुराग्रह दुष्टाभिप्राय, सूक्तविमानना सूक्तस्य सता भाषितस्य विमानना अवहेलना अवज्ञा, अमी पञ्चदोषा तत्त्वाववोधप्रतिबन्धनाय भवन्ति। यथार्थवस्तुस्वरूपज्ञानबाधाहेतवे भवन्ति ॥९०७॥ सशयितमूढयो प्रवृत्ते असाफल्य दर्शयति। पुस इति—यथा सशयिताशयस्य चलितप्रतिपत्तिमत पुसो नरस्य काचित् प्रवृत्ति किमपि कार्य सफल न भवेत्। तथा धर्मस्वरूपेऽपि विमूढबुद्धे विमूढा बुद्धिर्यस्य स विमूढबुद्धि तस्य धर्मस्वरूपानभिज्ञस्य जडमतेरित्यर्थ तथाभूतस्य पुरुषस्य काचित् प्रवृत्ति सफला न भवेत् विपरीतकार्यकरणात् ॥९०८॥ अष्टमदानाह—जातिपूजेति—जाति मातृकुलम्। पूजा लोकादर। कुल पितृवश। ज्ञान शास्त्राववोध। रूप सौन्दर्यम्। सपत् ऐश्वर्यम्। तप' व्रताद्याचरणम्, बल शरीरपराक्रम। एतस्मिन्वस्तुनि अहयुतोद्रेकम् अभिमानस्य उत्कटता मद गर्व वदन्ति। के अस्मयमानसा गर्वरहितचेतस.

॥९०९॥ सधर्मो नरो धर्मघातक—य इति—यः नरः मदात् गर्वात् आत्मायमभिमानवशो भूत्वेति भावः धर्मस्थानां जिनधर्मे स्थितानां तत्परतया पूजा अवज्ञाभावेन अवज्ञया मोदते तुष्यति । स पुरुषः नूनं सत्यं धर्मघ्नो जिनधर्मघातकः भवति । यस्मात् धर्मः धार्मिकैः विना न भवति । धार्मिकाणाम् अवमाननात् धर्मो नष्टो भवति ॥९१०॥ श्रावकाणां षट्कर्माणि—देवसेवेति—देवस्य जिनेन्द्रस्य सेवा स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तव इति षड्विधा भवति । गुरूपास्तिः गुरोः निर्ग्रन्थाचार्यस्य उपास्तिः पूजा । स्वाध्यायः श्रुतस्य धर्मशास्त्रस्य पठनम् ज्ञानभावनाभ्यसनम् स्वाध्यायः स च वाचनादिभेदात्पञ्चधा । संयमः व्रतधारणम् तपः अनशनादिकं दानं विविधपात्रेषु आहारौषधशास्त्राभयवितरणम् । इति गृहस्थानां श्रावकाणां षट्कर्माणि दिने दिने प्रतिदिवसम् आचरणीयानि कार्याणि ॥९११॥ श्रावकाणां षट्क्रिया आह—स्नपनम्—जिनेन्द्रस्य आह्वानस्थापनसंनिधीकरणपूर्वकं पञ्चामृतैर्जलादिभिः अभिषेचनम् । पूजनं जलादिद्रव्यैः जिनेश्वरस्य अर्चनम् । स्तोत्रं भगवतो गुणानां गद्यपद्याभ्यां पठनम् । जपः मनसा वाचा वा जिननामावर्तनम् । ध्यानं जिनगुणेषु कस्मिंश्चिद्गुणे मनसः एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् । श्रुतस्तवः जिनमुखोद्भूतायाः श्रुतदेवतायाः गुणवर्णनं श्रुतस्तवः । इति षोढा क्रियाः देवसेवासु गेहिनां गृहिणाम् उदिता उक्ता ॥९१२॥ कः श्रेयःप्राप्तिकरो गणः इत्याह—आचार्योपासनमिति—धर्माराधनप्रयोजकानां गुरूणाम् उपासनम् आदरः पूजनम् । यतः आचार्या आप्तागमतपोभृतो परमार्थानां इति । शास्त्रार्थस्य विवरणम् जिनागमप्रोक्तानां जीवादितत्त्वानां बालबोधिन्या सरलया भाषया अविरोधेन स्वरूपप्रतिपादनम् । तत्क्रियाणां देवपूजादीनां षण्णां क्रियाणाम् अनुष्ठानम् आचरणम् । श्रेयःप्राप्तिकरः मुक्तिप्राप्तिकरः गणः ज्ञातव्यः ॥९१३॥ गुरुसंनिधौ कथंभूतः श्रावकोऽधीत इत्याह—गुर्वितिरिति—स्नातपूतः विनयसम्पन्नः प्रयत्नतत्परः । अनुचितकर्मत्वेन शरीरसम्बन्धत्वेन रहितः गुरुसंनिधौ हस्तपादं न प्रसारयेत् करेण करताडनम्, गात्रभञ्जनम् इत्यादिकं चाञ्चल्यं परिहरेत् । अष्टदोषविनिर्मुक्तम् अष्टविरोधैः रहितं यथा स्यात्तथा अधीतम् अध्ययनं कर्तव्यम् । अध्ययनस्य केऽष्टविधा दोषा उच्यन्ते ज्ञानाचारस्वरूपवर्णनसमये तस्य अष्टौ भेदाः प्रतिपादिता आगमे । तेषां सम्यक् पालनं भवति न यदा तदा ताम्यो दोषा जायन्ते । तेषां नामानि—१ अकालपठनम् २ अविनयः ३ अवग्रहविरोधं विना पठनम्, ४ अबहुमानः ५ निह्नवनम् ६ व्यञ्जनाशुद्धिः ७ अर्थाशुद्धि ७ उभयाशुद्धिश्च ॥९१४॥ स्वाध्यायस्वरूपमाह—अनुयोगेति—अनुयोगाश्चत्वारो वक्ष्यमाणाः । गुणस्थानानि चतुर्दश । मार्गणाश्चतुर्दश । स्थानानि जीवसमासाश्चतुर्दश । क्रमशः एतेषु विषयेषु पाठः स्वाध्यायः उच्यते । तथा अध्यात्मतत्त्वविद्यायाः अध्यात्मविद्या निश्चयनयेन जीवस्य यत् शुद्धात्मस्वरूपवर्णनम् तस्याः तत्त्वविद्यायाः जीवादितत्त्वतत्त्वानां च यथार्थं सा तत्त्वविद्या अनयोर्विषयो पाठः हितरूपम् अध्ययनं स स्वाध्यायः उच्यते ॥९१५॥ प्रथमानुयोगस्वरूपमाह—गृहीति—धर्मधी धर्मे समाहितचेतसि धीः यस्य सः । गृही यतः यस्मात् स्वाभिप्रायं जिनधर्मसिद्धान्तं साधु सम्यक् बुध्येत जानीयात् स अनुयोगः प्रथमाभिख्यः प्रथमानुयोगः । (प्रश्नोत्तरम् अनुयोगं वदन्ति) कथंभूतः प्रथमानुयोगः पुराणचरितात्मकः पुराणं पुराभवम् त्रिषष्टिशलाकापुरुषकथाशास्त्रम् । लोकालोकपुरुषार्थतीर्थवार्ता सह तपश्चिन्तस्य प्रतिपादकत्वात् बहुविधम् । चरितम् एकपुरुषाश्रिता कथा । पुराणचरितानाम् आश्रयः आधारभूतः ॥९१६॥ करणानुयोगमाह—अधोमध्योर्ध्वलोके स्थितिरिति—अधोलोके रत्नप्रभादयः सप्त पृथिव्यः सन्ति । मध्यलोकः असंख्यातद्वीपसमुद्रात्मकः । ऊर्ध्वलोकः स्वर्गलोकः सिद्धलोकश्चेति । एषु त्रिषु लोकेषु चतुर्गतिविचारो चतसृणां गतीनां नारकतिर्यग्मनुष्यदेवाभिधानानां विचारणं सविस्तरप्रतिपादनम् करणं शास्त्रम् इत्यादि करणानुयोगमाहुरित्यर्थः । अनुयोगः परीक्षणं प्रश्नोत्तरपरीक्षणम् ॥९१७॥ चरणानुयोगस्वरूपमाह—समेतमिति—यमः व्रतम् अनुष्ठानम् अणुव्रतात्मकं महाव्रतात्मकं वा आचरणम् । तस्य अर्थं रक्षणम् अतिचारादिभ्योऽवनं भावनाभिश्च संवर्धनम् इत्थम् एवंविधम् आत्मस्वरूपः यस्य स चरित्रार्थः अनुयोगः चरितम् अर्थः प्रयोजनं यस्य सः चरणानुयोगः । चरणाश्रितो चारित्राचारो प्रबोधव्यः ॥९१८॥ द्रव्यानुयोगमाह—जीवाजीवेति—द्रव्यानुयोगस्य द्रव्यानुयोगशास्त्रात् किं फलं लभ्यते श्रावकेणेति आह—जीवाजीवपरिज्ञानं जीवस्य अजीवस्य च धर्माधर्माकाशकालपुद्गलानां च परिज्ञानं बोधो भवति । धर्माधर्मविबोधनं पुण्यापुण्ययोः ज्ञानम् । बन्धमोक्षज्ञता आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशलक्षणो बन्धः । बन्ध-

हेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष इति बन्धमोक्षयो ज्ञातत्व फल जायते ॥९१९॥

[पृष्ठ ३२९–३३२] जीवस्थानादिकाना बोध्यत्वमाह—जीवस्थानेति—जीवस्थानमिति जीवसमासानामिय सज्ञा ज्ञेया । तानि च चतुर्दश यथा एकेन्द्रियसूक्ष्मपर्याप्त । एकेन्द्रियसूक्ष्म अपर्याप्त । एकेन्द्रियबादरपर्याप्त । एकेन्द्रियबादरापर्याप्त । इति चत्वार एकेन्द्रियजीवेषु समासा अत्र चतुर्षु एते जीवा सम्यगासते। द्वीन्द्रियेषु द्वौ जीवसमासौ—द्वीन्द्रियबादरपर्याप्त । द्वीन्द्रियबादरापर्याप्त । त्रीन्द्रियबादरपर्याप्त त्रीन्द्रियबादरापर्याप्त । इति त्रीन्द्रियजीवाना द्वौ । चतुरिन्द्रियबादरपर्याप्त । चतुरिन्द्रियबादरापर्याप्त । इति चतुरिन्द्रियात्मना द्वौ । पञ्चेन्द्रियाणा चत्वारो जीवसमासा एवम् – पञ्चेन्द्रियसज्ञिपर्याप्त । पञ्चेन्द्रियसज्ञ्यपर्याप्त । पञ्चेन्द्रियासज्ञिपर्याप्त । पञ्चेन्द्रियासज्ञ्यपर्याप्त, एव जीवसमासाश्चतुर्दश। गुणस्थानानि च चतुर्दश–तानि यथा—मिथ्यात्वम्, सासादनम्, मिश्रम्, अविरतसम्यग्दृष्टि, सयतासयतम्, प्रमत्तविरतम्, अप्रमत्तविरतम्, अपूर्वकरणम्, अनिवृत्तिकरणम्, सूक्ष्मसाम्परायम्, उपशान्तमोहम्, क्षीणमोहम्, सयोगकेवलि, अयोगकेवल्याख्यमिति । मार्गणाश्चतुर्दश, ता यथा—गति, इन्द्रियाणि, काय, योगा, वेदा, कषाया, ज्ञानानि, सयमा, दर्शनानि, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्वम्, सज्ञिन, आहार इति। जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानानि गच्छतीति जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानग विधि प्रत्येक चतुर्दश प्रकार ज्ञातव्य । यथागमम् आगमानतिक्रमेण ॥९२०॥ चतसृषु गतिषु गुणस्थानान्याह—आदित इति—आदिगुणस्थान मिथ्यात्वमारभ्येति । तिर्यक्षु पशुषु पञ्च । मिथ्यात्व, सासादन, मिश्रम्, अविरतसम्यग्दृष्ट्याख्य, सयतासयत चेति । श्वभ्रनाकिनो नारकदेवयो आद्यानि चत्वारि ज्ञेयानि। नृषु चैव चतुर्दश मनुष्येषु चतुर्दश मिथ्यात्वमारभ्य अयोगकेवलिपर्यन्तानि भवन्तीति मन्यन्ते ॥९२१॥ तपो वर्णयति–पद्याभ्याम्—अनिगूहितेति—अनिगूहितम् अनिह्नुत वीर्यम् आत्मसामर्थ्यं येन स तस्य अनिगूहितवीर्यस्य पुरुषस्य यते श्रावकादेश्च कायक्लेश तप स्मृत प्रोक्तम् । तच्च मार्गो रत्नत्रय तस्य अविरोधेन विरोधमकृत्वा रत्नत्रयमनुसृत्येति भाव । गुणाय आत्मिकगुणोत्कर्षाय, जिनैर्गदितम् । अथवा—अन्तरिति—तत्तप अन्तर्वहिर्मलप्लोषात् अन्तर्मलो रागादय बहिर्मल. रसरक्तादय । उभयोर्मलयो प्लोषात् दाहात् आत्मन शुद्धिकारण जीवस्य । नैर्मल्यहेतुर्यत् शारीर मानस कर्म अनशनादिकरण शारीरं कर्म । प्रायश्चित्तादिकरण मानस कर्म । तथाभूत द्विविध कर्म तपोधना तप प्राहु तपासि एव धन येषा ते तपस्विन महातपस्विन इत्यर्थ ॥९२२–९२३ ॥ सयममाह—कषायेति—कषायाणा क्रोधमानमायालोभाना विजय स्ववशीकरणम् । इन्द्रियाणा विजयो विनिग्रह, इन्द्रियविषयेभ्यो इन्द्रियाणा मनसश्च व्यावर्तन कृत्वा चैतन्यात्मनि प्रवर्त्तन विजय । दण्डाना च विजय दण्डा इव दण्डा अशुभमनोवाक्काया परपीडाकरत्वात्, तेषा विजय अशुभमनोवाक्कायप्रवृत्तिभ्य आत्मनो निवारणम् । व्रतपालनम् पञ्चानाम् हिंसासत्यचौर्यमैथुनपरिग्रहेभ्यो विरति, तत्तद्व्रतभावनाना च व्रतस्थैर्यार्थं पालनम् एतत्सर्वमाचरण सयम सयमाख्य षट्कर्मसु पञ्चम कर्म । अय सयम सयतै मुनिभि. श्रेय श्रयितुमिच्छता प्रोक्त मोक्षमाश्रयितुम् इच्छता प्रोक्त कथित ॥९२४॥ अधुना कषायस्य निरुक्तिपूर्वक वर्णन क्रियते—कषन्तीति—कषन्ति सन्तापयन्ति दुर्गतिसगसपादनेनात्मानमिति कषाया क्रोधादय । कषायेभ्य दुर्गतय प्राप्यन्ते। तत्र च आमरण जीवाना सतापो भवति। अथवा यथा विशुद्धस्य वस्त्रस्य नैयग्रोधादय कषाया कालुष्यकारिण तथा निर्मलस्यात्मनो मलिनत्वहेतुत्वात्कषाया इव कषाया । न्यग्रोधस्य वटस्य कषायो रस नैयग्रोध स आदौ येषा ते रसा नैयग्रोधादय उच्यन्ते। वटप्लक्षोदुम्बरादीना कषाया वस्त्रे लग्ना तस्य निर्मलता विलोपयन्ति। तथा निर्मलस्यात्मन कषाया रागादीञ्जनयन्तो मालिन्यमुत्पादयन्ति। क्रोधलक्षणम्—स्वपरापराधाभ्याम् आत्मेतरयो अपायोपायानुष्ठानम् अशुभपरिणामजनन वा क्रोध । स्वस्य अपराधेन अपरस्य वा अपराधेन स्वस्य इतरस्य वा अपायस्य विनाशस्य उपायानुष्ठानम् उपायविधानम् अशुभपरिणामोत्पादन वा क्रोध । विद्याविज्ञानैश्वर्यादिपूजाव्यतिक्रमहेतुरहकारो युक्तिदर्शनेऽपि दुराग्रहापरित्यागो वा मान । विद्या मन्त्रादिज्ञानम् । विज्ञान शिल्पादिज्ञानम् । ऐश्वर्यं विपुला धनधान्यादिका सपत् । आदिशब्देन कुलजातितप शरीरसौन्दर्यबलाना ग्रहणम् । विद्याविज्ञानादिभि पूज्याना ज्ञानवयस्तपोभिर्वृद्धाना श्रेष्ठाना पूजाया व्यतिक्रमे हेतु कारण या चित्तसमुन्नति अहकार । अथवा युक्ते.

परिज्ञानेऽपि दुराग्रहस्यापरित्याग अपरिहरणं वा मानः । मनोवाक्कायक्रियाणाम् अयाथातथ्यात् परवञ्चनाभिप्रायेण प्रवृत्तिः माया । मनस वाचः कायस्य चित्तस्य भाषणस्य शरीरस्य च या क्रियाः कार्याणि तासाम् अयाथातथ्यात् यथावस्थस्याभावात् असरलरूपत्वात् परेषां लोकानां वञ्चनाभिप्रायेण प्रतारणेच्छया प्रवृत्तिः प्रवर्तनं माया कपटमित्यर्थः । अथवा ख्यातिः प्रशंसा पूजा लोकादरः लाभः धनधान्यादिप्राप्तिः एतेषाम् अभिषेकेण अभिप्रायेण या परप्रतारणप्रवृत्तिः सा मायेति । चेतनाचेतनेषु वस्तुषु स्त्रीदासीदासगवाश्व-गो-महिष्यादिषु चेतनपरिग्रहेषु अचेतनेषु गृहवस्त्रमौक्तिकादिषु चित्तस्य महान् ममेदं भावः ममत्वपरिणामः लोभः । अथवा तदभिकाङ्क्षापायया महानसन्तोषः क्षोभो वा लोभः । तेषां चेतनाचेतनवस्तूनाम् अभिकाङ्क्षापायमः अभि सम न्तात् वृद्धिः प्रवर्तनं तस्मा आशया अभिप्राय लोभः अथवा महान् असन्तोषः अतीव मनसि तीव्रा गृद्धिः लोभः क्षोभो वा मनसि परिग्रहवृद्धिचिन्तनं लोभः । कषायाणां गुणघातित्वमाह—सम्यक्त्वेति—ये अनन्तानुबन्धिनः अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तं तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिन क्रोधमानमायालोभाः ते कषायका कुत्सिता कषाया कषायका । सम्यक्त्वम् आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं घ्नन्ति । अप्रत्याख्यानाश्च कषायका पञ्चपापैकदेशविरतिं संयमासंयमाख्याम् अल्पामपि कर्तुं न शक्नोति यतः ये कषाया देशप्रत्याख्यानं देशव्रतानि घ्नन्ति ते अप्रत्याख्यानरूपाः क्रोधमानमायालोभा विज्ञेयाः । प्रत्याख्यानस्वभावाः स्युः संयमस्य विनाशकाः । प्रत्याख्यानं कृत्स्नां संयमाख्यां विरतिं यदुदयेन जीवो न कर्तुं शक्नोति ते कषायाः प्रत्याख्यानस्वभावाः ते संयमस्य विनाशकाः स्युः भवेयुः । यथाख्याते चारित्रे संज्वलनाः क्षितिं कुर्युः सं एकीभावे वर्तते संयमेन सहावस्थानात् एकीभूय ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्स्वेषु सत्स्वपि संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः यथाख्याते चारित्रे क्षतिं विघातं कुर्युः विदध्युः ॥९२५–९२६॥ अनन्तानुबन्ध्यादयः क्रोधाश्चतुर्गतीर्जीवानां प्रापयन्तीत्याह—पाषाणेति—पाषाणरेखा भूरेखा रजोरेखा वारिरेखा च तद्वत् ये क्रोधास्ते पाषाणरेखाप्रख्याः, भूरेखाप्रख्याः रजोरेखाप्रख्याः वारिरेखाप्रख्याः शिला-पृथ्वीधूली-जलरेखातुल्यत्वात् क्रोधश्चतुर्विधः । एते चत्वारो भेदाः अनन्तानुबन्ध्यादिषु चतुर्षु प्रत्येकं संभवन्ति । सर्वोत्कृष्टहीनहीनतरहीनतमोदयरूपाभिरनन्तानुबन्ध्यादिशक्तिभिः । एतत्क्रोधचतुष्टयं यथाक्रमं श्वभ्रतिर्यङ्नृनाकिनाम् गत्यै भवति । पाषाणरेखातुल्य अनन्तानुबन्ध्यादिक्रोधः श्वभ्रगत्यै नारकगत्यै भवति । भूरेखाप्रख्य अनन्तानुबन्ध्यादिक्रोधः तिर्यग्गतिप्राप्त्यै भवति । रजोरेखाप्रख्य अनन्तानुबन्ध्यादिक्रोधः नरगतिप्राप्त्यै भवति । जलरेखासदृश अनन्तानुबन्ध्यादिक्रोधः नाकिनां देवानां गत्यै भवेत् ॥९२७॥

[पृष्ठ ११२–११६] चतुर्विधो मानश्चतुर्विधगतिप्रापकोऽस्तीति कथयति—शिलास्तम्भेति—शिलास्तम्भसदृशः चतुर्विधो मानः अधोगतिसंगतिकारणं भवति नरकगमनस्य गमनहेतुर्भण्यते । अस्थिवृत्तिलीनोदरकस्य मानः पशुगतिसंगतिहेतुर्भाष्यते । दार्वस्थि इति काष्ठस्तम्भसम अनन्तानुबन्ध्यादिमानः नरपति संपत्तिकारणं भवति । वेत्रवृत्तिसमानः अनन्तानुबन्ध्यादिः स्वर्गगतिसंगतिकारणं भवति ॥९२८॥ मायाचातुर्विध्यमपि चतुर्गतिप्रापकं भवति इति भाष्यते । वेणुमूलैरिति—वंशमूलैः समा अनन्तानुबन्ध्यादयो माया नरकगत्यै भवन्ति । अजाशृङ्गैः उरभ्रकविषाणैः समा माया पशुगत्यै भवन्ति । गोमूत्रसमा माया नरपतिकारणं भवन्ति । चामरैः समा माया देवगतिप्रापिका भवन्ति ॥९२९॥ लोभचतुष्टयं चतुर्गति सम्पर्कं जायते इति कथयति—क्रिमिनीलीति—क्रिमिरागतुल्य लोभः श्वभ्रगतिसंसारनिदानं भवति । नीलीरागसदृशः लोभः तिर्यग्गतिसंसारकारणं जायते । वपुर्मलो देहमलः तत्तुल्यो लोभः नरगतिसंसारदायकः भवति । हरिद्रारागसदृशो लोभः देवसंसारकारणं भवति ॥९३१॥ किं च क्रोधान्वस्य क्षमाप्रापणार्थं निगदति—यथा अपथ्यसेविनः रोगानुबन्धात्कालादिमन्तो रोगिणः नरस्य औषधक्रिया अमदहेतवे रिक्ता निष्फला भवति तथा क्रोधनस्य कोपमन्दधैर्नरस्य क्षमादिमुक्तसंयमा ध्यानध्यानाध्यानसत्तपांसि विफलानि भवेयुः ॥९३३॥ मानेति—मानः मद एव दावाग्निः वनानलः तेन दग्धेषु । मदोपरतरूपादिषु इन्द्रियाणाम् उपमाता भूतिर्मदः स रूपरं चारत्वं तेन कषायिषु गुणरससोपेताः तेषु गृहेषु नरवृक्षेषु सम्यग्मोक्षिताङ्कुरा सती प्रशस्ता या क्षमा कान्तिः तस्या कथिता योग्या ये अङ्कुराः अभिनवोत्प्रेक्षा ते न प्ररोहन्ति । नीरसवर्षे यथा क्षारभूमौ उप्तं बीजं नश्यति । कदाचित् तलोऽङ्कुरे जातेऽपि तस्य कान्तिमन्ता भवति तथा ये नरा

मदेन मानेन चाष्माता वर्तन्ते तेषां सुच्छाया धर्मस्य प्रभावना न जायते ॥९३२॥ मायया हानिं दर्शयति—यावदिति—यावत् यावत्कालम् आत्माम्बुषु जीवजलेषु मायानिशालेशोऽपि माया कपट मैव निशा रात्रि तस्या लेशोऽपि अल्पांशोऽपि कृतास्पद विहितवसतिर्वर्तते। तावत् तावत्काल चित्ताम्बुजाकर मन कमलसमूह प्रबोधश्रिय विकासलक्ष्मी न धत्ते न धारयति ॥९३३॥ लोभाद् गुणहानिं निगदति—लोभेति—धन्या पुण्यवन्तो गुणा लोभकोकमचिह्नानि लोभ एव वर्तमानकाले अर्थप्राप्तिगृद्धि एव कोकमम् अस्थि तदेव चिह्नम् अभिज्ञान येषा तानि चेत् स्नानानि मनोजलप्रवाहा तानि दूरत त्यजन्ति परिहरन्ति। कामिव चाण्डालसरसीमिव चाण्डालाना मातङ्गाना सरसीमिव तडागमिव ॥९३४॥ क्रोधादिशल्याना त जनविधिमाह—तस्मात् इति—तस्मात् तत । अस्मिन्मनोनिकेतने अस्मिश्चित्तगेहे। इद शल्यचतुष्टयम् । आत्मज्ञ स्वस्वरूपज्ञ मुनिर्गृहस्थश्च। क्षेमाय कल्याणाय। धामकीलकै क्रोधादिचतुष्टयाभावकीलकै. शङ्कुभि उद्धर्तुं यतेत निष्कासयितु यत्न कुर्यात्। क्षमाकीलकेन क्रोधशल्यम्। मार्दवशङ्कुना मानशल्यम्। आर्जवशङ्कुना मायाशल्यम्। शौचकीलकेन लोभशल्य निष्कासयेत् ॥ ९३५॥ दुर्विविषयेभ्यो मनसा सहेन्द्रियाणि व्यावर्तयानीत्युपदिशति—पट्स्विति—पट् इन्द्रियाणि स्पर्शन-रसन-घ्राण-नयन-श्रोत्र-मनांसि तानि स्वभावादेव पट्सु अर्थेषु, विषयेषु स्पर्शेषु अष्टसु । मधुराम्लादिषु पञ्चसु रसेषु। द्वयोर्गन्धयो । पञ्चविधेषु रक्तपीतादिवर्णेषु। सप्तसु स्वरेषु। मनस्तु एतेषु सर्वविषयेषु आसक्ति जनयत्यत सर्वेऽपि स्पर्शादयो विषया मनसो भवन्ति इति । तत्स्वरूपेति—तेषा विषयाणा स्वरूपाणा परिज्ञानात् बोधात् सर्वदा प्रत्यावर्तेत मुनिर्गृहस्थश्च व्यावर्तेत ॥९३६॥ विषयेभ्यो नात्मन कुशलमिति निवेदयति—आपाते इति—तत्काले भक्तिसमये सुन्दरारम्भै सुन्दरो मनोहर आरम्भ आदिर्येषा ते तथाभूतै । विपाके फलकाले विरसक्रियै विरसा असमनोज्ञा दु खदा क्रिया येषा तै तथाभूतै अन्ते दुर्गतिदानशीलै. विषैर्वा गरलैरिव विषयै ग्रस्ते व्याकुले आत्मनि कुत कुशल भद्र स्यात् ॥९३७। व्रतविशुद्ध्यै व्रतिकः किं त्यजेत्, आह—दुश्चिन्तनमिति—व्रती व्रतानि अहिंसादीनि सन्ति अस्येति व्रती। व्रतविशुद्ध्यर्थं व्रताना विशुद्ध्यर्थम् उत्कर्षप्रापणार्थं । मनोवाक्कायसश्रय मन चित्त, वाक् भाषण, काय शरीरम् एषा सश्रय अवलम्बन यस्य तथाभूत । दुश्चिन्तन हिंसाद्यध्यवसाय तत् मन सश्रय नाचरेत् त्यजेदित्यर्थ । दुरालाप वाक्सश्रयम् असत्यनिन्दाकलहादिदोषयुक्तं दुर्भाषण नाचरेत्। दुर्व्यापार च कायसश्रय देहाचार परस्त्रीसभोगादिक नाचरेत् ॥९३८॥ किं नाम व्रतपालनमित्याह—अभङ्गेति—अभङ्ग व्रतस्य अविकल प्रतिपालनम् । अतिचार व्रतस्य देशभङ्गात् क्रियतोंऽशस्य रक्षणाच्च अतिचारो भवति। न अतिचारोऽनतिचार व्रतस्य बाह्याभ्यन्तराभ्याम् अङ्गाभ्या रक्षणम् अनतिचार । यथा अहिंसाव्रतसरक्षणे कोप न करोति, प्राणिवधबन्धन न करोति, दयाहीनश्च न भवति। गृहीतेषु व्रतेषु भङ्गम् अकृत्वा, अतिचारपरिहार च कृत्वा शश्वत् आजन्म तेषु व्रतेषु रक्षण पालन क्रियते तत् व्रतपालन भवेत् ॥९३९॥ यमनियमेषु यत्नकर्तव्यतामुपदिशति—वैराग्येति—यमेषु इति यमेषु अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा । यच्छति नियच्छति इन्द्रियग्राममनेनेति यम । नियमेषु बाह्याभ्यन्तरशौचतप स्वाध्यायप्रणिधानानि नियमा । एतेषु नित्य यत्न कर्तव्य । एतेषा पालनं सदा कर्तव्यमिति भाव । नित्य वैराग्यभावना कर्तव्या। ये विषया दृष्टा ये च श्रुता ये चानुभूतास्तेभ्यो निवृत्ततृष्णस्य व्रतिन मनसो वशीकरण तस्यैव सज्ञा नाम वैराग्यमिति । तस्य नित्य भावना अभ्यास करणीय । नित्य तत्त्वविचिन्तन कर्तव्यम् । किं नाम तत्त्वविचिन्तनम् । प्रत्यक्षेण इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षेण, अनुमानेन, आगमेन च जिनकथितेन ये अनुभूता ज्ञाता जीवादिपदार्थसार्था ते विषया यस्या. एतादृशी या असप्रमोषस्वभावा दृढधारणासस्कारजाता स्मृति स्मरण तत्त्वानुचिन्तन तस्मिन्नित्य यत्न· कर्तव्य । एतै कारणैर्व्रतपालन निर्दोष भवति ॥९४०॥

इत्युपासकाध्ययने प्रकीर्णकविधिर्नाम पट्चत्वारिंशत्तम कल्प ॥४६॥

[पृष्ठ ३३६] इत्येष इति—हे क्षितिपतीश्वर, क्षित्या पृथ्व्या पतय स्वामिन क्षितिपतय भूपा तेषाम् ईश्वर राजराज तत्सबोधन हे क्षितिपतीश्वर, इति पूर्वोक्तप्रकारेण गृहिणा धर्म प्रोक्त (सुदत्तसूरिणा) हे क्षितिपतीश्वर, मूलोत्तरगुणाश्रय मूलगुणा अष्टाविंशति आचेलक्यादय । उत्तरगुणाश्च चतुरशीतिलक्षणास्ते आश्रय

आधारो यस्य स मनीनां धर्मं श्रुतात् आधाराङ्गाध्ययनं ज्ञातम् ॥१४१॥ इत्थमिति—एवं पूर्वोक्तरीत्या । तदर्भकयुगाचरणप्रकारं तौ च तौ अभकौ बालकौ च तदर्भकौ । तयोर्युग्मं युगलं तस्य आचरणस्य वेषमरधाचारस्य क्षुल्लकक्षुल्लिकाचारस्य प्रकारो यत्र । एतादृशं मुनेः सुदत्ताचार्यात् ज्ञितमधमकथावतारं ज्ञितमयोर्भवयो कथाया अवतारो यत्र तं मत्वा सा देवता चण्डमारीनामा । स नृपतिः मारिदत्त । स च पौरलोकः मारिदत्तनृपतिप्रजाजन । भवभावभूते भवा देवभवो मनुष्यभवश्च भावः उत्तमभवतियाम्यभावाः परिणामाः तथा भूतिः प्रभृतिः यस्याः उचितं योग्यं धर्मं यथार्हं ग्रहणं चकार ॥१४२॥ मुनिकुमारयुगलमिति—अभयरुचिनामा क्षुल्लकः अभयमति नाम्नी क्षुल्लिकेति मुनिकुमारयुगलं प्रोक्तम् । तत्क्रमेण व्यतिक्रान्तशासकार्यं यापितकुमारकालं सत् चारित्रम् आचार्यं प्रतिपाद्य कथंभूतं तत् । सुधेति—सुधाशना देवा तेषां वेश्म स्वर्गं स अभिवहति येन तत् चारित्रं सुधाशनवेश्मावतरणम् । पुनः कथंभूतम् यतिविरचीत्यादि यतिर्मुनिः विरतिरार्या तयोर्द्वयो सम्मता एकशाटक धारित्वं च । भाषितं भावाश्रमिति पाकनम् । एतयोरनयोः बहुशो य विकल्पा भेदाः स एव प्रासादः सौधः तदुपरि कलशारोपणमिव चारित्रम् अतिचिरं दीर्घकालम् आचर्य प्रतिपाद्य । ऐशानस्वर्गम् अवापदिति निवेदयति ग्रन्थकारः । तथा—अभयरुचिरिति—स मुनिकुमारोऽभयरुचिः सानुजः अनुजा लघुभगिनी अभयमतिः तया सहितः । तत्र देवीजनरहसि देव्या वर्गं देवीवर्गं तद्धामकम् अरण्यं तस्य रहः विजनप्रदेशस्तत्र । प्रायम् अनशनं कृत्वा । ऐशानकल्पं द्वितीयस्वर्गम् अवाप्य प्राप्त । मारदत्तोऽपि नृपः राजा धृतेति—धृतं धारितं यतिपदं मुनीन्द्रचरणं येन स तथाभूतः सन् तथैव अभयरुचिरिव स्वर्गलक्ष्मीविलासं सुरलोकरमासुखम् अभजत् प्राप ॥१४३॥ रत्नत्रयेनेति—रत्नयोत्रयं सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसुचरणमिति भावः तेन समलंकृतेति समलंकृत्य विभूषिता चित्तवृत्तिः मनोव्यापारो यस्याः । सा चण्डमारीति देवताऽपि अपिनो महत् सुदत्ताचार्यस्य पूजाम् आरचय्य प्रविधाय । द्वीपान्तरेति—अन्ये द्वीपाः द्वीपान्तराणि धातकीपुष्करार्धनन्दीश्वरादयः । भुवनमेव दिवो नाकस्य स्वर्गस्य नगाः पर्वताः पञ्चमेरवश्च तेषां जातं समूहः तस्य यानि जिनेन्द्रसद्मानि जिनालयाः तान् वन्दत इति वन्दारुर्वन्दनशीला तस्या भावः वन्दनशीलता तया अनुमत मान्यः मुक्तः मः कामः अभिलापः तत्र परायणा तत्परा अभूत् अभवत् ॥१४४॥ ध्यानेति—शिवगिरौ उज्जामके यत्र रेवानद्यास्तीरे पश्चिमभागे सिद्धवरकूट पर्वते स मुनिः मुनिनियतिभिः सह वर्तते इति समुनि सुदत्तगुरुः सुदत्ताभिधान सूरिः सम्यक् देवत्वाद्यभिलाषरहितं निर्दोषं ध्यानं विधाय कान्तवनाग्नि सप्तमे कल्पे स्वर्गे सर्वेषि—सर्वेषाम् अमराणाम् ग्रामणीः अग्रणी सुरो देवः अजायत । ये च अन्ये यशोमतिप्रभृतयः यशोमतिनृपादयः तेऽपि प्रकामं समाचरितचरिताः । सुकृतिभिः पुण्यवद्भिरुचितैः सुरैरिव संकीर्त्यमानविभवाः अर्च्यमानविभवा त्रिदशेश्वराः सुरपतयः संजाताः समभवन् ॥१४५॥ कृतयम्भिरीति सोमदेवसूरिरात्मनमनुक्रममाह—अमस्विति—जिनोक्तिसुधारसः जिनवचनामृतरसः यः अमराणामस्पृश्यो भवत आगमस्य स्पर्शे अवश्यं यत्र अस्ति तथाभूत जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । तद्नु तदनन्तरं सतां सज्जनानां कामारामः अभिलाषोद्यानं पुण्यसंपत् स्वर्गादिफलकारी वर्धतात् सतत समृद्धि प्राप्नुयात् । ततश्च तदनन्तरं कविताङ्देवी सरस्वती कविताशक्तिर्वा परस्तु सतत जयतात् । यदाश्रयात् यस्याः कविताविद्या आश्रयमवलम्ब्य मम इयं कृतिमतिः कृतिकरणसमर्था मतिः बुद्धिः कृती कविः तस्य मतिर्बुद्धिः वा अपत्यसमूपमा सूक्तिः सूते निर्मोकालङ्कृतां सुक्तिं सुभाषितं सूतं जनयति ॥१४६॥ अभिधानेति—अभिधा नाम अन्यासां निधाने अजस्रनिधिविभूते । यशोधरमहाराजचरिते कथंभूते यशस्तिलकनामनि यशस्तिलकाख्ये । सदा भवि सत्पुरुषाणां मति बुद्धिः स्यात् सतत प्रवर्तताम् । एतद्यशोधरमहाराजचरितं सन्तः निकषपाषाणैः सन्ततम् कुर्वन्त्विति भावः ॥१४७॥ एतच्चरितस्य पठनं कुर्वन् यशः प्रसरतु कवितारहस्यमुद्रा च कलतामिति कविरावास्ते—एतामिति—अनुपूर्वश आचार्यपरम्पराम् अनुसृत्य एताम् अस्मत्सोम् वत्सराजीति अपरनामधेया इति विमृशन् कृती अस्याः कविकविताविरहस्यमुद्रा कविता एव स्त्री तस्याः रहस्यं भोक्ता तस्य मुद्राम् अनुज्ञा तथा च कवितायाः मृदुतरस्य मुद्रा प्रसयम् अवाप्नुयात् । आसमुद्रं च यश लभेत ॥१४८॥ सम्प्रतमात्मीं निजगुरुपरम्परां कथयति कविः—श्रीमानिति—सदैव सतत श्रीमान् आगमचातुर्यशोभा एव श्रीः सा यस्यास्ति स श्रीमान् संघतिलक देवसंघस्य भूषणम् यशःपूर्वकः देवः अस्ति । यशोदेवाभिध सूरिः देवसंघस्य भूषणं भरतीति भावः । तस्य यशोदेवसूरे महद्गुणनिधिः सन्तश्च ते गुणाः तेषां निधिः निधानभूतः श्रीनेमिदेवाख्यः

श्रीनेमिदेवाभिध शिष्य बभूव । तस्य नेमिदेवस्य शिष्य सोमदेव अभूत् । कथभूतस्य नेमिदेवस्य आश्चर्य-तप स्थिते आश्चर्यकारिणी तप स्थितिस्तपोमर्यादा यस्य । पुन कथभूतस्य महावादिना त्रिनवतेर्जेतु महान्तो वादिन अन्यदर्शनमहापण्डिता । तेषा त्रिनवते जेतु सोमदेव इति य शिष्य इह गङ्गधारायाम् अभूत् । तस्य एष यशस्तिलकचम्पूर्नाम काव्यक्रम अस्ति ॥९४९॥ अस्य यशस्तिलकस्य काव्यस्य पुस्तकलेखन रच्छुकेन लेखकेन कृतमिति स्वय लेखक एव निवेदयति—विद्याविनोदेति—विद्याया विनोद लीला स एव वन तेन वासित सुगन्धीकृत हृत् हृदयमेव शुको यस्य तेन रच्छुकेन तन्नामवता रच्छुकेन यशोधरस्य यशोधरचरितस्य पुस्त पुस्तकम् कथभूतम् विलसल्लिपि विलसन्ती शोभमाना सुन्दरा लिपि अक्षरविन्यासो यस्मिन् तत् । कथभूतस्य यशोधरस्य श्रीसोमदेवरचितस्य, पुन कथभूतस्य । सल्लोकमान्येति—सन्तश्च ते लोकाश्च सज्जना तेषा मान्य । आदृता या गुणरत्नाना मही तस्या धरस्य पर्वतस्य ॥९५०॥ अपि च । रच्छुकलेखकस्य प्रशसापरोऽय श्लोक यस्येति—यस्य रच्छुकस्य अक्षरावलि अक्षरपङ्क्ति अधीरविलोचनाभि चञ्चलनयनाभि रामाभि मदन-शासनलेखनेषु आकाङ्क्ष्यते अभिलष्यते । विवेकिषु जनेषु तस्मै रच्छकाय क नाम सज्जन लेखकशिखामणिना-मधेय लेखकचूडारत्नेति पद न यच्छति अपि तु यच्छत्येव । अय रच्छको लेखक कविसमकालमेवाभवदिति विज्ञायते श्लोकेनानेन ॥९५१॥ शकनृपेति—शकनृप सातवाहनस्तस्य य काल उत्पत्तिसमय, तस्य अतीतानि यानि सवत्सराणा वर्षाणा शतानि, कति । अष्टौ तेषु गतेषु पुन कथभूतेषु एकाशीत्यधिकेषु गतेषु यातेषु (अङ्कत ८८१) इद काव्य निर्मापितमिति । कस्मिन् सवत्सरे मासे तिथाविति कथयति, सिद्धार्थसवत्सरान्तर्गत-चैत्रमासमदनत्रयोदश्याम् । गङ्गधाराया नगर्याम् इद काव्य विनिर्मापितम् । कथभूताया श्रीमद्वागराजप्रवर्धमान-वसुधाराया श्रीमतो राज्यलक्ष्मीवतो वागराजस्य नृपस्य प्रवर्धमाना वसुधारा धनधारा यस्याम् । अय वागराज कस्य पुत्र इति कथ्यते । कृष्णराजस्य सामन्तचूडामणे अरिकेसरिण प्रथमपुत्र आसीत् । कृष्णराजेन पाण्ड्य-सिंहल-चोलचेरमप्रभृतयो महीपतय जिता, मेल्याटघा च तस्य राज्यप्रभाव प्रवर्धमान आसीत् । अय अरि-केसरी चालुक्यवशजन्माभूत् । सप्राप्तपञ्चमहाशब्दाना महासामन्तानाम् अधिपतिरभवत् ।

इति सकलतार्किकलोकचूडामणे श्रीमन्नेमिदेवभगवत शिष्येण सद्योऽनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्ति-शिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये धर्मामृतवर्षमहोत्सवो नाम अष्टम आश्वास ॥८॥

वर्णः पदमिति—वर्ण ककाराद्यक्षरम्, पद शब्द, वाक्यविधि सुप्तिङन्तचयो वाक्य तस्य विधिः विधान रचना, समास समसन समास पदयो पदाना वा एकपदीकरण समास । लिङ्ग स्त्रीपुनपुसक लिङ्गम् । क्रिया क्रियापदम् । कारक कर्मकरणादि । अन्यतन्त्रम् अन्यशास्त्राणा विषया प्रसगेन समागता । छन्द वृत्तानि । रसः श्रृङ्गारादय, अलक्रिया उपमानरूपकादय । अर्थ काव्यकथाविषय. । नायकचरित्रम् । लोकस्थिति लोकानाम् आचार इति अत्र चतुर्दश विषया स्यु ॥९५२॥ अब्दे इति—अस्य श्लोकस्य विमर्शे कृते सति कविना य काव्यरचनाकाल शकनृपकालातीतादिवाक्ये दर्शित तेन सह विरोध प्रतिभाति अत अय श्लोक कवेर्नास्ति इति मे मति । तथा चापरोऽत्र विमर्श काव्ये पूर्णता नीते पुन वर्ण पद वाक्यमिति श्लोकलेखनम् अब्दे इति श्लोकलेखन च सयुक्तिक न प्रतिभाति । अत अन्येन केनापि एतच्छ्लोकयुग्म रचित स्यादिति मनसि विकल्प उत्पद्यते । तथा च सटिप्पणपुस्तकेषु अब्दे इतिश्लोकोऽपि न वर्तते । अतोऽस्य श्लोकस्याभिप्रायो न व्यक्तीकृत इति ज्ञेयम् । श्रुतसागराचार्यैरकृतटीकस्य अस्य यशस्तिलकाख्यकाव्याशस्य यथामति टीका विहिता । अत्र टीकाया व्याकरणाद्यनभिज्ञतया मत्तो बहवो दोषा जाता इति मन्ये तान् सशोध्य पाठकास्त काव्याश पठन्तु इति निवेद्यते ॥

जिनदासेन पार्श्वनाथतनूजेन फडकुलेस्युपाह्वेन ।

उपासकाध्ययनस्थश्लोकानुक्रमः

२. उद्धृतपद्यानामकाराद्यनुक्रमणी

३. विशिष्ट शब्दसूची

---

२. उद्धृतपद्यानामकाराद्यनुक्रमणी

३. विशिष्ट शब्दसूची

अ

प

ब

४ व्यक्तिनामसूची

५, भौगोलिकनामसूची परिचयसहित

अंग (पृष्ठ ५१) – वर्तमान बिहारप्रदेशके भागलपुर मुंगेर आदि जिले।

अमरावती पृ ७२ ८६ –

अयोध्या (पृ ५६ १७८ १७९ १८८) – उपासकाध्ययनके आठवें कल्पमें अयोध्याको कोशल देशके मध्यमें बतलाया है (कोशलदेशमध्यमायामयोध्यायां पुरि)। श्रुतसागरसूरिकी टीकामें कोशलको विनीतापुर तथा अयोध्याको विनीता बतलाया है। वर्तमानमें उत्तरप्रदेशके फैजाबाद जिलेके निकट अयोध्या नामकी नगरी है।

अवन्ती मण्डल (पृ १४२ १५५) – इस देशकी राजधानी उज्जयिनी नगरी थी।

अहिच्छत्र (पृ ८४) – सोमदेवने इसे पञ्चालदेशमें बतलाया है तथा इसे पार्श्वनाथ भगवान्‌के मतसे प्रकाशित किया है। अहिच्छत्रमें ही भगवान् पार्श्वनाथ पर कमठने घोर उपसर्ग किया था और उन्हें केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। वर्तमानमें उत्तरप्रदेशके बरेली जिलेमें रामनगर नामक गाँव ही पुराना अहिच्छत्र नगर था।

इन्द्रकच्छदेश (पृ ५९) उपासकाध्ययनके तीसरे कल्पके अनुसार रौरुकपुर नगर जिसे मायापुरी भी कहते थे इन्द्रकच्छदेशमें था। रौरुकपुर बौद्धग्रन्थोंका रोरुक जान पड़ता है जो सौवीर देशकी राजधानी था और कच्छकी खाड़ीमें व्यापारका प्रमुख केन्द्र था।

उज्जयिनी (पृ ९५) – वर्तमान मध्यप्रदेशमें भोपाल और इन्दौरके मध्यमें स्थित नगरी।

उत्तर मथुरा (पृ ९२ ९३) – दक्षिण मथुरा या मदुरासे भेद दिखलानेके लिए ही उत्तरप्रदेशमें स्थित मथुराको उत्तरमथुरा कहा है। उपासकाध्ययनके १७ १८वें कल्पोंमें सोमदेवने मथुराके प्रसिद्ध जैन स्तूपकी स्थापनाकी कथा दी है और लिखा है कि आज भी इस स्तूपको देव निर्मित कहा जाता है। सन् १८८९-९१ में मथुराके बाहर गोवर्धन रोडके पार्श्वमें स्थित कंकाली टीलेसे उक्त प्राचीन जैन स्तूपके अवशेष प्राप्त हुए थे। चौदहवीं शताब्दीके जिनप्रभ सूरिरचित तीर्थकल्पमें भी उक्त जैन स्तूपका वर्णन है। किन्तु सोमदेवने उसकी स्थापनाकी जो कथा दी है वह तीर्थकल्पसे बिलकुल भिन्न है। जिनप्रभ सूरिसे सोमदेव लगभग चार शताब्दी पूर्व हुए हैं और इसलिए उन्होंने सम्भवतया स्तूपके स्थापनाकी प्राचीनतम कथा दी है। ईसाकी दूसरी शताब्दीमें भी इस स्तूपको देवनिर्मित कहा जाता था क्योंकि कंकाली टीलेसे प्राप्त तीर्थंकर अरनाथकी एक पद्मासन मूर्तिके नीचे अंकित शिलालेखमें भी स्तूपे देव निर्मिते अंकित है। इस शिलालेखपर अंकित ७९ संवत् कुषाण राजा वासुदेवके कालका सूचक है अतः ७९ + ७८ = १५७ ई में भी यह स्तूप इतना प्राचीन माना जाता था कि उसे देवनिर्मित कहा जाता था। सोमदेवके अनुसार इसकी स्थापना वज्रकुमारने की थी। सोमदेवके कथनसे ऐसा प्रतीत होता है कि सोमदेवके समयमें यह स्तूप वर्तमान था। कंकाली टीलेसे प्राप्त पार्श्वनाथकी एक प्रतिमापर संवत् १०३६ (९८१ ई) अंकित है। अतः उस प्रतिमाकी स्थापना सोमदेवके समयमें हुई थी।

एकचक्रपुर पृ० १३०

एकानसीपुर (पृ० १४२) – सोमदेवने इसे अवन्तिमण्डलमें बतलाया है। टीका–टिप्पणकारने इसका अर्थ उज्जयिनी नगरी किया है।

करहाटदेश (पृ० ४४) – महाराष्ट्र प्रदेशके सतारा जिलेमें कोइना और कृष्णा नदीके सगमपर स्थित है। सोमदेवने करहाटको एक सौभाग्यशाली देश बतलाया है और उसमें स्थित एक विशाल गोशालाका सुन्दर वर्णन किया है।

काकन्दीपुरी (पृ० १४०,२०८,२०९) – सोमदेवने काकन्दीको एक बहुत बडा व्यापारी केन्द्र बतलाया है और उसे नौवें तीर्थंकर पुष्पदन्तके जन्मकल्याणकसे पवित्र बतलाया है। वर्तमानमें गोरखपुर (उ० प्र०) से ३९ मीलपर एन० ई० रेल्वेके नोनखार स्टेशनसे तीन मील जो खुखुन्दू गाव है उसे पुष्पदन्तका जन्म-स्थान माना जाता है।

काम्पिल्य (पृ० २०५) – इसे पचालदेशमे बतलाया है। गगा और यमुनाके बीचके प्रदेशको पचालदेश कहते थे। वर्तमानमें उत्तरप्रदेशके फर्रुखाबाद जिलेमे काम्पिल्य नामक गाँव है।

कालीदासकानन (पृ० ८४) – सोमदेवने अहिच्छत्रमें जलवाहिनी नदीके तटके निकट कालीदास नामक वनका उल्लेख किया है।

काशीदेश (पृ० १९४) – वाराणसी नगरीके आसपासका प्रदेश

किन्नरगीतनगर पृ० ५५

कुरुजागल (पृ० ३९,९८,१७७) – यह कुरु देशका एक भाग था। उसीमें हस्तिनापुर नामका नगर था।

कुशाग्रपुर (पृ० ४६,५०) – चीनी यात्री युवानच्वांगके अनुसार कुशाग्रपुर मगधका केन्द्र तथा पुरानी राजधानी थी। वहाँ एक प्रकारकी सुगन्धित घास होती थी उसीके कारण उसका नाम कुशाग्रपुर पडा था। सोमदेवने भी कुशाग्रपुरको मगध देशमें बतलाया है। हेमचन्द्राचार्यके त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरितमें सुरक्षित परम्पराके अनुसार प्रसेनजित कुशाग्रपुरका राजा था। कुशाग्रपुरमें लगातार आग लगनेके कारण प्रसेनजितने यह आज्ञा दी थी कि जिसके घरमें आग पायी जायेगी वह नगरसे निकाल दिया जायेगा। एक दिन राजमहलमें आग पायी जानेसे प्रसेनजितने कुशाग्रपुरको त्याग दिया।

कैलास (पर्वत) पृ० ५२।

कोसलदेश (पृ० ५६) इसकी राजधानी अयोध्या थी।

कौशाम्बीदेश (पृ० १५८,१६४) – अलाहाबादसे लगभग तीस मील यमुनाके तटपर कोसम नामक गाँव है उसे ही प्राचीन कौशाम्बी माना जाता है। कौशाम्बी वत्सदेशकी राजधानी थी। श्रुतसागर सूरिने अपनी टीकामें लिखा है कि वत्सदेशमे कौशाम्बी नगरी गोपाचल (ग्वालियर) से ४४ गव्यूतिपर है। यदि गव्यूतिसे दो कोस या चार मील लिया जाता है तो कौशाम्बी ग्वालियरसे १७६ मीलके लगभग होती है। दीघ निकायके महासुदस्सन सुत्तंतमें कौशाम्बीको महानगरोंमें गिनाया है।

गिरिकूटपत्तन – पृ० १८१

गौणमण्डल (पृ० ७२) – पूर्वदेशमें बतलाया है। यह बगालमें था।

चम्पापुरी (पृ० ५३) – अग देशकी प्राचीन राजधानी, बिहार प्रदेशमें भागलपुरके पास है।

जनपद (पृ० ३९) – जनपद देशकी राजधानी भूमितिलकपुर थी। सम्भवतया जनपद देश कुरुदेशके निकट था, क्योंकि कथामें बतलाया है कि दो मित्र भूमितिलकपुरसे हस्तिनागपुर आते हैं।

जम्बूद्वीप – पृ० ३९।

९, भौगोलिकनामसूची परिचयसहिता

अंग (पृष्ठ ५१) – वर्तमान बिहारप्रदेशके भागलपुर, मुँगेर आदि जिले।

अमरावती पृ ७२ ८१ –

अयोध्या (पृ ५१ १७८ १७९ १८८) – उपासकाध्ययनके आठवें कल्पमें अयोध्याको कोशल देशके मध्यम बतलाया है (कोशलदेशमध्यासामयोध्यायां पुरि)। श्रुतसागरसूरिकी टीकामें कोशलको विनीतापुर तथा अयोध्याको विनीता बतलाया है। वर्तमानमें उत्तरप्रदेशके फैजाबाद जिलेके निकट अयोध्या नामकी नगरी है।

अवन्ती मण्डल (पृ १४२ १५५) – इस देशकी राजधानी उज्जयिनी नगरी थी।

अहिच्छत्र (पृ ८४) – सोमदेवने इसे पंचालदेशमें बतलाया है तथा उसे पार्श्वनाथ भगवान्के यशसे प्रकाशित लिखा है। अहिच्छत्रमें ही भगवान् पार्श्वनाथ पर कमठने घोर उपसर्ग किया था और उन्हें केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। वर्तमानमें उत्तरप्रदेशके बरेली जिलेमें रामनगर नामक गाँव ही पुराना अहिच्छत्र नगर था।

इन्द्रकच्छदेश (पृ ५१) उपासकाध्ययनके नौवें कल्पके अनुसार रौरकपुर नगर जिसे मायापुरी भी कहते थे इन्द्रकच्छदेशमें था। रौरकपुर बौद्धग्रन्थोंका रोरुक नाम पड़ता है जो सौवीर देशकी राजधानी था और समुद्रकी खाड़ीमें व्यापारका प्रमुख केन्द्र था।

उज्जयिनी (पृ ९५) – वर्तमान मध्यप्रदेशमें भोपाल और इन्दौरके मध्यमें स्थित नगरी।

उत्तर मथुरा (पृ ९२ ९३) – दक्षिण मथुरा या मदुरासे भेद दिखलानेके लिए ही उत्तरप्रदेशमें स्थित मथुराको उत्तरमथुरा कहा है। उपासकाध्ययनके १७ १८वें कल्पोंमें सोमदेवने मथुराके प्रसिद्ध जैन स्तूपकी स्थापनाकी कथा दी है और लिखा है कि आज भी इस स्तूपको देव निर्मित कहा जाता है। सन् १८८९ में मथुराके बाहर गोवर्धन रोडके पासमें स्थित कंकाली टीलेसे एक प्राचीन जैन स्तूपके अवशेष प्राप्त हुए थे। चौदहवीं शताब्दीके जिनप्रभ सूरिरचित तीर्थकल्पमें भी उक्त जैन स्तूपका वर्णन है। किन्तु सोमदेवने उसकी स्थापनाकी जो कथा दी है वह तीर्थकल्पसे बिलकुल भिन्न है। जिनप्रभ सूरिसे सोमदेव लगभग चार शताब्दी पूर्व हुए हैं और इसलिए उन्होंने सम्भवतया स्तूपके स्थापनाकी प्राचीनतम कथा दी है। ईसाकी दूसरी शताब्दीमें भी उस स्तूपको देवनिर्मित कहा जाता था क्योंकि कंकाली टीलेसे प्राप्त तीर्थंकर अरनाथकी एक पद्मासन मूर्तिके नीचे अंकित शिलालेखमें भी स्तूपे देव निर्मित अंकित है। इस शिलालेखपर अंकित ७ संवत् कुषाण वंशी राजा वासुदेवके शासनका सूचक है अतः ७९ + ७८ = १५७ ई में भी यह स्तूप इतना प्राचीन माना जाता था कि उसे देवनिर्मित कहा जाता था। सोमदेवके अनुसार इसकी स्थापना वज्रकुमारने की थी। सोमदेवके उल्लेखसे ऐसा प्रतीत होता है कि सोमदेवके समयमें यह स्तूप वर्तमान था। कंकाली टीलेसे प्राप्त पार्श्वनाथकी एक प्रतिमापर संवत् ११९ (८ ई) अंकित है। अतः उस प्रतिमाकी स्थापना सोमदेवके समयमें हुई थी।

तरुणाहिनी नदी (पृ ८४) – यह अहिच्छत्रके निकट बहती थी। इसीके तटपर कालीदास नामक महाश्मशान था।

तल्लाभा (पृ १८१) – अङ्गमण्डलमें स्वस्तिपुरी नामक नगरी थी।

ताम्रलिप्ति (पृ ७२) – इसे पूर्वदेशमें गौडमण्डलमें बतलाया है। बंगालके मिदनापुर जिलेमें आधुनिक तमलुक नामक स्थान प्राचीन ताम्रलिप्ति था।

दक्षिणमथुरा (पृ १२७) – दक्षिणकी मथुरा नगरीको दक्षिण मथुरा कहते थे। मदुरा ही दक्षिण मथुरा प्रतीत होता है।

दण्डकारण्य (पृ ४४) – सोमदेवने दण्डकारण्यको करहाट देशके पश्चिमी भागमें बतलाया है। और करहाट देश महाराष्ट्र प्रदेशके सतारा जिलेमें कृष्णा और कोइना नदियोंके संगमपर था।

नन्दीश्वरद्वीप पृ ४१।

नाभिगिरि (पृ ८५) – मगधदेशके सोपारपुर नगरके पास यह पर्वत बतलाया है।

पञ्चशैलपुर (पृ ७९८) मगधदेशकी राजगृही नगरीका अपरनाम था। पाँच पर्वतोंसे घिरा होनेके कारण उसे पञ्चशैलपुर कहते थे। आज भी उसे पंचपहाड़ी कहते हैं।

पञ्चालदेश – गंगा और यमुनाके बीचका प्रदेश पंचाल था। मोटे तौरपर उत्तरप्रदेशके बरेली बदायूँ फरुखाबाद और इनसे सम्बद्ध जिले पंचाल देश कहलाते थे।

पद्मावतीपुर (पृ ११४) – टिप्पणके अनुसार उज्जयिनीका अपर नाम।

पद्मिनीखेट (पृ ११८) – एक नगरका नाम था।

पलाशीपुर (पृ १४ ७२) – सोमदेवने इसे सुराष्ट्रदेशमें बतलाया है।

पाण्ड्यमण्डल (पृ १२) – दक्षिणके तमिल प्रदेशका नाम। इसकी राजधानी मदुरा थी।

पोदनपुर (पृ १७७) – यह अश्मक देशकी राजधानी थी। पुराने हैदराबाद राज्यके निजामाबाद जिलेमें गोदावरीकी सहायक नदीपर स्थित आधुनिक बोधन ही प्राचीन पोदनपुर था। सोमदेवने पोदनपुरको रम्यक देशमें बतलाया है।

प्रयागदेश (पृ १६७) – वर्तमान इलाहाबादके पासका प्रदेश सम्भवतया प्रयाग देश कहा जाता था। जैसे वाराणसीके पासके प्रदेशको काशी देश कहते थे।

फेनमालिनी (पृ ८८) – एक नदी।

बकुलाढ्यपुर पृ ८९।

भावपुर पृ ८०।

भीमवन (पृ ५७) – पद्मपुरके निकट भीमवन नामक महावन था।

भूमितिलकपुर (पृ १९) – सोमदेवने इसे जनपददेशमें बतलाया है।

मगधदेश (पृ ४१ ४७ ७१ ८५ १७८) – इसकी राजधानी राजगृही थी वर्तमानमें बिहार प्रदेशमें है।

मथुरा (पृ ८९ ९१) – देखो उत्तर मथुरा।

मलयाचल पृ ५५

मिथिलापुरी (पृ ४७ १) – सोमदेवने मिथिलापुरीको जनपददेशमें बतलाया है। वर्तमानमें बिहार प्रदेशमें दरभंगाके पास मिथिला नामक नगरी है।

रौरुकपुर (पृ० ५९) इसका दूसरा नाम मायापुरी था। सोमदेवने इसे इन्द्रकच्छ देशमें बतलाया है।

वलभीपुरी (पृ० १३१) – यह सौराष्ट्र देशके मैतृकोंकी राजधानी थी। भावनगरसे उत्तर पश्चिममें लगभग बीस मीलपर 'वल' नामसे उसके अवशेष मिलते हैं।

वाराणसी (पृ० २३,१९४) – काशीदेशमें स्थित वाराणसी नगरी, जो आज भी प्रसिद्ध नगर है।

विजयपुर (पृ० ५०) – यह मध्यप्रदेशमे था।

विशाला (पृ० ९५,१५७) – उज्जयिनीका एक नाम।

शखपुर (पृ० ५६) – सम्भवतया यह अयोध्यासे अधिक दूर नही था। क्योकि कथामें लिखा है कि अनन्तमतीको शखपुरके निकट स्थित पर्वतके पास छोडा गया था और वहाँसे उसे एक वणिक् अयोध्या ले आया था।

सिप्रा (पृ० १५५) – सिप्रा नदी अवन्ति देशमे उज्जयिनीके निकट बहती है।

सिरीषग्राम (पृ० १५५) – अवन्तिदेशमें सिप्रा नदीके निकटका एक गाँव।

सिंहपुर (पृ० १६७,१६९) – यह प्रयागदेशमें था। चीनी यात्री युवानच्वागने भी सिंहपुरका उल्लेख किया है।

सुराष्ट्रदेश (पृ० ७२) – वर्तमान सौराष्ट्रप्रदेश जिसे काठियावाड भी कहते हैं।

सुवर्णद्वीप (पृ० १६९) – वर्तमानमें इसे सुमात्रा कहते हैं।

सोपारपुर (पृ० ८५) – सोमदेवने इसे मगधदेशमें बतलाया है।

सौमनसवन – पृ० ५१।

स्वस्तिमतीपुरी (पृ० १८१) – सोमदेवने इसे डहालामें बतलाया है। चेदिराज्यको डहाला कहते थे।

हस्तिनागपुर – पृ० ३९,९८,९९,१००,१०१,१७७।

हिमवत् (पर्वत) – पृ० ५२।

हेमपुर – पृ० ८६।

जलवाहिनी नदी (पृ ८४) — यह अहिच्छत्रके निकट बहती थी। इसीके तटपर कामोद्यान नामक महावन था।

डहाल (पृ १८१) — डहालमण्डलमें स्वस्तिपुरी नामक नगरी थी।

ताम्रलिप्ति (पृ ७२) — इसे पूर्वदेशमें गौडमण्डलमें बतलाया है। बंगालके मिदनापुर जिलेमें आधुनिक तमलुक नामक स्थान प्राचीन ताम्रलिप्ति था।

दक्षिणमथुरा (पृ १२७) — दक्षिणकी मदुरा नगरीको दक्षिण मथुरा कहते थे। मथुराका ही अपभ्रंश मदुरा प्रतीत होता है।

दण्डकारण्य (पृ ४४) — सोमदेवने दण्डकारण्यको करहाट देशके पश्चिमी भागमें बतलाया है। और करहाट देश महाराष्ट्र प्रदेशके सतारा जिलेमें कृष्णा और कोइना नदियोंके संगमपर था।

नन्दीश्वरद्वीप पृ ४१।

नाभिगिरि (पृ ८५) — मगधदेशके सोपारपुर नगरके पास यह पर्वत बतलाया है।

पञ्चशैलपुर (पृ ७१८) मगधदेशकी राजगृही नगरीका अपरनाम था। पाँच पर्वतोंसे घिरा होनेके कारण उसे पञ्चशैलपुर कहते थे। आज भी उसे पंचपहाड़ी कहते हैं।

पञ्चालदेश — गंगा और यमुनाके बीचका प्रदेश पंचाल था। मोटे तौरपर उत्तरप्रदेशके बरेली बदायूँ फर्रुखाबाद और इनसे सम्बद्ध जिले पंचाल देश कहलाते थे।

पद्मावतीपुर (पृ ११४) — टिप्पणके अनुसार उज्जयिनीका अपर नाम।

पद्मिनीखेट (पृ १६८) — एक नगरका नाम था।

पाटलीपुत्र (पृ १४७२) — सोमदेवने इसे सुराष्ट्रदेशमें बतलाया है।

पाण्ड्यमण्डल (पृ १२) — दक्षिणके तमिल प्रदेशका नाम। इसकी राजधानी मदुरा थी।

पोदनपुर (प १७७) — यह अस्मक देशकी राजधानी थी। पुराने हैदराबाद राज्यके निजामाबाद जिलेमें गोदावरीकी सहायक नदीपर स्थित आधुनिक बोधन ही प्राचीन पोदनपुर था। सोमदेवने पोदनपुरको रम्यक देशमें बतलाया है।

प्रयागदेश (पृ १६७) — वर्तमान इलाहाबादके पासका प्रदेश सम्भवतया प्रयाग देश कहा जाता था। जैसे वाराणसीके पासके प्रदेशको काशी देश कहते थे।

फलमालिनी (पृ ८८) — एक नदी।

बलवाहनपुर पृ ८९।

मायपुर पृ ८७।

भीमवन (पृ ५७) — पर्वतपुरके निकट भीमवन नामक महावन था।

भूमितिलकपुर (पृ १०) — सोमदेवने इसे जनपददेशमें बतलाया है।

मगधदेश (पृ ४१ ४७ ७१ ८५,१०८) — इसकी राजधानी राजगृही थी जो वर्तमानमें बिहार प्रदेशमें है।

मथुरा (पृ ८९ ९१) — देखो उत्तर मथुरा।

मलयाचल पृ ५५

मिथिलापुरी (पृ ४७१) — सोमदेवने मिथिलापुरीको मगधदेशमें बतलाया है। वर्तमानमें बिहार प्रदेशमें दरभंगाके पास मिथिला नामक नगरी है।

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA

MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

General Editors ·

Dr H L JAIN, Jabalpur : Dr A N UPADHYE, Kolhapur.

The Bhāratīya Jñānapītha, is an Academy of Letters for the advancement of Indological Learning In pursuance of one of its objects to bring out the forgotten, rare unpublished works of knowledge, the following works are critically or authentically edited by learned scholars who have, in most of the cases, equipped them with learned Introductions etc and published by the Jñānapīṭha

Mahābandha or the **Mahādhavalā :**

This is the 6th Khanda of the great Siddhānta work *Ṣatkhandāgama* of Bhūtabali · The subject matter of this work is of a highly technical nature which could be interesting only to those adepts in Jaina Philosophy who desire to probe into the minutest details of the Karma Siddhānta The entire work is published in 7 volumes. The Prākrit Text which is based on a single Ms is edited along with the Hindī Translation Vol I is edited by Pt S C DIWAKAR and Vols 2 to 7 by Pt PHOOLACHANDRA. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha Nos 1, 4 to 9 Super Royal Vol I pp 20+80+350, Vol II pp 4+40+440, Vol III · pp 10+496, Vol IV: pp 16+428, Vol V · pp 4+460, Vol VI pp 22+370; Vol VII. pp 8+320 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1947 to 1958 Price Rs 11/- for each vol

Karalakkhana .

This is a small Prākrit Grantha dealing with palmistry just in 61 gāthās The Text is edited along with a Sanskrit Chāyā and Hindī Translation by Prof P K MODI. Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No 2 Third edition, Crown pp 48 Bhāratīya Jnānapīṭha Kashi, 1964 Price 75 nP.

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA

MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

General Editors ·

Dr H L. JAIN, Jabalpur · Dr A N UPADHYE, Kolhapur.

The Bhāratīya Jñānapītha, is an Academy of Letters for the advanceme of Indological Learning In pursuance of one of its objects to bring out t forgotten, rare unpublished works of knowledge, the following works a critically or authentically edited by learned scholars who have, in most the cases, equipped them with learned Introductions etc and published the Jñānapīṭha

Mahābandha or the **Mahādhavalā :**

This is the 6th Khanda of the great Siddhānta work *Ṣatkhandāgan* of Bhūtabali · The subject matter of this work is of a highly technic nature which could be interesting only to those adepts in Jaina Philo sophy who desire to probe into the minutest details of the Karm Siddhānta The entire work is published in 7 volumes The Prākri Text which is based on a single Ms is edited along with the Hind Translation Vol I is edited by Pt S C. DIWAKAR and Vols 2 to by Pt PHOOLACHANDRA Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā Prākrit Grantha Nos 1, 4 to 9 Super Royal Vol I pp 20+80+350, Vol II pp 4+40+440, Vol III pp 10+496, Vol IV pp 16+428, Vol V pp 4+460, Vol VI, pp 22+370, Vol VII pp 8+320 Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1947 to 1958. Price Rs. 11/- for each vol

Karalakkhana :

This is a small Prākrit Grantha dealing with palmistry just in 61 gāthās The Text is edited along with a Sanskrit Chāyā and Hindī Translation by Prof P K MODI Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No 2 Third edition, C... Bhāratīya Jñānapīṭha ...

Madanaparājaya :

An allegorical Sanskrit Campū by Nāgadeva (of the Saṁvat 14th century or so) depicting the subjugation of Cupid Edited critically by Pt. RAJKUMAR JAIN with a Hindī Introduction Translation etc., Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā Sanskrit Grantha No. 1 Second edition. Super Royal pp. 14 + 58 + 144 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964 Price Rs. 8/

Kannaḍa Prāntīya Tāḍapatrīya Grantha-sūcī

A descriptive catalogue of Palmleaf Mss. in the Jaina Bhaṇḍāras of Moodbidri Karkal Aliyoor etc. Edited with a Hindī Introduction etc. by Pt. K. BHUJABALI SHASTRI Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā Sanskrit Grantha No. 2 Super Royal pp. 32 + 324 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1948 Price Rs. 13/-

Tattvārtha vṛtti :

This is a critical edition of the exhaustive Sanskrit commentary of Śrutasāgara (c 16th century Vikrama Saṁvat) on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti which is a systematic exposition in Sūtras of the fundamentals of Jainism. The Sanskrit commentary is based on earlier commentaries and is quite elaborate and thorough. Edited by Pts. MAHENDRAKUMAR and UDAYACHANDRA JAIN Prof MAHENDRAKUMAR has added a learned Hindī Introduction on the exposition of the important topics of Jainism The edition contains a Hindī Translation and important Appendices of referential value Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 4 Super Royal pp. 108 + 548 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi 1949 Price Rs. 16/

Ratna-Mañjūṣā with Bhāṣya :

An anonymous treatise on Sanskrit prosody Edited with a critical Introduction and Notes by Prof H. D VELANKAR. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā Sanskrit Grantha No 5 Super Royal pp 8 + 4 + 72. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi 1949 Price Rs. 2/

Nyāyaviniścaya-vivaraṇa :

The Nyāyaviniścaya of Akalaṅka (about 8th century A. D.) with an elaborate Sanskrit commentary of Vādirāja (c 11th century A. D) is a repository of traditional knowledge of Indian Nyāya in general and of Jaina Nyāya in particular Edited with Appendices etc. by Pt MAHENDRAKUMAR JAIN Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā Sanskrit Grantha Nos. 3 and 12. Super Royal Vol I : pp. 68 + 546 ; Vol II : pp. 66 + 468 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi 1949 and 1951 Price Rs. 15/- each.

Kevalajñāna-praśna-cūdāmani

A treatise on astrology etc Edited with Hindī Translation, Introduction, Appendices, Comparative Notes etc by Pt NEMICHANDRA JAIN. Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No 7 Super Royal pp 16+128 Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1950 Price Rs 4/-

Nāmamālā :

This is an authentic edition of the Nāmamālā, a concise Sanskrit Lexicon of Dhanamjaya (c 8th century A D) with an unpublished Sanskrit commentary of Amarakīrti (c 15th century A.D) The Editor has added almost a critical Sanskrit commentary in the form of his learned and intelligent foot-notes Edited by Pt SHAMBHUNATH TRIPATHI, with a Foreword by Dr P L VAIDYA and a Hindī Prastāvanā by Pt MAHENDRAKUMAR The Appendix gives Anekārtha nighaṇṭu and Ekākṣarī-kośa. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No 6 Super Royal pp. 16+140 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950 Price Rs 3.50 nP

Samayasāra :

An authoritative work of Kundakunda on Jaina spiritualism Prākrit Text, Sanskrit Chāyā Edited with an Introduction, Translation and Commentary in English by Prof A CHAKRAVARTI The Introduction is a masterly dissertation and brings out the essential features of the Indian and Western thought on the all-important topic of the Self. Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, English Grantha No 1 Super Royal pp 10+162+244 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950 Price Rs 8/-

Jātakatthakathā .

This is the first Devanāgarī edition of the Pāli Jātaka Tales which are a store-house of information on the cultural and social aspects of ancient India Edited by Bhikshu DHARMARAKSHITA Jñānapīṭha Mūrtidevī Pāli Granthamālā No 1, Vol 1 Super Royal pp 16+384 Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1951 Price Rs 9/-

Kural or Thirukkural :

An ancient Tamil Poem of Thevar It preaches the principles of Truth and Non-violence The Tamil Text and the commentary of Kavirājapandita Edited by Prof A CHAKRAVARTI with a learned Introduction in English Bhāratīya Jñānapītha Tamil Series No 1 Demy pp 8+36+440 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951. Price Rs 5/-

Mahāpurāṇa :

It is an important Sanskrit work of Jinasena-Guṇabhadra, full of encyclopaedic information about the 63 great personalities of Jainism and about Jain lore in general and composed in a literary style. Jinasena (837 A. D) is an outstanding scholar poet and teacher; and he occupies a unique place in Sanskrit Literature. This work was completed by his pupil Guṇabhadra Critically edited with Hindī Translation Introduction, Verse Index etc. by Pt. PANNALAL JAIN Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā Sanskrit Grantha Nos. 8 9 and 14 Super Royal Vol. I: Second edition pp. 8+68+746 Varanasi 1963 Vol. II pp. 8+556; Vol III pp. 8+16+640 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi 1951 to 1954 Price Rs. 10/ each.

Vasunandi Śrāvakācāra :

A Prākrit Text of Vasunandi (c. Samvat first half of 12th century) in 546 gāthās dealing with the duties of a householder critically edited along with a Hindī Translation by Pt HIRALAL JAIN The Introduction deals with a number of important topics about the author and the pattern and the sources of the contents of this Śrāvakācāra. There is a table of contents. There are some Appendices giving important explanations, extracts about Pratiṣṭhāvidhāna, Sallekhanā and Vratas. There are 2 Indices giving the Prākrit roots and words with their Sanskrit equivalents and an Index of the gāthās as well. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 3 Super Royal pp. 230. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi 1952. Price Rs. 5/

Tattvārthavārttikam or Rājavārttikam :

This is an important commentary composed by the great logician Akalaṅka on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti. The text of the commentary is critically edited giving variant readings from different Mss. by Prof MAHENDRAKUMAR JAIN Jñānapīṭha Mūrtidevī Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 10 and 20 Super Royal Vol. I: pp. 16+430; Vol II: pp. 18+436 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1953 and 1957 Price Rs. 12/ for each Vol.

Jinasahasranāma :

It has the Svopajña commentary of Paṇḍita Āśādhara (V S. 13th century). In this edition brought out by Pt. HIRALAL a number of texts of the type of Jinasahasranāma composed by Āśādhara Jinasena, Sakalakīrti and Hemacandra are given Āśādhara's text is accompanied by Hindī Translation. Śrutasāgara's commentary of the same is also given here There is a Hindī Introduction giving information about Āśādhara etc There are some useful Indices. Jñānapīṭh Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No 11 Super Royal pp. 288. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1954 Price Rs. 4/-.

Purānasāra-Saṁgraha :

This is a Purāna in Sanskrit by Dāmanandi giving in a nutshell the lives of Tīrthaṁkaras and other great persons The Sanskrit text is edited with a Hindī Translation and a short Introduction by G C JAIN Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos 15 and 16 Crown Part I pp 20+198 , Part II pp 16+206 Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1954, 1955 Price Rs 2/- each

Sarvārtha-Siddhi :

The Sarvārtha-Siddhi of Pūjyapāda is a lucid commentary on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti called here by the name Grdhrapiccha It is edited here by Pt PHOOLACHANDRA with a Hindī Translation, Introduction, a table of contents and three Appendices giving the Sūtras, quotations in the commentary and a list of technical terms Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 13 Double Crown pp 116 + 506 Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1955 Price Rs 12/-

Jainendra Mahāvrtti :

This is an exhaustive commentary of Abhayanandi on the *Jainendra Vyākarana,* a Sanskrit Grammar of Devanandi alias Pūjyapāda of circa 5th-6th century A D Edited by Pts S N TRIPATHI and M CHATURVEDI There are a Bhūmikā by Dr V S AGRAWALA, *Devanandikā Jainendra Vyākarana* by PREMI and *Khilapāṭha* by MIMĀNSAKA and some useful Indices at the end Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No 17 Super Royal pp. 56+506. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1956 Price Rs 15/-

Vratatithi Nirnaya :

The Sanskrit Text of Sinhanandi edited with a Hindī Translation and detailed exposition and also an exhaustive Introduction dealing with various Vratas and rituals by Pt NEMICHANDRA SHASTRI Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No 19. Crown pp 80 + 200 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1956 Price Rs 3/-

Pauma-cariu :

An Apabhraṁśa work of the great poet Svayambhū (677 A D) It deals with the story of Rāma The Apabhraṁśa text up to 56th Sandhi with Hindi Translation and Introduction of Dr DEVENDRAKUMAR JAIN, is published in 3 Volumes Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṁśa Grantha Nos 1, 2 & 3 Crown size, Vol I pp 28+333 , Vol II pp 12+377 , Vol III pp 6+253 Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1957, 1958 Price Rs 3/- for each Vol

Jīvaṁdhara-Campū

This is an elaborate prose Romance by Haricandra written in Kāvya style dealing with the story of Jīvaṁdhara and his romantic adventures. It has both the features of a folk-tale and a religious romance and is intended to serve also as a medium of preaching the doctrines of Jainism. The Sanskrit Text is edited by Pt. PANNALAL JAIN along with his Sanskrit Commentary, Hindī Translation and Prastāvanā. There is a Foreword by Prof. K. K. HANDIQUI and a detailed English Introduction covering important aspects of Jīvaṁdhara tale by Drs. A. N. UPADHYE and H. L. JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 18. Super Royal pp. 4+24 +20+344. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1958. Price Rs. 8/-

Padma-purāṇa

This is an elaborate Purāṇa composed by Raviṣeṇa (V. S. 734) in stylistic Sanskrit dealing with the Rāma tale. It is edited by Pt. PANNALAL JAIN with Hindī Translation, Table of contents, Index of verses and Introduction in Hindī dealing with the author and some aspects of this Purāṇa. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā Sanskrit Grantha Nos. 21, 24, 26. Super Royal Vol. I: pp. 44+548 Vol. II: pp. 16+460. Vol. III: pp. 16+472. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashī 1958-59. Price Rs 10/- each

Siddhi viniścaya

This work of Akalaṅkadeva with Svopajñavṛtti along with the commentary of Anantavīrya is edited by Dr MAHENDRAKUMAR JAIN. This is a new find and has great importance in the history of Indian Nyāya literature. It is a feat of editorial ingenuity and scholarship. The edition is equipped with exhaustive, learned Introductions both in English and in Hindi, and they shed abundant light on doctrinal and chronological problems connected with this work and its author. There are some 12 useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 22, 23. Super Royal Vol. I: pp. 16+174+370; Vol. II: pp. 8+808. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1959. Price Rs. 18/- and Rs. 12/-

Bhadrabāhu-Saṁhitā :

A Sanskrit text by Bhadrabāhu dealing with astrology, omens, portents etc. Edited with a Hindī Translation and occasional Vivecana by Pt. NEMICHANDRA SHASTRI. There is an exhaustive Introduction in Hindī dealing with Jain Jyotiṣa and the contents, authorship and age of the present work. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā Sanskrit Grantha No. 25. Super Royal pp. 72+416. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi 1959. Price Rs. 8/-

Pañcasaṃgraha :

This is a collective name of 5 Treatises in Prākrit dealing with the Karma doctrine the topics of discussion being quite alike with those in the Gommaṭasāra etc The Text is edited with a Sanskrit commentary, Prākrit Vrtti by Pt HIRALAL who has added a Hindī Translation as well A Sanskrit Text of the same name by one Śrīpāla is included in this volume There are a Hindī Introduction discussing some aspects of this work, a Table of contents and some useful Indices Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No 10 Super Royal pp 64+804 Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1960 Price Rs 15/-

Mayana-parājaya-cariu .

This Apabhramśa Text of Harideva is critically edited along with a Hindī Translation by Prof Dr HIRALAL JAIN It is an allegorical poem dealing with the defeat of the god of love by Jina This edition is equipped with a learned Introduction both in English and Hindī The Appendices give important passages from Vedic, Pāli and Sanskrit Texts There are a few explanatory Notes, and there is an Index of difficult words Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhramśa Grantha No 5 Super Royal pp 88+90 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1962 Price Rs 8/-

Harivamśa Purāna :

This is an elaborate Purāna by Jinasena (Śaka 705) in stylistic Sanskrit dealing with the Harivamśa in which are included the cycle of legends about Krsna and Pāndavas The text is edited along with the Hindī Translation and Introduction giving information about the author and this work, a detailed Table of contents and Appendices giving the verse Index and an Index of significant words by Pt PANNALAL JAIN Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No 27 Super Royal pp 12+16+812+160 Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1962 Price Rs 16/-

Karmaprakrti .

A Prākrit text by Nemicandra dealing with Karma doctrine, its contents being allied with those of Gommatasāra Edited by Pt HIRALAL JAIN with the Sanskrit commentary of Sumatikīrti and Hindī Ṭīkā of Pandita Hemarāja, as well as translation into Hindī with Viśesārtha Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No 11 Super Royal pp 32+160 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964 Price Rs 6/-.

Upāsakādhyayana :

It is a portion of the Yaśastilaka-campū of Somadeva Sūri. It deals with the duties of a householder Edited with Hindi Translation, Introduction and Appendices etc. by Pt. KAILASHCHANDRA SHASTRI Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 28 Super Royal pp 116+539 Bhāratīya Jñānapītha, Kashi, 1964 Price Rs. 12/-.

Bhojacaritra :

A Sanskrit work presenting the traditional biography of the Paramāra Bhoja by Rājavallabha (15th century A. D.) Critically edited by Dr B Ch. CHHADRA Jt. Director General of Archaeology in India and S. SANKARANARAYANA with a Historical Introduction and Explanatory Notes in English and Indices of Proper names. Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 29 Super Royal pp. 24+192 Bhāratīya Jñānapītha Kashi 1964 Price Rs 8/-.

Satyaśāsana-parīkṣā

A Sanskrit text on Jain logic by Ācārya Vidyānandi, critically edited for the first time by GOKULCHANDRA JAIN It is a critique of selected issues upheld by a number of philosophical schools of Indian Philosophy There is an English compendium of the text by Dr NATHMAL TATIA. Jñānapītha Mūrtidevī Jain Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 30 Super Royal pp. 56+34+62. Bhāratīya Jñānapītha, Kashi 1964 Price Rs 5/-

Karakaṇḍa-cariu

An Apabhraṁśa text dealing with the life story of king Karakaṇḍa, famous as Pratyeka Buddha in Jaina & Buddhist literature. Critically edited with Hindi & English Translations, Introductions, Explanatory Notes and Appendices etc. by Dr HIRALAL JAIN Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṁśa Grantha No. 4 Super Royal pp. 64+278. Bhāratīya Jñānapītha Kashi 1964 Price Rs. 10/-.

For Copies Please write to—

BHARATIYA JNANPITH
3620/21 Netaji Subhas Marg, Dariyaganj
Delhi (India)

or

BHARATIYA JNANPITH,
Durgakund road Varanasi (India)